KRISHNADAS SANSKRIT SERIES

52

NAIṢADHĪYACARITAM

of

MAHAKAVI SRIHARṢA

With

The 'jivatu' Sanskrit Commentary of Mallinath

And

The 'Candrika' Hindi Commentary

By

Dr. Devarshi Sanadhya Shastri

M. A., Ph.D., D. Lit.

[Part-1]

KRISHNADAS ACADEMY, VARANASI

प्रकाशक : कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : पुनर्मुद्रित, सम्वत् २०५८, सन् २००२

पुस्तक प्रकाशक एवं वितरक
पोस्ट बॉक्स नं० ११९८
के. ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास, वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)
फोन : ३३५०२०
e-mail : cssoffice@satyam.net.in

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

पोस्ट बॉक्स नं० १००८, के. ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास
वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)
फोन : ३३३४५८ (आफिस), ३३४०३२ एवं ३३५०२० (आवास)

KRISHNADAS SANSKRIT SERIES

52

*****

NAIṢADHĪYACARITAM

of

MAHĀKAVI ŚRĪHARṢA

With

The 'jıvatu' Sanskrit Commentary of Mallināth

And

The 'Candrika' Hindi Commentary

By

Dr. Devarshi Sanadhya Shastri

M. A., Ph.D., D. Lit.

[Part-1]

KRISHNADAS ACADEMY, VARANASI

Publisher : Krishnadas Academy, Varanasi.
Printer : Chowkhamba Press, Varanasi.

Oriental Publishers & Distributors
Post Box No. 1118
K. 37/118, Gopal Mandir Lane
Varanasi-221 001
Phone : 335020
e-mail : cssoffice@satyam.net.in

Also can be had from

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
K. 37/99, Gopal Mandir Lane
Near Golghar (Maidagin)
Post Box No. 1008, Varanasi-221 001 (India)
Phone : Off. 333458, Resi. : 334032 & 335020

समर्पणम्

सावित्री बुआ

और

'नै ष धी य च रि त'

में

रुचि जगाने वाले

आदरणीय फूफाजी

श्री शिवदत्त शास्त्री

को

अशेष श्रद्धा सहित

अभिस्वीकृति

देवभारती के अमर महाकवि श्रीहर्ष के गौरवग्रन्थ महाकाव्य 'नैषधीय-चरित' के प्रति किशोरावस्था में जो चपल-अनुराग उत्पन्न हो गया था, जीवन की संध्यावेला नियराने पर 'नैषध' के इस हिन्दी-रूप में उसीका विकास हो गया है, और यदि मैं कहूँ कि इस रूप में मेरी एक अत्यन्त प्रिय आकांक्षा की पूर्त्ति हो रही है, तो अवांछित न होगा। यह 'मुगालता' (भ्रम) मुझे नहीं है कि मैं 'नैषध' की व्याख्या का दुःसाहस कर रहा हूँ और श्रीहर्ष के पाठकों को कुछ नवीन और अनवद्य दे रहा हूँ। न तो मेरी क्षमता ही इतनी है और न प्रतिभा ही। मैं निःसंकोच आभार व्यक्त कर रहा हूँ उन सभी प्राचीन और अर्वाचीन 'नैषधपरिशीलन' के धन्य विद्वज्जनों के प्रति, जिनका मार्गदर्शन मेरा संबल है। उनकी सूची लंबी है। वे सब हार्दिक श्रद्धा के साथ मेरा अभिवादन और कृतज्ञता-ज्ञापन ग्रहण कर लें तो मैं अपने को धन्य मानूंगा। मैंने तो जो ये 'सफेद कागद काले' कर दिये उस अखिल को मैं अपना चापल ही मानता हूँ—

स ब्रह्मा चतुराननः स भगवानीशोऽपि पञ्चाननः
स स्कन्दश्च षडाननः स फणिनामीशः सहस्राननः।
यत्पद्यार्थविशेषवर्णनविधौ नेशाः वयं तत्र के
यद् व्याख्यायि तथापि किञ्चिदखिलं तच्चापलं केवलम् ॥

श्रीहर्ष तो अथाह सागर हैं, उनका जल चाहे जितने बादल लेते रहें, उसमें तो बूंद भर कमी न आयेगी :—

दिक्कूलङ्कषतां गतैर्जलधरैरुद्गृह्यमाणं मुहुः।
पारावारमपारमम्बु किमिह स्याज्जानुमात्रं क्वचित् ? ॥

और यह अन्याय ही होगा संस्कृत-वाङ्मय के एकनिष्ठ अनुरागी श्रीविठ्ठलदास गुप्त के प्रति यदि मैं उनकी कल्याण कामना न करूँ 'नैषधीयचरित' को इस रूप में लाने के निमित्त उनके साहस और सामर्थ्य पर। उनके विश्रुत 'प्रकाशन' से यह प्रकाश पा रहा है, उन्हें श्रेय भी प्राप्त हो और प्रेय भी। तथास्तु।

गुरुपूर्णिमा
वि० सं० २०४१

—देवर्षि सनाढ्य

भूमिका

श्रीहर्ष और नैषध

महाकवि श्रीहर्ष

संस्कृत-वाङ्मय के उत्कृष्ट महान् कलाकारों में महाकवि श्रीहर्ष की गणना की जाती है और उनके रचे महाकाव्य "नैषधीयचरित' (नैषध) पर भारतीय काव्यप्रेमी को अभिमान है। कालिदास, बाणभट्ट, भवभूति, भारवि, माघ आदि संस्कृत के मूर्धन्य महाकवियों की परंपरा में श्रीहर्ष का नाम गौरव के साथ लिया जाता है।

'नैषधीयचरित' के प्रत्येक सर्ग के अन्त में "श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्"—इत्यादि जो श्लोक दिया गया है, उस कवि के आत्म-परिचय से यह स्पष्ट है कि श्रीहर्ष के पिता का नाम श्रीहीर था और माता का नाम मामल्लदेवी। पदच्छेद के आग्रही कुछ मनीषी मामल्लदेवी का 'माम् + अल्लदेवी' (मुझे अल्लदेवी ने) करके उनकी माता का नाम अल्लदेवी बताना चाहते हैं, किन्तु सामान्यतया यही स्वीकृत है कि कवि-जननी का नाम मामल्लदेवी ही है, जो 'वातापि' के निकटस्थित मामल्लपुर की निवासिनी थी। जैसा कि श्लोकगत विशेषण से स्पष्ट है, श्रीहर्ष के पिता श्रीहीर एक श्रेष्ठ कवि थे—कविराजों के मुकुटों के हीरक अलंकार—'कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः।'

'नैषधीयचरित' के (प्राप्त) अन्तिम बाईसवें सर्ग के चतुर्थ और अंतिम कवि-अभिस्वीकृति-परक श्लोक—

ताम्बूलद्वयमासनञ्च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरा-
द्यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम्।
यत्काव्यं मधुवर्षि धर्षित-परास्तर्केषु यस्योक्तयः
श्रीश्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम्॥

से यह तो प्रकट हो ही जाता है कि काव्य के धनी होने के साथ-साथ

महाकवि श्री श्रीहर्ष अद्भुत तर्कशास्त्री भी थे, साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे कान्यकुब्जाधिपति की राजसभा के समादरणीय पंडित-कवि थे, जिन्हें आदरपूर्वक कान्यकुब्जेश्वर 'ताम्बूलद्वय' और 'आसन' अर्पित किया करते थे। इन कान्यकुब्जेश्वर का नाम जयन्तचन्द्र था—

परममहाराजाधिराजपरमेश्वरपरममाहेश्वराश्वपतिगजपतिनरपति-
राजत्रयाधिपतिविविधविद्याविचारवाचस्पतिश्रीमज्जयन्तचन्द्रः।'

'इण्डियन एंटिक्वेटी' प्राचीन लेखमाला के तेईसवें लेख में प्रकाशित, वि० संवत् १२४३, आषाढ़ शुदि रविवार सप्तमी (ईशवीय सं० ११८७) को लिखित दानपत्र के अनुसार महाराज जयंतचन्द्र की वंशपरंपरा का क्रम इस प्रकार है—यशोविग्रहमहीचन्द्र—श्रीचन्द्रदेव—मदनपाल—गोविन्दचन्द्र—विजयचन्द्र—जयन्तचन्द्र। इस प्रकार श्रीजयन्तचन्द्र यशोविग्रह की कुलपरंपरा में जात श्रीविजयचन्द्र के पुत्र थे। जैसा कि आगे ज्ञात होगा, इस मान्यता में केवल एक बाधा पड़ती है कि एक श्लोक में जयन्तचन्द्र को 'गोविन्दनन्दन' कहा गया है। सामान्यतया 'नन्दन' से तात्पर्य पुत्र ही होता है, पर परंपरया 'पौत्र' भी माना जा सकता है।

जैनपण्डित राजशेखररचित 'प्रबंधकोष' (ई० सं० १३४८) में श्रीहर्ष के विषय में कुछ अच्छा विवरण दिया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि राजा जयन्तचन्द्र की सभा में बहुत-से पंडित थे। उनमें एक हीरपंडित भी थे। उसी के पुत्र महाविद्वान् श्रीहर्ष भी थे—'गूर्वस्यां वाराणस्यां पुरि गोविन्दचन्द्रो नाम राजा ५७० अन्तःपुरीययौवनरसपरिमलग्राही। तत्पुत्रो जयन्तचन्द्रः (दानपत्र के अनुसार यह पाठ 'तत्पुत्रो विजयचन्द्रः। तत्पुत्रो जयन्तचन्द्रः' होना चाहिए। दाधीचपंडित शिवदत्त शास्त्री ने ऐसा ही संशोधन-परिवर्द्धन कर दिया है।) तस्मै राज्यं दत्त्वा पिता योगं प्रपद्य परलोकमसाधयत्। जयन्तचन्द्रः सप्तप्रयोजनशतमानां पृथिवीं जिगाय। मेघचन्द्रः कुमारस्तस्य। यः सिंहनादेन सिंहानपि भङ्क्तुमलम्। किं पुनर्मदान्धगन्धेभभटाः॥ तस्य राज्ञश्चलतः सैन्यं गङ्गायमुने विना नाम्भसा तृप्यतीति नदीद्वययष्टिग्रहणात् 'पङ्गुलो राजा' इति लोके श्रूयते। तस्य गोमती दासी षष्टिसहस्रेषु वाहेषु प्रक्षरां निवेश्याभिषेणयन्ती परचक्रं त्रासयति। राज्ञः श्रम एव क॥

तस्य राज्ञो बहवो विद्वांसः। तत्रैको हीरनामा विप्रः। तस्य नन्दनः प्राज्ञ-चक्रवर्ती श्रीहर्षः।'

श्रीहर्ष अभी छोटे ही थे कि सभा में एक पंडित ने श्रीहीर को राजा के संमुख पराजित कर दिया। श्रीहीर बड़े लज्जित हुए। उस समय तो उसका मुंह बन्द हो गया, पर वे उस जयी पंडित से वैर मानने लगे। मृत्युसमय उन्होंने बेटे श्रीहर्ष से कहा—'बेटे, उस पंडित ने आज मुझे राजा की दृष्टि में गिरा दिया है, मैं बड़ा दुःखी हूँ। यदि मेरे सच्चे पुत्र हो तो इसका ऐसा ही बदला लेना।' श्रीहर्ष ने वचन दिया और श्रीहीर ने परलोक-यात्रा की—

'सोऽद्यापि बालावस्थः। सभायां राजकीयेनैकेन पंडितेन वादिना हीरो राजसमक्षं जित्वा मुद्रितवदनः कृतः लज्जापङ्के मग्नो वैरं बभार। मृत्युकाले श्रीहर्षं स बभाषे—'वत्सामुकेन पण्डितेनाऽहमाहत्य राजदृष्टौ जितः। तन्मे दुःखम्। यदि सत्पुत्रोऽसि तदा तं जयेः क्ष्मापसदसि।' श्रीहर्षेणोक्तम् 'ओम्' इति। हीरो द्यां गतः।' (प्रबंधकोष ५४-५५)।

यह श्रीहीरजयी पंडित कौन था? कहा जाता है कि ये प्रसिद्ध मैथिल-नैयायिक उदयनाचार्य थे, (ई० १२०७ के) चाण्डूपंडित के लेख से यही प्रतीत होता है किन्तु जैसा आगे स्पष्ट होगा, उदयनाचार्य और श्रीहर्ष का स्थितिकाल एक नहीं है।

और पिता की इच्छा पूरी करने के लिए श्रीहर्ष परिवार का भार विस्वस्त कुटुम्बिजनों पर छोड़ परदेश चल दिये। अनेक विद्वानों, अनेक आचार्यों का सामीप्य पा श्रीहर्ष अल्प काल में ही तर्क, अलंकार, काव्य, गणित, ज्योतिष्, व्याकरण, मंत्रविद्यादि के सिद्ध ज्ञाता हो गये। गंगातट पर एक वर्ष तक गुरु से प्राप्त चिन्तामणि मंत्र उन्होंने सिद्ध किया, देवी त्रिपुरा प्रत्यक्ष हुई और श्रीहर्ष को अद्भुत पांडित्य का वर दिया। अद्भुत पंडित श्रीहर्ष अनेक राजसभाओं में जाने लगे, और गोष्ठियों में भाग लेने लगे, पर उनका उद्योग सार्थक न होता था। वे कुछ ऐसे अलौकिक वचन उच्चारते कि किसी की समझ में ही कुछ न आपाता। उनकी विद्या 'अतिविद्या' हो गयी थी। खिन्न श्रीहर्ष पुनः देवी भारती की शरण गये। जब वे प्रत्यक्ष हुई तो श्रीहर्ष ने कहा—'माँ, मेरी अतिबुद्धि दोष बन गयी है, कुछ ऐसा

करो माँ, कि मैं ऐसा बोलने में समर्थ हो जाऊँ कि मेरा कहा लोग समझ सकें। देवी ने कहा 'पुत्र, आधीरात में सिर गीला करके दही का सेवन करो और सो जाओ। कफांश में वृद्धि होने से कुछ जड़ता आ जायेगी।' श्रीहर्ष ने माँ के आदेश का पालन किया और वे ऐसा कहने-बोलने में समर्थ हुए कि उनकी वाणी लोकगोचरीभूता हुई। श्रीहर्ष ने अनेक ग्रन्थ रचे और कृतकाम हो वे काशी पहुँचे। नगर में पहुँचकर उन्होंने महाराज जयंतचन्द्र को अपने पढ़कर लौट आने की सूचना भिजवायी। गुणज्ञ राजा श्रीहर्ष के पिता के जेता पंडित और अन्य विद्वानों के साथ श्रीहर्ष के स्वागत-सत्कार के निमित्त नगर-प्रांत में पहुँचे। राजा के स्नेह-सत्कार से तुष्ट कवि ने राजा की प्रशंसा में कहा—

गोविन्दनन्दनतया च वपुःश्रिया च मास्मिन्नृपे कुरुत कामधियं तरुण्यः ।
अस्त्रीकरोति जगतां विजये स्मरः स्त्रीरस्त्रीजनः पुनरनेन विधीयते स्त्री ।

और स्वयं ही उच्चस्वर में इस स्तुति की सरस व्याख्या की—'हे तरुणियों, गोविन्द-नन्दन होने और शरीर की कान्ति के कारण इस नृपति को कामदेव मत समझो; यह काम नहीं है, (उससे कहीं अधिक है), काम तो जब जगद्विजयार्थ प्रस्तुत होता है तो सुन्दरियों को अस्त्र बनाता है, पर यह नरेश अस्त्रधारियों को विजय करते समय स्त्री बना डालता है—अर्थात् परजन नारियों की भाँति इसके शरणागत हो जाते हैं।

यहाँ चमत्कार है 'अस्त्री' शब्द प्रयोग के कारण। जो स्त्री हैं, उन्हें काम 'अस्त्रीकरोति' (स्त्री नहीं रहने देता, विरोध-परिहार में अर्थ अस्त्र युक्त करता है), राजा 'अस्त्रीजन' (जो स्त्री नहीं है, विरोध-परिहार में अर्थ अस्त्रधारी) को 'स्त्री' बनाता है। इसी विरोधाभास के चमत्कार में राजा का काम से 'व्यतिरेक' प्रमाणित होता है। सभा और राजा चमत्कृत हुए और संतुष्ट हुए। तब श्रीहर्ष ने पितृवैरी के प्रति कहा—'चाहे सुकुमार काव्य-साहित्य हो अथवा कठोर न्यायग्रन्थिलतर्क, मेरे विधाता (रचयिता) होने पर भारती का लीला-विलास एक समान ही रहता है। चाहे मुलायम, कोमल विस्तर से सजी शय्या हो, चाहे दर्भ के काँटे बिछी नंगी धरती, यदि पति मनभाया है तो तरुणियों की रति समान ही होती है'—

साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रह-ग्रन्थिले
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती ।
शय्या वास्तु मृदूत्तरच्छदवति दर्भाङ्कुरैरास्तृता
भूमिर्वा हृदयङ्गमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम् ।।

इस चमत्कारपूर्ण 'आह्वान' (चुनौती) को सुनकर पिता का वैरी पंडित तो श्रीहर्ष से अभिभूत हो गया और उसने सविनय कहा—श्रीहर्ष देव, आप तो वादकर्ताओं में इन्द्रतुल्य हैं, भारती आपको सिद्ध है, आपके समान ही कोई नहीं है, अधिक क्या होगा ? जंगल में सहस्रों बलशाली हिंसक पशु होते हैं, परन्तु प्रशंसा एक सिंह के विश्वोत्तर पराक्रम की ही की जाती है, जिसकी एक हुँकारी सुनकर वराहयूथों की क्रीडा, मदमाते पशुओं का मद, व्याघ्रादि (नाहल-नाहर) का कोलाहल और भैंसों का आनन्द समाप्त हो जाता है—

हिंस्राः सन्ति सहस्रशोऽपि विपिने शौण्डीर्यवीर्योद्यता-
स्तस्यैकस्य पुनः स्तुवीमहि महः सिंहस्य विश्वोत्तरम् ।
केलिः कोलकुलैर्मदो मदकलैः कोलाहलं नाहलैः
संहर्षो महिषैश्च यस्य मुमुचे साहङ्कृते हुङ्कृते ।।

प्रतिवादी की यह स्थिति देख श्रीहर्ष का क्रोध उतर गया । राजा ने कहा—'इसी योग्य हैं श्रीहर्ष' । अच्छा अवसर था । राजा ने दोनों को गले मिलवा दिया । राजप्रासाद में श्रीहर्ष को ले गये । सत्कार किया, स्वर्ण-राशि भेंट की ।

एकबार राजा की इच्छा होने पर श्रीहर्ष ने प्रबंधरत्न रचा । उस दिव्यरस, महागूढव्यंग्य रचना से चारुतम महाकाव्य 'नैषधीयचरित' को देख कर राजा ने कहा कि यह अत्यंत सुन्दर है, पर कविराज, काश्मीर जाओ, वहाँ इसे पंडितों को दिखाओ भारती देवी के चरणों में रखो यदि आपका प्रबंध सत्य होगा तो देवी सिर हिलाकर 'स्वीकार' करेंगी, पुष्पवृष्टि होगी, यदि 'असत्' होगा तो देवी हाथ से उठाकर दूर फेंक देंगी । श्रीहर्ष ने वैसा ही किया, पर सरस्वती ने तो पुस्तक को उठाकर दूर फेंक दिया । श्रीहर्ष ने कहा—'बूढ़ी हो जाने से क्या हाथ काँपने लगा है, जो मेरे

रचे प्रबंध को अन्य जनों के सामान्य प्रबन्ध की भाँति अवमानित कर रही हो ?' देवी बोली—'अरे झूठे, क्या स्मरण नहीं आता कि अपने काव्य के एकादश सर्ग के चौसठवें श्लोक में तूने मुझे विष्णुपत्नी कहा है और मेरे लोक-विश्रुत कन्याभाव को खंडित किया है ? इसी से मैंने पोथी फेंक दी।' श्रीहर्ष ने कहा—'तो क्यों अपने एक अवतार में नारायण को पति बनाया ? पुराणों में भी आपको विष्णुपत्नी कहा जाता है। सच पर क्यों कुपित होती है, क्या क्रुद्ध होने से कलंक से छूट पायेगी ?' भारती देवी ने स्वयं ग्रन्थ उठाकर हाथ में रखा और ग्रन्थ की प्रशंसा की। श्रीहर्ष ने काश्मीरी पंडितों से निवेदन किया कि आप लोग यहाँ के राजा माधवदेव को ग्रन्थ दिखा दें और इसकी शुद्धि का प्रमाणपत्र दिलवा दें, जिसे मैं महाराज जयंतचन्द्र के संमुख प्रस्तुत कर सकूं। पर भारती देवी द्वारा मान्य होने पर भी न तो पंडितगणों ने प्रमाण लेख दिया, न राजा को ही ग्रन्थ दिखाया। श्रीहर्ष कई मास प्रतीक्षा करते ठहरे रहे। धीरे-धीरे पास की सामग्री समाप्त हो गयी, अपना माल--असबाब बेचना पड़ गया। एकबार वे एक कूप-जलाशय के निकट मंदिर में एकांत में रुद्रजप कर रहे थे कि जल भरने आयीं दो स्त्रियों में जल भरने को लेकर गाली-गलौज और मार-पीट हो गयी, सिर फूट गये। अभियोग राजा के यहाँ गया, जहाँ साक्षी की खोज हुई। पूछे जाने पर दोनों स्त्रियों ने कहा कि हमारे झगड़े का कोई और साक्षी तो नहीं है, किन्तु वहाँ एक ब्राह्मण जप कर रहा था। राजा के आदमी श्रीहर्ष को ले आये। पूछे जाने पर श्रीहर्ष ने संस्कृत भाषा में कहा—'देव, मैं परदेशी हूँ, यहाँ की लोकभाषा नहीं समझता, जिसमें ये दोनों बोल रही थी, हाँ वे बोले गये शब्द सुना सकता हूँ।' राजा के कहने पर श्रीहर्ष ने प्रतिशब्द, उसी क्रम से भाषण सुना दिया। राजा चमत्कृत हो गये। धन्य है इसकी प्रज्ञा ! धन्य है अवधारणा शक्ति ! स्त्रियों के विवाद का निर्णय करके राजा ने श्रीहर्ष से उनका परिचय सादर पूछा। श्रीहर्ष ने सारी कथा सुनाकर कहा— 'राजन्, पंडितों की दुर्जनता के कारण आपकी नगरी में दुःख उठा रहा हूँ। राजाने पंडितों को बुलाकर धिक्कारा और कहा कि अरे दुष्टों अपने-अपने घर ले आकर तुम सब ऐसे महात्मा को

सत्कारो, पंडितों ने वैसा ही किया। राजा ने भी श्रीहर्ष का सत्कार—संमान करके सादर काशी भेजा, वहाँ उन्होंने राजा जयंतचन्द्र से भेंट कर सारा वृत्तांत कहा। राजा संतुष्ट हुआ और 'नैषधीयचरित' लोक में प्रसिद्ध हुआ।

इसी समय जयंतचन्द्र महाराज का प्रधान पद्माकर अणहिल्लपुर गया हुआ था। वहाँ सरोवर के किनारे धोबी के धोये कपड़ों में उसने एक साड़ी फैली देखी, जिस पर भौंरे ऐसे भनभना रहे थे, जैसे कि केतकी पर। प्रधानामात्य ने विचारा कि यह साड़ी अवश्य किसी पद्मिनी नारी की है। संध्या को धोबी के बताने पर वह साड़ी की मालिकिन से मिला। वह स्त्री एक शालापति की विधवा थी, तरुणी और सुन्दरी। नाम था सूहवदेवी। प्रधान सोमनाथ की यात्रा से निवृत्त हो श्रीकुमारपाल के पास से सूहवदेवी को काशी ले आया और वहाँ वह महाराज जयंतचन्द्र की भोगिनी बन कर प्रसिद्ध हो गयी। वह विदुषी थी और अभिमानिनी। लोक में वह 'कला-भारती' कही जाने लगी। श्रीहर्ष 'नरभारती' कहे जाते थे। यह ईर्ष्यालु सूहवदेवी न सह पायी। एक दिन सत्कारपूर्वक उसने श्रीहर्ष को बुलवाया और पूछा कि आप कौन हैं? श्रीहर्ष ने कहा—'मैं कला-सर्वज्ञ हूँ।' तुरंत सूहवदेवी ने कहा—'तो फिर जूते बनाकर पहिनाइए।' तात्पर्य यह था कि श्रीहर्ष ऐसा निम्नकार्य करना अस्वीकारेंगे और 'कलासर्वज्ञ' नहीं, अज्ञ समझे जायेंगे, पर श्रीहर्ष ने स्वीकारा और बल्कल के जूते बनाकर साँझ को उसे एक चर्मकार की कला से पहिना दिये। किन्तु इससे श्रीहर्ष ने अपने को अत्यन्त अपमानित माना और राजा से सारा समाचार कह सांसारिकता से खिन्न हो गंगातट पर जा संन्यासी हो गये। अब अवशिष्ट जीवन इसी प्रकार व्यतीत हुआ। अभिमानिनी सूहवदेवी और उसके ही दुष्ट संसर्ग के कारण राजा का कैसा शोचनीय अन्त हुआ, यह एक अवान्तर कथा है।

जीवन से संबद्ध कुछ किंवदन्तियाँ

श्रीहर्ष के संबंध में गदाधर पंडित ने लिखा है कि राजा गोविन्दचन्द्र की सभा में श्रीहर्ष अत्यन्त संमानित थे, जिससे अन्य कविपंडित जलते थे। अपने प्रसिद्ध तर्कशास्त्रीय ग्रन्थ 'खंडनखंडखाद्य' की जब उन्होंने रचना की तब ईर्ष्यालु पंडित उन्हें 'तर्कशमीवृक्षपरिपूर्ण-शुष्कमरु' कहकर उनका

उपहास करने लगे। श्रीहर्ष ने इस पर अपनी काव्य-प्रतिभा प्रकट करने के लिए 'नलचरित' महाकाव्य लिखकर राजा को भेंट किया। इस पर प्रसन्न हो राजा ने उसे दो आसन और दो ताम्बूल देकर 'कविपंडित' की उपाधि से संमानित किया। वे आसनद्वय और ताम्बूलद्वय तर्क और काव्य—दो विषयों में उनके अगाध ज्ञान की स्वीकृति मान्यता के रूप में थे।

काश्मीर के पण्डितों में कहा जाता है कि श्रीहर्ष 'काव्यप्रकाश' के रचयिता राजानक मम्मट के भागिनेय थे। सो भांजे ने अपना महाकाव्य रचकर पहिले साहित्यशास्त्र के परम ज्ञाता अपने मामा को ही दिखाया। मामा मम्मट ने काव्य को देखकर सखेद हर्ष प्रकट किया कि यदि यह रचना 'काव्यप्रकाश'—रचना से पूर्व प्राप्त हो जाती तो 'दोष-परिच्छेद'-रचना में इतना श्रम न करना पड़ता, सब दोषों के उदाहरण इसी काव्य में प्राप्त हो जाते। श्रीहर्ष ने क्षोभ के साथ जानना चाहा कि पण्डित मामा एक ही दोष इसमें दिखा दें। मामा मम्मट ने 'नैषधीयचरित' (२।६२) का श्लोक—

तव वर्त्मनि वर्त्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः।
अपि साधय साधयेप्सितं स्मरणीयाः समये वयं वयः॥

दिखा दिया। यों 'साहित्यविद्याधरी' के अनुसार इस मंगलश्लोक में 'आशीः' अलंकार माना गया है, पर कहा जाता है कि पदच्छेद में यत्किञ्चित्-परिवर्तन कर देने से यह अमंगलवाचक हो जाता है। पर प्रश्न यह है कि यह परिवर्तन क्यों किया जाय? इसके अतिरिक्त मम्मट का कार्य-काल १०५० वि० माना जाता है और जैसा आगे स्पष्ट होगा कि श्रीहर्ष की स्थिति इस काल में नहीं है। इसी प्रकार गदाधर पण्डित का कथन भी एक किंवदन्ती ही है।

श्रीहर्ष की वंश-परम्परा

श्रीहर्ष के पिता का नाम श्रीहीर था, यह तो स्वयं उनकी आत्मकथा से प्रमाणित है, पर उनके पुत्र के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है; किन्तु ऐसा माना जाता है कि उनके पौत्र का नाम कमलाकर गुप्त था। बताया जाता है कि इन्होंने 'नैषधीयचरितम्' पर भाष्य लिखा था। यह भी माना जाता है कि गुजरात में इस महाकाव्य की प्रतिलिपि लाने वाले कवि हरिहर श्रीहर्ष के वंशज थे।

श्रीहर्ष का समय और निवास-स्थान

प्राचीन लेखमाला के २३ वें लेख में महाराज जयंतचन्द्र के दानपत्र से संबद्ध संवत् १२४३ (११८७ ए०डी०) का स्पष्ट उल्लेख है और २२ वें लेख में यौवराज्य-दानपत्र से संबद्ध संवत् १२२५ (११६९ ए०डी०) का। इस प्रकार राजा जयन्तचन्द्र का समय ईसा की बारहवी शती निर्णीत किया जाता है। श्रीहर्ष जयन्तचन्द के सभापण्डित थे, अतः इनका समय भी ईसवी बारहवीं शती होना चाहिए। इस विषय में थोड़ा-सा विवाद है।

रायल एशियाटिक सोसाइटी, बंबई द्वारा १८७५ ई० से प्रकाशित ग्रन्थ (पृष्ठ सं० ३७१–३८७) में डॉ० जी० बूलर का एक लेख छपा है। इसमें उन्होने जैनकवि राजशेखर के 'प्रबंधकोष' को मान्यता देते हुए यह सिद्ध किया है कि श्रीहर्ष बारहवीं ई० शती के उत्तरभाग में हुए थे। उनके अनुसार 'नैषधीयचरित' की रचना ई० ११६३–११७४ के बीच हुई होगी। जयंतचन्द्र के पिता महाराज विजयचन्द्र के अनुसार जयंतचन्द्र ने ई० ११६३–११७७ के बीच सिहासन पाया। राजशेखर ने उसे कुमारपाल (११४३–११७४ ई०) का समसामयिक माना है। जयंतचन्द्र ने ई० ११६३ से ११९४ तक काशी में राज्य किया। ११९४ में 'सुरत्राण' (म्लेच्छ सुलतान) से युद्ध करते समय उसका पराभव हुआ, कदाचित् मृत्यु भी।

डॉ० बूलर ने इससे पूर्व एक संदर्भपत्र एशियाटिक सोसाइटी की एक सभा में पढ़ा था, जिससे उन्होंने श्रीहर्ष की स्थिति बारहवीं ई० शती का अन्तिम भाग बताया था, यह 'इण्डियन आंटीक्वेरी' में छपा। इस पर अनेक विद्वानों ने आपत्ति की और मतभेद प्रदर्शित किया। डॉ० बूलर ने इन सबका युक्तिपूर्वक खंडन किया।

(क) मतभेद-प्रदर्शकों में उन्होंने सर्वप्रथम जस्टिस श्री काशीनाथ त्र्यम्बक तेलंग के मतवाद का उल्लेख किया है, श्रीतेलंग ने 'कुसुमांजलि' के रचयिता उदयनाचार्य का समयनिरूपण करते हुए प्रसंगानुसार श्रीहर्ष के समय पर भी विचार किया है, जिसमें उन्होंने बताया है कि श्रीहर्ष ईसा की नवीं दसवीं शताब्दी में हुए थे, बारहवीं में नहीं। उनके प्रमाण ये हैं—

(१) भोजराज (११वीं शती) के 'सरस्वती-कण्ठाभरण' में 'नैषधीय-चरित' के श्लोक उदाहरण-स्वरूप उद्धृत हैं। इस मत का प्रतिपादन डॉ० हाल ने किया था।

(२) वाचस्पति मिश्र (११वीं शती) ने श्रीहर्ष के 'खण्डन-खण्डखाद्य' का खण्डन किया है।

(३) सायणमाधव (चौदहवीं शती का आरंभ) ने अपने 'शंकर-विजय' (१५।७२, १४३, १५७) महाकाव्य में 'बाण, मयूर, उदयन और श्रीहर्ष के शंकराचार्य द्वारा पराजय का उल्लेख किया है, जिससे श्रीहर्ष शंकराचार्य के समकालीन ठहरते हैं।

(४) अनेक स्थलों पर स्पष्ट दोष होने के कारण राजशेखर का कथन विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।

(ख) दूसरा मतवाद प्रो० एफ० एस० ग्राउस का है। इन्होंने चन्द कवि के 'पृथ्वीराजरासो' को आधार मानते हुए कहा है कि चंद १२वीं ईशवी शती के अंतिम भाग में हुए थे, अतः यदि राजशेखर का कथन ठीक है तो श्रीहर्ष (१२ वीं शती) और चन्द समकालीन हुए और चंद को उनसे भली भाँति परिचित होना चाहिए। परन्तु चन्द ने अपने पूर्व-जातों का उल्लेख करते हुए नलचरित-प्रणेता श्रीहर्ष को कालिदास से पूर्व माना है।

डाक्टर बूलर ने इन सबका समाधान इस प्रकार किया :—

(१) वाचस्पति नामक किसी विद्वान् ने 'खण्डन-खण्डखाद्य' का खण्डन तो किया है, परन्तु ये वाचस्पति मिश्र कौन-से हैं, यह जानना संभव नहीं है। वाचस्पति मिश्र एकाधिक हुए हैं। चार के नाम तो 'कैटालागस कैटालागॉरम' (यूरोप से प्रकाशित लेखकनाम सूची) में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त वाचस्पतिमिश्र के 'खण्डनोद्धार' नामक ग्रन्थ का नाम प्राचीन वेदान्तियों द्वारा रचित ग्रन्थों की सूची में नहीं मिलता। विद्वानों ने यही माना है, इस ग्रन्थ के रचयिता कोई नवीन वाचस्पति हैं। वस्तुतः गंगेश उपाध्याय ने श्रीहर्ष के ग्रन्थ का खण्डन किया था। १३५० ई० में नवीन वाचस्पति ने इसी का खंडन किया था।

(२) भोजराज के 'सरस्वती-कण्ठाभरण' में उद्धृत श्लोकों की अकारादिक्रम से एक सूची 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार श्रीवामन झलकीकर ने बनायी है, उन्होंने 'नैषधीयचरित' के श्लोकों से उद्धृत श्लोकों की तुलना

कर यह निर्णय दिया है कि 'नैषधीयकाव्य' के श्लोकों की छाया भी 'सरस्वती-कण्ठाभरण' में नहीं है। डॉ० आफ्रेक्त ने स्वरचित 'आक्सफोर्ड मैनुस्क्रिप्ट' (हस्तलिखित पुस्तक सूची) में 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में उद्धृत श्लोकों और उनके रचयिता का नामानुक्रम दिया है, उसमें भी कहीं नैषध अथवा नैषध-कार का नाम नहीं है। इस प्रकार डॉ० हाल ने या तो 'सरस्वतीकण्ठाभरण' का कोई अशुद्ध संस्करण देखा है या फिर उनका कथन ही भ्रांत है

(३) सायणमाधव का 'शंकरविजय' ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है, उसका आधार दन्तकथाएँ हैं। उसका उद्देश्य शंकराचार्य महाराज की महत्ता-प्रतिपादन मात्र है। ऐतिहासिक दृष्टि से उसका महत्त्व नहीं है।

(४) जहाँ तक ग्रौस महोदय के 'पृथ्वीराजरासो' के आधार का और उसके आधार पर निर्धारित मान्यता का प्रश्न है, 'रासो' का प्रमाणित होना अत्यन्त विवादग्रस्त है, उस पर अनेक आपत्तियाँ है। वस्तुतः उसकी प्राप्त प्रति ही बहुत बाद की हैं। चन्द ने पूर्वजातों को प्रणाम करने की परम्परा में जो क्रम दिया है, वह पूर्णतः अविश्वसनीय है। वस्तुतः वह क्रम है ही नहीं। 'क्रम' ग्रौस साहब ने मान भर लिया है। यह कोई विचार ही नहीं सकता कि श्रीहर्ष कालिदास से भी पूर्व हुए थे। स्वयं जस्टिस तेलंग भी 'रासो' को प्रमाणित रचना नहीं मानते।

श्रीहर्ष बारहवीं शती में उत्पन्न हुए—डॉ० बूलर के इस निष्कर्ष का आधार चांडू पण्डित (१२६९ ई०) की नैषधीय की टीका है, जिसमें विद्याधर की 'साहित्यविद्याधरी' टीका में 'नैषधीयचरित' को दिये गये विशेषण 'नवं काव्यम्' के आधार पर उसे नूतन काव्य माना गया है। 'प्रबन्धकोष' के अनुसार श्रीहर्ष ने 'नैषध' की रचना ११७४ ई० से कुछ पूर्व की थी। श्रीहर्ष इसकी रचना करके ही काश्मीर गये थे।

जैसा कि कहा जा चुका है कि गंगेश उपाध्याय (१२०० ई०) ने श्रीहर्ष के 'खंडनखंडखाद्य' का खंडन किया था, वाचस्पति ने गंगेश के उत्तर में 'खण्डनोद्धार' लिखा है। इसके अतिरिक्त हेमचन्द्र सूरि (१०८८–११७२ ई०) के शिष्य- महेन्द्र सूरि ने हेमचंद्राचार्य की पुस्तक 'अनेकार्थसंग्रह' की टीका 'अनेकार्थकैरवाकरकौमुदी' में 'नैषध' का उल्लेख किया है। यह टीका

हेमचंन्द्र सूरि के निधन के कुछ काल बाद ही लिखी गयी थी। इससे पता चलता है कि ११७५ ई० के निकट ही 'नैषधीयचरित' रचा गया होगा। प्रो० एस्० पी० भट्टाचार्य का भी यही अभिमत है कि श्रीहर्ष की साहित्यिक गतिविधियों का समय ११३०-११७० ई० ही संभव है।

इस प्रकार श्रीहर्ष के काल-निर्धारण संबंधी तीन मतवादों :—

(१) नवम-दशम शती—जस्टिस का० त्र्य० तेलंग, प्रो० ग्राउस, श्रीराम प्रसाद चंद;

(२) ग्यारहवीं शती का मध्य —श्री एन० पी० पूरनैवा; और

(३) बारहवीं शती का उत्तरार्द्ध—डॉ० जी० बूलर, श्री आर० डी० सैन, श्री डी० आर० भंडारकर—

—में अन्तिम मत ही समीचीन है।

श्रीहर्ष का निवास स्थान

'ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्'—कथन से यह तो निश्चित ही है कि श्रीहर्ष कान्यकुब्जेश्वर के समादृत सभापण्डित थे, किन्तु उनकी जन्मभूमि —पितृभूमि के विषय में कुछ विवाद है। इस प्रसंग में चार मतवाद हैं—(१) श्रीहर्षका वासस्थान काश्मीर था, (२) काशी था, कन्नौज था और (३) बंगाल था।

(१) श्रीहर्ष काश्मीरी थे, इसका प्रमुख आधार है 'नैषधीयचरित' (१६।१३१-३) की उक्ति—'काश्मीरैर्महिते चतुर्दशतयीं विद्यां विदद्भिः'.... इत्यादि (चतुर्दशविद्याओं के ज्ञाता काश्मीरी पण्डितों से सम्मानित) और राजानक मम्मट से श्रीहर्ष का संबंध। जैसा कि श्रीहर्ष के जीवनवृत्त से स्पष्ट है कि श्रीहर्ष काश्मीर गये अवश्य थे, पर काश्मीर उनके पूर्वजों की भूमि नहीं थी। राजशेखर की भी मान्यता इसके विपक्ष में है। और जहाँ तक मम्मट-श्रीहर्ष का संबंध है, वह तो एक किंवदन्ती मात्र है। श्रीहर्ष के काश्मीरी होने का मतवाद सारवान् नहीं है।

(२) काशी विषयक मतवाद के पोषक हैं जैनकवि राजशेखर (प्रबंध-कोषकार), गदाधर और चांडू पण्डित। इसका आधार है राजा जयंतचन्द्र से श्रीहर्ष का संबंध। श्रीहर्ष ही नहीं, उनके पिता श्रीहीर भी राजा जयंत-चन्द्र के सभापण्डित थे। कान्यकुब्जेश्वर जयंतचन्द्र और उनके पूर्वपुरुषों के

विषय में संवत् १२४३ के दानपत्र के पंचम श्लोक में कहा गया है—'तीर्थानि काशिकुशिकोत्तरकोशलेन्द्रस्थानीयकानि परिपालयताऽधिगम्य।' गंगातट पर संन्यास लेकर श्रीहर्ष रहे ही थे। इससे यह तो सिद्ध होता है कि श्रीहर्ष राजा जयंतचन्द्र के साथ काशी में पर्याप्त काल तक रहे थे, पर वह उनका वासस्थान भी था, यह प्रमाणित नहीं होता। कान्यकुब्जेश्वर के साथ वे काशी में रहे होंगे, यही प्रमाणित होता है।

(३) कन्नौज-संबन्धी मत का आधार भी उनका कान्यकुब्जेश्वर से संबंध है, और यह निश्चित ही है कि उनके पिता भी कान्यकुब्जेश्वर काशी के अधिकारी नरेश के सभाकवि थे। इससे यह निश्चित है कि कान्यकुब्जेश्वर-शासित भूमि ही उनकी जन्मस्थली थी। इस पर विचार करते हुए डा० वाटू तथा डा० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल की मान्यता है कि श्रीहर्ष कन्नौज प्रांत के थे और काशी से उन्हें विशेष स्नेह था।

(४) बंगालविषयक मतवाद के कई आधार हैं। (१) 'गौडोर्वीशकुल-प्रशस्ति' और 'नवसाहसाङ्कचरित' का श्रीहर्ष द्वारा रचित होना। यद्यपि ये दोनों ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं, पर स्वयं श्रीहर्ष ने इनके स्वरचित होने की अभिस्वीकृति दी है, अतः इनकी सत्ता निःसंदिग्ध है। 'गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति' किसी वंग-नरेश की प्रशस्ति मानी जाती है। यह श्रीहर्ष के अनुसार 'गौडोर्वीश-कुलप्रशस्तिभणितिभ्रातरि' (नै० च० ७।११०) अर्थात् गौडदेशभूमि के पालक की प्रशस्ति है—'गौडदेशभूपालवंशस्य प्रशस्तिर्वर्णना' (प्रकाशटीका)। 'नवसाहसाङ्कचरित' की स्वीकृति 'नैषध' (२२।१५१) में है—'द्वाविंशो नवसाहसाङ्कचरिते'....इत्यादि। 'साहित्यविद्याधरी'—कार विद्याधर और 'प्रकाश'कार नारायण के अनुसार 'साहसाङ्क' भी गौडदेश के राजा थे। स्पष्ट है कि गौडभूपाल के विषय में प्रशस्ति लिखने वाला बंगदेशीय होना चाहिए। गौडोर्वीश को श्री आर. डी. सेन ने बंगाल का आदि सूर और श्रीरामप्रसादचन्द्र ने महीपाल प्रथम माना है। श्रीनलिनीनाथ दासगुप्त ने गौडोर्वीश से अर्थ लिया है, बारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में बंगाल का शासक 'सेनवंश'। यह काव्य उनके अनुसार सेनवंश-प्रशस्ति है।

(२) यद्यपि राजशेखर ने श्रीहर्ष की जन्मभूमि काशी मानी है, पर श्रीहर्ष के वंशज हरिहर को 'हरिहरप्रबंध' में उन्होंने गौडदेशवासी बताया है। मैथिलकोकिल विद्यापति के अनुसार 'नलचरित' नामक काव्य के कर्ता कवि पण्डित श्रीहर्ष गौडदेश में हुए थे। ये 'नलचरित' की रचना करके काशी चले गये—'बभूव गौडविषये श्रीहर्षो नाम कविपण्डितः, स च नलचरिताभिधानं काव्यं कृत्वा वाराणसीं जगाम।'

(३) भाषात्मक समानता और उच्चारण में बंगालीपन के आधार पर भी श्रीहर्ष को बंगाली माना गया है। डा० नीलकमल भट्टाचार्य ने इन्हीं के आधार पर श्रीहर्ष को बंगाली सिद्ध करने का प्रयास किया है। 'नैषध' में अनेक बंगाल और बँगला भाषा से संबद्ध शब्द ढूँढ निकाले गये हैं; उदाहरणार्थ—'फाल' (द्विफालबद्धाश्चिकुराः १।१६)—प्रो० हाँडिकी इस शब्द को 'असमी' भाषा का बताते हैं। निकटस्थ बंगाल से इसका संबंध सहज है। 'आलेपन' (क्वचित्तदालेपनदानपण्डिता। १५।१२)—इस शब्द का अर्थ 'प्रकाश' और 'जीवातु'—टीकाओं में 'हरिद्राचूर्णमिश्रित तण्डुलपिष्ट' किया गया है, जिसका प्रयोग 'चतुष्क-निर्माणार्थं (चौकपूरने के निमित्त) किया जाता था, यही बँगला का 'अलपना' है। 'डिम्ब' (लसड्डिम्बमिवेन्दुबिम्बम् २२।५१ (जीवातु), ५३ (प्रकाश)—इसका अर्थ है 'बालक्रीडा-साधन-भ्रमरक' (लाटू, लट्टू)। बँगला में यही 'लाटिम' कहाता है। लालडिम्ब—लाडिम्ब—लाटिन। इसी प्रकार कई अन्य शब्द और श, ष, स; ण, न; ब, व; य, ज, आदि वर्णों का शब्दालंकारों में एक समान उच्चारण के आधार पर उपयोग देखकर ('बँगला' में उक्त वर्णों में उच्चारण-भेद नहीं होता) डॉ० भट्टाचार्य ने श्रीहर्ष को बंगाली माना है।

(४) बंगाल की कुछ 'व्यवहार-परंपराओं, रीत-रवाजों' का साम्य भी 'नैषध' में खोज निकाला गया है। दमयन्ती स्वयंवर-प्रसंग (आननेभ्यः पुरसुन्दरीणामुच्चैरुलूलुध्वनिरुच्चचार १४।५१) में 'उलूलु' ध्वनि बंगाली परंपरा है। नारायणपण्डित ने 'प्रकाश' टीका में ऐसा ही माना है—'विवहोत्सवे स्त्रीणां धवलादिमङ्गलगीतिविशेषो गौडदेशे 'उलूलुः' इत्युच्यते।' यद्यपि मल्लिनाथ (१४।४९) इसे 'उदीच्यानामुच्चारः' मानते हैं, तथापि

नारायण के अनुसार यह कवि के 'स्वदेश' अर्थात् बँगाल की रीति है। यों डा० सुशीलकुमार ने इसे अमान्य ठहराया है। उनके अनुसार 'उलूलु' ध्वनि अन्य प्रदेशों में भी मंगलोत्सव-अवसर पर अन्य कवियों द्वारा वर्णित है। गुजराती कवि वस्तुपाल और काश्मीरी कवि मुरारि ने भी 'उलूलु' ध्वनि का वर्णन किया है। इसी प्रकार विवाह-अवसर पर दमयन्ती का अन्य आभूषणों के साथ बँगाली रीति के आभूषण 'शंखवलय' का धारण करना (विरेजतुर्माङ्गलिकेन सङ्गतौ भुजौ सुदत्या वलयेन कम्बुनः। —१५।४५) वर-वधू के कुशबद्धकर (निबद्धौ किमु कर्कशैः कुशैः —१६।१४), अलपना (१५।१२), वर को दर्पण दिखाना (सेवाचणदर्पणाम्—१५।७०) और वर का किरीट लगाना (स जन्ययात्रामुदितः किरीटवान्—१५।७२), मत्स्यमांसादि भोजन (अराधि यन्मीनमृगाजपत्रिजैः पलैर्मृदु स्वादु सुगन्धितेमनम्—१६।८७)—आदि परंपराओं के वर्णन के आधार पर श्रीहर्ष को बँगाली माना गया है, यद्यपि इनमें से अनेक रीति रिवाज केवल बंगाल के ही नहीं हैं। नैषध के १५।४५ की टीका में भले ही नारायणपण्डित ने शंख-वलय-धारण को गौडदेशाचार लिखा है—'गौडदेशे विवाहकाले शङ्खवलयधारण-माचारः', किन्तु डा० दे० ने 'महाभारत' (विराट्पर्व) में ऐसा ही उदाहरण दिखाकर इस परंपरा को केवल बंगाल की ही कहना अमान्य ठहरा दिया है।

डा० नीलकमल भट्टाचार्य 'चितामणि' मंत्र-साधना के आधार पर श्री हर्ष को बंगाली ठहराते हैं, क्योंकि बंगाल को तन्त्र का उद्भव माना जाता है, पर यह भी कोई पुष्ट आधार नहीं है, क्योंकि बारहवीं शती में समग्र भारत देश में तन्त्र का प्रचार-प्रसार था।

वस्तुतः ऐसा लगता है कि श्रीहर्ष के वंश का संबंध बंगाल से अवश्य था, क्योंकि उनके पौत्र कमलाकर गुप्त और उनके वंशज हरिहर को गौडदेशीय माना जाता है, इसके साथ ही यह भी प्रमाणित है कि श्रीहर्ष के जीवन का अधिकांश कन्नौज-काशी ही में व्यतीत हुआ। डा० ए. एन. जानी का समन्वयात्मक निर्णय इस विषय में उचित प्रतीत होता है कि रक्तसंबंध से श्रीहर्ष बंगाली थे, किंतु उनके पिता श्रीहीर और श्रीहर्ष कन्नौज-नरेश के

आश्रित थे और उनका कार्य-क्षेत्र कान्यकुब्जप्रदेश ही था। (ए क्रिटिकल स्टडी आफ नैषधीयचरितम्, पृ० १०९)।

श्रीहर्ष का व्यक्तित्व

'नैषधीयचरित' के आधार पर उसके रचयिता महाकवि श्रीहर्ष का व्यक्तितत्व स्पष्ट होने में कोई बाधा नहीं है। श्रीहर्ष उच्चकोटि के विद्वान् कवि, दार्शनिक, नैयायिक और तार्किक थे। 'चिन्तामणि'—मन्त्र के वे साधक ही माने जाते हैं। वे परम आस्तिक थे, शास्त्रमर्यादा को माननेवाले देवभक्त। विष्णु, शिव, सरस्वती के तो उपासक ही थे, यों देवता और दैवी प्रसाद पर पर उन्हें परम आस्था थी। पूर्वजन्म के पुण्यकृत्यों से संजात प्रारब्ध और कर्मवाद के वे विश्वासी थे, किन्तु दैव की इच्छा को भी परम सत्य के रूप में उन्होंने माना है। व्यक्ति के भालफलक पर लिखा ईश्वर-लेख शुभ हो या अशुभ, वह होगा ही—'अस्येश्वरेण यदलेखि ललाटपट्टे तत्स्यादयोग्यमपि योग्यमपास्य तस्य।' (नै० १३।४९ या ५०)। विधाता की इच्छा जैसी होती है, उसी के अनुसार मानव-चित्त का व्यवहार बन जाता है। वात्या का अनुगमन जैसे विवश तृण करता ही है, वैसी ही उसकी स्थिति है—'अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा। तृणेन वात्येव तयानुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना।' (नै० १।१२०)। नीति भी भाग्यबल से ही सफल हो पाती है—'भाग्यैरिव नीतिः' (नै० १५।५४)। दैवेच्छा का प्रतिकार सुरेश्वर भी नहीं कर सकता—'न वस्तु दैवस्वरसाद्विनश्वरं सुरेश्वरोऽपि प्रतिकर्त्तुमीश्वरः।' (९।१२६)।

भारत और भारती वाणी के प्रति उन्हें अगाध श्रद्धा थी। उनके अनुसार आर्यों में धुरिप्रतिष्ठित मनु आदि ने उसी प्रकार इलावृतादि वर्षों में भारत को स्तुतियोग्य माना है, जैसे समस्त आश्रमों में गृहस्थाश्रम को—'वर्षेषु यद् भारतमार्यधुर्याः स्तुवन्ति गार्हस्थ्यमिवाश्रमेषु।' (नै० ६।९७)। अर्थात् जैसे गृहस्थाश्रम ही सब आश्रमों का आधार है, वैसे ही भारत शेष इलावृत्तादि खंडों का। भारत स्वर्ग से भी श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वर्ग में केवल 'कल्याण' है, क्योंकि वह केवल 'भोगभूमि' है, उसमें धर्म (पुण्य) नहीं है, वह तो केवल

कर्मयोग-भूमि भारत में ही है—'स्वर्गे सतां शर्म परं न धर्मा भवन्ति भूमाविह तच्च ते च।' (नै० ६।९८)। इसके अतिरिक्त साधु—धार्मिक को भी स्वर्ग से अधःपतित होना ही पड़ता है, परन्तु धर्मी भारत से तो ऊर्ध्व-गति पा स्वर्ग जाता है—'साधोरपि स्वः खलु गामिताधोगामी स तु स्वर्गमितः प्रयाणे।' (तदेव ९९)।

श्रीहर्ष ने भारत की वाणी संस्कृत को 'दैवी वाक्' (नै० १०।५६) 'दिव्यवाक्' (तदेव ५८) कहा है, पृथ्वी पर विना क्लेश जिसका प्रादुर्भाव वाल्मीकि के कण्ठपथ से हुआ और जो स्वर्ग में कवि शुक्राचार्य के वचनमाला-गुम्फन का आधार बनती है।

श्रीहर्ष राजकवि थे, जिनका आदर गुण-स्नेहल राजा 'सचातुर्वर्ण्य' करता था और लक्ष-लक्षसंख्यक हेम-सुवर्ण उनपर न्यौछावर करता था। विलास-ऐश्वर्य उनके चरणों पर लोटता था, पर वे इन्द्रियाधीन नहीं हुए, 'स्वपरिचय' में सर्वत्र उन्होंने अपने को 'जितेन्द्रियचय' कहा है। उनका काव्य-नायक नल 'दारसार', स्त्रियों में रत्नभूता भीमनन्दिनी को पाकर भी, उस 'तृतीय-पुरुषार्थवारिधिपारलम्भनतरी' के साथ 'दिवानिश-भोगभाक्' रहकर भी 'ज्ञानधौतमनाः' बना रहता, अर्थात् विषयसुख भी उसकी आत्मवित्ता को प्रभावित न कर सके। (नै० १८।२)।

श्रीहर्ष पण्डित तो अगाध थे ही, साहित्य, न्याय, तर्क आदि विषयों के तो समान ज्ञाता थे, इसके साथ ही वेद—वेदाङ्ग, षड्दर्शन, संगीत, गणित, आयुर्वेद, धनुर्वेद, सामुद्रिकविद्या, ज्योतिष, पुराणादि, नीतिशास्त्र के भी उद्भट ज्ञाता थे। 'नैषधीयचरित' में उनके शास्त्रवेत्ता होने के यत्र-तत्र प्रमाण मिलते हैं। परन्तु अपने दर्प पर आघात उन्हें स्वीकार्य नहीं था। सबसे बड़ा अभिमान था उन्हें अपने कृतित्व पर। उनका कृतित्व सुधी-जनों द्वारा मान्य होना चाहिए, अल्पबुद्धि कुमारों की उन्हें चिन्ता नहीं—'मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः।' (नै० २२।१५१)। उनके 'काव्यरसोर्मिप्रवाह' में वही सज्जन 'मज्जनसुखव्यासज्जन' (स्नानसुख) पा सकता है, जिसने श्रद्धापूर्वक गुरु की अराधना की है, 'प्राज्ञंमन्य' खल इसमें खेल करने का दुष्प्रयत्न न करे। (तदेव १५३)।

श्रीहर्ष अतिथिदेव, गृहस्थ, अयाचितव्रती और कृतज्ञ सत्पुरुष थे। कहने पर नहीं, करने पर उनकी आस्था थी। सज्जनों की उपयोगिता उनके क्रिया-फल से प्रमाणित होती है, कथन से नहीं—'ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम्।' (नै० २।९८), गुणों की प्रशंसा न करना उनके अनुसार वाणी की निष्फलता थी—'वाग्जन्मवैफल्यमसह्य शल्यं गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत्।' (नै० ८।३२)। धर्म उनके लिए कट्टरपना नहीं, जीवन-यापन की एक क्रिया थी, आवश्यकता होने पर जिसे शिथिल किया जा सकता था। उनका धर्माचरण जड़ नहीं था, गतिशील था—'निषिद्धमप्याचरणीय-मापदि क्रिया सती नावति यत्र सर्वथा।' (नै० ९।३६) यों सामान्यत: वे चाहते यही थे कि कृच्छ्र से कृच्छ्र दशा में भी धर्म से चित्त स्खलित न हो—'कृच्छ्रं गतस्यापि दशाविपाकं धर्मान्न चेत: स्खलतु।' (नै० १४।८१)।

ऐसा मनस्वी, महापंडित, रसिकशिरोमणि, कलासर्वज्ञ अन्त में एक दुर-भिमानिनी नारी के हाथों अवमानना न सह सका और अपनी अभीष्ट जीवन-यापन-पद्धति को अपनाकर गंगातीरवासी हो गया तो इसमें अचरज नहीं होना चाहिए। जीवन-यापन के लिए उसे और अपेक्षित ही क्या था? फल मूल, गंगा का निर्मल सलिल—'फलेन मूलेन च वारिभूरुहां मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तय:।' (नै० १।१३३)। ये राजहंस के ही वचन नहीं, कवि श्रीहर्ष का अभीप्सित जीवन-विलास था, जो समाधि में परब्रह्मप्रमोदार्णव का साक्षात् करता था—'य: साक्षात्कुरुते समाधिषु परब्रह्मप्रमोदार्णवम्।'

श्रीहर्ष की कृतियाँ

'प्रबन्धकोष' में राजशेखर की मान्यता को यदि प्रमाण माना जाय तो श्रीहर्ष शताधिक ग्रन्थों के रचयिता ठहरते हैं। इस समय श्रीहर्ष के केवल दो ग्रन्थ प्राप्त होते हैं—(१) नैषधीयचरित, (२) खण्डनखण्डखाद्य। 'नैषधीय-चरित' कुछ सर्गों के अन्तिम परिचय-श्लोकों में श्रीहर्ष ने स्वयम् अपनी कृतियों के नाम दिये हैं। ये इस प्रकार हैं :—(१) स्थैर्यविचार (चतुर्थ सर्ग), (२) विजयप्रशस्ति (पंचम सर्ग), (३) खण्डनखण्डखाद्य (षष्ठ सर्ग), (४) गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति (सप्तम सर्ग), (५) अर्णववर्णन (नवम सर्ग)

(६) छिन्दप्रशस्ति (सप्तदश सर्ग), (७) शिवशक्तिसिद्धि (अष्टादश सर्ग), (८) नवसाहसाङ्कचरित (द्वाविंश सर्ग)। 'खण्डनखण्डखाद्य' में पाँच स्थानों पर उनके एक और ग्रन्थ (९) 'ईश्वराभिसन्धि' का नाम भी प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य के अनेक इतिहासकारों ने उनके दो और ग्रन्थों के नाम दिये हैं–(१०) पञ्चनलीयकाव्य और (११) द्विरूपकोष। 'नैषधीयचरित' को मिलाकर इस प्रकार श्रीहर्ष की कृतियों की संख्या बारह हो जाती है। जैसा कि कहा जा चुका है, इन बारह नामाङ्कित ग्रन्थों में केवल दो प्राप्त हैं—

(१) खण्डनखण्डखाद्य

यह एक दार्शनिक ग्रन्थ है। 'खण्डनखण्ड' अर्थात् खाँड़ (कच्ची शक्कर) का 'खाद्य', भोज्यपदार्थ। परंतु यह ग्रन्थ अत्यंत कठिन है। यह गन्ने से बनी खाँड के समान सरल खाद्य तो नहीं है, जिसे सरलता से घोल कर पी लिया जाय, परन्तु इक्षुखण्ड से खाँड बनाने की क्रिया के समान एक श्रमसाध्य खाद्य-विषय अवश्य है; जिसमें नैयायिक पद्धति का आश्रय ले न्याय का खण्डन और अद्वैत सिद्धांत का मण्डन किया गया है। माना जाता है वि ोलहवीं शती में शंकर मिश्र का 'वादविनोद' इसी पद्धति पर रचा गया। ग्रन्थ में यह माना गया है कि आत्मा अज्ञेय है, परन्तु उसकी सत्ता है। कोई प... निश्चित रूप से 'सत्' अथवा 'असत्' नहीं कहा जा सकता। सभी सन्देहास्पद है। केवल निःसंदिग्ध है, सर्वव्यापिनी चेतना। मानवी बुद्धि नितान्त असमर्थ है। डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के अनुसार 'खण्डनखण्डखाद्य' अद्वैत दर्शन का महान् ग्रन्थ है।

(२) नैषधीयचरित

'नैषधीयचरित' श्रीहर्ष की सर्वाधिक चर्चित और विख्यात कृति ही नहीं संस्कृत और भारतीय साहित्य का एक गौरवग्रन्थ है। उनका यह 'मधुवर्षि काव्य' है जो स्वयम् उनके ही अनुसार चिन्तामणि-मन्त्र-सामर्थ्य से रचा जा सका है—'तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले' (नै० १।१४५)। यह काव्य बाईस सर्गों में विभक्त है, जिनमें प्रायः शताधिक श्लोक हैं, सत्रहवें सर्ग में तो दो सौ

बाईस श्लोक हैं। केवल तेरहवाँ पन्द्रहवाँ और उन्नीसवाँ सर्ग ऐसा है, जिनकी श्लोक-संख्या सौ से कम हैं। संपूर्ण सर्गों में १४५+११०+१३६+१२३+१३८+११३+११०+१०९+१६०+१३७+१३०+११३+५६+१०१+९३+१३१+२२२+१५४+६८+१६२+१६४+१५५ के क्रम से संपूर्ण काव्य में दो हजार, आठसौ, तीस श्लोक (२,८३०) हैं। विभिन्न संस्करणों में इस गणना में अन्तर है।

नैषधीयचरित की कथावस्तु और उसका आधार

'नलदमयन्ती की कहानी भारतीय जीवन की प्रसिद्ध कथा है। यह केवल 'सुधावधीरणी' ही नहीं है, 'कलिनाशिनी' भी है—'कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च। ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्त्तनं कलिनाशनम् ॥' माना जाता है कि यह त्रेतायुग की कथा है। निषधराज नल का उल्लेख वैदिक साहित्य में भी है और यह अनेक पुराणों में भी पायी जाती है—मत्स्य, स्कन्द, वायु, पद्म, अग्नि आदि में और 'महाभारत' में भी। सोमदेव भट्ट के 'कथासरित्सागर' में भी यह कथा है। समीक्षा करने से यह प्रतीति होती है कि श्रीहर्ष ने स्वकाव्य रचना में मुख्यतया 'महाभारत' की कथा को आधार बनाया है। इस प्रकार यह कहना समीचीन लगता है कि 'नैषधीयचरित' का उपजीव्य महाभारत का नलोपाख्यान है।'

महाभारत के वनपर्व में 'नलोपाख्यान' उनतीस अध्यायों (५८—७८) में है। इस आख्यान का उद्देश्य है धैर्य-धारण की प्रेरणा देना। घोर विपत्ति में भी जो धैर्यधारण कर विपत्ति दूर करने का अविचलित उद्योग करते हैं, 'विपदि धैर्यम्' जिनका विश्वास है, वे ही महात्मा हैं। नल ने अनेक विपदाएँ झेलकर अन्त में पुनः अपना राज्य प्राप्त किया और 'पुण्य-श्लोक' कहलाये। पांडवों पर भी ऐसी ही विपदा थी। कौरव दुर्योधन से द्यूत-कपट में सर्वस्व गंवाकर वे द्वैतवन में संकट के दिन काट रहे थे। तृतीय पांडव अर्जुन दिव्यास्त्र-प्राप्ति के निमित्त दैवी सहायता के उद्योग में शेष पांडवों से दूर थे। दुःखी युधिष्ठिर किंकर्तव्य-विमूढ थे कि महर्षि बृहदश्व वहाँ पहुँचे और उन्हें धीरज बँधाने के लिए 'नलोपाख्यान' सुनाया। संक्षेप में वीरसेन-सुत निषधाधिपति नल और विदर्भ-राजकुमारी दमयन्ती का परस्पर आकृष्ट होना, विरही नल

का हंस-दूत द्वारा दमयन्ती के पास सन्देश-प्रेषण और उत्तर-प्राप्ति, दमयन्ती स्वयंवर, इन्द्रादि देवों की उसमें उत्सुकता, नल-दमयन्ती-विवाह, कलि का क्रोध, कलि द्वारा प्रवृत्त पुष्कर से नल की द्यूत में पराजय और वनवास, दमयन्ती-त्याग और विरूप नल का अयोध्या में राजसारथि होकर वास, नल की दमयन्ती के दूतों द्वारा खोज और समाचार-प्राप्ति, पुनः स्वयंवर में अयोध्या नरेश के साथ आये नल की पहिचान और पुनः दमयन्ती-प्राप्ति तथा पुष्कर से ५ राज्य का पुनः पा लेना—'नलोपाख्यान' है। श्रीहर्ष ने केवल इस उपाख्यान के प्रथम छः अध्यायों की कथा को ही अपने महाकाव्य का आधार बनाया है और अपने कवित्व का विशिष्ट परिचय दिया है। कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन के साथ यही 'वृत्त' 'कथासरित्सागर' में भी है।

महाभारत की कथा में भी श्रीहर्ष ने अपनी कल्पनाशक्ति से अनेक परिवर्तन-परिवर्द्धन किये हैं और उसे चारुतर बनाया है। संक्षेप में उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

(१) 'नलोपाख्यान' के प्रथम अध्याय की कथा 'नैषध' के प्रथम तीन सर्गों में है। इस परिवर्द्धन के साथ उसमें कुछ वर्णन-भेद भी है। 'नलोपाख्यान' में नल को हंस जिस उद्यान में मिला, वह एक सामान्य उद्यान है, 'नैषध' में वर्णित वह विशिष्ट उद्यान है, जहाँ पकड़े हंस को करुणाद्रवित नल ने मुक्त कर दिया और प्रत्युपकारी हंस ने नल का दूतकर्म स्वेच्छया स्वीकारा। 'नलोपाख्यान' में हंस की मुक्ति तब होती है, जब वह दूतकर्म का वचन दे देता है। 'नलोपाख्यान' में अनेक हंस दमयन्ती के पास पहुँचे हैं, 'नैषध' में एक ही।

(२) 'नलोपाख्यान' में दमयन्ती की सखियों से उसकी अस्वस्थ दशा का समाचार पाकर विदर्भनरेश स्वयंवर का प्रबन्ध कराते हैं, 'नैषध' में समुत्थित 'विपुल कलकल' को जान कर राजा भीम पुत्री के पास पहुँचते हैं और लज्जावनता, विरहिणी दमयन्ती को देखकर स्वयंवर की घोषणा करते हैं।

(३) देवों का दूतकार्य 'नलोपाख्यान' में नल ने पूर्वविश्रुत होकर किया है, प्रतिज्ञा-भंग-दोष से बचने के लिए; जब कि 'नैषध' में देव-याचकों को

पाकर प्रियतमा दमयन्ती का भी एक प्रकार से दान करने के लिए निषधपति हर्ष के साथ तैयार हो जाता है ।

(४) प्रसन्न देवों के वरदानों में भी दोनों में अन्तर है । 'नलोपाख्यान' में प्रत्येक देव ने दो-दो वर दिये, इस प्रकार नल को आठ वरदान मिले, जब कि 'नैषध' में इन्द्र ने तीन वर नल को दिये और एक दमयन्ती को । श्रीहर्ष के नल को अग्नि ने तीन वर दिये, जिनमें एक 'नलोपाख्यान' के समान है । यम से प्राप्त दो वरों में भी एक 'नलोपाख्यान' में मिलता है; हाँ वरुण के वर एक-से हैं । 'नलोपाख्यान' में न चिन्तामणि मन्त्र है और न इसी से सम्बद्ध सरस्वती का वरदान । यह वर अपनी कवि-कल्पना है । नलोपाख्यान में दमयन्ती को दिये गये वरों का भी उल्लेख नहीं है ।

(५) 'नलोपाख्यान' में नल-परिणय से क्रुद्ध कलि द्वापर के साथ निषध-देश पहुँचता है और बारहवें वर्ष में उसे स्वकार्य-सिद्धि का अवसर मिलता है । नल मूत्रोत्सर्ग के बाद बिना पैर धोये ही संध्या करते हैं । और कलि उनमें प्रविष्ट हो जाता है । 'नैषध' में कलि निषध-देश की राजवाटिका में छिपा-छिपा नल-दमयन्ती-विलास को देखता है ।

(६) श्रीहर्ष ने दमयन्ती की सहचरी कला, काम, क्रोध, मोह, लोभ (कामसहचर), इन्द्र की दूती, वाग्देवता सरस्वती — इन नवीन पात्रों की कल्पना की है, जिनकी मूल-उपाख्यान में चर्चा नहीं है ।

(७) अनेक वर्णन श्रीहर्ष की कल्पना के ही श्रेष्ठ उदाहरण हैं । वर्णन की समृद्धि तो श्रीहर्ष के अपार वैदग्ध्य और वैदुष्य की परिचायिका है । वृक्ष, सरोवर, नगर, हंस, हंस की उड़ान, अश्व, अश्व की गति, स्वयंवर, विवाह, विवाह का उल्लास-उत्सव, कलि के माध्यम से चार्वाक दर्शन का प्रतिपादन, काम-केलि, प्रभात, संध्या, अन्धकार, चन्द्रोदय आदि के चित्रण कवि की अपार कल्पना-शीलता के द्योतक हैं, जो सर्वथा नवीन हैं।

(८) शृंगार और प्रणय की विविध स्थितियों का अत्यन्त समृद्ध वर्णन स्वयं श्रीहर्ष की कल्पना है । इसके साथ ही हंस नल-प्रसंग में कारुण्य की जो स्वाभाविकता है, वह तो कवि के विशिष्ट संवेदन की परिचायिका है ।

(९) 'नलोपाख्यान' की सरल छोटी कथा 'नैषधीयचरित' में बहुत-थोड़ी ही ली गयी है। 'नलोपाख्यान' से आदि के छः सर्गों की घटना को लेकर श्रीहर्ष ने विशाल; श्लोक राशि से संपन्न बाईस सर्ग रचे हैं। 'नलोपाख्यान' के १८६ छोटे अनुष्टुप् छन्दों में रची गयी कथा 'नैषध' में अठ्ठाईस-सौ मनोरम छन्दों में विस्तृत है।

(१०) 'नलोपाख्यान' एक उपदेश-कथा है, जब कि 'नैषधीयचरित' एक सरस, मनोरम महाकाव्य।

क्या 'नैषध' अपूर्ण महाकाव्य है ?

महाभारत के 'नलोपाख्यान' में उनतीस अध्यायों में जो नल-कथा है, वह नल के पुनः राज्य-प्राप्त करने पर पूर्णता को प्राप्त हुई है। यह एक स्वाभाविक स्थिति है। इसी आधार को लेकर यह प्रश्न उठजाता है कि क्या 'नैषधीयचरित' एक अपूर्ण महाकाव्य है? यह तो स्पष्ट ही है कि 'नैषध' का जो रूप आज प्राप्त है, उसमें सम्पूर्ण नलोपाख्यान नहीं है, केवल नल-दमयन्ती के आमोद-प्रमोद के उल्लास में वह समाप्त हो जाता है। 'देहि मे पदपल्लवमुदारम्' के स्वर में 'पञ्चबाण' की उपासना के निमित्त दमयन्ती का आह्वान करता नल-नरेश अपने को प्रिया के कामपूजन में सहायक-परिचारक के रूप में उपस्थित करदेता है—'भवतु जनः परिचारकस्तवायम्' और इसके तुरन्त बाद 'काव्यसमाप्ति' का 'चिकीर्षु' कवि नायकमुख से आशीर्वचन प्रस्तुत करा देता है कि इस 'परिणयानन्दाभिषेकोत्सव' में 'प्राप्तसहस्रधारकलश्रीः देव' 'चन्द्र' हमारे परमानन्द का कारण बनें—'परिणयानन्दाभिषेकोत्सवे देवः प्राप्तसहस्रधारकलशश्रीरस्तु नस्तुष्टये।' इस स्थिति में इस उपाख्यान के 'नैषधीयचरित' में पूर्ण रूप से न होने के दो कारण हो सकते हैं—(१) श्रीहर्ष ने किसी कारणवश इतने ही कथाभाग को अपने काव्य के लिए उपयुक्त समझा। (२) श्रीहर्ष ने पूरी कथा का उपयोग करके महाकाव्य लिखा, परन्तु प्राप्त इतना ही—द्वाविंशसर्गात्मक होता है, शेष नष्ट हो गया।

इस द्वितीय मतवाद के पोषकों का कथन है कि श्रीहर्ष का 'नैषधीय-चरित' पुष्कर से द्यूत में पराजित हो भटके नल-दमयन्ती के पुनर्मिलन और

पुनः राज्यप्राप्ति पर पूर्ण हुआ था और उसमें साठ सर्ग थे। कुछ विद्वान् एक-सौ तीस सर्गों की बात कहते हैं। इन विद्वानों की मान्यता है कि जैसे श्रीहर्ष के अन्य ग्रन्थ कालकवलित हो गये, 'नैषध' के अप्राप्य अंश के साथ भी वैसा ही हुआ।

'नैषधीयचरित' अपूर्ण महाकाव्य है—इसकी पुष्टि में प्रधानतया तीन तर्क दिये जाते हैं–(१) इस महाकाव्य का नाम 'नैषधीयचरित' है, अर्थात् यह एक 'चरितकाव्य' है, जिसमें नायक का पूर्ण चरित होना चाहिए। नल-चरित पुनः राज्यप्राप्ति पर ही पूर्ण होता है। उसकी सहिष्णुता, धैर्यधनता आदि चारित्रिक विशेषताएँ नल के उत्तर चरित्र में ही पूर्णतः स्पष्ट होती हैं। अतः यह मानना समीचीन लगता है कि धैर्यधनता और अपार कल्पना के स्वामी श्रीहर्ष ने पूर्ण चरित ही लिखा होगा; प्राप्त अपूर्ण ही है। (२) नल-दमयन्ती-स्वयंवर के पश्चात् देवों ने दोनों को वर दिये थे और अम्बर में आश्रय लिया था—'इत्थं वितीर्य वरमम्बरमाश्रयत्सु....'। (नैषधीय० १४। ९५–१)। 'नैषध' के वर्तमान रूप में इन वरों की सार्थकता सिद्ध नहीं हो पाती। (३) कलि ने कहा था कि हे विज्ञ देवों, आप मुझ कलि की यह प्रतिज्ञा नल को ज्ञात करादें कि (आज का पराजित मैं) नल को एक दिन जीतूँगा—उसे भैमी और भूमि-दोनों से विहीन बना दूँगा। मेरे और नैषध के विरोध की प्रचंडता का गान कविगण प्रचंडतेजोमय सूर्य और कुमुदों के वैर समान करेंगे—'प्रतिज्ञेयं नले विज्ञाः कलेर्विज्ञाप्यतां मम। तेन भैमीं च भूमिं च त्याजयामि जयामि तम्।। नैषधेन विरोधं मे चण्डतामण्डितौजसः। जगन्ति हन्त गायन्तु रवेः कैरववैरवत्॥ (नै० १७।१३८,१३९)। महाकवि श्रीहर्ष को यदि यह वैर-गान अपेक्षित न होता तो वे 'यह सब' भी क्यों लिखते? यदि वे इसे व्यर्थ समझते थे, तो कलि-प्रसंग की ही उपेक्षा कर देते, सत्रहवें सर्ग की आवश्यकता ही उस स्थिति में नहीं थी।

श्री नीलकमल भट्टाचार्य ने 'नैषधीयचरित' की अपूर्णता अथवा खंडितता के पक्ष में प्रायः इन्हीं तर्कों का आश्रय लिया है।

इसके विरुद्ध 'नैषधीयचरित' की वर्तमान रूप में ही पूर्णता के पक्षपाती सबसे पहिले तो 'नैषधीयप्रकाशटीका' के विद्वान् कर्ता नारायण के इस

कथन को प्रमाण मानते हैं—'महाभारतादौ वर्णितस्याप्युत्तरनलचरित्रस्य नीरसत्वान्नायकानुदयवर्णनेन रसभङ्गसम्भवाच्च काव्यस्य च सहृदयाह्लादनफलत्वाच्चोत्तरचरित्रं श्रीहर्षेण न वर्णितमित्यादि ज्ञातव्यम्'।

श्रीहर्ष ने नल के उत्तर चरित्र का वर्णन इसलिए नहीं किया कि वह नीरस है, उसमें नायक की बुरी दशा का वर्णन है, उसके वर्णन से रस-भंग होता और काव्य सहृदयों के आह्लाद के निमित्त होता है, उन्हें खेद देने के लिए नहीं। अत एव महाभारत-आदि में वर्णित संपूर्ण नल-चरित का उपयोग श्रीहर्ष ने नहीं किया।

'साहित्यविद्याधरी' में भी कुछ ऐसा ही कहा गया है—'ननु महाभारते नलोपाख्यानस्यैव वक्तुमुचितत्वात् श्रीहर्षेणोपाख्यानैकदेशे काव्यविश्रान्तिः कथं कृता, सकलनलोपाख्यानस्यैव वक्तुमुचितत्वात्। सत्यम्। काव्यं हि सहृदयहृदयानामावर्जकं भवति। हृदयावर्जकं च काव्यं स्वरसेन क्रियते। तत्र च पुनरैतिह्ये, एकदेशे सरसत्वं दृश्यते। तत्रैवानेनापि विश्रान्तिः कृता।' अर्थात् काव्य होता है सहृदयों की मनस्तुष्टि के निमित्त, जो स्व-रस से ही सम्पन्न होती है, यह स्वरसता जितना कथांश वर्तमान 'नैषध' में है, उस कथा के एक देश में ही है, सो श्रीहर्ष ने यहीं अपना काव्य पूर्ण कर दिया। कीथ भी 'नैषध' के उतने विस्तार को विश्वसनीय मानते हैं।

श्री भट्टाचार्य के तीनों अपूर्णता के आधारों का अब खण्डन कर दिया गया है। प्रथम मत के खण्डन में कहा गया है कि 'नैषध' चरित-काव्य भले ही हो परन्तु श्रीहर्ष को केवल 'पुण्य-श्लोक' नल का आनन्ददोल्लास स्वकाव्य में वर्णित करना था, क्योंकि उनका 'नैषधीयचरित' महाकाव्य 'शृङ्गार-भङ्गया' (नै० १।१४५) 'चारु' है। शृंगारसप्रधान काव्य में प्रधानता शृङ्गार-प्रसंग को ही देनी होती है, जिससे सहृदयाह्लाद हो। इसके निमित्त नल-दमयन्ती-उल्लास-विलास तक का ही उपाख्यान उपयुक्त है, उत्तरचरित्र उपयुक्त नहीं, उससे खिन्नता आयेगी। शृंगार के वियोग-संयोग—दोनों पक्षों का मर्मस्पर्शी चित्रण इतने अंश में भलीभाँति हो गया है। इसके अतिरिक्त यह नल-कथा नल को महत्त्व देती है, उत्तरचरित्र में तो नल की महत्ता रह

ही नहीं जाती, वह तो भाग्य के हाथ का एक खिलौना मात्र रह जाता है—करुणोत्पादक। उनका उदात्तचरित्र इस पूर्वकथा में उद्घाटित हो गया है। इसके अतिरिक्त उत्तरचरित्र में नल-दमयन्ती-वियोग हो जाता है, यह वर्णन कवि को अभीष्ट नहीं हो सकता; क्योंकि विवाहोपरांत नल के द्वारा दमयन्ती का दिया वचन इससे झूठा पड़ जाता। कविने 'असत्यकातर' नल से दमयन्ती को वचन दिलाया है—'नोज्झिताऽस्मि भवतीं तदित्ययं व्याहरद्वरमसत्यकातरः।' (नै० १८।४९)। मैं (नल) तुम्हें (दमयन्ती) को कभी न छोड़ूँगा। क्या उत्तरचरित्र का वर्णन कर कवि अपने उदात्त नायक को वचन भंग का दोषी बना देता? उत्तरचरित्र में तो वन में नल ने दमयन्ती का त्याग किया है—'जगामैका वने शून्ये भार्यामुत्सृज्य दुःखितः।' (नलोपाख्यान १०।२९)।

देव-वरों का उपयोग 'नैषध' में हुआ है। सामूहिक रूप से दमयन्ती को वर दिया गया था कि तुम्हें अभीष्ट देह-परिवर्तन की विद्या प्राप्त हो—'आप्तुमाकृतिमतो मनीषितां विद्यया हृदि तवाप्युदीयताम्' (नै० १४।९१ अथवा ९४)। इस वर का उपयोग किया गया है लीलाविलासरता दमयन्ती द्वारा नल को रिझाने के लिए अनेक दिव्यांगनाओं का वेष बना-बनाकर नित्य नवीन दीखते हुए—'रूपवेषवसनाङ्गवासनाभूषणादिषु पृथग्विदग्धताम्। साऽन्यदिव्ययुवतिभ्रमक्षमा नित्यमेत्य तमगान्नवा नवा।' (नै० १८।७४ या ७९)।

इसी प्रकार वरुण ने नल को वर दिया था कि नल की इच्छानुसार मरुस्थल में भी जल हो सकेगा—'यत्राभिलाषस्तव तत्र देशे नन्वस्तु धन्वन्यपि तूर्णमर्णः।' (नै० १४।८० या ८३) इस वर का उपयोग किया गया है परिहास कुशला सखियों को अपने विलासगृह में रिक्त चुलुक फेंक कर भिगो देने में—'तच्चित्रदत्तचित्ताभ्यामुच्चैः सिचयसेचनम्। ताभ्यामलम्भि दूरेऽपि नलेच्छापूरिभिर्जलैः॥ वरेण वरुणास्यायं सुलभैरम्भसां भरैः। एतयोः स्तिमितीचक्रे हृदयं विस्मयैरपि॥' (नै० २०।१२५–१२६ या १२६-१२७)।

हाँ, सम्पूर्ण वरों का प्रयोग इस कथा में नहीं हो पाया है, संभव ही नहीं था। जहाँ तक कलि-कलह का प्रश्न है, यह प्रसंग उल्लास, आनन्द का प्रसंग नहीं है; यह तो 'पाप-कथा' है। 'कथाऽपि खलु पापानामलमश्रेयसे'—'पापकथा'

तो अकल्याणकरी होती ही है; सो यदि रसराज शृंगार के धनी कवि द्वारा वह नहीं कही गयी, तो आश्चर्य नहीं। पापी की प्रतिज्ञा पूर्ण हो, यह श्रीहर्ष का अभीष्ट ही नहीं है। श्रीहर्ष की दृष्टि में कलि 'पाप' था—'कलि: प्राप म्लापयितुं पाप:।' (१७।१६१ प्रकाश टीका)। वह बहुत दिनों तक भटकता रहा, पर उसे पैर टिकाने को भी स्थान न मिला—'न प्रसारयितुं काल: कलि: पदमपारयत्।' (नै० १७।१६३)। बहुत दिन इधर-उधर भटकने पर उसे स्थान भी मिला तो गृहोद्यान के लांछनभूत 'बिभीतक' कुटवृक्ष पर (नै० १७।२१२)। वहाँ भी पड़े-पड़े वह राजर्षि नल का कुछ न बिगाड़ पाया और बहुत से वर्ष व्यतीत हो गये थे उसे नल में कोई कलुष नहीं मिल सका—'बिभीतकमधिष्ठाय तथा भूतेन तिष्ठता। तेन भीमभुवोऽभीक: स राजर्षिरधर्षि न ॥ तमालम्बनमासाद्य वैदर्भीनिषधेशयो:। कलुषं कलिरन्विष्यन्नवात्सीद्वत्सरान् बहून्।' (नै० १७।२१६-२१७)। श्रीहर्ष ने लिखा है—स्फारे तादृशि वैरिसेन-नगरे पुण्यै: प्रजानां घनम्। विघ्नं लब्धवतश्चिराद्गुनतिस्तस्मिन् किलाभूत्कले:। वैरिसेन नल के प्रजाजन के पुण्यों से धर्मबहुल विशाल नगर में, सुना जाता है—कलि बहुत दिनों तक लड़ता रहा (नै० १७।२२१)। 'प्रकाश' कार ने इस पर लिखा है कि कवि ने कलि-कलह से उत्पन्न नायक के पराभव-वर्णन अवर्णनीय माना, अत: नहीं कही वह 'पापकथा'—'कलिकर्तृकपराभवस्य भविष्यत्त्वान्नाय-कापकर्षस्यावर्णनीयत्वाच्च स नोक्त:।'

महाकवि श्रीहर्ष रससिद्ध अमर कवि हैं, वे इतिहास या घटनाओं के लेखक मात्र नहीं। घटना वर्णन मात्र से कविपद प्राप्त भी नहीं होता। आनन्दवर्द्धना-चार्य ने स्पष्ट कह दिया है—'न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेणात्मपदलाभ:।' श्रीहर्ष 'व्युत्पत्तिमात्र' देने वाले इतिहासकार नहीं थे, जिनके विषय में धनञ्जय ने कहा है:—'आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धि:। योऽपी-तिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नम: स्वादुपराङ्मुखाय ॥' (दशरूपक १।६)।

महाभारतकार की भाँति किसी बृहदश्व मुनि द्वारा विपद्ग्रस्त युधिष्ठिर को 'विपदि धैर्यम्' की शिक्षा देने के लिए कहा गया यह 'नलोपाख्यान' नहीं है, यह 'नैषधीयचरित' 'सहस्रवारकलशश्री' देव की मधुवर्षा से रसिक सुधीजन को 'रसोर्मिमज्जनसुख' देने वाला शृङ्गारोज्ज्वल महाकाव्य है।

संभावना यही है कि बाईस सर्ग में ही 'नैषध' पूर्ण है, जितनी भी टीकाएँ प्राप्त हैं, द्वाविंश सर्गात्मिका ही हैं।

नैषध : संस्कृत-महाकाव्य-परम्परा का गौरव

आदिकवि वाल्मीकि रचित आदि महाकाव्य 'रामायण' से जिस संस्कृत-महाकाव्य-परंपरा का समारंभ हुआ, कालिदास के 'रघुवंश' और 'कुमारसंभव', भारवि के 'किरातार्जुनीय' और माघ के 'शिशुपालवध' से जो पुष्ट हुई, श्रीहर्ष का 'नैषधीयचरित' उस परंपरा का एक गौरव ग्रन्थ है। पुण्यश्लोक निषधनरेश नल के पवित्र चरित्र को आधार बनाकर लिखा गया यह महाकाव्य इस परम्परा की अन्तिम महत्त्वपूर्ण रचना मानी जाती है। कहा तो यहाँ तक गया है कि नैषध-काव्य के संमुख न माघ कवि का काव्य ठहरता है, न भारवि का—'उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः।'

भारतीय आचार्य-परम्परा में 'काव्यादर्श' के रचयिता दंडी के अनुसार 'सर्गबंध' महाकाव्य कहा जाता है—'सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते।' उसके लक्षण उन्होंने इस प्रकार बताये हैं :—

आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मुखम्।
इतिहासकथोद्भूतमन्यद्वापि सदाश्रयम्।
चतुर्वर्गफलोपेतं चतुरोदात्तनायकम्।
नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः।
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः।
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि।
अलङ्कृतमसंक्षिप्तरसभावनिरन्तरम्।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः।
सर्वत्रभिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम्।
काव्यं कल्पोत्तरस्थायि जायेत सदलङ्कृति:॥ (काव्यादर्श/१४-१९)।

अर्थात् महाकाव्य का आरम्भ आशीष, नमस्कार और (अथवा) 'वस्तु' के निर्देश से होना चाहिए, जिसका आधार कोई ऐतिहासिक कथा हो, यों इतिहासा-

तिरिक्त भी आधार हो सकता है। चतुर्वर्गफल-प्राप्ति का उसे साधक होना चाहिए; उसका नायक चतुर और उदात्त हो। नगर समुद्र, पर्वत, ऋतुएँ, चन्द्र-सूर्य, उद्यान, जलक्रीडा, मधुपान, रत, उत्सव, वियोग-संयोग का वर्णन होना चाहिए; युद्ध, मंत्रणा, दूतप्रयाणादि द्वारा चरित नायकों का उदय दिखाया जाना चाहिए। वह अलंकारों से सज्जित हो, संक्षिप्त न हो, रस-भाव के नैरन्तर्य से परिपूर्ण हो। अनतिविस्तीर्ण, कर्णप्रिय छन्दों से युक्त, संधिसमन्वित, अनेक लोकरंजक वृत्तान्तों से पूर्ण काव्य श्रेष्ठ और चिरस्थायी बनता है।

'काव्यालंकार'—रचयिता भामह ने संक्षेप में लगभग ये ही बातें बतायी हैं:—

सर्गबन्धो महाकाव्यं महतां च महच्च यत्।
अग्राम्यशब्दमर्थ्यं च सालङ्कारं सदाश्रयम् ॥
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्च यत्।
पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तं जातिव्याख्येयमृद्धिमत् ॥
चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत्।
युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् ॥

रुद्रट ने अपने 'काव्यालंकार' (१६।५–१९) में इन्हीं लक्षणों को विस्तार से कहा है। 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' में विद्यानाथ ने महाकाव्य का लक्षण बताते हुए कहा है:—

नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनम्।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवाः ॥
विप्रलम्भो विवाहश्च कुमारोदयवर्णनम्।
मन्त्रद्यूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदया अपि ॥
एतानि यत्र वर्ण्यन्ते तन्महाकाव्यमुच्यते। (प्र० यशो० ३।६८–७०)

स्पष्ट है कि विद्यानाथ ने दण्डी के लक्षण को लगभग दुहरा दिया है। कुमारस्वामी सोमपीथी ने इसकी व्याख्या में कह ही दिया है—तत्प्रपञ्चस्तु काव्यादर्शे द्रष्टव्यः।

विस्तृतरूप में विश्वनाथ ने महाकाव्य को निरूपित किया है। इस निरूपण में कोई विशेषता कहने से बच नहीं पायी है:—

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः ।।
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ।
शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः ।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ।।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्त्तनम् ।
एकवृत्तपदैः पद्यैरवसानेन्यवृत्तकैः ।।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः काचन दृश्यते ।।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ।
सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ।।
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ।
सम्भोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ।।
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ।
वर्णनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह ।।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ।
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु ।।

— साहित्यदर्पण, ६।३१६–३२५ ।

इस विवरण में महाकाव्य का प्रत्येक अंग आ जाता है—इतिवृत्त और उसकी संरचना, पात्र (नायक), रस, छंद, प्रकृत्यादि का वर्णन, काव्य-नाम, उद्देश्य ।

(१) इतिवृत्त—महाकाव्य सर्गबंध होता है, इन्हीं में विभक्त उसका इतिवृत्त अच्छा हो कि ऐतिहासिक हो, किंतु किसी अन्य सद्–व्यक्ति को भी उसका आधार बनाया जा सकता है । नाटकादि के लिए निर्दिष्ट पंचसंधियों के अनुरूप यदि वृत्त-संरचना हो तो अधिक उपयुक्त हो सकती है । इसका निर्देश

प्रारंभ में ही हो सकता है, आशीष्–नमस्क्रिया के साथ। जहाँ तक सर्गों का प्रश्न है, वे आठ से अधिक होने चाहिएँ, वे न तो बहुत बड़े हों, न बहुत छोटे ही। सर्गान्त में कथा की सूचना दी जानी अच्छी होती है।

(२) पात्र—महाकाव्य का नायक देवता हो अथवा धीरोदात्तगुण समन्वित सद्वंश क्षत्रिय। धीरोदात्त अर्थात् अविकत्थन, क्षमावान्, अतिगंभीर, महासत्त्व, स्थिरमति, आत्मसंमानी, दृढव्रत व्यक्ति। एक वंश में जन्मे अनेक अभिजात राजा भी नायक हो सकते हैं।

(३) रस—अंगी अर्थात् प्रधान रस शृंगार, वीर, शांत में से कोई हो, शेष सब रस सहायक—अंगरूप में रहें।

(४) छंद—एक सर्ग में एक ही छंद हो तो अच्छा है, पर वह नानाछंदमय भी हो सकता है। सर्ग का अंतिम छंद शेष से भिन्न हो। इससे वैविध्य और चमत्कार आजाता है।

(५) वर्णन—वर्णनों की प्रचुरता रहनी चाहिए, इससे विविधता आजाती है और यथार्थ-बोध सुगम हो जाते हैं। संध्या, रात्रि, प्रभात, दोपहरी, सूर्य चंद्रोदय, मृगया, संयोग-वियोग, वन, नदी, पर्वत, सागर रणयात्रा, मंत्र—आदि सबका अभीष्ट वर्णन महाकाव्य की उपयोगिता बढ़ा देते हैं।

(६) नाम-महाकाव्य का नाम कवि के नाम पर (माघ), वृत्त के आधार पर (कुमारसंभव, रावणवध), नायक के नाम पर अथवा और उपयुक्त आधार पर निर्धारित करना उचित है।

(७) उद्देश्य मानव जीवन का उद्देश्य है—चतुर्वर्गप्राप्ति अर्थात् यथाक्रम धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का साधन। इन्हीं चार में संपूर्ण मानव-जीवन का प्राप्य आ जाता है। यही सुखपूर्वक, सरसता से, सहज ढंग से सुकुमारमति जनों को भी सुलभ बना देता है। महाकाव्य के अध्ययन से मानव प्रेरणा ले, चरित्रवान् बने और अपनी तथा समाज की गौरव-वृद्धि करे—यही उसका उद्देश्य है—'चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि'—यही काव्य का प्रयोजन है।

भारतीय परंपरा में यही महाकाव्य की उपयोगिता है और यही परिभाषा, जिसे हेमचन्द्रसूरि (काव्यानुशासन ८।६) के अनुसार संक्षेप में कहा

जा सकता है—'पद्यं प्राय: संस्कृतप्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषानिबद्धभिन्नान्त्यवृत्त-सर्गाश्वास–सन्ध्यवस्कन्धबन्धं सासन्धिशब्दार्थवैचित्र्योपेतं महाकाव्यम् ।

अग्निपुराण (३३७।२४-३४) में यही विस्तार से कहा गया है, जिसमें यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि यद्यपि महाकाव्य में वाग्वैदग्ध्य की प्रधानता रहती है, पर उसका जीवित रस ही है—'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्रजीनम्' । अग्निपुराण के अनुसार वह समानवृत्ति-निर्व्यूढ और कैशिकी-वृत्ति से कोमल होना चाहिए ।

पाश्चात्य साहित्य में महाकाव्य की धारणा पर 'एपिक' शब्द का प्रयोग किया जाता है । यूनानी मनीषी अरस्तू के अनुसार कथावस्तु की संरचना, चरित्रचित्रण, भाषा-छंद का सौष्ठव, और उदात्त विचार 'एपिक' के आवश्यक तत्त्व हैं । कथा छन्दोवद्ध, विस्तृत और चरित्रप्रधान होनी चाहिए और वह पूर्ण होनी चाहिए, जिसके आरम्भ, मध्य और अंत सुगठित हों । चरित्र-चित्रण यथार्थ कि साथ-साथ उच्च और विस्मयपूर्ण घटनाओं से पूर्ण हो, जिससे शाश्वत और महान् सत्य का उदघाटन हो सके ।

सोलहवीं शती में इस सम्बन्ध में इटली में विचार हुआ और 'एपिक'—सम्बन्धी धारणाएँ बनी, उनके अनुसार 'विडा' (Vida) की दृष्टि में महा-काव्य कला का सर्वोत्कृष्ट रूप है । 'होरेस' को मान्यता देते हुए 'डेनियेलो' ने महाकाव्य को राजाओं अथवा उच्चचरित्र-पुरुषों के जीवन की अनुकृति माना है 'ट्रिसिनो' ने वस्तु-संघटना पर विशेष बल दिया है । विशद रूप में विचार करते हुए 'जिराल्डी शिटो' ने 'एपिक पोइट्री' को प्रख्यात चरितों का अनुकरण माना और उसके तीन भेद किये–(१) व्यक्ति के एक चरित का अनुकरण, (२) व्यक्ति के अनेक चरितों का अनुकरण और (३) अनेक व्यक्तिओं के अनेक चरितों का अनुकरण । 'कैसेलेवेत्रो' ने महाकाव्य के दो भेद किये—(१) चरित-महाकाव्य और (२) काल्पनिक-महाकाव्य । 'टारक्वैटो टैसो' ने महाकाव्य के संगठन को विशेष महत्त्वपूर्ण माना और नायक का उदात्त गुणों से युक्त होना आवश्यक बताया । 'एबरक्राम्बी' और 'सी० एम० बावरा' ने महाकाव्य दो प्रकार के माने—(१) साहित्यिक, जिसमें सत्य का विवेचन और कलात्मक आनंद की सृष्टि पर बल होता है और (२) ऐतिहासिक, जिसमें शूर-वीरों के आदर्श की प्रधानता होती है ।

जर्मन मनीषी गेटे के अनुसार महाकाव्य नाटक के अनुरूप सुसंगठित और विकसित होता है। जहाँ तक युग-चित्रण का प्रश्न है, नाटक में जहाँ वर्तमान जीवन-जगत् का चित्रण प्रधान होता है, वहाँ महाकाव्य में अतीत का चित्रण। कल्पना और विचारों का स्वच्छंद प्रकाशन महाकाव्य में सम्भव है। अपने ग्रन्थ 'पोइटिक' में 'वैकरनेजल' ने काव्य के विकास पर दृष्टि डालते हुए महाकाव्य दो प्रकार का माना है—(१) वर्णनात्मक, (२) प्रगीतात्मक।

हीगेल के अनुसार एपिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण विधान है, उसकी कथावस्तु विस्तृत ही नहीं, घटनाएँ भी महत्त्वपूर्ण हों। ऐतिहासिकता के समावेश से काव्य महान् बनता है। महाकाव्य का नायक सम्पूर्ण मानव, सार्वभौम, गुणी, इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति होना चाहिए, जिसका चरित्र क्रमशः प्रकाशित होना चाहिए। दैवी घटनाओं का चित्रण स्वाभाविक रूप में किया जाना उचित है। राष्ट्रीयता अथवा क्षेत्रीयता की अपेक्षा 'एपिक' में सार्वभौमिकता पर अधिक ध्यान रखना चाहिए। कुछ वीरगाथाओं को जोड़ देना ही महाकाव्य नहीं है, उनका सुसंगठित, क्रमिक विकास अपेक्षित होता है।

महाकाव्य की पाश्चात्य अवधारणा के अनुसार उसमें (१) कथावस्तु, (२) चरित्रचित्रण, (३) वर्णन, (४) शैली और (५) उद्देश्य—इन पाँच अंगों पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

(१) कथानक ऐतिहासिक और व्यापक होना चाहिए, महत्त्वपूर्ण घटनाओं से सुसंगठित, यों कुछ काल्पनिक घटनाओं का समावेश भी हो सकता है। उसमें जीवन के विविध पक्षों को उजागर करने की क्षमता होनी चाहिए।

(२) महाकाव्य में अन्य पात्रों की अपेक्षा नायक के चरित्रचित्रण पर ध्यान अधिक आवश्यक है। भारतीय परम्परा के अनुसार वह देव अथवा उच्चवंशीय भले ही न हो, पर उच्च गुणों का समावेश उसमें अवश्य होना चाहिए। कुछ आचार्यों ने सम्राट्, महापुरुष और प्रतिष्ठित परिवार के व्यक्ति को ही महाकाव्य की नायकता में माना है। यह प्रायः सभी ने माना है कि वह प्रशंसनीय कार्य करने वाला हो।

(३) वर्णनप्रधान तो महाकाव्य को होना ही चाहिए, पर वर्णन रोचक और सजीव हों। इससे पृष्ठभूमि, घटनाएँ, चरित्र, उनके कार्य— सभी का उद्घाटन होता है।

(४) कुछ आचार्यों की मान्यता है कि 'एपिक' में 'हीरोइक मीटर' (वीररसात्मक छंद) का प्रयोग उचित हैं, परन्तु वीररस के अतिरिक्त अन्य-रसप्रधान काव्यों के लिए यह उपयुक्त नहीं होता, अतः अन्य मनीषी मानते हैं कि भावानुरूप छन्दोयोजना उचित है। शैली भी भावानुरूपिणी ही होनी उचित है।

(५) महाकाव्य के विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न उद्देश्य बनाये हैं। प्राचीनतम आचार्यों ने नैतिकता और धार्मिकता पर बल दिया है, जबकि अरस्तू ने आनन्द और सत्य का उद्घाटन महाकाव्य का उद्देश्य माना है। जो भी हो, महाकाव्य का उद्देश्य होना महान् ही चाहिए, उसकी व्यापकता और प्रभावशीलता स्वतः लोकरंजन में समर्थ होगी !

भारतीय और पाश्चात्य—दोनों प्रकार की मान्यताओं पर ध्यान देने से एक बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि कथावस्तु, चरित्र, शैली और उद्देश्य—इन चारों अंगों की दृष्टि से महाकाव्य को 'महान्' होना चाहिए। उसका महान् कलेवर ही उसे 'महाकाव्य' नहीं बनाता, प्रत्युत उसकी महत्ता के आधारभूत कथावस्तु आदि अंग ही हैं जिनकी उदात्तता उसे महाकाव्य बनाती है।

दोनों प्रकार की मान्यताओं पर ध्यान रखते हुए 'नैषधीयचरित' की समीक्षा करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उसमें प्रायः ये सभी विशेषताएँ हैं।

(१) **इतिवृत्त अथवा कथावस्तु**—'नैषध' की कथा 'पुराणेतिहासादि-प्रसिद्ध वृत्तांत' अर्थात् ख्यात है। जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है कि 'महाभारत' के वनपर्व का 'नलोपाख्यान' (५८–७८ अध्याय) इसका प्रमुख आधार है। जैसा कि 'प्रकाश'-कार ने लिखा है, 'नैषध' का आरम्भ पुण्यश्लोक नलरूप विशिष्ट के निर्देश से हुआ है—'अत्र पुण्यश्लोकनलरूपविशिष्टवस्तु-निर्देशेन निर्विघ्नग्रन्थसमाप्तिः।' 'इतिवृत्त'—संघटन 'पञ्च-सन्धि-समन्वित' है। मुखसन्धि है—प्रथम, द्वितीय, तृतीय सर्ग में। इन सर्गों में 'नानार्थ रस-सम्भवा बीजसमुत्पत्ति' हो जाती है—दमयन्ती-नल का अनुरागरूप बीज समुत्पन्न हो जाता है। चतुर्थ सर्ग में प्रतिमुखसंधि है, जिसमें आरब्ध बीज का

उद्घाटन होकर उत्तरोत्तर विकास का तारतम्य दृष्टिगोचर हो जाता है। दमयन्ती के पिता भीम दमयन्ती-स्वयंवर का निश्चय करते हैं। पञ्चम से नवम सर्ग का कथानक 'गर्भसंधि' है। भरतमुनि के अनुसार जहाँ मुख तथा प्रतिमुख संधि की उत्पत्ति और उद्घाटन दशाओं से आविष्ट बीज का उद्भेद अथवा प्राप्ति या अप्राप्ति और पुनरन्वेषण होता है, वह गर्भसंधि है। (नाट्य-शास्त्र १९।४१)। अभिनवगुप्त के अनुसार उद्भेद का अर्थ है 'फलजनाभिमुखता'। प्राप्ति नायकविषया होती है और अप्राप्ति प्रतिनायकविषया। प्राप्ति, अप्राप्ति और अन्वेषण— इन्हीं बार-बार होती रहती अवस्थाओं से युक्त गर्भसन्धि होती है। इन सर्गों में नल देवदूत हो दमयन्ती से मिलते हैं। और स्वयंवर में संमिलित होने का वचन देते हैं। इसमें प्राप्ति है नल-विषया, अप्राप्ति है देवादिप्रतिनायक विषया और अन्वेषण है वह नल का स्वयंवर में संमिलित होने का वचन, जिससे फल-प्राप्ति की आशा बंधती है। विमर्शसंधि का प्रसंग आता है चतुर्दश सर्ग के समाप्त होते-होते, जब देवगण प्रकट हो नल—दमयन्ती को आशीर्वाद और वर देते हैं। इसमें नल—दमयन्ती-अनुरागरूप बीज पुनः प्रकट होता है। इस संधि में विघ्नों द्वारा बीजार्थ बाधित होता है, विघ्न—हेतुओं का निबंधन होता है, फल-प्राप्ति में संदेह भी होता है, किन्तु नियत-फलाप्ति अवस्था व्याप्त रहती है। देवगण विघ्न हैं, पर उनका उपशमन हो, नल-दमयन्ती-परिणय की आशा नियत हो जाती है। पंचदश-षोडश सर्गों में 'निर्वहण' संधि है। वरमाला पड़ती है, विवाह हो जाता है और आगे के सर्गों में संजात नल-दमयन्ती-मिलन की पूर्ण भूमिका बन जाती है। पूर्वकथित चारों संधियों के प्रारम्भादि अर्थों का समानयन हो जाता है, जैसा कि अभिनवगुप्त ने बताया है कि क्रम से उत्पत्ति, उद्घाटन, उद्भेद और गर्भ-निर्भेद-रूप बीज-विकारों से युक्त, नानाविध सुख-दुःखात्मक हास, शोक, क्रोधादि भावों से चमत्कारास्पद उत्कृष्टता प्राप्त मुखादि चारों संधियों के प्रारम्भादि अर्थों का एक अर्थराशि में समानयन—अर्थात् फलनिष्पत्ति में योजन निर्वहण है, जो फलयोगावस्था से व्याप्त रहता है। (ना०शा० १९।४२ पर अभिनव भारती)। नायक नल का 'कार्य' है दमयन्ती प्राप्ति, वह यहाँ सम्पन्न हो जाता है।

यह कथानक आठ से अधिक अर्थात् बाइस सर्गों में व्याप्त है। कोई सर्ग ऐसा छोटा तो नहीं है, परन्तु एक-दो सर्ग दीर्घ अवश्य हैं, भले ही नातिदीर्घ हो; जैसे दो सौ बाईस श्लोकों का सप्तदश सर्ग। सर्गांत में भाविकथा का आभास प्रायः मिल जाया करता है।

(२) पात्र—'नैषधीयचरित्र' के प्रधानपात्र नल और दमयन्ती हैं। प्रतिनायक रूप में हैं इंद्र, यम, अग्नि, वरुण, जो आगे चलकर नल के सहायक हो जाते हैं। वस्तुतः 'नलोपाख्यान' का प्रतिनायक तो कलि है, जिसका उपयोग ही नैषधीयचरित में अवाञ्छित रहा है। केवल सत्रहवें सर्ग में उसका रोष दिखाया जासका, जिसमें चार्वाकदर्शन का दर्शन तो हो जाता है, शेष के लिए अवसर ही नहीं आया। शेष सामान्य पात्र हैं विदर्भनरेश भीम, स्वयंवर में एकत्र नरेश और देवी सरस्वती तथा दमयन्ती की सखियाँ। इन सबकी प्रसंगतः चर्चा आ गयी है। भीम एक हितचिन्तक पिता हैं, देवी सरस्वती वाग्देवी हैं, जिन्होंने स्वयंवर में दमयन्ती का दिशा-निर्देश किया। कला आदि सखियाँ राजनंदिनी की उपयुक्त परिचारिकाएँ हैं, राजमर्यादा को समझने वाली। एक विशिष्ट पात्र है पक्षी हंस, जो एक कुशल दूत का कार्य करता है और जिसकी कथा के माध्यम से करुणप्रसंग की मार्मिक अभिव्यक्ति हो गयी है। इस प्रकार 'नैषध' में मानव-मानवी, देव-देवी और मानवेतर प्राणी प्रकार के पात्र हैं, जो यद्यपि संख्या में थोड़े हैं, तथापि गुणों में प्रभूत हैं।

(क) नल—परम्परा के अनुसार नल सद्वंशोत्पन्न कुलीन क्षत्रिय है, जिसे पुराणादि में पुण्यश्लोक कहा गया है, जो प्रातः स्मरणीयों में प्रथम है—'पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः। पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको जनार्दनः॥' 'नैषधीयचरित्र' के आरम्भ के तीस श्लोकों में नल का वर्णन किया गया है, जिनमें उसके रूप, गुण, समृद्धि, बल, वैभव, प्रभाव, श्री, शोभा, कांति, उदारता, वीरता, दानशीलता आदि का विस्तार से उद्घाटन किया गया है। वे चतुर्दश विद्याओं के ज्ञाता हैं, कलामर्मज्ञ हैं, 'महोज्ज्वल' हैं और 'महसां राशि' हैं। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार वे 'धीरोदात्त' नायक हैं—आत्मप्रशंसा की श्लाघा न करने वाले, क्षमावान्, अति गम्भीर, निन्दा-प्रशंसा, हर्ष-शोकादि से अप्रभावित, स्थिरमति, स्वाभि-

मानी और वचनपालक। विश्वनाथ महापात्र के शब्दों में—'अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः। स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः॥' (सा० द० ३।३२)।

उनके अनुराग की गम्भीरता, करुणार्द्रता, कला-विलास-प्रियता, दान-शीलता, दृढप्रतिज्ञता आदि के दर्शन इस काव्य में अनेक स्थलों पर हुए हैं। दमयन्ती के प्रति उनका अनुराग गूढ ही रहा, उन्होंने उसे प्रकट न होने देने के लिए एकांत उद्यान--सेवन उचित समझा। उन्होंने दमयन्ती की उसके पिता से याचना भी नहीं की। वचननिर्वाह के लिए, देवों को दान करने के लिए उन्होंने ऐसा दूतकार्य किया, जो स्वयम् उनके लिए, स्वार्थ-विघातक था। उनकी करुणाशीलता हंस-प्रसंग में व्यक्त हुई है। उनकी करुणाशीलता और उदार व्यवहार के कारण ही हंस ने उनका दूतत्व स्वीकारा। 'नैषधीयचरित' में क्रमशः उनके चरित का विकास दिखाया गया है, जो काव्य के नाम और 'चरितकाव्यत्व' को प्रमाणित करता है। नल संस्कृत परंपरा के आदर्श नायक हैं, जिनकी उदात्तता और महत्ता का चरित—पाठकों पर व्यापक सत्प्रभाव पड़ता है।

(ख) **दमयन्ती**—'नाट्यशास्त्र' के रचयिता भरतमुनि के अनुसार सुख की मूल स्त्रियाँ 'नानाशीला' होती हैं, उनके भिन्न-भिन्न स्वभाव होते हैं। इनके प्रकृत्यनुसारी तीन भेद होते है--कुलीना (आभ्यंतरा), बाह्या (वेश्या) और कृतशौचा (बाह्याभ्यंतरा)। आभ्यंतर स्त्री-पात्रों में महादेवी देवियाँ और उनका समस्त परिचारिका-मंडल आता है। दमयन्ती की सखियाँ भी इसी मंडल की आभ्यंतर पात्रियाँ हैं। 'नैषधीयचरित' की प्रधान पात्री दमयन्ती भी कुलीना नायिका है, अपने कौमार्यकाल में वह 'अन्या' (अनूढा परकीया) है, विवाहोपरांत वह 'स्वा' (विवाहिता, स्वीया) हो जाती है। नायक-संबंध से वह आरम्भ में विरहोत्कंठिता है, विवाहोपरांत वह प्रिय की प्रिया है। 'नैषध' में दमयन्ती को रूप-गुण की दृष्टि से विश्व में सर्वोत्कृष्ट चित्रित किया गया है। उसका नाम ही 'दमयन्ती' इसलिए पड़ा है कि वह अपनी तनुश्री से त्रिलोकी की सुन्दरियों के सौंदर्याभिमान का दमन करनेवाली है :—

भुवनत्रयसुभ्रुवामसौ दमयन्ती कमनीयतामदम्।
उदियाय यतस्तनुश्रिया दमयन्तीति ततोऽभिधां दधौ॥ (नै. २।१८)।

'नैषधीयचरित' (२।१८–४३) में उसके रूप-गुणों का विस्तार से वर्णन किया गया है और उस विवरण के पश्चात् हंस-वाणी में यह बताया गया है कि दमयन्ती नल के बिना शोभा न पासकेगी और नल का यह रूप उसके बिना निष्फल है। (२।४४–४५)। इस प्रकार नल-दमयन्ती को परस्परानुकूलता बनायी गयी। नल नरश्रेष्ठ है और दमयन्ती त्रैलोक्यसुन्दरी है–

'प्रियं' प्रियां च त्रिजगज्जयश्रियौ लिखाधिलीलागृहभित्तिकावपि।
इति स्म सा कारुतरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते॥
(नै० १।३८)

वह नल के सदृश है—'सदृशी तव शूर सा' (२।३९)। हंस दूत ने इसी सब का ध्यान रखते हुए कहा था–

धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिका या यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति॥ (३।११६)।

वह विदर्भकुमारी धन्य है, जिसने धैर्यधन निषधराज को भी आकृष्ट कर लिया। जैसे चाँदनी गंभीर सागर को भी उत्तरल कर देती है, वैसे ही दमयन्ती ने नल को उत्तरल कर दिया। इससे अधिक उसके विषय में और कहा ही क्या जा सकता है ?

अनेक स्थलों पर 'नैषध' में उसके विविध स्वरूपों का तनुश्री का तथा, अङ्गसुषमा का विशद चित्रण हुआ है, जिससे वह सर्वथा श्रेष्ठ आदर्श नायिका प्रमाणित होती है। आरम्भ में नलमुग्धा अनुरागिणी नायिका है। उसका नल के प्रति अनुराग इतना दृढ है कि विश्व में नल के आगे वह किसी को मान्यता नहीं देती, न किसी राजा–सम्राट् को, न इंद्रादि देवताओं को। उसका चित्त तो केवल नल की कामना करता है–'चेतो नलं कामयते मदीयम्।' स्वर्णपुरी लंका की भी उसे कामना नहीं है–'चेतो न लङ्कामयते मदीयम्।' यदि नल नहीं तो फिर 'अनल' (अग्नि) में जल मरना ही है—' चेतोऽनलं कामयते मदीयम्।' विवाह होने के बाद उसका अनुराग, पूर्णता को प्राप्त हो जाता है और वह नरराज नल को 'तृतीय-पुरुषार्थवारिधि' में तरानेवाली 'तरी' (नौका) बन जाती है। और फिर 'दिवानिश' आनन्द-उल्लास-विलास का सागर उमड़ पड़ता है। हेममयी भूमि से दमकते 'नैकवर्णमणिकोटिकुट्टिमसौधः भूधर' में

मदनाराधना चलने लगती है। 'नैषध' का अठ्ठारहवाँ सर्ग इसीके शृङ्गार से आप्लावित है।

ऋजुता, मधुरता, विनयशीलता आदि दमयन्ती के स्वाभाविक गुणों का विकास 'नैषध' में निरन्तर दीखता है। दमयन्ती विश्व-काव्य की अवि-स्मरणी नायिका है, जिसके बाह्याभ्यन्तर शृङ्गार से 'नैषधीय–चरित' मंडित है।

(३) **रस—**अंगीरस—'नैषधीयचरित' के रचयिता श्रीहर्ष के अनुसार उनका काव्य शृंगारामृतवर्षी शीतकर चन्द्र है—'शृङ्गारामृतशीतगौ' (१।१३०)। रति-काम के परिणयोत्सव पर सहस्रधारों में बरसते देव से तुष्टि की कामना करते हुए इस काव्य की कवि ने आशीर्वादात्मक समाप्ति की है। ये रति-काम दमयन्ती-नल का और 'सहस्रधारकलशश्रीः' देव श्रीहर्ष के 'मधुवर्षि' नैषध-काव्य का भी यदि संकेत बनजाते हैं तो अनपेक्षित नहीं है। इसमें थोड़ी भी सन्देह करने का अवकाश नहीं है कि श्रीहर्ष का 'नैषधीय-चरित' शृंगाररसप्रधान उत्कृष्ट महाकाव्य है। इस प्रकार उस शास्त्रीय परम्परा को भी आदर मिल जाता है, जिसके अनुसार महाकाव्य में शृंगार, वीर, शांत में कोई एक प्रधान रस होना चाहिए—'शृङ्गारवीरशांतानामे-कोऽङ्गी रस इष्यते।' आदि से अन्त तक इस महाकाव्य में शृङ्गाररस अंगी रूप में परिलक्षित होता है।

शृंगार—शृंगार के विप्रलंभ और संयोग—दोनों पक्षों का 'नैषध' में सुन्दर चित्रण है। आरम्भ से नल-दमयन्ती-विवाह तक विप्रलंभ है और तदनन्तर संयोग। जहाँ तक विप्रलंभ-शृंगार का पक्ष है, वह शास्त्रीय अधिक है। इसी परम्परा का पालन करके कवि ने यद्यपि वर्णन पहिले नल का किया है, पर रति-भाव का जागरण पहिले दमयन्ती में दिखाया गया है। मदन-प्रवेश पहिले विदर्भजा के मन में हुआ—'विदर्भजाया मदनस्तथा मनोनलावरुद्धं वयसैव वेशितः।' (नै० १।३२)। नौ श्लोकों (नै० १।३४–४२) में कवि ने दमयन्ती के पूर्वानुराग का वर्णन किया है। यह अनुराग नल के गुणों के श्रवण से उत्पन्न हुआ है, बहाने से उसने नल का चित्र-दर्शन पाया और नल के सपने देखने लगी। आगे चलकर यही अनुराग इतना दृढ़ हुआ कि सब

को ठुकरा कर दमयन्ती ने नल का वरण किया। स्वयंवर-सभा में बैठे पाँच-पाँच नलों को देख उसके मन में उपजे क्षणिक संदेह को उसके हठानुरागी मन ने ही क्षण में स्पष्ट कर दिया। क्या कारण है कि चार नलों को छोड़कर पाँचवें नल में ही उसकी रुचि विशेष है ? लगता है, जैसे यह पाँचवाँ नल दमयन्ती के मन को सुधा-स्नान करा रहा है—'इतरनलतुलाभागेषु शेषः, सुधाभिः स्नपति मम चेतो नैषधः कस्य हेतोः ? (नै० १३।५३)। और यथासमय दमयन्ती ने नल के गले में दूब के अंकुरों से सजी मधूकमाल-डाल दी—दूर्वाङ्कुराढ्यां नलकण्ठनाले वधू मधूकस्रजमुत्ससर्ज ।' (नै. १४।४५)। इस माल्यदान-प्रसंग में कवि ने दमयन्ती के लजाने का बड़ा स्वाभाविक किन्तु पांडित्यपूर्ण वर्णन किया है। चतुर्थ सर्ग में नल-विरह में व्याकुल दमयन्ती की व्यथा का वर्णन है। इस वर्णन में ताप, चिंता, चिंताका अनुभाव निःश्वास, अन्तर्ज्वर, अश्रुपात, शंका, विरह-पांडुरता, विवशता, विरह की दुःसहता आदि का शास्त्रीय परम्परा के अनुरूप चित्रण हुआ है। मूर्च्छा-प्राप्त दमयन्ती का चंदनादि से जब उपचार हुआ, तब सखियों के कल-कल से आकृष्ट, कन्या के अस्वास्थ्य से चिन्तित भीमराज ने आकर देखा और घोषणा की—'दयितमभिमतं स्वयंवरे त्वं गुणमयमाप्नुहि वासरैः कियद्भिः ।' (नै० १४।११९)।

नल का दमयन्ती के प्रति आकर्षण बाद में बताया गया है, क्यों कि शास्त्रीय परम्परा है–'आदौ वाच्यः स्त्रियः पुंसः पश्चात्तदिङ्गितैः ।' 'नैषध' (१। ४२–५४) में नल का यह अनुराग और तज्जनित व्यथा का वर्णन हुआ है। निश्चय ही इसमें पांडित्य-प्रदर्शन और शास्त्र-मर्यादा का परिपालन विशिष्ट है। धैर्य-भंग, ताप, निःश्वास, लज्जा आदि का वर्णन इसमें है। नल अन्त में अनंग-चिह्नों को छिपाने की इच्छा से निर्जन देश में चले गये। नल का आत्माभिमान और बड़प्पन इसमें कवि ने प्रकट किया है। उन्होंने स्मरतप्त होते हुए भी विदर्भराज से उनकी तनया की याचना नहीं की, माँगने से वे मरना भला समझते थे–'स्मरोपतप्तोऽपि भृशं न स प्रभुर्विदर्भराजं तनयामयाचत । त्यजन्त्यसूञ्शर्म च मानिनो वरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम् ॥' (१।५०)। उनका सिद्धांत था—'माँगन से मरनो भलो मत कोइ माँगन जाय।' ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीहर्ष को नल-दमयन्ती के सामाजिक गौरव का अधिक ध्यान था, अतः बड़ी शालीनता के साथ उन्होंने नायक-नायिका के विप्रलम्भ शृंगार का

चित्रण किया है। फिर भी वियोगदशाओं का वर्णन अनेक स्थलों पर स्वाभाविक और सुन्दर है।

संयोग शृंगार का वर्णन तो विवाह के पश्चात् सात-आठ सर्गों में पूर्ण मनोयोग पूर्वक विस्तार से किया ही गया है, वास्तव में आनन्द और उल्लास से ही हर्ष उपजता है, प्रसन्नता आती है। पाठकों के मन में आनन्द-सुधासागर का उद्वेलन शृंगार के संयोग पक्ष से ही अधिक संभव है? संयोग शृङ्गार की भंगिमा से 'नैषधीय चारित' 'चारु' बन सका है।

'नैषध' का अष्टादश सर्ग नल-दमयन्ती के उल्लास-विलास से परिपूर्ण है। कवि ने निःसंकोच भाव से इस 'विलास-कला' का चित्रण किया है। 'दिवानिशभोग' करते दंपती की विविध चेष्टाओं और क्रिया-कलापों का श्रीहर्ष ने हर्षोत्साह के साथ वर्णन—विस्तृत वर्णन किया है। कवि की दृष्टि यह 'तृतीय पुरुषार्थवारिधि' का संतरण पाप नहीं है, आवश्यकता है केवल निर्मल अन्तःकरण की, 'ज्ञानधौतमनसं' की। (१८।२)। सुमेरु को लजानेवाले सौधभूधर में यह आमोदोल्लास रचने लगा। अगर और चंदन से वह सुवासित हो रहा था, चंदन की खिड़कियाँ थीं, जिनमें आता शीतसमीरण सुगन्धि हो जाता था। सौरभ महकाते तेल के सुगंधि दीपों की मन्द आभा सौधगर्भ को 'श्रीयुत' बना रही थी। 'मणिकुट्टिम' का फर्श था और प्रसूनशय्या थी। बड़े विस्तार के साथ कवि ने सौध के अलंकरण का विवरण दिया है। वहाँ संभोगपर नल-दमयन्ती के जोड़े को देख कर रति-रतीश भी मोह गये। 'प्रकाशकार (१८२८ की टीका) लिखते हैं—'भौमीनलौ दृष्ट्वा रतिकामौ संजातसुरतेच्छौ जातौ।' उस सौध-भूधर में उन दोनों की जो कामकेलि दीप्त हुई—वह महाकवियों की भी बुद्धिगोचर न हुई होगी, स्वैरिणी नारियों की शिक्षा भी वैसी न हुई होगी। नै० १८।२९)। कामशास्त्र के अनुरोध से नारी का प्रथम संभोग-साध्वस, लज्जानुभावपूर्ण संभोग-क्रम रति-रुचि और संकोच, 'कुसुमशस्त्र-शास्त्रवित्' नल द्वारा दमयन्ती को संनिधि में लाना, कपोल-चुम्बन से पूर्व ललाट-चुम्बन, स्तनस्पर्श, रशनाकलापमोचनार्थ बढ़े प्रिय के हाथ का प्रतिरोध, धीरे-धीरे लज्जात्याग और प्रथम संभोग का अनुभव कविने बड़ी तटस्थ दृष्टि से किया है। आनन्द-उल्लास के विविध अनुयोगों के साथ रात बिताते वे दोनों थक कर परस्पर ऊरु-जोड़े, अधर मिलाये, रतिकेलि

के स्वप्न देखते आलिंगन-संपुट में परस्पर पीडित होते निद्रासुख का अनुभव करने लगे, उनके बाह्य वक्ष:स्थल और आभ्यंतर अंतस् में कोई भेद न रह गया। (नै० १८।१५२–१८३)। अगले चार सर्गों में शृंगार की उज्ज्वलता का वर्णन है, जिसमें प्रभात है, संध्या है, चंद्रोदय है, तारों-भरी रात है। उपासना पूजा भी है, प्रातर्विधान भी है। सभी उज्ज्वल पक्ष हैं। शृंगार की उज्ज्वलता के पूर्ण दर्शन इन उत्तर सर्गों में है।

अंगरस--शृंगारातिरिक्त जो रस अङ्ग रूप में आये हैं, उनमें करुण, वीर, हास्य, अद्भुत, रौद्र, बीभत्स और भयानक हैं। केवल शांत नहीं है।

करुण--करुण रस 'नैषध' में हंस-प्रसंग में आया है। नल के द्वारा पकड़े गये हंस की उक्तियों में हृदयस्पर्शी करुणता व्यंजित हुई है। हंस-विलाप-प्रसंग यद्यपि छोटा है, किन्तु वह इतना प्रभावी और मनोवैज्ञानिक है कि उसे विश्वसाहित्य में सरलता से स्थान दिया जा सकता है। विलाप करते हंस ने जो कहा, उसने नल का हृदय करुणाविगलित कर दिया और निषधपति की दीनदयालुता उभर आयी और हंस मुक्त हो गया।

हंस ने पकड़े जाने पर पहिले तो राजा के इस कार्य का अनौचित्य सिद्ध किया और उसमें करुणा जगायी। यह करुणभाव 'नैषध' (१।१३५–१४२) के आठ श्लोकों में व्यक्त हुआ है। हंस ने अपनी वृद्धा माँ, नवप्रसूता पत्नी की निराश्रयता की दुहाई दी। किस प्रकार माँ यह दारुण कष्ट सह सकेगी? कैसे पत्नी से वह क्षण व्यतीत किया जायेगा, जब वह यह सुनेगी? निश्चय ही वह प्राण त्याग देगी और माँ-बाप के न रहने पर अनाथ छोटे बच्चे मर ही जायेंगे। हंस का यह विलाप आज भी सरस पाठकों की आँखों में आँसू ला देता है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् स्व० आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस प्रसंग को करुणरस की अविस्मरणीय रचना माना है। वे जब भी इसे पढ़ते थे, उनका अश्रुपात होने लगता था।

वीर--करुण की भाँति वीर रस के प्रसंग कई स्थलों पर होते हुए भी थोड़े ही हैं, किन्तु उतने प्रभावी नहीं है। उनमें श्रीहर्ष का पांडित्य तो लक्षित होता है, शास्त्रीयता है, पर करुण-प्रसंग जैसी सहृदयता नहीं है।

यद्यपि विश्वनाथ ने करुण, वीर, रौद्र, बीभत्स और भयानक की गणना श्रृंगार रस के विरोधी रसों में की है—'आद्यः करुणबीभत्सरौद्रवीरभयानकैः' (सा० द० ३।२५४), तथापि आनन्दवर्द्धनाचार्य ने बाध्यबाधकभाव से केवल श्रृंगार-बीभत्स में विरोध माना है (ध्वन्यालोक, कारिका २४ का पूर्वपक्ष)। उस पर भी वे ऐसा नहीं मानते कि 'नवरसरुचिर' महाकाव्य में प्रसंगतः विरोधी रस का वर्णन ही न किया जाय, वे केवल विरोधी रस के प्रत्यधिक परिपोष के विरुद्ध हैं। उनके अनुसार परिपोष अङ्गी रस का ही होना चाहिए, विरोधी या अविरोधी अंग रसों का नहीं—'अविरोधी विरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे। परिपोषं न नेतव्यस्तथा स्यादविरोधिता।' (तदेव)। वास्तव में रसभंग अनौचित्य से होता है, औचित्य-निबंधन तो रस की परमोपनिषद् है—'अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्। प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥' इस दृष्टि से 'नैषध' में किसी अन्य अंग रस का परिपोष नहीं हुआ है, जो रस आये हैं, प्रसङ्गतः, औचित्य के साथ। और फिर विवक्षित अतएव अंगी रस जब लब्धप्रतिष्ठ हो जाता है, लब्धपरिपोष हो जाता है तो विरोधी अंगरसों के कथन में दोष नहीं होता—'विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिताम्। बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानायुक्तिरच्छला॥' (ध्वन्यालोक ३।२०)।

वीर रस का वर्णन नल की युद्धवीरता-चित्रण-प्रसंग में है, वे शताधिक-शत्रुजयी हैं, जलते हुए शत्रुपुरों की अग्नि के समान उनके प्रताप से भूमंडल प्रकाशित था, उनकी तलवार उनके चाँदनी जैसे यश का विस्तार करती थी। उनके ओज और यश के संमुख सूर्य-चन्द्र भी अगणनीय थे। आदि-आदि (नै० १।९–१४)।

इसके अतिरिक्त स्वयंवर-प्रसंग में (सर्ग ११–१३) राजाओं के परिचय में उनकी वीरता का बखान किया गया है। वस्तुतः इसमें शास्त्रीयता का परिपालन और कल्पना की उड़ान ही अधिक है, स्वाभाविक वीर-भाव कम।

दयावीरता के भी कुछ प्रसंग हैं, उदाहरणार्थ नल की विलाप करते हंस पर दीनदयालुता। (१।१४३)।

दानवीरता के उदाहरण भी हैं। नल ने इतना दिया कि दरिद्रता भी

दरिद्र हो गयी । (१।१५) । नल को यही असंतोष था कि वे सुमेरु के टुकड़े करके याचकों को क्यों न दे पाये, दान-जल के व्यय से सागर को भी मरु क्यों न बना डाला ? (१।१६) । राजा नल से अभीष्ट-याचना सभी करते थे (३।१५) । नल से देवों ने भी याचना की । (५।७७) । और उन्हें 'अर्थी' पाकर नल का रोम-रोम हर्षित हो उठा (५।७९) । वे माँगे जाने पर प्राण तक दे सकते थे । (५।८१) । उनका सिद्धांत था कि 'अर्थिने न तृण-वद्धनमात्रं किन्तु जीवनमपि प्रतिपाद्यम् । (५।८६) । जो जन्म याचकों के मनोरथ पूर्ण करने के लिए नहीं हुआ, धरती का बोझा वही है, न ये वृक्ष हैं, न पर्वत, न समुद्र । (५।८८) ।

हास्य—हास्य के भी यत्किंचित् प्रसंग 'नैषध' में हैं । षोडश सर्ग के भोज-प्रसंग में स्वाभाविक और अवसरोचित हास्य-प्रसंग हैं । वारातियों और परोसनेवालियों में अच्छा गूढ हास-परिहास चला हैं । दमयन्ती के भाई पदम ने भोजन के बाद मुखशुद्धि के लिए जो 'पत्रालि' (पान का बीड़ा) दी, उसका रूप विच्छू जैसा बना दिया गया था, सो भय के मारे बरातियों ने उसे फेंक दिया और सबके हास्य के पात्र बने । (१६।१०९) । दही ऐसा था कि सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने भी बनाते समय इधर-उधर से चुराकर खा लिया, इसीलिए उसमें छिद्र हो गये । (१६।९३) ।

स्वयंवर में मगधराज की कीर्त्ति-अकीर्त्ति का दमयन्ती की सखी द्वारा ऐसा श्लिष्ट वर्णन किया गया है कि सभी उपस्थित सभाजन हँस पड़े । (१२।१०६) । सप्तदश सर्ग में कलि की उक्ति में व्यंग्य हास्य का कारण बन आया है । बोधिसत्त्व, अग्निहोत्र, इन्द्र, पाप-पुण्य, व्यास, गौतम आदि का व्यंगमय उपहास किया गया है जो श्रद्धालुओं के रोष का कारण भी बन जाता है—स्वयम् इन्द्र भी उन दुर्वर्णों को सुनकर क्रुद्ध हो उठे—'इत्थमाकर्ण्य दुर्वर्णं शक्रः सक्रोधतां दधे ।' (१७।८३) ।

इसमें संदेह नहीं कि 'नैषध' की हास्य-व्यंग्य-योजना संस्कृत-साहित्य में अनूठी है ।

अद्भुत—अद्भुत-प्रसंग केवल स्वर्ण-हंस के कारण उत्पन्न हुआ है ।

इसी स्वर्णहंस को देखकर विरही नल के भी हृदय में कुतूहल उत्पन्न हुआ। सुवर्ण-पंखी हंस कहाँ दीखता है? (१।११९, १२९)।

रौद्र—सप्तदश सर्ग में क्रुद्ध कलि के क्रोधपूर्ण वचन रौद्रभाव की व्यंजना करते ही हैं, उसके वे वचन इन्द्र में भी रौद्रभाव उत्पन्न कर देते हैं। (यद्यपि 'सक्रोधतां दधे' में 'स्वशब्दवाच्यत्व' दोष आ गया है)। वज्रधर का हाथ फड़क उठा, वे चीख उठे—कौन है यह जो उनके रहते धर्म-मर्मों का कृन्तन कर रहा है–'अवोचदुच्चैः कस्कोऽयं धर्ममर्माणि कृन्तति। लोकत्रयीं त्रयीनेत्रां वज्रवीर्य-स्फुरत्करे। क इत्थं भाषते पाकशासने मयि शासति?' (१७।८३–८४)।

बीभत्स–बीभत्स तो बाध्यता के साथ शृंगार का विरोधी रस है, अतः वीभत्स का नाममात्र का वर्णन 'नैषध' में है। विरही नल के मन में रमणीय वस्तुओं के प्रति भी जुगुप्सा उत्पन्न हो गयी। खिला लाल पलाश उसे 'पलाश' (मांसभक्षी) लगा, झूमती लता उसे डरावनी प्रतीत हुई, चम्पे की कलियाँ पतंगों को जलाती पापिनी-सी लगीं। (१।८४-८६)। वस्तुतः यह सब परम्परागत विरह-वर्णन है।

भयानक—इसी प्रकार 'भय' के प्रसंग भी नहीं से हैं। झूमती लता—से भय तो है ही, स्वयंवर में नागराज वासुकि को देख दमयन्ती भी भय से भर जाती है। 'आशीविष', स्फुरत्फण' नागराज को देख कर कौन कामिनी भीति से न भर जाती? (१०।२१)।

'प्रकाश'-टीकाकार के द्वारा स्वीकृत 'नैषध' में काव्य को 'स्वादूत्पाद-भृति' (टीकाकार के अनुसार सहृदयहृदयाह्लादकारक होने से अत्यन्त मधुर-नवार्थसहित) कहा गया है और सर्गविशेष को 'रसाम्भोनिधिः' (१३। ५६)। श्रीहर्ष की यह उक्ति असंदिग्ध है; 'नैषध' विभिन्न रसधाराओं का सागर ही है।

(४) **छन्द**—शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार महाकाव्य के नातिदीर्घ सर्गों में एक ही 'वृत्त' (छन्द) के पद्य होना अच्छा माना जाता है; हाँ सर्ग के अवसान में अन्य छन्द का प्रयोग हो। इस दृष्टि से 'नैषधीयचरित' में मर्यादा का पर्याप्त ध्यान रखा गया है। प्रथम सर्ग में परिचयात्मक अंतिमश्लोक को छोड़कर एकसौ चवालीस श्लोक हैं। परिचयात्मक श्लोक सभी सर्गों के अन्त

में शार्दूलविक्रीडित छन्द में है।) इसमें सभी श्लोक वंशस्थ छन्द में हैं; अन्तिम श्लोक 'अन्यवृत्तक' अर्थात् वसन्ततिलका छन्द में है। इसी प्रकार द्वितीय सर्ग में आरम्भ के १०१ श्लोक 'वैतालीय' अथवा 'वियोगिनी' छन्द में हैं, श्लोक-संख्या १०२ और १०४ शार्दूलविक्रीडित हैं, १०३ पुष्पिताग्रा है, १०५ स्रग्धरा है, १०६, ७, ८, और १०९ मालिनी छन्द में हैं। तृतीय सर्ग में आरम्भिक १२४ श्लोक उपजाति हैं, १२५, १२९, १३१ वसन्ततिलका हैं। शेष श्लोकों में १२६, २७, २८, ३० शार्दूलविक्रीडित हैं। १३२ वाँ स्रग्धरा है, १३३, १३४, १३५, वें श्लोक मालिनी छन्द में हैं। चतुर्थ सर्ग में प्रारम्भ के ११५ श्लोक द्रुतविलम्बित हैं, ११६ वाँ और १२२ वाँ (अन्तिम) शार्दूलविक्रीडित हैं, ११७ वाँ वसन्ततिलका है और श्लोक संख्या ११८, १९, २०, १२१ औपच्छन्दसिक अथवा मालभारिणी वृत्त में हैं। पंचम सर्ग में आरम्भिक १३३ श्लोक स्वागता वृत्त में हैं, १३४ वाँ द्रुतविलंबित है, शेष अन्तिम तीन शार्दूलविक्रीडित हैं। छठे सर्ग में उपजाति छन्द का प्रयोग है, अन्तिम ११२ वाँ श्लोक मालिनी छन्द है। सप्तम सर्ग के कुछ श्लोक उपेंद्रवज्रा हैं, कुछ इन्द्रवज्रा अर्थात् उपजाति अन्तिम श्लोक में हरिणी छन्द का प्रयोग किया गया है। आठवें सर्ग की भी यही स्थिति है प्रारम्भिक १०४ श्लोक उपजाति हैं, १०५, १०६ स्रग्धरा हैं, १०७ वाँ पुष्पिताग्रा है और अन्तिम १०८ वाँ वसन्ततिलका। नवम सर्ग के प्रारम्भिक १५५ श्लोक वंशस्थ हैं, १५६ वाँ मन्दाक्रान्ता है, १५७ वाँ तोटक, १५८ वाँ शार्दूलविक्रीडित और अन्तिम १५९ वाँ मालिनी। दशम सर्ग में पुनः उपजातिछन्द का प्रयोग है, केवल अन्तिम 'दयामियधिरध्यम्'—इत्यादि श्लोक मालिनी छन्द में है। एकादश सर्ग वसंततिलका वृत्त में है, केवल अन्तिम १२९ वाँ श्लोक स्रग्धरा में है। द्वादश सर्ग में प्रथम ९० श्लोक वंशस्थ हैं, ९१ ९२, ९३, ९६, ९७, ९८, ९९ शार्दूलविक्रीडित हैं, और ९४, ९५, १००, १०१, १०२ स्रग्धरा हैं, १०२, १०४, १०६, १११ पुनः शार्दूलविक्रीडित हैं, १०५, १०७, १०८, १०९ पुनः वंशस्थ है, ११० वसन्ततिलका है और अन्तिम ११२ वाँ पुनः स्रग्धरा है। त्रयोदश सर्ग के आरम्भ से 'यः स्यादमीषु' इत्यादि श्लोक पर्यन्त वसन्ततिलका का प्रयोग है, अन्तिम दो श्लोकों में मालिनी है। चतुर्दश सर्ग के

प्रारम्भिक (८४ अथवा ८७) 'अर्थो विनैवार्थनयोपसीदन्'-इत्यादि तक श्लोक उपजाति हैं, शेष श्लोकों में चार शिखरिणी हैं, दो शार्दूलविक्रीडित हैं, दो स्रग्धरा हैं, तीन वसन्ततिलका हैं, एक रथोद्धता है और एक मालिनी है। पंचदश में आरम्भिक एक्यासी श्लोक वंशस्थ हैं, बयासीवाँ श्लोक स्रग्धरा है तथा तिरासीवाँ शिखरिणी। शेष नौ शार्दूलविक्रीडित हैं। षोडश में भी आरम्भिक श्लोक 'पुरीनिरीक्षान्यमना'-इत्यादि तक वंशस्थ हैं, पुनः दो पुष्पिताग्रा हैं, शेष पाँच मालिनी हैं। सप्तदश सर्ग अनुष्टुप्-छन्दः-प्रधान है, केवल अन्तिम दो श्लोकों में पहिला शिखरिणी और दूसरा शार्दूलविक्रीडित है। इसी प्रकार अष्टादश सर्ग रथोद्धता-प्रधान है, केवल अन्तिम श्लोक स्रग्धरा है। उन्नीसवें सर्ग के आरम्भिक पचपन श्लोक हरिणी छन्द में हैं, चार मन्दाक्रांता हैं, पाँच शार्दूलविक्रीडित हैं, एक श्लोक 'जलजभिदुरीभावम्' इत्यादि भी हरिणी छन्द में है, इसे प्रक्षिप्त भी माना जाता है। एक पृथ्वी छन्द है, एक मालिनी है और एक स्रग्धरा है। विंश सर्ग भी अनुष्टुप्-प्रधान है, अन्तिम श्लोक शार्दूलविक्रीडित है, उससे पूर्व के तीन पुष्पिताग्रा हैं। इक्कीसवाँ सर्ग रथोद्धता-प्रधान है। 'विप्रपाणिषु' इत्यादि तक के श्लोक रथोद्धता छन्द में हैं। इसके अनन्तर इक्कीस श्लोक वसन्ततिलका हैं, शेष में सात पुष्पिताग्रा हैं, तीन स्रग्धरा हैं, ग्यारह शार्दूलविक्रीडित हैं, एक मालिनी है। द्वाविंश (अन्तिम) सर्ग उपजाति-प्रधान है। 'अन्तः स लक्ष्मी क्रियते' इत्यादि तक श्लोक उपजाति हैं, पुनः एक रथोद्धता है, तदनन्तर तीन वसन्ततिलका हैं। शेष में आठ शार्दूलविक्रीडित हैं, एक स्रग्धरा है और एक शिखरिणी और एक पुष्पिताग्रा है। प्रत्येक चरण में सर्वलघु सोलह-सोलह वर्णों का भी एक छन्द है, टीकाकारों ने इसे 'सर्वलघु' संज्ञा ही दी है। इसे 'अचलधृति' नाम भी दिया जाता है। अन्त के कवि-प्रशस्ति संबंधी चार श्लोकों में एक शिखरिणी है, दो शार्दूलविक्रीडित और एक हरिणी।

इस प्रकार श्रीहर्ष ने प्रत्येक सर्ग में एक छन्द को प्रधानता दी है, अन्तिम छन्द भिन्नवृत्तक अवश्य है। किन्तु यह अन्यवृत्तमता केवल अन्तिम श्लोक तक ही सीमित नहीं रह गयी है, कवि ने अन्त के अनेक श्लोकों में

भिन्न वृत्तों का प्रयोग कर लिया है। अन्तिम श्लोक ही जिनमें अन्यवृत्तक हैं, वे सर्ग हैं—प्रथम, षष्ठ, सप्तम, दशम, एकादश और अष्टादश।

जहाँ तक श्रीहर्ष के छन्दोज्ञान अथवा छन्दःप्रियता का प्रश्न है, कवि छन्दःशास्त्र का पूर्ण ज्ञाता है, उसने विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया है। सब मिलकर अट्ठारह,—उन्नीस प्रकार के छन्दः 'नैषध' में हैं। उपजाति का प्रयोग कवि ने सबसे अधिक किया है सात सर्गों में। चार सर्गों में प्रधान छन्द वंशस्थ है। दो-दो सर्ग वसंततिलका, स्वागता रथद्धता और अनुष्टुप्—प्रधान हैं और एक-एक में द्रुतविलम्बित, वैतालीय और हरिणी का प्रयोग है। इसी दृष्टि से कवि की छन्दःप्रियता का तारतम्य प्रतीत हो जाता है। मंदाक्रांता छन्द में पाँच ही श्लोक हैं, शताधिक शार्दूलविक्रीडित हैं। स्थान-स्थान पर स्रग्धरा, शिखरिणी, पुष्पिताग्रा, मालिनी, वियोगिनो का भी प्रयोग है; अचलधृति, पृथ्वी, तोटक भी हैं। गणनाकारों ने इनकी गणना भी की है। श्री नलिनीनाथदास गुप्त ने श्रीहर्ष के छन्दोनैपुण्य की प्रशंसा की है। उनकी मान्यता है कि 'नैषधीयचरित' में लगभग बीस प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है, जिनमें अधिकांश गीतात्मक लघुवृत्त हैं, बड़े छन्द मंदक्रांता, शिखरिणी, स्रग्धरा आदि का प्रयोग अपेक्षाकृत विरल है। परन्तु वाक्यावली और शब्दावली में श्रीहर्ष की रुचि कठिनता और श्लिष्टता की ओर है, जिसमें कहीं—कहीं लयात्मकता और गति में बाधा पहुँची है।

(५) **वर्णन**—श्रीहर्ष कल्पना के धनी कवि हैं। किसी विषय में कितना विचार किया जा सकता है, 'नैषधीयचरित' में इसकी इयत्ता नहीं प्रतीत होती। चाहे जो विषय हो, श्रीहर्ष उसका विस्तृत विवरण देने में समर्थ हैं। 'नैषध' में मनुष्य, पशु, पक्षी, नगर, उपवन, प्रभात, रात्रि, स्वयंवर आदि के विस्तृत और कवित्व-पूर्ण वर्णन हैं।

मानव वर्णन में नल और दमयन्ती के विस्तृत वर्णन हैं। प्रथमसर्ग के इकतीस श्लोकों में नल का और द्वितीय सर्ग के छब्बीस श्लोकों में दमयन्ती का वर्णन है। इनकी वियोग-कथा के भी विस्तृत काव्यमय वर्णन हैं; तृतीय सर्ग (१००–१२८) में नल की वियोगदशा का और चतुर्थ (२–१०१) में दमयन्ती की। अगले आठ श्लोकों (१०२–१०९) में प्रश्नोत्तर रूप में दमयन्ती और सखियों के माध्यम से यह विवरण प्रस्तुत हुआ है।

पशु वर्णन में अश्व-वर्णन है प्रथमसर्ग (५८–६४) में और हंस तथा उसकी उड़ान का तो क्रमशः प्रथमसर्ग (११८, १२१, १२२) और द्वितीय सर्ग (६५–७२) में अत्यन्त स्वाभाविक विवरण उपस्थित किया गया है।

काव्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार उपवन (१।७६–१०६) का और उसी में स्थित सरोवर (१०७–११७) का वर्णन है। उन्नीसवें सर्ग (१–६४) में प्रभात और सूर्योदय के विस्तृत विवरण हैं; इक्कीसवें (१२५–१३४) में संध्या का। बाईसवें सर्ग में क्रमशः संध्या, रात्रि और चंद्रोदय के विशद वर्णन श्रीहर्ष की काव्य-प्रतिभा के परिचायक हैं। कल्पना और उत्प्रेक्षा की ऊँची उड़ान इन वर्णनों में प्राप्त होती है।

नगर और नगर-जीवन की समृद्धि तथा क्रिया-कलाप तो कवि ने बड़ी स्वाभाविक दृष्टि से चित्रित किये हैं। द्वितीय सर्ग (७३–१०६) के कुंडिन-पुरी तथा सप्तदश (१६१–२०१) में नल की राजधानी तथा राजोद्यान (२०६–२०८) का वर्णन किया गया है। राज्यसभा और स्वयंवर का इतना विशद और विस्तृत वर्णन कदाचित् ही कहीं प्राप्त हो, पूरे पाँच सर्ग पाँच सौ के लगभग श्लोक (१०–१४ सर्ग) इस विवरण से पूर्ण हैं। भोज, भोज्य पदार्थ, वरयात्रा आदि के वर्णन तो बड़े रमणीय और मनोरंजक हैं। इन सभी वर्णनों की एक बड़ी विशेषता यह है कि वे शास्त्रीय परम्परा का निर्वाह करते हुए भी कथानक के भाग ही प्रतीत होते हैं। ये वर्णन ऊपर से जोड़े गये, अलग-अलग से नहीं लगते।

युद्ध, समुद्र आदि के वर्णन प्रायः नहीं हैं किन्तु कथा में इनका अवसर भी तो नहीं है। शृङ्गार-वर्णन कवि को विशेष प्रिय है। अष्टादश सर्ग तथा अन्य नल दमयन्ती-विलास के प्रसंग शृङ्गार-चेष्टाओं के प्रचुर विवरणों से परिपूर्ण हैं, कहीं-कहीं तो इस सीमा तक पहुँच गये हैं कि आधुनिक सामान्य सामाजिक दृष्टि से वे ग्राह्य भी कठिनता से हैं। परन्तु नवदम्पती के जो रति-चित्र इसमें हैं, वे कवि के कामशास्त्र की अभिज्ञता के सटीक उदाहरण हैं।

वस्तुतः कल्पना का अपार विस्तार और उसके अनुरूप नवीन उद्भाव-नाएँ इन वर्णनों में प्रचुरता से उपलब्ध हैं। पर उनमें सरसता भी है और

हृदय को छूने की क्षमता भी। 'श्रीहर्ष' और 'नैषधीयचरित' के समान्य अध्येता और व्याख्याता डॉ० चंडिकाप्रसाद शुक्ल का यह निष्कर्ष इस विषय में उचित ही है —'नैषध में जिन वस्तुओं का वर्णन उन्होंने (श्रीहर्ष ने) किया है, उनमें उनकी वृत्ति स्वयं रमी हुई है।......प्रबल कल्पनाशक्ति और बहुज्ञता के साथ-साथ उन उक्तियों में हृदय को स्पर्श करने की क्षमता....है। वे एक अत्यंत सरस हृदय से निकली समझ पड़ती हैं।'

(६) शैली—'नैषधीयचरित' में यद्यपि कहा गया है कि 'धन्यासि वैदर्भिगुणैरुदारैः' (३।११६) और इस दृष्टि से अनेक विद्वानों ने इस काव्य को वैदर्भि-रीति-प्रधान माना भी है और सामान्यतः यह सत्य भी है, तथापि अल्पसमासयुता पाञ्चाली और ओजःप्रधाना गौडी पदरचना से 'नैषध' रहित नहीं है। (द्रष्टव्य १।२) इसमें 'समस्तपञ्चषट्पदबन्ध' भी हैं और आडम्बर-पूर्ण समासबहुल भी (द्रष्टव्य १९।१५३ में दो चरणों का समस्तपद) किंतु प्रचुरता माधुर्यव्यंजक वर्णों की ही है और रचना-लालित्य भी; ओज, प्रसाद, माधुर्य—तीनों ही गुण 'नैषध' के श्रृंगार हैं। यथोचित, यथावसर तीनों रीतियों और तीनों गुणों से युक्त पदरचना है। पदलालित्य तो 'नैषध' का उल्लेख्य ही है—'नैषधे पदलालित्यम्।' समासबहुल पद हों, या अल्पसमास—लालित्य उनमें सर्वत्र है। अनुप्रास की छटा, श्लेषमय पदयोजना। पदों की ऐसी समायोजना कि एक-एक वाक्य अनेक अर्थ देने लगें। स्वयंवर का 'पंचनलीय' प्रसंग तो इस श्लिष्टपदयोजना के लिए विख्यात ही है; अन्य भी अनेक प्रसंग ऐसे हैं, जिनसे कवि का पद-योजना-सौष्ठव प्रकट होता है। दमयन्ती ने कहा—'चेतो नलङ्कामयते मदीयम्'। (३।६७)। इस एक वाक्य से तीन भाव प्रकट हुए—(१) मेरा चित्त लंका की कामना नहीं करता—'चेतो न लङ्कामयते।' (२) चित्त नल की कामना करता है—'चेतो नलं कामयते'। (३) और यदि यह न हो सके तो आग में जलने को जी चाहता है—'चेतोऽनलङ्कामयते'। लज्जाशीलाकुमारी की लाज भी रह गयी और हृदयगत भाव भी (समझने वाले के लिए) स्पष्ट हो गये। 'साहित्य-विद्याधरी' के अनुसार यहाँ श्लेष भले ही हो, पर यह सामान्य श्लेष योजना ही नहीं है, कवि के 'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः' का उदाहरण है।

'नैषधीयचरित' के आलोचकों ने श्रीहर्ष की शैली की आठ विशेषताएँ गिनायी हैं। यहाँ उनका उल्लेख करना अनुचित न होगा—(१) अनुप्रास की पर्याप्त योजना। (२) श्लिष्ट पदरचना (३) वक्रोक्तिपूर्ण वाक्य। (४) कल्पनामयी उत्प्रेक्षाएँ (५) विभिन्न प्रकारकी उपमाएँ। (६) व्यंग्यपूर्ण संभाषण। (७) नाटकीय संवाद—योजना और (८) कर्मणि लुङ् और भावे प्रयोग। अनुप्रास तो प्रथम श्लोक से प्रकट हो जाता है—'क्षिति रक्षिणः' 'बुधाः सुधाम्' 'महसां महोज्ज्वलः' आदि। श्लिष्ट-पदयोजना की पराकाष्ठा तो 'पंचनलीय'* प्रसंग है ही। वक्रोक्ति के श्रेष्ठ उदाहरण हैं, चतुर्थ सर्ग (१०२-१०९) में, जहाँ उत्तरप्रत्युत्तर रूप में सखी-दमयन्ती-संवाद है। उत्प्रेक्षाओं की तो इतनी प्रचुरता है कि पद-पद पर उनका चमत्कार दीख जाता है। (द्रष्टव्य १।१२३, २।३१, २।३४, २।३५ आदि)। उपमाएँ अनेक प्रकार की हैं—मालोपमा, गूढोपमा, श्लिष्टोपमा। (श्रेष्ठ उपमाओं के लिए द्रष्टव्य १।४१, १।१४, १।१२७ आदि)। व्यंग्यपूर्ण संभाषण के श्रेष्ठ उदाहरण बीसवें सर्ग में हैं। (२०।६५, ६७, ९०)। इनमें लोक-व्यवहार ज्ञान और संभाषण-कुशलता का द्योतन हुआ है। नाटकीय-संवाद-योजना चतुर्थ सर्ग (१०२–१०९) के प्रश्नोत्तर हैं। नाटकीयता भी यत्र-तत्र है, भोज-प्रसंग में, केलि-मन्दिर-प्रसंग में। कर्मणि लुङ् और भावे प्रयोग के लिए उदाहरणीय हैं ३।१३१, ४।१७–४३ तथा ५।५०, ५७ आदि।

अलंकार—अलंकार-योजना की दृष्टि से श्रीहर्ष की अलंकार-प्रियता प्रसिद्ध ही है। श्लेष, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, प्रतीप, वक्रोक्ति आदि का प्रचुर प्रयोग 'नैषध' में मिलता है। इसी अलंकार-प्रचुरता के कारण प्रायः संकर या संसृष्टि की संभावना आ जाती है। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि अलंकार-योजना कवि का स्वभाव है, वह श्रमसाध्य नहीं है। चित्रालंकार कवि को प्रिय नहीं है। कल्पना के धनी कवि के सब से प्रिय अलंकार उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति हैं। अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार तो अनायास—मानो कवि के अनजाने ही—आ जाते हैं। हाँ, श्लिष्ट प्रयोगों में कवि के पांडित्य, श्रम, शब्दकोष-ज्ञान, व्युत्पत्ति का विशिष्ट परिचय मिलता है। इसके अतिरिक्त उनकी उपमान-योजना उपमालंकार के अतिरिक्त रूपक, प्रतीप,

व्यतिरेक आदि के माध्यम से भी हुई है। इसके अतिरिक्त विरोधाभास, विशेषोक्ति, जाति आदि का भी प्रयोग किया गया है। रूपक-उत्प्रेक्षा का तो अनेक स्थानों पर योग हुआ है। (द्रष्टव्य १।५८, १।८४ आदि)। अनेक अलंकारों के मेल के तो अनेक उदाहरण हैं। द्रष्टव्य १।१७ (उपमा-श्लेष सहोक्ति), १।२० (छेकानुप्रास-परिकर), १।२१ (अपह्नुति उत्प्रेक्षा), २।१०८ (उपमा रूपक-जाति) आदि-आदि। अर्थान्तरन्यास के भी अत्यंत भावमय प्रयोग 'नैषध' में शताधिक हैं। उदाहरणार्थ—१।५०, ५४, १०२, १३१; २।४८ आदि। स्वभावोक्ति (जाति) के अच्छे मनोरम उदारहाण हंस-प्रसंग में हैं। (द्रष्टव्य २।२, २।८० आदि)। समासोक्ति के उदाहरण के लिए तो 'नैषघ' का 'नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता'—इत्यादि (१।८५) काव्यशास्त्रियों में प्रसिद्ध है।

'नैषध' अलंकारों का सागर है। उक्त अलंकारों के अतिरिक्त उनकी वक्रोक्तियाँ और व्यंग्योक्तियाँ बड़ी प्रभाव-शालिनी हैं। पादांत यमक का तो अत्यन्त स्मरणीय और दर्शनीय उदाहरण है—यथासीत् कानने तत्र विनिद्र-कलिका लता। तथा नलच्छलासक्तिविनिद्रकलिका लता॥ (१७।२१८),

श्रीहर्ष की शैली विद्वत्तापूर्ण है। कहा जाता है—'नैषधं विद्वदौषधम्।' 'नैषध' में यह विद्वत्ता प्रचुर मात्रा में प्रमाणित है। 'साहित्यविद्याधरी'—कर्त्ता ने श्रीहर्ष को विविध शास्त्रों का वेत्ता सुधी कोविद कहा है—

अष्टौ व्याकरणानि तर्कनिवहः साहित्यसारो नयो
वेदार्थावगतिः पुराणपठितिर्यस्यान्यशास्त्राण्यपि।
नित्यं स्युः स्फुरितार्थदीपविहताज्ञानान्धकाराण्यसौ
व्याख्यातुं प्रभवत्यमुं सुविषमं सर्गं सुधीः कोविदः॥

'नैषधपरिशीलन' के विद्वान् रचयिता डॉ० चंडिकाप्रसाद शुक्ल ने अपनी इसी प्रकार की मान्यता पुष्टि में डॉ० सुशीलकुमार दे के 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' से जो उद्धरण दिया है, वह भी 'नैषध'कार की विद्वत्ता और पांडित्य का समर्थन करता है—'नैषधचरित केवल एक वैदुष्यपूर्ण काव्य ही नहीं है, अपितु अनेक प्रकार से परंपरागत ज्ञान का भांडार है।'

इसी कारण 'नैषध' में दुरूहता भी आ गयी है। 'नैषध' का ठीक-ठीक आनन्द वही ले सकता है, जिसे अलंकारशास्त्र के साथ-साथ व्याकरण, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदांत, मीमांसा (षड्दर्शन) और चार्वाक, बौद्ध, जैन आदि दार्शनिक सिद्धान्तों से अच्छा परिचय हो। इसी कारण अनेक भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों को 'नैषधीयचरित' में कलापक्ष की अपेक्षा भावपक्ष दुर्बल प्रतीत होता है, यद्यपि नैषधकार का आत्मकथन है कि ये गाँठें उसमें इसलिए डाल दी हैं कि विद्वम्मन्य खलजन इस काव्य से खिलवाड़ न करें, यह सज्जन विद्वानों को ही आनन्द दे सके —

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञमन्यमना हठेन पठिती मास्मिन् खल: खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थि: समासादय-
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जन: ॥

व्याकरण—व्याकरणानुसार शब्द-प्रयोग जानना तो सामान्य स्थिति है; श्रीहर्ष ने व्याकरण के सूत्रों को आधार बना व्यंग्य की सृष्टि की है। पाणिनि के सूत्र 'अपवर्गे तृतीया' (अष्टा० २।३।६) को लेकर कलि कहता है कि मोक्ष का तो स्त्री-पुरुष के लिए औचित्य ही नहीं है, वह अपवर्ग इनसे भिन्न (नपुंसक) के निमित्त होता है। (१७।७०) मुनि का मत तो स्त्रीपुंसलक्षणा प्रकृति का धर्म तो काम-सज्जा है। इसी प्रकार 'नैषध' में पाणिनि-सूत्रों को आधार बनाकर श्लेष का चमत्कार भी दिखाया गया है। 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (अष्टा० १।१।५६) का आधार बनाकर इन्द्र को दोषी सिद्ध किया गया है (१०।१३५ या १३६); 'अस्तेर्भू:' (अष्टा० २।४।५२) के आधार पर काशी का महत्त्व प्रतिपादन किया गया है (११।११७); 'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्' (अष्टा० ७।१।३५) का उपयोग प्रभात-वर्णन में किया गया है (१९।६० या ६१); और 'अत इनिठनौ' (अष्टा० ५।२।११५) द्वारा व्याकरण-नियमों की अपेक्षा लोक-व्यवहार की मान्यता प्रमाणित की गयी है (२२।८४)। कवि का कथन है कि जैसे 'शशोऽस्यास्ति इति शशी' उक्त सूत्र के नियम से 'मतुबर्थ' में निष्पन्न होता है, वैसे ही 'मृगोऽस्यास्तीति मृगी' नहीं निष्पन्न होता; अत: 'लक्ष्यमुद्दिश्य लक्षणप्रवृत्ति:

नतु लक्षणमुद्दिश्य लक्ष्यप्रवृत्तिः' इसलिए व्याकरण प्रयोगमूल होता है, प्रयोग में 'व्याकरणाल्लोक एव बलीयान् ।'

ऐसे ही 'सु, औ, जस्' के आधार पर श्लेष-चमत्कार दिखाकर नल-प्रशंसा की गयी है। (द्रष्टव्य ३।२३)। नलवर्णन में 'अधीतिबोधाचरण-प्रचारणैः' (१।४) के प्रयोग का आधार है पातंजल 'महाभाष्य'—'चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति आगमकालेन, स्वाध्यायकालेन, प्रवचन-कालेन, व्यवहारकालेन (भाष्य १।१।१) । अनेक स्थलों पर श्रीहर्ष ने नवीन शब्द-रचना भी की है, जैसे सुननायक, प्रतीतचर और अधिगामुका । (१८। १२४ या १२९) ।

षड्दर्शन न्यायशास्त्री गौतम को (१७।७४ या ७५में) वैशेषिक-कर्त्ता कणाद को (२२।३५ या ३६ में) उपहास का पात्र बनाया है। वेदांतदर्शन पर व्यंग है 'स्वं च ब्रह्म च'—इत्यादिमें (१७।७३ या ७४)। सांख्य के सत्कार्यवाद सिद्धांत (कार्यकारणयोर्व्यतिभेदो नास्ति ५।९४), योगदर्शन की संप्रज्ञात समाधि (२१।११८), वैशेषिक के परमाणुवाद (३।३७) और मन की अणुरूपता (१।५९) पूर्वमीमांसा की देवों की सशरीरता (१।१७) का उल्लेख भी श्रीहर्ष ने किया है। 'नैषध' में मीमांसकों का उपहास भी किया गया है (१७।६०—६२)। पारिभाषिक शब्द भी मिलते हैं, उदाहरणार्थ—पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष (१०।८०)। उत्तरमीमांसा (वेदान्त) के 'उपरतेषु हीन्द्रियेषु स्वप्नान् पश्यति' (शंकराचार्य) सिद्धांत के उपयोग के लिए द्रष्टव्य है 'नैषध' १।४०। ब्रह्म-प्राप्ति-पद्धति के लिए द्रष्टव्य हैं २।३; ४; ५।८ और ९।१२१। ब्रह्मविचार (७।४८) भी है और मोक्षदशा का वर्णन भी (९।१२१)।

बौद्धदर्शन—बौद्धदर्शन के शून्यवाद, विज्ञानवाद और साकारतावाद का (१०।८८), पारमिता का (५।११), 'चतुष्कोटि' और 'षडभिज्ञा' (२१।८८) का उल्लेख भी श्रीहर्ष ने किया है और चार श्लोकों में (२१।८८-९१) बुद्धभगवान् के प्रति श्रद्धा भी प्रकट की है।

जैन-दर्शन—जैनदर्शन के 'त्रिरत्न' (सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन; सम्यक् चरित्र) मुख्य तत्त्व हैं। इन का उल्लेख 'नैषध' (९।७१) में है।

चार्वाकदर्शन—सत्रहवें सर्ग (१७–८३) में कलि के वक्तव्य का आधार चार्वाकदर्शन ही है। प्राय: सभी दर्शन-सिद्धांतों का इसमें उपहास है। 'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत:' का तो उद्धरण ही है (१७।६९)।

सामुद्रिकशास्त्र—सामुद्रिक ज्ञान का परिचय भी 'नैषध' में अनेक स्थलों पर मिलता है। 'सामुद्रिकसारमुद्रणा' (२।५१) है, पद्म (१।६५), मत्स्य (१।१०५) और वज्र (२०।८१) रेखाएँ भी हैं, ऊर्ध्वरेखांकित चरण भी हैं (१।१८, १३।६)।

तंत्र—श्रीहर्ष तांत्रिक थे, मंत्र-तंत्र के साधक। उनकी चिन्तामणि मंत्र की साधना विख्यात ही है। अनेक तंत्र-परक उल्लेख 'नैषध' में हैं। तंत्रसिद्धि की उपयुक्त अष्टमी-निशा (७।२३), शक्ति-सिद्धि की चौदस की रात (७।९७), चिन्तामणि मंत्र की साधना विधि और फल (१४।८७) के उल्लेख इसके प्रमाण हैं।

प्राणिविज्ञान—जल-स्थल और आकाश तीनों के प्राणियों से संबद्ध ज्ञान का उल्लेख 'नैषध' में है। प्रथम सर्ग में अश्वसंबंधी वर्णन श्रीहर्ष में शालिहोत्र का ज्ञाता सिद्ध करता है। इसमें अश्व-लक्षण, स्वभाव, गति आदि का श्रेष्ठ चित्रण है। हंस-प्रसंग पक्षिविज्ञान का परिचायक है। मयूर, कोकिल, उलूक आदि के भी उल्लेख हैं। जलचर मीन से संबद्ध उल्लेख नेत्रों की उपमा के लिए तो हैं ही, मीन-प्रकृति का भी निरीक्षण मिलता है (४।३५)।

अन्य शिल्प-ज्ञान—रत्नविद्या (१०।९४), चित्रकला (२०।१३६), शकुनज्ञान (५।१३४, १०।९१) तथा षोडश सर्ग में पाककला का ज्ञान भी संकेतित हो जाता है। वस्तुत: लोक-जीवन में श्रीहर्ष की गहरी पैठ थी। लोक-जीवन के व्यवहार और रीतियों के उल्लेख 'नैषध' में प्राप्त हैं। द्रष्टव्य—दीठ लगना और उसका उपाय (२।२६), काजल बनाने की रीति (२२।३१)।

वेद-वेदांग पुराणेतिहासादिका ज्ञान—जहाँ तक इनका प्रश्न है, श्रीहर्ष इस ज्ञान के अधिकारी विद्वान् थे। वैदिक हिरण्मयपुरुष-रूप हंस (१।११७), ब्रह्मानन्द (२।१), वेदपाठ (३।७५, १०।६६, १९।५२) आदि विवरण श्रीहर्ष के वेद-संबद्ध ज्ञान के परिचायक हैं। श्रवण, मनन, विधि निदिध्यासन (३।८२), आनन्दरूप ब्रह्म (५।८), देवानन अग्नि

(१०।२१), शतक्रतु इन्द्र (१७।१०४) आदि के उल्लेख उनके औप-निषदिक ज्ञान का आभास कराते हैं। वैदिककर्मकांड और वैदिक विधियों के अनेक उल्लेख भी 'नैषधीयचरित' में हैं। पुत्रेष्टि, श्येन तथा कारीरीयाग के लिए द्रष्टव्य १७।९४; वैदिक-विधिज्ञान के लिए १७।१७७; दर्श, अग्निष्टोम, पौर्णमास, सोमयाग (१७।१९६), सौत्रामणि (१७।१८२), सर्वमेध (१७।१८६), महाव्रत (१७।२०३) आदि के अनेक उल्लेख श्रीहर्ष ने किये हैं।

वेदांगों में शिक्षा (२।८९), निरुक्तीय व्युत्पत्ति (दमयन्ती २।१८, न्यग्रोध (११।३०, पञ्चशर २२।१८) और ज्योतिष (कवि, बुध १।१७) के उल्लेख 'नैषध' में सहजप्राप्य हैं। उनका छन्दःशास्त्र का ज्ञान पृथक् दिखाया ही जा चुका है।

पुराणेतिहास-ज्ञान के परिचायक तो अनेक उल्लेख हैं। प्रथम सर्ग में बाणपुत्री उषा और श्रीकृष्ण-पौत्र अनिरुद्ध की कथा (१।३२), शिवपूजा ने त्यक्त केतकपुष्प (१।७८), मदन-दहन (१।८७), समुद्रान्तर्गत मैनाक (१।११६), और वामनावतार (१।७२४ तथा ५।१३०) के संकेत हैं। प्रलय-वेला में विष्णूदरगत मार्कण्डेय का कई स्थानों पर उल्लेख है (२।९१, १०।३०, १२।९५, २१।९४) राहु द्वारा चन्द्र-ग्रास भी कई स्थानों पर संकेतिक है (१९६, ४।६४, ६५, ७१, ७२, १२।९४, २२।६६, १३६, १४८)। अगस्त्य द्वारा समुद्रपान (४।५१, २२।६७), प्रणाम करते विन्ध्याचल का अगस्त्य की प्रतीक्षा में झुका रहना (५।१३०), दधीचिकथा (५।१११), पृथुचरित (११।१० १२।२०), पारिजात-हरण (१०।२४) ऐरावत को दुर्वासा का शाप (१६।३१), संजीवनी विद्या द्वारा कच का पुनर्जीवन (१९।१५), शर्करा-गिरि और अमृत-मन्थन (२१।१३९), इत्यादि पौराणिक संदर्भ यत्र-तत्र 'नैषध' में हैं। विष्णुपूजा-प्रसंग (२१ सर्ग) में रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि के अनेक प्रसंग हैं।

यत्र-तत्र अन्य शास्त्रों के संदर्भ भी पर्याप्त हैं। अर्थशास्त्र (४।८१ 'पुष्पैरपि न योद्धव्यं किं पुनर्निशतैः शरैः'), धर्मशास्त्र (१।९७, ९।८१, ८२, १५१, ११।९२, १४।६८, १५।६४, २१।१२, २१।२०) के अनेक नियमों

का संकेत है। आयुर्वेद-ज्ञान के सूचक हैं—सांक्रामिक रोग का चिकित्सकों में प्रविष्ट हो जाना (३।११), सर्पदंशचिकित्सा (४।२३), ताप-शान्ति के निमित्त नलद (खस) का सुश्रुत और चरक द्वारा अनुमोदित प्रयोग (४।११६)। धनुर्वेद से श्रीहर्ष का अच्छा परिचय प्रतीत होता है, द्रष्टव्य ३।१२६, १२७, १०।११७, ११९, २१।१५८। राजनीति शास्त्र (१०।१३, २०।१३३), और संगीतविद्या (१।५२, ११।६, १२।१६, १५।१६ १७, १८।१३, २१।१२४, १२५, १२७ में नृत्य, गान, वाद्य के संकेत) का संदर्भ है ही। कामशास्त्र के तो श्रीहर्ष विज्ञाता ही थे, अष्टादश सर्ग तो इसका पूर्ण परिचायक है ही, कामदशा (३।१०१, ११४) कामज्वर (४।२) आदि के वर्णन भी हैं। ऐसी कामक्रीडाओं का वर्णन उन्होंने किया है, जिनका ज्ञान न तो महाकवियों को है और न पांसुलाओं—स्वैरविहारिणियों को—महाकविभिरप्यवीक्षिताः पांसुलाभिरपि ये न शिक्षिताः। (१८।२९)।

दोष—इतने ज्ञानी, अगाध पांडित्य के अभिमानी महाकवि के महाकाव्य में यदि अनेक विद्वानों को दोष भी लगे तो आश्चर्य ही क्या ? आलोचकों की इस दोषदृष्टि को विद्वानों ने इस प्रकार परिगणित किया है।—

(१) भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष की प्रबलता।

(२) शास्त्रीय संदर्भों का अतिशय प्रयोग।

(३) क्लिष्ट कल्पनाओं की पुनरुक्तियुता कथावरोधिका अतिशयता।

(४) शृङ्गार की अत्यन्तता और तज्जनित अमर्यादा।

(५) औचित्य का अनिर्वाह। उदाहरणार्थं सभी तरुणियों द्वारा (स्वप्न में ही सही) नल को पति रूप से भजना (१।३०), भृगु, नारद, व्यास आदि का भी दमयन्ती पर मोह (७।९५), स्वयंवर हो जाने पर भी चन्द्र-बिन्दु के माध्यम से उसके प्रति इन्द्र का मोह (१५।६४), हरिहरादिदाराओं का सदैव मदन-कारा में वन्दिनी रहना (१७।७६) आदि।

(६) चार्वाकदर्शन के कलि-द्वारा प्रतिपादन से देव-ब्राह्मणादि पर लम्बे आक्षेप।

(७) लंबे अनावश्यक वर्णन।

(८) अप्रचलित तथा नवगठित शब्दों के प्रयोग से उत्पन्न दुरूहता और

दुर्बोधता; उदाहरणार्थ-अगदंकार, श्यैनंपाता, अकूपार (अप्रसिद्ध, अप्रचलित), अप्रतीतचर, हंसस्पृश, सूननायक आदि (नवगठित) शब्द ।

(९) महाकाव्योचित विस्तृत जीवन-दर्शन का अभाव और एकांगिता ।

(१०) रचना-दोष, जिससे अनपेक्षित अर्थ भी संभव है तथा अनेक शास्त्रवर्णित दोषों की स्थिति; उदाहरणार्थ १।५० में 'भृशं' का दुष्क्रम प्रयोग, चम्पक पुष्प पर बैठने से भ्रमर की मृत्यु की ख्याति-विरुद्धता (१।८६), भ्रमर-पंक्ति का चम्पा की कली पर बैठना--प्रसिद्धिहतता (१।९१), अनेक स्थलों पर क्लिष्टत्व, नपुंसकलिंग में प्रयुक्त होने वाले पद्म का द्वितीया-बहुवचन में पुंलिंग-प्रयोग 'पद्मान्' (१०।१२०)—व्याकरणविरुद्धता आदि ।

(११) शृङ्गार और हास्य इनमें अश्लीलता ।

'हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर' वाल्यूम १, पृ० ३२८ में डॉ० सुशील कुमार दे ने लिखा है कि आधुनिक दृष्टि के पाश्चात्य जल्दबाज समीक्षक को श्रीहर्ष की कृति अरुचिपूर्ण और शैली की दृष्टि से पूर्णतः असुन्दर लगे तो आश्चर्य नहीं--'इट इज नो वंडर, दैट जजिंग बाय मॉर्डन स्टैंडर्ड, एन इंपैशेंट वेस्टर्न क्रिटिक शुड स्टिग्मैटाइज दि वर्क एज ए परफेक्ट मास्टर पीस आफ बैड टैस्ट ऐंड बैड स्टायल ।'

वस्तुतः यह दोष-दर्शन 'गुणसन्निपाते' चन्द्रकिरणों में कलंक के समान है और कुछ अतिपरंपरावाद तथा आधुनिक समीक्षा दृष्टि के परिणाम भी हैं । 'नैषधीयचरित' के अनुशीलन के समय जल्दबाजी से काम नहीं चलता, उसके लिए सुस्थिरता और सुस्थिर मति अपेक्षित है । श्रीहर्ष की कविता कामिनी की रमणीयता से सुधीजन ही प्रभावित होते हैं, 'कुमारों' (बालकों) के लिए वह नहीं है—

'परमरमणीयाऽपि रमणी कुमाराणामन्तःकरणहरणं नैव कुरुते' ।

श्रीहर्ष की उक्ति सुधीजनों को आनन्दित कर सके, इसी में उसकी सार्थकता है, रसहीन जनों के अनादर से उसका कुछ बिगड़ता नहीं—

'मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः ।
किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः ॥'

जहाँ तक शब्द-प्रयोगों में नवगठितता का प्रश्न है, वह तो श्रीहर्ष का स्तुत्य नवीन प्रयास है । राजा के लिए भूजानि (१।२), काम के लिए सूननायक, जाननेहारी के लिए अधिगामुका, पूर्वज्ञात के लिए अप्रतीतचर

(सभी १८।१२९), हँसते हुए के लिए हंसस्पृश (१८।१३०) भावव्यंजक नये शब्द हैं। इसी प्रकार अप्रचलित होते हुए भी अगदंकार (चिकित्सक ४।११६), अकूपार (सागर १२।१८), श्यैनंपाता (आखेट १९।१२), मिहिकारुच (चन्द्र १९।३५) हैं। श्रीहर्ष ने तो लोक-भाषा से भी शब्दचयन किया है। जैसे अंगार के लिए इंगाल (१।९), प्रताप के किए विरुद (११।३७) परंपरा के लिए धोरणि (१५।४९), चपटा के लिए चिपिट (२२।८५)।

वस्तुतः यह दोष नहीं, यह तो भाषा को जीवंत रखने का एक स्तुत्य प्रयत्न है। इसी लिए 'नैषध' को विद्वानों की औषध कहा गया है, वस्तुतः वह तो जराव्याधिविध्वंसि रसायन है पद-लालित्य तो 'नैषध' की सर्वस्वीकृत प्रशस्ति है ही, और भी अनेक प्रकार से उसकी कीर्ति बखानी गयी है:—

(१) तावत् भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व भारविः॥

(२) काव्ये नैषधनाम्नि धाम्नि सुबृहत्यर्थस्य मुक्ताऽवधे-
र्भावान् दूरनिगूहितान् कथमहं सर्वान् प्रमातुं क्षमः।
एतस्मिन् द्युतिमन्ति सन्ति सुबहून्येतानि मध्ये भुवः
साकल्येन लभेत कोऽपि खनिता वज्राणि वज्राकरे॥

(३) कविकुलपतेः श्रीहर्षस्य प्रबन्धरसायनं पिबत श्रोत्रैरन्तर्विभाव्य सचेतसः।
अचतुरपरग्रन्थावर्धैः प्रकोपमुपेयुषः प्रकृतिविषमांश्चेतोरोगान्वेतदपोहतु॥
(टीकाकार विशेश्वरभट्टाचार्य)।

श्रीहर्ष की प्रशंसा भी अनेक जनों ने मुक्तकंठ से की है—
श्रीरामचन्द्र शेष ने कहा है:—

यः साहित्यरसामृताब्धिलहरीजालेषु खेलाचलो
पश्चात्यर्थगभीरतर्कजलधेर्मथि रा मंथाचलः।
मीमांसायुगसिन्धुतारणविधौ यः कर्णधारः परः
केषामेष मनो विनोदयति न श्रीहर्षनामा कविः॥

ऐसे ही कहा गया है:—

अन्यैः कविभिरक्षुण्णां पदारब्धां सुपद्धतिम्।
समादाय कविः श्रेयः श्रीमान् हर्षः प्रतिष्ठिते॥

वरदराज ने कहा है--

प्रत्यक्षलक्षणविचक्षणवादिवृन्ददुर्दन्तिदन्तदलनानि विलासमात्रम् ।
येषां जयन्ति त इमे जगति प्रतीताः श्रीहर्षसिंहनररूपकरप्रहाराः ॥

श्रीहर्ष को समस्तशास्त्रों का वेत्ता मानते हुए कहा गया:—

अमोघचिन्तामणिसिद्धिप्राप्तप्रमामेवं प्रथितप्रतापम् ।
समस्तशास्त्रप्रतिबुद्धविद्यं श्रीहर्षमेकं विबुधं प्रतीमः ॥

वे अनवद्य और हृद्य वाणी की वर्षा करनेहारे खलप्रघर्षी उत्कृष्ट कवि थे:-

कविषु दधतमुत्कर्षं विस्फुरदनवद्यहृद्यवाग्वर्षम् ।
इह खलु खलप्रघर्षं श्रीहर्षं नौमि हर्षसङ्घर्षम् ॥

'साहित्यविद्याधरी'-कार विद्याधर की उक्ति (अष्टौ व्याकरणानि-इत्यादि) पहिले उद्धृत की जा चुकी है, विद्याधर की टीका को ध्यान में रखते हुए 'नैषध' के अन्य टीकाकार चाण्डू पंडित ने उसकी गंभीरता को अथाह बताया है—

टीका यद्यपि सोपपत्तिरचना विद्याधरो निर्ममे
श्रीहर्षस्य तथापि न त्यजति सा गंभीरतां भारती ।
दिक्कूलङ्कषतां गतैर्जलधरैरुद्ग्राह्यमाणं मुहुः
पारावारमपारमम्बु किमिह स्याज्जानुमात्रं क्वचित् ॥

सचमुच श्रीहर्ष का 'नैषधीयचरित' विद्वदौषध ही है, उसको समझना-बूझना, उसकी व्याख्या सरल नहीं । श्रीहर्ष के कृतित्व को 'परफैक्ट मास्टरपीस आफ बैड स्टायल' जिन विद्वानों ने कहा है, उनसे विनतापूर्वक यही कहा जा सकता है---'माऽस्मिन् भवान् खेलतु ।'

श्रीहर्ष का 'नैषधीयचरित' पांडित्यपूर्ण शैली---विदग्धजनसंमानिता प्रौढ शैली में लिखा गया है, वह 'कुमारों' के लिए नहीं है, न भावपक्ष की दृष्टि से, न कलावधारणा की दृष्टि से । अंग्रेजी के विज्ञ महाकवि मिल्टन की कलाविज्ञता और हिन्दी के आचार्य कवि केशवदास का पांडित्य इसी परंपरा में आनेवाले प्रयत्न हैं ।

(७) **नाम और उद्देश्य**—नाट्याचार्य भरतमुनि ने रूपक-विकल्पन के तीन आधार माने हैं -- नाम, कर्म और प्रयोग—'नामतः कर्मतश्चैव तथा चैव प्रयोगतः ।' (ना० शा० १८।१) । नाम से ही उद्देश्य प्रकट हो जाता है। श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य का नाम नायक को आधार बनाकर रखा'—नैषधीय-

चरितम्', अर्थात् निषधराज (नल) का चरित। इससे उसका उद्देश्य भी स्पष्ट हो जाता है, वह अपने इस 'राजचरित' के माध्यम से निषधराज के महनीय चरित का उज्ज्वल पक्ष दिखाना चाहता है। उसे द्यूत में पराजित श्रीहीन नल का चरित अभीष्ट नहीं, वह नल का वैभव, उसकी कलाविज्ञता, त्रिलोकधन्य पौरुष, उदारता, वदान्यता, दानशीलता, गंभीरता, दृढप्रतिज्ञता, आस्तिकता, विलासकौशल, गंभीर अनुराग आदि उत्तम मानवीय गुण पाठकों के संमुख रखना चाहता है। नल-सम्बन्ध से रमणीरत्न दमयन्ती का गौरव भी स्पष्ट हो जाता है। अनेक शास्त्रों के संदर्भ न केवल कवि की बहुज्ञता के परिचायका हैं, कविशिक्षा भी उसका उद्देश्य हैं। यदि 'नैषध' का साङ्गोपाङ्ग गंभीरता से अध्ययन-मनन किया जाय तो संक्षेप में भारतीय वाङ्मय और संस्कृति का अच्छा परिचय प्राप्त हो सकता है।

पाश्चात्य दृष्टि के अनुसार इसके 'दर्शन' में व्यापकता और अपेक्षित उदात्तता भले ही न हो और इस प्रकार उनके समीक्षण में यह एक आदर्श 'एपिक' सिद्ध न हो सके, यह विचारणीय नहीं है, देखना यह है कि 'नैषधीय चरित' उन्हें कितना रिझा पाता है, जिनको ध्यान में रखकर इसका प्रणयन हुआ है, यह 'नैषधीयचरित' अपने सुधी पाठकों को 'सुधीभूय' (अमृत बनकर) मतवाला बना सकता है अथवा नहीं ? यदि कवि के इस कथन अथवा प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में मिलता है, तो यह कहना पूर्णतः उचित है कि अपने उद्देश्य में कृतार्थ है—'किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः' ?

संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'नैषधीयचरित' के रूप में श्रीहर्ष की 'उक्ति'—'वैदग्धभङ्गीभणिति' क्षीरसागर के समान अमृतदायिनी है, यह पर्वत-पाषाणों से उद्भूत आडम्बरकोलाहल करती नदी नहीं :—

दिशि दिशि गिरिग्रावाणः स्वां वमन्तु सरस्वतीं
तुलयतु मिथस्तामापातस्फुरद्ध्वनिडम्बराम्।
स परमपरः क्षीरोदन्वान्यमुदीयते
मथितुरमृतं खेदच्छेदि प्रमोदनमोदनम्॥

गुरुपूर्णिमा
वि० सं० २०४१

—देवर्षि सनाढ्य

कथासार

(प्रथम सर्ग)

भूपः कोऽपि नलद्युतिरभून्त्रानुरागं दधौ
वैदर्भी दमयन्तिका गुणरुचिः सोऽप्यास तस्यां स्पृही ।
जातु स्वान्तविनोदनाय विरही लीलाटवीं पर्यटन्
हैमं हंसमसौ निगृह्य तरसा दूनं दयालुर्जहौ ॥

—श्री रामकृष्णकवि

प्राचीन काल में महामहिम पुण्यश्लोक नल नरेश हुए थे। वे उत्कृष्ट मानवीय अभिरामता के आदर्श थे। निषध उनका राज्य था। वैसी ही रमणीगुणों की आदर्श विदर्भ राजकुमारी दमयन्ती थी, जो महाराज नल का 'गुण-श्रवण' कर उनकी अनुरागिणी बन गयी थी और इसी प्रकार राजा नल भी उसकी स्पृहा करने लगे थे। नलराज अपने विरहखिन्न मन के विनोदन के लिए क्रीडोद्यान में—चले गये, जहाँ उन्होंने एक दिन स्वर्णहंस को देखा और उसे पकड़ लिया। पकड़े गये हंस के करुण-विलाप से स्वभावतः करुणापरायण राजा नल की करुणा जाग गयी और उन्होंने हंस को छोड़ दिया। इस पर उस स्वर्ण हंस और उसकी सहचरी हंसमंडली को अपार हर्ष हुआ।

॥ श्रीः ॥

नैषधमहाकाव्यम्

मल्लिनाथकृत 'जीवातु' टीका-सहित-

सान्वय-सटिप्पण-'चन्द्रिका' हिन्दीव्याख्योपेतम्

प्रथमः सर्गः

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथां तथाद्रियन्ते न बुधास्सुधामपि ।
नलस्सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलस्स राशिरासीन्महसां महोज्वलः ॥ १ ॥

जीवातु—अथ तत्रभवान् श्रीहर्षकविः 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये । सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥' इत्यालङ्कारिकवचनप्रामाण्यात् काव्यस्यानेकश्रेयःसाधनत्वाच्च 'काव्यालापांश्च वर्जयेदि'ति तन्निषेधस्यासत्काव्यविषयतां पश्यन् नैषधाख्यं महाकाव्यं चिकीर्षुश्चिकीर्षितार्थंविघ्नपरिसमाप्तिहेतोः 'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखमि' त्याशीराद्यन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणत्वात् कथानायकस्य राज्ञो नलस्य इतिवृत्तरूपं मङ्गलं वस्तु निर्दिशति—निपीयेति । यस्य क्षितिरक्षिणः क्षमापालकस्य नलस्य कथाम् उपाख्यानम् । निपीय नितरामास्वाद्य पीङ् स्वादे क्त्वो ल्यबादेशः न तु पिबतेः 'न ल्यपी' ति प्रतिषेधादीत्वासम्भवात् । बुधास्तज्ज्ञाः सुराश्च 'ज्ञातृचान्द्रिसुरा बुधा' इति क्षीरस्वामी । सुधामपि तथा यथेयं कथा तद्वदित्यर्थः, नाद्रियन्ते, सुधा मपेक्ष्य बहु मन्यन्ते इति यावत् । सितच्छत्रितं सितच्छत्रं कृतं सितातपत्रीकृतमित्यर्थः, तत् कृताविति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः । कीर्तिमण्डलं येन सः महसां तेजसां राशिः रविरिवेति भावः । महैः उत्सवैः उज्ज्वलः दीप्यमानो नित्यमहोत्सवशालीत्यर्थः । 'महः उद्धव उत्सव' इत्यमरः । स नलः आसीत् । अत्र नले महसां

राशिरिति कीर्तिमण्डले च सितच्छत्रत्वरूपस्यारोपात् रूपकं कथायाश्च सुधापेक्षया उत्कर्षात् व्यतिरेकश्चेत्यनयोः संसृष्टिः। तदुक्तं दर्पणे, रूपकं रूपितारोपाद् विषये निरपह्नवे' इति। "आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा। व्यतिरेक" इति मिथोऽपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते इति च। अस्मिन् सर्गे वंशस्थं वृत्तं, 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरावि'ति तल्लक्षणात् ॥ १ ॥

अन्वयः---यस्य क्षितिरक्षिणः कथां निपीय बुधाः सुधान् अपि तथा न आद्रियन्ते सितच्छत्रितकीर्त्तिमण्डलः महसां राशिः महोज्ज्वलः सः नलः आसीत्।

हिन्दी—जिस पृथ्वीपालक की कथा का पान करके विद्वज्जन अमृत का भी वैसा आदर नहीं करते, ऐसा (अपने) श्वेत छत्र (आतपत्र) के समान यशोमंडल से युक्त, उत्सवों से देदीप्यमान, तेजोराशि राजा नल था।

टिप्पणी—'नैषधीयचरित' महाकाव्य के रचयिता महाकवि श्रीहर्ष ने विघ्न-विनाश के निमित्त काव्य के नायक राजा नल की कथा-रूप मंगलकारिणी वस्तु का इस श्लोक द्वारा निर्देश किया है "आशीःकथन" और 'नमोवाद' के अनुरूप ही कथावस्तु का निर्देश भी मंगलविधायक होता है। राजा नल की कथा अमृत से भी अधिक सरस है, कवि का यह भाव है। 'बुध' शब्द का अर्थ 'देवता' भी है, अतः यह भी भाव है कि सदा सुधापान करने वाले देवता भी राजा नल की कथा का आस्वादन कर अमृत को पहिले जैसा आदर नहीं देते। 'क्षिति-रक्षिणः' को प्रथमा-बहुवचन मानकर यह अर्थ भी हो जाता है कि अन्य धरती के पालक राजा यज्ञादि द्वारा प्राप्त अमृत को भी नल-कथा का आस्वादन कर भूल जाते है। 'क्षितिरक्षिणः' का एक अर्थ फण पर धरती को धारने वाले शेष-तक्षकादि नाग भी है और 'सुधा' का अर्थ 'भुजंग-भोजन भी। इससे भाव यह हुआ कि पातालवासी नागादि भी नल-कथा में उतनी ही रुचि रखते हैं, जितनी कि पृथ्वीवासी बुधजन और स्वर्ग में बसने वाले देवता। भावार्थ यह कि नल का यश त्रिलोकों में व्याप्त है। सुधाम् + अपि' का खण्ड करके 'नैष-धीयप्रकाश' व्याख्याकार नारायण पंडित 'अपि' का अर्थ 'चन्द्रमा में' करके यह अर्थ भी करते हैं कि देवगण 'सुधाजलधारी' चंद्र को भी राजा नल के समान नहीं समझते।

'क्षितिरक्षिण-' का अर्थ कलि के भय से मुक्ति दिलाने वाला राजा नल भी हो सकता है—क्षयार्थक 'क्षि' धातु से 'स्त्रियां क्तिन्' हो 'क्षिति' निष्पन्न हुआ, 'क्षिति' अर्थात् नाश। 'क्षितिः + अक्षिणः' (अक्षः वासो यस्य सः अक्षी अर्थात् पांसे में वास करने वाला कलि) अर्थात् अक्षी-कलि की क्षिति-भय में आदर नहीं रह जाता। कहा जाता है—'कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च। पर्णस्य राजर्षेः कीर्त्तनं कलिनाशनम्।'

'अक्षाः यस्य सन्ति सः अक्षी तस्य अक्षिणः' अर्थात् द्यूतव्यसनी राजा नल, उसकी भी 'क्षिति' अर्थात् धरती या राज्य है, यह आश्चर्यजनक भी है। सो द्यूतव्यसनी नरेश की कथा निश्चयतः मनोरंजक होगी, सुधा से भी सरस। कितना विचित्र है कि वह राजा अनंत कीर्तिशाली भी है।

राजा नल 'महसां राशिः' अर्थात् सूर्य के तुल्य तेजस्वी है, 'सः' अर्थात् वही नल। अर्थात् लुप्तोपमा अथवा लुप्तोत्प्रेक्षा अलंकार मानकर अर्थ हुआ कि सूर्यतुल्य तेजस्वी प्रतापी नल के अतिरिक्त कोई नहीं हुआ। नल की यही सूर्य से समता चंद्रादि के प्रति अवज्ञा का कारण भी है। सूर्य ही वर्षा करके अन्नोत्पादक है। 'आदित्याज्जायते वृष्टिः।'

'महोज्ज्वल' का विग्रह 'महैः उज्ज्वलः' करके उत्सवों से देदीप्यमान अर्थ हुआ। 'महान् उज्ज्वलः शृङ्गारो यत्र दमयन्त्याः' विग्रह में यह अर्थ भी संकेतित होता है कि दमयन्ती का उज्ज्वल अर्थात् शृङ्गार (रति) नल में ही था। 'शृङ्गारः शुचिरुज्ज्वलः' इत्यमरः।

इस सर्ग में प्रथम श्लोक से १४२वें श्लोक (सुता, कयाहृय) तक वंशस्थ छंद है। श्लोक में शब्दालंकार अनुप्रास है। अर्थालंकार उपमान 'सुधा' से उपमेय कथा का आधिक्य—निर्देश होने के कारण व्यतिरेक है और सूर्य और नल का अभेद होने से रूपक अथवा प्राकरणिक नल और अप्राकरणिक सूर्य के श्लिष्ट पद में अनुबन्धन होने से श्लेष। इस प्रकार व्यतिरेक और रूपक की संसृष्टि तथा रूपक और श्लेष का संकर हुआ। 'सितच्छत्रकीर्तिमण्डलः' सूर्य का भी विशेषण है—'श्वेतातपत्रीकृतं कीर्तियुक्तं मण्डलं यस्य सः'—श्वेत छत्र के समान विस्तृत मंडल वाला सूर्य।

रसैः कथा यस्य सुधावधीरिणी नलस्य भूजानिरभूद् गुणाद्भुतः।
सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः ॥ २ ॥

जीवातु—इममेवार्थमन्यथा आह-रसैरिति । यस्य नलस्य कथा रसैः स्वादैः, रसो गन्धो रसः स्वाद' इति विश्वः । सुधाम् अवधीरयति तिरस्करोति तथोक्ता अमृतादतिरिच्यमानस्वादेति यावत्, तांच्छील्ये णिनिः भूर्जाया यस्य स भूजानिः भूपतिरित्यर्थः । 'जायाया निङि'ति बहुव्रीहौ जायाशब्दस्य निङादेशः । स नलः गुणः शौर्य्यदाक्षिण्यादिभिः । अद्भुतः लोकातिशयमहिमेत्यर्थः अभूत् । कथम्भूतः सुवर्णदण्डश्च एकं सितातपत्रश्च ते कृते द्वन्द्वात् तत्कृताविति ण्यन्तात् कर्म्मणि क्तः । ज्वलत्प्रतापावलिः कीर्तिमण्डलञ्च यस्य तथाभूतः । इह कीर्तेः सितातपत्रत्वरूपेण पूर्वोक्तमपि सुवर्णदण्डवैशिष्टयात् राज्ञश्च गुणाद्भुतत्वेन वैचित्र्यात् न पुनरुक्तिदोषः । अत्रापि पूर्ववद् व्यतिरेकरूपकयोःसंसृष्टिः ॥ २ ॥

अन्वयः—यस्य नलस्य कथा रसैः सुधावधीरिणी गुणाद्भुतः (सः) भूजानिः सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्त्तिमण्डलः अभूत् ।

हिन्दी—जिस नल की कथा (शृङ्गारादि नव अथवा मधुरादि षट्) रसों के कारण अमृत को तिरस्कारनेवाली है, गुणों के कारण अद्भुत वह भूमिपति ऐसा हुआ जिसके सुवर्णदण्ड और श्वेत छत्र ही तेजोमयी प्रतापावलि और यशोमण्डल के सदृश थे।

टिप्पणी—इस श्लोक में कवि का यह भाव है कि अनेक गुणों से युक्त होने के कारण राजा नल एक अद्भुत और अनुपम पृथ्वीपति था, धरती ने उसके गुणों पर अनुरक्त हो नलराज को ही अपना स्वामी स्वीकारा था। कथा के अमृत-तिरस्कारिणी होने में उसका नवरसमयी होना है। जिससे वह मधुरादिषड् रसमयी सुधा से श्रेष्ठ है। राजा नल में गुण भी अनेक हैं। वह 'सुधावधीः' (शोभनं धावतीति सुधा पुण्यसंचारिणी धीः यस्य सः) अर्थात् पुण्यचरित्र है (महाभारतांतर्गत 'नलोपाख्यान' (८।१) में तथा अन्यत्र नल 'पुण्यश्लोक' कहा गया है, तदेव (१।१-४ में) नल के अनेक गुणों का उल्लेख है, 'रणी' (रणः अस्यास्तीति) अर्थात् रणशूर है 'भुजानिः' अर्थात् पृथ्वीपति है। इस प्रकार वह मन्त्र, उत्साह और प्रभु शक्ति से सम्पन्न है। 'सुवर्णदण्डैक'—इत्यादि विशेषण से नल का प्रतापी और यशस्वी होना द्योतित है। 'शोभमानः न्यायः द्विजातिवर्णानां दण्डः शासनं या यत्र तथा एकं

सितातपत्रं यस्मिन् तादृशं मण्डलं राष्ट्रं यस्य सः' विग्रह द्वारा नल न्यायी, सुशासक वर्णाश्रमव्यवस्थापक संकेतित होता है। 'भूजानि' नल ही था, इससे 'भू' के समान दमयन्ती का पति वही हुआ, यह भी व्यंग्य है।

यहाँ व्यतिरेक और रूपक की संसृष्टि है। 'साहित्यविद्याधरी' के अनुसार यहाँ कथा के सुधावधीरिणी होने से व्यतिरेक है और 'सुवर्णदण्ड-सितच्छत्र' से क्रमशः 'प्रतापावलि कीर्त्तिमण्डल' विशेषित होने से यथासंख्य है, इस प्रकार व्यतिरेक यथासंख्य का संकर है।

पवित्रमत्रातनुते जगद्युगे स्मृता रसक्षालनयेव तत्कथा।
कथं न सा मद्गिरमाविलामपि स्वविनीमेव पवित्रयिष्यति ॥ ३ ॥

जीवातु—सम्प्रति कविः स्वविनयमाविष्करोति पवित्रमिति। अत्र युगे कलौ इति यावत्। यस्य नलस्य कथा स्मृता स्मृतिपथं नीतेत्यर्थः। सती जगल्लोकं रसक्षालनयेव जलक्षालनयेवेत्युत्प्रेक्षा, 'देहधात्वम्बुपारदा' इति रसपर्य्याये विश्वः। पवित्रं विशुद्धम् आतनुते करोति, सा कथा आविलां कलुषामपि सदोषामपीति यावत्, स्वसेविनीमेव केवलं स्वकीर्त्तनपरामेवेति भावः। मद्गिरं मम वाचं कथं न पवित्रयिष्यति ? अपि तु पवित्रां करिष्यत्येवेत्यर्थः। तथा चोक्तं 'कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च। ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्त्तनं कलिनाशनम् ॥' इति। या स्मृतिमात्रेण शोधनी सा कीर्त्तनात् किमुतेति कैमुत्यन्यायेनार्थान्तरापत्त्या अर्थापत्तिरलङ्कारः। तदुक्तम्—'एकस्य वस्तुनो भावाद् यत्र वस्त्वन्यथा भवेत्। कैमुत्यन्यायतः सा स्यार्थापत्तिरलङ्क्रिया।' इति ॥३॥

अन्वयः—तत्कथा स्मृता अत्र युगे जगत् पवित्रम् आतनुते, सा आविलाम् अपि स्वसेविनीम् एव मद्गिरं रसक्षालनया इव कथं न पवित्रयिष्यति ?

हिन्दी—वह कथा स्मरण करने पर इस युग में भी संसार को पवित्र कर देती है, वह दोषमयी किन्तु 'स्वकथैकतत्परा'—नल की ही कथा कहने में लग्न—मेरी वाणी को मानो शृङ्गारादि उज्ज्वल रसों से परिक्षालित करके भला क्यों न पवित्र करेगी ?

टिप्पणी—इस श्लोक में कवि-विनय प्रतिपादित है, जिसकी नल चरित्र के वर्णन में ही आसक्ति है, इसी सम्भावना के कारण 'साहित्यविद्याधरी' में

यहाँ उत्प्रेक्षा मानी गयी है। रस का अर्थ नवरस भी है और जल भी, सो श्लेष है। जो कथा स्मरणमात्र से पवित्र करती है वर्णन से तो और भी करेगी इस अर्थान्तर की आपत्ति हो जाने के कारण 'अर्थापत्ति' अलङ्कार है। 'कथं न पवित्रयिष्यति अपितु पवित्रयिष्यत्येव'—काकुवक्रोक्ति।

अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः।
चतुर्दशत्वं कृतवान् कुतस्स्वयं न वेद्मि विद्यासु चतुर्दशस्वयम् ॥४॥

जीवातु—अस्य सर्वविद्यापारदर्शित्वमाह—अधीतीति। अयं नलः चतुर्दशसु विद्यासु 'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। धर्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश' त्युक्तासु अधीतिरध्ययनं गुरुमुखात् श्रवणमित्यर्थः। बोधः, अर्थावगतिः, आचरणं तदर्थानुष्ठानं, प्रचारणम् अध्यापनं शिष्येभ्यः प्रतिपादनमित्यर्थः, तैश्चतुर्भिः उपाधिभिः विशेषणैः आचरणविशेषैरित्यर्थः। 'उपाधिधर्म्मचिन्तायां कैतवे च विशेषणे' इति विश्वः। चतस्रो दशाः अवस्थाः प्रणयन् कुर्वन्नित्यर्थः, स्वयं चतस्रो दशा यासां तासां भावः चतुर्दशत्वं 'त्वतलोर्गुणवचनस्ये' ति पुंवद्भावो वक्तव्य, इति स्त्रियाः पुंवद्भावः,। 'संज्ञाजातिव्यतिरिक्ताश्च गुणवचना' इति सम्प्रदायः। चदुर्दशसंख्याकत्वं कुतः कस्मात् कृतवान् न वेद्मि न जाने इति स्वतः सिद्धस्य स्वयङ्करणं कथं पिष्टपेषणवदिति चतुर्दशानां चतुरावृत्तौ षट्पञ्चाशत्त्वात् कथं चतुर्दशत्वमिति च विरोधाभासद्वयम्। चतुरवस्थत्वमिति तत्परिहारश्च। तदुक्तम् 'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास उच्यते' इति ॥ ४ ॥

अन्वयः—अयं चतुर्दशसु विद्यासु अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः उपाधिभिः चतस्रः दशाः प्रणयन् चतुर्दशत्वं कुतः कृतवान् (इति) स्वयं न वेद्मि।

हिन्दी—इस राजा नल ने अध्ययन, अर्थज्ञान, आचरण और प्रचार—इन चार प्रकारों से क्यों चौदह विद्याओं को 'चतुर्दशत्व' ही बनाया—चौदह को चौदह ही रहने दिया—यह मैं स्वयं नहीं समझ पाता।

टिप्पणी—राजा नल चारों वेद, षड् वेदांग, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण—इन मनु प्रतिपादित चौदह विद्याओं (याज्ञवल्क्य के अनुसार चौदह विद्याएँ हैं—पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि

विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ।) के न केवल ज्ञाता ही थे के उनका स्वाध्याय भी करते थे, तदनुकूल जीवन-व्यवहार भी चलाते थे और उनके प्रचार-प्रसार में भी तत्पर थे । चतुर्दश' का अर्थ चौदह तो है ही, 'चतुर्दशत्व' का अर्थ चार 'अधीतिबोधाचरणप्रचारण' दशा भी है, सो कवि (काकु से) से 'चतुर्दश' का 'चतुर्दशत्व' क्यों है, यह समझ ही गया है । राजा नल चौदहों विद्याओं के चारों व्यवहार में तत्पर रहते थे ।

चतुर्दश के चतुर्दश ही रहने में विरोध प्रतीत होता है किन्तु पुनः 'चतुर्दशत्व' का अर्थ चार दशा कर लेने पर विरोध का परिहार हो जाता है, अतः विरोधाभास' अलंकार है । 'साहित्यविद्याधरी' में यहाँ उत्प्रेक्षा बतायी गयी है ।

अमुष्य विद्या रसनाग्रनर्तकी त्रयीव नीताङ्गगुणेन विस्तरम् ।
अगाहताष्टादशतां जिगीषया नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम् ।। ५ ।।

जीवातु—अथास्यापरा अपि चतस्रो विद्याः सन्तीत्याह—अमुष्येति । अमुष्य नलस्य रसनाग्रनर्तकी जिह्वाग्रसञ्चारिणीत्यर्थः । विद्या पूर्वोक्ता सूदविद्या चेति गम्यते, रसनाग्रनर्तित्वधर्म्मादिति भावः त्रयीव त्रिवेदीव 'इति वेदास्त्रयस्त्रयी' त्यमरः । अङ्गानां 'शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां चितिः । ज्यौतिषञ्चेति विज्ञेयं षडङ्गं बुधसत्तमैरि' त्युक्तानां षण्णां मधुराम्लकषायलवणकटुतिक्तानाञ्च रसानां षण्णां गुणेन आवृत्या वैशिष्ट्येन च, अथ च अङ्गगुणेन शरीरसामर्थ्येन स्वकीयव्युत्पत्तिविषेणेति यावत् विस्तरं वृद्धिं नीता प्रापिता सती नवानां द्वयं नवद्वयं लक्षणया अष्टादशेत्यर्थः, तेषां द्वीपानां पृथग्भूता जयश्रियः तासां जिगीषया व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्योत्प्रेक्षा । जेतुमिच्छयेवेत्यर्थः, अष्टादशताम् अगाहत अभजत । पूर्वोक्तासु विद्यासु विशिष्टव्युत्पत्त्या आयुर्वेदादीनामनुशीलनसौकर्य्यात् तत्पारदर्शित्वेन, सूदविद्यापक्षे च षण्णां रसानाम् उल्बणानुल्बणसमतारूपत्रैविध्येन त्रयीपक्षे च एकैकवेदस्य प्रत्येकशः अङ्गानां शिक्षादीनां षाड्विध्यवैशिष्ट्येन चाष्टादशत्वसिद्धिः । प्रागुक्ताश्चतुर्दश विद्याः । 'आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः । अर्थशास्त्रं चतुर्थन्तु विद्या ह्यष्टादश स्मृता' इति । अङ्गविद्यागुणनेन त्रय्या अष्टादशत्वमित्युपाध्याय-विश्वेश्वरभट्टारकव्याख्याने तु अङ्गानि वेदाश्चत्वार इत्याथर्वणस्य पृथग्वेदत्वे त्रयीत्वहानिः । त्रय्यन्तर्भावे तु नाष्टादशत्वसिद्धिरिति चिन्त्यम् । उपमोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः ।।५।।

अन्वयः—अमुष्य रसनाग्रनर्त्तकी विद्यां त्रयी इव अङ्गगुणेन विस्तरं नीता नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम् जिगीषिया अष्टादशताम् अगाहत ।

हिन्दी—जिह्वा के अग्र भाग पर नर्तन करती इसकी विद्या ऋक्, यजुः, सामन्—इस वेदत्रयी की भाँति छः वेदांगों से गुणा करके विस्तार को प्राप्त होकर जैसे नौ के दूने अठारह द्वीपों को अलग-अलग जीतने को इच्छा से अठारह हो गयी ।

टिप्पणी—नल समस्त विद्याओं के पूर्णज्ञाता थे और उन्होंने अठारह द्वीपों पर अपना महिमान स्थापित किया था—कवि का यहाँ यह आशय है । इसी भाव की विविध प्रकार से योजना की जाती है । अठारह को जीतने के लिए अठारह विद्या (प्रकार) सुखकर हैं, अतः एक विद्या को अठारह कर लिया गया, जैसे तीन वेद और उनके (१) शिक्षा, (२) कल्प, (३) व्याकरण, (४) निरुक्त, (५) छंद और (६) ज्योतिष—ये षडंग । ६ × ३ = १८ । विद्यारसना—रसास्वादन करने में निपुण है, सो 'मधुराम्ललवणकटुकषाय-तिक्त' इन छः रसों का गुणन । इस प्रकार नल के पाकशास्त्री होने का संकेत । इन छः रसों के परस्पर न्यूनाधिक्य से त्रिगुणा करके छः रसों का भी अष्टाद-शत्व होता है । सूपशास्त्र के अनुसार अष्टाशत्व हैं—'दुग्धं दधि नवनीतं घोलवने तक्रमस्तुयुगम् । मध्वारविकहत्रिष्यं विदलान्नं चेति विज्ञेयम् ।। कन्दो मूलं शाखा पुष्पं पत्रं फलञ्चेति । अष्टादशकं मांसं भक्ष्याण्युक्तानि गिरिसुतया । तीन प्रकार के धान्य होते हैं—(१) कणिशवाले व्रीहि आदि, (२) शिबी (फली) वाले मूँग आदि और (३) घंटकभव चना आदि भूचर, जलचर और खेचर प्राणियों का तीन प्रकार का मांस । छः रस । कंद, मूल, फल, नाल, पत्र, पुष्प—छः प्रकार का शाक, सो ३ + ३ + ६ + ६ = १८ । विद्या नर्तकी है, सो वह एक नर्तकी भी शिर, हाथ आदि षडंग, ग्रीवा—बाहु आदि छः प्रत्यंग और भ्रूनेत्रादि छः उपांग (६ + ६ + ६ = १८)—प्रकार से अष्टादशत्व को प्राप्त होती है । अथवा १४ विद्याएँ + ४ आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व और अर्थशास्त्र = १८ । नल को पाँसा विशेषज्ञ—'अक्षी' माना गया है । चतुरंग द्यूत, द्विक, त्रिक, चतुष्क, पंचक और चार उड्डीयक (२ + ३ + ४ + ५ + ४ = १८)

योग से अट्ठारह हुआ, नल उसके भी वेत्ता थे। अथर्व वेद को शेष तीनों वेदों का सार या उद्धार माना जाता है। यह अथर्व वेद १ + वेदांग ६ + अप्रधान पुराण (न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद, अर्थशास्त्र) ८ + वेद ३ = १८ का योग। इस प्रकार नल परस्पर विरोधिनी लक्ष्मी और सरस्वती के पात्र थे।

मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ व्यञ्जन का अप्रयोग होने के कारण गम्योत्प्रेक्षा है 'साहित्य-विद्याधरी' के अनुसार 'जिगीषया' द्वारा अध्यवसाय के सिद्ध होने से अतिशयोक्ति। नारायण पंडित यहां उपमा मानते हैं।

दिगीशवृन्दांशविभूतिरीशिता दिशां स कामप्रसभावरोधिनीम्।
बभार शास्त्राणि दशं द्वयाधिकां निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम् ॥६॥

जीवातु—अथास्य देवांशत्वमाह—दिगीशेति। दिशामीशा दिगीशाः दिक्पाला इन्द्रादयः तेषां वृन्दं समूहः तस्य मात्राभिः अंशैः विभूतिरुद्भवः यस्य तथाभूतः। तथा च 'इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च। चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीरि' ति। अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृप' इति च स्मृतिः। दिशाम् ईशिता ईश्वरः स नलः शास्त्राणि दिशामिति च बहुवचननिर्देशात् इन्द्रादीनामेकैकदिगीशत्वम् अस्य तु सर्वदिगीशितृत्वमिति व्यतिरेको व्यज्यते। कामम् इच्छां मदनञ्च मदनस्य प्रसभेन बलात् अवरुणद्धीति तथोक्तां स्वेच्छाप्रवृत्तिनिवारिणीं कन्दर्पदहनकारिणीञ्चेत्यर्थः। कामप्रसरावरोधिनीमिति पाठे कामस्य प्रसरः विस्तारः वृद्धिरिति यावत् तमवरुणद्धीति तथैवार्थः। निजम् आत्मीयं यत् त्रिनेत्रावतरत्वं दिगीशेश्वरांशप्रभवत्वं तस्य बोधिकां ज्ञापिकाम्। अत्र 'तृजकाभ्यां कर्त्तरी' ति कृद्योगसमासस्यैव निषेधात् शेषषष्ठीसमासः 'तत्प्रयोजक' इत्यादि सूत्रकारप्रयोगदर्शनादिति बोध्यम्। द्वयाधिकां तृतीयामित्यर्थः, दृशं नेत्रं बभार दध्रे। एतेन अस्य शास्त्रेणैव कार्य्यदर्शित्वं व्यज्यते। शास्त्राणि दृशमिति उद्देश्यविधेयरूपकर्मद्वयम्। अवतरेत्यत्राप्प्रत्ययान्तेन तरशब्देन 'सुप् सुपे' ति समासः, न तूपसृष्टात् प्रत्ययोत्पत्तिः। अत्र शास्त्राणि दृशमिति व्यस्तरूपकम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—दिगीशवृन्दांशविभूतिः ईशिता सः शास्त्राणि कामप्रसभावरोधिनीं निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकां द्वयाधिकं दृशं बभार।

हिन्दी—अष्ट दिक्-पालों (इन्द्र, अग्नि, यम, वायु, सूर्य, वरुण, चन्द्र, कुबेर) के अंशों से उत्पन्न (स्मृति के अनुसार राजा अष्ट शोकपालों की मात्रा से युक्त होता है) अष्ट दिशाओं का स्वामी वह (राजा नल) काम के प्रसार का अवरोधक, अपने को त्रिनेत्र शिव के अवतार होने का बोध कराने वाली द्वय से अधिक अर्थात् तीसरी शास्त्र रूप दृष्टि को धारण करता था।

टिप्पणी—राजा सब देवों मे बड़ा 'महादेव' था, यह दो तर्कों से प्रमाणित किया गया है-(१) इन्द्रादि लोकपाल एक-एक दिशा के स्वामी हैं, नल आठों का। (२) वह सामान्य नेत्र युगल के अतिरिक्त त्र्यम्बक शिव के समान काम अर्थात् स्वेच्छाचार की निरोधिका शास्त्र दृष्टि से समन्वित था। राजा नल शास्त्रानुसार आचरण करता था। और अष्टशोकपालांश था, इस प्रकार वह त्रिनेत्र शिव के अवतार सदृश था। मनुस्मृति (५।९६) के अनुसार—'सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च। अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृप: ।।'

साहित्य-विद्याधरी के अनुसार यहाँ उपमा है। 'दृशम् शास्त्राणि' में रूपक और नल के विभूति भेद होने पर भी अभेद कथन से अतिशयोक्ति है, इस प्रकार रूपक और अतिशयोक्ति का 'संकर' है।

पदैश्चतुर्भिस्सुकृते स्थिरीकृते कृतेऽमुना के न तपः प्रपेदिरे?।
भुवं यदेकाङ्घ्रिकनिष्ठया स्पृशन् दधावधर्मोऽपि कृशस्तपस्वितम् ।।७।।

जीवातु—अथास्य प्रभावं दर्शयति—पदैरिति। अमुना नलेन कृते सत्ययुगे सुकृते धर्मे वृषरूपत्वात् चतुर्भिः पदैः चरणैः—'तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते। द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ।।' इत्युक्तचतुर्विधैरिति भावः; स्थिरीकृते निश्चलीकृते इति यावत्, के जनाः तपः चान्द्रायणादिरूपं कठिनं व्रतं का कथा ज्ञानादीनामिति भावः, न प्रपेदिरे? अपि सु सर्वे एव तपश्चेरुरित्यर्थः। यत् यतः अधर्मोऽपि का कथा अन्येषामित्यपि शब्दार्थः, कृशः, दुर्बलः सन् एकया अङ्घ्रेश्चरणस्य कनिष्ठया कनिष्ठयाऽङ्गुल्येत्यर्थः, भुवं स्पृशन् कृतेऽपि अधर्मस्य लेशतः सम्भवादंशेनेति भावः तपस्वितां तापसत्वं दीनत्वञ्च 'मुनिदीनौ तपस्विनौ' विति विश्वः। दधौ धारयामास। अस्य शासनादधर्मोऽपि धर्मेषु आसक्तोऽभूत्।

किमुत अन्य इति कैमुत्यन्यायादर्थान्तरापत्त्या अर्थापत्तिरलङ्कारः अधर्मोऽपि धार्मिक इति विरोधश्चेत्यनयोः संसृष्टिः ॥ ७ ॥

अन्वयः—अमुना चतुर्भिः पदैः सुकृते स्थिरीकृते कृते केन तपः प्रपेदिरे यत् कृशः अधर्मः अपि एकाङ्घ्रिनिष्ठया भुवं स्पृशन् तपस्वितां दधौ ॥

हिन्दी—इस (नल) के द्वारा चारों पैरों से सुकृत—धर्मके निश्चल किये जाने पर कृतयुग में कौन तपस्यारत न हो गये (अपितु सब हो गये), क्योंकि दुर्बल अधर्म भी एक पैर पर खड़ा धरती को छूता तपस्या करने लगा ।

टिप्पणी—राजा नश को त्रेता में उत्पन्न माना जाता है, उसने अपने पुण्य से त्रेता में भी धर्म की पूर्ण स्थापना करके सतयुग ला दिया था, जिसमें धर्म चारों पैरों से विचरण करता है और अधर्म एक पैर से, सो जब अधर्म भी धरती पर एक पैर खड़ा हो तपस्वी हो गया तो और कौन तपस्वी न हो जाता । इस प्रकार राजा नल का पूर्णधर्मात्मत्व सिद्ध किया गया है । धर्म के चार चरण हैं—सत्य, अस्तेय, शम और दम अथवा तप, दान, यज्ञ और ज्ञान । नल के राज्य में सर्वत्र यही आचार धर्म था ।

नल के शासन में अधर्म भी धर्माचारी हो गया तो अन्य कौन न हो जाता यह 'अर्थापत्ति' है और अधर्म भी धर्म हो गया यह विरोध, अतः अर्थापत्ति—विरोध की संसृष्टि है । साहित्य विद्याधरी के अनुसार अधर्म का धर्मी हो जाना विरोध है, जिसके परिहार ने 'विरोधाभास है' और सब के तपनिष्ठ हो जाने का 'अनुमान' है । शब्दालंकार अनुप्रास है ।

यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम ।
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ ॥ ८ ॥

जीवातु—अथास्य सप्तभिः प्रतापं वर्णयति–यदित्यादिभिः । अस्य नलस्य यात्रासु जैत्रयानेषु बलोद्धतं सैन्योत्क्षिप्तं स्फुरतः ज्वलतः प्रतापानलस्य यो धूमः तस्येव मञ्जिमा मनोहारित्वं यस्य तथोक्तं 'सप्तम्युपमाने' त्यादिना बहुव्रीहिः । मञ्जशब्दादिमनिच्प्रत्ययः । यत् रजः धूलिः, तदेव गत्वा उत्क्षेपवेगादिति भावः । सुधाम्बुधौ क्षीरनिधौ पतितम्, अतएव पङ्कीभवत् सत् विधौ चन्द्रे

तद्वासिनीति भावः अङ्कतां कलङ्कत्वं दधाति। अत्रापि व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्योत्प्रेक्षा तथा च कलङ्कत्वं दधातीवेत्यर्थः ॥८॥

अन्वयः—अस्य यात्रासु बलोद्धतं स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम यत् रजः तत् एव गत्वा सुधाम्बुधौ पतितं पङ्कीभवत् विधौ अङ्कतां दधाति।

हिन्दी—इस (नल) की (विजयार्थ) यात्राओं में सेना के द्वारा उड़ायी गयी स्फुरित होते प्रताप-रूप अग्नि के धूमसम मनोहारिणी जो धूल थी, वही जाकर क्षीरसागर में गिरी और कीचड़ बनकर चन्द्रमा में कृष्णचिह्न हो गयी।

टिप्पणी—प्रथम सात श्लोक में नल के महिमान का वर्णन करके श्रीहर्ष अब सात ही श्लोकों में उसके प्रताप का वर्णन कर रहे हैं। दिग्विजयेषिणी नल की सेना जब चलती थी तो उससे प्रचुर धूल उड़ती थी, जो स्वाभाविक है। क्षीर सागर के जल से मिलकर उसके कीचड़ होकर चन्द्रकलंक बन जाने की सम्भावना से सेना-बाहुल्य और समुद्र-पर्यन्त उसकी गति द्योतित है। 'प्रकाश'-कार ने यहाँ लुप्तोत्प्रेक्षा मानी है और 'जीवातु'-कार ने व्यंजक का प्रयोग न होने के कारक गम्योत्प्रेक्षा। 'साहित्य-विद्याधरी'कार अतिशयोक्ति मानते हैं। 'प्रतापानलधूम' से औपम्य में रूपक है।

'तिलक'—व्याख्या में बताया गया है, यह प्रश्न उठाकर कि कीचड़ बनी धूलि का चन्द्र-कलङ्क होना क्या वस्तुगति द्वारा सूचित होता है अथवा उसकी उत्प्रेक्षा होती है? दोनों ही सम्भव नहीं है। पहला इस कारण सम्भव नहीं क्योंकि पुराणादि में ऐसी कोई कवि-प्रसिद्धि नहीं है। उत्प्रेक्षा इसलिए नहीं हो सकती क्योंकि 'इव' आदि द्योतक पद का अभाव है। वस्तुतः 'तदेव' में जो 'एव' है, वह प्रसिद्ध पक्षांतर के अस्वीकारार्थ या निषेधार्थ है, जिससे यह द्योतित होता है कि चन्द्र-कलंक प्रसिद्ध मृग, शशक आदि नहीं, नल-सैन्य द्वारा उद्धत धूलि ही है।

स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य सङ्गरे।
निजस्य तेजश्शिखिनः परश्शता वितेनुरङ्गारमिवायशः परे॥ ९॥

जीवातु—स्फुरदिति। सङ्गरे युद्धे शतात् परे परश्शताः शताधिका इत्यर्थः, बहव इति यावत्, पञ्चमीति योगविभागात् समासः, राजदन्तादित्वादुपसर्जनस्य

परनिपातः पारस्करादित्वात् सुडागमश्च। परे शत्रवः स्फुरन्तौ प्रसरन्तौ धनुर्निस्वनौ चापघोषौ इन्द्राचापगर्जिते—यस्य यत्र वा तथोक्तः स नल एव घनः मेघः तस्य आशुगानां शराणाम् अन्यत्र आशुगा वेगगामिनी यद्वा आशुगेन वेगगामिना वायुना या प्रगल्भा महती वृष्टिः 'आशुगौ वायुविशिखावि' त्यमरः। तथा व्ययितस्य निर्वापितस्य विपूर्वादयतेः कर्मणि क्तः। निजस्य तेजःशिखिनः प्रतापाग्नेः अङ्गारमिव अयशः अपकीर्ति वितेनुः विस्तारितवन्तः। पराजिता इति भावः। अत्र रूपकोत्प्रेक्षकोरङ्गाङ्गिभावः सङ्कर ॥ ९ ॥

अन्वयः—परश्शताः परे संगरे निजस्य स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनांशुगप्रगल्भः वृष्टिव्ययितस्य तेजः शिखिनः अङ्गारम् इव अयशः वितेनुः।

हिन्दी—शताधिक अर्थात् असंख्य शत्रु संग्राम में स्फुरित होते, टंकारते धनुष से उस (नल) द्वारा छोड़े गये असंख्य बाणों की असह्य वर्षा के कारण बुझे स्वकीय तेज रूप अग्नि के अंगारों के सदृश अयश का विस्तार करते थे।

टिप्पणी—इस श्लोक में नल के शत्रुओं के निश्चित पराजय और नल के अद्भुत धनुर्धारी होने का भाव है। मल्लिनाथ ने इसमें रूपक और उत्प्रेक्षा का अंगागिभाव संकर अलंकार माना है। साहित्य-विद्याधरी में उपमा और रूपक अलंकार बताये गये हैं।

'प्रकाश' व्याख्या में 'स्फुरद्'-इत्यादि का विग्रह इस प्रकार किया गया है—स्फुरत् धनुर्निस्वन, यस्य एवं विधश्च सः तस्य घना ये आशुगास्तेषां प्रगल्भा या वृष्टिस्तया व्ययितस्य।' 'प्रकाश—कार ने यह भी कहा है कि 'स्फुरद्धनुर्निस्वनो यस्याम्' ऐसा विग्रह करके यह वृष्टि का विशेषण भी हो सकता है। उन्होंने दो प्रकार से और भी विग्रह किया है—'धनुर्निस्वनं तनोति तयते वा धनुर्निस्वनं तत् स्फुरन्प्रकाशमानश्चासौ धनुर्निस्वनं तच्च तस्य। अथवा स्फुरन्तौ धनुर्निस्वनौ धनुः सिंहनादौ यस्य चासौ स एव घनो मेघस्तस्या शुगा शीघ्रगामिनी प्रौढा च या वृष्टिस्तया व्ययितस्य। शिखिपक्ष में—स्फुरन्ती इन्द्रधनुर्गर्जिते येषु ते च घना स्तेषामाशुगा शीघ्रगामिनी प्रौढा, आशुगेन वायुना वा प्रौढा या वृष्टिस्तया व्ययितस्य। एक और भी सम्भावना की है—'निस्वनं तन्वन्तीति निस्वन ततः स्फुरद्धनुर्युक्ता निस्वनं ततश्च ये घना मेघा इति।'

अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैर्निजप्रतापैर्वलयं ज्वलद् भुवः ।
प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया रराज नीराजनया स राजघः ॥ १० ॥

जीवातु—अनल्पेति। राज्ञः प्रतिपक्षानिति भावः हन्तीति राजघः शत्रुघाती-त्यर्थः 'राजघ उपसंख्यानमि'ति निपातः। नलः अनल्पं दग्धानि अरिपुराणि शत्रुराष्ट्राणि यैः तथोक्ताः अनलवत् उज्ज्वलाः तैः निजप्रतापैः कोषदण्डसमुत्थ-तेजोभिः 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोषदण्डजमि'त्यमरः। ज्वलन् दीप्यमानं भुवः वलयं भूमण्डलं प्रदक्षिणीकृत्य प्रदक्षिणं परिभ्रम्य क्रमेण सर्वदिग्विजेतृत्वा-दिति भावः। जयाय सृष्टया सर्वभूजयनिमित्तं कृतयेत्यर्थः, पुरोहितैरितिशेषः। नीराजनया आरार्तिकया रराज शुशुभे दिशो विजित्य प्रत्यावृत्तं विजिगीषुं स्वपुरोहिताः मङ्गलसंविधानाय नीराजयन्तीति प्रसिद्धिः। केचित्तु निजप्रतापैरिव जयाय स्रष्टया जयार्थयेवेत्यर्थः। नीराजनया आरार्तिकया ज्वलत् दीप्यमानं भुवो वलयं भूचक्रं प्रदक्षिणीकृत्य प्रदक्षिणं परिभ्राम्य रराज। तत्र ज्वलत्प्रतापानलो नानादिग्जैत्रयात्रायां प्राच्यादिप्रादक्षिण्येन भूमण्डलं परिभ्रमन् निजप्रतापनीरा-जनया भूदेवतां नीराजयन्निव रराजेत्युत्प्रेक्षा व्यञ्जकाद्यप्रयोगाद्गम्या। इति व्याचक्षते। तन्न समीचीनम्, निजप्रतापैरित्यस्य नीराजनयेत्यनेन सामानाधिक-रण्यासङ्गतेरिति ॥ १० ॥

अन्वयः—स राजघः अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैः निजप्रतापैः ज्वलद् भुवः वलयं प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया नीराजनया रराज।

हिन्दी—शत्रु राजाओं का हंता वह (नल) शत्रुओं की प्रभूत पुरियों को जलाडालने वाले अग्नि से उज्वल स्वकीय प्रतापपुंज द्वारा जलते-दमकते भू-वलय (भूखंड) की प्रदक्षिणा करके विजयार्थ प्रस्तुत आरार्तिक—आरती से सुशोभित हुआ।

टिप्पणी—राजा नल जब भी सामान्य शत्रुओं को नहीं, राजाशत्रुओं को जीतकर और उनके नगरों को क्षार-क्षार कर विजयी हो लौटता था, तब पुरोहितादि विजयी नरेश की आरती उतारा करते थे। 'भूवलय की प्रदक्षिणा' से नल का समस्त पृथ्वी-मंडल का जेता होना घोषित है।

'नीराजना' का अर्थ आरती तो है ही, राजाओं का अभाव करना भी

है—'राज्ञामभावो नीराजं नीराजकरणं नीराजना तया।' अर्थात् शत्रुनृपों का विनाश करके नल सुशोभित होते थे। इसका अन्य अर्थ जल-क्षेपण भी है—'नीरस्य शान्त्युदकस्याजनया क्षेपणया' अर्थात् स्वपुरवासियों द्वारा फेंके गये शांतिसलिल से राजा शोभित होता था। तृतीय चरण का अन्य प्रकार से पदच्छेद करके यह अर्थ भी लिया जाता है कि विष्णु-रूप राजा नल की अजया—लक्ष्मी नीराजना उतारती थीं—'प्रकृष्टा दक्षिणा येषां ते प्रदक्षिणा वदान्या ते सन्ति यस्य सः 'प्रदक्षिणी (प्रकृष्ट दान करने वाले अनुगत हैं जिसके, ऐसा राजा नल), अथवा प्रकृष्टदक्षिणा ज्योतिष्टोमादयो यस्य सन्तीति प्रदक्षिणी (अनेक ज्योतिष्टोमादि यज्ञों का कर्ता), अतएव कृती (कर्मकुशलः पुण्यशीलो वा) अजया लक्ष्म्या आय विष्णवे सृष्टया नीराजनया रेजे।

'साहित्य-विद्याधरी'—कर्ता इसमें अनुप्रास और लुप्तोपमा का निर्देश करते हैं। एक यह अर्थ भी किया जाता है कि ज्वलत्प्रतापनल से उज्ज्वल नल नाना दिशाओं के विजयनिमित्त भूमंडल में परिभ्रमण करना मानों भू देवता की नीराजना उतारता था; इस प्रकार व्यंजकादि का अभाव होने के कारण यहाँ गम्योत्प्रेक्षा है। मल्लिनाथ इसे समीचीन नहीं मानते, क्योंकि उनके अनुसार 'निजप्रतापैः' और 'नीराजनया' में सामानाधिकरण्य की संगति नहीं बैठती। यह कल्पना करके कि प्रतापानल द्वारा नीराजना हो रही है और अरिपुर उसकी वर्तिका हैं, यह उत्प्रेक्षा है कि उसी से राजा भू-वलय की आरती उतारता है। इस प्रकार रूपक और उत्प्रेक्षा के अंगागिभाव के कारण यहाँ संकर है।

निवारितास्तेन महीतलेऽखिले निरीतिभावं गमितेऽतिवृष्टयः।
न तत्यजुर्नमनन्यसंश्रयाः प्रतीपभूपालमृगीदृशां दृशः॥ ११॥

जीवातु—निवारिता इति। तेन नलेन अखिले समग्रे महीतले न सन्ति ईतयः अतिवृष्ट्यादयः यत्र तत् निरीति, तस्य भावः तम् ईतिराहित्यमित्यर्थः। ईतयश्चोक्ता यथा—'अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभा मूषिकाः खगाः। प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः'॥ इति। गमिते प्रापिते सति निवारिताः स्वराष्ट्रात् निराकृता इत्यर्थः। अतिवृष्टयः नास्ति अन्यः संश्रयः आश्रयः यासां

तथाभूताः सत्याः प्रतीपभूपालानां प्रतिपक्षनृपतीनां या मृगीदृशः मृगनयनाः कान्ताः तासां दृशः नयनानि न तत्यजुः। नूनं मन्ये इत्यर्थः। उत्प्रेक्षावाचकमिदं, तदुक्तं दर्पणे 'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः। उत्प्रेक्षाव्यञ्जकाः शब्दा इवशब्दोऽपि तादृश' इति। नलनिहतभर्तृका राजपत्न्यः सततं रुरुदुरिति भावः॥ ११॥

अन्वयः—तेन अखिले महीतले निरीतिभावं गमिते निवारिताः यतिवृष्टयः अनन्यसंश्रयाः नूनं प्रतीपभूपालमृगीदृशां दृशः न तत्यजुः॥

हिन्दी—उस (राजा नल) के द्वारा समस्त पृथ्वीतल के निरीतिभाव (जहाँ अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डीदल, चूहे, तोते और आक्रांत शत्रुनृप—ये छः ईतियाँ न रहे) को प्राप्त करा दिये जाने पर प्रतिरोध (रोक) प्राप्त अतिवृष्टियों ने अन्यत्र आश्रय न पाकर निश्चय ही शत्रु-राजाओं की मृग-नयनाओं के नेत्रों को नहीं तजा (रिपुनारियों को आँखों में सदा को बसेरा कर लिया)।

टिप्पणी—भाव यह है कि राजा नल पुण्यात्मा सदाचरण और महान् पराक्रमी था। न तो उसके कारण इस धरती पर अतिवृष्टि आदि आपदाएं रह गयी थीं ओर न अन्य राजागण उस पर आक्रमण का ही साहस कर पाते थे, सभी शत्रुओं को उसने पराजित कर दिया था; अतएव अतिवृष्टि आँसुओं के रूप में सदा रिपुनारियों के नेत्रों में जा बसी थी।

'नूनम्'—इस उत्प्रेक्षाबोधक शब्द से स्पष्ट है कि यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। 'प्रकाश'—कारने प्रतीपभूपालमृगीदृशाओं के नेत्रों से निरंतर अश्रु प्रवाह के आधार पर यह भाव लेकर कि नल ने सभी दुष्ट भूपालों का विनाश कर दिया, यहां 'पर्यायोक्त' अलंकार माना है, क्योंकि गम्य का अन्य प्रकार से कथन पर्यायोक्त है—'गम्यस्यापि भङ्ग्यन्तरेणाख्यानं पर्यायोक्तम्।' साहित्य विद्याधरी के अनुसार 'अतिवृष्टया……न तत्यजुः'—इस कथन के आधार पर यहाँ अतिशयोक्ति है।

सितांशुवर्णैर्वयति स्म तद्गुणैर्महासिवेम्नस्सहकृत्वरी बहुम्।
दिगङ्गनाङ्गाभरणं रणाङ्गणे यशःपटं तद्भटचातुरी तुरी॥१२॥

जीवातु—सितांश्विति। महान् असिरेव वेमा वायदण्डः 'पुंसि वेमा

वायदण्ड' इत्यमरः । तस्य सहकृत्वरी सहकारिणी 'सहे चे'ति करोतेः क्वनिप्-प्रत्ययः । 'वनो र चे'ति ङीप् रश्च । तस्य नलस्य भटानां सैनिकानां यद्वा स नल एव भटः वीरः तस्य चातुरी चतुरता नैपुण्यमिति यावत् एव तुरी वयन-साधनं वस्तुविशेष इत्यर्थः । 'माकु' इति प्रसिद्धा, रण एव अङ्गनं चत्वरं तस्मिन् सितांशुवर्णैः शुभ्रैरित्यर्थः, तस्य नलस्य गुणैः शौर्य्यादिभिः तन्तुभिश्च दिश एव अङ्गनाः तासाम् अङ्गाभरणम् अङ्गभूषणम् । 'अङ्गावरणमि'ति पाठे अङ्गाच्छा-दनं बहु यश एव पटः वसनं तं वयतिस्म ततान । साङ्गरूपकमलङ्कारः । संग्रामे तथा नैपुण्यमनेन प्रकटितं यथा तेन सर्वा दिशो यशसा प्रपूरिता इति भावः ।। १२ ।।

अन्वयः—महासिवेम्नः सहकृत्वरी तद्भटचातुरीतुरी सितांशुवर्णैः; तद्गुणैः रणाङ्गणे बहुम् दिगङ्गनाङ्गाभरणम् यश, पटं वयति स्म ।

हिन्दी—महान् कृपाण रूप वयन काष्ठ (बुनने का लकड़ी का बना यंत्र-विशेष) की सहकारिणी उस नल योद्धा (अथवा उस नल के सैनिकों) की चतुरता रूपी तुरी (बुनने का दूसरा यंत्र, जिसमें बाने का सूत भरा जाता है अथवा बुनकरों की कूची) चंद्रमा के समान शुभ्रवर्ण के उस (नल) के गुण (शौर्य, औदार्य आदि) रूप गुणों (सूत के धागों) से रणभूमि में दिक्-सुन्दरियों को सोहने वाला प्रचुर यश रूप वस्त्र बुना करती थी ।

टिप्पणी—भावार्थ यह है कि महान् शूर और पराक्रमी राजा नल विशिष्ट कृपाण प्रयोग कर्ता था, तलवार चलाने की कला द्वारा उसने अभी सभी शत्रुओं को चतुर्दिक् परास्त कर दिया था और सब ओर उसकी कीर्ति का विस्तार हो गया था ।

बुनकर के वयनयंत्र तुरी से नल की 'चातुरीतुरी' विशिष्ट है, क्योंकि यह अनेक वस्त्र एक साथ बुनती है, अतः नारायण पंडित के अनुसार यहाँ व्यतिरेक अलंकार है । 'गुण' शब्द यहाँ श्लिष्ट है और 'महासि' में 'वेय' 'चातुरी' में 'तुरी' और 'यश' में 'पट' का रूपारोप है, अतः साहित्यविद्याधरी के अनुसार यहाँ श्लेष और रूपक है ।। १२ ।।

प्रतीपभूपैरिव किं ततो भिया विरुद्धधर्मैरपि भेत्तृतोज्झिता ।
अमित्रजिन्मित्रजिदोजसा स यद्विचारदृक्चारदृगप्यवर्तत ।। १३ ।।

जीवातु—प्रतीपेति। प्रतीपाः प्रतिकूलाः भूपा राजानः तैः विरुद्धधर्मैः असमानाधिकरणधर्मैः विपरीतवृत्तिभिरित्यर्थः, अपि ततः नलात् भिया भयेनेव हेतुना भेत्तृता स्वाश्रयभेदकत्वं परोपजाप इत्यर्थः। उज्झिता त्यक्ता किम् ? यद् यस्मात् स नलः ओजसा तेजसा अमित्रान् शत्रून् जयतीति तथोक्तः मित्रं सूर्य्यं जयतीति तथाभूतः अत्र यः खलु अमित्रजित् स कथं मित्रजिदिति विरोधाभासः, परिहारस्तु पूर्वमुक्तः। तथा विचारेण पश्यतीति विचारदृक् चारैः गूढपुरुषैः पश्यतीति चारदृक्। 'राजानश्चारचक्षुष' इति, चारैः पश्यन्ति राजान' इति च नीतिशास्त्रम्। अत्रापि यो विचारदृक् स कथं चारदृग् भवतीति विरोधाभासः, परिहारस्तु पूर्वमुक्तः। अवर्त्तत आसीत्। अपि विरोधे। सूर्य्यतेजसं चारदृशञ्च नलं ज्ञात्वा शत्रवो भयात् परस्परोपजातादिवैरभावं तत्यजुरिति भावः। अत्र विरोधोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावः॥ १३॥

अन्वयः—किंभिया प्रतीपभूपैः इव विरुद्धधर्मैः अपि ततः भेत्तृता उज्झिता ? यत् सः ओजसा अमित्रजिद् (अपि) मित्रजित्, विचारदृक् अपि अविचारदृक् अवर्त्तत।

हिन्दी—क्या डर से शत्रुनृपों के सदृश परस्पर विरोधी धर्मों ने भी उस (नल) से भेद-भाव छोड़ दिया था ? क्योंकि वह अपने तेज के कारण अमित्र-जेता (शत्रुजयी और सूर्य को न जीतने वाला) होकर भी मित्रजेता (मित्रजयी और सूर्यजयी) था और विचारदृक् (विवेक अथवा गुप्तचरों के द्वारा सूचना पाने वाला 'चारचक्षु') होकर भी अविचारदृक् (अविवेकी और अचारचक्षु) था।

टिप्पणी—इस श्लोक में 'विरोध' अलंकार है। अमित्रजित् (सूर्य का अजेता) होकर भी कोई मित्रजित् (सूर्यजयी) कैसे हो सकता है ? विरोध के परिहार्थं अर्थ हुआ शत्रुओं को कीतने वाला होकर भी तेज से सूर्य का जेता था, अर्थात् सूर्य से भी अधिक तेजस्वी था। इसी प्रकार विचारदृक् (विवेकी) होकर भी राजा अविचारदृक् (अविवेकी) कैसे हो सकता है ? परिहार्थ है, राजा विवेकी था और गुप्तचरों द्वारा प्राप्त समाचारों के आधार पर सारा संसार हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष करता था। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ

विरोध—उत्प्रेक्षा का संकर है। कुछ टीकाकार 'इव'—प्रयोग से उपमा—उत्प्रेक्षा—विरोध का संकर मानते हैं ॥ १३ ॥

तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा।
तनोति भानोः परिवेषकैतवात्तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि ॥ १४ ॥

जीवातु—तदिति। तस्य नलस्य ओजः तेजः प्रतापः इत्यर्थः, तस्य तथा तस्य नलस्य यशःतस्य स्थितौ सत्तायाम् इमौ भानुविधू वृथा निरर्थकौ इति चित्ते यदा यदा कुरुते विवेचयतीत्यर्थः, विधिः तदा तदा परिवेषः परिधिः 'परिवेषस्तु परिधिरुपसूर्यकमण्डले' इत्यमरः। एव कैतवं छलं तस्मात् भानोः सूर्यस्य विधोरपि चन्द्रस्य च कुण्डलानाम् अतिरिक्ततासूचकवेष्टनमित्यर्थः, करोति अधिकाक्षरवर्जनार्थं लेखकादिवदिति भावः। विजितचन्द्रार्कौ अस्य कीर्त्तिप्रतापौ इति तात्पर्यम्। अत्र प्रकृतस्य परिवेषस्य प्रतिषेधेन अप्रकृतस्य कुण्डलनस्य स्थापनात् अपह्नुतिरलङ्कारः, तदुक्तं दर्पणे 'प्रकृतं प्रतिषिद्ध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुति'-रिति। प्राचीनास्तु परिवेषमिषेण सूर्य्याचन्द्रमसोः कुण्डलनोत्प्रेक्षणात् सापह्नवोत्प्रेक्षा। सा च गम्या व्यञ्जकाप्रयोगादित्याहुः ॥ १४ ॥

अन्वयः—तदोजसः तद्यशसः इमौ वृथा स्थितौ इति विधिः यदा चित्ते कुरुते, तदा परिवेषकैतवात् भानोः विधोः अपि कुण्डलनां तनोति।

हिन्दी—राजा नल के तेज और यश के रहते ये दोनों (सूर्य, चन्द्र) व्यर्थ हैं—विधाता जब-जब यह मन में करता (विचारता) है, तब-तब परिवेष (गोलघेरा, जो कभी सूर्य-चन्द्र के चारों ओर दीख पड़ता है) के व्याज से सूर्य और चन्द्र पर कुण्डलना (व्यर्थतासूचक रेखामंडल) बना देता है।

टिप्पणी—नल के तेज के रहते सूर्य निष्प्रयोजन है और यश के रहते चन्द्रमा। अर्थात् नल सूर्य से अधिक तेजस्वी है और चन्द्रिका से अधिक आह्लादिका उसकी कीर्ति है। विधि द्वारा सूर्य-चन्द्र पर कभी-कभी दीखनेवाली कुण्डलता खींच देना—प्रतिपादित करके कवि ने यही उत्प्रेक्षा की है। प्रकृत परिवेश के अप्रकृत कुण्डलता-कथन के आधार पर यहाँ अपह्नुति अलंकार है, साहित्यविद्याधरी की भी यही स्थापना है। प्राचीन व्याख्याकारों ने यहाँ सापह्नवा गम्या उत्प्रेक्षा मानी हैं ॥ १४ ॥

अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम् ।
मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः प्रणीय दारिद्र्यदरिद्रतां नृपः ॥१५॥

जीवातु—अस्य वदान्यतां द्वाभ्यां वर्णयति-अयमिति विभज्येति च । अल्पितः अल्पीकृतः निर्जित इति यावत्, दानशौण्डत्वादिति भावः, कल्पपादप अल्पतरुः वाञ्छितफलप्रदवृक्ष इति यावत्, येन तथाभूतः स नृपः दारिद्र्यस्य अभावस्य निर्धनत्वस्य इति यावत्, दरिद्रताम् अभावमिति यावद्, प्रणीय कृत्वा दरिद्रेभ्यः प्रभूतघनदानेन तेषां दारिद्र्यम् अपनीयेति भावः । अयं दरिद्रः अभाववानिति यावत्, भविता इति अर्थिजनस्य याचकजनस्य ललाटे जाग्रतीं दीप्यमानामिति यावत्, वेधसः इयं वैधसी तां लिपिं मृषा मिथ्या न चक्रे न कृतवान् । विधातुर्लिपौ सामान्यतः दरिद्रशब्दस्य स्थितौ दरिद्रशब्दस्य यथायथं धनदरिद्रः, पापदरिद्रः, ज्ञानदरिद्र इत्यादिप्रयोगदर्शनात् अभावमात्रबोधकत्वमङ्गीकृत्य राजा दरिद्राणां धनाभावरूपं दारिद्र्यमपाचकार इति निष्कर्षः ॥ १५ ॥

अन्वयः—अल्पितकल्पपादपः नृपः दारिद्र्यदरिद्रतां प्रणीय 'अयं दरिद्रः भविता'—इति अर्थिजनस्य ललाटे जाग्रतीं वैधसीं लिपिं मृषा न चक्रे ।

हिन्दी—कल्पवृक्ष को भी (स्वदानशीलताधिक्य से) छोटा बना देनेवाले उस राजा ने दारिद्र्य को भी दरिद्र बनाकर 'यह दरिद्र होगा'—इत याचकों के ललाट पर जागती-दीपती विधाता की लिपि को झूठी नहीं किया ।

टिप्पणी—कल्पवृक्ष याचक को देता है, किन्तु नल अयाचकों को भी देता था, इस प्रकार उसके सम्मुख कल्पवृक्ष भी छोटा पड़ गया और इस प्रकार दरिद्रों के भाल पर विधाता की लिखी लिपि झूठी नहीं पड़ी, भाल पर लिखी दरिद्रता ही दरिद्र बन गयी मिटकर। अथवा 'काकु' मानकर यह अर्थ भी हो सकता है कि विधि-लेख को प्रभूतदान के द्वारा झूठा कर दिया । भाव यह है राजा नल इतना दानी था कि भूमण्डल पर दरिप्रता का नाम भी नहीं रह गया था। इस तथा अगले पद्य में भी राजा की दानशीलता का वर्णन किया गया है ॥१५॥

विभज्य मेरुर्न यदर्थिसात्कृतो न सिन्धुरुत्सर्गजलव्ययैर्मरुः ।
अमानि तत्तेन निजायशोयुगं द्विफालबद्धाश्चिकुराशिरस्स्थितम् ॥१६॥

जीवातु—विभज्येतिः मेरुः हेमाद्रिः विभज्य विभक्तीकृत्य अर्थिसात् अर्थिभ्यो देयः न कृतः अर्थिने देयमिति 'दये त्रा चे'ति सातिप्रत्ययः । सिन्धुः समुद्रः

उत्सर्गजलानां व्ययैः दानाम्बुप्रक्षेपैः मरुः निर्जलदेशः न कृतः इति यत् तत् तस्मात् तेन नलेन द्विफालबद्धाः द्वयोः फालयोः शिरःपार्श्वयोः बद्धा रक्षिता इति यावत्, फशतेर्विशरणार्थे अप्प्रत्ययः। विलासिनां पुंसां सीमन्तितशिरोरुहत्वात् चिकुराणां द्विफालबद्धत्वमिति भावः, द्विधा विभक्ता इति यावत्। चिकुराः केशाः 'चिकुरः कुन्तलो बालः कचः केशः शिरोरुह' इत्यमरः शिरःस्थितं मस्तकधृतमिति भावः, निजं स्वीयम् अयशोयुगम् अपकीर्त्तिद्वयं पूर्वोक्तमेरुविभागसिन्धुजलव्ययाकरणजनितमिति भावः। अमानि केशरूपेण द्विधास्थितं स्वशिरसि अयशोयुगमेव तिष्ठति इति अमन्यत इत्यर्थः अयशसः पापरूपत्वात् कृष्णवर्णनं कविसमयसिद्धम् 'तथा च मालिन्यं व्योम्नि पापे' इत्यादि। उद्देश्यविधेयरूपं कर्मद्वयम्। केशेषु कार्ष्ण्यसाम्यात् अयशोरूपणमिति व्यस्तरूपकम् ॥ १६ ॥

अन्वयः—यत् मेरुः विभज्य अर्थिसात् न कृतः सिन्धुः उत्सर्गजलव्ययैः मेरुः न कृतः (अथवा मेरुः उत्सर्गजलव्ययैः सिन्धुः न कृतः), तत् तेन द्विफालबद्धाः चिकुराः शिरः स्थितं निजायशोयुगम् अमानि।

हिन्दी —जो कि सुमेरुगिरि को खण्ड-खण्ड करके याचकों के अधीन नहीं कर दिया, और दानार्थ जल उलीचते-उलीचते समुद्र को मरुस्थल नहीं बना दिया (अथवा दानजल से मरुस्थल को समुद्र नहीं बना दिया) सो उस (नल) ने (बीच में माँग निकाल कर काढ़े गये) दोनों ओर करके सँवारे गये अपने केशों को अपने शिरःस्थित—शिरोधार्य—अयश के प्रतीकरूप स्वीकारा।

टिप्पणी —कवि का भाव यह है कि कल्पवृक्ष से भी अधिक याचकों की इच्छा पूर्ण करने पर भी नल की इच्छा भरी नहीं थी, वह अभूतपूर्व दान करना चाहता था, जो न कर सकने के कारण अपने को असंतुष्ट मानता था।

काले केशों की समता कविसमयस्वीकृत अयश से होने के कारण मल्लिनाथ ने यहाँ व्यस्तरूपक माना है। केशों की केशता का निषेध करके उन्हें अयशोयुग्म मानने की कल्पना के कारण साहित्यविद्याधरी-कार इस श्लोक में अपह्नुति मानते हैं ॥ १६ ॥

अजस्रमभ्यासमुपेयुषा समं मुदैव देवः कविना बुधेन च।
दधौ पटीयान् समयं नयन्नयं दिनेश्वरश्रीरुदयं दिने दिने ॥ १७ ॥

जीवातु—अस्य विद्वज्जनसम्माननामाह—अजस्रमिति । दिनेश्वरस्येवश्रीर्यस्य, अन्यत्र दिने ईश्वरस्येव श्रीः यस्य तथाभूतः पटीयान् समर्थतरः अयं देवो राजा सूर्यश्च 'देवः सूर्ये यमे राज्ञी'ति विश्वः । अजस्रं सततम् अभ्यासं सान्निध्यम् उपेयुषा प्राप्तवता सहचारिणा इति यावत्, 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्चे'ति निपातः । कविना काव्यशास्त्रविदा पण्डितेन शुक्रेण न बुधेन विदुषा धर्मशास्त्रादिदर्शिनेति भावः, सौम्येन च समं सह मुदैव आनन्देनैव न तु दुःखेनेत्येवकारार्थः समयं नयन् अतिवाहयन् दिने दिने प्रतिपादनम् उदयम् अभ्युन्नतिम् आविर्भावञ्च दधौ धारयामास । अत्र श्लेषालङ्कारः ।। १७ ।।

अन्वयः—दिनेश्वरश्रीः परीयान् अयं देवः अजस्रम् अभ्यासम् उपेयुषा कविना बुधेन च समं मुदा एव समयं नयन् दिने दिने उदयं दधौ ।

हिन्दी—दिनपति (सूर्य) की शोभा धारण करना, बुद्धिमान् यह राजा नल निरन्तर काव्याभ्यास करते कवि शुक्राचार्य और विद्वान् वैयाकरण बुद्ध के साथ सान्नद समय व्यतीत करते हुए प्रतिदिन उसी प्रकार अभ्युदय प्राप्त करता रहा, जिस प्रकार दिनेश्वर श्री सूर्य कवि शुक्र ग्रह और बुध (चन्द्रतनय) ग्रह के साथ प्रभात, मध्याह्न, संध्या आदि का विधान करता, तेज विकीर्ण करता, प्रतिदिन उदित होता है ।

टिप्पणी—राजा काव्य, शास्त्रादि-परिशीलनकर्ताओं के साथ समय व्यतीत करता था, अतएव उसका अभ्युदय हो रहा था । ज्योतिःशास्त्र के अनुसार उदय होते सूर्य के साथ शुक्र और बुध रहा करते हैं—'बुधशुक्रौ सदा पूर्वोत्तर-राशिस्थौ ।

साहित्यविद्याधरी के अनुसार यहाँ उपमा—श्लेष-सहोक्ति अलंकार हैं । दिनेश्वरस्य श्रीरिव श्रीर्यस्य सः=ऐसा विग्रह करने पर यहाँ निदर्शना अलंकार है और बुध, कवि द्व्यर्थवाची हैं, अतः श्लेष भी है । इस प्रकार निदर्शना-श्लेष का संकर है ।। १७ ।।

अधो विधानात् कमलप्रवालयोश्शिरस्सु दानादखिलक्षमाभुजाम् ।
पुरेदमूर्ध्वं भवतीति वेधसा पदं किमस्याङ्कितमूर्ध्वरेखया ।।१८।।

जीवातु—अध इति । कमलप्रवालयोः पद्मपल्लवयोः कर्मभूतयोः अधोविधानात् अधःकरणात् न्यक्करणादिति यावत् । तथा अखिलानां सर्वेषां

क्षमाभुजां प्रतिकूलवर्त्तिनां राज्ञां शिरःसु दानात् विधानात् इदम् अस्य नलस्य पदम् ऊर्ध्वम् उत्कृष्टम् ऊर्ध्वंस्थितञ्च पुरा भवति भविष्यतीत्यर्थः। 'यावत् पुरानिपातयोर्लट्' इति पुराशब्दयोगात् भविष्यदर्थे लट्। इति इदं मत्वा इति शेषः, गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः। वेधसा विधात्रा कर्त्रा ऊर्ध्वरेखया अङ्कितं चिह्नितं किम्? 'ऊर्ध्वरेखाङ्कितपदः सर्वोत्कर्षं भजेत् पुमानि'ति सामुद्रिकाः। सौन्दर्यसुलक्षणाभ्यां युक्तमस्य पदमिति भावः ॥ १८ ॥

अन्वयः—कमलप्रवालयोः अधोविधानात् अखिलक्षमाभुजां शिरस्सु दानात् अस्य पदम् ऊर्ध्वं पुरा भवति—इति वेधसा इदम् उर्ध्वरेखया अङ्कितं किम्?

हिन्दी—कमल और प्रवाल को नीचा करने और समस्त पृथ्वीपतियों के शिरों पर स्थित होने के कारण इस (नल) का चरण आगे चलकर ऊँचा रहेगा—मान्य होगा, इसी कारण क्या विधाता ने उसके चरण को ऊर्ध्व रेखाओं से पहले से ही चिह्नित कर दिया था।

टिप्पणी—सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार चक्रवर्ती के चरण में ऊर्ध्व रेखाएँ अंकित होती हैं, वे नल के चरण में भी थी, उसी पर यह कवि की कल्पना है—सम्भावना, अतः स्पष्टतः उत्प्रेक्षा है ॥ १८ ॥

जगज्जयं तेन च कोशमक्षयं प्रणीतवान् शैशवशेषवानयम्।
सखा रतीशस्य ऋतुर्यथा वनं वपुस्तथालिङ्गदथास्य यौवनम् ॥ १९ ॥

जीवातु—अथ अस्य यौवनागमं कमेण वर्णयति–जगदित्यादिभिः। अयं नलः शैशवशेषवान् ईषदवशिष्टशैशव एवेत्यर्थः। जगतां जयं तेन च जयेनेत्यर्थः। कोषं धनजातम् अक्षयं प्रणीतवान् कृतवान्। अथानन्तरं रतीशस्य कामस्य सखा ऋतुः वसन्त इत्यर्थः। वनं यथा यौवनम् अस्य नलस्य वपुः शरीरं तथा आशिङ्गत् संश्लिष्टवत्। उपमालङ्कारः ॥ १९ ॥

अन्वयः—शैशवशेषवान् अयं जगज्जयं तेन च कोशम् अक्षयं प्रणीतवान्, अथ रतीशस्य शखा ऋतुः यथा वनं तथा यौवनम् अस्य वपुः अलिङ्गत्।

हिन्दी—जिसकी बाल्यावस्था अभी शेष है—अर्थात् षोडशवर्षीय इस (नल) ने जगत् विजय करके अपने कोष को अक्षय बना दिया, अनंतर जैसे रतिपति काम का सखा ऋतु वसंत वन में आता है; वैसे ही यौवन ने इसके शरीर का आलिंगन किया।

टिप्पणी—इस श्लोक में कवि यह बताना चाहता है कि नल ने यौवन आने से पूर्व ही जगद्विजय करके अपना भण्डार अक्षय बना लिया। उपमा ॥ १९ ॥

अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा क्व तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे ?
तदास्यदास्येऽपि गतोऽधिकारितां न शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः ॥२०॥

जीवातु—अधारीति। तस्य नलस्य अङ्घ्रिणा चरणेन पद्मेषु घृणा अवज्ञा 'घृणा जुगुप्साकृपयोरि'ति विश्वः। अधारि धृता। पल्लवे नवकिसलये तस्य नलस्य शयः पाणिः 'पञ्चशाखः शयः पाणि'रित्यमरः। तस्य छाया तच्छायं 'विभाषे'त्यादिना समासे छायाया नपुंसकत्वम्। तस्य लवो लेशोऽपि क्व ? नैव लेशोऽस्तीत्यर्थः। शरदि भवः शारदः शरत्कालीन इत्यर्थः। सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्प्रत्ययः। पर्वणि पौर्णमास्यां भवः पार्विकः¹। 'पार्वणे'ति पाठान्तरं कालाट्ठञ् 'नस्तद्धित' इति टिलोपः। स च असौ शर्वरीश्वरश्चेति तथोक्तः पूर्णचन्द्र इत्यर्थः। तस्य नलस्य यत् आस्यं मुखं तस्य दास्ये कैङ्कर्येऽपि अधिकारितां न गतः न प्राप्तः। एतेनास्य पाणिपादवदनानामनौपम्यं व्यज्यते। अत्र अङ्घ्र्यादीनां पद्मादिषु घृणाद्यसम्भवेऽपि सम्बन्धोक्तेः अतिशयोक्तिः अलङ्कारः ॥ २० ॥

अन्वयः—तदङ्घ्रिणा पद्मेषु घृणा अधारि, पल्लवे तच्छयछायलवः अपि क्व ? शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः तदास्यदास्ये अपि अधिकारितां न गतः।

हिन्दी—उसके चरण ने पद्मों के प्रति घृणा अथवा दया या उपेक्षा का भाव दिखाया और पल्लव में तो उसके हाथ की कांति का लेश भी कहाँ था ? शरत्पूर्णिमा का निशानाथ उसके आनन की दासता का भी अधिकारी न हो पाया।

टिप्पणी—नल के अंगों का वर्णन करते कवि ने उसके चरण हस्त और मुख के सम्मुख उनके उपमानों पद्म, पल्लव और शारदी पूर्णिमा के चन्द्र की हीनता प्रतिपादित की है, इस दृष्टि से यहाँ 'प्रतीप' अलंकार है, अनुप्रास की छटा भी है। साहित्यविद्याधरीकार छेकानुप्रास के साथ साकूत विशेषणों से युक्त उक्ति होने के कारण परिकर भी मानते हैं और इस प्रकार अनुप्रास-परिकर की संसृष्टि। अङ्घ्रि आदि का पद्म आदि से घृणादि का सम्बन्ध न होने पर सम्बन्ध कहे जाने के कारण जीवातुकार यहाँ अतिशयोक्ति मानते हैं ॥ २० ॥

किमस्य रोम्णां कपटेन कोटिभिर्विधिर्न रेखाभिरजीगणद् गुणान् ।
न रोमकूपौघमिषाज्जगत्कृता कृताश्च किं दूषणशून्यबिन्दवः ? ॥ २१ ॥

जीवातु—किमिति । विधिर्विधाता अस्य नलस्य गुणान् रोम्णां कपटेन व्याजेन कोटिभिः कोटिसंख्याभिः लेखाभिः न अजीगणत् न गणितवान् किम् ? अपितु गणितवानेवेत्यर्थः तथा जगत्कृता, स्रष्टा विधिनेत्यर्थः रोम्णां कूपाः विवराणि तेषाम् ओघः समूह एव मिषं व्याजः तस्मात् । दूषणानां दोषाणां शून्यस्य अभावस्य बिन्दवः ज्ञापकचिह्नभूता वर्तुलरेखाः न कृताः किम् ? अपि तु कृता एवेत्यर्थः । अस्मिन् गुणा एव सन्ति, न कदाचित् दोषा इति भावः । अत्र रोम्णां रोमकूपाणाञ्च कपटमिषशब्दाभ्याम् अपह्नवे गुणगणनालेखत्वद्दूषण-शून्यबिन्दुत्वयोरुत्प्रेक्षणात् सापह्नवोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः ॥ २१ ॥

अन्वयः—विधिः अस्य गुणान् रोम्णां कपटेन कोटिभिः रेखाभिः न अजीगणत् किम् ? जगत्कृता रोमकूपमिषात् दूषणशून्यबिन्दवः न कृताः किम् ? (अपि तु कृता एव) ।

हिन्दी—विधाता ने रोओं के बहाने करोड़ों रेखाओं द्वारा क्या इसके गुणों की गणना नहीं की ? अपितु गणना ही की । संसार बनानेवाले ने रोम-कूपों के व्याज से क्या दोषाभावसूचक शून्य नहीं बनाये ? अपितु बनाये ।

टिप्पणी—राजा के गुण अनन्त, असंख्य थे, सो विधाता उनकी गिनती में समर्थ न हो पाया, अतः सुविधा के लिए उसने नल के शरीर में गणनासूचक रोम बना दिये और दोषों के अभाव की सूचना के निमित्त रोमकूप रूपशून्य बना दिये । यहाँ 'कपट' और 'मिष' शब्दों के प्रयोग द्वारा निषेध सूचित किया गया और अन्य सम्भावना की गयी, अतः अपह्नुति-उत्प्रेक्षा की संसृष्टि है । यह वर्णन सामुद्रिक शास्त्रानुसारी है ॥ २१ ॥

अमुष्य दोर्भ्यामरिदुर्गलुण्ठने ध्रुवं गृहीतार्गलदीर्घपीनता ।
उरःश्रिया तत्र च गोपुरस्फुरत्कपाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता ॥ २२ ॥

जीवातु—अमुष्येति । अमुष्य नलस्य दोर्भ्यां भुजाभ्यां कर्तृभ्याम् अरिदुर्गलुण्ठने शत्रुदुर्गभञ्जने अर्गलस्य कपाटविष्कम्भदारुविशेषस्य 'तद्विष्कम्भोऽर्गलं न ना' इत्यमरः । दीर्घञ्च पीनञ्च तयोर्भावः दीर्घपीनता आयतपीवरत्व-

मित्यर्थः किञ्चेति चार्थः। उरसः वक्षसः श्रिया लक्ष्म्या कर्त्र्या तत्र अरिदुर्गलुण्ठने गोपुरेषु पुरद्वारेषु 'पुरद्वारन्तु गोपुरमि'त्यमरः। स्फुरतां राजतां कवाटानां दुर्द्धर्षाणि च तानि तिरःप्रसारीणि च तेषां भावः तत्ता अप्रधृष्यत्वं तिर्य्यक्प्रसारित्वञ्चेत्यर्थः। गृहीता ध्रुवम् अवलम्बिता किम्? ध्रुवमित्युत्प्रेक्षाव्यञ्जकम्। तदुक्तं दर्पणे 'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः। उत्प्रेक्षाव्यञ्जकाः शब्दा इव शब्दोऽपि तादृशः' इति। दीर्घबाहुः कवाटवक्षाश्चायमिति भावः ॥ २२ ॥

अन्वयः—अमुष्य दोर्भ्याम् अरिदुर्गलुण्ठने अर्गलदीर्घपीनता तत्र उरः श्रिया च गोपुरस्फुरत्कपाटदुर्घर्षतिरः प्रसारिता ध्रुवं गृहीता।

हिन्दी—उसके बाहुयुग्म ने शत्रुओं के दुर्गों को लुण्ठित करते अर्गलों की दीर्घता और स्थूलता और वहीं वक्ष की शोभा ने नगरद्वारों पर छिपते किवाड़ों की दृढ़ता और विशालता का मानो ग्रहण किया था।

टिप्पणी—नल की भुजाएँ लम्बी और पुष्ट थीं—आजानुबाहु था वह, और छाती दृढ़ तथा विशाल वक्षःस्थल था, कवि ने इसी भाव का प्रतिपादन करने के निमित्त यह 'उत्प्रेक्षा' की है। साहित्यविद्याधरीकार ने यहाँ उत्प्रेक्षा और उपमा मानी हैं ॥ २२ ॥

स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनो निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः।
अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे न तन्मुखस्य प्रतिमा चराचरे ॥ २३ ॥

जीवातु—स्वकेलीति। स्वस्य केलिलेशः विलासबिन्दुर्यत् स्मितं मन्दहसितं तेन निन्दितः तिरस्कृतः इन्दुश्चन्द्रः यैः तथोक्तस्य स्मितरूपकिरणेन निर्जितशीतांशुमयूखस्येति भावः। निजांशः स्वावयवः यादृक् नेत्रं तया तर्जिता निर्भर्तिसता पद्मानां सम्पद् सौभाग्यं येन तथाभूतस्य तन्मुखस्य नलमुखस्य तयोश्चन्द्रपद्मयोः द्वयी तस्या जित्वरं जयशीलं ततोऽधिकमिति यावत् सुन्दरान्तरं नास्ति, यत्र तथाविधे चराचरे जगति 'चराचरं स्याज्जगदि'ति विश्वः। प्रतिमा उपमानं न आसीदिति शेषः। अत्र चन्द्रारविन्दजयविशेषणतया मुखस्य निरौपम्यप्रतिपादनात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः। तदुक्तं दर्पणे—हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते' इति ॥ २३ ॥

अन्वयः—स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनः निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः तन्मुखस्य अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे चराचरे प्रतिमा नास्ति।

हिन्दी—अपने क्रीडाविलास की अंशमात्र मुसकान से चन्द्रमा को जीतनेवाले या निन्दायोग्य प्रमाणित करनेवाले तथा अपने अंशनेत्र से पद्म-शोभा के जेता उसके मुख की उन दोनों (चन्द्र और पद्म) को जीत सकने वाले अन्य पदार्थ से शून्य जड़-चेतनमय संसार में और कोई उपमा नहीं थी।

टिप्पणी—नल के मुख-नेत्र के साम्य में जगत् की दो ही वस्तुएँ रखी जा सकती थीं—चन्द्र और पद्म। वे दोनों तो उनके सौन्दर्य से पराजित हो गये, अतः अन्य उपमान के अभाव में राजा नल का मुख चराचर संसार में अप्रतिम ही रहा। अनुपम, अद्वितीय मुख के चन्द्र-पद्म-विजयी होने से निरुपम कहे जाने के आधार पर मल्लिनाथ ने यहाँ पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार माना है, किन्तु उपमानों के तिरस्कारकथन के आधार पर साहित्यविद्याधरीकार के अनुसार यहाँ प्रतीप अलंकार है ॥ २३ ॥

सरोरुहं तस्य दृशैव तर्जितं जिता- स्मितेनैव विधोरपि श्रियः।
कुतः परं भव्यमहो महीयसी तदाननस्योपमितौ दरिद्रता ॥२४॥

जीवातु—उक्तार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह—सरोरुहमिति। तस्य नलस्य दृशैव नयनेनैव सरोरुहं पद्मं तर्जितं न्यक्कृतम्। स्मितेनैव विधोश्चन्द्रस्य श्रियः कान्तयः अपि जिताः तिरस्कृताः परम् अन्यत् आभ्यामिति शेषः भव्यं रम्यं वस्तु कुतः ? न कुत्राप्यस्तीत्यर्थः अहो आश्चर्यं तस्य नलस्य यत् आननं मुखं तस्य उपमितौ तोलने महीयसी अतिमहती दरिद्रता अभावः अत्यन्ताभाव इत्यर्थः। सर्वथा निरुपममस्य मुखमित्याश्चर्यम्। अत्र वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ २४ ॥

अन्वयः—तस्य दृशा एव सरोरुहं जितं स्मितेन एव विधोः श्रियः अपि जिताः, परं भव्यं कुतः ? अहो, तदाननस्य उपमितौ महीयसी दरिद्रता।

हिन्दी—उसके नेत्र ने ही कमल-पद्म को जीत लिया, मंदस्मित ने ही चन्द्र की शोभाएँ भी जीत लीं। इन दोनों से सुन्दर और कहाँ कुछ है ? हाय, उसके मुख की उपमा देने में (कविगण की) भारी दरिद्रता है !

टिप्पणी—पूर्वोक्त श्लोक के भाव को और चमत्कारी बनाते हुए कवि ने भङ्ग्यंतर से मुख-शोभा वर्णन किया है, मुख के उपमानस्वरूप प्रसिद्ध पद्म-चन्द्र मुखांश से ही विजित हैं, मुख की तुलना कैसे हो ?

पूर्वोक्त श्लोक की भाँति मल्लिनाथ ने यहाँ भी वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार माना है, साहित्यविद्याधरीकार ने क्रिया का प्रतिषेध होने पर भी फल में उसकी व्यक्ति रहने के आधार पर यहाँ विभावना स्वीकारी है—'क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फले व्यक्तिभावना।' जो मुख श्रीजयी है, उसे दरिद्रता कैसी ? पर वह है, भले ही उपमान की दरिद्रता हो ॥ २४ ॥

स्वबालभारस्य तदुत्तमाङ्गजैस्स्वयश्चमर्यैव तुलाभिलाषिणः !
अनागसे शंसति बालचापलं पुनः पुनः पुच्छविलोलनच्छलात् ॥ २५ ॥

जीवातु—स्वबालेति । चमरी मृगीविशेषः तस्य नलस्य उत्तमाङ्गजैः शिरोरुहैः समं सहैव तुलाभिलाषिणः सादृश्यकाङ्क्षिणः स्वबालभारस्य निजलोमनिचयस्य अनागसे अनपराधाय नीचस्य उत्तमैः सह साम्याभिगमोऽपि महान् अपराध इति भावः । क्वचित्तदभावे नञ्समासे दृश्यते । पुनः पुनः पुच्छस्य लाङ्गूलष्य विलोलनं विचालनम् एव छलं तस्मात् बालचापलं रोमचाञ्चल्यम् । अथ च शिशुचापल्यं शंसति कथयति बालचापल्यं सोढव्यमिति धियेति भावः । अत्र पुच्छविलोलनप्रतिषेधेन अन्यस्य बालचापलस्य स्थापनादपह्नुतिरलङ्कारः । तदुक्तं दर्पणे—'प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिरि'ति ॥ २५ ॥

अन्वयः—चमरी तदुत्तमाङ्गजैः समं तुलाभिलाषिणः स्वबालभारस्य अनागसे पुनः पुनः पुच्छविलोलनच्छलात् बालचापलं शंसति ।

हिन्दी—सुरा गाय उस (नल) के सिर के केशों के साथ साम्य के अभिलाषी अपने केशों के निरपराध पर बारम्बार पूंछ हिलाने के व्याज से (स्वकेशों की) बालकोचित चपलता को व्यक्त किया करती है ।

टिप्पणी—इस श्लोक में कवि ने नल के केश-सौन्दर्य का वर्णन किया है। चमरी गाय के बाल उसके केशों से समता की धृष्टता करते हैं, यह अपराध है, किन्तु शरीर सम्बन्ध से नील गाय केशों—बालों की माता तुल्य है । माता को बच्चे के अपराध अपराध नहीं लगा करता, और फिर बच्चों का अपराध उनका बालचापल्य ही माना जाता है । कवि कहता है कि सुरागाय इसी बालचापल्य की अभिव्यक्ति कर रही है निरन्तर पूँछ हिलाती, अथवा अपने बालों (बाल 'वबयोरभेदः') की चपलता के निमित्त क्षमा चाह रही है ।

पुच्छविलोलन-प्रतिषेध करके बालचापल की स्थापना होने के कारण मल्लिनाथ यहाँ अपह्नुति मानते हैं, विद्याधर (साहित्यविद्याधरी के कर्त्ता) 'चापलमिव शंसति'--ऐसी कल्पना करके प्रतीयमानोत्प्रेक्षा, और अपह्नुति भी

महीभृतस्तस्य च मन्मथश्रिया निजस्य चित्तस्य च तं प्रतीच्छया ।
द्विधा नृपे तत्र जगत्त्रयीभुवां नतभ्रुवां मन्मथविभ्रमोऽभवत् ॥ २६ ॥

जीवातु—महीभृत इति । तस्य महीभृतो नलस्य मन्मथस्येव श्रीः कान्ति तया च निजस्य चित्तस्य तं नलं प्रति इच्छया रागेण च तत्र नृपे नले जगत् त्रयीभुवां त्रिभुवनवर्तिनीनां नतभ्रुवां कामिनीनां द्विधा द्विप्रकारेण मन्मथ विभ्रमः अयं मन्मथ इति विशिष्टा भ्रान्तिः कामावेशश्च अभवत् । अत्र श्लेष सङ्कीर्णो यथासंख्यालङ्कारः ॥ २६ ॥

अन्वयः—तस्य महीभृतः मन्मथश्रिया तं प्रति निजस्य चित्तस्य इच्छया च तव नृपे जगत्त्रयीभुवा द्विधा मन्मथविभ्रमः अभवत् ।

हिन्दी—उस पृथ्वीपति की कामसमान कांति और (अतएव) उसके प्रति अपने चित्त का अभिलाष—इस प्रकार उस राजा नल में त्रिलोकी में उत्पन्न समस्त सुन्दरियों को दो प्रकार से काम का भ्रम हो गया, जिससे उनके नयन लाज से झुक गये ।

टिप्पणी—राजा मदनतुल्य मनोहर था और त्रिलोकी की सुन्दरियाँ उसका अभिलाष करती थीं—कवि का यहाँ यही भाव है । यहाँ एक साथ त्रिलोक-सुन्दरियों की मुग्धता का वर्णन कर कवि ने अपने तीन श्लोकों में क्रमशः स्वर्ग, पाताल और मर्त्यसुन्दरियों का विमोहन प्रतिपादित किया है । 'विभ्रम' का अर्थ भ्रम—भ्रान्ति भी है और कामजनित कटाक्षादि विलास भी—'विभ्रमो भ्रान्तिहावयोः' इति विश्वः । यह 'विभ्रम' का द्वैविध्य है, एक तो राजा के 'मन्मथश्री' होने से उसमें मन्मथ भ्रांति; दूसरा अभिलाष-जनित लज्जा अथवा विलास का सूचक भौओं का नीचा हो जाना ।

मल्लिनाथ ने यहाँ श्लेषसंकीर्ण यथासंख्य अलंकार माना है, विद्याधर 'मन्मथश्रिया' के कारण उपमा और 'विभ्रम' के कारण श्लेष । नाराय पण्डित ने मन्मथ की व्युत्पत्ति की है—मननं मत् शास्त्राद्यभ्यासजन्यं ज्ञा मथ्नातीति मन्मथः । मूलविभुजादित्वात्कः ॥ २६ ॥

निमीलनभ्रंशजुषा दृशा भृशं निपीय तं यस्त्रिदशीभिरर्जितः ।
अमूस्तमभ्यासभरं विवृण्वते निमेषनिःस्वैरधुनापि लोचनैः ॥ २७ ॥

जीवातु—निमीलनेति । त्रिदशीभिः सुराङ्गनाभिः निमीलनभ्रंशजुषा निर्निमेषयेत्यर्थः दृशा नयनेन तं नलं भृशम् अतिमात्रं निपीय सतृष्णं दृष्ट्वेत्यर्थः । यः अभ्यासभरः अभ्यासातिशयः कृतः अमूस्त्रिदश्यः देव्यः अधुनापि निमेषनिःस्वैः निमेषशून्यैः लोचनैः तम् अभ्यासभरं विवृण्वते प्रकटयन्ति । तासां स्वाभाविकस्य निमेषाभावस्य तादृशनिरीक्षणाभ्यासवासनया तत्त्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ २७ ॥

अन्वयः—त्रिदशीभिः निमीलनभ्रंशजुषा दृशा तं भृशं निपीय यः अर्जितः अमूः अधुना अपि निमेषनिःस्वनैः लोचनैः तम् अभ्यासभरं विवृण्वते ।

हिन्दी—सुरांगनाओं ने निर्निमेष (अपलक) दृष्टि से उसके रूप का पान करके जिसका अर्जन किया था, उस निरन्तर अभ्यास को आज भी वे अपने अपलक नेत्रों से प्रकट करती हैं ।

टिप्पणी—इस श्लोक में भी नल के सुरांगनाविमोहक उत्कट रूप का वर्णन है । जनविश्वास है कि देवता 'अपलकदृष्टि' होते हैं, उनके पलक नहीं झपकते । कवि ने यहाँ उसके कारणविशेष की 'उत्प्रेक्षा' की है । विद्याधर ने इसी आधार पर यहाँ प्रतीयमानोत्प्रेक्षा मानी है, वे अध्यवसाय की सिद्धि के कारण इसमें अतिशय भी मानते हैं ॥ २७ ॥

अदस्तदाकर्णि फलाढ्यजीवितं दृशोर्द्वयं नस्तदवीक्षि चाफलम् ।
इतिस्म चक्षुःश्रवसां प्रिया नले स्तुवन्ति निन्दन्ति हृदा तदात्मनः ॥ २८ ॥

जीवातु—अद इति । चक्षुःश्रवसां नागानां प्रियाः पत्न्यः इत्यर्थः । अदः इदं नोऽस्माकं दृशोश्चक्षुषोर्द्वयं तं नलम् आकर्णयतीति तदाकर्णि तद्गुणश्रावीत्यर्थः, तासां चक्षुःश्रवस्त्वादिति भावः । अत एव फलाढ्यजीवितं सफलजीवितम् । न वीक्षते इत्यवीक्षि, अत्रोभयोस्ताच्छील्ये णिनिः । तस्य नलस्य अवीक्षि तदवीक्षि तददर्शीत्यर्थः । अत एव अफलञ्च, इति हेतोः । तदा तस्मिन् काले आत्मना स्वेन हृदा मनसा नले नलविषये स्तुवन्ति प्रशंसन्ति निन्दन्ति कुत्सयन्ति च । अतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ २८ ॥

अन्वयः—अदः नः दृशोः द्वयं तदाकर्णि (अतः) फलाढ्यजीवितम्, तद् अवीक्षि च (अतः) फलम्—इति चक्षुः श्रवसां प्रियाः तत् आत्मनः हृदा स्तुवन्ति स्म, निन्दन्ति स्म च ।

हिन्दी—यह हमारा नेत्रयुग्म नल के गुणों को सुनता है, अतः इसका जीवन सफल है, जो उसका दर्शन नहीं पाता, इस से निष्फल है—इस प्रकार नेत्रों से ही सुन सकने की शक्तिवाले चक्षुश्रवानागों की पातालवासिनी प्रियाएँ उस अपने नेत्रयुगल की अपने मनमें प्रशंसा भी करती थीं और निन्दा भी ।

टिप्पणी—पाताल में नल के गुण ही तो विख्यात थे, वह वहाँ उपस्थित कहाँ था ? पातालवासिनी नाग प्रियाएँ उसे न देख सकने के कारण अपने नेत्रों को कोसती थीं, पर गुण-श्रवण तो उनसे ही हो पाता था; अतः एक ओर प्रशंशा, दूसरी ओर निन्दा ।

जीवातुकार मल्लिनाथ ने इसमें अतिशयोक्ति मानी है ओर साहित्यविद्याधरीकार विद्याधर ने गुणक्रियाविरोधालंकार । यह दश हैं—'जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणास्त्रिभिः । क्रिया द्वाभ्यामथ द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश ।'

विलोकयन्तीभिरजस्रभावनाबलादमुं तत्र निमीलनेष्वपि ।
अलम्भि मर्त्याभिरमुष्य दर्शने न विघ्नलेशोऽपि निमेषनिर्मितः ॥ २९ ॥

जीवातु—विलोकयन्तीभिरिति । अजस्रभावनाबलात् निरन्तरध्यानप्रभावात् अमुं नलं तत्र भावनायामिति भावः । निमीलनेषु अपि निमेषावस्थासु अपि विलोकयन्तीभिः उन्मेषावस्थायामिव साक्षात् कुर्वतीभिः मर्त्याभिः मानवीभिः अमुष्य नलस्य दर्शने निमेषनिर्मितः नेत्रनिमीलनजनितः विघ्नलेशोऽपि अन्तरायलवोऽपि न अलम्भि न प्राप्तः । 'विभाषा चिण्णमुलोः' इति मुमागमः । मानव्यः दृष्टिगोचरं दृष्टया अदृष्टगोचरञ्च तं मनसा सततं पश्यन्ति स्मेति भावः । अतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ २९ ॥

अन्वयः—अजस्रभावनाबलाद् अमुं नेत्रनिमीलनेषु अपि विलोकयन्तीभिः मर्त्याभिः अमुष्य दर्शने निमेषनिर्मितः विघ्नलेशः अपि न अलम्भि ।

हिन्दी—निरन्तर नल की भावना करते रहने के बल पर उसे नयन झपकने पर (मन में) भी देखती हुई मर्त्यलोकवासिनी मानवसुन्दरियों ने पलक झपकने के कारण उत्पन्न इसके दर्शन में पड़ते विघ्न का लेश भी नहीं प्राप्त किया ।

टिप्पणी—मानवसुन्दरियाँ तो नल में ऐसी रम रही थीं कि वह सम्मुख हो या न हो, भावनावश वे सदा उसका दर्शन पाती ही रहती थीं।

मल्लिनाथ ने अतिशयोक्ति मानी है और कारण की समग्रता में भी कार्य की अनुत्पत्ति के आधार पर विद्याधर ने विशेषोक्ति ॥ २९ ॥

न का निशि स्वप्नगतं ददर्श तं जगाद गोत्रस्खलिते च का न तम् ?
तदात्मताध्यातधवा रते च का चकार वा न स्वमनोभवोद्भवम् ? ॥३०॥

जीवातु—नेति। का नारी निशि रात्रौ तं नलं स्वप्नगतं न ददर्श ? सर्वैव ददर्शेत्यर्थः। का च गोत्रस्खलितेषु नामस्खलनेषु तं न जगाद स्वभर्तृनाम्नि उच्चरितव्ये तन्नाम न उच्चरितवती अपि तु सर्वैव तथा कृतवती इत्यर्थः। का च रते सुरतव्यापारे तदात्मतया नलात्मतया ध्यातः चिन्तितः धवः भर्ता यया तथाभूता 'धवः प्रियः पतिर्भर्ते'त्यमरः। स्वस्य आत्मनः मनोभवः कामः तस्य उद्भवः तं वा न चकार ? अपि तु सर्वैव तथा चकारेत्यर्थः। अतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ ३० ॥

अन्वयः—का निशि तं स्वप्नगतं न ददर्श का च गोत्रस्खलिते तं न जगाद, तदात्मताध्यातधवा का च वा रते स्वमनोभवोद्भवं न चकार।

हिन्दी—कौन सुन्दरी उसे रात में सपने में मिली नहीं देखती थी और कौन नामोच्चारण में भटककर उसका नाम नहीं ले देती थी ? नल की भावना से पति का ध्यान करती किस रमणी ने सुरत-काल में अपने काम का उद्भव नहीं किया ?

टिप्पणी—प्रत्येक सुन्दरी नल का ही स्वप्न देखती थी, उसका ही नाम लेती थी और उसकी ही भावना करके अपने पति को रमण किया करती थी।

इस श्लोक में स्वप्नदर्शन, नामस्मरण और नलभावना से रमण—इन तीन प्रकारों से कवि ने मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा नायिकाओं के नलानुराग का चित्रण किया है। काकुवक्रोक्ति तो है ही, मल्लिनाथ के अनुसार अतिशयोक्ति है, क्योंकि असम्बन्ध में भी सम्बन्ध-कथन है। छेकानुप्रास भी है ॥ ३० ॥

श्रियास्य योग्याहमिति स्वमीक्षितुं करे तमालोक्य सुरूपया धृतः।
विहाय भैमीमपदर्पया कया न दर्पणः श्वासमलीमसः कृतः ? ॥ ३१ ॥

जीवातु—श्रियेति । तं नलम् आलोक्य दृष्ट्वा श्रिया सौन्दर्य्येण अहमस्य नलस्य योग्या अनुरूपा इति । धियेति शेषः । स्वम् आत्मानं स्वावयवमित्यर्थः; । ईक्षितुं द्रष्टुं करे धृतः । गृहीतः दर्पणः भैमीं भीमनन्दिनीं दमयन्तीमित्यर्थः । विहाय विनेत्यर्थः कया सुरूपया शोभनरूपवती अहमित्यभिमानवत्या नार्य्या अपदर्पया दर्पशून्यया सत्या श्वासेन दुःखनिश्वासेन मलीमसः मलदूषितः 'मलीमसन्तु मलिनं कच्चरं मलदूषितमि'त्यमरः न कृतः ? अपि तु सर्वथैव कृत इत्यर्थः । सौन्दर्य्यगर्विताः सर्वा एव भैमीव्यतिरिक्ताः कामिन्यः तमवलोक्य अहमेवास्य सदृशीत्यभिमानात् करधृतदर्पणे आत्मानं निर्वर्ण्य नाहमस्य योग्येति निश्चयेन विषण्णाः कदुष्णनिश्वासेन तं दर्पणं मलिनयन्ति स्मेति निष्कर्षः ।।३१।।

अन्वयः—तम् आलोक्य 'अहं श्रिया अस्य योग्या'—इति स्वम् ईक्षितु करे धृतः दर्पणः भैमीं विहाय कया अपदर्पया सुरूपया श्वासमलीमसः न कृतः ?

हिन्दी—उसे (नल को) देखकर 'मैं सौन्दर्य के कारण इसके योग्य हूँ—ऐसा विचारते अपने मुख (अथवा सम्पूर्ण शरीर) को निहारने के लिए हाथ में लिया दर्पण भीमसुता (दमयन्ती) को छोड़कर अन्य किस गतरूपदर्पा सुन्दरी ने निःश्वास से मैला नहीं किया ? सभी ने किया ।

टिप्पणी—कोई सुन्दरी दर्पण में निहार कर अपने को नल के योग्य मानने का साहस न कर पायी और खिन्नता से निकली निःश्वास से हाथ का दर्पण धुँधला पड़ गया—इससे कवि का भाव यह है कि नल के अनुरूप भीमपुत्री वैदर्भी दमयन्ती ही थी, अन्य कोई सुन्दरी रूप-गुण में नल के योग्य नहीं थी । असम्बन्ध में सम्बन्ध कथन के कारण यहाँ अतिशयोक्ति है और विद्याधर के अनुसार व्यभिचारभाव गर्व की शान्ति ।। ३१ ।।

यथोह्यमानः खलु भोगभोजिना प्रसह्य वैरोचनिजस्य पत्तनम् ।
विदर्भजाया मदनस्तथा मनोऽनलावरुद्धं वयसैव वेशितः ।।३२ ।।

जीवातु—एवमस्यालौकिकसौन्दर्यद्योतनाय स्त्रीमात्रस्य तदनुरागमुक्त्वा सम्प्रति दमयन्त्यास्तत्रानुरागं प्रस्तौति—यथेति । मदनः कामः प्रद्युम्न इति यावत् भोगभोजिना सर्पशरीराशिना वयसा पक्षिणा गरुडेनेत्यर्थः ऊह्यमानः नीयमानः, वहेः कर्मणि यकि सम्प्रसारणे पूर्वरूपम् । अनलावरुद्धम् अग्निपरि-

वेष्टितं विरोचनस्य अपत्यं पुमान् वैरोचनिः बलिः तज्जस्य तत्पुत्रस्य बाणासुरस्येत्यर्थः। पत्तनं शोणितपुरमिति यावत्। प्रसह्य सहसा यथा वेशितः खलु प्रवेशित एव; 'ततो गरुडमारुह्य स्मृतमात्रागतं हरिः'। उषाहरणे विष्णुपुराणात्। तथा नलावरुद्धं नलासक्तं विदर्भजायाः नमयन्त्या मनः भोगभोजिना सुखभोगासक्तेनेत्यर्थः, वयसा यौवनेन ऊह्यमानः परैस्तक्र्यमाणः ऊहेर्वितर्कार्थात् कर्मणि यक्। वेशितः प्रवेशितः। 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोरि'त्यमरः। पुरा उषानाम्नी बाणदुहिता स्वप्ने प्रद्युम्नपुत्रमनिरुद्धं दृष्ट्वा सुप्तप्रतिबुद्धा सहचरीं चित्रलेखाभवदत्। सा च योगबलेन तस्यामेव रात्रौ द्वारकायां प्रसुप्तमनिरुद्धं विहायसता समानीय तया समगमयत्। कालेन नारदमुखात् तदाकर्ण्य कृष्णः प्रद्युम्नबलरामाभ्यां बहुभिर्बलेश्च गत्वा बाणनगरमरौत्सीदिति कथा अत्रानुसन्धेया। अत्र यथोह्यमानो नलावरुद्धमिति शब्दश्लेषः। तदनुप्राणिता उपमा च सा च वयसेति वयसोरभेदाध्यवसायमूलातिशयोक्तिमूला चेत्येषां सङ्करः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—यथा खलु भोगभोजिना यवसा ऊह्यमानः मदनः अनलावरुद्धं वैरोचनिजस्य पत्तनं प्रसह्य वेशितः तथा (वयसा) एव विदर्भजायाः नलावरुद्धं मनः (मदनः वेशितः)।

हिन्दी—जिस प्रकार सर्पभोजी वयस्-पक्षिराज गरुड ने अपनी पीठ पर ले जाकर मदन अर्थात् (कृष्णपुत्र, अनिरुद्ध-जनक मदनावतार) प्रद्युम्न को अग्नि से समंततः घिरे वैरोचनि—(प्रह्लादसुत पातालराज) बलि के पुत्र बाणासुर के नगर (शोणितपुर) में झटिति प्रविष्ट करा दिया था, उसी प्रकार सुखासक्त वयस् अर्थात् तारुण्य ने ही वैदर्भी के नलसे व्याप्त मन में काम को प्रविष्ट कर दिया।

टिप्पणी—काव्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार पहिले नारी का अनुराग दिखाया जाना उचित होता है, तत्पश्चात् नर का—'आदौ वाच्यः स्त्रिया रागः पुंसः पश्चात्तदिङ्गितैः', इस प्रकार इसमें रूप-गुण-श्रवण तथा चित्रादिदर्शन से आकृष्ट दमयन्ती के पूर्वानुराग का कवि ने वर्णन किया है। इसके लिए उसने उषा-अनिरुद्ध की पौराणिक कथा (श्रीमद्भागवत, १०।६२-६३) का उपमान

भूदित्यर्थः। रञ्जेर्दैवादिकाल्लट्। अतएव विनिद्ररोमा रोमाञ्चिता अजनीति सात्त्विकोक्तिः। जनेः कर्त्तरि लुङ् 'दीपजने'त्यादिना च्लेश्चिणादेशः। नलगुण-श्रवणजन्यो रागस्तस्य रोमाञ्चेन व्यक्तोऽभूदिति भावः॥ ३४॥

अन्वयः—सा दिने वन्दिनाम् अवसरेषु पितुः उपासनाम् एत्य तेषु भूपतीन् प्रति (प्रतिभूपतीन् वा) पटत्सु नलं शृण्वती विनिद्ररोमा अजनि रज्यते स्म (च)।

हिन्दी—वह प्रतिदिन स्तुतिपाठकों के स्तुतिपाठ के समय अपने पिता की सेवा में उपस्थित होकर उनके राजाओं (अथवा अन्य राजाओं) के सम्बन्ध में वर्णन करते होने पर नल के विषय में सुनती पुलकित हो जाती थी और इस प्रकार वह (नल में) अनुरक्त हो गयी।

टिप्पणी—यहाँ गुणश्रवण का अवसर बताया गया। विद्याधर के अनुसार यह औत्सुक्य भावोदयः का उदाहरण है, सात्त्विक रोमाञ्च का वर्णन भी है॥ ३४॥

कथाप्रसङ्गेषु मिथस्सखीमुखात्तृणेऽपि तन्व्या नलनामनि श्रुते।
द्रुतं विधूयान्यदभूयतानया मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया॥३५॥

जीवातु—कथेति। मिथोऽन्योऽन्यं रहसि कथाप्रसङ्गेषु विस्रम्भगोष्ठीप्रस-ङ्गेषु सखीमुखान्नलनामनि नलाख्ये तृणे श्रुते सति 'नलः पोटगले राज्ञी'ति विश्वः। अनया तन्व्या दमयन्त्या द्रुतमन्यत् कार्य्यान्तरं विधूय निराकृत्य मुदा हर्षेण तदाकर्णने नलशब्दाकर्णने सज्जकर्णया दत्तकर्णया अभूयत अभावि। 'भुवो भावे' लङ्। अर्थान्तरप्रयुक्तोऽपि नलशब्दो नृपस्मारकतया तदाकर्षकोऽ-भूदिति रागातिशयोक्तिः॥ ३५॥

अन्वयः—तन्व्या अनया मिथः कथाप्रसङ्गेषु सखीमुखात् तृणेऽपि नलना-मनि श्रुते अन्यत् द्रुतं विधूय मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया प्रभूयत।

हिन्दी—कोमलाङ्गी यह दमयन्ती परस्पर बातचीत के अनेक रहस्यालापों में सखियों के मुख से थोड़ा-भी नल का नाम सुनने पर अन्य (विषय) तुरन्त त्यागकर प्रसन्नतया उसके सम्बन्ध में सुनने के लिए कान लगा देती थी।

टिप्पणी—यहाँ रागातिशय दिखाया गया है। हर्ष और औत्सुक्य की 'भावशबलता' है 'तन्वी' पद विरहकृशता का द्योतक है॥ ३५॥

स्मरात्परासोरनिमेषलोचनाद् बिभेमि तद्भिन्नमुदाहरेति सा ।
जनेन यूनः स्तुवता तदास्पदे निदर्शनं नैषधमभ्यषेचयत् ।।३६।।

जीवातु—स्मरादिति । परासोर्मृतात् अत एवानिमेषलोचनान्निश्चलाक्षा-द्देवादिति च गम्यते । उभयथापि भयहेतूक्तिः । तस्माद्बिभेमीति तद्भिन्नं ततोऽन्यमुदाहरति तत्सदृशं निदर्शयेत्याह सा दमयन्ती यूनः स्तुवता जनेन प्रयोगकर्त्रा तदास्पदे स्मरस्थाने निदर्शनं दृष्टान्तं नैषधं निषधानां राजानं नलं 'जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ् । अभ्यषेचयत् स्मरस्य स्थाने तत्सदृश एवाभिषेक्तुं युक्तः स च नलादन्यो नास्तीति तस्मिन् नल उदाहृतेऽनुतर्षं शृणोतीति रागातिरेकोक्तिः । 'उपसर्गात् सुनोती'त्यादिना अड्व्यवायेऽपि षत्वम् ।। ३६ ।।

अन्वयः—परासोः अनिमेषलोचनात् स्मरात् बिभेमि, तद्भिन्नम् उदाहर—इति सा यूनः स्तुवता जनेन नैषदं तदास्पदे निदर्शनम् अभ्यषेचयत् ।

हिन्दी—गतप्राण (अतएव) अपलक नेत्र कामदेव से मुझे डर लगता है, इसके अतिरिक्त कोई उदाहरण दो—इस प्रकार वह किसी तरुण की प्रशंसा करती सखियों आदि से निषधराज का उस (काम) के स्थान में उपस्थापित कराती थी ।

टिप्पणी—काम देवविशेष होने के कारण अनिमेषलोचन है, किन्तु दमयन्ती उसकी अनिमेषलोचनता उसके मृत होने के कारण मानती है और मृत को देखकर स्वयं डरने का बहाना करती हुई किसी तरुण के सौन्दर्य में काम से उपमानित करने का निषेध करके अन्य उदाहरण प्रस्तुत करने का निर्देश करती है, क्योंकि वह जानती है कि सौन्दर्य में काम के अतिरिक्त समान उदाहरण नल ही है, सो स्तोताजन काम के स्थान में नल का ही नाम लेंगे ।

यह भी रागातिरेक का वर्णन है । गुणकीर्त्तन-श्रवणरूपा काम की दशा का उपपादन ।।३६।।

नलस्य पृष्टा निषधागता गुणान् मिषेण दूतद्विजवन्दिचारणाः ।
निपीय तत्कीर्तिकथामथानया चिराय तस्थे विमनायमानया ।।३७।।

जीवातु—नलस्येति । निषधेभ्य आगता दूताः सन्देशहराः, द्विजा ब्राह्मणाः, वन्दिनः स्तावकाः चारणा देशभ्रमणजीविनः ते सर्वे मिषेण व्याजेन नलस्य

गुणान् पृष्टाः पृच्छतेर्दुहादित्वात् प्रधाने कर्मणि क्तः । अथ प्रश्नानन्तरमनया भैम्या तत्कीर्तिकथां नलस्य यशःकथामृतं निपीय नितरां श्रुत्वेत्यर्थः । चिराय विमनायमानया विमनीभवन्त्या भृशादित्वात्क्यङि सलोपश्च 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' ततो लटः शानजादेशः । तदा तस्थे स्थितं तिष्ठतेर्भावे लिट् । अयञ्च दूतादिव्यवधाने गुणकीर्त्तनलक्षणः प्रलापाख्यो रत्यनुभवः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—अनया निषधागताः दूतद्विजवन्दिचारणाः मिषेण नलस्य गुणान् पृष्टा, अथ तत्कीर्त्तिकथां निपीय चिराय विमनायमानया तस्थे ।

हिन्दी—दमयन्ती निषधदेश से आये दूतों, ब्राह्मणों, स्तुति-पाठकों और चारणों के बहाने से नल के गुण पूछा करती थी, और फिर उसकी यशोगाथा को तन्मय हो सुन देरतक अनमने बैठी रह जाया करती थी ।

टिप्पणी—इस श्लोक में व्यभिचारीभाव चिन्ता का उदय दिखाया गया है । अनमने होने में कारण है यह चिन्ता कि कैसे नल से मिलन होगा ? यहाँ मल्लिनाथ ने प्रलाप नामक रत्यनुभव बताया है ॥ ३७ ॥

प्रियं प्रियां च त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाधिलीलागृहभित्ति कावपि ।
इति स्म सा कारुतरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते ॥३८॥

जीवातु—प्रतिकृतिस्वप्नदर्शनादयो विरहिणां विनोदोपायाः, अथ तत्कथनमुखेन दर्शनानुरागश्चास्या दर्शयन् प्रतिकृतिदर्शनं तावदाह—प्रियमिति । सा भैमी त्रीणि जगन्ति समाहृतानि त्रिजगत् । समाहारो द्विगुरेकवचनम् । तस्य जयिनी लोकत्रयजित्वरी श्रीः शोभा ययोस्तादृशौ कावपि प्रियं प्रियाञ्च तौ अधिलीलागृहभित्ति विलासवेश्मकुड्ये विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । लिखेत्युक्तौ कारुतरेण शिल्पिकाण्डेन प्रयोज्येन लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यं रूपसाम्यापादनम् ईक्षते स्म ॥ ३८ ॥

अन्वयः—अधिलीलागृहभित्ति कौ अपि त्रिजगज्जयश्रियौ प्रियं प्रियां च लिख—इति सा कारुतरेण लेखितं नलस्य च सख्यम् ईक्षते स्म ।

हिन्दी—क्रीडागृह की दीवार पर किन्हीं दो त्रिलोकी की शोभा में जीतने वाले युवक और युवती का चित्रण कर—इस प्रकार वह शिल्पी चित्रकार द्वारा आलेखित नल को और अपने को सहस्थित (एक साथ आँका गया) देखा करती थी ।

टिप्पणी—शास्त्रीय परम्परा के अनुसार इस श्लोक में चित्र दर्शन का निरूपण है। नल युग का श्रेष्ठ त्रिलोकजयी नर था और दमयन्ती त्रिलोकजगिनी नारी। उस युग में जैसे यह सर्वमान्य सत्य था। लीलागृहभित्तौ इति अधिलीलागृहभित्ति—अव्ययीभावसमास। अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिवृद्ध्यर्थाऽभावात्ययाऽसम्प्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसम्पत्तिसाकल्यान्तवचनेषु (अष्टाध्यायी २।१।६)-द्वारा विभक्त्यर्थ में अधि का प्रयोग ॥३८॥

मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं निशि क्व सा ना स्वपती स्म पश्यति।
अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम् ॥३९॥

जीवातु—मनोरथेनेति। मनोरथेन सङ्कल्पे स्वपतीकृतं स्वभर्तृकृतं नवम् अभूततद्भावेच्वौ दीर्घः। स्वपती निद्राती सा दमयन्ती क्व निशि कुत्र रात्रौ न पश्यति स्म? सर्वस्यामपि रात्रौ दृष्टवती। तथा हि सुप्तिः स्वप्नः अदृष्टम् अत्यन्ताननुभूतमप्यर्थं किमुत दृष्टमिति भावः। अदृष्टवैभवात् प्राक्तनभाग्यबलात् जनदर्शनातिथिं लोकदृष्टिगोचरं करोति, तदत्रापि निमित्तादद्दृष्टात्तादृक् स्वप्नज्ञानमुत्पन्नमित्यर्थः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तिरन्यासः ॥३९॥

अन्वयः—स्वपती सा मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं क्व निशि न पश्यति स्म? सुप्तिः अदृष्टम् अपि अर्थम् अदृष्टवैभवात् जनदर्शनातिथिं करोति।

हिन्दी—सोती वह दमयन्ती स्वेच्छया अपने पतिरूप में स्वीकारे नल को किस रात में नहीं देखा करती थी? प्रत्येक रात में देखती थी। स्वप्नदशा अदेखे अर्थ को भी पुरातन भाग्य के सामर्थ्य से मनुष्यों के दर्शन का विषय (देखने योग्य) बना देती है।

टिप्पणी—दर्शन तीन प्रकार से होता है—(१) प्रत्यक्ष (२) स्वप्न में; (३) चित्र में—'साक्षाच्चित्रे तथा स्वप्ने स्याद्दर्शनं त्रिधा।' यहाँ स्वप्नदर्शन का वर्णन है। सामान्य (प्रथम-द्वितीय-चरण-कथन) से यहाँ विशेष (तृतीय-चतुर्थ चरण की उक्ति) का समर्थन है, अतएव अर्थान्तिरन्यास अलंकार है। 'स्वपती' के दो बार प्रयोग से यमक। विद्याधर के अनुसार यहाँ छेकानुप्रास और हेतु अलंकार है ॥ ३९ ॥

निमीलितादक्षियुगाच्च निद्रया हृदोऽपि बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात्।
अदर्शि संगोप्य कदाप्यवीक्षितो रहस्यमस्यास्स महन्महीपतिः ॥४०॥

जीवातु—निमीलितादिति । निद्रया प्रयोजिकया निमीलितान्मुकुलितादुपरतव्यापारादित्यर्थः, अक्षियुगाच्च तथा बाह्येन्द्रियाणां चक्षुरादीनां मौने न व्यापाररहित्येन मुद्रितात्प्रतिष्टब्धात्, मनसो बहिरस्वातन्त्र्यादिति भावः । हृदो हृदयादपि सङ्गोप्य गोपयित्वेत्यर्थः, 'अन्तर्द्धौयेनादर्शनमिच्छती'त्यक्षियुगमानसोरपादानत्वम् । अदर्शनं चात्र मनसो बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितादिति विशेषणसामर्थ्यादिन्द्रियार्थसंप्रयोगजन्यज्ञानविरह एवेति ज्ञायते, स्वप्नज्ञानं तु मनोजन्यमेव ॥ तदजन्यज्ञानमत्रेत्याह—कदाप्यवीक्षित इति । अत्यन्तादृष्टचर इत्यर्थः, महद्रहस्यमतिगोप्यं वस्तु स महीपतिर्नलः । अस्या भैम्या अदर्शि दर्शयाञ्चक्रे, दृशेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ् । तथा काचिच्चेटी कस्यैचित्कामिन्य कञ्चन कान्तं संगोप्य दर्शयति तद्वदिति ध्वनिः ॥ ४० ॥

अन्वयः—निद्रया निमीलितात्, अक्षियुगात् बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् हृदः अपि च संगोप्य कदापि अवीक्षितः स महीपतिः अस्याः महत् रहस्यम् अदर्शि ।

हिन्दी—नीद से मुँदे दोनों नेत्रों और बाहरी इन्द्रियों कि निष्क्रियता के कारण निष्क्रिय मन से भी छिपाकर भी कभी न देखा हुआ वह पृथ्वीपति, जो इसी कारण दमयन्ती के लिए एक बड़ा रहस्य था, निद्रा ने दिखा दिया ।

अन्य प्रकार से पदच्छेद करके नारायण पण्डित ने इस श्लोक का अन्य अर्थ भी किया है । 'निद्रया निमीलितात् अक्षियुगात् इन्द्रियमौनमुद्रितात् अहृदः अपि बाह्य, रहस्यम् महत्, अदर्शिसङ्गः अकदाप्यवीक्षितः मही सः पतिः स्याः ।'

हे निद्रा (अज्ञान) के कारण तिरोहित, अक्ष में वास करने वाले युग कलि से और इन्द्रिय अर्थात्, वाक्रूप व्यापाराभाव मौन ही जिसका स्वभाव है ऐसे अहृत्-मूर्ख से भिन्न अर्थात् कलिदोष से मुक्त और ज्ञानी, हे अतिगोपनीय लक्ष्मी वाले रहस्यमय (रहस्या अत्यन्तगोप्या मा लक्ष्मीर्यस्य सः), हे मान योग्य, विष्णुभक्तों के मित्र अदर्शिसंग (अं विष्णुं पश्यन्तीत्येवं शीला अदर्शिनः विष्णुभक्ताः तैः सह सङ्गो मैत्री यस्य सः), दुष्टों द्वारा अदेखे (न कम् अकं दुःखं दामयन्तीति अकदापिनः दुष्टाः तैः अदीक्षितः न दृष्टः), उत्सवप्रिय (महाः उत्सवः अस्यास्तीति मही) वह तुम (मेरे) पति होओ—(ऐसा पूर्वश्लोक मे वर्णित स्वप्न में दृष्ट नल से दमयन्ती कहा करती थी) ।

टिप्पणी—मल्लिनाथ ने माना है कि इस श्लोक में ऐसी ध्वनी है कि निद्रा एक ऐसी दूती है, जो प्रिया को चुपचाप—सबसे छिपाकर प्रिय दर्शन करा देती है। विद्याधर इसमें रूपक मानते हैं ॥ ४० ॥

अहो अहोभिर्महिमा हिमागमेऽप्यतिप्रपेदे प्रति तां स्मरार्दिताम् ।
तपर्तुपूर्तावपि मेदसां भरा विभावरीभिर्विभरांबभूविरे ॥४१॥

जीवातु—अथास्याश्चिन्ताजागरावाह—अहो इति । हिमागमे हेमन्तेऽपि स्मरार्दितां तां दमयन्तीं प्रति अहोभिर्दिवसैः अतिमहिमा अतिवृद्धिः प्रपेदे तथा तपर्त्तुपूर्त्तावपि ग्रीष्मान्तेऽपि विभावरीभिः निशाभिः मेदसां भरा मांसराशयोऽतिवृद्धिरिति यावत् । विभराम्बभूविरे बभ्रिरे, भृञः कर्मणि लिट् आम्प्रत्ययः । अहो आश्चर्यं शास्त्रविरोधादनुभवविरोधाच्चेति भावः । विरहिणां तथा प्रतीयत इत्यविरोधः, एतेनास्या निरन्तरचिन्ता जागरश्च गम्यते । अहोशब्दस्य 'ओदि'ति प्रगृह्यत्वात् प्रकृतिभावः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—अहो, हिमागमे अपि स्मरार्दिता तां प्रति अहोभिः महिमा प्रपेदे, तपर्तुपूर्तौ अपि विभावरीभिः मेदसां भरा विभराम्बभूविरे ।

हिन्दी—अचरज की बात थी कि हेमन्त ऋतु के आजाने पर भी कामपीडिता उस (दमयन्ती) के संदर्भ में दिनों ने अतिदीर्घता प्राप्त करली थी और भरपूर ग्रीष्म ऋतु में भी रात्रियों ने प्रभूत मज्जा (स्थूलता-दीर्घता) धारण करली ।

टिप्पणी—दमयन्ती को विरह में जाड़े के छोटे दिन भी बड़े प्रतीत होते थे और गर्मी की छोटी रातें भी लम्बी । विद्याधर के अनुसार हिमागम कारण होने पर भी दिनों का छोटा होना कार्य और ग्रीष्मर्तु होने पर भी रात्रि की लघुता का अनिर्देश होने से विशेषोक्ति और दिन रात की दीर्घता में स्मरार्दिता कारण होने से विभावना अलंकार है तथा छेकानुप्रास भी । चंद्रकला-व्याख्याकार ने दो विरोधाभासों की निरपेक्षता से स्थिति होने के कारण इस श्लोक में संसृष्टि अलंकार का निर्देश किया है ॥४१॥

स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः श्रयन्तमन्तर्घटनागुणश्रियम् ।
कदाचिदस्या युवधैर्यलोपिनं नलोऽपि लोकादशृणोद् गुणोत्करम्॥४२॥

जीवातु—स्वेत्यादि । अथ नलोऽपि स्वस्य कान्त्या सौन्दर्येण याः कीर्त्तयः तासां व्रजः पुञ्ज एव मौक्तिकस्रक् मुक्ताहारः तस्या अन्तः अभ्यन्तरे घटना-गुणश्रियं गुम्फनसूत्रलक्ष्मीं श्रयन्तं भजन्तं युवधैर्यलोपिनं तरुणचित्तस्थैर्य्यपरि-हारिणम् अस्या दमयन्त्या गुणोत्करं सौन्दर्यसन्दोहं लोकादागन्तुकजनात् अश्रृ-णोत्, अत्र कीर्त्तिव्रजगुणोत्करयोर्मुक्ताहारगुम्फनसूत्रत्वरूपणाद्रूपकालङ्कारः ॥४२

अन्वयः—कदाचित् नलः अपि लोकात् स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः अन्तर्घटनागुणश्रियं श्रयन्तं युवधैर्यलोपिनं अस्याः गुणोत्करम् अश्रृणोत् ।

हिन्दी—किसी समय नल ने भी लोगों के मुँह से स्व अर्थात् अपने अथवा दमयन्ती के सौन्दर्यविषयक मुक्तामाल के मध्य गुम्फित होने वाले सूत्र अथवा नल के अन्तस्-मन में प्रविष्ट गुण अर्थात् सौन्दर्यादि की श्री को प्राप्त करके तरुण के धैर्य को विलुप्त करते उस (दमयन्ती) के गुणों (रूप, शोभाआदि) को सुना ।

टिप्पणी --गुणश्रवण से आकृष्ट नल के दमयन्ती के प्रति अनुराग का वर्णन । कीर्तिव्रज और गुणोत्कर के मुक्ताहार और गुम्फन सूत्र भाव में रूपण के कारण इस श्लोक में रूपक अलंकार है ॥ ४२ ॥

तमेव लब्ध्वावसरं ततः स्मरश्शरीरशोभाजयजातमत्सरः ।
अमोघशक्त्या निजयेव मूर्तया तया विनिर्जेतुमियेष नैषधम् ॥४३॥

जीवातु—अथास्य तस्यां रागोदयं वर्णयति—तमेवेति । ततो गुणश्रवणान-न्तरं शरीरशोभाया देहसौन्दर्य्यस्य जयेन जातमत्सरः उत्पन्नवैरः स्मरः तमेवा-वसरमवकाशं लब्ध्वा मूर्तया मूर्तिमत्या निजया अमोघशक्त्येव अकुण्ठितसाम-र्थ्येनेवेत्युत्प्रेक्षा । तया दमयन्त्या नैषधं नलं विनिर्जेतुमियेष इच्छति स्म, रन्ध्रा-न्वेषिणो हि विद्वेषिण इति भावः । तेन रागोदय उक्तः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—ततः शरीरशोभाजयजातमत्सरः स्मरः तम् एव अवसरं लब्ध्वा मूर्तया निजया अमोघशक्त्या इव तया नैषधं विनिर्जेतुम् इयेष ।

हिन्दी—दमयन्ती के रूप-गुण सुनने के अनन्तर अपने शरीर की शोभा के (नल द्वारा) जय के कारण जिसमें (नल के प्रति) ईर्ष्या जाग गयी है; ऐसे कामने उसी अवसर को पाकर मानों देह-धारिणी अपनी अमोघ शक्ति के तुल्य उस (दनयन्ती) के माध्यम से निषधपति को जीतने की इच्छा की ।

टिप्पणी—नल से रूपशोभा में पराजित होनेवाले काम को दमयन्ती के माध्यम से अपनी पराजय का बदला लेने का अच्छा अवसर मिला—इस कल्पना द्वारा कवि ने नल के काम-भाव का वर्णन किया ॥ ४३ ॥

अकारि तेन श्रवणातिथिर्गुणः क्षमाभुजा भीमनृपात्मजाश्रितः ।
तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मशरासनाश्रयः ॥४४॥

जीवातु—अकारीति । तेज क्षमाभुजा नलेन भीमनृपात्मजायाः दमयन्त्याः श्रितः गुणः तदीयः सौन्दर्यादिः श्रवणातिथिः श्रोत्रविषयः अकारि कृतः श्रुतः इत्यर्थः । करोतेः कर्मणि लुङ् । तस्य नलस्य उच्चधैर्य्यव्ययाय उच्चधैर्य्यनाशाय संहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मनः शरासनाश्रयः चापनिष्ठो गुणो मौर्वी श्रवणातिथिरकारि आकर्णं कृष्ट इत्यर्थः । दमयन्तीगुणश्रवणान्नलमनसि महान् मदनविकारः प्रादुर्भूत इत्यर्थः । अत्रोक्तवाक्यार्थस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—तेन क्षमाभुजा भीमनृपात्मजाश्रितः गुणः श्रवणातिथिः अकारि तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मशरासनाश्रयः (गुणः श्रवणातिथिः अकारि) ।

हिन्दी—उस पृथ्वीपति ने राजा भीम की कन्या दमयन्ती निष्ट रूपादि गुण को अपने कानों का अतिथि बनाया (सुना) और काम ने भी उस (नल) के उत्कृष्ट धैर्य का नाश करने के निमित्त बाण को अपने शरासन (धनुष्) पर धर कर अपने दृढ धनुष् की प्रत्यंचा को कान तक खींच लिया ।

टिप्पणी—भावार्थ यह है कि दमयन्ती के गुण श्रवणानन्तर नल में काम संचार हो गया । 'स्वात्मशरासन' में 'स्व' और 'आत्म' पर्याय शब्दों के होने से पुनरुक्ति प्रतीत होती है, पर सु + आत्म—ऐसा पदच्छेद करके सुन्दर अर्थात् दृढ़ अपना धनुष ऐसा अर्थ करने पर पुनरुक्ति नहीं रह जाती है, इस प्रकार पुनरुक्तवदाभास अलंकार है । 'अकारि' क्रिया के नल और स्मर-दोनों प्रस्तुत कर्ता हैं, अतः तुल्योगिता है; फलतः पुनरुक्तवदाभास—तुल्ययोगिता की संसृष्टि है । विद्याधर भी यहाँ ये दो अलंकार मानते हैं । मल्लिनाथ ने काव्यलिंग माना है ।

अमुष्य धीरस्य जयाय साहसी तदा खलु ज्यां विशिखैस्सनाथयन् ।
निमज्जयामास यशांसि संशये स्मरस्त्रिलोकीविजयार्जितान्यपि ॥४५॥

जीवातु—अमुष्येति । स स्मरः साहसी साहसकारः 'न साहसमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यती'ति न्यायादविलम्बी सन्नित्यर्थः । अमुष्य धीरस्य अविचलितस्य नलस्य जयाय शराशनज्यां निजधनुर्मौर्वी विशिखैः शरैः सनाथयन् सनाथं कुर्वन् संयोजयन्नित्यर्थः, त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी 'तद्धितार्थे'त्यादिना समासः; 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्यत' इति स्त्रीलिङ्गत्वात् 'द्विगोरि'ति ङीप्। तस्य विजयेनार्जितानि सम्पादितान्यपि यशांसि संशये निमज्जयामास किं पुनः सम्प्रति सम्पाद्यमित्यपि शब्दार्थः । बुद्ध्यपेक्षया अनुचितकर्मारम्भे मूलमपि नश्येदिति संशयितवानित्यर्थः । अत्र स्मरस्योक्तसंशयाऽसम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—साहसी स्मरः धीरस्य अमुष्य जयाय तदा ज्यां विशिखैः सनाथयन् त्रिलोकीविजयार्जितानि अपि यशांसि संशये निमज्जयामास खलु ।

हिन्दी—साहसशील काम ने धैर्यवान् उस (नल) के जय के निमित्त उस काल प्रत्यंचा को बाणों से सनाथ करते (धनुष की डोरी पर बाण चढ़ाते) हुए तीनों लोकों के विजयसे प्राप्त भी यशः समूह को कदाचित् संशय में डाल दिया था।

टिप्पणी—नल को जीतना जोखिम का काम था। इसकी पूरी संभावना थी, त्रिलोकजयी काम को जो जगद्विजयी होने का यश प्राप्त था, वह नल पर आक्रमण करके असफल होने पर मिट जाता, अतः उसने एक नहीं, अनेक बाण (विशिखैः) डोरी पर चढ़ाये। काम का अविवेकी होना और नल का अत्यन्त धैर्यवान् होना संकेतित है। असम्बन्ध-कथन के कारण यहाँ अतिशयोक्ति है।

अनेन भैमीं घटयिष्यतस्तथा विधेरबन्ध्येच्छतया व्यलासि तत् ।
अभेदि तत्तादृगनङ्गमार्गणैर्यदस्य पौष्पैरपि धैर्यकञ्चुकम् ॥ ४६ ॥

जीवातु—दैवसहायात् पुष्पेषोरेव पुरुषकारः फलित इत्याह—अनेनेति । अनेन नलेन सह भैमीं घटयिष्यतः योजयिष्यतो विधेर्विधातुरबन्ध्येच्छतया अमोघसङ्कल्पत्वेन यत्तस्मात्तथा तेन प्रकारेण योऽग्रे वक्ष्यत इति भावः । व्यलासि विलसितं लसतेर्भावे लुङ् । यत् पौष्पैरपि न तु कठिनैरनङ्गस्य न तु देहवतः मार्गणैर्धैर्यमेव कञ्चुकमस्य नलस्य अभेदि भिन्नं, कर्म्मणि लुङ् । दमयन्तीनलयोर्दाम्पत्यघटनाय अनङ्गमार्गणैर्नलधैर्यकञ्चुकभेदनाद्विधेरबन्ध्येच्छत्वं

विज्ञायत इत्यर्थः, दैवानुकूल्ये किं दुष्करमिति भावः। तत्रानङ्गपौष्पयो; कञ्चुकं भिन्नमिति विरोधः, तस्य विलासेनाभासीकरणाद्विरोधाभासः, स च धैर्य्य-कञ्चुकमिति रूपकोत्थापित इति तयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ।। ४६ ।।

अन्वयः—अनेन भैमीं घटयिष्यतः विधेः अवन्ध्येच्छतया तत् तथा व्यलासि यत् पौष्पैः अनङ्गमार्गणैः तत् तादृक् अस्य धैर्यकञ्चुकम् अभेदि ।

हिन्दी—इस (काम) ने भीमजा को बनाने वाले विधाता की अमोघ इच्छा के कारण वह वैसा (धैर्यनाश कार्य) कर लिया, जो कि फूलों के काम-बाणों के उस (नल) उतना दृढ़ वह धैर्यरूपी कवच विदीर्ण कर दिया ।

टिप्पणी—'तत् तादृगनङ्गमार्गणैः'—पदन्यास करने का अर्थ हो जायेगा—'उस प्रकार के फूलों के कोमल बाणों से'। 'अनङ्ग' शब्द के प्रयोग से यह भी संकेतित होता है कि दुःसाहसी होने पर भी डर कर काम अप्रत्यक्षतः आघात कर रहा था। यह भी भाव निकलता है कि विधाता की इच्छा से असंभव भी संभव है, कि नल का दृढ़ धैर्य भी अदेही के कोमल बाणों से विदीर्ण हो गया। दृढ़ का विदीर्ण हो जाना असंभव है, यह विरोध है जो विधि की 'अवन्ध्ये-च्छता' से सम्पादित हो गया अतः विरोधाभास और 'धैर्यकञ्चुक में रूपक' इस प्रकार मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ विरोधाभास-रूपक का अगांगिभाव संकर है। विद्याधर अनुमान और विरोध अलंकार मानते हैं ।। ४६।।

किमन्यदद्यापि यदस्त्रतापितः पितामहो वारिजमाश्रयत्यहो ।
स्मरं तनुच्छायतया तमात्मना शशाक शङ्के सन लङ्घितुं नलः ।।४७।।

जीवातु—अथ विधिमपि जितवतः, किं विध्यपेक्षयेत्याशयेनाह—किमिति । किमन्यत् अन्यत् किमुच्यते, पितामहो विधिरपि तस्य स्मरस्यास्त्रैस्तापितः सन्तापितः अद्यापि वारिजमाश्रयति तस्य पद्मासनत्वादिति भावः। सर्वनीतेर-पचारश्च गम्यते, अहो विधेरपि स्मरविधेयत्वमाश्चर्यम् । पितामहतापिनं स्मरं स नलः आत्मनस्तनोःछायेव छाया कान्तिर्यस्य तस्य भावस्तत्ता तया तनुच्छा-यतया तनोश्छाया अनातपस्तनुच्छाया तत्तयेति च गम्यते 'छाया त्वनातपे कान्ताविति'वैजयन्ती । लङ्घितुं न शशाक इत्यहं शङ्के, न हि स्वच्छाया लङ्घितुं शक्या इति भावः। अत्र स्मरलङ्घने पितामहोऽप्यशक्तः किमुत नल इत्यर्था-

पत्तिस्तावदेकोऽलङ्कारः। 'एकस्य वस्तुनो भावाद्यत्रवस्त्वन्यथा भवेत्। कैमुत्यन्यायतः सा स्यादर्थापत्तिरलङ्क्रिया' इति लक्षणात् तनोश्छायेवच्छायेत्युपमा छाययोरभेदाध्यवसायादतिशयोक्तिः। एतत्त्रितयोपजीवनेनालङ्घ्यत्वे तनुच्छायतताया हेतुत्वोत्प्रेक्षा सङ्कीर्णा, सा च शङ्केइति व्यञ्जकप्रयोगाद्वाच्येति।

अन्वयः—अहो, अन्यत् किम् यदस्त्रतापितः पितामहः अद्य अपि वारिणम् आश्रयति। शङ्के सः नलः स्मरम् आत्मनः तनुच्छायतया लङ्घितुम् न शशाक।

हिन्दी—अरे, और क्या कहा जाय, काम के बाणों से सताये बूढ़े बाबा ब्रह्मा जी आज भी जलज—कमल का आश्रय लिये रहते हैं। ऐसा लगता है कि वह नल काम के स्वदेह साम्य अथवा देह की परछाई होने के कारण उसे न जीत सका।

टिप्पणी—कामतप्त—काम के सताये बूढ़े ब्रह्मा का भी जलजात कमल में आश्रय लिए रहना यह द्योतित करता है कि काम तो सब को ही सताया करता है, सो नल को भी सता सका। एक दूसरी संभावना भी है कि नल काम को अपनी छाया समझ बैठा और धोखा खा बैठा।

'जब पितामह भी काम जय में अशक्त रहे, तो नल की क्या गिनती—' यह अर्थापत्ति होने से अर्थापत्ति अलंकार हुआ; तनुच्छायतया'—तनुच्छायतया के तुल्य, यह उपमा हुई, अतिशयोक्ति भी है, तनुछायता हेतु है, अतः हेतूत्प्रेक्षा भी, जो 'शङ्के' से प्रतीत होती है, अतः अर्थापत्ति-उपमा-अतिशयोक्ति-उत्प्रेक्षा की संसृष्टि है। विद्याधर के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा और श्लेष अलंकार है।

'तनुच्छायतया' का तन्वी छाया यस्य भावस्तत्ता तया विग्रह करके यह अर्थ भी होता है—विरह-व्यथित होने से म्लान-शोभा होने के कारण, अन्यमनस्क नल काम को न जीत सका॥ ४७॥

उरोभुवा कुम्भयुगेन जम्भितं नवोपहारेण वयस्कृतेन किम्।
त्रपासरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य सा नलस्य तन्वी हृदयं विवेश यत्॥४८॥

जीवातु—उरोभुवेति। सा तन्वी भैमी त्रपैव सरित् सैव दुर्गं नलसम्बन्धि तदपि प्रतीर्य्य नलस्य हृदयं विवेशेति यत् तत्प्रवेशनं 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्'

वयस्कृतेन नवोपहारेण नूतननिर्म्माणेन उरोभुवा तज्जन्येन कुम्भयुगेन कुचयुगाख्येनेति भावः, इत्यतिशयोक्तिः। 'न लोके'त्यादिना कृद्योगषष्ठीप्रतिषेधात्कर्त्तरि तृतीया, 'नपुंसके भाव उपसंख्यानमि'ति षष्ठी तु शेषविवक्षायाम्। जृम्भितं जृम्भणं किमुत्प्रेक्षा सा चोक्तातिशयोतिमूलोक्ति सङ्करः। दमयन्तीकुचकुम्भविश्रयश्रवणान्नलस्त्रपां विहाय तस्यामासक्तचित्तोऽभूदित्यर्थः, तेन मनःसङ्ग उक्तः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—सा तन्वी त्रपासरिद्दुर्गम् अपि प्रतीर्य यत् नलस्य हृदयं विवेश, (तत्) वयस्कृतेन नवोपहारेण उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितं किम्?

हिन्दी—वह कृशांगी (दमयन्ती) लज्जारूपी नदी में दुर्ग (प्रतिरोध) अथवा लज्जानदी रूपी दुर्ग को भी तर कर जो नल के हृदय में प्रविष्ट हो सकी, वह क्या तारुण्य-प्रस्तुत नूतन उपहार कुम्भयुग (दो घड़े और कुचयुगल) द्वारा हो सका?

टिप्पणी—'प्रकाश'-कार नारायण ने 'नवोपहारेण' का 'नव' नूतन उपसमीपमतो हारो मुक्ताहारो यस्य उपायनं तद्रूपेण' विग्रह में किया है। इस प्रकार अर्थ हुआ 'नवीन मुक्ताहार रूपधारी उपहार से युक्त कुचकलश।' उन्होंने 'अत्युच्च' अर्थ मानकर 'जृम्भितं' को 'दुर्गं' का विशेषण भी माना है।

प्रणयिजन तारुण्यमद में घड़ों की सहायता से मिलन के निमित्त दुर्गम नदी तैर जाया करते हैं। अनेक प्रणय-कथाओं में नर-नारी के ऐसे साहस का वृत्तांत मिलता है। पंजाबी की लोक-प्रसिद्ध प्रणयकथा 'सोनीमहीवाल' की नायिका 'सोनी' भी अपने प्रययी 'महिवाल' से मिलने इसी प्रकार जाया करती थी। श्रीहर्ष ने यहाँ भी ऐसी ही कल्पना की है, जिससे नल-दमयन्ती की प्रणयोत्कटता प्रकट होती है। यह सब 'यौवन' की ही कृपा है, 'कुचयुगल' भी 'वयः कृत'—यौवन के उपहार हैं।

विद्याधर ने इसमें उत्प्रेक्षा, रूपक और श्लेष अलंकार माने हैं। मल्लिनाथ ने यहाँ उत्प्रेक्षा-अतिशयोक्ति का संकर माना है ॥ ४८ ॥

अपह्नुवानस्य जनाय यन्निजामधीरतामस्य कृतं मनोभुवा।
अबोधितज्जागरदुःखसाक्षिणी-निशा च शय्या च शशाङ्ककोमला॥४९॥

जीवातु—अथास्य जागरावस्थामाह—अपह्नुवानस्येति । निजामधीरतां चपलत्वं अनायापह्नुवानस्यापलपत: 'श्लाघह्नुङ्स्थेति' त्यादिना सम्प्रदान-त्वाच्चतुर्थी । अस्य नलस्य मनोभुवा कामेन यज्जागरप्रलापादिकं कृतन्तत्सर्वं जागरदु:खस्य साक्षिणी 'साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायामि'ति साक्षाच्छब्दादिनिप्रत्यये ङीप् । शशाङ्केनकोमला रम्या निशा चाबोधि । 'दीपजने'त्यादिना कर्त्तरि च्लेश्चिणादेश: । तथा शशाङ्कवत्कोमला मृदुला शय्या अबोधि, निशायां शय्यायां जागरणयोस्तत्साक्षित्वमिति भाव: ।। ४९ ।।

अन्वय:—निजाम् अधीरतां अपह्नुवानस्य अस्य मनोभुवा यत् कृतं तत् जागरदु:खसाक्षिणी शशांककोमला निशा शय्या च अबोधि ।

हिन्दी—अपनी अधीरता को छिपाते इस (नल) की मनोभव काम ने जो दुर्दशा की, उसे जागरण के कष्ट की गवाह चन्द्र से मनोहर चाँदनीरात और खरहे के अंक के समान मुलायम अथवा चन्द्रतुल्य धवल आवरण से युक्त अथवा चन्द्र अर्थात् कपूर छिड़क कर शीतल बनायी गयी शय्या ही जान पायी ।

टिप्पणी—इस श्लोक में नल का उत्कट विरह और लज्जाशीलता द्योतित है । उसके मन की पीर को रात और शय्या के अतिरिक्त कोई न जान सका । 'साहित्यविद्याधरी' के अनुसार इसमें श्लेष है और 'चद्रकला' के अनुसार तुल्ययोगिता और उपमा ।। ४९ ।।

स्मरोपतप्तोऽपि भृशं न स प्रभुर्विदर्भराजं तनयामयाचत ।
त्यजन्त्यसून्शर्म च मानिनो वरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम् ।।५०।।

जीवातु—ननु किमनेन निबन्धनेन, याच्यताम्भीमभूपतिर्दमयन्तीम्, नेत्याह—स्मरेत्यादि भृशं गाढं स्मरोपतप्त: कामसन्तप्तोऽपि प्रभु: समर्थ: स नल: विदर्भ-राजं भीमनृपतितनयां दमयन्तीं न अयाचत न याचितवान् 'दुहियाची'त्यादिना याचेद्विकर्मकता । तथाहि-मानिनो मनस्विनोऽत्युच्चमनस्का: प्राणान् शर्म च सुखञ्च त्यजन्ति एतत्त्यागोऽपि वरं मनाक् वरमिति मनागुत्कर्ष इति महो-पाध्यायवर्द्धमान: । किन्तु, एकमद्वितीयकयाचितव्रतम् अयाच्ञानियमन्तु न त्यजन्ति, मानिनां प्राणत्यागदु:खाद् दु:सहं याच्ञाया दु:खमित्यर्थ: । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास: ।। ५० ।।

अन्वयः—भृशं स्मरोपतप्तः अपि सः प्रभुः विदर्भराजं तनयां न अयाचत, मानिनः ससून् शर्म च त्यजन्ति, एवम् अयाचितव्रतं न त्यजन्ति ।

हिन्दी—अत्यन्त काम सन्तप्त होने पर भी उस सर्वसमर्थ राजा नल ने विदर्भनरेश से उनकी पुत्री (दमयन्ती) की याचना नहीं की । आत्माभिमानी पुरुष प्राणों को और सुख को तज सकते हैं, किन्तु एक अयाचना (किसी से कुछ न माँगना) रूपी व्रत को नहीं छोड़ सकते ।

टिप्पणी—सम्मानी कष्ट सह लेते हैं, पर किसी से कुछ माँगते नहीं, नल भी ऐसे ही मानी थे—प्रभु । सामान्य से विशेष का समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास अलंकार ॥ ५० ॥

मृषाविषादाभिनयादयं क्वचिज्जुगोप निःस्वासततिं वियोगजाम् ।
विलेपनस्याधिकचन्द्रभागताविभावनाच्चापललाप पाण्डुताम् ॥५१॥

जीवातु—मृषेति । अयं नलो वियोगजां दमयन्तीवियोगजन्यां निःश्वासततिं निःश्वासपरम्परां क्वचित् कुत्रचिद्वस्त्वन्तरे विषये मृषाविषादस्य मिथ्यादुःखस्याभिनयात् छलेन, जुगोप संववार । तथा पाण्डुतां विशदतां शरीरपाण्डिमानं च विलेपनस्य चन्दनाधिकः चन्द्रभागः कर्पूरांशो यस्मिन् विलेपने 'घनसारश्चन्द्रसंज्ञः सिताभ्रो हिमवालुका' इत्यमरः । तस्य भावस्तत्ता तस्या विभावनात् कर्पूरभागाधिकतोत्प्रेक्षणादपललाप निह्नुते स्म । अत्राङ्गताभ्यां मृषाविषादचन्द्रभागपाण्डिमभ्यां तद्विरहश्वासपाण्डिम्नोर्निगूहनान्मीलनालङ्कारः । 'मीलनं वस्तुना यत्र वस्त्वन्तरनिगूहनम् ।' इति लक्षणात् ॥ ५१ ॥

अन्वयः—अयं क्वचित् मृषाविषादाभिनयात् वियोगजां निःश्वासततिं जुगोप, विलेपनस्य अधिकचन्द्रभागताविभावनात् च पाण्डुताम् अपललाप ।

हिन्दी—उस राजा नल ने कभी झूठे खेद-प्रकाशन का अभिनय करके (किसी और विषय पर खेद प्रकट करने के बहाने) वियोग के कारण संजात लम्बी साँसों को छिपाया और लेप (अंगराग) में कपूर की अधिकता को कारण बता कर वियोगजनित पाण्डुता को छिपाया ।

टिप्पणी—राजा की लज्जाशीलता और विरहदशा का वर्णन, पाण्डुता को लेप से छिपाना आदि होने से मल्लिनाथ ने यहाँ 'मीलन' अलंकार का

निर्देश किया है और छद्म से भिन्न वस्तु के रूप-निगूहन के आधार पर विद्याधर ने व्याजोक्ति ॥ ५१ ॥

शशाक निह्नोतुमनेन तत्प्रियामयं बभाषे यदलीकवीक्षिताम् ।
समाज एवालपितासु वैणिकैर्मुमूर्च्छ यत्पञ्चममूर्च्छनासु च ॥५२॥

जीवातु—शशाकेति । अयन्नलोऽलीकवीक्षितां मिथ्यादृष्टां प्रियां दमयन्तीं समाजे सभायामेव यत् बभाषे बभाण, वीणा शिल्पमेषां तैर्वैणिकैः वीणावादैः 'शिल्पमि'ति ठञ् । आलपितासु सूच्चरितासु व्यक्ति गतास्वित्यर्थः । 'रागव्यञ्जक आलाप' इति लक्षणात् । पञ्चमस्य पञ्चमाख्यस्य स्वरस्य मूर्च्छनासु 'आरोहावरोहणेषु क्रमात् स्वराणां सप्तानामारोहादवरोहणम् । मूर्च्छनेत्युच्यत' इति लक्षणात् । पञ्चमग्रहणन्तस्य कोकिलालापकोमलत्वेन उद्दीपकत्वातिशयविवक्षयेत्यनुसन्धेयम् । मुमूर्च्छेत्यपि यत्तदुभयम् अनेन प्रकारेण निह्नोतुमाच्छादयितुं शशाक । 'अये' इति पाठे विषादे इत्यर्थः । 'अये क्रोधे विपादे चे'ति विश्वः । एतेन ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छावस्थाः सूचिताः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—यत् अयम् अलीकवीक्षितां प्रियां बभाषे, यत् च वैणिकैः पंचममूर्च्छनासु आलपितासु समाजे एव मुमूर्च्छ तत् अनेन निह्नोतुं शशाक ।

हिन्दी—जो कि नल के भ्रान्ति से मिथ्या परिलक्षित प्रिया दमयन्ती के प्रति कुछ कहा और वेणुवादकों द्वारा पंचम स्वर की मूर्च्छनाओं से आलाप लिये जाने पर जो समाज-सभा में वे मूर्च्छित हुए, वे इसे (इसी कारण उस अलपित और मूर्च्छित हो जाने की वास्तविकता को) छिपाने में समर्थ हुए ।

टिप्पणी—प्रथम चरण में 'शशाकनिह्नोतुमयेन' पाठ भी है, 'अयेन निह्नोतुं शशाक'—ऐसा पदच्छेद करने पर अर्थ हुआ कि नल का अपलपित सभामध्य मूर्छनालाप सुनने से 'अयेन'—भाग्य से बच गया । यह समझा गया कि वे रागालाप से मूर्छित हो गये हैं; अथवा सभ्यगण ही रागालाप के संमोहन में आ गये और वे नल का अपलापित न सुन सके । यह सब दैववश ही हो पाया । षड्जादि सप्तस्वरों के क्रम से आरोह अवरोह मूर्च्छना कहे जाते हैं (शार्ङ्गदेव, संगीतरत्नाकर, स्वराध्याय) । भरतकोष (पंडितमण्डली) के अनुसार 'मूर्च्छ' धातु सु ल्युट् प्रत्यय होकर करणार्थ में मूर्छना शब्द की निष्पत्ति

होती है—जिसका अर्थ है मोह और उच्छ्राय अर्थात् उभरना। भरत (नाट्यशास्त्र २८।३२) के अनुसार' क्रमयुक्त सप्तस्वर' मूर्च्छना है। तुम्बुरु 'श्रुति (नाद के श्रुतिगोचर होना) के मार्दव' को मूर्च्छना मानते हैं। श्रुति का मार्दव—उतरी हुई अवस्था कोहल (भरतकोष) के अनुसार अमृतसरोवर में गायक और श्रोताओं के मन का मज्जन मूर्च्छना है। (यही अर्थ यहाँ अभिप्रेत है) नान्यदेव (भरतकोष) का कथन है कि जिस स्वर से उच्छ्राय आरोह होता है, उसी स्वर से जब समाप्ति भी होती है, तब मूर्च्छना होती है। जैसे षड्ज ग्राम प्रथम मूर्च्छना—'सा रे गम प ध नि सा।' सामान्यतया किन्हीं सात स्वरों का उतार-चढ़ाव मूर्च्छना है। 'प्रकाश'—कार ने मूर्च्छनाओं की संख्या इक्कीस बतायी है। 'नाट्यशास्त्र' (२८।३१) में स्वर-क्रमयुक्त सम्पूर्ण षाडवी, औडुवीकृता और स्वर-साधारणीकृता मूर्च्छनाएँ चौदह बतायी गयी है। 'आलापित' कहते हैं राग के प्रकटीकरण को।

'अयेन' का खण्ड (अये+न) करके 'प्रकाश'कार ने यह भी अर्थ किया है कि नल सभाजनों से तो वास्तविकता छिपा सके 'इ'—काम (इः कामः तस्मै अये) से नहीं। इस पद्य में नल का लज्जात्याग, उन्माद और मूर्च्छा सूचित हैं। छेकानुप्रास अलंकार ॥ ५२ ॥

अवाप सापत्रतां स भूपतिर्जितेन्द्रियाणां धुरि कीर्तितस्थितिः।
अवसरे शम्बरवैरिविक्रमे क्रमेण तत्र स्फुटतामुपेयुषि ॥५३॥

जीवातु—अवापेति। जितेन्द्रियाणां धुर्यग्रे कीर्त्तितस्थितिः स्तुतमर्यादः स भूपतिः तत्र समाजे असंवरे संवरितुमशक्ये संवरणं संवरः शमश्चेत्यपि, न विद्यते संवरो यस्य तस्मिन् शम्बरवैरिविक्रमे मनसिजविकारे क्रमेण स्फुटतामुपेयुषि सति सापत्रपतां सलज्जताम् अवाप। धैर्यशालिनां तद्भङ्गस्त्रपाकर इति भावः ॥ ५३ ॥

अन्वयः–जितेन्द्रियाणां धुरि कीर्त्तितस्थितिः सः भूपतिः तत्र असंवरे शम्बरवैरिविक्रमे क्रमेण स्फुटतामुपेयुषि सापत्रताम् अवाप।

हिन्दी—जितेन्द्रियों में अग्रगण्य (जिसका कथन सर्वप्रथम हो) वह भूमिपति सभा के बीच असंवरणीय (रोका जा सकने वाला) संबरासुर के शत्रु-

काम का विक्रम (विकार) क्रमशः प्रकट हो जाने से लज्जायुक्त हो गया। प्रथम चरण में 'पकार' की आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास है, पूर्वार्द्ध में अन्त्य और उत्तरार्द्ध में 'व, र' और 'क्रम' की आवृत्ति होने से छेकानुप्रास है। इन तीनों अनुप्रासों की निरपेक्षता से स्थिति होने के कारण संसृष्टि ॥ ५३ ॥

अलं नलं रोद्धुममी किलाभवन् गुणा विवेकप्रभवा न चापलम् ।
स्मरः स रत्यामनिरुद्धमेव यत्सृजत्ययं सर्गनिसर्ग ईदृशः ॥ ५४ ॥

जीवातु—ननु विवेकिनः कुत इदं चापल्यम् ? इत्यत आह—अलमिति । युक्तायुक्तविचारो विवेकः तत्प्रभवा अमी गुणा धैर्यादयः नलमिदं स्त्रीलाभरूपं चापलं निरोद्धुम् 'दुह्याची'त्यादिना रुन्धेर्द्विकर्मकत्वम् । अलं समर्था नाभवन् किल खलु । तथाहि–स्मरः कामः जनमिति शेषः । जनं रत्यां रागे अनिरुद्धं-सृजति अनीश्वरमवशं करोति रत्यां रतिदेव्यामनिरुद्धाख्यं कुमारं सृजतीति ध्वनिः । इति यत् अयं सर्गनिसर्गः सृष्टिस्वभाव इदृशः । 'रतिः स्मरप्रियायां च रागेऽपि सुरतेऽपि च' । 'अनिरुद्धः कामपुत्रेऽरुद्धे चानीश्वरेऽपि चे'ति विश्वः । अत्र स्मररागदुर्वारतायाः सर्वसृष्टिसाधारण्येन चापलदुर्वारतासमर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—अमी विवेकप्रभवा गुणाः नलं चापलं रोद्धुम् अलं न अभवन् किल, अयम् ईदृशः सर्गनिसर्गः यत् स्मरः रत्याम् अनिरुद्धम् एव सृजति ।

हिन्दी—ये विवेक से समुत्भूत ('विवेकप्रमुखाः' पाठान्तर में विवेकादि) गुण नल की चपलता का अवरोध–निवारण करने में समर्थ न हो पाये, यह ऐसी संसार की प्रकृति—स्वभाव है कि काम (अवस्थाविशेष होने पर मनुष्य को) प्रणय में स्वच्छंद बना ही देता है ।

टिप्पणी—भावार्थ यह है कि तारुण्य में काम सभी को चंचल बनाकर प्रणय में स्वच्छन्द बना देता है । स्मर, रति, अनिरुद्ध–शब्दों के प्रयोग से कवि पौराणिक कथा का भी संकेत देता है–कामावतार कृष्णतनय प्रद्युम्न अपनी रति-अवितारिणी प्रिया में अनिरुद्ध नामक पुत्र को ही उत्पन्न करता है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ सामान्य से विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास है, विद्याधर ने इसमें उत्प्रेक्षा और हेतु अलङ्कार माने हैं ॥ ५४ ॥

अनङ्गचिह्नं स विना शशाक नो यदासितुं संसदि यत्नवानपि ।
क्षणं तदारामविहारकैतवान्निषेवितुं देशमियेष निर्जनम् ॥५५॥

जीवातु—अथास्य मनोरथसिद्ध्यौपयिकदिव्यहंससंवादनिदानभूतं वनविहारं प्रस्तौति—अनङ्गेति । स नैषधो नलो यत्नवानप्यनङ्गचिह्नं मूर्छाप्रलापादिस्मरविकारं विना संसदि क्षणमप्यासितुं यदा नो शशाक, तदा आरामविहारकैतवादुपवनविहरणव्याजान्निर्जनं देशं निषेवितुम् इयेष देशान्तरं गन्तुमैच्छदित्यर्थः । एतेन चापलाख्ये सञ्चारिणि भ्रमणलक्षणोऽनुभाव उक्तः ॥

अन्वयः—यत्नवान् अपि सः यदा अनङ्गचिह्नं विना संसदि क्षणम् आसितुं नो शशाक तदा आरामविहारकैतवात् निर्जनं देशं निषेवितुम् इयेष ।

हिन्दी—प्रयत्नशील होकर भी वह (नल) जब कामचिह्नों के बिना अप्रकट रहते संसद् में क्षण भर भी बैठने में असमर्थ रहा, तब उद्यान बिहार के बहाने निर्जन स्थान का सेवन करना चाहने लगा ।

टिप्पणी—संचारिभाव चपलता और भ्रम अनुभाव का वर्णन । विद्याधर के अनुसार अपह्नुति अलङ्कार । शब्दालङ्कार वृत्त्यनुप्रास ॥५५॥

अथ श्रिया भर्त्सितमत्स्यकेतनस्समं वयस्यैस्स्वरहस्यवेदिभिः ।
पुरोपकण्ठोपवनं किलेक्षिता दिदेश यानाय निदेशकारिणः ॥५६॥

जीवातु—अथेति । अथानन्तरं श्रिया सौन्दर्येण भर्त्सितमत्स्यकेतनस्तिरस्कृतस्मरः स नलः स्वरहस्यवेदिभिः निजभैमीरागमर्मज्ञैर्वयसा तुल्या वयस्याः स्निग्धाः 'स्निग्धो वयस्यः सवयाः' इत्यमरः । तैः समं सनं पुरोपकण्ठोपवनं पुरसमीपाराममीक्षिता द्रष्टा, तृन्नन्तमेवैतत् अतएव 'न लोके' त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । किलेत्यलीके । निदेशकारिण आज्ञाकरान् यानाय यानमानेतुमित्यर्थः । 'क्रियार्थोपे' त्यादिना चतुर्थी । दिदेश आज्ञापयामास ॥ ५६ ॥

अन्वयः—अथ श्रिया भर्त्सितमत्स्यकेतनः स्वरहस्यवेदिभिः वयस्यैः समं पुरोपकंठं वनम् ईक्षिता यानाय निदेशकारिणः आदिदेश ।

हिन्दी—तदनन्तर अपनी शोभा से मीनध्वज काम को तिरस्कृत करनेवाले नल ने अपने रहस्य के वेत्ता तुल्यवयस्क मित्रों से साथ नगर के निकटवर्त्ती उपवन को देखने की इच्छा बताते हुए वाहन लाने के लिए आज्ञापालक सेवक को आदेश दिया ।

टिप्पणी—'भर्त्सितमत्स्यकेतनः' से यह भी ध्वनित है कि काम नल की शोभा बढ़ाने का काम करनेवाला कर्मचारी हुआ, इस प्रकार नल के कामचिह्न-युक्त अंग भी उसके कामजयी होने का प्रमाण देने लगे। विद्याधर के अनुसार इसमें उपमा और सहोक्ति है ॥ ५६ ॥

अमी ततस्तस्य विभूषितं सितं जवेऽपि मानेऽपि च पौरुषाधिकम् ।
उपाहरन्नश्वमजस्रचञ्चलैः खुराञ्चलैः क्षोदितमन्दुरोदरम् ॥५७॥

जीवातु—अमी इति। तत आज्ञापनानन्तरं अमी निदेशकारिणः तस्य विभूषितमलङ्कृतञ्जवेऽपि वेगेऽपि माने प्रमाणेऽपि च पौरुषात् पुरुषगतिवेगात् पुरुषप्रमाणात् चाधिकं 'ऊर्ध्वविस्तृतदोःपाणिनृमाने पौरुषं त्रिषु' इत्यमरः। 'पुरुषहस्तिभ्यामण् चे' त्यण्प्रत्ययः। अजस्रचञ्चलैश्चटुलस्वभावैः खुराञ्चलैः शफाग्रैः क्षोदितं मन्दुरोदरं चूर्णीकृताश्वशालाभ्यन्तरं 'वाजिशाला तु मन्दुरे' त्यमरः। एतेनोत्तमाश्वलक्षणयुक्तं सितं श्वेतमश्वमुपाहरञ्चानिन्युरित्यर्थः ॥५७॥

अन्वयः—ततः अमी तस्य विभूषितं सितं जवे अपि माने अपि च पौरुषाधिकार अजस्रचंचलैः खुरांचलैः क्षोदितमन्दुरोदरम् अश्वम् उपाहरन् ।

हिन्दी—तत्पश्चात् ये निदेशकारी उस (नल) के सुसज्जित, श्वेतरंग के वेग में भी और परिमाण (ऊँचाई) में भी पुरुष-प्रमाण अथवा बल में अधिक निरन्तर चंचल खुरों की अँगली कोरों से मंदुरा (घुड़साल) के मध्य को विदर्ण करनेवाले अश्व को ले आये ।

टिप्पणी—इस श्लोक से अगले सात श्लोकों तक अश्व का वर्णन है, जिस पर नल सवार हुए—'कुलक' अर्थात् एक ही भाव से सम्बद्ध पञ्चाधिक पद्य । वृत्यनुप्रास और छेकानुप्रास की संसृष्टि ॥ ५७ ॥

अयान्तरेणावटुगामिनाऽध्वना निशीथिनीनाथमहस्सहोदरैः ।
निगालगाद् देवमणेरिवोत्थितैर्विराजितं केसरकेशरश्मिभिः ॥५८॥

जीवातु—अथ सप्तभिः कुलकमाह—अथेत्यादि। अथानयनान्तरं स नलो हयमारुरोहेत्युत्तरेणान्वयः। कथंभूतमान्तरेणाभ्यन्तरेण अवटुगामिना कृकाटिकारुयमस्तकपृष्ठभाजा 'अवटुर्घाटा कृकाटिके'त्यमरः, अध्वना मार्गेण निगालगाद्गलोद्देशात् 'निगालस्तु गलोद्देश' इत्यमरः। देवमणिः आवर्त्तविशेषः,

'निगालजो देवमणिरि'ति लक्षणात् । दिव्यमाणिक्यं च गम्यते, तस्मादुत्थितैरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा । निशीथिनीनाथमहःसहोदरैश्चन्द्रांशुसदृशैरित्युपमा । केसरकेशा एव रश्मय इति रूपकं तैर्विराजितम् ॥ ५८ ॥

अन्वयः—अथ निशीथिनीनाथमहःसहोदरैः निगालगात् देवमणेः आन्तरेण अवटुगामिना अध्वना उत्थितैः इव केसरकेशरश्मिभिः विराजितम् (तं हयम् आरुरोह—इति (६४) चतुष्षष्टितमेन श्लोकेन अन्वयः) ।

हिन्दी—तत्पश्चात् निशानाथ (चंद्र) की किरणों की सहजात (चन्द्र-किरणों-सी शुभ्र, उज्ज्वल), गल प्रदेश में स्थित देवमणि (घड़ी के काँटे की भाँति दाहिनी ओर घूमी—दक्षिणावर्त,—शुभ, घोड़ों की गरदन पर होने वाली बालों की भँवरी) से अवटु अर्थात् गर्दन के पीछले भाग तक के आंतर अर्थात् मध्य से जानेवाले मार्ग से उद्भूत जैसी, कंधे पर फैले बालों की किरणों से शुशोभित घोड़े पर नल आरूढ हो गये ।

टिप्पणी—चौसठवें श्लोक तक अश्व का वर्णन है, जिसमें 'घोड़े पर आरूढ़ हो गये—इस वाक्य तक अन्वय होता है । शुभ्रता के कारण केसर-रश्मियों की तुलना चंद्रकिरणों से की गयी है । 'देवमणि' चंद्र को भी कहा जाता है, इस प्रकार 'देवमणेः उत्थितम्' का सादृश्य भी बैठ जाता जाता है । 'प्रकाशकारने 'विराजितं' का अर्थ किया है 'पक्षिराज गरुड़ के तुल्य वेगवान्'—'वीनां पक्षिणां राजा विराजो गरुडः तद्वदाचरितम् ।' विद्याधर के अनुसार इस पद्य में अनुप्रास-उत्प्रेक्षा-रूपक का संकर है । 'चंद्रकला' कर्त्ता ने उपमा-उत्प्रेक्षा-रूपक की संसृष्टि का निर्देश किया है । मल्लिनाथ ने भी उत्प्रेक्षा-उपमा-रूपक अलङ्कार माने हैं ॥ ५८ ॥

अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैरुपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः ।
रयप्रकर्षाध्ययनार्थमागतैर्जनस्य चेताभिरिवाणिमाङ्कितैः ॥ ५९ ॥

जीवातु—अजस्रेति । अजस्रेण भूमीतटकुट्टेन उद्गतै रेणुभिः रयप्रकर्षस्य वेगातिशयस्याध्ययनार्थमभ्यासायागतैरणिमाङ्कितैरणुत्वपरिमाणविशिष्टैर्जनस्य लोकस्य चेतोभिरिवेत्युत्प्रेक्षा । चरणेषु पादेषु उपास्यमानं सेव्यमानम् । 'अणुपरिमाणं मन' इति तार्किकाः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—रयप्रकर्षाध्ययनार्थम् आगतैः अणिमाङ्कितैः जनस्य चेतोभिः इव अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैः रेणुभिः चरणेषु उपास्यमानम् इव……।

हिन्दी—वेग की प्रकृष्टता—आधिक्य को सीखने आये, परिमाण में अणु के समान लोगों के चित्तों के तुल्य निरन्तर भूमितल के कूटने से उड़ी धूलि से उपासित (युक्त और पूजित) घोड़े पर……।

टिप्पणी—अश्व के वेग और स्वभाव का वर्णन । रेणु की तुलना अध्ययन करने आये मन से करना द्योतित करना है कि अश्व 'मनोजव' ही नहीं था, मन से कहीं अधिक वेगवान् था, उसी कारण धूलि-कणरूप में जन-मन अश्व के चरणों पर संलग्न ही नहीं थे, शिष्यों के सदृश चरणोपासना कर रहे थे। मल्लिनाथ ने इस श्लोक में उत्प्रेक्षा का ही उल्लेख किया है, विद्याधर ने उत्प्रेक्षा और जाति अलङ्कार माने हैं । चंद्रकलाकार ने समासोक्ति-उत्प्रेक्षा का 'एकाश्रयानुप्रवेशसंकर' माना है ॥ ५९ ॥

चलाचलप्रोथतया महीभृते स्ववेगदर्पानिव वक्तुमुत्सुकम् ।
अलं गिरा वेद किलायमाशयं स्वयं हयस्येति च मौनमास्थितम् ॥६०॥

जीवातु—चलाचलेति । पुनः चलाचलप्रोथतया स्वभावतः स्फुरमाणघोणतया 'चरिचलिपदीनामुपसंख्याना'च्चलेर्द्विर्वचनं दीर्घश्च । 'घोणा तु प्रोथमस्त्रियामि'त्यमरः । महीभृते नलाय स्ववेगदर्पान् वेगातिरेकान् वक्तुमुत्सुकमुद्युक्तमिवेत्युत्प्रेक्षा । अथावचने हेतुमुत्प्रेक्षते—अलमिति । गिरा उक्त्या अलं, कुतः, अयं नलः स्वयं हयस्याश्वस्य आशयाभिप्रायं वेद वेत्ति किल । 'विदो लटो वे'ति णलादेशः । इति हेतोरिवेत्यनुषङ्गः मौनं तूष्णीम्भावञ्चास्थितं प्राप्तम् । अश्वहृदयवेदी नल इति प्रसिद्धिः ॥ ६० ॥

अन्वयः—चलाचलप्रोथतया स्ववेगदर्पान् महीभृते वक्तुम् उत्सुकम् इव, अयं स्वयं हयस्य आशयं वेद किल—इति गिरा अलम् आस्थितम्…।

हिन्दी—अत्यन्त चंचल नासापुट ओष्ठाग्रभाग से युक्त होने के कारण अपने वेगाभिमान के विषय में मानो राजा से निवेदन करने को उत्सुक परन्तु यह (राजा) स्वयं घोटक के आशय को समझता है—सो वाणी को विश्राम दिये—मौन घोड़े पर…।

टिप्पणी – 'चलाचलप्रोथता' अश्व का स्वभाव है, इसी आधार पर यह उत्प्रेक्षा है। राजा हयाशय को समझता है—यह उक्ति नल के अश्वविद्या-विशारद होने को संकेतित करती है। विद्याधर ने इस श्लोक में सापह्नवा-उत्प्रेक्षा बतायी है। चन्द्रकलाकार ने पूर्वार्द्ध में वाच्या और उत्तरार्द्ध में प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा का निर्देश कर दोनों की निरपेक्षस्थिति के आधार पर संसृष्टि अलङ्कार माना है ॥ ६० ॥

महारथस्याध्वनि चक्रवर्तिनः परानपेक्षोद्वहनाद्यशस्सितम् ।
रदावदातांशुमिषादनीदृशां हसन्तमन्तर्बलमर्वतां रवेः ॥६१॥

जीवातु—महारथस्येति। महान् रथो यस्य तस्य महारथस्य। 'आत्मानं सारथिञ्चाश्वं रक्षन् युद्धयेत यो नरः। स महारथसंज्ञः स्यादित्याहुर्नीतिकोविदाः।' इत्युक्तलक्षणस्य रथिकविशेषस्येत्यर्थः। अत्यत्र महारथो नलः तस्य महारथस्य चक्रं राष्ट्रं वर्त्तयतीति चक्रवर्त्ती सार्वभौमः तस्य नलस्य, हरिश्चन्द्रो नलो राजा पुरुः कुत्सः पुरूरवाः। सागरः कार्त्तवीर्य्यश्च षडेते चक्रवर्त्तिनः॥' इत्यागमात् अन्यत्र चक्रेणैकेन वर्त्तनशीलस्येत्यर्थः। अध्वनि मार्गे नापेक्षत इत्यनपेक्षं पचाद्यच्, परेषामनपेक्षं तस्मादुद्वहनादसहायोद्वहनाद्धेतोर्यशः सितं कीर्त्तिविशदम् अत एवानीदृशामीदृशयशोरहितानाम्। 'सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमि'ति सप्तानां सम्भूयोद्वहनश्रवणादिति भावः। रवेरर्वतामश्वानामन्तर्बलमन्तःसारं रदानां दन्तानां ये अवदाताः सिताः अंशवः तेषां मिषाद्धसन्तं हसन्तमिव स्थितमित्यर्थः। अत्र मिषशब्देनांशूनामसत्यत्वमापाद्य हासत्वोत्प्रेक्षणात्सापह्नवोत्प्रक्षेयं गम्या च व्यञ्जकाप्रयोगात्। 'रदना दशना दन्ता रदा' इत्यमरः॥ ६१ ॥

अन्वयः—महारथस्य चक्रवर्त्तिनः अध्वनि परानपेक्षोद्वहनात् यशःसितं रदावदातांशुमिषात् अनीदृशां रवेः अर्वतां बलम् अन्तः हसन्तम्…।

हिन्दी—महान् योद्धा, चक्रवर्ती राजा नल को मार्ग में अन्य अश्वों के अपेक्षा न करके उद्वहन (चढ़ाने) के कारण प्राप्त यश से मानो शुभ्र, श्वेत दाँतों की किरणों के व्याज से अन्य की अपेक्षा विना—अकेले ढोने में असमर्थ सूर्य के घोड़े के बल पर मन-ही-मन हँसते…।

टिप्पणी—सूर्य के सात घोड़े मिलकर सूर्य का उद्वहन करते हैं और राजा नल का घोड़ा अकेला सूर्य से भी अधिक प्रतापी नल को चढ़ा ले जाता

है इस प्रकार यह उन सातों से श्रेष्ठ है और उन पर हँसने का अधिकारी है। घोड़ा सफेद रंग का है, जो मानो उसे प्राप्त यश की शुभ्रता है, सूर्याश्वों का रंग नीला कहा जाता है, यह मानो उनकी अकीर्ति का द्योतन करता है। महारथ का अर्थ महान् रथ वाला भी है। यों महारथ उसे कहते हैं, जो दश-सहस्र धनुर्धारियों से अकेला लड़ सके और शस्त्र-शास्त्र प्रवीण हो। जो पुरुष अपनी सारथि और रथ की रक्षा करता हुआ युद्ध कर सके, वह भी महारथ कहा जाता है। विद्याधर के अनुसार इस पद्य में अपह्नुति व्यतिरेक-श्लेष का संकर है मल्लिनाथ सापह्नवा उत्प्रेक्षा मानते हैं। भविष्योत्तरपुराण-आदित्य-स्तोत्र के अनुसार सूर्य के सात घोड़े हैं—(१) जय, (२) अजय, (३) विजय, (४) जितप्राण (५) जितश्रम, (६) मनोजव और (७) जित-क्रोध—'जयोऽजयश्च विजयो जितप्राणो जितश्रमः। मनोजवो जितक्रोधो वाजिनः सप्तकीर्त्तिताः॥ ६१ ॥

सितत्विषश्चञ्चलतामुपेयुषो मिषेण पुच्छस्य च केसरस्य च।
स्फुटाञ्चलच्चामरयुग्मनिह्नुवानं निजवाजिराजताम् ॥६२॥

जीवातु—सितेति। पुनः कथम्भूतम्? सितत्विषः विशदप्रभस्य चञ्चलतामुपेयुषा चञ्चलस्येत्यर्थः। पुच्छस्य लाङ्गूलस्य केसरस्य ग्रीवास्थबालस्य च मिषेण च्छलेन चलतश्चामरयुग्मस्य चिह्नकैः लक्षणैः स्फुटां प्रसिद्धां निजां वाजिराजतां अश्वेश्वरत्वमनिह्नुवानं प्रकाशयन्तमिव। अश्वामिनः कथञ्चा-मरयुग्ममिति भावः पूर्ववदलङ्कारः॥ ६२ ॥

अन्वयः—सितत्विषः चञ्चलताम् उपेयुषः पुच्छस्य केसरस्य च मिषेण चलच्चामरयुग्मचिह्नकैः निजवाजिराजतां स्फुटम् अनिह्नुवानम्…।

हिन्दी—श्वेत दीप्तियुता, चञ्चलता को प्राप्त (चञ्चल) पूँछ और केसर (अयाल, गरदन के बाल) के व्याज से डोलते चामर-युगल-(राजोपयुक्त)-चिह्नों द्वारा जैसे अपना अश्वराज होना स्पष्टतया प्रकट करते…।

टिप्पणी—पुच्छ और केसर दो राजाओं के चिह्न हैं—छत्र और चामर राजा धारण करते हैं—इन दो चिह्नों के लिए 'चिह्नैः' बहुवचन 'चलनक्रिया-पेक्षया' है—यह 'प्रकाश'कार की मान्यता है। विद्याधर और मल्लिनाथ इस

श्लोक में सापह्नवा उत्प्रेक्षा मानते हैं, चन्द्रकलाकार ने इसे अपह्नुति-उत्प्रेक्षा की संसृष्टि कहा है ॥ ६२ ॥

अपि द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गया ।
उपेयिवांसं प्रतिमल्लतां रयस्मये जितस्य प्रसभं गरुत्मतः ॥६३॥

जीवातु—अपीति । पुनः कथम्भूतं स्थितम् ? रयस्मये वेगप्रयुक्ताहङ्कारे प्रसभं प्रसह्य जितस्य प्रागेव विजितस्य गरुत्मतः मुखानुषक्ता वक्त्रलग्ना आयता दीर्घा वल्गू रम्या च या वल्गा मुखरज्जुः तया तन्मिषेणेत्यर्थः । द्विजिह्वानामहीनामभ्यवहारे आहारे यत् पौरुषे सर्पभक्षणपुरुषकारेऽपि प्रतिमल्लतां प्रतिद्वन्द्वितामुपेयिवांसं प्राप्तम् । तथा च गम्योत्प्रेक्षेयम् । 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्चे'ति क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः ॥ ६३ ॥

अन्वयः—रयस्मये प्रसभं जितस्य गरुत्मतः द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे अपि मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गया प्रतिमल्लताम् उयेयिवांसम्···।

हिन्दी—वेग के दर्प में बलात् विजित पक्षिराज गरुड के द्विजिह्वसर्पों के भक्षणरूप पुरुषार्थ में भी मुँह में लम्बी और शोभामयी लगाम लगी होने से (गरुड की) प्रतिभटता को प्राप्त होते···।

टिप्पणी—नल की सवारी का घोड़ा गरुड़ क्या, मन से भी अधिक वेगवान् था; गति में तो उसने पक्षिराज को जीता ही था, इस पद्य में 'सर्पभक्षण-पौरुष' में उसे जीता द्योतित किया गया । मुखलग्ना वल्गा ही भक्षण किये जाते सर्प की प्रतिमान है । विद्याधर ने यहाँ पूर्ववत् सापह्नवा-उत्प्रेक्षा ही मानी है, मल्लिनाथ गम्या उत्प्रेक्षा और चन्द्रकलाकार ने अतिशयोक्ति-उपमा की संसृष्टि ॥ ६३ ॥

स सिन्धुजं शीतमहस्सहोदरं हरन्तमुच्चैःश्रवसः श्रियं हयम् ।
जिताखिलक्ष्माभृदनल्पलोचनस्तमारुरोह क्षितिपाकशासनः ॥६४॥

जीवातु—स इति । जिता अखिलाः क्ष्माभृतो भूपा भूधराश्च येन सः अनल्पलोचनो विशालाक्षः अन्यत्र बहुनेत्रः सहस्राक्ष इति यावत् । क्षितीपाकशासनः क्षितीन्द्रो नलः देवेन्द्रश्च सिन्धुजं सिन्धुदेशोद्भवश्च समुद्रोद्भवश्च 'देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियामि'त्यमरः । शीतमहःसहोदरं चन्द्र-

सवर्णमित्यर्थः, अन्यत्र चन्द्रभ्रातरमेकयोनित्वादिति भावः । उच्चैःश्रवस इन्द्राश्वस्य श्रियं हरन्तं तत्स्वरूपमित्यर्थः, तं हयमारुरोह । अत्रोच्चैःश्रवसः श्रियं हरन्तमिवेत्युपमा । सा च श्लिष्टविशेषणात् सङ्कीर्णेयं क्षितिपाकशासन इत्यतिशयोक्तिः ॥ ६४ ॥

अन्वयः—जिताखिलक्ष्माभृत् अनल्पलोचनः क्षितिपाकशासनः सः सिन्धुजं शीतमहः सहोदरम् उच्चैःश्रवसः श्रियं हरन्तं तं हयम् आरुरोह ।

हिन्दी—समस्त क्षमा (पृथ्वी) को धारण करनेवाले पर्वतों के जयी-सहस्रनेत्रधारी (इन्द्र के समान) समस्त राजाओं का विजेता, विशालनेत्रधारी पृथ्वीमंडल पर पाकशास्त्र का प्रणेता होने से क्षितिपाकशासन अथात् धरती का इन्द्र वह राजा नल सिन्धु अर्थात् समुद्र से उत्पन्न और (अतएव) चन्द्र के सहोदर उच्चैःश्रवा (इन्द्राश्वा) की तुलना करते (अथवा उससे भी श्रेष्ठ) सिंधु देश के चन्द्रमा के समान शुभ्र अश्व पर आरूढ़ हुआ ।

टिप्पणी—समान धर्मता के आधार पर नल को क्षितिपाकशासन अर्थात् महीमहेन्द्र और उसकी सवारी के अश्व को उच्चैःश्रवा की समता में रखा गया । 'सिंदुजम्' शब्द अश्व के उत्तम कुल, बल और महाकायत्व का द्योतक है । सत्तावनवें श्लोक से आरब्ध 'कुलक' समाप्त । विद्याधर के अनुसार यहाँ उपमा, परिकर और श्लेष अलङ्कार है, मल्लिनाथ ने श्लिष्टविशेषण होने के कारण संकीर्णा उपमा और अतिशयोक्ति का निर्देश किया है, चन्द्रकलाकार यहाँ श्लेषा-उपमा निदर्शना की संसृष्टि मानते हैं ॥ ६४ ॥

निजा मयूखा इव तिग्मदीधितिं स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजम् ।
तमश्ववारा जवनाश्वयायिनं प्रकाशरूपा मनुजेशमन्वयुः ॥६५॥

जीवातु—निजा इति । निज आत्मीयाः प्रकाशरूपा उज्ज्वलाकारः भास्वररूपाश्च अश्वान्वारयन्तीत्यश्ववाराः अश्वारोहाः स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजं पद्मरेखाङ्कितहस्तम्, अन्यत्र पद्महस्तं जवनो जवशीलः 'जुचङ्क्रम्ये'त्यादिना युच् । तेनाश्वेन अन्यत्र तैरश्वैर्यातीति यथोक्तं मनुजा मनोर्जाता मनुजा नरास्तेषामीशं राजानञ्च तं नलं तिग्मदीधितीं सूर्य्यं मयूखा इव अन्वयुः अन्वगच्छन् । तातेर्लङि झेर्जुसादेशः ॥ ६५ ॥

अन्वयः—प्रकाशरूपाः निजाः मयूखाः इव अश्ववाराः स्फुटारविन्दाङ्कित-पाणिपङ्कजं जवनाश्वयायिनं तीक्ष्णदीधितम् इव तं मनुजेशम् अन्वयुः ।

हिन्दी—प्रकाश-उजियाला ही जिनका रूप-आकार है, ऐसी स्वर्णीय किरणों के तुल्य सुन्दर शरीरधारी स्वकीय राजा के निजी अश्ववार—घोड़ों के रखवारे करकमल में खिली कमल धारते, वेगवान् अश्वों से यात्रा करते तीव्र किरणमाली सूर्य के समान जिसके करकमल में खिले कमल का चिह्न है और वेगवान् अश्वपर सवार है, उस नरनाथ नल के पीछे-पीछे चले ।

टिप्पणी—इस पद्य में नल की सूर्य से और उसके पीछे चलते अश्ववारों की सूर्यानुयायिनी किरणों से तुलना की गयी है । समुचित शब्दों के प्रयोग द्वारा इस साम्य की संरचना की गयी है, इसी आधार पर विद्याधर ने इस पद्य में उपमा, रूपक और श्लेष अलङ्कार माने हैं, चन्द्रकलाकार ने इसे पूर्णोपमा कहा है ॥ ६५ ॥

चलन्नलङ्कृत्य महारयं हयं स वाहवाहोचितवेषपेशलः ।
प्रमोदनिष्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिर्व्यलोकि लोकैर्नगरालयैर्नलः ॥६६॥

जीवातु—चलन्निति । वाहवाहोचितवेषपेशलः अश्ववाहोचितनेपथ्यचारुः 'चारौ दक्षे च पेशल' इत्यमरः । स नलो महारथमतिजवं हयमलङ्कृत्य चलन् स्वयं हयस्य भूषणीभूय गच्छन्नित्यर्थः । प्रमोदेन निष्पन्दतराणि अत्यन्त-निश्चलानि अक्षिपक्ष्माणि येषान्तैरनिमेषदृष्टिभिरित्यर्थः । नगरालयैर्नगर-निवासिभिरित्यर्थः । लोकैर्जनैर्व्यलोकि विस्मयहर्षाभ्यां विलोकित इत्यर्थः । वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—प्रमोदनिःस्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिः नगरालयैः लोकैः महारयं हयम् अलङ्कृत्य चलन् वाहवाहोचितवेषपेशलः सः नलः व्यलोकि ।

हिन्दी—प्रहर्ष के कारण अपलकलोचन (पलक झपाये विना) नगरवासी प्रजाजनों ने महावेगवान् अश्व को सुशोभित कर जाते हुए अश्वारोहियों के योग्य वेष में सुन्दर लगते उस नल को देखा ।

टिप्पणी—नल के अश्वारूढ होकर जाते समय उसकी तेजस्विता पर मुग्ध नगरवासियों का सानन्द अपलक देखना वर्णित कर कवि ने राजा के प्रति पुरवासी प्रजाजनों का आदर व्यक्त किया है विद्याधर के अनुसार यहाँ छेकानुप्रास है और मल्लिनाथ के अनुसार वृत्त्यनुप्रास ॥ ६६ ॥

क्षणादथैष क्षणदापतिप्रभः प्रभञ्जनाध्येयजवेन वाजिना ।
सहैव ताभिर्जनदृष्टिभिर्बहिः पुरोऽभूत् पुरुहूतपौरुषः ।। ६७।।

जीवातु—क्षणादिति । अथानन्तरं क्षणदापतिप्रभश्चन्द्रतुल्यस्तथा पुरुहूतपौरुषः इन्द्रस्येव पौरुषं कर्म तेजो वा यस्य तादृश एष नलः । प्रभञ्जनेन वायुना अध्येयः शिक्षणीयः जवो वेगो यस्य तथाविधेन वाजिना अश्वेन क्षणादिति-क्षणात्ताभिः पूर्वोक्ताभिः जनानां दृष्टिवृष्टिभिः दृक्पातैः सह जनैर्दृश्यमान एवेत्यर्थः । बहिः पुरः पुराद्बहिः स्थितोऽभूदिति बहिर्योगे पञ्चमी । पूर्वं पुरे दृष्टः क्षणादेव पुराद्बहिर्दृष्ट इति वेगातिशयोक्तिः ।। ६७ ।।

अन्वयः—अथ क्षणदापतिप्रभः पुरुहूतपौरुषः एषः प्रभंजनाध्येयजवेन वाजिना क्षणात् ताभिः जनदृष्टिवृष्टिभिः सह एव पुरः बहिः अभूत् ।।

हिन्दी—तदनन्तर निशानाथ चन्द्रमा की कांतिवाला, इन्द्रसम सामर्थ्यवान वह नल आँधी भी जिससे तीव्रगामिता का अध्ययन करती थी, ऐसे तीव्रगामी अश्व पर आरुढ उन (अपलक निहारती) पुरजनों के दृष्टिपातों के साथ ही नगर से बाहर हो गया ।

टिप्पणी—राजा के शीतल सौन्दर्य और सामर्थ्य और प्रजाजन का उसके प्रति अनुराग यहाँ द्योतित है, दृष्टिपातों का राजा के साथ ही बाहर चला जाना, जिसे व्यक्त करता है । विद्याधर ने यहाँ छेकानुप्रास उपमा-सहोक्ति के संकर का निर्देश किया है, मल्लिनाथ ने वेगातिशयोक्ति का, चन्द्रकलाकार उपमा-अतिशयोक्ति की संसृष्टि मानते हैं ।। ६७ ।।

ततः प्रतीच्छ प्रहरेति भाषिणी परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे ।
मृषा मृधं सादिबले कुतूहलान्नलस्य नासीरगते वितेनतुः ।।६८।।

जीवातु—तत इति । ततः पुराद्बहिर्गमनानन्तरं प्रतीच्छ गृहाण प्रहर जहीति भाषिणी भाषमाणे इत्यर्थः । परस्परमन्योपरि उल्लासितानि प्रसारितानि शल्यपल्लवानि तोमराग्राणि याभ्यां ते तथोक्ते 'शल्यं तोमरमि'त्यमरः । नलस्य नासीरगते सेनाग्रवर्त्तिनी 'सेनामुखन्तु नासीरमि'त्यमरः । सादिबले तुरङ्गसैन्ये कुतूहलात् मृषा मृधं मिथ्यायुद्धं युद्धनाटकमित्यर्थः । वितेनतुश्चक्रतुः 'मृधमायो धनं संख्यमि'त्यमरः ।। ६८ ।।

अन्वयः—ततः 'प्रतीच्छ, प्रहर'—इति भाषिणी परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे नलस्य नासीरमते सादिबले कुतूहलात् मृषा मृधं वितेनतुः।

हिन्दी—पुर से बाहर निकलने के पश्चात् 'मेरा शस्त्र सँभालो, प्रहार करो, ऐसा कहती अन्योन्य पर पल्लव तुल्य शस्त्रों को उठाती (किन्तु आघात न करती) नल की अग्रभाग में चलती दो अश्व सेनाओं ने केवल कुतूहल के लिए झूठे युद्ध का प्रदर्शन किया ॥ ६८ ॥

टिप्पणी—सैनिकों के उत्साह का वर्णन। अनुप्रास और उपमा।

प्रयातुमस्माकमियं कियत्पदं धरा तदम्भोधिरपि स्थलायताम्।
इतीव वाहैर्निजवेगदर्पितैः पयोधिरोधक्षममुत्थितं रजः ॥६९॥

जीवातु—प्रयातुमिति। इयं धरा भूः समुद्रातिरिक्तेति भावः। अस्माकं प्रयातुं प्रस्थातुं कियत् पदं गन्तव्यं स्थानं किञ्चित्पर्याप्तमित्यर्थः। तस्मादम्भोधिरपि स्थलायतां स्थलवदाचरतु, भूरेव भवत्वित्यर्थः। 'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्चे'ति क्यङ्प्रत्ययः। इतीवेति। इतीव इति मत्वेत्यर्थः। इति नैव गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः, अन्यथा पौनरुक्त्यात्। क्रियानिमित्तोत्प्रेक्षा। निजवेगेन दर्पितैः सञ्जातदर्पैः वाहैर्नलाश्वैः पयोधिरोधक्षमं समुद्रच्छादनपर्याप्तं रज उत्थितमुत्थापितं तथा सान्द्रमिति भावः ॥ ६९ ॥

अन्वयः—इयं धरा अस्माकं प्रयातुं कियत् पदम्, तत् पयोधिः अपि स्थलायताम्—इति इव निजवेगदर्पितैः वाहैः पयोधिरोधक्षमं रजः उत्थितम्।

हिन्दी—'यह धरती हमारे संचरण के लिए कितने पग है? (छोटी है); सो उस पयोधि समुद्र को भी स्थल बना दिया जाय'—मानो यही सोच कर अपनी गति के दर्प में चूर्ण घोड़ों ने समुद्र को भी पाटने में पर्याप्त (प्रभूत) धूल उड़ा दी।

टिप्पणी—बहुत से घोड़ों के एक साथ सरपट दौड़ने से उठी धूल और घोड़ों के उत्साह का चित्रण। क्रिया निमित्ता उत्प्रेक्षा, अनुप्रास ॥ ६९ ॥

हरेर्यदक्रामि पदैककेन खं पदैश्चतुर्भिः क्रमणेऽपि यस्य नः।
त्रपा हरीणामिति नम्रितराननैर्न्यवर्ति तैरर्धनभःकृतक्रमैः ॥७०॥

जीवातु—हरेरिति। यत् खमाकाशं हरेर्विष्णोरेककेन एकाकिना 'एकादाकिनिच्चासहाये' इति चकारात् कन्प्रत्ययः पदा पादेन 'पादः पदङ्घ्रिश्चर-

णोऽस्त्रियामि'त्यमरः । 'पद्दन्नि'त्यादिना पदादेशः । अक्रामि अलङ्घि, तस्य खस्य चतुर्भिः पदैः क्रमणे लङ्घने कृते सत्यपीति शेषः । हरीणां वाजिनां विष्णूनां चेति गम्यते, 'यमानिलेन्द्राचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु । शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिष्वि'त्यमरः । उभयत्रापि नोऽस्माकं त्रपेति वेत्यर्थः । गम्यार्थत्वादिवशब्दस्याप्रयोगः । अत एव गम्योत्प्रेक्षा । नम्रितानि निम्नीकृतानि आननानि यैस्तैः हरिभिः अर्द्धे नभसि कृतक्रमैः कृतलङ्घनैः सद्भिर्न्यवर्त्ति निवर्त्तितम्, भावे लुङ् । यदन्येन पुंसा लघूपायेन साधितं तस्य गुरूपायेन करणं समानस्य लाघवाय भवेदिति भावः । एतेन प्लुतगतिरुक्ता, तत्र गगनलङ्घनस्य सम्भवादिति भावः ॥ ७० ॥

अन्वयः—यत् खं हरेः एककेन पदा अक्रामि तस्य चतुर्भिः पदैः अपि क्रमणे नः हरिणां त्रपा—इति नम्रिताननैः अर्द्धनभःकृतक्रमैः तैः न्यवर्ति ।

हिन्दी—जिस आकाश का हरि (वामनावतार विष्णु) ने एक चरण से ही क्रमण—लंघन कर लिया था, उसका लंघन चार पैरों से भी करने में हम बहुत-से हरियों (घोड़ों) के लिये लज्जा की बात है—इसी से नीचे को मुँह करके आधे गगन के प्रति पदक्षेप करने वे घोड़े मानों लौट आये ।

टिप्पणी—'हरि' शब्द के चमत्कारी प्रयोग के आधार पर सुंदर कल्पना। मल्लिनाथ के अनुसार गम्योत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार प्रतीयमानोत्प्रेक्षा और श्लेष ॥ ७० ॥

चमूचरास्तस्य नृपस्य सादिनो जिनोक्तिषु श्राद्धतयेव सैन्धवाः ।
विहारदेशं तमवाप्य मण्डलीमकारयन् भूरितुरङ्गमानपि ॥७१॥

जीवातु—चमूचरा इति । तस्य नृपस्य चमूचराः सेनाचराः चोष्टच्, सिन्धुदेशसेवाः सैन्धवाः अश्वाः, 'हयसैन्धवसप्तय' इत्यमरः । 'तत्र भव' इत्यण्प्रत्ययः तत्सम्बंधिनोऽपि सैन्धवा 'तस्येदमि'त्यणा ते सादिनः अश्वसादिन इत्यर्थः, जिनोक्तिषु श्राद्धतयेव जैनदर्शनश्रद्धालुतयेवेत्युत्प्रेक्षा, 'श्रद्धार्चावृत्तिभ्योऽणि'ति मत्वर्थो योऽण्प्रत्ययः, तं विहारदेशं सञ्चारभूमिं सुगतालयञ्च 'विहारो भ्रमणे स्कन्धे लीलायां सुगतालय' इति विश्वः । अवाप्य तुरङ्गमान् भूरि बहुलं माण्डलीमपि मण्डलाकारं च अकारयन् अपिशब्दोऽवाप्तिसमुच्चयार्थः । अन्यत्र मण्डली

मण्डलासनमित्यर्थः । 'बौद्धाः स्वकर्मानुष्ठाने प्रायेण मण्डलानि कुर्वन्ति' इति प्रसिद्धिः ॥ ७१ ॥

अन्वयः—तस्य नृपस्य चमूचराः सैन्धवाः सादिनः जिनोक्तिषु श्राद्धतया इव तं विहारदेशम् अवाप्य भूरि तुरङ्गमान् अपि मण्डलीम् अकारयन् ।

हिन्दी—उस राजा की सेना में चलनेवाले घुड़सवारों ने मानों 'जिन' (जैन धर्म के उपास्य) के वचनों में श्रद्धा रखने के कारण ही उस विहार-स्थल को प्राप्त कर अनेक अश्वों को भी जिस प्रकार जैन साधक मंडली बनाकर अवस्थित होते हैं, उसी प्रकार मंडल बनाकर चलाया (मंडलाकार घुमाया) ।

टिप्पणी—अश्व संचारण के कौशल का वर्णन । जैन सम्प्रदायी स्वकर्म-अनुष्ठान में मंडल बनाया करते हैं, ऐसी मान्यता है । उत्प्रेक्षा ॥ ७१ ॥

द्विषद्भिरेवास्य विलङ्घिता दिशो यशोभिरेवाब्धिरकारि गोष्पदम् ।
इतीव धारामवधार्य्य मण्डलीक्रियाश्रियाऽमण्डि तुरङ्गमैः स्थली ॥७२॥

जीवातु—द्विषद्भिरिति । अस्य नलस्य द्विषद्भिरेव पलायमानैरिति भावः दिशो विलङ्घिताः । अस्य यशोभिरेवाब्धिः गोः पदं गोष्पदमकारि गोष्पदमात्रः कृतः, 'गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणार्थे' इति सुडागमषत्वयोर्निपातः । इतीव इति मत्वेवेत्युत्प्रेक्षा, अन्यसाधारणं कर्म नोत्कर्षाय भवेदिति भावः । तुरङ्गमैर्धारा-ङ्गति जातावेकवचनं पञ्चापि धारा इत्यर्थः । 'आस्कन्दितं धौरितकं रेचितं वल्गितं प्लुतम् । गतयोऽमूः पञ्च धारा' इत्यमरः । अवधीर्य्य अनादृत्य मण्डली क्रियाश्रिया मण्डलीकरणलक्ष्म्या मण्डलगत्यैवेत्यर्थः । स्थली अकृत्रिमा भूः 'जानपदे' त्यादिना अकृत्रिमार्थे ङीप्, अमण्डि अभूषि । मडि भूषायामिति धातोर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ्, इदित्त्वान्नुमागमः ॥ ७२ ॥

अन्वयः—अस्य द्विषद्भिः एव दिशः विलङ्घिताः अस्य यशोभिः एव अब्धिः गोष्पदम् अकारि—इति इव तुरङ्गमैः धाराम् अवधीर्य मण्डलीक्रियाश्रया स्थली अमण्डि ।

हिन्दी—इस (नल) के शत्रुओं ने ही (प्राणरक्षार्थ, भय से दिशाओं का लंघन कर दिया है, इसके यशः समूह ने ही समुद्र को गोखुर-प्रमाण का गर्त

बना दिया है—मानो यह विचार कर ही अश्वों ने 'धारा' (एक प्रकार घोड़ों के वेग से दौड़ने का प्रकार)—गति को छोड़कर मंडल करके दौड़ने की क्रिया (चक्कर काटना) की शोभा से धरती को सुशोभित किया।

टिप्पणी—नल के शत्रुओं का भय से पलायन और समुद्रपर्यन्त प्रसरित उसकी कीर्ति का संकेत है। आस्कंदित (सरपट) चाल, धौरितक (दुलकी), रेचित (सीधे दौड़ना), वल्गित (नाचते हुए-जैसे चलना) और प्लुत (उछलकर दौड़ना)—ये पाँच प्रकार की घोड़ों की चाल 'धारा' कही जाती हैं। जिन विहारस्थली में घोड़ों को इन प्रकारों से न चलाकर मण्डलाकार चलाया। उत्प्रेक्षा-अतिशयोक्ति का संकर अलंकार ॥ ७२ ॥

अचीकरच्चारु हयेन या भ्रमीर्निजातपत्रस्य तलस्थले नलः।
मरुत् किमद्यापि न तासु शिक्षते वितत्य वात्यामयचक्रचंक्रमान् ॥७३॥

जीवातु—अचीकरदिति। नलश्चारु यथा भवति तथा हयेन प्रयोज्येन कर्त्रा निजातपत्रस्य तलस्थले अधःप्रदेशे 'अधः स्वरूपयोरस्त्री तलम्' इत्यमरः। या भ्रमीर्मण्डलगतीरचीकरत् कारितवान्, करोतेर्णौ चङ्। तासु भ्रमीषु विषये मरुत् अद्यापि वातानां समूहो वात्या, 'वातादिभ्यो यः'। अत्र तद्भ्रमयो लक्ष्यन्ते, तन्मयान् तद्रूपान् चक्रचंक्रमान् मण्डलगतीर्वितत्य विस्तीर्य्य न शिक्षते किन्नाभ्यस्यते किमित्युत्प्रेक्षा। शिक्षितश्चेत् तथा सोऽपि गतिं कुर्यादित्यर्थः। वायोरप्यसम्भाविता गतीरचीकरदिति भावः ॥ ७३ ॥

अन्वयः—नलः निजातपत्रस्य तलस्थले हयेन या चारु भ्रमीः अचीकरत् तासु अद्य अपि मरुत् वात्यामयचक्रचङ्क्रमान् वितत्य किं न शिक्षते (अपितु शिक्षत्येव)।

हिन्दी—नल ने अपने छत्र के नीचे घोड़े द्वारा जो मनोहर भ्रमण (चक्कर) कराये, आज भी क्या वायु वात्याचक्र (बवंडर) रूप में चक्कर खाते हुए उनके विषय में शिक्षा प्राप्त नहीं करता ? (अपितु शिक्षा प्राप्त करता ही है, पर अभी तक सीख नहीं पाया)।

टिप्पणी—नल का विशिष्ट-अश्वचालन-कौशल और अश्व की वायु से भी अधिक तीव्रगामिता और सत्त्व द्योतित। उत्प्रेक्षा ॥ ७३ ॥

विवेश गत्वा स विलासकाननं ततः क्षणात् क्षोणिपतिर्धृतीच्छया ।
प्रवालरागच्छुरितं सुषुप्सया हरिर्घनच्छायमिवाम्भसां निधिम् ॥७४॥

जीवातु—विवेशेति । ततः स क्षोणीपतिः क्षणाद्गत्वा धृतीच्छया सन्तोषकाङ्क्षया प्रवालाः पल्लवाः अन्यत्र प्रवालाः विद्रुमाः 'प्रवालो वल्लकीदण्डे विद्रुमे नवपल्लव' इत्यमरः । तेषां रागेणारुण्येन छुरितं रूषितं घनच्छायं सान्द्रानातपमन्यत्र मेघकान्ति 'छाया त्वनातपे कान्तावि'ति विश्वः । विलासकाननं क्रीडावनम् अन्यत्र बवयोरभेदात् बिलासकानां बिलेशयानां सर्पाणाम् आननं प्राणनं सुषुप्सया स्वप्तुमिच्छया हरिर्विष्णुरम्भसांनिधिमब्धिनमिव विवेश ॥ ७४ ॥

अन्वयः—ततः सः क्षोणीपतिः गत्वा हरिः इव सुषुप्सया प्रवालरागच्छुरितं घनच्छायम् विलासकानम् अम्भसां निधिः इव (विलासकाननं) धृतीच्छया क्षणात् विवेश ।

हिन्दी—तत्पश्चात् वह पृथ्वीपति जाकर मूँगों की लाली से खचित मेघ की छाया के समान छायावाले (मेघक्रांति) बिलों के निवासी सर्पों के आवास समुद्र में जैसे हरि (विष्णु) शयन की इच्छा से प्रविष्ट हो जाते हैं, अथवा जैसे मूँगे—जैसे लाल किसलयों से सुंदर घनीछायावाले, जलस्थान से युक्त सुंदर वन में सुख से सोने की इच्छा से सिंह घुस जाता है, उसी प्रकार नवपल्लवों की लालिमा से विच्छुरित, घनीछायावाले क्रीडावन में मन बहलाने के लिए क्षण में प्रविष्ट हो गया ।

टिप्पणी—राजा नल को सिंह-पराक्रमी और विष्णु के समान समर्थ प्रजापालक संकेतित किया गया है । उपमा और श्लेष ॥ ७४ ॥

वनान्तपर्यन्तमुपेत्य सस्पृहं क्रमेण तस्मिन्नवतीर्णदृक्पथे ।
न्यवर्त्तदृष्टिप्रकरैः पुरौकसामनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः ॥७५॥

जीवातु—वनान्तेति । अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः स्नेहादनुगच्छद्बन्धुसङ्घसदृशैरित्यर्थः । अत एवोपमालङ्कारः । पुरौकसा दृष्टिप्रकरैर्दृष्टिसमूहैः कर्तृभिर्वनान्तपर्यन्तं काननोपान्तसीमाम् उदकप्रान्तपर्य्यन्तञ्चेति गम्यते, 'वने सलिलकानने' इत्यमरः । सस्पृहं साभिलाषं यथा तथा उपेत्य गत्वा

अथ अनन्तरं क्रमेण तस्मिन् नले अवतीर्णदृक्पथे अतिक्रान्तदृष्टिविषये सति न्यवर्ति निवृत्तं, भावे लुङ्। यथा बन्धुभिः 'उदकान्तं प्रियं पान्थमनुव्रजेदि' त्यागमात्प्रवसन्तमनुव्रज्य निवर्त्यते तद्वदित्यर्थः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—क्रमेण अवतीर्णदृक्पथे तस्मिन् अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः पुरौकसां दृष्टिप्रकरैः वनान्तपर्यन्तं सस्पृहम् उपेत्य न्यवर्ति।

हिन्दी—धीरे धीरे राजा के नेत्रों से अगोचर हो जाने पर अनुगमन करते बन्धुजनों का बन्धु-सदृश नगरवासियों का दृष्टि-समूह अभिलाष के साथ वन-भूमि तक जाकर लौट पड़ा।

टिप्पणी—जब तक राजा दिखायी पड़ता रहा, तब तक नगरवासी चाव से देखते रहे, जब आँख-ओझल हो गया, तभी लौटे,—यह कथन पुरवासियों की राजा के प्रति प्रीति का द्योतक है। अनुप्रास और सहोक्ति अलङ्कार। चतुर्थ चरण में उपमा ॥ ७५ ॥

ततः प्रसूने च फले च मंजुले स सम्मुखीनाङ्गुलिना जनाधिपः।
निवेद्यमानं वनपालपाणिना व्यलोकयत् काननरामणीयकम् ॥७६॥

जीवातु—तत इति। ततः वनप्रवेशानन्तरं स जनाधिपो नलः मञ्जुले मनोज्ञे प्रसूने कुसुमे फले च विषये सम्मुखीना सन्दर्शिनी सम्मुखावस्थितवस्तु-प्रकाशिकेति यावत् 'यथामुखसम्मुखस्य दर्शनः ख' इति खप्रत्ययान्तो निपातः। तादृशी अङ्गुलिर्यस्य तेन वनपालपाणिना निवेद्यमानम् इदमिदमित्यङ्गुल्या पुष्पफलादिनिर्देशेन प्रदर्श्यमानमित्यर्थः। काननरामणीयकं वनरामणीयकं 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्' इति वुञ्प्रत्ययः। व्यलोकयत् अपश्यदिति स्वभावोक्तिः ॥ ७६ ॥

अन्वयः—ततः सः जनाधिपः मञ्जुले प्रसूने फले च सम्मुखीनाङ्गुलिना वनपालपाणिना निवेद्यमानं काननरामणीयकं च व्यलोकयत्।

हिन्दी—तदनन्तर वह नरनाथ मनोहर फूल और फल तथा अंगुलि उठा कर वन-पालक के हाथ से सादर विज्ञापित वन की रमणीयता का अवलोकन करने लगा।

टिप्पणी—राजा का प्रकृति-प्रेम संकेतित। विद्याधर के अनुसार जाति और अनुप्रास अलंकार और मल्लिनाथ के अनुसार स्वभावोक्ति, प्रसून, फल और वन में एक गुण मंजुलता अथवा रमणीयता होने से चन्द्रकलाकार के अनुसार तुल्ययोगिता ॥ ७६ ॥

फलानि पुष्पाणि च पल्लवे करे वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते ।
स्थितैः समाधाय महर्षिवार्द्धकाद्वने तदातिथ्यमशिक्षिशाखिभिः ॥७७॥

जीवातु—फलानीति। वयोऽतिपातेन पक्षिपातेन बाल्याद्यपगमेन चोद्गतेनोत्थितेन वातेन वायुना वातदोषेण च वेपिते कम्पिते 'खगबाल्यादिनोर्वयः' इत्यमरः। पल्लव एव कर इति व्यस्तरूपकं फलानि पुष्पाणि च समाधाय निधाय स्थितैस्तिष्ठद्भिः वने शाखिभिर्वृक्षैः वेदशाखाध्यायिभिश्च, 'शाखाभेदे द्रुमे शाखा वेदेऽपी'ति वैजयन्ती। तदातिथ्यं तस्य नलस्यातिथ्यम् अतिथ्यर्थं कर्म, अतिथेर्ञ्य' इति ञ्यप्रत्ययः। महर्षीणां वार्द्धकाद् वृद्धसमूहात् तत्रत्यवृद्धमहर्षिसङ्घादित्यर्थः। शिवभागवतवत्समासः। 'वृद्धसंघे तु वार्द्धकमि'त्यमरः। 'वृद्धाच्चेति वक्तव्यमि'ति समूहार्थे वुञ्प्रत्ययः। अशिक्षि शिक्षितमभ्यस्तम्, अन्यथा कथमिदमाचरितमिति भावः। कर्मणि लुङ् उत्प्रेक्षेयं सा च व्यञ्जकाप्रयोगादगम्या पूर्वोक्तरूपकश्लेषाभ्यामुत्थापिता चेति सङ्करः ॥ ७७ ॥

अन्वयः—वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते पल्लवे करे फलानि पुष्पाणि च समाधाय स्थितैः शाखिभिः वने महर्षिवार्द्धकात् तदातिथ्यम् अशिक्षि।

हिन्दी—वय अर्थात् पक्षियों के आकर बैठने से उत्पन्न वायु से हिलते पल्लव (किसलय)-रूप हाथ में फल-फूलों को लेकर खड़े वृक्षों ने वन में वय अर्थात् तारुण्य के बीत जाने से (बुढ़ापा आ जाने पर) उत्पन्न वात दोष से काँपते पल्लव सदृश हाथ में फल-फूल लेकर खड़े विशिष्ट वेद शाखाओं के अध्ययन से सम्बद्ध बूढ़े महर्षिगण से उस (नल) के आतिथ्य की शिक्षा ली।

टिप्पणी—मान्य अतिथि का स्वागत हुआ ही करता है, किसी आश्रम में पहुँचने पर जिस प्रकार वृद्ध महर्षि राजा का आतिथ्य करते, वैसे ही वन में फल-फूलों से सम्पन्न पल्लव-करों द्वारा पुराने वृक्ष कर रहे हैं। कालिदास ने वन में गोचारण करते राजा दिलीप का बाललताओं द्वारा पुष्प-वर्षा से आतिथ्य

होना चित्रित किया है। (रघुवंश २।१०)। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ गम्या उत्प्रेक्षा-श्लेष-रूपक का संकर है। विद्याधर के अनुसार प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा और श्लेष। चन्द्रकलाकार के अनुसार व्यस्तरूपक-श्लेषप्रतीयमानोत्प्रेक्षा का संकर ॥ ७७ ॥

विनिद्रपत्त्रालिगतालिकैतवान्मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम् ।
दधानमाशासु चरिष्णु दुर्यशः स कौतुकी तत्र ददर्श कैतकम् ॥७८॥

जीवातु—विनिद्रेति । विनिद्रपत्त्रालिगतालिकैतवात् विकचदलावलिस्थितभृङ्गमिषात् मृगाङ्कचूडामणेरीश्वरस्य कर्तुर्वर्ज्जनेन परिहारेणार्जितं सम्पादितं 'न केतक्या सदाशिवमि'ति निषेधादिति भावः। आशासु चरिष्णु सञ्चरणशीलं 'अलंङ्कृञि'त्यादिना चरेरिष्णुच्प्रत्ययः। दुर्यशोऽपकीर्ति दधानं कैतकं केतकीकुसुमं तत्र वने स नलः कौतुकी सन् ददर्श। अर्हस्य महापुरुषस्य बहिष्कारो दुष्कीर्तिकर इति भावः। अत्रालिकैतवादित्यलित्वापह्नवेन तेषु दुर्यशस्त्वारोपादपह्नुत्यलङ्कारः। 'निषेध्यविषये साम्यादन्यारोपेऽपह्नुतिः' इति लक्षणात् ॥

अन्वयः—कौतुकी सः तत्र विनिद्रपत्त्रालिगतालिकैतवात् मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम् आशासु चरिष्णु दुर्यशः दधानं केतकं ददर्श ।

हिन्दी—(अपूर्व पुष्पादि के दर्शन को) उत्सुक उस (नल) ने वहाँ (वन में) विकसित दलों की पंक्तियों पर बैठे भौरों के छल से चन्द्रचूड शिव से तिरस्कृत होने से प्राप्त दिगंत में व्याप्त होते (भौंरें भी उड़कर दिगंतरों में चले जाते हैं) अपयश को धारण किये केतकी (केवड़ा) के फूल को देखा ।

टिप्पणी—काले भौंरों से आच्छादित केतक की कविसमयसिद्ध कृष्णवर्ण दुर्यश-धारण-कर्त्ता के रूप में चित्रण किया गया है, इस कारण अपह्नुति है। चन्द्रकलाकार ने कैतवापह्नुति-प्रतीयमानोत्प्रेक्षा का संकर माना है ।

केतक के शिवद्वारा परित्यक्त होने के सम्बन्ध में दो पौराणिक प्रसिद्धियाँ हैं—(१) एक बार ब्रह्मा और विष्णु में परस्पर श्रेष्ठता को लेकर विवाद हो गया। आकाशवाणी हुई कि जो शिवलिंग के ऊर्ध्वाधोभागों को देख सके, वही दोनों में बड़ा है। शिवलिंग की ऊँचाई-नीचाई का पार तो दोनों में कोई पा न सका, पर जहाँ विष्णु ने तथ्य को स्वीकारा वहाँ ब्रह्मा ने असत्य भाषण

किया कि वे शिवलिंग के ऊर्ध्वाधोभागों को देख सके हैं। साक्षी बना केतक। इस पर मिथ्यासाक्षी केतक का शिव ने त्याग किया। (२) राम-सीता-लक्ष्मण पितरों के श्राद्धार्थं गया पहुँचे। रामचन्द्र ने फल्गु नदी-तट पर पितरों का आवाहन किया और लक्ष्मण नगर में श्राद्ध सामग्री लेने गये। उन्हें जब विलम्ब हुआ तो श्रीराम भी उनकी खोज में सीता को वहीं छोड़ चले गये। वे दोनों भाई लौट भी न पाये थे कि आहूत पितरों के हाथ श्राद्धपिंड-ग्रहणार्थ प्रकट हुए। यह देख सामग्री के अभाव में सीताजी घबराने लगीं। तभी आकाशवाणी हुई कि डरो मत, बालू के श्राद्धपिंड बनाकर समर्पित कर दो। सीता ने उसी प्रकार श्राद्ध-विधान कर दिया, साक्षी हुए वहाँ उपस्थित गौ, अग्नि, फल्गु नदी और केतकी का फूल। राम-लक्ष्मण के लौटने पर वह वृत्तांत बता कर सीता ने उन्हें पुनः श्राद्ध न करने की संमति दी, परंतु साक्षियों ने इस विषय में अपना अज्ञान प्रकट किया। साक्षियों के इस असत्य भाषण पर सीता ने इन्हें शाप दिये—गौ को मुखभाग से अपवित्र हो जाने का, अग्नि को सर्वभक्षी होने का, फल्गु को निर्जल होने का और केतकी पुष्प को शिव से त्यक्त होने का। तभी से केतक पुष्प सदाशिव को नहीं चढ़ाया जाता ॥७८॥

वियोगभाजां हृदि कण्टकैः कटुर्निधीयसे कर्णिशरः स्मरेण यत्।
ततो दुराकर्षतया तदन्तकृद्विगीयसे मन्मथदेहदाहिना ॥७९॥

जीवातु---वियोगेत्यादि। कैतक ! यद्यस्मात्त्वं स्मरेण वियोगभाजां हृदि कण्टकैः निजतीक्ष्णावयवैः कटुस्तीक्ष्णः केतकविशेषणस्यापि कर्णिशरत्वम्। विशेषणविवक्षया पुल्लिङ्गनिर्देशः, किन्तूद्देश्यविशेषणस्य विधेयविशेषणत्वं क्लिष्टम्। कर्णवत् कर्णि प्रतिलोमशल्यं तद्वान् शरः कर्णिशरः सन्निधीयसे कण्टककटोः केतकस्य कर्णिशरत्वरूपणाद्रूपकालङ्कारः। ततः कर्णिशरत्वादिवद् दुराकर्षतया दुरुद्धारतया तदन्तकृत्तेषां वियोगिनां मारकं मन्मथदेहदाहिना स्मरहरेण विगीयते विगर्ह्यसे। द्वेष्यवत् द्वेष्योपकरणमप्यसह्यमेव, तदपि हिंस्रं चेत् किमु वक्तव्यमिति भावः। अत्रेश्वरकर्तृकस्य केतकीविगर्हणस्य तद्गतवियोगिहिंस्रताहेतुकत्वोत्प्रेक्षणाद्धेतूत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या, सा चोक्तरूपकोत्थापितेति सङ्करः ॥ ७९ ॥

अन्वयः—यत् स्मरेण वियोगभाजां हृदि कण्टकैः कटुः कर्णिशरः निधीयसे ततः दुराकर्षतया तदन्तकृत् मन्मथदेहदाहिना विगीयसे (इति क्रुधा तेन केतकम् अक्रुश्यत—इति एकाशीतितमेन (८१) श्लोकेनान्वयः) ।

हिन्दी—जो कि कामदेव द्वारा वियोगियों के हृदय में काँटों से क्रूर नुकीला बाण बनाकर घुमाये जाते हो, इससे बड़ी कठिनता से निकाल पाये जाने के कारण वियोगी के प्राणलेवा तुम कामदेव के देह को भस्म कर डालने वाले शंकर द्वारा विगर्हित—तिरस्कृत हो—ऐसा क्रोध में राजा ने केतक को कोसा ।

टिप्पणी—केतकी का फूल देखकर वियोगियों का धीरज छूट जाता है, ऐसी मान्यता है । उसके पत्ते काँटेदार, नोकीले होते हैं । केतक पर कर्णिशरत्व का आरोप होने से रूपक और वियोगि-हिंसक होने के कारण महादेव से उसके त्यक्त होने की सम्भावना से गम्या हेतूत्प्रेक्षा, फलतः दोनों का संकर अलंकार ॥ ७९ ॥

त्वदग्रसूचीसचिवः स कामिनोर्मनोभवः सीव्यति दुर्यशःपटौ ।
स्फुटञ्च पत्रैः करपत्रमूर्तिभिर्वियोगिहृद्दारुणि दारुणायते ॥८०॥

जीवातु—त्वदिति । तवाग्राण्येव सूच्यः सचिवाः सहकारिणो यस्य स तथोक्तः स प्रसिद्धो मनोभवः कामिनी च कामी च कामिनौ तयोः, 'पुमान् स्त्रिया' त्येकशेषः' । दुर्यशांसि अपकीर्त्तयस्ताः पटाविति रूपकं तानि सीव्यति कण्टकस्यूतं करोतीत्यर्थः । किञ्चेति वार्थः करपत्रमूर्त्तिभिः क्रकचाकारैः, 'क्रकचोऽस्त्री करपत्रमि'त्यमरः । पत्रैस्तैर्वियोगिनां हृद्येव दारुणि दारयतीति दारुणो विदारको भेत्ता स इवाचरतीति दारुणायते, 'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्चे'ति क्यङन्तात् लट् । दारुणायत इत्युपमा, सा च हृद्दारुणातिरूपकानुप्राणितेति सङ्करः ॥ ८० ॥

अन्वयः—त्वदग्रसूचीसचिवः सः मनोभवः कामिनः दुर्यशः पटौ सीव्यति करपत्रमूर्त्तिभिः पत्रैः च वियोगिहृद्दारुणि दारुणायते—इति स्फुटम् ।

हिन्दी—(अरे केवड़े के फूल), तेरी नोक रूप सूई की सहायता से वह मनसिज कामिजनों के अपयशरूप वस्त्रों को सिलता है और करपत्र (आरी) के तुल्य रूप वाले तेरे पत्तों से वियोगियों के हृदयरूपी काष्ठ को चीर डालता है, यह स्पष्ट है ।

टिप्पणी—केवड़े की कलिका को अत्यन्त उद्दीपन माना जाता है, मान्यता है कामांध नर-नारी उसे देखकर उचितानुचित का मान भूल जाते हैं, केवड़े की कली देखकर उनका धैर्य भंग होता है और पत्र-दर्शन से हृदय विदीर्ण। उपमा-रूपक का संकर ॥ ८० ॥

धनुर्मधुस्विन्नकरोऽपि भीमजापरं परागैस्तव धूलिहस्तयन् ।
प्रसूनधन्वा शरसात्करोति मामिति क्रुधाऽऽक्रुश्यत तेन कैतकम् ॥८१॥

जीवातु—धनुरिति। कैतक ! प्रसूनं धन्वा धनुर्यस्येति प्रसूनधन्वा पुष्पचापः। 'वा संज्ञायामि' त्यवङादेशः। अत एव धनुषो मधुना मकरन्देन स्विन्नकरः आर्द्रपाणिः सन् अत एव परागैः रजोभिः धूलिहस्तयन् पुनः पुनः धूल्युद्धावितहस्तमात्मानं कुर्वन् अन्यथा धनुःस्रंसनादिति भावः, तत्करोतेर्ण्यन्तात्लटः शत्रादेशः। अतिभीमजापरमतिमात्रं दमयन्त्यामक्तं मां शरसात् शराधीनङ्करोति, 'तदधीने च' इति सातिप्रत्ययः, अन्यथा स्रस्त-चापः स मां किं कुर्यादिति भावः। इतीत्थं श्लोकत्रयोक्तिरिति तेन राजा क्रुधा कैतकमाक्रुश्यत अपराधोद्घाटने अघोष्यतेत्यर्थः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—धनुर्मधुस्विन्नकरः अपि प्रसूनधन्वा तव परागैः धूलिहस्तयन्, भीमजापरं मा शरसात्करोति—इति तेन क्रुधा केतकम् अक्रुश्यत।

हिन्दी—उस (नल) ने क्रोधपूर्वक इसलिए केवड़े को कोसा कि फूलों के धनुष से टपकते मधु से गीला हाथ होने पर भी पुष्पधन्वा काम तेरे पराग की धूलि हाथ में (चिकनापन मिटाने के लिए, जिससे बाण फिसल न जाय) लगा कर ही भीमपुत्री-परायण मुझे अपने बाण का आखेट बना पाता है।

टिप्पणी—इस प्रकार तीन श्लोकों में कामोद्दीपक केतक-पुष्प का वर्णन किया गया। अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ८१ ॥

विदर्भसुभ्रुस्तनतुङ्गताप्तये घटानिवापश्यदलं तपस्यतः।
फलानि धूमस्य धयानधोमुखान् स दाडिमे दोहदधूपिनि द्रुमे ॥८२॥

जीवातु—विदर्भेति। 'तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम्। पुष्पा-दुत्पादितं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रिया ॥' इति शब्दार्णवे। दोहदश्चासौ धूपश्च

तदुक्तं 'मेषामिषाम्बुसंसेकस्तत्केशामिषधूपनम्। श्रेयानयं प्रयोगः स्याद् दाडिमीफलवृद्धये ॥ मत्स्याज्यत्रिफलालेपैर्मस्तिराजाविकोद्भवै । लेपिता धूपिता सूते फलन्तालीव दाडिमी ॥ अविक्वाथेन संसिक्ता धूपिता तत्परोमभिः। फलानि दाडिमी सूते सुबहूनि पृथूनि च ॥' इति। तद्वति दाडिमीद्रुमे फलानि विदर्भसुभ्रुवो दमयन्त्याः स्तनयोर्या तुङ्गता तदाप्तये तादृगौन्नत्यलाभायेत्यर्थः। अलमत्यर्थन्तपस्यतस्तपश्चरतः, 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोरि'ति क्यङ्प्रत्यये तपसः परस्मैपदञ्च वक्तव्यं, धूमस्य दोहदधूमस्य धयन्तीति धयान् पातॄन्, धेट्-पाने अत्र 'आतश्चोपसर्गे' इति उपसर्गग्रहणाननुवर्ति-पक्षत्वात् 'पाघ्रे'त्यादिनाऽनुपसृष्टादपि धेटः शप्रत्यय इति गतिः। अत एव काशिकायां केचिदुपसर्ग इति नानुवर्त्तयन्तीति। अधोमुखान् घटानिव अपश्यदित्युत्प्रेक्षा। महाफलार्थिन इत्थमुग्रं तपस्यन्तीति भावः॥

अन्वयः—सः दोहदधूपिनि दाडिमे द्रुमे विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताप्तये अलं तपस्यतः धूमस्य धयान् अधोमुखान् घटान् इव फलानि अपश्यत्।

हिन्दी—उस (नल) ने दोहद अर्थात् अतिशय फल समृद्धि के लिए विहित सामग्री से धूपायित अनार के वृक्ष पर सुन्दर भ्रुकुटीवाली वैदर्भी (दमयन्ती) के स्तनों की उत्तुंगता प्राप्त करने के निमित्त मानो कठोर तपस्या करते (दोहद का) धूम पीते नीचे को मुँहवाले घड़ों के तुल्य फलों को देखा।

टिप्पणी—पहिले फूल (केतक) का, फिर फल (दाडिम) का दर्शन। उत्प्रेक्षा अलंकार। समय से पूर्व ही फल पाने के निमित्त भाँति-भाँति के द्रव्यों के प्रयोग को दोहद कहते हैं। कहा जाता है कि भेड़ के मांस के पानी से सींचना और उसके केश जलाकर धूप देना दाडिम फल की समृद्धि के लिए लाभदायक होता है ॥ ८२ ॥

वियोगिनीमैक्षत दाडिमीमसौ प्रियस्मृतेः स्पष्टमुदीतकण्टकाम्।
फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाशुगाम् ॥८३॥

जीवातु—वियोगिनीमिति। असौ नलः प्रियास्मृतेर्दमयन्तीस्मरणादिव स्पष्टं व्यक्तमुदीतेति ई गताविति धातोः कर्त्तरि क्तः। उदीता उद्गताः कण्टकाः स्वावयवसूचय एव कण्टका रोमाञ्चा यस्यास्तामिति श्लिष्टरूपकम्।

'वेणी द्रुमाङ्गे रोमाञ्चे क्षुद्रशत्रौ च कण्टके' इति वैजयन्ती। फलान्येव स्तनौ तावेव स्थानं तत्र विदीर्णो रागो यस्यास्तीति रागि रक्तवर्णमनुरक्तञ्च यत्तस्मिन् हृदि विशत् बीजभक्षणान्तःप्रविशेच्छुकास्यरूपं शुकतुण्डमेव स्मरस्य किंशुकं पलाशकुड्मलमेवाशुगो बाणो यस्यास्तां दाडिमीमेव वियोगिनीं विरहिणीमैक्षत अपश्यत्। रूपकालङ्कारः। विः पक्षी तद्योगिनीमिति च गम्यते ॥ ८३ ॥

अन्वयः—असौ वियोगिनीं प्रियस्मृतेः स्पष्टम् उदीतकण्टकां फलस्तनस्थान-विदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाशुगां दाडिमीम् ऐक्षत।

हिन्दी—इस नल ने प्रिय की स्मृति से स्पष्टतः रोमाञ्चित होती जिसके अनार के फलों के तुल्य स्तनस्थली के मध्य (विरह में) विदीर्ण अनुरागी हृदय में तोते की चोंच के समान काम के बाण प्रविष्ट हो रहे थे, ऐसी विरहिणी के, अथवा परमात्मा-साक्षात्कार रूप फल की बोधक तुरीयावस्था से विदीर्ण अर्थात् च्युत (तुरीयावस्था को अप्राप्त) अतएव विषयवासना में सानुराग जिसके हृदय से शुकदेव मुनि (व्यासपुत्र) के उपदेश प्रविष्ट हो रहे हाने के कारण कामबाण निकालकर फेंके जा रहे थे, ऐसी विषयपराङ्मुख, परम-प्रेमास्पद सच्चिदानंदघन परमेश्वर की स्मृति अर्थात् निरन्तरध्यान करने से शीघ्र परमात्माप्राप्ति की सम्भावना से जात हर्ष के कारण स्पष्टतः जो रोमाञ्चित हो रही थी उस वियोगिनी अर्थात् अष्टांग योग की साधिका या विशिष्ट योगिनी के समान 'वि' अर्थात् पक्षियों से युक्त, प्रियस्मृति अर्थात् दोहद प्राप्ति के कारण, जिसमें स्पष्टतः नोक दीखने लगी थी और जिसके फल रूप स्तनों के स्थल-स्थान पर फट जाने से पञ्जों की लालिमा स्पष्ट हो रही थी, जिसमें तोतों की चोंच रूप काम के पलाश-बाण प्रविष्ट हो रहे थे, ऐसी दाडिमी (अनार के पेड़) को देखा।

टिप्पणी—वन में पक जाने के कारण जिसके फट गये फलों के बीच तोते चोंच मार रहे थे, ऐसी दाडिमी की तुलना एक विरहिणी अथवा योगिनी से की गयी है। मल्लिनाथ ने इसमें रूपक अलंकार माना है, विद्याधर ने अनुप्रास-रूपक-उत्प्रेक्षा का संकर। चन्द्रकलाकार के अनुसार यहाँ श्लिष्टैकदेशविवर्त्ति रूपकालंकार है ॥ ८३ ॥

स्मरार्द्धचन्द्रेषुनिभे क्रशीयसां स्फुटे पलाशेऽध्वजुषाम्पलाशनात् ।
स वृन्तमालोकत खण्डमन्वितं वियोगिहृत्खण्डिनि कालखण्डजम् ॥८४॥

जीवातु—स्मरार्द्धेति । नलः स्मरस्य योऽर्द्धचन्द्रः अर्द्धचन्द्राकार इषुस्तन्निभे तत्सदृशे नित्यसमासत्वादस्वपदविग्रहः, अत आहामरः—'स्युरुत्तरपदे त्वमी । निभसङ्काशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः' इति । वियोगिनां हृत्खण्डिनि हृदयवेधिनि क्रशीयसां कृशतराणामध्वजुषामध्वगामिनाम् पलाशनात् मांसभक्षणात् पलाशे पलमश्नातीति व्युत्पत्त्या पलाशसंज्ञाभाजि किंशुककालिकायामित्यर्थः । अन्वितं सम्बद्धं वृन्तं प्रसवबन्धनं तदेव कालखण्डजं खण्डं यकृत्खण्डमिति व्यस्तरूपकम् । आलोकत आलोकितवान् । 'कालखण्डं यकृत्समे' इत्यमरः । तच्च दक्षिणपार्श्वस्थः कृष्णवर्णो मांसपिण्डविशेषः ॥८४॥

अन्वयः—सः स्मरार्द्धचन्द्रेषुनिभे वियोगिहृत्खण्डिनि क्रशीयसाम् अध्वजुषां पलाशनात् स्फुटं पलाशे अन्वितं वृन्तं कालखण्डजं खण्डम् (इव) आलोकत ।

हिन्दी—उसने काम के अर्द्धचन्द्रबाण के तुल्य 'विरहिजनों के हृदय-विदारक' अत्यंत कृश (दुर्बल) राहगीरों (पथिकों) के पल (मांस) को खाने से स्पष्टतः 'पलाशः' नाम को सार्थक करते (पलं मांसम् अश्नातीति पलाशः) पलाश में लगे कृष्णवर्ण प्रसवबंधन (कली के निम्नभाग में लगा काला खोल) को (पथिकों के) कालखण्ड से जात खंड (कलेजे के टुकड़े) के समान देखा ।

टिप्पणी—कवि ने पलाश की लाल कली में वियोगी पथिकों के 'पलाश' (मांसाशी) द्वारा खाये गये कलेजे के टुकड़े की कल्पना की है । कली के नीचे के भाग में जो ऊपरी खोल का काला पत्ता जैसा लगा रह गया है, वह उस खाये गये मांस के सूख जाने के कारण है । नारायण पंडित ने यहाँ लुप्तोत्प्रेक्षा का निर्देश किया है, चन्द्रकलाकार ने उपमा-प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के संकर का और विद्याधर ने रूपक और उत्प्रेक्षा का ॥ ८४ ॥

नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता करम्बिताङ्गी मकरन्दशीकरैः ।
दृशा नृपेण स्मितशोभिकुड्मला दरादराभ्यां दरकम्पिनि पपे ॥८५॥

जीवातु—नवेति । गन्धवहेन वायुना चुम्बिता स्पृष्टा अन्यत्रानुलिप्तेन पुंसा वीक्षिता मकरन्दशीकरैः पुष्परसकणैः करम्बिताङ्गीत्यामिश्रितरूपा

अन्यत्र स्विन्नाङ्गीति च गम्यते। स्मितशोभिनः विकासरम्याः कुड्मला मुकुला रदनाश्च यस्यास्तां मन्दहासमधुरदन्तमुकुला च गम्यते। दरकम्पिनी वायुस्पर्शादीषत्कम्पिनी सात्त्विकवेपथुमती च नवा लता वल्ली तत्सदृशी कान्ता च गम्यते। नृपेण कर्त्रा दृशा करणेन दरादराभ्यां भयतृष्णाभ्यामुपलक्षितेन सता पपे अवेक्षिता गाढं दृष्टा इत्यर्थः। उद्दीपकत्वात् दरः प्रियासादृश्यादादरश्च। 'दरोऽस्त्री शङ्खभीगर्त्तेष्वल्पार्थे त्वव्ययम्' इति वैजयन्ती। अत्र प्रस्तुतविशेषणसाम्यादप्रस्तुतनायिकाप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः। 'विशेषणस्य तौल्येन यत्र प्रस्तुतवर्णनात्। अप्रस्तुतस्य गम्यत्वे सा समासोक्तिरिष्यत' इति लक्षणात्॥ ८५॥

अन्वयः—गन्धवहेन चुम्बिता मकरन्दशीकरैः करम्बिताङ्गी स्मितशोभिकुड्मला दरकम्पिनि नवा लता नृपेण दरादराभ्यां दृशा पपे।

हिन्दी—सुगन्धिद्रव्य लगाये नायक के तुल्य गंधवह (सुरभि समीर) द्वारा चुमी जाती, पुरुषस्पर्श से उत्पन्न स्वेद के समान पुष्प-रस-कणों से युक्त अंगों वाली (सस्वेदा), मुसकान के कारण स्पष्ट होती सुन्दर दन्तावली के तुल्य खिली मनोहर कलिकाओं से सम्पन्न, सात्विक कम्प के सदृश वायु से धीरे-धीरे हिलती नवीना सुन्दरी के समान नयी लता को राजा ने दर (डर) और आदर के साथ देखा।

टिप्पणी—यहाँ वल्लरी को उस तन्वी के तुल्य माना गया है, जो 'नवा लता'—नयी लता के समान तो है ही, उसमें 'न विद्यते बालता (जिसमें बचपन शेष नहीं रहा) यस्यां'—तरुणी भी है। लता को चूमनेवाला गंधवह समीरण 'नवालतागन्धवह' भी (बालतागन्धस्य वहः लेशः अपि यस्मिन् न विद्यते)—जिसमें नाम को भी बचपन नहीं रह गया है—तरुण है, वह चन्दन, कस्तूरी आदि की सुगन्ध लगाये शौकीन छैला भी है। राजा ने उस समीरलता के मिलन को कुतूहलजन्य आदर के साथ देखा, स्वयम् विरही—वियुक्त होने के कारण वह मिलन उसे असह्य लगा। यह दर (डर) का कारण हुआ। श्लिष्ट विशेषण, लिंग और कार्य की समानता के आधार पर लता में अप्रस्तुत नायिका प्रतीति के कारण समासोक्ति॥ ८५॥

विचिन्वतीः पान्थपतङ्गहिंसनैरपुण्यकर्माण्यलिकज्जलच्छलात् ।
व्यलोकयच्चम्पककोरकावलीः स शम्बरारेर्बलिदीपिका इव ॥८६॥

जीवातु—विचिन्वतीरिति । पन्थानं गच्छन्ति नित्यमिति पान्थाः नित्यपथिकाः, 'पथोऽण् नित्यमि'त्यण्प्रत्ययः पन्थादेशश्च । स एव पतङ्गाः पक्षिणः 'पतङ्गः पक्षिसूर्ययोः' इत्यमरः । तेषां हिंसनैः वधैः अपुण्यकर्माण्येव अलयः कज्जलानीवेत्युपमितसमासः । तेषां छलादित्यपह्नवालङ्कारः । विचिन्वतीः संगृह्णतीः हिंसापापकारिणीरित्यर्थः । चम्पककोरकावलीः शम्बरारेर्मनसिजस्य बलिदीपिकाः पूजादीपिका इवेत्युत्प्रेक्षा, स नलो व्यलोकयत् ॥ ८६ ॥

अन्वयः—सः अलिकज्जलच्छलात् पान्थपतङ्गहिंसनैः अपुण्यकर्माणि विचिन्वतीः शम्बरारेः बलिदीपिकाः इव चम्पककोरकावलीः व्यलोकयत् ।

हिन्दी—उस (राजा) ने भ्रमर रूप काजल के व्याज से पथिक रूपी पतंगों को जला मारने के पाप को इकट्ठा करती कामपूजा में प्रयुक्त की जाने वाली दीप-वर्तिकाओं (शमा) की भाँति प्रतीत होती चम्पे की कलियों को देखा ।

टिप्पणी—एक मान्यता यह है कि भौंरा चम्पा-पुष्प पर नहीं जाता, यदि जाता है तो मर जाता है । सो चम्पा के पुष्प पर आसक्त हो चिपके भौंरे दीपिका में लगे काजल—कालौंच के तुल्य हैं, कृष्णवर्ण होने से जिसे अपुण्य-कर्म कहा गया है । चम्पक इतना कामोद्दीपक माना गया है कि जिसे देख विरही मर जाते है । विद्याधर ने इसमें रूपक अपह्नुति और उपमा अलङ्कार का निर्देश किया है, मल्लिनाथ ने अपह्नव और उत्प्रेक्षा का । चन्द्रकलाकार के अनुसार यहाँ कैतवापह्नुति-उत्प्रेक्षा-उपमा का अङ्गाङ्गिभाव संकर है ॥८६॥

अमन्यतासौ कुसुमेषुगर्भजं परागमन्धङ्करणं वियोगिनाम् ।
स्मरेण मुक्तेषु पुरा पुरारये तदङ्गभस्मेव शरेषु सङ्गतम् ॥८७॥

जीवातु—अमन्यतेति । असौ नलः कुसुमान्येव इषवः कामबाणास्तेषां गर्भजं गर्भजातं वियोगिनामिति कर्मणि षष्ठी । अन्धाः क्रियन्तेऽनेनेत्यन्धङ्करणं 'आढ्यसुभगे'त्यादिना च्व्यर्थे ख्युन्प्रत्ययः, 'अरुर्द्विषदि'त्यादिना मुमा-

गमः। तं परागं पुरा पूर्वं पुरारये पुरहराय स्मरेण मुक्तेषु शरेषु सङ्गतं संसक्तं तस्य पुरारेरङ्गे यद्भस्म तदिवामन्यत इति उत्प्रेक्षितवानित्यर्थः। पुरा पुरारये ये मुक्तास्त एवैते पुरोवर्त्तिनः कुसुमेषव इत्यभिमानः, अन्यथैषा तदङ्गभस्मसङ्गोत्प्रेक्षानुत्थानादिति ॥ ८७ ॥

अन्वयः—असौ कुसुमेषुगर्भजं वियोगिनाम् अन्धङ्करणं परागं पुरा स्मरेण पुरारये मुक्तेषु शरेषु सङ्गतं तदङ्ग-भस्म इव अमन्यत।

हिन्दी–इसे (नल को) फूलों के भीतर का वियोगियों को अंधा बना देने वाला पराग प्राचीन काल में काम द्वारा शिव पर छोड़े गये कुसुम बाणों पर लग गयी शिव के अंग की भस्म के समान प्रतीत हुआ।

टिप्पणी—आँखों में भस्म पड़ जाने पर दिखाई नहीं देता, कुसुमपराग भी उद्दीपक और वियोगियों को अंधा करने वाला है। उत्प्रेक्षा और शब्दालंकार अनुप्रास ॥ ८७ ॥

पिकाद्वने शृण्वति भृङ्गहुङ्कृतैर्दशामुदञ्चत्करुणं वियोगिनाम्।
अनास्थया सूनकरप्रसारिणीं ददर्श दूनः स्थलपद्मिनीं नलः ॥८८॥

जीवातु—पिकादिति। वने उपवने श्रोतरि पिकाद्वक्तुः सकाशात् भृङ्गहुङ्कृतैर्वियोगिनां दशामलिहुङ्कारकृतां दुःखावस्थामित्यर्थः। उदञ्चत्करुणं विकसद्वृक्षविशेषमुद्यत्कृपञ्च यथा तथा शृण्वति सति,—'करुणस्तु रसे वृक्षे कृपायां करुणा मते'ति विश्वः। अनास्थया श्रोतुमनिच्छया सूनं प्रसूनमेव करं प्रसारयतीति प्रसारिणीं पुष्परूपहस्तविस्तारिणीं तथोक्तामनिष्टकथां करेण वारयन्तीमिव स्थितामित्यर्थः। सूनकरेति प्रसारिणीमितिरूपकानुप्राणिता गम्योत्प्रेक्षेयम्। स्थलपद्मिनीं नलो दूनः परितप्तः सन् दूङः कर्त्तरि क्तः, 'ल्वादिभ्यश्चे'ति निष्ठानत्वम्। ददर्श ॥ ८८ ॥

अन्वयः—दूनः नलः पिकात् भृङ्गहुङ्कृतैः वियोगिनां दशाम् वने उदञ्चत्करुणं शृण्वति सूनकरप्रसारिणीं स्थलपद्मिनीम् अनास्थया ददर्श।

हिन्दी—संतप्त नल ने कोकिल और भौरों के गुंजार से विरहिजनों की

दशा को विकसित होते करुण वृक्षों से युक्त वन में करुणा से परिप्लावित हो सुनते पुष्प रूप कर फैलाये स्थलकमलिनी को अनिच्छापूर्वक देखा।

टिप्पणी—वन में कोकिल-कूजन था, भ्रमर-गुंजार था, स्थल-पद्मिनी थी, जिस पर कमल खिले हुए थे। इन सब को देखकर वियोगी जन कष्ट पाते हैं। राजा की श्रवण में अनास्था का कारण है मानो स्थल-पद्मिनी का कमल कर फैला कर निषेध कि क्या किसी की करुणकथा—दुर्दशा की गाथा सुनते हो? यह निवारण कूजन, गुंजार, खिले कमल—सब की अनित्यता का सूचक है, इसके प्रति अनास्था ही उचित है। करुणा ही उचित है। मल्लिनाथ के अनुसार रूपकानुप्राणिता गम्योत्प्रेक्षा और विद्याधर के अनुसार समासोक्ति, रूपक और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा, जिसे चन्द्रकलाकार ने सब का अङ्गाङ्गिभाव संकर कहा है॥ ८८॥

रसालसालः समदृश्यतामुना स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः।
समीरलोलैर्मुकुलैर्वियोगिने जनाय दित्सन्निव तर्जनाभियम्॥८९॥

जीवातु—रसालेति। अमुना नलेन स्फुरन्तो द्विरेफास्तेषामारवो भ्रमरझङ्कार एव रोषेण या हुङ्कृतिर्हुङ्कारो यस्य सः समीरलोलैर्वायुचलैर्मुकुलैरङ्गुलिभिरिति भावः। वियोगिने जनाय तर्जनामियं दित्सन् दातुमिच्छन्निव स्थितः, ददातेः सन् प्रत्ययः 'सनिमीमे'त्यादिना इसादेशः, 'अत्र लोपोऽभ्यासस्ये'त्यभ्यासलोपः, 'सस्यार्धधातुक' इति सकारस्य तकारः। रसालसालश्चूतवृक्षः समदृश्यत सम्यग्दृष्टः। द्विरेफेत्यादिरूपकात्थापितेयं तर्जनाभयजननोत्प्रेक्षेति सङ्करः॥ ८९॥

अन्वयः—अमुना स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः समीरलोलैः मुकुलैः वियोगिने जनाय तर्जनामियं दित्सन् इव रसालसालः समदृश्यत।

हिन्दी—उस (राजा नल) ने भनभनाते भ्रमरों के गुंजाररूप क्रोध की हुंकारों से युक्त समीरण में डोलते बौर द्वारा वियोगियों को डाँटने-धमकाने-डराने की इच्छा करते जैसे आम्रवृक्ष को देखा।

टिप्पणी—वियोगियों के संताप देने वाले उद्दीपन बौराते आम का वर्णन मल्लिनाथ के अनुसार रूपक-उत्प्रेक्षा का संकर, विद्याधर के अनुसार अनुप्रास-उत्प्रेक्षा॥ ८९॥

दिने दिने त्वं तनुरेधि रेऽधिकं पुनः पुनर्मूर्च्छ च मृत्युमृच्छ च ।
इतीव पान्थं शपतः पिकान् द्विजान् सखेदमैक्षिष्ट स लोहितेक्षणान्॥९०॥

जीवातु—दिने दिने इति । रे इति हीनसम्बोधने । त्वं दिने दिने अधिकं तनु एधि अधिकं कृशो भव, अस्तेर्लोट् सिप् 'हुझल्भ्यो हेर्धिरि'ति धित्वम्, 'ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' इति एत्वम्, पुनः पुनः मूर्च्छं च मृत्युं मरणमृच्छ च इति पान्थं नित्यपथिकं शपतः शपमानानिव स्थितानित्युत्प्रेक्षा, लोहितेक्षणान् रक्तदृष्टीन् एकत्र स्वभावतोऽन्यत्र रोषाच्चेति द्रष्टव्यम्, पिकान् कोकिलान् द्विजान् पक्षिणो ब्राह्मणांश्च स नलः सखेदमैक्षिष्ट । स्वस्यापि उक्तशङ्कयेति भावः ॥ ९० ॥

अन्वयः—रे, त्वं दिने दिने अधिकं तनुः एधि, पुनः पुनः मूर्च्छ च, मृत्युम् ऋच्छ च–इति सः पान्थं शपतः इव लोहितेक्षणान् (द्विजान् इव) पिकान् द्विजान् सखेदं ददर्श ।

हिन्दी—अरे, तू दिन-दिन और अधिक दुर्बल हो, बार-बार मूर्च्छित और मृत्यु को प्राप्त हो,—इस प्रकार राही को शाप देते लाल आँखें किये ब्राह्मणों के तुल्य कोकिलविहंगों को उस (राजा) ने खेदसहित देखा ।

टिप्पणी—कोकिल की आँखें तो लाल ही होती हैं, इन्हीं के आधार पर उनके क्रोधी ब्राह्मणसम होने की कल्पना की गयी है, जो पास होकर जाने वाले को भी यों ही निष्कारण कोसता है । ऐसे लोगों को देखकर खेद होना स्वाभाविक है । कोकिला शब्द को सुनकर वियोगी परदेशी पथिक सन्तप्त और मूर्च्छित होते हैं । 'द्विज' शब्द के श्लिष्ट प्रयोग के कारण उपमा व्यङ्ग्य है ॥९०॥

अलिस्रजा कुड्मलमुच्चशेखरं निपीय चाम्पेयमधीरया दृशा ।
स धूमकेतुं विपदे वियोगिनामुदीतमातङ्कितवानशङ्कत ॥ ९१ ॥

जीवातु—अलिस्रजेति । अलिस्रजा भ्रमरपंक्त्या उच्चशेखरमुन्नतशिरोभूषणम् अलिमालिनाङ्कमित्यर्थः । शिखास्वापीडशेखरावि'त्यमरः । चाम्पेयं चम्पकविकारं कुड्मलम् 'अथ चाम्पेयः चम्पको हेमपुष्पकः' इत्यमरः । नन्वयुक्तमिदं 'न षट्पदो गन्धफलीमजिघ्रदि'त्यादावलीनां चम्पकस्पर्शाभावप्रसिद्धेरिति चेत् नैवं किन्तु स्पृष्टेयन्तावतैवास्पर्शोक्तिः क्वचित् केषाञ्चित् उक्तपरिहारः

अथवा चाम्पेयं नागकेसरं 'चाम्पेयः केसरो नागकेसरः काञ्चनाह्वयः' इत्यमरः। अधीरया दृशा निपीय विक्लवदृष्ट्या गाढं दृष्ट्वा आशङ्कितवान् किञ्चिदनिष्टमुत्प्रेक्षितवान्। स नलः 'अनिष्टाभ्यागमोत्प्रेक्षां शङ्कामाचक्षते बुधाः' इति लक्षणात्। वियोगिनां विपदे उदीतमुत्थितं धूमकेतुमशङ्कत अतर्कयदित्युत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—अलिस्रजा उच्चशेखरं चाम्पेयं कुड्मलम् अधीरया दृशा निपीय आतङ्कितवान् सः वियोगिनां विपदे उदीतं धूमकेतुम् अशङ्कत।

हिन्दी—भ्रमरमाल से जिसका शिरोभाग उन्नत हो रहा था, ऐसी चम्पा की कली को अधीर दृष्टि से देखकर आतंकित उस (नल) ने वियोगियों के विनाशार्थ उदित धूमकेतु की आशंका की।

टिप्पणी—लंबी चोंटी के समान जिसपर भ्रमरावली लिपटी है, उस चंपा की कली विनाशकारी धूमकेतु की आशंका यह द्योतित करती है कि विरहिजनों को उसका देखना असह्य है। भौंरा प्राणघाती होने से चंपकपुष्प पर नहीं जाता—इस मान्यता को ध्यान में रखते हुए मल्लिनाथ 'चाम्पेयकुड्मल' का अर्थ 'नागकेसर' लिया है, जो पीले रंग का फूल होता है। उत्प्रेक्षा अलंकार ॥ ९१ ॥

गलत्परागं भ्रमिभङ्गिभिः पतत् प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेसरम्।
स मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं शाणमिव व्यलोकयत् ॥ ९२ ॥

जीवातु—गलदिति। स नलो गलत्परागं निर्यद्रजस्कं भ्रमिभङ्गिभिः भ्रमणप्रकारैरुपलक्षितं पतद् भ्रश्यत् प्रसक्तभृङ्गावलि सक्तालिकुलं नागकेसरं कुसुमविशेषं मारनाराचनिघर्षणैः स्मरशरकर्षणैः स्खलन्तः लुठन्तः ज्वलन्तश्च कणाः स्फुलिङ्गा यस्य तं शाणं निकषोत्पलमिवेत्युत्प्रेक्षा व्यलोकयत्, 'शाणस्तु निकषः कष' इत्यमरः ॥ ९२ ॥

अन्वयः—सः गलत्परागं भ्रमभङ्गिभिः पतत्प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेसरं मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं शाणम् इव व्यलोकयत्।

हिन्दी—उस (राजा) ने जिससे पराग झड़ रहा था और जिसपर

मँडरा-मँडरा कर गिरती भौंरों की पंक्ति संसक्त थी, उस नागकेसर पुष्प को काम-बाणों की रगड़ से जिससे चिनगारियाँ निकल रही हों, ऐसी सान (लोहे की बनी छुरी, चाकू, तलवार, बाण आदि रगड़कर तेज करने का यंत्र) के समान देखा।

टिप्पणी—नागकेसर का पराग-झाड़ता फूल मानों काम-बाणों को पैना करने का यंत्र है, उसकी मारक शक्ति का सहायक। 'मार' शब्द का सार्थक प्रयोग। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और जाति अलंकार, मल्लिनाथ ने (और चंद्रकलाकार ने भी) केवल उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है ॥९२॥

तदङ्गमुद्दिश्य सुगन्धि पातुकाः शिलीमुखालीः कुसुमाद् गुणस्पृशः।
स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात् स्मरः स्वनन्तीरवलोक्य लज्जितः ॥ ९३ ॥

जीवातु—तदङ्गमिति। सुगन्धि शोभनगन्धं 'गन्धस्ये' त्यादिना समासान्त इकारः। तदङ्गं तस्य नलस्याङ्गमुद्दिश्य लक्ष्यीकृत्य गुणो गन्धादिः मौर्वी च, 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुष्वि'ति वैजयन्ती'। तत्स्पृशस्तद्युक्ताः 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' कुसुमादपादानात् पातुका धावन्तीं, 'लषपते' त्यादिना उकञ्प्रत्ययः। स्वनन्तीर्ध्वनन्तीः शिलीमुखालीः अलिपंक्तीः बाणपंक्तीश्चावलोक्य स्मरः स्वचापात् पौष्पाद् दुर्निर्गताः विषमनिर्गता ये मार्गणा बाणास्तद्भ्रमाद्धेतोर्लज्जितोऽभवत् न्यूनमिति शेषः। दुर्निर्गतेषवो ह्यधिकं स्वनन्तीति प्रसिद्धेः। अत्र स्वनच्छिलीमुखेषु दुर्निर्गतमार्गणभ्रमाद् भ्रान्तिमदलङ्कारः, स च शिलीमुखेति श्लेषानुप्राणितादुत्थापिता चेयं स्मरस्य लज्जितत्वोत्प्रेक्षेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ९३ ॥

अन्वयः—सुगन्धि तदङ्गम् उद्दिश्य गुणस्पृशः कुसुमात् पातुकाः स्वनन्तीः शिलीमुखालीः अवलोक्य स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात् स्मरः लज्जितः।

हिन्दी—सुगन्धयुक्त नल के अंगों की दिशा में सुगन्ध गुण को धारण करते पुष्प से उड़कर आती (अथवा 'गुणस्पृशः कुसुमात् सुगन्धि तदङ्गम् उद्दिश्य पातुकाः'—अन्वय करके 'सुगन्धित फूल से भी अधिक सुगन्धमय नल के अंगों की ओर उड़ी आती') भनभनाती भ्रमरावलि को देखकर उसे कुसुमधनु के गुण अर्थात् प्रत्यंचा से छूटी शब्द करती शिलीमुख अर्थात् बाणों की माला

समक्ष अपने धनुष् से दुर्निर्गत अर्थात् लक्ष्य से भटके बाण की भ्रांति के कारण कामदेव लजा गया ।

टिप्पणी— लक्ष्यभ्रष्टता के कारण काम का भ्रम में पड़ लज्जित होना,– इस आधार पर भ्रांति और श्लेषानुप्राणिता उत्प्रेक्षा का संकर ।।९३।।

मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः क्षतं समुच्चरच्चन्दनसारसौरभम् ।
स वारनारीकुचसञ्चितोपमं ददर्श मालूरफलं पचेलिमम् ।।९४।।

जीवातु—मरुदिति । मरुता वायुना ललत्पल्लवानाञ्चलत्किसलयानां कण्टकैस्तीक्ष्णाग्रैरवयवैः क्षतमन्यत्र विलसद्विटनखैः क्षतमिति गम्यते' समुच्चरत् परितः प्रसर्पत् चन्दनसारस्येव सौरभं यस्य तत् अतएव वारनारीकुचेन वेश्यास्तनेन सञ्चितोपमं सम्पादितसादृश्यमित्युपमालङ्कारः । 'वारस्त्री गणिका वेश्ये'त्यमरः । कुलाङ्गनानखक्षताद्यनौचित्याद्वारविशेषणं, पचेलिमं स्वतः पक्वं कर्मकर्त्तरि 'केलिमर उपसंख्यानमि'ति पचेः केलिमर्प्रत्ययः । मालूरफलं बिल्वफलं 'बिल्वे शाण्डिल्यशैलूषौ मालूरः श्रीफलावपी'त्यमरः । स नलो ददर्श ।। ९४ ।।

अन्वयः—सः मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः क्षतं समुच्चरच्चन्दनसारसौरभं वारनारीकुचसञ्चितोपमं पचेलिमं मालूरफलं ददर्श ।

हिन्दी—उस (नल) ने वायु से झूमते पल्लवों और काँटों से कटे-फटे, चंदन गन्ध से भी श्रेष्ठ सुगन्ध छलकाते, (अतएव) मरुत् देव के समान पल्लव अर्थात् विलासी विट के कांटों के समान तीक्ष्ण नखों (अथवा विलासी के पल्लव सम हाथ के काँटे अर्थात् नखों) के क्षत-चिह्न से युक्त, चंदन, कपूर आदि की सुगन्ध छलकाते वारांगना के कुच का सादृश्य अर्जित करनेवाले पके बिल्वफल को देखा ।

टिप्पणी—बिल्वफल को 'वारनारीकुचसंचितोपम' इस आशय से कहा गया कि कुलनारी के नख क्षतों का प्राकट्य उचित नहीं होता । उपमा अलंकार ।। ९४ ।।

युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरम् ।
स्मरेषुधीकृत्य धिया भियाऽन्धया स पाटलायाः स्तबकं प्रकम्पितः ।।९५।।

जीवातु—युवेति । युवा च युवती च तयोर्यूनोर्द्वयी मिथुनं तस्याश्चित्तयोः कर्मणोर्निमज्जने ण्यन्ताल्लुट् उचितैः क्षमैः प्रसूनैः पुष्पबाणैः शून्येतरदशून्यं पूर्णं गर्भगह्वरं गर्भकुहरं यस्य तत् पाटलायाः पाटलवृक्षस्य स्तबकं कुसुमगुच्छम्भियान्धया भयमूढया धिया भयजन्यभ्रान्त्येत्यर्थः । स्मरेषुधीकृत्य कामतूणीकृत्य तथा विभ्रम्य इत्यर्थः, अत एव भयात् प्रकम्पितश्चकम्पे । अत्र पाटलस्तबके मदनतूणीरभ्रमात् भ्रान्तिमदलङ्कारः । 'कविसंमतसादृश्याद्विषये विहितात्मनि । आरोप्यमाणानुभवो यत्र स भ्रान्तिमान्मतः ॥' इति लक्षणात् ॥ ९५ ॥

अन्वयः—युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरं पाटलायाः स्तबकं भियान्धया धिया स्मरेषुधीकृत्य सः प्रकम्पितः ।

हिन्दी—तरुण-तरुणी के द्विधे चित्तों के मध्य डूब जाने योग्य फूलों से जिसका भीतरी भाग परिपूर्ण है, ऐसे पाटल के गुच्छे में भय से अंधी बुद्धि (विवेकहीनता) के कारण कामबाणों की भ्रांति से वह कंपित होने लगा ।

टिप्पणी—राजा ने समझा कि यह पाटलस्तबक नहीं बाणों से परिपूर्ण काम का तूणीर है । उद्दीपन । मल्लिनाथ ने यहाँ भ्रांतिमान् अलंकार का निर्देश किया है, विद्याधर ने रूपक और अनुप्रास का ॥ ९५ ॥

मुनिद्रुमः कोरकितः शितिद्युतिर्वनेऽमुनाऽमन्यत सिंहिकासुतः ।
तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितं कलाकलापं किल वैधवं वमन् ॥ ९६ ॥

जीवातु—मुनीति । अमुना नलेन वने कोरकितः सञ्जातकोरकः शितिद्युतिः पत्रेषु कृष्णच्छविः मुनिद्रुमोऽगस्त्यवृक्षः तमिस्तपक्षे त्रुटिकूटेन क्षयव्याजेन भक्षितम् भक्षितत्वे कुतः क्षय ? इति भावः । अत्र कूटशब्देन क्षयोपह्नवेन भक्षणारोपादपह्नवभेदः । वैधवं चन्द्रसम्बन्धि 'विधुः सधांशुः शुभ्रांशुरि' त्यमरः । कलाकलापङ्कलासमूहं वमन्नुद्गिरन् सिंहिकासुतो राहुरमन्यत किल खलु ? अत्र कोरकितशितद्युतित्वाभ्यां मुनिद्रुमस्येन्दुकलाकलापवमनविशिष्टराहुत्वोत्प्रेक्षा, सा चोक्तापह्नवोत्थापितेति सङ्करः ॥ ९६ ॥

अन्वयः—वने कोरकितः शितिद्युतिः मुनिद्रुमः अनेन तमिस्रसपक्षत्रुटिकूटभक्षित वैधवं कलाकलापं वमन् सिंहिकासुतः अमन्यत किल ।

हिन्दी—वन में (शुभ्र) कलियों से युक्त काले रंग के अगस्त्य वृक्ष को राजा ने काले पाख में हुए चंद्रकला-क्षय के कूट (व्याज, मिस) से खाये विधु (चंद्र) की कलाओं का वमन करता सिंहिकापुत्र राहु समझा।

टिप्पणी—अगस्त्य वृक्ष के पत्ते काले होते हैं, परन्तु कलियाँ उज्ज्वल शुभ्र, इसी कारण वृक्ष में राहु की और कलियों में चन्द्रकलाओं की संभावना की गयी है। राजा के मन में अगस्त्यवृक्ष को देखकर डर-सा लगा उसे दुष्ट ग्रह राहु समझकर। 'प्रकाश'—कार ने सिंहिका-पुत्र का अर्थ सिंहिनी का जाया सिंह करके यह भी कल्पना की है कि वन में खाये गये किसी खरगोश आदि शुभ्र पशु को उगलता यह सिंह है, जिसे देख राजा को डर लगा। वस्तुतः विरही राजा को अगस्त्यवृक्ष कष्टदायक लग रहा था। यह भी माना जा सकता है कि अगस्त्यवृक्ष को राहु रूप में देख राजा तुष्ट हुआ कि अब वियोगियों को संतप्त करने वाला चंद्रमा तो राहु के डर से सताने को नहीं रहेगा, पर जब उसने देखा कि खाये चंद्र को राहु उगल रहा है, तो पुनः चंद्र-भय राजा को हो गया। मल्लिनाथ ने इस पद्य में उत्प्रेक्षा-अपह्नुति के संकर का निर्देश किया है, विद्याधर ने उत्प्रेक्षारूपक-अपह्नुति-श्लेष के संकर का।९६।

पुरोहठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदा वृतेर्वीरुधि नद्धविभ्रमाः।
मिलन्निमीलं विदधुर्विलोकिता नभस्वतस्तं कुसुमेषु केलयः॥ ९७॥

जीवातु—पुर इति। पुरोऽग्रे हठात् झटित्याक्षिप्ता आकृष्टा तुषारेण हिमेन पाण्डराणां छदानां पत्राणां तुषारवत् पाण्डरस्य च्छदस्याच्छादकस्य वस्त्रस्य चावृतिरावरणं येन तस्य नभस्वतो वायोः वीरुधि लतायां नद्धाः अनुबद्धा विभ्रमा भ्रमणानि विलासाश्च यासान्ताः कुसुमेषु विषये केलयः क्रीडाः कुसुमेषु केलयः कामक्रीडाश्च विलोकिताः सत्यस्तं नृपं नलं मिलन्निमीलो मिलनं यस्य तं विदधुः निमीलिताक्षश्चक्रुरित्यर्थः। विरहिणामुद्दीपकदर्शनस्य दुःसहदुःखहेतुत्वात् अन्यत्र (नेक्षेतार्कं न नग्नां स्त्रीं न च संस्पृष्टमैथुनामि'ति निषेधादिति भावः।) अत्र प्रस्तुतनभस्वद्विशेषणसामर्थ्यादप्रस्तुतकामुकविरह-प्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः॥ ९७॥

अन्वयः—पुरः (पुरा) हठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदावृतेः नभस्वतः वीरुधि नद्धविभ्रमाः कुसुमेषु केलयः तं मिलन्निमीलं विदधुः।

हिन्दी—सम्मुख (पहिले) बलात् तुषार से पांडु हुए पत्ते रूप आवरण (वस्त्र) को खींचने वाले वायु को लता से सम्बन्ध रखने वाले हिलने-डोलने रूप विलास से युक्त फूलों के साथ क्रीड़ाएँ देख राजा ने आँखें मूंद लीं।

टिप्पणी—'नद्धविभ्रमाः' का 'वि' अर्थात् पक्षियों के भ्रम अर्थात् इधर-उधर उड़ते रहने का अर्थ किया जाता है। वायु नायक है और वीरुध—लता नायिका, जिसका पत्र रूप वस्त्र नायक बलात् उतार रहा है, इस संभोग दृश्य को न देखने की इच्छा से लज्जा अथवा विरह के कारण राजा ने आँखें मूंद ली। याज्ञवल्क्य का भी इस विषय में निषेध है कि नग्न अथवा रतिक्रीडा में संलग्न नारी को देखना उचित नहीं है। समासोक्ति अलंकार ॥ ९७ ॥

गता यदुत्सङ्गतले विशालतां द्रुमाः शिरोभिः फलगौरवेण ताम् ।
कथं न धात्रीमतिमात्रनामितैः स वन्दमानानभिनन्दतिस्म तान् ? ॥९८॥

जीवातु—गता इति। द्रुमा यस्या धात्र्या उत्सङ्गतले उपरि देशे च विशालतां विवृद्धिं गताः तां धात्रीम्भुवञ्च उपमातरं वा 'धात्री जनन्यामलकी वसुमत्युपमातृष्वि'ति विश्वः। 'धा कर्मणि ष्ट्रन्नि'ति दधानेः ष्ट्रन्प्रत्ययः। फलगौरवेण फलभरेण सुकृतातिशयेन च हेतुना अतिमात्रं नामितैः, प्रह्वीकृतैः, नमेर्मित्त्वविकल्पाद्ध्रस्वाभावः। शिरोभिरग्रैः उत्तमाङ्गैश्च वन्दमानान् स्पृशतोऽभिवादयमानांश्च तान् प्रकृतान् द्रुमान् अत एव यच्छब्दानपेक्षी स नलः कथं नाभिनन्दति स्म अभिनन्दैवेत्यर्थः। वृक्षाणां क्षेत्रानुरूपफलस्य सम्पत्तिमपत्यानां च मातृभक्तिञ्च को नाम नाभिनन्दतीति भावः। अत्रापि विशेषण-सामर्थ्यात् पुत्रप्रतीतेः समासोक्तिरलंकारः ॥ ९८ ॥

अन्वयः—सः यदुत्सङ्गतले द्रुमाः विशालतां गता फलगौरवेण अतिमात्र-नामितैः शिरोभिः तां धात्रीं वन्दमानान् तान् कथं न अभिनन्दतिस्म ?

हिन्दी—वह राजा जिसकी गोद में पलकर वृक्ष बड़े हुए, फलभार से अतिशय नम्र शिर करके (सिर झुका) उस अपनी पालन करने–हारी धाय-माँ (धरती) की वंदना करते उन वृक्षों का अभिनन्दन क्यों न करता ? (अथवा यह अर्थ भी कि राजा ने (विरही होने के कारण कुछ भी भला न प्रतीत होने से) अभिनन्दनीय वृक्षों का भी अभिनन्दन नहीं किया।)

टिप्पणी—कर्तव्य करने वालों का सभी अभिनन्दन करते हैं, अतः राजा ने वंदना करते वृक्षों की प्रशंसा की, अथवा वियोग में राजा को कुछ भी—फल, फूल, वृक्ष, लता-भला नहीं लगता था, अतः उसने कर्तव्यपालक वृक्षों की भी उपेक्षा कर दी । समासोक्ति ॥ ९८ ॥

नृपाय तस्मै हिमितं वनानिलैः सुधीकृतं पुष्परसैरहर्महः ।
विनिर्मितं केतकरेणुभिः सितं वियोगिनेऽधत्त न कौमुदी मुदः ॥९९॥

जीवातु—अथातपस्य चन्द्रिकात्वनिरूपणाय तद्धर्मान् सम्पादयति–नृपायेति । वनानिलैः उद्यानवातैः हिमं शीतलं कृतं हिमितं, तत्करोतेर्ण्यन्तात् कर्मणि क्तः । पुष्परसैर्वनवातानीतैः मकरन्दैः सुधीकृतममृतीकृतं तथा केतकरेणुभिः सितं विनिर्मितं शुभ्रीकृतम् अह्नो महस्तेजः अहर्मह आतपः 'रोः सुपी'ति रेफादेशः । तदेव कौमुदीति व्यस्तरूपकं वियोगिने तस्मै नृपाय मुदः प्रमोदान् नाधत्त न कृतवती, प्रत्युतोद्दीपिकैवाभूदिति भावः ॥ ९९ ॥

अन्वयः—वनानिलैः हिमितं पुष्परसैः सुधीकृतं केतकरेणुभिः सितं विनिर्मितम् अहर्महः तस्मै वियोगिने नृपाय कौमुदी मुदः न अधत्त ।

हिन्दी—कानन समीरण से अतिशीतल, फूलों के रस द्वारा अमृत तुल्य और केतक–पराग-कणों से शुभ्र बनाया गया (अतएव सब प्रकार से सुखदायक बनाया गया) भी दिन का प्रकाश उस विरही राजा को चाँदनी–जैसा सुख न दे पाया ।

टिप्पणी—ताप कम करने के सभी उपाय विरही राजा को व्यर्थ लगते थे । 'तस्मै वियोगिने नृपाय वनानिलै···नृपाय मुदः अधत्त, कौमुदी न', इस प्रकार अन्वय करके यह अर्थ भी किया जाता है कि दिन के प्रकाश ने ही राजा को मोद दिया, चाँदनी ने नहीं, क्योंकि विरहिजनों को चाँदनी पीड़ादायिनी मानी जाती है । 'मुदः न अधत्त ? अपितु अधत्त एव'—इस प्रकार काकुवक्रोक्ति मानकर यह अर्थ भी किया जाता है कि क्या सुखदायक बने दिन के प्रकाश ने चाँदनी जैसा मोद नहीं दिया, अपितु दिया । 'कौमुदी' के समान 'अहर्महः' को मानने पर उपमा अथवा रूपक अलंकार । वनानिल

इत्यादि से सुखदायक बना होने पर भी 'अहर्मह' मोद को न दे सका—इस अर्थ में कारण होने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति निमित्त विशेषोक्ति है, विद्याधर ने ऐसा ही माना है ॥ ९९ ॥

वियोगभाजोऽपि नृपस्य पश्यता तदेव साक्षादमृतांशुमाननम् ।
पिकेन रोषारुणचक्षुषा मुहुः कुहूरुताऽऽहूयत चन्द्रवैरिणी ॥१००॥

जीवातु—वियोगेति । वियोगभाजोऽपि वियोगिनोऽपि नृपस्य तदाननमेव साक्षादमृतांशुं प्रत्यक्षचन्द्रं पश्यता अत एव रोषादद्यापि चन्द्रतां न जहातीति क्रोधादिवारुणचक्षुषा पिकेन चन्द्रवैरिणी कुहूर्निजालाप एव कुहूर्नष्टचन्द्रकला अमावास्येति श्लिष्टरूपकं, 'कुहूः स्यात् कोकिलालापनष्टेन्दुकलयोरपी'ति विश्वः । मुहुराहूयत आहूता किमित्युत्प्रेक्षा पूर्वोक्तरूपकसापेक्षेति संकरः । अस्य चन्द्रस्येयमेव कुहूराह्वानीया स्यात् तत्कान्तिराहित्यसम्भवादिति भावः ॥ १०० ॥

अन्वयः—वियोगभाजः अपि नृपस्य तत् आननम् एव साक्षात् अमृतांशुं पश्यता रोषारुणचक्षुषा पिकेन कुहूरुता मुहुः चन्द्रवैरिणी आहूयत ।

हिन्दी—विरही भी राजा के उस मुख को ही साक्षात् (प्रत्यक्ष) अमृत दीधिति चन्द्र के समान देखते क्रोध से आँखें लाल किये कोकिल ने 'कुहू-कुहू' बोलकर बारम्बार चन्द्रमा की शत्रु 'कुहू' अर्थात् अमावस्या को पुकारा ।

टिप्पणी—वियोगपीड़ित होने पर भी राजा का मुख रमणीय रहा, यह भाव है, जिसे देखकर वियोगियों को दुःख देने वाले कोकिल ने क्रुद्ध हो चन्द्रवैरिणी अमावस्या को पुकारा । कोकिलरव वियोगी की पीड़ा को बढ़ाता है । रूपक-उत्प्रेक्षा का संकर ॥ १०० ॥

अशोकमर्थान्वितनामताशया गतान् शरण्यंगृहशोचिनोऽध्वगान् ।
अमन्यतावन्तमिवैष पल्लवैः प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम् ॥१०१॥

जीवातु—अशोकमिति । एष नलः पल्लवैः प्रतीष्ठानिप्रतिगृहीतानि संच्छन्नानि कामस्य ज्वलदस्त्राणि तद्रूपकाणि जालकानि छादकानि बालमुकुलगुच्छा येन तं पल्लवसंच्छन्नकुसुमरूपकामास्त्रमित्यर्थः । अन्यथा तद्दर्शनादेव ते म्रियेरन्निति भावः । अशोकमत एवार्थान्वितनामता नास्ति शोकोऽस्मिन्नित्यन्वर्थसंज्ञा-स्तत्कृतया आशया अस्मानप्यशोकान् करिष्यतीत्यभिलाषेण शरणे रक्षणे

साधु समर्थं शरण्यं मत्वेति शेषः । 'शरणं रक्षणे गृह' इति विश्वः । 'तत्र साधुरि'ति यत्प्रत्ययः । आगतान् शरणागतानित्यर्थः । गृहान् दारान् शोचन्तीति गृहशोचिनः गृहानुद्दिश्य शोचन्त इत्यर्थः । 'गृहः पत्न्यां गृहे स्मृत' इति विश्वः । अध्वगान् प्रोषितान् अवन्तमिव शरणागतरक्षणे महाफलस्मरणादन्यथा महादोषस्मरणाच्च रक्षन्तमिवेत्यर्थः । अमन्यत ज्ञातवान् । अस्त्रभीरूणां तद्गोपनमेव रक्षणाय इति भावः ॥ १०१ ॥

अन्वयः—एषः पल्लवैः प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम् अशोकम् अर्थान्वितनामताशया शरण्यं गतान् गृहशोचिनः अध्वगान् अवन्तम् इव अमन्यत ।

हिन्दी—उस (राजा) ने पल्लवरूप करों में काम के देदीप्यमान अस्त्र रूप नवकलिकाओं को ग्रहण किये अशोक वृक्ष को 'यह वृक्ष अपना 'अशोक' (शोकरहित, शोकनाशक) नाम सार्थक करेगा'—इस आशा से शरण गये घर के सोच में व्याकुल पथिकों की रक्षा करने वाला जैसा माना । अथवा काम के आग्नेय अस्त्र पल्लव-करों में लिये शरण आये पथिकों की हत्या करने वाला जैसा माना ।

टिप्पणी—अशोक के रक्तवर्ण पत्रों की समता काम के देदीप्यमान आग्नेय अस्त्रों से की गयी है । कामोद्दीप्त करने वाला अशोक उन वियोगी पथिकों की, जो उसके 'अशोक' नाम से आकृष्ट हो उसकी शरण आये हैं, काम से उनकी रक्षा के लिए अस्त्र लेकर सन्नद्ध है अथवा 'अवन्तम्' का 'व्यापादयन्तम्' अर्थ करने पर उनकी हत्या कर रहा है । दोनों ही संभावनाएँ हैं । अस्त्रधारी रक्षक भी हो सकता है, विनाशक भी, किन्तु विरहिजनों का पीड़क होने से 'विनाशक'—पक्ष ही अधिक सार्थक प्रतीत होता है, जिससे यह भाव निकलता है कि नल भी अशोक के पल्लव-कलिकाओं को देख और भी व्यथित हुए । 'गृहिणी गृहमुच्यते'—इस न्याय से 'गृह' का अर्थ पत्नी मानकर 'गृहशोचिनः' का तात्पर्य 'प्रिया के सोच में डूबे' समझना चाहिए । सापह्नवा उत्प्रेक्षा ॥१०१॥

विलासवापीतटवीचिवादनात् पिकालिगीतेः शिखिलास्यलाघवात् ।
वनेऽपि तौर्य्यत्रिकमारराध तं क्व भोगमाप्नोति न भाग्यभाग्जनः ? ॥

जीवातु—विलासेति । विलासवापी विहारदीर्घिका तस्यास्तटे वीचीनां

वादनात्पिकानामलीनाञ्च गीतेर्गानात् शिखिनां मयूराणां लास्यलाघवात् नृत्यनैपुण्यात् च वनेऽपि तं नलं तौर्य्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यत्रयं कर्त्तृ, आरराध आराधयामास । तथा हि—भाग्यभाक् भाग्यवान् जनः क्व भुज्यत इति भोगः सुख तं नाप्नोति सर्वत्रैवाप्नोतीत्यर्थः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ।। १०२ ।।

अन्वयः—(नलः) विलासवापीतटवीचिवादनात् पिकालिगीतेः शिखिलास्यलाघवात् वने अपि तं तौर्यत्रिकम् आरराध; भाग्यभाक् जनः क्व भोगम् न आप्नोति ?

हिन्दी—राजा नल ने विलास-बावड़ी के तट से टकराती लहरों से वादन, कोकिल-भ्रमरों से गीत और मयूरों के नृत्य कौशल से नर्तन—इस वन में भी तौर्यत्रिक, (नृत्य, गीत, वाद्य) का आनन्द पाया; भाग्यवान् व्यक्ति को कहाँ भोग-ऐश्वर्य नहीं प्राप्त हो जाता ? सर्वत्र ही प्राप्त हो जाता है ।

टिप्पणी—राजा को वन में भी 'तौर्यत्रिक' प्राप्त हो जाने से यह भाव निकलता है कि भाग्य का लेख कहीं पीछा नहीं छोड़ता । राजा के भाग्य में यह सुख था, सो वन में भी मिल गया; अथवा राजा चित्त-विनोदार्थ—मन बहलाने एकांत की खोज में निकला था, पर सुख-भोग ने, जो वियोग-दशा में उसे भाता नहीं था, उसका पीछा न छोड़ा और उसके खेद का कारण बना । १०४वें श्लोक से यह स्पष्ट हो गया है । सामान्य से विशेष समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास ।। १०२ ।।

तदर्थमध्याप्य जनेन तद्वने शुका विमुक्ताः पटवस्तमस्तुवन् ।
स्वरामृतेनोपजगुश्च शारिकास्तथैव तत्पौरुषगायनीकृताः ।।१०३।।

जीवातु—तदर्थमिति । जनेन सेवकजनेन तदर्थं नलप्रीत्यर्थमध्याप्य स्तुतिं पाठयित्वा तस्मिन् वने विमुक्ता विसृष्टाः पटवः स्फुटगिरः शुकास्तं नलमस्तुवन् । तथैव शुकवदेव तदर्थमध्याप्य मुक्ताः तत्पौरुषस्य नलपराक्रमस्य गायिन्यो गायकाः कृता गायनीकृताः शारिकाः शुकवध्वः स्वरामृतेन मधुरस्वरेणेत्यर्थः । उपजगुश्च ।। १०३ ।।

अन्वयः--जनेन तदर्थम् अध्याप्य तद्वने विमुक्ताः पटवः शुकाः तम् अस्तुवन्, तथैव तत्पौरुषगायनीकृताः शारिकाः (सारिकाः) च स्वरामृतेन उपजगुः ।

हिन्दी—परिजनों द्वारा नल की स्तुति के लिए सिखाकर उस वन में छोड़े गये, चतुर (स्पष्ट बोलने वाले) तोतों ने (वहाँ नल की) स्तुति गायी और उसी प्रकार नल के पराक्रम के गीत गाना सीखीं मैनाओं ने अपने स्वरामृत (मीठे स्वर) से गायन किया ।

टिप्पणी—वन में भी पक्षियों द्वारा राजा की विरुदावली का गान। कालिदास ने भी वन में गाय चराते सम्राट् दिलीप के विषय में ऐसा ही उल्लेख किया है--'आलोकशब्दं वयसां विरावैः ।' (रघुवंश २।९) । विद्याधर के अनुसार जाति अलंकार ।। १०३ ।।

इतीष्टगन्धाढ्यमटन्नसौ वनं पिकोपगीतोऽपि शुकस्तुतोऽपि च ।
अविन्दतामोदभरं बहिश्चरं विदर्भसुभ्रूविरहेण नान्तरम् ।।१०४।।

जीवातु--इतीति । इतीत्थमिष्टगन्धाढ्यमिष्टसौगन्ध्यसम्पन्नं वनमटन्, 'देशकालाध्वगन्तव्या कर्मसंज्ञा ह्यकर्म्मणामि'ति वनस्य देशत्वात् कर्म्मत्वम् । असौ नलः पिकैः कोकिलैरुपगीतोऽपि शुकैः स्तुतोऽपि च परं केवलं 'परं स्यादुत्तमानाप्तवैरिदूरेषु केवल' इति विश्वः । बहिरामोदभरं सौरभ्यातिरेकमेवाविन्दत विदर्भसुभ्रूविरहेण हेतुना आन्तरमामोदभरमानन्दातिरेकरूपन्नाविन्दत न लब्धवान्, प्रत्युत दुःखमेवान्वभूदिति भावः । 'आमोदो गन्धहर्षयोरि'ति विश्वः ।। १०४ ।।

अन्वयः—इति इष्टगन्धाढ्यं वनम् अटन् पिकोपगीतः अपि शुकस्तुतः अपि च असौ परं बहिः आमोदभरम् अविन्दत, विदर्भसुभ्रूविरहेण आन्तरम् न (अविन्दत) ।

हिन्दी—इस प्रकार अभीष्ट गन्ध से समृद्ध वन में भ्रमण करते हुए कोकिल गान और शुक-स्तुति सुनकर भी उसने केवल बाह्य आनन्द ही प्राप्त किया, विदर्भ की सुनयना (दमयन्ती) से विरह के कारण (वास्तविक) आन्तरिक आनन्द नहीं ।

टिप्पणी—वियोगी को 'तुहिनदीधिति' भी 'दवदहन, प्रतीत होता है, सो सुख-साधन भी विरही नल के खेद के कारण ही बने, वास्तविक आनंद उसे न मिल पाया। उक्तिनिमित्ता विशेषोक्ति ॥१०४॥

करेण मीनं निजकेतनं दधद् द्रुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया।
व्यतर्कि सर्वर्तुघने वने मधुं स मित्रमत्रानुसरन्निव स्मरः ॥१०५॥

जीवातु—करेणेति। स नलः निजकेतनं निजलाञ्छनं मीनं द्रुमालवालाम्बुषु निवेशशङ्कया प्रवेशभिया करेण दधत् तादृक् शुभरेखाव्याजेन दधान इत्यर्थः, सर्वर्तुघने सर्वर्तुसङ्कुले अत्र अस्मिन् वने मित्रं सखायं मधुं वसन्तमनुसरन् अन्विष्यन् स्मर इव व्यतर्कि इत्युत्प्रेक्षा ॥ १०५ ॥

अन्वयः—सः निजकेतनं मीनं द्रुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया करेण दधत् सर्वर्तुघने अत्र वने मित्रं मधुम् अनुसरन् स्मरः इव व्यतर्कि।

हिन्दी—उस (राजा) ने कहीं वृक्षों के चारों ओर बने आलवालों (थालों) के जल में प्रविष्ट न हो जाय—इस भय से अपने ध्वज के मत्स्य को हाथ से पकड़े सब ऋतु से परिपूर्ण (अथवा सब ऋतुओं में घन अर्थात् हरे-भरे रहने वाले) उस वन में वसंतसखा का अनुसरण करते-जैसे कामदेव की तर्कणा की।

टिप्पणी–'सदाबहार' उस वन में विरही नल को चारों ओर कामसाम्राज्य ही प्रतीत हुआ। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अनुप्रास—उत्प्रेक्षा ॥१०५॥

लताऽबलालास्यकलागुरुस्तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः।
असेवतामुं मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवनो वनानिलः ॥१०६॥

जीवातु—लतेति। लता एवाबलास्तासां लास्यकलासु मधुरनृत्तविद्यासु गुरुरुपदेष्टेति मान्द्योक्तिः, तरुप्रसूनगन्धोत्कराणां द्रुमकुसुमसौरभसम्पदां पश्यतोहरः पश्यन्तमनादृत्य हरः प्रसह्यापहर्त्तेत्यर्थः। 'पश्यतो यो हरत्यर्थं स चौरः पश्यतोहरः' इति हलायुधः, पचाद्यच् 'षष्ठी चानादरे' इति षष्ठी। 'वाग्दिक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेष्वि'ति वक्तव्यादलुक्। सौरभ्ययुक्तं मधुमकरन्द एव गन्धवारि गन्धोदकं तत्र प्रणीतलीलाप्लवनः। एतेन कृतलीलाव-

गाहन इति शैत्योक्तिः, ईदृग्वनानिलोऽमुं नलमसेवत गुणवान् सेवकः सेव्यप्रियो भवतीति भावः ॥ १०६ ॥

अन्वयः—लताबलाकास्यकलागुरुः तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवनः वनानिलः अमुम् असेवत ।

हिन्दी—वल्लरी रूप कामिनियों को नृत्यकला का शिक्षण देनेवाले गुरु, वृक्षों के फूलों की गंध आँख-देखते उड़ानेवाले चोर, पुष्पमधु से सुगंधित जल में जलक्रीड़ा (विहार) करनेवाले (इस प्रकार मंद, सुगंध, शीतल) वन-समीर ने नल की अभ्यर्थना की ।

टिप्पणी—वन में भी राजा की अभ्यर्थना । तुलनीय-पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणामनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी । तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूतं पवनः सिषेवे ॥ (रघु० २।१३) । विद्याधर ने अनुप्रास-रूपक अलंकारों का निर्देश किया है, चन्द्रकलाकार ने रूपक-समासोक्तिभाव के अङ्गाङ्गिभाव संकर का ॥ १०६ ॥

अथ स्वमादाय भयेन मन्थनाच्चिरत्नरत्नाधिकमुच्चितं चिरात् ।
निलीय तस्मिन्निवसन्नपांनिधिर्वने तडागो ददृशेऽवनीभुजा ॥१०७॥

जीवातु—अथेति । अथ वनालोकनानन्तरं मन्थनाद्भयेन घनार्थं पुनर्मथिष्यतीति भयादित्यर्थः । चिरादुच्चितं सञ्चितं चिरत्नं चिरन्तनं 'चिरपरुत्परारिभ्यस्त्नो वक्तव्य' इति त्नप्रत्ययः । तच्च तद्रत्नाधिकं श्रेष्ठवस्तु भूयिष्ठं चेति चिरत्नरत्नाधिकं 'रत्नं स्वजातौ श्रेष्ठेऽपी'त्यमरः । स्वं धनमादाय तस्मिन् वने निलीयान्तर्धाय निवसन् वर्त्तमानोऽपान्निधिरिवेत्युत्प्रेक्षा । तेन नलेन तडागः सरोविशेषोऽवनीभुजा राज्ञा ददृशे दृष्टः ॥ १०७ ॥

अन्वयः—अथ अवनीभुजा मन्थनात् भयेन चिरात् उच्चितं स्वं चिरत्नरत्नाधिकं आदाय तस्मिन् वने निलीय निवसन् अपां निधिः इव तडागः ददृशे ।

हिन्दी—तत्पश्चात् राजा ने मन्थन के डर से चिरकाल से संचित (वृद्धि को प्राप्त) अपने पुरातन प्रचुर रत्नों को लेकर उस वन में छिपकर रहते हुए जलनिधि के सदृश सरोवर को देखा ।

टिप्पणी—मंथन करके कहीं ये रत्न भी न निकाल लिये जायें—इस डर से

ध्वन में आकर छिपे समुद्र के रूप में सरोवर की उद्भावना सरोवर की निर्मलता और गंभीरता की द्योतक है। 'प्रकाश'-कार ने यहाँ लुप्तोत्प्रेक्षा, मल्लिनाथ ने उत्प्रेक्षा तथा चंद्रकलाकार ने समोसोक्ति-प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के संकर का निर्देश किया है। विद्याधर के अनुसार यहाँ अनुप्रास-अतिशयोक्ति-समासोक्ति हैं। यहाँ से ११६वें श्लोक तक सरोवर का वर्णन है ॥ १०७ ॥

पयोनिलीनाभ्रमुकामुकावलीरदानन्तोरगपुच्छसच्छवीन् ।
जलार्द्धरुद्धस्य तटान्तभूमिदो मृणालजालस्य निभाद् बभार यः ॥१०८॥

जीवातु—यदुक्तं धनमांदायेति, तदेवात्र सम्पादयति नवभिः श्लोकैः पय इत्यादिभिः। यस्तडागः जलेनार्द्धरुद्धस्य अर्द्धच्छन्नस्य तटान्तभूमिदस्तटप्रान्तनिर्गतस्येत्यर्थः। मृणालजालस्य बिसवृन्दस्य निभाद्व्याजादित्यपह्नवालङ्कारः, 'निभो व्याजसदृशयोरि'ति विश्वः। अनन्तोरगस्य शेषाहेः, पुच्छेन सच्छवीन् सवर्णान् तद्बद्धवलानित्यर्थः, पयोनिलीनानामभ्रमुकावलीनामैरावतश्रेणीनां रदान् दन्तान् बभार। तत्रैक ऐरावतः, अत्र त्वसंख्या इति व्यतिरेकः। अभ्रमुकामुका इति द्वितीयासमासो मधुपिपासुवत्, 'न लोके'त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् 'लषपते'त्यादिना कमेरुकञ्प्रत्ययः ॥ १०८ ॥

अन्वयः—यः जलार्द्धरुद्धस्य तटान्तभूमिदः मृणालनालस्य निभाद् अनन्तोरगपुच्छसच्छवीन् पयोनिलीनाभ्रमुकावलीरदान् बभार।

हिन्दी—जो (सरोवर) जल में आधे डूबे, तीर के निकट की धरती से बाहर आये मृणालों के व्याज से असंख्य सर्पों की पूँछ के सदृश जल में छिपे ऐरावतों के दाँतो को धारे हुए था।

टिप्पणी—जब तालाब समुद्र-सम था तो उसमें उसके अनुरूप सामग्री भी अपेक्षित है, अतः यहाँ ऐरावतों की संभावना की गयीं मृणालजाल में। समुद्र से तो एक ही ऐरावत निकला था, यहाँ 'अभ्रकामुकावली' हैं। ऐसा लगता है कि समुद्र में अनेक ऐरावत थे, मंथन में एक निकाल लिया गया, शेष की रक्षा के लिए समुद्र तालाब बनकर वन में आ छिपा। मल्लिनाथ के अनुसार अपह्नव और व्यतिरेक, विद्याधर के अनुसार अपह्नुति। चंद्रकलाकार ने यहाँ उपमाकैतवापह्नुति का संकर माना है ॥ १०८ ॥

तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटास्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन यः ।
बभौ चलद्वीचिकशान्तशातनैः सहस्रमुच्चैःश्रवसामिव श्रयन् ॥१०९॥

जीवातु—तटान्तेति। यस्तडागस्तटान्ते तीरप्रान्ते विश्रान्ता या तुरङ्गमच्छटा नलानीताश्वश्रेणी तस्याः स्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन प्रकटप्रतिबिम्बाविर्भावप्रीत्या निमित्तेन च एकैकशस्तासां वीचीनां कशानामन्तैः शातनैरुग्रताडनैः, 'अश्वादेस्ताडनी कशे'त्यमरः, चलदुल्ललदुच्चैःश्रवसां सहस्रं श्रयन् प्राप्नुवन्निव बभावित्युत्प्रेक्षा, व्यतिरेकश्च पूर्ववत् । एतेन नलाश्वानामुच्चैःश्रवःसाम्यं गम्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ १०९ ॥

अन्वयः—यः तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटास्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन वीचिकशान्तशातनैः चलत् उच्चैःश्रवसां सहस्रं श्रयन् इव बभौ ।

हिन्दी—जो (तड़ाग) तीर पर विश्राम करते नल के अश्वों के स्पष्ट उभरते प्रतिबिम्बों के चुम्बन (संबंध) से (व्याज से) लहर रूपी चाबुक की मार खाकर चलते हजारों उच्चैःश्रवा (नाम के इन्द्राश्वों) की धारणा करता सुशोभित हो रहा था ।

टिप्पणी—इस श्लोक में नलाश्वों की प्रतिच्छाया से अनेक इन्द्राश्वों की सम्भावना की गयी । विद्याधर ने यहाँ अपह्नुति, रूपक और उत्प्रेक्षा अलङ्कारों का निर्देश किया है, मल्लिनाथ ने उत्प्रेक्षा-व्यतिरेक के साथ-साथ 'नलाश्वों का उच्चैःश्रवा के सदृश होना' गम्य मानकर अलङ्कार से वस्तुध्वनि भी । चन्द्रकलाकार वस्तुध्वनि के साथ रूपक और उत्प्रेक्षा का निर्देश करते हैं ॥१०९॥

सिताम्बुजानां निवहस्य यश्छलाद् बभावलिश्यामलितोदरश्रियाम् ।
तमःसमच्छायकलङ्कसङ्कुलं कुलं सुधांशोर्बहलं वहन् बहु ॥११०॥

जीवातु—सितेति । यस्तडागः अलिभिः श्यामलितोदरश्रियां श्यामीकृतमध्यशोभानां सिताम्बुजानां पुण्डरीकाणां निवहस्य च्छलात् तमःसमच्छायः तिमिरवर्णः यः कलङ्कः तेन सङ्कुलं बहलं सम्पूर्णम्बह्वनेकं सुधांशोश्चन्द्रस्य कुलं वंशं वहन् सन् बभौ । अत्र च्छलशब्देन पुण्डरीकेषु विषयापह्नवेन चन्द्रत्वाभेदादपह्नवभेदः, व्यतिरेकस्तु पूर्ववत् ॥ ११० ॥

अन्वयः—यः अलिश्यामलतोदरश्रियां सिताम्बुजानां निवहस्य छलात् तमःसमच्छायकलङ्कसङ्कुलं बहुलं सुधांशोः कुलं वहन् बहु बभौ ।

हिन्दी—जो (तालाब) भ्रमरों से श्यामल मध्य भाग की शोभा से युक्त श्वेतकमल-समूह के व्याज से अन्धकार सदृश प्रतीत होते कलंकचिह्न से व्याप्त अमृत किरण चन्द्र के विस्तृत समूह को धारण करता बड़ा भला लग रहा था ।

टिप्पणी—यहाँ भ्रमरावली से शोभित श्वेतकमलों में अनेक चन्द्रों की कल्पना की गयी, जिससे सरोवर की स्वच्छता भी द्योतित होती है । 'बहुलम्' का अर्थ कृष्णपक्ष-सम्बद्ध भी हो सकता है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अपह्नव और व्यतिरेक हैं, चन्द्रकलाकार उपमा-कैतव-अपह्नुति का अंगांगिभाव संकर मानते हे और विद्याधर अनुप्रास और अपह्नुति का निर्देश करते हैं ॥११०॥

रथाङ्गभाजा कमलानुषङ्गिणा शिलीमुखस्तोमसखेन शार्ङ्गिणा ।
सरोजिनीस्तम्बककैतवान्मृणालशेषाहिभुवाऽन्वयायि यः ॥१११॥

जीवातु—रथाङ्गेति । यस्तडागो रथाङ्ग चक्रवाकः चक्रायुधश्च यद्यपि चक्रवाके रथाङ्गनामेति च प्रयोगो रूढः तथापि प्रायेणास्य चक्रशब्दपर्याय-त्वप्रयोगदर्शनात् (रथाङ्ग) पदस्याप्युभयत्र प्रयोगम्मन्यते कविः, तद्भाजा 'भजो ण्विः', कमलैः कमलया चानुषङ्गिणा संसर्गवता शिलीमुखस्तोमसखेन अलिकुल-सहचरेण अन्यत्र सखिशब्दः सादृश्यवचनः तत्सवर्णेनेत्यर्थः; मृणालं शेषाहिरि-वेत्युपमितसमासः, तद्भुवा तदाकरेण अन्यत्र मृणालमिव शेषाहिः तद्भुवा तदाधारेण शार्ङ्गिणा विष्णुना सरोजिनीनां स्तम्बा गुल्माः, 'अप्रकाण्डे स्तम्बगुल्ममि'त्यमरः, तेषां कदम्बस्य कैतवान्मिषात् अन्वयायि अनुयातोऽनुसृ-तोऽधिष्ठित इति यावत् । अत्रापि कैतवशब्देन स्तम्बत्वमपह्नुत्य शार्ङ्गित्वारो-पादपह्नवभेदः ॥ १११ ॥

अन्वयः—यः रथाङ्गभाजा कमलानुषङ्गिणा मृणालशेषाहिभुवा शिलीमुख-स्तोमसखेन सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवात् शार्ङ्गिणा अन्वयायि ।

हिन्दी—जो (सर) चक्रवाकयुगलों से शोभित, कमलों से परिपूर्ण, मृणाल रूप शेषनाग पर स्थित, भ्रमर-समूह से पूर्ण कमलिनी के गुल्म-समूह के व्याज से

चक्रधारी लक्ष्मीपति, मृणालसदृश शेषनाग पर शयन करने वाले, भ्रमरसमूह के श्यामशार्ङ्गपाणि विष्णु के शदृश लगता था ।

टिप्पणी—द्व्यर्थक शब्दावली के प्रयोग द्वारा 'सरोजिनीस्तम्बकदम्ब' में विष्णु की कलपना की गयी है; जैसे सागर में शेषशायी विष्णु हैं, वैसे ही यहाँ कमलिनी-गुल्म-समूह है। विद्याधर के अनुसार यहाँ श्लेष-उपमा-अपह्नुति अलङ्कार हैं, जिनकी निरपेक्षस्थिति के आधार पर चन्द्रकलाकार यहाँ उनकी संसृष्टि मानते है, मल्लिनाथ ने कैतवाह्नुति का निर्देश किया है ।।१११।।

तरङ्गिणीरङ्कजुषः स्ववल्लभास्तरङ्गलेखा बिभराम्बभूव यः ।
दरोद्गतैः कोकनदौघकोरकैर्धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयश्च यः ।।११२।।

जीवातु—तरङ्गिणीरिति । यस्तडागोऽङ्कजुषोऽन्तिकभाजः उत्सङ्गसङ्गिन्यश्च वा तरङ्गरेखास्तरङ्गराजिरेव स्ववल्लभास्तरङ्गिणीरिति व्यस्तरूपकम्बिभराम्बभूव बभार, 'भीह्रीभृहुवां श्लुवच्चे'ति भृञो विकल्पादाम्प्रत्ययः । किञ्च यस्तडागो दरोद्गतैरीषदुद्बुद्धैः कोकनदौघकोरकैः रक्तोत्पलखण्डकलिकाभिः धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयश्च धृतविद्रुमाङ्कुरनिकरश्चेति । अत्रापि कोकनदकोरकाणां विद्रुमत्वे रूपणाद्रूपकालङ्कारः ।। ११२ ।।

अन्वयः—यः अङ्कजुषः तरङ्गरेखाः स्ववल्लभाः तरङ्गिणीः बिभराम्बभूव, यः च दरोद्गतैः कोकनदौघकोरकैः धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयः ।

हिन्दी—जो (तालाब) अंक में उठती तरंगमाला रूप अपनी प्रिया नदियों को धारण कर रहा था और जो कुछ-कुछ खिलीं रक्तकमलसमूह की कलियों के-से सुशोभित होने के कारण मूँगों के अंकुरों के संचय से युक्त लगता था ।

टिप्पणी—समुद्रप्रिया नदियों के रूप में तडाग में उठती लहरे हैं और लालकमलों की कलियाँ लाल मूँगों का ढेर, इस प्रकार भी सर-सागर में साम्य स्थापित किया गया । मल्लिनाथ के अनुसार कोकनद कोरकों के विद्रुमभाव से रूपण होने के कारण रूपक है, विद्याधर के अनुसार अनुप्रास-रूपक-अपह्नुति का संकर ।। ११२ ।।

महीयसः पङ्कजमण्डलस्य यश्छलेन गौरस्य च मेचकस्य च ।
नलेन मेने सलिले निलीनयोस्त्विषं विमुञ्चन् विधुकालकूटयोः ॥११३॥

जीवातु—महीयस इति । यस्तडागः महीयसो महत्तरस्य गौरस्य च मेचकस्य च पङ्कजमण्डलस्य सितासितसरोजयोश्छलेन सलिले निलीनयोः विधुकालकूटयोः सितासितयोरिति भावः । त्विषं विमुञ्चन् विसृजन्निव नलेन मेने । अत्रच्छलेन विमुञ्चन्निवेति सापह्नवोत्प्रेक्षा ॥ ११३ ॥

अन्वयः—नलेन यः महीयसः गौरस्य मेचकस्य च पङ्कजमण्डलस्य छलेन सलिले निलीनयोः विधुकालकूटयोः त्विषं विमुञ्चन् मेने ।

हिन्दी—नल ने जिसे अत्यन्त शुभ्र और अत्यन्त नील कमलसमूह के छल से जल में छिपे चन्द्र और कालकूट विष की छटा छोड़ते हुए माना ।

टिप्पणी—श्वेत कमल चन्द्र के और नील कमल कालकूट के प्रतीक हैं । विधु से कुछ विद्वान् 'अमृत' का संकेतार्थ भी लेते हैं, क्योंकि आधार से आधेय का भान हो सकता है, चन्द्र को अमृतदीधिति कहा ही जाता है । अमृत-विष का विरोधी युग्म भी है । सापह्नवा उत्प्रेक्षा अथवा इन दोनों का सङ्कर ।

चलीकृता यत्र तरङ्गरिङ्गणैरबालशैवाललतापरम्पराः ।
ध्रुवन्दधुर्वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमताम् ॥११४॥

जीवातु—चलीकृता इति । यत्र यस्मिन् तडागे तरङ्गरिङ्गणैस्तरङ्गकम्पनाश्चलीकृताः चञ्चलीकृताः अबालानां कठोराणां शैवाललतानां परम्पराः पंक्तयः हव्यं वहतीति हव्यवाडवाग्निः 'वहश्चे'ति ण्विप्रत्ययः । तस्यच्छन्दोमात्रविषयत्वाद् अनादरेण भाषायां प्रयोगः । वाडवहव्यवाहो वाडवाग्नेरेव स्थित्याऽन्तरवस्थानेन प्ररोहत्तमो बहिः प्रादुर्भवत्तमो भूमा येषान्ते च धूमाश्च तेषां भावस्तत्ता तां दधुः । बहिरुत्थितधूमपटलवद्बभुरित्यर्थः । ध्रुवमित्युत्प्रेक्षायाम् ॥ ११४ ॥

अन्वयः—यत्र तरङ्गिणैः चलीकृता अबालशैबाललतापरम्पराः वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमतां ध्रुवं दधुः ।

जहाँ लहरों के कंपन से चंचल बड़ी-बड़ी शैवाल की बेलें वाडवाग्नि की स्थिति के कारण ऊपर उठते प्रचुर धूम की निश्चयतः धारणा बनी रही थीं ।

टीप्पणी—धुएँ की रंग की सिवार में सागर की वाडवाग्नि के धुएँ की कल्पना, जिससे सर में समुद्र के तुल्य वाडवाग्नि की संभावना। उत्प्रेक्षा।

प्रकाममादित्यमवाप्य कण्टकैः करम्बितामोदभरं विवृण्वती।
धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा दिवा सरोजिनी यत्प्रभवाप्सरायिता ॥११५॥

जीवातु—प्रकाममिति। आदित्यं सूर्यमवाप्य प्रकामं कण्टकैः नालगतैः तीक्ष्णाग्रैरवयवैः करम्बिता दन्तुरिता, अन्यत्रादित्यमदितिपुत्रमिन्द्रमवाप्य कण्टकैः पुलकैः करम्बिता अतएवामोदभरं परिमलसम्पदमानन्दसम्पदं च विवृण्वती प्रकटयन्ती दिवा दिवसे धृतानि स्फुटश्रीगृहाणि पद्मानि यस्य स विग्रहः स्वरूपं यस्याः सा, अन्यत्र दिवा स्वर्गेण स्फुटश्रीगृहमुज्ज्वलशोभास्पदं विग्रहो देहो यस्याः सा स्वर्गलोकवासिनीत्यर्थः। यस्तडागः प्रभवः कारणं यस्याः सा तज्जन्या सरोजिनी पद्मिनी अप्सरायिता अप्सरं इवाचरिता। 'उपमानाद् कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्चे'ति कर्त्तरि क्तः, 'ओजसोऽप्सरसो नित्यमि' त्यप्सरसः सकारलोपः। श्लिष्टविशेषणेयमुपमा॥ ११५॥

अन्वयः—यत्प्रभवा सरोजिनी आदित्यम् अवाप्य कण्टकैः प्रकामं करम्बिता आमोदभरं विवृण्वती दिवा धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा अप्सरायिता।

हिन्दी—जिस सरोवर में उत्पन्न कमलिनी सूर्य को पाकर कंटकाञ्चित हो सुगंध-भार को फैलाती दिन में स्पष्टतः कमलरूप प्राप्त करती जैसे इन्द्र को पा रोमांचित हो आनन्दातिशय प्रकट करती उज्ज्वल सुन्दर शोभामयी देह-धारिणी अप्सरा होती है, वैसी ही प्रतीत होती है।

टिप्पणी—श्लिष्ट शब्दों के प्रयोग से कमलिनी में अप्सरात्व की कल्पना। श्लिष्टोपमा (मल्लिनाथ) अथवा श्लेष उपमा अलंकार (विद्याधर) ॥११५॥

यदम्बुपूरप्रतिबिम्बितायतिर्मरुत्तरङ्गैस्तरलस्तटद्रुमः।
निमज्ज्य मैनाकमहीभृतः सतस्ततान पक्षान् ध्रुवतः सपक्षताम् ॥११६॥

जीवातु—यदिति। यस्य तडागस्याम्बुरे प्रतिबिम्बितायतिः प्रतिफलितायामः मरुत्तरङ्गैः वातवीजनैस्तरलश्चंचलः तटद्रुमैः निमज्ज्य सतो वर्त्त-

आनस्य पक्षान् धुवतः कम्पयतो मैनाकमहीभृतस्तदाख्यस्य पर्वतस्य सपक्षतां साम्यं ततानेत्युपमा ॥ ११६ ॥

अन्वयः—यदम्बुपूरप्रतिबिम्बतायतिः मरुत्तरङ्गैः तरलः तटद्रुमः निमज्ज्य सतः पक्षान् धुवतः मैनाकमहीभृतः सपक्षतां ततान ।

हिन्दी—जिस (सरोवर) के जल-प्रवाह में जिसकी दीर्घता प्रतिविम्बित हो रही थी, ऐसा वायु-प्रकम्पित लहरों वाला तीरवर्ती वृक्ष पानी के भीतर छिपकर रहते मैनाक पर्वत की समानता का विस्तार कर रहा था ।

टिप्पणी—समुद्र के अन्तर्वर्ती मैनाक पर्वत के साम्य में तट-वृक्ष के प्रतिबिम्ब की कल्पना । उपमा ॥ ११६ ॥

(युग्मम्)

पयोधिलक्ष्मीमुषि केलिपल्वले रिरंसुहंसीकलनादसादरम् ।
स तत्र चित्रं विचरन्तमन्तिके हिरण्मयं हंसमबोधि नैषधः ॥११७॥
प्रियासु बालासु रतिक्षमासु च द्विपत्रितं पल्लवितञ्च बिभ्रतम् ।
स्मरार्जितं रागमहीरुहाङ्कुरं मिषेण चञ्च्वोश्चरणद्वयस्य च ॥११८॥

जीवातु—पयोधीति । अथ च नैषधो निषधानां राजा नलः, 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्' इत्यञ् पयोधिलक्ष्मीमुषि तत्सदृश इत्यर्थः । अत्र केलिपल्वले क्रीडासरसि रिरंसूनां रन्तुमिच्छूनां हंसीनां कलनादेषु सादरं सस्पृहं तत्रान्तिके तत्समीपे विचरन्तं चित्रमद्भूतं हिरण्मयं सुवर्णमयं 'दाण्डिनायना'-दिना निपातनात् साधुः । हंसमबोधि ददर्शेत्यर्थः । 'दीपजने'त्यादिना कर्त्तरि चिण् । पुनस्तमेव विशिनष्टि—प्रियास्विति । बालासु अरतिक्षमासु किन्त्वासन्नयौवनास्वित्यर्थः । अन्यथा रागाङ्कुरासम्भवात् । रतिक्षमासु युवतीषु द्विविधासु प्रियासु विषये क्रमाच्चञ्च्वोस्त्रोटयोः 'चञ्चुस्त्रोटिरुभे स्त्रियामि'त्यमरः । चरणद्वयस्य च मिषेण द्विपत्रितं सञ्जातद्विपत्रं पल्लवितं सञ्जातपल्लवञ्च चञ्च्वोर्द्वयोः सम्पुटितत्वे साम्याद् द्विपत्रितत्वं चरणयोस्तु विभ्रमरागमयत्वेन पल्लवसाम्यात्पल्लवत्वं राजहंसानां लोहितचञ्चुचरणत्वात् तस्मिन् मिषेणेत्युक्तं स्मरार्जितं स्मरेणैव वृक्षरोपणेनोत्पादितमित्यर्थः । राग एव महीरुह-

स्तस्याङ्कुरं रागमहीरुहाङ्कुरं बिभ्रतं चञ्चुपुटमिषेण द्विपत्रितं बालिकागोचर-रागं चरणमिषेण पल्लवितं युवतीविषये रागञ्च बिभ्रतमित्यर्थः। ईदृशं हंसम बोधीति पूर्वेणान्वयः। 'नाभ्यस्ताच्छतुरि'ति नुम्प्रतिषेधः, वृक्षाङ्कुरो हि प्रथमं द्विपत्रितो भवति, पश्चात् पल्लवित इति प्रसिद्धम्। तत्र रागं बिभ्रतम् इति हंसविशेषणात्, तद्रागस्य हंसाधिकरणत्वोक्तिः, प्रियास्वधिकरणभूतास्वि-त्युपाध्यायविश्वेश्वरव्याख्यानं प्रत्याख्येयम्, अन्यनिष्ठस्य रागस्यान्याधिकरण-त्वायोगात्, न चायमेक एवोभयनिष्ठ इति भ्रमितव्यम्, तस्येच्छापरतर-पर्य्यायस्य तथात्वायोगात्, बुद्ध्यादीनामपि तथात्वापत्तौ सर्वसिद्धान्तविरो-धात्, विषयानुरागाभावप्रसङ्गाच्च उभयोरपि रागत्वसाम्यादुभयनिष्ठभ्रमः केषाञ्चित्कस्मात्कामिनोरन्योन्याधिकरणरागयोरन्योन्यविषयत्वमेव नाधि-करणत्वमेवमिति सिद्धान्तः, प्रियास्विति विषयसप्तमी, न त्वाधारसप्तमीति सर्वं रमणीयम्। अत्र रागमहीरुहाङ्कुरमिति रूपकं चञ्चुचरणमिषेणेत्यपह्नवा-नुप्राणितमिति सङ्करः। तेन स बाह्याभ्यन्तररागयोर्भेदे अभेदलक्षणाति-शयोत्थापिता चञ्चुचरणव्याजेनान्तरस्यैव बहिरङ्कुरितत्वोत्प्रेक्षा व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः॥ ११७–११८॥

अन्वयः—पयोधिलक्ष्मीमुषि तत्र केलिपल्वले सः नैषधः रिरंसुहंसीकल-नादसादरं बालासु रतिसमासु च प्रियासु चञ्च्वोः चरणद्वयस्य च मिषेण द्विपत्रितं पल्लवितं च स्मरार्जितं रागमहीरुहाङ्कुरं बिभ्रतम् अन्तिके विचरन्तं चित्रं हिरण्मयं हंसम् अबोधि।

हिन्दी—(उपर्युक्त प्रकार से) समुद्र की श्री के अपहर्त्ता (सागरतुल्य) उस क्रीडा सरोवर में उस निषधराज ने रमणेच्छुका हंसियों के अव्यक्त मधुर स्वर में साभिलाष, बाला और रमण में समर्थ स्व प्रियाओं के मध्य चोंचों और चरणयुगल के मिस दो पत्तियों और पल्लवों से युक्त कामसमुत्पन्न अनुराग-रूप वृक्ष के अंकुर को धारण कर निकट ही विचरण करते विचित्र स्वर्णमय हंस को देखा।

टिप्पणी—इस 'युग्म' में विचित्र स्वर्णहंस के दृष्टिपथ में आने का वर्णन है। 'अन्तिके विचरन्तम्' का अर्थ हंसियों के समीप ही नहीं, क्रीडासर के

निकट भी माना गया है। 'प्रकाश' कार ने 'हिरण्मयः पुरुषः', 'एको हंसः'— इस श्रुति-वचन को आधार मानकर 'पयोधिलक्ष्मीमुषि······नैषधः' का अन्य अर्थ भी द्योतित किया है। वह कहता है कि पूर्वोक्त श्लोकों में और यहाँ भी क्रीडा-सर को सागर के सदृश बताया गया है और वहाँ केलिपल्लव (क्रिडा की लघु सरसी) कहा गया, यह उचित नहीं है। इसी के औचित्य में वह अर्थ करता है कि विस्तार में समुद्र तुल्य और विनश्वर होने से पल्लव तुल्य शरीर में विचरते जैसे कोई योगी आम 'रिरंसुहंसीकलनादसादर' (आत्म शक्ति के अव्यक्त प्रिय नाद में साभिलाष) परमात्मा को देखता है, वैसे ही उस हिरण्मय-परमात्मस्वरूप हंस को नैषध ने देखा। 'प्रियासु······बिभ्रतम्' का अर्थ यह भी पल्लवित किया गया है कि हंस की दो प्रकार की प्रिया थीं— बाला—अरतिक्षमा किन्तु आसन्नयौवना, जिनके निमित्त हंस चोंच रूप पत्तियाँ लिये था अर्थात् उनको चुम्बन मात्र से तुष्ट करता था और इस प्रकार बालिका-गोचर राग प्रकट कर रहा था। दूसरे प्रकार की प्रौढा रतिसमर्था नायिकाओं के निमित्त गाढरागतासूचक लाल चरण युगल थे। इस प्रकार वह हंस स्मर-तरु के अंकुर से युक्त था, जो क्रमशः पत्रित और पल्लवित था। विद्याधर ने इस 'युग्म' में अनुप्रास-यथासंख्य-रूपक-अपह्नुति की संसृष्टि का निर्देश किया है; मल्लिनाथ के अनुसार 'रागमहीरुहाङ्कुर' में रूपक है, जो 'चञ्चुचरण-मिषेण' अपह्नुति से अनुप्राणित है, इस प्रकार रूपक-अपह्नुति का संकर है। और इसके द्वारा बाह्य और अभ्यन्तर रागों के भेद में अभेद लक्षण अतिशयोक्ति से उत्थापित चंचु-चरण के व्याज से आन्तर की बहिरङ्कुरितता—उत्प्रेक्षा व्यंजित हुई है। इस प्रकार अलंकार द्वारा अलंकार ध्वनि है। चन्द्र-कलाकार ने अलंकार-ध्वनि मानी है और पहिले श्लोक में निदर्शना तथा दूसरे में यथासंख्य—रूपक—कैतवापह्नुति के सङ्कर का निर्देश किया है।

महीमहेन्द्रस्तमवेक्ष्य स क्षणं शकुन्तमेकांतमनोविनोदिनम्।
प्रियावियोगाद्विधुरोऽपि निर्भरं कुतूहलाक्रांतमना मनागभूत्॥११९॥

जीवातु—महीति। महीमहेन्द्रो भूदेवेन्द्रः स नलः एकान्तं मनो विनोदयतीति तथोक्तं तं शकुन्तं पक्षिणं क्षणमवेक्ष्य प्रियावियोगन्निर्भरमतिमात्रं

विधुरो दुःस्थोऽपि मनागीषत्कुतूहलाक्रान्तमनाः कौतुकितचित्तोऽभूत्, गृहीतकामोऽभूदित्यर्थः ॥ ११९ ॥

अन्वयः—सः महीमहेन्द्रः एकान्तमनोविनोदिनं तं शकुन्तं क्षणम् अवेक्ष्य प्रियावियोगात् निर्भरं विधुरः, अपि मनाक् कुतूहलाक्रान्तमनाः अभूत् ।

हिन्दी—इस धरती को इन्द्र (नल) का मन वहाँ निर्जन में मनोविनोद करने वाले अथवा वहाँ एकान्त वन में राजा का मन प्रसन्न करने वाले अथवा नियमपूर्वक अत्यन्त आह्लाददायक उस पक्षी (स्वर्णहंस) को क्षण भर निहार कर प्रिया के वियोग के कारण अत्यन्त विह्वल होने पर भी थोड़ा-सा कुतूहल से आक्रान्त हो गया ।

टिप्पणी—विचित्र पदार्थ प्रत्येक अवस्था में मन को आकृष्ट करते ही हैं । ऐसा ही नल के साथ हुआ, कौतुक से उसका चित्त भर उठा । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और विशेष अलंकार ॥ ११९ ॥

अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा ।
तृणेन वात्येव तयाऽनुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना ॥१२०॥

जीवातु—कथमीदृशे चापल्ये प्रवृत्तिरस्य धीरोदात्तस्येत्याशङ्क्य नात्र जन्तोः स्वातन्त्र्यं किन्तु भाव्यर्थानुसारिणी विधातुरिच्छैव तथा प्रेरयतीत्याह—अवश्येति । अवश्यभव्येष्ववश्यं भाव्यर्थेषु विषये 'भव्यगेया'दिना कर्त्तरि यत्प्रत्ययान्तो निपातः, 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये' इत्यवश्यमो मकारलोपः, अनवग्रहग्रहा अप्रतिबन्धनिर्बन्धा निरङ्कुशाभिनिवेशेति यावत्, 'ग्रहोऽनुग्रहनिर्बन्धग्रहणेषु रणोद्यमे' इति विश्वः । वेधसः स्पृहा विधातुरिच्छा यया दिशा धावति येनाध्वना प्रवर्त्तते तयैव दिशा भृशावशात्मनाऽत्यन्तपरतन्त्रस्वभावेन जनस्य चित्तेन तृणेन वात्या वातसमूह इव, 'पाशादिभ्यो यः' अनुगम्यते, वेधसः स्पृहा कर्म्म ॥ १२० ॥

अन्वयः—अवश्यभव्येषु वेधसः अनवग्रहग्रहा स्पृहा यथा दिशा धावति तया जनस्य भृशावशात्मना चित्तेन तृणेन वात्या इव अनुगम्यते ।

हिन्दी—नियम से होने वाले शुभाशुभ कार्यों के विषय में विधाता की अबाध्य—निरर्गल प्रसार वाली इच्छा जिस मार्ग से भागती जाती है, उसी

मार्ग से मनुष्य का अत्यन्त पराधीन चित्त भी उसी प्रकार अनुगमन करता है, जिस प्रकार तिनका बात का अनुगमन ।

टिप्पणी—विरही राजा का मन भी कुतूहलाक्रान्त क्यों हुआ, इसका उत्तर इस अर्थान्तरन्यास द्वारा दिया गया । यह विधाता का नियत लेख था कि हंस के माध्यम से नल-दमयन्ती के सन्देशों का आदान-प्रदान हो और उनका विवाह हो, इसी कारण विह्वल राजा का मन भी विधि-विधान-वश स्वर्णहंस के प्रति कुतूहलाक्रांत हुआ । उपमा ॥ १२० ॥

अथावलम्ब्य क्षणमेकपादिकां तदा निदद्रावुपपल्वलं खगः ।
सतिर्यगावर्जितकन्धरः शिरः पिधाय पक्षेण रतिक्लमालसः ॥१२१॥

जीवातु–चिकीर्षितार्थे दैवानुकूल्यं कार्यतो दर्शयति-अथेति । अथ नलदृष्टि-प्राप्त्यनन्तरं रतिक्लमालसः स खगो हंसः तदा नलकुतूहलकाले क्षणमेकाः पादो यस्यां क्रियायामित्येकपादिका एकपादेनावस्थानं मत्वर्थीयष्ठन्प्रत्ययः, 'तद्धितार्थे'-त्यादिना सङ्ख्यासमासः, 'यस्येति' लोपस्य स्थानिवद्भावेन ताद्रूप्याभावान्न पादः पदादेशः, तामेकपादिकामवलम्ब्य तिर्यगावर्जितकन्धरः आवर्त्तितग्रीवः सन् पक्षेण शिरः पिधाय उपपल्वलं पल्वले निदद्रौ सुष्वाप । स्वभावोक्तिरलङ्कारः 'स्वभावोक्तिरलङ्कारो यथावद्वस्तुवर्णनम्' इति लक्षणात् ॥

अन्वयः—अथ तदा रतिक्लमालसः स खगः एकपादिकाम् प्रवलस्य तिर्यगा-वर्जितकन्धरः (भूत्वा) पक्षेण शिरः पिधाय उपपल्वलं क्षणं निदद्रौ ।

हिन्दी—तदनन्तर उस समय सुरतखेद से शब्द कर वह पक्षी (हंस) एक पैर के सहारे खड़ा हो थोड़ी-सी टेढ़ी गरदन करके पंख से शिर ढककर सरोवर के निकट क्षण भर को सो गया ।

टिप्पणी—पक्षिस्वभाव का वर्णन । मल्लिनाथ के अनुसार स्वभावोक्ति और विद्याधर के अनुसार जाति अलंकार ॥ १२१ ॥

सनालमात्माननिर्जितप्रभं ह्रिया नतं काञ्चनमम्बुजन्म किम् ।
अबुद्ध तं विद्रुमदण्डमण्डितं स पीतमम्भःप्रभुचामरञ्च किम् ? ॥१२२॥

जीवातु—सनालमिति । स नलः तं निद्राणं हंसम् आत्माननेन निर्जितप्रभं

निजमुखनिराकृतशोभम् अत एव ह्रिया नतं सनालं नालसहितं काञ्चनं सौवर्णमम्बुजन्माबुजं किम् ? तथा विद्रुमदण्डेन मण्डितं भूषितं पीतवर्णमम्भःप्रभोरपाम्पत्युः वरुणस्य चामरं किम् ? इति शब्दोऽत्राहार्य्यः इति अबुद्ध बुद्धवानुत्प्रेक्षितवानित्यर्थः। बुध्यतेर्लुङि तङः 'झषस्तथोर्धो ध' इति तकारस्य धकारः ॥ १२२ ॥

अन्वयः—सः तम् आत्माननिर्जितप्रभं ह्रिया नतं सनालम् अम्बुजन्म किम् (इति) अबुद्ध, (अथ) विद्रुमदण्डमण्डितं पीतम् अम्भःप्रभुचामरं च किम् —(इति अबुद्ध) ।

हिन्दी—उसने उस (हंस) को अपने (नल के) मुख की कान्ति से पराजित (अतएव) लज्जा से झुका यह नाल सहित जलज (कमल) है, यह तर्कणा की अथवा यह मूंगों से जिसका दंड मढ़ा हुआ है, ऐसा पीले वर्ण का जल के स्वामी वरुण का चामर है—यह समझा ।

टिप्पणी—हंस के प्रति दो सम्भावनाएँ । लाल चरण और पीला हंस, अतः वर्णसाम्य के आधार पर विद्रुमदंडमंडित वरुण-चामर की कल्पना । विद्याधर के अनुसार संदेह अलंकार, चन्द्रप्रभाकार के अनुसार काव्यलिङ्ग-उत्प्रेक्षा-तुल्ययोगिता का अङ्गांगिभाव सङ्कर ॥ १२२ ॥

कृतावरोहस्य हयादुपानहौ ततः पदे रेजतुरस्य बिभ्रती ।
तयोः प्रबालैर्वनयोस्तथाऽम्बुजैर्नियोद्धुकामे किमु बद्धवर्मणी ? ॥१२३॥

जीवातु—कृतेति । ततस्तन्निदर्शनानन्तरं दयादश्वात्कृतावरोहस्य कृतावतरणस्यास्य नलस्योपानहौ वर्मणी पादत्राणे । 'पादत्राणे उपानहौ' इत्यमरः । पदे चरणे तयोर्वनयोः सलिलकाननयोः 'वने सलिलकानने' इत्यमरः । प्रवालैः पल्लवैः तथाम्बुजैः पद्मैश्चेत्यर्थः, 'सहार्थे तृतीया' नियोद्धुं कामोऽभिलाषो ययोस्ते नियोद्धुकामे युद्धकामे इत्यर्थः । 'तुं काममनसोरपी'ति तुमुनो मकारलोपः, अतो बद्धवर्म्मणी किमु बद्धकवचे इव ते रेजतुः किमित्युत्प्रेक्षा ॥१२३॥

अन्वयः—ततः हयात् कृतावरोहस्य अस्य उपानहौ बिभ्रती पदे तयोः वनयोः प्रवालैः तथा अम्बुजैः नियोद्धुकामे बद्धवर्मणी रेजतुः किमु ?

हिन्दी—तदनन्तर घोड़े से उतरे इस (नल) के जूता-पहिने पैर दोनों

वनों (जंगल और जल) के पल्लव और कमलों से युद्ध करने के निमित्त कवच-धारण किये सुशोभित हो रहे थे ?

टिप्पणी—नल उपानह्-धारी दोनों चरणों का साम्य क्रमशः वन (उपवन, जंगल) के किसलय और वन (जल) के रक्तोत्पलों से किया गया है। जूता रूपी कवच धारे वे चरण पल्लव और रक्तोत्पल से युद्धार्थ प्रस्तुत हैं। भाव यह है कि नल के चरण अपने दोनों उपमानों की चुनौती स्वीकार कर उन पर अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने को उद्यत हैं। विद्याधर के अनुसार यथासंख्य और उत्प्रेक्षा, जिसे चंद्रकलाकार ने इस दोनों, अलंकारों का अंगांगिभाव संकर कहा है। मल्लिनाथ ने केवल उत्प्रेक्षा का ही उल्लेख किया है ॥१२३॥

विधाय मूर्ति कपटेन वामनीं स्वयं बलिध्वंसिविडम्बिनीमयम् ।
उपेतपार्श्वश्चरणेन मौनिना नृपः पतङ्गं समधत्त पाणिना ॥१२४॥

जीवातु—विधायेति। अयं नृपः स्वयमेव कपटेन छद्मना वामनीं ह्रस्वां गौरादित्वात् ङीप्, बलिध्वंसिविडम्बिनीं कपटवामनविष्णुमूर्त्यनुकारिणीमित्यर्थः, मूर्ति विधाय कायं सङ्कुच्येत्यर्थः मौनिना निःशब्देन चरणेनोपेतपार्श्वः प्राप्तसंसान्तिकः पाणिना पतङ्गं पक्षिणं समधत्त, संधृतवान् जग्राहेत्यर्थः,। स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ १२४ ॥

अन्वयः—अयं नृपः स्वयं कपटेन बलिध्वंसिविडम्बिनीं वामनीं मूर्त्तिं विधाय मौनिना चरणेन उपेतपार्श्वः पाणिना पतङ्गं समधत्त।

हिन्दी—इस राजा (नल) ने स्वयं कपट से बलिराज का ध्वंस करनेवाले विष्णु का अनुसरण करने वाली वामनी—छोटी देह बनाकर (सिकुड़ते हुए) निः शब्द चरण धरते हुए समीप पहुँचकर हाथ से उसी प्रकार उस पतंग (पक्षी हंस) को हाथ से पकड़लिया, जैसे वामन विष्णु ने अकाशगामी निःशब्द चरण धरते हुए पास पहुँच कर सूर्य को हाथ से छू लिया था।

टिप्पणी—पौराणिक कथा के माध्यम से वामन से राजा नल की तुलना। पक्षी को दबे पैर चुपचाप पहुँच कर ही पकड़ा जाता है। मल्लिनाथ ने यहाँ स्वभावोक्ति, चन्द्रकलाकार ने उपमा स्वभावोक्ति के संकर और विद्याधर ने उपमा और जाति अलङ्कारों का निर्देश किया है ॥ १२४ ॥

तदात्तमात्मानमवेत्य संभ्रमात् पुनः पुनः प्रायसदुत्प्लवाय सः ।
गतो विरुत्योड्डयने निराशतां करौ निरोद्धुर्दशति स्म केवलम् ॥१२५॥

जीवातु—तदिति । स हंसः आत्मानं तदा तु तेन नलेनात्तं गृहीतमवेत्य ज्ञात्वा सम्भ्रमादुत्प्लवायोत्पतनाय पुनः पुनः प्रायसदायस्तवान् । यसु प्रयत्न इति धातोर्लुङि पुष्पादित्वात् च्लेरङादेशः । उड्डयने उत्पतने निराशतां गतो विरुत्य विक्रुश्य निरोद्धुः ग्रहीतुः करौ केवलं करावेव दशति स्म दष्टवान् । अत्रापि स्वभावोक्तिरेव ॥ १२५ ॥

अन्वयः—सः आत्मानं तदात्तम् अवेत्य संभ्रमात् उत्प्लवाय पुनः पुनः प्रायसत् (किन्तु) उड्डयने निराशतां गतः विरुत्य केवलं निरोद्धुः करौ दशति स्म ।

हिन्दी—वह (हंस) अपने को नल के अधीन जान कर आतंकित हो बारंबार उड़ने का प्रयत्न करने लगा, किन्तु उड़ने में निराशा को प्राप्त हो केवल दीन शब्द करता हुआ पकड़ने वाले नल के हाथों को काटने लगा ।

टिप्पणी—यह पक्षी का स्वभाव है कि इस दशा में फड़फड़ाता और चिल्लाता-काटता है । स्वभावोक्ति ॥ १२५ ॥

ससम्भ्रमोत्पातिपतत्कुलं सरः प्रपद्योत्कतयाऽनुकम्पिताम् ।
तमूर्मिलोलैः पतगग्रहान्नृपं न्यवारयद्वारिरुहैः करैरिव ॥१२६॥

जीवातु—स इति । ससम्भ्रमं सत्वरमुत्पातिना उड्डीयमानेन पतत्कुलेन पक्षिसङ्घेनाकुलं सङ्कुलं सरः कर्तृ उत्कतया उन्मनस्तया 'उत्क उन्मना' इति निपातनादिविधानाच्च साधुः । अनुकम्पितां प्रपद्य कृपालुतां प्राप्य तं नृपमूर्मिलोलैश्चलैर्वारिरुहैः करैरिति व्यस्तरूपकम्, पतगग्रहात्पक्षिग्रहात् न्यवारयदिवेत्युत्प्रेक्षा । वास्तवनिवारणासम्भवादुत्प्रेक्षा, निवारणस्य करसाध्यत्वात् तत्र रूपकाश्रयणम्, अत एवेवशब्दस्य उपमाबाधेनार्थानुसाराद्व्यवहितान्वयेनाप्युत्प्रेक्षाव्यञ्जकत्वमिति, रूपकोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ १२६ ॥

अन्वयः—ससंभ्रमोत्पातिपतत्कुलाकुलं सरः उत्कतया अनुकम्पिताम् (अनुकम्प्रताम्) प्रपद्य तं नृपम् ऊर्मिलोलैः वारिरुहैः करैः इव पतगग्रहात्-न्यवारयत् ।

हिन्दी—सहसा आतंक के कारण उड़ पड़ने वाले पक्षिगण से परिव्याप्त सरोवर उछलते जल के रूप में उत्सुकता प्रकट करता दयाभाव को प्राप्त हो उस राजा को मानों तरंगों से चंचल जलज रूप हाथों से हंस के ग्रहण से रोकने लगा (निषेध करने लगा)।

टिप्पणी—हंस के पकड़े जाने पर स्वभाविक रूप आतंकित पक्षी जब सहसा उड़ पड़े और इस कारण जल हिल गया और उसमें बनती लहरों द्वारा कमल भी चंचल हो उठे, जिनकी राजा को हंस पकड़ने का निषेध करते सरोवर के हाथों के रूप में संभावना की गयी है। मल्लिनाथ ने इस श्लोक में रूपक-उत्प्रेक्षा का तथा चन्द्रकलाकार ने उपमा-उत्प्रेक्षा के अंगांगिभाव के संकर का निर्देश किया है। विद्याधर के अनुसार यहाँ अनुप्रास-उत्प्रेक्षा-रूपक-स्वभावोक्ति का सङ्कर है ॥ १२६ ॥

पतत्त्रिणा तद्रुचिरेण वञ्चितं श्रियः प्रयान्त्याः प्रविहाय पल्वलम् ।
चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा चुकूज कूले कलहंसमण्डली ॥१२७॥

जीवातु—पतत्त्रिणेति । रुचिरेण पतत्त्रिणा हंसेन वञ्चितं विरहितं तत्पल्वलं सरः विहाय प्रयान्त्याः गच्छन्त्याः श्रियो लक्ष्म्याश्चलद्भ्यां पदाम्भोरुहनूपुराभ्याम् उपमा साम्यं यस्याः सा कलहंसमण्डली कूले चुकूज । यूथभ्रंशे कूजनमेषां स्वभावस्तत्र हंसेनैव सह गच्छन्त्याः सरःशोभायाः श्रीदेव्या सहाभेदाध्यवसायेन कूजत्कलहंसमण्डल्यां तन्नूपुरत्वमुत्प्रेक्ष्यते । उपमाशब्दोऽपि मुख्यार्थानुपपत्तेः सम्भावनालक्षक इत्यवधेयम् ॥ १२७ ॥

अन्वयः—रुचिरेण पतत्त्रिणा वञ्चितं तत् पल्वलं विहाय प्रयान्त्याः श्रियः चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा कलहंसमण्डली कूले चुकूज ।

हिन्दी—(उस) मनोहर पक्षी (स्वर्णहंस) से रहित उस सर को छोड़ कर जाती लक्ष्मी के गमन करते चरण-कमल में पहिने नूपुरों से समानता करती कलहंसों की मंडली तीर पर शब्द करने लगी।

टिप्पणी—मनोरम हंस के न रहने से तालाब की मानो श्री—शोभा ही समाप्त हो गयी। आतंकित तीरवर्ती साथी कलहंस कूजने लगे। इस पर सरःश्री के पैर के बजते मंजीरों की सुन्दर कल्पना की गयी। कवि ने प्र+या

+शतृ+ङीप्+षष्ठी='प्रत्यान्त्याः' के वर्तमानकालिक प्रयोगद्वारा श्री के प्रत्यागमन का संकेत किया है। मल्लिनाथ ने यहाँ संभावनालक्षक उपमा और उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है। और चंद्रकलाकार ने अतिशयोक्ति-उपमा के अंगांगिभाव संकर का। विद्याधरने यहाँ अनुप्रास-उपमा-स्वभावोक्ति का सङ्कर माना है।

न वासयोग्या वसुधेयमीदृशस्त्वमङ्ग ! यस्याः पतिरुज्झितस्थितिः।
इति प्रहाय क्षितिमाश्रिता नभः खगास्तमाचुक्रुशुरारवैः खलु ॥१२८॥

जीवातु—नेति। इयं वसुधा वासयोग्या निवासार्हा न, कुतः अङ्ग भोः ! यस्या वसुधाया उज्झितस्थितिः त्यक्तमर्य्यादः ईदृशः अनपराधपक्षिधारकः त्वं पतिः पालकः, इत्थं खगाः क्षितिं प्रहाय नभ आश्रितास्तं नलमारवैरुच्चध्वनिभिराचुक्रुशुः खलु। उक्तरीत्या सनिन्दोपालम्भनं चक्रुरिवेत्युत्प्रेक्षा गम्या ॥ १२८ ॥

अन्वयः—'अङ्ग ! यस्याः ईदृशः उज्झितस्थितिः त्वं पतिः (सा) वसुधा वासयोग्या न'—इति क्षितिं प्रहाय नभः आश्रिताः खगाः तम् आरवैः आचुक्रुशुः खलु।

हिन्दी—'ए राजा जिस धरती का ऐसा मर्यादा छोड़ देने वाला स्वामी है, वह धरती रहने योग्य नहीं है'—इस प्रकार धरती को छोड़कर आकाश में उड़ गये पक्षी शब्द करते हुए मानो राजा की निंदा करने लगे।

टिप्पणी—जिस धरती का स्वामी मर्यादारहित आचरण करने लगे, धन-धान्य से परिपूर्ण होने पर भी उस सोपद्रवा धरती पर सज्जन नहीं रहते, उस भरी-पूरी धरती से सूना आकाश ही भला। स्वभावतः उड़कर मँडराते-चिल्लाते हंसों के माध्यम से यह संभावना की गयी है। उत्प्रेक्षा अलंकार ॥ १२८ ॥

न जातरूपच्छदजातरूपता द्विजस्य दृष्टेयमिति स्तुवन् मुहुः।
अवादि ते नाथ स मानसौकसा जनाधिनाथः करपञ्जरस्पृशा ॥१२९॥

जीवातु—नेति। इयमीदृग्जातरूपच्छदैः सुवर्णपक्षैः जातरूपता उत्पन्नसौन्दर्यत्वं द्विजस्य पक्षिणो न दृष्टा हिरण्मयः पक्षी न कुत्रापि दृष्ट इत्यर्थः। इति मुहुः स्तुवन् स जनाधिनाथः अथास्मिन्नन्तरे करपञ्जरस्पृशा तद्गतेन

मानसं सरः ओकः स्थानं यस्येति सः तेन मानसौकसा हंसेन 'हंसास्तु श्वेत-गरुतश्चक्राङ्गा मानसौकस' इत्यमरः । अवादि उक्तः । वदेः कर्मणि लुङ् ॥ १२९ ॥

अन्वयः—'अथ इयं जातरूपच्छदजातरूपता द्विजस्य न दृष्टा'—इति मुहुः स्तुवन् सः जनाधिनाथः करपञ्जरस्पृशा तेन मानसौकसा अवादि ।

हिन्दी—तत्पश्चात्, 'सोने के पंख होने से उत्पन्न ऐसी सुन्दरता मैंने पक्षी की नहीं देखी'—इस प्रकार हंस की (विचित्र सौन्दर्य की) बारंबार प्रशंसा करते उस नरनाथ से हाथ के पिंजरे में पकड़ा वह मानसरवासी हंस बोला ।

टिप्पणी—हंस को अपरूपता पर मुग्ध राजा का वर्णन । विद्याधर के अनुसार यहाँ अनुप्रास–रूपक अलंकार है, चन्द्रकलाकार ने यमक का उल्लेख किया है ॥ १२९ ॥

धिगस्तु तृष्णातरलं भवन्मनः समीक्ष्य पक्षान्मम हेमजन्मनः ।
तवार्णवस्येव तुषारशीकरैर्भवेदमीभिः कमलोदयः कियान् ॥१३०॥

जीवातु—तदेव चतुर्भिराह–धिगित्यादि । हेम्नो जन्म येषां तान् हेम-जन्मनो हैमान् मम पक्षान् पतत्त्राणि समीक्ष्य तृष्णातरलम् आशावशगं भवन्मनो धिगस्त्विति निन्दा 'धिङ्निर्भर्त्सननिन्दयोरि' त्यमरः । 'धिगुप-र्यादिषु त्रिष्वि'ति धिग्योगात् मन इति द्वितीया । तुषारशीकरैः हिमकणै-रर्णवस्येव तव एभिः पक्षैः क्रियान् कमलाया लक्ष्म्याः कमलस्य जलजस्य चोदयो वृद्धिर्भवेत्, न कियानित्यर्थः ॥ १३० ॥

अन्वयः—हेमजन्मनः मम पक्षान् समीक्ष्य तृष्णातरलं भवन्मनः धिक् अस्तु, तुषारशीकरैः अर्णवस्य इव तव अमीभिः कियान् कमलोदयः भवेत् ।

हिन्दी—हे नल, मेरे सोने के पंखों को देखकर तृष्णा से चञ्चल हुए तेरे मन को धिक्कार है, ओस-कणों के समान इन से सागरतुल्य तुझ में कितने जलरूप धन (कमल=जल, कमल=लक्ष्मी, धन) की वृद्धि हो सकेगी ?

टिप्पणी—नल से हंसकी 'जातरूपच्छदजातरूपता' (स्वर्णपंखो के सौन्दर्य) की प्रशंसा की, इस पर हंस ने राजा के धन-लोभ की निन्दा की । लक्ष्मीपति

राजा के लिए थोड़ा-सा स्वर्ण वैसे नगण्य है, जैसे जलनिधि समुद्र को ओस की बूंदें। विद्याधर के अनुसार उपमा, चन्द्रकलाव्याख्याकार के अनुसार उपमा-श्लेष की संसृष्टि ॥ १३० ॥

न केवलं प्राणिवधो वधो मम त्वदीक्षणाद्विश्वसितान्तरात्मनः ।
विगर्हितं धर्मधनैर्निबर्हणं विशिष्य विश्वासजुषां द्विषामपि ॥१३१॥

जीवातु—नेति । हे नृप ! त्वदीक्षणात् त्वन्मूर्त्तिदर्शनादेव विश्वसितान्तरात्मनो निस्रब्धचित्तस्य विश्वस्तस्येत्यर्थः मम वधः केवलं प्राणिमात्रवधो न किन्तु विश्वासघातपातकमित्यर्थः । ततः किमत आह—विश्वासजुषां विस्रम्भभाजां द्विषामपि निबर्हणं हिंसनं धर्म्मधनैरपरैः मन्वादिभिः विशिष्यातिरिच्य विगर्हितमत्यन्तनिन्दितमित्यर्थः ॥ १३१ ॥

अन्वयः—त्वदीक्षणात् विश्वसितान्तरात्मनः मम वधः केवलं प्राणिवधः न, विश्वासजुषां द्विषाम् अपि निबर्हणं धर्मधनैः विशिष्य विगर्हितम् ।

हिन्दी—तुम्हें देखकर जिसके मन में विश्वास जाग गया था, उस विश्वस्तमना मेरी हत्या केवल जीवहिंसा नहीं है, विश्वास को प्राप्त शत्रुओं को भी मारने की धर्मात्माओं ने विशेष निन्दा की है ।

टिप्पणी—विश्वासघात तो अपराधी शत्रु से भी उचित नहीं ठहराया जाता, मैं तो निरीह, निरपराध पक्षी हूँ, मेरी हत्या तो अत्यन्त निन्दनीय है । विदग्धानुप्रास और काव्यलिंग का विद्याधर द्वारा उल्लेख, चन्द्रकलाकार के अनुसार अर्थान्तरन्यास-अर्थापत्ति का संकर ॥ १३१ ॥

पदे पदे सन्ति भटा रणोद्भटा न तेषु हिंसारस एष पूर्य्यते ? ।
धिगीदृशन्ते नृपतेः कुविक्रमं कृपाश्रये यः कृपणे पतत्रिणि ॥१३२॥

जीवातु—पदे पद इति । रणोद्भटाः रणेषु प्रचण्डाः भटा योधाः पदे-पदे सन्ति सर्वत्र सन्तीत्यर्थः, वीप्सायां द्विर्भावः एष हिंसारसो हिंसारागस्तेषु भटेषु न पूर्यते अत्र काकुः न पूर्यते किमित्यर्थः । नृपतेर्महाराजस्य ते तव ईदृशमवध्यवधरूपं कुविक्रमं धिक् यः कुविक्रमः कृपाश्रये कृपाविषये अनुकम्पनीये कृपणे दीने पतत्रिणि क्रियत इति विशेषः ॥ १३२ ॥

अन्वयः—पदे पदे रणोद्भटाः भटाः सन्ति, तेषु एष, हिंसारसः न ते नृपतेः ईदृशं कुविक्रमं धिक्, यः कृपाश्रये कृपणे पतत्त्रिणि पूर्यते।

हिन्दी—पग-पग पर रणबांकुरे योद्धा हैं, उनमें तेरा यह हिंसारस पूर्ण नहीं होता? तुझ राजा के ऐसे कुत्सित पराक्रम को धिक्कार, जो दयापात्र बेचारे (निरीह) पक्षी पर पूर्णता को पा रहा है।

टिप्पणी—निर्बल निरीह पर दिखाया गया पराक्रम निन्दनीय ही होता है, पराक्रम-प्रदर्शन तो समानबल योधा पर किया जाना उचित है, सो निरीह-पक्षी का वध निन्दनीय ही होगा। विद्याधर के अनुसार विदग्दानुप्रास ॥ १३२ ॥

फलेन मूलेन च वारिभूरुहां मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः।
त्वयाऽद्य तस्मिन्नपि दण्डधारिणा कथं न पत्या धरणी हृणीयते ॥१३३॥

जीवातु—फलेनेति। यस्य मम मुनेरिव वारिभूरुहां जलरुहां पद्मादीनाम् अन्यत्र वारिरुहां भूरुहाञ्च फलेन मूलेन चेत्थमनेन दृश्यमानप्रकारेण वृत्तयो जीविकाः तस्मिन् अपि अनपराधेऽपीति भावः। दण्डधारिणा दण्डकारिणा अदण्ड्यदण्डकेनेत्यर्थः। पत्या त्वया हेतुना अद्य धरणी कथं न हृणीयते जुगुप्सत एवेत्यर्थः, हृणीयते कण्ड्वादियगन्ताल्लट् तत्र हृणीङिति ङित्करणा-दात्मनेपदम्। अकार्यकारिणं भर्त्तारमपि हन्ते स्त्रिय इति भावः ॥ १३३ ॥

अन्वयः—मुनेः इव यस्य मम वारिभूरुहां फलेन मूलेन च इत्थं वृत्तयः तस्मिन् अपि त्वया दण्डधारिणा पत्या धरणी अद्य कथं न हृणीयते।

हिन्दी—मुनि के समान जिस मेरा जीवन-व्यापार कमलों के फलमूल-द्वारा चलता है, उस मुझ पर तुझ दंडधारी पति के कारण धरती आज क्यों लज्जित नहीं होती?

टिप्पणी–कन्दमूलफलाशी मुनि पर दंड उठाने वाले व्यक्ति के कारण उसकी पत्नी का लज्जित होना ही स्वभाविक है, ऐसी ही स्थिति उस समय पृथ्वीपति की थी। विद्याधर ने यथासंख्य और उपमा अलंकार का निर्देश किया है।

इतीदृशैस्तं विरचय्य वाङ्मयैः सचित्रवैलक्ष्यकृपं नृपं खगः।
दयासमुद्रे स तदाशयेऽतिथीचकार कारुण्यरसापगा गिरः ॥१३४॥

जीवातु—इतीति । इतीत्थं खगो हंसस्तं नृपम् ईदृशैर्दोषालम्भैरित्यर्थः, वाङ्मयैर्वाग्विकारैः 'एकाचो नित्यं मयटमिच्छती'ति विकारार्थे मयट्प्रत्ययः । पक्षिकथनात् चित्रं, परैः स्वकार्य्योद्घाटनादपत्रपा वैलक्ष्यं, परार्त्तिदर्शनेन तन्निवर्त्तनेच्छा वा कृपा, ताभिः सह वर्त्तत इति सचित्रवैलक्ष्यकृतं विरचय्य विधाय 'ल्यपि लघुपूर्वादि'त्ययादेशः । दयासमुद्रे तदाशये तच्चित्ते कारुण्यरसापगाः करुणारसनदीः गिरः अतिथीचकार प्रवेशयामासेत्यर्थः समुद्रे नदीप्रवेशो युक्त इति भावः ।। १३४ ।।

अन्वयः—सः खगः इति ईदृशैः वाङ्मयैः तं नृपं सचित्रवैलक्ष्यकृपं विरचय्य दयासमुद्रे तदाशये कारुण्यरसापगाः गिरः अतिथीचकार ।

हिन्दी—उस पक्षी (हंस) ने इस प्रकार के उपर्युक्त वचनों द्वारा उस राजा को विस्मय, दुःख और कृपा से पूर्ण बनाकर दया के सागर रूप उसके हृदयमें करुणारस की नदी रूप वाक्समूह का प्रवेश कराया ।

टिप्पणी—नल के द्वारा पकड़े हंस ने पूर्व (१२८–१३३) छः श्लोको में जो तर्कसम्मत और न्यायसिद्ध वचन कहे, वे प्रत्येक सज्जन को विचार करने में विवश करने के निमित्त थे, फलस्वरूप राजा को इस प्रकार की मानवोचित वाणी और विचार पर आश्चर्य, स्वाभाविक करुणा और खेद हुआ और हंस ने इस प्रकार की स्थिति देख उपयुक्त समझा कि राजा की करुणा को तीव्र बनाया जाय । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और रूपक, चन्द्रकलाकार के अनुसार श्लिष्टपरम्पित रूपक ।। १३४ ।।

मदेकपुत्रा जननी जरातुरा नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी ।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो विधे ! त्वां करुणा रुणद्धि नो ।।१३५।।

जीवातु—तावद्गिरः प्रपञ्चयति—मदित्यादिना । । तत्र तावद् दैवमुपालभते हे विधे ! जननी अहमेवैकः पुत्रो यस्याः सा मदेकपुत्रा मम नाशे तस्या गत्यन्तरं नास्तीत्यर्थः । जरातुरा स्वयमप्यसमर्थेत्यर्थः, वरटा स्वभार्य्या हंसस्य 'योषिद्वरटे'त्यमरः । नवप्रसूतिरचिरप्रसवा तपस्विनी शोच्या एव जनः स्वयमित्यर्थस्तयोर्जायाजनन्योर्गतिः शरणं तं जनं मामित्यर्थः, अर्दयन् पीडयन्

हे विधे ! विधातः ! त्वां करुणा नो रुणद्धि मत्पीडनान्न निवारयतीति काकुः न रुणद्धि किमित्यर्थः ॥ १३५ ॥

अन्वयः—मदेकपुत्रा जननी जरातुरा, वरटा नवप्रसूतिः तपस्विनी; एषः जनः तयोः गतिः, अहो विधे, तम् अर्दयन् त्वां करुणा न रुणद्धि ।

हिन्दी—मैं ही जिसका एक पुत्र हूँ, ऐसी मेरी माता बुढ़ापे से पीडित है, मेरी पत्नी को अभी निकट अतीत में ही प्रसव हुआ है, वह दीना है, यह जन (मैं हंस) ही उन दोनों का जीवन-साधक हूँ, अरे विधाता, उस (मुझे) को पीडा देते—मारते तुझे करुणा नहीं रोकती ?

टिप्पणी—राजा के हृदय में आश्चर्य, दुःख और करुणा जगाकर करुणा को और भी तीव्रतर बनाने के लिए विधाता को अथवा उसी मिस राजा को संबोधित करते हुए हंस ने इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया । अपनी माता और पत्नी का जीवनाश्रय एक मात्र वही था, इसे प्रमाणित करने के लिए अपनी माँ को विवश, बूढ़ी, पीडित बताया, जो उस अकेले बेटे के अभाव में निश्चय ही मर जायेगी । उसकी पत्नी बूढ़ी तो नहीं है, परन्तु 'नवप्रसूता' होने से वह भी अच्छी स्थिति में नहीं है, पतिव्रता होने से वह मेरे बाद दूसरा पति भी नहीं ढूँढ़ लेगी, सो उसकी भी दुर्गति होगी । ऐसे माँ और पत्नी के एक मात्र आश्रय को मारने में मारक के हृदय में करुणा न उत्पन्न होना ही आश्चर्य है। यद्यपि आगे उसका सन्दर्भ नहीं बैठता, तथापि 'प्रकाश'–कार ने अन्य प्रकार से पदच्छेद करके इस श्लोक में एक अन्य अर्थ की सम्भावना भी दिखायी है । उनके अनुसार हंस ही अपने एक मात्र नवजात पुत्र और नवप्रसूता भार्या का आसरा है—मदेकपुत्रा (मत्तः एकः पुत्रो यस्याः सा, मुझसे ही जिसे एकमात्र पुत्र जन्मा है), अजननी (आगे वह 'जननी' न बन सकेगी) । यह ठीक है कि अभी वह बूढ़ी नहीं है—'जरातुरा न' परन्तु वह 'तपस्विनी वरटा' (वह बेचारी दीन घरनी) मेरे न रहने से यदि कहीं शरण पासकेगी तो वप्र अर्थात् पर्वतशिखर पर ही—वप्र एव सुतराम् ऊतिः रक्षणं यस्याः सा । विद्याधर के अनुसार परिकर अलंकार क्योंकि यहाँ साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग है—उक्तैर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरः ॥ १३५ ॥

मुहूर्त्तमात्रं भवनिन्दया दयासखाः सखायः स्रवदश्रवो मम ।
निवृत्तिमेष्यन्ति परं दुरुत्तरस्त्वयैव मातः ! सुतशोकसागरः ॥१३६॥

जीवातु—अथ मातरं शोचयति—मुहूर्त्तेति । हे मातः ! सखायः सुहृदो दयासखाः सदयाः भवनिन्दया संसारगर्हणेन मुहूर्त्तमात्रं क्षणमात्रं स्रवदश्रवो गलिताश्रव एव सन्तो निवृत्तिं शोकोपरतिमेष्यन्ति, किन्तु त्वयैव सुतशोक एव सागरः परमत्यन्तः दुःखेनोत्तीर्य्यत इति दुरुत्तरो दुस्तरः तरतेः कृच्छ्रार्थे खल्प्रत्ययः ॥ १३६ ॥

अन्वयः—मम दयासखाः सखायः भवनिन्दया मुहूर्तमात्रं स्रवदश्रवः निवृत्तिम् एष्यन्ति, परं मातः त्वया सुतशोकसागरः दुस्तरः एव ।

हिन्दी—दयालु मेरे मित्र संसार की निन्दा करते मुहूर्त भर आँसू गिरा शोक निवृत्त हो लेंगे, पर हे माँ, तुझ से पुत्र-शोक का समुद्र दुस्तर ही होगा, अर्थात् न तरा जा सकेगा ।

टिप्पणी—माँ के दुःख की सम्भावना दिखाकर करुणोद्बोधन कराने वाले वचन । अनुप्रास-रूपक अलंकार ॥ १३६ ॥

मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः प्रियः कियद्दूर इति त्वयोदिते ।
विलोकयन्त्या रुदतोऽथ पक्षिणः प्रिये ! स कीदृग्भविता तव क्षणः ? ॥

जीवातु—अथ भार्य्यामुद्दिश्य विलपति—मदर्थेत्यादिना । हे प्रिये ! मह्य मिमे मदर्थे 'अर्थेन सह नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्' तयोः सन्देशमृणालयो' र्वाचिकबिसयोः मन्थरस्तत्प्रेषणे विलम्बितप्रवृत्तिः प्रियः कियद्दूरे देशे वर्त्तत इति त्वया उदिते उक्ते पृष्टे सतीत्यर्थः । अथ प्रश्नानन्तरं रुदतः अनिष्टोच्चारणाशक्त्या अश्रूणि विमुञ्चतः पक्षिणः इतो गच्छतो गतान्विलोकयन्त्यास्तत्र स क्षणः स कालः कीदृग्भविता भविष्यति ? वज्रपातप्राय इति भावः कर्त्तरि लुट् ॥ १३७ ॥

अन्वयः—प्रिये, मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः प्रियः कियद्दूरे—इति त्वया उदिते अथ रुदतः पक्षिणः विलोकयन्त्याः तव स क्षणः कीदृक् भविता ?

हिन्दी—हे प्रिये, मेरे निमित्त समाचार और कमलनाल भेजने-लाने

विलम्ब लगाने वाला मेरा प्रिय कितनी दूर है,—इस प्रकार तेरे पूछने पर (उत्तर मे) रोते पक्षियों को विलोकती तेरा वह क्षण कितना कष्टकारक होगा ?

टिप्पणी—पानी के संभावित दुःख का मर्मस्पर्शी चित्रण। वह क्षण पत्नी के लिए वज्रपात-तुल्य ही होगा। भावोदय अलंकार ॥ १३७ ॥

कथं विधातर्मयि पाणिपङ्कजात्तव प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः ।
वियोक्ष्यसे वल्लभयेति निर्गता लिपिर्ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा ॥१३८॥

जीवातु—कथमिति। हे विधातः ! प्रियायाः वरटायाः शैत्यमृदुत्वशिल्पिनस्तादृक् तदङ्गशैत्यमार्दवनिर्म्माणकात्तव पाणिपङ्कजात्पङ्कजमृदुशिशिरात् पाणेरित्यर्थः। मयि विषये वल्लभया सह वियोक्ष्यसे इत्येवंरूपा अतएव ललाट तपन्ति दहन्तीति ललाटन्तपानि 'असूर्य्यललाटयोर्दृशितपोरि'ति खश्प्रत्ययः, 'अरुर्द्विषदि'त्यादिना मुमागमः तानि निष्ठुराणि कर्णकठोराणि चाक्षराणि यस्याः सा लिपिरक्षरविन्यासः कथं निर्गता निःसृता ? अत्र कारणात् विरुद्धकार्य्योत्पत्तिकथनाद्विषमालङ्कारभेदः: 'विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य भावयेत्। विरूपघटना वा स्याद्विषमालकृतिर्मते'ति ॥ १३८ ॥

अन्वयः—विधातः, प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः तव पाणिपङ्कजात् मयि वल्लभया वियोक्ष्यसे—इति लटाटन्तपनिष्ठुराक्षरा लिपिः कथं निर्गता ?

हिन्दी—हे विधाता, प्रिया की शीतलता और मृदुलता के शिल्पी तेरे कर-कमल से मेरे विषय में ललाट को तपाने वाले निष्ठुर अक्षरों-वाला ऐसा लेख कि तू प्रिया से वियुक्त होगा, कैसे निकला।

टिप्पणी—जो हाथ शीतलता और कोमलता का शिल्पी है, कमल के समान शीत और मृदु है, आश्चर्य है, कि विधाता के उसी हाथ ने प्रिया-वियोग जैसा तापदायक और कठोर लेख हंस के भाग्य में लिखा, कारण के गुण कार्य में क्यों नहीं आये ? कैसी विसंगति है ? विषम और रूपक अलंकार। विषम—कार्यस्य कारणस्य च यत्र विरोधः परस्परं गुणयोः। तद्वत्क्रिययोरथवा संजायेतेति तद्विषमम्।—रुद्रट ॥ १३८ ॥

अपि स्वयूथ्यैरशनिक्षतोपमं ममाद्य वृत्तान्तमिमं वतोदिता ।
मुखानि लोलाक्षि ! दिशामसंशयं दशापि शून्यानि विलोकयिष्यसि ॥१३९॥

जीवातु—अपीति । अपि चेत्यपेरर्थः । अद्यास्मिन् दिने 'सद्यःपरुदि'त्यादिना निपातः स्वयूथ्यैः स्वसङ्घवर्तैर्हंसैः कर्तृभिरशनिक्षतोपमं वज्रप्रहारप्रायं ममेमं वृत्तान्तम् अनर्थवार्तां उदिता उक्ता सती वदेर्ब्रूअर्थस्य दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि क्तः 'वचिस्वपी'त्यादिना सम्प्रसारणं, हे लोलाक्षि ! दशदिशां मुखानि शून्यान्यलक्ष्याकाराणि विलोकयिष्यसि असंसयं सन्देहो नास्तीत्यर्थः । अर्थाभावेऽव्ययीभावः, बतेति खेदे ।। १३९ ।।

अन्वयः—अपि अद्य स्वयूथ्यैः अशनिक्षतोपमं मम वृत्तान्तम् उदितां लोलाक्षि, असंशयं दश अपि दिशां मुखानि शून्यानि विलोकयिष्यसि बत ?

हिन्दी—और आज अपने दल के साथी हंसों द्वारा वज्राघात के समान मेरा वृत्तांत कहे जाने पर खेद है, कि हे चंचल नयनों वाली, निःसंदेह दशों ही दिशाओं के मुख तुझे सूने दिखायी पड़ेंगे ।

टिप्पणी—वज्र का हृदय भी द्रवीभूत करने वाले और पत्थर को भी मोम कर देने वाले स्वाभाविक करुणा जागरित कर देने वाले वचपन । अनुप्रास और उपमा ।। १३९ ।।

ममैव शोकेन विदीर्णवक्षसा त्वयाऽपि चित्राङ्गि ! विपद्यते यदि ।
तदस्मि दैवेन हतोऽपि हा हतः स्फुटं यतस्ते शिशवः परासवः ।।१४०।।

जीवातु—ममैवेति । हे चित्राङ्गि ! लोहित चञ्चुचरणत्वाद्विचित्रगात्रे ! मम शोकेनैव मद्विपत्तिदुःखेनैव विदीर्णवक्षसा विदलितहृदा त्वया विपद्यते म्रियते यदि तर्त्तहि दैवेन हतः स्फुटं व्यक्तं पुनर्हतोऽस्मि हेति विषादे, 'हा विस्मयविषादयोरि'ति विश्वः । कुतः ? यतः ते शिशवः परासवो मातुरभावे पोषकाभावान्मृताः, अतः शिशुमरणभावनया द्विगुणितं मे मरणदुःखं प्राप्तमित्यर्थः ।। १४० ।।

अन्वयः—चित्राङ्गि, यदि मम शोकेन विदीर्णवक्षसा त्वया अपि विपद्यते, हा, तद्, दैवेन हतः स्फुटः हतः अस्मि, यतः ते शिशवः परासवः ।

हिन्दी—हे सुन्दर शरीर वाली, यदि मेरे शोक में वक्ष फट जाने से तू भी मर जायेगी; हाय, तो दैव द्वारा मारा मैं और मारा जाऊँगा, क्योंकि तेरे बिना तेरे छोटे बच्चे भी मर जायेंगे ।

टिप्पणी —करुणा को तीव्रतर करने वाला तर्क। करुण रस, काव्यलिंग अलंकार ॥ १४० ॥

तवापि हाहा विरहात् क्षुधाकुला: कुलायकूलेषु विलुठ्य तेषु ते ।
चिरेण लब्धा बहुभिर्मनोरथैर्गता: क्षणेनास्फुटितेक्षणा मम ॥१४१॥

जीवातु—ननु मन्मृतौ कथं तेषां मृतिरत आह—तवापीति । हे प्रिये ! बहुभिर्मनोरथैश्चिरेण लब्धा: कृच्छ्रलब्धा इत्यर्थ:, आस्फुटितेक्षणा: आद्याप्यनुन्मीलितेक्षणा मम ते पूर्वोक्ता: शिशव: तवापि न केवलं ममैवेति भाव: । विरहाद्विपत्ते: क्षुधाकुला: क्षुत्पीडिता: तेषु स्वसम्पादितेष्वित्यर्थ:, कुलायकूलेषु नीडान्तिकेषु, 'कुलायो नीडमस्त्रियामि'त्यमर: । विलुठ्य परिवृत्य क्षणेन गता: मृतप्राया:,

अन्वय:—हा हा, बहुभि: मनोरथै: चिरेण लब्धा: आस्फुटितेक्षणा: मम तव अपि विरहात् क्षुधा आकुला: तेषु कुलायकूलेषु विलुठ्य क्षणेन गता: ।

हिन्दी—हाय, बहुत से मनोरथ करके चिरकाल में प्राप्त जिनकी अभी आँखें भी नहीं खुल पायी हैं, ऐसे मेरे और तेरे न रह जाने से भूख से व्याकुल (वे छोटे-छोटे बच्चे) नीड के भीतर लोटते क्षण में मृतप्राय हो जायेंगे ।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक के संदर्भ में यह श्लोक भी है । नवजात पक्षिशावकों की दृष्टि ठीक से देखने योग्य नहीं होती—'अस्फुटितेक्षणा:' बच्चे के बहुत छोटे होने का द्योतक है । 'गता:' का अर्थ 'गये' होता है, पर जो 'अस्फुटितेक्षणा:' हैं, वे 'गता:' कैसे हो सकते हैं ? विरोध-परिहार में 'गता:' का अर्थ हुआ 'मृतप्राय' । कदाचित् इसी के आधार पर विद्याधर ने यहाँ विरोधाभास अलंकार का उल्लेख किया है । करुण रस ॥ १४१ ॥

सुता: कमाहूय चिराय चुङ्कृतैर्विधाय कम्प्राणि मुखानि कं प्रति ?
कथासु शिष्यध्वमिति प्रमील्य स: सुतस्य सेकाद् बुबुधे नृपाश्रुण: ॥१४२॥

जीवातु—सुता इति । हे सुता: ! चुङ्कृतैश्चुङ्कारैश्चिराय कं प्रति कमपि प्रति मुखानि कम्प्राणि चञ्चलानि विधाय कथासु शिष्यध्वं कथामात्रशेषा भवत । कुत्रापि पित्रोरदर्शनाद् म्रियध्वं, प्राप्तकाले लोट्, मरणकाल: प्राप्त

इत्यर्थ। इतीति इत्युक्त्वेत्यर्थः। गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः। प्रमील्य मूर्च्छां प्राप्य स हंसः स्रुतस्य दयार्द्रभावात्प्रवहतो नृपस्याश्रुणः सेकाद् बुबुधे संज्ञां लेभे। प्रायेणात्र स्वभावोक्तिरूह्या ॥ १४२ ॥

अन्वयः—सुताः चूङ्कृतैः चिराय कम् आहूय कं प्रति मुखानि कम्प्राणि विधाय कथासु शिष्यध्वम्,—इति प्रमील्य सः स्रुतस्य नृपाश्रुणः सेकात् बुबुधे।

हिन्दी—पुत्रों, चें चें करके चिरकाल तक किसे बुलाकर और किसकी ओर चंचल मुख करके कथामात्रावशेष हो जाओगे?—एसा कह मूच्छित हुआ वह हंस राजा के टपकते आँसुओं के सिंचन से बोध को प्राप्त हुआ।

टिप्पणी—अपने बच्चों की संभावित दुर्दशा पर विचार करते-करते हंस मूर्च्छित हो गया, जिससे दयाशील नल के आँसू टपकने लगे, जो हंस पर गिरे और उनके कारण उसकी मूर्च्छा छूटी। पक्षिशावक चें-चें बोलते त्वरापूर्वक अपने जननी-जनक से चोंच बढ़ाते-खोलते भोज्य ग्रहण किया करते हैं। उन दोनों के दिवंगत हो जाने पर चिल्लाते-चिल्लाते थक कर बच्चों का कथावशेष-मृत हो जाना ही स्वाभाविक है। करुणरसपोषिका उक्ति। जाति अथवा स्वभावोक्ति अलंकार ॥ १४२ ॥

इत्थममुं विलपन्तममुञ्चद्दीनदयालुतयाऽवनिपालः।
रूपमदर्शि धृतोऽसि यदर्थं गच्छ यथेच्छमथेत्यभिधाय ॥ १४३ ॥

जीवातु—अत्र सर्वत्र 'भिन्नसर्गान्तैरि'ति काव्यालक्षणाद् वृत्तान्तरेण श्लोकद्वयमाह—इत्थमित्यादिना। इत्थं विलपन्तं परिदेवमानममुं हंसमवनिपालो नलो दीनेष्वार्त्तेषु दयालुतया कारुणिकतया रूपमाकृतिरदर्शि अपूर्वत्वादवलोकितं, यस्मै तदर्थं रूपदर्शनार्थमेव धृतो गृहीतोऽसि, अथ यथेच्छं गच्छेत्यभिधाय अमुञ्चत् मुक्तवान्। 'दोधकवृत्तमिदम्भभभा गावि'ति लक्षणात् ॥१४३॥

अन्वयः—इत्थं विलपन्तम् अमुं दीनदयालुतया अवनिपालः—रूपम् अदर्शि यदर्थं धृतः असि,—इति अभिधाय अमुञ्चत्।

हिन्दी—इस प्रकार विलपते इस (हंस) को दीनों पर दयालु होने के कारण पृथ्वीपाल ने यह कहकर कि तुम्हारा रूप दिख गया, जिसके निमित्त तुम्हें पकड़ लिया था—हंस को छोड़ दिया।

टिप्पणी—करुणा-गलित हो जो धरती मात्र का पालनहार था, बेचारे हंस को कैसे बन्धन में रख सकता था ? अनुप्रास की छटा। दोधक वृत्त, जिसके प्रत्येक चरण में ग्यारह अक्षर होते हैं, तीन भगण (ऽ।।) और अन्त में दो गुरु—'भभभाः गौ' ॥ १४३ ॥

आनन्दजाश्रुभिरनुस्रियमाणमार्गान् प्राक्शोकनिर्गलितनेत्रपयःप्रवाहान्।
चक्रे स चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन नीराजनां जनयतां निजबान्धवानाम् ॥

जीवातु—आनन्देति। हंसः चक्रनिभचङ्क्रमणस्य मण्डलाकारभ्रमणस्य छलेन नीराजनाञ्जनयतां कुर्वतां निजबान्धवानां 'बन्धमुक्तं बान्धवा नीराजयन्ती'ति समाचारः प्राङ्मोचनात्पूर्वं शोकेन निर्गलिता निःसृताः नेत्रपयःप्रवाहाः बाष्पपूरास्तानानन्दजाश्रुभिरानन्दबाष्पैरनुस्रियमाणमार्गान् अनुगम्यमानमार्गांश्चक्रे कृतवान्। अत्र पक्षिणां स्वभावसिद्धं बन्धमुक्तं स्वयूथ्यभ्रमणं छलशब्देनापह्नुत्य तत्र नीराजनात्वारोपादपह्नवभेदः। अत्र चमत्कारित्वान्मङ्गलाचाररूपत्वाच्च सर्वत्र सङ्गीतश्लोकेष्वानन्दशब्दप्रयोगः, यथाह भगवान् भाष्यकारः—'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि विहितानि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाण्यायुष्मत्पुरुषाणि च भवन्ति अध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ती'ति। वसन्ततिलकावृत्तम् 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ ग' इति लक्षणात्। सर्गान्तत्वाद् वृत्तभेदः, यथाह दण्डी-'सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यःवृत्तैः सुसन्धिभिः। सर्वत्र भिन्नसर्गान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम् ॥' इति ॥ १४४ ॥

अन्वयः—सः चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन नीराजनां जनयतां निजबान्धवानां प्राक्शोकनिर्गलितनेत्रपयःप्रवाहान् आनन्दाश्रुभिः अनुस्रियमाणमार्गान् चक्रे।

हिन्दी—उस (मुक्त हंस) ने चक्राकार मँडराने के व्याज से मानो आरती उतारते अपने बांधवों (साथी हंसों) के पहिले शोक के कारण टपकती अश्रुधार को हर्षोत्पन्न नयनजलधार से अनुगमित होती बनाया।

टिप्पणी—साथी के द्वारा-मुक्त होने पर बन्धुजन प्रायः आरती उतारा करते हैं। हंस से बन्धन में पड़जाने के आकाश में (१२७वें श्लोक के अनुसार) मंडलाकार मँडराती जो हंसमंडली शोक के आँसू गिरा रही थी, वह अब प्रसन्न हो आनन्दाश्रु बहाने लगी, अर्थात् बंधन पर कष्ट पा रही थी,

साथी के मुक्त होने पर प्रमोद से भर उठी। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में अनुप्रास-अपह्नुति-जाति की संसृष्टि है। 'नैषधीयचरित' के प्रत्येक कथा के समाप्ति श्लोक में 'आनन्द' शब्द आता है, जैसे इस श्लोक का आरम्भ ही 'आनन्द' शब्द से है, ऐसे ही प्रत्येक सर्गान्त श्लोक में कहीं न कहीं आयेगा, इसलिए इस महाकाव्य को 'आनन्दाङ्क' कहा जाता है। बसंततिलका वृत्त, जिसका का लक्षण है—तगण (ऽऽ।), भगण (ऽ।।), दो जगण (।ऽ।) और अंत के दो (ऽऽ) गुरु अक्षर,—१४ अक्षरों का एक चरण ॥ १४४ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
तच्चिन्तामणिमन्त्रश्चिन्तनफले शृङ्गारभङ्ग्या महा:
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गतः ॥ १४५ ॥

जीवातु—अथ कविः काव्यवर्णनमाख्यातपूर्वकं सर्गसमाप्ति श्लोकबन्धेनाह-श्रीहर्षमिति। कविराजराजिमुकुटानां विद्वच्छ्रेष्ठश्रेणीमुकुटानाम् अलङ्कारभूतो हीरो वज्रमणिः हीरो नाम विद्वान् श्रीहर्षनामानं यं सुनं सुषुवे जनयामास, मामल्लदेवी नाम स्वमाता सा च यं सुतं सुषुवे, तस्य श्रीहर्षस्य यश्चिन्तामणिमन्त्रः तस्य चिन्तनमुपासना तस्य फले फलभूते शृङ्गारभङ्ग्या शृङ्गाररसेन चारुणि निषधानां राजा नैषधो नलः तदीयचरिते नलचरितनामके महाकाव्ये अयमादिः प्रथमः सर्गो गतः समाप्त इत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ॥१४५॥

इति 'मल्लिनाथसूरि'विरचितायां 'जीवातु'समाख्यायां नैषधटीकायां
प्रथमः सर्गः समाप्तः ॥ १ ॥

अन्वयः—कविराजराजीमुकुटालङ्कारहीरः श्रीहीरः मामल्लदेवी च जितेन्द्रिगचयं यं श्रीहर्षं सुतं सुषुवे, तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभङ्ग्या चारुणि नैषधीयचरिते महाकाव्ये अयम् आदिः सर्गः गतः।

हिन्दी—कविराज समूह के मुकुट के अलंकार 'हीरक' के तुल्य श्रीहीर (पिता) और मामल्लदेवी (माता) ने जिस इन्द्रियविजयी श्रीहर्ष पुत्र को जन्म दिया, उस श्रीहर्ष को चिन्तामणिमंत्र के अनुध्यान जपादि के फलरूप शृङ्गार की भंगिमामय उक्तियों से चारु बने नैषधीय चरित्र महाकाव्य का यह आदि सर्ग पूर्ण हुआ।

टिप्पणी—यह परिचय श्लोक है, जो प्रत्येक सर्ग के अन्त में है। चिन्तामणिमंत्र के अनुध्यान से श्रीहर्ष को कवित्वशक्ति प्राप्त हुई थी, जिसका उल्लेख 'नैषधीयचरित' के 'अवामावामार्धे' (१४।८८) श्लोक में है। 'वैदग्ध्यभङ्गीभणिति' ही 'वक्रोक्तिजीवित'कार के अनुसार काव्य है। विद्याधर के अनुसार यहाँ अनुप्रास-रूपक-अलंकार हैं। शार्दूलविक्रीडित छन्द है, जिसके प्रत्येक चरण में उन्नीस अक्षर होते हैं, जिनका क्रम इस प्रकार है—मगण (ऽऽऽ), सगण (।।ऽ), (जगण (।ऽ।), सगण (।।ऽ), दो तगण (ऽऽ।), अन्तिम गुरु (ऽ) ॥ १४५ ॥

नैषधीयचरित के प्रथमसर्ग में 'चन्द्रिका' हिन्दी-व्याख्या समाप्त।

॥ श्रीः ॥

नैषधमहाकाव्यम्

मल्लिनाथकृत 'जीवातु' टीकासहित

सान्वय-सटिप्पण 'चन्द्रिका' हिन्दीव्याख्योपेतम्

द्वितीयः सर्गः

अधिगत्य जगत्यधीश्वरादथ मुक्तिं पुरुषोत्तमात्ततः ।
वचसामपि गोचरो न यः स तमानन्दमविन्दत द्विजः ॥ १ ॥

जीवातु—अधिगत्येति । अथ मोचनानन्तरं स द्विजः पक्षी विप्रश्च, 'दन्त-विप्राण्डजा द्विजा' इत्यमरः । जगत्यधीश्वरात् क्ष्मापतेः भुवनपतेश्च 'जगती भुवने क्ष्मायामि'ति विश्वः । पुरुषोत्तमात् पुरुषश्रेष्ठात् विष्णोश्च ततः तस्मात् प्रकृतान्नलात् अन्यत्र प्रसिद्धाच्च मुक्तिं मोचनं निर्वाणञ्च अधिगत्य प्राप्य आनन्दो वचसामपि न गोचरः वक्तुमशक्यः, 'यतो वाचो निवर्तन्त' इत्यादेर-वाङ्मनसगोचरश्च तमानन्दं परमानन्दञ्च अविन्दतालभत, विदेर्लाभार्थात् 'कर्त्रभिप्राये क्रियाफल' इत्यात्मनेपदं, 'शे मुचादीनामि'ति नुमागमः । अत्रा-भिधायाः प्रकृतार्थमात्रनियन्त्रणादुभयश्लेषानुपपत्तेर्भेदान्तरानवकाशाल्लक्षणायाश्च मुख्यार्थबाधमन्तरेणासम्भवात् ध्वनिरेवायं, ब्राह्मणस्य विष्णोर्मोक्षानन्दप्राप्ति-लक्षणार्थान्तरप्रतीतेर्न श्लेषः प्रकृताप्रकृतोभयगतः । अस्मिन् सर्गे एकशतश्लो-कपर्यन्तं वियोगिनीवृत्तम् । 'विषमे ससजा गुरुः समे सभरा लोऽथ गुरुर्वियो-गिनी'ति लक्षणादिति संक्षेपः ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ: सः द्विजः ततः जगत्यधीश्वरात् पुरुषोत्तमात् मुक्तिम् अधि-गम्य यः वचसाम् अपि गोचरः न तम् आनन्दम् अविन्दत ।

हिन्दी—तदनन्तर जिस प्रकार द्विज (विप्र) उस संसार के स्वामी पुरुषोत्तम हरि विष्णु से संसार-मोक्ष पाकर वाणी से भी अवर्णनीय परमानन्द को प्राप्त करता है, उसी प्रकार उस द्विज (पक्षी हंस) ने उस संसार के

अधिपति (राजा) पुरुषश्रेष्ठ नल से छुटकारा पाकर जिसका वर्णन वाणी (शब्दों) से भी नहीं किया जा सकता, उस आनन्द को प्राप्त किया।

टिप्पणी—आनन्द की अनुभूति को अत्यन्त सुखद प्रकट करने के निमित्त उसकी अवाङ्मनोगोचर मोक्ष के आनन्द से समता की गयी है। इसी सर्ग में इस श्लोक से लेकर १०१ वें श्लोक (अमृतद्युतिलक्ष्म) तक 'वियोगिनी' छंद है, जिसके प्रथम-तृतीय चरणों में दस अक्षर इस क्रम से होते हैं—दो सगण (IIS), एक जगण (ISI), दसवाँ अक्षर गुरु (S) तथा द्वितीय-चतुर्थ में ग्यारह अक्षर इस क्रम से रहते हैं—एक सगण (IIS), एक भगण (SII), एक रगण (SIS), एक लघु, एक गुरु (IS)। 'प्रकाशकार' ने इसे 'वैतालीय' छंद कहा है। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में अनुप्रास और श्लेष अलंकार हैं, मल्लिनाथ इसमें श्लेष न मानकर अर्थान्तर प्रतीति के कारण 'ध्वनि' ही मानते हैं। उनका कथन है कि अभिधा से प्रकृतार्थ मात्र का नियंत्रण होता है अतः श्लेष संभव नहीं और मुख्यार्थ-बाध के अभाव में लक्षणा भी नहीं हो सकती, अतः व्यंजना के आश्रय से ही इष्टार्थ-प्रतीति होगी ॥ १ ॥

अधुनीत खगः स नैकधा तनुमुत्फुल्लतनूरुहीकृताम्।
करयन्त्रणदन्तुरान्तरे व्यलिखच्चञ्चुपुटेन पक्षती ॥ २ ॥

जीवातु—अधुनीतेति। स खगः हंसः उत्फुल्लतनूरुहीकृतां नृपकरपीडनादुद्बुद्धय पतत्रीकृतां 'पतत्रञ्च तनूरुहमि'त्यमरः। तनुं शरीरं नैकधा, नञर्थस्य सुप्सुपेति समासः। नञ्समासे नलोपप्रसङ्गः। अधुनीत धूतवान्। धूञः क्र्यादेर्लङिति तङ्, 'प्वादीनां ह्रस्व' इति ह्रस्वः। किञ्च करयन्त्रणेन नृपकरपीडनेन दन्तुरे निम्नोन्नतमध्यप्रदेशे पक्षती पक्षमूले 'स्त्री पक्षतिः, पक्षमूलमि'त्यमरः चञ्चुपुटेन त्रोटिसम्पुटेन व्यलिखत् विलेखनेन ऋजूचकारेत्यर्थः। एतदादेः श्लोकचतुष्टयेषु स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ २ ॥

अन्वयः—सः खगः उत्फुल्लतनूरुहीकृतां तनुम् एकधा न अधुनीत। करयन्त्रणदन्तुरान्तरे पक्षती चञ्चुपुटेन व्यलिखत्।

हिन्दी—उस विहंग (हंस) ने अपने रोमाञ्चित शरीर को अनेक प्रकार से कम्पित किया, राजा के द्वारा पकड़े जाने से ऊँचे-नीचे मध्य भाग वाले पंखों को चोंच से सहलाकर बराबर किया।

टिप्पणी—पकड़ से छूटे पक्षी की क्रिया का स्वाभाविक वर्णन। स्वभावोक्ति ॥ २ ॥

अयमेकतमेन पक्षतेरधिमध्योर्ध्वगजङ्घमङ्घ्रिणा।
स्खलनक्षण एव शिश्रिये द्रुतकण्डूयितमौलिरालयम् ॥ ३ ॥

जीवातु—अयमिति। अयं हंसः स्खलनक्षण एव मोचनानन्तरमेवेत्यर्थः। एकतमेनाङ्घ्रिणा पक्षतेः पक्षमूलस्याधिमध्यं मध्ये ऊर्ध्वगामिनी जङ्घा यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा कण्डूयनेन तत्तथा द्रुतं कण्डूयितमौलिः सत्वरं कषितचूडः सन् आलयं निजावासं शिश्रिये श्रितवान् ॥ ३ ॥

अन्वयः—अयं स्खलनक्षणे एव पक्षतेः अधिमध्योर्ध्वगजङ्घम् एकतमेन अङ्घ्रिणा द्रुतकण्डूयितमौलिः आलयं शिश्रिये।

हिन्दी—वह हंस छूटते क्षण ही पंखों के मध्य से जंघा ऊर्ध्वगामिनी कर (पक्ष मूल के बीच से ऊपर को जङ्घा करके) एक पैर से जल्दी-जल्दी सिर खुजलाता हुआ अपने घोंसले में जा बैठा।

टिप्पणी—यह भी पक्षिस्वभाव है। यहाँ भी स्वभावोक्ति अलंकार ॥३॥

स गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहान् कटु कीटान् दशतः सतः क्वचित्।
नुनुदे तनुकण्डु पण्डितः पटुचञ्चूपुटकोटिकुट्टनैः ॥ ४ ॥

जीवातु—स इति। पण्डितः निपुणः स हंसः गरुतः पक्षा एव वनदुर्गं तत्र दुर्ग्रहान् ग्रहीतुमशक्यान् कटुतीक्ष्णान्दशतः दन्तैस्तुदतः क्वचित् कुत्रचिदेव सतः वर्त्तमानान् कीटान् क्षुद्रजन्तून् पटुचञ्चूपुटस्य समर्थत्रोटेः कोटया अग्रेण कुट्टनैः घट्टनैस्तनुरल्पा कण्डूर्यस्मिन् तनुकण्डु यथा तथा 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्येति' ह्रस्वः। नुनुदे निवारितवान् 'स्वरितञित' इत्यात्मनेपदम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—पण्डितः सः क्वचित् सतः गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहान् कटु दशतः कीटान् पटुचञ्चूपुटकोटिकुट्टनैः तनुकण्डु नुनुदे।

हिन्दी—उस चतुर पक्षी ने यत्र-तत्र स्थित पंख-रूप वन-दुर्ग (अथवा पक्षसमूह रूप दुर्ग) में छिपे रहने से कठिनता से हाथ आने वाले पीड़ादायक

रूप में काटते कीड़ों को कीड़ा आदि खोदने में अत्यन्त उपयोगी चोंच की नोक से मार-मार कर हटा खुजली को कुछ दूर किया।

टिप्पणी —दुर्जय दुर्ग में जा छिपे शत्रु को पकड़ कर उसका वध किया जाता है, तभी उपद्रव मिट पाता है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास स्वभावोक्ति और श्लेष अलंकार, चंद्रकलाकार के अनुसार रूप, स्वभावोक्ति की संसृष्टि ॥ ४ ॥

अयमेत्य तडागनीडजैर्लघु पर्यव्रियताथ शङ्कितैः ।
उदडीयत वैकृतात् करग्रहजादस्य विकस्वरस्वरैः ॥ ५ ॥

जीवातु—अयमिति । अयं हंसस्तडागनीडजैः सरःपक्षिभिस्तत्रत्यहंसैः 'नीडोद्भवा गरुत्मन्त' इत्यमरः। लघु क्षिप्रमेत्यागत्य पर्यव्रियत परिवृतः, वृणोतेः कर्मणि लङ् । अथ परिवेष्टनानन्तरमस्य हंसस्य करग्रहजान्नलकरपीडनजन्याद्विकृतादेव वैकृताद्विलुण्ठितपक्षत्वरूपाद्विकारदर्शनादित्यर्थः, स्वार्थेऽण् प्रत्ययः शङ्कितैश्चकितैः अतएव विकस्वरस्वरैरुच्चैर्घोषैस्तैरुदडीयतोड्डीनम् डीङो भावे लङ् ॥ ५ ॥

अन्वयः—तडागनीडजैः लघु एत्य अयं पर्यव्रियत, अथ अस्य करग्रहजात् वैकृतात् शङ्कितैः विकस्वरस्वरैः उड्डीयत ।

हिन्दी—सरोवर के घोंसलों में उत्पन्न पक्षियों (हंस आदि) ने तुरन्त आकर उस (हंस) को चारों ओर से घेर लिया, तदनन्तर हाथ से पकड़े जाने के कारण उत्पन्न उसकी विकृति से आशंकित हो ऊँचे स्वर में कोलाहल करते वे उड़ गये ।

टिप्पणी—'प्रकाश'—कार के अनुसार तीर्थों पर आये व्यक्ति को भी पंडे-पुजारी घेर लिया करते हैं और फिर झगड़ा करते, चिल्लाते हट जाया करते हैं। विद्याधर ने इसमें जातिरुक्तिलेशानुप्रास अलंकार का उल्लेख किया है और 'करग्रहजात्' को श्लिष्ट माना है। चंद्रकलाकार ने स्वभावोक्ति का निर्देश किया है ॥ ५ ॥

दधतो बहुशैवलक्ष्मतां धृतरुदाक्षमधुव्रतं खगः ।
स नलस्य ययौ करं पुनः सरसः कोकनदभ्रमादिव ॥ ६ ॥

जीवातु—दधत इति । अथ स खगो हंसः बहुशैवला भूरिशैवला क्ष्मा भूर्यस्य तद्बहुशैवलक्ष्म तस्य भावः तत्ता तां दधतो दधानात् सरसः पल्वलात् बहूनि शैवलक्ष्माणि शिवभक्तचिह्नानि यस्य स बहुशैवलक्ष्मा तस्य भावः तत्ता तां दधतो दधानस्य नलस्य रुद्राक्षाणि मधुव्रता इवेत्युपमितसमासः, ते धृता येन तं करं कोकनदभ्रमाद्रक्तोत्पलभ्रान्तेरिव पुनर्ययौ, कोकनदन्तु रुद्राक्षसदृश-मधुव्रतं खलु । अत्र बहुशैवलेत्यादौ शब्दश्लेषस्तदनुप्राणिता रुद्राक्षमधुव्रतमित्युपमा तत्सापेक्षा चेयं कोकनदभ्रमादिवेत्युत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ६ ॥

अन्वयः—सः खगः बहुशैवलक्ष्मतां दधतः (वहतः) सरसः नलस्य (बहु-शैवलक्ष्मतां दधतः) धृतरुद्राक्षमधुव्रतं करं कोकनदभ्रमात् इव पुनः ययौ ।

हिन्दी—वह (हंस) प्रचुर सिवार घास से ढकी धरती को धारण करते सरोवर से (अनेक शिवभक्ति-सूचक अथवा शिव अर्थात् शुभ-सूचक चिह्नों से युक्त) रुद्राक्ष रूप भ्रमरों को नियमतः धारण करते नल के हाथों में (रुद्राक्षों के तुल्य भौरों से युक्त) मानों लाल कमल के भ्रम से पुनः पहुँच गया ।

टिप्पणी—राजा शैव होने के कारण हाथ में रुद्राक्ष धारण किये रहता था, वर्ण-साम्य के आधार पर उनकी समता कोकनद पर बैठे भ्रमरों से की गयी है । प्रकाशकार ने 'रवणं रुत् धृता रुद्भिस्ते धृतरुतः सशब्दाः, रः अग्निस्तद्वदक्षीणि पिङ्गलानि नेत्राणि येषां ते राक्षाः एवंभूता भ्रमरा यत्र' यह विग्रह करके 'भन-भन करते पिंगल नेत्र भ्रमरों से युक्त' अर्थ भी किया है । नल के पक्ष में 'रुद्रस्य अक्षमान् धुनोति रुद्राक्षमधु तच्च तद्व्रतं च धृतं येन' यह विग्रह करके राजा के हाथ को 'शिवद्रोही को पराभव देने वाला' बताया है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ शब्दश्लेष-उपमा-उत्प्रेक्षा का संकर है । 'इव' के कारण 'भ्रम' की उत्प्रेक्षा हो गयी है, अन्यथा 'भ्रान्तिमान्' अलंकार स्पष्ट है ।

पतगश्चिरकाललालनादतिविश्रम्भमवापितो नु सः ।
अतुलं विदधे कुतूहलं भुजमेतस्य भजन्महीभुजः ॥ ७ ॥

जीवातु—अथास्य स्वयमागमनादुत्प्रेक्षते—पतग इति । पतङ्गो हंसश्चिर-

काललालनादुपलालनादतिविश्रम्भमतिविश्वासं 'समौ विश्रम्भविश्वासावि' त्यमरः। अवापितः प्रापितो नु किमित्युत्प्रेक्षा, अन्यथा कथं पुनः स्वयमागच्छेदिति भावः। किञ्च एतस्य महीभुजो भुजम्भजन् स्वयमाप्नुवन् अतुलं कुतूहलं विदधे कौतुकञ्चकारेत्यर्थः। अत्रोत्प्रेक्षावृत्यनुप्रासयोः शब्दार्थालङ्कारयोस्तिलतण्डुलवत् संसृष्टिः। 'एकद्वित्र्यादिवर्णानां पुनरुक्तिर्भवेद्यदि सङ्ख्यानियममुल्लङ्घ्य वृत्यनुप्रास ईरितः ॥' इति ॥ ७ ॥

अन्वयः—चिरकाललालनात् नु अति विस्रम्भम् अवापितः सः पतगः एतस्य महीभुजः भुजं भजन् कुतूहलं विदधे।

हिन्दी—निश्चयतः बहुत समय तक सांत्वनादि पाने से अत्यन्त विश्वास को प्राप्त हुआ वह पक्षी उस पृथ्वीपति की भुजा में आकर अत्यन्त कुतूहल को उत्पन्न कर रहा था।

टिप्पणी—राजा द्वारा पकड़ लिये जाने पर उद्धारार्थं रुदन करता हंस छूट कर फिर से उसकी पकड़ में स्वयम् आ गया है, यह निश्चय ही राजा के प्रति हंस के विश्वास और अभय के कारण हुआ। यह कुतूहलजनक भी था ही। क्या कारण है स्वयं हंस के लौट कर आने का ? इस श्लोक में तिलतण्डुलवत् स्थित उत्प्रेक्षा-वृत्यनुप्रास की संसृष्टि है। कुतूहलोत्पत्ति में भुजहेतुता मानते हुए पदार्थहेतुक काव्यलिंग और उत्प्रेक्षा की संसृष्टि का चंद्रकलाकार ने निर्देश किया है ॥ ७ ॥

नृपमानसमिष्टमानसः स निमज्जत्कुतुकामृतोर्मिषु।
अवलम्बितकर्णशष्कुलीकलसीकं रचयन्नवोचत ॥ ८ ॥

जीवातु—नृपमानसमिति। इष्टमानसः प्रियमानसः स राजहंसः कुतुकं हर्षस्तदेव अमृतं सुधा तस्योर्मिषु निमज्जदन्तर्गतं नृपमानसं नलमनः कर्णौ शष्कुल्याविव कर्णशष्कुल्यौ ते कलस्यौ ते अवलम्बिते अवधीकृते धृते च येन तत्तथोक्तं 'नद्यृतश्चे'ति कप्। रचयन् कुर्वन्नवोचत उक्तवान्। जले मज्जन्नपि तरणार्थं कलसमवलम्बते, तद्वत्कर्ण शष्कुली कलस्याविव्युपमारूपकयोः संसृष्टिः।

अन्वयः—कुतुकामृतोर्मिषु निमज्जत् नृपमानसम् अवलम्बितकर्णशष्कुलीकलसीकं रचयन् इष्टमानसः स अवोचत।

हिन्दी—कुतूहलरूप अमृतलहरियों में डूबते राजा के मानस को कर्णविवर रूप कलसों का सहारा देता मानसरोवर-प्रिय वह (हंस) बोला।

टिप्पणी—राजा का मन, मानस-मानसरोवर है, विचित्र है कि 'मानसर' ही लहरियों मे डूब रहा है। डूबते व्यक्ति को बचाने के लिए कलसों—घड़ों का सहारा अपेक्षित होता ही है। भाव यह है कि राजा के कुतूहल को शांत करता हंस बोला। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में उपमा रूपक की संसृष्टि है, विद्याधर ने अनुप्रास-रूपक का निर्देश किया है और 'अमृत' को 'श्लिष्ट' कहा है। चंद्रकलाकार ने 'मानस' की द्विरुक्ति के आधार पर कदाचित् यमक का भी उल्लेख किया है। विरोधाभास भी है—'नृपमानस' में 'मानस' का अर्थ 'सरोवर' न करके परिहारार्थ 'मन' करने से ॥ ८ ॥

मृगया न विगीयते नृपैरपि धर्मागमधर्मपारगैः ।
स्मरसुन्दर ! मां यदत्यजस्तव धर्मः स दयोदयोज्ज्वलः ॥ ९ ॥

जीवातु—मृगयेति। धर्मागममर्मपारगैर्धर्मशास्त्रतत्त्वपारदर्शिभिरिव 'अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु डः' इति गमेर्डप्रत्ययः। नृपैर्मृगया आखेटो न विगीयते न गर्ह्यते। तथापि हे स्मरसुन्दर ! मामत्यज इति यत् स त्यागस्तव दयोदनेनोज्ज्वलो विमलो निरुपाधिक इति यावत् धर्म्मः सुकृतम्। न केवलमाकारादेव सुन्दरोऽसि, किन्तु धर्मतोऽपीति भावः ॥ ९ ॥

अन्वयः—धर्मागममर्मपारगैः नृपैः अपि मृगया न विगीयते, स्मरसुन्दर ! यत् माम् अत्यजः सः तव दयोदयोज्ज्वलः धर्मः।

हिन्दी—धर्मशास्त्रों के मर्म में पारंगत नृप भी आखेट की निन्दा नहीं करते, हे काम के समान सुन्दर (अथवा 'स्मर+सुन्दर' पदच्छेद करके 'हे सुन्दर, स्मरण कर') जो तूने मुझे छोड़ दिया, वह तेरा करुणा की उत्पत्ति से उज्ज्वल धर्म है।

टिप्पणी—क्षत्रियों के लिए मृगया स्वाभाविक है, वह निन्दनीय नहीं होती, करणीय ही मानी जाती है। राजा ने जो हंस का आखेट नहीं किया, यह उसके करुणापरायण होने का सूचक है। राजा तन से ही सुन्दर नहीं, अंतःकरण से भी शुद्ध था। काव्यलिंग अलंकार ॥९॥

अबलस्वकुलाशिनो झषान्निजनीडद्रुमपीडिनः खगान् ।

अनवद्यतृणार्दिनो मृगान् मृगयाऽघाय न भूभृतां घ्नताम् ॥ १० ॥

जीवातु—ननु प्राणिहिंसा कथं न विगीयते तत आह—अबलेति। अबलस्वकुलाशिनो झषाः 'दुर्बलस्वकुलघातिनो मत्स्या' इति प्रसिद्धिः, निजनीडद्रुमपीडिनो विण्मोक्षफलभक्षणादिना स्वाश्रयवृक्षापीडाकरान् खगान् अनवद्यतृणार्दिनः अनपराधितृणहिंसकान् मृगान्, 'अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विता' इति मनुस्मृत्या तरुतृणादीनामपि प्राणित्वात्तद्धिसा पीडैवेति भावः। सर्वत्रापि ताच्छील्ये णिनिप्रत्ययः, घ्नतां हिंसतां भूभृतां मृगया अघाय पापाय न भवति। तद्वधस्य दण्डरूपत्वात् प्रत्युताकरणे दोष इति भावः ॥१०॥

अन्वयः—अबलस्वकुलाशिनः झषान्, निजनीडद्रुमपीडिनः खगान् अनवद्यतृणार्दिनः मृगान् घ्नतां भूभृतां मृगया अघाय न ।

हिन्दी—अपने कुल के निर्बल मीनों को खा जाने वाले मत्स्यों, अपने ही घोंसले—वृक्ष को गन्दा करने वाले पक्षियों और निरपराध तृणांकुरों को खाने वाले पशुओं को मारने वाले पृथ्वीपालकों की मृगया पापनिमित्तिका नहीं होती ।

टिप्पणी—कहावत है—'छोटी मछली को बड़ी मछली खा जाती है'। पक्षी भी जिस वृक्ष पर घोंसला बनाते हैं, उसके फल-फूल खा जाते हैं, बीट आदि करके गन्दा करते हैं। बेचारे तृण, घास आदि का क्या दोष है कि मृगादि उनका विनाश किया करते हैं। पृथ्वीपालक यदि ऐसे कुलघाती, देशघाती और निर्दोष-हंताओं को दंड देता है, तो उचित करता है। ये सब राजाओं के मृगया-विलास का औचित्य प्रमाणित करते हैं, किन्तु नल ने सबसे बड़ा धर्म अपनाया—प्राणिमात्र पर दया, करुणा, क्षमा। विद्याधर के अनुसार यहाँ अनुप्रास, काव्यलिंग, क्रियादीपक अलंकार हैं। चंद्रकलाकार ने पदार्थहेतुक काव्यलिंग और अप्रस्तुतप्रशंसा का संकर माना है ॥१०॥

यदवादिषमप्रियन्तव प्रियमाधाय नुनुत्सुरस्मि तत्।
कृतमातपसंज्वरं तरोरभिवृष्यामृतमंशुमानिवः॥ ११॥

जीवातु—तथापि किमर्थं पुनरागतस्त्वयेत्यत आह—यदिति। तव यदप्रियमवादिषमवोचम्। प्रियमाधाय प्रियं कृत्वा तदप्रियन्तरोः कृतं स्वकृतमातपसन्तापम् अमृतमुदकमभिवृष्य 'पयः कीलालममृतमि'त्यमरः। अंशुमानिव नुनुत्सुर्नोदितुं प्रमार्ष्टुमिच्छुः, नुद-प्रेरण इत्यस्माद्धातोः सन्नन्तादुप्रत्ययः॥११॥

अन्वयः—यत् तव अप्रियम् अवादिषम् तत् प्रियम् आधाय तरोः कृतम् आतपसंज्वरम् अमृतम् अभिवृष्य अंशुमान् इव नुनुत्सुः अस्मि।

हिन्दी—जो मैंने आपको बुरा-भला कहा, उसका निराकरण मैं आपका प्रिय कार्य करके उसी प्रकार चाहता हूँ जैसे किरणमाली सूर्य वृक्षों पर धूप की ऊष्मा से उन्हें पीड़ित करने के पश्चात् अमृत जल बरसा कर करता है।

टिप्पणी—भविष्य में प्रिय करने का द्योतन। विद्याधर के अनुसार दृष्टांत-उपमा-परिवृत्ति अलंकार॥११॥

उपनम्रमयाचितं हितं परिहर्तुं न तवापि साम्प्रतम्।
करकल्पजनान्तराद्विधेः शुचितः प्राप स हि प्रतिग्रहः॥ १२॥

जीवातु—तर्हि भवन्मोचनं सुकृतमेव मम पर्याप्तम् किं दृष्टोपकारेणेति न वाच्यमित्याह-उपनम्रमिति। अयाचितमप्रार्थितमुपनम्रमुपनतं हितम् इह चामुत्र चोपकारकं तवापि परिहर्तुं न साम्प्रतम् युक्तम्। 'अयाचितं हितं ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्म्मण' इति स्मरणादिति भावः। तदपि मादृशात् पृथग्जनात् कथं ग्राह्यमत आह करेति। हि यस्मात्कारणात् स प्रतिग्रहः करकल्पङ्करस्थानीयमित्यर्थः। ईषदसमाप्तो कल्पप्प्रत्ययः, यज्जनान्तरं स्वयं यस्य तस्माच्छुचे, शुद्धाद्विधेः ब्रह्मणः प्राप्तः न तु मत्त इति भावः। आप्नोतेः कर्म्मणि लुङ्। विधिरेव ते दाता अहं तस्योपकरणमात्रम्, अतो न याच्ञालाघवन्तवेति भावः।

अन्वयः—अयाचितम् उपनम्रं हितं तव अपि परिहर्तुं साम्प्रतं न हि सः प्रतिग्रहः करकल्पजनान्तरात् शुचितः विधेः प्रापि।

हिन्दी—अप्रार्थित, उपस्थित प्रिय (वस्तु) आप जैसे समर्थ राजा को भी छोड़ना उचित नहीं है, क्योंकि वह दान हस्तस्थानीय (हाथ जैसे) अन्य व्यक्ति (मुझ हंस) के माध्यम से शुद्ध भाग्य से ही प्राप्त हुआ है।

टिप्पणी—नल जैसे समर्थ व्यक्ति किसी से याचना नहीं करते, दान नहीं लेते, इस कारण हंस जो कुछ प्रिय देना अथवा करना चाहता है, उससे उपकृत होने में संकोच हो सकता है। इस संकोच के निराकरणार्थ हंस का यह तर्क है कि समर्थ व्यक्ति को भी भाग्यवशात् बिन-मांगे मिले अभीष्ट का ग्रहण करना अनुचित नहीं है। इसके अतिरिक्त शुभाशुभ-प्राप्ति में दैव ही कारण है, उसका परिहार कोई कर ही नहीं सकता, सो राजा को भी स्वीकारने में संकोच करना तर्कसंमत नहीं हैं। और हंस तो एक प्रकार से अदृश्य दैव का हाथ है, जिसके माध्यम से नल का प्रियसाधन हो रहा है। काव्यलिंग अलंकार ॥१२॥

पतगेन मया जगत्पतेरुपकृत्यै तव किं प्रभूयते ?।
इति वेद्मि, न तु त्यजन्ति मां तदपि प्रत्युपकर्त्तुमर्त्तय: ॥ १३ ॥

जीवातु—ननु सार्वभौमस्य मे तिरश्चा त्वया किमुपकरिष्यते, तत्राह—पतगेनेति। पतगेन पक्षिमात्रेण मया जगत्पते: सार्वभौमस्य तवोपकृत्यै उपकाराय प्रभूयते क्षम्यते किं न भूयत एवेत्यर्थ:, भावे लट्, इति वेद्मि अक्षमत्वं जानामि। तदपि तथाप्यर्त्तयो यास्तु त्वया विनिवर्तिता इति भाव:। मां प्रत्युपकर्तुं न त्यजन्ति प्रत्युपकरणाय प्रेरयन्तीत्यर्थ:। अत्र पतगोऽप्यहं महोपकारिणस्ते महोपकारं करवाणीति भाव: ॥१३॥

अन्वय:—जगत्पते: तव उपकृत्यै मया पतगेन किं प्रभूयते ? इति वेद्मि, तदपि अर्त्तय: तु मां प्रत्युपकर्त्तुं न त्यजन्ति।

हिन्दी—संसार के स्वामी तेरा उपकार मैं सामान्य पक्षी क्या कर सकता हूं ? (नहीं कर सकता) यह मैं समझता हूं, तथापि तेरा प्रत्युपकार करने की तीव्रतम आकुलताएं मुझे नहीं छोड़तीं।

टिप्पणी—एक चक्रवर्ती नरेश का एक सामान्य निरीह पक्षी उपकार क्या करेगा ? यह तथ्य जानते-बूझते हुए भी हंस इतना विवश है राजा के उपकार का बदला देने के लिए कि प्रत्युपकार की उद्दाम इच्छा उसे पीड़ादायक प्रतीत हो रही है, इस असमर्थ-जैसे निरीह पक्षी को भी राजा के हितसाधनार्थ विवश कर रही है—प्रेरित कर रही है। हेतु और अनुप्रास ॥१३॥

अचिरादुपकर्तुराचरेदथवात्मौपयिकीमुपक्रियाम् ।

पृथुरित्थमथाणुरस्तु सा न विशेषे विदुषामिह ग्रहः ॥ १४ ॥

जीवातु—अथवा यथाशक्तिपक्षोऽस्त्वित्याह-अचिरादिति । अथवा उपकर्तुर-चिरादविलम्बादुपाय एवौपयिकः, विनयादित्वात् स्वार्थे ठक् 'उपधाया ह्रस्वत्वञ्चे'ति ह्रस्वः, तत आगता औपयिकी तामात्मौपयिकीं स्वोपायसाध्या-मित्यर्थः, 'तत आगत' इत्यण् प्रत्यये 'टिड्ढाणञि'त्यादिना ङीप् । उपक्रिया-माचरेत् प्रत्युपकारं कुर्यात्, चरधातोर्विधिलिङ् । इत्थमेवं सति सोपक्रिया पृथुरधिकाऽस्तु अथ अथवा अणुरल्पाऽस्तु विदुषां विवेकिनामिहास्मिन् विषये विशेषे ग्रह आग्रहो न । गुणग्राहिणो विवेकिनः कृतज्ञतामेव अस्य पश्यन्ति, न दोषमन्विष्यन्तीत्यर्थः ॥१४॥

अन्वयः—अथवा अचिरात् उपकर्तुः औपयिकीं क्रियाम् आचरेत्, इत्थं सा पृथुः अथ अणुः अस्तु, इह विदुषां ग्रहः न ।

हिन्दी—इसके अतिरिक्त यह भी है कि अविलम्ब उपकारक का प्रिय (प्रत्युपकार) अपने द्वारा साध्य उपाय से करे, इस स्थिति में वह कार्य बड़ा हो अथवा छोटा, इसका समझदारों में कोई आग्रह नहीं होता ।

टिप्पणी—भाव यह है कि प्रत्युपकार तुरन्त करना उचित है, छोटे-बड़े की चिन्ता किये बिना अपनी शक्ति भर उपकारी का प्रिय साधन अविलम्ब करना विद्वज्जनानुमोदित है । अप्रस्तुत-प्रशंसा और छेकानुप्रास ॥ ३४॥

भविता न विचारचारु चेत्तदपि श्रव्यमिदं मदीरितम् ।

खगवागियमित्यतोऽपि किं न मुदं दास्यति कीरगीरिव ॥ १५ ॥

जीवातु—अथ स्ववाक्ये आदरं याचते–भवितेति । हे नृप ! इदं वक्ष्यमाणं मदीरितं मद्वचः मद्वचनं विचारे विमर्शे चारु युक्तं न भविता न भविष्यति चेत्तदपि अविचारितरमणीयमपि श्रव्यं श्रोतव्यम् । इयं खगवागित्यतोऽपि हेतोः कीरगीः शुकवागिव मुदं किं न दास्यति दास्यत्येव । प्रयोजनान्तराभावेऽपि कौतुकादपि श्रोतव्यमित्यर्थः, ददातेः लृट् ॥१५॥

अन्वयः—इदं मदीरितं विचारचारु न भविता चेत् तदपि श्रव्यम्, इयं खगवाक्, इत्यतः अपि कीरगीः इव किं मुदं न दास्यति ?

हिन्दी—यह जो मेरा कथन संभव है विचार करने पर सुन्दर न प्रतीत हो, तथापि सुनना तो उचित ही है, 'यह पक्षी की वाणी है'—इससे भी क्या तोते की वाणी के तुल्य आनन्द न देगी ? (देगी ही)।

टिप्पणी—भले ही हंस का कथन मीमांसा करने पर महत्त्वपूर्ण न प्रतीत हो, तथापि राजा को इस कारण ही सुन लेना चाहिए कि तोते के समान यह हंस भी मनुष्य की वाणी बोल रहा है। मनुष्य-भाषा बोलते हंस को सुनना अमहत्त्व का होने पर भी एक सुन्दर आश्चर्य की तुष्टि तो करता ही है। उपमा और अनुप्रास ॥१५॥

स जयत्यरिसार्थसार्थकीकृतनामा किल भीमभूपतिः।
यमवाप्य विदर्भभूः प्रभुं हसति द्यामपि शक्रभर्तृकाम् ॥ १६ ॥

जीवातु—अथ यद्वक्तव्यं तदाह—स इति। अर्थेन अभिधेयेन सह वर्त्तत इति सार्थकम्, 'तेन सहेति तुल्ययोग' इति बहुव्रीहिः, 'वोपसर्जनस्ये'ति सह-शब्दस्य विकल्पात् सभावः 'शेषाद्विभाषे'ति कप् समासान्तः,ततश्च्विरभूततद्भावे। अरिसार्थेषु शत्रुसङ्घेषु सार्थकीकृतं नाम भीम इत्याख्या येन स तथोक्तः च प्रसिद्धः बिभ्यत्यस्मादिति भीमः 'भियो म' इत्यपादानार्थं निपातनान्मप्रत्यय औणादिकः, भीम इति भूपतिः. नृपः जयति किल सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते खलु। विदर्भभूर्विदर्भदेशः यं भूपति प्रभुं भर्तारमवाप्य शक्रो भर्ता यस्यास्तां शक्रभर्तृकां 'नद्यृतश्चे'ति कपि द्यान्दिवमपि हसति, किमुतान्यभर्तृकदेशानित्यर्थः। स्त्रियो हि भर्त्तुरुत्कर्षाद्धासं कुर्वन्तीति भावः। अत्र विदर्भभुवोऽपि द्युहासासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥१६॥

अन्वयः—अरिसार्थकीकृतनामा सः भीमभूपतिः जयति किल, यं प्रभुम् अवाप्य विदर्भभूः शक्रभर्तृकां द्याम् अपि हसति।

हिन्दी—शत्रुओं के दल में जिसने (भयंकर युद्ध करके अपना भीम) नाम सार्थक कर दिया है, वह भीम-भूपाल सर्वथा जय प्राप्त करे, जिसको स्वामी पाकर विदर्भ की भूमि इन्द्र जिसका स्वामी है, ऐसी स्वर्गभू का भी उपहास करती है।

टिप्पणी—विदर्भ भूमि का स्वामी भीम पराक्रमी शासक है, वह प्रजा-रंजक भी है, समृद्ध भी है, जिसके सम्मुख इन्द्र और उसकी स्वर्ग भूमि भी नगण्य है। विद्याधर ने यहाँ अनुप्रास और उपमा अलंकारों का निर्देश किया है, मल्लिनाथ ने असम्बन्ध में सम्बन्ध-कथन के आधार पर अतिशयोक्ति का, चंद्र-कलाकार अतिशयोक्ति और अर्थापत्ति की संसृष्टि मानते हैं ॥ १६ ॥

दमनादमनाक् प्रसेदुषस्तनयां तथ्यगिरस्तपोधनात् ।
वरमाप स दिष्टविष्टपत्रितयानन्यसदृग्गुणोदयाम् ॥ १७ ॥

जीवातु—दमनादिति। स भीमभूपतिरमनागनल्पं प्रसेदुषो निजोपासनया प्रसन्नात् 'भाषायां सदवसश्रुव' इति सदेर्लिटः क्वस्वादेशः। दमनाद्दमनाख्यात् तथ्यगिरः अमोघवचनात् तपोधनादृषेः दिष्टानां कालानां विष्टपानां लोकानाञ्च त्रितययोरनन्यसदृशीं गुणोदयां कालत्रये लोकत्रये चानन्यसाधारणप्रकर्षां तनयां दुहितरं वरमाप। वरत्वेन लब्धवानित्यर्थः। 'देवाद्वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबे मनाक्प्रिय' इत्यमरः ॥१७॥

अन्वयः—सः अमनाक् प्रसेदुषः तथ्यगिरः तपोधनात् दमनात् दिष्टविष्टप-त्रितयानन्यसद्गुणोदयां तनयां वरम् आप।

हिन्दी—उस (भीमभूपति) ने अत्यन्त प्रसन्न, सत्यवक्ता (जिसका वचन झूठा न हो) तपस्वी दमन से कालत्रय (भूत, भविष्यत्, वर्तमान) और लोकत्रय (स्वर्ग, मर्त्य, पाताल) में जो असाधारण रूप-गुणवती है, ऐसी पुत्री का वर पाया।

टिप्पणी—दमयन्ती अनुपम रूप गुणवती है—यह कह कर नल की उसके प्रति उत्कंठा जागरित करने की चेष्टा। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और व्यतिरेक, चंद्रकलाकार ने केवल 'दमनादमनाक्' के यमक का निर्देश किया है ॥

भुवनत्रयसुभ्रुवामसौ दमयन्ती कमनीयतामदम् ।
उदियाय यतस्तनुश्रिया दमयन्तीति ततोऽभिधां दधौ ॥ १८ ॥

जीवातु—अथास्या नामधेयं व्युत्पादयन्नेवाह—भुवनत्रयेति। असौ वर-प्रसादलब्धा तनया कर्त्री तनुश्रिया निजशरीरसौन्दर्येण करणेन भुवनत्रयसुभ्रुवां त्रैलोक्यसुन्दरीणां कमनीयतामदं सौन्दर्यगर्वं दमयन्ती अस्तं गमयन्ती दमेर्ण्यन्तात्;

'न पादमि'त्यादिना कर्त्रभिप्राय आत्मनेपदापवादः परस्मैपदप्रतिषेधेऽप्यकर्त्रभिप्रायविवक्षायां परस्मैपदे लटः शत्रादेशः। उदियाय उदिता,इणो लिट्, ततस्तस्मादेव निमित्ताद्दमयन्तीत्यभिधामाख्यां दधौ, दधातेर्लिट् ॥१८॥

अन्वयः—यतः असौ भुवनत्रयसुभ्रुवां कमनीयतामदं तनुश्रिया दमयन्ती उदियाय ततः 'दमयन्ती' इति अभिधां दधौ।

हिन्दी—क्योंकि यह (भीमतनया) तीनों भुवनों की सुनयनाओं के सौन्दर्य-गर्व को तन की शोभा से दमन करती उत्पन्न हुई, इससे (इसका) 'दमयन्ती'—यह नाम रखा गया।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में दमयन्ती को त्रिलोक-सुन्दरियों में अप्रतिम बताया गया था, यहाँ उसी की एक प्रकार से पुष्टि की गयी है। विद्याधर ने यहाँ उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है, किन्तु त्रिलोक-सुन्दरियों से दमयन्ती की श्रेष्ठता प्रतिपादित होने के कारण चंद्रकलाकार यहाँ व्यतिरेक अलंकार मानते हैं ॥१८॥

श्रियमेव परं धराधिपाद् गुणसिन्धोरुदितामवेहि ताम्।
व्यवधावपि यां विधोः कलां मृडचूडानिलयां न वेद कः ॥ १९ ॥

जीवातु—अथैकविंशतिश्लोकैस्त्रिकुरादारभ्य दमयन्तीं वर्णयति—श्रियमिति। हे नृप ! ताम् दमयन्तीं गुणसिन्धोः गुणसागरादधिपाद्भीमनरेन्द्रादुदितामुत्पन्नां श्रियं साक्षाल्लक्ष्मीमेव परं ध्रुवमवेहि जानीहि, अवपूर्वादिणो लोटि 'सेर्ह्यपि'ति ह्यादेशे ङित्त्वान्न सार्वधातुकगुणः, संहितायाम् 'आद्गुणः' अत्र केवलावपूर्वस्य इणो ज्ञानार्थत्वादङ्प्रश्लेषे तदलाभात्, प्रश्लेषेऽपि 'ओमाङोश्चे'ति पररूपमिति केषाञ्चित्प्रक्रियोपन्यासो वृथा। प्रक्षाल्य त्यागः 'अवैहीति वृद्धिरखद्ये'ति वामनसूत्रमप्यनाङ्प्रश्लेष एव भ्रान्तिप्राप्तवृद्धिप्रतिषेधपरं गुण एव युक्त इति व्याख्यानादन्यथा 'ओमाङोश्चे'ति, पररूपमेव युक्तमित्युच्येत इति। न च देशव्यवधानान्न श्रीरेवेति वाच्यमित्याह-व्यवधौ व्यवधाने सत्यपि 'उपसर्गे घोः किरि'ति किप्रत्ययः मृडचूडानिलयां हरशिखाश्रयां कलां विधोरिन्दोरेव कलां को वा न वेद ? सर्वोऽपि वेदैवेत्यर्थः, 'विदो लटो वे'ति वैकल्पिको णलादेशः। यथा हरशिरोगतापि कला चन्द्रकलैव, तथा भीमभवनोदितास्प्येषा श्रीरेवेति सौन्दर्यातिशयोक्तिः। अत्र श्रीकलयोः नृपमृडौ वाक्यद्वये बिम्बप्रति-

बिम्बभावेन सामान्यधर्म्मवत्तया निर्दिष्टाविति दृष्टान्तालङ्कारः । 'यत्र वाक्यद्वये बिम्बप्रतिबिम्बतयोच्यते । सामान्यधर्म्मः काव्यज्ञैः स दृष्टान्तो निगद्यते ॥' इति लक्षणात् ॥१९॥

अन्वयः—तां परं गुणसिन्धोः धराधिपात् उदितां श्रियम् एव अवेहि, वा व्यवधौ अपि मृडचूडानिलयां विधोः कलां कः न वेद ?

हिन्दी—हे नल, आप उसे गुणों के सागर पृथ्वीपति से समुत्पन्न निश्चय रूप से लक्ष्मी ही समझिए, अथवा अन्तराय होने पर भी महादेव के मस्तक पर जिसका आवास है, उस चंद्र की कला को कौन नहीं जानता ? (सब ही जानते हैं ।)

टिप्पणी—धरती की लक्ष्मी दमयन्ती के विषय में सर्वत्र ख्याति है, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सभी उसके विषय में जानते हैं, जैसे अप्रत्यक्ष महादेव की चूडालया चंद्रकला से सभी परिचित होते हैं, अतः राजा नल भी दमयन्ती के विषय में सब जानते ही होंगे । अधिक कहना व्यर्थ है । विद्याधर के अनुसार यहाँ रूपक और आक्षेप अलंकार हैं, मल्लिनाथ के अनुसार अतिशयोक्ति और दृष्टांत, क्योंकि दमयन्ती को 'भीमभवनोदिता श्री' कहकर सौन्दर्यातिशय कथन है और 'श्री-चंद्रकला' तथा 'भीम-महादेव' सामान्य धर्म होने से बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से निर्दिष्ट हैं । चंद्रकलाकार ने रूपक-दृष्टांत की संसृष्टि मानी है ॥१९॥

चिकुरप्रकरा जयन्ति ते विदुषी मूर्द्धनि सा बिभर्त्ति यान् ।
पशुनाऽप्यपुरस्कृतेन तत्तुलनामिच्छतु चामरेण कः ॥ २० ॥

जीवातु—चिकुरप्रकरा इति । चिकुरप्रकराः केशसमूहाः जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तन्ते, यान् वेत्तीति विदुषी विशेषज्ञा 'विदेः शतुर्वसुः' 'उगितश्चे'ति ङीप् 'वसोः सम्प्रसारणम्' । सा दमयन्ती मूर्द्धनि बिभर्ति, विद्वद्गृह एव सर्वस्याप्युत्कर्षहेतुरिति भावः । अतएव पशुना तिरश्चा चमरीमृगेणाप्यपुरस्कृतेनानादृतेन चामरेण चमरीपुच्छेन सह तत्तुलनान्तेषां चिकुराणां समीकरणं क इच्छतु ? न कोऽपीत्यर्थः । सम्भावनायां लोट् । अत्र तुलनानिषेधस्यापुरस्कृतपदार्थहेतुकत्वात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, 'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतमि'ति लक्षणात् ॥२०॥

अन्वयः—विदुषी सा यान् मूर्द्धनि बिभर्त्ति ते चिकुरप्रकराः जयन्ति, पशुना अपि अपुरस्कृतेन चापरेण तत्तुलनां कः इच्छतु ?

हिन्दी—बुद्धिमती वह जिन्हें शिरोधार्य किये हैं, वे जयी हैं (सर्वोत्कृष्ट हैं) केश-समूह, पशु (सुरा गाय) ने भी जिन्हें पुरस्कृत नहीं किया (पृष्ठभाग पूंछ में रखा) उन चमरी-केशों से कौन दमयन्ती का चिकुरराशि की तुलना करना चाहेगा ? (कोई नहीं ।)

टिप्पणी—चमरी के तुलनायोग्य केशों से भी दमयन्ती के चिकुरजाल की श्रेष्ठता प्रमाणित करने का अद्भुत तर्क। मल्लिनाथ के अनुसार पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार और विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और व्यतिरेक। काकु वक्रोक्ति ॥२०॥

स्वदृशोर्जनयन्ति सान्त्वनां खुरकण्डूयनकैतवान्मृगाः ।
जितयोरुदयत्प्रमीलयोस्तदखर्वेक्षणशोभया भयात् ॥ २१ ॥

जीवातु—स्वदृशोरिति । मृगाः हरिणास्तस्या दमयन्त्या अखर्वयोरायतयोरीक्षणयोरक्ष्णोः शोभया कर्त्र्या जितयोरत एव भयादुदयत्प्रमीलयो रुत्पद्यमाननिमीलनयोः स्वदृशोर्निजनयनयोः खुरैः शफैः 'शफं क्लीबे खुरः पुमानि' त्यमरः । कण्डूयनस्य कर्षणस्य कैतवाच्छलात्सान्त्वनां जनयन्ति लालनां कुर्वन्ति । यथा लोके परपराजिता निमीलिताक्षाः स्वजनैर्भयनिवृत्तये करतलास्फालनादिना परिसान्त्व्यन्ते तद्वदिति भावः । अत्र कैतवशब्देन कण्डूयनमपह्नुत्य सान्त्वनारोपादपह्नवभेदः ॥२१॥

अन्वयः—मृगाः तदखर्वेक्षणशोभया जितयोः भयात् उदयत्प्रमीलयोः स्वदृशोः खुरकाण्डूयनकैतवात् सान्त्वनां जनयन्ति ।

हिन्दी—हरिण उसके विशाल नेत्रों की शोभा से विजित हो भय से मुंदे गये (तन्द्रा से निमीलित अपने नेत्रों को खुर से खुजाने के ब्याज से सांत्वना देते हैं।)।

टिप्पणी—हारे व्यक्ति को सहलाकर सांत्वना दी जाती है, सो मृग भी दमयन्ती के विशाल नयनों से पराजित अतएव त्रस्त हो मुंदे नेत्रों को खुर से

सहला कर सान्त्वना देते हैं। तन्द्रालु मृग को खुजलाना मृग-स्वभाव है। दर्शनीय—शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः। (कालिदास, कुमारसम्भव)। मल्लिनाथ के अनुसार अपह्नुति-अलङ्कार और विद्याधर के अनुसार समासोक्ति तथा अपह्नुति, चन्द्रकलाकार के अनुसार कैतवापह्नुति प्रतीयमानोत्प्रेक्षा की संसृष्टि ॥ २१ ॥

अपि लोकयुगं दृशावपि श्रुतदृष्टा रमणीगुणा अपि।
श्रुतिगामितया दमस्वसुर्व्यतिभाते सुतरां धरापते ! ॥ २२ ॥

जीवातु—अपीति। हे धरापते ! दमो नाम भीमस्यैवात्मजस्तस्य स्वसुर्दमयन्त्याः लोकयुगं मातापितृकुलयुगं श्रुतिगामितया वेदप्रसिद्धतया सुतरां व्यतिभाते परस्परोत्कर्षेण भाति तथा दृशौ नेत्रे अपि श्रुतिगामितया कर्णान्तविश्रान्ततया व्यतिभाते परस्परोत्कर्षेण भातस्तथा श्रुताः श्रुतिप्रसिद्धाः ते च ते दृष्टाः लोकप्रसिद्धाश्च विशेषणयोरपि विशेषणविशेष्यभावविवक्षायां विशेषणसमासः, ते रमणीगुणाः, स्त्रीधर्म्मा अपि श्रुतिगामितया जनैः श्रूयमाणतया 'श्रुतिः श्रोत्रे तथाम्नाये वार्त्तायां श्रोत्रकर्म्मणी'ति विश्वः। सुतरां व्यतिभाते व्यतिहारेण भान्ति। 'आत्मनेपदेष्वनत' इति झस्यादादेशः, सर्वत्र 'कर्त्तरि कर्मव्यतिहार' इत्यात्मनेपदम्, अदादित्वाच्छपो लुक्, सर्वत्र टेरेत्वम्। अत्र लोकयुगादीनान्त्रयाणामपि प्रकृतत्वात् केवलप्रकृतविषयतुल्ययोगिताभेदः। 'प्रस्तुताप्रस्तुतानाञ्च केवलं तुल्यधर्म्मतः। औपम्यं गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिते'ति लक्षणात् ॥ २२ ॥

अन्वयः—धरापते, दमस्वसुः लोकयुगं दृशौ, श्रुतदृष्टाः रमणीगुणाः अपि श्रुतिगामितया सुतरां व्यतिभाते।

हिन्दी—हे धरणी के स्वामी, दमस्वसा (दमयन्ती) के दोनों कुल (मातृ-पितृ-कुल), दोनों नेत्र और सुने-देखे रमणीजनोचित सौन्दर्यादि गुण भी श्रुतिगामी (जगद्विख्यात मातृपितृकुल), कान तक फैले (विशाल नयन) तथा लोकवर्णन-विषय (रमणीगुण) होने से परस्पर अत्यन्त सुशोभित होते हैं।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती के मातृ-पितृकुल विख्यात हैं, वह विशालनयना, आकर्णविशालनेत्रा है, उसके नारीजनोचित रूप-गुण की चर्चा लोक-जीवन का अंग है, अनेकार्थं 'श्रुति' शब्द का प्रयोग कर कवि ने पदार्थों की उत्कृष्टता का एक ही कारण निर्देश किया है—'श्रुतिगामिता' 'श्रुत' (पुराणादि, सामुद्रिक शास्त्रादि में वर्णित) तथा 'दृष्ट' (किन्हीं सुन्दरियों में देखी गयी) जो नार्युचित विशेषताएँ हैं, वे सब दममन्ती में हैं। इस श्लोक में 'व्यतिभाते' (वि = अति + भा) का प्रयोग चमत्कारपूर्ण है, 'प्रकाश'-कार के अनुसार यह 'वचनश्लेष' है, अर्थात् तीनों वचनों में एक सदृश रूप—व्यति + भा + लट् = व्यतिभाते (एकवचन)। व्यति + भा + आताम् = व्यतिभाताम्, 'टित आत्मने पदानां टेरे' (अष्टा ३।४।७९) से एत्व = व्यतिभाते (द्विवचन)। व्यति + भा + झः = अत् तथा पूर्वोक्त प्रणाली से एत्व (बहुवचन)। इस प्रकार एक 'व्यतिभाते' क्रिया तीनों कर्ताओं से सम्बन्धित हो गयी—(१) लोकयुगम्—एकवचन, (२) दृशौ—द्विवचन, (३) रमणीगुणाः—बहुवचन। 'व्यतिभाते' का अर्थ है कर्म-विनिमय से भासित होना। इस प्रकार पितृकुल, मातृकुल से व्यतिभासित है और पितृकुल मातृकुल से, दक्षिण नेत्र की शोभा को बायाँ नयन स्वीकारता है, वामनेत्र की दक्षिण नेत्र, जो शास्त्रों में वर्णित (श्रुत) गुण हैं वे दमयन्ती में दृष्ट—देखे गये हैं, जो दमयन्ती में देखे जाते हैं—'दृष्ट' वे ही शास्त्रों में 'श्रुत' हैं। अथवा इन सब युग्मों की परस्पर—एक दूसरे से शोभा है—मातृकुल पितृकुल से सुशोभित है, पितृकुल मातृकुल से, इसी प्रकार दोनों नेत्र अन्योन्यतः। शास्त्रादि में 'श्रुत'—वर्णित रमणीगुणों की सार्थकता दमयन्ती में 'दृष्ट' होने से है और जो उसमें दृष्ट हैं वे ही शास्त्रविख्यात हैं। मल्लिनाथ ने इस श्लोक में तुल्ययोगिता अलङ्कार का उल्लेख किया है, विद्याधर के अनुसार यहाँ वचन श्लेष-क्रियाकारक और दीपक की संसृष्टि है। चन्द्रकलाकार के अनुसार वचनश्लेष-तुल्ययोगिता का एकाश्रयानुप्रवेश संकर है ॥ २२ ॥

नलिनं मलिनं विवृण्वती पृषतीमस्पृशती तदीक्षणे।
अपि खञ्जनमञ्जनाञ्चिते विदधाते रुचिगर्वदुर्विधम् ॥ २३ ॥

जीवातु—नलिनमिति । नलिनं पद्मं मलिनमचारु विवृण्वती कुर्वाणे पृषतीं मृगीमस्पृशती असमानत्वात् दूरादेव परिहार इत्यर्थः, तदीक्षणे तल्लोचने अञ्जनाञ्चिते कज्जलपरिष्कृते सती खञ्जनं खञ्जरीटाख्यं खञ्जनामकः पक्षिविशेषः 'खञ्जरीटस्तु खञ्जन' इत्यमरः । तमपि रुचिगर्वदुर्विधं चारुत्वगर्वनिःस्वं विदधाते कुर्वाते, सर्वथाप्यनुमेये इत्यर्थः । 'निःस्वस्तु दुर्विधो दीनो दरिद्रो दुर्गतोऽपि स' इत्यमरः । ईक्षणयोर्नलिनादिमलिनीकरणाद्यसम्बन्धे सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, तथा चोपमा व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥

अन्वयः—नलिनं मलिनं विवृण्वती, पृषतीम् अस्पृशती अञ्जनाञ्चिते तदीक्षणे खञ्जनम् अपि रुचिगर्वदुर्विधं विदधाते ।

हिन्दी—कमल को मलिन बनाने वाले, हरिणी को अगणना करनेवाले काजल लगे नेत्र खञ्जन को भी सौन्दर्याभिमान से रहित बना देते हैं ।

टिप्पणी—नेत्रों के प्रायः तीन उपमान हैं, कमल, हरिणनयन, खंजन । दमयन्ती के नयनों के सम्मुख तीनों हीन हैं । अन्वय भेद से इसके अन्य अर्थ भी होते हैं । 'पृषती' का अर्थ हरिणी भी है और काजल लगाने की शलाका (सलाई) भी । इस प्रकार एक यह अर्थ हुआ कि काजल की शलाका का स्पर्श किये बिना इसके विशाल कज्जल-रहित नयन कमलों को फीका कर देते हैं, अञ्जनखचित होकर तो खंजन का भी सौन्दर्य-गर्व-खर्व कर देते हैं । और भी अर्थ हो जाते हैं–'मलिनं विवृण्वती' अर्थात् स्वगत श्याम गुण का दृष्टिवश प्रसार करती 'नलिन' पर भी श्यामता बिखेर कर उसे मलिन बना देती है. अथवा 'मलिनं नलिनं रुचिगर्वदुर्विधं विदधाते', नीलोत्पल का सौन्दर्य गर्व खर्व कर देती है । 'अस्पृशती तदीक्षणे' विस्तार को अप्राप्त उसके नेत्र हरिणी का सौन्दर्य गर्व खर्व कर देते हैं, कमल को मलिन कर देते हैं, जब विस्तार पाते हैं, तो शुक्ल-कृष्ण, अतिसरल, अतिचञ्चल खंजन का भी सौन्दर्याभिमान भंग हो जाता है । भाव यह है कि दमयन्ती के नेत्रों के सम्मुख कोई उपमान ठहरता नहीं । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ असम्बन्ध में सम्बन्ध-कथन रूपा अतिशयोक्ति से उपमा व्यञ्जित होती है, अतः अलङ्कारध्वनि है, विद्याधर के अनुसार छेका-

नुप्रास और अतिशयोक्ति अलङ्कार हैं, चन्द्रकलाकार ने अतिशयोक्ति-व्यतिरेक के अङ्गाङ्गिभाव से संकर का उल्लेख किया है ॥ २३ ॥

अधरं खलु बिम्बनामकं फलमस्मादिति भव्यमन्वयम् ।
लभतेऽधरबिम्बमित्यदः पदमस्या रदनच्छदं वदत् ॥ २४ ॥

जीवातु—अधरमिति । अधरबिम्बमित्यदः पदम् अधरं बिम्बमिवेत्युपमितसमासाश्रयणेन स्त्रीणामधरेषु यत्पदं प्रयुज्यते तदित्यर्थः । अस्याः दमयन्त्याः रदनच्छदम् ओष्ठमभिदधत् तदभिधानाय प्रयुक्तं सदित्यर्थः । बिम्बनामकं फलं बिम्बमस्माद्दमयन्तीरदनच्छदादधरं किलापकृष्टं खल्विति अधरशब्दस्यापकृष्टार्थत्वे अधरं बिम्बं यस्मात्तदिति बहुव्रीहिसमासे च सति भव्यमबाधितमन्वयं वृत्तिपदार्थसंसर्गलक्षणं लभते, अन्यथा समर्थसमासाश्रयणे 'समर्थः पदविधिरि'ति समर्थपरिभाषा भज्येत, तर्हि नोपमा स्यादिति भावः । अत्र दमयन्तीदन्तच्छदस्य बिम्बाधरीकरणासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः पूर्ववत् व्यतिरेकश्च ॥ २४ ॥

अन्वयः—अधरबिम्बम् इति अदः पदम् अस्याः रदनच्छदं वदत् बिम्बनामकं फलम् अस्मात् अधरं खलु—इति भव्यम् अन्वयं लभते ।

हिन्दी—'अधर-बिम्ब' (अधर-बिम्ब के सदृश) यह पद (शब्द) इस (दमयन्ती) के ओष्ठाधर के अभिधान के निमित्त प्रयुक्त होता हुआ 'बिम्ब' नाम का फल इस ओष्ठ से निश्चयतः अधर (निम्न) है'—समीचीन अन्वय को प्राप्त करता है ।

टिप्पणी—दमयन्ती के रदनच्छद के सम्मुख रक्तवर्ण बिम्बफल भी हीन है, यह कहकर कवि उपमान (बिम्ब) से उपमेय (ओष्ठ) की उत्कृष्टता सिद्ध करना चाहता है । इस भाव के लिए उसने एक अनूठी कल्पना की है। सामान्यतः 'अधर-बिम्ब' का अर्थ 'अधर बिम्ब के समान है'—करने के लिए यह कर्मधारय समास से निष्पन्न शब्द माना जाता है—'अधरो बिम्ब इव', किंतु दमयन्ती के सन्दर्भ में कवि के अनुसार यह समास उपयुक्त नहीं होगा क्योंकि उसका ओष्ठ बिम्ब से श्रेष्ठ है, वहाँ बहुव्रीहि समास करने पर ही शब्दतः और

अर्थतः भव्यता आ सकेगी —'अधरं (निम्नतरम्) बिम्बं यस्मात् तत्'—निकृष्ट है बिम्बफल जिससे। इस प्रकार ही अर्थ में उपयुक्तता आ सकेगी। विद्याधर के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा है, किन्तु मल्लिनाथ पूर्वश्लोक के तुल्य ही इसमें भी अतिशयोक्ति और अलंकार-ध्वनि मानते हैं, चंद्रकलाकार व्यतिरेक ॥२४॥

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम ॥ २५ ॥

जीवातु—हृतसारमिति। इन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय तन्निर्माणायेत्यर्थः। 'क्रियार्थोपपदस्ये'ति चतुर्थी, वेधसा हृतसारमुद्धृतमध्याङ्कमिव, कुतः? कृतमध्यबिलं विहितमध्यरन्ध्रमत एव धृतो गम्भीरखनीखस्य निम्नमध्यरन्ध्राकाशस्य नीलिमा नैल्यन्तथा विलोक्यते, 'खनिः स्त्रियामाकरः स्यादित्यमरः। 'कृदिकाकादक्तिन' इति ङीप्। अत्र कलङ्कापह्नवेन खनीलिमारोपादपह्नवभेदः, स च कृतमध्यबिलमित्येतत्पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गानुप्राणितः, तदपेक्षा चेयं हृतसारमित्युत्प्रेक्षेति सङ्करः। तथा चोपमा व्यज्यत इति पूर्ववत् ध्वनिः ॥२५॥

अन्वयः—इन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा हृतसारम् इव कृतमध्यबिलं धृतगम्भीरखनीलिम विलोक्यते।

हिन्दी—ऐसा प्रतीत होता है—विधाता द्वारा दमयन्ती के मुख की संरचना के निमित्त चन्द्रबिम्ब का श्रेष्ठ अंश ले लिया गया, अतः उसके मध्य में छिद्र हो गया, जिसमे (कलंक चिह्न रूप में) उस गहरे गड्ढे में आकाश की नीलिमा दिखायी पड़ रही है।

टिप्पणी—चन्द्रमा का कलङ्क वस्तुतः कलङ्क-चिह्न नहीं है, यह तो दमयन्तीमुख-रचना के लिए ले लिये गये उसके श्रेष्ठांश के अभाव में पड़े गर्त्त के पीछे से दीखती नभोमण्डल की नीलिमा है-इस उक्ति से कवि प्रतिपादित करना चाहता है कि दमयन्ती-वदन निष्कलङ्क चन्द्र के श्रेष्ठांश के सदृश सम्भव है, यह चन्द्र उसके सम्मुख हीन है। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और अनुप्रास, मल्लिनाथ के अनुसार कलङ्क का अपह्नव करके आकाश-नीलिमा का आरोप

होने से अपह्नुति है, 'कृतिमध्यबिलम्'—इस पदार्थहेतुक काव्यलिंग से अनुप्राणित है। 'हृतसारम्'—इत्यादि उत्प्रेक्षा है। इस प्रकार यहाँ अपह्नुति-काव्यलिंग-उत्प्रेक्षा का संकर है। उत्प्रेक्षा से उपमा व्यंजित है, सो अलंकारध्वनि भी है ॥ २५ ॥

धृतलाञ्छनगोमयाञ्चनं विधुमालेपनपाण्डरं विधिः ।
भ्रमयत्युचितं विदर्भजाननीराजनवर्द्धमानकम् ॥ २६ ॥

जातातु—धृतेति । विधिर्ब्रह्मा धृतं लाञ्छनमङ्क एव गोमयाञ्चनं मध्यस्थितगोमयसंश्लेषणम् एनम् आलेपनपाण्डरं निजकान्तिसुधाधवलित-मित्यर्थः, विधुं चन्द्रमेव विदर्भजाननस्य वैदर्भीमुखस्य नीराजनवर्द्धमानकं नीराजनशरावम् 'शरावो वर्द्धमानक' इत्यमरः । किरणदीपकलिकायुक्तमिति भावः । भ्रमयत्युचितम् लोकोत्तरत्वात् इति भावः, एवं नीराजयन्तीति देशाचारः । अत्र विधुतल्लाञ्छनादेर्नीराजनशरावगोमयादित्वेदन निरूपणा-त्सावयवरूपकम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—विधिः, धृतलाञ्छनगोमयाञ्चनम् आलेपनपाण्डरं विधुं विदर्भ-जाननीराजनवर्द्धमानकं भ्रमयति–(इति) उचितम् ।

हिन्दी—ब्रह्मा कलङ्क-चिह्न-रूप गोबर के अँचना (लेप) से युक्त, पिष्टो-दक (ऐपन) से भरे चंद्र को विदर्भतनया (दमयन्ती) के मुख की आरात्तिका (आरती) के निमित्त मृत्पात्र (मिट्टी का बर्तन–शराव, सरैया) के समान जो घुमाता है, सो वह उचित ही करता है।

टिप्पणी—सूर्य-चंद्र सब ईश्वरेच्छा से घूमा ही करते हैं–यह प्रकृति का नियम है। कवि दमयन्ती के मुख के सम्मुख चन्द्र कहीं निकृष्ट है–यह प्रमाणित करने के लिए चन्द्र-भ्रमण का कारण बताता है कि दमयन्ती के मुख की आरती उतारने के लिए ब्रह्मा की चेष्टा, जिससे इस सलोने मुखड़े को नजर न लग जाय, संपूर्ण दृष्टिदोषों का निराकरण हो जाय–उर्दू-मुहावरे के अनुसार 'चश्मे-बद्दूर'। चन्द्रमा को गोबर से लिपा ऐपन से भरा किया गया मिट्टी का पात्र बनाया गया है, जिससे यह दृष्टिदोष निराकरण हो रहा है। लोकजीवन में भी

गोबर से लिपे, ऐपन से चिह्नित शराव से नजर उतारी जाती है। मल्लिनाथ के अनुसार सावयव रूपक, विद्याधर के अनुसार रूपक और सम अलंकार—योग्यता के कारण योग की यदि सम्भावना हो तो सम होता है—'समं योग्यतया योगो यदि सम्भावितः क्वचित्।' चंद्रकलाकार ने यहाँ सांगरूपक और असबंध में सम्बन्ध कथन रूपा अतिशयोक्ति के संकर का निर्देश किया है ॥२६॥

सुषमाविषये परीक्षणे निखिलं पद्ममभाजि तन्मुखात्।
अधुनापि न भङ्गलक्षणं सलिलोन्मज्जनमुज्झति स्फुटम् ॥ २७ ॥

जीवातु—सुषमेति। सुषमा परमा शोभा सैव विषयः यस्मिन् परीक्षणे जलदिव्यशोधने कृते निखिलं पद्मं पद्मजातं तन्मुखापादानात भङ्गावधित्वादभाजि अभञ्जि स्वयमेव मग्नममूदित्यर्थः, स्फुटं, कर्त्तरि लुङ्, 'भञ्जेश्च चिणी'ति वैभाषिको नकारलोपः। अतएवाधुनापि भङ्गलक्षणम्पराजयचिह्नं सलिलादुन्मज्जनं क्षणमपि नोज्झति न जहाति। जलदिव्योन्मज्जनस्य पराजयलिङ्गत्वस्मरणादिति भावः। उन्मज्जनक्रियानिमित्तेयं भङ्गोत्प्रेक्षा ॥२७॥

अन्वयः—सुषमाविषये परीक्षणे निखिलं पद्मं तन्मुखात् अभाजि, अधुना अपि भङ्गलक्षणं सलिलोन्मज्जन न उज्झति स्फुटम्।

हिन्दी—सौन्दर्य-विषयक परीक्षा में समग्र कमल उसके मुख से पराजित हो गये, सो लगता है उसी पराजय-चिह्न-स्वरूप आज भी जल से ऊपर रहना नहीं छोड़ते। अथवा 'पद्म' पराजित हो 'अभाजि' अर्थात् टूट गये हैं, सो उसी 'भंग(टूटन)के कारण आज भी 'स्फुट' अर्थात् छितराये हुए जल के ऊपर खड़े हैं।

टिप्पणी—कवि संसार भर के कमलों से दमयन्तीमुख का सौन्दर्य श्रेष्ठ सिद्ध करना चाहता है, एतदर्थ यह कल्पना है। याज्ञवल्क्य स्मृति के व्यवहाराध्याय (९५-११३)में 'दिव्य' प्रकरण है, जिसके अनुसार 'जलदिव्य' मे दमयंती मुख और 'निखिल पद्मजात' के मध्य सौन्दर्य-श्रेष्ठता का परीक्षण हुआ। इसमें होता यह है कि एक धनुर्धर द्वारा छोड़े बाण को लेकर जब-तक दूसरा दौड़ता हुआ आता है, तब-तक जो जल में डूबा खड़ा रहता है, वही विजयी

माना जाता है। और जो बाण ले-जाने के पूर्व ही जल से बाहर उभर आता है, वह पराजित माना जाता है। दमयन्ती-मुख से कमल पराजित हो गये, सो तब के उभर कर आये-आये आज भी जल के ऊपर ही रह कर मानो स्वपराजय को स्वीकारे हुए हैं। एतद्विषयक याज्ञवल्क्य का श्लोक (२।१०९) इस प्रकार है—

"समकालमिषुं मुक्तमानीयान्यो जयी नरः।
गते तस्मिन्निमग्नाङ्गं पश्येच्चेच्छुद्धिमाप्नुयात् ॥"

मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा और विद्याधर के अनुसार अनुमान तथा अतिशयोक्ति ॥२७॥

धनुषी रतिपञ्चबाणयोरुदिते विश्वजयाय तद्भ्रुवौ।
नलिके न तदुच्चनासिके त्वयि नालीकविमुक्तिकामयोः ॥ २८ ॥

जीवातु—धनुषी इति। तद्भ्रुवौ विश्वजयायोदिते उत्पन्ने रतिपञ्चबाणयोर्धनुषी नूनमित्यादिव्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्योत्प्रेक्षा, किञ्च तस्याः दमयन्त्याः उच्चनासिके उन्नतनासापुटे त्वयि नालीकानां द्रोणिचापशराणां विमुक्तिं कामयेते इति तथोक्तयोः तयोः 'शीलिकामिभक्ष्याचारिभ्यो णः' इति णप्रत्ययः, 'नालीकं पद्मखण्डेऽस्त्री नालीकः शरशल्ययोरि'ति विश्वः। नलिके न द्रोणिचापे न किमिति काकुः। पूर्ववदुत्प्रेक्षा ॥२८॥

अन्वयः—तद्भ्रुवौ विश्वजयाय उदिते रतिपञ्चबाणयोः धनुषी, तदुच्चनासिके त्वयि नालीकविमुक्तिकामयोः नलिके न (नु)।

हिन्दी—उसकी भौहे जगज्जय के निमित्त उद्यत रति और पंचबाण काम के दो धनुष हैं और उसकी उन्नत नासिका के दो छिद्र मुझ पर उन छोटे-छोटे बाणों को छोड़ने के निमित्त बाणाधार-दो नलिकाएँ नहीं हैं क्या? (हैं ही)।

टिप्पणी—उसकी भौंहें सब को विमोहित करने वाली हैं, यह भाव है। काम के पाँच बाण हैं-(१) अरविन्द, (२) अशोक, (३) आम्र, (४) नवमल्लिका और (५) नीलकमल—"अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका। नीलोत्पलं च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः॥" उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार रूपक-उत्प्रेक्षा, अथवा इन दोनों का संकर ॥२८॥

सदृशी तव शूर ! सा परं जलदुर्गस्थमृणालजिद्भुजा ।
अपि मित्रजुषां सरोरुहां गृहयालुः करलीलया श्रियः ॥ २९ ॥

जीवातु—सदृशीति । हे शूर ! जलदुर्गस्थानि मृणालानि जयत इति तज्जितौ भुजौ, यस्याः सा मित्रजुषामर्कसेविनां सुहृत्सलिलानाञ्च सहायकसम्पन्नानामपीत्यर्थः । 'मित्रं सुहृदि मित्रोऽर्के' इति विश्वः । सरोरुहां श्रियः शोभा सम्पदश्च 'न लोके'त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः, करलीलया भुजविलासेन भुजव्यापारेण बलिग्रहणेन च 'बलिहस्तांशवः कराः' लीलाविलासक्रिययोरि'ति चामरः, गृहयालुः ग्रहीता गृह–ग्रहण इति धातोश्चौरादिकात् 'स्पृहिगृहो'त्यादिना आलुच प्रत्ययः, 'अयामन्ते' त्यादिना णेरयादेशः । सा दमयन्ती तव परमत्यन्तं सदृशी अनुरूपेत्युपमालङ्कारः । शूरस्य शूरैव भार्या भवितुमर्हतीति भावः ॥ २९ ॥

अन्वयः—शूर, जलदुर्गस्थमृणालजिद्भुजा मित्रजुषाम् अपि सरोरुहां श्रियः करलीलया गृहयालुः सा परं तव सदृशी ।

हिन्दी—हे वीर, जल के दुर्ग में स्थित कमलनालों के जयी भुजयुग्मवाली, मित्र (सूर्य) रूप सहायक के रहते भी (अथवा मृणाल रूप हाथों से सूर्य की सेवा करते भी) कमलों की शोभा-सम्पत्ति को जैसे हस्तविलास द्वारा ग्रहणशीला वह (दमयन्ती) केवल आपके योग्य है ।

टिप्पणी—कमलनाल से भी श्रेष्ठ भुज युग्म का वर्णन करने के साथ कवि 'जलदुर्गस्थ...' इत्यादि द्वारा दमयन्ती और नल की सदृशता प्रमाणित करता है । जैसे नल जल में बने सुरक्षित दुर्ग में जा छिपे, मित्रों की सहायता पाये हुए शत्रुओं को अपने बाहुप्रताप से बाहर निकाल उनकी सम्पत्ति ले लेता है, वैसे ही दमयन्ती भी 'करलीलया' 'मित्रजुट् सरोरुहों' की शोभा सम्पत्ति को छीन लेती है । इस प्रकार दमयन्ती शूर नल के ही योग्य है । शूर की भार्या शूरा ही हो सकती है, नल रणशूर, दमयन्ती सौन्दर्यशूरा । मल्लिनाथ के अनुसार उपमा और विद्याधर के अनुसार सम-श्लेष का संकर । चंद्रकलाकार यहाँ सम-श्लेष-अतिशयोक्ति का अंगांगिभावसंकर मानते हैं ॥२९॥

वयसी शिशुतातदुत्तरे सुदृशि स्वाभिविधि विधित्सुनी ।
विधिनापि न रोमरेखया कृतसीम्नी प्रविभज्य रज्यतः ॥ ३० ॥

जीवातु—वयसी इति । सुदृशि दमयन्त्यां स्वाभिविधि स्वव्याप्ति विधित्सुनी विधातुमिच्छती अहमहमिकया स्वयमेवाक्रमितुमिच्छती इत्यर्थः शिशुतातदुत्तरे बाल्ययौवने वयसी विधिना सीमाभिज्ञेन रोमरेखया सीमाचिह्नेन प्रविभज्य रोमराजेः प्रागेव अत्र शैशवेन स्यातव्यन्ततः परं यौवनेनेति कालतो विभागं कृत्वा, कृतसीम्नी कृतमर्य्यादे अपि 'विभाषा ङिश्योः' रित्यल्लोपः, न रज्यतः न सन्तुष्यतः । रम्यवस्तु दुस्त्यजमिति भावः । एतेन वयःसन्धिरुक्तः । अत्र प्रस्तुतवयोविशेषसाम्यादप्रस्तुतविवादप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः ॥३०॥

अन्वयः—सुदृशि स्वाभिविधि विधित्सुनी शिशुता तदुत्तरे वयसी विधिना रोमरेखया विभज्य कृतसीम्नी अपि न रज्यतः ।

हिन्दी—उस सुलोचना पर अपनी अभिव्याप्ति (अधिकार) रखने के इच्छुक बाल्य और यौवन आयु विधातः द्वारा रोमों की रेखा से विभाजन करके सीमाबद्ध किये जाने पर भी संतुष्ट नहीं है ।

टिप्पणी—वयःसंधि का वर्णन है । शिशुता अभी पूर्णतः गयी नहीं, यौवन का आगमन हो रहा है, जिसके चिह्नरूप रोमराजि प्रकट हो गयी है । यही रोम-राजि जैसे शैशव-यौवन की विधि-निर्मित सीमा-रेखा (मेढ़) है, पर जब-तक शैशव-यौवन 'दमयन्ती पर जितना सम्भव हो, अधिकार बना रखा जाय' इस बात पर (लोकजीवन की भाँति) झगड़ा करते रहते हैं । मल्लिनाथ ने प्रस्तुत शैशव-यौवन के साम्य से अप्रस्तुत विवाद की प्रतीति होने के कारण यहाँ समासोक्ति मानी है, किन्तु विद्याधर के अनुसार यहाँ विशेषोक्ति है । काकु वक्रोक्ति मान कर 'कृतसीम्नी अपि न रज्यतः' का यह अर्थ भी सम्भव है कि दोनों आयु-सीमा निर्धारण हो जाने पर भी दमयन्ती पर अनुरक्त हैं और सीमा-सम्बन्धी झगड़ा करते दो व्यक्तियों की भाँति स्थित हैं ॥३०॥

अपि तद्वपुषि प्रसर्पतोर्गमिते कान्तिझरैरगाधताम् ।
स्मरयौवनयोः खलु द्वयोः प्लवकुम्भौ भवतः कुचावुभौ ॥ ३१ ॥

जीवातु—सम्प्रति यौवनमेवाश्रित्याह—अपीति । कान्तिझरैर्लावण्यप्रवाहैरगाधतां दुरवगाहतां गमिते तद्वपुषि दमयन्तीशरीरे प्रसर्पतोस्तरतोः स्मरयौवनयोर्द्वयोरपि उभौ कुचौ प्लवस्योन्मज्जनस्य कुम्भौ प्लवनार्थं कुम्भावित्यर्थः, प्रकृतिविकारभावाभावादश्वघासादिवत्तादर्थ्ये षष्ठीसमासः । लोके तरद्भिः अनिमज्जनाय कुम्भादिकमलम्ब्यत इति प्रसिद्धं, भवतः खलु । अत्र कुचयोः स्मरयौवनप्लवनकुम्भत्वोत्प्रेक्षया तयोरौत्कट्यं कुचयोश्चातिवृद्धिर्व्यज्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः॥

अन्वयः—कान्तिझरैः अगाधतां गमिते तद्वपुषि प्रसर्पतोः स्मरयौवनयोः द्वयोः अपि उभौ कुचौ प्लवकुम्भौ भवतः ।

हिन्दी—लावण्य की झड़ी (धारा-प्रवाह) से अतलस्पर्शिणी दुःखगाहता को प्राप्त उसके शरीर पर प्रसर्पण (संतरण) करते काम और यौवन-दोनों के ही जैसे दोनों कुच संतरण-सहायक घड़े हो गये हैं ।

टिप्पणी—दमयन्ती पूर्ण लावण्यवती है, धीरे-धीरे काम और यौवन का प्रसार उसके भरपूर सुन्दर शरीर में हो रहा है । यह भाव प्रकट करने के लिए सौन्दर्य-धारा से उमड़ती गहरी देह-नदी में कुच रूप संतरण-कुम्भ का सहारा ले तैरते दो व्यक्तियों के रूप में काम-यौवन की कल्पना की गयी है । इस श्लोक में दमयन्ती-कुचों की संतरण-कुम्भों के रूप में उत्प्रेक्षा के कारण कुचों का उभार और विस्तार व्यंजित होने से मल्लिनाथ के अनुसार अलङ्कार द्वारा वस्तुध्वनि है । विद्याधर रूपक का निषेध कर 'खलु' शब्द के आधार पर उत्प्रेक्षा मानते हैं अथवा अतिशयोक्ति ॥३१॥

कलसे निजहेतुदण्डजः किमु चक्रभ्रमकारितागुणः ? ।
स तदुच्चकुचौ भवन् प्रभाझरचक्रभ्रममातनोति यत् ॥ ३२ ॥

जीवातु— कलस इति । निजहेतुदण्डजः स्वनिमित्तकारणजन्यः चक्रभ्रमकारिता कुलालभाण्डभ्रमणजनकत्व सैव गुणो धर्मो रूपादिश्च, 'गुणः प्रधाने रूपादाबि'त्यमरः । सः । कलसे किमु ? दण्डकार्य्यं कलसे संक्रान्तः किमु ? इत्यर्थः, कुतः यद्यस्मात् स कलसः तस्या दमयन्त्या उच्चकुचौ भवन् तत्कुचात्मना

परिणतः सन् प्रभाझरे लावण्यप्रवाहे चक्रभ्रमं चक्रवाकभ्रान्तिं कुलालदण्डभ्रमणं चातनोति, 'चन्द्रो गणे चक्रवाके चक्रं सैन्यरथाङ्गयोः। ग्रामजाले कुलालस्य भाण्डे राष्ट्रास्त्रयोरपि' इत्युभयत्रापि विश्वः। अत्र 'समवायिकारणगुणा रूपादयः कार्ये संक्रामन्ति न निमित्तगुणा' इति तार्किकाणां समये स्थिते गुण इति चक्रभ्रम इति चोभयत्रापि वाच्यप्रतीयमानयोरभेदाध्यवसाय एव 'स तदुच्चकुचौ भवन्नि'ति कुचकलसयोरभेदातिशयोक्त्युत्थापितझरचक्रभ्रमात्मकक्रियानिमित्ता कुचात्मनि कलसे कार्ये चक्रभ्रमकारितालक्षणनिमित्तकारणगुणसंक्रमणलक्षणे-नोत्प्रेक्षेति सङ्क्षेपः। तार्किकसमये विरोधात् विरोधाभासोऽलङ्कार इति कैश्चिदुक्तम् तदेतदत्यन्ताश्रुतचरमलङ्कारपारदृश्वानः शृण्वन्तु ॥३२॥

अन्वयः—निजहेतुदण्डजः चक्रभ्रमकारितागुणः कलसे किमु, यत् सः तदुच्चकुचौ भवन् प्रभाकरचक्रभ्रमम् आतनोति।

हिन्दी—कलश में जो चक्रभ्रमकारी (चाक का भ्रम उपजाने वाला) भाव-रूप गुण दीखता है, वह क्या निमित्त कारण दंड से संजात है, जिससे वह कलश उस (दमयन्ती) के उन्नत दोनों कुच होता हुआ दीप्ति की झड़ी से (कुम्भकार के) चक्र का भ्रम (दर्शकों की दृष्टि में) उत्पन्न कर रहा है? अथवा लोक समूह में मदजनित मोह उत्पन्न कर रहा है अथवा वह कलश कुचयुग्म होकर प्रभा-प्रवाह में भ्रमते चकवे का भ्रम उत्पन्न कर रहा है।

टिप्पणी—दमयन्ती का चक्रवाक और कलश के समान कुचयुगक अत्युन्नत है, जो देखता है, सौन्दर्य की चकाचौंध में दृष्टि-भ्रांत हो जाता है, वैसे ही जैसे तीव्र सूर्यप्रकाश को देखकर सब विमुग्ध हो जाते हैं, जैसे उन पर मद चढ़ गया हो। भ्रम का अर्थ घूमना—चक्कर खाना भी है। इसको लेकर कवि ने 'न्यायग्रहग्रन्थिल तर्क' में अपना ज्ञान-प्रदर्शन किया है। न्यायशास्त्र में तीन प्रकार के कारण माने जाते हैं—(१) समवायि, (२) असमवायि और (३) निमित्त। जिससे समवेत कार्य उत्पन्न होता है, वह समवायि कारण है, जैसे मृत्पिंड घट का। यह द्रव्य ही होता है। इससे भिन्न असमवायि कारण है। यह गुण या कर्म होता है, जैसे मृत्कपाल-द्वय-संयोग घट का। निमित्त कारण

साधनभूत होता है, जैसे घट का कुलाल, उसका दण्ड आदि। कारण के गुण कार्य में आते हैं, पर केवल समवायि कारण के, असमवायि और निमित्त के नहीं। परन्तु दमयन्ती के कुलाल-चक्रभ्रमकारी कुचकलश में यह चक्रभ्रम गुण (द्रव्य नहीं) निमित्त कारण दण्ड से आया है। यह कितना विचित्र है कि न्यायशास्त्र के नियम भी बदल गये। पूर्वश्लोक में कुचयुग्म घटसम कहे गये थे, यहाँ विशिष्टता दिखाकर जैसे कवि ने भूल सुधारी।

तार्किक मान्यता का विरोध होने से कुछ विद्वान् इस पद्य में विरोधाभास अलंकार मानते हैं, मल्लिनाथ इसे उचित नहीं मानते। उनके अनुसार यहाँ कुचों में कलश-भ्रम अभेदातिशयोक्ति है, कुचात्मा कलस कार्य में ज्ञरचक्र-भ्रमात्मक क्रिया निमित्ता उत्प्रेक्षा इस अतिशयोक्ति से उत्थापित है, चक्रभ्रम-कारिता रूप निमित्त कारण के गुण के संक्रमण के कारण। विद्याधर के अनु-सार अनुमान, रूपक और भ्रान्तिमान् अलंकार हैं। चंद्रकलाकार ने रूपक-उत्प्रेक्षा-श्लेषमूल अतिशयोक्ति का संकर माना है ॥ ३२ ॥

भजते खलु षण्मुखं शिखी चिकुरैर्निर्मितबर्हगर्हणः ।
अपि जम्भारिपुं दमस्वसुर्जितकुम्भः कुचशोभयेभराट् ॥ ३३ ॥

जीवातु—भजत इति । दमस्वसुर्दमयन्त्याश्चिकुरैर्निर्मितबर्हगर्हणः कृतपिच्छनिन्दः जितबर्ह इत्यर्थः । शिखी मयूरः षण्मुखं कार्तिकेयं भजते खलु, तया कुचशोभया जितकुम्भ इभराडैरावतोऽपि जम्भरिपुमिन्द्रं भजते । पर-परिभूताः प्राणत्रायाण प्रबलमाश्रयन्त इति प्रसिद्धम् । अत्र शिख्यैरावतयोः षण्मुखजम्भारिभजनस्य जितबर्हत्वजितकुम्भत्वपदार्थहेतुकत्वात् तद्धेतुके काव्य-लिगे तदसम्बन्धेऽपि सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिश्च ॥ ३३ ॥

अन्वयः—दमस्वसुः चिकुरैः निर्मितबर्हगर्हणः शिखी षण्मुखं, कुचशोभया जितकुम्भः इभराट् अपि जम्भरिपुं भजते खलु ।

हिन्दी—दमयन्ती की केशराशि के द्वारा अपने पिच्छों के तिरस्कृत होने के कारण मयूर मानों छः मुखवाले स्वामिकार्तिकेय की सेवा में चला गया है और कुचों की शोभा से पराजित कुम्भस्थल वाला गजराज ऐरावत भी जैसे जम्भासुर के शत्रु इन्द्र की सेवा में।

टिप्पणी—दमयन्ती को केशराशि मयूरपिच्छ से अधिक घनी, लहरदार और शोभाशालिनी है और कुचयुग्म के सम्मुख गजराज ऐरावत की कुम्भस्थली भी निम्न है। ऐसा प्रतीत होता है कि मयूर ने इसी से षडानन (अतएव अधिक केशराशि वाले) की शरण ली है और ऐरावत देवराज की सेवा करके प्रसन्न करना चाहता है कि मयूर-ऐरावत दमयन्ती की केशराशि और कुचयुग्म की समानता करने योग्य केश-कुम्भस्थल पा सके। मल्लिनाथ की दृष्टि में काव्यलिंग और अतिशयोक्ति, जिनको चंद्रकलाकार संकर मानते हैं। विद्याधर के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा और दीपक अलंकार हैं ॥ ३३ ॥

उदरं नतमध्यपृष्ठतास्फुरदङ्गुष्ठपदेन मुष्टिना ।
चतुरङ्गुलिमध्यनिर्गतत्रिवलिभ्राजि कृतं दमस्वसुः ॥ ३४ ॥

जीवातु—उदरमिति। दमस्वसुरुदरं नतमध्यं निम्नमध्यप्रदेशं पृष्ठं यस्योदरस्य तस्य भावस्तता तया स्फुरत् दृढफलके पृष्ठफलके स्फुटीभवदङ्गुष्ठपदमङ्गुष्ठन्यासस्थानं यस्य तेन मुष्टिना करणेन चतसृणामङ्गुलीनां समाहारश्चतुरङ्गुलि 'तद्धिते'त्यादिना समाहारे द्विगुरेकवचननपुंसकत्वे। तस्य मध्येभ्योऽन्तरालेभ्यो निर्गतं तत्त्रिवलि पूर्ववत् समासादिः कार्यः, यत्तूक्तं वामनेन 'त्रिवलिशब्दः संज्ञा चेदि'ति सूत्रेण सप्तर्षय इत्यादिवत् 'दिक्संख्ये संज्ञायामि'ति संज्ञायां द्विगुरिति। तदपि चेत्करणसामर्थ्यात् त्रिवलय इति बहुवचनप्रयोगदर्शने स्थितं गतिमात्रं न सार्वत्रिकमितिप्रतीमः। तेन भ्राजत इति तद्भ्राजि वलित्रयशोभि कृतमित्युत्प्रेक्षा, कौतुकिनेति शेषः। मुष्टिग्राह्यमध्यमित्यर्थः। मुष्टिग्रहणादङ्गुष्ठनोदनात्पृष्ठमध्ये नम्रता उदरे च चतुरङ्गुलिनोदनाद्वलित्रयाविर्भावश्चेत्युत्प्रेक्षते ॥ ३४ ॥

अन्वयः—दमस्वसुः उदरं नतमध्यपृष्ठतास्फुरदङ्गुष्ठपदेन मुष्टिना चतुरङ्गुलमध्यनिर्गतत्रिवलिभ्राजि कृतम्।

हिन्दी—दमयन्ती का उदर पीठ का मध्यभाग नत होने के कारण जिसका अंगुष्ठ-स्थान प्रकट हो रहा है, उस मुट्ठी से चार अंगुलियों के बीच से निकली त्रिवली (तीन रेखाओं) से सुशोभित बनाया गया है।

टिप्पणी—दमयन्ती के उदर-सौन्दर्य का वर्णन। अंगुष्ठ-निवेश का कारण पृष्ठमध्य में निम्नत्व है और चार अंगुलियों द्वारा धारण करने के कारण तीन रेखाएँ (त्रिवली) बन गयी हैं। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग और रूपक अलङ्कार ॥३४॥

उदरं परिमाति मुष्टिना कुतुकी कोऽपि दमस्वसुः किमुः ?।

धृततच्चतुरङ्गुलीव यद्वलिभिर्भाति सहेमकाञ्चिभिः ॥ ३५ ॥

जीवातु—उदरमिति। कोऽपि कुतुकी दमस्वसुरुदरं मुष्टिना परिमाति किमु ? परिच्छिनत्ति किमित्युत्प्रेक्षा, कुतः ? यद् यस्मात् सहेमकाञ्चिभिर्वलिभिर्हेमकाञ्च्या सह चतसृभिस्त्रिवलिभिरित्यर्थः। एतस्याः कनकसावर्ण्यं सूचितम् धृतं तस्य मातुश्चतुरङ्गुली अङ्गुलीचतुष्टयं येन तदिव भातीत्युत्प्रेक्षा। अत्रोत्प्रेक्षयोर्हेतुमद्-भूतयोरङ्गाङ्गिभावेन सजातीयः सङ्करः। पूर्वश्लोके वलीनां तिसृणां चतुरङ्गुलि-मध्यनिर्गतत्वमुत्प्रेक्षितम्। इह तु तासामेव काञ्चीसहितानां चतुरङ्गुलित्व-मुत्प्रेक्षत इति भेदः प्रेक्षितुरिति भावः ॥३५॥

अन्वयः—कः अपि कुतुकी मुष्टिना तमस्वसुः उदरं परिमाति किमु यत् सहेमकाञ्चिभिः वलिभिः धृततच्चतुरङ्गुलि इव भाति ?

हिन्दी—क्या कोई कौतुकी मुट्ठी से दमयन्ती का उदर नापना चाहता है कि स्वर्णमेखला सहित त्रिवलियों के कारण वह नापनेवाले की चार अंगुलियों से युक्त जैसा सुशोभित हो रहा है ?

टिप्पणी—दमयन्ती ने स्वर्णमेखला पहिन रखी है, एक वह और तीन त्रिवली—सब मिलकर ऐसा लग रहा है कि किसी ने नापने के लिए चार अंगुलियों में दमयन्ती का उदर पकड़ रखा है। मल्लिनाथ के अनुसार दो उत्प्रेक्षाओं का सजातीय संकर, विद्याधर के मत में उत्प्रेक्षा और उपमा ॥३५॥

पृथुवर्तुलतान्नितम्बकृन्मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया ।

विधिरेकचक्रचारिणं किमु निर्मितसति मान्मथं रथम् ॥ ३६ ॥

जीवातु—पृथ्विति । पृथु वर्त्तुलं च तस्याः नितम्बं करोतीति नितम्बकृत्तितां वं कृतवान् विधिः ब्रह्मा मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया रविरथनिर्माणाभ्यासपाटवेन एककमेकाकि 'एकादाकिनिच्चासहाये' इति चकारात् कप्रत्ययः। तेन चक्रेण चरतीति तच्चारिणं मान्मथं रथं निर्मित्सति किमु ? सूर्यस्येव मन्मथस्यापि एकचक्रं रथं निर्मातुमिच्छति किमु ? इत्युत्प्रेक्षा। अन्यथा किमर्थमिदं नितम्बनिर्माणमिति भावः। माते: सन्नन्ताल्लट्। 'सनि मीमे' त्यादिना ईसादेशः, 'सस्यार्द्धधातुक' इति सकारस्य तकारः, 'अत्र लोपोऽभ्यासस्ये'त्यभ्यासलोपः ॥३६॥

अन्वयः—पृथुवर्त्तुलतान्नितम्बकृत् विधिः किमु मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया एककचक्रचारिणं मान्मथं रथं निर्मित्सति ?

हिन्दी—(दमयन्ती के) विशाल और गोलाकार नितंब का निर्माता विधाता क्या सूर्यरथ के शिल्प के अभ्यास से एक ही चक्के पर चलनेवाला कामदेव का रथ बनाना चाहता है ?

टिप्पणी—दमयन्ती के वर्तुलाकार, विशाल नितम्बस्थल को देखकर मदन का प्रादुर्भाव हो जाता है, इस कारण कवि ने उसे 'मान्मथरथ' बताया। विधाता को सूर्यरथ के निर्माण का अभ्यास होने के कारण उसने शायद 'मान्मथरथ' भी 'एकचक्रधारी' बनाना चाहा है। उत्प्रेक्षा ॥ ३६ ॥

तरुमूरुयुगेन सुन्दरी किमु रम्भां परिणाहिना परम्।
तरुणीमपि जिष्णुरेव तां धनदापत्यतपः फलस्तनीम् ॥ ३७ ॥

जीवातु—तरुमिति। सुन्दरी दमस्वसा परिणाहिना विपुलेन ऊरुयुगेन रम्भां रम्भां नाम तरुं परन्तरुमेव 'न लोके' त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। जिष्णुः किमु ? किन्तु धनदापत्यस्य नलकूबरस्य तपसः फलस्तनीं फलभूतकुचां तां रम्भान्नाम तरुणीमपि जिष्णुरेव। 'रम्भाकदल्यप्सरसोरि'ति विश्वः। रम्भे इव रम्भाया इव चोरू यस्याः सा इत्युभयथा रम्भोरुरित्यर्थः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—सुन्दरी परिणाहिना ऊरुयुगेन परं रम्भां तरुं किमु धनदापत्यतपः फलस्तनीं तां तरुणीम् अपि जिष्णु एव।

हिन्दी—वह सुन्दरी विशाल ऊरुयुगल से केवल रम्भा (कदली) वृक्ष को क्या, लगता है कि कुबेर के पुत्र (नलकूबर) की तपस्या के फलस्वरूप कुच-युग्मधारिणी (अथवा नलकूबर ने तप करके जिस रम्भा को फलरूप में पाया उसे) तरुणी (अप्सरा रम्भा) को भी जीतना चाहती है।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती का ऊरुयुग्म चिक्कणता और सुडौल होने में कदली वृक्ष से श्रेष्ठ तो है ही, उसकी सुषमा स्वर्णसुन्दरी, कुबेर की पुत्रवधू अप्सरा रम्भा के ऊरुयुगल से भी कमनीय है। 'रम्भा' शब्द का श्लिष्ट प्रयोग-वैचित्र्य। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा, चंद्रकलाकार ने श्लोक के पूर्वार्द्ध में अर्थापत्ति तथा उत्तरार्द्ध में असम्बन्ध में सम्बन्ध-कथन होने से अतिशयोक्ति मानकर दोनों के अंगागिभाव संकर का निर्देश किया है ॥३७॥

जलजे रविसेवयेव ये पदमेतत्पदतामवापतुः।
ध्रुवमेत्य रुतः सहंसकीकुरुतस्ते विधिपत्रदम्पती ॥ ३८ ॥

जीवातु—जलजे इति। ये जलजे द्विपद्मे रविसेवया सूर्योपासनयेव एतस्याः पदतां चरणत्वमेव पदम्प्रतिष्ठामवापतुः ते जलजे कर्मभूते विधिपत्रदम्पती द्वन्द्वचारिणौ ब्रह्मवाहनहंसौ एत्यागत्य रुतः रवात्कूजनादित्यर्थः। रौतेः सम्पदादित्वात् क्विबपि तुगागमः। सहंसकौ सपादकटकौ सहंसकौ च कुरुतः 'अभूततद्भावे च्विः'। 'हंसकः पादकटक' इत्यमरः। हंसपक्षे वैभाषिकः कप्रत्ययः ध्रुवमित्युत्प्रेक्षायाम्। पद्महंसयोरविनाभावात् कयोश्चिद्दिव्यपद्मयोस्तत्पदत्वमुत्प्रेक्ष्य दिव्यहंसयोरेव हंसकत्वञ्चोत्प्रेक्षते ॥३८॥

अन्वयः—ये जलजे रविसेवया इव एतत्पदतां पदम् अवापतुः ते विधिपत्र-दम्पती एत्य रुतः ध्रुवं सहंसकीकुरुतः।

हिन्दी—जिन दो कमलों ने जैसे सूर्य की सेवा द्वारा इस (दमयन्ती) के चरण होने का पद (स्थान) पाया है, ब्रह्मा के वाहन हंसदम्पती आकर अपने कलरव से निश्चय ही उन (कमल-चरणों) को सहंसक (पादकटक-नूपुरसहित) कर रहे हैं।

टिप्पणी —भाव यह है कि दमयन्ती के कमल-सम चरण नूपुर (ध्वनि)

युक्त हैं। उनकी सुषमा कमल और हंस, दोनों से अधिक कमनीय है। कमलों को चरण होने का गौरव तब मिला, जब उन्होंने सूर्योपासना की और हंस-दम्पती को उन चरणों के नूपुर होने का तब, जब उन्होंने संसार के निर्माता विधाता की वाहन रूप में सेवा की। लगता है कि विधाता ने दमयन्ती के कमल-चरण बनाकर और कुछ उपयुक्त न पाते हुए अपने वाहन हंसदम्पती को ही उनके नूपुर बना दिया। उत्प्रेक्षा। चंद्रकलाकार ने इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में गुणोत्प्रेक्षा और उत्तरार्द्ध में श्लेषाधृता अतिशयोक्ति मानकर इनकी संसृष्टि का उल्लेख किया है ॥३८॥

श्रितपुण्यसरित्कथं न समाधिक्षपिताखिलक्षपम् ।
जलजं गतिमेतु मञ्जुलां दमयन्तीपदनाम्नि जन्मनि ॥ ३९ ॥

जीवातु—श्रितेति। श्रिताः सेविताः पुण्याः सरःसरितः मानसादीनि सरांसि गङ्गाद्याः सरितश्च येन तत्समाधिना ध्यानेन निमीलनेन क्षपिताखिलक्षपं यापितसर्वरात्रं जलजं दमयन्तीपदमिति नाम यस्मिन् जन्मनि मञ्जुलाङ्गति रम्यगतिमुत्तमदशाञ्च, 'गतिर्मार्गे दशायां चे'ति विश्वः। कथं नैतु एत्वेवेत्यर्थः। पदस्य गतिसाधनत्वात्तत्रापि दमयन्तीसम्बन्धाच्चोत्तमगतिलाभः। तथापि जन्मान्तरेऽपि सर्वथा तपः फलितमिति भावः। सम्भावनायां लोट् ॥३९॥

अन्वयः-श्रितपुण्यसरःसरित् समाधिक्षपिताखिलक्षपं जलजं दमयन्तीपदनाम्नि जन्मनि मञ्जुलां गतिं कथं न एतु ?

हिन्दी – पुण्यकर सरोवर और नदियों का आश्रय लेनेवाला (तीर्थसेवी) और रात-भर मुँदा रहकर समाधि लगा समग्र रात्रियाँ बिताने वाला कमल दमयन्ती-चरण नाम पाकर जिसमें जन्मा, उस जन्मान्तर में ऐसी रमणीय गति क्यों न प्राप्त करे ? (प्राप्त करना ही उचित है)।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में कमलों के दमयन्ती चरण रूप पाने के जिस सौभाग्य की उत्प्रेक्षा की थी, यहाँ उसी के कारण की सम्भावना की गयी है। दिन-रात पुण्यतीर्थों में निवास करने और रात-रातभर समाधि में लीन रह

कर यह सौभाग्य मिला है। ऐसे ही उत्तमा गति प्राप्त होती है। 'साहित्य-विद्याधरी' के अनुसार यहाँ समासोक्ति है और 'चंद्रकलाख्या' के अनुसार समासोक्ति और अर्थापत्ति का अंगांगिभाव संकर ॥३९॥

सरसीः परिशीलितुं मया गमिकर्मीकृतनैकनीवृता।
अतिथित्वमनायि सा दृशोः सदसत्संशयगोचरोदरी ॥ ४० ॥

जीवातु—अथ कथं त्वमेनां वेत्सीत्यत आह—सरसीरिति। सरसीः सरांसि परिशीलितुं परिचेतुं तत्र विहर्त्तुमित्यर्थः। चुरादिणेरनित्यत्वादण्यन्तप्रयोगः। गमिर्गमनं शब्दपरशब्देनार्थो गम्यते तस्य कर्मीकृताः कर्मकारकीकृताः नैके अनेके नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः। नितरां वर्त्तन्ते जना येष्विति नीवृतः जनपदाः येन तेन क्रान्तानेकदेशेनेत्यर्थः। 'नहिवृती'त्यादिना दीर्घः। मया सदसद्वेति संशयगोचरः सन्देहास्पदमुदरं यस्याः सा कृशोदरीत्यर्थः। 'नासिकोदरे' त्यादिना ङीप्। सा दमयन्ती दृशोरतिथित्वमनायि स्वविषयतां नीता दृष्टेत्यर्थः। नयते कर्मणि लुङ् ॥४०॥

अन्वयः—सरसीः परिशीलितुं गमिकर्मीकृतनैकनीवृता मया सदसत्संशयगोचरोदरी सा दृशोः अतिथित्वम् अनायि।

हिन्दी—अनेक सरोवरों में अवगाहन करने की इच्छा से अनेक देशों को गमन कर्म का विषय बनाते (अनेक दिशा-दिशान्तरों में घूमते) मैंने जिसका उदर 'अस्ति-नास्ति' का संशय उत्पन्न कर देता है—दृष्टिपथ में आता ही नहीं—उस कृशोदरी) को नयनों का अतिथि बनाया (देखा)।

टिप्पणी—विचित्र है कि जिसका अंग सरलतया दृष्टिगोचर ही नहीं हो पाता, उसे हंस ने अपने नयनों से देखा। यह दिग्दिगन्त परिभ्रमण से ही हो सका, अर्थात् अनेक देशों में वही ऐसी अकेली सुन्दरी है। अद्वितीया, अनुपमा, उस-सी और कोई नहीं। साहित्यविद्याधरी के अनुसार 'वक्रोक्ति जीवित' के आधार पर यहाँ 'अर्थ की प्रौढि' अर्थात् ओज गुण और पर्याय-वक्रता-प्रकार है। अतिशयोक्ति ॥ ४० ॥

अवधृत्य दिवोऽपि यौवतैर्न सहाधीतवतीमिमामहम्।
कतमस्तु विधातुराशये पतिरस्या वसतीत्यचिन्तयम् ॥ ४१ ॥

जीवातु—अवधृत्येति । अहमिमान्दमयन्तीं दिवः स्वर्गस्य सम्बन्धिमियौवतैर्युवतिसमूहैरपि 'गार्भिणं यौवनं गण' इत्यमरः । भिक्षादित्वात्समूहार्थे अण्प्रत्ययः, तत्राध्यस्य युवतोति स्त्रीप्रत्यान्तस्यैव प्रकृतित्वेन तद्ग्रहणात् तत्सामर्थ्यादेव 'भस्याढे तद्धित' इति पुंवद्भाव इति वृत्तिकारः । न सहाधीतवतीमसदृशीं ततोऽप्यधिकसुन्दरीमित्यर्थः । 'नञर्थस्य न शब्दस्य सुप्सुपेति समास' इति वामनः । अवधृत्य निश्चित्य विधातुः ब्रह्मणः आशये हृदि अस्याः पतिः कतमो नु कतमो वा वसतीत्यचिन्तयम्, सदैवेति शेषः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—इमां दिवः यौवतैः अपि सह तु न अधीतवतीम् अवधृत्य विधातुः आशये अस्याः पतिः कतमः वसति—इति अहम् अचिन्तयम् ।

हिन्दी—यह निश्चय करके यह (दमयन्ती) स्वर्ग-सुन्दरियों के साथ भी तो पाठ नहीं पढ़ी है (रूप-गुण में स्वयं सुन्दरियाँ इसके समान नहीं हैं) मैं यह सोचने लगा कि विधाता के मन में कौन इसका पति है ?

टिप्पणी—भाव यह है कि असदृश, सुन्दरी दमयन्ती के अनुरूप कहाँ त्रिलोकी में वर प्राप्त होगा ? प्रताप अथवा व्यतिरेक अलंकार ॥ ४१ ॥

अनुरूपमिम निरूपयन्नथ सर्वेष्वपि पूर्वपक्षताम् ।
युवसु व्यपनेतुमक्षमस्त्वयि सिद्धान्तधियं न्यवेशयम् ॥ ४२ ॥

जीवातु—अनुरूपमिति । यथेदानीमनुरूपं योग्यं त्वां निरूपयन् तस्याः पतित्वेनालोचयन् सर्वेष्वपि युवसु पूर्वपक्षतां दूष्यकोटित्वं व्यपनेतुमक्षमः सन् त्वयि सिद्धान्तधियं न्यवेशयम् । त्वमेवास्याः पतिरिति निरचैषमित्यर्थः । अयमेव विधातुरप्याशय इति भावः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—इमम् अनुरूपं निरूपयन् अथ सर्वेषु अपि युवसु पूर्वपक्षतां व्यपनेतुम् अक्षमः त्वयि सिद्धान्तधियं न्यवेशयम् ।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के अनुरूप (योग्य पति) का विचार करते हुए सभी अन्य युवकों में पूर्वपक्षता (अयोग्यरूपता) का निराकरण करने में असमर्थ मैंने आप (राजा नल) में सिद्धान्त बुद्धि (भैम्यनुरूपता) का निश्चय किया ।

टिप्पणी—'पूर्वपक्ष' होता है किसी 'विचार' का आरम्भिक, असिद्ध और सन्देहास्पद पक्ष, जो उत्तरपक्ष अर्थात् सिद्धांत पक्ष की अपेक्षा दुर्बल होगा ही। पूर्वपक्ष में जो समस्या उठायी जाती है, सिद्धांतपक्ष में उसका समाधान होता है। पूर्वश्लोक के अनुसार हंस की दृष्टि में त्रिलोकी का कोई तरुण-तरुणी दमयन्ती के सदृश नहीं आया। उस स्थिति में उसके मन में स्वाभाविक विचार आया कि कौन तरुण इसका अनुरूप पति होगा? अनेक ख्यात युवकों पर विचार किया, पर वे 'पूर्वपक्ष' ही रहे, 'समाधान' न बन पाये, 'समाधान' मिला नल के रूप में। सिद्धांत यह निर्णीत हुआ कि त्रिलोक में दमयन्ती के अनुरूप नल ही है। इस प्रकार अन्य तरुण हैं 'पूर्वपक्ष' और नल है 'सिद्धान्तपक्ष'। सम अलंकार ॥ ४२ ॥

अनया तव रूपसीमया कृतसंस्कारविबोधनस्य मे।
चिरमप्यवलोकिताऽद्य सा स्मृतिमारूढवती शुचिस्मिता ॥ ४३ ॥

जीवातु—अथ त्वद्रूपदर्शनमेव सम्प्रति तत्स्मारकमित्याह—अनयेति। चिरमवलोकिताऽपि सा शुचिस्मिता सुन्दरी अद्याधुना हस्तेन निर्दिशन्नाह—अनया तव रूपसीमया सौन्दर्यकाष्ठया कृतसंस्कारविबोधनस्य उद्बुद्धसंस्कारस्य मे स्मृतिमारूढवती स्मृतिपथङ्गता, सदृशदर्शनं स्मारकमित्यर्थः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—अद्य अनया तव रूपसीमया चिरम् अवलोकिता अपि सा शुचिस्मिता कृतसंस्कारविबोधनस्य मे स्मृतिम् आरूढवती।

हिन्दी—आज इस आपकी रूप-सीमा (लावण्य की पराकाष्ठा) द्वारा बहुत काल पूर्व देखी गयी भी वह शुभ्रमंदहासशालिनी (दमयन्ती) पूर्व संस्कार से समुद्बोध के कारण मेरी (हंस की) स्मृति में आ गयी।

टिप्पणी—सदृश वस्तु के दर्शन से प्राक्तन संस्कार उद्बुद्ध हो जाते हैं और पूर्व दृष्ट का स्मरण हो आता है। दमयन्ती के अनुरूप नल को देखकर हंस की पुरानी स्मृति नवीन हो गयी और दमयन्ती ध्यान में आ गयी। स्मरण अलंकार ॥ ४३ ॥

त्वयि वीर! विराजते परं दमयन्तीकिलकिञ्चितं किल।
तरुणीस्तन एव दीप्यते मणिहारावलिरामणीयकम् ॥ ४४ ॥

जीवातु—ततः किमत आह—त्वयीत्यादि । हे वीर ! दमयन्त्याः किलकिञ्चितम्, 'क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादेः सङ्करः किलकिञ्चितमि'त्युक्तलक्षणलक्षितशृङ्गारचेष्टितं त्वयि परन्त्वय्येव विराजते किल शोभते खलु । तथाहि—मणिहारावलेर्मुक्ताहारपङ्क्तेः रामणीयकं रमणीयत्वं 'योपाधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्' । तरुणीस्तन एव दीप्यते, नान्यत्रेत्यर्थः । स्तनादीनां द्वित्वविशिष्टा जातिः प्रायेणेति प्रायग्रहणादेकवचनप्रयोगाः । अत्र हारकिलकिञ्चितयोरुपमानोपमेययोर्वाक्यद्वये बिम्बप्रतिबिम्बतया स्तनन्रयोः समानधर्मत्वोक्तेर्दृष्टान्तालङ्कारः लक्षणन्तूक्तम् ॥ ४४ ॥

अन्वयः—वीर, दमयन्तो किल किञ्चितं परं त्वयि विराजते किल, मणिहारावलिरामणीयकं तरुणीस्तने एव दीप्यते ।

हिन्दी—हे वीर, दमयन्ती का किलकिञ्चित (शृङ्गार-चेष्टा) केवल तुझ पर विशेषतः शोभा पायेगा, मणिमाल की रमणीयता तरुणी के कुचों पर ही दीपती है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल और दमयन्ती की रूप-शोभा परस्पर प्रयुक्त ही सुशोभित और सार्थक होगी । प्रिय-संग होने पर मंद-हास्य, अश्रुरहित रुदन, हँसी, भय, क्रोध, श्रम आदि के संमिश्रण से जो तरुणियों की शृङ्गार-चेष्टाएँ होती हैं, वे 'किलकिंचित' हैं— 'स्मितशुष्करुदितहसितत्रासक्रोधश्रमादीनाम् साङ्कर्यं किलकिञ्चितमभीष्टतमसङ्गमादिजाद्धर्षात्' (साहित्यदर्पण, ३·११०) । मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टांत और विद्याधर के अनुसार प्रतिवस्तूपमा ॥४४॥

तव रूपमिदं तया विना विफलं पुष्पमिवावकेशिनः ।
इयमृद्धधना वृथाऽवनी, स्ववनी सम्प्रवदत्पिकापि का ? ॥ ४५ ॥

जीवातु—तवेति । हे वीर ! तवेदं रूपं सौन्दर्यं तया दमयन्त्या विना अवकेशिनो वन्ध्यवृक्षस्य 'वन्ध्योऽफलोऽवकेशी चे'त्यमरः । पुष्पमिव विफलं निरर्थकम्, ऋद्धधना सम्पूर्णवित्ता इयमवनी वृथा निरर्थिका । सम्प्रवदत्पिका कूजत्कोकिला स्ववनी निजोद्यानमपि 'ङीप्' का तुच्छा निरर्थिकेत्यर्थः । तद्योगे तु सर्वं सफलमिति भावः । 'किं वितर्के परिप्रश्ने क्षेपे निन्दापराधयोरि'ति विश्वः । अत्र नलरूपावनीवनीनां दमयन्त्या विना रम्यतानिषेधाद्विनोक्तिर्,

लङ्कारः । 'विना सम्बन्धि यत्किञ्चिदत्रान्यत्र परा भवेत् । रम्यताऽरम्यता वा स्यात् सा विनोक्तिरनुस्मृ'ति लक्षणात् । तस्याश्च पुष्पमिवेत्युपमया संसृष्टिः ।

अन्वयः—अवकेशिनः पुष्पम् इव तव इदं रूपं तथा विना विफलम्, इयम् ऋद्धघना अवनी वृथा, सम्प्रवदत्पिका अपि स्ववनी का ?

हिन्दी—जैसे अवकेशी (बाँझ वृक्ष) का फूल (अथवा 'अवकेशी' अर्थात् केशरहित व्यक्ति द्वारा सिर में लगाया फूल) विफल अर्थात् फलरहित होता है, वैसे ही यह आपका रूप उसके बिना निष्फल है, यह धनधान्य से समृद्ध धरा व्यर्थ है और कोकिल-कूजन से कूजित आपकी बिलास-वाटिका भी क्या है ? (व्यर्थ है ।)

टिप्पणी—आशय यह है कि नल का यह रूप-सौन्दर्य, यह समृद्धराज्य, यह हरी-भरी विलास-बाड़ी तभी सार्थक हों, जब 'वह' साथ हो । मल्लिनाथ के अनुसार विनोक्ति-उपमा की संसृष्टि, विद्याधर ने छेकानुप्रास, विनोक्ति, दीपक और उपमा अलंकारों का निर्देश किया है ॥४५॥

अनयाऽमरकाम्यमानया सह योगः सुलभस्तु न त्वया ।
घनसंवृतयाऽम्बुदागमे कुमुदेनेव निशाकरत्विषा ॥ ४६ ॥

जीवातु—अत्रान्यापेक्षां दर्शयितुं तस्या दौर्लभ्यमाह—अनयेति । अमरैरिन्द्रादिभिः काम्यमानयाऽभिलष्यमाणया दमयन्त्या सह योगः अम्बुदागमे घनसंवृतया मेघावृतया निशाकरत्विषा सह योगः कुमुदेनेव त्वया न सुलभो दुर्लभ इत्यर्थः । अत्र तत्संयोगदौर्लभ्यस्य अमरकामनापदार्थहेतुकत्वात् काव्यलिङ्गभेदः, तत्सापेक्षा चेयमुपमेति सङ्करः ॥४६॥

अन्वयः—अमरकाम्यमानया अनया सह योगः अम्बुदागमे घनसंवृतया निशाकरत्विषा कुमुदेन इव त्वया न सुलभः ।

हिन्दी—जिसकी कामना देवगण करते हैं, ऐसी इस (दमयन्ती) के साथ आपका मिलन उसी प्रकार सुलभ नहीं है, जिस प्रकार वर्षागम में मेघाच्छन्न चंद्र की चन्द्रिका के साथ कुमुद का योग नहीं होता ।

टिप्पणी—सर्वथा अनुरूपता होने पर भी नल का दमयन्ती से विवाह सरल

नहीं है, सुसाध्य नहीं, दुःसाध्य अथवा प्रयत्नसाध्य है, क्योंकि इंद्रादि देव भी उसकी कामना करते हैं। वर्षा काल में बादलों से ढँकी चाँदनी कुमुद को तभी लब्ध हो पाती है, जब दैव-सहायता से वायु द्वारा मेघ उड़ जाते हैं, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार दैवी सहायता और प्रयत्न से ही नल-दमयन्ती-योग साध्य होगा, वैसे ही नहीं। मल्लिनाथ के अनुसार पदार्थहेतुक काव्यलिंग और उपमा का संकर, विद्याधर की दृष्टि में 'बिम्बप्रतिबिम्बभावेन' उपमा अलंकार।

तदहं विदधे तथा तथा दमयन्त्याः सविधे तव स्तवम्।
हृदये निहितस्तया भवानपि नेन्द्रेण यथाऽपनीयते ॥ ४७ ॥

जीवातु—अत्र का गतिरित्याह—तदिति। तत्तस्मात्कार्यस्य सप्रतिबन्धत्वादहं दमयन्त्याः सविधे समीपे तथा तथा तव स्तवं स्तोत्रं विदधे विधास्य इत्यर्थः, सामीप्ये वर्त्तमाने प्रत्ययः। यथा तया हृदये विहितो भवानिन्द्रेणापि नापनीयते नेतुमशक्य इत्यर्थः। यथेन्द्रादिप्रलोभिताऽपि त्वय्येव गाढानुरागा स्यात्तथा करिष्यामीत्यर्थः ॥४७॥

अन्वयः—तत् अहं दमयन्त्याः सविधे तथा तथा तव स्तवं विदधे यथा तया हृदये निहितः भवान् इन्द्रेण अपि न अपनीयते।

हिन्दी—सो मैं (हंस) दमयन्ती के निकट आपकी ऐसी-ऐसी प्रशंसा करूँगा, जिससे उसके हृदय में स्थापित आप इंद्र द्वारा भी नहीं हटाये जा सकेंगे।

टिप्पणी—प्रयत्नशीलता का संकेत। हंस द्वारा राजा का ऐसा प्रशंसात्मक विवरण उपस्थित किया जायेगा कि अन्य देव क्या इंद्र को भी दमयन्ती नल के सम्मुख न गिनेगी। साहित्य विद्याधरी के अनुसार अतिशयोक्ति, चन्द्रकलाख्या के अनुसार अर्थापत्ति ॥४७॥

तव सम्मतिमत्र केवलामधिगन्तुं धिगिदं निवेदितम्।
ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम् ॥ ४८ ॥

जीवातु—तर्हि तथैव क्रियतां किं निवेदनेनेत्यत आह तवेति। अत्रास्मिन् कार्ये केवलामेकां तव सम्मतिमङ्गीकारमधिगन्तुमिदं निवेदितं निवेदनं धिक्।

तथा हि साधवो निजोपयोगितां स्वोपकारित्वं फलेन कार्येण ब्रुवते बोधयन्ति, किन्तु कण्ठेन वाग्वृत्त्या न ब्रुवते। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥

अन्वयः—अत्र केवलां तव सम्मतिम् अधिगन्तुम् इदं निवेदितम् धिक्, हि साधवः निजोपयोगितां फलेन ब्रुवते न तु कण्ठेन।

हिन्दी—इस समय केवल आपकी स्वीकृति प्राप्त करने के निमित्त जो यह निवेदन किया, उसे धिक्कार, क्योंकि भले व्यक्ति अपनी उपयोगिता फल (कार्य) से ही बखानते हैं, कण्ठ से (मौखिक) नहीं।

टिप्पणी—सज्जन अपनी सार्थकता क्रिया द्वारा प्रमाणित करते हैं, केवल बातों से नहीं। हंस ने जो इतना कहा, वह इसी कारण कि कार्य सम्पन्न करने से पूर्व वह महाराज नल की 'मंजूरी' चाहता था। अर्थान्तरन्यास ॥ ४८ ॥

तदिदं विशदं वचोऽमृतं परिपीयाभ्युदितं द्विजाधिपात्।
अतितृप्ततया विनिर्ममे स तदुद्गारमिव स्मितं सितम् ॥ ४९ ॥

जीवातु—तदिति। स नलो द्विजाधिपात् हंसाच्चन्द्राच्चाभ्युदितमाविर्भूतं विशदं प्रसन्नमवदातञ्च तत् पूर्वोक्तमिदमनुभूयमानं वच एवामृतमिति रूपकं तत्परिपीय अत एव अतितृप्ततया अतिसौहित्येन तस्य वचोऽमृतस्य उद्गारमिव सितं स्मितं विनिर्ममे निर्मितवान्। माङः कर्त्तरि लिट्। अतितृप्तस्य किञ्चिन्निःसार उद्गारः। सितत्वसाम्यात् स्मितस्य वागमृतोद्गारोत्प्रेक्षा ॥ ४९ ॥

अन्वयः—द्विजाधिपात् अभ्युदितं विशदं तत् इदं वचोमृतं परिपीय सः अतितृप्ततया तदुद्गारम् इव सितं स्मितं विनिर्ममे।

हिन्दी—द्विजराज चंद्र के समान शुभ्र द्विजराज (पक्षिराज हंस) से उदित (निःसृत, कहे गये) विशद (उज्ज्वल, विस्तृत) वचनामृत का पान कर अत्यन्त तृप्ति के कारण उस (राजा नल) ने उस (हंस-वचन) के उद्गार के सदृश मंद हास्य किया।

टिप्पणी—राजा को हंस का प्रस्ताव सुनकर अत्यन्त सन्तोष और सुख मिला। हंस का वचन अमृत के समान शुभ्र है, क्योंकि श्वेत से श्वेत ही का उद्भव होता है। कविसमयसिद्ध मंद हास्य का वर्ण भी श्वेत। मल्लिनाथ

ने स्मित के सितत्व-साम्य के आधार पर वागमृतोद्गार की उत्प्रेक्षा मानी है। कदाचित् कुछ टीकाकारों ने इस श्लोक में समासोक्ति मानी है, विद्याधर ने उसका खंडन करते हुए रूपकोत्प्रेक्षालंकार का निर्देश किया है। उनका कथन है कि 'वचोमृतम्' में रूपक है, वह उत्प्रेक्षा का निमित्त है। अर्थान्तर की प्रतीति का कारण रूपक ही है। इससे यहाँ समासोक्ति नहीं है। चंद्रकलाकार ने श्लिष्ट-परंपरितरूपक-उत्प्रेक्षा का अंगांगिभाव संकर माना है ॥४९॥

परिमृज्य भुजाग्रजन्मना पतगङ्कोकनदेन नैषधः।
मृदु तस्य मुदेऽगिरद् गिरः प्रियवादामृतकूपकण्ठजाः ॥ ५० ॥

जीवातु—परिमृज्येति। निषधानां राजा नैषधः नलः 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्'। भुजाग्रजन्मना कोकनदेन पाणिशोणपङ्कजेनत्यर्थः। पतगं हंस परिमृज्य तस्य हंसस्य तथा मुदे हर्षाय प्रियवादानामेवामृतानां कूपः निधिः कण्ठो वागिन्द्रियं तज्जन्याः गिरः मृदु यथा तथा अगिरत् प्रियवाक्यामृतैरसिञ्चदित्यर्थः। अत्र भुजाग्रजन्मना कोकनदेनेति विषयस्य पाणेर्निगरणेन विषयिणः कोकनदस्यैवोपनिवन्धात् अतिशयोक्तिः, 'विषयस्यानुपादानाद्विषय्युपनिबध्यते। यत्र सातिशयोक्तिः स्यात्कविप्रौढोक्तिसम्मता ॥' इति लक्षणात्। साच पाणिकोकनदयोरभेदोक्तिः अभेदरूपा तस्याः प्रियवादामृतकूपकण्ठेति रूपक संसृष्टिः ॥५०॥

अन्वयः—नैषधः भुजाग्रजन्मना कोकनदेन पतगं परिमृज्य तस्य मुदे प्रियवादामृतकूपकण्ठजाः गिरः मृदु अगिरत्।

हिन्दी—नल ने भुजा के अग्रभाग में जन्मे रक्तकमल (रक्ताभ कर) से विहंग का संस्पर्श करके उसकी मोद-वृद्धि के निमित्त प्रिय वचन रूप अमृत के कूप स्वरूप कंठ से उत्पन्न वचन धीरे-धीरे कोमलतापूर्वक बोले।

टिप्पणी—हंस को कमल प्रिय होता है, राजा ने अपने करकमल से हंस का स्पर्श कर उसके प्रति प्रीति प्रकट की, कमल-भोजन देकर तदनन्तर प्रिय-वचनरूप सुधा का पान कराया। अतिथिसत्कार। अतिशयोक्ति-रूपक की संसृष्टि ॥५०॥

न तुलाविषये तवाकृतिर्न वचो वर्त्मनि ते सुशीलता ।
त्वदुदाहरणाकृतौ गुणा इति सामुद्रिकसारमुद्रणा ॥ ५१ ॥

जीवातु—न तुलेति । हे हंस ! तव आकृतिः आकारः तुलाविषये सादृश्यभूमौ न वर्त्तते असदृशीत्यर्थः । ते तव सुशीलता शौशील्यं वचो वर्त्मनि न वर्त्तते वक्तुमशक्येत्यर्थः । अत एवाकृतौ गुणाः 'यत्राकृतिस्तत्र गुणाः' इति सामुद्रिकाणां या सारमुद्रणा सिद्धान्तप्रतिपादनं सा त्वमेवोदाहरणं यस्याः सा तथोक्ता आकृतिसौशील्योः त्वय्येव सामानाधिकरण्यदर्शनादित्यर्थः । अत एवोत्तरवाक्यार्थस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकत्वात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः 'हेतोर्वाक्यार्थहेतुत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतमि'ति लक्षणात् ॥५१॥

अन्वयः—तव आकृतिः तुलाविषये न, ते सुशीलता वचो वर्त्मनि न, आकृतौ गुणाः—इति सामुद्रिकसारमुद्रणा त्वदुदाहरणा ।

हिन्दी—तुम्हारा आकार तौला नहीं जा सकता और तुम्हारी सुशीलता बचन के पंथ में नहीं आती (तुम्हारे रूप की तुलना नहीं की जा सकती—असदृश है तुम्हारा आकार और तुम्हारी सुशीलता का वर्णन संभव नहीं है), अतः सामुद्रिकशास्त्र के इस रहस्य का उदाहरण कि आकृति में गुण रहा करते हैं, तुम्हीं हो ।

टिप्पणी—हंस के अनुपमेय आकार और सुस्वभाव की प्रशंसा । जैसे सुन्दर रूप, वैसा ही स्वभाव । हंस के माध्यम से 'यत्राकृतिस्तत्र गुणाः वसन्ति' प्रमाणित हो रहा है । मल्लिनाथ के अनुसार उत्तरवाक्यार्थ के पूर्ववाक्यार्थ हेतुक होने से काव्यलिंग अलंकार, विद्याधर की दृष्टि में अतिशयोक्ति और काव्यलिंग । चंद्रकलाकार ने इन दोनों अलंकारों की निरपेक्षतया स्थिति के आधार पर संसृष्टि का निर्देश किया है ॥५१॥

न सुवर्णमयी तनुः परं ननु किं वागपि तावकी तथा ।
न परं पथि पक्षपातिताऽनवलम्बे किमु मादृशेऽपि सा ॥ ५२ ॥

जीवातु—न सुवर्णेति । ननु हे हंस ! तवेयं तावकी 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् चे'ति चकारादण् प्रत्यये ङीप् 'तवकममकावेकवचने' इति तवका-

देश: । तनु: परं मूर्तिरेव सुवर्णमयो हिरण्मयो न किन्तु वागपि तथा सुवर्णमयो शोभनाक्षरमयीत्यर्थः । अनवलम्बे निरवलम्बे पथि परमाकाश एव पक्षपातिता पक्षपातित्वं किमु किं वेत्यर्थः । निपातानामनेकार्थत्वात् । अनवलम्बे निराधारे मादृशेऽपि सा पक्षपातिता स्नेहवत्तेत्यर्थः । अत्र तनुवाचोः प्रकृताप्रकृतयोः सुवर्णमयीति शब्दश्लेषः एवं पथि मादृशेऽपि पक्षपातितेति सजातीयसंसृष्टिः, तया चोपमा व्यज्यते ॥५२॥

अन्वयः—ननु तावकी इयं तनुः परं सुवर्णमयी न किं वाक् अपि तथा अनवलम्बे पथि परं पक्षपातिता न, मादृशे अपि सा किमु ?

हिन्दी—निश्चय ही, तेरी यह देह ही सुवर्णमयी नहीं है, किन्तु वाणी भी वैसी ही 'सुवर्णमयी' (शोभन वर्णों-अक्षरों, शब्दों, वाक्यों से-युक्त) है, निराधार पथ (आकाश) में ही तुम्हारी 'पक्षपातिता' (पंखों द्वारा यात्रा) नहीं है, वह पक्षपात (अनुकूल भाव) मुझ जैसे निर्गतिक व्यक्ति पर भी है । क्यों, है न ?

टिप्पणी—पूर्वोक्त श्लोक में कथित रूप और वाणी के सौन्दर्य की पुष्टि । भाव यह कि दमयन्ती-प्राप्ति के विषय में आधारहीन, असहाय नल का सहारा अथवा आधार हंस ही है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ 'सुवर्णमयी' और 'पक्ष-पातिता'—इन दो श्लेषों की सजातीय संसृष्टि है, जिससे उपमा व्यंजित होती है, विद्याधर ने श्लेष और उत्प्रेक्षा माने हैं ॥५२॥

भृशतापभृता मया भवान्मरुदासादि तुषारसारवान् ।
धनिनामितरः सतां पुनर्गुणवत्सन्निधिरेव सन्निधिः ॥ ५३ ॥

जीवातु—भृशेति । भृशतापभृता अतिसन्तापभाजा मया भवांस्तुषारैः शीकरैः सारवानुत्कृष्टो मरुत् मारुतः सन् आसादि सन्तापहरत्वादिति भावः । तथा हि—धनिनां धनिकानां कुबेरादीनामितरः पद्मशङ्खादिः संश्चासौ निधिश्चेति सन्निधिः, सतां विदुषां पुनः गुणवतां सन्निधिः सान्निध्यमेव सन्निधिः महानिधिः । सन्तापहारित्वात् त्वमेव शिशिरमारुतः, अन्यतस्तु दहन एवेति भावः । दृष्टान्ता-लङ्कारः लक्षणं तूक्तम् ॥५३॥

अन्वयः—भृशतापभृता मया तुषारसारवान् मरुत् भवान् आसादि, धनिनां सन्निधिः इतरः पुनः सतां गुणवासन्निधिः एव ।

हिन्दी—(वियोगज्वर से) अत्यंत संतप्त मैंने हिम के श्रेष्ठ भाग से युक्त (अत्यंत शीतल) वायु आपको प्राप्त कर लिया; धनवानों की अन्य धनद्रव्य आदि अच्छी निधि (कोष) हो सकते हैं, सज्जनों की सन्निधि (श्रेष्ठ कोष) तो फिर गुणियों से समागम ही है ।

टिप्पणी—आशय यह कि विरहज्वर से पीड़ित नल को हंस की प्राप्ति शीतलतम समीर के समान सुखदायिनी प्रतीत हुई, उन्हें हंस क्या मिला; बहुत बड़ी निधि मिल गयी । निधियाँ नौ मानी जाती हैं—(१) महापद्म, (२) पद्म, (३) शंख, (४) मकर, (५) कच्छप, (६) मुकुन्द, (७) कुन्द, (८) नील और (९) खर्व—'महापद्मश्च पद्मश्च शङ्खो मकरकच्छपौ । मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव ॥' मल्लिनाथ ने यहाँ दृष्टान्त अलंकार का निर्देश किया है, चंद्रकलाकार ने रूपकद्वय की संसृष्टि । किन्हीं टीकाकारों ने यहाँ समासोक्ति मानी है, विद्याधर उसे अमान्य ठहराते हैं, क्योंकि यहाँ रूपक और अर्थान्तरन्यास अलंकार हैं और अर्थान्तर की प्रतीति रूपक से ही होती है ॥५३॥

शतशः श्रुतिमागतैव सा त्रिजगन्मोहमहौषधिर्मम ।
अधुना तव शंसितेन तु स्वदृशैवाधिगतामवैमि ताम् ॥ ५४ ॥

जीवातु—शतशः इति । त्रिजगतः त्रैलोक्यस्य मोहे सम्मोहने महौषधिः महौषधमिति रूपकम् । सा दमयन्ती शतशो मम श्रुतिं श्रोत्रमागतैव अधुना तव शंसितेन कथनेन तु स्वदृशा मम दृष्ट्यैवाधिगतां दृष्टामवैमि साक्षाद् दृष्टां मन्ये । आप्तोक्तिप्रामाण्यादिति भावः ॥५४॥

अन्वयः—त्रिजगन्मोहमहौषधिः सा शतशः मम श्रुतिम् आगता एव, अधुना तव शंसितेन तु तां स्वदृशा एव अधिगताम् अवैमि ।

हिन्दी—त्रिलोकी का संमोहन करने की उत्तम औषधि (श्रेष्ठ जड़ी-बूटी संमोहिनी विद्या) वह (दमयन्ती) सैकड़ों बार मेरे कानों में आई ही है, इस समय तुम्हारे इस वर्णन द्वारा तो वह मुझे अपने नेत्रों से दीख रही हो प्रतीत हो रही है ।

टिप्पणी—जैसा कि पहले प्रथम सर्ग में (श्लोक सं० ४४) कहा जा चुका है कि नल ने अनेक बार दमयन्ती की चर्चा सुनी थी, हंस ने तो उसका ऐसा सजीव शब्दचित्र उपस्थित किया कि नल को लगा कि वह दमयन्ती को प्रत्यक्ष देख रहा है। रूपक और भाविक अलंकार अथवा दोनों की संसृष्टि। 'काव्यप्रकाश' के अनुसार–'प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः, तद् भाविकम्' ॥५४॥

अखिलं विदुषामनाविलं सुहृदा च स्वहृदा च पश्यताम्।
सविधेऽपि न सूक्ष्मसाक्षिणी वदनालङ्कृतिमात्रमक्षिणी ॥ ५५ ॥

जीवातु—अथ स्वदृष्टेरप्याप्तदृष्टिरेव गरीयसीत्याह—अखिलमिति। सुहृदा आप्तमुखेन स्वहृदा स्वान्तःकरणेन च सुहृद् ग्रहणं तद्वत्सुहृदः श्रद्धेयत्वज्ञापनार्थमखिलं कृत्स्नमर्थमनाविलमसन्दिग्धम् अविपर्यस्तं यथा तथा पश्यतामवधारयतां विदुषां विवेकिनां सविधे पुरोऽपि न सूक्ष्मसाक्षिणी असूक्ष्मार्थदर्शिनी 'सुप्सुपे'ति समासः। अक्षिणी वदनालङ्कृतिमात्रं न तु दूरसूक्ष्मार्थदर्शनोपयोगिनीत्यर्थः ॥५५॥

अन्वयः—सुहृदा स्वहृदा च अखिलम् अनाविलम् पश्यतां विदुषां सविधे अपि न सूक्ष्मसाक्षिणी अक्षिणी वदनार्थंकृतिमात्रम्।

हिन्दी—आप्त, मित्र और अपने मन के माध्यम से समस्त वस्तुजात को असंदिग्ध रूप से देखने वाले विद्वज्जनों की निकटस्थ भी सूक्ष्म वस्तु को न देख सकने वाली आँखें मुख की अलंकृति मात्र हैं।

टिप्पणी—आँखों के निकटतम होता है काजल, पर वे उसे भी नहीं देख पाती, तो दूर की वस्तु क्या देखेंगी? दूर की वस्तु तो आप्त, मित्रों अथवा स्वमनोभावना के माध्यम से ही गोचर होती है, अतः विद्वज्जनों के नेत्र तो बस मुख की शोभामात्र है। सूक्ष्म—सारग्राहिणी के आँखें नहीं होती। हंस आप्त है, मित्र है, उसका 'शंसित' विश्वसनीय होना ही चाहिए। भाव यह है कि अप्रत्यक्ष दमयन्ती को—दूरदेशस्थिता को ये आँखें मित्र के माध्यम से देख सकती हैं। अतिशयोक्ति ॥५५॥

अमितं मधु तत्कथा मम श्रवणप्राघुणकीकृता जनैः।
मदनानलबोधनेऽभवत् खग धाय्या धिगधैर्यधारिणः ॥ ५६ ॥

जीवातु—अमितमिति । हे खग ! जनैः विदर्भागतजनैः मम श्रवण-प्राघुणकीकृता कर्णातिथीकृता तद्विषयीकृतेत्यर्थः । 'आवेशिकः प्राघुणक आगन्तुरतिथिस्तथे'ति हलायुधः । अमितमपरिमितं मधु क्षौद्रं तद्वदतिमधुरेत्यर्थः । तत्कथा तद्गुणवर्णना अधैर्यधारिणोऽत्यन्ताधीरस्य मम मदनानलबोधने मदनाग्निप्रज्वलने धाय्या सामिधेनी भवेत् 'ऋक् सामिधेनी धाय्या च या स्यादग्निसमिन्धने' इत्यमरः । 'पाय्यसान्नाय्ये'त्यादिना निपातः । धिक् वाक्यार्थो निन्द्यः । अत्र तत्कथायाः धाय्यात्मना प्रकृतमदनाग्नीन्धनोपयोगात् परिणामालङ्कारः, 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणाम' इत्यलङ्कारसर्वस्वकारः ।

अन्वयः— खग, जनैः मम श्रवणप्राघुणिकीकृता अमितं मधु तत्कथा अधैर्य-धारिणः मम मदनानलबोधने धाय्या अभवत्—(इति) धिक् ।

हिन्दी—हे विहंग, लोकजनों द्वारा मेरे कानों की अतिथि बनायी गयी (सुनायी गयी) प्रचुर मधु-सम मीठी उसकी कथा मुझ अधीर व्यक्ति के कामज्वर को दीप्त करने में सामिधेनी-अग्नि दीप्त करनेवाली ऋचा (अग्नि-प्रज्वलन-मंत्र) बन गयी—सो धिक्कार है मुझे ।

टिप्पणी—दमयन्ती की कथा तो अमृत समान मीठी है, पर हाय रे हतभाग्य नल, उसके निमित्त वह अग्निसमिन्धनी सामधेनी ऋचा प्रमाणित हुई । 'सुधा-बधीरणी' कथा का ज्वलन-सहायिका बन जाना दुर्भाग्य ही है । 'अलंकारसर्वस्व' के अनुसार आरोप्यमाण के प्रकृतोपयोगी होने पर परिणाम अलंकार होता है— 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः ।' इस आधार पर मल्लिनाथ ने यहाँ दमयन्ती-कथा के धाय्या रूप में प्रकृतमदनाग्नि के ईंधनस्वरूप उपयोग से परिणाम अलंकार माना है, विद्याधर के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति-रूपक-अर्थान्तरन्यास की संसृष्टि है । पद्य के प्रथम चरण में रूपक और मदन में अनलत्व के आरोप का कथा में मंत्रत्व के आरोप में निमित्त होने से अश्लिष्ट शब्द-निबंधन परंपरितरूपक मानकर चंद्रकलाकार ने दोनों रूपकों का अंगांगिभाव-संकर माना है ॥५६॥

विषमो मलयाहिमण्डलीविषफूत्कारमयो मयोहितः ।
बत कालकलत्रदिग्भवः पवनस्तद्विरहानलैधसा ॥ ५७ ॥

जीवातु—विषम इति । विषमः प्रतिकूलः कालकलत्रदिग्भवः यमदिग्भवः प्राणहर इति भावः, पवनो दक्षिणमारुतः तद्विरहानलैधसा दमयन्तीविरहाग्नि-समिधा तद्दाह्येनेत्यर्थः । मया मलये मलयाचले या अहिमण्डली सर्पसङ्घः तस्याः विषफूत्कारमय ऊहितस्तद्रूप इति तर्कित इत्यर्थः । लोके च 'अग्निरेधांसि फूत्कारवातैष्मायत' इति भावः । बतेति खेदे । विरहानलैधसेतिरूपकोत्थापितेयं दक्षिणपवनस्य मलयाहिमण्डलीफूत्कारत्वोत्प्रेक्षेति संकरः ॥५७॥

अन्वयः—कालकलत्रदिग्भवः विषमः पवनः तद्विरहानलैधसा मया मलयाहिमण्डली विषफूत्कारमयः ऊहितः बत !

हिन्दी—खेद कि यमराज की भार्यारूपा दक्षिण दिशा में उत्पन्न दुःसह पवन को उस (दमयंती) के विरहानल के ईंधन मैंने मलयाचल की सर्पमण्डली के विषभरे फूत्कार-सदृश मानने की क्लिष्ट कल्पना की ।

टिप्पणी—मलय का शीतल, मंद, सुगन्ध समीर दमयंती को वियोगाग्नि में दग्ध होते नल को मलय-चन्दन-वृक्षों पर लिपटे नागों का फूत्कार-सदृश प्रतीत होता था । मल्लिनाथ के अनुसार रूपकोत्थापिता उत्प्रेक्षा होने से संकर, विद्याधर की दृष्टि में काव्यलिंग और रूपक अलंकार और पदार्थ में वाक्यार्थ प्रति-पादन से ओज गुण ॥५७॥

प्रतिमासमसौ निशाकरः खग ! सङ्गच्छति यद्दिनाधिपम् ।
किमु तीव्रतरैस्ततः करैर्मम दाहाय स धैर्यतस्करैः ? ॥ ५८ ॥

जीवातु—प्रतिमासमिति । असौ निशाकरो मासि मासि प्रतिमासम्प्रति-दर्शमित्यर्थः । वीप्सायामव्ययीभावः । दिनाधिपं सूर्यं सङ्गच्छति प्राप्नोतीति यत्ततः प्राप्ते, स निशाकरः तीव्रतरैरत एव धैर्यतस्करैर्मम धैर्यहारिभिः करैः सौरैः तत आनीतैः मम दाहाय सङ्गच्छतीत्यनुषङ्गः, किमुशब्द उत्प्रेक्षायाम् । अत्र सङ्गमनस्य दाहार्थत्वोत्प्रेक्षणात् फलोत्प्रेक्षा ॥५८॥

अन्वयः—खग, असौ निशाकरः प्रतिमासं यत् दिनाधिपं सङ्गच्छति किमु ततः सः तीव्रतरैः धैर्यतस्करैः करैः मम दाहाय ?

हिन्दी—हे आकाशचारी (हंस), यह निशाकर (चंद्र) प्रत्येक महीने

जो सूर्य में संगमन करता है, सो क्या वह अत्यंत तीक्ष्ण, धीरज की तस्कर किरणों द्वारा मुझे जलाने के लिए उससे मिलता है ?

टिप्पणी—विरही को शीतल चंद्र-किरणें भी दाहक प्रतीत होती हैं। इसके कारण की यह संभावना की गयी है कि चंद्र प्रतिमास जो सूर्य राशिस्थित होता है, सो उससे यह दाहकता ले आता है। स्वयम् तो हानि पहुँचा नहीं सकता तो अन्य की सहायता से पहुँचाता है। आकाशचारी ग्रहों का भेद आकाशचारी ही जान सकता है, 'खग' सम्बोधन की यही सार्थकता है—खे आकाशे गच्छति खगः। 'सङ्गमन' को 'दाहार्थता' में उत्प्रेक्षा के कारण फलोत्प्रेक्षा (जीवातु), अनुपमान (साहित्यविद्याधरी) ॥५८॥

कुसुमानि यदि स्मरेषवो न तु वज्रं विषवल्लिजानि तत् ।
हृदयं यदमूमुहन्नमूर्मम यच्चातितमामतीतपन् ॥ ५९ ॥

जीवातु—कुसुमानीति। स्मरेषवः कुसुमान्येव यदि न तु वज्रमशनिः सद्योमरणाभावादिति भावः। तत्तथा अस्तु किन्तु विषवल्लिजानि विषलतोत्पन्नानि। यद्यस्मादमूः स्मरेषवः 'पत्री रोप इषुर्द्वयोरि'ति स्त्रीलिङ्गता, मम हृदयममूमुहन् अमूर्च्छयन् मुह्यतेर्णौ चङ्,यद्यस्मादतितमामतिमात्रमव्ययाद्याम्प्रत्ययः। अतीतपन् तापयन्तिस्म, तपतेर्णौ चङ् मोहतापलक्षणविषमकार्यदर्शनाद्विषवल्लिजत्वोत्प्रेक्षा ॥५९॥

अन्वयः—स्मरेषवः कुसुमानि यदि न वज्रं तु तत् विषवल्लिजानि (अथवा यदि स्मरेषवः विषवल्लिजानि कुसुमानि न तु तत् वज्रम्), यत् मम हृदयम् अमूमुहन् यत् च अतितमाम् अतीतपन्।

हिन्दी—यदि काम के बाण फूल हैं, वज्र नहीं, तो वे विषवल्लरी से उत्पन्न हुए हैं (अथवा यदि कामबाण विषलता से उत्पन्न फूल नहीं हैं तो वे वज्र हैं), जो कि मेरे हृदय को उन्होंने मूर्च्छित कर दिया और जो कि अत्यंत संतप्त किया।

टिप्पणी—भाव यह कि दमयंती के वियोग में नल का हृदय बेसुध और अतिसंतप्त है, पुष्पबाण विषवल्ली से जन्मे हैं, अतः विमोहित करनेवाले हैं, वे

वज्र हैं, सो दाहकता से युक्त हैं। विद्याधर के अनुसार अनुपमान और मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥५९॥

तदिहानवधौ निमज्जतो मम कन्दर्पशराधिनीरधौ ।
भव पोत इवावलम्बनं विधिनाऽकस्मिकसृष्टसन्निधिः ॥ ६० ॥

जीवातु—तदिति । तत्तस्मादिहास्मिन्ननवधौ अपारे कन्दर्पशरैर्यं आधिर्मनोव्यथा 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथे'त्यमरः । तस्मिन्नेव नीरधौ समुद्रे निमज्जतो अन्तर्गतस्य मम विधिना दैवेनाकस्मादकाण्डे भवमाकस्मिकमध्यात्मादित्वात् ठक्, अव्ययानाम्भमात्रे टिलोपः तद्यथा तथा सृष्टसन्निधिः सन्निधानं भाग्यादागत इत्यर्थः । त्वं पोतो यानपात्रमिव 'यानपात्रन्तु पोत' इत्यमरः । अवलम्बनं भव ॥

अन्वयः—तत् इह अनवधौ कन्दर्पशराधिनीरधौ निमज्जतः मम विधिना आकस्मिकसृष्टसन्निधिः पोत इव अवलम्बनं भव ।

हिन्दी—सो इस निर्मर्याद कामबाणजातव्यथा-समुद्र में डूबते मेरे विधाता द्वारा जो अकस्मात् निकट भेज दिया गया है, उस जलयान की भाँति आश्रय बनो।

टिप्पणी—विरह-व्यथा-सागर में डूबते नल को हंस दैवादिष्ट जलयान के समान सहायक-आलंबन प्रतीत हुआ। रूपक-उपमा की संसृष्टि ॥६०॥

अथवा भवतः प्रवर्त्तना न कथं पिष्टमियं पिनष्टि नः ।
स्वत एव सतां परार्थता ग्रहणानां हि यथा यथार्थता ॥ ६१ ॥

जीवातु—अथवेति । अथवा इयं नोऽस्माकं सम्बन्धिनी 'उभयप्राप्तौ कर्मणी'ति नियमात् कर्त्तरि कृद्योगे षष्ठीनिषेधेऽपि शेषषष्ठीपर्यवसानात् 'कर्त्रर्थलाभः । भवतः 'उभयप्राप्तौ कर्मणी'ति षष्ठी, प्रवर्तना प्रेरणा 'ण्यासश्रन्थो युच्', कथं पिष्टं न पिनष्टि ? स्वतः प्रवृत्तिविषयत्वात् पिष्टपेषणकल्पेत्यर्थः । हि यस्माद् ग्रहणानां ज्ञानानां यथार्थता याथार्थ्यं यथा प्रामाण्यमिव स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिव 'गृह्यतां जाता मनीषां स्वत एव मानमि'ति मीमांसकाः । सतां परार्थता परार्थप्रवृत्तिः स्वत एव न तु परतः । उपमासंसृष्टोऽर्थान्तरन्यासः ॥६१॥

अन्वयः—अथवा नः इयं भवतः प्रवर्त्तना कथं पिष्टं न पिनष्टि, हि यथा ग्रहणानां यथार्थता स्वतः एव (तथा) सतां परार्थता (अपि स्वतः एव) ।

हिन्दी—अथवा जो यह मैं आपको प्रवर्तित कर रहा हूँ, वह क्या पिष्ट-पेषण नहीं है ? (है ही), कारण कि जैसे ज्ञान स्वतः प्रमाण होते हैं वैसे ही सज्जनों की परोपकारशीलता भी स्वतः होती है ।

टिप्पणी—मीमांसकों के अनुसार ज्ञान स्वयम् अपना प्रमाण होता है—गृह्यतां जाता मनीषा स्वत एव मानम् । इसके विपरीत नैयायिक ज्ञान को परतः प्रमाण मानते हैं । सज्जन अप्रवर्तित ही परोपकाररत रहते हैं । भर्तृहरि के अनुसार स्वार्थ त्याग कर परार्थघटक सत्पुरुष कहाते हैं–'सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य'''।' मल्लिनाथ के अनुसार उपमासंसृष्ट अर्थान्तरन्यास, विद्याधर के अनुसार निदर्शना वाक्यदृष्टान्तालङ्कार ॥६१॥

तव वर्त्मनि वर्त्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः ।
अपि साधय साधयेप्सितं स्मरणीया समये वयं वयः ॥ ६२ ॥

जीवातु—तवेति । हे वयः ! तव वर्त्मनि शिवं मङ्गलं वर्त्ततां, त्वरितं क्षिप्रमेव पुनः समागमोऽस्तु, अपि साधय गच्छ, ईप्सितमिष्टं साधय सम्पादय समये कार्यकाले वयं स्मरणीयाः । अनन्यगामि कार्यं कुर्या इत्यर्थः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—तव वर्त्मनि शिवं वर्ततताम्, त्वरि पुनः समागमः अस्तु, अपि साधय, ईप्सितं साधय, वयः, समये वयं स्मरणीयाः ।

हिन्दी—मार्ग में तेरा कल्याण हो, शीघ्र ही फिर (तेरा-मेरा) मिलन हो, जाओ और अभीष्ट-साधन करो, हे पक्षी, यथासमय हमारा स्मरण करना ।

टिप्पणी–राजा ने 'शिवाः सन्तु ते पन्थानः'–कहते हंस से विदावचन कहे। छोटे-छोटे नाट्योपयोगी वाक्य कवि के संवाद-कौशल के परिचायक हैं ।'आशीः' नामक नाट्यालंकार । दंडी के अनुसार अभिलषित वस्तु का आशंसन आशीः होता है—'आशीर्नामालङ्कारेऽभिलषिते वस्तुन्याशंसनम् ।' चन्द्रकलाकार के अनुसार यहाँ छेकालंकार और ओज नामक काव्य लक्षण है ॥६२॥

इति तं स विसृज्य धैर्यवान्नृपतिः सूनृतवाग्बृहस्पतिः ।
अविशद्वनवेश्म विस्मितः श्रुतिलग्नैः कलहंसशंसितैः ॥ ६३ ॥

जीवातु—इतीति । धैर्यवानुपायलाभात् सधैर्यः सूनृतवाक् सत्यप्रियवादिषु

बृहस्पतिः तथा प्रगल्भ इत्यर्थः । 'सूनृतं च प्रिये सत्यमि'त्यमरः । स नृपतिरि-तीत्थं हंसं विसृज्य श्रुतिलग्नैः श्रोत्रप्रविष्टैः कलहंसस्य शंसितैर्विस्मितः सन् वनवेश्म भोगगृहमविशत् ॥ ६३ ॥

अन्वयः— धैर्यवान् सूनृतवाग्वृहस्पतिः सः नृपतिः इति तं विसृज्य श्रुति-लग्नैः कलहंसशंसितैः विस्मितः वनवेश्म अविशत् ।

हिन्दी—धैर्यशाली, सत्य और प्रिय वाणी बोलने में वृहस्पतिसम प्रगल्भ वह नरराज इतना कह हंस को भेजकर कानों में लगे (प्रिय होने के कारण अविस्मरणीय) सुन्दर हंस के कहे हुए (अथवा हंस के रमणीय अथवा गंभीर वचनों) पर विस्मित होता वाटिका-गृह में प्रविष्ट हो गया ।

टिप्पणी—नल के धैर्य, सत्यवादिता और प्रियवादिता का विवरण । राजा ने हंस को कार्य-साधनार्थ भेजकर वाटिका में ही उसके लौट आने तक प्रतीक्षा करने का निर्णय लिया । विद्याधर के अनुसार दीपक और अतिशयोक्ति । चंद्रकलाकार के अनुसार 'सूनृतवाग्वृहस्पतिः' में लुप्तोपमा ॥ ६३ ॥

अथ भीमसुतावलोकनैः सफलं कर्त्तुमहस्तदेव सः ।
क्षितिमण्डलमण्डनायितं नगरं कुण्डिनमण्डजो ययौ ॥ ६४ ॥

जीवातु—अथेति । अथ सोऽण्डजो हंसः तदहरेव भीमसुतायाः भैम्या अवलोकनैः सफलं कर्तुं तस्मिन्नेव दिने तां द्रष्टुमित्यर्थः । क्षितिमण्डलस्य मण्डनायितमलंकारभूतं कुण्डिनं कुण्डिनाख्यनगरं ययौ ॥ ६४ ॥

अन्वयः—अथः स अण्डजः तत् अहः एव भीमसुतावलोकनैः सफलं कर्त्तुं क्षितिमण्डलमण्डनायितं कुण्डिनं नगरं ययौ ।

हिन्दी—तत्पश्चात् वह पक्षी उसी दिन भीमतनया (दमयन्ती) के दर्शनों द्वारा (अपने को) सफल करने के निमित्त पृथ्वीमण्डल के अलंकार बने कुंडिनपुर को ओर चल दिया ।

टिप्पणी—कुंडिन नगर समृद्धि के कारण तो रमणीय था ही, दमयन्ती के कारण वह पृथ्वीमण्डल का शृङ्गार बन गया था । अनुप्रास और उपमा अलंकार ॥ ६४ ॥

प्रथमं पथि लोचनातिथिं पथिकप्रार्थितसिद्धिशंसिनम् ।

कलसं जलसंभृतः पुरः कलहंसः कलयाम्बभूव सः ॥ ६५ ॥

जीवातु—अथ श्लोकत्रयेण शुभनिमित्तान्याह–प्रथममित्यादिना । सः कलहंस प्रथममादौ पथि मार्गे लोचनातिथिं दृष्टिप्रियं पथिकानां प्रस्थातॄणां प्रार्थितस्य इष्टार्थस्य सिद्धिशंसिनं सिद्धिसूचकं जलसम्भृतं जलपूर्णं कलसं पूर्णकुम्भं पुरोऽग्रे कलयांबभूव ददर्श ॥ ६५ ॥

अन्वयः—सः कलहंसः प्रथमं पथि पथिकप्रार्थितसिद्धिशंसिनं जलसम्भृतं कलसं पुरः लोचनातिथिं कलयाम्बभूव ।

हिन्दी—उस कलहंस ने पहिले मार्ग में पथिकों के अभीष्ट की सिद्धि के द्योतक जलपूर्ण कलस को संमुख नेत्रों का अतिथि बनाया (देखा) ।

टिप्पणी—उद्देश्य सिद्धि के द्योतक शुभ शकुनों का तीन श्लोकों (६५-६७) में विवरण प्रस्तुत किया गया है, इसमें जलपूर्ण कलश का विवरण है । 'साहित्यविद्याधरी' के अनुसार अनुप्रास और उपमा, चंद्रकलाख्या के अनुसार वृत्त्यनुप्रास और छेकानुप्रास का एकाश्रयानुप्रवेशसंकरः ॥६५॥

अवलम्ब्य दिदृक्षयाऽम्बरे क्षणमाश्चर्य्यरसालसं गतम् ।

स विलासवनेऽवनीभृतः फलमैक्षिष्ट रसालसंगतम् ॥ ६६ ॥

जीवातु—अवलम्ब्येति । स हंसो दिदृक्षया स्वगन्तव्यमार्गालोकनेच्छया अम्बरे क्षणमाश्चर्यरसेन तद्वस्तुदर्शनिमित्तेन अद्भुतरसेन अलसं मन्दं गतं गतिमवलम्ब्य अवनीभुजो नलस्य विलासवने विहारवने रसालेन चूतवृक्षेण सङ्गतं सम्बद्धम्. 'आम्रश्चूतो रसालोऽसौ' इत्यमरः, फलमैक्षिष्ट दृष्टवान् ॥ ६६ ॥

अन्वयः—सः दिदृक्षया अम्बरे क्षणम् आश्चर्यरसालसं गतम् अवलम्ब्य अवनीभुजो विलासवने रसालसङ्गतं फलम् ऐक्षिष्ट ।

हिन्दी—उस (हंस) ने देखने की इच्छा से आकाश मे क्षणभर विस्मयरस से मंद गति का अवलम्बन कर राजा की विलासवाटिका में आम्रवृक्ष पर लगे फल को देखा ।

टिप्पणी—वृक्ष पर लगा फल दीखा, एक और शुभ शकुन हुआ। 'आश्चर्य-रस' में 'स्वशब्दवाच्यत्व नामक रसदोष। विद्याधर के अनुसार असन्दष्ट यमक अलंकार, चन्द्रकलाकार के अनुसार प्रथम-चतुर्थ-चरण में आये दो अन्त्ययमकों की संसृष्टि ॥ ६६ ॥

नभसः कलभैरुपासितं जलदैर्भूरिनक्षुपन्नगम् ।

स ददर्श पतङ्गपुङ्गवो विटपच्छन्नतरक्षुपन्नगम् ॥ ६७ ॥

जीवातु—नभस इति। पुमान् गौः वृषभः विशेषणसमासः, 'गोरतद्धितलुगि'ति समासान्तष्टच् इव पतङ्गपुङ्गवः पक्षिश्रेष्ठ उपमितसमासः, नभसः कलभैः खेचरकरिकल्पैरित्यर्थः। जलदैरुपासितं व्याप्तं भूरयः बहवस्तरक्षवो मृगादनाः पन्नगा यस्य तं विटपैः शाखाविस्तारेण, विस्तारो विटपोऽस्त्रियामि'त्यमरः छन्नतराः अतिशयेन छादिताः क्षुपा ह्रस्वशाखाः, 'ह्रस्वशाखाशिफः क्षुप' इत्यमरः। नगं पर्वतं ददर्श 'पूर्णकुम्भादिदर्शनं पान्थक्षेमकरमि'ति निमित्तज्ञाः।

अन्वयः—सः पतङ्गपुङ्गवः कलभैः जलदैः उपासितं भूरितरक्षुपं विटपच्छन्नतरक्षुपन्नगं नगं ददर्श।

हिन्दी—आकाशचारियों में श्रेष्ठ उस (हंस) ने हस्तिशावकों जैसे मेघों से व्याप्त, प्रचुर शाखा-वल्लरियों से युक्त छोटे-छोटे वृक्षों से परिपूर्ण वृक्षों में छिपे तेंदुए और सर्पों से भरा पर्वत देखा।

टिप्पणी—यात्रा में हाथी का मिलना शुभ माना जाता है, अतः पर्वत-शिखरों पर छाये मेघों की 'कलभ' रूप में कल्पना की गयी, हिंस्र पशु और सर्प का दीख जाना अशकुन माना जाता है, अतः उनके अदर्शन के निमित्त उनका वृक्षों में छिपा हो जाना बताया गया। पर्वत पर 'यह सब' होता ही है। 'साहित्यविद्याधरी' के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति और असंदष्टयमक अलङ्कार हैं, 'चंद्रकलाख्या' के अनुसार रूपक और अन्त्ययमक ॥ ६७ ॥

स ययौ धुतपक्षतिः क्षणं क्षणमूर्ध्वायनदुर्विभावनः ।

विततीकृतनिश्चलच्छदः क्षणमालोककदत्तकौतुकः ॥ ६८ ॥

जीवातु—स इति। स हंसः क्षणं धुतपक्षतिः कम्पितपक्षमूलः क्षणम् ऊर्ध्वा-

धनेन ऊर्ध्वंगमनेन दुर्विभावनो दुष्करावधारणो दुर्लक्ष इत्यर्थः । पिततीकृतौ विस्तारीकृतौ निश्चलौ छदौ पक्षौ यस्य सः, तथा क्षणमालोककानां द्रष्टुणां दत्तकौतुकः सन् ययौ । स्वभावोक्तिः ।।६८॥

अन्वयः—सः क्षणं धुतपक्षतिः क्षणम् ऊर्ध्वायनदुर्विभावनः क्षणं विततीकृतनिश्चलच्छदः आलोककदत्तकौतुकः सन् ययौ ।

हिन्दी—वह (हंस) क्षणभर पक्षमूलों को कंपित करता, क्षणभर ऊँचे उड़ने के कारण दुर्लक्ष्य होता, क्षणभर निश्चल पंखों को फैलाता अतएव दर्शकों में कौतुक उत्पन्न करता उड़ा ।

टिप्पणी—इस प्रकार विविध शैलियों में उड़ना पक्षि-स्वभाव है, फलतः मल्लिनाथ के अनुसार स्वभावोक्ति अलंकार, 'साहित्यविद्याधरी' के अनुसार दीपकजाति का संकर । यहाँ से पाँच श्लोकों (६८-७२) में तीव्र गति से उड़ते हंस का वर्णन है ॥६८॥

तनुदीधितिधारया रयाद्गतया लोकविलोकनामसौ ।
छदहेम कषन्निवालसत् कषपाषाणनिभे नभस्तले ॥ ६९ ॥

जीवातु—तन्विति । असौ हंसो रयाद्वेगोः उत्पन्नयेति शेषः । लोकस्य आलोकिजनस्य परीक्षकजनस्य च विलोकनां दर्शनं गतया कौतुकाद्वर्णपरीक्षां च विलोक्यमानयेत्यर्थः । तनोः शरीरस्य तन्वा सूक्ष्मया च दीधितिधारया रश्मिरेखया निमित्तेन कषपाषाणनिभे निकषोपलसन्निभे नभस्तले छदहेम निजपक्षसुवर्णं कषन् घर्षन्निवालसत् अशोभतेत्युत्प्रेक्षा ।।६९॥

अन्वयः—असौ रयात् लोकविलोकनां गतया तनुदीधितिधारया कषपाषाणनिभे नभस्तले छदहेम कषन् इव अलसत् ।

हिन्दी—वह (हंस) वेग के कारण जन-गोचरता को प्राप्त (दीखती) शरीर की किरणों की धार से (अथवा तीव्र गमन वेग से कृश दीखती दीप्ति धारा से) कसौटी के पत्थर के समान आकाश-तल में पंखों का स्वर्ण कसता जैसा सुशोभित हुआ ।

टिप्पणी—स्वर्णहंस के शरीर की चमक जब आकाश में रेखा-सी खिंचती

तो लगता कि कसौटी पर कसे गये सोने की लकीर है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और उपमा, जिसमें उत्प्रेक्षा को अंगभूता है। इसे चंद्रकलाकार ने उपमा उत्प्रेक्षा का संकर कहा है ॥६९॥

विनमद्भिरधः स्थितैः खगैर्झटिति श्येननिपातशङ्किभिः।
न निरक्षि दृशैकयोपरि स्यदसांकारिपतत्रिपद्धतिः ॥ ७० ॥

जीवातु—विनमद्भिरिति। स्यदेन वेगेन सांकारिणी सामिति शब्दं कुर्वाणा पतत्रिपद्धतिः पक्षसरणिर्यस्य स हंसः श्येननिपातं शङ्कत इति तच्छङ्किभिः अतएव विनमद्भिर्विलीयमानैरधःस्थितैः खगैः झटिति द्राक् एकया दृशा उपरि निरैक्षि निरीक्षित । कर्मणि लुङ्। स्वभावोक्तिः ॥७०॥

अन्वयः—स्यदसाङ्कारिपतत्रिपद्धतिः सः श्येननिपातशङ्किभिः विनमद्भिः अधः स्थितैः खगैः झटिति एकया दृशा उपरि निरैक्षि।

हिन्दी—वेग के कारण 'साँ साँ' करते पंखों वाला वह (हंस) बाजपक्षी के आक्रमण की शंका कर नीचे झुकते, अतएव निम्न भाग में जाकर उड़ते आकाशचारियों (पक्षियों) द्वारा झटपट ऊपर एक निगाह से ही देखा गया।

टिप्पणी—हंस इतने वेग से उड़ा जा रहा था कि उसके पंखों से 'साँ-साँ' की ध्वनि हो रही थी, अतएव अन्य उड़ने विहंगों को शङ्का हुई कि कहीं यह आक्रांता श्येन न हो, सो वे ऊपर केवल एक दृष्टि डालकर उससे त्राण पाने को और नीचे जाकर उड़ने लगे। मल्लिनाथ के अनुसार स्वभावोक्ति, विद्याधर के अनुसार जाति और काव्यलिङ्ग ॥७०॥

ददृशे न जनेन यन्नसौ भुवि तच्छायमवेक्ष्य तत्क्षणात्।
दिवि दिक्षु वितीर्णचक्षुषा पृथुवेगद्रुतमुक्तदृक्पथः ॥ ७१ ॥

जीवातु—ददृश इति। यन् गच्छन्, इणो लटः शत्रादेशः असौ हंसः भुवि तच्छायं तस्य हंसस्य छाया 'विभाषा सेने'त्यादिना नपुंसकत्वम्। अवेक्ष्य तत् क्षणात् प्रथमं दिवि पश्चात् दिक्षु च वितीर्णचक्षुषा दत्तदृष्टिना जनेन पृथुवेगेन द्रुतं शीघ्रं मुक्तदृक्पथः सन् न ददृशे न दृष्टः। क्षणमात्रेण दृष्टिपथमतिक्रान्त इत्यर्थः ॥७१॥

अन्वयः—भुवि तच्छायम् अवेक्ष्य तत्क्षणात् दिवि दिक्षु च वितीर्णचक्षुषा जनेन पृथुवेगद्रुतमुक्तदृक्पथः असौ यन् न ददृशे ।

हिन्दी—धरती पर पड़ती उसकी छाया देखकर उसी क्षण से आकाश और उड़ने की दिशाओं की ओर आँखें उठाकर देखते जनसमूह द्वारा अत्यंत तीव्र गति के कारण नयनपथ से ओझल होता वह (हंस) उड़कर जाता न दीख पड़ा।

टिप्पणी—लोक जब तक ऊपर आँख उठा कर देख सके तब तक तो तीव्र गति से उड़ता हंस आँख-ओझल हो गया। विद्याधर ने इस श्लोक में काव्यलिंग और पुनरुक्तवदाभास अलंकार माने हैं, चंद्रकलाकार ने केवल काव्यलिंग का निर्देश किया है ॥७१॥

न वनं पथि शिश्रियेऽमुना क्वचिदप्युच्चतरद्रुचारुतम् ।
न सगोत्रजमन्ववादि वा गतिवेगप्रसरद्रुचा रुतम् ॥ ७२ ॥

जीवातु—नेति । गतिवेगेन प्रसरद्रुचा प्रसर्पत्तेजसा अमुना हंसेन क्वचिदपि उच्चतराणामत्युन्नतानां द्रुणां द्रुमाणां चारुता रम्यता यस्मिंस्तत् वनं न शिश्रिये । सगोत्रजं बन्धुजन्यं रुतं कूजितं वा नान्ववादि नानूदितम् । मध्यमार्गे अध्वश्रमापनोदनं बन्धुसम्भाषणादिकमपि न कृतमिति सुहृत्कार्यानुसन्धानपरोक्तिः 'पलाशी द्रुद्रुमागमाः' इत्यमरः ॥७१॥

अन्वयः—गतिवेगप्रसरद्रुचा अमुना पथि क्वचित्, अपि उच्चतरद्रुचारुतं वनं न शिश्रिये सगोत्रजं रुतं वा न अन्ववादि ।

हिन्दी—उड़े जाने के वेग के कारण जिसकी शोभा का प्रसार हो रहा था, ऐसे इस (हंस) ने मार्ग में कहीं ऊँचे-ऊँचे द्रुमों (वृक्षों) की सुषमा से मंडित वन में आश्रय नहीं लिया और न अपने कूजन करते सगोत्र हंसों के साथ संलाप किया ।

टिप्पणी—ऊँचे वृक्ष देखकर वन से विश्राम करना और सजातीय पक्षियों के साथ कूजन-संलाप करना पक्षि-स्वभाव है, किन्तु शीघ्र पहुँचने के आकांक्षी राजहंस ने इस स्वभाव का व्यतिक्रम किया । यमकालङ्कार ॥ ७२ ॥

अथ भीमभुजेन पालिता नगरी मञ्जुरसौ धराजिता ।
पतगस्य जगाम दृक्पथं हरशैलोपमसौधराजिता ॥ ७३ ॥

जीवातु—अथेति । धराजिता भूमिजयिना 'सत्सूद्विषे'त्यादिना क्विपि तुक् भीमस्य भीमभूपस्य भुजेन पालिता हिमशैलोपमैः सौधैः राजिता मञ्जुर्मनोज्ञा असौ पूर्वोक्ता नगरी कुण्डिनपुरी पतगस्य हंसस्य दृक्पथं जगाम, स तां ददर्शेत्यर्थः। अत्र यमकाख्यानुप्रासस्य हिमशैलोपमेति, उपमायाश्च संसृष्टिः ॥ ७३ ॥

अन्वयः—अथ धराजिता भीमभुजेन पालिता हरशैलोपमसौधराजिता मञ्जुः असौ नगरी पतगस्य दृक्पथं जगाम ।

हिन्दी—तदनंतर पृथ्वीजयी राजा भीम की भुजा द्वारा रक्षित शिव-पर्वत कैलाश सदृश प्रासादों से शोभित वह कुंडिनपुरी हंस के दृष्टिपथ को प्राप्त हुई (दीखी)।

टिप्पणी—इस श्लोक से आरम्भ करके 'विधुकर ··· भैमीवनेन' (श्लोक संख्या १०६) तक ३४ श्लोकों से कुंडिनपुरी का वर्णन है। अंततोगत्वा हंस को कुंडिनपुरी दिखायी दी। वह ऊँचे और सफेदी किये—सुधाधवल प्रासादों से युक्त थी, यह द्योतित करने के लिए 'हरशैलोपमसौधराजिता' कहा गया। 'भीमभुजेन' का भीमौ शत्रूणां भयजनकौ भुजौ यस्य तेन—विग्रह करके पृथ्वीजयी राजा के शत्रुभयजनक भुजाओं से पालित' अर्थ भी किया गया है। 'प्रकाश-कार ने 'असौ धराजिता' का 'असौधराजिता' पाठ कल्पित कर 'सौधराजिता-असौध-राजिता' में विरोधाभास का उल्लेख किया है। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में समासोपमा और यमक अलंकार हैं तथा मल्लिनाथ की दृष्टि में 'यमकाख्या-नुप्रास-उपमा' की संसृष्टि है। चन्द्रकलाकार ने विरोधाभास-यमक-अनुप्रास-उपमा की संसृष्टि का निर्देश किया है ॥ ७३ ॥

दयितं प्रति यत्र सन्ततं रतिहासा इव रेजिरे भुवः ।
स्फटिकोपलविग्रहा गृहाः शशभृद्भित्तनिरङ्कुभित्तयः ॥ ७४ ॥

जीवातु—तां वर्णयति—दयितमिति । यत्र नगर्यां स्फटिकोपलविग्रहाः स्फटिकमयशरीरा इत्यर्थः । अत एव शशभृद्भित्तनिरङ्कुभित्तयः शशाङ्कशकल-

निष्कलङ्कानि कुड्यानि येषान्ते 'भित्तं शकलखण्डे वे'त्यमरः, भिदेः क्विप्प्रत्ययः । 'भित्तं शकलमि'त्यादि 'निपातनात् 'रदाभ्यामि'त्यादिना निष्ठानत्वाभावः । गृहाः दयितं भीमं प्रति सन्ततं भुवः सुमेर्नाभिकायाः रतिहासाः केलिहासा इव रेजिरे इत्युत्प्रेक्षा ॥७४॥

अन्वयः—यत्र स्फटिकोपलविग्रहाः शशखण्डसितनिरङ्कभित्तयः गृहाः दयितं प्रति सन्ततं भुवः रतिहासाः इव रेजिरे ।

हिन्दी–जिस नगरी से स्फटिकरत्नमय शरीरधारी (स्फटिकरत्नों से निर्मित) शशांक (चन्द्र) के खंड (कला) के तुल्य निष्कलंक दीवारों वाले घर स्वामी (राजा) के प्रति प्रवृत्त पृथ्वी के सुरतकेलिजन्य के हासों के समान सुशोभित थे।

टिप्पणी—गृहों की समृद्धिजनित शोभा के वर्णन के साथ ही 'रतिहास' के साम्य द्वारा कवि यह द्योतित करना चाहता है कि भीमनरेश पृथ्वी का प्रिय पति 'दयित' था, जिसके साथ वह निरंतर रतिकेलि में निमग्न रहती थी । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने यहाँ अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा का उल्लेख किया है। चन्द्रकलाकार उत्प्रेक्षा-उपमा की संसृष्टि का निर्देश करते हैं ॥७४॥

नृपनीलमणीगृहत्विषामुपधेर्यत्र भयेन भास्वतः ।

शरणागतमुवास वासरेऽप्यसदावृत्त्युदयत्तमं तमः ॥ ७५ ॥

जीवातु—नृपेति । यत्र नगर्यां तमोऽन्धकारः भास्वतो भास्करात् भयेन नृपस्य ये नीलमणीनां गृहाः तेषां त्विषः तासामुपधेश्छलादित्यपह्नवभेदः । 'रत्नं मणिर्द्वयोरि'त्यमरः । 'कृदिकारादक्तिनः' इति ङीष् । शरणाप्तं शरणं गृहं रक्षितारमन्वागतं 'शरणं गृहरक्षित्रोरि'त्यमरः । वासरे दिवसेऽप्यसदावृत्ति अपुनरावृत्ति किञ्चोदयत्तममुद्यत्तमं सदुवास ॥७५॥

अन्वयः—यत्र भास्वतः भयेन नृपनीलमणीगृहत्विषाम् उपधेः शरणाप्तं तमः वासरे अपि असदावृत्ति, उदयत्तमम् उवास ।

हिन्दी—जहाँ सूर्य के भय से राजा के नीलमणि से बने गृहों की नील कांति के व्याज से शरण-प्राप्त अंधकार दिन में भी आवृत्तिहीन उदय को प्राप्त होता निवास करता था ।

टिप्पणी—आशय यह है कि कुंडिनपुरी में ऐसे इन्द्रनीलमणिनिर्मित्त प्रासाद भी थे, जिनकी नीलिमा पर सूर्य भी अप्रभावी था। जो अंधकार एक बार आ गया, वह फिर उन भवनों से सूर्य के आक्रांत होने की आशंका के कारण वापस ही नहीं गया, इन्द्रनीलमणियों की नीलिमा में मिलकर घरों के भीतर ही रह गया। मल्लिनाथ के अनुसार अपह्नव, विद्याधर की दृष्टि में अपह्नुति, विभावना और उदात्त अलंकार। चंद्रकलाकार की दृष्टि में समासोक्ति और उदात्त की संसृष्टि ॥७५॥

सितदीप्रमणिप्रकल्पिते यदगारे हसदङ्करोदसि ।
निखिलान्निशि पूर्णिमा तिथीनुपतस्थेऽतिथिरेकिका तिथिः॥७६॥

जीवातु—सितेति। सितैः दीप्रैश्च मणिभिः प्रकल्पिते उज्ज्वलस्फटिकनिर्मिते हसदङ्करोदसि विकसदङ्करोदस्के द्यावापृथिवीव्यापिनीत्यर्थः। यदगारे यस्या नगर्या गृहेष्वित्यर्थः। जातावेकवचनं, निशि निखिलान् तिथीनेकिका एकाकिनी एकैवेत्यर्थः। 'एकादाकिनिच्चासहाय' इति चकारात् कप्रत्ययः। 'प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्ये' तीकारः। पूर्णिमा तिथी राकातिथिः। 'तदाद्यास्तिथयोरि' त्यमरः। अतिथिः सन् उपतस्थे अतिथिर्भूत्वा सङ्गतेत्यर्थः 'उपाद्देवपूजे' त्यादिना सङ्गतिकरणे आत्मनेपदम्। स्फटिकभवनकान्तिनित्यकौमुदीयोगात् सर्वा अपि रात्रयो राकारात्रय इवासन्नित्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिभेदः॥७६॥

अन्वयः—सितदीप्रमणिप्रकल्पिते हसदङ्करोदसि यदगारे निशि निखिलान् तिथिन् अतिथिः एकिका तिथिः पूर्णिमा उपतस्थे।

हिन्दी—दीप्तिमय श्वेत स्फटिकमणि-निर्मित, (अतएव) समीपस्थ धरती-आकाश विहसित (प्रकाशित) करने वाले (अथवा धरती-आकाश के मध्य को प्रकाशित करने वाले) जिस नगरी के गृहों में रात्रि में समग्र तिथियों को अतिथिभूता एक तिथि पूर्णिमा ही रहा करती थी।

टिप्पणी—आशय यह है कि दमयन्ती स्फटिक मणियों के बने शुभ्र गृहों में वहां रात में भी चाँदनी जैसा प्रकाश फैला रहता था, लगता था प्रत्येक रात्रि पूर्णिमा है। स्फटिक मणियो से निकलते प्रभापटल के कारण घरों में

थोड़ा-सा भी अंधकार न रह पाता था, सो प्रत्येक तिथि जो पूर्णिमा हो की भ्रांति हो जाया करती थी। मल्लिनाथ ने भेद होने पर भी अभेद-कथन के कारण यहाँ अतिशयोक्ति मानी है, विद्याधर के अनुसार यहाँ असंबंध में संबंधकथनरूपा अतिशयोक्ति के अतिरिक्त तिथियों में गृह-व्यवहार समारोप से समासोक्ति और पूर्णिमा के अतिथिभाव के कारण रूपक भी है, शब्दालंकार अनुप्रास है ॥७६॥

सुदतीजनमज्जनार्पितैर्घुसृणैर्यत्र कषायिताशया ।
न निशाऽखिलयापि वापिका प्रससाद ग्रहिलेव मानिनी ॥७७॥

जीवातु—सुदतीति । यत्र नगर्यां शोभना दन्ता यासां ताः सुदत्यः स्त्रियः, अत्रापि विधानाभावाद्दत्रादेशश्चिन्त्य इति केचित् 'अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्चे'ति चकारात् सिद्धिरित्यन्ये, सुदत्यादयः स्त्रीषु योगरूढाः, 'स्त्रियां संज्ञायामि'ति दत्रादेशात् साधव इत्यपरे, तदेतत्सर्वमभिमन्त्रायाह वामनः—'सुदत्यादयः प्रतिविधेया' इति । ता एव जना लोकाः तेषां मज्जनादवगाहादर्पितैः क्षालितैः घुसृणैः कुङ्कुमैः कषायिताशया सुरभिताभ्यन्तरा भोगचिह्नैः कलुषितहृदया च वाप्येव वापिका दीर्घिका ग्रहिला, 'ग्रहोऽनुग्रहनिर्बन्धाबि'ति विश्वः । तद्वती दीर्घरोषा पिच्छादित्वादिलच् दिबादिः । मानिनीस्त्रीणामीर्ष्याकृतः कोपो 'मानोऽन्यासङ्गिनि प्रिये' इत्युक्तलक्षणो मानः तद्वती नायिकेव अखिलया निशा निशया सर्वरात्रिप्रसादनेनेत्यर्थः । न प्रससाद प्रसन्नहृदया नाभूत् तादृक् क्षोभादिति भावः ॥ ७७ ॥

अन्वयः—यत्र सुदतीजनमज्जनार्पितैः घुसृणैः कषायिताशया वापिका ग्रहिला मानिनी इव अखिलया निशा अपि न प्रससाद ।

हिन्दी—जिस नगरी में सुन्दर दाँतों वाली सुन्दरी-समूह की जलक्रीड़ा से वितीर्ण कुंकुमांगरागों से गँदले जल वाली बावड़ी पूरी रात भी उसी प्रकार प्रसादित—स्वच्छ नहीं रहती थी, जैसे कि (सपत्नीजन में प्रतिफलित प्रिय के) कुंकुमांगराग को देख दूषित मन वाली, दुराग्रहयुक्ता मानवती नारी (प्रिय के द्वारा भाँति-भाँति से मनाये जाने पर) अशया (जागी) रहकर रात में भी प्रसन्न नहीं होती है।

टिप्पणी—भाव यह कि स्नान और जलक्रीड़ा इतनी अधिक हुआ करती

थी कि स्नानार्थिनी सुन्दरियों के शरीर से छूटकर जल को मैला बनाने वाला अंगराग रात-दिन बावड़ियों में घुला ही रहता था । दुराग्रहवती मानिनी भी निशा काल में जागी रहकर प्रिय की मानमनौवल से प्रसन्न नहीं होती । उपमा और उदात्त अलंकार ॥ ७७ ॥

क्षणनीरवया यया निशि श्रितवप्रावलियोगपट्टया ।
मणिवेश्ममयं स्म निर्मलं किमपि ज्योतिरबाह्यमीक्ष्यते ॥ ७८ ॥

जीवातु—क्षणेति । निशि निशीथे क्षणं नीरवया एकत्र सुप्तजनत्वादन्यत्र ध्यानस्तिमितत्वाच्च निःशब्दया श्रितः प्राप्तः वप्रावलिः योगपट्ट इव अन्यत्र वप्रावलिरिव योगपट्टो यया सा तथोक्ता यया नगर्या मणिवेश्ममयं तद्रूपं निर्मलमबाह्यमन्तर्वर्ति किमपि अवाङ्मनसगोचरं ज्योतिः प्रभा आत्मज्योतिश्च ईक्ष्यते सेव्यते स्म । अत्र प्रस्तुतनगरीविशेषणसाम्यादप्रस्तुतयोगिनीप्रतीतेः समासोक्तिः ।

अन्वयः—निशि क्षणनीरवया श्रितवप्रावलियोगपट्टया यया मणिवेश्ममयं निर्मलम् किमपि अबाह्यं ज्योतिः ईक्ष्यते स्म ।

हिन्दी—मध्य रात्रि में क्षणभर को निःशब्द हो प्राकारपंक्तिरूप योगपट्ट का आश्रय ले जिस (कुंडिनपुरी) द्वारा के रत्नगृहरूप निर्मल किसी (अवाङ्मनोविषया) आभ्यन्तर ज्योति (आत्म-ज्योति) का दर्शन किया जाता था ।

टिप्पणी—आशय यह है कि दिनभर कर्मसंकुल कोलाहल से पूर्ण कुंडिनपुरी में आधी रात को जाकर कहीं कुछ शांति—निःशब्दता आती थी । इसकी तुलना निःशब्द हो, योगपट्ट का सहारा ले आत्मज्योति का साक्षात् करती ध्यानमग्ना योगिनी की समता द्वारा की गयी है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ समासोक्ति है, क्योंकि प्रस्तुत नगरी के साम्य द्वारा अप्रस्तुत योगिनी की प्रतीति होती है । विद्याधर के अनुसार उदात्त अलंकार है ॥ ७८ ॥

विललास जलाशयोदरे क्वचन द्यौरनुबिम्बितेव या ।
परिखाकपटस्फुटस्फुरत्प्रतिबिम्बानकलम्बिताम्बुनि ॥ ७९ ॥

जीवातु—विललासेति । या नगरी परिखायाः कपटेन व्याजेन स्फुटं रहितो व्यक्तं यथा स्फुरता प्रतिबिम्बेनावलम्बितं मध्ये धार्यमाणं चाम्बु

यस्मिन् तस्मिन् प्रतिबिम्बाक्रान्तमम्बु परितः स्फुरति प्रतिबिम्बदेशेन स्फुरति तेनैव बिम्बादिति भावः क्वचन कुत्रचिज्जलाशयोदरे ह्रदमध्ये कस्यचित् ह्रदस्य मध्य इत्यर्थः । अनुबिम्बिता प्रतिबिम्बिता द्यौरमरावतीव विललासेत्युत्प्रेक्षा ॥ ७९ ॥

अन्वयः—या परिखाकपटस्फुटस्फुरत्प्रतिबिम्बानवलम्बिताम्बुनि क्वचन जलाशयोदरे अनुबिम्बिता द्यौः इव विललास ।

हिन्दी—जो (कुंडिनपुरी) खाईं के ब्याज से व्यक्त, स्फुरित होते अपने प्रतिबिम्ब से निराधार जल में कहीं जलाशय के मध्य प्रतिबिम्बित होती स्वर्गपुरी जैसी विलसित होती थी ।

टिप्पणी—नगरी के चारों ओर जल भरी विशाल खाईं थी, जिसमें कहीं-कहीं नगरी की परछाईं स्पष्ट होती थी, लगता था कि स्वर्गपुरी ही जल में उतर आयी है । जहाँ-जहाँ परछाईं पड़ती थी, वहाँ नगरी ही दीखती थी जल नहीं । उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने इसके अतिरिक्त अपह्नुति भी मानी है, क्योंकि 'परिखा नहीं, जलाशय ही है'—ऐसी भावना भी बनती है । चन्द्रकलाकार ने कैतवापह्नुति-उत्प्रेक्षा की संसृष्टि का उल्लेख किया है ॥७९॥

व्रजते दिवि यद्गृहावलीचलचेलाञ्चलदण्डताडनाः ।
अतरन्नरुणाय विभ्रमं सृजते हेलिहयालिकालनाः ॥ ८० ॥

जीवातु—व्रजत इति । यस्यां नगर्यां गृहावलीषु चलाः चञ्चलाः चेलाञ्चलाः पताकाग्राणि त एव दण्डास्तैः ताडनाः कशाघाता इत्यर्थः । ताः कर्त्र्यो दिवि व्रजते गच्छते हेलिहयाले, सूर्याश्वपङ्क्तेः 'हेलिराजिक्कुने' इत्यादि'ति वैजयन्ती । कालना चोदना सृजते कुर्वते अरुणाय सूर्यसारथये विभ्रमं स्वयं तत्कार्यकरणाद्भ्रान्तिं 'नोदात्तोपदेशे'त्यादिना वृद्धिप्रतिषेधः । अतरन् तेरुः । अत्र हेलिहयालिचेलाञ्चलदण्डताडनासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः, तेन गृहाणामर्कमण्डलपर्यन्तमौन्नत्यं व्यज्यत इति अलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ ८० ॥

अन्वयः—यद्गृहावलीचलचेलाञ्चलदण्डताडनाः दिवि व्रजते हेलिहयालिकालनाः सृजते अरुणाय विभ्रमं अतरन् ।

हिन्दी--जिस (नगरी) के प्रासादों पर फहराती चञ्चल पताकाओं के वस्त्र-प्रांत-रूप डंडों के प्रहार आकाशमंडल में दौड़ते सूर्य के घोड़ों को प्रेरणा देते सारथि अरुण को विश्राम दिया करते थे।

टिप्पणी—कुंडिनपुरी के उच्च प्रासादों पर जो पताकाएँ फहरती थीं, वे सूर्याश्वों के शरीर पर लग-लग कर हाँकने के दंड का काम किया करती थीं, जिससे सूर्य-सारथि को विश्राम मिल जाता था। मल्लिनाथ के अनुसार असंबंध में संबंध कथन के कारण अतिशयोक्ति, जिससे प्रासादों की अत्युच्चता व्यंजित होती है, अतः अलंकार द्वारा वस्तुध्वनि। विद्याधर को दृष्टि में अतिशयोक्ति और अनुप्रास ॥८०॥

क्षितिगर्भधराम्बरालयैस्तलमध्योपरिपूरिणां पृथक्।
जगतां खलु याऽखिलाद्भुताऽजनि सारैर्निजचिह्नधारिभिः ॥८१॥

जीवातु—क्षितीति। तलमध्योपरि अधोमध्योर्ध्वदेशान् पूरयन्तीति तत्पूरिणां जगतां पातालभूमिस्वर्गाणां पृथगसङ्कीर्णं यानि निजानि प्रतिनियतानि निजचिह्नानि तिष्ठन्नागनस्रक्चन्दनादिलिङ्गानि धारयन्तीति तद्धारिभिः तथोक्तैः सारैरुत्कृष्टैः क्षितिकुहरे धरायां भूपृष्ठे अम्बरे आकाशे च ये आलया गृहाः तैः भूम्यन्तर्बहिः। शिरोगृहैरित्यर्थः। या नगरी अखिला कृत्स्ना अद्भुता चित्रा अजनि जाता। 'दीपजन' इत्यादिना जनेः कर्त्तरि लुङ्, च्लेश्चिणादेशः। अत्र क्षितिगर्भादीनां तलमध्योपरि जगत्सु सतां तच्चिह्नानाञ्च यथासंख्यसम्बन्धात् यथासंख्यालङ्कारः। एतेन त्रैलोक्यवैभवं गम्यते ॥ ८१ ॥

अन्वयः—तलमध्योपरिपूरिणां जगतां पृथक् चिह्नधारिभिः सारैः क्षितिगर्भधराम्बरालयैः या अखिला अद्भुता अजनि खलु।

हिन्दी—तल (निम्न प्रदेश, पाताल), मध्य (धरती), उपरि(आकाश)-संज्ञक सृष्टियों (पाताल, पृथ्वी और स्वर्ग) के पृथक्-पृथक् चिह्न धारण करने वाले सार (श्रेष्ठ) अंशों से निर्मित पाताल, पृथ्वी, आकाश-त्रिलोकी के आवासों से (युक्त) जो संपूर्ण नगरी विचित्र ही निर्मित हुई थी।

टिप्पणी—कुंडिनपुरी में त्रिभूमिक-तितल्ले घर थे, तहखाने (पाताल

के प्रतीक), उनके ऊपर के खंड (क्षिति के प्रतीक), उनके ऊपर (आकाश के प्रतीक), जिनमें क्रमशः इन तीनों के प्रतीकस्वरूप संपत्ति, धान्यादि और चंदनादि-भोग सामग्री रहती थी, जिससे प्रतीत होता था कि नगरी के आवास त्रिलोकी के सारभूत तत्त्वों से निर्मित हैं। इस प्रकार वह नगरी तीन लोक से न्यारी लगती थी। मल्लिनाथ के अनुसार यथासंख्य, विद्याधर के अनुसार यथासंख्य और उदात्त तथा चंद्रकलाकार के अनुसार व्यतिरेक अलंकार ॥ ८१ ॥

दधदम्बुदनीलकण्ठतां वहदत्यच्छसुधोज्ज्वलं वपुः।
कथमृच्छतु यत्र नाम न क्षितिभृन्मन्दिरमिन्दुमौलिताम् ॥८२॥

जीवातु—दधदिति। यत्र नगर्यामम्बुदैरम्बुदवन्नीलः कण्ठः शिखरोपकण्ठः गलश्च यस्य तस्य भावस्तत्तां 'कण्ठो गले सन्निधाने' इति विश्वः। दधत् अच्छया सुधया लेपनद्रव्येण च सुधावदमृतवच्चोज्ज्वलं वपुर्वहत् 'सुधा लेपोऽमृतं सुधे'त्यमरः। क्षितिभृन्मन्दिरं राजभवनमिन्दुमौलितामिन्दुमण्डलपर्यन्तशिखरत्वं कथं नाम न ऋच्छतु ? गच्छत्वेवेत्यर्थः। राजभवनस्य तादृगौन्नत्यं युक्तमिति भावः। अन्यत्र नीलकण्ठस्य इन्दुमौलित्वमीश्वरत्वं च युक्तमिति भावः। अत्र विशेषणविशेष्याणां श्लिष्टानामभिधायाः प्रकृतार्थमात्रनियन्त्रणात् प्रकृतेश्वरप्रतीतेः ध्वनिरेव ॥ ८२ ॥

अन्वयः—यत्र अम्बुदनीलकण्ठतां दधत् अत्यच्छसुधोज्ज्वलं वपुः वहत् क्षितिभृन्मन्दिरम् इन्दुमौलितां कथं नाम न ऋच्छतु ?

हिन्दी—जिस (नगरी) में घिरे बादलों के कारण ऊपरी भाग और चूना-पोता होने के कारण अत्यन्त स्वच्छ सफेद शरीर (आवास-स्थल) धारण करता धरणीधर (राजा) का महल मेघश्यामकंठ वाले और निर्मल चाँदनी (अथवा अमृत) के समान शुभ्र देहधारी चंद्रमौलि (शिव) के भाव को (मौलि अर्थात् शिखर पर चंद्रमा को) क्यों न प्राप्त करे ? (करे ही) ॥

टिप्पणी—राजमहल बहुत ऊँचा है जिससे घिरे बादलों के कारण उसका ऊपरी भाग नीला दीखा करता है और ऐसा लगता है कि चन्द्रमा जैसे उसके

शिखर पर ही टँगा है। वह (राजप्रासाद) सफेदी किये जाने के कारण अत्यन्त उज्ज्वल भी है। शिव नीलकंठ, कर्पूरगौर और चन्द्रमौलि हैं। ये तीनों विशेषताएँ राजप्रासाद में भी उपर्युक्त प्रणाली से स्पष्ट हैं, अतः उसकी तुलना नीलकण्ठ, सुधोज्ज्वल, चन्द्रमौलि शिव से की गयी। समस्त गुण होने के कारण यह शिवत्व, यह उन्नतभाव प्राप्त करना उचित ही है। मल्लिनाथ के अनुसार श्लिष्ट विशेषण-विशेष्यों का प्रकृतार्थ मात्र नियन्त्रण होने से प्रकृत शिवप्रतीति के कारण यहाँ ध्वनि है, विद्याधर ने यहाँ श्लेषालंकार का निर्देश किया है, चन्द्रकलाकार असंबंध से संबंध-कथन होने के कारण अतिशयोक्ति मानते हैं।

बहुरूपकशालभञ्जिकामुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कवः ।
यदनेकसौधकन्धराहरिभिः कुक्षिगतीकृता इव ॥ ८३ ॥

जीवातु—बह्विति। बहुरूपकाः भूयिष्ठसौन्दर्याः, शैषिकः कप्रत्ययः। तेषु शालभञ्जिकानां कृत्रिमपुत्रिकाणां मुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कवः चन्द्रत्वात् सम्भाविताः कलङ्कमृगाः ते यस्यां नगर्यामनेकेषां बहूनां सौधानां कन्धरासु कण्ठ-प्रदेशेषु ये हरयः सिंहाः तैः कुक्षिगतीकृता इव ग्रस्ताः किमित्युत्प्रेक्षा मुख-चन्द्राणां निष्कलङ्कत्वनिमित्तात्, अन्यथा कथं चन्द्रे निष्कलङ्कतेति भावः।८३।

अन्वयः—बहुरूपकशालभञ्जिकामुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कवः यदनेकसौधकन्धराहरिभिः कुक्षिगतीकृताः इव (दृश्यन्ते)।

हिन्दी—अत्यन्त सुन्दर आकार वाली पुतलियों के मुखचन्द्रों पर स्थित लांछनमृग जिस नगरी के बहुसंख्यक प्रासादों की कंधराओं (मध्य स्थानों) में बने (कृत्रिम) सिंहों द्वारा मानों कुक्षिगत कर लिये (खा डाले) गये दीखते हैं।

टिप्पणी—कुंडिनपुरी के अनेक प्रासादों में स्तम्भादि पर शालभंजिकाएँ (पुतलियाँ) बनायी गयी हैं, उनके मुख अत्यन्त सुन्दर है, मृगचिह्नहीन चन्द्र के समान। जब मुख चन्द्र हैं, तब स्वाभाविकतया उन पर कलङ्कचिह्न मृग भी रहना उचित है, पर वैसा नहीं है। इसका कारण यह सम्भावित है कि प्रासादों की कंधराओं में बने (कृत्रिम) सिंह उन्हें खा गये। मल्लिनाथ

ने उत्प्रेक्षालंकार का उल्लेख किया है, विद्याधर ने उत्प्रेक्षा और रूपक का, चन्द्रकलाकार दोनों अलंकारों को निरपेक्ष स्थिति के कारण संसृष्टि मानते हैं।

बलिसद्मदिवं स तथ्यवागुपरि स्माह दिवोऽपि नारदः।
अधराथ कृता ययेव सा विपरीताऽजनि भूमिभूषया ॥ ८४ ॥

जीवातु—बलीति। स प्रसिद्धः तथ्यवाक् सत्यवचनः नारदः बलिसद्म-दिवं पातालस्वर्गं दिवो मेरुस्वर्गादप्युपरिस्थितामुत्कृष्टामाह स्म उक्तवान्। अथेदानीं भूमिभूषया यया नगर्या अधरा न्यूना अधस्ताच्च कृतेवेत्युत्प्रेक्षा सा बलिपद्मद्यौर्विपरीता नारदोक्तविपरीता अजनि। सर्वोपरिस्थितायाः पुनरधः स्थितिः वैपरीत्यम् ॥ ८४ ॥

अन्वयः—तथ्यवाक् सः नारदः बलिसद्मदिवं दिवः अपि उपरि आह स्म, अथ भूमिभूषया यया अधरा कृता इव सा विपरीता अजनि।

हिन्दी—सत्यवादी उन देवर्षि नारद ने बलिराज के आवास-पाताल-स्वर्ग को द्यौ-स्वर्ग से भी ऊपर (ऊँचा, श्रेष्ठ) कहा था, परन्तु पृथ्वी को अलंकृत करनेवाली कुंडिनपुरी द्वारा जैसे नीची (न्यून, अवर, अंग्रेजी भाषा में 'डाउन') कर दी गयी वह (पातालपुरी) विपरीत (पुनः निम्नभागस्थिता) हो गयी।

टिप्पणी—नारद ने तो ठीक ही कहा था कि बलिराज का वैभव, उनका पाताल स्वर्ग को भी तिरस्कृत करने वाला है, पर कुंडिनपुरी के वैभव के सम्मुख पातालपुरी का वैभव भी नगण्य हो गया, तो अधःस्थित पाताल पुनः अधःस्थित हो गया। नारद के कथनानुसार पाताल स्वर्ग से समृद्ध था, कुंडिन-पुरी पाताल से भी समृद्ध है, इस प्रकार कुंडिनपुरी पाताल-स्वर्ग दोनों से श्रेष्ठ सिद्ध हुई। 'स्वर्लोकादपि रम्याणि पातालानीति नारदः। प्राह स्वर्गसदां मध्ये पातालेभ्यो गतो दिवि ॥ (विष्णुपुराण २।५-५)। मल्लिनाथ ने उत्प्रेक्षा का उल्लेख किया है, विद्याधर के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकार है, जिनका अंगांगिभाव 'संकर' चन्द्रकलाकार द्वारा निर्दिष्ट है ॥८४॥

प्रतिहट्टपथे घरट्टजात् पथिकाह्वानदसक्तुसौरभैः।
कलहान्न घनान् यदुत्थितादधुनाप्युज्झति घर्घरस्वरः ॥ ८५ ॥

जीवातु—प्रतीति । पन्थानं गच्छन्तीति पथिकाः तेषामाह्वानं ददाति तथोक्तमाह्वकम् अध्वानं गच्छतापाकर्षकमित्यर्थः । सक्तूनां सौरभं सुगन्धो यस्मिन् प्रतिघट्टपथे प्रत्यापणपथे । 'अव्यय विभक्ती'त्यादिना वीप्सायाम-व्ययीभावः । 'तृतीयासप्तम्योर्बहुल'मिति सप्तम्या अमभावः । घरट्टाः गोधूम-चूर्णप्रावाणः तज्जात् यस्या नगर्याः उत्थितात् कलहात् घर्घरस्वनः निर्झरस्वरः कण्ठध्वनिः घनान् मेघान् अधुनापि नोज्झति न त्यजति । सर्वदा सर्वहट्टेषु घरट्टा मेघध्वानं ध्वनन्तीति भावः । अत्र घनानां घरट्टकलहासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः । तथा च घर्घरस्वनस्य तद्धेतुकत्वोत्प्रेक्षा, व्यञ्जका-प्रयोगाद् गम्योत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥८५॥

अन्वयः—प्रतिहट्टपथे पथिकाह्वानदसक्तुसौरभैः घरट्टजात् यदुत्थितात् कलहात् घर्घरस्वरः अधुना अपि घनान् न उज्झति ।

हिन्दी—प्रत्येक हाट के मार्ग में पथिक का आह्वान करने वाले (अपनी ओर खींचने-वाले) सत्तुओं की सुगन्ध उड़ाती आटा-चक्कियों के संघट्टन से जिस नगरी में उठा 'घर्घर' शब्द आज भी बादलों को नहीं छोड़ता ।

टिप्पणी—भाव यह कि प्रत्येक हाट-बाजार में सत्तुओं की विपुलता है, सत्तू आदि पीसती चक्कियों से उड़ता सक्तु-सुगन्ध पथिकों को आकृष्ट करता है । चक्कियों के पत्थरों की कलह—रगड़ से जो 'घर्घर' शब्द होता है, वही मानों बादलों में समा गया है, अन्यथा बादलों को गड़गड़ाहट कहाँ से मिलती ? यह भी माना गया है कि कुंडिनपुरी में बने सत्तू इतने सुगन्धित और स्वादिष्ट होते थे कि पथिक सक्तु भोजन के स्वाद में यहाँ रुक जाया करते थे और मेघ पथिकों को घर जाने की प्रेरणा दिया करते थे, यही 'घरट्ट-मेघ-कलह' का कारण बराबर बना रहता था । मेघ पीड़ित करते हैं, सक्तु-परिमलों से घरट्ट जिलाते हैं । घरट्ट पथिकों को आह्वान देते हैं, मेघ खंडन करते हैं । घरट्ट-मेघ कलह करते 'घर्घराते' रहते हैं । हाट-बाजारों में बराबर ऐसा कलह रहा करता है, ग्राहकों को एक दुकानदार पुकारता है, दूसरा उसका प्रतिवाद करता है, दोनों झगड़ते रहते हैं । कुंडिनपुरी का बाजार ऐसा ही व्यापार-संकुल हाट था । विद्याधर ने यहाँ अध्यवसाय के सिद्ध होने के आधार पर अतिशयोक्ति

का निर्देश किया है, मल्लिनाथ ने असंबंध में संबंधकथनरूपा अतिशयोक्ति और गम्योत्प्रेक्षा के संकर का, क्योंकि घन-घरट्ट-कलह का हेतु घर्घर शब्द है, जिससे उत्प्रेक्षा होती है ॥८५॥

वरणः कनकस्य मानिनीं दिवमङ्कादमराद्रिरागताम् ।
घनरत्नकवाटपक्षतिः परिरभ्यानुनयन्नुवास याम् ॥ ८६ ॥

जीवातु—वरण इति । कनकस्य सम्बन्धी वरणः तद्विकारः प्रकारः स एवामराद्रिर्मेरुः यां नगरीमेव मानिनीं कोपसम्पन्नामत एव अङ्कान्निजोत्सङ्गादागतां भूलोकं प्राप्तां दिवमरावतीं घने निबिडे रत्नानां कवाटे रत्नमयकवाटे एव पक्षती पक्षमूले यस्य स सन् परिरभ्य उपगूह्य मेरोः पक्षवत्त्वात्पक्षतिरूपत्वमनुसरन् अनुवर्त्तमानः उवास । कामिनः प्रणयकुपितां प्रेयसीमाप्रसादमनुगच्छन्तीति भावः । रूपकालङ्कारः स्फुट एव, तेन चेयं नगरी कुतश्चित् कारणादागता द्यौरेव वरणश्च स्वर्णाद्रिरेवेत्युत्प्रेक्षा व्यज्यते ॥८६॥

अन्वयः—कनकस्य वरणः अमराद्रिः यां मानिनीम् अङ्कात् आगतां दिवं घनरत्नकवाटपक्षतिः परिरभ्य अनुनयन् उवास ।

हिन्दी—स्वर्ण प्राकार-रूप देवगिरि सुमेरु जिस मानिनी (नगरी) को गोद से छिटक आयी स्वर्गपुरी के तुल्य अनेक रत्नजटित कपाट-रूप पंखों से युक्त हो आलिंगन कर मनाता हुआ बस गया है ।

टिप्पणी —यहाँ नगरी की मानिनी नायिका स्वर्णपुरी से तुलना की है, जो अपने प्रिय सुमेरु से रूठ कर गोद से छिटक आयी है, प्राकार प्रिय सुमेरु, रत्नजटित किवाड़ उसके पंख और बाहु हैं, जिनसे उड़कर वह प्रिया के पास आ पहुँचा है और आलिंगन करके मानिनी को मना रहा है । प्रिया वहाँ से जाती नहीं, सो 'पखेरू' होते हुए भी प्रिय वहीं बस गया है । अर्थात् पुरी स्वर्गपुरी के तुल्य है और सुमेरु जितना उन्नत और दमकीला । मल्लिनाथ के अनुसार रूपक और उत्प्रेक्षा व्यंग्य है, विद्यानाथ रूपक का निर्देश करते हैं और कहते हैं कि यहाँ समासोक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि नायक-नायिका के व्यवहार की प्रतीति रूपक से ही होती है । चंद्रकलाकार ने समस्तवस्तु विषय सांग-

रूपक और लिंगसाम्य से नायक-नायिका-व्यवहार का समारोप मानकर समासोक्ति के अंगांगिभाव संकर का उल्लेख किया है ॥८६॥

अनलैः परिवेषमेत्य या ज्वलदर्कोपलवप्रजन्मभिः ।
उदयं लयमन्तरा रवेरवहद्बाणपुरीपरार्ध्यताम् ॥ ८७ ॥

जीवातु—अनलैरिति । या नगरी रवेरुदयं लयमस्तमयं चान्तरा तयोर्मध्यकाल इत्यर्थः । 'अन्तरान्तरेण युक्त' इति द्वितीया । ज्वलतामर्कांशुसम्पर्कात् प्रज्वलतामर्कोपलानां वप्राज्जन्म येषान्तैः सूर्यकान्तैः प्राकारजन्यैः अनलैः परिवेषमेत्य परिवेष्टनं प्राप्य बाणपुर्याः बाणासुरनगर्याः शोणितपुरस्य परार्ध्यतां श्रेष्ठतामवहत् । अत्रान्यधर्मस्यान्येन सम्बन्धासंभवात्तादृशीं परार्ध्यतामिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शनालङ्कारः ॥८७॥

अन्वयः—या रवेः उदयं लयम् अन्तरा ज्वलदर्कोपलवप्रजन्मभिः अनलैः परिवेषम् एत्य बाणपुरीपरार्ध्यताम् अवहत् ।

हिन्दी—जो नगरी सूर्य के उदय और अस्त के मध्य देदीप्यमान सूर्यकांत मणि के प्राकारों से उत्पन्न अग्निपुंज से परिविष्ट (आवृत) हो बाणासुरनगरी (शोणितपुरी) की श्रेष्ठता को धारण कर लेती थी ।

टिप्पणी—शिवकृपा से शिवभक्त बाणासुर की नगरी शोणितपुरी चारों ओर अग्नि से परिविष्ट रहती थी,कुंडिननगरी की भी वैसी श्रेष्ठता यहाँ प्रमाणित की गयी है । कुंडिननगरी के प्राकार में सूर्यकांत मणियाँ भी पर्याप्त थीं, सूर्योदयास्तकाल में ऊँचे प्राकार की वे मणियाँ दमकने लगती थीं, जिससे पुरी परिविष्ट हो, अग्निपरिविष्टा बाण-नगरी-सी लगती थी । मल्लिनाथ के अनुसार अन्य के धर्म का अन्य से संबंध-निरूपण होने से यहाँ निदर्शनालंकार है, विद्याधर के अनुसार उदात्त भी है ॥८७॥

बहुकम्बुमणिर्वराटिकागणनाटत्करकर्कटोत्करः ।
हिमबालुकयाऽच्छबालुकः पटु दध्वान यदापणार्णवः ॥ ८८ ॥

जीवातु—बह्विति । बहवः कम्बवः शङ्खा मणयश्च यस्मिन् सः वराटिकागणनाय कपर्दिकासंख्यानाय अटन्तः तिर्यक् प्रचरन्तः कराः पाणय एव कर्क-

टोत्कराः कुलीरसंघाः यस्मिन् सः हिमबालुकया कर्पूरेण अच्छबालुकः स्वच्छसिकतः यस्याः पुरः आपणो विपणिरेवार्णवः पटु धीरं दध्वान ननाद, 'कपर्दो बराटिके'ति हलायुधः। 'शङ्खः स्यात् कम्बुरस्त्रियामि'त्यमरः। 'सिताभ्रो हिमबालुका', 'स्यात्कुलीरः कर्कटक' इति चामरः ॥८८॥

अन्वयः—बहुकम्बुमणिः बराटिकागणनाटत्करकर्कटोत्करः हिमबालुकया अच्छबालुकः यदापणार्णवः पटु दध्वान।

हिन्दी—अनेक शंखों, मणि-मुक्तादि से परिपूर्ण, कौड़ियों को गिनती के लिए घूमते हाथ रूप कर्कटसमूह (गिरगिटों) से व्याप्त, कर्पूररेणुका द्वारा स्वच्छ बालू से युक्त जिस (नगरी) का हाट रूप समुद्र अतिशय गर्जना करता रहता था।

टिप्पणी—कर्म-संकुल कुंडिनपुरी के हाट की तुलना की गयी है गरजते समुद्र से। वहाँ लहरों का कोलाहल होता है, यहाँ के समुद्रसम शंख-मणि आदि से पूर्ण, कर्पूर-बालुकामय हाट में लेन-देन में कौड़िया गिनते जनसमूह का कोलाहल है। 'पटुदध्वान'—से जनसंकुलता सूचित की गयी है। सांगरूपक अलंकार ॥८८॥

यदगारघटाट्टकुट्टिमस्रवदिन्दूपलतुन्दिलापया ।
मुमुचे न पतिव्रतौचिती प्रतिचन्द्रोदयमभ्रगङ्गया ॥ ८९ ॥

जीवातु—यदिति। यस्याः नगर्याः अगारघटासु गृहपङ्क्तिषु अट्टानामट्टालिकानां कुट्टिमेषु निबद्धभूमिषु, 'कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भूरि'त्यमरः। स्रवद्भिरिन्दुसम्पर्कात् स्यन्दमानैरिन्दूपलैश्चन्द्रकान्तैः हेतुभिः तुन्दिलाः प्रवृद्धा आपो यस्याः तया, तुन्दादिभ्य इलच् 'ऋक्पूरि'त्यादिना समासान्तः। अभ्रगङ्गया मन्दाकिन्या, 'मन्दाकिनी वियद्गङ्गे'त्यमरः। चन्द्रोदये चन्द्रोदये प्रतिचन्द्रोदयं वीप्सायामव्ययीभावः। पतिव्रतानामौचिती औचित्यं ब्राह्मणादित्वाद् 'गुणवचने' त्यादिना ष्यञ्प्रत्ययः, 'षिद्गौरादिभ्यश्चे'ति ङीष्। स च 'मातरि षिच्चे'ति षित्वादेव सिद्धे मातामहशब्दस्य गौरादिपाठेनानित्यत्वज्ञापनाट्टैकल्पिकः। अत एव वामनः—ष्यञः षित्कार्यं बहुलमिति स्त्रीनपुंस-

कयोर्भावक्रिययोः ष्यञ् । क्वचिच्च वुञ् 'औचित्यमौचिती मैत्र्यं मैत्री वुञ् प्रागुदाहृतमि'त्यमरश्च । न मुमुचे न तत्यजे । भर्तुः समुद्रस्य चन्द्रोदये वृद्धिदर्शनात्तस्य अपि तथा वृद्धिरुचिता । 'आर्तार्ते मुदिते हृष्टा प्रोषिते मलिना कृशा । मृते म्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता ॥' इति स्मरणादिति भावः । अत्राभ्रगङ्गायाः यदगारेत्यादिना विशेषणार्थासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, तथा च यदगाराणामतीन्दुमण्डलमौन्नत्यं गम्यते तदुत्थापिता चेयमस्याः पातिव्रत्यधर्मापरित्यागोत्प्रेक्षेति सङ्करः, सा च व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या ॥ ८९ ॥

अन्वयः—यदगारघटाट्टकुट्टिमस्रवदिन्दूपलतुन्दिलापया अभ्रगङ्गया प्रतिचन्द्रोदयं प्रतिव्रतौचिती न मुमुचे ।

हिन्दी—जिसके आवासों की अटारियों की ऊपर की छत में लगी द्रवीभूत होती (पिघलती) चन्द्रकांतमणियों से बहते प्रचुर जल से आकाशगङ्गा ने प्रत्येक चन्द्रोदय के अवसर पर (पूर्णिमा में) पतिव्रताओं के लिए उचित धर्म को नहीं छोड़ा ।

टिप्पणी—कुण्डिनपुरी के आवास इतने ऊँचे थे कि चन्द्रोदय के अवसर उनकी छतों पर लगी चंद्रकांत मणियाँ पिघलकर अपने प्रचुर जल से आकाशगंगा में जलवृद्धि कर देती थी । नदियों का पति है समुद्र, प्रत्येक चंद्रोदयपर्व पूर्णिमा को समुद्र में ज्वार आ जाता है, उसके संसर्ग से समुद्रपत्नी गंगा में भी ज्वार आ जाता है, इस प्रकार पति के हर्ष में हर्षित गंगा भागीरथी पातिव्रत्य का आचरण करती है । परन्तु क्या करे आकाशगंगा, कैसे उसमें ज्वार उत्पन्न हो ? कुण्डिनपुरी-प्रासादों की अटारियों की चंद्रकांतमणियाँ पिघल कर इसमें सहायक बन जाती हैं और आकाशगंगा का पातिव्रत रह जाता है । विद्याधर के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति-काव्यलिङ्ग-उदात्त की संसृष्टि है । मल्लिनाथ ने अतिशयोक्ति-उत्प्रेक्षा का संकर माना है तथा अतिशयोक्ति अलंकार से गम्य आगारोन्नत्य के आधार पर वस्तुध्वनि ॥ ८९ ॥

रुचयोऽस्तमितस्य भास्वतः स्खलिता यत्र निरालयाः खलु ।
अनुसायमभूर्विलेपनापणकश्मीरजपण्यवीथयः ॥ ९० ॥

जीवातु—रुचय इति। यत्र नगर्यामनुसायं प्रतिसायं वीप्सायामव्ययीभावः। विलेपनापणेषु सुगन्धद्रव्यनिपद्यासु कश्मीरजानि कुङ्कुमान्येव पण्यानि पणनीयद्रव्याणि तेषां वीथयः श्रेणयः अस्तमितस्यास्तङ्गतस्य भास्वतः सम्बन्धिन्यः स्खलिताः अस्तमयक्षोभात् च्युताः अतएव निरालयाः निराश्रयाः रुचयः प्रभाः अमुः खलु, कथञ्चित्प्रच्युताः सायन्तनार्कत्विष इव भान्ति स्मेत्यर्थः। कुङ्कुमराशीनां सदा तत्सावर्ण्यादियमुत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगादगम्या। भातुर्लुङि झेर्जुसादेशः ॥ ९० ॥

अन्वयः—यत्र अनुसायं विलेपनापणकश्मीरजपण्यवीथयः अस्तम् इतस्य भास्वतः स्खलिताः निरालयाः रुचयः अमुः किल।

हिन्दी—जिस नगरी में प्रत्येक सन्ध्या को सुगन्ध-सामग्री के हाट में केसर-विक्रय की गलियाँ अस्ताचल को जाते सूर्य से च्युत हुई (अतएव) निराधार कान्ति श्रेणियाँ जैसी आभासित होती थीं।

टिप्पणी—केसर की गलियों के साम्य के आधार पर सूर्यरुचियों से उनकी तुलना की गयी। यहाँ मल्लिनाथ ने गम्योत्प्रेक्षा मानी है, विद्याधर ने विशेषालङ्कार भी, रुद्रट के अनुसार जिसका लक्षण है-किञ्चिदवश्याधेयं यस्मिन्नवधीयते निराधारम् तादृगुपलभ्यमानं विज्ञेयोऽसौ विशेषोऽतः ॥ चंद्रकलाकार उत्प्रेक्षा विशेष का अंगागिभाव संकर मानते हैं ॥ ९० ॥

विततं वणिजापणेऽखिलं पणितुं यत्र जनेन वीक्ष्यते।
मुनिनेव मृकण्डुसूनुना जगतीवस्तु पुरोदरे हरेः ॥ ९१ ॥

जीवातु—विततमिति। यत्र नगर्यां वणिजा वणिग्जनेन पणितुं व्यवहर्तुं आपणे पण्यवीथ्यां विततं प्रसारितमखिलं जगत्यां लोके स्थितं वस्तु पदार्थजातं पुरा पूर्वं हरेर्विष्णोरुदरे मृकण्डुसूनुना मुनिना मार्कण्डेयेनेव जनेन लोकेन वीक्ष्यते विष्णूदरमिव समस्तवस्त्वाकरोऽयमवभासत इत्यर्थः। पुरा किल मार्कण्डेयो हरेरुदरं प्रविश्य विश्वं तत्राद्राक्षीदिति कथयन्ति ॥ ९१ ॥

अन्वयः—यत्र वणिजा पणितुम् आपणे विततम् अखिलं जगतीवस्तु पुरा हरेः उदरे मृकण्डुसूनुना मुनिना इव जनेन वीक्ष्यते।

हिन्दी—जहाँ व्यापारियों द्वारा विक्रयार्थ हाट में फैलाये समस्त सांसारिक वस्तुजात (सामान) को प्राचीन काल में विष्णु के उदर में (समाया विश्व) मृकंडु के पुत्र मार्कंडेय के समान लोक-जन देखा करते हैं।

टिप्पणी—हाट में सब आवश्यक सामग्री प्राप्त होती थी, इसे पौराणिक कथा द्वारा स्पष्ट किया गया है। प्राचीन काल में मार्कण्डेय मुनि ने विष्णु के उदर में समग्र संसार देखा था। दर्शनीय–श्रीमद्भागवत (१२-९)। विद्याधर के अनुसार उपमा और उदात्त, अलंकार ॥ ९१ ॥

समम्मेणमदैर्यदापणे तुलयन् सौरभलोभनिश्चलम् ।
पणिता न जनारवैरवैदपि कूजन्तमलिं मलीमसम् ॥ ९२ ॥

जीवातु—सममिति। यस्या नगर्या आपणे सौरभलोभनिश्चलं गन्धग्रहणनिष्पन्दं ततः क्रियया दुर्बोधमित्यर्थः। मलीमसं मलीनं सर्वाङ्गनीलमित्यर्थः। अन्यथा पीतमध्यमस्यालेः पीतिम्नैव व्यवच्छेदात्, अतो गुणतोऽपि दुर्ग्रहमित्यर्थः। 'ज्योत्स्नातमिस्रे'—त्यादिना निपातः। अलिं भृङ्गमेणमदैः समं कस्तूरीभिः सह तुलयन् तोलयन् पणिता विक्रेता कूजन्तमपि जनानामारवैः कलकलैः नावैत्, शब्दतोऽपि न ज्ञातवान् इत्यर्थः। इह निश्चलस्यालेः गुञ्जनं कविना प्रौढवादेनोक्तमित्यनुसन्धेयम्। अत्रालेर्न्यादेणमदोक्तेः सामान्यालङ्कारः। 'सामान्यं गुणसामान्ये यत्र वस्त्वन्तरैकते'ति लक्षणात्। तेन भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यते ॥ ९२ ॥

अन्वयः—यदापणे सौरभलोभनिश्चलं मलीमसम् अलिम् एणमदैः समं तुलयन् पणिता कूजन्तम् अपि जनारवैः न अवैत्।

हिन्दी—जिस (नगरी) के हाट में सुगन्ध के अभिलाष में निश्चल काले भौंरे को एणमृग के मद (कस्तूरी) के साथ तौलता दुकानदार (उसके) गुञ्जार करने पर भी जन-कोलाहल में पहिचान नहीं पाता था।

टिप्पणी—कस्तूरी के रंग का काला भौंरा सुगन्ध से आकृष्ट हो निश्चल उस पर बैठा था, सो एक-सा रंग होने के कारण दुकानदार ने कस्तूरी के साथ भौंरे को भी तौल दिया, तब भौंरा भनभनाने लगा, परन्तु जन-संकुल हाट में

इतना कोलाहल हो रहा था कि व्यापारी को भौंरे का भान ही नहीं हुआ। मल्लिनाथ को यहाँ यह आपत्ति है कि बैठा होने पर भौंरा 'भनभन' नहीं करता, उड़ने पर ही करता है, कवि की यह उक्ति प्रौढिवाद के आधार पर ही है। उनके अनुसार 'अलि' को वर्णसाम्य के आधार पर कस्तूरी मानने के कारण यहाँ सामान्य अलंकार है, जिससे भ्रान्तिमान् अलंकार व्यंजित होता है॥ ९२॥

रविकान्तमयेन सेतुना सकलाहं ज्वलनाहितोष्मणा।
शिशिरे निशि गच्छतां पुरा चरणौ यत्र दुनोति नो हिमम्॥ ९३॥

जीवातु—रविकान्तेति। यत्र नगर्यां सकलाहं कृत्स्नमहं 'राजाहःसखिभ्यष्टच्'। रात्राह्नाहाः पुंसी'ति पुंल्लिङ्गता, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया, योगविभागात्समासः। ज्वलनेन तपनकराभिपातात्प्रज्वलनेन आहितोष्मणा जनितोष्मणा जनितोष्णेन रविकान्तमयेन सेतुना सेतुसदृशेनाध्वना सूर्यकान्तकुट्टिमाध्वनेत्यर्थः। गच्छतां सञ्चरतां चरणौ चरणानित्यर्थः। स्तनादीनां द्वित्वविशिष्टा जातिः प्रायेणे'ति जातौ द्विवचनम्। शिशिरे शिशिरतौ तत्रापि निशि हिमं पुरा नो दुनोति नापीडयत्। 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' अत्र सेतोरूष्मासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, तत्रोत्तरस्याः पूर्वसापेक्षत्वात् सङ्करः॥ ९३॥

अन्वयः—यत्र सकलाहं ज्वलनाहितोष्मणा रविकान्तमयेन सेतुना गच्छतां चरणौ शिशिरे निशि हिमं पुरा नो दुनोति।

हिन्दी—जिस (पुरी) में समग्र दिन (सूर्य के) ताप से उष्ण (गरमाये) सूर्यकांतमणिमय सेतु पर जानेवालों के चरणों को शिशिर ऋतु को (ठंडी) रात में शीत कष्ट नहीं दे पाता था।

टिप्पणी—धूप से दिन में सेतु की सूर्यकांतमणियाँ इतनी गर्म हो जाती थी कि उष्णता रात भर बनी रहती थी और जानेवाले बड़े सुख से पुल पार कर लेते थे, ठंड जाड़े की ऋतु में भी नहीं लग पाती थी। मल्लिनाथके अनुसार यहाँ सेतु-उष्मा का असम्बन्ध रहने पर भी सम्बन्धकथन के कारण अतिशयोक्ति है, उसमें उत्तरवर्त्तिनी के पूर्वसापेक्ष होने के कारण संकर है। विद्याधर

की दृष्टि में विशेषोक्ति और उदात्त अलंकार, चंद्रकलाकार ने इन दोनों अलंकारों के अंगांगिभाव से स्थित होने के आधार पर दोनों को संकर माना है ॥९३॥

विधुदीधितिजेन यत्पथं पयसा नैषधशीलशीतलम् ।
शशिकान्तमयं तपागमे कलितीव्रस्तपति स्म नातपः ॥ ९४ ॥

जीवातु—विध्विति । विधुदीधितिजेन इन्दुकरसम्पर्कजन्येन पयसा सलिलेन नैषधस्य नलस्य शीलं वृत्तं स्वभावो वा तद्वच्छीतलं शशिकान्तमयं यत्पथं यस्याः नगर्याः पन्थानं तपागमे ग्रीष्मप्रवेशे कलितीव्रः कलिकालवच्चण्डः आतपः न तपति स्म । नलकथायाः कलिनाशकत्वादिति भावः । अत्र नगरपथस्य इन्दूपलपयःसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, तत्सापेक्षत्वादुपमयोः सङ्करः ॥९४॥

अन्वयः—विधुदीधितिजेन पयसा नैषधशीलशीतलं शशिकान्तमयं यत्पथं तपागमे कलितीव्रः आतपः न तपति स्म ।

हिन्दी—चंद्रकिरणों से संजात जल के कारण निषधराज (नल) के शील-से शीतल चंद्रकांतमणिमय जिस (नगरी) के मार्ग को ग्रीष्मर्तु के आ जाने पर कलि के तुल्य तीक्ष्ण धूप ताप न दे पाती थी ।

टिप्पणी—इस श्लोक में पूर्व श्लोक की भाँति मार्ग के ग्रीष्मर्तु, में भी शीतल रहने का विवरण दिया गया है, साथ ही संकेत है कि नल कथा के श्रवण से कलि-प्रभाव नष्ट होता है, जैसा कि 'नै० च०' (१।१) में 'क्षितिरक्षिणः' से (अक्षिणः क्षितिः) अक्षी—कलि का नाश बताया गया है । मल्लिनाथ ने पूर्व श्लोक के समान अतिशयोक्ति और तत्सापेक्ष होने से उपमा के संकर का निर्देश किया है, विद्याधर के अनुसार विशेषोक्ति-उदात्त-उपमा की संसृष्टि है ॥९४॥

परिखावलयच्छलेन या न परेषां ग्रहणस्य गोचरा ।
फणिभाषितभाष्यफक्किका विषमा कुण्डलनामवापिता ॥ ९५ ॥

जीवातु—परिखेति । परिखावलयच्छलेन परिखावेष्टनव्याजेन कुण्डलनां मण्डलाकाररेखामवापिता परेषां शत्रूणां ग्रहणस्याक्रमणस्य अन्यत्र अन्येषां ग्रहणस्य ज्ञानस्य न गोचरा अविषया या नगरी विषमा दुर्बोधा फणिभाषितभाष्यफक्किका पतञ्जलिप्रणीतमहाभाष्यस्यकुण्डलिग्रन्थः तद्वदिति शेषः । अत्र

नगर्याः कुण्डलिग्रन्थत्वेनोत्प्रेक्षा ॥ सा च परिखावलयच्छलेनेति अपह्नवोत्थापितत्वात् सापह्नवा व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या ॥ २५ ॥

अन्वयः—परिखावलयच्छलेन कुण्डलनाम् अवापिता परेषां ग्रहणस्य न गोचरा विषया फणिभाषितभाष्यफक्किका ।

हिन्दी—खेया-मण्डल (खाईं के घेरे) के व्याज से कुण्डलना (गोलाकार) को प्राप्त (घिरी) अतएव शत्रुओं के अधीन (पराधीन) न हो सकने का विषय जो (नगरी) अन्य लोगों के ज्ञान का अविषय बनी, कुण्डलिता शेषावतार महामुनि पतञ्जलिकृत महाभाष्य की फक्किका के समान थी ।

टिप्पणी—जनश्रुति है कि वररुचि ने पातञ्जल महाभाष्य की फक्किका को कुण्डलित कर दिया था अर्थात् ग्रन्थ के दुर्ज्ञेय स्थलों पर घेरा बना दिया था कि इनका आशय 'शेष' ही समझ सकते हैं अन्य कोई नहीं, इसी प्रकार कुण्डिनपुरी को 'कुण्डलिता' अर्थात् खाईं से घिरी होने के कारण पर-शत्रु अपने अधीन करने की बात सोच भी नहीं पाते थे । मल्लिनाथ के अनुसार अपह्नव से उत्थापित 'सापह्नवा-गम्योत्प्रेक्षा' है, विद्याधर की दृष्टि में यहाँ अपह्नुति और उपमा अलंकार है । चन्द्रकलाकार के अनुसार प्रतीयमानोत्प्रेक्षा—कैतवापह्नुति का संकर है । राजशेखर के अनुसार 'आक्षिप्य भाषणाद् भाष्यम्' (काव्यमीमांसा—शास्त्रनिर्देशाध्याय, अर्थात् स्वयम् शङ्काओं का आक्षेप करके उसका समाधान भाष्य है । एक और परिभाषा के अनुसार जहाँ सूत्रानुसारी पदों के द्वारा सूत्रार्थ किया जाता और स्वपदों का वर्णन होता है, वह भाष्य है—'सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः । स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥'

मुखपाणिपदाक्षिण पङ्कजै रचिताऽङ्गेष्वपरेषु चम्पकैः ।
स्वयमादित यत्र भीमजा स्मरपूजाकुसुमस्रजः श्रियम् ॥ २६ ॥

जीवातु—सुखेति । यत्र नगर्यां मुखञ्च पाणी च पदे च अक्षिणी च यस्मिन् तस्मिन् प्राण्यङ्गत्वाद् द्वन्द्वैकवद्भावः । पङ्कजैः रचिता सृष्टा अपरेषु मुखादिव्यतिरिक्तेष्वङ्गेषु चम्पकैश्चम्पकपुष्पैः रचिता सर्वत्र सादृश्याद्व्यपदेशः । भीमजा भैमी स्वयं स्मरपूजाकुसुमस्रजः श्रियं शोभामादित आत्तवती । ददातेर्लुङि

'स्याद्धयोरिञ्चे' तीत्वं 'ह्रस्वादङ्गादि'ति सलोपः । अत्र अन्यश्रियोऽन्यसम्बा-सम्भवात् श्रियमिव श्रियमिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शनाभेदः । तथा तदङ्गानां पङ्कजाद्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिः । तदुत्थापिता चेयं निदर्शनेति सङ्करः ॥९६॥

अन्वयः—यत्र पङ्कजैः मुखपाणिपदाक्षिण चम्पकैः अपरेषु अंगेषु रचिता भीमजा स्मरपूजाकुसुमस्रजः श्रियं स्वयम् आदित ।

हिन्दी—जहाँ कमलों द्वारा जिसके मुख, हाथ, पैर और नयन रचे गये हैं और चम्पक पुष्पों से अन्य अंग, ऐसी फूलों से रचा गयी भीमपुत्री (दमयन्ती) ने काम-पूजा की फूलमाला की शोभा को स्वयम् ही स्वीकार कर लिया था ।

टिप्पणी—कमलवदना, कमलकरचरणा, पङ्कजनयना, चम्पकतनु दमयन्ती जैसे फूलों की बनी थी, इस प्रकार वही मानो स्वयम् कामपुजा की पुष्पमाल यी । काम भी उससे सन्तुष्ट हो जाने की स्थिति में था । जो उसे एक बार देख लेता था, उसकी 'कामना' करने लगता था । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अति-शयोक्ति और तदुत्थापिता निदर्शना का संकर है, विद्याधर की दृष्टि में निदर्शना और रूपक ॥ ९६ ॥

जघनस्तनभारगौरवाद्वियदालम्ब्य विहर्तुमक्षमाः ।
ध्रुवमप्सरसोऽवतीर्य यां शतमध्यासत तत्सखीजनः ॥ ९७ ॥

जीवातु—जघनेति । जघनानि च स्तनौ च जघनस्तनं, प्राण्यङ्गत्वाद् द्वन्द्वै-कवद्भावः । तदेव भारः तस्य गौरवात् गुरुत्वाद्वियदालम्ब्य विहर्तुमक्षमाः शतं शतसंख्याकाः 'विंशत्याद्याः सदैकत्वे संख्याः संख्येयसंख्ययोरि'त्यमरः । अप्सर-सोऽवतीर्य स्वर्गादागत्य तत्सखीजनः सख्यः जातावेकवचनम् । यां नगरीमध्या-सत अध्यतिष्ठन्, 'अधिशीङ्स्थासां कर्मे'ति कर्मत्वं ध्रुवमित्युत्प्रेक्षा । अप्सरः-कल्पाः शतं सख्य एनामुपासत इत्यर्थः ॥ ९७ ॥

अन्वयः—जघनस्तनभारगौरवात् वियत् आलम्ब्य विहर्तुम् अक्षमाः शतम् अप्सरसः अवतीर्य तत्सखीजनः याम् अध्यासत ध्रुवम् ।

हिन्दी—जघन (नितंब) और कुच-भार गुरु (गरुआ) होने से आकाश का सहारा लेकर विहार करने में अक्षम (असमर्थ) सैकड़ों अप्सराएँ (धरती

पर) उतर कर उस (दमयन्ती) की सखियाँ होकर लगता है, उस (नगरी) में निवास कर रही थी।

टिप्पणी—आशय यह है कि दमयन्ती अप्सराओं से अधिक सौंदर्यशालिनी थी, अप्सराएँ तो उसकी सखी बनकर कुंडिनपुरी में उतर आयी थीं। मल्लिनाथ ने यहाँ उत्प्रेक्षा विद्याधर ने सापह्नवा उत्प्रेक्षा का उल्लेख किया है

स्थितिशालिसमस्तवर्णतां न कथं चित्रमयी बिभर्तु या ?।
स्वरभेदमुपैतु या कथं कलितानल्पमुखारवा न वा ? ॥ ९८ ॥

जीवातु—स्थितीति। चित्रमयी आश्चर्यप्रचुरा आलेख्यप्रचुरा च, 'आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रमि'त्यमरः। या नगरी स्थित्या मर्यादया स्थायित्वेन च शालन्ते ये ते समस्ता वर्णा ब्राह्मणादयः शुक्लादयश्च यस्याः तस्या भावस्तत्तां "वर्णो द्विजादौ शुक्लादावि"त्यमरः। कथं न बिभर्तु बिभर्त्त्येवेत्यर्थः। कलितः प्राप्तः अनल्पानां बहूनां मुखानामारवो बहुमुखानां ब्रह्ममुख-पञ्चमुख-षण्मुखानां च आरवः शब्दो यस्याः सा या पुरी स्वरस्य ध्वनेर्भेदं नानात्वं स्वः स्वर्गादिभेदं च कथं वा नोपैतु उपैत्येवेत्यर्थः। उभयत्रापि सति कारणे कार्यं भवेदेवेति भावः। अत्र केवलप्रकृतश्लेषालङ्कारः उभयोरप्यर्थयोः प्रकृतत्वात्। किन्तु एकनाले फलद्वयवदेकस्मिन्नेव शब्दे अर्थद्वयप्रतीतेरर्थश्लेषः प्रथमार्धे। द्वितीये तु जतुकाष्ठवदेकवद्भूताच्छब्दद्वयादर्थद्वयप्रतीतेः शब्दश्लेषः ॥ ९८ ॥

अन्वयः—चित्रमयी या स्थितिशालिसमस्तवर्णतां कथं न बिभर्तु कलितानल्पमुखारवा या कथं वा स्वरभेदं न उपैतु ?

हिन्दी—(१) जो आलेख्यों (चित्रों) से पूर्ण है, उस नगरी में परस्पर उचित स्थिति प्राप्त करते सभी नील-पीतादि रंग क्यों न रहें ? (रहेंगे ही)। और जहाँ प्रचुर मात्रा में मुख शब्द कर रहे हैं (अनेक व्यक्ति एक साथ बोल रहे हैं), वहाँ स्वर-भेद (विभिन्न स्वरता) क्यों न हो ? (होना ही उचित है)।

(२) जिस नगरी में अपने-अपने आचार का परिपालन करते सभी ब्राह्मणादि चतुर्वर्ण शोभित हों, ऐसा भाव धारण करती नगरी आश्चर्यमयी क्यों न हो ? (अन्यत्र वर्णसंकरता है, कुंडिनपुरी में नहीं, अतः उस नगरी को

आश्चर्यरूप होना ही चाहिए)। और जहाँ वाचाट अतएव अनल्पमुख ब्राह्मणों द्वारा 'आरव' (वेदपाठ) होता है, वहाँ उदात्त; अनुदात्त, स्वरित आदि स्वरों का भेद क्यों न हो ? (त्रिस्वर वेद-पाठ में स्वरभेद होगा ही)।

(३) वह नगरी आश्चर्य विचित्र (अनूठी) क्यों न हो, जहाँ आठ (उर, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ, तालु) स्थानों से उच्चरित होते वर्ण स्थित हों ? (जहाँ सलक्षण वेदपाठ होता है, वह विचित्र है ही, क्योंकि सर्वत्र ऐसा सम्भव नहीं है)। और वह नगरी 'स्वः' (स्वर्ग) से अभेद' क्यों न स्थापित करे, जहाँ अनल्पमुख ब्राह्मण 'अनल्पमुख' अर्थात् अनेक मुख वाले (चतुर्मुख) ब्रह्मा जैसे स्वर्ग में वेद का 'आरव' करते रहते हैं, उसी प्रकार वेद-स्वर गुञ्जरित करते रहते हैं ? अथवा स्वर्ग में अनल्पमुख—चतुर्मुख ब्रह्मा पंच-मुख शिव, षण्मुख स्कंद के स्वर जैसे है, वैसे ही नगरी में अनेक मुखों के शब्द-रव होते हैं।

टिप्पणी—चित्रमयी कुंडिनपुरी का वर्णन विचित्र श्लिष्ट शब्दावलि में किया है, जिसके तीन अर्थ नगरी के वैचित्र्य को प्रकट करते हैं, वहाँ वर्णव्य-वस्था की मर्यादा है, सलक्षण सस्वर वेदपाठ होता है, अनेक आलेख्य सजे हैं, प्रचुर जन-बल है। विद्याधर के अनुसार यहाँ श्लेष अलङ्कार है, जिसे मल्लिनाथ ने प्रकृत श्लेष कहा है, क्योंकि सभी अर्थ प्रकृत हैं। केवल दो अर्थों के उल्लेख करते मल्लिनाथ ने बताया है कि एक नाल में दो फलों के समान एक शब्द के दो अर्थ प्रतीत होने से प्रथमार्द्ध में अर्थश्लेष है, द्वितीयार्द्ध में जतुकाष्ठवत् एकभूत दो शब्दों से अर्थ-प्रतीति होने के कारण शब्दश्लेष है। चंद्रकलाकार के अनुसार पूर्वार्द्ध में अर्थापत्ति, शब्दश्लेष और प्रकृतश्लेष का एकाश्रयानुप्रवेशरूप संकर है, द्वितीयार्द्ध मे भी उसी प्रकार संकर है और सम्पूर्ण श्लोक में संसृष्टि है॥

स्वरुचाऽरुणया पताकया दिनमर्केण समीयुषोत्तृषः।
लिलिहुर्बहुधा सुधाकरं निशि माणिक्यमया यदालयाः॥ ९९॥

जीवातु—स्वरुचेति। माणिक्यमया पद्मरागमयाः यदालयाः यस्यां नगर्यां गृहाः दिनं दिने, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। समीयुषा सङ्गतेन अर्केण हेतुना उत्तृषः अर्कसम्पर्कादुत्पन्नपिपासाः सन्तः स्वरुचा स्वप्रभया अरुणया आरुण्यं

प्राप्तयेति तद्गुणालङ्कारः, 'तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणाहृतिरि'ति लक्षणात्। पताकया रसनायमानयेति भावः, सुधाकरं बहुधा लिलिहुः आस्वादयामासुरित्यर्थः। अहि सन्ततानिशि शीतोपचारं कुर्वन्तीति भावः। अत्र गृहाणां सन्तापनिमित्तसुधाकरलेहनात्मकशीतोपचार उत्प्रेक्ष्यते। सा चोक्तद्गुणोत्थेति सङ्करः व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥ ९९ ॥

अन्वयः—माणिक्यमयाः यदालयाः दिनं समीयुषा अर्केण उत्तृषः निशि स्वरुचा अरुणया पताकया सुधाकरं बहुधा लिलिहुः।

हिन्दी—माणिक्य-रत्नों से बने जिस (नगरी) के गृह समग्र दिन निकटागत सूर्य के कारण उद्दाम तृषा (प्यास) से आकुल हो रात में अपनी कांति से अरुण हुई पताका रूपा जिह्वा से अमृतनिधि चंद्र को अनेक प्रकार से चाहते रहते हैं।

टिप्पणी—कांति का आशय है कि नगरी में सूर्य-चंद्र को छूनेवाले अत्युच्च आवास हैं। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ तृषानिवारणार्थं सुधाकर-लेहनात्मक शीतोपचार की 'उत्प्रेक्षा' (गम्या) है, जो 'तद्गुण' से उत्थापित है, अतः दोनों का संकर है, विद्याधर के अनुसार समासोक्ति-अतिशयोक्ति-तद्गुण-उदात्त अलंकारों का संकर है ॥ ९९ ॥

लिलिहे स्वरुचा पताकया निशि जिह्वानिभया सुधाकरम्।
श्रितमर्ककरैः पिपासु यन्नृपसद्मामलपद्मरागजम् ॥ १०० ॥

जीवातु—अथामयैव भङ्ग्या राजभवनं वर्णयति–लिलिहे इति। अमलपद्मरागजं यस्या नगर्या नृपसद्म राजभवनम् अर्ककरैः श्रियमतिसामीप्यादभिव्याप्तम्। श्रयतेः कर्मणि क्तः, शृणातेः पवयार्थादिति केचित्। तदा ह्रस्वश्चिन्त्यः, प्रकृत्यन्तरं मृग्यमित्यास्तां तत्। अतएव पिपासु तृषितं सत् पिबतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। स्वकीया रुग् यस्याः तया स्वरुचा तद्रूपितयेत्यर्थः। अत एव जिह्वानिभया पताकया सुधाकरं लिलिहे आस्वादयामास। लिहेः कर्तरि लिट्। स्वरितत्वादात्मनेपदम् अलङ्कारश्च पूर्ववत्, जिह्वानिभयेत्युपमा सङ्करश्च विशेषः ॥ १०० ॥

अन्वयः—अमलपद्मरागजम् अर्ककरैः श्रितं पिपासु यन्नृपसद्म निशि स्वरुचा जिह्वानिभया पताकया सुधाकरं लिलिहे ।

हिन्दी—निर्मल पद्मराग मणियों से निर्मित, सूर्य-किरणों के समीप हुआ अतएव प्यासा जिस (नगरी) के राजा का गृह रात में अपनी कान्ति से जिह्वासदृश लाल बनी पताका द्वारा सुधाकर को चाटा करता है ।

टिप्पणी—पूर्वभंगिमा के अनुरूप ही राजगृह की अत्युच्चता द्योतित। मल्लिनाथ के अनुसार अलंकार-स्थिति पूर्वश्लोकवत् है, विशेषता यही है कि यहाँ 'जिह्वानिभया'—उपमा है और संकर है । विद्याधर की दृष्टि में अलंकार-स्थिति पूर्ववत् ही है । चन्द्रकलाकार ने भी तद्गुण—प्रतीयमानोत्प्रेक्षा-उपमा का अंगाङ्गिभाव संकर माना है ॥ १०० ॥

अमृतद्युतिलक्ष्म पीतया मिलितं यद्वलभीपताकया ।
वलयायितशेषशायिनस्सखितामादित पीतवाससः ॥ १०१ ॥

जीवातु—अमृतेति । पीतया पीतवर्णया यस्या नगर्याः वलभ्यां कूटागारन्तु वलभि'रित्यमरः । पताकया मिलितं सामीप्यात्सङ्गतममृतद्युतिलक्ष्म चन्द्रलाञ्छनं वलयायिते वलयीभूते शेषे शेत इति तच्छायिनः पीतवाससः पीताम्बरस्य विष्णो सखितां सदृशतामादित अग्रहीदित्युपमालङ्कारः ॥१०१॥

अन्वयः—पीतया यद्वलभीपताकया मिलितम् अमृतद्युतिलक्ष्म वलयायितशेषशायिनः पीतवाससः सखिताम् आदित ।

हिन्दी—जिस (नगरी) के ऊँचे कूटागार की पीले रंग की पताका से मिल कर अमृतद्युति चंद्र का शश-चिह्न कुण्डली बनाये शेषनाग पर शयन करते पीतांबर हरि (विष्णु) के साम्य को प्राप्त होता था ।

टिप्पणी—ऊँची वलभी की पीली पताका चंद्र के काले चिह्न के चारों ओर घिर जाती है, जिससे वह चंद्र-कलंक 'पीतांबरो हरिः' बन जाता है गोल घेरे वाला चंद्रमा ही, गेडुरी मारे पड़ा शेषनाग है, जिस पर शशचिह्न-रूप पीतांबर विष्णु सोये हैं, अर्थात् बड़ी ऊँची है वलभी (कूटागार)।

उपमा । चंद्रकलाख्या के अनुसार असंबंध में संबंध-कथन के कारण अतिशयोक्ति-उपमा का अंगांगिभाव संकर ॥ १०१ ॥

अश्रान्तश्रुतिपाठपूतरसनाविर्भूतभूरिस्तवा-
जिह्मब्रह्ममुखौघविघ्नितनवस्वर्गक्रियाकेलिना ।
पूर्वं गाधिसुतेन सामिघटिता मुक्ता नु मन्दाकिनी
यत्प्रासाददुकूलवल्लिरनिलान्दोलैरखेलद्दिवि ॥ १०२ ॥

जीवातु—अश्रान्तेति । यस्याः नगर्याः प्रासादे दुकूलं वल्लिरिव दुकूलवल्लिः दुकूलमयी पताकेत्यर्थः । अश्रान्तेन श्रुतिपाठेन नित्यवेदपाठेन पूताभ्यः पवित्राभ्यः रसनाभ्यो जिह्वाभ्यः आविर्भूतेषु भूरिस्तवेषु अनेकस्तोत्रेषु अजिह्मेन अकुण्ठेन ब्रह्मणो मुखानामोघेन हेतुना विघ्निता सञ्जातविघ्ना नवस्वर्गक्रिया नूतनस्वर्ग-सृष्टिरेव केलिः लीला यस्य तेन गाधिसुतेन विश्वामित्रेण पूर्वं ब्रह्मप्रार्थनात्पूर्वं सामि घटिता अर्धसृष्टा 'सामि त्वर्द्धे जुगुप्सने' इत्यमरः । मुक्ता पश्चान्मुक्ता मन्दाकिनी नु आकाशगङ्गा किमनिलस्य कर्तुरान्दोलनैर्दिवि आकाशे अखेलत् विजहारेत्युत्प्रेक्षा । एषा कथा त्रिशङ्कूपाख्याने द्रष्टव्या । शार्दूलविक्रीडितवृत्तं 'सूर्याश्वैर्मसजास्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितमि'ति लक्षणात् ॥ १०२ ॥

अन्वयः—अनिलान्दोलैः यत्प्रासाददुकूलवल्लिः अश्रान्तश्रुतिपाठपूतरसनावि-र्भूतभूरिस्तवाजिह्मब्रह्ममुखौघविघ्नितनवस्वर्गक्रियाकेलिना गाधिसुतेन पूर्वं सामिघटिता मुक्ता मन्दाकिनी नु दिवि अखेलत् ।

हिन्दी—पवन से डोलती जिस (नगरी) के प्रासादों की ध्वजा-रूपा श्वेत चदरिया निरन्तर वेदपाठ से पवित्र रसनाओं से प्रकट होते स्तुतिगान में अकुंठ ब्रह्मा के चारों मुखों द्वारा (अर्थात् वेदपाठ से पवित्र चारों मुखों से एक साथ ब्रह्मा जी द्वारा किये जाने पर) नवीन स्वर्ग-निर्माण की जिसकी क्रीडा में विघ्न पड़ गया है, ऐसे गाधिपुत्र (विश्वामित्र) द्वारा अर्द्धनिर्मित्त कर छोड़ दी गयी मंदाकिनी के समान मानो आकाश में लहराती थी ।

टिप्पणी—नवीन सृष्टि रचनेवाले विश्वामित्र की कथा (त्रिशंकु-उपाख्यान) के माध्यम से आकाश में लहराती प्रासाद-ध्वजा के चित्रण द्वारा प्रासाद की अत्युच्चता द्योतित । उत्प्रेक्षालङ्कार । शार्दूलविक्रीडित छंद ॥१०२॥

यदतिविमलनीलवेश्मरश्मिभ्रमरितभाश्शुचिसौधवस्त्रवल्लिः ।
अलभत शमनस्वसुश्शिशुत्वं दिवसकराङ्कतले चला लुठन्ती ॥१०३॥

जीवातु—यदति । यस्या नगर्याः अतिविमलैर्नीलवेश्मनः इन्द्रनीलनिकेतनस्य रश्मिभिः भ्रमरिता भ्रमरीकृता भ्रमरशब्दात् 'तत्करोती'ति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः । वल्ल्याश्च भ्रमरैर्भाव्यमिति भावः । तथाभूता भाः छाया यस्याः सा श्यामीकृतप्रभेत्यर्थः । अत एव तद्गुणालङ्कारः । शुचिः स्वभावतः शुभ्रा सौधस्य वस्त्रमेव वल्लिः पताकेत्यर्थः । रूपकसमासः । भ्रमरितभा इति रूपकादेव साधकात् दिवसकरस्य सूर्यस्य अङ्कतले समीपदेशे उत्सङ्गप्रदेशे च चला चपला लुठन्ती परिवर्त्तमाना सती शमनस्वसुर्यमुनायाः शिशुत्वं शैशवमकम्प्रम् बाल्यमुनेव बमाविस्यर्थः । बालिकाश्च पितुरङ्के लुठन्तीति भावः । अत्रान्यस्य शैशवेनान्यसम्बन्धासम्भवेऽपि तत्सदृशमिति साहश्याक्षेपान्निदर्शना पूर्वोक्ततद्गुणरूपकाभ्यां सङ्कीर्णा ॥ १०३ ॥

अन्वयः—यदतिविमलनीलवेश्मरश्मिभ्रमरितभाः शुचिसौधवस्त्रवल्लिः दिवसकराङ्कतले चला लुठन्ती शमनस्वसुः शिशुत्वम् अलभत ।

हिन्दी—जिस (नगरी) के अत्यन्त निर्मल नीलमणि-निर्मित गृहों की किरणों से भ्रमर-वर्ण (नीले रंग की आभावाली प्रासाद की शुभ्र पताका सूर्य की गोद में (समीप) चञ्चलता से क्रीडा करती यम-भगिनी (यमुना) के बाल्यकाल को प्राप्त करती थी ।

टिप्पणी—इन्द्रनीलमणि-निर्मित प्रासादों की लहराती शुभ्र पताका मणि के नीले रंग के कारण नीली बनकर उस यमुना (यमुना का वर्ण भी नीला माना जाता है) के सादृश्य को प्राप्त कर लेती थी, जो अपने बाल्यकाल में पिता सूर्य की गोद में चंचलतापूर्वक क्रीडा करती है । मल्लिनाथ ने इस पद्य में तद्गुण और रूपक से संकीर्ण निदर्शना का निर्देश किया है, विद्याधर ने अनुप्रास-अतिशयोक्ति-उदात्त तद्गुण-निदर्शना के संकर का । चंद्रकलाख्या के अनुसार यहां निदर्शना-तद्गुण-रूपक-उपमा का हैं । पुष्पिताग्रा छंद है, जिसके प्रथम-तृतीय चरणों में दो नगण (।।।) एक रगण (ऽ।ऽ), एक यगण

(।ऽऽ) क्रम से बारह-बारह वर्ण होते हैं और द्वितीय-चतुर्थ चरण में एक नगण (।।।) दो जगण (।ऽ।) एक रगण (ऽ।ऽ) एक गुरु (ऽ) क्रम से तेरह-तेरह वर्ण— 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' ॥१०३॥

स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकातिथ्यग्रहायोत्सुकं
पाथोदं निजकेलिसौधशिखरादारुह्य यत्कामिनी ।
साक्षादप्सरसो विमानकलितव्योमान एवाभव-
न्न प्राप निमेषमभ्रतरसा यान्तो रसादध्वनि ॥ १०४ ॥

जीवातु—स्वेति । यत्कामिनी यन्नगराङ्गना विमानेन कलितं क्रान्तं व्योम याभिस्ताः साक्षादप्सरसो दिव्याङ्गनैवाभवन् । 'स्त्रियां बहुष्वप्सरसः' इत्यभिधाना-देकत्वेऽपि बहुवचनप्रयोगः कृतः, यद्यस्मान्निजकेलिसौधशिखरादपादानात् स्वप्राणेश्वरस्य नर्महर्म्यं क्रीडासौधं तस्य कटकान्नितम्बादातिथ्यग्रहाय स्वीकाराय तत्र विश्रमार्थमित्यर्थः । उत्सुकमुद्युक्तं गच्छन्तमित्यर्थः, पाथोदं मेघमारुह्य रसाद्रागाद् यान्ती गच्छन्ती अध्वनि अभ्रतरसा मेघवेगेन हेतुना निमेषं न प्राप । अत्र नगरामराङ्गनयोर्भेदेऽपि अनिमेषमेघारोहणव्योमयानैः सैव इत्यभेदोक्तेरति-शयोक्तिभेदः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥१०४॥

अन्वयः—यत्कामिनी विमानकलितव्योमानः साक्षात् अप्सरसः एव अभवन् यत् निजकेलिसौधशिखरात् स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकातिथ्यग्रहाय उत्सुकं पाथो-दम् आरुह्य रसात् यान्ती अध्वनि अभ्रतरसा निमेषं न प्राप ।

हिन्दी—जिस (नगरी) की कामिनी विमान द्वारा आकाश में यात्रा करती साक्षात् अप्सरा ही हो गयी थी, जो कि अपने क्रीडा-प्रासाद के शिखर से स्व-प्राणनाथ के क्रीडागृह के मध्य आतिथ्य-ग्रहणार्थं, जाते हुए जलद पर आरोहण करके, अनुराग से जाती हुई, मार्ग में मेघ के वेग के कारण क्षणभर भी पलक न झपा पायी ।

टिप्पणी—केलिप्रासाद की अत्युच्चता द्योतित । कामिनी-सहज सौन्दर्य, मेघयान और अनिमेषता के कारण अप्सरातुल्य लगती थी । प्रिय के प्रति उत्कंठिता नायिका की शीघ्रता अपेक्षित रहती है, विलम्ब उसे सह्य नहीं

होता, अतः—'अध्वनि निमेषं न प्राप'—मार्ग में क्षण निमेष भर—क्षणभर को भी नहीं रुकी : मल्लिनाथ ने भेद में अभेदकथन रूपा अतिशयोक्ति अलंकार का उल्लेख किया हैं, विद्याधर ने उत्प्रेक्षा का, चंद्रकलाकार ने दो बार अभेद का अध्यवसाय होने से यहाँ दो अतिशयोक्तियों की संसृष्टि और 'कटक', 'शिखर' शब्दों से नर्भहर्म्य तथा सौध की अत्युच्चता व्यंग्य होने के कारण शब्द शक्तिमूलवस्तु ध्वनि का निर्देश किया है। शार्दूलविक्रीडित छंद ॥१०४॥

वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरादुत्थितैरंशुदर्भै-
र्ब्रह्माण्डाघातभग्नस्यदजमदतया ह्रीधृतावाङ्मुखत्वैः।
कस्या नोत्तानगाया दिवि सुरसुरभेरास्यदेशं गताग्रै-
र्यद्गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतमविश्रान्तमुज्जृम्भते स्म ॥ १०५ ॥

जीवातु—वैदर्भीति। 'उत्ताना वै देवगवा वहन्ती'ति श्रुत्यर्थमाश्रित्याह—वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरादुत्थितैः अथ ब्रह्माण्डाघातेन भग्नो स्यदजपदो वेगगर्वो येषां तत्तया ह्रिया धृतम् अवाङ्मुखत्वं यैस्तैरधोमुखैः अतएव दिवि उत्तानगाया ऊर्ध्वमुखाया इत्यर्थः। कस्या सुरसुरभेः देवगव्या आस्यदेशं गताग्रैरंशुभिरेव दर्भैर्यस्या नगर्याः सम्बन्धि गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतमविश्रान्तं नोज्जृम्भते स्म। किन्तु सर्वस्य अपि ग्रासदानाद्युत्तसुकृतमेवोज्जृम्भितमित्यर्थः। अत्युत्तमालङ्कारोऽयमिति केचित्। अंशुदर्भाणां ब्रह्माण्डाघाताद्यसम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तरतिशयोक्तिभेदः। स्रग्धरावृत्तं 'भ्रम्नैर्यानां त्रयेण'त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयमि'ति लक्षणात् ॥ १०५ ॥

अन्वयः—वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरात् उत्थितैः ब्रह्माण्डाघातभग्नस्यदणमदतया ह्रीधृतावाङ्मुखत्वैः दिवि उत्तानगाया कस्याः सुरसुरभेः आस्यदेशं गताग्रैः यद्गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतम् अविश्रान्तम् उज्जृम्भते स्म।

हिन्दी—विदर्भकुमारी (दमयन्ती) के क्रीड़ापर्वत पर मरकतमणिनिर्मित शिखरों से उठी ब्रह्मांड के संघट्टन से वेगजात अभिमान के टूट जाने के कारण लज्जा से नीचे मुख किये स्वर्ग में ऊपर मुख करके जानेवाली किसी देवगौ के मुख में जिनके अग्रभाग चले जाते हैं, ऐसी, किरणों के अग्रभागों द्वारा जिस (नगरी) में गोग्रास-प्रदान रूप व्रत का पुण्य अनवरत बढ़ रहा था।

टिप्पणी—वैदर्भी के केलि-शैल की उच्चता द्योतित है, जो मरकत का बना है, जिनमे निकलती किरणों के अग्रभाग उत्तानगा देवगो में मुख के पहुँच गो को ग्रास खिलाने का पुण्य निरन्तर नगरो को दिलाते रहते हैं। केलि-शैल के मरकत-रत्नों की किरणें ब्रह्मांड की ओर वेग से उठीं, परन्तु ब्रह्माण्ड-संघट्टन से उनका वेग गर्व खंडित हो गया और वे फिर नीचे की ओर गिरी कि उत्तानगा किसी सुरसुरभि के मुख में जा गिरी। इस प्रकार अनायास ही नगरी को गोग्रास देने का पुण्य मिलता रहा। मल्लिनाथ ने असंबंध में संबंधकथनरूपा अतिशयोक्ति का उल्लेख करते हुए यह भी बताया है कि कुछ टीकाकारों ने यहाँ अत्युत्तमालंकार भी माना है। विद्याधर ने रूपकातिशयोक्ति मानी है, चंद्रकलाकार ('अंशुदर्भैः' में) रूपक, अतिशयोक्ति, प्रतीयमानोत्प्रेक्षा और उदात्त अलंकारों की संसृष्टि मानते हैं। स्रग्धरा छंद है, जिसके प्रत्येक चरण में एक मगण (SSS), एक रगण (SIS), एक भगण (SII), एक नगण (III), तीन यगण (ISS) के क्रम से इक्कीस वर्ण होते हैं। सात-सात-सात पर यति होती है—'भ्रम्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' ॥१०५॥

विधुरकरपरिरम्भादात्तनिष्यन्दपूर्णैः
शशिदृषदुपक्लृप्तैरालवालैस्तरूणाम् ।
विफलितजलसेकप्रक्रियागौरवेण
व्यरचि स हृतचित्तस्तत्र भैमीवनेन ॥ १०६ ॥

जीवातु—विधिवति। तत्र तस्यां नगर्यां शशिदृषदुपक्लृप्तैश्चन्द्रकान्तशिलाबद्धैः अत एव विधुकरपरिरम्भात् चन्द्रकिरणसम्पर्कात् हेतोः आत्तनिष्यन्दैः जलप्रस्रवणैरेव पूर्णैस्तरूणामालवालैर्विफलितं व्यर्थीकृतं जलसेकस्य प्रक्रियायां प्रकारे गौरवं भारो यस्य तेन भैमीवनेन स हंसो हृतचित्तो व्यरचि। कर्मणि लुङ्। अत्रालवालानां चन्द्रकान्तनिष्यन्दासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः। एतदारभ्य चतुःश्लोकपर्यन्तं मालिनीवृत्तं—'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैरि'ति लक्षणात् ॥१०६॥

अन्वयः—तत्र शशिदृषदुपक्लृप्तैः विधुकरपरिरम्भात् आत्तनिष्यन्दपूर्णैः

तरूणाम् आलवालैः विफलितजलसेकप्रक्रियागौरवेण भैमीवनेन स हृतचित्तो व्यरचि ।

हिन्दी—वहाँ (नगरी में) चंद्रकांतमणियों से बने अतएव चंद्र किरणों के सम्पर्क से पसीजने के कारण अपने ही जल-प्रवाह से परिपूर्ण वृक्षों के आलवालों (जलाधारों) द्वारा जिसमें जल से सींचने की क्रिया का भार व्यर्थ है, ऐसे भीमसुता (दमयन्ती) के उपवन पर वह (हंस) आकृष्टचित्त हो गया ।

टिप्पणी—दमयन्ती की वाटिका में वृक्षों के आलवाल (थाँवले) चंद्रकात मणि से बनाये गये थे, चन्द्रमा निकलता, मणियाँ पसीजतीं और जल से आलवाल पूर्ण हो जाते । अपने आप ही सिंचाई हो जाती थी । बड़ी ही विचित्र और मनोरम थी वह वाटिका कि मानव नहीं, पक्षी का भी चित्त उसमें रम गया । मल्लिनाथ ने यहाँ अतिशयोक्ति का निर्देश किया है और विद्याधर ने अतिशयोक्ति और उदात्त का । इसमें और अगले तीन (१०७, १०८, १०९वें) श्लोकों में भी मालिनी छंद है, जिसके प्रत्येक चरण में दो नगण (।।।), एक मगण (SSS), दो यगण (।SS) क्रम से पंद्रह वर्ण होते हैं, आठ और सात पर यति होती है ॥१०६॥

अथ कनकपतत्रस्तत्र तां राजपुत्रीं
सदसि सदृशभासां विस्फुरन्तीं सखीनाम् ।
उडुपरिषदि मध्यस्थायिशीतांशुलेखाऽ-
नुकरणपटुलक्ष्मीमक्षिलक्षीचकार ॥ १०७ ॥

जीवातु—अथेति । अथ दर्शनानन्तरं कनकपतत्रः स्वर्णपक्षी तत्र वने सदृशभासामात्मतुल्यलावण्यानां सखीनां सदसि विस्फुरन्तीं 'स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्यः' इति षत्वम् । उडुपरिषदि तारकासमाजे मध्यस्थायिन्याः शीतांशुलेखायाश्चन्द्रकलायाः अनुकरणे पटुः समर्था लक्ष्मीः शोभा यस्याः सा इत्युपमालङ्कारः । तां राजपुत्रीम् अक्षिलक्षीचकार अद्राक्षीदित्यर्थः ॥१०७॥

अन्वयः—अथ कनकपतत्रः तत्र सदृशभासां सखीनां सदसि विस्फुरन्तीम् उडुपरिषदि मध्यस्थायिशीतांशुलेखानुकरणपटुलक्ष्मीम् अक्षिलक्षीचकार ।

हिन्दी—इस (दमयन्ती-उपवन के दर्शन) के उपरांत स्वर्णपंखी (हंस) ने वहाँ (वाटिका में) समान कांतिमती सखियों को समामध्य विशेष रूप से दीपती, तारों की परिषद् में मध्यस्थिता (नेतृत्व करती) शीतकिरण (चन्द्र) की कला के अनुकरण में समर्थ शोभान्विता (दमयंती) को नेत्रगोचर किया।

टिप्पणी—वाटिका में अनुपम रूपवती सखियों के मध्य विराजती दमयन्ती सुवर्णपक्षी को ऐसी प्रतीत हुई, जैसी कि तारिकाओं के मध्य चन्द्रकला। दमयंती की सखियाँ भी उसी जैसी नहीं, तो उसी के समान सौन्दर्यशालिनी थीं, दमयंती तो अनुपम सुन्दरी थी कि विचित्र पक्षी, सोने के पंखवाले राजहंस के नेत्र भी उसे देखते ही रह गये। उपमालङ्कार ॥१०७॥

भ्रमणरयविकीर्णस्वर्णभासा खगेन
क्वचन पतनयोग्यं देशमन्विष्यताऽधः।
मुखविधुमदसीयं सेवितुं लम्बमानः
शशिपरिधिरिवोच्चैर्मण्डलस्तेन तेने ॥ १०८ ॥

जीवातु—भ्रमणेति। अधो भूतले क्वचन कुत्रचित्पतनयोग्यं देशं स्थानम् अन्विष्यता गवेषमाणेन अत एव भ्रमणरयेण विकीर्णा स्वर्णस्य भा दीप्तिर्यस्य तेन खगेन अमुष्या अयम् अदसीयम् 'वृद्धाच्छः' 'त्यदादीनि चे'ति वृद्धिसंज्ञा। मुखेन्दु सेवितुं लम्बमानः स्रंसमानः शशिपरिधिः चन्द्रपरिवेष इव उच्चैरुपरि मण्डलो वलयः तेने वितेने तनोतेः कर्मणि लिट्। उत्प्रेक्षास्वभावोक्त्योः सङ्करः ॥१०८॥

अन्वयः—अधः क्वचन पतनयोग्यं देशम् अन्विष्यता भ्रमणरयविकीर्ण-स्वर्णभासा तेन खगेन अदसीयं मुखविधुं सेवितु लम्बमानः शशिपरिधिः इव उच्चैः मण्डलः तेने।

हिन्दी—नीचे (धरती पर) कहीं उतरने योग्य स्थान को खोजते परिभ्रमण के वेग से सुवर्णदीप्ति विकीर्ण करते हुए उस पक्षी (हंस) ने जैसे उस (दमयंती) के मुखचन्द्र के सेवन के निमित्त लटकते चन्द्रपरिवेष के समान ऊपर मंडल लिया (गोल चक्कर लगाया)।

टिप्पणी—धरती पर नीचे उतरते पक्षी का यह स्वभाव है कि वह गोल चक्कर लगाकर स्थान निश्चित करके तब उतरता है, राजहंस ने भी ऐसा ही किया। कवि ने इसी पर यह बिम्ब-वर्णन किया है। लगा कि चन्द्र के निकट चन्द्र का घेरा 'फ्रेम' आ रहा है दमयंती का मुख चन्द्रमा है, स्वर्णाभा बिखेरता चक्कर लेता हंस उसका सुनहरी फ्रेम है। हंस की 'सेवितुम्' क्रिया का भाव नारायण पंडित ने 'परिचुम्बितुम्' लिया है, कुछ अन्य टीकाकार 'द्रष्टुम्' लेते हैं। वस्तुतः यह भाव अधिक स्वाभाविक लगता है कि मुख-चन्द्र का प्रभा-मण्डल, जो पीछे छूट गया था, चन्द्र के चारों ओर लगने के लिए निकट आ रहा है—'सेवितुम्-उपसेवितुम्'। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा—स्वभावोक्ति का संकर, विद्याधर की दृष्टि में रूपक-उपमा-जाति की संसृष्टि ॥१०८॥

अनुभवति शचीत्थं सा घृताचीमुखाभि-
र्न सह सहचरीभिर्नन्दनानन्दमुच्चैः।
इति मतिरुदयासीत्पक्षिणः प्रेक्ष्य भैमीं
विपिनभुवि सखीभिस्सार्धमाबद्धखेलाम् ॥ १०९ ॥

जीवातु—अनुभवतीति। विपिनभुवि वनप्रदेशे सखीभिः सहचरीभिः 'सख्यशिश्वीति भाषायामि'ति निपातनात ङीप्। सार्द्धमाबद्धखेलामनुबद्धक्रीडां, 'क्रीडा खेला च कूर्दनमि'त्यमरः। भैमी प्रेक्ष्य पक्षिणः सा प्रसिद्धा शची इन्द्राणी घृताचीमुखाभिः सहचरीभिः सह इत्थमुच्चैरुत्कृष्टं नन्दनानन्दं नन्दनसुखं नानुभवतीति मतीः बुद्धिरुदयासीदुत्थिता। अत्र प्रेक्ष्य मतिरिति मननक्रियापेक्षया समानकर्तृकत्वात् पूर्वकालत्वाच्च प्रेक्ष्येति क्त्वानिर्देशोपपत्तिः, तावन्मात्रस्यैव तत्प्रत्ययोत्पत्तौ प्रयोजकत्वात्। प्राधान्यत्वप्रयोजकमिति न कश्चिद्विरोधः। अत्रोपमानादुपमेयस्याधिक्योक्तेर्व्यतिरेकालङ्कारः 'भेदप्रधानसाधर्म्यमुपमानोपमेययोः। आधिक्यादल्पकथनाद्व्यतिरेकः स उच्यते॥' इति लक्षणात् ॥१०९॥

अन्वयः—विपिनभुवि सखीभिः सार्धम् आबद्धखेलां भैमी प्रेक्ष्य-घृताचीमुखाभिः सखीभिः सह सा शची इत्थम् उच्चैः नन्दनानन्दं न अनुभवति—पक्षिणः इति मतिः उदयासीत्।

हिन्दी—उपवनप्रदेश में सखियों के साथ क्रीडारता भीमपुत्री को देख पक्षी (हंस) की ऐसी बुद्धि बनी कि घृताचीप्रभृति सहचरियों के साथ उस सुविख्यात इंद्राणी शची को इस प्रकार के प्रचुर आनंद का नन्दन उपवन की क्रीडा में भी अनुभव नहीं होता।

टिप्पणी—दमयंती की शची, उसकी सखियों की घृताची आदि अप्सराओं और वाटिका की नंदनकानन से तुलना करते हुए दमयंती के क्रीडा-सुख की शची के केलिसुख से श्रेष्ठता बताकर एक प्रकार से दमयंती-परिवेष की शची-परिवेष की अपेक्षा श्रेष्ठता द्योतित की गयी है। मल्लिनाथ ने इसी आधार पर यहाँ व्यतिरेक अलंकार माना है, यों विद्याधर ने भ्रांतिमान् का निर्देश किया है ॥१०९॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरस्सुतं
श्रीहीरस्सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
द्वैतीयीकतया मितोऽयमगमत्तस्य प्रबन्धे महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः॥ ११० ॥

जीवातु—श्रीहर्षमित्यादि। व्याख्यातम्। द्वितीय एव द्वितीयीकः, 'द्वितीयादीकक् स्वार्थे वा वक्तव्य' इतीकक् द्वैतीयीकतया मितो द्वितीयत्वेन गणितः द्वितीय इत्यर्थः, अगमत् ॥११०॥

इति 'मल्लिनाथ' सूरविरचितायां 'जीवातु' समाख्यायां नैषधटीकायां

द्वितीयः सर्गः समाप्तः ॥ २ ॥

अन्वयः—(प्रथम सर्ग के समान) कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः······ सुषुवे, तस्य चारुणि प्रबन्धे महाकाव्ये नैषधीयचरिते अयं द्वैतीयीकतया मितः निसर्गोज्ज्वलः सर्गः अगमत्।

हिन्दी—कविराजसमूह····· श्रीहर्ष के चारु प्रबन्ध महाकाव्य नैषधीय चरित के यह द्वितीय रूप में परिगणित स्वभावसुन्दर—प्रकृतिचित्रों से शृङ्गारित सर्ग परिणति को प्राप्त हुआ ॥११०॥

द्वितीय सर्ग समाप्त।

पद्यानुक्रमणिका
(द्वितीय सर्ग)

कथासार

(द्वितीय सर्ग)

राजँस्तां दमयन्तिकां त्वयि तथा कर्त्ताऽस्मि रक्तां यथा
शक्रादीनपि हास्यतीति नृपति हंसः कृतज्ञोऽभ्यधात् ।
एवं चेत्खग साधयेप्सितमिति प्रोक्तः स राज्ञा मुदा
द्रागुड्डीय ददर्श कुण्डिनगतो भैमीमटन्निष्कुटे ॥

—श्रीरामकृष्ण कवि

राजा द्वारा मुक्त हो जाने पर हंस नलराज के प्रति अत्यन्त कृतज्ञता का अनुभव करने लगा । उसने कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—'हे राजन्, मैं आपके प्रति दमयंती को ऐसी अनुरक्त कर सकता हूँ कि आपकी तुलना में वह देवराज इन्द्र को भी नगण्य और उपहसनीय मानने लगेगी ।' राजा का तो यह अभीष्ट ही था, उन्होंने हंस के इस प्रस्ताव का सहर्ष अनुमोदन किया और हंस उड़कर वैभवशालिनी कुंडिनपुरी में जा उतरा। वहाँ उसने क्रीडाराम में भीमराज-सुता दमयंती को देखा जो अपनी अपूर्व सुंदरी सखियों के मध्य ऐसी दीख रही थी जैसे तारिकाओं के मध्य चन्द्रकला ।

॥ श्रीः ॥

नैषधीयचरितम्

मल्लिनाथकृत 'जीवातु' टीकासहित

सान्वय-सटिप्पण 'चन्द्रिका' हिन्दीव्याख्योपेतम्

तृतीयः सर्गः

आकुञ्चिताभ्यामथ पक्षतिभ्यां नभोविभागात्तरसाऽवतीर्य ।
निवेशदेशाततधूतपक्षः पपात भूमावुपभैमि हंसः ॥ १ ॥

जीवातु—आकुञ्चिताभ्यामिति । अथ मण्डलीकरणानन्तरं हंसः । आकुञ्चिताभ्यां पक्षतिभ्यां पक्षमूलाभ्यां नभोविभागादाकाशदेशात्तरसा वेगेनावतीर्य निवेशदेशे उपनिवेशस्थाने आतती विस्तारितौ धूतौ कम्पितौ च पक्षौ येन सः तथा सन्नुपभैमि भैम्याः समीपे, सामीप्येऽव्ययीभावः, नपुंसकं, ह्रस्वत्वं च । भूमौ पपात । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ हंसः आकुञ्चिताभ्याम् पक्षतिभ्याम् नभोविभागात् तरसा अवतीर्य निवेशदेशाततधूतपक्षः भूमौ उपभैमि पपात ।

हिन्दी—विदर्भराज की वाटिका में पहुँचने अथवा चक्कर लगाने के पश्चात् स्वर्णहंस पंख सिकोड़ कर आकाशमंडल से वेगपूर्वक उतर कर बैठने के स्थान पर पंखों को फैलाता और कंपित करता धरती पर भीमसुता दमयंती के निकट बैठ गया ।

टिप्पणी—मल्लिनाथ के अनुसार स्वभावोक्ति अलंकार, इसी को साहित्य-विद्याधरिकार ने जाति बताया है, उनके अनुसार इस श्लोक में जाति और अनुप्रास हैं । इस सर्ग में आरंभिक श्लोक से १२४वें श्लोक तक उपजाति छंद है । उपजाति में इन्द्रवज्रा-उपेन्द्रवज्रा का मिश्रण रहता है, जैसा कि इसमें (प्रथम-द्वितीय चरण में इन्द्रवज्रा तथा तृतीय-चतुर्थ में उपेन्द्रवज्रा) है ।

उपजाति का लक्षण है–'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः, उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ । अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ॥' अर्थात् ऽऽ।, ऽऽ।, ।ऽ।, दो ऽऽ (१, २ चरण), ।ऽ।, ऽऽ।, ।ऽ।, दो ऽऽ (३, ४ चरण) ॥१॥

आकस्मिकः पक्षपुटाहतायाः क्षितेस्तदा यः स्वन उच्चचार ।
द्रागन्यविन्यस्तदृशः स तस्याः संभ्रान्तमन्तःकरणञ्चकार ॥ २ ॥

जीवातु—आकस्मिक इति । तदा पतनसमये पक्षपुटाहतायाः क्षितेः । अकस्माद्भव आकस्मिकः अदृष्टहेतुको निर्हेतुक इत्यर्थः । यः स्वनो ध्वनिरुच्चचार उत्थितः, स स्वनः अन्यविन्यस्तदृशः विषयान्तरनिविष्टदृष्टेस्तस्याः भैम्याः अन्तःकरणं द्राक् झटिति सम्भ्रान्तं ससंभ्रमं चकार । अकाण्डेऽसम्भावितशब्दश्रवणाच्चमत्कृतचित्ताऽभूदित्यर्थः । स्वभावोक्तिः ॥२॥

अन्वयः—पक्षपुटाहतायाः क्षितेः आकस्मिकः यः स्वनः तदा उच्चचार सः अन्यविन्यस्तदृशः तस्याः अन्तःकरणं प्राक् संभ्रान्तं चकार ।

हिन्दी—हंस के बैठते समय उसके पक्षयुगल से आहत धरती से सहसा जो शब्द उत्पन्न हुआ, उसने किसी दूसरी ओर निहारती उस दमयंती के अन्तःकरण को झटिति संभ्रम से परिपूर्ण कर दिया (उस शब्द से दमयंती चौंक पड़ी और उसकी दृष्टि अपने पूर्वलक्ष्य से हट गयी) ।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक के सदृश इसमें स्वभावोक्ति (मल्लिनाथ) अथवा जाति (विद्याधर) अलंकार है ॥२॥

नेत्राणि वैदर्भसुतासखीनां विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि ।
प्रापुस्तमेकं निरुपाख्यरूपं ब्रह्मेव चेतांसि यतव्रतानाम् ॥ ३ ॥

जीवातु—नेत्राणीति । विदर्भाणां राजा वैदर्भः । तस्य सुतायाः भैम्याः सखीनां नेत्राणि विमुक्तास्तत्तद्विषयग्रहाः तत्तदर्थग्रहणानि अन्यत्र तत्तद्विषयासङ्गो यैस्तानि सन्ति एकमेकचरम् अद्वितीयञ्च नोपाख्यायत इति निरूपाख्यमवाच्यं रूपमाकारः स्वं स्वरूपं च यस्य तं पुरोवर्त्तिनं हंसं तत्पदार्थभूतञ्च यतव्रतानां योगिनां चेतांसि ब्रह्म परात्मानमिव प्रापुः, अत्यादरेणाद्राक्षुरित्यर्थः ॥ ३ ॥

अन्वयः—विदर्भसुतासखीनां विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि नेत्राणि यतव्रतानां चेतांसि ब्रह्म इव एकं निरुपाख्यरूपं तं हंसं प्रापुः ।

हिन्दी—विदर्भनरेश की पुत्री की सखियों के नेत्र अपने-अपने विषयों का देखना त्याग कर जिस प्रकार व्रतधारी योगियों के चित्त समस्त सांसारिक विषयों को त्याग कर अवर्णनीयस्वरूप ब्रह्म में लीन रहते हैं, उसी प्रकार जिसके रूप का वर्णन संभव नहीं है, ऐसे उस हंस को (ही) देखने लगे।

टिप्पणी—इस श्लोक में हंस को अनिर्वचनीय ब्रह्म से उपमित करते हुए कवि ने उस आनन्द की प्राप्ति का संकेत किया है, जो परमानन्द है, जिसे समाधिस्थ जितेन्द्रिय योगिजन ही प्राप्त कर पाते हैं। हंस न केवल अपूर्व सुन्दर था, आदर को भी उत्पन्न करता था। उपमा अलंकार। यद्यपि यहाँ नेत्र और ब्रह्म के सादृश्य में भिन्नवचनता और भिन्नलिङ्गता है, तथा वह उद्वेग का कारण नहीं बनता; अतः दोष नहीं है। दंडी के अनुसार—'न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा, उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम् ॥३॥

हंसं तनौ सन्निहितं चरन्तं मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्विकायाम्।
ग्रहीतुकामादरिणा शयेन यत्नादसौ निश्चलतां जगाहे ॥ ४ ॥

जीवातु—हंसमिति। असौ दमयन्ती मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्विकायां स्वकीयायां 'प्रत्ययस्थात्कात् पूर्वस्ये'तीकारः। तनौ शरीरान्तिके अन्यत्र तदभ्यन्तरे सन्निहितमासन्नमाविर्भूतं च चरन्तं सञ्चरन्तं वर्तमानं च हंसं मरालं परमात्मानं च, 'हंसो विहङ्गभेदे च परमात्मनि मत्सरे' इति विश्वः। अदरिणा निर्भीकेण शयेन पाणिना 'दरो स्त्रियां भये श्वभ्रे', 'पंचशाखः शयः पाणिरि'त्यमरः। अन्यत्र आदरिणा आदरवता आशयेन चित्तेन ग्रहीतुकामा साक्षात्कर्तुकामा च यत्नात् निश्चलतां निश्चलाङ्गत्वं जगाहे जगाम ॥४॥

अन्वयः—असौ सन्निहितं चरन्तं हंसं दरिणा (अदरिणा वा) शयेन (आदरिणा आशयेन वा) ग्रहीतुकामा मुनेः मनोवृत्तिः इव स्विकायां तनौ यत्नात् निश्चलतां जगाहे।

हिन्दी—उस दमयन्ती ने निकट विचरण करते उस हंस को डरते-डरते (अथवा निर्भय) हाथ से (अथवा आदरपूर्ण भावना से) पकड़ने की इच्छा से जिस प्रकार (ब्रह्मध्यान निष्ठ हो) मुनि अपनी मनोवृत्तियों को अपने शरीर में प्रयत्नपूर्वक निश्चेष्ट कर लेते हैं, उसी प्रकार अपने शरीर में निश्चलता को ला दिया।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में हंस-दर्शन सुख की तुलना ब्रह्मानन्द से की गयी; इस श्लोक में हंस-प्राप्ति की क्रिया को मुनियों द्वारा आदरपूर्वक आचरित ब्रह्म-निष्ठसाधना से उपमित किया गया है। विद्याधर ने यहाँ उपमालंकार माना है, चन्द्रकलाकार के अनुसार यहाँ श्लेष और उपमा का अङ्गाङ्गिभाव संकर है ॥४॥

तामिङ्गितैरप्यनुमाय मायामयं न धैर्याद्वियदुत्पपात।
तत्पाणिमात्मोपरिपातुकं तु मोघं वितेने प्लुतिलाघवेन ॥ ५ ॥

जीवातु—तामिति। अयं हंसस्तां पूर्वोक्तां मायां कपटमिङ्गितैश्चेष्टितैरनुमाय निश्चित्यापि धैर्यात् स्थैर्यमास्थाय ल्यब्लोपे पंचमी। वियदाकाशं प्रति नोत्पपात नोत्पतितवान् आत्मन उपरि पातुकम्पतयालुं 'लषपते'त्यादिना उकञ् प्रत्ययः। तस्याः पाणिं तु प्लुतिलाघवेन उत्पतनकौशलेन मोघं वितेने विफलयत्नम् अकरोत् आशाञ्च जनयति न तु पाणौ लगतीत्यर्थः ॥५॥

अन्वयः—अयं तां भैम्याः मायाम् इङ्गितैः अनुमाय अपि वियत् न उत्पपात, आत्मोपरिपातुकं तत्पाणिं तु प्लुतिलाघवेन मोघं वितेने।

हिन्दी—वह हंस भीमसुता की उस माया (कपटनिश्चलता) का संकेतों से अनुमान करके भी आकाश में नहीं उड़ गया, किन्तु पकड़ने के लिए अपने ऊपर गिरते हाथ को उसने अपनी फुदक जाने की चतुरता से व्यर्थ कर दिया।

टिप्पणी—भावार्थ यह कि हंस ने इधर-उधर फुदक कर बच जाने की चेष्टा करते हुए स्वाभाविकता की रक्षा की सरलता से यह प्रकट न होने दिया कि वह दौत्य-संपादन के लिए ही आया है। जाति अलंकार ॥५॥

व्यर्थीकृतं पत्त्ररथेन तेन तथाऽवसाय व्यवसायमस्याः।
परस्परामर्पितहस्ततालं तत्कालमालीभिरहस्यताऽलम् ॥ ६ ॥

जीवातु—व्यर्थीकृतमिति। अस्याः भैम्याः व्यवसायं हंसग्रहणोद्योगं तेन पत्त्ररथेन पक्षिणा व्यर्थीकृतं तथाऽवसाय ज्ञात्वा तत्कालं तस्मिन् काले अत्यन्त-संयोगे द्वितीया। स एव कालो यस्येति बहुव्रीहौ क्रियाविशेषणं वा। परस्परां परस्परस्यामित्यर्थः। 'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्विर्भावः समासवच्च बहुलमि'ति बहुलग्रहणादसमासवद्भावे पूर्वपदस्य प्रथमैकवचने कस्कादित्वाद्विसर्जनीयस्य

त्वमुत्तरपदस्य यथायोगं द्वितीयाद्येकवचनं 'क्लीनपुंसकयोरुत्तरपदस्थाया विभक्ते-राभावो वक्तव्य' इति विकल्पादामादेशः। अर्पितहस्ततालं दत्तहस्तताडनं यथा तथा आलीभिः सखीभिरलम् अत्यर्थम् अहस्यत हसितम्। भावे लङ्॥६॥

अन्वयः—तेन पत्ररथेन अस्याः व्यवसायं तथा व्यर्थीकृतम् अवसाय आलीभिः तत्कालं परस्परम् अर्पितहस्ततालम् अलम् अहस्यत।

हिन्दी—उस हंस के द्वारा उस (दमयन्ती) के हंस पकड़ लेने के उद्योग को उस प्रकार (प्लुतिलाघव द्वारा) व्यर्थ कर दिया जान कर (दमयन्ती की) सखियाँ उस समय हाथ पर हाथ मारकर ताली बजाती हुई जोर से हंसने लगीं।

टिप्पणी—किसी की असफलता पर हँसना मानव का सामान्य स्वभाव है, जिसमें ईर्ष्या प्रत्यक्ष कारण नहीं होती, प्रत्युत एक प्रकार का विनोद होता है, यद्यपि असफल व्यक्ति को क्षोभ ही होता है॥६॥

उच्चाटनीयः करतालिकानां दानादिदानीं भवतीभिरेषः।
याऽन्वेति मां द्रुह्यति मह्यमेव साऽत्रेत्युपालम्भि तयाऽऽलिवर्गः॥ ७ ॥

जीवातु—उच्चाटनीय इति। हे सख्यः! भवतीभिरेष हंसः करतालि-कानां दानादन्योन्यहस्तताडनकरणादुच्चाटनीयः निष्कासनीयः किमिति काकुः, नोच्चाटनीय एवेत्यर्थः। अत्र आसु मध्ये या मामन्वेति सा मह्यमेव द्रुह्यति मां जिघांसतीत्यर्थः। 'क्रुधद्रुहे'त्यादिना सम्प्रदानत्वात् चतुर्थी। इतीत्थं तया भैम्या आलिवर्गः सखीसंघ उपालम्भि अशापि, शापेनैव निवारित इत्यर्थः॥७॥

अन्वयः—करतालिकानां दानात् इदानीं भवतीभिः एषः उच्चाटनीयः? अत्र या माम् अन्वेति, सा मह्यं द्रुह्यति एव—इति तया आलिवर्गः उपालम्भि।

हिन्दी—ताली इत्यादि बजाकर इस समय आप लोगों द्वारा इस हंस को उड़ा देना उचित है? (अपितु अनुचित है।) अब आप लोगों में से जो भी मेरे पीछे आयेगी, वह मेरे साथ द्रोह करेगी—इस प्रकार उस (दमयन्ती) ने अपनी सखियों को उपालंभ दिया।

टिप्पणी—सखियों द्वारा किये उपहास पर दमयन्ती की स्वाभाविक प्रतिक्रिया। प्रथम चरण में काकु॥७॥

धृताल्पकोपा हसिते सखीनां छायेव भास्वन्तमभिप्रयातुः ।
श्यामाऽथहंसस्य करानवाप्तेर्मन्दाक्षलक्ष्या लगति स्म पश्चात् ॥ ८ ॥

जीवातु—धृतेति । अथ सखीनिवारणानन्तरं सखीनां हसिते हासनिमित्ते धृताल्पकोपा तासु ईषत्कोपा इत्यर्थः । भास्वन्तमभिप्रयातुः सूर्याभिमुखं गच्छतः छाया अनातपरेखेव श्यामा यौवनमध्या 'श्यामा यौवनमध्यस्था' इत्युत्पलमालायाम् । अन्यत्र श्यामा नीला, हंसस्य कर्मणि षष्ठी । करेण हस्तेन अनवाप्तेरग्रहणाद्धेतोर्मन्दाक्षं ह्रीस्तेन लक्ष्या उपलक्ष्याः ह्रीणा सतीत्यर्थः । अन्यत्र हंसस्य सूर्यस्य करानवाप्तेः अंशुसंस्पर्शाभावात् मन्दाक्षैरपटुदृष्टिभिर्लक्ष्या ग्राह्या तैः छाया लक्ष्यते न प्रकाश इति भावः । पश्चाल्लगति स्म पृष्ठे लग्नाऽभूत् प्राप्त्याशया तमन्वगात् । 'रविश्वेतच्छदौ हंसौ', 'बलिहस्तांशवः कराः' इति चामरः ॥८॥

अन्वयः—अथ सखीनां हसिते धृताल्पकोपा भास्वन्तम् अभिप्रयातुः छाया इव श्यामा करानवाप्तेः मन्दाक्षलक्ष्या हंसस्य पश्चात् लगति स्म ।

हिन्दी—तत्पश्चात् सखियों के उपहास पर कुछ अल्प क्रोध करती, सूर्याभिमुख जाते व्यक्ति को सूर्य किरणों की अप्राप्ति के कारण श्यामल छाया के समान हंस को हाथ से न पकड़ सकने से सलज्जा वह श्यामा (तरुणी दमयन्ती) हंस के पीछे लग ली ।

टिप्पणी—सूर्याभिमुख जाते व्यक्ति की छाया उसके संमुख पड़ती है, किरणों का वहाँ न पहुँच सकना इसका कारण है । यहाँ 'करानवाप्तेः' में 'कर' 'हंस' और 'श्यामा' द्व्यर्थक शब्द हैं, जिनका अर्थ किरण-हस्त, हंसपक्षी-सूर्य और श्यामछाया—तरुणी होते हैं । इसी आधार पर यहाँ किरणों के न पहुँच सकने से श्यामल छाया से 'श्यामा' दमयन्ती की तुलना की गयी है । दमयन्ती हंस को हाथ में न पकड़ सकने से क्षुब्ध है, सखियों के उपहास से अल्प क्रुद्ध भी है, हंस-ग्रहण को उत्सुक भी है । विद्याधर ने यहाँ इसी आधार पर उपमा-भावशबलता—अलंकार का विधान किया है ॥ ८ ॥

शस्ता न हंसाभिमुखी तवेयं यात्रेति ताभिश्छलहस्यमाना ।
साऽऽह स्म नैवाशकुनीभवेन्मे भाविप्रियावेदक एष हंसः ॥ ९ ॥

जीवातु—शस्तेति। तवेयं हंसस्य श्वेतच्छदस्य चाभिमुखी यात्रा गमनं न शस्ता न प्रशस्ता श्रेयस्करी न शास्त्रविरोधात् श्रमसन्तापदृष्टदोषाच्चेति भावः। इतीत्थं ताभिः छलेन व्याजोक्त्या हस्यमाना सती भाविप्रियावेदको मङ्गलमूर्त्तित्वादागामिशुभसूचकः एष हंसो मे मम नाशकुनीभवेदेव, किन्तु शकुनमेव भवेदित्यर्थः। अपक्षी न भवेदिति च गम्यते 'शकुनन्तु शुभाशंसानिमित्ते शकुनः पुमानि'ति विश्वः। 'अभूततद्भावे च्विः' विध्यादिसूत्रेण प्रार्थने लिङ्। इत्याह स्म अवोचत्, 'ब्रुवः पंचानामि'त्याहादेशः। एतेन तदीययात्रानिषेधोक्तदोषः परिहृतो वेदितव्यः ॥९॥

अन्वयः—ते हंसाभिमुखी यात्रा पुनः शस्ता न— इति ताभिः छलहस्यमाना सा आह स्म—भाविप्रियावेदकः एषः हंसः एव, मे न अशकुनीभवेत्।

हिन्दी—आपकी हंस (सूर्य) के अभिमुख यात्रा (गमन) प्रशंसनीय नहीं है (शास्त्रनिषिद्ध होने से अशकुन है)—इस प्रकार उन सखियों द्वारा छल-उपहसित होती उस दमयन्ती ने कहा—भावी प्रिय का सूचक यह हंस हंस पक्षी ही है (सूर्य नहीं, जिसके संमुख गमन शास्त्रवर्जित है), सो यह 'शकुन' मेरे लिए 'अशकुन' (अशुभ) न होगा।

टिप्पणी—यहाँ द्व्यर्थक 'हंस' के प्रयोग से चमत्कार लाया गया है और राजहंस को भावी प्रिय-मिलन का सूचक संकेतित कर शकुन (शुभ) बताया गया है। यह नाटकीय 'पताकास्थान' तुल्य है, जिसमें भावी का इङ्गित दे दिया गया है। चन्द्रकलाकार ने यहाँ श्लेषालंकार माना है, साहित्यविद्याधरीकार के अनुसार यहाँ अपह्नुति और वक्रोक्ति अलंकार हैं ॥ ९ ॥

हंसोऽप्यसौ हंसगतेस्सुदत्याः पुरःपुरश्चारु चलन् बभासे।
वैलक्ष्यहेतोर्गतिमेतदीयामग्रेऽनुकृत्योपहसन्निवोच्चैः ॥ १० ॥

जीवातु—एवं दमयन्तीव्यापारमुक्त्वा सम्प्रति हंसस्य व्यापारमाह—हंसोऽपीति। असौ हंसोऽपि हंसस्य गतिरिव गतिर्यस्यास्तस्याः सुदत्याः शोभनदन्तायाः भैम्याः, सुदती व्याख्याता। पुरःपुरः, वीप्सायां द्विर्भावः। अग्रे समन्तात्, चारु चलन् रम्यं गच्छन् सन् वैलक्ष्यमेव हेतुस्तस्य वैलक्ष्यहेतोः, अहो मामयमतिबिडम्बयतीति तस्या अपि विस्मयजननार्थं-

मित्यर्थः। 'विलक्षो विस्मयान्वित' इत्यमरः। 'षष्ठी हेतुप्रयोग' इति षष्ठी। एतदीयाङ्गतिमनुकृत्य अभिनीय उच्चैरुपहसन्निवेत्युत्प्रेक्षा, बभासे बभौ लोके परिहासकाः तच्चेष्टाद्यनुकरणेन परान् विलक्षयन्ति ॥ १० ॥

अन्वयः—हंसगतेः सुदत्याः पुरः पुरः चारु चलन् असौ हंसः अपि वैलक्ष्यहेतोः तदीयां गतिम् अनुकृत्य उच्चैः उपहसन् इव बभासे।

हिन्दी—हंसगामिनी, सुन्दर दाँतों वाली (दमयन्ती) के आगे-आगे सुन्दरता से चलता वह हंस भी दमयन्ती को लक्ष्य से च्युत करने के निमित्त उसकी गति का अनुकरण करके उच्च स्वर से जैसे उपहास करता हुआ ही शोभित हुआ।

टिप्पणी—यहाँ दमयन्ती के दो विशेषण दिये गये हैं, एक तो वह 'हंसगति' है और दूसरे 'सुदती' है। तो जिस हंस की गति दमयन्ती का उपमान बनी है, वह तो उससे श्रेष्ठ हुआ ही, उसकी शुभ्रता और सौन्दर्य के संमुख मानो सफेद दाँत भी गर्व योग्य नहीं है। इस प्रकार दोनों विशेषताओं के न्यून हो जाने से दमयन्ती का लज्जित होना स्वाभाविक ही है। इसके अतिरिक्त हंस उसकी चाल का अनुकरण कर रहा है और वह पकड़ में भी नहीं आ रहा है—यह भी उपहास का कारण है। उत्प्रेक्षालंकार, साहित्यविद्याधरीकार ने 'हंसगतेः' में लुप्तोपमा का भी निर्देश किया है ॥ १० ॥

पदे पदे भाविनि भाविनी तं यथा करप्राप्यमवैति नूनम्।

तथा सखेलं चलता लतासु प्रतार्य तेनाचकृषे कृशाङ्गी ॥ ११ ॥

जीवातु—पदे पद इति। भावयन्तीति भाविनि हंसग्रहणमेव मनसा भावयन्ती कृशाङ्गी भैमी भाविनि भविष्यत्यनन्तर इत्यर्थः। 'भविष्यति गम्यादय' इति साधुः। पदे पदे तं हंसं यथा करप्राप्यं करग्राह्यं नूनं निश्चितमवैति प्रत्येति, तथा सखेलं चलता गच्छता तेन हंसेन प्रतार्य वञ्चयित्वा लतासु आचकृषे आकृष्टा, एकान्तं नीतेत्यर्थः ॥ ११ ॥

अन्वयः—भाविनी कृशाङ्गी भाविनि पदे पदे तं यथा करप्राप्तं नूनम् अवैति तथा सखेलं चलता तेन प्रतार्य लतासु आचकृषे।

हिन्दी—हंस को ग्रहण करने के भाव से युक्त वह कोमलांगी (दमयन्ती)

प्रत्येक अगले चरण-विन्यास में उस हंस को जैसे ही निश्चयतः हाथ-आने योग्य समझती, वैसे ही क्रीडा सहित चलता-चलता वह (हंस) उसे वंचना करके लताओं के समीप ले गया।

टिप्पणी—भाव यह कि हंस पीछा करती दमयन्ती को सखेल चलता एकान्त स्थली में ले गया जहाँ उसे नल-सन्देश सुनाया जा सके। साहित्य-विद्याधरी के अनुसार छेकानुप्रास और जाति अलंकार ॥ ११ ॥

रुषा निषिद्धालिजनां यदैनां छायाद्वितीयां कलयाञ्चकार ।
तदा श्रमाम्भःकणभूषिताङ्गीं स कीरवन्मानुषवागवादीत् ॥ १२ ॥

जीवातु—रुषेति । रुषा निषिद्धालिजनां निवारितसखीजनां यदा छाया एव द्वितीया यस्यास्तामेकाकिनीं कलयाञ्चकार विवेद, तदा श्रमाम्भःकण-भूषिताङ्गीं स्वेदाम्बुलवपरिष्कृतशरीरां खिन्नगात्रां तां स हंसः कीरवत् शुक-वन्मनुष्यस्येव वाग्यस्य स सन्नवादीत् ॥ १२ ॥

अन्वयः—यदा सः रुषा निषिद्धालिजनाम् एनां छायाद्वितीयां कलया-ञ्चकार तदा श्रमाम्भः कणभूषिताङ्गीं कीरवत् मानुषवाक् अवादीत् ।

हिन्दी—जब उस हंस ने क्रोध से जिसने सखियों को साथ-आने से रोक दिया था, उस (दमयन्ती) को केवल छायासहचरी (जिसके साथ केवल छाया ही है ऐसी, अकेली) समझ लिया, तब श्रम से संजात स्वेदकणों से सुशोभित अंगोंवाली (दमयन्ती) से वह तोते के सदृश मानुषी वाणी में बोला ।

टिप्पणी—विद्याधर के अनुसार उपमा और रूपक अलंकार ॥१२॥

अये ! कियद्यावदुपैषि दूरं व्यर्थं परिश्राम्यसि वा किमर्थम् ? ।
उदेति ते भीरपि किन्नु बाले विलोकयन्त्या न घना वनालीः ? ॥१३॥

जीवातु—अय इति । अये बाले ! व्यर्थं कियद्दूरं यावदुपैषि उपैष्यसि ? 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' । किमर्थं परिश्राम्यसि वा ? घनाः सान्द्रा वनालीर्वन-पंक्तीर्विलोकयन्त्यास्ते भीरपि नोदेति किन्नु ? ॥ १३ ॥

अन्वयः—अये कियद् दूरं यावत् व्यर्थम् उपैषि, किमर्थं परिश्राम्यसि वा ? बाले घनाः वनालीः विलोकयन्त्या ते भीः अपि न उदेति किन्नु ?

हिन्दी—अरे, कितनी दूर तक व्यर्थ चली आ रही हो, अथवा किस लिए परिश्रम कर रही हो (थक रही हो) ? अरी बाले, सघन वनपंक्तियों को देख कर तेरे मन में भय भी नहीं उत्पन्न होता क्या ?

टिप्पणी—नारायणी टीका के संस्करण में 'व्यर्थं परिश्राम्यसि किमित्यम्' पाठान्तर है। उसके अनुसार 'व्यर्थं' का पदच्छेद है 'वि+अर्थम्' अर्थात् 'वये इति व्यर्थं पक्ष्यर्थम्'—'वि' अर्थात् पक्षी हंस के निमित्त क्यों परिश्रम कर रही हो ? भाव यह कि एक पक्षी के लिए इतना श्रम व्यर्थ है। विद्याधर ने इस पद्य में उल्लेख्य अलंकार अनुप्रास माना है ॥ १३ ॥

वृथाऽर्पयन्तीमपथे पदं त्वां मरुल्ललत्पल्लवपाणिकम्पैः।
आलीव पश्य प्रतिषेधतीयं कपोतहुङ्कारगिरा वनाली ॥ १४ ॥

जीवातु—वृथेति। वृथा व्यर्थमेव न पन्था अपथम्, 'ऋक्पूरि'त्यादिना समासान्तः अः, 'अपथं नपुंसकम्'। तस्मिन्नपथे दुर्मार्गे अकृत्ये च पदं पादं व्यवसायं च अर्पयन्ती 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुष्वि'त्यमरः। मरुता ललन् चलन् पल्लव एव पाणिस्तस्य कम्पैः कपोतहुङ्कारगिरा च वनाली आलीव सखीव प्रतिषेधति निवारयति, पश्य इति वाक्यार्थः कर्म। यथा लोके अमार्गवृत्तं सुहृज्जनः पाणिना वाचा च वारयति तद्वदित्यर्थः। अत एव पल्लवपाणीत्यादौ रूपकाश्रयणम् तत्सङ्कीर्णा वनाल्यालीवेत्युपमा ॥ १४ ॥

अन्वयः—वृथा अपथे पदम्-अर्पयन्तीं त्वाम् पश्य इयं वनाली मरुल्ललत्पल्लवपाणिकम्पैः कपोतहुङ्कारगिरा आली इव प्रतिषेधति।

हिन्दी—व्यर्थ अगम्य मार्ग में पैर धरती (अथवा निषिद्ध आचरण करती) तुझे देख, यह वनपंक्ति वायु से हिलते पल्लवरूप करों को हिलाती कबूतरों की 'गुटुरगूँ'-रूप वाणी द्वारा सखी के समान बरज रही है।

टिप्पणी—'वनाली' (प्रकृति) का मानवीकरण—'पर्सानिफिकेशन'। पल्लवपाणि में रूपक, वनाली—आली में उपमा ॥ १४ ॥

धार्यः कथंकारमहं भवत्या वियद्विहारी वसुधैकगत्या।
अहो शिशुत्वं तव खण्डितं न स्मरस्य सख्या वयसाऽप्यनेन ॥ १५ ॥

जीवातु—धार्य इति। एकत्रैव गतिर्यस्यास्तया एकगत्या वसुधायामेकगत्या

भूमात्रचारिण्येत्यर्थः। शिवभागवतवत्समासः। भवत्या वियद्विहारी खेचरोऽहं कथङ्कारं कथमित्यर्थः। 'अन्यथैवं कथमित्थंसुसिद्धाप्रयोगश्चेदि'ति' कथंशब्दोपपदात्करोतेर्णमुल्। धार्यो धर्तुं ग्रहीतुं शक्य इत्यर्थः। 'शकि लिङ् चे'ति चकाराच्छक्यार्थे कृत्यप्रत्ययः। अनेन स्मरस्य सख्या सखिना तदुद्दीपकेन वयसा यौवनेन सखिशब्दस्य भाषितपुंस्कत्वात् पुंवद्भावः। न खण्डितं न निवर्त्तितम् अहो विरुद्धवयसोरेकत्र समावेशादाश्चर्यमित्यर्थः। अत्राधार्यत्वस्य वसुधागतिवियद्विहारपदार्थहेतुकत्वादेकः काव्यलिङ्गभेदस्तथा शैशवाखण्डनस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकत्वादपर इति सजातीयसङ्करः ॥१५॥

अन्वयः—वसुधैकगतया त्वया वियद्विहारी अहं कथङ्कारं धार्यः? अहो, स्मरस्य सख्या अनेन वयसा अपि तव शिशुत्वं न खण्डितम्।

हिन्दी—धरती पर ही चल सकने वाली तेरे द्वारा, आकाश में विहार करने वाला मैं भला किस प्रकार पकड़ा जा सकूँगा? अरे. नाम के मित्र इस वयस् (यौवन) ने भी तेरी शिशुता को नहीं मिटाया।

टिप्पणी—भूमात्रचारिणी मानुषी कहीं गगनविहारी हंस को पकड़ सकती है? फिर भी दमयन्ती का हंस को पकड़ने का यत्न उसकी शैतवोचित प्रबोधता ही है। हंस इसी पर व्यंग करता कह रहा है—'इतनी बड़ी हो गयी, पर तेरा बचपन अभी नहीं गया।' वयस्' के दो अर्थ हैं—(१) यौवन की आयु, (२) पक्षी (हंस)। नारायण ने तृतीय-चतुर्थ चरण से संरचित वाक्य में 'काकु' का प्रयोग कर वाक्य गठन इस प्रकार किया है—'स्मरस्य सख्या अनेन वयसा अपि तव शिशुत्वं च खण्डितम्, अपितु खण्डितमेव।' अर्थात् कामसदृश नल के मित्र मुझ हंस पक्षी द्वारा उसका प्रणय-संदेश तेरा बचपन खण्डित किया गया ही समझो। जहाँ मन में प्रणय-वार्ता पड़ी कि बचपना गया। विद्याधर ने यहाँ विरोध और विशेषोक्ति अलंकार माने हैं, मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ दो काव्यलिङ्ग-भेदों का सजातीय संकर है ॥१६॥

सहस्रपत्रासनपत्रहंसवंशस्य पत्राणि पतत्रिणः स्मः।
अस्मादृशां चाटुरसामृतानि स्वर्लोकलोकेतरदुर्लभानि ॥ १६ ॥

जीवातु—अथ प्रस्तुतोपयोगितया निजान्वयं निवेदयति—सहस्रेति।

सहस्रपत्रासनस्य कमलासनस्य पत्रहंसाः वाहनहंसाः तेषां वंशस्य कुलस्य वेणोश्च पत्राणि वाहनानि पर्णानि च 'वंशो वेणौ कुले वर्गे', 'पत्रं स्याद्वाहने पर्णे' इति च विश्वः। पतत्रिणः स्मः ब्रह्मवाहनहंसवंश्याः वयमित्यर्थः। अस्मानिव पश्यन्तीति अस्मादृशामस्मद्विधानां 'त्यदादिषु'इत्यादिना दृशेः क्विन् चाटुषु सुभाषितेषु ये रसाः शृङ्गारादयः त एव अमृतानि स्वर्लोके लोका जनाः, 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः। तेभ्यः इतरैर्मनुष्यैर्दुर्लभानि लब्धुमशक्यानीत्यर्थः ॥१६॥

अन्वयः—सहस्रपत्रासनपत्रहंसवंशस्य पत्राणि पतत्रिणः स्मः अस्मादृशां चाटुरसामृतानि स्वर्लोकलोकेतरदुर्लभानि ।

हिन्दी—हंस कहने लगा—हम सहस्रदल कमल के आसन पर बैठने वाले ब्रह्मा के वाहन हंस के कुल रूप वंश (बाँस) के की संतति रूप पत्ते पक्षी हैं, हम—जैसों के प्रियवचन-रूप रस के अमृत स्वर्ग लोक से भिन्न लोकों (भूपातालादि) के वासियों को दुर्लभ हैं।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती हंस को पकड़ तो सकती ही नहीं, हंस का इस प्रकार उससे मिलन भी एक दुर्लभ संयोग ही है, सो अमृतरस से हंसवचन सुनना बड़े सौभाग्य की बात है भूलोकवासिनी दमयन्ती के लिए। वामन के अनुसार ओज होता है अर्थ की प्रौढि—'अर्थस्य प्रौढिरोजः।' विद्याधर के अनुसार यहाँ ओज गुण है, क्योंकि 'मनुष्य' पद से वाच्य अर्थ के लिए 'स्वर्लोकलोकेतर' कह कर प्रौढि लायी गयी है। उन्होंने यहाँ उल्लेख्य अलंकार छेकानुप्रास माना है। यों सामान्यतः रूपक स्पष्ट है ॥१६॥

स्वर्गापगाहेममृणालिनीनां नालामृणालाग्रभुजो भजामः।
अन्नानुरूपां तनुरूपऋद्धिं कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते ॥ १७ ॥

जीवातु—अथ स्वाकारस्य कनकमयत्वे कारणमाह—स्वर्गेति। स्वर्गापगा स्वर्णदी तस्या हेममृणालिन्यस्तासां या नालाः काण्डाः यानि मृणालानि कन्दाश्च। अत्र नालामृणालशब्दस्य शब्दानुशासनं केषां शब्दानामितिवत्समासे गुणभूतेन सम्बन्धः सोढव्यः 'नालो नालमथास्त्रियाम्' इत्यमरवचनान्नालेति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः न च तत्रापि सन्देहः। तद्‌व्याख्यानेषु देशान्तरकोशेषु च

स्त्रीलिङ्गपाठस्यैव दर्शनात्। तथा च दशमे सर्गे प्रयोक्ष्यते 'मृदुत्वमप्रौढमृणालनालया' इति, 'नाला स्याद्बिसकन्द' इतिविश्वः, तेषामग्राणि भुञ्जत इति तद्भुजः वयमिति शेषः। अन्नानुरूपामाहारसदृशीं तनोः शरीरस्य रूपर्द्धि वर्णसमृद्धिम् 'ऋत्यक' इति प्रकृतिभावः। भजामः प्राप्ताः स्म इत्यर्थः। तथा हि कार्यं जन्यं द्रव्यं निदानादुपादानात्, 'आख्यातोपयोग' इत्यपादानता गुणान् रूपादिविशेषणगुणान् अधीते प्राप्नोतीत्यर्थः। प्राप्तिविशेषवाचिनस्तत्सामान्यलक्षणात् प्रायेण आहारपरिणतिविशेषपूर्विकाः प्राणिनां कायकान्तय इति भावः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १७ ॥

अन्वयः—स्वर्गापगाहेममृणालिनीनां नालामृणालाग्रभुजः (वयम्) अन्नानुरूपां तनुरूपर्द्धि भजामः, हि कार्यं निदानात् गुणान् अधीते।

हिन्दी—स्वर्गङ्गा में उत्पन्न स्वर्ण कमलिनियों के नाल—मृणालों का अग्रभाग खाने वाले हम अपने खाद्य के अनुरूप ही शरीर शोभा रूप समृद्धि के भाजन हैं, क्योंकि कार्य कारण से ही गुण प्राप्त करता है।

टिप्पणी—नैयायिकों के अनुसार—'कारणगुणः, कार्ये गुणानारभन्ते'—कारण के गुण ही कार्य में आते हैं, जैसे निदानादिकारण मृत्पिण्डादि से कार्य घट आदि में गुण आते हैं। इसी प्रकार स्वर्णकमल-भोजन से हंस का स्वर्णशरीर है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ सामान्य से विशेष का समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास है, विद्याधर ने अर्थान्तरन्यास के साथ अनुप्रास भी उल्लेखनीय माना है ॥ १७ ॥

धातुर्नियोगादिह नैषधीयं लीलासरस्सेवितुमागतेषु।
हैमेषु हंसेष्वहमेक एव भ्रमामि भूलोकविलोकनोत्कः ॥ १७ ॥

जीवातु—अथात्मनः क्ष्मालोकसञ्चरणे कारणमाह—धातुरिति। धातुर्ब्रह्मणो नियोगादादेशादिह भूलोके नैषधीयं नलीयं लीलासरः सेवितुं क्रीडासरसि विहर्तुमित्यर्थः। आगतेषु हैमेषु हेमविकारेषु। विकारार्थेऽण् प्रत्ययः। 'नस्तद्धित' इति टिलोपः। हंसेषु मध्ये अहमेक एव भूलोकविलोकने उत्क उत्सुकः सन् 'दुर्मना विमना अन्तर्मनाः स्यादुत्क उन्मना' इत्यमरः। उत्कशब्दात्कन् प्रत्ययान्तो निपातः भ्रमामि पर्यटामि ॥ १८ ॥

अन्वय:—धातु: नियोगात् इह नैषधीयं लीलासर: सेवितुम् आगतेषु हैमेषु हंसेषु एक: अहम् एव भूलोकविलोकनोत्क: भ्रमामि ।

हिन्दी—विधाता के आदेश से यहाँ (पृथ्वी मंडल में) निषधराज के क्रीडासरोवर में विहारार्थ आये सुवर्ण हंसों में से एक मैं ही भूलोक के दर्शनार्थ उत्सुक हो भ्रमण कर रहा हूँ ।

टिप्पणी—इस पद्य में स्वर्ण हंस ने ब्रह्मलोक छोड़ अपने भूमंडल पर होने का कारण स्पष्ट किया है ॥ १८ ॥

विधे: कदाचिद् भ्रमणीविलासे श्रमातुरेभ्यस्स्वमहत्तरेभ्य: ।
स्कन्धस्य विश्रान्तिमदां तदादि श्राम्यामि नाविश्रमविश्वगोऽपि ॥१९॥

जीवातु—अनवरतभ्रमणेऽपि श्रमजये कारणमाह—विधेरिति । कदाचिद्विधे: ब्रह्मणो भ्रमणीविलासे भुवनभ्रमणविनोदे श्रमातुरेभ्य: अवसन्नेभ्य: स्वमहत्तरेभ्य: स्वकुलवृद्धेभ्य: स्कन्धस्यांसस्य, 'स्कन्धो भुजशिरोंऽसोऽस्त्री'त्यमर: । विश्रान्तिमदां प्रादाम् । स्वयमेक एवाहमित्यर्थ: । ददातेर्लुङि 'गातिस्थे'त्यादिना सिचो लुक् । तदादि तत्प्रभृति अविश्रममनवरतं 'नोदात्तोपदेश'त्यादिना श्रमेर्घञि वृद्धिप्रतिषेध:, विश्वगो विश्वं गच्छन्नपि 'अन्यत्रापि दृश्यत' इति गमेर्डप्रत्यय: । न श्राम्यामि न खिद्ये ॥ १९ ॥

अन्वय:—कदाचित् विधे: भ्रमणीविलासे श्रमातुरेभ्य: स्वमहत्तरेभ्य: स्कन्धस्य विश्रान्तिम् अदाम् तदादि अविश्रमविश्वग: अपि न श्राम्यामि ।

हिन्दी—किसी समय (एकबार) विधाता के भ्रमण विनोद में (वाहनीभूत) श्रम से थके अपने गुरुजनों के कंधे को मैंने विश्राम दिया था, तब से बिना विश्राम किये विश्वगमन करने पर भी मैं नहीं थकता ।

टिप्पणी—बिना थके विश्वयात्रा करने का कारण यहाँ हंस ने स्पष्ट किया । अपने गुरुजनों की सहायता कर उसने उन्हें सन्तुष्ट किया था, तभी से उसे यात्रा में थकान न आने की क्षमता प्राप्त हुई । काव्यलिंग अलंकार ॥१९॥

बन्धाय दिव्ये न तिरश्चि कश्चित्पाशादिरासादितपौरुषस्स्यात् ।
एकं विना मादृशि तन्नरस्य स्वर्भोगभाग्यं विरलोदयस्य ॥२०॥

जीवातु—अथ व्याधादिबन्धनमपि न मेऽस्तीत्याह-बन्धायेति । मादृशि दिव्ये तिरश्चि विषये विरलोदयस्य दुर्लभजन्मनो नरस्य मर्त्यस्य प्रायेणैवंविधो

नास्तीत्यर्थः। अन्यत्र विरो विगतरेफः स चासौ लोदयो लोदयवांश्च मत्वर्थीयोऽकारः। तस्य रेफस्थानाधिष्ठितलकारस्य नलस्येत्यर्थः। शब्दधर्मोऽर्थ उपचर्यते, भुज्यत इति भोगः सुखं स्वर्गभोगस्य स्वर्गसुखस्य भाग्यं तत्प्रापकादृष्टमित्यर्थः। स्वप्राप्तेस्तत्प्रापकत्वादिति भावः। तदेकं बिना कश्चित् पाशादिः पाशाद्युपायः। बन्धाय बन्धनार्थमासादितपौरुषः प्राप्तव्यापारो न स्यात्। स्वर्भोगभाग्यैकसुलभा वयं, नोपायान्तरसाध्या इत्यर्थः। अस्मादृक्संसर्गादन्यः को नाम स्वर्गपदार्थ इति भावः ॥ २० ॥

अन्वयः—मादृशि दिव्ये तिरश्चि विरलोदयस्य नरस्य एकं स्वर्भोगभाग्यं विना कश्चित् पाशादिः बन्धाय आसादितपौरुषः न स्यात्।

हिन्दी—मेरे समान अलौकिक पक्षी के सम्बन्ध में किसी विरलजन्मा नर के एक स्वर्ग भोगने के भाग्य के अतिरिक्त कोई पाश (जाल) आदि बाँधने में सामर्थ्यशील न होगा।

टिप्पणी—सामान्य पक्षी को जाल में पकड़ा जा सकता है, पर हंस सामान्य नहीं, दिव्य पक्षी है। उसे वही पकड़ सकता है, जिस विरल मनुष्य का स्वर्गभोग-भाग्य हो। अन्य किसी में यह सामर्थ्य नहीं। 'विरलोदस्य नरस्य' का अर्थ 'नल' भी किया जा सकता है। प्रथम सर्ग में वर्णन है कि नल ने हंस को पकड़ लिया था, तो नल ऐसा मर्त्य प्राणी है, जिसमें दिव्य हंस को पकड़ने की क्षमता है। विग्रह है—विगतः रेफः यस्य सः विरः, तस्य विगतरेफस्य स्थाने लस्य उदयः यस्मिंस्तस्य नलस्य अर्थात् जिस 'नर' में से 'र' हटा कर 'ल' का उदय हो गया है, वह 'नर' अर्थात् नल ॥ २० ॥

इष्टेन पूर्तेन नलस्य वश्यास्स्वर्भोगमत्रापि सृजन्त्यमर्त्याः।
महीरुहो दोहदसेकशक्तेराकालिकं कोरकमुद्गिरन्ति ॥ २१ ॥

जीवातु—तच्च भाग्यं नलस्यैवास्तीत्याह—इष्टेनेति। इष्टेन यागेन पूर्तेन खातादिकर्मणा च। 'त्रिष्वथ क्रतुकर्मेष्टं पूर्तं खातादिकर्मणि'त्यमरः। वश्याः वशङ्गता इति प्रागदीव्यतीयो यत्प्रत्ययः। अमर्त्या देवा नलस्यात्रापि भूलोके स्वर्भोगं सृजन्ति स्वर्गसुखं सम्पादयन्तीत्यर्थः। ननु देवाश्च कथं लोकान्तरकायान्तरभोग्यं स्वर्गमिदानीं सृजन्तीत्याशङ्कां दृष्टान्तेन परिहरति।

महीरुहो वृक्षाः दोहदस्य अकालप्रसवोत्पादनद्रव्यस्य सेकस्य जलसेकस्य शक्तेः सामर्थ्यात् सामानकालावाद्यन्तौ उत्पत्तिविनाशावस्येत्याकालिकः उत्पत्त्यनन्तर-विनाशीत्यर्थः । 'आकालिकडाद्यन्तवचन' इति समानकालशब्दस्याकालशब्दादेशे ठञ्प्रत्ययान्तो निपातः । प्रकृते त्वकालभवं कोरकमुद्गिरन्तीत्यर्थः । 'तरुगुल्म-लतादीनामकाले कुशलैः कृतम् । पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रिया' इति शब्दार्णवे । दोहदवशाद् वृक्षा इव देवता अपि उत्कटपुण्यवशाददेशकालेऽपि फलं प्रयच्छन्तीत्यर्थः दृष्टान्तालङ्कारः ॥२१॥

अन्वयः—इष्टेन पूर्तेन वश्याः अमर्त्याः अत्र अपि नलस्य स्वर्भोगं सृजन्ति, महीरुहः दोहदसेकशक्तेः आकालिकं कोरकम् उद्गिरन्ति ।

हिन्दी—यज्ञक्रिया और कूपादि निर्माण इत्यादि से वश में किये जा सकने योग्य अमर्त्य (देव) यहीं (भूलोकों) भी नल के लिए स्वर्गभोगों की सर्जना कर देते हैं, (अमर्त्य अर्थात् मनुष्येतर) भू में उत्पन्न होने वाले वृक्ष खाद और सींचने की शक्ति से असमय (भी) कली उत्पन्न कर देत हैं ।

टिप्पणी—'स्वर्भोगभाग्य' पुण्य कृत्यों से बनता है । यज्ञ, कूप,तडाग आदि के निर्माण से प्रसन्न हो देवता मनुष्य को भूलोक में ही स्वर्ग-सुख-सौभाग्य उपलब्ध कर देते हैं। वृक्ष में असमय कोरक-दर्शन के उदाहरण से कथन को पुष्ट किया गया । दृष्टान्त अलंकार–'अर्थविशेषः पूर्वं याद्दृग्न्यस्तो विवक्षितेतरयोः । ताद्दृशमन्यं न्यस्येद्यत्र पुनः सोऽत्र दृष्टान्तः ॥'—रुद्रट ॥२१॥

सुवर्णशैलादवतीर्य तूर्णं स्वर्वाहिनीवारिकणावकीर्णैः ।
तं वीजयामः स्मरकेलिकाले पक्षैर्नृपं चामरबद्धसख्यैः ॥ २२ ॥

जीवातु—स्वर्भोगमेवाह—सुवर्णेति । सुवर्णशैलान्मेरोस्तूर्णमवतीर्य्य अवरुह्य स्वर्वाहिनीवारिकणावकीर्णैः मन्दाकिनीजलबिन्दुसम्पृक्तैः चामरेषु बद्धसख्यै-स्तत्सदृशैः पक्षैः पतत्रैः स्मरकेलिकाले तं नृपं वीजयामः तादृक्पक्षवीजनैः सुरतश्रान्तिमपनुदाम इत्यर्थः ॥२२॥

अन्वयः—सुवर्णशैलात् तूर्णम् अवतीर्य स्वर्वाहिनीवारिकणावतीर्णैः चामरबद्धसख्यैः पक्षैः स्मरकेलिकाले तं नृपं वीजयामः ।

हिन्दी—स्वर्णशैल सुमेरु से झट उतर कर स्वर्गंगा के जल-कणों से

भ्रमर भँवर के समान (अथवा अमरों (देवों) से सख्य अर्थात् मैत्री रखने वाले) पंखों से सुरतकेलि के समय हम उस राजा पर पंखा झलते हैं।

टिप्पणी—हंस अपने पंखों से नल पर पंखा झलते हैं और देव स्वर्भोगों की सर्जना। इस प्रकार समकर्मा होने के कारण अमरों और हंस-पक्षों में सख्य (मैत्री, सादृश्य) हुआ। साहित्यविद्याधरी के अनुसार उपमा ॥२२॥

क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया।
या स्वौजसां साधयितुं विलासैस्तावत्क्षमा नामपदं बहु स्यात् ॥ २३ ॥

जीवातु—क्रियेतेति। साधुविभक्तिचिन्ता सज्जनविभागविचारः क्रियेत चेत्सा नलाभिधाना व्यक्तिः मूर्तिः प्रथमाभिधेया प्रथमं परिगणनीया। कुतः या व्यक्तिः स्वौजसां विलासैर्व्याप्तिभिः तावद्बहु तथा प्रभूतं नास्ति नामो नतिर्यस्येति—अनाकमनम्रं पदं परराष्ट्रं साधयितुं स्वायत्तीकर्तुं क्षमा समर्था स्यात्। अन्यत्र साधुविभक्तिचिन्ता सतविभक्तिविचारः क्रियेत चेत् यदा सा प्रथमा व्यक्तिः अभिधेया वित्राव्यी, या स्वौजसां 'सु औ जस्' इत्येषां प्रत्ययानां विलासैः विस्तारैस्तावद्बहु अनेकं नामपदं सुबन्तपदं 'वृक्ष' इत्यादिकं पदं साधयितुं निष्पादयितुं क्षमा। अत्राभिधायाः प्रकृतार्थमात्रनियन्त्रितत्वाल्लक्षणाद्या-भ्रानुपपत्त्यभावेनाभावादप्रकृतार्थप्रतीतिर्निध्वंनिरेव ॥ २३ ॥

अन्वयः—साधुविभक्तिचिन्ता क्रियेत चेत् तदा सा व्यक्तिः प्रथमाभिधेया या स्वौजसां विलासैः तावत् बहु अनामपदं (पक्षान्तरे नामपदम्) साधयितुं क्षमा स्यात्।

हिन्दी—(१) नलपक्ष यदि सज्जनों के विभाग की विचारणा की जाय तो वह व्यक्ति (नल) प्रथम कहा जायेगा, जो कि अपने बल-पराक्रम के प्रभाव से अनेक शत्रुओं को अपने अधीन करने में समर्थ है। (२) प्रथमादि विभक्ति पक्ष—यदि विवेकपूर्वक 'सुप्' आदि विभक्तियों का विचार किया जाय तो वह 'प्रथमा' विभक्ति ही प्रथम वाच्य होगी, जो कि सु-औ-जस् (सभी वचनों के प्रत्ययों) के विस्तार (विसर्ग-लोप-आदेश आदि) से अनेक नामपदों (प्रातिपदिकों) को निष्पन्न करने में समर्थ होगी।

टिप्पणी—भाव यह है कि जिस प्रकार व्याकरण शास्त्र में प्रथमा विभक्ति

सबसे महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सब विभक्तियों में वही पहली होती है और उसी के एकवचन, द्विवचन, बहुवचन के सु-औ-जस् प्रत्ययों में विसर्गलोप वृद्धि दीर्घ करके 'वृक्ष' आदि प्रातिपदिकों को सिद्ध किया जाता है, उसी प्रकार सबको अपने शौर्य-औदार्य आदि से स्ववश करने में समर्थ राजा नल ही पृथ्वी मंडल के सज्जनों में अग्रगण्य है। प्रथमा विभक्ति इस कारण भी सर्वप्रधान है कि अन्य किसी विभक्ति की अप्राप्ति में प्रथमा ही होती है—'प्रातिपदिकार्थ-लिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' (अष्टाध्यायी २।३।४६)। कहा भी जाता है—'एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते'। प्रथमा विभक्ति कर्ता कारक की विभक्ति है, कर्ता ही सब कारकों में प्रधान होता है क्योंकि सभी व्यापार कर्ताश्रित ही होते हैं—'व्यापाराश्रयः कर्त्ता।' ऐसे ही राजा नल भी सर्वसामर्थ्यवान् होने के कारण सज्जनों में 'प्रथमाभिधेय' है।

इस पद्य में अभिधाशक्ति के प्रकृतार्थमात्रनियंत्रित होने के कारण और अनुपपत्ति के अभाव के कारण लक्षणा को अवकाश न होने से अप्रकृत (अप्रस्तुत) प्रथमा विभक्त्यर्थ की प्रतीति ध्वनि से होती है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ ध्वनि है, विद्याधर ने यहाँ समासोक्ति मानी है, क्योंकि सामान्यतः प्रथमा सर्वत्र विहित होती है—'सामान्येन प्रथमायाः सर्वत्र विहितत्वात्समासोक्तिरलङ्कारः' ॥ २३ ॥

राजा स यज्वा विबुधव्रजत्रा कृत्वाऽध्वराज्योपमयेव राज्यम् ।
भुङ्क्ते श्रितश्रोत्रियसात्कृतश्रीः पूर्वं त्वहो शेषमशेषमन्त्यम् ॥ २४ ॥

जीवातु—राजेति। 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्', 'सुयजोर्ङ्वनिप्'। श्रिता आश्रिताः ये श्रोत्रियाः छान्दसा अधीतवेदा इत्यर्थः। 'श्रोत्रियच्छान्दसौ समावि'त्यमरः। 'श्रोत्रियश्छन्दोऽधीत' इति निपातः। तत्सात्कृता दानेन तदधीना कृता श्रीः सम्पद्येन सः राजा नलः अध्वरेषु यदाज्यन्तदुपमया तत्सादृश्येनैव तद्वदेवेत्यर्थः। राज्यं विबुधा देवा विद्वांसश्च तद्व्रजत्रा दानेन तत्सङ्घाधीनं कृत्वा 'देये त्रा चे'ति चकारादितरत्र सातिप्रत्ययश्च, तद्धितश्चासर्वविभक्तिरि'त्यव्ययत्वम्, पूर्वं पूर्वनिर्दिष्टमध्वराज्यं शेषं हुतशेषं भुङ्क्ते अन्त्यं पश्चान्निर्दिष्टं राज्यन्त्वशेषं कृत्स्नमखण्डं भुङ्क्ते, अहो उपभुक्तादन्यः शेषः

पूर्वस्याशेषस्य तथात्वम्, अन्त्यस्य अशेषत्वं कथं विरोधादित्याश्चर्यम्, अत एव विरोधाभासोऽलङ्कारः, अखण्डमिति परिहारः ॥ २४ ॥

अन्वयः—श्रितश्रोत्रियसात्कृतश्रीः यज्वा सः राजा अध्वराज्योपमया एव राज्यं विबुधव्रजत्रा कृत्वा अहो, पूर्वं शेषम् अन्त्यम् अशेषं भुङ्क्ते ।

हिन्दी—अपने आश्रयस्थ वेदाध्यायिजनों (श्रोत्रियों) को सम्पत्तिदान करनेवाला, यज्ञकर्ता वह राजा अध्वर (यज्ञ) के घृत के सदृश ही राज्य को विबुधों (विद्वानों-देवों) के समूह के अधीन करके पहिले शेष को भोग करता है, पश्चात् अशेष (सम्पूर्ण) का भोग करता है, यह आश्चर्य है।

टिप्पणी—भाव यह है कि राजा नल विधिपूर्वक यज्ञादि सम्पन्न करता है, विद्वानों, देवों की समान-पूजा करता है और समस्त राज्यैश्वर्य का भोग करता है, अर्थात् धर्मनिष्ठ, दानी और ऐश्वर्यवान् है। 'शेष' और 'अशेष' में विरोध है। जो राज्य पहिले 'शेष' (अवशिष्ट) रह गया है, वह पश्चात् 'अशेष' (सम्पूर्ण) कैसे होगा ? यह विरोध है। परिहार है कि 'शेष' अर्थात् यज्ञ में देवव्रजार्पित 'घृत' और 'अशेष' अर्थात् सम्पूर्ण राज्य, अर्थात् जैसे राजा नल यज्ञ में अर्पित करके यज्ञावशिष्ट घृत का उपभोग करता है, वैसे ही देव और विद्वानों को अर्पित करके सम्पूर्ण राज्य का उपभोग करता है।

नारायण पंडित ने 'अध्वराज्य' का एक और विग्रह किया है—'अध्वनि मार्गे एव यद्राज्यम्' अर्थात् जो राज्य मार्ग में ही है, वह 'सर्वजनोपभोग्य' है राजा नल जो उस समस्त का उपभोग कर लेते हैं, यह विरोध है अतः आश्चर्य-कारण है, परिहार यह है कि सर्व-साधारण को दानयज्ञादि से सन्तुष्ट कर सम्पूर्ण राज्य-भोग करते हैं। भाव यह है कि नल अनेक यज्ञों के कर्त्ता और आसमुद्रधरणी के अधिराज्य का भोग करते हैं।

'शेष-अशेष' के विरोध-परिहार के आधार पर मल्लिनाथ ने यहाँ विरोधा-भास अलंकार माना है, विद्याधर के अनुसार यहाँ छेकानुप्रास और उपमा-उत्प्रेक्षा-व्यतिरेक अलंकारों का संकर है ॥ २४ ॥

दारिद्र्यदारिद्रविणौघवर्षैरमोघमेघव्रतमर्थिसार्थे ।
सन्तुष्टमिष्टानि तमिष्टदेवं नाथन्ति के नाम न लोकनाथम् ॥ २५ ॥

जीवातु—दारिद्र्येति । दारिद्र्यं दारयति निवर्तयतीति तस्य दारिद्र्यदारिणो द्रविणौघस्य धनराशेर्वर्षैरर्थिसार्थे विषये अमोघमेघव्रतं वर्षुकत्वलक्षणं यस्य तं सन्तुष्टं दानहृष्टमिष्टदेवं यज्ञाराधितसुरलोकनाथं तं नलं के नाम इष्टानि न नाथन्ति ? न याचन्ते सर्वेऽपि नाथन्त्येवेत्यर्थः । नाथतेर्याच्ञार्थस्य दुह्यादित्वाद् द्विकर्मकत्वम् ॥ २५ ॥

अन्वयः—दारिद्र्यदारिद्रविणौघवर्षैः अर्थिसार्थे अमोघमेघव्रतं सन्तुष्टम् इष्टदेवं लोकनाथं तं के नाम इष्टानि न नाथन्ति ?

हिन्दी—दरिद्रता को दूर भगानेवाले धन-समूह की वर्षा के द्वारा याचक-समूह के मध्य जिसका मेघव्रत सन्तुष्ट हो गया है (जो राजा नल उस मेघ के समान सन्तुष्ट है, जो जलधार बरसा कर लोक को सुख देकर सन्तुष्ट हो जाता है), इष्टदेव (हित कर राजा अथवा जो देव यज्ञ कर्ता है अथवा जिसे देवता प्रिय हैं), लोकों के स्वामी से कौन इष्ट, धन आदि की याचना नहीं करते हैं ? सभी करते हैं ।

टिप्पणी—राजा नल धारासार जल बरसाने वाले बादल जैसा दानी है, जिससे दान प्राप्त कर सबकी इच्छा पूरी हो जाती है। उससे सारा जगत् उसी प्रकार याचना करता है, जिस प्रकार प्रसन्न ब्रह्मादि देवों से याचना की जाती है । काकु वक्रोक्ति, अनुप्रास और उपमालंकार ॥ २५ ॥

अस्मात्किल श्रोत्रसुधां विधाय रम्भा चिरं भामतुलां नलस्य ।
तत्रानुरक्ता तमनाप्य भेजे तन्नामगन्धान्नलकूबरं सा ॥ २६ ॥

जीवातु—अस्मदिति । सा प्रसिद्धा रम्भा नलस्यातुलामनुपमां भां सौन्दर्यमस्मत् मत्तः श्रोत्रसुधां विधाय कर्णे अमृतं कृत्वा रसादाकर्ण्येत्यर्थः । तत्र तस्मिन्नले अनुरक्ता सती तं नलमनाप्य अप्राप्य, आङ्पूर्वादाप्नोतेः क्त्वो ल्यबादेशः नञ्समासः । अन्यथा त्वसमासे ल्यबादेशो न स्यात् तन्नामगन्धात्तस्य नलस्य नामाक्षरसंस्पर्शाद्धेतोर्नलकूबरं कुबेरात्मजं भेजे किल । तादृक्तस्य सौन्दर्यमिति भावः ॥ २६ ॥

अन्वयः—सा रम्भा नलस्य अतुलां श्राम् अस्मत् चिरं श्रोत्रसुधां विधाय तत्र अनुरक्ता तम् अनाप्य तन्नामगन्धात् नलकूबरं भेजे ।

हिन्दी—वह रम्भा (अप्सरा) नल की अतुलनीय रूप-कांति को हमसे चिरकाल तक कर्णामृत बनाकर उनमें अनुरक्त हो गयी, किन्तु उसको प्राप्त न कर उसके नाम से थोड़ी-सी समानता होने के कारण कुबेर पुत्र नलकूबर को भजने लगी ।

टिप्पणी—पौराणिक कथा का आश्रय बनाकर नल की प्रशंसा । स्वर्ग सुन्दरी रम्भा ने प्रेम के कारण नलकूबर को नहीं स्वीकारा, वह तो इसलिए उसको स्वीकार बैठी कि उसके नाम में भी 'नल' है । नल ही नहीं उसका नाम भी स्वर्ग सुन्दरियों की स्पृहा की वस्तु है । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और उत्प्रेक्षा ॥२६॥

स्वर्लोकमस्माभिरितः प्रयातैः केलीषु तद्गानगुणान्निपीय ।
हा हेति गायन् यदशोचि तेन नाम्नैव हाहा हरिगायनोऽभूत् ॥ २७ ॥

जीवातु—स्वर्लोकमिति । केलीषु विनोदगोष्ठीषु तस्य नलस्य कर्तुर्गानगुणान्निपीय इतः अस्माल्लोकात् स्वर्लोकं प्रयातैरस्माभिर्हरिगायनः इन्द्रगायको गन्धर्वः 'ण्युट् चे'ति गायतेः शिल्पिनि ण्युट्प्रत्ययः । गायन् यद्यस्मात् हाहेत्यशोचि, ततस्तेनैव कारणेन नाम्ना हाहा अभूत्, आलापाक्षरानुकारादिति भावः । 'हाहाहूहूश्चैवमाद्या गन्धर्वास्त्रिदिवौकसामि'त्यमरः । 'आलापाक्षरानुकारनिमित्तोऽयमाकारान्तः पुंसि चे'ति केचित् । 'हा हा खेदे हू हू हर्षे गन्धर्वेऽमू अनव्यय' इति विश्वः । अव्ययमेवेति भोजः अत्र शोकनिमित्तासम्बन्धेऽपि सम्बन्धादतिशयोक्तिः । तथा च गन्धर्वातिशायि गानमस्येति वस्तु व्यज्यते ॥२७॥

अन्वयः—केलीषु तद्गानगुणान् निपीय इतः स्वर्लोकं प्रयातैः अस्माभिः हरिगायनः गायन् यत् हा हा इति अशोचि, तेन नाम्ना एव हाहा अभूत् ।

हिन्दी—विनोदगोष्ठियों में उस (नल) का जो गान होता था, उसके गुणों को सादर सुनकर यहाँ (भूलोक) से स्वर्गलोक में पहुँचे हम (हंसों) ने इन्द्र के गायक के प्रति 'हा-हा' इस प्रकार कह जो खेद प्रकट किया, उसी निन्दा से उसका 'हाहा' नाम पड़ गया ।

टिप्पणी—'हा हा' खेद सूचक अव्यय भी है, और 'हाहा', 'हूहू' नाम के दो गन्धर्व भी कहे जाते हैं। इसी शब्दसाम्य के आधार पर यहाँ असंबंध में संबंध-कथन है, अतः अतिशयोक्ति अलंकार है। भाव यह है कि नल का गान गन्धर्वों से भी अधिक मोहक है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ यह व्यंजित होता है कि नल का गान 'गन्धर्वातिशायि' है ॥२७॥

शृण्वन् सदारस्तदुदारभावं हृष्यन्मुहुर्लोम पुलोमजायाः।
पुण्येन नालोकत नाकपालः प्रमोदबाष्पावृतनेत्रमालः॥ २८॥

जीवातु—शृण्वन्निति। नाकपाल इन्द्रः सदारः सवधूकः तस्य नलस्य उदारभावमौदार्यं शृण्वन्नत एव प्रमोदबाष्पैरानन्दाश्रुभिरावृतनेत्रमालस्तिरोहितदृष्टिव्रजः सन् पुलोमजायाः शच्याः मुहुर्हृष्यन्नलानुरागादुल्लसल्लोमरोमाञ्चं पुण्येन शच्या भाग्येन नालोकत नापश्यत् अन्यथा मानसव्यभिचारापराधाद् दण्ड्येत्यर्थः ॥२८॥

अन्वयः—सदारः नाकपालः तदुदारभावं शृण्वन् प्रमोदबाष्पावृतनेत्रमालः पुलोमजायाः मुहुः हृष्यत् लोम पुण्येन न आलोकत।

हिन्दी—अपनी पत्नी (इन्द्राणी-शची) के सहित स्वर्ग का पालक इन्द्र उस (नल) के औदार्य को सुनता आनन्द अश्रुओं से नेत्र पूर्ण हो जाने के कारण पुलोमसुता शची के बारंबार होते रोमांच को उसके पुण्य के कारण ही न देख पाया।

टिप्पणी—नल के वदान्यभाव को सुनकर इन्द्र तो प्रसन्न होता ही था, जिससे आनन्दाश्रु उसके नेत्रों मे भर जाते थे और वह कुछ भी देखने में असमर्थ रहता था, शची इन्द्राणी के मन में भी नल के प्रति अनुराग उत्पन्न हो रहा था, जिससे वह रोमांचित हो जाती थी। आनन्दाश्रुओं से नेत्र भरे होने से उस रोमांच को इन्द्र न देख पाया। यह इन्द्राणी का कोई पुण्य ही था, अन्यथा पर पुरुष में अनुरागवती पत्नी को पा इन्द्र उसे मानसिक व्यभिचार की अपराधिनी मानने लगता और क्रोध तथा ईर्ष्या से दग्ध हो उसे दंड देता। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और भावोदय अलंकार ॥ २८ ॥

साऽपीश्वरे शृण्वति तद्गुणौघान् प्रसह्य चेतो हरतोऽर्धशम्भुः ।
अभूदपर्णाऽङ्गुलिरुद्धकर्णा कदा न कण्डूयनकैतवेन ? ॥ २९ ॥

जीवातु—सेति । ईश्वरे हरे प्रसह्य चेतो हरतो बलान्मनोहारिणस्तस्य नलस्य गुणौघान् शृण्वति सति सा प्रसिद्धा अर्धं शम्भोरर्धशम्भुः शम्भोरर्धाङ्गभूतेत्यर्थः । तथा चापसरणमशक्यमिति भावः । अपर्णा पार्वत्यपि कदा कण्डूयनकैतवेन कण्डूनोदनव्याजेन अङ्गुल्या रुद्धः पिहितः कर्णौ यया सा नाभूत् अभूदेवेत्यर्थः । अन्यथा चित्तचलनादिति भावः ॥ २९ ॥

अन्वयः—ईश्वरे प्रसह्य चेतः हरतः तद्गुणौघान् शृण्वति सा अर्द्धशम्भुः अपूर्णा अपि कण्डूयनकैतवेन कदा अङ्गुलिरुद्धकर्णा न अभूत् ?

हिन्दी—महादेव के बलात् मनोहरण करनेवाले उस (नल) के गुणों का श्रवण करते समय उस शिव के अर्द्धांश अपर्णा पार्वती ने खुजलाने के व्याज से कब उँगली से अपने कानों को नहीं मूँद लिया ? सदा ही मूँद लिया ।

टिप्पणी—इस श्लोकव्याज से नल के गुणों की आकर्षणशीलता का कथन है । पार्वती उमा शिव की अर्द्धाङ्गिनी है, शिव को अर्द्धनारीश्वर कहा जाता है । शिव-प्राप्ति के लिए उन्होंने तप करते पत्ते खाना भी छोड़ दिया था, इसी से उन्हें 'अपर्णा' कहा गया—'पुनि परिहरे सुखानेउ परना, उमहि नाम तब भयउ अपरना ॥' (रामचरितमानस, बालकांड, ७४।७) । कालिदास ने बताया है—'स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिना परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः । तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः ॥' (कुमारसम्भव ५।२८) । वे पतिव्रताओं में अग्रगण्य हैं, किन्तु उनके पति, उनके अर्द्धांग शिव जब झटिति मनोहरण करनेवाले राजा नल के गुणों का श्रवण करते हैं, उस समय विवशतः पार्वती को भी नल-गुण-श्रवण करना होता है, जिससे पातिव्रत-भंग की आशंका हो जाती है, अतः जब-जब ऐसे अवसर आते हैं, वे कान खुजलाने के बहाने उँगली से कान बंद कर लेती हैं अन्यथा उनका चित्त चंचल हो सकता है । विद्याधर ने उत्पन्न अभिलाष के निगूहन के कारण इस पद्य में व्याजोक्ति अलंकार माना है ॥ २९ ॥

अलं सजन् धर्मविधौ विधाता रुणद्धि मौनस्यमिषेण वाणीम् ।
तत्कण्ठमालिङ्ग्य रसस्य तृप्तां न वेद तां वेदजडः स वक्राम् ॥ ३० ॥

जीवातु—अलमिति। विधाता ब्रह्मा अलमत्यन्तं धर्म्मविधौ सुकृताचरणे सजन् धर्मासक्तः सन्नित्यर्थः। वाणीं स्वभार्य्यां वाग्देवीं वर्णात्मिकाञ्च मौनस्य वाग्यमनव्रतस्य मिषेण रुणद्धि नलकथाप्रसङ्गान्निरुन्धे, तस्या उभय्या अपि तदासङ्गभयादिति भावः। किन्तु वेदजडः छान्दसः विधाता तामुभयीमपि वाणीं तस्य नलस्य कण्ठं ग्रीवामालिङ्ग्य मुखमाश्रित्य च रसस्य तृतां तद्रागमन्तुष्टामन्यत्र शृङ्गारादिरसपुष्टाञ्च। सम्बन्धसामान्ये षष्ठी 'पूरणगुणे' त्यादिना षष्ठीनिषेधादेव ज्ञापकादिति केचित्। वक्रां प्रतिकूलकारिणीं वक्रोक्त्यलङ्कारयुक्ताञ्च न वेद न वेत्ति, 'विदो लटो वे'ति णलादेशः अशक्यरक्षाः स्त्रिय इति भावः। अत्र प्रस्तुतवाग्देवीकथनादप्रस्तुतवर्णात्मकवाणीवृत्तान्तप्रतीतेः प्रागुक्तरीत्या ध्वनिरेवेत्यनुसन्धेयम् ॥ ३० ॥

अन्वयः—धर्मविधौ सजन् विधाता मौनस्य मिषेण अलं वाणीं रुणद्धि (अथवा वाणीं रुणद्धि अलम्), वेदजडः सः तत्कण्ठम् आलिङ्ग्य रसस्य तृप्तां तां वक्रां न वेद।

हिन्दी—धर्माचरण (संध्यावंदनादि) में आसक्त ब्रह्मा मौन के मिस अत्यंतता के साथ (स्वपत्नी) वाणी (वर्णात्मिका वाक् और सरस्वती) का निवारण करते रहते हैं (अथवा वाणी का निवारणार्थं व्यर्थ ही करते हैं), वेदाभ्यास से जड वे उस (नल) के कंठ का आलिंगन कर रस से तृप्त हुई उस वक्रा (प्रतिकूला, वक्रोक्तिरूपा) को नहीं जान पाते।

टिप्पणी—आशय यह है कि नल रसध्वनियुक्ता वक्रोक्ति का पूर्ण ज्ञाता है। इसी आधार पर यह कल्पना की गयी है कि यद्यपि विधाता संध्यादि के बहाने बराबर मौन रहते हैं कि कहीं उनकी वाणी रूपा पत्नी वाक् इस प्रकार बाहर जाकर पर पुरुष को न भजने लगे, पर वाक्, वाणी सरस्वती तो परम चतुरा है, वेदाभ्यासजड, बूढ़े ब्रह्मा जान ही नहीं पाते कि उनकी पत्नी सरस्वती उन्हें छोड़ शृङ्गाररसतृप्ता परपुरुष नल का कंठालिंगन कर आती हैं। शृङ्गारादि रसमयी जो वक्रोक्तियाँ नल के कंठ से उद्भुत होती हैं, वे ही जैसे सरस्वती द्वारा उसके कंठ का आलिंगन है। प्रस्तुत वाग्देवी के कथन से अप्रस्तुत वाणी-व्यापार की प्रतीति हो जाने से

यहाँ मल्लिनाथ के अनुसार ध्वनि है, विद्याधर ने यहाँ छेकानुप्रास, अपह्नुति और समासोक्ति का निर्देश किया है ॥२०॥

श्रियस्तदालिङ्गनभूर्न भूता व्रतक्षतिः काऽपि पतिव्रतायाः।
समस्तभूतात्मतया न भूतं तद्भर्तुरीर्ष्याकलुषाणुनापि ॥ ३१ ॥

जीवातु—श्रिय इति। पतिव्रताया श्रियः श्रीदेव्याः तद्भर्तुर्विष्णोः समस्तभूतात्मतया, सर्वभूतात्मकत्वेन नलस्यापि विष्णुरूपत्वेनेत्यर्थः। तदालिङ्गनभूर्नलाश्लेषभवा कापि व्रतक्षतिः पातिव्रतभङ्गो न भूता नाभूत्। अत एव तद्भर्तुर्विष्णोश्च ईर्ष्यया नलालिङ्गनभुवा अक्षमया यत्कलुषं कालुष्यं मनः क्षोभः दुःखादित्वेन अस्य धर्मधर्मिवचनत्वादत इव क्षीरस्वामी 'शस्तं चाथ त्रिषु द्रव्ये पापं पुण्यं सुखादि चे'त्यत्र आदिशब्दाच्छ्रेयः कलुषशिवभद्रादय इति उभयवचनेषु संजग्राह। तस्याणुना लेशेनापि न भूतं नाभावि। नपुंसके भावे क्तः। अत्र शच्यादिचित्तचाञ्चल्योक्तेर्नलसौन्दर्ये तात्पर्यान्नानौचित्यदोषः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—पतिव्रतायाः श्रियः तद्भर्त्तुः समस्तभूतात्मतया तदालिङ्गनभूः काऽपि व्रतक्षतिः न भूता तद्भर्त्तुः ईर्ष्याकलुषाणुना अपि न भूतम्।

हिन्दी—पतिव्रता श्री (लक्ष्मी) के पति विष्णु के सर्वभूतात्मा होने के कारण उनके उस (नल) के आलिंगन से उत्पन्न किसी प्रकार के पातिव्रत आदि का क्षय नहीं हुआ और (इसी कारण) उनके स्वामी विष्णु के हृदय में ईर्ष्याजनित कालुष्य का अणु भी नहीं उत्पन्न हुआ।

टिप्पणी--शोभासंपन्नता, राज्यलक्ष्मी इत्यादि के कारण नल श्रीसंपन्न है, अर्थात् श्रीद्वारा आलिंगित है, परन्तु फिर भी उनका पातिव्रत-भंग नहीं होता, क्योंकि उनके पति विष्णु ही सर्वभूतात्मा होने से सब में व्याप्त हैं, अर्थात् सब विष्णुरूप ही हैं। नल भी विष्णुरूप है, इस प्रकार लक्ष्मी का पातिव्रत भंग नहीं हुआ। विष्णु के मन में ईर्ष्याजन्य मलिनता भी नहीं उत्पन्न हुई, क्योंकि वे अपनी सर्वभूतात्मता से परिचित हैं। वे जानते हैं कि श्री उनका आलिंगन करके एक प्रकार से समस्त विश्व का ही आलिंगन करती हैं। आशय यह है कि राजा नल विष्णु के समान श्री-शोभा-सामर्थ्य संपन्न है। मल्लिनाथ ने बताया है कि इन श्लोकों में कवि का आशय नल के

सौन्दर्यातिशय का निरूपण करना है, अतएव शची, उमा, सरस्वती और लक्ष्मी के पतिव्रतभंग का अनौचित्य नहीं मानना चाहिए। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार है ॥३१॥

धिक् तं विधेः पाणिमजातलज्जं निर्माति यः पर्वणि पूर्णमिन्दुम्।
मन्ये स विज्ञः स्मृततन्मुखश्रीः कृतार्धमौज्झद्भवमूर्ध्नि यस्तम् ॥३२॥

जीवातु—धिगिति। तमजातलज्जं निस्त्रपं विधेः पाणि धिक् यः पाणिः स्मृततन्मुखश्रीरपि पर्वणि जातवेकवचनं पर्वस्वित्यर्थः। पूर्णमिन्दु निर्माति अद्यापीति भावः। स विज्ञः अभिज्ञ इति मन्ये यः पाणिः स्मृततन्मुखश्रीः सन् तमिन्दुं कृतः अर्द्धं एकोदेशो यस्य तं कृतार्द्धनिर्मितमेव भवमूर्ध्नि हरशिरसि औज्झत्। अतिसौन्दर्ययुक्तमस्यास्यमिति भावः ॥३२॥

अन्वयः—स्मृततन्मुखश्रीः यः पर्वणि पूर्णम् इन्दुं निर्माति अजातलज्जं तं विधेः पाणि धिक्, मन्ये यः भवमूर्ध्नि तं कृतार्द्धम् औज्झत् सः विज्ञः।

हिन्दी—उस (नल) की मुख-शोभा का स्मरण होते हुए भी जो पूर्णिमा को पूर्ण चन्द्र का निर्माण करता है, उस निर्लज्ज विधाता के हाथ को धिक्कार है, मैं मानता हूँ कि जिस (विधिहस्त) ने शिव के मस्तक पर उस (चन्द्र) को आधा रचकर छोड़ दिया, वह विशेषज्ञ है (समझदार है)।

टिप्पणी—एक रमणीय रचना करके उसके पश्चात् उससे उत्कृष्ट ही निर्माण करना उचित है, अथवा एक उत्तम आदर्श देखकर उससे निकृष्ट रचना तो नितांत अनुचित है। विधाता के हाथ ने ऐसा किया। नल का रमणीय मुख देखकर, उसे ध्यान में रखते हुए भी जो वह प्रति पूर्णिमा को पूर्ण चन्द्र का निर्माण करता है, वह अकुशलता ही विज्ञापित करता है, क्योंकि नल के मुख की शोभा के सम्मुख, पूर्ण चन्द्र नगण्य है। हाँ, शिव के मस्तक पर जो उसने चन्द्र को आधा बना के छोड़ दिया, यह चातुरता दिखायी। आशय है कि नल का मुख चन्द्र से कहीं अधिक रमणीय है। उपमेय मुख से उपमान चन्द्र को हीन दिखाने के कारण यहाँ प्रतीप अलंकार है। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में प्रतीप और प्रदीप अलंकार हैं ॥३२॥

निलीयते ह्रीविधुरः स्वजैत्रं श्रुत्वा विधुस्तस्य मुखं मुखान्नः ।
सूरे समुद्रस्य कदापि पूरे कदाचिदभ्रभ्रमदभ्रगर्भे ॥ ३३ ॥

जीवातु—निलीयत इति । विधुश्चन्द्रः स्वस्य जैत्रं, तृजन्तात्प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण् प्रत्ययः । तस्य नलस्य मुखं नोऽस्माकं मुखाच्छ्रुत्वा ह्रीविधुरः लज्जाः विधुरः सन् कदापि सूरे सूर्ये दर्शेष्वित्यर्थः कदापि समुद्रस्य पूरे प्रवाहे तदुत्पन्नत्वात् कदाचिदभ्रभ्रमदभ्रगर्भे आकाशे सञ्चरमाणमेघोदरे निलीयते अन्तर्धत्ते, न कदाचिदग्रतः स्थातुमुत्सहत इति भावः । अत्र विधोः स्वाभाविकसूर्य्यादिप्रवेशे पराजयप्रयुक्तह्रीनिलीनत्वोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या ॥ ३३ ॥

अन्वयः—विधुः नः मुखात् तस्य मुखं स्वजैत्रं श्रुत्वा ह्रीविधुरः कदापि सूरे कदापि समुद्रस्य पूरे अभ्रभ्रमदभ्रगर्भे निलीयते ।

हिन्दी—चन्द्रमा हमारे (हंसों के) मुख से उस (नल) के मुख को स्वजयी (अपने को—चन्द्र को—जीतनेवाला) सुनकर लज्जा से विकल हो कभी (अमावस्या को) सूर्य में कभी (अस्त-काल में) समुद्र के प्रवाह में और कभी (वर्षाकाल में) आकाश में भ्रमण करने वाले बादलों के मध्य छिप जाता है ।

टिप्पणी—इस श्लोक में भी अन्य भंगिमा से चन्द्र की अपेक्षा नलमुख को रमणीय बतलाया गया है । स्वविजयी के भय से सभी जहाँ स्थान मिलता है, वहीं छिप जाते हैं । ऐसा ही चन्द्र भी करता है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ गम्या उत्प्रेक्षा है, विद्याधर ने समासोक्ति और पर्याय अलङ्कारों का निर्देश किया है ॥ ३३ ॥

संज्ञाप्य नः स्वध्वजभृत्यवर्गान् दैत्यारिरत्यब्जनलास्यनुत्यै ।
तत्संकुचन्नाभिसरोजपीताद्धातुर्विलज्जं रमते रमायाम् ॥ ३४ ॥

जीवातु—संज्ञाप्येति । दैत्यारिः विष्णुः स्वध्वजस्य गरुडस्य पक्षिराजस्य भृत्यवर्गान्नोऽस्मान् अतिक्रान्तमब्जमत्यब्जमब्जविजयीत्यर्थः । 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयये'ति समासः । तस्य नलास्यस्य नुत्यै स्तोत्राय, 'स्तवः स्तोत्रं स्तुतिर्नुतिरि'त्यमरः । संज्ञाप्य तत्संकुचता तया नुत्या निमीलतानाभिसरोजेन पीता-

त्तिरोहिताद्धातुर्ब्रह्मणो विलज्जं यथा तथा रमायां रमते। अत्र विष्णोरुक्त-व्यापारासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—दैत्यारिः स्वध्वजभृत्यवर्गान् नः अत्यब्जनलास्यनुत्यै संज्ञाप्य धातुः तत्सङ्कुचन्नाभिसरोजपीतात् रमायां विलज्जं रमते।

हिन्दी—दैत्यरिपु (विष्णु) अपने ध्वज (गरुड) के सेवकगण हम (हंसों) को कमल को अतिक्रांत करने वाले (जयी) नल-मुख की स्तुति के निमित्त आज्ञा देकर विधाता के (लज्जा से) मुंद गये उस नाभि-कमल में छिप जाने के कारण लक्ष्मी के साथ लज्जा छोड़कर रमण करते हैं।

टिप्पणी—बूढ़े ब्रह्मा लज्जा से मुंदे विष्णु के कमल में छिप गये, एकांत हो गया, परिणामतः विष्णु की लज्जा का कारण न रहा। आशय यह कि विष्णु-नाभि, सरोज से भी नल-मुख अधिक शोभाशाली है। मल्लिनाथ के अनुसार असंबंध में संबंध कथन के कारण अतिशयोक्ति, विद्याधर के अनुसार प्रतीप अलंकार ॥ ३४ ॥

रेखाभिरास्ये गणनादिवास्य द्वात्रिंशता दन्तमयीभिरन्तः।
चतुर्दशाष्टादश चात्र विद्या द्वेधाऽपि सन्तीति शशंस वेधाः ॥ ३५ ॥

जीवातु—रेखाभिरिति। अस्य नलस्य आस्ये दन्तमयीभिर्दन्तरूपाभिर्द्वात्रिंशतारेखाभिर्गणनात्संख्यानाच्चतुर्दश चाष्टादश च विद्या द्वेधा अपि अत्र आस्ये सन्ति सम्भवन्त्यायेनेति वेधाः शशंसेवेत्युत्प्रेक्षा। 'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। पुराणं धर्मशास्त्रञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥ आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेत्यनुक्रमात्। अर्थशास्त्रं परं तस्माद्विद्या ह्यष्टादश स्मृताः ॥' इति ॥ ३५ ॥

अन्वयः—वेधाः अस्य आस्ये द्वात्रिंशता दन्तमयीभिः रेखाभिः गणनात् चतुर्दश अष्टादश च विद्याः द्वेधा अपि अत्र सन्ति—इति शशंस इव।

हिन्दी—विधाता ने इस (नल) के मुख में बत्तीस दाँतों की रेखाओं से गणना करके चौदह और अठारह विद्याएं दोनो ही प्रकार से यहाँ है—मानो यह कहा।

टिप्पणी —प्रथम सर्ग में नल को सर्वविद्याओं का ज्ञाता बताया गया है (दर्शनीय १।४-५), यहाँ अन्य भंगिमा से उसी का पुनः प्रतिपादन । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार सापह्नवोत्प्रेक्षा ॥३५॥

श्रियौ नरेन्द्रस्य निरीक्ष्य तस्य स्मरामरेन्द्रावपि न स्मरामः ।
वासेन सम्यक् क्षमयोश्च तस्मिन् बुद्धौ न दध्मः खलु शेषबुद्धौ ॥ ३६ ॥

जीवातु—श्रियाविति । तस्य नरेन्द्रस्य श्रियौ सौन्दर्यसम्पत्तौ निरीक्ष्य, 'शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मीः श्रीरि'ति शाश्वतः । स्मरामरेन्द्रावपि न स्मरामः किं च तस्मिन्नरेन्द्रे क्षमयोः क्षितिक्षान्त्योः 'क्षितिक्षान्त्योः क्षमे'त्यमरः । सम्यग्वासेन निर्बाधस्थित्या शेषबुद्धौ फणिपतिबुद्धदेवौ चित्ते न दध्मः न धारयामः खलु । अत्र द्वयोरपि श्रियोः द्वयोरपि क्षमयोः प्रकृतत्वात् केवलप्रकृतश्लेषः । एतेन सौन्दर्यादिगुणैः स्मरादिभ्योऽप्यधिक इति व्यतिरेको व्यज्यते । श्लेषयथासंख्ययोः सङ्करः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—तस्य नरेन्द्रस्य श्रियौ निरीक्ष्य स्मरामरेन्द्रौ अपि न स्मरामः तस्मिन् क्षमयोः सम्यक् वासेन बुद्धौ शेषबुद्धौ न दध्म खलु ।

हिन्दी—उस राजा (नल) की दोनों शोभाओं (देह-सौन्दर्य और धनसम्पत्ति) को देखकर हम कामदेव और देवराज का भी स्मरण नहीं करते और उसमें दोनों क्षमाओं (पृथ्वी तथा क्षान्ति) की भलीभाँति स्थिति देखकर बुद्धि में शेषनाग और तथागत बुद्ध को भी नहीं धरते ।

टिप्पणी—आशय यह कि राजा नल काम से भी अधिक सुन्दर, देवराज इन्द्र से भी अधिक समृद्ध, शेषना से भी अधिक क्षमता से धरा का धारण करने वाले और तथागत गौतम बुद्ध से भी अधिक क्षमाशील हैं । विद्याधर ने यहाँ यथासंख्य का निर्देश किया है, मल्लिनाथ व्यतिरेक का व्यंजित होना और श्लेष-यथासंख्य का संकर मानते हैं ॥ ३६ ॥

विना पतत्रं विनतातनूजैस्समीरणैरीक्षणलक्षणीयैः ।
मनोभिरासीदनणुप्रमाणैर्न निर्जिता दिक्कतमा तदश्वैः ॥ ३७ ॥

जीवातु—विनेति । पतत्रं विना स्थितैरिति शेषः । विनतातनूजैः वैनतेयैः, अपक्षतार्क्ष्यैरित्यर्थः । ईक्षणलक्षणीयैः समीरणैश्चाक्षुषवायुभिः अनणु-

प्रमाणैः 'अणुपरिमाणं मन' इति तार्किकाः, तद्विपरीतैर्महापरिमाणैर्मनोभिर्वै-नतेयादिसमानवेगैरित्यर्थः। एवंविधैः तदश्वैः कतमा दिक् न लङ्घिताऽऽसीत् ? सर्वापि लङ्घितैवासीदित्यर्थः। अत्राश्वानां विशिष्टवैनतेयादित्वेन निरूपणा-द्रूपकालङ्कारः ॥३७॥

अन्वयः—पतत्रं विना विनतातनूजैः ईक्षणलक्षणीयैः समीरणैः अनणुप्रमाणैः मनोभिः तदश्वैः कतमा दिक् न लङ्घिता आसीत् ?

हिन्दी—पंखरहित गरुडों, आँखों से देखे जानेवाले पवन और अनणु-प्रमाण (विशाल) मन के सदृश उसके घोड़ों ने कौन-सी दिशा को नहीं लांघ डाला ? सभी को लांघ डाला।

टिप्पणी—राजा नल के अश्व वैनतेय गरुड, वायु और मन के समान वेगशाली हैं, इस प्रकार वे बिना पंख के गरुड, लोचनगोचर पवन और अनणुपरिमाण मन-जैसे हैं। स्पष्ट है कि गरुड पंखवाला, समीरण अदृग्गोचर मन अणुपरिमाण माना जाता है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ रूपक और विद्याधर के अनुसार विभावना है ॥३७॥

संग्रामभूमीषु भवत्यरीणामस्त्रैर्नदीमातृकतां गतासु।
तद्बाणधारापवनाशनानां राजव्रजीयैरसुभिस्सुभिक्षम् ॥ ३८ ॥

जीवातु—संग्रामेति। अरीणामस्त्रैरसृग्भिर्नद्येव माता यासां तास्तासां भावस्तत्ता नदीमातृकता नद्यम्बुसम्पन्नशस्याढचता, 'देशो नद्यम्बुवृष्टयम्बु-सम्पन्नव्रीहिपालितः। स्यान्नदीमातृको देवमातृकश्च यथाक्रममि'त्यमरः। 'नद्यृतश्चे'ति कप्, 'त्वतलोर्गुणवचनस्ये'ति पुंवद्भावः। तां गतासु संग्रामभूमीषु तस्य नलस्य बाणधारा बाणपरम्परास्ता एव पवनाशनास्तेषां राजव्रजीयैः राजसंघसम्बन्धिभिः, 'वृद्धाच्छः'। असुभिः प्राणवायुभिः सुभिक्षम्। भिक्षाणां समृद्धिर्भवति समृद्धावव्ययीभावः। नदीमातृकदेशेषु सुभिक्षं भवतीति भावः। रूपकालङ्कारः ॥३८॥

अन्वयः—अरीणाम् अस्त्रैः नदीमातृकतां गतासु सङ्ग्रामभूमीषु राजव्रजीयैः असुभिः तद्बाणधारापवनाशनानां सुभिक्षं भवति।

हिन्दी—शत्रुओं के रुधिर से 'नदीमातृक' (नहरों, नदियों आदि से परिषिक्त) बनी रणभूमियों में राज-समूह के प्राणों से उस (नल) की बाणधारा-रूप वायुभक्षी सर्पों के लिए सुभिक्ष बन जाता है।

टिप्पणी—जिस प्रकार नदी-नहर आदि से सींची गयी भूमि में प्रचुर अन्न उत्पन्न होता है और उन 'नदीमातृक' भूमि के वासियों के लिए वहाँ सुकाल हो जाता है, ऐसे ही प्रभूत शत्रु नरेशों के हत होने से बहे रुधिर से रणभूमियाँ सिंच जाती हैं और राजा नल के शत्रु-प्राणहर बाणरूप सर्पों के लिए शत्रुओं के निर्गत प्राणवायु रूप खाद्य की प्रचुरता से उपज हो जाती है। भाव यह है कि नल संग्राम-क्षेत्र में सभी शत्रुओं को मारकर भूमि को रुधिर से परिप्लावित कर देते हैं। रूपक अलंकार ॥३८॥

यशो यदस्याजनि संयुगेषु कण्डूलभावं भजता भुजेन।
हेतोर्गुणादेव दिगापगालीकूलंकषत्वं व्यसनं तदीयम् ॥ ३९ ॥

जीवातु—यश इति। संयुगेषु समरेषु कण्डूलभावं कण्डूलत्वं, 'सिध्मादिभ्यश्चे'ति मत्वर्थीयो लच्। भजता अस्य भुजेन यद्यशः अजनि जनितं, जनेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ्। तदीयं तस्य यश सम्बन्धि दिशः एव आपगाः नद्यः तासामालिः राजि तस्याः कूलङ्कषतीति कूलङ्कषं, शिवभागवतवत्समासः, 'सर्वकूले'त्यादिना खचि मुमागमः। तस्य भावस्तत्त्वं तत्र व्यसनमासक्तिः हेतोः कारणस्य भुजस्य गुणादेव कण्डूलत्वादागतमिति शेषः। यशसो दिक्कूलकषणानुमितायाः कण्डूलतायाः तत्कारणकण्डूलभुजगुणपूर्व्वत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥३९॥

अन्वयः—कण्डूलभावं भजता अस्य भुजेन संयुगेषु यत् यशः अजनि तदीयं दिगापगालीकूलंकषत्वं व्यसनं हेतोः गुणात् एव।

हिन्दी—खुजली मिटाते इस (नल) के बाहु ने संग्रामों में जो यश अर्जित किया, उस यश में दिशारूप नदियों की पंक्तियों के किनारों को रगड़कर तोड़ डालना रूप व्यसन कारण के गुण से ही आया है।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल की भुजाएँ समर में शत्रुओं को मारकर अपनी खुजली मिटाती रहती हैं, इस प्रकार खुजलाना भुजा का व्यसन बन गया है। तो इस खुजलाहट के फलस्वरूप शत्रु-विजय कर जिस यश की उत्पत्ति

होती है, 'कारण-गुण कार्य में भी आते हैं'—इस नियम से कार्य-स्वरूप उस यश का भी खुजलाना व्यसन बन गया है। सो नल का यश भी दिशा रूप नदियों के किनारे खुजलाहट मिटाने को रगड़-रगड़ कर तोड़ डालता है। अर्थात् नल का यश विस्तार में असीम है, भूगोल की कोई सीमा उसे बाँध नहीं पाती। सब दिशाओं में व्याप्त है उसका यश। मल्लिनाथ ने यहाँ उत्प्रेक्षा का संकेत दिया है, विद्याधर के अनुसार यहाँ रूपक है ॥ ३९ ॥

यदि त्रिलोकी गणनापरा स्यात्तस्याः समाप्तिर्यदि नायुषः स्यात् ।
पारेपरार्द्धं गणितं यदि स्याद् गणेयनिःशेषगुणोऽपि स स्यात् ॥४०॥

जीवातु—यदीति। किं बहुना, त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी 'तद्धितार्थे'त्यादिना समाहारे द्विगुः, अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते, 'द्विगो'रिति ङीप्। गणना परा नलगणसंख्यानतत्परा स्याद्यदि तस्याः त्रिलोक्याः आयुषः समाप्तिर्न स्याद्यदि अमरत्वं यदि स्यादित्यर्थः। परार्द्धस्य चरमसंख्यायाः पारे पारेपरार्द्धं, 'पारे मध्ये षष्ठ्या वे'ति अव्ययीभावः गणितं स्यात्परार्द्धात्परतोऽपि यदि संख्या स्यादित्यर्थः। तदा स नलोऽपि गणेया गणितुं शक्याः निःशेषा निखिला गुणा यस्य स स्यात्, गणेय इति औणादिक एयप्रत्ययः। अत्र गुणानां गणेयत्वासम्बन्धेऽपि सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिः ॥ ४० ॥

अन्वयः—यदि त्रिलोकी गणनापरा स्यात् यदि तस्याः आयुषः समाप्तिः न स्यात् यदि गणितं पारेपरार्द्धं स्यात् सः अपि गणेयनिःशेषगुणः स्यात्।

हिन्दी—यदि तीनों लोक गणना में तत्पर हो जायें, और उन (गणना पर त्रिलोक) की आयु की समाप्ति न हो, और यदि गणित-विज्ञान चरम संख्या को पार कर ले, तब भी उस (नल) के समग्र गुणों की गणना संभव नहीं है।

टिप्पणी—आशय यह है कि तीनों लोकों के प्राणी सदा जीवित रहकर भी नल के गुणों को गिनती करने बैठें और गणना करने के लिए जो गणित-विज्ञान में चरम संख्या निर्धारित की गयी है, वह भी पार कर ली जाय, तब भी नल के गुण नहीं गिने जा सकते। अगणनीय हैं सर्वथा वे। मल्लि-

नाथ के अनुसार सम्बन्ध में भी असम्बन्धकथन के कारण अतिशयोक्ति है। चन्द्रालोककार जयदेव-द्वारा निर्दिष्ट 'संभावन' अलंकार की भी यहाँ सम्भावना है ॥ ४० ॥

अबारितद्वारतया तिरश्चामन्तःपुरे तस्य निविश्य राज्ञः।
गतेषु रम्येष्वधिकं विशेषमध्यापयामः परमाणुमध्याः ॥ ४१ ॥

जीवातु—एवं नलगुणाननुवर्ण्य गूढाभिसन्धिनाऽऽत्मनस्तदन्तःपुरेऽपि परिचयं दर्शयति—अबारितेत्यादि। तिरश्चां पक्षिणामबारितद्वारतया अप्रतिषिद्धप्रवेशतयेत्यर्थः। तस्य राज्ञो नलस्यान्तःपुरे निविश्य अवस्थाय परमाणुमध्यास्तदङ्गनाः रम्येषु गतेषु अधिकमपूर्वं विशेषं भेदमध्यापयामः अभ्यासयामः। दुहादित्वाद् द्विकर्मकत्वम् ॥ ४१ ॥

अन्वयः—तिरश्चाम् अबारितद्वारतया तस्य राज्ञः अन्तःपुरे निविश्य परमाणुमध्याः रम्येषु गतेषु अधिकं विशेषम् अध्यापयामः।

हिन्दी—पक्षियों के निमित्त द्वार बन्द न होने से उस राजा के अंतःपुर में प्रविष्ट हो हम परमाणु के समान कृश कटिवाली ललनाओं को रमणीय गतियों के विषय में और भी लोकोत्तर विशेषता लाने का पाठ पढ़ाया करते हैं।

टिप्पणी—भाव यह कि राजा नल के रनिवास में अत्यन्त कृश कटिवाली और रमणीय गति वाली ललनाएँ हैं। विद्याधर के अनुसार लुप्तोपमा अलङ्कार ॥ ४१ ॥

पीयूषधारानधराभिरन्तस्तासां रसोदन्वति मज्जयामः।
रम्भादिसौभाग्यरहःकथाभिः काव्येन काव्यं सृजताऽऽदृताभिः ॥ ४२ ॥

जीवातु—पीयूषेति। किं च पीयूषधाराभ्यः अनवराभिरयूनाभिरमृतसमानाभिः काव्यं सृजता स्वयं प्रबन्धकर्त्रा, कवेरपत्यं पुमान् काव्यस्तेन, शुक्रो दैत्यगुरुः काव्य' इत्यमरः। 'कुर्वादिभ्यो ण्य' इति ण्यप्रत्ययः। आदृताभिरस्यापि विस्मयकारीभिरित्यर्थः। रम्भादीनां दिव्यस्त्रीणां सौभाग्यं पतिवाल्लभ्यं तत्प्रयुक्ताभिः रहःकथाभि रहस्यवृत्तान्तवर्णनाभिस्तासां नलान्तःपुरस्त्रीणामन्तरन्तःकरणं रसोदन्वति शृङ्गाररससागरे मज्जयामः अवगाहयामः ॥४२॥

अन्वयः—पीयूषधारानधराभिः काव्यं सृजता काव्येन आदृताभिः रम्भादिसौभाग्यरहःकथाभिः तासाम् अन्तः रसोदन्वति मज्जयामः।

हिन्दी—अमृतधाराओं से अन्यून काव्य के कर्ता काव्य (शुक्राचार्य) से आहृत (शुक्राचार्य के काव्य में वर्णित) रंभादि अप्सराओं के सौभाग्य की रहस्यमयी कथाओं के द्वारा हम उन (ललनाओं) के अन्तःकरण को इस सागर में मज्जित कराते रहते हैं।

टिप्पणी—नलांतःपुर-ललनाएँ न केवल सुदेहा और हंसगामिनी हैं, प्रत्युत हम से अप्सरियों की रहस्यकथाएँ सुन-सुन अप्सराओं के समान मोहक और पुरुषवशीकरण में समर्थ तथा रसमयी हो गयी हैं। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और उपमा अलंकार ॥ ४२ ॥

काभिर्न तत्राभिनवस्मराज्ञाविश्वासनिक्षेपवणिक् क्रियेऽहम् ?।
जिह्रेति यन्नैव कुतोऽपि तिर्यक्कश्चित्तिरश्चस्त्रपते न तेन ॥ ४३ ॥

जीवातु—काभिरिति। किञ्च यद्यस्मात् तिर्यक् पक्षी कुतोऽपि जनान्न जिह्रेति न लज्जत एव ह्री–लज्जायामिति धातोर्लट्, 'श्लावि'ति द्विर्भावः। तिरश्चोऽपि कश्चिज्जनो न त्रपते न लज्जते, तेन कारणेन तत्रान्तःपुरे काभिस्त्रीभिरहमभिनवा अपूर्वा स्मराज्ञा रतिरहस्यवृत्तान्तः सैव विश्वास-निक्षेपो विश्वासेन गोप्यार्थः। तस्य वणिक् गोप्ता न क्रिये न कृतोऽस्मि ?। सर्वासामप्यहमेव विस्रम्भकथापात्रमस्मीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—यत् तिर्यक् कुतः अपि नैव जिह्रेति, तिरश्चः कश्चित् अपि न त्रपते तेन तत्र काभिः अहम् अभिनवस्मराज्ञाविश्वासनिक्षेपवणिक् न क्रिये ?

हिन्दी—क्योंकि पक्षी कहीं भी लज्जा नहीं करता और पक्षियों से कोई भी लज्जा नहीं करता इससे वहाँ किन ललनाओं ने मुझे अतिनवीन (गोपनीय) कामाज्ञा को रख लेने का विश्वासी व्यापारी नहीं बनाया ? सभी ने बनाया।

टिप्पणी—पक्षी लज्जा के कारण नहीं होते, अतः नलांतःपुर की ललनाओं के नितनूतन गोपनीय कामव्यापार हंस के संमुख चलते रहते हैं। भाव यह कि हंस नल-राज्य-विषयक निगूढ व्यापारों का भी वेत्ता है, इसके साथ ही विश्व-सनीय भी है अर्थात् दमयन्ती भी उस पर विश्वास करके अपने गूढ़ व्यापार उसे बता सकती है, वह प्रकट न होगा। विद्याधर के अनुसार रूपक और काव्यलिंग अलंकार ॥ ४३ ॥

वार्ता च साऽसत्यपि नान्यथेति योगादरन्ध्रे हृदि तां निरुन्धे ।
विरञ्चिनानाननवादधौतसमाधिशास्त्रश्रुतिपूर्णकर्णः ॥ ४४ ॥

जीवातु—अथ स्वस्य एवंविधविश्वासहेतुत्वमाह—वार्तेति । विरञ्चेर्ब्रह्मणो नानाननैर्बहुमुखैर्वादेन व्याख्यानेन धौतस्य शोधितस्य समाधिशास्त्रस्य संयमविद्यायाः श्रुत्या श्रवणेन पूर्णकर्णः चतुर्मुखाभ्यस्तवाङ्नियमविद्य इत्यर्थः । अहमिति शेषः । योगात् अरन्ध्रे निरवकाशे पूर्णे हृदि हृदये यां वार्त्तां निरुन्धे, सा वार्त्ता लोकवार्त्ता किमुत रहस्यवार्त्तेति भावः । असत्यपि विनोदार्थं कथितापि, किमुत सतीति भावः । असत्यपि अन्यपुरुषान्तरं नैति न गच्छति । यथा ह्यसती दुश्चरी नीरन्ध्रस्थाने निरुद्धा नान्यमेति तद्वदिति भावः । अतोऽहमासां विश्वास्य इति पूर्वेणान्वयः । अत्र वार्त्तानिरोधस्य विरञ्चीत्यादिपदार्थहेतुत्वात् काव्यलिङ्गभेदः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—विरञ्चिनाननवादधौतसमाधिशास्त्रश्रुतिकर्णपूर्णः योगात् अरन्ध्रे हृदि यां निरुन्धे सा वार्ता असती अपि अन्यं न एति ।

हिन्दी—ब्रह्मा के अनेक (चार) मुखों के कथन द्वारा पवित्र किये गये योगशास्त्र के श्रवण से जिसके कान पूर्ण हैं ऐसा मैं प्रयत्नपूर्वक नीरंध्र (अभेद्य, निर्दोष) हृदय में जिसे छिपा रखता हूँ, वह बात झूठी परिहास कथा होने पर भी अन्य व्यक्ति के पास नहीं जाती ।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में संकेतित अपनी विश्वसनीयता को और भी दृढ़ बनाने का प्रयत्न । ब्रह्मा के संबंध से योगवार्ता का ज्ञानी हंस निर्दोष और स्ववशीकृत मन का स्वामी है । उसका हृदय छिद्ररहित है, इस कारण कोई बात उससे बाहर जा ही नहीं सकती । जिस प्रकार 'असती' अर्थात् कुलटा नारी भी रोक लिये जाने पर बाहर जाकर परपुरुष से नहीं मिल सकती, उसी प्रकार बात 'असती' अर्थात् असत्य या परिहासपूर्ण होने पर भी हंस के छिद्ररहित हृदय में निरुद्ध हो किसी अन्य व्यक्ति के कान नहीं पड़ सकती । काव्यलिंग अलंकार ॥ ४४ ॥

नलाश्रयेण त्रिदिवोपभोगं तवानवाप्यं लभते ततान्या ।
कुमुद्वतीवेन्दुपरिग्रहेण ज्योत्स्नोत्सवं दुर्लभमम्बुजिन्याः ॥ ४५ ॥

जीवातु--अथ श्लोकद्वयेन अस्या नलानुरागमुद्दीपयति—नलेत्यादि। तवानवाप्यं नलपरिग्रहाभावात्त्वया दुरापं 'कृत्यानां कर्त्तरि वे'ति षष्ठी तृतीयार्थे। त्रिदिवः स्वर्गः पृषोदरादित्वात् साधुः। तस्य उपभोगं तादृग् भोगमित्यर्थः। तस्येन्द्रसदृशैश्वर्यत्वादिति भावः। अम्बुजिन्या दुर्लभमिन्दुपरिग्रहाभावात्तया दुरापं ज्योत्स्नोत्सवं चन्द्रिकाभोगम् इन्दोः कर्त्तुः परिग्रहेण कुमुदान्यस्यां सन्तीति कुमुदिनीव, 'कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्' 'मादुपधायाश्चे'-त्यादिना मकारस्य वकारः। नलस्य कर्त्तुराश्रयेण नलस्वीकरणेन अन्या लभते, बतेति खेदे। ईदृग्भोगोपेक्षिणी त्वं बुद्धिमान्द्यात् न शोचसि इति भावः॥४५॥

अन्वयः—अम्बुजिन्या दुर्लभं ज्योत्स्नोत्सवम् इन्दुपरिग्रहेण कुमुद्वती इव तव अनवाप्यं त्रिदिवोपभोगं नलाश्रयेण अन्या लभते बत!

हिन्दी--जैसे कमलिनी को दुर्लभ चाँदनी का भोग चन्द्र के अंगीकरण से कुमुदिनी प्राप्त कर लेती है, वैसे ही तुझे अप्राप्य स्वर्गोपभोग नल का आश्रय लेकर कोई दूसरी प्राप्त कर रही है, यह खेद की बात है।

टिप्पणी—नल की प्रशंसा करने के पश्चात् दमयन्ती के मन में उसके प्रति राग उत्पन्न करने का प्रयास। दमयन्ती निश्चयतः स्वर्गानन्द के उपभोग योग्य है, पर वह संभव नल-परिग्रह से ही है। विद्याधर के अनुसार उपमा अलंकार॥४५॥

तन्नैषधानूढतया दुरापं शर्म त्वदाऽस्मत्कृतचाटुजन्म।
रसालवल्ल्या मधुपानुविद्धं सौभाग्यमप्राप्तवसन्तयेव॥४६॥

जीवातु—तावति। किञ्च तत्प्रसिद्धमस्माभिः कृतेभ्यः प्रयुक्तेभ्यश्चाटुभ्यः प्रियवाक्येभ्यो जन्म तस्य तत्तज्जन्यमित्यर्थः। चाटुग्रहणं पूर्वोक्तनिजवक्षबीजनाद्युपलक्षणं, शर्म सुखं त्वया अप्राप्तो वसन्तो यया तया वसन्तानधिष्ठितयेत्यर्थः। रसालवल्ल्या सहकारश्रेण्या मधुपानुबिद्धं सौभाग्यं रामणीयकमिव नैषधेन नलेन अनूढतया अपरिणीतत्वेन हेतुना दुरापन्तस्मात्ते नलपरिग्रहाय यत्नः कार्य्य इति भावः॥४६॥

अन्वयः—तत् अस्मत्कृतचाटुजन्म शर्म त्वया अप्राप्तवसन्तया रसालवल्ल्या मधुपानुविद्धं सौभाग्यम् इव नैषधानूढतया दुरापम्।

हिन्दी—वह हमारे प्रिय वचनों से जनित आनन्द जैसे वसन्त जिसे प्राप्त नहीं हुआ है, उस आम्रवल्लरी को भ्रमरकृत सौभाग्य (मकरंद का आस्वादन, गुंजार आदि) नहीं प्राप्त होता है, वैसे ही निषधराज से अविवाहित तुम्हें दुष्प्राप है ।

टिप्पणी—आज जो हंस द्वारा निर्दिष्ट सुख-भोग दमयन्ती को प्राप्त नहीं है, वे नल से विवाह कर लेने पर प्राप्त हो सकेंगे । पूर्वश्लोक में अम्बुजिनी के उपमान से यही सूचित किया गया था, यहाँ आम्रवल्ली के उपमान से सूचित है । उपमा अलंकार ॥४६॥

तस्यैव वा यास्यसि किं न हस्तं दृष्टं विधेः केन मनः प्रविश्य ? ।
अजातपाणिग्रहणाऽसि तावद्रूपस्वरूपातिशयाश्रयश्च ॥४७॥

जीवातु—अथ पुनरस्या नलप्राप्त्याशां जनयन्नाह तस्येत्यादि । यद्वा तस्य नलस्यैव हस्तं किं यास्यसि ? यास्यस्येवेत्यर्थः । केन विधेर्मन एव प्रविश्य दृष्टं, विध्यानुकूल्यमपि सम्भावितमिति भावः । कुतस्तावदद्यापि अजात-पाणिग्रहणा अकृतविवाहा असि तवायं विवाहविलम्बोऽपि नलपरिग्रहणार्थमेव किं न स्यादिति भावः । रूपं सौन्दर्यं स्वरूपं स्वभावः शीलमिति यावत् । तयोरतिशयः प्रकर्षस्तस्याश्रयश्चासि । योग्यगुणाश्रयत्वाच्च तद्धस्तमेव गमिष्यसीति भावः ॥४७॥

अन्वयः—तस्य एव हस्तं वा किं न यास्यसि ? विधेः मनः केन प्रविश्य दृष्टम् ? अजातपाणिग्रहणा रूपस्वरूपातिशयाश्रयः च तावत् असि ।

हिन्दी—तुम उस (नल) के ही हाथ में क्यों न जाओगी ? विधाता के मन किसने घुस कर देखा है ? अविवाहिता और रूप (सुन्दरता) तथा स्वरूप (स्वभाव-शील) के आश्रय की स्थली हो । अथवा रूप-स्वरूप अर्थात् सहज सौन्दर्य की तुम आश्रय हो ।

टिप्पणी—नल से दमयन्ती का विवाह असम्भावित नहीं है । सम्भव है कदाचित् अदृष्ट विधाता की यही इच्छा हो, कौन जान सकता है ? स्थिति तो अनुकूल ही है । दमयन्ती अविवाहिता है और अटूट सहज सौन्दर्यशालिनी और शीलगुणवती भी ॥४७॥

निशाशशाङ्कं शिवया गिरीशं श्रिया हरिं योजयतः प्रतीतः।
विधेरपि स्वारसिकः प्रयासः परस्परं योग्यसमागमाय ॥४८॥

जीवातु—सत्यं विधिसङ्कल्पस्तु दुर्ज्ञेय इत्यत आह—निशेति। निशा निशया 'पद्दन्नि'त्यादिना निशादेशः। शशाङ्कम्, शिवया गौर्या गिरीशं शिवं, श्रिया लक्ष्म्या हरिं च योजयतो विधेः प्रयासो यत्नोऽपि परस्परं योग्यसमागमाय योग्यसङ्घटनायैव स्वारसिकः स्वरसप्रवृत्तः प्रतीतः प्रसिद्धः ज्ञातः। निशाशशाङ्कादिदृष्टान्ताद्विधिसङ्कल्पोऽपि सुज्ञेय इति भावः ॥४८॥

अन्वयः—निशाशशाङ्कं शिवया गिरीशं श्रिया हरिं योजयतः विधेः अपि स्वारसिकः प्रयासः परस्परं योग्यसमागमाय प्रतीतः।

हिन्दी—रात्रि से चन्द्र को, शिव (उमा) से कैलासपति शिव को और लक्ष्मी से बिष्णु को संयोग देते विधाता का भी स्वरसमय (परमोपयुक्त) प्रयत्न परस्पर योग्य-संमिलन के लिए ही प्रख्यात हुआ है।

टिप्पणी—हंस यहाँ दो तथ्य प्रकट करना चाहता है—एक तो यह कि भाग्यविधाता ब्रह्मा सदा समान रूप गुण-शील वालों का संयोग कराने के लिए विख्यात हैं, स्वेच्छाचारी होने पर भी अरसिक नहीं हैं, इसके प्रमाण हैं तीन युगल—निशा-शशांक: शिवा-गिरीश और श्री-हरि। दमयन्ती-नल का जोड़ा भी ऐसा ही रहेगा। दूसरा तथ्य यह है कि दमयन्ती भी नल के योग्य ही है, सो योग्य से योग्य संयोग होगा। बिधाता ऐसा ही करता आया है। सम अलंकार—'समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा चेद् योग्यवस्तुनोः'—साहित्य-दर्पण ॥४८॥

वेलातिगस्त्रैणगुणाब्धिवेणी न योगयोग्याऽसि नलेतरेण।
सन्दर्भ्यते दर्भगुणेन मल्लीमाला न मृद्वी भृशकर्कशेन ॥ ४९ ॥

जीवातु—नलान्यसम्बन्धस्त्वयोग्य इत्याह—वेलातिगेति। वेलामतिगच्छन्तीति वेलातिगा निःसीमाः स्त्रीणामिमे स्त्रैणाः गुणाः 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञाविति' वचनात् नञ्प्रत्ययः। त एवाब्धिस्तस्य वेणी प्रवाहभूता, त्वमिति शेषः। वेलाऽब्धिजलबन्धने। 'काले सीम्नि च वेला तु केशबन्धे जलस्रुतौ' इति वैजयन्ती। नलादितरेण योगयोग्या योगार्हा नासि। तथाहि

मृद्वी मल्लीमाला भृशकर्कशेन दर्भगुणेन न संदर्भ्यते न सम्ग्रथ्यते। दृभ-ग्रन्थ इति धातोः कर्मणि लट्। व्यतिरेकेण दृष्टान्तालङ्कारः ॥४९॥

अन्वयः—वेलातिगस्त्रैणगुणाब्धिवेणी नलेतरेण योगयोग्या न असि, मृद्वी मल्लीमाला भृशकर्कशेन दर्भगुणेन न सन्दर्भ्यते।

हिन्दी—तीर का अतिक्रमण कर जाने वाले स्त्रीगुण-सागर की प्रवाह-रूपा (निःसीम नारीगुणों से सम्पन्न) तुम नलातिरिक्त पुरुष से संयुक्त करने योग्य नहीं हो; कोमल मल्लिकापुष्पमाला का ग्रथन अत्यन्त कर्कश कुश तन्तु से नहीं होता।

टिप्पणी—भाव यह कि समस्त नारी-जनोचित गुण दमयन्ती में हैं, उसका योग सर्वपुरुषगुणसम्पन्न नल से ही होगा, क्योंकि 'योग्यं योग्येन योजयेत्'। मल्लिका दर्भ की कठोर डोरी से नहीं गूँथी जाती। मल्लिनाथ के अनुसार व्यतिरेक द्वारा दृष्टांत अलंकार, विद्याधर ने रूपक-सम-दृष्टांत का निर्देश किया है ॥४९॥

विधिं वधूसृष्टिमपृच्छमेव तद्यानयुग्यो नलकेलियोग्याम्।
त्वन्नामवर्णा इव कर्णपीता मयाऽस्य संक्रीडति चक्रचक्रे ॥ ५० ॥

जीवातु—विधिमिति। किं च,विधिं ब्रह्माणं नलस्य केलेः क्रीडायाः योग्यामर्हां वधूसृष्टिं स्त्रीनिर्म्माणं तस्य विधेर्यानस्य रथस्य युग्यो रथवोढा तत्र परिचित इत्यर्थः। 'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गमि'ति यत्प्रत्ययः। अहमपृच्छमेव दुहादित्वाद् द्विकर्मकत्वम्। मया अस्य तद्यानस्य चक्रचक्रे रथाङ्गव्रजे संक्रीडति कूजति सति 'समोऽकूजन' इति वक्तव्येऽपि कूजतेर्नात्मनेपदम्, त्वन्नामवर्णा मया कर्णेन पीताः गृहीताः। न केवलं लिङ्गात् किन्त्वागमादपि ज्ञातोऽयमर्थं इत्यर्थः ॥ ५० ॥

अन्वयः—तद्यानयुग्यः नलकेलियोग्यां वधूसृष्टिं विधिम् अपृच्छम्, अस्य चक्रचक्रे संक्रीडति मया त्वन्नामवर्णाः इव कर्णपीताः।

हिन्दी—उस (ब्रह्मा) के यान को ढोते समय नल की क्रीडायोग्य वधू की सर्जना के विषय में विधाता से मैंने पूछा था, उसके यान के पहियों की ध्वनि में मैंने तेरे नाम के अक्षर जैसे सुने थे।

टिप्पणी—हंस एक द्विविधा-सी रखना चाहता है, इसीसे उसने कहा कि

कानों में 'दमयन्ती'—जैसे कुछ वर्ण पड़े, अर्थात् पहियों की खड़-खड़ में भली-भाँति तो नहीं सुना जा सकता,पर लगा ऐसा ही कि जैसे 'दमयन्ती' कहा गया। विद्याधर ने यहाँ छेकानुप्रास और उपमा का निर्देश किया है ॥५०॥

अन्येन पत्या त्वयि योजितायां विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मनो वा ।
जनापवादार्णवमुत्तरीतुं विधा विधातः कतमा तरी स्यात् ? ॥ ५१ ॥

जीवातु—अन्येनेति । किं च, अन्येन नलेतरेण पत्या त्वयि योजितायां घटितायां सत्यां विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मनः अभिज्ञत्वख्यात्यैव नीतायुषो विधातुर्वा जनापवादार्णवमुत्तरीतुं निस्तरीतुं 'वृतो वे'ति दीर्घः । कतमा विधा कः प्रकारः तरी तरणिः स्यात् ? न काऽपीत्यर्थः । 'स्त्रियां नौस्तरणिस्तरिः' इत्यमरः । अतो दैवगत्याऽपि स एव ते भर्तेति भावः ॥५१॥

अन्वयः—वा त्वयि अन्येन पत्या योजितायां विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मनः विधातुः जनापवादार्णवम् उत्तरीतुं कतमा विधा तरी स्यात् ?

हिन्दी—अथवा तुझे नलातिरिक्त पति से संयुक्त करके, विज्ञ होने के यश में जिसका जन्म बीता है, उस विधाता को लोकनिन्दा के समुद्र से निस्तार पाने से कौन-सी नौका मिलेगी ? ।

टिप्पणी—विधाता सदा से सर्वज्ञ कहा जाता है । वह यदि नल से भिन्न किसी पुरुष से तेरा विवाह करा देगा, तो उसकी ऐसी लोकनिन्दा होगी कि निस्तार न हो सकेगा । अतः नल-दमयन्ती संयोग ही विधि विधान है । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास-रूपक ॥५१॥

आस्तां तदप्रस्तुतचिन्तयाऽलं मयाऽसि तन्वि ! श्रमिताऽतिवेलम् ।
सोऽहं तदागः परिमार्ष्टुकामस्तवेप्सितं किं विदधेऽभिधेहि ॥५२॥

जीवातु—इत्थमाशामुत्पाद्य अस्याश्चित्तवृत्तिपरिज्ञानाय प्रसङ्गान्तरेण निगमयति—आस्तामिति । तत्पूर्वोक्तमास्तां तिष्ठतु, अप्रस्तुतचिन्तया अलं, तया साध्यं नास्तीत्यर्थः । गम्यमानसाधनक्रियापेक्षया करणत्वात्तृतीया, अत एवाह 'न केवलं श्रूयमाणक्रियापेक्षया कारकोत्पत्तिः, किन्तु गम्यमानक्रियाऽपेक्षयाऽपि' इति न्यासकारः । किन्तु हे तन्वि, कृशाङ्गि ! मया अतिवेलम् अत्यर्थं श्रमिता खेदिताऽसि, श्रमेर्ण्यन्तात् कर्मणि क्तः । तत् श्रमणरूपमागोऽपराधं

परिमार्ष्टुकामः परिहर्तुकामः । 'तुं काममनसोरपी'ति मकारलोपः । सोऽहं किं त्वदीप्सितं तव मनोरथं विदधे कुर्वे, अभिधेहि ब्रूहि ॥ ५२ ॥

अन्वयः—तत् आस्ताम्, अप्रस्तुतचिन्तया अलम्, तन्वि मया अतिवेलं श्रमिता असि, तत् आगः परिमार्ष्टुकामः सः अहम् अभिधेहि किं तव ईप्सितं विदधे ?

हिन्दी—(अतएव) अब यह सब (कथन-वर्णन) रहे, जो विषय प्रस्तुत नहीं है, उसकी चिन्ता व्यर्थ है । हे कोमलांगी, तुम्हें बहुत समय तक श्रांत किया, उस अपराध का परिमार्जन करने का इच्छुक मैं कहो, क्या तुम्हारा अभिलषित करूँ ? विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार अनुप्रास ।५२।

इतीरयित्वा विरराम पत्री स राजपुत्रीहृदयं बुभुत्सुः ।
ह्रदे गभीरे हृदि चावगाढे शंसन्ति कार्यावतरं हि सन्तः ॥ ५३ ॥

जीवातु—इतीति । स पत्री हंसः इति ईरयित्वा राजपुत्र्या भैम्या हृदयं बुभुत्सुर्जिज्ञासुर्विरराम तूष्णीं बभूव, 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदम् । तथाहि—सन्तः कार्यज्ञाः गभीरे अगाधे हृदि ह्रदे च अवगाढे प्रविश्य दृष्टे सति कार्यस्य स्नानादेः रहस्योक्तेश्च अवतरं तीर्थं प्रस्तावं च शंसन्ति कथयन्ति, अन्यथा अनर्थः स्यादिति भावः । अवतरो व्याख्यातः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—इति ईरयित्वा राजपुत्रीहृदयं बुभुत्सुः सः पत्री विरराम, हि सन्तः गभीरे ह्रदे हृदि च अवगाढे कार्यावतरं शंसन्ति ।

हिन्दी—ऐसा कह कर राजकुमारी दमयन्ती के हृदय का जिज्ञासु वह पक्षी चुप हो गया, क्योंकि सज्जन गहरे सरोवर के आलोडित होने और गूढ हृदय का ज्ञान होने पर 'कार्यावतर' (पार जाने का मार्ग और कार्य के निमित्त प्रस्ताव) करते हैं ।

टिप्पणी—इतना विवरण देकर हंस इस कारण चुप हो गया कि तब कुछ स्पष्ट बात कहे, जब दमयन्ती के मन का भाव ज्ञात हो जाय । समझदार व्यक्ति तभी कोई निश्चित प्रस्ताव करते हैं, जब संबद्ध व्यक्ति का मनोभाव प्रकट हो जाय, जैसे कि गहरे जलाशय की थाह पता चलने पर ही निश्चय

किया जाता है कि पार किस मार्ग से किया जायेगा। अर्थान्तरन्यास अलंकार ॥ ५३ ॥

किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलिर्विचिन्त्यवाच्यं मनसा मुहूर्त्तम्।
पतत्रिणं सा पृथिवीन्द्रपुत्री जगाद वक्त्रेण तृणीकृतेन्दुः ॥ ५४ ॥

जीवातु—किञ्चिदिति। किञ्चित्तिरश्चीना स्वभावादीषत्साचीभूता विलोला आयासाद्विलुलिता मौलिः केशबन्धो यस्याः सा। 'मौलयः संयताः कचा' इत्यमरः। वक्त्रेण तृणीकृतेन्दुरधःकृतचन्द्रा सा पृथिवीन्द्रपुत्री भैमी मुहूर्तमल्पकालं मनसा वाच्यं वचनीयं विचिन्त्य पर्यालोच्य पतत्रिणं जगाद ॥५४॥

अन्वयः—किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलिः वक्त्रेण तृणीकृतेन्दुः सा पृथिवीन्द्रपुत्री मुहूर्त्तं मनसा वाचं विचिन्त्य पतत्रिणं जगाद।

हिन्दी—कुछ तिरछा चंचल मस्तक किये, मुख के सम्मुख चन्द्र को तृणसमान करती वह पृथिवीपति की पुत्री क्षणभर मन में कथनीय को विचार कर पक्षी से बोली।

टिप्पणी—सहजसौन्दर्य, नारी के स्वाभाविक देह-अलंकार और लावण्य-भंगिमा का चित्रमयी प्रस्तुति। साहित्यविद्याधरी के अनुसार उल्लेख्य अलंकार उपमा ॥ ५४ ॥

धिक्चापले वत्सिमवत्सलत्वं यत्प्रेरणादुत्तरलीभवन्त्या।
समीरसङ्गादिव नीरभङ्ग्या मया तटस्थस्त्वमुपद्रुतोऽसि ॥ ५५ ॥

जीवातु—धिगिति। चापले चपलकर्मणि, युवादित्वादण्, 'वत्सस्य भावः' वत्सिमा शिशुत्वम् पृथ्वादित्वादिमनिच्। तेन निमित्तेन वत्सलत्वं वात्सल्यं बाल्यत्वप्रयुक्तचापलमित्यर्थः। तद्धिक्। कुतः? यस्य चापलवात्सल्यस्य प्रेरणादुत्तरलीभवन्त्या चपलायमानया समीरसङ्गाद्वाताहतेरुत्तरलीभवन्त्या नीरभङ्ग्या जलवीच्येव तटस्थः उदासीनः कूलं गतश्च त्वमुपद्रुतः पीडितोऽसि। अधर्महेतुत्वाद् बालचापलं सोढव्यमिति भावः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—चापले वत्सिमवत्सलत्वं धिक् यत्प्रेरणात् समीरसङ्गात् नीरभङ्ग्या इव उत्तरलीभवन्त्या मया तटस्थः त्वम् उपद्रुतः असि।

हिन्दी—चंचलता के विषय में बालभाव से जो (मेरा) मोह था,

वार्ता च साऽसत्यपि नान्यथेति योगादरन्ध्रे हृदि तां निरुन्धे ।
विरञ्चिनानाननवाद्धौतसमाधिशास्त्रश्रुतिपूर्णकर्णः ॥ ४४ ॥

जीवातु—अथ स्वस्य एवंविधविश्वासहेतुत्वमाह—वार्तेति । विरञ्चे-र्ब्रह्मणो नानाननैर्बहुमुखैर्वादेन व्याख्यानेन धौतस्य शोधितस्य समाधिशास्त्रस्य संयमविद्यायाः श्रुत्या श्रवणेन पूर्णकर्णः चतुर्मुखाभ्यस्तवाङ्नियमविद्य इत्यर्थः । अहमिति शेषः । योगात् अरन्ध्रे निरवकाशे पूर्णे हृदि हृदये यां वार्तां निरुन्धे, सा वार्ता लोकवार्ता किमुत रहस्यवार्तेति भावः । असत्यपि विनोदार्थं कथितापि, किमुत सतीति भावः । असत्यपि अन्यपुरुषान्तरं नैति न गच्छति । यथा ह्यसती दुश्चरी नीरन्ध्रस्थाने निरुद्धा नान्यमेति तद्वदिति भावः । अतोऽहमासां विश्वास्य इति पूर्वेणान्वयः । अत्र वार्तानिरोधस्य विरञ्चीत्यादि-पदार्थहेतुत्वात् काव्यलिङ्गभेदः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—विरञ्चिनाननवादधौतसमाधिशास्त्रश्रुतिकर्णपूर्णः योगात् अरन्ध्रे हृदि यां निरुन्धे सा वार्ता असती अपि अन्यं न एति ।

हिन्दी—ब्रह्मा के अनेक (चार) मुखों के कथन द्वारा पवित्र किये गये योगशास्त्र के श्रवण से जिसके कान पूर्ण हैं ऐसा मैं प्रयत्नपूर्वक नीरंध्र (अभेद्य, निर्दोष) हृदय में जिसे छिपा रखता हूँ, वह बात झूठी परिहास कथा होने पर भी अन्य व्यक्ति के पास नहीं जाती ।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में संकेतित अपनी विश्वसनीयता को और भी दृढ़ बनाने का प्रयत्न । ब्रह्मा के संबंध से योगवार्ता का ज्ञानी हंस निर्दोष और स्ववशीकृत मन का स्वामी है । उसका हृदय छिद्ररहित है, इस कारण कोई बात उससे बाहर जा ही नहीं सकती । जिस प्रकार 'असती' अर्थात् कुलटा नारी भी रोक लिये जाने पर बाहर जाकर परपुरुष से नहीं मिल सकती, उसी प्रकार बात 'असती' अर्थात् असत्य या परिहासपूर्ण होने पर भी हंस के छिद्ररहित हृदय में निरुद्ध हो किसी अन्य व्यक्ति के कान नहीं पड़ सकती । काव्यलिंग अलंकार ॥ ४४ ॥

नलाश्रयेण त्रिदिवोपभोगं तवान-वाप्यं लभते बतान्या ।
कुमुद्वतावेन्दुपरिग्रहेण ज्योत्स्नोत्सवं दुर्लभमम्बुजिन्याः ॥ ४५ ॥

जीवातु--अथ श्लोकद्वयेन अस्या नलानुरागमुद्दीपयति—नलेत्यादि । तवानवाप्यं नलपरिग्रहाभावात्त्वया दुरापं 'कृत्यानां कर्त्तरि वे'ति षष्ठी तृतीयार्थे । त्रिदिवः स्वर्गः पृषोदरादित्वात् साधुः । तस्य उपभोगं तादृग् भोगमित्यर्थः । तस्येन्द्रसदृशैश्वर्यत्वादिति भावः । अम्बुजिन्या दुर्लभामिन्दुपरिग्रहाभावात्तया दुरापं ज्योत्स्नोत्सवं चन्द्रिकाभोगम् इन्दोः कर्त्तुः परिग्रहेण कुमुदान्यस्यां सन्तीति कुमुदिनीव, 'कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्' 'मादुपधायाश्चे'त्यादिना मकारस्य वकारः । नलस्य कर्त्तुराश्रयेण नलस्वीकरणेन अन्या लभते, बतेति खेदे । ईदृग्भोगोपेक्षिणी त्वं बुद्धिमान्द्यात् न शोचसि इति भावः ॥४५॥

अन्वयः—अम्बुजिन्या दुर्लभं ज्योत्स्नोत्सवम् इन्दुपरिग्रहेण कुमुद्वती इव तव अनवाप्यं त्रिदिवोपभोगं नलाश्रयेण अन्या लभते बत !

हिन्दी--जैसे कमलिनी को दुर्लभ चाँदनी का भोग चन्द्र के अंगीकरण से कुमुदिनी प्राप्त कर लेती है, वैसे ही तुझे अप्राप्य स्वर्गोपभोग नल का आश्रय लेकर कोई दूसरी प्राप्त कर रही है, यह खेद की बात है ।

टिप्पणी—नल की प्रशंसा करने के पश्चात् दमयन्ती के मन में उसके प्रति राग उत्पन्न करने का प्रयास । दमयन्ती निश्चयतः स्वर्गानन्द के उपभोग योग्य है, पर वह संभव नल-परिग्रह से ही है । विद्याधर के अनुसार उपमा अलंकार ॥४५॥

तन्नैषधानूढतया दुरापं शर्म त्वयाऽस्मत्कृतचाटुजन्म ।
रसालवल्ल्या मधुपानुविद्धं सौभाग्यमप्राप्तवसन्तयेव ॥ ४६ ॥

जीवातु—तावदिति । किञ्च तत्प्रसिद्धमस्माभिः कृतेभ्यः प्रयुक्तेभ्यश्चाटुभ्यः प्रियवाक्येभ्यो जन्म तस्य तत्तज्जन्यमित्यर्थः । चाटुग्रहणं पूर्वोक्तनिजवक्षवीजनाद्युपलक्षणं, शर्म सुखं त्वया अप्राप्तो वसन्तो यया तया वसन्तानधिष्ठितयेत्यर्थः । रसालवल्ल्या सहकारश्रेण्या मधुपानुविद्धं सौभाग्यं रामणीयकमिव नैषधेन नलेन अनूढतया अपरिणीतत्वेन हेतुना दुरापन्तस्मात्ते नलपरिग्रहाय यत्नः कार्य्य इति भावः ॥४६॥

अन्वयः—तत् अस्मत्कृतचाटुजन्म शर्म त्वया अप्राप्तवसन्तया रसालवल्ल्या मधुपानुविद्धं सौभाग्यम् इव नैषधानूढतया दुरापम् ।

हिन्दी—वह हमारे प्रिय वचनों से जनित आनन्द जैसे वसन्त जिसे प्राप्त नहीं हुआ है, उस आम्रवल्लरी को भ्रमरकृत सौभाग्य (मकरंद का आस्वादन, गुंजार आदि) नहीं प्राप्त होता है, वैसे ही निषधराज से अविवाहित तुझे दुष्प्राप है।

टिप्पणी—आज जो हंस द्वारा निर्दिष्ट सुख-भोग दमयन्ती को प्राप्त नहीं है, वे नल से विवाह कर लेने पर प्राप्त हो सकेंगे। पूर्वश्लोक में अम्बुजिनी के उपमान से यही सूचित किया गया था, यहाँ आम्रवल्ली के उपमान से सूचित है। उपमा अलंकार ॥४६॥

तस्यैव वा यास्यसि किं न हस्तं दृष्टं विधेः केन मनः प्रविश्य ?।
अजातपाणिग्रहणाऽसि तावद्रूपस्वरूपातिशयाश्रयश्च ॥४७॥

जीवातु—अथ पुनरस्या नलप्राप्त्याशां जनयन्नाह तस्येत्यादि। यद्वा तस्य नलस्यैव हस्तं किं यास्यसि ? यास्यस्येवेत्यर्थः। केन विधेर्मन एव प्रविश्य दृष्टं, विध्यानुकूल्यमपि सम्भावितमिति भावः। कुतस्तावदद्यापि अजातपाणिग्रहणा अकृतविवाहा असि तवायं विवाहविलम्बोऽपि नलपरिग्रहणार्थमेव किं न स्यादिति भावः। रूपं सौन्दर्यं स्वरूपं स्वभावः शीलमिति यावत्। तयोरतिशयः प्रकर्षस्तस्याश्रयश्चासि। योग्यगुणाश्रयत्वाच्च तद्धस्तमेव गमिष्यसीति भावः ॥४७॥

अन्वयः—तस्य एव हस्तं वा किं न यास्यसि ? विधेः मनः केन प्रविश्य दृष्टम् ? अजातपाणिग्रहणा रूपस्वरूपातिशयाश्रयः च तावत् असि।

हिन्दी—तुम उस (नल) के ही हाथ में क्यों न जाओगी ? विधाता के मन किसने घुस कर देखा है ? अविवाहिता और रूप (सुन्दरता) तथा स्वरूप (स्वभाव-शील) के आश्रय की स्थली हो। अथवा रूप-स्वरूप अर्थात् सहज सौन्दर्य की तुम आश्रय हो।

टिप्पणी—नल से दमयन्ती का विवाह असम्भावित नहीं है। सम्भव है कदाचित् अदृष्ट विधाता की यही इच्छा हो, कौन जान सकता है ? स्थिति तो अनुकूल ही है। दमयन्ती अविवाहिता है और अटूट सहज सौन्दर्यशालिनी और शीलगुणवती भी ॥४७॥

निशाशशाङ्कं शिवया गिरीशं श्रिया हरिं योजयतः प्रतीतः ।
विधेरपि स्वारसिकः प्रयासः परस्परं योग्यसमागमाय ॥४८॥

जीवातु—सत्यं विधिसङ्कल्पस्तु दुर्ज्ञेय इत्यत आह—निशेति । निशा निशया 'पद्न्नि'त्यादिना निशादेशः । शशाङ्कम्, शिवया गौर्या गिरीशं शिवं, श्रिया लक्ष्म्या हरिं च योजयतो विधेः प्रयासो यत्नोऽपि परस्परं योग्यसमागमाय योग्यसङ्घटनायैव स्वारसिकः स्वरसप्रवृत्तः प्रतीतः प्रसिद्धः ज्ञातः । निशाशशाङ्कादिदृष्टान्ताद्विधिसङ्कल्पोऽपि सुज्ञेय इति भावः ॥४८॥

अन्वयः—निशाशशाङ्कं शिवया गिरीशं श्रिया हरिं योजयतः विधेः अपि स्वारसिकः प्रयासः परस्परं योग्यसमागमाय प्रतीतः ।

हिन्दी—रात्रि से चन्द्र को, शिवा (उमा) से कैलासपति शिव को और लक्ष्मी से विष्णु को संयोग देते विधाता का भी स्वरसमय (परमोपयुक्त) प्रयत्न परस्पर योग्य-संमिलन के लिए ही प्रख्यात हुआ है ।

टिप्पणी—हंस यहाँ दो तथ्य प्रकट करना चाहता है—एक तो यह कि भाग्यविधाता ब्रह्मा सदा समान रूप गुण-शील वालों का संयोग कराने के लिए विख्यात हैं, स्वेच्छाचारी होने पर भी अरसिक नहीं हैं, इसके प्रमाण हैं तीन युगल—निशा-शशांकः शिवा-गिरीश और श्री-हरि । दमयन्ती-नल का जोड़ा भी ऐसा ही रहेगा । दूसरा तथ्य यह है कि दमयन्ती भी नल के योग्य ही है, सो योग्य से योग्य संयोग होगा । विधाता ऐसा ही करता आया है । सम अलंकार—'समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा या योग्यवस्तुनोः'—साहित्य-दर्पण ॥४८॥

वेलातिगस्त्रैणगुणाब्धिवेणी न योगयोग्याऽसि नलेतरेण ।
सन्दर्भ्यते दर्भगुणेन मल्लीमाला न मृद्वी भृशकर्कशेन ॥ ४९ ॥

जीवातु—नलान्यसम्बन्धस्त्वयोग्य इत्याह—वेलातिगेति । वेलामतिगच्छन्तीति वेलातिगा निःसीमाः स्त्रीणामिमे स्त्रैणाः गुणाः 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञाविति' वचनात् नञ्प्रत्ययः । त एवाब्धिस्तस्य वेणी प्रवाहभूता, त्वमिति शेषः । वेलाऽब्धिजलबन्धने । 'काले सीम्नि च वेणी तु केशबन्धे जलस्रुतौ' इति वैजयन्ती । नलादितरेण योगयोग्या योगार्हा नासि । तथाहि

मृद्वी मल्लीमाला भृशकर्कशेन दर्भगुणेन न संदर्भ्यते न संग्रथ्यते। दृभ-ग्रन्थ इति धातोः कर्मणि लट्। व्यतिरेकेण दृष्टान्तालङ्कारः ॥४९॥

अन्वयः—वेलातिगस्त्रैणगुणाब्धिवेणी नलेतरेण योगयोग्या न असि, मृद्वी मल्लीमाला भृशकर्कशेन दर्भगुणेन न सन्दर्भ्यते।

हिन्दी—तीर का अतिक्रमण कर जाने वाले स्त्रीगुण-सागर की प्रवाह-रूपा (निःसीम नारीगुणों से सम्पन्न) तुम नलातिरिक्त पुरुष से संयुक्त करने योग्य नहीं हो; कोमल मल्लिकापुष्पमाला का ग्रथन अत्यन्त कर्कश कुश तन्तु से नहीं होता।

टिप्पणी—भाव यह कि समस्त नारी-जनोचित गुण दमयन्ती में हैं, उसका योग सर्वपुरुषगुणसम्पन्न नल से ही होगा, क्योंकि 'योग्यं योग्येन योजयेत्'। मल्लिका दर्भ की कठोर डोरी से नहीं गूँथी जाती। मल्लिनाथ के अनुसार व्यतिरेक द्वारा दृष्टांत अलंकार, विद्याधर ने रूपक-सम-दृष्टांत का निर्देश किया है ॥४९॥

विधिं वधूसृष्टिमपृच्छमेव तद्यानयुग्यो नलकेलियोग्याम्।
त्वन्नामवर्णा इव कर्णपीता मयाऽस्य संक्रीडति चक्रचक्रे ॥ ५० ॥

जीवातु—विधिमिति। किं च, विधिं ब्रह्माणं नलस्य केलेः क्रीडायाः योग्यामर्हां वधूसृष्टिं स्त्रीनिर्म्माणं तस्य विधेर्यानस्य रथस्य युग्यो रथवोढा तत्र परिचित इत्यर्थः। 'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गमि'ति यत्प्रत्ययः। अहमपृच्छमेव दुहादित्वाद् द्विकर्मकत्वम्। मया अस्य तद्यानस्य चक्रचक्रे रथाङ्गव्रजे संक्रीडति कूजति सति 'समोऽकूजन' इति वक्तव्येऽपि कूजतेनात्मनेपदम्, त्वन्नामवर्णा मया कर्णेन पीताः गृहीताः। न केवलं लिङ्गात् किन्त्वागमादपि ज्ञातोऽयमर्थ इत्यर्थः ॥ ५० ॥

अन्वयः—तद्यानयुग्यः नलकेलियोग्यां वधूसृष्टिं विधिम् अपृच्छम्, अस्य चक्रचक्रे संक्रीडति मया त्वन्नामवर्णाः इव कर्णपीताः।

हिन्दी—उस (ब्रह्मा) के यान को ढोते समय नल की क्रीडायोग्य वधू की सर्जना के विषय में विधाता से मैंने पूछा था, उसके यान के पहियों की ध्वनि में मैंने तेरे नाम के अक्षर जैसे सुने थे।

टिप्पणी—हंस एक द्विविधा-सी रखना चाहता है, इसीसे उसने कहा कि

कानों में 'दमयन्ती'—जैसे कुछ वर्ण पड़े, अर्थात् पहियों की खड़-खड़ में भली-भाँति तो नहीं सुना जा सकता,पर लगा ऐसा ही कि जैसे 'दमयन्ती' कहा गया। विद्याधर ने यहाँ छेकानुप्रास और उपमा का निर्देश किया है ॥५०॥

अन्येन पत्या त्वयि योजितायां विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मनो वा ।
जनापवादार्णवमुत्तरीतुं विधा विधातः कतमा तरी स्यात् ? ॥ ५१ ॥

जीवातु—अन्येनेति । किं च, अन्येन नलेतरेण पत्या त्वयि योजितायां घटितायां सत्यां विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मनः अभिज्ञत्वख्यात्यैव नीतायुषो विधातुर्वा जनापवादार्णवमुत्तरीतुं निस्तरीतुं 'वृतो वे'ति दीर्घः । कतमा विधा कः प्रकारः तरी तरणिः स्यात् ? न काऽपीत्यर्थः । 'स्त्रियां नौस्तरणिस्तरिः' इत्यमरः । अतो दैवगत्याऽपि स एव ते भर्तेति भावः ॥५१॥

अन्वयः—वा त्वयि अन्येन पत्या योजितायां विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मनः विधातुः जनापवादार्णवम् उत्तरीतुं कतमा विधा तरी स्यात् ?

हिन्दी—अथवा तुझे नलातिरिक्त पति से संयुक्त करके, विज्ञ होने के यश में जिसका जन्म बीता है, उस विधाता को लोकनिन्दा के समुद्र से निस्तार पाने से कौन-सी नौका मिलेगी ? ।

टिप्पणी—विधाता सदा से सर्वज्ञ कहा जाता है । वह यदि नल से भिन्न किसी पुरुष से तेरा विवाह करा देगा, तो उसकी ऐसी लोकनिन्दा होगी कि निस्तार न हो सकेगा । अतः नल-दमयन्ती संयोग ही विधि विधान है । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास-रूपक ॥५१॥

आस्तां तदप्रस्तुतचिन्तयाऽलं मयाऽसि तन्वि ! श्रमिताऽतिवेलम् ।
सोऽहं तदागः परिमार्ष्टुकामस्तवेप्सितं किं विदधेऽभिधेहि ॥५२॥

जीवातु—इत्यमाशामुत्पाद्य अस्याश्चित्तवृत्तिपरिज्ञानाय प्रसङ्गान्तरेण निगमयति—आस्तामिति । तत्पूर्वोक्तमास्तां तिष्ठतु, अप्रस्तुतचिन्तया अलं, तया साध्यं नास्तीत्यर्थः । गम्यमानसाधनक्रियापेक्षया करणत्वात्तृतीया, अत एवाह 'न केवलं श्रूयमाणक्रियापेक्षया कारकोत्पत्तिः, किन्तु गम्यमानक्रियाऽपेक्षयाऽपि' इति न्यासकारः । किन्तु हे तन्वि, कृशाङ्गि ! मया अतिवेलम् अत्यर्थं श्रमिता खेदिताऽसि, श्रमेर्ण्यन्तात् कर्मणि क्तः । तत् श्रमणरूपमागोऽपराधं

परिमार्ष्टुकामः परिहर्तुकामः। 'तुं काममनसोरपी'ति मकारलोपः। सोऽहं किं त्वदीप्सितं तव मनोरथं विदधे कुर्वे, अभिधेहि ब्रूहि ॥ ५२ ॥

अन्वयः—तत् आस्ताम्, अप्रस्तुतचिन्तया अलम्, तन्वि मया अतिवेलं श्रमिता असि, तत् आगः परिमार्ष्टुकामः सः अहम् अभिधेहि किं तव ईप्सितं विदधे ?

हिन्दी—(अतएव) अब यह सब (कथन-वर्णन) रहे, जो विषय प्रस्तुत नहीं है, उसकी चिन्ता व्यर्थ है। हे कोमलांगी, तुम्हें बहुत समय तक श्रान्त किया, उस अपराध का परिमार्जन करने का इच्छुक मैं कहो, क्या तुम्हारा अभिलषित करूँ ? विद्याधर के अनुसार उल्लेख अलंकार अनुप्रास ।५२।

इतीरयित्वा विरराम पत्री स राजपुत्रीहृदयं बुभुत्सुः।
ह्रदे गभीरे हृदि चावगाढे शंसन्ति कार्यावतरं हि सन्तः ॥ ५३ ॥

जीवातु—इतीति। स पत्री हंसः इति ईरयित्वा राजपुत्र्या भैम्या हृदयं बुभुत्सुर्जिज्ञासुर्विरराम तूष्णीं बभूव, 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदम्। तथाहि—सन्तः कार्यज्ञाः गभीरे अगाधे हृदि ह्रदे च अवगाढे प्रविश्य दृष्टे सति कार्यस्य स्नानादेः रहस्योक्तेश्च अवतरं तीर्थं प्रस्तावं च शंसन्ति कथयन्ति, अन्यथा अनर्थः स्यादिति भावः। अवतरो व्याख्यातः। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—इति ईरयित्वा राजपुत्रीहृदयं बुभुत्सुः सः पत्री विरराम, हि सन्तः गभीरे ह्रदे हृदि च अवगाढे कार्यावतरं शंसन्ति।

हिन्दी—ऐसा कह कर राजकुमारी दमयन्ती के हृदय का जिज्ञासु वह पक्षी चुप हो गया, क्योंकि सज्जन गहरे सरोवर के आलोडित होने और गूढ हृदय का ज्ञान होने पर 'कार्यावतर' (पार जाने का मार्ग और कार्य के निमित्त प्रस्ताव) करते हैं।

टिप्पणी—इतना विवरण देकर हंस इस कारण चुप हो गया कि तब कुछ स्पष्ट बात कहे, जब दमयन्ती के मन का भाव ज्ञात हो जाय। समझदार व्यक्ति तभी कोई निश्चित प्रस्ताव करते हैं, जब संबद्ध व्यक्ति का मनोभाव प्रकट हो जाय, जैसे कि गहरे जलाशय की थाह पता चलने पर ही निश्चय

किया जाता है कि पार किस मार्ग से किया जायेगा। अर्थान्तरन्यास अलंकार॥ ५३ ॥

किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलिर्विचिन्त्यवाच्यं मनसा मुहूर्त्तम्।
पतत्त्रिणं सा पृथिवीन्द्रपुत्री जगाद वक्त्रेण तृणीकृतेन्दुः॥ ५४॥

जीवातु—किञ्चिदिति। किञ्चित्तिरश्चीना स्वभावादीषत्साचीभूता विलोला आयासाद्विलुलिता मौलिः केशबन्धो यस्याः सा। 'मौलयः संयताः कचा' इत्यमरः। वक्त्रेण तृणीकृतेन्दुरधःकृतचन्द्रा सा पृथिवीन्द्रपुत्री भैमी मुहूर्त-मल्पकालं मनसा वाच्यं वचनीयं विचिन्त्य पर्यालोच्य पतत्त्रिणं जगाद॥५४॥

अन्वयः—किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलिः वक्त्रेण तृणीकृतेन्दुः सा पृथिवीन्द्र-पुत्री मुहूर्त्तं मनसा वाच्यं विचिन्त्य पतत्त्रिणं जगाद।

हिन्दी—कुछ तिरछा चंचल मस्तक किये, मुख के सम्मुख चन्द्र को तृणसमान करती वह पृथिवीपति की पुत्री क्षणभर मन में कथनीय को विचार कर पक्षी से बोली।

टिप्पणी—सहजसौन्दर्य, नारी के स्वाभाविक देह-अलंकार और लावण्य-भंगिमा का चित्रमयी प्रस्तुति। साहित्यविद्याधरी के अनुसार उल्लेख्य अलंकार उपमा॥ ५४ ॥

धिक्चापले वत्सिमवत्सलत्वं यत्प्रेरणादुत्तरलीभवन्त्या।
समीरसङ्गादिव नीरभङ्ग्या मया तटस्थस्त्वमुपद्रुतोऽसि॥ ५५॥

जीवातु—धिगिति। चापले चपलकर्मणि, युवादित्वादण्, 'वत्सस्य भावः' वत्सिमा शिशुत्वम् पृथ्वादित्वादिमनिच्। तेन निमित्तेन वत्सलत्वं वात्सल्यं बाल्यत्वप्रयुक्तचापलमित्यर्थः। तद्धिक्। कुतः? यस्य चापलवात्सल्यस्य प्रेरणादुत्तरलीभवन्त्या चपलायमानया समीरसङ्गाद्वाताहतेरुत्तरलीभवन्त्या नीरभङ्ग्या जलवीच्येव तटस्थः उदासीनः कूलं गतश्च त्वमुपद्रुतः पीडितोऽसि। अधर्महेतुत्वाद् बालचापलं सोढव्यमिति भावः॥ ५५ ॥

अन्वयः—चापले वत्सिमवत्सलत्वं धिक् यत्प्रेरणात् समीरसङ्गात् नीर-भङ्ग्या इव उत्तरलीभवन्त्या मया तटस्थः त्वम् उपद्रुतः असि।

हिन्दी—चंचलता के विषय में बालभाव से जो (मेरा) मोह था,

उसे धिक्कार है, जिसकी प्रेरणा से समीरण के संग से लहरी के समान उत्तरल (अति चंचल) होती मैंने तीर-स्थित व्यक्ति समान तटस्थ (अलिप्त) तुम्हें पीडित किया।

टिप्पणी—पन्द्रहवें श्लोक में हंस ने दमयन्ती के बालभाव पर कटाक्ष किया था—'अहो शिशुत्वं तव खण्डितं न'। दमयन्ती ने अपने हंस के प्रति प्रथम वचन में ही उस बालभाव पर क्षोभ प्रकट किया। कवि की प्रबंध-कुशलता का एक श्रेष्ठ उदाहरण। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य उपमालंकार॥

आदर्शतां स्वच्छतया प्रयासि सतां स तावत्खलु दर्शनीयः।
आगः पुरस्कुर्वति सागसं मां यस्यात्मनीदं प्रतिबिम्बितं ते॥ ५६॥

जीवातु—आदर्शतामिति। स्वच्छतया नैर्मल्यगुणेन आदृश्यते पुरोगत-वस्तुरूपमस्मिन्निति आदर्शो दर्पणस्तत्तां प्रयासि, कुतः यस्य स्वच्छस्य ते तव सम्बन्धिनि सागसं सापराधां मां पुरस्कुर्वति पूजयति अग्रे कुर्वाणे च आत्मनि वृद्धौ स्वरूपे च, 'पुरस्कृतः पूजिते स्यादभियुक्तेऽग्रतः कृते'। 'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्मवर्ष्मणी'ति चामरः। इदं मदीयमागोऽपराधः प्रति-बिम्बितं प्रतिफलितम्। पुरोवर्त्ति धर्म्मणामात्मनि संक्रमणादादर्शोऽसीत्यर्थः, ततः किमत आह—सः आदर्शः सतां साधूनां तावत्प्रथमं दर्शनीयः अथवा पूज्यश्चेति तावच्छब्दार्थः खलु 'रोचनं चन्दनं हेम मृदङ्गं दर्पणं मणिम्। गुरुमग्निं तथा सूर्यं प्रातः पश्येत् सदा बुधः॥' इति शास्त्रादिति भावः॥ ५६॥

अन्वयः—स्वच्छतया आदर्शतां प्रयासि यस्य ते सागसं मां पुरस्कुर्वति आत्मनि इदम् आगः प्रतिबिम्बितम्, सः सतां तावत् दर्शनीयः खलु।

हिन्दी—निर्मलता के कारण तुम आदर्शभाव (दर्पणता) को प्राप्त कर रहे हो, जिस तुम्हारे मुझ-अपराधिनी को आदर देते स्वरूप में यही (मेरा तुम्हें कष्ट देने का) अपराध प्रतिबिम्बित हो गया है, वह आदर्श सज्जनों को अवलोकनीय है।

टिप्पणी—जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में सब कुछ प्रतिबिम्बित हो दीखने लगता है, उसी प्रकार हंस के स्वाभाविक स्नेह-व्यवहार में दमयन्ती को अपनी बालचपलता के कारण हुए अपराध का स्पष्ट बोध हो गया। हंस के

व्यवहार पर तुष्ट होती दमयन्ती उसे सज्जनों के आदर्श–दृष्टांत रूप में स्वीकारती हुई हंस की प्रशंसा करती है कि उसने सापराधा पर भी ऐसी वत्सलता का प्रदर्शन किया। विद्याधर के अनुसार अर्थान्तर और श्लेष ॥५६॥

अनार्यमप्याचरितं कुमार्या भवान्मम क्षाम्यतु सौम्य ! तावत् ।
हंसोऽपि देवांशतयाऽसि वन्द्यः श्रीवत्सलक्ष्मेव हि मत्स्यमूर्तिः ॥ ५७ ॥

जीवातु—अनार्यमिति । हे सौम्य ! भवान् कुमार्याः शिशोर्मम सम्बन्धि अनार्यमप्याचरितं त्वदुपद्रवरूपं दुश्चेष्टितं क्षाम्यतु सहतां, हंसोऽपि तिर्यगपीत्यर्थः । त्वमिति शेषः । भवानित्यनुषङ्गे असीति मध्यमपुरुषायोगात् देवांशतया मत्स्यमूर्तिः श्रीवत्सलक्ष्मा विष्णुरिव वन्द्योऽसि ॥५७॥

अन्वयः—सौम्य भवान् कुमार्याः मम अनार्यम् अपि आचरितं तावद् क्षाम्यतु, हंसः अपि देवांशतया मत्स्यमूर्तिः श्रीवत्सलक्ष्मा इव वन्द्यः असि ।

हिन्दी—हे सौम्य (तन-मन से सुन्दर), तुम मुझ बालिका द्वारा हुए अनुचित भी आचरण को पहिले क्षमा करो; हंस (पक्षी) होते हुए भी जिस प्रकार मत्स्यरूप-धारी, श्रीवत्समणि से अलंकृत (विष्णु) देव का अंश होने से मत्स्य भी पूजित है, उसी प्रकार देवांश (ब्रह्मवाहन) होने से तुम भी वन्दनीय हो ।

टिप्पणी—'सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम्'—सो हंस देवांश होने से पक्षी होते हुए भी मानवी सुन्दरी द्वारा पूज्य ठहराया गया । उदाहरण-स्वरूप मत्स्य को लिया गया, मत्स्यरूप में विष्णु ने अवतार लिया था । इस अवतार में वे पृथ्वीरूपिणी नौका के आश्रय होकर समस्त जीवों का आधार बने थे—'मत्स्यो युगान्तसमये मनुनोपलब्धः क्षोणीमयो निखिलजीवनिकायकेतः । विस्रंसितानुरुभये सलिले मखात्मा आदाय तत्र विजहार ह वेदमार्गान् ॥ (श्रीमद्भागवत २।७।१२, दर्शनीय मत्स्यपुराण) जैसे मत्स्यमूर्ति भगवान् का अंश होने से जलचर मत्स्य भी वन्दनीय बन गया, ऐसे ही हंस (पक्षी) भी ब्रह्मवाहन होने से वंद्य हो गया । नारायण ने 'सौम्य' की निष्पत्ति पर एक आपत्ति उठायी है कि देवताधिकार में सोम से 'टयण्' का विधान है, तो 'सौम्य' की निष्पत्ति चिन्तनीय है । समाधान में उन्होंने बताया है कि इस प्रकार व्युत्पत्ति होने से प्रयोग उचित हो जायेगा—'सोमस्य चन्द्रस्येयं

सोमी सुधा तामर्हति सौम्यः देवतुल्यः।' दण्डादिश्व से 'य' प्रत्यय होगा और देवतुल्य अर्थ से सोमी+य=सौम्य निष्पन्न हो जायेगा। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग और उपमा अलङ्कार ॥ ५७ ॥

मत्प्रीतिमाधित्ससि कां त्वदीक्षामुदं मदक्ष्णोरपि याऽतिशेताम्।
निजामृतैर्लोचनसेचनाद्वा पृथक्किमिन्दुस्सृजति प्रजानाम्? ॥ ५८ ॥

जीवातु—अथ यदुक्तं त्वयेप्सितं किं विदधे? अभिधेहीति, तत्रोत्तरमाह—मत्प्रीतिमिति। कां मत्प्रीतिं किंवा मदीप्सितमित्यर्थः। आधित्ससि आधातुं कर्त्तुमिच्छसि? दधातेः सन्नन्ताल्लट्। या प्रीतिर्मदक्ष्णोः त्वदीक्षामुदं त्वदीक्षणप्रीतिमतिशेतामत्वद्दर्शनोत्सवादन्यत्किं ममेप्सितमित्यर्थः। तथाहि इन्दुः प्रजानां जनानां निजामृतैर्लोचनसेचनात् पृथक् अन्यत् 'पृथग्विने'त्यादिना पञ्चमी। किंवा सृजति करोति न किञ्चित् करोतीत्यर्थः। दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—कां मत्प्रीतिम् अधित्ससि, या मदक्ष्णोः त्वदीक्षामुदम् अपि अतिशेताम्? इन्दुः निजामृतैः प्रजानां लोचनसेचनात् पृथक् किं वा सृजति?

हिन्दी—और कौन-सा मेरा प्रिय-संपादन करोगे, जो मेरे नेत्रों को तुम्हारे दर्शन से प्राप्त आनन्द को भी अतिक्रांत कर जाय? अथवा चन्द्र अपनी अमृत-किरणों से लोक जनों के लोचन परिषिक्त करने के अतिरिक्त और किस कार्य का संपादन करता है?

टिप्पणी—अभिजात वचनों की पराकोटि। आशय यह है कि तुमने दर्शन देकर मुझे अत्यन्त प्रसन्न किया। यह पर्याप्त है। चंद्र अमृत वर्षा करके लोचनानन्द ही तो दे सकता है! हंस ने बावनवें श्लोक में कहा था—'तवेप्सितं किं विदधेऽभिधेहि'। सो दमयन्ती उसके उत्तर में संकेत करती है कि यदि अन्य कुछ कर सकते हो तो तुम नल-प्राप्ति के निमित्त यत्न करो। यह संकेत अगले श्लोक में और स्पष्ट है। मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टान्त अलंकार, विद्याधर के अनुसार आक्षेप ॥ ५८ ॥

मनस्तु यं नोज्झति जातु यातु मनोरथः कण्ठपथं कथं सः।
का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेदलज्जा ॥ ५९ ॥

जीवातु—अत्र सर्वथा मनोरथः कथनीयः इत्यभिप्रेत्य तत्र शक्यमित्याह—

मनस्विश्वति। मनो मच्चित्तं कर्तृ यं मनोरथं जातु कदापि नोज्झति न जहाति, स मनोरथः कण्ठपथं वाग्विषयम् उपकण्ठदेशं च कथं यातु, सम्भावनायां लोट्। सम्भावनापि नास्तीत्यर्थः। केनापि प्रतिबद्धस्य मनोरथस्य कथमन्तिकेऽपि सञ्चार इति भावः। कुतः? अभिज्ञा विवेकिनी का नाम बाला का वा स्त्री द्विजराजस्य इन्दोः पाणिना ग्रहे ग्रहणे अभिलाषं कथयेत्। तथा द्विज! पक्षिन्! राजपाणिग्रहाभिलाषं नलपाणिग्रहणेच्छामिति च गम्यते तथा च दुर्लभजनप्रार्थना द्विजराजपाणिग्रहणकल्पा परिहासास्पदीभूतां कथं लज्जावत्या वक्तुं शक्या इत्यर्थः। पूर्व एवालङ्कारः॥ ५९॥

अन्वयः—सः मनोरथः कण्ठपथं यातु, मनः यं जातु न उज्झति? का नाम अभिज्ञा बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं (अथवा 'द्विज, राजपाणिग्रहाभिलाषम्') कथयेत्?

हिन्दी—वह अभिलाष (नलेच्छा) कंठमार्ग से बाहर (वचनगोचर) कैसे हो, मन जिसे कभी त्यागता ही नहीं? कौन समझदार' बाला चंद्रमा को हाथ में पकड़ने का अभिलाष कर सकती है (जबकि इच्छा कर भी नहीं सकती) अथवा हे द्विज (पक्षी), कौन अभिज्ञा बाला राजा नल से विवाह होने की अभिलाषा कर सकती है? नल तो दुर्लभ है, उसकी इच्छा करना भी 'बालता' है।

टिप्पणी—दमयन्ती नल की प्राप्ति दुर्लभ अथवा इतनी असम्भव मानती है कि उसकी इच्छा करना ही मूर्खता है, अभिलाष-कथन और भी बड़ी मूर्खता है। नल तो उस चन्द्र के समान है, जिसे हाथों-पकड़ा ही नहीं जा सकता। 'अभिज्ञा' का पाठांतर 'अलज्जा' भी है। उस स्थिति में यह अर्थ भी होगा कि पाणिग्रहण के विषय में तो प्रौढा भी नहीं कह सकती, क्योंकि निर्लज्जा कौन बनेगी? 'बाला' तो कभी कह ही नहीं सकती। मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टान्त, विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और श्लेष॥ ५९॥

वाचं तदीयां परिपीय मृद्वीं मृद्वीकया तुल्यरसां स हंसः।
तत्याज तोषं परपुष्टघुष्टे घृणाञ्च वीणाक्वणिते वितेने॥ ६०॥

जीवातु—वाचमिति। स हंसः मृद्वीकया द्राक्षया, 'मृद्वीका गोस्तनी

दाक्षे'त्यमरः। तुल्यरसां समानस्वादां मधुरार्थामित्यर्थः। मृद्वीं मधुराक्षरां तदीयां वाचं परिपीय अत्यादरादाकर्ण्य परपुष्टघुष्टे कोकिलकूजिते तोषं प्रीतिं तत्याज, वीणाक्वणिते च घृणां जुगुप्सां 'घृणा जुगुप्साकृपयोरि'ति विश्वः। वितेने ॥६०॥

अन्वयः—सः हंसः मृद्वीकया तुल्यरसां तदीयां मृद्वीं वाचं परिपीय परपुष्ट-घुष्टे तोषं तत्याज वीणाक्वणिते च घृणां वितेने।

हिन्दी—उस हंस ने द्राक्षा रस के समान मधुररसमयी उस (दमयन्ती) की कोमल वाणी का परिपान करके (भलीभाँति सुनकर) कोकिल-कूजन पर-तुष्टि को त्याग दिया और वीणा के झनकार के प्रति घृणा प्रकट की।

टिप्पणी—आशय यह कि दमयन्ती की वाणी कोकिल-स्वर और वीण की झंकृति से अधिक सरस और कोमल है। अनुप्रास और प्रतीप अलंकार ॥६०॥

मन्दाक्षमन्दाक्षरमुद्रमुक्त्वा तस्यां समाकुञ्चितवाचि हंसः।
तच्छंसिते किञ्चन संशयालुर्गिरा मुखाम्भोजमयं युयोज ॥ ६१ ॥

जीवातु—मन्दाक्षेति। तस्यां भैम्यां मन्दाक्षेण ह्रिया मन्दा सन्दिग्धार्थी अक्षरमुद्रा 'द्विजराजपाणिग्रहे'त्याद्यक्षरविन्यासो यस्मिन् तत्तथोक्तमुक्त्वा समाकुञ्चितवाचि नियमितवचनायां सत्यामयं हंसस्तच्छंसिते भैमीभाषिते किञ्चन किञ्चित्संशयालुः सन्दिहानः सन्, 'स्पृहिगृही'त्यादिना आलुच् प्रत्ययः। मुखाम्भोजं गिरा युयोज मुखेन गिरमुवाचेत्यर्थः ॥६१॥

अन्वयः—अयं हंसः मन्दाक्षमन्दाक्षरमुद्रम् उक्त्वा तस्यां समाकुञ्चितवाचि तच्छंसिते किञ्चन संशयालुः मुखाम्भोजं गिरां युयोज।

हिन्दी—उस हंस ने लज्जा से थोड़े शब्दों में कहकर उस (दमयन्ती) के चुप हो जाने पर उसके कथन पर कुछ संदेह करते हुए मुखकमल में वाणी की योजना की (कहने के लिए मुख-कमल खोला)।

टिप्पणी—दमयन्ती के लज्जा के कारण स्पष्ट न कहने पर हंस को थोड़ा-सा संदेह बना रहा। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और समासोपमा अलंकार ॥६१॥

करेण वाञ्छेव विधुं विधर्तुं यमित्थमात्यादरिणी तमर्थम्।
पातुं श्रुतिभ्यामपि नाधिकुर्वे वर्ण श्रुतेर्वर्ण इवान्तिमः किम् ॥ ६२ ॥

जीवातु—करेणेति । हे भैमि ! करेण विधुं चन्द्रं विधर्तुं ग्रहीतुं वाञ्छेव असमर्थमित्थं 'द्विजराजपाणिग्रहे'त्याद्युक्तप्रकारेण आदरिणी आदरवती सती-आत्थ ब्रवीषि, ब्रुवः पञ्चानामि'ति ब्रुवो लटि सिपि थलादेशः ब्रुवश्चाहादेशः' 'आहस्थ' इति हकारस्य थकारः । तमर्थमन्त्ये भवोऽन्तिमो वर्णः शूद्रः, 'अन्ताच्चेति वक्तव्यमि'ति डिमच् । श्रुतेर्वर्णं वेदाक्षरमिव श्रुतिभ्यां पातुं श्रोतुमपीत्यर्थः । नाधिकुर्वे नाधिकार्यस्मि किम् ? अस्म्येवेत्यर्थः । अतः सोऽर्थो वक्तव्य इति तात्पर्यम् ॥ ६२ ॥

अन्वयः—करेण विधुं विधर्तुं वाञ्छा इव यम् इत्थम् आदरिणी आत्थ तम् अर्थम् अन्तिमः वर्णः श्रुतेः वर्णम् इव श्रुतिभ्यां पातुम् अपि न अधिकुर्वे किम् ?

हिन्दी—'हाथ से चंद्रमा-पकड़ने' की आकांक्षा के समान जिस (प्रयोजन) को तुमने इतने गोपनीय और आदर के साथ कहा, उस अर्थ को—जैसे चतुर्वर्णों में अंतिमवर्ण (शूद्र) वेद के अक्षर को कान में डालने का अधिकारी नहीं होता, वैसे ही मैं क्या सुनने का भी अधिकारी नहीं हूँ ?

टिप्पणी—दमयंती ने कहा—'का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेत्' । इसमें 'द्विजराज' का अर्थ चंद्र है और 'द्विज + 'राज'—इस प्रकार पदच्छेद करके 'राज' (नल) भी हो जाता है । इसी अस्पष्टता पर हंस का आक्षेप है । वह कहता है कि मैंने रहस्य-गोपन का विश्वास दिलाया, नल से संबंध जतलाया, पर फिर भी सलज्जता के नाम पर मुझसे दुराव-छिपाव ? काकु से अर्थ होता है कि हंस इस रहस्य को जानने का अधिकारी है । वह बताना चाहता है कि वह केवल दर्शनीय ही नहीं है, नल-प्राप्ति में पूर्ण सहायक भी है । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और उपमा ॥ ६२ ॥

अर्थाप्यते वा किमियद्भवत्या चित्तैकपद्यामपि वर्त्तते यः ।
यत्रान्धकारः खलु चेतसोऽपि जिह्मेतरैर्ब्रह्म तदप्यवाप्यम् ॥ ६३ ॥

जीवातु—ननु तमर्थमत्यन्तदुर्लभत्वाद्वक्तुं जिह्मीत्याशङ्कयाह—अर्थाप्यत इति । हे भैमि ! भवत्या किवा इयदेतावद्यथा तथा अर्थाप्यते किमर्थमयमर्थो-

द्विजराजपाणिग्रहणादति दुर्लभत्वेनाख्यायत इत्यर्थः। अर्थशब्दात्तदाचष्टे इत्यर्थे णिच्: 'अर्थवेदसत्यानामापुग्वक्तव्य' इत्यापुगागमः। कुतस्तथानाख्येय इत्यत आह-योऽर्थः एकः पादो यस्यामित्येकपदी एकपादसञ्चारयोग्यमार्गः। 'वर्त्तन्येक-पदीति चे'त्यमरः। 'कुम्भीपदीषु चे'ति निपातनात् साधुः। चित्तैकपद्यां मनोमार्गेऽपि वर्त्तते चक्षुराद्यविषयत्वेऽपीत्यपिशब्दार्थः। स कथं दुर्लभ इति भावः। तथाहि-यत्र यस्मिन् ब्रह्मणि विषये चेतसोऽप्यन्धकारः प्रतिबन्धः तद् ब्रह्म जिह्मेतरैरकुटिलैः कुशलधीभिरिति यावत्। अवाप्यं सुप्रापम् अमनोगम्यं ब्रह्मापि कैश्चिद् गम्यते, किमुत मनोगतोऽयमर्थः। अत एवार्थापत्तिरलङ्कारः। 'कैमुत्येनार्थान्तरापतनमर्थापत्तिरि'ति वचनात्॥ ६३॥

अन्वयः—भवत्या किं वा इयत् अर्थ्यते यः चित्तैकपद्याम् अपि वर्त्तते? यत्र चेतसः अपि अन्धकारः, तद् ब्रह्म अपि जिह्मेतरैः अवाप्यं खलु।

हिन्दी—(उसे) आप इतना दुष्प्राप्य क्यों मान रही हैं जो मन की पगडंडी में विद्यमान है (मन में छिपी जिसकी इच्छा है)? जिसके विषय में चित्त का भी अंधेरा है (मन में स्पष्टता नहीं है), वह ब्रह्म भी अलस व्यक्तियों से भिन्न (आलस्यहीन) व्यक्ति द्वारा निश्चय पूर्वक प्राप्य है।

टिप्पणी—भाव यह है कि आपके मन का भाव न तो पूर्णतः छिपा ही है और न नल अप्राप्य ही है और संसार में उद्योगी व्यक्ति तो ब्रह्म को भी पा लेते हैं, जो अवाङ्मनोगोचर है। अप्राप्य है, अमनोगम्य ब्रह्म भी जब प्राप्त हो जाता है, तब नलप्राप्ति तो मनोगत अर्थ है। अतएव मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अर्थापत्ति अलंकार है, विद्याधर विरोधाभास मानते हैं॥ ६३॥

ईशाणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये लोकेशलोकेशयलोकमध्ये।
तिर्यञ्चमप्यञ्च मृषानभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञमज्ञम्॥ ६४॥

जीवातु—अथ मयि मृषावादित्वाशङ्कया वक्तुं सङ्कोचस्तच्च न शङ्कित-व्यमित्याह-ईशेत्यादिना त्रयेण। ईशस्य यदणिमैश्वर्यं तस्य विवर्त्तो रूपान्तरं मध्यो यस्याः सा तथोक्ता हे कृशोदरीत्यर्थः। लोकेशलोके शेरत इति लोके-शलोकेशयाः ब्रह्मलोकवासिनः 'अधिकरणे शेतेरि'त्यच्प्रत्ययः। 'शयवासवासि-ष्वकालादि'त्यलुक् तेषां लोकानां जनानां मध्ये अज्ञं मूढं तिर्यञ्चं पक्षिणमपि

मामिति शेषः। मृषा अनृतं तस्य अनभिज्ञा रसज्ञा रसना यस्य तस्य भाव-स्तत्ता सत्यवादितेत्यर्थः। उपज्ञायत इति उपज्ञा आदावुपज्ञाता, 'उपज्ञा ज्ञान-माद्यं स्यादि'त्यमरः। 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ्प्रत्ययः बहुलग्रहणात् कर्मार्थत्वं तथात्वेन ज्ञातं तदुपज्ञम् 'उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायामि'ति नपुंसकत्वम्। समं साधारणं सर्वैर्ज्ञायत इति समज्ञा कीर्तिः पूर्ववदङ्प्रत्ययः तदुपज्ञं तथात्वे-नादौ ज्ञाता समज्ञा कीर्तिर्येन तं तथोक्तं मामञ्च, सत्यवादिनं विद्धीत्यर्थः। अञ्चतेर्गत्यर्थत्वात् ज्ञानार्थत्वम् ॥ ६४ ॥

अन्वयः—ईशाणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये लोकेशलोकेशयलोकमध्ये अज्ञं तिर्यञ्चम् अपि मृषानभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञम् अञ्च।

हिन्दी—हे परमेश के (अष्टविध) ऐश्वर्य के मध्य जो अणिमा नामक ऐश्वर्य है, उसके विवर्त्त (रूपांतर)—रूप मध्यभाग वाली (सूक्ष्मकटि), लोकेश्वर (ब्रह्मा) के लोकवर्ती जनों के मध्य (ब्रह्मलोकवासी प्राणियों के बीच) मुझ अज्ञानी पक्षी को भी तुम असत्य से अपरिचित (सत्यवादी) और रसज्ञ (सहृदय) जनों के भावों का आद्यज्ञानी और समज्ञाता समझकर पूजो (अथवा 'अज्ञम्' को केवल 'अञ्च' से पूर्व अन्वित कर लेने पर सत्य-वादिता और सहृदयता के रसज्ञाता मुझ सर्वज्ञ को तुम अज्ञानी समझो)।

टिप्पणी—शारीरिक सौन्दर्य के द्योतक संबोधन 'कृशोदरि' से दमयंती को संबोधित कर हंस उसे यह बताना चाहता है कि ब्रह्मलोक के प्राणियों के मध्य अजाना पक्षी होते हुए भी मैं सत्यवादी और रसज्ञ सहृदय हूँ, ऐसा समझ पूजनीय हूँ, पर ऐसे मुझे यदि मूर्ख समझोगी तो इसमें तुम्हारी ही हानि है। ब्रह्मलोक के सत्यवादी और रसज्ञ प्राणियों के बीच रह मैं मूर्ख और अरसिक कैसे हो सकता हूँ? श्रीहर्ष ने ऐसी शब्द योजना की है कि दोनों भाव संकेतित हो जाते हैं। विद्याधर के अनुसार यहाँ ओज गुण और अनुप्रास अलंकार है। अष्टसिद्धियाँ (ऐश्वर्य) हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य (अभिलषित पा लेने की क्षमता), ईशित्व (सामर्थ्यातिशय) और वशित्व। 'अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा। प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः' ॥ ६४ ॥

मध्ये श्रुतीनां प्रतिवेशिनीनां सरस्वती वासवती मुखे नः ।
ह्रियेव ताभ्यश्चलतीयमद्धापथान्न संसर्गगुणेन बद्धा ॥ ६५ ॥

जीवातु—मध्य इति । किं च, प्रतिवेशिनीनां प्रतिवेश्मनां श्रुतीनां वेदानां ब्रह्ममुखस्थानां श्रुतीनां मध्ये वासवती निवसन्ती इयं नोऽस्माकं मुखे सरस्वती वाक् संसर्ग एव गुणः श्लाघ्यधर्मः तन्तुश्च तेन बद्धा सती ताभ्यः श्रुतिभ्यो ह्रियेवेत्युत्प्रेक्षा । अद्धापथात्सत्यमार्गान्न चलति संसर्गजा दोषगुणा भवन्तीति भावः । 'सत्ये त्वद्धाऽञ्जसाद्वयमि'त्यमरः ॥ ६५ ॥

अन्वयः—नः मुखे इयं सरस्वती प्रतिवेशिनीनां श्रुतीनां मध्ये वासवती संसर्गगुणेन बद्धा ताभ्यः ह्रिया इव अद्धापथात् न चलति ।

हिन्दी—हमारे मुख में विद्यमान यह सरस्वती (वाणी) पड़ोसिनी श्रुतियों (वेदों) के मध्य में स्थित रहने से संग गुण से संबद्ध होने के कारण उनकी लज्जा से ही जैसे सत्यपथ से विचलित नहीं होती । (अथवा 'अद्धा अपथात्' पदच्छेद करनेपर 'निश्चयपूर्वक' 'अपथ' अर्थात् कुमार्ग पर नहीं चलती') ।

टिप्पणी—श्रुतिसंमत व्यवहार करने वाला कुपथ पर चल ही नहीं सकता, वह सत्यपथ से विचलित नहीं होता । हंस की वाणी तो वेदों की प्रतिवेशनी है, वह कैसे झूठी हो सकती है ? मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने समासोक्ति और उपमा का निर्देश किया है ॥ ६५ ॥

पर्यङ्कतापन्नसरस्वदङ्कां लङ्कापुरीमप्यभिलाषि चित्तम् ।
कुत्रापि चेद्वस्तुनि ते प्रयाति तदप्यवेहि स्वशये शयालु ॥ ६६ ॥

जीवातु—ततः किमित्यत आह—पर्यङ्केति । कुत्रापि वस्तुनि द्वीपान्तरस्थेऽपीति भावः । अभिलाषि साभिलाषं ते तव चित्तं कर्तृ पर्यङ्कतां वाससकथिकात्वमापन्नः सरस्वान् सागरोऽङ्कश्चिह्नं यस्यास्तामतिदुर्गमामित्यर्थः । तां लङ्कापुरीमपि प्रयाति चेत्तदपि तद्दुर्गस्थमपि स्वशये स्वहस्ते शयालु स्थितमवेहि । पर्यस्तमपि पर्यङ्कस्थमिव जानीहि ॥ ५२ ॥

अन्वयः—ते चित्तं पर्यङ्कतापन्नसरस्वदङ्कां लङ्कापुरीम् अभिलाषि, कुत्र अपि वस्तुनि प्रयाति चेत् (अथवा 'कुत्र अपि अभिलाषि ते चित्तं

पर्यङ्कतापन्नसरस्वदङ्कां कङ्कापुरीम् प्रयाति चेत्') तत् अपि स्वहस्ते शयालु अवेहि ।

हिन्दी—यदि तेरा चित्त जिसके परितः (चारों ओर) समुद्र का वृत्त घिरा हुआ है (अथवा समुद्र जिसका पलंग (शय्या) बना हुआ है । उस लंका का अभिलाषी है अथवा वह अन्य किसी दुष्प्राप्य वस्तु की ओर जा रहा है (अथवा किसी भी वस्तु की अभिलाष करने वाला तेरा मन समुद्र के मध्य बसी लंका की ओर जा रहा है). तो उसे भी तू अपने हाथ में विद्यमान समझ ।

टिप्पणी—दुर्गम समुद्र के मध्य में स्थित दुष्प्राप्य लंका या ऐसी हो किसी अन्य वस्तु को भी दमयंती प्राप्त कर सकती है, अन्य किसी अभिलाष की पूर्ति तो सरल ही है । विद्याधर के अनुसार समासोक्ति ॥६६॥

इतीरिता पत्ररथेन तेन ह्रीणा च हृष्टा च बभाण भैमी ।
चेतो नलं कामयते मदीयं नान्यत्र कुत्रापि च साभिलाषम् ॥ ६७ ॥

जीवातु—इतीति । तेन पत्ररथेन पक्षिणा हंसेन इतीत्थमीरिता उक्ता भैमी ह्रीणा स्वयमेव स्वाकूतकथनसङ्कोचात् लज्जिता, 'नुदविदे'त्यादिना विकल्पान्निष्ठानत्वम् । हृष्टा उपायलाभान्मुदिता च सती बभाण । किमिति ? मदीयं चेतो लङ्कां नायते, किन्तु नलं राजानं कामयत इति श्लेषभङ्ग्या बभाणेत्यर्थः । अन्यत्र कुत्रापि वस्तुनि साभिलाषं न ॥६७॥

अन्वयः—तेन पत्ररथेन इति ईरिता ह्रीणा हृष्टा च भैमी बभाण—मदीयं चेतः लङ्काम् न अयते, कुत्र अपि अन्यत्र साभिलाषम् न (अथवा मदीयं चेतः नलं कामयते कुत्र ''साभिलाषं न, अथवा कुत्र अपि अन्यत्र न साभिलाषं मदीयं चेतः अनलं कामयते) ।

हिन्दी—उस हंस द्वारा इस प्रकार संबोधित लज्जा और प्रसन्नता से पूर्ण भीमसुता ने कहा—मेरा चित्त लंका की ओर नहीं जाता. कहीं और भी अभिलाषी नहीं है' । अथवा/मेरा चित्त नल की कामना करता है, कहीं और साभिलाष नहीं है, अथवा कहीं और अनाकृष्ट मेरा मन अनल (आग) की कामना करता है ।

टिप्पणी—शब्द पर कवि का कितना अधिकार हो सकता है, किस प्रकार वह उनके कौशलपूर्ण प्रयोग से अर्थ-चमत्कार प्रकट कर सकता है; यह इस श्लोक में स्पष्ट है। एक-सी शब्दावली के विभिन्न पदच्छेद करके तीन अर्थ निकल आते हैं, वे अर्थ जो दमयंती की इच्छा का क्रमिक रूप हैं—(१) दमयंती को लंका की चाह नहीं है, (२) वह नल की कामना करती है; (३) यदि यह न हो तो आग में जल मरने की इच्छा है। एक लज्जावती कुमारी के सब अभिप्राय संकेतित हो गये। श्रीहर्ष का ही सामर्थ्य है। मल्लिनाथ की टिप्पणी है—कि श्लेष-भंगिमा से सब कुछ कह दिया गया। विद्याधर कहते हैं—'यही श्लेष है।' दमयंती का हर्ष इसलिए है कि हंस कहता है कि सब कुछ प्राप्त कर सकती है जो भी कामना करे। लज्जा है कि कैसे सीधे शब्दों में अपने नला-भिलाष को प्रकट कर दे? ॥६७॥

विचिन्त्य बालाजनशीलशैलं लज्जानदीमज्जदनङ्गनागम्।
आचष्ट विस्पष्टमभाषमाणामेनां स चक्राङ्कपतङ्गशक्रः ॥ ६८ ॥

जीवातु--विचिन्त्येति। विस्पष्टमभाषमाणां श्लेषोक्तिवशात्संदिग्धमेव भाषमाणामित्यर्थः। एनां दमयन्तीं सः चक्राङ्कपतङ्गशक्रः हंसपक्षिश्रेष्ठः बाला-जनस्य मुग्धाङ्गनाजनस्य शीलं स्वभावमेव शैलं लज्जायामेव नद्यां मज्जदनङ्गनागो यस्य तं विचिन्त्य विचार्य आचष्ट, तस्य लज्जाविजितमन्मथत्वं ज्ञात्वा लज्जा-विसर्जनार्थं वाक्यमुवाचेत्यर्थः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—सः चक्राङ्कपतङ्गशक्रः विस्पष्टम् अभाषमाणाम् एनां बालाजन-शीलशैलं लज्जानदीमज्जदनङ्गनागं विचिन्त्य जगाद।

हिन्दी—यह हंस विहंगमों का स्वामी पूर्ण स्पष्ट न कह सकने वाली उस (दमयंती) से बालाओं के शील (स्वभाव) रूप-पर्वत और लज्जा-रूपिणी नदी में डूबते कामरूप हाथी का विचार करते हुए बोला।

टिप्पणी—स्पष्ट भाषण के दो कारण हंस ने समझ लिए—(१) एक तो कुमारी बालिकाओं का शील, जो स्पष्ट भाषण को दुर्लंघ्य पर्वत-जैसा रोके खड़ा है, (२) लज्जा की अतिशयता, जिसमें कामनाएँ डूब कर रह जाती हैं। भाव यह कि हंस समझ गया कि कुमारी-जनोचितशील और

लज्जा से अभिभूत दमयंती ने जो कह दिया, वही पर्याप्त है। इससे अधिक वह क्या कहती? विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और रूपक अलंकार ॥६८॥

नृपेण पाणिग्रहणे स्पृहेति नलं मनः कामयते ममेति।
आश्लेषि न श्लेषकवेर्भवत्या श्लोकद्वयार्थस्सुधिया मया किम् ? ॥६९॥

जीवातु—नृपेणेति। श्लेषकवेः श्लेषभङ्ग्या कथयित्र्याः श्लिष्टशब्द-प्रयोक्त्र्या इत्यर्थः. कवृवर्णन इति धातोरौणादिक इकारप्रत्ययः। भवत्यास्तव सम्बन्धि नृपेण कर्त्रा पाणिग्रहणं पाणिपीडनम्, 'उभयप्राप्तौ कर्मणी'ति विहितायाः षष्ठ्या 'कर्मणि चे'ति समासनिषेधेऽपि शेषे षष्ठीसमासः। तव स्पृहेति मम मनो नलं कामयते द्विजराजपाणिग्रहेति चेतो नलं कामयत इति श्लोकद्वयार्थः सुधिया मया विदुषा नाश्लेषि नाग्राहि किं ? गृहीत एवेत्यर्थः॥ ६९॥

अन्वयः—श्लेषकवेः भवत्याः नृपेण पाणिग्रहणे स्पृहा इति मम मनो नलं कामयते इति श्लोकद्वयार्थः सुधिया मया न आश्लेषि किम् ?

हिन्दी—श्लेषकविता की विदुषी आपके–'राजा (नल) के साथ पाणिग्रहण की अभिलाषा है', 'मेरा मन नल की कामना करता है', इन दोनों श्लोकों का अर्थ क्या भली बुद्धि वाला मैं न समझ पाया? (अपितु समझ गया)

टिप्पणी—दमयंती का भाव समझ कर हंस ने कहा कि मैं आपकी श्लेष चातुरी भली भाँति समझ गया हूँ। आपने जो दो श्लोकों—'का नाम वाला'··· इत्यादि (३।५९) और 'चेतो नलं कामयते' (३।६७) में श्लेष काव्य का प्रयोग करते हुए जो कहा, वह मैंने भलीभाँति समझ लिया। अब मुझसे कुछ भी छिपाना व्यर्थ है॥६९॥

त्वच्चेतसः स्थैर्यविपर्ययं तु सम्भाव्यभाव्यस्मि तदज्ञ एव।
लक्ष्ये हि बालाहृदि लोलशीले दरापराद्धेषुरपि स्मरः स्यात्॥७०॥

जीवातु—तर्हि किमर्थं करेण वाञ्छेत्यादिकमज्ञवदुक्तमित्यत आह—त्वच्चेतस इति। किन्तु त्वच्चेतसः स्थैर्यविपर्ययमस्थिरत्वं संभाव्य आशङ्क्य तदज्ञः कस्य श्लोकद्वयार्थस्य अज्ञः अनभिज्ञः भावी भविष्यन् 'भविष्यति गम्यादय' इति साधुः अस्मि। त्वच्चित्तनिश्चयपर्यन्तमित्यर्थः। धातुसम्बन्धे प्रत्यया इति भविष्यताया गुणात्वावर्तमानतानुरोधः। नन्वेवमनु-

रक्तायां मयि कुत इयं शङ्केत्याशङ्कय स्त्रीणां चित्तचाञ्चल्यसम्भवादित्याह—लक्ष्य इति। लोलशीले चंचलस्वभावे बालाहृदि चित्त एव स्मरोऽपि दरापराद्धेषुरीषच्च्युतसायकः स्यात् कुशलोऽपि धन्वी चललक्ष्यात्कदाचिदाचिदपराध्यत इति भावः। 'अपराद्धपृषत्कोऽसौ लक्ष्याद् यश्च्युतसायकः,' इत्यमरः। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥७०॥

अन्वयः—तु त्वच्चेतसः स्थैर्यविपर्ययं संभाव्य तदज्ञ एव भावी अस्मि हि लोलशीले बालाहृदि लक्ष्ये स्मरः अपि दरापराद्धेषुः स्यात्।

हिन्दी—किन्तु तुम्हारे चित्त की अस्थिरता की संभावना करके उक्त श्लोकार्थ में अनभिज्ञ ही बना रहूँगा, क्योंकि चंचल स्वभाव बाला के हृदयलक्ष्य पर कामदेव के बाण भी कुछ चूक जाते हैं।

टिप्पणी—हंस का कथन है कि मैं सब जानकर भी अजाना ही बना रहना चाहता हूँ, क्योंकि लड़कियाँ होती हैं चंचल स्वभाव की। न तो उनका मन बदलते देर लगती है और न उन्हें काम ही तरुणियों के समान व्यथा देता है। अर्थान्तरन्यास ॥७०॥

महीमहेन्द्रः खलु नैषधेन्दुस्तद्बोधनीयः कथमित्थमेव ?।
प्रयोजनं सांशयिकम्प्रतीदृक्पृथग्जनेनेव स मद्विधेन ॥ ७१ ॥

जीवातु—महीति नैषधः इन्दुरिव नैषधेन्दुर्नलचन्द्रः महीमहेन्द्रो भूदेवेन्द्रः खलु तस्मात् स नलः। पृथग्जनेन प्राकृतजनेनेव मद्विधेन मादृशा विदुषा ईदृक् सांशयिकं सन्देहदुःस्थम् अस्थिरं प्रयोजनं प्रति इत्थमेव मुग्धाकारेणैव कथं बोधनीयः ? अनर्हमित्यर्थः। 'गतिबुद्धी'त्यादिना अणि कर्तुर्नलस्य कर्मत्वं, 'ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मण' इति अभिधानाच्च ॥७१॥

अन्वयः—तत् महीमहेन्द्रः सः नैषधेन्दुः मद्विधेनेव पृथग्जनेन ईदृक् सांशयिकं प्रयोजनं प्रति इत्यम् एव कथं बोधनीयः।

हिन्दी—इस पृथ्वी के महेन्द्र उस नैषधचंद्र के प्रति मेरे जैसे प्राकृत जन पक्षी द्वारा (अथवा 'पृथग्जनेन इव मद्विधेन' अन्वय करके प्राकृतजन के समान मुझ जैसे विद्वान् द्वारा) ऐसे संशयपूर्ण अस्थिर प्रयोजन का निवेदन किस प्रकार किया जाय ?

टिप्पणी—आशय यह है कि दमयंती का भाव तो स्पष्ट कहा नहीं गया, सो बात संदेह की है। उसे हंस जैसा समझदार प्राणी एक मूर्ख की भाँति इतने बड़े राजा से कह नहीं सकता अथवा कहीं यह न समझ लिया जाय कि हंस तो पक्षी है, उसने न जाने क्या समझा और प्रलाप कर दिया। सो बात साफ होनी चाहिए। एक महीमहेन्द्र से वह अप्रामाणिक, संदेहास्पद संदेश नहीं कह सकता। विद्याधर के अनुसार उपमा और काव्यलिंग ॥७१॥

पितुर्नियोगेन निजेच्छया वा युवानमन्यं यदि वा वृणीषे।
त्वदर्थमर्थित्वकृतिप्रतीतिः कीदृङ्मयि स्यान्निषधेश्वरस्य ॥ ७२ ॥

जीवातु—अथेत्थमेव वोधने को दोषस्तत्राह-पितुरिति। पितुर्नियोगेन आज्ञया निजेच्छया स्वेच्छया वा अन्यं नलादन्यं युवानं यदि वृणीषे वृणोषि यदि, तदा निषधेश्वरस्य नलस्य मयि विषये त्वदर्थं तुभ्यं, 'चतुर्थी तदर्थे'त्यादिना चतुर्थी समासः, 'अर्थेन सह नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्'। तद्यत्तथा अर्थित्वकृतिः अर्थित्वभजनं तत्र प्रतीतिर्विश्वासः कीदृक् स्यान्न स्यादित्यर्थः। तस्मादसंदिग्धं वाच्यमिति भावः ॥७२॥

अन्वयः—पितुः नियोगेन निजेच्छया वा यदि अन्यं युवानं वृणीषे त्वदर्थम् अर्थित्वकृतिः मयि निषधेश्वरस्य कीदृक् प्रतीतिः स्यात्।

हिन्दी—पिता की आज्ञा अथवा अपनी इच्छा से यदि तुम नलातिरिक्त युवा का वरण करती हो, तो तुम्हारे निमित्त याच्ञा करते मेरे प्रति निषधराज का विश्वास कैसा होगा ?

टिप्पणी—हंस का तात्पर्य है कि दमयंती जब तक निश्चयपूर्वक अपना निर्णय स्पष्ट न कहेगी हंस की नल से उसके साथ विवाह करने की प्रार्थना ठीक नहीं होगी। यदि दमयंती के पिता ने अन्यत्र कहीं अपनी बेटी ब्याहने का निर्णय ले लिया और दमयंती ने उससे बाध्य हो अन्य किसी पुरुष को वर लिया अथवा उसकी ही इच्छा बदल गयी, तो नल हंस को एक लबाड़िया या झूठा ही तो समझेंगे। सो स्पष्ट कहे बिना कार्य आगे नहीं बढ़ेगा ॥७२॥

त्वयाऽपि किं शङ्कितविक्रियेऽस्मिन्नधिक्रिये वा विषये विधातुम्।
इतः पृथक् प्रार्थयसे तु यद्यत्कुर्वे तदुर्वीपतिपुत्रि! सर्वम् ॥ ७३ ॥

जीवातु—अन्यथा तया वक्तुं न शक्यते तर्हि ततोऽन्यदीप्सितं करिष्ये प्रतिज्ञाभङ्गपरिहारायेत्याह—त्वयेति ! हे उर्वीपतिपुत्रि ! भैमि ! त्वयापि वा किं विधातुं किं कर्तुं शङ्कितविक्रिये सम्भावितविपर्यये अस्मिन् विषये राजपाणि-ग्रहणसंघटनकार्ये अहम्, अविक्रिये विनियुज्ये, अनियोज्य इत्यर्थः। करोतेः कर्मणि लट्, किन्तु इतः पृथगस्मादन्यत् यद्यत्प्रार्थयसे तत्सर्वं कुर्वे करोमीत्यर्थः ॥

अन्वयः—त्वया अपि शङ्कितविक्रिये अस्मिन् विषये विधातुं किं वा अविक्रिये ? उर्वीपतिपुत्रि, इतः पृथक् यत् यत् प्रार्थयसे तत् सर्वं कुर्वे ।

हिन्दी—और तुम भी जिसमें परिवर्तन की आशंका है, उस इस विवाह-विषय में संयोजन करने का अधिकार मुझे क्यों दे रही हो ? हे पृथ्वी के स्वामी की पुत्री (राजकुमारी), इससे भिन्न जो-जो मुझ से चाहोगी, मैं वह सब करूँगा ।

टिप्पणी—हंस एक और उत्तेजना देता है—अच्छा हो कि तुम इस संदेहास्पद कार्य-साधन में मुझे नियुक्त ही न करो । इस विवाह-विषयक कार्य के अतिरिक्त, जो भी कहो, मैं कर दूँगा अर्थात् या तो स्पष्ट कहो, या फिर इस विषय को ही छोड़ो । विद्याधर ने इस श्लोक में अनुप्रास अथवा 'नियत-दशावयवयमक' का निर्देश किया है ॥ ७३ ॥

श्रवःप्रविष्टा इव तद्गिरस्ता विधूय वैमत्यधुतेन मूर्ध्ना ।
ऊचे ह्रिया विश्लथितानुरोधा पुनर्धरित्रीपुरुहूतपुत्री ॥ ७४ ॥

जीवातु—श्रव इति । धरित्रीपुरुहूतपुत्री भूमीन्द्रसुता भैमी श्रवःप्रविष्टा इव न तु सम्यक् प्रविष्टाः तद्गिरो हंसवाचः । वैमत्येन असम्मत्या धुतेन कम्पितेन मूर्ध्ना विधूय प्रतिषिध्य ह्रिया कर्त्र्या विश्लथितानुरोधा शिथिलित-वृत्तिस्त्यक्तलज्जा सती पुनरप्यूचे उवाच ॥ ७४ ॥

अन्वयः—धरित्रीपुरुहूतपुत्री श्रवःप्रविष्टाः तद्गिरः वैमत्यधुतेन मूर्ध्ना विधूय इव ि या विश्लथितानुरोधा पुनः ऊचे ।

हिन्दी—धरणी के इन्द्र की पुत्री (पृथ्वीन्द्रसुता दमयंती) कानों में घुसी उस (हंस) की वचनावली को असंमति में हिलते शिर से मानो निरस्त करती हुई लज्जा के अनुरोध को शिथिल कर (लज्जा छोड़) पुनः बोली ।

टिप्पणी—दमयंती ने हंस के वचनों के प्रति असंमति प्रकट करने के लिए सिर हिलाया, जैसे कान में प्रवेश करते किसी दुष्ट कीट को सिर के झटके से निवारित करना चाहती हो। इस आवेश में उसने लज्जा छोड़ कर निम्नांकित स्पष्ट वचन कहे। उत्प्रेक्षा ॥ ७४ ॥

मदन्यदानं प्रति कल्पना वा वेदस्त्वदीये हृदि तावदेषा ।
निशोऽपि सोमेतरकान्तशङ्कामोङ्कारमग्रेसरमस्य कुर्याः ॥ ७५ ॥

जीवातु—मदिति। मम अन्यदानमन्यस्य दानं प्रति दानमुद्दिश्य या कल्पना 'पितुर्नियोगेनेत्यादि श्लोकस्तकः। एषा कल्पना त्वदीये हृदि वेदस्तावत्तत्य एवेत्यर्थः। निशो निशाया अपि 'पद्दन्नि'त्यादिना निशाया निशादेशः सोमाच्चन्द्रादितरकान्तशङ्कां पुरुषान्तरकल्पनामेव ओङ्कारं प्रणवम् अस्य वेदस्याग्रेसरमाद्यं कुर्याः कुरु सर्वस्यापि वेदस्य प्रणवपूर्वकत्वादिति भावः। यथा निशायाः निशाकरेतरप्रतिग्रहो न शङ्कनीयः, तथा ममापि नलेतरप्रतिग्रहो न शङ्कनीय इत्यर्थः। रूपकालङ्कारः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—मदन्यदानं प्रति त्वदीये हृदि या एषा कल्पना तावत् वेदः, निशः अपि सोमेतरकान्तशङ्काम् अस्य ओङ्कारं कुर्याः।

हिन्दी—मेरे नलातिरिक्त पुरुष को दिये जाने के विषय में तुम्हारे हृदय में जो यह कल्पना 'वेद' (वेदसम प्रामाणिक) है, तो रात्रि की भी चंद्रेतर प्रियविषयकशङ्का को इस (मेरे अन्य दान विषयक तथ्यांगीकार) का 'ओंकार' कर लो।

टिप्पणी—दमयंती का कथन यह है कि उसके अन्य किसी पुरुष से विवाह होने के विषय में जो हंस कल्पना कर रहा है, वह निर्मूल है। यदि वह इस शङ्का को वेद के समान सत्य और प्रामाणिक माने बैठा है, तो उसे इसे सत्य मानने के पूर्व यह भी मानना होगा कि रात्रि का चन्द्रमा के अतिरिक्त भी प्रिय होता है। यदि दमयंती विषयक हंस की आशंका वेद है, तो रात्रि विषयक तथ्य को वेदमंत्रों से पूर्व उच्चारित होनेवाला ओंकार (ॐ) मानना होगा अर्थात् जैसे चन्द्रमा ही रात्रि का प्रिय है, वैसे ही नल ही दमयंती का। मल्लिनाथ के अनुसार रूपक, विद्याधर के अनुसार रूपक और अतिशयोक्ति ॥ ७५ ॥

सरोजिनीमानसरागवृत्तेरनर्कसम्पर्कमतर्कयित्वा ।
मदन्यपाणिग्रहशङ्कितेयमहो महीयस्तव साहसिक्यम् ॥ ७६ ॥

जीवातु—सरोजिनीति । सरोजिन्याः मानसरागवृत्तेर्मनोऽनुरागस्थितेर-भ्यन्तरारुण्यप्रवृत्तेश्च अनर्कसम्पर्कमर्केतरकान्तसंक्रान्तिमतर्कयित्वा अनूहित्वा तवेयं मम अन्यस्य नलेतरस्य पाणिग्रहं शङ्कत इति तच्छङ्कितस्य भावस्तत्ता महीयो महत्तरं साहसिक्यं साहसिकत्वम् अहो असम्भावितसम्भावनादाश्चर्यम् ।

अन्वयः—सरोजिनीमानसरागवृत्तेः अनर्कसम्पर्कम् अतर्कयित्वा तव इयं मदन्यपाणिग्रहशङ्किता अहो, महीयः साहसिक्यम् ।

हिन्दी—कमलिनी के मनोऽनुराग के होने का सूर्यातिरिक्त के साथ संबंध की तर्कणा न करके तुम्हारी यह मेरे नलातिरिक्त के साथ विवाह की शंका आश्चर्य और बड़े साहस की बात है ।

टिप्पणी—आशय यह है कि जिस प्रकार कमलिनी का अनुराग सूर्य से ही होता है, अन्य से नहीं उसी प्रकार दमयंती का विवाह नल से ही संभव है; नलातिरिक्त से नहीं । जब कमलिनी-सूर्य के संबंध में हंस को शंका नहीं है, तो दमयंती-नल के विषय में उसकी शंका बड़ा दुःसाहस है । विद्याधर के अनुसार समासोक्ति और अतिशयोक्ति ॥७६॥

साधु त्वयाऽतर्कि तदेकमेकमेव स्वेनानलं यत्किल संश्रयिष्ये ।
विनाऽमुना स्वात्मनि तु प्रहर्तुं मृषागिरं त्वां नृपतौ न कर्तुम् ॥ ७७ ॥

जीवातु—साध्विति । किंतु स्वेन स्वेच्छया अनलं नलादन्यम् अग्निं च संश्रयिष्ये प्राप्स्यामीति यत् त्वया अतर्कि ऊहितं तदेकमेव साधु अतर्कि, किन्तु अमुना नलेन विना तदलाभ इत्यर्थः । स्वात्मनि प्रहर्तुं स्वात्मानं हिंसितुं कर्मणोऽधिकरणत्वविवक्षायां सप्तमी । 'अनेकशक्तियुक्तस्य विश्वस्यानेककर्मणः । सर्वदा सर्वतोभावात् क्वचित् किञ्चिद्विवक्ष्यते ॥' इति वचनादनलं संश्रयिष्ये इत्यनुषङ्गः नृपतौ नले विषये त्वां मृषागिरमसत्यवाचं कर्तुमन एव शरणम् अन्यथा मरणमेव शरणमिति भावः ॥७७॥

अन्वयः—एतत् एव त्वया साधु तर्कितं किल यत् स्वेन अनलम् संश्रयिष्ये, अमुना विना तु स्वात्मनि प्रहर्त्तुम्, नृपतौ त्वां मृषागिरं कर्तुं न ।

हिन्दी—यही तुमने ठीक विचार किया कि मैं स्वयम् ही अनल (नलातिरिक्त, अग्नि) का आश्रय ले लूँगी, किन्तु (नल) के बिना अपने को समाप्त करने के लिए (अग्नि-अनल का आश्रय लूँगी), न कि तुम्हें नरराज (नल) के संमुख झूठा सिद्ध करने के लिए (अनल अर्थात् नल-व्यतिरिक्त का आश्रय) ।

टिप्पणी—हंस ने 'पितुर्नियोगेन' इत्यादि (७२) में आशंका प्रकट की थी कि तुम स्वेच्छया अनल (नल व्यतिरिक्त) को वर लो तो उसे नल झूठा समझेंगे, इसी का एक प्रकार से उपहास करती दमयंती ने कहा कि वह निश्चय ही स्वेच्छया नल से विवाह न होने पर अनल (अग्नि) का आश्रय लेगी—आत्मदाह कर लेगी, किन्तु 'अनल' (नल-व्यतिरिक्त) से विवाह करके हंस को नल के सम्मुख झूठा नहीं सिद्ध करेगी । विद्याधर द्वारा उल्लेख्य अलंकार श्लेष ॥७७॥

मद्विप्रलभ्यं पुनराह यस्त्वां तर्कस्स किं तत्फलवाचि मूकः ? ।
अशक्यशङ्कव्यभिचारहेतुर्वाणी न वेदा यदि सन्तु के तु ? ॥ ७८ ॥

जीवातु—मदिति । किञ्च, यस्तर्क ऊहः मद्विप्रलभ्यं मया विप्रलम्भनीयं 'पोरदुपधादि'ति यत्प्रत्ययः । आह बोधयतीत्यर्थः स तर्कः तस्य विप्रलम्भस्य फलवाचि प्रयोजनाभिधाने मूकः अशक्तः किम् ? अतो मय्यसत्यवादित्वशङ्का न कार्येत्यर्थः । कथमेतावता सत्यवाक्यत्वनिश्चयः अत आह—अशक्या शङ्का यस्य सः अशक्यशङ्कः शंकितुमशक्यः व्यभिचारहेतुर्विप्रलिप्सालक्षणो यस्याः सा वाणी न वेदा यदि न प्रमाणं चेत्तर्हि के तु वेदाः सन्तु ? न केऽपीत्यर्थः सम्भावनायां लोट् । वेदवाचामसत्यत्वे मद्वाचोऽप्यसत्यत्वम्, नान्यथेति भावः ॥७८॥

अन्वयः—पुनः यः तर्कः मद्विप्रलभ्यं त्वाम् आह स तत्फलवाचि मूकः किम् ? अशक्यशङ्कव्यभिचारहेतुः यदि वेदाः न, के तु सन्तु ?

हिन्दी—और फिर जिस तर्क ने तुम्हें यह बताया कि मैं तुम्हारी प्रतारणा करूँगी, उसके परिणाम को बताने में क्या वह गूँगा है ? जिन (वचनों) में व्यभिचार के (अज्ञानादि) कारणों की शंका की ही नहीं जा सकती, यदि वे वेद (प्रमाणिक) नहीं हैं तो वेद क्या है ?

टिप्पणी—७२ वें श्लोक में हंस ने आशंका की थी कि वह झूठा बनेगा, दमयंती द्वारा प्रतारित होगा। दमयंती इसके उत्तर में कहती है कि यह आशंका भी निर्मूल है। हंस ने किस तर्क से यह सोच लिया कि दमयंती उसे प्रतारित करेगी, उस तर्क ने उसे यह नहीं बताया कि हंस को प्रतारित करने में दमयंती को लाभ क्या होगा ? हंस तो ज्ञानी है, उसे अपनी प्रामाणिकता पर विश्वास होना चाहिए, अन्यथा फिर उसकी प्रामाणिकता ही क्या रह जायेगी ? अथवा दमयंती यह कहना चाहती है कि वह जो कह रही है, वह पूर्ण सत्य और प्रामाणिक है, वेद के समान, जिसमें अज्ञानादि व्यभिचार-कारणों की आशंका ही नहीं की जा सकती। जो वाणी अव्यभिचारिणी है—अपरिवर्तनीय। यदि वेद झूठे हैं तो दमयंती की वाणी भी। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग ॥ ७८ ॥

अनैषधायैव जुहोति किं मां तातः कृशानौ न शरीरशेषाम् ?।
ईष्टे तनूजन्मतनोस्तथापि मत्प्राणनाथस्तु नलस्स एव ॥ ७९ ॥

जीवातु—एवं निजेच्छया नलान्यशङ्कां निरस्य पित्राज्ञयापि तां निरस्यति-अनैषधायेति। ततो मम जनकः। 'तातस्तु जनकः पिता' इत्यमरः। माम-नैषधाय नैषधान्नलादन्यस्मै एव जुहोति ददातीति काकुः, तदा शरीरशेषां मृतां तत्रापि कृशानौ न किं न तु जीवन्तीं नाग्नेरन्यत्र जुहोतीत्यर्थः तदङ्गीकर्त्तव्यमे-वेति भावः। कुतः ? स जनकः तनूजन्मतनोः आत्मजशरीरस्य ईष्टे स्वामी, भवतीत्यर्थः। 'अधीगर्थदयेशां कर्मणी'ति शेषे षष्ठी। तथापि शरीरस्य पितृ-स्वामिकत्वेऽपीत्यर्थः। मत्प्राणनाथस्तु नल एव प्राणानामतज्जन्यत्वादिति भावः। अतो मय्यविश्वासं मा कुर्वित्यर्थः ॥ ७९ ॥

अन्वयः—तातः शरीरशेषां माम् अनैषधाय जुहोति, कृशानौ एव किं न ? सः तनूजन्मतनोः ईष्टे तथापि मत्प्राणनाथः तु सः नलः एव।

हिन्दी—पिता शरीरमात्रावशेष (मृत) मुझे निषधराजातिरिक्त को देते हैं तो अग्नि को ही क्यों नहीं देते ? वे (पिता) स्वदेह से जन्म पाने वाले देह के स्वामी हैं, तथापि मेरे प्राणों का स्वामी तो वह नल ही है।

टिप्पणी—दमयंती का भाव यह है कि पिता जीवित क्षण में नलातिरिक्त से उसका विवाह नहीं कर पायेंगे, यदि वे ऐसा करेंगे तो दमयंती प्राण दे

देगा और फिर उस शरीरमात्रावशेषा को पिता द्वारा अग्नि में ही समर्पित किया जा सकेगा। पिता का अधिकार शरीर मात्र पर है, क्योंकि उसे उन्होंने जन्म दिया है, उसे वे ले सकते हैं, किन्तु प्राणों के स्वामी तो नल ही हैं। अतः हंस को दमयंती का विश्वास करना ही उचित है। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग ॥७९॥

तदेकदासीत्वपदादुदग्रे मदीप्सिते साधु विधित्सुता ते।
अहेलिना किं नलिनी विधत्ते सुधाकरेणापि सुधाकरेण ॥ ८० ॥

जीवातु—फलितमाह-तदेकेति। तस्य नलस्यैकस्यैव दासीत्वं तदेव पदमधिकारस्तस्मादुदग्रे अधिके मदीप्सिते पत्नीत्वरूपे विषये तव विधित्सुता चिकीर्षुतैव साधु साध्वी, अविचारेण मनोरथपूरणमेव ते युक्तमिति भावः। साध्विति सामान्योपक्रमान्नपुंसकत्वम्, शक्यं श्वमांसेनापि क्षुन्निवर्तयितुमि'ति भाष्यकारप्रयोगात्। ननु किमत्राभिनिवेशेन गुणवत्तरं चेद्युवान्तरस्वीकारे को दोषस्तत्राह-अहेलिनेति। नलिनी सुधाकरेण अमृतदीधितिनापि अहेलिना असूर्येण सुधाकरेण चन्द्रेण किं विधत्ते? किं तेन तस्या इत्यर्थः। तद्वन्ममापि किं युवान्तरेणेति भावः। दृष्टान्तालङ्कारः ॥८०॥

अन्वयः—तदेकदासीत्वपदात् उदग्रे मदीप्सिते तव विधित्सुता साधु. नलिनी सुधाकरेण अपि अहेलिना सुधाकरेण किं विधत्ते?

हिन्दी—उस (नल) की एक दासी होने के पद से भी उत्कृष्ट मेरे मनोरथ को पूर्ण करने की तुम्हारी भली ही इच्छा है, किन्तु कमलिनी अमृत के आकार भी अहेलि (असूर्य) चन्द्र का क्या करेगी?

टिप्पणी—हंस ने ७३वें श्लोक में कहा था कि वह इस संदेहास्पद कार्ययोजना में नहीं पड़ना चाहता, किन्तु अन्य किसी दमयंती के मनोरथ को वह पूर्ण करेगा। इसी का उत्तर इस श्लोक में है। दमयंती हंस को साधुवाद देती बताती है कि वह और कुछ चाहती ही नहीं, केवल नल की दासी होना उसका अभीष्ट है। भले ही उससे उत्कृष्ट कुछ ही होता रहे, उससे दमयंती को क्या काम? चंद्र अमृतनिधि है, पर वह सूर्य तो नहीं है। कमलिनी का क्या इससे संबंध? दृष्टांत अलकार ॥८०॥

तदेकलुब्धे हृदि मेऽस्ति लब्धुं चिन्ता न चिन्तामणिमप्यनर्घम्।
चित्तो ममैकस्स नलस्त्रिलोकीसारो निधिः पद्ममुखस्स एव ॥८१॥

जीवातु—तदिति। तस्मिन्नेवैकस्मिन् लुब्धे लोलुपे मे हृदि अनर्घं चिन्तामणिमपि लब्धुं चिन्ता विचारो नास्ति, तथा वित्ते धनविषयेऽपि मम स नलस्त्रिलोकीसारस्त्रैलोक्यश्रेष्ठः पद्ममुखः पद्मानन: एक स नल एव त्रैलोक्यसारः, पद्मनिधिश्च। नलादन्यत्र कुत्रापि मे स्पृहा नास्ति। किमुत युवान्तर इति भावः ॥८१॥

अन्वयः—तदेकलब्धे मे हृदि अनर्घं चिन्तामणिम् अपि लब्धुं चिन्ता नास्ति। वित्ते (चित्ते वा) अपि मम सः नलः त्रिलोकीसारः पद्ममुखः एकः एव।

हिन्दी—उसी एक में लुब्ध मेरे मन में अमूल्य चिन्तामणि को भी पाने की चिन्ता नहीं है। धन के विषय में भी (अथवा मेरे चित्त में भी) मेरा वह नल त्रिलोकी का सारभूत (सर्वोत्कृष्ट) कमलवदन अकेला ही है।

टिप्पणी—भाव यह कि नल के अतिरिक्त किसी दुर्लभतम वस्तु को भी पाने की इच्छा दमयंती की नहीं है। विद्याधर के अनुसार रूपक और श्लेष ॥८१॥

श्रुतश्च दृष्टश्च हरित्सु मोहाद् ध्यातश्च नीरन्ध्रितबुद्धिधारम्।
ममाद्य तत्प्राप्तिरसुव्ययो वा हस्ते तवास्ते द्वयमेव शेषः ॥ ८२ ॥

जीवातु—श्रुतश्चेति। किं बहुना स नलः श्रुतः दूतद्विजनन्द्यादिमुखादाकर्णितश्च, मोहात् भ्रान्तिवशात् हरित्सु दृष्टः साक्षात्कृतश्च, तथापि नीरन्ध्रितबुद्धिधारं निरन्तरीकृततदेकविषयबुद्धिप्रवाहं यथा तथा ध्यातश्च। अथाद्य मम तत्प्राप्तिर्नलप्राप्तिसुव्ययः प्राणत्यागो वा द्वयमेव द्वयोरन्यतर एवेत्यर्थः। शेषः कार्यशेषः स च तव हस्ते आस्ते त्वदायत्तः तिष्ठतीत्यर्थः। अत्र तत्पदार्थश्रवणमनननिदिध्यासनसम्पन्नस्य ब्रह्मप्राप्तिदुःखोच्छेदलक्षणमोक्षो गुर्वायत्त एवेत्यर्थान्तरप्रतीतिर्ध्वनिरेव अभिधायाः प्रकृतार्थनियन्त्रणादि संक्षेपः ॥ ८२ ॥

अन्वयः—श्रुतः मोहात् हरित्सु च दृष्टः नीरन्ध्रितबुद्धिधारं ध्यातश्च, अद्य मम तत्प्राप्तिः असुव्ययः वा द्वयम् एव शेषः तव हस्ते आस्ते।

हिन्दी—(उसे दूतमुखों से मैंने) सुना है, मोह के कारण सब दिशाओं में देखा है और निरन्तर बुद्धिविचारणा में उसी का ध्यान किया है। आज मुझे उसकी प्राप्ति अथवा मेरे प्राणों का नाश—दो ही तुम्हारे हाथ में मेरे लिए रह गये हैं।

टिप्पणी—भाव यह कि हंस यदि कुछ करना चाहता है तो दमयंती को नल की प्राप्ति करा दे या फिर उसके प्राण निकल जाने दे। नल के अभाव में मृत्यु ही वरेण्य है। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में अभिधा द्वारा प्रकृतार्थ का नियंत्रण हो जाने के कारण ब्रह्म के श्रवण, मनन, निदिध्यासन से संपन्न व्यक्ति ब्रह्मप्राप्ति दुःखोच्छेद रूप मोक्ष गुरु के अधीन है—यह ध्वनि है। प्रकाशकार ने भी ऐसा ही कहा है—'तत्त्वमसि' इति श्रुतौ तच्छब्दवाच्यस्य ब्रह्मणः प्राप्तिः कस्यचिदेव सुकृतिनो भवति, तथा मम नलप्राप्तिस्त्वत्प्रसादादेव।' विद्याधर के अनुसार समुच्चय अलङ्कार ॥८२॥

सञ्चीयतामाश्रुतपालनोत्थं मत्प्राणविश्राणनजं च पुण्यम्।
निवार्यतामार्य! वृथा विशङ्का भद्रेऽपि मुद्रेयमये! भृशं का? ॥८३॥

जीवातु—सञ्चीयतामिति। हे हंस! आश्रुतपालनोत्थं प्रतीज्ञातार्थनिर्वाहणोत्पन्नम् 'अङ्गीकृतमाश्रुतं प्रतिज्ञातमि'त्यमरः। मत्प्राणानां विश्राणनं दानं तज्जञ्च पुण्यं सुकृतं सञ्चीयतां संगृह्यतां, हे आर्य! वृथा विशङ्का सन्देहो निवार्यताम्। अये! अङ्ग! भद्रे पूर्वोक्तपुण्यरूपे श्रेयसि विषये भृशङ्केयं मुद्रा औदासीन्यं, श्रेयसि नोदासितव्यमिति भावः ॥८२॥

अन्वयः—आश्रुतपालनोत्थं मत्प्राणविश्राणनजं च पुण्यं सञ्चीयताम्, आर्य, वृथा विशङ्का निवार्यताम्, अये भद्रे अपि भृशं का इयं मुद्रा?

हिन्दी—प्रतिज्ञा-पालन से समुत्पन्न, मुझे प्राण दान करने का पुण्यसंचय करो, हे आर्य, व्यर्थ की आशंका छोड़ो; अरे तुमने संदेह रहित (मंगल) विषय में भी यह कैसी उदास मुद्रा बना रखी है?

टिप्पणी—पूर्वोक्त प्रकार से अपने निश्चय और अनुराग का विश्वास दिलाती दमयंती इस पद्य में यह स्पष्ट करती है कि नल से उसका संबंध कराने में हंस को दो पुण्य मिलेंगे—एक उसने स्वयं जो वचन दिया है, उनका पालन होगा और दो—दमयंती के प्राण बचाने का श्रेय भी हंस को प्राप्त होगा। इस दृष्टि से सब प्रकार की आशंका और संदेह का परित्याग कर हंस को इस मंगलकार्य-सिद्धि के लिए उदासीनता छोड़ प्रयत्न शील हो जाना चाहिए। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य छेकानुप्रास अलङ्कार ॥८३॥

अलं विलङ्घ्य प्रिय ! विज्ञ ! याच्ञां कृत्वापि वाक्यं विविधं विधेये ।
यशः पथादाश्रवतापदोत्थात् खलु स्खलित्वाऽस्तखलोक्तिखेलात् ॥ ८४ ॥

जीवातु—अलमिति । हे प्रिय ! प्रियङ्कर विज्ञ ! विशेषज्ञ ! उभयत्र 'इगुपधे'त्यादिना कप्रत्ययः । याच्ञां प्रार्थनां विलङ्घ्य अलं याच्ञाभङ्गो न कार्य इत्यर्थः । विधेये विनीतजने विविधं वाक्यं वक्रतां कृत्वापि अलं; तच्च न कार्यमित्यर्थः । आश्रवो यथोक्तकारी, 'वचने स्थित आश्रव' इत्यमरः । तस्य भावास्तत्ता सैव पदं पदक्षेपः तदुत्थात् अस्ता निरस्ता खलोक्तिखेला मिथ्यावादविनोदो येन तस्माद्यशःपथात् स्खलित्वा चलित्वा खलु न स्खलितव्यमित्यर्थः । अन्यथा हानिः स्यात् । 'निषेधवाक्यालङ्कारजिज्ञासानुनये' इत्यमरः । 'अलं खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वे'ति उभयत्रापि क्त्वाप्रत्ययः इह 'न पादादौ खल्वादय' इति निषेधस्योद्वेजकत्वाभिप्रायत्वान्नञर्थस्य खलशब्दस्यानुद्वेजकत्वान्नञ्वदेव पादादौ प्रयोगो न दृष्यत इति अनुसन्धेयम् ॥ ८४ ॥

अन्वयः—प्रियविज्ञ, (अथवा प्रिय, विज्ञ) आश्रवतापदोत्थात् अस्तखलोक्तिखेलात् यशःपथात् स्खलित्वा खलु याच्ञां विलङ्घ्य, विधेये विविधं वाक्यं कृत्वा अपि अलम् ।

हिन्दी—हे प्रिय को भलीभाँति जाननेवाले, (अथवा प्रिय और विज्ञ, अथवा 'प्रियेषु विषु ज्ञः'—प्रिय पक्षियों में ज्ञानी,) वचन-पालन-कर्त्ताओं में पद अर्थात् श्रेष्ठ स्थान से उत्पन्न (अथवा चरण-जात), खलवचनों के खेल से रहित यश के मार्ग से स्खलित हो (हटकर) मेरी याचना का लंघन मत करो और करणीय कृत्य के विषय में नानाविध उलटा-सीधा विचार भी छोड़ दो ।

टिप्पणी—नल को विशेषज्ञ के विशेषण से संबोधित करती दमयंती उसे चेतावनी देती है कि सज्जन वचन का पालन करते हैं, वे दुष्टों के समान वचन देने को खेल नहीं समझते । प्रतिज्ञा-पालन ही यश का मार्ग है । यदि हंस वचन-पालन में उलटी-सीधी बातें सोचेगा और दमयंती की प्रार्थना पर ध्यान नहीं देगा तो वह अयश का भागी होगा । नीर-क्षीर-विवेकी हंस तो ज्ञानी और सज्जन माने जाते हैं । विद्याधर ने उल्लेख अलंकार अनुप्रास माना है ॥ ८४ ॥

स्वजीवमप्यार्त्तमुदे ददद्भ्यस्तव त्रपा नेदृशबद्धमुष्टेः ।
मह्यं मदीयान्यदसूनदित्सोर्धर्मः कराद् भ्रश्यति कीर्तिधौतः ॥ ८५ ॥

जीवातु—स्वेति । ईदृशबद्धमुष्टेरीदृक्कष्टलुब्धस्य तव आर्त्तानां मुदे प्रीत्यै स्वजीवं ददद्भ्यः स्वप्राणव्ययेन परत्राणं कुर्वद्भ्यो जीमूतवाहनादिभ्य इत्यर्थः। 'जीवज्जीमूतवाहन' इति प्रसिद्धम् । त्रपा नेति काकुः, त्रपाया मनः प्रत्यावृत्तिरूपत्वात्तदपेक्षया तेषामपादानत्वात् पञ्चमी । यद्यस्मान्मदीयानेवासून् प्राणान् मह्यमदित्सोः तव कीर्त्या धौतः शुद्धो धर्मः कराद्धस्तात् भ्रश्यति, न चैतत्तवार्हमिति भावः ॥ ८५ ॥

अन्वयः—ईदृशबद्धमुष्टेः तव आर्त्तमुदे स्वजीवम् अपि ददद्भ्यः त्रपा न, यत् मदीयान् असून् मह्यम् अदित्सोः तव कीर्त्तिधौतः धर्मः करात् भ्रश्यति ?

हिन्दी—ऐसे मुट्ठी-बाँधे बैठे (कृपण तथा अकर्मण्य) तुम्हें दुःखी जनों (पीड़ितों) की प्रसन्नता के लिए अपना जीवन भी दे देने वाले (कर्मण्य दानियों) व्यक्तियों के संमुख लाज भी नहीं लगती क्योंकि मेरे प्राणों को मुझे ही न देने की इच्छायुक्त तुम्हारे यश से धुला (स्वच्छ) धर्म हाथ से गिर पड़ेगा ?

टिप्पणी—दमयंती कहती है कि उसके प्राण उसे ही न देने वाले हंस के यश और धर्म—दोनों नष्ट हो जायेंगे। इस श्लोक में 'बद्धमुष्टि' शब्द के प्रयोग से चमत्कार आया है। 'मुट्ठी बाँधना' कृपणता का लक्षण भी है और अकर्मण्यता का भी। तो ये दोनों स्थितियाँ हंस के लिए लज्जाजनक हैं। उसे शिवि, रंतिदेव तथा हरिश्चंद्र आदि-जैसे वचनपालक और याचकों के कल्याणहित स्वप्राण भी अर्पित कर देने वाले महाजनों का स्मरण करके अपनी अदानशीलता और अकर्मण्यता को त्यागना ही उचित है। कदाचित् वह 'मुट्ठी बाँधे' इसलिए बैठा है कि यश और धर्म उसके खुले हाथ से गिर न जायें, पर उसे स्मरण रखना चाहिए कि वचन से हटना और याचक को निराश करने वाले 'बद्धमुष्टि' कृपण—अकर्मण्य के यश-धर्म नष्ट हो जाते हैं। 'बद्धमुष्टि' के कर से गिर जाना' के आधार पर प्रकाशकार ने यहाँ 'विरोधाभास' का निर्देश किया है। वे 'काकु' का भी निर्देश करके इस अर्थ का भी संकेत

करते हैं कि हंस सब कुछ समझ रहा है कि यश-धर्म इस स्थिति में नष्ट हो जायेंगे। विद्याधर ने यहाँ अतिशयोक्ति का निर्देश किया है ॥८५॥

दत्त्वाऽऽत्मजीवं त्वयि जीवदेऽपि शुध्यामि जीवाधिकदे तु केन।
विधेहि तन्मां त्वदृणेष्वशोद्धुमप्रुद्रदारिद्र्यसमुद्रमग्नाम् ॥८६॥

जीवातु—दत्त्वेति। किं च, जीवदे प्राणदे त्वयि विषये आत्मजीवं मत्प्राणं दत्त्वापि शुध्यामि आनृण्यं गमिष्यामीत्यर्थः। किन्तु जीवादधिकः प्रियः तद् त्वयि केन शुध्यामि ? न केनापि, तत्तुल्यदेयवस्त्वभावादित्यर्थः। सम्प्रति प्राणैः समं तु न किञ्चिदस्तीति भावः। तत्तस्मादभावादेव मां त्वदृणेषु अशोद्धुम- ऋणग्रस्तां भवितुमेव अमुद्रे अपरिमिते दारिद्र्ये त्वद्देयवस्त्वभावरूपं तस्मिन्नेव समुद्रे। मग्नां विधेहि नलसङ्घट्टनेन मामृणग्रस्तां कुर्वित्यर्थः। अशोद्धुं, मग्ना- मिति मग्नत्वानुवादेन अशुद्धिर्विधीयते दरिद्राणामृणमुक्तिर्नास्तीति भावः ॥८६॥

अन्वयः—जीवदे त्वयि आत्मजीवं दत्त्वा अपि शुध्यामि, जीवाधिकदे तु केन (शुध्यामि) ? तत् मां त्वदृणेषु अशोद्धुम् अमुद्रदारिद्र्यसमुद्रमग्नां विधेहि।

हिन्दी—जीवन देने के तेरे ऋण का शोध तो मैं अपना जीवन देकर भी कर लूँगी, परन्तु जीवन से भी अधिक (नल) के दान के ऋण का क्या देकर शोध कर सकती हूँ ? सो तुम ऋण-परिशोधन में असमर्थ रहने के कारण मर्यादाहीन (अपरिमित) दरिद्रता के समुद्र में मुझे मग्न बना दो।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल का महत्त्व जीवन से भी अधिक है। जीवनदान का बदला तो जीवन देकर चुकाया जा सकता है, नल-दान मिलने का ऋण तो चुकाया ही नहीं जा सकता। सो हंस ऐसा उपकार करे कि दमयंती उसकी सदा ऋणी बनी रहे। विद्याधर ने इस श्लोक में विरोधाभास का निर्देश किया है, चंद्रकलाकार ने रूपक का ॥८६॥

क्रीणीष्व मज्जीवितमेव पण्यमन्यं न चेद्वस्तु तदस्तु पुण्यम्।
जीवेशदातर्यदि ते न दातुं यशोऽपि तावत्प्रभवामि गातुम् ॥ ८७ ॥

जीवातु—क्रीणीष्वेति। हे जीवेशदातः प्राणेश्वरद ! मज्जीवितमेव पण्यं क्रेयं वस्तु क्रीणीष्व, जीवेशरूपमूल्यदानेन स्वीकुरुष्वेत्यर्थः। अन्यदेतत् मूल्यानुरूपं वस्त्वन्तरं नास्ति चेत्तर्हि पुण्यं सुकृतमस्तु, किञ्चिदपि ते तुभ्यं

दातुं न प्रभवामि न शक्नोमि तावर्त्तहि यशोऽपि कीर्ति गातुं प्रभवामि, ख्यातिसुकृतार्थमेवोपकुरुष्वेत्यर्थः ॥८७॥

अन्वयः—पण्यं मज्जीवितम् एव क्रीणीष्व, अन्यत्, वस्तु न चेत् तत्पुण्यम् अस्तु जीवितेशवदान्यः यदि ते दातुं न प्रभवामि, तावत् यशः गातुम् अपि (प्रभवामि) ।

हिन्दी—तुम विक्रयार्थं उपस्थित मेरे जीवन का ही क्रय कर लो, और विक्रेय वस्तु न हो तो पुण्य तो है ही; हे जीवन के स्वामी के दाता, मैं यदि तुम्हें देने में समर्थ नहीं हूँ तो यशोगान में तो समर्थ हूँ ।

टिप्पणी—आशय है कि हंस यदि दमयंती को नल दान में ला देगा तो वह उसे प्राणों का अधिकारी मान लेगी, जब चाहे वह दमयंती के प्राण मांग सकता है । इससे हंस को पुण्य होगा और सदा ऋणमग्न रहती दमयंती उसका यशोगान करती रहेगी । दमयंती-नल का संयोजन करके हंस को महान् यश प्राप्त होगा । साहित्यविद्याधारी के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ८७ ॥

वराटिकोपक्रिययाऽपि लभ्यान्नेभ्याः कृतज्ञानथवाद्रियन्ते ।
प्राणैः पणैः स्वं निपुणं भणन्तः क्रीणन्ति तानेव तु हन्त सन्तः ॥८८॥

जीवातु—अथवा साधुस्वभावेनापि परोपकारं कुर्वित्याह—वराटिकेति । वराटिकोपक्रियया कपर्दिकादानेनापि लभ्यान् कृतज्ञान् तावदेव बहुमन्यमानान् उपकारशान् इभ्याः धनिकाः, 'इभ्य आढ्यो धनी स्वामी'त्यमरः । नाद्रियन्ते धनलोभान्नोपकुर्वन्तीत्यर्थः । सन्तो विवेकिनस्तु स्वात्मानं निपुणं भणन्तः सन्त एते वयं त्वदधीना इति साधु वदन्त इत्यर्थः तानेव कृतज्ञान् प्राणैरेव पणैः क्रीणन्ति आत्मसात्कुर्वन्ति, किमुत जनैरित्यर्थः । अतस्त्वयाऽपि सता कृतज्ञाऽहमुपकर्तव्येति भावः । हन्त हर्षे ॥८८॥

अन्वयः—वराटिकोपक्रियया अपि लभ्यान् कृतज्ञान् इभ्याः न आद्रियन्ते, हन्त, सन्तः तु स्वं निपुणं भणन्तः तान् एव प्राणैः पणैः क्रीणन्ति ।

हिन्दी—एक कौड़ी बराबर उपकार करने से भी प्राप्य कृतज्ञ जनों का आदर धन के लोभी आदर नहीं करते, किन्तु आश्चर्य है कि सज्जन अपने को उनके अधीन कहते, उन (कृतज्ञों) को ही प्राणों के मूल्य से ही खरीद लेते हैं ।

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि धन के लोभी अमीर कृतज्ञत्व का मूल्य नहीं समझ पाते, उनके लिए तो आदर का कारण धन ही होता है। इसके विपरीत सज्जन कृतज्ञ जनों का अत्यन्त आदर करते हैं और यह समझते हैं कि इनका मूल्य तो प्राणाधिक है, थोड़ा-सा उपकार करके उनका क्रय बड़ा सस्ता है। इससे दमयन्ती अपने को कृतज्ञ बताती हुई स्वोपकार के लिए हंस से आग्रह करती है। विद्याधर के अनुसार यहाँ उपमा-प्रशंसा-रूपक अलंकार ॥ ८८ ॥

न भूभृदष्टावपि लोकपालास्तैर्मे तदेकाग्रधियः प्रसेदे।
न होतरस्माद्घटते यदेत्य स्वयं तदाप्तिप्रतिभूर्ममाभूः ॥ ८९ ॥

जीवातु—स इति। किञ्च स भूभृन्नलः अष्टावपि लोकपालाः, तदात्मक इत्यर्थः। 'अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृप' इति स्मरणात्। अत एव तदेकाग्रधियो नलैः कतानबुद्धेः मे मम तैर्लोकपालैः प्रसेदे प्रसन्नं भावे लिट्। देवता ध्यायतः प्रसीदन्तीति भावः। कुतः ? इतरस्मात् प्रसादादन्यथेत्यर्थः। स्वयं स्वयमेवागत्य मम तदाप्तिप्रतिभूः नलप्राप्तिलग्नकोऽभूरिति यत्, तन्न घटते हि। तत्प्रसादाभावे कुतो ममेदं श्रेयः ? इत्यर्थः ॥ ८९ ॥

अन्वयः—सः भूभृत् अपि अष्टौ अपि लोकपालाः, तदेकाग्रधियः ये तैः प्रसेदे, हि यत् स्वयम् एत्य मम तदाप्तिप्रतिभूः अभूः (तत् इतरस्मात् न घटते।

हिन्दी—वह धरणीधर (राजा नल) भी इन्द्रादि अष्ट लोकपाल रूप हैं, उस (नल) में ही एकतान बुद्धिवाली (एकाग्रतया अनुरक्ता) मेरे प्रति वे (अष्ट लोकपाल) प्रसन्न हो गये हैं, कारण कि जो तुम अपने आप आकर उस (नल) की प्राप्ति में संलग्न हो गये, वह और (लोकपालातिरिक्त) किसी प्रकार से नहीं घटता।

टिप्पणी—दमयंती को जो नल से संयोजना का साधक हंस स्वयं मिल गया, वह सामान्य बात नहीं है। यह दमयंती के नल के प्रति एकाग्र अनुराग का प्रमाण है। राजा अष्ट लोकपालों की मात्राओं से निर्मित होता है, सो नल के माध्यम से अष्ट लोकपाल ही दमयंती पर कृपालु हो गये हैं। इसी से यह सब घटित हो रहा है। विद्याधर ने यहाँ रूपक और अनुमान का निर्देश किया है ॥८९॥

अकाण्डमेवात्मभुवार्ऽजितस्य भूत्वाऽपि मूलं मयि वीरणस्य।
भवान्न मे किं नलदत्वमेत्य कर्ता हृदश्चन्दनलेपकृत्यम् ॥ ९० ॥

जीवातु—अकाण्डेति । हे हंस ! विः पक्षी 'विविष्किरेपतत्रिणः' इत्यमरः। 'रोरी'ति रेफलोपे 'ढ्रलोपे पूर्वस्ये'ति दीर्घः । भवान् अकाण्डमनवसर एव 'अत्यन्तसंयोगे द्वितीया' आत्मभुवा कामेन मयि विषये अर्जितस्य कृतस्य रणस्य गाढप्रहारलक्षणस्य मूलं हंसानामुद्दीपकत्वेन निदानं भूत्वाऽपि अन्यत्र काण्डो दण्डः तद्वर्जितमकाण्डं यथा तथा आत्मभुवा ब्रह्मणा अर्जितस्य सृष्टस्य वीरणस्य तृणविशेषस्य मूलं मूलावयवो भूत्वा अत एव नलदत्वं नैषधदातृत्वम् । अन्यत्र उशीरत्वं चेत्यर्थः । हृदः चंदनलेपकृत्यं शैत्योत्पादनं न कर्ता करिष्यत्येव परोपकारशीलत्वादिति भावः । 'काण्डोऽस्त्री दण्डबाणार्ववर्गावसरवारिषु ।' स्याद्वीरणं वीरतरुर्मूलस्योशीरमस्त्रियाम् ।' 'अभयं नलदं सेव्यमि'ति चामरः वीरणस्येति शब्दश्लेषः । अन्यत्रार्थश्लेषः । तथा च नलदत्वमेत्य चेति प्रकृता-प्रकृतयोरभेदाध्यवसायेन हंसे आरोप्यमाणस्योशीरस्य प्रकृतया तादात्म्येन चन्दन-कृत्यलक्षणप्रकृतकार्य्योपयोगात् परिणामालङ्कारः । 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोप-योगित्वे परिणाम' इति लक्षणात्, स चोक्तश्लेषप्रतिबिम्बोत्थापित इति सङ्करः ॥९०॥

अन्वयः—अकाण्डम् एवमपि आत्मभुवा अर्जितस्य रणस्य मूलं भूत्वा अपि विः भवान् नलदत्वम् एत्य हृदः चन्दनलेपकृत्यं न कर्त्ता ? अथ च—'अकाण्डमेव··· अर्जितस्य वीरणस्य मूलं भूत्वा अपि भवान् · न कर्त्ता ?'

हिन्दी—अनवसर (कौमारावस्था में) ही मेरे प्रति 'आत्मभू' (काम) द्वारा आरोपित युद्ध के मूलकारण होकर भी हंसविहंगम आप नल को देने वाले होकर मेरे हृदय पर क्या चंदनलेप का कार्य नहीं करेंगे ? अथवा—विधाता द्वारा मेरे निमित्त सृष्ट पर्वरहित वीरणघास (खस-खस) के मूल (जड़) आप नलदत्व (उशीरता-खस-खस होना) को प्राप्त होकर मेरे (संतप्त) हृदय पर चंदन का (ठंडा) लेप न करेंगे ? करना ही उचित है ।

टिप्पणी—दमयंती पर अनवसर ही कौमारास्था में ही काम ने युद्ध आरोपित कर दिया हैं, जिसका कारण है नल का संवाद देनें वाला हंस ।

ता उचित यही है कि वह हंस ब्रह्मा द्वारा दमयन्ती के निमित्त ही विशेषतः उत्पादित पर्वरहित खस-खस घास के भाव को प्राप्त कर-- शीतलता-दायक खस-खस (उशीर) बनकर, बिरहसंतप्त दमयन्ती के हृदय पर चन्दन-लेप के समान राजा नल की उपलब्धि कराये। जिसने पीड़ा दी, वही उपचार करे। यहीं उचित है। हंस ही इस कार्य को संपन्न कर सकता है, अन्य कोई नहीं। यहाँ 'वीरण' में शब्द-श्लेष है, अन्यत्र अर्थ-श्लेष। परिणाम अलंकार भी है, क्योंकि 'नलत्वम् एत्य'—इसमें प्रकृत और अप्रकृत के अभेदाध्यवसाय द्वारा हंस में आरोप्यमाण उशीर की प्रकृति के साथ तादात्म्य से 'चंदनकृत्य'—रूप प्रकृत कार्य में उपयोग है और परिणाम होता ही है आरोप्यमाण की प्रकृतोपयोगिता में। इस प्रकार यहाँ श्लेषोत्थापित-परिणाम होने से संकर है ॥ ९० ॥

अलं विलम्ब्य त्वरितुं हि वेला कार्ये किलस्थैर्यसहे विचारः।
गुरूपदेशं प्रतिभेव तीक्ष्णा प्रतीक्षते जातु न कालमार्तिः ॥ ९१ ॥

जीवातु—अलमिति। हे हंस! विलम्ब्यालं न विलम्बितव्यमित्यर्थः। 'अलङ्खल्वोरि'त्यादिना क्त्वाप्रत्यये ल्यबादेशः। त्वरितुं वेला हि त्वराकालः खल्वयमित्यर्थः। 'कालसमयवेलासु तुमुन्' कुतः? स्थैर्यसहे विलम्बसहे कार्ये विचारो विमर्शः किलेति प्रसिद्धौ, अन्यथा विपत्स्यत इति भावः, तथाहि तीक्ष्णा शीघ्रग्राहिणी प्रतिभा प्रज्ञा गुरूपदेशमिव आर्त्तिराधिर्जातु कदापि कालं न प्रतीक्षते, कालक्षेपं न सहत इत्यर्थः। उपमार्थान्तरन्यासयोः संसृष्टिः ९१॥

अन्वयः—विलम्ब्य अलम्, हि त्वरितुं वेला, किल स्थैर्यसहे विचारः, तीक्ष्णा प्रतिभा गुरूपदेशम् इव आर्त्तिः जातु कालं न प्रतीक्षते।

हिन्दी—विलंब मत करो, शीघ्रता करने का समय है, जिसमें विलंब सह लिया जाय, उस कार्य में सोच-विचार किया जाता है। शिष्य की कुशाग्र-तुल्य तीव्र नव-नवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा जैसे गुरु के उपदेश की प्रतीक्षा नहीं करती, वैसे ही पीड़ा विलम्ब (समय) की प्रतीक्षा नहीं करती।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती अब विरह-पीड़ा सहने में अशक्त है, अतः हंस को अब अधिक सोच-विचार में ऊहापोह में समय बिताना ठीक नहीं। तीक्ष्णबुद्धि कार्य करने में यह प्रतीक्षा नहीं करता कि जब गुरु जी

कार्य-निर्देश करें, तब वह कुछ करे, वह तो अविलंब कार्य में लग जाता है, विलंब उसे सह्य नहीं, ऐसे ही विरह-पीड़ा भी समय की प्रतीक्षा नहीं करती। मल्लिनाथ यहाँ उपमा-अर्थान्तरन्यास की संसृष्टि मानते हैं, विद्याधर काव्य-लिंग-उपमा ॥ ९१ ॥

अभ्यर्थनीयस्स गतेन राजा त्वया न शुद्धान्तगतो मदर्थम् ।
प्रियास्यदाक्षिण्यबलात्कृतो हि तदोदयेदन्यवधूनिषेधः ॥ ९२ ॥

जीवातु—अथानन्तरकृत्यं सविशेषमुपदिशति—अभ्यर्थनीय इत्यादिश्लोकपञ्चकेन । गतेन इतो यातेन त्वया स राजा नलः शुद्धान्तगतः अन्तपुरस्थो मदर्थं मत्प्रयोजनं नाभ्यर्थनीयो न वाच्यः, दुहादित्वाद् द्विकर्मत्वम् 'अप्रधाने दुहादीनामि'ति राज्ञोऽभिहितकर्मत्वम् कुतः ? हि यस्मात्तदा तस्मिन् काले प्रियाणामास्यदाक्षिण्यं मुखावलोकनोत्थापितच्छन्दानुवृत्तिबुद्धिरित्यर्थं । तेन बलात् कृतो बलात्प्रतिवर्तितो अन्यवधूनिषेधः उदयेत् उत्पद्यते ॥ ९२ ॥

अन्वयः—यातेन त्वया शुद्धान्तगतः सः राजा मदर्थम् न अभ्यर्थनीयः, हि तदा प्रियास्यदाक्षिण्यबलात्कृतः अन्यवधूनिषेधः उदयेत् ।

हिन्दी—यहाँ से जाकर तुम शुद्धान्तनिवास में स्थित उस राजा से मेरे निमित्त प्रार्थना न करना क्योंकि उस समय प्रिय रानियों के मुख-संमुख होने से उत्पन्न दक्षिणभाव के अनुरोध से और एक पत्नी के विषय में नकारात्मकता उठ सकती है।

टिप्पणी—दमयन्ती ने हंस को सलाह दी कि जब राजा नल अन्तःपुर में अन्य रानियों के साथ बैठे हों तो वहाँ वह दमयन्ती-विषयक प्रस्ताव उपस्थित न करे, क्योंकि यह उचित न होगा। कारण कि नल हैं दक्षिण नायक—सब क्रियाओं में एक-सा अनुराग रखनेवाले, उनको अपनी प्रियाओं का मुख देखते अपने दक्षिणभाव के कारण एक और पत्नी लाने का प्रस्ताव अनुकूल न लगेगा। राजा के मन में दो भाव उत्पन्न होंगे—एक तो और-एक पत्नी लाने के संबन्ध से लज्जा, दो—समक्ष उपस्थित प्रियाओं से अधिक सुन्दरी की कल्पना के कारण उनकी अवज्ञा समझी जाने से उनके प्रति प्रीति का अभाव प्रकट होना। उस स्थिति में हंस का दमयन्ती-विषयक प्रस्ताव उचित न होगा। काव्यलिंग अलंकार ॥ ९२ ॥

शुद्धान्तसंभोगनितान्ततृप्ते न नैषधे कार्यमिदं निगाद्यम् ।
अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुस्सुगन्धिः स्वदते तुषारा ॥ ९३ ॥

जीवातु—शुद्धान्तेति । किञ्च शुद्धान्तसम्भोगेन अन्तःपुरस्त्रीसम्भोगेन नितान्ततृप्ते अत्यन्तसन्तुष्टे नैषधे नलविषये इदं कार्यं न निगाद्यं न निगदितव्यम् ऋहलोर्ण्यत् 'गदमदे'त्यादिना सोपसर्गाद्यतो निषेधात् । यथाहि अपां तृप्ताय अद्भिस्तृप्तायेत्यर्थः । 'पूरणगुणे'त्यादिना षष्ठीसमासप्रतिषेधादेव ज्ञापकात् षष्ठी 'रुच्यर्थानां प्रीयमाण' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । स्वादुर्मधुरा सुगन्धिः कर्पूरादिवासना शोभनगन्धा । अत्र कवीनां निरंकुशत्वाद्गन्धस्येत्वे तदेकान्तत्वनियमानादरः । तुषारा शीतला वारिधारा न स्वदते न रोचते हि । दृष्टान्तालंकारः ॥ ९३ ॥

अन्वयः—शुद्धान्तसम्भोगनितान्ततृप्ते नैषधे इदं कार्यं न निगाद्यम्, हि अपां तृप्ताय स्वादुः सुगन्धिः तुषारा वारिधारा न स्वदते ।

हिन्दी—जब निषधराज शुद्धान्तःपुर में संभोग करके परितृप्त हों, तब भी यह कार्य (विवाह-प्रस्ताव) न करना, क्योंकि जो जन जल पीकर पूर्णतः तृप्त हो चुका है, उसे स्वादिष्ट, सुगन्धि और अति शीतल जल की धारा में भी स्वाद नहीं आता ।

टिप्पणी—एक दूसरे अनवसर की ओर संकेत । जो नारी भोग से तृप्त हो, उसे स्त्री-चर्चा वैसे ही अरुचिकर लगती है, जैसे जिसकी प्यास बुझ गयी है, उसे स्वादिष्ट, कर्पूर-केवड़ा आदि की सुगन्ध से युक्त अति शीतल जल भी नहीं रुचता । मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टांत, विद्याधर ने अर्थान्तरन्यास माना है ॥

विज्ञापनीया न गिरो मदर्थाः क्रुधा कदुष्णे हृदि नैषधस्य ।
पित्तेन दूने रसने सिताऽपि तिक्तायते हंसकुलावतंस ! ॥ ९४ ॥

जीवातु—विज्ञापनीया इति । हे हंसकुलावतंस ! नैषधस्य हृदि हृदये क्रुधा क्रोधेन कदुष्णे ईषदुष्णे कुकारात्कोः कदादेशः । मह्यमिमाः मदर्थाः अर्थेन सह नित्यसमासः सर्वलिङ्गता च वक्तव्या, गिरो वाचो न विज्ञापनीयाः न विधेयाः न विज्ञाप्या इत्यर्थः । तथाहि पित्तेन पित्तदोषेण दूने दूषिते रसने रसनेन्द्रिये सिता शर्करापि तिक्तायते तिक्तोभवति लोहितादित्वात् क्यष्, 'वा क्यष' इति आत्मनेपदम् । अत्रापि दृष्टान्तालङ्कारः ॥९४॥

अन्वयः—हंसकुलावतंसः, नैषधस्य हृदि क्रुधा कदुष्णे त्वया मदर्थाः गिरः न विज्ञापनीयाः रसने पित्तेन दूने सिता अपि तिक्तायते ।

हिन्दी— हे हंसबंशप्रसूत, निषधराज का हृदय क्रोध से कुछ तप्त होने पर तुम मेरे निमित्त वचन न कहना, जीभ के पित्त बिगड़ने से दूषित होने पर मिसरी भी तीती लगती है ।

टिप्पणी—तीसरे अवसर की चर्चा । क्रोध में व्यक्ति को उचितानुचित का भाव नहीं रहता, सो जब निषधराज कुछ क्रुद्ध हों, तब भी दमयन्ती-विषयक चर्चा का कुफल हो सकता है । यद्यपि दमयन्ती रूपगुणसंपन्ना अनुपम रमणीरत्न है, फिर भी उचित अवसर का अभाव उसे अबमानना योग्य बना सकता है । मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टान्त अलंकार, विद्याधर ने अर्थान्तरन्यास माना है और 'तिक्तायते' को उपमा कहा है ॥९४॥

धरातुरासाहि मदर्थयाच्ञा कार्या न कार्यान्तरचुम्बिचित्ते ।
तदाऽर्थितस्यानवबोधनिद्रा बिभर्त्यवज्ञाचरणस्य मुद्राम् ॥ ९५ ॥

जीवातु--धरेति । तुरं त्वरितं सहयत्यभिभवत्यरीनिति तुराषादिन्द्र-सहतेश्चौरादिकत्वात् क्विप्, 'नहिवृती'त्यादिना पूर्वपदस्य दीर्घः, प्रकृतिग्रहणे ण्यन्तस्यापि ग्रहणात्, मुग्धभोजस्तु तुराशब्दं टाबन्तमाह । तस्मिन् धरातुरासाहि भूदेवेन्द्रे नले अजादिषु असाड्रूपत्वात् 'सहेः साडः सः' इति षत्वं नास्ति । कार्यान्तरचुम्बिचित्ते व्यासक्तचित्ते मदर्थयाच्ञा मत्प्रयोजनप्रार्थना न कार्या । तथाहि--तदा व्यासङ्गकाले अर्थितस्य अनवबोधः अबोधः स एव निद्रा सा अवज्ञाऽऽचरणस्य अनादरकरणस्य मुद्रामभिज्ञानं बिभर्ति, अनादरप्रतीतिं करोतीत्यर्थः । तच्चातिकष्टमिति भावः ॥९५॥

अन्वयः—धरातुरासाहि कार्यान्तरचुम्बिचित्ते मदर्थयाच्ञा न कार्या, तदा अर्थितस्य अनवबोधनिद्रा अवज्ञाचरणस्य मुद्रां बिभर्ति ।

हिन्दी—धरती के इन्द्र (नल) का चित्त जब अन्य कार्य में तल्लीन हो, तब भी मेरे निमित्त याचना न करना, उस समय याचित (नल) की प्रबोध रूप—अश्रवणरूप निद्रा अवहेलना का रूप धारण कर सकती है ।

टिप्पणी—एक चौथा अनवसर । अन्य कार्यासक्त नल भी दमयन्ती-

विषयक प्रार्थना के लिए उपयुक्त न होगा। दूसरे काम में चित्त के आसक्त होने पर वह इस प्रार्थना पर ध्यान न दे सकता है और प्रस्ताव की अवज्ञा हो सकती है। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार काव्यलिंग। इस प्रकार चार श्लोकों में दमयन्ती ने प्रस्ताव के निमित्त चार अनुपयुक्त अवसरों का निर्देश किया है ॥९५॥

विज्ञेन विज्ञाप्यमिदं नरेन्द्रे तस्मात्त्वयाऽस्मिन् समयं समीक्ष्य।
आत्यन्तिकासिद्धिविलम्बसिध्योः कार्यस्य काऽऽर्यस्य शुभा विभाति ॥९६॥

जीवातु—विज्ञेनेति। तस्मात् करणाद् विज्ञेन विवेकिना त्वया समयं समीक्ष्य इदं कार्यमस्मिन् नले विषये विज्ञाप्यम्। विलम्बः स्यादित्याशङ्क्याह—आत्यन्तिकेति। हे हंस! कार्यस्य आत्यन्तिकासिद्धिविलम्बसिद्धयोर्मध्ये आर्यस्य विदुषस्ते का कतरा शुभा समीचीना विभाति? अनवसरविज्ञापने कार्यविघाताद्वरं विलम्बनेनापि कार्यसाधनमिति भावः ॥९६॥

अन्वयः—तस्मात् विज्ञेन त्वया समयं समीक्ष्य इदम् अस्मिन् नरेन्द्र विज्ञाप्यम्। कार्यस्य आत्यन्तिका सिद्धिविलम्बसिद्धयोः आर्यस्य का शुभा विभाति?

हिन्दी—अतएव विशेषज्ञ आप उचित समय की समीक्षा कर यह (प्रस्ताव) इस नरराज (नल) के संमुख उपस्थित करें। कार्य पूर्णतया सिद्ध ही न हो अथवा विलंब से सिद्ध हो-इन दोनों स्थितियों के मध्य कौन सी स्थिति आपको शुभ (भली) प्रतीत होती है?

टिप्पणी—कार्य की दो स्थितियाँ संभव है—(१) वह संपन्न न हो, (२) वह विलंब से संपन्न हो। कोई समझदार मानेगा कि पहिली की अपेक्षा दूसरी ही स्थिति भली है। सो हंस को अपना प्रस्ताव उचित अवसर पर ही रखना चाहिए, भले ही कुछ विलंब हो जाय। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छेकानुप्रास ॥९६॥

इत्युक्तवत्या यदलोपि लज्जा साऽनौचिती चेतसि नश्चकास्तु।
स्मरस्तु साक्षी तददोषतायामुन्माद्य यस्तत्तदवीवदत्ताम् ॥९७॥

जीवातु—इतीति । इत्थमुक्तवत्या तया लज्जा अलोपित्यक्तेति यत् । सा, विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गता, अनौचिती अनौचित्यङ्गतमेतत् नोऽस्माकं शृण्वतां चेतसि चकास्तु । किन्तु लज्जात्यागस्य अदोषतायां स्मरः साक्षी प्रमाणं, यः स्मरः तां भैमीमुन्माद्य उन्मादावस्थां प्राप्यैतत्तदनुचितं वचनमवीवदत् वादयतिस्म । वदतेर्णौ चङि 'गतिबुद्धी'त्यादिना वदेरणि कर्तुः कर्मत्वम् । प्रकृतिस्थस्यायं दोषो न कामोपहतचेतसि इति भावः ॥९७॥

अन्वयः—इति उक्तवत्या यत् लज्जा अलोपि सा नः चेतसि अनौचित्ती चकास्तु, तु तददोषतायां स्मरः साक्षी, यः ताम् उन्माद्य तत् अवीवदत् ।

हिन्दी—यह सब (उपर्युक्त) कहती दमयन्ती ने जो लज्जा का लोप कर दिया, वह भले ही हम लोगों के चित्त में अनुचित प्रतिभासित हो, किन्तु उस (दमयन्ती) की निर्दोषता में काम ही प्रमाण है, जिसने उसे उन्माद से भरकर यह कहलाया ।

टिप्पणी—लज्जा त्याग कर बाला दमयन्ती जो यह सब बोल गयी, वह श्रोता, पाठक अथवा कवि को अनुचित लग सकता है, पर दोष उसका नहीं उस काम का है जिसके कारण उत्पन्न उन्माद ने उससे यह कहला डाला । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥९७॥

उन्मत्तमासाद्य हरः स्मरश्च द्वावप्यसीमां मुदमुद्वहेते ।
पूर्वस्स्मरस्पर्धितया प्रसूनं नूनं द्वितीयो विरहाधिदूनम् ॥ ९८ ॥

जीवातु—कामो वा किमर्थमेवं कारयतीत्याशङ्क्य तस्यायं निसर्गो यदुन्मत्तेन क्रीडतीति सदृष्टान्तमाह—उन्मत्तमिति । हरः स्मरश्च द्वावपि उन्मत्तमासाद्य असीमां दुरन्तां मुदमुद्वहेते दधतुः । वहेः स्वरितत्वादात्मनेपदम् किन्तु तत्र निर्देशक्रमात् पूर्वो हरः स्मरस्पर्द्धितया स्मरद्वेषितया प्रसूनं धुत्तूरकुसुमं तस्यायुधत्वेति भावः । अन्यस्तु द्वितीयः स्मरस्तु विरहाधिदूनं विरहव्यथादुःस्थमुन्मादावस्थापन्नमित्यर्थः । अन्यत्र विनोदलाभादित्यर्थः । 'उन्मत्त उन्मादयति धुत्तूरमुचुकुन्दयोरि'ति विश्वः । उभयोरभेदाध्यवसात् समानधर्मत्वविशेषणमत्राश्लेषात्प्रकृताप्रकृतगोचरत्वाच्च उभयश्लेषः तेन हरवत् स्मरोऽप्युन्मत्तप्रिय इति उपमा गम्यते ॥ ९८ ॥

अन्वयः—परस्परस्पर्द्धितया नूनं हरः स्मरः च द्वौ अपि उन्मत्तम् आसाद्य असीमां मुदम् उद्वहेते, पूर्वः प्रसूनं द्वितीयः विरहाधिदूनम् ।

हिन्दी—अन्योन्य के प्रतिस्पर्धी होने के कारण महादेव शिव और काम ये दोनों ही ऐसा लगता है कि उन्मादी को प्राप्त कर असीम प्रसन्नता धारण करते हैं। इनमें पहिले शिव उन्मत्त अर्थात् धतूरे के फूल को, और दूसरा काम उन्मत्त अर्थात् विरहोन्मादी जन को अथवा शिव के गण पिशाच को (प्राप्त कर)।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में दमयन्ती के उन्मादजनित निर्लज्ज व्यवहार का कारण स्मर बताया गया था। यहाँ कवि और एक संभावना करता है। उन्मत्त का अर्थ उन्मादग्रस्त तो है ही, धत्तूर और पिशाच भी है। इस आधार पर कवि संकेत करता है कि शिव और काम दोनों 'उन्मत्त' को प्राप्त कर प्रसन्न होते हैं। उन्मत्त-धतूरा शिव को प्रिय है और उन्मत्त-पिशाच तो उनका गण ही ठहरा। सो दोनों की प्राप्ति पर उन्हें विशेष प्रसन्नता होती है। प्रतिस्पर्द्धा की बात यहाँ यह है कि शिव-काम में शत्रुभाव है, सो 'उन्मत्त' को प्राप्त कर दोनों में प्रसन्न होने की भी प्रतिस्पर्धा हो जाती है कि कौन अधिक प्रसन्न हो? उन्मत्त 'धत्तूर' काम का एक बाण ही है, सो उसकी प्राप्ति उसकी प्रसन्नता का कारण होगी ही, 'उन्मत्त' व्यक्ति इसलिए उसकी प्रसन्नता का कारण बनता है कि वह अपने प्रभाव की सिद्धि देखता है।

अथवा शिव काम के आयुध-प्रतिस्पर्द्धी के अस्त्र 'धत्तूर' को पाकर प्रसन्न होते हैं कि चलो, शत्रु की वस्तु पर अधिकार हुआ। ऐसे ही काम भी 'उन्मत्त' अर्थात् पिशाच को पाकर प्रसन्नता से भर जाता है कि चलो, शत्रु का एक सेवक पकड़ में आया।

अथवा दोनों ही परस्पर स्पर्द्धा में उन्मत्त को पा एक-दूसरे से अधिक प्रसन्नता व्यक्त करते हैं।

'विश्व' कोष के अनुसार 'उन्मत्त' के अर्थ हैं उन्मादी और धत्तूर और मुचुकुंद। इस प्रकार दोनों में अभेद होने से समानधर्मत्व विशेषणभाव है, इस प्रकार प्रकृताप्रकृत गोचर होने से यहाँ शब्द और अर्थश्लेष हुआ, जिससे

हर के तुल्य स्मर भी उन्मत्तप्रिय है, यह उपमा व्यंग्य होती है। यह जीवातु-कार मल्लिनाथ का कथन है। विद्याधर के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा-व्यतिरेक अलंकार है ॥ ९८ ॥

तथाऽभिधात्रीमथ राजपुत्रीं निणाय तां नैषधबद्धरागाम् ।
अमोचि चञ्चूपुटमौनमुद्रा विहायसा तेन विहस्य भूयः ॥ ९९ ॥

जीवातु—तथेति । तथाऽभिधात्रीं तां राजपुत्रीं भैमीं नैषधे नले बद्धरागां निर्णीय तेन विहायसा विहगेन विहस्य भूयः चञ्चुपुटस्य मौनमुद्रा निर्वचनत्वममोचि आवादीदित्यर्थः ॥ ९९ ॥

अन्वयः—अथ तथा अभिधात्रीं तां राजपुत्रीं नैषधबद्धरागां निर्णीय तेन विहायसा विहस्य भूयः चञ्चुपुटमौनमुद्रा अमोचि ।

हिन्दी—इसके अनंतर उस प्रकार कहनेवाली उस राजकुमारी को निषध-राज के अनुराग में आबद्ध मानकर उस पक्षी ने हँसकर पुनः अपनी चोंच की मौनस्थिति का परित्याग किया, अर्थात् कहने के लिए चोंच खोली ।

टिप्पणी—हंस को दमयन्ती के नल पर अनुरक्त होने का विश्वास हो गया और वह कहने लगा। विद्याधर के अनुसार यहाँ ओज गुण है और छेकानुप्रास अलंकार ॥ ९९ ॥

इदं यदि क्ष्मापतिपुत्रि ! तत्त्वं पश्यामि तन्न स्वविधेयमस्मिन् ।
त्वामुच्चकैस्तापयता नलं च पञ्चेषुणैवाजनि योजनेयम् ॥ १०० ॥

जीवातु—इदमिति । हे क्ष्मापतिपुत्रि ! इदं त्वदुक्तं तत्त्वं यदि सत्यं यदि तर्हि अस्मिन् विषये स्वविधेयं मत्कृत्यं न पश्यामि, किन्तु त्वां नृपं च उच्चकैरत्यन्तं तापयता पञ्चेषुणैव इयं योजना युवयोः सङ्घटना अजनि जाता ! जनेः कर्मणि 'चिणो लुक्' ॥ १०० ॥

अन्वयः—क्ष्मापतिपुत्रि, यदि इदं तत्त्वं तत् अस्मिन् स्वविधेयं न पश्यामि, त्वं नृपं च उच्चकैः तापयता पञ्चेषुणा इयं योजना अजनि ।

हिन्दी—हे धरणी के स्वामी की बेटी, यदि वह (तवोक्त) सत्य है, तो इस संबंध में मुझे कुछ करणीय नहीं दीखता, तुम्हें और राजा नल को अत्यधिक विरह-संतप्त करते पञ्चबाण (काम) ने ही इस योजना की सृष्टि की है।

टिप्पणी—दमयन्ती और नल के मन में एक-दूसरे को पाने की अदम्य कामना है, अतः हंस का कार्य अब कुछ रह ही नहीं जाता। योजना तो बनी-बनायी है। विद्याधर के अनुसार यहाँ कार्यकारण पौर्वापर्यरूपा अतिशयोक्ति है ॥१००॥

त्वद्बद्धबुद्धेर्बहिरिन्द्रियाणां तस्योपवासव्रतिनां तपोभिः।
त्वामद्य लब्ध्वाऽमृततृप्तिभाजां स्वं देवभूयं चरितार्थमस्तु ॥१०१॥

जीवातु—त्वदिति। किन्तु त्वद्बद्धबुद्धेः त्वदायत्तचित्तस्य त्वामेव वायंत इत्यर्थः। अत एव तस्योपवासव्रतिनां त्वदासङ्गाद्विषयान्तरव्यावृत्तानां तपोभिरुक्तोपवासव्रतरूपैरद्य त्वां लब्ध्वा मन्मुखेन लब्धप्रायां निश्चित्य साक्षात्कृत्येति च गम्यते, अत एव अमृतेन या तृप्तिस्तद्भाजां बहिरिन्द्रियाणां स्वं स्वकीयं देवभूयं देवत्वमिन्द्रियत्वं सुरत्वञ्च, 'देवः सुरे राज्ञि देवमाख्यातमिन्द्रियमि'ति विश्वः। चरितार्थं सफलमस्तु। अमृतपानैकफलत्वाद्देवत्वं स्यादिति भावः। अर्थान्तरप्रतीतेर्ध्वनिरेवेत्यनुसन्धेयम् ॥१०१॥

अन्वयः—त्वद्बद्धबुद्धेः तस्य उपवासव्रतिनां तपोभिः अद्य त्वां लब्ध्वा अमृततृप्तिभाजां बहिरिन्द्रियाणां स्वं देवभूयं चरितार्थम् अस्तु।

हिन्दी—तुम्हारे प्रति अपनी बुद्धि को प्रतिबद्ध किये उस (नल) की उपवास-व्रत में लगी, तपश्चरण द्वारा आज तुमको प्राप्त कर अमृतपान की परितृप्ति की भाजन बाह्य इन्द्रियों का अपना 'देवत्व' (इन्द्रियत्व और देवता होना) सफल हो।

टिप्पणी—दमयन्ती के अनुराग के विषय में जानकर नल चरितार्थ हो जायेगा, उसकी नेत्रादि बाह्येन्द्रियाँ तृप्त हो जायेंगी जैसे दमयन्ती के रूप में उसे अमृत की मन्दाकिनी मिल गयी हो। इस प्रकार उनका देवत्व अर्थात् इन्द्रिय होना ही चरितार्थ न होगा, प्रत्युत देवत्व अर्थात् देव होना भी सफल हो जायेगा, क्योंकि यह माना जाता है कि इन्द्रियों में देवता का वास होने से वे 'देव' कही जाती हैं। उदाहरणार्थ—सूर्य 'चक्षु' होकर आँखों में प्रविष्ट है—'आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्' (ऐतरेय० २।४)। दमयन्ती के अभाव में नल की इन्द्रियाँ न तो कृतकाम ही थीं और न उक्त 'देव' नाम ही

सार्थक था, अब वे कृतकाम होंगी। 'विश्व' कोष के अनुसार 'देव' शब्द सुर, राजा और इन्द्रिय अर्थों का वाचक है। व्यक्ति उपवासादि व्रत-परिचालन में लगकर तपस्यारत हो और तल्लीन भाव से ब्रह्म में बुद्धि लगाकर ही पुण्य-भाजन हो ब्रह्म को प्राप्त करता है और मोक्षानंद रूप देवत्व प्राप्त करता है, ऐसी ही नल की बाह्येन्द्रियों की स्थिति है। मल्लिनाथ ने यहाँ अर्थान्तर प्रतीति से ध्वनि का संकेत किया है, विद्याधर समासोक्ति मानते हैं ॥१०१॥

तुल्यावयोर्मूर्तिरभून्मदीया दग्धा परं साऽस्य न ताप्यतेऽपि ।
इत्यभ्यसूयन्निव देहतापं तस्याऽतनुस्त्वद्विरहाद्विधत्ते ॥१०२॥

जीवातु—यदुक्तं नृपं पञ्चेषुस्तापयतीति तदाह—तुल्येति। आवयो-र्नलस्य मम चेत्यर्थः। 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यमि'ति सर्वग्रहणादित्यदादिना नलेन सह त्यदाद्येकशेषः। मूर्तिस्तनुस्तुल्या तुल्यरूपाऽभूत्। तत्र मदीया सा मूर्तिः परं निःशेषं दग्धा भस्मीकृता, अस्य मूर्तिस्तनुर्न ताप्यते तापमपि न प्राप्यते इति हेतोरभ्यसूयन् ईर्ष्यन्निवेत्युत्प्रेक्षा। अतनुरनङ्गस्त्वद्विरहात्त्वद्विरहमेव रन्ध्रमन्विष्येत्यर्थः। तस्य नलस्य देहतापं विधत्ते। तस्मात्सिद्धिपदमुपतिष्ठते ते मनोरथ इति भावः ॥१०२॥

अन्वयः—आवयोः मूर्तिः तुल्या अभूत्, मदीया दग्धा परम् अस्य सा ताप्यते अपि न—इति अभ्यसूयन् इव अतनुः त्वद्विरहात् तस्य देहतापं विधत्ते।

हिन्दी—हम दोनों (काम-नल) का रूप समान था, मेरा (काम का) देह तो जल गया, किन्तु इस (नल) का देह तपाया भी नहीं जाता—इस प्रकार मानो ईर्ष्या करता अदेह कामदेव तेरे वियोग से उसके देह को तप्त कर रहा है।

टिप्पणी—विरही नल की स्मरजन्य ताप दशा का व्याज से वर्णन। विद्याधर ने यहाँ चिन्ता नामक स्मर दशा और उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है, प्रकाशकार यहाँ कामजनित विरहज्वर मानते हैं ॥१०२॥

लिपि दृशा भित्तिविभूषणं त्वां नृपः पिबन्नादरनिर्निमेषम् ।
चक्षुर्झरैरर्पितमात्मचक्षूरोगं स धत्ते रचितं त्वया नु ॥१०३॥

जीवातु—अथास्य दशावस्था वर्णयन् चक्षुःप्रीतिं तावत् श्लोकद्वयेनाह—

लिपिमित्यादि । हे भैमि ! स नृपो भित्तिविभूषण कुड्यालङ्कारभूतां लिपिं चित्रमयीं त्वां दृष्ट्वा आदरेणास्थया निर्निमेषं पिबन् चक्षुर्झरैरश्रुभिरर्पितं त्वया नु त्वया वा रचितमात्मचक्षुषो रागमारुण्यमनुरागञ्च धत्ते । अत्रोभयकारण-सम्भवादुभयस्मिन्नपि रागे जाते श्लेषमहिम्नैकत्राभिधानात्कारणविशेषः सन्देहः ॥

अन्वयः—सः नृपः भित्तिविभूषणं लिपिं त्वां दृष्ट्वा आदरनिर्निमेषं पिबन् चक्षुर्झरैः अर्पितं नु त्वया रचितम् आत्मचक्षुरागं धत्ते ।

हिन्दी—वह राजा दीवार की अलंकार चित्ररूप में बनी (दीवार पर बने चित्र रूपमें) तुमको दृष्टि से आदर पूर्वक बिना पलक झपकाये पीता हुआ (एकटक आदर-अनुराग से देखता) आँखों से बहती आँसू की झड़ी से जनित मानों तुम्हारे द्वारा उत्पन्न किये—अपने नेत्रों में लाली को धारण कर अपनी आँखों से अनुराग प्रकट कर रहा है ।

टिप्पणी—इस श्लोक में नल के 'चक्षु-प्रेम' का वर्णन है । वह दीवार पर बने दमयन्ती के चित्र को अनुराग और आदर से एकटक निहारता रहता है, जिससे उसकी आँखों से आँसू बह जाते हैं और वे लाल हो जाती हैं, इसी पर कवि की कल्पना है कि नेत्रों का यह एकटक निहारना, आँसू बहाना और लाली उसके 'चक्षु-प्रेम' का प्रमाण है । कवि-समय के अनुसार अनुराग का रंग लाल माना जाता है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ संदेह अलंकार है, क्योंकि चक्षुराग का कारण एकटक निहारना अथवा अनुराग—दोनों हो सकते हैं । विद्याधर नयन-प्रीति और विषय-निवृत्ति स्मर-दशा मानते हुए उत्प्रेक्षा अलंकार मानते हैं । प्रकाशकार ने उत्प्रेक्षा का कारण माना है कि बाष्पजनितलोहितिमा मानो दमयन्ती-विषयक,तद्रचित नयनानुराग है । प्रथम काम दशा । 'रतिरहस्य' के अनुसार दस काम-दशाएँ हैं–'नयनप्रीतिः प्रथमं चित्तासङ्गस्ततोऽथ सङ्कल्पः । निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः । उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदशा दशैव स्युः' ॥१०३॥

पातुर्दृशाऽऽलेख्यमयीं नृपस्य त्वामादरादस्तनिमीलयाऽस्ति ।
ममेदमित्यश्रुणि नेत्रवृत्तोः प्रीतेर्निमेषच्छिदया विवादः ॥१०४॥

जीवातु—इममेवार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह—पातुरिति। अस्तनिमीलया निर्निमेषया दृशा आलेख्यमयी चित्रगतां त्वामादरात्पातुर्द्रष्टुरित्यर्थः पिबतेस्तृन् प्रत्ययः। अत एव 'न लोके'त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात्त्वमिति द्वितीया। नृपस्य नेत्रवृत्तेः प्रीतेश्चक्षुःप्रीतेर्निमेषस्य च्छिदया च्छेदेन सह नेत्रवृत्त्येति शेषः। भिदादित्वादङ् प्रत्ययः। अश्रुणि विषये इदमश्रु ममेति मत्कृतमेवेति विवादः कलहः अस्ति भवतीत्यर्थः ॥१०४॥

अन्वयः—अस्तनिमीलया दृशा आलेख्यमयीं त्वाम् आदरात् पातुः नृपस्य नेत्रवृत्तेः प्रीतेः निमेषच्छिदया इदं अश्रुणि मम इति विवादः अस्ति।

हिन्दी—अपलक दृष्टि से चित्रगता (चित्र में बनी) तुमको आदर से पीते (निहारते) राजा के नेत्रों में वर्तमान अनुराग का निमिषच्छिदा (अपलक देखना) से विवाद चल रहा है।

टिप्पणी—नेत्रानुराग का अन्य भंगिमा से वर्णन। नेत्रप्रीति और निमिषच्छिदि—दोनों का दावा है कि नयनाश्रु का कारण वह है। नेत्र-प्रीति कहती हैं—ये आँसू मैंने उत्पन्न किये हैं, निमिषच्छिदि कहती है मैंने। यहाँ भी 'नयनप्रीति' काम दशा का ही वर्णन है ॥१०४॥

त्वं हृद्गता भैमि ! बहिर्गताऽपि प्राणायिता नासिकयाऽस्य गत्या।
न चित्तमाक्रामति तत्र चित्रमेतन्मनो यद्भवदेकवृत्तिः ॥१०५॥

जीवातु—अथ मनःसङ्गमाह—त्वमिति। हे भैमि ! त्वं बहिर्गतापि हृद्गता अन्तर्गता, अति विरोधे तेन चाभासाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः। कया गत्या केन प्रकारेण अस्य नलस्य प्राणायिता प्राणवदाचरिता प्राणसमा 'उपमानादाचारे' कर्तुः क्यङ् प्रत्ययः। नासि अस्येवेत्यर्थः। यतः प्राणोऽपि नासिकया नासाद्वारेण आस्यगत्या मुखद्वारेण उच्छ्वासनिश्वासरूपेण बहिर्गतोऽप्यन्तर्गतो भवतीति शब्दश्लेषः। अत एव प्राणायितेति श्लिष्टविशेषणेयमुपमा पूर्वोक्तविरोधेन सङ्कीर्णा, किन्तु तत्र प्राणायितत्वे चित्रमाश्चर्यरसः चित्तमाक्रामति न किञ्चिच्चित्रमित्यर्थः। कुतः यद्यस्मादेतन्मनो नलचित्तं भवती त्वमेवैका वृत्तिर्जीविका यस्य तद्भवदेकवृत्तिः, भवच्छब्दस्य सर्वनामत्वाद् वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः। जीवितभूतस्य प्राणायितत्वे किं चित्रं, जीवितस्य प्राणाधारणात्मकत्वादिति भावः॥

अन्वयः—हे भैमि, (१) बहिर्गता अपि हृद्गता त्वं कया गत्या अस्य प्राणायिता न असि ? (२)बहिर्गता त्वं नासिकया आस्य गत्या अपि प्राणायिता। (१) यत् भवदेकवृत्ति एतत् मनः चित्रम्, न आक्रामति तत्र चित्रम्। (२) चित्रं तत्र चित्तं न आक्रामति यत् एतत् मनः भवदेकवृत्तिः।

हिन्दी—हे भीमकुमारी, (१) बाहर रहती भी हृदय मे बसती तुम किस प्रकार इस (नल) की प्राणतुल्या नहीं हो ? हो हो। (२) बाहर निवास करती तुम नासिका और मुख की गति (सौन्दर्य) से नल के प्राणों में स्थित हो अर्थात् प्राणसमा हो, जैसे नासिका द्वारा बारह अंगुल बाहर गया वायु मुख द्वारा प्रविष्ट हो प्राणवायु की संज्ञा पाता है। (२) जो कि आपके प्रति एकनिष्ठ यह मन चित्रसमान अचंचल, आपके चित्र पर झपट क्यों नहीं कर देता—यह आश्चर्य है (विरह-चंचल हो आक्रमण कर देना चाहिए)। (२) तुम्हारा चित्र चित्त को नहीं छोड़ता, क्योंकि यह मन आपमें तल्लीन है।

टिप्पणी—तृतीय चरण में 'चित्तम्' भी है और पाठान्तर 'चित्रम्' भी। वस्तुतः इसमें दूसरी स्मरदशा चित्तासंग का वर्णन है, जिसमें मन की दमयन्ती के प्रति तन्मयता और एकनिष्ठता का विवेचन है। विद्याधर ने यहाँ विषय-निवृत्ति और संकल्प नामक कामदशाओं का प्रतिपादन माना है तथा विरोधा-भास-श्लेष-उपमा की संसृष्टि ॥१०५॥

अजस्रमारोहसि दूरदीर्घां सङ्कल्पसोपानतर्ति तदीयाम्।
श्वासान् स वर्षत्यधिकं पुनर्यद्ध्यानात्तव त्वन्मयतान्तदाप्य ॥१०६॥

जीवातु—अथ द्वाभ्यां सङ्कल्पावस्थामाह—अजस्रमिति। दूरदीर्घामत्यन्तायतां तदीयां सङ्कल्पा मनोरथा एव सोपानानि तेषाम् तति पङ्क्तिमजस्रं त्वमारोहसि श्वासान् पुनः स नलः अधिकं वर्षति मुञ्चतीति यत् तच्छ्वासवर्षं तव ध्यानात् त्वन्मयतः त्वदात्मकत्वमाप्य प्राप्य, प्राप्नोतेराङ्, समासे क्त्वो ल्यबादेशः, अन्यथा कथमन्यासान्यस्य श्वासमोक्ष इति भावः। अत्र श्वास सोपानारोहणयोः कार्यकारणयोर्वैयधिकरण्योक्तेरसङ्गत्यलङ्कारः 'कार्यकारयोण

भिन्नदेशत्वे स्यादसङ्गतिरि'ति लक्षणात् तन्मूला चेयं तादात्म्योत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥१०६॥

अन्वयः—सुदीर्घां तदीयां सङ्कल्पसोपानततिम् अजस्रम् आरोहसि यत् पुनः सः तव ध्यानात् तदा त्वन्मयताम् अवाप्य अधिकं श्वासान् वर्षति ।

हिन्दी—तुम उस (नल) के मनोरथों की बहुत बड़ी सीढ़ियों पर निरन्तर चढ़ी रहती हो (नल प्रतिक्षण तुम्हारे विषय में ही विचारता रहता है) कि वह नल तुम्हारे ध्यान में उस समय त्वत्स्वरूप हो लम्बे-लम्बे साँस छोड़ता है ।

टिप्पणी—यहाँ तृतीय स्मरदशा सङ्कल्प का वर्णन है । नल दमयन्ती को प्राप्त करने के उपाय सदा सोचता रहता है और लम्बे निःश्वास छोड़ता रहता है । वह दमयन्ती का ध्यान करते-करते तत्स्वरूप ही हो जाता है भृंगीकीट के समान । सीढियों पर बारम्बार चढ़ता-उतरता व्यक्ति श्रम के कारण लम्बे उच्छ्वास लेता हो, सो संकल्पसोपानतति पर निरन्तर आरोहण करती दमयन्ती के ध्यान में तद्रूपता के कारण मानो थका नल सयत्न उच्छ्वासें छोड़ता रहता है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ श्वास-सोपानारोहण-रूप कार्य-कारणों की वैयधिकरण से उक्ति के आधार पर असंगति अलंकार है, कारण कि कार्य-कारण की भिन्न-देशता असंगति होती है--कार्य कहीं, कारण कहीं । नल के दमयन्ती-तादात्म्य की उत्प्रेक्षा असंगतिमूलक है, अतः संकर है । विद्याधर के अनुसार यहाँ असंगति अलंकार का आभास है ॥१०६॥

हृत्तस्य यां मन्त्रयते रहस्त्वां तां व्यक्तमामन्त्रयते मुखं यत् ।
तद्वैरिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्यौचिती सा खलु तन्मुखस्य ॥१०७॥

जीवातु—हृदिति । तस्य नलस्य हृत् हृदयं कर्तृ यां त्वां रहः उपांशु 'रहश्चोपांशु चालिङ्गे' इत्यमरः । मन्त्रयते सम्भाषते तां त्वां तन्मुखं कर्तृ व्यक्तं प्रकाशमामन्त्रयते । हे प्रिये ! क्व यासि ? मामनुयान्तं पश्य इत्येवमुच्चैरुच्चरतीति यत् सा तद्रहस्यप्रकाशनं, विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गता । तन्मुखस्य तद्वैरिणो नलद्वेषिणः पुष्पायुधस्य मित्रं सखा शरच्चन्द्रः । तेन यत् सख्यं मैत्री साहचर्यञ्च, तस्य औचिती औचित्यं खलु । अरिमित्रस्याप्यरित्वा-

दुचितमेतद्रहस्यभेदनमित्यर्थः। अत्र मुखकर्तृकरहस्योद्भेदनस्य उक्तवैरनिमित्तत्वमुत्प्रेक्षते ॥ १०७ ॥

अन्वयः—तस्य हृत् यां त्वां रहः मन्त्रयते तां मुखं व्यक्तम् आमंत्रयते, सा तन्मुखस्य तद्वैरिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्योचिती खलु।

हिन्दी—उस (नल) का हृदय जो तुमसे एकांत में गुप्त मंत्रणा करता है, मुख उसे स्पष्ट व्यक्त कर देता है, उस (नल) के मुख को (स्पष्ट व्यक्ति) उस (नल) के शत्रु कुसुमायुध (काम) के मित्र चन्द्र का मित्रजनोचित व्यवहार ही है।

टिप्पणी—यह भी संकल्प दशा है। भाव यह है कि नल तो मन-ही-मन गुप्त रूप से दमयन्ती-विषयक विचार करता है, परन्तु उसके मुख पर झलकते वियोगजनित पीलापन, म्लानभाव आदि उसके भाव को प्रकट कर देते हैं। सौन्दर्यादि-रूप श्री के कारण काम नल का प्रतिस्पर्द्धी और शत्रु है, चन्द्र काम का मित्र है। मित्र का शत्रु शत्रु होता है—इस दृष्टि से नल चन्द्र का भी शत्रु हुआ। मुख की प्रतिस्पर्द्धा (मुख-चन्द्र) के कारण भी चन्द्र नल और नल-मुख का शत्रु है। अथवा मुख रूप में चन्द्र ही है, जो अपने मित्र (काम) के शत्रु (नल) का रहस्य प्रकाशित कर रहा है और इस प्रकार नल की कामायत्तता की स्पष्ट घोषणा कर रहा है। मुखरूप चन्द्र का इस प्रकार मित्र की सहायता करना मित्रजनोचित व्यवहार है। उत्प्रेक्षा अलंकार॥ १०७॥

स्थितस्य रात्रावधिशय्य शय्यां मोहे मनस्तस्य निमज्जयन्ति।
आलिङ्ग्य या चुम्बति लोचने सा निद्राऽऽधुना न त्वदृतेऽङ्गना वा ॥१०८॥

जीवातु—अथ एकेन जागरमरतिञ्चाह—स्थितस्येति। रात्रौ शय्यामधिशय्य शय्यायां शयित्वा 'अधिशीङ्स्थासामि'ति अधिकरणस्य कर्मत्वम्। स्थितस्य तस्य मनो मोहे सुखपारवश्ये निमज्जयन्ती सती या आलिङ्ग्यलोचने चुम्बति, सा निद्रा त्वदृते त्वतो विना 'अन्यारादितरर्ते' इत्यादिना पञ्चमी। त्वद्विरहाद्धेतोस्त्वदन्या चेति द्रष्टव्यम् अङ्गना वा अधुना नास्ति, निद्रानिषेधाज्जागरः अङ्गनान्तरनिषेधाद्विषयद्वेषलक्षणा अरतिश्चोक्ता अत्र निद्राङ्गनयोः प्रस्तुतयोरेवालिङ्गनाक्षिचुम्बनादिधर्मसाम्यादौपम्यप्रतीतेः केवलं प्रकृतगोचरा-

तुल्ययोगितालङ्कार । 'प्रस्तुताप्रस्तुतानाञ्च केवलं तुल्यधर्मतः । औपम्यं गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिता ॥' इति लक्षणात् ॥ १०८ ॥

अन्वयः—रात्रौ शय्याम् अधिशय्य स्थितस्य तस्य मनः मोहे निमज्जयन्ती या आलिङ्ग्य लोचने चुम्बति सा निद्रा त्वदृते अङ्गना वा अधुना नास्ति ।

हिन्दी—रात में शय्या पर लेटे, उसके मन को मोह में मग्न करती जो आलिंगन करके नेत्रों का चुम्बन करती है, तेरे बिना वह नींद अथवा अन्य रमणी इस समय नहीं है। अथवा 'वह नींद रूपी अंगना' तेरे बिना इस समय नहीं आती।

टिप्पणी—यहाँ 'निद्राच्छेद' नामक चतुर्थी स्मर दशा का वर्णन है। नल को आजकल दमयन्ती के वियोग में न तो नींद ही आती है और न अन्य स्त्री ही भाती है। रात भर पलंग पर पड़ा नल दमयन्ती के विचार ही में डूबा जागा रह जाता है। आलिंगन-चुम्बनादि धर्मों के साधर्म्य से निद्रा और अंगना में औपम्य की प्रतीति होती है, जो दोनों प्रस्तुत हैं और प्रकृत गोचर हैं, अतः मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ तुल्ययोगिता अलंकार है। विद्याधर ने विकल्प अलंकार का निर्देश किया है ॥ १०८ ॥

स्मरेण निस्तक्ष्य वृथैव बाणैर्लावण्यशेषां कृशतामनायि ।
अनङ्गतामप्ययमाप्यमानः स्पर्धां न सार्धं विजहाति तेन ॥१०९॥

जीवातु—अथ कार्श्यावस्थामाह—स्मरेणेति । अयं नलः स्मरेण बाणैः निस्तक्ष्य निशात्य वृथैव लावण्यं कान्तिविशेषः, 'मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा । प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥' इति भूपालः । तदेव शेषो यस्यास्तां तनुतां कार्श्यमनायि नीतः । नयतेर्द्विकर्मकत्वात्प्रधाने कर्मणि लुङ् 'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणामि'ति वचनात् । वृथात्वं व्यनक्ति—अनङ्गतां कृशाङ्गताम् 'अनुदरे'तिवदीषदर्थे नञ् समासः, आप्यमानो आनीयमानोऽपि अत्र पूर्ववत्प्रधाने शानच् तेन स्मरेण सार्द्धं स्पर्धां न विजहाति, तथापि तं जिगीषत्येवेत्यर्थः । अङ्गकार्श्येऽपि स्पर्द्धाबीजलावण्यस्याकार्श्यादङ्गकर्शनं वृथैवेति भावः । अत एव विशेषोक्तिरलङ्कारः, तत्सामग्र्यामनुत्पत्तिर्विशेषोक्तिरलङ्कृतिः ।' इति लक्षणात् ॥ १०९ ॥

अन्वयः—स्मरेण बाणैः निस्तक्ष्य वृथा एव अयं लावण्यशेषां कृशताम् अनायि, अनङ्गताम् आप्यमानः अपि तेन सार्धं स्पर्द्धां न विजहाति ।

हिन्दी—काम ने बाणों से भेद-भेद कर व्यर्थ ही इस (नल) को, सौन्दर्य ही जिसमें अवशिष्ट रह गया है (सौन्दर्यविशिष्ट), उस कृशता को पहुँचाया, शरीरभाव को प्राप्त होकर भी नल ने उस (काम) के साथ स्पर्द्धा को नहीं छोड़ा ।

टिप्पणी—तनुता नामक पंचमी स्मरदशा । काम ने पीड़ित कर नल को इतना दुर्बल-कृश कर दिया है कि अब उसमें शरीर नाम का कुछ रह ही नहीं गया है, सौन्दर्य ही शेष है । इसमें काम का कोई लाभ तो नहीं हुआ, हाँ 'अनङ्गता' में भी नल इसकी प्रतिस्पर्द्धा करने लगा । यह हानि ही हुई । अनंग होकर भी नल सौन्दर्य-क्षमता में काम को पराजित कर रहा है । भाव यह है कि यद्यपि नल अत्यन्त दुर्बल हो गया है, पर उसके सौन्दर्य में रत्ती भर भी न्यूनता नहीं आयी । लावण्य शोभा-विशेष को कहते हैं—जैसे मोती में छाया की भी एक विशिष्ट तरलता दिखायी देती है, वैसे जो अंगों में प्रतिभासित हो उसे लावण्य कहते हैं । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ विशेषोक्ति है, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ।। १०९ ।।

त्वत्प्रापकात्त्रस्यति नैनसोऽपि त्वय्येव दास्येऽपि न लज्जते यत् ।
स्मरेण बाणैरतितक्ष्य तीक्ष्णैर्लूनः स्वभावोऽपि कियान् किमस्य ।।११०।।

जीवातु—अथ द्वाभ्यां लज्जात्यागमाह-त्वदित्यादि । स्मरेण तीक्ष्णैर्बाणैरतितक्ष्य शरीरमिति शेषः । अस्य नलस्य स्वभावोऽपि पापभीरुत्वनीचत्व-गर्हत्वताच्छील्यमपि कियानल्पोऽपि लूनः किमित्युत्प्रेक्षा, यद्यस्मात्त्वत्प्रापकात् त्वत्प्राप्तिसाधनादेनसः पापादपि न त्रस्यति, भीत्रार्थानां भयहेतुरिति अपादान-त्वात् पञ्चमी त्वय्येव दास्येऽपि त्वदधिगतदास्यविषये न लज्जते ।। ११० ।।

अन्वयः—स्मरेण तीक्ष्णैः बाणैः अतितक्ष्य अस्य स्वभावः अपि किं कियान् लूनः, यत् त्वत्प्रापकात् एनसः अपि न त्रस्यति, त्वयि दास्ये अपि न लज्जते ?

हिन्दी—काम ने तीक्ष्ण बाणों से अत्यधिक भेद-भेद कर इस (नल) का स्वभाव (प्रकृति-आदत) भी क्या कुछ छिन्न-भिन्न कर डाला है, जो तुझे प्राप्त

करा सकने वाले पाप (बलपूर्वक राक्षस विवाहादि) से भी वह नहीं डर रहा है और तेरी दासता करने में भी नहीं लजा रहा है ?

टिप्पणी—'त्रपानाश' नामक सातवीं स्मरदशा। इस समय नल की दशा ऐसी है कि वह दमयन्ती को पाने के लिए राक्षस-विवाह में प्रयुक्त बल प्रयोगादि जैसे पाप भी कर सकता है, इसमें न उसे डर है। और जहाँ तक लज्जा-नाश का, निर्लज्जता का प्रश्न है, नल को दमयन्ती का दास होना भी स्वीकार्य है। स्वभावतः नल पापभीरु है, लज्जाशील है, पर ऐसा लगता है कि काम ने उसका स्वभाव भी बदल डाला है। केवल शरीर ही छिन्न-भिन्न नहीं किया, प्रत्युत गहरे आघात कर स्वभाव तक छिन्न-भिन्न कर डाला। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ११० ॥

स्मारं ज्वरं घोरमपत्रपिष्णोस्सिद्धागदङ्कारचये चिकित्सौ।
निदानमौनादविशद्विशाला साङ्क्रामिकी तस्य रुजेव लज्जा ॥१११॥

जीवातु—स्मारमिति। घोरं दारुणं स्मारं ज्वरं कामसन्तापं चिकित्सौ प्रतिकर्त्तरि कितनिवास इति धातोः 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्निति निन्दाक्षमाव्याधि-प्रतीकारेषु इष्यत' इति रोगप्रतीकारे सन् प्रत्ययः, 'सनाशंसभिक्ष उः', 'नलोके' त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। सिद्धागदङ्कारचये सिद्धवैद्यसंघे कर्मण्यणि 'कारे सत्यागदस्ये'ति मुमागमः। निदानमौनाद्रोगनिदानानभिधानाद्धेतोरपत्रपिष्णो-र्लज्जाशीलस्य 'अलङ्कृञि'त्यादिना इष्णुच्। तस्य नलस्य विशाला महती लज्जा संक्रमादागता सांक्रामिकी रुजेव, 'अक्षिरोगो ह्यपस्मारः क्षय कुष्ठो मसूरिका। दर्शनात् स्पर्शनाद्दानात् संक्रमन्ति नरान्नरम्' ॥ इति उक्ताक्ष्यादि-रोगा इवेत्यर्थः, भिदादित्वादङ् प्रत्ययः अविशत् ॥ १११ ॥

अन्वयः—घोरं स्मारं ज्वरं चिकित्सौ सिद्धाऽगदङ्कारचये निदानमौनात् अपत्रपिष्णोः तस्य विशाला लज्जा साङ्क्रामिकी रुजा इव अविशत्।

हिन्दी—दारुण काम-ज्वर की चिकित्सा के निमित्त एकत्र सिद्धवैद्य-समूह में निदान समय मौन रह जाने से (निदान न कर सकने से) लज्जाशील उस (नल) की विशाल लज्जाशीलता बड़े सांक्रमिक रोग (छूत की बीमारी) की भाँति प्रविष्ट हो गयी।

टिप्पणी—यह भी अपानाश के संदर्भ में ही कहा गया है। राजा को कृशता आदि रोग की चिकित्सा के लिए बड़े-बड़े सिद्ध वैद्य आये, पर कोई ठीक-ठीक निदान न कर सका, अतः वे बेचारे बड़े लज्जित हुए। इसी पर कल्पना की गयी है कि लज्जाशील नल की लज्जा एक छूत के रोग की भाँति वैद्यों को जा लगी। नल तो अपना रोग लज्जाशीलता से कहते नहीं, तो वैद्य कैसे बतायें? फलतः वे लज्जित हुए। प्रकाशकार ने एक और प्रकार से भाव स्पष्ट किया है--निदान करते समय वैद्यों ने नल से ही रोग-विषय में कुछ पूछा, उस पर नल ने लज्जा छोड़ कह दिया कि यह ज्वर दमयन्ती के कारण है। इस भेद को जान कर अथवा बिना कहे रोग को समझ न सके, इस कारण वैद्य लज्जित हो गये। इस प्रकार लज्जा-रोग का सङ्क्रमण हुआ। कहा गया है कि अक्षि-रोग, मिरगी, क्षय, कोढ और मसूरिका (चेचक) दर्शन, स्पर्श, दान से एक व्यक्ति से दूसरे को हो जाते हैं। ऐसा भी कहा गया है कि अक्षि रोग, ज्वर, कोढ और मिरगी सहभोज आदि के कारण संक्रमित हो जाते हैं—'अक्षिरोगो ज्वरः कुष्ठं तथाऽपस्मार एव च। सह भुक्त्यादिसम्बन्धात्सङ्क्रमन्ति नरान्तरम्'॥ विद्याधर के अनुसार अपह्नुति—उपमा हैं, क्योंकि वैद्यों में लज्जान्तर का आरोप हुआ है॥१११॥

बिभेति रुष्टाऽसि किलेत्यकस्मात्स त्वां किलोपेत्य हसत्यकाण्डे।
यान्तीमिव त्वामनुयात्यहेतोरुक्तस्त्वयेव प्रतिवक्ति मोघम्॥११२॥

जीवातु—अथ उन्मादावस्थामाह—बिभेतीति। स नलः अकस्मादकाण्डे रुष्टा कुपितासीति बिभेति, अकाण्डे अनवसरे उपेत्य किल प्राप्येव हसति, अहेतोरकस्माद्यान्ती गच्छन्ती किल त्वामनुयाति, त्वया उक्त इव मोघं निर्विषयं प्रतिवक्ति। सर्वोऽप्ययमुन्मादानुभावः। उन्मादश्चित्तविभ्रमः॥११[illegible]॥

अन्वयः—सः अकस्मात् रुष्टा असि इति बिभेति अकाण्डे उपेत्य हसति किल अहेतोः यान्तीम् त्वाम् अनुयाति इव, त्वया उक्त इव मोघं प्रतिवक्ति।

हिन्दी—वह (नल) जैसे सहसा तुम रुष्ट हो गयी हो, इससे डर जाता है; मानों तुम्हारे निकट पहुँच कर अनवसर पर हँस पड़ता है, अकारण जाती

हुई तेरे पीछे जैसे चल देता है और जैसे तुमने कुछ कहा हो, इस प्रकार व्यर्थ प्रत्युत्तर देने लगता है।

टिप्पणी—आठवीं स्मरदशा उन्माद का वर्णन। वियोगोन्मत्त नल उलटे-सीधे कार्य करने लगता है। उन्माद में चित्त विभ्रम हो जाता है—'उन्मादश्चित्तविभ्रमः।' विद्याधर ने उल्लेख्य अलंकार उत्प्रेक्षा माना है ॥११२॥

भवद्वियोगाच्छिदुरार्तिधारायमस्वसुर्मज्जति निश्शरण्यः।

मूर्च्छामयद्वीपमहान्ध्यपङ्के हा हा महीभृद्भटकुञ्जरोऽयम् ॥११३॥

जीवातु—अथ मूर्च्छावस्थामाह—भवदिति। भवत्या वियोगो भवद्वियोग, 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः'। तस्मिन्नच्छिदुरा अविच्छिन्ना 'विदिभिदिच्छिदेः कुरच्'। आर्तिधारा दुःखपरम्परा तस्या एव यमस्वसुर्यमुनाया मूर्च्छामयं मूर्च्छावस्थारूपं यद्द्वीपं तत्र यन्महान्ध्यं महामोहस्तस्मिन्नेव पङ्के महीभृद्भटो राजवीरः स एव कुञ्जरः निःशरण्यो निरालम्बः सन् मज्जति हा हेति खेदे। रूपकालङ्कारः। आर्तिधारायास्तमोविकारत्वेन रूपसाम्याद्यमुना रूपणम्॥११३॥

अन्वयः—हा, हा, भवद्वियोगाच्छिदुरार्तिधारायमस्वसुः मूर्च्छामयद्वीपमहान्ध्यपङ्के निःशरण्यः अयं महीभृद्भटकुञ्जरः मज्जति।

हिन्दी—हाय-हाय आपके वियोग की अविच्छिन्न दुःख-परम्परा रूप यम की भगिनी यमुना के मूर्च्छावस्थारूप महामोहरूप कीचड़ में निराश्रित यह वीर धरणीधर रूपी हाथी धँसा जा रहा है।

टिप्पणी—नवीं मूर्च्छा दशा का विवरण। जैसे यम की बहिन-विनाश स्वरूपा यमुना के दलदल में कोई बड़ा हाथी फँस कर डूबता है, वैसे ही महामूर्च्छा में फँसे नल की खेदजनक दशा है। रूपक अलंकार ॥११३॥

सव्यापसव्यव्यसनाद् द्विरुक्तैः पञ्चेषुबाणैः पृथगर्जितासु।

दशासु शेषा खलु तद्दशा या तया नभः पुष्यतु कोरकेण ॥११४॥

जीवातु—दशमावस्था तु तस्य कदापि माभूदित्यत आह—सव्येति। सव्यापसव्याभ्यां वामदक्षिणाभ्यां व्यसनान्मोचनाद् द्विरुक्तैर्द्विगुणीकृतैर्दशभि-

रित्यर्थः । पञ्चेषुबाणैः पृथगर्जितासु प्रत्येकमुत्पादितासु दशासु 'दृङ्मनःसङ्ग-सङ्कल्पा जागरः कृशताऽरतिः । ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छान्ता इत्यनङ्गदशा दश ।' इत्युक्तासु चक्षुःप्रीत्यादिदशावस्थासु शेषा अवशिष्टा या तद्दशा दशमावस्थेत्यर्थः । तयैव कोरकेण कलिकयेति रूपकम् । नभः, पुष्यतु पुष्पितमस्तु । अस्य सा दशा खपुष्पकल्पाऽस्तु, कदापि माभूदित्यर्थः । तच्च त्वत्प्राप्तिलाभादिति भावः । पुष्प-विकसने इति धातोर्लोट् ॥११४॥

अन्वयः—सव्यापसव्यव्यसनात् द्विरुक्तैः पञ्चेषुबाणैः पृथक् अर्जितासु दशासु शेषा या तद्दशा तया कोरकेण नभः खलु पुष्प्यतु ।

हिन्दी—सव्य (वाम), अपसव्य (दक्षिण) हाथों से छोड़े जाने के कारण दो गुने (५ ✕ २ = १०) हुए पंचबाण (काम) के बाणों द्वारा पृथक्-पृथक् उत्पादित दशाओं के मध्य (उपर्युक्त दशाओं के बीच) अविशिष्ट जो दशा (दसवीं मरण दशा) है, उसकी कोर रूप कली से आकाश निश्चित रूप से फूले ।

टिप्पणी—दशमी अवर्ण्य मरण दशा का चित्रण । काम के पाँच बाण हैं, वह क्रमशः बायें-दायें दोनों हाथों से एक-एक बाण का युगल छोड़ता है, जिसे दो दशाएँ उत्पन्न होती हैं। दशवीं दशा है मरण, जो अवर्ण्य है। इसका वर्णन कवि इस प्रकार करता हैं कि वर्णन भी हो जाय और उसकी अमंगल-मयी, अशुभ अवर्णनीयता न आ सके। वह कहता है कि काम बाणों के अंतिम युग्म की नोक आकाश में जाकर लगे, जिससे वहाँ फूल खिलें। अर्थात् जैसे आकाश पुष्प नहीं होता, उसी प्रकार निश्चयतः वह दसवीं मरण-दशा न हो। अशुभ होने से कवि ने मरणदशा का नाम भी नहीं लिया, केवल 'तद्दशा' (वह दशा) कहा। विद्याधर के अनुसार अर्थान्तर यथासंख्य अलंकार ॥११४॥

त्वयि स्मराधेस्सततास्मितेन प्रस्थापितो भूमिभृताऽस्मि तेन ।
आगत्य भूतस्सफलो भवत्या भावप्रतीत्या गुणलोभवत्याः ॥११५॥

जीवातु—त्वयीति । त्वयि विषये स्मराधेः स्मरपीडादुःखाद्धेतोः सततमस्मितेन स्मितरहितेन खिन्नेन तेन भूमिभृता प्रस्थापितोऽस्मि । अथ आगत्य

गुणलोभवत्याः भवत्यास्तव भावप्रतीत्या अभिप्रायज्ञानेन सफलो भूतः सिद्धार्थोऽस्मीत्यर्थः ॥११५॥

अन्वयः—स्मराधेः सततास्मितेन तेन भूमिभुजा त्वयि प्रस्थापितः आगत्य गुणलोभवत्याः भवत्याः भावप्रतीत्या सफलः भूतः अस्मि ।

हिन्दी—काम रोग से निरन्तर खिन्न होते उस पृथ्वीपति (नल) के द्वारा तुम्हारे पास भेजा गया मैं (यहाँ) आकर गुणों के प्रति लोभ शीला आपके भाव (प्रेम) के विश्वास से सफल हो गया हूँ ।

टिप्पणी—हंस कहता है कि उसने नल को दमयन्ती के वियोग में अतीव खिन्न पाया, उसका दौत्य स्वीकार कर वह हंस दमयन्ती के पास पहुँचा कि उसे नलानुरक्त कर सके । परन्तु वहाँ पहुँच कर उसने पाया कि दमयन्ती गुणों का आदर करने वाली है; वह नल पर उसके गुणों के कारण स्वयम् अनुरक्त है । इस प्रकार दमयन्ती का भाव जान कर हंस ने अपने को कृतकाम माना । विद्याधर के अनुसार अनियत-देशावयव यमक अलंकार ॥११५॥

धन्याऽसि वैदर्भि ! गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥११६॥

जीवातु—धन्येति । हे वैदर्भि ! भैमि ! वैदर्भीरीतिरपि गम्यते । धनं लब्धा धन्या असि कृतार्थासीत्यर्थः । 'धनगणं लब्धे'ति यत्प्रत्ययः । कुतः ? यया त्वया उदारैरुत्कृष्टैर्गुणैर्लावण्यादिभिरन्यत्र श्लेषैः प्रसादादिभिः पाशैश्चेति गम्यते, नैषधो नलोऽपि तादृक् धीरोऽपीति भावः । समाकृष्यत सम्यगाकृष्टो वशीकृत इति भावः । एतेन वैदर्भीत्यादिविशेषणाद् गुणैर्भावुकमिवेत्युपमालङ्कारो युज्यते । तथाहि चन्द्रिका या अब्धिमपि गभीरमपीति भावः । उत्तरलीकरोति क्षोभयतीति यत् इतोऽपि अभ्यधिका स्तुतिर्वर्णना का खलु ? न कापीत्यर्थः दृष्टान्तालङ्कारः । एतेन नलस्य समुद्रगाम्भीर्यं दमयन्त्याश्चन्द्रिकाया इव सौन्दर्यं च व्यज्यते ॥११६॥

अन्वयः—वैदर्भि, धन्या असि, यया उदारैः गुणैः नैषधः अपि समाकृष्यतः चन्द्रिकायाः इतः स्तुतिः का स्यात् यत् अब्धिम् अपि उत्तरली करोति ।

हिन्दी—हे विदर्भ-कुमारी, तुम धन्य हो, जिसने उत्कृष्ट गुणों से निषधराज को भी आकृष्ट कर लिया। चाँदनी की इससे बड़ी प्रशंसा क्या हो सकती है कि वह समुद्र को भी उत्तरल (क्षुब्ध) कर डालती है ?

टिप्पणी—नल जैसे सागर-सम गंभीर धरणीधर को भी जो अपने उत्कृष्ट गुणों से आकृष्ट कर ले, वह नारी प्रशंसायोग्य होगी ही। इससे अधिक दमयन्ती की प्रशंसा हो ही क्या सकती है कि उसने निषधराज को आकृष्ट कर लिया ? धन्य है वह चाँदनी, जो महासागर को भी चंचल कर अपनी ओर खींचती है। मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टान्त, विद्याधर के अनुसार प्रतीप। चन्द्रकलाकार ने प्रतिवस्तूपमा मानी है। इस श्लोक में 'धन्याऽसि वैदर्भि' कथन से कवि का वैदर्भीरीतिप्रेमी होने का संकेत भी माना गया है ॥११६॥

नलेन भायाश्शशिना निशेव त्वया स भायान्निशया शशीव ।
पुनः पुनस्तद्युगयुग्विधाता स्वभ्यासमास्ते नु युवां युयुक्षुः ॥११७॥

जीवातु—फलितमाह--नलेति। शशिना निशेव त्वं नलेन भायाः। भातेराशिषि लिङ्। सोऽपि निशया शशीव त्वया भायात्, भातेः पूर्ववदाशिषि लिङ्। किं च अत्र दैवानुकूल्यमपि सुभाव्यमित्याह पुनः पुनस्तयोर्निशाशशिनोर्युगं युनक्ति योजयतीति तद्युकयुक् विधाता युवां नल त्वाञ्च 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यमि'ति एकशेषः। योक्तुमिच्छतीति युयुक्षुर्युजेः सन्नन्तादुप्रत्ययः स्वभ्यासमभ्यासस्य समृद्धौ निरन्तराभ्यास इत्यर्थः। समृद्ध्यर्थेऽव्ययीभावः। ततः परस्याः सप्तम्या वैकल्पिकत्वादम् भावः। आस्ते नु ? तथाऽभ्यस्येति किमित्यर्थः। अत्र तादर्थ्ये चतुर्थ्या अम्भाव इति व्याख्याने अभ्यातार्थमभ्यस्यतीत्यर्थः स्यात् तदात्माश्रयत्वादित्यपेक्षणीयम्। अत्र दमयन्तीनलयोरन्योन्यशोभाजनोक्तेरन्योन्यालङ्कारः। परस्परक्रियाजननमन्योन्यमि'ति लक्षणात्। उपमाद्वयानुप्राणित इति सङ्करः। तन्मूला चेयं विधातुः पुनर्निशाशशियोजनायां दमयन्तीनलयोजनाभ्यासत्वोत्प्रेक्षेति ॥ ११७ ॥

अन्वयः—शशिना निशा इव नलेन भायाः, सः निशया शशी इव त्वया भायात्, नु पुनः पुनः तद्युगयुक् विधाता युवां युयुक्षुः स्वभ्यासम् आस्ते।

हिन्दी—जैसे चन्द्र से रात शोभित होती है, वैसे ही तुम नल से शोभित

होओ और वह (नल) रात्रि से चन्द्र के समान तुम से शोभित हो। मैं समझता हूँ कि बार-बार (प्रतिमास) निशा-चन्द्र के जोड़े को संयुक्त करने वाला विधाता तुम दोनों का संयोग कराने की इच्छा से अपना अभ्यास बढ़ाता रहता है।

टिप्पणी—दमयन्ती-नल के मिलन की शुभकामना करता हंस कल्पना करता है कि बारंबार निशा-चंद्र का संघटक विधाता इन दोनों के संयोग के लिए ही एक अभ्यासरत शिल्पी के समान अपना अभ्यास किया करता है कि वह ऐसे रमणीयतम युगल की संरचना कर सके जो अनुपम हो। भाव यह कि दमयन्ती-नल का जोड़ा निशा-चंद्र के जोड़े से भी उत्कृष्ट होगा। क्योंकि यहाँ नल-दमयन्ती के परस्पर शोभित होने की उक्ति है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अन्योन्य अलङ्कार है। साथ ही वह दो उपमाओं से अनुप्राणित है, विधाता की अभ्यास-विषयक उत्प्रेक्षा तन्मूलक ही है, अतः अन्योन्य-उपमायुगल-उत्प्रेक्षा का संकर है। विद्याधर यहाँ उपमा-उत्प्रेक्षा के साथ-साथ आशीः अलङ्कार भी मानते हैं॥ ११७॥

स्तनद्वये तन्वि ? परं तवैव पृथौ यदि प्राप्स्यति नैषधस्य।
अनल्पवैदग्ध्यविवर्धनीनां पत्रावलीनां रचना समाप्तिम्॥११८॥

जीवातु—स्तनद्वय इति। हे तन्वि! किञ्च नैषधस्य नलस्य अनल्पेन महता वैदग्ध्येन नैपुण्येन विवर्धनीनामुज्जृम्भणीनां पत्रावलीनां रचना समाप्ति सम्पूर्णतां प्राप्स्यति यदि, तर्हि पृथौ पृथुनि भाषितपुंस्कत्वादिकल्पेन पुंवद्भावः। तवैव स्तनद्वये परं प्राप्स्यति, नान्यस्या इत्यर्थः। अन्यस्या अयोग्यत्वादितिभावः॥

अन्वयः—तन्वि, नैषधस्य अनल्पवैदग्ध्यविवर्धनीनां पत्रावलीनां रचना यदि समाप्ति प्राप्स्यति, परं तव पृथौ स्तनद्वये एव।

हिन्दी—हे कृशाङ्गि, निषधराज की प्रभूत कौशल की सूचिका पत्रश्रेणी-समूह की रचना यदि समाप्ति को प्राप्त करेगी तो केवल तेरे विशाल कुच-युगल पर ही।

टिप्पणी—हंस दमयन्ती के कुचयुगल की विशालता की प्रशंसा करता कहता है कि विलास-क्रीड़ा में पत्रावली बनाने का नल का संपूर्ण कौशल

उन पर समाप्त हो जायेगा, अर्थात् नल समस्त कौशल और साधनों का प्रयोग करने पर भी दमयन्ती के विशाल कुचयुगल पर समग्रतया पत्रावली-रचना न कर सकेगा। विद्याधर ने यहाँ सम अलंकार माना है—'समं योग्यतया योगो यदि संभाविता क्वचित्' ॥११८॥

एकस्सुधांशुर्न कथञ्चन स्यात्तृप्तिक्षमस्त्वन्नयनद्वयस्य।
त्वल्लोचनासेचनकस्तदस्तु नलास्यशीतद्युतिसद्वितीयः ॥११९॥

जीवातु—एक इति। एकः सुधांशुस्त्वन्नयनद्वयस्य कथञ्चन कथञ्चिदपि तृप्तौ प्रीणने क्षमो न स्यात्तस्मान्नलास्यशीतद्युतिना नलमुखचन्द्रेण सद्वितीयः सन् त्वल्लोचनयोरासेचनकस्तृप्तिकरोऽस्तु। 'तदासेचनकं तृप्तेर्नास्त्यन्तो यस्य दर्शनादि'त्यमरः। आसिच्यते अनेनेत्यासेचनकं करणे ल्युट्, स्वार्थे कः ॥११९॥

अन्वयः—एकः सुधांशुः त्वन्नयनद्वयस्य कथञ्चन तृप्तिक्षमः न स्यात् तत् नलास्यशीतद्युतिसद्वितीयः त्वल्लोचनासेचनकः अस्तु।

हिन्दी—एक अमृतकर चंद्र तेरे दो नयनों को किसी प्रकार तृप्त करने में समर्थ न हुआ होगा, सो वह (चंद्र) नल के मुखरूप शीतकिरण (चंद्र) के साथ दो बनकर तेरे नयनयुगल को अत्यंत तृप्त करने वाला बने।

टिप्पणी—दो नयनों की तृप्ति एक चंद्र से संभव नहीं है, सो नलमुख के साथ चन्द्रमा मिलकर दमयन्ती के दो नयनों को तृप्त कर सकेगा। दो नयन, दो चंद्र। एक आकाश का चंद्र, दूसरा नलमुख-चंद्र। नल दमयन्ती को प्राप्त हो, अथवा इस आवश्यकतावश नल-प्राप्ति के लिए प्रयत्न होना चाहिए, यह आशय है। रूपक ॥११९॥

(युग्मम्)

अहो तपःकल्पतरुर्नलीयस्त्वत्पाणिजाग्रस्फुरदङ्कुरश्रीः।
त्वद्भ्रूयुगं यस्य खलु द्विपत्री तवाधरो रज्यति यत्कलम्बः ॥१२०॥
यस्ते नवः पल्लवितः कराभ्यां स्मितेन यः कोरकितस्तवास्ते।
अङ्गम्रदिम्ना तव पुष्पितो यः स्तनश्रिया यः फलितस्तवैव ॥१२०॥

जीवातु—अथ द्वाभ्यां नलतपःसाफल्यमाह—अहो इत्यादिना। नलस्यायं नलीयः, 'वा नामधेयस्ये'ति वृद्धसंज्ञायां वृद्धाच्छः। अत एव कल्पतरुः अभिनव-

प्रसिद्धकल्पतरुविलक्षण इत्यर्थः । अत एव अहो इत्याश्चर्यं वैलक्षण्यमेवाह— त्वदित्यादि । अत्रापि यच्छब्दो द्रष्टव्यः यः कल्पतरुः तव पाणिजाग्रैः कररुहाग्रैर्नित्यं स्फुरन्ती अङ्कुरश्रीर्यस्य सः अङ्कुरवानित्यर्थः, यस्य त्वद्भ्रूयुगमेव द्वयोः पत्रयोः समाहारो द्विपत्री प्रथमोत्पन्नपत्रद्वयं खलु, तवाधरो यत्कलम्बो यस्य नालिका किसलयकाण्ड इत्यर्थः 'अस्य तु नालिका' कलम्बश्च कडम्बश्चे'-त्यमरः ? रज्यति स्वयमेव रक्तो भवति, 'कुषिरजोः प्राचां श्यन् परस्मैपदञ्चे'ति कर्मकर्तरि रूपम् । य इति । यस्ते तव कराभ्यां पल्लवितः सञ्जातपल्लवः यस्तव स्मितेन कोरकितः सञ्जातकोरकः सन् आस्ते, यस्तवाङ्गानां म्रदिम्ना मार्दवेन पुष्पितः सञ्जातपुष्पः, यस्तवैव स्तनश्रिया स्तनसौन्दर्येण फलितः सञ्जातफलः । सर्वत्र तारकादित्वादितच् प्रत्ययः । अत्र श्लोकद्वयेन तपसि दमयन्तीनखादिषु च कल्पतरुतावयवत्वरूपात्सावयवरूपकं तथा अवयविनि कल्पतरोरवयवानां नखाङ्कुरादीनाञ्च मिथः कार्यकारणभूतानां भिन्नदेशत्वादसङ्गत्याश्रितमिति सङ्करः, 'कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे स्यादसङ्गतिरि'ति लक्षणात् ॥१२०-१२१॥

अन्वयः—अहो, त्वत्पाणिजाग्रस्फुरदङ्कुरश्रीः नलीयः तपःकल्पतरुः, यस्य द्विपत्री तद्भ्रूयुगं यत्कलम्बः तव अधरः रज्यति, यः ते कराभ्यां नवः पल्लवितः, यः तव स्मितेन कोरकितः आस्ते, यः तव अङ्गम्रदिम्ना पुष्पितः, यः तव एव स्तनश्रिया फलितः । (युग्मम्) ।

हिन्दी—तेरे नखाग्रभागरूप चमकते अंकुरों से शोभाशाली नल का तपोरूप कल्पवृक्ष आश्चर्यमय है, जिसकी दो पत्तियाँ तेरी दोनों भौंवें हैं, जिसका नाल (डंठल) बना तेरा अधर शोभित है, तेरे कर-युगल जिसे पल्लवित बनाते हैं (अर्थात् हाथ ही पत्ते हैं), जो तेरी मंद मुसकान से कलिकावान् बनता है, जो अंगों की मृदुता रूप पुष्पों से युक्त है और जिसके फल तेरे ही शोभा-युक्त कुचयुगल हैं ।

टिप्पणी—दो पद्यों में संपूर्ण भाव स्पष्ट होने के कारण यह 'युग्म' है । इसमें दमयन्ती-देह को उस विचित्र कल्पवृक्ष के रूप में चित्रित किया गया है, जिसकी प्राप्ति में नल का तप ही कारण है । इस विचित्र कल्पतरु की

संरचना अनोखी है। दमयन्ती की दो भौहें उसकी ऊपरी दो पत्तियाँ हैं, डंठल लाल अधर है, करयुगल पत्ते हैं, मंद स्मित कली है, अन्य कोमल अंग फूल हैं, और कुचयुग्म फल हैं। इसमें वैचित्र्य यह भी है कि अन्य वृक्ष में पत्तियाँ, कलियाँ, फूल, फल एक क्रम से अनेक बार में आ पाते हैं, इस कल्पतरु में सब एक साथ ही आ गये। नल को बड़ी तपस्या से यह कल्पतरु प्राप्त हो रहा है। मल्लिनाथ के अनुसार इस युग्म में सावयवरूपक और असंगति का संकर है। दमयन्ती के अंग कल्पतरु के कोरक, पुष्प, फल आदि हैं और कार्यकारणभूत उनमें भिन्नदेशता है ॥ १२०-१२१ ॥

कंसीकृतासीत्खलु मण्डलीन्दोः संसक्तरश्मिप्रकरा स्मरेण ।
तुला च नाराचलता निजैव मिथोऽनुरागस्य समीकृतौ वाम् ॥१२२॥

जीवातु—किञ्च समानुरागत्वाच्च युवयोः समागमः श्लाघ्य इत्याशयेनाह-कंसीति। स्मरेण कर्त्रा वां युवयोर्मिथोऽनुरागस्य अन्योन्यरागस्य, वस्तव तस्मिन्, यश्च तस्य त्वयि, तयोरनुरागयोरित्यर्थः। समीकृतौ समीकरणे निमित्ते तदर्थमित्यर्थः। संसक्तः संयोजितः रश्मीनामंशूनां सूत्राणाञ्च प्रकरः समूहो यस्यां सा 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमरः। इन्दोर्मण्डली बिम्बं कंसीकृता आसीत्। 'कंसोऽस्त्री लोहभाजनमि'ति शाब्दिकमण्डने। मण्डले निजा नाराचलता बाण-बल्ली सैव तुला तुलादण्डीकृतेति शेषः। तत्रेन्दुमण्डलादौ कंसादिरूपणादेव-स्मरस्य कार्यकारणरूपसिद्धेरेकदेशविवर्तिरूपकम् ॥ १२२ ॥

अन्वयः—स्मरेण वां मिथोऽनुरागस्य समीकृतौ संसक्तरश्मिप्रकरा इन्दोः मण्डली कंसीकृता आसीत् तुला च निजा नाराचलता एव।

हिन्दी–काम ने तुम दोनों (नल-दमयन्ती) के परस्पर अनुराग की मात्रा जानने के निमित्त तोलने के कार्य में किरणसमूहरूप रज्जु में बाँधकर चंद्र के मंडल को काँसे का तराजू का पलड़ा बनाया और तुलादंड बनाया अपनी ही बाणलता को।

टिप्पणी—नल और दमयन्ती के मध्य किसके अनुराग की मात्रा कितनी है, इसकी तोल कामदेव ने चंद्रमंडल के पलड़े बनाकर उसमें किरणरज्जु बाँधकर और बाणलता का तुलादंड बनाकर की, तब ज्ञात हुआ कि दोनों के

अनुराग की मात्रा कितनी है ? एकदेशविवर्त्ति रूपक अलंकार, क्योंकि इंदुमण्डलादि में कंसादिरूपण से ही स्मर के कार्य-कारण रूप की सिद्धि होती है ॥ १२२ ॥

सत्त्वस्रुतस्वेदमधूत्थसान्द्रे तत्पाणिपद्मे मदनोत्सवेषु ।
लग्नोत्थितास्त्वत्कुचपत्त्ररेखास्तन्निर्गतास्सन्तु प्रविशन्तु भूयः ॥१२३॥

जीवातु—सत्त्वेति । किं च मदनोत्सवेषु रतिकेलिषु सत्त्वेन मनोविकारेण स्रुतो यः स्वेदः सात्त्विकविकारविशेषः तेनैव मधूत्थेन मधूच्छिष्टेन सान्द्रे निरन्तरे अत एव तस्य नलस्य पाणिपद्मे लग्नाः संक्रान्ताः । अतएव उत्थिताः त्वत्कुचतटाद्विश्लिष्टाः । मधूच्छिष्टे निकषस्थकनकरेखावदिति भावः । स्नातानुलिप्तवत्पूर्वकालसमासः । तन्निर्गताः । तत्पाणिपद्मोत्पन्ना त्वत्कुचपत्त्ररेखाः भूयः तत् पाणिपद्मं 'वा पुंसि पद्मं नलिनमि'त्यमरः । प्रविशन्तु । कार्यस्य कारणे लयनियमादिति भावः । युवयोः समागमोऽस्तु इति तात्पर्यम् ॥ १२३॥

अन्वयः—मदनोत्सवेषु सत्त्वस्रुतस्वेदमधूत्थसान्द्रे तत्पाणिपद्मे लग्नोत्थिताः त्वत्कुचपत्त्ररेखाः भूयः तत् प्रविशन्तु ।

हिन्दी—कामोत्सवों में सात्विक भाव से टपकते पसीनारूप गाढ़े मोम से संयुक्त उस (नल) के करकमल में लगकर उभरीं तेरे कुचों का पत्त्ररेखाएँ पुनः उसी में प्रविष्ट हो जायें ।

टिप्पणी—यह मिलन संबंधी आशीर्बचन है, जिसमें संयोग शृङ्गार का वर्णन है । विलास-क्रीडा में नल दमयन्ती के कुचों पर अपने करकमलों से पत्रावली रचना करेगा । रतिकाल में संजात स्वेदरूप मधूत्थ (मोम) उसके हाथों पर लग जायेगा । रतिसमय में कुचस्पर्श के कारण कुचों पर बनी पत्रावलियाँ पसीने-से नल के हाथों पर उभर आयेंगी । हंस ऐसे मदनोत्सव के घटित होने का आशीर्वचन कहता है । भाव यह है कि नल-दमयंती का समागम हो । जैसे कार्य का कारण में ही लय होता है, ऐसे ही पत्रावली रूप कार्य नल-करकमल रूप कारण में लीन हो जाये । विद्याधर के अनुसार रूपक और आशीः अलंकार ॥ १२३ ॥

बन्धाढ्यनानारतमल्लयुद्धप्रमोदितैः केलिवने मरुद्भिः।
प्रसूनवृष्टिं पुनरुक्तमुक्तां प्रतीच्छतुं भैमि! युवां युवानौ ॥१२४॥

जीवातु—बन्धेति। किं च हे भैमि! बन्धैरुत्तानादिकरणैः कामतन्त्रप्रसिद्धैराढ्यं समग्रं नानारतमुत्तानकादिविविधसुरतं तदेव मल्लयुद्धं तेन प्रमोदितः सन्तोषितैः केलिवने मरुद्भिः वायुभिर्देवैश्च 'मरुतौ पवनामरौ' इत्यमरः। पुनरुक्तं सान्द्रं यथा तथा मुक्तां प्रसूनवृष्टिं युवतिश्च युवा च युवानौ 'पुमान् स्त्रिये'त्येकशेषः। युवां प्रतिच्छतं स्वीकुरुतम्। युद्धविक्रान्ता हि देवैः पुष्पवृष्ट्या सम्भाव्यन्त इति भावः ॥१२४॥

अन्वयः—भैमि, बन्धाढ्यनानारतमल्लयुद्धप्रमोदितैः केलिवने मरुद्भिः पुनरुक्तमुक्तां प्रसूनवृष्टिं युवानौ युवाम् प्रतीच्छतम्।

हिन्दी—हे भीमसुते, कमलासनादि से समृद्ध नानाविधसुरत रूप मल्लयुद्ध से प्रमोदित (प्रकृष्ट परिमल से संयुक्त) क्रीडावन में बहते समीरणों द्वारा बार-बार विसर्जित पुष्प-वर्षा को तुम दोनों तरुण-तरुणी ग्रहण करो।

टिप्पणी—दो मल्लों की नानाविध दाँव-पेच से भरी कुश्ती को देखने वाले जिस प्रकार प्रसन्न हो उन पर फूल बरसाते हैं, वैसे ही दर्शकों के तुल्य क्रीडोपवन में बहते समीरण रतमल्लयुद्ध में विविध आसनों का प्रयोग करते दंपती पर आनंदित हो पुष्पवर्षा करेंगे। यह भी सुखद संभोग की कामना से पूर्ण आशीर्वचन है। 'मरुत्' से सामान्य सुगंधि समीरण से भी तात्पर्य है और देवविशेष के माध्यम द्वारा देवों से भी अर्थात् नल-दमयन्ती-मिलन से देवगण भी संतुष्ट हो पुष्पवर्षा करेगा। विद्याधर के अनुसार यहाँ रूपक-प्रतीयमानोत्प्रेक्षा-श्लेष की संसृष्टि है ॥१२४॥

अन्योन्यसङ्गमवशादधुना विभातां तस्यापि तेऽपि मनसी विकसद्विलासे।
स्रष्टुं पुनर्मनसिजस्य तनुं प्रवृत्तमादाविव द्व्यणुककृत्परमाणुयुग्मम् ॥१२५॥

जीवातु—अन्योन्येति। किं च अधुना अन्योन्यसङ्गमवशाद्विकसद्विलासे वर्धमानोल्लासे तस्यापि तेऽपि नलस्य तव च मनसी मनसिजस्य कामस्य तनुं शरीरं पुनः स्रष्टुमारब्धुं प्रवृत्तमत एवादौ द्वाभ्यामारब्धं कार्यं द्व्यणुकं तत्करोतीति

तत्कृत् तदारम्भकं, करोतेः क्विप् । तत्परमाणुयुग्ममिवेत्युत्प्रेक्षा । तार्किकमते मनसोऽणुत्वादिति भावः । विभातां कार्यारम्भकपरमाणुयुगलवदविश्लेषेण विराजतामित्यर्थः । भातेर्लोट्, 'तस्थे'ति तसः तामादेशः ॥ १२५ ॥

अन्वयः—अधुना अन्योन्यसङ्गमवशात् विकसद्विलासे तस्य अपि ते अपि मनसी मनसिजस्य तनुं पुनः स्रष्टुं प्रवृत्तम् आदौ द्व्यणुककृत् परमाणुयुग्मम् इव विभाताम् ।

हिन्दी—इस समय (पूर्वोक्त नल-दमयन्ती-सम्बन्ध के पश्चात्) परस्पर मिलन के कारण उल्लास से विकसित उस (नल) के भी और तेरे (दमयन्ती के) भी मन मनोभव (काम) के (दग्ध) देह की पुनः सर्जना के निमित्त प्रवृत्त आरम्भ में द्व्यणुक का निर्माण करनेवाले परमाणु युगल के समान सुशोभित हों ।

टिप्पणी—न्याय-सिद्धांत है कि महत्कार्य के आरम्भ में पहिले दो सक्रिय परमाणुओं द्वारा एक द्व्यणुक का निर्माण किया जाता है, इसी प्रकार क्रमशः महत् कार्य का आरम्भ किया जाता है—'सक्रियाभ्यां द्वाभ्यां परमाणुभ्यामेकं द्व्यणुकमारभ्यते, एवं क्रमेण महाकार्यमारभ्यते ।' काम के दग्ध देह को पुनः स्वरूप देने के लिए संगम-विलसित उल्लसित दमयन्ती-नल के मन ही सफल हो सकते हैं, जो उन दो परमाणुओं के समान हैं (मनः परमाणुप्रमाणम्), जिनसे एक द्व्यणुक का निर्माण होता है । हंस की कामना है कि कामदेह की पुनर्निर्मिति-रूप महत् कार्य को सम्पन्न करने में नवदम्पती के उल्लसित मन प्रवृत्त हों । काम के मनोज होने के कारण मन से ही उसका देह-निर्माण होगा । भाव यह है कि नल-दमयन्ती का संग-विलास इतना अनुराग-बहुल हो कि जैसे उससे अदेह काम पुनः शरीरी हो जाय । अनुराग-बहुल नल दमयन्ती द्वारा ही यह सम्भव है, अन्य से नहीं । प्रेममय दम्पती को परिणय-फल काम जैसी स्वरूपवान् संतान पाने का आशीर्वाद भी इससे संकेतित है । उत्प्रेक्षा अलंकार, वसंततिलका छंद ॥ १२५ ॥

काम: कौसुमचापदुर्जयममुं जेतुं नृपं त्वां धनु-
वंल्लीमव्रणवंशजामधिगुणामासाद्य माद्यत्यसौ।
ग्रीवालङ्कृतिपट्टसूत्रलतया पृष्ठे कियल्लम्बया
भ्राजिष्णुं कषरेखयेव निवसत्सिन्दूरसौन्दर्यया ॥ १२६ ॥

जीवातु—काम इति। असौ यो नलजिगीषुरिति भावः। कामः कौसुमेन चापेन दुर्जयं जितेन्द्रियत्वादिति भावः। अमुं नृपं नलं जेतुमव्रणवंशजां सत्कुलप्रसूतां दृढवेणुजन्याञ्च, 'द्वौ वंशौ कुलमस्करावि'त्यमरः। अधिगुणामधिकलावण्यादिगुणामधिज्याञ्च निवसदनुवर्तमानं सिन्दूरस्याङ्कुरावस्थायां नालान्तराले क्षिप्तस्य सौन्दर्यं शोभा यस्यां तया कषरेखया कालान्तरे सिन्दूरसंक्रान्तिपरीक्षार्थं कृतघर्षणरेखयेवेत्युत्प्रेक्षा। पृष्ठे ग्रीवापश्चाद्भागे कियत् किञ्चिद्यथा तथा लम्बया स्रस्तया ग्रीवालङ्कृतिः ग्रीवालङ्कारभूता या पट्टसूत्रलता तया भ्राजिष्णुं ताच्छील्ये 'भुवश्चे'ति चकारादिष्णुच्। भ्राजमानां त्वामेव धनुर्वल्लीं चापलतामासाद्य माद्यति हृष्यति। श्लेषोत्प्रेक्षासङ्कीर्णो रूपकालङ्कारः।१२६।

अन्वयः—असौ कामः कौसुमचापदुर्जयम् अमुं नृपं जेतुम् अव्रणवंशजाम् अधिगुणां निवसत्सिन्दूरसौन्दर्यया कषरेखया इव पृष्ठे किंचल्लम्बया ग्रीवाऽलङ्कृतिपट्टसूत्रलतया भ्राजिष्णुं त्वाम् एव धनुर्वल्लीम् आसाद्य माद्यति।

हिन्दी—यह कामदेव फूलों के धनुष से दुर्जेय इस राजा (नल) को जीतने के लिए निर्दोष कुल में जन्मी, गुणवती, (विवाहिता के चिह्न) वाले सिंदूर के सौन्दर्य से शोभित कसौटी की रेख के समान पीठ पर कुछ लम्बी ग्रीवा की अलङ्कारभूता पट्टसूत्रलता को धारती तुझ को ही, बिना-घुने-कटे बाँस से बनी, घिसे सिंदूर से उत्तम प्रमाणित कसौटी की रेखा से युक्त चढ़ी प्रत्यंचा को कुछ लंबी ग्रीवा की भूषण सूत्रलता के तुल्य धारण किये धनुष रूप लता के रूप में प्राप्त कर हर्षित हो रहा है।

टिप्पणी—काम अब तो अपने सामान्य पुष्पचाप से नल को जीत न सका था। अब दमयन्ती रूप एक नवीन धनुर्लता को पाकर उसे विश्वास हो रहा है कि अब नल-विजय संभव है। इस प्रकार दुर्जय की जयाशा से काम प्रसन्न हो रहा है। भाव यह है कि रूप-गुणालंकृता दमयन्ती नल जैसे मनस्वी

के मन में भी मनोज को उद्‌बुद्ध कर सकेगी। दमयन्ती की मांग में लगा सिंदूर मानो उसकी पवित्रता और उत्तमता का प्रमाण है। बाँस की निर्दोषिता के लिए उस पर भी सिंदूर रगड़ा जाता है। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में श्लेष-उत्प्रेक्षा से संकीर्ण रूपक अलंकार है, विद्याधर रूपक-उपमा अलंकार मानते हैं। शार्दूलविक्रीडित छन्द ॥ १२६ ॥

त्वद्‌गुच्छावलिमौक्तिकानि गुटिकास्तं राजहंस विभो-
    र्वेध्यं विद्धि मनोभुवः स्वमपि तां मञ्जुं धनुर्मञ्जरीम्।
यन्नित्याङ्कनिवासलालिततमज्याभुज्यमानं लस-
    न्नाभीमध्यबिला बिलासमखिलं रोमालिरालम्बते ॥ १२७ ॥

जीवातु—त्वदिति। विभोर्मनोभुवः कामस्य पक्षिवेद्‌घुरिति शेषः। तव गुच्छावलेर्मुक्ताहारविशेषस्य मुक्ता एव मौक्तिकानि, 'विनयादित्वात् स्वार्थे ठगि'ति वामनः। गुटिकाः गुलिकाः विद्धि जानीहि। तं राजहंसं राजश्रेष्ठं तमेव राजहंसं कलहंसं श्लिष्टरूपकम्। 'राजहंसो नृपश्रेष्ठे कादम्बकलहंसयो'-रिति विश्वः। वेधितुं प्रहर्तुमर्हं वेध्यं लक्ष्यं, विध-विधाने 'ऋहलोर्ण्यत्' 'अनेकार्था धातवः' एवमाह—'वेधितच्छिद्रिताबि'त्यत्र स्वामी। अन्ये त्वाहुः—स्वप्नेऽपि विधानार्थ एव अतोगाच्च विध—वेधन इत्येवाकारस्थः पाठः पाठान्तरं तु प्रामादिकमन्धपरम्परायातमिति विद्धि। स्वमात्मानमपि 'स्वो ज्ञातावर्त्मनि स्वमि'त्यमरः। तां वक्ष्यमाणप्रकारां मञ्जुं मञ्जुलां धनुर्मञ्जरीं चापवल्लरीं विद्धि, यस्याः नित्यमङ्कनिवासेन समीपस्थित्या लालिततमया अत्यादृतया ज्यया मौर्व्या भुज्यमानमनुभूयमानमखिलं विलासं शोभां ज्यारूपतामित्यर्थः। लसन्नाभ्येव मध्यः बिलङ्गुलिकास्थानं यस्याः सा रोमालिस्त्वद्रोमराजिरालम्बते भजति। अत्र मौक्तिकादौ गुटिकाद्यवयवरूपणादवयविनि कामे वेद्‌धृत्वरूपणस्य गम्यमानत्वादेकदेशविवर्त्तिसावयवरूपकमलङ्कारः ॥ १२७ ॥

अन्वयः—विभोः मनोभुवः त्वद्‌गुच्छावलिमौक्तिकानि गुटिकाः तं राजहंसं वेध्यं स्वम् अपि तां मञ्जुं धनुर्मञ्जरीं विद्धि, यन्नित्याङ्कनिवासलालिततमज्या-भुज्यमानम् अखिलं विलासं लसन्नाभीमध्यबिला रोमालिः आलम्बते।

हिन्दी——सामर्थ्यवान् मनोजन्मा (काम) की तेरी गुच्छावली (बत्तीस लड़ी मुक्तामाला) के मोती गोलियाँ हैं, वह राजाओं में हंस (नल) वेध्य (वेधने योग्य लक्ष्य) है और स्वयं तुम वह (पूर्वोक्त) मनोहर धनुर्वल्ली हो—(ऐसा समझो), जिसकी रोमावली निरन्तर अंक (मध्य भाग) में रहने से अतिशय शोभा शीला, प्रत्यंचा-द्वारा अनुभूत समग्र लीला-विलास को, सुशोभित नाभिरूप मध्यछिद्र से युक्त हो धारण कर रही है।

टिप्पणी—पूर्वोक्त श्लोक के भाव को अन्य प्रकार से स्पष्ट किया गया है। कामदेव का निशाना है राजहंस नल, उसका धनुष है दमयन्ती, जिसकी मोती-माला के मोती वे मिट्टी की गोलियाँ हैं, जिन्हें प्रत्यंचारूप रोमावली से युक्त नाभिरूप मध्य के छिद्र में रख कर कामदेव राजहंस नल को निशाना बनायेगा। गोलियाँ छोड़ने का एक विशेष धनुष् होता है, जिसकी प्रत्यंचा में 'एक ऐसा गोल छेद-जैसा स्थान बनाया जाता है, जिसमें रखकर लक्ष्य पर गोलियाँ फेंकी जाती हैं, एक बड़ी गुलेल के समान। मल्लिनाथ के अनुसार एकदेशविवर्त्ति-सावयवरूपक है, विद्याधर भी रूपक ही मानते हैं। गुच्छावली के लिए द्रष्टव्य——"हारभेदा यष्टिभेदा गुच्छगुच्छार्धगोस्तनाः। अर्द्धहारो माणवक एकावल्येकयष्टिका॥" (अमरकोष २।६।१०५-१०६)॥ १२७॥

पुष्पेषुश्चिकुरेषु ते शरचयं स्वं भालमूले धनू
रौद्रे चक्षुषि यज्जितस्तनुमनुभ्राष्ट्रं च यश्चिक्षिपे।
निर्विद्याश्रयदाश्रमं स वितनुस्त्वां तज्जयायाधुना
पत्रालिस्त्वदुरोजशैलानलया तत्पर्णशालायते॥ १२८॥

जीवातु——पुष्पेषुरिति। यः पुष्पेषुः कामो यज्जितो येन नलेन सौन्दर्यात्पराभूतः अतएव निर्विद्य ईर्ष्यया जीवनवैयर्थ्यं मत्वेत्यर्थः। 'तत्त्वज्ञानोदितेर्ष्यादेर्निर्वेदो निष्फलत्वधीरि'ति लक्षणात्। ते तव चिकुरेषु केशेषु स्वं स्वकीयं शरचयं त्वद्धृतकुसुमव्याजादिति भावः। भालमूले ललाटभागे धनुः भ्रूव्याजादिति भावः। तथा रौद्रे रुद्रसम्बन्धिनि चक्षुष्येव अनुभ्राष्ट्रमम्बरीषे, विभक्तयर्थेऽव्ययीभावः। 'क्लीबेऽम्बरीषं भ्राष्ट्रो ना' इत्यमरः। तनुं शरीरं च चिक्षिपे

क्षितवान् । पूर्वमेव दग्धतनुव्याजादिति भावः । स्वरितेत्त्वात्तङ् । स पुष्पेषुर्वितनुरनङ्गः सन् अधुना तज्जयाय नलविजयार्थं त्वामेवाश्रमं तपोवनमाश्रयत् आश्रितवान् तपश्चर्यार्थमिति शेषः । अन्यथा कथं तं जेष्यतीति भावः । अत एव त्वदुरोज एव शैलो निलयो यस्याः सा तन्निष्ठेत्यर्थः । पत्रालिः पत्ररचना पर्णचयश्च तस्य कामस्य पर्णशालायते सेवाचरति । उपमानात् कर्त्तुः क्यङ् । अत्र पूर्वार्द्धे शरचापादीनां पूर्वोक्तपुष्पादिविषयनिगरणेन तदभेदाध्यवसायाद्भेदे अभेदलक्षणातिशयोक्तिः, तत्पर्णशालायत इत्युपमा चोत्थापितेन त्वमाश्रममिति रूपकेण सङ्कीर्णा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या कामस्याश्रमाश्रयणोत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥

अन्वयः—यज्जितः निर्विद्य यः पुष्पेषुः ते चिकुरेषु स्वं शरचयं भालमूले धनुः रौद्रे चक्षुषि अनुभ्राष्टं तनुं च चिक्षिपे, वितनुः सः अधुना तज्जयाय त्वाम् आश्रमम् आश्रयेत्, त्वदुरोजशैलनिलया पत्त्रालिः तत्पर्णशालायते ।

हिन्दी—जिस (नल) के द्वारा जीते जाने पर वैराग्य को प्राप्त जिस कुसुमबाण (काम) ने तेरे केशों में अपनी बाणावली को, ललाट के मूल (भ्रू-स्थान) में धनुष को और (भगवान्) रुद्र के (तृतीय) नेत्र रूप दारुण भ्राष्ट्र (भाड़) में अपने देह को फेंक दिया था, तनुहीन (अनंग) उसने अब उस (नल) के जयार्थ तुझ (दमयन्ती) रूप तपोवन का आश्रय लिया है, तेरे उरोजात (कुचयुग्म) रूप पर्वत पर होनेवाली पत्रावली रूप पत्रसमूह (पत्ते) उस (कामाश्रम) को पर्णशाला बन रहे हैं ।

टिप्पणी—प्रत्येक दृष्टि से नल द्वारा पराजित काम विरागी हो गया था । जैसे हारा व्यक्ति अपने आयुधादि त्याग कर जल मरता था, वैसे ही काम अपना धनुर्बाण त्याग जल मरा था । अब वही दमयन्ती के आश्रय से नल-विजयार्थ पुनः सन्नद्ध हो रहा है । अब उसे तपोवनरूपा दमयन्ती प्राप्त हो गयी है, जहाँ पर्णकुटी बनाकर अब वह तपश्चर्या कर रहा है । नया आश्रय, नये आयुध । दमयन्ती की केशावली बाण हैं, भौंहे धनुष हैं, भवनेत्रजन्मा वह्नि में वह जल मरा था । अब नये आयुध प्राप्त कर वह दमयन्ती रूप तपोवन में, जहाँ उच्चकुच-शैल पर पत्रावलीरूप पर्णशाला बनी है, तपःसाधना कर रहा है । दमयन्ती की सहायता से काम नल-विजय में समर्थ होगा । कवि ने यहाँ

दमयन्ती के केश-चय और ललाटमूल (भ्रू-युगल) की काम-बाण और धनुष से श्रेष्ठता का भी संकेत दिया है। मल्लिनाथ के अनुसार श्लोक के पूर्वार्द्ध में शर-चापादि के साथ पुष्पादि विषयों के अप्रतिपादन के कारण अभेदलक्षणा अतिशयोक्ति है, 'तत्पर्णशालायते'—उपमा है, 'त्वामाश्रमम्'—संकीर्णरूपक तथा व्यञ्जक का प्रयोग न होने से गम्या उत्प्रेक्षा है—इस प्रकार संकर है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-समासोक्ति-रूपक-उपमा की संसृष्टि है। शार्दूलविक्रीडित छंद।

मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में बताया है कि उपमान की जाति अथवा प्रमाणगत न्यूनता अधिकता का यदि प्रतिपादन हो तो वह उपमा का दोष होता है। इस दृष्टि से दमयन्ती-उरोजों को शैल कहना दोष है। परन्तु विद्याधर ने इसका समाधान इस प्रकार किया है कि दोष नहीं है, क्योंकि 'पर्णशालायते' इस रूपक का अंग है। निर्भिन्न-पुरुष-व्यापार-दर्शन से क्रियमाण यह रूपक दोष नहीं, गुणातिशय है ॥ १२८ ॥

इत्यालपत्यथ पतत्त्रिणि तत्र भैमीं सख्यश्चिरात्तदनुसन्धिपराः परीयुः।
शर्मास्तु ते विसृज मामिति सोऽप्युदीर्य वेगाज्जगाम निषधाधिपराजधानीम्॥

जीवातु—इतीति। तत्र तस्मिन् पतत्त्रिणि हंसे भैमीमिति इत्थमालपति भाषमाणे सति अथास्मिन्नवसरे चिरात्प्रभृति तस्या भैम्या अनुसन्धिरन्वेषणम्, 'उपसर्गे घोः किरि'ति किः। तत्पराः सख्यः परीयुः परिवव्रुः, इणो लिट्। हंसोऽपि 'ते तव शर्मास्तु सुखमस्तु, मां विसृज' इत्युदीर्य उक्त्वा वेगान्निषधाधिपराजधानीं जगाम ॥ १२९ ॥

अन्वयः—अथ तत्र पतत्त्रिणि इति भैमीम् आलपति चिरात् तदनुसन्धिपराः सख्यः परीयुः सः अपि ते शर्म अस्तु मां विसृज इति उदीर्य वेगात् निषधाधिपराजधानीं जगाम।

हिन्दी—तदनन्तर वहां पक्षी (हंस) के इस प्रकार वार्तालाप करते समय बहुत समय से उस (दमयन्ती) के अनुसंधान में लगी सखियाँ चारों ओर से आ गयीं। वह (हंस) भी 'तुम्हारा कल्याण हो, मुझे बिदा दो'—यह कह कर वेग पूर्वक निषधराज की राजधानी की ओर चल पड़ा। (उड़ चला)।

टिप्पणी--विद्याधर के अनुसार ओज गुण । वसंततिलका छंद ॥१२९॥

चेतोजन्मशरप्रसूनमधुभिर्व्यामिश्रितामाश्रयत्
प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीनं रसात् ।
स्वादं स्वादमसीममृष्टसुरभि प्राप्ताऽपि तृप्तिं न सा
तापं प्राप नितान्तमन्तरतुलामानर्च्छ मूर्च्छामपि ॥ १३० ॥

जीवातु—चेत इति । सा भैमी चेतोजन्मनः कामस्य शरप्रसूनानां शरभूत पुष्पाणां मधुभिस्तद्रसैः क्षौद्रैश्च 'मधु मद्ये पुष्परसे क्षौद्र' इत्यमरः । व्यामिश्रता-माश्रयत् तथा मिश्रं सदित्यर्थः । असीमं निःसीमम् अपरिमितमित्यर्थः । नकारान्तोत्तरपदो बहुव्रीहिः । मृष्टं शुद्धम् । अन्यत्रामलं तच्च तत् सुरभि सुगन्धि च, खञ्जकुब्जवद्विशेषणसमासः । प्रेयसो नलस्य दूतः सन्देशहरो यः पतङ्गः पुङ्गव इव पतङ्गपुङ्गवो हंसश्रेष्ठः पुमान् गौः पुङ्गवः । 'गोरतद्धितलुकी'ति टच्, तस्य गौर्वाक् तद्गवी पूर्ववत् टचि 'टिड्ढाणञि'त्यादिना ङीप् । सैव हैयंग-वीनं ह्योगोदोहोद्भवं घृतमिति रूपकम् । 'हैयङ्गवीनं संज्ञायामि'ति निपातः । तद्गवी तद्धेनुः तस्या इति च गम्यते रसाद्रागात् स्वादं स्वादं पुनरास्वाद्य आभीक्ष्ण्ये णमुल्प्रत्ययः । पौनःपुन्यमाभीक्ष्ण्यम् 'आभीक्ष्ण्ये द्वे भवत' इति उपसंख्यानात् द्विरुक्तिः । तृप्तिं प्राप्तापि अपिर्विरोधे अन्तः नितान्तं तापं न प्राप अतुलां मूर्च्छामपि नानर्च्छ न प्राप, 'ऋच्छत्यृतामि'ति गुणः । 'अत आदेरि'त्यभ्यासाकारस्य दीर्घः । 'तस्मान्नुड् द्विहल' इति नुट् । मधुमिश्र-घृतस्य विषत्वात्तत्पाने तापाभावादिति विरोधः । स च पूर्वोक्तपतङ्गपुंगवगवी-हैयङ्गवीन इति रूपकोत्थापित इति सङ्करः । 'मधुनो विषरूपत्वं तुल्यांशे मधुसर्पिषी' इति वाग्भटः ॥ १३० ॥

अन्वयः--सा चेतोजन्म शरप्रसूनमधुभिः व्यामिश्रताम् आश्रयत् असीमपृष्ट-सुरभि प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीनं रसात् स्वादं स्वादं तृप्तिं प्राप्ता नितान्तम् अन्तः तापम् अपि न प्राप अतुलां मूर्च्छाम् अपि न आनर्च्छ । अथवा—'सा····
····स्वादं स्वादम् अपि तृप्तिं न प्राप्ता, नितान्तम् अन्तः तापं प्राप, अतुलां मूर्च्छाम् अपि आनर्च्छ ।'

हिन्दी--वह (दमयन्ती) मनोज (काम) के पुष्पबाणों के मधु (शहद) से मिश्रित, असीम स्वादिष्ट और सुगंधि प्रिय (नल) के दूत पक्षिराज (हंस)

की वाणी रूप माखन का रसपूर्वक निरन्तर आस्वादन करके तृप्त हो न तो भृश मनःसंताप को ही प्राप्त हुई और न असीम मूर्च्छा को। अथवा अन्वयांतर में भी तृप्त न हो, भृश मनःसंताप और असीम मूर्च्छा को प्राप्त हुई।

टिप्पणी—'हैयंगवीन' से माखन अर्थ ही नहीं, घृत भी गृहीत है। शहद-घी यदि समभिश्रित कर लिये जायें तो मारक विष बन जाते हैं। इस प्रकार घी-शहद का व्यामिश्रण खाने से भी दमयन्ती का संतप्त और मूर्च्छित न होना विरोध है, 'खगपुङ्गवगवीहैयङ्गवीन' में रूपक है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ संकर है। विद्याधर के अनुसार भेदाभेदरूपा अतिशयोक्ति, वैद्यक शास्त्र-व्यवहार के समारोपण से समासोक्ति तथा विषमालंकार का संकर है। शार्दूलविक्रीडित छंद ॥१३०॥

तस्या दृशो वियति बन्धुमनुव्रजन्त्यास्तद्बाष्पवारि न चिरादवधिर्बभूव।
पार्श्वेऽपि विप्रचकृषे तदनेन दृष्टेरारादपि व्यवदधे न तु चित्तवृत्तेः ॥१३१॥

जीवातु—तस्या इति । वियत्याकाशे बन्धुमनुव्रजन्त्यास्तस्या दृशो भैमी-दृष्टेः तद्बाष्पवारि बन्धुजनावियोगजन्यं तद्दृग्जलं न चिराद्दवचिरादवधिर्बभूव, 'ओदकान्तं प्रियं पान्थमनुव्रजेदि'ति शास्त्रात्तद्दृक् सीमाभूदित्यर्थः। ततः तस्मात् बाष्पोपगमादेव हेतोरनेन हंसेन दृष्टेः पार्श्वे समीपे विप्रचकृषे विप्र-कृष्टेनाभावि ; बाष्पावरणात् समीपस्थोऽपि नालक्ष्यतेत्यर्थः। चित्तवृत्तेस्तु आराद् दूरेऽपि न व्यवदधे व्यवहितेन नाभावि, स्नेहबन्धान्मनसो नापेत इत्यर्थः। उभयत्रापि भावे लिट्। समीपस्थस्य विप्रकृष्टत्वं दूरस्थस्य सन्निकृष्टत्वं चेति विरोधाभासः ॥१३१॥

अन्वयः—वियति बन्धुम् अनुव्रजन्त्याः तस्याः दृशः तद् बाष्पवारि न चिरात् अवधिः बभूव, तत् अनेन दृष्टेः पार्श्वे अपि विप्रचकृषे, चित्तवृत्तेः तु आरात् अपि न व्यवदधे।

हिन्दी—आकाश में सखा (हंस) अनुगमन करती उस (दमयन्ती) की आँखों के वे अश्रुजल बहुत शीघ्र मर्यादा बन गये। वह (हंस) इस (अश्रुजल) के कारण दृष्टि के निकट रहते हुए भी (यद्यपि) दूर हो गया (तथापि) दूर होने पर भी मनोजगत् से दूर न हुआ।

टिप्पणी—परम्परा के अनुसार 'जलाशय तक जाकर बंधुजन को विदा करते हैं, इस प्रकार दमयन्ती की दृष्टि ने अश्रुजलाशय तक पहुँचकर विदा दे दी। भाव यह कि उड़ा जाता हंस आँसू आ जाने के कारण शीघ्र ही आँख से ओझल हो गया। हंस आँखों से दूर तो हो गया; पर प्रिय-संदेश-वाहक होने के कारण मन से दूर न हुआ, उसका स्मरण होता रहा। निकट स्थित हंस के दूर हो जाने और दूरस्थ के निकट रहने का वर्णन होने के कारण मल्लिनाथ ने यहाँ विरोधाभास माना है, विद्याधर ने अतिशयोक्ति और विरोध का निर्देश किया है। वसंततिलका छंद ॥१३१॥

अस्तित्वं कार्यसिद्धेः स्फुटमथ कथयन् पक्षयोः कम्पभेदै-
राख्यातुं वृत्तमेतन्निषधनरपतौ सर्वमेकः प्रतस्थे।
कान्तारे निर्गतासि प्रियसखि! पदवी विस्मृता किन्नु मुग्धे?
मा रोदीरेहि यामेत्युपहृतवचसो निन्युरन्यां वयस्याः ॥१३२॥

जीवातु—अस्तित्वमिति। अथ एकः अनयोरेकतरो हंसः पक्षयोः कम्पभेदैश्चेष्टाविशेषैः कार्यसिद्धेरस्तित्वं सत्ताम् 'अस्ती'त्यव्ययं विद्यमानपर्यायस्तस्मात्त्वप्रत्ययः। स्फुटं कथयन् वृत्तं निष्पन्नमेतत्सर्वं निषधनरपतौ नले विषये आख्यातुं तस्मै निवेदयिष्यन्नित्यर्थः, प्रतस्थे। अन्यां दमयन्तीं वयसा तुल्या वयस्याः सख्यः 'नौवयो' इति यत्प्रत्ययः। 'हे प्रियसखि! मुग्धे! कान्तारे विषये निर्गतासि सङ्कटं प्रविष्टासि, पदवी विस्मृता किम् नु? मा रोदीः, एहि, याम गच्छाम' इत्युपहृतवचसो दत्तवचनाः सख्यः एनां निन्युः॥

अन्वयः—अथ एकः पक्षयोः कम्पभेदैः कार्यसिद्धेः अस्तित्वं स्फुटं कथयन् एतत् सर्वं वृत्तं निषधनरपतौ आख्यातुं प्रतस्थे, अन्यां वयस्याः प्रियसखि, कान्तारे निर्गता असि, मुग्धे किं नु पदवी विस्मृता? मा रोदीः, एहि याम—इति उपहृतवचसः निन्युः।

हिन्दी—इसके अनन्तर (दमयन्ती हंस में से) एक (हंस) पंखों को विशेष प्रकार से हिलाने के द्वारा कार्य-सिद्धि के हो जाने को स्पष्टतः कहता हुआ यह सब समाचार निषधनरेश को बताने के लिए चला गया, दूसरी (दमयन्ती) को सखियाँ—'हे प्यारी सखी, जंगल में निकल आयी हो, अरी

भोली-भाली, क्या राह भूल गयी ? मत रोओ, आओ चलें—इस प्रकार के वचन कहती हुई (राजमहल) ले गयीं।

टिप्पणी—हंस तो जैसे सफलता का वृत्तान्त सुनाने के लिए पंखों को विशेष प्रकार हिलाता हुआ निषधदेश की ओर उड़ गया। समागत सखियों ने आँखों में आँसू भरी दमयन्ती को समझा कि भोली सखी मार्ग में भटक जाने पर सहमी है, और वे उसे सान्त्वना देती हुई राजप्रासाद की ओर ले चलीं। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा अलंकार। स्रग्धरा छंद ॥१३२॥

सरसि नृपमपश्यद् यत्र तत्तीरभाजः
स्मरतरलमशोकानोकहस्योपमूलम्।
किसलयदलतल्पग्लापिनं प्राप तं स
ज्वलदसमशरेषुस्पर्धिपुष्पर्धिमौलेः ॥ १३३ ॥

जीवातु—सरसीति। हंसो यत्र सरसि नृपमपश्यत् दृष्टवान् तस्य सरसस्तीरभाजस्तटरुहस्य ज्वलाङ्कुरसमशरस्य पञ्चेषोरिषुभिः स्पर्द्धत इति तत्स्पर्धिनी तत्सदृशी। पुष्पर्धिः पुष्पसमृद्धिः मौलिः शिखरं यस्य तस्याशोकानोकहस्य अशोकवृक्षस्य उपमूलं मूले विभक्त्यर्थे अव्ययीभावः। स्मरेण तरलं चञ्चलं किसलयदलतल्पं पल्लवपत्रशयनं ग्लापयति स्वाङ्गदाहेन म्लापयतीति तथोक्तं तं नृपं प्राप ॥ १३३ ॥

अन्वयः—सः यत्र सरसि नृपम् अपश्यत् तत्तीरभाजः ज्वलदसमशरेषुस्पर्धिपुष्पर्धिमौलेः अशोकानोकहस्य उपमूलं स्मरतरलं किसलयदलतल्पग्लापिनं तं प्राप।

हिन्दी—उस हंस ने जिस सर के निकट राजा को देखा था, उसी के तट पर स्थित, देदीप्यमान विषम बाण (काम) के बाणों से स्पर्धा करते फूलों की समृद्धि से युक्त चोटी वाले अशोक वृक्ष की जड़ के निकट कामपीडा से चंचल नव-पल्लवों की शय्या को म्लान करते उस (नल) को पाया।

टिप्पणी—जिस क्रीडा सरोवर के तीर पर राजा नल और हंस की प्रथम भेंट हुई थी, उसी के तट पर फूलों से लदे अशोक वृक्ष के नीचे कामपीडित

राजा को किसलयशय्या पर लेटे दमयन्ती के समीप से लौटे हंस ने पाया। विद्याधर के अनुसार उपमा। मालिनी छंद ॥ ११० ॥

परवति ! दमयन्ति ! त्वां न किञ्चिद्वदामि
द्रुतमुपनम किं मामाह सा शंस हंस ! ।
इति वदति नलेऽसौ तच्छशंसोपनम्रः
प्रियमनु सुकृतां हि स्वस्पृहाया विलम्बः ॥ १३४ ॥

जीवातु—परवतीति । परवति ! पराधीने दमयन्ति ! त्वां न किञ्चिद्वदामि नोपालभे किन्तु हे हंस ! द्रुतं शीघ्रमुपनम, आगच्छ, सा दमयन्ती मां किमाह, शंस कथयेति नले वदति भ्रान्त्या पुरोवर्तिनमिव सम्बोध्य आलपति सति । असौ हंसः उपनम्रः पुरोगतः सन् कार्यज्ञः तत् वृत्तं शशंस कथयामास । तथाहि-सुकृतां साधुकारिणां 'सुकर्मपापपुण्येषु कृञ' इति क्विप् । प्रियमनु इष्टार्थं प्रति स्वस्पृहायाः स्वेच्छाया एव विलम्बः । न त्विच्छानन्तरं तत्सिद्धे-विलम्ब इति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १३४ ॥

अन्वयः—परवति दमयन्ति, त्वां किञ्चित् न वदामि, हंस, द्रुतम् उपनम, शंस—सा मां किम् आह ?—इति वदति नले उपनम्रः असौ तत् शशंस, हि सुकृतां प्रियम् अनु स्वस्पृहायाः विलम्बः ।

हिन्दी—हे पराधीन दमयन्ती, तुमसे मैं कुछ नहीं कहता, हंस शीघ्र निकट आओ, कहो—उसने मेरे प्रति क्या कहा ?'—ऐसा कहते नल के निकट आये उस (हंस) ने वह (समाचार) कहा, क्योंकि पुण्यशील जनों का अपने लक्ष्य के प्रति स्वेच्छामात्र का विलम्ब होता है ।

टिप्पणी— उतावले राजा नल को तुरन्त पास जाकर हंस ने सब सफलता का इतिवृत्त बता दिया, कुछ भी विलम्ब नहीं लगाया । वास्तविकता यह है कि नल-सदृश पुण्यश्लोक व्यक्तियों को इच्छा करते ही अभीष्ट की प्राप्ति हो ही जाती है, जो विलंब होता है वह केवल उनके इच्छा करने में होता है, अभीष्ट-प्राप्ति में विलम्ब का अन्य कारण नहीं होता । अर्थान्तरन्यास अलंकार, मालिनी छंद ॥ १३४ ॥

कथितमपि नरेन्द्रश्शंसयामास हंसं
किमिति किमिति पृच्छन् भाषितं स प्रियायाः ।
अधिगतमतिवेलानन्दमार्द्वीकमत्तः
स्वयमपि शतकृत्वस्तत्तथाऽन्वाचचक्षे ॥ १३५ ॥

जीवातु—कथितमिति । स नरेन्द्रः नलः कथितमपि प्रियायाः दमयन्त्याः भाषितं वचनं किमिति किमिति पृच्छन् हंसं शंसयामास, पुनराख्यापयामास, किं च अतिवेलः अतिमात्रो यः आनन्दः स एव मार्द्वीकं मृद्वीकाविकारो द्राक्षामद्यं 'मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षे'त्यमरः । तेन मत्तः सन् अधिगतं सम्यक् गृहीतं तदुक्तं स्वयमपि शतकृत्वः शतवारं 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' । तथा तदुक्तप्रकारेण अन्वाचचक्षे अनूदितवान् । मत्तोऽप्युक्तमेव पुनः पुनर्वक्तीति भावः ॥ १३५ ॥

अन्वयः—सः नरेन्द्रः कथितम् अपि प्रियायाः भाषितं किम् किम् इति पृच्छन् हंसं शंसयामास, अतिवेलानन्दमार्द्वीकमत्तः अधिगतं तत् स्वयम् अपि शतकृत्वः तथा अन्वाचचक्षे ।

हिन्दी—उस नरराज (नल) ने हंस द्वारा बता दिये गये भी प्रिया के कथन को 'क्या-क्या'—यह पृच्छा करते हुए हंस से (बारंबार) कहलाया और निःसीम आनन्द रूप द्राक्षामद्य से मतवाला होकर भली-भांति सुने, समझे उस सब को स्वयम् भी सौ (अनेक) बार उसी प्रकार पुनः पुनः कहा ।

टिप्पणी—हंस से सब समाचार बारंबार राजा ने सुना और आनन्दोन्मत्त होकर जैसे स्वयं भी बारंबार कहा । आनन्दातिशय और उत्साहातिरेक द्योतन । विद्याधर के अनुसार जाति अलंकार, मालिनी छंद ॥ १३५ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरस्सुतं
श्रीहीरस्सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
तार्तीयीकतया मितोऽयमगमत्तस्य प्रबन्धे महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥ १३६ ॥

जीवातु—श्रीहर्षमित्यादि । तृतीय एव तार्तीयीकः । 'द्वितीयतृतीयाभ्यामीकक् स्वार्थे वक्तव्यः' तस्य भावस्तत्ता तया मितस्तृतीय इत्यर्थः । शेषं सुगमम् ॥ १३६ ॥

इति मल्लिनाथ-सूरिविरचितायां 'जीवातु' समाख्यायां 'नैषध' टीकायां तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

अन्वयः—तृतीय चरण में 'द्वैतीयीकतया' के स्थान में 'तार्तीयीकतया', शेष द्वितीय सर्ग के अन्तिम श्लोक के तुल्य ।

'तार्तीयीकतया'—तृतीय रूप से ॥ १३६ ॥

॥ नैषधीयचरित का तृतीय सर्ग समाप्त ॥

कथासार

(तृतीय सर्ग)

माण्मुद्दिश्य किमेषि गैमि चटुविन्नालोऽस्मि विस्ते रुचि-
श्चेन्मय्यस्ति नलं वृणोष्व बत तामुक्त्वा व्यरंसीद्वयः ।
तस्मै ब्रूहि तथा यथा स नृपतिर्मामुद्वहेदित्युपा-
दिष्टो भीमजया खगो द्रुतगतिः सिद्धिं नलायालपत् ।

—श्रीकृष्णरामकविः

विदर्भराज के क्रीडोद्यान में जा उतरे स्वर्णहंस पर विमुग्ध हुई दमयंती को अपने पीछे-पीछे भटकाता वह हंस एकान्त स्थल पर ले गया और उसे अपनी और नलनरेश की स्थिति इस प्रकार बतायी कि नळमुग्धा दमयन्ती का अनुराग तीव्रतर हो गया और उसने उकसाये जाने पर लाज छोड़ हंस से प्रार्थना की कि वह नल के साथ उसका विवाह करादेने का सफल प्रयत्न अविलंब करे । दमयंती को समझा और कार्यसिद्धि का विश्वास दिला हंस निषधदेश की ओर उड़ गया और दमयंती को उसकी सखियाँ राजमहल की ओर ले गयीं । हंस ने विरही नल को सब सुसमाचार सुनाया, जिससे वह अत्यानंदित हुआ ।

पद्यानुक्रमणिका

(तृतीयसर्ग)

॥ श्रीः ॥

नैषधीयचरितम्

मल्लिनाथकृत'जीवातु'टीकासहित-

सान्वय-सटिप्पण'चन्द्रिका'हिन्दीव्याख्योपेतम्

चतुर्थः सर्गः

अथ नलस्य गुणं गुणमात्मभूः सुरभि तस्य यशःकुसुमं धनुः ।
श्रुतिपथोपगतं सुमनस्तया तमिषुमाशु विधाय जिगाय ताम् ॥ १ ॥

जीवातु—अथ राज्ञः स्वयंवरं प्रत्युपोद्घातत्वेनास्मिन्सर्गे भैम्या मदनावस्थां वर्णयितुमारभते—अथेत्यादि । अथ भैम्याः प्रियसन्देशश्रवणानन्तरं, आत्मभूः कामः, नलस्य गुण आत्मोत्कर्षहेतुशौर्यसौन्दर्यादिको धर्मः, तमेव गुण मौर्वीं, विधाय । सुरभि सुगन्धि, मनोज्ञञ्च । 'सुगन्धौ च मनोज्ञे च वाच्यवत् सुरभिः स्मृतः' इति विश्वः । तस्य नलस्य, यद्यशः, तदेव कुसुमं धनुर्विधाय । तथा सुमनस्तया सुमनस्कत्वेन पुष्पत्वेन च, श्रुतिपथोपगतं कर्णपथं गतं, पुनः पुनः भैम्या श्रुतमित्यर्थः । आकर्णमाकृष्टञ्च, तं नलमेव, इषुं विधाय । तां भैमीं जिगाय । तदेकासक्तचित्तां चकारेत्यर्थः । 'सन्लिटोर्जेः' इति कुत्वम् । रूपकालङ्कारः । अस्मिन्सर्गे द्रुतविलम्बितं वृत्तम् । 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ आत्मभूः नलस्य गुणं गुणं तस्य सुरभि यशः कुसुमं धनुः सुमनस्तया श्रुतिपथोपगतं तम् इषुं विधाय ताम् आशु जिगाय ।

हिन्दी—तदनन्तर (हंस के चले जाने के पश्चात्) आत्मजन्मा काम ने नल के (वीरता, सौन्दर्य आदि) गुण को गुण (प्रत्यंचा), उसके सुरभि

(सुगंधि) पुष्प-सदृश सुरभि (प्रसिद्ध) यश को धनुष और सुमनस्ता (सुमनस्क-मनीषी होने तथा पुष्पभाव) के कारण वारंवार श्रुत (सुने गये) उस (नल) को कान तक खींचा गया बाण बनाकर उस (दमयंती) को शीघ्र ही जीत लिया।

टिप्पणी—हंस से नल-वार्ता जान कर उसके चले जाने के पश्चात् नल के वियोग में दमयन्ती काम-व्यथा से आक्रांत रहने लगी। एक मात्र नल का ही विचार उसके मन पर छा गया। इस समग्र सर्ग में दमयंती के नल संबद्ध अनुराग की पुष्टि दिखाने के लिए श्रीहर्ष ने विप्रलंभ-शृंगार को प्रधानता दी है। बताया भी गया है कि विप्रलंभ के विना संयोग की पुष्टि भी नहीं होती—'न विना विप्रलम्भेन संयोगः पुष्टिमश्नुते।' विप्रलंभ के निर्वेद आदि व्यभिचारिभाव तथा आलस्यादि विभावों का यत्र-तत्र इस सर्ग में विशद वर्णन है। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में रूपक अलंकार प्रधान है, विद्याधर ने रूपक-दीपक-श्लेष का संकर माना है। इस सर्ग में १ से ११५ संख्या के श्लोक तक द्रुतविलम्बित छंद है, जिसके प्रत्येक चरण में बारह वर्ण—एक नगण (।।।), दो भगण (ऽ।।, ऽ।।), एक रगण (ऽ।ऽ) क्रम से होते हैं—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ'॥ १॥

यदतनुज्वरभाक्तनुते स्म सा प्रियकथासरसीरसमज्जनम्।
सपदि तस्य चिरान्तरतापिनी परिणतिर्विषमा समपद्यत॥ २॥

जीवातु—यदिति। सा भैमी, अतनुज्वरमनङ्गज्वरम्, अधिकज्वरञ्च, भजतीति तद्भाक् सती। भजो ण्विः। प्रियकथैव सरसी सरः तस्यां रसो रागः, जलञ्च तत्र मज्जनमासक्तिमवगाहञ्च, तनुते स्म चकारेति यत्। 'लट् स्मे' इति भूते लट्। तस्य मज्जनस्य, सपदि चिरं दीर्घकालं, अन्तरसभ्यन्तरं, तापयतीति तत्तापिनी, विषमा उद्दीपनात्मिका, परिणतिः, परिपाकः, समपद्यत सञ्जाता। अत एव ज्वरशान्त्यर्थाद्रसमज्जनात्तदुद्रेकरूपानर्थोत्पत्तेर्विषमालङ्कारभेदः। 'विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य वा भवेत्। विरूपघटना वा स्याद्विषमालंकृतिस्त्रिधा॥' इति लक्षणात्। एतेन द्वादशावस्थापक्षे नवमी संज्वरावस्थोक्ता। तदुक्तं—'चक्षुःप्रीतिर्मनःसङ्गः सङ्कल्पोऽथ प्रलापिता।

जागरः कार्श्यमरतिर्लज्जात्यागोऽथ संज्वरः । उन्मादो मूर्छनं चैव मरणञ्चरमं विदुः' ॥ २ ॥

अन्वयः—अतनुज्वरभाक् सा यत् प्रियकथासरसीरसमज्जनं तनुते स्म तस्य सपदि चिरान्तरतापिनी विषमा परिणतिः समपद्यत ।

हिन्दी—कामज्वर से पीडिता उस दमयन्ती ने जो प्रिय (नल) कथा रूपिणी सरसी के रस रूप रस (जल) में स्नान किया, उसका तुरन्त दीर्घ-काल तक अंतस् को तपानेवाला विषम परिणाम हुआ ।

टिप्पणी—ज्वर में तप्त व्यक्ति स्नान करने से विषमज्वर से पीडित हो जाता है, उसी प्रकार कामज्वराक्रांता दमयंती ने जो सरोवरस्नान-सदृश प्रिय-कथा-रस-स्नान किया, उससे उसकी पीडा और भी विषम हो गयी । भाव यह कि नल-चर्चा सुनने से पीडा बढ़ गयी, फल विषम-विपरीत हुआ । मल्लि-नाथ ने यहाँ विषम अलंकार माना है, क्योंकि ज्वरशांति के निमित्त किया सरसी-स्नान शमन के स्थान में ताप बढ़ाने वाला ही हुआ और इस प्रकार अर्थ के स्थान में अनर्थ संघटित हो गया । विद्याधर ने यहाँ रूपक मानते हुए कहा है कि यहाँ अर्थांतर की प्रतीति रूपक-द्वारा ही होती है, अतः समासोक्ति की संभावना नहीं है । काम की बारह दशाएँ बतायी गयी हैं—(१) नेत्रानु-राग, (२) मनःसंग, (३) संकल्प, (४) प्रलाप, (५) जागरण, (६) कृशता, (७) अरति (विराग), (८) लज्जात्याग, (९) प्रभूतज्वर, (१०) उन्माद, (११) मूर्च्छा और (१२) मरण । यहाँ नवमी दशा 'सज्वर' (प्रभूतज्वर) का चित्रण है ॥ २ ॥

ध्रुवमधीतवतीयमधीरतां दयितदूतपतद्गतिवेगतः ।
स्थितिविरोधकरीं द्व्यणुकोदरी तदुदितः स हि यो यदनन्तरः ॥ ३ ॥

जीवातु—ध्रुवमिति । द्व्यणुकोदरी सूक्ष्ममध्या, इयं दमयन्ती, स्थिति-र्मर्यादा गतिनिवृत्तिश्च, तद्विरोधकरीं, तद्विरोधहेतुमित्यर्थः । गत्युत्पत्तेस्त-त्प्रागभावविरोधित्वादिति भावः । 'कृञो हेतु' इत्यादिना हेत्वर्थे टप्रत्यये ङीप् । अधीरतां चपलताम्, एकत्रानवस्थानलक्षणां, दयितदूतो यः पतन् पतत्री हंसः । 'पतत्पत्त्ररथाण्डजा' इत्यमरः । तस्य गतिवेगतः गमनवेगाद-

धीतवती, गृहीतवती, प्राप्तवतीत्यर्थः। एतेन चापलाख्यः सञ्चारी भाव उक्तः। 'चापलं त्वनवस्थानं रागद्वेषादिसम्भवम्' इति लक्षणात्। तस्य हंसपक्षवेगजन्यत्वमुत्प्रेक्षते—ध्रुवमिति। ननु कथमन्यवेगादन्यत्र क्रियोत्पत्तिरित्याशंक्य यदनन्तरन्यायेन समर्थयति। योऽर्थो यस्यानन्तरस्सन्निहितः स तस्मादुदित उत्पन्न इत्युत्प्रेक्षार्थान्तरन्यासयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ३ ॥

अन्वयः—द्व्यणुकोदरी इयं स्थितिविरोधकरीम् अधीरतां ध्रुवं दयितदूतपतद्गतिवेगतः अधीतवती, हि यः यदनन्तरः सः तदुदितः।

हिन्दी—द्व्यणुक जैसे उदरवाली (अत्यन्त कृश उदरवती) इस (दमयंती) ने स्त्रीजनोचित मर्यादा के विरुद्ध अधीरता (चंचलता) का पाठ निश्चयतः प्रिय के दूत, पक्षी हंस की गति के वेग से पढ़ा, कारण कि जो जिसके निकट रहता है, वह उसी से उत्पन्न रहता है।

टिप्पणी—कामपीडिता दमयन्ती का धैर्य जाता रहा, वह चञ्चल रहने लगी। अचंचलता स्त्रीजनोचित मर्यादा है, दमयन्ती ने चंचलता प्राप्त की, वह नारी विरुद्ध भाव है। गौतम के अनुसार जिसके तुरन्त बाद जो दीखता है, वह पूर्ववर्त्ती उत्तरभूत का कारण होता है—'यदनन्तरमेव यद्दृश्यते तत्तस्य कारणम्।' सो धैर्यशीला दमयन्ती में यह 'स्थितिविरोधकरी अधीरता' नलदूत हंस से भेंट होने के अनन्तर ही दीखी, अतः पूर्वोक्त न्याय के अनुसार इस अधीरता का कारण उस हंस का गति-वेग ही प्रतीत होता है। उसी के साहचर्य से दमयन्ती में यह अस्थिरता आयी है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा-अर्थान्तरन्यास का अंगांगिभाव संकर है, चारित्रवर्द्धन की 'तिलक' टीका और विद्याधर की 'साहित्यविद्याधरी' के अनुसार उत्प्रेक्षा और हेतु अलंकार है ॥३॥

अतितमां समपादि जडाशयं स्मितलवस्मरणेऽपि तदाननम्।
अजनि पङ्गुरपाङ्गनिजाङ्गणभ्रमिकणेऽपि तदीक्षणखञ्जनः ॥ ४ ॥

जीवातु—अतितमामिति। तस्या भैम्याः आननं, स्मितलवस्य हासलेशस्य स्मरणेऽपि किमुत करण इति भावः। अतितमामतिमात्रम्। 'किमेत्तिङ' इत्यादिना अव्ययादाम्प्रत्ययः। जडाशयं मूढचित्तं, समपादि सम्पन्नं, तदज्ञं जातमित्यर्थः। 'चिण्ते पदः' इति कर्तरि चिण्। तस्या ईक्षणमेव नयनमेव,

खञ्जनः खञ्जरीटः, अपाङ्ग एव निजाङ्गणं, तत्र भ्रमिर्भ्रमणं, तस्याः कणे लेशेऽपि पङ्गुरसमर्थः, अजनि जातः। 'दीपजन' इत्यादिना जनेः कर्तरि चिण्। ज्वरवेगात् स्मितवीक्षणे लुको इति भावः ॥ ४ ॥

अन्वयः—तदाननं स्मितलवस्मरणे अपि अतितमां जडाशयं समपादि, तदीक्षणखञ्जनः अपाङ्गनिजाङ्गणभ्रमिकणे अपि पङ्गु अजनि।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) का मुख मुसकान के लव (अल्पांश) का स्मरण करने में भी अत्यन्त विमूढचित्त हो गया, उसका नयनरूप खंजन पक्षी नेत्रप्रांत रूप अपने आंगन में फुदकने में भी पंगु (लँगड़ा) हो गया।

टिप्पणी—चिरप्रसन्न रहने वाली हर्षितानना दमयन्ती के मुख पर नल के वियोग में छोटी-सी मुसकान भी न आ पाती, उसके चंचल नयन इतने स्थिर हो गये कि विलास की मात्रा भी उनमें न दीखती। वे चंचल खंजरिट से अब एक टूटही टाँग वाले पक्षी जैसे बन गये। कामज्वर ने दमयन्ती की मुसकान छीन ली, नेत्रों की लीला को तिरोहित कर डाला। 'तिलक' टीका के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति और रूपक हैं, 'साहित्यविद्याधरी' के अनुसार विशेषोक्ति और रूपक ॥ ४ ॥

किमु तदन्तरुभौ भिषजौ दिवः स्मरनलौ विशतः स्म विगाहितुम्।
तदभिकेन चिकित्सितुमाशु तां मखभुजामधिपेन नियोजितौ ॥ ५ ॥

जीवातु—अथास्याः स्मरनलयोर्निरन्तरान्तःप्रवेशमालक्ष्योत्प्रेक्ष्यते—किम्विति। तदभिकेन भैमीकामुकेन, 'अनुकामिकाभीकः कमिता' इति निपातितः। मखभुजामधिपेन देवेन्द्रेण, तां भैमीमाशु चिकित्सितुमगदीकर्तुं, नियोजितौ प्रेषितौ उभौ, दिवो भिषजौ स्वर्वैद्यावश्विनौ, स्मरनलौ सन्तौ, विगाहितुं रोगनिदानं निश्चेतुम्, तस्याः दमयन्त्याः, अन्तरन्तश्शरीरं प्रविशतः स्म किमु। प्रविश्य स्थितावश्विनावेव तौ किमित्युत्प्रेक्षा। तेनास्य मदनाश्विसमानसौन्दर्यं व्यज्यते। अत्र चिन्ताख्यः सञ्चारी भावः सूचितः। 'ध्यानञ्चिन्तेप्सितानाप्तिः शून्यताश्वासतापकृत्' इति लक्षणात् ॥ ५ ॥

अन्वयः—तदभिकेन मखभुजाम् अधिपेन ताम् आशु चिकित्सितुं नियोजितौ उभौ दिवः भिषजौ स्मरनलौ विगाहितुं तदन्तः विशतः स्म किमु ?

हिन्दी—उस (दमयन्ती) की कामना करने वाले यज्ञभोजी देवों के राजा इन्द्र द्वारा उस (दमयन्ती) की शीघ्र चिकित्सा करने को नियुक्त दोनों स्वर्वैद्य अश्विनीकुमार काम और नल बनकर विगाहन (रोग-निदान) करने के निमित्त क्या उसके अंतस् में प्रविष्ट हो गये थे ?

टिप्पणी—उस समय दमयन्ती के अंतःकरण में दो का ही वास था—नल का और तद्विषयक काम (अभिलाष) का, जैसे उनके रूप में दमयन्ती कामी इन्द्र के भेजे स्वर्ग-वैद्य रोग-परीक्षा के लिए अंतःप्रविष्ट हों। तिलक और साहित्यविद्याधरी के अनुसार उत्प्रेक्षा अलंकार। चिंता नामक संचारी भाव ॥५॥

कुसुमचापजतापसमाकुलं कमलकोमलमैक्ष्यत तन्मुखम्।
अहरहर्वहदभ्यधिकाधिकां रविरुचिग्लपितस्य विधोर्विधाम् ॥६॥

जीवातु—अथ चिन्तानुभावं सन्तापं वर्णयति—कुसुमेत्यादि। कुसुमचापजेन स्मरसमुत्थेन, तापेन समाकुलं विह्वलम्, अत एवाहरहः अहन्यहनि। अत्यन्तसंयोगे वीप्सायां द्विर्वचनम्। 'रोः सुपि' इत्यह्नो नकारस्य रेफादेशः। अभ्यधिकाधिकामत्यन्ताधिकाम्। आभीक्ष्ण्ये द्विर्भावः। रविरुचिग्लपितस्य अर्कांशुहतस्य, विधोरिन्दोः, विधां प्रकारं, तादृशीमवस्थामित्यर्थः। अत एव सादृश्याक्षेपादसम्भववस्तुसम्बन्धान्निदर्शनालङ्कारः। वहत् प्राप्नुवत्, कमलकोमलं तन्मुखमैक्ष्यत दृष्टं सखीजनेनेति शेषः। सकरुणमिति भावः ॥ ६ ॥

अन्वयः—कुसुमचापजतापसमाकुलम् अहः अहः अभ्यधिकाधिकां रविरुचिग्लपितस्य विधोः विधां वहत् कमलकोमलं तन्मुखम् ऐक्ष्यत।

हिन्दी—पुष्पधन्वा (काम) के कारण उत्पन्न ताप से व्याकुल, कमल सदृश कोमल उस (दमयन्ती) का मुख प्रतिदिन उत्तरोत्तर सूर्यकिरणों से म्लान चन्द्र की दशा को धारण करता प्रतीत होता था।

टिप्पणी—नल-वियोग में व्यथिता दमयन्ती के मुख की शोभा प्रतिदिन उत्तरोत्तर—पहिले दिन से दूसरे दिन अधिक—फीकी पड़ती जा रही थी। जैसे सूर्यकिरणों के तापकारी प्रकाश में चन्द्रमा शोभाहीन दिखायी देता है, वैसी ही दमयन्ती के कमल-मुख की स्थित थी। सूर्य से कमल का विकास होता है, परन्तु यहाँ सूर्यरुचि से कमल मुख को म्लान कहा गया है। कमल के समान

सुकुमार दमयन्ती का मुख दिन-दिन कामजसंताप से श्रीहीन होता जा रहा था, यह कवि का आशय है। यहाँ सादृश्य के आक्षेप से असंभव वस्तुसंबंध के कारण निदर्शना अलंकार है, यह जीवातुकार का मत है। तिलक और साहित्य-विद्याधरी के अनुसार भी इस पद्य में निदर्शना है। चन्द्रप्रभाकार 'कमल-कोमलम्' में उपमा और 'चन्द्रविधा' की मुख द्वारा प्राप्ति रूप असंभववस्तु-संबंधविधान का निर्देशन होने से निदर्शना—अतएव उपमा-निदर्शना का अंगांगिभाव संकर मानते हैं। श्लोक संख्या ६ से १० तक पाँच श्लोकों में 'ताप' का वर्णन है। ताप चिन्ता का अनुभाव है।। ६।।

तरुणतातपनद्युतिनिर्मितद्रढिम तत्कुचकुम्भयुगं तथा।
अनलसङ्गतितापमुपैतु नो कुसुमचापकुलालविलासजम्॥ ७॥

जीवातु—तरुणतेति। तस्याः कुचावेव कुम्भौ तयोर्युगं (कर्तृ), तरुणता तारुण्यमेव, तपनद्युतिरातपस्तया निर्मितः कृतो द्रढिमा काठिन्यं यस्य तत्तथा, कुसुमचाप एव कुलालः कुम्भकारस्तस्य विलासेन व्यापारेण जातं तज्जम्, अनलसङ्गतिः नलसङ्गत्यभावः! क्वचित् प्रसज्यप्रतिषेधे नञ्समास इष्यते। अर्थाभावेऽव्ययीभावे वा नपुंसकत्वम्। सैवानलसङ्गतिरग्निसंयोग इति श्लिष्ट-रूपकम्, तथा तापमुपैतु नो काकुः, उपेयादेवेत्यर्थः प्राप्तकाले लोट्। तथा हि—आमो घटः कुलालेन दार्ढ्याय प्रथममातपेन पक्त्वा पश्चादग्निना पच्यते। रूपकालङ्कारः।। ७॥

अन्वयः—तरुणतातपनद्युतिनिर्मितद्रढिम कुसुमचापकुलालविलासजं तत्कुच-कुम्भयुगम् अनलसङ्गतितापं नो उपैतु? (उपैत्वेव)।

हिन्दी—तरुणाईरूपी घाम (धूप) से जिसने कठोरता (कड़ाई) प्राप्त कर ली है और पुष्पधन्वा (काम) रूपी कुम्भकार की विलास लीला के कारण जिसकी सर्जना हुई है, ऐसा उस (दमयन्ती) का कुचरूप घटयुग्म अनलसंगति (नल-वियोग) रूप अग्नि में पकाये जाने के ताप (कामज्वर, घटपक्ष में तपाया जाना) को क्या न प्राप्त करे? करेगा ही।

टिप्पणी—कामविलासक्रीडा के निमित्त संजात और तारुण्य के कारण

कठोर बना दमयन्ती का कुचयुग्म नल की संगति न होने से उसी प्रकार संतप्त हो रहा है, जैसे किसी कुम्भकार के द्वारा निर्मित घड़े धूप में सूख कर आग में तपाये जाते हैं। कुचयुग्म दो घड़े हैं, काम उनका सर्जनहार कुम्हार है, तरुणाई धूप है, जिसमें वे कठोर हुए हैं या सूखे हैं, 'अनल' (नलाभाव) आग है, जिसमें वे तप रहे हैं। दृढ कुचकलशयुग यौवन की संपूर्णता के चिह्न हैं। पूर्णयौवना प्रिय-वियोग में संतप्त होती ही है। कुम्हार जैसे घड़ों को बनाकर उनके सूख जाने पर उन्हें आग में तपाता है, वैसे ही काम नलाभाव में दमयंती के अंगविशेष को व्यथित कर रहा है। प्रकाशटीकाकार ने 'कुसुमचापकुलालविलासजम्' को 'अनलसङ्गतितापम्' का विशेषण मान कर अर्थ का संकेत दिया है कि 'तरुणाई' रूप तपनद्युति से द्रढिमा को प्राप्त उसका कुचकुम्भयुग काम कुम्भकार के विलास (क्रीडा, कृत्य) से अनलसंगति (नलाभाव, अग्निसंयोग) से जनित ताप को क्यों न प्राप्त करे ?' यह अधिक उचित प्रतीत होता है, क्योंकि कुचकलश का सर्जक काम-कुम्भकार नहीं है, हाँ, वह उन्हें ताप देने वाला अवश्य है। मल्लिनाथ ने यहाँ 'अनलसङ्गति' में श्लिष्ट रूपक और काकु वक्रोक्ति का उल्लेख किया है, वैसे प्रधानतया वे रूपक ही मानते हैं। विद्याधर के अनुसार यहाँ अनुप्रास, श्लेष और रूपक हैं ॥ ७ ॥

अधृत यद्विरहोष्मणि मज्जितं मनसिजेन तदूरुयुगं तदा।
स्पृशति तत्कदनं कदलीतरुर्यदि मरुज्ज्वलदूषरदूषितः ॥ ८ ॥

जीवातु—अधृतेति। तदा यत्तस्या ऊरुयुगं मनसिजेन विरहोष्मणि विरहदाहे मज्जितम्, अधृत अवस्थितम्। धृङवस्थान इति धातोर्लुङि तङ्। 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सलोपः। कदलीतरुः, मरौ मरुदेशे ज्वलता तप्यमानेन ऊषरेणोषरक्षेत्रेण, दूषितो यदि दूषितश्चेत्। तत्कदनं, तेनोरुयुग्मेन कदनं कलहं साम्यमित्यर्थः। स्पृशति। अत्रोपमानस्य कदलीतरोरुपमेयत्वकल्पनात् प्रतीपालङ्कारभेदः। 'उपमानस्याक्षेपे उपमेयत्वकल्पनं प्रतीपम्' इति लक्षणात्। ऊषरप्ररूढकदलीकाण्डकल्पं तदासीदित्यर्थः॥ ८॥

अन्वयः—तदा यत् तदूरुयुगं मनसिजेन विरहोष्मणि मज्जितम् अधृत, यदि कदलीतरुः मरुज्ज्वलदूषरदूषितः (स्यात्) तत्कदनं स्पृशति।

हिन्दी—उस समय जो उस (दमयन्ती) का जंघायुगल मनोभव (काम) ने वियोग की अग्नि में निमज्जित कर रखा था, यदि केले का वृक्ष मरुभूमि की जलती ऊसर में पड़ दूषित हो जाय, तब उस (ऊरुयुग) की समानता का स्पर्श कर सकता है।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती का ऊरुयुग अत्यन्त संताप पा रहा था, मरुभूमि की आग में धधकती ऊसर में पड़े कदली वृक्ष के तुल्य। कहाँ स्निग्ध, चिक्कण, कोमल कदलीतरु, कहाँ ऊसर की आग ? यहाँ उपमान कदलीतरु के उपमेय रूप में कल्पित होने के कारण मल्लिनाथ 'प्रतीप' मानते हैं, तिलक और साहित्यविद्याधरी के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति है ।। ८ ।।

स्मरशराहतिनिर्मितसंज्वरं करयुगं हसति स्म दमस्वसुः ।
अनपिधानपतत्तपनातपं तपनिपीतसरस्सरसीरुहम् ।। ९ ।।

जीवातु—स्मरेति । स्मरशराहत्या निर्मितसंज्वरं जनितताप, दमस्वसुः करयुगं (कर्तृ) अनपिधानादनावरणात् (हेतोः), पतन् प्रविशन्, तपनातपः सूर्यातपः, यस्मिन् तत्तथा, तपेन ग्रीष्मेण निपीते शोषिते सरसि यत्सरसीरुहं पद्मं, तद्धसति स्म तत्सदृशमभूदित्यर्थः। 'हसतीर्ष्यत्यसूयती'ति दण्डिना सदृशपर्याये पठितत्वात् । अत एवोपमालङ्कारः ।। ९ ।।

अन्वयः—स्मरशराहतिनिर्मितज्वरं दमस्वसु करयुगम् अनपिधानपतत्तपनातपं तपनिपीतसरस्सरसीरुहं हसति स्म ।

हिन्दी—काम बाणों के आघात से उत्पन्न ज्वरदाह से युक्त दमभगिनी (दमयन्ती) का करयुगल जिस पर सूरज की धूप प्रतिबंधरहित पड़ रही हो, ऐसे ग्रीष्म ऋतु ने जिसे पी डाला है (गर्मी में सूखे) उस सरोवर में स्थित कमल का उपहास कर रहा था।

टिप्पणी—गर्मी से सूखे तालाब में पड़े कमलों की जो दुरवस्था होती है, कामजनित दाह से दमयन्ती के हस्त युग्म की दशा उससे भी चिंतनीय थी। सूखे तालाब में सीधी पड़ती धूप से झुलसते कमलसम कोमल करयुगल अत्यन्त संताप का अनुभव कर रहे थे। काव्यादर्शरचयिता दंडी ने 'हसति, ईर्ष्यति, असूयति' आदि को भी समानतावाचक माना है, इस आधार पर मल्लिनाथ

यहाँ उपमा का विधान करते हैं। तिलक और साहित्यविद्याधरी में भी उपमालंकार का ही निर्देश किया गया है ॥ ९ ॥

मदनतापभरेण विदीर्य नो यदुदपाति हृदा दमनस्वसुः।
निबिडपीनकुचद्वययन्त्रणा तमपराधमधात्प्रतिबध्नती ॥ १० ॥

जीवातु—मदनेति। दमनस्वसुः, हृदा हृदयेन कर्त्रा मदनतापस्य भरेण औत्कट्येन (हेतुना) विदीर्य, नो उदपाति नोत्पतितमिति यत्, भावे लुङ्। तमनुत्पतनरूपमपराधं प्रतिबध्नती निरुन्धती, निबिडपीनकुचद्वयेन यन्त्रणा बन्धः (कर्त्री), अधात्। हृदयकृतापराधं स्वयमुवाहेत्यर्थः। अत्रातिदाहेऽप्यस्फुटनं हृदयस्यायुःशेषनिबन्धनं तस्य कुचयन्त्रणानिमित्तत्वमुत्प्रेक्ष्यते। सा च व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥ १० ॥

अन्वयः—दमस्वसुः हृदा मदनतापभरेण विदीर्य यत् नो उदपादि, तम् अपराधं निबिडपीनकुचद्वययन्त्रणा प्रतिबध्नती अधात्।

हिन्दी - दमभगिनी (दमयन्ती) का हृदय काम-संताप की प्रचुरता से विदीर्ण होकर जो उत्पतित नहीं हुआ, उस अपराव को घने पीन स्तनयुगल के बंधन ने रोककर धारण किया।

टिप्पणी—आशय यह है कि काम-व्यथा इतनी प्रबल थी कि उसके कारण हृदय फट कर गिर जाता। वह उत्पतित नहीं हुआ, यह जैसे उस हृदय का अपराध था। वस्तुतः यह अपराध हृदय का नहीं था, उन घनकुचयुगल का था, जिनके बंधन में पकड़कर हृदय बाहर नहीं जा सका। मल्लिनाथ ने दाह के कारण स्फुटित हो जाने योग्य हृदय के कुचनियंत्रणा से अस्फुटित रह जाने के कारण गम्या उत्प्रेक्षा मानी है, क्योंकि व्यंजक का प्रयोग नहीं है। तिलक और साहित्यविद्याधरी के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति है ॥ १० ॥

निविशते यदि शूकशिखा पदे सृजति सा कियतीमिव न व्यथाम्।
मृदुतनोर्वितनोतु कथं न तामवनिभृत्तु निविश्य हृदि स्थितः ॥ ११ ॥

जीवातु—निविशत इति। शूकशिखा कण्टकाग्रं, पदे चरणे निविशते प्रविशति यदि, 'नेर्विश' इत्यात्मनेपदम्। सा प्रविष्टा शूकशिखा। कियतीमिव व्यथां पीडाम्, इवशब्दो वाक्यालङ्कारे। कीदृशीं व्यथामित्यर्थः। न सृजति

नोत्पादयति, महतीमेव सृजतीत्यर्थः। अवनिभृद्राजा नलः, पर्वतश्च। स तु, हृदि निविश्य स्थितः सन्, मृदुतनोः कोमलाङ्ग्याः, तां तथाविधां, व्यथां कथं न वितनोतु तनोत्वेत्यर्थः। सम्भावनायां लोट्। अत्र पदे सूक्ष्मकण्टकप्रवेशे दुस्सहा व्यथा। किमुत मृद्वंग्या हृदि महत्प्रवेशेनेति कैमुत्यन्यायेनार्थापत्तेरर्थापत्तिरलङ्कारः ॥ ११ ॥

अन्वयः—यदि शूकशिखा पदे निविशते सा कियतीम् इव व्यथां न सृजति? मृदुतनोः हृदि निविश्य स्थितः अवनिभृत् तु तां कथं न वितनोतु?

हिन्दी–यदि (अन्न के पौदों के अवशिष्ट निम्न भाग) डंठल की नोक पैर में घुस जाती है, तो कितनी अधिक पीडा नहीं उपजाती? (अत्यधिक पीडा उपजाती है।) कोमल तन दमयन्ती हृदय में स्थित अवनिभृत् (पर्वत अर्थात् नल राजा) भला उस (अत्यधिक व्यथा) का विस्तार क्यों न करे? (करना ही उचित है)।

टिप्पणी—'अवनिभृत्' द्व्यर्थबोधक शब्द है—(१) पर्वत, (२) राजा। इसी शब्द के प्रयोग से यहाँ चमत्कारचारुता आयी है। हृदय की अपेक्षा पैर अधिक कठोर होता है। तो कठोर पैर में चुभी डंठल की छोटी नोक भी जब पीडा उत्पन्न कर देती है, फिर कोमलतर दमयन्ती के हृदय में धँसा पहाड़ (पक्षान्तर में राजा नल) और भी अधिक पीडा का कारण होगा ही। कोमल हृदय में धँसा 'अवनिभृत्' तो पीडा दे ही रहा है, पीडा का यह एक और कारण है कि अवनिभृत् नल हृदय में स्थित होकर भी प्राप्त नहीं होता। इतना निकट और इतना अप्राप्य! कैसी विडंबना है! पैर में बना छोटा सा कंटक भी व्यथा देता है, कोमलांगी के कोमलतम हृदय में यदि इतना बड़ा अवनिभृत् धँस जाय तो फिर कहना ही क्या? इस आधार पर कैमुत्यन्याय से अर्थापत्ति होने के कारण मल्लिनाथ ने यहाँ अर्थापत्ति अलंकार माना है। तिलककार के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति है और विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति तथा द्रव्य-क्रिया विरोध अलंकार। संचारीभाव चिन्ता का चित्रण ॥ ११ ॥

मनसि सन्तमिव प्रियमीक्षितुं नयनयोः स्पृहयान्तरुपेनयोः।
ग्रहणशक्तिरभूदिदमीययोरपि न सम्मुखवास्तुनि वस्तुनि ॥ १२ ॥

जीवातु—मनसीति। मनसि सन्तं हृदि वर्तमानं प्रियमीक्षितुं स्पृहया अन्तरुपेतयोरन्तःप्रविष्टयोरिव, इदमीययोरस्याः सम्बन्धिनोः। इदंशब्दात्यदादेः 'वृद्धाच्छः'। नयनयोः सम्मुखं पुरोदेशः वास्तु स्थानं यस्य तस्मिन्नपि पुरोवर्तिन्यपि वस्तुनि, ग्रहणशक्तिः साक्षात्करणसामर्थ्यं नाभूत्। नलव्यासङ्गान्न किञ्चिदन्यद्राक्षीदित्यर्थः। तद्व्यासङ्गनिमित्तस्य बाह्यादर्शनस्य चक्षुषोरन्तःप्रवेशननिमित्तत्वमुत्प्रेक्षते। चिन्तैव सञ्चारी भावः॥ १२॥

अन्वयः—मनसि सन्तं प्रियम् ईक्षितुं स्पृहया अन्तः उपेतयोः इव इदमीययोः नयनयोः सम्मुखवास्तुनि अपि वस्तुनि ग्रहणशक्तिः न अभूत्।

हिन्दी—मन में स्थित प्रिय (नल) को देखने की आकांक्षा से मानो अन्तस् में प्रविष्ट जैसे इस (दमयंती) के दोनों नेत्रों में सम्मुख स्थित भी वस्तु को ग्रहण करने की शक्ति (देख लेने की क्षमता) नहीं थी।

टिप्पणी—विरह से क्लांत दमयंती की आँखें धँस-सी गयी थीं, इसी पर कवि की उत्प्रेक्षा है कि वे अंतर्विद्यमान प्रिय की दर्शनाकांक्षा से भीतर धँसी जा रही थीं। फिर भी निकटस्थित प्रिय को न देख सकने के कारण व्यथा और अधिक हो जा रही थी। लगता है, विरह के कारण दमयंती के नयन इतने सामर्थ्यहीन हो गये थे कि निकटस्थित प्रिय-दर्शन भी न कर पा रहे थे। संचारी भाव चिंता का वर्णन। तिलक, जीवातु, साहित्यविद्याधरी के अनुसार उत्प्रेक्षा अलंकार॥ १२॥

हृदि दमस्वसुरश्रुझरप्लुते प्रतिफलद्विरहात्तमुखानतेः।
हृदयभाजमराजत चुम्बितुं नलमुपेत्य किलागमितं मुखम्॥ १३॥

जीवातु—हृदीति। विरहेणात्ता प्राप्ता मुखानतिर्यया सा तस्या नम्रमुखायाः दमस्वसुः मुखम्। अश्रुझरेणाश्रुप्रवाहेण, प्लुते सिक्ते, हृदि हृदये प्रतिफलम् प्रतिबिम्बितं सत्, हृदयभाजं हृदि स्थितं, नलं चुम्बितुमुपेत्य गत्वा, आगमितं सञ्जातागमनं किल, प्रत्यागतमित्युत्प्रेक्षा। तारकादित्वादितच्। किलेति सम्भावनायाम्। 'वार्तासम्भाव्ययोः किल' इत्यमरः। अराजत रराज। सम्भावनायामुत्प्रेक्षा॥ १३॥

अन्वयः—विरहात्तमुखानतेः दमस्वसुः मुखम् अश्रुझरप्लुते हृदि प्रतिफलत् हृदयभाजं नलं चुम्बितुम् उपेत्य किल आगमितम् अराजत।

हिन्दी--वियोग के कारण जिसका मुख झुक गया है, ऐसी दम-भगिनी (दमयंती) का मुख अश्रु-प्रवाह से सिचे हृदय पर प्रतिबिम्बित होता हृदय में स्थित नल के चुम्बन को जाकर लौट आया जैसा सुशोभित हो रहा था।

टिप्पणी--सम्भावनार्थक 'किल' के प्रयोग के आधार पर मल्लिनाथ ने यहाँ उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है, तिलक और साहित्यविद्याधरी के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति हैं। चिंता के अनुभाव रोदन का चित्रण।१३।

सुहृदमग्निमुदञ्चयितुं स्मरं मनसि गन्धवहेन मृगीदृशः।
अकलि निःश्वसितेन विनिर्गमानुमितनिह्नुतवेशनमायिता॥ १४॥

जीवातु–सुहृदमिति। गन्धवहेन बाह्यवायुना, सुहृदं सखायम्। 'रोहिताश्वो वायुसखः' इत्यग्नेर्वायुसखत्वाभिधानात्। मृगीदृशः भैम्याः, मनसि, स्मरमेवाग्निमुदञ्चयितुमुद्दीपयितुं, निःश्वसितेन निःश्वासवातव्याजेन, विनिर्गमेण बहिर्निस्सारणेन, अनुमितं निह्नुतं, प्रागज्ञातं, यद्वेशनमन्तःप्रवेशस्तत्र मायिता मायावित्वम्। तत्कल्पनापाटवं व्रीह्यादित्वादिनिः अकलि कलितं प्राप्तम्, नूनमिति शेषः। अग्निदो हि गूढं प्रविश्य प्रकाशं निर्गच्छति, तद्वद्वायुरपि यादृङ्निःश्वासव्याजेन तथा कृत्वा निर्गत इत्युत्प्रेक्षा॥ १४॥

अन्वयः--मृगीदृशः मनसि सुहृदं स्मरम् अग्निम् उदञ्चयितुं निःश्वसितेन गन्धवहेन विनिर्गमानुमितनिह्नुतवेशनमायिता अकलि।

हिन्दी—मृगनयना (दमयंती) के मन में स्थित मित्र कामदेव रूप अग्नि को उद्दीप्त करने के निमित्त निःश्वास रूप वायु ने बाहर निकलने से जिसके गुप्त प्रवेश का अनुमान हो, वह माया स्वीकारी।

टिप्पणी--विरहपीडिता, कामसंतप्ता दमयंती लम्बी-लम्बी साँसें लेती। कवि ने इस पर कल्पना की दमयंती के हृदय में जो काम रूप अग्नि है, उसे उत्तेजित करने या हृदय-कारागार से मुक्ति दिलाने के लिए अग्नि का मित्र वायु पहिले निःश्वास रूप में अंतस् में प्रविष्ट हुआ और उसी कपट वेश में बाहर निकला। मित्र की सहायता मित्र करता ही है। कपट रूप इसलिए प्रतीत हुआ कि जब कामाग्नि का मित्र वायु निःश्वास वेष में बाहर निकल रहा है तो उच्छ्वास वेष में अन्तः प्रविष्ट भी हुआ होगा। मल्लिनाथ के अनुसार

उत्प्रेक्षा अलंकार। विद्याधर ने समासोक्ति और रूपक का निर्देश किया है। निःश्वास भी चिंता का अनुभाव है ॥ १४ ॥

विरहपाण्डिमरागतमोमषीशितिमतन्निजपीतिमवर्णकैः।
दश दिशः खलु तद्दृगकल्पयल्लिपिकरी नलरूपकचित्रिताः ॥ १५ ॥

जीवातु—विरहेति। तस्या दमयन्त्याः, दृग्दृष्टिरेव, लिपिकरी चित्रकरी, विरहेण पाण्डिमा शरीरश्वैत्यं, रागोऽनुरागः स एव रागो रक्तिमा। श्लिष्टरूपकम्। तमो मोहस्तदेव मषी तस्याः शितिमा नीलिमा। तस्या भैम्याः निजो नैसर्गिकः पीतिमा कनकवर्णः, चतुर्णां द्वन्द्वः, तैरेव वर्णकैः चित्रसाधनैः, दश दिशस्ता एव भित्तीरिति शेषः। नलस्य रूपकैः प्रतिकृतिभिः चित्रिताः सञ्जातचित्राः, तारकादित्वादितच्। अकल्पयदसृजत्खलु। निरन्तरचिन्ताजनितया भ्रान्त्या प्रतिदिशं मिथ्यानलानद्राक्षीदित्यर्थः ॥ १५ ॥

अन्वयः—तद्दृक् लिपिकारी विरहपाण्डिमरागतमोमषीशितिमतन्निजपीतिमवर्णकैः दश दिशः नलरूपकचित्रिताः अकल्पयत् खलु।

हिन्दी—उस (दमयंती) की दृष्टि रूपिणी चितेरी ने विरह से संजात पांडुरता रूप भूरे, अनुराग रूप लाल, मूर्च्छा रूप मसी (स्याही) के काले और अपने काञ्चन (देह-रूप) पीत वर्णों (रंगों) से दसों दिशाओं में नल के रूपक (चित्र) बना दिये।

टिप्पणी—वियोग-पीडिता दमयंती वियोग में पांडुर हो गयी, अनुराग की तीव्रता में मूर्च्छित हो जाती, उसका देहरूप कांचनपीत था ही। सब ओर वियोग में उसे नल-ही-नल दीखता। इसी पर यह कवि-कल्पना है कि पांडुरता-राग-मूर्च्छा-काच्चनपीतदेह के भूरे, लाल, काले, पीले रंगों की सहायता से चितेरी दमयंती दृष्टि ने दश-दिशा रूप भित्तियाँ नल के विविध चित्रों से परिपूर्ण कर दीं। मल्लिनाथ ने यहाँ चिंताजनित भ्रांति मानी है। इसे ही नारायण ने उन्माद दशा माना है। उनके अनुसार दृष्टि की लिपिकरी रूप में उत्प्रेक्षा की गयी है। विद्याधर रूपक और विशेष अलंकार मानते हैं ॥ १५ ॥

स्मरकृतिं हृदयस्य मुहुर्दशां बहु वदन्निव निःश्वसितानिलः।
व्यधित वाससि कम्पमदःश्रिते त्रसति कः सति नाश्रयबाधने ॥ १६ ॥

जीवातु---स्मरकृतिमिति । निःश्वसितानिलः, स्मरकृतिमदनकर्तृकसृष्टिरूपां, हृदयस्य हृत्पिण्डस्य, दशामवस्थां बहु बहुवारं (क्रियाविशेषणम्), वदन्निव एवं कम्पत इति कथयन्निवेत्युत्प्रेक्षा । अदो हृदयं, श्रिते वाससि, कम्पस्खलनं, तत्कारणं त्रासश्च, मुहुः व्यधित विहितवान् । दधातेर्लुङि तङ् । 'स्थाघ्वोरिच्च' इतीकारः । 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिचो लोपः । तथा हि—आश्रयबाधने सति, को नाम न त्रसति । सर्वोऽपि त्रसत्येवेत्यर्थः । तद्बाधे तदाश्रितस्य स्वस्यापि बाधादिति भावः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ १६ ॥

अन्वयः---निश्वसितानिलः स्मरकृतिं हृदयस्य दशां बहु वदन् इव अदः श्रिते वाससि कम्पं मुहुः व्यधित, आश्रयबाधने सति कः न त्रसति ?

हिन्दी---निःश्वास वायु ने कामविहित (दमयंती के) हृदय की अवस्था को अनेक बार मानो कहते हुए, उस (हृदय-वक्ष) पर स्थित वस्त्रों को कंपन देते हुए वारंवार पीडा दी, आश्रयस्थली के बाधित (बाधा-व्यथा युक्त) होने पर कौन नहीं डरता ? सभी डरते हैं ।

टिप्पणी---दीर्घ निःश्वास के कारण दमयंती के हृदय-वक्षःस्थल पर पड़े वस्त्र बार-बार हिल उठते हैं । हृदय पर स्थित होने के कारण हृदय वस्त्रों का आधारभूत आश्रय हुआ, सो आश्रय स्थल पर विपत्ति आने पर आश्रित वस्त्र भी विपत्ग्रस्त हो त्रस्त हुए । आश्रय कंपित होगा तो आश्रित भी कंपित होगा । आशय यह कि विरहनिःश्वास के कारण हिलते वस्त्र दमयंती की प्रबल व्यथा की सूचना दे रहे थे । मल्लिनाथ के अनुसार अर्थान्तरन्यास अलंकार, तिलक और साहित्यविद्याधरी के अनुसार अर्थान्तरन्यास और उत्प्रेक्षा ॥ १६ ॥

करपदाननलोचननामभिः शतदलैः सुतनोर्विरहज्वरे ।
रविमहो बहु पीतचरं चिरादनिशतापमिषादुदसृज्यत ॥ १७ ॥

जीवातु—करेति । करौ पदे आननं लोचने इति नामानि येषां तैः, तदाकारपरिणामात्तन्नामवारिभिः शतदलैः कुशेशयैः (कर्तृभिः) चिरात् चिरात्प्रभृति, पीतचरं रसवशात् पूर्वपीतं, भूतपूर्वे चरट्प्रत्ययः । बहु भूरि, रविमहः सूर्यतेजः, सुतनोः, दमयन्त्याः, विरहज्वरे ज्वरावस्थायां, अनिश-

तापमिषान्निरन्तरोष्णव्याजात्, उदसृज्यत उत्सृष्टम्। नूनमिति शेषः। अत्र पद्मानां भैमीकरचरणादिभ्यो नाममात्रभेदः। न रूपभेद इत्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिः। तन्मूला चेयं पूर्वपीततेजोवमनोत्प्रेक्षा। सा च तापव्याजादित्यपह्नवानुप्राणितेति सङ्करः ॥ १७ ॥

अन्वयः—करपदाननलोचननामभिः शतदलैः चिरात् पीतचरं बहु रविमहः सुतनोः विरहज्वरे अनिशतापमिषाद् उदसृज्यत।

हिन्दी—हस्त, चरण, मुख और नेत्र नामधारी कमलों द्वारा बहुत काल से पहिले पी लिया गया प्रचुर सूर्य-तेज सुन्दरी (दमयन्ती) वियोग-ज्वर में निरन्तर ताप के व्याज से (जैसे) उत्सृष्ट किया जा रहा था।

टिप्पणी—वियोग ज्वर में दमयंती के कमल-तुल्य हाथ, पैर, मुँह, आखें-सभी तप रहे थे। कवि ने कल्पना की है कि कर-पदादि रूप वाले कमलों ने विकसित होने के लिए पहिले सूर्य-तेज अत्यधिकमात्रा में पीडाला, जो उन्हें सह्य न हुआ। इसी कारण ज्वर-ताप के रूप में बार-बार उसे भीतर से बाहर निकाल रहे हैं—अधिकमात्रा में पी लिये गये को वमन करके निकाल रहे हैं। भाव यह है कि विरह-व्यथिता दमयंती का प्रत्यंग काम-ज्वर से अत्यधिक संतप्त था। इस पद्य में दमयंती के कर-पदादि नामतः ही कमल से भिन्न कहे गये हैं, रूपतः नहीं, अर्थात् करादि अंगों में पूर्णतया कमल-रूप-सादृश्य है, भेद नाम-मात्र का है। इस कारण अभेदकथन होने से जीवातु टीका में यहाँ अतिशयोक्ति का निर्देश किया गया है और बताया गया है कि 'पूर्वपीततेजोवमन' की उत्प्रेक्षा तन्मूलक ही है, और वह 'ताप-व्याजात्' कथन होने से अपह्नव से अनुप्राणित है। इस प्रकार संकर है। तिलक और साहित्यविद्याधरी में अतिशयोक्ति, समासोक्ति और अपह्नुति का निर्देश किया गया है ॥ १७ ॥

उदयति स्म तदद्भुतमालिभिर्धरणिभृद्भुवि तत्र विमृश्य यत्।
अनुमितोऽपि च बाष्पनिरीक्षणाद्व्यभिचचार न तापकरो नलः ॥ १८ ॥

जीवातु—उदयतीति। आलिभिः सखीभिः, तत्र तस्यां, धरणिभृतो भीमभूपाद्भवतीति तद्भूः भैमी तस्यां पर्वतभूमौ च विमृश्य व्याप्तिमनुसन्धाय, बाष्पनिरीक्षणादश्रुलिङ्गदर्शनात्। अन्यत्र, धूमदर्शनात्। 'बाष्पोऽश्रुण्यम्बुधूमे च'

व' इति वैजयन्ती। अनुमितः अभ्यूहितः, अन्यत्र लिङ्गमात्रावधारितोऽपि तापकरः सन्तापजनकः, नलो नैषधः, अन्यत्र अनलोऽग्निः न व्यभिचचार नान्यथा बभूवेति यत्, तदद्भुतमुदयति स्म उत्पन्नमित्यर्थः। 'अय गतौ' इति धातोर्भूते लट्। नलचिन्ताजन्योऽयं सन्ताप इत्यश्रुदर्शनात्सखीभिरूहितमहो इति परमार्थः। अत्रबाष्पलिङ्गदर्शनादनलज्ञानम्। तच्चाव्यभिचारीति स्फुरतो विरोधस्याश्रुलिङ्गात्सन्तापकरो नलो निश्चित इत्यभासीकरणाद्विरोधाभासः। स च श्लेषानुप्राणितः। सन्तापकरो नल इति शब्दश्लेषः। अन्यत्रार्थश्लेषः। अपि विरोधे ॥ १८ ॥

अन्वयः—आलिभिः तत्र धरणिभृद्भुवि विमृश्य बाष्पनिरीक्षणात् अनुमितः अपि तापकरः नलः (अनलः) यत् न व्यभिचचार, तत् अद्भुतम् उदयति स्म।

हिन्दी—(१) सखियों द्वारा उस राजा की आत्मजा (दमयंती) में विचार पूर्वक आँसुओं को देखने से भी विरहताप देने वाले नल का अनुमान जो ठीक कर लिया, वह आश्चर्य ही हुआ।

(२) सखियों द्वारा उस पर्वतभूमि में विचार पूर्वक भाफ निकलती देख कर भी जो ताप देने वाले अग्नि (अनल) का अनुमान ठीक से कर लिया, यह आश्चर्य की वस्तु ही है।

टिप्पणी—जहाँ भाफ-धुआँ होता है, वहाँ आग होती है—'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः', यह अनुमान-सिद्ध है। धुआँ—भाफ देखकर आग का अनुमान लगा लिया जाता है; जो आश्चर्यजनक है। 'धरणिभृद्भू' पर्वत के तुल्य धरणिभृत्—राजा की बेटी दमयंती के वाष्प—भाफ तुल्य अश्रु देखकर जो अनल रूप नल का ठीक अनुमान कर लिया, यह अनुमान की प्रणाली के समान ही आश्चर्यजनक है। बिना बताये ही सखियों ने दमयन्ती का नलानुराग जान लिया, यह अचरज ही हुआ। मल्लिनाथ ने बताया है कि वाष्प-निरीक्षण से अनल का ज्ञान होता है, वह अव्यभिचारी है। इस स्फुरित विरोध का अश्रु रूप लिंग से संतापकार नल का निश्चय किया गया—इस प्रकार का आभास देने के कारण यहाँ विरोधाभास है और वह श्लेषानुप्राणित है। 'सन्तापकरो नलः'—यह शब्दश्लेष है, अन्यत्र अर्थश्लेष। 'अपि' विरोध-

वाचक है। तिलक और साहित्यविद्याधरी के अनुसार श्लेष—व्यतिरेक अलंकार हैं ॥ १८ ॥

हृदि विदर्भभुवं प्रहरन् शरैः रतिपतिर्निषधाधिपतेः कृते ।
कृततदन्तरगस्वदृढव्यथः फलदनीतिरमूर्च्छदलं खलु ॥ १९ ॥

जीवातु—हृदीति । निषधाधिपतेः कृते नलस्यार्थे, तत्प्रहारार्थमित्यर्थः । 'अर्थे कृते च शब्दौ द्वौ तादर्थ्येऽव्ययसंज्ञितौ' इति वचनात् । विदर्भभुवं दमयन्तीं, शरैर्हृदि प्रहरन्, नलस्य सदा तद्गतत्वादिति भावः । रतिपतिः कामः, कृता तदन्तरगस्य भैमीहृद्गतस्य स्वस्य दृढव्यथा येन सः, स्वयमपि तद्गतत्वात् प्रहृतः सन्नित्यर्थः । फलन्ती अनीतिर्दुर्नीतिर्यस्य सोऽलमत्यन्तममूर्च्छदवर्धत खलु । अमुह्यादति च गम्यते । 'मूर्च्छामाहसमुच्छ्राययोः' इत्यनुशासनात्, तदभेदेन मूर्च्छालक्षणकार्यदर्शनाद्रतिपतेः स्मरस्यापि प्रहार उत्प्रेक्ष्यते व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या । सा च श्लेषमूलातिशयोक्त्युत्थापितेति शङ्करः । परप्रहारोद्यतस्य स्वप्रहारक्षपानथोत्पत्तविषमभेदश्च व्यज्यते ॥ १९ ॥

अन्वयः—निषधाधिपतेः कृते विदर्भभुवं हृदि शरैः प्रहरन् रतिपतिः कृततदन्तरगस्वदृढव्यथः फलदनीतिः अलम् अमूर्च्छत् खलु ।

हिन्दी—निषधराज (नल) के निमित्त विदर्भतनया (दमयन्ती) के हृदय पर प्रहार करता रति का स्वामी (काम) उस (दमयंती) के हृदय में स्थित स्वयं को प्रभूत पीडा देकर दुर्नीति के फल को प्राप्त हुआ (स्वयम् भी) लगता है, गहरी मूर्च्छा को प्राप्त हुआ ।

टिप्पणी—आशय यह है कि दमयन्ती के हृदय में काम अति-प्रचुर हो गया । 'अमूर्च्छत्' का एक अर्थ 'वृद्धि को प्राप्त होना' भी है, जिससे 'काम-प्रचुरता' भाव व्यक्त होता है । इस स्थिति में यह कल्पना करनी होगी—सौन्दर्य में नल काम का प्रतिद्वन्द्वी है, नलानुरक्ता दमयन्ती भी इस कारण काम की शत्रु है, क्योंकि शत्रु का मित्र शत्रु होता है । अतः दमयन्ती के हृदय पर प्रहार करने से शत्रु को व्यथा देता काम 'अलम् अमूर्च्छत्' अत्यन्त बढ़ गया अर्थात् उन्नति को प्राप्त हुआ और शत्रु के मित्र पर प्रहार वाली उसकी नीति फलवती (फलदा + नीतिः) हो गयी ।

'अमूर्च्छत्' के 'मूर्च्छित हो गया' अर्थ में इस प्रकार विचारना होगा, नल का स्थान दमयंती का हृदय था, उन दिनों वियोगिनी दमयंती के हृदय में काम भी विराजमान था । उस 'हृदय' पर प्रहार करके काम ने फलाफल पर विचार नहीं किया, सो प्रहार उस पर भी हो गया । वह गहरी मूर्च्छा को प्राप्त हो गया और इस प्रकार अनीति फल गयी (फलत् + अनीतिः) । अथवा शत्रु तो नल था और प्रहार दमयन्ती के हृदय पर किया, जहाँ उन दिनों काम स्वयं स्थित था, इस प्रकार अपनी अनीति का फल काम को स्वयं भोगना पड़ा । अथवा नल दमयन्ती के हृदय-दुर्ग में छिपा था, काम को उचित था कि वह छिपे दुर्ग-स्थित शत्रु पर प्रहार करते समय यह विचार लेता कि स्वयम् उसकी रक्षा का उचित प्रबन्ध है अथवा नहीं ? बिना विचारे किये प्रहार का वह स्वयं लक्ष्य बना और अनीति का—अविचार का फल पा गया ।

केन्द्रीय भाव यही है कि दमयन्ती की कामपीडा बढ़ गयी । मूर्च्छा से वृद्धि को प्राप्त काम दमयन्ती को बड़ी पीडा दे रहा था ।

मल्लिनाथ ने इस श्लोक में श्लेषमूला अतिशयोक्ति द्वारा उत्थापित गम्या उत्प्रेक्षा का निर्देश करके संकर अलंकार माना है । तिलक और साहित्य-विद्याधरी में उत्प्रेक्षा-श्लेष का निर्देश किया गया है ॥ १९ ॥

विधुरभानि तया यदि भानुमान् कथमहो स तु तद्धृदयं तथा ।
अपि वियोगभरास्फुटनस्फुटीकृतदृषत्त्वमजिज्वलदंशुभिः ॥ २० ॥

जीवातु—विधुरिति । तया दमयन्त्या, विधुश्चन्द्रः, भानुमान् सूर्यः, अभानि मेने यदि विरहिणस्तस्य चित्रम् । किन्तु, सः सूर्यत्वाभिमतो विधुः, वियोग एव भरो भारस्तेनापि यदस्फुटनमविदारणं, तेन स्फुटीकृतं दृषत्त्वं सूर्योपलत्वं यस्य तत् । अन्यथातिभारात्स्फोटः स्यादिति भावः । तद्धृदयमपि भैमीहृदयरूपं सूर्यकान्तमपीत्यर्थः । कथं तथा सूर्यवत् अंशुभिः स्वतेजोभिः, अजिज्वलत् ज्वलयति स्म । ज्वलतेर्णौ चङ् । अहो विधुर्विरहिणामुद्दीपकत्वात्-सूर्यवत्तापकं नाम । तद्वदर्कोपज्वलयितृत्वं तु चित्रमित्यर्थः ॥२०॥

अन्वयः—तया यदि विधुः भानुमान् अभानि, सः तु वियोगभरास्फुटनस्फुटीकृतदृषत्त्वं तद्धृदयम् अपि कथं तथा अंशुभिः अजिज्वलत्, अहो !

हिन्दी—उस (दमयन्ती) ने यदि चन्द्र को सूर्य मान लिया, (परन्तु) वह (सूर्य मान लिया गया चन्द्र) तो वियोग के भार से भी विदीर्ण न होकर जिसने अपना पाषाण (सूर्यकांतमणि) होना प्रकट कर दिया है, ऐसे उसके हृदय को भी कैसे उस प्रकार जला रहा था ? यह आश्चर्यजनक है !

टिप्पणी—आशय यह है कि विरहिणी दमयन्ती को चन्द्रमा ऐसा ताप दे रहा था कि वह उसे सूर्य मान रही थी। इसमें आश्चर्य—विषय यह है कि चन्द्र हृदय को संतप्त कैसे कर रहा था ? दमयन्ती के हृदय ने तो अपने को एक पत्थर (सूर्यकांतमणि) प्रमाणित कर दिया था, क्योंकि यदि वह पत्थर न होता तो वियोग के भार से फट जाता, तो चन्दा पत्थर को तपा कैसे रहा था ? इसके अतिरिक्त पत्थर—सूर्यकांतमणि रूप में प्रमाणित हृदय को तो सूर्य ही ज्वलित कर सकता है, चन्द्र नहीं। तो चन्द्र उसे कैसे जला रहा था ? इससे ऐसा लगता है कि या तो यह सूर्य रूप प्रमाणित चन्द्र अतीव आश्चर्य का विषय है या फिर यह चन्द्र है ही नहीं, सूर्य ही है। चन्द्र में आरोपित सूर्य की भावना नहीं है; वास्तविक सूर्य है। तिलक और साहित्य विद्याधरी के अनुसार यहाँ विरोधालंकार है। 'शंका' व्यभिचारी भाव का वर्णन ॥ २० ॥

हृदयदत्तसरोरुहया तया क्व सदृगस्तु वियोगनिमग्नया।
प्रियधनुः परिरभ्य हृदा रतिः किमनुमर्तुमशेत चितार्चिषि ॥ २१ ॥

जीवातु—हृदयेति। वियोगनिमग्नया विरहाग्निमग्नया, अत एव हृदयदत्तसरोरुहया सन्तापशान्तये वचोनिक्षिप्तपद्मया, तया समाना दृश्यत इति सदृक् सदृशी स्त्री 'समानान्ययोश्च' इत्युपसङ्ख्यानात्समानोपपदाद्दृशेः क्विन्प्रत्ययः। 'दृग्दृशवतुषु' इति समानशब्दस्य सभावः। क्वास्तु न क्वापीत्यर्थः। रतिः कामपत्नी, हृदा वक्षसा प्रियस्य स्वभर्तुः, धनुःपौष्पमित्यर्थः परिरभ्य, अनुमर्तुम् अनुगमनं कर्तुं, चितार्चिषि, अशेत शयिता किम्। प्रियमनुमर्तुं चितार्चिषि शयाना साक्षाद्रतिरेवेयमित्युत्प्रेक्षा। तज्ज्वराग्निस्तथा प्रज्वलतीति भावः॥ २१ ॥

अन्वयः—वियोगनिमग्नया हृदयदत्तसरोरुहया तया सदृक् क्व अस्तु ? हृदा प्रियधनुः परिरभ्य अनुमर्तुं चितार्चिषि रतिः अशेत किम् ?

हिन्दी—विरह में निमग्न (अतएव) हृदय पर कमल आरोपित किये उस (दमयन्ती) के सदृश कहाँ होगी ? हृदय से प्रिय (कामदेव) का पुष्प-धनुष् लगाये अनुमरण (मृत पति के साथ मरण) के लिए चिता की लपटों में रति सोयी थी क्या ?

टिप्पणी—इस तथा अगले (बाइसवें) श्लोक में कामदशा मरण का सूचन है। कवि यह कहना चाहता है कि विरह से प्रचुर पीडिता, क्लांता होने पर दमयन्ती अनुपम सुन्दरी थी, विश्व में वैसी कोई दीखती ही नहीं थी। अधिक से अधिक कमल-पुष्प रूप धनुष् को वक्ष से लगाये मृतपति काम के साथ जल मरने को उद्यत रति से उसकी समता के विषय में विचार किया जा सकता है, किन्तु विचारमात्र, वास्तविकता ऐसी नहीं है। कारण कि रति तो पति के भस्मावशेष हो जाने पर जल जाने को चिता पर लेटी थी, दमयन्ती तो प्रिय-वियोग में ही कमल रूप धनुष को हृदय से लगाये, प्रिय-प्रतीक को हृदय पर धर कर क्षत्राणी की मर्यादा के अनुकूल आचरण करती (वियोगाग्नि में) आग में जली जा रही है। सो इस गया-बीती स्थिति में भी विश्व की अद्वितीय सुन्दरी रति से भी दमयन्ती की समानता संभव नहीं। जीवातु-तिलक-साहित्यविद्याधरी के अनुसार उत्प्रेक्षा अलकार ॥ २१ ॥

अनलभावमियं स्वनिवासिनो न विरहस्य रहस्यमबुद्धयत।
प्रशमनाय विधाय तृणान्यसून् ज्वलति तत्र यदुज्झितुमैहत ॥ २२ ॥

जीवातु—अनलभावमिति। इयं दमयन्ती, स्वनिवासिनः स्वनिष्ठस्य, विरहस्य नलवियोगस्य, रहस्यं शमीवह्निवन्निगूढम्, अनलभावमग्नित्वं, नल-रहितत्वञ्च गम्यते। नाबुद्धयत नाजानादित्यर्थः। कुतः, यद्यस्मात्, तत्र तस्मिन्विरहे, ज्वलति सति, प्रशमनाय प्रज्वलनप्रतीकारार्थम्, असून्, तृणानि विधाय तृणप्रायान् कृत्वा तृणात्मकानिति। उज्झितुं त्यक्तुं प्रक्षेप्तुञ्च। ऐहत ऐच्छत्। अग्नित्वज्ञाने कथं तच्छान्तये तत्र तृणप्रक्षेप इत्यर्थः। विरह-दुःखान्मर्तुमैच्छदिति तात्पर्यार्थः ॥ २२ ॥

अन्वयः—इयं स्वनिवासिनः विरहस्य रहस्यम् अनलभावं न अबुध्यत, यत् तत्र ज्वलति प्रशमनाय असून् तृणानि विधाय उज्झितुम् ऐहत।

हिन्दी—यह (दमयन्ती) अपने में वास करते विरह का रहस्य अनलभाव (अग्नि की सत्ता, पक्षान्तर में अ + नल भाव अर्थात् नल का अभाव) न समझी, जो कि उस वियोगाग्नि के जलते रहने पर उसके बुझाने के लिए प्राणों को तृण बना कर छोड़ना (डालना) चाह रही थी।

टिप्पणी—दमयन्ती यदि विरह को अग्नि रूप में समझती तो क्या उस अग्नि के प्रशमन (बुझाने) के लिए प्राण रूप तृण उसमें डालती ? तृण पड़ने से आग बुझती नहीं, जलती ही है। सो दमयन्ती ने विरहाग्नि भाव को ठीक-ठीक नहीं समझा। 'प्रशमन' का अर्थ यम भी है, 'अनलभाव' का अन्य अर्थ नल की अप्राप्ति भी हुआ—अ + नल + भाव, नलभाव का निषेध। इस स्थिति में 'काकु' के आधार पर अर्थ हुआ कि दमयन्ती ने यह समझ लिया कि नल की प्राप्ति असंभव है, अतः तृणसमान प्राणों में 'प्रशमन' (यम) को दे देना ही उचित है। 'अनलभावं न अबुध्यत ? अपि तु अबुध्यत एव।' भाव यह कि नल की प्राप्ति असम्भव मान कर दमयन्ती प्राण देना चाह रही थी। विरह अग्नि के समान दुःसह हो रहा था। तिलक टीका के अनुसार यहाँ अनुमान–अतिशयोक्ति–विरोध का संकर है, साहित्यविद्याधरी के अनुसार अनुमान और अतिशयोक्ति ॥ २२ ॥

प्रकृतिरेतु गुणस्स न योषितां कथमिमां हृदयं मृदु नाम यत्।
तदिषुभिः कुसुमैरपि धुन्वतां सुविवृतं विबुधेन मनोभुवा ॥ २३ ॥

जीवातु—प्रकृतिरिति। योषितां हृदयं मृदु नामेति यत्। नामेति प्रसिद्धौ। स इति विधेयप्राधान्यात् पुंलिङ्गता। प्रकृतिः प्रकृतिसिद्धः, गुणो मार्दवगुणः, इमां दमयन्तीं कथं नैतु प्राप्नोत्वेवेत्यर्थः। कुतः ? तन्मृदुत्वं कुसुमैरपि इषुभिः, धुन्वता विबुधेन देवेन विदुषा च मनोभुवा, सुविवृतं सम्यग्व्याख्यातम्, विद्वदधिकारत्वात्सन्दिग्धार्थनिर्णयस्येत्यर्थः। कुसुमादपि सुकुमारमस्या हृदयमित्यर्थः ॥ २३ ॥

अन्वयः—योषितां हृदयं मृदु नाम, यत् सः प्रकृतिः गुणः इमां कथं न एतु ? तत् कुसुमैः अपि धुन्वता विबुधेन मनोभुवा सुविवृतम्।

हिन्दी—नारियों का हृदय कोमल प्रसिद्ध है, सो वह स्वाभाविक गुण इस (दमयन्ती) में क्यों न आता ? उसे पुष्प-बाणों से भी कंपित (पीडित) करते विद्वान् मनोभव (काम) ने भली भाँति स्पष्ट कर दिया ।

टिप्पणी—नारी-हृदय कुसुम कोमल होता है, यह मान्य है ही । कामदेव ने दमयन्ती को फूलों के ही बाणों से प्रहार करके पीडित कर डाला, इससे यह सिद्ध हो गया कि नारीजनोचित प्राकृतिक गुण कोमलता दमयंती में भी है । यदि वह कोमल न होती तो क्या फूलों से पीडित होती ? मदनबाणों से दमयन्ती पीडित थी, यह आशय है । तिलक टीका के अनुसार अनुमानालंकार, साहित्यविद्याधरी के अनुसार अनुमान-श्लेष । 'नारी-प्रकृति' 'गुण' अर्थात् 'डोरी' है, जिसको आधार बना काम पुष्प-बाण छोड़ रहा है ॥२३॥

रिपुतरा भवनादविनिर्यतीं विधुरुचिर्गृहजालबिलैर्नु ताम् ।
इतरथात्मनिवारणशङ्कया ज्वलयितुं बिसवेषधराविशत् ॥ २४ ॥

जीवातु—रिपुतरेति । रिपुतराऽतिद्वेषिणी, विधुरुचिश्चन्द्रप्रभा, भवनादविनिर्यतीमनिर्गच्छन्तीं, इणश्शतरि ङीप् । तां भैमीं ज्वलयितुं, सन्तापयितुं, इतरथा निजरूपेण प्रवेशे आत्मनिवारणशङ्कया । स्वप्रवेशप्रतिषेधभिया, बिसवेषस्य धरा सती, गृहस्य जालबिलैर्गवाक्षरन्ध्रैः अविशन्नु प्रविष्टा किम् । शिशिरोपचारबिसाङ्कुरा निरन्तरान्तःस्थितभैमीबाधनाय प्रच्छन्नप्रविष्टेन्दुकरा इव प्रविशन्ति स्मेत्युत्प्रेक्षा ॥ २४ ॥

अन्वयः—रिपुतरा विधुरुचिः भवनात् अविनिर्यतीं तां ज्वलयितुम् इतरथा आत्मनिवारणशङ्कया बिसवेषधरा गृहजालबिलैः अविशत् नु ।

हिन्दी—महावैरिन चाँदनी भवन से बाहर निकलती उस (दमयन्ती) को संताप देने के लिए, चाँदनी के रूप में प्रवेश करने पर अपने रोक दिये जाने की आशंका से कमलनाल का वेष धारण करके भवन के झरोखों के छिद्रों से जैसे प्रविष्ट हो गयी ।

टिप्पणी—दमयन्ती को कामसंताप के उपशमनार्थ प्रयोग में लाये जाने वाले मृणाल भी संताप देते थे । इसी पर कवि ने संभावना की है कि लगता है वे 'बिस' नहीं थे, अपितु बिसवेषधारिणी महावैरिन चाँदनी थी, जो रूप

बदल कर चुपचाप असामान्य गवाक्ष-मार्ग से भीमनंदिनी की हत्या के लिए घुस आयी थी। वेष इसलिए बदला कि स्वरूप में वैरिन चाँदनी को द्वार पर ही रोक दिया जाता—कौन घुसने देता महावैरिणी को ? गवाक्षमार्ग इसलिए अपनाया कि रूप बदलने पर भी कदाचित् मुख्य द्वार पर पहिचान ली जाय, अमुख्य मार्ग ही चुपचाप प्रवेश के लिए अधिक उपयुक्त होता है। हत्यारे हत्या के लिए यही रीति अपनाया करते हैं। 'भवन से बाहर न निकलना' निर्वेद संचारी का अनुभाव है। डर से निरन्तर भीतर रहती दमयंती की हत्या के निमित्त चन्द्रप्रभा जैसे लगते थे—इस संभावना के आधार पर इस श्लोक में मल्लिनाथ ने उत्प्रेक्षालंकार का निर्देश किया है, विद्याधर के अनुसार यहाँ सद्भावोत्प्रेक्षा और समासोक्ति है ॥ २४ ॥

हृदि विदर्भभुवोऽश्रुभृति स्फुटं विनमदास्यतया प्रतिबिम्बितम्।
मुखदृगोष्ठमरापि मनोभुवा तदुपमाकुसुमान्यखिलाः शराः ॥२५॥

जीवातु—हृदीति। विदर्भभुवो वैदर्भ्याः, विनमदास्यस्तया नम्राननत्वेन (हेतुना) अश्रूणि बिभर्तीत्यश्रुभृत्, क्विप्। तस्मिन्नश्रुसिक्त इत्यर्थः। हृदि वक्षसि, वैमल्यात् स्फुटं यथा तथा प्रतिबिम्बितं, मुखं च दृशौ च ओष्ठश्च मुखदृगोष्ठम्। प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः। मनोभुवा कामेन, तस्य मुखादेः उपमाकुसुमानि पद्मम् उत्पले बन्धूके च पञ्चधा स्थितान्युपमानपुष्पाणि तान्येव अखिलाः पञ्चापि शराः सदरोपि रोपितम्। तस्यास्तथाविधे वक्षसि प्रतिफलितं मुखाद्यवयवपञ्चकं पञ्चशरनिखातम्, तदुपमानकुसुमशरपंचकमिवालक्ष्यतेत्युत्प्रेक्षार्थः ॥ २५ ॥

अन्वयः—विदर्भभुवः विनमदास्यतया अश्रुभृति हृदि स्फुटं प्रतिबिम्बितं मुखदृगोष्ठं मनोभुवा तदुपमाकुसुमानि अखिलाः शराः अरोपि।

हिन्दी—विदर्भतनया (दमयन्ती) के मुख नीचे झुके होने का कारण आँसुओं से भरे हृदय में स्पष्टतः प्रतिबिम्बित होते (झलकते) मुख, दोनों नेत्र और दोनों अधरोष्ठों के रूप में जैसे मनोभव (कामदेव) ने उनके उपमानभूत अपने समस्त (पाँचों) बाण आरोपित कर दिये।

टिप्पणी—विरहिणी, व्यथिता दमयन्ती मुँह नीचा किये, आँसू गिराती रहती थी। ऐसा लगता था कि जैसे काम ने एक साथ पाँचों वाण उसके हृदय में धँसा दिये हैं। पाँच बाण दमयन्ती का मुख, नयनयुगल और दोनों ओठ हैं, जो आँसू-धुली उसकी छाती पर स्पष्टतः प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। मुख पद्म है, दो नेत्र, दो नील कमल हैं और दोनों अधरोष्ठ दो बन्धूक-पुष्प (दोपहरिया के फूल) हैं। कमलादि मुखादि के उपमान माने गये हैं, उन्हीं के रूप में काम ने अपने पाँचों बाण दमयंती के हृदय में आरोपित कर दिये। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा है, विद्याधर ने समासोक्ति मानी है। प्रकाशकार ने 'मुखदृगोष्ठम्' में व्यस्तरूपक का निर्देश किया है ॥ २५ ॥

विरहपाण्डुकपोलतले विधुर्व्यधित भीमभुवः प्रतिबिम्बितः।
अनुपलक्ष्यसितांशुतया मुखं निजसखं सुखमङ्कमृगार्पणात् ॥ २६ ॥

जीवातु—विरहेति। विधुः, भीमभुवः भैम्याः, विरहेण पाण्डुनि कपोलतले गण्डस्थले, प्रतिबिम्बितः सन्, अनुपलक्ष्यसितांशुतया सावर्ण्यात् दुर्लक्ष्यशुभ्रकिरणतया, सुखमनायासेन, अङ्कमृगार्पणादसितकलङ्कमृगसमर्पणात्, मुखं भैमीमुखं निजसखं स्वसदृशं, व्यधित विहितवान्। दोषिणो हि स्वदोषं निर्दोषेऽपि स्वसंसर्गिणि सङ्क्रमय्य समीकुर्वन्तीति भावः। केचित्तिकचट्टानेनामित्रं मित्रं कुर्वन्तीति भावं वर्णयन्ति। अत्र चन्द्रस्य कपोलसावर्ण्येन तदेकत्वकथनात् सामान्यालङ्कारः। 'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात् ॥ २६ ॥

अन्वयः—भीमभुवः विरहपाण्डुकपोलतले प्रतिबिम्बितः विधुः अनुपलक्ष्यसितांशुतया सुखम् अङ्कमृगार्पणात् मुखं निजसखं व्यधित।

हिन्दी—भीमतनया के वियोग से पांडुर कपोल-स्थल में प्रतिबिम्बित होते चन्द्र ने न लक्षित हो पाती शुभ्र किरणों (अथवा अलक्षित श्वेतांश) के कारण सरलतापूर्वक गोद में स्थित मृग (काले मृग-चिह्न) को समर्पित करके (दमयन्ती के) मुख को अपना सखा (स्वसदृश) बना लिया।

टिप्पणी—भाव यह है कि सामान्यावस्था में दमयन्ती का कपोलतल चन्द्र

से कहीं अधिक शोभाशाली था, अतः चन्द्र उसकी सदृशता में नगण्य था। अब पीडावस्था में दमयन्ती का कपोलतल कृश और पांडुर हो गया है सो अब चन्द्र का जो श्वेतांश है, वह दमयन्ती के कपोलतल में प्रतिबिम्बित नहीं होता, क्योंकि उसके और कपोलतल के वर्ण में कोई अन्तर नहीं रह गया है, जो दमयन्ती की स्वस्थ अवस्थायें थीं और जिसमें वर्ण-असाम्य के कारण चंद्र प्रतिबिम्बित हो जाता था। अब चन्द्र झलकता नहीं, केवल इसका कलंक झलकता है, जो अब दमयन्ती का कपोलतलांश ही लगता है—डिठौना। कवि ने कल्पना की है, इस स्थिति में अपना मृगांक उपहार स्वरूप देकर चन्द्र ने दमयन्ती के मुख को अपना मित्र (स्वसदृश) बना लिया है। मैत्री समान व्यक्तियों में ही होती है और मैत्री करते समय उपहार दिया ही जाता है। इस प्रकार व्यथाप्राप्ता दमयन्ती अल्प शोभनीय पांडुर कपोलतल को स्वसम पा चन्द्र ने अंक-मृग भेंट दे मैत्री स्थापित कर ली। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में कपोल लावण्य के कारण चन्द्र और कपोलतल में अभेद वर्णित होने से सामान्यालंकार है, विद्याधर के अनुसार उपमा। तिलक व्याख्या के अनुसार यहाँ तद्गुणालंकार है, रुद्रट के अनुसार जिसका लक्षण है—'यस्मिन्नैकगुणानामर्थानां योगलक्ष्यरूपाणाम् संसर्गे नानात्वं न लक्ष्यते तद्गुणः सः।' २६।

विरहतापिनि चन्दनपांसुभिर्वपुषि सार्पितपाण्डिममण्डना।
विषधराभबिसाभरणा दधे रतिपतिं प्रति शम्भुविभीषिकाम् ॥ २७ ॥

जीवातु—विरहेति। सा दमयन्ती, विरहतापिनि वपुषि, चन्दनपांसुभिः, भस्मधवलैरिति भावः, अर्पितः सम्पादितः, पाण्डिमैव मण्डनं यस्याः सा, विषधराभं शेषाहिकल्पं, बिसमेवाभरणं यस्याः सा सती, रतिपतिं स्मरं, प्रति शम्भुरेवेयमिति विभीषिकां विशेषेण भयोत्पादनं, भीषयतेर्धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल्; 'सुप्सुपा' इति समासः। न तु शम्भोर्विभीषिकेति कर्तरि षष्ठीसमासः 'तृजकाभ्यां कर्तरि' इति निषेधात्। दधे दधार, नूनमिति शेषः। गम्योत्प्रेक्षा ॥

अन्वयः—विरहतापिनि वपुषि चन्दनपांसुभिः अर्पितपाण्डिममण्डना विषधराभबिसाभरणा सा रतिपतिं प्रति शम्भुविभीषिकां दधे।

हिन्दी—विरह से संतप्त शरीर पर चन्दन-चूर्ण लगा होने से पांडुरिमा-

रूप प्रसाधन से संयुक्त, सर्पों के तुल्य बिसों (कमलनालों) के आभरण धारती वह (दमयन्ती) रति के पति (काम) के प्रति शिव जैसी भयानकता को धारण कर रही थी ।

टिप्पणी—विरह-ज्वर से संतप्त दमयन्ती के देह पर लगा चन्दन-लेप ताप के कारण सूख कर चन्दन-धूल बन गया था और उसका समग्र शरीर पांडुर भस्म से आच्छादित प्रतीत हो रहा था । लम्बे मृणाल सर्प-तुल्य दीख रहे थे । इस प्रकार दमयन्ती शिव जैसी प्रतीत हो रही थी और कामदेव के भय का कारण बन रही थी । ऐसा प्रतीत हो रहा था कि दमयन्ती ने चंदन-चूर्ण और कमलनाल इसीलिए धारण-किये थे कि उसमें शम्भु-भ्रांति से आक्रांत काम डर जाय । वियोगतापाधिक्य का वर्णन । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा और विद्याधर के अनुसार उपमा ॥ २७ ॥

विनिहितं परितापिनि चन्दनं हृदि तया भृतबुद्बुदमाबभौ ।
उपनमन् सुहृदं हृदयेशयं विधुरिवाङ्कगतोडुपरिग्रहः ॥ २८ ॥

जीवातु—विनिहितमिति । तया भैम्या, परितापिनि हृदये वक्षसि विनिहितं भृतबुद्बुदम् अतिक्वाथकृपीटकं, चन्दनं सुहृदं सखायं, हृदये शेत इति (तं) हृदयेशयं मन्मथम् 'अधिकरणे शेतेः' इत्यच्प्रत्ययः । 'शयवासवासिष्वकालात्' इत्यलुक् । उपनमन्नुपसर्पन्, अङ्कगतोडुपरिग्रहः अन्तिकस्थतारकापरिकरः, विधुरिवाबभावित्युत्प्रेक्षा ॥ २८ ॥

अन्वयः—परितापिनि हृदये तया विनिहितं भृतबुद्बुदं चन्दनं हृदयेशयं सुहृदं उपनमन् अङ्कगतोडुपरिग्रहः विधुः इव आबभौ ।

हिन्दी—संतप्त-हृदय पर उसके द्वारा लगाया गया (खौलजाने के कारण) बुल-बुलों से युक्त चंदन हृदय में स्थित मित्र कामदेव के निकट जाते, समीपस्थ तारिका समूह रूप परिग्रह से युक्त चन्द्र के समान सुशोभित हुआ ।

टिप्पणी—दमयन्ती के विरहतप्त वक्षस्थल पर लगा गीला चंदनलेप ताप से खौलने लगा, जिससे बुद्बुद उठने लगे । ऐसा प्रतीत हुआ कि बुलबुलों से पूर्ण चन्दन रूप में अपने तारिकादार परिवार के साथ चन्द्र हृदयस्थित मित्र कामदेव के पास जा रहा है । शुभ्र चन्दन चन्द्र है, उसमें उठता बुद्बुदसमूह

तारिकावर्ग है, चन्द्र का प्रिय--परिवार। मल्लिनाथ और विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ २८ ॥

स्मरहुताशनदीपितया तया बहु मुहुः सरसं सरसीरुहम् ।
श्रयितुमर्धपथे कृतमन्तरा श्वसितनिर्मितमर्मरमुज्झितम् ॥ २९ ॥

जीवातु—स्मरेति । स्मरहुताशनदीपितया कामाग्नितप्तया तया बहु भूरि, सरसं सार्द्रं सरसीरुहं सरोजं, मुहुः श्रयितुं शैत्याय सेवितुम्, अर्धे पथि अर्धपथे कृतं, तत्पर्यन्तमानीतं सत्, अन्तरा मध्ये, श्वसितेन भैमीनिःश्वासेन, निर्मितं स्मरं सद्यःशोषात् कृतमर्मरशब्दं सत्, उज्झितं वैरस्यात्त्यक्तम् तथोष्णस्तन्निःश्वास इति भावः। 'अथ मर्मरः। स्वनिते वस्त्रपर्णानाम्'' इत्यमरः। ईदृग्धर्मासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदोऽलङ्कारः ॥ २९ ॥

अन्वयः---स्मरहुताशनदीपितया तया बहु सरसं सरसीरुहं श्रयितुं मुहुः अर्धपथे कृतम् अन्तरा श्वसितनिर्मितमर्मरम् उज्झितम् ।

हिन्दी---कामाग्नि से तप्त उस (दमयंती) के द्वारा शीतोपचार के लिए लाया जाता पर्याप्त गीला कमल बारंबार आधे मार्ग में—बीच में ही निःश्वास वायु द्वारा सूखे पत्ते में होनेवाली मर्मर ध्वनि से युक्त करके छोड़ दिया गया ।

टिप्पणी--इस श्लोक में संतापाधिक्य का वर्णन है। दमयंती के शीतोपचार के निमित्त बारंबार कमल भली भाँति भिगोकर लाया जाता, पर आधे रास्ते में ही वह गीला, पानी टपकाता सरसीरुह दमयंती के गरम-गरम निःश्वासों से सूखकर सूखे पत्ते की भाँति खड़खड़ाने लगता, अतः व्यर्थ हो जाने से फेंक दिया जाता। मल्लिनाथ के अनुसार असंबंध में संबंधकथन के कारण अतिशयोक्ति ॥ २९ ॥

प्रियकरग्रहमेवमवाप्स्यति स्तनयुगं तव ताम्यति किं न्विति ।
जगदतुर्निहिते हृदि नीरजे दवथुकुड्मलनेन पृथुस्तनीम् ॥ ३० ॥

जीवातु—प्रियेति । हृदि वक्षसि, निहिते न्यस्ते, नीरजे पद्मे, दवथुः परितापः, दूङः टित्त्वादथुच्प्रत्ययः। तेन यत्कुड्मलनं मुकुलनं निपीड्य ग्रहणमिति यावत्। तेन पृथुस्तनीं दमयन्तीं, तव स्तनयुगं (कर्तृ) एवमनेन प्रका-

रेण, प्रियकरेण ग्रहं निपीड्य ग्रहणम्, अवाप्स्यति। किं नु किमर्थं, ताम्यतीति जगदतुः ऊचतुः। नूनमिति शेषः॥ ३०॥

अन्वयः—हृदि निहिते नीरजे दवथुकुड्मलेन पृथुस्तनीम् इति जगदतुः—किं नु तव स्तनयुगम् एवं प्रियकरग्रहम् अवाप्स्यति ?

हिन्दी—(दमयंती के) हृदय पर रखे गये कमलयुगल परिताप से संकुचित हो (उसी संकोच को संकेतित कर) विशाल कुचों वाली (दमयंती) से जैसे यह कहते थे—क्या तेरा स्तनयुग्म इसी प्रकार प्रिय के हाथों का संपर्क प्राप्त करेगा और संकुचित होगा ?

टिप्पणी—तापाधिक्य के कारण कमल-संकोच। प्रिय-संगम की आशंसा भी, 'प्रियकरग्रहम्' का अर्थ 'प्रिय-पाणिग्रहण' भी हुआ। 'प्रियकरग्रहम् एवम् अवाप्स्यति किं नु ताम्यति ?' स्तनयुगल प्रिय पाणिग्रहण को ऐसे ही प्राप्त करेगा, क्यों मलीन होती हो ? विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा॥३०॥

त्वदितरो न हृदापि मया धृतः पतिरितीव नलं हृदयेशयम्।
स्मरहविर्भुजि बोधयति स्म सा विरहपाण्डुतया निजशुद्धताम्॥३१॥

जीवातु—त्वदिति। सा भैमी, हृदयेशयं हृदि स्थितं, नलं त्वदितरस्त्वत्तोऽन्यः, समानो वाऽन्यो वा पतिः, मया हृदापि न धृतः मनसापि न चिन्तितः, इति निजशुद्धताम् आत्मनिर्दोषतां, पाण्डुत्वञ्च। विरहपाण्डुतया तद्व्याजेनेत्यर्थः स्मरहविर्भुजि बोधयति स्मेव मदनाग्निमग्ना सा अग्निदिव्येन स्वशुद्धिं सीता राममिव नलं बोधयामासेवेत्युत्प्रेक्षा। 'गतिबुद्धि' इत्यादिना अणिकर्त्तुर्नलस्य णौ कर्मत्वम्॥ ३१॥

अन्वयः—त्वदितरः पतिः मया हृदा अपि न धृतः—इति इव सा हृदयेशयं नलं निजशुद्धतां विरहपाण्डुतया स्मरहविर्भुजि बोधयति स्म।

हिन्दी—तेरे अतिरिक्त पति मैंने हृदय में भी नहीं धरा,—मानो ऐसा वह (दमयंती) हृदयस्थित नल को अपनी शुद्धता का विरह-पांडुरिमा के व्याज से कामाग्नि में दग्ध होती हुई बोध करा रही थी।

टिप्पणी—लंका से लौटी सीता ने राम से अपनी शुद्धि के प्रमाण में

कहा था—'कर्मणा मनसा वाचा यथा नातिचराम्यहम्। राघवं सर्वधर्मज्ञं तथा मां पातु पावकः।' (वाल्मीकिरामायण, युद्धकांड—११६।२७)। दमयंती भी मानो कामाग्नि में दग्ध हो ऐसे ही सीता की भाँति प्रिय को अपनी शुद्धता का प्रमाण दे रही थी। मल्लिनाथ–विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षालंकार। चन्द्रप्रभाकर ने उत्प्रेक्षा-रूपक की संसृष्टि मानी है ॥३१॥

विरहतप्ततदङ्गनिवेशिता　कमलिनी　निमिषद्दलमुष्टिभिः।
किमपनेतुमचेष्टत किं पराभवितुमैहत तद्दवथुं पृथुम् ॥ ३२ ॥

जीवातु—विरहेति। विरहतप्ते तदङ्गे भैमीशरीरे, निवेशिता निहिता, कमलिनी पद्मलता, निमिषद्भिरानमद्भिर्दलैः पत्रैरेव मुष्टिभिः मुष्टिबन्धैः (करणैः) पृथुं तद्दवथुं तस्यास्तापम्, अपनेतुमपच्छेत्तुमचेष्टत व्याप्रियत किम्। पराभवितुं तिरस्कर्तुमहत किम्। अचेष्टत किमित्युत्प्रेक्षा। वस्तुतस्तु, न किञ्चित्कर्तुं शशाक। प्रत्युत स्वयमेव दग्धेत्यर्थः। सोऽयं भीषकस्य भयप्रवेश इति भावः। अत एवानर्थोत्पत्तिलक्षणो विषमालङ्कारः। तदुत्थापिता चेयमुत्प्रेक्षेति सङ्करः॥ ३२॥

अन्वयः—विरहतप्ततदङ्गनिवेशिता कमलिनी निमिषद्दलमुष्टिभिः पृथुं तद्दवथुम् अपनेतुम् अचेष्टत किम्, पराभवितुम् ऐहत किम्?

हिन्दी—विरह में तपते उस (दमयंती) के अंगों पर रखी कमलिनी संकुचित होते दल रूपी मुट्ठीयों से क्या उसके ताप को दूर हटाने की चेष्टा कर रही थी, क्या उसे पराभव देना चाह रही थी?

टिप्पणी—ताप से संकुचित होती कमलिनी के माध्यम से कवि ने उसके शत्रु को पराभव देने की इच्छा करने वाली के रूप में चित्रित किया है, जो मुँदते पत्ते रूप मुट्ठी से ताप को धमका रही है। परन्तु कुछ कर न पायी, स्वयं ही दग्ध हो गयी। मल्लिनाथ के अनुसार विषम और उत्प्रेक्षा का संकर, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा॥ ३२॥

इयमनङ्गशरावलिपन्नगक्षतविसारिवियोगविषावशा।
शशिकलेव खरांशुकरार्दिता करुणनीरनिधौ निदधौ न कम् ॥ ३३ ॥

जीवातु—इयमिति । इयं भैमी, अनङ्गशरावलिरेव पन्नगाः तैः क्षतं क्षतिः, नपुंसके भावे क्तः । तेन विसारिणा व्यापिना, वियोगेनैव विषेण अवशा सती, खरांशोस्तिग्मांशोः करैरर्दिता पीडिता, शशिकलेव कं जनं करुण-नीरनिधौ शोकर सागरे । 'करुणस्तु रसे वृक्षे कृपायां करुणा मता' इति विश्वः । न निदधौ निदधावेव, निमज्जयामासैवेत्यर्थः । अत्र रूपकोपमयोरङ्गाङ्गि-भावेन सङ्करः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—अनङ्गशरावलिपन्नगक्षतविसारिवियोगविषावशा इयम् खरांशुकरार्दिता शशिकला इव कं करुणनीरविधौ न निदधौ ?

हिन्दी—काम-बाणावलि रूप सर्पों के डसने से फैलते वियोग रूप विष से बेवस यह (दमयंती) प्रखरकिरण (सूर्य) की किरणों से पीडित (मंद, ज्योतिहीन) चंद्र-कला की भाँति किसको करुणा के सागर में नहीं डाल रही थी ? सभी दमयंती की व्यथा को देखकर करुणाविगलित हो जाते थे ।

टिप्पणी—इस श्लोक में दमयंती की विवशता सूचित की गयी है । चंद्रकला के उपमान द्वारा दमयंती की कृशता संकेतित है । साँप से काटे व्यक्ति का जल-प्रवाह किया जाता है, यहाँ आश्चर्य यह है कि काम-बाण-सर्पदष्टा दमयंती अन्य व्यक्तियों को करुणा जलाशय में निमग्न कर रही है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ रूपक-उपमा का अंगांगिभाव संकर है, विद्याधर भी रूपक-उपमा का निर्देश करते हैं ॥ ३३ ॥

ज्वलति मन्मथवेदनया निजे हृदि तयार्द्रमृणाललतार्पिता ।
स्वजयिनोस्त्रपया सविधस्थयोर्मलिनतामभजद् भुजयोर्भृशम् ॥ ३४ ॥

जीवातु—ज्वलदिति । तया भैम्या, मन्मथवेदनया मदनज्वरदुःखेन, ज्वलिते प्रज्वलिते निजे हृदि वक्षसि, अर्पिता आर्द्रा सरसा, मृणाललता बिस-वल्ली, स्वजयिनोः स्वीजैत्रोः, 'जिदृक्षि' इत्यादिना इनिप्रत्ययः । भुजयो-स्तदीययोरेव, सविधस्थयोः समीपस्थयोः सतोः, त्रपया त्रसयेवेत्यर्थः । गम्योत्प्रेक्षा । भृशं मलिनतां वैवर्ण्यमभजत् । जितो जेतुरग्रे लज्जया वैवर्ण्यं भजतीति भावः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—तया मन्मथवेदनया ज्वलति निजे हृदि अर्पिता आर्द्रमृणाललता

स्वजयिनोः सविधस्थयोः भुजयोः त्रपया भृशं मलिनताम् अभजत् ।

हिन्दी—उस (दमयंती) के द्वारा काम-वेदना से जलते अपने हृदय पर रखी गयी गीली कमलनाल की बेल अपने को जीतने वाले (हृदय के) समीपस्थ बाहुओं से लज्जित हो अत्यन्त मलिनता को प्राप्त हुई ।

टिप्पणी—अपने से अधिक रूप-गुणशाली के संमुख प्रायः सभी लज्जित हो जाते हैं । दमयंती की भुजाएँ कमल-नाल की अपेक्षा अधिक कमनीय थीं, अतः उनको निकट पा कमल-नाल-बल्ली मलिन हो गयी । विजयी के समीप सभी को लज्जित होना पड़ता है। विद्याधर और प्रकाशकार नारायण के अनुसार प्रतीयमानोत्प्रेक्षा ॥ ३४ ॥

पिकरुतश्रुतिकम्पिनि शैवलं हृदि तया निहितं विचलद्बभौ ।
सततत‌द्गतहृच्छयकेतुना हृतमिव स्वतनूघनधर्षिणा ॥ ३५ ॥

जीवातु—पिकेति । तया भैम्या, पिकरुतश्रुत्या कोकिलकूजितश्रवणेन, कम्पिनि वेपमाने, हृदि वक्षसि, निहितं शैत्यार्थं न्यस्तं विचलत् आधारचलनादिति भावः । शैवलं, स्वतन्वा शैवलशरीरेण सह, घनधर्षिणा, भृशसङ्घर्षिणा, द्वयोरपि जलचरत्वादिति भावः । सततं तद्गतस्य भैमीहृद्गतस्य हृच्छयस्य कामस्य, केतुना चिह्नेन, मत्स्येन हृतं ताडितमिव, बभावित्युत्प्रेक्षा ॥ ३५ ॥

अन्वयः—तया पिकरुतिश्रुतिकम्पिनि हृदि निहितं विचलत् शैवलं स्वतनूघनधर्षिणा सततत‌द्गतहृच्छयकेतुना हृतम् इव बभौ ।

हिन्दी—उस (दमयंती) के द्वारा कोकिल-शब्द के श्रवण से कंपित-हृदय पर रखी गयी (हृत्कंपन के कारण) विचलती शैवाल अपने देह को प्रचुर रूप से घर्षित करने वाले निरन्तर उस (दमयन्ती) के हृदयस्थित (काम) के ध्वजचिह्न (मत्स्य) से ताडित होती जैसी सुशोभित हुई ।

टिप्पणी—सन्ताप शमन के लिए दमयन्ती के हृदय-स्थल पर सिवार घास रखी गयी थी, वह हृदय कोकिल-रव सुनकर कंपित होने लगा और अपने आधार वक्षस्थल के हिलने-कांपने के कारण सिवार भी विचलित हो गयी । कवि ने कल्पना की है, कि मानो सिवार के कंपन का कारण दमयन्ती के हृदय में निरन्तर वास करते काम के ध्वज-चिह्न मत्स्य के द्वारा

आघात है, जिसके शरीर का निविड घर्षण सिवार के साथ हो रहा है। शैवाल रखी होने पर भी कोकिल रुति दमयंती के हृदय में कंपन कर देती थी। घर्षण का घनत्व कंपन के आधिक्य की सूचना के लिए है। उत्प्रेक्षा अलंकार ॥ ३५ ॥

न खलु मोहवशेन तदाननं नलमनः शशिकान्तमबोधि तत् ।
इतरथाऽभ्युदये शशिनस्ततः कथमसुस्रवदश्रुमयं पयः ॥ ३६ ॥

जीवातु—नेति। नलमनः (कर्तृ), मोहवशेन विरहप्रयुक्ताज्ञानवलेन, तदाननं भैमीमुखं (कर्म), शशिकान्तमिन्दुसुन्दरम् इन्दूपमञ्च, नाबोधि खलु नाबुद्ध किमिति काकुः। अबुध्यत एवेत्यर्थः। तच्च सत्यमिति भावः। 'दीपजन' इत्यादिना कर्त्तरि चिण्। इतरथा, तदसत्यत्वे शशिनोऽभ्युदये ततो भैमीमुखाद-श्रुमयमश्रुरूपं, पयः कथं असुस्रवत् स्रुतं चन्द्रोदये पयःस्रावाच्चन्द्रकान्तत्वं सत्य-मित्यर्थः। चन्द्रोदये दाहोद्रेकाद्रुरोदेति भावः। द्रवतेर्लुङ्णिश्रीत्यादिना च्लेश्चङि धातोरुवङादेशः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—नलमनः मोहवशेन तदाननं शशिकान्तं न अबोधि खलु, (अपितु तत्त्वत एव अबोधि) इतरथा शशिनः अभ्युदये ततः अश्रुमयं पयः कथम् असुस्रवत् ?

हिन्दी—नल के मन ने मोहवश उस (दमयंती) के मुख को चन्द्रकांत (चन्द्रकांत मणि अथवा चन्द्रवत् कांत) नहीं समझा, (अपितु तत्त्वत समझा), अन्यथा चन्द्रोदय होने पर उस (मुख) से आँसू-रूप जल कैसे स्रवित हुआ ?

टिप्पणी—आशय यह है कि दमयंती का मुख सत्य ही 'शशिकान्त' (चन्द्रकांत मणि समान अथवा चन्द्र के समान मनोहर) था। नल का मन यद्यपि दमयंती-मुख पर मुग्ध था, पर उस मुख को चन्द्रकांत समझना मोह के कारण नहीं था, वह वस्तुतः चन्द्रकांत था ही, यदि वह चन्द्रकांत मणि नहीं होता तो चन्द्रोदय होने पर उससे आँसू-जल कैसे टपकता ? यह अश्रु-स्रवण मुख के चन्द्रकांतमणि होने का प्रमाण है, क्योंकि चन्द्रोदय पर ही चन्द्रकांत मणि द्रवित होती है। चन्द्रवत् कांत पक्ष में यह तर्क है कि

मुख चन्द्र समान कांत होने से चन्द्र का प्रतिपक्षी अमित्र है, अतः शत्रु चंद्र का उदय देख कर जलन से दुःख के आँसू टपका रहा है, अथवा चंद्र के समान कांत होने के कारण 'समानसख्य' के न्याय से मुख चंद्र का मित्र है, अतः मित्र का उदय—उन्नति देखकर वह आनन्द के अश्रु बहा रहा है। इस श्लोक में चंद्रोदय देख विरहिणी दमयंती के वाष्पातिरेक का वर्णन किया गया है। विद्याधर के अनुसार अनुमान अलंकार ।। ३६ ।।

रतिपतेर्विजयास्त्रमिषुर्यथा जयति भीमसुतापि तथैव सा ।
स्वविशिखानिव पञ्चतया ततो नियतमैहत योजयितुं स ताम् ।।३७।।

जीवातु—रतिपतेरिति । रतिपतेः कामस्य यथेषुः विजयस्यास्त्रं विजयास्त्रं विजयसाधनमायुधं जयति । तथैव सा भीमसुतापि विजयास्त्रं सती जयति । ततस्तस्मात् (हेतोः) स कामः, स्वस्य विशिखानिषूनिव, तां भैमीं, पञ्चतया पञ्चसङ्ख्याकत्वेन, मरणेन च । 'पञ्चता पञ्चभावे स्यात् पञ्चता मरणेऽपि च' इति विश्वः । योजयितुमैहत । स्वेषुधर्मविजयास्त्रत्वेनैव पञ्चत्वेनापि योजयितुमैच्छत् । नियतं सत्यमित्युत्प्रेक्षार्थः । अन्यथा, किमर्थमेनामित्थं पीडयेदिति भावः । उपमानोत्प्रेक्षयोः सङ्करः ।। ३७ ।।

अन्वयः—रतिपतेः इषुः यथा विजयास्त्रं जयति तथा एव सा भीमसुता अपि ततः स्वविशिखान् इव तां पञ्चतया नियतं योजयितुम् ऐहत ।

हिन्दी—रति के स्वामी (काम) का बाण जिस प्रकार विजयास्त्र होता हुआ सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त है, उसी प्रकार वह भीमतनया भी (काम का विजयास्त्र हो सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त) है, उस कारण ही उस (काम) ने उस (भैमी) को 'पञ्चतया'—पाँच बाणों के समान निश्चयतः प्रयोग में लाने की इच्छा की अन्यथा क्यों काम उसकी 'पञ्चतया योजना की इच्छा' अर्थात् पञ्चत्व (मृत्यु) योजना की इच्छा करता ?

टिप्पणी—मरणदशा का वर्णन । वस्तुतः काम की इच्छा तो यह थी कि वह विश्वसुन्दरी दमयन्ती का प्रयोग अपने पाँचों बाणों के तुल्य विश्व विजयार्थ करता, इसी से उसने उसे पञ्चता अर्थात् 'पाँच बाणों का भाव' दिया, जो दमयन्ती की पंचता (पंचत्व–मृत्यु) योजना समझी गयी । आशय

यह है कि वियोगजन्य कामव्यथा के कारण दमयन्ती मरणासन्न हो रही थी। मल्लिनाथ ने यहाँ उपमा-उत्प्रेक्षा का संकर माना है, विद्याधर के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति है ॥ ३७ ॥

शशिमयं दहनास्त्रमुदित्वरं मनसिजस्य विमृश्य वियोगिनी।
झटिति वारुणमश्रुमिषादसौ तदुचितं प्रतिशस्त्रमुपाददे ॥ ३८ ॥

जीवातु—शशिमयमिति। वियोगिन्यसौ भैमी, उदेतीत्युदित्वरमुद्यत्, 'इण्नशजिसर्तिभ्यः क्वरप्' शशिमयं शशिरूपं, मनसिजस्य दहनास्त्रम् आग्नेयास्त्रं विमृश्यालोच्य, झटिति द्राक्। अश्रुमिषाद्वारुणं वरुणदेवताकं, 'सास्य देवता' इत्यण्प्रत्ययः। तस्याग्नेयस्योचितं प्रतीकारक्षमं, प्रतिशस्त्रमुपाददे प्रयुक्तवतीत्यर्थः। चन्द्रतापसहिष्णुरशरणा केवलमरोदीत्यर्थः। सापह्नवोत्प्रेक्षा।

अन्वयः—वियोगिनी असौ मनसिजस्य शशिमयं दहनास्त्रम् उदित्वरं विमृश्य झटिति अश्रुमिषात् तदुचितं वारुणं प्रतिशस्त्रम् उपाददे।

हिन्दी—विरहिणी उस (दमयन्ती) ने काम के चन्द्ररूप आग्नेयास्त्र को उद्‌गमनशील विचार कर झट से आँसुओं के बहाने उसके उपयुक्त वारुण प्रतिशस्त्र (प्रतिरोधी शस्त्र) ग्रहण कर लिया।

टिप्पणी—इस श्लोक में चन्द्रोदय को देख उत्पन्न हुए दमयन्ती के अश्रु-प्रवाह का वर्णन है, चन्द्र को देख कष्ट से वियोगिनी रोती ही है। कवि ने चन्द्र की काम के आग्नेयास्त्र रूप में कल्पना की है। और उस दहनास्त्र के शमनार्थ दमयन्ती के आँसुओं की वरुणास्त्र के रूप में, जिससे काम के दहनास्त्र का प्रतिरोध हो सके। भाव यही है कि चन्द्रोदय असह्य होने के कारण विरहिणी रो पड़ी। मल्लिनाथ के अनुसार सापह्नवोत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-अपह्‌नुति ॥ ३८ ॥

अतनुना नवमम्बुदमाम्बुदं सुतनुरस्त्रमुदस्तमवेक्ष्य सा।
उचितमायतनिश्वसितच्छलाच्छ्वसनमस्त्रममुञ्चदमुं प्रति ॥ ३९ ॥

जीवातु—अतनुनेति। सा सुतनुर्भैमी, नवं नूतनम्, अम्बुदं मेघमेव, अतनुना अनङ्गेन, उदस्तम् उत्क्षिप्तं, आम्बुदसम्बन्ध्यस्त्रं पर्जन्यास्त्रम् अवेक्ष्य आयतनिश्वसितच्छलाद्दीर्घनिश्वासमिषादमुमम्बुदं प्रति, उचितं प्रतीकारक्षमं

श्वसनं श्वसनात्मकमस्त्रं वायव्यास्त्रममुञ्चत् प्रायुङ्क्त । मेघदर्शनात् दीप्तमदनज्वरा दीर्घमुष्णं च निशश्वासेत्यर्थः । अत्रापि सापह्नवोत्प्रेक्षा ॥ ३९ ॥

अन्वयः—सा सुतनुः अम्बुदम् अतनुना उदस्तम् आम्बुदम् अस्त्रम् अवेक्ष्य आयतनिःश्वसच्छलात् अमुं प्रति उचितं श्वसनम् अस्त्रम् अमुञ्चत् ।

हिन्दी—उस सुन्दरी (दमयन्ती) ने बादल को अतनु (काम) के द्वारा चलाया गया पर्जन्यास्त्र मान कर लंबे निःश्वास के व्याज से उस (मेघास्त्र) के प्रतिरोधार्थ उपयुक्त श्वसनास्त्र (वायव्यास्त्र) छोड़ा ।

टिप्पणी—दमयन्ती की विरहव्यथा का वर्णन करते कवि ने ३७ वें श्लोक से ४२ वें श्लोक तक युद्ध के आघात-प्रत्याघात का चित्र उपस्थित किया है । पूर्व श्लोक में बताया गया कि काम ने चन्द्र रूप में दमयन्ती पर आग्नेयास्त्र का प्रहार किया, प्रत्युत्तर में दमयन्तीने अश्रुरूप में उसके प्रतिरोधास्त्र वारुणास्त्र का प्रयोग किया । इस श्लोक में पुनः काम के पूर्वप्रहार का वर्णन है और दमयन्ती द्वारा उसके निवारण का । वारुणास्त्र के उत्तर में काम ने उसका शयन करने वाला पर्जन्यास्त्र चलाया आकाश में छाये मेघ के रूप में, दमयन्ती ने उसे देखा और उसके निवारणार्थ दीर्घ निःश्वास रूप में वायव्यास्त्र छोड़ दिया । आकाश में छाये वर्षा के बादलों को देख वियोगिनी दमयन्ती लंबे-लंबे दुःखभरी साँसे लेने लगी—यह आशय है । 'अतनु' (काम के अर्थ में) और 'सुतनु' (दमयन्ती के विशेषण रूप में) का चामत्कारिक का प्रयोग दर्शनीय है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ भी सापह्नवोत्प्रेक्षा है और विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-अपह्नुति ॥ ३९ ॥

रतिपतिप्रहितानिलहेतितां प्रतियती सुदती मलयानिले ।
तदुरुतापभयात्तमृणालिकामयमियं भुजगास्त्रमिवादित ॥ ४० ॥

जीवातु—रतिपतीति । सुदतीयं भैमी मलयानिले विषये रतिपतिप्रहितानिलहेतितां कामप्रयुक्तवासव्यास्त्रताम् । 'हेतिः शस्त्रं प्रहरणं ह्यायुधञ्चास्त्रमेव च' इति हलायुधः । प्रतियती जानती । इणः शतरि ङीप् । तेनास्त्रेण य उरुस्तापः ततो भयात्, आत्ता अङ्गीकृता या मृणालिका तन्मयं बिसरूपं,

भुजगास्त्रम् अदितेव आत्तवती किमित्युत्प्रेक्षा। भुजगानां वाताहारत्वादिति भावः। 'स्थाघ्वोरिच्च' इतीकारः। 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सलोपः॥ ४०॥

अन्वयः—सुदती इयं मलयानिले रतिपतिप्रहितानिलहेतितां प्रतियती तदुरुतापभयात्तमृणालिकामयं भुजगास्त्रम् इव आददे।

हिन्दी—सुन्दर दाँतों वाली वह (दमयन्ती) मलयपवन को रति के स्वामी (काम) द्वारा प्रयुक्त वायव्यास्त्र समझ कर जैसे उसके प्रति कष्ट की आशंका करते हुए मृणाल रूप भुजंगास्त्र से सज्जित हो गयी।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में वर्णित दमयन्ती द्वारा प्रयुक्त वायव्यास्त्र के उत्तर में कामदेव ने भी मलयपवन के व्याज से वायव्यास्त्र छोड़ा, दमयन्ती ने उसके प्रतिरोध के लिए भयानक कष्ट की आशंका से मृणालरूप भुजंगास्त्र धारण कर लिया। सर्प वायु को पी जाता है। वासंती मलयपवन चलने पर दमयन्ती ने पीडा-निवृत्त्यर्थ मृणाल-धारण किये। आकारसाम्य। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में सापह्नवोत्प्रेक्षा॥ ४०॥

न्यधित तद्धृदि शल्यमिव द्वयं विरहितां च तथापि च जीवितम्।
किमथ तत्र निहत्य निखातवान् रतिपतिः स्तनबिल्वयुगेन तत्॥४१॥

जीवातु—न्यधितेति। रतिपतिस्तद्धृदि भैमीहृदये, विरहितां विरहित्वं च, तथापि विरहित्वेऽपि, जीवितं चेति द्वयं, शल्यं शङ्कुमिव, न्यधित निखातवानित्यर्थः। जीवतो विरहः विरहिणो जीवनं च द्वे अपि शल्यप्राये इत्यर्थः। दधातेर्लुङि तङ्। 'स्थाघ्वोरिच्च' इतीकारः। 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सलोपः। अथ निखननान्तरं, तच्छल्यद्वयं स्तनावेव बिल्वे परिणतबिल्वफले, तयोर्युगेन तत्र हृदि निहत्य आहत्य, निखातवान् किम्। यथा लोके निखातं शङ्कुं दार्ढ्याय पाषाणेन घ्नन्ति तद्वदिति भावः। पूर्वार्धे शल्यनिखननोत्प्रेक्षा। उत्तरार्धे निहत्य निहननोत्प्रेक्षा। निखातवानित्यनुवादः॥ ४१॥

अन्वयः—रतिपतिः तद्धृदि विरहितां तथा अपि जीवितं च द्वयं शल्यम् इव न्यधित अथ तत् स्तनबिल्वयुगेन तत्र निहत्य निखातवान् किम्?

हिन्दी—रतिस्वामी (काम) ने उस (दमयन्ती) के हृदय में वियोग-भाव और जीवित रहना—जैसे ये दो शल्य गाढ़ दिये थे और तदनन्तर क्या उस पर स्तन रूप दो बिल्वफल अच्छी प्रकार ठोंक कर गाढ़ दिये थे?

टिप्पणी—एक विरह और दूसरे उसके साथ जीवित रहना—ये दो कष्ट दमयन्ती को भोगने पड़ रहे थे। विरही जीवन अतिपीडादायक था। कवि ने कल्पना की है कि कामदेव ने ये दो काँटे विरह और जीवित रहना—दमयन्ती के हृदय में गाड़ दिये और वे ढीले रहकर कहीं निकल न जायें, इस आशंका से दो पत्थर जैसे बेल (स्तन युगल) ठोक दिये। पूर्ण यौवन में दमयन्ती को वियोग-कष्ट सहकर जीना पड़ रहा था, सो यह द्विगुणित दुःख था। मल्लिनाथ के अनुसार पूर्वार्द्ध में शल्यनिखनन उत्प्रेक्षित और उत्तरार्द्ध में निहनन। इस प्रकार दो उत्प्रेक्षाएँ है। विद्याधर उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकार मानते हैं ॥ ४१ ॥

अतिशरव्ययता मदनेन तां निखिलपुष्पमयस्वशरव्ययात् ।
स्फुटमकारि फलान्यपि मुञ्चता तदुरसि स्तनतालयुगार्पणा ॥ ४२ ॥

जीवातु—अतीति। तां दमयन्तीम् अतितरां, शरव्ययता शरव्यं लक्ष्यं कुर्वता, शरव्यशब्दात् 'तत्करोति' इति ण्यन्ताल्लटः शतृप्रत्ययः। अत एव निखिला ये पुष्पमयाः स्वशरास्तेषां क्षयात् व्ययात् फलान्यपि मुञ्चता क्षिपता मदनेन तदुरसि भैमीवक्षसि, स्तनावेव ताले तालफले, तयोर्युगस्यार्पणाक्षेपः, अकारि। स्फुटमित्युत्प्रेक्षा। शरक्षये पाषाणादिनापि प्रहरन्तीति भावः ॥४२॥

अन्वयः—ताम् अतिशरव्ययता निखिलपुष्पमयस्वशरव्ययात् फलानि अपि मुञ्चता मदनेन तदुरसि स्तनतालयुगार्पणा अकारि स्फुटम्।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) को बारंबार बाणों का लक्ष्य बनाते हुए अपने संपूर्ण पुष्प बाणों का व्यय कर देने के कारण फल भी छोड़ते काम ने उस (दमयन्ती) के उरःस्थल में मानो दो स्तन रूप दो तालफलों से भी प्रहार कर दिया था।

टिप्पणी—प्रहरणशील काम दमयन्ती को व्यथित करने के लिए एक के बाद एक प्रहार कर रहा था। उसने इसी क्रम में अपने पाँचों पुष्प बाण दमयन्ती को लक्ष्य बनाकर उस पर छोड़ दिये। जब पुष्प समाप्त हो गये; तब फलों से प्रहार किया और स्तन रूप दो ताल-फलों से भी प्रहार कर दिया। ये कठोर स्तन रूप ताल-फल क्या थे, जैसे कठोर पाषाण थे। जब प्रहारकर्त्ता काम के फूल, फल भी समाप्त हो गये, तो पत्थर न फेंकता ?

मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार रूपक और उत्प्रेक्षा, जिनकी चंद्रप्रभाकार ने संसृष्टि मानी है ।। ४२ ।।

अथ मुहुर्बहुनिन्दितचन्द्रया स्तुतविधुन्तुदया च तया बहु ।
पतितया स्मरतापमये गदे निजगदेऽश्रुविमिश्रमुखी सखी ।। ४३ ।।

जीवातु—अथेति । अथानन्तरं स्मरतापमये कामज्वररूपे, गदे रोगे 'रोग-व्याधिगदामयाः' इत्यमरः । पतितया मग्नया । अत एव, मुहुः बहु बहुधा, निन्दितचन्द्रया, तस्योद्दीपकत्वादिति भावः । मुहुः स्तुतो विधुं तुदतीति विधुन्तुदो राहुर्यया तया, विधुन्तुदत्वादेवेति भावः । 'तमस्तु राहुः स्वर्भानुः सैंहिकेयो विधुन्तुदः' इत्यमरः । 'विध्वरुषोस्तुद' इति खच्प्रत्ययः 'अरुर्द्विषद-जन्तस्य मुम्' इति मुमागमः । तया दमयन्त्या, अश्रुविमिश्रं मुखं यस्याः सा अनिष्टाशङ्कया रुदती सखी, निजगदे निगदिता । विप्रकृतो ह्यपकर्तारं निन्दति तदपकर्तारञ्च स्तौतीति भावः ।। ४३ ।।

अन्वयः—अथ स्मरतापमये गदे पतितया मुहुः बहुनिन्दितचन्द्रया बहु च स्तुतविधुन्तुदया तया अश्रुविमिश्रमुखी सखी निजगदे ।

हिन्दी—तदनंतर कामतापरूप रोग में ग्रस्त, बारंबार अनेकधा चंद्र की निन्दा करती और अनेक बार चंद्र-पीडक राहु की स्तुति करती वह (दम-यन्ती), आँसुओं से जिसका मुख आच्छन्न था, ऐसी सखी से कहने लगी ।

टिप्पणी—अन्त में काम से पराजित, कामतापरोगग्रस्ता दमयन्ती चंद्र को कोसती हुई तथा चंद्रशत्रु राहु की स्तुति करती हुई अपनी सहानुभूति से पूर्ण सखी से कहने लगी जो कथन इस सर्ग के ९९ वें श्लोक तक है। ७३ वें तक चंद्रोपालंभ है, मानो कामोपालंभ । अपनी स्वामिनी के दुःख का अनुभव करती अनिष्ट की आशंका से उसकी सखी भी रो रही थी । विद्याधर के अनुसार उल्लेखनीय अलंकार छेकानुप्रास ।। ४३ ।।

नरसुराब्जभुवामिव यावता भवति यस्य युगं यदनेहसा ।
विरहिणामपि तद्गतवद्युवक्षणमितं न कथं गणितागमे ।। ४४ ।।

जीवातु—नरेति । नरसुराब्जभुवां मनुष्यदेवब्रह्मणामिव, यावता अनेहसा

कालेन, यस्य जन्तोर्यद्युगं भवति, गणितागमे ज्योतिश्शास्त्रे तत्सर्वं वक्तव्यमेवेति शेषः। यथा ब्रह्मणो दिनं देवादीनां युगादिकमित्युक्तम्, तद्वदन्यस्यापि गणितशास्त्रे वक्तव्यमिति भावः।

ततः किमित्याशङ्क्य आह। विरहिणां तद्युगं कथं किमिति रतवताम-विद्युक्तानां यूनां क्षणेन मितं गणितं न। अवियुक्तानां क्षणो वियुक्तानां युजमिति किमिति नोक्तमित्यर्थः। तथा तस्या एकैकक्षण एकैकयुगकल्पोऽभूदित्यर्थः।

अन्वयः—नरसुराब्जभुवाम् इव यावता अनेहसा यस्य यत् युगं भवति गणितागमे विरहिणां तत् कथं रतवद्युवक्षणमितं न ?

हिन्दी—मनुष्य, देव और ब्रह्मा के तुल्य जितने काल-परिमाण से जिसका जो युग होता है ज्योतिःशास्त्र में (वह तो गिन लिया गया, परन्तु) वियोगियों का वह (युग) अवियोगी तरुणों के क्षण के परिमाण का क्यों नहीं गिना गया ?

टिप्पणी—४४, ४५, ४६ श्लोकों में विरह की दुःसहता का वर्णन किया गया है। गणितागम—ज्योतिःशास्त्र में नरों, देवों और ब्रह्मा के युगों में किसका कितना काल-परिमाण होता है, इसकी गणना की गयी है, जैसे ३६० दिन में मानव का एक वर्ष होता है, वह देवों का एक दिन रात होता है। देवों के बारह सहस्र वर्षों का चतुर्युग होता है। ऐसे ही एक सहस्र चतुर्युग का ब्रह्मा का एक दिन होता है और उतने में ही एक रात। ऐसे पाँच सौ वर्षों का एक परार्द्ध होता है और दो परार्द्धों की परमायु होती है। कवि की उद्भावना है कि इस रीति से मनुष्यादि के युगादि की गणना तो ज्योतिःशास्त्र में की गयी, परन्तु वियोगी और संयोगी तरुणों का कितने परिमाण का कितना युग होता है, इसकी गणना नहीं की गयी। यह उचित नहीं है। यदि गणना करते तो ज्ञात होता कि संयोगी (रतवंत) तरुणों का जो क्षण होता है, वह वियोगिजनों का एक युग होता है। गणितागम में इसका उल्लेख होना चाहिए। यह दमयन्ती का कथन है, जो यह कहना चाहती है कि उसे वियोग का एक-एक क्षण एक-एक युग के समान प्रतीत हो रहा है, जो काटे नहीं कटता। रतवंत

तरुणों के क्षण का चतुर्थांश भी वियोगियों के लिए एक युग है। विद्याधर के अनुसार उपमा और अतिशयोक्ति ॥ ४४ ॥

जनुरधत्त सती स्मरतापिता हिमवतो न तु तन्महिमादृता।
ज्वलति भालतले लिखितः सतीविरह एव हरस्य न लोचनम् ॥ ४५ ॥

जीवातु—जनुरिति। सती भवपूर्वपत्नी दक्षकन्या, स्मरतापिता विरहाग्नितप्ता सती, हिमवतो जनुर्जन्माधत्त। तस्य हिमवतो महिमा आदृतो यया सा तन्महिमादृता, आदृततन्महिमा सती तु न। आहिताग्न्यादित्वान्निष्ठायाः परनिपातः। विरहतापशान्त्यर्थं हिमाद्रेर्जाता। न तु, तत्तु परसामर्थ्यानुरोधादित्युत्प्रेक्षा। हरस्य भालतले लिखितो ब्रह्मणा लिखितः सतीविरह एव ज्वलति, लोचनं नेत्यारोप्यापह्नवालङ्कारः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—स्मरतापिता सती हिमवतः जनुः अधत्त तन्महिमादृता तु न, हरस्य फालतले लिखितः सतीविरहः एव ज्वलति, लोचनं न।

हिन्दी—काम से संतापित हो सती (दक्षपुत्री) ने हिमालय से जन्म धारण किया था, उस (हिमालय) के प्रति आदर भाव के कारण तो नहीं, शिव के मस्तक पर स्थित सती का वियोग ही दीप्त है, (शिव का) नेत्र नहीं।

टिप्पणी—सचमुच विरह असह्य होता है। वियोग संतप्त सती जल मरीं और उन्होंने उसी जलन को मिटाने के लिए हिमालय (हिम के आलय) से जन्म लिया। शिव जी के मस्तक पर तीसरा नेत्र नहीं है, वस्तुतः सती की वियोगाग्नि दीप्त है। तो जगत् के माता-पिता सती-शिव भी जब विरह से इतने व्यथित हैं तो सामान्य मानुषी दमयन्ती की तो गणना ही क्या ? वह तो और भी व्यथित होगी। मल्लिनाथ के अनुसार पूर्वार्द्ध में उत्प्रेक्षा और उत्तरार्द्ध में अपह्नुति अलंकार, विद्याधर ने केवल अपह्नुति को उल्लेख्य माना है।४५।

दहनजा न पृथुर्दवथुव्यथा विरहजैव पृथुर्यदि नेदृशम्।
दहनमाशु विशन्ति कथं स्त्रियः प्रियमपासुमुपासितुमुद्धुराः ॥ ४६ ॥

जीवातु—दहनेति। दहनजा अग्निदाहजन्या, दवथुव्यथा तापदुःखं, पृथुः अधिका न। किन्तु विरहजैव पृथुः। ईदृशं न यदि इदमित्थं न चेत्।

स्त्रियः, अपासुमपगतप्राणं मृतं, प्रियम्, उपासितुं प्राप्तम्, उत्कृष्टा धूर्भारो यासां ता उद्धुराः अनर्गलाः सत्य इत्यर्थः । 'ऋक्पूः' इत्यादिना समासान्तोऽकारः । कथमाशु दहनं विशन्ति । अग्निदाहाद्विरहदाह एवाधिक इत्यर्थः । तस्य तत्परिहारार्थेन स्त्रीणामग्निप्रवेशकार्येण समर्थनात् कार्येण कारण-समर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—दहनजा दवथुव्यथा पृथुः न विरहजा एव पृथुः, यदि ईदृशं न अपांसुम् प्रियम् उपासितुम् उद्धुराः स्त्रियः आशु दहनं कथं विशन्ति ?

हिन्दी—अग्नि से उत्पन्न ताप की पीडा बड़ी नहीं होती, वियोगजन्य (पीडा) ही बड़ी होती है यदि ऐसा नहीं है तो गतप्राण (मृत) प्रिय की सेवा को उत्सुक नारियाँ झटपट आग में क्यों प्रविष्ट हो जाती हैं ?

टिप्पणी—मृतप्रिय के सहमरण को नारियाँ इसीलिए उद्यत हो जाती हैं कि वियोगाग्नि का ताप चितालाप की अपेक्षा कहीं दुःसह है । उनका चिता-प्रवेश इसके पक्ष में अकाट्य तर्क है । मल्लिनाथ के अनुसार कार्य से कारण-समर्थनरूप, अर्थान्तरन्यास अलंकार, विद्याधर के अनुसार अनुमान ॥ ४६ ॥

हृदि लुठन्ति कला नितराममूर्विरहिणीवधपङ्ककलङ्किताः ।
कुमुदसख्यकृतस्तु बहिष्कृताः सखि ! विलोकय दुर्विनयं विधोः ॥ ४७ ॥

जीवातु—हृदीति । विरहिणीवधाद्यः पङ्कः पाप्मा । 'अस्त्री पङ्कं पुमान् पाप्मा' इत्यमरः । तेन कलङ्किताः सञ्जातकलङ्काः, अमूः कलाः, हृदि अभ्यन्तरे नितरां लुठन्ति वर्तन्ते । कुमुदैः सख्यं कुर्वन्तीति तत्कृतः, विशुद्धा इत्यर्थः । तास्तु कलाः बहिष्कृताः । हे सखि, विधोर्दुर्विनयं, दौर्जन्यं, विलोकय । दुर्जनाः पापिष्ठानन्तःकुर्वन्ति विशुद्धान् बहिष्कुर्वन्तीति भावः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—सखि, विधोः दुर्विनयं विलोकय—अमूः विरहिणीवधपङ्क-कलङ्किताः कलाः हृदि नितरां लुठन्ति कुमुदसख्यकृतस्तु बहिष्कृताः ।

हिन्दी—हे सखि, चंद्र की अतिनीति तो देख—ये वियोगिनियों के वध रूप कीचड़ से कलङ्कित कलाएँ तो हृदय पर सुतरां लोट रही हैं, कुमुदों से (उन्हें विकसित कर) मित्रता करने वाली (कलाएँ) बहिष्कृत हैं ।

टिप्पणी—चंद्रकला से असह्य व्यथित हो दमयन्ती कह रही है कि चंद्र

बड़ा दुष्ट है, वह पापियों---कलंकितों को तो हृदय में बसाता है---आदर देता है, और उपकारियों को दूर भगाता है। उदाहरणार्थं---चंद्र के पास दो प्रकार की कलाएँ हैं : एक तो वे हैं, जिनकी असह्यता के कारण वियोगि-नियाँ मर जाती हैं, उन हत्यारी-हत्या-कलंक से युक्त कलाओं को चंद्र अपने भीतर रख लेता है कृष्ण पक्ष में, और जो कुमुद-विकासकारिणी, अतएव परोप-कारिणी कलाएँ हैं, शुक्लपक्ष में उन्हें दूर भगा देता है। यह दुर्जनों का स्वभाव है, सज्जन तो उपकारी को आदर देते हैं, अपकारी को दूर रखते हैं। चंद्र इसके विपरीत आचरण कर रहा है, अतः दुर्विनयी है। अथवा---चंद्र दुष्ट और अविनीत है, उसने हत्यारी कलाओं को तो दमयन्ती के हृदय पर लोटने---मानो उसकी हत्या करने---भेज दिया है, उन उपकारिणी कलाओं को दूर भेज दिया है, जो कुमुदविकास का कारण हैं। दमयन्ती को ताप हो रहा है, अतः उसकी प्रतीति है कि चंद्र की कलाएँ दो प्रकार की हैं, जो संताप कारिणी हैं, वे मूर्त हैं, विद्यमान हैं, जो उपकारिणी हैं, वे अमूर्त हैं। यही चंद्र का दुर्विनय है जो उसने आनन्ददायिनी कलाओं को दमयन्ती-संपर्क में नहीं आने दिया, उन वियोगिनी-वध-कलंकिताओं को भेज दिया कि जाकर दमयन्ती का भी वध करो। उस दुष्ट पर अब ये कलंकिनी कलाएँ रह गयी हैं, उपकारिणी कलाएँ तो बहिष्कृत हैं। विद्याधर के अनुसार समासोक्ति अलंकार ॥ ४७ ॥

अयि विधुं परिपृच्छ गुरोः कुतः स्फुटमशिक्ष्यत दाहवदान्यता ।
ग्लपितशम्भुगलाद्गरलात्त्वया किमुदधौ जड ! वा वडवानलात् ॥४८॥

जीवातु---अयीति। अयि सखि ! विधुं परिपृच्छ। हे जड मूढ ! त्वया दाहवदान्यता दाहदातृत्वं दाहकत्वमित्यर्थः। किं ग्लपितशम्भुगलाच्छोषित-शम्भुकण्ठात् गरलात् कालकूटात्, उदधौ वडवानलाद्वा कुतः कस्माद् गुरोः स्फुटमशिक्ष्यत शिक्षिता, अभ्यस्तेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

अन्वयः---अयि, विधुं स्फुटं परिपृच्छ---जड, त्वया दाहवदान्यता कुतः गुरोः अशिक्ष्यत, किं ग्लपितशम्भुगलात् गरलात् वा उदधौ वडवानलात् ?

हिन्दी -- हे सखि, चंद्र से स्पष्टतया पूछ---हे दुर्मते, तू ने जला डालना

किस गुरु से सीखा, क्या शिवजी के गले को जलाने वाले विष कालकूट (वंधु) से अथवा समुद्र-स्थित वडवानल से ?

टिप्पणी—वियोगिनी दमयन्ती को चंद्रमा कालकूट विष और वडवाग्नि के समान अथवा उनसे अधिक दाह दे रहा है, अतः दमयन्ती जानना चाहती है कि दाहनकला की शिक्षा उसे किससे मिली है ? चंद्र, कालकूट और वड-वानल सभी का समुद्र से संवंध है, सो ऐसा लगता है कि यह शिक्षा चंद्र को कालकूट से मिली है, जिसने शंकर–शिव का भी गला जला डाला था फिर वडवाग्नि से, जिसने जलनिधि को भी दहन-दुःख दिया ? विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छेकानुप्रास ॥ ४८ ॥

अयमयोगिवधूवधपातकैर्भ्रमिमवाप्य दिवः खलु पात्यते ।
शितिनिशादृषदि स्फुटदुत्पतत्कणगणाधिकतारकिताम्बरः ॥ ४९ ॥

जीवातु—अयमिति । अयं विधुः, अयोगिवधूवधपातकैः वियोगिस्त्री-हिंसापापैः, करणैः, भ्रमिं भ्रमणम्, अवाप्य प्रापय्य आप्नोतेर्ण्यन्तात् क्त्वो ल्यबादेशः । 'विभाषाऽऽपः' इति विकल्पादयादेशाभावः । शितिनिशा कृष्ण-पक्षरात्रिस्तस्यामेव दृषदि शिलायां स्फुटन्तः पातवेगाद्विश्लिष्यन्तः तत उत्पतन्तश्च ये कणाः खण्डाः, तेषां गणैरधिकं तारकिताम्बरं भूम्ना तारकत्वकृताकाशः सन् । अत एव कृष्णपक्षे तारकबाहुल्यमिति भावः । तारकवच्छब्दात् 'तत्क-रोति' इति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः । 'विन्मतोर्लुक्' मतुपो लुक् दिवोऽन्तरिक्षा-न्निपात्यते खलु । उत्कटपापकारिणः पुरे परिभ्राम्य शिलायां निपात्य हन्यन्त इति भावः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—अयम् अयोगिवधूवधपातकैः भ्रमिम् अवाप्य शितिनिशादृषदि स्फुटदुत्पतत्कणगणाधिकतारकिताम्बरः दिवः पात्यते खलु ।

हिन्दी—यह (चंदा) वियोगिनी नारियों के वध रूप पापों के कारण भ्रमि (चक्कर) को प्राप्त हो (घुमाया जाकर) काली रात रूपी पत्थर पर (पटके जाते समय) टूटकर उछलते कणों से बहुत से तारकों से आकाश को आच्छादित करता आकाश अथवा स्वर्ग से नीचे पटक दिया जाता है ।

टिप्पणी—पापियोंको स्वर्ग से गिराया ही जाता है और घुमा कर पत्थर

पर जोर से पटक कर दंड भी दिया जाता है, जिससे वे चूर-चूर हो विखर जाते हैं। कृष्णपक्ष में चंद्र तो प्रायः मंद रहता है, तारे अधिक प्रकाशित दीखते हैं। इसी पर यह कल्पना है—शुक्लपक्ष में उदित हो चंद्र ने वियोगिनियों को जलाकर मार डाला, उनकी हत्या का पाप किया। इसका दंड उसे मिला कृष्णपक्ष में। उठाकर काली रात रूप काले पत्थर पर घुमाकर उसे पटक दिया गया और वह खंड-खंड हो तारों के रूप में बिखर गया। विद्याधर के अनुसार यहाँ रूपक और अनुमान हैं ॥ ४९ ॥

त्वमभिधेहि विधुं सखि ! मद्गिरा किमिदमीदृगधिक्रियते त्वया ।
न गणितं यदि जन्म पयोनिधौ हरशिरःस्थितिभूरपि विस्मृता ॥ ५० ॥

जीवातु—त्वमिति । हे सखि ! त्वं मद्गिरा विधुमभिधेहि उपालभस्व । तत्प्रकारमेवाह—त्वया महात्मनेति भावः । किं किमर्थमिदमीदृक् स्त्रीवधात्मकं (कर्म), अधिक्रियते आचर्यते ? पयोनिधौ जन्म न गणितं यदि मास्तु । हरशिर एव स्थितिभूर्निवासभूमिः सापि विस्मृता । महाकुलप्रसूतस्य शम्भुशिरोधृतस्य तवेदमनुचितमित्यर्थः ॥ ५० ॥

अन्वयः—सखि, त्वं मद्गिरा विधुम् अभिधेहि—त्वया ईदृक् इदं किम् अधिक्रियते, यदि पयोनिधौ जन्म न गणितम् हरशिरःस्थितिभूः अपि विस्मृता ?

हिन्दी—हे सखि, मेरी बात चंद्र से कह कि तू ऐसा यह (दुष्कृत्य) क्यों कर रहा है ? यदि तू ने (अपने) समुद्र में जन्म को नहीं गिना तो क्या शिव-शिर पर स्थित रहना भी भुला दिया ?

टिप्पणी—किसी दुष्कृत्यकर्ता को उसके गौरव का स्मरण कराया जाता है कि वह अच्छे कुल में जन्मा है, सज्जनसंगति मिली है, उच्च पद मिला है, उसे बुरा कार्य नहीं करना चाहिए, अन्यथा गौरव समाप्त हो जायेगा। यहाँ चंद्र को भी उसके मान्यवंश में जन्म, उच्च संगति और उच्च पद का स्मरण करा कर दुष्कृत्य न करने की शिक्षा दी जा रही है। दुष्कृत्य का अनौचित्य बताया जा रहा है। पापी से सीधे बात नहीं की जाती, सो दमयन्ती भी सखी के माध्यम से चंद्र को उपालंभ दे रही ॥ ५० ॥

निपततापि न मन्दरभूभृता त्वमुदधौ शशलाञ्छन ! चूर्णितः ।
अपि मुनेर्जठरार्चिषि जीर्णतां बत गतोऽसि न पीतपयोनिधिः ॥ ५१ ॥

जीवातु—निपततेति। हे शशलाञ्छन सकलङ्केत्यर्थः। त्वमुदधौ निपतता मथनसमय इति शेषः। मन्दरभूभृता मन्दराद्रिणापि न चूर्णितः, पीतपयोनिधेः आचमितसमुद्रस्य मुदेः अगस्त्यस्य, जठरार्चिषि जठरानलेऽपि जीर्णतां न गतोऽसि। वातापिवदिति भावः। बतेति खेदे। मद्भाग्यविपर्यय एवायमिति भावः॥ ५१॥

अन्वयः—शशलाञ्छन बत त्वम् उदधौ निपतता मन्दरभूभृता अपि न चूर्णितः पीतपयोनिधेः मुनेः जठरार्चिषि अपि जीर्णतां न गतः असि।

हिन्दी—हे शश के कलंक से युक्त (कलंकी), खेद है कि तू समुद्र में (मंथन के निमित्त) गिरते मंदराचल से भी (पिसकर) चूर्ण-चूर्ण नहीं हुआ, समुद्र पी जाने वाले मुनि (अगस्त्य) के जठर (उदर) की आग में (पच कर) भी नष्ट नहीं हुआ।

टिप्पणी—दमयन्ती का चंद्र पर आक्रोश—ऐसे पापी को दो-दो बार भी मौत न आयी, मंथन के समय न तो मंदराचल के नीचे पिसा और न अगस्त्य मुनि के पेट में समुद्रपान के समय भीतर पहुँच कर वातापी राक्षस के समान पचा-गला। कलंकियों को मौत भी तो नहीं आती! कैसा दुर्भाग्य है बेचारी दमयन्ती का? विद्याधर के अनुसार विभावना अलंकार॥ ५१॥

किमसुभिर्गलितैर्जड! मन्यसे मयि निमज्जतु भीमसुतामनः।
मम किल श्रुतिमाह तदर्थिकां नलमुखेन्दुपरा विबुधस्मरः॥ ५२॥

जीवातु—किमिति। हे जड मूढ! गलितैर्निष्क्रमितैः, असुभिः, प्राणैः स्वमारणेनेत्यर्थः। भीमसुतामनो मयि चन्द्रे निमज्जतु निमज्जेत्। सम्भावनायां लोट्। इति मन्यसे किम्? 'यत्रास्य पुरुषस्याग्निं वागस्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमाकाशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशा अप्सु रोहितं च रेतश्च निधीयत' इति श्रुतिप्रामाण्यादिति भावः। सोऽपि वृथाभिमान इत्याह—स मृतमनश्चन्द्रमेतीत्येवं रूपोऽर्थोऽभिधेयो यस्यास्तां तदर्थिकां, 'शेषाद्विभाषा' इति कप्समासान्तः। 'प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वं स्यात् इदाप्यसुप' इतीकारः, श्रुतिं पूर्वोक्तवेदवाक्यम्। विबुधो देवो विद्वांश्च, स्मरः नलस्य मुखेन्दुः, मुखचन्द्रः, परो मुख्यार्थो यस्यास्तां तत्पराम्। 'परं दूरान्यमुख्येषु' इति वैजयन्ती। मम आह किल ब्रूते

खलु। विद्वदुक्त एवार्थो ग्राह्य इत्यर्थः। परतोऽपि मे भर्ता नल एव नान्य इति भावः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—जड, गलितैः असुभिः भीमसुतामनः मयि निमज्जतु—इति मन्यसे किम्? विबुधस्मरः तदर्थिकां श्रुतिं नलमुखेन्दुपरां मम आह किल।

हिन्दी—अरे मूर्ख (चंद्र), प्राण चले जाने पर भीमराज की बेटी का मन मुझ में निमग्न हो जायेगा—क्या तू यह माने बैठा है? निश्चयपूर्वक विद्वान् देव काम ने मुझे उससे संबद्ध वेदवाक्य का प्रमुख अर्थ नल-मुख-चंद्र जताया है।

टिप्पणी—श्रुति-प्रमाण है कि मृत व्यक्ति की वाणी अग्नि में मिल जाती है, प्राण वायु में, नेत्र आदित्य में, मन चंद्र में, कान दिशाओं में, शरीर पृथ्वी में, आत्मा आकाश में, लोम ओषधियों में, केश वनस्पतियों में और रक्त-वीर्य जल में। दमयन्ती 'मनश्चन्द्रम्' के आधार पर चंद्र को उपालंभ देती है कि तू इसलिए कदाचित् मेरी मृत्यु चाहता है कि मर कर मेरा मन तुझ में निमग्न हो जायेगा, जो मेरे जीते जी तो तेरी ओर आकृष्ट भी नहीं होगा। पर तू मूर्ख है, श्रुतिवाक्य का अर्थ तूने समझा ही नहीं, इसे ठीक-ठीक समझा विद्वान् देव स्मरणशील (स्मरतीति स्मरः) काम ने। उसने मुझे बताया है कि 'मनश्चन्द्रम्' श्रुतिवाक्य में 'चंद्र' का प्रमुख विशिष्ट अर्थ 'नलमुख' है, सामान्यार्थ 'चंद्र' नहीं, प्रत्युत 'मुखचंद्र'। तू मूर्ख देव है, यदि विद्वान् देव होता तो विशिष्ट अर्थ समझ पाता। मूर्ख सामान्य अर्थ ही समझ पाते हैं। भाव यह है कि मैं मरने पर भी नलानुरागिणी ही रहूँगी, अन्य किसी के प्रति मेरा अनुराग संभव नहीं। विद्याधर के अनुसार रूपक और अतिशयोक्ति ॥ ५२ ॥

मुखरयस्व यशोनवडिण्डिमं जलनिधेः कुलमुज्ज्वलयाऽधुना।
अपि गृहाण वधूवधपौरुषं हरिणलाञ्छन! मुञ्च कदर्थनाम् ॥ ५३ ॥

जीवातु—मुखरयस्वेति। हे हरिणलाञ्छन शशाङ्क! यशसः नवडिण्डिमं कीर्तिप्रकाशकं नूतनवाद्यविशेषं मुखरयस्व मुखरं रवणं कुरु, अधुना जलनिधेस्त्वज्जनकस्य कुलमुज्ज्वलय प्रकाशय, वधूवधपौरुषमपि स्त्रीवधशौर्यञ्च, गृहाण स्वीकुरु। किंतु, कुत्सितोऽर्थः कदर्थः पीडाकरः 'कोः कत्तत्पुरुषेऽचि' इति कुशब्दस्य कदादेशः। कदर्थीकरणं कदर्थना कदर्थनशब्दात्। 'तत्करोति'

इति ण्यन्ताद्युच। तां मुञ्च शीघ्रं मारय। न तु पीडयेत्यर्थः। अत्र वधूवधस्यानिष्टत्वेनाविधेयस्य विधानात्। 'विषं भुङ्क्ष्व' इतिवन्निषेधपरो विध्याभासः अनिष्टनिषेधाभासपराक्षेपालङ्कारभेदः। तथा चालङ्कारसूत्रम्—'अनिष्टं विध्याभासश्चे'ति ॥ ५३ ॥

अन्वयः—हरिणलाञ्छन, यशोनवडिण्डिमं मुखरयस्व, अधुना जलनिधेः कुलम् उज्ज्वलय, वधूबधपौरुषम् अपि गृहाण, कदर्थनां मुञ्च।

हिन्दी—अरे मृग-कलंक धारने वाले (कलंकी), कीर्ति का नवीन डिंडिम-घोष कर (ढिंढोरा डुग्गी पिटवादे), अब तो समुद्र का कुल उज्ज्वल कर ले, स्त्री-वध की वीरता भी अर्जित कर, (पर) यह पीडा देना छोड़ दे।

टिप्पणी—यह स्तुति रूप में निन्दा है। स्त्री-वध में कोई पौरुष तो है ही नहीं, न इसमें कीर्ति मिलती है और न कुल का सुनाम ही होता है। इसके विपरीत नारी-हत्या, कायरता और निन्दा के कारण कुल-मर्यादा-विघातक ही होती है। दमयन्ती को पीडा दे-देकर मारने से यही सब 'कलंक' चन्द्र को मिलेगा, और वह कलंकी तो है ही। दमयन्ती का कथन है कि भले ही 'सदाकलंकी' चन्द्र को कलंक-भय न हो, पर इतना तो उसे मान ही लेना चाहिए कि निरपराधिनी दमयन्ती को इतनी पीडा न दे। अच्छा हो कि झटपट प्राण ले ले, यह पीडा असह्य है। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में अनिष्ट, अत एव अविधेय, 'वधू-वध' के विधान के कारण निषेधपरक विधि का आभास है—'विषं भुङ्क्ष्व' के समान। इस प्रकार अनिष्टनिषेधाभासपरक आक्षेपालंकार है। ['विषं भुङ्क्ष्व मा चास्य गृहे भुङ्थाः'—विष खा, इसके घर मत खा—इसमें विधिवाचक—'विष खा'—कथन से निषेधार्थ ही मान्य होता है। यहाँ विष खाने की अनुज्ञा नहीं है; इसका पूरा तात्पर्य दूसरे वाक्य से संबद्ध है—किसी विशिष्ट घर में भोजन करने से अच्छा है, विष खाना, अर्थात् इस घर में भोजन करना विष भोजन से भी अधिक भयावह है। व्यंजना के प्रसंग में विवेचक आचार्यों ने इस वाक्य पर विचार किया है। (दर्शनीय 'काव्य प्रकाश' पंचम उल्लास, 'दशरूप' चतुर्थ प्रकाश।) 'वधूवधपौरुषं गृहाण' में भी ऐसी ही निषेधपरक विधि का निर्देश है।] विद्याधर के अनुसार यहाँ स्तुतिनिंदा है। 'मुखरय + सु + अयशः' विच्छेद

करके 'अयश की डुग्गीपीट' तथा 'उज्ज्वलय' का अन्यार्थ 'अधिकजल' भी किया गया है ॥ ५३ ॥

निशि शशिन् ! भज कैतवभानुतामसति भास्वति तापय पाप माम् ।
अहमहन्यवलोकयितास्मि ते पुनरहर्पतिनिर्धुतदर्पताम् ॥ ५४ ॥

जीवातु—निशीति । हे शशिन् ! पाप ! क्रूर ! 'नृशंसो घातुकः क्रूरः पापः' इत्यमरः । निशि भास्वत्यसति । कैतवभानुतां कपटसूर्यत्वं भज । मां तापय, किं त्वहन्यह्नि, अहर्पतिना सूर्येण, 'अहरादीनां पत्यादिषु' इति रेफादेशः । ते तव, निर्धुतदर्पतां निरहङ्कारताम्, अवलोकयितास्मि द्रक्ष्यामीत्यर्थः । लुटि मिपि तासिप्रत्ययः । पापिष्ठाः स्वनाशमासन्नमपश्यन्तः परान् हिंसन्तीति भावः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—शशिन्, निशि भास्वति असति कैतवभानुतां भज, पाप, मां तापय, अहम् पुनः अहनि ते अहर्पतिनिर्धुतदर्पताम् अवलोकयितास्मि ।

हिन्दी—अरे चन्द्र, रात में भास्वत् (सूर्य) के न रहने पर कपट सूर्य बन ले, पापी क्रूर, संतप्त कर ले मुझे, मैं भी दिन में दिनेश (सूर्य) के द्वारा तेरे दर्प को दलित होता देखूँगी ।

टिप्पणी—रात में दमकते पीडाकर चन्द्र को दिन में अपने इस पापकर्म का दंड सूर्य के संमुख भुगतना पड़ेगा, रात में वह पापी दमयन्ती को चाहे जितना सताले । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ५४ ॥

शशकलङ्क ! भयङ्कर ! मादृशां ज्वलसि यन्निशि भूतपतिं श्रितः ।
तदमृतस्य तवेदृशभूतताऽद्भुतकरी परमूर्धविधूननी ॥ ५५ ॥

जीवातु—शशकलङ्केति । हे शशकलङ्क शशाङ्क ! मादृशां वियोगिनामित्यर्थः । भयं करोतीति भयंकर उद्वेजक ! 'मेघर्तिभयेषु कृञः' इति खच्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विषत्' इत्यादिना मुमागमः । यद्यस्मात्, भूतपतिं शिवं पिशाचपतिञ्च, श्रितः सन् निशि ज्वलसि प्रदीप्यसे । तत्तस्मादमृतस्यामृतमयस्य मृतेतरस्य च, तव परेषां द्रष्टॄणां स्वाविष्टानां च, मूर्धविधूननी एकत्र विस्मयादन्यत्रावेशाच्च शिरःकम्पकरी, ईदृशभूतता इत्थंभूतत्वम् ईदृशपिशाचत्वञ्च, अद्भुतकरी विस्मयकरी । हरशिरोमणेरमृतस्य इव इत्थं प्रज्वलना-

त्मकत्वमद्भुतमिति वाक्यार्थः । जीवत ईदृगलातपिशाचत्वमद्भुतमिति व्यङ्ग्यार्थः ।। ५५ ।।

अन्वयः—शशकलङ्क, मादृशां भयङ्कर, यत् भूतपतिं श्रितः निशि ज्वलसि तत् अमृतमयस्य तव परमूर्धविधूननी ईदृशभूतता अद्भुतकरी ।

हिन्दी—अरे शश का कलंक धारनहारे, मुझ जैसी (विरहिणी) नारियों के लिए भयकारक (चन्द्र), जो सब प्राणियों के स्वामी (शिव) का आश्रित होकर भी तू जलाता है, वह अमृत से पूर्ण तेरा अन्य के शिर को कंपित कर देने वाला स्वभाव आश्चर्यजनक है ।

टिप्पणी—चन्द्रमा 'सुधांशु' (अमृत किरण) कहा जाता है, इसके अतिरिक्त वह सब भूतों प्राणियों अथवा गणों के स्वामी शिव अथवा 'भूतानां पतिम्'—आकाश में स्थित है । ऐसी स्थिति में अन्य को पीडा देने का—पीडा से सिर हिला-हिला डालने का स्वभाव चन्द्र को कहाँ से मिला ? यह आश्चर्य ही है । अमृतमय भी जला रहा है, प्राणियों के स्वामी का आश्रित होकर भी कष्ट दे रहा है । घोर आश्चर्य । यह ठीक नहीं है । अथवा महादेव का आश्रय पाकर भी और अमृत निकट रहते हुए जो रात में ऐसा आग का गोला बनकर जीवित रहते पिशाच का कार्य कर रहे हो, यह आश्चर्य है, क्योंकि भूत-पिशाच तो मर कर हुआ जाता है, मरा हो भूत बन कर सिर पर आया करता है और लोगों के सिर कँपाया करता है । चन्द्र तो जीता पिशाच बन गया है । अथवा अमृतमय अर्थात् जलपूर्ण होकर भी चन्द्र का जलाना आश्चर्य कारण है । जलाती तो आग है, जल नहीं । भाव यह है कि कलंकी चन्द्र जीवितपिशाच 'जिंदाभूत' है । विद्याधर के अनुसार श्लेषालंकार ।। ५५ ।।

श्रवणपूरतमालदलाङ्कुरं शशिकुरङ्गमुखे सखि ! निक्षिप ।
किमपि तुन्दिलितः स्थगयत्वमुं सपदि तेन तदुच्छ्वसिमि क्षणम् ।।५६।।

जीवातु—श्रवणेति । हे सखि ! श्रवणपूरः कर्णावतंसः, यस्तमालदलाङ्कुरस्तमालपल्लवस्तं, शशिकुरङ्गस्य मुखे वक्त्रे, निक्षिप । तेन दलाङ्कुरेण, सपदि, किमपि कियदपि, तुन्दिलितस्तुन्दिलीकृतः, स्थूलीकृतस्सन्, अमुं शशिनं, स्थगयतु छादयतु । तत्तस्माद्धेतोः, क्षणमुच्छ्वसिमि प्राणिमि, 'रुद्रा-

दिभ्यः सार्वधातुक' इतीडागमः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—सखि, श्रवणपूरतमालदलाङ्कुरं शशिकुरङ्गमुखे सपदि निक्षिप, तेन किमपि तुन्दिलितः अमुं स्थगयतु तत् क्षणम् उच्छ्वसिमि ।

हिन्दी—अरी सखी, कान में रखे तमाल-पत्र के अंकुर को चन्द्र के (वाहन) हिरन के मुख में (खाने को) झटपट डाल, उससे कुछ पेट भर कर (तोंद बढ़ाकर) वह इसे (चन्द्र को) ढकले कि मैं क्षण भर साँस ले सकूँ।

टिप्पणी—वाहन कुरंग का खाकर पेट बढ़ जायेगा, जिससे चन्दा ढक जायेगा और दमयन्ती के उसके मध्य अन्तराल हो जायेगा। व्यथा घटेगी और दमयन्ती को कुछ विश्राम मिलेगा। अभी तो चन्दा साँस भी नहीं लेने देता। विद्याधर के अनुसार 'हेतु' अलंकार ॥ ५६ ॥

असमये मतिरुन्मिषति ध्रुवं करगतैव गता यदियं कुहूः ।
पुनरुपैति निरुध्य निवास्यते सखि! मुखं न विधो पुनरीक्ष्यते ॥५७॥

जीवातु—असमय इति। हे सखि! असमये मतिः कार्यधीः, उन्मिषति उदेति, ध्रुवम्। न तु योग्यकाल इत्यर्थः। कुतः, यद्यस्मादियं कुहूः नष्टचन्द्रामावास्या करगता स्वायत्तैव, हस्तनक्षत्रगता च गता। तदास्तां, पुनरुपैति पुनरागच्छति चेदित्यर्थः। निरुध्य निवास्यते स्थाप्यते। तस्य फलमाह—विधोर्मुखं पुनर्नेक्ष्यते। तस्यातन्नाशकत्वादिति भावः। पापिष्ठस्य तस्यादर्शनमेव फलमित्यर्थः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—सखि, ध्रुवम् असमये मतिः उन्मिषति, यत् इयं करगता एव कुहूः गता, पुनः उपैति चेत् निरुध्य निवास्येत, विधोः मुखं पुनः न ईक्ष्यते।

हिन्दी—हे सखी, निश्चय ही बुरा समय आने पर बुद्धि स्फुरित होती है। जो यह 'करगता'—हाथ में आयी (अथवा कर अर्थात् 'हस्त' नक्षत्रगता आश्विनमास की) भी अमावस्या निकल गयी, यदि फिर आयेगी तो रोक कर रख ली जायेगी, चन्द्रमा का मुख फिर न दीखेगा।

टिप्पणी—चन्द्र-दर्शन के कारण जो दुर्भाग्य—बुरा समय आया है, उसमें ही दमयन्ती को यह बुद्धि आयी कि अब जब अमावस आये तो उसे रोक लिया जाय, जिससे फिर इस पापी चन्दा का मुख न देखना पड़े। कोई सद्-

व्यक्ति पापी का मुख देखना नहीं चाहता। विद्याधर ने यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार माना है ॥ ५७ ॥

अयि ! ममैष चकोरशिशुर्मुनेर्व्रजति सिन्धुपिबस्य न शिष्यताम् ।
अशितुमब्धिमधीतवतोऽस्य वा शशिकराः पिबतः कति शीकराः ॥५८॥

जीवातु—अयीति। अयि सखि ! एष मम चकोरशिशुर्विषपरीक्षार्थं गृहसंवर्धितो बालचकोरः। यथाह कामन्दकः—'चकोरस्य विरज्येते नयने विषदर्शनात्' इति। पिबतीति पिबः, 'पाघ्राध्मा' इत्यादिना शतृप्रत्यये पिबादेशः। सिन्धोः पिबस्य समुद्रपायिनो मुनेरगस्त्यस्य शिष्यतां, न व्रजतीति काकुः। व्रजतीत्यर्थः। तथा च अयं चकोरश्चन्द्रं निश्शेषं पास्यतीत्याशयः, न चैतदशक्यमित्याह—अब्धिमशितुं पातुमधीतवतः अभ्यस्तवतः अत एव, पिबतः अब्धिपानप्रवृत्तस्यास्य चकोरस्य, शशिकराः कति वा शीकराः कतिचित्कणा इत्यर्थः। अत्र समुद्रपायिनो दण्डापूपिकया शशिकरपानसिद्धेरर्थापत्तिरलङ्कारः॥ ५८ ॥

अन्वयः—अयि एष मम चकोरशिशुः सिन्धुपिबस्य मुनेः शिष्यतां न व्रजति ? अब्धिम् अशितुम् अधीतवतः पिबतः अस्य शशिकराः कति वा शीकराः ?

हिन्दी—अरी, यह मेरा चकोर का बच्चा क्या सागरपायी मुनि (अगस्त्य) के शिष्यत्व को नहीं चला जायेगा ? समुद्र-पीना सीखे इसको पान करते हुए चन्द्र की किरणें कितनी बूंदें होंगी ?

टिप्पणी—चन्द्र न दीखे—इसका दूसरा उपाय। यदि दमयंती का पाला चकोर विहंगबाल मुनि अगस्त्य का शिष्य बन उनसे सागर-पान की शिक्षा प्राप्त कर ले तो फिर इस छोटे-से चन्दा को तो वह कुछ बूंदों के समान पी जायेगा। 'दंडापूपिकान्याय' (जो दंडा खायेगा, वह अपूप भी खा लेगा) से समुद्रपायी का चन्द्रकिरणपान सिद्ध है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार अर्थापत्ति अलंकार, विद्याधर के अनुसार विरोध ॥ ५८ ॥

कुरु करे गुरुमेकमयोघनं बहिरितो मुकुरश्च कुरुष्व मे ।
विशति यत्र यदैव विधुस्तदा सखि ! सुखादहितं जहि तं द्रुतम् ॥५९॥

जीवातु—कुर्विति। हे सखि ! एकं गुरुं महान्तम् अयोघनं तप्तायःपिण्डघट्टनमयोमुद्गरं करे कुरु विगृहीत्यर्थः। इतोऽस्मत्साधनाद्बहिः, मे मम मुकुरं

दर्पणं च कुरुष्व विवेहि। तत्र मुकुरे यदा विधु विशति प्रतिफलति, तदैव, सुखाद-नायासात्, अहितं शत्रुं, तं विधुं, द्रुतं जहि मारय। हन्तेर्लोटि सिपि हिरादेशः। 'हन्तेर्ज' इति जादेशस्य 'असिद्धवदत्राभात्' इत्यसिद्धत्वाच्च हेर्लुक्। अत्र चन्द्रप्रहारादिप्रलापा मेघसन्देशादिवन्मदनोन्मादविकारा इत्यनुसन्धेयम् ॥५९॥

अन्वयः—सखि, करे एकं गुरुम् अयोघनं कुरु मे मुकुरं च इतः बहिः कुरुष्व तत्र यदा विधुः विशति अहितं तं सुखात् द्रुतं जहि।

हिन्दी—हे सखी, हाथ में एक भारी लोहे का घन ले और मेरे दर्पण को इधर से बाहर की ओर कर दे, उसमें जैसे ही चन्द्र प्रवेश करे, उस वैरी को अनायास झट से (घन से) मारे दे।

टिप्पणी—भाव यह कि शीशे में जब चन्दा की परछाहीं पड़े तभी झट से उस पर लोहे का घन पटक दिया जाय, जिससे शीशे में बन्दी चन्द्रमा भी चूर-चूर हो जाये। मल्लिनाथ ने इसमें प्रताप मानते हुए उन्माद-विकार का संकेत किया है। मेघ संदेश की भाँति चन्द्रप्रहारादि भी प्रलाप ही है—कामार्त का चेतनाचेतनाविवेक। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार अनुप्रास।५९।

उदर एव धृतः किमुदन्वता न विषयो वडवानलवद्विधुः।
विषवदुज्झितमप्यमुना न स स्मरहरः किममुं बुभुजे विभुः ॥६०॥

जीवातु—उदर इति। विषमः क्रूरकर्मा, विधुः, उदन्वता उदधिना, 'उदन्वानुदधौ च' इति निपातः। वडवानलवद्वडवाग्निना तुल्यं, 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' उदरे कुक्षावेव किं न धृतः। अथवा, अमुना उदन्वता उज्झितमप्यमुं विधुं विभुः समर्थः स्मरहरः, विषवद्विषेण कालकूटेन तुल्यं, पूर्ववद्वतिः। किं न बुभुजे न ग्रसतेस्म। उभयथापि स्वयं जीवेम इति भावः ॥ ६० ॥

अन्वयः—विषमः विधुः उदन्वता वडवानलवत् उदरे एव किं न धृतः? अमुना उज्झितम् अपि अमुं सः विभुः स्मरहरः विषवत् किं न बुभुजे?

हिन्दी—दुःसह चन्द्र को समुद्र ने वडवाग्नि के समान पेट में ही क्यों नहीं रखा? (और फिर) इस (समुद्र) के द्वारा छोड़े हुए भी इस (चन्द्र) को उस समर्थ काम-विनाशक (शिव) ने विष के समान क्यों न खा डाला?

टिप्पणी—'न बाँस रहता, न बाँसुरी बनती'। यदि समुद्र ने चन्द्र को पेट में ही रहने दिया होता और (इसके अतिरिक्त) शिव ने ही यदि इसे

खा डाला होता, कितना अच्छा होता ! न चन्द्र रहता, न उगता, न वियोगिनी पीडित होतीं। समुद्र और शिव के लिए यह कोई नया कृत्य नहीं है। समुद्र वडवाग्नि को तो उदर में रखता ही है, शिव विष-पान कर ही चुके हैं। एक दुःसह चंद्र और सही। ऐसा प्रतीत होता है कि चंद्रमा वडवाग्नि और कालकूट भी अधिक असह्य है, इसी से समुद्र और शिव यथेच्छ न कर सके। विद्याधर के अनुसार संदेह अलंकार ॥ ६० ॥

असितमेकसुराशितमप्यभून्न पुनरेष पुनर्विशदं विषम् ।
अपि निपीय सुरैर्जनितक्षयं स्वयमुदेति पुनर्नवमार्णवम् ॥ ६१ ॥

जीवातु—असितमिति । आर्णवमर्णवे जातं, 'तत्र जातः' इत्यण्प्रत्ययः । अशितं मेचकं विषं कालकूटाख्यमेकेनैव सुरेण महादेवेन, अशितं गिलितमपि, पुनर्नाभून्नाजनि । एष चन्द्रो नामार्णवं विशदं विषं पुनः सितविषं तु सुरैर्बहुभिर्देवैः 'प्रथमां पिबते वह्निः' रित्याद्युक्तक्रमेण, निपीय जनितक्षयं कृतनाशमपि, स्वयं नवं तद्रूपेणैव, पुनरुदेत्यागच्छतीति व्यतिरेकः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—असितम् आर्णवं विषम् एकसुराशितम् अपि पुनः न बभूव, एषः विशदं सुरैः निपीय जनितक्षयम् अपि स्वयं पुनः नवम् उदेति ।

हिन्दी—काला समुद्रजात विष (कालकूट) एक देव (महादेव) द्वारा खा लिया जाने पर ही फिर न उत्पन्न हुआ, यह शुभ्र (विष चन्द्र) अनेक देवों द्वारा पिया जाकर नाश को प्राप्त होने पर भी अपने आप फिर नया उत्पन्न हो जाता है।

टिप्पणी—समुद्र से एक नहीं दो प्रकार के विष जन्मे, एक काला कालकूट, दूसरा शुभ्र चन्द्रमा। कालकूट को अकेले शिव ने ही पिया था, फिर भी वह नष्ट हो गया। यह सफेद विष काले विष से अधिक प्रचंड निकला। अनेक अग्नि आदि देवता प्रतिमास (कृष्णपक्ष में) मिल कर इसका पान करते हैं और इसे पूर्णतया नष्ट कर देते हैं, परन्तु समूचा नष्ट होने पर भी—आश्चर्य है—यह फिर से नवीन होकर उत्पन्न हो जाता है। भाव यह कि चन्द्र रूप शुभ्र सामुद्र विष काले विष कालकूट से अधिक प्रबल, दृढ और विषम है। मल्लिनाथ के अनुसार व्यतिरेक, विद्याधर ने व्यतिरेक और विरोधालङ्कार का निर्देश किया है ॥ ६१ ॥

विरहिवर्गवधव्यसनाकुलं कलय पापमशेषकलं विधुम् ।
सुरनिपीतसुधाकरमपापकं ग्रहविदो विपरीतकथाः कथम् ॥ ६२ ॥

जीवातु—विरहीति । हे सखि ! विरहिवर्गवधे व्यसनेनासक्त्या, आकुलं सङ्कुलं, सशब्दम् अशेषकलं पूर्णकलं, विधुं पापं कलय क्रूरं विद्धि सुरैर्निपीता सुधा यस्य तं क्षीणमित्यर्थः । शैषिण: कप्समासान्तः । 'अपोऽन्यतरस्याम्' इति विकल्पाद् ह्रस्वभावः । अपाप एवापापकस्तं सौम्यं कलम् । तथा कार्यदर्शना-दिति भावः । किन्तु ग्रहविदो दैवज्ञास्तु कथं विपरीतकथाः 'क्षीणेन्द्वर्कार्किभूपुत्राः पापास्तत्संयुतो बुधः । पूर्णचन्द्रबुधाचार्यशुक्रास्ते स्युः शुभग्रहाः ॥' इत्येवं विरुद्ध-वाचः । अनुभवविरोधादग्राह्यं तद्वाक्यमिति भावः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—विरहिवर्गवधव्यसनाकुलम् अशेषकलं विधुं पापं कलय, सुर-निपीतसुधाकरम् अपापकं, ग्रहविदः कथं विपरीतकथाः ?

हिन्दी—(सखी,) वियोगि-वृंद के वध की आसक्ति में व्याकुल (अथवा वियोगि-वध व्यसन के कारण अकुल अर्थात् नीच कुलोत्पन्न) संपूर्ण कलावाले (पूर्णिमाचन्द्र) को पापी समझ और देवों द्वारा जिसका अमृत पी लिया गया है, उस (अमा-चंद्र) को निष्पाप । ग्रहज्ञाता (न जाने) क्यों इसके विपरीत कहा करते हैं ।

टिप्पणी—ज्योतिःशास्त्रियों के कथनानुसार पूर्ण चंद्र शुभ ग्रह होता है और क्षीण चंद्र अशुभ । उन्होंने बताया है—'क्षीण चंद्र, सूर्य, शनि, मंगल और उनसे संयुक्त बुध पापग्रह होते हैं और पूर्ण चंद्र, बुध, बृहस्पति और शुक्र शुभ ग्रह ।' किंतु पूर्णचंद्र वियोगिजनों को व्यथा देता है, अतः दमयन्ती के मतानुसार वही पापग्रह है, अमाचंद्र नहीं । वह ज्योतिःशास्त्र के वचन को इसी कारण झूठा मानती है, क्योंकि अनुभव से ग्रहवेत्ताओं का कथन सच्चा सिद्ध नहीं होता । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलङ्कार ॥ ६२ ॥

विरहिभिर्बहुमानमवापि यः स बहुलः खलु पक्ष इहाजनि ।
तदमितिः सकलैरपि यत्र तैर्व्यरचि सा च तिथिः किममा कृता ॥ ६३ ॥

जीवातु—विरहिभिरिति । यः पक्षो विरहिभिः बहुमानं सत्कारमवापि प्रापितः, क्षीयमाणचन्द्रत्वादिति भावः । अवपूर्वादाप्नोतेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ् । 'गतिबुद्धि'—इत्यादिना अणि कर्तुः कर्मत्वम् । 'ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः' इत्य-

भिधानात् । स विरहिभिर्बहुकृतः पक्षइहास्मिन् लोके बहुप्रकारः लाति आदत्त इति व्युत्पत्त्या बहुलः 'आतोऽनुपसर्गे कः' न तु 'बहोरुलच्' इति भावः । अजनि जातः । खल्वित्युत्प्रेक्षा । किञ्च तथापि, यत्र यस्यां तिथौ सकलैरपि तैर्विरहिभिः तदमितिस्तस्य बहुमानस्यामितिरपरिमितिर्व्यरचि अकारि । नष्टचन्द्रत्वादिति भावः । सा च तिथिः अमा अमितिर्बहुमानस्यास्यामिति व्युत्पत्त्या अमा, अमानामिका कृता किम् ? मातेर्भावार्थे सम्पदादिक्विपि नञ्समासे मत्वर्थीये चाकारप्रत्यये 'यस्येति चे'ति लोपे 'अजाद्यतष्टाप्' । न त्वमा सहभावोऽस्यां सूर्याचन्द्रमसोरिति व्युत्पत्त्येत्युत्प्रेक्षा । अमेति सहार्थे अव्ययं, ततो भावप्रधानान्मत्वर्थीयाकाराट्टाप् ।। ६३ ।।

अन्वयः—विरहिभिः यः पक्षः बहुमानम् अवापि सः खलु इह बहुलः अजनि, तैः सकलैः अपि यत्र तदमितिः व्यरचि किम् च सा तिथिः अमा कृता ?

हिन्दी—वियोगियों ने जिस पक्ष (पखवारा) को अत्यन्त सम्मान दिया, वह यहाँ (जगत में) 'बहुल' (बहुमान प्राप्त करने वाला) काला पाख हो गया, उन सब (वियोगियों) ने ही जिस तिथि में उस (सम्मान) की अपरिमितता कही, क्या उसी तिथि को 'अमा' नाम दे दिया ?

टिप्पणी—'अमा' की सामान्यस्वीकृत व्युत्पत्ति है—'अमा सह वसतोऽस्यां सूर्यचन्द्रमसौ।' अर्थात् जिस तिथि में सूर्य-चन्द्र की 'अमा' अर्थात् 'सहवसति' (एक साथ वास) हो, वह अमा है। वियोगिनी दमयन्ती को चन्द्र व्यथाकारक है, अतः वह 'अमा' की दूसरी व्युत्पत्ति करती है। उसका कथन है कि चन्द्र-क्षयशील कृष्ण पक्ष को 'बहुल' इसलिए कहा जाता है कि वह वियोगि जन-मान-प्राप्त है—बहुमानं लभते इति बहुलः, बहु लातीति बहुलः। अमावस्या को सम्मान अमित—अपरिमेय हो जाता है, अतः उस तिथि को—'अमितिः बहुमानस्य यस्यां सा अमा' यह विग्रह करके 'अमा' कहा जाता है। 'अमा' अर्थात् अतिमानवती तिथि। 'माति' धातु से भावार्थ में संपदादि क्विप् करके नञ् समास और मत्वर्थीय अकार प्रत्यय की, 'यस्य च' (अष्टा० ६। ४। १४८) से लोप किया और 'अजाद्यतष्टाप्' (अष्टा० ४। १। ४) से 'टाप्' करके 'अमा' निष्पन्न हो गया। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा अलङ्कार ।। ६३ ।।

स्वरिपुतीक्ष्णसुदर्शनविभ्रमात् किमु विधुं ग्रसते न विधुन्तुदः ।
निपतितं वदने कथमन्यथा बलिकरम्भनिभं निजमुज्झति ॥ ६४ ॥

जीवातु---स्वेति । विधुन्तुदो राहुः, विधुं चन्द्रं, स्वरिपोर्विष्णोस्तीक्ष्णं निशितं यत् सुदर्शनं तदिति विभ्रमात् सादृश्यमूलभ्रमान्न ग्रसते किमु ? तालुच्छेदभयादिति भावः । अन्यथा भयाभावे, वदने निपतितं वक्त्रान्तर्गतम् । अत एव, निजं स्वायत्तं, बलिकरम्भनिभम् उपहृतदध्युपसिक्तसक्तुसदृशं, स्वाधिष्ठितमित्यर्थः । 'करम्भा दधिसक्तव' इत्यमरः । एनमिति शेषः । कथमुज्झति उद्गिरतीत्युत्प्रेक्षा ॥ ६४ ॥

अन्वयः---विधुन्तुदः विधुं स्वरिपुतीक्ष्णसुदर्शनविभ्रमात् न ग्रसते किमु, अन्यथा वदने निपतितं बलिकरम्भनिभं कथम् उज्झति ?

हिन्दी---राहु चन्द्र को अपने वैरी (विष्णु) के तीक्ष्ण सुदर्शन चक्र के भ्रम से तो कहीं नहीं ग्रस पाता है, अन्यथा मुख में पड़े बलि-पूजा के निमित्त रूप करंभ (दही-भात) के समान (चन्द्र) को छोड़ क्यों देता ?

टिप्पणी---राहु के द्वारा बारम्बार ग्रस्त होने पर भी चन्द्र बच क्यों गया ? कल्पना है कि राहु उसे अपना शिरच्छेद करनेवाले विष्णु का सुदर्शन चक्र समझ कर खाते-खाते डर कर छोड़ देता है । यदि उसे ऐसा भ्रम नहीं होता तो आकार-वर्ण साम्य से पूजार्थ उपहार में लाये करंभ (दही-भात या दही-सत्तू) के सदृश चन्द्र को वह खा नहीं जाता, मुह में रख कर भी छोड़ क्यों देता ? मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अनुमान ॥ ६४ ॥

वदनगर्भगतं न निजेच्छया शशिनमुज्झति राहुरसंशयम् ।
अशित एव गलत्ययमत्ययं सखि ! विना गलनालबिलाध्वना ॥ ६५ ॥

जीवातु---वदनेति । हे सखि ! यद्वा राहुः वदनगर्भगतमास्यान्तःप्रविष्टं शशिनं निजेच्छया स्वेच्छया, नोज्झति । असंशयं संशयो नास्ति । अर्थाभावेऽव्ययीभावः । किं स्वयं शशी अशितो गिलित एव अत्ययं विना अकृच्छ्रेणेत्यर्थः । 'अत्ययोऽतिक्रमे कृच्छ्रे' इति वैजयन्ती । गलनालबिलाध्वना कण्ठनालान्तःकुहरमार्गेण, गलति निस्सरति । राहोः शिरोमात्रत्वेन कण्ठनालनिस्सृतस्याशितस्य जठराग्निसंयोगविरहादस्य पापिष्ठस्येन्दोः पुनरुदय इत्युत्प्रेक्षार्थः ॥ ६५ ॥

अन्वयः—सखि, राहुः वदनगर्भगतं शशिनम् असंशयं निजेच्छया न उज्झति, अशितः एव अयम् प्रत्ययं विना गलनालबिलाध्वना गलति ।

हिन्दी—हे सखि, राहु मुँह के बीच पड़े चन्द्र को निःसन्देह स्वेच्छा से नहीं त्यागता, खाया (निगला) हो गया यह बिना नष्ट हुए कंठ-नाली के छेद के मार्ग से निकल जाता है ।

टिप्पणी—राहुभुक्त किंतु अवशिष्ट चन्द्र-विषयक दूसरी सम्भावना । राहु का उदर ही नहीं है, राहु चन्द्र को खाता है, किंतु बिना गला-पचा वह कण्ठनली के छिद्र से बाहर आ जाता है । राहु के उदर न होने से चन्द्र नष्ट होने से बच जाता है । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने विरोधाभास माना है ।। ६५ ।।

ऋजुदृशः कथयन्ति पुराविदो मधुभिदं किल राहुशिरश्छिदम् ।
विरहिमूर्धभिदं निगदन्ति न क्व नु शशी यदि तज्जठरानलः ।।६६।।

जीवातु—ऋजुदृश इति । ऋजुदृशः तादात्विककार्यमात्रदर्शिनः, न त्वागामिकार्यदर्शिन इत्यर्थः । पुराविदः पुराणज्ञाः पूर्वपुरुषाः, मधुभिदं विष्णुं, राहुशिरश्छिदं कथयन्ति किल । किलेति वार्तायाम् । विरहिमूर्धभिदं वियोगिशिरश्छिदं न निगदन्तीति काकुः । तथैव कथनीयमित्यर्थः । कुतस्तस्य राहोर्जठरानलो यदि अस्तीति शेषः । शशी क्व नु ? न क्वापि स्यादित्यर्थः । राहुशिरश्छेदेन तदीयजठराग्निविच्छेदत्वाद्विरहिमारकं शशिनमुज्जीवयन्नयं विष्णुविरहिशिरश्छेदीत्येवं व्यपदेश्यः न राहुशिरश्छेदीत्यर्थः ।। ६६ ।।

अन्वयः—ऋजुदृशः पुराविदः मधुभिदं राहुशिरच्छिदं कथयन्ति किल, विरहिमूर्धभिदं न निगदन्ति, यदि तज्जठरानलः शशी क्व नु ?

हिन्दी—सरलदृष्टि अथवा यथादृष्ट ग्राही पुराणेतिहास के वेत्ता मधु के नाशक (विष्णु) को 'राहु का शिरच्छेत्ता' कहते हैं, वियोगिजनों के सिरों का काटनेवाला नहीं कहते, यदि राहु के जठराग्नि (पेट में आग) होती, तो चंदा कहाँ रह पाता ।

टिप्पणी—मधुरिपु विष्णु को राहु के सिर को काटनेवाला कहा जाता है, क्योंकि यह यथार्थ है कि उन्होंने अमृत-वितरण-काल में ऐसा किया था । किंतु वियोगिनी दमयन्ती की सम्मति में विष्णु को 'वियोगियों के सिर को

काटनेवाला' कहना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि न वे राक्षस का शिरच्छेद करते और न बिना उदर का 'शिरोभग्नावशेष' राहु रहता और न चन्द्र बचपाता और न वियोगी इस प्रकार व्यथित होकर प्राण देते। यदि विष्णु राहु-शिर-च्छेद न करते तो सम्पूर्ण शरीरवाला राक्षस चन्द्र को खाता और वह राक्षस की उदराग्नि में गल-पच जाता। वियोगियों को उसके कारण मरण-व्यथा न भोगनी पड़ती। सम्पूर्ण दोष विष्णु का है, इसका उत्तरदायित्व उनको ही मिलना चाहिए। विद्याधर के अनुसार हेतु अलङ्कार ॥ ६६ ॥

स्मरसखौ रुचिभिः स्मरवैरिणा मखमृगस्य यथा दलितं शिरः।
सपदि संदधतुर्भिषजौ दिवः सखि ! तथा तमसोऽपि करोतु कः ॥६७॥

जीवातु—स्मरसखाविति। रुचिभिः स्मरसखौ कायकान्तिभिः स्मरसदृशौ तन्मित्रे च, दिवो भिषजौ स्ववैद्यौ, स्मरवैरिणा हरेण, दलितं भिन्नं, मख एव मृगः तस्य मृगरूपधारिणो मखस्येत्यर्थः। शिरो यथा सपदि संदधतुः, संयोजयामासतुः। यो यस्य मित्रं स तस्य वैरं निर्यासयतीति युक्तम्। किंतु, हे सखि ! कस्तमसो राहोरपि तथा शिरस्सन्धानं करोतु। न कोऽपीत्यर्थः। हरस्य मखमृगशिरश्छेदे पुराणं प्रमाणम्, अश्विनोः पुनस्तत्सन्धाने 'ततो वै तौ यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्ताम्' इति श्रुतिः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—सखि, रुचिभिः स्मरसखौ दिवो भिषजौ स्मरवैरिणा दलितं मखमृगस्य शिरः यथा सपदि सन्दधतुः तथा तमसः अपि कः करोतु ?

हिन्दी—हे सखि, देह-कान्ति से काम-समान स्वर्ग के वैद्यों (अश्विनीकुमारों) ने कामारि (शिव) के द्वारा काटे यज्ञ-हरिण के सिर को जैसे तत्क्षण जोड़ दिया था, वैसे राहु का शिर भी कौन जोड़े ? (कोई नहीं जोड़ता)।

टिप्पणी—सिर-धड़ जुड़ जाते तो राहु पूर्ण देह बन जाता। स्ववैद्य ऐसा कर सकते हैं, क्योंकि उन्होंने ऐसा किया था। श्रुति-प्रमाण है—'तब उन दोनों ने यज्ञ-मृग का सिर जोड़ दिया।' शिव ने मख-मृग का सिर काटा था, अश्विनीकुमारों ने जोड़ दिया, क्योंकि वे काम-सखा हैं। काम-शत्रु के किये को उलटदेना उनके लिए स्वाभाविक है, इस प्रकार मित्र के शत्रु की अवमानना उन्होंने कर दी। राहु का शिर वे क्यों जोड़ेंगे, क्योंकि उसे तो

शिव ने नहीं, विष्णु ने काटा है, जो काम के शत्रु नहीं हैं, प्रत्युत कृष्णावतार में 'कामतात' हैं। इस प्रकार राहु उदरविहीन ही रहेगा और उससे खाया चन्द्र सदा बचता रहेगा और विरही व्यथा पाते रहेंगे। खेद है। विद्याधर के अनुसार उपमा ॥ ६७ ॥

नलविमस्तकितस्य रणे रिपोर्मिलति किं न कबन्धगलेन वा।
मृतिभिया भृशमुत्पततस्तमोग्रहशिरस्तदसृग्दृढबन्धनम् ॥ ६८ ॥

जीवातु—नलेति। अथवा, रणे नलेन विमस्तकितस्य तथापि मृतिभिया मरणभयेन भृशमुत्पतत उद्गच्छतो रिपोः, कबन्धगलेन अपमूर्धकलेवरकण्ठेन सह तमोग्रहस्य शिरः, तस्य गलस्यासृजा रक्तेन दृढबन्धनं निविडसंयोगं सत् किं न मिलति न सङ्गच्छते? तथा च तज्जठराग्निना चन्द्रो जीर्येदिति भावः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—वा रणे मृतिभिया भृशम् उत्पतः नलविमस्तकितस्य रिपोः कबन्ध-गलेन तमोग्रहशिरः तदसृग्दृढबन्धनं किं न मिलति?

हिन्दी—अथवा युद्ध में मरणभय से अत्यर्थ आकाश की ओर उछलते, नल द्वारा मस्तक रहित किये शत्रु के धड़ की गरदन के साथ अन्धकार ग्रह (राहु) का शिर उस (धड़) के रक्त से दृढता के साथ जुड़ क्यों नहीं मिल जाता?

टिप्पणी—राहु को उदरयुक्त करने का दूसरा प्रकार संकेतित है पूर्व श्लोक में बताया गया कि 'मखमृग' को तो देववैद्यों ने जोड़ दिया, पर राहु को जोड़ने वाला कोई नहीं है। यहाँ जोड़ने की संभावना इस प्रकार की गयी है कि चन्द्र है वियोगिजनों का शत्रु और राहु उसका शत्रु है। इस प्रकार राहु वियोगियों का मित्र हुआ। कोई वियोगी उसकी सहायता कर सकता है। नल वीर है, युद्ध में शत्रु-वध करता है, वियोगी भी है। संग्राम में मरण-भय से आकाश की ओर उछलते शत्रु का मस्तक नल द्वारा जब कटेगा तब यह संभव है कि उसके धड़ के साथ बहते रक्त से राहु का शिर जोड़ दिया जाय, जिससे वह पूर्णांग होकर चन्द्र को खा ले और वियोगियों को चैन मिले। ऐसा कोई वियोगी कर क्यों नहीं देता? कर देना उचित है। विद्याधर द्वारा निर्दिष्ट अलंकार उत्प्रेक्षा ॥ ६८ ॥

सखि ! जरां परिपृच्छ तमश्शिरस्समसौ दधतापि कबन्धताम् ।
मगधराजवपुर्दलयुग्मवत् किमिति न प्रतिसीव्यति केतुना ? ॥ ६९ ॥

जीवातु—सखीति । अथवा, हे सखि ! जरां जराख्यां निशाचरीं परिपृच्छ । असौ जरा कबन्धताम्, अशिरस्कतां दधतापि केतुना समं केतुग्रहेण सह, तमसो राहोः शिरः मगधराजस्य जरासन्धस्य वपुर्दलयोः शरीरार्धभागयोः युग्मवत् युगलमिव, किमिति न प्रतिसीव्यति न सन्धत्ते ? । शिरोमात्रं राहुः शरीरमात्रं केतुः तयोः सन्धाने पूर्ववत्तज्जठराग्निना चन्द्रो जीर्येदिति भावः । जराकृताङ्गसन्धानो जरासन्ध इति भारती कथानुसन्धेया ॥ ६९ ॥

अन्वयः—सखि, जरां परिपृच्छ—असौ कबन्धतां दधत केतुना समं तमः शिरः अपि मगधराजवपुर्दलयुग्मवत् किमिति न प्रतिसीव्यति ?

हिन्दी—हे सखी, जरा राक्षसी से पूछ—यह कबंध (धड़) रूप धारते केतु के साथ राहु का सिर भी मगध के राजा (जरासंध) के शरीर के दोनों भागों के समान क्यों नहीं सिल देती ?

टिप्पणी—राहु को पूर्णांग करने का एक और उपाय । जरा नाम की राक्षसी ने एक शरीर के दो भागों को सिल दिया था, जिससे जरासंध जन्मा और मगध का राजा हुआ, जिसका श्रीकृष्ण ने भीमद्वारा वध कराया था । जरा राक्षसी है, राहु भी राक्षस है । यदि जरा को संदेश भेजा जाय तो वह राहु-केतु को जोड़कर एक कर सकती है । विद्याधर के अनुसार उपमा ॥६९॥

वद विधुन्तुदमालि ! मदीरितैस्त्यजसि किं द्विजराजधिया रिपुम् ।
किमु दिवं पुनरेति यदीदृशः पतित एष निषेव्य हि वारुणीम् ॥ ७० ॥

जीवातु—वदेति । हे आलि सखि ! मदीरितैः मद्वाक्यैः विधुन्तुदं राहुं वद, रिपुं द्विजराजश्चन्द्रो ब्राह्मणश्रेष्ठश्च, तद्धिया त्यजसि किम् ? तन्नास्तीत्याह-यद्यस्मादेव चन्द्रो वारुणीं प्रतीचीं सुरां च । 'वारुणी गन्धदूर्वायां प्रतीचीसुरयोरपि' इति विश्वः । निषेव्य मत्वा पीत्वा च । पतितः च्युतः पातकी च । ईदृशः पतितोऽपि पुनर्दिवमन्तरिक्षं स्वर्गञ्च एति यदि किमु । द्वयोरपि पतितयोरधोगतिरेव नोर्ध्वगतिरित्यर्थः । अतः पतितस्य कुतः श्रैष्ठ्यं कुतस्तरां तद्वधे दोषश्चेति भावः ॥ ७० ॥

अन्वयः—आलि, मदीरितैः विधुन्तुदं वद—रिपुं द्विजराजधिया त्यजसि किम् यत् एषः ईदृशः पतितः हि वारुणीं निषेव्य दिवं पुनः किमु एति ?

हिन्दी—'अरी सखी, मेरे वचन विधुपीडक (राहु) से कह—क्या वह शत्रु को ब्राह्मण समझ कर छोड़ रहा है ? जब कि यह ऐसा पतित (गिरा हुआ, नीच) है तो फिर वारुणी (मदिरा तथा वरुण की दिशा पश्चिम) का सेवन कर 'द्यौ' (आकाश स्वर्ग) में पुनः आता कैसे है ?

टिप्पणी—दमयन्ती कहती है कि राहु को बता दो वह चन्द्र को ब्राह्मण समझ कर क्षमा न करे, यह तो मद्यसेवन करनेवाला ब्राह्मण है पतित—नीच जाने कैसे स्वर्ग में पहुँच गया है ? यहाँ द्विजराज (तारों का राजा, ब्राह्मण), वारुणी (मदिरा, पश्चिम दिशा) द्यौ (आकाश, स्वर्ग) और पतित (नीचे गिरा, पातकी) शब्द अनेकार्थक हैं । द्विजराज (तारकपति) इतना गिरा हुआ और निर्लज्ज है कि पश्चिम दिशा में डूब कर भी फिर-फिर आकाश में आधरता हैं । भला आदमी अपराध करके बार-बार फिर वैसा ही करने को मुँह नहीं दिखाता । यह चन्द्र ही ऐसा नीच है । चन्द्र को ब्राह्मण मान राहु खा जाने से न चूके, यह तो मदिरापायी ब्राह्मण है, इस पियक्कड़ को न जाने क्यों स्वर्ग में घुसने दिया जाता है ? चन्द्र तो बस नाम का ही ब्राह्मण है, वैसे पतित है, वारुणी-सेवी । विद्याधर के अनुसार समासोक्ति अलंकार । हिन्दी के संस्कृत पंडित, आचार्य, कवि केशवदास का ऐसा ही एक दोहा द्रष्टव्य है—'जहीं वारुणी की करी रंचक रुचि द्विजराज । तहीं कियो भगवन्त विन संपति शोभा साज ॥'—रामचन्द्रिका—५।१४ ॥ ७० ॥

दहति कण्ठमयं खलु तेन किं गरुडवद् द्विजवासनतोज्झितः ? ।
प्रकृतिरस्य विधुन्तुद ! दाहिका मयि निरागसि का वद विप्रता ?॥७१॥

जीवातु—दहतीति । विधुन्तुद ! अयं विधुः द्विजवासनया द्विजत्वसामान्येनेत्यर्थः । पातित्येऽपि जातेरनपायादिति भावः । गरुडवद् गरुडस्येव 'तत्र तस्येव' इति वतिप्रत्ययः । ते तव कण्ठं दहति खलु ! विधुः तेन दाहेनोज्झितः किम् ? अस्य विप्रता का वद, न कापीत्यर्थः । तथा हि, अस्य विधोः प्रकृतिः निरागसि निरपराधायां मयि दाहिका दग्ध्री । अनपराधस्त्रीघातुकस्य कुतो ब्राह्मणत्वमित्यर्थः । 'आगोऽपराधो मन्तुश्च' इत्यमरः । पुरा किल क्षुधितेन गरुत्मता

पित्रादेशेन म्लेच्छान् भक्षयता तन्मिलितः भ्रष्टद्विजः कश्चित् तद्दग्धगलेन सहसोद्गीर्ण इति पौराणिकी कथा। तथा माघश्चाह—'विप्रं पुरा पतगराडिव निर्जगार' इति ॥ ७१ ॥

अन्वयः—विधुन्तुद, अयं किं कण्ठं दहति गरुडवत् द्विजवासनया उज्झितः ? अस्य प्रकृतिः दाहिका, निरागसि मयि का विप्रता ? वद !

हिन्दी—हे चन्द्रपीडक (राहो), यह (चन्द्र) क्या (खाते समय तेरा) कंठ जलाता है, जिससे गरुड के समान (तूने इसे) ब्राह्मण-बुद्धि से छोड़ दिया, जलाना इसका स्वभाव है, अन्यथा निरपराधिनी मुझ पर यह कौन-सी ब्राह्मणता दिखा रहा है ? कह !

टिप्पणी—पुराण-कथा है कि माता विनता की दासता से मुक्ति दिलाने के लिए अमृत लाते गरुड ने निषादाकृति ब्राह्मण को खा जाना चाहा था। उन्हें कश्यप का वरदान था कि ब्राह्मणातिरिक्त सब को मार्ग में गरुड खा सकते हैं। ब्राह्मण की पहिचान यह है कि उसे खाते ही गला जलने लगेगा। सो निषादाकृति ब्राह्मण को मुख में रखते ही गरुड के गले में जलन होने लगी और उन्होंने उसे ब्राह्मण समझ कर छोड़ दिया। इस श्लोक में इसी पुराण-कथा का आश्रय लिया गया है कि राहु ने—गले में दाह कर रहा है, इस लिए चन्द्र ब्राह्मण है, सो—उसे गरुड के समान ही छोड़ दिया। दमयन्ती चन्द्र के वारुणी-सेवन की ओर संकेत करके कह रही है कि चन्द्र नाम का ही 'द्विजराज' है, कर्म से तो यह पतित शराबी है। निरपराध को सताने वाला भी कहीं ब्राह्मण होता है ? इसकी प्रकृति ही है—पर पीडन। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और उपमालंकार ॥ ७१ ॥

सकलया कलया किल दंष्ट्रया समवधाय यमाय विनिर्मितः।
विरहिणीगणचर्वणसाधनं विधुरतो द्विजराज इति श्रुतः ॥ ७२ ॥

जीवातु—सकलयेति। विधुः सकलया कलया सकलाभिः, कलाभिरेव दंष्ट्रया दंष्ट्राभिः, दन्तविशेषैः प्रकृतिद्रव्येण। उभयत्र जात्येकवचनम्। यमाय अन्तकार्थं समवधाय सम्यगवहितीभूय, विरहिणीगणस्य चर्वणसाधनं किञ्चिद्भक्षणसाधनं विनिर्मितः, किल ब्रह्मणेति शेषः। अतोऽस्माद्दंष्ट्राविशेषत्वाद् 'द्विजराज' इति श्रुतः न तु विप्रविशेषत्वादित्यर्थः। 'दन्तविप्राण्डजा द्विजा' इत्यमरः।

अतो नायमुपेक्ष्य इति भावः ॥ ७२ ॥

अन्वयः—विधुः सकलया कलया दंष्ट्रया समवधाय किं यमाय विरहिणीगण चर्वणसाधनं विनिर्मितः अतः द्विजराजः इति श्रुतः ?

हिन्दी—चन्द्र संपूर्ण कला रूप दंष्ट्राओं से भली भाँति संयोजन करके क्या यम के लिए विरहिणियों को चबाने का साधन बनाया गया है, इसीसे 'द्विजराज' (दाँतो का राजा) प्रसिद्ध है ?

टिप्पणी—चन्द्र का जो 'द्विजराज' विरुद है, वह इसलिए नहीं कि वह ब्राह्मणश्रेष्ठ है यह तो इसलिए 'द्विजराज' है कि दंष्ट्राओं से इसका निर्माण हुआ है, जिससे यमराज वियोगिनियों को चबा डालता है ? हत्या करने का यंत्र है यह—दाँतों का राजा। विद्याधर ने इस श्लोक में अपह्नवोत्प्रेक्षा का निर्देश किया है ॥ ७२ ॥

स्मरमुखं हरनेत्रहुताशनाज्ज्वलदिदं विधिना चकृषे विधुः ।
बहुविधेन वियोगिवधैनसा शशमिषादथ कालिकयाङ्कितः ॥ ७३ ॥

जीवातु—स्मरमुखमिति । अथ विधुश्चन्द्रो नामेदं स्मरमुखं ज्वलत् प्रज्वलदेव विधिना दैवेन हरनेत्रहुताशनाच्चकृषे मध्ये आकृष्टः । अथवा बहुविधेन वियोगिवधेन यदेनः पापं, तेनैव कालिकया श्यामिकया, शशमिषादङ्कितः । दाहकालिमा वा, पापकालिमा वा शशमिषाद् दृश्यत इति सापह्नवोत्प्रेक्षाद्वयम् ॥ ७३ ॥

अन्वयः—अथ विधुः इदं ज्वलत् स्मरमुखं विधिना हरनेत्रहुताशनात् चकृषे, बहुविधेन वियोगिवधैनसा कालिकया शशमिषात् अङ्कितः ।

हिन्दी—अथवा चन्द्ररूप इस दहकते काममुख को विधाता ने शिव के तृतीय नेत्र की आग से बनाया है; अनेक प्रकार से वियोगि जनों के वध के पाप की द्योतक कलौंच खरहे के ब्याज से इस पर लगा दी गयी है ।

टिप्पणी—चन्द्र की दाहकता और पातक का द्योतन । मल्लिनाथ के अनुसार दो सापह्नवा उत्प्रेक्षाएँ, जिनका चन्द्रप्रभाकार ने दो प्रतीयमान उत्प्रेक्षाओं और अपह्नुति के अंगाङ्गिभाव संकर रूप में निर्देश किया है । विद्याधर इस लोक में रूपक और अपह्नुति मानते हैं ॥ ७३ ॥

[द्विजपतिग्रसनाहितपातकप्रभवकुष्ठसितीकृतविग्रहः ।
विरहिणीवदनेन्दुजिघित्सया स्फुरति राहुरयं न निशाकरः ॥ १ ॥]

[अन्वयः—विरहिणीवदनेन्दुजिघित्सया द्विजपतिग्रसनाहितपातकप्रभवकुष्ठसितीकृतविग्रहः अयं राहुः स्फुरति, निशाकरः न ।

चरित्रवर्धनकृततिलकव्याख्या—द्विजपतीति ॥ भो सखि, विरहिणीनां वियोगिनीनां वदनेन्दुजिघित्सया मुखचन्द्रभक्षणेच्छया राहुरेव स्फुरति न निशाकरः । कीदृशः—द्विजपतिश्चन्द्रो विप्रश्रेष्ठश्च तद्ग्रसनात्तद्ग्रहणादाहितं यत्पातकं तस्मात्प्रभवमुत्पन्नं यत्कुष्ठं तेन सितीकृतो धवलीकृतो विग्रहः शरीरं यस्य स तथा ॥ क्षेपकोऽयम् ॥

हिन्दी—वियोगिनियों के मुखचन्द्रों को खाने की इच्छा से द्विजराज (चन्द्र और ब्राह्मणश्रेष्ठ) को ग्रसने के पातक से उत्पन्न कोढ़ के कारण शुभ्र शरीर वाला यह राहु ही चमक रहा है, निशाकर (चन्द्र) नहीं ।

टिप्पणी—भाव यह है कि यह जो आकाश में चमक रहा है, वह वस्तुतः शुभग्रह चन्द्र है ही नहीं, यह तो पापग्रह राहु है । इसने जो चन्द्र को ग्रस कर ब्रह्म हत्या की है, उसी के पाप से इसे कोढ़ हो गया है, जिससे शुभ्र होकर यह चन्द्रमा का भ्रम उत्पन्न कर रहा है । इसी कारण तो यह इतना क्लेश कारक है । जिनराज की सुखावबोध व्याख्या में इस पर टिप्पणी है—'अनेन ब्रह्महत्याविभूतं फलमनुभवतोऽपि पुनः स्त्रीहत्याकरणोद्यतस्यास्य नास्ति त्रपेत्यभिप्रायः ।' इसने एक बार ब्रह्महत्या-पातक का फल तो पा लिया, पुनः स्त्रीहत्या करने को तैयार है, लाज भी नहीं आती अपह्नुति अलंकार ।]

इति विधोर्विविधोक्तिविगर्हणं व्यवहितस्य वृथेति विमृश्य सा ।
अतितरां दधती विरहज्वरं हृदयभाजमुपालभत स्मरम् ॥ ७४ ॥

जीवातु—इतीति । अतितरामतिमात्रम्, अव्ययादाम्प्रत्ययः । विरहज्वरं दधती सा दमयन्ती इतीत्थं, व्यवहितस्य विप्रकृष्टस्य, विधोर्विविधोक्तिभिर्विगर्हणं निन्दा वृथेति विमृश्य, अरण्यरुदितप्रायमिति विचार्य, हृदयभाजं सन्निहितं स्मरमुपालभत निनिन्द । पाक्षिकफलसम्भावनयेति भावः ॥ ७४ ॥

अन्वयः—अतितरां विरहज्वरं दधती सा व्यवहितस्य विधोः इति

विविधोक्तिविगर्हणं वृथा इति विमृश्य हृदयभाजं स्मरम् उपालभत ।

हिन्दी—अत्यन्त वियोग-ताप से पीडिता वह (दमयन्ती) दूरस्थित चन्द्र की इस प्रकार अनेक कथनों से निन्दा व्यर्थ है—यह विचार कर हृदयस्थित काम को उलाहना देने लगी ।

टिप्पणी—दूर-आकाश में रहते चाँद को गरियाने से क्या लाभ ? भीतर बैठे काम से कहना उचित है ।। ७४ ।।

हृदयमाश्रयसे बत मामकं ज्वलयसीत्थमनङ्ग ! तदेव किम् ? ।
स्वयमपि क्षणदग्धनिजेन्धनः क्व भवितासि ? हताश ! हुताशवत् ।७५।

जीवातु—हृदयमिति । हे अनङ्ग ! ममेदं मामकम् । 'तवकममकावेकवचने' इत्यणि ममः कादेशः । हृदयमाश्रयसे । तदेवेत्थं किं ज्वलयसि दहसि ? बत । हताश दुर्बुद्धे ! स्वयं त्वमपि, हुतमश्नातीति हुताशोऽग्निः, कर्मण्यण् । तद्वत् क्षणदग्धनिजेन्धनो दग्धाश्रयः सन्नित्यर्थः । क्व भवितासि क्व भविष्यसि ? न क्वापीत्यर्थः । अनद्यतने लुट् । परहिंसाव्यसनेनात्मनाशं न पश्यसीत्याशयेन हताशेत्यामन्त्रणम् ।। ७५ ।।

अन्वयः—अनङ्ग, बत मामकं हृदयम् आश्रयसे, तत् एव इत्थं किं ज्वलयसि ? हताश, स्वयं हुताशवत् क्षणदग्धनिजेन्धनः क्व भवितासि ?

हिन्दी—अरे अतनु काम, खेद है कि तू मेरे हृदय का आश्रय लिये है, उसे ही इस प्रकार क्यों जला रहा है ? अरे दुष्ट आकांक्षा करने वाले, स्वयम् हुत को खाने वाले अग्नि के तुल्य क्षण में अपने ईंधन को जला डालकर (तू) कहाँ होगा ?

टिप्पणी—काम को उपालम्भ देती हुई दमयन्ती ने कहा कि मूर्ख काम, तू तो वह मूर्खताभरा कार्य कर रहा है कि जिस डाल पर बैठा है, उसे ही काट रहा है । मेरे हृदय में घर बसाये है, उसे ही जला रहा है । जब तेरा बसेरा ही जल जायेगा, तब तू रहेगा—बसेगा कहाँ ? यह तो तू आग के समान कर रहा है कि जिस ईंधन पर वह आश्रित होती है, उसे ही जलाकर राख कर देती है और स्वयं भी नष्ट हो जाती है । ऐसे ही तेरी भी दशा होगी । विद्याधर के अनुसार यहाँ उल्लेख्य अलंकार है अनुप्रास और उपमा ।। ७५ ।।

पुरभिदा गमितस्त्वमदृश्यतां त्रिनयनत्वपरिप्लुतिशङ्कया ।
स्मर ! निरैक्ष्यत कस्यचनापि न त्वयि किमक्षिगते नयनैस्त्रिभिः ॥ ७६ ॥

जीवातु—पुरभिदेति । हे स्मर ? त्वम् अक्षिगत इति शेषः । अनक्षिसन्निकृष्टस्याक्ष्णा दग्धुमशक्यत्वाददृश्यस्य च दाहायोगादिति भावः । पुरभिदा हरेण, त्रिनयनत्वं त्र्यक्षत्वं, क्षुभ्नादित्वाण्णत्वाभावः । तस्य परिप्लुतिशङ्कया तृतीयाक्षिवैयर्थ्यभयेनेत्यर्थः । अदृश्यतां गमितो नाशं प्रापितः, 'गतिबुद्धि'—इत्यादिना अणिकर्तुः कर्मत्वे तत्रैव क्तः । 'ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मण' इति वचनात् । किन्तु, कस्यचनापि यस्य कस्यचिदपि जनस्याक्षिगते दृग्गोचरे द्वेष्ये च । 'द्वेष्ये त्वक्षिगतो बध्यः' इत्यमरः । त्वयि त्रिभिर्नयनैः किं न निरैक्ष्यत, किमिति न निरीक्षितम् । अतोऽस्य त्रिनयनत्वं व्यर्थमेवेत्यर्थः । स्वाक्षिगत इव मादृशाक्षिगतेऽपि त्वयि तृतीयाक्षिनिरीक्षणाभावादपरोपकारिणस्तस्य वैयर्थ्यं, निरीक्षणञ्च देवस्य जितकामत्वादन्येषां तु कामजितत्वादुत्प्रेक्ष्यत इति । त्वयि निरैक्ष्यतेत्यत्र कर्मणोऽपि स्मरस्य अनेकशक्तियुक्तस्येति न्यायेन मातरि प्रहृतमित्यादिवदाधारत्वविवक्षायामविवक्षितकर्मकादीक्षतेर्भावे लकारः । 'प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया' इति वचनात् ॥ ७६ ॥

अन्वयः—स्मर, त्वम् पुरभिदा त्रिनयनत्वपरिप्लुतिशङ्कया अदृश्यतां गमितः, कस्यचन अपि अक्षिगते त्वयि त्रिभिः नयनैः किं न निरैक्ष्यत ?

हिन्दी—हे काम, तुझे पुरारि (महादेव) ने (अपने) तीननेत्र होने की अतिव्याप्ति अथवा व्यर्थता की शंका से विलुप्त कर दिया था, परंतु तुम्हारे किसी जन के भी अक्षिगत (प्रत्यक्ष और शत्रु) होने पर क्या (उसने) तीन नेत्रों से (क्रोध युक्त हो) नहीं देखा ? अपितु देखा ही । अथवा 'किम्' का अर्थ 'किन्तु' मानने पर तुम्हारे अक्षिगत (प्रत्यक्ष अर्थात् आक्रांत) होने पर किसी ने भी तीन नेत्रों (क्रोध) से नहीं देखा ।

टिप्पणी—'अक्षिगत' (प्रत्यक्ष और द्वेष योग्य—'आँख में खटकने वाला') और 'त्रिनयनत्व' (तीन नेत्र होना और क्रोध) अनेकार्थ शब्द हैं । शिव को त्रिनेत्र माना गया है, तीसरा नेत्र ज्ञान नेत्र भी कहाता है । यहाँ कल्पना यह की गयी है कि शिव के संमुख जब काम शत्रुरूप में प्रत्यक्ष हुआ तो उन्होंने

उसे अनंग कर दिया। यह इस लिए कि यदि वे ऐसा न करते तो उनका 'त्रिनयनत्व' अतिव्याप्त अतएव व्यर्थ हो जाता। काम जब अन्य व्यक्तियों को 'अक्षिगत' होता तो वे भी 'त्रिनेत्र' अर्थात् क्रोधयुक्त हो जाते हैं। जब शिव ने उसे क्षार कर अप्रत्यक्ष कर दिया तो अब कोई 'त्रिनेत्र' न होगा और शिव के त्रिनेत्रत्व की अतिव्याप्ति न होगी। केवल शिव 'त्रिनेत्र' रहेंगे, अन्य कोई नहीं। इसके अतिरिक्त कामदहन से पूर्व शिव का तीसरा नेत्र व्यर्थ पड़ा था, उसका उपयोग हो गया, व्यर्थता बच गयी। त्रिनेत्रधारी शिव परमज्ञानी हैं, यदि तृतीयनेत्र—ज्ञाननेत्र रहने पर भी वे कामदहन न करते तो उनका ज्ञान-नेत्र सार्थक ही नहीं होता, व्यर्थ हो जाता।

परन्तु शिव का यह कार्य चरितार्थ नहीं हुआ, जब-जब नर-नारी को काम 'अक्षिगत' (द्वेषी शत्रु) हो व्यथित करने लगता वे त्रिनेत्र (क्रोधयुक्त) होते ही थे। अथवा शिव का यह कार्य इस लिए भी सार्थक नहीं हुआ कि काम के 'अक्षिगत' (प्रत्यक्ष अर्थात् आविर्भूत) होने पर कोई 'त्रिनेत्र' होता ही नहीं, सभी कामानन्दलीन हो जाते हैं। शिव की 'त्रिनेत्रता' अतिव्याप्त—परिप्लुत होती ही नहीं है। काम के 'अक्षिगत' होने पर किसी का 'त्रिनेत्रत्व' मिलता ही नहीं, क्रोध आता ही नहीं। कहाँ सब 'त्रिनेत्र' (ज्ञानी) हो सकते हैं ? अतः शिव की यह आशंका व्यर्थ ही थी। भाव यह है कि 'त्रिनेत्रत्व-परिप्लुतिशंका' दोनों स्थितियों में व्यर्थ हो गयी। यदि यह माना जाय कि कामाक्रांत होने पर सब 'त्रिनेत्र' (क्रोधपूर्ण) हो जाते हैं, तब भी शिव का काम को 'अदृश्य' करदेना सार्थक न हुआ, 'परिप्लुति' हो ही गयी। यदि यह माना जाय कि कामाविष्ट हो कोई 'त्रिनेत्र' (क्रोधमय अथवा ज्ञानी) नहीं होता तब आशंका ही व्यर्थ थी। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षालंकार ॥ ७६ ॥

सहचरोऽसि रतेरिति विश्रुतिस्त्वयि वसत्यपि मे न रतिः कुतः ?।
अथ न सम्प्रति सङ्गतिरस्ति वामनुमृता न भवन्तमियं किल ॥७७॥

जीवातु—सहचर इति। हे स्मर ! रतेः रतिदेव्याः, सन्तुष्टेश्च सहचरोऽसीति विश्रुतिः प्रसिद्धिः त्वयि वसति हृदयस्थे सत्यपि, मे कुतो रतिर्न ?

अथवा, सम्प्रति वां युवयोः सङ्गतिर्नास्ति । कुतः, इयं रतिर्भवन्तं नानुमृता किल । किलेति वार्तायाम् । अनुमरणाभावादसङ्गतिर्युक्तेत्यर्थः । अत्र प्रीतिलक्षणाया रतेर्देव्या सहाभेदाध्यवसानादयमुपालम्भः । अत एवातिशयोक्तिरलङ्कारः ।। ७७ ।।

अन्वयः—रतेः सहचरः असि इति विश्रुतिः, त्वयि वसति अपि ये कुतः रतिः न ? अथ सम्प्रति वा सङ्गतिः न अस्ति, इयं भवन्तं न अनुमृता किल ।

हिन्दी—काम, तुम रति (स्वपत्नी) के सहचारी हो, ऐसा विख्यात है, किन्तु तुम्हारे (मेरे हृदय में) बसने पर भी (वहाँ) रति (प्रीति, संतोष, प्रियसङ्गम) क्यों नहीं है ? अथवा (ऐसा लगता है) आजकल तुम दोनों (रति-काम) का साथ नहीं है, वह (रति) तुम्हारे दग्ध होनेपर मरी भी तो नहीं है ।

टिप्पणी—यह श्रुति-प्रसिद्धि वेद-वाक्य दो प्रकार से ठीक नहीं है कि रति-काम सहचर हैं । एक तो दमयन्ती के हृदय में काम है, किन्तु रति (प्रियसंग) नहीं, दूसरे काम के साथ रति ने मरण भी नहीं स्वीकारा । दोनों प्रकार से 'श्रुति' प्रमाणित नहीं होती । कामाविष्ट दमयन्ती को 'रति' भी प्राप्त होती और काम के साथ रति भी जल मरती तो 'श्रुति' सत्य सिद्ध होती । और जब काम दग्ध हो गया, रति नहीं हुई तो वे साथ रहे ही नहीं, दमयन्ती के हृदय में काम के साथ रति कैसे आती ? मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ प्रीतिलक्षणा रति का कामपत्नी रति के साथ अभेदाध्यवसाय होने के कारण अतिशयोक्ति अलंकार है, विद्याधर के अनुसार विभावना और हेतु ।। ७७ ।।

रतिवियुक्तमनात्मपरज्ञ ! किं स्वमपि मामिव तापितवानसि ? ।
कथमतापभृतस्तव सङ्गमादितरथा हृदयं मम दह्यते ? ।। ७८ ।।

जीवातु—रतीति । आत्मानं परञ्च न जानातीत्यनात्मपरज्ञ सर्वघातुक मार ! मामिव रतिवियुक्तं स्वमात्मानमपि तापितवानसीत्युत्प्रेक्षा । कुतः, इतरथा स्वाऽसन्तापने, अतापभृतस्तापरहितस्य तव सङ्गमात् सम्पर्कान्मम हृदयं कथं दह्यते ? तप्तस्पर्शात्तापो नातप्तस्पर्शादित्यर्थः । सन्तापनादपि, स्वयमतप्तेन त्वया परसन्तापः क्रियते यथा तच्छीलैस्तप्तमुखैः शिलीमुखैरिति भावः ।। ७८ ।।

अन्वयः—अनात्मपरज्ञ, त्वं रतिवियुक्तं स्वम् अपि माम् इव किं तापितवान् असि, इतरथा अतापभृतः तव सङ्गमात् मम हृदयं कथं दह्यते ?

हिन्दी—अरे अपना और पराया (लाभ-हानि) न समझने वाले (काम), तू ने रति (स्वप्रिया) से विरहित अपने को भी (रति अर्थात् प्रियसंग-विहीना) मेरे समान क्या संतप्त कर रहा है, अन्यथा असंतप्त तेरे संग से मेरा हृदय क्यों जला जाता है ?

टिप्पणी—भर्तृहरि के अनुसार कुछ व्यक्ति स्वार्थ-नाश के मूल्य पर दूसरे का कार्य-सिद्ध करते हैं, वे सत्पुरुष होते हैं, उत्तम जन। कुछ स्वार्थ नाश न होने देकर परोपकार करते हैं, वे मध्यम जन कहाते हैं। नीच वे होते हैं, जो परहानि करके स्वार्थ सिद्ध कर लेते हैं। एक चौथे प्रकार के व्यक्ति होते हैं—राजर्षि ने कहा है कि हम नहीं जानते वे किस कोटि में आते हैं—'ते के न जानीम हे'—ऐसे व्यक्ति स्वयं को पीडित करके भी परपीडन अपना धर्म समझते हैं। 'खुद तो डूबेंगे, मगर यार को ले डूबेंगे।' इनके लिए मुख्य है—परपीडा, भले ही स्वयं भी पीडा सहनी पड़े। दमयन्ती के अनुसार काम भी इसी कोटि का है, जो स्वयं ताप सह रहा है और दमयन्ती को ताप दे रहा है। न अपनी सुध, न परायी सुध। विद्याधर के अनुसार इस पद्य में अनुमान और उपमालंकार हैं ॥ ७८ ॥

अनुममार न मार ! कथं नु सा रतिरिति प्रथितापि पतिव्रता।
इयदनाथवधूवधपातकी दयितयापि तयासि किमुज्झितः ? ॥ ७९ ॥

जीवातु—अनुममारेति। हे मार मारक ! पतिव्रतेति प्रथितापि सा रतिः कथं नानुममार कथं नानुमृता ? 'मृते म्रियेत या नारी सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता' इत्यनुस्मरणादिति भावः। अथवा, इयद्भिरेतावद्भिरसंख्यैरित्यर्थः। अनाथवधूनां वियोगिस्त्रीणां, वधैः पातकी त्वं तया दयितयापि विरहमसहमानयापीति भावः। उज्झितः त्यक्तोऽसि किमित्युत्प्रेक्षा। 'आशुद्धेः संप्रतीक्ष्यो हि महापातकदूषित' इति स्मरणादिति भावः ॥ ७९ ॥

अन्वयः—मार, पतिव्रता इति प्रथिता अपि सा रतिः कथं न अनुममार, इयदनाथवधूवधपातकी दयितया अपि तया किम् उज्झितः असि ?

हिन्दी— अरे मारक (काम), 'पतिव्रता'—विख्यात भी उस रति ने क्यों अनुमरण नहीं स्वीकारा ? अरे, इतनी अनाथा (नाथरहिता, प्रिय-वियुक्ता) वधुओं के वध का पाप तूने किया है कि 'उस दयिता' (दयायुक्ता, प्रिय पत्नी) ने भी क्या तुझे छोड़ दिया ?

टिप्पणी—पतिव्रता रूप में प्रसिद्ध रति काम के साथ सती कदाचित् इस कारण नहीं हुई कि वह महापातकी है, अनेक वियोगिनियों की हत्या का पातक उसके सिर पर है। दयावती रति भी उस पर दया न दिखा सकी, ऐसा पापी है काम। याज्ञवल्क्यस्मृति (आचाराध्याय) के अनुसार महा-पातकी के शुद्ध होने की प्रतीक्षा करना ही उचित है, सहमरण नहीं। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षालंकार हैं ॥ ७९ ॥

सुगत एव विजित्य जितेन्द्रियस्त्वदुरुकीर्तितनुं यदनाशयत् ।
तव तनूमवशिष्टवतीं ततः समिति भूतमयीमहरद्धरः ॥ ८० ॥

जीवातु—सुगत इति। जितेन्द्रियो वशी सुगतो बुद्ध एव विजित्य, तव उरुं महती कीर्ति एव तनुं शरीरं, यद्यस्मादनाशयत् नाशितवान्। ततः कारणादवशिष्टवतीमवशिष्टां भूतमयीं पाञ्चभौतिकीं तव तनुं समिति युद्धे हरः शम्भुरहरत् भस्मीचकारेत्यर्थः। तथापि निर्लज्जः कथमित्थमस्मादृशानकरुण व्यथयसीति विस्मिताः स्म इति भावः ॥ ८० ॥

अन्वयः—यत् जितेन्द्रियः सुगतः एव विजित्य त्वदुरुकीर्तितनुं अनाशयत्, ततः अवशिष्टमयीं भूतमयीं तव तनुं समिति हरः अहरत् ।

हिन्दी—क्योंकि इन्द्रियजयी सुगत बुद्ध ने ही जीतकर तेरे (काम के) महायशरूप शरीर को नष्ट कर दिया था, उस कारण से अवशेषमात्र पाँच-भौतिक तेरे शरीर को युद्ध में हर (महादेव) ने हरा।

टिप्पणी—भाव यह है कि काम इतना दुष्ट है कि उसे सब वध्य मानते हैं। बुद्ध ने मारा, शिव ने मारा। बुद्ध ने पहिले उसका यश हरा, कीर्तिहीन काम-शरीर शिव ने नष्ट कर दिया। वस्तुतः यशः शरीर ही तो महत्त्वपूर्ण होता है, उसके न रहने पर तो जो रह जाता है, वह 'भूतमय' है, पिशाच-शरीर काम को पिशाचता से शिव को मुक्ति देनी ही थी। परन्तु आश्चर्य यह है

कि पूर्णतः नष्ट होने पर भी काम व्यथित करता है। विद्याधर के अनुसार रूपक अलंकार ॥ ८० ॥

फलमलभ्यत यत्कुसुमैस्त्वया विषमनेत्रमनङ्ग ! निगृह्णता ।
अहह नीतिरवाप्तभया ततो न कुसुमैरपि विग्रहमिच्छति ॥ ८१ ॥

जीवातु–फलमिति । हे अनङ्ग ! विषमनेत्रं त्र्यक्षं, कुसुमैर्निगृह्णता निरुन्धता प्रहरतेत्यर्थः । त्वया यत्फलं मरणरूपमलभ्यत । ततस्तस्मात् फलादवाप्तभया-प्राप्तभया नीतिः, सर्वथा साधनान्तरेणापि वैरनिर्यातनं कार्यमित्येवरूपः (कर्त्री), कुसुमैरपि विग्रहं नेच्छति । अहहेत्यद्भुते । किमुत साधनान्तरैः 'पुष्पैरपि न योद्धव्यं किं पुनर्निशितैः शरै'रिति नीत्या कुसुमान्यपि मोक्तुं बिभेषीति भावः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—अनङ्ग, विषमनेत्रं कुसुमैः निगृह्णता त्वया यत् फलम् अलभ्यत अहह ततः अवाप्तभया नीतिः कुसुमैः अपि विग्रहं न इच्छति !

हिन्दी—अरे अङ्गहीन (काम), असम (तीन) नेत्र वाले (शिव) पर फूलों से प्रहार करते तूने फल पाया, (अथवा ज्ञानाश्रय शरीर के न होने से अज्ञानी, तूने पुष्पबाणों से विषमनेत्र (मृत्युंजय अथवा तीक्ष्ण-स्वभाव नायक– विषमः नेत्रः नायकः—) पर प्रहार कर जो मूर्खता का फल पाया), उससे भयप्राप्त नीति फूलों से भी युद्ध करना उचित नहीं समझती ।

टिप्पणी–युद्ध के विरोध में कहा जाता है कि युद्ध तो फूलों से भी नहीं करना चाहिए, तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों की तो बात दूर है—लगता है, यह भय की नीति, मूर्ख काम ने जो शिव पर फूलों से प्रहार कर मूर्खता की, जिसके फल स्वरूप भस्म होना पड़ा, उसी के कारण बन गयी है । कहाँ मृत्युंजय, विषम योद्धा, पाशुपतधारी, त्रिनेत्र शिव, कहाँ कोमल, फूलों से युद्ध करनेवाला, अनंग काम ? मूर्खता तो काम करता आया ही है, वह सदा का मूर्ख और दुष्ट है । विद्याधर के अनुसार प्रतीयमानोत्प्रेक्षालंकार ॥ ८१ ॥

अपि धयन्नितरामरवत्सुधां त्रिनयात्कथमापिथ तां दशाम् ? ।
भण रतेरधरस्य रसादरादमृतमात्तघृणः खलु नापिबः ? ॥ ८२ ॥

जीवातु—अपीति । हे स्मर ! इतरामरवद् देवान्तरवत्, सुधां धयन्

पिबन्नपि, धेटः शतृ प्रत्ययः। त्रिनयनादीश्वरात्, कथं तां दशां मरणा-वस्थाम्, आपिथ प्राप्तोऽभूः? आप्नोतेर्लिटि थलि क्रयादिनियमादिडागमः। भण वद। अथवा, रतेर्देव्याः, अधरस्योष्ठस्य, रसे स्वादे, आदरादास्थावशात् आत्तघृणः प्राप्तामृतजुगुप्सः सन्। 'घृणा जुगुप्साकृपयोः' इति वैजयन्ती। अमृतं नापिबः खलु। अमृतपाने कथमन्येष्वमरेषु त्वमेको मृत इति भावः॥ ८२॥

अन्वयः—इतरामरवत् सुधां धयन् अपि त्रिनयनात् कथं तां दशाम् आपिथ? भण, रतेः अधरस्य रसादरात् आत्तघृणः अमृतं न अपिबः खलु?

हिन्दी—अन्य देवों की भाँति अमृत पीने पर भी त्र्यंबक (शिव) से कैसे तू दशा (मरण) को प्राप्त हो गया? बोल, रति (प्रिया) के अधररस के प्रति आदर के कारण घृणायुक्त हो क्या अमृत पिया नहीं था?

टिप्पणी—अमृत तो सब देवों ने पिया था और अमर हो गये थे। काम ने भी अमृत पिया होगा, फिर भी वह शिव के द्वारा क्यों दुर्दशा को प्राप्त हुआ? लगता है कि रति का अधरामृत अमृत की अपेक्षा उसे अधिक आनन्ददायक, आदरयोग्य लगता होगा, अतः काम ने अमृत न पिया होगा और दग्ध हो गया। लम्पट है काम, जो उसने अधररस के आगे अमृत नगण्य माना। महामूर्ख और अतिचारी है वह। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा॥८२॥

भुवनमोहनजेन किमेनसा तव परेत! बभूव पिशाचता?।
यदधुना विरहाधिमलीमसामभिभवन् भ्रमसि स्मर! मद्विधात्॥ ८३॥

जीवातु—भुवनेति। परेत प्रेत! तव भुवनानां मोहनमचेतनीकरणं तज्जेनैनसा पापेन पिशाचता बभूव किम्? कुतः स्मर! यद्यस्मादधुना विरहा-धिना वियोगव्यथया मलीमसां मलिनां, मद्विधां मादृशीमबलामभिभवन् पीडयन् भ्रमसि। पापिष्ठाः किल पिशाचतां, गताः दुर्बलस्त्रीबालादीन् पीडयन्ति, त्वञ्च तादृक्कोऽपि पिशाच इत्युत्प्रेक्षा॥ ८३॥

अन्वयः—परेत, स्मर, किं तव भुवनमोहनजेन एनसा पिशाचता बभूव, यत् अधुना विरहाधिमलीमसां मद्विधाम् अभिभवन् भ्रमसि?

हिन्दी—अरे मृत काम, (अथवा हे मृत, स्मरण कर) क्या संसार को चेतना-विहीन करने से जात अपने पाप के कारण तू पिशाच हो गया है कि

अब विरहरोग से मलीन मुझ जैसों को पीडित करता डोल रहा है ?

टिप्पणी—निश्चय ही काम मर कर पिशाच हो गया है, कच्चा मांस खानेवाला 'पिशम् अत्तीति पिशाचः' तभी तो वह दुर्बल दमयन्ती को सता रहा है। पिशाच ही स्त्री-बालकों आदि को सताया करते हैं। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ८३ ॥

बत ददासि न मृत्युमपि स्मर ! स्खलति ते कृपया न धनुः करात् ।
अथ मृतोऽसि ! मृतेन च मुच्यते न किल मुष्टिरुरीकृतबन्धनः ॥८४॥

जीवातु—बतेति। हे स्मर ! मृत्युमपि न ददासि । तेन दुःखान्तो भवेदिति भावः। अथवा कृपया ते कराद्धनुरपि न स्खलति न भ्रश्यति । पूर्ववद्भावः। अथ मृतोऽसि । तथापि न स्खलतीत्याह—मृतेन च मृतेनापि, उरीकृतबन्धनः अङ्गीकृतबन्धनः दृढबद्ध इत्यर्थः। 'उर्यङ्गीच् युररीभ्यश्च करोति कुरुते परः' इति भट्टमल्लः। मुष्टिर्न मुच्यते खलु। बतेति खेदे। ततः कृतान्तादपि क्रूरोऽसीति भावः॥ ८४ ॥

अन्वयः—स्मर, बत मृत्युम् अपि न ददासि; कृपया ते करात्, धनुः अपि न स्खलति, अथ मृतः असि, मृतेन च उरीकृतबन्धनः मुष्टिः न मुच्यते किल ।

हिन्दी—रे काम, खेद है कि तू मौत भी नहीं देता अथवा दया (या ते + अकृपया—दयाहीनता) से तेरे हाथ से धनुष् भी नहीं गिर जाता, अथवा तू मर गया है, मरा हुआ ही बाँधकर मुट्ठी नहीं खोल पाता ।

टिप्पणी—काम दमयन्ती को जो मार नहीं डाल रहा है, उसका कारण है उसका स्वयं मर जाना, तभी तो वह निश्चेष्ट पड़ा है, न धनुष् उसके हाथ से गिर रहा है, न बँधी मुट्ठी ही खुल पा रही है। ये मृतक के लक्षण हैं। अथवा महाकृपण है काम, वह किसी को क्या देगा ? देने के लिए। उसकी मुट्ठी खुलती ही नहीं, धनुष् तक तो उसके हाथ से फिसलता नहीं कि कहीं कोई ले न ले। वह मौत भी माँगने पर नहीं देगा। काम यम से भी अधिक क्रूर है, वह मौत ही दे देता है। उत्प्रेक्षा ॥ ८४ ॥

दृगपहत्यपमृत्युविरूपताः शमयते परनिर्जरसेविता ।
अतिशयान्ध्यवपुःक्षतिपाण्डुताः स्मर ! भवन्ति भवन्तमुपासितः ॥८५॥

जीवातु—स्मरेति । हे स्मर ! परनिर्जरसेविता त्वत्तोऽन्यदेवतासेवको जनः तृच् । दृशो रूप हतिः आन्ध्यम्, अपमृत्युरकालमरणं, विरूपता अङ्गवैवर्ण्यं च, शमयते निवर्तयति । 'मित्त्वाच्च' इत्यात्मनेपदम् । मित्त्वाद्ध्रस्वत्वम् । भवन्तमुपासितुः त्वत्सेविनो जनस्य तु । ताच्छील्ये तृन् । 'न लोक'–इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । अतिशयेनान्ध्यं दृष्ट्युपघातः, वपुःक्षतिः शरीरविपत्तिः पाण्डुताः वैवर्ण्यञ्च, ता भवन्तीति देवतान्तरभक्तस्य उक्तदोषशान्तिः फलं, त्वद्भक्तस्य तदुद्रेक इत्यहो भक्तवात्सल्यं कामदेवस्येत्युपहासः । अत्रानर्थोत्पत्तिलक्षणो विषमालङ्कारभेदः ॥ ८५ ॥

अन्वय—स्मर, परनिर्जरसेविता दृगुपहत्यपमृत्युविरूपताः शमयते, भवन्तम् उपासितुः अतिशयान्ध्यवपुःक्षतिपाण्डुताः भवन्ति ।

हिन्दी—अरे काम, अन्यदेवों की सेवा करने वाला दृष्टि-नाश (अंधत्व), अकालमृत्यु और विरूपता (कुष्ठ, अपंगता आदि) का शमन करता है, परंतु आपकी उपासना करने वाले को अतिशय रूप से अंधता, देहक्षय, पीलिया (पांडुरोग) होते हैं ।

टिप्पणी—काम देवता तो है, पर ऐसा है कि उसके उपासकों को अनेक रोग हो जाते हैं, जब कि अन्य सूर्यादिक देवों के उपासकों के रोगों का उपशम होता है । धन्य है काम की भक्तवत्सलता ! भाव यह कि देव होने पर काम प्रशंसनीय नहीं उपहास योग्य है । मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में अनर्थोत्पत्तिरूप विषमालंकार भेद है, विद्याधर ने व्यतिरेकालंकार का निर्देश किया है ॥ ८५ ॥

स्मर ! नृशंसतमस्त्वमतो विधिः सुमनसः कृतवान् भवदायुधम् ।
यदि धनुः दृढमाशुगमायसं तव सृजेत् प्रलयं त्रिजगद् व्रजेत् ॥ ८६ ॥

जीवातु—स्मरेति । स्मर ! नॄन् शंसति हिनस्तीति नृशंसो घातुकः, 'शंसु हिंसायाम्' इति धातोः पचाद्यच् । त्वमतिनृशंसतमः अतो (हेतोः) विधिः स्रष्टा, सुमनसः पुष्पाणि, भवतः आयुधं कृतवान् । तव दृढं धनुरायतमयोमयम् आशुगं शरञ्च सृजेद्यदि । त्रयाणां जगतां समाहारस्त्रिजगत् (कर्तृ), प्रलयं विनाशं व्रजेत् । तव पापिष्ठतां दृष्ट्वा विदुषा परमेष्ठिना सम्यगनुष्ठितमिति भावः ॥ ८६ ॥

अन्वयः—स्मर, त्वं नृशंसतमः अतः विधिः सुमनसः भवदायुधं कृतवान्, यदि तव धनुः दृढम् आशुगं च आयसं सृजेत् त्रिजगत् प्रलयं व्रजेत् ।

हिन्दी—रे काम, तू अत्यन्त क्रूर है, इसलिए विधाता ने फूलों के तेरे अस्त्र बनाये, यदि तेरा धनुष् कठिन और बाण लोहे का बनाता (अथवा 'धनुः आशुगं दृढम् आयसं च सृजेत्' —धनुर्बाण कठिन और लोहे का बनाता) तो त्रिलोकी में प्रलय हो जाता ।

टिप्पणी—भाव यह है कि काम इतना क्रूर और दुर्मना है कि यदि विधाता फूलों के कोमल धनुर्बाण के स्थान में उसके आयुध दृढ लोहे के बना देता तो वह विश्वभर में प्रलय कर डालता, इतनी मारकता तो पुष्पायुध होने पर ही है । विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार ॥ ८६ ॥

स्मररिपोरिव रोपशिखी पुरां दहतु ते जगतामपि मा त्रयम् ।
इति विधिस्त्वदिषून् कुसुमानि किं मधुभिरन्तरसिञ्चदनिर्वृतः ॥ ८७ ॥

जीवातु—स्मरेति । स्मररिपोस्त्वदरेर्हरस्य रोपशिखी बाणाग्निः 'पत्री रोप इषुर्द्वयोः' इत्यमरः । पुरां त्रयामिव ते तव रोपशिखी जगतां त्रयं मा दहत्विति मत्वेति शेषः । गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः । विधिः स्रष्टा:, अनिर्वृतस्त्वां कुसुमेषुं कृत्वाप्यपरितुष्टः सन्, त्वदिषून् कुसुमानि मधुभिर्मकरन्दैः, अन्तर-सिञ्चत् अग्निशान्त्यर्थमौक्षत् किमित्युत्प्रेक्षा । अन्यथा पापिष्ठस्य ते को वारयितेति भावः ॥ ८७ ॥

अन्वयः—स्मररिपोः रोपशिखी पुराम् इव ते जगतां त्रयम् अपि मा दहतु—इति अनिर्वृतः विधिः त्वदिषून् कुसुमानि मधुभिः किम् अन्तः असिञ्चत् ?

हिन्दी—कामशत्रु (शिव त्रिपुरारि) के बाणाग्नि ने जैसे त्रिपुरदाह किया था, वैसे ही तेरे बाणों की आग त्रिलोकी को न जला डाले—यह विचार कर चिंतित विधाता ने तेरे बाणों को फूलों के मधु से अन्तःसिक्त नहीं किया था ?

टिप्पणी—शिव त्रिपुरारि हैं, उन्होंने त्रिपुरदाह किया । लगता है कि काम भी सुर नहीं, असुर है । असुररिपु शिव का शत्रु होने से वह त्रिपुरासुर का मित्र हुआ । शिव त्रिलोकीनाथ कहाते हैं । कदाचित् मित्रवध का बदला लेने के लिए काम त्रिलोकी को जला डालता, यह विचार कर विधाता ने

फूलों के मधु से काम-बाणों को सींच दिया कि शिव आर्द्र होने के कारण उनमें दाहकता न आसके। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार उपमा-उत्प्रेक्षा। चन्द्रप्रभाकार के अनुसार परस्परानपेक्षी उपमा-रूपक की संसृष्टि॥ ८७॥

विधिरनङ्गमभेद्यमवेक्ष्य ते जनमनः खलु लक्ष्यमकल्पयत्।
अपि स वज्रमदास्यत चेत्तदा त्वदिषुभिर्व्यदलिष्यदसावपि॥ ८८॥

जीवातु—विधिरिति। विधिर्ब्रह्मा अनङ्गमनवयवम्। 'अङ्गं प्रतीकोऽवयवः' इत्यमरः। अत एवाभेद्यमवेक्ष्य, निरवयवद्रव्यत्वादविनाश्यं निश्चित्य, जनमनः, ते तव, लक्ष्यमकल्पयदित्युत्प्रेक्षा। सावयवलक्ष्यदानपक्षे स विधिर्वज्रमदास्यत् चेद्द्याद्यदि, तदा त्वदिषुभिरसौ वज्रोऽपि व्यदलिष्यद्विशीर्णो भवेत्। अतो युक्तकारी स्रष्टेति भावः॥ ८८॥

अन्वयः—विधिः अनङ्गम् अभेद्यम् अवेक्ष्य जनमनः ते लक्ष्यम् अकल्पयत् खलु, सः वज्रम् अदास्यत चेत् तदा त्वदिषुभिः असौ अपि व्यदलिष्यत्।

हिन्दी—विधाता ने (अणुपरिमाण होने के कारण) अंगहीन—निरवयव, (अतः) अच्छेद्य (तोड़े न जाने योग्य) देखकर जन-मन को तेरा लक्ष्य (निशाना) बनाया, यदि वज्र को (भी लक्ष्य) बनाता तो तेरे बाणों से वह भी चूर्ण हो जाता।

टिप्पणी—काम इतना कठोर और हिंस्र है कि वज्र को भी लक्ष्य पाने पर भेद डालता, विधाता ने जान-बूझ कर, विचार कर उसे ऐसा लक्ष्य दिया, जो अंगहीन है—अणुपरिमाण जन-मन, वह टूट ही नहीं सकता। काम से बड़ा हिंस्रप्रिय कोई नहीं। विद्याधर के अनुसार विरोधालंकार॥ ८८॥

अपि विधिः कुसुमानि तवाशुगान् स्मर! विधाय न निर्वृतिमाप्तवान्।
अदित पञ्च हि ते स नियम्य ताम् तदपि तैर्बत जर्जरितं जगत्॥ ८९॥

जीवातु—अपीति। हे स्मर! विधिः कुसुमान्येव तवाशुगान्विधायापि, निर्वृतिं कृतकृत्योऽस्मीति परितोषं नाप्तवानित्युत्प्रेक्षा। कुतः, हि यस्मात् सोऽनिर्वृतो विधिस्तान् कुसुमान्याशुगानपि, नियम्य इयन्त एवेति नियमं कृत्वा। ते तव, पञ्चैवादित दत्तवान् तदपि तथापि तैः पञ्चभिरेव जगत्

जर्जरितं जर्जरीकृतम्। वर्तेति खेदे। विश्वनियन्ताप्येवं विकल्पयत्नः, कोऽन्योऽस्ति नियन्तेति भावः ॥ ८९ ॥

अन्वयः—स्मर, विधिः कुसुमानि तव आशुगान् विधाय अपि निर्वृतिं न आप्तवान्, हि सः तान् नियम्य पञ्च एव ते अदित, बत, तदपि तैः जगत् जर्जरितम्।

हिन्दी—काम, विधाता फूलों को ही तेरे बाण बनाकर नहीं रह गया, उसने उन (बाणों) का नियमन करके तुझे पाँच ही दिये। पर हाय, तब भी उन (पाँच बाणों) से (ही) संसार को जर्जर कर डाला।

टिप्पणी—काम की हिंस्रवृत्ति का एक और प्रमाण कि पाँच बाणों से ही जग को व्याकुल कर दिया। विधाता जैसे नियंत्रक को भी इच्छित सफलता न मिली। विद्याधर के अनुसार विरोध ॥ ८९ ॥

उपहरन्ति न कस्य सुपर्वणः सुमनसः कति पञ्च सुरद्रुमाः ?।
तव तु हीनतया पृथगेकिकां धिगियतापि न तेऽङ्गविदारणम् ॥९०॥

जीवातु—उपहरन्तीति। स्मर ! पञ्च सुरद्रुमाः मन्दारादयः कस्य सुपर्वणः कति सुमनसः कियन्ति कुसुमानि, नोपहरन्ति नोपायनीकुर्वन्ति ? सर्वस्याप्यमितमुपहरन्तीत्यर्थः। 'उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' इत्यमरः। तव तु हीनतया नीचतया पृथक् प्रत्येकमेकिकामेकाकिनीमेकैकां सुमनोव्यक्तिमुपहरन्तीत्यर्थः। अत एव पञ्चबाणत्वं तवेति भावः। 'एकादाकिनिच्चासहाये' इति तकरात् कन्प्रत्यये पूर्वस्येकारः। इयता एतावदवमानेनापि ते तवाङ्गविदारणं शरीरविपत्तिर्नास्ति। धिक्। अवमतस्य जीवनान्मरणमेव वरमिति भावः ॥ ९० ॥

अन्वयः—पञ्च सुरद्रुमाः कस्य सुपर्वणः कति सुमनसः न उपहरन्ति तव तु हीनतया पृथक् एकिकाम्, इयता अपि ते अङ्गविदारणम् न। धिक् !

हिन्दी—पाँच देववृक्ष किस देव को कितने फूल उपहार में नहीं देते ? (अगणित फूल प्रत्येक देव को देते हैं) किन्तु तेरे हीन होने के कारण तुझे एक वृक्ष एक ही फूल देता है, इतने पर भी तेरे अंग विदीर्ण नहीं होते ? धिक्कार है।

टिप्पणी—काम के पाँच पुष्प-बाण हैं, जो एक-एक देवतरु से एक-एक के क्रम से उसे प्राप्त हुए हैं। इसी आधार पर काम की नीचता प्रमाणित की गयी है। पञ्च देवतरु हैं—मन्दार, पारिजात, संतान, कल्पवृक्ष और हरिचंदनः—'पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः। सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनः॥ अमरकोष। विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार॥ ९०॥

कुसुममप्यतिदुर्नयकारि ते किमु वितीर्य धनुर्विधिरग्रहीत्।
किमकृतैष यदेकतदास्पदे द्वयमभूदधुनापि नलभ्रुवोः॥ ९१॥

जीवातु—कुसुममिति। विधिः कुसुममपि दुर्बलमपीत्यर्थः। अतिदुर्नयकारि अनर्थकारकं धनुस्ते तव वितीर्य दत्वा, अग्रहीत् किमु पुनर्जहार किमित्युत्प्रेक्षा। पापीयसे दत्तं हन्तव्यमेवेति भावः। किंत्वेष विधिः, किमकृतम् अकार्यमेव कृतवानित्यर्थः। कुतः, यद्यस्मादेकस्य तस्य धनुष आस्पदे स्थाने, अधुना नलभ्रुवोर्द्वयमभूद्धि। तेनैव धनुषा नलभ्रुवौ द्वे निर्मितवता तेन कण्टकमुद्धृत्य शल्यमारोपितं यदेकासहिष्णोर्द्वयमसह्यं सम्पादितमिति भावः॥ ९१॥

अन्वयः—विधिः कुसुमम् अपि अतिदुर्नयकारि धनुः ते वितीर्य अग्रहीत् किमु, किन्तु एषः किम् अकृत, यत् एकतदास्पदे अधुना नलभ्रुवोः द्वयम् अभूत्।

हिन्दी—विधाता ने फूल होते हुए भी अत्यन्त दुर्नीति कारक धनुष् तुझे देकर क्या वापस ले लिया, किन्तु उसने यह क्या किया कि एक उसके स्थान में अब नल की भौहों के रूप में दो हो गये?

टिप्पणी—काम को विधाता ने फूल का धनुष् दिया किंतु उससे भी जब काम अत्यन्त दुष्टता करने लगा तो उससे वापस ले लिया। पर यह अब दो गुनी भूल कर दी कि उस एक धनुष् से नल की दो भौंहें बना दी। इससे अब काम को दो धनुष् मिल गये, अन्याय दो गुना हो गया। जगत् का उपकार तो न हुआ, दो गुना अपकार हो गया। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अलंकार॥ ९१॥

षड्तवः क्रमया स्वकमेककं कुसुममक्रमनन्दितनन्दनाः।
ददति षड् भवते कुरुते भवान् धनुरिवैकमिषूनिव पञ्च तैः॥ ९२॥

जीवातु—षडिति। अक्रमेण यौगपद्येन, नन्दितनन्दनाः प्रकाशितसुरोद्यानाः, युगपन्निजकुसुमदानसमर्था इत्यर्थः। षडृतवो वसन्तादयः, कृपया, न तु प्रीत्येति भावः। स्वकं स्वसम्बन्धिनम् (निज) एककमेकैकमेव असहाये कन्प्रत्ययः। कुसुमं ददाना इति शेषः। तथा चोक्तरीत्या, प्रत्येकमेकैकदानान्मिलित्वा, षड्, भवते तुभ्यं ददाति। तैः षड्भिः कुसुमैरेकं धनुरिव, एकेनेति शेषः। पञ्चेषूनिव, पञ्चभिरिति शेषः। भवान् कुरुते। अहो! अवमानेऽपि निर्लज्जस्य ते परहिंसाव्यसनमिति भावः॥ ९२॥

अन्वयः—अक्रमनन्दितनन्दनाः षट् ऋतवः कृपया स्वकम् एककं कुसुमं भवते ददति, तैः एकं धनुः इव पञ्च इषून् इव भवान् कुरुते।

हिन्दी—क्रम का उल्लंघन करके इन्द्र के नन्दन उपवन को नन्दित (विकसित) करनेवाली छः ऋतुएँ कृपा करके अपना एक-एक फूल तुम्हें देती हैं, उनमें एक को तुम धनुष् के तुल्य और पाँच को बाणों के तुल्य कर लेते हो!

टिप्पणी—संसार में वसन्त आदि ऋतुएँ क्रम से आती हैं, पर नन्दन कानन में उनका कोई क्रम नहीं, वे एक साथ उसे विकसित कर देती हैं। उन छः ऋतुओं ने भी कृपा करके—प्रीति से नहीं—केवल एक-एक फूल काम को दिया, जिससे बेचारे ने एक धनुष् और पाँच बाण बना लिये। और करता भी क्या वह महादरिद्र? काम को कोई स्नेह देता ही नहीं, दरिद्र जानकर थोड़ी-सी भीख दे दी जाती है। फिर भी वह स्वभावतः इतना हिंसाप्रिय है कि उन फूलों का उपयोग यह किया कि आयुध बना लिये। विद्याधर के अनुसार उपमा॥ ९२॥

यदतनुस्त्वमिदं जगते हितं क्व स मुनिस्तव यः सहते क्षतीः।
विशिखमाश्रवणं परिपूर्य चेदविचलद्भुजमुज्झितुमीशिषे॥ ९३॥

जीवातु—यदिति। हे मार! त्वमतनुरशरीरीति यत्तदिदमतनुत्वं जगते हितं 'हितयोगे च' इति चतुर्थी वक्तव्या। तथा हि, विशिखं बाणमविचलद्भुजमकम्पहस्तं यथा तथा आश्रवणं परिपूर्याकर्णमाकृष्य उज्झितुं भोक्तुमीशिषे शक्नोषि चेद्यस्तव क्षतीः प्रहारान् सहते, स मुनिः क्व, न क्वापीत्यर्थः।

अनङ्गत्वेऽप्येवं जगद्द्रोहिणस्तव धानुष्कान्तरवत् कायव्यापारे जगति जितेन्द्रिय-कथैवास्तमियादित्यनङ्गत्वमेव जगद्धितमित्यर्थः ॥ ९३ ॥

अन्वयः—यत् त्वम् अतनुः इदं जगते हितम्; विशिखम् अविचलद् भुजम् आश्रवणं परिपूर्य उज्झितुम् ईशिषे चेत् यः तव क्षतीः सहते सः मुनिः क्व ?

हिन्दी—काम, जो तुम अशरीरी है, यह जगत् के कल्याण में है; (शरीरी होने पर) बाण को अकंपित बाहु कान तक खींचकर जो तुम छोड़ने की इच्छा करते तो जो तुम्हारे आघात सहता, वह मुनि कहाँ मिलता ?

टिप्पणी—अच्छा हुआ कि काम को महादेव ने भस्म कर अतनु बना दिया, शरीरधारी होने पर उसके प्रहार सह सकनेवाला कोई मुनि भी नहीं मिलता। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ॥ ९३ ॥

सह तया स्मर ! भस्म झटित्यभूः पशुपतिं प्रति यामिषुमग्रहीः ।
ध्रुवमभूदधुना वितनोः शरस्तव पिकस्वर एव स पञ्चमः ॥ ९४॥

जीवातु—सहेति। हे स्मर ! पशुपतिं प्रति यामिषुमग्रहीस्तया सह झटिति सहसा भस्माभूः। अधुना वितनोरनङ्गस्य तव पिकस्वरः कोकिलालाप एव, सः दग्धः पञ्चमः, पञ्चसङ्ख्यापूरणः शरोऽभूत्। ध्रुवम्। अत एव, 'पिकः कूजति पञ्चम'मित्यादौ पिकस्वरे पञ्चमसंज्ञाप्रवृत्तिश्चेति भावः। 'पञ्चमो रागभेदे स्यात् पञ्चानामपि पूरण' इति विश्वः। शरकार्यकारित्वात् पिक-स्वरस्य शरत्वोत्प्रेक्षा ॥ ९४ ॥

अन्वयः—स्मर, पशुपतिं प्रति याम् इषुम् अग्रहीः तया सह झटिति भस्म अभूः, अधुना वितनोः तव ध्रुवं पिकस्वरः एव सः पञ्चमः अभूत्।

हिन्दी—कामदेव, पशुपति शिव को लक्ष्य बना जो बाण तुमने ग्रहण किया, उसके साथ तुरंत भस्म हो गये; अब अंगहीन तेरा निश्चयतः कोकिल स्वर ही पंच बाण बन गया।

टिप्पणी—काम तो भस्म हो अतनु हो गया, पर साथ भस्म हुए बाण अतनु न रहे, कोकिल-स्वर एक साथ पंच बाण का काम करने लगा। मतंग के 'बृहद्देशी' और 'नारदीय शिक्षा' में बताया गया है—'कोकिलः पञ्चमो वदेत्।' कोकिल पंचम स्वर में बोलता है। यह सप्तस्वर विषयक मान्यता है,

इसी को आधार बनाकर शब्दच्छल से इस श्लोक में कोकिल-स्वर के पंचबाणत्व की कल्पना की गयी है। विरहीजनों का उद्दीपन होने से इस पर बाणत्वारोप किया गया है। उत्प्रेक्षा ॥ ९४ ॥

स्मर ! समं दुरितैरफलीकृतो भगवतोऽपि भवद्दहनश्रमः ।
सुरहिताय हुतात्मतनुः पुनर्ननु जनुर्दिवि तत्क्षणमापिथ ॥ ९५ ॥

जीवातु—स्मरेति। हे स्मर ! भगवतो हरस्यापि, दुरितैः समं भवत्पापैः सह भगवद्दृष्टिपातस्य पापहरत्वादिति भावः। भवद्दहनश्रमोऽफलीकृतो निष्फलीकृतः, सुरहिताय हुतात्मतनुर्हरकोपानले त्यक्तस्वदेहः सन्, तत्क्षणं तस्मिन्नेव क्षणे अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। दिवि द्युलोके, पुनर्जनुः पुनरुत्पत्तिमापिथ ननु प्राप्नोषि खलु। सुरप्रार्थितात्तस्मादेवेति शेषः। तच्चास्मत्पापफलमिति भावः ॥ ९५ ॥

अन्वयः—स्मर, भगवतः अपि भवद्दहनश्रमः दुरितैः समम् अफलीकृतः ननु सुरहिताय हुतात्मतनुः तत्क्षणं दिवि पुनः जनुः आपिथ।

हिन्दी—हे काम, भगवान् शंकर का भी तुम्हें जला देने का श्रम पापों के साथ-साथ निष्फल हो गया; क्योंकि देवताओं के हित के लिए अपने देह को आहुत कर देने वाले तुमने तत्क्षण स्वर्ग में पुनः जन्म पा लिया।

टिप्पणी—काम पर उसे भस्म कर देने वाली शंकर की दृष्टि जब पड़ी तो उसके शरीर के साथ-साथ शिव-दृष्टि पड़ने से उसके पाप भी अफल-निष्फल और नष्ट हो गये। वह भस्म तो हुआ परन्तु पुनः स्वर्ग में जन्म पाकर उसने अपना भस्म होना भी निष्फल कर दिया। देवताओं के हितार्थ तारकासुर को मारने के लिए शिव-सुत की आवश्यकता थी, किन्तु सती के आत्मदाह के पश्चात् शिव उदासीन हो गये थे। वे पुनः उमा से विवाह करें, शिव-पुत्र का जन्म हो, तारकासुर मारा जाए और देवताओं को शांति मिले। इस कार्य-सिद्धि के लिए शिव-समाधिभंग में यत्नशील काम शिवकोपजन्मा वह्नि में जल कर भस्मावशेष हो गया—'क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद् गिरां खे मरुतश्चरन्ति। तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार।'—कालिदास (कुमारसम्भव)। इस देवकार्य में काम भस्म हुआ। संभवतः इसी पुण्य से

वह स्वर्ग में पुनः जन्म पा पुनः वियोगिजनों को पीडित करने लगा। 'प्रकाश' टीका में 'स्मर नमं दुरितैरफलीकृतो' के स्थान में 'स्मर स मद्दुरितैरफलीकृतो' पाठ है। इस स्थिति में अर्थ होगा--'यद्दुरितैः मम पातकैः' अर्थात् दमयंती के पापों के कारण ही शिवद्वारा भस्मीभूत काम पुनर्जन्म पा गया, उसने देवकार्य का पुण्य जो किया था। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में अतिशयोक्ति अलंकार है॥ ९५॥

विरहिणो विमुखस्य विधूदये शमनदिक्पवनः स न दक्षिणः।
सुमनसो नमयन्नटनौ धनुस्तव तु बाहुरसौ यदि दक्षिणः॥ ९६॥

जीवातु—विरहिण इति। हे शूर! तवासौ बाहुर्यदि विधूदये चन्द्रोदये सहायलाभे सतीत्यर्थः सुमनसः पुष्पं नाम धनुः, अटनौ कोटौ। 'कोटिरस्याटनि-निर्गोधा' इत्यमरः। नमयन् दक्षिणो विरहिजनप्रहारदक्षः स्यात्, प्रहर्तुं प्रवृत्त-श्चेदित्यर्थः। 'सव्येतरश्च' इति ध्वनिः। तदा विमुखस्य विह्वलमुखस्य चन्द्रोदयपराङ्मुखस्य विरहिणो वियोगिजनस्य स दक्षिणत्वेन प्रसिद्धः शमन-दिक्पवनो याम्यदिङ्मारुतः, दक्षिणो दाक्षिण्यवान् सव्येतरश्च न। किन्तु सोऽपि त्वत्सहकारित्वान्निर्दयप्रहर्तैवेत्यर्थः। अतः सर्वानर्थमूलत्वात् त्वमेव पापिषु इत्यर्थः। प्रत्यङ्मुखस्य दक्षिणोऽपि वाम इति ध्वनिः। शमनदिक्पवनोऽपि न दक्षिण इति स्फुरणा द्विरोधाभासोऽलङ्कारः॥ ९६॥

अन्वयः— विधूदये सुमनसः धनुः, अटयन् तव असौ बाहुः, यदि दक्षिणः, विमुखस्य विरहिणः स शमनदिक्पवनः दक्षिणः न।

हिन्दी—चन्द्रोदय होने पर फूलों को आगे झुकाने में तुम्हारा (काम का) यह बाहु यदि 'दक्षिण' (दक्ष) है तो 'विमुख' अर्थात् चन्द्रोदय की दिशा पूर्व से पराङ्मुख अर्थात् पश्चिमदिगभिमुख वियोगियों के लिए वह यमराज की दिशा (दक्षिणदिशा) का पवन (मलयानिल) 'दक्षिण' (दाहिना) नहीं होगा, अथवा 'दक्षिण' (अनुकूल) न होगा।

टिप्पणी—वियोगियों के लिए चन्द्रोदय, काम और मलयानिल—तीनों (अनुकूल नहीं होते,) अदक्षिण (प्रतिकूल) होते हैं। इन तीनों का दुःसहत्व प्रतिपादन करना कवि का उद्देश्य है। चन्द्रोदय होने पर, काम अपनी भुजा से

प्रहारार्थं धनुष्कोटि आगे को, झुका लेता है, मलयपवन आंदोलित होने लगता है, तीनों ही प्रतिकूल बन कष्ट देने लगते हैं। पूर्व में चन्द्रोदय होने पर विरही पश्चिम की ओर मुँह करके खड़े हो जाते हैं कि चन्द्र-दर्शन न हो। उस स्थिति में मलयपवन की उद्भव दिशा उनके 'दक्षिण' (दाहिने) नहीं रह जाती, बायें पड़ जाती है, अतः 'शमनदिक्पवनः दक्षिणः न'। इस प्रकार काम-प्रहारार्थ भले ही अपनी भुजा को 'दक्षिण' (दक्ष) रखे रहे, चन्द्रोदय भी 'वाम' (विमुख प्रतिकूल) है, 'दक्षिण' दिशा भी 'वाम' (बायें) पड़ जाती है—मलयानिल भी 'वाम' (बायीं ओर से यह आनेवाला—अतः प्रतिकूल) है। काम की 'दक्षिणता'—दाक्षिण्य तो 'वाम' है ही। मल्लिनाथ के अनुसार विरोधाभास अलंकार—मलयपवन 'दक्षिण' (दक्षिणदिशोद्भव) नहीं, वाम (बांये हाथ की ओर से बहनेवाला—प्रतिकूल) है प्रकाशकार ने काकु की सहायता से एक अन्य अर्थ निकाला है—जैसे फूलों की धनुष्कोटि को झुकाता काम का बाहु दक्षिण है, वैसे ही अपने संमुख आ पड़ते फूलों की कोटि को झुकाता मारक यम की दिशा का पवन क्या दक्षिण नहीं है ? है। भाव यही है कि दोनों ही दुःसह हैं—चन्द्रोदय के समय काम अपनी धनुष्कोटि को झुकाता और मलयानिल फूलों की डालों को झुकाता-झकझोरता। विद्याधर ने यहाँ भी अतिशयोक्ति ही मानी है ॥ ९६ ॥

किमु भवन्तमुमापतिरेककं मदमुदान्धमयोगिजनान्तकम्।
यदजयत्तत एव न गीयते स भगवान् मदनान्धकमृत्युजित् ॥ ९७ ॥

जीवातु—किम्विति। हे मदन ! उमापतिः मदश्च मुच्च द्वन्द्वैकवद्भावः। तेन मदमुदाभ्यां मदानन्दाभ्याम् अन्धयति व्यामोहयति कामिजनमित्यन्धम् अन्धकम्। 'अन्धदृष्टप्रतीघाते' इति धातोश्चौरादिकात् पचाद्यच्। अयोगिजनान्तकं वियोगिजनमृत्युम्, एककमेकाकिनं, भवन्तमेव अजयदिति। तत एव स भगवान् उमापतिः। मदनान्धकमृत्युजित् मदनजिदन्धकजिन्मृत्युजिदिति गीयते किमु गीयत एवेत्यर्थः। मदनवदन्धकमृत्यू अपि त्वत्तोऽन्यौ न स्त इति भावः। अत्र मदनादीनां मिथो भेदेप्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ९७ ॥

अन्वयः—उमापतिः मदमुदान्धम् अयोगिजनान्तकम् एककं भवन्तम् एव यत् अजयत्, किमु ततः एव स भगवान् मदनान्धकमृत्युजित् न गीयते ?

हिन्दी—उमा (पार्वती) के स्वामी (शिव) गर्व और प्रसन्नता से अंधे हुए, वियोगिजनों के अंतक (यमराज) अकेले तुम्हें ही जो जीता क्या उसी से वे भगवान् (शिव) मदन, अंधक और मृत्यु के जयी नहीं प्रसिद्ध हैं? अपितु हैं ही।

टिप्पणी—काम 'मद' उत्पन्न करता है, अतः वह 'मदन' है—मदयतीति मदनः। काम में व्यक्ति अंधा हो जाता है—विवेकहीन, अतः काम अंधक भी है—अन्धीकरोति इति अन्धकः। काम वियोगियों को मृत्युसम कष्ट देता है, अतः वह अन्तक भी है—अन्तं करोति इति अन्तकः। प्रतीत होता है कि शिव ने न तो अंधकासुर को मारा और न मृत्यु को ही जीता, एक काम को भस्म कर जयी हुए। एक ही काम के ये तीन नाम हैं—मदन, अंधक, अंतक (मृत्यु)। इस प्रकार एक कामजित् उमापति के तीन विरुद पड़ गये—मदनजित्, अंधकजित् और मृत्युंजय। भाव यह है कि काम ही तीन-तीन नाम धार कर कष्ट देता है। अथवा काम अंधक और अन्तक दोनों से अधिक कष्ट देता है। कष्ट देने की क्षमता में उसने अंधक और अंतक को भी जीत लिया है, इस प्रकार अंधक-अंतक-जित् काम के जयी शिव मदनजित् होने से ही अन्धकजित् और अन्तकजित् भी प्रसिद्ध हो गये। मल्लिनाथ के अनुसार भेद होने पर भी अभेद कथन होने से इस श्लोक में अतिशयोक्ति है, विद्याधर के अनुसार सापह्नवोत्प्रेक्षालंकार है॥ ९७॥

त्वमिव कोऽपि परापकृतौ कृती न ददृशे न च मन्मथ! शुश्रुवे।
स्वमदहद्दहनाज्ज्वलतात्मना ज्वलयितुं परिरभ्य जगन्ति यः॥९८॥

जीवातु—त्वमिति। हे मन्मथ! त्वमिव परापकृतौ परापकारे कृती कुशलः कोऽपि न ददृशे न दृष्टः, न शुश्रुवे न च श्रुतः, यः अपकर्ता दहनादग्निसंयोगात्, ज्वलता प्रज्वलता आत्मना स्वाङ्गेन जगन्ति परिरभ्याश्लिष्य ज्वलयितुं दग्धुं, स्वमात्मानमदहत् परिरभ्य परगात्रदूषणाय स्वगात्रे पङ्कलेपवत्, परदाहव्यसनादेवात्मदाहाङ्गीकारस्तवेत्यहो दुर्व्यसनमिति भावः॥ ९८॥

अन्वयः—मन्मथ, त्वम् इव परापकृतौ कृती कः अपि न ददृशे न च शुश्रुवे, यः दहनात् ज्वलता आत्मना जगन्ति परिरभ्य ज्वलयितुं स्वम् अदहत्।

हिन्दी--हे मन्मथ (मनोमंथनकारी काम), तेरे जैसा पर-अपकार में प्रवीण न कोई देखा और न सुना, जिसने कि अग्नि से जलते स्वदेह से लोकों का आलिंगन करके जला डालने के लिए स्वयम् को जला डाला।

टिप्पणी—भर्तृहरि के अनुसार 'ते के न जानीमहे'--कोटिवाला व्यक्ति जो स्वयं कष्ट उठाकर दूसरों को कष्ट देता है। ऐसा है यह परपीडक मन्मथ। ऐसा देखने में तो नहीं ही आता, सुनायी भी कम ही पड़ता है। विद्याधर के अनुसार उपमा और अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ९८ ॥

त्वमुचित नयनार्चिषि शम्भुना भुवनशान्तिकहोमहविः कृतः।
तव वयस्यमपास्य मधुं मधु हतवता हरिणा बत किं कृतम् ? ॥ ९९ ॥

जीवातु—त्वमिति। हे वीर ! शम्भुना नयनार्चिषि नेत्राग्निशिखायां त्वं भुवनानां शान्तिके शान्तिप्रयोजके। 'प्रयोजनम्' इति ठक्। होमहविराहुतिः उचितं वध्यस्य वधादिति भावः। तव वयस्यं सखायं, मधुं वसन्तम् अपास्योपेक्ष्य मधुं मध्वाख्यं, दैत्यं हतवता हरिणा किं कृतम् ? बतेति खेदे। वध्यवधाद्धरः साधुकारी। हरिस्तदुपेक्षणादसाधुकारीत्यर्थः। समित्रः स्मरो वध्य इति भावः ॥ ९९ ॥

अन्वयः—त्वम् शम्भुना नयनार्चिषि उचितं भुवनशान्तिकहोमहविः कृतः, बत तव वयस्यं मधुम् अपास्य मधुं हतवता हरिणा किं कृतम् ?

हिन्दी--तुझे शम्' (कल्याण) जिससे हो, ऐसे 'शम्भु' (शिव) ने नयनज्वाला में ठीक ही त्रिभुवनशांति के निमित्त आयोजित होम की हवि (आहुति) कर दिया, खेद है कि तेरे मित्र मधु (वसंत) को छोड़कर मधु राक्षस का वध करके हरि (विष्णु) ने क्या किया ? उचित नहीं किया।

टिप्पणी—शंभु--शम् भवति अनेन - ने काम को नेत्राग्नि में भस्म कर दिया, ठीक किया। त्रिभुवन में शान्ति होती, पर विष्णु यह क्या कर बैठे कि मधु नामक राक्षस को तो मारा, किन्तु तेरे उत्पाती मित्र, राक्षस मधु से भी अधिक पीडक मधु (वसंत) को छोड़ दिया। जो प्रलयंकर है, उसने तो अपना 'शंभु' (शान्तिकर्ता) रूप दिखाया और जो जगत् का पालक है—स्थितिकर्ता

उस विष्णु ने अपना अनर्थकारक रूप 'हरि' (अविवेकी वानर) दिखा दिया। कितना खेद जनक है यह समस्त व्यापार! विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ९९ ॥

इति कियद्वचसैव भृशं प्रियाधरपिपासु तदाननमाशु तत्।
अजनि पांसुलमप्रियवाग्ज्वलन्मदनशोषणबाणहतेरिव ॥ १०० ॥

जीवातु—इतीति। प्रियस्य नलस्याधरमोष्ठं पिपासु पातुमिच्छु मधु-पिपासुप्रभृतीनां गम्यादिपाठात् समास' इति वामनः। तत् प्रसिद्धम्, तस्या भैम्या आननम् इतीत्थं, कियद्वचसैव, अप्रियवाग्भिर्निष्ठुरोक्तिभिः, ज्वलतः क्रुध्यतो मदनस्य यः शोषणबाणः तस्य हतेः प्रहारादिवेति हेतूत्प्रेक्षा। आशु भृशं, पांसुलं पांसुमद् अजनि जातम् ॥ १०० ॥

अन्वयः—प्रियाधरपिपासु तत् तदाननम् इति कियद्वचसा एव अप्रियवाग्-ज्वलन्मदनशोषणबाणहतेः इव आशु पांसुलम् अजनि।

हिन्दी—प्रिय (नल) के अधर का प्यासा वह उस (दमयंती) का मुख इस प्रकार (उपर्युक्त) कुछ वचन कहने से ही निंदायुक्त कथन से (क्रोध के कारण) जल उठे काम के 'शोषण' (नामक) बाण से जैसे आहत हो शीघ्र ही सूख गया।

टिप्पणी— विरहव्यथिता दमयन्ती का मुख बोलते-बोलते थक गया, इस पर दो कल्पनाएँ की गयी—मानों मुख प्यास से सूख गया, प्यास तब बुझे जब प्रियाधरामृत-पान हो। मानो निन्दा सुनकर क्रुद्ध हुए काम ने शोषण नामक बाण से घायल कर दिया, जिससे मुख सूख गया। मल्लिनाथ के अनुसार हेतूत्प्रेक्षा और लेशोक्ति ॥ १०० ॥

प्रियसखीनिवहेन सहाथ सा व्यरचयद्गिरमर्धसमस्यया।
हृदयमर्मणि मन्मथसायकैः क्षततमा बहु भाषितुमक्षमा ॥ १०१ ॥

जीवातु—प्रियसखीति। अथ सा दमयन्ती, मन्मथसायकैः हृदयमर्मणि क्षततमा गाढं प्रहृता। अत एव बहु भाषितुं प्रपञ्च्य वक्तुमक्षमा सती, प्रिय-सखीनिवहेन सह आप्तसखीसङ्घेन सार्धम्, अर्द्धरूपया समस्यया संग्रहकारिकया। 'समस्या तु समासार्था' इत्यमरः। 'संज्ञायां समजनिषदे'त्यत्र संपूर्वादस्यतेर्बा-

हुलकः क्यङ् इति क्षीरस्वामी। गिरं व्यरचयत्। पूर्वार्धं सखीजनसमस्या, तदुत्तरत्वेनोत्तरार्धं स्वयमरचयदित्यर्थः ॥ १०१ ॥

अन्वयः—अथ मन्मथसायकैः हृदयमर्मणि क्षततमा बहु भाषितुम् अक्षमा सा प्रियसखीनिवहेन सह अर्धसमस्यया गिरं व्यरचयत्।

हिन्दी—तदनन्तर मन्मथ के बाणों द्वारा हृदय के मर्म में अत्यधिक विद्ध, अधिक बोलने में असमर्थ वह (दमयन्ती) प्यारी सखियों के साथ आधी समस्या से युक्त (जिसके अर्धभाग की पूर्ति प्रत्युतर से हो) बात करने लगी।

टिप्पणी—व्यथिता, क्लांता होने से दमयन्ती को अधिक बोलना कष्ट कर होने लगा, अतः वह इस प्रकार अपनी रहस्यवित् सखियों से बातचीत करने लगी कि आधी बात सखियाँ कहतीं, आधी दमयन्ती कहती, समस्यापूर्ति के सदृश। समस्या अर्थात् संक्षेपोक्ति, जिसमें अपूर्ण होने कारण विक्षिप्त—विस्तृत का समास—संक्षेप हो, वह समस्या। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास, हेतु और सहोक्ति। आगे के आठ श्लोकों का पूर्वार्द्ध सखी-कथन है, उत्तरार्द्ध दमयन्ती का प्रतिवचन ॥ १०१ ॥

अकरुणादव सूनशरादसून् सहजयाऽऽपदि धीरतयाऽऽत्मनः।
असव एव ममाद्य विरोधिनः कथमरीन् सखि! रक्षितुमात्थ माम् ॥१०२॥

जीवातु—अकरुणादिति। हे भैमि! आपदि सहजया धीरतया धैर्येण। 'विपदि धैर्यमि'ति नीतेरिति भावः। अकरुणान्निर्दयाद् सूनशरात् कुसुमेषोः, आत्मनः स्वस्यासून् प्राणान् अव रक्ष। अद्येदानीमसव एव मम विरोधिनः शत्रवः। तन्मूलत्वात् दुःखं सवेदनस्येति भावः। हे सखि! मां कथमरीन् रक्षितुमात्थ ब्रवीषि? 'ब्रुवः पञ्चानाम्' इति साधुः। सम्प्रति मे प्राणरक्षणमाशीविषपोषणं पयोभिरिति भावः ॥ १०२ ॥

अन्वयः—अकरुणात् सूनशरात् सहजया धीरतया आपदि आत्मनः असून् अव। सखि, अद्य असवः एव मम विरोधिनः, माम् अरीन् रक्षितुं कथम् आत्थ।

हिन्दी—सखियों ने कहा—निर्दय पुष्पबाण (काम) से स्वाभाविक धैर्यपूर्वक आपत्ति में अपने प्राणों की रक्षा करो। दमयन्ती ने प्रत्युत्तर दिया—आज प्राण ही तो मेरे विरोधी हो गये हैं, मुझसे वैरियों की रक्षा करने को क्यों कहती हो?

टिप्पणी—पूर्वार्द्ध सखीवचन, उत्तरार्द्ध दमयन्ती का उत्तर। इतनी मर्मांतक व्यथा है दमयन्ती की प्राण ही उसे भारी और कष्ट दायी लग रहे हैं। विद्याधर के अनुसार यहाँ से लेकर आठ वाक्यों (१०२–१०९) में श्लेष-वक्रोक्ति है। रुद्रट के अनुसार श्लेषवक्रोक्ति का लक्षण है—"वक्त्रा यदन्यथोक्तं व्याचष्टे वान्यथा तदुत्तरदः। वचनं यत्पदभङ्गैर्ज्ञेया सा श्लेषवक्रोक्तिः" ॥१०२॥

हितगिरं न शृणोषि किमाश्रवे! प्रसभमप्यव जीवितमात्मनः।
सखि! हिता यदि मे भवसीदृशी मदरिमिच्छसि या मम जीवितम् ॥१०३॥

जीवातु—हितगिरमिति। आशृणोति वाक्यमिति आश्रवा। पचाद्यच्। हे आश्रवे! वाक्यकारिणि! 'वचने स्थित आश्रव' इत्यमरः। प्रसभं बलादप्यात्मनो जीवितं प्राणमव रक्ष। 'एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि' इति न्यायादिति भावः। हितगिरमाप्तवाक्यं किं न शृणोषि?। हे सखि! या त्वं मदरिं मम जीवितमिच्छस्यपेक्षसे। ईदृशीत्थं शत्रुवृद्धिमीहमानापि, मे हिता भवसि यदि। न तु भवसि। अतो न शृणोमीत्यर्थः॥ १०३॥

अन्वयः—आश्रवे, हितगिरं किं न शृणोषि? प्रसभम् अपि आत्मनः जीवितम् अव। सखि, यदि या मदरिं मम जीवितम् इच्छसि, ईदृशी मे हिता भवसि?

हिन्दी—सखी बोली—हे आश्रये (कहे को सुनने वाली), हितेच्छु के वचन क्यों नहीं सुनती? प्रयत्न करके भी अपने जीवन की रक्षा करो। दमयन्ती ने कहा—सखि, यदि जो तू मेरे शत्रु जीवन की इच्छा करती है, ऐसी मेरी हितैषिणी है? (नहीं है)।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में दमयन्ती ने प्राणों को अपना शत्रु कहा था उसी को रखने का आग्रह करने वाली सखी को उसने हितेच्छुक मानना उचित नहीं माना। काकु॥ १०३॥

अमृतदीधितिरेष विदर्भजे! भजसि तापममुष्य किमंशुभिः?।
यदि भवन्ति मृताः सखि! चन्द्रिकाः शशभृतः क्व तदा परितप्यते ॥१०४॥

जीवातु—अमृतदीधितिरिति। हे विदर्भजे दमयन्ति! एष इति पुरोवर्तिनो हस्तेन निर्देशः। अमृतदीधितिः सुधांशुः। अमुष्य सुधांशोरंशुभिः किमिति तापं

भजसि ? अत्रामृतशब्दस्यार्थान्तराश्रयेणोत्तरमाह—यदीति । हे सखि ! शशभृतश्चन्द्रिकाः मृताः भवन्ति यदि, तदा क्व परितप्यते ? न क्वापीत्यर्थः । अस्यामृतदीधितित्वादेवेदं दुःखं, मृतदीधितिश्चेत् सर्वारिष्टशान्तिः स्यादिति भावः । अत्र अमृतेति सुधाविवक्षया प्रत्युक्तस्य मृतेतरार्थत्वेन योजनाद्वक्रोक्तिरलङ्कारः । 'अन्यथोक्तस्य वाक्यस्य काक्वा श्लेषेण वा भवेत् । अन्यथा योजनं यत्र सा वक्रोक्तिर्निगद्यते ॥' इति ॥ १०४ ॥

अन्वयः—विदर्भजे, एषः अमृतदीधितिः, किम् अमुष्य अंशुभिः तापं भजसि ? सखि, यदि शशभृतः चन्द्रिकाः मृताः भवन्ति तदा क्व परितप्यते ?

हिन्दी—सखी ने कहा—हे विदर्भसुते, यह (चन्द्र) अमृत किरण है, क्या इसकी किरणों से संताप होता है ? दमयन्ती ने उत्तर दिया—सखी, यदि शश (कलंक) धारी (चन्द्र) की किरणें 'मृत' (नष्ट) हो जाती तो किससे संताप मिलता ?

टिप्पणी - दमयन्ती ने कहा कि ताप का कारण तो चन्द्र-किरणें ही हैं, ये न हों तो ताप ही न हो । 'अमृत' का प्रचलित अर्थ सुधा या पीयूष है, दमयन्ती ने इसका अर्थ लिया अ + मृत = न मरा, जीवित । उसने कहा कि चन्दा अ + मृत किरणों (अक्षयकिरण) वाला न होकर 'मृत'-(नष्ट)-किरण होता तो संताप का कारण ही न रह जाता । प्रचलित अर्थ से भिन्नार्थ योजना के आधार पर मल्लिनाथ ने इस श्लोक में वक्रोक्ति अलंकार माना है ॥ १०४ ॥

व्रज धृतिं त्यज भीतिमहेतुकामयमचण्डमरीचिरुदञ्चति ।
ज्वलयति स्फुटमातपमुर्मुरैरनुभवं वचसा सखि ! लुम्पसि ॥ १०५ ॥

जीवातु—व्रजेति । (हे मुग्धे !), धृतिं व्रज धैर्यं भज । अहेतुकां भीतिं त्यज । अयमचण्डमरीचिः शीतांशुरुदञ्चत्युदेति, न चण्डांशुरित्यर्थः । आतपैरेव मुर्मुरैस्तुषानलैः । 'मुर्मुरन्तु तुषानल' इति वैजयन्ती । स्फुटं प्रत्यक्षं यथा तथा, ज्वलयति दहति । हे सखि ! अनुभवं प्रत्यक्षं वचसा आगमेन लुम्पसि बाधसे । तदयुक्तं प्रावप्लवनवाक्यवत्, प्रत्यक्षेणैवास्य बाधादित्यर्थः । अत्राचण्डकरे चण्डकरभ्रान्त्या भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥ १०५ ॥

अन्वयः—धृतिं व्रज, अहेतुकां भीतिं त्यज, अयम् अचण्डमरीचिः उदयति। सखि, आतपमुर्मुरैः स्फुटं ज्वलयति, अनुभवं वचसा लुम्पसि ?

हिन्दी—सखी—धैर्य-धारण करो, अकारण भय को त्यागो, यह अप्रचंड-किरण (शीतकिरण चन्द्र) उदित हो रहा है। दमयन्ती—सखी, उष्ण अंगारों से यह प्रत्यक्षतः जला रहा है, तू (मेरे) अनुभव को वचनों से मिटाना चाहती है ?

टिप्पणी—उदयप्राप्त करता चन्द्रा भले ही शीतांशु हो, पर दमयन्ती को तुषानल के तुल्य दग्ध कर रहा है। वह स्वानुभव को झूठा कैसे मान ले ? चन्द्र को शीतांशु तो केवल कहा जाता है, अनुभव में तो वह प्रचंडांशु है। वचन की अपेक्षा अनुभव बड़ा, अतएव स्वीकार्य होता है। यहाँ 'अचंडकर' (चन्द्र) में 'चंडकर' (सूर्य) के भ्रम को आधार मान कर मल्लिनाथ ने भ्रान्तिमान् अलंकार का निर्देश किया है ॥ १०५ ॥

अयि ! शपे हृदयाय तवैव यद्यदि विधोर्न रुचेरसि गोचरः।
रुचिफलं सखि ! दृश्यत एव यज्ज्वलयति त्वचमुल्ललयत्यसून् ॥१०६॥

जीवातु—यदुक्तमयमचण्डमरीचिरिति तद्विश्वासयति—अयीति। अयि (मुग्धे) मैमि ! विश्वसिहीति शेषः। विधोश्चन्द्रस्य रुचेस्तेजसो गोचरो विषयो नासि यदि, त्वदङ्गसङ्गीदं तेजश्चान्द्रं न चेदित्यर्थः। तर्हि तवैव हृदयाय शपे। त्वज्जीविताय द्रुह्यामीत्यर्थः। 'श्लाघह्नुङ्' इत्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। तर्हि, सखि ! रुचिफलमेव तेजोमात्रकार्यमेव दृश्यते। न तु चन्द्रकार्यम्। मद्भाग्यविपर्ययेणाभिभवनिवृत्तेरिति भावः। कुतः, यद्यस्मात्त्वचं ज्वलयति दहति। असून् प्राणान् उल्ललयति उन्मूलयति। सर्वं तेजः उष्णत्वाद्दाहकमेव, अभिभवात्तु विपर्यय इति पदार्थतत्त्ववादिनः ॥ १०६ ॥

अन्वयः—अयि, यदि विधोः रुचेः गोचरः न असि तत् तव एव हृदयाय शपे। सखि, रुचिफलं दृश्यते एव यत् त्वचं जलयति असून् उल्ललयति।

हिन्दी—सखी—अरी, यदि तुम चन्द्र की दमक की गोचर न होओ (चाँदनी में न बैठी होओ) तो मैं तुम्हारे हृदय ही की शपथ लेती हूँ। दमयन्ती—सखी, रुचि (चाँदनी में होने) का परिणाम तो दीख ही रहा है कि त्वचा को जला रही है और प्राणों का उन्मूलन कर रही है।

टिप्पणी—सखी सौगंध खाकर चन्द्र की विद्यमानता प्रमाणित करना चाहती है, परन्तु दमयन्ती का शरीर चाँदनी में जला जा रहा है, प्राण निकले जा रहे हैं। वह कैसे माने कि यह चन्दा है और वह चाँदनी में है ? उसे तो लग रहा है कि सूर्य की प्रचंड किरणें उसे अत्यन्त व्यथित कर रही हैं ॥१०६॥

विधुविरोधितिथेरभिधायिनीमयि ! न किं पुनरिच्छसि कोकिलाम् ।
सखि ! किमर्थगवेषणया ? गिरं किरति सेयमनर्थमयीं मयि ॥१०७॥

जीवातु—विध्विति । अयि भैमि ! विधुविरोधितिथेः कुह्वाख्याया नष्टेन्दु-तिथेरभिधायिनीं, तदभिधायककुहूशब्दोच्चारिणीं 'कुहू कुह्वि'ति नामग्रहं तदा-ह्वायिनीमित्यर्थः। कोकिलां पुनः किं नेच्छसि। मा भूरुच्चन्द्रः तद्विरोधिनीमेनां किं नेच्छसीत्यर्थः ?। हे सखि ! अर्थगवेषणया कुहूशब्दस्य नष्टचन्द्रा तिथिरर्थः इति विचारेण किम् ? तत्साध्यं किमपि नास्तीत्यर्थः । गम्यमानसाधनक्रिया-पेक्षयाकरणत्वात्तृतीया । कुतः, सेयं कोकिला मयि विषये गवादिशब्दवदभिधे-यवती न भवतीत्यर्थमयी, रथघोषादिवदर्थशून्यत्वात् । किञ्च, अनर्थमयी अशनिघोषवदापद्रूपा च, ताम् । अनर्थशब्दान्मयट्प्रत्ययः । गिरं किरति विक्षिपति ॥ १०७ ॥

अन्वयः—अयि, विधुविरोधतिथेः अभिधायिनीं कोकिलां पुनः किं न इच्छसि ? सखि, अर्थगवेषणया किम् ? सा इयं मयि अनर्थमयीं गिरं किरति ।

हिन्दी—सखी—अयि, (फिर) चन्द्र की शत्रुतिथि (अमावस्या—'कुहू') का उद्घोष करने वाली कोकिला को तुम क्यों नहीं चाहती ? दमयन्ती—सखी, अर्थ ढूँढने में क्या लाभ ? वह यह तो मेरे पक्ष में अनर्थभरी वाणी कूक रही है ।

टिप्पणी—कोकिला 'कुहू-कुहू' बोलती है। 'कुहू' का अर्थ अमावस्या भी है, जिसमें चन्द्र-दर्शन नहीं होता । इस प्रकार 'कुहू' अर्थात् अमा चन्द्र की शत्रु हुई । शत्रु का नाम रटने वाली कोकिला को दमयन्ती मित्र रूप में आदर न देकर उसे भी व्यथा देनेवाली मानती है। सखी को इस पर आक्षेप है । दमयंती को उचित है कि वह 'कुहू कुहू' बोलती कोयलिया को चाहे । इस पर दमयन्ती का उत्तर है कि भले ही 'कुहू' का अर्थ अमावस हो, उसे तो वे 'कुहू' के बोल

अनर्थंकारक--पीडादायक लग रहे हैं, वह कैसे अनर्थवादिनी कोकिला की इच्छा करे ? कोकिलस्वर की विरहिजनों को पीडित करनेवाले के रूप में प्रसिद्धि है। भाव यह है कि कोकिला बोलती ही है, 'कुहू' को बुलाती नहीं, वंचिका है वह ॥ १०७ ॥

हृदय एव तवास्मि स वल्लभस्तदयि किं दमयन्ति ! विषीदसि ? ।
हृदि परं न बहिः खलु वर्तते सखि ! यतस्तत एव विपद्यते ॥ १०८॥

जीवातु–हृदय इति । हे दमयन्ति! सः ते वल्लभः नलः तव हृदय एवास्ति वर्तते । तदपि तथापि किं विषीदसि खिद्यसे ? हे सखि ! यतो हृदि परं हृद्येव वर्तते बहिर्न वर्तते खलु । तत एव विपद्यते खिद्यते । सदेर्भावे लट् । यतः स्मर्यत एव, न तु दृश्यते, अतो मे विषाद इत्यर्थः ॥ १०८ ॥

अन्वयः--दमयन्ति सः वल्लभः तव हृदये एव अस्ति तदपि किं विषीदसि ? सखि, हृदि परं वर्तते न खलु बहिः ततः एव विपद्यते ।

हिन्दी—सखी–हे दमयन्ति, वह प्रिय (नल) तेरे हृदय में ही है, तो भी क्यों विषाद कर रही हो ? दमयन्ती—हे सखि, हृदय मे ही विराजमान है, बाहर नहीं आता, इसीलिए तो खिन्न हूँ ।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल मनोगोचर ही है, नयनगोचर, बहिरिन्द्रियगोचर नहीं होता, अतः प्रत्यक्षसुख न मिलने के कारण दमयन्ती विषण्ण है ।। १०८ ॥

स्फुटति हारमणौ मदनोष्मणा हृदयमप्यनलङ्कृतमद्य ते ।
सखि ! हतास्मि तदा यदि हृद्यपि प्रियतमः स मम व्यवधापितः ॥१०९॥

जीवातु-स्फुटतीति । हे भैमि ! मदनोष्मणा कामज्वरेण, हारमणौ हृदयालङ्काररत्ने स्फुटति विदलति सति, अद्य ते तव हृदयं वक्षोऽपि अलंकृतं न भवतीत्यनलङ्कृतम् आपरिष्कृतं जातम् । अथ हृदयमन्तरङ्गमप्यनलं नलरहितं कृतमित्यर्थान्तरं मत्वोत्तरमाह—हे सखि ! स प्रियतमः मम हृद्यपि व्यवधापितो यदि दूरीकृतश्चेत् । दधातेर्ण्यन्तात्कर्मणिक्तः । 'अर्तिह्री' इत्यादिना पुगागमः । तदा हतास्मि । वक्रोक्तिरलङ्कारः । लक्षणमुक्तम् ॥ १०९ ॥

अन्वयः—मदनोष्मणा हारमणौ स्फुटति अद्य ते हृदयम् अपि अनलङ्-

कृतम्। सखि, यदि सः मम प्रियतमः हृदि अपि व्यवधापितः तदा हता अस्मि।

हिन्दी—सखी–कामजनित वियोगाग्नि से हार की मणि टूट जाने के कारण हे दमयन्ति, आज तेरा हृदय भी 'अनलंकृत' (अलंकारहीन) है। दमयन्ती—हे सखी, यदि मेरा वह प्रियतम हृदय में से दूर हो गया है, तो मैं मरी।

टिप्पणी—हार की मणि के टूट जाने से दमयन्ती का हार उतार कर रख दिया गया फलस्वरूप उसका हृदय–वक्षःस्थल 'अनलंकृत' अर्थात् भूषण-रहित हो गया। सखी ने जब इसके विषय में कहा तो दमयन्ती ने 'अनलंकृत' का अर्थ लिया नल से रहित (अ + नलं + कृत) और वह घबरा कर मरण-पीडा का अनुभव करती मूर्च्छित हो गयी। मल्लिनाथ ने यहाँ वक्रोक्ति का निर्देश किया है। जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है—विद्याधर ने इन आठों श्लोकों में श्लेषवक्रोक्ति मानी है॥ १०९॥

इदमुदीर्य तदैव मुमूर्च्छ सा मनसि मूर्च्छितमन्मथपावका।
क्व सहतामवलम्बलवच्छिदामनुपपत्तिमतीमपि दुःखिता॥ ११०॥

जीवातु—इदमिति। सः भैमी, इदं पूर्वोक्तं 'सखि! हतास्मी'ति वाक्यम् उदीर्य उच्चार्य, तदैव मनसि मूर्च्छितमन्मथपावका प्रवृद्धकामानला सती, मुमूर्च्छ मुमोह 'मूर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोरि'त्यर्थद्वयेऽपि धातोः स्मरणात्। तथाहि दुःखिता सञ्जातदुःखा, दुःखिनी सा। अनुपपत्तिमतीमनलङ्कृतमिति श्लेषशब्द-श्रवणजन्यभ्रान्तिविषयत्वादनुपपन्नामपीत्यर्थः। अवलम्बलवस्य हृदयसङ्गतिमात्र-लक्षणस्य प्राणाधारलेशस्यापि छिदामुच्छेदकं क्व सहतां, कथं सहेतेत्यर्थः। दुःखोद्विग्नस्य भ्रान्तमभ्रान्तं वानिष्टसंवेदनमतिदुःसहमतो युक्तमस्या मूर्च्छन-मिति भावः। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः॥ ११०॥

अन्वयः—मनसि मूर्च्छितमन्मथपावका सा इदम् उदीर्य तदा एव मुमूर्च्छ, दुःखिता अनुपपत्तिमतीम् अपि अवलम्बलवच्छिदां क्व सहताम्?

हिन्दी—जिसके मन में कामानल धधक रहा था, ऐसी वह (दमयन्ती) इतना (पूर्वोक्त) कहकर उसी समय मूर्च्छित हो गयी। दुःखिनी अघटित (काल्पनिक, अतथ्य) भी आधार का लेशमात्र टूट जाने को कैसे सह पाती?

टिप्पणी—यद्यपि विरहिणी, पीडिता दमयन्ती का प्रिय उसके निकट

नहीं था, निराधार थी वह, तथापि उसके हृदय में तो वह था। ठोस नहीं, अप्रत्यक्ष आधार तो था, प्रिय नहीं, उसका अमूर्त भाव तो था। 'अनलंकृत' सुनकर दमयन्ती घबरा कर समझी कि नल हृदय से भी गया, छोटा-सा आधार भी छिन गया। यह दुःख वह दुखिया न सह सकी और तत्क्षण मूर्च्छित हो गयी। मल्लिनाथ के अनुसार अर्थान्तरन्यास और विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ॥ ११० ॥

अधित कापि मुखे सलिलं सखी प्यधित कापि सरोजदलैः स्तनौ।
व्यधित कापि हृदि व्यजनानिलं न्यधित कापि हिमं सुतनोस्तनौ ॥ १११ ॥

जीवातु—अधितेति। कापि सखी सुतनोर्भैम्या मुखे सलिलम् अधित आहितवतीत्यर्थः। कापि स्तनौ सरोजदलैः प्यधित पिहितवती, 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' इत्यपेरकारलोपः। कापि हृदि व्यजनानिलं व्यधित विहितवती। तालवृन्तेन वीजयामासेत्यर्थः। कापि तनौ शरीरे हिमं चन्दनम्। 'चन्दनेऽपि हिमं विदुः' इति विश्वः। न्यधित निहितवती ॥ १११ ॥

अन्वयः—का अपि सखी सुतनो मुखे सलिलम् अधित, का अपि सरोजदलैः स्तनौ प्यधित, का अपि हृदि व्यजनानिलं व्यधित, का अपि तनौ हिमम् न्यधित।

हिन्दी—(दमयन्ती को मूर्च्छित देख) किसी सखी ने सुन्दरी (दमयन्ती) के मुख में जल डाला, किसी ने कमलपत्रों से स्तन ढक दिये, किसी ने हृदय पर पंखा झल कर हवा की और किसी ने शरीर पर शीतल चन्दन का लेप किया।

टिप्पणी—कामज्वर का उपचार। क्रियाओं का सुन्दर प्रयोग ॥ १११ ॥

उपचचार चिरं मृदुशीतलैर्जलजजालमृणालजलादिभिः।
प्रियसखीनिवहः स तथा क्रमादियमवाप यथा लघु चेतनाम् ॥ ११२ ॥

जीवातु—उपचचारेति। स प्रियसखीनिवहः मृदुशीतलैर्जलजजालमृणालजलादिभिः जलजजालैः पद्मसमूहैः, मृणालैः जलैः। आदिशब्दाद्व्यजनादिसाधनविशेषैः क्रमाच्चिरं तथोपचचार, यथेयं भैमी लघु क्षिप्रं चेतनां संज्ञामवाप ॥ ११२ ॥

अन्वयः—सः प्रियसखीनिवहः मृदुशीतलैः जलजजालमृणालजलादिभिः क्रमात् चिरम् तथा उपचचार यथा इयं लघुचेतनाम् अवाप।

हिन्दी—प्यारी सहेलियों के समूह ने कोमल-शीतल कमलदलों, मृणालों और जल आदि से क्रमपूर्वक (यथारीति) देर तक ऐसा उपचार किया, जिससे उस (दमयन्ती) को शीघ्र चेतना प्राप्त हो गयी।

टिप्पणी—विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और जाति अलंकार ॥ ११२ ॥

अथ 'कले! कलय श्वसिति स्फुटं चलति पक्ष्म चले! परिभावय।
अधरकम्पनमुन्नय मेनके! किमपि जल्पति कल्पलते! शृणु ॥ ११३ ॥
रचय चारुमते! स्तनयोर्वृतिं गणय केशिनि! कैश्यमसंयतम्।
अवगृहाण तरङ्गिणि! नेत्रयोर्जलझराविति शुश्रुविरे गिरः ॥ ११४ ॥

जीवातु—अथ भैम्याः कलादयः सप्त सख्यस्तासां तद्दशापरीक्षाव्यग्राणां मिथः कलकलं श्लोकद्वयेनाह—अथेति। अथानन्तरम्, इति गिरः शुश्रुविर इति सम्बन्धः। ता एवाह—हे कले! स्फुटं व्यक्तं, श्वसिति प्राणिति, कलय आकलय। हे चले! पक्ष्मनेत्रलोम, चलति चक्षुरुन्मिषतीत्यर्थः। परिभावय परामृश। हे मेनके! अधरकम्पनमोष्ठचलनमुन्नय तर्कय। हे कल्पलते! किमपि जल्पति, शृणु रचयेति। हे चारुमते। स्तनयोर्वृतिमावरणं रचय। हे केशिनि! असंयतं विस्रस्तं कैश्यं केशसमूहं, 'केशाश्वाभ्यां यञ्छावन्यतरस्याम्' इति यञ्प्रत्ययः। गणय चिन्तय। बधानेत्यर्थः। हे तरङ्गिणि! नेत्रयोर्जलझरावश्रुप्रवाहौ, अवगृहाण बधान। इति गिरः शुश्रुविरे श्रुताः ॥ ११३-११४ ॥

अन्वयः—अथ कले, स्फुटं श्वसिति, कलय, चले, पक्ष्म चलति, परिभावय, मेनके, अधरकम्पनम् उन्नय; कल्पलते, किम् अपि जल्पति, शृणु। चारुमते, स्तनयोः वृतिं रचय केशिनि, असंयतं कैश्यं गणय; तरङ्गिणि, नेत्रयोः जलझरौ अवगृहाण—इति गिरः शुश्रुविरे।

हिन्दी—तदनन्तर हे कले, (दमयन्ती) ठीक से साँस ले रही है? ध्यान से देख; अरी चले, पलक हिल रहे हैं? विचार कर; ए मेनके, ओठों का कंपन देख; कल्पलते, क्या कुछ बोली? सुन! अयि चारुमते, स्तनों को ढक दे; केशिनि, बिखरे बाल सँवार दे और तरंगिणि, बहते आँसू पोंछ—इस प्रकार की बातें सुन पड़ने लगीं।

टिप्पणी—इन श्लोकों में विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और जाति अलंकार हैं। सखी-निवह के सार्थक नामों का प्रयोग और नाटकीय वाक्य दर्शनीय है। भर्तृदारिका के विपद्ग्रस्त हो जाने पर सखी-समूह के चिन्ता, कर्मठता आदि भावों का सुन्दर चित्रण है ॥ ११३-११४ ॥

कलकलः स तदालिजनाननादुदलसद्विपुलस्त्वरितेरितः।
यमधिगम्य सुतालयमेतवान् द्रुततरः स विदर्भपुरन्दरः ॥ ११५ ॥

जीवातु—कलकल इति। तदा तस्मिन् सखीजनव्याकुलकाले, आलिजनाननात् सखीमुखात्त्वरितेरितैः सम्भ्रमोक्तिभिः, विपुलो महान्, सः कलकलः उदलसदुत्थितः। यं कलकलमधिगम्याकर्ण्य, स विदर्भपुरन्दरः भीमभूपतिः द्रुततरोऽतित्वरितः, सुतालयमेतवान् कन्यान्तःपुरं प्राप्तवान् ॥ ११५ ॥

अन्वयः—तदा आलिजनात् त्वरितेरितैः सः विपुलः कलकलः उदलत् यम् अधिगम्य सः विदर्भपुरन्दरः द्रुततरः सुतालयम् एतवान्।

हिन्दी—तब सखियों के समूह के शीघ्रता से उच्चरित संभ्रमवचनों के कारण एक महान् कोलाहल उठ पड़ा जिसे सुनकर वह विदर्भेन्द्र (राजा भीम) अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक पुत्री के आवास में पहुँच गया।

टिप्पणी—विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और जाति अलंकार ॥ ११५ ॥

कन्यान्तःपुरबोधनाय यदधीकारान्न दोषा नृपं
द्वौ मन्त्रिप्रवरश्च तुल्यमगदङ्कारश्च तामूचतुः।
देवाकर्णय सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन जानेऽखिलं
स्यादस्या नलदं विना न दलने तापस्य कोऽपि क्षमः ॥११६॥

जीवातु—कन्येति। कन्यान्तःपुरस्य बोधनाय योगक्षेमानुसन्धानाय, यदधीकाराद्ययोर्मन्त्रिवैद्ययोरधीकारान्नियोगात्। 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' इति दीर्घः। दोषाः परपुरुषप्रवेशादयो वातादयश्च, न सन्तीति शेषः। अस्तिर्भवति-परोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्तीति वचनात्। तौ मन्त्रिप्रवरश्च अगदमपरोगं करोतीत्यगदङ्कारो वैद्यश्च। 'रोगहार्यगदङ्कारो भिषग्वैद्यश्चिकित्सक' इत्यमरः। 'कर्मण्यण्' 'कारे सत्यागदस्य' इति मुमागमः। द्वौ नृपं तुल्यमेकवाक्यमूचतुः। देव राजन्! आकर्णय सुश्रुतेन सम्यक्छ्रुतेन, चर एव चरको गूढचारः, तस्यो-

क्तेन वाक्येन । अन्यत्र सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन चरकाचार्यप्रणीतग्रन्थेन, अखिलं तापनिदानं जाने । अस्यास्तापस्य दलने निवर्तने, नलं राजानं ददातीति नलद, तत्संघटकं विना । 'आतोऽनुपसर्गे कः' अन्यत्र, नलदमुशीरं विना । 'मूलेऽस्योशीरमस्त्रियाम् । अभयं नलदं सेव्यम्' इत्यमरः । कोऽपि न क्षमो न स्यात् । 'शकि लिङ्' इति शक्यार्थे लिङ् अत्र द्वयोरपि नलदयोः प्रकृतत्वात् केवलप्रकृतश्लेषोऽलङ्कारः ।। ११६ ।।

अन्वयः---कन्यान्तःपुरबोधनाय यदधीकारात् दोषाः न मन्त्रिप्रवरः अगदङ्कारश्च द्वौ नृपं तुल्यम् ऊचतुः---देव, आकर्णय, सुश्रुतस्य चरकस्य उक्तेन अखिलं जाने; अस्याः तापस्य दलने नलदं विना कः अपि क्षम न स्यात् ।

हिन्दी---कन्या के अन्तःपुर में योग-क्षेम को जानने के लिए जिस अधिकरण से दोष (सामाजिक मर्यादा दोष और वातपित्तकफ दोष) नहीं है, मन्त्रिश्रेष्ठ और चिकित्सक दोनों राजा से एक समान बोले---देव, सुनिए ! (१) मंत्री ने कहा---सुश्रुत (भलीभाँति सुन) और चरक (चरों) द्वारा कहे (कथन) से मैं सब जान गया हूँ कि इस (दमयन्ती) के संताप का शमन करने में नलद (नल राजा) के अतिरिक्त कोई समर्थ न होगा । (२) चिकित्सक ने कहा---सुश्रुत और चरक नामक मान्य आयुर्वेद ग्रन्थों में कहे गये (लक्षणों) से मैं भली-भाँति जान गया हूँ कि इसका ताप मिटाने में नलद (उशीर) के अतिरिक्त और कोई समर्थ नहीं है ।

टिप्पणी---कन्या के अन्तःपुर में परपुरुष-प्रवेश मर्यादा के विरुद्ध है, परंतु ऐसे व्यक्ति जिनसे व्यवस्था बनी रहे, पुरुष होने पर भी प्रविष्ट हो सकते हैं । मन्त्री और वैद्य ऐसे ही पुरुष होते हैं । मंत्री व्यवस्था के प्रति उत्तरदायी और अधिकारी है । किसी प्रकार का अमर्यादित और निन्दनीय, वर्जित कार्य अन्तःपुर में न हो, इसकी व्यवस्था मंत्री पर है । शरीर को रोगी बना देने वाले वात, पित्त, कफ---त्रिदोष की व्यवस्था चिकित्सक पर है । अतः ये दोनों दमयन्ती के अन्तःपुर में गये । 'सुश्रुत' (भलीभाँति सुना, वैद्यकग्रन्थ), 'चरक' (चर और आयुर्वेदग्रन्थ) और 'नलद' (राज नल, उशीर) अनेकार्थ शब्द हैं, जिनके प्रयोग से मन्त्रिप्रवर और अगदङ्कार के तुल्यकथन की

योजना की गयी है। मल्लिनाथ ने श्लेष अलंकार निर्देश किया है और विद्याधर ने तुल्ययोगिता और श्लेष का। शार्दूलविक्रीडित वृत्त ॥ ११६ ॥

ताभ्यामभूद्युगपदप्यभिधीयमाने भेदव्ययाकृति मिथःप्रतिघातमेव।
श्रोत्रे तु तस्य पपतुर्नृपतेर्न किञ्चिद्भैम्यामनिष्टशतशङ्कितयाकुलस्य ।।११७।

जीवातु—ताभ्यामिति। ताभ्यां मन्त्रिभिषग्भ्यां, भेदव्ययो नामाभेदः स एवाकृतिर्यस्य तद् भेदव्ययाकृति, अभिन्नाकारमेकरूपं यथा तथा, युगपदेकदा, अभिधीयमानं नलदादिवाक्यमिति शेषः। मिथोऽन्योन्यं प्रतिघातो विरोधो यस्य तन्मिथःप्रतिघातं मिथोभिन्नमेवाभूत्। अभिधानयौगपद्यादेकशब्दाच्चाभिन्नार्थैकवाक्यवत् प्रतीयमानमपि तद् भिन्नार्थं वाक्यद्वयमेवासीदित्यर्थः। राज्ञस्तु न तत्र दृष्टिरित्याह—भैम्यां विषये अनिष्टशतशङ्कितया अनिष्टानेकशङ्कावत्त्वेन आकुलस्य विह्वलचित्तस्य, 'प्रेम पश्यति भयान्यपदेऽपि' इति न्यायादिति भावः। तस्य नृपतेः भीमस्य श्रोत्रे तु किञ्चिन्न पपतुः न किञ्चिदर्थं जगृहतुः। व्याकुलान्तःकरणतया तद्वाक्ये नातीव कर्णं दत्तवानित्यर्थः ।।११७।।

अन्वयः—ताभ्यां भेदव्ययाकृति अपि युगपत् अभिधीयमानं मिथःप्रतिघातम् एव अभूत्, भैम्याम् अनिष्टशङ्कितया आकुलस्य तस्य नृपतेः श्रोत्रे तु किञ्चित् न पपतुः।

हिन्दी—उन (मंत्री, और वैद्य) दोनों के द्वारा स्वरूपतः अभिन्न भी एक साथ कहा गया परस्पर विघातक ही हुआ, (क्योंकि) भीमसुता (दमयंती) के अनिष्ट की शंका से व्याकुल उस राजा के कानों में तो कुछ भी न पड़ा।

टिप्पणी—बेटी के अनिष्ट की शंका से व्याकुल राजा मंत्री और वैद्य-दोनों के वचनों पर ध्यान न दे सका। व्याकुल होने से उसने कुछ सुना ही नहीं जैसे। भाव यह कि बेटी को रुग्ण पा राजा अत्यन्त व्याकुल हो गया। विद्याधर के अनुसार जाति अलंकार। वसंततिलका वृत्त ।। ११७ ।।

द्रुतविगमितविप्रयोगचिह्नामपि तनयां नृपतिः पदप्रणम्राम्।
अकलयदसमाशुगाधिमग्नां झटिति पराशयवेदिनो हि विज्ञाः ।।११८।।

जीवातु—द्रुतेति। नृपतिः द्रुतविगमितविप्रयोगचिह्नां द्रागपसारितशिशि-

रोपचारचिह्नामपि, पदे प्रणम्रां पादपतिताम् 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' इति णत्वम्। तनयामसमाशुगाधिमग्नां मदनव्यथामग्नाम् अकलयन्निश्चिकाय। तथाहि विज्ञाः प्रवीणाः 'प्रवीणे निपुणाभिज्ञविज्ञनिष्णातशिक्षिताः' इत्यमरः। झटित्यविलम्बेन पराशयवेदिनो हि, प्रकाशकलिङ्गमन्तरेण आकारमात्रेण परेङ्गितं निश्चिन्वतीत्यर्थः। कामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥११८॥

अन्वयः--नृपतिः द्रुतविगमितविप्रयोगचिह्नाम् अपि पदप्रणम्रां तनयाम् असमाशुगाधिमग्नाम् अकलयत्, हि विज्ञाः झटिति पराशयवेदिनः।

हिन्दी--राजा ने शीघ्रतापूर्वं विरह के चिह्नों के दूर कर दिये जाने पर भी चरणों में प्रणत पुत्री (दययंती) को विषमबाण (काम) के रोग में मग्न समझ लिया; क्योंकि चतुर-समझदार व्यक्ति झट से दूसरे के आशय को जान लेते हैं।

टिप्पणी--राजा के आने का समाचार जानते ही सखियों ने विरहताप शमनार्थ एकत्र उशीरादि शीतोपचारों (श्लोक १११-१२) को झटपट हटा दिया, किन्तु प्रवीण राजा तुरन्त समझ गया कि बेटी कामरोग-व्यथित है। चतुर जनों से भेद छिपा नहीं रहता। अर्थान्तर न्यास अलंकार। मल्लिनाथ ने चार श्लोकों (संख्या ११८-१२१) में पुष्पिताग्रा छन्द माना है, जिसका लक्षण है--'अयुजि न युगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा।' पुष्पिताग्रा के प्रथय-तृतीय चरणों में इस क्रम से बारह वर्ण होते हैं—२ नगण (।।।, ।।।), १ रगण (ऽ।ऽ), १ यगण (।ऽऽ) और द्वितीय-चतुर्थ चरण में तेरह—१ नगण (।।।), २ जगण (।ऽ।, ।ऽ।), १ रगण (ऽ।ऽ), और १ अंतिम वर्ण गुरु (ऽ)। इस दृष्टि से संबद्ध श्लोक पुष्पिताग्रा है। विद्याधर ने इन्हीं श्लोकों में औपच्छंदसिक वृत्त माना है, जिसका लक्षण उन्होंने दिया है--'पर्यन्ते यौ तथैव शेषमौपच्छन्दसिकं, सुधीभिरुक्तम्।' इसके अनुसार चारों चरणों के अन्त में यगण (।ऽऽ) होना चाहिए (कदाचित् 'यौ'—अर्थात् दो यगण)। इन श्लोकों के चरणांत में यगण तो है, एक यगण। सामान्यतया छन्दःशास्त्र में औपच्छन्दसिक का नाम मालभारिणी भी माना गया है, जिसके प्रथम-तृतीय चरणों में ग्यारह वर्ण (।।ऽ, ।।ऽ, ।ऽ।, ऽऽ) और द्वितीय-

चतुर्थ में बारह वर्ण (।।S, S।।, S।S, ।SS) होते हैं। ऐसा संबद्ध श्लोकों में नहीं है ॥ ११८ ॥

व्यतरदथ पिताऽऽशिषं सुतायै नतशिरसे मुहुरुन्नमय्य मौलिम्।
'दयितमभिमतं स्वयंवरे त्वं गुणमयमाप्नुहि वासरैः कियद्भिः' ॥११९॥

जीवातु—व्यतरदिति। अथ पिता भीमः, नतशिरसे लज्जानतमुखायै सुतायै दमयन्त्यै, मौलिं मुखमुन्नमय्य, हे वत्से! कियद्भिः कतिपयैरेव वासरैः स्वयंवरे त्वं गुणमयं गुणाढ्यमभिमतं दयितमाप्नुहीत्याशिषं मुहुर्व्यतरत् ॥११९॥

अन्वयः—अथ पिता नतशिरसे सुतायै मुहुः मौलिम् उन्नमय्य आशिषं व्यतरत्—स्वयंवरे, त्वं कियद्भिः एव वासरैः गुणमयम् अभिमतं दयितम् आप्नुहि। (अथवा त्वं कियद्भिः एव वासरैः स्वयंवरे गुणमयम् अभिमतं दयितम् आप्नुहि)।

हिन्दी—तदनंतर पिता (राजा भीम) ने सिर नीचा किये उपस्थित पुत्री (दमयन्ती) को—(उसका) मस्तक क्षण भर को उठाकर आशीष् दिया—हे स्वयवरण करनेवाली, तू कुछ ही दिनों में गुणवान् और मनचाहा प्रिय पति प्राप्त करे। (अथवा तू कुछ ही दिनों में स्वयंवर में गुणवान्··· प्राप्त करे)।

टिप्पणी—प्रिय पुत्री को राजा ने आशीष् देते हुए आश्वासन दिया कि वह व्यथित न हो, शीघ्र ही स्वयंवर में उसे अभिलषित पति प्राप्त करने का अवसर मिलेगा। राजा ने व्याधि जान ली और कहा—'स्वयंवरमहं कर्तास्मि।' विद्याधर के अनुसार आशीरलंकार ॥ ११९ ॥

तदनु स तनुजासखीरवादीत्तुहिनऋतौ गत एव हीदृशीनाम्।
कुसुममपि शरायते शरीरे तदुचितमाचरतोपचारमस्याम् ॥१२०॥

जीवातु—तदन्विति। तदनु आशीर्वादानन्तरम् 'अनुर्लक्षणे' इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञा। स नृपस्तनुजासखीः सुतावयस्याः अतादीदूचे। किं तत्तदाह—यस्मात्, तुहिनऋतौ शिशिरकाले, 'ऋत्यकः' इति प्रकृतिभावः। गते निर्गत एव, वसन्ते पुष्पपरिणामात्तापस्य दुःसहत्वाच्चेति भावः। ईदृशीनां कोमलाङ्गीनां यौवनप्रविष्टानां शरीरे कुसुममपि शरायते शरवदाचरति, तद्वद् दुःसह

भवति। एकत्र गात्रमार्दवादन्यत्र मदनबाणत्वाच्चेति भावः। तत्तस्मादस्यां कोमलाङ्ग्यां युवत्यां च, उचितं योग्यमुपचारं प्रतीकारमाचरत ॥ १२० ॥

अन्वयः--तदनु सः तनुजासखीः अवादीत्--हि तुहिनऋतौ गते एव ईदृशीनां शरीरे कुसुमम् अपि शरायते तत् अस्याम् उचितम् उपचारम् आचरत।

हिन्दी—तत्पश्चात् राजा ने बेटी की सखियों को आज्ञा दी—क्योंकि शिशिर ऋतु व्यतीत होने पर ऐसी कोमलांगियों (तारुण्य प्राप्ताओं) के शरीर में लगा फूल भी बाण का कार्य करता है, अतः इसका ऋतु के अनुकूल उपचार करो।

टिप्पणी—दमयन्ती की उचित देखभाल करने का आदेश देकर राजा ने पिता के अनुकूल व्यवहार किया। 'कुसुममपि शरायते' में 'कुसुमशर' (काम-बाण) का संकेत। वंसत में 'पुष्पबाण' व्यथा देता है, तदुचित उशीरादि उपचार आवश्यक हैं। विद्याधर के अनुसार उपमालंकार ॥ १२० ॥

कतिपयदिवसैर्वयस्यया वः स्वयमभिलष्य वरिष्यते वरीयान्।
कृशिमशमनयानया तदाप्तुं रुचिरुचिताथ भवद्विधाभिधाभिः ॥१२१॥

जीवातु—कतीति। किंच, कतिपयदिवसैः अल्पदिनैरेव, वो युष्माकं, वयस्यया सख्या भैम्या, वरीयान् श्रेष्ठः पुमान्, स्वयमभिलष्य कामयित्वा वरिष्यते। यं कामयते तं वरिष्यतीत्यर्थः। तत्तस्माद् अथेदानीम्, अनया दमयन्त्या (कर्त्र्या), भवतीनां विधेव विधा यासां तासां भवद्विधानां सखीनां, सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः। अभिधाभिरुक्तिभिर्या कृशिमशमना कार्श्य-निवर्तना, तया उपायभूतया रुचिः कान्तिः प्रीतिश्च, आप्तुमुचिता आप्तव्या, स्वयंवरपर्यन्तं भवदुपलालनावचनैः खेदं विहाय प्रसन्नया सन्तुष्टया च स्थातव्यमित्यर्थः। द्रुतेत्यादिश्लोकचतुष्टयं पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ १२१ ॥

अन्वयः--कतिपयदिवसैः वः वयस्यया स्वयम् अभिलष्य वरीयान् वरिष्यते तत् अथ अनया भवद्विधाभिधाभिः कृशिमशमनया रुचिः आप्तुम् उचिता।

हिन्दी—(राजा ने और भी आज्ञा दी)—कुछ दिनों में तुम्हारी सखी (दमयन्ती) द्वारा अपनी इच्छानुसार वरतर (अच्छा वर) वरा जायेगा, अतः संप्रति इसे (दमयन्ती को) आप जैसी सखियों के समझाने से कृशता दूर करके कांति प्राप्त करना उचित होगा।

टिप्पणी—राजा ने दमयन्ती की सखियों को आदेश दिया कि शीघ्र ही स्वयंवर का आयोजन होगा, जिसमें दमयन्ती को अभीष्ट वर प्राप्त करने का पूर्ण अवसर मिलेगा। सखियों को चाहिए कि दमयन्ती को सांत्वना देकर-समझा-बुझा कर व्यथाभाव दूर करें, जिससे वह प्रसन्न और शोभाशालिनी प्रतीत होने लगे। इस प्रकार अप्रत्यक्षतः पिता ने पुत्री को अपना अभिलाष पूर्ण करने का संकेत दिया, जिससे वह संतुष्ट हो। विद्याधर के अनुसार उल्लेखनीय अलंकार छेकानुप्रास ॥ १२१ ॥

एवं यद्वदता नृपेण तनया नापृच्छि लज्जापदं
यन्मोहः स्मरभूरकल्पि वपुषः पाण्डुत्वतापादिभिः।
यच्चाशीःकपटादवादि सदृशी स्यात्तत्र या सान्त्वना
तन्मत्वालिजनो मनोऽब्धिमतनोदानन्दमन्दाक्षयोः ॥ १२२ ॥

जीवातु—एवमिति। एवं वदता नृपेण, तनया दमयन्ती, लज्जापदं लज्जाहेतुं, नापृच्छि न पृष्टेति यत्। ज्ञातांशे प्रश्नायोगादिति भावः। पृच्छेर्दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि लुङ्। मोहो मूर्च्छा च वपुषः पाण्डुत्वतापादि-भिर्लिङ्गैः स्मरभूः कामजोऽकल्पि निश्चित इति यत्। तत्र तस्यां पुत्र्यां सदृशी अनुरूपा या सान्त्वना लालनोक्तिः स्यात्, सा चाशीःकपटाद्दयितमाप्नुहीत्या-शीर्वादव्याजादवादीति च यत्, तत्सर्वं मत्वालोच्य, आलिवर्गः मनः स्वचित्तम् आनन्दमन्दाक्षयोः अब्धिमतनोत्। लज्जानन्दसागरीचकारेत्यर्थः। स्वेष्टसिद्धेरा-नन्दः स्वरहस्यप्रकाशनाल्लज्जा ॥ १२२ ॥

अन्वयः—एवं वदता नृपेण तनया लज्जापदं यत् न अपृच्छि, यत् वपुषः पाण्डुत्वतापादिभिः स्मरभूः मोहः अकल्पि, यत् च तत्र सदृशी या सान्त्वना स्यात् आशीः कपटात् अवादि, तत् मत्वा आलिवर्गः मनः आनन्दमन्दाक्षयोः अब्धिम् अतनोत्।

हिन्दी—ऐसा कहते राजा ने बेटी से लज्जा का कारण जो न पूछा, जो शरीर के पीलेपन और संताप आदि से कामजन्य मूर्च्छा समझ ली और जो उसके उपयुक्त सांत्वना हो सकती थी, वह आशीष् के व्याज से दे दी, उसे समझकर सखियों ने मन को आनन्द और मन्दनेत्रता (लज्जा) के समुद्र में निमग्न कर दिया।

टिप्पणी—राजा ने जो अवसरोचित (श्लोक सं० ११९-१२१) वचन कहे, उससे दमयन्ती सहित सखियों को महाप्रसन्नता हुई साथ भी लज्जा भी लगी, क्योंकि उसका लज्जा का कारण प्रकट हो गया। इष्ट सिद्धि पर प्रसन्नता और रहस्य-भेद के कारण लाज। विद्याधर के अनुसार रूपक-समुच्चयभाव-शवलतालंकार का संकर, शार्दूलविक्रीडित छन्द ॥ १२२ ॥

श्रीहर्षकविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
तुर्यः स्थैर्यविचारणप्रकरणभ्रातर्ययं तन्महा-
काव्येऽत्र व्यगलन्नलस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः॥ १२३ ॥

जीवातु—श्रीहर्षमिति। श्रीहर्षमित्यादि सुगमम्। तुर्यश्चतुर्थः। 'चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च' इति साधुः। स्थैर्यविचारणं नाम स्वप्रणीतप्रकरणं तद्भ्रातरि तत्समानकर्तृक इत्यर्थः॥ १२३ ॥

इति मल्लिनाथविरचिते 'जीवातु'समाख्याने चतुर्थः सर्गः समाप्तः॥ ४ ॥

अन्वय;—तृतीयसर्गवत्—कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः ········ सुषुवे। स्थैर्यविचारणप्रकरण भ्रातरि नलस्य चरिते अत्र तन्महाकाव्ये अयं निसर्गोज्ज्वलः तुर्यः सर्गः व्यगलत्।

हिन्दी—तृतीय सर्ग के समान—कवियों के मुकुट के हीरमणि······ उत्पन्न किया। 'स्थैर्यविचारण' नामक प्रकरण के सहोदर नल के चरित इस 'नैषधीयचरित' महाकाव्य में यह प्रकृतया उज्ज्वल चतुर्थ सर्ग पूर्ण हुआ।

टिप्पणी—इस श्लोक में बताया गया कि 'स्थैर्यविचारण' नामक प्रकरण और 'नैषधीयचरितम्' सहोदर संबंध है, अर्थात् दोनों के जन्म का कारण एक ही है। इस प्रकार महाकवि श्रीहर्ष ने यह बता दिया कि उन्होंने 'स्थैर्यविचारण' नामक प्रकरण भी रचा था॥ १२३ ॥

नैषधीयचरिते चतुर्थः सर्गः समाप्तः

—: ० :—

नैषधीयचरितम्

कथासार

(चतुर्थ सर्ग)

क्षमामाङ्गी विरहाधिना विदधती निन्दां सुधांशोर्ज्वर—
ज्वालाभिर्द्रुतमुर्मुरीकृतसुमाकल्पाथ सामूमुहत् ।
भीमस्तत्परिचारिकाकलकलाहूतस्तथा वीक्ष्य तां
ज्ञातो व्याधिरपि स्वयम्बरमहं कर्तास्म्यवादीदिति ।।

——श्रीकृष्णरामकविः

उधर नलानुरागिणी दमयंती के पार्श्व से उड़कर हंस नल के निकट पहुँचा, इधर विदर्भदेश में दमयंती नल के वियोग से संतप्त रहने लगी । जैसे उसे वियोग-ताप-ज्वर रहने लगा, धैर्य जाता रहा, हँसी उड़ गयी, चेहरा पीला पड़ गया । कामसंतप्ता वियोगिनी विदर्भतनया भाँति-भाँति की कल्पनाएँ करती, न जाने क्या-क्या कहती, उसके आँसू आजाते । बार-बार वह चन्द्रमा को लक्ष्य कर अनेक विध आक्रोश प्रकट करती । चन्द्र और काम पर अपना विषाद और आक्रोश प्रकट करते—करते दमयन्ती मूर्च्छित हो गयी । घबरायी सखियाँ भाँति-भाँति के उपचार में लगीं । उनका कोलाहल भीमराज तक जा पहुँचा । चिकित्सकों और सचिवों के साथ राजा ने पहुँच कर बेटी को देखा । चतुर राजा ने व्याधि समझी और घोषणा की कि शीघ्र ही दमयंती—स्वयंवर होगा । समझदार राजा लजाती बेटी से क्या पूछता ?

पद्यानुक्रमणिका

(चतुर्थ सर्ग)

नैषधीयचरितम्

पञ्चमः सर्गः

यावदागमयतेऽथ नरेन्द्रान् स स्वयंवरमहाय महीन्द्रः।
तावदेव ऋषिरिन्द्रदिदृक्षुर्नारदस्त्रिदशधाम जगाम ॥ १ ॥

जीवातु—अथ दमयन्तीस्वयंवराय इन्द्राद्यागमनं वक्तुं तदुपयोगितया नारदस्येन्द्रलोकगमनमाह—यावदिति। अथ स महीन्द्रो भीमभूपतिः, स्वयंवरमहाय स्वयंवरोत्सवाय, नरेन्द्रान्, यावदागमयते आगमनेनानयनेन विलम्बत इत्यर्थः। 'आगमे क्षमायामात्मनेपदं वक्तव्यम्'। 'क्षमोपेक्षा कालहरणे'ति काशिका। तावदेव ऋषिर्नारदः, 'ऋत्यक' इति प्रकृतिभावः। इन्द्रं दिदृक्षुरिन्द्रदिदृक्षुः सन्, मधुपिपासुवत् गम्यादिपाठाद् द्वितीयसमासः। त्रिदशधाम स्वर्गं प्रति जगाम। सर्गेऽत्र स्वागतावृत्तम्। 'स्वागतेति रनभाद् गुरुयुग्मम्' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ सः महीन्द्रः स्वयंवरमहाय यावत् नरेन्द्रान् आगमयते तावत् एव इन्द्रदिदृक्षुः ऋषिः नारदः त्रिदशधाम जगाम।

हिन्दी—पुत्री दमयंती का समाश्वासन कर वह धरती का इन्द्र (भीमराज) स्वयंवरमहोत्सव (में संमिलित होने) के निमित्त जब राजाओं (को निमंत्रण दे) की प्रतीक्षा कर रहा था, तब ही इन्द्र को देखने के इच्छुक ऋषि नारद देवलोक गये।

टिप्पणी—लोक-परंपरा में कहा जाता है कि नारद कलहप्रिय ऋषि हैं—'नरसमूहं कलहद्वारा द्यतीति नारदः'। प्रस्तुत प्रसंग में भी नारद की स्वर्गयात्रा संघर्ष का एक कारण बनी। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छेकानुप्रास। इस सर्ग के श्लोक संख्या १–१३३ में स्वागता छंद है, जिसके

प्रत्येक चरण में ग्यारह वर्ण इस क्रम से होते हैं--१ रगण (SIS), १ नगण (।।।), १ भगण (S।।), दो गुरु (SS) ॥ १ ॥

नात्र चित्रमनु तं प्रययौ यत्पर्वतः स खलु तस्य सपक्षः ।
नारदस्तु जगतो गुरुरुच्चैर्विस्मयाय गमनं विललङ्घे ॥ २ ॥

जीवातु—अथ षड्भिस्तद्गमनप्रकारं वर्णयति–नेत्यादि । पर्वतो नारदसखो मुनिः शैलश्च । 'पर्वतः शैलदेवर्ष्योः' इति विश्वः । तं नारदमनु प्रययाविति यत् अत्र चित्रमाश्चर्यं न । कुतः, स पर्वतस्तस्य नारदस्य सपक्षः सखा खलु पक्षवांश्चेति गम्यते । उभयथाप्यनुयानं युक्तमेवेति न चित्रमित्यर्थः । किंतु, जगतो लोकस्य उच्चैरुन्नतः, गुरुराचार्यः तस्मादलघुश्च, स नारदस्तु, विस्मयाय गमनं विललंघे लंघयामास । तल्लंघनं विस्मयाय भवतीत्यर्थः । गुरुद्रव्यस्य पातनार्हस्य उत्पतनं विरुद्धमिति श्लेषोत्थापितो विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ २ ॥

अन्वयः—यत् पर्वतः तम् अनुययौ अत्र चित्रं न, खलु सः तस्य सपक्षः, जगतः गुरुः नारदः तु गगनं विललङ्घे, उच्चैः विस्मयाय (अथवा 'जगतः उच्चैः गुरुः नारदः तु गगनं विललङ्घे, विस्मयाय' । अथवा 'उच्चैः गगनं विललङ्घे, विस्मयाय ।') ।

हिन्दी—जो कि पर्वत ऋषि उन (नारद) के पीछे-पीछे गये, इसमें आश्चर्य नहीं है; क्योंकि वे उनके सपक्ष (अर्थात् पक्षधर मित्र) हैं, जगत् के गुरु नारद ने जो आकाश का लंघन किया, यह बड़े आश्चर्य की बात है । (अथवा 'जगत् के बड़े गुरु होकर नारद जी ने''''बात है ।' अथवा 'ऊँचे आकाश का लंघन किया, यह''''बात है ।) ।

टिप्पणी—इस श्लोक में प्रयुक्त 'पर्वत' (पहाड़ और पर्वत नामक ऋषि) 'सपक्ष' (पंख और मित्र), 'नारद' (नारं जलं ददाति नारदः=मेघ और देवर्षि नारद) 'गुरु' (भारी और पूज्य) अनेकार्थ शब्द हैं । इस आधार पर उक्त सामान्य अर्थ के अतिरिक्त एक अन्यार्थ की कल्पना हो जाती है—पहाड़ (पर्वत) मेघ (नारद) के पीछे-पीछे गया, यह आश्चर्य नहीं हैं; क्योंकि वह पंख वाला है (इन्द्र द्वारा पंख काट देने से पूर्व पहाड़ों के भी पंख थे, यह पौराणिक मान्यता है ।), मेघ (नार-जलयुक्त अतएव) भारी होकर भी

जो आकाश-लंघन कर गया, यह अचरज है। सजल बादल को बरस जाना चाहिए। श्लेषार्थक शब्दों के आधार पर यहाँ जो विरोध आभासित हो गया है, इस आधार पर मल्लिनाथ ने उस श्लोक में श्लेषोत्थापित विरोधाभासालंकार माना है, विद्याधर ने भी गुण और क्रिया में विरोध के कारण विरोध का निर्देश किया है। विरोध का परिहार इस प्रसंगगत अर्थ से हो जाता है कि गुरु का अर्थ भारी नहीं, पूज्य है। पूज्य होकर भी नारद जी अपनी प्रकृति के अनुसार आचरण करते स्वर्ग लोक पहुँचे। विविधलोक-भ्रमण तो नारद का स्वभाव है। पर्वत मुनि का भी इसी कारण स्वर्गमन विस्मयजनक नहीं है कि वे उनके मित्र और अनुयायी थे। वस्तुतः आश्चर्य का कारण कुछ भी नहीं है। प्रकाशकार ने 'जगतः गुरुः नारदस्तु विस्मयाय उच्चैः गगनं विललङ्घे' अन्वय करके 'विस्मयाय' का अर्थ किया है, पक्षियों के स्मय (आश्चर्य) के लिए—'वीनां पक्षिणामपि स्मयाय वेगातिशयेनाद्भुताय'—वेगातिशय से पक्षियों को भी आश्चर्य में डालते—अर्थात् पक्षियों की गति से भी तीव्र गति से जगद्गुरु नारद ऊँचे गगन को पार कर गये ॥ २ ॥

गच्छता पथि विनैव विमानं व्योम तेन मुनिना विजगाहे।
साधने हि नियमोऽन्यजनानां योगिनां तु तपसाऽखिलसिद्धिः ॥ ३ ॥

जीवातु—गच्छतेति। पथि विमानं व्योमयानं विनैव गच्छता तेन मुनिना, व्योम विजगाहे प्रविष्टम्। तथा हि, साधने उपाये नियमोऽवश्यंभावः क्रियासिद्धौ नियमेन साधनान्तरापेक्षेत्यर्थः। अन्यजनानामस्मदादीनां, योगिनां तु तपसा योगधर्मणैवाखिलसिद्धिः सर्वकार्यसिद्धिर्हि। तस्मान्महायोगिनोऽस्य किं विमानेनेति भावः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ३ ॥

अन्वयः—विमानं विना एव पथि गच्छता तेन मुनिना व्योम विजगाहे; हि साधने अन्यजनानां नियमः योगिनां तु तपसा अखिलसिद्धिः।

हिन्दी—विमान अर्थात् यात्रोचित वाहन के विना ही मार्ग में यात्रा करते उस मुनि (नारद) ने आकाश आलोडित कर डाला (आकाशयात्रा कर डाली), क्योंकि साधन (वाहन, सवारी) तो सामान्य जनों को आवश्यक है, योगियों को तो तप से ही सब सिद्धि हो जाती है।

टिप्पणी—'विमानं' को 'व्योम' का विशेषण मानकर और 'विना एव' का अर्थ 'पक्षितुल्य' मान कर यह अर्थ भी किया जाता है कि पक्षि के समान जाते मुनि ने 'विमान' अर्थात् परिमाणातीत, अतिविस्तीर्ण आकाश पार कर लिया। वस्तुतः वाहनों से सामान्य जन यात्रा करते हैं, तपस्वी योगिजनों को वाहनादि साधन अपेक्षित नहीं, वे तो तपोबल से समस्त कार्य कर डालते हैं। मल्लिनाथ के अनुसार सामान्य से विशेष का समर्थनपरक अर्थान्तरन्यास, विद्याधर के अनुसार विशेषोक्ति और काव्यलिंग अलंकार ॥ ३ ॥

खण्डितेन्द्रभवनाद्यभिमानाँल्लङ्घते स्म मुनिरेष विमानान्।
अर्थितोऽप्यतिथितामनुमेने नैव तत्पतिभिरङ्घ्रिविनम्रैः ॥ ४ ॥

जीवातु—खण्डितेति। एष मुनिः, खण्डितो निरस्तः इन्द्रभवनादीनामभिमानोऽहङ्कारो यैस्तान्, ततोऽपि समृद्धानित्यर्थः। विमानान् देवगृहान्, लङ्घते स्म अतिचक्राम। किं बहुना, अङ्घ्रिविनम्रैः पादपतितैः, तत्पतिभिर्विमानाध्युषितैर्देवैः अर्थितः प्रार्थितोऽपि, अतिथितामातिथ्यं, नैवानुमेने। एतन्मात्रविलम्बं च नासहिष्टेत्यर्थः ॥ ४ ॥

अन्वयः—एषः मुनिः खण्डितेन्द्रभवनाद्यभिमानान् विमानान् लङ्घते स्म, अङ्घ्रिविनम्रैः तत्पतिभिः अर्थितः अपि अतिथितां न एव अनुमेने।

हिन्दी—ये मुनि (नारद) इन्द्र आदि के आवासों के अभिमान को भी खण्डित करते विमान (देवगृहों) को लांघते जा रहे थे, चरणों में प्रणत उनके स्वामियों द्वारा प्रार्थना की जाने पर भी (उनका) आतिथ्य (नारद ने) नहीं स्वीकारा।

टिप्पणी—'विमान' का अर्थ 'सतखंडा घर' (सतमंजिला मकान) भी होता है, अर्थात् इतने ऊँचे-ऊँचे थे कि बड़े-बड़े देवगृह भी उनके सम्मुख नगण्य थे। ऐश्वर्य से परिपूर्ण ऊँचे-ऊँचे आवास। जाते हुए नारद जी को प्रणाम करते उन घरों के स्वामी उनसे आतिथ्य-ग्रहण की प्रणत प्रार्थना करने पर नारद जी ने विलंब हो जाने के कारण प्रार्थना स्वीकारी नहीं। विद्याधर के अनुसार उपमा और विभावना ॥ ४ ॥

तस्य तापनभिया तपनः स्वं तावदेव समकोचयदर्चिः।
यावदेष दिवसेन शशीव द्रागतप्यत न तन्महसैव ॥ ५ ॥

जीवातु—तस्येति । तपनोऽर्कः, तस्य मुनेः (कर्मणः), तापनाद्भिया, सन्तापोऽस्य भविष्यतीति भयेन स्वमात्मीयमर्चिस्तेजस्तावदेव प्रागेव, समकोचयत् सङ्कोचितवान् । यावदेष तपनो दिवसेन दिवा, आतपेन स्वौजसा, शशीव, तन्महसा तस्य तेजसेव, द्राक् सपदि, स्वयमेव नातप्यत, मुनितापनादात्महानेर्वरमात्मसङ्कोच इति मत्वा मन्दप्रकाशः स्थित इत्यर्थः । यथा च सूर्यादपि तेजिष्ठो मुनिरिति भावः ॥ ५ ॥

अन्वयः—तस्य तापनभिया तपनः स्वम् अर्चिः तावत् एव समकोचयत् यावत् एषः तन्महसा दिवसेन शशी इव द्राक् न अतप्यत ।

हिन्दी—उनके द्वारा प्राप्त होने वाले संताप की आशंका से अथवा उनको ताप न हो, इस भय से सूर्य ने अपने तेज को पहिले ही उतना संकुचित कर लिया, जितना कि यह उन (नारद) के तेज से दिन के द्वारा चन्द्र के समान शीघ्र तप्त न हो ।

टिप्पणी—सूर्य ने एक विशिष्ट मात्रा में—एक नियत परिमाण में अपने तेज अर्थात् तापनक्षमता को क्षीण कर लिया। सूर्य को दो प्रकार की आशंकाएँ थीं,—एक तो यह कि मुनि यदि तपन से तप्त होंगे तो क्रुद्ध हो सूर्य को शाप दे सकते हैं; दूसरे यह कि यदि तेज अधिक क्षीण हो जायेगा तो जैसे दिन में चन्द्र की अवमानना होती है, वैसे ही तेजोहीन होने से सूर्य की अवमानना होगी । अतः सूर्य ने अपने तेज को उतनी ही मात्रा में क्षीण किया जितने में देवर्षि को ताप न व्यापे और स्वयं सूर्य भी तेजोहीन न हो जाय । भाव यह कि नारद जी सूर्य के समान ही अथवा उससे भी अधिक तेजस्वी थे । उनके संमुख सूर्य का तेज भी क्षीण हो गया । माघकवि ने 'शिशुपालवध' (प्रथम सर्गारंभ) में नारद के तेज की सूर्य और अग्नि के तेज से समता की है—'गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः'—इत्यादि । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और उपमा अलंकार ॥ ५ ॥

पर्यभूद्दिनमणिर्द्विजराजं यत्करैरहह तेन सदा तम् ।
पर्यभूत् खलु करैर्द्विजराजः कर्म कः स्वकृतमत्र न भुङ्क्ते ? ॥ ६ ॥

जीवातु—पर्यभूदिति । दिनमणिः सूर्यः, द्विजराजं चन्द्रं ब्राह्मणोत्तमञ्च, करैरंशुभिः हस्तैश्च, पर्यभूत् परिभूतवानिति यत् । तेन परिभवेन (हेतुना)

तदा नारदागमनकाले, तं दिनमणिं, द्विजराजो ब्राह्मणोत्तमश्चन्द्रश्च, करैरंशुभिर्हस्तैश्च, पर्यभूत्। अहह अद्भुतम्। 'अहहेत्यद्भुते खेदे' इत्यमरः। स्वकृतद्विजराजपरिभवदोषात् स्वयमद्य तेन परिभूत इत्यर्थः। तथा हि, अत्र जीवलोके कः स्वकृते (कर्म) न भुङ्क्ते। सर्वेणापि स्वकर्मफलमनुभाव्यमेवेत्यर्थान्तरन्यासः॥ ६ ॥

अन्वयः—अहह यत् दिनमणिः द्विजराजं करैः पर्यभूत् तेन खलु तदा तं द्विजराजः करैः पर्यभूत्, अत्र कः स्वकृतं कर्म न भुङ्क्ते।

हिन्दी—अहह, जो दिनमणि (सूर्य) ने द्विजराज (ब्राह्मणराज, चन्द्र) को अपने करों (किरणरूप हाथों) से परिभव दिया, उससे ही उस काल उस (सूर्य) को द्विजराज (ब्राह्मणराज नारद अथवा उनके ही रूपमें चन्द्र) ने अपने हाथों परिभव दिया। (यहाँ संसार में) कौन अपने किये कर्म को नहीं भोगता ? (सभी को कर्मफल भोगना पड़ता है)।

टिप्पणी—सूर्य ने एक ब्राह्मण (चन्द्र) को अपने हाथों अपमानित किया, दूसरे ब्राह्मण नारद अथवा उनके ही रूप में चन्द्र के हाथों सूर्य को अपमानित हो अपने किये को भोगना पड़ा। कर्मफल भोगना ही पड़ता है। नारद के सूर्याधिक तेजस्वी होने के विषय में प्रकारांतर से उक्ति। मल्लिनाथ के अनुसार अर्थान्तरन्यास, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और अर्थान्तरन्यास॥ ६ ॥

विष्टरं तटकुशालिभिरद्भिः पाद्यमर्घ्यमथ कच्छरुहाभिः।
पद्मवृन्दमधुभिर्मधुपर्कं स्वर्गसिन्धुरदितातिथयेऽस्मै॥ ७ ॥

जीवातु—विष्टरमिति। अथ स्वर्गसिन्धुर्मन्दाकिनी, अतिथये अस्मै नारदाय, तटकुशानामालिभिरावलिभिर्विष्टरमासनं, 'वृक्षासनयोर्विष्टरः' इति षत्वनिपातः, अद्भिः पाद्यं पादार्थं जलं, कच्छरुहाभिर्जलप्रायभूम्युत्पन्नाभिर्लताभिः अर्घ्यम् अर्घार्थं पुष्पफलादि, 'पादार्घाभ्यां च' इति तादर्थ्ये यत्प्रत्ययः। पद्मवृन्दानां मधुभिर्मकरन्दैः, मधुपर्कञ्च अदित दत्तवती। ददातेर्लुङि तङ्॥ ७ ॥

अन्वयः—अथ स्वर्गसिन्धुः अतिथये अस्मै तटकुशालिभिः विष्टरम् अद्भिः पाद्यम् कच्छरुहाभिः अर्घ्यं पद्मवृन्दमधुभिः च मधुपर्कम् अदित।

हिन्दी---तत्पश्चात् स्वर्नदी मंदाकिनी ने अतिथि नारदजी को तटवर्ती कुशों का आसन, जल का पाद्य (चरण धोने के लिए), जललताओं से (फूल-फल आदि) अर्घ्य और कमल-मधु से मधुपर्क समर्पित किया ।

टिप्पणी---अतिथि-सत्कार का कार्य देवनदी मन्दाकिनी द्वारा संपन्न । आसन, चरण प्रक्षालन, अर्घ्य और मधुपर्क के समर्पण से यह कार्य हुआ । विद्याधर के अनुसार दीपक अलंकार ।। ७ ।।

स व्यतीत्य वियदन्तरगाधं नाकनायकनिकेतनमाप ।
सम्प्रतीर्य भवसिन्धुमनादि ब्रह्म शर्मभरचारु यतीव ।। ८ ।।

जीवातु—स इति । मुनिः, अगाधं, वियदन्तर्नभोऽभ्यन्तरं व्यतीत्य, नाकनायकनिकेतनम् इन्द्रभवनं, यती योगी, अनादि, भवसिन्धुं संसाराब्धिम्, सम्प्रतीर्य शर्मभरचारु परमानन्दसुन्दरं ब्रह्म परमात्मानमिव आप ।। ८ ।।

अन्वयः—अनादि भवसिन्धुं संप्रतीर्य शर्मभरचारु ब्रह्म यती इव सः अन्तः अगाधं वियत् व्यतीत्य नाकनायकनिकेतनम् आप ।

हिन्दी—जैसे आदिरहित (नित्य प्रवहणशील) संसारसागर को भलीभाँति तर कर परमानंद सुन्दर ब्रह्म को योगी प्राप्त करता है, वैसे ही वे (नारद जी) मध्यवर्ती अगाध (विस्तीर्ण) आकाश को पार कर स्वर्ग के स्वामी (इन्द्र) के आवास पर पहुँचे ।

हिन्दी---इन्द्र का निकेतन भी 'शर्मभरचारु' है, अतः ब्रह्म से उसकी तुलना की गयी । स्वर्गप्राप्ति भी पुण्य से ही संभव है । विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार अनुप्रास और उपमा ।। ८ ।।

अर्चनाभिरुचितोच्चतराभिश्चारु तं सदकृतातिथिमिन्द्रः ।
यावदर्हकरणं किल साधोः प्रत्यवायधुतये न गुणाय ।। ९ ।।

जीवातु---अर्चनाभिरिति । इन्द्रः, तमतिथिं मुनिम्, उचिताद्विहितात्, उच्चतराभिरधिकाभिः, अर्चनाभिः पूजाभिः, चारु यथा तथा सदकृत सत्कृतवान् आदृतवानित्यर्थः । 'आदरानादरयोः सदसती' इति निपातनात् प्राक् प्रयोगः । अधिकाचरणे हेतुमाह यावदर्हं यावद्युक्तम्. 'यावदवधारणे' इत्यव्ययीभावः । 'यावदर्हस्य करणम्' इति षष्ठीतत्पुरुषः । साधोः श्रद्धालोः प्रत्यवायधुतये

अकरणदोषनिवारणाय, गुणायोत्कर्षाय न किल खलु। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ।। ९ ।।

अन्वयः—इन्द्रः तम् अतिथिम् उचितोच्चतराभिः अर्चनाभिः चारु सदकृत, साधोः यावदर्हकरणं प्रत्यवायधुतये किल, गुणाय न।

हिन्दी—इन्द्र ने उन अतिथि (नारद) को उचित से भी उच्चतर पूजाविधान द्वारा भली-भाँति सत्कारा; साधु का यथोचित सत्करण—आदर-पूजादि अकरणजन्य दोष की धुति (निवारण) के लिए ही होता है, तदतिरिक्त (लाभ) के लिए नहीं।

टिप्पणी—नारद जी के इन्द्रावास पहुँचने पर इन्द्र ने यथानियम विधि-विधान से उनका सत्कार किया। ऐसा न करने से अर्थात् पूजनीय की पूजा न करने से दोष होता है, अतः इस दोष से बचने के लिए पूज्यपूजा नितांत आवश्यक है। यह तो सामान्य विधान है, कोई अतिरिक्त उपलब्धि इससे नहीं होती। कालिदास ने बताया है—'प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः।' (रघुवंश-प्रथमसर्ग)। अर्थांतरन्यास अलंकार ।। ९ ।।

नामधेयसमतासखमद्रेरद्रिभिन्मुनिमथाद्रियत द्राक्।
पर्वतोऽपि लभतां कथमर्चां न द्विजः स विबुधाधिपलम्भी ? ।। १० ।।

जीवातु—नामधेयेति। अथ नारदसत्कारानन्तरम्, अद्रिभिदिन्द्रः, अद्रेः पर्वतस्य, नामधेयसमतया नामसामान्येन सखायं तत्सखं मुनिं पर्वताख्यं, द्राक् द्रुतमाद्रियत सत्कृतवान्। पर्वतः पर्वतारेः कथं सत्कारमलभतेत्यत्राह—पर्वतोऽपि स द्विजो विबुधाधिपं देवेन्द्रं पण्डितोत्तमं च, लभते प्राप्नोतीति तल्लम्भी। 'विबुधः पण्डिते देवे' इति विश्वः। स मुनिः, कथमर्चां पूजां, न लभताम् ? लभतामेवेत्यर्थः। द्विजोऽभ्यागतो महतः प्रतिपक्षादपि विवेकिनः पूजां लभत इति भावः ।। १० ।।

अन्वयः—अथ अद्रिभित् अद्रेः नामधेयसमतासखं मुनिं द्राक् आद्रियत **विबुधाधिपलम्भी सः** द्विजः पर्वतः अपि कथम् अर्चां न लभताम् ?

हिन्दी—तत्पश्चात् पर्वतों के भेत्ता (इन्द्र) ने 'पर्वत' नाम के साम्य से पर्वत की समता रखने वाले मुनि (पर्वत) का तुरन्त आदर-सम्मांन किया।

विबुधों के स्वामी को प्राप्त वह ब्राह्मण पर्वत (होने पर) क्यों न पूजा प्राप्त करता ?

टिप्पणी—इन्द्र ने पर्वतों के पंख काट दिये थे, वे थे पर्वतारि । इस स्थिति में आश्चर्यजनक है कि उन्होंने पर्वत का स्वागत किया । पर इन्द्र ने मुनि की पूजा इसलिए की कि वे तो नाममात्र के पर्वत थे, कोई वास्तविक पहाड़ नहीं, जो उड़कर जा गिरते फसलों को चौपट कर दिया करते थे, जिससे इन्द्र ने उनकी उड़ने की क्षमता समाप्त कर दी । पर्वतमुनि थे, शांत, सौम्य, साधु; परपीडक नहीं । एक और कारण भी है—वे पर्वत नामधारी मुनि 'विबुधाधिपलम्भी' थे अर्थात् पंडितों के राजा—विद्वच्छ्रेष्ठ नारद के साथ आये थे, भले ही वे मुनि जडबुद्धि हों पहाड़-पत्थर के समान । अथवा पर्वत नाम होने पर भी उन्होंने श्रेष्ठ विद्वानों का संगलाभ करके विद्या अर्जित कर ली थी, अतः वे पूजार्ह थे । अथवा 'पर्वत' विबुधाधिप अर्थात् देवराज को प्राप्त कर क्यों न पूजा प्राप्त करते ? सज्जन तो घर आये शत्रु का भी सम्मान करते हैं । भाव यह है कि 'पर्वत' मुनि नाम से ही पर्वत थे, वास्तविक पहाड़ नहीं, वे पंडितवर थे अथवा पंडितराज नारद के साथ आयें थे, वे देवराज इन्द्र जैसे महान् व्यक्ति के निकट पहुँचे थे अथवा 'पर्वत' (पहाड़) पर्वतारि के शरण आ गया था । अथवा 'पर्वतोऽपि द्विजः पूजां कथं न लभताम् ?' पहाड़-पत्थर-सा जडमूर्ख होने पर भी ब्राह्मण को पूजा मिलती ही है । विद्याधर के अनुसार 'ओज' गुण और काव्यलिंग अलंकार ॥ १० ॥

तद्भुजादतिवितीर्णसपर्याद् द्योद्रुमानपि विवेद मुनीन्द्रः ।
स्वःसहस्थितिसुशिक्षितया तान् दानपारमितयैव वदान्यान् ॥ ११ ॥

जीवातु—तदिति । मुनीन्द्रो नारदस्तान्, प्रसिद्धान् द्योद्रुमान् कल्पवृक्षानपि अतिवितीर्णसपर्यादतिमात्रदत्तपूजात्, तस्येन्द्रस्य, भुजाद्धस्तादेव,गुरोः स्वः स्वर्गे, सहस्थित्या सहवासेन, सुशिक्षितया स्वभ्यस्तया, दानपारमिता नाम दानकर्तव्यताप्रतिपादको ग्रन्थविशेषः, तयैव कारणेन वदान्यान् विवेद । इन्द्रहस्तः कल्पवृक्षाणामपि दानविद्योपदेष्टेत्युत्प्रेक्षितवानित्यर्थः । कल्पवृक्षातिशाय्यौदार्यमस्येति भावः ॥ ११ ॥

अन्वयः—मुनीन्द्रः अतिवितीर्णसपर्यात् तद्भुजात् स्वःसहस्थितिसुशिक्षितया दानपारमितया एव तान् द्योद्रुमान् अपि वदान्यान् विवेद ।

हिन्दी—मुनिराज नारद ने अतिशय पूजा-सत्कार करने वाले उस (इन्द्र के) बाहु (रूप गुरु) से अपने साथ रहने के कारण भली भाँति सीख ली गयी दान की पारमितता (अतिशय दानशीलता) द्वारा उन (प्रसिद्ध) स्वर्ग के वृक्षों (कल्पतरु आदि) को भी दानी (उदार) समझा ।

टिप्पणी—विश्व में प्रसिद्ध है कि कल्पवृक्ष इच्छित वस्तु देता है—ऐसा दानी है । नारद जी ने पाया कि इन्द्र ने जो उनकी इतनी पूजा-अर्चना की, उसी 'वदान्य' अर्थात् उदार इन्द्र के दानशीलता में प्रवण हाथ की संगति में रहकर कल्पवृक्ष आदि ने 'वदान्यता'—उदारता सीख ली है । यह उदारता कल्पवृक्षादि का सहज गुण नहीं है, संसर्गज गुण है—'संसर्गजाः दोषगुणाः भवन्ति ।' 'दानपारमिता' एक ग्रन्थ का नाम भी है, जिसमें दान-कर्तव्यता का प्रतिपादन हुआ है । यहाँ यह आशय भी लिया गया है कि इन्द्र के भुजारूप गुरु से कल्पवृक्षादि ने उक्त ग्रन्थ का अध्ययन किया है । 'प्रकाश'-कार ने इसे क्लिष्ट, अतएव उपेक्ष्य व्याख्या माना है । भाव यह है कि इन्द्र ने इतनी अधिक उदारता से नारद का पूजा सम्मान किया कि उसकी 'वदान्यता' के आगे कल्पवृक्ष भी नगण्य बन गया । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥

मुद्रितान्यजनसंकथनः सन्नारदं बलरिपुः समवादीत् ।
आकरः स्वपरभूरिकथानां प्रायशो हि सुहृदोः सहवासः ॥ १२ ॥

जीवातु—मुद्रितेति । बलरिपुरिन्द्रः, मुद्रितान्यजनसंकथनो निवारितेतरजनालापः सन्, नारदं समवादीत्, तेन सह संल्लापमकार्षीदित्यर्थः । किं संवाद्य तदाह—प्रायशः सुहृदोर्मित्रयोः सहवासः सङ्गमः, स्वे आत्मीयाः परे च स्वपरे तेषां यः भूरयः कथाः प्रसङ्गास्तासाम् आकरः खनिर्हि । इष्टालापानामियत्ताभावात् संवादसिद्धिरित्यर्थान्तरन्यासाभिप्रायः । 'खनिः स्त्रियामाकरः स्यात्' इत्यमरः ॥ १२ ॥

अन्वयः—मुद्रितान्यजनसंकथनः सन् बलरिपुः नारदं समवादीत्, हि सुहृदोः सहवासः प्रायशः स्वपरभूरिकथानाम् आकरः ।

हिन्दी—अन्य व्यक्तियों के साथ वार्तालाप रोकते हुए बलदैत्य का शत्रु (इन्द्र) नारद से सादर वार्तालाप करने लगा, कारण कि दो मित्रों की एकत्र स्थिति प्रायः अपनी-परायी अनेक कथाओं का आकर होती है।

टिप्पणी—अन्य व्यक्तियों से वार्तालाप बंद कर इन्द्र का नारद से संलाप, एक तो उन दोनों की घनिष्ठता का द्योतन करता है, दूसरे अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा इन्द्र की दृष्टि में नारद को अधिक आदरणीय भी प्रमाणित करता है। मल्लिनाथ के अनुसार अर्थान्तरन्यास, विद्याधर ने अर्थांतर-न्यास और जाति का निर्देश किया है १२ ॥

तं कथानुकथनप्रसृतायां दूरमालपनकौतुकितायाम् ।
भूभृतां चिरमनागमहेतुं ज्ञातुमिच्छुरवदच्छतमन्युः ॥ १३ ॥

जीवातु–तमिति । शतमन्युः शतक्रतुः । 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः । आलपनकौतुकितायामाभाषणोत्कण्ठायां, दूरं कथानुकथनप्रसृतायाम् उत्तर-प्रत्युत्तराभ्यां दूरं गतायां सत्यां, प्रसक्तानुप्रसक्तया सङ्गत्येत्यर्थः । चिरं चिरात्प्रभृति भूभृतां राज्ञाम्, अनागमहेतुं ज्ञातुमिच्छुः सन् । तं नारदम्, अवदद-पृच्छदित्यर्थः ॥ १३ ॥

अन्वयः—शतमन्युः आलपनकौतुकितायां दूरं कथानुकथनप्रसृतायां चिरं भूभृताम् अनागमनहेतुं ज्ञातुम् इच्छुः तम् अवदत् ।

हिन्दी—सौ यज्ञों के कर्ता शतक्रतु (इन्द्र) ने आभाषण कौतुक के कथन और अनुकथन में अत्यधिक हो जाने पर (पर्याप्त वार्तालाप के अनन्तर) चिरकाल से राजाओं के (स्वर्ग) में न आने का कारण जानने का इच्छुक होते हुए उन (नारद) से कहा।

टिप्पणी—सामान्य शिष्टाचार-परक वार्तालाप के पश्चात् जब अन्तरंग वार्ता होने लगी तो शतमखकर्त्ता होने से इन्द्रपद प्राप्तकर्ता देवराज ने नारद जी से जानना चाहा कि पहिले तो युद्ध में संमुख लड़ वीर गति प्राप्त करने वाले अनेक भूपति स्वर्ग आया करते थे, अब चिरकाल से ऐसा नहीं हो रहा है, इसका क्या कारण है? विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार अनुप्रास ॥१३॥

प्रागिव प्रसुवते नृपवंशाः किन्तु सम्प्रति न वीरकरीरान् ? ।
ये परप्रहरणैः परिणामे विक्षताः क्षितितले निपतन्ति ॥ १४ ॥

जीवातु—प्रागिति । नृपवंशाः राजकुलानि, नृपः एव वंशाः वेणवश्च । 'वंशो वेणौ कुले वर्गे' इति विश्वः पूर्वमिव, सम्प्रति, वीरत्वेन करीरानङ्कुरान् । 'वंशाङ्कुरे करीरोऽस्त्री' इत्यमरः । न प्रसुवते न जनयन्ति । किं तु ? किंतैरत आह—य इति ये वीरकरीराः, परिणामे परिपक्वावस्थायां, परेषामरीणाम् अन्येषां च । 'परं दूनान्यमुख्येषु परोऽरिपरमात्मनोः' इति वैजयन्ती । प्रहरणैरायुधैः दात्रादिभिश्च, विक्षताः सन्तः क्षितितलं निपतन्ति ॥ १४ ॥

अन्वयः—नृपवंशाः प्राक् इव सम्प्रति किं वीरकरीरान् न प्रसुवते तु, ये परिणामे परप्रहरणैः विक्षताः क्षितितले निपतन्ति ?

हिन्दी—राजकुल रूपी बाँस पहिले की भाँति आजकल क्या वीर रूप अंकुरों को जन्म नहीं देते जो कि परिणाम (अन्त समय) में (अथवा पूर्णतारुण्य में) शत्रुओं के प्रहारों से घायल हो (आघात) भूतल में गिरते हैं ?

टिप्पणी—इन्द्र का प्रश्न है कि जैसे बाँसों के 'करीर' (अंकुर) परिणत हो जाने पर (पक जाने पर) कुठारादि से आघात पा धरती पर आ गिरता है, वैसे ही 'वीर-करीर' (करीरान्-हस्तिपातनसमर्थान्)—हाथियों को गिरानेवाले वीर अब क्या जन्म नहीं लेते, जो युद्ध में संमुख घाव खाकर धरती पर गिरें ? अर्थात् अब ऐसे रणवीर राजा उत्पन्न नहीं होते, जो युद्ध में प्राण दें, रोगादि से जर्जर हो मृत्यु न पाते हों ? विद्याधर के अनुसार उपमा-रूपक-श्लेष का संकर ॥ १४ ॥

पार्थिवं हि निजमाजिषु वीरा दूरमूर्ध्वगमनस्य विरोधि ।
गौरवाद्वपुरपास्य भजन्ते मत्कृतामतिथिगौरवऋद्धिम् ॥ १५ ॥

जीवातु—ततः किमत आह—पार्थिवमिति । वीराः पूर्वोक्ता रणपातिनः, पार्थिवं पृथिवीविकारम् अत एव गौरवात् गुरुत्वगुणयोगित्वात्, उर्ध्वगमनस्योत्पतनकर्मणः, पार्थिवत्वादूर्ध्वलोकप्राप्तेश्च, दूरमायन्तं विरोधि निजं वपुः, आजिषु युद्धेषु अपास्य मत्कृतामतिथिसत्कारस्तस्य ऋद्धिम्, 'ऋत्यकः' इति प्रकृतिभावः । भजन्ते हि । तादृग्वीरालाभे स्वस्यातिथिलाभो न स्यादिति भावः ।

अन्वयः—हि वीराः पार्थिवं गौरवात् ऊर्ध्वंगमनस्य दूरं विरोधि निजं वपुः आजिषु अपास्य मत्कृताम् अतिथिगौरवर्द्धिं भजन्ते ।

हिन्दी—क्योंकि वीरगण पृथ्वी (मिट्टी) से उत्पन्न अतएव गरुए (भारी, पतनशील), ऊँचे (अथवा स्वर्ग) जाने के अतिशय विरोधी अपने शरीर को संग्राम में त्याग कर मेरे द्वारा किये गये अतिथि-संमान के गौरव-ऐश्वर्य को प्राप्त कर पाते हैं ।

टिप्पणी—जैसे मिट्टी-धूल से बनी भारी वस्तु ऊँचे ऊपर न जाकर नीचे ही जा गिरती है, वैसे ही यह पार्थिव शरीर भी उच्च स्वर्ग-लोक नहीं जा सकता । वीर व्यक्ति युद्ध में इस पार्थिव शरीर को छोड़ कर ही स्वर्ग में इन्द्र द्वारा सत्कार पा सकते हैं । माटी का शरीर क्षितितल में पड़ा रह जाता है, सूक्ष्म शरीर स्वर्गभागी होता है । योगाभ्यासी और रण में संमुख वीरगति पानेवाले व्यक्ति ही स्वर्ग प्राप्त करते हैं—'द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डल-भेदिनौ । परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः' ॥ १५ ॥

साभिशापमिव नातिथयस्ते मां यदद्य भगवन्नुपयान्ति ।
तेन न श्रियमिमां बहु मन्ये स्वोदरैकभृतिकार्यकदर्याम् ॥ १६ ॥

जीवातु—ननु तदलाभे तेषामेव सत्कारहानिस्तव तु न काचित् क्षतिरित्यत आह—साभिशापमिति । हे भगवन् मुने ! ते वीराः अतिथयः, अभिशापेन सह वर्तत इति साभिशापं मिथ्याभिशस्तमिव । 'अथ मिथ्याभिशंसनम् । अभिशापः' इत्यमरः । मामद्य नोपयान्तीति यत् । तेन हेतुना । स्वोदरस्यैकस्यैव, भृतिकार्येण, पोषणकृत्वेन, कदर्या कृपणाम् । 'कदर्ये कृपणः क्षुद्र' इत्यमरः । 'आत्मानं धर्मकृत्यं च पुत्रदाराश्च पीडयेत् । लोभाद्यः पितरौ भ्रातॄन् स कदर्य इति स्मृतः ॥' इति च । इमां श्रियं न बहु मन्ये । अतिथिसत्कारशून्यस्य श्रीवैफल्यमेव क्षतिरिति भावः ॥ १६ ॥

अन्वयः—भगवन्, ते अतिथयः साभिशापम् इव माम् यत् अद्य न उपयान्ति तेन स्वोदरैकभृतिकार्यकदर्याम् इमां श्रियं बहु न मन्ये ।

हिन्दी—हे भगवन्, वे अतिथि अभिशप्त सदृश मेरे निकट जो आज नहीं आते हैं, उससे निज उदरमात्र भरने के कार्य से कुत्सित इस स्वलक्ष्मी को मैं अधिक आदर नहीं देता ।

टिप्पणी—वीर स्वर्ग में आते नहीं, इन्द्र को यह भला प्रतीत नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि पुण्यात्मा राजा अब नहीं होते भूलोक में ॥ १६ ॥

पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धा सम्पदो विपद एव विमृष्टाः।
पात्रपाणिकमलार्पणमासां तासु शान्तिकविधिर्विधिदृष्टः॥ १७ ॥

जीवातु—पूर्वेति। पूर्वपुण्यविभवस्य व्ययेन लब्धाः सम्पदो विमृष्टाः विचारिताः विपद एव। सद्यः स्वोदयेन पुराकृतसुकृतनाशकत्वादिति भावः। तासु विपत्सु सम्पद्रूपास्वापत्सु। आसां सम्पदां, पात्राणां विद्याजातितपोवृत्त-सम्पन्नानां पाणिकमलेष्वर्पणं दानमेव विधिदृष्टः शास्त्रदृष्टः, शान्तिकविधिः शान्तिकर्मानुष्ठानम्, नष्टसुकृतादपि अत्युत्कृष्टसुकृतोत्पादनादिति भावः। अनेन बीजाङ्कुरन्याय उक्तः॥ १७ ॥

अन्वय—पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धाः सम्पदः विमृष्टाः विपदः एव, तासु आसां पात्रपाणिकमलार्पणं विधिदृष्टः शान्तिकविधिः।

हिन्दी—पुराकृत पुण्यों के माहात्म्य के विनियोग से प्राप्त संपदाएँ विचार करने पर विपदाएँ ही हैं, उन (संपद् रूप विपत्तियों) के रहने पर उनका योग्य व्यक्तियों के करकमलों में दान (ही) शास्त्र संमत (अथवा विधाता द्वारा निर्दिष्ट) शांति कर्म विधान है।

टिप्पणी—यद्यपि धन-लक्ष्मी आदि वैभव पूर्वपुण्य से मिलता है तथापि विचार करने पर ज्ञात होता है कि उसका यदि उचित उपयोग न हो तो संपत्ति विपत्ति बन जाती है। संपत्ति का उचित उपयोग यही है कि आवश्य-कतानुसार विद्या-वय-संपन्न उपयुक्त व्यक्तियों को दान कर जन-उपकार में लगाया जाय। उचित उपयोग विना संपत्ति भार ही है। पात्रता के विषय याज्ञवल्क्य ने कहा है कि पात्रता न केवल विद्या से आती है, न केवल तप से, विद्या-तप—दोनों जिसमें हों, वह व्यक्ति पात्र होता है—'न विद्यया केवलया तपसा वाऽपि पात्रता। यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्त्तितम्॥' (याज्ञ० आचारा-ध्याय)। संपत्ति मिलती है पुण्य से, पर यह है पाप, जिसके निवारण की—शांति-शमन की—विधि उसका सत्पात्र को दान है। यही शास्त्र-विहित है। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में अनुप्रास-रूपक-अतिशयोक्ति का संकर है॥

तद्विमृज्य मम संशयशिल्पि स्फीतमत्र विषये सहसाघम् ।
भूयतां भगवतः श्रुतिसारैरद्य वाग्भिरघमर्षणऋग्भिः ॥ १८ ॥

जीवातु—तदिति । तत्तस्मात्, तत्र विषये अस्मिन्नर्थे, मम, संशयस्य शिल्पि तज्जनकं, स्फीतं, प्रभूतम्, अघमेनः, तन्मूलत्वान्मिथ्याज्ञानस्येति भावः । यद्वा, संशयः शिल्पी जनको यस्य तदघं दुःखं, दुःखहेतुत्वात्संशयस्येति भावः । 'दुःखैनोव्यसनेष्वघम्' इति वैजयन्ती । सहसा विमृज्य निवर्त्य, भगवतो वाग्भिरद्य श्रुतिसारैर्वेदसारैः कर्णामृतैश्च । अघमर्षणऋग्भिः अघमर्षणीभिः ऋग्भिः 'स्त्रियाः पुंवत्' इत्यादिना पुंवद्भावः । 'ऋत्यकः' इति प्रकृतिभावः । भूयताम् । भावे लोट् । राज्ञामनागमनकारणमसंदिग्धं ब्रूहीत्यर्थः । अत्र मुनिवाक्येष्वारोप्यमाणस्य अघमर्षणत्वस्य प्रकृताघहरणोपयोगात् परिणामालङ्कारः । 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः' इति लक्षणात् ॥१८॥

अन्वयः—तत् अत्र विषये मम संशयशिल्पि स्फीतम् अघं सहसा विमृज्य भगवतः वाग्भिः श्रुतिसारैः अघमर्षणऋग्भिः भूयताम् ।

हिन्दी—सो इस विषय में मेरे संशय के जनक, वृद्धि को प्राप्त पाप को शीघ्र दूर करके आपके वचन वेद का सार अथवा कानों को अमृतसम लगनेवाली अघमर्षण ऋचाएँ (पापनाशक मंत्र) बनें ।

टिप्पणी—इन्द्र के मन में भूलोक के राजाओं के विषय में जो संदेह हो गया था, वह संशय उसे पाप-सम कष्ट-प्रदायक लग रहा था । नारद से उसने निवेदन किया कि वे इस विषय में कुछ सूचनाएँ देकर उसके संदेह को दूर करें । संदेह पाप है और नारद की वाणी पापनाशक ऋचाएँ । मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में परिणाम अलंकार है, क्योंकि मुनिवाक्यों में आरोप्यमाण अघमर्षणता का प्रकृत अघहरण में उपयोग है । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और श्लेष है । अघमर्षण ऋचा—'ऋतं च सत्यं चामीद्धा…' इत्यादि (ऋक्० ८।८।४८) ॥ १८ ॥

इत्युदीर्य मघवा विनयर्धि वर्धयन्नवहितत्वभरेण ।
चक्षुषां दशशतीमनिमेषां तस्थिवान्मुनिमुखे प्रणिधाय ॥ १९ ॥

जीवातु—इतीति । मघवा इन्द्रः, इत्युदीर्य, अवहितत्वभरेण एकाग्रता-

तिशयेन, विनयर्धि विनयातिशयं, वर्धयन्ननिमेषां चक्षुषां दशशतीं दशानां शतानां समाहारः दशशतीं सहस्रं, 'तद्धितार्थ–' इत्यादिना समाहारे द्विगावकारान्तोत्तरपदत्वात् स्त्रियां 'द्विगोः' इति ङीप् । एतेन शतमखी व्याख्याता । मुनिमुखे प्रणिधाय तस्थिवान् तस्थौ । लिटः क्वसुरादेशः ।। १९ ।।

अन्वयः—मघवा इति उदीर्य अवहितत्वभरेण विनयर्धिं वर्द्धयन् अनिमेषां चक्षुषां दशशतीं मुनिमुखे प्रणिधाय तस्थिवान् ।

हिन्दी—इन्द्र इतना कह कर एकाग्रता की अतिशयता से विनीतभाव की समृद्धि को बढ़ाता हुआ एक सहस्र अपलक नेत्र मुनि के मुख की ओर स्थिर करके बैठ गया ।

टिप्पणी—यद्यपि देवराज होने के कारण इन्द्र के पलक-झपते ही नहीं थे, तथापि यहाँ 'अनिमेष' का प्रयोग उत्सुकता और एकाग्रता की अभिव्यक्ति के लिए है। भाव यह है कि अपना वक्तव्य समाप्त करके मुनि-वचन सुनने के लिए उत्सुक इन्द्र एकाग्रचित्त हो गया। विद्याधर के अनुसार जाति अलंकार ।। १९ ।।

वीक्ष्य तस्य विनये परिपाकं पाकशासनपदं स्पृशतोऽपि ।
नारदः प्रमदगद्गदयोक्त्या विस्मितः स्मितपुरस्सरमाख्यत् ।। २० ।।

जीवातु—वीक्ष्येति । नारदः नाकशासनपदं स्पृशतोऽपीन्द्रत्वे तिष्ठतोऽपि । तस्येन्द्रस्य, विनये परिपाकं प्रकर्षं वीक्ष्य विस्मितः सन् सविस्मयः सन्, कर्तरि क्तः । प्रमदगद्गदयोक्त्या हर्षविस्वरया वाचा स्मितपुरस्सरं स्मितपूर्वमाख्यादाचचक्षे । 'अस्यति वक्तिख्यातिभ्योऽङ्' इत्यङ्प्रत्ययः ।। २० ।।

अन्वयः—पाकशासनपदं स्पृशतः अपि तस्य विनये परिपाकं वीक्ष्य विस्मितः नारदः प्रमदगद्गदया उक्त्या स्मितपुरस्सरम् आख्यत् ।

हिन्दी—इन्द्र-पद पर अधिष्ठित भी उसके विनय-प्रकर्ष को देख आश्चर्यान्वित नारद हर्षगद्गदवाणी में मुस्कुराते हुए कहने लगे ।

टिप्पणी—जन-जीवन में किसी को अविनयी देखकर कहा जाता है—'वह तो इन्द्रपद पर बैठा है।' इस प्रकार इन्द्रपद लोकमानस में अविनय का द्योतक है। इसी कारण इन्द्र को इतना विनयी पाकर नारद को आश्चर्य और

हर्ष हुआ, जो उनकी गद्गद वाणी और स्मित से प्रकट हुआ। विद्याधर की दृष्टि में उल्लेख्य अलंकार छेकानुप्रास ॥ २० ॥

भिक्षिता शतमखी सुकृतं यत्तत्परिश्रमविदः स्वविभूतौ ।
तत्फले तव परं यदि हेला क्लेशलब्धमधिकादरदं तु ॥ २१ ॥

जीवातु—भिक्षितेति। शतानां मखानां समाहारः शतमखी (दात्री); यत् सुकृतं भिक्षिता याचिता। भिक्षेर्दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि क्तः। तत्फले तस्य सुकृतस्य फले, स्वविभूतौ निजैश्वर्ये हेला अवज्ञा अनास्था यदि, 'हेलाऽवज्ञा' इति वैजयन्ती। तत्परिश्रमविदो याच्ञावलेशाभिज्ञस्य तव परं केवलं तवैव। नान्यस्येत्यर्थः। 'परं स्यादुक्तमानाप्तवैरिदूरेषु केवले' इति विश्वः। याचक एव याचकदुःखं जानातीति भावः। ननु वनिनां दातृत्वं किं चित्रं तत्राह—क्लेशेति। सत्यं क्लेशलब्धं तु अधिकादरदम् अतिलोभकारि दुस्त्यजम्। त्वं तु मखशतक्लेशलब्धमप्यैश्वर्यमर्थिसात्करोषीति कथं न चित्रमित्यर्थः। अत्र क्लेशवाक्येन हेलात्वसमर्थनाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः। 'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्' इति लक्षणात् ॥ २१ ॥

अन्वयः—शतमखी, यत् सुकृतं भिक्षिता तत्फले स्वविभूतौ यदि हेला तत्परिश्रमविदः तव परम्, क्लेशलब्धं तु अधिकादरदं तु।

हिन्दी—(नारद ने कहा)—सौ यज्ञ करके जो पुण्यार्जन आपने किया है, उसके फल अपने ऐश्वर्य (इन्द्रपद) में यदि आपकी अवज्ञा है तो उस (शतमख करके पुण्यार्जन) के श्रम को समझनेवाले आपकी ही है, (अन्य किसी की नहीं), जो वस्तु कष्ट उठाकर प्राप्त होती है, उसके प्रति तो अधिक आदर होता है।

टिप्पणी—सौ यज्ञ करना बड़ा कठिन कार्य है। उसके पुण्य से ही इन्द्रपद मिलता है। सामान्य जनको इतने कष्ट से प्राप्त दुर्लभ पद पर बड़ा मोह और ममता होती है, आदर होता है। बड़ा पद पाने से गर्व और अविनय भी आ जाता है। इन्द्र में यह सब नहीं है। उसे न क्लेशलब्ध इन्द्रपद पर मोह है, न अभिमान, उसमें अविनय भी नहीं हैं; अतिथि-सत्कार के प्रति तो वह विशेष सावधान है। नारद जी ने यही भावना व्यक्त की। इस श्लोक में

श्लेष वाक्य द्वारा हेलाभाव का समर्थन होने से वाक्यार्थ-हेतुक काव्यलिंग अलंकार है। मल्लिनाथ और विद्याधर-दोनों की यही मान्यता है ॥ २१ ॥

सम्पादस्तव गिरामपि दूरा यन्न नाम विनयं विनयन्ते।
श्रद्दधाति क इवेह न साक्षादाह चेदनुभवः परमाप्तः ॥ २२ ॥

जीवातु—सम्पद इति। किं बहुना, तव सम्पदो गिरामपि दूराः अगोचराः, कुतः, यद्यस्माद्विनयं न विनयन्ते नाम न लुम्पन्ति खलु। नयतेर्लट् 'स्वरित—' इत्यादिना आत्मनेपदम्, 'कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि' इत्यस्मादिति केचित्। तदसत्। सम्पदां कर्तृणाम् अचेतनत्वेन कर्मणो विनयस्येन्द्रियनिष्ठत्वेन चाकर्तृस्थत्वादिति। अतः स्तोतुमशक्या इत्यर्थः। किं त्विह विनयोत्तरत्वे परमाप्तः प्रमाणभूतः साक्षादनुभवः प्रत्यक्षानुभवसिद्धः नहि चेत्क इव को वा, श्रद्दधाति विश्वसिति, न कश्चिदित्यर्थः। त्वत्सम्पदां विनयोत्तरत्वे साक्षादनुभवतां मादृशामेव श्रद्धा जायते नान्येषां, प्रायेणान्यत्र सम्पदां विनयहारित्वात्। किं बहुना, वयमपि न श्रद्दध्म इति भावः। अत्र सम्पदां वाग्गोचरत्वेऽपि तदगोचरत्वोक्त्या असम्बन्धरूपातिशयोक्तिः ॥२२॥

अन्वयः—तव सम्पदः गिराम् अपि दूराः यत् विनयं नाम न विनयन्ते; इह परम् आप्तः साक्षात् अनुभवः न आह चेत् क इव श्रद्दधाति ?

हिन्दी—तुम्हारी संपदा वाणी से भी अगोचर है, जिसने नम्रता को नामतः भी दूर नहीं किया है। इस विषय में परम विश्वसनीय प्रत्यक्ष अनुभव यदि वक्ता न होता तो कौन (इस पर) विश्वास करता ? (कोई न करता)।

टिप्पणी—संपत्ति प्रायः मनुष्य को अविनयी बना देती है, जो धन ऐश्वर्य ऐसा फल न दे, वह विशिष्ट है, अनिर्वचनीय है। स्वर्ग के अधिपति इन्द्र को इतना विनयी देखकर नारद ने व्यक्त किया कि उसकी संपदा का वर्णन वाणी का विषय नहीं है। स्वर्ग का राजा इतना शिष्ट और विनयी होगा, इसका विश्वास वही कर सकता है, जिसने प्रत्यक्ष अनुभव किया हो, जैसा नारद ने किया। अनुमानादि ज्ञान के साधनों से उस पर श्रद्धा संभव नहीं है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ पर संपदाओं को वाग्गोचर होने पर भी जो अगोचर कहा गया, इस कारण असंबधातिशयोक्ति है, विद्याधर का भी यही निर्देश है ॥ २२ ॥

श्रीभरानतिथिसात्करवाणि स्वोपभोगपरता न हितेति ।
पश्यतो बहिरिवान्तरपीयं दृष्टिसृष्टिरधिका तव कापि ॥ २३ ॥

जीवातु—श्रीभरानिति । श्रीभरान् सम्पदुच्छ्रयान्, अतिथिसात् दानेनातिथ्यधीनं, 'देयेत्रा च' इति चकारात् सातिप्रत्ययः । करवाणि कुर्याम् । विध्यर्थे लोट् । 'आडुत्तमस्य पिच्च' इति मेर्निः । स्वोपभोगपरता आत्मम्भरित्वं; न हित्ता न श्रेयस्करीति पश्यतो जानतः प्रेक्षमाणस्य च तव बहिरिव देह इव अन्तरात्मन्यपि कापीयं दृष्टिसृष्टिः ज्ञानसृष्टिरक्षिसृष्टिश्च । 'दृष्टिर्ज्ञानेऽक्षिदर्शने' इत्यमरः अधिका असाधारणी, द्वयोरपि दृष्टयोः श्लिष्टशब्दोपात्तयोरभेदाध्यवसायेन बहिरिवेत्युपमा ॥ २३ ॥

अन्वयः—श्रीभरान् अतिथिसात्करवाणि, स्वोपभोगपरता हिता न—इति पश्यतः तव बहिः इव अन्तः अपि कापि इयम् अधिका दृष्टिसृष्टिः ।

हिन्दी—लक्ष्मी के भार (ऐश्वर्य) को अतिथियों को दे डालूँ, (उनको) अपने उपभोग में लगाना कल्याणकारक नहीं है—यह देखने वाले तुम्हारे बाहर (शरीर) की भाँति अंतस में भी कोई यह विशिष्ट दृष्टि संरचना है ।

टिप्पणी—आशय यह है कि इन्द्र की विचार-पद्धति श्रेष्ठ है, ऐसी वैचारिक दृष्टि सामान्य नहीं होती कि संपत्ति को केवल स्वोपभोग में न लगाये, उसके द्वारा अधिक लाभ अतिथियों को हो । अतिशय सुविचारी है इन्द्र । एक सहस्र नेत्रों से देखने की क्षमता रखनेवाला इन्द्र बाह्यतः भी असाधारण है, साधारण जन तो दो नेत्रों से देखते हैं । इस प्रकार सहस्रनयन इन्द्र की जैसी असामान्य बाहरी दृष्टि है, वैसी ही उसकी अन्तर्दृष्टि भी असामान्य है । इन्द्र जैसे विचार सामान्य जन में नहीं होते । जैसे सहस्र नेत्रों से इन्द्र विश्व को देखता है, वैसे ही ज्ञान-दृष्टि से सब करणीय का विवेक भी उसमें है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ श्लिष्ट शब्दों से दोनों प्रकार की दृष्टियों का कथन होने से अभेदाध्यवसाय द्वारा 'बहिरिव'—यह उपमा है, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-व्यतिरेक-संदेह-उपमा का संकर है ॥ २३ ॥

आः स्वभावमधुरैरनुभावैस्तावकैरतितरां तरलाः स्मः ।
द्यां प्रशाधि गलितावधिकालं साधु साधु विजयस्व विडौजः ! ॥ २४ ॥

जीवातु—आ इति । विडं भेदकम् । विड भेदने । इगुपधलक्षणः कः;

तदोजो यस्य तस्य सम्बुद्धिः हे विडौजः !, स्वभावमधुरैः निसर्गरमणीयैः, तवेमे तावकाः 'तवकममकावेकवचने' इत्यणि तावकादेशः। तैरनुभवैरैश्वर्यैरतितरामत्यन्तम्, अव्ययादामुप्रत्ययः। तरलाः लोलाः आनन्दलहरीमग्नाः स्म इत्यर्थः। आ इत्यानन्दास्वादानुकारः। गलितावधिकालमनन्तकालम्। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। द्यां स्वर्गं साधु प्रशाधि पालय। साधु, विजयस्व सर्वोत्कृष्टो भव। 'विपराभ्यां जेः' इत्यात्मनेपदम् ॥ २४ ॥

अन्वयः—विडौजः, स्वभावमधुरैः तावकैः अनुभावैः अतितरां तरलाः स्म, आः, गलितावधिकालं द्यां साधु प्रशाधि, साधु विजयस्व।

हिन्दी—हे विशिष्ट ओजोमय इन्द्र, निसर्गरमणीय तुम्हारे भावों के प्रकाशन अथवा ऐश्वर्य-तेज से हम अत्यन्त आनन्दित हैं; अरे, अन्तकाल तक तुम स्वर्ग का सम्यक् रूपेण शासन करो और भली भाँति विजय प्राप्त करते रहो।

टिप्पणी—इन्द्र के व्यवहार से विशेष प्रसन्न और आनंदमग्न हो देवर्षि नारद ने उसे आशीस् दिया। विद्याधर के अनुसार 'आशीः' अलंकार ॥ २४ ॥

सङ्ख्यविक्षततनुस्रवदस्रक्षालिताखिलनिजाघलघूनाम्।
यत्त्विहानुपगमः शृणु राज्ञां तज्जगद्युवमुदं तमुदन्तम् ॥ २५ ॥

जीवातु—एवमिन्द्रमभिनन्द्य तत्प्रश्नोत्तरमाह—सङ्ख्येति। सङ्ख्ये समरे, विक्षताभ्यः प्रहृताभ्यः तनुभ्यो गात्रेभ्यः, स्रवद्भिरस्रैरसृग्भिः क्षालितानि निर्णिक्तानि अखिलानि निजान्यघानि येषां तेषामत एव लघूनां निर्भाराणां राज्ञां यद्यस्मात् कारणादिह स्वर्गेऽनुपगमो नागमः तत्कारणभूतं जगत्सु ये युवानः तेषां मुदमानन्दकारणम् असाधारणार्थम्, अभेदेन व्यपदेशः। तं प्रसिद्धम् उदन्तं वार्ताम्। 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त उदन्तः' इत्यमरः। शृणु। अत्र क्षालिताघपदार्थस्य विशेषणगत्या लघुत्वहेतुत्वात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ २५ ॥

अन्वयः—सङ्ख्यविक्षततनुस्रवदस्रक्षालिताखिलनिजाघलघूनां राज्ञां यत् इह अनुपगमः तत् जगद्युवमुदं तम् उदन्तम् शृणु।

हिन्दी—समर में घायल शरीर से टपकते रुधिर से अपने सब पाप प्रक्षालित हो जाने के कारण लघु (हल्के) बने राजाओं का जो यहाँ (स्वर्ग

में) आगमन नहीं हो रहा है, संसार के तरुणों को संतोष का आनन्द देने वाले उस प्रसिद्ध वृत्तांत को सुनो।

टिप्पणी—भूलोक में युद्ध में वीरगति पाकर स्वर्ग में आनेवाले राजाओं की कोई न्यूनता नहीं है, वे रणभूमि में अपने बहे रक्त से अपने सब कलुष धोकर आज भी स्वर्गाधिकारी हैं, किन्तु उनके न आने का कारण दूसरा ही है। उन्हें भूलोक में ही आनन्द और संतोष मिल रहा है। इस कथा को आगे नारद मुनि कहेंगे। इस श्लोक में मल्लिनाथ के अनुसार पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार है, क्योंकि क्षालिताद्यपदार्थ की विशेषणगति द्वारा लघुत्वहेतुता का कथन हुआ है; विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और अतिशयोक्ति है ॥ २५ ॥

सा भुवः किमपि रत्नमनर्घं भूषणं जयति तत्र कुमारी।
भीमभूपतनया दमयन्ती नाम या मदनशस्त्रममोघम् ॥ २६ ॥

जीवातु—सेति। भुवो भूषणं किमप्यनर्घममूल्यं रत्नम्। असाधारणं स्त्रीरत्नमित्यर्थः। कुमारी कन्या, अनूढेत्यर्थः। सा दमयन्ती नाम भीमभूपतनया तत्र भुवि जयति। सर्वोत्कर्षेण जागर्ति, या अमोघं मदनशस्त्रम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—भुवः भूषणं किमपि अनर्घं रत्नं सा कुमारी दमयन्ती नाम भीमभूपतनया तत्र जयति, या अमोघं मदनशस्त्रम्।

हिन्दी—पृथ्वी का आभूषण, एक अनिर्वचनीय अमूल्यरत्न वह कुमारिका दमयन्ती नाम की भीमराजपुत्री (भूलोक में) संपूर्ण उत्कृष्टता के साथ विद्यमान है, जो कामदेव का अचूक शस्त्र है।

टिप्पणी—इस श्लोक में दमयन्ती के नाम, कुल, सौंदर्य, सौभाग्य का वर्णन कर दिया गया है अर्थात् विश्व की अनुपम सुन्दरी दमयन्ती उच्चवंशजा और परम सौभाग्यशालिनी है, साथ ही उसका वय भी विवाहयोग्य है। जो उसे देख लेता है, उस पर मद चढ़ जाता है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ २६ ॥

सम्प्रति प्रतिमुहूर्तमपूर्वा कापि यौवनजवेन भवन्ती।
आशिखं सकृतसारभृते सा क्वापि यूनि भजते किल भावम् ॥ २७ ॥

जीवातु—अथेन्द्रस्य मात्सर्योत्पादनाय तस्याः पुरुषान्तरासक्तिञ्च वक्ति—

सम्प्रतीति। सम्प्रतीदानीं, सा दमयन्ती, यौवनस्य जवेनोद्भववेगेन, प्रतिमुहूर्तं काप्यपूर्वा लावण्यमथावयवपोषविशेषेणान्येव भवन्ती। आशिखं शिखापर्यन्तम्, अभिविधावव्ययीभावः। सुकृतसारभृते उत्कृष्टपुण्यभृते ईदृग्भाग्यसम्पन्न इत्यर्थः। क्वापि कस्मिन्नपि यूनि भावमनुरागं भजते। किलेत्यैतिह्ये ॥ २७ ॥

अन्वयः—सम्प्रति सा यौवनजवेन प्रतिमुहूर्त्तं कापि अपूर्वा भवन्ती आशिखं सुकृतसारभृते क्व अपि यूनि भावं भजते किल।

हिन्दी– सुना जाता है कि इस काल वह यौवन के वेग से प्रतिपल अनिर्वचनीय रूप से अपूर्व सौंदर्यशालिनी होती हुई नख से शिखा तक पुण्य की उत्कृष्टता से परिपूर्ण किसी तरुण में अनुराग रखती है।

टिप्पणी–क्षण-क्षण नूतन छवि धारण कर रमणीयता की सीमा बनती वह तरुणी भीमराजकुमारी एक समग्रसुन्दर तरुण (नल) की अनुरागिणी है—यह सूचित कर अहल्यादि-कथा से सुन्दरियों में आसक्ति रखने वाले के रूप में प्रसिद्ध इन्द्र के मात्सर्य को भी जगाने का कार्य देवर्षि ने कर दिया। वे कलहप्रिय जो कहे जाते हैं! 'किल' (श्रूयते–सुना जाता है) से कुछ अनिश्चयता का भी संकेत दे दिया। अर्थात् यह सुना ही जाता है, पूर्ण निश्चय नहीं है, सो इन्द्र भी भाग्य आजमा सकता है। नल-नाम न लेकर कहा–'क्वापि'–किसी में। यह इन्द्र की उत्कंठा जगाने के लिए है। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और अतिशयोक्ति ॥ २७ ॥

कथ्यते न कतमः स इति त्वं मां विवक्षुरसि किं चलदोष्ठः ?।
अर्धवर्त्मनि रुणत्सि न पृच्छां निर्गमेण न परिश्रमयैनाम् ॥ २८ ॥

जीवातु–कथ्यत इति। किञ्च, चलदोष्ठस्त्वं स युवा कतम इति मां विवक्षुर्वक्तुमिच्छुरसि किम्। तर्हि अर्धवर्त्मन्यर्धोक्ते पृच्छां प्रश्नम्। भिदादित्वादङ्। न रुणत्सीति काकुः। एनां पृच्छां निर्गमेणोच्चारणेन न परिश्रमय मा खेदय। कुतः न कथ्यते। यतः पृष्टोऽपि न कथयामि, अतो न प्रष्टव्यमेवेत्यर्थः ॥२८॥

अन्वयः – चलदोष्ठः त्वं सः कतमः इति मां विवक्षुः असि किम् ?। अर्धवर्त्मनि पृच्छां न रुणत्सि ? एनां निर्गमेण न परिश्रमय।

हिन्दी—तुम्हारे ओठ हिलने लगे, वह (भाग्यवान् तरुण) कौन है, क्या यह तुम मुझ से कहलाना चाहते हो ? क्या आधे मार्ग (बीच) में ही तुम

प्रश्न को नहीं रोक रहे हो ? (परंतु) निर्गमन (मुख से बाहर निकाल कर, कहकर) से इस (पृच्छा) को श्रम न कराओ।

टिप्पणी—स्वाभाविक था कि इन्द्र के मनमें दमयन्ती के अनुराग के पात्र व्यक्ति का परिचय जानने की बात आती। नारद ने इन्द्र के ओठ हिलते देख यह समझा, किन्तु यह भी सूचित कर दिया कि इस पृच्छा का उत्तर वे न दे सकेंगे, अतः पूछना व्यर्थ है ॥ २८ ॥

यत्पथावधिरणुः परमः सा योगिधीरपि न पश्यति यस्मात्।
बालया निजमनःपरमाणौ ह्रीदरीशयहरीकृतमेनम् ॥ २९ ॥

जीवातु—किं कपटादकथनं, नेत्याह—यत्पथेति। परमो अणुर्यस्या योगिधियः पन्थाः, यत्पथस्तस्यावधिः सीमा, सा योगिधीरपि। बालया निजमन एव परमाणुः। 'अणुपरिमाणं मनः' इति सूत्रणात्। तस्मिन् ह्रीरेव दरी गुहा तच्छयहरीकृतं तद्गतसिंहीकृतम् एनं युवानं, यस्मान्न पश्यति तस्मान्न कथ्यत इति पूर्वेणान्वयः। योगिबुद्धेरपि परमाणुस्वरूपग्राहित्वमेव नान्तःप्रवेशे शक्तिरित्यज्ञानादकथनं, न कपटात्। सा तु मन्दाक्षमन्थरतया न कथयतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

अन्वयः—परमः अणुः यत्पथावधिः सा योगिधीः अपि बालया निजमनःपरमाणौ ह्रीदरीशयहरीकृतम् एनं यस्मात् न पश्यति।

हिन्दी—परामाणु जिसके पंथ की सीमा है, वह योगिबुद्धि भी बाला (दमयन्ती) द्वारा अपने मन रूप परमाणु में स्थित लज्जारूपिणी गुफा में सिंह (के समान बंद) किये गये इस (नल) को जिस कारण नहीं देखपाती है, (इस कारण मैं भी नहीं कह सकता)।

टिप्पणी—नारद ने प्रश्न का उत्तर न दे सकने में कारण बताया कि दमयन्ती ने अपने अनुराग को और अपने अनुरागपात्र को लज्जा के कारण अपने मन में ऐसा छिपाया है कि परमाणु तक की बात जान लेने वाले योगियों की बुद्धि भी उसे नहीं जान सकती। दमयन्ती के मन में लज्जा है, जो उस गुफा के समान है, जिसमें नल का नाम सिंह के समान छिपा है। कौन जान सकता है उसे ? मन है अणुपरिमाण। योगिधी परमाणु तक की बात तो जान

लेती है, उसके आगे की नहीं। परमाणुरूप मन में लज्जा है; मन तक की बात योगी जान सकते हैं, पर मन में बैठी लज्जा के भीतर क्या है, यह योगी नहीं जान सकते। उनके ज्ञान की सीमा तो परमाणु-परिमाण मन तक ही है, आगे नहीं। दमयन्ती का प्रणयपात्र तो और भीतर छिपा है। अतः नारद भी उसको कैसे जानें? उनकी योग-साधना से भी वह अगम्य है। नारी के हृदय को कौन समझ सका है? विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और रूपक ॥ २९ ॥

सा शरस्य कुसुमस्य शरव्यं सूचिता विरहवाचिभिरङ्गैः।
तातचित्तमपि धातुरधत्त स्वस्वयंवरमहाय सहायम् ॥ ३० ॥

जीवातु—तर्हि कामुकीत्वमात्रं वा कथमस्याः प्रतीतमत आह—सेति। सा भैमी, विरहवाचिभिः विरहव्यञ्जकरङ्गैः कार्श्यपाण्डिमादिपरिक्लिष्टैरिति भावः। कुसुमशरस्य कामबाणस्य शरव्यं लक्ष्यं, सूचिता। कुत्रचिद्यूनि बद्धभावेत्येतावन्मात्रमवगतेत्यर्थः। तर्हि तत्पित्रा वा वरविशेषज्ञानं विवाहोपायः कथं चिन्तितस्तत्राह—तातचित्तमपि (कर्म), स्वस्वयंवरमहाय धातुः सहायमधत्त अकरोत्। सहकारीचकारेत्यर्थः। तत्पित्रापि धातृप्रेरणया स्वयंवर एवोपायश्चिन्तित इति भावः ॥ ३० ॥

अन्वयः—सा विरहवाचिभिः अङ्गैः कुसुमस्य शरस्य शरव्यं सूचिता तातचित्तम् अपि स्वस्वयंवरमहाय धातुः सहायम् अधत्त।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) ने (दुर्बलता, पांडुरता आदि से युक्त) वियोग-कहने वाले (प्रकट करने वाले) अंगों द्वारा फूल के बाण का लक्ष्य होना ज्ञापित कर अपने पिता के चित्त को भी अपने स्वयंवर महोत्सव के निमित्त विधाता का सहायक बना दिया है।

टिप्पणी—दमयन्ती के जनक भीमराज भी बेटी के दुर्बल, पीले अंगों को देखकर यही जान पाये कि वह तारुण्यसुलभ व्याधि से पीडित है; कौन उसके अनुराग का पात्र है, यह नहीं। उन्होंने स्वयंवर की घोषणा कर दी और इस प्रकार विधि जो लीला रचना चाहते हैं, उसमें सहायक बन बैठे। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और सहोक्ति अलंकार ॥ ३० ॥

मन्मथाय यदथादित राज्ञां हूतिदूत्यविधये विधिराज्ञाम् ।
तेन तत्परवशाः पृथिवीशाः सङ्गरं गरमिवाकलयन्ति ॥ ३१ ॥

जीवातु—अस्तु राज्ञामनागमे किं कारणमुक्तं तत्राह—मन्मथायेति । अथ विधिर्विधाता, राज्ञां हूतिः स्वयंवराह्वानं, तदेव दूत्यं दूतकर्म । 'दूतस्य भागकर्मणि' इति यत्प्रत्ययः । तस्य विधये करणाय मन्मथायाज्ञामादेशमदित दत्तवानिति यत् । तेनाज्ञादानेन तत्परवशाः मन्मथपरतन्त्राः । शिवभागवतवत्समासः । पृथिवीशाः सङ्गरं गरमिवाकलयन्ति विषमिव मन्यन्ते । 'विषं स्याद्गरलं गरः' इति हलायुधः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—अथ विधिः राज्ञां हूतिदूत्यविधये मन्मथाय यत् आज्ञाम् अदित तेन तत्परवशाः पृथिवीशाः सङ्गरं गरम् इव आकलयन्ति ।

हिन्दी—तदनन्तर विधाता ने राजाओं को बुलाने के लिए दूतत्व करने की मन्मथ (काम) को जो आज्ञा दी, उससे उस (मन्मथ) की आज्ञा के पराधीन वे पृथिवी के स्वामी (राजगण) संग्राम को गरल के समान मानने लगे हैं ।

टिप्पणी—आशय यह है कि भीमसुता के रूप-गुण पर विमुग्ध राजगण अब कामाधीन हैं, वे युद्ध को विष मान कर उससे दूर रहते हैं और दमयन्ती-स्वयंवर में संमिलित होने जा रहे हैं । यही कारण है कि भूतल के नृपगण युद्ध में वीरगति पा आजकल स्वर्ग में नहीं आ रहे हैं । 'गर' तो गरल है ही, जो पीता है मर जाता है; परन्तु 'संगर' तो 'सम्यक् गर' है, वह सब का नाश कर देता है । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-उपमा ॥३१॥

येषु येषु सरसा दमयन्ती भूषणेषु यदि वापि गुणेषु ।
तत्र तत्र कलयापि विशेषो यः स हि क्षितिभृतां पुरुषार्थः ॥ ३२ ॥

जीवातु—येष्विति । किञ्च, दमयन्ती, भूषणेषु हारादिषु, यदि वा, गुणेषु दयादाक्षिण्यादिषु वा, येषु येषु सरसा साभिलाषा, तत्र तत्र तेषु तेषु भूषणेषु गुणेषु च कलया मात्रयापि यो विशेषः क्षितिभृतां स हि स एव । 'हि हेतावधारणे' इत्यमरः । पुरुषार्थः प्रयोजनम्, यथाकथञ्चिद्भैमीमनोरञ्जनमेव पुरुषार्थो न तु क्षात्रधर्मः सङ्गर इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—दमयन्ती येषु येषु भूषणेषु यदि वा गुणेषु अपि सरसा तत्र तत्र कलया अपि यः विशेषः सः हि क्षितिभृतां पुरुषार्थः ।

हिन्दी—दमयंती की जिन-जिन आभूषणों में अथवा गुणों में भी रुचि है, उन-उन (भूषणों-गुणों) में जो थोड़ी-सी भी विशेषता है, वही भूमिपतियों का पुरुषार्थ रह गया है ।

टिप्पणी—नारद ने इंद्र को बताया कि अब उन भूमिपतियों का पौरुष युद्ध में प्रकट नहीं होता, अब तो वे इसमें अपने पौरुष को चरितार्थ करते हैं कि जिन-जिन हारादि आभूषणों में दमयन्ती की रुचि है अथवा कौन-से उदारतादि गुण दमयन्ती को आकृष्ट करते हैं, उनमें विशिष्टता लायी जाय । परस्पर होड़ लगी है दमयन्ती के रुचि के अनुकूल अपने को ढालने की राजाओं में । धर्म-अर्थ-मोक्ष को छोड़ केवल तृतीय पुरुषार्थ—काम की सिद्धि में ही वे व्यस्त हैं आजकल, कैसा युद्ध, कैसा क्षात्रधर्म ? विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ।।

शैशवव्ययदिनावधि तस्या यौवनोदयिनि राजसमाजे ।
आदरादहरहः कुसुमेषोरुल्ललास मृगयाभिनिवेशः ॥ ३३ ॥

जीवातु—शैशवेति । कुसुमेषोः कामस्य, यौवनोदयिनि यौवनप्रादुर्भाववति, राजसमाजे राजसमूहे विषये, तस्याः भैम्याः, शैशवव्ययदिनं बाल्यापगमदिनम्, अवधिः सीमा यस्मिंस्तत्तथा, तद्दिनमारभ्येत्यर्थः । अहरहः प्रत्यहम् । वीप्सायां द्विर्भावः । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । आदरात् मृगयायामभिनिवेशः आग्रहः । उल्ललास ववृधे । सर्वेषामपि यूनां भैमीयौवनोद्भेदात् प्रभृति स्मरव्यसनमेव वर्तते, न समरव्यसनमित्यर्थः ।। ३३ ।।

अन्वयः—कुसुमेषोः यौवनोदयिनि राजसमाजे तस्याः शैशवव्ययदिनावधि अहरहः आदरात् मृगयाभिनिवेशः उल्ललास ।

हिन्दी—कुसुमबाण (काम) का तरुणाई से पूर्ण राजाओं के विषय में उस (दमयन्ती) के शैशव की समाप्ति के दिन से आरंभ करके प्रतिदिन आदर के साथ आखेट का आग्रह उल्लसित हो गया है ।

अथवा

अन्वयः—तस्याः शैशवव्ययदिनावधि यौवनोदयिनि राजसमाजे कुसुमेषोः मृगयाभिनिवेशः अहरहः आदरात् उल्ललास ।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) की शिशुतासमाप्ति के दिन से तरुणाई से परिपूर्ण राज-समूह में पुष्पबाण के आखेट में आग्रह दिन-दिन अत्यन्त उछाह पाने लगा।

टिप्पणी—दमयन्ती का बचपन समाप्त होकर जिस दिन यौवन आया, उसी दिन से राजागण कामबाण के आखेट बनने लगे, उसी दिन से तरुण राजाओं में लौहशरों के स्थान में फूलों के बाणों से मृगया खेलने का उत्साह उल्लसित हो गया। अब उनका पौरुष दमयन्ती-प्राप्ति में ही हो गया। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ३३ ॥

इत्यमी वसुमतीकमितारः सादरास्त्वदतिथिर्भवितुं न।
भीमभूसुरभुवोरभिलाषे दूरमन्तरमहो नृपतीनाम् ॥ ३४ ॥

जीवातु—इतीति। इतीत्थममी नृपाः वसुमत्याः कमितारः कामयितारः सन्तः तृच्। वसुमतीं वा कमितारः। ताच्छील्ये तृन्। 'न लोक–'इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। 'आयादय आर्धधातुके वा' इति विकल्पादुभयत्रापि णिजभावः। त्वदतिथिर्भवितुं सादराः साकाङ्क्षाः न। तथा हि, नृपतीनां भीमभूः भैमी सुरभूः द्यौस्तयोरभिलाषे तद्विषयानुरागे दूरमन्तरं महत्तारतम्यम्, अहो, स्वर्गेऽप्यरुचिरित्याश्चर्यम्। एतेन सुराङ्गनातिशायिसौन्दर्यं दमयन्त्या इति व्यज्यते। भीमदेशसुरदेशयोः महान् विप्रकर्ष इत्यर्थान्तरप्रतीति। अत्रोत्तरवाक्यार्थेन स्वर्गारुच्या पूर्ववाक्यार्थातिथ्यानादरस्य समर्थनाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—इति अमी वसुमतीकमितारः त्वदतिथिर्भवितुं सादराः न, अहो नृपतीनां भीमभूसुरभुवोः अभिलाषे दूरम् अन्तरम् !

हिन्दी—इस प्रकार ये (दमयन्तीकामी राजगण) वसुमती (पृथ्वी पर रहने) की कामना करने लगे हैं, तुम्हारे अतिथि बनने के इच्छुक नहीं हैं। अरे, भीमपुत्री और देवभूमि (स्वर्ग) की आकांक्षा में (राजाओं में) बड़ा अंतर है।

टिप्पणी—आशय यह है कि दमयंती की कामना से राजा अब धरती पर ही रहना चाहते हैं, स्वर्ग नहीं आना चाहते। उनके लिए भीमसुता स्वर्ग की

अपेक्षा अधिक काम्य है। उनमें स्वर्ग के प्रति कोई रुचि नहीं रह गयी है। 'भीमभूसुरभुवोः' का अर्थ यह भी है कि भीमभू (कुण्डिननगरी) और सुरभू (स्वर्गनगरी अमरावती) में बड़ी दूरी है, और राजा हैं धरती के वासी, वे निकट की नगरी कुंडिनपुरी में ही पहुँचना चाहते हैं, दूरस्थित अमरावती में नहीं। इसके अतिरिक्त भीमभू (भीमसुता दमयंती) और सुरभू (देवसुता देवांगना) में भी बड़ा अंतर है, देवांगना की अपेक्षा धरती की बेटी दमयंती कहीं अधिक कमनीय है। सो सुरसुन्दरी से कहीं रमणीय निकट कुंडिनपुरी में प्राप्य दमयंती को छोड़ किसकी इच्छा होगी कि इतनी दूर स्वर्ग जाने के लिए वीर गति प्राप्त करे? यज्ञयागादि से प्राप्य स्वर्ग की अपेक्षा अब राजाओं में दमयंती की आकांक्षा प्रबल है। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिंग अलंकार है, क्योंकि उत्तर वाक्यार्थ से स्वर्ग में अरुचि प्रतिपादित होने के कारण पूर्ववाक्यार्थ में कथित आतिथ्य के अनादर का समर्थन होता है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार है ॥ ३४ ॥

तेन जाग्रदधृतिर्दिवमागां संख्यसौख्यमनुकर्तुमनु त्वाम्।
यन्मृधं क्षितिभृतां न विलोके तन्निमग्नमनसां भुवि लोके ॥ ३५ ॥

जीवातु—एवं राज्ञां स्वर्गानागमने हेतुमुक्त्वाथ स्वस्यागमने हेतुमाह—तेनेति। यद्यस्माद्भुवि लोके भूलोके तस्यां दमयन्त्यां, निमग्नमनसाम् आसक्तचेतसां क्षितिभृतां मृधं युद्धं न विलोके न पश्यामि। तेन युद्धालाभेन जाग्रदधृतिः संमूर्च्छदसन्तोषः असन्तुष्टः सन्, सङ्ख्यसौख्यं युद्धसुखम्। 'मृधमास्कन्दनं सङ्ख्यम्' इत्यमरः। अनुसर्तुमनुभवितुं, त्वामनु त्वामुद्दिश्य, दिवं स्वर्गमागाम् ॥

अन्वयः—यत् भुवि लोके तन्निमग्नमनसां क्षितिभृतां मृधं न विलोके तेन जाग्रदधृतिः त्वाम् अनु सङ्ख्यसौख्यम् अनुसर्तुं दिवम् आगाम्।

हिन्दी—क्योंकि भूलोक में उस (दमयंती) में मन निमग्न किये हुए भूपतियों का युद्ध नहीं देखपाता, उससे अधीर होकर तुम्हारे निकट युद्ध के सुख का अनुभव करने के निमित्त स्वर्ग आया हूँ।

टिप्पणी—नारद ने इन्द्र से अपने स्वर्गागमन का कारण बताया 'सङ्ख्यसौख्य' का 'अनुसरण', इससे उनकी कलहप्रियता प्रतीत होती है। अब इन्द्र

को उचित है कि वह कोई ऐसा कार्य करे कि युद्ध-क्रीडा हो। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छेकानुप्रास ॥ ३५ ॥

वेद यद्यपि न कोऽपि भवन्तं हन्त हन्त्रकरुणं विरुणद्धि।
पृच्छ्यसे तदपि येन विवेकप्रोञ्छनाय विषये रससेकः ॥ ३६ ॥

जीवातु—वेदेति। हन्तृष्वकरुणं समूलघातं हन्तारं भवन्तं कोपि न विरुणद्धि न विगृह्णाति। हन्तेति हर्षे। वेद यद्यपि एतावद्वेदम्येव। 'विदो लटो वा' इति विदो णलादेशः। यद्यपीत्यवधारणे, तदपि तथापि पृच्छ्यसे। अज्ञः पृच्छति न विद्वानत आह—येन कारणेन विषये भाग्ये रससेको रागानुबन्धो जलसेकश्च विवेकस्य विशेषज्ञानस्य चित्राद्यसाङ्कर्यस्य प्रोञ्छनाय प्रमार्जनाय, विषयतृष्णालुप्तविवेकः पृच्छामीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—हन्त, कः अपि हन्त्रकरुणं भवन्तं न विरुणद्धि—यद्यपि वेद तदपि पृच्छ्यसे; येन विषये रससेकः विवेकप्रोञ्छनाय।

हिन्दी—प्रसन्नता है कि प्रहारकर्ता के प्रति निष्करुण तुम्हारा कोई विरोध नहीं करता है—यद्यपि यह मैं जानता हूँ, तथापि तुमसे पूछता हूँ (कि युद्ध होगा अथवा नहीं) क्योंकि अभीष्ट वस्तु अनुराग की अधिकता (वैसे ही) विवेक को समाप्त करने के लिए होती है (जैसे कि) 'रस' (जल) का 'सेक' (प्रक्षालन) चित्र आदि को धो देता है।

टिप्पणी—ज्ञानी नारद का प्रश्न उनके अज्ञानी होने का संकेत देता है; अतः वे अपनी उत्कंठा को इसका कारण बताते हैं। अधिक अनुराग से अविवेक हो ही जाता है। इन्द्र शत्रुओं के साथ कठोर व्यवहार करता है, अतः उससे सब डरते हैं। विद्याधर के अनुसार अर्थान्तरन्यास अलंकार ॥ ३६ ॥

एवमुक्तवति देवऋषीन्द्रे द्रागभेदि मघवाननमुद्रा।
उत्तरोत्तरशुभो हि विभूनां कोऽपि मञ्जुलतमः क्रमवादः ॥ ३७ ॥

जीवातु—एवमिति। देवऋषीन्द्रे नारदे। 'ऋत्यकः' इति प्रकृतिभावः। एवमुक्तवति सति, मघोनः आननमुद्रां मौनं मघवाननमुद्रा। 'मघवा बहुलम्' इति विकल्पान्मतुबादेशाभावः। द्राक् झटित्यभेदि स्वयमेव भिद्यते स्म। 'कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः' इति कर्तुः कर्मवद्भावात् 'कर्मकर्तरि लुङ्'। तङादिकार्यं

'यगात्मनेपदचिण्चिण्वद्भावाः प्रयोजनम्' इति वचनात् । 'क्रियमाणं तु यत्कर्म स्वयमेव प्रसिध्यति । सुकरैः स्वगुणैर्यस्मात् कर्मकर्तेति तं विदुः ॥' इति ॥ तथाहि, विभूनां प्रभूणां, कोऽपि मञ्जुलतमोऽतिहृद्यः क्रमवादः प्रश्नोत्तरक्रमेणोक्तिः । उत्तरोत्तरशुभः उपर्युपरि सुभगो हि । अर्थान्तरन्यासः ॥ ३७ ॥

अन्वयः---देवऋषीन्द्रे एवम् उक्तवति मघवाननमुद्रा द्राक् अभेदि, हि विभूनां मञ्जुलतमः कः अपि क्रमवादः उत्तरोत्तरशुभः ।

हिन्दी---देवर्षिश्रेष्ठ (नारद) के ऐसा कहने पर इन्द्र के मुख की मुद्रा (मौन) झट छिन्न हो गयी, क्योंकि सामर्थ्यशील व्यक्तियों का रम्यतम लोकोत्तर क्रमिक वचन उत्तरोत्तर (अथवा उत्तर-प्रत्युत्तर) शुभ होता है ।

टिप्पणी---इन्द्र एक सभ्य व्यक्ति के समान नारद जी का कथन चुपचाप विना बीच में बोले सुनता रहा, जैसे ही देवर्षिराज ने अपनी बात समाप्त की उसने तुरंत उत्तर दिया । यही शिष्टाचार है, जो कल्याणप्रद और उचित होता है । अर्थान्तरन्यास ॥ ३७ ॥

कानुजे मम निजे दनुजारौ जाग्रति स्वशरणे रणचर्चा ।
यद्भुजाङ्कमुपधाय जयाङ्कं शर्मणा स्वपिमि वीतविशङ्कः ॥ ३८ ॥

जीवातु---कानुज इति । निजे स्वीये अनुजे दनुजारौ उपेन्द्रे स्वशरणे स्वरक्षके स्वगृहे वा 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । जाग्रति जागरूके सति । मम रणचर्चा रणचिन्ता का ? न कापीत्यर्थः । जयोऽङ्कश्चिह्नं यस्य तं तद्भुजाङ्कं, यस्यानुजस्य भुजोत्सङ्गमुपधायोपधानीकृत्य वीतविशङ्को निरातङ्कः सन् शर्मणा सुखेन स्वपिमि शये । यथा रक्षिजने जाग्रति राजा शय्यागारे सुखेन भुजमुपधाय स्वपिति तद्वदिति भावः । इह निरातङ्कवृत्तिस्सुप्तिः अस्वप्नत्वादमराणाम् ॥ ३८ ॥

अन्वयः---स्वशरणे निजे अनुजे दनुजारौ जाग्रति मम रणचर्चा का, जयाङ्कं यद्भुजाङ्कम् उपधाय वीतविशङ्कः शर्मणा स्वपिमि ।

हिन्दी---स्व-शरण में (अपने आवास में रहते अथवा अपने शरणदाता) अपने अनुज दनुजरिपु (उपेंद्र विष्णु) के जागरूक रहते हुए मेरे (लिए) युद्ध की

क्या विचारणा, जिसके विजयी (अथवा जय-चिह्न से युक्त, अथवा जय के चिह्न) दक्षिण भुज का उपधान (तकिया) बना मैं सुख-पूर्वक सोता हूँ ।

टिप्पणी—देवर्षि ने पूछा था कि युद्ध संभव है या नहीं ? इन्द्र ने उत्तर दिया कि जहाँ तक उसका संबंध है, रण की कोई संभावना ही नहीं है । सदा जयी उपेन्द्र विष्णु उसके रक्षक हैं, वे दनुज-दैत्यों के शत्रु और संहारक हैं । विष्णु के रक्षण में इन्द्र निश्चित हो सुख चैन से दिन-रात व्यतीत कर रहा है, वह युद्ध के विषय में विचारता ही नहीं । अतः स्वर्ग में तो नारद को 'सङ्गच-सौख्य' मिलेगा नहीं । विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार अनुप्रास ॥ ३८ ॥

विश्वरूपकलनादुपपन्नं तस्य जैमिनिमुनित्वमुदीये ।
विग्रहं मखभुजामसहिष्णुर्व्यर्थतां मदशनिं स निनाय ॥ ३९ ॥

जीवातु—विश्वेति । तस्योपेन्द्रस्य विश्वरूपकलनात् सर्वार्थसाक्षात्करणात्, यद्वा एकत्र मत्स्यकूर्माद्यनन्तरूपधारणादन्यत्र विश्वार्थरूपणात्, विश्वरूपाणि सूत्राणि तत्प्रणयनात् (हेतोः), जैमिनिमुनित्वमुदीये उत्पन्नम् । इण् गतौ कर्तरि लिट् । उपपन्नं तच्च युक्तमित्यर्थः । कुतः, स उपेन्द्रः, मखभुजां विग्रहं विरोध-मन्यत्र शरीरम्, असहिष्णुर्मदशनिं मम वज्रायुधम्, नन्वत्र 'वज्रहस्तः पुरन्दर' इत्यादिवाक्यजातं, व्यर्थतां स्वायुधेनैव तत्कार्यकरणान्निष्प्रयोजनत्वम्, अन्यत्र विग्रहवद्देवतानिरासेन अर्थवादत्वान्निरभिधेयत्वं च निनाय । अतो जैमिनि-मुनित्वं युक्तमित्यर्थः । प्रकृताप्रकृतश्लेषः ॥३९॥

अन्वयः—तस्य विश्वरूपकलनात् उपपन्नं जैमिनिमुनित्वम् उदीये, सः मखभुजां विग्रहम् असहिष्णुः मदशनिं व्यर्थतां निनाय ।

हिन्दी—उस (विष्णु) के विश्वरूप स्वीकृत होने के कारण घटित जैमिनिमुनि-भाव उत्पन्न हो गया; उसने यज्ञ भोक्ता (देवों) के साथ युद्ध होना न सहकर मेरे वज्र को व्यर्थ कर दिया है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि विष्णु ने दनुज-दैत्यों को इतना आतंकित कर दिया है कि उससे त्रस्त हुए वे कुछ भी उपद्रव नहीं करते और यज्ञभोगी देवगण सानन्द यज्ञभोग करते हैं, इन्द्र का वज्र युद्धाभाव करके विष्णु ने व्यर्थ बना दिया है ।

'जैमिनिमुनित्वम्' से कई आशय निकलते हैं। (१) विष्णु को विश्व-रूप कहा जाता है—'सर्वं विष्णुमयं जगत्'। जैमिनि भी विश्व में ही हैं. अतः वे भी विष्णुमय हैं। इस प्रकार जैमिनि भी विष्णु का रूप हैं—यह सिद्ध है। उन जैमिनि रूप विष्णु को यज्ञभोगी देवों का युद्ध में लिप्त रहना भला प्रतीत नहीं हुआ. अतः उन्होंने चक्र से शत्रुओं का नाश कर दिया और इस प्रकार वज्र का कोई इतिकर्तव्य ही नहीं रह गया। (२) किसी समय जैमिनि ने भी सवज्र इन्द्रबाहु को स्तंभित कर दिया था, इस प्रकार वज्र को व्यर्थ करके जैमिनि विष्णुरूप हुए—"जैमिनिश्च सुमन्तुश्च वैशम्पायन एव च। पुलस्तिः पुलहो विष्णुः षडेते वज्रवारणाः॥" (३) जैमिनि ने 'विश्वरूप' नामक सूत्रग्रन्थ रचा है, इस प्रकार 'विश्वरूपकलन' से जैमिनि मुनित्व उदय हुआ। (४) विष्णु 'मखभुजां विग्रहं' (देवों का युद्धलग्न रहना) नहीं सहते, जैमिनि भी 'मखभुजां विग्रहमसहिष्णुः' (देवों का शरीर अस्वीकारने वाले) हैं। जैमिनि ने देवताओं की सब कर्मों में स्थिति शरीररूप में नहीं मानी, क्योंकि एक समय में शरीर अनेक स्थलों पर नहीं रह सकता, तब सविग्रह देव अनेक स्थलों पर आहूत होने पर कैसे सर्वत्र पहुँच सकते हैं? जैमिनि का कथन है कि देवता 'मंत्रमय' हैं, मंत्र ही उनका विग्रह है, इसीसे जहाँ मंत्र है, वहीं देव है—'मन्त्रमयी देवतेति सर्वकर्मसु देवतानां सत्त्वम्।' जैमिनि वज्र आयुध भी नहीं मानते, वज्र केवल अर्थवाद है। इस प्रकार घटमान जैमिनिमुनित्व उपपन्न है। मल्लिनाथ ने यहाँ प्रकृताप्रकृत श्लेष माना है, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति है॥ ३९॥

ईदृशानि मुनये विनयाब्धिस्तस्थिवान् स वचनान्युपहृत्य।
प्रांशुनिःश्वसितपृष्ठचरी वाङ् नारदस्य निरियाय निरोजाः॥ ४०॥

जीवातु—ईदृशानीति। विनयाब्धिः स इन्द्रो मुनये ईदृशानि युद्धनिराशानि वचनानि उपहृत्य समर्प्य, तस्थिवान् तूष्णीं स्थितः। अथ नारदस्य प्रांशुनिःश्वसितस्य पृष्ठे चरतीति पृष्ठचरी पश्चाद्गामिनी दीर्घनिश्वासपूर्विकेत्यर्थः। निरोजाः दीना वाक् निरियाय निर्जगाम॥ ४०॥

अन्वयः—विनयाब्धिः मुनये ईदृशानि वचनानि उपहृत्य तस्थिवान्, नारदस्य प्रांशुनिश्वसितपृष्ठचरी निरोजाः वाक् निरियाय।

हिन्दी—विनय का समुद्र (इन्द्र) मुनि से ऐसे (उपर्युक्त) वचन कह कर चुप हो गया। (तब) नारद की दीर्घ निश्वास के पश्चात् संचरणशील दीनवाणी निकली।

टिप्पणी—इन्द्र युद्ध की असंभावना अत्यन्त विनय पूर्वक बताने पर नारद को अच्छा न लगा और वे लंबी साँस लेकर दीन वाणी में बोले। अभीष्ट की तृप्ति न होने से नारद को कष्ट हुआ। विद्याधर के अनुसार रूपक और जाति अलंकार है ॥ ४० ॥

स्वरसातलभवाहवशङ्की निर्वृणोमि न वसन् वसुमत्याम।
द्यां गतस्य हृदि मे दुरुदर्कः क्ष्मातलद्वयभटाजिवितर्कः ॥ ४१ ॥

जीवातु—स्वरिति। वसुमत्यां भूलोके वसन् स्वश्च रसातलं च स्वारसातले स्वर्गपाताले 'रो रि, इति रेफलोपे दीर्घः। तयोर्भवमाहवं शङ्कत इति तच्छङ्की सन्। न निर्वृणोमि न सन्तुष्यामि। द्यां स्वर्गं गतस्य मे हृदि क्ष्मातले भूपाताले। 'अधः स्वरूपयोरस्त्री तलम्' इत्यमरः। तयोर्द्वये भटानामाजिवितर्को युद्धशङ्का दुरुदर्को दुरुत्तरः। 'उदर्कः फलमुत्तरम्'इत्यमरः। एवं पातालगतस्य इतरलोकाजिवितर्क इति शेषः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—वसुमत्यां वसन् स्वारसातलभवाहवशङ्की न निर्वृणोमि, द्यां गतस्य मे हृदि क्ष्मातलद्वयभटाजिवितर्कः दुरुदर्कः।

हिन्दी—वसुमती (भू) पर निवास करता मैं स्वर्ग और पाताल में संभव युद्ध की आशंका करता हुआ सुखी नहीं रह पाता, स्वर्ग में पहुँचे मेरे हृदय में भूतल और पाताल के योद्धाओं में युद्ध की संभावना निष्फल है।

टिप्पणी—इस श्लोक में वर्णनचातुर्य से नारद के संबंध में दो प्रकार की बातें कह दी गयीं—(१) उन्हें युद्ध प्रिय नहीं है, जब वे भूलोक में रहते हैं तो उन्हें स्वर्ग-पाताल में संभव युद्ध की आशंका से कष्ट होता है, ओर अब वे स्वर्ग में रहते हैं तो उन्हें डर रहता है कि कहीं पाताल और धरती के वासी परस्पर युद्ध न कर डालें। दोनों स्थितियों में नारद आशंकित और दुःखी रहते हैं। (२) उन्हें कष्ट है कि उन्हें युद्धक्रीडा का सुख नहो मिल पाता। धरती पर रहे उन्हें लगता है कि स्वर्ग और पातालवासी युद्ध कर रहे होंगे,

वे उसे देख नहीं पा रहे, और स्वर्ग में रहते उन्हें लगता है कि कहीं धरती और पाताल के लोगों में युद्ध न हो रहा हो, और वे अनुपस्थित हों और उस युद्ध-सौख्य का अनुभव न कर पायें। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार है ॥ ४१ ॥

वीक्षितस्त्वमसि मामथ गन्तुं तन्मनुष्यजगतेऽनुमनुष्व ।
किं भुवः परिवृढा न विवोढुं यत्र तामुपगता विवदन्ते ॥ ४२ ॥

जीवातु—वीक्षित इति । त्वं वीक्षितोऽसि । एतदेवागमनफलमित्यर्थः । तत्तस्मात्फलान्तराभावात् अथानन्तरं मां मनुष्यजगते गन्तुं मर्त्यलोकं गन्तुमित्यर्थः । 'गत्यर्थकर्मणि 'द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि'' इति चतुर्थी । अनुमनुष्व अनुजानीहि । तत्र मर्त्यलोके, तां दमयन्तीं, विवोढुं परिणेतुम् उपगता भुवः परिवृढाः, प्रभवो भूपतयः 'प्रभौ परिवृढः' इति निपातः । न विवदन्ते न कलहायिष्यन्ते किम् ? अपि तु सर्व एव विवादं करिष्यन्तीति भावः । सामीप्ये । लट् । भावनादिसूत्रेण वदेरकर्मकत्वात् विमतावात्मनेपदम् । भैमीं परिणेतुमागतानां राज्ञां तत्सौन्दर्यमुग्धानामहमेवास्या अनुरूप इत्यादि विवादो भविष्यतीति भावः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—त्वं वीक्षितः असि, अथ तत् मनुष्यजगते गन्तुं माम् अनुमनुष्व, तत्र तां विवोढुम् उपगता किं भुवः परिवृढाः न विवदन्ते ?

हिन्दी—तुम्हें देख लिया, अब फिर मनुष्यलोक में जाने की मुझे अनुमति दो, वहाँ उस (दमयंती) से विवाह करने को एकत्र कहीं धरती के राजा कलह तो नहीं कर रहे ?

टिप्पणी—इस श्लोक में भी वैसी ही चातुरी है। (१) इंद्र को देख लिया, संतोष हुआ कि यहाँ युद्ध की थोड़ी भी आशंका नहीं है, पर देखें, कहीं दमयंती के लिए भूतल पर तो राजा नहीं लड़ रहे हैं। उनका कलह-निवारण करने के लिए शीघ्र वहाँ पहुँचना है। (२) स्वर्ग में तो युद्ध-संभावना है नहीं, दमयंती-विवाह-प्रसंग में विवाहार्थी राजाओं में युद्ध की अच्छी संभावना है, उस युद्ध को देखने का अवसर न निकल जाय सो शीघ्र भूलोक पहुँचना चाहिए। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छेकानुप्रास ॥ ४२ ॥

इत्युदीर्य स ययौ मुनिरुर्वीं स्वर्पतिं प्रतिनिवर्त्य जवेन ।
वारितोऽप्यनुजगाम सः यन्तं तं कियन्त्यपि पदान्यपराणि ॥ ४३ ॥

जीवातु—इतीति । स मुनिरित्युदीर्य स्वर्पतिमिन्द्रम् 'अहरादीनां पत्यादिषु' इति वैकल्पिको रेफादेशः । प्रतिनिवर्त्य जवेनोर्वीं' ययौ । स इन्द्रो वारितो निवर्तितोऽपि यन्तं गच्छन्तम् । इणो लटः शत्रादेशः । तं मुनिमपराण्यपि कियन्ति कतिचन पदानि । आसीममित्यर्थः । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । अनुजगाम ॥ ४३ ॥

अन्वय.—सः मुनिः इति उदीर्य स्वर्पतिं प्रतिनिवर्त्य जवेन उर्वीं ययौ, वारितः अपि सः यान्तं तम् अपि अपराणि कियन्ति पदानि अनुजगाम ।

हिन्दी—वे मुनि (नारद) इतना कह कर स्वर्ग के स्वामी (इन्द्र) से लौटने को कहते हुए धरती की ओर चल दिये, रोके जाने पर भी वह (अथवा वारि-जलाशय-तक भी वह इन्द्र) जाते उन (मुनि) के पीछे भी कुछ पग चला ।

टिप्पणी—नारद जी शीघ्रतया भूमण्डल की ओर चले, शिष्टाचार वश उन्होंने अनुगामी इन्द्र को वापस जाने को कहा, पर इन्द्र कुछ दूर—जलाशय तक उनके पीछे-पीछे गया । 'वारितोऽप्यनुजगाम' के दो अर्थ हैं—वारितः निवारितः अपि अनुजगाम, वारितः वारिपर्यन्तम् जलाशयं यावत् अनुजगाम । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ४३ ॥

पर्वतेन परिपीय गभीरं नारदीयमुदितं प्रतिनेदे ।
स्वस्य कश्चिदपि पर्वतपक्षच्छेदिनि स्वयमदर्शि न पक्षः ॥ ४४ ॥

जीवातु—पर्वतेनेति । पर्वतेन मुनिना गिरिणा च गभीरं, नारदीयमुदितं नारदवाक्यं, परिपीय प्रतिदध्वने तदेवानुकृतमित्यर्थः । पर्वते । सन्निकृष्टे प्रतिनादो युक्त इति भावः । नदेर्लिट् । 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' इत्येत्वाभ्यासलोपौ । स्वयं तु न किञ्चिन्निवेदिततानित्याह—पर्वतपक्षच्छेदिनीन्द्रे स्वस्य कश्चिदपि पक्षः साध्यं प्रयोजनं गरुच्च । पक्षः पार्श्वगरुत्साध्यसहायबलभित्तिषु' इति वैजयन्ती । स्वयं नादर्शि न दर्शितः । तत्साह्यर्यमात्रलोभादागत्य स्वस्य पृथक्साध्याभावात्तदुक्तमेवानुकृतम् । न तु पृथक्किञ्चिन्नि-

वेदितमित्यर्थः। पर्वतपक्षच्छेदित्वादिन्द्रस्याग्रे पर्वतेन स्वपक्षो न प्रकाशित इति ध्वनिः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—पर्वतेन गभीरं नारदीयम् उदितं परिपीय प्रतिनेदे, पर्वतपक्षच्छेदिनि स्वस्य कश्चित् अपि: पक्षः स्वयं न अदर्शि।

हिन्दी—(१) पर्वत (मुनि) ने गंभीर नारद का कथन सादर सुनकर उसका अभिनंदन किया, पहाड़ों के पंख काटनेवाले (इन्द्र) के प्रति अपना कोई भी मत स्वयं नहीं प्रकट किया।

(२) पर्वत (पहाड़) ने उच्च मेघ-गर्जन सुन प्रतिध्वनि की, पहाड़ों के पंख काटनेवाले इन्द्र को कोई अपना पंख स्वयं नहीं दिखाया।

टिप्पणी—इस श्लोक में 'पर्वत' (मुनि-पहाड़), 'नारद' (देवर्षि तथा 'नारम् उदकं ददाति इति नारदः' व्युत्पत्त्या मेघ) और 'पक्ष' (मत-पंख) अनेकार्थवाची शब्द हैं, जिनके आधार पर श्लेषचमत्कार आ गया है। जिस प्रकार मेघ गर्जन को पहाड़ प्रतिध्वनित कर देता है, पर्वतों के पक्षच्छेदक इन्द्र के गरजते वज्र के संमुख अपना पंख स्वयं नहीं दिखाता, उसी प्रकार पर्वत मुनि ने अर्थगंभीरता से पूर्ण नारद के कथन का अनुमोदनमात्र कर दिया, इन्द्र के प्रति स्वयं निजी मत प्रकट नहीं किया। मल्लिनाथ के अनुसार पर्वतपक्षच्छेदी इन्द्र के संमुख पर्वत ने स्वपक्ष-प्रकाशन नहीं किया—यह ध्वनि है। विद्याधर के अनुसार श्लेष है ॥ ४४ ॥

पाणये बलरिपोरथ भैमीशीलकोमलकरग्रहणार्हम्।
भेषजं चिरचिताशनिवासव्यापदामुपदिदेश रतीशः ॥ ४५ ॥

जीवातु—इन्द्रस्तु भैम्यामनुरक्तोऽभूदित्याह—पाणय इति। अथ नारद-निर्गमनान्तरं, रतीशः कामो बलरिपोरिन्द्रस्य पाणये चिरचितानां चिरसञ्चितानाम्, अशनिवासेन वज्राग्निसम्पर्केण याः व्यापदो विदाहाः तासां भैमी-शीतकोमलकरस्य ग्रहं ग्रहणमेवार्हं योग्यं, भेषजमौषधमुपदिदेश। वीराभिभवेन शृङ्गारः प्रवृद्ध इति भावः। अत्र कामनिबन्धस्य भैमीपाणिग्रहणस्याशनिवा-वासतापशमनार्थत्वोत्प्रेक्षा व्यञ्जकप्रयोगाद् गम्या ॥ ४५ ॥

अन्वयः—अथ रतीशः बलरिपोः पाणये चिरचिताशनिवासव्यापदां भैमी-शीतकोमलकरग्रहणार्हं भेषजम् उपदिदेश।

हिन्दी—नारद के चले जाने के पश्चात् रति के स्वामी (काम) ने बल के शत्रु (इन्द्र) के हाथ के लिए चिरकाल से वज्र के निवास (हाथ में रहने) के कारण उत्पन्न दाह के उपशमनार्थ भीमसुता के शीतल और कोमल हाथ का ग्रहण (पाणिग्रहण-विवाह)—यह उचित औषध की व्यवस्था दी।

टिप्पणी—वज्र हाथ में रहने से इन्द्र का हाथ दाह से पीडित रहता था, उसका उपशमन किसी ठंडी, मुलायम वस्तु से संभव था। तदर्थ उपयुक्त औषध दमयंती का शीतल-कोमल हाथ ही था। कामदेव रूप वैद्य ने उसी का निर्देश किया; अर्थात् दमयंती को पाणिग्रहण करके पाने का काम इन्द्र के मन में जागा। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ कामनिबंधक भैमीपाणिग्रहण की वज्रसंपर्कजन्यतापशमन के निमित्त उत्प्रेक्षा की गयी है। व्यंजक का प्रयोग न होने से यह गम्या उत्प्रेक्षा है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और रूपक है ॥ ४५ ॥

नाकलोकभिषजोः सुषमा या पुष्पचापमपि चुम्बति सैव।
वेद्मि तादृगभिषज्यदसौ तद्द्वारसंक्रमितवैद्यकविद्यः ॥ ४६ ॥

जीवातु—ननु कामस्य कुतो वैद्यविद्येत्यत आह—नाकेति। नाकलोकभिषजोरश्विनोर्या सुषमा सौन्दर्यं सैव पुष्पचापं काममपि चुम्बति स्पृशति, तस्मादपि। तावेव सुषमावन्ताविति भावः। असौ कामः सा सुषमैव द्वारं तेन सङ्क्रमिता वैद्यकं वैद्यस्य भैषज्यम्। 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्'। तदेव विद्या यस्मिन् सः। अतएव तादृक् स्ववैद्यसदृशः सन् अभिषज्यत् चिकित्सितवान्। भिषज्यतेः कण्ड्वादियगन्ताल्लङ्। वेद्मीत्युत्प्रेक्षायाम्। वाक्यार्थः कर्म ॥ ४६ ॥

अन्वयः—नाकलोकभिषजोः या सुषमा सा एव पुष्पचापम् अपि चुम्बति—वेद्मि; तद्द्वारसङ्क्रमितवैद्यकविद्यः असौ तादृक् अभिषज्यत्।

हिन्दी—समझा जाता है कि स्वर्गलोक के वैद्ययुगल (अश्विनीकुमारों) का जो सौंदर्य है, वही पुष्पधन्वा (काम) का भी स्पर्श करता है, क्योंकि उसी सौंदर्य के द्वार से संक्रमित वैद्यक विद्या के वेत्ता इस (काम) ने उन्हीं के समान चिकित्सा की।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में काम को औषध-व्यवस्थापक बताया गया,

किंतु काम तो चिकित्सक नहीं है। इस श्लोक में संभावना की गयी है कि काम भी तो स्ववैद्यों के समान ही शोभाशाली देव है। कदाचित् इसी समानता के आधार पर काम भी आयुर्वेद शास्त्र का वेत्ता हो गया हो, तभी तो उसने उन्हीं के सदृश चिकित्सा-व्यवस्था की। अश्विनीकुमार भी ऐसी ही व्यवस्था देते। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ४६ ॥

मानुषीमनुसरत्यथ पत्यौ खर्वभावमवलम्ब्य मघोनी।
खण्डितं निजमसूचयदुच्चैर्मानिमाननसरोरुहनत्या ॥ ४७ ॥

जीवातु—अथेन्द्राण्या ईर्ष्यानुभावमाह--मानुषीमिति। अथेन्द्रस्य भैमीरागानन्तरं मघोनः स्त्री मघोनी शची। 'पुंयोगादाख्यायाम्' इति ङीष्। 'श्वयुवमघोनामतद्धित' इति सम्प्रसारणे गुणः। पत्यौ खर्वभावं नीचत्वमवलम्ब्य मानुषीं मानुषस्त्रीं, 'जातेरस्त्री' इत्यादिना ङीष्। अनुसरत्यनुवर्तमाने सति आननसरोरुहनत्या शिरोनमनेन, उच्चैरुन्नतं निजं मानं सर्वोत्तरत्वाहंकारं खण्डितं भग्नमसूचयत्। आकरेणैव निजनिर्वेदमवेदयत्। न तु वाचा किञ्चिदूचे। गम्भीरनायिकात्वादिति भावः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—अथ पत्यौ खर्वभावम्, अवलम्ब्य मानुषीम् अनुसरति मघोनी आननसरोरुहनत्या उच्चैः निजं मानम् खण्डितम् असूचयत्।

हिन्दी—तदनन्तर पति (इन्द्र) के नीच भाव का अवलंबन कर मानुषी (दमयंती) का अनुसरण (आकांक्षा) करने पर इन्द्रपत्नी (शची) ने मुखकमल को झुकाकर अपने ऊँचे गर्व को खंडित प्रकट किया।

टिप्पणी—(१) 'मघोनी मानुषीम् अनुसरति पत्यौ खर्वभावम् अवलम्ब्य'—इस प्रकार अन्वय करके यह अर्थ भी किया गया है—'इन्द्राणी ने दमयंती का अनुसरण करते पति के प्रति निम्नभाव धारण कर''''प्रकट किया।' (२) 'आननसरोरुहनत्या खर्वभावम् अवलम्ब्य मानुषीम् अनुसरति पत्यौ मघोनी उच्चैः'''' असूचयत्'—ऐसा अन्वय करके यह अर्थ भी होता है—'मुखकमल झुकाकर नीच भाव अवलंबनकर मानुषी की इच्छा करते पति के प्रति इन्द्राणी ने अपने''''प्रकट किया!' आशय यह है कि स्वर्गराज इन्द्र का देवांगनाओं को छोड़ एक भूलोक की मानुषी के पीछे जाना ऊँचे स्वर्ग से

नीचे धरती पर आना ही नहीं है, मानसिक और व्यावहारिक नीचता का भी सूचक है, जिस पर इन्द्राणी ने अप्रसन्नता प्रकट की। जिस देवांगना का पति उसके रहते मानुषी कामना करे, उसे अपना मान-संमान, पति-स्नेह, आदर खंडित हुआ समझना स्वाभाविक ही है। अप्रसन्नता को द्योतन इन्द्राणी ने केवल मुख नीचा करके किया, यह उसके गंभीर नायिका भाव को सूचित करता है। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में निर्वेदव्यभिचारिभाव का उदय और अपह्नुति अलंकार है ॥ ४७ ॥

यो मघोनि दिवमुच्चरमाणे रम्भया मलिनिमालमलम्भि।
वर्ण एव स खलूज्ज्वलमस्याः शान्तमन्तरमभाषत भङ्गया ॥ ४८ ॥

जीवातु—अथान्यासामपि कासांचिदप्सरसामीर्ष्यानुभावानाह—य इत्यादि। मघोनीन्द्रे 'श्वयुवमघोनाम्' इत्यादिना सम्प्रसारणे गुणः। दिवमाकाशम्, उच्चरमाणे उत्पतति सति, 'उदश्चरः सकर्मकात्' इत्यात्मनेपदम्। रम्भया यो मलिनिमा मालिन्यम्, अलमत्यन्तम्, अलम्भि अलाभि। 'विभाषा चिण्णमुलोः' इति वा नुमागमः। स वर्णो मलिनिमैव, अस्या रम्भायाः, अन्तरमन्तरङ्गम्, उज्ज्वलं रोषादत्युज्ज्वलं प्रज्वलितं सत् भङ्गया कयाचिद्रीत्या भवितव्यताप्राबल्यधियेत्यर्थः। शान्तं शमितं निर्वापितमित्यर्थः। 'वा दान्त' इत्यादिना निपातः। अभाषत खलु। निर्वाणालातमलिनमित्याख्यदित्यर्थः। अन्तःकरणवैवर्ण्यमूलत्वाद्बाह्यवैवर्ण्यस्येति भावः ॥४८॥

अन्वयः—मघोनि दिवम् उच्चरमाणे रम्भया यः मलिनिमा अलम् अलम्भि सः वर्णः एव अस्याः उज्ज्वलम् अन्तरम् भङ्ग्या शान्तम् अभाषत खलु।

हिन्दी—इन्द्र के स्वर्ग को छोड़कर जाने पर रंभा अप्सरा ने जो अत्यर्थ मलिनता प्राप्त की, निश्चयतः उसके रंग ने ही उस (रंभा) के उज्ज्वल हृदय को आकार-विशेष से दुःखित प्रकट किया।

टिप्पणी—इन्द्र के चले जाने पर रंभा उदास हो गयी, उदासी की मलिनता ने उसके हृदय के दुःख को प्रकट कर दिया। उसके उज्ज्वल अर्थात् शृंगार रस से पूर्ण हृदय में शांत रस का वैराग्यभाव उत्पन्न हो गया अथवा 'शान्तम् आंतरम् भङ्गया उज्ज्वलम् अभाषत'—शांत हृदय भंगिमा विशेष से उज्ज्वल-दीप्त-क्रोधयुक्त प्रतीति देने लगा। भाव यह कि रंभा उदास, मलीन

और क्रुद्ध हुई। खिन्नता का श्याम रंग उसके मुख पर छा गया। यह अर्थ भी किया जाता है कि रंभा का वर्ण ऊपर-ऊपर से ही उजला दीखता था, वस्तुतः वह अंतस् की काली थी, जो इन्द्र के मानुषी का अनुसरण करने पर प्रकट हो गयी। जैसे दीपक भभक कर उज्ज्वल--दीप्त होता हुआ बुझकर श्याम हो जाता है, वैसे ही 'अस्याः अन्तरम् उज्वलं सत् शान्तम् अभाषत'--रम्भा का हृदय भभककर शांत हो गया अर्थात् बुझ गया और मलिनता का श्याम वर्ण प्रकट हो गया। विद्याधर के अनुसार भावोदय-अनुप्रास-उत्प्रेक्षा की संसृष्टि ॥

जीवितेन कृतमप्सरसां तत्प्राणमुक्तिरिह युक्तमती नः।
इत्यनक्षरमवाचि घृताच्या दीर्घनिःश्वसितनिर्गमनेन ॥ ४९ ॥

जीवातु—जीवितेनेति। अप्सरसां नोऽस्माकं जीवितेन कृतं, कष्टत्वादिति भावः। तत्तस्मादिहास्मिन्समये प्राणमुक्तिः प्राणत्याग, एव युक्तिमती युक्तेति घृताच्या नाम देव्या दीर्घनिःश्वसितस्य निर्गमनेन निष्क्रमणमुखेन, अनक्षरमशब्दप्रयोगं, यथा तथा अवाचि। वचेर्ब्रूञो वा कर्मणि लुङ्। उक्तमिवेत्यर्थः। अत एव व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्योत्प्रेक्षा ॥ ४९ ॥

अन्वयः—घृताच्या दीर्घनिःश्वसितनिर्गमनेन इति अनक्षरम् अवाचि—'नः अप्सरसां जीवितेन कृतं तत् इह प्राणमुक्तिः युक्तिमती।'

हिन्दी—घृताची ने लंबी साँस लेकर यह बिना बोले ही कह दिया (अथवा 'अनक्षर'--अकथ्य कहा)--'हम अप्सराओं के जीते रहने से क्या लाभ, सो अब प्राणों का त्याग ही युक्ति-युक्त है।'

टिप्पणी—स्वर्ग की अप्सरियों के रहते भी इन्द्र मानुषी के पीछे दौड़ता है, यह स्वर्गांगनाओं की घोर अवज्ञा है, अतः उनका प्राण त्याग ही उचित है--घृताची ने यह भाव प्रकट किया और, अपनी खिन्नता व्यक्त की। 'दीर्घनिःश्वासनिर्गमन' 'प्राणमुक्ति' का प्रतीक है, प्राण निःश्वासरूप तो होते ही हैं। मल्लिनाथ के अनुसार गम्योत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अनुप्रास, अपह्नुति, श्लेष और अतिशयोक्ति ॥ ४९ ॥

साधु नः पतनमेवमितः स्यादित्यभण्यत तिलोत्तमयापि।
चामरस्य पतनेन कराब्जात्तद्विलोलनवलद्भुजनालात् ॥ ५० ॥

जीवातु—साध्विति । तिलोत्तमयापि देव्या तस्य चामरस्य विलोलनेन आन्दोलनेन वलन् वलमानो भुजो बाहुरेव नालो यस्य तस्मात्, 'वलतेरात्मनेपदमनित्यं ज्ञापकात्' इत्याह वामनः । चक्षिङो ङित्करणम् ज्ञापकम् । कराब्जात् पाणिकमलाच्चामरस्य पतनेन, अवयवपारवश्यादिति भावः । एवञ्चामरवदेव नोऽस्माकमपि इतः स्वर्गात् पतनमेव साधु स्यादित्यभण्यत । भणितमिवेति पूर्ववदुत्प्रेक्षा भुजनालात् कराब्जादिति सावयवरूपकेण संसृष्टा ॥ ५० ॥

अन्वयः—तिलोत्तमया अपि तद्विलोलनवलद्भुजनालात् कराब्जात् चामरस्य पतनेन इति अभण्यत—'एवं नः इतः पतनं साधु स्यात् ।'

हिन्दी—तिलोत्तमा ने भी चामर डुलाने से चंचल बाहु रूप मृणालदंड युक्त कर-कमल से चामर के गिर जाने द्वारा यह कहा—'इसी प्रकार हमारा यहाँ से पतन अच्छा होगा ।'

टिप्पणी—अवमानिता और खिन्ना अप्सरा तिलोत्तमा के हाथ से चमर गिर गया । इस प्रकार मानो उसने अपनी खिन्नता प्रकट की कि चमर के गिरजाने के समान अब हम अप्सराओं का भी स्वर्ग से पतित हो जाना ठीक होगा, जिनके रहते देवराज एक मानुषी के आकांक्षी हो गये । मल्लिनाथ के अनुसार सावयवरूपक से संसृष्टा उत्प्रेक्षा । विद्याधर के अनुसार प्रतीपमानोत्प्रेक्षा-रूपक-अपह्नुति की संसृष्टि ॥ ५० ॥

मेनका मनसि तापमुदीतं यत्पिधित्सुरकरोदवहित्थाम् ।
तत्स्फुटं निजहृदः पुटपाके पङ्कलिप्तिमसृजद् बहिरुत्थाम् ॥ ५१ ॥

जीवातु—मेनकेति । मेनका नाम काचिद् देवी मनस्युदीतमुत्पन्नं, तपमाधिं, पिधित्सुः पिधातुमिच्छुः सती, अवहित्थामाकारगुप्तिमकरोदिति यत्, तदाकारगोपनमेव, निजहृदः स्वमनसः, पुटपाके गूढपाके, बहिरुत्थामुत्थितां, बाह्यामित्यर्थः । 'आतश्चोपसर्गे' इति कर्तरि क्तप्रत्ययः । पङ्कलिप्तिं पङ्कलेपं, स्फुटमसृजत् । पुटपाके बाह्यः पङ्कलेपोऽन्तः पच्यमानद्रव्यस्येवाकारगोपनमेव बलात् क्रियमाणं गोप्यस्यान्तस्तापस्य व्यञ्जकमभूदित्यर्थः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—मेनका मनसि उदीतं तापं विधित्सुः यत् अवहित्थाम् अकरोत् तत् निजहृदः पुटके बहिः उत्थां पङ्कलिप्तिं स्फुटम् असृजत् ।

हिन्दी— अप्सरा मेनका ने मन में उत्पन्न ताप (दुःख) को छिपाने की इच्छा से जो आकारगोपन किया, वह मानो अपने हृदय के मध्य में हुए पाक–पुटपाक में बाहर पंक का स्पष्ट लेप कर दिया।

टिप्पणी—'पुटपाक' करते समय पात्र को बाहर से गीली मिट्टी लगा कर बंद कर दिया जाता है, जिससे पाक-क्रिया भीतर ही भीतर चलती रहती है और पदार्थ बाहर नहीं आता। मेनका ने भी अपने प्रचुर दुःख को मन ही मन छिपा रखा, किन्तु उसमें जो 'अवहित्था' अर्थात् आकार गोपन करना पड़ा, वह जैसे मन-रूपी पात्र पर पंकलिप्ति कर दी। मेनका का हृदय भीतर-ही-भीतर ताप से पीड़ित होने लगा, उससे उसके मुख पर आकार-गुप्ति के चिह्न स्पष्ट हो गये। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ५१ ॥

उर्वशी गुणवशीकृतविश्वा तत्क्षणस्तिमितभावनिभेन।
शक्रसौहृदसमापनसीम्नि स्तम्भकार्यमपुषद्वपुषैव ॥ ५२ ॥

जीवातु—उर्वशीति। गुणैः सौन्दर्यादिभिर्वशीकृतविश्वा रञ्जिताखिलप्रपञ्चा, उर्वशी नाम काचिद्देवी, तत्क्षणे तत्समये, यः स्तिमितभावः स्तैमित्यं निष्क्रियाङ्गत्वलक्षणः स्तम्भो नाम सात्त्विकस्तस्य निभेन मिषेण। 'मिषं निभञ्च निर्दिष्टम्' इति हलायुधः। वपुषैव सुहृदयशब्दाद्युवादित्वादण्प्रत्यये हृद्भावान्नोभयपदवृद्धिः। अत एव 'सौहृददौर्हृदशब्दावणि हृद्भावौ' इति वामनः। शक्रसौहृदस्य समापनसीम्नि समाप्तिस्थाने, स्तम्भकार्यं जाड्यकृत्यं, स्थूणाकृत्यञ्च, अपुषत्। 'स्तम्भः स्थूणाजडत्वयोः' इति विश्वः। स्तम्भोत्थानावधिकं मे शक्रसौहृदमिति निर्णयमकरोदित्यर्थः। 'पुषादि' इत्यादिना च्लेरङादेशः ॥

अन्वयः—गुणवशीकृतविश्वा उर्वशी तत्क्षणास्मितभावनिभेन वपुषा एव शक्रसौहृदसमापतसीम्नि स्तम्भकार्यम् अपुषत्।

हिन्दी—सौंदर्यादि गुणों से अखिल विश्व को वश में करनेवाली उर्वशी ने उस क्षण निश्चलता के व्याज से शरीर द्वारा ही इन्द्र के स्नेह की समाप्ति की सीमा पर खंभे का कार्य ज्ञापित कर दिया।

टिप्पणी—किसी प्रदेश की सीमा पर समाप्ति-सूचक खंभा गाढ़ दिया जाता है। इन्द्र जब मानुषी के अनुसरण में चल दिये, तभी उर्वशी का शरीर

अवसान और दुःख से जड़स्तब्ध हो गया। इस प्रकार उसने अपने स्तंभीकृत देह से मानों यह प्रकट कर दिया कि अब इन्द्र के अनुराग की सीमा आ गयी—आगे इन्द्र का अनुराग समाप्त समझना चाहिए। दुःसह क्रोध जनित खिन्नता का सूचन। जिस उर्वशी ने शिव को जीत रखा है, उसकी ऐसी घोर अवमानना! विद्याधर के अनुसार अपह्नुति और छेकानुप्रास ॥५२॥

कापि कामपि बभाण बुभुत्सुं शृण्वति त्रिदशभर्तरि किञ्चित्।
एष कश्यपसुतामभिगन्ता पश्य कश्यपसुतः शतयज्ञः ॥५३॥

जीवातु—अथ कासाञ्चिदप्सरसां वागारम्भानाह—कापीत्यादि। कापि देवी, बुभुत्सुमिन्द्रं जिगमिषितं देशं जिज्ञासमानां कामपि देवीं त्रिदशभर्तरि इन्द्रे शृण्वति सत्येव। तच्छ्रवणार्थमेवेत्यर्थः। किञ्चिद्बभाण। किं तदाह—कश्यपसुतः शतयज्ञो बहुयाजी एष इन्द्रः, कश्यपसुतां काश्यपीं, क्षितिमभिगन्ता अभिगमिष्यति। गमेर्लुट्। पश्य। दिवं विहाय भुवं गच्छतीत्याश्चर्यं पश्येत्यर्थः। स्वयं कश्यपसुतस्तत्सुतां भगिनीमेव गच्छतीत्याश्चर्यं व्यज्यते ॥ ५३ ॥

अन्वयः—का अपि बुभुत्सुं काम् अपि त्रिदशभर्तरि शृण्वति किञ्चित् बभाण—'पश्य, एषः शतयज्ञः कश्यपसुतः कश्यपसुताम् अभिगन्ता।'

हिन्दी—कोई देवांगना जिज्ञासु किसी देवांगना से स्वर्ग के स्वामी इन्द्र के सुनते हुए कुछ ऐसा बोली—'देखो, यह शतयज्ञकर्ता कश्यपमुनि का पुत्र (इन्द्र) कश्यप की बेटी (धरती) पर अभिगमन करने जा रहा है।'

टिप्पणी—इस श्लोक में इन्द्र को निन्दनीय कार्य के लिए उद्यत संकेतित कर उसका उपहास किया गया है। इन्द्र स्वर्गराज है, उसने सौ यज्ञ किये हैं, तेजोरूप कश्यप महामुनि का वह बेटा है, और वह ऐसा जघन्य कृत्य कर रहा है कि कश्यप की बेटी अर्थात् अपनी बहिन का अभिगमन कर रहा है। अथवा इतना उच्च व्यक्ति होकर भी इन्द्र 'कश्यं मद्यं पिबतीति कश्यपः मद्यपः तस्य सुताम्' अर्थात् मद्यप की बेटी का अभिगमन कर रहा है। यह कार्य तो निम्नतर व्यक्ति के लिए भी निंदा का कारण है, इन्द्र तो शतमख और कश्यप सुत है। अथवा इन्द्र है ही निंदनीय, वह 'शतमन्यु' अर्थात् सौ क्रोध करने वाला—अविवेकी है ही, कश्यप अर्थात् मद्यप का बेटा है, अतः ऐसा जघन्य

कृत्य कर रहा है। इसमें आश्चर्य ही क्या है? भाव यही है कि इन्द्र स्वभावतः जघन्य है। मद्यप का बेटा मद्यप की बेटी का अभिगमन करे--इसमें वैचित्र्य नहीं है। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में अनुप्रास और विरोधाभास हैं॥

आलिमात्मसुभगत्वसगर्वा कापि शृण्वति मघोनि बभाषे।
वीक्षणेऽपि सघृणासि नृणां किं यासि न त्वमपि सार्थगुणेन ॥ ५४ ॥

जीवातु--आलिमिति। आत्मनः सुभगत्वेन सगर्वा सुभगमानिनीत्यर्थः। कापि, मघोनि शक्रे शृण्वति सत्येव, आलिं सखीं बभाषे। तदेवाह--नृणां मनुष्याणां वीक्षणेऽपि। किमुत सङ्गतावित्यर्थः। सघृणा सजुगुप्सासि। सा त्वमपि सार्थगुणेन शङ्कधर्मेण, गतानुगतिकत्वरूपेणाविवेकित्वेनेति यावत्। न यासि किम्? विवेकेन चेन्न यास्येवेत्यर्थः॥ ५४॥

अन्वयः--आत्मसुभगत्वसगर्वा का अपि मघोनि शृण्वति आलिं बभाषे--'त्वम् सार्थगुणेन अपि न यासि किं नृणां वीक्षणे अपि सघृणा असि?'

हिन्दी--अपने सौंदर्य पर अभिमान करने वाली किसी सुरसुन्दरी ने इन्द्र के सुनते हुए सखी से कहा--'तू संग-साथ के अनुरोध से भी नहीं जा रही, क्या मनुष्यों को देखने से भी घृणा करती है?'

टिप्पणी--इस श्लोक में भी अकारांतर से इन्द्र को सुनाते हुए उसका उपहास किया गया है। सुरसुन्दरी अपनी सखी से कहती है कि जब इन्द्र धरती पर मानुषी की आकांक्षा से जा रहा है तो उसकी सखी भी गतानुगतिकतया अथवा 'सार्थगुणा' अर्थात् साथी इन्द्र के गुण--प्रेमरज्जु से बंध पृथ्वी पर क्यों नहीं चली जाती? लगता है कि सखी मनुष्य को देखने से भी घृणा करती है। जिस कार्य के करने में एक सामान्य देवी को भी लज्जा अथवा घृणा लगती है, अविवेकी इन्द्र उसे भी करने जा रहा है। कैसा अविवेकी और निंद्य है इन्द्र! इन्द्र से समझदार तो देवांगना ही है जो गतानुगतिकता में विवेक नहीं त्यागती। विद्याधर के अनुसार वक्रोक्ति और अनुप्रास है॥ ५४॥

अन्वयुर्द्युतिपयःपितृनाथास्तं मुदाथ हरितां कमितारः।
वर्त्म कर्षतु पुरः परमेकस्तद्गतानुगतिको न महार्घः॥ ५५॥

जीवातु--अन्वयुरिति। अथेन्द्रप्रयाणानन्तरं, हरितां कमितारो दिशां

कामयितारो दिक्पतयः, इन्द्रानुयानार्हा इत्यर्थः। व्याख्यातमेतत्। द्युतिपयःपितॄणां नाथा वह्निवरुणयमाः, तमिन्द्रं, मुदा औत्सुक्येन, अन्वयुरनुयाताः। 'लङः शाकटायनस्यैव' इति झेर्जुसादेशः। तथा हि, एकः परमेक एव पुरः, वर्त्म कर्षतु मार्गं करोतु। तस्य मार्गकर्तुः गतमनुगतिर्यस्य स महार्घो महामूल्यः दुर्लभ इति यावत्। न भवति। पुरोग एव दुर्लभस्तत्पृष्ठानुयायिनस्तु सर्वत्र सुलभा एवेति न किञ्चिदत्र चित्रमित्यर्थः॥ ५५॥

अन्वयः—अथ हरितां कमितारः द्युतिपयः पितृनाथाः तं मुदा अन्वयुः, एकः परं पुरः वर्त्म कर्षतु तद्गतानुगतिकः महार्घः न।

हिन्दी—इन्द्र के प्रयाण के अनन्तर दिशाओं के कामुक अग्नि, वरुण और यम (दिक्पालों) ने भी उस (इन्द्र) का प्रसन्नतापूर्वक अनुगमन किया। केवल एक मार्ग-प्रवर्तन कर दे, उसके गमन का अनुगमन करने वाला दुर्लभ नहीं होता।

टिप्पणी—जब स्वर्गराज कामुक और नीच तो अन्य दिशाओं के कामुक दिक्पाल क्यों पीछे रहते? अग्नि, वरुण, यम ने भी इन्द्र की रीति अपनायी। गतानुगतिकता तो लोक में सामान्य है। एक कोई नया काम कर डाले, अनुकर्ताओं की कमी नहीं रहती। विद्याधर के अनुसार अर्थान्तरन्यास॥५५॥

प्रेषिताः पृथगथो दमयन्त्यै चित्तचौर्यचतुरा निजदूत्यः।
तद्गुरुं प्रति च तैरुपहाराः सख्यसौख्यकपटेन निगूढाः॥ ५६॥

जीवातु—प्रेषिता इति। अथो अनन्तरं, तैरिन्द्रादिभिः, चित्तचौर्ये दमयन्त्याश्चित्ताकर्षणे, चतुरा निजदूत्यः दमयन्त्यै पृथक् प्रेषिताः। तद्गुरुं तत्पितरं भीमञ्च प्रति, सख्यसौख्यकपटेन मैत्रीसुखव्याजेन, निगूढः गुप्ताः, उपहारा उपायनानि प्रेषिताः॥ ५६॥

अन्वयः—अथ तैः चित्तचौर्यचतुराः निजदूत्यः दमयन्त्यै पृथक् प्रेषिताः, तद्गुरुं प्रति च सख्यसौख्यकपटेन निगूढाः उपहाराः।

हिन्दी—तदनन्तर उन सब (इन्द्रादि) ने चित्त को चुराने में चतुर अपनी-अपनी दूतियाँ दमयंती के पास पृथक्-पृथक् भेजीं और उसके पिता के पास मैत्रीसुख के व्याज से गुप्त उपहार भेजे।

टिप्पणी—प्रत्येक दिक्पाल अपने उद्योग को दूसरे से छिपाना चाहता था, तो चुपचाप छिपा कर ही उन्होंने मन वश करनेवाली दूतियाँ दमयंती के पास भेजीं और मित्रता के बहाने चुपचाप बहुमूल्य गुप्त रूप से उपहार भीमराज के निकट। 'संख्यसौख्यकपटेन' पाठ भी है, उस स्थिति में अर्थ हुआ कि भीमराज के निकट उपहार इस व्याज से भेजे कि उसे संख्य अर्थात् युद्ध में सौख्य अर्थात् विजय का सुख प्राप्त हुआ है, सो विजयी के प्रति आदर और उत्साह-वर्द्धन के निमित्त अमूल्य उपहार भेजे जा रहे हैं। वास्तविक इच्छा तो यही थी कि भीमराज अमूल्य उपहारों से चमत्कृत और प्रभावित हो भेंटदाता के साथ अपनी बेटी ब्याह दें। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और अपह्नुति अलंकार ॥ ५६ ॥

चित्रमत्र विबुधैरपि यत्तैः स्वर्विहाय बत भूरनुसस्रे ।
द्यौर्न काचिदथवास्ति निरूढा सैव सा चरति यत्र हि चित्तम् ॥५७॥

जीवातु—चित्रमिति । विबुधैर्देवैः विद्वद्भिश्च, तैरिन्द्रादिभिः, स्वः स्वर्गं, विहाय, बत हन्त, भूरनुसस्रे अनुसृतेति यत् । अत्र चित्रं काकुः, न चित्रमित्यर्थः । कुतः, अथवा द्यौः स्वर्गश्च, काचिदपि निरूढा प्रसिद्धा नास्ति । किन्तु यत्र चित्तं चरति रमते सैव सा द्यौर्हि ॥ ५७ ॥

अन्वयः—तैः विबुधैः अपि स्वः विहाय यत् भूः अनुसस्रे, बत अत्र चित्रम्, अथवा द्यौः काचित् निरूढा न, हि यत्र चित्तं चरति सा एव सा ।

हिन्दी—उन्होंने विबुध (विद्वान्, देव) होकर भी स्वर्ग छोड़कर जो पृथ्वी पर अनुसरण किया, खेद है कि यह विचित्र है, अथवा (विचित्र नहीं है), स्वर्ग कोई विशिष्ट स्थान विशेष नहीं है, क्योंकि जहाँ चित्त रमता है, वही वह (स्वर्ग) है।

टिप्पणी—कोई विद्वान् जब अनुचित कार्य करता है तो अचरज होता है। स्वर्ग तो अनेक पुण्यकार्य करने से प्राप्त होता है। इन्द्रत्व तो शतमखी को प्राप्त होता है, उसे छोड़कर विवेकी देव अविवेक का कार्य करने लगे, धरती पर जाने लगे तो आश्चर्य की बात है ही। अकारांतर से यह विचारने पर यही लगता है कि स्वर्ग कोई विशिष्ट स्थान नहीं होता, यह तो मन की बात

है। जहाँ मन रमे, वहीं स्वर्ग है। देवों का मन धरती पर आन्दन पाने चला, तो धरती ही स्वर्ग है। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ५७ ॥

शीघ्रलंघितपथैरथ बाहैर्लम्भिता भुवममी सुरसाराः।
वक्रितोन्नमितकन्धरबन्धाः शुश्रुवुर्ध्वनितमध्वनि दूरम् ॥ ५८ ॥

जीवातु—शीघ्रेति। शीघ्रं लंघितपथैरतिक्रान्ताध्वभिः रथवाहै रथाश्वैर्भुवं लम्भिताः प्रापिताः, अमी सुरसाराः सुरश्रेष्ठाः, वक्रिताश्चलिताः, उन्नमिताश्च कन्धराः ग्रीवाः, यस्मिन् स वन्धः कायसंस्थानविशेषो येषां ते सन्तः, अध्वनि दूरं ध्वनिं शुश्रुवुः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—अथ शीघ्रलङ्घितपथैः वाहैः भुवं लम्भिताः अमी सुरसाराः वक्रितोन्नमितकन्धरवन्धाः अध्वनि दूरं ध्वनिं शुश्रुवुः।

हिन्दी—तदनन्तर शीघ्रतया मार्ग पार करने वाले यानों (अथवा 'रथवाहैः' रथों और घोड़ों) द्वारा धरती पर लाये गये इस देव श्रेष्ठों ने ग्रीवा को टेढ़ी और ऊँची उठाकर मार्ग में दूर ध्वनि को सुना।

टिप्पणी—अपने तीव्रगामी बाहनों से इन्द्र, अग्नि, वरुण और यम धरती पर शीघ्र पहुँचे तो उन्हें दूर एक शब्द सुनायी दिया। विद्याधर के अनुसार, छेकानुप्रास ॥ ५८ ॥

किं घनस्य जलधेरथवैवं नैव संशयितुमप्यलभन्त।
स्यन्दनं परमदूरमपश्यन्निःस्वनश्रुतिसहोपनतं ते ॥ ५९ ॥

जीवातु—किमिति। ते देवाः, किं घनस्य ध्वनितम्, मेघस्तनितम्, अथवा जलधेः ध्वनितम्, एवं संशयितुमपि नालभन्तैव। एतावन्मात्रविलम्बोऽपि नास्तीत्यर्थः। 'शकधृष' इत्यादिना तुमुन्प्रत्ययः। किन्तु, निःस्वनस्य पूर्वोक्तध्वनितस्य, श्रुत्या श्रवणेन, सहोपनतं प्राप्तम्, अदूरमासन्नं स्यन्दनं परं रथमेवापश्यन्निति। रथवेगोक्तिः। अत्र सन्देहसहोक्त्योः संसृष्टिः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—ते किं घनस्य अथवा जलधेः एवं संशयितुम् अपि न एव अलभन्त, परं निःस्वनश्रुतिसहोपनतम् अदूरं स्यन्दनम् अपश्यन्।

हिन्दी—यह वे देव मेघ-गर्जन है अथवा सागर की गर्जना—इस प्रकार का संदेह करने का भी अवसर न पा सके कि उस ध्वनित के सुनने के साथ ही प्राप्त निकट ही एक रथ को देखा।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में वर्णित ध्वनित गर्जन ऐसा प्रबल था कि लगता था बादल गरज रहा है अथवा समुद्र का कोलाहल है। देव इस पर विचार भी न पाये थे कि उस ध्वनित का स्रोत एक रथ निकट ही आया दीखा। रथ को ध्वनि-गंभीरता का संकेत। मल्लिनाथ के अनुसार संदेहसहोक्ति की संसृष्टि, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ५९ ॥

सूतविश्रमदकौतुकिभावं भावबोधचतुरं तुरगाणाम्।
तत्र नेत्रजनुषः फलमेते नैषधं बुबुधिरे विबुधेन्द्राः ॥ ६० ॥

जीवातु—सूतेति। एते विबुधेन्द्रास्तत्र रथे सूतस्य सारथेः, विश्रमदो विश्रान्तिप्रदः, कौतुकिभावो विनोदित्वं यस्य तं, विनोदार्थं स्वयं प्रतिपन्न-सारथ्यमित्यर्थः। अत्र हेतुः तुरगाणां भावबोधचतुरम् अश्वहृदयवेदिनं, नेत्रज-नुषो नेत्रदत्तायाः फलं, लोचनासेचनकमित्यर्थः। नैषधं निषधानां राजानं नलम्। जनपदशब्दात् क्षत्रियादण्। बुबुधिरे ज्ञातवन्तः ॥ ६० ॥

अन्वयः—एते विबुधेन्द्राः तत्र सूतविश्रमदकौतुकिभावं तुरगाणां भाव-बोधचतुरं नेत्रजनुषः फलं नैषधं बुबुधिरे।

हिन्दी—इन देवराजों ने उस (रथ) में रथचालक (सारथि) के विश्राति दायक विनोदभाव संपन्न और अश्वों के हृदय का आशय समझने में चतुर नयनों के जन्म लेने के सुफल (सुन्दर) निषधराज (नल) को जाना (देखा)।

टिप्पणी—गंभीरध्वनि रथ में देवों ने देखा कि निषधराजनल बैठे हैं। नल सारथि को विश्राम देकर स्वयं कुशलतापूर्वक रथ-संचालन कर रहे थे। नल शालिहोत्र विद्या के पूर्ण ज्ञाता थे और वे इतने मनोहर थे कि देवों को भी यह प्रतीति हुई कि नल को देखकर उनके नेत्रों का अस्तित्व सार्थक हुआ। विद्यावर के अनुसार यहाँ छेकानुप्रास और अतिशयोक्ति अलंकार है ॥ ६० ॥

वीक्ष्य तस्य वरुणस्तरुणत्वं यद्बभार निबिडं जडभूयम्।
नौचिती जडपतेः किमु सास्य प्राज्यविस्मयरसस्तिमितस्य ॥ ६१ ॥

जीवातु—वीक्ष्येति। वरुणस्तस्य नलस्य, तरुणत्वं तारुण्यं, तारुण्यभूषितरूप-

मित्यर्थः। वीक्ष्य यन्निबिडं जडभूयं जडत्वं स्तम्भाख्यं सात्त्विकमित्यर्थः। 'भुवो भावे' इति क्यप्। बभार। प्राज्येन प्रभूतेन, विस्मयरसेनाद्भुतरसेन, जलेन च। स्तिमितस्य निश्चलस्य, जलपतेः स्तब्धपतेश्चेति डलयोरभेदात् सा जडभूयं, विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गता। औचिती उचितकर्म, न किमु? भवत्येवेत्यर्थः। विस्मयरसाविष्टस्य स्तम्भसत्त्वादिति भावः। जलसिक्तस्य स्वयं जडभावस्य जाड्यमुचितमिति व्यज्यते॥ ६१॥

अन्वयः—वरुणः तस्य तरुणत्वं वीक्ष्य यत् निबिडं जडभूयं बभार प्राज्यविस्मयरसस्तिमितस्य अस्य ज़डपतेः सा किमु औचिती न?

हिन्दी—वरुण ने उस (नल) की तरुणता देखकर जो प्रचुर जडता धारण करली, प्रभूत अद्भुत रस से स्तब्ध इस जल के जड़ स्वामी का वह (जड़भाव) उचित कार्य नहीं था क्या? (उचित ही था)।

टिप्पणी—नेत्रजन्म के फल अर्थात् सौन्दर्यातिरेक से दर्शनीय निषधराज को देखकर देवों पर जो प्रभाव पड़ा, जिस प्रकार वे चकपका गये, यह एक-एक श्लोक में क्रमशः निर्दिष्ट है। इस श्लोक में वरुण का आश्चर्यान्वित हो जड़ीभूत रह जाना कहा गया है। कवि के अनुसार वह तो जडपति ही है, जडीभूत रह जाने वाले प्राणियो का स्वामी, अतः उसका चकित रह जाना स्वाभाविक ही था, कोई नयी बात नहीं थी। वरुण जल का स्वामी है—जलपति। 'ड' और 'ल' में अभेद माना जाता है, इसी 'डलयोरभेदः' के आधार पर यहाँ 'जलपति' वरुण में 'जडपति'-भाव का आरोप कर लिया गया है। वरुण जलों का ही नहीं, 'जडों' का भी स्वामी है। सो जड हो जाना तो उसकी प्रकृति है। भाव यही है कि वरुण नल से अभिभूत हो स्तब्ध रह गया। स्तब्धता विस्मय से उत्पन्न होती ही है, और जलसिक्त भी जड हो ही जाया करता है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और श्लेष अलंकार॥ ६१॥

रूपमस्य विनिरूप्य तथातिम्लानिमाप रविवंशावतंसः।
कीर्त्यते मदघुनापि स देवः काल एव सकलेन जनेन॥ ६२॥

जीवातु—रूपमिति। रविवंशवतंसो यमः, अस्य नलस्य, रूपं सौन्दर्यं, विनिरूप्य विभाव्य। तथा तेन प्रकारेण, अतिम्लानिमगतिवैवर्ण्यम्, अतिकालि-

मानमित्यर्थः । आप । यद्यथा, अधुनापि स देवो यमः, सकलेन जनेन, काल एव काल इत्येव, कीर्त्यते । तथा म्लानिमापेति पूर्वेणान्वयः । नलेर्ष्यानुभावकालिमयोगादयं कालो न तु प्राण्यायुःकलनादिति भावः । अत्र यच्छब्दस्य कारणपरत्वेन व्याख्याने त्वनपेक्षितार्थाभिधानमनन्वयश्च स्यात् । प्रकारार्थत्वे तु न कश्चिद्विरोधः । प्रकारार्थत्वञ्च निपातानामनेकार्थत्वादविरुद्धमित्यर्थः ॥

अन्वयः—रविवंशावतंसः अस्य रूपं विनिरूप्य तथा अतिम्लानिम् आप यत् सः देवः अधुना अपि सकलेन जनेन कालः एव कीर्त्यते ।

हिन्दी—सूर्यवंश का भूषण (सूर्यसुत यम) इस (नल) का रूप-सौंदर्य सादर देखकर उस प्रकार अतीव म्लानि—कालिमा को प्राप्त हो गया कि वह देव आज भी समस्त जनों द्वारा 'काल' (काला, अंतक) ही कहा जाता है।

टिप्पणी—यहाँ सूर्यपुत्र, मृत्यु के स्वामी यम पर पड़े प्रभाव का वर्णन है। मृत्यु का स्वामी होने से यम को 'काल' कहा जाता है। काल का अर्थ कृष्णवर्ण—काला भी है। इस पर उद्भावना की गयी है कि यम को 'काल' संज्ञा इस कारण मिली है कि वह नल के रूपसौंदर्य को देख इतना ग्लानियुक्त और निराश हुआ कि काला पड़ गया और सदा के लिए लोक-जीवन में 'काल' कहा जाने लगा। उज्ज्वल रविवंशका अवतंस होने पर भी सचित यम काला पड़ गया, कितना अजरज है! विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और अतिशयोक्ति ॥ ६२ ॥

यद् बभार दहनः खलु तापं रूपधेयभरमस्य विमृश्य ।
तत्र भूदनलता जनिकर्त्री मा तदप्यनलतैव तु हेतुः ॥ ६३ ॥

जीवातु—यदिति । दहनोऽग्निरस्य नलस्य, रूपमेव रूपधेयं सौन्दर्यम् । 'नामरूपभागेभ्य स्वार्थे धेयो वक्तव्यः' इति स्वार्थे धेयप्रत्ययः । तस्य भरं समृद्धिं, विमृश्य विचार्य तापं बभार खल्विति यत् । तत्र तापभरणे, अनलता अग्नित्वं जनिकर्त्री जन्मकरी, उत्पादिका मा भूत् । नलरूपदर्शनजन्यतापे तस्या अप्रयोजकत्वादिति भावः । किन्तु तदपि तथापि चित्रमनलतैवाग्नित्वमेव हेतुरिति विरोधः । नलत्वाभावहेतुरिति परिहारः । अतएव विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ६३ ॥

अन्वयः—दहनः अस्य रूपधेयभरं विमृश्य यत् तापं बभार खलु तत्र अनलता जनिकर्त्री मा भूत् तु तदपि अनलता एव हेतुः ।

हिन्दी—अग्नि ने इस (नल) के सौन्दर्य-बाहुल्य का विचार करके जो 'ताप' (दुःखादि) का धारण किया, उसमें अग्नि-होना उत्पत्ति का कारण नहीं है, अपितु (अग्नि का) 'नल'-न-होना ही कारण है।

टिप्पणी—अग्नि ने निषधराज को देखा और उसके सौन्दर्यातिशय से अभिभूत हो विचार किया कि यदि अग्नि नल होता तो दमयन्ती उसकी ही हो जाती, पर वह तो अनल है—नलातिरिक्त। अग्नि को इससे अर्थात् अपनी 'अनलता' (नलभिन्नता) के कारण ही यह कष्ट-क्लेश हुआ, यह 'ताप' इस कारण नहीं कि वह दाहशील अग्नि है। 'अनलता' शब्द के आधार पर इस श्लोक में मल्लिनाथ और विद्याधर ने विरोधाभास अलंकार का निर्देश किया है। अग्नि के दाहकत्व का कारण 'अनलता' (अग्निभाव) कारण नहीं है, यह विरोध हुआ; 'अनलता' का अर्थ 'नल-भिन्नता' अर्थ करके परिहार हो गया ॥ ६३ ॥

कामनीयकमधःकृतकामं काममक्षिभिरवेक्ष्य तदीयम् ।
कौशिकः स्वमखिलं परिपश्यन् मन्यते स्म खलु कौशिकमेव ॥ ६४ ॥

जीवातु—कामनीयकमिति। कौशिक इन्द्रः, अधःकृतकामं, तिरस्कृतमदनं, तदीयं नलीयं, कामनीयकं कमनीयत्वं सौन्दर्यम्। 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्'। कामं प्रकाममक्षिभिः। सहस्रेणेति भावः। अवेक्ष्य, अथ स्वमात्मानमखिलं यथा तथा साकल्येनेत्यर्थः। परिपश्यन् कौशिकमुलूकमेव। 'महेन्द्रगुग्गुलूलूकव्यालग्राहिषु कौशिकः' इत्यमरः। मन्यते स्म खलु। नलस्यात्मनश्चैतावदन्तरमित्यमंस्तेत्यर्थः। तथा चास्य भैमीनिराशं मनो बभूवेति भावः ॥ ६४ ॥

अन्वयः—कौशिकः अधःकृतकामं तदीयं कामनीयकम् अक्षिभिः कामम् अवेक्ष्य स्वम् अखिलं परिपश्यन् खलु कौशिकम् एव मन्यते स्म ।

हिन्दी—कौशिक (इन्द्र) ने कामदेव को अवमानित करनेवाले उस (नल) के 'कामनिक' (कमनीय के भाव—सौंदर्य) को अपने (सहस्र) नेत्रों से भलीभाँति निहार कर अपने को पूर्णरूप से देखते हुए निश्चयतः (अपने को) कौशिक (उल्लू) ही माना।

टिप्पणी—कौशिक को कौशिक तो होना ही चाहिए, वह कौशिकातिरिक्त हो ही कैसे सकता है ? पर नल के कामावमानी सौंदर्य को जब उसने अपने सहस्र नेत्रों से निहारा तो वह अपने को अत्यन्त हीन समझने लगा—एक अंधेरे में रहनेवाले, निकृष्ट, कुरूप पक्षी उल्लू के समान। भाव यह है कि नल को देखकर इन्द्र दमयन्ती-प्राप्ति के विषय में पूर्णतः निराश हो गया। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और उत्प्रेक्षा लंकार ॥ ६४ ॥

रामणीयकगुणाद्वयवादं मूर्तमुत्थितममुं परिभाव्य।
विस्मयाय हृदयानि वितेरुस्तेन तेषु न सुराः प्रबभूवुः ॥ ६५ ॥

जीवातु—रामणीयकेति। सुरा इन्द्रादयः, अमु नलं, मूर्तं मूर्तिमन्तम्, उत्थितमुत्पन्नं रामणीयकं सौन्दर्यं, कामनीयकवत्सिद्धं तदेव गुणस्तस्याद्वयमेकमेवेति वादं प्रवादं, परिभाव्य त्रिजगदेकसुन्दरं मत्वेत्यर्थः। हृदयानि चित्तानि, विस्मयायाद्भुतरसाय, वितेरुर्ददुः। तेन दानेन, तेषु हृदयेषु विषये न प्रबभूवुः तेषां नेशिरे। दत्तद्रव्ये स्वत्वनिवृत्तेरिति भावः। विस्मयाकृष्टचित्ता बभूवुरिति परमार्थ ॥ ६५ ॥

अन्वयः—सुराः अमुं मूर्त्तम् उत्थितं रामणीयकगुणाद्वयवादं परिभाव्य हृदयानि विस्मयाय वितेरुः तेन तेषु न प्रबभूवुः।

हिन्दी—(इन्द्रादि) देवों ने इस (नल) को मूर्त्तिमान् उदित सौंदर्य गुण का अद्वैतवाद (अद्वितीय सौंदर्यशाली) विचार कर (अपने) हृदयों को आश्चर्य को दे दिया, उसी से उन (देवों) का उन (हृदयों) पर अधिकार न रह गया।

टिप्पणी—जो वस्तु अन्य को दे दी जाती है, उस पर दाता का अधिकार नहीं रह जाता, प्राप्तिकर्त्ता का हो जाता है। नल को जब इन्द्रादि ने देखा तो चकपका कर अपने चित्तों को विस्मय को दे डाला, फल-स्वरूप उनके चित्त अब उनके अधीन न रह गये। देवों को लगा कि नल जैसा सुन्दर और कोई नहीं है विश्व में—रमणीयता अद्वैत भाव से निषधराज में आ बसी है। विस्मय में पड़े देव उस समय किंकर्तव्य-विमूढ हो गये, परवश चित्तों में विचारक्षमता रह ही नहीं गयी। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और समास ॥ ६५ ॥

प्रैयरूपकविशेषनिवेशैः संवदद्भिरमराः श्रुतपूर्वैः ।
एष एव स नलः किमितीदं मन्दमन्दमितरेतरमूचुः ॥ ६६ ॥

जीवातु—प्रैयरूपकमिति । अमरा इन्द्रादयः, श्रुतपूर्वैः पूर्वं श्रुतैः, 'सुप्सुपा' इति समासः । सम्प्रति, संवदद्भिः प्रत्यक्षसंवादं व्रजद्भिः, प्रियरूपस्य भावः प्रैयरूपकं सौन्दर्यम् । मनोज्ञादित्वाद् वुञ । तस्य विशेषेषु तत्तदवयवेषु । 'विशेषोऽवयवे व्यक्त' इत्युत्पलमालायाम् । निवेशैस्संस्थानैर्लिङ्गैः सः श्रुतपूर्वो नल एष एव किमिति हस्तनिर्देशः । इतीदं वाक्यं मन्दमन्दं मन्दप्रकारं, 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विर्भावः । इतरेतरमुचुः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—अमराः श्रुतपूर्वैः संवदद्भिः प्रैयरूपकविशेषनिवेशैः सः नलः एषः एव किम्—इति इदम् इतरेतरं मन्दमन्दम् ऊचुः ।

हिन्दी—देवगण पहिले सुने, (अब) प्रत्यक्ष बोलते हुए प्रियरूप के भाव (सौंदर्य) की अतिशयता के विन्यासों के कारण 'वह नल यही है क्या'—इस प्रकार के वाक्य परस्पर धीरे-धीरे बोले ।

टिप्पणी—नल लोक-विश्रुत था, उसके रूपातिशय के कारण त्रिलोकी की सुन्दरियों में 'मन्मथविभ्रम' हो जाता था (नैषधीय० १।२६), विश्व की रमणीय कामिनी उसकी कामना करती थी (१।२७-३०) । देवों ने भी पहिले नल के सौंदर्य-विशेष की चर्चा सुनी थी । अब, जब नल प्रत्यक्ष हुआ, तो वे पूर्वश्रुत के आधार पर मीमांसा करने लगे कि यही वह नल है, जिसके विषय में इतना कुछ सुना था । जैसा सुना था, वैसा ही देखा-पाया । विद्याधर के अनुसार जाति अलंकार ॥ ६६ ॥

तेषु तद्विधवधूवरणार्हं भूषणं स समयः स रथाध्वा ।
तस्य कुण्डिनपुरं प्रतिसर्पन् भूपतेर्व्यवसितानि शशंसुः ॥ ६७ ॥

जीवातु—तेष्विति । तस्य भूपतेर्नलस्य, सा प्रसिद्धा विधा प्रकारः सौन्दर्याद्यसाधारणधर्मो यस्यास्तस्यां वध्वाः वरणे अर्हमुचितं भूषणं, स समयः स्वयंवरकालः, कुण्डिनपुरं प्रतिसर्पन्, तदभिमुखः स रथाध्वा च व्यवसितानि नलोद्योगान् तेषु तानधिकृत्य शशंसुः तेभ्यः शशंसुरित्यर्थः । आधारत्वविवक्षायां सप्तमी । एतैर्लिङ्गैरेतस्य स्वयंवरयात्रेयमिति निश्चिक्युरित्यर्थः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—तस्य तद्विधवधूवरणार्हं भूषणम्, सः समयः, कुण्डिनपुरं प्रति-सर्पन् सः रथाध्वा भूपतेः व्यवसितानि तेषु शशंसुः ।

हिन्दी—उस (नल) का उस (दमयन्ती) जैसी वधू के वरण-योग्य अलंकृत सौंदर्य, वह समय (स्वयंवर-काल) और कुंडिनपुर की ओर जाता उसके रथ का मार्ग—इन सबने भूपति (राजा नल) के उद्योगों को देवताओं के सम्मुख स्पष्ट कर दिया ।

टिप्पणी—अद्वितीय राजा नल का मंडित वेष, स्वयंवर की घोषणा और कुंडिन नगरी की ओर यात्रा करता नल का रथ—इन सबको देखकर चारों देव स्पष्टतः समझ गये कि नल दमयन्ती को पाने के लिए स्वयंवर-समारोह में सम्मिलित होने जा रहा है । ये सभी चिह्न नल की स्वयंवर-यात्रा को स्पष्ट कर रहे थे, फलस्वरूप देवों ने तथ्य अवगत कर लिया विद्याधर के अनुसार समुच्चय अलंकार ।। ६७ ।।

धर्मराजसलिलेशहुताशैः प्राणतां श्रितममुं जगतस्तैः ।
प्राप्य हृष्टचलविस्तृततापैश्चेतसा निभृतमेतदचिन्ति ।। ६८ ।।

जीवातु—धर्मेति । जगतः प्राणतां प्राणत्वं जगज्जीवनत्वं, तत्प्रियतां वा । श्रितममुं नलं, प्राप्यासाद्य, हृष्टाः जगत्प्राणभूतपुरुषदर्शनात्सन्तुष्टाः, चलास्तल्लावण्यदर्शनाद्भैम्यां श्लथानुरागाः, विस्तृततापा रागशैथिल्यादेव विस्तृतविरहतापाश्च तैस्तथोक्तैस्तैः प्रकृतैर्धर्मराजसलिलेशहुताशैः चेतसा, निभृतं निगूढम् । एतदनन्तरश्लोकत्रये वक्ष्यमाणाचिन्ति चिन्तितम् । अत्र 'यमो हृष्टो वरुणश्चलो वह्निर्विस्तृततापः क्रमात्प्रतिपादनपरश्चोत्तरश्लोकत्रयमिति कैश्चिद्' व्याख्यातम् । तदयुक्तम् । न ह्येतेषामेते धर्माः प्रतिनियताः । किंतु, त्रयाणा-मेकाभिप्रायेणाप्येते धर्मास्साधारणाः, अत एवोत्तरश्लोकत्रयमपि सर्वविषयम् । अत एवान्तरश्लोके 'नः' इति बहुवचनोपादानम् । यद्यपि तदनन्तरश्लोकद्वये एकवचनोपादानम्, तदपि प्रत्येकाभिप्रायादविरुद्धम् । किञ्च, इत्यवेत्य मन-सेत्याद्युपसंहारश्लोके परस्परमुखदर्शनोक्त्या त्रयाणामेकाभिप्रायावगमाच्च अस्मदुक्तमेव युक्तमुत्पश्यामः ।। ६८ ।।

अन्वयः—जगतः प्राणतां श्रितम् अमुं प्राप्य हृष्टचलविस्तृततापैः तैः धर्मराजसलिलेशहुताशैः चेतसा निभृतम् एतत् अचिन्ति ।

हिन्दी—जगत्-प्राणभूत इस (नल) को पाकर प्रसन्न, चंचल और अत्यधिक संतप्त उन धर्मराज (यम), जल के स्वामी (वरुण) और हुत के भोगी (अग्नि) ने मन में चुपचाप यह (६९, ७०, ७१ इलोक में वर्णित) विचार किया।

टिप्पणी—विश्वप्रिय नल के सौंदर्य को देखकर ये देव स्वाभाविक रूप में पहिले प्रसन्न हुए, फिर यह सोच कर कि इसके संमुख दमयन्ती उन्हें नहीं वरेगी, चंचल हो गये और उनका मनोदाह बढ़ गया। अथवा—टीकाकार नारायण के अनुसार—नल था जगत् का प्राणभूत, क्योंकि वह भलीभाँति लोकपालन करता था, तो नल हुआ जगत्-प्राणवायु, उसे देखकर यम प्रसन्न हुआ कि उसे उसका आखेट मिला (यम प्राणापहारक है)। वायु से जल चंचल अर्थात् तरंगाकुल हो जाता है, अतः जलेश वरुण चंचल हो गये। अग्नि वायु द्वारा और दीप्त हो जाती है, अतः अग्नि में और दाह उत्पन्न हो गया। 'प्रकाश'कार की इस व्याख्या से मल्लिनाथ सहमत नहीं है। उसके अनुसार प्राणापहरण आदि संबद्ध देवों के नियत धर्म नहीं हैं, ये तीनों में होने वाले साधारण धर्म हैं। तीनों ही हृष्ट, चल, संतप्त हुए, यही अर्थ मल्लिनाथ को मान्य है। उनका यह तर्क भी है कि ६९ वें इलोक में 'नः' (बहुवचन) का प्रयोग सामूहिकता का द्योतन करता है॥ ६८॥

नव नः प्रियतमोभयथासौ यद्यमुं न वृणुते वृणुते वा।
एकतो हि धिगमुमगुणज्ञामन्यतः कथमदःप्रातलम्भः॥ ६९॥

जीवातु—चिन्ताप्रकारमेवाह—नैवेत्यादिना श्लोकत्रयेण। असौ दमयन्ती, अमुं नलं यदि न वृणुते, वृणुते वा। उभयथापि पक्षद्वयेऽपि नोऽस्माकं प्रियतमा न भवत्येव। कुतः हि यस्मादेकतः प्रथमपक्षे अगुणज्ञाममुं धिक्। तत्सङ्गतेरसुखावहत्वादिति भावः। अन्यतो नलवरणपक्षे कथमदःप्रतिलम्भः अमुष्याः परिग्रहः। परदारत्वादिति भावः॥ ६९॥

अन्वयः—असौ यदि अमुं न वृणुते, वृणुते वा—उभयथा नः प्रियतमा न, हि एकतः अगुणज्ञाम् अमुं धिक्, अन्यतः कथम् अदः प्रतिलम्भः?

हिन्दी—(यम ने अथवा 'नः' प्रयोग के कारण सब ने सोचा)—यह (दमयन्ती) यदि इस (नल) को नहीं वरती है, अथवा वरती है—दोनों

स्थितियों में हमारी प्रियतमा न हो सकेगी, क्योंकि प्रथम (अवरण की) स्थिति में इस गुणों के न पहिचानने वाली को धिक्कारना होगा, और द्वितीय (वरण की स्थिति) में इस (दमयन्ती) की प्राप्ति कैसे होगी ?

टिप्पणी—दमयन्ती यदि नल जैसे सर्वगुण संपन्न-नरश्रेष्ठ का वरण नहीं करती है, तो वह मूर्ख है—गुणों का मूल्य न जानने वाली। ऐसी मूर्खा को कौन प्रियतमा बनाना चाहेगा ? और यदि नल को दमयन्ती ने वर लिया, तो फिर कहानी ही समाप्त। देवों की कामना पूर्ण नहीं होगी। दोनों ही स्थितियाँ भली नहीं। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ॥६९॥

मामुपैष्यति तदा यदि मत्तो वेद नेयमियदस्य महत्त्वम् ।
ईदृशी न कथमाकलयित्री मद्विशेषमपरान्नृपपुत्री ॥ ७० ॥

जीवातु—मामिति। इयं दमयन्ती, इयदेतावदस्य नलस्य, मत्तो मत्सकाशान्महत्त्वमाधिक्यं, न वेद यदि, तदा मामुपैष्यति। तर्हि त्वद्गतदेवत्वाद्युत्कर्षज्ञानात्त्वामेव वरिष्यतीत्यत आह—ईदृशीति। ईदृशी सर्वापरोक्षनलगतविशेषानभिज्ञा नृपपुत्री अपरादपरस्माद्बलादित्यर्थः। 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' इति विकल्पान्न स्मदादेशः। मद्विशेषं मदीयोत्कर्षं च कथमाकलयित्री ज्ञात्री। तृन्नन्तादीकारः। 'न लोक–' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः ॥ ७० ॥

अन्वयः—इयम् इयत् अस्य मत्तः महत्त्वं यदि न वेद तदा माम् उपैष्यति, ईदृशी नृपपुत्री अपरात् मद्विशेषं च कथम् आकलयित्री ?

हिन्दी—यह (दमयन्ती) इतना इस (नल) का मुझसे महत्त्व यदि न जानेगी तो मुझे वर लेगी, (परंतु) ऐसी (नल-विषयक अभिज्ञान न रखने वाली) राजपुत्री अन्य (नल अथवा अन्यनृपों) से मेरा वैशिष्टय किस प्रकार जान पायेगी ? (न जानेगी)।

टिप्पणी—देवों ('प्रकाश'-कार के अनुसार वरुण) ने विचार किया कि नलराज मुझ से अधिक महिमावान् है, यदि दमयन्ती को इसका ज्ञान न हो तभी वह देव-वरण करेगी, अन्यथा नहीं। पर नलानुरागिणी और नल के महिमान को दमयन्ती न जाने, यह संभव नहीं है। वह नल का देवों से वैशिष्ट न जाने, तभी देववरण कर सकती है, परंतु यदि दमयन्ती ऐसी अजानी है कि नल का वैशिष्टय और महिमान नहीं जानती, तो फिर वह

अन्य प्रत्याशियों की अपेक्षा देवों का महत्त्व भी नहीं जान सकेगी। भाव यह कि यदि दमयन्ती अभिज्ञा है, तो नल को वरेगी और यदि अनभिज्ञा है तो किसी को भी वर सकती है, वह देवों का महत्त्व भी न जान सकेगी, और किसी सजातीय मर्त्यराजा को ही वर लेगी। दोनों स्थितियों में निराशा ही हाथ लगती है। विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार ॥ ७० ॥

नैषधे बत वृते दमयन्त्या व्रीडितो हि न बहिर्भवितास्मि।
स्वां गृहेऽपि वनितां कथमास्यं ह्रीनिमीलि खलु दर्शयिताहे ॥ ७१ ॥

जीवातु—नैषध इति। किंच, दमयन्त्या नैषधे नले, वृते सति, व्रीडितः सन् बहिस्तावन्न भवितास्मि हि। बहिः क्वापि जनसमक्षं स्थातुं न शक्ष्यामीत्यर्थः। भवतेर्लुट्। बतेति खेदे। गृहेऽपि, स्वां वनितां भार्यां, ह्रिया निमीलति संकुचतीति ह्रीनिमीलि। णिनिप्रत्ययः। आस्यं कथं खलु दर्शयिताहे दर्शयिष्यामि। दृशेर्ण्यन्तात्कर्तरि लुट्। 'अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्' इत्यणि कर्त्र्या वनितायाः वैकल्पिकं कर्मत्वम्। अत्र णेरणादिसूत्रस्थयद्ग्रहणसामर्थ्यलब्धाश्रूयमाणकर्मत्वाभावेन तद्विषयत्वात् 'णिचश्च' इत्यात्मनेपदमिति केचित्। अणिकर्तृकर्मश्रवणेऽपि तदतिरिक्तकर्माश्रवणादश्रूयमाणकर्मत्वमस्त्येवेति णेरणादिसूत्रविषयत्वमेवेति भाष्यकारः। तदेतत्सम्यग्विवेचितमस्माभिः किरातार्जुनीयव्याख्याने घण्टापथे 'स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः' इत्यत्र ॥७१॥

अन्वयः—दमयन्त्या नैषधे वृते बहिः हि व्रीडितः न भवितास्मि, बत गृहे अपि स्वां वनितां ह्रीनिमीलि आस्यं कथं खलु दर्शयिताहे।

हिन्दी—दमयन्ती द्वारा निषधराज के वरे जाने पर बाहर ही लज्जित न होऊँगा, खेद है कि घर में भी अपनी पत्नी को लज्जा संकुचित मुख कैसे दिखा पऊँगा।

टिप्पणी—दोनों ओर अपमान की स्थिति, बाहर भी, घर भी। यही संताप और कष्ट का कारण है। 'प्रकाश'-कार के अनुसार यह वह्नि की चिन्ता है। विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार ॥ ७१ ॥

इत्यवेत्य मनसात्मविधेयं किञ्चन त्रित्रिबुधी बुबुधे न।
नागनायकमपास्य तमेकं सा स्म पश्यति परस्परमास्यम् ॥ ७२ ॥

जीवातु—इतीति । त्रयाणां विबुधानां समाहारस्त्रिविबुधी यमादिदेवत्रयम्, इति पूर्वश्लोकत्रयोक्तप्रकारेण । मनसाऽवेत्यालोक्य, किञ्च नात्मविशेषं स्वकर्तव्यं न बुबुधे न विवेद । किञ्च, सा त्रिविबुधी, तमेकं नाकनायकमिन्द्रमपास्य अपवार्य परस्परमास्यं पश्यति स्म । इतिकर्तव्यतामूढास्त्रयोऽपि केवलमन्योन्यमुखान्यपश्यन्नित्यर्थः ॥ ७२ ॥

अन्वयः—सा त्रिविबुधी इति मनसा अवेत्य किञ्च न आत्मविधेयं न बुबुधे, तम् एकं नाकनायकम् अपास्य परस्परम् आस्यं पश्यति स्म ।

हिन्दी—वह देवत्रयी इस प्रकार मन में समझ कर किंचित् भी स्वकिंकर्तव्यता न समझ पायी । वे उस एक स्वर्गपति (इन्द्र) को छोड़कर एक दूसरे का मुँह देखने लगे ।

टिप्पणी—६९-७१ श्लोकों में पृथक्-पृथक् अथवा सामूहिक रूप में यम, वरुण और अग्नि की चिन्ता का वर्णन हुआ । इन्द्र की स्थिति इन से भिन्न है । यह देवत्रयी पूर्णतया किंकर्तव्यविमूढ हो गयी । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और भावोदय ॥ ७२ ॥

किं विधेयमधुनेति विमुग्धं स्वानुगाननमवेक्ष्य ऋभुक्षाः ।
शंसति स्म कपटे पटुरुच्चैर्वञ्चनं समभिलष्य नलस्य ॥ ७३ ॥

जीवातु—किमिति । कपटे परवञ्चने, पटुः, ऋभुक्षा इन्द्रः । अधुना किं विधेयमिति विमुग्धमितिकर्तव्यतामूढम् । स्वस्यानुगानामनुयायिनां यमादीनामाननमवेक्ष्य तेषां दैन्यं दृष्ट्वेत्यर्थः नलस्य वञ्चनं समभिलष्य अभिसन्धाय, उच्चैः शंसति स्म जगाद ॥ ७३ ॥

अन्वयः—उच्चैः कपटे पटुः ऋभुक्षाः अधुना किं विधेयम् इति विमुग्धं स्वानुगाननम् अवेक्ष्य नलस्य वञ्चनं समभिलष्य शंसति स्म ।

हिन्दी—कपट-व्यवहार में अत्यंत कुशल इन्द्र 'अब क्या करना चाहिए'—इस विषय में विमूढ अपने अनुयायियों का मुख देखकर नल को धोखा देने की इच्छा करके बोला ।

टिप्पणी—इन्द्र कपटाचारियों में प्रमुख है, अतः वह अपने साथियों के समान किंकर्तव्यविमूढ न हो नल के साथ कपटाचार कर उसे धोखा देने की योजना बनाने लगा और नल से बोला ॥ ७३ ॥

सर्वतः कुशलभागसि कच्चित्त्वं स नैषध इति प्रतिभा नः ।
स्वासनार्धसुहृदस्तव रेखां वीरसेननृपतेरिव विद्मः ॥ ७४ ॥

जीवातु—सर्वत्र इति । सर्वतः सप्तस्वङ्गेषु, कुशलभागसि कच्चित् । 'कच्चित् कामप्रवेदने' इत्यमरः । न च त्वां न वेद्मीत्याह—त्वं स प्रसिद्धो नैषधः नलः इति नोऽस्माकं, प्रतिभा प्रतीतिः । कुतस्तव रेखामाकृतिं, स्वासनार्धसुहृदो ममार्धासनभाजो, वीरसेननृपतेरिव तत्सदृशीं विद्मः तत्सादृश्यात्तत्पुत्रो नलस्त्वमिति प्रतीम इत्यर्थः ॥ ७४ ॥

अन्वयः—त्वं सर्वतः कुशलभाक् असि कच्चित् ? (त्वं) सः नैषधः इति नः प्रतिभा, तव रेखां स्वासनार्धसुहृदः वीरसेननृपतेः इव विद्मः ।

हिन्दी—तुम सब प्रकार से (सप्त राज्याङ्गादि के सहित) सकुशल हो न ? हमें ऐसा प्रतिभास होता है कि तुम निषधराज हो, हमें जान पड़ रहा है कि तुम्हारी रूपरेखा हमारे आसन के आधे भाग पर बैठने वाले मित्र राजा वीरसेन के सदृश हैं ।

टिप्पणी—कपटाचार की भूमिका । आत्मीयता का प्रदर्शन । पिता के साथ अपनी गाढी मैत्री का संकेत दिया । पिता से पुत्र की रूपरेखा प्रायः मिला करती है । आलंकारिकों के अनुसार उपमानों की भी उपमान, भूषणों की भूषण अंगो की, नेत्रों को अमृत वर्षा के सदृश आनन्ददायिनी शोभा 'रेखा' होती है—'उपमानोपमानं या भूषणस्यापि भूषणम् । आङ्गश्रीः कथ्यते रेखा चक्षुःपीयूषवर्षिणी ॥' विद्याधर के अनुसार हेतु और उपमा अलंकार ॥ ७४ ॥

क्व प्रयास्यसि नलेत्यलमुक्त्वा यात्रयात्र शुभयाजनि यन्नः ।
तत्तयैव फलसत्वरया त्वं नाध्वनोर्धमिदमागमितः किम् ॥ ७५ ॥

जीवातु—क्वेति । हे नल, क्व प्रयास्यसीत्युक्त्वा पृष्ट्वा अलं, न प्रष्टव्यमित्यर्थः । 'अलंखल्वोः' इत्यादिना क्त्वाप्रत्ययः । कुतः, यद्यस्मान्नोऽस्माकमत्र यात्रया इहागमनेन, शुभया त्वद्दर्शनेन सफलया, अजन्यभावि । भावे लुङ् । तत्तस्मात्, फलेन सत्वरया फलार्थिन्या तया, यात्रयैव कर्त्र्या, त्वमिदमध्वनोऽर्धमर्धमार्गमागमितो न किम् ? अस्मदर्थमेवेदं तवागमनमित्यर्थः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—नल, क्व प्रयास्यसि—इति उक्त्वा अलम्, यत् नः अत्र

यात्रया शुभया अजनि, तत् फलसत्वरया तया एव त्वम् इदम् अध्वनः अर्धं न आगमितः न किम् ?

हिन्दी--हे नल, तुम कहाँ जा रहे हो--ऐसा कहना उचित प्रश्न नहीं है, क्योंकि हमारी यहाँ (धरती पर) यात्रा शुभ हुई, सो शीघ्र फलीभूत होने वाली उसी (यात्रा) के कारण ही तुम कहीं इस आधे मार्ग में (हमें) नहीं प्राप्त हो गये हो ?

टिप्पणी--कपटव्यवहार का दूसरा विशिष्ट आयोजन । किसी से उसकी यात्रा का उद्देश्य-स्थान पूछना अशुभ माना जाता है । इस लोकाचार की आड़ में यह कपट कि नल अपना दमयन्ती-स्वयंवर-विषयक अभिलाष कह ही न पाये और वह इन्द्र के कार्य में सहायता के लिए वचनबद्ध हो जाय । इसीसे व्यक्त किया गया कि नल की इस यात्रा का कोई निज प्रयोजन नहीं है, वह देवकार्य में सहायक होने के लिए भाग्यवश आधे रास्ते में इन्द्र को मिल गया है । नल इन्द्र के कार्य में सहायक होगा ही, क्योंकि उसके पिता इन्द्र के मित्र थे । विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ॥ ७५ ॥

एष नैषध ! स दण्डभृदेष ज्वालजालजटिलः स हुताशः ।
यादसां स पतिरेष च शेषं शासितारमवगच्छ सुराणाम् ॥ ७६ ॥

जीवातु—के यूयमत आह--एष इति । हे नैषध ! नल ! एष इति पुरोवर्तिनो हस्तेन निर्देशः । स प्रसिद्धो दण्डभृद्यमः, एष ज्वालजालैर्जटिलो जटावान् । ज्वालामालाकुलीत्यर्थः । 'वह्नेर्द्वयोर्ज्वालकीलौ' इत्यमरः । पिच्छादित्वादिलच् । स हुताशोऽग्निः, एष च स यादसां पतिर्वरुणः, शेषं शिष्टं त्वमित्यर्थः । सुराणां शासितारम् अवगच्छ देवेन्द्रं विद्धि ॥ ७६ ॥

अन्वयः--नैषव, एषः सः दण्डभृत्, एषः ज्वालजालजटिलः सः हुताशः, एषः सः यादसां पतिः, शेषं सुराणां शासितारम् अवगच्छ ।

हिन्दी--हे निषधराज, यह वह दंडधारी (यम) है, यह ज्वालाओं की जटाओं को धारण करता वह हुतभुक् (अग्नि) है, यह जलजन्तुओं का स्वामी वह वरुण है, शेष रहे मुझे तुम देवों का शासक (देवेन्द्र) समझ लो ।

टिप्पणी--नल को आतंकित करने के लिए विशेष आदरपूर्ण विशेषणों के माध्यम से देवों का परिचय कराया गया । दंडधारी यम, जो सब को

कालकवलित कर देते हैं। सब जला डालने की क्षमता रखने वाले अग्नि हैं, जल पर भी शासन करने वाले वरुण हैं, और इन्द्र? वह मनुष्यों पर क्या देवों पर भी शासन करता है। इतनी महाशक्तियों का आदेश अनुल्लंघनीय है—मानना ही होगा नल को। न मानने पर कष्ट भोगने का संकेत। विद्याधर के अनुसार परिकरालंकार ॥ ७६ ॥

अर्थिनो वयममी समुपैमस्त्वां किलेति फलितार्थमवेहि।
अध्वनः क्षणमपास्य च खेदं कुर्महे भवति कार्यनिवेदम् ॥ ७७ ॥

जीवातु—अर्थिन इति। हे नल! अमी वयमर्थिनः सन्तस्त्वां समुपैमः किल प्राप्नुमः खलु। समुपपूर्वादिणो लटि मस्। इति फलितार्थमवेहि विद्धि। क्षणमध्वनः खेदमपास्य अध्वश्रमं नीत्वा भवति त्वयि कार्यनिवेदं कार्यविशेषनिवेदनम् विदेर्ण्यन्तादञ्प्रत्ययः। कुर्महे ॥ ७७ ॥

अन्वयः—अमी वयम् अर्थिनः त्वां समुपैमः किल—इति फलितार्थम् अवेहि, क्षणं च अध्वनः खेदम् अपास्य भवति कार्यनिवेदं कुर्महे।

हिन्दी—ये हम याचक बने तुम्हारे संमुख आये हैं—यह तात्पर्य समझ लो, क्षण भर मार्ग की खिन्नता को मिटाकर आपसे कार्य निवेदन करते हैं।

टिप्पणी—इन्द्र अपना कपट-जाल एक के पश्चात् एक बात कहते हुए बिछाता जा रहा है। नल मित्र-पुत्र है, वह देव-कार्य-साधन के निमित्त ही मानो उन्हें मार्ग में मिल गया है। सामर्थ्यशील देव उसके संमुख याचक हैं, अतः नल को देवकार्य-निरत होना ही पड़ेगा। कोई अवसर नहीं दिया इन्द्र ने नल को कुछ कह सकने का ॥ ७७ ॥

ईदृशीं गिरमुदीर्य विडौजा जोषमाप न विशिष्य बभाषे।
नात्र चित्रमभिधाकुशलत्वे शैशवावधि गुरुर्गुरुरस्य ॥ ७८ ॥

जीवातु—ईदृशीमिति। विडौजाः इन्द्रः, ईदृशीं सामान्यनिर्दिष्टां, गिरमुदीर्य जोषं मौनमाप। 'तूष्णीं जोषं भवेन्मौनम्' इति हलायुधः। विशिष्य विविच्य, न बभाषे विशेषं नाचष्टेत्यर्थः, अत्रास्मिन्नभिधाकुशलत्वे उक्तिचातुर्ये, चित्रं विस्मयो न। कुतः, अस्येन्द्रस्य शैशवमवधिर्यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा तदारभ्येत्यर्थः। गुरुराचार्यो गुरुर्बृहस्पतिः। वाचस्पतिशिष्यस्य वाग्मित्वं किं चित्रमित्यर्थः। 'गुरुर्गीष्पतिपित्रादौ' इति वैजयन्ती ॥ ७८ ॥

अन्वयः---विडौजाः ईदृशीं गिरम् उदीर्य जोषम् आप विशिष्य न बभाषे; अत्र अभिधाकुशलत्वे चित्रं न, शैशवावधि गुरुः अस्य गुरुः ।

हिन्दी---इन्द्र इस प्रकार के वचन उच्चारण कर चुप हो गया, विशेष करके कुछ न कहा; इस प्रकार की वचनचातुरी में विचित्रता नहीं है, बचपन से लेकर ही बृहस्पति उसके गुरु हैं ।

टिप्पणी—मार्ग की खिन्नता दूर करने के व्याज से इन्द्र ने केवल उपर्युक्त वचन ही कहे, दमयन्ती विषयक चर्चा नहीं की कि कहीं नल अस्वीकार न कर दे । बातें बनाने में इन्द्र परम चतुर ठहरा ही, बृहस्पति जैसे वाणीश्वर गुरु का शिष्य है न ! वाचस्पति का शिष्य वचनचतुर होगा ही । विद्याधर के अनुसार श्लोक में छेकानुप्रास, काव्यलिंग और उत्प्रेक्षा अलंकार हैं ॥ ७८ ॥

अर्थिनामहृषिताखिललोमा स्वं नृपः स्फुटकदम्बकदम्बम् ।
अर्चनार्थमिव तच्चरणानां स प्रणामकरणादुपनिन्ये ॥ ७९ ॥

जीवातु—अर्थीति । अर्थिनाम्ना अर्थिनामश्रवणेन, हृषिताखिललोमा रोमाञ्चिततनुः, 'हृषेर्लोमसु' इति वैकल्पिक इडागमः । नृपः, स्वमात्मानं, तच्चरणानामर्चना स्फुटकदम्बकदम्बं विकसितनीपकुसुमवृन्दमिवेत्युत्प्रेक्षा । प्रणामकरणाद्व्याजादुपनिन्ये समर्पयामास ॥ ७९ ॥

अन्वयः—अर्थिनामहृषिताखिललोमा सः नृपः प्रणामकरणात् तच्चरणानाम् अर्चनार्थं स्वं स्फुटकदम्बकदम्बम् उपनिन्ये ।

हिन्दी—'याचक' नाम (अथवा याचकों के इन्द्रादि नाम) से जिसके समस्त रोम हर्ष से पूर्ण हो गये थे, ऐसे उस राजा (नल) ने प्रणाम क्रिया से उनके चरणों की वन्दना के निमित्त मानों अपने को विकसित कदंब-पुष्पों के सदृश समर्पित कर दिया ।

टिप्पणी—नैषधीय० (१।१५-१६) में नल की वदान्यता बतायी गयी है कि वह 'अल्पितकल्पपादप' था और उसने दारिद्र्य को भी दरिद्र बना दिया था, वह चाहता था कि इतना दान करे कि सुमेरु समाप्त हो जाय और दान-जल में व्यय होते-होते समुद्र सूख जाय । ऐसे दानशील नल ने जब याचकों को संमुख पाया तो उसका रोम-रोम खिल उठना स्वाभाविक

ही था। उस पर देवराज और महासामर्थ्यशील त्रिदेवों को याचक रूप में पाकर तो उसे हर्ष द्विगुणित हो जाना ही था। उसने भक्तिपूर्वक देवचरणों में प्रणाम पुरस्सर अपने रोमांचित शरीर का समर्पण क्या किया, मानो 'स्फुटकदंबकदंब'—जैसे शरीर के रूप में कदंब के फूल समर्पित कर दिये। रोमांचित देह की तुलना खिले कदंबपुष्पों से की गयी है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार रूपक, उत्प्रेक्षा और अपह्नुति ॥७९॥

दुर्लभं दिगधिपैः किममीभिस्तादृशं कथमहो मदधीनम् !
ईदृशं मनसिकृत्य विरोधं नैषधेन समशायि चिराय ॥ ८० ॥

जीवातु—दुर्लभमिति। दिगधिपैरमीभिरिन्द्रादिभिः, दुर्लभं किं तादृशं दुर्लभं वस्तु कथं मदधीनं मदायत्तम्, अहो, ईदृशं विरोधं मनसिकृत्य निधाय। 'अनत्याधान उरसिमनसी' इति गतिसंज्ञापक्षे 'कुगतिप्रादयः' इति समासे क्त्वो ल्यबादेशः। नैषधेन नलेन, चिराय चिरं समशायि संशयितम्। विचारितमित्यर्थः। भावे लुङ् ॥ ८० ॥

अन्वयः—अहो, अमीभिः दिगधिपैः दुर्लभं किम्, तादृशं मदधीनं कथम्? ईदृशं विरोधं मनसिकृत्य नैषधेन चिराय समशायि।

हिन्दी—अरे इन (सामर्थ्यशील) दिक्पालों के लिए दुर्लभ क्या है, और वैसा (दुर्लभ काम्य) मेरे अधीन किस प्रकार है? इस प्रकार का विरोध विचारते हुए निषधराज चिरकाल तक संशय में पड़ा रहा।

टिप्पणी—नल समस्त विद्या-विशारद था, नीतिज्ञ, सुविचारी। उसे संदेह तो हो ही गया कि कहीं कपट है, वंचना है। ये देव तो सब कुछ करने में स्वयं समर्थ हैं। ऐसा क्या है, जो ये नहीं कर सकते और मैं कर सकता हूँ? द्विविधा और संदेह में ग्रस्त नल कुछ क्षण तक चुपचाप विचारता रहा ॥८०॥

जीवितावधि वनीपकमात्रैर्याच्यमानमखिलैः सुलभं यत्।
अर्थिने परिवृढाय सुराणां किं वितीर्य परितुष्यतु चेतः ॥ ८१ ॥

जीवातु—विचारप्रकारमेवाह द्वादशश्लोक्या—जीवितेत्यादि। यद्यस्मादखिलैर्वनीपकमात्रैः कैश्चिद्याचकैः। 'वनीपको याचनको मार्गणो याचकार्थिनौ' इत्यमरः। जीवितावधि प्राणपर्यन्तं, याच्यमानं वस्तु सुलभम्। सुराणां परिवृढाय प्रभवे अर्थिने किं वस्तु वितीर्य दत्त्वा, चेतः परितुष्यतु सन्तुष्येत्।

प्राणान्तं वस्तु सर्वार्थिसाधारणं ततोऽधिकमिन्द्राय देयं किमस्तीति विचारितमित्यर्थः। वितरणे चेतसः कर्तृत्वविवक्षया वितरणपरितोषयोः समानकर्तृत्वसिद्धिः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—यत् अखिलैः वनीपकमात्रैः जीवितावधि याच्यमानं सुलभं सुराणां परिवृढाय अर्थिने किं वितीर्य चेतः परितुष्यतु ?

हिन्दी—जो कि समस्त (सामान्य) याचकमात्र को प्राणपर्यन्त माँगे जाने पर सुलभ हैं, देवों के प्रभु के याचक होने पर क्या वितरण करके मेरा चित्त संतुष्ट होगा ?

टिप्पणी—नल ने विचार किया कि वह सामान्य पात्र-कुपात्र याचक को माँगे जाने पर प्राण तक सरलता से दे सकता है, विशिष्ट इन्द्रादि याचकों को कौन-सी ऐसी प्राणाधिक वस्तु दे, जिससे उन्हें मनस्तोष हो। देव-याचकों को प्राण से भी अधिक प्रिय पदार्थ देना उचित होगा ॥ ८१ ॥

भीमजा च हृदि मे परमास्ते जीवितादपि धनादपि गुर्वी।
न स्वमेव मम सार्हति यस्याः षोडशीमपि कलां किल नोर्वी ॥ ८२ ॥

जीवातु—नन्वस्ति लोकोत्तरं वस्तु भैमी, सा दीयतामित्यत आह—भीमजेति। उर्वी भूर्यस्या भैम्याः षोडशीमपि कलां नार्हति षोडशांशसाम्यमपि न प्राप्नोतीत्यर्थः। अत एव धनादपि। किं बहुना, जीवितादपि गुर्वी अधिका सा भीमजा दमयन्ती च। मे हृदि हृदये, परं सम्यगास्ते। किंतु मम स्वमेव न भवति। अद्याप्यस्वकरणादस्वस्यादेयत्वात्। स्वत्वेऽपि 'देयं दारसुतादृते' इति दाराणां दाननिषेधाच्च विचारस्तदवस्थ एवेति भावः ॥ ८२ ॥

अन्वयः—यस्याः षोडशीम् अपि कलाम् उर्वी न अर्हति जीवितात् अपि धनात् अपि गुर्वी भीमजा मे हृदि परम् आस्ते, सा मम स्वयम् एव न।

हिन्दी—जिसके सोलहवें अंश के तुल्य भी पृथ्वी नहीं है, जीवन से भी और धन से भी महनीय वह भीम-सुता (दमयन्ती) मेरे हृदय में सम्यक् विराजमान है, पर वह तो अभी मेरी संपदा (स्वत्व) नहीं है।

टिप्पणी—विचार करते नल को प्रतीति हुई कि प्राणों से, राज्य से धरती से भी अधिक प्रिय और महत्त्वपूर्ण एक वस्तु है—दमयन्ती। उसे दान करने से चित्त संतुष्ट हो सकता है, पर इसमें कठिनता यह है कि भले ही

दमयन्ती को नल ने भलीभाँति हृदयासन पर विराजित कर लिया हो, उस पर नल का कोई अधिकार तो नहीं है, अतः दमयन्ती का दान कैसे संभव है ? तृतीय-चतुर्थ चरण का 'यस्याः षोडशीं कलां मम स्वम् एव स्वरूपमेव नार्हति किं पुनः समग्रा उर्वी' ऐसा भाव भी 'प्रकाश'-कार ने लिया है—जिस दमयन्ती का सोलहवाँ भाग मुझ (नल) का स्वरूप भी नहीं है, धरती की तो बात क्या ? यद्यपि नल का उस काल दमयन्ती पर अधिकार नहीं था, फिर भी माना जाता है कि पत्नी-पुत्र को छोड़कर शेष सब दिया जा सकता है—'देयं दारसुतादृते'। इस प्रकार स्वत्व होने पर भी—पत्नीत्व प्राप्त होने पर भी दमयन्ती का दान नीति-युक्त नहीं है। नाट्यशास्त्रियों के अनुसार प्रस्तुत कथा के भावी वृत्तांत का अन्योक्तिसूचक वचन 'पताकास्थानक' कहाता है। (दशरूप १।१४) यहाँ ऐसी ही स्थिति है नाटकीय 'पताकास्थानक' की योजना। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति॥ ८२ ॥

मीयतां कथमभीप्सितमेषां दीयतां द्रुतमयाचितमेव।
तं धिगस्तु कलयन्नपि वाञ्छामर्थिवागवसरं सहते यः॥ ८३ ॥

जीवातु—पुनर्विचारमेवाह—मीयतामिति। एषामभीप्सितं वस्तु कथं मीयतां ज्ञायेत। ज्ञानस्योपयोगमाह—अयाचितं यथा तथा द्रुतं कथं दीयताम्, दातव्यमित्यर्थः। तर्हि, अर्थिवाचैव विज्ञाय दीयतामित्यत आह—यो दाता वाञ्छामर्थ्याकांक्षां कलयन् जानन्नपि। अर्थिवागवसरं सहते याच्ञाकालं प्रतीक्षते, तं दातारं धिगस्तु। स गर्ह्य इत्यर्थः॥ ८३ ॥

अन्वयः—एषाम् अभीप्सितं कथं मीयताम् ? अयाचितम् एव द्रुतं दीयताम्; यः वाञ्छां कलयन् अपि अर्थिवागवसरं सहते तं धिक् अस्तु।

हिन्दी—इनका अभीष्ट कैसे जाना जाय ? बिनमाँगा ही शीघ्र देना उचित है; जो (दाता याचक की) इच्छा को समझता हुआ भी याचकों को कहने का अवसर देता है, उसे धिक्कार है।

टिप्पणी—श्रेष्ठ दान वही होता है, जो बिनमाँगे किया जाय। याचित दान तो आधा फल देता है किंतु याचक को बुलाकर देना सहस्रगुण फल-दायक है—'गत्वा यद् दीयते दानं तदनन्तफलं स्मृतम्। सहस्रगुणमाहूय

याचिते तु तदर्धकम् ।' सो नल ने विचारा कि अजाने ही प्राणाधिक महत्त्वशाली कुछ देवराज को दिया जाय । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ।।८३।।

प्रापितेन चटुकाकुविडम्बं लम्भितेन बहुयाचनलज्जाम् ।
अर्थिना यदघमर्जति दाता तन्न लुम्पति विलम्ब्य ददानः ।। ८४ ।।

जीवातु—शीघ्राप्रदाने दोषमाह—प्रापितेनेति । चटुकाकुभ्यां चटूक्तिकाकुयोगभ्यां करणाभ्यां, विडम्बं विडम्बनां हास्यत्वं, प्रापितेन, दात्रेति शेषः । बह्वधिकं, यथा तथा याचनेन देहीति वादेन, लज्जां लम्भितेन प्रापितेन अत्रापि दात्रेति शेषः । अर्थिना करणभूतेन, उक्तरूपेणार्थिपीडनेनेत्यर्थः । यदघं पापमर्जति सम्पादयति, विलम्ब्य ददानो दाता, तदघं न लुम्पति न विहन्ति । तस्य पापस्य प्रायश्चित्तमपि नास्तीत्यर्थः ।। ८४ ।।

अन्वयः—चटुकाकुविडम्बं प्रापितेन बहुयाचनलज्जां लम्भितेन अर्थिना दाता यत् अघम् अर्जति तत् विलम्ब्य ददानः न लुम्पति ।

हिन्दी—चाटुकारी (खुशामद) और दीनतापूर्ण वाक्यों (के कथन) से विडंबना (उपहास) को प्राप्त और बहुत बार याचना करने से लज्जा को प्राप्त याचक (को देने) से दाता जिस पाप का अर्जन करता है, विलंब करके देने वाला उस (पाप) का परिमार्जन नहीं कर सकता ।

टिप्पणी—वस्तुतः चाटुकारी और दीन वाक्यों के उच्चारण से याचक तो विडंबना और लज्जा को प्राप्त होता ही है, सज्जन दाता को भी ऐसी स्थिति लज्जाजनक प्रतीत होती हैं । सच्चे दाता तो अयाचित ही दान करते हैं । नल जैसे वदान्य पुरुष की दृष्टि में तो 'चटुकाकुवाक्य' सुन कर देना और विलंब से देना दोनों ही 'पाप' है । 'चटुकाकुवाक्यों' से विडंबित और लज्जित याचकों की याचना दाता को पापार्जन कराती है, जिसका मार्जन देर से देकर संभव नहीं है । दान अयाचित और अविलंब ही उचित है ।। ८४ ।।

यत्प्रदेयमुपनीय वदान्यैर्दीयते सलिलमर्थिजनाय ।
याचनोक्तिविफलत्वविशङ्कात्राससमूर्च्छनचिकित्सितमेतत् ।। ८५ ।।

जीवातु—यदिति । वदान्यैर्दातृभिः, प्रदेयं देयद्रव्यमुपनीयार्थिजनाय सलिलं दीयत इति यत् । एतत्सलिलदानं याचनोक्तिविफलत्वविशङ्कया देहीति वादवैफल्यशङ्कया त्रासो भयं तेन यन्मूर्च्छनं तस्य चिकित्सितमित्युत्प्रेक्षा । अन्यथा किमर्थं तत्सलिलदानमिति भावः ।। ८५ ।।

अन्वयः—वदान्यैः प्रदेयम् उपनीय अर्थिजनाय यत् सलिलं दीयते एतत् याचनोक्तिविफलत्वविशङ्कात्रासमूर्च्छनचिकित्सतम् ।

हिन्दी—उदार दाताओं के द्वारा दातव्य वस्तु को समीप स्थापित कर याचकों को जो संकल्पोदक दिया जाता है, वह याचना वचनों की निष्फलता की आशंका से जात भय से मूर्च्छा की चिकित्सा हैं ।

टिप्पणी– दान करते समय दाता दातव्य पदार्थ को निकट रख कर याचक के हाथ में संकल्प-जल छोड़ता है । दान की यह प्रणाली है । नल का विचार है कि वस्तुतः यह याचकों की उस मूर्च्छा या अकालमृत्यु की चिकित्सा है जो याचना के निष्फल हो जाने की आशंका से उत्पन्न डर से संभव है । 'माँगन मरणसमान' होता है, कहा भी गया है—'मरणे यानि चिह्नानि तानि चिह्नानि याचके ।' तो जिस प्रकार मूर्च्छा दूर करने के लिए सलिल-प्रक्षेप किया जाता है और मूर्च्छा दूर हो जाती है, उसी प्रकार संकल्पसलिल याचकों के मन में उठी याचना निष्फलता की आशंका से संभव मूर्च्छा को दूर कर देता है । उन्हें विश्वास हो जाता है कि अब उनकी याचना व्यर्थ न होगी । उचित तो यह है कि याचकों के दीखते ही संकल्प-जल लाने में भी विलंब न हो । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने अतिशयोक्ति का निर्देश किया है ॥ ८५ ॥

अर्थिने न तृणवद्धनमात्रं किन्तु जीवनमपि प्रतिपाद्यम् ।
एवमाह कुशवज्जलदायी द्रव्यदानविधिरुक्तिविदग्धः ॥ ८६ ॥

जीवातु—अर्थिन इति । कुशवतो जलस्य दायो दानम् । ददातेर्घञ् । युगागमः । स प्रतिपाद्यतया अस्मिन्निधावस्तीति कुशवज्जलदायी सकुशजल-दानप्रतिपादक इत्यर्थः । अतः एवोक्तिविदग्धः । अभिधाव्यापारमन्तरेणार्था-देवार्थान्तरप्रतिपादनचतुर इत्यर्थः । द्रव्यदानविधिर्धनदायकशास्त्रमेवमाह । किमिति अर्थिने धनमात्रं धनमेव । 'मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारणे' इत्यमरः । तृणवत्तृणमिव न प्रतिपाद्यं देयम् । किंतु जीवनमपि जीवितमपि तथा देयमिति । सकुशं जलं देयमिति च गम्यते । अर्थ्यनपेक्षितकुशजलदानं विदधतो द्रव्यदानविधेरय-मेवाभिप्राय इति भावः ॥ ८६ ॥

अन्वयः—अर्थिने धनमात्रं तृणवत् न प्रतिपाद्यं किंतु जीवनम् अपि—कुशवज्जलदायी उक्तिविदग्धः द्रव्यदानविधिः एवम् आह ।

हिन्दी—'याचक को धन ही तिनके के समान न देना चाहिए, अपितु जीवन (प्राण और संकल्पजल) भी तृणसमान दे देना चाहिए'—कुश के साथ संकल्प-सलिल-प्रदायिनी, श्लेषोक्ति-पांडित्य से पूर्ण धनदान की शास्त्र-पद्धति ने भी ऐसा कहा है ।

टिप्पणी—शास्त्रीय विधान है कि कुशयुक्तसलिल के साथ संकल्प करके दान करना चाहिए—'कुशवत्सलिलोपेतं दानं संकल्पपूर्वकम् ।' दातव्य वस्तु के साथ याचक के हाथ में संकल्पोदक-प्रक्षेप भी किया जाता है—यही विधि है । 'जीवन' शब्द अनेकार्थ है—जीवन अर्थात् प्राण और जल । शास्त्र विधान के अनुसार दान करते समय तीन वस्तुएँ याचक को दी जाती हैं—(१) वस्तु, (२) जल, (३) जल के साथ कुश–तृण । कवि के अनुसार (नल की दृष्टि में) यह शास्त्रविधि का संकेत है कि तृण के समान दातव्य वस्तु ही नहीं, जीवन भी दिया जाता है । 'जीवन' के श्लेषार्थ से यह संकेत संभव है । इसी कारण 'शास्त्रविधि' का 'उक्तिविदग्ध' विशेषण दिया गया । भाव यह है कि याचक को यदि प्राण भी अपेक्षित हों तो निःसंकोच देने में विलंब न करना चाहिए । विद्याधर के अनुसार यहाँ प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अथवा समासोक्ति है ।।

पङ्कसङ्करविगर्हितमर्हं न श्रियः कमलमाश्रयणाय ।
अर्थिपाणिकमलं विमलं तद्वासवेश्म विदधीत सुधीस्तु ।। ८७ ।।

जीवातु—पङ्केति । पङ्कः पाप कर्दमश्च । 'पङ्कोऽस्त्री कर्दमैनसोः' इति वैजयन्ती । तत्सङ्करेण विगर्हितं, कमलं श्रियः आश्रयणाय नार्हम् । तत्तस्मात्सुधीर्विमलं निष्पङ्कमर्थिपाणिकमलं तद्वासवेश्म लक्ष्मीनिवासस्थानं, विदधीत । सर्वथा धनं पात्रपाणिष्वेव निक्षेप्तव्यम् । न तु भूमाविति भावः ।। ८७ ।।

अन्वयः—पङ्कसङ्करविगर्हितम् कमलं श्रियः आश्रयणाय न अर्हम्, तत् सुधीः तद्वासवेश्म विमलम् अर्थिपाणिकमलं विदधीत ।

हिन्दी—कीचड़ (और पाप) के संसर्ग के कारण निंदित कमल लक्ष्मी के आवास-योग्य नहीं है, अतः विमलबुद्धिशाली जन को उचित है कि उस (श्री) के आवास का स्थान स्वच्छ (निष्कलंक) याचक के करकमल को बनाये ।

टिप्पणी—लक्ष्मी संपत्ति की अधिष्ठात्री है, उसका आवास कमल माना जाता है, किंतु कवि का कथन है कि वास्तविक कमल वह नहीं है, जो कीचड़ में सना रहता है। लक्ष्मी कीचड़ में नहीं रह सकती, उसके लिए तो स्वच्छ आवास ही अपेक्षित हैं और वह है योग्य याचक का करकमल, जो संकल्प-सलिल से प्रक्षालित हो स्वच्छ हो जाता है। भाव यह है कि श्री-संपत्ति पाप-पंक से कलुषित जन के पास नहीं रहती, वह रहती है निष्पाप, योग्य व्यक्ति के पास। अतः समझदार व्यक्ति को चाहिए कि वह संपदा का दान याचक को करे। यह भी संकेत है कि संपदा और श्रीशोभा दानी के कर-कमल में ही वास करती है, जो संकलपसलिलप्रक्षेप करते-करते पवित्र और स्वच्छ हो गया है—निष्पाप। पापी, कृपण तो श्री-संपत्तिहीन हो जाता है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-रूपक और छेकानुप्रास ॥ ८७ ॥

याचमानजनमानसवृत्तेः पूरणाय बत जन्म न यस्य।
तेन भूमिरतिभारवतीयं न द्रुमैर्न गिरिभिर्न समुद्रैः॥ ८८ ॥

जीवातु—याचमानेति। यस्य धनिनो जन्म याचमानजनमानसवृत्तेरर्थिजनमनोरथस्य पूरणाय न भवति। बतेति खेदे। तनैकनैव पापीयसा। इयं भूमिरतिभारवती। न द्रुमादिभिर्बहुभिरपीत्यर्थः। तेभ्यः प्रजानां बहूपकारलाभादिति भावः॥ ८८ ॥

अन्वयः—यस्य जन्म याचमानजनमानसवृत्तेः पूरणाय न, बत तेन इयं भूमिः अतिभारवती, न द्रुमैः, न गिरिभिः, न समुद्रैः।

हिन्दी—जिस (व्यक्ति) का जन्म याचक जनों के मानसव्यापार (इच्छा) की पूर्त्ति के लिए नहीं हुआ, उस (व्यक्ति) से यह धरती अत्यंत बोझिल है, न वृक्षों से है, न पर्वतों से और न समुद्रों से।

टिप्पणी—वस्तुतः याचकों की आकांक्षा जो पूर नहीं पाते, वे व्यक्ति व्यर्थ ही नहीं, इस धरती के भारी बोझ हैं। प्रत्यक्षतः बोझ प्रतीत होने वाले वृक्ष, पर्वत, समुद्र भार नहीं है, क्योंकि उनसे तो पृथ्वी के प्राणियों के अनेक कार्य सधते हैं, वे तो जनोपकारी हैं। तो धरती की छाती पर पड़े एक भारवान् पाषाण के तुल्य व्यक्ति को भी लोकोपकारक होना चाहिए। वृक्ष फूल-फलों से, पर्वत-समुद्र ओषधि-रत्नों से लोकोपकार करते हैं। याचकों का

देकर मनुष्य को अपना अस्तित्त्व सफल बनाना चाहिए। विद्याधर के अनुसार असंबंध में संबंध कथन रूप अतिशयोक्ति ॥ ८८ ॥

मा धनानि कृपणः खलु जीवन् तृष्णयार्पयतु जातु परस्मै।
तत्र नैष कुरुते मम चित्रं यत्तु नार्पयति तानि मृतोऽपि ॥ ८९ ॥

जीवातु—मेति। कृपणः कष्टलुब्धो, जीवन् प्राणन्, तृष्णया अतिगर्धनेन, जातु कदापि, परस्मै याचमानाय धनानि, ना (मा) र्पयतु न प्रयच्छतु। एष कृपणस्तत्र जीवनक्षणानर्पणे, मम चित्रं विस्मयं न कुरुते। किंतु, मृतोऽपि तानि धनानि, नार्पयति प्रयच्छतीति यत्तत्र चित्रं कुरुते विरोधात्। नार्पाणि नृपसम्बन्धीनि कुरुत इति तदाभासीकरणाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ८९ ॥

अन्वयः—कृपणः जीवन् तृष्णया जातु परस्मै धनानि मा अर्पयतु, तत्र मम चित्रं न कुरुते, यत् एषः तु मृतः अपि तानि न अर्पयति।

हिन्दी—कंजूस जीवित रहते कभी अन्य को धनार्पण न करे, इस विषय में मुझे विचित्र नहीं लगता, क्योंकि यह तो मर जाने पर भी धन दान नहीं करता।

टिप्पणी—जो कार्य मनुष्य मरने पर भी, मृत्यु-भय उपस्थित होने पर भी नहीं करता, वह जीते-जी तो करेगा ही नहीं। इस दृष्टि से कृपण का जीवित रहते धन न देना नल को विचित्र नहीं लगता, क्योंकि वह मर जाने पर भी धन-दान नहीं करता। उसका धन तो राज्याधीन हो जाता है अथवा अन्य जन खाते—उड़ाते हैं। इसके अतिरिक्त कृपण जीते-जो दान न करे, इसमें आश्चर्य नहीं, क्योंकि उसका कुछ-न-कुछ उपयोग तो वह करता ही है; आश्चर्य तो यह है कि मरते-मरते भी वह दान नहीं करता, जब कि वह धन का कोई उपयोग नहीं कर सकता। यही आश्चर्य-जनक है। आश्चर्य यह भी है कि जिसने जीते-जी किसी को नहीं दिया, मरे पर राजा को दे दिया। मल्लिनाथ के अनुसार विरोधाभास, विद्याधर यहाँ श्लेष मानते हैं ॥ ८९ ॥

माममीभिरिह याचितवद्भिर्दातृजातमवमत्य जगत्याम्।
यद्यशो मयि निवेशितमेतन्निष्क्रयोऽस्तु कतमस्तु तदीयः ॥ ९० ॥

जीवातु—मामिति। जगत्यां भुवि भुवने वा। 'जगती भुवने भूम्याम्' इति विश्वः। दातृजातमवमत्यावधीर्य, मां याचितवद्भिरमीभिर्देवैर्यद्यशो मयि

निवेशितं स्थापितम्, एतन्निष्क्रयः एतस्य यशसो निष्क्रयः प्रतिनिधिभूतः। कतमस्तु पदार्थस्तदीयोऽस्तु इन्द्रादिसम्बन्धी स्यात्। किं वितीर्य अनृणो भविष्यामीत्यर्थः ॥ ९० ॥

अन्वयः--जगत्यां दातृजातम् अवमत्य मां याचितवद्भिः अमीभिः यत् यशः मयि निवेशितम्, एतन्निष्क्रयः तु कतमः अस्तु ?

हिन्दी—जगती के दाताओं (कल्पवृक्षादि) की अवमानना करके मुझसे याचना करते इन देवों ने जो यश मुझ में प्रतिष्ठित किया है, उसका मोल क्या हो ?

टिप्पणी—संसार में कल्पवृक्ष आदि महादानी हैं, जो अभीष्ट देते हैं। उनके रहते जो इन्द्रादि देव नल से याचना करने आये, स्वाभाविक रूप से यह नल की यशः-प्रतिष्ठा का कारण था, अतः नल विचारने लगा कि वह क्या है, जिसे देकर इस यशः-प्रतिष्ठा का मूल्य दिया जाय ? बहुत बड़ा है देवों का यह ऋण। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छेकानुप्रास ॥९०॥

लोक एष परलोकमुपेता हा विहाय निधने धनमेकः।
इत्यमुं खलु यदस्य निनीषत्यर्थिबन्धुरुदयद्दयचित्तः ॥ ९१ ॥

जीवातु -- लोक इति। एष लोको जनः, हा कष्टं, निधने अन्त्यकाले, धनं विहाय, एकः एकाकी, परलोकमुपेता उपैष्यति। इणो लुट्। इति हेतोरुदयद्दयमुद्यत्कृपश्चित्तं यस्य सोऽर्थ्येव, बन्धुरस्य लोकस्य, तद्धनम् अमुं परलोकं, निनीषति नेतुमिच्छति खलु। अन्ये तु बन्धवः स्वयमेव सर्वस्वं गृह्णन्ति। नैवं प्रापयन्तीत्ययमेवापद्बन्धुः सङ्ग्राह्य इति भावः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—हा, एषः लोकः निधने धनं विहाय एकः परलोकम् उपेता,—इति उदयद्दयचित्तः अर्थिबन्धुः अस्य तत् अमुं निनीषति खलु।

हिन्दी—हा खेद, यह मनुष्य अन्त्य समय में धन छोड़कर अकेला परलोक पहुँचेगा, इस कारण सदयचित्त याचक-बंधु इस (दाता) के उस (धन) को वहाँ (परलोक में) निश्चयतः ले जाना चाहता है।

टिप्पणी—मृत्यु होने पर सब को धन-धान्य-पुत्र-संपदा यहीं छोड़कर जाना पड़ता है, इसलिए उचित है कि दान-पुण्यादि में व्यय कर धन-संपत्ति का सदुपयोग करे। कहा जाता है कि जो इस लोक में दिया जाता है, परलोक में

अनेक गुण ही मिलता है। इस प्रकार याचक ऐसा बंधु है, जो अपने दाता बंधु का धन इस लोक से दूसरे लोक में लेजा कर सहायक हो जाता है अन्य बंधु-बाधव तो रहा धन हड़प ही लेते हैं। अतः दान ही श्रेष्ठ कर्तव्य है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-उत्प्रेक्षा-रूपक का संकर ॥ ९१ ॥

दानपात्रमधमर्णमिहैकग्राहि कोटिगुणितं दिवि दायि।
साधुरेति सुकृतैर्यदि कर्तुं पारलौकिककुसीदमसीदत् ॥ ९२ ॥

जीवातु—दानेति। साधुः सज्जनो वार्धुषिकश्च। 'साधुः त्रिषु हिते रम्ये वार्धुषी सज्जने पुमान्' इति वैजयन्ती। इहास्मिन् लोके, एकं गृह्णातीत्येकग्राहि। दिवि परलोके, एकं कोटिगुणितं कोटिश आवृत्तं, दायि दातृ। 'वस्त्रधान्यहिरण्यानां चतुस्त्रिद्विगुणा मता' इति लोके वृद्धेः परिमितिरस्ति। इदं त्वपरिमितदायीत्यर्थः। 'आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः' इत्याधमर्ण्ये णिनिप्रत्ययः। 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' इति षष्ठीप्रतिषेधाद् द्वितीया। दानपात्रं नामाधमर्णं धनग्राहीति रूपकम्। 'उत्तमर्णाधमर्णौ द्वौ प्रयोक्तृग्राहकौ क्रमात्' इत्यमरः। सुकृतैरेति यदि। तदा असीददविनश्यत्। परलोके भवं पारलौकिकं, 'परलोकाच्चेति वक्तव्यम्' इति भवार्थे ठक्प्रत्ययः। कुसीदं वृद्धिजीवनं कर्तुः अलमिति शेषः। 'कुसीदं वृद्धिजीविका' इत्यमरः। 'नादत्तमुपतिष्ठते' इति न्यायाददातुः न किञ्चिदामुष्मिकं सुखम्। दातुः पुनरनन्तरमिति सर्वथा अर्थिने दातव्यमिति भावः ॥ ९२ ॥

अन्वयः—इह एकग्राहि दिवि कोटिगुणितं दायि दानपात्रम् अधमर्णं सुकृतैः पारलौकिककुसीदम् असीदत् कर्तुं यदि (एति तर्हि) साधुः एव एति।

हिन्दी—यहाँ (इस लोक में) एक लेकर स्वर्ग में करोड़ गुना देने वाले दान-पात्र रूप ऋण लेने वाले (रिनिया) को सुकर्मों (पुण्यों) से, परलोक-भव ब्याज को अनश्वर करने के निमित्त, यदि कोई प्राप्त करता है तो वह साधु (सज्जन ब्याजजीवी) ही।

टिप्पणी—ऐसा रिनिया किसी ब्याजजीवी को कठिनता से ही प्राप्त होता है, जो करोड़गुना ब्याज सदा देता रहा है। किसी बड़े सज्जन ऋणदाता का ही ऐसा पुण्य होता है, अन्यथा ऋण के ब्याज की तो बात क्या, अनेक अधमर्ण तो मूल भी मार खा जाते हैं। याचक ऐसा ही रिनिया है, जो परलोक

में दाता को सदा लिये का करोड़गुना देता रहता है। सामान्यतः संसार में वस्त्र, धान्य, स्वर्ण आदि में चौगुनी, दुगुनी, तिगुनी ही वृद्धि हो पाती है; दान के धन में तो अपरिमित वृद्धि होती है। अतः याचक प्राप्त होने पर जो व्यक्ति दान नहीं देते, वे व्यवहार जानते ही नहीं। मल्लिनाथ ने दानपात्र-अधमर्ण में रूपक का उल्लेख किया है, विद्याधर के अनुसार यहाँ अति-शयोक्ति-व्यतिरेक-छेकानुप्रास का संकर है ॥ ९२ ॥

एवमादि स विचिन्त्य मुहूर्तं तानवोचत पतिर्निषधानाम् ।
अर्थिदुर्लभमवाप्य च हर्षाद्याच्यमानमुखमुल्लसितश्रि ॥ ९३ ॥

जीवातु—एवमादीनि। स निषधानां पतिः नलः, एवमादि मुहूर्तमल्प-कालं, विचिन्त्य, अर्थिभिर्दुर्लभं हर्षादुल्लासितश्रि वर्धमानश्रीकं, प्रसन्नमित्यर्थः। शैषिकस्य कपो वैभाषिकत्वान्नपुंसकत्वं ह्रस्वत्वम्। याच्यमानमुखं दातृमुखं चावाप्य प्रसन्नमुखो भूत्वेत्यर्थः, तानिन्द्रादीनवोचत ॥ ९३ ॥

अन्वयः—एवमादि मुहूर्त्तं विचिन्त्य सः निषधानां पतिः अर्थिदुर्लभं हर्षात् उल्लसितश्रि याच्यमानमुखं च अवाप्य तान् अवोचत।

हिन्दी—इस (पूर्वोक्त) प्रकार से मुहूर्त्त भर विचार कर वह निषध-वासियों का स्वामी (नल) याचक-दुर्लभ प्रसन्नता के कारण उल्लास भरे-शोभासंपन्न याचना करनेवाले मुख को पाकर उन (देवों) से बोला।

टिप्पणी—श्लोक संख्या ८०-९२ में उक्त प्रकार से विचार करके नल ने पाया कि उसके संमुख ऐसे याचक उपस्थित हैं, जिनके मुख पर वह दीन भाव नहीं है, जो सामान्य याचकों में होता है, उदास भी वे नहीं हैं। ऐसे याचकों को देना तो और भी पुण्यदायक होगा। विचार करके नल ने उनसे (९४-९७) कहा। विद्याधर के अनुसार भावोदय अलंकार ॥ ९३ ॥

नास्ति जन्यजनकव्यतिभेदः सत्यमन्नजनितो जनदेहः ।
वीक्ष्य वः खलु तनूममृतादां दृङ्निमज्जनमुपैति सुधायाम् ॥ ९४ ॥

जीवातु—नास्तीति। जन्यजनकयोः कार्यकारणयोर्व्यतिभेदो नास्ति, कार्यं स्वोपादानादभिन्नमित्यर्थः। जनदेहः अन्नजनितः मुक्ताहारपरिणामश्चे-त्येतदुभयं सत्यमित्यर्थः। कुतः, अमृतमदन्तीत्यमृतादः। 'अदोऽनन्ने' इति विट्-प्रत्ययः। तेषाममृतादाममृतभुजां, वो युष्माकं, तनूं मूर्तिं, वीक्ष्य दृष्टिः सुधायां

निमज्जनमुपैति खलु सुधामज्जनसुखमनुभवतीत्यर्थः। जनदेहानामन्नजन्यत्वे तद्वदेव युष्मद्देहानामपि तथात्वे कथमेतत्सुधाकार्यकारित्वं न स्यादित्यर्थः। युष्मद्दर्शनादेव तावत्कृतार्थोऽस्मीति भावः ॥ ९४ ॥

अन्वयः—जन्यजनकव्यतिभेदः न अस्ति, जनदेहः अन्नजनितः, सत्यम्; अमृतादां वः तनूं वीक्ष्य दृक् खलु सुधायां निमज्जनं उपैति।

हिन्दी—उत्पत्ति (कार्य) और उत्पादक (कारण) में विशेष भेद नहीं है; व्यक्ति का देह अन्न से उत्पन्न है—(ये दोनों) सत्य हैं; अमृतभक्षी आप (देवों) का शरीर देखकर दृष्टि निश्चयतः अमृत में निमग्न हो रही है।

टिप्पणी—नल के शिष्टाचारपूर्ण वचन। अमृतभोजी देवों को देखकर नल के नेत्रों को अमृत-सरोवर में मग्न होने का सुख मिला, क्योंकि 'कार्य-कारणयोरभेदः' न्याय से जैसा भक्ष्य, वैसा ही तज्जनित देह। देव अमृतभोजी हैं, अतः उनका देह भी अमृत, जैसे कि सुवर्ण-निर्मित कुण्डल भी सुवर्ण ही होते हैं। विद्याधर के अनुसार अर्थान्तरन्यास ॥ ९४ ॥

मत्तपः क्व नु तनु क्व फलं वा यूयमीक्षणपथं व्रजथेति।
ईदृशान्यपि दधन्ति पुनर्नः पूर्वपूरुषतपांसि जयन्ति ॥ ९५ ॥

जीवातु—मदिति। तनु स्वल्पं मत्तपः क्वः?। यूयमीक्षणपथं व्रजथेति फलं युष्मद्दर्शनरूपं महाफलं वा क्व? वैरूप्यादिति भावः। अत एव विरूप-घटनारूपो विषमालङ्कारः। अथवा ईदृशानि ईदृङ्महाफलान्यपि दधन्ति पुष्णन्ति। 'वा नपुंसकस्य' इति नुमागमः। पुनःशब्दो वाक्यालङ्कारे। नोऽस्माकं पूर्वपूरुषतपांसि जयन्ति तानीदानीं फलन्तीत्यर्थः ॥ ९५ ॥

अन्वयः—तनु मत्तपः क्व, यूयम् ईक्षणपथं व्रजथ इति फलं वा क्व? ईदृशानि अपि दधन्ति नः पूर्वपुरुषतपांसि पुनः जयन्ति।

हिन्दी—थोड़ी-सी मेरी तपस्या कहाँ, और आप नेत्रों के पथ पर यात्रा करें—ऐसा (महान्) फल कहाँ? ऐसा भी विधान करते हमारे पूर्वपुरुषों के तप ही फल रहे (प्रतीत होते) हैं।

टिप्पणी—नल ने देवों से कहा कि आप देवों के दर्शन तो बड़े तप के फल-स्वरूप प्राप्त पुण्यों से होते हैं, मैं तो सामान्य नियमाचरण से जीवन-यापन करने वाला व्यक्ति हूँ—थोड़ी-सी तपस्या। आपके दर्शनों के कारण

हमारे पुरखाओं के रूप ही प्रतीत होते हैं। मल्लिनाथ ने प्रथम द्वितीयचरण-वाक्य में विरूपघटनारूप विषम अलंकार का निर्देश किया है, विद्याधर के अनुसार विषम और अतिशयोक्ति है ॥ ९५ ॥

प्रत्यतिष्ठिपदिलां खलु देवीं कर्म सर्वसहनव्रतजन्म।
यूयमप्यहह पूजनमस्या यन्निजैः सृजथ पादपयोजैः ॥ ९६ ॥

जीवातु—प्रतीति। इलां देवीं भूदेवतां, सर्वसहनं विश्वावमानसहनमेव व्रतं येन सा सर्वसहेति ख्यायते। तस्माज्जन्म यस्य तत्तज्जन्यमित्यर्थः। कियत इति कर्म सुकृतं (कर्तृ) प्रत्यतिष्ठिपत् प्रतिष्ठापयामास खलु। 'तिष्ठतेरित्' इति णौ चङ्युपधाया इकारः। यद्यस्माद्यूयमपि निजैः पादैरेव पयोजैरिति रूपकम्। अस्या इलायाः पूजनं पूजां सृजथ कुरुध्वमित्यर्थः। अहहेत्यद्भुते ॥ ९६ ॥

अन्वयः—सर्वसहनव्रतजन्म कर्म इलां देवीं प्रत्यतिष्ठिपत् खलु, अहह, यत् यूयम् अपि निजैः पादपयोजैः अस्याः पूजनं सृजथ।

हिन्दी—सब कुछ सहने के व्रत से उद्भूत कर्म (सुकृत-पुण्य) ने धरित्री देवी को निश्चयतः प्रतिष्ठापना दी है, अहो, कि आप (देव) भी अपने चरण-रूपी कमलों से इस (पृथ्वी देवता) की पूजा कर रहे हैं।

टिप्पणी—निश्चय ही यह धरती पूजनीया देवी है, क्योंकि देवगण भी उसकी कमलों (चरण-कमलों) से पूजा कर रहे हैं। देवों की प्रसन्नता ही बड़ी कठिनता से प्राप्त होती है, परंतु यहाँ तो देवगण पृथ्वी की पूजा कर रहे हैं। इससे प्रमाणित है कि धरती ने जो सब कुछ सहने की वृत्ति ले रखी है, उसी सुकृत का यह परिणाम है। नल ने शिष्टाचार प्रदर्शन-पूर्वक देवों से उनके मृत्युलोक में पधारने का कारण पूछा। देवों का सशरीर पृथ्वी पर आना आश्चर्यजनक है ही। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा-रूपक ॥ ९६ ॥

जीवितावधि किमप्यधिकं यन्मनीषितमितो नरडिम्भात्।
तेन वश्चरणमर्चतु सोऽयं ब्रूत वस्तु पुनरस्तु किमीदृक् ॥ ९७ ॥

जीवातु—जीवितेति। इतो नरडिम्भान्मानुषशिशोः जीवितावधि प्राणान्तं ततोऽधिकं वा किमपि मनीषितमीप्सितं यद्वस्तु सोऽयं नरडिम्भः, तेन वस्तुना, वश्चरणमर्चतु पूजयतु। ईदृगलभ्यं वस्तु पुनः किमस्तु किं स्याद्, ब्रूत ॥ ९७ ॥

अन्वयः—इतः नरडिम्भात् जीवितावधि ततः अधिकं वा किम् अपि मनीषितं यत् वस्तु सः अयं तेन वः चरणम् अर्चतु, ब्रूत—ईदृक् पुनः किम् अस्तु ?

हिन्दी—इस मनुष्य के बालक से जीवन–प्राण अथवा उससे अधिक भी जो कुछ अभीष्ट वस्तु हो, वह यह (मनुष्य-बालक) उस (वस्तु) से आपके चरणों का पूजन करे। कहिए, ऐसी वस्तु क्या होगी ?

टिप्पणी—वदान्य नल ने स्पष्ट कर दिया कि वह प्राणों को अथवा उनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु देकर देवों का याचित देगा। निःशंक होकर वे अभीष्ट याचना करें। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और हेतु अलंकार॥९७॥

एवमुक्तवति मुक्तविशङ्के वीरसेनतनये विनयेन।
वक्रभावविषमामथ शक्रः कार्यकैतवगुरुर्गिरमूचे ॥ ९८ ॥

जीवातु—एवमिति। एवं वीरसेनतनये नले, विनयेन अकपटेन, मुक्तविशङ्के विस्रब्धमुक्तवति सति। अथ कार्येषु कर्तव्यार्थेषु यानि कैतवानि कपटानि तेषां गुरुरुपदेष्टा शक्रः। वक्रभावः प्रतिकूलाभिप्रायः, तेन विषमां प्रतिकूलां गिरमूचे उवाच ॥ ९८ ॥

अन्वयः—मुक्तविशङ्के वीरसेनतनये विनयेन एवम् उक्तवति अथ कार्यकैतवगुरुः शक्रः वक्रभावविषमां गिरम् ऊचे।

हिन्दी—निःशंक होकर वीरसेन के पुत्र (नल) द्वारा विनयपूर्वक ऐसा कह देने के पश्चात् कार्य-सिद्धि के निमित्त कपटाचार करने में प्रवीण इन्द्र कुटिलता से भरी वक्रोक्तिपूर्ण वाणी बोला।

टिप्पणी—वीरसेन अर्थात् वीरों की सेना के स्वामी के तनय का शंकाहीन रहना स्वाभाविक ही है, सच्चा शूर विनयी भी होता ही है। ऐसे सत्यवाक् व्यक्ति को कपटाचारियों के गुरु इन्द्र ने अपने छल-छद्म में फँसाने के निमित्त छलभरे वचनों का आश्रय लिया ॥ ९८ ॥

पाणिपीडनमहं दमयन्त्याः कामयेमहि महीमिहिकांशो !।
दूत्यमत्र कुरु नः स्मरभीतिं निर्जितस्मर ! चिरस्य निरस्य ॥ ९९ ॥

जीवातु—पाणीति। हे महीमिहिकांशो भूतलहिमांशो ! 'प्रालेयं मिहिका च' इत्यमरः। वयं दमयन्त्याः पाणिपीडनमहं विवाहोत्सवं कामयेमहि अभिलषेमहि। हे निर्जितस्मर ! अत एव स्मरभीतिं चिरस्य निरस्य दूरतो

निरस्येत्यर्थः । 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः' इत्यमरः । अत्रोद्वाहकृत्ये नोऽस्माकं दूत्यं दूतकर्म । 'दूतस्य भागकर्मणी' इति यत्प्रत्ययः । कुरु ॥ ९९ ॥

अन्वयः—महीमिहिकांशो, दमयन्त्या पाणिपीडनमहं कामयेमहि (अथवा अहं महि पाणिपीडनं कामये), निर्जितस्मर, स्मरभीतिं चिरस्य निरस्य अत्र नः दूत्यं कुरु ।

हिन्दी—हे पृथ्वीतल के चंद्र, हम दमयन्ती के पाणिग्रहण-महोत्सव की कामना करते हैं (अथवा मैं (इन्द्र) दमयन्ती का उत्सवसमारोहपूर्ण पाणिग्रहण चाहता हूँ) । हे कामजयी, कामभय को तुरन्त दूर कर हमारा दूतकर्म करो ।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में इन्द्र को 'कैतवगुरु' कहा गया । उसने नल के विश्वास को छल कर उसकी प्राणाधिका की याचना तो की ही, ऐसे छल वचन (वक्रोक्ति) भी बोले, जिसके दो अर्थ होते हैं—(१) हम सब दमयन्ती का पाणिग्रहण चाहते हैं । (२) मैं (इन्द्र) चाहता हूँ । नल से ही नहीं, अपने साथियों से भी इन्द्र छलकर रहा था । नल को भूतलचन्द्र का विशेषण भी दिया गया और उसे 'निर्जितस्मर' विशेषण देकर कामभय छोड़ने की संमति भी दी । यह भी संकेत दे दिया कि काम से भले ही न डर, पर मुझ से डर । मेरा दूतत्व तुरन्त संपादित कर, अन्यथा दंड दूँगा—'चिरस्य निरस्य (देर न लगा कर) नः दूत्यं कुरु, नः भीतिं स्मर' (हम से भय का स्मरण कर ले ॥ ९९ ॥

आसते शतमधिक्षिति भूपास्तोयराशिरसि ते खलु कूपाः ।
किं ग्रहा दिवि न जाग्रति ते ते भास्वतस्तु कतमस्तुलयाऽस्ते ॥१००॥

जीवातु—आसत इति । अधिक्षिति क्षितौ । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । शतं भूपाः आसते अपरिमिताः सन्तीत्यर्थः । अत्र त्वं तोयराशिरसि । ते भूपाः कूपाः खलु, भूपत्वसाम्येऽपि तेषां तव च समुद्रकूपयोरिव महदन्तरमित्यर्थः । तथा हि—दिव्याकाशे । ते ते ग्रहाश्चन्द्रादयो न जाग्रति न प्रकाशन्ते किम् ? किंतु कतमो ग्रहो भास्वतस्तुलया साम्येनास्ते । कोऽपीत्यर्थः । तद्वत्त्वापि न कोऽपि भूपस्तुल्य इति दृष्टान्तालङ्कारः ॥ १०० ॥

अन्वयः—अविक्षिति शतं भूपाः आसते; तोयराशिः असि, ते खलु कूपाः; दिवि ते ते ग्रहाः न जाग्रति, भास्वतः तु तुलया कतमः आस्ते ?

हिन्दी—पृथ्वीमंडल पर सैकड़ों पृथ्वीपाल हैं, तू जलनिधि (सागर) है और वे निश्चयतः कूप। आकाश में वे वे (प्रसिद्ध चंद्रादि) ग्रह क्या नहीं हैं, किंतु सूर्य की तुलना में कौन ठहरता है ?

टिप्पणी—चाटुकारी। अन्य पृथ्वीपतियों की तुलना में नल वैसा ही है, जैसा कि कूपों की तुलना में जलनिधि समुद्र अथवा चंद्रादि ग्रहों की तुलना में सूर्य। भाव यह है कि नल से बड़ा न तो कोई धरती पर है, न आकाश में, न मृत्युलोक में, न स्वर्ग में। मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टांत अलंकार, विद्याधर के अनुसार रूपक और दृष्टांत ॥ १०० ॥

विश्वदृश्वनयना वयमेते त्वद्गुणाम्बुधिमगाधमवेमः।
त्वामिहैव विनिवेश्य रहस्ये निर्वृतिं न हि लभेमहि सर्वे ? ॥ १०१ ॥

जीवातु—विश्वेति। विश्वं पश्यन्तीति विश्वदृश्वानि, सर्वदर्शीनि। दृशेर्ण्यन्तात् क्वनिप्। तानि नयनानि येषां ते वयमेवागाधं गम्भीरम्, तव गुणाः दयादाक्षिण्यवशित्वसत्यसन्धत्वादयः, तानेवाम्बुधिमवेमः अवगच्छामः। इणो लटो मस्। हि यस्मात्, इहास्मिन्, रहस्ये रहस्यकृत्ये, त्वामेव विनिवेश्य नियोज्य, सर्वे वयं निर्वृतिं सुखं न लभेमहीति काकुः। लभेमह्येव, प्रागुक्त-गुणाढ्यत्वादिति भावः ॥ १०१ ॥

अन्वयः—विश्वदृश्वनयना एते वयम् अगाधं त्वद्गुणाम्बुधिम् अवेमः, हि इह रहस्ये त्वाम् एव विनिवेश्य सर्वे निर्वृतिं न लभेमहि ?

हिन्दी—अखिल विश्व को देखने में समर्थ नेत्रों वाले ये हम (देव) तुम्हारे अथाह गुणों के समुद्र से परिचित हैं, जिससे कि इस गोपनीय कार्य में तुम्हें ही नियुक्त कर हम सब क्या परमसुख नहीं पा रहे हैं ? (पा ही रहे हैं)।

टिप्पणी—तृतीय चरण में पाठान्तर है—'त्वामिहैवमनिवेश्य' (त्वाम् + इह + एवम् + अनिवेश्य)—अर्थ होगा कि इस रहस्य में तुम्हें नियुक्त न करके सुख-भरोसा नहीं पा रहे है। भाव यह है कि देवों का कार्य इतना गोपनीय और महत्त्वपूर्ण है कि नलातिरिक्त व्यक्ति नहीं कर सकता। सो

अकेले ही समर्थ नल देवकार्य न करेगा तो वह न हो सकेगा और नल अपराधी होने से शाप-भागी बनेगा। 'सर्वे' के प्रयोग द्वारा पूर्वश्लोक में की गई सहचरवंचना का गोपन। मल्लिनाथ ने 'काकु' का उल्लेख किया है, विद्याधर ने छेकानुप्रास और रूपक का ॥ १०१ ॥

शुद्धवंशजनितोऽपि गुणस्य स्थानतामनुभवन्नपि शक्रः।
क्षिप्नुरेनमृजुमाशु सपक्षं सायकं धनुरिवाजनि वक्रः॥ १०२ ॥

जीवातु—शुद्धेति। शुद्धे अव्रणे, वंशे कुले, वेणौ च। जनितोऽपि। 'वंशो वेणौ कुले वर्गे, इति विश्वः। गुणस्य शौर्यादेः मौर्व्याश्च। 'सत्त्वादौ रूपादौ शौर्यादौ तन्तुषु प्रयोगज्ञाः। गुणशब्दः शिञ्जिन्याम्' इति हलायुधः। स्थानतामाश्रयत्वमनुभवन्नपि शक्रः ऋजुमकुटिलबुद्धिम्, अवक्रश्च। सपक्षं सुहृदं सपत्रं च, एनं नलं, सायकं धनुश्चाप इव। 'अथास्त्रियौ धनुश्चापौ—' इत्यमरसिंहाभिधानात्पुँल्लिङ्गप्रयोगः। अथवायंशब्द उकारान्तोति उणादौ भ्रमशक्यादिसूत्रेण धनधातोः सौत्रे डप्रत्ययविधानात्। आशु। क्षिप्नुः क्षेप्ता सन्, क्षिपेः क्नुः। 'न लोक—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधाद् द्वितीयैव। वक्रो जिह्मोऽजनि। श्लिष्टविशेषणेयमुपमेति केचित्। प्रकृताप्रकृतश्लेष इत्यन्ये।१०२।

अन्वयः—शुद्धवंशजनितः अपि गुणस्य स्थानताम् अनुभवन् अपि ऋजुं सपक्षम् सायकम् इव एनम् आशु क्षिप्नुः शक्रः धनुः इव वक्रः अजनि।

हिन्दी—शुद्ध कुल (विशिष्ट कश्यप कुल) में उत्पन्न होकर भी और विवेकादि गुणों का आश्रय होते हुए भी सीधे, पंखयुक्त बाण के सदृश सरल-शुद्ध और मित्र इस (नल) का शीघ्र क्षेपण (बाण छोड़ना और प्रेरण) करने का इच्छुक इन्द्र दृढ बाँस से बने भी, प्रत्यंचा चढ़े धनुष् के समान वक्र (क्रूर-कुटिल और टेढ़ा) हो गया।

टिप्पणी—जैसे बाण-त्यागने को प्रस्तुत धनुष् कठोर बाँस से बना होने पर टेढ़ा हो जाता है, इसी प्रकार नल को दूतकार्य में तुरंत नियुक्त करने के आकांक्षी इन्द्र ने कुटिलतापूर्वक अपने सरल मित्र नल की वंचना की। मल्लिनाथ ने कहा है कि प्रस्तुत श्लोक में कुछ विद्वान् श्लिष्ट उपमा का विधान करते हैं और कुछ प्रकृताप्रकृत श्लेष का, विद्याधर के अनुसार उपमा ॥१०२॥

तेन तेन वचसैव मघोनः स स्म वेद कपटं पटुरुच्चैः ।
आचरत्तदुचितामथ वाणीमार्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः ॥ १०३ ॥

जीवातु–तेनेति । उच्चैः पटुरतिकुशलः, स नलः, तेन तेन वचसैव मघोनः इंद्रस्य कपटं वेद स्म विवेद । अथ वेदानन्तरं, तदुचितां तस्य कपटस्योचितामनुरूपां वाणीमाचरत् । स्वयमपि कपटोक्तिमेवाकरोदित्यर्थः । तथा हि— कुटिलेषु, विषये, आर्जवमकौटिल्यं नीतिर्न हि । ततः कुटिलेनैव भवितव्यम् । अन्यथा महान्तमनर्थमृच्छेदिति भावः ॥ १०३ ॥

अन्वयः—उच्चैः पटुः सः तेन तेन वचसा एव मघोनः कपटं वेद स्म, अथ तदुचितां वाणीम् आचरत्, हि कुटिलेषु आर्जवं नीतिः न ।

हिन्दी—अत्यन्त कुशल उस (नल) ने उन-उन (९९-१०१ श्लोक) वचनों से ही इन्द्र का कपट जान लिया और तदनन्तर तदुपयुक्त (कपट योग्य) वाणी का व्यवहार किया; कारण कि कुटिल जनों के प्रति सरलता नीति नहीं होती ।

टिप्पणी—नल तो परम कुशल था, विद्या जिसकी 'रचनाग्रनर्तकी' थी, सो उसने इन्द्र का संपूर्ण कपटाचार जान लिया और वैसे ही छल-वाक्यों में उत्तर देने को उद्यत हुआ । वस्तुतः उसका यह व्यवहार उचित ही था, 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' । भारवि (किरातार्जुनीय प्रथमसर्ग) ने कहा भी है—'व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।' विद्याधर के अनुसार अर्थान्तरन्यास ॥ ४०३ ॥

सेयमुच्चतरता दुरितानामन्यजन्मनि मयैव कृतानाम् ।
युष्मदीयमपि या महिमानं जेतुमिच्छति कथापथपारम् ॥ १०४ ॥

जीवातु—सेयमिति । सेयमन्यजन्मनि जन्मान्तरे, मयैव कृतानां दुरितानामुच्चतरता महत्ता । तथा किमपराद्धं, तदाह–या पापमहत्ता कथापथस्य वाग्वृत्तेः, पारं दूरमवाच्यमित्यर्थः । युष्मदीयमपि महिमानं प्रभावमाज्ञारूपं जेतुमुल्लङ्घितुमिच्छति । पापातिरेकाद्युष्मदाज्ञोल्लङ्घनेच्छा मे जायते इति विनयोक्तिः । सर्वथा युष्मन्नियोगो न क्रियत इति परमार्थः ॥ १०४ ॥

अन्वयः– सा इयम् अन्यजन्मनि मया एव कृतानां दुरितानाम् उच्चतरता या कथापथपारं युष्मदीयम् अपि महिमानं जेतुम् इच्छति ।

हिन्दी--(नल ने कहा)--यह दूसरे (पूर्व) जन्म में मेरे द्वारा ही किये गये पापों की अतिशयता है, जो कि कथन-मार्ग के पार (अवर्णनीय, वागगोचर) तुम्हारे भी माहात्म्य को जीतने की इच्छा कर रही है ।

टिप्पणी—देव तो अत्यन्त प्रतिष्ठित हैं, उनकी आज्ञा का पालन पुण्य कर्म है । यदि कोई व्यक्ति विरुद्ध कार्य करता है तो उसका वह दुर्भाग्य ही है । नल इन्द्रादि का अभीष्ट-पालन करने में जो असर्थता दिखा रहा है, वह उसके जन्मांतर के दुष्कृतों का परिणाम ही माना जा सकता है । नल ने कहा कि आपकी आज्ञा का पालन सुकृतों से ही संभव है, वह वैसा पुण्य-भाजन नहीं है । नल ने भी छलगिरा का आश्रय लेते हुए एक ओर तो विनयपूर्वक अपनी असमर्थता प्रकट की दूसरी ओर यह भी स्पष्ट कर दिया कि भीमनंदिनी को प्राप्त करने का जो आपको अभिमान है, मैं उसका खंडन करने में समर्थ हूँ—'मही उत्सववान् यः स चासौ मानः अहङ्कारश्च तं महिमानं भैमीप्राप्त्यहङ्कारं पराभवितुं या वाञ्छति सेयं ममैव सामर्थ्या-तिशयता ।' अच्छा हो कि देवगण भीमनन्दिनी की इच्छा न करें १०४ ॥

वित्त चित्तमखिलस्य न कुर्यां धुर्यकार्यपरिपन्थि तु मौनम् ।
ह्रीगिरास्तु वरमस्तु पुनर्मा स्वाकृतैव परवागपरास्ता ॥ १०५ ॥

जीवातु--ननु कुटिलोक्तेर्वरं मौनमत आह—वित्तेति । हे देवाः, अखिलस्य जनस्य, चित्तं वित्त विदित्वा ब्रूतेत्यर्थः । तर्हि, कीदृक् चित्तं तदाह—धुर्येति । धुर्यस्य इष्टसाधनसमर्थस्य, कार्यस्योपायप्रयोगस्य, परिपन्थि विरोधि, मौनं तु कुर्याम् । किंतु गिरापरिहारोक्त्या ह्रीरस्तु । वरम्, कार्यविरोधिनो मौनाल्लज्जावहमपि परिहारवचनमेव साध्वित्यर्थः । तर्हि मौनादेव परिहारे किं प्रतिषेधरौक्ष्येण तत्राह—परेति । परस्य वाक् प्रार्थनोक्तिरपरास्ता अप्रति-षिद्धा सती, स्वीकृतैव पुनः । अप्रतिषिद्धमनुमतमिति न्यायादङ्गीकृतैव तु मास्तु ॥ १०५ ॥

अन्वयः—अखिलस्य चित्तं वित्त, धुर्यकार्यपरिपन्थि मौनं तु न कुर्याम्; गिरा ह्रीः अस्तु वरम्, अपरास्ता परवाक् स्वीकृता एव पुनः मा अस्तु ।

हिन्दी--(तुम देवगण) सबके चित्त को जानते हो, (अतः) श्रेष्ठ जनों के कार्य के प्रतिकूल मौन-धारण तो नहीं करूँगा । वचनों से लज्जित

होना अच्छा, किन्तु निषेध न किये जाने के कारण (कहीं ऐसा न हो कि) दूसरों (तुम सबका) का वचन स्वीकृत (मान्य) समझ लिया जाय।

टिप्पणी—देवेन्द्र ने देवों को 'विश्वदृश्यनयना:' कहा था, अतएव नल ने चुप रहना इस कारण उचित न समझा कि देव सबके मनोभाव जानते हैं। दूसरे नल उनका प्रस्ताव मानना नहीं चाहता था, और मौन रहने पर यह माना जायेगा कि नल देव-प्रस्ताव से सहमत है—'मौनं स्वीकारलक्षणम्'। नल का कथन है कि यह अधिक उचित है कि मनुष्य कार्य न करने की बात स्पष्ट कह दे, भले ही ऐसा कहने में लज्जित होना पड़े, पर यह अत्यन्त अनुचित है कि चुप रहने से अस्वीकृति स्वीकृति मान ली जाय। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ॥ १०५ ॥

यन्मतौ विमलदर्पणिकायां सम्मुखस्थमखिलं खलु तत्त्वम्।
तेऽपि किं वितरथेदृशमाज्ञां या न यस्य सदृशी वितरीतुम् ॥ १०६ ॥

जीवातु—तत्र तावत्तानुपालभते—यदिति। येषां वो मतावेव विमलदर्पणिकायां निर्मलादर्शे, अखिलं तत्त्वं वस्तु सम्मुखस्थं प्रत्यक्षं खलु। ते सर्वज्ञा अपि यूयमीदृशमुक्तप्रकाराम्। 'त्यदादिषु—' इत्यादिना दृशेः कञ्प्रत्ययः। आज्ञां किं वितरथ दत्त। कीदृश्यत आह-येति। या यस्य मे वितरीतुं, दातुं, सदृशी योग्या न। तस्माद्यूयं ममोपालभ्या इत्यर्थः ॥ १०६ ॥

अन्वयः—विमलदर्पणिकायां यन्मतौ अखिलं तत्त्वं सन्मुखस्थं खलु ते अपि ईदृशम् आज्ञां किं वितरथ, या यस्य वितरीतुं सदृशी न।

हिन्दी—स्वच्छ दर्पण जैसी जिनकी बुद्धि में संपूर्ण तत्त्व निश्चयतः संमुख स्थित रहता है, वे (आप) भी ऐसा आदेश क्यों दे रहे है, जिसका देना (पूर्ण करना) जिस (नल) के उपयुक्त नहीं है।

टिप्पणी—देव जब सबके मनोभाव के ज्ञाता हैं तो वे नल के भाव भी जानते ही हैं। इस स्थिति में उसके दमयन्ती-अनुराग से देव अनभिज्ञ हों, यह समझ में आने की बात नहीं है। दमयन्ती की कामना करने वाले नल से देवों का दौत्यसंबंधी प्रस्ताव ऐसी दशा में अत्यन्त अनुचित है। विद्याधर के अनुसार रूपक ॥ १०६ ॥

यामि यामिह वरीतुमहो तद्दूततां तु करवाणि कथं वः।
ईदृशां न महतां बत जाता वञ्चने मम तृणस्य घृणापि ॥ १०७ ॥

जीवातु—अथाष्टभिरयोग्यतामेवाह—यामीत्यादि। इहास्मिन् समये, यां भैमीं वरीतुम्। 'वृतो वा' इति दीर्घः। यामि गच्छामि। तद्दूततां तु तस्या-मेव विषये दूत्यं तु कथं वा करवाणि। अहो ईदृशां महतां वः तृणस्य। तृण-कल्पस्य, मम, वञ्चने प्रतारणे, घृणा कृपा जुगुप्सा वापि, न जाता। बतेति खेदे ॥ १०७ ॥

अन्वयः—अहो, इह यां वरीतुं यामि वः तद्दूततां कथं करवाणि? बत, ईदृशां महतां तृणस्य मम वञ्चने घृणा अपि न जाता!

हिन्दी—अरे, मैं इस समय जिस (दमयन्ती) को वरने जा रहा हूँ, उसके लिए तुम्हारा दूतकार्य कैसे करूँ? खेद है कि इतने महान् देवों को तृण-सदृश तुच्छ मेरी वंचना में घृणा भी नहीं उत्पन्न हुई।

टिप्पणी—नल ने इस कथन से देवों के इस प्रतारणकार्य को घृणास्पद तो बताया ही, साथ ही अपनी घृणा भी स्पष्ट कर दी। अन्वयांतर—'ईदृशां महतां वञ्चने तृणस्य मम घृणापि न जाता'—से अर्थ हुआ कि आप जैसे प्रतारकों को धोखा देने में मुझे कोई घृणा नहीं है। अथवा 'अञ्चने मम घृणापि न जाता, अपि जाता एव'—प्रतारकों के पूजन में मुझे क्या घृणा भी नहीं आती है, आती ही है। अथवा—'ईदृशां नमहताम् (अमहताम्) तृणस्यापि अञ्चने मम घृणा जाता'—ऐसे क्षुद्र, निम्नजातीय आपकी तृण जैसों के बीच भी पूजन में मुझे घृणा होती है। आप नीचातिनीच हैं—यह भाव। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-विरोध-रूपक का संकर ॥ १०७ ॥

उद्भ्रमामि विरहान्मुहुरस्या मोहमेमि च मुहूर्तमहं यः।
ब्रूत वः प्रभवितास्मि रहस्यं रक्षितुं स कथमीदृगवस्थः ॥ १०८ ॥

जीवातु—उद्भ्रमामीति। किञ्च, योऽहमस्या भैम्याः विरहान्मुहुरुद्-भ्रमामि उन्माद्यामि मुहूर्तमीषत्कालं, मोहं मूर्च्छां च एमि प्राप्नोमि। ईदृगवस्थः सोऽहं वो युष्माकं, रहस्यं रक्षितुं गोप्तुं, कथं प्रभवितास्मि प्रभविष्यामि न शक्ष्यामीत्यर्थः। ब्रूत। ब्रुवो लोट् ॥ १०८ ॥

अन्वयः—यः अहम् अस्याः विरहात् मुहुः उद्भ्रमामि मुहूर्तं च मोहम् एमि ईदृगवस्थः सः ब्रूत, कथं वः रहस्यं रक्षितुं प्रभविता अस्मि?

हिन्दी—जो मैं (नल) इस (दमयन्ती) के विरह के कारण बारंबार

उन्मत्त हो जाता हूँ और क्षण-क्षण मूर्च्छित हो जाता हूँ, ऐसी दशा में पड़ा वह (मैं) बोलो, कैसे आपके रहस्य को छिपाने में समर्थ हो सकेगा।

टिप्पणी——दमयन्ती के विरह में नल की स्वयं बुरी अवस्था है। तो जिस दमयन्ती की उसे इतनी व्याकुल आकांक्षा है, वह देवों का गुप्त दूत-कार्य भला कैसे कर सकता है? कोई उन्मत्त और बेसुध रहने वाला व्यक्ति किसी के गुप्त भेद को छिपा ही नहीं सकता। नल भी ऐसी अवस्था में है। देवों के कार्य-संपादनार्थ वह सर्वथा अयोग्य है। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार॥ १०८॥

यां मनोरथमयीं हृदि कृत्वा यः श्वसिम्यथ कथं स तदग्र।
भावगुप्तिमवलम्बितुमीशे दुर्जया हि विषया विदुषापि॥ १०९॥

जीवातु——यामिति। योऽहं मनोरथमयीं सङ्कल्परूपां, यां भैमीं, हृदि कृत्वा श्वसिमि प्राणिमि। अथ सोऽहं तदग्रे तस्याः भैम्याः पुरः, भावगुप्तिं कामविकारगोपनमवलम्बितुं, कथमीशे शक्नोमि। तथा हि, विदुषा विवेकिनापि विषयाः शब्दादयो दुर्जया इत्यर्थान्तरन्यासः॥ १०९॥

अन्वयः——अथ यः मनोरथमयीं यां हृदि कृत्वा श्वसिमि, सः तदग्रे कथं भावगुप्तिम् अवलम्बितुम् ईशे? हि विषयाः विदुषा अपि दुर्जयाः।

हिन्दी——इसके अतिरिक्त जो (नल) संकल्परूपा जिस (दमयन्ती) को हृदय में बसा कर श्वास लेता है (जी रहा हूँ), वह (मैं नल) उसके आगे किस प्रकार (अपने) भावों को सँभालने में समर्थ हो सकेगा, कारण कि विषयों को विद्वान् भी कठिनता से जीत पाते हैं।

टिप्पणी——दमयन्ती नल की श्वास-श्वास में, रोम-रोम **में**, मन के प्रत्येक कोने में बसी थी, वही उसका जीवन-प्राण थी। तो जो मन में इस प्रकार रमी थी, उससे नल रोमांच, स्वेद आदि काम-विकार कैसे छिपा सकेगा! बड़े-बड़े समर्थ विद्वज्जन भी विषय-विकारों को कठिनता से जीत पाते हैं इस प्रकार नल उक्त कार्य के लिए उपयुक्त नहीं है। 'अहम्' का पूर्वश्लोक से अन्वय किया गया है। अर्थान्तरन्यास॥ १०९॥

यामिकाननुपमृद्य च मादृक् तां निरीक्षितुमपि क्षमते कः।
रक्षिलक्षजयचण्डचरित्रे पुंसि विश्वसिति कुत्र कुमारी॥ ११०॥

जीवातु--यामिकानिति । किञ्चेति चार्थः । मादृक् मद्विधः, क्षत्रिय इत्यर्थः । कः यामान् रक्षन्तीति यामिकाः प्रहररक्षकाः 'रक्षती'ति ढक् ।ताननुपमृद्य अहत्वा । तां भैमीं, निरीक्षितुमपि क्षमते । किं पुनराभाषितुमिति भावः । तथैव क्रियतां तत्राह--रक्षीति । रक्षिणां लक्षाणि तेषां जयेन मर्दनेन चडण्चरित्रे क्रूरकर्मणि, पुंसि कुमारी कन्या, कुत्र विश्वसिति, न कुत्रापी-त्यर्थः । क्वोद्वाहप्रसङ्गः । क्व चान्तःपुरमर्दनमिति भावः ॥ ११० ॥

अन्वयः—मादृक् कः च यामिकान् अनुपमृद्य तां निरीक्षितुम् अपि क्षमते रक्षिलक्षजयचण्डचरित्रे पुंसि कुमारी कुत्र विश्वसिति ?

हिन्दी--और मेरे सदृश कौन व्यक्ति पहरेदारों को बिना मर्दित किये (बिना मारे) उसे (दमयन्ती को) देख भी सकता है ? और लाखों रखवालों के जय का क्रूर कर्म करनेवाले पुरुष का कुमारी कहाँ विश्वास करती है ?

टिप्पणी--दमयन्ती के अन्तःपुर की लाखों पहरेदार रखवाली करते हैं । कोई व्यक्ति बिना रखवालों को मारे उसे देख भी नहीं सकता । और जो मनुष्य ऐसा करके क्रूर प्रमाणित होगा, उसका विश्वास कौन कुमारी कन्या कर सकेगी ? वह बालिका तो उससे दूर भाग जायेगी या बेसुध हो जायेगी । विवाह की बात तो दूर, सामान्य शिष्टाचार भी न निबाह सकेगी । संभव है कि ऐसा क्रूर कर्म देखकर दमयन्ती का पुरुषमात्र से विश्वास टूट जाय । विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग ॥ ११० ॥

आदधीचि किल दातृकृतार्घं प्राणमात्रपणसीम यशो यत् ।
आददे कथमहं प्रियया तत् प्राणतः शतगुणेन पणेन ॥ १११ ॥

जीवातु--आदधीचीति । प्राणमात्रं जीवितमेव, पणसीमा मूल्यावधिर्य-स्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा । 'पणो मूल्ये ग्लहे माने' इति वैजयन्ती । आदधीचि दधीचिमारभ्य अभिविधावव्ययीभावः । किलेति प्रसिद्धौ । दातृभिर्वदान्यैः कृतार्घं निश्चितं मूल्यम् । 'मूल्ये पूजाविधावर्घः' इत्यमरः । यद्यशः तद्यशः प्राणतो जीवाच्छतगुणेन प्रिययैव, पणेन मूल्येन, ~~अहं~~ कथमाददे स्वीकरिष्यामि । हीनक्रयस्य परावर्त्यत्वादिति भावः । अत्र परिवृत्तिरलङ्कारः । 'समन्यू-नाधिकानाञ्च यथा विनिमयो भवेत् । साकं समाधिकन्यूनैः परिवृत्तिरसौ मता ॥' इति लक्षणात् । तत्र प्राणैर्यशसो न्यूनपरिवृत्तिः, हीनमूल्यत्वात् । प्रियया यशसोऽधिकपरिवृत्तिरधिकमूल्यत्वादिति भावः ॥ १११ ॥

अन्वयः--आदधीचि दातृकृतार्घं यत् यशः प्राणमात्रपणसीम किल तत् प्राणतः शतगुणेन प्रियया पणेन अहं कथम् आददे !

हिन्दी--दधीचि से लेकर अद्यावधि दानकर्ताओं द्वारा दी जाकर जिसकी सीमा जीवनमात्र निर्धारित करदी गयी है, उस यश को प्राणों से सौ गुने प्रिया के मूल्य से मैं कैसे स्वीकारूँ ?

टिप्पणी--पुराणप्रसिद्ध कथा है कि दधीचि ऋषि ने वृत्रासुर के वधारण वज्र के निर्माणार्थ अपनी अस्थियाँ दी थीं और प्राणों का मूल्य देकर यश का अर्जन किया था। ऐसे ही और भी कुछ उदाहरण हैं। इस प्रकार यश के मूल्य की सीमा है प्राण-दान। नल भी इतना यशोमूल्य देने को उद्यत है; पर दमयन्ती-दान उसे यशोमूल्य के रूप में स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि दमयन्ती नल के प्राणों से सौगुनी अधिक महत्त्वपूर्ण है। शतगुणाधिक मूल्य देकर किसी वस्तु का क्रय व्यावहारिक नहीं है। नल भी ऐसा नहीं कर सकता। मल्लिनाथ के अनुसार परिवृत्ति अलंकार है। परिवृत्ति कहते हैं--सम, अधिक और न्यून के सम, अधिक और न्यून विनिमय को। विद्याधर के अनुसार रूपक और विषम अलंकार ॥१११॥

अर्थना मयि भवद्भिरिवास्यै कर्तुमर्हति मयापि भवत्सु ।
भीमजार्थपरयाचनचाटौ यूयमेव गुरवः करणीयाः ॥ ११२ ॥

जीवातु--अर्थनेति। अस्यै दमयन्त्यै। तादर्थ्ये चतुर्थी। मयि विषये, भवद्भिरिव मयापि भवत्सु विषये अर्थना प्रार्थना कर्तुमर्हति कर्तव्येत्यर्थः। अथ कथं कामुकमुखात्कामिनीलिप्सेति चेद्यथा भवता तथेत्याह--भीमजेति। भीमजार्था या परयाचनचाटुपरप्रार्थनारूपा प्रियोक्तिस्तस्यां यूयमेव गुरवः उपदेष्टारः करणीयाः! करोमि चेति भावः॥ ११२ ॥

अन्वयः--भवद्भिः मयि इव मया अपि अस्यै भवत्सु अर्थना कर्तुम् अर्हति, भीमजार्थपरयाचनचाटौ यूयम् एव गुरवः करणीयाः।

हिन्दी--जैसे आप लोग मुझ से कर रहे हैं, मेरे द्वारा भी इस (दमयन्ती) के निमित्त आपलोगों से प्रार्थना करनी उचित है; भीमसुता के निमित्त अन्य से याचना करने में चाटुकारी सीखने के लिए आप लोगों को ही गुरु करना उचित है।

टिप्पणी—नल एक मृत्युलोकवासी धरती का प्राणी है और इन्द्रादि दिक्पाल हैं। दमयन्ती इतनी महत्त्वपूर्ण है कि समर्थ दिक्पाल भी एक मानव की चाटुकारी करके उसकी प्राप्ति के लिए छोटे बन रहे हैं। उचित तो यह था कि नल ही दिक्पालों से दमयन्ती के लिए प्रार्थना करता। वह व्यंग करता है, कि मैं तो कभी मंगता-भिखारी बनता नहीं, पर इसकी शिक्षा आप दिक्पाल गण बड़ी अच्छी दे सकते हैं। तो क्यों न इस कार्य में आपका शिष्य बनकर आप गुरुओं-जैसा ही आचरण करूँ ? गुरु का अनुकरण शिष्य करते ही हैं। गुरु भिखारी, शिष्य भी मंगता। विद्याधर के अनुसार उपमा ।। ११२ ।।

अर्थिताः प्रथमतो दमयन्तीं यूयमन्वहमुपास्य मया यत् ।
ह्रीर्न चेद् व्यतियतामपि तद्वः सा ममापि सुतरां न तदस्तु ।। ११३ ।।

जीवातु—अथ प्रथमप्रार्थकत्वाभिमानः, तर्हि स्वयमेव प्रथम इत्याह—अर्थिता इति। मया अन्वहमनुदिनम्। 'अनश्च' इत्यव्ययीभावः, समासान्तष्टच्। यूयमुपास्य प्रथमतो दमयन्तीमर्थिताः। अर्थयतेर्दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि क्तः इति यत् तत्, प्रथमप्रार्थनं व्यतियतां व्यतिक्रमतामपि। इणो लटः शत्रादेशः वः ह्रीर्न चेत्तर्हि सा ह्रीर्ममापि सुतरां नास्तु मा भूत् ।। ११३ ।।

अन्वयः—अन्वहं मया यूयम् उपास्य प्रथमतः यत् दमयन्तीम् अर्थिताः, तत् व्यतियतां वः ह्रीः न चेत् तत् सा मम अपि सुतरां न अस्तु।

हिन्दी—प्रतिदिन मैंने आप लोगों की उपासना कर पहिले ही जो दमयन्ती की प्रार्थना की है, उसका व्यतिक्रमण करते हुए आप लोगों को यदि लज्जा नहीं होती तो वह मुझे और भी नहीं होगी।

टिप्पणी—यदि देवगण यह कहें कि उन्होंने दमयन्ती के निमित्त नल से याचना पहिले की, अतः उनकी प्रार्थना पूर्ण करके नल को अपनी दानशीलता का मान रखना चाहिए, तो यह भी ठीक नहीं है। नल ने उनसे पहिले ही प्रति दिन उपासना करते हुए दमयन्ती के लिए प्रार्थना कर रखी है। यदि देवगण अपने प्रार्थी की माँग ठुकराने में लज्जित नहीं होते तो नल—एक मनुष्य क्यों हो ? विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग ।। ११३ ।।

कुण्डिनेन्द्रसुतया किल पूर्वं मां वरीतुमुररीकृतमास्ते ।
व्रीडमेष्यति परं मयि दृष्टे स्वीकरिष्यति न सा खलु युष्मान् ।।११४।।

जीवातु—कुण्डिनेति। कुण्डिनेन्द्रसुतया दमयन्त्या। 'न लोक—' इत्यादिना निष्ठायोगे षष्ठीप्रतिषेधात् कर्तरि तृतीया। पूर्वमेव मां वरीतुमुररीकृतमङ्गीकृतमास्ते। तया मद्वरणमङ्गीकृतं किलेत्यर्थः। किलेति वार्तायाम्। कर्मणि क्तः। अङ्गीकारस्य कथञ्चिदिच्छार्थत्वमङ्गीकृत्य, 'समानकर्तृकेषु तुमुन्' इति तुमुन्प्रत्ययः। ततो मयि दृष्टे परं व्रीडमेष्यति। एवं च सा युष्मान्न स्वीकरिष्यति खलु॥ ११४॥

अन्वयः—कुण्डिनेन्द्रसुतया पूर्वं किल मां वरीतुम् उररीकृतम् आस्ते, सा मयि दृष्टे परं व्रीडम् एष्यति युष्मान् खलु न स्वीकरिष्यति।

हिन्दी—कुंडिनपुरी के राजा की पुत्री (दमयन्ती) ने पहिले ही मुझे वरना स्वीकार रखा है, वह मुझे देखकर अत्यन्त लज्जा को प्राप्त होगी, तुम्हें निश्चयपूर्वक न स्वीकारेगी।

टिप्पणी—नल ने अपने संभावित दूत-कर्म की व्यर्थता का भी संकेत कर दिया। जब वह दमयन्ती पहिले से ही नल को वरना निश्चित कर चुकी है तो फिर अन्य को वरने का प्रश्न ही नहीं है, अतः वहाँ दूत बनकर जाना व्यर्थ है। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार। सामान्यतः 'व्रीड' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, लज्जार्थक 'व्रीडा' का प्रयोग दीखता है। वामनाचार्य के अनुसार घञ् प्रत्ययांत पुँल्लिङ्ग 'व्रीड' भी निष्पन्न होता है। कालिदास ने 'व्रीडमावहति' (रघुवंश) तथा माघ ने भी 'व्रीडादिवाभ्याशगतैः' (शिशुपालवध) में ऐसा प्रयोग किया है॥ ११४॥

तत्प्रसीदत विधत्त न खेदं दूत्यमत्यसदृशं हि ममेदम्।
हास्यतैव सुलभा न तु साध्यं तद्विधित्सुभिरनौपयिकेन॥ ११५॥

जीवातु—तदिति। तत्तस्मात्, प्रसीदत प्रसन्नाः स्थ, खेदं क्लेशं, न विधत्त न कुरुत। ममेदं दूत्यमत्यसदृशमत्यन्तायोग्यं हि। कुतः? अनौपयिकेन, अनुपायेन, उपायं विनेत्यर्थः। 'उपायाद्ध्रस्वत्वञ्च' इति स्वार्थे ठक् ह्रस्वत्वं च। तद् दूत्यं विधित्सुभिश्चिकीर्षुभिर्हास्यतैव सुलभा, साध्यं प्रयोजनन्तु न सुलभम्। अनुचितकर्मारम्भोऽनर्थाय भवेन्न फलायेत्यर्थः॥ ११५॥

अन्वयः—तत् प्रसीदत, खेदं न विधत्त। मम इदं दूत्यम् अत्यसदृशम्, हि अनौपयिकेन तत् विधित्सुभिः हास्यता एव सुलभा, साध्यं तु न।

हिन्दी—अतः (हे देवगण) आप प्रसन्न हों, खिन्न न हों। मेरा यह दूतकर्म अत्यन्त अनुचित है, क्योंकि जो उपाय नहीं है, उस (अनुचित साधन) से उस (दूतकर्म) को करने के इच्छुकों को उपहास ही सरलता से प्राप्य है, साध्य (उद्देश्य) तो सुलभ नहीं है।

टिप्पणी—उद्देश्य-प्राप्ति के लिए ठीक उपाय ही करना चाहिए, तभी सिद्धि मिलती है। यदि साधन उपयुक्त न हो तो लक्ष्य प्राप्त न होगा, प्रत्युत हँसी ही होगी; अतः नल को दूत बनाने से उद्देश्य सिद्ध न होगा। अनुचित कर्म का आरंभ अनर्थजनक ही होता है, सुफल नहीं होता। विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार ॥ ११५ ॥

ईदृशानि गदितानि तदानीमाकलय्य स नलस्य बलारिः ।
शंसति स्म किमपि स्मयमानः स्वानुगाननविलोकनलोलः ॥ ११६ ॥

जीवातु—ईदृशानीति । स बलारिः इन्द्रः, तदानीं नलस्येदृशानि गदितानि वाक्यानि, आकलय्य आकर्ण्य । स्मयमानो मन्दं हसन् । स्वानुगानां यमादीनाम्, आननविलोकने लोलो लोलुपस्सन् । स्ववाक्यानुमोदनार्थमिति भावः । किमपि किञ्चिद्वाक्यं शंसति स्म शशंस ॥ ११६ ॥

अन्वयः—सः बलारिः तदानीं नलस्य ईदृशानि गदितानि आकलय्य स्मयमानः स्वानुगाननविलोकनलोलः किम् अपि शंसति स्म ।

हिन्दी—वह बल का शत्रु (इन्द्र) उस समय नल के ऐसे वचन सुनकर मन्द-मन्द हँसता हुआ अपने अनुगामियों (यमादि) के मुखों को चंचलता से निहारता हुआ कुछ वाक्य कहने लगा।

टिप्पणी—नल ने कहा था कि वह प्राणाधिक वस्तु देकर भी देव-याचकों की अर्चना करेगा (श्लोक सं० ९७); अब उपर्युक्त नल-कथन उसके विरुद्ध जा रहा है। वचन-पालन में आनाकानी करने के कारण इन्द्र उसका उपहास करने के लिए अनुमोदनार्थ यमादि की ओर देखता हुआ आगे दिये गये वचन कहने लगा। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार अनुप्रास ॥ ११६ ॥

नाभ्यधायि नृपते ! भवतेदं रोहिणीरमणवंशभयेन ।
लज्जते न रसना तव वाक्यादर्थिषु स्वयमुरीकृतकाम्या ॥ ११७ ॥

जीवातु--नेति । हे नृपते ? भवता इदम् । सेयमुच्चतरेत्यादि प्रतिषेध-वाक्यम् । रोहिणीरमणवंशभवेन सोमवंश्येनेव नाभ्यधायि । किं त्वसोमवंश्ये-नेवाभिहितमित्यर्थः । प्रतिश्रुतपरित्यागादिति भावः । कुतः, अर्थिषु विषये स्वयमुरीकृतकाम्या अङ्गीकृतमनोरथपूरणा तव रसना, वाक्यात् प्रातिकूल्यान्न लज्जते । ततो न सोमवंश्य इव प्रतिभासीत्यर्थः ॥ ११७ ॥

अन्वयः--नृपते, रोहिणीरमणवंशभवेन भवता इदं न अभ्यधायि ? अर्थिषु स्वयम् उररीकृतकाम्या तव रसना वाक्यात् न लज्जते ?

हिन्दी—हे नरेन्द्र (नल), रोहिणी में रमनेवाले (चन्द्र) के वंश में उत्पन्न आपके द्वारा क्या यह (श्लोक सं० १०४-११४) नहीं कहा गया ? अपने आप याचकों का अभिलषित देना स्वीकारने वाली तुम्हारी जीभ (अब) प्रतिकूल कहने से लज्जित नहीं होती ?

टिप्पणी--इन्द्र ने नल के पूर्व वचनों (९७, १०४-११४) का उल्लेख करते हुए नल का उपहास किया और भर्त्सना की कि तब तो इतना बढ़-चढ़ कर बोलते थे, अब कथन को क्रिया में परिणत करने से क्यों पीछे हट रहे हो ? तुम रोहिणी अर्थात् गौ के रमण अर्थात् बैल के वंशज अर्थात् बैल--एक पशु हो । जैसा बैल मूर्ख पशु होता है, वैसे ही तुम हो । जैसे बैल खाये घास-तिनकों को वमन कर देने में कोई लज्जा प्राप्त नहीं करता, वैसे ही तुम भी 'वाक्य' (प्रतिकूल कथन अथवा वमन--'वमिरेव वाक्यं तस्मात् वाक्यात्—') में लज्जित नहीं होते । तुम सोमवंशी नहीं, बलीवर्दवंशज हो । विद्याधर के अनुसार उपमा और हेतु, अलंकार ॥११७॥

भङ्गुरं च वितथं न कथं वा जीवलोकमवलोकयसीमम् ।
येन धर्मयशसी परिहातुं धीरहो चलति धीर ! तवापि ॥ ११८ ॥

जीवातु--भङ्गुरमिति । हे धीर विद्वन् ! इमं जीवलोकं प्राणिजातम् । भङ्गुरं विनश्वरं, 'भञ्जभासमिदो घुरच्' । वितथं दुःखमयत्वाद्विफलञ्च । कथं वः नावलोकयसि न पश्यसि, न जानासीत्यर्थः । येनाज्ञानेन तवापि धीर्धर्मयशसी । अभंगुरावितथे अपीति भावः । परिहातुं चलति । अहो अस्थिर-विषयलौल्यात् स्थिरसुकृतपरित्यागो भवादृशामनुचित इत्यर्थः ॥ ११८ ॥

अन्वयः--अहो, धीर, इमं जीवलोकं भङ्गुरं वितथं च कथं वा न अवलोकयसि येन तव अपि धीः धर्मयशसी परिहातुं चलति ?

हिन्दी--आश्चर्य है कि हे धीर (विद्वान् नल), इस प्राणिजगत् को विनाशशील (नश्वर) और अलीक (झूठा) क्यों नहीं समझते, जिसके कारण तुम्हारी भी बुद्धि धर्म और यश को त्याग देने को चल रही है ?

टिप्पणी---इन्द्र ने समझाने की दृष्टि से नल को बताया कि यह जीवन क्षणभंगुर और झूठा है, धीर, समझदार व्यक्ति इस क्षुद्र जीवन की रक्षा अथवा सामान्य सुख के लिए धर्माचरण नहीं छोड़ते और यशखंडित नहीं होने देते। आश्चर्य तो यही है कि सुविचारी होकर भी नल एक नारी के लिए धर्म-यश छोड़ने को तैयार है यह उचित नहीं है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और हेतु ॥ ११८ ॥

कः कुलेऽजनि जगन्मुकुटे वः प्रार्थकेप्सितमपूरि न येन।
इन्दुरादिरजनिष्ट कलङ्की कष्टमत्र स भवानपि मा भूत् ॥ ११९ ॥

जीवातु—क इति। जगन्मुकुटे जगद्भूषणे, वः कुले प्रार्थकेप्सितमर्थिमनोरथः येन नापूरि न पूरितम्। कोऽजनि जातः, न कोऽपीत्यर्थः। 'दीपजन—' इत्यादिना कर्तरि लुङि चिण्। आदिर्युष्माकं कूटस्थ इन्दुः कलङ्की अजनिष्ट जातः। कष्टं ! अत्र लोके भवानपि सकलङ्को मा भूत्। अपकीर्तिं मा कुरुष्वेत्यर्थः ॥ ११९ ॥

अन्वयः---जगन्मुकुटे वः कुले कः अजनि येन अर्थिकेप्सितं न अपूरि ? कष्टम् आदिः इन्दुः कलङ्की अजनिष्ट अत्र भवान् अपि स मा भूत्।

हिन्दी---जगत् के मुकुट (संसार के सिरमौर) तुम्हारे कुल में कौन ऐसा उत्पन्न हुआ, जिसने माँगने वालों का अभीष्ट पूर्ण नहीं किया ? (अर्थात् कोई नहीं)। खेद की बात है कि (तुम्हारा) आदि (पुरुष) चन्द्र कलंकी जन्मा, इस लोक में तुम भी ऐसे न हो जाओ !

टिप्पणी---नल के यशस्वी वंश और पूर्वपुरुषों का स्मरण कराते हुए इन्द्र ने नल को भी उन्हीं के समान प्रार्थिजनों का अभिलषित देने वाला बने रहने की सलाह दी। उसके पूर्वपुरुष ऐसे ही थे। उपहास करते हुए इन्द्र ने चन्द्रवंश के मूल चन्द्र के कलंकित्व का स्मरण कराया और व्यंग किया कि नल वैसा न बने। कहीं कारण गुण तो कार्य में नहीं आ रहा है ? नल ऐसा व्यवहार न करे, जिससे कुल कलंकित हो ॥ ११९ ॥

यापदृष्टिरपि या मुखमुद्रा याचमानमनु या च न तुष्टिः ।
त्वादृशस्य सकलः स कलङ्कः शीतभासि शशकः परमङ्कः ॥ १२० ॥

जीवातु—अथ विचार्यमाणे त्वमेव कलङ्की न शशाङ्क इत्याह—येति। त्वादृशस्य याचमानमनु अर्थिनं प्रति, याप्यपदृष्टिर्विकृतदर्शनं, या च मुखमुद्रा मौनं, या न तुष्टिरसन्तोषश्च, स सकलो विकारः कलङ्कः। शीतभासि चन्द्रे, शशकः परं केवलमङ्कश्रीवत्सादिवत् चिह्नं, न तु कलङ्क इत्यर्थः ॥ १२० ॥

अन्वयः—याचमानम् अनु या अपदृष्टिः या च मुखमुद्रा, या च न तुष्टिः सः सकलः त्वादृशस्य कलङ्कः, शीतभासि शशकः परम् अङ्कः।

हिन्दी—याचक को लक्षकरके जो अनादर की दृष्टि और जो मुख की मुद्रा (मुँह-बिगाड़ना अथवा मौन) और जो असंतोष है—वह सब तुम्हारे जैसे (धीर) व्यक्ति के लिए कलंक है, शीतप्रभ (चन्द्र) में तो खरहा केवल एक चिह्न है।

टिप्पणी—और समझाता इन्द्र कहने लगा कि नल के आदि पुरुष चन्द्र का कलंक वस्तुतः निंदास्पद कलंक नहीं है, वह तो शश का एक चिह्न ही है, परन्तु याचकों के प्रति अनादर, मौन मुखमुद्रा, असंतोष प्रदर्शन—यह नल जैसे व्यक्तियों के एकाधिक कलंक हैं। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास-व्यतिरेक-समुच्चय का संकर ॥ १२० ॥

नाक्षराणि पठता किमपाठि प्रस्मृतः किमथ वा पठितोऽपि ।
इत्थमर्थिजनसंशयदोलाखेलनं खलु चकार नकारः ॥ १२१ ॥

जीवातु—किञ्चेदमर्थिषु ते नास्ति वाद इत्याह—नेति। अक्षराणि पठता शैशवे मातृकाक्षराण्यभ्यस्यता भवता, नकारो निषेधवाची नशब्दो नापाठि किम्। अथवा, पठितोऽपि प्रस्मृतो विस्मृतः इत्थमर्थिजनस्य संशय एव दोला तया खेलनं क्रीडाम्। नकारश्चकार। अत्रार्थिनामीदृक्संशया-सम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः। स चोक्तसंशयोत्थापित इति सङ्करः ॥ १२१ ॥

अन्वयः—अक्षराणि पठता न अपाठि किम् अथवा पठितः अपि विस्मृतः किम्, इत्थं खलु नकारः अर्थिजनसंशयदोलाखेलनं चकार ?

हिन्दी—(हे नल, तुमने शैशव में) वर्णमाला सीखते हुए क्या 'न' अक्षर नहीं पढ़ा अथवा क्यों पढ़ कर भी भुला दिया कि निश्चयतः इस प्रकार 'नकार' ने याचकवृन्द के संदेह रूप झूले में खेल किया (झूला झूला)।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल ने अब तक किसी याचक को देने में 'न' नहीं कहा था, सो वे समझते थे कि बचपन में वर्णमाला सीखते नल ने या तो 'न' वर्ण सीखा ही नहीं या फिर सीखा तो भुला दिया। यही याचकों का संशय झूले की वे दो कोटियाँ-छोर थीं, जिनमें 'न' झूला करता था। याचक यह निश्चय ही न कर पाते थे कि इन दोनों स्थितियों में कौन-सी स्थिति वास्तविक है, नल ने 'न' नहीं सीखा या सीख कर भुला दिया? आशय यह कि जब नल ने अभी तक किसी की याचना को अस्वीकारा नहीं, तो अब वैसा क्यों करना चाहता है? मल्लिनाथ ने असंबंध में संबंध-कथन होने के कारण अतिशयोक्ति का निर्देश किया है, विद्याधर ने संदेह और रूपक अलंकार का॥ १२१॥

अब्रवीत्तमनलः क्व नलेदं लब्धमुज्झसि यशः शशिकल्पम्।
कल्पवृक्षपतिमर्थिनमेनं नाप कोऽपि शतमन्युमिहान्यः॥ १२२॥

जीवातु—अब्रवीदिति। अथानलोऽग्निस्तं नलमब्रवीत्। हे नल! इदं वक्ष्यमाणं, लब्धं हस्तप्राप्तं शशिकल्पं चन्द्रप्रतिमं, यशः, क्वोज्झसि कुत्र त्यजसि। किं तद्यशस्तदाह इह लोके, अन्यस्त्वद्व्यतिरिक्तः, कोऽपि कल्पवृक्षपतिमनन्यार्थिनमित्यर्थः। एनं शतमन्युमिन्द्रं, अर्थिनं नाप। तदेतद्धस्तगतमिन्द्रयाच्यत्वयशो वृथा मा विनाशयेत्यर्थः॥ १२२॥

अन्वयः—अनलः तम् अब्रवीत्—नल! इदं लब्धं शशिकल्पं यशः क्व उज्झसि, इह अन्यः कः अपि एनं कल्पवृक्षपतिं शतमन्युम् अर्थिनं न आप?

हिन्दी—अग्नि उस (नल) से बोला—नल, इस संप्राप्त चंद्र सम (उज्ज्वल) यश को किस कारण त्याग रहे हो, इस लोक में अन्य किसी ने इस कल्पतरु के स्वामी शतक्रतु (इन्द्र) को याचक (रूप में) नहीं पाया?

टिप्पणी—अग्नि ने नल को सलाह दी कि उसे ऐसा अवसर मिल रहा है, जो अद्यावधि किसी को नहीं मिला। जिसने सौ यज्ञ करने का पुण्य

करके इन्द्रत्व पाया है, जो सब अभीष्ट फलों के दाता कल्पवृक्ष का स्वामी है–अर्थात् सबकी इच्छा पूर्ण कर सकता है, वह इन्द्र आज नल के सम्मुख याचक रूप में खड़ा है। ऐसे याचक को अभीष्ट देने से जो उज्ज्वल कीर्ति प्राप्त होगी, उसे छोड़ना किसी प्रकार उचित नहीं है, अतः नल को इन्द्र का––देवों का दूत कार्य करना ही युक्तियुक्त है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-उपमा-काव्यलिंग अलंकार है ॥ १२२ ॥

न व्यहन्यत कदापि मुदं यः स्वःसदामुपनयन्नभिलाषः।
तत्पदे त्वदभिषेककृतां नः स त्यजत्वसमतामदमद्य ॥ १२३ ॥

जीवातु—नेति। स्वःसदः स्वर्वासिनः। 'सत्सूद्विष–' इत्यादिना क्विप्। तेषां नः सम्बन्धी योऽभिलाषो मनोरथो मुदमुपनयन् स्वसिद्ध्या सन्तोषमावहन्, कदापि न व्यहन्यत न विहतः। अद्य, तत्पदे तदव्यवसिते, तत्सम्पादकाधिकार इत्यर्थः। 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्मांघ्रिवस्तुषु' इत्यमरः। त्वदभिषेककृतां त्वां स्थापयतां, नः सम्बन्धी सोऽभिलाषः। असमता असाधारण्यं, स्वसिद्धावनन्यापेक्षत्वमिति यावत्। तन्मदं त्यजतु। अद्य प्रभृति स्वार्थसाधने स्वयमेव समर्थाः सुरा इत्यहङ्कारं मुञ्चाम इत्यर्थः ॥ १२३ ॥

अन्वयः—नः स्वःसदां यः अभिलाषः मुदम् उपनयन् कदापि न व्यहन्यत अद्य तत्पदे त्वदभिषेककृतां सः असमतामदं त्यजतु।

हिन्दी––हम स्वर्ग के वासियों का जो अभिलाष (अभीष्ट) मोद को धारण करता कदापि 'हत' (अपूर्ण) नहीं हुआ, आज उस (अभिलाष) के स्थान में तुम्हारा अभिषेक करते (हम देवों का) वह (अभिलाष) अपने अनुपम होने का अभिमान त्याग दे।

टिप्पणी––देवों के अभिलाष को अहंकार था कि उसके समान कोई नहीं है, क्योंकि वह अन्य किसी के द्वारा नहीं, स्वसामर्थ्य से ही पूर्ण हो जाता था। देवों का अभिलाष तो स्वयं ही पूर्ण होता है। आज उस अभिलाष को पूर्ण करने की याचना देव नल से कर रहे हैं। इस प्रकार नल के द्वारा पूर्णता का आकांक्षी अभिलाष आज अनुपम नहीं रह गया, उसका अहंकार समाप्त हो रहा है। भाव यह कि सर्वसामर्थ्यशील देवों की इच्छा पूर्ण करने में आज नल ही समर्थ है। उसे यह गौरव लेना ही

चाहिए। देवों का अभिमान समाप्त हो गया। विद्याधर के अनुसार व्यतिरेक और काव्यलिंग ॥ १२३ ॥

अब्रवादथ यमस्तमहृष्टं वीरसेनकुलदीप ! तमस्त्वाम्।
यत्किमप्यभिबुभूषति तत्कि चन्द्रवंशवसतेः सदृशं ते ॥ १२४ ॥

जीवातु—अब्रवीदिति। अथ यमः अहृष्टमसन्तुष्टं, तं नलमब्रवीत्। हे वीरसेनकुलदीप ! किमपि यत्तमो मोहोऽन्धकारश्च त्वामभिबुभूषति अभिभवितुमिच्छति। तच्चन्द्रवंशे वसतिः स्थितिर्यस्य तस्य ते सदृशं किम्। न हि चान्द्रस्य तेजसस्तमसाभिभवो युक्त इत्यर्थः ॥ १२४ ॥

अन्वयः—अथ यमः अहृष्टं तम् अब्रवीत्—वीरसेनकुलदीप ! यत् किम् अपि तमः त्वाम् अभिबुभूषति तत् किं चन्द्रवंशवसतेः ते सदृशम् ?

हिन्दी—तदनन्तर (अग्नि-कथन के पश्चात्) यम दुःखी नल से बोला—हे वीरसेन के कुलदीपक, जो कुछ भी तम (दमयन्ती का मोह रूप अंधकार) तुम्हें पराजित करने को इच्छुक है, वह क्या चन्द्रकुल से सम्बद्ध तुम्हारे अनुरूप है ?

टिप्पणी—दमयन्ती को प्राणों के तुल्य समझने वाला नल इस प्रसंग से दुःखी था, किंतु यम तो दुखियों को और-दुःख देने में विख्यात ही है, उसने दुःखी नल को और दुःख देते हुए कहा कि नल को जो यह दमयन्ती का मोह सता रहा है, उसे आवृत कर रहा है, यह उचित नहीं है। वह है यशस्वी राजा वीरसेन के कुल का दीपक और चन्द्र से उसके कुल का संबंध है। दीपक भी अन्धकार का नाशक है और चन्द्र भी। फिर क्या यह अनुचित नहीं है कि वह अंधकार (मोह) से ग्रस्त हो रहा है ? दीपक और चन्द्र जब तमोविजयी हैं तब नल को भी तमोजयी रहना चाहिए। चारित्रवर्धन की तिलकव्याख्या और जिनराज की सुखावबोध टीका के अनुसार इस श्लोक में मोह में पड़े नल का यम द्वारा उपहास है। तम अर्थात् राहु जो नल के अभिभव का इच्छुक हो रहा है, वह क्या चन्द्रवंशवसति नल के अनुरूप है—'तमः राहुस्त्वां यदभिबुभूषति तच्चन्द्रवंशवसतेस्ते किं युक्तं सदृशम् ? किं प्रश्ने। राहुणा चन्द्रस्याभिभवनं सदृशमेवेत्युपहासः।' विद्याधर के अनुसार यहाँ रूपक है ॥ १२४ ॥

रोहणः किमपि यः कठिनानां कामधेनुरपि या पशुरेव ।
नैनयोरपि वृथा भवदर्थी हा विधित्सुरसि वत्स ! किमेतत् ॥ १२५ ॥

जीवातु—रोहण इति । यो रोहणो मणीनामाकरोऽद्रिः, सोऽपि कठिनानां मध्ये किमपि कठिनः । या कामधेनुः सापि पशुरेव । एनयोः पशुपाषाणयोरपि सम्बन्धी । 'द्वितीयाटौस्वेनः' इतीदंशब्दस्य एतच्छब्दस्य वा अन्वादेशविषये इनादेशः । अर्थी वृथा विफली नाभवत् । हे वत्स, किमेतद्विधित्सुर्विधातुमिच्छुरसि । हेति विषादे । हा कष्टं पशुपाषाणाभ्यामपि तुच्छवृत्तिरसीत्यर्थः ॥

अन्वयः—यः कठिनानां किमपि रोहणः, या कामधेनुः अपि पशुः एव, एनयोः अपि अर्थी वृथा न अभवत्, हा वत्स, एतत् किम् विधित्सुः असि ?

हिन्दी—जो निष्ठुर कठोरों में भी कठोर गिना जाता है, वह सुमेरु पर्वत है, जो कामधेनु है, वह भी पशु ही है, इनके याचक भी अकृतकाम नहीं रहे, हाय बेटे, (तुम) यह क्या करने जा रहे हो ?

टिप्पणी—संसार में जो कठोर-से-भी-कठोर पर्वत सुमेरु है, वह भी याचकों की इच्छा पूर्ण करता है, जो सुरगौ कामधेनु है, वह एक पशु है, फिर भी याचकों को अभीष्ट देती है । पत्थर और पशु होकर भी सुमेरु और कामधेनु तो याचकों की इच्छा पूर्ण कर देते हैं, मनुष्य होकर भी नल याचक देवों को निराश कर रहा है । यह परम दुःख की बात है । नल तो कठोर भी नहीं हैं, मृदुचित्त विख्यात है, वह पशु नहीं, बुद्धिमान् पुरुष है । उसका यह व्यवहार अत्यन्त खेद जनक और निन्दनीय गिना जायेगा । नल तो पत्थर और पशु से भी निम्न प्रमाणित हो रहा है । वह कदाचित् अभी समझ नहीं पा रहा है, बच्चा है न—'वत्स' । विद्याधर के अनुसार विरोध अलंकार ॥ १२५ ॥

याचितश्चिरयति क्व नु धीरः प्राणने क्षणमपि प्रतिभूः कः ।
शंसति द्विनयनी दृढनिद्रां द्राङ्निमेषमिषघूर्णनपूर्णा ॥ १२६ ॥

जीवातु—याचित इति । क्व नु कुत्र, धीरः सुधीर्याचितः सन् चिरयति विलम्बते । न कुत्रापि विलम्बत इत्यर्थः । कुतः, क्षणमपि प्राणने जीवने, प्रतिभूर्लग्नकः कः, न कोऽपीत्यर्थः । द्राङ्निमेषमिषेण शीघ्रपक्ष्मपातव्याजेन, घूर्णनेन कनीनिकाभ्रमणेन पूर्णा द्विनयनी नयनद्वन्द्वमेव, दृढनिद्रां मरणं शंसति । नयनघूर्णनवत्क्षणिकं जीवनमित्यर्थः ॥ १२६ ॥

अन्वयः—याचितः धीरः क्व नु चिरयति ? क्षणम् अपि प्राणने प्रतिभूः कः ? द्राङ्निमेषमिषघूर्णपूर्णा द्विनयनी दृढनिद्रां शंसति ।

हिन्दी—याचित धीर (विद्वान् पुरुष) कहाँ विलम्ब करता है ? क्षण भर भी साँस लेने में कौन मध्यस्थ (जामिन) होता है ? झटपट पलक-झँपाने के मिस तन्द्रा से पूर्ण दोनों नेत्र मृत्यु का कथन करते हैं।

टिप्पणी—जो समझदार व्यक्ति हैं, वे दान प्रार्थना होने पर देने में थोड़ी-सी भी देर नहीं लगाया करते, क्योंकि जीवन का उत्तरदायित्व लेने में कोई समर्थ नहीं होता। ये साँसें आती-जाती कब रुक जायें, कौन कह सकता है, कौन इनके आने-जाने का उत्तरदायित्व ले सकता है ? कोई नहीं। ये जो निरन्तर पलक झपा करते हैं, उनके माध्यम से जैसे ये दोनों आँखें निरन्तर मृत्यु की सूचना देती रहती हैं। निमिष-निमिष मृत्यु मुँह फाड़े चली आ रही है, शुभ कार्य में विलम्ब अच्छा नहीं। जीवन पल भर का है—क्षणभंगुर। विद्याधर के अनुसार हेतु और अपह्नुति अलंकार ।।१२६।।

अभ्रपुष्पमपि दित्सति शीतं सार्थिना विमुखता यदभाजि ।
स्तोककस्य खलु चञ्चुपुटेन ग्लानिरुल्लसति तद्घनसङ्घे ।। १२७ ।।

जीवातु—अभ्रपुष्पमिति । शीतं शीतलमभ्रपुष्पमुदकम् । 'मेघपुष्पं घनरस' इत्यमरः । तद् घनपुष्पं, तद्वद्दुर्लभं वस्त्विति च गम्यते । दित्सति दातुमिच्छत्यपि । न तु परिजिहीर्षतीत्यर्थः, घनसङ्घे मेघवृन्दे, अर्थिना याचकेन, स्तोककस्य चातकस्य । 'अथ सारङ्गः स्तोककश्चातकः समौ' इत्यमरः चञ्चुपुटेन सा प्रसिद्धा विमुखता । पक्षिमुखत्वं पराङ्मुखत्वञ्च । अभाजीति यत् । तत्तस्माद्वैमुख्यभजनात् । ग्लानिर्जलभरमन्थरत्वं वैवर्ण्यं चोल्लसति स्फुरति । अत्रार्थिन एव वैमुख्ये दातुरियं ग्लानिः किमुत दातृवैमुख्ये । तस्मात्तादृशस्य तवेदमर्थिवैमुख्यमनुचितमिति भावः ।। १२७ ।।

अन्वयः—शीतम् अभ्रपुष्पम् दित्सति अपि घनसङ्घे अर्थिना स्तोककस्य चञ्चुपुटेन यत् सा विमुखता अभाजि तत् ग्लानिः उल्लसति खलु ।

हिन्दी—ठंडा जल देने को इच्छुक भी बादलों में याचक चातक के चंचुपुट ने जो पराङ्मुखता का आश्रय लिया, उसकी ही मलिनता प्रस्फुटित होती है।

टिप्पणी—याचक ने मेघों से जल की याचना की, मेघ जल देना तो चाहते थे किंतु उसमें कुछ विलम्ब हुआ, उससे चातक कुछ पराङ्मुख हुआ। इसी कारण मेघवृन्द अयश का भागी हो गया। ऐसा लगता है कि वही अयश मेघवृन्द में श्यामलता के रूप में प्रकट है। ऐसी ही दशा उस दाता की होती है, जो आकाश-पुष्प जैसी दुर्लभ वस्तु को देने की इच्छा तो करता है, किन्तु उसमें विलंब कर देता है। जब 'स्तोकक' अर्थात् अतिनिकृष्ट याचक को विलंब से देने में भी अकीर्ति और निन्दा प्राप्त होती है तो इन्द्रादि जैसे महान् याचकों को अभीष्ट देने में विलंब करने से तो और भी अयश मिलेगा। पक्षी को भी विलंब से देने के कारण बादलों को अयश और ग्लानि का भाजन होना पड़ता है तो इन्द्रादि को न देने से नल को कितनी ग्लानि का भाजन होना पड़ेगा, यह अकल्पनीय है, अतः दान अविलम्ब ही उचित है। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और श्लेष ॥ १२७ ॥

ऊचिवानुचितमक्षरमेनं पाशपाणिरपि पाणिमुदस्य।
कीर्तिरेव भवतां प्रियदारा दाननीरझरमौक्तिकहारा ॥ १२८ ॥

जीवातु—ऊचिवानिति। पाशपाणिर्वरुणोऽपि, पाणिमुदस्य, उद्यम्य, एनं नलम्, उचितं युक्तम्, अक्षरं वाक्यम्, ऊचिवान् उक्तवान्। यदुक्तं तदाह—कीर्तिरिति। दाननीराणां झरः दानजलप्रवाहः, स एव मौक्तिकहारो यस्यास्तथोक्ता कीर्तिरेव भवतां युष्माकं प्रियदाराः प्रियकलत्रम्। 'पुं भूम्नि दाराः' इत्यमरः। एतेन भार्याया अपि कीर्तिः प्रियतमेति भावः। अतो दमयन्तीलोभान्न कीर्तिं जहीत्यर्थः। अत्र रूपकालङ्कारः ॥ १२८ ॥

अन्वयः—पाशपाणिः अपि पाणिम् उदस्य एनम् उचितम् अक्षरम् ऊचिवान्—दाननीरझरमौक्तिकहारा कीर्त्तिः एव भवतां प्रियदाराः।

हिन्दी—हाथ में पाशधारण करनेवाला (वरुण) भी (अपना) हाथ उठाकर इस (नल) से उपयुक्त शब्द बोला—दान के जल-प्रवाहरूप मोतियों की माला धारण करने वाली कीर्त्ति ही आपकी अभीष्ट पत्नी है (दमयन्ती नहीं)।

टिप्पणी—अग्नि और यम के वचनों का समर्थन करते हुए याचकों की भाँति हाथ फैलाकर वरुणदेव ने भी नल को यही संमति दी कि कीर्ति और

दमयन्ती के मध्य उसे कीर्त्ति का ही ध्यान अधिक रखना चाहिए, मुक्तामाल-धारिणी दमयन्ती वस्तुतः उसकी प्रिया नहीं है, उसकी अभीष्ट प्रिया तो कीर्त्ति ही है, जो दानजलरूपमुक्तादामशोभिता है, जिसकी प्राप्ति दान से ही संभव है। कीर्ति राजकन्याओं के समूह से भी महत्त्वपूर्ण है, इसी के लिए यत्न उचित है। 'पाशपाणि' का पाशधारी हाथ उठाना नल को आंतकित करने का भी संकेत देता है, यों हाथ उठाना—फैलाना मंगते की प्रकृति भी होती है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और रूपक अलंकार ॥ १२८ ॥

चर्म वर्म किल यस्य नभेद्यं यस्य वज्रमयमस्थि च तौ चेत्।
स्थायिनाविह न कर्णदधीची तन्न धर्ममवधीरय धीर! ॥ १२९ ॥

जीवातु—चर्मेति। यस्य कर्णस्य चर्म त्वक् नभेद्यमभेद्यम्। नञर्थस्य न-शब्दस्य 'सुप्सुपा' इति समासः। वर्म कवचं किल। यस्य दधीचेरस्थि च वज्रमयं किल। किलेति प्रसिद्धौ। तौ महासत्त्वशालिनौ कर्णदधीची। इह जगति, स्थायिनौ न चेत्। तर्हि, हे धीर धीमन्! धर्म नावधीरय नावमन्यस्व! कर्णादीनामस्थिरत्वम् तद्धर्मस्य च स्थैर्यं दृष्ट्वा त्वमपि तथैवा-चरेत्यर्थः ॥ १२९ ॥

अन्वयः—यस्य चर्म न भेद्यं वर्म किल, यस्य अस्थि च वज्रमयम्, तौ कर्णदधीची इह स्थायिनौ न चेत् तत्, धीर, धर्मं न अवधीरय।

हिन्दी—जिस (कर्ण) की त्वचा अभेद्य कवच सुनी जाती है और जिस दधीचि की हड्डी वज्रमय सुनी जाती है, वे कर्ण (कुन्ती-पुत्र राधेय) और दधीचि (ऋषि, जिनकी अस्थियों से वज्र बना था) यदि इस संसार में स्थायी नहीं रहे, तो हे धीर (नल), तू धर्म की अवमानना न कर।

टिप्पणी—इतने दृढ व्यक्ति (जन्म से ही कवचधारी कर्ण और वज्र-निर्माण करने वाली हड्डियों के देहवाले दधीचि) भी जब नाशवान् ही प्रमाणित हुए तो नल जैसे मनुष्य को स्थिरता की बात सोचना भी उचित नहीं है। नाशवान् जीवन के नश्वर सुख के लिए धर्मच्युत होना ठीक नहीं। समझदार नल को धर्म की अवमानना नहीं करनी चाहिए। धर्म ही स्थिर रहता है, जीवन तो अस्थायी है। कर्ण-दधीचि के देह तो नष्ट हो गये,

यशः-शरीर ही आज जीवित हैं। विद्याधर के अनुसार विरोध और हेतु अलंकार ॥ १२९ ॥

अद्य यावदपि येन निबद्धौ न प्रभू विचलितुं बलिविन्ध्यौ ।
आश्रुताऽवितथतागुणपाशस्त्वादृशेन विदुषा दुरपासः ॥ १३० ॥

जीवातु—अद्येति । येन सत्यसन्धत्वपाशेन, निबद्धौ बलिर्वैरोचनिः स च विन्ध्यश्च तौ । अद्य यावदेतद्दिनपर्यन्तं, विचलितुमपि प्रभू समर्थौ न स्तः । आश्रुतस्य प्रतिज्ञातार्थस्य अवितथता सत्यता, सैव गुणः, उत्कृष्टधर्मः सः एव पाशो बन्धः, त्वादृशेन विदुषा स दुरपासः दुरुच्छेदः । बलिविन्ध्यादिदृष्टान्तेन यावज्जीवनिर्बन्धेनापि प्रतिज्ञातार्थनिर्वाहः कार्य इत्यर्थः ॥ १३० ॥

अन्वयः—येन निबद्धौ बलिविन्ध्यौ अद्य यावत् विचलितुम् अपि प्रभू न, सः आश्रुतावितथतागुणपाशः त्वादृशेन विदुषा दुरपासः ।

हिन्दी–जिस (सत्यप्रतिज्ञा रूप पाश) से बद्ध बलि (विरोचन-पुत्र पातालराज) और विन्ध्याचल आज तक विचल होने में समर्थ नहीं हुए उस प्रतिज्ञात-निर्वाह-रूप-पाश को तेरे सदृश विद्वान् द्वारा उच्छिन्न करना कठिन है ।

टिप्पणी—प्रतिज्ञा करके बलिराम ने अपना सर्वस्व और देह भी दे डाला, अगस्त्यमुनि को अपने झुके रहने का वचन देकर विन्ध्याचल आजतक झुका ही हुआ है । इनमें बलि उच्छृंखल दैत्य था और विंध्याचल जड़ है । ये दोनों भी आजतक वचन-निर्वाह कर रहे हैं, ऐसी स्थिति में विद्वान् और सत्यप्रतिज्ञ, पुण्यश्लोक नल को प्रतिज्ञा का पालन करना ही होगा । उसके लिए तो प्रतिज्ञा का अपरिपालन नितांत अनुचित है । विद्याधर के अनुसार रूपक अलंकार ॥ १३० ॥

प्रेयसी जितसुधांशुमुखश्रीर्या न मुञ्चति दिगन्तगतापि ।
भङ्गिसङ्गमकुरङ्गदृगर्थे कः कदर्थयति तामपि कीर्तिम् ॥ १३१ ॥

जीवातु—प्रेयसीति । प्रेयसी प्रियतमा, जिता सुधांशुमुखानां चन्द्रादीनां श्रीर्यया सा । अन्यत्र, जितसुधांशुर्मुखश्रीर्यस्याः सा तथोक्ता । या कीर्तिर्दिगन्तगतापि देशान्तरगतापि, न मुञ्चति । तामपि कीर्तिं भङ्गिसङ्गमः भंगुरसङ्गतिर्यस्यास्तस्याः कुरङ्गदृशोऽर्थे तदर्थम् । तादर्थ्येऽव्ययीभावः । कुत्सितोऽर्थः कदर्थः । 'कोः कत्तत्पुरुषेऽचि' इति कुशब्दस्य कदादेशः, तं करोति कदर्थयति व्यर्थयतीत्यर्थः । को नामास्थिरार्थे स्थिरं जह्यादिति भावः ॥ १३१ ॥

अन्वयः—जितसुधांशुमुखश्रीः या प्रेयसी दिगन्तगता अपि न मुञ्चति तां कीर्तिम् भङ्गिसङ्गमकुरङ्गदृगर्थे अपि कः कदर्थयति ?

हिन्दी—जो चंद्रमुख-शोभाजयिनी प्रियतमा (उज्ज्वल कीर्ति) देशांतर में पहुँचने पर भी नहीं छोड़ती, उस (प्रियतमा) कीर्ति को नश्वर-संगतिमृग-नयना के निमित्त (अथवा कुत्सित रचनाशील नेत्रों वाली के लिए) कौन पीडित करता है ? (कोई नहीं) ।

टिप्पणी—चंद्रमुख को अपनी शोभा से जीतनेवाली प्रियतमा जब प्रवासिनी हो जाती है, तो स्वभावतः पुरुष को छोड़ ही देती है, पर 'जित-सुधांशुमुखश्रीः' कीर्त्ति ऐसी प्रियतमा है, जो दिग्दिगन्त में व्याप्त हो जाने पर भी नहीं त्यागती । ऐसी विशिष्ट प्रियतमा को दिगन्तगता होने पर छोड़ देने वाली, नश्वरसंगति, कुत्सित नयनों वाली प्रिया के लिए बुद्धिमान् का तो कहना ही क्या सामान्य नर भी नहीं छोड़ता न पीडा देता है । तो नल तो धीर विद्वान् है, वह दमयन्ती—एक सामान्य नारी के लिए नश्वर-संग अक्षयकीर्ति प्रियतमा को छोड़ने की मूर्खता करे, यह नितांत अनुचित है । अतः नल को दमयन्ती का ध्यान छोड़ उज्ज्वल कीर्ति का वरण करना चाहिए । कीर्ति तो नित्य है, दमयन्ती अनित्य । नारायण पंडित ने 'कुरङ्गदृगर्थे' का 'कुत्सितो रङ्गो रचना यस्या एवं विधा दृग् यस्याः तत्कृते कः कदर्थयति पीडयति' अर्थ किया है । विद्याधर के अनुसार व्यतिरेक—समासोक्ति-उपमा-विरोध का संकर हैं ॥ १३१ ॥

यान् वरं प्रति परेऽर्थयितार-
स्तेऽपि यं वयमहो स पुनस्त्वाम् ।
नैव नः खलु मनोरथमात्र
शूर ! पूरय दिशोऽपि यशोभिः ॥ १३२ ॥

जीवातु—यानिति । परे अन्ये जनाः, वरं प्रति इष्टलाभमुद्दिश्य, यानस्मा-नर्थयितारः । ताच्छील्ये तृन् । 'न लोक'—इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधाद् द्वितीया । ते वयमपि यं त्वामर्थयितारः स्मः । अहो, स त्वं पुनर्नोऽस्माकं, मनोरथमात्रं मनोरथमेव नैव पूरय । किंतु, हे शूर ! यशोभिर्दिशोऽपि पूरय खलु । तस्मा-दस्मन्मनोरथपूरणेन ते दिगन्तविश्रान्ता कीर्तिर्भविष्यति । अन्यथा, अपकीर्तिरपि तादृशी भविष्यतीति भावः ॥ १३२ ॥

अन्वयः—अहो, परे वरं प्रति यान् अर्थयितारः ते वयम् अपि पुनः त्वाम्; शूर, सः नः मनोरथमात्रं खलु न, यशोभिः दिशः अपि पूरय।

हिन्दी—अरे, अन्य (जन) वर पाने के लिए जिन (हम देवों) की अर्थना (याचना) करते हैं, वे हम भी उलटे तुम्हारी याचना कर रहे हैं। हे वीर, वह तुम हमारी इच्छामात्र की पूर्ति न करो, अपितु प्रभूत यश से दिग् दिगन्त को पूर्ण कर दो।

टिप्पणी—सामान्यतः मनुष्य वर-प्राप्ति के निमित्त देवों से याचना करता है, क्योंकि देवों में ऐसी क्षमता है; ऐसे समर्थ देव नल के संमुख याचक हुए हैं ऐसा अलभ्य अवसर कहाँ प्राप्त होता है। नल को इस अवसर पर चूकना उचित न होगा। वह देवों को याचित देकर अनन्त यश का भागी होगा। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छेकानुप्रास ॥ १३२ ॥

अर्थितां त्वयि गतेषु सुरेषु म्लानदानजनिजोरुयशःश्रीः।
अद्य पाण्डु गगनं सुरशाखी केवलेन कुसुमेन विधत्ताम् ॥ १३३ ॥

जीवातु—अर्थितामिति। अद्य सुरशाखी कल्पवृक्षः सुरेष्वस्मासु त्वयि विषये, अर्थितां गतेषु सत्सु म्लाना अर्थ्यभावक्षीणा, दानजा दानजन्या, निजा उरुर्महती यशःश्रीः कीर्तिसम्पद्यस्य सः, तथा सन्, केवलेन कुसुमेन गगनं पाण्डु शुभ्रं, विधत्ताम्। नतु वितरणेन यशसा। स्वार्थिनामन्यार्थित्वेन तन्निदान-दानकथास्तमियादिति भावः ॥ १३३ ॥

अन्वयः—अद्य सुरेषु त्वयि अर्थितां गतेषु म्लानदानजनिजोरुयशःश्रीः सुरशाखी केवलेन कुसुमेन गगनं पाण्डु विधत्ताम्।

हिन्दी—आज देवों के तुम्हारे (नल के) प्रति याचक बन जाने पर जिनकी दान करने से प्राप्त स्वीया महती यशःशोभा मलिन हो गयी है, ऐसा देववृक्ष (कल्पतरु) केवल (कीर्त्ति-रहित) पुष्प से आकाश को श्वेत बनाये।

टिप्पणी—देवों को अभीष्ट देने के कारण नल जिस अद्वितीय यशःश्री का अधिकारी हो जायेगा, उसके संमुख देवतरु कल्पवृक्ष की यशोलक्ष्मी मलिन हो जायेगी। जो कल्पवृक्ष अपने शुभ्र यश और निर्मल कुसुमों से आकाश में शुभ्रता का प्रसार करता रहा है, यश मलिन हो जाने से अब केवल फूलों से

ही आकाश को शुभ्र बना सकेगा। भाव यह कि देवों को दान करके नल को जो यश मिलेगा, कल्पवृक्ष का यश भी उसके आगे मंद पड़ जायेगा, अतः नल को यही समुचित है कि देव-मनोरथ पूर्ण करें ।। १३३ ।।

प्रवसते भरतार्जुनवैन्यवत्
स्मृतिधृतोऽपि नल ! त्वमभीष्टदः ।
स्वगमनाफलतां यदि शङ्कसे
तदफलं निखिलं खलु मङ्गलम् ।। १३४ ।।

जीवातु—अत्र यात्रावैफल्यशङ्कया ते सङ्कोचस्तावदनाशङ्कनीय एवेत्याह—प्रवसत इति। हे नल ! प्रवसते प्रयाणं कुर्वते भरतः शाकुन्तलेयः, अर्जुनो हैहयः, वैन्यः पृथुः, तैस्तुल्यं तद्वत्। 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः'। स्मृत्या धृतः स्मृतिधृतः, स्मर्यमाणोऽप्यभीष्टदः इष्टार्थप्रदस्त्वं स्वगमनस्य स्वयात्रायाः अफलतां वैफल्यं शङ्कसे यदि, तर्हि, लोके निखिलं सर्वमपि मङ्गलं यात्राकालिकं त्वस्मरणलक्षणं मङ्गलाचरणमफलं खलु। यथा च—'वैन्यं पृथुं हैहयमर्जुनञ्च शाकुन्तलेयं भरतं नलं च। एतान्नृपान्यः स्मरति प्रयाणे तस्यार्थसिद्धिः पुनरागमश्च ॥' इति शास्त्रमप्रमाणं स्यादित्यर्थः। तथा च मत्स्मरणादन्येषामर्थसिद्धिस्तस्य तथाऽर्थसिद्धौ कः सन्देह इति भावः ।। १३४ ।।

अन्वयः—नल, भरतार्जुनवैन्यवत् प्रवसते अभीष्टदः स्मृतिधृतः अपि त्वं यदि स्वगमनाफलतां शङ्कसे तत् निखिलं मङ्गलम् अफलं खलु।

हिन्दी—हे नलराज, (शकुन्तला-दुष्यन्तपुत्र) भरत, (कार्तवीर्य) सहस्रार्जुन और वेणुपुत्र (पृथुराज) के तुल्य प्रवास जाने को तत्पर व्यक्ति को इच्छित प्रदान करनेवाले के रूप में स्मरणगोचर भी तुम यदि अपनी यात्रा के निष्फल होने की शंका करते हो तो संपूर्ण मंगल ही निश्चयतः निष्फल हो जायेगा।

टिप्पणी—नल ने कहा था—'स्वीकरिष्यति न सा खलु युष्मान्' (श्लो० ११४), और 'हास्यतैव सुलमा न तु साध्यम्'—अर्थात् नल का दूतकार्य निष्फल होगा। इस पर नल की चटुकारिता करते हुए वरुण ने बताया कि नल का स्मरण तो प्रवास जाते समय अभीष्टसिद्धि के निमित्त लोग किया करते हैं; कहा जाता है कि राजा पृथु, हैहय सहस्रार्जुन, शकुन्तलापुत्र भरत और राजा नल का प्रयाण काल में स्मरण करने से अभीष्टसिद्धि होती है

और यात्री सकुशल वापस घर आता है। ऐसी स्थिति में अभीष्टदाताओं में स्मृत होने वाला नल ही जब यात्रा के निष्फल रहने की बात सोचेगा तो संसार में सब मंगलकृत्य ही निष्फल हो जायेंगे, अतः शंका न करके नल को देवों का दूतकार्य अविलम्ब करना चाहिए। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छेकानुप्रास। द्रुतविलम्बित वृत्त ॥ १३४ ॥

इष्टं नः प्रति ते प्रतिश्रुतिरभूद्याद्य स्वराह्लादिनी
धर्मार्था सृज तां श्रुतिप्रतिभटीकृत्यान्विताख्यापदाम्।
त्वत्कीर्तिः पुनतो पुनस्त्रिभुवनं शुभ्राद्वयादेशनाद्
द्रव्याणां शितिपीतलोहितहरिन्नामान्वयं लुम्पतु ॥१३५॥

जीवातु——इष्टमिति। अद्य नोऽस्माकम्, इष्टमिच्छां, यागञ्च प्रति। 'इष्टिर्यागेच्छयोः' इत्यमरपक्षे यजेरिषेश्च स्त्रियां क्तिन्। 'वचि स्वपि—' इत्यादिना यजेः सम्प्रसारणम्। 'व्रश्च—' इत्यादिना षत्वम्। इषेः क्तिन्प्रत्ययापवाद इति काशिकायाम्। तथा प्रयोगप्राबल्यात् साधुत्वं द्रष्टव्यम्। स्वः स्वर्गम्, अन्यत्र स्वरैरुदात्तादिभिराह्लादिनी धर्मोऽर्थः प्रयोजनमभिधेयं च यस्याः सा धर्मार्था या प्रतिश्रुतिः। 'जीवितावधि किमप्यधिकं वे'ति श्लोकोक्तास्मन्मनोरथपूरणप्रतिज्ञा अभूत्, तां प्रतिश्रुतिं श्रुतिप्रतिभटीकृत्य वेदप्रतिनिधीकृत्य, सत्यापयित्वेत्यर्थः। अन्विताख्यापदां सृज। सत्यत्वेन श्रुतिप्रतिनिधीकृत्य प्रतिश्रुतिरित्यन्वर्थनामाक्षरां कुरु। सत्यप्रतिज्ञो भवेत्यर्थः। अस्य फलमाशीर्मुखेनाह——त्वत्कीर्तिरिति। त्वत्कीर्तिः पुनस्त्वद्यशस्तु, त्रिभुवनं भुवनत्रयं, समाहारे द्विगुरेकवचनम्, पात्रादित्वान्नपुंसकत्वम्। पुनती पावयन्ती। पुनातेः शतरि ङीप्। द्रव्याणां नीलपीतादिद्रव्याणां, शुभ्रः शुक्लगुणः। 'गुणे शुक्लादयः पुंसि' इत्यमरः। तेनाद्वयादेशनादभेदापादनाच्छितिपीतादिनामभिर्वाचकपदैरन्वयं वाच्यत्वलक्षणं सम्बन्धं, लुम्पतु निवर्तयतु। अर्थिमनोरथपूर्त्या कीर्तिं सम्पादयेत्यर्थः। अत्र नीलादीनां वस्तूनां स्वगुणत्यागेन कीर्तिगुणग्रहणात्तद्गुणालङ्कारः। 'तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणाहृतिः' इति लक्षणात् ॥ १३५ ॥

अन्वयः—अद्य नः इष्टं प्रति स्वराह्लादिनी या ते धर्मार्था प्रतिश्रुतिः अभूत् तां श्रुतिप्रतिभटीकृत्य अन्विताख्यापदां सृज पुनः त्वत्कीर्त्तिः शुभ्राद्वयादेशनात् त्रिभुवनं पुनती द्रव्याणां शितिपीतलोहितहरिन्नामान्वयं लुम्पतु।

हिन्दी–(हे राजा), आज हमारे इष्टरूप इष्टि (मनोरथ रूप यज्ञ) के प्रति स्वर्ग अर्थात् स्वर्लोकवासी देवों को आह्लादित करनेवाली-सदृश उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वरों से आह्लादित जो तुम्हारी धर्मप्रयोजनवती प्रतिज्ञा हुई है, उस (प्रतिश्रुति) को श्रुति अर्थात् वेद की प्रतिभटी (तुल्य) करके (सत्य करके) सार्थकनामपदवती (सत्य, सार्थक) करो। और फिर तुम्हारी कीर्ति शुभ्र वर्ण की अद्वैतता का निदेशन करके (शुभ्रता का प्रसार कर) तीनों भुवनों को शुभ्र-पवित्र बनाती पदार्थों के काले, पीले, लाल, हरे नाम के अन्वय (वाचकत्व) का लोप कर दे।

टिप्पणी––यात्रा सफल होने की शुभाशंसा। नल ने प्रारंभ में जो दान करने की प्रतिज्ञा की थी, उसे धर्म-साधन (देवमनोरथ) के निमित्त त्रिस्वर में पठित, यज्ञ की ऋचाओं के सदृश माना गया है और नल से कहा गया है वह इष्ट-साधन रूप इष्टि (यज्ञ) को त्रिःस्वर ऋचाओं से परिपूर्ण कर देवों को आनन्दित करे। देवों को यज्ञ से आनन्द मिलता ही है। इससे नल को ऐसा यश प्राप्त होगा कि उसके यश की शुभ्रता त्रिभुवन को आच्छादित कर लेगी और पदार्थों के जो काले पीले आदि भिन्न-भिन्न वर्ण हैं, वे आच्छादित हो जायेंगे और केवल यश की शुभ्रता दृष्टिगोचर होगी। अतः नल को अविलंब देव-मनोरथ-पूरण में संलग्न हो जाना उचित है।

'प्रकाश'कार (नारायण) ने 'त्वत्कीर्त्तिः' का भाव 'ब्रह्मप्रतिपादिका श्रुतिः' अथवा 'वेदान्तश्रुतिः' बताया है। यह श्रुति सत्त्व, रज, तम—त्रिगुण से उत्पन्न (त्रिभ्यो भूरुत्पत्तिर्यस्येति त्रिभु तच्च यद् वनं चातिगहनं संसाराख्यम्) संसार को शुभ्र अर्थात् निर्मल अद्वय ब्रह्म के आदेशन––उपदेश द्वारा श्रवण-मननादि से पवित्र करती हुई, एक मात्र श्वेतता––अद्वैतमयता का प्रसार करती हुई, जगत् की द्वैतता का लोप करती हुई 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' का उद्घोष करे।

भाव यही है कि नल ने जो देवों को प्रतिश्रुति दी है, उसे अत्यन्त पुनीत कार्य मानकर क्रिया में परिवर्तित करे। नीलादि पदार्थों के स्वगुण त्याग कर कीर्तिगुण ग्रहण करने के आधार पर मल्लिनाथ ने यहाँ तद्गुण अलंकार का निर्देश किया है; विद्याधर के अनुसार यहाँ श्लेषातिशयोक्ति है ॥ १३५ ॥

यं प्रासूत सहस्रपादुदभवत्पादेन खञ्जः कथं
स च्छायातनयः सुतः किल पितुः सादृश्यमन्विष्यति ।
एतस्योत्तरमद्य नः समजनि त्वत्तेजसां लङ्घने
साहस्रैरपि पंगुरंघ्रिभिरभिव्यक्तीभवन्भानुमान् ॥ १३६ ॥

जीवातु—यमिति । यं शनैश्चरं, सहस्रं पादाः रश्मयोऽङ्घ्रयश्च यस्य सः, सहस्रपात् सूर्यः । 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' इत्यमरः । 'सङ्ख्यासुपूर्वस्य' इति समासान्तलोपः । प्रासूत प्रसूतवान्, सः छायातनयः शनैश्चरः । 'मन्दश्छायासुतः शनिः' इत्यमरशेषः । कथं पादेन खञ्जो विकलः सन् । 'येनाङ्गविकार' इति तृतीया । उदभवदुत्पन्नः सुतः पितुः सादृश्यमन्विष्यति किल प्राप्नोति खलु एतस्य प्रश्नस्याद्य त्वत्तेजसां लङ्घने साहस्रैः सहस्रसङ्ख्यैरपि । 'अण् च' इति मत्वर्थीयोऽण्प्रत्ययः । अङ्घ्रिभिः पङ्गुः खञ्जः, पूर्ववत्तृतीया । अभिव्यक्तीभवन् भानुमान् सूर्यः नोऽस्माकमुत्तरं समजनि सञ्जातः । जनेः कर्तरि लुङ् । 'दीपजन--' इत्यादिना जनेश्चिण् । चिणो लुक् । अत्रार्कस्यापङ्गोः पङ्गुत्वोक्तेरतिशयोक्तिभेदः । तद्धेतुत्वञ्च शनैश्चरपङ्गुत्वस्येत्युत्प्रेक्षा इति तयोः सङ्करः ॥ १३६ ॥

अन्वयः—सहस्रपात् यं प्रासूत सः छायातनयः कथं पादेन खञ्जः उदभवत् सुतः किल पितुः सादृश्यम् अन्विष्यति ? अद्य नः एतस्य त्वत्तेजसां लङ्घने साहस्रैः अपि अङ्घ्रिभिः पङ्गुः अभिव्यक्तीभवन् भानुमान् उत्तरं समजनि ।

हिन्दी—सहस्रचरणों वाले (सहस्ररश्मि सूर्य) ने जिसे जन्म दिया, वह छाया (सूर्यपत्नी) का पुत्र (शनैश्चर) किस प्रकार चरण-विकल (लँगड़ा) जन्मा, पुत्र तो पिता पर जाता है ? आज हमारे इस प्रश्न का तुम्हारी (नल की) तेजोराशि का लंघन सहस्र चरणों से भी करने में लंगड़ा (असमर्थ) प्रकट होता हुआ सूर्य उत्तर हो गया ।

टिप्पणी—नल को देवकार्य-सम्पादन में इतना यश मिलेगा कि उसके तेज के संमुख सूर्य का तेज भी फीका पड़ जायगा । शनैश्चर लंगड़ा है, ऐसी मान्यता है । सामान्यतः पिता के गुण पुत्र में आते हैं, पर सूर्यपुत्र शनैश्चर के प्रसंग में ऐसा क्यों नहीं हुआ ? सहस्रचरणों वाले सूर्य का बेटा लंगड़ा ? यह एक अनुत्तरित प्रश्न था । देवों पर भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं था ।

पर आज उत्तर मिल गया। तेजस्वी नल की तेजोराशि का अतिक्रमण करने में सूर्य भी पंगु है, भले ही वह 'सहस्रपात्' हो। तो लँगड़ा बाप सूर्य, उसका बेटा शनैश्चर भी लँगड़ा। १३५ वें तथा इस श्लोक का छंद शार्दूलविक्रीडित। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा का संकर है, अपंगु सूर्य की पंगुता का कथन अतिशयोक्ति है और शनैश्चर के पंगुत्व में उसके कारण होने की उत्प्रेक्षा की गयी है॥ १३६॥

इत्याकर्ण्य क्षितीशस्त्रिदशपरिषदस्ता गिरश्चाटुगर्भा
वैदर्भीकामुकोऽपि प्रसभविनिहितं दूत्यभारं बभार।
अङ्गीकारं गतेऽस्मिन्नमरपरिवृढः संभृतानन्दमूचे
भूयादन्तर्धिसिद्धेरनुविहितभवच्चित्तता यत्र तत्र ॥१३७॥

जीवातु—इतीति। क्षितीशो नलः, त्रिदशपरिषदः सुरसङ्घस्य इत्येवंरूपाश्चाटुगर्भाः प्रियप्रायास्ता गिर आकर्ण्य वैदर्भीकामुकः सन्नपि 'लषपत—' इत्यादिना कमेरुकञ्प्रत्ययः। अत एव 'न लोक—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् मधुपिपासुवद् द्वितीयासमासः। प्रसभविनिहितं बलादारोपितं दूत्यमेव भारं बभार। अस्मिन्नले, अङ्गीकारं गते सत्यमरपरिवृढो देवेन्द्रः। हे नरेन्द्र! यत्र कुत्रापि, अन्तर्धिसिद्धेः अन्तर्धानशक्तेरनुविहितभवच्चित्तता, अनुसृतत्वन्मनस्कता, भूयात् भवच्चित्तानुसारेण सर्वत्र तवान्तर्भावशक्तिरस्तु इति सम्भृतानन्दं सहर्षमूचे। तिरस्करिणीविद्यां प्रादादित्यर्थः॥ १३७॥

अन्वयः—त्रिदशपरिषदः इति चाटुगर्भाः ताः गिरः आकर्ण्य वैदर्भीकामुकः अपि क्षितीशः प्रसभविनिहितं दूत्यभारं बभार, अस्मिन् अङ्गीकारं गते अमरपरिवृढः इति संभृतानन्दम् ऊचे—यत्र तत्र अन्तर्धिसिद्धेः अनुविहितभवच्चित्तता भूयात्।

हिन्दी—सुरसमूह की ऐसी चाटुकारिता-पूर्ण उन वाक्यावलियों को सुनकर विदर्भपुत्री (दमयन्ती) की कामना करनेवाले भी पृथ्वीपति (नल) ने बलादारोपित (लादे गये) दूतत्व के भार को धारण कर लिया। उसकी स्वीकृति हो जाने पर देवराज (इन्द्र) ने यह सहर्ष कहा—'सर्वत्र अंतर्धान होने की शक्ति तुम्हारी इच्छा की अनुगामिनी हो।'

टिप्पणी--राजा नल क्षिति का ईश था--सबका स्वामी। अन्ततोगत्वा उसने बलपूर्वक आरोपित देवों का दूत बनना स्वीकार कर लिया और दमयंती की इच्छा का दमन कर लिया। इस पर प्रसन्न हुए इन्द्र ने नल को वर दिया कि वह इच्छानुसार जब चाहे अदृश्य हो सकता है और जब चाहे प्रकट हो सकता है। अदृश्य होने की शक्ति उसकी इच्छा के अधीन रहेगी। इस प्रकार देवेन्द्र के वर से नल को तिरस्कारिणी विद्या प्राप्त हो गयी। स्रग्धरा छन्द ॥ १३७ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य भव्ये महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमत्पञ्चमः ॥१३८॥

जीवातु--श्रीहर्षमित्यादि। सुगमम्। श्रीमत्याः विजयप्रशस्तेः ग्रन्थविशेषस्य रचनातातस्य निर्माणकर्तुरित्यर्थः ॥ १३८ ॥

इति मल्लिनाथविरचिते 'जीवातु'समाख्याने पञ्चमः सर्गः समाप्तः ॥५॥

अन्वयः--पूर्वद्वयपदस्य पूर्ववदन्वयः। तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य भव्ये महाकाव्ये चारुणि नैषधीयचरिते पञ्चमः सर्गः अगमत्।

हिन्दी--पहिले दो पदों का अर्थ पूर्ववत्। उस 'श्रीविजयप्रशस्ति' के रचनाकार (श्रीहर्ष) के भव्य (प्रशंसनीय) महाकाव्य, चारु 'नैषधीयचरित' में पचम सर्ग समाप्ति को प्राप्त हुआ।

टिप्पणी--सर्गांत में यह संकेत कि श्रीहर्ष ने 'श्रीविजयप्रशस्ति' ग्रन्थ की रचना भी की थी। स्रग्धरा वृत्त ॥ १३८ ॥

नैषधीयचरिते पञ्चमः सर्गः

नैषधीयचरितम्

कथासार

(पञ्चम सर्ग)

ज्ञात्वा नारदतः स्वयंवरविधिं भैम्याः स्पृहालुर्हरिः
सार्धं दिक्पति[illegible]फाण पृथिवीं शच्या शुचा वीक्षितः ।
अस्मद्दौत्यमुपेत्य याहि नृप भो भैमीमदृष्टो भटै-
स्तामस्मास्वनुकूलयाश्विति नलं सोऽयुङ्क्त दौत्ये छली ॥

—श्रीकृष्णरामकविः

विदर्भराज ने बेटी दमयंती के स्वयंवर का आयोजन किया और नारद मुनि ने उसकी सूचना इंद्रलोक पहुँचायी । दमयंती के रूप की चर्चा से इन्द्र भी उसकी स्पृहा करने लगा और शची तथा रंभा–उर्वशी आदि स्वर्गसुंदरियों के असंतोष पर भी कुछ ध्यान न दे उसने विदर्भ की ओर प्रस्थान कर दिया । उसके पीछे अग्नि, यम और वरुण भी चले । इन सबने एक–दूसरे से छिपा कर अपनी–अपनी दूतियों को दमयंती के पास भेजा, जो अनेक बहुमूल्य उपहार लेकर विदर्भराज की सेवा में पहुँची । मार्ग में देवों की भेंट नल से हुई, जो स्वयं भी स्वयंवर में सम्मिलित होने जा रहा था । नल को देखकर वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने दमयंती को पाने की आशा छोड़ दी और खिन्न हो गये । परंतु इन्द्र तो कपट करने में प्रवीण है, उन्होंने नल को वचनबद्ध कर इस पर सन्नद्ध कर लिया कि वह दमयन्ती के पास देवदूत बन कर जाय और ऐसा प्रयत्न करे कि दमयंती देवों में किसी का वरण कर ले । प्रतिज्ञाबद्ध नल ने उनका दौत्य कर्म स्वीकारा और इन्द्र ने नल को क्षमता दी कि वह इच्छानुसार अन्तर्धान हो सके ।

पद्यानुक्रमणिका

(पञ्चम सर्ग)

कृष्णदास संस्कृत सीरीज

९२

****

महाकवि-श्रीहर्षविरचितं

नैषधीयचरितम्

महोपाध्यायमल्लिनाथकृत 'जीवातु' टीकासहित—

सान्वय-सटिप्पण 'चन्द्रिका' हिन्दीव्याख्योपेतम्

हिन्दी-व्याख्याकार:

डॉ० देवर्षि सनाढ्य शास्त्री

एम० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०

कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

प्रकाशक : कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : पुनर्मुद्रित, सम्वत् २०५८, सन् २००१
मूल्य :

पुस्तक प्रकाशक एवं वितरक
पोस्ट बॉक्स नं० ११९८
के. ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास, वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)
फोन : ३३५०२०
e-mail : cssoffice@satyam.net.in

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

पोस्ट बॉक्स नं० १००८, के. ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास
वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)
फोन : ३३३४५८ (आफिस), ३३४०३२ एवं ३३५०२० (आवास)

KRISHNADAS SANSKRIT SERIES
52

*****

NAIṢADHĪYACARITAM

of

MAHAKAVI SHRIHARSHA

With
The 'jivatu' Sanskrit Commentary of Mallinath

And
The 'Chandrika' Hindi Commentary

By

Dr. Devarshi Sanadhya Shastri
M. A., Ph.D., D. Lit.

KRISHNADAS ACADEMY, VARANASI

Publisher : Krishnadas Academy, Varanasi.
Printer : Chowkhamba Press, Varanasi.

Oriental Publishers & Distributors
Post Box No. 1118
K. 37/118, Gopal Mandir Lane
Varanasi-221 001
Phone : 335020
e-mail : cssoffice@satyam.net.in

Also can be had from

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
K. 37/99, Gopal Mandir Lane
Near Golghar (Maidagin)
Post Box No. 1008, Varanasi-221 001 (India)
Phone : Off. 333458, Resi. : 334032 & 335020

नैषधीयचरितम्

षष्ठः सर्गः

दूत्याय दैत्यारिपतेः प्रवृत्तो द्विषां निषेद्धा निषधप्रधानः।
स भीमभूमीपतिराजधानीं लक्षीचकाराथ रथस्यदस्य ॥ १ ॥

जीवातु—दूत्यायेति। अथ दूत्याङ्गीकारानन्तरं, द्विषां निषेद्धा निवारयिता, निषधानां जनपदानां, प्रधानः मुख्याधिपतिरित्यर्थः। स नलः दैत्यारिपतेः देवेन्द्रस्य, दूतकर्मणे। 'दूतस्य भावकर्मणी' इति यत्प्रत्ययः। प्रवृत्त उद्युक्तः सन्, स रथस्यदस्य रथवेगस्य भीमभूमीपतिराजधानीं कुण्डिननगरीं, लक्षीचकार लक्ष्यमकरोत्। गमनं चकारेत्यर्थः ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ दैत्यारिपतेः दूत्याय प्रवृत्तः द्विषां निषेद्धा सः निषधप्रधानः (निषधप्रधानम्) भीमभूमीपतिराजधानीं रथस्यदस्य लक्षीचकार।

हिन्दी—तदनन्तर दैत्यों के शत्रु देवों के स्वामी (इन्द्र) के दूतकर्म में प्रवृत्त शत्रुओं के निवारक उस निषधदेश के अधिपति (नल) ने भीमराज की राजधानी (कुंडिनपुरी) को रथ के वेग का लक्ष्य बनाया।

टिप्पणी—जैसा कि देवों का आकांक्षित था, निषधराज नल इन्द्रादि के दूतकर्मसम्पादनार्थं तीव्रगति से कुंडिनपुरी की ओर चल पड़ा। प्रकाशकार ने द्वितीयचरणांत में 'निषधप्रधानः' के स्थान में 'निषधप्रधानम्' पाठांतर को समीचीन माना है, क्योंकि 'प्रधान' शब्द नपुंसकलिंग में परिगणित है—'प्रधानशब्दः क्लीबे।' कुछ अन्य टीकाकार भी इसी से सहमत हैं। यद्यपि कुंडिननगरी भीम अर्थात् भयंकर 'भूमीपति' अथवा भीम अर्थात् दुर्गम भूमि के स्वामी की नगरी थी, तथापि नल को इससे न तो कोई भय लगा और न किसी अवरोध-प्रतिरोध की ही उसे चिंता व्यापी, क्योंकि वह निषधराज्य का प्रथम पुरुष था और साथ ही 'द्विषां निषेद्धा'—शत्रुओं का निवारक

था। भयंकर राजा की दुर्गम भूमि में उसका गमन अप्रतिषिद्ध था विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास अलंकार उल्लेख्य है। इस सर्ग में (श्लोक १–१११) इंद्रवज्रा-उपेन्द्रवज्रा के मिश्रण से संरचित उपजाति छन्द है ॥ १ ॥

भैम्या समं नाजगणद्वियोगं स दूतधर्मे स्थिरधीरधीशः।
पयोधिपाने मुनिरन्तरायं दुर्वारमप्यौर्वमिवौर्वशेयः ॥ २ ॥

जीवातु—भैम्येति। अधीशो मनोनियमनसमर्थः। अत एव, दूतधर्मे दूतकृत्ये, स्थिरधीरचलबुद्धिः, स नलः, भैम्या समं सह। 'साकं सत्रा समं सह' इत्यमरः। वियोगम्, और्वशेयः उर्वशीपुत्रो मुनिरगस्त्यः 'और्वशेयः कुम्भयोनिरगस्त्यो विन्ध्यकूटनः' इति हलायुधः। पयोधिपाने दुर्वारम्, उर्व्या अपत्यमौर्वो वरुणभयान्मातृगुप्त इति स्वामी। तमौर्वं वडवानलमिव अन्तरायं नाजगणदन्तरायत्वेन नामन्यत। भैमीवियोगमपि विसह्य प्रतिज्ञाभङ्गभयात् दूत्यमेव दृढतरमवलम्बितवानित्यर्थः। अन्तरायविशेषणमुभयत्रापि योजनीयम् ॥ २ ॥

अन्वयः—अधीशः दूतधर्मे स्थिरधीः सः भैम्या समं वियोगं पयोधिपाने दुर्वारम् अपि और्वम् अन्तरायम् और्वशेयः मुनिः इव न अजगणत्।

हिन्दी—मनोनिग्रह में समर्थ दूत के धर्म में दृढमतिशाली उस (नल) ने भीमसुता (दमयंती) के वियोग को जल-राशि (समुद्र) को पीते समय कठिनता से निवारित किये जाने वाले वडवाग्नि के विघ्न को उर्वशी की संतान (अगस्त्य) मुनि के समान नहीं गिना।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल के पक्ष में दमयंती का वियोग उतना ही दुर्निवार था, जैसे कि समुद्र की आग वडवाग्नि उन मुनि अगस्त्य के लिए दुर्निवार थी, जो समुद्र पीते समय उनके कार्य में विघ्न स्वरूप उपस्थित थी। किंतु जिस प्रकार अगस्त्य ने दुर्निवार वडवाग्नि-रूप विघ्न की गणना नहीं की, बिना उसकी चिंता किये वे समुद्र की अगाध जलराशि पी गये, उसी प्रकार नल भी दुःसह, दुर्निवार दमयन्ती-वियोग रूप विघ्न की गणना न करता हुआ देव-दूत-कार्य संपादन में प्रवृत्त रहा। विकार का कारण रहते हुए भी धीर नायक नल की उदात्तता में कोई अन्तर न आया, क्योंकि धीर जन तो ऐसे

होते ही हैं—'विकारहेतावपि विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।' 'औवं' (वडवाग्नि) का 'दुर्वार' (कठिनता से निवारण-योग्य) विशेषण है, इसका 'दुष्टं वाः वारि येन दुर्वाः तम्' यह विग्रह करके 'जल को दूषित करनेवाला' वडवाग्नि भी अर्थ 'प्रकाश'–कार ने किया है। अगस्त्य उर्वशीपुत्र तो थे ही—'प्रकाश'-कार ने 'उरु बहु अश्नाति उर्वशी, तत्पुत्रः और्वशेयः'—विग्रह करके अधिक खाने वाली का बेटा अर्थ कर उनके 'पयोधिपान' के सामर्थ्य का द्योतन किया है। विद्याधर के अनुसार श्लोक में छेकानुप्रास-उपमा-हेतु अलंकारों का संकर है ॥ २ ॥

नलप्रणालीमिलदम्बुजाक्षीसंवादपीयूषपिपासवस्ते ।
तदध्ववीक्षार्थमिवानिमेषा देशस्य तस्याभरणीबभूवुः ॥ ३ ॥

जीवातु—नलेति । ते इन्द्रादयो देवाः, नल एव प्रणाली जलनिर्गममार्गः, तया मिलत् प्रवहत्, अम्बुजाक्षीसंवादपीयूषं दमयन्तीसंवादामृतं, पिपासवः पातुमिच्छवः सन्तः । मधुपिपासुवत् द्वितीयासमासः । तदध्ववीक्षार्थं नलमार्गप्रतीक्षार्थमिव अनिमेषाः सन्तः इत्युत्प्रेक्षा । तस्य देशस्य नलनिर्गमनप्रदेशस्याभरणीबभूवुः । तदागमनपर्यन्तं तत्रैव तस्थुरित्यर्थः ॥ ३ ॥

अन्वयः—तदध्ववीक्षार्थम् इव अनिमेषाः ते नलप्रणालीमिलदम्बुजाक्षीसंवादपीयूषपिपासवः तस्य देशस्य आभरणीबभूवुः ॥

हिन्दी—मानो उस (नल) के मार्ग के अवलोकनार्थ अपलक वे (देव) नलरूप नालिका (नाली) से बहकर आते कमलनयना (दमयन्ती) के संवाद रूप अमृत-सलिल के प्यासे बने उस (पूर्व संदर्भ में कथित) स्थान के आभूषण बन (प्रतीक्षा करते) रहे।

टिप्पणी—भाव यह कि देवगण, जहाँ नल के साथ उनका वार्तालाप हुआ था, उस स्थान पर दमयंती का उत्तर लेकर नल के लौटने की प्रतीक्षा करते डटे रहे। नल उस नल-प्रणाली (पाइप लाइन) के समान है, जिसके माध्यम से प्रवाहित होता संवाद-रूप जल आयेगा। अपलक-प्रतीक्षा करना देवों की उत्सुकता का द्योतन करता है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा है और विद्याधर के अनुसार रूपक-उत्प्रेक्षा का संकर ॥ ३ ॥

तां कुण्डिनाख्यापदमात्रगुप्तामिन्द्रस्य भूमेरमरावतीं सः ।
मनोरथः सिद्धमिव क्षणेन रथस्तदीयः पुरमाससाद ॥ ४ ॥

जीवातु—तामिति । तस्यायं तदीयः, नलीयः, स रथः, तां कुण्डिनमिति यदाख्यापदं नामपदं, तन्मात्रेण गुप्तां छन्नाम्, अमरावतीमिन्द्रिराजधानीम्, तत्कल्पामित्यर्थः । भूमेरिन्द्रस्य भीमभूपतेः, पुरं, मनोरथः सिद्धमिव क्षणेन आससाद प्राप ॥ ४ ॥

अन्वयः—तदीयः सः रथः मनोरमथः सिद्धिम् इव तां कुण्डिनाख्यपदमात्र-गुप्ताम् भूमेः इन्द्रस्य अमरावतीं पुरं क्षणेन आससाद ।

हिन्दी—उस (नल) का वह रथ, जैसे अभिलाष-सिद्धि को प्राप्त कर-लेता है, वैसे ही उस 'कुंडिन' नामक शब्द मात्र से गुप्त धरती के इन्द्र (भीम नरेश) की अमरावती पुरी (कुंडिनपुरी) में क्षण मे पहुँच गया ।

टिप्पणी—नल जैसे तपःपूत जनों की इच्छा तुरन्त पूर्ण हो जाती है, वैसे ही 'मनोरथ'–सम वेगवान् रथ से क्षणमात्र में (अतिशीघ्र) भीमराज की राजधानी कुंडिनपुरी पहुँच गया । कुंडिनपुरी बस नामतः ही इन्द्र की राजधानी अमरावती से भिन्न थी, वस्तुतः वह किसी दृष्टि से स्वर्ग की राजधानी से न्यून वैभववती नहीं थी, उसका अधिपति तो धरती का इन्द्र ही था । विद्याधर के अनुसार व्यतिरेक-रूपक अलंकार ॥ ४ ॥

भैमीपदस्पर्शकृतार्थरथ्या सेयं पुरीत्युत्कलिकाकुलस्ताम् ।
नृपो निपीय क्षणमीक्षणाभ्यां भृशं निशश्वास सुरैः क्षताशः ॥ ५ ॥

जीवातु—भैमीति । नृपो नलः, इयं भैमीपदस्पर्शेन कृतार्थरथ्या सफल-मार्गा, सा श्रूयमाणा पुरी कुण्डिनपुरीत्युत्कलिकया उत्कण्ठया, आकुलः क्षुभितः सन् । क्षणमीक्षणाभ्यां, तां पुरीं, निपीय सतृष्णं दृष्ट्वा, सुरैः क्षताशः भिन्नाशः सन् भृशं निशश्वास ॥ ५ ॥

अन्वयः—इयं भैमीपदस्पर्शकृतार्थरथ्या सा पुरी—इति उत्कलिकाकुलः नृपः क्षणम् ईक्षणाभ्यां तां पुरीं निपीय सुरैः क्षताशः भृशं निशश्वास ।

हिन्दी—'यह भीमपुत्री (दमयन्ती) के चरण-स्पर्श से कृतार्थ गलियों वाली वह (विख्यात) नगरी है'—इस उत्कण्ठा से व्याकुल वह राजा (नल) क्षण भर उस पुरी को नेत्रों से पीकर (भली भाँति देखकर) देवों द्वारा भग्नाश किये जाने के कारण लम्बी साँसें भरने लगा ।

टिप्पणी—जिस नगरी में दमयन्ती ने जन्म लिया, क्रीडा-विनोद किये, बड़ी हुई, वह नगरी कैसी होगी ? कैसी होंगीं वे गलियाँ—वे रास्ते, जिन पर नल की प्रिया के चरण पड़े होंगे ? एक भावुक सच्चे प्रेमी के सदृश दमयन्ती-कामी नल उस कुण्डिननगरी के अवलोकनार्थ बड़ा उत्सुक था। वह विचारता था कि दमयन्ती को पाकर इस महिमामयी नगरी के वैभव को भोगने का सौभाग्य उसे कभी प्राप्त होगा। पर हाय रे हतभाग्य, उसे देवगण मिल गये। उसे छल से ऐसे कार्य में प्रवृत्त कर दिया कि सब स्वप्न भंग हो गये। आशा निराशा में बदल गयी। कष्ट और दुःख से लम्बी साँसें लेने के अतिरिक्त वह करता ही क्या ? विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-काव्यलिङ्ग-भावशबलता अलंकारों का संकर ॥ ५ ॥

स्विद्यत्प्रमोदाश्रुलवेन वामं रोमाञ्चभृत्पक्ष्मभिरस्य चक्षुः ।
अन्यत्पुनः कंप्रमपि स्फुरन्तं तस्याः पुरः प्राप नवोपभोगम् ॥ ६ ॥

जीवातु—अथैवं विद्यमानस्य तस्येष्टसिद्धिसूचकं दक्षिणाक्षिस्पन्दनं जातमित्याह—स्विद्यदिति । अस्य नलस्य, वामं चक्षुः, प्रमोदाश्रुलवेन आनन्दबाष्पकणेन, स्विद्यत् स्विन्नं सत्, पक्ष्मभिः उन्मिषद्भिरिति शेषः । रोमाञ्चभृद्रोमाञ्चितं सत्, तस्याः पुरः नगर्याः, स्फुरन्तं प्रकाशमानं, नवोपभोगं अपूर्वदर्शनमाद्यसङ्गमञ्च प्राप । अन्यत् पुनर्दक्षिणं तु कम्प्रमपि कम्प्रञ्च सत् तं प्राप । वामाक्ष्णः स्वेदरोमाञ्चावेव । दक्षिणस्य तु वेपथुरप्यधिकः सात्त्विकः संवृत्त इत्यर्थः । प्रथमसङ्गमे कम्प्रस्वेदरोमाञ्चादयो जायन्ते । पुरुषस्य दक्षिणाक्षिस्पदनं शुभाय भवतीति निमित्तवेदिनः । अत्रानन्दाश्रुपक्ष्मोत्क्षेपाक्षिस्पन्देषु स्वेदादिसात्त्विकरूपणाद्रूपकम् । तदुल्लासितनवोपभोगव्यवहारसमारोपात् पुरीचक्षुषोः स्त्रीपुंसत्वप्रतीतेः रूपकसङ्कीर्णा समासोक्तिरलङ्कारः ॥ ६ ॥

अन्वयः—अस्य प्रमोदाश्रुलवेन स्विद्यत् पक्ष्मभिः रोमाञ्चभृत् वामं चक्षुः तस्याः पुरः स्फुरन्तं नवोपभोगं प्राप कम्प्रं तु अन्यत् प्राप ।

हिन्दी—उस (नल) के हर्षजनित अश्रुकण से स्वेदयुक्त और बरौनियों से रोमांचित बायें नयन ने उस (नगरी) के संमुख प्रकाशमान नये उपभोग (प्रथम दर्शन) को प्राप्त किया और कंपनशील होते वामातिरिक्त (दक्षिण नयन) ने प्राप्त किया ।

टिप्पणी—इस श्लोक में नल के नेत्रों की एक ऐसे नायक के रूप में उद्भावना की गयी है, जो नायिका के प्रथम संपर्क में आया है। कुंडिनपुरी को दोनों नेत्रों से निहार कर नल को प्रसन्नता हुई और आनन्दाश्रु से उसका वामनेत्र पूर्ण हो गया और बरौनियाँ जैसे अंचित हो गयीं तथा दाहिना नेत्र (शुभ शकुन स्वरूप) फड़कने लगा। नल के नेत्रों की नायिका के रूप में कुंडिनपुरी की उद्भावना है, जिसके 'नवोपभोग' अर्थात् प्रथमदर्शन अथवा नूतनकामकेलि का सुख प्राप्त करते दोनों नयनों में जात अश्रु आदि नायक के भाव हैं। आनन्दाश्रु 'स्वेद' हैं और 'रोमाञ्च' तथा कंप्र (कंपन) 'कंप' नामक सात्त्विक भाव हैं। नयनों की वह स्थिति यद्यपि प्रकृतिसिद्ध है तथापि वह यहाँ प्रिया-प्राप्ति की सूचना भी देती है। नवोपभोग के समय कामिजन की भी ऐसी स्थिति हो जाया करती है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ रूपक-संकीर्णा समासोक्ति है, क्योंकि आनन्दाश्रु आदि में स्वेदादि सात्त्विकों का रूपण है और नवोपभोग व्यवहार के समारोप के आधार पर नयन और कुंडिनपुरी में नायक-नायिका की प्रतीति होती है। विद्याधर ने केवल समासोक्ति का निर्देश किया है ॥ ६ ॥

रथादसौ सारथिना सनाथाद्राजावतीर्याशु पुरं विवेश।
निर्गत्य बिम्बादिव भानवीयात्सौधाकरं मण्डलमंशुसङ्घः ॥ ७ ॥

जीवातु—रथादिति। असौ राजा नलः सारथिना सनाथात् सहितात् रथादवतीर्य अंशुसङ्घः अर्कांशुसमूहः, भानवीयात् बिम्बान्निर्गत्य सौधाकारं चान्द्रं मण्डलमिव आशु पुरं कुण्डिनं विवेश। 'सलिलमये शशिनि रवेर्दीधितयो मूर्च्छितास्तमो नैशम्। क्षपयन्ति दर्पणोदरनिहिता इव मन्दिरस्यान्तः ॥' इति शास्त्रादियमुपमा ॥ ७ ॥

अन्वयः—असौ राजा सारथिना सनाथात् रथात् अवतीर्य भानवीयात् बिम्बात् निर्गत्य सौधाकरं मण्डलम् अंशुसंघः इव आशु पुरं विवेश।

हिन्दी—सारथि-युक्त रथ से उतरकर यह राजा (नल) जैसे सूर्य के बिम्ब से निकल चन्द्र के मंडल में किरण-समूह प्रविष्ट होता है, वैसे ही शीघ्रतापूर्वक नगर में प्रविष्ट हो गया।

टिप्पणी—इस श्लोक में उपमालङ्कार है। इसका आधार है ज्योतिःशास्त्र। सलिलमय चन्द्र में सूर्य-किरणें प्रविष्ट होकर रात्रि के अन्धकार का विनाश उसी प्रकार करती हैं, जिस प्रकार कि दर्पण में विद्यमान प्रकाश-किरणें मंदिर के अन्धकार का। भाव यह कि रथ में सारथि को छोड़कर नगर में एकाकी प्रवेश करता नल चन्द्र के समान सुशोभित हुआ ॥ ७ ॥

चित्रं तदा कुण्डिनवेशिनस्सा नलस्य मूर्तिर्ववृते नदृश्या।
बभूव तच्चित्रतरं तथापि विश्वैकदृश्यैव यदस्य मूर्तिः ॥ ८ ॥

जीवातु—चित्रमिति। तदा तस्मिन्समये, कुण्डिनवेशिनः कुण्डिनप्रविष्टस्य नलस्य सा तथा दर्शनीया मूर्त्तिर्नदृश्या अदर्शनीया। नञर्थस्य नशब्दस्य 'सुप्सुपा' इति समासः। ववृते जाता, चित्रं विरोधादिति भावः। इन्द्रवराददृश्यत्वं गतेत्यविरोधः। तथाप्यदृश्यापि अस्य मूर्तिर्विश्वैकदृश्येति यत्तच्चित्रतरं बभूव, दृश्यत्वादृश्यत्वयोर्विरोधादिति भावः। विश्वस्यैकस्यैव दृश्या दृष्टिप्रियैवेत्यविरोधः। अत्र विरोधाभासयोः संसृष्टिः ॥ ८ ॥

अन्वयः—तदा कुण्डिनवेशिनः नलस्य मूर्त्तिः नदृश्या ववृधे, चित्रम्, तथापि यत् अस्य मूर्त्तिः विश्वैकदृश्या तत् चित्रतरं बभूव।

हिन्दी—उस काल कुडिननगरी में प्रविष्ट होते नल की मूर्त्ति अदर्शनीय थी, यह आश्चर्य है, तथापि जो उसकी मूर्त्ति 'विश्वैकदृश्या' अर्थात् सकल-जगत् के देखे जाने योग्य (परिहारार्थ में सबको सुन्दर लगती) रही, वह और अधिक आश्चर्य हो गया।

टिप्पणी—देव-वर के कारण नल अदृश्य था और वह दर्शनीय तो था ही। 'न दृश्या' का एक अर्थ अदृश्य है, दूसरा अर्थ है जैसी सामान्यतः देखी न जाती हो, अर्थात् अनुपम (परिहारार्थ)। ऐसे ही 'विश्वैकदृश्या' के दो अर्थ (विश्वमात्र को दृश्य और सबको सुन्दर लगने वाला) करके विरोध और परिहार दिखाकर चमत्कार लाया गया है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ दृश्यत्व और अदृश्यत्व में तथा 'विश्वैकदृश्य' की दृष्टिप्रियता में विरोध है, अतः विरोधाभासों की संसृष्टि है, विद्याधर भी विरोधाभास मानते हैं ॥ ८ ॥

जनैर्विदग्धैर्भवनैश्च मुग्धैः पदे पदे विस्मयकल्पवल्लीम्।
विगाहमाना पुरमस्य दृष्टिरथाददे राजकुलातिथित्वम् ॥ ९ ॥

जीवातु—जनैरिति । अथास्य नलस्य, दृष्टिर्विदग्धैरभिज्ञैः जनैः मुग्धैः सुन्दरैः भवनैश्च पदे पदे विस्मयकल्पवल्लीं आश्चर्यावहामित्यर्थः । पुरं विगाहमाना विभावयन्ती । राजकुलातिथित्वमादद्दे । क्रमादसौ राजभवनं ददर्शेत्यर्थः ।

अन्वयः—अथ अस्य दृष्टिः विदग्धैः जनैः मुग्धैः भवनैः च पदे पदे विस्मयकल्पवल्लीं पुरं विगाहमाना राजकुलातिथित्वम् आददे ।

हिन्दी—तदनन्तर उस (नल) की दृष्टि चतुर पुरुषों और मनोहर भवनों द्वारा पग-पग पर आश्चर्य की कल्पलता पुरी का विगाहन (भली भाँति अवलोकन) करती राजभवन के अतिथिभाव को प्राप्त हुई ।

टिप्पणी—कुंडिनपुरी में प्रविष्ट होने पर नल को स्थान-स्थान पर अनेक चतुर व्यक्ति मिले और अनेक भव्य भवन दीखे, जिससे उसे आश्चर्य हुआ । इसी प्रकार नगरी का भली भाँति अवलोकन करता नल धीरे-धीरे राजभवन तक जा पहुँचा । 'विदग्धैः मुग्धैः च जनैः भवनैः च' अन्वय करने पर विदग्ध (विद्वान्) और मुग्ध (मूर्ख) जनों में विरोध हुआ और विदग्ध (जले) और मुग्ध (सुन्दर) भवनों में असंगति हुई, अतः विरोध हुआ । यही आश्चर्य है । इसका परिहार होगा—विदग्ध अर्थात् विद्वान् होकर मुग्ध अर्थात् सुन्दरजन । इसी प्रकार भवन-पक्ष में विदग्ध का अर्थ लक्षणा शक्ति के आधार पर होगा 'विदग्ध जनों से पूर्ण' अथवा 'चतुर जनों द्वारा निर्मित' (स्थापत्य की दृष्टि से पूर्ण) और 'मुग्ध' अर्थात् भव्य । विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलङ्कार रूपक ।। ९ ।।

लीनश्चरामीति हृदा ललज्जे हेलां दधौ रक्षिजनेऽस्त्रसज्जे ।
द्रक्ष्यामि भैमीमिति संतुतोष दूत्यं विचिन्त्य स्वमसौ शुशोच ।। १० ।।

जीवातु—लीन इति । असौ नलः, अस्त्रैः सज्जे सन्नद्धे । 'सन्नद्धो वर्मितस्सज्जे' इत्यमरः । रक्षिजने राजकुलरक्षकवीरवर्गे, हेलामवज्ञां दधाविति गर्वोक्तिः । लीनः (कष्टं शूरोऽपि) गूढश्चरामीति हेतोर्हृदा ललज्जे । भैमीं द्रक्ष्यामीति संतुतोष । स्वं स्वकीयं, दूत्यं विचिन्त्य शुशोचेति निर्वेदोक्तिः । अत्र गर्वलज्जाहर्षनिर्वेदानां बहूनां भावानां परस्परोपमर्देन समावेशाद्भावशबलतोक्ता ।। १० ।।

अन्वयः--असौ लीनः चरामि--इति हृदा ललज्जे, अस्त्रसज्जे रक्षिजने हेलां दधौ, भैमीं द्रक्ष्यामि—इति संतुतोष, स्वं दूत्यं विचिन्त्य शुशोच ।

हिन्दी--यह (नल) '(वीर होकर भी) अदृष्ट हुआ विचरण कर रहा हूँ'--यह विचार कर मन ही मन लज्जित हुआ । उसने अस्त्रधारी रखवालों के प्रति अवज्ञा--अनादर का भाव धारण किया; भीमपुत्री को देखूँगा--इससे वह प्रसन्न हुआ अपने दूतभाव का विचार कर दुःखी हुआ ।

टिप्पणी--पुरी में भ्रमण करते नल की भावसंकुलता का यहाँ चित्रण है । लज्जा, हेला (अनादर), तोष और शोक क्रमशः नल के हृदय में उत्पन्न हुए । वीर छिपकर प्रविष्ट हो, यह उसके लिए लज्जास्पद है । अस्त्र सज्जित पहरेदार वीर के लिए नगण्य, उपेक्षायोग्य होते ही हैं, सो हेला । दमयन्ती को देख सकने की स्थिति पर संतोष हुआ, जो तुरन्त इस सोच से दब गया कि नल इस समय उसके प्रिय-रूप में नहीं, पराये दूत के रूप में उपस्थित होने जा रहा है । विद्याधर के अनुसार भावशबलता अलङ्कार ॥ १० ॥

अथोपकार्याममरेन्द्रकार्यात्कक्ष्यासु रक्षाधिकृतैरदृष्टः ।
भैमी दिदृक्षुर्बहु दिक्षु चक्षुर्दिशन्नसौ तामविशद्विशङ्कः ॥ ११ ॥

जीवातु—अथेति अथानन्तरं, असौ नलः, कक्ष्यासु गृहप्रकोष्ठेषु । 'कक्ष्या प्रकोष्ठे हर्म्यादेः' इत्यमरः । रक्षायामधिकृतैः, रक्षिजनैः, अदृष्टस्सन् भैमीं, दिदृक्षुः द्रष्टुमिच्छुः । अतएव दिक्षु चक्षुर्बहु भूयिष्ठं, दिशन् विशङ्कस्सन्, तां पूर्वनिर्दिष्टां, उपकार्यां राजसदनम् । 'उपकार्या राजसद्मनि' इति विश्वः । अमरेन्द्राणां कार्यात् प्रयोजनात् हेतोरविशत् ॥ ११ ॥

अन्वयः—अथ कक्ष्यासु रक्षाधिकृतैः अदृष्टः भैमीं दिदृक्षुः दिक्षु चक्षुः बहु दिशन् विशङ्कः असौ अमरेन्द्रकार्यात् ताम् उपकार्याम् अविशत् ।

हिन्दी—तदनन्तर भवन के प्रकोष्ठों में रक्षा-अधिकारियों (प्रहरियों) को न दीखता, भीमसुता (दमयन्ती) को देखने के निमित्त चारों ओर बार-बार दृष्टि डालता शंकाहीन यह (नल) देवराज (इन्द्र) के कार्य से उस राजगृह में प्रविष्ट हुआ ।

टिप्पणी—देवराज से मिले वर के कारण नल प्रहरियों को न दीख पड़ता था, अतएव वह निःशंक होकर दमयन्ती को ढूँढ रहा था । चोरी से

किसी के घर में जा घुसना किसी शूर-वीर, सज्जन व्यक्ति का काम नहीं होता, किन्तु, नल देवेन्द्र की कार्यसिद्धि के लिए दूतोचित कार्य कर रहा था । रामकथा के हनुमान् भी ऐसे ही लघुरूप धारण करके लंका में प्रविष्ट हुए थे । विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलङ्कार छेकानुप्रास ॥ ११ ॥

अयं क इत्यन्यनिवारकाणां गिरा विभुर्द्वारि विभुज्य कण्ठम् ।
दृशं दधौ विस्मयनिस्तरङ्गां विलङ्घितायामपि राजसिंहः ॥ १२ ॥

जीवातु—अयमिति । विभुः समर्थः, राजा सिंह इव राजसिंहः राजश्रेष्ठः, उपमितसमासः । स नलः, अयं क इत्यन्यस्य स्वव्यतिरिक्तजनस्य, निवारकाणां, रक्षिणां गिरा वाक्येन (हेतुना) कण्ठं विभुज्य किं दृष्टोऽस्मीति शङ्कया ग्रीवां विवलय्य वक्रीकृत्येत्यर्थः । विलङ्घितायामतिक्रान्तायामपि द्वारि । विस्मयेन कथमेते मामद्राक्षुरित्याश्चर्येण । निस्तरङ्गां निर्निमेषां, दृशं दधौ । सिंहस्य ग्रीवाभङ्गेन लङ्घिताध्वदर्शनं युक्तमिति भावः ॥ १२ ॥

अन्वयः—विभुः राजसिंहः—अयं कः—इति अन्यनिवारकाणां गिरा कण्ठं विभुज्य विलङ्घितायाम् अपि द्वारि विस्मयनिस्तरङ्गां दृशं दधौ ।

हिन्दी—सामर्थ्यशील वह राजसिंह (राजश्रेष्ठ) 'यह कौन है'—ऐसे किसी और का निवारण करते पहरेदारों के वचनों के कारण गरदन पीछे मोड़कर द्वार को लांघजाने पर भी आश्चर्य से निश्चल दृष्टि से देखने लगा ।

टिप्पणी—अदृश्य रहकर राजमंदिर में घूमते सिंह-सम पराक्रमी नल ने पहरेदारों की वाणी सुनी—'यह कौन है' ? नल को इस पर आश्चर्य हुआ कि अदृश्य रहते भी उसे पहरेदारों ने कैसे देख लिया ? वस्तुतः प्रहरियों ने किसी अन्य प्रविष्ट होते व्यक्ति को टोका था, जिसे नल ने अपने प्रति समझ लिया । फिर भी राजसिंह नल डरा नहीं, 'सिंहावलोकन' करते उसने द्वार पार करते हुए पीछे देखा, फिर आश्वस्त हो आगे बढ़ा । विद्याधर के अनुसार जाति और श्लेष का संकर ॥ १२ ॥

अन्तःपुरान्तस्स विलोक्य बालां काञ्चित्समालब्धुमसंवृतोरुम् ।
निमीलिताक्षः परया भ्रमन्त्या सङ्घट्टमासाद्य चमच्चकार ॥१३॥

जीवातु—अन्तरिति । स नलः, अन्तःपुरस्यान्तरभ्यन्तरे, अव्ययमेतत् ।

समालब्धुमुद्वर्तयितुम् । असंवृतोरुमनाच्छादितोरुदेशां, काञ्चिद्बालां स्त्रियं विलोक्य, निमीलिताक्षस्सन् पराङ्गनादर्शनपापभीत्येति भावः। भ्रमन्त्या तत्र सञ्चरन्त्या परया स्त्र्यन्तरेण सङ्घट्टमभिघातं आसाद्य, द्वयोरपि दृष्टि-प्रतिबन्धादिति भावः। चमच्चकार उल्लसति स्म। चमदित्यनुकारिशब्दः ॥

अन्वयः—अन्तःपुरान्तः समालब्धुम् असंवृतोरुं काञ्चिद् बालां विलोक्य निमीलिताक्षः सः भ्रमन्त्या परया संघट्टम् आसाद्य चमच्चकार ।

हिन्दी—रनिवास के मध्य उद्‌वर्तन (उबटन, मालिश) के निमित्त जांघ खोले किसी बाला को देखकर आँखें बन्द किये वह (नल) घूमती अन्य स्त्री से टक्कर खाकर चकित हो गया ।

टिप्पणी—नल के अदृश्य रहने के कारण रनिवास की कोई स्त्री वहाँ पुरुष का होना सोच ही नहीं सकती थी, अतः वे स्वच्छदता पूर्वक अपने-अपने कार्य कर रही थीं। एक स्त्री जाँघ पर मालिश करा रही थी उसकी खुली जाँघ को देखना उचित न समझते हुए नल ने आँखें मीचलीं, फल यह हुआ कि उधर आती एक अन्य स्त्री से टकरा गये, क्योंकि वह स्त्री भी उन्हें देख न पायी थी। पर नल को अचरज लगा कि क्यों यह स्त्री मुझसे टकरायी ? विद्याधर के अनुसार जाति अलंकार ॥ १३ ॥

अनादिसर्गस्रजि वानुभूता चित्रेषु वा भीमसुता नलेन ।
जातैव यद्वा जितशम्बरस्य सा शाम्बरीशिल्पमलक्षि दिक्षु ॥ १४ ॥

जीवातु—अनादीति। अनादौ सर्गस्रजि सृष्टिपरम्परायां वा, क्वचिज्जन्मान्तर इत्यर्थः। चित्रेषु आलेख्येषु, अनुभूता। अत्यन्ताननुभूतेऽर्थे भ्रमासम्भवादिति भावः। यद्वा, मास्त्वनुभव इति शेषः। किंतु, जितशम्बरस्य मायिनोऽपि मायिनः, कामस्य शाम्बरीशिल्पं मायासृष्टिः। 'स्यान्माया शाम्बरी' इत्यमरः। जातैव, सा भीमसुता नलेन दिक्षु अलक्षि प्रतिदिशमलक्ष्यत। लक्षेः कर्मणि लुङ्। अत्रालीकभैमीसाक्षात्कारो जन्मान्तरानुभवाद्वा केवलमदनमायाबलाद्वेति हेतूत्प्रेक्षा ॥ १४ ॥

अन्वयः—अनादिसर्गस्रजि वा चित्रेषु अनुभूता यद्वा जितशम्बरस्य शाम्बरीशिल्पं जाता एव सा भीमसुता नलेन दिक्षु अलक्षि ।

हिन्दी—जैसे आदि-हीन सृष्टि की परम्परा में देखी हो, अथवा चित्रों में उसका अनुभव हो, अथवा शंबरजयी (काम) की शंबर शिल्प (माया) ही हो, ऐसी भीमसुता (दमयंती) को नल ने प्रत्येक दिशा में देखा।

टिप्पणी—राजभवन में चारों ओर दमयंती ही दीख रही थी, यद्यपि वह वहाँ थी नहीं। अविद्यमान् दमयंती को देखो प्रत्यक्ष करने की तीन सम्भावनाएँ हैं—(१) कभी अनादि सृष्टि-परम्पराओं में—जन्मांतर में उसे देखा हो, परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है, और पूर्व जन्म का स्मरण भी प्राय: नहीं रहता। (२) चित्रगत होने से प्रत्यक्ष हो, पर चित्र के जड होने के कारण वह क्रियाहीन होगी। ऐसी दमयन्ती की कल्पना भी उचित नहीं है। (३) मायावी शंबरासुरजयी काम की माया का ही वह चमत्कार हो। कदाचित् यह तीसरी स्थिति ही उपयुक्त है। दमयंती काम का माया शिल्प ही थी, इसी कारण इतनी मनोहर थी। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ हेतूत्प्रेक्षा है, कारण कि अतथ्य दमयंती के साक्षात्कार के तीन हेतु संभावित हैं। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-रूपक-विशेष अलंकारों का संकर है ॥१४॥

अलीकभैमीसहदर्शनान्न तस्यान्यकन्याप्सरसो रसाय।
भैमीभ्रमस्यैव ततः प्रसादाद्भैमीभ्रमस्तेन न तास्वलम्भि ॥ १५ ॥

जीवातु—अलीकेति। अन्याः कन्या अप्सरस इव। उपमितसमासः। अप्सरःकल्पा अपि कन्याः तत्रत्याः स्त्रियः, अलीकभैम्या सह दर्शनाद्धेतोः तस्य नलस्य रसाय रागाय, नाभवन्। ततोऽपि तासामपकृष्टत्वादिति भावः। तर्हि, किं सारूप्यात्तास्वपि भैमीभ्रमो नाभूदत आह—भैमीति। तत इति सार्वविभक्तिकस्तसिः। ततः तस्य भैमीभ्रमस्यैव प्रसादात्तेन नलेन तास्वन्तःपुरस्त्रीषु भैमीभ्रमो नालम्भि न प्राप्तः। अत्यन्तासादृश्यादिति भावः ॥ १५ ॥

अन्वयः—अलीकभैमीसहदर्शनात् अन्यकन्याप्सरसः तस्य रसाय न, तेन ततः भैमीभ्रमस्य एव प्रसादात् तासु भैमीभ्रमः न अलम्भि।

हिन्दी—अतथ्य भीमसुता के साथ देखने से दूसरी कुमारी रूप अप्सरियाँ उस (नल) के राग-आनंद का कारण न बनीं, उस (नल) को उस भीमपुत्री के भ्रम के प्रसाद के कारण ही उनमें भीमपुत्री (दमयन्ती) का भ्रम न हो पाया।

टिप्पणी—राजभवन में अप्सरियों-सी रमणीय अन्य अनेक कुमारियाँ थीं, परन्तु नल को उनमें अनुराग उत्पन्न नहीं हुआ। यद्यपि दमयन्ती वहाँ वस्तुतः नहीं थी, तथापि अलीक दमयन्ती तो थी, दमयन्ती न सही, दमयन्ती की भ्रांति तो थी। इसी अलीक दमयन्ती के साथ भी तुलना करने से अन्य सुन्दरियाँ नल को मनोरम नहीं प्रतीत होती थीं और उसका रंजन न हो पाता था। विद्याधर के अनुसार रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकार ॥ १५ ॥

भैमीनिराशे हृदि मन्मथेन दत्तस्वहस्ताद्विरहाद्विहस्तः।
स तामलीकामवलोक्य तत्र क्षणादपश्यन्व्यषदद्विबुद्धः ॥ १६ ॥

जीवातु—भैमीति। भैम्या निराशे सुरैः क्षताशे, हृदि, मन्मथेन दत्तस्वहस्ताद्दत्तावलम्बाज्जनितादित्यर्थः। विरहाद्विहस्तो विह्वलः, स नलः अलीकां तां भैमीमवलोक्य, क्षणात् विबुद्धः निवृत्तभ्रमः, तत्र तामपश्यन् व्यषदत्, विषण्णोऽभूत्। सदेर्लुङ्। लृदित्त्वाच्च्लेरङादेशः। 'सदिरप्रतेः' इत्यड्व्यवायेऽपि षत्वम्। भैमीशून्यविबोधात्तद्वान् भ्रम एव तस्याशास्योऽभवदिति भावः ।१६।

अन्वयः—भैमीनिराशे हृदि मन्मथेन दत्तस्वहस्तात् विरहात् विहस्तः अलीकां ताम् अवलोक्य क्षणात् विबुद्धः सः तत्र अपश्यन् व्यषदत्।

हिन्दी—भीमपुत्री (दमयन्ती) से निराश हृदय में काम द्वारा सहारा पाये वियोग से बेहाथ (विकल), अतथ्य उस (दमयन्ती) को देखकर क्षण बीतते सजग हुआ वह (नल) वहाँ (उस दमयन्ती) को न देखकर व्यथा पाने लगा।

टिप्पणी—देवों का दूत होकर नल दमयंती के प्रति निराश हो गया था, किंतु काम ने अपने हाथों सहारा दे वियोग को उसके हृदय में फिर जगा दिया, इससे नल की व्याकुलता बढ़ गयी। जब उसने अलीक दमयन्ती को देखा तो कुछ चैन मिला, पर जब वह भ्रम हटा तो वह पुनः द्विगुणित कष्ट पाने लगा। काम से 'हाथ पाये' विरह से नल का 'बेहाथ' हो जाना असंगत लगता है, यह आश्चर्य है कि 'हाथ पाया' 'बेहाथ' हो, हाथ दान करने पर तो काम को 'विहस्त' होना चाहिए। इसका परिहार हो जाता है 'हस्त' का 'सहारा—अवलम्ब' और 'विहस्त' का 'व्याकुल' अर्थ करने पर। इस प्रकार विरोधाभास अलंकार। विद्याधर के अनुसार भावोदय अलंकार ॥ १६ ॥

प्रियां विकल्पोपहृतां स यावद्दिगीशसन्देशमजल्पदल्पम् ।
अदृश्यवाग्भीषितभूरिभीरुभवो रवस्तावदचेतयत्तम ॥ १७ ॥

जीवातु---प्रियामिति । स नलः, विकल्पोपहृतां विभ्रमोपनीतां, प्रियां दमयन्तीं, यावद्दिगीशसन्देशं इन्द्रादिवाचिकं, अल्पमजल्पदकथयत् । तावददृश्यया अलक्ष्यकर्तृकया, वाचा हेतुकर्त्र्या, भीषिता वित्रासिताः । 'भियो हेतुभये षुक्' । ताश्च ता भूरयोऽनेका भीरवो भयशीलाः स्त्रियः ताभ्यो भवतीति तद्भवो रवः कलकलः, तं नलमचेतयदबोधयत् । चेततेर्भौवादिकात् णिच् ॥ १७ ॥

अन्वयः---सः विकल्पोपहृतां प्रियां यावत् दिगीशसन्देशम् अल्पम् अजल्पत् तावत् अदृश्यवाग्भीषितभूरिभीरुभवः रवः तम् अचेतयत् ।

हिन्दी—वह (अदृश्य रहता नल) भ्रम के कारण कल्पित प्रिया (दमयंती) से जब दिग्पालों का संदेश थोड़ा-सा बोला तब ही न दीखती वाणी से डरीं अनेक डरपोक स्त्रियों द्वारा मचाये कोलाहल ने उसे सावधान कर दिया ।

टिप्पणी—देव-वर से अपनी काया अदृश्य किये भ्रमकल्पित अलीक दमयन्ती से नल ने दिक्पालों के संदेश के कुछ शब्द कहे ही थे कि नारी मण्डली में भीषण कोलाहल मच गया । अदृष्ट व्यक्ति के वचन सुनकर वे भीरु नारियाँ समझीं कि कोई भूत-प्रेत-बाधा आ पड़ी है, जो शून्य में से स्वर सुन पड़ रहा है और वे डर कर चिल्ला पड़ीं । इससे नल ने अपनी भूल समझी कि वह यह क्या कर रहा है कि अदृश्य रह कर बोल रहा है ? तब नल सावधान हुआ और चुप हो गया । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और कान्ति भावोदय अलंकारों का संकर ॥ १७ ॥

पश्यन् स तस्मिन्मरुतापि तन्व्याः स्तनौ परिस्प्रष्टुमिवास्तवस्त्रौ ।
अक्षान्तपक्षान्तमृगाङ्कमास्यं दधार तिर्यग्वलितं विलक्षः ॥१८॥

जीवातु—पश्यन्निति । स नलः तस्मिन्नन्तःपुरे मरुतापि अचेतनेनापीति भावः । परिस्प्रष्टुं संस्प्रष्टुमिव । अस्तवस्त्रौ अपनीतांशुकौ तन्व्याः स्तनौ पश्यन् विलक्षो विलज्जितस्सन्, अक्षान्तपक्षान्तमृगाङ्कं, अक्षान्तः असोढः पक्षान्ते पौर्णमास्यां मृगाङ्कः चन्द्रो येन तदास्यं, तिर्यग्वलितं साचीकृतम् । दधार धृतवान् । यत्राचेतनस्य वायोरपि चपलता तत्रायं निर्विकार एवेत्यहो जितेन्द्रियत्वमस्येति भावः ॥ १८ ॥

अन्वयः—तस्मिन् मरुता अपि परिस्प्रष्टुम् इव तन्व्याः अस्तवस्त्रौ स्तनौ पश्यन् विलक्षः सः अक्षान्तपक्षान्तमृगाङ्कम् आस्यं तिर्यक् वलितं दधार ।

हिन्दी—वहाँ (अन्तःपुर में) वायु (देव) द्वारा भी परिस्पर्श के निमित्त जैसे कोमलांगी (सुन्दरी) के वस्त्र उड़ा दिये जाने से उघड़ गये स्तनों को देख दुचित्ते (विमन) उस (नल) ने पक्षांत (पूर्णिमा) के चंद्र को असहन करते मुख को तिरछा कर लिया ।

टिप्पणी—अन्तःपुर में किसी स्त्री का आँचल वायु से उड़ गया और उसके स्तन उघड़ गये । इस पर कवि-कल्पना है कि अचेतन पवन नहीं, मरुद् देव सुन्दरी पर आकृष्ट हो उसका कुचमर्दन करना चाहते थे । नल सज्जन था—उत्तम नायक । वह भला किसी नंगी स्त्री को कैसे देखता, फलस्वरूप उसने अपने पूर्णिमा के चंद्र को लज्जित करने वाला अपना मुख मोड़ लिया । प्रकाशकार के अनुसार प्रच्छन्न कामुक-संभोग-काल में चंद्र 'तिरोधान' उचित है, यह ध्वनित होता है । नल का चंद्रमुख इसी कारण 'तिर्यग्वलित' हुआ । मल्लिनाथ ने इससे नल की जितेन्द्रियता का संकेत किया है । जिस सुन्दरी-कुचमंडल ने अचेतन वायु को भी आकृष्ट कर लिया (अथवा मरुद्देव को भी चलचित्त कर दिया), उस पर भी नल के मन में आकर्षण नहीं उत्पन्न हुआ । अद्भुत जितेन्द्रिय था नल ! विद्याधर के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा-उपमा-भावोदय अलंकारों का संकर है ॥ १८ ॥

अन्तःपुरे विस्तृतवागुरोऽपि बालावलीनां वलितैर्गुणौघैः ।
न कालसारं हरिणं तदक्षिद्वन्द्वं प्रभुर्बन्धुमभून्मनोभूः ॥ १९ ॥

जीवातु—अन्तरिति । अन्तःपुरे बालावलीनां स्त्रीसमूहानां, वबयोरभेदाद्रोमसमूहानां च, वलितैः पुनः पुनः प्रवृत्तैः आवर्तितैश्च गुणानां कटाक्षविक्षेपादीनां सूत्राणां चौघैः विस्तृतवागुरः प्रसारितमृगबन्धनीकोऽपि । 'वागुरा मृगबन्धनी' इत्यमरः । मनोभूः स एव मृगयुरिति शेषः । तस्य नलस्याक्षिद्वन्द्वमेव कालसारम्, कृष्णसारम्, अक्षिद्वयन्तु कालेन कनीनिकाकार्ष्ण्येन सारं श्रेष्ठं, हरिणञ्च बन्धुमाक्रष्टुं संयन्तुं च प्रभुः शक्तो नाभूत् । जितेन्द्रियत्वादस्येति भावः । अत्राक्ष्यादिषु हरिणत्वादिरूपणान्मनोभुवो मृगयुत्वं गम्यत इत्येकदेशवर्तिरूपकम् ॥ १९ ॥

अन्वयः—अन्तःपुरे बालाबलीनां (वालावलीनां) वलितैः गुणौघैः विस्तृतवागुरः अपि मनोभूः तदक्षिद्वन्द्वं कालसारं हरिणं बन्धुं प्रभुः न अभूत्।

हिन्दी—अन्तःपुर में बालाओं के बारम्बार किये जाते सविलास गुण-समूहों (नृत्य, गीत, अंगड़ाई आदि के सौन्दर्य) रूप 'वाल' समूहों की बटी (गुण समूह) रस्सियों का जाल बिछाये कामदेव (आखेटक) उस (नल) के सुन्दर पुतलियों से युक्त नयनयुगलरूप कृष्णसार हिरन को फाँसने में समर्थ न हो पाया।

टिप्पणी—यहाँ काम को आखेटक, नल के नेत्रयुगल को आखेट हरिण और 'वबयोरभेदः' के आधार पर बालाबली के गुणसमूह (सौन्दर्यादि) को बालों से बटी रस्सी बताया गया है, जिसकी 'वागुरा' (जाल) में कामरूपी आखेटक नल-नयनयुग-हरिण को फाँसना चाहता है, पर यह हो न सका। कारण कि नल जितेन्द्रिय था, एक दमयन्ती का अनुरागी था। उसके नेत्र अन्य रमणी-सौन्दर्य पर आकृष्ट हो ही नहीं सकते थे। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ एक-देशविवर्ति रूपक है, क्योंकि अक्षि-आदि में हरिणत्व आदि के रूपण द्वारा काम का आखेटकत्व गम्य बना है। विद्याधर के अनुसार यहाँ विशेषोक्ति-रूपक की संसृटि है ॥ १९ ॥

दोर्मूलमालोक्य कचं रुरुत्सोस्ततः कुचौ तावनुलेपयन्त्याः।
नाभीमथैष श्लथवाससोऽनुमिमील दिक्षु क्रमकृष्टचक्षुः ॥ २० ॥

जीवातु—दोरिति। एष नलः, कचं केशपाशं, रुरुत्सोः रोद्धुं बन्धुमिच्छोः, कस्याश्चिद्दोर्मूलं बाहुमूलमालोक्य। ततोऽनन्तरं, कुचावनुलेपयन्त्याः तौ कुचावालोक्य, अथ श्लथवाससः स्रस्तांशुकायाः, नाभीमालोक्य, अन्वनन्तरं, दिक्षु पुरः पार्श्वभागेषु क्रमेण कृष्टचक्षुः प्रत्याहृतदृष्टिः सन्, मिमील निमीलिताक्षोऽभूत्। तत्र तथा यथेष्टचेष्टे स्त्रीमण्डले तस्य पापभीरोर्नेत्रनिमीलनमेव प्राप्तमित्यर्थः ॥ २० ॥

अन्वयः—कचं रुरुत्सोः दोर्मूलम्, ततः कुचौ अनुलेपयन्त्याः तौ, अथ श्लथवाससः नाभीम् आलोक्य दिक्षु क्रमकृष्टचक्षुः एषः अनुमिमील।

हिन्दी—केश बाँधने की इच्छुक (किसी सुन्दरी) के भुजमूल, तदनन्तर स्तनों पर लेप करती वे (स्तन), तत्पश्चात् ढीले वस्त्र किये (सुन्दरी)

की नाभि देखकर चारों ओर क्रमशः दृष्टिपात करते उस (नल) ने तदनन्तर नेत्र मींच लिये ।

टिप्पणी—अलक्ष्य नल को अन्तःपुर में विभिन्न सुन्दरियाँ भाँति-भाँति के ऐसे व्यवहार करती दिखायी दीं, जिन्हें वे न करतीं, यदि वे जानतीं कि किसी पुरुष की आँखें उन्हें देख रही हैं। जितेन्द्रिय और उत्तम नायक नल को विवशतः ऐसे दृश्य गोचर हो रहे थे, फल स्वरूप उसने ये दृश्य न देखने के लिए अपने नेत्र बन्द कर लिये। नल को लगा कि यह पाप है और अतएव अनुचित है। विद्याधर के अनुसार दीपक और भावोदय अलंकार का संकर ॥ २० ॥

मीलन्न शेकेऽभिमुखागताभ्यां धर्तुं निपीड्य स्तनसान्तराभ्याम् ।
स्वाङ्गान्यपेतो विजगौ स पश्चात्पुमङ्गसङ्गोत्पुलके पुनस्ते ॥२१॥

जीवातु—मीलन्निति । मीलन्निमीलिताक्षः, स नलः, अभिमुखमन्योन्याभिमुखमागताभ्यां तथापि स्तनाभ्यां निमित्तेन सान्तराभ्यां सव्यवधानाभ्यां काभ्यांचित् स्त्रीभ्यां निपीड्य मध्ये निरुध्य धर्तुं ग्रहीतुं, न शेके शक्यो नाभूत् । स नलः, पश्चादपेतोऽपसृतः स्वाङ्गानि विजगौ, परस्त्रीसंस्पर्शदोषाद्विजगर्हे, निनिन्द । ते स्त्रियौ पुनः, पुंसोऽङ्गप्रसङ्गेन उत्पुलके उद्गतरोमाञ्चे जाते ।२१।

अन्वयः—मीलन् सः अभिमुखागताभ्यां स्तनसान्तराभ्यां निपीड्य धर्तुं न शेके, पश्चात् अपेतः स्वाङ्गानि विजगौ; पुनः ते पुमङ्गसङ्गोत्पुलके ।

हिन्दी—आँखें-बंद किये वह (नल) सम्मुख आतीं, (उच्च) स्तनों के कारण व्यवधान रखतीं, दो (सुन्दरियों) के द्वारा (अपने मध्य में) न दबाया जा सका, उनके मध्य से निकल कर अपने अंगों की विशेषतया निंदा करने लगा, (किंतु) उन (दोनों सुन्दरियों) के अंग पुरुषांगों से टकरा जाने के कारण पुलकित हो गये ।

टिप्पणी—आँखें-मूँदे चलते नल को कुछ दीखता नहीं था, अलक्ष्य नल को सुन्दरियाँ भी न देख पाती थीं। परिणाम हुआ कि दो विरुद्ध दिशाओं से आती सुन्दरियों के बीच फँस कर वह उनके अंगों से टकरा गया। परन्तु दो के बीच फँसा भी नल दबकर पीडित नहीं हुआ, क्योंकि उन दोनों के स्तन इतने उन्नत थे कि नल उनके स्तनों की नोकों के बीच ही आ पाया और

निकल गया, क्योंकि सुन्दरियों के वक्षस्थल परस्पर न मिल पाये थे। पर नल की आर्यमर्यादा के यह प्रतिकूल था कि वह पर स्त्रियों का (अनजाने ही सही) कुचस्पर्श करे, फलतः उसने अपने उन अंगों को गर्हणास्पद माना, जो परस्त्री-कुच-संस्पर्श के दोषी हो गये थे। उन दोनों के स्तन चूँकि पुरुष के अंगों से छू गये थे, अतः वे रोमांचित हो उठी। विद्याधर के अनुसार हेतु और भावोदय अलंकार है ॥ २१ ॥

निमीलनस्पष्टविलोकनाभ्यां कदर्थितस्ताः कलयन् कटाक्षैः।
स रागदर्शीव भृशं ललज्जे स्वतः सतां ह्रीः परतोऽपि गुर्वी ॥ २२ ॥

जीवातु—निमीलनेति। निमीलनं च स्पष्टविलोकनञ्च ताभ्यां कदर्थितः निषिद्धस्पर्शनदोषोद्वेजितः। स नलः, ताः स्त्रियाः, कटाक्षैः कलयन् निर्विकल्पेन गृह्णन्। रागेण पश्यतीति रागदर्शी, स इव भृशं ललज्जे। कष्टं कामुकदृष्ट्या पश्यामीति भृशं परितप्तोऽभूदित्यर्थः। नन्वप्रकाशेऽर्थे का लज्जा तत्राह—सतां सत्पुरुषाणां परतोऽपि स्वत एव ह्रीर्गुर्वी, अकामादप्यकार्यकरणे परस्मादपि स्वस्मादेव लज्जते सज्जन इत्यर्थान्तरन्यासः ॥ २२ ॥

अन्वयः—निमीलनस्पष्टविलोकनाभ्यां कदर्थितः ताः कटाक्षैः कलयन् सः रागदर्शी इव भृशं ललज्जे; सतां परतः अपि स्वतः ह्रीः गुर्वी।

हिन्दी—आँखें मूँदना और खोलकर देखना—दोनों से पीडित उन (सुन्दरियों) को कटाक्षों (अर्द्ध निमीलित नेत्रों) से देखता वह (नल) अनुराग-सहित देखते पुरुष की भाँति अत्यधिक लज्जित हुआ। सज्जनों को अन्यजनों की अपेक्षा अपने से ही लज्जा अधिक होती है।

टिप्पणी—लज्जाहीन व्यापार करती सुन्दरियों के दृष्टिगोचर हो जाने से नल को अनुचित लगता तो वे आँख-मूँदकर चलने लगते। इससे उनके शरीर से आती-जाती सुन्दरियाँ टकरा जातीं। यह और भी अनुचित लगता। दोनों स्थितियों में अपराध-बोध से पीडित नल ने यह उचित समझा कि कुछ आँखें खोलकर अथवा एक क्षण बंदकर दूसरे क्षण आँख खोलकर चला जाय। इस पर नल को प्रतीत हुआ कि यह अर्द्धनिमीलित नेत्रों से देखना तो अनुराग-व्यापार-बोधक कटाक्ष है, यह तो और भी लज्जास्पद है। फल स्वरूप वे अत्यधिक लजाये। प्रश्न हो सकता है कि उनकी ऐसी स्थिति को जब कोई

देख ही नहीं रहा था, तो उनको लज्जा क्यों व्यापी? इसी के उत्तर में यह सिद्धांत वचन कहा गया—'स्वतः सतां ह्रीः परतोऽपि गुर्वी,'—सज्जनों को स्वतः ही अनौचित्य पर लज्जा लगती है, अन्य की अपेक्षा उन्हें नहीं होती। मल्लिनाथ के अनुसार अर्थान्तरन्यास, विद्याधर ने काव्यलिङ्ग-उपमा-अर्थान्तर-न्यास के संकर का निर्देश किया है ॥ २२ ॥

रोमाञ्चिताङ्गीमनु तत्कटाक्षैर्भ्रान्तेन कान्तेन रतेर्निसृष्टः।
मोघः शरौघः कुसुमानि नाभूत्तद्धैर्यपूजां प्रति पर्यवस्यन् ॥ २३ ॥

जीवातु—रोमाञ्चितेति। रोमाञ्चिताङ्गीमनु पुमङ्गसङ्गात् पुलकितगात्रीमुद्दिश्य, तस्य नलस्य, कटाक्षैः कटाक्षवीक्षणैः, भ्रान्तेन अयमस्यामनुरक्त इति मन्वानेन, रतेः कान्तेन कामेन, निसृष्टः प्रयुक्तः कुसुमान्येव शरौघः तस्य नलस्य, धैर्यस्य निर्विकारचित्तत्वस्य पूजां प्रति पूजायां पर्यवस्यन् पूजात्वेन परिणमन्। मोघो व्यर्थो नाभूत्। शत्रोरपि गुणः पूज्यो भवेदिति भावः। अत्र नलधैर्यभङ्गार्थं प्रयुक्तस्य कुसुमजालस्य, न केवलं तदभञ्जकत्वं प्रत्युत तत्पूजकत्वमापन्नमित्यनर्थोत्पत्तिलक्षणो विषमालङ्कारः ॥ २३ ॥

अन्वयः—रोमाञ्चिताङ्गीम् अनु तत्कटाक्षैः भ्रान्तेन रतेः कान्तेन निसृष्टः कुसुमानि शरौघः तद्धैर्यपूजां प्रति पर्यवस्यन् मोघः न अभूत्।

हिन्दी—('पुमङ्गसङ्गोत्पुलका'—पुरुष-अंगों के संसर्ग से) रोमाञ्चित सुन्दरी की ओर उसके अर्द्ध-निमीलित दृष्टि डालने (कटाक्ष) के कारण भ्रम में पड़े रति-प्रिय (काम) द्वारा प्रयुक्त पुष्प रूप बाण-समूह उस (नल) के धैर्य की पूजा में परिणत होता व्यर्थ न हुआ।

टिप्पणी—जैसा कि पूर्व श्लोक में निर्दिष्ट है कि नल 'निमीलनस्पष्टविलोकन'—दोनों से 'कदर्थित' हो अर्द्ध-निमीलित नेत्र करके संचरण करने लगे। जैसा नल ने स्वयं विचारा था, काम को भी भ्रम हो गया कि नल उस 'रोमाञ्चिताङ्गी' के प्रति अनुरक्त हो गया है (रति (अनुरक्ति) का पति जो ठहरा काम!), अतः उसने नल पर अपने पुष्प-बाण छोड़ दिये। जितेन्द्रिय, कामजयी नल पर वे व्यर्थ हो जाते, पर हुए नहीं। अपना वास्तविक कार्य तो वे कर न सके, नल के अनुपम धैर्य की पूजा-निमित्त अर्पित पुष्पों के रूप में उन्होंने अपनी सार्थकता पा ली। पराजित काम ने अपने अस्त्रों

को जयी नल को समर्पित कर उसकी श्रेष्ठता स्वीकार ली। मल्लिनाथ ने इस श्लोक में विषय अलंकार माना है, क्योंकि नल के धैर्य-भंग के हेतु प्रयुक्त 'शरौघ' न केवल धैर्य के अभंजक प्रमाणित हुए, उलटे उसकी पूजा के उपयुक्त सिद्ध हो गये, यह अनर्थ (अनचाहा, उलटा) हुआ। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार। 'चंद्रकलाख्या'–कार ने मल्लिनाथ के अनुसार विषमालंकार का निर्देश करते हुए 'कुसुमानि शरौघः' में व्यस्त रूपक माना है और विषम-रूपक के अंगांगिभाव संकर का निर्देश किया है॥ २३ ॥

हित्वैव वर्त्मैकमिह भ्रमन्त्याः स्पर्शः स्त्रियाः सुत्यज इत्यवेत्य।
चतुष्पथस्याभरणं बभूव लोकावलोकाय सतां स दीपः ॥२४॥

जीवातु—हित्वेति। सतां सः दीपः सुजनश्रेष्ठः, सतां भावानां प्रकाशकः प्रदीपश्च स नलः। इह अन्तःपुरे भ्रमन्त्यास्सञ्चरन्त्याः स्त्रियाः स्पर्शः एकमभिन्नं वर्त्म हित्वैव सुत्यज इत्यवेत्य निश्चित्य लोकावलोकाय सञ्चारिजनदर्शनाय। अन्यत्र, लोकानां जनानां व्यवहाराय। चतुर्णां पथां समाहारः चतुष्पथं, 'तद्धितार्थ' इत्यादिना समाहारे द्विगुः 'ऋक्पूरब्धूः–' इत्यादिना समासान्तः। 'पथस्संख्याव्ययादेः' इति नपुंसकत्वम्। तस्य आभरणं बभूव। अत्र स्थित इत्यर्थः। क्लिष्टैकमार्गे स्त्रीसंबाधादक्लिष्टे चतुष्पथे स्थित्वा समन्तादवलोकितवानित्यर्थः। चतुष्पथस्थो दीपो लोकावलोकाय कल्पत इति ध्वनिः॥ २४ ॥

अन्वयः—इह भ्रमन्त्याः स्त्रियाः स्पर्शः एकं वर्त्म हित्वा एव सुत्यजः—इति अवेत्य सतां दीपः सः लोकावलोकाय चतुष्पथस्य आभरणं बभूव।

हिन्दी—यहाँ (अन्तःपुर में) विचरण करती स्त्री का स्पर्श 'एकपदी' (गली का संकीर्ण मार्ग) छोड़कर ही बचाया जा सकता है—यह समझ कर सज्जनों का दीपक (श्रेष्ठ) वह (नल) लोकजनों के देखने के निमित्त चौराहे का आभूषण बन गया।

टिप्पणी—नल ने परस्त्री-स्पर्श दोष बचाने के लिए अन्तःपुर का संकीर्ण मार्ग छोड़कर बड़ा चौराहे का मार्ग अपनाना ठीक समझा और वे संकीर्ण मार्ग छोड़ चौराहे पर आ गये। कवि ने नल को यहाँ 'सतां दीपः' विशेषण देकर केवल सज्जन-श्रेष्ठ ही कहा, प्रत्युत उन्हें लोक-मार्ग-दर्शक (कर्तव्याकर्तव्य-निर्देशक) भी बताया। जैसे चौराहे पर रखा दीपक सबको मार्ग दिखाता है, वैसे ही नल ने भी लोक के सम्मुख आचरण का आदर्श उपस्थित किया। के

'चतुष्पथ' के 'आभरण' बने. चौराहे अर्थात् चारों दिशाओं को अलंकृत बनाने वाले—सब के कर्तव्य-प्रेरक बने। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ यह ध्वनि है कि चौराहे पर दीपक लोकावलोकन के लिए रखा जाता है। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ॥ २४ ॥

उद्वर्तयन्त्या हृदये निपत्य नृपस्य दृष्टिर्न्यवृतद् द्रुतेव।
वियोगिवैरात् कुचयोर्नखाङ्कुरैरर्धेन्दुलीलैर्गलहस्तितेव ॥ २५ ॥

जीवातु—उद्वर्तयन्त्या इति। नृपस्य दृष्टिरुद्वर्तयन्त्या गात्रमुन्मार्जयन्त्याः, हृदये वक्षसि, निपत्य अर्धेन्दुलीलैरर्धचन्द्राभिख्यैः, कुचयोर्नखाङ्कैः कर्तृभिः, वियोगिषु वैरादिन्दुत्वप्रयुक्तविरोधात्। गले हस्तो गलहस्तः तद्वती कृता गलहस्तिता हस्तेन गले गृहीत्वा नुन्नेवेत्युत्प्रेक्षार्थः। मत्वन्तात् करोतीति णिचि णाविष्ठवद्भावे विण्मतोर्लुक्। ततः कर्मणि क्तः। 'अर्धेन्दुश्चन्द्रशकले गलहस्तनखाङ्कयोः' इति विश्वः। द्रुता त्वरितैव न्यवृतत् न्यवर्तिष्ट। पाप-भयादिति भावः ॥ २५ ॥

अन्वयः— नृपस्य दृष्टिः उद्वर्तयन्त्याः हृदये निपत्य अर्धेन्दुलीलैः कुचयोः नखाङ्कैः वियोगिवैरात् गलहस्तिता एव द्रुता एव न्यवृतत्।

हिन्दी—राजा नल) की दृष्टि गात्रोन्मार्जन (उबटन) करती (सुन्दरी) के वक्ष पर पड़कर अर्धचंद्र (आधा चन्द्रमा—गरदनिया देना) की लीला (समानता) करते (अर्द्धचंद्राकार) नख-चिह्नों-द्वारा मानो विरहिजनों से वैर के कारण गरदनिया (गला पकड़कर निकाल देना) दी गयी सदृश झटिति ही वापस हो गयी।

टिप्पणी—कोई स्त्री नग्न हो अपने शरीर पर उबटन कर रही थी, नल की दृष्टि उसके वक्षःस्थल पर जा पड़ी, जहाँ कुचयुग्म पर प्रणयी के नख-चिह्न बने हुए थे। नल ने उस अदर्शनीय दृश्य से झट अपनी दृष्टि हटा ली। नख-चिह्न अर्द्धचंद्राकार थे, जिन पर पड़ी दृष्टि झट हटा ली गयी थी। 'अर्द्धचंद्र' गरदन पकड़ कर बाहर कर देने की क्रिया 'गरदनिया' को भी कहते हैं। इस पर कवि ने कल्पना की कि प्रतिबद्ध स्थान पर पहुँची दृष्टि को मानो गरदनिया देकर तुरन्त बाहर कर दिया गया। यहाँ कारण बताया गया है 'वियोगि-वैर'। स्तनों पर सुरत-नख-चिह्न विरहोद्दीपक होने से

विरही के वैरी हुए, सो विरहिणी नल-दृष्टि को तुरन्त गरदन पकड़ बाहर कर दिया गया उत्प्रेक्षा अलंकार ॥ २५ ॥

तन्वीमुखं द्रागधिगत्य चन्द्रं वियोगिनस्तस्य निमीलिताभ्याम् ।
द्वयं द्रढीयः कृतमीक्षणाभ्यां तदिन्दुता च स्वसरोजता च ॥२६॥

जीवातु—तन्वीति । तन्वीमुखमेव चन्द्रं व्यस्तरूपकम् । द्रागधिगत्य हठात् दृष्ट्वा निमीलिताभ्यामिति भावः । वियोगिनस्तस्येक्षणाभ्यां तस्य तन्वीमुखस्येन्दुता च स्वयोः सरोजता चेति द्वयं द्रढीयो दृढतरं कृतमित्युत्प्रेक्षा । अन्यथा कथं तत्सन्निधौ तयोर्निमीलनमिति भावः ॥ २६ ॥

अन्वयः—तन्वीमुखं चन्द्रं द्राक् अधिकृत्य वियोगिनः तस्य निमीलिताभ्याम् ईक्षणाभ्यां तदिन्दुता स्वसरोजता च—द्वयं द्रढीयः कृतम् ।

हिन्दी—कृशांगी (सुन्दरी) के मुख रूप चंद्र को सहसा देखकर वियोगी उस (नल) के मुँदे नेत्रों ने उस (तन्वंगी) के मुख का चंद्र होना और अपना (नेत्रों का) सरोज (कमल) होना—दोनों को दृढतर कर दिया ।

टिप्पणी—किसी सुन्दरी का चंद्रमुख देख कर नल ने झट नेत्र बंद कर लिये, उसी प्रकार कि जैसे, चंद्र को देखकर कमल मुँद जाते हैं । इस क्रिया से उत्प्रेक्षित हो गया कि यह कथन सत्य है कि चंद्र-दर्शन से कमल मुँद जाते हैं, केवल तथा कथित 'कविसमय' ही नहीं है, अन्यथा कृशाङ्गी चंद्र मुखावलोकन से नल के 'सरोजेक्षण' क्यों निमीलित हो जाते ? मल्लिनाथ के अनुसार 'तन्वीमुखम् चन्द्रम्' में व्यस्तरूपक है और 'इन्दुता' तथा 'सरोजता' का 'दृढ़ करना' में उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार यहाँ रूपक-हेतु-अनुमान-अतिशयोक्ति का संकर है ॥ २६ ॥

चतुष्पथे तं विनिमीलिताक्षं चतुर्दिगेताः सुखमग्रहीष्यन् ।
संघट्य तस्मिन् भृशभीनिवृत्तास्ता एव तद्वर्त्म न चेददास्यन् ।२७॥

जीवातु—नन्वङ्गसंघट्टनानन्तरं तास्तं किमिति न गृह्णन्तीत्यत आह—चतुष्पथ इति । चतुष्पथे, विनिमीलिताक्षं तं नलम् । चतसृभ्यो दिग्भ्यः । एताः आगताः । आङ्पूर्वादिणः कर्तरि क्तः, उत्तरपदसमासः । तास्सुखमक्लेशेन अग्रहीष्यन् गृह्णीयुः तस्मिन्नले संघट्य अभिहत्य । आधारत्वविवक्षायां सप्तमी ।

भृशया गाढया भिया निवृत्तास्ता एव तस्य नलस्य वर्त्म नादास्यन् न दद्युश्चेत् । किंतु, स्वयमेव अस्य भूतशङ्कया मार्गं दत्त्वा भयात् पलायितानां तासां, कुतस्तद्ग्रहणधाष्टर्चमित्यर्थः । क्रियातिपत्तौ लङ् ॥ २७ ॥

अन्वयः—चतुष्पथे विनिमीलिताक्षं तं चतुर्दिगेताः ताः तस्मिन् संघटच भृशभीनिवृत्ता एव तद्वर्त्म न अदास्यन् चेत् सुखम् अग्रहीष्यन् ।

हिन्दी—चौराहे पर नेत्र बंद कर खड़े उस (नल) को चारों ओर से आतीं वे (सुन्दरियाँ) उससे टकराकर अत्यन्त भय से ही अलग हो जातीं यदि उस (नल) को मार्ग न देतीं तो उसे सरलता से पकड़ लेतीं ।

टिप्पणी—अदृश्य नल चौराहे पर आखें मूंद खड़े थे । इधर-उधर आतीं-जातीं स्त्रियाँ उनसे टकरातीं और डरकर भाग जातीं । यदि वे ऐसा न करतीं तो नल को सरलता से ही पकड़ लेतीं । पर वे डर गयीं और भाग चलीं, नल को न पकड़ सकीं । विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग और भावोदय अलंकार का संकर है ॥ २७ ॥

संघट्टयन्त्यास्तरसात्मभूषाहीराङ्कुरप्रोतदुकूलहारी ।
दिशा नितम्बं परिधाप्य तन्व्यास्तत्पापसन्तापमवाप भूपः ॥ २८ ॥

जीवातु—संघट्टयन्त्या इति । तरसा संघट्टयन्त्या अभिघ्नन्त्यास्तन्व्याः, आत्मनो भूषाहीराणां भूषणवज्राणां, अङ्कुरेषु कोटिषु प्रोतं सक्तं दुकूल हरतीति तद्धारी भूपः, नितम्बं तस्याः कटिं दिशा परिधाप्य संवस्त्य दिगम्बरं कृत्वा । तत्पापेन वस्त्रापहरणपापेन सन्तापमवाप ॥ २८ ॥

अन्वयः—तरसा संघट्टयन्त्याः तन्व्याः आत्मभूषाहीराङ्कुरप्रोतदुकूलहारी भूपः नितम्बं दिशा परिधाप्य तत्पापसन्तापम् अवाप ।

हिन्दी—वेग से टकरा जाने वाली कृशांगी (सुन्दरी) के दुपट्टे का अपने (नल के) आभूषण में जड़े हीरे की नोक से अपहरण करते हुए (सुन्दरी के) नितंब को दिशामात्र से ढककर (उघाड़ कर) राजा ने उस पाप के संताप को प्राप्त किया ।

टिप्पणी—राजा नल अदृष्ट तो थे, पर हीरक जटित आभूषण पहिने थे । कोई सुन्दरी वेग से उनसे टकरायी, उसका दुकूल उनके आभूषण में जड़े हीरे की नोक में उलझ कर रह गया और उसका नितंब दिगंबर (नग्न)

हो गया। राजा को लगा कि यह पाप हुआ और वह दुःखी होकर विचारने लगा कि अच्छा होता कि मैं आभूषण न पहिने होता ऐसा पाप तो न होता। चीरहरण हो गया उससे। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-काव्यलिंग-भावोदय का संकर ॥ २८ ॥

हतः कयाचित्पथि कन्दुकेन संघट्य्यभिन्नः करजैः कयापि।
कयाचनाक्तः कुचकुङ्कुमेन संभुक्तकल्पः स बभूव ताभिः ॥ २९ ॥

जीवातु—हत इति। स नलः, पथि कयाचित्कन्दुकेन हतः। कयापि संघट्य अभिहत्य करजैर्नखैर्भिन्नः। कयाचन, कुचकुंकुमेन अक्तो लिप्तः। एवं ताभिः सम्भुक्तप्रायो बभूव ॥ २९ ॥

अन्वयः—कयाचित् पथि कन्दुकेन हतः कया अपि संघट्य करजैः भिन्नः कयाचन कुचकुङ्कुमेन अक्तः सः ताभिः संयुक्तकल्पः बभूव।

हिन्दी—किसी ने मार्ग में गेंद से मार दिया, किसी ने टकराकर नखों से विदीर्ण किया और किसी ने कुच-कुंकुम से लिप्त कर दिया। (इस प्रकार) वह (नल) उन (सुन्दरियों) द्वारा भोगा गया जैसा हो गया।

टिप्पणी—जो कुछ किया सुन्दरियों ने किया, नल ने नहीं। उसका अपराधी वह नहीं, क्योंकि वह तो अकर्ता है। कर्तृत्व सुन्दरियों में है। विद्याधर के अनुसार उपमा ॥ २९ ॥

छायामयः प्रैक्षि कयापि हारे निजे स गच्छन्नथ नेक्ष्यमाणः।
तच्चित्तयान्तर्निरचायि चारु स्वस्यैव तन्व्या हृदयं प्रविष्टः ॥ ३० ॥

जीवातु—छायामय इति। कयापि स्त्रिया निजे हारे छायामयः प्रतिबिम्बरूपः, स नलः, प्रैक्षि प्रेक्षितः। ईक्षतेः कर्मणि लुङ्। अथ गच्छन् अपसरन्, अत एव नेक्ष्यमाणः अनिरीक्ष्यमाणः सन्। स चित्ते यस्यास्तया तद्गर्भितचित्तया तन्व्या, स्वस्यैव हृदयं प्रविष्ट इति अन्तरन्तःकरणे चारु साधु निरचायि निश्चितः। स छायानलः, तद्देशातिक्रमात्तस्या हारादेवापेतो न चित्तादिति सौन्दर्यातिशयोक्तिः ॥ ३० ॥

अन्वयः—सः कया अपि निजे हारे छायामयः प्रैक्षि अथ गच्छन् न ईक्ष्यमाणः तच्चिन्तया तन्व्या स्वस्य एव हृदयं प्रविष्टः इति चारु अन्तः निरचायि।

हिन्दी—उस (नल) को किसी (स्त्री) ने अपने हार में प्रतिच्छायित

(प्रतिबिम्बित) देखा, तदनन्तर अन्यत्र चले जाने से न दीखने पर तद्गत-चित्ता कृशांगी द्वारा 'अपने ही हृदय में प्रविष्ट हो गया'—ऐसा मन में सुन्दर निर्णय किया।

टिप्पणी—हार में नल का प्रतिबिम्ब देखकर ही कोई तरुणी उस पर मुग्ध हो गयी और वह उसके हृदय में समा गया और तरुणी विरह-पीडिता हो गयी। मल्लिनाथ के अनुसार सौन्दर्यातिशयोक्ति और विद्याधर के अनुसार भावोदय अलंकार ॥ ३० ॥

तच्छायसौन्दर्यनिपीतधैर्याः प्रत्येकमालिङ्गदमूः रतीशः।
रतिप्रतिद्वन्द्वतमासु नूनं नामूषु निर्णीतरतिः कथञ्चित् ॥ ३१ ॥

जीवातु—तच्छायेति। रतीशः कामः तस्य नलस्य छाया तच्छायं, मणि-कुट्टिमादिगतं तत्प्रतिबिम्बम्। 'विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्' नपुंसकत्वम्। तस्य सौन्दर्येण निपीतधैर्या अमूः स्त्रीः प्रत्येकमेकैकामेवालिङ्गत्। अत्रोत्प्रेक्ष्यते—रतेः देव्याः प्रतिद्वन्द्वतमासु रतिसदृशीष्वमूषु मध्ये स रतीशः, कथञ्चिदपि निर्णीतरतिर्निश्चितनिजपत्नीको नाभूत्। नूनम्, अन्यथा कथं प्रत्येकमालिगेदित्यर्थः। सर्वास्वपि मन्मथविकारः प्रादुर्भूत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—रतीशः तच्छायसौन्दर्यनिपीतधैर्याः अमूः प्रत्येकम् आलिङ्गत्; रतिप्रतिद्वन्द्वतमासु अमूषु नूनं कथञ्चित् निर्णीतरतिः न अभूत्।

हिन्दी—रतिपति (काम) ने उस (नल) के प्रतिबिम्बित सौन्दर्य से धैर्य-नष्टा उन सुन्दरियों का एक-एक करके आलिंगन किया, कारण कि उन रति की प्रतिद्वन्द्विता करनेवाली सुन्दरियों के मध्य निश्चयपूर्वक रति का निर्णय न कर पाया।

टिप्पणी—चमकती दीवारों में नल का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, उसे ही देख अन्तःपुर की सुन्दरियाँ परममुग्ध हो उस छाया-नल का अधैर्य पूर्वक आलिंगन करने लगीं। इस पर यहाँ उत्प्रेक्षित है कि उन रति के समान सुन्दरियों के समूह में काम एक-एक करके उन सबका इस कराण आलिंगन कर रहा था कि उसे पता ही नहीं चल रहा था कि इनमें उसकी प्रिया रति कौन-सी है? भाव यह है कि रति के समान मनोहारिणी रमणियाँ काम-सम नल के प्रतिबिम्व पर मुग्ध हो उसका ही उतावली होकर आलिंगन कर रही थीं।

मल्लिनाथ ने यहाँ उत्प्रेक्षा माना है—'अत्रोत्प्रेक्ष्यते····।' विद्याधर के अनुसार भाव शान्ति और उत्प्रेक्षा ॥ ३१ ॥

तस्माददृश्यादपि नातिबिभ्युस्तच्छायरूपाहितमोहलोलाः ।
मन्यन्त एवादृतमन्मथाज्ञाः प्राणानपि स्वान् सुदृशस्तृणानि ॥ ३२ ॥

जीवातु—तस्मादिति । सुदृशः स्त्रियः तच्छायारूपेण तत्प्रतिबिम्बसौन्दर्येणाहितः उत्पादितः मोहः चित्तभ्रमो यासां ता अत एव लोला आसक्ताः सत्यः । अदृश्यादपीति भयहेतूक्तिः । तस्मान्नलान्नातिबिभ्युः । शृङ्गारेण भयानकस्तिरस्कृत इत्यर्थः । तथाहि आदृतमन्मथाज्ञा मन्मथपरतन्त्राः सत्यः, स्वान् स्वकीयान्, प्राणानपि तृणानि मन्यन्त एव । मन्यकर्मण्यनादरे चतुर्थ्यां वैभाषिकत्वात् द्वितीया । प्राणानपि तृणीकृत्य तदा तत्सङ्गमलालसानां तासां तस्माद्भयं कुत इति भावः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—तच्छायरूपाहितमोहलोलाः सुदृशः अदृश्यात् अपि तस्मात् न अतिबिभ्युः, आदृतमन्मथाज्ञाः स्वान् प्राणान् अपि तृणानि एव मन्यन्त ।

हिन्दी—प्रतिबिम्बित उस (नल) के रूप-जात मोह (भ्रम, ममता) से चंचल वे सुनयनाएँ अदृश्य भी उस (नल) से अधिक नहीं डरीं, कारण कि काम का आदेश मान्य करतीं वे अपने प्राणों को भी तृण-समान मान रही थीं ।

टिप्पणी—नल की छाया तो पड़ रही थी, पर दीखता नहीं था । सामान्य विश्वास यह है कि भूत जब प्रत्यक्ष होता है, तब भी उसकी छाया नहीं पड़ती । तो इस प्रकार नल उस भूत से भिन्न हुआ, क्योंकि वह अदृश्य था और उसकी छाया पड़ रही थी । इस विचित्र भूत से सहजभीरु सुन्दरियों को बहुत डर लगना स्वाभाविक था, पर वे तो बिलकुल नहीं डरीं । वस्तुतः नल के कामजयी रूप पर वे इतनी आसक्त हो गयी थीं कि कामांध होने से कामाधीना उन सुन्दरियों को प्राण-जाने का भी भय नहीं रह गया था । जब वे प्राणों को ही नगण्य मान बैठी थीं, फिर डर किसका ? ॥ ३२ ॥

जागर्ति तच्छायदृशां पुरा यः स्पृष्टे च तस्मिन्विससर्प कम्पः ।
द्रुतं गते तत्पदशब्दभीत्या स्वहस्तितश्चारुदृशां परं सः ॥ ३३ ॥

जीवातु—जागर्तीति । पुरा पूर्वं, तच्छायदृशां तत्प्रतिबिम्बदर्शिनीनां

चारुदृशां, क्विप्। यः कम्पो जागर्ति स्फुरति। ततस्तस्मिन् स्पृष्टे च सति विससर्प प्रससार। स कम्पः द्रुतं शीघ्रं गते अपगते सति तस्य पदशब्दाद्भीत्यः कर्त्र्या परं स्वहस्तवान् कृतः दत्तस्वहस्तः, प्रबलीकृत इत्यर्थः, स्वहस्तशब्दान्मत्वन्तात् 'तत्करोति' इति णिचि णाविष्ठवद्भावे विण्मतोर्लुक्। ततः कर्मणि क्तः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—पुरा तच्छायदृशां चारुदृशां यः कम्पः जागर्ति, तस्मिन् स्पृष्टे विससर्प; परं द्रुतं गते तत्पदशब्दभीत्या सः स्वहस्तितः।

हिन्दी—पहिले उस (नल) की प्रतिच्छाया का अवलोकन करतीं उन सुनयनाओं में जो कंप जागा, उस (नल) का स्पर्श करने पर (उसका) और प्रसार हो गया (बढ़ गया), किन्तु (उसके) शीघ्रतापूर्वक हट जाने पर उस (नल) के पैरों से उत्पन्न आहट से डर कर वह (कंप) उनके अपने हाथ का आश्रय पा गया।

टिप्पणी—नल-मुग्धा उन सुन्दरियों में 'कंप' की मात्रा बढ़ती ही चली गयी। छाया देखने मात्र से सामान्य 'कंप' हुआ, अदृश्य नल के स्पर्श से वह बढ़ा और अदर्शन की स्थिति आने पर जैसे सहारा पाकर और भी बढ़ गया। भाव यह कि दर्शन-स्पर्श-जन्य 'शृंगार' का अनुभाव बाद में (प्रदर्शन) 'भयानक' का अनुभाव होता बढ़ता चला गया। पहिले शृंगार में रचीं सुन्दरियाँ बाद में भय से काँपने लगीं ॥ ३३ ॥

उल्लास्यतां स्पृष्टनलाङ्गमङ्गं तासां नलच्छायपिबाऽपि दृष्टिः।
अश्मैव रत्यास्तदनर्ति पत्या छेदेऽप्यबोधं यदहर्षि लोम ॥३४॥

जीवातु—उल्लास्येति। रत्याः पत्याः कामेन स्पृष्टं नलाङ्गं येन तत्तासामङ्गमुल्लास्यतामुल्लासं प्राप्यताम्। उल्लासयतेः कर्मणि लोट्। नलच्छायस्य नलप्रतिबिम्बस्य पिबा, तद्दर्शिनीत्यर्थः। 'पाघ्रा' इत्यादिना शप्रत्ययः, पिबादेशश्च। तासां दृष्टिरपि उल्लास्यताम्, तयोश्चेतनत्वादिति भावः। छेदे कर्तनेऽप्यबोधं बोधरहितम्, अचेतनं लोम, अहर्षि हर्षितमिति यत्। हृषेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ्। तदश्मैव पाषाण एव, अनर्ति अश्मनर्तनप्रायं रोमहर्षणं कुर्वाणस्य कामस्य किमसाध्यमिति भावः। अत्र रोमहर्षणाश्मनर्तनवाक्यार्थयोर्यत्तच्छब्दा-

वगतसामानाधिकरण्यानुपपत्त्या सादृश्यक्षेपाद्वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शनालङ्कारः। लक्षणं तूक्तम् ॥ ३४ ॥

अन्वयः—रत्याः पत्या तासां स्पृष्टनलाङ्गम् अङ्गम् नलच्छायपिबा दृष्टिः अपि उल्लास्यताम्; छेदे अपि यत् अबोधं लोम अहर्षि अश्मा एव तत् अनर्ति।

हिन्दी—रति के पति (काम) द्वारा उन (सुन्दरियों) का नल के अंगों से छुआ अंग और उस (नल) के प्रतिबिम्ब का पान करती दृष्टि भी उल्लसित कर दी गयी; (किन्तु) काटे जाते (समय) भी जो अचेतन रहता है, वह रोम जो हर्ष को प्राप्त हो गया, वह तो जैसे पत्थर ही नचा दिया।

टिप्पणी—नल का स्पर्श पाकर कामाधीना सुन्दरियों के अङ्ग हृष्ट हुए, प्रतिबिम्ब को भरपूर निहार कर नेत्र भी हर्षोत्फुल्ल हुए,—इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है, क्योंकि अंग और दृष्टि तो चेतन हैं, और चेतन प्रभावित होते ही हैं। आश्चर्य तो यह है कि वे रोम, जो इतने जड़ हैं कि काटे जाने पर भी कुछ अनुभव नहीं कर पाते, वे जड़ रोम भी हृष्ट हो गये। यह तो उतना ही आश्चर्य-जनक हुआ, जितना कि पत्थर का नाचना। यह रोम-हर्ष तो अत्याश्चर्य है। सात्त्विक रोम-हर्ष का वर्णन। इस श्लोक में मल्लिनाथ ने रोमहर्ष और अश्मनर्तन वाक्यार्थों के 'यत्-तत्' शब्दों द्वारा अवगत समानाधिकरण्य को अनुपपत्ति के कारण सादृश्य के आक्षेप से वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शनालंकार माना है, विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग, क्रियाविरोध और भावोदय अलंकार हैं ॥ ३४ ॥

यस्मिन्नलस्पृष्टकमेत्य हृष्टा भूयोऽपि तं देशमगान्मृगाक्षी।
निपत्य तत्रास्य धरारजःस्थे पादे प्रसीदेति शनैरवादीत् ॥ ३५ ॥

जीवातु—यस्मिन्निति। मृगाक्षी यस्मिन् देशे नलस्य स्पृष्टकं आलिङ्गनविशेषम्। 'यद्योषितस्सम्मुखमागताया अन्यापदेशात् व्रजतो नरस्य। गात्रेण गात्रं घटते तदेतदालिङ्गनं स्पृष्टकमाहुरार्याः ॥' इति रतिरहस्येऽभिधानात्। एत्य प्राप्य, हृष्टा तं देशं भूयोऽप्यगात्। पुनः स्पर्शलोभादिति भावः। किन्तु तत्र देशे धरारजःस्थे भूपरागनिष्ठे अस्य नलस्य पादे पादप्रतिकृतौ निपत्य, प्रसीद मां पुनः स्पर्शनानुगृहाणेति शनैरवादीत्। न तु स्पर्शं लेभे। तस्यापगमादिति भावः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—मृगाक्षी यस्मिन् नलस्पृष्टकम् एत्य हृष्टा तं देशं भूयः अपि अगात्, तत्र अस्य धरारजःस्थे पादे निपत्य—'प्रसीद'–इति शनैः अवादीत् ।

हिन्दी—मृगनयना जिस स्थान पर नल का 'स्पृष्टक' (विशेष प्रकार का आलिंगन) पाकर हर्ष को प्राप्त हुई थी, उस स्थान पर पुनः गयी। वहाँ इस (नल) के धरती की धूल पर उभरे चरण (के चिह्न) पर गिर कर 'दया करो'—ऐसा धीरे-से बोली ।

टिप्पणी—सुन्दरी नल का आलिंगन-विशे पाकर ऐसी हर्ष विभोर हुई कि धूल बने नल-चरण-चिह्न पर प्रणिपात करके धीरे-धीरे मनावन और प्रार्थना करने लगी। धीरे-से इसलिए कि उसके भाव प्रकट न हो जायें। 'रतिरहस्य' के अनुसार स्पृष्टक उस आलिगन को कहते हैं, जिसमें अन्यापदेश से जाते पुरुष के शरीर की संमुख आती स्त्री से टक्कर हो जाय। विद्याधर के अनुसार हर्षभावोदय अलंकार ॥ ३५ ॥

भ्रमन्नमुष्यामुपकारिकायामायास्य भैमीविरहात्कृशीयान् ।
असौ मुहुः सौधपरम्पराणां व्यधत्त विश्रान्तिमुपत्यकासु ॥ ३६ ॥

जीवातु—भ्रमन्निति । भैमीविरहात् कृशीयान् अतिकृशोऽसौ नलः। अमुष्यामुपकारिकायां राजसद्मनीत्यर्थः। भ्रमन् सञ्चरन्, आयास्य परिश्रम्य मुहुः सौधपरम्परायाम्, उपत्यकास्वासन्नभूमिषु । अत सौधानां पर्वतसाधर्म्यात् गौणोऽयं प्रयोगः। 'उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः' इति त्यकन्प्रत्ययस्य पर्वतासन्नभूमिसंज्ञात्वेन विधानात् । 'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमि' रित्यभिधानात्तथैव प्रयोगाच्च। संज्ञात्वादेव कात्पूर्वस्येकाराभावः। विश्रान्ति व्यधत्त विश्रान्तोऽभूदित्यर्थः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—भैमीविरहात् कृशीयान् असौ अमुष्याम् उपकारिकायां भ्रमन् आयास्य मुहुः सौधपम्पराणाम् उपत्यकासु विश्रान्ति व्यधत्त ।

हिन्दी—भीमपुत्री (दमयन्ती) के विरह से अत्यन्त दुर्बल यह (नल) उस 'उपकारिका' (राजभवन) में विचरता हुआ थककर बारंबार सतखंडे महलों की उपत्यकाओं (सन्निकट भूमि, तलहटी) में विश्राम कर लेता था।

टिप्पणी—राजभवन के विस्तृत होने का संकेत, जिसके कारण नल को क्षण-क्षण विश्राम करना पड़ता था। 'उपत्यका' सामान्यतः पर्वत की तलहटी

के अर्थ में प्रयुक्त होता है, यहाँ सौधपरम्पराओं की पर्वत-सदृश उच्चता के द्योतनार्थ 'सौधपरम्पराणाम् उपत्यकासु' कहा गया है। 'प्रकाश'-कार ने 'उपत्यकासु' के स्थान में 'अधित्यकासु' पाठांतर दिया है, यद्यपि उन्होंने 'उपत्यकासु' पाठ ही उचित माना है, क्योंकि उपत्यका विश्राम-योग्य होती है—'उपत्यकासु' इति पाठः साधीयान्। उपत्यकानां विश्रान्तियोग्यत्वात्।' अधित्यका का अर्थ है, ऊपरी भूमि—ऊर्ध्वभूमि। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ॥ ३६ ॥

उल्लिख्य हंसेन दले नलिन्यास्तस्मै यथादर्शि तथैव भैमी।
तेनाभिलिख्योपहृतस्वहारा कस्या न दृष्टाजनि विस्मयाय ॥ ३७ ॥

जीवातु–किं चात्र विश्रान्तो विनोदाय भैमीप्रतिकृतिमालिख्याद्राक्षीदित्याह श्लोकद्वयेन–उल्लिख्येति। नन्वदृष्टपूर्वां तां कथमलिखदिति शङ्कां निरस्यन्नाह—पूर्वं हंसेन नलिन्या दले भैमी यथा येन प्रकारेण उल्लिख्य तस्मै नलायादर्शि दर्शिता। तथैव तेन नलेन अभिलिख्य उपहृतस्वहारा कण्ठार्पितनिजमुक्ताहारा तदा विलिखितेत्यर्थः। दृष्टा सती कस्या विस्मयाय नाजनि न जाता, सर्वस्या अपि जातेत्यर्थः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—हंसेन नलिन्याः दले यथा उल्लिख्य भैमी तस्मै अदर्शि तेन तथा एव अभिलिख्य उपहृतस्वहारा दृष्टा कस्याः विस्मयाय न अजनि ?

हिन्दी—स्वर्ण-हंस ने कमलिनी के पत्र पर जैसी आँककर भीमसुता उसे (नल को) दिखायी थी, उस (नल) के द्वारा वैसी ही चित्रित कर अपना (नल का) कंठहार पहिना दी गयी दीखती किस (अन्तःपुर की सुन्दरी) के आश्चर्य की कारण न हुई ?

टिप्पणी—नल ने कभी दमयन्ती को प्रत्यक्ष तो किया नहीं था, केवल स्वर्णहंस ने कमलपत्र पर उसका एक चित्र बनाकर दिखा दिया था; किन्तु कुशल चितेरे नल ने मनोविनोदनार्थ उसी के आधार पर एक वैसा ही दमयन्ती का चित्र बना दिया और उपहारस्वरूप अपना कंठहार उसे पहिना दिया। नल तो अदृश्य था, फलस्वरूप राजभवन में सहसा कंठहार-धारिणी दमयन्ती का चित्र देख वहाँ आती-जाती स्त्रियों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि किसने यह अभिलेख यहाँ उपस्थित कर दिया ? तात्पर्य यह है कि नल ने विश्राम के क्षणों

में जो दमयन्ती का चित्र बनाया, उसे देखकर उसके मन में उठा कि नयन-गोचर प्रिया को प्रथम भेंट में कुछ देना चाहिए, सो कंठहार पहिना दिया। कंठहार पहिने दमयन्ती के चित्र को जो स्त्री इस प्रकार देखती आश्चर्य में पड़ जाती ॥ ३७ ॥

कौमारगन्धीनि निवारयन्ता वृत्तानि रोमावलिवेत्रचिह्ना ।
सालिख्य तेनैक्ष्यत यौवनीयद्वाःस्थामवस्थां परिचेतुकामा ॥ ३८ ॥

जीवातु—कौमारेति। तेन नलेन यौवनस्येयं यौवनीया। वृद्धाच्छः। तस्यां द्वारि द्वारे, प्रमुखे च तिष्ठतीति यौवनीयद्वाःस्था। 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य विसर्जनीये तस्य वा सत्वम्। तामवस्थां दौवारिकदशां यौवनप्रवेशदशां च, परिचेतुकामा अभ्यसितुकामा। अत एव रोमावलिरेव वेत्रं दण्डः तच्चिह्नं यस्याः सा। कौमारगन्ध एषामस्तीति कौमारगन्धीनि शैशवसंस्पर्शीनि, वृत्तानि चापलानि, निवारयन्ती सा दमयन्ती आलिख्य ऐक्ष्यत। ईक्षतेः कर्मणि लङ्। वयःसन्धौ वर्तमानान्तामालिख्य अद्राक्षीदित्यर्थः। रूपकालङ्कारः ॥ ३८ ॥

अन्वयः— तेन यौवनीयद्वाःस्थाम् अवस्थां परिचेतुकामा रोमावलिवेत्रचिह्ना कौमारगन्धीनि वृत्तानि निवारयन्ती सा आलिख्य ऐक्ष्यत।

हिन्दी—उस (नल) ने यौवन के द्वार पर स्थित अवस्था से परिचय प्राप्त करने की कामना से रोमावली रूप वेत्रदंड-चिह्नों से युक्त बचपने की गंध देने वाले चपलतादि व्यापारों का निवारण करती उस (दममन्ती) का आलेख बनाकर निहारा।

टिप्पणी—हंस के आलेख में जो दमयन्ती नल ने देखी थी, वह 'वयः-सन्धि' की अवस्था में थी, जिसमें बचपन जा रहा था और तरुणाई आने लगी थी। रोमावली उग आयी थी और बालोचित चपलता जा-जा रही थी। ऐसी ही दमयन्ती को आलेख में बनाकर नल देखता रहा। बच्चों को शिक्षा देने के लिए बेंत की छड़ी का उपयोग किया जाता है। दमयन्ती यौवनावस्था का अभ्यास कर रही है, रोमावली बेंत की छड़ी है, जिसका उपयोग शिक्षा-प्राप्त करते समय बचपन के खेल-कूद, चपलता आदि के निवारण के लिए किया जाता रहा है और किया जा रहा है। अथवा रोमावली बेंत की

छड़ी के वे चिह्न (निशान) हैं, 'कौमारगन्धि वृत्तों' के निवारणार्थ जिसका उपयोग किया गया है। निवारणार्थ—प्रवेश-निषेध के लिए द्वार पर वेत्रधारिणी को नियुक्त किया ही जाता है। रूपक ॥ ३८ ॥

पश्याः पुरन्ध्रीः प्रति सान्द्रचन्द्ररजःकृतक्रीडकुमारचक्रे।
चित्राणि चक्रेऽध्वनि चक्रवर्तिचिह्नं तदङ्घ्रिप्रतिमासु चक्रम् ॥ ३९ ॥

जीवातु—पश्या इति। सान्द्राणि चन्द्ररजांसि कर्पूरपांशवः। 'अथ कर्पूरमस्त्रियाम् घनसारश्चन्द्रसंज्ञः' इत्यमरः। तैः कृतक्रीड कुमारचक्र, बालसङ्घो यस्मिन् तस्मिन् अध्वनि चक्रवर्तिचिह्नं सार्वभौमलक्षणं, तस्य नलस्य, अङ्घ्रिप्रतिमासु पादन्यासेषु। चक्रं चक्ररेखाः पश्यन्तीति पश्याः पश्यन्तीः, 'पाघ्रा' इत्यादिना शप्रत्ययः पश्यादेशश्च। पुरन्ध्रीः प्रति स्त्रिय उद्दिश्य चित्राणि चक्रे। तासामाश्चर्याणि जनयामासेत्यर्थः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—सान्द्रचन्द्ररजःकृतक्रीडकुमारचक्रे अध्वनि तदङ्घ्रिप्रतियासु चक्रवर्त्तिचिह्नं चक्रं पश्याः पुरन्ध्रीः प्रति चित्राणि चक्रे।

हिन्दी—जिसमें घनी कर्पूर-धूलि उछाल-उछाल कर बालकों ने खेल किया है, ऐसे मार्ग में उस (नल) के पैरों की छापों में बना चक्रवर्ती का चिह्न चक्र देखनेवाली नागरिकाओं को आश्चर्यों में डालने लगा।

टिप्पणी—मार्ग में चंदन-धूल उड़ा-उड़ाकर राज-भवन के बालकों ने क्रीडा की थी, वह चंदन-चूरा वहाँ जमा था। जाते नल के चरण-चिह्न उसमें उभर गये। उधर से आती-जाती स्त्रियों ने उन चिह्नों में 'चक्र' का चिह्न बना देखा, जो चक्रवर्ती के चरणों में होता है। उन्हें घोर आश्चर्य हुआ कि कौन चक्रवर्ती इधर से गया है? विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छेकानुप्रास ॥ ३९ ॥

तारुण्यपुण्यामवलोकयन्त्योरन्योन्यमेणेक्षणयोरभिख्याम्।
मध्ये मुहूर्तं स बभूव गच्छन्नाकस्मिकाच्छादनविस्मयाय ॥ ४० ॥

जीवातु—तारुण्येति। तारुण्यपुण्यां यौवनमनोज्ञाम्। 'पुण्यं मनोज्ञ' इति विश्वः। अन्योन्यमभिख्यां शोभामवलोकयन्त्योरेणेक्षणयोः मृगाक्ष्योर्मध्ये गच्छन् मुहूर्तम्, ईषत्कालम्, आकस्मिकाच्छादनेन निर्हेतुकव्यवधानेन विस्मयाय

बभूव। अत्र व्यवधानकारणं विना व्यवधानोक्तेरकारणे कार्योत्पत्तिलक्षणो विभावनालङ्कारः ॥ ४० ॥

अन्वयः—तारुण्यपुण्याम् अन्योन्यम् अभिख्याम् अवलोकयन्त्योः एणेक्षणयोः मध्ये गच्छन् सः मुहूर्त्तम् आकस्मिकाच्छादनविस्मयाय बभूव।

हिन्दी—तरुणाई के पुण्य से पूर्ण (यौवन से शोभित) परस्पर शोभा को निरखतीं दो मृगाक्षियों के मध्य में जाता वह (नल) क्षण भर को अकस्मात् ढक लेने के कारण विस्मय का निमित्त हो गया।

टिप्पणी—दो तरुणियाँ परस्पर वार्तालाप कर रही थीं, नल जब उनके मध्य से (अदृश्य रूप में) निकला तो क्षणभर को उसके द्वारा उपस्थित अन्तराय के कारण वे परस्पर आच्छादित हो गयीं। इस पर उन्हें आश्चर्य हुआ कि यह हुआ क्या ? विद्याधर के अनुसार यहाँ उल्लेख्य अलंकार केवल छेकानुप्रास है, जब कि मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ व्यवधान-कारण के विना व्यवधान के कथन से अकारण में कार्योत्पत्ति रूप विभावना अलंकार है। कदाचित् मल्लिनाथ का यह विचार है कि अदृश्य नल का शरीर आच्छादन नहीं कर सकता अथवा सुन्दरियों को आच्छादन का कारण न प्रतीत होना किन्तु, आच्छादन-कार्य हो जाना अकारण में कार्य प्रतीति है। नारायण पंडित के अनुसार अदृश्य शरीर का स्पर्श, उसमें आच्छादन—दोनों संगत कारण हैं ॥ ४० ॥

पुरः स्थितस्य क्वचिदस्य भूषारत्नेषु नार्यः प्रतिबिम्बितानि।
व्योमन्यदृश्येषु निजान्यपश्यन् विस्मित्य विस्मित्य सहस्रकृत्वः ॥ ४१ ॥

जीवातु—पुर इति। क्वचिद्देशे नार्यः पुरःस्थितस्य नलस्य अदृश्येषु भूषारत्नेषु निजानि प्रतिबिम्बितानि प्रतिबिम्बानि, व्योमनि शून्ये विस्मित्य विस्मित्य पुनः पुनः विस्मिता भूत्वा। सहस्रकृत्वः सहस्रवारमपश्यन्। अत्रापि निरालम्बनप्रतिबिम्बदर्शनोक्तेरकारणे कार्योत्पत्तिलक्षणो विभावनालङ्कारः॥

अन्वयः—क्वचित् नार्यः पुरःस्थितस्य अस्य अदृश्येषु भूषारत्नेषु निजानि प्रतिबिम्बितानि व्योमनि विस्मित्य विस्मित्य सहस्रकृत्वः अपश्यन्।

हिन्दी—कहीं स्त्रियों ने संमुख खड़े इस (नल) के अदृश्य आभूषणों के

रत्नों में अपने प्रतिबिम्ब शून्य में बार-बार विस्मित हो सहस्रवार (अनेकशः) देखे ।

टिप्पणी—नल और उसके आभूषण तो दिखते थे नहीं, पर आभूषण के रत्नों में आती-जाती स्त्रियों के प्रतिबिम्ब पड़ जाते थे । सूने में—रिक्त आकाश में पड़ती अपनी छायाएँ देख स्त्रियों को बड़ा आश्चर्य हो रहा था और वे बार-बार देखने लगती थीं । मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में भी विभावना है, क्योंकि निरालम्बन प्रतिबिम्ब-दर्शन कारण बिना कार्य की उत्पत्ति है । विद्याधर ने यहाँ अतिशयोक्ति का निर्देश किया है ॥ ४१ ॥

तस्मिन् विषज्यार्धपथान्निवृत्तं तदङ्गरागच्छुरितं निरीक्ष्य ।
विस्मेरतामापुरनुस्मरन्त्यः क्षिप्तं मिथः कन्दुकमिन्दुमुख्यः ॥ ४२ ॥

जीवातु—तस्मिन्निति । इन्दुमुख्यः स्त्रियः, मिथः क्षिप्तम्, अन्योन्यं प्रति प्रेरितं किन्तु । तस्मिन्नले विषज्य लम्भितत्वा अर्धः पन्थाः अर्धपथः विशेषण-समासे समासान्तः । 'अर्धं नपुंसकम्' इत्येकदेशसमास इति केचित् । तत्र समांशनिबन्धः । तस्मान्निवृत्तं प्रत्यागच्छन्तं, तस्य नलस्याङ्गरागेण च्छुरितं रूषितं, कन्दुकं निरीक्ष्य अनुस्मरन्त्यः कुत एतदिति पुनःपुनरनुसन्दधाना विस्मेरतां विस्मतत्वमापुः । 'नमिकम्पिस्मि' इत्यादिना रप्रत्ययः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—इन्दुमुख्यः मिथः क्षिप्तं तस्मिन् विषज्य अर्धपथात् निवृत्तं तदङ्गरागच्छुरितं कन्दुकं निरीक्ष्य अनुस्मरन्त्यः विस्मेरताम् आपुः ।

हिन्दी—चंद्रमुखियाँ एक-दूसरे की ओर फेंके, उस (नल) से टक्कर खाकर आधे मार्ग से वापस आते, उस (नल) के अंगराग से संयुक्त कंदुक को देख बार-बार विचार करतीं विस्मय को प्राप्त हुईं ।

टिप्पणी—कंदुक-क्रीडा का वर्णन । सुन्दरियाँ कंदुक-क्रीडा में एक-दूसरे की ओर गेंद उछाल रही थीं, उधर निकलते नल के शरीर से गेंद की टक्कर हुई और वह आधे मार्ग में ही गिर पड़ा । उस पर नल के शरीर पर लगे चंदनादि अंगराग के चिह्न भी बन गये । वे चंद्रमुखी नारियाँ बार-बार सोचने लगीं कि यह सब कैसे हो गया ? कारण समझ में न आने से उन्हें आश्चर्य हुआ । विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार ॥ ४२ ॥

पुंसि स्वभर्तृव्यतिरिक्तभूते भूत्वाप्यवीक्षानियमव्रतिन्यः।
छायासु रूपं भुवि तस्य वीक्ष्य फलं दृशोरानशिरे महिष्यः॥ ४३॥

जीवातु—पुंसीति। महिष्यो राजदारा, स्वभर्तृव्यतिरिक्तभूते पुंसि परपुरुषे विषये अवीक्षानियमेन अनिरीक्षासङ्कल्पेन, व्रतिन्यः व्रतवत्यो भूत्वा तस्य नलस्य भुवि कुट्टिमभूमौ छायासु प्रतिबिम्बेषु रूपसौन्दर्यं वीक्ष्य दृशोः फलमानशिरे प्रापुः। 'अतः आदेः' इत्यभ्यासदीर्घः। 'अश्नोतेश्च' इति नुडागमः॥

अन्वयः—स्वभर्तृव्यतिरिक्ते पुंसि अवीक्षानियमव्रतिन्यः भूत्वा अपि महिष्यः भुवि छायासु तस्य रूपं वीक्ष्य दृशोः फलम् आनशिरे।

हिन्दी—अपने स्वामी से भिन्न पुरुष के दर्शन न करने का नियम मानने वाली होकर भी रानियाँ धरती पर पड़ी छायाओं में उस (नल) का रूप देखकर नेत्रों की सफलता पा रही थीं।

टिप्पणी—असूर्यंपश्या राजदाराओं को अपने पति से भिन्न परपुरुषदर्शन का निषेध था। या तो अन्य राजा उतने सुन्दर नहीं थे, या फिर राजदाराएँ प्रतिदिन देखते रहने के कारण अपने पति-राजाओं के रूप के प्रति आकर्षणहीन हो गयीं थीं, जिससे उन्हें वे सुन्दर नहीं लगते थे सो उन्होंने चमकदार फर्श पर उभरतीं नल की छवियाँ देखीं, तो अभिनव सौंदर्य निहार कर उनके नेत्र निहाल हो गये। नल के अनुपम सौंदर्य का संकेत कि पतिव्रताएँ भी उन पर आकृष्ट हो गयीं। विद्याधर के अनुसार क्रिया विरोधातिशयोक्ति क्योंकि परपुरुषदर्शन से भी पतिव्रताओं का पातिव्रतभंग नहीं हुआ॥ ४३॥

विलोक्य तच्छायमतर्किताभिः पतिं प्रति स्वं वसुधापि धत्ते।
यथा वयं किं मदनं तथैनं त्रिनेत्रनेत्रानलकीलनीलम्॥ ४४॥

जीवातु—विलोक्येति। ताभिः राजमहिषीभिः, तस्य नलस्य, छाया अनातपरेखा तच्छायम्। नीलमिति शेषः। विलोक्य यथा वयं स्वं स्वकीयं, पतिं भीमं, प्रत्युद्बुद्धम्, मदनं दध्महे। तथा वसुधापि स्वं पतिं भीममेव प्रत्युद्बुद्धम्। किन्तु, त्रिनेत्रस्य ईश्वरस्य, नेत्रानलकीलैर्नेत्राग्निज्वालैः, नीलं कृष्णवर्णम्, एनं मदनं धत्ते किमित्यतर्कि उत्प्रेक्षितम्। नलच्छाये वसुधागते तस्मि-

न्मदनत्वोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षालङ्कारः। नलच्छायेऽपि स्त्रीणां मदनविभ्रमः, नले तु किमु वक्तव्यमिति शेषः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—ताभिः तच्छायं विलोक्य अतर्कि—यथा वयं स्वं पतिं प्रति मदनं दध्महे तथा वसुधा अपि किं त्रिनेत्रनेत्रानलकीलनीलम् एवं धत्ते ?

हिन्दी—उन (राजमहिषियों) ने उस (नल) की छाया को देखकर संभावना की कि जैसे हम अपने पति (भीमराज) के प्रति काम का धारण करती हैं, वैसे ही पृथ्वी भी क्या (अपने स्वामी राजा भीम के प्रति) त्रिनयन (शिव) के नेत्रों की अग्नि ज्वाला में (जलकर) नीले हुए इस (नल-रूप काम) का धारण करती है ?

टिप्पणी—धरती पर पड़ती नल की छाया को जब रानियों ने देखा तो विचारा कि जैसे हमारा अपने पति भीमराज के प्रति काम हृदय में है, वैसे ही धरती का भी तो होगा, क्योंकि भीमराज उसके भी तो पति हैं—भूपति। नल की छाया उसी का प्रतिरूप है। अथवा जैसे रानियाँ अपने काम को मन में निगूढ भाव से लज्जा के कारण छिपाये रखती हैं, वैसे ही वसुधा भी नल की छाया के रूप में अपने काम को अन्तर्निहित रखती है। छाया का वर्ण नील है, अतः शिव-नेत्राग्नि-ज्वाल में जल कर नील नल रूप काम की कल्पना की गयी है। भाव यह है कि नल इतना मनोहर था कि उसका धरती पर पड़ता प्रतिबिम्ब देखकर ही रानियाँ मुग्ध हो गयीं। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और उपमा ॥

रूपं प्रतिच्छायिकयोपनीतमालोकि ताभिर्यदि नाम कामम् ।
तथापि नालोकि तदस्य रूपं हारिद्रभङ्गाय वितीर्णभङ्गम् ॥ ४५ ॥

जीवातु—नन्वेवं नलविलोकिनीनामासां कथं न परपुरुषनिरीक्षणे व्रतलोपस्तत्राह—रूपमिति। प्रतिच्छायैव प्रतिच्छायिका। स्वार्थे कः। 'कात्पूर्वस्य' इतीकारः। तयोपनीतं रूपं छायात्मकं स्वरूपं ताभिः स्त्रीभिरालोकि यदि आलोकितं चेत्। कामं यथेच्छमालोक्यतां नाम। तथापि हारिद्रभङ्गाय हरिद्राखण्डाय वितीर्णभङ्गं दत्तपराजयम्, तत्स्वरूपमित्यर्थः। अस्य तत्प्रसिद्धं रूपं स्वरूपं नालोकि नालोकितम्। साक्षाद्रूपदर्शने दोषः, न प्रतिच्छायादर्शने इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—ताभिः प्रतिच्छायिकया उपनीतं रूपम् यदि नाम कायम् आलोकि तथापि हारिद्रभङ्गाय वितीर्णभङ्गम् अस्य तद् रूपं न आलोकि।

हिन्दी—उन (रानियों) ने प्रतिबिम्ब रूप में लाये गये (नल) के रूप को भले ही पर्याप्त रूप में देखा, तथापि हल्दी के टुकड़े (नारायण के अनुसार सुवर्ण-खंड) को पराजित करने वाला इस (सल) का वह रूप नहीं देखा।

टिप्पणी—धरती में प्रतिबिम्बित नल के रूप को रानियों ने आँख भर देखा और वे उस पर मुग्ध हो गयीं, पर उन्हें नल का वास्तविक रूप तो देखने को मिला ही नहीं, केवल वे उसकी नीली छाया देख पायीं। नल का रंग तो सोने-जैसा गोरा था, वह नीली छाया में कैसे प्रकट होता? जब नीलवर्ण के नल की छायामात्र देख कर उनकी ऐसी मुग्धदशा हो गयी, तब यदि वे कांचनवर्ण वास्तविक नल को देख पातीं तो क्या होता? मल्लिनाथ का वक्तव्य है कि प्रतिच्छायामात्र देखने से पतिव्रता रानियों का पातिव्रतभंग न हुआ। दोष तो साक्षाद्दर्शन से होता है, प्रतिच्छाया-दर्शन से नहीं ॥ ४५ ॥

भवन्नदृश्यः प्रतिबिम्बदेहव्यूहं वितन्वन्मणिकुट्टिमेषु।
पुरं परस्य प्रविशन् वियोगीयोगीव चित्रं स रराज राजा ॥ ४६ ॥

जीवातु—भवन्निति। वियोगी विरही आयोगी च। स राजा नलः, अदृश्यो भवन् स्वयमदृश्यः सन् मणिकुट्टिमेषु मणिनिबद्धभूमिषु, प्रतिबिम्बदेहानां व्यूहं समूहं, वितन्वन् सम्पादयन्। योगिपक्षे बहूनि योगशरीराणि युगपत् कल्पयन्। तथा परस्य राजान्तरस्य, पुरं नगरम्। अन्यत्र जीवान्तरस्य शरीरं परकायं प्रविशन्। 'पुरं पुरि शरीरे च' इति विश्वः। योगी अणिमादिसिद्धिमानिव, रराज चित्रम्॥ ४६ ॥

अन्वयः—अदृश्यः भवन् मणिकुट्टिमेषु प्रतिबिम्बदेहव्यूहं वितन्वन् परस्य पुरं प्रविशन् सः वियोगी राजा योगी इव रराज - चित्रम्!

हिन्दी—अदृश्य रहता, रत्नजड़े फर्शोंपर अपने शरीर को प्रतिबिम्बित करता और अन्य के पुर (नगर) में प्रविष्ट होता वह वियोगी (योग-रहित,

विरही) राजा पर पुर (शरीर) में प्रवेश करते योगी (सिद्ध, संयोगी) के समान सुशोभित हो रहा था,—आश्चर्य !

टिप्पणी—वियोगी (विरही) राजा योगी (संयोगी) जैसा लगा, यह आश्चर्य है विरोध भी, ऐसे ही योगी (योग-साधक तपस्वी) का वियोगी (योगच्युत) होना भी विरोध है। परिहार होता है वियोगी आ अर्थ विरही और योगी का सिद्ध तापस लेने से । नल अदृश्य था, उसके शरीर की अनेक छाया पड़ रही थीं, वह परपुर में भी पवेश करता था । इसके आधार पर उनकी समता योगी से की गयी, जो स्वेच्छया अदृश्य रह सकता है, अनेक शरीरों का विस्तार कर सकता है और पर-पुर प्रवेश (परकाया प्रवेश) कर सकता है । विषयों से निवृत्त हो जाने के कारण वह 'वियोगी' भी है। विद्याधर के अनुसार यहाँ विरोधाभास और उपमा है ॥ ४६ ॥

पुमानिवास्पर्शि मया भ्रमन्त्या छाया मया पुंस इव व्यलोकि ।
ब्रुवन्निवार्तकि मयापि कश्चिदिति स्म स स्त्रैणगिरः शृणोति ॥ ४७ ॥

जीवातु—पुमानिति । भ्रमन्त्या मया पुमानिवास्पर्शि स्पृष्टः । मया पुंसः छायेव व्यलोकि विलोकिता । मयापि कश्चित् ब्रुवन् लपन्निव, अतर्कि तर्कितः । सर्वत्र कर्मणि लुङ् । इत्येवरूपाः स्त्रैणस्य स्त्रीसमूहस्य गिरः । यद्वा, स्त्रीषु भवाः स्त्रैणाः गिरः । 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्' इति भवार्थे नञ्प्रत्ययः । स नलः, शृणोति स्म । 'लट् स्मे' इति भूते लट् ॥ ४७ ॥

अन्वयः—भ्रमन्त्या मया पुमान् इव अस्पर्शि, मया पुंसः छाया इव व्यलोकि, मया अपि कश्चित् ब्रुवन् इव अतर्कि—इति सः स्त्रैणगिरः शृणोति स्म ।

हिन्दी—भ्रमण करती मैंने पुरुष-जैसा छुआ, मैंने पुरुष की छाया-जैसी देखी, मुझे भी कोई बोलता-जैसा प्रतीत हुआ—इस प्रकार के वह (नल) स्त्रियों के वचन सुन रहा था ।

टिप्पणी—विद्याधर के अनुसार उपमा । अदृश्य नल के कारण उत्पन्न अंतःपुर की स्त्रियों की दशा का स्वाभाविक चित्रण ॥ ४७ ॥

अम्बां प्रणम्योपनता नताङ्गी नलेन भैमी पथि योगमाप ।
स भ्रान्तभैमीषु न यां विवेद सा तं च नादृश्यतया ददर्श ॥ ४८ ॥

जीवातु—अम्बामिति। नताङ्गी व्यानतगात्री भैमी। अम्बां मातरम्। 'अम्बा सवित्री जननी माता च' इति हलायुधः। प्रणम्योपनता सती, नलेन पथि योगमाप। किन्तु स नलो भ्रान्तभैमीषु अलीकभैमीषु मध्ये तां न विवेद विविच्य नाज्ञानात्, सा च तं नलम् अदृश्यतया न ददर्श। अत्र रूपसाम्याद-भ्रान्तभैम्याः भ्रान्तभैमीभिः सहाभेदाभिधानात् सामान्यालङ्कारः। 'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरकता' इति लक्षणात् ॥ ४८ ॥

अन्वयः—अम्बां प्रणम्य उपनता नताङ्गी भैमी पथि नलेन योगम् आप, सः भ्रान्तभैमीषु तां न विवेद, सा च तम् अदृश्यतया न ददर्श।

हिन्दी—माँ को प्रणाम करके आयी विनत अंगोंवाली भीम-सुता मार्ग में नल को मिली, किंतु भ्रम से दीखतीं भीमसुताओं के मध्य वह उसे न पहिचान सका, और वह (दमयंती) उसको अदृश्य होने के कारण न देख पायी।

टिप्पणी—गुरुजनों के प्रति आदर-भावना श्रेयस्करी होती है, परिणामतः भैमी नल का योग तो हुआ, पर भ्रान्ति के कारण प्रत्यक्षता न हो सकी। भ्रम से विवेक का नाश होता ही है। 'नताङ्गी' से तात्पर्य है यौवनवती—यौवनभार से झुके अंगों वाली। मल्लिनाथ के अनुसार सामान्यालंकार, क्योंकि यहाँ रूपसाम्य के कारण भ्रांत भैमियों के मध्य अभ्रांत (वास्तविक) भैमी के साथ अविधान है। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग ॥ ४८ ॥

प्रसूप्रसादाधिगता प्रसूनमाला नलस्य भ्रमवीक्षितस्य।
क्षिप्तापि कण्ठाय तयोपकण्ठे स्थितं तमालम्बत सत्यमेव ॥ ४९ ॥

जीवातु—प्रस्विति। प्रसूप्रसादाधिगता मातृप्रसादलब्धा। 'जनयित्री प्रसूर्माता जननी' इत्यमरः। प्रसूनमाला पुष्पमालिका। तया भैम्या भ्रमवीक्षितस्य भ्रान्तिदृष्टस्य नलस्य कण्ठाय क्षिप्ताप्युपकण्ठे समीपे स्थितं सत्यमेव तथ्यमेव तं नलमालम्बत प्राप मणिप्रभायां मणिबुद्धिन्यायादिति भावः ॥४९॥

अन्वयः—प्रसूप्रसादाधिगता प्रसूनमाला तया भ्रमवीक्षितस्य नलस्य कण्ठाय क्षिप्ता अपि उपकण्ठे स्थितं तं सत्यम् एव आलम्बत।

हिन्दी—माता के परितोष से प्राप्त फूलों की माला उस (दमयंती) के द्वारा भ्रम से दृष्ट नल के कंठ के निमित्त फेंकी गयी भी निकट स्थित उस (नल) के पास चली गयी।

टिप्पणी— नलानुरागिणी दमयंती को सर्वत्र नल का आभास होता रहता था। इस समय तो (अदृश्य रूप में ही सही) नल उसके पास था, सो उसे भ्रम-सा हुआ कि उसे नल दीख रहा है। उसने 'भ्रांतिदृष्ट' नल के गले में माँ से मिली माला डाल दी, और नल तो पास था ही, माला उसके गले में पड़ गयी। भावी-कथन-संकेत-रूप नाटकीय स्थिति पताकास्थानक। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अनुप्रासालङ्कार ॥ ४९ ॥

स्रग्वासनादृष्टजनप्रसादः सत्येयमित्यद्भुतमाप भूपः।
क्षिप्तामदृश्यत्वमितां च मालामालोक्य तां विस्मयते स्म बाला ॥५०॥

जीवातु–स्रगिति। भूपो नलः वासनया निरन्तरभावनया, दृष्टस्य जनस्य, अलीकभैम्याः प्रसादोऽनुग्रहभूता इयं स्रक् सत्या सत्यभूतेति हेतोरद्भुतमाप। बाला भैमी च, क्षिप्तामात्मना न्यस्ताम्। अथ अदृश्यत्वमितां प्राप्तां मालामालोक्य आलोच्य विस्मयते स्म विस्मिताभूत् ॥ ५० ॥

अन्वयः—वासनादृष्टजनप्रसादः इयं स्रक् सत्या–इति भूपः अद्भुतम् आप, बाला च अदृश्यत्वम् इतां तां मालाम् आलोक्य विस्मयते स्म।

हिन्दी— भावना के कारण दृष्ट व्यक्ति (दमयंती) का प्रसाद रूप यह माला (तो) सच्ची है—इससे राजा (नल) को आश्चर्य हुआ, और वह बाला (दमयंती) अदृश्यता को प्राप्त उस माला को देख कर विस्मय में पड़ गयी।

टिप्पणी—नल और दमयंती दोनों विस्मित हो गये। नल को अचरज हुआ कि भ्रम से देखी अलीक दमयंती द्वारा प्रसाद रूप में दी गयी माला तो सत्य है। यह कैसे हुआ, जब भ्रांति से दृष्ट जन द्वारा दी वस्तु भी भ्रम होती है, सत्य नहीं। दमयंती को आश्चर्य हुआ कि माला गयी कहाँ? यहाँ तो कोई दीखता नहीं। माला तो नल की इच्छा से उसके गले पड़कर अदृश्य हो गयी थी ॥ ५० ॥

अन्योन्यमन्यत्रवदीक्षमाणौ परस्परेणाध्युषितेऽपि देशे।
आलिङ्गितालीकपरस्परान्तस्तथ्यं मिथस्तौ परिषस्वजाते ॥ ५१ ॥

जीवातु–अन्योन्यमिति। तौ भैमीनलौ परस्परेणाध्युषिते देशेऽपि अयोन्य-

मिति कर्मनिर्देशः । नलो भैमीं सा च नलमित्यर्थः । अन्यत्रवद्देशान्तर इवेक्षमाणौ, अन्यत्र स्थायिनाविव पश्यन्तावित्यर्थः । आलिङ्गितमालिङ्गनम्, अलीकं यस्य तदालिङ्गितालीकम्, एतदालङ्गिनं मिथ्येत्यभिमानं, परस्परस्यान्तरन्तःकरणं यस्मिन् कर्मणि तद्यथा भवति तथा । अव्ययोत्तरपदो बहुव्रीहिः । अव्ययं रेफान्तं क्रियाविशेषणम् । मिथ्योऽन्योन्यं तथ्यं यथार्थमेव । परिषष्वजाते श्लिष्यतः 'उपसर्गात्सुनोति' इत्यादिना षत्वम् । पूर्ववासनया परस्परचेष्टां मिथ्येति मन्यमानावेव तथ्यमचेष्टतामित्यर्थः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—परस्परेण अध्युषिते देशे अपि अन्यत्रवत् इक्षमाणौ तौ आलिङ्गितालीकपरस्परान्तः मिथः तथ्यं परिषस्वजाते ।

हिन्दी—दोनों (दमयंती-नल) के द्वारा अधिष्ठित स्थान में भी एक दूसरे को दूसरे स्थान पर स्थित जैसे देखते हुए उन दोनों (दमयंती-नल) ने मन में परस्परालिंगन को मिथ्या समझकर भी एक-दूसरे का सचमुच आलिंगन किया ।

टिप्पणी—नल अदृश्य था और दमयंती को वह पहिचानता था नहीं, फिर भी निरंतर भावना के वशीभूत वे दोनों आलिंगित हो गये । दोनों तो यह समझते थे उनका प्रेमास्पद वहाँ है नहीं, अतः उन्हें वह आलिंगन केवल कल्पनामात्र लग रहा था, पर वह घटित सत्यतः हो रहा था । मिथ्या समझते हुए भी वे वस्तुतः आलिंगित हुए । पूर्व-वासना के कारण अपनी चेष्टा को मिथ्या सदृश मानते हुए दमयंती-नल वास्तविक आचरण ही कर रहे थे । विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलङ्कार ॥ ५१ ॥

स्पर्शं तमस्याधिगतापि भैमी मेने पुनर्भ्रान्तिमदर्शनेन ।
नृपस्तु पश्यन्नपि तामुदीतस्तम्भो न धर्तुं सहसा शशाक ॥ ५२ ॥

जीवातु—स्पर्शमिति । भैमी तं तथ्यं स्पर्शम् अधिगता प्राप्तापि । पुनरस्य नलस्य अदर्शनेनादृश्यत्वेन, भ्रान्तिं मेने । अतो नलं धर्तुं न शशाकेति शेषः । नृपस्तु पश्यन्नप्युदीतस्तम्भो निष्क्रियाङ्गत्वलक्षणः सात्त्विको यस्य, स सन् । तां भैमीं सहसा धर्तुं ग्रहीतुं न शशाक । अन्यथा धरेदिति भावः । उदीतेति ईङ् गताविति दीर्घेण 'ई' धातुना निष्पन्नम् । अत्र स्तम्भपदार्थस्य विशेषणगत्या धारणाशक्तिहेतुकत्वात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ५२ ॥

अन्वयः--स्पर्शम् अधिगता अपि भैमी पुनः अस्य अदर्शनेन तं भ्रान्ति मेने, पश्यन् अपि उदितस्तम्भः नृपः तु तां सहसा धर्त्तुं न शशाक ।

हिन्दी-(नल के) स्पर्श को प्राप्त करके भी भीमसुता ने फिर इस (नल) के न दीखने के कारण उस (स्पर्श) को भ्रम ही माना । (दमयंती को) देखते हुए भी स्तंभ (जडता सात्त्विक भाव) का उदय हो जाने के कारण राजा (नल) भी उस (दमयती) को सहसा पकड़ने में समर्थ न हो पाया।

टिप्पणी-स्तंभ पदार्थ के विशेषण रूप में धारण में अशक्ति का हेतु होने से इस श्लोक में मल्लिनाथ के अनुसार काव्यलिंग हैं, विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग और भावोदय ॥ ५२ ॥

स्पर्शातिहर्षादृतसत्यमत्या प्रवृत्त्य मिथ्या प्रतिलब्धबोधौ ।
पुनर्मिथस्तथ्यमपि स्पृशन्तौ न श्रद्दधाते पथि तौ विमुग्धौ ॥ ५३ ॥

जीवातु--स्पर्शेति । विमुग्धौ रागान्धौ, तौ दमयन्तीनलौ, पतिस्पर्शेनातिहर्षोऽतिमात्रानन्दः, तस्माद्धेतोस्तदन्यथानुपपत्त्या, आदृतया दृढीकृतया सत्यमत्या सत्योऽयं स्पर्श इति बुध्या प्रवृत्त्य पुनर्व्यापृत्य मिथ्याप्रतिलब्धबोधौ प्रवृत्तेऽपि स्पर्शालाभान्मिथ्येति निश्चितबोधौ, मिथ्येति बुद्धवन्तावित्यर्थः । पुनरित्थमुभयदर्शनान्तरं, मिथ्योऽन्योन्यं तथ्यं यथार्थमपि स्पृशन्तावपि, न श्रद्दधाते न विशश्वसतुः । दधातेर्लिटि तङ् । श्रच्छब्दस्य 'श्रदन्तरोरुपसङ्ख्यानम्' त्युपसर्गत्वाद्धातोः प्राक् प्रयोगः ॥ ५३ ॥

अन्वयः--स्पर्शातिहर्षादृतसत्यमत्या पुनः प्रवृत्त्य मिथ्याप्रतिलब्धबोधौ विमुग्धौ तौ पथि मिथः तथ्यं स्पृशन्तौ अपि न श्रद्दधाते ।

हिन्दी--स्पर्श के कारण से उत्पन्न अत्यन्त हर्ष के कारण 'वह आलिंगन सत्य था'-- इस बुद्धि से पुनः (आलिंगन में) प्रवृत्त हो मिथ्यात्व का बोध पाकर भ्रम में पड़े वे दोनों (नल-दमयन्ती) मार्ग में परस्पर सत्यतः स्पर्श करते हुए भी (उस पर) विश्वास नहीं कर रहे थे ।

टिप्पणी--श्लोक संख्या ५१ में वर्णित नल-दमयन्ती का परस्परालिंगन उन्हें भ्रम प्रतीत हुआ, किंतु आलिंगन से जो अतीव हर्ष हुआ, उससे उन्होंने माना कि आलिंगन मिथ्या नहीं था, वास्तविक था; अतः वे पुनः आलिंगन में प्रवृत्त हुए, पर इस बार स्पर्श न होने से उन्होंने मान लिया कि आलिंगन

वास्तविक नहीं था। मार्ग में जब उन्होंने तीसरी बार परस्पर वस्तुतः एक-दूसरे का स्पर्श पाया, तब भी वे उसकी वास्तविकता पर विश्वास न कर सके। पहिला आलिंगन वास्तविक था, जिस पर वे पहिले विश्वास न कर सके। पर उत्पन्न हर्ष के कारण उन्हें लगा कि वह अतथ्य नहीं था और वे पुनः आलिंगन करने को बढ़े। इस बार स्पर्श नहीं हुआ, अतः उन्होंने मान लिया कि सब अवास्तविक ही था—कल्पनामात्र, अतः तृतीय वार घटित स्पर्श पर भी उन्हें विश्वास नहीं हुआ। इस श्लोक में सत्य स्पर्श में श्रद्धा के कारण होने पर भी अलीकभाव से निमित्त-प्रतिपादन है, अतः विद्याधर ने उक्तनिमित्त–विशेषोक्ति अलंकार का निर्देश किया है ॥ ५३ ॥

सर्वत्र संवाद्यमबाधमानौ रूपश्रिया तिथ्यकरं परं तौ।
न शेकतुः केलिरसाद्विरन्तुमलीकमालोक्य परस्परं तु ॥ ५४ ॥

जीवातु—सर्वत्रेति। तौ भैमीनलौ, रूपश्रिया सौन्दर्यसम्पदा, सर्वत्र सर्वावयवेषु संवाद्यं मिथस्संवादार्हं, परस्परानुरूपमित्यर्थः। अत एव परमत्यन्तमातिथ्यकरं मिथः सत्कारकारि। अलीकमसत्यं परस्परन्तु कर्म आलोक्य। अबाधमानौ मिथ्येत्यमन्यमानौ, केलिरसात् क्रीडारागाद्विरन्तुं निवर्तितुं न शेकतुः, किंत्वलीकेनापि परस्परेण क्रीडितुमाचकांक्षतुरित्यर्थः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—रूपश्रिया सर्वत्र संवाद्यं परम् आतिथ्यकरम् अलीकं परस्परं कर्म आलोक्य अबाधमानौ तौ केलिरसात् विरन्तुं न शेकतुः।

हिन्दी—रूप-संपदा के कारण सब स्थानों (सब अंगों) में संवादी (एक समान वर्णनीय), परमप्रीतिकर मिथ्याभूत परस्पर (स्पर्शादि) क्रिया को देखकर मिथ्या न मानते हुए वे दोनों (नल-दमयन्ती) क्रीडा-रस से विरत न हो पाये।

टिप्पणी—नल-दमयन्ती—दोनों ही समान रूप-शोभा से प्ररिपूर्ण थे; अतः उनकी रसकेलि सर्वथा रमणीय और समान आनन्द देने वाली थी। इस कारण वे दोनों मिथ्या को भी मिथ्या न मानते हुए रसकेलि से विरत न हुए। कभी उनका कर्म अलीक रह जाता था, कभी वास्तविक भी। अतः अनेक स्थलों में वास्तविक रस-केलि के आनन्द का अनुभव करते हुए नल-दमयन्ती केलिरत रहे। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ॥५४॥

परस्परस्पर्शरसोर्मिसेकात्तयोः क्षणं चेतसि विप्रलम्भः।
स्नेहातिदानादिव दीपिकार्चिर्निमिष्य किञ्चिद्द्विगुणं दिदीपे ॥ ५५ ॥

जीवातु—परस्परेति। तयोर्भैमीनलयोः चेतसि विप्रलम्भो विरहः, परस्परस्पर्शरसस्य अन्योन्यस्पर्शसुखस्य, ऊर्मिभिः सेकात् क्षणं स्नेहस्य तैलादेरतिदानाद्दीपिकार्चिर्दीपज्वालेव किञ्चिदीषन्निमिष्य निवार्य, द्वौ गुणावृत्ती यस्मिन् कर्मणि तद्यथा भवति तथा द्विगुणम्, अधिकं दिदीपे प्रजज्वाल सोऽप्युद्दीपक एवाभूदित्यर्थः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—विप्रलम्भः तयोः चेतसि परस्परस्पर्शरसोर्मिसेकात् स्नेहातिदानात् दीपिकार्चिः इव क्षणं किञ्चित् निमिष्य द्विगुणं दिदीपे।

हिन्दी—वियोग उन दोनों (नल-दमयन्ती) के हृदयों में अन्योन्य के स्पर्श-रस की तरंगों के सिचन से स्नेह का अत्यन्त दान होने स्वरूप स्नेह (तेल) के प्रचुरमात्रा में डाल देने से दीपक की लौके समान कुछ देर तक कुछ मंद होकर द्विगुण होकर दीप्त हो गया।

टिप्पणी—नल-दमयन्ती ने उपर्युक्त वर्णन के अनुसार रसकेलि का आनन्द पाया। इस मिलन-सुख में जो परस्पर स्नेह का आदान-प्रदान मिला. उससे प्रणयीयुगल की विरहाग्नि कुछ मंद पड़ी परन्तु वे पुनः वियुक्त हो गये। तब जैसे तेल डाल देने से मंद पड़ी दिए की लौ भभक कर और तेज हो जाती है, वैसे ही प्रेम को पाकर वियुक्त प्रेमी द्विगुणित रूप से वियोग-संतप्त हो गये। विद्याधर के अनुसार उपमा ॥ ५५ ॥

वेश्माप सा धैर्यवियोगयोगाद् बोधञ्च मोहञ्च मुहुर्दधाना।
पुनः पुनस्तत्र पुरः स पश्यत् बभ्राम तां सुभ्रुवमुद्भ्रमेण ॥ ५६ ॥

जीवातु—वेश्मेति। सा भैमी, धैर्यवियोगयोर्योगाद्यथासंख्यं मुहुर्बोधञ्च मोहञ्च दधानेति यथासंख्यालङ्कारः। वेश्म निजावासमाप। नलस्तत्र तां सुभ्रुवं भैमीम् उद्भ्रमेण भ्रान्त्या पुनः पुरोऽग्रे पश्यन् बभ्राम। प्राप्त्याशयेति भावः। एतेन चापलाख्यः सञ्चारिभाव उक्तः। 'चापलं त्वनवस्थानम्' इति लक्षणात् ॥ ५६ ॥

अन्वयः—धैर्यवियोगयोगात् मुहुः बोधं मोहं दधाना सा वेश्म आप, तत्र तां सुभ्रुवम् उद्भ्रमेण पुनः पुनः पुरः पश्यन् सः बभ्राम।

हिन्दी–धीरज और विरह–दोनों के रहने से कभी ज्ञान और कभी मोह को धारण करती वह (दमयन्ती) घर गयी; और वहाँ उस सुन्दर भ्रुकुटि वाली (दमयन्ती) को उत्पन्न भ्रम के कारण बार-बार अपने संमुख देखता वह (नल) भटकने लगा।

टिप्पणी---दमयन्ती धैर्यशालिनी थी, अतः वह चित्त को सभाल लेती थी, किन्तु वियोग के कारण पुनः मोह को प्राप्त हो जाती थी। इन दोनों स्थितियों में पड़ती वह अन्ततः घर चली गयी और विरही नल 'त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे' के अनुसार सर्वत्र दमयन्ती को ही समुख देखते इधर-उधर भ्रमण करने लगे। यहाँ चपलता संचारीभाव का वर्णन है, चपलता अर्थात् मात्सर्य, द्वेष, राग आदि के कारण अनवस्थिति—'मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापल्यं त्वनवस्थितिः (सा० ३।१७८)। विद्याधर के अनुसार यथासंख्य और भावशबलता अलंकार ॥ ५६ ॥

पद्भ्यां नृपः सञ्चरमाण एष चिरं परिभ्रम्य कथं कथञ्चित्।
विदर्भराजप्रभवानिवासं प्रासादमभ्रङ्कषमाससाद ॥ ५७ ॥

जीवातु—पद्भ्यामिति। एष नृपः पद्भ्यां सञ्चरमाणो गच्छन्। 'समस्तृतीयायुक्तात्' इति तृतीया। चिरं परिभ्रम्य कथं कथञ्चित् पादचारक्लेशादतिकृच्छ्रेण विदर्भराजः प्रभवः कारणं यस्यास्तस्याः वैदर्भ्याः निवासम्। अभ्रं कषतीत्यभ्रंकषमत्युन्नतम्। 'सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कष' इति खच्प्रत्यये मुमागमः। प्रासादं सौधमाससाद ॥ ५७ ॥

अन्वयः—पद्भ्यां सञ्चरमाणः एषः नृपः चिरं परिभ्रम्य कथं कथंचित् विदर्भराजप्रभवानिवासम् अभ्रङ्कषं प्रासादम् आससाद।

हिन्दी–पैदल चलता-चलता यह राजा (नल) बहुत समय तक घूम-फिर कर किसी प्रकार विदर्भ नरेश की पुत्री (दमयन्ती) के गगनस्पर्शी (अत्युच्च) प्रासाद में पहुँचा।

टिप्पणी—ऊँचे प्रासाद के दुर्गम और दुष्प्रवेश्य होने का संकेत ॥ ५७ ॥

सखीशतानां सरसैर्विलासैः स्मरावरोधभ्रममावहन्तीम्।
विलोकयामास सभां स भैम्यास्तस्य प्रतोलीमणिवेदिकायाम् ॥ ५८ ॥

जीवातु–सखीति। नलस्तस्य प्रसादस्य प्रतोल्यां प्राङ्गणे या मणिवेदिका तस्यां सखीशतानां सरसैः सानुरागैर्विलासैर्लीलाभिः स्मरावरोधभ्रममावहन्तीं कायान्तःपुरभ्रान्तिकरीं भैम्या सभामास्थानीं विलोकयामास ॥ ५८ ॥

अन्वयः–सः तस्य प्रतोलीमणिवेदिकायां सखीशतानां सरसैः विलासैः स्मरावरोधः भ्रमम् आवहन्तीं भैम्याः सभां विलोकयामास।

हिन्दी–उस नल ने उस (प्रासाद) के आँगन में मणि जटित वेदी (चबूतरा) पर सैकडों (अनेक) सखियों के सरस श्रृंगार-विलास से काम के अन्तःपुर की भ्रांति उत्पन्न करती भीमपुत्री की सभा को देखा।

टिप्पणी–दमयन्ती की सखियाँ रति के समान सुन्दरी थीं और उनकी श्रृंगार-चेष्टाएँ भी वैसी ही मोहक थीं, अतः दमयन्ती की वह सभा काम की सभा जैसी प्रतीत हो रही थी। विद्याधर के अनुसार उपमा ॥ ५८ ॥

कण्ठः किमस्याः पिकवेणुवीणास्तिस्रो जिताः सूचयति त्रिरेखः।
इत्यन्तरस्तूयत कापि यत्र नलेन बाला कलमालपन्ती ॥ ५९ ॥

जीवातु–अथ कण्ठ इत्यादिभिः चतुर्दशभिस्तां सभां वर्णयति–कण्ठ इति। यत्र सभायां कलं मधुरमालपन्ती कापि बाला। नलेन तिस्रो रेखा अस्य सन्तीति त्रिरेखः अस्याः कण्ठः पिकवेणुवीणास्तिस्रः जिताः सन्तीति सूचयति किमिति अन्तरन्तःकरणे अस्तूयत स्तुता। अत्र कण्ठरेखात्रयस्य विशेषणगत्या निजपिकादित्रयविजयसूचकत्वोत्प्रेक्षाहेतुकत्वात्काव्यलिङ्गसङ्कीर्णेयमुत्प्रेक्षा ॥५९॥

अन्वयः—यत्र कलम् आलपयन्ती बाला अस्याः त्रिरेखः कण्ठः पिकवेणुवीणाः तिस्रः जिताः–सूचयति किम्, इति नलेन अन्तः अस्तूयत।

हिन्दी–जहाँ (सभा में) मधुर आलाप करती बाला क्या यह सूचित कर रही है कि उस (बाला) के तीन रेखा पड़े कण्ठ द्वारा कोकिल, वेणु और वीणा–तीनों जीत ली गयीं हैं ?–इस प्रकार नल ने मन ही मन प्रशंसा की।

टिप्पणी–कोई बाला सभा में राग आलाप रही थी। इतना मनोहर उसका स्वर था कि उसके संमुख कोकिल, वंशी और वीणा के स्वर नगण्य प्रतीत हो रहे थे। वह सुन्दरी 'कम्बुग्रीवा' (शंख-सी ग्रीवा वाली) थी

जिस पर तीन पर रेखाएँ अंकित थीं। सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार त्रिरेख-ग्रीवा 'कम्बुग्रीवा' कहाती है 'रेखात्रयाङ्किता ग्रीवा कम्बुग्रीवेति कथ्यते।' ये तीन रेखाएँ मानो पिक-वेणु-वीणा के जयार्थ कण्ठ ने धारण की थीं। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ काव्यलिंग-सङ्कीर्णा उपमा है, क्योंकि कण्ठ के रेखात्रय को विशेषण गति से पिकादि तीन का विजयसूचक होने से उत्प्रेक्षा का हेतु कहा गया है। विद्याधर के अनुसार यहाँ छेकानुप्रास और उत्प्रेक्षा है ॥ ५९ ॥

एतं नलं दमयन्ति ! पश्य त्यजार्तिमित्यालिकुलप्रबोधान्।
श्रुत्वा स नारीकरवर्तिशारीमुखात् स्वमाशङ्कत यत्र दृष्टम् ॥ ६० ॥

जीवातु—एतमिति। स नलो यत्र सभायां, नारीकरवर्तिशारीमुखात् कान्ताकरगतशारिकामुखात्, हे दमयन्ति ! तमेतं नलं पश्य। आर्ति पीडां त्यज। इत्येवंरूपान् आलिकुलप्रबोधान् आलिकुलस्य सखीजनस्य, प्रबोध्यते एभिरिति प्रबोधान् आश्वासनोक्तीः करणे घञ्प्रत्ययः। श्रुत्वा स्वकीयात्मानं दृष्टमाशङ्कत। एतं नलं पश्येति निर्देशादेताभिर्दृष्टोऽस्मीति शङ्कितवानित्यर्थः। शारीवाक्ये नारीवाक्यभ्रमादिति भावः। अत एव भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यत इति वस्तुनालंकारध्वनिः ॥ ६० ॥

अन्वयः—यत्र नारीकरवर्ति शारीमुखात्—दमयन्ति, तम् एतं नलं पश्य, अर्त्ति त्यज—इति आलिकुलप्रबोधान् श्रुत्वा सः स्वं दृष्टम् अशङ्कत।

हिन्दी—जिस (सभा) में नारियों के हाथ पर वर्तमान सारिका (मैना) के मुख से—दमयन्ती, उस (प्रसिद्ध) इस नल को देख, दुःख छोड़—इस प्रकार सखियों द्वारा दिये आश्वासनों को सुनकर वह (नल) अपने को देख लिये जाने की आशंका करने लगा।

टिप्पणी—विरहिणी दमयन्ती को नल के चित्रादि दिखाकर उसकी सखियाँ जब तब आश्वासन दिया करती थीं, जिससे उसकी व्यथा कम हो। सुन-सुन कर मैना भी ऐसा ही प्रायः बोलने लगी। जब अदृश्य नल सभा में था, तब भी मैना ने ऐसा ही कहा। इससे नल डरने लगा कि कहीं उसकी अदृश्य रहने की शक्ति समाप्त तो नहीं हो गयी और वह अब देख लिया जा रहा है। सारिका के वचनों में उसे नारी के वचनों का भ्रम हो गया।

मल्लिनाथ ने इसी आधार पर यहाँ भ्रांतिमत् अलंकार की व्यंजना मानी है और वस्तुद्वारा अलंकारध्वनि का निर्देश किया है। विद्याधर के अनुसार शङ्काभावोदय अलंकार है ॥ ६० ॥

यत्र कयालीकनलीकृतालीकण्ठे मृषाभीमभवीभवन्त्या।
तद्दृक्पथे दौहृदिकोपनीता शालीनमाधायि मधूकमाला ॥ ६१ ॥

जीवातु—यत्रेति। यत्र सभायां, तद्दृक्पथे, नलदृष्टिपथे, मृषाभीमभवा आरोपितभैमी, अनया तया भवन्त्या एकया सख्या अलीकनलः आरोपितनलः, असः स कृता अलीकनलीकृता तस्या आल्याः सख्याः कण्ठे दौहृदिकया धात्र्या उपनीता या मधूकमाला शालीनं लज्जामन्थरं यथा तथा आधायि आहृता। दधातेः कर्मणि लुङ्। 'आतो युक् चिण्कृतोः' इति युगागमः। एतेन भैम्याः स्वयंवरत्वरा नलैकतानत्वञ्च व्यक्तं सदस्य जीवातुरासीदित्यर्थः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—यत्र तद्दृक्पथे मृषाभीमभवीभवन्त्या एकया अलीकनलीकृतालीकण्ठे दौहादिकोपनीता मधूकमाला शालीनम् अधायि।

हिन्दी—जहाँ (सभा में) उस (नल) के देखते-देखते मिथ्या भीमसुता बनी (दमयन्ती का वेष धारती) एक (सखी) द्वारा मिथ्या नल बनी (नल वेषधारिणी) सखी के कण्ठ में दौहृदिका (धाय अथवा मालिन) के द्वारा लायी गयी महुए की माला (वरमाल) शालीनता के साथ डाल दी गयी।

टिप्पणी—दमयन्ती का मन बहलाने को सखियाँ नल-दमयन्ती-स्वयंवर की लीला कर रहीं थीं। नल ने वहीं देखा कि एक सखी ने दमयन्ती का रूप बनाया है, दूसरी ने नल का। स्वयंवर में पहिनायी जाने वाली महुए की माला मालिन या धाय ने ला रखी थी। लीला करती सखी ने धीरे-धीरे वधू की शालीन, सलज्ज गति का अनुकरण करते हुए वह माला नल वेशधारिणी सखी के गले में पहिना दी। प्रकाशकार ने 'दौहृदिका' का अर्थ 'मालाकार' (माली) दिया है—'वृक्षादिदोहदे नियुक्तो दौहृदिकः।' वह अधिक उपयुक्त लगता है। दोहद का अर्थ भी है—उस उत्पादक द्रव्य का विधान, जिसे चतुर उत्पादक समय पड़ने पर करते हैं—'तरुगुल्मलतादी-

नामकाले कुशलैः कृतम् । पुष्पात्युत्पादकं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रिया ।।' (सब्दार्णवकोश)। उपर्युक्त क्रिया से शीघ्रसंभावी स्वयंवर का संकेत। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छेकानुप्रास ।। ६१ ।।

चन्द्राभमाभ्रं तिलकं दधाना तद्वन्निजास्येन्दुकृतानुबिम्बम् ।
सखीमुखे चन्द्रसखे ससर्ज चन्द्रानवस्थामिव कापि यत्र ।। ६२ ।।

जीवातु—चन्द्राभमिति। यत्र सभायां, कापि कान्ता, चन्द्राभं चन्द्रनिभं, आभ्रमभ्रविकारं तिलकं चन्द्रसखे सखीमुखे तद्वता आभ्रतिलकवता, निजास्येन्दुना कृतमनुबिम्बं यस्मिन् कर्मणि तद्यथा भवति तथा दधाना रचयन्ती चन्द्रानवस्थां ससर्जेवेत्युत्प्रेक्षा। अत्र तिलकक्रियोत्पत्तौ स्वच्छद्रव्यतया परस्पराभिमुखावस्थितदर्पणवदितरेतराभ्रतिलकसंक्रान्तेरितरेतरतिलकचन्द्रपरम्परानन्तत्वादनवस्थाक्रियानिष्पत्तिश्चेति भावः ।। ६२ ।।

अन्वयः—यत्र कापि चन्द्राभम् अभ्रं तिलकं चन्द्रसखे सखीमुखे तद्वन्निजास्येन्दुकृतानुबिम्बं दधाना चन्द्रानवस्थाम् इव ससर्ज।

हिन्दी—जिस (सभा) में किसी (सुन्दरी) ने चन्द्र की आभावाले (चन्द्रतुल्य) अबरख (चमकदार सफेद द्रव्य) का तिलक चन्द्र-समान सखी के मुख पर बनाते समय उसी (सखी) के समान अपने मुख चन्द्र की प्रतिच्छाया का विधान करते हुए चन्द्रमा की अनवस्था (अनेकता, अवमानना) जैसी कर दी।

टिप्पणी—स्थिति यह थी कि एक चन्द्रमुखी अपनी चन्द्रमुखी सखी के मुख पर सफेद रंग के चमकदार अभ्रक से चन्द्र-समान तिलक बना रही थी, ठीक वैसा ही अभ्रक का चन्द्रतिलक स्वयम् बनानेवाली सखी के मुख पर भी बना था। इस प्रकार दो चन्द्र तो ये तिलक हुए, और दो उनके परस्पर पड़ते प्रतिबिम्ब हुए (वे दोनों सखियों के लगे तिलकों में परस्पर प्रतिबिम्बित हो रहे थे)। इसके अतिरिक्त दोनों सखियों के मुख दो चन्द्र थे ही, उनके भी प्रतिबिम्ब तिलकों में पड़ रहे थे। इस प्रकार दो मुख चन्द्र, दो उनके प्रतिबिम्ब, दो अभ्रतिलक, दो उनके प्रतिबिम्ब—कम से कम आठ चन्द्र तो हो ही गये। जब इतने चन्द्र हो गये तो फिर क्या तो आकाशचारी चन्द्र का

मान और क्या फिर उसकी अद्वितीयता। यहाँ तो चन्द्र ही चन्द्र हैं। अनव स्थिति तो हो ही जाती। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार रूपक-उपमा उत्प्रेक्षा का संकर ॥ ६२ ॥

दलोदरे काञ्चनकैतकस्य क्षणान्मषीभावुकवर्ण-रेखम्।
तस्यैव यत्र स्वमनङ्गलेखं लिलेख भैमी नखलेखिनीभिः ॥ ६३ ॥

जीवातु—दलेति। यत्र सभायां, भैमी, काञ्चनकैतकस्य स्वर्णकेतकी-कुसुमस्य, दलोदरे पत्रमध्ये, क्षणात् झटिति मषीभावुकाः श्यामीभवन्त्यः वर्ण-रेखा अक्षरविन्यासा यस्मिन् तम्। तस्य नलस्यैव कृते स्वं स्वकीयम्, अनङ्गलेखं कामसन्देशं, नखैरेव लेखिनीभिः लेखनिकाभिः लिलेख ॥ ६३ ॥

अन्वयः—यत्र भैमी काञ्चनकैतकस्य दलोदरे क्षणात् मषीभावुकवर्णरेखं तस्य एव स्वम् अनङ्गलेखं नखलेखनीभिः लिलेख।

हिन्दी—जहाँ (सभा में) भीमपुत्री ने सुवर्ण केतकी के पत्र के मध्य झट से मसी (स्याही) बन जाते वर्ण-विन्यासशाली, जैसे वह उसका (नल निमित्त) ही हो, ऐसे, अनंगलेख (काम-पत्र) को नखों की कलम से लिखा।

टिप्पणी—दमयन्ती ने परंपरानुसार काम-संदेश स्वर्णकेतक के पत्र पर नखों से लिखा। मान्यता यह है कि स्वर्णकेतकी पर नखों के आलेख तुरंत काले रंग के हो जाते हैं। इसी पर कल्पना है कि दमयन्ती के द्वारा केतकी दल पर बनाये गये, काले पड़े नख चिह्न, उस काम संदेश-पत्र के स्याही से लिखे अक्षरों के तुल्य प्रतीत होने लगे, जो उसने नल को ही लिखा। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास-रूपक का संकर ॥ ६३ ॥

विलेखितुं भीमभुवो लिपीषु सख्याऽतिविख्यातिभृतापि यत्र।
अशाकि लीलाकमलं न पाणिमपारि कर्णोत्पलमक्षि नैव ॥६४॥

जीवातु—विलेखितुमिति। यत्र सभायां लिपीषु चित्रकर्मसु। कृदिकारादक्तिनो वा ङीष्वक्तव्यः। अतिविख्यातिभृता अतिचतुरयापीत्यर्थः। सख्या भीमभुवो भैम्याः लीलाकमल विलेखितुम् अशाकि। भावे लुङ्। शकेत्यादिना तुमुन्प्रत्ययः। पाणि तु नाशाकि। तदपेक्षयोत्कृष्टत्वात्। तथा कर्णोत्पलं

विलेखितुमपारि पर्याम, पूर्ववल्लुङ् । 'पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेष्वि'ति तुमुन् प्रत्ययः । अक्षि तु नापार्येव सर्वोपमानातीतत्वात्तल्लावण्यस्येति भावः ॥६४॥

अन्वयः—यत्र लिपीषु अतिविख्यातिभृता अपि सख्या भीमभुवः लीलाकमलं विलेखितुम् अशाकि, पाणि न; कर्णोत्पलम् अपारि, अक्षि न एव ।

हिन्दी—जहाँ (सभा में) चित्र बनाने में अत्यन्त प्रसिद्धि प्राप्त भी सखी द्वारा भीमसुता का लीलाकमल ही अंकित किया जा सका, हाथ नहीं; कान में (आभूषण रूप) पहिना कमल (कर्णफूल) ही बन सका नेत्र नहीं ।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती का हाथ और नेत्र कमल की अपेक्षा कहीं सुन्दर थे, इतने कि कुशल-से-कुशल चित्रकर्त्री उनके सौंदर्य को चित्रित नहीं कर सकती थी । सो उसकी कला की इयत्ता लीलाकमल और कर्णोत्पल को चित्रित करने में ही चुक गयी, अनुपम कर—नेत्र चित्रित करने की क्षमता रही ही नहीं । रमणीयता तो नित्य नव-नव रूपधारिणी होती है—क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः, जो क्षण-क्षण नया रूप ले ले, उसे कौन चित्रित कर सकता है ? विद्याधर के अनुसार प्रतीप अलंकार ॥ ६४ ॥

भैमीमुपावीणयदेत्य यत्र कलिप्रियस्य प्रियशिष्यवर्गः ।
गन्धर्ववध्वः स्वरमध्वरीणतत्कण्ठनालैकधुरीणवीणः ॥ ६५ ॥

जीवातु—भैमीति । यत्र सभायां, गन्धर्ववध्वो गन्धर्वाङ्गना एव । कलिप्रियस्य प्रियकलहस्य नारदस्य । 'वा प्रियस्य' इति बहुव्रीहौ प्रियशब्दस्य परनिपातः । प्रियशिष्यवर्गः । स्वर एव मधु क्षौद्रं तेनारीणमारक्तं पूर्ण मति यावत् । 'ल्वादिभ्यः' इति निष्ठानत्वम् । तेन तस्या भैम्याः कण्ठनालेन सह एकधुरं वहन्तीत्येकधुरीणाः समा इत्यर्थः । 'एकधुराल्लुक् च' इति खप्रत्ययः । ता वीणा यस्य सः सन्नेत्यागत्य भैमीमुपावीणयत् वीणया उपगायति स्म । 'सत्यापपाशे'त्यादिना णिचि लङ् । गानविद्यायां गन्धर्वीणामप्युपास्या भैमीत्यर्थः ॥ ६५ ॥

अन्वयः—यत्र स्वरमध्वरीणतत्कण्ठनालैकधुरीणवीणः कलिप्रियस्य प्रियशिष्यवर्गः गन्धर्ववध्वः एत्य भैमीम् उपावीणयत् ।

हिन्दी—जिस (सभा) में स्वर-मधु से पूर्ण उस (दमयन्ती) की कंठ-नली की एक धुरीण (सदृश) वीणाधारिणी, कलहप्रिय (नारद) की

प्रिय शिष्या गन्धर्व वधुएँ आकर भीमसुता के संमुख वीणा पर गाया करती थीं।

टिप्पणी---दमयन्ती के कमल मुख का कंठनाल इतने माधुर्य से पूर्ण था कि उससे प्रवहणशील स्वर के संमुख गंधर्वरमणियों के कंठस्वर और उनकी बजायी वीणाके स्वर फीके थे, यद्यपि सहज गानप्रिय गंधर्ववधुओं ने नारद से वीणा-वादन सीखा था, जो इस विद्या—गानविद्या के भी अद्वितीय आचार्य माने जाते हैं। ऐसी गंधर्ववधुएँ भी गान और वादन में दमयंती से कुछ सीखा ही करती थीं। विद्याधर के अनुसार उपमा ॥ ६५ ॥

नावा स्मरः किं हरभीतिगुप्तेः पयोधरे खेलति कुम्भ एव।
इत्यर्धचन्द्राभनखाङ्कचुम्बिकुचा सखी यत्र सखीभिरूचे ॥ ६६ ॥

जीवातु—नावेति। यत्र सभायां अर्धचन्द्राभनखाङ्कचुम्बी अर्धचन्द्राकार-नखक्षतभाक्कुचो यस्याः सा सखी। स्मर हरभीत्या गुप्तेः, गुप्त्यर्थमित्यर्थः सम्बन्धसामान्ये षष्ठी। पयसां क्षीराणां नीराणाञ्च धरः पयोधरः कुचः। 'पयः स्यात् क्षीरनीरयोः' इति विश्वः। तस्मिन्नेव कुम्भ इति व्यस्तं रूपकम्। नावा नखाङ्केनैवेति शेषः। खेलति दाहपरिहाराय विहरति किमिति रूपकसङ्कीर्णेय-मुत्प्रेक्षा इति सखीभिरूचे उक्ता ॥ ६६ ॥

अन्वयः—यत्र अर्धचन्द्राभनखाङ्कचुम्बिकुचा सखी सखीभिः इति ऊचे किम् स्मरः हरभीतिगुप्तेः पयोधरे एव कुम्भे नावा खेलति ?

हिन्दी—जहाँ (सभा में) आधे चन्द्रमा के तुल्य नख-चिह्न से चुम्बित (युक्त) कुचोंवाली सखी से अन्य सखियो ने कहा—'क्या काम शिव के डर से छिपने के लिए, पयोधर (कुच) रूप पयोधरकुंभ (जलभरे घड़े) पर नौका-विहार कर रहा है ?

टिप्पणी—नखांकन-चिह्नों से युक्त कुच-दर्शन कर अन्य सखियों द्वारा एक सखी की गुप्त कामक्रीडा का उपहास। काम हर-नेत्र-ज्वाला से जल गया था, अतः उसे शीतल स्थान अपेक्षित था, सो वह सखी के 'पयोधर' (जलपूर्ण होने से शीतल) पर शीतलतादायी नौकाविहार कर रहा था। दाहशांति के अतिरिक्त स्वरक्षा की चिंता भी काम को हो सकती थी, सो

वह ऐसे स्थल पर जा पहुँचा जहाँ शिवजी की पहुँच न हो। शिव परस्त्री का कुचस्पर्श नहीं करेंगे। एक तो योगिराज हैं, दूसरे पार्वती का डर भी होगा— 'हरेण भीत्या गुप्ते पयोधरे' (डर से हर के द्वारा गुप्त—अमर्दित पयोधर में)। प्रकाशकार ने 'हरभीतिगुप्ते' को विशेषण-वाचक संबोधन भी माना है— शिवजी के द्वारा पार्वती के डर से न छुई जा सकने वाली हे सखी, तेरे पयोधर पर निर्भय हो काम नौका विहार कर रहा है। नारायण ने इस प्रकार भी पदच्छेद किया है—'हरभीतिगुप् स्मरः ते पयोधरे एव कुम्भे खेलति।' हर का भय रूप ईति (परचक्र) उसके कारण छिपा (हरभीलक्षणा ईतिः तस्मादात्मानं गोपायति) काम। यह कल्पना भी है कि काम ने सोचा कि उक्त सखी का नखांकयुत स्तन देख कर शिव भी मुग्ध हो जायेंगे और उनका क्रोध शांत हो जायेगा, सो निश्चिंत काम पयोधर-कुम्भ पर बैठा नौका-विहार कर रहा है। मल्लिनाथ ने पयोधर-कुच में व्यस्त रूपक और दाह-परिहार के निमित्त खेलन को उत्प्रेक्षा मान कर, यहाँ रूपकसंकीर्णा उपमा मानी है; विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा-उपमा-रूपक अलंकार हैं॥ ६६॥

स्मराशुगीभूय विदर्भसुभ्रूवक्षो यदक्षोभि खलु प्रसूनैः।
स्रजं सृजन्त्या तदशोधि तेषु यत्रैकया सूचिशिखां निखाय॥ ६७॥

जीवातु–स्मरेति। प्रसूनैः कुसुमैः स्मराशुगीभूय कामबाणो भूत्वा विदर्भसुभ्रुवो वैदर्भ्याः वक्षो हृदयमक्षोभि क्षोभितं खल्विति यत्। तत् क्षोभणवैरं यत्र सभायां, तेषु प्रसूनेषु सूचिशिखां सूच्यग्रं, निखाय निकुट्य, स्रजं मालां, सृजन्त्या एकया कयाचित्कान्तया, अशोधि निर्यातितम्। हृदयच्छेदिनां हृदयच्छेद एव प्रतीकार इति भावः॥ ६७॥

अन्वयः—यत्र प्रसूनैः स्मराशुगीभूय विदर्भसुभ्रूवक्षः यत् अक्षोभि तत् खलु तेषु सूचिशिखां निधाय स्रजं सृजन्त्या एकया अशोधि।

हिन्दी—जहाँ (सभा में) फूलों ने काम-बाण होकर सुन्दर भृकुटि वाली वैदर्भी (दमयन्ती) के हृदय को जो पीडित किया था, निश्चय रूप से उन (फूलों) में सुई की नोक डाल कर माला गूँथती एक (सखी) ने उसका प्रतीकार किया।

टिप्पणी—फूलों ने बाणरूप में विरहिणी दमयन्ती को व्यथा दी, उसकी मालाकारिणी ने उन फूलों के हृदय में सुई चुभाकर उसका उचित बदला ले लिया। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-उत्प्रेक्षा का संकर ॥ ६७ ॥

यत्रावदत्तामतिभीय भैमी त्यज त्यजेदं सखि साहसिक्यम्।
त्वमेव कृत्वा मदनाय दत्से बाणान् प्रसूनानि गुणेन सज्जान् ॥ ६८ ॥

जीवातु—यत्रेति। यत्र सभायां, तां स्रक्सृष्टीं सखीं, भैमी अतिभीय अत्यन्तं भीत्वा। भीधातोः क्त्वो ल्यबादेशः। अवदत्। किमिति, हे सखि! इदम्। सहसा वर्तत इति साहसिकः अविमृश्यकारी 'ओजस्सहोऽम्भसा वर्तत' इति ठक्। तस्य कर्म साहसिक्यं ब्रह्मणादित्वात् ष्यञ्प्रत्ययः। त्यज त्यज। कुतः त्वमेवं प्रसूनान्येव बाणान् गुणेन तन्तुना ज्यया च। 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुषु' इति वैजयन्ती। सज्जान् सक्तान् कृत्वा, मदनाय दत्से ददासि। तदेतत्त्वत एव दहतो वह्नेर्वायुना सन्धुक्षणमिति भावः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—यत्र भैमी अतिभीय ताम् इति अवदत्—सखि, त्यज इदं साहसिक्यं त्यज, त्वम् एव मदनाय प्रसूनानि बाणान् गुणेन सज्जान् कृत्वा दत्से।

हिन्दी—जिस (सभा) में भीमनंदिनी अत्यन्त डर कर उस (मालाकारिणी) से यह बोली—सखी, छोड़ इस अकस्मात् कृत (विना विचारे किये) को छोड़, तू ही काम को फूलों के रूप में बाणों को प्रत्यंचा से सज्जित करके दे रही है।

टिप्पणी—मालाकारिणी को माला में फूलों को गूँथते देख दमयन्ती बहुत डर गयी उसे लगा कि अब तक तो ये पुष्पबाण प्रत्यंचा पर चढ़े नहीं थे, काम इन्हें गुण पर रखता था, तब प्रहार करता था। यह मालिन तो फूलों को गुण-डोरी में सजाकर काम का कार्य सरल बना रही है, पुष्पबाणों को सगुण—प्रत्यंचा युक्त कर रही है। अब तो काम और शीघ्र आघात कर सकेगा। दमयन्ती ने मालिन से इसीलिए माला-गुथन का निषेध किया। 'त्यज-त्यज' की द्विरुक्ति भय की अधिकता के द्योतनार्थ है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ६८ ॥

आलिख्य सख्याः कुचपत्रभङ्गीमध्ये सुमध्या मकरीं करेण।
यत्रावदत्तामियमालि यानं मन्ये त्वदेकावलिनाकनद्याः ॥ ६९ ॥

जीवातु–आलिख्येति। यत्र सभायां, सुमध्या कापि कान्ता सख्याः कुचयोः पत्रभङ्गीनां पत्ररचनां मध्ये मकरीं करेणालिख्य तां सखीमवदत्। किमिति, हे आलि सखि, इयं मकरी त्वदेकावलेरेव हारविशेषस्यैव। 'एकावल्येकयष्टिका' इत्यमरः। नाकनद्या मन्दाकिन्या इति रूपकम्। यानं वाहनं, 'मकरीवाहना गङ्गा' इति प्रसिद्धिः। मन्ये अत्रोत्प्रेक्षा। तस्याश्चोक्तरूपकेण सङ्करः ॥६९॥

अन्वयः––यत्र सुमध्या सख्याः कुचपत्रभङ्गीमध्ये मकरीं करेण आलिख्य अवदत्–आलि, इयं त्वदेकावलिनाकनद्याः यानं मन्ये।

हिन्दी––जहाँ (सभा में) सुन्दर मध्यभाग (कटि) वाली (सखी) दूसरी सखी के कुचों पर पत्रवल्ली के मध्य मगरी को हाथ से चित्रित कर कह रही थी—सखी, इसे तेरी मोती की एकलड़ीमाला रूप देवनदी (मन्दाकिनी) का वाहन समझती हूँ।

टिप्पणी—शुभ्र पत्रावली की तुलना मोती की एकलड़ी तुल्य शुभ्र मन्दाकिनी से की गयी। माना जाता है कि मन्दाकिनी गंगा का वाहन मकरी है। पत्रावली पर देवनदी का आरोप किया गया है, अतः यह रूपक है और 'मन्ये' उत्प्रेक्षासूचक है। इस आधार पर यहाँ मल्लिनाथ ने रूपक-उत्प्रेक्षा के संकर का निर्देश किया है। विद्याधर के अनुसार यहाँ छेकानुप्रास-रूपक का संकर है ॥ ६९ ॥

तामेव सा यत्र जगाद भूयः पयोधियादः कुचकुम्भयोस्ते।
सेयं स्थिता तावकहृच्छयाङ्कप्रियास्तु विस्तारयशःप्रशस्तिः ॥ ७० ॥

जीवातु—तामिति। यत्र सा पूर्वोक्ता प्रसाधिका तामेव सखीं भूयो जगाद। किमिति। पयोधेर्यादो जलग्राहः समुद्रसम्भव इत्यर्थः। किञ्च, तावकस्य हृच्छयस्य मकरध्वजस्याङ्को मकरस्य प्रिया दयिता। ते तव, कुचकुम्भयोः स्थिता, सेयं मकरी विस्तारयशसस्तयोरेव परीणाहकीर्तेः प्रशस्तिः स्तुतिवर्णावलिरस्तु ॥ ७० ॥

अन्वयः—यत्र सा ताम् एव भूयः जगाद—तावकहृच्छयाङ्कप्रिया पयोधियादः सा ते कुचकुम्भयोः स्थिता खलु इयं विस्तारयशःप्रशस्तिः अस्तु।

हिन्दी—जहाँ (सभा में) वह (पूर्वोक्ता सखी) उसी (पूर्वोक्ता पत्रावली शोभिता सखी) से फिर बोली—तेरे हृदय में स्थित (काम) के चिह्न (मकर) की प्रिया समुद्र का जन्तु यह (मकरी) तेरे कुचरूप घड़ों पर बैठी निश्चयपूर्वक (कुचों की) विशालता की कीर्ति की प्रशंसा बने।

टिप्पणी—जहाँ प्रिय, वहीं उसकी प्रिया। सुन्दरी के मन में अपने वाहनसहित काम स्थित है, सो वहीं उसकी प्रिया मकरी भी होनी उचित है। कुचों की विशालता और गहनता मकरी के प्राकृतिक आवास समुद्र से भी उत्कृष्ट है, अतः वह जलजन्तु मकरी सागर का परित्याग कर सुन्दरी के कुंचकुम्भो पर आ बैठी। इस प्रकार उसने कुचों का यशोगान किया कि ये पीवरता-गहनता में समुद्र से भी उत्कृष्ट हैं। विद्याधर के अनुसार रूपक।७०।

शारीं चरन्तीं सखि मारयैनामित्यक्षदाये कथिते कयापि।
यत्र स्वघातभ्रमभीरुशारीकाकूत्थसाकूतहसः स जज्ञे॥ ७१॥

जीवातु—शारीमिति। यत्र स नलः, कयापि। कितवया इति शेषः। हे सखि, एनां चरन्तीं भ्रमन्तीं, शारीमक्षोपकरणं दारुविकारं, शारिकाख्यां शकुन्तिकामित्यर्थान्तरेण शकुन्तिकाया भयोत्पत्तिः। 'शारी त्वक्षोपकरणे तथा शकुनिकान्तर' इति विश्वः। मारय प्रहर। इति अक्षदाये अक्षाः पाशकाः। 'अक्षास्तु देवकाः पाशकाश्च ते' इत्यमरः। तेषां सम्बन्धी दायो दानम्। 'दायो दाये यौतकादिधने वित्ते च पैतृके' इति वैजयन्ती। तस्मिन् कथिते स्वघाते आत्ममारणे, भ्रमेण भ्रान्त्या, भीरोर्भीतायाः शार्याः शारिकायाः काक्वा विकृत-स्वरेण उत्थः उत्थितः, साकूतः भावगर्भो हसो हासो यस्य सः, 'स्वनहसोर्वा' इति विकल्पादप्प्रत्ययः। जज्ञे त्रातः॥ ७१॥

अन्वयः—यत्र-सखि, एनां चरन्तीं शारीं मारय—इति कया अपि अक्षदाये कथिते सः स्वघातभ्रमभीरुशारीकाकूत्थसाकूतहसः जज्ञे।

हिन्दी—जहाँ (सभा में)—हे सखि, इस (एक घर से दूसरे घर) विचरती (जाती) शारी (शतरंज की गोट) को मार—इस प्रकार किसी (सखी) द्वारा गोटियों के खेल (चौपड़ आदि) में कह जाने पर वह (नल) अपने मारे जाने के भ्रम से आतंकित शारी (मैना) के काकु (भय से विकृत स्वर) से उत्पन्न भावगर्भ हास से युक्त हो गया।

टिप्पणी—गोटियों के खेल में एक गोटी को दूसरी गोटी से पीटा जाता है, जिसे 'गोटी-मारना' कहा जाता है। अनेकार्थ 'शारी' (गोटी और मैना) के प्रयोग से यहाँ चमत्कार-चारुता लायी गयी है। एक सखी ने गोटी खेलती दूसरी से कहा कि अमुक गोटी को मारने से जीत हो सकती है, अतः उस 'शारी' को मार। शारी (मैना) समझी कि उसे मारने को कहा जा रहा है और वह डर कर भय सूचक बोली बोलने लगी। इस पर नल को हंसी आ गयी। विद्याधर के अनुसार भावोदय अलंकार ॥ ७१ ॥

भैमीसमीपे स निरीक्ष्य यत्र ताम्बूलजाम्बूनदहंसलक्ष्मीम्।
कृतप्रियादूत्यमहोपकारमरालमोहद्रढिमानमूहे ॥ ७२ ॥

जीवातु—भैमीति। यत्र सभायां, नलो भैमीसमीपे ताम्बूलस्य जाम्बूनदहंसो हिरण्मयहंसाकारः करकः तस्य लक्ष्मीं निरीक्ष्य, कृतः प्रियाया भैम्या दूत्यमेव महोपकारो येन तस्मिन् मराले हंसे, मोहस्य भ्रमस्य द्रढिमानं दार्ढ्यम् 'र ऋतो हलादेर्लघो' रित्यृकारस्य रभावः। ऊहे ऊढवान्। वहेः कर्तरि लिट्। 'वचिस्वपि' इत्यादिना सम्प्रसारणम् ॥ ७२ ॥

अन्वयः—यत्र सः भैमीसमीपे ताम्बूलजाम्बूनदहंसलक्ष्मीं निरीक्ष्य कृत-प्रियादूत्यमहोपकारमरालमोहद्रढिमानम् ऊहे।

हिन्दी—जिस (सभा) में उस (नल) को भीमपुत्री के निकट तांबूल (पान) रखने के लिए बने सोने के हंस (स्वर्ण हंस) की शोभा को देखकर प्रिया (दमयन्ती) के प्रति दूत बनकर जिसने महान् उपकार किया था, उस स्वर्ण हंस का दृढ भ्रम हो गया।

टिप्पणी—पान रखने के लिए ऐसा उत्कृष्ट स्वर्णहंस के आकार का बना पात्र दमयन्ती के पास रखा था कि उसे नल ने सचमुच का स्वर्णहंस समझ लिया; नल को भ्रम हो गया कि यह वही उपकारी स्वर्णहंस है, जिसने दमयन्ती को उसका प्रणय-संदेश दिया था। विद्याधर के अनुसार भ्रांतिमान् अलंकार ॥ ७२ ॥

तस्मिन्नियं सेति सखीसमाजे नलस्य सन्देहमथ व्युदस्यन्।
अपृष्ट एव स्फुटमाचचक्षे स कोऽपि रूपातिशयः स्वयं ताम् ॥ ७३ ॥

जीवातु--तस्मिन्निति । अथ सभालोकनान्तरं तस्मिन् सखीसमाजे नलस्य सन्देहं का वात्र भैमीति संशयं व्युदस्यन्, स प्रसिद्धः कोऽपि रूपातिशयः सौन्दर्यविशेषः । स्वयमपृष्ट इव तां भैमीं, सा भैमी इयमिति स्फुटमाचचक्षे । आचख्यौ । विश्वातिशायिसौन्दर्यसाक्षात्कारादियं दमयन्तीति निश्चिकायेत्यर्थः ।

अन्वयः--अथ तस्मिन् सखीसमाजे नलस्य सन्देहं व्युदस्यन् सः कः अपि रूपातिशयः स्वयम् अपृष्ट एव तां स्फुटम् आचचक्षे ।

हिन्दी—तत्पश्चात् (सभा का अवलोकन करने के अनन्तर) उन सखियों के समाज (समूह) में नल का संदेह मिटाते उस लोकोत्तर सौन्दर्य सागर ने स्वयं विना पूछे गये ही उस (दमयन्ती) को स्पष्ट बता दिया ।

टिप्पणी—अब तक नल दमयन्ती को पहिचानता नहीं था, किसी सुन्दरी को देखकर वह दमयन्ती के भ्रम में पड़ जाता था । अब सखियों के मध्य बैठी अनुपम सौन्दर्यशालिनी दमयन्ती अपने आप स्पष्ट हो गयी । उसके अद्वितीय सर्वजयी सौन्दर्य ने अब सखियों के मध्य दमयन्ती को स्पष्ट कर दिया और विना पूछे ही नल का दमयन्ती-विषयक भ्रम मिट गया । अथवा ताम्बूल पात्र रूप में बैठे अति सुन्दर हंस के निकट बैठे होने से नल समझ गया कि दमयन्ती वही है, जिसके निकट प्रणय दूत हंस बैठा है । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ७३ ॥

भैमीविनोदाय मुदा सखीभिस्तदाकृतीनां भुवि कल्पितानाम् ।
नातर्कि मध्ये स्फुटमप्युदीतं यस्यानुबिम्बं मणिवेदिकायाम् ॥ ७४ ॥

जीवातु— भैमीति । भैम्या विनोदायौत्सुक्यापनोदाय मुदा कौतुकेन, सखीभिर्भुवि भूतले, कल्पितानां तस्य नलस्याकृतीनां प्रतिकृतीनां मध्ये मणिवेदिकायां स्फुटमुदीतमपि तस्य नलस्य अनुबिम्बं नातर्कि न तर्कितम् । तत्रापि स्वकल्पितकृतिसाम्यादिति भावः । अतएव सामान्यालङ्कारः तेन च भ्रान्तिमान् व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ ७४ ॥

अन्वयः—भैमीविनोदाय मुदा सखीभिः भुवि कल्पितानां तदाकृतीनां मध्ये मणिवेदिकायां स्फुटम् उदीतम् अपि तस्य अनुबिम्बं न अतर्कि ।

हिन्दी—भीमसुता के मनोविनोद के निमित्त प्रसन्नता पूर्वक सखियों

द्वारा धरती (फर्श) पर बनी उस (नल) की आकृतियों के मध्य मणिवेदी पर स्पष्ट प्रकट होते भी उस (नल) के प्रतिबिम्ब को किसी को संभावना न हुई ।

टिप्पणी—अदृश्य नल का प्रतिबिम्ब यद्यपि मणिवेदी में स्पष्ट हो रहा था, फिर भी उससे नल के वहाँ उपस्थित होने की संभावना किसी ने नहीं की, क्योंकि वहाँ भैमी का मन बहलाने के लिए पहिले से ही फर्श पर अनेक नल की आकृतियाँ बनी हुई थीं : वे इतनी अनुरूप थीं कि साक्षात् नल की प्रतिच्छाया भी उनसे भिन्न प्रतीत न हुई । अनेक आकृतियों के बीच नल की विशिष्ट आकृति के सामान्य ही प्रतीत होने से 'सामान्य' अलंकार हुआ, उससे भ्रम उत्पन्न हुआ और इस प्रकार 'सामान्य' से भ्रांतिमान् की व्यंजना हुई; अतः मल्लिनाथ ने अलंकार ध्वनि का निर्देश किया है। विद्याधर के अनुसार मीलित अलंकार है ॥ ७४ ॥

हुताशकीनाशजलेशदूतीर्निराकरिष्णोः कृतकाकुयाच्ञाः ।
भैम्या वचोभिः स निजां तदाशां न्यवर्तयद्दूरमपि प्रयाताम् ॥ ७५ ॥

जीवातु - हुताशेति । कृताः काक्वा याच्ञाः प्रार्थना याभिस्ताः चित्तचालनचतुरोक्तेरित्यर्थः । हुताशकीनाशजलेशाः वह्नियमवरुणाः । 'प्रेतपतिः पितृपतिश्च कीनाश' इति हलायुधः । तेषां दूतीः निराकरिष्णोः परिहरन्त्याः । 'अलं कृञ्' इत्यादिना इष्णुच्प्रत्ययः । 'न लोक' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधाद् द्वितीया । भैम्याः वचोभिः स नलो दूरं प्रयाताम् इन्द्रादिकपटेन लुप्तप्रायामपि निजां स्वकीयां तदाशां भैमीतृष्णां न्यवर्तयत् निवर्तितवान् । पुनस्तत्प्रत्याशामकार्षीदित्यर्थः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—कृतकाकुयाच्ञाः हुताशकीनाशजलेशदूतीः निराकरिष्णोः भैम्याः वचोभिः सः दूरं प्रयाताम् अपि निजां तदाशां न्यवर्तयत् ।

हिन्दी—दीन स्वर में प्रार्थना करती अग्नि, यम और वरुण की दूतियों का निराकरण करनेवाले भैमी (दमयन्ती) के वचनों के कारण उस (नल) ने दूर चली गयी भी अपनी उस (दमयन्ती से संबद्ध) की आशा का अत्यावर्तन कर लिया (लौटा लिया) ।

टिप्पणी—नल के देखते-देखते सभा में त्रिदेवों की दूतियाँ आयीं, जिन्होंने बड़े विनम्रस्वर में देवों का संदेश दमयन्ती को दिया, जिससे नल की दमयन्ती को प्राप्त करने की आशा टूट गयी। किन्तु दमयन्ती ने स्पष्टतः देव-प्रस्तावों का अस्वीकार दिया। उससे नल की भग्न आशा पुनर्जीवित हो गयी। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार अनुप्रास ॥ ७५ ॥

विज्ञप्तिमन्तः सभयः स भैम्यां मध्येसभं वासवशम्भलीयाम्।
सम्भावयामास भृशं कृशाशस्तदालिवृन्दैरभिनन्द्यमानाम् ॥ ७६ ॥

जीवातु—विज्ञप्तिमिति। स नलो मध्येसभं सभायां मध्ये 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इत्यव्ययीभावे नपुंसकह्रस्वत्वम्। तदालिवृन्दैः भैमीसखीसङ्घैरभिनन्द्यमानां, वासवशम्भलीयाम्, इन्द्रदूतीसम्बन्धीं, कामिनोः सन्धात्री शम्भली। 'कुट्टनी शम्भली समे' इत्यमरः। भैम्यां विषये विज्ञप्तिं वक्ष्यमाणं विज्ञापनम्, अन्तः सभयः इन्द्रगौरवादङ्गीकरिष्यतीति बिभ्यदेवेत्यर्थः। अत एव कृशाशः शिथिलभैमीप्राप्त्याशश्च सन्। भृशं सम्भावयामास। अत्यवधानेन शुश्रावेत्यर्थः। विज्ञप्तिमिति क्तिन् प्रत्ययान्तश्चिन्त्यः। 'ण्यासश्रन्थो युच्' इति तदपवादेन युचो विधानात्। अत एव 'ज्ञप्तिविज्ञप्तिप्रभृतयोऽपशब्देषु परिगणिता भट्टपादः। तथाप्यभियुक्तप्रयोगो दुर्वारः ॥ ७६ ॥

अन्वयः—मध्येसभं तदालिवृन्दैः अभिनन्द्यमानां वासवशम्भलीयां भैम्यां विज्ञप्तिम् अन्तः सभयः कृशाशः सः भृशं संभावयामास।

हिन्दी—सभा के बीच उस (दमयन्ती) के सखीसमूह-द्वारा अभिनंदित होते इन्द्र की कुटनी के भैमी (दमयन्ती) के प्रति निवेदन को हृदय में डरते और क्षीणाश होते उस (नल) ने कष्ट से सुना।

टिप्पणी—इन्द्र की दूती ने इन्द्रवरण-संबन्धी निवेदन दमयन्ती से जब किया तो उसकी सखियों ने उस पर बड़ा हर्ष व्यक्त किया और उसका अनुमोदन किया कि इन्द्र से अच्छा और कौन पात्र होगा, उसका ही वरण उचित है। नल इस सबसे मन ही मन डरा और उसकी आशा क्षीण हो चली। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छेकानुप्रास ॥ ७६ ॥

लिपिर्न दैवी सुपठा भुवीति तुभ्यं मयि प्रेषितवाचिकस्य।
इन्द्रस्य दूत्यां रचय प्रसादं विज्ञापयन्त्यामवधानदानम् ॥ ७७ ॥

जीवातु—लिपिरिति । दैवी लिपिर्देवलिपिः । भुवि भूलोके, सुपठा पठितुं शक्या 'ईषद्दुः' इत्यादिना खलप्रत्ययः । नेति हेतोस्तुभ्यं, व्याहृतार्था वाग्वाचिकं, सन्देशवाक्यम् । 'सन्देशवाग्वाचिकं स्यात्' इत्यमरः । 'वाचो व्याहृतार्थायाम्' इति ठक् । तत्प्रेषितं येन तस्य इन्द्रस्य दूत्यां मयि विज्ञापयन्त्याम् । अवधानस्यैकाग्रचस्य दानमेव प्रसादं रचय अनुग्रहं कुरु ।। ७७ ।।

अन्वयः—भुवि दैवी लिपिः सुपठा न—इति तुभ्यं प्रेषितवाचिकस्य इन्द्रस्य विज्ञापयन्त्याम् मयि दूत्याम् अवधानदानं प्रसादं रचय ।

हिन्दी—धरती पर देवों की लिपि (लिखावट) सुपठ्य नहीं है (अथवा धरती पर दैव का लिखा पढ़ना कठिन है)—अतएव अपने (दमयन्ती के) प्रति संदेश-वचन भेजने वाले इन्द्र की संदेश-देती मुझ दूती को एकाग्रचित्त-दान रूप प्रसाद दो ।

टिप्पणी—देवताओं की लिपि अथवा विधाता का लेख पृथ्वी पर सुवाच्य नहीं होता, मनुष्य की क्षमता के बाहर है, अतः जानने वाले इन्द्र ने संदेश दूती के द्वारा भेजा । दमयन्ती से इसी कारण दूती का निवेदन है कि वह सावधान होकर उसकी बात सुने । संकेत यह है कि इन्द्र विधाता का लेख जानता है कि दमयन्ती देववधू बनेगी । विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार ।। ७७ ।।

सलीलमालिङ्गनयोपपीडमनामयं पृच्छति वासवस्त्वाम् ।
शेषस्त्वदाश्लेषकथाविनिद्रैस्तद्रोमभिः सन्दिदिशे भवत्यै ।। ७८ ।।

जीवातु—सलीलमिति । भैमि, वासवस्त्वां सलीलं सविलासम्, आलिङ्गनया आलिङ्गनेन । आङ्पूर्वाल्लिङ्गयतेश्चौरादिकाद्युच् । उपपीडमुपपीड्य गाढमालिङ्ग्य । 'सप्तम्यां चोपपीड' इत्यत्र चकरात्तृतीयोपपदो णमुल्प्रत्ययः । 'तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम्' इति विकल्पादसमासः । अनामयं पृच्छति । 'क्षत्रबन्धुमनामयम्' इति स्मरणादिति भावः । शेषः कार्यशेषस्तु त्वदाश्लेषकथया पूर्वोक्तत्वादालिङ्गनप्रसङ्गेन विनिद्रैर्हृषितैस्तस्येन्द्रस्य रोमभिर्भवत्यै संदिदिशे सन्दिशे सन्दिष्टः । कर्मणि लिट् । त्वदालिङ्गनप्रार्थनैवान्तरं वक्तव्यः कार्यशेषोऽपीति भावः ।। ७८ ।।

अन्वयः—वासवः त्वां सलीलम् आलिङ्गनया उपपीडम् अनामयं पृच्छति शेषः त्वदाश्लेषकथाविनिद्रैः तद्रोमभिः भवत्यै सन्दिदिशे ।

हिन्दी—इंद्र तुम्हारा सविलास गाढ़ आलिंगन कर स्वास्थ्य-समाचार पूछते हैं, तुम्हारे आलिंगन की कथा से विकसित उनके रोमों द्वारा आपको शेष संदेश भेजा गया है ।

टिप्पणी—शिष्टाचार-मर्यादा का पालन करते इन्द्र ने पहिले दमयंती का 'अनामय' (स्वास्थ्य समाचार) पूछा । मनुस्मृति के अनुसार ब्राह्मण का कुशल पूछा जाता है और क्षत्रिय का अनामय, वैश्य का क्षेम तथा शूद्र का आरोग्य—'ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत् क्षत्रं पृच्छेदनामयम् । वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ।' आलिङ्गन की कल्पना मात्र से रोमांचित हो संदेश भेजना इन्द्र के अनुराग की अभिव्यक्ति है । आलिङ्गन के शिष्टाचार के रूप में कथनमात्र से इन्द्र का रोम-रोम पुलकित हो गया ॥ ७८ ॥

यः प्रेर्यमाणोऽपि हृदा मघोनस्त्वदर्थनायां ह्रियमापदागः ।
स्वयंवरस्थानजुषस्तमस्य बधान कण्ठं वरणस्रजैव ॥ ७९ ॥

जीवातु—य इति । हे भैमि, मघोनः इन्द्रस्य यः कण्ठस्त्वदर्थनायां विषये हृदा प्रेर्यमाणोऽपि ह्रियमेवागोऽपराधमापत् । हीनस्याधिकं प्रति याच्ञासङ्कोचेऽप्यपराध एवेति भावः । स्वयंवरस्थानजुषः स्वयंवरमागतस्य अस्येन्द्रस्य तमपराधिनं कण्ठं वरणस्रजा भर्तृवरणमालिकया त्वं बधान । ईदृशापराधिनामीदृग्बन्ध एव दण्ड इति भावः । सर्वथा लज्जां प्रविहाय प्रार्थनां कुर्वतो महेन्द्रस्य मनोरथपूरणं कार्यमिति तात्पर्यार्थः ॥ ७९ ॥

अन्वयः—मघोनः यः त्वदर्थनायां हृदा प्रेर्यमाणः अपि ह्रियम् आगः आपत्, स्वयंवरस्थानजुषः अस्य तं कण्ठं वरणस्रजा एव बधान ।

हिन्दी—इन्द्र का जो (कंठ) तुम्हारी याचना में हृदय से प्रेरित होता हुआ लज्जा-रूपी अपराध को प्राप्त हो गया, स्वयंवर के स्थान में बैठे उस (इन्द्र) के उस कंठ को तो वरण-माला में ही बाँध लो ।

टिप्पणी—इन्द्र का प्रणय लज्जाके कारण गद्‌गद् कंठ से बाहर ही नहीं आया, यह लज्जाबोध अपराध उससे हुआ । इस अपराध का दण्ड यही है कि दमयंती उस अपराधी कंठ में बंधन डाल दे, किन्तु जंजीरों के बंधन

में नहीं, वरण-माल के बंधन में। जैसा अपराध, वैसा ही दंड। भाव यही है कि इन्द्र दमयंती के प्रति असीम अनुरागी है, दमयंती को उसे ही वरना उचित होगा। प्रणयापराधी को प्रणय-बंधन में बाँध कर दंड दो। विद्याधर के अनुसार रूपक अलंकार ॥ ७९ ॥

नैनं त्यज क्षीरधिमन्थनाद्यैरस्यानुजायोद्गमितामरैः श्रीः।
अस्मै विमथ्येक्षुरसोदमन्यां श्राम्यन्तु नोत्थापयितुं श्रियं ते ॥ ८० ॥

जीवातु—नेति। हे भैमि, एनमिन्द्रं, न त्यज। तथा हि, यैरमरैः अस्येन्द्रस्य अनुजाय उपेन्द्राय। तादर्थ्ये चतुर्थी। क्षीराणि धीयन्तेऽस्मिन्निति क्षीरधिः क्षीरोदधिः। 'कर्मण्यधिकणे च' इति किप्रत्ययः। तस्य मन्थनात् मथनादुपायात्; मन्थतेर्भौवादिकस्येदित्त्वान्नुमागमः। श्रीः रमा उद्गमिता उत्थापिता। ते अमराः अस्मै इन्द्राय। पूर्ववच्चतुर्थी। इक्षुरस एवोदकं यस्य तमिक्षुरसोदं नामाब्धिम् 'उदकस्योदः संज्ञायाम्' इत्युदादेशः विमथ्य मथित्वा अन्यां श्रियम् उत्थापयितुं न श्राम्यन्तु न प्रयस्यन्तु। द्वितीयया श्रिया त्वयैव उपेन्द्रवदिन्द्रस्यापि लक्ष्मीपतित्वे तयोरवैषम्याय देवतानां लक्ष्म्यन्तरसम्पादनप्रयासो न स्यादिति भावः। अत्रामराणां लक्ष्म्यन्तरोत्पादनप्रयत्नासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥ ८० ॥

अन्वयः—एनं न त्यज, यैः अमरैः अस्य अनुजाय क्षीरधिमन्थनात् श्रीः उद्गमिता, ते अस्मै इक्षुरसोदं विमथ्य अन्यां श्रियम् उत्थापयितुं न श्राम्यन्तु।

हिन्दी—इस इन्द्र को न छोड़ो, जिन देवों ने इसके अनुज (विष्णु-उपेंद्र) के लिए क्षीरसमुद्र के मंथन से श्री (लक्ष्मी) का निर्गमन किया, वे इस (दंड) के निमित्त ईख का रस-समुद्र मथकर एक और लक्ष्मी के निर्गमन के निमित श्रम न करें।

टिप्पणी—छोटे भाई उपेंद्र विष्णु को लक्ष्मी जैसी पत्नी देने के लिए देवों ने क्षीरसमुद्र-मंथन जैसा कठिन परिश्रम-साध्य कार्य किया, अब इंद्र को उस लक्ष्मी से अधिक मनोज्ञ पत्नी मिलना आवश्यक है, क्योंकि वह ज्येष्ठ है—अग्रज। अग्रज को अनुज की अपेक्षा श्रेष्ठ वस्तु मिलनी ही चाहिए। दमयंती लक्ष्मी से श्रेष्ठ है। यदि इन्द्र को वह वर ले, तो बेचारे

देवों को पुनः परिश्रम नहीं करना पड़ेगा, अन्यथा लक्ष्मी से अधिक मनोज्ञ पत्नी इन्द्र को उपलब्ध कराने के लिए देवों को फिर से इक्षु-रस-समुद्र के मंथन में खटना पड़ेगा। दमयन्ती को उचित है कि वह देवों से पुनः व्यर्थ परिश्रम न कराये। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ असंबंध में संबंध कथन रूपा अतिशयोक्ति है, क्योंकि देवों का अन्यलक्ष्मी-उत्पादन-प्रयत्न असंबध में संबंध का कथन है ॥ ८० ॥

लोकस्रजि द्यौर्दिवि चादितेया अप्यादितेयेषु महान्महेन्द्रः।
किंकर्तुमर्थी यदि सोऽपि रागाज्जागर्ति कक्ष्या किमतः परापि ॥ ८१ ॥

जीवातु—लोकेति। लोकस्रजि स्वर्गादिलोकपंक्तौ द्यौः स्वर्गो महती। दिवि च अदित्या अपत्यानि पुमांस आदितेयाः देवाः महान्तः। कृदिकाराङ्ङीषन्तात् स्त्रीभ्यो ढक्। आदितेयेष्वपि महेन्द्रो महान्। स महेन्द्रोऽपि रागात् किंकर्तुं सेवितुमर्थी इच्छुर्यदि। किंशब्दस्यास्य सर्वादिपठितस्य निपातितत्वाद्धातोः प्राक् प्रयोगः। अर्थयतेरिच्छार्थत्वात् समानकर्तृकेषु तुमुन्। अतोऽस्मादिन्द्रसेव्यत्वात् परा कक्ष्यापि उत्कृष्टावस्था च जागर्ति स्फुरति किम्? न जागर्तीत्यर्थः। अत्र लोकादिषु पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्तरस्योत्कर्षोक्तेः सारालङ्कारः। उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सार इति लक्षणात् ॥ ८१ ॥

अन्वयः—लोकस्रजि द्यौः, दिवि च आदितेयाः, आदितेयेषु अपि इन्द्रः महान्; सः अपि रागात् यदि किङ्कर्तुम् अर्थी, अतः परा अपि कक्ष्या जागर्ति किम्?

हिन्दी—लोक-मालामें (सब लोकों में) स्वर्ग बड़ा है, और स्वर्ग में अदिति की संतान देव बड़े हैं, देवों में भी इन्द्र बड़ा है। वह (इन्द्र) भी अनुराग से यदि तेरा किंकर बनना चाहता है तो इससे भी अधिक उत्कृष्ट अवस्था की कामना जाग रही है क्या?

टिप्पणी—आशय है कि लोकों में श्रेष्ठ स्वर्ग के श्रेष्ठ वासियों में श्रेष्ठ इन्द्र दमयन्ती का किंकर बनना चाहता है। यह तो सबसे बड़ा सौभाग्य है। दमयंती को इससे अधिक क्या मिलेगा? सो इन्द्र-वरण ही उचित है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्तरोत्तर उत्कर्ष-कथन रूप सार अलंकार है ॥ ८१ ॥

पदं शतेनाप मखैर्यदिन्द्रस्तस्मै स ते याचनचाटुकारः ।
कुरु प्रसादं तदलं कुरुष्व स्वीकारकृद्भ्रूनटनक्रमेण ॥ ८२ ॥

जीवातु--पदमिति । इन्द्रः शतेन मखैः मखशतेन यत्पदमिन्द्रत्वलक्षणं स्थानमाप प्राप स इन्द्रस्तस्मै पदाय तत्पदस्वीकारायेत्यर्थः । ते तव याचनेन प्रार्थनया चाटुकारः प्रियंवदः । जात इति शेषः । न शब्दश्लोके'त्यादिना टप्रत्ययनिषेधात् कर्मण्यण् । प्रसादमनुग्रहं कुरु । तदैन्द्रं पदं स्वीकारकृता अंगीकारव्यञ्जकेन भ्रूनटनक्रमेण भ्रूविक्षेपव्यापारेण, अलं कुरुष्व ॥ ८२ ॥

अन्वयः—इन्द्रः शतेन मखैः यत् पदम् आप, सः तस्मै ते याचनचाटुकारः, प्रसादं कुरु; तत् स्वीकारकृद्भ्रूनटनक्रमेण अलं कुरुष्व ।

हिन्दी—इन्द्र ने सौ यज्ञ करके जिस पद (इन्द्रपद) को प्राप्त किया था वह (इन्द्र) उस (इन्द्रपद) के निमित्त तुम्हारी याचना और चाटुकारी कर रहा है, तुम प्रसन्न हो जाओ और उस (इन्द्रपद) को स्वीकृति-सूचक भ्रूसंचाल मात्र करके सुशोभित करो ।

टिप्पणी—दूती का तर्क है कि इन्द्र ने दुष्प्राप्य इन्द्रपद की प्राप्ति के लिए सौ यज्ञ करने की दुष्कर साधना की थी, तब वह पद उसे मिल पाया। इस समय इन्द्र उसी पद पर दमयंती को आसीन कराने के लिए उसकी चाटुकारी कर रहा है । दमयन्ती को यही उचित है कि इन्द्र को स्वयंवर में अनुगृहीत करे और इस दुर्लभ पद को पाने का अवसर न छोड़े । इसके लिए उसे कुछ करना न पड़ेगा, केवल भ्रू-संचालनमात्र से, भौंह का संकेत भर करके स्वामिनी की भाँति चाटुकारी करते इन्द्र को वह अपनी स्वीकृति मात्र जता दे, मुख से बोलने का कष्ट करने की आवश्यकता नहीं । विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार ॥ ८२ ॥

मन्दाकिनीनन्दनयोर्विहारे देवे भवेद्देवरि माधवे च ।
श्रेयश्श्रियां यातरि यत्र सख्यां तच्चेतसा भाविनि भावय त्वम् ॥८३॥

जीवातु—मन्दाकिनीति । भावयतीति भाविनि विचारचतुरे भैमि ! मन्दाकिनीनन्दनयोर्विहारे क्रीडायां माधवे देवे उपेन्द्रे देवरि देवरे भर्तृभ्रातरि सति । 'स्यालाः स्युर्भ्रातरः पत्न्याः, स्वामिनो देवृदेवरौ' इत्यमरः । 'दिवेर्ऋः' इति ऋ प्रत्ययः । श्रियां श्रीदेव्याम् । यतत इति यातरि । देवृभार्यायाम् ।

'भार्यास्तु भ्रातृवर्गस्य यातारः स्युः परस्परम्' इत्यमरः। 'यतेर्वृद्धिश्च' इति तृन्-प्रत्ययः। सख्यां सत्याञ्च यच्छ्रेयो महोत्कर्षः भवेत्। तत्त्वं चेतसा विभावय विचारय। अयाचितोपनतं महच्छ्रेयो न परिहर्तव्यमित्यर्थः। अत्र नन्दनविहार-क्रियायाः माधवदेवृकत्वश्रीयातृकत्वगुणयोश्च सामस्त्येन यौगपद्यात् समुच्चया-लङ्कारभेदः। 'गुणक्रियायौगपद्ये समुच्चय उदाहृतः' इति लक्षणात्॥ ८३॥

अन्वयः—मन्दाकिनीनन्दनयोः विहारे देवे, माधवे च देवरि, श्रियां यातरि सख्यां च यत् श्रेयः भवेत्, भाविनि, तत् त्वं चेतसा भावय।

हिन्दी—स्वर्गङ्गा मंदाकिनी और स्वर्गोपवन नंदन में विहार करते समय, (पतिरूप में) देव (इन्द्र), माधव (उपेन्द्र विष्णु) देवर और लक्ष्मी देवरानी के सखी होने पर जो कल्याण—मंगल होगा, हे विचारशीले (दययंती), तुम उसको स्वचित्त में विचार लो।

टिप्पणी—आनंद-क्रीडा, जल-उपवन-विहार अदि में वास्तविक आनंद तभी आता है, जब स्थल उपयुक्त हो और साथी भी अच्छे हों। इन्द्र का वरण करने पर यह सब दमयंती को मिल सकेगा। पति देवराज इन्द्र और उपेंद्र विष्णु देवर और देवरानी-सखी लक्ष्मी के सान्निध्य में मंदाकिनी में जल-विहार और स्वर्गोपवन में क्रीडा में जो आनंद-मंगल होगा, वह विचार करने के योग्य है। दमयंती चतुर है, उसे यह विचार लेना उचित है। अग्नि, वरुण, यम के साथ विवाह करो पर यह सब न मिल सकेगा, और मनुष्य को करने का प्रश्न तो विचारणीय भी नहीं है। दमयंती को तो इन्द्र ही उपयुक्त रहेगा। यहाँ नंदनविहार-क्रिया, माधव देवर, लक्ष्मी देवरानी, गुणों का समस्तता के साथ योगपद्य है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार समुच्चय अलंकार है। विद्याधर ने छेकानुप्रास और रूपक अलंकार का निर्देश किया है॥ ८३॥

रज्यस्व राज्ये जगतामितीन्द्राद्याच्चाप्रतिष्ठां लभसे त्वमेव।
लघूकृतस्त्वं बलियाचनेन तत्प्राप्तये वामनमामनन्ति॥ ८४॥

जीवातु—रज्यस्वेति। हे भैमि, जगतां राज्ये, त्रैलोक्याधिपत्ये, रज्यस्व अनुरक्ता भव। प्रार्थनायां लोट्। रञ्जे स्वरितेत्त्वादात्मनेपदम्। इत्येवंरूपां

याच्ञां प्रार्थनामेव प्रतिष्ठां गौरवमिन्द्रात्वमेव लभसे। तथाहि तस्य त्रैलोक्य-राज्यस्य प्राप्तये लाभाय बलेर्वैरोचनस्य याचनेन लघूकृतमल्पीकृतं, स्वामात्मा येन तं विष्णुमपीति शेषः। तं वामनं ह्रस्वं लघुं चामनन्ति। यदर्थं विष्णोरपि याच्ञालाघवं प्राप्तम्। प्रार्थनां विना तदेव तुभ्यं दीयते देवेन्द्रेणेत्यहो ते भागधेयमित्यर्थः। व्यतिरेकेण दृष्टान्तालङ्कारः॥ ८४॥

अन्वयः--जगतां राज्ये राज्यस्व--इति इन्द्रात् याच्ञाप्रतिष्ठां त्वम् एव लभसे; तत्प्राप्तये बलियाचनेन वामनं लघूकृतस्त्वम् आमनन्ति।

हिन्दी--त्रिलोकी के राज्य पर राजो—इस प्रकार का इन्द्र से प्रार्थना का गौरव तुम्हें ही मिल रहा है, उस (त्रलोकी के राज्य) की प्राप्ति के निमित्त (दानवराज) बलि से याचना करने के कारण वामन को अपने को छोटा कर लिया गया माना जाता है।

टिप्पणी—दमयन्ती संमुख इन्द्र आज प्रार्थना कर रहा है कि वह त्रिलोकी की रानी बन जाय। ऐसी प्रतिष्ठा दमयंती के अतिरिक्त किसी को नहीं मिल सकती। विष्णु ने भी पातालराज बलि से ऐसी याचना की थी, उसके लिए उन्होंने अपने को वामन बनाया, उन्हें भी 'वामन' अर्थात् छोटा कहा जाने लगा। दमयंती से तो उसके विपरीत त्रिलोक-राज्य पर सुशोभित होने की प्रार्थना की जा रही है। मल्लिनाथ ने व्यतिरेक के द्वारा दृष्टांत अलंकार का यहाँ निर्देश किया है, विद्याधर ने काव्यलिंग-समासोक्ति का॥८४॥

यानेव देवान्नमसि त्रिकालं न तत्कृतघ्नीकृतिरौचिती ते।
प्रसीद तानप्यनृणान्विधातुं पतिष्यतस्त्वत्पदयोस्त्रिसन्ध्यम्॥ ८५॥

जीवातु--यानीति। हे भैमि, यानेव देवानिन्द्रादीन्। त्रयः काला यस्मिन् कर्मणि तत् त्रिकालं, यथा तथा। नमसि त्रिसन्ध्यं नमस्करोषीत्यर्थः। तेषां देवानां कृतघ्नीकृतिस्तदीयप्रत्युपकारपरिहारेण कृतघ्नकरणं, ते तव, औचिती, औचित्यं न। त्वया वा अकृतज्ञा न क्रियन्तामिति भावः। तिसृणां सन्ध्यानां समाहारस्त्रिसन्ध्यं, सन्ध्यात्रयेऽपीत्यर्थः। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। 'वा ढाबन्त' इति नपुंसकत्वम्। त्वत्पदयोः पतिष्यतः नमस्करिष्यतः तान् देवानप्यनृणान् विधातुं प्रतिप्रणामस्वीकारेण अनृणान् कर्तुं प्रसीद। तान् वृणीष्वेत्यर्थः॥ ८५॥

अन्वयः—यान् एव देवान् त्रिकालं नमसि तत्कृतघ्नीकृतिः ते औचिती न, त्रिसन्ध्यं त्वत्पदयोः पतिष्यतः तान् अपि अनृणान् विधातुं प्रसीद ।

हिन्दी—जिन देवों की तुम तीन काल उपासना करती हो, उन्हें कृतघ्न कर देना तुम्हारे लिए उचित नहीं है, तीनों काल तुम्हारे चरणों पर गिरते उनको भी ऋणमुक्त होने का प्रसाद (प्रसन्नता) दो ।

टिप्पणी—प्रातः, मध्याह्न और सन्ध्या को दमयन्ती पूजा करते समय देवों के चरणों में झुकती है, अतः वे उसके ऋणी बनते जा रहे हैं, दमयन्ती-विनमन का यह ऋण वे तभी चुका सकेंगे, जब वे देव भी दमयन्ती के चरणों में तीन समय प्रणीपात करें। दमयन्ती जिनकी उपासिका है, उन्हें ऋण चुकाने का अवसर न देना तो उसके लिए उचित नहीं है। दमयन्ती को इस दृष्टि से भी देवों को स्वीकारना चाहिए। इंद्र वरण करके दमयन्ती देवों को अपने चरणों में विनम्रता के साथ गिरता देखेगी। वह प्रणम्यों की भी प्रणम्या बन जायेगी, विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास ॥ ८५ ॥

इत्युक्तवत्या निहितादरेण भैम्या गृहीता मघवत्प्रसादः ।
स्रक्पारिजातस्य ऋते नलाशां वासैरशेषामपुपूरदाशाम् ॥ ८६ ॥

जीवातु—इतीति। इतीत्थमुक्तवत्या शक्रदूत्या। आदरेण निहिता समर्पिता। भैम्या गृहीता स्वीकृता मघवतः प्रसादोऽनुग्रहभूता। त्ववतसत्वेन अभिमतेति भावः। पारिजातस्य स्रङ्मालिका नलस्याशां तृष्णां दिशं च ऋते विना। तस्यान्तस्य (नलस्य) विपरीतशङ्काकरत्वादिति भावः। 'आशा तृष्णादिशोः' इति विश्वः। यद्यपि, 'अन्यारादितरर्ते' इति ऋतेशब्दयोगात् पञ्चम्येव विहिता, तथापि मतान्तरे द्वितीयाप्यस्तीत्याहुः। तथा, 'फलितपुरुषाराधनमृत' इति प्रयोगश्च। अशेषामाशां दिशम्। सर्वा अपीत्यर्थः जातावेकवचनम्। वासैर्निजवासनाभिरपुपूरत् पूरितवती 'पूरी पूरण' इति चौरादिकस्य धातोरल्लोपित्वात् 'नाग्लोपिशास्वृदिताम्' इत्युपधाह्रस्वनिषेधः। अभ्यासह्रस्वः। द्वयोरप्याशयोरभेदाध्यवसायाद्विनोक्तिनिर्वाहः ॥ ८६ ॥

अन्वयः—इति उक्तवत्या आदरेण निहिता भैमीगृहीता मघवत्प्रसादः पारिजातस्य स्रक् नलाशाम् ऋते अशेषाम् आशां वासैः अपुपूरत् ।

हिन्दी—ऐसा कहती (इन्द्रदूती) द्वारा आदरपूर्वक दी गयी, भीमपुत्री

द्वारा स्वीकृत, इन्द्र के प्रसाद पारिजात की माला ने नल की आशा को छोड़कर समस्त दिशाओं को सुगन्ध से पूर्ण कर दिया।

टिप्पणी—अपना निवेदन समाप्त करके इन्द्र की दूती ने इंद्र द्वारा भेजी गयी सुगन्धित पारिजात की माला दमयन्ती को दी, शालीनतावश दमयन्ती ने माला ग्रहण की। इससे दूती और अन्य सखियों को यह प्रतीति हुई कि इंद्र का प्रस्ताव दमयन्ती को स्वीकार है। नल को इससे निराश हुई। इस प्रकार उस पारिजात-माला ने सर्वत्र अपनी सुगन्ध का प्रसार किया पर नल को वह रुचिकर नहीं लगी। दोनों आशाओं के अपेक्षाध्यवसाय से यहाँ विनोक्ति का निर्वाह है, यह मल्लिनाथ की मान्यता है, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षारूपक अलंकार है ॥८६॥

आर्ये ! विचार्यलमिहेति कापि योग्यं सखि स्यादिति काचनापि।
ओंकार एवोत्तरमस्तु वस्तु मङ्गल्यमत्रेति च काप्यवोचत् ॥८७॥

जीवातु—आर्ये इति। आर्ये भैमि, इहेन्द्रवरणे विचार्यं अलम्। विचारो न कर्तव्य इति कापि सखी अवोचत्। सखि भैमि, योग्यमिदं युक्तं स्यादिति काचनाप्यवोचत् अत्र ओंकारोऽङ्गीकार एव मङ्गल्यमुत्तरमुत्तररूपं वस्त्वस्त्विति काप्यवोचत् ॥ ८७ ॥

अन्वयः—आर्ये, इह विचार्यं अलम्—इति का अपि अवोचत् सखि, योग्यं स्यात्—इति काचन अपि, अत्र ओङ्कार एव मङ्गल्यम् उत्तरं वस्तु अस्तु —इति का अपि (अवोचत्)।

हिन्दी—एक सखी ने (दमयन्ती से) कहा आर्ये, इस विषय में और विचारना व्यर्थ है, किसी और ने कहा—हे सखी, यही उचित होगा, एक और (सखी) बोली—इस विषय में 'ओङ्कार' (स्वीकृति) ही मंगलप्रद उत्तर रूप वस्तु होगा।

टिप्पणी—इन्द्र की दूती के प्रस्ताव को दमयन्ती की सब सखियों ने अत्यन्त उचित और कल्याणकर माना। तीन सखियों द्वारा प्रस्तुत अनुमोदन सर्वसंमतता सूचित करता है। विद्याधर के अनुसार यहाँ दीपक अलंकार है।

अनाश्रवा वः किमहं कदापि वक्तुं विशेषः परमस्ति शेषः।
इतीरिते भीमजया न दूतीमालिङ्गदालीश्च मुदामियत्ता ॥ ८८ ॥

जीवातु–अनाश्रवेति। हे सख्यः, अहं कदापि वो युष्माकं, अनाश्रवा अवचनकारिणी किं, परं किन्तु वक्तुं विशेषः शेषोऽस्ति। किंतु, वक्तव्यशेषः कश्चिदस्तीत्यर्थः। इति भीमजया भैम्या, ईरिते उक्ते सति दूतीमिन्द्रशम्भलीमालीर्भैमीसखीश्च मुदामियत्ता मितिर्नालिङ्गन्न प्रापत्। स्वोक्तमङ्गीकृत्य तत्र किञ्चिद्वरदानमपेक्षत इति भ्रान्त्या महान्तमानन्दमविन्दन्तेत्यर्थः॥ ८८॥

अन्वयः—अहं कदापि वः अनाश्रवा किम् परं वक्तुं विशेषः अस्ति—इति भीमजया ईरिते दूतीम् आलीः च मुदाम् इयत्ता न आलिङ्गत्।

हिन्दी—(दमयन्ती बोली) मैंने कभी तुम्हारे वचनों का पालन नहीं किया क्या, परन्तु कुछ विशेष कहना है (अथवा मैंने कभी··· क्या, इसमें विशेष कहना ही क्या है?)—ऐसा भीमसुता के कहने पर दूती और सखियों का प्रसन्नता की परिमितता ने आलिगन नहीं किया—अर्थात् अपरिमित प्रसन्नता ने आलिगन किया।

टिप्पणी—दमयन्ती ने सखियों का साधारण शिष्टाचारपूर्ण उत्तर दिया था, किंतु उसके कथन का अनुमोदन समझ कर इन्द्र की दूती और दमयन्ती की सखियों को अपार प्रसन्नता हुई॥ ८८॥

भैमी च दूत्यं च न किञ्चिदापमिति स्वयं भावयतो नलस्य।
आलोकमात्राद्यदि तन्मुखेन्दोरभून्न भिन्नं हृदयारविन्दम्॥ ८९॥

जीवातु–भैमीमिति। भैमीञ्च दूत्यञ्च किञ्चित्किञ्चन तयोरेकञ्च। नापं न प्रापम्। आप्नोतेरङि मिप्। स्त्रीरत्नलाभो मा भूत्, परोपकारोऽपि न सिद्ध इत्यर्थः। इति स्वयमात्मनि भावयतो भैमीचित्तचलनभ्रान्त्या चिन्तयतो नलस्य हृदयमेवारविन्दं, तन्मुखेन्दोः भैमीमुखचन्द्रस्यालोकमात्रात् दर्शनमात्रात् प्रकाशमात्राच्च। 'आलोको दर्शनोद्योतौ' इत्यमरः। भिन्नं विदीर्णं विकसितञ्च नाभूद्यदि नाभूत् किम्। तन्मुखदर्शनादनया विश्वास्य हतोऽस्मीति विदीर्णहृदयोऽभूदेवेत्यर्थः। इन्दुप्रकाशात् कथमरविन्दविकास इति विरोधश्च ध्वन्यते॥८९॥

अन्वयः—भैमीं दूत्यं च किञ्चित् न आपम्—इति स्वयं भावयतो नलस्य हृदयारविन्दं यदि भिन्नं न अभूत्, तन्मुखेन्दोः आलोकमात्रात्।

हिन्दी—भीमपुत्री और दूतकर्म–कुछ भी नहीं प्राप्त हुआ—इस प्रकार स्वयं विचारते नल का हृदय-कमल यदि विदीर्ण न हुआ, तो वह उस (दमयन्ती) के मुख-चन्द्र के दर्शन होते रहने के कारण ही।

टिप्पणी—उपर्युक्त वृत्तांत को देखते-सुनते-समझते नल को इतना दुःख हुआ कि उसका हृदय कमल के समान विदीर्ण हो जाना उचित था, क्योंकि उसे लगा कि न तो दमयन्ती ही उसे मिली और न देवदूत-कार्य का ही सफल सम्पादन हो सका, परन्तु ऐसा इसलिए न हुआ, क्योंकि उसके संमुख दमयन्ती का मुख-चन्द्र था। चन्द्र के संमुख रहने से कमल भिन्न अर्थात् विकसित नहीं होता। यों सामान्यतः दमयन्ती का मुख देखने से नल का हृदय हर्ष से खिल जाना चाहिए था, परन्तु उपर्युक्त निराशा जनक स्थिति से वैसा भी नहीं हुआ। भाव यह है कि नल को उक्त प्रसंग के कारण दुःख तो बहुत हुआ, पर हृदय फट ही नहीं गया। यह कदाचित् इसलिए नहीं हुआ कि प्रिया-मुख संमुख था। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ विरोध ध्वनित होता है कि इन्दु-प्रकाश से कहाँ अरविंद-विकास होता है? विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा-रूपक अलंकार॥ ८९॥

ईषत्स्मितक्षालितसृक्किभागा दृक्संज्ञया वारिततत्तदालिः।
स्रजा नमस्कृत्य तथैव शक्रं तां भीमभूरुत्तरयांचकार॥ ९०॥

जीवातु—ईषदिति। भीमभूः भैमी, ईषत्स्मितेन मन्दहासेन क्षालितौ धौतौ सृक्किणी ओष्ठप्रान्तादेव भागौ यया सा सती। 'प्रान्तावोष्ठस्य सृक्किणी' इत्यमरः। दृक्-संज्ञयेव वारिता निषिद्धास्तास्ताः पूर्वोक्तविरुद्धप्रलापिन्यः आलयः सख्यः, यया सा च सती। तयेन्द्रदूतीदत्तया स्रजा सहैव। 'वृद्धो यूना' इति सूत्रकारप्रयोगादेव ज्ञापकात् सहशब्दाप्रयोगेऽपि सहार्थे तृतीया। शक्रं नमस्कृत्य, स्रजं शक्रञ्च नमस्कृत्येत्यर्थः। न तु तामवतंसीकृत्य। तस्य नलस्य जीवनार्थमिति भावः। तामिन्द्रदूतीमुत्तरयाञ्चकार उत्तरमाचष्ट। 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच्॥ ९०॥

अन्वयः—ईषत्स्मितक्षालितसृक्किभागा दृक्संज्ञया वारिततत्तदालिः भीमभूः तथा स्रजा एव शक्रं नमस्कृत्य ताम् उत्तरयांचकार।

हिन्दी—मन्द मुसकान से सृक्किणी (ओष्ठप्रदेश) को प्रक्षालित करती और दृष्टि के संकेत से उन-उन अपनी (इंद्र-वरुण का अनुमोदन करने वाली) सखियों का निवारण करती भीमसुता (दमयन्ती) ने उसी माला से इन्द्र को नमस्कार करके उसे (इन्द्रदूती को) उत्तर दिया।

टिप्पणी—प्रसन्नता से उछलती सखियों को दमयन्ती ने नेत्र-संकेत से रोका और मंद-मंद मुसकाते हुए शक्र द्वारा उपहार में भेजी माला को भक्ति-भाव से इंद्र प्रणाम का साधन बना इंद्रदूती को उत्तर दिया। भक्तिभाव प्रदर्शित करके एक प्रकार से दमयंती ने दूती को निषेधात्मक संकेत कर दिया। यदि इन्द्र का वरण उसे स्वीकार होता तो माला के प्रति प्रणय-व्यवहार दिखा उसे हृदय से लगाती, पर उसने ऐसा नहीं किया। प्रणाम करके इन्द्र के प्रति भक्ति प्रकट की ॥ ९० ॥

स्तुतौ मघोनस्त्यज साहसिक्यं वक्तुं कियत्तं यदि वेद वेदः।
वृथोत्तरं साक्षिणि हृत्सु नृणामज्ञातृविज्ञापि ममापि तस्मिन् ॥ ९१ ॥

जीवातु—स्तुताविति। हे दूति, मघोन इन्द्रस्य स्तुतौ विषये साहसिक्यं साहसमविमृश्यकारित्वं त्यज, न स्तुहीत्यर्थः। कुतः अशक्यत्वादित्याह—तं शक्रं कियदल्पं वक्तुं वेदयतीति वेदः, श्रुतिरेव वेद वेत्ति, नान्यः। अतः स्तुतेर्विरमेति भावः। तर्हि किमस्योत्तरं तत्राह—नृणां हृत्सु विषये साक्षिणि साक्षिभूते 'साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्' इति इनिप्रत्ययः। तस्मिन्मघोनि अज्ञातॄनज्ञान् विज्ञापयति विबोधयतीति तथोक्तम्। मम सम्बन्ध्युत्तरमपि वृथा। अज्ञस्योत्तरा-कांक्षा न सर्वज्ञस्येति भावः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—मघोनः स्तुतो साहसिक्यं त्यज, तं कियत् वक्तुं वेदः वेद, नृणां हृत्सु साक्षिणि तस्मिन् अज्ञातृविज्ञापि मम उत्तरं वृथा।

हिन्दी—(दमयन्ती ने दूती से कहा)—इन्द्र की स्तुति करने का साहस न करो, उसके विषय में कुछ कहना वेद ही जानता है (अन्य कोई नहीं)। मनुष्यों के हृदय में साक्षीभूत उस (इन्द्र) के प्रति न जाननेवालों को सूचित करने वाला मेरा उत्तर व्यर्थ है।

टिप्पणी—अत्यन्त चतुरता के साथ दमयन्ती ने इन्द्र की दूती को उत्तर दिया। उसने प्रकट कर दिया कि इन्द्र का महिमान-गान दूती व्यर्थ ही कर रही है, क्योंकि वह तो अवर्णनीय है अपरिमित। सर्व-वर्णन-क्षम वेद ही यदि कर सके तो कर सकता है। इसके अतिरिक्त दमयंती इंद्र-सामर्थ्य से पूर्णतया परिचित है। दमयन्ती ने कहा कि इंद्र तो सब के हृदय का भाव

जानते हैं। बताया तो उसे जाता है, जो हृद्गत् न समझता हो। इंद्र तो सब के हृदय में विराजमान हैं, उनसे कुछ छिपा नहीं है, उन्हें क्या बताना ? भाव यह है कि दमयंती का अनुराग किस पर है, यह इन्द्र को विदित है। उन्हें कुछ बताना व्यर्थ है। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ॥९१॥

आज्ञां तदीयामनु कस्य नाम नकारपारुष्यमुपैतु जिह्वा।
प्रह्वा तु तां मूर्ध्नि निधाय मालां बालापराध्यामि विशेषवाग्भिः ॥९२॥

जीवातु—तथाप्यविनयपरिहाराय किञ्चिद्विज्ञापयामीत्याह—आज्ञामिति। तदीयामैन्द्रीमाज्ञामनु तामुद्दिश्य कस्य नाम जिह्वा नकारो नञुच्चारणमेव पारुष्यमुपैतु प्रतिषेधरौक्ष्यं भजेत्। न कोऽपि तदाज्ञोल्लङ्घनसाहसिनोऽस्तीत्यर्थः। किन्तु बाला शिशुरहं प्रह्वा नम्रा सती तामाज्ञामेव मालां मूर्ध्नि निधाय, विशेषवाग्भिरतिवाग्भिरपराध्यामि अपराधं करोमि। स च बालचापलाद् सोढव्य इत्यर्थः ॥ ९२ ॥

अन्वयः—तदीयाम् आज्ञाम् अनु कस्य नाम जिह्वा नकारपारुष्यम् उपैतु, बाला प्रह्वा तां मालां मूर्ध्नि निधाय विशेषवाग्भिः अपराध्यामि।

हिन्दी—उस (इंद्र) के आदेश के प्रति किसकी जिह्वा अस्वीकृति की कठोरता प्राप्त कर सकती है ? (किसी की नहीं)। मैं (अज्ञान) बाला विनम्रतापूर्वक उस (आज्ञा-रूपिणी) माला को शिरोधार्य कर अधिक वचन कह कर अपराध कर रही हूँ।

टिप्पणी—महामहिमशाली इन्द्र का आदेश अनुल्लंघनीय है। दमयन्ती जो कुछ विनम्रतापूर्वक उनकी आज्ञा के विषय में कहने की धृष्टता कर रही है, अबोध बालिका समझ कर वह क्षम्य माना जाना चाहिए। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग ॥ ९२ ॥

तपःफलत्वेन हरेः कृपेयमिमं तपस्येव जनं नियुङ्क्ते।
भवत्युपायं प्रति हि प्रवृत्तावुपेयमाधुर्यमधैर्यसज्जि ॥ ९३ ॥

जीवातु—तप इति। तपःफलत्वेन इन्द्रोपासनरूपस्य तपसः फलत्वेनोपलक्षिता फलभूतेत्यर्थः। इयं मत्परिजिघृक्षारूपा कृपा हरेरिन्द्रस्य। इमं जनं मां तपस्येव पुनरपीन्द्रोपासनायामेव नियुङ्क्ते प्रेरयति। 'स्वराद्यन्तोपसृष्टादिति वक्तव्यम' इत्यात्मनेपदम्। ननु महदेतत्फलं प्राप्तं किं तपसेत्याशंक्य, सत्यम्,

तदेव स्वादु कर्तुमित्याह–भवतीति । हि यस्मादुपायं प्रति प्रवृत्तौ साधनगोचरप्रवृत्तौ विषये उपेयस्य साध्यस्य माधुर्यं स्वादुत्वमेव, अधैर्यमस्थैर्यं सज्जयति कारयतीत्यधैर्यसज्जि भवति । पुनः साधनप्रवृत्तिचापलं कारयतीत्यर्थः । सिद्धान्नस्योपस्कार=(उपदेश) प्रवृत्तिकल्पेयं प्रवृत्तिरिति भावः ॥ ९३ ॥

अन्वयः—हरेः इयं कृपा तपःफलत्वेन इमं जनं तपसि एव नियुङ्क्ते, हि उपायं प्रति प्रवृत्तौ उपेयमाधुर्यम् अधैर्यसज्जि भवति ।

हिंदी—इन्द्र की यह कृपा तप का फल होने के कारण इस जन (दमयन्ती) को तप में ही नियुक्त कर रही है, कारण कि उपाय के प्रति प्रवृत्ति होने में उपेय (फल) का माधुर्य (स्वाद) अधैर्य-कारिणी होती है ।

टिप्पणी—दमयन्ती के कथन का भाव है कि इन्द्र जो कृपापूर्वक उससे विवाह करना चाहते हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि वह उसके अब तक किये तप का फल है । अब वह तुरन्त पुनः तपस्यारत होना चाहती है, क्योंकि उससे उसे और भी बड़ा फल प्राप्त हो सकेगा अर्थात् नल की उपलब्धि हो सकेगी । नल की प्राप्ति रूप फल इतना मधुर है कि उसके लिए साधनारत होने में दमयन्ती को अब विलम्ब असह्य है ॥ ९३ ॥

शुश्रूषिताहे तदहं तमेव पतिं मुदेऽपि व्रतसम्पदेऽपि ।
विशेषलेशोऽयमदेवदेहमंशागतं तु क्षितिभृत्तयेह ॥ ९४ ॥

जीवातु–फलितमाह–शुश्रूषिताह इति । तत्तस्मादर्थित्वादहं तमिन्द्रमेव पतिं शुश्रूषिताहे सेविष्ये । 'शुश्रूषा श्रोतुमिच्छायां परिचर्याविधानयोः' इति विश्वः । 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' इति श्रृणोतेः सन्नन्तात्तङि लुट् । तासः सकारस्य हकारः । किंतु मुदेऽपि सन्तोषाय च व्रतसम्पदेऽपि पातिव्रत्यसम्पत्त्यर्थञ्च क्षितिभृत्तया राजत्वेन इह कस्मिंश्चिन्नरे अंशेन मात्रया आगतमवतीर्णम् । 'अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृपः' इति स्मरणात् । अत एव, अदेवदेहं देवदेहरहितं मानुषविग्रहं सन्तम् । न तु साक्षादिति शेषः (तं शुश्रूषिताह इति पूर्वेणान्वयः) । अयं विशेषलेशोऽल्पीयान् भेदः । स च सोढव्यः अन्यथा मे व्रतलोपः स्यादिति भावः ॥ ९४ ॥

अन्वयः—तत् अहं मुदे अपि व्रतसम्पदे अपि क्षितिभृत्तया इह अंशागतम् अदेवदेहं तम् एव पतिं शुश्रूषिताहे—अयं विशेषलेशः ।

हिन्दी--(दमयन्ती ने आगे कहा) सो मैं प्रसन्नता और पातिव्रत-संपदा दोनों ही के निमित्त राजा के रूप में यहाँ (पृथ्वी पर) अंश रूप में आये मनुष्य देहधारी उस (इन्द्र) की ही पति रूप में सेवा करना चाहती हूँ— यही थोड़ी-सी विशिष्टता है।

टिप्पणी--दमयन्ती ने कहा कि वह इन्द्र को ही वरना चाहती है, इसमें ही उसे हर्ष होगा और एकपति की ही सेवा करने का व्रत-परिपालन भी सिद्ध होगा, किंतु थोड़ी-सी विशेषता यह होगी कि वह देव इंद्र को नहीं, नर रूप में इस धरती पर आये इन्द्रांश राजा नल को वरेगी। राजा लोक-पालों का अंश होता है, अतः राजा नल भी इन्द्र रूप ही है। मानुषी दमयन्ती मानुष इन्द्र को वरेगी—यही उचित होगा। इन्द्र की आज्ञा का पालन तो होगा, पर थोड़े-से, अतएव क्षम्य, परिवर्तन के साथ। विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार॥ ९४ ॥

अश्रौषमिन्द्रादरिणी गिरस्ते सतीव्रताति-प्रतिलोमतीव्राः।
स्व प्रागहं प्रादिषि नामराय किं नाम तस्मै मनसा नराय ॥ ९५ ॥

जीवातु—कथं व्रतलोपस्तदाह—अश्रौषमिति। हे इन्द्रदूति! सतीव्रतस्य पतिव्रताधर्मस्य अतिप्रतिलोमाः अत्यन्तप्रतिकूलाः। अत एव तीव्रा दुःश्रवाश्च। ते गिरः इन्द्रे आदरिणी आदरवती अश्रौषम्, इन्द्रो महती देवतेति भयभक्तिभ्यामश्रौषम् न तु, रागादिति भावः। कथं तर्हि तमेव पतिं भजिष्यामीत्युक्तं तत्राह—प्राक् पूर्वमहं स्वमात्मानं, अमराय देवात्मने तस्मै इन्द्राय न प्रादिषि न प्रादां नाम। किंतु नराय नररूपिणे रलयोरभेदान्नलरूपाय च तस्मै मनसा प्रादिषि। ददातेर्लुङि। 'स्थाघ्वोरिच्च' इतीकारः। अतः साक्षादिन्द्रभजने मम व्रतलोपः स्यादेवेत्यर्थः॥ ९५ ॥

अन्वयः—इन्द्रादरिणी सतीव्रतातिप्रतिलोमतीव्राः ते गिरः अश्रौषम्, प्राक् अहं अमराय तस्मै न प्रादिषि, किं नाम मनसा नराय।

हिन्दी---इन्द्र के प्रति आदर रखने वाली मैं सतीव्रत के अत्यन्त विरुद्ध (अतएव) दुःसह तेरी वाणी सुनती रही। पहिले मैंने उस देव (इंद्र) को (स्वयम्) को नहीं दिया था, किंतु मन से नर को दिया।

टिप्पणी—कोई प्रतिव्रता ऐसे वचन नहीं सुन सकती, जो उसके प्रतिकूल

हो। दमयन्ती ने कहा कि इन्द्रदूती के वचन जो वह सुनती रही, वह केवल इन्द्र के प्रति सम्मान रखने के कारण। वास्तविकता यह है कि दमयन्ती पहिले ही इन्द्रांश नर (र—ल में अभेद से नल) को मन में वर चुकी है। अब वह अन्य को प्रतिरूप में वरने की बात सुन भी नहीं सकती। उसका पति मानवरूप में उपस्थित इंद्र नल है, अमर देवेन्द्र नहीं ॥ ९५ ॥

तस्मिन्विमृश्यैव वृते हृदैषा नैन्द्री दया मामनुतापिकाभूत्।
निर्वातुकामं भवसम्भवानां धीरं सुखानामवधीरणेव ॥ ९६ ॥

जीवातु—तस्मिन्निति। तस्मिन् नरे हृदा हृदयेन, विमृश्यैव वृते सति इदमेव साध्विति सम्यङ्निश्चित्यैव प्रवृत्तेरित्यर्थः। एषा ऐन्द्री, दया परिजिघृक्षालक्षणा कृपा। निर्वातुकामं मोक्तुकामम्, इदमेव साध्विति निश्चित्य मोक्षे प्रवृत्तमित्यर्थः। 'मुक्तिः कैवल्यनिर्वाण' इत्यमरः। धीरं निर्विकारचित्तं विद्वांसम्। भवसम्भवानां सुखानाम्, अवधीरणा सांसारिकसुखसंन्यास एव ममानुतापिका हा कष्टमसाधकृतामति मम पश्चात्तापकारिणी माभूत्। 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययो' इति षष्ठीप्रतिषेधात् कर्मणि द्वितीया ॥ ९६ ॥

अन्वयः—तस्मिन् हृदा विमृश्य एव वृते एषा ऐन्द्री दया निर्यातुकामं धीरं भवसम्भवानां सुखानाम् अवधीरणा इव माम् अनुतापिका न अभूत्।

हिन्दी—उस (नल) को मन से ठीक से विचार कर वर लेने पर यह इन्द्र की दया निर्वाण (मोक्ष) की कामना करते निर्विकारचित्त (विद्वान्) को संसार में उत्पन्न सुखों की अवज्ञा सदृश मुझ (दमयंती) को सन्ताप कारिणी न हुई।

टिप्पणी—दमयंती ने कहा कि अब जो इन्द्र महाराज का विवाह-प्रस्ताव आया है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और स्वीकार्य है और किसी विवाहार्थिनी तरुणी को इस पर मोह हो सकता है, किंतु मैंने तो विचार-पूर्वक नल को हृदय से वर लिया है। मुझे अपने इस कृत्य पर कोई पश्चात्ताप नहीं है। मेरी स्थिति तो वैसी ही है, जैसी मोक्ष-कामना करने वाले व्यक्ति की सांसारिक मोहक पदार्थों के प्रति होती है। जैसे मोक्षार्थी को संसार के सुखों का त्याग करने में कोई अनुताप नहीं होता, वैसे ही मुझ दमयंती को भी नल के संमुख किसी का मोह नहीं है—न इन्द्र-राज्य का, न नन्दन-कानन का, न लक्ष्मी के

साहचर्य है। मैंने विवेकी व्यक्ति के समान बहुत सोच-विचार कर नल का वरण स्वीकारा है ॥ ९६ ॥

वर्षेषु यद्भारतमार्यधुर्याः स्तुवन्ति गार्हस्थ्यमिवाश्रमेषु ।
तत्रास्मि पत्युर्वरिवस्ययाहं शर्मोर्मिकिर्मीरितधर्मलिप्सुः ॥ ९७ ॥

जीवातु—विमृश्य कृतमित्युक्तमर्थेनं विमर्शप्रकारमेव श्लोकचतुष्टयेनाह—वर्षेष्वित्यादि । आर्यधुर्याः श्रेष्ठाः आश्रमेषु ब्रह्मचर्यादिषु चतुर्षु गार्हस्थ्यं गृहस्थाश्रममिव । वर्षेष्विलावृतादिषु नवसु यद्भारतंवर्षं स्तुवन्ति प्रशंसन्ति । तत्र भारतवर्षे अहं पत्युर्वरिवस्यया शुश्रूषया । 'वरिवस्या तु शुश्रूषा' इत्यमरः । वरिवस्यतेः क्यजन्तात् 'अ प्रत्ययात्' इति आकारप्रत्यये टाप् । शर्मोर्मिभिः सुखपरम्पराभिः, किर्मीरितं चित्रितं तत्सहचरधर्मं लिप्सुर्लब्धुमिच्छुरस्मि । 'शर्म शांत सुखानि च' । 'चित्रं किर्मीरकल्माषशबलैताश्च कर्बुरं' इति चामरः ॥९७॥

अन्वयः—आर्यधुर्याः आश्रमेषु गार्हस्थ्यम् इव वर्षेषु यत् भारतं स्तुवन्ति, तत्र अहं पत्युः वरिवस्यया शर्मोर्मिकिर्मीरितधर्मलिप्सुः अस्मि ।

हिन्दी—आर्यों में श्रेष्ठ (विचारक) आश्रमों में गृहस्थाश्रम के समान वर्षों के मध्य जिस भारत की स्तुति करते हैं, उस (भारतवर्ष) में मैं पति (नल) की शुश्रूषा द्वारा सुख की तरंगों (परम्पराओं) से मिश्रित धर्म का अभिलाष करती हूँ ।

टिप्पणी—दमयंती ने स्पष्ट कर दिया कि वह इलावृतादि खंडों के मध्य श्रेष्ठ जम्बूदीप के नवमांश भारत खंड में ही रहना चाहती है, जिसे मनु आदि विचारकों ने सब वर्षों के मध्य उसी प्रकार उत्तम बनाया है, जिस प्रकार कि चारों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास) आश्रमों के मध्य गृहस्थाश्रम को। दमयंती की कामना है कि वह सब देशों में श्रेष्ठ भारत में ही रहकर श्रेष्ठ गृहस्थाश्रम का परिपालन करती हुई सुख और धर्म का भोग करे। विद्याधर के अनुसार उपमा अलंकार ।

गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता के विषय में मनु का कथन है—'यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः । तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् । गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माच्छ्रेष्ठतमो गृही ॥'

—मनुस्मृति (३।७७–७८)

हेमचन्द्राचार्य ने भारत को प्रथम वर्ष बताया है—

'भारतं प्रथमं वर्षं ततः किम्पुरुषं स्मृतम् । हरिवर्षं तथैवान्यन्मेरोर्दक्षिणतो द्विजाः ।। रम्यकं चोत्तरं वर्षं तस्यैवानु हिरण्मयम् । उत्तराः कुरवश्चैव यथा वै भारतं तथा ।। भद्राश्वं पूर्वतो मेरोः केतुमालं तु पश्चिमे । नवसाहस्र-मेकैकमेतेषां द्विजसत्तम' ।। (अभि० चिन्ता० ४।१३) ।। ९७ ।।

स्वर्गे सतां शर्म परं न धर्मा भवन्ति भूमाविह तच्च ते च ।
इष्ट्यापि तुष्टिः सुकरा सुराणां कथं विहाय त्रयमेकमीहे ।। ९८ ।।

जीवातु—ननु स्वर्गेऽपि सुधर्मौ स्त इत्यहम् आह—स्वर्ग इति । स्वर्गे सतां स्वर्गवासिनामित्यर्थः । शर्म परं सुखमेव (अस्ति) । धर्माः सुकृतानि न भवन्ति। इहास्यां भूमौ तच्छर्म च ते धर्माश्च भवन्ति सम्भवन्ति । किञ्चेह इष्टया यागेन सुराणां तुष्टिरपि सुकरा सुसम्पाद्या । एवं सति कथं त्रयं शर्मधर्मतुष्टिरूपं विहायैकं सुखमीहे । न चैतत् प्रेक्षावत्कृत्यमिति भावः । तस्मात् स्वर्गादपि भूलोक एव श्लाघ्य इत्यर्थः ।। ९८ ।।

अन्वयः—स्वर्गे सतां परं शर्म धर्माः न, इह भूमौ तत् च ते च भवन्ति, इष्टया सुराणां तुष्टिः अपि सुकरा; कथम् त्रयं विहाय एकम् ईहे ?

हिन्दी—स्वर्ग-वासियों को केवल सुख मिलता है, धर्म नहीं। इस धरती (मृत्युलोक-भारतवर्ष) में वह (सुख) और वे (धर्म) भी होते हैं। यज्ञ-द्वारा देवों को संतुष्ट करना भी सरल है। (ऐसी स्थिति में) क्यों मैं तीन (सुख, धर्म, यज्ञ द्वारा देव-तुष्टि) को छोड़ एक (सुख) की कामना करूँ ?

टिप्पणी—श्रीमद् भागवत में इसी कारण भारत की श्रेष्ठता का गान किया गया है कि यह सुख-भूमि होने के साथ-साथ कर्मभूमि भी है, जो स्वर्ग नहीं है। स्वर्ग तो केवल पुण्य-सुख भोगने का स्थान है, धर्माचरण करके पुण्यार्जन का स्थान तो यह भारत भूमि ही है। यज्ञ करके यहाँ देवों को प्रसन्न भी किया जाता है। दमयंती इसी तर्क का आश्रय लेकर इन्द्र की अपेक्षा नल को वरने का औचित्य स्थापित करती है। इन्द्र को वरने से केवल सुख मिल सकेगा, नल को वरने से तीनों—सुख, धर्म, देवतुष्टि। विद्याधर के अनुसार समुच्चय अलंकार ।। ९८ ।।

साधोरपि स्वः खलु गामिताधोगामी स तु स्वर्गमितः प्रयाणे ।
इत्यायतिं चिन्तयतो हृदि द्वे द्वयोरुदर्कः किमु शर्करे न ॥ ९९ ॥

जीवातु—इतोऽपि कारणात् भूलोक एव श्रेयानित्याह—साधोरिति । किंच, साधोः सुकृतिनोऽपि स्वः स्वर्गादधोगामिता गमिष्यता खलु। (साधुरपि कदाचिदधःपतत्येवेत्यर्थः ।) स साधुरितोस्मात् भूलोकात्, प्रयाणे तु स्वर्गगामी गमिष्यति । 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' इति गीतावाक्यात् । 'भविष्यति गम्यादयः' इति गमिन्शब्दस्य भविष्यदर्थता । 'अकेनो' इति षष्ठीप्रतिषेधात् कर्मणि द्वितीया । इतीत्थमायतिमुत्तरकालम् । 'उत्तरः काल आयतिः' इत्यमरः । हृदि चिन्तयतो विवेकिनो द्वयोः स्वर्भूलोकयोः । उदर्कमुत्तरफलम् । 'उदर्कः फलमुत्तरम्' इत्यमरः । द्वे शर्करे न किमु, शर्करे एवेत्यर्थः । एका शर्करा (इक्षुसम्भवा) शिलाशकलप्राया, मृत्प्राया अपरापीक्षुविकारा । तत्र क्रमाद्द्वावप्युदर्कौ द्वे शर्करे, तत्कल्पावित्यर्थः । अत एव निदर्शनालङ्कारभेदः । 'शर्करा खण्डविकृतावुपलो शर्करांशयोः' इति विश्वः ॥ ९९ ॥

अन्वयः—साधोः अपि स्वः अधोगामिता खलु सः इतः प्रयाणे तु स्वर्गं गामी-इति आयतिं चिन्तयतः हृदि द्वयोः उदर्कः द्वे शर्करे न किमु ?

हिन्दी—साधु—धार्मिक का भी स्वर्ग से नीचे आना निश्चित है और वह (पुण्यात्मा) यहाँ (धरती) जाने पर स्वर्ग जाता है । इस प्रकार अंतिम परिणाम विचारनेवाले के हृदय में दोनों (स्वर्ग और मृत्युलोक) के उत्तरवर्ती परिणाम क्या दो शर्कराएँ (कंकड़ और शक्कर) नहीं हैं ?

टिप्पणी—स्वर्ग में निवास की अपेक्षा पृथ्वी पर रहना अच्छा और उपयुक्त है—इस तथ्य की अन्य तर्क से पुष्टि की गयी । पुण्यात्मा सज्जन स्वर्ग में रहकर पुण्य क्षीण होने पर पुनः निम्न लोक में निश्चयतः आता है । श्रीमद् भगवद् गीता (९।२१) में बताया गया है कि पुण्यात्मा जन विशाल स्वर्गलोक भोग कर पुण्य क्षीण होने पर मर्त्यलोक में आते हैं । इसके विपरीत मृत्युलोक से जाने पर पुण्यशाली स्वर्ग जाता है । स्वर्ग-वास का उत्तरफल है अधःपात—कंकड़ के समान कठोर और कष्टदायी; और पृथ्वी-वास का फल है, स्वर्ग-प्राप्ति, ऊपर उठना । शक्कर के समान कोमल और मीठा । इस प्रकार

सिद्ध हुआ कि पृथ्वी-वास का परिणाम अच्छा होता है। सो पृथ्वी-वास ही उचित है। इस श्लोक में क्रम से दो उदर्कों (उत्तरफलों) को दो शर्करा—द्विशर्कराकल्प कहा गया है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार निदर्शना अलंकार है, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षालंकार का संकर है ॥ ९९ ॥

प्रक्षीण एवायुषि कर्मकृष्टे नरान्न तिष्ठत्युपतिष्ठते यः।
बुभुक्षते नाकमपथ्यकल्पं धीरस्तमापातसुखोन्मुखं कः ॥ १०० ॥

जीवातु—प्रक्षीण इति। किंच यो नाकः कर्मकृष्टे कर्मार्जिते आयुषि प्रक्षीणे सत्येव नरान् मनुष्यानुपतिष्ठते सङ्गच्छते। तिष्ठति सति नोपतिष्ठते 'उपाद्देवपूजा' इत्यादिना सङ्गतिकरणे तङ्। आपाते प्रारम्भे, सुखोन्मुखं सुखप्रवणं, न तु परिणाम इत्यर्थः। अत एव अपथ्यकल्पं अपथ्यान्नसदृशं, तं नाकं, स्वर्गं धीरो धीमान्, कः बुभुक्षते भोक्तुमिच्छति। अपथ्यान्नभोजनवदासन्नमरणाधिकारः नाकभोगः कस्मै नाम रोचत इत्यर्थः ॥ १०० ॥

अन्वयः—यः कर्मकृष्टे आयुषि प्रक्षीणे एव नरान् उपतिष्ठते तिष्ठति न, कः धीरः आपातसुखोन्मुखम् अपथ्यकल्पं तं नाकं बुभुक्षते ?

हिन्दी—जो (स्वर्ग) कर्मों से प्राप्त आयु के क्षीण होने पर ही मनुष्यों को मिलता है, (आयु) वर्तमान होने पर नहीं, (अथवा 'यः कर्मकृष्टे आयुषि तिष्ठति एव नरान् उपतिष्ठते, प्रक्षीणेन' अन्वय करने पर—जो पुण्य-कर्मार्जित आयु के विद्यमान रहने पर ही प्राप्त रहता है, पुण्य-क्षीण होने पर नहीं), कौन विवेकी (व्यक्ति) अविचारित सुखकारी, अपथ्य भोज्य के समान उस स्वर्ग को भोगना चाहेगा ? (कोई नहीं)।

टिप्पणी—स्वर्ग-वास, आयु के क्षीण होने पर—मरने पर ही मिलता है, जीते जी नहीं, अत एव वह अविचारित सुख है—कल्पनामात्र का, जब कि धरती पर रहने का सुख समझा-बूझा अर्थात् वास्तविक है। इसके अतिरिक्त स्वर्ग-वास स्थिर भी नहीं है, पुण्य समाप्त हुए कि वहाँ से हटना ही होगा। दोनों दृष्टियों से पृथ्वी वास ही उपयुक्त है। यहाँ का सुख भी वास्तविक है और पुण्यक्षीणता का भी भय नहीं। अतः देवेन्द्र के वरण की अपेक्षा पृथ्वींद्र नल का वरण ही अच्छा है। स्वर्गवास तो अपथ्य-भोजन के तुल्य है, जिसकी परिणति कष्टप्रद होती है। विद्याधर के अनुसार उपमा ॥ १०० ॥

इतीन्द्रदूत्यां प्रतिवाचमर्धे प्रत्युह्य सैषाभिदधे वयस्याः ।
किञ्चिद्विवक्षोल्लसदोष्ठलक्ष्मीजितापनिद्रद्दलपङ्कजास्याः ॥ १०१ ॥

जीवातु—इतीति । सैषा भैमी, इतीत्थमिन्द्रदूत्यां विषये, प्रतिवाचं प्रत्युत्तरम् । अर्धे प्रत्युह्य मध्ये मध्ये निरुध्य, असमाप्यैवेत्यर्थः । 'उपसर्गाद्ध्रस्व ऊहतेः' इति ह्रस्वः । किञ्चिद्विवक्षया यत्किञ्चिद्वक्तुमिच्छया, उल्लसतः स्फुरतः, ओष्ठस्य लक्ष्म्या शोभया जितमनिद्रद्दलं विकसत्पत्रं यस्य तत् । अपनिपूर्वाद् द्रातेः शतृप्रत्ययः । तच्च तत्पङ्कजञ्च तदिव आस्यं यासां ता वयस्याः सखीः अभिदधे उवाच । दधातेः कर्तरि लिटि तङ् ॥ १०१ ॥

अन्वयः—इति इन्द्रदूत्यां प्रतिवाचम् अर्धे प्रत्युह्य सा एषा किञ्चिद्विवक्षोल्लसदोष्ठलक्ष्मीजितापनिद्रद्दलपङ्कजास्याः वयस्याः अभिदधे ।

हिन्दी—इन्द्र की दूती को दिये जाते प्रत्युत्तर को आधे में रोककर वह यह (दमयंती) कुछ कहने की इच्छा से स्फुरित होते ओष्ठों की शोभा से विकसित पत्रों वाले कमलों के जयी मुखों वाली सखियों से बोली ।

टिप्पणी—दमयंती इंद्रदूती के प्रस्ताव को अमान्य करने के कारण बता रही थी कि उसकी कमलमुखी सखियों ने इन्द्र के पक्ष में कुछ कहने की इच्छा की । दमयंती ने यह समझा और सखियाँ कुछ कहने को ओठ हिलायें कि वह उनसे उनका मनोभाव समझ कर कहने लगी । विद्याधर के अनुसार उपमा ॥

अनादिधाविस्वपरम्पराया हेतुस्रजस्त्रोतसि वेश्वरे वा ।
आयत्तधीरेष जनस्तदार्याः ! किमीदृशः पर्यनुयुज्य कार्यः ॥ १०२ ॥

जीवातु—अनादीति । हे आर्याः, एष जनः अनादि यथा तथा, धाविन्याः प्रवहन्त्याः स्वपरम्परायाः स्वदेहपरम्परायाः इत्यर्थः । तत्सम्बन्धिन्याः हेतुस्रजः हेतुभूतकर्मपरम्परायाः स्रोतसि प्रवाहे वा । 'बुद्धिः कर्मानुसारिणी'ति वचनात्, ईश्वरे वा । 'एष एव कारयिते'ति श्रुतेः । आयत्तधीः । न तु स्वाधीनबुद्धिरित्यर्थः । निरीश्वरसेश्वरमतभेदात् पक्षद्वयोक्तिः, तत्तस्मात्, ईदृशः परतन्त्रः एष जनः, पर्यनुयुज्योपालभ्य । किं कार्यः कारयितुं शक्यः । कारयतेरचो यत् । अतः स्वयमपि दैवपरतन्त्रा न पर्यनुयोज्येति भावः ॥ १०२ ॥

अन्वयः—आर्याः, एषः जनः अनादिधाविस्वपरम्परायाः हेतुस्रजस्रोतसि ईश्वरे वा आयत्तधीः तत् ईदृशः पर्यनुयुज्य किं कार्यः ?

हिन्दी—हे श्रेष्ठ सखियो, यह व्यक्ति (दमयन्ती) अनादि रूप से पुनः पुनः आवर्तमान जीव-परम्परा के कारणों की माला के प्रवाह के अथवा ईश्वर के प्रति अधीनबुद्धि है, सो ऐसी (मुझ) को उपालंभ दे कर क्या कार्य होगा ?

टिप्पणी—दमयन्ती ने अपनी सखियों को बताया कि वह तो कर्माधीन अथवा ईश्वराधीन हो सब कुछ कर रही है। देवों को छोड़ जो नर को वरण करने की उसकी इच्छा है, वह भी कर्माधीन या ईश्वराधीन है, दमयन्ती की स्वतंत्र इच्छा नहीं है। ऐसी स्थिति में समझदार 'आर्या' सखी निरर्थक उसे कुछ समझाने का प्रयत्न करना चाहती हैं। इसका कुछ फल न होगा। निरीश्वरवादी के अनुसार जीव कर्म-परम्पराधीन है, ईश्वरवादियों के अनुसार ईश्वराधीन। जो होता है, वह स्वेच्छा से नहीं, कर्मफल अथवा ईश्वरेच्छा के अनुसार। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ॥ १०२ ॥

नित्यं नियत्या परवत्यशेषे कः संविदानोऽप्यनुयोगयोग्यः।
अचेतना सा च न वाचमर्हेद्वक्ता तु वक्त्रश्रमकर्म भुङ्क्ते ॥ १०३ ॥

जीवातु—ननु दैवपारतन्त्र्येऽपि मा मूढः पर्यनुयोज्यः। विद्वांस्तु पर्यनुयोज्य एवेत्याशङ्क्य आह—नित्यमिति। अशेषे जने नित्यं सर्वदा नियत्या दैवेन परवति परतन्त्रे सति संविदानो विद्वानपि। 'समो गम्यृच्छि' इत्यादिना विदेरात्मनेपदम्। कः अनुयोगयोग्य. उपालम्भार्हः। विदुषापि नियतेरलङ्घ्यत्वादिति भावः। तर्हि नियतिरेव पर्यनुयुज्यताम्, तत्राह—अचेतना सा नियतिश्च वाचं पर्यनुयोगन्नार्हेत्। अचेतनोपालम्भस्यारण्यरुदितकल्पत्वादिति भावः। तथाप्युपालम्भे दोषमाह—वक्ता अचेतनोपालब्धा तु वक्त्रस्य श्रमः श्रान्तिरेव क्रियत इति कर्म वाग्व्यापारफलं तद् भुङ्क्ते। वाग्विलापनादन्यत्फलं न किञ्चिदस्तीत्यर्थः ॥ १०३ ॥

अन्वयः—अशेषे नित्यं नियत्या परवति संविदानः अपि कः अनुयोगयोग्यः, अचेतना सा च वाचम् न अर्हेत्, वक्ता तु वक्त्रश्रमकर्म भुङ्क्ते।

हिन्दी—समस्तजनों के नित्य रूप से (सदा) नियति (भाग्य) के अधीन होने पर विद्वान् भी किस उपालम्भ के योग्य है ? (नहीं है)। और अचेतन (जड़) वह (नियति) भी वागनुयोग (उपालम्भ-कहने-सुनने) के

योग्य नहीं है, कहनेवाला (उपालम्भकर्त्ता व्यक्ति) ही मुख को श्रम देने का कर्म भोगता है।

टिप्पणी--दमयन्ती ने सखियों को कुछ न कहने, उपालम्भ देने, समझाने-बुझाने का श्रम करने की निरर्थकता पूर्व श्लोक में सतर्क बतायी। इस श्लोक में उसी क्रम में यह बताया कि सब कुछ भाग्याधीन ही है, अतः इस विषय में किसी समझदार को भी समझाना-बुझाना व्यर्थ है। और यदि यह कहा जाय कि तब सब कुछ करनेवाली नियति को ही समझाना-बुझाना उचित होगा तो यह भी ठीक न होगा, क्योंकि नियति तो कुछ बोलती-कहती नहीं, जड़ है। नियति को उपालम्भ देने वाले व्यक्ति का कथन केवल उसका मुख दुखायेगा, और कुछ नहीं। भाव यह कि वरण के विषय में सखियों द्वारा दमयन्ती को समझाना निष्फल प्रयत्न है, अतः ऐसा परिश्रम करना उचित नहीं। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ॥ १०३ ॥

क्रमेलकं निन्दति कोमलेच्छुः क्रमेलकः कण्टकलम्पटस्तम् ।
प्रीतौ तयोरिष्टभुजोः समायां मध्यस्थता नैकतरोपहासः ॥ १०४ ॥

जीवातु—ननु सुरेन्द्रं विहाय नलस्वीकारे जगत्युपहास्यता स्यात्तत्राह—क्रमेलकमिति। कोमलमिच्छुः कोमलेच्छुः मृद्वाहारी गजाश्वादिः। 'न लोक' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधान्मधुपिपासुवद् द्वितीयासमासः। क्रमेलकमुष्ट्रन्निन्दति। 'उष्ट्रे क्रमेलकमयमहाङ्गाः' इत्यमरः। कण्टकेषु लम्पटो लोलुपः क्रमेलकः। 'लोलुपं लोलुभं लोलं लम्पटं लालसं विदुः' इति हलायुधः। तं कोमलेच्छुं निन्दति। इष्टभुजोस्तयोर्द्वयोः प्रीतौ तुष्टौ समायां तत्र एकतरस्योपहासो मध्यस्थता। माध्यस्थ्यं न। यस्य यदिष्टं तुष्टिकरं च तस्य तत्र प्रवृत्तौ सर्वस्याप्यात्मदृष्टान्तेन सन्तोष्टव्येऽप्युपहसन्तः स्वयमेवोपहास्या भवन्तीति भावः॥

अन्वयः—कोमलेच्छुः क्रमेलकं निन्दति, कण्टकलम्पटः क्रमेलकः तम्; इष्टभुजोः तयोः प्रीतौ समायाम् एकतरोपहासः मध्यस्थता न।

हिन्दी—कोमल (मुलायम) खाद्य का अभिलाषी (जन्तु) ऊँट की निन्दा करता है और काँटे (खाने) का लोलुप ऊँट उस (कोमलार्थी) की। इच्छानुसार खानेवाले उन दोनों (कोमलपदार्थभक्षी और कांटे खानेवाला

ऊँट) की संतुष्टि एक समान होने पर किसी एक का उपहास मध्यस्थता नहीं है।

टिप्पणी—'भिन्नरुचिर्हि लोकः' के अनुसार प्राणियों की विभिन्न रुचियाँ होती हैं, और वे परस्पर-विरुद्ध भी हो सकती हैं। उदाहरणार्थ मनुष्य और अनेक पशु भी मुलायम, कोमल वस्तुएँ खाते हैं और ऊँट कठोर काँटों का प्रेमी है। दोनों एक-दूसरे का उपहास करते हैं। मध्यस्थ समझदार व्यक्ति दोनों पक्षों को अपनी रुचि के अनुसार भोजन कर समान रूप से संतुष्ट पाने के कारण किसी की हँसी नहीं उड़ाता। यदि वह किसी एक का उपहास करे और एक की प्रशंसा, तो यह उचित न होगा। वह मध्यस्थ नहीं, पक्षपाती समझा जायेगा। ऐसी स्थिति में देव-वरण की अपेक्षा नर-वरण के कारण दमयन्ती का उपहास करनेवाला संसार मध्यस्थ नहीं, पक्षपाती समझा जायेगा। और पक्षपाती स्वयम् उपहास का पात्र होता है। यह समझ कर दमयन्ती की सखियों द्वारा दमयन्ती की इच्छा का उपहास अथवा उपालम्भ उचित न होगा। विद्याधर के अनुसार हतु अलंकार॥ १०४॥

गुणा हरन्तोऽपि हरेर्नरं मे न रोचमानं परिहारयन्ति।
न लोकमालोकयथापवर्गात्त्रिवर्गमर्वाञ्चममुञ्चमानम्॥ १०५॥

जीवातु—ननु नलादपि गुणाधिके हरौ कथमरुचिरत आह—गुणा इति। सत्यं हरन्तोऽपि मनोहरन्तोऽपि हरेरिन्द्रस्य गुणाः मे मह्यं, 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' इति चतुर्थी। रोचमानं मनोहरं तं नरं न परिहारयन्ति न त्याजयन्ति। कुतः, अपवर्गान्मोक्षादवाञ्चमपकृष्टं, त्रिवर्गं धर्मार्थकामानमुञ्चमानमत्यजन्तं, लोकं नालोकयथ? न पश्यथेति काकुः। न गुणमपेक्षते रागवृत्तिरिति भावः। दृष्टान्तालंकारः॥ १०५॥

अन्वयः—हरन्तः अपि हरेः गुणाः मे रोचमानं नरं न परिहारयन्ति; अपवर्गात् अर्वाञ्चं त्रिवर्गम् अमुञ्चमानं लोकं न आलोकयथ?

हिन्दी—मन-हरनेवाले भी इन्द्र के गुण मुझे रुचते नर का त्याग (मुझसे) नहीं करवापाते। मोक्ष से अपकृष्ट त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) को न छोड़ते संसार को नहीं देखतीं?

टिप्पणी—'तुष्यद्दुर्जनन्याय' से दमयन्ती एक बार यह मानकर भी कि इन्द्र में अनेक आकर्षक गुण हैं और वह नर की अपेक्षा वरण-योग्य है, अपने द्वारा मनुष्य-वरण के विषय में तर्क देती है कि जिस पर रुचि होती है, उसी को ऊँचे-नीचे का विचार छोड़ अपनाया जाता है। संसार में सभी ऐसा करते हैं। यह स्पष्ट है कि पुरुषार्थ-चतुष्टय में मोक्ष शेष तीन धर्मार्थकाम की अपेक्षा उच्च और वरेण्य है, फिर भी लोग मोक्ष को छोड़ त्रिवर्ग-साधना में ही लगे रहते हैं। इस दृष्टि से दमयन्ती का चुनाव भी लोक-परम्परा के अनुसार ही है। वह भी देवों को छोड़ नल को वर कुछ विचित्र नहीं कर रही है। अनुराग गुणावगुण का विवेचन नहीं करता। मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टांत अलंकार, विद्याधर के अनुसार विभावना और उभयन्यास ॥ १०५ ॥

आकीटमाकैटभवैरि तुल्यः स्वाभीष्टलाभात् कृतकृत्यभावः।
भिन्नस्पृहाणां प्रति चार्थमर्थं द्विष्टत्वमिष्टत्वमपव्यवस्थम् ॥ १०६ ॥

जीवातु—ननु महेन्द्रं प्राप्य कृतकृत्या भव, किं नलप्रार्थनया, दुःखायसेऽत आह—आकीटमिति। आकीटं कीटादारभ्य, आकैटभवैरि तत्पर्यन्तम्। उभयत्राप्यभिविधावव्ययीभावः। स्वाभीष्टलाभात् कृतकृत्यभावः, कृतार्थत्वाभिमानस्तुल्यः साधारणः ममाप्यभीष्टलाभात् कृतकृत्यता नेन्द्रलाभादित्यर्थः। तर्हीन्द्र एवेष्यतामित्यत आह—भिन्नस्पृहाणां भिन्नरुचीनां जनानामर्थमर्थं प्रत्यर्थम्। द्विष्टत्वमिष्टत्वञ्च द्वयमपगता व्यवस्था घटत्वपटत्वादिवत् प्रतिनियमो यस्य तदपव्यवस्थमव्यवस्थमव्यवस्थितम्। अपि त्वापेक्षिकम्। तस्मादिन्द्रोऽपि मया नेष्यते को दोष इत्यर्थः ॥ १०६ ॥

अन्वयः—आकीटम् आकैटभवैरि स्वाभीष्टलाभात् कृतकृत्यभावः तुल्यः; भिन्नस्पृहाणाम् अर्थम् अर्थं प्रति द्विष्टत्वम् इष्टत्वं च अपव्यवस्थम्।

हिन्दी—कीड़े से लेकर कैटभ के शत्रु (विष्णु) तक अपना अभीष्ट प्राप्त करके कृतार्थता समान होती है। भिन्न-भिन्न वस्तुओं की इच्छा करने वालों के विषय-विषय के प्रति द्वेष और इच्छा के विषय में कोई निश्चित व्यवस्था नहीं है।

टिप्पणी—दमयन्ती ने अपनी रुचि के अनुकूल आचरण के विषय में तर्क दिया कि क्या अच्छा है और क्या बुरा—यह निश्चित नियम से निर्णीत नहीं

होता। सब स्वरुचि के अनुकूल, अभीष्ट पाकर स्वयम् को कृतार्थ मानते हैं, चाहे छोटा हो, चाहे बड़ा। क्षुद्र कीट से लेकर जगत् के परिपालक विष्णु तक सभी स्वेच्छया किसी पदार्थ को अच्छा-बुरा मानते हैं। तुष्ट और कृतकाम अभीष्ट से ही होते हैं। अतः दमयन्ती को देव नहीं, नर नल अभीष्ट है तो इसमें भूल क्या है? विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ॥ १०६ ॥

अग्राध्वजाग्रन्निभृतापदन्धुं बन्धुर्यदि स्यात् प्रतिबन्धुमर्हः।
जोषं जनः कार्यविदस्तु वस्तु प्रच्छ्या निजेच्छा पदवीं मुदस्तु ॥१०७॥

जीवातु—अग्राध्वेति। अग्रश्चासावध्वा चेति समानाधिकरणसमासः। अत एव 'अग्रहस्ताग्रग्रहादयो गुणगुणिनोर्भेदाभावादि'ति वामनः। तस्मिन्नग्राध्वनि पुरोमार्गे, जाग्रत् स्फुरत् आसन्न इति यावत्। स चासौ निभृता नियता आपदेवान्धु कूपः। 'पुंस्येवान्धुः प्रहिः कूप' इत्यमरः। तं प्रतिबन्धुमर्हो निवारितुं शक्तो बन्धुः स्याद्यदि, स जनो बन्धुजनः कार्यवित् कार्यज्ञोऽपि। प्रश्नपर्यन्तं जोषमस्तु तूष्णीमास्ताम्। न तु मां निवारयेदित्यर्थः। कुतस्तर्हि ते कार्यविज्ञानं तदाह—मुदः श्रेयसः। पदवीं तु, निजेच्छैव प्रच्छया प्रष्टव्या। सैव मे प्रवर्तिका नान्यः कथञ्चिदस्तीत्यर्थः। वस्तु सत्यमयमेव परमार्थ इत्यर्थः। प्रच्छेर्द्विकर्मकत्वादप्रधाने कर्मणि 'ऋहलोर्ण्यत्' ॥ १०७ ॥

अन्वयः—अग्राध्वजाग्रन्निभृतापदन्धुं प्रतिबन्धुम् अर्हः बन्धुः यदि स्यात्, जनः कार्यवित् जोषम् अस्तु; मुदः पदवीं तु निजेच्छा एव प्रच्छ्या वस्तु।

हिन्दी—संमुखमार्ग में वर्तमान, ढके आपत्तिरूप कूप में गिरजाने से रोक सकने की क्षमतावाला यदि बंधु (मित्र) हो तो भी जन (बन्धु) को कार्य का ज्ञाता होने पर भी चुप रहना उचित है (अथवा—बन्धुः अग्राध्वजाग्रन्निभृतापदन्धुः यदि स्यात् प्रतिबन्धुम् अर्हः, कार्यवित् जनः जोषम् अस्तु। यदि मित्र संमुख मार्ग में विद्यमान आपत्तिरूप कूप में गिरता हो तो उसे रोकना उचित है, अन्यथा कार्यवेत्ता बंधु चुप रहे)। हर्ष के मार्ग पर तो अपनी इच्छा ही पूछने की वस्तु है।

टिप्पणी—अच्छे मित्रों को—यदि उनका मित्र विपत्ति की ओर जा रहा हो और निषेध करनेवाले मित्रों में प्रतिरोध की क्षमता हो तो—अंधकूप की

ओर जाते मित्र को रोकना उचित है। यदि मित्र विपद् के अंधकूप में नहीं गिर रहा है अथवा रोकने की स्वयं में क्षमता नहीं है तो उस स्थिति में चुप ही रहना उचित है। दमयन्ती न तो विपत्ति के कूप की ओर जा रही है और न उसे रोकने की क्षमता ही सखियों में है, सो उन्हें कुछ न बोलना ही उचित है। स्वयंवर में मनचाहे का वरण प्रसन्नता की वस्तु है स्वयंवरा को जो रुचे, उसमें उसकी इच्छानुसार आचरण ही कल्याणकर होता है। इस दृष्टि से दमयन्ती की सखियों को भी दमयन्ती की प्रसन्नता के अनुकूल आचरण उचित है। जो उसकी इच्छा समझने वाली सखियाँ हैं, वे तदनुकूल आचरण करें, शेष चुप रहें। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास, रूपक, काव्यलिंग अलंकारों का संकर ॥ १०७ ॥

इत्थं प्रतीपोक्तिमतिं सखीनां विलुप्य पाण्डित्यबलेन बाला।
अपि श्रुतस्वर्पतिमन्त्रिसूक्तिं दूतीं बभाषेऽद्भुतलोलमौलिम् ॥१०८॥

जीवातु—इत्थमिति। बाला भैमी, इत्थं सखीनां प्रतीपोक्तिमतिं प्रतिकूलोक्तिबुद्धिमित्यर्थं पाण्डित्यबलेन प्रागल्भ्यावलम्बेन विलुप्य निषिध्य श्रुताः स्वर्पतिमन्त्रिणः शक्रसचिवस्य बृहस्पतेः सूक्तयो वाचो यया तामपि 'अहरादीनां पत्यादिषु' इति रेफादेशः। अद्भुतेन अहो बृहस्पतेरपि प्रगल्भेत्याश्चर्येण लोलमौलिं कम्पशिरसं शिरः कम्पयन्तीमित्यर्थः। दूतीं बभाषे ॥ १०८ ॥

अन्वयः—बाला इत्थं सखीनां प्रतीपोक्तिमतिं पाण्डित्यबलेन विलुप्य श्रुतस्वर्पतिमन्त्रिसूक्तिम् अपि अद्भुतलोलमौलिं दूतीं बभाषे।

हिन्दी—बाला (दमयन्ती) इस प्रकार (सखियों की प्रतिकूल वचन विषयक बुद्धि को पांण्डित्य के बल से विलुप्त करके स्वर्गराज (इन्द्र) के मंत्री (बृहस्पति) की सूक्तियों की सुननेवाली होकर भी आश्चर्य से सिर हिलाती दूती से बोली।

टिप्पणी—इन्द्रवरण के विषय में दमयन्ती ने उन्हें तर्क देकर समझा दिया (श्लोक सं० १०१–१०७) कि वह जो कुछ करने जा रही है, वह उचित है। इन्द्र की दूती को दमयन्ती की तर्क-क्षमता पर बड़ा आश्चर्य हुआ, यद्यपि वह इन्द्र-मंत्री गुरु बृहस्पति की पाण्डित्यपूर्ण वाणी अनेक बार सुन चुकी थी। दूती को लगा कि दमयन्ती की विचारशक्ति और स्वपक्ष-प्रति-

पादन-सामर्थ्य अद्भुत है। जैसा कि श्लोक संख्या १०१ में कहा गया, दमयन्ती इन्द्र-दूती से कहते-कहते बीच में अपना कथन अधूरा छोड़कर सखियों की ओर उन्मुख हो गयी थी। अब वह पुनः उस अर्द्धोक्ति को पूरा करने को उद्यत हुई। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छेकानुप्रास ॥ १०८ ॥

परेतभर्तुर्मनसैव दूतीं नभस्वतेवानिलसख्यभाजः।
त्रिस्रोतसैवाम्बुपतेस्तदाशु स्थिरास्थमायातवतीं निरास्थम् ॥१०९॥

जीवातु—परेतेति। मनसैव आकर्षकेणेति शेषः। आगमनसाधनेनेत्यर्थः। एवं वायुगङ्गयोरपि द्रष्टव्यम्। परेतभर्तुः यमस्य दूतीं, नभस्वता वायुनैव अनिलसख्यभाजोऽग्नेर्दूतीं त्रिस्रोतसा गङ्गयैव अम्बुपतेर्वरुणस्य दूतीं स्थिरास्थं दृढाभिनिवेशं यथा तथा आशु शीघ्रमायातवतीं, सती, तदा अगमनक्षण एव निरास्थं पर्यहार्षम्। 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' इत्यस्यतेर्लुङि च्लेरङादेशः। 'अस्यतेस्थुक्' इति थुक्। यमादिदूत्यो दूरादेव निरस्ताः इन्द्रगौरवात्त्वया एतावन्तं कालं सम्भाषीत्यर्थः। अत्र मनोवायुगङ्गानां क्रमाद्यमादिविधेयत्वेन तत्प्रियार्थं ताभिरेवातिवेगवतीभिरत्र आनीता (यमादीनां दूत्यः) इत्युत्प्रेक्षार्थः॥ १०९ ॥

अन्वयः—स्थिरास्थम् आशु आयातवतीं परेतभर्त्तुः दूतीं मनसा एव, अनिलसख्यभाजः नभस्वता एव, अम्बुपतेः त्रिस्रोतसा एव तदा निरास्थम्।

हिन्दी—(इन्द्रदूती से दमयन्ती बोली) मैंने विश्वस्तता के साथ शीघ्रतया आयी गतप्राणों के स्वामी (यमराज) की दूती को मन से ही, वायु के मित्र (अग्नि) की दूती को वायु से ही, जल के स्वामी (वरुण) की दूती को गंगा से ही तभी निराकृत कर दिया।

टिप्पणी—दमयन्ती का भाव यह है कि शीघ्रता से दमयन्ती के निकट पहुँचने के निमित्त प्राणों के स्वामी यम ने अपनी दूती को मन के वाहन पर, अग्नि ने वायु के वाहन पर और वरुण ने गंगा-वाहन पर भेजा था। उन दूतियों के प्रस्ताव को दमयन्ती ने तुरन्त अस्वीकार कर शीघ्र ही वापस भेज दिया। वे अपने-अपने वाहनों से बिना उतरे ही वापस चली गयीं। एक प्रकार से उनका प्रस्ताव ठीक से सुना ही नहीं गया। इन्द्र के प्रति दमयन्ती

को विशेष आस्था है, अतः उसका कथन सुना और निवेदन किया यदि ऐसी आस्था न होती तो उसके साथ भी वैसा ही व्यवहार हो सकता था, जैसा कि यमादि की दूतियों के साथ हुआ। प्राणों के स्वामी यम के अधीन मन के होने से, वायु के अग्नि का मित्र होने से और गंगा के वरुणाधीन होने से इनका यमादि-विधेयत्व क्रम से है और यमादि की दूतियों का उनके वाहन मन-वायु-गंगा से वेगपूर्वक आना भी, मल्लिनाथ के अनुसार यह उत्प्रेक्षार्थ है। विद्याधर के अनुसार यहाँ हेतु, अनुप्रास और अतिशयोक्ति अलंकार हैं।

'स्थिरास्थम्' को दमयन्ती के साथ जोड़कर यह अर्थ भी किया जाता है कि उसकी नल के प्रति आस्था दृढ़ थी, अतः 'आशु' आयी यमादि की दूतियों को उसने 'आशु' विदा कर दिया ॥ १०९ ॥

भूयोऽर्थमेनं यदि मां त्वमात्थ तदा पदावालभसे मघोनः।
सतीव्रतैस्तीव्रमिमं तु मन्तुमन्तः परं वज्रिणि मार्जितास्मि ॥ ११० ॥

जीवातु—भूय इति। हे शक्रदूति ! त्वं भूयः पुनरेनमर्थमिन्द्रं वृणीष्वेत्यमुमर्थं मामात्थ ब्रूषे यदि। 'ब्रुवः पञ्चानाम्' इत्यादिना सिपस्थादेशो ब्रुव आहश्च। 'आहस्थ' इति हकारस्य थकारादेशः तदा मघोनः पदावङ्घ्री। 'पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। आलभसे हिनस्सि स्पृससि वा। वज्रिणि इन्द्रे विषये अन्तरन्तरङ्गे परं श्रेष्ठं, गुणत्वेन गृह्यमाणमित्यर्थः। इमं तीव्रं दुस्सहं मन्तुं निजाज्ञोल्लङ्घनापराधम्। 'आगोऽपराधो मन्तुश्च' इत्यमरः। सतीव्रतैः पतिव्रतानियमैः मार्जितास्मि मार्ज्जिष्यामि। मृजेर्लुटि मिप्। पतिव्रताधर्मज्ञः सर्वज्ञो भगवान् मघवा मामस्मादपराधात्त्रास्यतीत्यर्थः ॥ ११० ॥

अन्वयः—यदि त्वं भूयः एनम् अर्थं माम् आत्थ तदा मघोनः पदौ आलभसे; वज्रिणि अन्तः परम् इमं तीव्रं मन्तुं सतीव्रतैः मार्जिता अस्मि।

हिन्दी—(हे दूति,) यदि तू पुनः इस विषय को मुझसे कहे तो तुझे मघवा (इन्द्र) के चरणों की सौगंध। वज्रधारी (इंद्र) के प्रति अन्तःस्थित इस परम तीव्र अपराध का मार्जन मैं पातिव्रतनियमों द्वारा करूँगी।

टिप्पणी—दमयंती को बार-बार यह वरण-विषयक वार्ता भली नहीं लग रही थी, अतः उसने इन्द्र की दूती को इन्द्र के चरणों की ही सौगंध देकर पुनः कुछ कहने से निवारित किया। इन्द्र वज्रधारी है, दंड देने वाला। वह

अपनी अवज्ञा करने वालों पर क्रुद्ध हो उन्हें वज्र से प्रताडित कर सकता है 'वज्रिणि' शब्द का प्रयोग यही द्योतन करता है। किंतु इस परम दुःसह अपराध को करती दमयंती निर्भय है। उसे विश्वास है कि वह अपने पातिव्रत के बल पर इंद्र को दंड देने से विरत कर सकेगी।

नारायण ने चतुर्थ चरण का पाठांतर 'अन्तर्वरं वज्रिणि मार्जितास्मि' दिया है। उनकी 'प्रकाश'—व्याख्या है—'अन्तर्वरं वरस्य नलस्य अन्तर्मध्ये वज्रिणि राज्ञो लोकपालांशत्वेन नले स्थित इन्द्र इति।' अर्थात् दमयन्ती के वर नल के मध्य उस राजा के लोकपालांश होने के कारण स्थित्त इन्द्र को वह सतीव्रत से मना लेगी.। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास ॥ ११० ॥

इत्थं पुनर्वागवकाशनाशान्महेन्द्रदूत्यामवयातवत्याम्।
विवेश लोलं हृदयं नलस्य जीवः पुनः क्षीवमिव प्रबोधः ॥ १११ ॥

जीवातु—इत्थमिति। इत्थमुक्तप्रकारेण पुनर्वागवकाशनाशात् भूयोवचनावकाशनिवृत्तेः। इन्द्रदूत्यामवयातवत्यां गतायां नलस्य जीवोऽन्तरात्मा लोलं चलाचलं हृदयं क्षीवं मत्तम्। 'मत्ते शौण्डोत्कटक्षीवा' इत्यमरः। 'क्षीवृ मद' इति धातोः कर्तरि क्तः। 'अनुपसर्गात् फुल्लक्षीवकृशोल्लाघा' इति निपातनात् साधुः। प्रबोधो विवेक इव पुनर्विवेश पुनर्जात इवाभूत्। तदा विशश्वास उच्छ्वास चेत्यर्थः ॥१११॥

अन्वयः—इत्थं पुनः वागवकाशनाशात् इन्द्रदूत्याम् अवयातवत्यां नलस्य जीवः लोलं हृदयं क्षीवं प्रबोध इव पुनः विवेश।

हिन्दी—इस प्रकार पुनः कुछ कहने का अवसर समाप्त हो जाने से इन्द्र की दूती के चले जाने पर नल का प्राण उसके चंचल चित्त में पुनः प्रविष्ट हुआ जैसे कि मतवाले पुरुष में विवेक लौट आता है।

टिप्पणी—देव-दूतियों के प्रस्ताव और उन पर विवेचन नल के हृदय को मत्त पुरुष के चित्त के सदृश चंचल कर रहे थे। जब निराश हो सब दूतियाँ चली गयीं—विशेषतः इंद्रदूती, तब नल की वह चंचलता दूर हुई। उसे लगा कि उसके प्राण पुनः लौट आये। उसकी विनष्टप्राय विचारणाशक्ति पुनः लौटी। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और उपमा ॥ १११ ॥

श्रवणपुटयुगेन स्वेन साधूपनीतं दिगधिपकृपयात्तादीदृशः सन्निधानात्।
अलभत मधुबालारागवागुत्थमित्थं निषधजनपदेन्द्रः पातुमानन्दसान्द्रः ॥

जीवातु—श्रवणेति। निषधानां जनपदानाम्, इन्द्रो नलो दिगधिपानाम्, इन्द्रादीनां कृपया तिरोधानशक्तचनुग्रहरूपया आत्तात् प्राप्तादीदृशः सन्निधानाद--प्रकाशसान्निध्यात् स्वेन स्वकीयेन श्रवणपुटयुगेन साधूपनीतमर्पितमित्थमुक्त-रीत्या बालाया भैम्या रागवाग्भ्यः अनुरागवचनेभ्यः उत्था यस्य तत्तदुत्थं मधु क्षौद्रं, रसामृतमित्यर्थः। आनन्दसान्द्रः सुखमयः सन् पातुमलभत तत्पानं लब्ध-वानित्यर्थः। 'शकधृष' इत्यादिना तुमुन् प्रत्ययः॥ ११२॥

अन्वयः—निषधजनपदेन्द्रः दिगधिपकृपया आत्तात् ईदृशः सन्निधानात् स्वेन श्रवणपुटयुगेन साधु उपनीतम् इत्थं बालारागवागुत्थं मधु आनन्दसान्द्रः पातुम् अलभत।

हिन्दी—निषध नामक जनपद के इन्द्र (राजा नल) ने दिक्पालों की कृपा से प्राप्त इस प्रकार के (अदृष्ट रहने के कारण प्राप्त) सान्निध्य के कारण अपने कर्ण-पात्र-युगल-द्वारा भली भाँति लाया गया। इस प्रकार के (अपूर्व) बाला (दमयंती) के प्रणयवचनों से उत्पन्न मधु आनन्द से परिपूर्ण होकर पीने को मिला।

टिप्पणी—कष्ट की स्थिति भी कभी हर्ष का कारण बन जाती है। नल को अपनी प्रिया के प्रति अन्य का प्रणय-संदेश-हर बनने का निकृष्ट, अपमाना-स्पद और कष्टकर कार्य मिला था, किंतु उसी के निमित्त उसे स्वेच्छया अदृश्य होने की क्षमता मिली थी, जिससे अदृश्य रहते हुए उसने सब-कुछ देखा-सुना। मुग्धा, बाला प्रणयिनी के अनुराग-वचन—प्रणयस्वीकृति उसी के मुख से कोई प्रेमी सुन सके, यह प्रेमी के लिए किस मधु से न्यून है? नल ने अपने कर्णपात्रों में ढाल कर लाया ऐसा मधु आनंद से छककर पीने का अवसर पाया। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास-रूपक का संकर। मालिनी छंद॥११२॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
षष्ठः खण्डनखण्डतोऽपि सहजात् क्षोदक्षमे तन्महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमद् भास्वरः॥ ११३॥

जीवातु—श्रीहर्षमिति। श्रीहर्षमित्यादि सुगमम्। सहजात् सोदरात्, समानकर्तृकादित्यर्थः। खण्डनखण्डतः खण्डनखण्डाख्यात् ग्रन्थात्। यद्वा खण्डनं

नाम ग्रन्थः। तदेव खण्डः इक्षुविकारः। 'स्यात् खण्डश्शकले चेक्षुविकारमणिदोषयोः' इति विश्वः। ततस्तस्मादपि क्षोदक्षमे संघर्षणसहे षष्ठः सर्गः अगमत् समाप्त इत्यर्थः॥ ११३॥

इति मल्लिनाथसूरिविरचिते 'जीवातु'समाख्याने षष्ठः सर्गः समाप्तः॥६॥

—०—

अन्वयः—श्रीहर्षं.................च यम् (पूर्ववत्)। सहजात् खण्डनखण्डतः अपि क्षोदक्षमे तन्महाकाव्ये चारुणि नैषधीयचरिते भास्वरः षष्ठः सर्गः अगमत्।

हिन्दी—पूर्वार्द्ध का अर्थ पहिले के समान। सहजात (सोदर, एक ही द्वारा रचित, समानकर्तृक) 'खण्डन-खण्ड' (ग्रन्थ) से भी उसी प्रकार सरस और विचारयोग्य (जैसी कि इक्षु-विकार घिसी शर्करा सरस होती है) उस (श्रीहर्ष) के महाकाव्य, मनोरम 'नैषधीयचरित' में उज्ज्वल छठा सर्ग समाप्त।

टिप्पणी—श्रीहर्ष ने 'खण्डनखण्डखाद्य' नामक ग्रन्थ रचा था, इसका संकेत। नारायण पंडित के अनुसार इस सर्ग में धर्मशास्त्रानुसारी दूतगुण कहे गये हैं॥ ११३॥

'नैषधीयचरित' का षष्ठ सर्ग समाप्त।

—०—

नैषधीयचरितम्

सप्तमः सर्गः

अथ प्रियासादनशीलनादौ मनोरथः पल्लवितश्चिरं यः ।
विलोकनेनैव स राजपुत्र्याः पत्या भवः पूर्णवदभ्यमानि ॥ १ ॥

जीवातु—अथेति । अथ इंद्रदूतीगमनानन्तरम् । भुवः पत्या नलेन, 'पतिः समास एव' इति नियमादसमासे घिसंज्ञाऽभावात् घिकार्याऽभावः, प्रियाया दमयन्त्या, आसादनं प्राप्तिः, शीलनं परिचिति, तदादौ विषये आदिशब्दादाश्लेशादिसङ्ग्रहः । यो मनोरथः चिरं चिरात्प्रभृति पल्लवितः सञ्जातपल्लवः, स मनोरथो राजपुत्र्या विलोकनेनैव पूर्णवत् फलितवदभ्यमानि अभिमेने । तथा ननन्देत्यर्थः । मन्यतेः कर्मणि लुङ् ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ प्रियासादनशीलनादौ यः मनोरथः चिरं पल्लवितः भुवः पत्या सः राजपुत्र्या विलोकनेन एव पूर्णवत् अभ्यमानि ।

हिन्दी—इसके (दूतियों के निराकरण के) अनन्तर प्रिया (दमयन्ती) की प्राप्ति और परिचय आदि के विषय में जो आकांक्षा चिरकाल से पल्लवित हुई थी (मन में उठ रही थी), धरती के स्वामी (नल) द्वारा वह राजपुत्री (दमयन्ती) को देख लेने से ही पूर्ण-जैसी मान ली गयी ।

टिप्पणी—राजा नल ने बहुत दिनों से सोचा-विचारा था कि दमयन्ती कैसी होगी, कैसे वह प्राप्त हो सकेगी, उसका मिलन कितना आनन्द-दायक होगा—आदि-आदि ? अब जब उसने प्रत्यक्षतः दमयन्ती को निहारा, तो उसे लगा कि जैसे उसका चिर पल्लवित अभीष्ट लगभग पूर्ण हो गया । भाव यह कि दमयन्ती को प्रत्यक्ष कर लेने मात्र से नल को प्राप्ति सदृश आनन्द मिल गया । नल दर्शनमात्र से हर्ष से पूर्ण हो गया, इससे मनोरथ (कार्य) के महत्व तथा दमयन्ती-अवलोकन (कारण) के अल्पत्व में विरोध का हर्षाधिक्य के कारण समाधान हो गया—अतः विद्याधर ने इस श्लोक में विष-

भोपमालंकार का निर्देश किया है। विद्याधर ने यह भी बताया है कि इस सर्ग में कुछ श्लोकों में उपेन्द्रवज्रा और कुछ में इन्द्रवज्रा छंद है। इस श्लोक में उपजाति छंद है ॥ १ ॥

प्रतिप्रतीकं प्रथमं प्रियायामथान्तरानन्दसुधासमुद्रे।
ततः प्रमोदाश्रुपरम्परायां ममज्जतुस्तस्य दृशौ नृपस्य ॥ २ ॥

जीवातु—प्रतीति। तस्य नृपस्य दृशौ नेत्रे प्रथमं प्रियायां भैम्यां, तत्रापि प्रतिप्रतीकं प्रत्यवयवं ममज्जतुः तामवयवशो ददर्शेत्यर्थः। अथ तदनन्तरं अन्तः अन्तरात्मनि य आनन्दसुधासमुद्रः तस्मिन् ममज्जतुः दर्शनफलमानन्दं अनुबभूवतुरित्यर्थः। करणे कर्तृत्वोपचारः। ततः प्रमोदाश्रुपरम्परायामानन्दवाष्पप्रवाहे ममज्जतुः। अत्र दृग्रूपस्यैकस्याधेयस्य क्रमात्प्रियावयवाद्यनेकाधारवृत्तित्वकथनात् पर्यायालङ्कारभेदः 'क्रमेणैकमनेकस्मिन्नाधारे वर्तते यदि। एकस्मिन्नथवानेकं पर्यायालङ्कृतिर्द्विधा'। इति लक्षणात् ॥ २ ॥

अन्वयः—तस्य नृपस्य दृशौ प्रथमं प्रियायां प्रतिप्रतीकम्, अथ आन्तरानन्दसुधासमुद्रे (अन्तः आनन्दसुधासमुद्रे वा), ततः प्रमोदाश्रुपरम्परायां ममज्जतुः।

हिन्दी—उस राजा (नल) के नेत्र पहिले प्रिया के प्रत्यंग, तदनन्तर अन्तस् में उत्पन्न आनन्दामृत के समुद्र में और तत्पश्चात् हर्ष के आँसुओं में मग्न हो गये।

टिप्पणी—भाव यह कि दमयंती के सर्वांगसुन्दर रूप को देख कर नल को असीम आनंद प्राप्त हुआ। पहिले नल के नेत्र अंग-अंग के सौंदर्य में निमग्न हुए, उससे उत्पन्न आनन्द के सुधा-सागर में मग्न हुए और उससे हर्षाश्रुओं से पूर्ण हो गये। क्रमिक विवरण। इस श्लोक में आधेय एक है—नेत्र और उसकी प्रियावयवादि अनेक आधारों में स्थिति वर्णित है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ पर्याय अलंकार का एक भेद है। पर्याय दो प्रकार का होता है—(१) कहीं एक आधेय की अनेक आधारों में स्थिति, (२) कहीं अनेक आधेयों की एक आधार में स्थिति। यहाँ उपेन्द्रवज्रा छंद है—एक जगण (ISI), एक तगण (SSI), एक जगण (ISI), दो गुरु (SS) ॥ २ ॥

ब्रह्माद्वयस्यान्वभवत्प्रमादं रोमाग्र एवाग्रनिरीक्षितेऽस्याः ।
यथौचितीत्थं तदशेषदृष्टावथ स्मराद्वैतमुदं तथासौ ॥ ३ ॥

जीवातु—ब्रह्मेति । असौ नलः, अस्या भैम्याः, रोमाग्र एव रोमाग्रमात्रे अग्रे प्रथमं निरीक्षिते दृष्टे सति यथा ब्रह्मैवाद्वयमद्वितीयं वस्तु तस्य प्रमोदं दृगानन्दमन्वभवदित्यर्थः । आनन्दस्य ब्रह्मभेदेऽप्युपचाराद्भेदव्यपदेशः । अथाऽग्रदर्शनानन्तरं तस्य रोम्णः अशेषदृष्टौ कृत्स्नदर्शने सति, द्वयोर्भावो द्विता, द्वितैव द्वैतम् । प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण् प्रत्ययः । तद्रहितमद्वैतं स्मर एवाद्वैतमद्वितीयं वस्तु तस्य मुदमन्वभवत् । अत्र ब्रह्मानन्दात् स्मरानन्दाधिक इति विवक्षितम् । तथा रोमापि रोमाग्रादधिकं, तत्र यथाल्पदर्शनादल्पानन्दः, अधिकदर्शनादधिकानन्द इति यथा तथा-शब्दार्थः, इत्थमौचिती कारणानुरूपं कार्यजन्मोचितमेवेत्यर्थः । अत्र ब्रह्मानन्दस्मरानन्दयोरेकस्मिन्नेव क्रमेण वृत्तिकथनात् 'एकस्मिन्नथवानेकम्' इत्युक्तलक्षणो द्वितीयः पर्यायालङ्कारभेदः ॥ ३ ॥

अन्वयः—असौ अस्याः रोमाग्रे एव अग्रनिरीक्षिते ब्रह्माद्वयस्य प्रमोदम् अन्वभवत्, अथ इत्थं तदशेषदृष्टौ यथा औचिती तथा स्मराद्वैतमुम् ।

हिन्दी—इस (नल) ने उस (दमयन्ती) के रोमाग्र को ही प्रथम देखने पर ब्रह्म-एकता के आनंद का अनुभव किया, तत्पश्चात् इसी क्रम में उस (दमयंती) को संपूर्णतः देखने पर यथोचित प्रकार से मदन-ऐक्य का अनुभव किया ।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयंती को थोड़ा-सा भी देखते ही, रोमाग्र-मात्र निहारने नल को ऐसे आनन्द का अनुभव हुआ, जैसा कि योगिजन ब्रह्म से अद्वैतभाव होने पर—ब्रह्म से अभिन्नता स्थापित होने पर अनुभव करते हैं । तदनन्तर जब नल ने अशेष—पूर्ण दमयंती को देखा तब मदनानन्द का अनुभव पाया । दमयंती को संपूर्ण भाव से देखने पर नल मदनानन्द में निमज्जित हो गया । थोड़ा-सा भाग देखने पर ब्रह्मानन्द मिला, पूरा देखने पर मदनानन्द । इसमे द्योतित होता है कि ब्रह्मानन्द की अपेक्षा मदनानन्द उत्कृष्ट है । मल्लिनाथ ने तृतीय-चतुर्थ चरण का अन्वयांतर करके अर्थ किया है कि रोमाग्र देखने पर ब्रह्मानन्द का अनुभव किया, अशेष (दमयंती) को देख कर स्मरानन्द का । इस प्रकार उचित हुआ—कारण के अनुरूप कार्य का जन्म । यहाँ

ब्रह्मानन्द और स्मरानन्द—दोनों की एक में ही क्रम से विद्यमानता कही गयी है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार द्वितीय प्रकार का पर्यायालंकार है। विद्याधर के अनुसार विषम और उपमालंकार। उपजाति छंद ॥ ३ ॥

वेलामतिक्रम्य चिरं मुखेन्दोरालोकपीयूषरसेन तस्याः।
नलस्य रागाम्बुनिधौ विवृद्धे तुङ्गौ कुचावाश्रयति स्म दृष्टिः ॥ ४ ॥

जीवातु—वेलामिति। नलस्य दृष्टिः तस्या मुखेन्दोरालोको दर्शनं प्रकाशश्च। 'आलोको दर्शनद्योतौ' इत्यमरः। स एव पीयूषममृतं तस्य रसेन स्वादेन, रागाम्बुविधौ अनुरागसमुद्रे पृथुं महतीं वेलां कालं मर्यादा च। 'वेला कालमर्यादयोरपि' इति विश्वः। अतिक्रम्य विवृद्धे प्रवृद्धे सति तुङ्गौ कुचावाश्रयति स्म। मुखलग्ना दृष्टिः रागवशात्कुचयोः पपातेत्यर्थः। अत्र दृष्टिविशेषणसामान्याच्चन्द्रोदये समुद्रवृद्धौ तन्मज्जनभयादुत्सेधाश्रयजनप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः। तेन चाब्धिमज्जनभयादिवेत्युत्प्रेक्षा व्यज्यत इत्यलंकारेणालंकारध्वनिः ॥ ४ ॥

अन्वयः—नलस्य दृष्टिः तस्याः मुखेन्दोः आलोकपीयूषरसेन रागाम्बुनिधौ चिरं वेलाम् अतिक्रम्य विवृद्धे तुङ्गौ कुचौ आश्रयति स्म।

हिन्दी—नल की दृष्टि ने उस (दमयंती) के मुखचन्द्र के दर्शनामृत-रस के कारण बड़ी मर्यादा का अतिक्रमण कर अनुराग-सागर के प्रवृद्ध हो जाने पर उन्नत कुचों का आश्रय लिया।

टिप्पणी—दमयंती के प्रत्यंग का निरीक्षण करती नल की दृष्टि स्वाभाविक रूप में उसके उत्तुंग कुचयुगलों पर ठहर गयी और नल प्रिया के अनुराग में और भी मग्न होने लगा। इसी भाव पर कवि ने कल्पना की है उस व्यक्ति की, जो सागर में स्नान कर रहा है कि पूर्ण चन्द्र-दर्शन के कारण समुद्र में ज्वार आ जाता है और समुद्र का जल उसकी विशाल तटी की मर्यादा का उल्लंघन कर बढ़ने लगता है। सुरक्षा की दृष्टि से वह व्यक्ति ऊँचे स्थान का आश्रय ले लेता है। यहाँ दमयंती का मुख चन्द्र है, जिसके दर्शन से नल के अनुराग रूप सागर में ज्वार आ गया और वह इतना प्रवृद्ध हुआ कि नल इस मर्यादा का भी उल्लंघन कर गया कि वह दमयन्ती के पास एक अनुरागी के रूप में नहीं, देवदूत के रूप में है। दमयन्ती का रूप निहारते उसके नेत्र—

जैसे डूबने से बचने के लिए ऊँचे स्थान ऊँचे कुचों को आश्रय लेने लग गये। मल्लिनाथ ने निर्देश किया है कि इस श्लोक में दृष्टि के विशेषण की सम्पन्न के कारण चन्द्रोदय से समुद्र में वृद्धि हो जाने पर डूब जाने से बचने के लिए (कुच रूप) ऊँचे स्थान की प्रतीति होती है, अतः समासोक्ति अलंकार है। उससे इस उत्प्रेक्षा की व्यंजना होती है कि दृष्टि समुद्र में डूबने के डर से भाग कर ऊँचे स्थान पर पहुँच गयी है। इस प्रकार अलंकार ध्वनि है। विद्याधर के अनुसार श्लेषरूपकातिशयोक्ति अलंकार है ॥ ४ ॥

मग्ना सुधायां किमु तन्मुखेन्दोर्लग्ना स्थिता तत्कुचयोः किमन्तः।
चिरेण तन्मध्यममुञ्चतास्य दृष्टिः कृशीयः स्खलनाद्भिया नु ॥ ५ ॥

जीवातु—मग्नेति। अस्य नलस्य दृष्टिस्तस्या भैम्याः मुखेन्दोस्सुधायां मग्ना किमु, तत्कुचयोरन्तरभ्यन्तरे च लग्ना स्थिता किम्। उभयत्राप्यन्यथा कथं तावान् विलम्ब इति भावः। किंच कृशीयः कृशतरं तन्मध्यं कर्म स्खलनाद्भिया नु भयेन किम्। चिरेणामुञ्चत। रज्जुसञ्चारिवदिति भावः। उत्प्रेक्षात्रयस्य सजातीयस्य संसृष्टिः ॥ ५ ॥

अन्वयः—अस्य दृष्टिः तन्मुखेन्दोः सुधायां मग्ना, तत्कुचयोः अन्तः लग्ना किमु, (यत्) कृशीयः तन्मध्यं स्खलनाद् भिया नु चिरेण अमुञ्चत।

हिन्दी— इस (नल) की दृष्टि उस (दमयंती) के मुखचन्द्र के अमृत में मग्न हो गयी थी क्या ? (अथवा उसके मुख-चन्द्र की सुधा में भीग कर) उस (दमयंती) के कुच युगल में चिपक गयी थी क्या कि उस (दमयंती) के पतले मध्य भाग को मानो गिरने के डर से बिलम्ब से छोड़ा ?

टिप्पणी—नल दमयंती के मुख, कुच युगल और मध्यभाग (कटि) के सौन्दर्य से अभिभूत हो देर तक देखते रहे। इस पर ये कल्पनाएँ हैं कि नल की दृष्टि मुखचन्द्रसुधा में मग्न हो गयी, कुचों पर ठहर गयी, और कटि पर देर तक टिकी रही कि कहीं पतली, सँकरी डगर से फिसल कर गिर न जाय ? मल्लिनाथ के अनुसार तीन सजातीय उत्प्रेक्षाओं की संसृष्टि है, विद्याधर ने उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है ॥ ५ ॥

प्रियाङ्गपान्था कुचयोर्निवृत्य निवृत्य लोला नलदृग्भ्रमन्ती।
बभौ तमां तं मृगनाभिलेपतमःसमासादितदिग्भ्रमेव ॥ ६ ॥

जीवातु—प्रियेति । प्रियाया अङ्गेषु, पन्थानं गच्छतीति पान्था नित्यपथिका, 'पन्थो ण नित्यम्' इति पथो णप्रत्ययः, पन्थादेशश्च । लोला सतृष्णा नलस्य दृक् दृष्टिः कुचयोर्निवृत्य निवृत्य आवृत्य भ्रमन्ती तयोः कुचयोः मृगनाभिलेपः कस्तूरिकालेपनमेव तमः तेन समासादितः प्राप्तः दिग्भ्रमो 'यथा सेवेत्युत्प्रेक्षा । बभौतमां अतिशयेन बभौ । 'तिङश्च' इति तमप्प्रत्यये 'किमेत्तिङ्' इत्यादिना तिङ्ङादामुप्रत्ययः ।। ६ ॥

अन्वयः—प्रियाङ्गपान्था लोला नलदृक् कुचयोः निवृत्य निवृत्य भ्रमन्ती तन्मृगनाभिलेपतमःसमासादितदिग्भ्रमा इव बभौतमाम् ।

हिन्दी प्रिया (दमयंती) के अंगों की पथिक चञ्चल लोभिनी नल की दृष्टि कुचयुगल पर लौट-लौट कर लोटती हुई ऐसी सुशोभित हुई कि मानो उन (स्तनों) पर कस्तूरीमृग की नाभि के लेप (कस्तूरीलेप) की कालिमा (अँधियारी) से दिग्भ्रांत हो गयी हो ।

टिप्पणी—नल की दृष्टि संपूर्ण अंगों को निहार कर बारम्बार लौट-फिर दमयंती के आकर्षकतम स्तनों पर आकर टिक जाती थी, जिन पर काला कस्तूरी लेप हो रखा था। कुच अत्यन्त मनोहर थे, लगता था कि कस्तूरीलेप की अँधियारी में दृष्टि को दिशा ज्ञान नहीं रहा है और मार्ग भूल कर वह बारम्बार एक ही स्थान—कुचयुगल पर लौट आती है। विद्याधर के अनुसार रूपकोत्प्रेक्षालंकार ॥ ६ ॥

विभ्रम्य तच्चारुनितम्बचक्रे दूतस्य दृक् तस्य खलु स्खलन्ती ।
स्थिरा चिरादास्त तदूरुरम्भास्तम्भावुपाश्लिष्य करेण गाढम् ॥ ७ ॥

जीवातु—विभ्रम्येति । दूतस्य तस्य नलस्य दृक् दृष्टिः तस्याश्चारु नितम्ब एव चक्रं तस्मिन् विभ्रम्य भ्रान्त्वा स्खलन्ती चलन्ती तस्य ऊरू एव रम्भास्तम्भौ करेणांशुना हस्तेन च गाढमुपश्लिष्य स्थिरा निश्चला सती चिरादास्त उपविष्टा खलु । 'आसेर्लङ्' । अत्र दृष्टिविशेषणसाम्याद् भ्रमणक्रीडाकारिबालकप्रतीतेः समासोक्तिः । तस्याश्चोरुस्तम्भाविति रूपकेण सङ्करः । बालका हि क्रीडया चिरं चक्रमुद्भ्रान्तास्खलन्ती निकटस्तम्भादिकमवलम्ब्य चरति ॥ ७ ॥

अन्वयः—तच्चारुनितम्बचक्रे विभ्रम्य स्खलन्ती खलु तस्य दूतस्य दृक् तदूरुरम्भास्तम्भौ करेण गाढम् उपश्लिष्य चिरात् स्थिरा आस्त ।

हिन्दी—उस (दमयंती) के सुन्दर नितंब रूप चक्र में चक्कर खाकर (घूमकर) फिसलती-जैसी उस दूत (नल) की दृष्टि उस (दमयंती) के ऊरुयुगल रूप कदली स्तम्भों को हाथ (दृष्टि-प्रवाह) से दृढ़तापूर्वक पकड़ कर बहुत देर तक स्थिर रही।

टिप्पणी—नल दमयंती के आकर्षक नितम्बों को देखकर बहुत देर तक कदली-स्तम्भों जैसे ऊरुयुगल को भी बहुत देर तक निहारता रहा। दृष्टि को चक्कर खाकर फिसलते व्यक्ति के समान बताया गया है, जो नितम्बों की गोलाई रूप चक्कर में पड़कर फिसल रहा है और ऊरुयुगल रूप खम्भों का सहारा पाकर रुक गया है। इस श्लोक में विशेषण-साम्य के आधार पर दृष्टि में चक्कर खाते बालक की प्रतीति के कारण समासोक्ति है और 'ऊरुस्तम्भ' में रूपक है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार समासोक्ति-रूपक का संकर है। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा-रूपक अलंकार है और 'करेण' श्लिष्ट प्रयोग है। छंद उपजाति है ॥ ७ ॥

वासः परं नेत्रमहं न नेत्रं किमु त्वमालिङ्ग्य तन्मयापि।
उरोनितम्बोरु कुरु प्रसादमितीव सा तत्पदयोः पपात ॥ ८ ॥

जीवातु—वास इति। हे भैमि, वासः परं वस्त्रमेव नेत्रम् आच्छादनम्, अहं नेत्रं न इति काकुः, नास्मि किमु अस्म्येवेत्यर्थः। 'नेत्रं पथि गुणे वस्त्रे तरुमूले विलोचने' इति विश्वः। तत् तस्मात् नेत्रत्वाविशेषात्त्वं मया अपि, उरश्च नितम्बश्च ऊरू च तेषां समाहारः उरोनितम्बोरु। प्राण्यङ्गत्वाद् द्वन्द्वैकवद्भावः। तदालिङ्ग्याश्लेषय प्रसादमालिङ्गनानुग्रहं कुरु इतीव इति मनीषयेवेत्युत्प्रेक्षा। सा नलदृष्टिस्तस्याः भैम्याः पादयोः पपात पदे अपि ददर्शेत्यर्थः ॥

अन्वयः—वासः परं नेत्रम्, अहं नेत्रं न किमु तत् मया अपि उरोनितम्बोरु आलिङ्ग्य, प्रसादं कुरु—इति इव सा तत्पदयोः पपात।

हिन्दी—वस्त्र ही नेत्र (वस्त्र) है, मैं (दृष्टि) क्या नेत्र (नयन) नहीं हूँ? सो मेरा भी वक्ष, नितम्ब और ऊरु-युगल से आलिङ्गन करो, प्रसन्न हो जाओ—इस प्रकार कहती जैसी वह (नल की दृष्टि) उस (दमयंती) के चरणों पर गिर पड़ी।

टिप्पणी—वक्षस्थल, नितम्ब और ऊरु युगल को देखकर क्रमशः नल की दृष्टि दमयंती के चरणों को देखने लगी। 'नेत्र' शब्द अनेकार्थं है। यहाँ उसके दो अर्थ अभिप्रेत हैं–(१) वस्त्र, (२) नयन। इसी आधार पर चमत्कार लाया गया है। नल की वक्ष, नितंब, ऊरु और तदनन्तर चरणों पर पड़ती दृष्टि जैसे दमयंती के चरणों पर गिर कर प्रार्थना कर रही है कि 'वास' (वस्त्र) को ही 'नेत्र' नहीं कहा जाता, 'दृष्टि' को भी 'नेत्र' कहा जाता है। ऐसा भी क्या पक्षपात कि एक 'नेत्र' (वस्त्र) पर तो ऐसी दया कि उसे वक्ष, नितंब और ऊरुयुगल पर आलिंगित कर दिया गया है (दमयंती स्वभावतः अपने अंगों को दुकूल आदि वस्त्रों से ढके थी) और दूसरे 'नेत्र' (दृष्टि) का ऐसा तिरस्कार कि उसे दूर किये हो? जब एक 'नेत्र' को इन अंगविशेषों का आलिंगन दिये हुए हो, तो दूसरे को मत तरसाओ, कृपया उसे भी आलिंगन दे कृतार्थ करो। उत्प्रेक्षा अलंकार ॥ ८ ॥

दृशोर्यथाकाममथोपहृत्य स प्रेयसीमालिकुलं च तस्याः।
इदं प्रमोदाद्भुतसम्भृतेन महीमहेन्द्रो मनसा जगाद ॥ ९ ॥

जीवातु—दृशोरिति। अथ महीमहेन्द्रस्य नलो दृशोः स्वाक्ष्णोः प्रेयसीं भैमीं, तस्या आलिकुलं सखीवर्गं च यथाकाममुपवृत्योपहारीकृत्य यथेच्छं दृष्ट्वेत्यर्थः। प्रमोदाद्भुताभ्यामानन्दविस्मयाभ्यां संभृतेन पूर्णेन मनसा इदं वक्ष्यमाणं जगाद स्वगतमुवाचेत्यर्थः ॥ ९ ॥

अन्वयः—अथ सः महीमहेन्द्रः प्रेयसीं तस्याः आलिकुलं च दृशोः यथाकामम् उपहृत्य प्रमोदाद्भुतसम्भृतेन मनसा इदं जगाद।

हिन्दी—इसके पश्चात् वह पृथ्वी का इन्द्र (नल) प्रिया (दमयंती) और उसके सखी-समूह को जी भर कर नेत्रों का उपहार बना आनन्द और विस्मय से पूर्ण हो मन ही मन यह कहने लगा।

टिप्पणी—भाव यह कि नल ने यथेच्छ रूप से दमयंती और उसकी सखियों को जी भर कर देखा। उस अद्भुत सौन्दर्य-सागर को निहार कर न केवल नल को प्रचुर हर्ष हुआ, प्रत्युत आश्चर्य भी हुआ। ऐसा जगद्-विस्मयकारी सौन्दर्य एकत्र! वह मन में तरह-तरह से विचार करने लगा ॥९॥

पदे विधातुर्यदि मन्मथो वा ममाभिषिच्येत मनोरथो वा ।
तदा घटेतापि न वा तदेतत्प्रतिप्रतीकाद्भुतरूपशिल्पम् ॥ १० ॥

जीवातु–पद इति । विधातुः पदे ब्रह्मणः स्थाने, मन्मथो वा मम मनोरथो वा अभिषिच्येत यदि तथा तत्प्रसिद्धम् एतत् पुरोवर्ति प्रतिप्रतीकं प्रत्यवयवम् अद्भुतं रूपशिल्पम् आकारनिर्माणं घटेतापि न वा घटेत, तन्मनसापि निर्मातुमशक्यं किमुत ब्रह्मणेत्यर्थः । अत्र भैमीरूपशिल्पस्य प्रसिद्धब्रह्मसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्तेस्तथा मन्मथाद्यसम्बन्धेऽपि सम्भावनया तत्सम्बन्धोक्तेश्च, तद्रूपकातिशयोक्तिभेदौ ॥ १० ॥

अन्वयः—यदि विधातुः पदे मन्मथः मम मनोरथः वा अभिषिच्येत, तदा अपि तत् एतत् प्रतिप्रतीकाद्भुतरूपशिल्पं घटेत न वा ।

हिन्दी—यदि सृष्टिकर्ता (ब्रह्मा) के पद पर काम अथवा मेरे मनोरथ का अभिषेक हो जाय तो भी वह (अद्भुत) यह (संमुखस्थित) प्रत्येक अंग के विस्मयकारी रूप-लावण्य से युक्त शिल्प रचा जा सके अथवा न भी रचा जा सके ?

टिप्पणी—अद्भुत और सर्वतोमनोरम रूपराशि को देखकर हर्षाश्चर्य से पूर्ण नल विचारने लगा कि ऐसा रूप क्या ब्रह्मा रच सकता है, जिसने संपूर्ण सृष्टि बनायी है ? संभव है कि सृष्टिकर्ता स्वयं काम बन जाय अथवा मेरा मनोरथ ही ऐसा स्थान पा सके तो ऐसी सर्वांगसुन्दर रचना हो सके, कदाचित् तब भी न हो सके ? ऐसा सौन्दर्य तो कभी देखा नहीं गया । ऐसे शिल्प की रचना न तो ब्रह्मा से ही संभव है, न तो ब्रह्मा से ही संभव है, न मनोभव से, न मनोरथ से । इस श्लोक में भैमी रूप शिल्प के प्रसिद्ध ब्रह्मा से संबंध होने पर भी असंबंध कहा गया और मन्मथ आदि से असंबंध होने पर भी संभावना के द्वारा संबंध बनाया गया, अतः मल्लिनाथ के अतिशयोक्ति के दो भेद हैं । छन्द उपेन्द्रवज्रा है ॥ १० ॥

तरङ्गिणी भूमिभृतः प्रभूता जानामि शृंगाररसस्य सेयम् ।
लावण्यपूराऽजनि यौवनेन यस्यां तथोच्चैस्तनताघनेन ॥ ११ ॥

जीवातु—तरङ्गिणीति । सेयं दमयन्ती भूमिभृतो भीमभूभर्तुरेव भूधरादिति श्लिष्टरूपकम् । भुवः प्रभव इत्यपादानत्वात्पञ्चमी । प्रभूता सम्भूता ।

ङ्गाररसस्य तरङ्गिणी नदी जानामि इति वाक्यार्थः कर्म। इति जानामीत्यर्थः हृद्धिप्रेक्षा। तथाहि—यस्यां भैम्यां तथा तेन प्रकारेण उच्चैस्तनता उन्नतकुचत्वम्। तथा घनेन सान्द्रेण संपूर्णेन यौवनेनेव, उच्चैः तारं स्तनता गर्जता स्तनशब्द इति धातोर्भौवादिकाल्लटः शत्रादेः। घनेन मेघेन। 'घनो मेघे मूर्तिगुणे त्रिषु मूर्ते निरन्तर' इत्यमरः। लावण्यपूरोऽजनि जनितः यौवनेन च लावण्यं वर्धत इति प्रसिद्धम्। मेघवर्धितपूरत्वं तरङ्गिण्यां युक्तमिति भावः। यौवनेन घनेनेति व्यस्तरूपकम्। उच्चस्तनताघनेनेति शब्दश्लेषः। तदुत्थापिता च भैम्याः शृङ्गारतरिङ्गिणीत्वोत्प्रेक्षेति सङ्करः॥ ११॥

अन्वयः—जानामि-सा इयं भूमिभृतः प्रभूता शृङ्गाररसस्य तरङ्गिणी यस्यां तथा उच्चैस्तनता यौवनेन घनेन लावण्यपूरः अजनि।

हिन्दी—(नल ने विचारा कि मैं) समझता हूँ कि वह (प्रसिद्ध) यह (दमयंती) धरती के स्वामी (भीमराज) रूप भूमीभृत् (पर्वत) से उत्पन्न शृंगार रस की नदी है, जिसमें इस प्रकार उच्चस्तनोत्पादि यौवन रूप ऊँचे स्वर में गरजने वाले मेघ ने लावण्य (सौन्दर्य) का प्रवाह उत्पन्न कर दिया है।

टिप्पणी—'भूमिभृत्' (पर्वत, राजा) और 'उच्चैस्तनता' (ऊँचे स्तन (कुच) वाला, उच्च गर्जना करनेवाला) शब्दों के आधार पर दमयन्ती को राजा रूप पर्वत से उत्पन्न नदी बताया गया है, जिसमें लावण्यरूप प्रवाह यौवन रूप घन ने ला दिया है। यौवन आने से लावण्य में वृद्धि हो जाती है, उसी प्रकार जैसे कि मेघ-बरसने से जलपूर में। मल्लिनाथ के निर्देशानुरूप यहाँ यौवन और घन में व्यस्तरूपक है और 'उच्चैस्तनता' में शब्द-श्लेष, उनसे उत्थापित दमयन्ती के शृंगाररस-तरंगिणी होने की उत्प्रेक्षा है, अतः संकर है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-रूपक-श्लेषालंकार हैं। 'घनेन' को 'यौवनेन' का विशेषण मान कर 'गाढतारुण्य' (पूर्णयौवन) अर्थ भी लिया जा सकता है—'घनरूप पूर्ण यौवन द्वारा' उत्पन्न 'लावण्यपूर'॥ ११॥

अस्यां वपुर्व्यूहविधानविद्यां किं द्योतयामास नवामवाप्ताम्।
प्रत्यङ्गसङ्गस्फुटलब्धभूमा लावण्यसीमा यदिमामुपास्ते॥ १२॥

जीवातु—अस्यामिति। अत्र सामर्थ्याद् ब्रह्मणः कर्तुरध्याहारः। ब्रह्मा

अवाप्तां स्वभ्यस्तां नवामसाधारणीं, वपुर्व्यूहविधानविद्यां शरीरसंस्था । तथा निर्माणविज्ञानम् अस्यां दमयन्त्यामेव द्योतयामास किम् । नूनं विधातुरा स्त्रीसृष्टिकौशलप्रकाशनार्थसृष्टिरेषैवेत्युत्प्रेक्षा । यद्यस्मात्, प्रत्यङ्गसङ्गेन प्रत्यवयवव्याप्त्या, स्फुटं लब्धो भूमा विस्तारो यया सा लावण्यसीमा सौन्दर्य-सर्वस्वमिमां दमयन्तीम् उपास्ते सेवते अस्यामेव वर्तत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

अन्वयः—अस्याम् अवाप्तां नवां वपुर्व्यूहविधानविद्याम् द्योतयामास किम् यत् प्रत्यङ्गसङ्गस्फुटलब्धभूमा लावण्यसीमा इमाम् उपास्ते ?

हिन्दी—(निर्माणकर्त्ता ने) इस (दमयन्ती को बनाने) में भली भाँति प्राप्त (सीखी) नवीन शरीर-समूह संचरना-विद्या का प्रकाशन किया है क्या, जो प्रत्येक अवयव में व्याप्त और प्रकट प्राप्त-विस्तार लावण्य की पराकाष्ठा इस (दमयन्ती) की उपासना कर रही है ?

टिप्पणी – अपूर्व प्रत्यंग सौन्दर्य है दमयन्ती का । लगता है, निर्माणकर्त्ता ने कोई नवीन निर्माण विद्या सीखी है, जिसको दमयन्ती का निर्माण करके प्रकट किया है, क्योंकि अद्यावधि तो ऐसी लावण्य की पराकाष्ठा देखी नहीं गयी । भाव यह है कि ऐसा अद्भुत सौन्दर्य अन्यत्र नहीं है । 'प्रकाश'-कार के अनुसार दमयन्ती का वैदुष्य यहाँ सूचित किया गया है, क्योंकि विद्वान् निर्माणकर्त्ता ने अपना वैदुष्य इसके निर्माण में प्रकट किया है, और विद्वत्ता विद्वान् के संमुख ही प्रकट की जाती है । 'प्रकाश'-कार ने निर्माणकर्त्ता काम को माना है और बताया है कि काम ने इसके निर्माण में क्या अपूर्व कायव्यूह-निर्माण विद्या का द्योतन किया है, जिससे प्रत्यंग में विद्यमान रह कर काम सौन्दर्य की चरम सीमा भैमी की सेवा कर रहा है ? प्रत्यवयव में संपूर्णभाव से काम ने विद्यमान रह कर अपना बहु रूप प्रकट किया है । भाव यह है कि मुखावलोकन से जैसा काम-प्रादुर्भाव होता है, वैसा ही संपूर्ण अंगों के अव-लोकन से समग्रभाव से होता है । मल्लिनाथ के अनुसार यह उत्प्रेक्षा है कि निश्चय ही विधाता ने अपने स्त्री-सृष्टि-कौशल के प्रकाशनार्थ दमयन्ती को रचा है । विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा-अनुप्रास अलंकार है । छंद इंद्रवज्रा है ।

जम्बालजालात्किमकर्षि जम्बूनद्या न हारिद्रनिभप्रमेयम् ।
अप्यङ्ग्रियुग्मस्य न सङ्कुचिह्नमुन्नीयते दन्तुरता यदत्र ॥ १३ ॥

ङ्कारयातु—जम्बालेति। हरिद्रया रक्तं वस्तु हारिद्रं, 'हरिद्रामहारजनाद्दृक्ष्णेङ् वक्तव्यः'। तेन सदृशी सन्निभा प्रभा यस्याः सा इयं दमयंती जम्बूनद्या मेरुपार्श्ववर्तिवाहिन्या जम्बालजालात्पङ्कराशेर्जाम्बूनदत्वात्। 'निषद्वरस्तु जम्बालः पङ्कोऽस्त्री शादकर्दमौ' इत्यमरः। नाकर्षि न कृष्टा किम्। सुश्लिष्टाङ्गत्वात् सर्वाङ्गेषु हेमकर्दमेन प्रमृष्टा किमित्यर्थः। कुतः? यद्यस्मात् अत्रास्यां भैम्याम् अङ्गयुगमस्य अवयवद्वयस्य सङ्गचिह्नं सन्धानचिह्नम्। दन्तुरया औन्नत्यमपि 'दन्त उन्नत उरच्' नोन्नीयते नाभ्युन्नीयते॥ १३॥

अन्वयः—हारिद्रनिभप्रभा इयं जम्बूनद्या जम्बालजालात् न अकर्षि किम्, यत् अत्र अङ्गयुगमस्य सङ्गचिह्नं दन्तुरता अपि न उन्नीयते ?

हिन्दी—हल्दी के रंग जैसी कांतिवाली यह (दमयन्ती) जम्बू नदी (सुमेरु से प्रवहित नदी) के कीचड़ से खींच क्या न निकाली गयी है कि इसमें दो अंगों की संधि का चिह्न और ऊँचाई-नीचाई भी लक्षित नहीं होती ?

टिप्पणी—दमयन्ती की देहाभा उत्तम स्वर्ण सदृश है, अतः सुमेरु-जात नदी जम्बू-नदी के पंक से खींच निकाली जाने की कल्पना की गयी है, क्योंकि उत्तम स्वर्ण 'जाम्बूनद' ही कहा जाता है। 'हारिद्र' सुवर्ण को भी कहा जाता है। इसी कारण कदाचित् अंगों के संधि-चिह्न और उन्नततावनतता भी लक्षित नहीं हैं। कीचड़ में से निकाले जाने पर ऐसा ही होता है। भाव यह है कि दमयन्ती कांचनगौरी है और उसके कूर्परादि भी लक्षित नहीं होते। यह सामुद्रिक लक्षण भी है। प्रकाशकार ने अंग-युग्म से कटि और स्तनद्वय भी अर्थ लिया है। जाम्बूनद के जंबाल से पूर्ण होने के कारण कटि की परमाणुसदृश कृशता और कुचयुगल की उत्तुंगता लक्षित नहीं होती। विद्याधर के अनुसार यहाँ अनुमान, उपमान और अनुप्रास अलंकार हैं। चंद्रकलाकार ने उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है॥ १३॥

सत्येव साम्ये सदृशादशेषात् गुणान्तरेणोच्चकृषे यदङ्गैः।
अस्यास्ततः स्यात्तुलनापि नाम वस्तु त्वमीषामुपमावमानः॥ १४॥

जीवातु—सतीति। यद्यस्मात् अस्या भैम्या अङ्गैः कर्तृभिः साम्ये सत्येव अशेषात्सदृशाच्चन्द्रादेः 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी। गुणान्तरेण केनापि गुणविशेषेणोच्चकृषे समानेषूत्कृष्टरभावीत्यर्थः। भावे लिट्। तत उन्नतत्वाद्धेतोः

तुलना समीकरणमपि स्यान्नाम ? काकुः। स्यात् किं ? न स्यादेवेत्यर्थः। तथा हि—वस्तुतः परमार्थतस्तु अमीषामङ्गानामुपमा तुलना तस्या अवमानोऽपमानः उत्कृष्टानामसमानैः सह समतापादनमवमान एवेत्यर्थः ॥ १४ ॥

अन्वयः—यत् अस्याः अङ्गैः साम्ये सति एव सदृशात् अशेषात् गुणान्तरेण उच्चकृषे ततः तुलना अपि स्यात् नाम, वस्तु तु अमीषाम् उपमावमानः।

हिन्दी—क्योंकि इस (दमयन्ती) के अंगों से समता होते ही (वे अंग) समान सब (उपमान) वस्तुओं से किसी गुण विशेष के कारण उच्च (सिद्ध) हो गये, तब फिर समता भी हो सकेगी क्या ? (नहीं हो सकती)। वास्तव में तो इनकी (अंगों की अन्य पदार्थ से) उपमा (अंगों का अथवा दमयन्ती का) अपमान है।

टिप्पणी—मान्यता यह है कि उपमेय की अपेक्षा उपमान श्रेष्ठ होता है (कोई प्रशंसक किसी वस्तु की समता निम्न कोटि के पदार्थ से क्यों करेगा ?) पर दमयन्ती के मुखादि अंगों की तुलना चंद्र, कमल इत्यादि उपमानों से की जाने लगी तो प्रतीत हुआ कि ये उपमान तो किसी न किसी दृष्टि से उपमेय की अपेक्षा हीन है। उदाहरणार्थ दमयन्ती का मुख (उपमेय) निष्कलंक है, उसका उपमान चंद्र कलंक युक्त है। इसी प्रकार कमल केवल दिन में विकसित होता है, रात्रि में मुंद जाता है और श्रीहीन हो जाता है, पर मुख सदा विकसित (शोभा-श्रीयुक्त) रहता है। ऐसे ही अन्य अंगों के उपमान। इस प्रकार विचार करते नल को प्रतीत हुआ कि दमयन्ती के अंगों की समता जिनसे हो सके, वैसे पदार्थ हैं ही नहीं। नीलकमल कटाक्ष विक्षेपादि से युक्त नहीं है, अतः नयनों के उपमान नहीं हो सकते। बंधूक पुष्प में लाली होने पर वह मार्दव, अम्लानता आदि कहाँ, जो दमयन्ती के ओष्ठ युगल में है ? तो इस प्रकार समता संभव नहीं है। वस्तुतः ऐसा करना दमयन्ती और उसके अंगों का अवमान है। भाव यह कि दमयन्ती के अंग अनुपम हैं। मल्लिनाथ ने 'स्यात्तुलनाऽपि नाम' में काकुवक्रोक्ति का उल्लेख किया है, विद्याधर के अनुसार प्रतीप अलंकार ॥ १४ ॥

पुराकृतिस्त्रैणमिमां विधातुमभूद्विधातुः खलु हस्तलेखः।
येयं भवद्भावि पुरन्ध्रिसृष्टिः सास्यै यशस्तज्जयजं प्रदातुम् ॥ १५ ॥

जीवातु--पुरेति। विधातुः स्रष्टुः, पुराकृतिः पूर्वसृष्टिः तत्र स्त्रैणं स्त्रीसमूहः पूर्वा स्त्रीसृष्टिरित्यर्थः। इमां भैमीं विधातुं स्रष्टुं हस्तलेखः अभून् खलु। लेखनाभ्यासिभिर्हस्तकौशलार्थमेव यल्लिख्यते स हस्तलेखः तादृशीयमिति निदर्शनानुप्राणिता पूर्वसृष्टिभैमीनिर्माणार्थाभ्यासरूपत्वोत्प्रेक्षा। किं च येयं भाविनीनां पुरन्ध्रीणां सृष्टिः सा अस्य भैम्यै तासां पुरन्ध्रीणां जयेन जातं तज्जयजयशो प्रदातुमिति फलोत्प्रेक्षा ॥ १५ ॥

अन्वयः--पुराकृतिः स्त्रैणम् इमां विधातुं विधातुः हस्तलेखः अभूत् खलु, या इयं भवद्भाविपुरन्ध्रिसृष्टिः सा अस्यै तज्जयजं यशः प्रदातुम्।

हिन्दी—पहिले रचा हुआ स्त्री-समूह इस (दमयन्ती) की रचना के निमित्त विधाता का निश्चयतः प्रथम अभ्यास था, और जो यह विद्यमान और भविष्य में रची जाती नारियों की रचना है, वह इस (दमयन्ती) को उन (सुन्दरियों) को जीतने से उत्पन्न कीर्ति देने के निमित्त है।

टिप्पणी--भाव यह है कि दमयन्ती के समान न तो पहिले ही कहीं कोई सुन्दरी रची गयी और न दमयन्ती के समय में है और न भविष्यत् में होगी। पहिले जो उर्वशी, रम्भा आदि को विधाता ने अपनी कला को निखारने के प्रथम प्रयास के लिए रचा था और यह जो वर्तमान-भविष्यत् की नागरिकाओं की रचना है, वह इसलिए है कि यह प्रचारित हो सके कि दमयन्ती का सौन्दर्य अप्रतिम है; त्रिकाल न थी, और विधाता की यह सदा-सर्वदा की उत्कृष्ट कृति है। मल्लिनाथ ने फलोत्प्रेक्षा का उल्लेख किया है और विद्याधर ने उत्प्रेक्षा का॥

भव्यानि हानीरगुरेतदङ्गात् यथा यथानर्ति तथा तथा तैः।
कस्याधिकस्योपमयोपमाता दाता प्रतिष्ठां खलु तेभ्य एव ॥ १६ ॥

जीवातु—भव्यानीति। भव्यानि रम्याणि चन्द्राद्युपमानवस्तूनि, एतस्या भैम्याः, अङ्गात् मुखादेर्यथा यथा हानीरपकर्षान् 'ग्लाम्लाजहातिभ्यो निर्वक्तव्य' इति जहातेः स्त्रियां निप्रत्ययः क्तिनोऽपवादः। अगुरगमन्, 'इणो गा लुङि' इति गादेशे 'गाति स्था' इत्यादिना सिचो लुक्। 'आत' इति झेर्जुसादेशः। तथा तथा तैश्चन्द्राद्युपमानैरनर्ति हर्षान्नृत्यं कृतमित्यर्थः। नन्वपकर्षे कथं हर्षः? तत्राह--उपमाता कविः 'मातेर्माङि वा तृन्'। अधिकस्योत्कृष्टस्यास्य भैम्यङ्गस्योपमया उपमानीकरणेन। अथ वा गत्वन्तराभावात् तैरेव तुलनया तेषामेवोप-

मानीकरणेनेत्यर्थः । तेभ्यश्चन्द्रादिभ्य एव प्रतिष्ठां दाता दास्यति । ददातेर्लुट् । तथा च यथा कथंचित् प्रतिष्ठालङ्कारे उपमेयत्वेन वा, उपमायामुपमानत्वेन वा कविप्रसादाच्चन्द्रादीनां पुनः प्रतिष्ठा भविष्यति इत्यनर्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥

अन्वयः—एतदङ्गात् भव्यानि यथा यथा हानीः अगुः तथा तथा तैः अनर्ति, अधिकस्य अस्य उपमया उपमाता तेभ्यः एव प्रतिष्ठां दाता खलु ।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के अंग (मुखादि) से रमणीय (चन्द्रमादि उपमान) जैसे-जैसे हानि (अपकर्ष) पाते गये, वैसे-वैसे वे नाचने लगे (प्रसन्न हुए), क्योंकि विशिष्ट इस (दमयन्ती-अंग) की उपमा से उपमा देने वाला (रचयिता) उन्हें (उपमानों को) ही प्रतिष्ठा निश्चयपूर्वक देगा ।

टिप्पणी—दमयन्ती के अंग की उपमा देने में यद्यपि कविसमयसिद्ध उपमान हीन होने से उचित प्रमाणित नहीं हुए, तथापि अन्य उपमान कहाँ से लाये जायें ? और स्पष्टीकरण के लिए उपमा तो देनी होगी ही । इस दृष्टि से भले ही हीन प्रमाणित हों, भले ही अकीर्ति, अपमान और अवहेलना प्राप्त हो, उपमान तो वे प्रसिद्ध चंद्रादि ही रहेंगे । सो इन चंद्रादि उपमानों को दमयंती-अंगों से उमपित होते हुए अयश ही मिला, फिर भी वे अत्यन्त प्रसन्न हुए । उन्हें लगा कि वे धन्य हुए कि कम से कम उन्हें अपने से अच्छा प्रतियोगी तो मिला । किसी न किसी रूप में अपने से अच्छे का उपमान बनने का सौभाग्य तो मिला अब तक तो हीन का ही उपमान बनने का दुर्भाग्य आता था । विद्याधर के अनुसार यहाँ हानि-गमन-नर्तन-क्रिया-विरोध अलंकार है । चंद्रकलाकार ने असंबंध में संबंध का वर्णन होने के आधार पर अतिशयोक्ति का उल्लेख किया है ॥ १६ ॥

नास्पर्शि दृष्टापि विमोहिकेयं दोषैरशेषैः स्वभियेति मन्ये ।
अन्येषु तैराकुलितस्तदस्यां वसत्यसापत्न्यसुखी गुणौघः ॥ १७ ॥

जीवातु—नेति । दृष्टापि विमोहिका दर्शनमात्रेणापि व्यामोहिकेयं दमयन्ती अशेषैर्दोषैः स्वभिया अस्मानपि मोहयिष्यतीत्यात्मीयभयेनैव नास्पर्शि न स्पृष्टेति मन्ये । उत्प्रेक्षा । भीरवो हि भयहेतून् स्प्रष्टुमेव बिभ्यतीति भावः । तत्तस्मात् दोषस्पर्शाभावात् । अन्येषु स्त्र्यन्तरेषु तैर्दोषैराकुलितः पीडितो गुणौघोऽस्यां

भैम्यामसापत्न्येन अकण्टकत्वेन सुखी सन् वसति 'प्रायेण सामग्रचविधौ गुणा-नामि'त्यपवादोऽस्यामेव दृष्ट इति भावः ॥ १७ ॥

अन्वयः—दृष्टा अपि इयं विमोहिका अशेषैः दोषैः स्वभिया न अस्पर्शि इति मन्ये, तत् अन्येषु तैः आकुलितः गुणौघः अस्याम् असापत्न्यसुखः वसति ।

हिन्दी—देखने मात्र से इस विमोहित (आकृष्ट, बेसुध) करनेवाली (दमयन्ती) को समस्त दोषों ने अपने (बेसुध हो जाने के) ही डर से नहीं छुआ—(मैं नल) ऐसा मानता हूँ,—सो अन्य (सुन्दरियों) में उन (दोषों) से व्याकुल गुणसमूह इस (दमयंती) में अवैरिभाव का सुखानुभव करता बसता है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती के स्वरूप में, शरीर सौष्ठव में एक भी दोष नहीं है और समस्त गुण हैं । दोषों को डर है कि दमयन्ती के पास पहुँचते ही वे बेसुध हो जायेंगे, क्योंकि उसको तो देखते ही लोग विमोहित हो जाते हैं, छूने की तो बात क्या ? दोषाभाव ही गुण है—एषा एव विपर्य-स्ततया गुणाः । सो जब दोष पास तक नहीं फकटते, तो गुण दमयन्ती-देह में निष्कटक भाव से प्रसन्नता-पूर्वक टिक गये । अन्यत्र तो दोष जब-तब उनकी सीमा में प्रविष्ट हो कष्ट देते रहते थे—कलंकित करते रहते थे । विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ १७ ॥

औज्झि प्रियाङ्गैर्घृणयैव रूक्षा न वारिदुर्गात्तु वराटकस्य ।
न कण्टकैरावरणाच्च कान्तिर्धूलीभृता काञ्चनकेतकस्य ॥ १८ ॥

जीवातु—औज्झीति । प्रियांगैर्भैमीगात्रैः वराटकस्य बीजकोशस्य कमल-कर्णिकाया इत्यर्थः । 'बीजकोशो वराटकः' इत्यमरः । रूक्षा परुषा कान्ति-र्घृणयैव रौक्ष्यजुगुप्सयैव औज्झि विसृष्टा । उज्झ विसर्गे कर्मणि लुङ् । वारिदुर्गा-द्वारिदुर्गस्थत्वात्तु न । किं च काञ्चनकेतकस्य धूलीभिर्भृता पूर्णा कान्तिरौज्झि रजःकीर्णत्वादेवोज्झिता कण्टकैरावरणात्तु न । रौक्ष्यादिदोषदूषितत्वान्न भैमी-कायकान्तिसाम्यमर्हति । महती तत्कायकांतिरित्यर्थः ॥ १८ ॥

अन्वयः—प्रियाङ्गैः वराटकस्य रूक्षा कान्तिः घृणया एव औज्झि वारि-दुर्गात् तु न, काञ्चनकेतकस्य च धूलीभृता कान्तिः (औज्झि) कण्टकैः आवरणात् न ।

हिन्दी--प्रिया (दमयन्ती) के अंगों ने कमलकर्णिका की रूखी कांति घृणा से ही छोड़ी, इसलिए नहीं कि वह जल के दुर्ग में रहती है, और सुवर्ण केतकी की कांति धूलिधूसरा होने से छोड़ी, कुछ काँटों के घेरे में घिरी रहने के कारण नहीं।

टिप्पणी—कमलकर्णिका और केतकी का सुनहरा रंग शरीर-वर्ण के लिए अच्छा माना जाता है, किंतु दमयन्ती का शरीर-वर्ण कमलकर्णिका और केतक के रंग जैसा नहीं है। तब प्रश्न होता है कि क्यों दमयन्ती के शरीर ने ऐसा किया ? क्या इसलिए कि वह कमल की कर्णिका जल-दुर्ग में रहने से गृहीत नहीं हो सकती, और क्या केतकी-पुष्प काँटों की बाड़ में रक्षित है, इससे नहीं पाया जा सकता ? ऐसा नहीं है। कमलकर्णिका को जान-बूझ कर, शक्ति होने पर भी इसलिए छोड़ दिया गया कि वह रूखी और कठोर है और केतकपुष्प की कांति पर धूल जम जाती है। ये दोनों इन दोषों से अग्राह्य रहे। भाव यह है कि दमयन्ती की देहकांति के समुख कमल-कर्णिका और केतकपुष्प-- दोनों फीके, हीन अतएव अग्राह्य हैं। दमयंती की देहकांति इन दोनों से अधिक आकर्षक वर्ण की और स्निग्ध-चिकण थी। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा-दीपक अलंकार ॥ १८ ॥

प्रत्यङ्गमस्यामभिकेन रक्षां कर्तुं मघोनेव निजास्त्रमस्ति।
वज्रञ्च भूषामणिमूर्तिधारि नियोजितं तद् द्युतिकार्मुकं च ॥ १९ ॥

जीवातु—प्रत्यङ्गमिति। अस्यां भैम्याम्। अभिकामयत इत्यभिकेन कामुकेन 'कमनः कामनोऽभिकः' इत्यमरः। 'अनुकाभिकाभीकः कमयिता' इति निपातनात्साधुः। मघोना इन्द्रेण प्रत्यङ्गं रक्षां कर्तुं नियोजितं नियमितं भूषामणीनां वज्रमणीनां मूर्तिमाकारं धारयतीति तद्धारि निजास्त्रं वज्रं च तेषां मणीनां द्युतय एव कामुकमणिवनुश्चास्तीव इन्द्रनियोगाद् भूषामणितत्प्रभाव्याजेन अवरोधरक्षार्थं वज्रायुधं धनुश्च प्रत्यङ्गमावृत्य तिष्ठतीवेत्युत्प्रेक्षा ॥ १९ ॥

अन्वयः—अभिकेन मघोना प्रत्यङ्गं रक्षां कर्त्तुं भूषामणिमूर्त्तिधारि निजास्त्रं वज्रं तद्द्युतिकार्मुकं च अस्यां नियोजितम् इव अस्ति।

हिन्दी--कामुक इन्द्र ने (दमयन्ती) के अंग-अंग की रक्षा करने के निमित्त आभूषणों में जड़ी मणियों (वज्र-हीरा) का रूप धारण किये अपने

अस्त्र वज्र और उस (वज्रमणि) की दमक रूप धनुष् (वर्षा से संबंध रखने वाले इन्द्र-धनुष्) को इस (दमयन्ती) के प्रति नियुक्त-सा किया है।

टिप्पणी—दमयन्ती हीरा (वज्र) आदि मणियों से जड़े आभूषण पहिने है, जिनमें दमक और चमक है। कवि-कल्पना है (नल ने विचारा कि) देवराज इन्द्र दमयन्ती का अभिलाषी है, अतएव कहीं कुछ ऐसा न हो कि दमयन्ती का कोई अंग दूषित हो जाय; इससे उसने मणियों के रूप में वज्र और उन मणियों से निकलती कांति के रूप में सुरचाप को प्रहरी बना दिया है। मल्लिनाथ ने इस श्लोक में उत्प्रेक्षा, नारायण ने वज्र-शब्दच्छल के द्वारा सहेतुकोत्प्रेक्षा और विद्याधर ने सापह्नवोत्प्रेक्षा का निर्देश किया है ।। १९ ।।

अस्याः सपक्षैकविधोः कचौघः स्थाने मुखस्योपरि वासमाप।
पक्षस्थतावद्बहुचन्द्रकोऽपि कलापिनां येन जितः कलापः ।। २० ।।

जीवातु—अथासर्गसमाप्तेर्दमयन्त्याश्चिकुरादिपादनखान्तवर्णनमारभते—अस्या इत्यादि। अस्या भैम्याः कचौघः केशपाशः सपक्षः सदृशः सुहृद्भूतश्चैक एव विधुश्चन्द्रो यस्य तस्य सपक्षैकविधोः 'तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य' इति वैकल्पिकः पुंवद्भावः। मुखस्योपरि वासं स्थितिमाप, स्थाने युक्तम्। कुतः येन कचौघेन पक्षस्थाः गरुन्निष्ठाः स्ववर्ग्याश्च तावन्तो बहवश्चन्द्रका मेचकाः चन्द्राश्च यस्य सोऽपि। 'समौ चंद्रकमेचकौ' इत्यमरः। चन्द्रपक्षे 'शेषाद्विभाषा' इति कप्। कलापिनां बर्हिणां कलापो बर्हं जितः अनेकचन्द्रसहायविजयिनः एकचन्द्रविजयस्तदुपर्यवस्थानं च किं चित्रमित्यर्थः ।। २० ।।

अन्वयः—अस्याः सपक्षैकविधोः मुखस्य उपरि कचौघः स्थाने वासम् आप, येन पक्षस्थतावद्बहुचन्द्रकः कलापिनां कलापः अपि जितः।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के—जिसका पक्षधर एकमात्र चन्द्रमा ही है (चन्द्रसदृश), ऐसे मुख के ऊपर केशों के समूह ने उचित ही स्थिति प्राप्त की, जिसने पंखों में लगे उतने बहुत-से चन्द्रकों से युक्त मयूरों के पिच्छभार को जीत लिया है।

टिप्पणी—दमयन्ती के मुख की तुलना यदि की जा सकती है, तो चन्द्र से ही। उसका अनेक आभूषणों से मंडित केश-जाल अनेक चन्द्रकों से युक्त प्रतीत होता है, जिसके संमुख मयूरों के अनेकचन्द्रक युक्त पिच्छभार भी

नहीं ठहरते। केश घने हैं, उतने कि जितने मयूरपिच्छ भी नहीं हैं और चन्द्रकद्युति अनेक आभूषण उनमें गुँथे हैं, अतः वे मयूरपिच्छों से अधिक आकर्षक हैं! इस प्रकार जब अनेक चन्द्रकों को दमयन्ती-केशभार ने पराजित कर रखा है, तो एक बेचारे चन्द्र (लघुताद्योतनार्थ चन्द्रक) की क्या गिनती? इसी कारण मुखरूप में पराजित चन्द्र के ऊपर, उच्चस्थान शीर्ष पर विजयी केशभारों को स्थान देकर विधाता ने युक्तियुक्त कार्य ही किया है। इस श्लोक से आरम्भ कर अन्तिम १०९ वें श्लोक तक दमयन्ती के केश से लेकर चरणनखों तक का वर्णन किया गया है—'इति स चिकुरादारभ्यैनां नखावधि वर्णयन्"" ।' २०, २१, २२ वें श्लोकों में केशों का वर्णन है ॥ २० ॥

अस्या यदास्येन पुरस्तिरश्च तिरस्कृतं शीतरुचान्धकारम् ।
स्फुटस्फुरद्भङ्गकचच्छलेन तदेव पश्चादिदमस्ति बद्धम् ॥ २१ ॥

जीवातु—अस्या इति। अस्या भैम्याः आस्येनैव शीतरुचा मुखचन्द्रेण यदन्धकारं तमः। 'अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तम्' इत्यमरः। पुरो अग्रे तिरश्च पार्श्वयोश्च तिरस्कृतं तदन्धकारमेवेदं स्फुटं स्फुरन् भङ्गः कौटिल्यं पराजयश्च येषां तेषां कचानां छलेन पश्चाद्बद्धमस्तीत्युत्प्रेक्षा। तिरस्कृतो हि भग्नोत्साहः क्वचित्पृष्ठभागे बद्धस्तिष्ठतीति भावः ॥ २१ ॥

अन्वयः—अस्याः आस्येन शीतरुचा यत् अन्धकारं पुरः तिरः च तिरस्कृतम् तत् एव स्फुटस्फुरद्भङ्गकचच्छलेन इदं पश्चात् बद्धम् ।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) मुख रूप शीत किरण (चन्द्र) ने जो अन्धकार आगे और इधर-उधर पार्श्वों में अपसारित किया, वही प्रकट विलसित भंगिमा-युक्त केशों के व्याज से यह पीछे बाँध दिया।

टिप्पणी—दमयन्ती का केशपाश अत्यन्त श्याम और भंगिमायुक्त (घुँघराले) है जिसे पीछे जूड़े के रूप में समेट कर बाँध दिया गया है और उसका मुख शीतकिरण चन्द्र के समान सुन्दर और शांति-सुखदायी है। कवि-कल्पना है कि मुख के रूप में चन्द्रमा ने संमुखभाग और पार्श्वभागों से अन्धकार को हटाकर अपमानित और पराजित किया, केश-पाश रूप में उसी पराजित अन्धकार को पीछे बाँध लिया गया है। तिरस्कृत और हतोत्साह

बेचारा अन्धकार केशपाशरूप में पीछे-बँधा पड़ा हुआ है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा है और विद्याधर के अनुसार रूपकापह्नुति। चन्द्रकलाकार ने रूपक-कैतवापह्नुति-प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के अंगांगिभाव संकर का निर्देश किया है ॥ २१ ॥

अस्याः कचानां शिखिनाञ्च किन्नु विधिं कलापौ विमतेरगाताम्।
तेनायमेभिः किमपूजि पुष्पैरभर्त्सि दत्वा स किमर्धचन्द्रम् ॥२२॥

जीवातु—अस्या इति। अस्या भैम्याः कचानां केशानां शिखिनां बर्हिणश्च कलापौ केशपाशबर्हभारौ। 'कलापो भूषणे बर्हे तूणीरे संहतौ कचे' इत्यमरः। विमतेर्मिथो विवादाद्विधिमगातां स्वतारतम्यं प्रष्टुमगमतां किं न। 'इणो गा लुङि' इति गादेशः। तेन विधिना अयं केशपाश एभिः पुष्पैरिति हस्तेन पुरोवर्तिनिर्देशः अपूजि किम्। महतः पूज्यत्वादिति भावः। स शिखिकलापः अर्धचन्द्रं चन्द्रकं गलहस्तं च दत्त्वा अभर्त्सि भर्त्सितः किं महाजनद्वेषिणो नीचस्य शास्यत्वादिति भावः। अर्धचन्द्रस्तु चन्द्रके गलहस्ते बाणभेदः इति विश्वः। शिखिकलापस्य चन्द्रकवत्त्वं केशपाशस्य तत्कुसुमं ब्रह्मदत्तं शाश्वतमिति भावः। अत्रोत्तरोत्प्रेक्षयोः प्रथमोत्प्रेक्षसापेक्षत्वात् सजातीयसङ्करः ॥ २२ ॥

अन्वयः—अस्याः कचानां शिखिनां च कलापौ विमतेः विधिम् अगातां किंतु, तेन अयम् एभिः पुष्पैः अपूजि किम्, सः अर्द्धचन्द्रं दत्त्वा अभर्त्सि किम् ?

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के केश और मयूरों के पिच्छभार परस्पर विवाद होने से क्या (निर्णय कराने को) विधाता के निकट गये थे ? क्या उन (ब्रह्मा) ने इस (केशपाश) को इन (केशों में गुँथे) फूलों से पूजा है ? उस (मयूरपिच्छ) की क्या गरदनिया देकर भर्त्सना की है ?

टिप्पणी—दमयन्ती के केशपाश और मयूरपिच्छ में विवाद उठ खड़ा हुआ कि दोनों में कौन अच्छा—बड़ा है ? निर्णय के लिए वे विधाता की सेवा में पहुँचे। जैसा कि स्वाभाविक था, विधाता ने दमयन्ती-केशपाश को उत्तम बताया और फूलों से—फूल चढ़ाकर उसकी आराधना की और मयूरपिच्छ को गरदनिया देकर डाँट-फटकार कर बाहर कर दिया। भाव यह कि फूल गुँथे केशपाश चन्द्रक युक्त मयूरपिच्छ से कहीं मनोरम हैं। नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा-प्रतीप और मल्लिनाथ के

अनुसार उत्तरवर्त्तिनी दो उत्प्रेक्षाओं के प्रथमोत्प्रेक्षासापेक्ष होने के कारण सजातीय संकर है ॥ २२ ॥

केशान्धकारादथ दृश्यफालस्थलार्धचन्द्रा स्फुटमष्टमीयम् ।
एतां यदासाद्य जगज्जयाय मनोभुवा सिद्धिरसाधि साधु ॥ २३ ॥

जीवातु—केशेति । केशः कैशपाश एवान्धकारस्तस्मात् अथानन्तरं दृश्यो दर्शनार्हः फालस्थलं ललाटभाग एवार्धचन्द्रो यस्यास्सा इयं दमयन्ती अष्टमी । तत्राप्यन्धकारानन्तरदृश्यार्धचन्द्रत्वात्कृष्णाष्टमी शुक्लपक्षे विपर्ययात्स्फुटमित्युत्प्रेक्षायाम् । कुतः ? यद्यस्मान्मनोभुवा जगज्जयाय एतामासाद्य साधु सिद्धिः जगज्जयसिद्धिः असाधि साधिता । कृष्णाष्टम्यां जैत्रयात्रायां जयसिद्धिरिति ज्योतिर्विदः । यथाह पितामहः—'जयदा विजिगीषूणां यात्रायामसिताष्टमी । श्रवणेनाथ रोहिण्या जययोगो युता यदि ॥' इति ॥ २३ ॥

अन्वयः—केशान्धकारात् अथ दृश्यफालस्थलार्द्धचन्द्रा इयं स्फुटम् अष्टमी, यद् मनोभुवा जगज्जयाय एताम् आसाद्य साधु सिद्धिः असाधि ।

हिन्दी—केशों के अँधियारे के पश्चात् (नीचे) दर्शनीय ललाटपट्ट रूप आधा चन्द्रमा धारण करती यह (दमयन्ती) प्रत्यक्ष अष्टमी है, कि मनोजन्मा (काम) ने जगत् विजय के निमित्त इसे प्राप्त कर ठीक ही सिद्धि साधी है ।

टिप्पणी—इस श्लोक में आधे चन्द्रमा के समान ललाट अथवा अर्धचन्द्राकार तिलक लगे ललाट का वर्णन है । इसी आधार पर दमयन्ती को अर्धचन्द्रधारती कृष्णपक्ष की अष्टमी माना गया है, जिस रात को जगत् को वश में करने के लिए गुटिकादि सिद्धि साधी जाती है । ज्योतिशास्त्र के अनुसार कृष्णाष्टमी को आरब्ध जययात्रा सफल होती है, यदि वह श्रवण और रोहिणी नक्षत्र से युक्त है । काम ने इसी अष्टमीरूपी दमयन्ती को प्राप्त कर स्वयंवर में जगत् विजय के लिए यात्रा करने का उचित ही निर्णय किया है । उत्प्रेक्षालंकार ॥ २३ ॥

पुष्पं धनुः किं मदनस्य दाहे श्यामीभवत्केसरशेषमासीत् ।
व्यधाद्द्विधेशस्तदपि क्रुधा किं भैमीभ्रुवौ येन विधिर्व्यधत्त ॥ २४ ॥

जीवातु—पुष्पमिति । मदनस्य दाहे दाहकाले, पुष्पमेव धनुः श्यामीभवन्तः केसराः किञ्जल्का एव शेषो यस्य तदासीत् किम् । किञ्च ईशो हरः तदपि

क्रुधा क्रोधेन द्विधा व्यधात् द्वेधा व्यभजत् किम्। येन द्विधा विभक्तेन पुष्पेण विधिर्वेधाः भैम्या भ्रुवौ व्यधत्त असृजदित्युत्प्रेक्षा ॥ २४ ॥

अन्वयः—मदनस्य दाहे पुष्पं धनुः श्यामीभवत्केसरशेषम् आसीत् किम्, ईशः तत् अपि क्रुधा द्विधा व्यधात् किम्, येन विधिः भैम्या भ्रुवौ व्यधत्त ?

हिन्दी—काम के (शिव द्वारा) दग्ध किये जाने पर (इसका) कुसुम-चाप श्याम केसरमात्रावशेष रह गया था क्या, और शिव ने उस (धनुष्) को भी क्रोध से दो-खंडकर डाला था क्या, जिससे विधाता ने भीमपुत्री का भ्रूयुगल बनाया ?

टिप्पणी—दमयन्ती का भ्रूयुगल अत्यन्त श्याम, धनुष् के दो खंडों के आकार का अतएव इतना मनोहर है कि काम-धनुष् की भाँति वह जगत् को मोहने में समर्थ है। ऐसा प्रतीत होता है कि विधाता ने उसी काम-चाप से दमयन्ती की दोनों भौंहें बनायी हैं, जो शिवद्वारा मदनदाह होते जलकर काला पड़ गया था और क्रोध में भरे शिव ने उस शत्रु-अस्त्र के दो खंड कर डाले थे। उससे ही विधि ने ये दो काली भौंहें बनायी हैं, तभी तो ये श्याम और विश्वजय सामर्थ्य से पूर्ण हैं। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा और विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षातिशयोक्ति ॥ २४ ॥

भ्रूभ्यां प्रियाया भवता मनोभूचापेन चापे घनसारभावः।
निजां यदप्लोषदशामपेक्ष्य संप्रत्यनेनाधिकवीर्यतार्जि ॥ २५ ॥

जीवातु—भ्रूभ्यामिति। किञ्च प्रियाया भैम्याः भ्रूभ्यां भवता भ्रूयुगलत्वेन परिणमता मनोभुवश्चापेन घनसारभावो दृढस्थिरांशत्वं कर्पूरत्वं च। 'सारो बले स्थिरांशे च। अथ कर्पूरमस्त्रियाम्। घनसार' इति चामरः। आपे प्राप्तः। आप्नोतेः कर्मणि लिट्। यद्यस्मात्, निजामप्लोषदशामपेक्ष्य अदाहावस्थात इत्यर्थः। सम्प्रत्यनेन मनोभूचापेन अधिकवीर्यता अधिकपराक्रमोऽपि अर्जि प्रापि। कर्मणि लुङ्। 'वीर्यं पराक्रमे रेतसि' इति वैजयन्ती। दग्धस्यापि स्मरचापस्य तद्भ्रूभूतस्य पूर्वाभ्यधिकपराक्रमदर्शनान्नूनं घनसारभावः प्राप्त इत्युत्प्रेक्षा ॥

अन्वयः—प्रियायाः भ्रूभ्यां भवता मनोभूचापेन घनसारभावः च आपे, यत् निजाम् अप्लोषदशाम् अपेक्ष्य सम्प्रति अनेन अधिकवीर्यता आर्जि।

हिन्दी—प्रिया (दमयन्ती) का भ्रूयुगल बनते काम-धनुष् ने घनसार-

भाव (अतिशय बल और कर्पूरभाव) प्राप्त कर लिया, जो कि अपनी जलने से पूर्व की दशा की अपेक्षा इस समय (जल जाने पर) अतिशय पराक्रम का अर्जन कर लिया।

टिप्पणी--पूर्वश्लोक और इस श्लोक तथा अगले (२६ वें) में दमयन्ती के भ्रूयुगल का वर्णन है। इस प्रकार तीन श्लोकों में भ्रू वर्णन हुआ। इस श्लोक में प्रथम श्लोक के भाव के प्रसंग में कवि-कल्पना है कि जलकर और टूटकर तो वस्तु प्रायः निःसार हो जाया करती है, परन्तु काम-चाप के संदर्भ में इसके विपरीत हुआ। शिवद्वारा जलाया और दो टूक किया काम-धनुष् दमयन्ती का भ्रूयुग्म बनकर और भी बलशाली और पराक्रमी बन गया। पहिले तो फूल का था-निःसार, अब तो सारवान् बन गया। दमयन्ती-भ्रूयुग्म रूप में उसकी जगद्वशीकरण क्षमता कहीं अधिक हो गयी है—'घनसारभाव' उसे प्राप्त हो गया है। इतना ही नहीं, जल कर काला पड़ा काम-चाप अब गौर हो गया कर्पूर के समान, जो जलकर ही अधिक ताप देता है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा और विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति–अनुमान ॥ २५ ॥

स्मारं धनुर्यद्विधुनोज्झितास्या यास्येन भूतेन च लक्ष्मरेखा।
एतद् भ्रुवौ जन्म तदाप युग्मं लीलाचलत्वोचितबालभावम् ॥ २६ ॥

जीवातु–स्मारमिति। यत्स्मरस्येदं स्मारं धनुः। अस्या भैम्या आस्येन भूतेन आस्यभावं गतेन विधुना चन्द्रेणोज्झिता, या लक्ष्मरेखा कलङ्करेखा च तद्युग्मं तदुभयं कर्तृ। लीलाचलत्वयोर्विलासचञ्चलत्वयोरुचितो योग्यो बालभावः केशत्वं ययोरभेदाच्छिशुत्वं च यस्मिन् जन्मनि तत्तथोक्तम्। एतस्या भैम्या भ्रुवौ जन्यभ्रूरूपेणोत्पत्तिमाप। एतस्या मुखमकलङ्कचन्द्रः भ्रुवौ च स्मरधनुश्चन्द्र-लक्ष्मणोरपरावतार इत्युत्प्रेक्षा ॥ २६ ॥

अन्वयः—यत् स्मारं धनुः अस्याः आस्येन भूतेन विधुना उज्झिता या लक्ष्मरेखा च तत् युग्मं लीलाचलत्वोचितबालभावम् जन्म एतद् भ्रुवौ आप।

हिन्दी— काम के धनुष् और इस (दमयन्ती) का मुख हुए चन्द्रमा द्वारा छोड़ दी गयी कलंक-रेखा--इस युगल ने चपल चेष्टाओं से पूर्ण बचपन से युक्त, विलास लीलाओं में पूर्ण केशों से संपन्न जन्म इस (दमयन्ती) के भ्रूयुग्म के रूप में पाया है।

टिप्पणी—दमयन्ती का भ्रूयुगल काम-धनुष् और चन्द्र की कलंक-रेखा के आकार का है—विलासपूर्ण और कामोद्दीपक। काम का जला और टूटा धनुष् और निष्कलंक दमयन्ती-मुख का साम्य पाने के निमित्त चन्द्र द्वारा त्यक्त कलंक-रेखा—दोनों ही उपेक्षित, त्यक्त थे। दमयन्ती का भ्रूयुग्म बन वे सार्थक हो गये। जन्म होने पर चञ्चल भाव होता ही है और भ्रूयुगल विलास-कटाक्षपूर्ण हैं और तदुचित केश-समूह से संपन्न हैं। इस प्रकार 'लीलाचलत्वोचितबालभाव' जन्म और भ्रूयुगल दोनों में है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा है, क्योंकि दमयन्ती-भ्रूयुगल में स्मरधनुष् और चन्द्र-कलंक के अपरावतार की संभावना की गयी है ॥ २६ ॥

इषुत्रयेणैव जगत्त्रयस्य विनिर्जयात्पुष्पमयाशुगेन ।
शेषा द्विबाणी सफलीकृतेयं प्रियादृगम्भोजपदेऽभिषिच्य ॥ २७ ॥

जीवातु—इष्विति। पुष्पमयाशुगेन कामेन कर्त्रा इषुत्रयेण करणेन जगत्त्रयस्य उभयप्राप्तौ कर्मणीति, षष्ठी। विनिर्जयात् 'शेषा शिष्टा त्रिष्वन्यस्मिन्नुपयुक्त' इति वैजयन्त्यां शेषशब्दस्य विशेष्यलिङ्गता। इयं द्विबाणी बाणद्वयं समाहारे द्विगोर्ङीप्। इयमिति हस्तनिर्देशः प्रियाया दृशोरेवाम्भोजयोः पदे स्थाने अभिषिच्य सफलीकृतेत्युत्प्रेक्षा कुसुमबाणपरिणतिरेवास्याः दृष्टिसृष्टिरन्यतमेतत्सकलयुवलोकक्षेमकत्वमिति भावः ॥ २७ ॥

अन्वयः—पुष्पमयाशुगेन इषुत्रयेण एव जगत्-त्रयस्य विनिर्जयात् शेषा इयं द्विबाणी प्रियादृगम्भोजपदे अभिषिच्य सफलीकृता।

हिन्दी—फूलों के बाणधारी (काम) ने तीन बाणों से ही तीनों जगत् को जीतकर शेष इन दो बाणों का प्रिया (दमयन्ती) के नेत्र-कमलों के पद पर अभिषेक कर (बाणों को) सफल कर दिया।

टिप्पणी—श्लोक संख्या २७ से ३५ तक नौ श्लोकों में नेत्रों का वर्णन किया गया है। काम के पाँच बाण हैं। उनमें से तीन बाणों से उसने एक-एक कर तीनों जगत् जीत लिये, दो बचे। वे निष्फल पड़े थे, उन्हें सफल बनाने के लिए उसने दमयन्ती के दोनों नेत्रों के रूप में उन्हें परिणत कर दिया। वे अब 'सफल' (फलयुक्त) होकर और भी मारक हो गये और अब तीन नहीं, दो बाणों से ही काम जगज्जय कर सकता है। भाव यह कि

दमयन्ती के नेत्र काम के त्रिलोक-विजयी बाणों से अधिक सामर्थ्यशील हैं अन्यथा संसार के संपूर्ण तरुण उनसे कैसे क्षुब्ध होते ? मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा तथा विद्याधर के अनुसार विषम-अतिशयोक्ति-रूपक अलंकार ॥ २७ ॥

सेयं मृदुः कौसुमचापयष्टिः स्मरस्य मुष्टिग्रहणार्हमध्या ।
तनोति नः श्रीमदपाङ्गमुक्तां मोहाय या दृष्टिशरौघवृष्टिम् ॥ २८ ॥

जीवातु—सेयमिति । मृदुः कोमला मुष्टिग्रहणार्हं हस्तेन ग्राह्यं मध्यमवलग्नं लस्तकं च यस्यास्सा सेयं दमयन्ती स्मरस्य कौसुमी कुसुममयी चापयष्टिर्धनुर्दण्ड इत्युत्प्रेक्षा । कुतः ? येयं नाऽस्माकं मोहाय मूर्च्छनाय श्रीमतः शोभनादपाङ्गान्मुक्तां दृष्टीनामेव शराणामोघस्य वृष्टिं तनोति करोति, सा कथं न कामचापयष्टिरिति भावः ॥ २८ ॥

अन्वयः—इयं मृदुः मुष्टिग्रहणार्हमध्या स्मरस्य सा कौसुमचापयष्टिः, या नः मोहाय श्रीमदपाङ्गमुक्तां दृष्टिशरौघवृष्टिं तनोति ।

हिन्दी—यह (दमयन्ती) कोमल, मुट्ठी में पकड़ लिये जाने वाले मध्य (कटि, मध्यस्थान) भागवाली काम की वह (प्रसिद्ध) कुसुम-चाप की धनुर्लता है, जो हमें मोहित करने के लिए शोभाशाली कटाक्षों से छोड़े दृष्टि रूप बाण समूह की वर्षा करती है ।

टिप्पणी—काम के धनुष् की यष्टि-समान दमयन्ती की पतली, कोमल कटि है, जिसे मुट्ठी में पकड़ा जा सकता है । जैसे धनुर्लता पकड़ कर काम संसार को जीतने के लिए बाणवर्षा करता है, वैसे ही जगज्जयी दमयन्ती के नेत्र-कटाक्ष हैं । ये भी काम-बाणों के तुल्य जगन्मोहक हैं । मल्लिनाथ के अनुसार 'कौसुमचापयष्टि' उत्प्रेक्षा है, विद्याधर के अनुसार यहाँ रूपक है । चन्द्रकलाकार ने रूपक-उत्प्रेक्षा की संसृष्टि का उल्लेख किया है ॥ २८ ॥

आघूर्णितं पक्ष्मलमक्षिपद्मं प्रान्तद्युतिश्वैत्यजितामृतांशु ।
अस्या इवास्याश्चलदिन्द्रनीलगोलामलश्यामलतारतारम् ॥२९॥

जीवातु—आघूर्णितमिति । आघूर्णितं प्रचलितं पक्ष्मलं पक्ष्मवत् । 'सिध्मादिभ्यश्च' इति लच् । प्रान्तद्युतेः कनीनिकाप्रान्तकान्तेः, श्वैत्येन धावल्येन जितामृतांशु अवधीरितचन्द्रं चलत् इन्द्रनीलस्य गोलं मण्डलमिवामला श्यामला

तारा स्थूला तारा कनीनिका यस्य तदस्या अक्षिपद्ममस्या अक्षिपद्ममिव असदृशमित्यर्थः। अनन्वयालङ्कारः। 'एकस्यैवोपमानोपमेयत्वेनानन्वयो मतः' इति लक्षणात् ॥ २९ ॥

अन्वयः—आघूर्णितं पक्ष्मलं प्रान्तद्युतिश्वैत्यजितामृतांशु चलदिन्द्रनील-गोलामलश्यामलतारतारम् अस्याः अक्षिपद्मम् अस्याः इव।

हिन्दी—धीमे-धीमे खुलता (विकसित होता), बरौनियों वाला (दल सहित), अपाङ्गशुभ्रता से अमृतदीधिति (चन्द्र) का जयी (चन्द्रमा से अधिक उज्ज्वल, शुभ्र, आह्लादकारी), चंचल इन्द्रनीलमणि के गोलकसदृश श्यामल पुतलियों वाला (चंचल, इन्द्रनीलमणि के गोलकसम श्याम भ्रमर-स्वर से युक्त) इस (दमयन्ती) का नयनकमल इसके (नयनकमल के) समान ही है।

टिप्पणी—दमयन्ती के नयनयुग्म को दमयन्ती के नयनसदृश कहकर उसकी अनुपमता प्रतिपादित करना कवि का अभीष्ट है। उसके नयनों की समता किसी से नहीं की जा सकती। इसके साथ ही 'अक्षिपद्म' कह कर आँखों को पद्म-तुल्य-सा कह दिया गया हैं। इसका तात्पर्य हुआ कि दमयन्ती के नयन पद्म-समान हैं, अप्रतिम नहीं। नारायण का विवेचन है कि 'अक्षिम-पद्म' में अभेदपरक 'रूपक' का प्रयोग किया गया है, 'उपमा' आदि का नहीं। इसका मंतव्य है कि अक्षि और पद्म में भेद का अभाव है, अक्षि ही स्वरूपतः पद्म है। भेद न होने से साम्य भी नहीं हुआ। अथवा कमल और नेत्र में यद्यपि साम्य है, तथापि 'अक्षिपद्म' का कमल से साम्याभाव है। 'अक्षिम-पद्मत्व' होने पर पद्मत्व का अभाव हो जायेगा। यह भी माना जा सकता है कि दक्षिणनयनपद्म वामाक्षिपद्मसदृश है, वामाक्षिपद्म दक्षिणाक्षिपद्म-सदृश है, अन्य कोई दमयन्तीनयन का उपमान नहीं है। मल्लिनाथ के अनुसार अनन्वय अलंकार और विद्याधर के अनुसार अनुप्रास-रूपकोपमान-अनन्वय अलंकार ॥ २९ ॥

कर्णोत्पलेनापि मुखं सनाथं लभेत नेत्रद्युतिनिर्जितेन।
यद्येतदीयेन ततः कृतार्थौ स्वचक्षुषी किं कुरुते कुरङ्गी ॥ ३० ॥

जीवातु—कर्णेति। नेत्रद्युत्या नेत्रकान्त्या निर्जितेनैतदीयेन भैम्याः संबन्धिना

कर्णोत्पलेनापि सनाथं सहकृतं मुखं लभेत यदि, ततः कृतार्था कुरङ्गी स्वचक्षुषी किंकुरुते कदर्थीकरोतीत्यर्थः । स्वमुखस्य तादृङ्नेत्रसानाथ्यं तावदास्तां तन्नेत्राभिभूतकर्णोत्पलसानाथ्येऽपि तावत्यैव द्युत्या स्वचक्षुषी उपेक्षेत । तदपि दुर्लभमिति भावः ॥ ३० ॥

अन्वयः—यदि कुरङ्गी नेत्रद्युतिनिर्जितेन एतदीयेन कर्णोत्पलेन अपि सनाथं मुखं लभेत ततः कृतार्था स्वचक्षुषी किं कुरुते ?

हिन्दी—यदि हरिणी (दमयन्ती के) नेत्रों की कांति से विजित इसके कर्णोत्पल (उत्पलसदृश कर्णभूषण) से भी युक्त मुख को पा ले तो कृतार्थं हो अपनी आँखों का फिर क्या करेगी ?

टिप्पणी—जैसा कि पूर्व श्लोक में कहा गया कि दमयन्ती के नेत्र अनुपम हैं। यही अब अन्य भंगिमा से कहा गया। प्रायः नेत्रों की तुलना हरिणी-नेत्रों से की जाती है हरिणाक्षी। इस श्लोक में कहा गया कि कुरंगी को तो यदि कर्णोत्पल-सनाथ भी दमयन्ती का मुख मिल जाता (जो कर्णोत्पल दमयन्ती-नेत्र की तुलना में हीन है), तो अपने को कृतार्थ मानती और फिर उसे अपनी आँखों की आवश्यकता ही न रह जाती। भाव यह कि कर्णोत्पल तुलना में दमयन्ती के नयनों के संमुख नहीं ठहरता, हरिणी-नयन उस कर्णोत्पल से भी हीन हैं। जो हीन से भी हीन हैं, उन कुरंगी नेत्रों को दमयन्ती-नेत्रों की तुलना में लाना किसी प्रकार उचित नहीं है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-काव्यलिंग अलंकार ॥ ३० ॥

त्वचः समुत्सार्य दलानि रीत्या मोचात्वचः पञ्चषपाटनानाम् ।
सारैर्गृहीतैर्विधिरुत्पलौघादस्यामभूदीक्षणरूपशिल्पी ॥३१॥

जीवातु—त्वच इति। विधिर्विधाता मोचात्वचो रम्भात्वचः। 'रम्भा मोचांशुमत्फला' इत्यमरः। पञ्च षड्वा पञ्चषाणि। 'संख्ययाव्यय' इत्यादिना बहुव्रीहिः। 'बहुव्रीहौ संख्येय' इति समासान्तो डच्। तेषां पाटनानां विदलनानां रीत्या प्रकारेण तावत्पाटयित्वेत्यर्थः। त्वच एव दलानि समुत्सार्य पञ्चषाणि बाह्यावरणान्यपनीयेत्यर्थः। ततो गृहीतैस्तथोत्पलौघाच्च गृहीतैस्सारैः सितासितवर्णैर्लावण्यद्रव्यैः अस्यां दमयन्त्याम् ईक्षणरूपशिल्पी अक्षिसौन्दर्यनिर्माता अभूदित्युत्प्रेक्षा ॥ ३१ ॥

अन्वयः—विधिः मोचात्वचः पञ्चषपाटनानां रीत्या त्वचः दलानि समुत्सार्य उत्पलात् च गृहीतैः सारैः अस्याम् ईक्षणरूपशिल्पी अभूत् ।

हिन्दी—विधाता केला की छाल के पाँच-छः पत्तों को उतारने की रीति से छाल के दल (परत) उतार कर और कमलों से लिये गये श्रेष्ठ भागों से इस (दमयन्ती) के नेत्रों की रमणीयता का शिल्पकार बना ।

टिप्पणी—दमयन्ती के अत्यंत मनोरम नेत्र विधि-शिल्प के परम रमणीय उदाहरण हैं । वे इतने रमणीय हैं कि उन्हें बनाकर ही विधाता 'शिल्पी' कहाया । विधाता ने केले के पाँच-छः परत उतारे और शुभ्रतम भाग लिया और नीलकमल का श्रेष्ठ भाग लिया । उनसे नेत्रों की शुभ्रता और पुतलियों की नीलिमा की रचना की । दमयन्ती के नेत्र अत्यन्त शुभ्र हैं और नीली पुतलियाँ हैं । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा और विद्याधर के अनुसार यथासंख्य-अतिशयोक्ति ॥ ३१ ॥

चकोरनेत्रैणदृगुत्पलानां निमेषयन्त्रेण किमेष कृष्टः ।
सारः सुधोद्गारमयः प्रयत्नैर्विधातुमेतन्नयने विधातुः ॥ ३२ ॥

जीवातु—चकोरेति । विधातुरेतन्नयने विधातुं प्रयत्नैः कर्तृभिः चकोरनेत्रयोरेणदृशोर्मृगाक्ष्णोः उत्पलानां च सुधोद्गारमयोऽमृतनिष्यन्दमयः । एषोऽग्रे दृश्यमानः सारो रसो निमेषो निमीलनं तेनैव यन्त्रेण निष्पीडनसाधनेन कृष्टः आकृष्टः किमित्युत्प्रेक्षा ॥ ३२ ॥

अन्वयः—एतन्नयने विधातुं विधातुः प्रयत्नैः चकोरनेत्रैणदृगुत्पलानां सुधोद्गारमयः एषः सारः किं निमेषयन्त्रेण कृष्टः ?

हिन्दी—इस (दमयंती) के नेत्रों की रचना के निमित्त विधाता के प्रयत्नों द्वारा चकोर और हरिणी के नेत्र और कमलों का पीयूष-निर्झर-रूप यह सार क्या निमेषरूप यंत्र से खींचा गया है ?

टिप्पणी—यहाँ यह द्योतित करना है कि दमयन्ती के नेत्र चकोर और हरिणी के नेत्रों और कमलों से श्रेष्ठ हैं, इसीसे यह कहा गया है कि सिरजनहार ने चकोर-हरिणी-नेत्र और उत्पल के सारद्रव्य को पलकों के यंत्र में (कोल्हू में गन्ने को पेर कर रस निकालने के समान) पेर कर दमयंती के नेत्र

बनाये हैं। इस 'सार' को अमृत-निर्झर से पूर्ण कहा गया है। यह उचित ही है, क्योंकि तीनों का संबंध अमृतांशु चंद्रमा से है—(१) चकोर चाँदनी पीता है; (२) ऐणी चंद्रांकवासिनी है; और (३) उत्पल सोमवंशी भी है—रात्रि में खिलकर चंद्रामृत-पान करते हैं। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-रूपक-उत्प्रेक्षा-अतिशयोक्ति है ॥ ३२ ॥

ऋणीकृता किं हरिणीभिरासीदस्याः सकाशान्नयनद्वयश्रीः ।
भूयोगुणेयं सकला बलाद्यत्ताभ्योऽनयाऽलभ्यत बिभ्यताभ्यः ॥ ३३ ॥

जीवातु—ऋणीकृतेति । हरिणीभिरस्या दमयन्त्याः उत्तमर्णाया इति भावः । सकाशान्नयनद्वयस्य श्रीः शोभा ऋणीकृता ऋणत्वेन गृहीतासीत् किमित्युत्प्रेक्षा । यद्यस्मात्, अनया भैम्या बिभ्यतीभ्यः, त्रस्यन्तीभ्यः त्रासावस्थायां शोभातिशयः । अतिभीरुणा निःशेषमृणं दीयत इति भावः । ताभ्यो हरिणीभ्यो भूयोगुणा द्वित्रिगुणेयं नयनशोभा सकला निश्शेषा बलादलभ्यत लब्धा ॥ ३३ ॥

अन्वयः—हरिणीभ्यः किम् अस्याः सकाशात् नयनद्वयश्रीः ऋणीकृता आसीत्, यत् अनया बिभ्यतीभ्यः ताभ्यः भूयोगुणा इयं सकला बलात् अलभ्यत ?

हिन्दी—हरिणियों ने क्या इस (दमयंती) के निकट से दोनों नेत्रों की शोभा ऋणरूप में ली थी, जो इस (दमयंती) से डरती उन (हरिणियों) से कई गुनी अधिक यह समूची (नयनश्री) बलपूर्वक (दमयंती ने) वसूल ली ?

टिप्पणी—दमयंती के नेत्रों की शोभा मृगियों की नेत्र-शोभा से कई गुनी अधिक है, इस आधार पर यह कल्पना की गयी कि कभी पहिले हरिणियों ने नयनों की शोभा उधार ली होगी, अब दमयंती ने ऋण रूप में दी गयी नयनशोभा को व्याज सहित कई गुनी अधिक करके बलपूर्वक प्राप्त कर लिया है। इसी कारण दमयंती के नयनों की शोभा अब कई गुनी अधिक हो गयी है, जिसके संमुख हरिणियों की नेत्र-शोभा नगण्य है। डरतीं, चंचलनयनोंवाली हरिणियों की अपेक्षा दमयंती के नयन कई गुना अधिक रमणीय और चंचल हैं। ऋणदाता ऋण लेने वाले से तीन-चार गुनी अधिक संपत् बलपूर्वक ले लेता है। याज्ञवल्क्यस्मृति के व्यवहाराध्याय में 'भूयोगुणत्व' के विषय में

अस्सी भाग तक का निर्देश किया गया है—'अशीतिभागो वृद्धिः स्यात् ।' (हिन्दी-व्याख्याकार के विचार में यह 'अशीतिभाग' १।८० का द्योतक है। व्यवहार में कदाचित् एक मुद्रा व्याज सहित १ + १।८० तक ली जाती होगी, जैसे कि आधुनिक युग में एक रुपये के एक सौ अस्सी पैसे तक मूल-व्याज सहित वसूल किये जायें।) विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-उत्प्रेक्षा-समासोक्ति अलंकार ॥ ३३ ॥

दृशौ किमस्याश्चपलस्वभावे न दूरमाक्रम्य मिथो मिलेताम् ।
न चेत्कृतः स्यादनयोः प्रयाणे विघ्नः श्रवः कूपनिपातभीत्या ॥ ३४ ॥

जीवातु—दृशाविति । चपलस्वभावे चञ्चलशीले, अस्या भैम्याः दृशौ दूरमाक्रम्य अम्बुपर्यन्तं गत्वेत्यर्थः । मिथो न मिलेतां न सङ्गच्छेयाताम्, काकुः । मिलतेर्लिङि ततस्तामादेशः । किं त्वनयोर्दृशोः प्रयाणे दूरगमने श्रवसी श्रोत्रे एव कूपाविति रूपकम् । तयोर्निपाताद्भीत्या कर्त्र्या विघ्नः कृतो न स्याच्चेत् । अत्र दृशोः कर्णान्तविश्रान्तयोः कूपपातभयहेतुकत्वोत्प्रेक्षा रूपकोज्जीवितेति सङ्करः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—अस्याः चपलस्वभावे दृशौ दूरम् आक्रम्य किं मिथो न मिलेतां चेत् अनयोः प्रयाणे श्रवः कूपनिपातभीत्या विघ्नः न कृतः स्यात् ।

हिन्दी—इस (दमयंती) के चंचल प्रकृति के नेत्र दूर तक दौड़ते जाकर क्या परस्पर मिल न जाते यदि इनके दूर जाने के मार्ग में कर्णकूप रूप कूप में गिर जाने के डर से विघ्न न पड़ जाता ?

टिप्पणी—दमयंती के दोनों नेत्र उन चंचल और, आकर्षक बालकों के समान हैं, जो इधर-उधर भागते फिरते हैं किंतु रास्ते में कूप, गढ़ा आदि में गिरने के भय से रुक जाते हैं, अर्थात् नेत्र अत्यन्त चंचल और बड़े-बड़े हैं—कानों तक फैले। मल्लिनाथ के अनुसार रूपकोज्जीविता उत्प्रेक्षा होने से संकर अलंकार है, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा-समासोक्ति ॥ ३४ ॥

केदारभाजा शिशिरप्रवेशात्पुण्याय मन्ये मृतमुत्पलिन्या ।
जाता यतस्तत्कुसुमेक्षणेयं यतश्च तत्कोरकदृक् चकोरः ॥ ३५ ॥

जीवातु—केदारेति । केदारः क्षेत्रविशेषः पर्वतविशेषश्च । तं भजतीति तद्भाक् । 'केदारः पर्वते शम्भौ क्षेत्रभेदालवालयोः' इति विश्वः । तयोत्पलिन्या

शिशिरप्रवेशात् शिशरर्तुप्रवेशाद्धेतोः पुण्याय धर्माय मृतं मन्ये। भावे क्तः। मन्य इत्युत्प्रेक्षायाम्। यतो यस्मात् केदारमरणादियं भैमी तस्या उत्पलिन्याः कुसुमे पुष्पे एव ईक्षणे यस्याः सा जाता। यतश्चकोरश्च तत्कोरकावेव दृशौ यस्य स जातः। केदारक्षेत्रमरणादुत्तमजन्मलाभ इत्यागमः॥ ३५॥

अन्वयः—केदारभाजा उत्पलिन्या शिशिरप्रवेशात् पुण्याय मृतं मन्ये, यतः इयं तत्कुसुमेक्षणा जाता, यतः चकोरः च तत्कोरदृक्।

हिन्दी—आलवाल (थाला) रूपी केदारनाथ शिव के समीप स्थित कमलिनी ने शिशिर ऋतु रूप शीत जल में प्रवेश करके पुण्य के निमित्त मृत्यु स्वीकारी, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि यह (दमयंती) उस (कमलिनी के) नेत्रोंवाली हुई और चकोर उसकी कली के नेत्र वाला।

टिप्पणी—द्योतित यह करना है कि दमयंती के नेत्र कमलतुल्य हैं और चकोर के उसकी कली-जैसे। कलिका की अपेक्षा कुसुम श्रेष्ठ होता है—इस क्रम से दमयंती के कमलकुसुम नयन चकोर के कलिका नयनों की अपेक्षा सुन्दर हैं। पर कमलिनी को ऐसा सौभाग्य मिला कैसे कि वह दमयन्ती और चकोर-नेत्र रूप में पुनर्जन्म पा सकी? उसने पुण्य में जीवनोत्सर्ग किया था केदारेश्वर में शीतल जल में स्नान करके। केदार का अर्थ केदारनाथ शिव भी है और थाला भी, शिशिर प्रवेश का अर्थ शिशिर, ऋतु का आना भी है और शीतलजल में प्रवेश भी। शिशिर के पाले में कमलिनी नष्ट हो जाती है। 'विश्व'कोष के अनुसार—'शिशिरः, स्यादृतोर्भेदे तुषारे।' मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा॥ ३५॥

नासादसीया तिलपुष्पतूणं जगत्त्रयन्यस्तशरत्रयस्य।
श्वासानिलामोदभरानुमेयां दधद्द्विबाणीं कुसुमायुधस्य॥ ३६॥

जीवातु—नासेति। अमुष्या इयमदसीया, नासा नासिका, जगत्त्रये न्यस्तं प्रयुक्तं शरत्रयं यस्य तस्य कुसुमायुधस्य सम्बधिनीं निश्वासानिलस्य निश्वास-मारुतस्य आमोदभरेण सौरभातिशयेन अनुमेयां द्विबाणीं शिष्टं बाणद्वयम्। समाहारे द्विगोर्ङीप्। दधत् तिलपुष्पमेव तूणमिषुधिरित्युत्प्रेक्षा॥ ३६॥

अन्वयः—अदसीया नासा जगत्त्रयन्यस्तशरत्रयस्य कुसुमायुधस्य श्वासानिलामोदभरानुमेयां द्विबाणीं दधत् तिलपुष्पतूणम्।

हिन्दी—इस (दमयंती) की नासिका त्रिजगत् (जय) के निमित्त तीन बाणों का प्रयोग कर देने वाले कुसुमायुध (काम) के निश्वास वायु की सुगंध-क्षार से अनुमित, (शेष) दो बाणों को धारती तिलके फूलों से बना तूणीर है।

टिप्पणी–अंग वर्णन क्रम में नासिका का वर्णन, जिसे दो बाणों को धारते काम का तूणीर बताया गया। नासिका के दो छेदों में काम के तीन लोकों के जय से बचे दो पुष्पबाण हैं, इसका अनुमान नासा-रंध्रों से निकलती सुगंध से होता है। यदि पुष्प न होते तो सुगंध न होती। और सुगंध है, अतः फूल हैं; क्योंकि जहाँ सुगंध है, वहाँ फूल होते हैं। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और काव्यलिंग ॥ ३६ ॥

बन्धूकबन्धूभवदेतदस्या मुखेन्दुनानेन सहोज्जिहानम् ।
रागश्रिया शैशवयौवनीयां स्वमाह सन्ध्यामधरोष्ठलेखा ॥ ३७ ॥

जीवातु—बन्धूकेति। अस्या भैम्याः अधरोष्ठलेखा अनेन मुखेन्दुना सहोज्जिहानमुद्यत् । बन्धूकबन्धूभवत् । बन्धुजीवकुसुमसमीभवत् एतत्पुरोवर्ति स्वमात्मानम् । 'आत्मनि स्वम्' इत्यमरः । रागश्रिया आरुण्यसम्पदा, शैशव-यौवनयोरेतत्सम्बन्धिनीं सन्ध्यामाह। अहोरात्रसन्धाविव वयःसन्धौ भवा सन्ध्या स्वयमेवेति स्वरागसमृद्ध्या कथयति इवेत्युत्प्रेक्षाव्यञ्जनाप्रयोगाद्गम्या ॥३७॥

अन्वयः—अस्याः अधरोष्ठलेखा अनेन मुखेन्दुना सह उज्जिहानं बन्धूक-बन्धू भवत् एतत स्वं रागश्रिया शैशवयौवनीयां सन्ध्याम् आह ।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के निचले ओठ की लेखा (अधर) इस (दमयंती के) मुख-चंद्र के साथ उत्पन्न होते, बंधूक (दुपहरिया के फूल) के बंधु (सदृश) बनते इस अपने को अरुण शोभा के कारण बाल्यावस्था और यौवन की संध्या (संधि) कर रही थी।

टिप्पणी—इस ३७ वें से ४२ वें (छः श्लोकों में) श्लोक तक दमयंती के अधरोष्ठ का वर्णन है। इस श्लोक में दमयंती की वय-संधिका चमत्कारपूर्ण चित्रण हुआ है। दुपहरिया के फूल के समान लाल अधर की लाली के कारण वयःसंधि का द्योतक बताया गया है, जो चंद्र के समान गुलाबी मुख के साथ इस अरुणरागमयी श्री को प्राप्त हुआ है। कल्पना की गयी है कि लाल अधर-

लेखा अपने को ही शैशव-यौवन की संधि घोषित कर रही है। दिन-रात का मध्यकाल—संध्यासमय लाल होता है और उदित होता चंद्र भी गुलाबी। शैशव-यौवन दिन-रात हैं, अधरों की लाली उनकी संध्या की लाली है। संध्या उदित होते लाल चंद्रमा की भाँति लाल होती है। इस श्लोक में दिन-रात की संध्या के तुल्य वयःसंधि में होने वाली संध्या ने अपनी राग-समृद्धि के कारण जैसे अपने को ही संध्या कहा, अतएव मल्लिनाथ के अनुसार व्यंजक शब्द का प्रयोग न होने से गम्योत्प्रेक्षा है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-रूपक अलंकार हैं ॥ ३७ ॥

अस्या मुखेन्दोरधरः सुधाभूर्बिम्बस्य युक्तः प्रतिबिम्ब एषः।
तस्याथ वा श्रीद्रुमभाजि देश सभाव्यमानास्य तु विद्रुमे सा ॥ ३८ ॥

जीवातु—अस्या इति। अस्याः भैम्याः एषोऽधरः अधरोष्ठः मुखेन्दो सुधायाममृते भवत्याविर्भवतीति सुधाभूः बिम्बस्य बिम्बफलस्य प्रतिबिम्बः सदृशो युक्तः। न तु च बिम्बफलात्कश्चिद्विशेषोऽस्तीत्यर्थः। तस्य बिम्बफलस्य श्रीः शोभाद्रुमभाजि द्रुमवति देशे सम्भाव्यमाना। अस्याधरस्य त्वसौ श्रीः विद्रुमे प्रवाले विगतद्रुमे च सम्भाव्यत इत्यर्थः। 'विद्रुमः पुंसि प्रवालं पुंनपुंसकम्' इत्यमरः। विद्रुमसमश्रीरित्यर्थः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—अस्याः मुखेन्दोः सुधाभूः एषः अधरः बिम्बस्य प्रतिबिम्बः युक्तः; अथ तस्य श्रीः द्रुमभाजि देशे संभाव्यमाना, अस्य तु सा विद्रुमे।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) का मुख-चन्द्र के अमृत से उत्पन्न यह अधर बिम्बफल के सदृश है; परंतु (विशेषता यह है) उस (बिम्बफल) की शोभा वृक्षों वाले स्थान (वन-उपवन) में संभव है, इस (अधर) की वह (शोभा) तो प्रवाल में अथवा 'विद्रुम' (द्रुमरहित, वृक्षरहित) प्रदेश (नगर) में संभावित है।

टिप्पणी—दमयन्ती के चन्द्रामृतजात, रागारुण अधर की शोभा बिम्बफल से विशिष्ट द्योतित करना कवि का उद्देश्य है, इसी कारण 'विद्रुमरहित' प्रदेश में उसकी संभावना की गयी है; अर्थात् 'बिम्बफल' तो जंगली पदार्थ है, अधर तो नागरश्री से संपन्न है। अथवा 'काकु' के आधार पर यह अर्थ भी किया जाता है कि क्या इस 'मुखेन्दुसुधाभू' अधर का प्रतिबिम्ब बिम्बफल है? अर्थात् नहीं है, क्योंकि बिम्बफल जंगली है—द्रुमभाक् देश में उत्पन्न, अधर

की संभावना तो द्रुमरहित प्रदेश में की जाती है। इसके अतिरिक्त अधर चन्द्र-सुधा से उत्पन्न है, जब कि बिम्बफल में यह वैशिष्ट्य नहीं होता। रससिक्त होने से और अरुण होने के कारण एक बार बिम्बफल को 'सुधाभू' अधर का प्रतिबिम्ब कहा भी जा सकता है, परन्तु अधर की 'विद्रुमदेश' में संभावना तो सर्वथा ही बिम्बफल में नहीं है; अतः अधर की तुलना बिम्बफल से करना ठीक नहीं। एक प्रकार से विद्रुम (जो अधर के साथ अरुण होने के आधार पर साम्य प्राप्त कर सकता है) भी अधर की तुलना में नहीं ठरहता, क्योंकि वह सरस 'सुधाभू' नहीं है। इस प्रकार दमयन्ती का अधर बिम्बफल और विद्रुम (मूँगा)—दोनों से श्रेष्ठ है। विद्याधर के अनुसार यहाँ रूपक-अतिशयोक्ति-व्यतिरेक-आक्षेप अलंकारों का संकर है। चन्द्रकलाकार ने रूपक-उपमा-श्लेष की संसृष्टि का निर्देश किया है। इन्द्रवज्रा छंद है ॥ ३८ ॥

जानेऽतिरागादिदमेव बिम्बं बिम्बस्य च व्यक्तमितोऽधरत्वम् ।
द्वयोर्विशेषावगमाक्षमाणा नाम्नि भ्रमोऽभूदनयोर्जनानाम् ॥ ३९ ॥

जीवातु—जान इति। अतिरागादतिलौहित्याद्धेतोः इदं पुरोवर्त्येव बिम्बं बिम्बनामार्हं बिम्बस्य च इतोऽस्मादधरत्वमपकृष्टत्वमोष्ठत्वं च व्यक्तं तदेवाधरनामार्हं प्रतीयत इत्यर्थः। एवं स्थिते द्वयोरनयोरधरबिम्बयोर्नाम्नो विषये विशेषावगमे इदमस्य नामेति निर्धारणे अक्षमाणामसमर्थानां जनानां भ्रमोऽभूत्। जाने जानामीत्युत्प्रेक्षा ॥ ३९ ॥

अन्वयः—अतिरागात् इदम् एव बिम्बं बिम्बस्य च इतः अधरत्वं व्यक्तम् जाने अनयोः द्वयोः विशेषावगमाक्षमाणां नाम्नि भ्रमः अभूत् ।

हिन्दी—प्रचुर लालिमा होने के कारण यह (अधर) ही बिम्ब है, बिम्बफल की तो इस (अधर) से अधरता (निम्नता) प्रकट है। प्रतीत होता है कि इन दोनों (दमयन्ती-अधर और बिम्बफल) के तारतम्य (उच्चत्व-निम्नत्व) को न समझ सकने वालों को नाम में भ्रम हो गया।

टिप्पणी—इस श्लोक में अन्य भंगिमा से दमयन्ती-अधर की बिम्बफल से श्रेष्ठता प्रतिपादित है। कल्पना है कि अधर ही वास्तविक बिम्ब है, क्योंकि उसमें प्रचुर लाली है। जहाँ तक बिम्बफल का प्रश्न है, वह तो अधर से निम्न माना ही जाता है, क्योंकि उसे बिम्बनाम इसी कारण मिला है कि

वह दमयन्ती के अधर के तुल्य है। अधर उपमान है, बिम्बफल उपमेय। उपमान की अपेक्षा उपमेय निम्न होता ही है। लोगों में तारतम्य का विवेक नहीं था, सो उलटा-पलटा नामकरण हो गया। दमयन्ती के निचले ओष्ठ को अधर-संज्ञा दे दी और फल को बिम्ब-संज्ञा। होना चाहिए था दमयन्ती-ओष्ठ का नाम बिम्ब (जो वास्तविकता है) और फल का अधर। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने उत्प्रेक्षा-रूपक-काव्यलिंग अलंकार माने हैं ॥३९॥

मध्योपकण्ठावधरोष्ठभागौ भातः किमप्युच्छ्वसितौ यदस्याः।
तत्स्वप्नसम्भोगवितीर्णदन्तदंशेन किं वा न मयापराद्धम् ॥ ४० ॥

जीवातु—मध्येति। यद्यस्मात्, अस्याः सम्बन्धिनौ मध्यस्याधरमध्यप्रदेशस्य उपकण्ठौ सन्निहितौ अधरोष्ठस्य भागौ तदुभयपार्श्वे इत्यर्थः। किमप्युच्छ्वसितौ किंचिदुच्छूनौ भातः स्फुरतः। तत्तस्मात्, स्वप्नसम्भोगे वितीर्णो दत्तो दन्तदंशो दन्तक्षतं येन तेन मया नापराद्धं किं वा। स्वप्ने स्वकृतदन्तक्षतमेतावित्युत्प्रेक्षा ॥ ४० ॥

अन्वयः—यत् अस्याः मध्योपकण्ठौ अधरोष्ठभागौ किमपि उच्छ्वसितौ भातः, तत् किं वा मया स्वप्नसम्भोगवितीर्णदन्तदंशेन न अपराद्धम् ?

हिन्दी—कि इस (दमयन्ती) के मध्यस्थल के निकट अधर और ओष्ठ कुछ सूजे-से सुशोभित हो रहे हैं, सो कहीं मैंने स्वप्नकृतसंभोग में दंत-क्षत करने का अपराध तो नहीं कर दिया है ?

टिप्पणी—ओष्ठ अधरों का कुछ फूलापन (उच्छूनता) सामुद्रिक शास्त्र की दृष्टि से गुण है। दमयन्ती के ओष्ठाधर वैसे हैं। इसके आधार पर यह भी द्योतित कर दिया गया है कि गाढानुरागी नल प्रत्येक रात्रि को उससे स्वप्न में मिलता है। स्वप्न-संभोगकृत दंतक्षत के कारण उच्छूनता की संभावना यही निर्देश करती है। विवेकी नल यह अपना अपराध मानता है कि एक कुमारी के साथ उसके द्वारा यह अनुचित हो गया। उत्प्रेक्षा ॥ ४० ॥

विद्या विदर्भेन्द्रसुताधरोष्ठे नृत्यन्ति कत्यन्तरभेदभाजः।
इतीव रेखाभिरपश्रमस्ताः संख्यातवान् कौतुकवान्विधाता ॥ ४१ ॥

जीवातु—विद्या इति। कौतुकवान् विनोदी विधाता विदर्भेन्द्रसुताया अधरोष्ठे कति विद्या अन्तरभ्यन्तरे अभेदभाजः भेदरहिता सत्यो नृत्यन्ति

विहरन्ति इति बुभुत्सयेति शेषः, इतिना गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः । अपश्रमः श्रमरहितः सन् ताः विद्यारेखाभिः सख्यातवानिव गणितवान् किमित्युत्प्रेक्षा । अन्यथा वृथा रेखासृष्टिः स्यादिति भावः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—अन्तरभेदभाजः कति विद्याः विदर्भेन्द्रसुताधरोष्ठे नृत्यन्ति—इति अपश्रमः कौतुकवान् विधाता ताः रेखाभिः संख्यातवान् इव ।

हिन्दी—अवांतर भेदों सहित (अथवा अभ्यंतर में भेदरहित) कितनी विद्याएँ विदर्भराज की पुत्री (दमयन्ती) के अधर-ओष्ठ पर नृत्य करती हैं—यह जैसे श्रमरहित, कौतुकी (विनोदप्रिय) विधाता ने उन्हें (विद्याओं को) रेखाओं द्वारा गिना ।

टिप्पणी—दमयन्ती के दोनों ओठों पर बनी कुछ रमणीय रेखाएँ उनके सौंदर्य को द्विगुणित कर रही हैं । कल्पना यह है कि दमयन्ती के ओठ तो वैसे ही–विना रेखाओं के ही अत्यन्त आकर्षक हैं, ये रेखाएं कदाचित् विधि ने उन वेद-वेदांगादि विद्याओं की गिनती करने के लिए बना दी हैं । इस कार्य में विधाता को कोई श्रम भी नहीं लगा, प्रत्युत उसको विनोदवृत्ति और कुतूहल को तृप्ति मिली । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा और विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और हेतु अलंकार ॥ ४१ ॥

संभुज्यमानाद्य यथा निशान्ते स्वप्नेऽनुभूता मधुराधरेयम् ।
असीमलावण्यरदच्छदेयं कथं मयव प्रतिपद्यते वा ॥ ४२ ॥

जीवातु—संभुज्यमानेति । इयं भैमी, अद्य मया निशान्ते निशावसाने अपररात्र इत्यर्थः । तत्कालस्वप्नस्य सत्यत्वादिति भावः । स्वप्ने संभुज्यमाना मधुराधरा मनोज्ञाधरा सत्यनुभूता दृष्टा मयैव इत्थमनेन प्रकारेण स्वप्नविकारेणैव असीमलावण्यो रदच्छदो दन्तच्छदो यस्याः सा सती कथं वा प्रतिपद्यते दृश्यते चित्रमित्यर्थः । स्वप्नदृष्टस्यार्थस्य जागरे सत्यसंवादादाश्चर्यम् ॥ ४२ ॥

अन्वयः— निशान्ते मया अद्य स्वप्ने संभुज्यमाना इयं मधुराधरा अनुभूता, इयम् एव असीमलावण्यरदच्छदा कथं वा प्रतिपद्यते ?

हिन्दी—रात्रि के अन्तिम प्रहर में मेरे द्वारा आज स्वप्न में भोगी जाती यह (दमयन्ती) मधुर अधरशालिनी (अमृताधरा) अनुभूत हुई थी,

वही फिर अपरिमित लावण्य (सौंदर्य, नमकीन) अधर-ओष्ठशालिनी (जागरण दशा में) कैसे प्राप्त हो रही है ?

टिप्पणी—जैसा कि चालीसवें श्लोक में कहा गया कि नल दमयंती के स्वप्नदर्शन प्रायः करता था। इस श्लोक में उसी संदर्भ में दमयंती के रमणीय अमृताधरोष्ठ का वर्णन किया गया है। नल ने स्वप्न में अधरामृतपान करते हुए दमयन्ती को अमृताधरोष्ठी पाया था, जागरण में भी वह उसे वैसा ही असीम लावण्यमयी पा रहा है। इसमें आश्चर्य के तीन कारण हैं—(१) जैसा स्वप्न में देखा था, वैसा ही पाया। (२) प्रायः जैसा स्वप्न में देखा जाता है, जागरणावस्था में वैसा अनुभव नहीं होता। दमयन्ती के अधरोष्ठ के विषय में दोनों स्थितियाँ समान हैं। (३) जो मधुर है, वह लवण (नमकीन) कैसे होगा ? पर यहाँ है। लावण्य नमकीन नहीं, सौंदर्य। निशांत में देखा स्वप्न प्रायः सच्चा हुआ करता था, सो नल का निशांत-स्वप्न भी सच्चा हुआ। 'मधुराधरा' और 'लावण्यरदच्छदा' में मधुर-लवणरसों के परस्पर विरोधी होने के कारण विद्याधर के अनुसार विरोधाभास अलंकार ॥ ४२ ॥

यदि प्रसादीकुरुते सुधांशोरेषा सहस्रांशमपि स्मितस्य।
तत्कौमुदीनां कुरुते तमेव निमित्य देवः सफलं स जन्म ॥ ४३ ॥

जीवातु—यदीति। एषा भैमी, स्मितस्य निजमन्दहासस्य सहस्रांशं सहस्रतमांशमपि। वृत्तिविषये संख्याशब्दस्य पूरणार्थत्वं त्रिभागवत्। सुधांशोः प्रसादीकुरुते यदि दद्याच्चेदित्यर्थः। तर्हि स देवः सुधांशुः कौमुदीनां स्वचन्द्रिकाणां जन्म। तमेव स्मितलेशमेव निमित्य स्वकौमुदीषु निक्षिप्य 'डुमिञ् प्रक्षेपणे' इति धातोः समासे क्त्वो ल्यबादेशः। सफलं कुरुते। यथा बिन्दुमात्रगङ्गाजलमिश्रणेनान्यज्जलं भवति तद्वदिति भावः। अत्र कौमुदीनां संभावनामात्रेण स्मितांशासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—एषा यदि स्मितस्य सहस्रांशम् अपि सुधांशोः प्रसादीकुरुते, तत् सः देवः तम् एव निमित्य कौमुदीनां जन्म सफलं कुरुते।

हिन्दी—यह (दमयन्ती) यदि मंदहास्य (मुसकान) का हजारवाँ अंश भी अमृतकिरण (चन्द्रमा) को प्रसाद में दे दे तो वह देव (चन्द्र) उस (स्मित) को (चाँदनी में) डालकर चाँदनियों के जन्म सफल कर ले।

टिप्पणी—दमयन्ती की मुसकान का हजारवाँ भाग भी यदि चाँदनी में पड़ जाये तो जैसे गंगाजल की एक बूँद प्रचुर जल में गिर कर उसका महत्त्व स्थापित कर देती है, वैसे ही चाँदनी में महत्त्व आ जाय और इस प्रकार वह कृतार्थ हो अपनी सत्ता सफल कर ले। भाव यह कि दमयन्ती की मुसकान का यत्किंचित् अंश भी अनेक चाँदनियों से रमणीय और आनन्ददायक है। नारायण ने 'निमित्य' के स्थान में 'निमिच्छद्य' पाठभेद मानकर अर्थ किया है कि चन्द्र कौमुदी-समूह द्वारा पूजा करके—आरती करके उनका जन्म सफल करले। इस श्लोक में कौमुदी-समूह की संभावना-मात्र द्वारा स्मितांश से संबंध नहीं है, तथापि उसका संबंध कथन है, अतः मल्लिनाथ और विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ४३ ॥

चन्द्राधिकैतन्मुखचन्द्रिकाणां दरायतं तत्किरणाद्घनानाम् ।
पुरःपरिस्रस्तपृषद्द्वितीयं रदावलिद्वन्द्वति बिन्दुवृन्दम् ॥ ४४ ॥

जीवातु—चन्द्रेति। तस्य चन्द्रस्य किरणाद्रश्मेः चन्द्रकान्तेः, घनानां सान्द्राणां तन्मुखस्य चन्द्राधिकत्वाच्चन्द्रिकाणामपि ततोऽधिकमिति भावः। अत एवाह—चन्द्राधिकस्यैतन्मुखस्य चन्द्रिकाणां सम्बन्धि दरायतमीषद्दीर्घं पुरःपरिस्रस्तानि प्रथमसृतानि पृषन्ति बिन्दवो यस्य तद्द्वितीयं बिन्दुवृन्दं रदावलिद्वन्द्वति तदिव आचरति 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विप्' इत्याचारक्विबन्ताल्लट्। प्रथमनिस्सृता बिन्दुपङ्क्तिरधरदन्तपंक्तिः उत्तरानन्तरजातेत्युत्प्रेक्षा ॥ ४४ ॥

अन्वयः—तत्किरणात् घनानाम् एतन्मुखचन्द्रिकाणां दरायतं पुरःपरिस्रस्तपृषद्द्वितीयं बिन्दुवृन्दं रदावलिद्वन्द्वति।

हिन्दी—उस (चन्दा) की किरण से घनी, इस (दमयन्ती) के मुख (मुख-चंद्र) की चाँदनियों की कुछ बड़ी, पहिले और दूसरी बार गिरी बूँदों का समूह (दमयन्ती) की रदपंक्तियों के युग्म का आचरण कर रहा है।

टिप्पणी—तीन (४४–४६) श्लोकों में दमयंती की दंतपंक्ति का वर्णन है। यह सिद्ध ही हो चुका है कि दमयंती का मुखचंद्र और उसकी स्मित-कौमुदी सामान्य चंद्र-चंद्रिका से श्रेष्ठ हैं। यहाँ कल्पना है कि सामान्य चंद्र की चाँदनी की अपेक्षा घनी और बड़ी बूँदें मुखचंद्र की चाँदनी की हैं। वे धीरे-धीरे जब टपकीं तो उनकी पहिले गिरी राशि नीचे की ओर दूसरी बार

गिरी राशि ऊपर की दंतपंक्ति बन गयी। भाव यह कि दमयंती की दंतावलि कुछ घन और सूक्ष्म है। सामुद्रिक-शास्त्र के अनुसार यह गुण है कि नीचे के दाँत सूक्ष्म हों और ऊपर के कुछ आयत और घने। दमयंती की दंतावलि ऐसी ही है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा और विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-उपमा-रूपक अलंकार हैं ॥ ४४ ॥

सेयं ममैतद्विरहार्तिमूर्च्छातमीविभातस्य विभाति सन्ध्या ।
महेन्द्रकाष्ठागतरागकर्त्री द्विजैरमीभिः समुपास्यमाना ॥ ४५ ॥

जीवातु—सेति। महेन्द्रस्य काष्ठामुत्कर्षं गतोऽनुरागः अन्यत्र पूर्वदिग्गतो रागो लौहित्यम्। 'काष्ठोत्कर्षे स्थितौ दिशि' इत्यमरः। 'रागोऽनुरागे लौहित्ये' इति विश्वः। तस्य कर्त्री जनयित्री अमीभिर्द्विजैर्दन्तैः विप्रैश्च। 'दन्तविप्राण्डजा द्विजाः' इत्यमरः। समुपास्यमाना सेव्यमाना सेयं दमयन्ती मम एतस्या भैम्या विरहार्त्या वियोगपीडया या मूर्च्छा सैव तमी रजनी। 'रजनी यामिनी तमी' इत्यमरः। तस्या विभातस्य संबन्धिनी सन्ध्या प्रातःसन्ध्या विभाति। सन्ध्या-धर्मसम्बन्धात्सन्ध्या त्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ४५ ॥

अन्वयः—महेन्द्रकाष्ठागतरागकर्त्री अमीभिः द्विजैः समुपास्यमाना सा इयं मम एतद्विरहार्तिमूर्च्छातमीविभातस्य सन्ध्या विभाति।

हिन्दी—महेंद्र (स्वर्गराज) में परमोत्कर्षयुक्त अनुरक्ति उत्पन्न करने वाली, महेंद्र की काष्ठा (पूर्व दिशा) में राग (लाली) उत्पन्न करनेवाली (के तुल्य) इन द्विज (ब्राह्मण रूप) दाँतों से सेवित वह यह (दमयंती) मेरे इसके वियोग की पीडाजनित मूर्च्छा रूप रात्रि के प्रभात की संध्या-सम आभा दे रही है।

टिप्पणी—रमणीय दंतावलि से शोभिता दमयंती को इस श्लोक में नल की विरहजन्य-पीडाजात-मूर्च्छा को दूर करनेवाली बताया गया है। उसकी तुलना रात्रि के पश्चात् आनेवाली प्रभात-संध्या से की गयी है, जिसकी स्थिति में इंद्र की दिशा (प्राची) में लालिमा छा जाती है और ब्राह्मण संध्योपासना किया करते हैं। दमयंती ने इंद्र में परमकोटि की अनुरक्ति उपजायी है, इस प्रकार वह महेंद्रदिक् में लालिमा उत्पन्न करानेवाली प्रभात-संध्या है, विरह-जन्य मूर्च्छा रूपी रात्रि को वह समाप्त करनेवाली है और द्विज (दंतावलि)

उसकी सेवा कर रहें हैं। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ संध्याधर्म के संबंध से संध्यात्व की उत्प्रेक्षा की गयी है। विद्याधर के अनुसार रूपक-श्लेष अलंकार हैं। चंद्रकलाकार ने रूपक-श्लेष-उत्प्रेक्षा के अंगांगिभाव संकर का निर्देश किया है ॥ ४५ ॥

राजौ द्विजानामिह राजदन्ताः संबिभ्रति श्रोत्रियविभ्रमं यत् ।
उद्वेगरागादिमृजावदाताश्चत्वार एते तदवैमि मुक्ताः ॥ ४६ ॥

जीवातु—अथोच्चैश्चत्वारो ये दन्तास्तान् वर्णयति—राजाविति। यत् यस्मात् इहास्यां द्विजानां दन्तानां विप्राणां च राजौ पंक्तौ उद्वेगं पूगफलम्। 'घोण्टा तु पूगः क्रमुको गुवाकः खपुरोऽस्य तु। फलमुद्वेगम्' इत्यमरः। तस्य रागो रक्तता। आदिशब्दात् खाद्यान्तरलेपसंग्रहः। अन्यत्रोद्वेगो व्यग्रता। रागो विषयाभिलाषः आदिशब्दाद् द्वेषादिसंग्रहः। तेषामुद्वेगरागादीनां मृजया मार्जनेन। 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' । अवदाताः शुद्धाः एते चत्वारो राजदन्ताः दन्तानां राजानो दन्तश्रेष्ठाः। 'राजदन्तादिषु परम्' इति दन्तशब्दस्योपसर्जनस्य परनिपातः। श्रोत्रियाश्छन्दांस्यधीतवन्तः वेदपारगाः। 'श्रोत्रियच्छान्दसौ समौ' इत्यमरः। 'श्रोत्रियश्छन्दोऽधीत' इति निपातः। तेषां विभ्रमं शोभां संविभ्रति तस्मान्मुक्ताः मौक्तिकानि अपवृत्ताश्च। 'मुक्ता तु मौक्तिके मुक्ताः प्राप्तमुक्ता तु मोचित' इति विश्वः। अवैमि जानामि इति वाक्यार्थः कर्म उत्प्रेक्षा ॥ ४६ ॥

अन्वयः—इह द्विजानां राजौ उद्वेगरागादिमृजावदाताः एते चत्वारः राजदन्ताः यत् श्रोत्रियविभ्रमं संबिभ्रति तत् मुक्ताः अवैमि ।

हिन्दी—यहाँ दंतावलि में सुपारी-खैर आदि के मार्जन से शुभ्र ये चार राजदंत (संमुख के सुन्दर दाँत) जो द्विज (ब्राह्मणों) की पंक्ति में चित्त-वैक्लव्य-राग-द्वेष आदि से रहित अतएव निष्कलुष वेदपाठी श्रोतिय ब्राह्मणों का विभ्रम-विलास कर रहे हैं, इससे प्रतीत होता है कि ये मुक्त—मोती (पक्षांतर में जीवन्मुक्त) हैं।

टिप्पणी—दमयन्ती के दाँत तांबूलादि रंजित होने पर मार्जन के कारण शुभ्र हैं। उनमें जो चार सामने के दाँत हैं, वे अत्यन्त मोहक हैं। यहाँ 'द्विज' की अनेकार्थकता के आधार पर इन चार दाँतों को ब्राह्मणों की पंक्ति में सुशोभित श्रोत्रिय ब्राह्मण कहा गया है। जिस प्रकार तांबूलरागरंजित दाँत मार्जन से

अवदात हो जाते हैं, उसी प्रकार वैक्लव्य-राग-द्वेषादि-रहित ब्राह्मण भी कालुष्यहीन हो जाते हैं। जैसे स्वच्छ दाँत मोती की उपमा पाते हैं, वैसे ही श्रेष्ठ ब्राह्मण जीवन्मुक्त कहाते हैं। भाव यह कि दमयन्ती के दाँत बड़े ही आकर्षक हैं और उनके बीच ये चार राजदंत तो और भी आकर्षक। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने छेकानुप्रास-समासोक्ति के संकर का निर्देश किया है ॥ ४६ ॥

शिरीषकोशादपि कोमलाया वेधा विधायाङ्गमशेषमस्याः ।
प्राप्तप्रकर्षः सुकुमारसर्गे समापयद्वाचि मृदुत्वमुद्राम् ॥ ४७ ॥

जीवातु—शिरीषेति । वेधाः विधाता शिरीषस्य कोशात्कुड्मलादपि कोमलाया अस्या भैम्याः, अशेषमङ्गं विधाय सुकुमारसर्गे कोमलसृष्टौ प्राप्तप्रकर्षो लोके लब्धोत्कर्षः सन् मृदुत्वमुद्रां मार्दवभङ्गीं वाचि भैमीवाण्यां समापयत् समापितवान् । सर्वातिशाय्यस्या वाङ्माधुर्यमिति भावः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—शिरीषकोषात् अपि कोमलायाः अस्याः अशेषम् अङ्गं विधाय सुकुमारसर्गे प्राप्तप्रकर्षः वेधाः मृदुत्वमुद्रां वाचि समापयत् ।

हिन्दी—सिरस के फूलों से भी कोमल इस (दमयन्ती) के संपूर्ण अंगों को बनाकर सुकुमार रचना में उत्कर्ष को पाये विधाता ने मृदुता (सुकुमारता) की मर्यादा को (दमयन्ती की) वाणी (की रचना) में समाप्त कर दिया।

टिप्पणी—चार (४७–५०) में दमयन्ती की वाणी का वर्णन है। यहाँ भाव यह है कि दमयन्ती की वाणी अत्यन्त मृदु है। कदाचित् विधाता ऐसी मीठी, कोमल वाणी की रचना बडे अभ्यास के पश्चात् ही कर पाया होगा, क्योंकि दमयन्ती की वाणी में तो मृदुता की पराकाष्ठा है। लगता है वह अभ्यास विधाता ने दमयन्ती के सुकुमार अंगों की रचना से ही प्राप्त किया है, तभी तो ऐसी मृदु, सुकुमार वाणी बना सका। दमयन्ती की वाणी सर्वातिशायिनी है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-परिसंख्या का संकर ॥४७॥

प्रसूनबाणाद्वयवादिनी सा कापि द्विजेनोपनिषत्पिकेन ।
अस्याः किमास्यद्विजराजतो वा नाधीयेते भैक्षभुजा तरुभ्यः ॥ ४८ ॥

जीवातु—नन्वितोऽपि मधुरा कोकिलवाणी, नेत्याह—प्रसूनेति । प्रसूनबाणमेवाद्वयमद्वितीयं वस्तु तद्वदतीति तत्प्रतिपादिका कापि उपनिषत् पिकवा-

रूपा सा तरुभ्यः सकाशात् । भिक्षाणां समूहो भैक्षम् । 'भैक्षं भिक्षा कदम्बकम्' इत्यमरः । 'भिक्षादिभ्योऽण्' । तद्भुजा तद्भोजिना ब्रह्मचारिणो भिक्षाशित्व-स्मरणादिति भावः । पिकेन पिकाख्येन द्विजेन पक्षिणा विप्रेण च अस्या भैम्या आस्यमेव द्विजराजश्चन्द्रो ब्राह्मणोत्तमश्च । ततस्तस्मान्नाधीयते वा किम् ? अधीयत एवेत्यर्थः । अस्यामेवाधिक्योपलम्भादिति भावः । उत्प्रेक्षा ।। ४८ ।।

अन्वयः—तरुभ्यः भैक्षभुजा पिकेन द्विजेन प्रसूनबाणद्वयवादिनी सा का अपि उपनिषद् अस्याः आस्यद्विजराजतः न वा अधीयते किम् ?

हिन्दी—वृक्षों से भीख लेकर खाने वाला कोकिलरूप ब्राह्मण पुष्पबाण (काम) का अद्वैत प्रतिपादन करनेवाली वह (दमयन्ती रूपा) अपूर्व उप-निषद् इस (दमयन्ती) के मुख-चंद्र-रूप ब्राह्मण श्रेष्ठ से क्या नहीं पढ़ता है ? (पढ़ता ही है) ।

टिप्पणी—प्राचीन काल में गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचारी विद्यार्थी श्रेष्ठ गुरु से वेदादि का अध्ययन करता था और भिक्षावृत्ति से जीवन-यापन करता था । इस श्लोक में पिक को ऐसा ही ब्रह्मविद्याध्येता विद्यार्थी बताया गया है, जो रसालादि वृक्षों से मंजरी आदि की भिक्षा पाकर जीवन यापन करता है और दमयन्ती के चंद्रमुख-रूप द्विजराज से 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' के समान 'एक एवाद्वितीयः कामः'—इस कामाद्वैतवाद का पाठ पढ़ता है । काषाय रस और आम्रमंजरी आदि के भक्षण से कोकिल का स्वर मधुर होता है, वह पंचम स्वर में बोलता है । कहा गया है—'पुष्पसाधारणे काले कोकिलः पञ्चमो वदेत्' । (मतंग, बृहद्देशी, त्रिवेन्द्रम् संस्क० पृ० १२–१३), ऐसा कोकिल भी भीमपुत्री के मधुरतम स्वर का अभ्यास कर रहा है । इससे द्योतित होता है कि दमयन्ती की वाणी कोकिल-वाणी से श्रेष्ठ है । कोकिल-स्वर से श्रेष्ठ दमयन्ती-स्वर के श्रवणमात्र से यह प्रतीति होने लगती है कि जगत् में पुष्पधन्वा ही सत्य है, शेष मिथ्या है । उसके प्रसूनबाण ही अद्वय हैं । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा विद्याधर ने समासोक्ति-रूपक-व्यतिरेक अलंकारों के संकर का निर्देश किया है ।। ४८ ।।

पद्माङ्कसद्मानमवेक्ष्य लक्ष्मीमेकस्य विष्णोः श्रयणात्सपत्नीम् ।
आस्येन्दुमस्या भजते जिताब्जं सरस्वती तद्विजिगीषया किम् ।।४९।।

जीवातु—पद्माङ्केति। सरस्वती वाग्देवता एकस्य विष्णोः पत्युरिति शेषः। श्रयणादाश्रयणाद्धेतोः। समान एकः पतिर्यस्याः सा सपत्नी। 'नित्यं सपत्न्यादिषु' इति ङीप् नकारश्च, एतस्मादेव निर्देशात्समानशब्दस्य सभावः। तां लक्ष्मीं पद्माङ्कसद्मानं पद्मोत्सङ्गनिकेतनामवेक्ष्य तया लक्ष्म्या विजिगीषया जिताब्जं पद्मविजयिनमस्या आस्येन्दुमानेन्दुमानेन्दुं किं भजत इत्युत्प्रेक्षा। दुर्बलोऽपि वैरनिर्यातनार्थी प्रबलमाश्रयत इति भावः। सरस्वत्या विष्णुपत्नीत्वं पुराणप्रसिद्धम्। तथार्चास्वपि दृश्यते यथा पुरुषोत्तमस्य जगन्नाथस्य पार्श्वे लक्ष्मीसरस्वत्यौ तयोः सुरतवादोपचारश्च ॥ ४९ ॥

अन्वयः—सरस्वती एकस्य विष्णोः श्रयणात् सपत्नीं लक्ष्मीं पद्माङ्कसद्मानम् अवेक्ष्य तद्विजिगीषया किम् जिताब्जम् अस्याः आस्येन्दुं भजते ?

हिन्दी—सरस्वती एक विष्णु के आश्रय के कारण सौत लक्ष्मी का कमलोत्संग आवास देखकर उसे जीतने की आकांक्षा से क्या कमलजयी इस (दमयती) के मुखचंद्र का आश्रय लिये हुए है?

टिप्पणी—इकतालीसवें श्लोक में कहा गया है—'विद्या विदर्भेन्द्रसुतावरोष्ठे नृत्यन्ति'—इस प्रकार दमयन्ती का मुखचंद्र सरस्वती का निवास है। इस पर कल्पना है कि सरस्वती ने अपनी सौत लक्ष्मी की अपेक्षा श्रेष्ठ आवास पाने की स्वाभाविक आकांक्षा से दमयन्ती के मुखचंद्र को अपना आवास बनाया है। सरस्वती और लक्ष्मी—दोनो विष्णु-पत्नी हैं। लक्ष्मी ने तो कमल-क्रोड को अपना आवास बना लिया (इसीलिए लक्ष्मी को पद्मासना कहा जाता है।) अब सौतियाडाह के कारण सरस्वती की आकांक्षा कमलावास से उत्तम आवास पाने की हुई। उन्होंने देखा कि कमल चंद्र को देखकर संकुचित हो जाता है, अतः चंद्र कमलजयी है। चंद्र दमयन्ती के मुख से हार चुका है, अतः दमयंती का मुख चंद्रजयी होने के कारण कमल से तो कहीं उत्तम ठहरा। यह विचार कर सरस्वती ने कमलविजयी चंद्र के जेता दमयंती-मुख को अपना आवास बना लिया। अथवा कमलजयी दमयन्ती-मुखचंद्र को अपना आवास बना लिया। 'प्रकाश'—कार के अनुसार वक्रोक्ति-चातुर्य इस (दमयंती) में ही है—यह भाव है। सरस्वती-लक्ष्मी का सपत्नीत्व दुराव-प्रसिद्ध है। पुरुषोत्तम जगन्नाथ के पार्श्व में लक्ष्मी-सरस्वती—दोनों हैं। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा। विद्याधर ने रूपक-समासोक्ति-उत्प्रेक्षा अलंकारों का संकर माना है ॥ ४९ ॥

कण्ठे वसन्ती चतुरा यदस्याः सरस्वती वादयते विपञ्चीम् ।
तदेष वाग्भूय मुखे मृगाक्ष्याः श्रोतुः श्रुतौ याति सुधारसत्वम् ॥ ५० ॥

जीवातु—कण्ठ इति । मृगाक्ष्या अस्या भैम्याः कण्ठे वसन्ती नित्यसन्निहिता, चतुरा सरस्वती विपञ्चीं वीणां यद्वादयते वादयति तद्वादनमेव, स वीणाध्वनिरेवेत्यर्थः । मुखे वाग्भूय वाग्भूत्वा । अभूततद्भावे च्विः । 'ऊर्यादिच्विडाचश्च' इति गतित्वात् समासे क्त्वो ल्यबादेशः । श्रोतुः श्रुतौ श्रोत्रे सुधारसत्वं याति । शङ्काप्रयोगाद् गम्योत्प्रेक्षा ॥ ५० ॥

अन्वयः—अस्याः कण्ठे वसन्ती चतुरा सरस्वती यत् विपञ्चीं वादयते, तत् एव मृगाक्ष्याः मुखे वाग्भूय श्रोतुः श्रुतौ सुधारसत्वं याति ।

हिन्दी——इस (दमयन्ती) के कंठ में वास करती चतुर सरस्वती जो विपंची (वीणा) बजाती है, वह (वादन) ही मृगाक्षी (हरिणनयना दमयन्ती) के मुख में वाणी होकर श्रोता के कान में अमृत-रस बन जाती है ।

टिप्पणी—'आस्येंदुवासिनी' सरस्वती का सरस वीणा-वादन ही दमयंती की अमृतोपम वाणी बनकर श्रोताओं के कानों में अमृतरस का संचार करता है, अर्थात् दमयंती का स्वर वीणा-स्वर-सा मधुर है । सरस्वती की वीणा का नाम 'कच्छपी' है (वैजयंती कोष) । भरत ने वीणा, विपञ्ची तथा चित्रा का उल्लेख किया है । विपंची नौ तारों का 'ततवाद्य' है (नाटयशास्त्र २९।११८) । अभिनव गुप्त (तदेव पर अभिनवभारती) ने त्रिविधा वीणाओं का उल्लेख किया है—वक्रा, कूर्मा, अलाबू । इनमें वक्रा सात प्रकार की होती है. जिसका प्रथमोल्लिखित प्रकार विपंची है । मल्लिनाथ के अनुसार व्यंजक का प्रयोग न होने के कारण गम्योत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥

विलोकितास्या मुखमुन्नमय्य किं वेधसेयं सुषमासमाप्तौ ।
धृत्युद्भवा यच्चिबुके चकास्ति निम्ने मनागङ्गुलियन्त्रणेव ॥ ५१ ॥

जीवातु——विलोकितेति । इयं दमयन्ती, सुषमायाः परमशोभानिर्माणस्य समाप्तौ वेधसा अस्या मुखमुन्नमय्य विलोकिता । अस्याः सौष्ठवपरीक्षार्थमवलोकितमुखी किमित्युत्प्रेक्षा । कुतः ? अद्यस्मात्, मनाङ्निम्ने ईषन्नते चिबुके अधरोष्ठाधःस्थमुखावयवे 'ओष्ठस्याधश्चिबुकम्' इति हलायुधः । धृत्युद्भवा निपीड्यग्रहणसम्भवा, अङ्गुलेः यन्त्रणा मुद्रणेव चकास्ति अंगुष्ठपदमिव भाती-

त्यर्थः। अङ्गुष्ठाग्रे चिबुकाग्रे निधाय इतराङ्गुलीभिरधोनिवेशिताभिरुन्नमय्य मुखमपश्यदिवेति भावः ॥ ५१ ॥

अन्वयः——वेधसा सुषमासमासौ अस्याः मुखम् उन्नमय्य किम् इयं विलोकिता, यत् मनाक् निम्ने चिबुके धृत्युद्भवा अङ्गुलियन्त्रणा इव चकास्ति ?

हिन्दी——विधाता ने (मुख-निर्माण करते समय) सौन्दर्य की समाप्ति पर इस (दमयन्ती) का मुख उठाकर क्या इस (दमयन्ती) को देखा था कि कुछ दबकर नीचे हुए चिवुक (ठोड़ी) पर धरने से उत्पन्न अंगुलियों का दबाव——जैसा (चिह्न) सुशोभित हो रहा है।

टिप्पणी—दमयन्ती का चिबुक बीच में थोड़ा-सा दबा है। छोटा-सा गढ़ा पड़कर उसके सौन्दर्य को ऐसा द्विगुण कर रहा है कि अनायास उस पर दृष्टि ठहर जाती है। कल्पना है कि सरजनहार शिल्पी विधाता दमयंती का मुख बना रहा था कि उसने पाया कि मुख के साज-सिंगार की सामग्री चुक गयी। उसने उस सद्य-रचित अतएव गीले मुख को ठोड़ी ऊँची करके देखना चाहा कि मुख ठीक-ठाक बन गया अथवा नहीं ? जैसे सद्योनिर्मित मूर्त्ति पर अंगुलि धरने से गीली माटी पर चिह्न-दबाव पड़ जाये, वैसा ही निशान दमयन्ती के मुख पर बन गया। वही दबाव का निशान दमयंती के चिबुक पर बना छोटा सा मनोहर गढ़ा है। सामुद्रिक के अनुसार यह शुभ है। श्रेष्ठ, उत्तम नायिकाओं का चिबुक स्वभावतः निम्न होता है। दमयन्ती चिबुक ऐसा ही है। विद्याधर के अनुसार अनुमान-उत्प्रेक्षा-अनुप्रास का संकर ॥ ५१ ॥

प्रियामुखीभूय सुखी सुधांशुर्वसत्यसौ राहुभयव्ययेन।
इमां दधाराधरबिम्बलीलां तस्यैव बालं करचक्रवालम् ॥ ५२ ॥

जीवातु—प्रियेति। असौ सुधांशुः प्रियामुखीभूय भैमीमुखं भूत्वा राहोर्विधुन्तुदात् भयव्ययेन भयनिवृत्त्या सुखी वसति। तस्य सुधांशोरेव बालं प्रत्यग्रं करचक्रवालं अंशुमण्डलमिमां दृश्यमानां अधरबिम्बलीलां दधार। अधरबिम्बं भूत्वा तिष्ठतीत्युत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः ॥ ५२ ॥

अन्वयः——असौ सुधांशुः प्रियामुखीभूय राहुभयव्ययेन सुखी वसति, तस्य एव बालं करचक्रवालम् इमाम् अधरबिम्बलीलां दधार।

हिन्दी—यह अमृतरश्मि (चंद्रमा) प्रिया (दमयन्ती) का मुख होकर राहु का भय न होने से सुखी हुआ बस रहा है, उसी के उदयकाल के (बाल) किरण समूह ने इस (के) अधर-बिम्ब के विलास को धारण कर लिया है।

टिप्पणी—नौ (५२–६०) श्लोकों में पुनः सावयव मुख का वर्णन किया गया है। इस श्लोक का प्रतिपाद्य है कि दमयन्ती का मुख चंद्र-तुल्य है और अधरोष्ठ उगती लाल किरणों के समान है। राहु से डरे चन्द्रमा ने दमयन्ती का मुख बनकर वेष-परिवर्तन कर अपने को छिपा लिया है और सुखपूर्वक गुप्त-वास कर रहा है। उसकी उदयकालीन बाल किरणें दमयन्ती के अधरबिम्ब है। मल्लिनाथ के अनुसार यह दो उत्प्रेक्षाओं की संसृष्टि है; विद्याधर के अनुसार यहाँ छेकानुप्रास-अतिशयोक्ति—व्यतिरेक-रूपक अलंकार हैं ॥ ५२ ॥

अस्या मुखस्यास्तु न पूर्णिमास्यं पूर्णस्य जित्वा महिमा हिमांशुम् ।
भ्रूलक्ष्मखण्डं दधदर्धमिन्दुर्भालस्तृतीयः खलु यस्य भागः ॥ ५३ ॥

जीवातु—अस्या इति । पूर्णिमायाः पौर्णमास्याः आस्यं मुखीभूतं हिमांशुं जित्वा पूर्णस्य समग्रस्य पतः अस्याः भैम्या सुखस्य महतो भावो महिमा महत्त्वं नास्तु न स्यात् । काकुः । स्यादेव जेतुर्महिमेत्यर्थः । किं च यस्य मुखस्य तृतीयो भागः तृतीयांशभूतः, भालो ललाटं भ्रूरेव लक्ष्मखण्डः लाञ्छनैकदेशस्तं दधत् दधानः अर्धमिन्दुरर्धेन्दुः खलु ! युक्तमर्धचन्द्रात्पूर्णचन्द्रस्य महत्वमिति भावः । अत्र मुखस्य पूर्णेन्दुत्वं भालस्यार्धचन्द्रत्वं च क्रमात्पूर्णिमास्यं हिमांशुं भ्रूलक्ष्मखण्डमिति च रूपकाभ्यामनुप्राणितमुत्प्रेक्ष्यत इति रूपकसङ्कीर्णयोरुत्प्रेक्षयोः परस्परमुपकार्योपकारकभावादङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—पूर्णिमास्यं हिमांशुं जित्वा अस्याः पूर्णस्य मुखस्य महिमा न अस्तु, यस्य तृतीयः भागः भालः अर्द्धं भ्रूलक्ष्मखण्डं दधत् इन्दुः खलु ?

हिन्दी—पूर्णिमा के मुखरूप हिमरश्मि (चन्द्रमा) को जीत कर इसके पूर्णमुख की क्या बड़ाई है, जिसका तीसरा भाग मस्तक (ललाट) आधा भौंह रूप कलंक चिह्न को धारता चन्द्रमा है ?

टिप्पणी—दमयन्ती का मुख चन्द्रमा की अपेक्षा इतना श्रेष्ठ है कि

उसे पूर्णिमा-चंद्रजयी बनाना एक प्रकार से उसके महिमान का उचित मूल्यांकन नहीं है। विशेष शक्तिशाली यदि किसी अल्प बलशाली को जीत ले तो उसमें उसे विशेष बड़ाई नहीं मिलती। पूर्णचन्द्र की स्थिति में दमयन्ती-मुख भी ऐसा ही प्रमाणित होता है। ललाट मुख का तृतीय भाग है, वह आधा ही भौंह रूप कलंक-चिह्न धारण किये चन्द्र के तुल्य प्रमाणित होता है। तो जब थोड़ा-सा श्यामल चिन्ह किये मुख का तृतीयांश ही चन्द्र तुल्य हो जाता है, तो फिर पूर्णमुख को राकेश-तुल्य कह देने में मुख की क्या बड़ाई? अर्थात् पूर्णिमा के चन्द्रमा से दमयन्ती के मुख की तुलना करने से मुख का उचित मूल्यांकन नहीं होता। मुख चन्द्र से कहीं अधिक रमणीय है। इस श्लोक में मुख की पूर्णेन्दुता और भाल के अर्द्धचंद्रत्व की क्रम से पूर्णिमास्य चन्द्र और भ्रू लक्ष्मखण्ड—इन दो रूपकों द्वारा अनुप्राणित उत्प्रेक्षा की जाती है, इस प्रकार रूपक-संकीर्ण उत्प्रेक्षाओं के परस्पर उपकार्योपकारक होने से मल्लिनाथ के अनुसार अंगांगिभाव से संकर है, विद्याधर के अनुसार प्रतीप और अतिशयोक्ति अलंकार है॥ ५३॥

व्यधत्त धाता मुखपद्ममस्याः सम्राजमम्भोजकुलेऽखिलेऽपि।
सरोजराजौ सृजतोऽदसीयां नेत्राभिधेयावत एव सेवाम्॥ ५४॥

जीवातु—व्यधत्तेति। धाता अस्या मुखमेव पद्मम्। 'वा पुंसि पद्मम्' इति पुंलिङ्गता। सम्राजमिति। विशेषणात्। अखिलेऽप्यम्भोजकुले पद्मजाते विषये सम्राजं राजराजं व्यधत्त। अत एव राजराजत्वादेव नेत्राभिधेयौ नेत्रशब्दवाच्यौ सरोजानां राजानौ सरोजराजौ अमुष्य मुखपद्मस्य सम्बन्धिनीमदसीयां सेवां सृजतः कुरुत। 'येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः। शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राट्' इत्यमरः। अत्र नेत्राख्यसरोजराजसेव्यत्वेन भैमीमुखपद्मस्य सम्राट्त्वोत्प्रेक्षेति सङ्करः॥ ५४॥

अन्वयः—धाता अस्याः मुखपद्मम् अखिले अपि अम्भोजकुले सम्राजं व्यधत्त, अतः एव नेत्राभिधेयौ सरोजराजौ अदसीयां सेवां सृजतः।

हिन्दी—विधाता ने इस (दमयन्ती) के मुख-कमल को संपूर्ण ही कमलकुल में सम्राट् बना दिया, इसलिए ही नेत्र-नामधारी दो कमल राजा इसकी सेवा कर रहे हैं।

टिप्पणी—भाव यह कि दमयन्ती का मुख कमल तो है, पर सामान्य कमल नहीं, संपूर्ण कमलों का राजराजेश्वर सम्राट् है। इसका प्रमाण यह है कि दो कमल-राजा नेत्रों के रूप में मुख-सम्राट् की सेवा में संलग्न हैं। नयन कमल-राजा, मुख राजराजेश्वर। मल्लिनाथ के अनुसार नेत्रनामक सरोजराजाओं से सेव्य होने के कारण दमयन्ती-मुखपद्म की सम्राट् रूप में उत्प्रेक्षा की गयी है, अतः संकर है। विद्याधर के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति-समासोक्ति–काव्यलिंग–छेकानुप्रास हैं ॥ ५४ ॥

दिवारजन्यो रविसोमभीते चन्द्राम्बुजे निक्षिपतः स्वलक्ष्मीम् ।
अस्या यदास्ये न तदा तयोः श्रीरकश्रियेदं तु कदा न कान्तम् ॥ ५५ ॥

जीवातु—दिवेति । चन्द्रश्चाम्बुजं च ते दिवारजन्योर्दिनरात्र्योर्यथासङ्ख्यं रविसोमाभ्यां भीते अपहारशङ्किनी सती स्वलक्ष्मीं यदा अस्या भैम्या आस्ये निक्षिपतस्तदा तयोर्दिवाचन्द्रस्य रात्रावम्बुजस्य च श्रीः शोभा न भवति । इदमस्या आस्ये तु कदाकस्मिन्काले दिवा नक्तं वा एकधिया चन्द्राम्बुजयोरन्यतरश्रिया न कान्तम्, अपि तु सर्वदा कान्तमेव । अत्रोक्तयथासङ्ख्यसङ्कीर्णया भैमीमुखे चन्द्राम्बुजलक्ष्मीनिक्षेपोत्प्रेक्षिताभ्यां कादाचित्कशोभाभ्यां मुखस्य अकादाचित्कश्रीकत्वेन व्यतिरेको व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—दिवारजन्योः रविसोमभीते चन्द्राम्बुजे स्वलक्ष्मीं यदा अस्याः आस्ये निक्षिपतः तदा तयोः श्रीः न, इदं तु कदा एकश्रिया कान्तं न ?

हिन्दी—दिन और रात में सूर्य और चन्द्रमा से डरे चन्द्रमा और कमल अपनी श्रीशोभा को जब इस (दमयन्ती) के मुख में धर देते हैं (छिपा रखते हैं) तब उनमें शोभा नहीं रहती। यह (दमयन्ती-मुख) तो कब अकेली अपनी शोभा से मनोहर नहीं रहता ? (सदा रहता है।)

टिप्पणी—भाव यह कि दमयन्ती का मुख चन्द्रमा और कमल—दोनों से सुन्दर है, क्योंकि वह सदा शोभा-संपन्न है, अतः रमणीय बना रहता है, जब कि दिन में सूर्य से डरा चन्द्रमा और रात में चन्द्रमासे डरा कमल अपनी शोभा-संपत्ति दमयन्ती के आनन में छिपा रखते हैं, तब श्री-शोभाहीन हो जाते हैं और सुन्दर नहीं रह जाते। 'एकश्रिया' का अर्थ हिन्दी व्याख्याकार के विचारानुसार अकेली—एकमात्र अपनी शोभा अधिक उपयुक्त

प्रतीत होती है, यों टीकाकारों ने अर्थ किया है कि दिन में चन्द्रमा से प्राप्त की श्री से और रात में कमल से प्राप्त श्री के कारण दमयन्ती का मुख अतएव सर्वदा श्री-संपन्न बना रहता है। प्रकाशकार ने लिखा है कि चंद्र की शोभा रात में ही होती है, दिन में नहीं। कमल की दिन में होती है, रात में नहीं। भैमीमुख दिन और रात—दोनों में शोभा-संपन्न रहता है। भैमीमुख चन्द्रमा का लक्ष्मीरूप-निक्षेप (धरोहर) रात में उसे दे देता है, क्योंकि दिन में चंद्र डरा होता है और ऐसे ही कमल का लक्ष्मीनिक्षेप दिन में उसे दे देता है, क्योंकि वह रात में डरा होता है। धनादि का निक्षेप माँगे जाने पर ही दे दिया जाता है, रखा नहीं जाता, और जब तक निक्षेप रहता है, धनी उससे ही अपना श्रृंगार कर लेता है। भाव यह है कि दिन में चंद्र-दीप्ति से और रात में कमलदीप्ति से दमयंती मुख अपने को अलंकृत बनाये रखता है। हिंदी-व्याख्याकार की दृष्टि में पराये की संपदा से सम्पत्तिशाली रहना बड़ी बात नहीं है, बड़प्पन अपनी संपदा से ही होता है। दमयंती-मुख 'एक श्री' (अकेली अर्थात् अनुपम श्री) से संपन्न है, अतुलित श्री से। इसी कारण छोटी पूंजी वाले सुरक्षा की दृष्टि से अपनी संपदा उसके पास छिपा रख जाते हैं। चंद्र-कमल ऐसे ही निक्षेपी हैं। इस दृष्टि से वे दमयंती-मुख की अपेक्षा बहुत छोटे हैं, जैसा कि पूर्व श्लोक में बताया गया, मुख राजराजेश्वर है, कमल (और चंद्र भी) छोटे-छोटे 'रजुल्ले'। यथासंख्य संकीर्ण चंद्र और कमल की शोभा 'कादाचित्क' (कभी-कभी की) है, मुख की 'अकादाचित्क' (सदा की), इस प्रकार मुख में चंद्र-कमल की अपेक्षा व्यतिरेक व्यंजित होता है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार अलंकार से अलंकार-ध्वनि है। विद्याधर ने यथासंख्य-अतिशयोक्ति-समासोक्ति-व्यतिरेक अलङ्कार माने हैं ॥५५॥

अस्या मुखश्रीप्रतिबिम्बमेव जलाच्च तातान्मुकुराच्च मित्रात्।
अभ्यर्थ्य धत्तः खलु पद्मचन्द्रौ विभूषणं याचितकं कदाचित् ॥ ५६ ॥

जीवातु—अस्या इति। पद्मचन्द्रौ यथाक्रमं तातााज्जनकात् जलाच्च। मित्रादाकारसाम्यात् सुहृदः मुकुराच्च अस्य मुखश्रियः प्रतिबिम्बमेव याचितकं याच्ञानिर्वृत्तम्। 'याच्ञाप्राप्तं याचितकम्' इत्यमरः। 'अपमित्ययाचिताभ्यां कक्कनौ' इति कन्प्रत्ययः। विभूषणं कदाचिदभ्यर्थ्य धत्तो दधाते खलु। एतदीयमेव सुहृल्लब्धमनयोर्याचितमाभरणं न स्वाभाविकमित्युत्प्रेक्षा ॥ ५६ ॥

अन्वयः--पद्मचन्द्रौ तातात् जलात् मित्रात् मुकुरात् च अस्याः मुखश्री-प्रतिबिम्बम् एव याचितकं विभूषणं कदाचित् अभ्यर्थ्य धत्तः खलु ।

हिन्दी—कमल और चंद्रमा (क्रम से) पिता जल और मित्र दर्पण से इस (दमयंती) के मुख की शोभा की परछाँही ही माँगे का आभूषण कभी माँग कर निश्चयतः धारण कर लेते हैं ।

टिप्पणी--एक अन्य भंगिमा से मुख की अपेक्षा चन्द्र-कमल की न्यूनता, जो हिन्दी-व्याख्याकार के पूर्वकथन के पक्ष में जाती है। बेचारे चन्द्र और कमल पर तो अपने आभूषण भी नहीं हैं। कमल अपने जनक जल से और चन्द्र अपने मित्र दर्पण से माँगकर जब-तब अपना साज-सिंगार पटाते हैं। कभी आभूषण मिलता है, कभी नहीं। इसी कारण उनका आभूषण-धारण 'कादाचित्क' है जब कि अपना ही होने से दमयन्ती-मुख का 'अकादाचित्क'। जल में उत्पन्न होने से पद्म का पिता जल है और 'समानशील-व्यसनेषु सख्यम्' के अनुसार वृत्ताकारिता, उज्ज्वलतादि युक्त होने से चन्द्र-दर्पण में मित्रता है। 'माँग' के विषय में प्रकाशकार का स्पष्टीकरण है कि जल में जब भैमीमुख प्रतिबिम्बत होता है, तब तात जल से वह प्रतिबिम्ब पद्म माँग लेता है और मुकुर में जब प्रतिबिम्बित होता है तो मित्र मुकुर से चन्द्र माँग लेता है। इस प्रकार तात और मित्र भी सदा माँग पूरी करने में समर्थ नहीं रहते। भाव यह कि चन्द्र और पद्म तो दमयन्ती की परछाँही के समान भी नहीं हैं, मुख की तो बात क्या? मल्लिनाथ के अनुसार 'माँगे के आभूषण' उत्प्रेक्षा है, विद्याधर के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति-यथासंख्य-समासोक्ति-उत्प्रेक्षा अलंकार हैं॥ ५६ ॥

अर्काय पत्ये खलु तिष्ठमाना भृङ्गैर्मितामक्षिभिरम्बुकेलौ ।
भैमीं मुखस्य श्रियमम्बुजिन्यो याचन्ति विस्तारितपद्महस्ताः ॥ ५७ ॥

जीवातु—अर्कायेति। पत्ये भर्त्रे, अर्काय तिष्ठमानाः स्वाभिलाषं प्रकाशयन्त्यः कामुक्यः सत्य इत्यर्थः। 'श्लाघह्नुङ्' इत्यादिना चतुर्थी 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' इत्यात्मनेपदम्। अम्बुजिन्यः पद्मिन्यः अम्बुकेलौ जलक्रीडाकाले भृङ्गैरेवाक्षिभि-र्मितामुपलब्धां मुखस्य श्रियं मुखशोभां विस्तारिताः प्रसारिताः पद्मा एव हस्ता यासां ताः सत्यो भैमीं याचन्ति खलु स्वरितेत्त्वाद्याचेरुभयपदित्वम्। दुहादित्वाद्

द्विकर्मकत्वम् । अत्र पद्मिनीनां भैमीमुखश्रीयाच्ञोत्प्रेक्षया मुखस्य पद्माधिक्य-व्यतिरेकः प्रतीयते ।। ५७ ।।

अन्वयः—पत्ये अर्काय तिष्ठमानाः अम्बुजिन्यः अम्बुकेलौ भृङ्गैः अक्षिभिः मितां मुखस्य श्रियं विस्तारितपद्महस्ताः भैमीं खलु याचन्ति ।

हिन्दी-पति सूर्य के लिए खड़ीं (प्रतीक्षा करतीं) कमलिनियाँ जलक्रीडा में भौंरे रूप आँखों द्वारा ज्ञात मुख की शोभा को पद्म रूपी हाथ फैला कर निश्चयतः भैमी से माँगती हैं ।

टिप्पणी—कमलिनियाँ रूप नायिकाएँ नायक प्रिय सूर्य के साथ जलकेलि की प्रतीक्षा में खड़ी हैं । वे चाहती हैं कि जब उनका प्रिय सूर्य आये उस समय वे और उनका मुख शृंगारपूर्ण हो, सुसज्ज हो । एतदर्थ वे भ्रमर-नेत्रों के संकेत से पद्महस्त फैलाकर दमयन्ती से शोभा की याचना कर रही हैं । भाव यह कि कमलिनी और दमयन्ती-मुख में साम्य नहीं है । पहिली याचक, दूसरा दाता । याचक-दाता में क्या समता ? मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में भैमीमुख-श्री-याच्ञा उत्प्रेक्षा द्वारा मुख का पद्माधिक्य व्यतिरेक प्रतीत होता है । इस पर चंद्र कलाकार के अनुसार उत्प्रेक्षा-व्यतिरेक का यहाँ अंगांगिभाव संकर है । विद्याधर के अनुसार रूपक-उत्प्रेक्षा-समासोक्ति अलंकार हैं । इंद्रवज्रा छंद है ।। ५७ ।।

अस्या मुखेनैव विजित्य नित्यस्पर्धी मिलत्कुङ्कुमरोषभासा ।
प्रसह्य चन्द्रः खलु नह्यमानः स्यादेव तिष्ठन् परिवेषपाशः ।। ५८ ।।

जीवातु—अस्या इति । नित्यं स्पर्धत इति नित्यस्पर्धी चन्द्रः मिलन्ती व्याप्नुवन्ती कुङ्कुममेव रोषभाः क्रोधप्रभाः यस्य तेन । अस्या मुखेनैव विजित्य प्रसह्य बलात्कृष्य नह्यमानो वध्यमानः तिष्ठन् परिवेष एव पाशो बन्धनप्रग्रहो यस्य स स्यादेवेत्युत्प्रेक्षा ।। ५८ ।।

अन्वयः—मिलत्कुङ्कुमरोषभासा अस्याः मुखेन एव नित्यस्पर्धी चन्द्रः खलु विजित्य असह्य नह्यमानः एव तिष्ठन् परिवेषपाशः स्यात् ।

हिन्दी—लगी हुइ कुंकुम रूप क्रोध की लालिमा से युक्त इस (दमयन्ती) के मुख से ही सदा स्पर्द्धा करनेवाला चंद्रमा निश्चय ही जाकर हठपूर्वक

बाँधा हुआ रहता ही परिवेष (चतुर्दिक् आवृत्त गोलाकार घेरा) रूप पाश में बद्ध रहता है।

टिप्पणी—दमयंती के मुख पर कुंकुम लगा है, जिससे वह लाल है। चंद्रमा ऐसे भैमीमुख की समानता नहीं कर सकता। कल्पना है कि चंद्रमा दमयंती के मुख से स्पर्द्धा करने की धृष्टता प्रायः किया करता है (प्रायः चंद्रमुख कहा ही जाता है) यह अपराध है। इस पर क्रुद्ध हो मुख अपराधी चंद्र को दंड देता है और उसे रस्सी में बांध कर डाल देता है। मुख पर लगे कुंकुम की लाली रोष का प्रतीक है और चंद्रमा के चारों ओर जो घेरा-सा बन जाया करता है, वही जैसे पाश है, जिसमें बाँधकर अनुचित स्पर्द्धा करने का दंड मुखने चंद्रमा को दिया है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार रूपक-उत्प्रेक्षा-समासोक्ति ॥ ५८ ॥

विधोर्विधिर्बिम्बशतानि लोपं लोपं कुहूरात्रिषु मासि मासि।
अभङ्गुरश्रीकममुं किमस्या मुखेन्दुमस्थापयदेकशेषम् ॥ ५९ ॥

जीवातु—विधोरिति। विधिर्विधाता विधोश्चन्द्रस्य बिम्बशतानि मासि मासि मांसे मासे 'पद्दन' इत्यादिना मांसशब्दस्य मासित्यामादेशः। कुहूरात्रिषु नष्टचन्द्ररात्रिषु लोपं लोपं लुप्त्वा लुप्त्वा आभीक्ष्ण्ये 'णमुल् च' इति णमुल्प्रत्ययः आभीक्ष्ण्ये द्वे भवत इति वक्तव्यम्। 'आभीक्ष्ण्यं पौनःपुन्यम्' इति काशिका। अभंगुरश्रीकमनश्वरशोभं, 'शेषाद्विभाषा' इति कप्। अमुमस्या मुखेन्दुम्। एकशेषमेकमेव शिष्यमाणमस्थापयत् स्थापितवान्। किमित्युत्प्रेक्षा। व्याकरणे सरूपाणामेकशेषवदिति भावः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—विधिः मासि मासि कुहूरात्रिषु विधोः बिम्बशतानि लोपं लोपम् किम् अभङ्गुरश्रीकम् अमुम् अस्याः एकशेषम् मुखेन्दुम् अस्थापयत् ?

हिन्दी—विधाता ने प्रतिमास अमावस्या की रातों में चंद्रमा के बहुत से मण्डलों का बराबर लोप कर के क्या अनश्वर शोभाशील इस (दमयन्ती) के एक मात्र शेष मुखचद्र की स्थापना की है ?

टिप्पणी—विधाता ने चन्द्र की रचना की, किंतु वह अपनी इस रचना से संतुष्ट न हुआ। असंतुष्ट शिल्पी विधाता प्रतिमास चन्द्र को गढ़ता, पर संतोष न होने पर (प्रति अमावस्या को) मिटा देता। ऐसे ही उसने अनेक

चन्द्र बनाये, फिर रचे, फिर नष्ट किये। अंत में उसने दमयंती के मुख-रूप चन्द्र की रचना की। इससे विधि-शिल्पी को संतोष हुआ कि अब मनचाही रचना उसने की। उसने दमयंती मुख-चंद्र को अनश्वर शोभा शाली बनाकर फिर नहीं मिटाया। भाव यह कि सैकड़ों क्षयी चन्द्रों में अक्षय शोभा शाली दमयन्ती-मुखचन्द्र की समानता करने की क्षमता नहीं है। विधाता की यह अनुपम चन्द्रकृति न जाने कितने अभ्यास के पश्चात् बन सकी है। व्याकरण का नियम है कि समान रूप वाले शब्दों में एक ही शेष रहता है। यही एक शेष है—सरूपाणामेकशेष एक विभक्तौ। (अष्टाध्यायी, १।२।२४)। मल्लिनाथ ने 'किम्' के आधार पर उत्प्रेक्षा मानी है, नारायण ने अमावस्या को सर्वथा चंद्रदर्शन न होने के आधार पर—अमावस्यां सर्वथा चन्द्रादर्शनादियमुत्प्रेक्षा। विद्याधर ने यहाँ अतिशयोक्ति-व्यतिरेक-उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है। चंद्र-कलाकार ने भङ्गुरश्लोक चंद्रबिंबों का लोप करके अभङ्गुरश्लोक भैमी मुखचंद्र की स्थापना को उत्प्रेक्षा कहा है और चंद्र को क्षयी और दमयंती-मुख को अक्षयशील कहे जाने के आधार पर व्यतिरेक अलंकार की व्यंजना मानी है॥ ५९॥

कपोलपत्रान्मकरात्सकेतुर्भ्रूभ्यां जिगीषुर्धनुषा जगन्ति।
इहावलम्ब्यास्ति रतिं मनोभूः रज्यद्द्वयस्यो मधुनाधरेण॥ ६०॥

जीवातु—कपोलेति। मनोभूः कपोलपत्रात् पत्रभङ्गादेव मकराद्धेतोः सकेतुः केतुमान् मकरध्वज इत्यर्थः। भ्रूभ्यामेव धनुषा जगन्ति जिगीषुः जेतुमिच्छुः अधरेणैव मधुना क्षौद्रेण वसन्तेन च रज्यद्वयस्योऽनुरक्तसखः इहास्यां रतिं प्रीतिं स्वदेवीं चावलम्ब्यास्ति। जगज्जिगीषोः कामस्य सर्वापि साधन-सम्पत्तिरस्यामेवास्तीत्यर्थः। अत्र पत्रभङ्गादावारोप्यमाणस्य केत्वादेस्ता-दात्म्येन प्रकृतजगज्जयोपयोगित्वात् परिणामालङ्कारः। 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः' इति लक्षणात्॥ ६०॥

अन्वयः—कपोलपत्रात् मकरात् सकेतुः भ्रूभ्यां धनुषा जगन्ति जिगीषुः अधरेण मधुना रज्यद्वयस्यः मनोभूः रतिम् अवलम्ब्य इह अस्ति।

हिन्दी—कपोलों पर लिखी पत्रावली रूप मकर का झंडा लिये भौहों के धनुष से त्रिजगत् को जीतने का आकांक्षी, मधु अधर के रूप में अनुरागी

मित्र मधु (वसंत) के साथ मनोजन्मा (काम) रति (प्रीति) सहित (अपनी पत्नी रति के सहित) यहाँ (भैमीमुख में) बसता है।

टिप्पणी—कपोलों की पत्रावली मकर-ध्वज, भ्रू युग्म धनुष, मधु अधर मित्र वसंत—ये सब कामचिह्न प्रकट करते हैं कि काम अपनी पत्नी रति सहित दमयन्ती के मुख को अपना आवास बनाये है। भाव यह है कि ये सब चिह्न यह अनुमान कराते हैं कि काम सपरिवार भैमी-मुख का वासी है, अर्थात् दमयन्ती का मुख देखकर सब में कामोत्पत्ति हो जाती है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ परिणामालंकार है, क्योंकि कपोलपत्रादि में आरोप्यमाण केतु आदि के तादात्म्य से प्रस्तुत जगज्जयोपयोगिता बतायी गयी है। विद्याधर के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति और रूपक अलंकार हैं ॥६०॥

वियोगबाष्पाञ्चितनेत्रपद्मच्छद्मान्वितोत्सर्गपयःप्रसूनौ ।
कर्णौ किमस्या रतितत्पतिभ्यां निवेद्यपूपौ विधिशिल्पमीदृक् ॥ ६१ ॥

जीवातु—वियोगेति। इदृगपूर्वं विधिशिल्पं ब्रह्मनिर्माणमस्याः कर्णौ वियोगेन हेतुना बाष्पाञ्चितयोरश्रुयुक्तयोः नेत्रपद्मयोः। छद्मेत्यपह्नवभेदः। तेन छद्मनान्विते मिलिते उत्सर्गपयःप्रसूने दानोदकमिश्रकुसुमे ययोस्तौ रतितत्पतिभ्यां सम्प्रदाने चतुर्थी। निवेद्यावर्पणीयौ पूपावपूपौ किम्। 'पूपोऽपूपः पिष्टकः स्यात्' इत्यमरः। नैवेद्यसमर्पणेन पुष्पाञ्जलिमुत्सृजन्ती साश्रुनेत्र-योगात्तत्कर्णयोस्तादृक्पुष्पयुक्तरतिस्मरनैवेद्यापूपत्वोत्प्रेक्षया सापह्नवया कर्णान्त-विश्रान्त लोचनत्वं वस्तु व्यज्यते ॥ ६१ ॥

अन्वयः—वियोगबाष्पाञ्चितनेत्रपद्मच्छद्मान्वितोत्सर्गपयःप्रसूनौ रति-तत्पतिभ्यां निवेद्यपूपौ अस्याः कर्णौ—ईदृक् किं विधिशिल्पम् ?

हिन्दी—विरह जनित आँसुओं से पूजित नेत्र कमलों के व्याज से दान के निमित्त जल और फूलों से युक्त, और उसके पति (काम) के निमित्त उपहार के अपूप (पुए) जैसे इस (दमयन्ती) के दोनों कान इस प्रकार की क्या विधाता की कारीगरी है !

टिप्पणी—पाँच (६१-६५) में कानों का वर्णन है। नल-वियोगिनी दमयन्ती के दोनों नेत्रों में आँसु भरे हैं। ऐसा लगता है कि कामिनी दमयन्ती ने रति और काम को प्रसन्न करने के लिए निवेदनार्थं ये जल और फूल

सजाये हैं और उसके कान (जिन तक विशाल नेत्र फैले हैं) अर्पित करने के लिए अपूप (मिष्टपक्वान्न) हैं। इस प्रकार दमयन्ती जल, फूल और मिष्टान्न अर्पित कर रति-काम कीआराधना कर रही है। इन आकर्ण नेत्रों को देखकर कामोत्पत्ति हो जाती है और ऐसे उत्तम शिल्प के रचनाकार विधाता की प्रशंसा में मुँह से निकल पड़ता है—'वाह रे विधाता, क्या तेरी कारीगरी है।' मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ सापह्नवा उत्प्रेक्षा द्वारा कर्ण पर्यंत फैले लोचन होना-वस्तु ध्वनित है, क्योंकि सवाष्प नेत्रों को जल-फूल और उनसे युक्त कर्णों को अपूप कहा गया है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-रूपक-अपह्नुति-उत्प्रेक्षा अलंकार हैं ॥ ६१ ॥

इहाविशद् येन पथातिवक्रः शास्त्रौघनिष्यन्दसुधाप्रवाहः ।
सोऽस्याः श्रवःपत्रयुगे प्रणाली रेखेव धावत्यभिकर्णकूपम् ॥ ६२ ॥

जीवातु—इहेति । अतिवक्रः शास्त्राणामोघः समूहस्तस्य निष्यन्दः सारः एव सुधाप्रवाहो येन पथा वर्त्मना यया प्रणाल्या इहास्यां भैम्यामविशत् प्रविष्टः, अस्याः, श्रवसी पत्रे दले इव श्रवःपत्रे तयोर्युगे युग्मे या रेखा वक्रप्रणाली सुधाप्रवाहपदवीव । 'द्वयोः प्रणाली पयसः पदव्याम्' इत्यमरः । अभिकर्णकूपं धावति कर्णरन्ध्रमभिगच्छति । यथा कुतश्चिन्निःसृतं जलं वक्रगत्या कयाचित्प्रणाल्या कश्चिन्निम्नदेशं गच्छति तद्वदिति भावः । अत्र कर्णस्य रेखायां सुधाप्रणालीत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ६२ ॥

अन्वयः—अतिवक्रः शास्त्रौघनिष्यन्दसुधाप्रवाहः येन पथा इह अविशत्, सः अस्याः श्रवःपत्रयुगे रेखा प्रणाली इव अभिकर्णकूपं धावति ।

हिन्दी—अत्यन्त टेढ़ा (जटिल) शास्त्र समूह का साररूप अमृत-प्रवाह जिस मार्ग से यहाँ (दमयन्ती के कंठ में) प्रविष्ट हुआ, वह इस (दमयन्ती) के कर्णताटंक—युगल में रेखा प्रणालिका (जल-प्रवाह की नाली की भाँति कर्णरंध्र की ओर जाती है ।

टिप्पणी—दमयन्ती शास्त्रपंडिता है, उसमें शास्त्रामृत-प्रवाह विद्यमान है । शास्त्र-सार बड़ा जटिल है, गूढार्थ, दुर्बोध । वह कैसे दमयन्ती तक पहुँचा ? प्रवाह किसी मार्ग—प्रणालिका में होकर ही बहता है । वह शास्त्रामृत प्रवाह वक्र कर्ण रेखारूपप्रणाली में बहकर कानों में प्रविष्ट हुआ । प्रणाली वक्र है,

अतः प्रवाह भी वक्र है। भाव यह है कि कान सुन्दर है और दमयन्ती सुधासम वक्रोक्ति, शास्त्रादि के मर्म को जाननेवाली सकलकला प्रवीणा है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ कान की रेखा में सुधा प्रणालीत्व की उत्प्रेक्षा की गयी है, विद्याधर के अनुसार अपह्नुति-उपमा ॥ ६२ ॥

अस्या यदष्टादश संविभज्य विद्याः श्रुती दध्रतुरर्धमर्धम्।
कर्णान्तरुत्कीर्णगभीरलेखः किं तस्य संख्यैव न वा नवाङ्कः ॥ ६३ ॥

जीवातु—अस्या इति। अस्याः श्रुती कर्णौ अष्टादश विद्याः वेदवेदाङ्गादिकानि वेद्यस्थानानि संविभज्य द्विधाकृत्य यदर्धमर्धं दध्रतुः बिभ्रतुः। कर्णस्यान्तर्गर्भे उत्कीर्ण उत्पादितः गभीरो दूरगतो लेखोऽवयवविन्यासः तस्यार्धस्य सङ्ख्यैव मूर्ता नवसङ्ख्यैव न किम्। यद्वा नवानामङ्को नवाङ्को बालसङ्ख्याचिह्नं वा न भवति किम्। भवत्येवेत्यर्थः। उत्प्रेक्षा ॥ ६३ ॥

अन्वयः—अस्याः श्रुती अष्टादश विद्याः संविभज्य यत् अर्धम् अर्धं दध्रतुः, किं तस्य कर्णान्तरुत्कीर्णगभीरलेखः नवाङ्कः एव संख्या न वा?

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के दोनों कान अठारह विद्याओं को बराबर-बराबर बाँटकर जो आधा-आधा धारते हैं, क्या उसका कानों के भीतर उद्धृत (उकेरा) गहरा लेख नया अमिट अंकित नौ अंक ही संख्या ही है? (है ही)।

टिप्पणी—विष्णुपुराण के अनुसार अष्टादश विद्या इस प्रकार हैं:—अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥ आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः। अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु विद्या ह्यष्टादशैव ह॥ ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—४ वेद; शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष्, छन्द—६ वेदांग; मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र, पुराण—४; आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्व—ये ३; और अर्थशास्त्र—१=१८। दमयन्ती के दोनों कानों कि मध्य नौ के सदृश चिह्न हैं, सामुद्रिक विद्या के अनुसार शुभचिह्न। कल्पना है कि परमविदुषी दमयन्ती के पूर्वोक्त श्लोक के अनुसार) एक-एक कान में ये ही अठारह विद्या आधी-आधी, नौ-नौ करके प्रविष्ट हुई हैं। नौ की संख्या का द्योतक अंक विधाता ने यही गणना करने के निमित्त दमयन्ती के दोनों कानों में अंकित कर दिया है। भाव यह कि

दमयन्ती के कानों की रेखा नौ अंक के सदृश है और शुभ लक्षण है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और उत्प्रेक्षा ॥ ६३ ॥

मन्येऽमुना कर्णलतामयेन पाशद्वयेन च्छिदुरेतरेण।
एकाकिपाशं वरुणं विजिग्येऽनङ्गीकृताऽऽयाससती रतीशः ॥ ६४ ॥

जीवातु—मन्य इति। रतीशो रतिपतिः अमुना कर्णलतामयेन कर्णपाशरूपेण च्छिदुरादितरेण च्छिदुरेतरेणाभङ्गुरेण। 'विदिभिदिच्छिदेः कुरच्' इति कर्मकर्तरि कुरच्। पाशद्वयेन पाशायुधयुग्मेन। 'पाशो बन्धनशस्त्रयोः' इत्यमरः। एकाकी अद्वितीयः पाशो यस्य तमेकाकिपाशम्। वरुणमनङ्गीकृता परिहृता, आयासततिः प्रयासपरम्परा येन सोऽनायासः सन् विजिग्ये जिगाय। मन्य इत्युत्प्रेक्षायाम्। 'विपराभ्यां जेः' इत्यात्मनेपदम्। अधिकसाधनैनाल्पसाधनः सुजय इति भावः ॥ ६४ ॥

अन्वयः—मन्ये अनङ्गीकृतायाससती रतीशः, अमुना कर्णलतामयेन छिदुरेतरेण पाशद्वयेन एकाकिपाशं वरुणं विजिग्ये।

हिन्दी—प्रतीत होता है कि विना अधिक परिश्रम किये रतिपति (काम) ने इस (दमयन्ती के) कर्णजाल रूप दृढ़तर पाशयुग्म से एक पाशवाले वरुण को जीत लिया।

टिप्पणी—काम को दो पाश मिल गये दमयन्ती के कर्णों के रूप में। इस प्रकार सरलता से ही उसने एक पाशधारी वरुण को जीत लिया। एक अस्त्रधारी को दो अस्त्रधारी सहज में जीत ही सकता है। भाव यह कि वरुणादि देव भी दमयन्ती-कर्ण देख कामवश हो जाते हैं। 'मन्ये' को उत्प्रेक्षाद्योतक मानकर मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-अपह्नुति-उत्प्रेक्षा। आसक्त वरुण के दमयन्ती-स्वयंवर में संमिलित होने का नाटकीय पूर्वाभास ॥ ६४ ॥

आत्मैव तातस्य चतुर्भुजस्य जातश्चतुर्दोरुचिरः स्मरोऽपि।
तच्चापयोः कर्णलते भ्रुवोर्ज्ये वंशत्वगंशौ चिपिटे किमस्याः ॥ ६५ ॥

जीवातु—आत्मेति। चतुर्भुजस्य चतुर्बाहोः तातस्य स्वजनकस्य विष्णोरात्मा स्वरूपमेव जातः। 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इति श्रुतेः स्मरोऽपि चतुर्दोभिः

चतुर्बाहुभिः रुचिरः तस्य चतुर्बाहोः स्मरस्य चापयोरस्या भ्रुवोः अस्या एव कर्णौ लतेव वंशस्य त्वक्सारस्य त्वगंशौ त्वग्भागमयौ चिपिटे अनते ऋजू इत्यमरः। 'इनच्पिटच्चिकचिच' इति नेः पिटच्प्रत्यये नेश्चिरादेशः। नासान्तवाचिना तत्त्वमात्र लक्ष्यते। ज्ये मौर्व्यौ किम्। 'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः' इत्यमरः। अत्र स्मरस्य चतुर्भुजत्वं ततो भैमीभ्रुवोस्तच्चापयुगत्वं तत्कर्णयोरेव ज्यात्वं च उत्प्रेक्ष्यते ॥ ६५ ॥

अन्वयः—चतुर्भुजस्य तातस्य आत्मा एव जातः स्मरः अपि चतुर्दोरुचिरः, किं तच्चापयोः अस्याः भ्रुवोः कर्णलते वंशत्वगंशौ चिपिटे ज्ये ?

हिन्दी—चारभुजा वाले (कृष्णरूप विष्णु) पिता के आत्मा रूप में उत्पन्न काम भी चतुर्बाहु-सुन्दर है। क्या उसके दो धनुष्-रूप इस (दमयन्ती) के भ्रू-युगल की कर्णलता रूप बाँस के ऊपरी अंश से निर्मित, ऋजु (अनत, विस्तृत) दो प्रत्यंचा हैं ? (हैं ही)।

टिप्पणी—इस श्लोक में दमयन्ती के भ्रूयुगल को काम के दो चाप (क्योंकि चतुर्भुज का बेटा—आत्मज (आत्मा वै जायते पुत्रः) भी चतुर्भुज है, चतुर्भुज होने से काम दो धनुष् धारण करता है) और उसकी कर्णलताओं को उन चापों की प्रत्यंचा बनाया गया है–'वंशत्वगंश' से रचित, अतएव कमनीय। वे सीधी रखी हैं, क्योंकि काम धनुषों को चढ़ाकर प्रहार नहीं कर रहा है। प्रहार की आवश्यकता ही नहीं है, दमयन्ती की भौंह-कान (धनुष्-प्रत्यंचा) देखकर ही सब कामाधीन हो जाते हैं। इस श्लोक में काम का चतुर्भुज होना और उससे ही भीमपुत्री के भ्रूयुग्म का दो धनुष् होना तथा कानों का उनकी दो प्रत्यंचा होना उत्प्रेक्षित है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षालंकार, विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग और उत्प्रेक्षा ॥ ६५ ॥

ग्रीवाद्भुतैवावटुशोभितापि प्रसाधिता माणवकेन सेयम्।
आलिङ्ग्यतामप्यवलम्बमाना सरूपताभागखिलोर्ध्वकाया ॥ ६६ ॥

जीवातु—ग्रीवेति। या ग्रीवा वटुना माणवकेन शोभिता अलंकृता न भवतीत्यवटुशोभिता। तथापि माणवकेन वटुना प्रसाधितेति विरोधः। 'अपिर्विरोधे'। अवटुशोभिता कृकाटिकालंकृता। 'अवटुर्घाटा कृकाटिका' इत्यमरः। 'माणवकेन विंशतिसरेण मुक्ताहारेण प्रसाधितेति विरोधः।

विंशतिसरा माणवकोऽल्पत्वात्' इति क्षीरस्वामी। 'भवेन्माणवको हारभेदे बाले कुपूरुषे' इत्यभिधेयः। किञ्च, आलिङ्ग्यतामालिङ्गनीयत्वमलम्बमाना-प्याश्रयन्त्यपि सरूपताभाक् सारूप्ययोगी अखिलोऽन्यून ऊर्ध्वक आलिङ्ग्यत्वम् इति भावप्रधानो निर्देशः। यस्या सा। 'अङ्क्यालिङ्ग्योर्ध्वकास्त्रयः' इत्यमरः। 'हरीतक्याकृतिस्त्वङ्क्यो यवमध्यस्तथोर्ध्वकः। आलिङ्ग्यश्चैव गोपुच्छा मध्यदक्षिणवामगा॥' इति च। आलिङ्ग्योऽप्यूर्ध्वक इति विरोधः। आलिङ्ग्यता-मालिङ्गनीयत्वमूर्ध्वक ऊर्ध्वभाग इत्यविरोधः। सेयं ग्रीवादद्भुतैवोक्तविरोधा-दुक्तलक्षणयोगित्वाच्चेति भावः। अत्र विरोधाभासयोः संसर्गात् सजातीय-संसृष्टिः॥ ६६॥

अन्वयः—सा इयं ग्रीवा अद्भुता एव, या अवटुशोभिता अपि माणवकेन प्रसाधिता, आलिङ्ग्यताम् अवलम्ब्यमाना अपि सरूपताभागखिलोर्ध्वकाया।

हिन्दी—वह यह (दमयन्ती की) ग्रीवा भी विचित्र ही है, जो कि 'अवटुशोभिता' (बालक से अशोभित होकर) भी 'माणवक' (बालक) से अलंकृत है (विरोध); अवटुशोभित (गरदन के पुरोभाग 'कृकाटिका' से शोभित होकर) भी माणवक (बीसलड़ी मोती-माला, 'प्रकाश'कार के अनुसार छोटी माला-अर्धहार से अलंकृत है (परिहार)। जो 'आलिङ्ग्यता' (गोद में रखकर बजाये जाने वाला गोपुच्छाकार मृदंग-भाव) धारण करती भी 'सरूपताभागखिलोर्ध्वकाया' (सर्वथा समरूप वाले ऊर्ध्वक—ऊपर रखकर बजाये जाने वाले मृदंग के तुल्य-यवाकार) है; अथवा आलिंगन-योग्य होने पर भी 'असरूपताभागखिलोर्ध्वकाया' (असुन्दर ऊपरी देहांशवती अथवा 'सरूपताभाक्'—अर्थात् सपाट ऊपरी देहांशवाली अतः आलिंगन के अयोग्य) है (विरोध); आलिंगन-योग्य होने पर भी समान अर्थात् उपयुक्त ऊपरी भागवती—जहाँ जैसी ऊँचाई-नीचाई, घुमाव-फिराव उचित हो, वैसी ऊर्ध्व देहांश धारिणी है (परिहार)।

टिप्पणी—ग्रीवा-वर्णन। भाव यह कि दमयन्ती की ग्रीवा में मुक्ताहार है और वह सम (उचित) आकार की है। अनेकार्थ 'अवटु', 'माणवक' आदि शब्दों के आधार पर पूर्वार्द्ध और परार्द्ध में दो विरोधाभासों की मल्लिनाथ के अनुसार सजातीय संसृष्टि, विद्याधर के अनुसार विरोधाभास॥ ६६॥

कवित्वगानप्रियवादसत्यान्यस्या विधाता न्यधिताभिकण्ठे ।
रेखात्रयन्यासमिषादमीषां वासाय सोऽयं विबभाज सीमाः ॥ ६७ ॥

जीवातु—कवित्वेति । विधाता अस्या अधिकण्ठं कण्ठे । विभक्तचर्थेऽव्ययीभावः । कवित्वं च गानं च प्रियवादश्च सत्यं च तानि चत्वारि न्यधित निहितवान् । सोऽयं विधाता अमीषां कवित्वादीनां चतुर्णां वासाय कण्ठे असङ्कीर्णस्थितये रेखात्रयन्यासमिषात् कम्बुग्रीवा त्रिरेखा सती लक्ष्मसम्पत्तिरिति भावः । सीमा मर्यादा विबभाज मध्यरेखात्रयविन्यासेन चतुर्धा विभक्तवान्, अविवादयेति भावः । अत्र ग्रीवागतभाग्यरेखात्रये सीमाविभागचिह्नत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥६७॥

अन्वयः—विधाता अस्याः अभिकण्ठे कवित्वगानप्रियवादसत्यानि न्यधित, सः अयम् अमीषां वासाय रेखात्रयन्यासमिषात् सीमाः विबभाज ।

हिन्दी—विधि ने इस (दमयन्ती) के कंठ में कवित्व, गान, प्रियवचन और सत्य रख दिये, उस विधाता ने ही इन (चारों) के वासार्थ तीन कंठ रेखाओं व्याज से (चार) सीमाएँ विभक्त कर दीं ।

टिप्पणी—भाव यह कि दमयन्ती काव्यरसिका, संगीतप्रिया, प्रिय और सत्य बोलने वाली है (सामान्यतः प्रिय और सत्य बोलना कठिन है) । ये चार हैं, अतः इनके वासार्थ चार कक्ष अपेक्षित हैं। प्रतीत होता है कि विधाता ने यही ध्यान में रखकर दमयन्ती कंठरूप विशालकक्ष में तीन कंठरेखाओं को खींच कर तीन विभाजक दीवारें (पार्टीशन बाल) बना दीं और एक बड़े कक्ष को चार निवासयोग्य कक्षों में बदल दिया । एक 'हाल' के चार बेडरूम' बना दिये तीन 'विभाजक' डालकर । तीन 'विभाजकों' से चार स्थान हो ही जायेंगे । दमयन्ती कवित्व आदि कलाओं में प्रवीण और 'कम्बुग्रीवा' है । कम्बुग्रीवा तीन रेखाओं से अंकित ग्रीवा होती है—रेखात्रयाङ्किता कम्बुग्रीवेति कथ्यते । ऐसी ग्रीवा श्रेष्ठ मानी जाती है । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा; क्योंकि ग्रीवा के रेखात्रय में सीमाविभागचिह्न की संभावना की गयी है । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-अपह्नुति ॥ ६७ ॥

बाहू प्रियाया जयतां मृणालं द्वन्द्वे जयो नाम न विस्मयोऽस्मिन् ।
उच्चैस्तु तच्चित्रममुष्य भग्नस्यालोक्यते निर्व्यथनं यदन्तः ॥ ६८ ॥

जीवातु—बाहू इति । प्रियाया बाहू मृणालं जयतां नाम । जयतेर्लोटि

तसस्तामादेशः। अस्मिन् द्वन्द्वे युग्मे कलहे च। 'द्वन्द्वं कलहयुग्मयोः' इत्यमरः। जयो नाम विस्मयोऽद्भुतो न, किंतु भग्नस्य जितस्यामुष्य मृणालस्य अन्तर्गर्भे अन्तःकरणे च व्यथनस्याभावो निर्व्यथनमव्ययं छिद्रं च 'छिद्रं निर्व्यथनं रोकम्' इत्यमरः। अर्थाभावे अव्ययीभावः। यद्विलोक्यते तदुच्चैर्महच्चित्रं भग्नोऽप्यव्यथ इति विरोधात्। छिद्रं विलोक्यत इत्यविरोधः। मृणालस्यान्तश्छिद्रत्वात्। विरोधाभासोऽलङ्कारः॥ ६८॥

अन्वयः—प्रियायां बाहू मृणालं जयताम्, अस्मिन् द्वन्द्वे जयः नाम न विस्मयः, उच्चैः तु चित्रं तत्, यत् भग्नस्य अमुष्य अन्तः निर्व्यथनम् आलोक्यते।

हिन्दी—प्रिया (दमयन्ती) की भुजाएँ कमलनाल को जीत ले, इस द्वन्द्व में (भुजाओं की जीत आश्चर्य नहीं है; अत्यधिक पिचित्र तो वह है कि भग्न (पराजित, टूटे) इस (कमलनाल) का अन्तःकरण निर्व्यंथन (पीडा रहित, सच्छिद्र) दीखता है।

टिप्पणी—दो (६८, ६९) श्लोकों में बाहुयुग्म का वर्णन। दयमन्ती का बाहुयुगल मृणालों की अपेक्षा गोरा और कोमल है। इस तथ्य को भंगिमा विशेष प्रतिपादित किया गया है। दो प्रतिद्वन्द्वी हैं, बाहुयुगल और मृणाल। बाहुयुगल की विशिष्टता स्वतः सिद्ध है, वे जीतते हैं। इसमें किसी को विचित्र नहीं लगता, बाहुयुगल को जीतना ही था। विचित्र यह है कि हारने पर भी मृणालों का अंतस् 'निर्व्यंथन' अर्थात् व्यथारहित है। यह विरोध है, क्योंकि पराजित व्यथारहित नहीं होता। परिहार है कि मृणालों का अन्तःकरण (मध्य) 'निर्व्यंथन' अर्थात् छिद्र युक्त है। 'निर्व्यंथन' के समान ही 'भग्न' के भी दो अर्थ हैं—(१) पराजित, (२) टूटा। मृणाल के मध्य में छेद होते ही हैं, टूटने पर वे स्पष्ट दीख गये। मल्लिनाथ के अनुसार विरोधाभास है और विद्याधर के अनुसार समासोक्ति और श्लेष॥ ६८॥

अजीयतावर्तशुभंयुनाभ्यां दोर्भ्यां मृणालं किमु कोमलाभ्याम्।
निस्सूत्रमास्ते घनपङ्कमृत्सु मूर्तासु नाकीर्तिषु तन्निमग्नम्॥ ६९॥

जीवातु—अजीयतेति। आवर्तोऽम्भसां भ्रमः स इव शुभंयुः शुभवती नाभिर्यस्याः सा। तया भैम्या। 'शुभंयुस्तु शुभान्वितः' इत्यमरः। 'अहंशुभंयोर्युस्' इति शुभमिति मकारान्ताव्ययान्मत्वर्थीयो युस्प्रत्ययः। कोमलाभ्यां

मृदुभ्यां दोर्भ्यां भुजाभ्यां मृणालमजीयत किमु मार्दवगुणेन जितं किमित्युत्प्रेक्षा। कुतः, घनासु सान्द्रासु पङ्करूपासु मृत्स्वेव मूर्तासु मूर्तिमतीष्वकीर्त्तिषु तन्मृणालं निमग्नं निस्सूत्रं निर्व्यवस्थं निर्मर्यादं नास्ते किं काकुः अपराजितत्वे कथमकीर्ति-पङ्कपात इति भावः ॥ ६९ ॥

अन्वयः--आवर्तशुभंयुनाभ्यां कोमलाभ्यां दोर्भ्यां मृणालम् अजीयत निःसूत्रं तत् किमु घनपङ्कमृत्सु मूर्तासु अकीर्तिषु निमग्नं न आस्ते ?

हिन्दी-- दक्षिणावर्त शंख के समान भौंर युक्त शुभ नाभि वाली इस (दमयन्ती) के कोमल बाहुओं ने मृणाल को जीत लिया (इसी से) निःसूत्र (निरुपाय, तंतुहीन) वह (मृणाल) क्या घनी कीचड़-मिट्टी (रूप) में देहधारिणी अकीर्तियों के बीच निमग्न नहीं है ?

टिप्पणी—भाव यही है कि दमयन्ती के बाहु मृणाल की अपेक्षा आकर्षक हैं, कोमल मृणाल भी उनकी समता नहीं कर सकता, जो स्वभावतः 'निःसूत्र' (तंतुरहित) होता है। इसी अनेकार्थ 'निःसूत्र' का 'निरुपाय' अर्थ लेकर मृणाल की विवशता प्रतीत करायी गयी है। मृणाल काली कीचड़ में होता ही है। यहाँ कल्पना है कि पराजित और निरुपाय मृणाल अयश की काली कीच में फँसा पड़ा है। अकीर्ति की कविसमयसिद्ध श्यामता के आधार पर कीचड़ मिट्टी के रूप में उसे मूर्त कहा गया है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा और काकुवक्रोक्तिः। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-समासोक्ति-रूपक-श्लेष अलंकार हैं ॥ ६९ ॥

रज्यन्नखस्याङ्गुलिपञ्चकस्य मिषादसौ हैङ्गुलपद्मतूणे।
हैमैकपुङ्खास्ति विशुद्धपर्वा प्रियाकरे पञ्चशरी स्मरस्य ॥ ७० ॥

जीवातु—रज्यदिति। रज्यन्तः स्वभावरक्ताः नखा यस्य तस्य। 'कुषिरजोः प्राचां श्यन् परस्मैपदं च'। अङ्गुलिपंचकस्य मिषात् असौ पुरोवर्तिनी हैमाः सौवर्णा एके केवला असाधारणाः पुङ्खा कर्तर्याख्या मूलप्रदेशा यस्याः सा। 'कर्तरी पुङ्ख' इति यादवः। विशुद्धपर्वा निर्व्रणग्रन्थिः सरलग्रन्थिरित्यर्थः। स्मरस्य पंचशरी शरपंचकम्। समाहारे द्विगोर्ङीप्। प्रियाकरे भैमीपाणावेव हिङ्गुलेन रक्तं हैङ्गुलं तस्मिन्नेव पद्मतूणे अस्ति वर्तत इत्युत्प्रेक्षा ॥ ७० ॥

अन्वयः—रज्यन्नखस्य अङ्गुलिपञ्चकस्य मिषात् हैमैकपुङ्खा विशुद्धपर्वा असौ स्मरस्य पञ्चशरी हैङ्गुलपक्ष्मतूणे प्रियाकरे अस्ति।

हिन्दी—प्रकृति से लाल नखोंवाली पाँच अंगुलियों के व्याज से श्रेष्ठ सुवर्ण पुंख (अग्रभाग) वाली, ऋजु ग्रन्थि (जोड़) से युक्त यह (प्रत्यक्ष संमुख) काम की पंचशरी (पाँच कुसुमबाण) हिंगुल से रँगे पद्म तूणीर-में प्रिया (दमयन्ती) के हाथ में है।

टिप्पणी—तीन (७०-७२) में हाथ का वर्णन है। इस श्लोक में स्वभावतः लाल नाखूनोंवाली अंगुलियों को स्वर्णमुखमय काम के पाँच कुसुम-बाण बताया गया है, नख उन अंगुलिबाणों के पँख हैं तथा अंगुलियों के पोर उनकी सरल गाँठें हैं। हिंगुल से रंजित दमयन्ती का हाथ उन अंगुलि-कुसुमशरों का तूणीर है। काम के पुष्प-बाण हैं, अतः उनका तूणीर भी पुष्पमय होना चाहिए। इसी दृष्टि से रक्तपक्ष से साम्य रखनेवाले दमयन्ती-कर को 'पद्मतूण' कहा गया। पंचशरी अंगुलियाँ हैं, जो 'हैमैकपुंखा' है, क्योंकि नख लाल हैं। अत्युत्तम सुवर्ण रक्त होता है। विशुद्ध पर्व (पोर और गाँठें) दोनों में हैं। भाव यह है कि भीमसुता का हाथ और अँगुलियों को देखनेमात्र से कामप्रादुर्भाव हो जाता है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा और विद्याधर के अनुसार अपह्नुति ॥ ७० ॥

अस्याः करस्पर्शनगर्धिऋद्धिर्बालत्वमाप्तम् खलु पल्लवो यः।
भूयोऽपिनामाधरसाम्यगर्वं कुर्वन् कथं वाऽस्तु स न प्रवालः ॥ ७१ ॥

जीवातु—अस्या इति। यः पल्लवः किसलयः अस्याः करेण स्पर्शनं गृध्नातीति तद्गर्धिनी ऋद्धिः कान्तिर्यस्य स कृतस्पर्धः सन्नित्यर्थः। 'ऋत्यक' इति प्रकृतिभावः। बालत्वं शिशुत्वं प्रत्यग्रत्वं मूर्खत्वं चापत् खलु। 'मूर्खेऽर्भकेऽपि बालः स्यात्' इत्यमरः। अल्पोऽधिकस्पर्धी मूर्खो भवतीति भावः। भूयोऽपि नाम पुनरपि किल मूर्खत्वं प्राप्स्यतीत्यर्थः। अधरसाम्येन गर्वं कुर्वन् अधरसाम्याभि-मानं कुर्वन् सपल्लवः प्रवालः प्रवालशब्दवाचः बवयोरभेदात् प्रकर्षेण बालश्च कथं वा नास्तु न स्यात्? स्यादेवेत्यर्थः। अल्पोधिकतरस्पर्धी त्वतिमूर्ख इति भावः। अधिकतरश्च करादधररतिसर्वस्वत्वात्। तथा चाधरसाम्यं तावदा-स्ताम्। पल्लवस्य करसाम्यमपि दूरापास्तमित्यर्थः। ततश्च प्रवालशब्दस्य पल्लव-प्रवृत्तिनिमित्तमप्येतदेवेति भावः ॥ ७१ ॥

अन्वयः—यः पल्लवः अस्याः करस्पर्शनगर्धिऋद्धिः बालत्वं खलु आपत्, भूयः अपि नाम अधरसाम्यगर्वं कुर्वन् सः प्रवालः कथं वा न अस्तु ?

हिन्दी— जो पल्लव (नया पत्ता) इस (दमयन्ती) के हाथ को छूने की अत्यधिक आकांक्षा रखता हुआ 'बालता' (बचपन, नवीनता, मूर्खता) को प्राप्त हो गया था, फिर भी (दमयन्ती) के अधर की समानता करता हुआ वह 'प्रवाह' (मूँगा, 'व' 'ब' के अभेद से मूर्ख) क्यों न हो जाय ? (होना ही उचित ह)।

टिप्पणी—दमयन्ती-कर पल्लव की अपेक्षा अधिक मनोरम है वैसे ही, जैसे कि मूँगा (प्रवाल) से उसका अधर। दमयन्ती के कर नव पल्लव से भी अधिक लाल हैं। अधर का प्रसंगतः उल्लेख हो गया है। 'बाल' और 'प्रवाल' के प्रयोग से यहाँ चमत्कार चारुत्व आयी है। पत्ते ने एक 'बालता' अर्थात् मूर्खता की—बचपना दिखाया, अभी 'नया' ही जो था, अनुभवहीन कि दमयन्ती के कर से स्पर्द्धा करने चला, फलतः उसे 'बाल' (मूर्ख, बच्चा, अनुभवहीन) कहा गया। पुनः उसने मूर्खता की कि 'प्रवाल' (मूँगा) बन कर अधर-साम्य करने चला। इस प्रतिस्पर्धा में वह और भी मूर्ख (प्रबाल) सिद्ध हुआ, और अधिक अनुभवहीन बच्चा। पल्लव कर तक तो हो नहीं पाया, अधर से होड़ करने पर उसे अत्यधिक मूर्ख 'प्रवाल' तो बनना ही पड़ता। 'अधर' को 'रतिसर्वस्व' माना जाता है, अतः कर की अपेक्षा वह श्रेष्ठ है। प्रथम चरण में पाठांतर है—'करस्पर्धनगर्धनर्द्धिः' करस्पर्धनस्य गर्धनेन ऋद्धिः यस्य। मल्लिनाथ को 'करस्पर्शनगर्धिऋद्धिः' पाठ संमत है। उन्होंने 'ऋत्यकः' से (अष्टा० ६।१।१२८) द्वारा गर्धि+ऋद्धिः में प्रकृतिभाव का निर्देश किया है। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और समासोक्ति ॥ ७१ ॥

अस्यैव सर्गाय भवत्करस्य सरोजसृष्टिर्मम हस्तलेखः।
इत्याह धाता हरिणेक्षणायां किं हस्तलेखीकृतया तथास्याम् ॥ ७२ ॥

जीवातु—अस्येति। अस्य भवत्करस्य भवत्याः पाणेः सर्गायैव सरोजसृष्टिः मम हस्तलेखो रेखाभ्यास इति विधाता अस्यां हरिणेक्षणायां भैम्यां हस्तलेखीकृतया अभ्यासीकृतया हस्तकृतपद्मरेखीकृतया च तया सरोजसृष्ट्या करणेनाह किम् ? भैम्यै कथयति किमित्युत्प्रेक्षा ॥ ७२ ॥

अन्वयः--धाता अस्यां हरिणेक्षणायां हस्तलेखीकृतया तया किम् इति आह—अस्य भवत्करस्य सर्गाय एव सरोजसृष्टिः मम हस्तलेखः ?

हिन्दी—विधाता ने इस (दमयन्ती) हरिणनयना के हाथ में लिखी उस (कमलरेखा) से क्या यह कहा--'इस आप (दमयन्ती) के हाथ की रचना के निमित्त ही कमल-सर्जना मेरा हाथ का अभ्यास है ?

टिप्पणी—दमयन्ती-करों में शुभलक्षण कमलरेखा है और वे कमलों की अपेक्षा अधिक रमणीय हैं। इस तथ्य को इस प्रकार स्पष्ट किया गया कि जैसे 'सरजनहार' विधाता दमयन्ती के कर से यह निवेदन कर रहे हैं कि उस रमणीयतर रचना के निमित्त हाथ में सफाई लाने के लिए अनेक 'सरोजसृष्टि' करके उन्होने असीम अभ्यास किया है, तब जाकर ये हाथ बन पाये। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति ॥७२॥

किं नर्मदाया मम सेयमस्या दृश्याऽभितो बाहुलता मृणाली।
कुचौ किमुत्तस्थतुरन्तरीपे स्मरोष्मशुष्यत्तरबाल्यवारः॥ ७३ ॥

जीवातु—किमिति। स्मरोष्मणा स्मरसन्तापेन शुष्यत्तरमतिशुष्यत्। बाल्यमेव वाः वारि यस्यास्तस्या भैम्या एव नर्मदायाः क्रीडाप्रदायाः रेवायाश्च सम्बन्धिनी। 'रेवा तु नर्मदा' इत्यमरः। अभित उभयतो दृश्या सेयं बाहुलता मृणाली बिसलता किम् ? अत्र नर्मदाया विधेयप्राधान्यात् मृणाल्याः साक्षात् सम्बन्धात् 'अभितः परितः' इत्यादिना द्वितीया नास्ति। कुचावेवान्तरीपे अपामन्तस्तटे 'द्विपोऽस्त्रियामन्तरीपं यदन्तर्वारिणस्तटम्' इत्यमरः। 'सुप्सुपा' इति समासः। 'ऋक-पूः' इत्यादिना समासान्तोऽकारः। 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' उत्तस्थतुरुत्थितौ किम् ? ऊर्ध्वकर्मत्वात् परस्मैपदं रूपकोज्जीविता उत्प्रेक्षा ॥ ७३ ॥

अन्वयः--स्मरोष्मशुष्यत्तरबाल्यवारः मम नर्मदायाः अस्याः अभितः दृश्या सा इयं किं बाहुलता मृणाली, कुचौ किम् अन्तरीपे उत्तस्थतुः ?

हिन्दी—काम-ताप-रूप ऊष्मा (धूप) से जिसका बालापन-रूप जल खूब सूख गया है, ऐसी मुझे नर्म अर्थात् क्रीडानंद-दायिनी इस (भैमीरूप) नर्मदा (रेवा नदी) के दोनों तटों पर देखने योग्य वह यह भुजलता रूप क्या कमलनाल है; क्या (ये) स्तनयुगल दो द्वीप (टापू) उठ आये हैं ?

टिप्पणी—आठ (७३–८०) श्लोकों में कुचों का वर्णन किया गया है। बाल्यावस्था व्यतीत होकर तारुण्य आ जाने से दमयन्ती की दोनों बाहु मृणालवल्लरी-जैसी रमणीय और दर्शनीय हो गयी हैं और उसका कुचयुग्म उन्नत होकर आकर्षक हो गया है। नल को वह नर्म (आनंद) देती है, नर्मदा नदी के समान। कल्पना है कि दमयन्ती उस नर्मदा नदी के तुल्य है, जिसके दोनों तट सूख गये हैं, बाल्यावस्थारूप जल गर्मी से पूर्णतया शुष्क हो गया है। तटरूप बाहुयुगल मृणालों के समान है और स्तनयुग्म जल-सूखने से उठ आये दो टापुओं जैसे प्रतीत हो रहे हैं। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ रूपकोज्जीविता उत्प्रेक्षा है, जिसका चन्द्रकलाकार ने रूपक उत्प्रेक्षा के अंगांगिभाव संकर के रूप में निर्देश किया है, विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-उत्प्रेक्षा अलंकार हैं ॥ ७३ ॥

तालं प्रभुः स्यादनुकर्तुमेतावुत्थानसुस्थौ पतितं न तावत्।
परं च नाश्रित्य तरुं महान्तं कुचौ कृशाङ्ग्याः स्वत एव तुङ्गौ ॥७४॥

जीवातु—तालमिति। तावत् पतितं च्युतं तालफलं कर्तृ उत्थानेन ऊर्ध्वाव-स्थानेन सुस्थौ सुप्रतिष्ठौ अपतिताावित्यर्थः। एतौ कुचौ अनुकर्तुं न प्रभुः समर्थं न स्यात्, पतिताऽपतितयोः कुतः साम्यमिति भावः। परं पतितं च महान्त-मतितुङ्गतरुमाश्रित्य, सदिति शेषः। स्वत एव तुङ्गौ कृशाङ्ग्याः कुचौ अनुकर्तुं न प्रभुः। कुतः स्वाभाविकौ यदित्यर्थः। अस्वाभाविकौन्नत्ययोः कथं साम्य-मिति भावः ॥ ७४ ॥

अन्वयः—पतितं तावत् तालम् एतौ उत्थानसुस्थौ अनुकर्त्तुं प्रभु न स्यात्; परं च महान्तं तरुम् आश्रित्य स्वतः एव तुङ्गौ कृशाङ्ग्याः कुचौ न।

हिन्दी—(धरती पर) गिरा ताड़-फल इन उभार के कारण सुव्यवस्थित (उन्नत, अपने स्थान पर प्रतिष्ठित कुचों) के अनुकरण में समर्थ न होगा और दूसरा (पेड़ पर लगा फल) ऊँचे-बड़े पेड़ का आश्रय लेकर अपने आप ही ऊँचे तन्वंगी (दमयन्ती) के कुचों का अनुकरण नहीं कर सकता।

टिप्पणी—भाव यह कि दमयन्ती के कुच ताड़फल की अपेक्षा अधिक सुडौल, गोल और उन्नत हैं। ताड़फल की दो स्थितयाँ संभव हैं—(१) वह पेड़ से धरती पर गिर गया हो; (२) पेड़ पर ही ऊँचे लगा हो। पहिला

इस लिए कृशांगी भैमी कुचों के समान नहीं है, क्योंकि कुच उन्नत हैं, अपने स्थान पर हैं, जब कि फल नीचे गिरा पड़ा है और स्थान च्युत है। दूसरी स्थिति में ताड़फल इस कारण समानता नहीं कर सकता क्योंकि वह स्वयम् स्वसामर्थ्य के कारण उन्नत नहीं, वृक्ष के अवलंबन से उसे उच्चता प्राप्त हुई है, जब कि कुच स्वसामर्थ्य से स्वभावतः उन्नत हैं। पहिली स्थिति में पतित होने से फल असम है, दूसरी स्थिति में वह पराश्रितता के कारण समान नहीं है। विद्याधर के अनुसार यहाँ काव्यलिंग-विरोधाभास-समासोक्ति अलंकार हैं ॥ ७४ ॥

एतत्कुचस्पर्धितया घटस्य ख्यातस्य शास्त्रेषु निदर्शनत्वम् ।
तस्माच्च शिल्पान्मणिकादिकारी प्रसिद्धनामाजनि कुम्भकारः ॥ ७५ ॥

जीवातु—एतदिति। एतत्कुचस्पर्धितया ख्यातस्य लोके प्रसिद्धस्य घटस्य कुम्भस्य शास्त्रेषु निदर्शनत्वं तत्र तत्र दृष्टान्तत्वमजनि। किंच मणिकादिकारी अलिञ्जरादिमहाभाण्डनिर्माता कुलालः 'अलिञ्जरः स्यान्मणिकः' इत्यमरः। तस्मादेव शिल्पात् घटनिर्माणात् कुम्भकार इत्येव प्रसिद्धनामाजनि। महत्संसर्ग इव तत्सङ्घर्षोऽपि ख्यातिकर इति भावः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—एतत्कुचस्पर्द्धितया ख्यातस्य घटस्य शास्त्रेषु निदर्शनत्वम् अजनि, मणिकादिकारी तस्मात् शिल्पात् कुम्भकारः प्रसिद्धनामा।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के स्तन की स्पर्द्धा के कारण प्रसिद्ध घट का शास्त्रों में दृष्टांत बनाया, मटका आदि (बड़े भांडों) का निर्माता उसी शिल्प से कुंभकार नाम से प्रसिद्ध हो गया।

टिप्पणी—दमयन्ती के कुच घड़े-जैसे हैं। कल्पना है कि भैमी-स्तनों की स्पर्द्धा के कारण ही न्यायशास्त्रादि में घट का दृष्टांत बना है—'यत्कृतकं तदनित्यं यथा घटः, यन्नित्यं न तदकृतकमपि न यथा घटः' (जो बनावटी है, वह अनित्य है जैसे घड़ा; जो नित्य है, वह अकृत्रिम भी नहीं है जैसे घड़ा)। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से घट-दृष्टांत दिया गया है। यह दृष्टांतत्व घट को भैमीकुच-स्पर्द्धा से ही मिला और उसी शिल्प—कुचस्पर्द्धा में बड़े-बड़े मटके आदि बनाने से निर्माता कुंभकार नाम से विख्यात हो गया। बड़ों के साथ विरोध भी अच्छा होता है—वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः (भारवि-

किरातार्जुनीय) । विद्याधर के अनुसार यहाँ असम्बन्ध में भी सम्बन्ध-कथन है; इस प्रकार रूपकातिशयोक्ति-काव्यलिंग-अपह्नुति अलंकार हैं ।।७५।।

गुच्छालयस्वच्छतमोदबिन्दुवृन्दाभमुक्ताफलफेनिलाङ्के ।
माणिक्यहारस्य विदर्भसुभ्रूपयोधरे रोहति रोहितश्रीः ॥ ७६ ॥

गुच्छेति[1] । माणिक्यमयस्य हारस्य रोहितश्रीः लोहिता कान्तिः। विदर्भसुभ्रूपयोधरे भैमीकुचे रोहन्ति प्रादुर्भवन्ति । किम्भूते गुच्छो हारविशेष आलस्य आश्रयो येषां तानि स्वच्छतमानि निर्मलतरा (मा) णि उदबिन्दु वृन्दवज्जलबिन्दुसमूहवदाभा येषां तानि मुक्ताफलानि तैः फेनिलः फेनयुक्तः उज्ज्वलतरोऽङ्को मध्यो यस्य । मुक्तहारमाणिक्यहाराभ्यां भैमीकुचौ शोभेते इति भावः । अथ च पयोधरे मेघे रोहितश्रीः ऋजुशक्रधनुःशोभा प्रादुर्भवतीत्युक्तिः । 'हारभेदा यष्टिभेदाद् गच्छगुच्छार्द्धगोस्तनाः' इन्द्रायुधं शक्रधनुस्तदेव-ऋजुरोहितम्' 'रोहिते लोहितो रक्तः' इत्यमरः। फेनिलः, मत्वर्थं 'फेनादिलच्च' इतीलच् ॥ ७६ ॥

अन्वयः—माणिक्यहारस्य रोहितश्रीः गुच्छालयस्वच्छतमोदबिन्दुवृन्दाभ-मुक्ताफलफेनिलाङ्के विदर्भसुभ्रूपयोधरे रोहति ।

हिन्दी—मानिक के हार की लाल कांति 'गुच्छ' नामक हार में लगे अत्यंत उज्ज्वल जल-बिन्दुओं की आभावाले मोतियों से फेनिल (मेघपक्ष में—जल-बिन्दुरूप मोतियों से फेनिल) मध्य भागवाले विदर्भ की सुभ्रू (दमयन्ती) के पयोधर-(कुच)-रूप पयोधर (बादल) पर सुशोभित हो रही है ।

टिप्पणी—दमयन्ती के पक्ष पर 'गुच्छ' (बत्तीसलड़ा या सत्तरलड़ा) नामक हार सुशोभित है, जो माणिक्य और मोतियों से जड़ा है । लाल कांति माणिक्य की है और शुभ्र मोतियों की । 'रोहित' का एक अर्थ ऋजु (सरल) इन्द्रधनुष् भी होता है । माणिक्य की लाल कांति मोतियों पर पड़ती, स्तन रूप फेनिल घन पर सुशोभित ललछौंहे इन्द्रधनुष्-सी प्रतीत हो रही है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-उत्प्रेक्षा-श्लेष अलंकार। चन्द्रकलाकार के अनुसार श्लेष-उपमा की संसृष्टि ॥ ७६ ॥

---

१. इस श्लोक की मल्लिनाथकृत 'जीवातु'-व्याख्या अनुपलब्ध है, अतः नारायणी प्रकाश (संस्कृत) टीका दी गयी है ।

निःशङ्कसंकोचितपंकजोऽयमस्यामुदीतो मुखमिन्दुबिम्बः ।
चित्रं तथापि स्तनकोकयुग्मं न स्तोकमप्यञ्चति विप्रयोगम् ॥ ७७ ॥

जीवातु––निःशङ्केति । निःशङ्कं यथा तथा सङ्कोचितानि मुकुलितानि पङ्कजानि येन सोऽयं मुखमेवेन्दुबिम्बोऽस्यां भैम्यामुदीत उदितस्तथापीन्दूदयेऽपि स्तनावेव कोकौ चक्रवाकौ । 'कोकश्चक्रश्चक्रवाकः' इत्यमरः । तयोर्युग्मं स्तोकमल्पमपि विप्रयोगं नाञ्चति न गच्छति चित्रं मुखेन्दूदयेऽपि कुचकोकयोरवियोग इति रूपकोत्थापितो विरोधाभास इति सङ्करः ॥ ७७ ॥

अन्वयः—मुखम् अस्याम् उदीतः अयं निःशङ्कसङ्कोचितपङ्कजः इन्दुबिम्बः; तथापि स्तनकोकयुग्मं स्तोकम् अपि विप्रयोगं न अञ्चति—इति चित्रम् ।

हिन्दी––(दमयन्ती का) मुख इस (दमयन्ती) में उदित यह शंकाहीन हो कमलों को संकुचित करनेवाला (कमलजयी) चन्द्रबिम्ब है, तथापि स्तनरूप चक्रवाक युग कुछ देर को भी वियोग नहीं प्राप्त करता—यह आश्चर्य है ।

टिप्पणी––चन्द्र-बिम्ब-दर्शन से कमल मुँद जाते हैं और चक्रवाकदम्पती वियुक्त हो जाते हैं, पर यहाँ (दमयन्ती में) विचित्र यह है कि मुख रूप में कमलों का लजानेवाला (मूँदनेवाला) चन्द्र भी है, तथापि चक्रवाकदंपती रूप स्तन सहचारी ही हैं । भाव यह है कि चंद्र मुख कमलजयी है और स्तन इतने संश्लिष्ट हैं कि संयोगस्थिति में दृश्यमान चक्रवाकयुगल से लगते हैं, विशाल और सघनकुच । एक कल्पना यह भी है (जिसका आधार 'निःशंक'–प्रयोग है) कि चन्द्र पूर्णतया शंका रहित हो कमलों का संकोच कर रहा है; रात में नहीं, दिन में भी । यह सामान्यचन्द्र नहीं है, जो सूर्य से शंकित हो, दिन में निस्तेज हो जाय । यह दमयन्ती का विशिष्ट मुख-चन्द्र है, जो न रात में म्लान होता है, न दिन में; अतः हर समय रात-दिन इसके संमुख पङ्कज संकुचित रहते हैं । इस प्रकार हर समय संकुचित कमल रहने से चक्रवाकयुग्म (स्तनयुगल) को दिन-रात का भान ही नहीं होता । वे दमयन्ती-मुख को ऐसा चन्द्र मानते हैं, जो सूर्य से भी निःशंक हैं । चन्द्र तो सूर्य के संमुख ही निस्तेज रहता है, यह मुखचन्द्र तो सूर्य को भी निस्तेज रखता है, इसी से तो निःशंक हो, सदा कमलों को संकुचित रखता है । इसके संमुख कमलविकासी

'मित्र' सूर्य भी आकर कोई सहायता नहीं कर पाता। चन्दा बेचारा क्या संमुख पड़ेगा? सो चन्दा नहीं तो रात नहीं, फलस्वरूप चक्रवाकयुग्म (स्तन-युग्म) में पल भर को भी वियोग नहीं होता; क्योंकि मुखेन्दु के उदय पर कुचकोकयुग्म में वियोग नहीं होता, इस आधार पर मल्लिनाथ ने यहाँ रूपकोत्थापित विरोधाभास मानकर संकर का निर्देश किया है, अर्थात् रूपक-विरोधाभास का अंगांगिभाव संकर। विद्याधर ने विशेषोक्ति और रूपक अलंकार माने हैं॥ ७७॥

आभ्यां कुचाभ्यामिभकुम्भयोः श्रीरादीयतेऽसावनयोः क्व ताभ्याम्।
भयेन गोपायित मौक्तिकौ तौ प्रव्यक्तमुक्ताभरणाविमौ यत्॥ ७८॥

जीवातु—आभ्यामिति। आभ्यां कुचाभ्यामिभकुम्भयोः श्रीः शोभा-सम्पच्च, आदीयते गृह्यते ताभ्यामिभकुम्भाभ्यामनयोः कुचयोः असौ श्रीः क्वादीयते? न क्वापि इत्यर्थः। यत् यस्मात् तौ इभकुम्भौ भयेन कुचभीत्या गोपायितमौक्तिकौ अन्तर्गुप्तमुक्ताफलौ। गोपायतेः कर्मणि क्तः। इमौ कुचकुम्भौ प्रव्यक्तं प्रकाशितं मुक्ताभरणं याभ्यां तौ। यथा राज्ञा हृतधनो भयाद्धनशेषं गोपायति राजा तु प्रकाशयति तद्वदित्यर्थः। इभकुम्भश्रिय आदानादखण्डितस्व-श्रीकत्वाच्च ताभ्यामप्यधिकौ कुचकुम्भाविति भावः॥ ७८॥

अन्वयः—आभ्यां कुचाभ्याम् इभकुम्भयोः श्रीः क्व आदीयते, ताभ्याम् अनयोः असौ न; यत् तौ भयेन गोपायित मौक्तिकौ, इमौ प्रव्यक्तयुक्ताभरणौ।

हिन्दी—इन (दमयन्ती के) दोनों कुचों ने गज के मस्तकों शोभा-संपदा को छीन लिया है, उन (इभकुंभो) ने इन (कुचों) की यह (शोभा-संपदा) नहीं छीनी है, क्योंकि उन दोनों (गजमस्तकों) ने मोती छिपा रखे हैं, इन दोनों ने मोतियों के आभूषण प्रकट कर रखे हैं।

टिप्पणी—दमयन्ती के कुच गजकुंभों से अधिक रमणीय हैं। स्पष्ट है कि वे इन से हार गये हैं, और अपनी श्री-संपदा खो बैठे हैं। कारण कि अपनी शेष संपत्ति मोती छिपाये रखे हुए हैं, डरे हारे; कुचयुगल तो प्रत्यक्षतः मुक्ताभूषण धारण किये हैं। हारा-डरा संपत्ति छिपाता है, विजयी प्रत्यक्ष रखता है। विद्याधर के अनुसार वाक्यलिङ्ग अलंकार। चन्द्रकलाकार ने व्यतिरेक माना है॥ ७८॥

करानजाग्रच्छतकोटिरर्थी ययोरिमौ तौ तुलयेत् कुचौ चेत् ।
सर्वं तदा श्रीफलमुन्मदिष्णु जातं वटीमप्यधुना न लब्धुम् ॥ ७९ ॥

जीवातु—कराग्रेति । कराग्रे हस्तस्याग्रे जाग्रत् प्रकाशमानः शतकोटिः वज्रं तत्सङ्ख्यं धनं च यस्य स महेन्द्रो ययोः कुचयोः कर्मणोरर्थी ताविमौ महेन्द्राभ्यर्थितौ कुचौ कर्म वटीं क्षुद्रकपर्दिकामपि 'वटः कपर्दे न्यग्रोधः' इति विश्वः । अपचयविवक्षायां स्त्री-लिङ्गप्रयोगः । 'स्त्री स्यात्काचिन्मृणाल्यादिविवक्षापचये यदि' इत्यमराभिधानात् । लब्धुं न जातं न शक्तं निःस्वमित्यर्थः । सर्वं श्रीफलं बिल्वफलं कर्तृ । 'बिल्वे शाण्डिल्यशैलूषौ मालूरश्रीफलावपि' इत्यमरः । तुलयेदात्मनोपचिनुयाच्चेत् तदा उन्मदिष्णु उन्मादि स्यादित्यर्थः । 'अलङ्कृञ्' इत्यादिना इष्णुच् । उपमातीते वस्तुनि उपमात्वाभिमानः । तथा धनिकैकलभ्ये वस्तुनि निःस्वस्य लिप्सा चोन्माद एवेत्यर्थः ॥ ७९ ॥

अन्वयः—कराग्रजाग्रच्छतकोटिः ययोः अर्थी उन्मदिष्णु सर्वं श्रीफलं तौ इमौ कुचौ तुलयेत् चेत् तदा अधुना वटीम् अपि लब्धं न जातम् ।

हिन्दी—(१) जिसके हाथ में वज्र विद्यमान है, ऐसा इन्द्र भी जिन (दोनों) का याचक है, उन्मद होता (पका) संपूर्ण बिल्वफल उन इन स्तनों की यदि समता करेगा तब इस काल उसे कौड़ी भी हाथ न लगेगी । (२) जिसके हाथों में सौ करोड़ धनराशि भी आती-जाती है, ऐसा धनपति जिसका अर्थी है, वह पगला यदि संपूर्ण लक्ष्मी के फल की इन दोनों कुचों से समता करेगा तो उसे कौड़ी भी हाथ न लगेगी । अन्वयांतर करके मल्लिनाथ ने अर्थ किया है कि उक्त कार्य करने वाला बेलफल कौड़ी बराबर (क्षुद्र) है और वह दमयन्ती-कुचों की समता करेगा तो उन्मादी होगा ।

टिप्पणी—भाव यह है कि रंभादि अप्सरियों के सौंदर्य का भोगी इन्द्र भी जिनका अभिलाषी है, उनकी तुलना बिल्वफल से करना उन्मत्तता—पागलपन है । बड़े-से-बड़ा धनपति भी संपूर्ण संपदा यदि इन कुचों का मूल्य लगायेगा तो उसके हाथ कानी कौड़ी भी न लगेगी और वह पागल समझा जायेगा । न रंभादि त्रैलोक्यसुन्दरियों के यौवन की दमयन्ती-कुचों से तुलना उचित है, न संसार की संपूर्ण संपत्ति-शोभा ही इनके बराबर है । जो ऐसा विचारते हैं, वे उन्मत्त हैं, कुछ भी न पाने योग्य, कौड़ी-बराबर, क्षुद्र ।

ये तो उपमातीत हैं। विद्याधर के अनुसार श्लेष-समासोक्ति, चंद्रकलाकार केवल श्लेष माना है ॥ ७९ ॥

स्तनातटे चन्दनपङ्किलेऽस्या जातस्य यावद्युवमानसानाम् ।
हारावलीरत्नमयूखधाराकाराः स्फुरन्ति स्खलनस्य रेखाः ॥ ८० ॥

जीवातु—स्तनेति । चन्दनेन पङ्किले पङ्कवति । 'पिच्छादित्वादिलच्' अस्या स्तनयोः अतटे प्रपाते 'प्रपातस्त्वतटो भृगुः' इत्यमरः । जातस्य यावन्ति युवमानसानि तेषां सर्वेषां सम्बन्धिनः साकल्यार्थस्य यावच्छब्दस्य विशेषण-समासः । स्खलनस्य रेखा गमनमार्गा हारावलीरत्नानां मयूखधारा रश्मि-पङ्क्तयः एवाकारा यासां ताः सत्यः स्फुरन्ति रत्नमयूखधारासु युवमानसस्खलन-रेखाङ्कत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ८० ॥

अन्वयः—अस्याः चन्दनपङ्किले स्तनातटे जातस्य यावद्युवमानसानां स्खलनस्य रेखाः हारावलीरत्नमयूखधाराकाराः स्फुरन्ति ।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के चन्दन की पंक से युक्त स्तनातट (स्तन-अतट अर्थात् स्तन-प्रपात-मार्ग) में ('स्तनावट' पाठांतर में स्तनों के मध्यवर्ती गड़हे में) पड़ गयीं जितनी तरुण मनों के फिसलने की रेखाएँ (फिसलने के चिह्न) हैं, वे हारों में जड़े रत्नों की किरणधाराएँ-जैसी प्रतिभासित हो रही हैं।

टिप्पणी—चन्दन लगे दमयन्ती की कुचतटी पर रत्नजटित हार हैं, जिनकी चमक उन पर पड़ रही है। कल्पना है कि ये रत्न-मयूख-धाराएँ नहीं हैं, उन तरुणमानसों की फिसलन के चिह्न हैं, जो इस स्तनतट पर उतरे और (चन्दन की) कीचड़ में फिसल गये। 'स्तनातट' अथवा 'स्तनावट' को देखकर सभी मोहित हो जाते हैं, यहाँ रत्नमयूखधाराओं में युवमान-सस्खलनरेखाओं की संभावना की गयी है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा है, विद्याधर के अनुसार समासोक्ति और अपह्नुति अलंकार हैं ॥ ८० ॥

क्षीणेन मध्येऽपि सतोदरेण यत् प्राप्यते नाक्रमणं वलिभ्यः ।
सर्वाङ्गशुद्धौ तदनङ्गराज्ये विजृम्भितं भीमभुवीह चित्रम् ॥ ८१ ॥

जीवातु—क्षीणेनेति । इहास्यां भीमभुवि भैम्यां भयङ्करस्थाने च क्षीणेन कृशेन दुर्बलेन च मध्ये अवलग्ने प्रबलशत्रुमध्ये च सता वसतापि उदरेण त्रिब-

न्यधोभागेन अत एव वलिभ्यः त्रिवलिभ्यः। वबयोरभेदात् बलिभ्यो बलवद्भ्यश्च सकाशात् आक्रमणमभिव्याप्तिरभिभवश्च न प्राप्यते इति यत् तदनाक्रमणं चित्रं, बलिसमीपे दुर्बलस्यानाक्रमणं चित्रमित्यर्थः। किञ्च सर्वेषामङ्गानां करचरणादीनां स्वाम्यमात्यादीनां च शुद्धौ सत्यामनङ्गस्य अङ्गहीनस्य कामस्य च राज्ये विजृम्भितं तदिदमन्यच्चित्रमित्यर्थः। अत्र वाच्यप्रतीयमानयोरभेदाध्यवसायाद्विरोधाभासः॥ ८१॥

अन्वयः—मध्ये मध्ये सता अपि क्षीणेन उदरेण वलिभ्यः यत् आक्रमणं न प्राप्यते तत् सर्वाङ्गशुद्धौ इह भीमभुवि चित्रम् अनङ्गराज्ये विजृम्भितम्।

हिन्दी—(१) मध्य में रहते हुए भी कृश उदर द्वारा त्रिबलियों से जो अभिव्याप्ति नहीं पायी जाती, संपूर्ण सुन्दर-शुभ अंगोंवाली इस भीमराज की पुत्री (दमयन्ती) में आश्चर्यजनक अंगहीन (काम) का विलास है। (२) दो के मध्य फसे दुर्बल (उदर) द्वारा बलवान् व्यक्तियों से जो पराजय नहीं पाया जाता, वह लता (छः अंगों—राजा, अमात्यादि षडंगों) अंगों से पूर्ण शत्रुओं द्वारा इस दुर्गम भूमि में वसते अंगहीन दुर्बल का विचित्र कार्य है।

टिप्पणी—दमयन्ती के उदर, त्रिबलि, कटि आदि सभी अंग सुरचित और सानुपात हैं। इस प्रकार भीम सुता अनंग-राज्य की एक अद्वितीय कारीगरी-सी, प्रतीत हो देखनेवाले का मन हर लेती है। विशेषतः उसका कृश उदर तो बड़ा ही आनुपातिक है, अपने निकटस्थ अंगों के सौंदर्य के संमुख वह फीका नहीं पड़ता। इस वैचित्र्य को इस रूप में देखा गया है कि एक दुर्बल, राज्य के षडंगों से रहित राजा सब राज्यांगों से पूर्ण प्रबल शत्रुओं के पड़ोस में भयानक भूमि में रहते हुए भी पराभव नहीं पाता, वह उस दुर्बल अंगहीन का आश्चर्यजनक कार्य है। प्रकाशकार ने कुछ और भाव भी व्यक्त किये हैं—(१) भीम राजा की भू—धरती पर, सर्वांगशुद्ध धरती पर अनंग राजा का राज्य आश्चर्य की वस्तु भी है, क्योंकि धरती किसी की और राज्य किसी का—यह आश्चर्य ही है। (२) भीम महादेव की धरती पर अनंग-काम का राज्य आश्चर्य ही है। (३) भीम अर्थात् शत्रुओं द्वारा अधिकार न पा सके जाने के योग्य धरती पर अतिविषम भूमि पर जो अंगहीन-दुर्बल को पराभव नहीं

मिलता इसमें क्या कोई आश्चर्य है ? नहीं ही है। यहाँ वाच्य और प्रतीयमान में अभेदाध्यवसाय है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार विरोधाभास है; विद्याधर के अनुसार समासोक्ति और विरोधाभास ॥ ८१ ॥

मध्यं तनूकृत्य यदीदमीयं वेधा न दध्यात् कमनीयमंशम्।
केन स्तनौ संप्रति यौवनेऽस्याः सृजेदनन्यप्रतिमाङ्गदीप्तेः ॥ ८२ ॥

जीवातु—मध्यमिति। वेधा इदमीयमेतदीयं मध्यमवलग्नं तनकृत्य निर्माणकाले ह्रासयित्वा कमनीयमंशमुद्धृतं भागं न दध्यात् यदि क्वचिन्न स्थापयेद्यदि संप्रति यौवने अनन्यप्रतिमाऽनन्योपमाङ्गदीप्तिर्यस्यास्तस्याः भैम्याः स्तनौ केन सृजेत ? नूनमुदरोद्धृतसारेण अस्याः स्तनौ निर्मितवानित्युत्प्रेक्षा ॥ ८२ ॥

अन्वयः—वेधाः यदि इदमीयं मध्यं तनूकृत्य कमनीयम् अंशं न दध्यात् सम्प्रति यौवने अनन्यप्रतिमाङ्गदीप्तेः अस्याः स्तनौ केन सृजेत् ?

हिन्दी—विधाता यदि इस (दमयन्ती) के मध्य (कटि) को पतला करके रमणीय भाग बचा न रखते तो अब यौवन में अप्रतिम अंग-कांतिवाली इस (दमयन्ती) के स्तन किस (सामग्री) से बनाते ?

टिप्पणी—दमयन्ती की कटि कृश है और स्तन पीन। इसी पर कल्पना है कि विधाता दूरदर्शी थे, जो उन्होंने आरम्भ में ही ध्यान रख कर दमयन्ती की कटि में थोड़ी सामग्री का प्रयोग किया और पतली बनाया, अन्यथा तारुण्य आनेपर कुच किस सामग्री से बनाते ? अन्य सामग्री से तो शेष अंगों के अनुरूप रमणीय बन न पाते। दमयन्ती के अतिसुंदर कटिभाग-निर्माण में से बचाकर उसीके शेषांश से कुचों की संरचना की। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अनुमान ॥ ८२ ॥

गौरीव पत्या सुभगा कदाचित् कर्त्रीयमप्यर्धतनूसमस्याम्।
इतीव मध्ये निदधे विधाता रोमावलीमेचकसूत्रमस्याः ॥ ८३ ॥

जीवातु—गौरीति। सुभगा भर्तृवल्लभा इयं दमयन्ती कदाचित् गौरीव पत्या भर्त्रा सह अर्धतनूसमस्याम्, अर्धाङ्गसङ्घट्टनां कर्त्री करिष्यतीति मत्वेति शेषः। विधाता अस्याः मध्ये अर्वाङ्गमध्ये रोमावलीमेव मेचकसूत्रसीमानिर्णयार्थं नीलसूत्रं निदधे इव निहितवान् किमित्युत्प्रेक्षा ॥ ८३ ॥

अन्वयः—इयं सुभगा कदाचित् गौरी इव पत्या अर्द्धतनूसमस्यां कर्त्री— इति विधाता अस्याः मध्ये रोमावलीमेचकसूत्रं निदधे इव।

हिन्दी--यह सौभाग्य शालिनी (दमयन्ती) कभी पार्वती के समान पति के साथ शरीरार्द्धपूरण करेगी--यह विचार कर विधाता ने इसके मध्य में रोमावलीरूप नीला सूत्र चिह्न बना दिया।

टिप्पणी—दमयन्ती नीलकांति, मध्यस्थिता रोमावलि की सीमारेखा-रूप में कल्पना की गयी है, जिसे विधाता ने इस लिए रचा कि कभी दमयन्ती भी गौरी के सदृश अपने पति का अर्धांग बनेगी तब यह रेखा पहिचान का कार्य करेगी। भावी पति प्रियता का संकेत। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा-रूपक-छेकानुप्रास अलंकार हैं॥ ८३ ॥

रोमावलीरज्जुमुरोजकुम्भौ गम्भीरमासाद्य च नाभिकूपम्।
मद्दृष्टितृष्णा विरमेद्यदि स्यान्नैषां बतैषा सिचयेन गुप्तिः॥ ८४ ॥

जीवातु—रोमावलीति। मद्दृष्टेस्तृष्णा पिपासाऽपि रोमावलीमेव रज्जुं उरोजावेव कुम्भौ तथा गम्भीरं नाभिमेव कूपञ्चासाद्य लब्ध्वा तदा विरमेत् शाम्येत्। अमीभिरुपायैः लावण्यामृतमुद्धृत्य सुष्ठु पीत्वेत्यर्थः। एषां साधनानामेषा सिचयेन वस्त्रेण 'वस्त्रन्तु सिचयः पटः' इति हलायुधः। गुप्तिश्छादनं न स्याद्यदि। बतेति खेदे। रूपकालङ्कारः॥ ८४ ॥

अन्वयः—मद्दृष्टि तृष्णा रोमावलीरज्जुम् उरोजकुम्भौ गम्भीरं नाभि-कूपम् आसाद्य विरमेत् यदि बत एषाम् एषां सिचयेन गुप्तिः न स्यात्।

हिन्दी—मेरी दर्शन की प्यास रोमावली रूप रस्सी, स्तन रूप घड़े और गहरे नाभि-रूप कूप को पाकर शांत हो जाती, खेद कि यदि इनकी यह वस्त्र से गुप्ति (ढकन, छिपावन) न होती।

टिप्पणी—'नारायण की कल्पना है कि राजकन्या दयमन्ती के उपर्युक्त अंग उपर्युक्त रज्जु, कुंभ और कूप के समान हैं। राजकीय संपत्ति हैं, इसलिये 'सिचय' (खड्गधारिजनों) से गुप्त अर्थात् रक्षित हैं, इस लिए दर्शन-जल नहीं प्राप्त होता, प्यास नहीं मिटती। यों इस तथ्य का भी संकेत है कि आवृत अंग ही उत्कंठा और अनुराग में वृद्धि करते हैं, अनावृत दर्शन से तो विराग उपजता है। गो० तुलसीदास के अनुसार—'वसनहीन नहिं सोह सुरारी। सब भूषन भूषितवर नारी॥' (रामचरितमानस, सुन्दरकांड २३।४)। नाभि आदि अत्यन्त सुन्दर हैं, बार-बार देखकर भी देखने की तृष्णा नह

मिटती। मल्लिनाथ के अनुसार रूपक; विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-रूपक-श्लेष अलंकार ॥ ८४ ॥

उन्मूलितालानबिलाभनाभिश्छिन्नस्खलच्छृङ्खलरोमदामा।
मत्तस्य सेयं मदनद्विपस्य प्रस्वापवप्रोच्चकुचास्तु वास्तु ॥ ८५ ॥

जीवातु—उन्मूलितेति। उन्मूलितमुत्पाटितमालानं स्तम्भो यस्मात् बिलात् तद्बिलं तदाभा तन्निभा नाभिर्यस्याः सा। छिन्नं त्रुटितं स्खलच्छृङ्खलमिव रोमदाम रोमावलिर्यस्याः सा। प्रस्वापस्य वप्रौ निद्रार्हौ मृत्कूटाविव उच्चौ कुचौ यस्या सा इयं दमयन्ती मत्तस्य मदनद्विपस्य वास्तु वसतिरस्तु स्यात्। औपम्यगर्भविशेषणं रूपकम् ॥ ८५ ॥

अन्वयः—उन्मूलितालानबिलाभनाभिः छिन्नस्खलच्छृङ्खलरोमदामा प्रस्वापवप्रोच्चकुचा सा इयं मत्तस्य मदनद्विपस्य वास्तु आस्तु।

हिन्दी—उखाड़ दिये गये बवन-स्तंभ (हाथी बाँधने का खूँटा) से बने बिल (छिद्र, छोटा गड़हा) के समान (गहरी) नाभिवाली, टूटकर गिरे सीकड़ (शृंखला, जंजीर) के तुल्य रोमावलीयुक्त और शयन के निमित्त बने ऊँचे मिट्टी के टीले के समान उन्नत कुचवती वह यह (दमयन्ती) मतवाले मदन (काम)-रूप हाथी की वासस्थली लगती है।

टिप्पणी—दमयन्ती की गंभीर नाभि, आकर्षक रोमावली और उन्नत कुच देखने वाले के मन में तुरन्त काम-संचार कर देते हैं। काम दमयन्ती का आश्रय पाकर मतवाले हाथी के समान आक्रमण कर देता है और दर्शक-हृदय में हलचल मचा देता है। इसी आधार पर इस श्लोक में दमयन्ती को कामगज-वासस्थली बताया गया है। काम गज है, गम्भीर नाभि उखाड़ डाले गये खूँटे से बना गड़हा है, बलीमध्यगा, अतएव त्रुटित रोमावली बंधनशृङ्खला है और गज शयनार्थ बना मिट्टी का टीला दमयन्ती कुचयुग्म है। मल्लिनाथ के अनुसार औपम्यगर्भ विशेषण रूपक है; विद्याधर ने छेकानुप्रास-उपमा-रूपक अलंकारों का निर्देश किया है ॥ ८५ ॥

रोमावलिभ्रूकुसुमैः स्वमौर्वीचापेषुभिर्मध्यललाटमूर्ध्नि।
व्यस्तैरपि स्थास्नुभिरेतदीयैर्जैत्रः स चित्रं रतिजानिवीरः ॥ ८६ ॥

जीवातु—रोमावलीति। रतिर्जाया यस्य स रतिजानिः कामः स एव वीरः।

'जायाया निङ्' । मध्ये ललाटे मूर्ध्नि न मध्यललाटमूर्ध्नि । प्राण्यङ्गत्वात् द्वन्द्वे नपुंसकता । तस्मिन् व्यस्तरसहितैः स्थास्नुभिः स्थायिभिः । 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः' । एतदीयैः रोमावली च भ्रुवौ च कुसुमानि च तैरेव स्वस्व मौर्वीचापमिषवश्च तैर्जैत्रैव जैत्रो जयशीलः । प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण् प्रत्ययः । चित्रं भिन्नदेशस्थैरपि चापादिभिर्विजयत इत्याश्चर्यमित्यर्थः । अत एव विरूपघटनारूपा विषमालङ्कारः ॥ ८६ ॥

अन्वयः—सः रतिजानिवीरः मध्यललाटमूर्ध्नि व्यस्तैः स्थास्नुभिः अपि एतदीयैः रोमावलिभ्रूकुसुमैः स्वचापेषुभिः जैत्रः, चित्रम् ।

हिन्दी—वह रतिपत्नी का पति (काम) रूप वीर मध्य (कटि), ललाट और मूर्धा पर अलग-अलग स्थित भी इस (दमयन्ती) के रोमावली-भ्रू और कुसुम रूप अपनी प्रत्यंचा-चाप और बाणों से विजयी है;—आश्चर्य है !

टिप्पणी—सामान्यतः कोई योद्धा वीर अपने अस्त्र-शस्त्रों—धनुर्बाणादि का प्रयोग करके ही विजय प्राप्त करता है; किन्तु दमयन्ती-प्रसंग में विचित्रता यह है कि काम अपने चाप की प्रत्यंचा पर चढ़े बाणों का प्रक्षेप किये बिना ही, अस्त्र-प्रयोग बिना ही, जगज्जयी हो गया है। दमयन्ती की मध्य भागजाता रोमावली प्रत्यंचा है, भ्रू चाप है और शिरस्थित कुसुम कुसुमबाण हैं। ये सब अलग-अलग अप्रयुक्त रखे रहते हैं, फिर भी काम जगज्जय प्राप्त कर लेता है। यही आश्चर्य है। भाव यह है कि दमयन्ती की रोमावली-भ्रू-कुसुम-दर्शन से कामप्रादुर्भाव हो जाता है। मल्लिनाथ के अनुसार भिन्नदेशस्थित चापादि द्वारा काम जयी हो जाता है, यह आश्चर्य है। अतएव यहाँ विरूपघटनारूप विषय अलंकार है।

इस श्लोक का पाठांतर भी इस प्रकार प्राप्त होता है:—

पुष्पाणि बाणाः कुचमण्डनानि भ्रूवौधनुर्भालमलङ्करिष्णु ।
रोमावली मध्यविभूषणं ज्या तथापि जेता रतिजानिरेतैः ॥

अर्थात् कुचों का श्रृङ्गार फूल बाण हैं, भाल को सुशोभित करती भौंहें धनुष् हैं और मध्यभाग की आभूषण रोमावली प्रत्यंचा है, तथापि इनसे ही रतिपति (काम) जगज्जयी है ॥ ८६ ॥

अस्या खलुग्रन्थिनिबद्धकेशमल्लीकदम्बप्रतिबिम्बवेशात् ।
स्मरप्रशस्तीरजताक्षरेयं पृष्ठस्थली हाटकपट्टिकायाम् ।। ८७ ।।

जीवातु—अस्या इति । अस्याः भैम्याः पृष्ठस्थली कायपश्चाद्भागः । 'पृष्ठं तु चरमं तनोः' इत्यमरः । सैव हाटकपट्टिका 'हेमफलकं तस्यां ग्रन्थिना बन्धेन निबद्धेषु संयतेषु केशेषु मल्लीकदम्बं मल्लीकुसुमनिकुरम्ब तत्प्रतिबिम्बस्य वेशात् प्रवेशाद्धेतोः इयं रजताक्षरा रजतमयवर्णा स्मरप्रशस्तिः स्मरवर्णना खलु नैर्मल्यात् पृष्ठफलप्रतिबिम्बितानि धम्मिल्लमल्लिकाकुसुमानि हेमफलकविन्यस्ता राजती मदनप्रशस्तवर्णावलीव भातीत्युत्प्रेक्षा ।। ८७ ।।

अन्वयः—अस्याः ग्रन्थिनिबद्धकेशमल्लीकदम्बप्रतिबिम्बवेशात् पृष्ठस्थली-हाटकपट्टिकायाम् इयं खलु रजताक्षरा स्मरप्रशस्तिः ।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के गुँथे केशों में गूँथे हुए मल्लिका फूलों की प्रतिच्छाया के व्याज से पीठ रूपी सुवर्ण की पट्टिका पर यह (प्रत्यक्ष होती) निश्चय ही चाँदी के अक्षरों में लिखी काम की प्रशस्ति (प्रशंसा) है ।

टिप्पणी—दमयन्ती की चोटी में गुँथे मल्लिका कुसुमों की परछाहीं उसकी स्वर्णगौर पीठ पर पड़ रही है । इसी पर संभावना की गयी है कि यह फूलों की रजत-छाया रजताक्षर हैं, जिनमें काम का प्रशंसागान पीठ की स्वर्णपट्टिका पर लिखा गया है । कामरूप महापुरुष पधारे हैं, सो उनके स्वागत में इस प्रकार प्रशस्ति उपस्थित की गयी है । निर्मलता के कारण पृष्ठफलक पर प्रतिबिम्बित धम्मिलमल्लिकाकुसुम स्वर्णफलक पर लिखी काम-प्रशस्ति जैसी है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है; विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-उत्प्रेक्षा-अपह्नुति-रूपक अलंकार हैं ।। ८७ ।।

चक्रेण विश्वं यदि मत्स्यकेतुः पितुर्जितं वीक्ष्य सुदर्शनेन ।
जगज्जिगीषत्यमुना नितम्बद्वयेन किं दुर्लभदर्शनेन ।। ८८ ।।

जीवातु—चक्रेणेति । मत्स्यकेतुः कामः सुदर्शनेन सुदर्शनाख्येन सुलभदर्शनेन च पितुः विष्णोः चक्रेण विश्वं जितं वीक्ष्य यदि वीक्ष्य किल अमुना दुर्लभ-दर्शनेन नितम्बद्वयेन कटीफलकद्वयेनेव चक्रेण जगज्जिगीषति जेतुमिच्छति किमित्युत्प्रेक्षा ।। ८८ ।।

अन्वयः—मत्स्यकेतुः पितुः सुदर्शनेन चक्रेण विश्वं जितं वीक्ष्य यदि किम् अमुना दुर्लभदर्शनेन नितम्बद्वयेन जगत् जिगीषति ?

हिन्दी—मीनकेतन (काम) पिता (श्रीकृष्ण) के सुदर्शन (सुदर्शन नामक भलीभाँति प्रत्यक्ष और नितम्बपक्ष में सुन्दर) चक्र द्वारा संसार को विजित देखकर क्या इस जिसका दर्शन दुर्लभ है (वस्त्राच्छादित), ऐसे (प्रति-सुन्दर अदृश्य) नितम्बयुगल से संसार को जीतना चाहता है ?

टिप्पणी—दो (८८-८९) श्लोकों में नितम्ब-वर्णन । दमयन्ती के चक्राकार—गोल नितम्ब अत्यंत आकर्षक हैं । वस्त्रों के झीने आवरण में ढके वे और भी आकर्षक हो जगत् में काम-प्रादुर्भाव कर देते हैं और जगत् अधीन और विजित हो जाता है । पिता श्रीकृष्ण ने सुदर्शन चक्र से संसार जीता, बेटा काम (प्रद्युम्नावतारी) दमयन्ती के नितम्बयुग्म से संसार जीतने का इच्छुक है । बेटे में पिता से वैशिष्टय यह है कि पिता का शस्त्र सु-दर्शन अर्थात् प्रत्यक्ष था, पुत्र का शस्त्र ऐसा है कि उसके दर्शन ही दुर्लभ हैं । पुत्र अप्रत्यक्ष शस्त्र से ही जगत् जीतना चाहता है, जब कि पिता ने सुप्रत्यक्ष अस्त्र द्वारा जगज्जय किया था । 'दुर्लभ' शब्द का विकसित—विकृत रूप 'दूल्हा' है; दूल्हा अर्थात् पति । इस प्रकार नितम्ब 'दुर्लभदर्शन' अर्थात् पति द्वारा दृष्ट है । सब कोई उसे देख ले, सुदर्शन—'सुखेन दर्शनं यस्य' नहीं है, प्रत्युत 'दुर्लभेण वरेण दर्शनं यस्य' है । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा-व्यतिरेक ।। ८८ ।।

रोमावलीदण्डनितम्बचक्रे गुणञ्च लावण्यजलञ्च बाला ।
तारुण्यमूर्तेः कुचकुम्भकर्तुर्बिभर्ति शङ्के सहकारिचक्रम् ।। ८९ ।।

जीवातु—रोमावलीति । बाला दमयन्ती तारुण्यमेव मूर्तिः स्वरूपं यस्य तस्य यौवनाख्यस्येत्यर्थः । कुचावेव कुम्भौ तयोः कर्तुः निर्मातुः कुम्भकारस्य रोमावल्येव दण्डः स च नितम्ब एव चक्रञ्च ते गुणः सौन्दर्यादिः तमेव गुणं सूत्रञ्चेति श्लिष्टरूपकम् । लावण्यमेव जलञ्च सहकारिकारचक्रं सहकारिकारणकलापं बिभर्ति शङ्के । रूपकोत्थापितेयमुत्प्रेक्षेति सङ्करः ।। ८९ ।।

अन्वयः—शङ्के बाला तारुण्यमूर्त्तेः कुचकुम्भकर्त्तुः रोमावलीदण्डनितम्ब-चक्रे गुणं लावण्यजलं सहकारिचक्रं च बिभर्त्ति ।

हिन्दी—लगता है कि बाला (दमयन्ती) यौवन स्वरूप कुचों रूपी कुम्भों के कर्त्ता (कुम्भकार-कुम्हार) के रोमावली रूप (चाक घुमाने का)

दंड, नितम्बरूप चाक, गुण (शीलादि) रूप डोरी और लावण्य रूप जल—सहकारिकारणसमूह (भांड बनाने की सहायक सामग्री) धारण करती है।

टिप्पणी—दमयन्ती के कुच कुम्भ समान पीवर हैं, सुदर्शन रोमावली है, चाक-से नितम्ब हैं, चमकते जलसा झलमलाता लावण्य है और शीलादि इस रूपराशि के साथ-साथ वह शीलादि गुणों से मंडित भी है। स्पष्ट है, यह सब रूप-गुण-यौवन आने पर ही प्रकट हुए हैं। यह सौंदर्य, यह रूप जवानी में ही आता है; अतः इस सब रूप का निमित्त कारण हुआ यौवन, जैसे कुम्भादि भांडों का कुम्हार होता है। रोमावली आदि सहकारी कारण हैं, जैसे दण्डादि होते हैं। कुम्भकार दण्डा, चाक, डोरी और जल की सहायता ही से तो घट का निर्माण करता है, ऐसे ही तारुण्य-कुम्भकार ने इस रूप के आकर कुच-युगल का निर्माण किया है। मल्लिनाथ ने 'शङ्के' के आधार पर यहाँ रूपकोत्थापिता उत्प्रेक्षा मान कर 'संकर' का निर्देश किया है, विद्याधर रूपक और उत्प्रेक्षा और श्लेष का विधान करते हैं ॥ ८९ ॥

अङ्गेन केनापि विजेतुमस्या गवेष्यते किञ्चलपत्रपत्रम् ।
नोचेद्विशेषादितरच्छदेभ्यस्तस्यास्तु कम्पस्तु कुतो भयेन ॥ ९० ॥

जीवातु—अङ्गेनेति । अस्याः सम्बन्धिना केनाप्यवाच्येनाङ्गेन मदनमन्दिरेणेत्यर्थः । चलपत्रपत्रमश्वत्थदलं 'बोधिद्रुमश्चलदलः' इत्यमरः । विजेतुं गवेष्यते अन्विष्यते किमित्युत्प्रेक्षा । 'मार्गत्यन्विष्यति गवेषयत्यन्विष्यति च' इति मल्लभट्टः । नो चेन्नान्विष्यते चेत् तस्याश्वत्थपत्रस्य कुतः कस्मादन्यस्मात् भयेनेतरच्छदेभ्यः वृक्षान्तरपत्रेभ्यः, पञ्चमीविभक्तेः । विशेषादतिशयात् कम्पस्तु अस्तु स्यात् । नान्यत्कम्पकारणं विद्म इत्यर्थः । बलिनान्विष्यमाणो दुर्बलो कम्पत इति च प्रसिद्धम् । अत्र सामुद्रिकाः । 'अश्वत्थदलसङ्काशं गुह्यं गूढमपि स्थितम् । यस्याः सा सुभगा नारी धन्या पुण्यैरवाप्यते' ॥ ९० ॥

अन्वयः—किम् अस्याः केन अपि अङ्गेन चलपत्रपत्रं विजेतुं गवेष्यते, नो चेत् तस्य इतरच्छदेभ्यः विशेषाद कम्पः कुतः तु अस्तु ?

हिन्दी—क्या इस (दमयन्ती) के किसी अंग विशेष (वरांग) द्वारा पीपल के पत्ते को विजयार्थ खोजा जा रहा है, नहीं तो उस (पीपल-पात) का अन्य वृक्षों के पत्तों की अपेक्षा विशेष कम्पन किस कारण से (अथवा किससे) तो होता।

टिप्पणी—(दमयन्ती का वरांग होने के कारण) नामतः गुप्त कहकर 'केन' द्वारा संकेत दिया गया (पीपलपात की अपेक्षा अधिक चिकना और तदाकार है। वह आकर्षण और चिक्कणता में पीपल-पात से विशिष्ट है, अतः पीपल का पत्ता हार के डर से सदा कांपता रहता है कि कहीं प्रतिद्वन्द्वी आकर उसे कष्ट न दे। पीपल का पत्ता अन्य वृक्षों के पत्तों के अपेक्षा अधिक हिलता-डुलता रहता है. अतः पीपल को 'चलदल' भी कहा जाता है। चंचलता के लिए पीपलपात ख्यात है—'पीपरपात सरिस मन डोला।' (गो० तुलसीदास, रा० च० मा०) सामुद्रिकशास्त्र के अनुसार अश्वत्थदलसङ्काश गुह्यांगवती नारी धन्य कही जाती है। विद्याधर के अनुसार अनुमान अलंकार ॥ ९० ॥

भ्रूश्चित्ररेखा च तिलोत्तमास्या नासा च रम्भा च यदूरुसृष्टिः।
दृष्टा ततः पूरयतायमेकाऽनेकाप्सरःप्रेक्षणकौतुकानि ॥९१॥

जीवातु—भ्रूरिति। यत् यस्मात् अस्या भैम्या भ्रूश्चित्ररेखा अद्भुतविन्यासा अप्सराश्च, नासा नासिका तिलात् तिलकुसुमात् उत्तमा तिलोत्तमा नामाप्सराश्च, तथा उरुसृष्टिः रम्भा कदली अप्सराश्च। 'रम्भाकदल्यप्सरसोः' इति विश्वः। ततः तस्मात् इयमेकैव दृष्टा सती अनेकासामप्सरसां प्रेक्षणात्कौतुकानि पूरयति तादृशान् मानसोल्लासान् जनयतीत्यर्थः। अत्रैकस्यानेकात्मकताविरोधाभासनात् विरोधाभासालंकारः स च श्लेषमूल इति सङ्करः।

अन्वयः—यत् अस्याः भ्रूः चित्ररेखा, नासा तिलोत्तमा, ऊरुसृष्टिः च रम्भा ततः इयम् एका दृष्टा अनेकाप्सरः प्रेक्षणकौतुकानि पूरयति।

हिन्दी—क्योंकि इस (दमयन्ती) की भौंह अद्भुत रेखवाली (पक्षांतर में चित्ररेखा नामिका अप्सरा), नाम उत्तमतिल से युक्त अथवा तिल से भी उत्तम (तिलोत्तमा अप्सरा) और ऊरुयुगल रंभा (कदली, पक्षा० अप्सरा) हैं, अतएव यह (दमयन्ती) अकेली देखी जाती अनेक अप्सरियों के देखने के कौतुक (उत्कण्ठा) को पूर्ण कर देती है।

टिप्पणी—भौंह, नाक और जंघायुगल के सौंदर्य का वर्णन करते हुए चित्ररेखा, तिलोत्तमा और रंभा के दो अर्थ लेकर दमयन्ती को इन प्रसिद्ध अप्सरियों से श्रेष्ठ बताया गया है। इस अकेली दमयन्ती में उन सबके संमिलित सौंदर्य के अपेक्षा अधिक आकर्षण है। उन सब को न देखा, एक अकेली

दमयन्ती देख लिया और अधिक तृप्ति पा ली। यहाँ एक दमयन्ती की अनेकतात्मता के कारण विरोध का आभास होता है, और वह श्लेषमूलक है अतः मल्लिनाथ के अनुभास श्लेषमूलक विरोधाभास का संकर है। विद्याधर के अनुसार रूपक, श्लेष, अतिशयोक्ति हैं ॥ ९१ ॥

रम्भापि किं चिह्नयति प्रकाण्डं न चात्मनः स्वेन न चैतदूरू।
स्वस्यैव येनोपरि सा दधाना पत्राणि जागर्त्यनयोर्भ्रमेण ॥ ९२ ॥

जीवातु—रम्भेति। रम्भा कदल्यपि आत्मनः प्रकाण्डं स्कन्धं स्वेन स्वात्मना स्वमित्यर्थः। प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानात् तृतीया। न चिह्नयति किमेतस्या ऊरू च न चिह्नयति किं मिथो व्यत्यासपरिहाराय द्वयोरन्यतरस्यापि चिह्नं न चकार किमित्युत्प्रेक्षा। कुतः येन कारणेन सा रम्भा अनयोरूर्वोर्भ्रमेणोरुभ्रान्त्येत्यर्थः। स्वस्यैव स्वकीयस्कन्धस्यैव उपरि पत्राणि दलानि प्रतिपक्षोपरिधेयानि साक्षरपत्राणि च दधाना जागर्ति। अत्र सौन्दर्ये सङ्घर्षिणी रम्भापि स्वस्मिन्नेव ऊरुभ्रान्त्या पत्रावलम्बनकरणात् भ्रान्तिमदलङ्कारः। तन्मूला चोक्तोत्प्रेक्षेति तयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ९२ ॥

अन्वयः—किम् रम्भा अपि न आत्मनः प्रकाण्डं स्वेन, एतदुरू च न चिह्नयति येन सा अनयोः भ्रमेण स्वस्य एव उपरि पत्राणि दधानि जागर्ति ?

हिन्दी क्या कदली भी न अपने तने को अपने आप चीह्नती है और न इस (दमयन्ती) की जंघा को, जिससे वह इन दोनों (तना और जंघा) में भ्रम के कारण अपने ही ऊपर पत्तों को ढकती हुई रखे है ?

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में प्रसंगतः ऊरू-वर्णन करके चार (९२-९६) श्लोकों में पुनः ऊरूवर्णन है। दमयन्ती के ऊरुयुग्म पूर्णतया कदलीस्तम्भ (केले का तना) के समान हैं। इस भाव को प्रतिपादित करने के लिए एक भंगिविशेष का प्रयोग किया गया है। कदली के स्तम्भ और दमयन्ती के ऊरु में सौंदर्य-संघर्ष है, सो कदली अपने प्रतिद्वंद्वी के विरुद्ध अभियोग-पत्र (सम्मन) देना चाहती है, पर वह समझ ही न पा रही है कि कौन-सा उसका तना है, कौन दमयन्ती-ऊरु ? इस भ्रम में पड़ी कदली पत्तों के रूप में पत्र (अभियोग) अपने पर ही रखलेती है। भ्रम के कारण ऐसा हो ही जाता है। कदली ही नहीं, इस भ्रम में सारा संसार पड़ जाता है कि कदली स्तम्भ कौन-सा है

और दमयन्ती-ऊरु कौन-सा है ? ऐसा साम्य है दोनों में। मल्लिनाथ के अनुसार भ्रांतिमान् और उत्प्रेक्षा का अंगांगिभाव संकर है, क्योंकि सौन्दर्यप्रतिद्वन्द्विता में संघर्ष-शीला रम्भा-ऊरुभ्रांति के कारण अपने पर ही पत्रावलम्बन कर लेती है, तन्मूला उत्प्रेक्षा है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-भ्रांतिमद्-उत्प्रेक्षा अलंकार हैं ॥ ९२ ॥

विधाय मूर्धानमधश्चरञ्चेन्मुञ्चेत्तपोभिः स्वमसारभावम् ।
जाड्यञ्च नाञ्चेत् कदली बलीयस्तदा यदि स्यादिदमूरुचारुः ॥९३॥

जीवातु—विधायेति। कदली रम्भा तपोभिः तपश्चर्याभिः मूर्धानमधश्चरमधोवर्तिनं विधाय शिरोबुध्न्योरुत्तराधरभाववैपरीत्यञ्च लब्ध्वेत्यर्थः। स्वं स्वकीयमसारभावं निःसारत्वञ्च मुञ्चेच्चेत् बलीयो जाड्यमेकान्तशैत्यञ्च नाञ्चेत् न गच्छेत्। तदानीम्, इदमूरुचारुः अस्या ऊरू इव चारु शोभना स्याद्यदि स्यादेवेत्यर्थः। अत्र कदल्याः अधःशिरस्त्वादिधर्मासम्बन्धेऽपि सम्बन्धसम्भावनया सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेद इति सर्वस्वकारः ॥ ९३ ॥

अन्वयः—कदली तदा इदमूरुचारुः स्यात् यदि चेत् तपोभिः मूर्द्धानम् अधश्चरं विधाय स्वम् असारभावम् मुञ्चेत्, बलीयः जाड्यं च न अञ्चेत्।

हिन्दी—कदली तब इस (दमयन्ती) के ऊरु के समान सुन्दर होगी, यदि तप द्वारा सिर को नीचे की ओर करके अपनी निःसारता को छोड़ दे और सार्वकालिक जडता (शीतलता) को न प्राप्त करे।

टिप्पणी—वस्तुतः अभी तक दमयन्ती-ऊरु अनुपम हैं। कदली दमयन्ती-ऊरु के समान है नहीं, क्योंकि ऊरु ऊपर स्थूल और नीचे की ओर सूक्ष्म और ससार है; जब कि कदली इसके विपरीत है—नीचे मोटी, ऊपर पतली। कदली ऐसा सौन्दर्य तभी प्राप्त कर सकती है, जब उलटी हो जाय। इसे ही सिर नीचे करके तपस्या के रूप में कहा गया है। तप करके ही कोई सिद्धि मिलती है। ऐसे तप से ही कदली को ऊरु के समान सौन्दर्य प्राप्त हो सकेगा। अभी तो वह सुन्दर नहीं है। इसके अतिरिक्त सार्वकालिक शीतलता (ठंडापन) भी उसमें है। कोई व्यक्ति सिर नीचा कर तप द्वारा अपनी जडता (मूर्खता और असारता) को त्याग कर उत्तम के तुल्य हो पाता है। जाड्य का अर्थ मूर्खता और शीतलता—दोनों होता है—'सुषीमः शिशिरो जडः'।

(अमरकोष)। यहाँ कदली के अधःशिरस्त्व आदि धर्म का असंबंध में सबंध-भावना से संबंध-कथन है, अतः अतिशयोक्ति है। मल्लिनाथ ने इस तथ्य को 'सर्वस्वकार' के समर्थन के रूप में उद्धृत किया है। विद्याधर उत्पाद्योपमालंकार मानते हैं ॥ ९३ ॥

ऊरुप्रकाण्डद्वितयेन तस्याः करः पराजीयत वारणायः।
युक्त ह्रिया कुण्डलनच्छलेन गोपायति स्वं मुखपुष्करं सः ॥ ९४ ॥

जीवातु—ऊर्विति। तस्याः दमयन्त्या ऊरुप्रकाण्डयोः ऊरुश्रेष्ठयोः ऊरुस्तम्भयोर्वा द्वितयेन वारणीयो वारणसंबंधी करो हस्तः पराजीयत पराजितः, स करः ह्रिया स्वं मुखं मुखभूतं पुष्करमग्रं वक्त्रं पङ्कजञ्च 'मुखं निःसरणे वक्त्रप्रारम्भोपाययोरपि। पुष्करं पङ्कजे व्योम्नि पयःकरिकराग्रयोः' इति विश्वः। कुण्डलनस्य भुग्नीकरणस्य च्छलेन गोपायति विधत्ते युक्तम्। सापह्नवोत्प्रेक्षा ॥ ९४ ॥

अन्वयः—तस्याः ऊरुप्रकाण्डद्वितयेन वारणीयः करः पराजितः, सः ह्रिया स्वं मुखपुष्करं कुण्डलनच्छलेन युक्तं गोपायति।

हिन्दी—उसी (दमयन्ती) के ऊरु-स्तम्भयुगल ने वारण (हाथी) के कर (शुण्डा) को पराजित कर दिया, वह लज्जा के कारण अपने मुखकमलरूप शुण्डाग्रभाग को मोड़ लपेटने के बहाने उचित ही छिपाता है।

टिप्पणी—इस श्लोक में दूसरे उपमान हाथी की सूँड़ की अपेक्षा दमयन्ती-ऊरु की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी। हाथी प्रायः अपनी सूँड़ के अग्रभाग को मुख की ओर कर लिया करता है, जिससे वह नहीं दीखता। इसी गज-क्रिया के आधार पर यह कल्पना है कि पराजित 'गजशुंड' लाज से अपने को छिपा रहा है, मुख छिपाता है। मल्लिनाथ के अनुसार सापह्नवा उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अपह्नुति और समासोक्ति अलंकार ॥ ९४ ॥

अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे भृगुर्महान् यत्कुचशैलशीली।
नानारदाह्लादि मुखं श्रितोरुः व्यासो महाभारतसर्गयोग्यः ॥ ९५ ॥

जीवातु—अस्यामिति। अस्यां दमयन्त्यां मुनीनामपि मोहं भ्रान्तिमासक्तिमिति यावत्। ऊहे तर्कयामि उत्प्रेक्षा। कुतः, यत् यस्मात् महानधिको भृगुप्रपातो मुनिविशेषश्च, यस्याः कुचावेव शैलौ शीलयति परिचिनोतीति

तच्छीली मुखं नानाप्रकारैः रदैर्दन्तैराह्लादयतीति तत्तथोक्तम् । अन्यत्र नारदमुनिमाह्लादयतीति नारदाह्लादि, तत् न भवतीति अनारदाह्लादि, तत् नेति नानारदाह्लादिः नारदाह्लादि इत्यर्थः । महभाः महाप्रभः रतसर्गयोग्यः सुरतसम्पादनार्हः । अन्यत्र महाभारतस्य इतिहासस्य सर्गे निर्माणे योग्यः क्षमो व्यासो विस्तारो द्वैपायनश्च श्रिता ऊरू सक्थिनी येन सः श्रितोरुः । 'सक्थि क्लीबे पुमानूरुः' इत्यमरः । अत्र श्लेषमूलया मुनिमोहोत्प्रेक्षया मुनयोऽप्यस्यां मुह्यन्ति किमुतान्ये इति वस्तु व्यज्यते ॥ ९५ ॥

अन्वयः—अस्यां मुनीनाम् अपि मोहम् ऊहे यत् महान् भृगुः कुचशैलशीली, मुखं नानारदाह्लादि (न अनारदाह्लादि) महाभारतसर्गयोग्यः व्यासः श्रितोरुः ।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) में मुनियों का भी मोह है, यह तर्कणा करता हूँ, क्योंकि महातपस्वी भृगु कुचरूप पर्वत के सेवी हैं,—महान् भृगु अर्थात् प्रपात (ढाल) कुचों के शील (समानता, स्वभाव) का अभ्यासी है, मुख नाना (अनेक, बत्तीस) रदों (दांतों) से आह्लाददायक है,—मुख अनारदाह्लादि (नारद को न प्रसन्न करनेवाला) नहीं है (अर्थात् नारद को आह्लाद देने वाला है); और 'महाभा' (प्रचुरदीप्ति)-युक्त 'रत' (सुरत) के 'सर्ग' (रचना) के योग्य 'व्यास' (विस्तार) ने ऊरुयुग्म का आश्रय लिया है—'महाभारत' ग्रंथ के सर्गों की रचना में समर्थ व्यास ने उसके ऊरु का आश्रय लिया है ।

टिप्पणी—शब्द-न्यास-चमत्कार से इस श्लोक में दमयन्ती के ढाल समान उन्नत (पीन और उठे) कुचों का, सुन्दतमुख का और रति-क्रीडा का आह्लाद बढ़ाने वाले अतिविशाल ऊरु-युग्म का वर्णन किया गया है और भंगिमाविशेष से महामुनियों के मन को हरने वाला और आकृष्ट करनेवाला भी सिद्ध किया गया है । इस प्रकार प्रपातार्थक 'भृगु' शब्द का प्रयोग करके महान् भृगु को दमयन्ती के उच्च कुच-शैल का सेवी बताया गया है, भृगु भी इसके कुचमर्दन के आकाँक्षी हैं । 'न अनारदाह्लादि मुख' है, अर्थात् नारद गान-कला-अभ्यास के निमित्त दमयन्ती-मुख की सेवा करते हैं अथवा मदन-पीडित हो मुखचुंबन के अभिलाषी हैं । महाभारतकार व्यास कदली-स्तम्भसम

दमयन्ती-ऊरुयुगल का समालिंगन किये हुए हैं। भृगु, नारद और व्यास सदृश धुरिप्रतिष्ठित महामुनि भी जब दमयन्ती की ओर आकृष्ट हैं, तो अन्य की तो बिसात क्या ? मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ श्लेष-मूला मुनिमोहोत्प्रेक्षा द्वारा यह वस्तु-व्यंजना है कि मुनिजन दमयन्ती पर मोहित हैं, औरों की तो गणना क्या ? विद्याधर ने भी उत्प्रेक्षा-श्लेष का निर्देश किया है ॥ ९५ ॥

क्रमोद्गता पीवरताधिजङ्घं वृक्षाधिरूढिं विदुषी किमस्याः।
अपि भ्रमीभङ्गिभिरावृताङ्गं वासो लतावेष्टितकप्रवीणम् ॥ ९६ ॥

जीवातु—क्रमेति। अस्याः भैम्या अधिजङ्घं जङ्घयोः विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। क्रमेणानुपूर्व्यात् उद्गता उदिता पीवरता पीनत्वं वृक्षाधिरूढमाश्लेषविशेषं विदुषी किं ज्ञात्री किम्? 'न लोक' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। किञ्च भ्रमीभङ्गिभिर्वेष्टनविशेषैः आवृताङ्गमाच्छादितगात्रं वासो वस्त्रमपि लतावेष्टितके आलिङ्गनविशेषे प्रवीणं किम्? उभयत्राप्यन्यथा कथमित्थमाश्लिष्येदिति भावः। अनयोर्लक्षणमुक्तं रतिरहस्ये—'रमणचरणमेकेनाङ्घ्रिणाक्रम्य भिन्नं श्वसितपरपादेनाश्रयन्ती तदूरुम्। निजमथ भुजमेकं पृष्ठतोऽस्यार्पयन्ती पुनरपरभुजेन प्राञ्चयन्ती तदङ्गम्। तरुमिव कामितारं चुम्बनार्थाधिरूढा यदभिलषतरागात् तच्च वृक्षादिरूढम्। प्रियमनुकृतवल्लीविभ्रमा वेष्टयन्ती, द्रुममिव सरलाङ्गी मन्दसीत्का तदीयम्॥ वदनमुचितखेदा कम्पमाचुम्बनार्थं नमयति विनदन्ती तल्लतावेष्टितं स्यात्।' इति ॥ ९६ ॥

अन्वयः—अस्याः अधिजङ्घं क्रमोद्गता पीवरता किं वृक्षाधिरूढं विदुषी, भ्रमीभङ्गिभिः आवृताङ्गं वासः अपि लतावेष्टितकप्रवीणम्?

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के जंघायुगल में क्रम से ऊपर उठती स्थूलता (मोटाई) क्या वृक्ष पर चढ़ने की रीति (अथवा वृक्षाधिरूढ प्रकार का आलिंगन) जानती है और लपेटन—आवृत करने की भंगिमाओं से शरीर ढकनेवाला वस्त्र लता के समान लपेटन में (अथवा लतावेष्टितक आलिंगन में) प्रवीण है ?

टिप्पणी—दमयन्ती का जंघायुग्म क्रमशः नीचे से ऊपर की ओर मोटा होता चला है, जैसे कि वृक्ष ऊपर को बढ़ता जा रहा हो। शरीर पर सुन्दर वस्त्र (दुपट्टा आदि) पड़ा है, जो देह को और आकर्षक बना रहा है। शब्द-विन्यास चातुर्य से दो आलिंगन-विशेषों में प्रवीणता भी संकेतित है—

(१) वृक्षाधिरूढ जिसमें कामिनी दोनों बाहुओं से कंठ का आलिंगन करती है, ऐसा करती वह खड़े प्रिय की गोद में चढ़ जाती है—'बाहुभ्यां कण्ठमालिङ्ग्य कामिनी कान्त उत्थिते। अङ्कमारोहते तस्य वृक्षारूढः स उच्यते॥' (२) लतावेष्टितक, जिसमें कामिनी लता की भाँति प्रिय के अंगों से लिपट जाती है,—'सव्यापसव्ययोगेन लतावत्परिवेष्टनैः। यत्र प्रत्यङ्गमाश्लिष्ट लतावेष्टितकं तु तत्॥' अथवा बैठे प्रियका लेटी कामिनी जब आलिङ्गन करती है, तब भी लतावेष्टितक कहा जाता है—'उपविष्टं प्रियं कान्ता सुप्ता वेष्टयते यदि। तल्लतावेष्टितं ज्ञेयं कामानुभववेदिभिः॥' विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा-श्लेष अलंकार हैं॥ ९६॥

अरुन्धतीकामपुरन्ध्रिलक्ष्मीजम्भद्विषद्दारनवान्विकानाम्।
चतुर्दशीयं तदिहोचितैव गुल्फद्वयाप्ता यददृश्यसिद्धिः॥ ९७॥

जीवातु—अरुन्धतीति। इयं दमयंती अरुन्धती वसिष्ठपत्नी च कामपुरन्ध्री रतिश्च लक्ष्मीः पद्मा च जम्भद्विषद्दाराः शची च नवाम्बिका ब्राह्मीप्रभृतयो नवमातरश्च यासामदृश्यत्वसिद्धिरस्तीति प्रसिद्धिरिति भावः। तासां त्रयोदशानां चतुर्दशी इयमपि तदन्तःपातिनीत्युत्प्रेक्षा। तत् तस्मात् तदन्तःपातित्वात् इहास्यां दमयन्त्यां गुल्फौ पादग्रन्थी। 'तद्ग्रन्थिघुटिके गुल्फौ' इत्यमरः। तयोर्द्वयेनाप्ता प्राप्ता या च सा अदृश्यसिद्धिश्च यददृश्यसिद्धिः येयं गुल्फयोरदृश्यत्वसिद्धिरित्यर्थः। सतीति शेषः। यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्सा उचितैव तत् सम्बन्धिनोऽपि तद्वत् सिद्धिर्युक्तैवेत्यर्थः। गूढगुल्फत्वं स्त्रीलक्षणं तदस्यामस्तीति भावः॥

अन्वयः—अरुन्धतीकामपुरन्ध्रिलक्ष्मीजम्भद्विषद्दारनवाम्बिकानाम् इयम् चतुर्दशीः इह गुल्फद्वयाप्ता यत् अदृश्यसिद्धिः तत् उचिता एव।

हिन्दी—अरुन्धती (वसिष्ठपत्नी), कामपत्नी (रति), लक्ष्मी, जम्भशत्रु (इन्द्र) की पत्नी (इन्द्राणी शची) और नौ लोकमाताओं की यह चतुर्दशी (दमयन्ती) है। इस (दमयन्ती) में गुल्फद्वय (दोनों टखनों) को जो अदृश्यसिद्धि प्राप्त हुई, वह उचित ही है।

टिप्पणी—इस श्लोक में दमयन्ती के गुल्फयुगल (दोनों टखनों) का वर्णन है। दमयन्ती के गुल्फों में हड्डियाँ नहीं दीखतीं, यही उनकी अदृश्यता है। सामुद्रिक के अनुसार ऐसे गुल्फ शुभ माने जाते हैं। भाव यह है कि

दमयन्ती उन तेरहों देवियों से विशिष्ट है, जिन्हें अदृश्यसिद्धि प्राप्त है। यह चौदहवीं उनकी विषम संख्या को सम बनाकर पूर्ण करती है, अतः यह उनकी पूरणी है. यों विशिष्ट है। वे तेरह हैं, यह उनसे अगली चौदहवीं—विशिष्ट है। देवियों को जो अदृश्यसिद्धि प्राप्त है, वह इसके चरणांग–गुल्फ में है, जो उन्हें प्राप्त है, वह दमयन्ती के चरणांश को ही सिद्ध है। यह भी वैशिष्ट्य। इसके अतिरिक्त दमयन्ती में यह सिद्धि 'आप्त'—अव्यभिचरित, नित्य है। कभी दूर नहीं होती। इस प्रकार दमयन्ती उन तेरह देवियों के समान ही नहीं, विशिष्ट भी है। अरुन्धती, रति, लक्ष्मी और शची (चार) और नौ मातृकाएँ—(१) शैलपुत्री, (२) ब्रह्मचारिणी, (३) चित्रघंटा, (४) कूष्माण्डा, (५) स्कन्दमाता, (६) कात्यायनी, (७) कालरात्रि, (८) महागौरी और (९) सिद्धिदात्री—योग तेरह, चौदहवीं दमयन्ती। दुर्गासप्तशती (कवच—३, ४, ५) के अनुसार:—प्रथमं शैलपुत्री च द्वितीयं ब्रह्मचारिणी। तृतीयं चित्रघण्टेति कूष्माण्डेति चतुर्थकम् ॥ पञ्चमं स्कन्दमातेति षष्ठं कात्यायनी च। सप्तमं कालरात्रीति महागौरीति चाष्टमम् ॥ नवमं सिद्धिदात्री च नवदुर्गाः प्रकीर्तिताः ॥ आगम के अनुसार—ब्रह्माणी चैव माहेशी कौमारी वैष्णवी तथा। वाराही नारसिंही च माहेन्द्री चण्डिका तथा ॥ महालक्ष्मीरिति प्रोक्ताः क्रमेणैता नवाम्बिकाः ॥ जिस प्रकार साधकों को चतुर्दशी को अदृश्यीकरण विद्या की सिद्धि प्राप्त होती है उसी प्रकार दमयन्तीरूप चतुर्दशी में गुल्फद्वय को जो यह अदृश्यसिद्धि हुई, वह उचित ही है। विद्याधर के अनुसार रूपकालंकार ॥ ९७ ॥

अस्याः पदौ चारुतया महान्तावपेक्ष्य सौक्ष्म्याल्लवभावभाजः।
जाता प्रवालस्य महीरुहाणां जानीमहे पल्लवशब्दलब्धिः ॥ ९८ ॥

जीवातु—अस्या इति। चारुतया सौन्दर्यगुणेन महान्तौ अस्याः पदौ पादौ अवेक्ष्य। 'पादः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। सौक्ष्म्यात् तदपेक्षयाऽल्पत्वादिति भावः। लवभावभाजोऽल्पत्वभाजो महीरुहाणां प्रवालस्य किसलयस्य पल्लवशब्दलब्धिः पद्भ्यां लवोऽल्प इति व्युत्पत्त्या पल्लवसंज्ञा प्राप्तिर्जाता जानीमहे इत्युत्प्रेक्षामहे इत्यर्थः। 'अस्मदोर्द्वयोश्च' इति विकल्पादेकस्मिन्नेव बहुवचनम् ॥ ९८ ॥

अन्वयः—जानीमहे (यत्) अस्याः चारुतया महान्तौ पदौ अवेक्ष्य सौक्ष्म्यात् लवभावभाजः महीरुहाणां प्रवालस्य पल्लवशब्दलब्धिः जाता ।

हिन्दी—लगता है कि इस (दमयन्ती) के सौंदर्य के कारण उत्तम चरण देखकर अल्पता से (पैरों की शोभा की) अतिन्यूनता (अल्पांश) प्राप्त करते वृक्षों के बाल किसलय को 'पल्लव' (पद्+लव=पैर से अल्प) नाम प्राप्त हुआ है ।

टिप्पणी—चार (श्लोक सं० ९८–१०१) में दमयन्ती के चरणों का वर्णन है । इस श्लोक में दमयन्ती-चरण को नवपल्लव से चारुतर सिद्ध किया गया है। संभावना की गयी है कि पल्लव को पल्लव नाम इसीलिए मिला है कि वह 'पदभ्यां लवः' (पैरों से छोटा) अथवा 'पदो लवः भैम्याश्चरणसम्बन्धी लवो लेशो यस्य' (भीमसुता के पद का न्यूनांशग्राही) अथवा 'पदो लवरूपः' (पैर लव-अल्प-रूप) है। सब प्रकार से कहना यही है कि दमयन्ती के चरण 'प्रवाल' (नवपल्लव) से अधिक रमणीय हैं। 'जानीमहे' के आधार पर यहाँ मल्लिनाथ ने उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा-अतिशयोक्ति ।। ९८ ।।

जगद्वधूमूर्धसु रूपदर्पाद् यदेतयाऽधायि पदारविन्दम् ।
तत्सान्द्रसिन्दूरपरागरागैर्ध्रुवं प्रवालप्रबलारुणं तत् ।। ९९ ।।

जीवातु–जगदिति । यत् यस्मात्, एतया भैम्या रूपदर्पात् सौन्दर्यगर्वात्, द्वयमुभयं पदारविन्दं द्वे अपि पदारविन्दे इत्यर्थः । जगद्वधूमूर्धसु अधायि निहितं, धाञः कर्मणि लुङ् । 'आतो युक्चिण्कृतोः' इति युगागमः । तत् तस्मात्, तेषु मूर्धसु ये सान्द्राः सिन्दूरपरागरागाः तैः प्रवालाद्विद्रुमादपि प्रबलारुणमधिकारणं ध्रुवमित्युत्प्रेक्षा ।। ९९ ।।

अन्वयः—एतया यत् रूपदर्पात् पदारविन्दं जगद्वधूमूर्धसु अधायि; ध्रुवं तत् तत्सान्द्रसिन्दूरपरागैः प्रवालप्रबलारुणम् ।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) ने जो सौन्दर्य के गर्व से चरण-कमल त्रिलोक की सुन्दरियों के मूर्धाओं पर धरा, निश्चयपूर्वक वह (दमयन्ती का चरण) उन (जगत्-वधुओं) के (मस्तकों पर लगे) गाढ़े सिन्दूर की लाली से प्रवाल (मूंगे या नवपल्लव) से अधिक गुलाबी हो गया है ।

टिप्पणी—भंगिमांतर से पूर्वोक्त का समर्थन। दमयन्ती के चरण मूंगा और नवकिसलय से भी अधिक लाल हैं। दमयन्ती की उत्तमता के कारण जगत् की सुन्दरियाँ उसके चरणों में अपना सिन्दूरपूर्ण मस्तक रखती हैं, उसी सिन्दूर की लालिमा से वह चरण प्रवालाधिक अरुण है। उत्तम के चरणों मे निम्न सिर रखते ही हैं। 'ध्रुवम्' के आधार पर यहाँ मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, धिद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और असम्बन्ध में सम्बन्धरूपा अतिशयोक्ति। चन्द्रकलाकार ने उपमा, अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा का अंगांगिभाव संकर माना है ॥ ९९ ॥

रुषारुण: सर्वगुणैर्जयन्त्या भैम्या: पदं श्री: स्म विधेर्वृणीते।
ध्रुवं स तामच्छलयद्यत: सा भृशारुणैतत्पदभाग्विभाति ॥ १०० ॥

जीवातु—रुषेति। श्री: लक्ष्मी रुषा पराजयक्रोधेन अरुणा सती सर्वगुणैर्जयन्त्या आत्मानमतिक्रामन्त्या भैम्या: पदं स्थानं विधे: सकाशात् वृणीते स्म वव्रे। स विधिस्तां श्रियमच्छलयत् प्रतारितवान् ध्रुवं स्थानार्थविवक्षया पदप्रार्थनायामङ्घ्रिदानादिति भाव:। 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्म्यङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमर:। अत: सा श्रीरेतत्पदभागेतस्या: भैम्या तदङ्घ्रिभाक् सती शोभारूपेणेति भाव:। भृशारुणा विभाति आरुण्यप्रत्यभिज्ञानात् तदङ्घ्रिरेवैतत्स्थानमिति जानीम इत्यर्थ: ॥ १०० ॥

अन्वय:—रुषा अरुणा श्री: सर्वगुणै: जयन्त्या: भैम्या: पदं विधे: वृणीते स्म स: तां ध्रुवम् अच्छलयत्, यत: भृशारुणा सा एतत्पदभाक् विभाति।

हिन्दी—क्रोध से लाल लक्ष्मी ने सब गुणों के कारण जयिनी भीमसुता के पद (पैर को अथवा स्थान) को विधाता से माँगा था; उस (विधाता) ने उसे (लक्ष्मी को) निश्चयत: धोखा दिया, क्योंकि और भी अधिक (क्रोध और अपमान से) लाल वह (लक्ष्मी) इस (दमयन्ती के) पद (चरण) को प्राप्त कर शोभित हो रही है।

टिप्पणी—भाव यह कि दमयन्ती की चरण-शोभा लोकोत्तर है और लक्ष्मी भी दमयन्ती के समकक्ष नहीं है। दमयन्ती के सभी गुणों से पराजित लक्ष्मी क्रोध और ईर्ष्या से लाल हो गयी और विधाता से माँगने लगी कि वे लक्ष्मी को दमयन्ती का पद (स्थान) दें, अर्थात् दमयन्ती की अपेक्षा लक्ष्मी

को उच्चता मिल सके। विधाता ने 'पद' तो दिया, पर 'पद' शब्द की अनेकार्थता के आधार पर 'पद'–'स्थान' नहीं दिया, 'पद'—'चरण' दिया कि लो दमयन्ती का पद, और करती रहो पद-सेवा। इस प्रकार 'पद' शब्द से विधाता ने लक्ष्मी की प्रतारणा की। वह बेचारी अपमान और क्रोध से और भी लाल होती दमयन्ती का चरण लिये बैठी सेवा कर रही है। नारायण ने 'भृशारुणैतत्पदभाक्' को एक शब्द मानकर यह अर्थ भी संकेतित किया कि 'अत्यन्त अरुण दमयन्ती का पैर पानेवाली' लक्ष्मी (और भी अरुण होती) सुशोभित होती है। विधाता ने लक्ष्मी का चरण ही दिया, स्वरूपादि नहीं। इस प्रकार प्रतारित किया कि दमयन्ती का पद (चरण) ही लक्ष्मी का 'पद' (उचित स्थान) है। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षालंकार ॥ १०० ॥

यानेन तन्व्या जितदन्तिनाथौ पदाब्जराजौ परिशुद्धपार्ष्णी।
जाने न शुश्रूषयितुं स्वमिच्छू नतेन मूर्ध्ना कतरस्य राज्ञः॥ १०१ ॥

जीवातु—यानेनेति। यानेन गत्या दण्डयात्रया च जितो दन्तिनाथो गजश्रेष्ठो गजपतिश्च याभ्यां तौ परिशुद्धः निर्दोषो वशीकृतश्च पार्ष्णिः पश्चाद्भागः पार्ष्णिग्राहश्च ययोस्तौ तन्व्याः पदाब्जे एव राजानौ पदाब्जराजौ कतरस्य राज्ञः प्रत्युः परिपन्थिनश्च नतेन मानशान्तये रौद्रशान्तये च नम्रेण मूर्ध्ना स्वमात्मानं सेवयं शुश्रूषयितुं सेवयितुमिच्छू अभिलाषुकौ न जाने। अत्र पदाब्जराजादिति रूपकस्य श्लेषेणाङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ १०१ ॥

अन्वयः—यानेन जितदन्तिनाथौ परिशुद्धपार्ष्णी तन्व्याः पदाब्जराजौ न जाने कतरस्य राज्ञः नतेन मूर्ध्ना स्वं शुश्रूषयितुम् इच्छू ?

हिन्दी—गति अथवा विजय यात्रा से गजराज अथवा गजसेना के स्वामी राजा के जयी, रमणीय (चरण का) पृष्ठ भागवाले अथवा जिनका पार्ष्णिग्राह (पीछे से आक्रमण करने वाला सैन्यदल) परिशुद्ध अर्थात् निर्दोष है, ऐसे (दमयन्ती के) चरण-कमल रूप राजा न जाने किस राजा के विनत मस्तक से अपनी सेवा कराने के इच्छुक हैं ?

टिप्पणी—नल के इस विचार में एक तो यह उत्कंठा है कि न जाने कौन राजा ऐसा भाग्यशाली होगा, जो इस दमयन्ती के गजविनिंदितकांति और रमणीय टखनों वाले चरणकमलों के प्रणय-कलह में प्रसन्न करने के लिए अपना

मस्तक रखेगा ? दूसरे यहाँ चरण-कमलों को ऐसे राजाओं के रूप में चित्रित किया गया है, जो विजययात्रा में गजसेनाधीश राजा (नारायण के अनुसार गौडाधिप) को पराजित करते हैं और जिनका पृष्ठसैन्यदल—पार्ष्णिग्राह—अत्यन्त समर्थ है। इसी राजार्थ के कारण 'न जाने' और सार्थक है। गूढमंत्र राजा किससे सेवा लेगा, यह नहीं जाना जाता। मल्लिनाथ के अनुसार 'पदाब्जराजौ' में रूपक का श्लेष से अंगांगिभाव संकर है। विद्याधर ने यहाँ रूपक और श्लेष मानते हुए यह टिप्पणी भी की है कि यहाँ अर्थान्तर की प्रतीति रूपक द्वारा ही होती है, इससे समासोक्ति नहीं हो सकती ॥ १०१ ॥

कर्णाक्षिदन्तच्छदबाहुपाणिपदादिनः स्वाखिलतुल्यजेतुः ।
उद्वेगभागद्वयताभिमानादिहैव वेधा व्यधितं द्वितीयम् ॥ १०२ ॥

जीवातु—कर्णेति। स्वस्या यान्यखिलानि तुल्यानि शष्कुलीकमलाद्युपमानवस्तूनि तेषां जेतुः भाषितपुंस्कत्वात् पुंवद्भावः। कर्णश्चाक्षि च दन्तच्छदश्च बाहुश्च पाणिश्च पदञ्च कर्णाक्षिदन्तच्छदबाहुपाणिपदम्। प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः, तदादिर्यस्य तत् आदिशब्दात् कुचादिसंग्रहः। तदादिनोऽवयवजः तस्य अद्वयताभिमानात् अद्वितीयत्वगर्वात् उद्वेगभाक् रोषभाक् वेधा इहास्यामेव भैम्यां द्वितीयं कर्णादिकं व्यधितं विहितवान्। तदवयवानामप्रतिमतया परस्परमेवौपम्यमासीत्। यथा कर्णस्येतरकर्णेन करस्येतरकरेणेत्यर्थः ॥ १०२ ॥

अन्वयः—स्वाखिलतुल्यजेतुः कर्णाक्षिदन्तच्छदबाहुपाणिपदादिनः अद्वयताभिमानात् उद्वेगभाक् विधाता इह एव द्वितीयं व्यधित।

हिन्दी—अपने समान समग्र (वस्तुओं) के जेता कान, आँख, ओठ, बाहु, हाथ, पैर आदि की अद्वयता (अनुपमता) के अभिमान से उद्विग्न हुए विधाता ने इस (दमयन्ती) में ही दूसरा (जोड़े का) बना दिया।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती के कान आदि समस्त अंग अनुपम, अद्वितीय हैं। कर्ण आदि के जो प्रसिद्ध उपमान हैं—पाश, कमल, बिम्ब, लता, कमल (कर-चरण)—वे सब दमयन्ती के अंगों के समान अप्रमाणित हुए। इस प्रकार ये अंग अपनी अद्वितीयता के अत्यभिमानी हो गये। विधाता ने उद्वेग और क्रोध में भरकर दमयन्ती के अंग के समान उसका जोड़ा बना डाला। पहिले कान के जोड़ में दूसरा कान, पहिले नेत्र के जोड़ में दूसरा नेत्र—

इसी प्रकार दूसरा बाहु, दूसरा हाथ और दूसरा पैर। अब कोई अंग अकेला—अद्वय नहीं रहा, उनकी अद्वितीयता समाप्त हो गयी। होता भी यही है, क्रुद्ध रचनाकार अभिमान मिटाने के लिए प्रतिद्वन्द्वी को रच ही देता है। कर्णादि की गणना करते-करते कवि ने जो अंत में 'आदि' शब्द जोड़ा है—'पदादिनः', मल्लिनाथ की उचित मान्यता है कि इस 'आदि' से अभिप्राय समझना चाहिए अन्य 'कुचादि' अंग। नारायण का स्पष्टीकरण है कि आदि शब्द से अंगुलि आदि अवयव मानना चाहिए। इन अंगों को अभिमान हो गया था कि मेरे सदृश सुन्दर कोई अन्य नहीं है, मैं ही अकेला सुन्दर हूँ। इसी गर्व पर उद्विग्न, क्रोधयुक्त विधाता ने उसके ही जोड़ के दूसरे अंग की रचना भैमी में ही कर दी—'आदिशब्दादङ्गुल्यादेरवयवस्य प्रत्येकमद्वयताभिमानात् मत्सदृशं सुन्दरमन्यन्नास्तीति अहमेवैकं सुन्दरमित्यद्वैतगर्वादुद्वेगभाक् क्रोधयुक्तः वेधाः इहैवास्यां भैम्यामेव द्वितीयं द्वयोः पूरणं कर्णादि कृतवान्।' विद्याधर के अनुसार यहाँ अनन्वयोपमालंकार है। चन्द्रकलाकार के अनुसार 'इस पद्य में अनन्वय अलंकार से दमयन्ती के श्रोत्र आदि इन्द्रिय लोकोत्तर थे, ऐसी वस्तुध्वनि है' ॥ १०२ ॥

तुषारनिःशेषितमब्जसर्गं विधातुकामस्य पुनर्विधातुः।
पञ्चस्विहास्याङ्घ्रिकरेष्वभिख्याभिक्षाऽधुना माधुकरीसदृक्षा ॥१०३॥

जीवातु—तुषारेति। तुषारेण निःशेषितं नाशितमब्जसर्गं पद्मसृष्टिं पुनर्विधातुकामस्य स्रष्टुकामस्य विधातुरधुना इहास्यां भैम्यां पञ्चसु आस्यं चाङ्घ्री च करौ च तेषु अधिकरणैतावत्त्वे चेत्येकवद्भावप्रतिषेधः इहाधिकरणं समानाधारत्वाद्वर्तिपदार्थः। तस्यैतावत्त्वं पञ्चत्वमभिख्याभिक्षा शोभायाच्ञा। 'अभिख्या नामशोभयोः' इत्यमरः। माधुकरी नाम पञ्चभिक्षा तथा सदृक्षा सदृशी 'दृशेः क्सश्च वक्तव्यः' इति क्सप्रत्ययः। वर्तत इति शेषः। एतदास्यादिपञ्चके यावल्लावण्यं तावत् पद्मेषु नास्तीत्यर्थः ॥ १०३ ॥

अन्वयः—तुषारनिःशेषितम् अब्जसर्गं पुनः विधातुकामस्य विधातुः अधुना इह पञ्चसु आस्याङ्घ्रिकरेषु अभिख्याभिक्षा माधुकरी सदृक्षा।

हिन्दी—पाले से पूर्ण विनष्ट कमलों की पुनारचना की कामना करते

विधाता की इस काल इस (दमयन्ती) के पाँच मुख, चरण और करों से शोभा की याचना संन्यासी की भिक्षा (मधुकरी) जैसी है।

टिप्पणी—एक मुख, दो हाथ, दो पैर का योग हुआ पाँच (१+२+२=५)। दमयन्ती के इन पाँच अंगों से पाले के कारण सफल नष्ट हुए कमलों की पुनः सृष्टि के निमित्त सृष्टिकर्त्ता जो थोड़ी-थोड़ी सुन्दरता की याचना करता है, वह उस भीख के समान है, जो घर-घर यति—संन्यासी माँग-माँग कर एकत्र करता है, एक मधुकर (भ्रमर) के तुल्य फूल-फूल से मधु माँगकर पेट भरना—'मधुकरी' पाँच जनों से माँगी भीख। दमयन्ती के मुख, कर, चरण से थोड़ी-थोड़ी चारुता मिल जाय 'बाबा' को तो भिखारी बाबा का काम चल जाय और पेट पल जाय। सिरजनहार भी भिखमंगा हो गया जिनसे सौन्दर्ययाचना करता। भाव यह है कि मुखादि के उपमान रूपमें प्रसिद्ध कमल दमयन्ती के मुखादि की अपेक्षा नगण्य हैं—असदृश।१०३।

एष्यन्ति यावद्गणनाद्दिगन्तान् नृपाः स्मरार्ताः शरणे प्रवेष्टुम्।
इमे पदाब्जे विधिनापि सृष्टास्तावत्य एवांगुलयोऽत्र रेखाः ॥१०४॥

जीवातु—एष्यन्तीति। स्मरार्ता नृपा इमे पदाब्जे शरणे प्रवेष्टुं यावन्ती गणना यस्य तस्माद् यावद्गणनात् यावत्संख्याकात् दिगन्तात् यावत् सङ्ख्याकेभ्यः दिगन्तेभ्य इत्यर्थः। जातावेकवचनम्, एष्यन्ति, अत्रानयोः पदाब्जयोः तावत्य एव तत्सङ्ख्या एवाङ्गुलय एव रेखाः सृष्टाः, स्वयंवरार्थमागामिनां राज्ञामपादानदिक्सङ्ख्यासूचकरेखा इव दशाङ्गुलयः सृष्टा इत्युत्प्रेक्षा ॥१०४॥

अन्वयः—स्मरार्त्ताः नृपाः इमे पदाब्जे शरणे प्रवेष्टुं यावद्गणनात् दिगन्तात् एष्यन्ति, विधिना तावत्यः एव अङ्गुलयः रेखा सृष्टाः।

हिन्दी—काम-पीडित राजा (दमयंती के) इन चरण कमलों में शरण-प्राप्त्यर्थ जितनी संख्या के दिगंतों (दश, अर्थात् संपूर्ण दिशाओं) से आयेंगे, विधाता ने उतनी ही (दस) अंगुलियाँ रूप रेखाएँ इस (दमयन्ती) में बना दीं।

टिप्पणी—भाव यह है कि दशों दिशाओं के राजा दमयन्ती के अभिलाषी हैं। वे इसके चरणों में प्रणय-याचना करने शरण लेने आयेंगे। विधि ने

पहिले से ही उनकी गणना हो सकने के लिए, दोनों पैरों में दस अँगुलियाँ बना दीं, जिससे सुविधा हो, उत्प्रेक्षा अलंकार ॥ १०४ ॥

प्रियासखीभूतवतो मुदेदं व्यधाद्विधिः साधुदशत्वमिन्दोः ।
एतत्पदच्छद्मसरागपद्मसौभाग्यभाग्यं कथमन्यथा स्यात् ॥ १०५ ॥

जीवातु–प्रियेति । विधिर्विधाता प्रियायाः भैम्याः सखीभूतवतः सुहृद्भूतस्य अभूततद्भावे च्विः, भवतेः क्तवतुप्रत्ययश्च । इन्दोरिदं साधुदशत्वं समीचीनावस्थत्वं सम्यक् दशानां परिपाकं मुदा सन्तोषेण व्यधात् विहितवानित्यर्थः । अन्यथाऽस्येन्दोः एतस्याः पदस्य च्छद्मच्छलं यस्य तस्य सरागपद्मस्य सौभाग्ये सौन्दर्ये भाग्यं कथम् ? एतच्चरणशोणसरोजसादृश्यं कथमित्यर्थः ॥ १०५ ॥

अन्वयः—विधिः मुदा प्रियासखीभूतवतः इन्दोः इदं साधुदशत्वं (अथवा 'दशत्वं साधु') व्यधात्, अन्यथा एतत्पदच्छद्मसरागपद्मसौभाग्यभाग्य कथं स्यात् ?

हिन्दी—विधाता ने प्रसन्नतापूर्वक प्रिया (दमयंती) के सखा हो गये चन्द्र का (चरणनखरूपमें) यह सुघर दशभाव ठीक ही बनाया, अन्यथा इस (दमयन्ती) चरण-व्याज से अरुणकमल की सुभगता (सौन्दर्य) पाने का (चन्द्र का) भाग्य कैसे होता ?

टिप्पणी—दमयन्ती के पैरों के दसों गुलाबी नख अरुण चन्द्र और पद्म की शोभा वाले हैं। चन्द्र तो एक है, उसे दस नखों की समता देने के लिए उसके दस रूप उचित हैं—'साधुदशत्व' अर्थात् भली अवस्था और उचित दशगणनात्व। इससे चन्द्र को यह लाभ हुआ कि दमयंती चरण-व्याज से उसे 'अरुण-पद्म'-सौभाग्य-लाभ हो गया। चन्द्र-पद्म-विरोध माना जाता है। इस असंभव की सम्भावना दमयन्ती-चरण-सेवा से ही चन्द्र को हुई। विद्याधर के अनुसार यहाँ छेकानुप्रास श्लेष-अनुमान-अपह्नुति अलंकार हैं ॥१०५॥

यशः पदाङ्गुष्ठनखौ मुखञ्च बिभर्ति पूर्णेन्दुचतुष्टयं या ।
कला चतुःषष्ठिरुपैतु वासं तस्यां कथं सुभ्रुवि नाम नास्याम् ॥ १०६ ॥

जीवातु—यश इति । या सुभ्रूर्यशः कीर्तिः पदाङ्गुष्ठयोर्नखौ मुखञ्चेति पूर्णेन्दुचतुष्टयं बिभर्ति । तस्यामस्यां सुभ्रुवि सुन्दर्या कलानां षोडशभागानां विद्यानां च चतुरुत्तरा षष्टिः चतुःषष्टिः वासं निवासं कथं नाम नोपैतु उपैत्वे-

वेत्यर्थः । चन्द्रचतुष्टये प्रतिचन्द्रं षोडशकलत्वाच्चतुःषष्टिकलासम्पत्तिरित्यर्थः । द्वयीनामपि कलानामभेदाध्यावसायेन अयं निर्देशः ॥ १०६ ॥

अन्वयः—या यशः पदाङ्गुष्ठनखौ मुखं च पूर्णेन्दुचतुष्टयं बिभर्त्ति, तस्याम् अस्यां सुभ्रुवि कलाचतुःषष्टिः कथं नाम वासं न उपैतु ?

हिन्दी—जो (दमयन्ती) यश, पैर के अंगूठों के दो नख और मुख (१ + २ + १ = ४)–इस प्रकार चार पूर्ण चन्द्र धारण करती है, उस इस सुन्दर भौंहवाली में चौसठ कलाएँ क्यों न निवास प्राप्त करें ? (करना ही उचित है ।)

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती गीत-वाद्यादि चौसठ कलाओं में प्रवीणा है और उसके यश (१) पैरों के अँगूठे, (२) और मुख (१)–ये चार-चार पूर्ण चन्द्रों के तुल्य हैं । इस प्रकार दमयन्ती में चार चन्द्रों का वास है । एक चन्द्र में सोलह कलाएँ होती हैं, १६ × ४ = ६४ । इस प्रकार दमयन्ती में चौसठ कलाओं की स्थिति ठीक-ठीक हो गयी । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-श्लेष अलंकार । कामशास्त्र के अनुसार चौसठ कलाएँ हैं—१–गीत, २. वाद्य, ३. नृत्य, ४. नाट्य, ५. चित्रकारी, ६. तिलकरचना, ७. चावल-फूलों से चौक बनाना, ८. फूलों की सेज बिछाना, ९. दाँत, वस्त्र और अंगों को रँगना, १०. गृहसज्जा, ११. शयनरचना, १२. जलतरंग बजाना, १३. गुलाबजल आदि छिड़कना, १४. चित्रायोग (तरुण को वृद्ध, वृद्ध को तरुण बनाना), १५. माला गूँथना, १६. सिर पर फूल सजाना, १७. नेपथ्ययोग (वस्त्राभूषणादिसज्जा), १८. कर्णफूलादिरचना, १९. इत्र-फुलेल बनाना, २०. भूषण-योजना, २१. इंद्रजाल, २२. प्रसाधन-सामग्री बनाना—कौचुमार योग, २३. हस्तलाघव, २४. शाक-पकवान आदि बनाना, २५. शरबत-आसवादि पेय-निर्माण, २६. सिलाई, २७. बेलबूटे काढ़ना, २८. पहेली-बुझाना, २९. अन्त्याक्षरी, ३०. कठिन पदों का अर्थ करना, ३१. पुस्तकवाचन, ३२. नाटकदेखना-दिखाना, ३३. समस्यापूर्त्ति, ३४. खाट बुनना, ३५. तर्कुकर्म (कातना), ३६. तक्षण, ३७. वास्तुविद्या, ३८. रत्नपरीक्षा, ३९. धातुवाद (कीमियगरी), ४०. मणिराग-ज्ञान, ४१. खानों की विद्या, ४२. वृक्षायुर्वेदयोग, ४३. मेष-कुक्कुट-लावक-युद्ध-विधि, ४४. शुकसारिका-

प्रलापन ज्ञान, ४५. उत्सादन (उबटन) लगाना, ४६. केशमार्जनकौशल, ४७. अंगुलि-संकेत से कथन, ४८. विदेशी भाषा-ज्ञान, ४९. देशभाषाज्ञान, ५०. दैवीलक्षणों के आधार पर भविष्यत्कथन, ५१. मंत्रमातृका (निर्माण), ५२. स्मरणमातृका, ५३. संपाठ्य, ५४. मानसी काव्यक्रिया, ५५. क्रिया-विकल्प, ५६. छलितक योग (ऐयारी), ५७. अभिधान कोषच्छन्दो ज्ञान, ५८. वस्त्रगोपन, ५९ द्यूतविशेष, ६०. पांसा-खेलना, ६१. बच्चे-खिलाना, ६२. वैनायकी विद्या (शिष्टाचार), ६३. वैजयिकी विद्याज्ञान, और ६४. वैतालिकी विद्या ॥ १०६ ॥

सृष्टातिविश्वा विधिनैव तावत्तस्यापि नीतोपरि यौवनेन ।
वैदग्ध्यमध्याप्य मनोभुवेयमवापिता वाक्पथपारमेव ॥ १०७ ॥

जीवातु—सृष्टेति । इयं तावत् विधिनैव अतिविश्वा विश्वमतिक्रान्ता विश्वातिशायिनीत्यर्थः । 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयये'ति समासः । सृष्टा निर्मिता अथ यौवनेन तस्य विधिकृतातिशयस्याप्युपरि नीता ततोऽप्यतिशयं प्रापितेत्यर्थः । अथ मनोभुवा वैदग्ध्यं प्रागल्भ्यमध्याप्य वाक्पथस्य वाङ्मार्गस्य पारम्परतीरमवाङ्मनसगोचरत्वमेवावापिता अत्र क्रमेणैकस्यानेकधर्मसम्बन्धकथनात् एकस्मिन्नथवानेकमित्युक्तलक्षणपर्यायभेदः ॥ १०७ ॥

अन्वयः—विधिना एव इयं तावत् अतिविश्वा सृष्टा, यौवनेन तस्य अपि उपरि नीता, मनोभुवा वैदग्ध्यम् अध्याप्य वाक्पथपारम् एव अवापिता ।

हिन्दी—विधाता ने ही इसे (दमयन्ती को) पहिले विश्वातिशायिनी (जगज्जयिनी) रचा, तरुणाई द्वारा उसके भी ऊपर ले जायी गयी और मनोज (काम) ने तो विदग्धता सिखाकर वागगोचरत्व (वर्णनाशक्यता) को ही पहुँचा दिया ।

टिप्पणी—दमयन्ती जन्मकाल से ही त्रिलोकसुन्दरियों की अपेक्षा सुन्दर थी, तारुण्य आने पर वह अत्यधिक सुन्दर हो गयी और जब हृदय में कामनाएँ जगने लगीं तो समस्त व्यापार-चातुर्य सीखकर तरुणी कामिनी दमयन्ती का सौन्दर्य वर्णनातीत स्थिति को प्राप्त हो गया । भाव है कि दमयन्ती के त्रिलोकजयी सौन्दर्य का वर्णन संभव नहीं है । मल्लिनाथ के

अनुसार क्रम से एक का अनेक धर्मों में संबंध-कथन होने के कारण पर्याय अलंकार है, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ १०७ ॥

इति स चिकुरादारभ्यैतां नखावधि वर्णयन्
हरिणरमणीनेत्रां चित्राम्बुधौ तदनन्तरः ।
हृदयभरणोद्वेलानन्दः सखीवृतभीमजा-
नयनविषयीभावे भावं दधार धराधिपः ॥ १०८ ॥

जीवातु—इतीति । इतीत्थं स धराधिपो नलो हरिणरमणीनेत्रामेतां भैमीं चिकुरात् केशपाशादारभ्य नखावधि पदाङ्गुष्ठनखान्तं वर्णयंश्चित्राम्बुधौ आश्चर्यसागरे तदनन्तरः प्लवमानान्तरङ्गस्तथा हृदये भरणात् पूरणात् उद्वेलो निःसीमः आनन्दो यस्य स सन् सखीवृताया भीमजाया भैम्या नयनविषयीभावे दृग्गोचरत्वे भावमभिप्रायं दधार, तस्याः प्रत्यक्षीभवितुमैच्छदित्यर्थः ॥१०८॥

अन्वयः—इति सः धराधिपः हरिणरमणीनेत्राम् एतां चिकुरात् आरभ्य नखावधि वर्णयन् चित्राम्बुधौ तदनन्तरः हृदयभरणोद्वेलानन्दः सखीवृतभीमजानयनविषयीभावे भावं दधार ।

हिन्दी—इस प्रकार उस धरती के स्वामी (राजा नल) ने हरिण की रमणी (हिरनी) के समान नयनवाली इस (दमयन्ती) का केशपाश से आरम्भ करके नखपर्यन्त वर्णन करते हुए आश्चर्य-सागर में तिरते अंतस्-वाला हो, हृदय के परिपूर्ण हो जाने से तट को अतिक्रांत करते आनन्द से युक्त होकर सखियों से घिरी भीमसुता (दमयन्ती) के नेत्रों का विषय होने (प्रकट हो जाने) की इच्छा धारण की ।

टिप्पणी—उपर्युक्त प्रकार से दमयन्ती के नख-शिख का विस्तृत वर्णन करते हुए सम्मुख दमयन्ती के त्रिलोकातीत सौन्दर्य को निहार कर राजा नल का हृदय आश्चर्यमय आनन्द से इतना परिपूर्ण हो गया कि वह अब उसके सम्मुख प्रकट होने को विवश हो गया । जैसे ज्वार आने पर सागर तट का अतिक्रमण करके बहने लगता है, आश्चर्य-आनन्द से परिव्याप्त नल का अन्तःकरण भी उसी स्थिति में हो गया । अत्यन्त हर्ष हुआ उसे । और वह दमयन्ती के सम्मुख प्रकट हो गया । विद्याधर के अनुसार यहाँ उपमा, अतिशयोक्ति, छेकानुप्रास अलंकार हैं, चन्द्रकलाकार ने रूपक-उपमा की

संसृष्टि को मान्यता दी है। यह हरिणी छन्द है—नसमरसला गः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता। अर्थात् जिसके चारों चरणों में सत्रह-सत्रह वर्ण इस क्रम से होते हैं—१ नगण (।।।), १ सगण (।।ऽ), १ मगण (ऽऽऽ), १ रगण (ऽ।ऽ), १ सगण (।।ऽ), एक लघु (।), १ गुरु (ऽ)=१७। हरिणी छंद के प्रत्येक चरण में ६, ४, ७, पर यति होती है ॥ १०८ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिभणिति भ्रातर्ययं तन्महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमत्सप्तमः ॥१०९॥

जीवातु—श्रीहर्षमित्यादि। गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिभणितिर्नामास्य कृतः प्रबन्धः तद्भ्रातरि तत्समानकर्तृक इत्यर्थः ॥ १०९ ॥

इति मल्लिनाथसूरिविरचिते 'जीवातु'समाख्याने
सप्तमः सर्गः समाप्तः ॥ ७ ॥

—: ० :—

अन्वयः—श्री हर्षं ……च यम्, गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिभणिति भ्रातरि चारुणि तन्महाकाव्ये नैषधीयचरिते सप्तमः सर्गः अगमत्।

हिन्दी—दो चरणों का पूर्ववत् अर्थ। 'गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिभणिति' के सहोदर भाई, चारु उस महाकाव्य नैषधीयचरित में सप्तम सर्ग पूर्ण हुआ।

टिप्पणी—इस श्लोक में यह संकेत दिया गया कि नैषधकार श्रीहर्ष ने 'गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिभणिति' नामक प्रशस्तिकाव्य भी रचा था। नैषधीय चरित का भ्राता, एक कवि की ही कृति। तृतीयचरण में 'नैषधीयचरिते' का पाठांतर 'वैरसेनिचरिते' भी है ॥ १०९ ॥

श्रीहर्षरचित 'नैषधीयचरित' का सप्तम सर्ग समाप्त।

—: ० :—

नैषधीयचरितम्

अष्टमः सर्ग

अथाद्‌भुतेनास्तनिमेषमुद्रमुन्निद्ररोमाणममुं युवानम् ।
दृशा पपुस्ताः सुदृशः समस्ताः सुता च भीमस्य महीमघोनः ॥ १ ॥

जीवातु—अथेति । अथ नलप्रादुर्भावानन्तरमद्‌भुतेन दमयन्तीसाक्षात्कार-जन्यविस्मयवशेन अस्ता निमेषमुद्रा निमीलनबन्धो यस्य तं निर्निमेषमित्यर्थः । उन्निद्ररोमाणं हृष्टरोमाणमिति च विस्मयानुभावोक्तिः । युवानममुं नलमन्य-त्राद्‌भुतेन नलरूपसाक्षात्कारविस्मयेन अस्तनिमेषमुद्राः उन्निद्ररोमाणो युवतय इति परिणामः कार्यः । ता अमी सभासदः समस्ताः सुदृशः स्त्रियः दृशा पपु-रतितृष्णया ददृशुरित्यर्थः । तथा महीमघोनो भूदेवेन्द्रस्य भीमस्य सुता भैमी च पूर्वोक्तविस्मयानुभववती युवतिश्चेति भावः । तं दृशा पपावित्यर्थः । भैम्याः पृथगुपादानदर्शनस्यानुरागपूर्वकत्वलक्षणविशेषद्योतनार्थः ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ अद्‌भुतेन अस्तनिमेषमुद्रम् उन्निद्ररोमाणं युवानम् अमुं ताः समस्ताः सुदृशः महीमघोनः भीमस्य सुता च दृशा पपुः ।

हिन्दी—तदनंतर (नल के प्रत्यक्ष हो जाने का पश्चात्) अद्‌भुत (दमयंती-रूप दर्शन) से पलक झपाना त्यागे, रोमांचित तरुण इस (नल) को वे सब सुनयनाएँ (सखियाँ) और धरती के इंद्र भीम की पुत्री (दमयंती) दृष्टि से (जैसे) पीने लगीं ।

टिप्पणी—अद्‌भुत दमयंती और उसके अद्‌भुत समाज को देख कर नल तो अनिमेष और रोमांचित हो ही रहे थे, उस सौन्दर्यशाली तरुण आकर्षक नल को देख कर दमयंती और सखी समूह भी अभिभूत हो उठा और नल को अपलक निहारने लगा । 'उन्निद्ररोमत्व' सात्त्विक भाव का द्योतक है । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और भावोदय अलङ्कार हैं । इस संपूर्ण सर्ग में प्रायः उपजातिवृत्त का प्रयोग किया गया है ॥ १ ॥

क्रियच्चिरं दैवतभाषितानि निह्नोतुमेनं प्रभवन्तु नाम।
पलालजालैः पिहितः स्वयं हि प्रकाशमासादयतीक्षुडिम्भः॥ २॥

जीवातु—नन्वयमिन्द्रादिवाक्यातिक्रमेण कथमासां प्रादुरासीदित्यत्रोत्तरमाह—कियदिति। दैवतभाषितानि आदृत्य एवं दूत्यमाचरत्वेवंरूपाणीन्द्रवाक्यादि कियच्चिरं कियन्तं बहुकालमित्यर्थः। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया अव्ययविशेषणत्वात् किमिति नपुंसकलिङ्गनिर्देशः। क्रियाध्ययानां भेदकान्येकत्वेऽपि इति नपुंसकलिङ्गशेषेष्वमरः। एवं नलं निह्नोतुमाच्छादयितुं प्रभवन्तु शक्नुवन्तु नामानि शक्नुवन्तु खल्वित्यर्थः। सम्भावनायां लोट्। तथाहि—पलालजालैः व्रीह्यादितृणपूगैः पिहितः संरक्षणार्थमाच्छादितः इक्षुडिम्भः इक्षुप्ररोहः स्वयं स्वत एव प्रकाशं प्रादुर्भावमासादयति इक्ष्वङ्कुरस्येव कामिनोऽप्यतिप्रौढरागस्य दुर्वारो विकार इति भावः। अत्र नलेक्षुडिम्भयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावेन समानधर्मनिर्देशाद् दृष्टान्तालङ्कारः॥ २॥

अन्वयः—दैवतभाषितानि कियच्चिरम् एनं निह्नोतुं प्रभवन्तु नाम, हि पलालजालैः पिहितः इक्षुडिम्भः स्वयं प्रकाशम् आसादयति।

हिन्दी—देवताओं के कथन कितने समय तक इस (नल) को छिपा रहने देने में समर्थ होते, कारण कि तिनकों से ढका ईख का अंकुर अपने आप ही प्रादुर्भूत हो जाता है।

टिप्पणी—दमयंती के प्रति दुर्वार अनुराग से पूर्ण नल कब तक अपने को छिपाये रखता? देवों ने जो उसे अंतर्धि-सिद्धि दी थी, कब तक वह उससे छिपा रह जाता? अनुराग वेग ने नल को स्वयं प्रत्यक्ष कर दिया। वह ईख के पौधे के समान सब आवरणों को उतार कर प्रत्यक्ष हो ही गया। सूखे तिनकों का जाल कब तक इक्षुडिंभ को अच्छादित रख सकता है? प्रणय छिपाये नहीं छिपता। उसकी दूर्वारता अप्रतिहत होती है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ दृष्टांत अलंकार है, क्योंकि नल और इक्षुडिम्भ में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव से समान धर्म का निर्देश है। विद्याधर के अनुसार अर्थांतर न्यास है॥ २॥

अपाङ्गमप्याप दृशोर्न रश्मिर्नलस्य भैमीमभिलष्य यावत्।
स्मराशुगः सुभ्रु वि तावदस्यां प्रत्यङ्गमापुङ्खशिखं ममज्ज॥ ३॥

जीवातु—अपाङ्गमिति। अस्य नलस्य दृशो रश्मिः भैमीमभिलष्य काम-यित्वा यावदपाङ्गन्तस्या अपाङ्गदेशमपि नाप भैमीं तु नापेति किमु वक्तव्यं तावदेव स्मराशुगोऽस्यां सुभ्रवि भैम्यां प्रत्यङ्गमापुङ्खशिखं समूलाग्रमित्यर्थः। अभिविधावव्ययीभावः। ममज्जेत्यन्योन्यरागोक्तिः। अत्र दृष्टिपातस्मरपातयोः कारणयोः पौर्वापर्यभङ्गोक्तिरित्यतिशयोक्तिभेदः ॥ ३ ॥

अन्वयः—अस्य दृशोः रश्मिः भैमीम् अभिलष्य यावत् अपाङ्गम् अपि न आप तावत् एव स्मराशुगः अस्यां सुभ्रुवि प्रत्यङ्गम् अपुङ्खशिखं ममज्ज।

हिन्दी—इस (नल) के नयनों की किरण भीमसुता की कामना करके अपांग तक भी न पहुँच पायी थी (नेत्रों की प्रतिनिकट कोट तक भी न पहुँची थी) कि तब तक ही काम का शीघ्रगामी बाण इस सुन्दर भ्रुकुटिवती (दमयंती) के अंग-अंग में पुंख से शिखा तक (कोट से पूंछ तक, संपूर्ण) पूरी तरह घुस गया।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल के साभिलाष देखते ही, अनुरागमयी दृष्टि पड़ते ही दमयंती उसके प्रति पूर्णतया आकृष्ट हो कामाधीना हो गयी। नयन किरण की अपेक्षा काम-बाण अधिक तीव्रगामी प्रभावित हुआ। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ दृष्टिपात और स्वरपात कारणों की पौर्वापर्यभंगोक्तिरूप अतिशयोक्तिभेद है, विद्याधर ने भी अतिशयोक्ति का उल्लेख किया है ॥३॥

यदक्रमं विक्रमशक्तिसाम्यादुपाचरद् द्वावपि पञ्चबाणः।
चक्रे न वैमत्यममुष्य कस्माद् बाणैरनर्द्धार्द्धविभागभाग्भिः ॥ ४ ॥

जीवातु—पुनरप्यन्योऽन्यानुरागमेवाह—यदिति। पञ्चबाणो विषमेषुः द्वावपि भैमीनल अक्रममविद्यमानक्रमं युगपदित्यर्थः विक्रमेण या शक्तिस्तस्याः साम्यात् साम्यमालम्ब्य ल्यब्लोपे पञ्चमी। उपाचरत् उपाचचार विषमैः बाणै-र्युगपत् उभावप्यवैषम्येण प्रहृतवानिति। अमुष्य समोपचरणस्य अर्धार्धंशो विभागभाजो न भवन्तीति तथोक्तैः विषमसङ्ख्यैः अशक्यसमविभागैरित्यर्थः। बाणै शरैः कर्तृभिः पञ्चभिरिति भावः। वैमत्यमसम्मतिः कस्मात् कथं न चक्रे कृतं महच्चित्रमिति भावः। अत्र विषमैर्युगपदुभयत्र समप्रहारविरोधस्य स्मर-महिम्ना समाधानाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ४ ॥

अन्वयः—पञ्चबाणः द्वौ अपि अक्रमं विक्रमशक्तिसाम्यात् यत् उपाभरत् तत् अमुष्य अनर्द्धार्द्धविभागभाग्भिः बाणैः वैमत्यं कस्मात् न चक्रे ?

हिन्दी—पाँच बाणों वाले (काम) ने दोनों (नल-दमयंती) को ही जो विना क्रमके—एक साथ विक्रम (उत्साह) और शक्ति (बल) की तुल्यता से जो (वश में) कर लिया, उसमें इस (काम) के आधे-आधे भागों (दो-दो) में न बँट जाते बाणों ने असंमति क्यों नहीं (प्रकट) की ?

टिप्पणी—काम के बाण पाँच हैं। उचित तो यह होता कि नल-दमयंती दोनों को एक साथ वश में करने के लिए दोनों पर एक समय एक समान संख्या के अस्त्रों से प्रहार होता। परन्तु यह संभव नहीं था, क्योंकि काम-बाणों की संख्या विषम है, सम नहीं। पाँच को पूर्णतया दो भागों में नहीं बाँटा जा सकता, उसमें एक बाण को दो भाग में करना पड़ेगा। इस प्रकार काम ने रीति-विरुद्ध दोनों को एक साथ वश में करके अद्भुत कार्य किया। ऐसा परिपाटीरहित कार्य काम इसलिए कर सका कि उसके मन में विक्रम (उत्साह) था और तन में शक्ति (बल)। ऐसा भी संभव था कि काम पहिले पाँचों बाण छोड़कर नल को वश में करता, तदनन्तर उसी प्रकार दमयंती को। पर ऐसा करने पर समानुरागी नल-दमयंती का एक साथ अनुराग दर्शन न हो पाता। पौर्वापर्य हो जाता। ढाई—ढाई बाणों का उपयोग भी उचित नहीं था, क्योंकि उसमें एक बाण तोड़ना पड़ता। एक पर दो, दूसरे पर तीन का प्रहार भी तुल्यानुराग में बाधा देता। इसके अतिरिक्त बाणों में 'वैमत्य' अर्थात् असहमति भी उत्पन्न हो जाती। जिसे तोड़ा जाता, वही असहमति प्रकट करता। अतः काम ने अपने विक्रम और शक्ति की तुल्यता—मन के उत्साह और तन की शक्ति का समानता से उपयोग कर नल—दमयंती को वश में किया। कोई अधिकारी व्यक्ति भी अपने कार्य-कर्ताओं में वैमत्य की आशंका करके इसी प्रकार उपायांतर से कार्य सिद्ध करता है, अतः काम ने बाणों में 'वैमत्य' न आने दिया। भाव यह है कि नल-दमयंती का समानुराग था, एक साथ संघटित। न किसी का अनुराग कम था, न अधिक। सम, एक समय में उत्पन्न। 'विक्रमशक्तिसाम्यात्' के अन्य अर्थ भी किये गये हैं—'वेः पक्षिणः क्रमः आक्रमणं ग्रहणं तत्र या शक्तिः

सामर्थ्यं तेन साम्यात्तुल्यत्वात् । 'खलेकपोतन्यायेन' इति यावत् । (प्रकाश-टीका)। पक्षियों के एक साथ अनाज चुगने की शक्ति के समान काम ने भी स्वशक्ति दिखायी। जैसे कबूतर खलिहान में पड़े अन्नकणों को एक साथ चोंच से पकड़ता है, वैसे ही पंचबाण काम ने दोनों को एक साथ स्ववश कर लिया। इसी कारण बाणों के असम होने पर भी विरोध नहीं हुआ। अथवा पक्षियों के एक साथ मिल कर दाना-चुगने के समान पाँचों बाणों ने मिलकर एक साथ नल-दमयंती को वश में कर लिया। अथवा नल है विक्रम-तुल्य और दमयंती है शक्तिसमा। पाँच पुष्पों (बाणों) से काम ने एक साथ विक्रम-शक्ति की पूजा की। आशय यही है कि प्रत्येक दृष्टि से—काल, परिमाणादि को ध्यान में रखते हुए नल-दमयंती का परस्परानुराग तुल्य था। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ विरोधाभास अलंकार है, क्योंकि विषमसंख्यक बाणों द्वारा एक साथ दो स्थानों पर एकसा प्रहार करने में विरोध है, जिसका समाधान काम के अघटित घटित करने की क्षमता के आधार पर किया गया है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और अतिशयोक्ति अलंकार है।

तस्मिन्नलोऽसाविति साऽन्वरज्यत् क्षणं क्षणं क्वेह स इत्युदास्त ।
पुरः स्म तस्यां वलतेऽस्य चित्तं दूत्यादनेनाथ पुनर्न्यवर्ति ॥ ५ ॥

जीवातु—तस्मिन्निति । सा भैमी तस्मिन् पुंसि असौ नल इति हंसादिमुखश्रुतरूपसंवादान्नल इति मत्वा क्षणं क्षणमल्पकालमत्यन्तसंयोगे द्वितीया । अन्वरज्यदनुरक्ताऽभवत् । एतेन हर्षः सूचितः । पुरे स नलः क्वेहेत्यसम्भावितमिति मत्वेत्यर्थः । इतिनैवोक्तार्थत्वादप्रयोगः । क्षणमुदास्त उदासीना स्थिता । आसेः कर्तरि लङ् । एतेन विषादः सूचितः, तथा चास्या भावसन्धिरासीदित्यर्थः । अथ नलस्य तस्यां भावसन्धिमाह—अस्य नलस्य चेतः पुरः प्रथमं तस्यां दमयन्त्यां वलते स्म चचालेति हर्षोक्तिः पुनः दूत्यादनेन कर्त्रा नलेन न्यवर्ति नीचकृत्ये स्थितस्य इदमनुचितमिति बलात्कारेण निवर्तितमिति विषादोक्तिः, समग्ररूढ एवानयोरिति भावः ॥ ५ ॥

अन्वयः—सा तस्मिन् असौ नलः इति क्षणम् अन्वरज्यत्, पुनः सः इह क्व इति क्षणम् उदास्त, अथ अस्य चित्तं पुरः तस्यां वलते स्म, अनेन पुनः दूत्यात् न्यवर्ति ।

हिन्दी—वह (दमयन्ती) उसमें 'यह नल है'—ऐसी धारणा करके क्षण भर अनुरक्त हुई, फिर यह विचार कर क्षण भर उदासीन हुई कि वह (नल) यहाँ (कुंडिनपुरी) में कहाँ से आ सकता है? और इस (नल) का मन दमयंती के प्रति विचलित हुआ, परन्तु उसने दूत होने के कारण उसे लौटा दिया।

टिप्पणी—नल-दमयंती के समानुराग की एकप्रकारता का संकेत। दमयंती का मन पहिले नल की ओर चला, फिर उदासीन हुआ। इसी प्रकार नल का मन भी पहिले दमयंती की ओर चंचल हुआ, पुनः लौट आया। दोनों के हर्ष-विषाद का सूचन यहाँ हुआ है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार भावसन्धि ॥ ५ ॥

कयाचिदालोक्य नलं ललज्जे कयापि तद्भासि हृदा ममज्जे।
तं कापि मेने स्मरमेव कन्या भेजे मनोभूवशभूयमन्या ॥ ६ ॥

जीवातु—अथ तत्सखीनामपि तदा शृङ्गारभावा बभूवुरित्याह—कयेति। कयाचित्कन्यया नलमालोक्य ललज्जे लज्जितं, भावे लिट्। कयापि तद्भासितल्लावण्ये हृदा ममज्जे हृदि तन्मयत्वं भावितमित्यर्थः। एतेन तत्प्राप्तिसङ्कल्पो गम्यते, भावे लिट्। कापि कन्या तं नलं स्मरमेव मेने, इति विस्मयोक्तिः अन्या कन्या मनोभुवो वशभूयं वशत्वं 'भुवो भावे' इति क्यप्। भेजे। एतेन औत्सुक्यं गम्यते ॥ ६ ॥

अन्वयः—नलम् अलोक्य कयाचित् ललज्जे, कया अपि तद्भासि हृदा ममज्जे, का अपि कन्या तं स्मरम् एव मेने, अन्या मनोभूवशभूयं भेजे।

हिन्दी—नल को देखकर कोई (सखी) लज्जित हो गयी, कोई उस (नल) की सौन्दर्य-प्रभा में हृदय से मग्न हो गयी, कोई कन्या उसे काम ही मानने लगी और कोई अन्य मनोभव (काम) के वश ही हो गयी।

टिप्पणी—नल के प्रभावशाली व्यक्तित्व का वर्णन। समूचा सखी समाज नल से प्रभावित हो गया। विद्याधर के अनुसार भावोदयजाति अलंकार।

कस्त्वं कुतो वेति न जातु शेकुस्तं प्रष्टुमप्यप्रतिभाति भारात्।
उत्तस्थुरभ्युत्थितिवाञ्छयेव निजासनान्नैकरसाः कृशाङ्ग्यः ॥ ७ ॥

जीवातु--कस्त्वमिति। कृशाङ्ग्यः स्त्रियः एकरसा आनन्दरसपरवशाः सत्य इत्यर्थः। अत एवाप्रतिभाया अप्रतिपतेरतिभारादतिमहत्त्वादिति कर्तव्यता मोहातिरेकादित्यर्थः। तं नलं कस्त्वं कुतो वा आगत इति प्रष्टुमपि जातु कदापि न शेकुः। किञ्च अभ्युत्थितिवाञ्छया प्रत्युत्थानेच्छयेवोत्तस्थुः निजासनात्तु नोत्तस्थुः, तस्य तेजो विशेषाद्धठात्मनसैवोत्तस्थुः। न तु वपुषा रसपारवश्यादिति भावः॥ ७॥

अन्वयः--कृशाङ्ग्यः एकरसाः अप्रतिभातिभारात् तं कः त्वं कुतः वा इति प्रष्टुम् अपि जातु न शेकुः, अभ्युत्थितिवाञ्छया इव निजासनात् न उत्तस्थुः।

हिन्दी--तन्वंगी सखियाँ एक रस (लज्जा, भय, अनुराग, आनन्द आदि से परवश) हो अप्रगल्भता की बहुलता के कारण उससे यह पूछने में भी समर्थ न हो सकीं कि तुम (नल) कौन हो अथवा कहाँ से आये हो? और (स्वागतार्थ) मानो उठने की इच्छा से अपने आसन से न उठ पायीं।

टिप्पणी-- दमयंती की सखियाँ नल को देखकर अनेक भावों से इतनी अभिभूत हो गयीं कि वे सामान्य शिष्टाचार के अनुसार यह भी न पूछ सकीं कि वह कौन है, कहाँ से आया है, किस कारण से आया है--आदि? स्वागतार्थ उठ भी न पायीं, यद्यपि इच्छा थी। दो-दो बोझ उनपर थे, जिससे वे कुछ भी न कर पायीं--(१) अप्रगल्भता का अतिभार (सखियाँ बालाएँ थीं, वाक्चतुरा प्रगल्भा नहीं), (२) उठने की इच्छा का भार (स्वागतार्थ उठने की इच्छा तो बहुत थी, पर वह भी बोझ बन गयी)। भारवाही कैसे कुछ कर सकता है? 'नैकरसा अभ्युत्थितिवाञ्छया इव उत्तस्थुः' भी पाठांतर है। अर्थ होगा--अनेकरसों (भावशबलता) से अभिभूत हो, कुछ बोल तो न पायीं, पर आसन पर खड़ी हो गयीं। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा अलंकार॥ ७॥

स्वाच्छन्द्यमानन्दपरम्पराणां भैमी तमालोक्य किमप्यवाप।
महारयं निर्झरिणीव वारामासाद्य धाराधरकेलिकालम्॥ ८॥

जीवातु--स्वाच्छन्द्यमिति। भैमी तं नलमालोक्य किमप्यनिर्वाच्यमानन्दपरम्पराणां स्वाच्छन्द्यमुच्छृङ्खलत्वम्। 'स्वच्छन्दो निरवग्रहः' इत्यमरः।

निर्झरिणी गिरनदी धाराधरकेलिकालं मेघविहारकालं वर्षाकालमासाद्य वारां वारीणाम्। 'आपः स्त्रीभूम्नि वार्वारि' इत्यमरः। महारयमिवाप ॥८॥

अन्वयः—तम् आलोक्य भैमी किम् अपि आनन्दपरम्पराणां स्वाच्छन्द्यं निर्झरिणी धाराधरकेलिकालम् आसाद्य वारां महारयम् इव अवाप।

हिन्दी—उस (नल) को देख कर भीमसुता कुछ ऐसी अनिर्वचनीय आनन्द की परंपराओं की स्वच्छंदता को प्राप्त हो गयी, जैसा कि निर्झरिणी (पहाड़ी नदी) मेघों के क्रीडा काल (वर्षाकाल) को प्राप्त कर जल के महान् वेग को प्राप्त कर लेती है।

टिप्पणी—नल को देख कर दमयंती लोकोत्तर आनन्द और हर्ष को प्राप्त हो गयी। कवि ने उसकी तुलना उस पर्वतीय नदी से की, जो वर्षाकाल में जलवेग से उमड़ उठती है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और उपमा ॥८॥

तत्रैव मग्ना यदपश्यदग्रे नास्या दृगस्याङ्गमयास्यदन्यत्।
नादास्यदस्यै यदि बुद्धिधारां विच्छिद्य विच्छिद्य चिरान्निमेषः ॥ ९ ॥

जीवातु—तत्रेति। अस्या भैम्या दृक् दृष्टिरस्य नलस्य यत् अङ्गमग्रे प्रथममपश्यत् तत्रैव मग्ना सती अन्यदस्याङ्गं नायास्यत् नागमिष्यत्, यदिनिमेषः पक्ष्मपातः चिराद्विच्छिद्य विच्छिद्य विरमय्य विरमय्य बुद्धिधारां ज्ञानपरम्पराम् अस्यै दृशे नादास्यत् न दद्यात्। क्रियातिपत्तौ लृङ्। निमेषकृतबुद्धिविच्छेदादङ्गान्तरप्राप्तिः, न तु तृष्णयेति भावः ॥ ९ ॥

अन्वयः—अस्याः दृक् अस्य यत् अङ्गम् अग्रे अपश्यत् तत्र एव मग्ना अन्यत् न अयास्यत् यदि निमेषः चिरात् विच्छिद्य विच्छिद्य बुद्धिधाराम् अस्यै न अदास्यत्।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) की दृष्टि ने उस (नल) के जिस अंग को पहिले देखा, उसी पर मग्न हुई वह दूसरे (अंग) पर न जाती यदि नेत्र-संकोच (पलक झपना) बार-बार (दृष्टि का पूर्व दृष्ट अंग से) विच्छेद करके इसे बुद्धि की धारा (ज्ञान-परंपरा, दर्शनेच्छा-प्रवाह) न दे देती।

टिप्पणी—नल का प्रत्येक अंग इतना आकर्षक था कि दमयन्ती की दृष्टि को उसी में निमग्न हो जाना चाहिए था; परन्तु जैसे डूबते को धारा प्रवाह बहाकर अन्यत्र ले जाता है; ऐसे ही नेत्र-निमीलन के कारण पूर्वदृष्ट अंग से हटकर दमयन्ती की दृष्टि अन्य अंग को देखने लगती थी।

यदि पलक न झपकते तो दमयन्ती के नयन जिस अंग को पहिले देख लेते, उसे ही निहारते रहते। दूसरे अंग से विरक्ति नहीं थी, वह तो पलक-झपक जाने से विच्छेद हो जाता था और हटी दृष्टि दूसरे पर चली जाती थी। इस श्लोक में विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार है ॥९॥

दृशापि सालिङ्गितमङ्गमस्य जग्राह नाग्रावगताङ्गहर्षैः ।
अङ्गान्तरेऽनन्तरमीक्षिते तु निवृत्य सस्मार न पूर्वदृष्टम् ॥ १० ॥

जीवातु—दृशेति। सा भैमी दृशा आलिङ्गितं प्राप्तमस्य नलस्याङ्गा-मङ्गान्तरं अग्रावगताङ्गहर्षैः पूर्वगृहीताङ्गजनितानन्दैः तत्पारवश्येनेत्यर्थः। न जग्राह नाज्ञासीत्। अथ कथञ्चिदनन्तरं अङ्गान्तरे ईक्षिते गृहीते तु निवृत्य पूर्वदृष्टमङ्गं न सस्मार। तस्य तस्य लोकोत्तरत्वादिति भावः ॥ १० ॥

अन्वयः—सा दृशा आलिङ्गितम् अस्य अङ्गम् अग्रावगताङ्गहर्षैः न जग्राह, अनन्तरम् अङ्गान्तरे ईक्षिते तु निवृत्य पूर्वदृष्टम् अङ्गं न सस्मार।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) ने दृष्टि द्वारा आलिंगित इस (नल) के अंग को पूर्वदृष्ट अंगों से ज्ञात हर्ष-परम्परा के कारण नहीं ग्रहण किया (देखा), तत्पश्चात् अगांतर (अन्य अंग) देखने पर पुनः परावृत्त हो पूर्वदृष्ट अंग का स्मरण नहीं किया।

टिप्पणी—नल का प्रत्येक अंग आकर्षक था। दमयन्ती जिस अंग को देखती, हर्ष-विभोर हो जाती और पहिले अंग को भूल जाती। कवि का कथन है कि इसमें यह कारण नहीं है कि पूर्वदृष्ट अंग सुन्दर नहीं था; ऐसा भी नहीं था कि अन्य अंग से उत्पन्न हर्ष के कारण वह अन्य अंग को देखती हो। वस्तुतः नल का प्रत्येक अंग ऐसा रमणीय था कि दमयन्ती जिसे देखती, उसका आनन्द द्विगुणित हो जाता और आनन्दातिरेक में अन्य पूर्वदृष्ट अंग का स्मरण ही न हो पाता। इस श्लोक में अंग के दृष्टि द्वारा आलिंगित होने कारण होने पर भी उसका ग्रहण कार्य नहीं कहा गया और उसमें हेतु कहा गया पूर्वदृष्ट अंग इस कारण विद्याधर के अनुसार उक्ति-निमित्त विशेषोक्ति और अतिशयोक्ति अलंकार हैं ॥ १० ॥

हित्वैकमस्यापघनं विशन्ती तद्दृष्टिरङ्गान्तरभुक्तिसीमाम् ।
चिरं चकारोभयलाभलोभात् स्वभावलोला गतमागतञ्च ॥ ११ ॥

जीवातु—हित्वेति। स्वभावलोलां अभिमतविषयलाभे किमु वक्तव्यमिति भावः। तद्दृष्टिर्भैमीदृष्टिरस्य नलस्य एकमपघनमवयवम्। 'अपघनोऽङ्ग'-मित्यदन्तो निपातः। हित्वा अङ्गान्तरभुक्तिसीमामवयवान्तरदेशं विशन्ती चिरमुभयोः लाभे लोभाद्नर्धनात्। 'उभादुदात्तो नित्यम्' इत्यत्र पृथक्सूत्र-करणादेव नित्यमजादेशे सिद्धे पुनर्नित्यग्रहणमुभयशब्दस्य वृत्तावप्ययजर्थमिति कैयटः। गतमागतञ्च चकार। उभयोरपि तथा रमणीयत्वादि भावः ॥११॥

अन्वयः—स्वभावलोला तद्दृष्टिः अस्य एकम् अपघनं हित्वा अङ्गान्तर-भुक्तिसीमां विशन्ती उभयलाभलोलात् चिरं गतम् आगतं च चकार।

हिन्दी—स्वभावतः चंचल उस (दमयन्ती) की दृष्टि इस (नल) के एक अंग को छोड़ कर अन्य अंग को देखने की सीमा में प्रविष्ट होती हुई दोनों (पूर्वदृष्ट और पश्चाद्दृष्ट) अवयवों (को देखने) के लोभ के कारण चिर काल तक गमनागमन करती रही।

टिप्पणी—नल का प्रत्येक अङ्ग सुन्दर था। जब एक अङ्ग से हट कर दमयन्ती की दृष्टि नल के अन्य अङ्ग पर पड़ती तो पहिले से कठिनता से हट पाती। सब ही तो अङ्ग भले लगते थे। किससे नयन हटें, किस पर स्थिर रहें? एक तो नयन प्रकृत्या चंचल, उस पर यह स्थिति! एक व्यापारी भी तो देशांतर जाते हुए अपनी वस्तु बेचने और नयी वस्तु खरीदने में ऐसे ही गमनागमन किया करता है! क्या बेंचे, क्या खरीदे? ॥ ११ ॥

निरीक्षितञ्चाङ्गमवीक्षितञ्च दृशा पिबन्ती रभसेन तस्य।
समानमानन्दमियं दधाना विवेद भेदं न विदर्भसुभ्रूः ॥ १२ ॥

जीवातु—निरीक्षितमिति। इयं विदर्भसुभ्रूर्वैदर्भी तस्य नलस्य संबन्धि निरीक्षितं च अविक्षितं चाङ्गं दृशा रभसेन पिबन्ती तृष्णया पश्यन्ती समान-मानन्दं दधाना भेदमिदं दृष्टपूर्वमिदमदृष्टपूर्वमिति विवेकं न विवेद। उभे अप्य-नवद्यया अपूर्ववदेव पीते इत्यर्थः ॥ १२ ॥

अन्वयः—इयं विदर्भसुभ्रूः तस्य निरीक्षितम् अवीक्षितं च अङ्गं दृशा रभसेन पिबन्ती समानम् आनन्दं दधाना भेदं न विवेद।

हिन्दी—यह विदर्भ की सुन्दर भ्रुकुटिवाली (दमयन्ती) उस (नल)

के सादर देखे और विशेष कारण से अदेखे अङ्ग को दृष्टि से औत्सुक्य, हर्ष-तृष्णापूर्वक पीती हुई एक-सी प्रसन्नता प्राप्त करती (दोनों—देखे-अदेखे) अङ्गों में भेद (तारतम्य) न जान पायी।

टिप्पणी—सभी अङ्ग सुन्दर थे। सो दमयन्ती को देखे और अदेखे अङ्गों के बीच कुछ भेद, किसी प्रकार का भेद ही न ज्ञात होता था। उसका हृदय उत्सुकता, प्रसन्नता और अङ्गों को देखने की तृष्णा से ऐसा पूर्ण हो रहा था कि वह जैसे प्रत्येक अङ्ग को दृष्टि से पी जाना चाह रही थी। उसे देखे-अदेखे अङ्ग में यह ज्ञात ही न हो पा रहा था कि अधिक सुन्दर कौन है? यह भी पता नहीं चल रहा था कि क्या देखा, क्या न देखा? किस अङ्ग को पूर्णतया देखा; किसे अधूरा देखा? किसको सादर देख लिया, किसको कारण विशेष से न देख पाया? भावशवलता और आनन्दातिरेक में दमयन्ती की दशा उस योगिनी के समान हो रही थी, जो सर्वत्र ब्रह्म ही को देखती है। देखे घट आदि और अदृष्ट, वागगोचर, श्रुतिगम्य ब्रह्म-स्वरूप में क्या निःसार है, क्या सारवान्, यह सादर विचार करती आनन्द-स्वरूप ब्रह्मसाक्षात्कार में परमानन्द का अनुभव करती है। लोक जीवन में देखे के प्रति अवज्ञा और अदेखे के प्रति जो उत्साह होता है, वह दमयन्ती में नहीं था। सभी तो रमणीय था। उसे समान आनन्द हो रहा था। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और काव्यलिंग अलंकार॥ १२॥

सूक्ष्मे घने नैषधकेशपाशे निपत्य निष्पन्दतरीभवद्भ्याम्।
तस्यानुबन्धं न विमोच्य गन्तुमपारि तल्लोचनखञ्जनाभ्याम्॥ १३॥

जीवातु—सूक्ष्म इति। सूक्ष्मे तनीयसि घने सान्द्रे दृढे च नैषधस्य नलस्य केशपाशे केशकलापे केशापबन्धने च। 'घनं सान्द्रे दृढे हार्द्ये पाशः पक्ष्यादि-बन्धने' इति विश्वः। निपत्य निष्पन्दतरीभवद्भ्यामेकत्र विस्मयादन्यत्र यन्त्र-लग्नाच्च निश्चलीभवद्भ्यां तस्याः भैम्या लोचने एव खञ्जनौ नेत्रोपमान-पक्षिणौ। 'खञ्जरीटस्तु खंजनः, इत्यमरः। ताभ्यां तस्य केशपाशस्य सम्बन्धिन-मनुबन्धं तत्र सक्ति बन्धनञ्च विमोच्य मोचयित्वा गन्तुं नापारि न शेके। पारयतेर्भावे लुङ्। श्लिष्टविशेषणं रूपकम्॥ १३॥

अन्वयः—सूक्ष्मे घने नैषधकेशपाशे निपत्य निष्पन्दतरीभवद्भ्यां तल्लोचनखञ्जानाभ्यां तस्य अनुबन्धं विमोच्य गतुं न अपारि।

हिन्दी—महीन और घने निषधराज के केश जाल में पड़कर पलक-झपकना छोड़ निष्पंद हुए उस (दमयन्ती) के नयन रूप खंजन उस (केश-पाश का अनुबन्ध (बन्धन, केशावलोकन-मोह) तोड़कर जाने में समर्थ न हो पाये।

टिप्पणी—दमयन्ती के खंजन-पक्षी जैसे नयन निषधाधिपके केशों पर ऐसे मुग्ध हो गये कि बस देखते ही रह गये, हट ही न पाये। केशों के जाल में फँसे पक्षी खंजन-नयन बन्धन तोड़कर कैसे उड़ जाते? कठिन बन्धन काट पक्षी उड़ ही नहीं सकते। भला आदमी अनुबन्ध (मुहायदा, कांट्रैक्ट) तोड़ ही कैसे सकता है? भाव यही है कि दमयन्ती के लोचन नल के सूक्ष्म-घन-केशजाल में उलझ कर रह गये। सामुद्रिक के अनुसार हाथ, दाँत, अंगुलि-पोर और केश सूक्ष्म और घन ही शुभ होते हैं—'सूक्ष्मास्तु पाणिदशनाङ्गुलिपर्वकेशाः।' मल्लिनाथ के अनुसार श्लिष्टविशेषण रूपक है, विद्याधरे ने श्लेष और रूपक अलंकारों का निर्देश किया है ॥ १३ ॥

भूलोकभर्तुर्मुखपाणिपादपद्मैः परीरम्भमवाप्य तस्य।
दमस्वसुर्दृष्टिसरोजराजिश्चिरं न तत्याज सबन्धुबन्धम् ॥ १४ ॥

जीवातु—भूलोकेति। दमस्वसुर्दृष्टय एव सरोजानि क्रियाभेदाद्बहुत्वं तेषां राजिः भूलोकभर्तुस्तस्य नलस्य मुखं च पाणी च पादौ च मुखपाणिपादम् प्राण्यङ्गत्वादेवकवद्भावः। तदेव पद्मानि तैः सह परीरम्भमाश्लेषमवाप्य समाना बन्धवः सम्बन्धवः। 'जातिजनपद' इत्यादिना समानशब्दस्य 'स' भावः। तेषु बन्धमासक्ति चिरं न तत्याज। स्निग्धा हि बन्धवः चिरमनाश्लिष्य न मुञ्चन्तीति भावः। पद्मत्वसजातित्वात् सबन्धुत्वम् ॥१४॥

अन्वयः—दमस्वसुः दृष्टिसरोजराजिः तस्य भूलोकभर्त्तुः मुखपाणिपाद-पद्मैः परिरम्भम् अवाप्य सबन्धुबन्धं चिरं न तत्याज।

हिन्दी—दम की बहिन (दमयन्ती) की दृष्टिरूपा कमलावलि उस पृथ्वीलोक के भर्त्ता (नल) के मुख, कर, चरण-रूप कमलों का आलिंगन प्राप्त कर (भलीभाँति देखकर) अपने सम्बन्धी (सगोत्री) का बन्धन (दर्शनलोभ) चिरकाल तक न छोड़ पायी।

टिप्पणी—बहुत समय तक दमयन्ती नल के मुँह, हाथ, पैरों को

अनुराग पूर्वक, टकटकी बाँधे निहारती रही। नयनों का उपमान भी कमल है, और मुख, कर, चरण का भी। सो दमयन्ती के कमल-नयन और नल के मुख, कर, चरण—कमल क्या मिले, दो बन्धु, दो सगोत्री मिले। ये सगोत्री चिरकाल तक भेंटते रहे। ऐसा होता ही है। विद्याधर के अनुसार यहाँ छेकानुप्रास-रूपक-समासोक्ति अलंकार है ॥ १४ ॥

तत्कालमानन्दमयी भवन्ती भवत्तरानिर्वचनीयमोहा।
सा मुक्तसंसारिदशारसाभ्यां द्विस्वादमुल्लासमभुङ्क्त मृष्टम् ॥ १५ ॥

जीवातु—तत्कालमिति। तस्मिन् काले तत्कालम् अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। आनन्दमयी भवन्ती आनन्दात्मिका सती टित्वादुभयत्र ङीप्। तथा च भवत्तरोऽतिशयेन भवन् अनिर्वचनीयो निर्वक्तुमशक्यो मोहः अप्रतिपत्तिर्यस्याः सा आनन्दमग्नेत्यर्थः। सा भैमी विमुक्तसंसारिणोर्दशे अवस्थे तयोर्यौ रसौ स्वादौ ताभ्यां द्वौ स्वादौ यस्य तद्द्विस्वादन्तादृक् स्वादमित्यर्थः। मृष्टं शुद्धमुल्लासमुल्लासतामभुङ्क्त भुक्तवती। 'भुजोऽनवने' इति लुङ् तङ्। आनन्दपारवतयान्नैव किञ्चिद्विवेदेत्यर्थः ॥ १५ ॥

अन्वयः—तत्कालम् आनन्दमयी भवन्ती भवत्तरानिर्वचनीयमोहा सा युक्तसंसारिदशारसाभ्यां द्विस्वादं मृष्टम् उल्लासम् अभुङ्क्त।

हिन्दी—उस समय आनन्दस्वरूपा होती अत्यन्त लोकोत्तर (अवर्णनीय) मोह में पड़ी उस (दमयन्ती) ने मुक्त और संसारी—दो प्रकार की दशाओं के दो प्रकार के रस से दो-स्वाद वाले स्वादिष्ट उल्लास का भोग किया।

टिप्पणी—उस समय दो प्रकार का अद्भुत, लोकोत्तर आनन्द मिला दमयन्ती को। संसारमुक्त योगियों के परमानन्द-जैसा और लोक-जीवन के आनन्द जैसा। दो स्वाद, दो रस, दो गुना हर्षोल्लास। यह नल है, यह जान कर दमयन्ती आनन्दमयी हुई। यह आनन्दरूपता हुई मुक्तदशा। इस सुरक्षित अन्तःपुर में नल कैसे हो सकते हैं? यह हुआ मोह अथवा भ्रम, मूर्च्छा। यह अनिर्वचनीय मोहता हुई संसारिदशा। इस प्रकार एक ही समय दमयन्ती ने मुक्त और संसारी—दोनों दशाओं का अनुभव किया। विद्याधर के अनुसार भावोदय और अतिशयोक्ति अलंकार ॥ १५ ॥

दूते नलश्रीभृति भाविभावा कलङ्किनीयं जनितेति नूनम्।
न स व्यधान्नैषधकायमायं विधिः स्वयं दूतमिमां प्रतीन्द्रम् ॥१६॥

जीवातु—अथ भैमीदूतसम्भाषणं विवक्षुर्नलैकबद्धप्राणायाः तस्यास्पदमनौचित्यं द्वाभ्यां परिहरति—दूत इत्यादि। नलस्य श्रियमियं श्रियं बिभर्तीति नलश्रीभृत् तत्सदृश इत्यर्थः। निदर्शनालङ्कारः। तस्मिन् दूते भाविभावा भविष्यदनुरागा इयं भैमी कलङ्किनी भग्नव्रता जनिता भविष्यतीति मत्वा जनिधातोर्लुट्। विधिर्विधाता इमां भैमीं प्रति नैषधस्य काय एव माया कपटं यस्य तं नलरूपधारिणं स्वयं साक्षादिन्द्रमेव दूतं न संव्यधात् न कल्पितवान् उक्तदोषपरिहारायैवेन्द्रस्य तादृशीं बुद्धिं नाजीजनदित्यर्थः। नूनमिति वितर्के वस्तुविचारत्वान्नायमुत्प्रेक्षालंकारः। दूतभावतिरोहितस्यापि तस्य वस्तुनो नलत्वान्नायं कलंक इति भावः ॥ १६ ॥

अन्वयः—नलश्रीभृति दूते भाविभावा इयं कलङ्किनी जनिता—इति नूनं विधिः इमां प्रति नैषधकायमायं स्वयम् इन्द्रं दूतं न संव्यधात्।

हिन्दी—नल की कान्ति धारण करने वाले दूत में अनुरागिणी हो यह (दमयन्ती) कलंकिनी हो जायेगी, लगता है—यही (विचारकर) विधाता ने इस (दमयन्ती) के प्रति निषधराज का शरीर धारण करने वाले (कपटनलरूपधारी) स्वयम् इन्द्र को दूत नहीं कल्पित किया।

टिप्पणी—इन्द्र का कपट प्रसिद्ध ही है। इन्द्र के मन में यह भी आ सकता था कि वह नल का कपटवेष बना ले और नल रूप में स्वयं दूत बन कर दमयन्ती के निकट याचना करने जा पहुँचे। ऐसी स्थिति में नल के रूप में इन्द्र को देखकर, उसे नल मानकर दमयन्ती उसकी अनुरागिणी हो जाती। भले ही अनजाने में सही, नल-बुद्धि से, नल के भ्रम से ही सही, दमयन्ती का यह इन्द्रानुराग हो जाता और उसका पातिव्रत कलंकित हो जाता। कवि-कल्पना है कि विधाता ने इन्द्र को नलरूप बना स्वयं दूत बनने की इसी आशंका से बुद्धी ही नहीं दी। वह स्वयं नहीं गया, उसने नल को ही दूत बनाकर भेजा। परिणामतः दमयन्ती पर कलंक लगने का अवसर नहीं आया। अनौचित्य नहीं हुआ। द्वितीय चरण में 'जनितेति' के स्थान में 'जनि मेति' पाठान्तर भी है। अर्थ हुआ—'यह कहीं कलंकिनी न हो

जाय ···।' विद्याधर ने यहाँ उत्प्रेक्षालंकार माना है, परन्तु इसके विपरीत मल्लिनाथ यहाँ उत्प्रेक्षा का निषेध करते हैं, क्योंकि उनके अनुसार यहाँ 'नूनम्' का प्रयोग वस्तुविचारत्व के कारण वितर्क में हुआ है। दूतभाव-तिरोहित भी उस 'वस्तु' के नल होने से यह कलंक नहीं है, यह आशय है। मल्लिनाथ ने यहाँ निदर्शनालंकार का विधान किया है। चन्द्रकलाकार 'नूनम्' को उत्प्रेक्षा द्योतक ही मानते हैं ॥ १६ ॥

पुण्ये मनः कस्य मुनेरपि स्यात्प्रमाणमास्ते यदघेऽपि धावत् ।
तच्चिन्तिं चित्तं परमेश्वरस्तु भक्तस्य हृष्यत्करुणो रुणद्धि ॥१७॥

जीवातु—नन्विन्द्रेऽपि समागते तदभिलाषेणोक्तदोषावकाशः कुत इत्याशङ्क्य चित्तवृत्तीनां क्षणिकत्वान्न तथा श्रद्धेयमित्याह – पुण्य इति। मुनेर्यतेरपि किमुतान्यस्येति भावः। कस्य मनः पुण्ये स्यात् पुण्य एव प्रमाणं न कस्यापीत्यर्थः। कुतः, यद्यस्मादघे पापेऽपि धावदुच्छृङ्खलं प्रवर्तमानं तन्मन एव प्रमाणं निश्चायकमास्ते। किन्तु हृष्यत्करुण उद्यत्कृपः परमेश्वर एव तच्चिन्ति पापचिन्तकं भक्तस्य चित्तं रुणद्धि निवारयति। तस्मात् विधिविलसितमेवैतदिन्द्रचेष्टितमिति भावः ॥ १७ ॥

अन्वयः—कस्य मुनेः अपि मनः पुण्ये स्यात्, यत् अघे अपि धावत् प्रमाणम् आस्ते ? तु हृष्यत्करुणः परमेश्वरः तच्चिन्ति भक्तस्य चित्तं रुणद्धि।

हिन्दी—किस मुनि का भी मन पुण्य में (लीन) रहेगा (किसी का नहीं), क्योंकि पाप के प्रति दौड़ता (मन ही) प्रमाण होता है। (ऐसा भी अन्वय किया जाता है—कस्य अपि मुनेः मनः पुण्ये प्रमाणं स्यात् (अपि तु न स्यात्), यत् अघे अपि धावत् आस्ते अर्थात् किस मुनि का भी मन पुण्य के विषय में प्रमाण (निश्चित) होगा—किसी का नहीं, क्योंकि (वह मन तो) पाप के प्रति दौड़ता रहता रहता है।) किन्तु करुणापरायण परमेश्वर पाप का चिन्तन करते भक्त के (अथवा परमेश्वर का चिन्तन करने वाले भक्त के) चित्त को (पापोन्मुख होने से) रोकते हैं।

टिप्पणी—मन चंचल है, प्रकृत्या पापोन्मुख। बड़े से बड़ा मुनि भी मन की इस चंचलता के कारण कलङ्की हो सकता है, बेचारी दमयन्ती तो एक संसारिणी बाला ही थी। वह नलरूपधारी इन्द्र के प्रति अनुरागिणी हो

सकती थी। भक्त पर करुणापरायण भगवान् दया करते हैं, वे सदा भक्त को पाप में पड़ने से बचाया करते हैं। करुणापर परमेश्वर ने दमयन्ती की भी रक्षा की। उन्होंने इन्द्र को नलकपटरूप धारण करने की बुद्धि नहीं दी। जिन पर भगवान् की कृपा होती है, वे पाप में प्रवृत्त कभी नहीं होते। विद्याधर के अनुसार अर्थान्तरन्यास ॥ १७ ॥

सालीकदृष्टे मदनोन्मदिष्णुर्यथाप शालीनतया न मौनम्।
तथैव तथ्येऽपि नले न लेभे मुग्धेषु कः सत्यमृषाविवेकः ॥ १८ ॥

जीवातु—सम्प्रति धार्ष्ट्यदोषं परिहरति—सेति। मदनोन्मदिष्णुः उन्मदशाला 'अलङ्कृञ्' इत्यादिना इष्णुच्। सा भैमी यथा अलीकदृष्टे मिथ्यादृष्टे शालीनतया अधृष्टतया। 'शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः' इति निपातः। मौनं नाप तदैव तथ्येऽपि नले न लेभे। एतत्सत्येऽनुचितमित्याशङ्क्य अर्थान्तरन्यासेन परिहरति। मुग्धेषु मदनोन्मादेषु सत्यमृषा सत्यासत्ययोर्विवेको विवेचना नास्तीत्यर्थः। अत एव न धार्ष्ट्यदोषोऽपीति भावः ॥ १८ ॥

अन्वयः—मदनोन्मदिष्णुः सा यथा अलीकदृष्टे शालीनतया मौनं न आप तथा एव तथ्ये अपि नले मौनं न लेभे, मुग्धेषु सत्यमृषाविवेकः कः ?

हिन्दी—काम से उन्माद-युक्त वह (दमयंती) जैसे मिथ्यादृष्ट (नल) के प्रति (अपनी स्वाभाविक) शालीनतया के कारण (भी) चुप न रह सकी, वैसे यथार्थ भी नल के प्रति चुप न रही, मूढ हुए व्यक्तियों में सत्यासत्य का विवेक कहाँ ?

टिप्पणी—दमयंती स्वभावतः शालीन थी, धृष्टा-प्रगल्भा न थी। ऐसी नारियाँ प्रिय के वास्तविक रूप में संमुख होने पर लज्जा के कारण प्रायः चुप रह जाया करती हैं—भले ही स्वप्न-चित्रादि में मिथ्यादृष्ट प्रिय से जो चाहें कह-बोल लें। दमयंती क्योंकि मदनोन्मादिनी होर ही थी, अतः वह प्रिय के वास्तविक रूप में संमुख होने पर भी चुप न रह पायी। वस्तुतः मुग्ध, मोहग्रस्त जनों में विवेक रह ही नहीं जाता। सत्य-असत्य, कर्तव्य-अकर्तव्य का विचार वे कर नहीं पाते। द्वितीय चरण में 'शालीनतया' का पाठांतर 'शालीनतमा' भी है। वहाँ 'शालीनतमा' को 'सा' का विशेषण मान कर अर्थ करना चाहिए—'अतिसलज्जा'। अर्थान्तरन्यास अलंकार ।१८।

व्यर्थीभवद्भावपिधानयत्ना स्वरेण साथ श्लथगद्गदेन ।
सखीजने साध्वससन्नवाचि स्वयं तमूचे नमदाननेन्दुः ॥१९॥

जीवातु—व्यर्थीभवदिति। अथ द्विस्वादभानानन्तरं व्यर्थीभवन् भावविधाने आकारगोपने यत्नो यस्याः सा गोप्तुमशक्तेत्यर्थः। सा भैमी सखीजने साध्वसेन सन्नवाचि कुण्ठितमुखे कुण्ठिते सति, अन्यथा सखीमुखेनैव ब्रूयादिति भावः। नमदाननेन्दुर्लज्जानम्रमुखी सती श्लथगद्गदेन स्खलितेन स्वरेण तं नलं स्वयमूचे कर्तरि लिङ् 'ब्रुवो वचिः' ॥ १९ ॥

अन्वयः—अथ व्यर्थीभवद्भावपिधानयत्ना सा साध्वससन्नवाचि सखीजने नमदाननेन्दुः तं स्वयं श्लथगद्गदेन स्वरेण ऊचे।

हिन्दी—तत्पश्चात् सात्त्विक भाव को छिपाने में जिसका प्रयास व्यर्थ हो गया है, ऐसी वह (दमयंती परपुरुष के अंतःपुर में सहसा प्रविष्ट हो जाने से) भय के कारण सखियों के अवाक् रह जाने पर मुख-चन्द्र को नीचा किये उस (नल) से स्वयं विरल—छिन्न स्वर में बोली।

टिप्पणी—दमयंती के नल के प्रति मौन न रह पाने का एक और कारण। परपुरुष को अंतःपुर में देख सखी-समूह आतंकित हो कुंठित और अवाक् रह गया, अतः दमयंती को स्वयम् अतिथि से बोलना पड़ा। श्लथ-गद्गद स्वर और विनत-आनन स्वाभाविक लज्जा का द्योतक। विद्याधर के अनुसार भावोदय और रूपक अलंकार ॥ १९ ॥

नत्वा शिरोरत्नरुचापि पाद्यं सम्पाद्यमाचारविदातिथिभ्यः।
प्रियाक्षरालीरसधारयापि वैधी विधेया मधुपर्कतृप्तिः ॥ २० ॥

जीवातु—अथास्यातिथ्यं चिकीर्षुस्त्रिभिस्तत्कर्तव्यतामाह—नत्वेत्यादि। आचारविदा गृहस्थेन अतिथिभ्यो नत्वा पदयोर्निपत्य शिरोरत्नस्य रुचा कान्त्यापि पाद्यं पदार्थजलं 'पादार्घाभ्यां च' इति यत्प्रत्ययः। सम्पाद्यं, किञ्च प्रियाक्षराल्या प्रियवाक्यकदम्बकेन या रसधारा आनन्दलहरी तयापि वैधी विधिप्राप्तमधुपर्केण या तृप्तिः स विधेयासम्पाद्या मुख्यानुकल्पोऽप्यनुष्ठेव इति भावः ॥ २० ॥

अन्वयः—आचारविदा नत्वा शिरोरत्नरुचा अपि अतिथिभ्यः पाद्यम् सम्पाद्यम् प्रियाक्षरालीरसधारया अपि वैधी मधुपर्कतृप्तिः विधेया।

हिन्दी--आचार के ज्ञानी (गृहस्थ) को झुककर शिरोरत्न (चूडामणि) की दीप्ति से भी अतिथियों को पाद्य (चरण क्षालनार्थ जल) समर्पित करना चाहिए और प्रिय--मीठे वचनों की रसधारा से भी विधियुक्त मधुपर्क से (प्राप्त होनेवाली) तृप्ति देनी चाहिए।

टिप्पणी--उचित साधन-सामग्री के अभाव में भी अतिथि का समुचित सत्कार सद्गृहस्थ का कर्तव्य है। जल न हो तो शिर झुका कर विनय-रूप पाद्य समर्पित कर दे और मधुपर्क (दधि, घृत और मधु मिश्रित खाद्य) न हो तो मधु जैसे मीठे वचन बोलकर ही अतिथि को तृप्त करे। भाव यह कि अतिथि-सत्कार तो प्रत्येक दशा में सद्गृहस्थ का कर्तव्य है। उत्तरार्द्ध का पाठांतर 'उक्त्यापि युक्ता मधुपर्कतृप्तिर्न तद्गिरस्त्वादृशि धृष्टता मे' भी पाठांतर है। सुखावबोध (जिनराज) और साहित्यविद्याधरी में व्याख्या है-- 'त्वादृशि भवत्सदृशे प्राघूर्णके मे मम वाचो धृष्टता धाष्ट्यं दूषणं न भवति'--आप जैसे अतिथि के प्रति मेरे बोलने की धृष्टता दोष नहीं है, (क्योंकि मधुपर्क-तृप्ति वाणी से तो देनी ही चाहिए।) प्राघूर्णक अर्थात् अतिथि (घुमक्कड़, रमते-राम)। इस प्रकार दमयंती ने स्वयम् नल से वार्तालाप करने की धृष्टता का एक और उचित कारण उपस्थित कर दिया। छेकानुप्रास और काव्य-लिंग अलंकार साहित्य विद्याधरी-संमत ॥ २० ॥

स्वात्मापि शीलेन तृणं विधेयं देया विहायासनभूर्निजापि।
आनन्दबाष्पैरपि कल्प्यमम्भः पृच्छा विधेया मधुभिर्वचोभिः ॥ २१ ॥

जीवातु--स्वात्मापीति। किञ्च शीलेनाचारप्रमाणेन स्वदेहोऽपि। 'आत्मा जीवधृतौ देहः' इति वैजयंती। तृणं विधेयं तृणवदर्पणीयम्, निजापि आसन-भूरुपवेशनस्थानं विहाय स्वयं तत उत्थाय देया, आनन्दबाष्पैरत्यम्भः पादोदकं कल्प्यम्, मधुभिर्मधुप्रायैः वचोभिः पृच्छा कुशलप्रश्नः। 'प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च' इत्यमरः। भिदादित्वादङ् प्रत्ययः। विधेया कर्तव्या। 'तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता। अप्रणद्योऽतिथिः सायमपि वाग्भूतृणोदकैः' इति स्मरणात् तृणाद्यसम्भवे तत्स्थाने स्वशरीरादिकमपि देयम् अशक्तस्यानुकल्पेनापि शास्त्रार्थ-सिद्धेरिति भावः ॥ २१ ॥

अन्वयः--शीलेन स्वात्मा अपि तृणं विधेयम् निजा अपि आसनभूः

विहाय देया आनन्दबाष्पैः अपि अम्भः कल्प्यम् मधुभिः वचोभिः पृच्छा विधेया।

हिन्दी---शील (सदाचार) के ज्ञानी (गृहस्थ द्वारा) अपना शरीर भी (अतिथि-निमित्त) तृण-तुल्य (अर्पित) कर देना चाहिए, अपने बैठने का भी स्थान छोड़कर देना चाहिए, आनंदाश्रुजल से भी पाद्य कल्पित करना चाहिए और मीठे वचनों से भी कुशल-प्रश्न पूछना चाहिए।

टिप्पणी---भाव यही है कि साधनाभाव अथवा सामग्री के अभाव में अतिथि की सेवा उचित और आवश्यक है। जो भी संभव हो, उसी से अतिथि-सत्कार सदाचारी गृहस्थ का कर्तव्य है। तिनके भी न हों तो अपना शरीर तो है, और आसन नहीं तो अपने बैठने की धरती तो है। आनंदाश्रुजल का पाद्य, मीठे वचनों का मधुपर्क तो संभव ही है। स्मृति-वचन यही है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और रूपक अलंकार॥ २१॥

पदोपहारेऽनुपनम्रतापि सम्भाव्यतेऽपां त्वरयापराधः।
तत्कर्तुमर्हाञ्जलिसञ्जनेन स्वसंभृतिप्राञ्जलतापि तावत्॥ २२॥

जीवातु--पदेति। पदोपहारे पादोपचारप्रस्तावे त्वरया वेगेन अपामुदकानाम् अनुपनम्रता असन्निहितत्वमपराधः अपचारः सम्भाव्यते अपराधत्वेन गृह्यत इत्यर्थः। तत्, तस्मात् अञ्जलिसञ्जनेनाञ्जलिबन्धेन तत्पूर्वकत्वमित्यर्थः। स्वस्यात्मनः संभृत्या सम्भरेण सन्निधानेन प्राञ्जलता आर्जवं विधेयमिति यावत् सापि तावत्कर्तुमर्हा आतिथ्यक्रियासामर्थ्ये विनयाचरणेनापि तच्चित्तोपार्जनं कर्तव्यम्। अन्यथा प्रत्यवायादिति भावः॥ २२॥

अन्वयः---पदोपहारे त्वरया अपाम् अनुपनम्रता अपि अपराधः सम्भाव्यते तत् अञ्जलिसञ्जनेन स्वसंभृतिप्राञ्जलता अपि तावत् कर्त्तुम् अर्हा।

हिन्दी---चरण धोने के लिए झट से जल न लाना भी अपराध माना जाता है, सो अंजलि जोड़ कर अपनी आतिथ्य रूपा विनम्रता प्रकट करना उचित है।

टिप्पणी---यह संभव है कि अतिथि के चरणप्रक्षालनार्थ पाद्य उपस्थित करने में कुछ विलंब हो। लोकदृष्टि के अनुसार यह भी दोष है, अतएव उचित यह है कि अतिथि के संमुख हाथ जोड़ कर अपना विनय प्रकट करके

ही आतिथ्य सत्कार किया जाय। भाव यह है कि इस प्रकार विनम्रभाव प्रकट करके भी अतिथि-सत्कार हो जाता है। विद्याधर के अनुसार काव्य-लिंग अलंकार ॥ २२ ॥

पुरा परित्यज्य मयात्यसर्जि स्वमासनं तत्किमिति क्षणन्न।
अनर्हमप्येतदलङ्क्रियेत प्रयातुमीहा यदि चान्यतोऽपि ॥ २३ ॥

जीवातु—पुरेति। मया स्वामात्मीयमासनं पुरा पूर्वं त्वद्दर्शनक्षण एव परित्यज्य तत उत्थायेत्यर्थः। अत्यसर्जि अदायि तदेतदासनमनर्हमत्यश्लाघ्यमपि यदि वा अन्यतः कुतः प्रयातुमीहा वा तथापि किमिति क्षणं नालंक्रियेत! भक्तजनानुकम्पया क्षणमात्रमत्रोपवेष्टव्यमिति भावः ॥ २३ ॥

अन्वयः—मया स्वम् आसनं पुरा परित्यज अत्यसर्जि, यदि वा एतत् अनर्हम् अन्यतः प्रयातुम् अपि ईहा किम् इति क्षणं न अलङ्क्रियेत।

हिन्दी—मैंने (दमयंती ने) अपना आसन पहिले ही छोड़कर अर्पित कर दिया है, और यदि यह (आसन) अवांछनीय मान अन्यत्र जाने की भी इच्छा है तो क्षण भर को क्यों न इसे सुशोभित करें।

टिप्पणी—विनय प्रकट करती दमयन्ती ने स्वागतार्थ उठकर अपने द्वारा रिक्त आसन पर क्षण भर तो अवश्य बैठने की नल से प्रार्थना की। उसने यह आशंका प्रकट की कि आप जैसे श्रेष्ठ पुरुष को कदाचित् नारी के आसन पर बैठना उपयुक्त न लगे और उसकी अन्यत्र जाने की इच्छा हो। ऐसी स्थिति में भी कुछ क्षण को तो उसे इस आसन को अलंकृत करना उचित ही होगा। यह प्रार्थना मानना अनुचित न होगा। विद्याधर के अनुसार विभावना ॥ २३ ॥

निवेद्यतां हन्त समापयन्तौ शिरीषकोषम्रदिमाभिमानम्।
पादौ कियद्दूरमिमौ प्रयासे निधित्सते तुच्छदयं मनस्ते ॥ २४ ॥

जीवातु—निवेद्यतामिति। शिरीषकोषस्य म्रदिमाभिमानं मार्दवगर्वं समापयन्तौ निवर्तयन्तौ इमौ पादौ। 'पादः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। तुच्छदयं निष्कृपं ते मनः (कर्तृ) कियद्दूरं कियच्चिरमित्यर्थः। प्रयासे निधित्सते निधातुमिच्छति। दधातेः सन्नन्ताल्लटि तङ्। 'सनिमीमा' इत्यादिना इसादेशः। अत्र 'लोपोऽभ्यासस्य' इति अभ्यासलोपः। निवेद्यतां ज्ञाप्यतां वाक्यार्थः (कर्म)। हन्तेत्यनुकम्पायाम् ॥ २४ ॥

अन्वयः—हन्त, निवेद्यताम्—शिरीषकोषम्रदिमाभिमानं समापयन्तौ इमौ पदौ तुच्छदयं ते मनः कियद्दूरं प्रयासे निधित्सते?

हिन्दी—कृपया बतायें—सिरिस-फूलों की कोमलता के अभिमान को समाप्त करते इन चरणों को कृपाशून्य आपका मन कितनी दूर तक आयास (श्रम) में रखना चाहता है?

टिप्पणी—शिष्ट-व्यवहारोचित वचनों की एक शैली। आपका गंतव्य क्या है? इन कोमल चरणों को चला-चला कर और कितना कष्ट देंगे? अब तो दया कीजिए, इन सिरिसकुसुमों से भी कोमल चरणों को कुछ तो विश्राम दीजिए। उपेन्द्रवज्रा छंद। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-उत्प्रेक्षा-उपमा अलंकार॥ २४॥

अनायि देशः कतमस्त्वयाद्य वसन्तमुक्तस्य दशां वनस्य।
त्वदाप्तसङ्केततया कृतार्था श्रव्यापि नानेन जनेन संज्ञा॥ २५॥

जीवातु—अनायीति। अद्य त्वया कतमो देशो वसन्तमुक्तस्य वनस्य दशामनायि नीतो रिक्तीकृत इत्यर्थः। नयतेर्द्विकर्मकत्वात् प्रधाने कर्मणि लुङ्। किञ्च त्वदाप्तसंकेततया त्वयि लब्धसङ्गतिकतया कृतार्था सफला संज्ञा नामानेन जनेन आत्मना श्रव्यापि श्रोतुमर्हापि न किमिति काकुः कश्च अचोदयत्, कुतः आगतः, किञ्च ते नामधेयं तन्निवेदनेनाप्यनुग्राह्योऽयं जन इति भावः॥ २५॥

अन्वयः—त्वया अद्य कतमः देशः वसन्तमुक्तस्य वनस्य दशाम् अनायि? अनेन जनेन त्वदाप्तसङ्केतया कृतार्था संज्ञा श्रव्या अपि न?

हिन्दी—आपने आज किस देश को वसंत ऋतु से परित्यक्त वन की स्थिति को पहुँचा दिया है? यह जन (दमयन्ती) आपका संकेत करने से कृतार्थ संज्ञा (आपका नाम) क्या सुनने योग्य भी नहीं है?

टिप्पणी—आप किस देश के वासी हैं और आपका शुभ नाम क्या है? पूछने की शिष्ट शैली। आपके चले आने से कौन-सा देश उजड़ गया है, वसंत के चले जाने से श्री-हीन वन के समान? क्या मैं ऐसी अपदार्थ हूँ कि आपके शुभ नामधेय से अलंकृत हो कृतकाम अक्षरों को भी नहीं जान सकती? मल्लिनाथ के द्वारा काकुवक्रोक्ति का संकेत, विद्याधर के अनुसार निदर्शना और काव्यलिंग अलंकार॥ २५॥

तीर्णः किमर्णोनिधिरेव नैष सुरक्षितेऽभूदिह यत्प्रवेशः ।
फलं किमेतस्य तु साहसस्य न तावदद्यापि विनिश्चिनोमि ॥ २६ ॥

जीवातु—तीर्ण इति । सुरक्षिते साधुगुप्ते अत्यन्तदुष्प्रवेश इत्यर्थः । इहान्तःपुरे प्रवेशोऽभूदिति यत् एष प्रवेशः अर्णोनिधिरर्णव एव तीर्णो न किम् ! अर्णवतरणतुल्यं न किमित्यर्थः । किन्तु एतस्य साहसस्य फलं किमद्यापि चिरं विमृश्यापीत्यर्थः । तावन्न विनिश्चिनोमि निश्चेतुं न शक्नोमीत्यर्थः । अत्रान्तःपुरप्रवेशार्णवतरणलक्षणवाक्यार्थयोर्निर्दिष्टसामानाधिकरण्यान्यथाऽनुपपत्त्या तत्तुल्यमिति सादृश्याक्षेपादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धो वाक्यार्थनिष्ठनिदर्शनाभेदः ॥ २६ ॥

अन्वयः—इह सुरक्षिते यत् प्रवेशः अभूत् किम् एषः अर्णोनिधिः एव न तीर्णः ? एतस्य साहसस्य तु फलं किम्, अद्य अपि तावत् न विनिश्चिनोमि ?

हिन्दी—यहाँ सुरक्षित (रनिवास) में जो (आपका) प्रवेश हुआ, क्या यह सागर-संतरण ही न हो गया ? इस साहस का तो फल क्या है—मैं आज भी निश्चय नहीं कर पा रही ?

टिप्पणी—अप्रवेश्य अथवा दुष्प्रवेश्य अंतःपुर में नल का प्रविष्ट हो जाना एक दुष्कर कर्म करना हो गया, जैसे समुद्र को तैर कर पारना। प्रश्न यह है कि इस दुष्कर कर्म का उद्देश्य क्या है ? शिष्ट भाषा में आने के प्रकार और उद्देश्य की पृच्छा। इस श्लोक में मल्लिनाथ के अनुसार वाक्यार्थनिष्ठ निदर्शना-भेद है, क्योंकि अंतःपुर-प्रवेश और अर्णवसंतरण वाक्यार्थों में निर्दिष्ट सामान्याधिकरण की अन्यथानुपपत्ति होने के कारण सादृश्य के आक्षेप से असंभव वस्तु संबंध कहा गया है। विद्याधर के अनुसार निदर्शना और काव्यलिंग ॥ २६ ॥

तव प्रवेशे सुकृतानि हेतुं मन्ये मदक्ष्णोरपि नावदत्र ।
नलक्षितो रक्षिभटैर्यदाभ्यां पीतोऽसि तन्वा जितपुष्पधन्वा ॥ २७ ॥

जीवातु—एवेति । अथवा अत्रान्तःपुरे तव प्रवेशे मदक्ष्णोः सुकृतान्यपि तावत् यावदन्योऽपि हेतुः श्रोतव्य इति भावः । हेतुं कारणं मन्ये कुतः, यद्यस्मात् तन्वा मूर्त्या, जितपुष्पधन्वा जितकामः त्वं रक्षिभटै रक्षकयोधैर्न लक्षितः अलक्षितः सन् । नञर्थस्य नशब्दस्य 'सुप् सुपा' इति समासः । आभ्यां मदक्षिभ्यां पीतोऽतितृष्णया दृष्टोऽसि । सुकृतविशेषं विना कथमीदृग्भूतरूपसाक्षात्कारलाभ इति भावः ॥ २७ ॥

अन्वयः—तव अत्र प्रदेशे मदक्ष्णोः सुकृतानि अपि तावत् हेतुं मन्ये, यत् रक्षिभटैः न लक्षितः तन्वा जितपुष्पधन्वा आभ्यां पीतः असि।

हिन्दी—तुम्हारे यहाँ प्रविष्ट होने में मेरे (दमयन्ती के) दोनों नयनों के सुचरित (पुण्य) भी कारण हैं—ऐसा मानती हूँ, क्योंकि रखवाले योद्धाओं-द्वारा अलक्षित शरीर से पुष्पधन्वा (काम) के जेता को इन्होंने (नेत्रों ने) पी लिया है (भली भाँति देख लिया है)।

टिप्पणी—नल सुरक्षित अंतःपुर में पहरुओं को दीखे विना प्रविष्ट हो गये। वे दर्शनीय थे, कामाधिक रमणीय। पहरेदार देख भी न पाये पर दमयन्ती ने भली भाँति तृप्त हो निहारा। इस असंभव की संभावना का कारण दमयन्ती-नयनों का पुण्य ही हो सकता है, अन्यथा असाध्यसिद्धि कैसे होती? विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-काव्यलिंग-उपमालंकार।२७।

यथाकृतिः काचन ते यथा वा दौवारिकान्धङ्करणी च शक्तिः।
रुच्यो रुचीभिर्जितकाञ्चनीभिस्तथासि पीयूषभुजां सनाभिः॥ २८॥

जीवातु—यथेति। यथा यतस्ते तव आकृतिर्मूर्तिः काचन अमानुषीत्यर्थः। यथा वा यतश्च द्वारि नियुक्ता दौवारिकाः तत्र नियुक्त इति ठक्। 'द्वारादीनां च' इत्यैजागमः। तेषाम् अन्धीक्रियन्ते अनयेति अन्धङ्करणी दृष्टिप्रतिबन्धिका 'आढ्यसुभग' इत्यादिना कृञः करणार्थे ख्युन्प्रत्ययः। 'अरुर्द्विषत्' इत्यादिना मुमागमः, ख्युन्नन्तत्वात् ङीप्। शक्तिश्च काचनेत्यनुषज्यते। किञ्च जितकाञ्चनीभिर्जितहरिद्राभिः। 'निशाख्या काञ्चनी पीता हरिद्रा वरवर्णिनी' इत्यमरः। समासान्तविधेरनित्यत्वात्। 'नद्यृतश्च' इति कबभावः। टाबन्तपाठे जितकनकाभिरित्यर्थः। रुचीभिर्दीप्तिभिः, कृदिकारादक्तिनो वा वक्तव्यः, रोचत इति रुच्यो देदीप्यमानोऽसि 'राजसूयसूर्य' इत्यादिना कर्तरि क्यबन्तो निपातः। तथा ततो मूर्तिप्रभावतेजोभिः पीयूषभुजां देवानां समाना नाभिर्मूलं यस्य सनाभिर्बन्धुरसि कश्चिद्दिव्यपुरुषं उत्प्रेक्ष इत्यर्थः। 'ज्योतिर्जनपद' इत्यादिना समानशब्दस्य सभावः॥ २८॥

अन्वयः—यथा ते काचन आकृतिः यथा वा दौवारिकान्धङ्करणी शक्तिः जितकाञ्चनीभिः रुचीभिः रुच्यः च असि तथा पीयूषभुजां सनाभिः असि।

हिन्दी—जैसी तुम्हारी कोई (लोकोत्तर) आकृति है और जैसी द्वार

के पहरुओं को अंधा करने की (अपूर्व) शक्ति है और हरिद्रा को जीतने वाली कांति से रमणीय हो, उससे (लगता है) कि तुम अमृतपायी देवों के सगोत्र हो।

टिप्पणी—लोकोत्तर रूप, पहरेदारों को अदेखे अंतःपुर में प्रविष्ट हो जाने की क्षमता और ऐसी कांचनजयी कमनीयता ! इससे दमयन्ती को लगा कि नल सामान्य मानव नहीं, कोई देव है। आगे चलकर नल को देवों की अपेक्षा वरेण्यता प्राप्त होनी है, अतः पहिले से ही उसे मानव से उत्कृष्ट देव-सदृश कहा गया है। दमयंती की उत्प्रेक्षा है कि वह कोई दिव्य पुरुष है। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ।। २८ ।।

न मन्मथस्त्वं स हि नास्तिमूर्तिर्न वाश्विनेयः स हि नाद्वितीयः।
चिह्नैः किमन्यैरथवा तवेयं श्रीरेव ताभ्यामधिको विशेषः ॥२९॥

जीवातु—नेति। त्वं देवेष्वपीति शेषः। मन्मथः कन्दर्पो नासि। हि यस्मात् स मन्मथः। अस्तिमूर्तिः विद्यमानमूर्तिः न भवतीति नास्तिमूर्तिः अनङ्गः सुबधिकारे 'अस्तिक्षीरादिवचनम्' इति बहुव्रीहौ न समासः। आश्विनेयोऽश्विनीपुत्रः न। हि यस्मात् सोऽद्वितीय एकाकी न। अथवा अन्यैश्चिह्नैरभिज्ञानैः किम्? किन्तु तवेयं श्रीः शोभैव ताभ्यां द्वाभ्यामधिकोऽसाधारणो विशेषो व्यावर्तकधर्मः। तस्मादन्यः कोऽपि लोकोत्तरस्त्वमिति तत्त्वं किन्तु नलश्चेदसि धन्या भवामीति भावः ॥ २९ ॥

अन्वयः—त्वं मन्मथः न, हि सः नास्तिमूर्त्तिः, वा आश्विनेयः न, हि सः अद्वितीयः न, अथवा अन्यैः चिह्नैः किम्, तव इयं श्रीः ताभ्याम् अधिकः विशेषः?

हिन्दी—तुम मन को मथने वाले (काम) नहीं हो, क्योंकि वह अदेह (अनंग) है, अश्विनीकुमार भी नहीं हो, क्योंकि वह अद्वितीय (एकाकी) नहीं है, अथवा और सब लक्षणों से क्या तुम्हारी यह (अपूर्व) शोभा ही उन (काम-अश्विनीकुमार) से असाधारण विशिष्टता है?

टिप्पणी—नल को दिव्य पुरुष मानकर दमयन्ती विवेचना करने लगी कि वह है कौन देवता? काम हो नहीं सकता, क्योंकि शिव द्वारा भस्म कर

दिये जाने के कारण अनंग हो गया है, जब नल संमुख सदेह है। इसी प्रकार वह अश्विनीकुमार-युगल में से कोई एक भी नहीं हो सकता, क्योंकि वे दोनों साथ रहते हैं, नल एकाकी है। 'अद्वितीय' का भाव असाधारण, अनुपम भी है। इस प्रकार नल को अनुपम भी कह दिया गया। काम और अश्विनीकुमार सौन्दर्य के प्रतीक माने जाते हैं, किंतु नल की शोभा उनसे कहीं अधिक है, इस कारण भी वह काम-अश्विनीकुमार नहीं हो सकता। यहाँ विद्याधर ने निश्चयगर्भ संदेह-व्यतिरेक का निर्देश किया है ॥ २९ ॥

आलोकतृप्तीकृतलोक ! यस्त्वामसूत पीयूषमयूखमेतम् ।
कः स्पर्धितुं धावति साधु सार्धमुदन्वता नन्वयमन्यवायः ॥ ३० ॥

जीवातु—आलोकेति। आलोकेन दर्शनेन त्वत्कर्मकेण उद्योतेन च। 'आलोको दर्शनाद्योतौ' इत्यमरः। तृप्तीकृतलोक ! सन्तर्पितलोकेति सम्बुद्धिः। यः अन्ववायो वंशः एतं त्वामेव पीयूषमयूखं चन्द्रमिति रूपकम्, असूताजनयत्। अत एवोदन्वता उदधिना सार्धम्। 'उदन्वानुदधिश्च' इति निपातनात्साधुः। साधु सम्यक् स्पर्धितुं धावति, ननु अयमन्ववायः कः उदधितुल्यः ते वंशश्च क इति वक्तव्य इत्यर्थः। रूपकसङ्कीर्णोऽयमुपमालङ्कारः। नन्विति सम्बोधने ॥३०॥

अन्वयः—आलोकतृप्तीकृतलोक, यः पीयूषमयूखम् एतं त्वाम् असूत, उदन्वता सार्धं साधु स्पर्धितुं धावति ननु, अयम् अन्ववायः कः ?

हिन्दी—हे चाँदनीतुल्य अपने दर्शन से लोक को तृप्त करनेवाले, जिस (अन्ववाय) ने अमृत-दीधिति (चन्द्र)—रूप इस तुम को जन्म दिया, वह समुद्र के साथ निश्चयतः उचित स्पर्धा करता है, यह (आपको जन्म देने वाला) अन्ववाय (वंश) कौन-सा है ?

टिप्पणी—नल चंद्रमा के समान ही दर्शनमात्र से संसार को तृप्त कर देने वाला है। ऐसे गुणशाली चन्द्र को जिस वंश ने जन्म दिया, वह सागर के समान महनीय है। नल भी चन्द्र के समान नयनानंददायक है। चन्द्र का जन्म तो समुद्र से हुआ, नल का जन्म किस वंश में हुआ, यह प्रश्न। मल्लिनाथ के अनुसार रूपकसंकीर्णा उपमा, विद्याधर के अनुसार श्लेष-रूपक-उपमालंकार ॥ ३० ॥

भूयोऽपि बाला नलसुन्दरं तं मत्वाऽमरं रक्षिजनाक्षिन्बधात् ।
आतिथ्यचाटून्यपदिश्य तत्स्थां श्रियं प्रियस्यास्तुत वस्तुतः सा ॥३१॥

जीवातु—इत्थं नलमेव मत्वैतावदुक्त्वा पुनर्नलसदृशमन्यं मत्वाऽन्यथा व्याहरतीत्याह—भूयोऽपीति । भूयः पुनरपि सा बाला भैमी तं पुरुषं रक्षिजनस्याक्षिबन्धादन्धीकरणादमानुषत्वाद्धेतोर्नलसुन्दरममरं कञ्चिद्देवं मत्वा आतिथ्यान्यतिथ्यानि 'अतिथेर्ण्यः' । चाटूनि प्रियवाक्यानि अपदिश्य व्याजीकृत्य तस्मिन् पुरुषे तिष्ठतीति तत्स्थां तन्निष्ठां 'सुपि स्थः' इति कः । प्रियस्य नलस्य श्रियं शोभां वस्तुतः परमार्थतो दृष्ट्वैव अस्तुत स्तुतवती । स्तौतेर्लङि तङ् । अत्रान्यधर्मस्यान्यसम्बन्धासम्भवेन प्रियमिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शनाभेदः । न चैवं परपुरुषगुणस्तुतिप्रसङ्गः, वस्तुतस्तथात्वेऽपि तस्यास्तथाभिमानाभावादिति ॥३१॥

अन्वयः—सा बाला भूयः अपि रक्षिजनाक्षिबन्धात् तं नलसुन्दरम् अमरं मत्वा आतिथ्यचाटूनि अपदिश्य तत्स्थां प्रियस्य श्रियं वस्तुतः अस्तुत ।

हिन्दी—उस बाला (दमयन्ती) ने पुनरपि प्रहरियों के नेत्र बांध देने के कारण (अदृष्ट रहजाने से) उस (नल) को नल के समान सुन्दर देवता मान कर अतिथि-सत्कार-योग्य प्रिय वचनों के व्याज से उसमें विद्यमान प्रिय (नल) के सौन्दर्य की तत्त्वतः स्तुति (वर्णना) की ।

टिप्पणी—नल प्रहरियों के नेत्रों से अदृष्ट रहकर अंतःपुर में आ गया था । यह मानुषी कार्य नहीं है । नल ने भी देववर के बल पर ऐसा किया था । इस कारण दमयन्ती उसे मानव—नल न मान सकी । उसने समझा कि यह नल के सदृश रमणीय कोई देव है । उसने आतिथ्य में सत्कारयोग्य प्रिय वचनों में जो स्तुति की, वह वस्तुतः नल की ही हुई, क्योंकि वह नल ही था—भले ही दमयन्ती उसे 'अमर' समझ बैठी थी । इस प्रकार यह परपुरुषगुणस्तवन भी न हुआ । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अन्य-धर्म का अन्य-संबंध असम्भव होने से प्रिय-सादृश्याक्षेप के कारण निदर्शनाभेद है, विद्याधर के अनुसार श्लेष-रूपक-उपमालंकार हैं ।। ३१ ।।

वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत् ।
खलत्वमल्पीयसि जल्पितेऽपि तदस्तु बन्दिभ्रमभूमिनैव ॥ ३२ ॥

जीवातु—अथ सर्वथापि स्तुतिकरणे कारणमाह—वागिति । गुणैरद्भुतैः

अधिके स्तुत्यर्ह इत्यर्थः । वस्तुनि विषये मौनिता तूष्णीभावश्चेत् असह्यशल्यं दुस्सहशल्यप्रायं वाग्जन्मनो वाक्सत्ताया वैफल्यं स्यात् । अथैतत्परिहारायाह—अल्पीयसि जल्पिते अत्यल्पवचनेऽपि । भावे क्तः । खलत्वं दौर्जन्यमसहिष्णुत्वं स्यादित्यर्थः । तत्तस्माद्वन्दी स्तुतिपाठकोऽयमिति भ्रमस्य भूमिता विषयित्वमेवास्तु । 'वन्दिनः स्तुतिपाठकाः' इत्यमरः । अवन्दिषु वन्दिभ्रमः श्रोतृदोषो न वाग्वैफल्यं खलत्वे एव स्तोतृदोषः । प्रत्युत सुगुणस्तुतिस्तस्य गुण एवेति तदङ्गीकरणमिति भावः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—गुणाद्भुते वस्तुनि मौनिता चेत् असह्यशल्यं वाग्जन्मवैफल्यम्, अल्पीयसे जल्पति अपि खलत्वम्, तत् वन्दिभ्रमभूमिता एव अस्तु ।

हिन्दी—गुणों के कारण आश्चर्यजनक वस्तु के संबंध में यदि मौनधारण हो, तो असहनीय कंटक के समान वाणी के जन्म की विफलता होगी, और यदि अल्प कहा जाय तो खलता (दुर्जनता), सो (यही अच्छा है) स्तुतिकर्त्ता (भाट-चारण) होने के भ्रम का स्थान बनना ही हो ।

टिप्पणी—सज्जनता यही है कि जो वर्णनीय है, उसका वर्णन भली भाँति किया जाय । चुप लगा जाना अथवा थोड़ा-सा कह देने का उपचार दुर्जनता मानी जाती है । भले ही संसार विशिष्ट स्तुति करने के कारण खुशामदी, स्तुतिकर्त्ता चारण-भाट मान ले, परन्तु प्रशंसनीय की प्रशंसा मुक्तकंठ हो करनी ही चाहिए । नीतिवचन यही है—'परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः ।' विधाता ने वाणी दी ही प्रशंसनीय की प्रशंसा के निमित्त है । इस श्लोक को दमयन्ती की उक्ति भी माना जा सकता है, कविकथन भी । विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग ॥ ३२ ॥

कन्दर्प एवेदमविन्दत त्वां पुण्येन मन्ये पुनरन्यजन्म ।
चण्डीशचण्डाक्षिहुताशकुण्डे जुहाव यन्मन्दिरमिन्द्रियाणाम् ॥ ३३ ॥

जीवातु—अथ स्तौति—कन्दर्प इत्यादि । कन्दर्प एव पुण्येन सुकृतवशेन इदं त्वां त्वद्रूपमन्यजन्म जन्मान्तरं पुनरविन्दतेति मन्ये इत्युत्प्रेक्षा । अन्यथा कथमीदृग्रूपमिति भावः । किं तत्पुण्यं तदाह—चण्डीशस्य हरस्य चण्डं क्रूरमक्षि तृतीयनेत्रं तदेव हुताशस्तस्य कुण्डमग्न्यायतनं तस्मिन्निन्द्रियाणां मन्दिरमिन्द्रियाणामाश्रयः शरीरमिति यावत् । तज्जुहाव तेन पुण्येनेति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ ३३ ॥

अन्वय:—मन्ये कन्दर्पः एव पुण्येन त्वाम् इदम् अन्यजन्म पुनः अविन्दत, यत् चण्डीशचण्डाक्षिहुताशकुण्डे इन्द्रियाणां मन्दिरं जुहाव ।

हिन्दी—(दमयन्ती बोलीं)—प्रतीत होता है कि काम ने ही पुण्य के कारण तुम्हारे रूप में यह दूसरा जन्म पुनः पाया है, क्योंकि चंडीपति के प्रचंडनेत्र-ज्वालाकुंड में उसने इन्द्रियों के मंदिर (देह) को होम दिया था ।

टिप्पणी—देव-निमित्त शरीर होम देने का जो पुण्य काम ने किया था, उसी कारण उसे नल के रूप में और भी मनोरम देह दूसरे जन्म में प्राप्त हुआ । सुकृत का फल ऐसा ही होता है । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ; विद्याधर ने छेकानुप्रास-अतिशयोक्ति-उत्प्रेक्षा अलंकारों का विधान किया है ।

शोभायशोभिर्जितशैवशैलं करोषि लज्जागुरुमौलिमैलम् ।
दस्रौ हठाच्छ्रीहरणादुदस्रौ कन्दर्पमप्युज्झितरूपदर्पम् ॥ ३४ ॥

जीवातु—शोभेति । किञ्च हठात् प्रसह्य श्रियः सौन्दर्यस्य हरणाद्धेतोः शोभायशोभिः सौन्दर्यकीर्तिभिः जितशैवशैलं निर्जितकैलासमैलमिलाया अपत्यं पुरूरवसम् । 'तस्येदम्' इत्यणप्रत्ययः । पर्यवसानाद्विशेषलाभः । लज्जया गुरुमौलिं दुर्भरशिरस्कं करोषि । दस्रावश्विनीसुतादुदस्रावुद्गतबाष्पौ करोषि, रोदयसीत्यर्थः । कन्दर्पमप्युज्झितरूपदर्पं करोषि, कायकान्त्या सर्वानतिशय्य खेलसीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

अन्वय:—शोभायशोभिः हठात् श्रीहरणात् जितशैवशैलम् ऐलं लज्जागुरुमौलिं, दस्रौ उदस्रौ, कन्दर्पम् अपि उज्झितरूपदर्पं करोषि ।

हिन्दी—(तुम) सुन्दरता और कीर्ति से बलात् शोभाहरण करने के कारण महादेव के पर्वत (कैलास) के जयी पुरूरवा को लज्जा से नत शिर, अश्विनीकुमारों को साश्रु और काम को भी सौन्दर्याभिमान से रहित कर रहे हो ।

टिप्पणी—नल पुरूरवा, अश्विनीकुमार-युगल और कामदेव—इन चारों की अपेक्षा अधिक सौन्दर्य-यश-संपन्न है, फल-स्वरूप वे क्रमशः लज्जित हो नल के सम्मुख नतमस्तक, अश्रुपूर्ण और त्यक्तसौन्दर्याभिमान हो जाते हैं । जिसकी संपत्ति छीन ली जाय, वह लज्जित, साश्रु और त्यक्तदर्प होगा ही ।

चन्द्र-इला-संभव पुरूरवा, अश्विनी कुमार और काम सौन्दर्य के निमित्त प्रसिद्ध हैं। इनकी रूप कीर्ति अथवा रूप और सुन्दरता कैलास-पर्वत से भी उन्नत है। नल के संमुख ये भी फीके हैं—दमयंती का यही भाव है। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और दीपक अलंकार हैं। चन्द्रकलाकार ने अतिशयोक्ति का निर्देश किया है ॥ ३४ ॥

अवैमि हंसावलयो वलक्षास्त्वत्कान्तिकीर्तेश्चपलाः पुलाकाः।
उड्डीय युक्तं पतिताः स्रवन्तीवेशन्तपूरं परितः प्लवन्ते ॥ ३५ ॥

जीवातु—अवैमीति। वलक्षा धवलाः हंसावलयः तव कान्तिकीर्तेः, सौन्दर्य-कीर्तेः चपलाः चलिताः पुलाकास्तुच्छधान्यानीत्यवैमि जानामीत्युत्प्रेक्षा। 'स्यात्पुलाकस्तुच्छधान्ये' 'वलक्षो धवलोऽर्जुनः' इति चामरः। अत एवोड्डीयोत्पत्य पतिताः 'अभितः स्रवन्तीनां निम्नगानां वेशन्तानां पल्वलानां च पूरं प्रवाहं परितः समन्ततः। 'अभितः परितः' इत्यादिना द्वितीया। प्लवन्ते इति युक्तं पुलकानां जलोपरि प्लवनमुचितमेवेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—वलक्षाः हंसावलयः त्वत्कान्तिकीर्तेः चपलाः पुलाकाः अवैमि, उड्डीय पतिताः स्रवन्तीवेशन्तपूरं परितः युक्तं प्लवन्ते।

हिन्दी—धवल हंसपंक्तियाँ तुम्हारी सौन्दर्य कीर्ति की चंचल (उड़जानेवाली) भूसी है—यह मैं समझती हूँ। इसी कारण उड़कर गिरीं वे (हंस-भूसी) नदियों और तलैयों के प्रवाह के सब ओर ठीक ही उतराती रहती हैं।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में शुभ्रता के प्रतीक कैलास के चार जेताओं से भी नल को सौन्दर्य-कीर्ति में श्रेष्ठ कहा गया था। इस श्लोक में हंसावलियों को सौन्दर्य-कीर्ति की भूसी—क्षुद्रधान्यांश कहा गया। हंस जलाशयों के दोनों तटों पर छाये रहते हैं, भूसी भी उड़कर इधर-उधर छा जाती है। इस आधार पर नदियों-पल्वलों पर छाये हंसों को नल की सौन्दर्य-कीर्ति का क्षुद्रांश-त्याज्य भाग प्रमाणित कर दिया गया। हंस नहीं, नल की शुभ्र सौन्दर्य-कीर्ति की जलाशयों पर उड़कर छा गयी शुभ्र भूसी है। वेशंत अर्थात् तलैया—'वेशन्तः पल्वलं चाल्पसरः।' (अमरकोष)। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षालंकार। 'पुलाकाः' का पाठांतर 'बलाकाः' भी है—बगुलियाँ ॥ ३५ ॥

भवत्पदाङ्गुष्ठमपि श्रिता श्रीर्ध्रुवं न लब्धा कुसुमायुधेन।
जेतुस्तमेतत् खलु चिह्नमस्मिन्नर्धेन्दुरास्ते नखवेषधारि ॥ ३६ ॥

जीवातु—भवदिति। कुसुमायुधेन कामेन भवतः पदाङ्गुष्ठं श्रिता श्रीरपि न लब्धा न प्राप्ता ध्रुवम्? भवच्छ्रिता श्रीस्तु दूरापास्तेति भावः। तथा हि—तं कामं जेतुः स्मरहरस्य तृन्नन्तत्वात् 'न लोक' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। तज्जेतुरिति समासपाठे तृजन्तेन षष्ठीसमासः साधुश्चायमेव पाठः। तृन्नर्थस्य ताच्छील्यस्यानुपयोगात् रतीशजेतुरिति देशांतरपाठस्त्वयुक्त एव। प्रकृतार्थस्य सर्वनामोपादेयस्य स्वशब्दोपादाने पौनरुक्त्यदोषादिति। हस्तेन निर्दिशन्त्याह—एतदर्धेन्दुरूपं चिह्नमस्मिन्नङ्गुष्ठे नखकैतवेनास्ते खल्वित्यपह्नवभेदः। अर्धेन्दुचिह्नधारणादयमपि कामजेता! यद्वा तच्चिह्नधारणात् तस्यापि स्मरस्य जेतेत्युभयथापि कथमेतच्छ्रीलाभः कामदेवस्येति भावः॥३६॥

अन्वयः—कुसुमायुधेन भवत्पदाङ्गुष्ठं श्रिता श्रीः अपि ध्रुवं न लब्धा, खलु अस्मिन् तं जेतुः नखवेषधारि एतत् अर्द्धेन्दुचिह्नम् आस्ते।

हिन्दी—पुष्पधन्वा (काम) ने आपके पैर के अँगूठे की शोभा भी निश्चयतः नहीं पायी, क्योंकि इस (अँगूठे) में उस (काम) के जेता (शिव) का नख का वेष धारे यह आधे चन्द्रमा का चिह्न विद्यमान है।

टिप्पणी—नल काम की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर है, काम तो उसके पैर के अँगूठे के समान भी नहीं है। इस दृष्टि से सौन्दर्य-प्रतियोगिता में अँगूठे ने काम को जीत लिया है और वह कामजयी शिव के तुल्य बन उन्हीं के समान अर्द्धेदुचिह्न-धारण करने लगा है, नख के रूप में। चन्द्राकार नख सुन्दर और शुभ माने गये हैं। लगता है, नल के पैर के अँगूठे के पास तक फटकने का साहस काम में नहीं है। वह चन्द्राकार नख के अँगूठे को शिव समझता है और डर जाता है। नारायण के अनुसार अनुमान से प्रमाणित तथ्य—'त्वदङ्गुष्ठः कामस्य जेता, अर्धचन्द्राङ्कितत्वात् यथा शिवः।' नल का अँगूठा काम का जेता है, अर्धचन्द्र चिह्न होने के कारण, जैसे शिव। तृतीय चरण का पाठांतर 'रतीशजेतुः खलु चिह्नमस्मिन्' भी है—'कामजयी का चिह्न इस (अंगुष्ठ) में है।' मल्लिनाथ ने 'तृन्नर्थ' के ताच्छील्यानुपयोगी होने के कारण यह पाठांतर अयुक्त माना है। इससे पौनरुक्त्य दोष होगा। सर्वनामोपादेय प्रकृतार्थ का स्वशब्द से कथन उचित नहीं होता। सुखावबोध और साहित्य विद्याधरी टीकाओं में 'नखवेषधारि' की अपेक्षा 'नखकैतवेन'

पाठांतर को माना गया है। मल्लिनाथ इस 'कैतवेन' के आधार पर यहाँ अपह्नुति का निर्देश करते हैं। विद्याधर के अनुसार अपह्नुति और उत्प्रेक्षालंकार हैं ॥ ३६ ॥

राजा द्विजानामनुमासभिन्नः पूर्णां तनूकृत्य तनुं तपोभिः ।
कुहूषु दृश्येतरतां किमेत्य सायुज्यमाप्नोति भवन्मुखस्य ॥ ३७ ॥

जीवातु—राजेति । द्विजानां राजा चन्द्रो ब्राह्मणोत्तमश्च अनुमासं प्रतिमासं भिन्नोऽन्यः सन् अर्धेन्दुरन्यथैकस्य प्रतिकुहूषु मुखसायुज्याभावादिति भावः । पूर्णां राकास्विति भावः । तनुं शरीरं तपोभिः प्रत्यहं देवताभ्यः कलासमर्पणरूपैरिति भावः । तनूकृत्य कुहूषु अमावास्यासु दृश्येतरतामदृश्यतामेत्य भवन्मुखस्य सायुज्यमैक्यं प्राप्नोति किमित्युत्प्रेक्षा । यथा कश्चिद् ब्राह्मणः तीव्रेण तपसा ब्रह्मसायुज्यमाप्नोति तद्वदित्यर्थः अन्यथा कथं कुहूषु न दृश्यत इति भावः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—द्विजानां राजा पूर्णां तनुं तपोभिः तनूकृत्य अनुमासभिन्नः कुहूषु दृश्येतरताम् एत्य किं भवन्मुखस्य सायुज्यम् आप्नोति ?

हिन्दी—द्विजराज (ब्राह्मण श्रेष्ठ) के सदृश द्विजराज (चन्द्र) पूर्ण शरीर को तपश्चर्या से क्षीण करके, प्रतिमास क्षीण-दुर्बल हो, अमावस्याओं को अदृश्यत्व प्राप्त कर क्या आप (नल) के मुख से सायुज्य (ऐक्य) चाहता है ?

टिप्पणी—ब्राह्मण श्रेष्ठ तपश्चर्या द्वारा क्षीणातिक्षीण हो जैसे ब्रह्म-सायुज्य प्राप्त कर लेता है, कदाचित् चन्द्र भी प्रतिमास अपने पूर्ण शरीर को अमावस्याओं में क्षय करके नल-मुख-सायुज्य पाना चाहता है। चन्द्र नलमुख सदृश नहीं है (वह वैसा होना चाहता है), क्योंकि वह पूर्णिमा को तो पूर्ण रहता है, पर धीरे-धीरे क्षीण होता अमा को अदृश्य हो जाता है। नलमुख तो सदा पूर्ण विकसित है। 'अनुमासभिन्नः' का प्रतिमास और प्रकार का—नवीन भी अर्थ किया गया है। जैसे द्विजराज का अन्य जन्म हो। अनेक जन्म बीत गये चन्द्र को शरीर गलाते हुए पर अभी तक वह नलमुख-सायुज्य न पा सका। मल्लिनाथ के अनुसार 'किम्' के आधार पर उत्प्रेक्षा। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और अपह्नुति अलंकार ॥ ३७ ॥

कृत्वा दृशौ ते बहुवर्णचित्रे किं कृष्णसारस्य तयोर्मृगस्य ।
अदूरजाग्रद्द्विरदभ्रमाली रेखामयच्छद्विधिरर्धचन्द्रम् ॥ ३८ ॥

जीवातु—कृत्वेति। विधिर्विधाता बहुभिर्वर्णैः सितासितरूपैश्चित्रे सुदृश्ये तल्लक्षत्वादिति भावः। ते तव दृशौ कृत्वा निर्माय कृष्णसारस्य मृगस्य सम्बन्धिन्योः तयोर्दृशोरदूरे समीपे जाग्रत्या विदरप्रणाल्याः स्फुटनमार्गस्य नेत्रप्रान्तवर्त्यर्धचन्द्ररेखाविशेषस्य च्छलात्। 'विदरः स्फुटनं भिदा' इत्यमरः। अर्धचन्द्रं गलहस्तिकामयच्छत् तत्समकक्षानर्हत्वादिति भावः। 'अर्धचन्द्रस्तु चन्द्रके गलहस्ते बाणभेदेऽपि' इति विश्वः। छलादयच्छदिति सापह्नवोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥ ३८ ॥

अन्वयः—विधिः बहुवर्णचित्रे ते दृशौ कृत्वा कृष्णसारस्य मृगस्य तयोः अदूरजाग्रद्विदरप्रणालीरेखां (च्छलात्) किम् अर्द्धचन्द्रम् अयच्छत् ?

हिन्दी—विधाता ने अनेक रंगों से आश्चर्यमय तुम्हारे नेत्र बना कर कृष्णसार मृग के उन (नेत्रों) के निकट विद्यमान निम्नगर्त-मार्ग की रेखा के रूप में क्या (मृग नेत्रों को) गर्दनिया दी है ?

टिप्पणी—नल के नेत्रों के अनेक वर्ण हैं—पुतलियां का काला रंग, उनके निकटवर्ती स्थल में शुभ्र, लाल-लाल डोरियाँ—श्याम, श्वेत, रतनार। मृग को कहा जाता है 'कृष्णासार'। कृष्णसार अर्थात् जिसमें तत्त्वतः कृष्णवर्ण ही है। ऐसे मृग के 'कृष्णसार' नेत्र नल के नेत्रों से साम्य पाते चले। कवि-कल्पना है कि इस दुःसाहस पर विधाता ने उन्हें गर्दनिया दे दी। अर्द्धचन्द्र के तुल्य जो समीप विद्यमान गर्त रूपिणी रेखा है, वही गर्दनिया का चिह्न है। ब्रह्मा ने अनौचित्य पर धिक्कार दिया मृग नेत्रों को अर्द्धचन्द्र देकर। 'छलात्' पाठांतर के आधार पर मल्लिनाथ ने गम्या सापह्नवोत्प्रेक्षा मानी है, क्योंकि व्यंजक का प्रयोग नहीं है। विद्याधर भी यही मानते हैं ॥ ३८ ॥

मुग्धः स मोहात् सुभगान्न देहाद्ददद्भवद्भ्रूरचनाय चापम्।
भ्रूभङ्गजेयस्तव यन्मनोभूरनेन रूपेण यदा तदाभूत् ॥ ३९ ॥

जीवातु—मुग्ध इति। भवद्भ्रुवो रचनाय निर्माणाय चापमुपादानत्वेन ददत् ब्रह्मण इति शेषः। 'नाभ्यस्ताच्छतु'रिति नुम्प्रतिषेधः। स मनोभूर्मोहादविमृश्यकारित्वलक्षणात्प्रवृत्तिनिमित्तान्मुग्धो मुग्धशब्दवाच्योऽभूत् सुभगात् सुन्दराद्देहात्तु न। पूर्वं कायः सौन्दर्यमुग्ध इत्युच्यते। सम्प्रति तु मौग्ध्यादित्यर्थः। 'मुग्धः सुन्दरमूढयोः' इति विश्वः। कुतः यद्यस्मात् तवानेनेति

हस्तनिर्देशः। रूपेण सौन्दर्येण करणेन यदा तदा सर्वदेत्यर्थः। भ्रूभङ्गेण भ्रूक्षेपमात्रेण जेयो जेतुं शक्योऽभूत्। कामस्त्वां रूपेण जेतुमशक्तोऽपि चापेनापि शक्नुयात्। सम्प्रति चापदानादुभयथापि भ्रष्टोऽभूदिति भावः॥ ३९॥

अन्वयः—यत् भवद्भ्रूरचनाय चापं ददत् मनोभूः तव अनेन रूपेण यदा भ्रूभङ्गजेयः अभूत् तदा सः मोहात् मुग्धः, सुभगात् देहात् न।

हिन्दी—क्योंकि आप (नल) की भ्रुकुटि की संरचना के लिए (निमार्ण-कर्त्ता को अपना) धनुष् देता मनोजन्मा (काम) तुम्हारे इस रूप (सौन्दर्य) द्वारा जब भ्रू-भंगिमा (भ्रुकुटिसंकेत) मात्र से जय-योग्य हो गया, तब (निश्चय हुआ कि) वह (काम) मोह (अज्ञान) के कारण मुग्ध (मूर्ख) है, सुन्दर देह के कारण मुग्ध (मनोहर) नहीं।

टिप्पणी—दमयंती का भाव यह है कि नल की भौहें उन्मादकर और धनुषाकार होने के कारण काम-चाप जैसी हैं और काम की अपेक्षा नल कहीं सुन्दर है। काम तो सुन्दर है ही नहीं, मूर्ख है। उसे 'मुग्ध' (मनोरम) उसके देह सौन्दर्य के कारण नहीं कहा जाता, क्योंकि वह तो नल-रूप के संमुख नगण्य है, वह काम तो 'मुग्ध' (मूर्ख, अज्ञान) है, उसने अपना आयुध अपने शत्रु को दे दिया और निरस्त्र हो गया। जिस क्षण उसने ब्रह्मा को नल-भ्रुकुटि-रचना के लिए अपना धनुष् दिया, उसी क्षण वह पराजित होने योग्य हो गया—आयुधरहित हो और मूर्ख प्रमाणित हो गया। नारायण और मल्लिनाथ—दोनों ने वाक्यान्वय इस प्रकार होने का संकेत दिया है—'यदा-तदा भ्रूभङ्गजेयः अभूत्' अर्थात् यदा-तदा (जब-तब अर्थात् सदा) भ्रूभंगिमा से जय योग्य हो गया। मल्लिनाथ ने लिखा है—'यदातदा सर्वदेत्यर्थः'। नारायण कहते हैं—'यदातदेति समुदायस्य सर्वदेत्ययमेवार्थः।' हिन्दी-टिप्पणी-कार आग्रह तो नहीं है, पर उसे 'यदा, तदा' को पृथक्-पृथक् अन्वितकर सुविधा प्रतीत हुई। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति॥ ३९॥

मृगस्य नेत्रद्वितयं त्वदास्ये विधौ विधुत्वानुमितस्य दृश्यम्।
तस्यैव च त्वत्कचपाशवेशः पुच्छे स्फुरच्चामरगुच्छ एषः॥ ४०॥

जीवातु—मृगस्येति। त्वदास्ये विधौ त्वन्मुखचन्द्रे दृश्यं दृग्गोचरीभूतं नेत्रद्वितयं विधुत्वेन चन्द्रत्वेनानुमितस्य चन्द्रस्य मृगाविनाभावादिति भावः।

मृगस्यैव तदीयमेवेत्यर्थः। किञ्च एषः तव कचपाशवेशः केशपाशसन्निवे तस्यैव मृगस्य पुच्छे वालधौ स्फुरच्चामरगुच्छ इत्युत्प्रेक्षा। अन्यथा कथम् योरीदृशी शोभेति भावः ॥ ४० ॥

अन्वयः—त्वदास्य विधौ दृश्य नेत्रद्वितयं विधुत्वानुमितस्य मृगस्य, त एव च पुच्छे स्फुरच्चामरगुच्छः एषः त्वत्कचपाशवेशः।

हिन्दी—तुम्हारे मुख-चन्द्र में दीखता नयनयुगल (मुख के) चन्द्र हो के कारण अनुमित मृग का (नयनयुग्म) है, उसी (मृग) की पूँछ विलसित चमर का गुच्छा तुम्हारे केश-समूह के वेष में है।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल का मुख चन्द्र के समान है, नयन चंद्र में स्थित मृग के नेत्र सदृश हैं और नल के केश उसी मृग के चामरगुच्छ-तु हैं। अनुमान का आधार है मुख का चन्द्र होना। जहाँ-जहाँ विधुत्व हो वहीं-वहीं मृगत्व। नारायण के अनुसार—'तवास्ये विधौ मुखरूपे चन्द्रे 'विम मृगवान्, चन्द्रत्वात्, संमतवत्' इति हेतुनानुमितस्यानुमानगम्यस्य मृगस्य नेत्रद् दृश्यम्।' मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, नारायण के अनुसार रूपक अं अपह्नुति। चन्द्रकलाकार ने रूपक-उत्प्रेक्षा की निरपेक्षतया स्थिति होने संसृष्टि मानी है ॥ ४० ॥

आस्तामनङ्गीकरणाद्भवेन दृश्यः स्मरो नेति पुराणवाणी।
तवैव देहश्रितया श्रियेति नवस्तु वस्तु प्रतिभाति वादः ॥ ४१

जीवातु—आस्तामिति। स्मरो भवेनेश्वरेणानङ्गीकरणादशरीरीकरण द्धेतोर्दृश्यो नेति पुराणवाणी पुरातनवादस्तावदास्ताम्। तवैव देहं श्रितर 'द्वितीयाश्रितातीते'त्यादिना समासः श्रिया सौन्दर्येण न दृश्य इति नवो नूतन वादस्तु परमार्थः प्रतिभाति। तदैतिह्यमात्रमिदं तु प्रत्यक्षमित्यर्थः। अ पराजयलज्जानिमित्तमस्यादृश्यत्वमित्युत्प्रेक्षा ॥ ४१ ॥

अन्वयः—स्मरः भवेन अनङ्गीकरणात् दृश्यः न—इति पुराणवाणी आस्ताम् अव एत देहश्रितया श्रिया—इति नवः वादः तु वस्तु प्रतिभाति।

हिन्दी—काम महादेव द्वारा देहहीन कर दिये जाने के कारण नयनगोच नहीं—यह पुराणों की (सड़ी-गली पुरानी) वाणी (मान्यता-कथन) रहे (ठी

नहीं है), हाँ, तुम्हारी ही शरीर संबंधिनी शोभा के कारण (काम दर्शनीय नहीं रह गया) है—यह नवीन कथन (मान्यता) तो सारयुक्त लगता है।

टिप्पणी—कल्पना यह है कि यह जो शिव द्वारा काम दहन और उसके अनंग हो जाने का कथन है, वह पुराणकथनमात्र है—एक 'मिथक' एक प्रतीक-कथनमात्र। वास्तविकता यह है कि अपने से अधिक सुन्दर नल के संमुख लज्जित होने की आशंका से काम अदृश्य होकर रहता है। 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' के अनुसार नव वाद सारवान् है, पुराण-कथन तो पुराना पड़कर अमान्य हो गया है। नल काम से सुन्दर है। वाणी तो पुराणी (पुरानी), जीर्णा स्त्री है, वाद नव पुमान् है, अतः वही ग्राह्य है। नारायण ने 'अनंगीकरण' का अर्थ 'अस्वीकृति' भी किया है। नल की देहाश्रिता श्री ने काम को अस्वीकृति दी, मान्यता नहीं दी, इसी से वह अदृश्य है। यह भी संकेत हो सकता है कि—'पुराने लोग काम को चर्चा योग्य न माने, भव (संसार) उसे अनंगीकार (अस्वीकार) दे, नवीन जन तो देहाश्रित काम को मान्यता देंगे भले ही अदृश्य को न दें।' नवीन प्रत्यक्ष काम को मान्यता देते हैं, इसका प्रमाण 'नैषधीयचरित' का अष्टादशसर्ग है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, नारायण के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ४१॥

त्वया जगत्युच्चितकान्तिसारे यदिन्दुनाऽशीलि शिलोञ्छवृत्तिः।
आरोपि तन्माणवकोऽपि मौलौ स यज्वराज्येपि महेश्वरेण ॥ ४२ ॥

जीवातु—त्वयेति। त्वया जगति उच्चितकान्तिसारे गृहीतलावण्यसर्वस्वे सति इन्दुना शिलोञ्छावेव वृत्ति जीविका 'उञ्छो धान्यकणादानं कणिकाशार्जनं शिलम्' इति यादवः। अशीलि शीलतेति यत् तत्तस्माद्धेतोः मनोरपत्य पुमान् मानवः 'तस्यापत्यम्' इत्यणप्रत्यये णत्वम्। 'अपत्ये कुत्सिते मूढे मनोरौत्सर्गिकः स्मृतः। नकारस्य तु मूर्धन्यस्तेन सिद्धयति माणवः ॥' तेन सोऽल्पो माणवकः। बालोऽपि स इन्दुर्महेश्वरेण महादेवेन महाराजेन च मौलौ शिरसि तथा यज्वराज्ये द्विजरायत्वेऽप्यारोपि आरोपित इत्युत्प्रेक्षा। प्रकृष्टधर्मः कस्मै फलाय न भवतीति भावः, त्वैलक्या ह्लादकश्चन्द्रोऽपि तल्लावण्यलेश एवेति तात्पर्यार्थः॥ ४२ ॥

अन्वयः—त्वया उच्चितकान्तिसारे जगति यत् इन्दुना शिलोञ्छवृत्तिः अशीलि तत् माणवकः अपि सः महेश्वरेण मौलौ यज्वराज्ये अपि आरोपि।

हिन्दी—तुम्हारे द्वारा शोभा का तत्त्व भाग ले लिये जाने पर जगत् में जो चन्द्र ने शिलोञ्छवृत्ति (खेतों में पड़े रह जाने वाले दानों के कण चुनकर जीवन-यापन करना—'कणाद'-वृत्ति) स्वीकारी, अतः बाल (छोटा द्वितीया सम्बन्धी) होने पर भी उसे महादेव ने मस्तक पर याज्ञिकों के राज्य पर (यज्ञकर्त्ता श्रेष्ठ रूप में) स्थापित कर दिया।

टिप्पणी—नल को संसार का समस्त सौंदर्य प्राप्त हो गया तो बेचारा चन्द्रमा क्या करता? जैसे खेत से अनाज उठाये जाने पर कुछ दाने पड़े रह जाते हैं, वैसे ही कुछ सौन्दर्य कण पड़े रह गये। चन्द्र ने वेही कण लिये और अपने को सजा लिया! अर्थात् सौंदर्य का सहस्रांश भी वह न पा सका। चन्द्र नल के संमुख अत्यंत तुच्छ है। परन्तु किसी कारण सही, चन्द्र बना तो कणजोदी तपस्वी, फल स्वरूप उसे महादेव ने श्रेष्ठ याज्ञिक रूप में मान्यता दे अपने मस्तक पर स्थापित कर लिया। शिलोञ्छवृत्ति अर्थात् 'ऋत' के सेवी को उचित सत्कार मिला। ब्राह्मण के लिए यही वृत्ति उपयुक्त मानी गयी है। मनुस्मृति (४।४) के अनुसार—'ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा। सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन।' ऋत अर्थात् शिलोञ्छवृत्ति, अमृत अर्थात् अयाचित, मृत (याचित), अमृत अर्थात् खेती, सत्यानृत्त अर्थात् वाणिज्य तथा सेवा—इन प्रकारों से जीवन यापन कर ले, कुत्ते की भाँति कभी नहीं। इन में उत्कृष्ट वृत्ति प्रथम अर्थात् ऋत (शिलोञ्छवृत्ति) है। इसी वृत्ति को स्वीकारने से शिव ने चन्द्र को मान्यता दी, वह द्विजराज (ब्राह्मणोत्तम) कहाया। ऋत जीवी बालेन्दुरूप ब्रह्मचारी 'माणवक' को 'महेश्वर' महाराजाधिराज ने शिरोधार्य किया। महाधनी ने माणवक अर्थात् बीस लड़ी माला को गले में न पहन मस्तक पर पहिना। अचरज की बात। कदाचित् धनी ने बड़ी कठिनता से माणवक हार संजोया होगा। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ४२ ॥

आदेहदाहं कुसुमायुधस्य विधाय सौन्दर्यकथादरिद्रम्।
त्वदङ्गशिल्पात्पुनरीश्वरेण चिरेण जाने जगदन्वकम्पि ॥ ४३ ॥

जीवातु—आदेहेति। ईश्वरेण शम्भुना कुसुमायुधस्य कामस्य देहदाहा-दारभ्य आदेहदाहं मर्यादायामव्ययीभावः। जगल्लोकं सौन्दर्यकथादरिद्रं सौन्दर्यवार्ताशून्यं विधाय चिरेण त्वदङ्गस्य शिल्पान्निर्माणात् विश्वं पुनरन्वकम्पि अनुकम्पितं त्वया पुनः सौन्दर्यभरितं कृतमिति जान इत्युत्प्रेक्षा। तव मूर्तिमतः कामात् को भेद इति भावः॥ ४३॥

अन्वयः—जाने कुसुमायुधस्य, आदेहदाहं जगत् सौन्दर्यकथादरिद्रं विधाय त्वदङ्गशिल्पात् ईश्वरेण पुनः चिरेण अन्वकम्पि।

हिन्दी—प्रतीत होता है कि पुष्पास्त्र (काम) के देह-दाह से प्रारम्भ कर संसार को सौंदर्य-कथा से दरिद्र करके तुम्हारे शरीरांगों की रचना द्वारा ईश्वर (शिव) ने फिर से बहुत काल पश्चात् कृपा की है।

टिप्पणी—भाव है कि नल कामाधिक सुन्दर हैं। महादेव ने काम को जलाकर संसार से सौंदर्य-वार्ता ही समाप्त कर दी थी। उनके मन में जगत् को दुःखी देख दया उपजी, सो महादेव ने पुनः कामाधिक सुन्दर नल की रचना कर दी। उत्प्रेक्षालङ्कार॥ ४३॥

मही कृतार्था यदि मानवोऽसि जितं दिवा यद्यमरेषु कोऽपि।
कुलं त्वयालङ्कृतमौरगञ्चेन्नाधोऽपि कस्योपरि नागलोकः॥ ४४॥

जीवातु—महीति। मनोरथं मानवो मनुष्योऽसि यदि 'तस्येदम्' इत्यण्-प्रत्ययः। मही कृतार्था। अमरेषु कोऽप्यसि यदि दिवा द्युलोकेन जितं सर्वोत्कर्षेण स्थितं नपुंसके भावे क्तः। त्वया औरगं कुलं नागकुलमलङ्कृतं चेत् नागोऽसि चेदित्यर्थः। अधः सर्वाधः स्थितोऽपि नागलोकः कस्य लोकस्योपरि न। सर्वस्याप्युपरि वर्तत इत्यर्थः। 'उपर्युपरिष्टात्' इति निपातः॥ ४४॥

अन्वयः—यदि मानवः असि, मही कृतार्था; यदि अमरेषु कः अपि, दिवा जितम्; त्वया औरगं कुलम् अलङ्कृतः चेत्, अधः अपि नागलोकः कस्य उपरि न?

हिन्दी—यदि (तुम नल) मनुष्य हो, तो यह धरती (भूतल) कृतार्थ है, यदि देवों में कोई हो, तो द्युलोक (स्वर्ग) ने सब को जीत लिया; और यदि नागवंश को सुशोभित करते हो, तो नीचे स्थित भी नागलोक (पाताल) किस (तल) के ऊपर नहीं है? (अर्थात् सर्वोपरि है)।

टिप्पणी—भावना यह है कि दमयंती के अनुसार उपस्थित व्यक्ति (नल)

इतना गरिमामय है कि वह जिस लोक का वासी है, वही लोक श्रेष्ठ है। इस शिष्टोक्ति से दमयंती यह जानना चाहती है कि वह (नल) मानव है, देव है या नाग है ? किस लोक का वासी है वह ? दमयंती स्वयं मानवी है और वह उपस्थित व्यक्ति में अभिलाष होने के कारण उसमें नल की संभावना कर रही है, अतः पहिले मानव का उल्लेख किया। 'न गच्छन्तीत्यगाः, न अगा नागास्तेषां लोकः—अप्रतिहतगति नागों का लोक सब के ऊपर होने योग्य है, यदि नल वहाँ का वासी है तो। इसी प्रकार 'मही' का विग्रहार्थ पूज्य—'मह्यते पूज्यते सा मही' भी सार्थक होगा और 'दीव्यति विजिगीषते इति द्यौः' (विजय शील) नाम भी नल के तद्वासी होने से ही सार्थक हो सकेगा। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ४४ ॥

सेयं न धत्तेऽनुपपत्तिमुच्चैर्मच्चित्तवृत्तिस्त्वयि चिन्त्यमाने।
ममौ स भद्रं चुलुके समुद्रस्त्वयात्तगाम्भीर्यमहत्त्वमुद्रः ॥ ४५ ॥

जीवातु—सेयमिति। त्वयि चिन्त्यमाने स्वरूपतो गुणतश्च विभाव्यमाने सति सेयं विभावयन्ती मच्चित्तवृत्तिः उच्चैर्महतीमनुपपत्तिं न धत्ते समुद्रस्यागस्त्यचुलुके अनुपपन्नताबुद्धिं न करोतीत्यर्थः। तत्र हेतुमुत्प्रेक्षते स समुद्रः त्वया आत्ता गृहीता गाम्भीर्यमहत्वे एव मुद्रा चिह्नं यस्य स सन्। अत एव चुलुके मुनिमुष्टिगर्भे ममौ भद्रं युक्तमित्यर्थः। अन्यथा कथं तथा महतो गम्भीरस्य तस्य मुनिचुलुकितेति भावः। अत्र मानहेतोरात्तेत्यादिविशेषणगत्या निर्देशात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः। तत्सङ्कीर्णेयमुत्प्रेक्षा भद्रमिति व्यंजकप्रयोगाद्वाच्या ॥ ४५ ॥

अन्वयः—सा इयं मच्चित्तवृत्तिः त्वयि चिन्त्यमाने उच्चैः अनुपपत्तिं न धत्ते, भद्रं त्वया आत्तगाम्भीर्यमहत्त्वमुद्रः सः समुद्रः चुलुके ममौ।

हिन्दी—वह (विश्वास न करने वाली) यह मेरे मन की वृत्ति तुम्हारा विचार करने पर (उस) बड़ी अविश्वसनीयता का (अब) धारण नहीं करती, यह ठीक ही लगता है कि तुम्हारे द्वारा गम्भीरता और महत्ता की मुद्रा (मर्यादा) ले ली जाने पर वह समुद्र (अगस्त्य द्वारा) चुल्लू में पी लिया गया।

टिप्पणी—दमयन्ती के कथन का आशय है कि नल सागर से भी अधिक गम्भीर और महान् है। सामान्यतः इस पर अब तक विश्वास करना कठिन हो

रहा था कि महामुनि अगस्त्य समुद्र को एक चुल्लू से पी गये होंगे, समझ में यही आता था कि यह कथन लाक्षणिक है, अगस्त्य ने समुद्र सम्बन्धी कोई ऐसा कार्य किया होगा, जिससे यह कहा जाने लगा एक मुहावरे के रूप में कि अगस्त्य चुल्लू में सागर पी गये। अब नल देखने पर यह लगता है कि सचमुच ऐसा अघटित घटा होगा, क्यों कि समुद्र की गहराई और विशालता नल के समुख छोटी पड़ गयी है। छोटा पड़ा सागर मुनि के चुल्लू में समा गया होगा। इस श्लोक में मल्लिनाथ के अनुसार मानहेतु का निर्देश 'आत्तगाम्भीर्यमहत्त्वमुद्रः' इस विशेषण की गति से होने के कारण पदार्थ हेतुक काव्यलिंग अलंकार है और उससे सकीर्ण उत्प्रेक्षा की गयी है, जो 'मद्रम्' व्यंजक के प्रयोग के कारण वाच्य है, अर्थात् काव्यलिंग-उत्प्रेक्षा का संकर। विद्याधर के अनुसार विरोधातिशयोक्ति ॥ ४५ ॥

संसारसिन्धावनुबिम्बमत्र जागर्ति जाने तव वैरसेनिः।
बिम्बानुबिम्बौ हि विहाय धातुर्न जातु दृष्टातिसरूपसृष्टिः ॥४६॥

जीवातु—संसारेति। किञ्चात्रास्मिन् संसारसिन्धौ वैरसेनिः नलस्तवानुबिम्बं जागर्ति स्फुरतीति जाने तर्कयामीत्यर्थः। कुतः, हि तस्माद्बिम्बानुबिम्बौ विहाय वर्जयित्वा धातुः अतिसरूपसृष्टिः जातु कदाचिदपि न दृष्टा। अन्यथा कथमेतदत्यन्तसादृश्यमित्यर्थः। भवान् नल एवेति मे प्रतिभातीति भावः ॥४६॥

अन्वयः—अत्र संसारसिन्धौ जाने वैरसेनिः तव अनुबिम्बं जागर्ति, हि धातुः अतिसरूपसृष्टिः बिम्बानुबिम्बं विहाय जातु न दृष्टा।

हिन्दी—इस संसार रूप सागर में प्रतीत होता है कि वीरसेन के पुत्र (नल) तुम्हारे प्रतिबिम्ब रूप में विद्यमान है, क्योंकि विधाता को अतीत समान रूप वाली सृष्टि बिम्ब-प्रतिबिम्ब को छोड़कर कहीं नहीं देखी गयी।

टिप्पणी—विधाता की सृष्टि का यह नियम है कि बिम्ब के सदृश प्रतिबिम्ब ही होता है, इस से यह प्रतीति हो रही है कि उपस्थित व्यक्ति नल का प्रतिबिम्ब है। अत्यन्त सुन्दर नल का ही ऐसा प्रतिबिम्ब संभव है। भाव यह कि उपस्थित व्यक्ति पूर्णतः नल ही लगता है। विद्याधर के अनुसार अर्थान्तरन्यास, उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकार हैं ॥४६॥

इयत्कृतं केन महीजगत्यामहो महीयः सुकृतं जनेन ।
पादौ यमुद्दिश्य तवापि पद्यारजःसु पद्मस्रजमारभेते ॥ ४७ ॥

जीवातु—इयदिति । महीजगत्यां भूलोके केन जनेन इयदेतावन्महीयो महत्तरं सुकृतं कृतमहो, यं जनमुद्दिश्य तवापि पादौ पद्यारजःसु मार्गधूलिषु पद्मस्रजं पद्ममालामारभेते कुर्वाते अहो यं जनमुद्दिश्यागतस्त्वं स धन्यो वक्तव्य इति तात्पर्यम् ॥ ४७ ॥

अन्वयः—अहो केन जनेन महीजगत्याम् इयत् महीयः सुकृतं कृतं यत् उद्दिश्य तव अपि पादौ पद्यारजःसु पद्मस्रजम् आरभेते ?

हिन्दी—अरे, किस व्यक्ति ने भूतल पर इतना बड़ा पुण्य किया है, जिसके उद्देश्य से तुम्हारे भी चरण पथ-धूलियों में कमल-मालाएँ रच रहे हैं ?

टिप्पणी—चरणों की तुलना कमलों से की जाती है। नल के पैरों की छाप मार्ग की धूल पर उभरी, वही नल-चरणों द्वारा गूंथी जाती कमलमाला है। दमयन्ती आशय यह है कि नल किस व्यक्ति के उद्देश्य से धरती पर इतस्ततः घूम रहा है ? विश्वास यह है कि सुकृती स्वर्ग में रहते हैं, अब इस भूतल में कहाँ से, कौन ऐसा पुण्यात्मा व्यक्ति जनम गया, जिसके लिए नल जैसा व्यक्ति यों मारा-मारा फिर रहा है ? पूर्वार्द्ध में 'महीमहेन्द्रमहः' भी पाठांतर है। अर्थ हुआ-हे पृथ्वी के इंद्र (नल) के समान तेजस्वी ! (संबोधन)। 'पद्या' अर्थात् पगडंडी, मार्ग। 'पदमस्मिन् दृश्यम्' (जिसमें पैर दृश्य हो। पादाय हिता पद्या। 'शरीरावयवाद्यत (अष्टा ५।१।६) के अनुसार 'यत्'। 'सरणिः पद्धतिः पद्या।' (अमरकोष)। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥४७॥

ब्रवीति मे किं किमियं न जाने सन्देहदोलामवलम्ब्य संवित् ।
कस्यापि धन्यस्य गृहातिथिस्त्वमलीकसम्भावनयाथवालम् ॥ ४८ ॥

जीवातु—ब्रवीतीति । इयं मे संवित् बुद्धिः सन्देहमेव दोलामस्मदुद्देशेन वा अन्योद्देशेन वा आगतस्त्वमित्येवंरूपामवलम्ब्य आरुह्य किं किं ब्रवीति किमपि किमपि तर्कयतीत्यर्थः। अतो न जाने न निश्चिनोमि । अथवा अलीकसम्भावनया मिथ्यावितर्केणालं तत्साध्यं नास्तीत्यर्थः। अत एव गम्यमानसाधनत्वापेक्षया करणत्वात् त्वमेवानुकम्पस्वेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—इयं मे संवित् सन्देहदोलाम् अवलम्ब्य न जाने किं किं ब्रवीति ? अथवा अलीकसम्भावनया अलम्, त्वं कस्य अपि धन्यस्य गृहातिथिः ।

हिन्दी—यह मेरी चेतना संशय के झूले पर झूल कर न जाने क्या-क्या कहती है ? अथवा झूठी संभावनाएँ व्यर्थ है, तुम किसी धन्य (लोकोत्तर भाग्य शाली) के घर के अतिथि हो ?

टिप्पणी—दमयन्ती के मन में बार-बार यह उठता है कि यह नल और उस (दमयन्ती) के उद्देश्य से ही आया है, परन्तु फिर लगता है कि वह अभिलषित कल्पनामात्र है, नल भला क्यों यहाँ आयेगा ? संदेह में पड़ी दमयन्ती कुछ निश्चित नहीं कर पा रही है। अतः सोचती है और कहती है कि कल्पनाएँ व्यर्थ हैं, नल ही बताये कि वह किस व्यक्ति को अतिथि बनकर धन्य करेगा ? दमयन्ती का ऐसा सौभाग्य कहाँ कि नल वहाँ आये ? विद्याधर के अनुसार आक्षेप अलंकार ॥ ४८ ॥

प्राप्तैव तावत् तव रूपसृष्टं निपीय दृष्टिर्जनुषः फलं मे ।
अपि श्रुती नामृतमाद्रियेतां तयोः प्रसादीकुरुषे गिरश्चेत् ॥ ४९ ॥

जीवातु—प्राप्तैवेति । तावन्मे दृष्टिः तव रूपेणाकारेण सृष्टमुत्पादितममृतं निपीय जनुषो जन्मनः फलं प्राप्तैव । अथ श्रुती श्रोत्रे अप्यमृतं नाद्रियेतान्न पिबेतां किमिति काकुः पास्यत एवेत्यर्थः । चेद्यदि तयोः श्रुत्योः गिरं वाक्यं प्रसादीकुरुषे किमपि वदसीत्यर्थः । सर्वथा प्रश्नोत्तरदानं उचितमेवेत्यर्थः ॥

अन्वयः—मे दृष्टिः तव रूपसृष्टम् अमृतं निपीय तावत् जनुषः फलं प्राप्ता एव, गिरः तयोः प्रसादीकुरुषे चेत् श्रुती अपि न आद्रियेताम् ?

हिन्दी—मेरी दृष्टि ने तुम्हारे रूपजनित अमृत का पान कर प्रथम ही जन्म का फल पा लिया, यदि (आपके) वचन उन पर प्रसन्न हों तो कान भी अमृत पान न करेंगे ? (करेंगे ही)।

टिप्पणी—नल का लोकोत्तर रूप सादर निरखकर दमयन्ती ने माना कि अमृततुल्य महत्वपूर्ण उसके रूप से नयन तो कृतार्थ हो गये, अब कृपापूर्वक नल कुछ बोले भी जिससे वचनामृत-पान कर कानों का जन्म भी सफल हो सके। भाव यह है कि दमयन्ती की जिज्ञासाओं का समाधान करने की कृपा

की जाय। मल्लिनाथ के अनुसार काकुवक्रोक्ति, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥४९॥

इत्थं मधूत्थं रसमुद्गिरन्ती तदोष्ठबन्धूकधनुर्विसृष्टा।
कर्णात्प्रसूनाशुगपञ्चबाणी वाणीमिषेणास्य मनो विवेश ॥ ५० ॥

जीवातु—इत्थमिति। इत्थं मधुनः क्षौद्रादुत्थमुत्पन्नम्। 'आतश्चोपसर्गे' इति कप्रत्ययः। रसं तत्सदृशं रसमुद्गिरन्ती स्रवन्ती तस्या ओष्ठ एव बन्धूकं बन्धुजीवकुसुमम्। 'बन्धूको बन्धुजीवः' इत्यमरः। तदेव धनुः तेन विसृष्टा मुक्ता प्रसूनाशुगस्य कुसुमेषोः पञ्चानां बाणानां समाहारः पञ्चबाणी। 'तद्धितार्थ' इत्यादिना समाहारे द्विगुः। अकारान्तोत्तरपदत्वात्स्त्रियां 'द्विगोः' इति ङीष् वाणीमिषेण वाग्व्याजेनास्य कर्णात् कर्णं प्रविश्य ल्यब्लोपे पञ्चमी। अस्य नलस्य मनो विवेश कर्णद्वारा प्रविवेशेत्यर्थः ॥ ५० ॥

अन्वयः—इत्थं मधूत्थं रसम् उद्गिरन्ती तदोष्ठबन्धूकधनुर्विसृष्टा प्रसूनाशुगपञ्चबाणी वाणीमिषेण कर्णात् अस्य मनः विवेश।

हिन्दी—इस प्रकार अमृत-मधु-रस झरती उस (दमयन्ती) के ओठ रूप बन्धूक पुष्प (दोपहरी का फूल-गुलेदुपहरी) रूप धनुष् से छोड़ी कुसुम बाण (काम) की पंचबाणी (पाँचों बाण) (दमयन्ती) के वचनों के व्याज से कान के मार्ग से इस (नल) के मन में प्रविष्ट हो गयी।

टिप्पणी—दमयन्ती के कहे गये इतने शिष्ट और मधुर वचन—अमृतमधुमयी वाणी)—सुन कर नल पूर्ण मुग्ध हो गया और दमयन्ती को पाने को इतना उत्कंठित हो गया कि विलम्ब-व्यथा उसे ऐसी पीडित करने लगी, जैसे कि काम के एक साथ पाँचों बाण दमयन्ती की वाणी के व्याज से उसके अंतस् में घुस गये हों। आश्चर्य कि मधुमयी वाणी और व्यथा! भाव यह कि वचनमात्र सुनकर नल कामना से उद्दीप्त हो गया। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास रूपक और अपह्नुति अलंकार हैं ॥५०॥

अमज्जदालज्जमसौ सुधासु प्रियं प्रियायां वदनान्निपीय।
द्विषन्मुखेऽपि स्वदते स्तुतिर्या तन्मिष्टता नेष्टमुखेत्यमेया ॥ ५१ ॥

जीवातु—अमज्जदिति। असौ नलः प्रियाया वदनात् प्रियं प्रियवाक्यं निपीय सुधासु आमज्जं मज्जानं धातुमाभिव्याप्येत्यर्थः। अभिविधावव्ययीभावः।

'अनश्च' इति समासान्तष्टच् । अमज्जदमृतास्वादसुखमन्वभूदित्यर्थः । तथा हि—द्विषन्मुखेऽपि तन्मुखतश्चेदित्यर्थः । या स्तुतिः स्वदते स्वादुर्भवति इष्टमुखे प्रियजनमुखे तु तस्याः स्तुतेर्मिष्टता स्वादुता अमेया अपरिच्छेद्या न किमिति काकुः ? अपि तु परिच्छेत्तुमशक्यैवेत्यर्थः । अत्रेष्टमुखस्तुतेः द्विषन्मुखस्तुत्यपेक्षया कैमुत्येन स्वादुत्वोत्कर्षप्रतिपादनादर्थापत्त्यलङ्कारः । तस्य वाक्यभूतस्य आमज्जं सुधामज्जनहेतुत्वाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमिति सङ्करः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—प्रियायाः वदनात् प्रियं निपीय असौ सुधासु आमज्जम् अमज्जत्, या स्तुतिः द्विषन्मुखे अपि स्वदते, इष्टमुखे तु तन्मिष्टता अमेया न ?

हिन्दी—प्रिया (दमयन्ती) के मुख से (निःसृत) प्रिय (वचनामृत) का सादर पान कर यह (नल) अमृत प्रवाह में मज्जापर्यंत (भीतर तक, पूर्णतः) मग्न हो गया। जो प्रशंसावचन शत्रु के मुख में भी (शत्रु कथित होने पर भी) स्वाद देते हैं (अच्छे लगते हैं), प्रिय मुखोक्त होने पर तो उनकी मिठास क्या अपरिमेय—परिमाणातीत न होगी ? होगी ही।

टिप्पणी—दमयन्ती द्वारा कहे गये प्रशंसा भरे मुग्धवचन सुन कर नल को परमानन्द प्राप्त होना एक स्वाभाविक स्थिति थी। प्रशंसा तो शत्रु भी करे तो भली लगती है और प्रियजन के प्रिय मुख से प्रशंसा सुनना तो अत्यधिक आनन्ददायी होता है। 'आमज्जम्' के स्थान में पाठांतर 'आकण्ठम्' भी है अर्थात् 'गले तक अमृत प्रवाह में डूब गया।' मल्लिनाथ ने काकु के साथ साथ अर्थापत्ति और वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिंग के संकर का निर्देश किया है, क्योंकि शत्रुमुख स्तुति की अपेक्षा प्रियमुखस्तुति में स्वादुतोत्कर्ष का उपपादन हुआ है और यह वाक्यभूत आमज्जसुधामज्जन के हेतु रूप में कथित है। विद्याधर ने अर्थान्तरन्यास का उल्लेख किया है ॥ ५१ ॥

पौरस्त्यशैलं जनतोपनीतां गृह्णन् यथाहर्पतिरर्घ्यपूजाम् ।
तथातिथेयीमथ संप्रतीच्छन्नस्या वयस्यासनमाससाद ॥ ५२ ॥

जीवातु—पौरस्त्येति । अथ नलः अह्नः पतिः अहर्पतिः सूर्यः 'अहरादीनां पत्यादिषूपसङ्ख्यानम्' इति रेफादेशः । यथा जनानां समूहो जनता । 'ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल्' । तया उपनीतां समर्पिताम् अर्घार्थं जलमर्घ्यं 'पादार्घाभ्यां च' इति यत्प्रत्ययः । तदेव पूजां तां गृह्णन् स्वीकुर्वन् पुरो भवः पौरस्त्यः

'दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक्' । तं शैलमुदयाद्रिमाससादेति शेषः । तथा अतिथिषु साधुमातिथेयीं पूजां, 'पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्' । सम्प्रतीच्छन् प्रतिगृह्णन् अस्या भैम्याः वयसा तुल्या सखी 'नौवयोधर्मे'त्यादिना यत्प्रत्ययः । तस्या आसनमाससाद । न तु भैम्याः दूत्यावस्थायामनौचित्यादिति भावः । उपमालंकारः ॥५२॥

अन्वयः—अथ अहर्पतिः जनतोपनीताम् अर्घ्यपूजां गृह्णन् यथा पौरस्त्यशैल तथा आतिथेयीं संप्रतीच्छन् अस्याः वयस्यासनम् आससाद ।

हिन्दी—इसके उपरांत दिन का स्वामी (सूर्य) जनसमूह—जनता द्वारा अर्पित अर्घ्य-(जल)-पूजा को ग्रहण करता जैसे पुरोभवपर्वत (उदयाचल) पर आरूढ हो जाता है, वैसे ही अतिथि-सत्कार को स्वीकारता (नल) इस (दमन्ती) की सखी द्वारा (पाठांतर 'प्रियार्पितामासनम्'—प्रिया द्वारा) समर्पित आसन पर विराजित हो गया ।

टिप्पणी—आसन पर बैठते नल की तुलना उदयाचल पर आरूढ होते सूर्य से की गयी है, अर्थात् उदय होते सूर्य सा तेजस्वी नल । मल्लिनाथ के अनुसार उपमा, विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और उपमा । नारायण ने 'प्रियार्पितमासनम्' पाठांतर को इस आधार पर अमान्य ठहराया है कि नल उस काल दूत बन कर गया था, अतः सखी का आसन-ग्रहण ही उचित था, राजनन्दिनी का नहीं—'स्वस्य दूतत्वाद्भैम्यासनं त्यक्त्वा सख्यासनं भेजे ।' नारायण ने 'प्रियार्पिताम्' पाठ मान कर इसे 'आतिथेयीम्' का विशेषण माना है, अर्थात् प्रियार्पित अतिथि-सत्कार और सखी का आसन । मल्लिनाथ ने तो यही माना है कि इसकी सखी का आसन स्वीकारा, भैमी का नहीं, क्योंकि दूत-दशा में वह अनुचित होता ॥ ५२ ॥

अयोधि तद्धैर्यमनोभवाभ्यां तामेव भूमीमवलम्ब्य भैमीम् ।
आह स्म यत्र स्मरचापमन्तश्छिन्नं भ्रुवौ तज्जयभङ्गवार्ताम् ॥ ५३ ॥

जीवातु—अयोधीति । तस्य नलस्य धैर्यमनोभवाभ्यां कर्तृभ्यां तां भैमीमेव रणभूमीमिति व्यस्यरूपकम् । अवलम्ब्य प्राप्य अयोधि भावेलुङ् । यत्र युद्धे युद्धभूमौ वा अन्तर्मध्ये च्छिन्नं भ्रुवौ भैमीभ्रुवावेव स्मरच्चापं पूर्ववद्रूपकं

तयोर्धैर्यमनोभवयोर्जयभङ्गवार्तामाह स्म स्मरचापभङ्गात् स एव भग्न इति भावः। कथञ्चित्कामं निरुध्य धैर्यमेवावलम्बितवानित्यर्थः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—तद्धैर्यमनोभवाभ्यां तां भैमीम् एव भूमीम् अवलम्ब्य अयोधि यत्र अन्तश्छिन्नं भ्रुवौ स्मरचापं तज्जयभङ्गवार्ताम् आह स्म।

हिन्दी—उस (नल) के धीरज और काम ने उस भीमपुत्री-रूप भूमि (रणस्थली) को आधार बनाकर युद्धारम्भ कर दिया, जहाँ मध्य में छिन्न भ्रुकुटि-रूप धनुष् उन (धैर्य-काम) के जय और भंग (पराजय) की बात कह रहा था।

टिप्पणी—दमयन्ती को लेकर नल के धैर्य और काम में युद्ध हो गया, उनमें विजयी हुआ धैर्य और काम हुआ पराजित। यह प्रतीत हुआ दमयन्ती के मध्य में अलग भ्रूयुगल से, जिसकी तुलना है बीच से टूटे काम-चाप से। धैर्य ने कामचाप तोड़ कर फेंक दिया, यही इस रण-परिणाम का सूचक है। दमयन्ती का भ्रूयुगल कामचाप-सदृश है। नल के हृदय में दो विरोधी भावों का संघर्ष दमयन्ती को लेकर था। काम अलग उद्दीप्त था, उधर भद्रजनोचित धैर्य उतावलेपन से रोक रहा था। इसमें विजय पायी नल के धैर्य ने, अर्थात् कामभाव को प्रकट होने से धैर्यधारण कर नल ने रोका और अपनी सहज धीरता से काम लिया। असंलग्न अर्थात् अन्तश्छिन्न भौंहें सामुद्रिक के अनुसार शुभ होती हैं। विद्याधर के अनुसार रूपक और समासोक्ति; चन्द्रकलाकार के अनुसार पूर्वार्द्ध-परार्द्ध में दो व्यस्त रूपकों की संसृष्टि ॥ ५३ ॥

अथ स्मराज्ञामवधीर्य धैर्यादूचे स तद्वागुपवीणितोऽपि।
विवेकधाराशतधौतमन्तः सतां न कामः कलुषीकरोति ॥ ५४ ॥

जीवातु—अथेति। अथ च नलस्तस्या भैम्या वाचा उपवीणितो वीणया उपनीतोऽपि तद्वाग्वीणाकृष्टचित्तोऽपीत्यर्थः। 'सत्यापपाश' इत्यादिना वीणा-शब्दादुपगाने णिचि कर्मणि क्तः। धैर्याद्धैर्यं विधाय ल्यब्लोपे पञ्चमी। स्मर-स्याज्ञामवधीर्य अवज्ञाय ऊचे उवाच। तथा हि-विवेकानां धाराशतैर्धौतं क्षालितं सतां विदुषामन्तरन्तःकरणं कामो न कलुषीकरोति न विकर्तुं शक्नो-तीत्यर्थः। अत्र पूर्वार्धे स्मरधैर्ययोर्धावितचित्तस्य धैर्यनियमनात्परिसङ्ख्या लङ्कारः। 'एकस्य वस्तुनो भावादनेकत्रैकदा यदा। एकत्र नियमः सा हि

परिसङ्ख्या निगद्यते ॥' इति लक्षणात् तस्योत्तरार्धे सामान्येन समर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास इति सङ्करः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—अथ तद्वागुपवीणितः अपि सः धैर्यात् स्मराज्ञाम् अवधीर्य ऊचे, कामः विवेकधाराशतधौतं सताम् अन्तः न कलुषीकरोति ।

हिन्दी—तत्पश्चात् उस (दमयन्ती) की वाणी-वीणा द्वारा प्रशंसा प्राप्त करके भी वह (नल) धैर्य से काम के आदेश की अवज्ञा करके बोला । विवेक-जल की धाराओं से शतवार धोकर उजले किये सज्जनों के अन्तःकरण को काम काला (विकृत) नहीं करता ।

टिप्पणी—यद्यपि दमयन्ती की प्रशंसाभरी वीणा के समान मधुर वाणी सुनकर नल कामनाओं के ज्वार में बहा जा रहा था, तथापि—जैसा कि पूर्व श्लोक में कहा जा चुका है, उसके धैर्य ने उसकी उद्दीप्ति पर विजय पायी और वह संयत हो दमयन्ती को प्रत्युत्तर देने लगा । विवेकी और धैर्यधन साधु जनों के निर्मल अन्तःकरण काम से विकृत नहीं हुआ करते । धीर होते ही वे हैं, जिनके मानस विकार के कारण होने पर भी विकृत नहीं होते—'विकारहेतावपि विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ।' मल्लिनाथ के अनुसार इस पद्य में परिसंख्या और अर्थान्तरन्यास का संकर है । पूर्वार्द्ध में काम और धैर्य—इन दो के द्वारा आक्रान्त चित्त का धैर्य से नियमन है और उत्तरार्द्ध में सामान्य के द्वारा विशेष का समर्थन । विद्याधर ने विशेषोक्ति और अर्थान्तरन्यास का निर्देश किया है ॥ ५४ ॥

हरित्पतीनां सदसः प्रतीहि त्वदीयमेवातिथिमागतं माम् ।
वहन्तमन्तर्गुरुणादरेण प्राणानिव स्वःप्रभुवाचिकानि ॥ ५५ ॥

जीवातु—हरिदिति । मां गुरुणा आदरेण अतिप्रयत्नेन स्वःप्रभूणामिन्द्रादीनां व्याहृतार्था वाचो वाचिकानि सन्देशवाक्यानि 'सन्देशवाग्वाचिकं स्यात्' इत्यमरः । 'वाचो व्याहृतार्थायाम्' इति ठक् । प्राणानिव त्वदीयानित्यर्थः । अन्तरन्तरात्मनि वहन्तं हरित्पतीनामिन्द्रादिदिक्पालानां सदस आस्थानादागतं त्वदीयमेवातिथिं प्रतीहि त्वामेवोद्दिश्यागतं विद्धीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—मां गुरुणा आदरेण स्वःप्रभुवाचिकानि प्राणान् इव अन्तः वहन्तं हरित्पतीनां सदसः आगतं त्वदीयम् एव अतिथिं प्रतीहि ।

हिन्दी—(नल ने कहा)– मुझे (नल को) अत्यन्त आदर के साथ अपने स्वामियों के वाचिकों (संदेशवचनों) को प्राणों के तुल्य अन्तःकरण में धारण करता हुआ, दिक्पालों (इन्द्रादि) की सभा से आया अपना ही अतिथि समझो ।

टिप्पणी—नल ने बड़े ही शिष्टवचनों से दमयन्ती को सूचित किया कि वह इन्द्रादि दिक्पालों का संदेशवाहक बनकर दमयन्ती के समीप ही आया है । इस प्रकार उसने दो प्रश्नों का उत्तर दिया कि वह कहाँ से आया है और किसके निकट आया है ? संदेशवचनों को प्राणतुल्य धारण करता कहकर स्वामी के प्रति आदर प्रकट किया और दूतधर्म का पालन किया । विद्याधर के अनुसार उपमा ।। ५५ ।।

विरम्यतां भूतवती सपर्या निविश्यतामासनमुज्झितं किम् ।
या दूतता नः फलिना विधेया सैवातिथेयी पृथुरुद्भवित्री ।। ५६ ।।

जीवातु—विरम्यतामिति । सपर्या पूजा भूतवती भूतैव । भवतेः क्तवतु-प्रत्यये ङीप् । विरम्यतामवसीयतां भावे लोट् । निविश्यतां उपविश्यतां किं किमर्थमासनमुज्झितं त्यक्तम् ! फलिना फलवती, 'फलबर्हाभ्यामिनज्वक्तव्यः' । विधेया कर्तव्या नोऽस्माकं या दूतता दूत्यं सैव पृथुर्महती आतिथेयी अतिथिपूजा उद्भावित्री भाविनी ।। ५६ ।।

अन्वयः—विरम्यतां, सपर्या भूतवती; निविश्यताम्, आसनं किम् उज्झितम् ? या नः दूतता फलिना विधेया, सा एव पृथुः आतिथेयी उद्भवित्री ।

हिन्दी—बस कीजिए, पूजा हो गयी; बैठ जाइए, आसन क्यों छोड़ दिया ? जो हमारा दूतकार्य सफल होगा, वही बड़ा अतिथि-सत्कार होगा ।

टिप्पणी—दमयन्ती ने जो कुछ अतिथि के आदरार्थ किया—आसनादि से उठकर खड़ा हो जाना आदि, नल ने निवेदन किया कि अब ऐसा कष्ट न कीजिए । उपचार—शिष्टाचार तो पर्याप्त हो गया । दूतकार्य यदि सफल बनायेंगी तो वही अतिथिसत्कार होगा । विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ।। ५६ ।।

कल्याणि ! कल्यानि तवाङ्गकानि कच्चित्तमां चित्तमनाविलं ते ।
अलं विलम्बेन गिरं मदीयामाकर्णयाकर्णतटायताक्षि ।।५७।।

जीवातु—कल्याणीति । हे कल्याणि ! भद्रे ! तवाङ्गकानि कोमलान्यङ्गानि कल्यानि पटूनि कच्चित्तमां ? कच्चिदिति प्रश्नार्थमव्ययम् । 'कच्चित्काम-प्रवेदने' इत्यमरः । तस्मात् 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' इति तमप् । 'किमेत्तिङव्ययघात्' इत्यामुप्रत्ययः । किञ्च ते चित्तमनाविलमकलुषं कच्चित्तमाम् । आकर्णतटात्कर्णतटपर्यन्तं मर्यादायामव्ययीभावः । ततः 'सुप्सुपा' इति समासे आकर्णतटायते अक्षिणी यस्याः सेति 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्,' 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीप् । 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' हे आकर्णतटायताक्षि ! विलम्बेनालं मदीयां गिरमाकर्णय ।। ५७ ।।

अन्वयः—कल्याणि, तव अङ्गकानि कल्यानि कच्चित्तमाम्, ते चित्तम् अनाविलम् ? आकर्णतटायताक्षि, विलम्बेन अलं, मदीयां गिरम् आकर्ण ।

हिन्दी—भद्रे, तेरे कोमल अंग नीरोग हैं ? तेरा चित्त निर्मल है ? (स्वस्थ है ?) हे कानों तक फैले नयनों वाली, विलब न करो, मेरा कथन सुनो ।

टिप्पणी—सामान्य शिष्टाचार के अनुसार स्वस्थताविषयक प्रश्न और झटिति मूल बात पर आ जाने का प्रस्ताव, जिससे सदेशवाक्य तुरंत कहा जा सके । विद्याधर के अनुसार उल्लेखनीय अलंकार छेकानुप्रास ।। ५७ ।।

कौमारमारभ्य गणा गुणानां हरन्ति ते दिक्षु धृताधिपत्यम् ।
सुराधिराजं सलिलाधिपञ्च हुताशनञ्चार्यमनन्दनञ्च ।। ५८ ।।

जीवातु—कौमारमिति । हे भैमि ! कौमारं नवं कुमारवयम् आरभ्य 'प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ्' । ते तव गुणानां गणाः दिक्षु धृताधिपत्यम् दिशामधीशम् सुराधिराजमिन्द्रं सलिलाधिपं वरुणञ्च हुताशनमग्निञ्च अर्यमनन्दनं सूर्यतनयं यमञ्च हरन्ति आकर्षयन्ति ।। ५८ ।।

अन्वयः—कौमारम् आरभ्य ते गुणानां गणाः दिक्षु धृताधिपत्यं सुराधिराजं सलिलाधिपं च हुताशनम् च अर्यमनन्दनं च हरन्ति ।

हिन्दी—कौमार्य अवस्था से लेकर तुम्हारे गुणों का समूह दिशाओं का अधिपतित्व धारण करने वाले (दिक्पाल) देवराज (इन्द्र), जलों के स्वामी (वरुण), आहुत के भोजी (अग्नि) और अर्यमा (सूर्य) के नन्दन (यम) को आकृष्ट कर रहे हैं ।

टिप्पणी—नल ने इन्द्र, वरुण, अग्नि और यम—चारों के चिरकाल से

दमयन्ती पर अनुरक्त होने की बात बतायी। गुण (सौन्दर्यादि) रूप गुण (रज्जु) ने चारों देवों को खींच रखा है। विशेषभावद्योतक विशेषणों से देवों के दोषों का भी व्याजेंगित हो गया—इन्द्र सुरों के राजा 'सुराणाम् अधिराजः' तो हैं ही 'सुरायाः अधिराजः' मदिरा के राजा भी हैं—घोर मद्यपी; वरुण सलिलाधिप हैं—चारो ओर पानी ही पानी, एकदम जड़; अग्नि तो जो भी हुत हो, निकट हो, उसे खा जाता है और यम तो अर्यमा (सूर्य, तप्त करने वाले) का बेटा ही है विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छेकानुप्रास ॥ ५८ ॥

चरच्चिरं शैशवयौवनीयद्वैराज्यभाजि त्वयि खेदमेति।
तेषां रुचश्चौरतरेण चित्तं पञ्चेषुणा लुण्ठितधैर्यवित्तम् ॥ ५९ ॥

जीवातु—चरदिति। शैशवयौवनयोरिदं शैशवयौवनीयं, 'वृद्धाच्छः' तच्च तत् द्वैराज्यं द्वयो राज्ञो (कर्म) ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्प्रत्ययः। तद्भाजि शैशवयौवनाख्यराज्यद्वयाक्रान्तायामित्यर्थः। एतेनास्या वयःसन्धिरुक्तः, तस्यां त्वयि चिरं चरद्वर्तमानं तेषामिन्द्रादीनां चित्तं (कर्तृ) रुचः कान्तेश्चौरतरेण विरहितेजोहारिणेत्यर्थः। पञ्चेपुणा लुण्ठितधैर्यवित्तम् अपहृतधैर्यधनं सत् खेदमेति द्वैराज्ये प्रजानां चोरबाधा जायत इति भावः। वयोद्वयद्वैराज्ये पञ्चेपुणा चोरेण तेषां धैर्यवित्तं हृतमिति रूपकम्। तद्धेतुकत्वात् खेदस्य वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमिति सङ्करः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—शैशवयौवनीयद्वैराज्यभाजि त्वयि चिरं चरत् तेषां रुचः चौरतरेण पञ्चेषुणा लुण्ठितधैर्यवित्तं चित्तं खेदम् एति।

हिन्दी—बाल्यावस्था और यौवन—इन दो राज्यों में स्थित तुझ पर बहुत समय से आया उन (इन्द्रादि) का कान्ति के महाचोर पंचबाण (काम) द्वारा जिसका धैर्य रूप धन लूट लिया गया है, ऐसा—चित्त खिन्नता को प्राप्त हो रहा है।

टिप्पणी—जो दो राज्यों के मध्य विचरण करता है, सीमा पर किसी राजा का स्वामित्व न होने के कारण, ऐसे यात्री को कोई धनुर्धर चोर लूट सकता है। दमयन्ती इस समय दो राजाओं की सीमाभूमि है—शैशव की, यौवन की। पूर्ण अधिकार किसी का नहीं है। इन्द्रादि उस भूमि पर विचरण

करते हैं, सो पुष्पधन्वा कामचोर ने शरीरकान्ति, धैर्य लूट लिया। भाव यह कि वय:संधि की आयु में स्थित सुन्दरी दमयन्ती पर आकृष्ट देव उसके वियोग में खिन्न हैं। वयोद्वयराज्य में पञ्चेषु-चोर ने धैर्य वित्त हर लिया, यह रूपक है और खेद उसका कारण है। यह वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिंग है; अत: मल्लिनाथ के अनुसार रूपक-काव्यलिंग का संकर। विद्याधर के अनुसार अन्योक्ति अलंकार ।। ५९ ।।

तेषामिदानीं किल केवलं सा हृदि त्वदाशा विलसत्यजस्रम् ।
आशास्तु नासाद्य तनूरुदारा: पूर्वादय: पूर्ववदात्मदारा: ।। ६० ।।

जीवातु—तेषामिति । इदानीं तेषामिन्द्रादीनां हृदि सा प्रसिद्धा त्वदाशा केवलं त्वय्यतितृष्णा एव आशा दिक् च । 'आशा दिगतितृष्णयो:' इति वैजयन्ती । अजस्रं विलसति किल विजृम्भते खलु । आत्मदारा: स्वभार्या: पूर्वादय: प्राच्यादय: आशा दिशस्तु उदारा: दक्षिणा महतीश्च तनूरासाद्य पूर्ववत् हृदि न विलसन्ति । 'उदारो महति ख्याते दक्षिणे दानशौण्डके' इति वैजयन्ती । अपूर्वनायिकानुरक्ते हृदि पूर्वानायिकाश्चतुरा अपि न लगन्ति । तथा महत्यो दिश: परमाणौ हृदि न लगन्तीति च भाव: । त्वदाशापरवशास्ते स्वकीयं प्राच्याद्याशापरिपालनाधिकारमपि विस्मृत्य स्थिता इति तात्पर्यार्थ: । अत्रो-भयोराशयोरेकत्र हृदि प्राप्तौ एकस्या भैम्याशाया एव तन्नियमनात्परिसङ्ख्या । यद्यप्येकस्य उभयत्र प्राप्तावेकत्र नियमनं परिसङ्ख्येत्यालङ्कारिणां लक्षणं तथापि मीमांसकैरुभयोरेकत्र प्राप्तावेकस्यैव नियमनमित्यङ्गीकाराच्चमत्कार-कारित्वाविशेषाच्च उपलक्षणत्वेनोभयाङ्गीकारे को विरोध: ? अथवा एकस्य हृदयस्य आशाद्वयप्राप्तावेकत्रैव नियमानाद्वापि लभ्यत इति सर्वथा परिसङ्ख्या समस्त्येव । सा च श्लिष्टशब्दोपात्तयोरभेदाध्यवसायाच्छ्लेषभित्तिकाभेदरूपा-तिशयोक्त्युत्थापितेति सङ्कर: ।। ६० ।।

अन्वय:—इदानीं तेषां हृदि सा त्वदाशा किल केवलम् अजस्रं विलसति, आत्मदारा: पूर्वादय: आशा: तु उदारा: तनू: आसाद्य पूर्ववत् न ।

हिन्दी—इस काल उन (इन्द्रादि) के हृदय में वह तेरी आशा (दमयंती की तृष्णा) ही निश्चयत: निरन्तर विलसती रहती है, अपनी पूर्वा (प्राची)

आदि आशाएँ (दिशाएँ) तो श्रेष्ठ और सुन्दर शरीर पाकर भी पहिले के समान भली नहीं लगतीं।

टिप्पणी—इन्द्रादि को अब नयी दमयन्ती प्रिया की तृष्णा है, वे अपनी पुरानी प्रियाओं को सुन्दरी होने पर भी अब नहीं चाहते। नयी के संमुख पुरानी प्रिया उन्हें नहीं सोहती। एक दमयन्ती की आशा में सब आशाएँ छोड़े बैठे हैं बेचारे। इन्द्र की प्रिया पूर्वा (प्राची दिशा), वरुण की प्रतीची, अग्नि की उत्तर दिशा और यम की दक्षिणाशा है। भाव यह कि इन्द्रादि दिक्पाल अब तेरी चिन्ता में अपनी-अपनी दिक्पालता बिसराये बैठे हैं। यहाँ एक हृदय में दोनों आशाओं की प्राप्ति होने पर एक दमयन्ती की आशा का ही नियमन होने से मल्लिनाथ के अनुसार परिसंख्या अलंकार है। वह श्लेष (आशा=दिशा, अतितृष्णा) के अभेदाध्यवसाय से अतिशयोक्ति के साथ है, अतः अंगांगिभाव संकर है। विद्याधर के अनुसार सम्बन्धरूपातिशयोक्ति है ॥ ६० ॥

अनेन सार्धं तव यौवनेन कोटिं परामच्छिदुरोऽध्यरोहत्।
प्रेमापि तन्वि ! त्वयि वासवस्य गुणोऽपि चापे सुमनःशरस्य ॥६१॥

जीवातु—अनेनेति। हे भैमि ! वासवस्य त्वय्यसीमा निरवधिः प्रेमा अनुरागोऽपि तवानेन यौवनेन सार्धमच्छिदुरोऽविच्छिन्नः सन्। 'विदिभिदिच्छिदेः कुरच्'। परां कोटिमुत्कर्षमध्यरोहत्। तथा सुमनःशरस्य पुष्पेषोश्चापे गुणो मौर्व्यपि परामुत्तरां कोटिमटनिमध्यरोहत्। 'अत्युत्कर्षाश्रयः कोटयः' इत्यमरः। अत्र प्रेमगुणयोः प्रकृतयोरेव विशेषणसाम्येनौपम्योपगमात् केवलप्रकृतविषया तुल्ययोगिता तयोरेव परां कोटिमिति श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायरूपादतिशयोक्तिमूला यौवनेन सार्धमिति सहार्थसम्बन्धोक्तेः सहोक्तिरित्यनयोः सङ्करः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—त्वयि अच्छिदुरः वासवस्य प्रेमा अपि तव अनेन यौवनेन सार्धं परां कोटिम् अध्यरोहत्, सुमनःशरस्य चापे गुणाः अपि।

हिन्दी—तेरे (दमयन्ती) प्रति अत्यन्त दृढ़ (असीम) इन्द्र का अनुराग भी तेरे इस (प्रत्यक्षदृश्य) यौवन के साथ पराकाष्ठा को पहुँच गया है और कुसुमबाण (काम) के धनुष् पर प्रत्यंचा भी परा (द्वितीया) कोटि (कोर,

अटनि, डोरी बांधने के लिए धनुष् के किनारे पर बना गढ्ढा) पर पहुँच गयी है ।

टिप्पणी—साठवें श्लोक तक सामूहिक रूप से देवदूतता संपादन करके इकसठवें से सत्तरवें श्लोक तक इन्द्र का दूतत्व-प्रतिपादन है। भाव यह है कि जैसे-जैसे दमयन्ती का यौवन उत्कर्ष को प्राप्त हो पराकाष्ठा को पहुँचा, इन्द्र का उस पर अनुराग भी परा कोटि को पहुँच गया और पुष्पधन्वा काम ने भी जगत् को वशीभूत करने के लिए अपने धनुष् की प्रत्यंचा बाण छोड़ने के लिए खींच ली। इन्द्रादि को पराभव देने के लिए काम ने भी धनुष् पर डोरी चढा दी। मल्लिनाथ के अनुसार इस पद्य में तुल्ययोगिता और सहोक्ति का संकर है, क्योंकि यहाँ प्रकृत (प्रस्तुत) प्रेम और गुण में विशेषण-समानता से औपम्य के उपगम के कारण केवलप्रकृतविषया तुल्ययोगिता है और उन प्रेम-गुण में 'परां कोटिम्'—इस श्लेषाधृत अभेदाध्यवसाय रूप अतिशयोक्ति मूलक 'यौवनेन सार्धम्' (यौवन के साथ)—यह सहार्थ संबंध-कथन होने से सहोक्ति है। विद्याधर के अनुसार सहोक्ति-श्लेष-तुल्ययोगिता अलंकार हैं ॥६१॥

प्राचीं प्रयाते विरहं दधत्ते तापाच्च रूपाच्च शशाङ्कशङ्की ।
परापराधैर्निदधाति भानौ रुषारुणं लोचनवृन्दमिन्द्रः ॥ ६२ ॥

जीवातु—प्राचीमिति। इन्द्रस्ते विरहं दधत् दधानः सन् अत एव प्राचीं दिशं प्रयाते प्राप्ते भानावधिकरणे तापाच्चन्द्रस्यापि विरहितापकारकत्वादिति भावः। रूपाच्च उदयकाले उभयोरपि रक्तत्वादिति भावः। शशाङ्कशङ्की चन्द्र इति भ्रान्त्या परापराधैश्चन्द्रदोषैस्तापादिभिः हेतुभिः रुषाऽरुणं लोचनवृन्दं निदधाति क्रोधाद्दहन्निव अक्षिसहस्रेणापीक्षत इत्यर्थः। क्रोधान्धस्य कुतः सापराधानपराधविवेक इति भावः। अत्र कविसम्मतसादृश्येन भानौ शशाङ्कभ्रमाद् भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—इन्द्रः ते विरहं दधत् प्राचीं प्रयाते भानौ तापात् रूपात् च शशाङ्कशङ्की परापराधैः रुषा अरुणं लोचनवृन्दं निदधाति।

हिन्दी—इन्द्र तेरे बिरह को धारण करता, पूर्व में स्थित सूर्य पर ताप दायक होने और (साम्य) होने के कारण (सूर्य में) चन्द्रमा की भ्रांति करता दूसरे के अपराधों के कारण रोष से लाल-लाल नेत्र कर लेता है।

टिप्पणी——दमयन्ती के विरह में पीडित इन्द्र को रात्रि में तो चन्द्रमा व्यथा देती ही है, प्रभात में जब तापदायक लाल सूर्य पूर्व दिशा में उदित होता है, तब रूप-साम्य और संतापदायक होने से सूर्य में चन्द्रमा के भ्रम से उस पर ही क्रुद्ध हो वह अपने लाल नेत्रों से क्रोध दिखाता है। इस प्रकार जैसे रात में, वैसे ही दिन में भी इन्द्र दमयन्ती के विरह में कष्ट पाता रहता है। रात्रि-जागरण करते इन्द्र की आँखें लाल होनी ही उचित है और क्रोध में—कष्ट में विवेकशून्य होने से भ्रम में पड़ा इन्द्र चन्द्र के अपराध पर सूर्य से क्रुद्ध हो ही सकता है। अन्य का अपराध, अन्य पर रोष। इस पद्य में मल्लिनाथ के अनुसार कविसंमतसादृश्य से सूर्य में चन्द्रमा का भ्रम होने से भ्रांतिमत् अलंकार है ॥ ६२ ॥

त्रिनेत्रमात्रेण रुषा कृतं यत्तदेव योऽद्यापि न संवृणोति।
न वेद रुष्टेऽद्य सहस्रनेत्रे गन्ता स कामः खलुः कामवस्थाम् ॥ ६३ ॥

अन्वयः——त्रिनेत्रेति। त्रिनेत्र एव त्रिनेत्रमात्रः। 'मात्रं कात्स्न्र्येऽवधारणे' इत्यमरः। तेन तन्मात्रेण रुषा यत्कृतमनङ्गत्वमिति भावः। तदेव यः कामोऽद्यापि न संवृणोति नाच्छादयितुं शक्नोतीत्यर्थः। स कामोऽद्य सहस्रनेत्रे इन्द्रे रुष्टे क्रुद्धे सति कामवस्थां दशां गन्ता गमिष्यति। गमेर्लुट्। न वेद न जाने खलु। वाक्यार्थः कर्मः। 'विदो लटो वा' इति मिपो णलादेशः। त्रिनेत्रमास्कन्द्य नष्टः कामः सहस्रनेत्रं कथं जेष्यतीत्यर्थः। कामस्त्वत्कृते निःशङ्कमिन्द्रं दुःखाकरोतीति तात्पर्यार्थः ॥ ६३ ॥

अन्वयः—त्रिनेत्रमात्रेण रुषा यत् कृतं तत् एव यः अद्य अपि न संवृणोति सः कामः अद्य सहस्रनेत्रे रुष्टे काम् अवस्थां खलु गन्ता——न वेद।

हिन्दी——तीन नेत्र मात्र धारण करते (शिव) ने क्रोध से जो किया, वह (देहदाह) ही जो आज भी सँभाल नहीं पा रहा, वह काम आज सहस्रनयन (इन्द्र) के रुष्ट हो जाने पर किस अवस्था को प्राप्त होने वाला है—मैं (नल) वह समझ नहीं पा रहा।

टिप्पणी——केवल तीन नेत्र वाले शिव ने तो काम-दाह करके उसे अनंग बना दिया। काम इस हानि की पूर्ति आज तक न कर पाया। अब सहस्र नयन धारी इन्द्र को पीडा देकर काम किस दशा को प्राप्त होगा—यह नल समझ

नहीं पाता। स्वाभाविक है कि तीन नेत्रधारी की अपेक्षा सहस्र नेत्र धारी का क्रोध अधिक भयानक होगा और अधिक कष्टकर, परन्तु शरीर-भस्म होने से अधिक और बड़ा दंड हो ही क्या सकता है ? भाव यही है कि निःशंक काम इन्द्र को अत्यंत कष्ट दे रहा है, काम को और बड़े दंड से यदि दमयंती बचाना चाहती है तो इन्द्र का अनुराग उसे स्वीकार्य होना उचित है। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ६३ ॥

पिकस्य वाङ्मात्रकृताद्व्यलीकान्न स प्रभुर्नन्दति नन्दनेऽपि।
बालस्य चूडाशशिनोऽपराधान्नाराधनं शीलति शूलिनोऽपि ॥ ६४ ॥

जीवातु—पिकस्येति। सः प्रभुरिन्द्रः पिकस्य कोकिलस्य वाङ्मात्रकृतात् न तु कामवत् कायकृतादिति भावः। व्यलीकादप्रियान्ननन्दने नन्दनाख्ये आनन्दकरेऽपीति गम्यते। वने न नन्दति किमुतान्यत्रेति भावः। किञ्च बालस्य कृशस्य चूडाशशिनोऽपराधात् अपकारात् सन्तापरूपात् किमुत पूर्णेन्दोरिति भावः। शूलिनः शिवस्याप्याराधनं पूजां न शीलति नाचरति। 'शीलसमाधौ' इति भौवादिकाल्लट्। इन्द्रो विरहपारवश्यादावश्यकं किमपि कर्म न करोतीत्यर्थः। अत्रानन्दशिवाराधनसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥ ६४ ॥

अन्वयः—प्रभुः सः पिकस्य वाङ्मात्रकृतात् व्यलीकात् नन्दने अपि न नन्दति, बालस्य चूडाशशिनः अपराधात् शूलिनः अपि आराधनं न शीलति।

हिन्दी—सामर्थ्यवान् वह (इन्द्र) कोकिल के वचन (बोल) मात्र द्वारा कृत अप्रिय (कार्य) से नंदन (आनन्दित करनेवाले) में भी आनन्दित नहीं होता और बालक (एक कलावान्), चूडा में स्थित चन्द्र के अपराध के कारण शूलधारी शिव की भी आराधना नहीं करता।

टिप्पणी—दमयंती के विरह में सर्वसामर्थ्यशाली स्वर्गराज इन्द्र आनन्द-दायक नन्दन कानन (नन्दयतीति नन्दनः) में भी कोकिल स्वर होने के कारण आनन्द नहीं पाता और यद्यपि शिव शूली हैं, तथापि वे कष्टकारक (बाल ही सही) चन्द्र को चूडा में धारे हैं, अतः इन्द्र उनकी पूजा भी नहीं करता। कोकिलरव और चन्द्र—दोनों ही विरहिजनों को पीडा देते हैं, अतः इन्द्र इनकी छाया मात्र से कष्ट पाता है। न उसे नन्दन में आनन्द है और न शूली के पूजनाभाव में क्रुद्ध हो जाने का भय। इन्द्र दमयंती के वियोग में

उद्यान-भ्रमण और पूजापाठ-सदृश दैनिक, नित्य कार्य छोड़ बैठा है। न अब उसे नन्दन (पुत्रसम नन्दित करनेवाले) का ध्यान है और न शिव-रोष का भय। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ आनन्द और शिवाराधन में संबंध होने पर भी असंबंध कथन होने से अतिशयोक्ति है, विद्याधर के अनुसार हेतु और समासोक्ति ॥ ६४ ॥

तमोमयीकृत्य दिशः परागैः स्मरेषवः शक्रदृशां दिशन्ति।
कुहूगिरं चञ्चुपुटं द्विजस्य राकारजन्यामपि सत्यवाचम् ॥ ६५ ॥

जीवातु—तमोमयीति। स्मरेषवः कुसुमेषुबाणाः परागै रजोभिः करणैः दिशः शक्रदृशां सम्बन्धे तमोमयीकृत्य तत्प्रकृतवचने मयडन्तादभूततद्भावे च्विः। अत एव विरुद्धमतोरसम्बन्धे तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः। कुहूः कुह्वाख्या गीः कूजितं यस्य। अन्यत्र तु कुहूरमावास्येति गीर्वचनं यस्य। 'कुहूः स्यात्कोकिलालापनष्टेन्दुकलयोरपि' इति विश्वः। तस्य द्विजस्याण्डजस्य कोकिलस्येत्यर्थः। अन्यत्र विप्रस्य 'दन्तविप्राण्डजा द्विजा' इत्यमरः। चञ्चुपुटं मुखं राकारजन्यां पूर्णिमायामपि सत्यवाचं दिशन्त्यादिशन्ति कथयन्तीत्यर्थः। राकायामपि कुह्वामिव तमन्वीकुर्वन्तीत्यर्थः। अत्र श्लेषोपात्तयोर्द्वयोरपि कुहूद्विजयोश्चाभेदाध्यवसायमुक्त्वा कुहूत्वसत्यवादित्वस्य विरुद्धस्यापि पूर्वोक्तातिशयोक्तिहेतुना सिद्धेर्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गं तत् श्लेषातिशयोक्तेर्विरोधैरङ्गैः संकीर्यते। तेन शक्रस्य राकायां कुहूभ्रान्त्या भ्रान्तिमदलंकारो व्यज्यत इत्यूह्यम् ॥ ६५ ॥

अन्वयः—स्मरेषवः परागैः दिशः शक्रदृशां तमोमयीकृत्य कुहूगिरं द्विजस्य चञ्चुपुटं राकारजन्याम् अपि सत्यवाचं दिशन्ति।

हिन्दी—काम के (पुष्प) बाण मकरंदों से दिशाओं को इन्द्र की दृष्टि में अंधकारपूर्ण करके 'कुहू' शब्द बोलने वाले द्विज (कोकिल, ब्राह्मण) के चंचुपुट (चोंच, मुख) को राका रजनी (पूर्णिमा निशा) में भी तथ्यवचनयुक्त बताते हैं।

टिप्पणी—काम के पुष्प बाणों से झड़कर उड़े पराग ने इन्द्र की दृष्टि को अंधी बना दिया है। वह कोकिल के चंचुपुट से बोले जाने वाले 'कुहू-कुहू' शब्द के कारण पूर्णिमा की रातों को भी अमावस्या की रातें मान लेता है

जैसे कोई अंधा ब्राह्मण (द्विज) के कथन मात्र पर यह विश्वास करले कि पूर्णिमा की रात नहीं, अमावस्या है। भाव यह है कि काम से अति पीडित इन्द्र को पूर्णिमा की आनन्ददायिनी रातें अमावस्या की काली रातों-सी भयानक लगती हैं। कामांध हो जाता है इन्द्र राकारजनी में कोकिलरव सुनकर। इस श्लोक में श्लेष के आधार पर 'कुहू–कुहू' और द्विज में अभेदाध्यवसाय कह कर विरुद्ध भी कुहुत्व सत्यवादिता के पूर्वोक्त अतिशयोक्ति-हेतु द्वारा सिद्ध होने से वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिंग पूर्वक श्लेषातिशयोक्ति का विरोधांगों से संकर है, उससे इन्द्र को राका में कुहू की भ्रांति हो जाने के कारण भ्रांतिमत् अलंकार व्यंजित होता है। विद्याधर के अनुसार विरोध और अतिशयोक्ति अलंकार हैं ॥ ६५ ॥

शरैः प्रसूनैस्तुदतः स्मरस्य स्मर्तुं स किं नाशनिना करोति।
अभेद्यमस्याहह ! वर्म न स्यादनङ्गता चेद्गिरिशप्रसादः ॥ ६६ ॥

जीवातु—शरैरिति। स इन्द्रः प्रसूनैरेव शरैस्तुदत आत्मानं विध्यतः स्मरस्य स्मरमित्यर्थः। 'अधीगर्थ'—इत्यादिना कर्मणि शेषे षष्ठी। अशनिना वज्रेण स्मर्तुं न करोति किं स्मृतिमात्रशेषं कुर्यादेव। किन्तु तस्य स्मरस्य गिरिशस्य प्रसादः प्रसादलब्धमित्यर्थः। कार्यकारणयोरभेदोपचारः सोल्लुण्ठञ्चैतदनङ्गता अभेद्यं वर्मेति रूपकम् न स्याच्चेत् अहहेत्यद्भुते खेदे वा साङ्गत्वे पुनर्वज्रलक्ष्यलाभादेनं हन्यादेवेत्यर्थः। तथा पीडयत्येनमनङ्गोऽपीति भावः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—अहह, सः प्रसूनैः शरैः तुदतः स्मरस्य अशनिना स्मर्तुं न करोति किम् चेत् अस्य गिरिशप्रसादतः अनङ्गता अभेद्यं वर्म न स्यात्।

हिन्दी—अरे, वह (इन्द्र) पुष्प-शरों से पीडित करते काम को वज्र से क्या स्मृति शेष न कर देता यदि इस (काम) का कैलासपर्वतशायी (शिव) के प्रसाद से अनंग (शरीर रहित) हो जाना-रूप अच्छेद्य कवच न होता ?

टिप्पणी—जैसा कि पूर्व श्लोक में कहा गया है कि काम पुष्पबाणों से इन्द्र को अत्यन्त व्यथित करता रहता है, ऐसी स्थिति में प्रश्न हो सकता है कि इन्द्र तो वज्रधारी है, वह पुष्पायुध काम को वज्र से मार क्यों नहीं डालता, जिससे वह व्यथित करने को रह ही न जाय ? कल्पना है कि इन्द्र

क्रुद्ध होकर अपने पर प्रहार कर व्यथा देने वाले काम को वज्र मार कर स्मृति-शेष अवश्य बना देता, पर इन्द्र प्रहार किस पर करे ? काम तो देहरहित है। भगवान् शिव ने उसे भस्म करके नष्ट नहीं किया, अपितु अनंग कर सब प्रकार के प्रहारों से रक्षित बना दिया। अनंगता उसका अभेद्य कवच बन गयी। शिव का क्रोध तो काम को प्रसाद बन गया। हानि से लाभ मिला। मल्लि-नाथ के अनुसार यहाँ रूपक है, क्योंकि कार्य-कारण में अभेदोपचार है, इस प्रकार कारण अनंगता और कार्य अभेद्य वर्म (कवच) में अभेद है, आरोप है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-अतिशयोक्ति-काव्यलिंग अलंकार हैं ॥ ६६ ॥

धृताधृतेस्तस्य भवद्वियोगान्नानार्द्रशय्यारचनाय लूनैः ।
अप्यन्यदारिद्र्यहराः प्रवालैर्जाता दरिद्रास्तरवोऽमराणाम् ॥ ६७ ॥

जीवातु—धृतेति। अन्येषां दारिद्र्यं हरन्तीत्यन्यदारिद्र्यहरा अपि। हरतेरनुद्यमनेऽच्। अमराणां तरवः कल्पद्रुमा भवत्या वियोगात्। सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावो वक्तव्यः। धृताऽधृतिररतिर्येन तस्येन्द्रस्य नानाविधानामार्द्रशय्यानां शिशिरशयनानां रचनाय लूनैः प्रवालैः दरिद्रा रिक्ता जाताः। तापस्तु तथापि नापैत् इति भावः। सुरद्रुमाणां प्रवालदारिद्र्यासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—अन्यदारिद्र्यहराः अपि अमराणां तरवः भवद्वियोगात् धृताधृतेः तस्य नानार्द्रशय्यारचनाय लूनैः प्रवालैः दरिद्राः जाताः।

हिन्दी—दूसरों की दरिद्रता दूर कर देने वाले भी देवों के (कल्प आदि) वृक्ष, आप (दमयंती) के वियोग में धैर्य-त्यागे उस (इन्द्र) की अनेक गीली शय्याओं की रचना के निमित्त, तोड़ लिये गये नव पल्लवों के कारण दरिद्र हो गये हैं।

टिप्पणी—देवतरु कल्पवृक्ष आदि यद्यपि अन्यजनों की दरिद्रता मिटाने के लिए विख्यात हैं, परंतु आजकल वे वृक्ष स्वयं दरिद्र हो गये हैं, क्योंकि इन्द्र दमयंती के वियोग में इतना दग्ध हो रहा है कि उसका वियोग जन्य दाह दूर करने के लिए अनेक बार अनेक गीले नव पल्लवों की अनेक शय्या रची जाती है। बार-बार ऐसा होने से देववृक्षों के सब पत्ते तोड़ लिये गये और वे पत्रहीन हो दरिद्र हो गये। दूसरों की दरिद्रता मिटाने वाले स्वयं दरिद्र बन गये,—कैसा

अचरज है ! ऐसी भयंकर है इंद्र की काम व्यथा ! कल्पवृक्षों के सब पत्ते समाप्त हो गये, पर व्यथा न गयी। देववृक्षों का प्रवाल दारिद्रय असंबद्ध है, तथापि उसका यहाँ संबंध-कथन है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार अतिशयोक्ति है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और विरोध अलंकार ॥ ६७ ॥

रवैर्गुणास्फालभवैः स्मरस्य स्वर्णाथकर्णौ बधिरावभूताम् ।
गुरोः शृणोतु स्मरमोहनिद्राप्रबोधदक्षाणि किमक्षराणि ॥६८॥

जीवातु—रवैरिति। स्वर्णाथस्य स्वर्गनाथस्येन्द्रस्य 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' इति णत्वम्। कर्णौ स्मरस्य गुणास्फालभवैः ज्याघट्टनप्रभवैः रवैः बधिरावभूताम्। एवं बाधिर्ये सति गुरोर्बृहस्पतेः सकाशात् स्मरमोह एव निद्रा तस्याः प्रबोधे दक्षाण्यक्षराणि विवेकज्ञानोपदेशवाक्यानि शृणोतु शृणुयात् किम् ? न शृणोत्येवेत्यर्थः। त्वद्विरहमोहान्धमेनं बृहस्पतिरपि बोधयितुं न प्रभवतीति भावः॥ ६८ ॥

अन्वयः—स्वर्णाथकर्णौ स्मरस्य गुणस्फालभवैः रवैः बधिरौ अभूताम्, गुरोः स्मरमोहनिद्राप्रबोधदक्षाणि अक्षराणि किं शृणोतु ?

हिन्दी—स्वर्णाथ (स्वर्ग के स्वामी इन्द्र) के दोनों कान काम द्वारा प्रत्यंचा खींचे जाने से उत्पन्न शब्दों से बहिरे हो गये हैं, गुरु (बृहस्पति) के काम की मोह-निद्रा दूर करने में समर्थ अक्षरों (शब्दों) को (वह) कैसे सुने ?

टिप्पणी—शंका हो सकती है कि इन्द्र के गुरु तो महाज्ञानी बृहस्पति महाराज हैं, उनके उपदेश सुन कर इन्द्र का कामजनित व्यामोह क्यों नहीं मिटता ? कल्पना है कि इन्द्र के कान सुनने की शक्ति ही खो बैठे हैं। काम ने अपने धनुष् की डोरी इतनी बार प्रहारार्थ खींची कि उससे उत्पन्न शब्द से कान श्रवणसामर्थ्य खो बैठे और इन्द्र बहिरा हो गया। बहिरा कैसे कुछ सुने ? भाव यह है कि दमयंती-विरह में इन्द्र इतना काम-मोहांध हो गया है कि अब गुरु बृहस्पति भी उसे नहीं समझा सकते। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ६८ ॥

अनङ्गतापप्रशमाय तस्य कदर्थ्यमाना मुहुरामृणालम् ।
मधौ मधौ नाकनदीनलिन्यो वरं वहन्तां शिशिरेऽनुरागम् ॥ ६९ ॥

जीवातु—अनङ्गेति नाकनद्याः स्वर्णद्याः नलिन्यो मधौ मधौ वसन्ते

वसन्ते तस्येन्द्रस्यानङ्गतापप्रशमाय मुहुरामृणालं मृणालपर्यन्तम्, अभिविधावव्ययीभावः। कदर्थाः कुत्सितवस्तूनि, 'कोः कत्तत्पुरुषेऽचि' इति कोः कदादेशः। कदर्थाः क्रियमाणाः कदर्थ्यमाना उत्पीड्यमानाः सत्य इत्यर्थः। तत्करोतीति ण्यन्तात्कर्मणि लटः शानजादेशः। शिशिरेऽनुरागं वरम्। वरमिति मनाक् प्रिये। वहन्तां वासन्तिकापचारणां तासां तत्र पूर्वोक्तोपद्रवभयादिति भावः। वहेः स्वरितेत्त्वादात्मनेपदम् ॥ ६९ ॥

अन्वयः—नाकनदीनलिन्यः मधौ मधौ तस्य अनङ्गतापप्रशमाय मुहुः आमृणालं कदर्थ्यमानाः शिशिरे वरम् अनुरागं वहन्ताम्।

हिन्दी—स्वर्ग-नदी (मंदाकिनी) की कमलिनियाँ प्रतिवसंत में उस (इन्द्र) के काम-ताप की शांति के निमित्त बार-बार मृणाल तक उखाडी जातीं पीडित हो शिशिर ऋतु में कुछ अनुराग रखने लगी हैं।

टिप्पणी—जब जब वसंत आता है, इन्द्र की मदन-व्यथा और बढ़ जाती है। उस काम दाह के उपशमार्थ मंदाकिनी में उत्पन्न कमलिनियाँ पुष्पों से लेकर मृणालदंड तक बार-बार उखाड़ डाली जाती हैं, फल स्वरूप अब उन्हें वसंत की अपेक्षा शिशिर ही भला लगने लगा है। शिशिर में तो वे केवल पत्र-पुष्पहीन होती हैं—तुषारहता होकर, किंतु वसंत में तो उनके मृणाल तक उखाड़ डाले जाते हैं। अतः वसंत से तो थोड़ी हानि पहुँचाने वाला शिशिर ही अच्छा। पत्र पुष्प तो फिर आ जाते हैं, मृणाल तो फिर नहीं उपजता। भाव यह कि वसंत में इन्द्र की काम पीडा असह्य हो जाती है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और काव्यलिंग अलंकार ॥ ६९ ॥

दमस्वसः सेयमुपैति तृष्णा जिष्णोर्जगत्यग्रिमलेख्यलक्ष्मीम्।
दृशां यदब्धिस्तव नाम दृष्टेस्त्रिभागलोभार्तिमसौ बिभर्ति ॥ ७० ॥

जीवातु—दमेति। हे दमस्वसः! दमयन्ति! जिष्णोः शक्रस्य 'जिष्णुर्लेखर्षभः शक्रः' इत्यमरः। सेयं तृष्णा आशा जगति अग्रे भवमग्रिमम्, 'अग्रादिपश्चाड्डिमज् वक्तव्यः' तच्च तल्लेख्यं च तस्य लक्ष्मीमग्रगण्यतामुपैति अपूर्वत्वादिति भावः। कुतः यद्यस्माद्दृशामब्धिराकरोऽसाविन्द्रस्तव दृष्टेस्त्रिभागस्तृतीयांशः सङ्ख्याशब्दस्य वृत्तिविषये पूरणार्थत्वाङ्गीकारात्। तत्र लोभेन तृष्णया आर्तिमाधिं बिभर्त्ति नाम धत्ते खलु। तदेतदाढ्यतमस्य कणिकालो-

भवच्चित्रीयत इत्यर्थः। तल्लेशलाभ एव स्वदृष्टिसम्पत्तेः फलमित्यभिमानस्तस्येति भावः॥ ७०॥

अन्वयः—दमस्वसः, सा इयं जिष्णोः तृष्णा जगति अग्रिमलेख्यलक्ष्मीम् उपैति यत् दृशाम् अब्धिः नाम असौ तव दृष्टित्रिभागलोभार्ति बिभर्ति।

हिन्दी—हे दम की भगिनि, वह अत्यन्त ख्यात इन्द्र की तृष्णा संसार में सर्वप्रथम गणनीय पदार्थ की शोभा को प्राप्त हो रही है कि नेत्रों का समुद्र भी वह (इन्द्र) तुम्हारी (दमयंती की) दृष्टि (नेत्र) के तीसरे भाग (कटाक्ष) के अभिलाष से उत्पन्न पीडा को धारण कर रहा है।

टिप्पणी—इस पद्य का भाव तो यही है कि इन्द्र जैसा सामर्थ्यशाली दमयंती के कटाक्ष-विशेष का आकांक्षी है, तिरछे खंजन-नयन-कटाक्ष से देख लेती दमयंती उसको। इस भाव को एक विशिष्ट भंगिमा के साथ कहा गया है। बताया गया है कि दमयंती-विषयक इन्द्र की तृष्णा सबसे अधिक उल्लेख्य है। कितना विचित्र है कि जिस इन्द्र के पास सहस्र नेत्र हैं, वह दमयंती के नेत्र का तीसरा भाग पाने के लिए उत्सुक है। सहस्रधारी की तृतीयांश के निमित्त इतनी उत्कट आकांक्षा! है न अद्भुततम! कोट्यधीश की तृष्णा कानी कौड़ी के लिए! दमयंती का एक कटाक्ष-लाभ सहस्र नेत्र धारण करने का फल-लाभ है इन्द्र को। विद्याधर के अनुसार विषम और अनुप्रास॥७०॥

अग्न्याहिता नित्यमुपासते यां देदीप्यमानां तनुमष्टमूर्तेः।
आशापतिस्ते दमयन्ति! सोऽपि स्मरेण दासीभवितुं न्यदेशि॥ ७१॥

जीवातु—अथ भगवतोऽग्नेरवस्थां वर्णयति—अग्नीति। अग्न्याहिता आहिताग्नयः, 'वाहिताग्न्यादिषु' इति निष्ठायाः परनिपातः। यां देदीप्यमानां जाज्वल्यमानां दीप्यमानां 'दीप्यतेर्यङन्तात्कर्तरि लट्। शानजादेशः। अष्टमूर्तेरीश्वरस्य तनुं नित्यमुपासते, हे दमयन्ति! आशापतिर्दिक्पतिः सोऽग्निरपि स्मरेण कर्त्रा तव दासीभवितुं न्यदेशि दासो भवेत्यादिष्ट इत्यर्थः॥ ७१॥

अन्वयः—दमयन्ति, अग्न्याहिताः यां देदीप्यमानाम् अष्टमूर्तेः तनुं नित्यम्, सः अपि आशापतिः स्मरेण ते दासीभवितुं न्यदेशि।

हिन्दी—हे दमयन्ति, अग्निहोत्र में दीक्षित जन (अग्निहोत्री) जिस

देदीप्यमान अष्टमूर्ति ईश्वर (शिव) के तनु की नित्य उपासना करते हैं, वह भी दिक्पाल (अग्नि) काम द्वारा तुम्हारा दास बनने को आदिष्ट है।

टिप्पणी—श्लोक संख्या ७१ से ७६ तक अग्नि का दूतत्व-प्रतिपादन है। अष्टमूर्ति शिव की एक मूर्ति अग्नि है—तेजस्वी मूर्ति। वह इतना पावन है कि समस्त अग्निहोत्री उसकी निरन्तर अराधना किया करते है। शिव ने काम को भस्म कर दिया था, वे कामजयी हैं। कितनी विचित्र बात है कि उन्हीं की एक मूर्ति आज दमयंती के कारण कामाधीन हो गयी है और उसका आज्ञा का पालन करने में तत्पर है। भाव यह है इन्द्र ही नहीं, अन्य दिक्पाल अग्नि भी दमयंती पाणिप्रार्थी हैं॥ ७१॥

त्वद्गोचरस्त खलु पञ्चबाणः करोति सन्ताप्य तथा विनीतम्।
स्वयं यथास्वादिततप्तभूयः परं न सन्तापयिता स भूयः॥ ७२॥

जीवातु—त्वदिति। पञ्चबाणः कामस्त्वद्गोचरस्त्वामेव लक्षीकृत्य इत्यर्थः। तमग्निं सन्ताप्य तथा तेन प्रकारेण विनीतं शिक्षितं करोति खलु। यथा येन प्रकारेण स्वयं स्वादितमनुभूतं तप्तभूयं तप्तत्वं येन स सन्। 'भुवो भावे' क्यप्। भूयः पुनः परमन्यं सन्तापयिता न सन्तापयिष्यति स्वयमनुभूतदुःखः स्वात्मदृष्टान्तेन परं तथा न दुःखाकरोतीति भावः॥ ७२॥

अन्वयः—त्वद्गोचरः पञ्चबाणः त सन्ताप्य तथा विनीतं करोति खलु यथा स्वयं स्वादिततप्तभूयः परं न सन्तापयिता।

हिन्दी—तुम (दमयंती) से सबद्ध पाँच बाणों वाला (काम) उस (अग्नि) को संतप्त करके उतना विनयी (निरुपद्रव) बना रहा है कि स्वय तप्त होने का अनुभव प्राप्त करके वह अन्य को संताप न देगा।

टिप्पणी—अग्नि सब को जला देता है। किसी को कितना कष्ट होता है जलने में—यह अग्नि अभी तक नहीं जानता था। अब काम दमयंती को आधार बना कर उसे अत्यधिक ताप दे रहा है। अब उसे जलने की व्यथा का अनुभव हो गया है, अतः पुनः वह किसी को नहीं जलायेगा। भाव वही है कि दमयन्ती के कारण ज्वलनशील अग्नि भी काम-संतप्त हो रहा है॥७२॥

अदाहि यस्तेन दशार्धबाणः पुरा पुरारेर्नयनालयेन।
स निर्दहंस्तं भवदक्षिवासी न वैरशुद्धेरधुनाधमर्णः॥ ७३॥

जीवातु--अदाहीति । यो दशार्धबाणः पञ्चेषुः पुरा पुरारेर्नयनालयेन नयनाश्रयेण नेत्राग्निना अदाहि दग्धः स पञ्चेषुरधुना भवदक्षिवासी त्वन्नेत्रनिष्ठः सन् तमग्निं निर्दहन् वैरशुद्धेर्वैरनिर्यातनादधमर्णः ऋणी न अनृणोऽभूदित्यर्थः । यो यथा यस्यापकरोति स तस्य तथैव प्रतिकृत्य निर्वैरो भवतीति भावः ।। ७३ ।।

अन्वयः—पुराः पुरारेः नयनालयेन यः दशार्द्धबाणः अदाहि अधुना भवदक्षिवासी सः तं निर्दहन् वैरशुद्धेः अधमर्णः न ।

हिन्दी – पहिले त्रिपुरारि (शिव) के नेत्राग्नि द्वारा जो दश के आधे (पाँच) बाण वाला (पंचबाण काम) दग्ध कर दिया गया था, अब आप (दमयन्ती) के नेत्रों में निवास करके वह (काम) उस (अग्नि) को दग्ध करता हुआ वैर की शुद्धि करके ऋणी नहीं रह गया है ।

टिप्पणी—अग्नि दमयन्ती के वियोग में काम-दग्ध हो रहा है--यह अन्य भंगिमा से व्यक्त किया गया । शिव की नेत्र ज्वाला ने पूर्व काल में काम को जला दिया था । इस प्रकार काम पर अग्नि का वैर-ऋण चढ़ा । इस समय दमयन्ती के कटाक्ष में बस कर काम अग्नि को दग्ध करता हुआ अपना पुराने वैर का प्रतिशोध लेकर ऋणमुक्त हो रहा है । नारायण पंडित के अनुसार काम अग्नि की अपेक्षा अधिक समर्थ सिद्ध हो रहा है । अग्नि ने शिव अर्थात् एक पुरुष—महादेव का आश्रय लेकर काम को जलाया था, स्वयं तो वह 'अकिञ्चित्कर' था, अन्याश्रय लेकर ही वह कुछ कर सका । काम ने तो एक नारी के ही नेत्र-स्थित होकर अपनी सामर्थ्य शीलता सूचित कर दी —'पुरुषं श्रितस्य वह्नेः स्वतोऽकिञ्चित्करत्वम्, अङ्गनानामपाङ्गेषु कामो वसतीति कृत्वा स्त्रियं श्रितस्य कामस्य महत्प्रभुत्वं सूचितम् ।' विद्याधर के अनुसार व्याघात अलंकार । मम्मट के अनुसार—'यद्यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा । तथैव यद्विधीयेत स व्याघात इति स्मृतः ।।' (काव्यप्रकाश, १०। १३८) । उपेंद्रवज्रा वृत्त ।। ७३ ।।

सोमाय कुप्यन्निव विप्रयुक्तः स सोममाचामति हूयमानम् ।
नामापि जागर्ति हि यत्र शत्रोस्तेजस्विनस्तं कतमे सहन्ते ।। ७४ ।।

जीवातु—सोमायेति । विप्रयुक्तस्त्वद्वियुक्तोऽग्निः सोमाय चन्द्राय

कुप्यन्निव जिघांसन्निवेत्यर्थः । 'क्रुधद्रुह' इत्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । हूयमानं यज्ञे दीयमानं सोमं सोमरसमाचामति पिबति । तथा हि यत्र पुरुषे शत्रोर्नामापि जागर्ति प्रकाशते तं शत्रुनामधारिणं तेजस्विनः परावमानामहिष्णवः, 'अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि' इति लक्षणात् । कतमे सहन्ते न केऽपीत्यर्थः । तेजस्विनां शत्रुनामाप्यसह्यमिति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपार्थान्तरन्यासः ॥ ७४ ॥

अन्वयः—विप्रयुक्तः सः सोमाय कुप्यन् इव हूयमानं सोमम् आचामति, हि यत्र शत्रोः नाम अपि जागर्ति तं कतमे तेजस्विनः सहन्ते ?

हिन्दी—विरही वह (अग्नि) चंद्र पर कोप करता हुआ मानो आहुति में दिये गये सोम (चंद्र) के रस का आचमन किया करता है, कारण कि जिसमें शत्रु का नाम भी प्रकट होता है, उसे कौन तेजस्वी जन सहते हैं ? (कोई नहीं सहते) ।

टिप्पणी—विरही को चंद्रमा व्यथादायी होता है । अग्नि दमयन्ती-वियोगी है, चंद्र इसलिए उसे पीडित करनेवाला प्रतीत होता है, वह उसका शत्रु हुआ । चंद्र को सोम भी कहा जाता है । अग्निहोत्र में सोमलता का रस भी यजमान द्वारा आहुति में दिया जाता है । इस पर कल्पना है कि सोमरस में 'सोम'–शत्रु चंद्र का एक नाम पाकर वैर के कारण अग्नि उसका भक्षण (पान) किया करता है । कोई तेजस्वी व्यक्ति शत्रु-नाम को नहीं सहता—यह जगत्-रीति है । भाव यह कि चंद्र अग्नि को व्यथा देता है । मल्लिनाथ के अनुसार सामान्य द्वारा विशेषसमर्थनरूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है, विद्याधर के अनुसार अर्थान्तरन्यास-उत्प्रेक्षा-श्लेष अलंकार ॥ ७४ ॥

शरैरजस्रं कुसुमायुधस्य कदर्थ्यमानस्तव कारणाय ।
अभ्यर्चयद्भिर्विनिवेद्यमानादप्येष मन्ये कुसुमाद्बिभेति ॥ ७५ ॥

जीवातु—शरैरिति । हे तरुणि ! तव कारणाय त्वदर्थे त्वत्कृते, तादर्थ्ये चतुर्थी । कुसुमायुधस्य शरैः कुसुमबाणैरजस्रं कदर्थ्यमानः पीड्यमानः एषोऽग्निः अभ्यर्चयद्भिः पूजयद्भिर्विनिवेद्यमानात्समर्प्यमाणादपि कुसुमाद् बिभेति मन्ये । उत्प्रेक्षा ॥ ७५ ॥

अन्वयः—तव कारणाय (पाठांतर—तरुणि, त्वदर्थे) कुसुमायुधस्य शरैः

अजस्रं कदर्थ्यमानः एषः मन्ये अभ्यर्चयद्भिः विनिवेद्यमानात् अपि कुसुमात् बिभेति।

हिन्दी—(हे यौवनवती) तेरे कारण पुष्पायुध (काम) के बाणों द्वारा निरन्तर पीडित होता यह (अग्नि), लगता है कि अर्चना करने वालों द्वारा निवेदित किये गये (चढ़ाये) भी फूल से डरता है।

टिप्पणी—अग्नि दमयन्ती के कारण काम के कुसुमशरों से इतना पीडित है कि पूजन करते समय आराधक जो पूजा का फूल अग्नि पर चढ़ाता है, वह उससे भी डरता है। फूल मात्र को कुसुमशर समझ कर अग्नि को भय लगने लगता है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति।

स्मरेन्धने वक्षसि तेन दत्ता संवर्तिका शैवलवल्लिचित्रा।
चकास्ति चेतोभवपावकस्य धूमाविला कीलपरम्परेव ॥ ७६ ॥

जीवातु—स्मरेन्धन इति। तेनाग्निना स्मरेन्धने कामाग्निदाह्ये वक्षसि दत्ता तापशान्तये न्यस्ता शैवलवल्लिभिश्चित्रा कर्बुरा संवर्तिका नवदलम्। 'संवर्तिका नवदलं बीजकोशोः वराटकः' इत्यमरः। चेतोभवपावकस्य कामाग्नेर्धूमाविला कीलपरम्परा ज्वालावलिरिव चकास्ति दीप्यते। 'वह्नेर्द्वयोर्ज्वालकीलौ' इत्यमरः ॥ ७६ ॥

अन्वयः—तेन स्मरेन्धने वक्षसि दत्ता शैवलवल्लिचित्रा संवर्तिका चेतोभवपावकस्य धूमाविला कीलपरम्परा इव चकास्ति।

हिन्दी—उस (अग्नि) द्वारा काम के ईंधन (काम द्वारा दाह्य) स्ववक्ष पर शैवाल लता से चितकबरी (आश्चर्यदायक भी) नवकमलपत्रिका मनोभव (काम) के अग्नि की धुएँ से भरी ज्वालावलि जैसी शोभित होती है।

टिप्पणी—भाव यही है कि अग्नि के हृदय में निरन्तर काम-दाह होता रहता है। काम उसको जला रहा है, अतः अग्नि का वक्ष हुआ कामाग्नि में जलनेवाला ईंधन, जलते वक्ष पर उपशम के लिए उसने शैवाल-वल्लरी से युक्त चितकबरी, विचित्र लगती नये कमल की पत्ती रखी। गीली पत्ती जलकर धुँधुआने लगी। ऐसी प्रतीति हुई कि यह पिंगलवर्णा, धूमायिता कमलावलि मन में प्रज्वलित कामाग्नि की धूमायिता ज्वालमाल है। विद्याधर के अनुसार यहाँ छेकानुप्रास और उत्प्रेक्षा अलंकार हैं ॥ ७६ ॥

पुत्री सुहृद्येन सरोरुहाणां यत्प्रेयसी चन्दनवासिता दिक् ।
धैर्यं विभुः सोऽपि तवैव हेतोः स्मरप्रतापज्वलने जुहाव ॥ ७७ ॥

जीवातु—अथ यमस्य विरहावस्थां वर्णयति—पुत्रीति । येन सरोरुहाणां सुहृत्सूर्यः पुत्री पुत्रवान् एतेनाभिजन उक्तः । चन्दनैर्मलयजः द्रुमैर्वासिता सुरभिता दिक् दक्षिणा यत्प्रेयसी यस्य प्रियतमः एतेन भोगसम्पत्तिरुक्ता । स विभुर्वैवस्वतोऽपि तवैव हेतोस्त्वन्निमित्तादेव । 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति षष्ठी । धैर्यं स्मरस्य प्रतापज्वलने प्रतापाग्नौ जुहाव । परवशो वर्तत इत्यर्थः ॥ ७७ ॥

अन्वयः—येन सरोरुहाणां सुहृत् पुत्री चन्दनवासिता दिक् यत्प्रेयसी सः विभुः अपि तव एव हेतोः धैर्यं स्मरप्रतापज्वलने जुहाव ।

हिन्दी—जिसके कारण कमलों का मित्र (सूर्य) पुत्रवान् है और चन्दन से सुवासित दिशा (दक्षिणादिक्) जिसकी प्रिया है, उस सामर्थ्यशाली (यम) ने भी तेरे (दमयन्ती के) ही कारण से धैर्य की काम के प्रतापाग्नि में आहुति दे डाली है ।

टिप्पणी ७७–७९ श्लोकों में यम की विरहदशा का विवरण कर उसका दूतत्व संपादन है । सब के प्राणों का स्वामी, सूर्यपुत्र यम भी दमयन्ती के निमित्त कामाग्नि में जल रहा है, न तो पिता सूर्य की अपार जलज-संपदा उसका उपशम कर पाती है, न प्रिया दक्षिण दिशा की अकूत चन्दन-राशि । न कमलों की कमी है, न चन्दन लेप की, पर वियोगाग्नि की दाहकता इतनी प्रबल है कि यम की पीड़ा का पार नहीं । यम का धैर्य जैसे उस आग में जल गया है । कामपीड़ित यम में अब धीरज नहीं रह गया है कि वह दमयन्ती-विरह सह सके ॥ ७७ ॥

तं दह्यमानैरपि मन्मथेधं हस्तैरुपास्ते मलयः प्रवालैः ।
कृच्छ्रेऽप्यसौ नोज्झति तस्य सेवां सदा यदाशामवलम्बते यः ॥ ७८ ॥

जीवातु—तमिति । मलयो मलयाद्रिः मन्मथेधं कामाग्नीन्धनम् । 'काष्ठं दार्विन्धनन्त्वेध' इत्यमरः । तं यमं दह्यमानैस्तदङ्गसङ्गात्पञ्चबाणैरपि प्रवालैः पल्लवैरेव हस्तैरुपास्ते तस्य शीतोपचारमाचरतीति भावः । युक्तञ्चैतदित्याह—यो जनः सदा यस्याशां देशम् अनुरागञ्चावलम्बते । असौ जनः कृच्छ्रे आपद्यपि तस्य सेवां नोज्झति न त्यजति । यो यदुपजीवी तस्य तत्सेवा विपत्स्वपि कर्तुमुचितेत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ॥ ७८ ॥

अन्वय — मलयः मन्मथैधं तं दह्यमानैः अपि प्रवालैः हस्तैः उपास्ते, यः सदा यदाशाम् अवलम्बते, असौ कृच्छ्रे अपि तस्य सेवां न उज्झति।

हिन्दी—मलयाचल काम के ईंधन (काम से जलते) उस (यम) को जलते हुए भी प्रवाल (पल्लव)-करों से सेवा करता है। जो सर्वदा जिसकी आशा करता है (जिस आशा अर्थात् दक्षिणा दिक् में आश्रित है), वह संकट में भी उस (आश्रयदाता, भरोसे वाले) की सेवा नहीं छोड़ता।

टिप्पणी— यम प्रचंड कामाग्नि में जल रहा है। मलयाचल अपने पल्लव-करों से उनके झुलसने की चिंता न करके भी यम की सुश्रूषा करता है, इसका लोकसंमत कारण यह लगता है कि मलयाचल है दक्षिण में, उसी का स्वामी है यम। दक्षिण दिशा का आश्रित होने के कारण मलय का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने आश्रयदाता की विपदा में काम आये। सो मलय बेचारा अपने हाथों को झुलसाता भी यम की प्रचंड कामाग्नि के उपशमन में संलग्न है। मल्लिनाथ के अनुसार अर्थान्तरन्यास, विद्याधर ने रूपक और श्लेषाविद्ध अर्थान्तरन्यास का निर्देश किया है। आशा के दो अर्थ हैं—(१) भरोसा, (२) दक्षिणा दिक्॥ ७८॥

स्मरस्य कीर्त्येव सितीकृतानि तद्दोःप्रतापैरिव तापितानि।
अङ्गानि धत्ते स भवद्वियोगात् पाण्डूनि चण्डज्वरजर्जराणि॥ ७९॥

जीवातु—स्मरस्येति। स यमो भवद्वियोगात्पाण्डूनि चण्डेन तीव्रेण ज्वरेण जर्जराणि अत एव क्रमात् स्मरस्य कीर्त्या सितीकृतानि धवलीकृतानीव तस्य स्मरस्य दोःप्रतापैस्तापितानीव स्थितानीत्युभयत्राप्युत्प्रेक्षा। अङ्गानि धत्ते। अत्र यथासङ्ख्योत्प्रेक्षयोः सङ्करः॥ ७९॥

अन्वयः—सः भवद्वियोगात् पाण्डूनि चण्डज्वरजर्जराणि स्मरस्य कीर्त्या सितीकृतानि इव तद्दोःप्रतापैः तापितानि इव अङ्गानि धत्ते।

हिन्दी—वह (यम) आप (दमयन्ती) के वियोग से पांडुर, प्रचंड (काम) ज्वर से जर्जरीभूत, (अतएव) काम के यश से शुभ्र हुए जैसे, उस (काम) के भुज-प्रताप से तप्त जैसे अंगों को धारण कर रहा है।

टिप्पणी—यम दमयन्ती के वियोग में अत्यन्त पीडित है। उसके अंग पांडुर पड़ गये हैं, कामाग्नि में जल रहे हैं। कल्पना है कि कामज्वर में

जलते वियोग में पांडुर यम के अंग देख कर लगता है कि काम ने अपने भुज प्रताप से यम को पराभूत कर दिया है और उसके यश की श्वेतिमा ही जैसे यम के अंगों पर छा गयी है। हारा व्यक्ति भीतर ही भीतर अपमान से जलता रहता है और चिंता से उसके अंग पांडुर हो जाते हैं। यम के अंग स्मरकीर्ति से सितीकृत हैं और भुज प्रताप से संतापित हैं---ये दो उत्प्रेक्षाएँ यथासंख्य हैं, अतः मल्लिनाथ के अनुसार यथासंख्य और उत्प्रेक्षाद्वय का संकर है। विद्याधर ने उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है॥ ७९॥

यस्तन्वि ! भर्ता घुसृणेन सायं दिशः समालम्भनकौतुकिन्याः ।
तदा स चेतः प्रजिघाय तुभ्यं यदा गतो नैति निवृत्य पान्थः ॥८०॥

जीवातु---अथ वरुणस्य विरहं वर्णयति---य इत्यादि। हे तन्वि ! कृशाङ्गि ! यो देवः सायं घुसृणेन कुङ्कुमेन समालम्भने अनुलेपने कौतुकिन्याः कुतूहलवत्याः आतपारुण्यात् कुङ्कुमलिप्तवद्भासमानाया इत्यर्थः। दिशः प्रतीच्या भर्ता प्रातः प्राच्या अपि तथात्वात्तद्व्यावृत्यर्थं स्वयं ग्रहणम्। स वरुणः तदा तस्मिन् काले तुभ्यञ्चेतः प्रजिघाय प्रहितवान्। 'हे स्वङ्गि' इति कुत्वम्। यदा यस्मिन् काले गतः प्रयातः नित्यं पन्थानं गच्छतीति पान्थो निवृत्य नैति नायाति अपुनरावृत्तिलिङ्गान्नूनं चित्रास्वात्योः प्रहितवानि-त्युत्प्रेक्षा। 'नन्दन्ति न निवर्तन्ते चित्रास्वात्योर्गता नरः' इति वचनात्। अत एवात्र कवेः पान्थशब्दप्रयोगः 'पथो ण नित्यम्' इति नित्याध्वगमने पथिन् शब्दात् णप्रत्ययपान्थादेशयोर्विधानात्। अत एव 'नित्यग्रहणं प्रत्ययार्थ-विशेषणम्' इति काशिकायाम्। तच्चित्तं त्वय्येव सानन्दं विरहति न निवर्तत इति तात्पर्यम्॥ ८०॥

अवन्यः---तन्वि, यः सायं घुसृणेन समालम्भनकौतुकिन्याः दिशः भर्ता सः तदा तुभ्यं चेतः प्रजिघाय यदा गतः पान्थः निवृत्य न एति।

हिन्दी---हे कृशांगि, जो सन्ध्याकाल में कुङ्कुम से अंगराग लगाने वाली दिशा (प्रतीची दिक्) का स्वामी है, उस (वरुण) ने उस समय तुम्हारे प्रति चित्त भेज दिया है, जिस समय गया पथिक लौटकर नहीं आता।

टिप्पणी---श्लोक सं ८०-८३ तक वरुण का दूतत्व-संपादन किया जाता है। इस श्लोक मे बताया गया है कि वरुण उस पश्चिमदिशा का स्वामी है,

जो प्रति संध्या को (छिपते सूर्य की लाली से लाल हो) अपने शरीर पर कुंकुम का अंगराग-लेपन कर, शृंगार कर, अपने स्वामी के प्रति स्वानुराग प्रकट करती है, परन्तु ऐसा वरुण भी उस घड़ी अपना मन दमयन्ती को दे बैठा है, जिस घड़ी में परदेस गया पथिक लौट कर नहीं आता। चित्रा और स्वाति नक्षत्रों में गया पथिक लौटता नहीं, ऐसी मान्यता है। सो वरुण को देखकर ऐसी प्रतीति होती है कि उसने भी ऐसी ही घड़ी में दमयन्ती को मन दिया है कि वह गया मन लौट नहीं रहा; अर्थात् वरुण दमयन्ती के प्रति आसक्त हो, अपनी आसक्ति को हटा नहीं पाता। दमयन्ती को दिया गया वरुण का चित्त अब दमयन्ती पर पूर्ण अनुरक्त है, वही सानन्द विहार करता है, लौटता नहीं। विद्याधर के अनुसार ओज गुण ॥ ८० ॥

तथा न तापाय पयोनिधीनामश्वामुखोत्थः क्षुधितः शिखावान् ।
निजः पतिः संप्रति वारिपोऽपि यथा हृदिस्थः स्मरतापदुःस्थः ॥८१॥

जीवातु—तथेति। तथा क्षुधितः बुभुक्षितः। 'वसतिक्षुधोः' इति निष्ठायामिडागमः। अश्वामुखोत्थः शिखावान् वडवाग्निः पयोनिधीनां तापाय न भवति यथासौ स्मरदाहेन दुःखं तिष्ठतीति दुःस्थोऽस्वस्थो निजः पतिर्वरुणः हृदि तिष्ठतीति हृदिस्थः स्मर्यमाण एव वारीणि पातीति वारिपो वारिरक्षकोऽपि सन् तापाय भवति तथा साक्षात्कुक्षिस्थोऽपि वडवाग्निर्न तापयतीत्यर्थः। ईदृक्तापासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः॥ ८१ ॥

अन्वयः—यथा स्मरतापदुःस्थः वारिपः अपि हृदिस्थः निजः पतिः पयोनिधीनां तापाय तथा क्षुधितः अश्वामुखोत्थः शिखावान् न।

हिन्दी—जैसा काम-ताप से अस्वस्थ जलों का रक्षक (स्वामी) भी हृदयस्थित (मध्य में विराजमान, स्मरणीय) स्वीय स्वामी (वरुण) जलों के आगारों (समुद्रों) को संतप्त कर रहा है, वैसा भूखा वडवामुख से उत्थित शिखी (वडवानल) नहीं करता।

टिप्पणी—दमयन्ती के वियोग में वरुण का काम-संताप इतना बढ़ गया है कि उसके संमुख वडवाग्नि भी कुछ नहीं। यद्यपि वरुण 'वारिप' अर्थात् जलों का स्वामी है, उसे तापोपशम के लिए जल की क्या कमी, तथापि ताप इतना है कि समुद्र—जलनिधि भी उससे उतने उत्तप्त रहते हैं, जितने कि

मध्य में बसते वडवानल से भी उत्तप्त नहीं हो पाते। वरुण के अस्वस्थ रहने से उसके रक्षित समुद्र भी संतप्त हैं। स्वामी—रक्षक के अस्वास्थ्य से रक्षितों की व्यथा बढ़ती ही है। 'हृदिस्थः' और 'वारिपः' वरुण और 'शिखावान्' दोनों के विशेषण हैं। 'हृदिस्थः' अर्थात् हृदय में विराजित स्वामी वरुण तथा 'हृदिस्थः' अर्थात् मध्य में रहता वडवानल। वरुण 'वारि पातीति वारिपः' है, अर्थात् जलस्वामी। वडवानल 'वारि पिबतीति वारिपः' है—जल को सोखनेवाला अनल। वरुण और वडवानल दोनों में विशेषताएँ समान हैं—वारिप और हृदिस्थ दोनों हैं, तथापि वरुण 'कामतापदुःस्थ' होने से अधिक तापदायक है। वडवाग्नि स्मरतापदुःस्थ नहीं है। इसी कारण वरुण वडवाग्नि से अधिक तापदायक बन गया है। उतना बड़ा है वरुण का सन्ताप कि समुद्र भी उससे तप रहे हैं। वारिरक्षक होते भी वरुण उतना ताप दे रहा है, जितना वारि पीने वाला वडवानल नहीं। रक्षक भक्षक से बढ़ गया है। इस प्रकार के ताप में असंबंध रहने पर भी संबंध कथन के कारण मल्लिनाथ के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ८१ ॥

यत्प्रत्युत त्वन्मृदुबाहुवल्लीस्मृतिस्रजं गुम्फति दुर्विनीता।
नतो विधत्तेऽधिकमेव तापं तेन श्रिता शैत्यगुणा मृणाली ॥ ८२ ॥

जीवातु—यदिति। तेन वरुणेन श्रिता सन्तापशान्तये सेविता शैत्यमेव गुणो यस्याः सा शैत्यगुणा शीतलैकस्वभावेत्यर्थः। तथापि दुर्विनीता प्रतिकूलचारिणी मृणाली बालमृणालम्। अल्पत्वविवक्षायां स्त्रीलिङ्गता 'स्त्री स्यात्काचिन्मृणाल्यादिर्विवक्षापचये यदि' इत्यमरः। जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' इति ङीप्। यद्यस्मात्तव मृदुबाहू वल्ल्याविव तयोः स्मृतीनां स्रजं मालां गुम्फति रचयति अजस्रं स्मारयतीत्यर्थः ततस्त्वद्बाहुस्मारकत्वाद्धेतोः प्रत्युत वैपरीत्येन। प्रत्युतेत्युक्तवैपरीत्य इति गणव्याख्यानम्। अधिकं तापमेव विधत्ते वितन्यते एतेनास्य ज्वरावस्थोक्ता। अत्र मृणाल्याः कविसम्मतसादृश्याद्बाहुवल्लीस्मारकत्वोक्तेः स्मरणालङ्कारः। तदुपजीवनेन तस्यास्तापशान्तिहेतोस्तद्विपरीततापकार्योत्पत्तिकथनाद्विरुद्धकार्योत्पत्तिलक्षणो विषमालङ्कारभेद इत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ८२ ॥

अन्वयः—शैत्यगुणा तेन श्रिता मृणाली यत् त्वन्मृदुबाहुवल्लीस्मृतिस्रजं गुम्फति ततः प्रत्युत अधिकम् एव तापं विधत्ते (अतएव) दुर्विनीता ।

हिन्दी—शीतलता जिसका गुण (नित्यधर्म) है, उस (वरुण) के द्वारा (तापोपशम के निमित्त) धारण की गयी बाल मृणाली, क्योंकि तेरी कोमल भुजलताओं की स्मरणमाला गूँथती है (सादृश्य के कारण भुजाओं का स्मरण दिलाती है) उस कारण, अपने गुण के विपरीत अधिक ही सन्ताप दिया करती है। सो वह मृणाली दुष्ट है।

टिप्पणी—कामोपशांति के निमित्त वरुण शीतगुणा मृणाली का प्रयोग करता है, परन्तु मृणाललता देखकर सदृशता के कारण उसे दमयन्ती की बालमृणाली-समान बाहों का स्मरण हो जाता है और उसका सन्ताप शान्त होने के स्थान पर और बढ़ जाता है। इस प्रकार मृणाली का गुण दोष बन जाता है और वह गुणवती के स्थान पर सदोषा प्रमाणित होती है। तात्पर्य यह कि वरुण का कामोपताप अब शमनयोग्य भी नहीं रह गया है। ऐसा बढ़ गया है उसका कामज्वर। कविसंमत सादृश्य के कारण मृणाली को बाहुवल्ली का स्मरण कराने वाली कहा गया, अतः स्मरणालंकार है। मृणाली ताप-शांति का हेतु है, किंतु उससे ताप और बढ़ रहा है, सो विरुद्ध कार्य की उत्पत्ति हो रही है। इस कथन के कारण विरुद्धकार्योत्पत्ति-रूप विषमालंकार का भेद हुआ। इस प्रकार मल्लिनाथ के अनुसार स्मरण और विषम का अंगांगिभाव संकर है, विद्याधर ने भी छेकानुप्रास के साथ ही स्मरण और विरोध का निर्देश किया है॥ ८२ ॥

न्यस्तं ततस्तेन मृणालदण्डखण्डं बभासे हृदि तापभाजि।
तच्चित्तमग्नैर्मदनस्य बाणैः कृतं शतच्छिद्रमिव क्षणेन ॥ ८३ ॥

जीवातु—न्यस्तमिति। ततस्तदनन्तरमपि तेन वरुणेन तापभाजि हृदये न्यस्तं मृणालदण्डस्य विसकाण्डस्य खण्डं शकलं तस्य वरुणस्य चित्ते मग्नैर्मदनस्य बाणैः क्षणेन शतं छिद्राणि यस्य तत्तथा कृतमिव प्रतिकूलाचरणरोषाच्छतधा प्रणीतमिव बभासे। उत्प्रेक्षा॥ ८३ ॥

अन्वयः—ततः तेन तापभाजि हृदि न्यस्तं मृणालदण्डखण्डं तच्चित्तमग्नैः मदनस्य बाणैः क्षणेन शतच्छिद्रं कृतम् इव बभासे।

हिन्दी—तब उस (वरुण) के द्वारा संताप पाते (संतप्त) हृदय पर रखा मृणाल-दण्ड का खंड उस (वरुण) के चित्त में घँसे काम के बाणों से उस क्षण शत-शत छिद्रों से युक्त जैसा शोभित हुआ।

टिप्पणी—काम के बाणों से वरुण का हृदय जर्जर हो रहा है। वरुण के संतप्त हृदय पर रखे मृणालखंड में लक्षित अनेक छिद्र ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे कामबाणों के प्रविष्ट होने से हृदय में बने छिद्र। मृणाली ने उपशम देने के स्थान पर और ताप देकर प्रतिकूल आचरण हुआ, दंडस्वरूप उसमें सैकड़ों छिद्र कर दिये गये। उत्प्रेक्षा ॥ ८३ ॥

इति त्रिलोकीतिलकेषु तेषु मनोभुवो विक्रमकामचारः।
अमोघमस्त्रं भवतीमवाप्य मदान्धतानर्गलचापलस्य ॥ ८४ ॥

जीवातु—इतीति। हे भैमि! भवतीमेवामोघमस्त्रमवाप्य मदान्धतया अनर्गलचापलस्य उच्छृङ्खलचेष्टितस्य मनोभुवः कामस्य त्रिलोकीतिलकेषु त्रिभुवनभूषणेषु तेष्विन्द्रादिषु विषये इतीत्थं विक्रमस्य कामचारः स्वाच्छन्द्यवृत्तिर्वर्तत इति शेषः ॥ ८४ ॥

अन्वयः—इति भवतीम् अमोघम् अस्त्रम् अवाप्य मदान्धतानर्गलचापलस्य मनोभुवः तेषु त्रिलोकीतिलकेषु कामचारः।

हिन्दी—इस प्रकार आप (दमयन्ती) को अव्यर्थ अस्त्ररूप में प्राप्त करके अभिमान से अंधे होने के कारण उच्छृंखल चपलता धारण करते मनोज (काम) का उन (इन्द्रादि) तीनों लोकों के तिलक-स्वरूप देवों के प्रति पराक्रम का स्वेच्छाचार चला रहा है।

टिप्पणी—चारों देवों के दूतकार्य-संपादन का समाहार करते हुए नल ने यह बताया कि दमयन्ती के रूप में कामदेव को अब ऐसा अमोघ अस्त्र मिल गया है कि अब वह बड़े-बड़े त्रिलोकी के शृंगार इन्द्र, यम, अग्नि, वरुण जैसे दिक्पालों की भी अवमानना कर रहा है। काम अब मदांध, उच्छृंखल, निर्मर्याद और स्वेच्छाचारी हो गया है। अब वह दुर्विजय हो गया है। तात्पर्य यह कि दमयन्ती का अपार सौन्दर्य जगत्-विमोहन है। नारायण के अनुसार काम दमयन्ती को अस्त्ररूप में पाकर मतवाले, मदांध गज के सदृश सबको ध्वस्त कर रहा है—'मदान्धतेत्यनेन कामस्य द्विरदत्वं सूचितम्।' विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और रूपक अलंकार हैं ॥ ८४ ॥

सारोऽथ धारेव सुधारसस्य स्वयंवरः श्वो भविता भवेति ।
सन्तर्पयन्ती दमयन्ति ! तेषां श्रुतिः श्रुतौ नाकजुषामयासीत् ॥ ८५ ॥

जीवातु—सार इति । अथानन्तरसमये हे दमयन्ति ! तव स्वयंवर श्वः परेऽह्नि भविता भविष्यतीति श्रुतिर्वार्ता । 'श्रुतिः श्रोत्रेप्यथाम्नाये वार्तायां श्रोत्रकर्मणि' इति विश्वः । सुधारसस्य सारः सारभूता धारेव सन्तर्पयन्ती नाकजुषामिन्द्रादीनां श्रुती श्रोत्रे अयासीत् प्राप । 'सारोऽथे'ति पाठे सारप्रभवेत्यर्थः ॥ ८५ ॥

अन्वयः—अथ दमयन्ति, तव स्वयंवर श्वः भविता—इति श्रुतिः सुधारसस्य सारः धारा इव सन्तर्पयन्ती नाकजुषां श्रुती अयासीत् ।

हिन्दी—अब हे दमयन्ति, तुम्हारा स्वयंवर कल होने वाला है—यह समाचार पीयूषरस की सारभूत धारा के तुल्य भलीभाँति तृप्त करती स्वर्गवासियों के कानों में पहुँची है ।

टिप्पणी—दमयन्ती का स्वयंवर शीघ्र होगा, यह समाचार जब से इन्द्रादि ने सुना है, बड़े प्रसन्न हैं,—इतने कि जितने पीयूषरसधारापान से संतृप्त होते । उन्हें लग रहा है कि अब उनके वियोग की घड़ियाँ समाप्त होंगी ॥ ८५ ॥

समं सपत्नीभवदुःखतीक्ष्णैः स्वदारनासापथिकैर्मरुद्भिः ।
अनङ्गशौर्यानलतापदुःस्थैरथ प्रतस्थे हरितां मरुद्भिः ॥ ८६ ॥

जीवातु—सममिति । अथ स्वयंवरवार्ताश्रवणानन्तरमनङ्गस्य शौर्यानलेन प्रतापाग्निना यस्तापस्तेन दुःस्थैरस्वस्थैर्हरितां दिशां सम्बन्धिभिर्मरुद्भिर्देवैरिन्द्रादिभिः स्वस्वामिभावसंबन्धे षष्ठीसमासः । समानः पतिर्यस्याः सा सपत्नी । 'नित्यं सपत्न्यादिषु' इति ङीप् नकारश्च । तद्भवेन दुःखेन तीक्ष्णैर्दुःसहैः स्वदाराणां नासासु पन्थानं गच्छन्तीति पथिकैः पान्थैर्मरुद्भिः समं वायुभिः सह 'मरुतौ पवनामरौ' इत्यमरः । प्रतस्थे प्रस्थितं भावे लिट् । शच्यादिभिरिन्द्रादिकलत्रैरागामिसापत्न्यदुःखाद्दीर्घमुष्णञ्च निःश्वसितमित्यर्थः । अत्र पवनामरप्रस्थानयोः कार्यकारणभावात्तदङ्गलक्षणातिशयोक्त्युत्थापितः सहोक्त्यलंकारः । 'सहार्थेनान्वयो यत्र भवेदतिशयोक्तितः । कल्पितौपम्यपर्यन्ता सा सहोक्तिरिहोच्यते ॥' इति लक्षणात् ॥ ८६ ॥

अन्वयः—अथ अनङ्गशौर्यानलताग्दुःस्थैः हरितां मरुद्भिः सपत्नीभव-दुःखतीक्ष्णैः स्वदारनासापथिकैः मरुद्भिः समं प्रतस्थे ।

हिन्दी—तत्पश्चात् (स्वयंवर-समाचार-श्रवणानंतर) कामदेव के प्रतापाग्निसंताप से अस्वस्थ दिशाओं के स्वामियों (इन्द्रादि दिक्पालों) ने सपत्नीहेतुक (सौत के कारण उत्पन्न) दुःख से तीक्ष्ण (अत्यन्त उष्ण) अपनी पत्नियों की नासिका के पथिक वायु (श्वास-अनिल) के साथ प्रस्थान किया ।

टिप्पणी—काम के वशीभूत, कामपीडित इन्द्रादि दिक्पाल दमयन्ती के स्वयंवर का समाचार सुनकर स्वयंवर में संमिलित होने चल पड़े । उनकी पत्नियों ने उनके इस कार्य को देखकर दुःखभरा उच्छ्वास लिया, क्योंकि उन्हें लगा कि दमयन्ती के रूप में उनकी एक और सौत आ जायेगी । सौत के कारण स्त्रियों को पीड़ा होती ही है । दिक्पालों ने अपने दारमंडल के कष्ट पर कोई ध्यान नहीं दिया और दुःख के कारण उष्ण उच्छ्वास छोड़तीं अपनी पत्नियों की ओर ध्यान न देकर वे उसी प्रकार प्रस्थान कर गये, जैसे पथिक को यात्रा पर जाते देख अन्य पथिक भी चल उठता है । इधर देवदाराओं की नासिका के पथिक उच्छ्वास चले, उधर दिक्पाल देवगण चल पड़े । नारायण की टिप्पणी के अनुसार यात्रासमय में देवदाराओं के नासिका-संबद्ध उष्ण वायु अशकुन-सूचक हुए—'चण्डवायुभिः सार्धमित्यनेनाशकुनं सूचितम् ।' पवन और देव प्रस्थान में कार्यकारण भाव होने से मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में अतिशयोक्त्युत्थापित सहोक्ति अलंकार है; विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और सहोक्ति । उपेन्द्रवज्रा छन्द ॥ ८६ ॥

अपास्तपाथेयसुधोपयोगैस्त्वच्चुम्बिनेव स्वमनोरथेन ।
क्षुधश्च निर्व्वापयता तृषश्च स्वादीयसाध्वागमितः सुखं तैः ॥ ८७ ॥

जीवातु—अपास्तेति । पथि साधु पाथेयम् । 'पाथेयं संबलं स्मृतम्' इति यादवः । 'पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्' । तच्चासौ सुधा च तस्या उपयोगोऽपास्तो यैरिन्द्रादिभिः क्षुधं बुभुक्षां तृषं तृष्णां पिपासां निर्वापयता शमयता स्वादीयसा अमृतादपि स्वादुतरेण त्वच्चुम्बिना भवद्गोचरेण स्वयं मनोरथे-

नैवाध्वा सुखं गमितो नीतः, समृतमप्युत्सृज्य त्वद्ध्यानमात्रसम्बन्धाः प्राप्ता इत्यर्थः ।। ८७ ।।

अन्वयः—अपास्तपाथेयसुधोपयोगैः तैः क्षुधं तृषं च निर्वापयता स्वादीयसा त्वच्चुम्बिना स्वमनोरथेन एव अध्वा सुखं गमितः ।

हिन्दी—पाथेय (मार्ग का भोजन-संबल) रूप अमृत का उपयोग छोड़े वे (दिक्पाल) भूख और प्यास को भुलाकर अतिस्वादिष्ट तेरा (दमयन्ती) चुम्बन करते (दमयन्ती-विषयक) अभिलाष (मनोरथ-रूपरथ) से ही मार्ग सुखपूर्वक पार कर लिये ।

टिप्पणी—दमयन्ती को पाने के निमित्त इतने उत्कंठित हैं दिक्पाल कि उन्होंने न तो अपने प्रिय पाथेय अमृत का ही उपभोग किया, न मार्ग में उपयोगार्थ साथ लिया । उन्होंने न भूख की चिन्ता की और न प्यास की । वे मार्ग में यही सोचते-विचारते मन-मोदक खाते चले आये कि कैसे उन्हें दमयन्ती प्राप्त होगी और जब प्राप्त होगी तब किस-किस प्रकार से उसके साथ आनन्द-विहार करेंगे ? यही सोचते-विचारते भाँति-भाँति के अभिलाष करते देवगण बिना किसी पाथेय के ही सुखपूर्वक यात्रा पूरी कर आये । दमयन्ती के विषय में विचारते वे भूख-प्यास की चिन्ता से मुक्त हो गये, न कोई पाथेय साथ लिया, प्रिय, स्वादु अमृत भी छोड़ा, बस जैसे मनोरथ के शीघ्रगामी रथ पर ही चले आये । दमयन्ती की प्राप्ति के आगे उन्हें सब नगण्य लगा । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ।। ८७ ।।

प्रिया मनोभूशरदावदाहे देवीस्त्वदर्थेन निमज्जयद्भिः ।
सुरेषु सारैः क्रियतेऽधुना तैः पादार्पणानुग्रहभूरियं भूः ।। ८८ ।।

जीवातु—प्रिया इति । त्वमेवार्थः प्रयोजनं तेन निमित्तेन प्रिया दयिताः देवीः शच्यादिदाराः मनोभुवः कामस्य शरा एव दावो दावाग्निस्तस्य दाहे विरहानले निमज्जयद्भिः सुरेषु सारैः श्रेष्ठैरिन्द्रादिभिरधुना इयं भूर्विदर्भदेशः पादार्पणमेवानुग्रहस्तस्य भूः स्थानं क्रियते । कुण्डिनोपकण्ठ एव तिष्ठन्तीत्यर्थः ।।

अन्वयः—त्वदर्थेन प्रियाः देवीः मनोभूशरदावदाहे निमज्जयद्भिः सुरेषु सारैः तैः अधुना इयं भूः पादार्पणानुग्रहभूः क्रियते ।

हिन्दी—तुम्हारे (दमयन्ती के) निमित्त प्रिय देवियाँ (शची आदि

पत्नियों) को मनोभव (काम) के बाणानल के दाह में निमग्न करते देवों में सारभूत (श्रेष्ठ) वे (इन्द्रादि) इस समय इस धरती (कुण्डिनपुरी प्रदेश) को (स्व) चरण रखने का कृपापात्र बना रहे हैं।

टिप्पणी—दमयन्ती को पाने के इच्छुक इन्द्रादि अपनी-अपनी प्रिय पत्नियों को विरह-पीडिता, काम-बाण-दग्धा बनाते इस समय कुण्डिननगरी के प्रदेश में स्थित हैं और स्वचरण-निक्षेप की कृपा कर रहे हैं। दमयन्ती के लिए दिक्पाल यहाँ आ गये हैं और उनकी देवियाँ उनके विरह में दग्ध हो रही हैं। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ८८ ॥

अलङ्कृतासन्नमहीविभागैरयं जनस्तैरमरैर्भवत्याम् ।
अवापितो जङ्गमलेख्यलक्ष्मीं निक्षिप्य सन्देशमयाक्षराणि ॥ ८९ ॥

जीवातु—अलङ्कृतेति । अलङ्कृत आसन्नमहीविभागो भूप्रदेशो यैस्तैः समीपं गतैस्तैरमरैरयं जनः स्वयमित्यर्थः । भवत्यां विषये त्वां प्रतीत्यर्थः । सन्देशमयाक्षराणि सन्देशरूपाणि वाक्यानि निक्षिप्य अर्पयित्वा जङ्गमलेख्यस्य चललेख्यस्य लक्ष्मीमवापितः तेषामहं सन्देशहर इत्यर्थः ॥ ८९ ॥

अन्वयः—अलङ्कृतासन्नमहीविभागैः तैः अमरैः भवत्यां सन्देशमयाक्षराणि निक्षिप्य अयं जनः जङ्गमलेख्यलक्ष्मीम् अवापितः ।

हिन्दी—निकटस्थ धरती के विभाग (कुण्डिनभू-प्रदेश) को सुशोभित करते उन अमरों (इन्द्रादि) ने आप (दमयन्ती) से संबद्ध संदेश से पूर्ण अक्षर (संदेश-वाक्य) देकर इस जन (नल) को चैतन्य आलेख की शोभा को प्राप्त करा दिया है।

टिप्पणी—शिष्टभाषा में नल ने दमयन्ती को सूचित किया कि वे देवगण कुण्डिनपुरी के निकट उपस्थित हैं और नल को उन्होंने अपना संदेशवाहक बनाकर भेजा है। कोई लिखित संदेश भेजने की अपेक्षा उन्होंने मौखिक संदेश भेजना अधिक उपयुक्त समझा। नल क्या है, देवों की चैतन्य, जीवित, चलती-फिरती संदेशपत्रिका है। विद्याधर के अनुसार रूपक अलंकार ॥८९॥

एकैकमेते परिरभ्य पीनस्तमोपपीडं त्वयि सन्दिशन्ति ।
त्वं मूर्च्छयान्नः स्मारभिल्लशल्यैर्मुदे विशल्यौषधिवल्लिरेधि ॥ ९० ॥

जीवातु—एकैकमिति । एते देवाः एकैकं प्रत्येकमेवेत्यर्थः । वीप्सायां

द्विरुक्तिः । 'एकं बहुव्रीहिवदि'ति बहुव्रीहिवद्भावात्सुलोपः क्रियाविशेषणं चैतत् । अन्यथैकत्वनपुंसकत्वानुपपत्तेः । केषुचित्पुस्तकेषु 'प्रत्येकमि'त्येव पाठः । पीनस्तनयोरुपपीड्य पीनस्तनोपपीडं 'सप्तम्यां चोपपीडरुधकर्षः' इति णमुल्प्रत्ययः । परिरभ्यालिङ्ग्य सन्दिशन्ति वाचिकं कथयन्ति । किमिति-स्मर एव भिल्लोऽन्त्यजभेदः । 'मूलाश्लेषादयो भिल्ला कथ्यन्ते ह्यन्त्यजातयः' इति हलायुधः । तस्य शल्यैः शरैर्मूर्च्छतां मुह्यतां नोऽस्माकं मुदे त्वं विशल्या उद्धृतशल्या च सा औषधिर्वल्ली विशल्यकरणी लता । एधि भव अस्तेर्लोण्मध्यमेकवचनं 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' इत्येकारः । 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' 'धि च' इति सकारलोपः ॥ ९० ॥

अन्वयः—एते एकैकं पीनस्तनोपपीडं परिरभ्य त्वयि सन्दिशन्ति—त्वं स्मरभिल्लशल्यैः मूर्च्छतां नः मुदे विशल्यौषधिवल्लिः एधि ।

हिन्दी—इन सबने (इन्द्रादि ने) एक-एक करके पीन कुचमंडल को पीडित कर आलिगन करके (गाढालिगन-पूर्वक) तुम्हें (दमयन्ती को) संदेश भेजा है कि तुम काम-भील के बाणों से मूर्च्छित होते हमारी प्रसन्नता के निमित्त विशल्यकरणी बूटी बन जाओ ।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में स्वयं को देवों का संदेशवाहक बताते हुए नल ने दमयन्ती को उनका संदेश दिया कि देवगण ने अत्यन्त प्रेम जताते हुए एक-एक करके निवेदन किया है कि काम ने अपने बाणों से उन्हें उस प्रकार घायल कर दिया है, जिस प्रकार कोई नीच भील-किरात निर्भय हो पशुओं को घायल कर देता है । उन घायल देवों के उपचार के निमित्त दमयन्ती विशल्य-करणी ओषधि के रूप में उन्हें प्राप्त हो । अर्थात् विरहपीडित देवों को शांति देने के लिए दमयन्ती उनसे विवाह कर ले । तुलनीय—'स्तनोपपीडं परिरब्धुकामा ।' (भारवि, किरातार्जुनीय—३) । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और रूपक अलकार ॥ ९० ॥

त्वत्कान्तिमस्माभिरयं पिपासन् मनोरथाश्वासनयैकयेव ।
निजः कटाक्षः खलु विप्रलभ्यः कियन्ति यावद्भण वासराणि ॥९१॥

जीवातु—अथ षोडशभिः श्लोकैः सन्देशमेवाह—त्वदित्यादि । हे भैमि ! त्वत्कान्ति त्वल्लावण्यामृतं पिपासन् पातुमिच्छन्, पिबतेः सनन्तात्लटः शत्रादेशः ।

अयं निजोऽस्मदीयः कटाक्षोऽस्माभिः कियन्ति वासराणि यावत् कियद्दिन-पर्यन्तमित्यर्थः। अत्यंतसंयोगे द्वितीया, अवधौ यावच्छब्दः। एकया मनोरथेन मनोरथप्राप्त्या या आश्वासना तयैव अयं ते मनोरथ इदानीमेव प्राप्स्यत इत्येवमुपसान्त्वनयैव विप्रलभ्यः प्रतार्यः खलु? भण पथिकैस्तृषितं इवेति भावः। अलं कालयापनया, दिदृक्षवो वयमनुकम्पनीया इति तात्पार्यार्थः।

अन्वयः—मणत्वकान्ति पिपासन् अयं निजः कटाक्षः एकया मनोरथा-श्वासनया एव कियन्ति वासराणि विप्रभ्यः खलु?

हिन्दी—(हे दमयन्ति,) बता–तेरे रूप का प्यासा यह हमारा कटाक्ष मनोरथजन्य आश्वासन से ही कितने दिनों प्रतारित होता रहे?

टिप्पणी—देवों का कथन है कि उनके नेत्र दमयन्ती के रूपपान के लिए अत्यन्त प्यासे हैं। बहुत समय से वे उन्हें धोखा देकर, तरह-तरह से काल्पनिक बहलावों से आश्वासन देते आ रहे हैं। अब यह असह्य हो गया है। भाव यह कि अब सहा नहीं जाता, दर्शन देकर देवों को कृतार्थ करना ही प्रार्थित है। विद्याधर के अनुसार समासोक्ति अलंकार ॥ ९१ ॥

निजे सृजास्मासु भुजे भजन्त्यावादित्यवर्गे परिवेषवेषम्।
प्रसीद निर्वापय तापमङ्गैरनङ्गलीलालहरीतुषारैः ॥ ९२ ॥

जीवातु—निज इति। हे भैमि! निजे स्वीये भुजे बाहू आदित्यवर्गे सुरवर्गे सूर्यवर्गे चास्मासु परिवेषस्य वेष्टनस्य सूर्यपरिधेश्च वेषमाकारं भजन्त्यौ सृज कुरु। आलिङ्गेत्यर्थः। 'परिवेषो रवेः पार्श्वमण्डले वेष्टने तथा' इत्यजय-पालः। प्रसीद प्रसन्ना भव अनङ्गलीलालहरीभिर्मदनविहारोर्मिभिः तुषारैः शीतलैरङ्गैस्तापं निर्वापय शमय ॥ ९२ ॥

अन्वयः—निजे भुजे आदित्यवर्गे अस्मासु परिवेषवेषं भजन्त्यौ सृज, प्रसीद, अनङ्गलीलालहरीतुषारैः अङ्गैः तापं निर्वापय।

हिन्दी—(हे दमयन्ति, तुम) अपने बाहुयुगल को सूर्यमंडल-सदृश हम अदिति की संतानों (देवों) पर परिवेष (वेष्टन, वृत्त, घेरा) का आकार धारते हुए बनाओ (अँकवार भेंटों, आलिंगन करो)। प्रसन्न हो जाओ, अनंग (काम) की लीलारूप लहरों से शीतल (अपने) अंगों द्वारा (हमारे) ताप को दूर करो।

टिप्पणी—देवों की इच्छा है कि जैसे सूर्य के चारों ओर मंडल बनता है, वैसे ही देवों को अपनी बाँहों के घेरे में लेकर दमयन्ती उन्हें अंकपाली (अँकवार—गले में बाँहें डालकर) देकर भेंटें और इस प्रकार काम की लीलायित लहरियों से युक्त अतएव शीतल अपने अंगों के स्पर्श से देवों का काम-ताप दूर करे। अनंग की लीला का ताप अपने अंग-संस्पर्श से मिटाये। देवगण सूर्य के सदृश कामताप से तप रहे हैं, 'लहरीतुषार अंगों' का शीतल संग उस ताप को दूर कर सकेगा। सकाम अंगस्पर्श से देवों का कामज्वर शान्ति को प्राप्त हो जायेगा। अब इसमें विलम्ब कष्टकारक बन रहा है। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छेकानुप्रास ॥ ९२ ॥

दयस्व नो घातय नैवमस्माननङ्गचाण्डालशरैरदृश्यैः।
भिन्ना वरं तीक्ष्णकटाक्षबाणैः प्रेमस्तव प्रेमरसात्पवित्रैः ॥ ९३ ॥

जीवातु—दयस्वेति। हे भैमि ! नोऽस्माकं दयस्व अस्माननुकम्पस्वेत्यर्थः। 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' इति षष्ठी। अदृश्यैरलक्ष्यैरनङ्ग एव चाण्डालस्तस्य शरैरेवमस्मान् न घातय न मारय। किन्तु प्रेमैव रसोऽनुरागो जलं च तस्मात्पवित्रैः शुद्धैस्तव तीक्ष्णैः कटाक्षैरेव बाणैर्भिन्ना विदारिता सन्तः प्रेमः म्रियामहे। प्रपूर्वादिणो लडुत्तमबहुवचनम्। वरं मनाक् प्रियम्। जीवनासम्भवे वरं चाण्डालहस्तमरणात्तीर्थमरणमिति भावः ॥ ९३ ॥

अन्वयः—नः दयस्व, अदृश्यैः अनङ्गचाण्डालशरैः एवम् अस्मान् न घातय; प्रेमरसात् पवित्रैः तव तीक्ष्णकटाक्षैः प्रेमः—वरम्।

हिन्दी—हम पर दया करो ! अदृश्य अदेह-(काम)-रूप चांडाल के बाणों द्वारा इस प्रकार हमें न मारो ! प्रेम के रस से पवित्र तेरे तीव्र कटाक्षों (बाणों) से मरें—यह अच्छा है।

टिप्पणी—निंद्य चांडाल के बाणों से मरना उचित नहीं माना जाता, उसकी अपेक्षा किसी प्रवित्र शुद्धाचारी व्यक्ति द्वारा वध अच्छा है। देवों की भी यही कामना है कि चांडालसम काम-बाणों से उनकी हत्या न हो, दमयन्ती के प्रेमरसस्नात (परिपूर्ण) कटाक्षों की बलि भले ही वे बन जायें। भाव वही है कि दमयन्ती क्यों देवों को कामपीडा का आखेट बनवा रही है, उनका वरण कर अपने प्रेमभरे कटाक्षों से उन्हें कृतार्थ करे। और

जब मरना ही है तो चांडाल के हाथों क्यों मरा जाय, (प्रेमरसपूर्ण) तीर्थस्थल पर क्यों न प्राण दिये जायें ? विद्याधर के अनुसार रूपक और अतिशोक्ति अलंकार हैं ॥ ९३ ॥

त्वदर्थिनः सन्तु परस्सहस्राः प्राणास्तु नस्त्वच्चरणप्रसादः ।
विशङ्कसे कैतवनर्तितञ्चेदन्तश्चरः पञ्चशरः प्रमाणम् ॥ ९४ ॥

जीवातु—त्वदिति । हे भैमि ! त्वामर्थयन्त इति त्वदर्थिनः त्वत्कामुकाः सहस्रात् परे परस्सहस्राः सहस्राधिकसङ्ख्याका इत्यर्थः । 'परश्शताद्यास्ते येषां परा सङ्ख्या शताधिका' इत्यमरः । पञ्चमीति योगविभागात् समासः, राजदन्तादित्वादुपसर्जनस्य सहस्रशब्दस्य परनिपातः । पारस्करादित्वात् सुडागम । सन्तु, नोऽस्माकं प्राणास्तु त्वच्चरणयोः प्रसादोऽनुग्रहो वयं त्वदेकायत्तजीविता इत्यर्थः । अथ कैतवनर्तितं कपटनाटकं विशङ्कसे चेत् अन्तश्चरो हृदयान्तर्वर्ती पञ्चशरः प्रमाणम्, काम एवात्र साक्षी । स हि महतो देवतेति भावः ॥ ९४ ॥

अन्वयः—त्वदर्थिनः परःसहस्राः सन्तु नः प्राणाः तु त्वच्चरणप्रसादः; कैतवनर्त्तितं चेत् विशङ्कसे, अन्तश्चरः पञ्चशरः प्रमाणम् ।

हिन्दी—तेरे चाहनेवाले सहस्राधिक हों, परन्तु हमारे (देवों के) प्राण तो तेरे (दमयन्ती के) चरणों की प्रसन्नता है। यदि तुम्हें आशंका है कि हमारा कपटनृत्य (झूठा कथन) है, तो इसका साक्षी अन्तस् में संचरण करता पंचबाण (काम) है ।

टिप्पणी—देवों का कथन है कि लोक में अनेक व्यक्ति दमयन्ती के प्रार्थी हो सकते हैं, परन्तु उनकी अपेक्षा देवों का प्रणय अधिक ध्यान देने योग्य है, क्योंकि यदि देवों को दमयन्ती के चरणों का प्रसाद न मिला तो उनके प्राण निकल जायेंगे । मर्त्यलोकवासियों के प्राण भी दमयन्ती के विना निकल सकते हैं, परन्तु इससे विशेष हानि न होगी । मर्त्य तो मरणधर्मा हैं ही, उनके प्राण निकले, वे मर गये । इसमें नवीन क्या है ? आपत्ति की बात तब होगी, जब अमर देव निष्प्राण हो, इधर-उधर प्रस्तरमूर्तियों जैसे पड़े मिलेंगे, अमर होने के कारण वे मरेंगे तो नहीं, निष्प्राण हो जायेंगे । यह निश्चय ही आपत्तिजनक होगा । देवों का यह कथन मिथ्या भी नहीं है,

इसका साक्षी है सबके हृदय में वास करता मनोज, महादेवता काम। काम अन्तर्वर्ती होने से सब जानता है। अतः दमयन्ती का अनुग्रह देवों को ही मिलना उचित है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ९४ ॥

अस्माकमध्यासितमेतदन्तस्तावद्भवत्या हृदय चिराय।
बहिस्त्वयालङ्क्रियतामिदानीमुरो मुर विद्विषतः श्रियेव ॥९५॥

जीवातु—अस्माकमिति। भवत्या पूज्यया। भवतेर्डवतुप्रत्ययः। 'उगितश्च' इति ङीप्। त्वयाऽस्माकमेतदन्तर्वर्ति हृदयं स्वान्तं चिराय चिरात्प्रभृति अध्यासितं तावदधिष्ठितमेव। अवधारणे तावच्छब्दः। निरन्तरचिन्तयेति भावः किं त्विदानीं बहिर्बाह्यमपि हृदयं वक्षः 'हृदयं वक्षसि स्वान्तम्' इति विश्वः। मुरं मुरस्य विद्विषतो विष्णोरुरो हृदयं 'द्विषोऽमित्रे' इति शतृप्रत्ययः। 'द्विषः श्वतुर्वा' इति विकल्पात् 'न लोके' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। श्रियेवालङ्क्रियताम् ॥ ९५ ॥

अन्वयः—भवत्या अस्माकम् एतत् हृदयम् तावत् चिराय अन्तः अध्यासितम्, इदानीम् मुरं विद्विषतः उरः श्रिया इव त्वया बहिः अलङ्क्रियताम्।

हिन्दी—आप (दमयन्ती) ने हमारा (देवों का) यह हृदय बहुत समय तक भीतर रखा, अब मुरारि (विष्णु) के हृदय को (अलंकृत करती) तेरे (दमयन्ती के) द्वारा बाहर सुशोभित किया जाय।

टिप्पणी—देवों का निवेदन है कि उनका हृदयस्थित प्रणय बहुत समय तक दमयन्ती द्वारा अप्रकट रहा, अब वह उसे प्रकट करे। इसके लिए उपमान है विष्णु के अन्तस् और प्रकट वक्ष पर आवास करती लक्ष्मी। जैसे विष्णु के हृदय में वास करती लक्ष्मी उनके वक्ष पर भी प्रकट है, वैसे ही देवों का प्रणय भी आभ्यन्तर और बाह्य—दोनों रूपों में रहना चाहिए, बहुत दिनों तक देवों का हृदय दमयन्ती के अन्तस् में रह आया - देवों ने अपना हृदय चिरकाल से दमयन्ती को दे रखा है,—अब दमयन्ती को उचित है कि वह उन्हें वरे और हृदयालिंगन दे, कृतकाम बनाये। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और उपमालंकार ॥ ९५ ॥

दयोदयश्चेतसि चेत्तवाभूदलङ्कुरु द्यां विफलो विलम्बः।
भुवः स्वरादेशमथाचरामो भूमौ धृतिं यासि यदि स्वभूमौ ॥९६॥

जीवातु—दयेति। तव चेतसि दयोदयः दयाविर्भावः अभूच्चेत् द्यां स्वर्गमलङ्कुरु विलम्बो विफल इत्यर्थः। 'शुभस्य शीघ्रम्' इति न्यायादिति भावः। अथाथवा स्वभूमौ स्वजन्मस्थाने भूमौ भूलोके धृतिं सन्तोषं यासि यदि तर्हि भुवो भूमेः स्वरादेशं स्वर्गसंज्ञामाचरामः वयं चात्रैव स्थास्याम इत्यर्थः। स्वाधिष्ठित एव स्वर्ग इति भावः॥ ९६॥

अन्वयः—तव चेतसि दयोदयः चेत् अभूत् द्याम् अलङ्कुरु, विलम्बः विफलः, अथ स्वभूमौ भूमौ धृतिं यासि, भुवः स्वरादेशम् आचरामः।

हिन्दी—तेरे (दमयन्ती के) चित्त में यदि दया उदित हो तो स्वर्ग को सुशोभित कर, विलम्ब व्यर्थ है। और यदि अपनी जन्मस्थली भूमि पर प्रीति करती हो तो भू का ही स्वरादेश कर दें (धरती को ही स्वर्ग बना दें)।

टिप्पणी—देव-प्रस्ताव है कि यदि दमयन्ती उनके साथ स्वर्गसुख का अनुभव करना चाहती है तो व्यर्थ विलम्ब न करके, उनके साथ तुरन्त स्वर्ग चले। जन्मभूमि सब को प्रिय होती है, सो दमयन्ती को भी प्रिय हो सकती है। यदि वह धरती पर ही रहने की इच्छुक हो तो वैसा प्रबंध भी हो सकेगा। देवगण संपूर्ण स्वर्गसुख धरती पर ही उपस्थित करके इस धरती को ही स्वर्ग बना देंगे और यहीं चले आयेंगे। 'भुवः स्वरादेशमाचरामः' में विशेष चमत्कार है। 'भू' का 'स्वरादेश' कर दें, अर्थात् 'भू' में जो 'व्यंजन भ्' है, उसके स्थान में 'स्वर' कर दें। व्यंजन स्वर के द्वारा व्यंजित होता, उसके उच्चारण में प्राणवायु में अवरोध होता है। इस प्रकार उसमें निर्बाधता, स्वतंत्रता नहीं है। इसके विपरीत 'स्वर' होता है स्वयं राजित—'स्वयं राजन्ते इति स्वराः।' (पातंजल महाभाष्य—१।२।२९)। स्वर के उच्चारण में प्राणवायु अबाधगति रहती है, अतः वह निर्बाध, स्वतंत्र है। भूलोक और स्वर्ग में भी यही अन्तर है व्यंजन—स्वर का। भू में बाधा है, स्थान-स्थान पर बाधा। स्वर्गलोक है स्वतंत्र, बाधारहित। देवों का यही प्रस्ताव है कि दमयन्ती की इच्छा होने पर भूलोक को भी स्वर्गतुल्य स्वच्छंद क्रीडास्थली

बनाया जा सकता है। जहाँ दमयन्ती होगी, वहीं देव रहेंगे, वही स्वर्ग बन जायेगा। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और काव्यलिंग अलंकार ॥ ९६ ॥

धिनोति नास्मान् जलजेन पूजा त्वयान्वहं तन्वि ! वितन्यमाना।
तव प्रसादाय नते तु मौलौ पूजास्तु नस्त्वत्पदपङ्कजाभ्याम् ॥ ९७ ॥

जीवातु—धिनोतीति। तन्वि ! त्वया अन्वहमनुदिनं वीप्सायामव्ययीभावे 'अनश्च, नपुंसकादन्यतरस्याम्' इति समासान्तः, 'अह्नष्टखोरेव' इति टिलोपः। वितन्यमाना क्रियमाणा जलजेन जातावेकवचनम्। जलजैः पूजा अस्मान् न धिनोति न प्रीणयति। किन्तु तव प्रसादाय प्रसादार्थं नते नम्रे मौली मूर्ध्नि त्वत्पदपङ्कजाभ्यां नोऽस्माकं पूजा अस्तु। प्रणयापराधेषु त्वत्पादताडनार्थिनो वयमिति भावः ॥ ९७ ॥

अन्वयः—तन्वि, त्वया अन्वहं वितन्यमाना जलजेन पूजा अस्मान् न धिनोति, तव प्रसादाय तु नते मौलौ त्वत्पादपङ्कजाभ्यां नः पूजा अस्तु।

हिन्दी—हे कृशांगि, तेरे (दमयन्ती के) द्वारा प्रतिदिन की जाती कमल द्वारा पूजा हमें प्रसन्न नहीं करती, तुझे प्रसन्न करने के लिए झुके सिरों में तेरे चरण-कमलों द्वारा हमारी पूजा हो।

टिप्पणी—देवों का प्रणय-निवेदन है कि दमयन्ती ही देवपूज्या है, देव दमयन्तीपूज्य नहीं। देवों को यह नहीं रुचता कि अपने हाथ से कमल चढ़ा कर दमयन्ती देवों को पूजती है। वे तो यह चाहते हैं कि सामान्य कमल-निवेदन करने के स्थान में अपने चरणों में मनाने के लिए झुके देवों के सिर पर दमयन्ती अपने चरण-कमल चढ़ाये। देवप्रिया दमयन्ती उन्हें वरने के पश्चात् कभी प्रणयकोप करे, देव उसके चरणों में अपने सिर रखकर उसे प्रसन्न करें—मनायें। यह सब प्रणय-विलास देवों का काम्य है। इसी से उन्हें प्रसन्नता होगी, इस सामान्य पूजा से उन्हें तोष नहीं। देवों की इच्छा है कि प्रणय-अपराधों में दमयन्ती उनके सिर पर चरण-प्रहार करे। कमलों से दमयन्ती के चरण अधिक अच्छे हैं। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ९७ ॥

स्वर्णैर्वितीर्णैः करवाम वामनेत्रे ! भवत्या किमुपासनासु।
अङ्ग ! त्वदङ्गानि निपीतपीतादर्पाणि पाणिः खलु याचते नः ॥९८॥

जीवातु—स्वर्णैरिति। हे वामनेत्रे! चारुलोचने! भवत्या त्वया निजोपासनासु पूजासु वितीर्णैः समर्पितैः स्वर्णैः कनककमलादिभिः किं करवाम न किमपीत्यर्थः। यतः स्वर्णाचलवासिनो वयमिति भावः। किन्तु अङ्गेत्यामन्त्रणे, निर्पीतो गृहीतः पीताया हरिद्राया दर्पः कान्तिगर्वो यैस्तानि, 'निशाख्या काञ्चनी पीता हरिद्रा वरवर्णिनी' इत्यमरः। त्वदङ्गानि नोऽस्माकं पाणिर्याचिते खलु। पीतदर्पाणीति पुंल्लिङ्गपाठे पीतानां स्वर्णादिद्रव्याणां दर्पमिति व्याख्येयम्। स्वर्णादुत्कृष्टवस्तुसम्भवे अपकृष्टस्वर्णस्वीकारो न युक्त इति भावः। साधुश्चायमेव पाठः। अन्यथा स्वर्णसञ्चारिणां त्वदङ्गेषु स्वर्णादुत्कर्षे वक्तव्ये हरिद्रामात्रादुत्कर्षोक्त्यनौचित्यादिति ॥ ९८ ॥

अन्वयः—वामनेत्रे, भवत्या उपासनासु वितीर्णैः स्वर्णैः किं करवाम? अङ्ग, नः पाणिः निपीतपीतादर्पाणि त्वदङ्गानि खलु याचते।

हिन्दी—हे बाँके नयनोंवाली, आपके द्वारा पूजाओं में समर्पित स्वर्ण (कमलादि) का हम क्या करें? (वह सब हमारे उपयोग का नहीं)। प्रिये, हमारा हाथ हलदी का कांतिदर्प (अथवा 'पीत' पाठांतर में—पीले सुवर्णादि का गर्व) पान करनेवाले (अभिमान मिटानेवाले) तुम्हारे अंगों की निश्चयतः याचना करता है।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक के संदर्भ में ही नल ने दमयन्ती से निवेदन किया कि देवगण दमयन्ती द्वारा पूजा-उपासनाओं में अर्पित किये जाते स्वर्णादिद्रव्य की कामना नहीं करते हैं। उन्हें स्वर्णादि की क्या आवश्यकता है? वे तो स्वर्णपर्वत सुमेरु के वासी ही हैं। उन्हें वर्ण और आभा की दृष्टि से स्वर्ण की अपेक्षा कमनीय दमयन्ती के अंगों के स्पर्श की कामना है। देव स्वर्ण नहीं, उससे उत्कृष्ट दमयन्ती के अंग चाहते हैं। देवों का वरण कर दमयन्ती उनकी इच्छा पूर्ण करे। मल्लिनाथ ने उत्तरार्द्ध का पाठ 'पीतादर्पाणि' की अपेक्षा 'पीतदर्पाणि' ही उचित माना है। नारायण ने भी यही स्वीकारा है। 'पीता' अर्थात् हल्दी का रंग ही पीला है, पर वह कोई उत्कृष्ट पदार्थ नहीं है, अतः दमयन्ती के अंगों की तुलना में उसकी देवों द्वारा अग्राह्यता कोई उल्लेख्य बात नहीं है। 'पीत' अर्थात् पीला स्वर्ण दमक और चमक—दोनों की दृष्टि से मूल्यवान् है। दमयन्ती के अंग उसका भी कांति-दर्प मिटाने वाले हैं। वे स्वर्ण

से भी उत्कृष्ट हैं। स्वर्ण का त्याग करके देवता उससे उत्कृष्ट दमयन्ती-अंगों के कामी हैं—यही भाव यहाँ अपेक्षित है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और अतिशयोक्ति ।। ९८ ।।

वयं कलादा इव दुर्विदग्धं त्वद्गौरिमस्पर्धि दहेम हेम।
प्रसूननाराचशरासनेन सहैकवंशप्रभवभ्रु ! बभ्रु ।। ९९ ।।

जीवातु—वयमिति। प्रसूननाराचशरासनेन कामचापेन सह एकवंशप्रभवे एककारणोत्पन्ने अत्यन्ततत्सदृशे इति यावत्। भ्रुवौ तस्याः स तद्भ्रूरित्यूङन्तोत्तरपदो बहुव्रीहिः। अन्यथा अनूङन्तस्य भ्रूशब्दस्योवङ्स्थानस्यानदीत्वात् सम्बुद्धावम्बार्थेत्यादिना नदीह्रस्वो न स्यात्। ननु ऊङन्त इत्युक्तं कथमूकारादिति चेत, सत्यम्, अप्राणिजातेश्चारज्ज्वादीनामित्यत्र 'अलाबूः कर्कन्धूः' इति भाष्यकारेणोदाहरणादूकारादप्यूङस्त्येवेति ज्ञायते। अत एव वामन—'ऊकारादप्यूङ्प्रवृत्ते' रिति। तदेतत् सम्यग्विवेचितमस्माभिः कुमारसम्भवसञ्जीविन्यां, 'विमानना सुभ्रु ! कुतः पितुर्गृहे' इत्यत्र। तस्याः सम्बुद्धिः एकवंशप्रभवभ्रु ! वयं कलाः स्वर्णखण्डान् द्यन्ति खण्डयन्तीति कलादाः स्वर्णकारा इव। 'कलादा रुक्मकारकाः' इत्यमरः। तव गौरिम्णा सह स्पर्धत इति तत्स्पर्धि अत एव प्रबलविरोधितया दुर्विदग्धमविदग्धं बुद्धिशून्यं च बभ्रु पिङ्गलम्। 'बभ्रु स्यात् पिङ्गले त्रिषु' इत्यमरः। हेमं सुवर्णं दहेम। त्वदङ्गस्पर्धापराधादविशुद्धेश्चास्माकं दाह्यस्वर्णसमर्पणात् सर्वानवद्याङ्गसमर्पणमेव सन्तर्पणमिति भावः ।।९९।।

अन्वयः—प्रसूननाराचशरासनेन सह एकवंशप्रभवभ्रु, वयं कलादाः इव त्वद्गौरिमस्पर्धि दुर्विदग्धं बभ्रु हेम दहेमः।

हिन्दी—हे कुसुमबाण (काम) के धनुष् के साथ एक वंश (बाँस, कुल) में उत्पन्न भौंहों वाली, (कामधन्वासदृश भौहों वाली) हम (देवगण) स्वर्णखण्डों को तोड़ने वाले (अथवा 'कलाम् स्वर्णखण्डम् अत्ति खादति गृह्णातीत्यर्थः स। कलादः ते' स्वर्णखण्ड को मार लेने वाले) स्वर्णकारों के सदृश तुम्हारी (दमयन्ती की) गौरिमा (गोरेपन) से स्पर्धा करनेवाले (अतएव) मूर्ख, पीले स्वर्ण को आग में फूँकते हैं।

टिप्पणी—भाव यह कि देवों को स्वर्ण की कोई आवश्यकता नहीं, वे तो उसे जला डालते हैं अर्थात् निरर्थक वस्तु की भाँति फेंक देते हैं। उन्हें

तो आवश्यकता है उससे कमनीयतर दमयन्ती-देह की। इसी को भंगिमा-विशेष से व्यक्त किया गया। स्वर्णकार जैसे आग में (आभूषण बनाने के लिए) सोने को आग में डालते हैं, वैसे ही देवगण भी स्वर्ण को आग में झोंक देते हैं। वे स्वर्ण को उसकी धृष्टता और मूर्खता का यह दंड देते हैं कि क्यों वह दमयन्ती के अंगों से स्पर्धा करने की धृष्टता करता है? विद्याधर के अनुसार उपमा और छेकानुप्रास ॥ ९९ ॥

सुधासरःसु त्वदनङ्गतापः शान्तो न नः किं पुनरप्सरस्सु ।
निर्वाति तु त्वन्ममताक्षरेण सूनाशुगेषोर्मधुशीकरेण ॥ १०० ॥

जीवातु—सुधेति। हे भैमि! सुधासरःसु अमृतसरसीषु नोऽस्माकं त्वत्कृतानङ्गतापो न शान्तः अप्सरःस्वपां सरःसु ऊर्वश्यादिवेश्यासु वा किं पुनः किमुत? किन्तु सूनाशुगेषोः कामबाणस्य मधुशीकरेण मकरन्दबिन्दुना तत्सदृशेनेत्यर्थः। तव ममताक्षरेण ममताव्यञ्जकवाक्येन मदीया यूयमित्येवरूपेण निर्वाति शाम्यति। यद्विरहादयं तापः स तत्सङ्गमकसाध्यो नोपायान्तरसाध्य इत्यर्थः ॥ १०० ॥

अन्वयः—नः त्वदनङ्गतापः सुधासरःसु न शान्तः अप्सरासु किं पुनः? सूनाशुगेषोः मधुशीकरेण त्वन्ममताक्षरेण तु निर्वाति।

हिन्दी—हमारा तेरे (दमयन्ती) अनङ्गत्व का ताप (दमयन्ती के वियोग के कारण उत्पन्न कामसंताप अथवा दमयन्ती के 'अनङ्गत्व' अर्थात् अंग प्राप्त न होने के कारण उत्पन्न ताप) अमृत-सरोवरों में भी शांत नहीं होता, अप्सराओं (रम्भादि देवांगनाओं के मध्य वास अथवा 'अपाम् सरःसु' अर्थात् सामान्य जलाशयों) में क्या शांत हो? कुसुमबाण (काम) के पुष्प के मधु मकरंद बिंदु के तुल्य तेरे (दमयन्ती के) ममता भरे अक्षर (प्रणयवचन) से तो शांत हो जाता है।

टिप्पणी—दमयन्ती के अंगों की प्राप्ति न होने से देवों को ऐसा कामताप सता रहा है कि वह सुधासरों में डूब जाने से भी शांत नहीं होता, सामान्य जलाशयों और अप्सरियों का सान्निध्य तो उसे शांत कर ही नहीं सकता, परन्तु दमयन्ती एक प्रेमभरा, ममतापूर्ण शब्द उच्चार दे तो उनका संपूर्ण ताप शांत हो जाता है। जो इतने उद्योग से नहीं मिटता, वह काम-

संताप एक वचन मात्र से मिट जाता है। कितना आश्चर्य है! भाव वही है, देवों का वरण कर ले दमयन्ती, विलम्ब न करे। विरहजन्य संताप संयोग से ही शांत होगा। कार्य-कारण में विरोध होने से विद्याधर के अनुसार विषम अलंकार ॥ १०० ॥

खण्डः किमुत्वद्गिर एव खण्डः किं शर्करातत्पथशर्करैव।
कृशाङ्गि! तद्भङ्गिरसोत्थकच्छतृणन्नु दिक्षु प्रथितं तदिक्षुः ॥१०१॥

जीवातु—खण्ड इति। ये कृशाङ्गि! खण्डः खण्डशर्करात्वद्गिर एव त्वद्वचस एव खण्डः शकलः किम्? 'स्यात्खण्डः शकले चेक्षुविकारमणिदोषयोः' इति विश्वः। 'तथा शर्करा सिताख्यशर्करा तस्या गिरः पन्थास्तत्पथः तस्मिन् मार्गे शर्करा शिलाशकलप्रचुरमृदेव किम्? शर्करा खण्डविकृतावुपल कर्परांशयोः' इत्युभयत्रापि विश्वः। दिक्षु प्रथितं प्रख्यातमिक्षुरिक्ष्वाख्यं तत् तृणं तव गिरः त्वद्गिरः भङ्गी भङ्गवान् तरङ्गितो रसः शृङ्गारो दरुदकं च तदुत्थं कच्छे अनूपे तृणं नु? उत्सेति पाठे रसोत्सो रसप्रवाहः तस्य कच्छतृणं किमित्यर्थः। 'जलप्रायमनूपं स्यात् पुंसि कच्छस्तथाविध' इत्यमरः। सर्वत्रान्यथा कथं खण्डादीनामोदृङ्माधुर्यमिति भावः। किंवादयस्तूत्प्रेक्षायामत्रोत्प्रेक्षात्रयस्य संसृष्टत्वात्सजातीयसंसृष्टः। अत्र द्रव्ये वैशेषिककारः—'मत्स्यन्दिका खण्डसिता क्रमेण गुणवत्तमाः। यथा यथा हि नैर्मल्यं मधुरत्वं तथा तथा॥ धौतत्वान्निर्मलत्वाच्च तथा सिततमक्रमात्। बालुकेव भृशं सूक्ष्मा सुस्निग्धा सितपिंगला॥ मत्स्याण्डाकृति सादृश्ययोगान्मत्स्यन्दिका स्मृता। स्फटिकोपलखण्डाभः खण्डस्तच्छर्करा समा॥ शर्करा निर्मला सैव सिता तु सितशर्करा निर्मलेव सिता सा तु राजराज इतीरिता' ॥ इति ॥ १०१ ॥

अन्वयः—कृशाङ्गि, त्वद्गिरः खण्डः एव खण्डः किमु, तत्पथशर्करा एव शर्करा किम्, तद्भङ्गिरसोत्थकच्छतृणं दिक्षु इक्षु प्रथितं नु?

हिन्दी—हे तन्वंगि, तुम्हारी (दमयन्ती की) वाणी का लेश ही क्या खाँड़ है? उस (दमयन्ती की वाणी) के मार्ग की कंकड़ी ही क्या शक्कर (चीनी) है? उस (वाणी) की भंगिमा (उक्तिवैचित्र्य) के रस से उत्पन्न, कच्छ (तट) का तिनका ही क्या चारों दिशाओं में गन्ने के नाम से नहीं प्रसिद्ध है? (निश्चयतः ऐसा ही है)।

टिप्पणी--भाव यह कि दमयन्ती की वाणी गन्ने के रस से भी मधुर है। वाणी की भंगिमा अर्थात् उक्तिवैचित्र्य का रस शृंगारादि ही भंग अर्थात् तरंगमय (भङ्गः अस्यास्तीति भङ्गी) रस अर्थात् जल है, उसी से उपजा तट का तृण अर्थात् रसपूर्णवचन-खंड संसार में इक्षुखण्ड (गन्ना) रूप में प्रसिद्ध है। दमयन्ती के वचनखण्ड खाँड़, शकर और गन्ने से भी मधुर हैं। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और अनुप्रास। मल्लिनाथ ने तीन उत्प्रेक्षाओं के कारण यहाँ उत्प्रेक्षाओं की सजातीय संसृष्टि का निर्देश किया है ॥ १०१ ॥

ददाम किं ते सुधयाधरेण त्वदास्य एव स्वयमास्यते यतः।
विधुं विजित्य स्वयमेव भावि त्वदाननं तन्मखभागभोजि ॥ १०२ ॥

जीवातु--किञ्च नेष्टदानेन त्वदाराधने शक्ता वयं किन्तु त्वत्करुणैकशरणाः इत्याशयेनाह—ददामेति। ते तुभ्यं किं ददाम किं वितराम दातव्यं किमपि नास्तीत्यर्थः। अमृतमस्तीति चेत् तदेवास्तीत्याह। कुतः यतो यस्मात् कारणात् सुधया अधरेणाधररूपेण त्वदास्य एव स्वयं साक्षादास्यते स्थीयते भावे लट्। यक्षभागोऽस्तीति चेत् सोऽपि ते जयलभ्य इत्याह—त्वदाननं कर्तृ विधुं चन्द्रं स्वयमेव परानपेक्षं विजित्य तस्य विधोर्मखे यागे भागमंशं भोक्तुं शीलमस्येति तद्भोजि भावि भविष्यत् तत्स्थानाधिपत्यादत्र धर्मलाभ इति भावः ॥१०२॥

अन्वयः—ते किं ददाम, हि सुधया अधरेण त्वदास्ये स्वयम् एव आस्यते, त्वदाननं विधुं विजित्य स्वयम् एव तन्मखभागभोजि भावि ?

हिन्दी--तुझ (दमयन्ती) को (देव) क्या दें, क्योंकि सुधा (अमृत) तो अधर (अधरामृत) के साथ स्वयमेव तेरे (दमयन्ती के) मुख में स्थित है, तेरा मुख चन्द्र को जीत कर स्वयं ही उस (चन्द्र) के यज्ञ-भाग का भोक्ता हो जायेगा ?

टिप्पणी—दमयन्ती समस्त भौतिक ऐश्वर्य से संपन्न है। धन-धान्य, वस्त्र, महल, दास, दासी—सब है उसके पास। संभावना यही थी कि देवगण दो वस्तुएँ और दमयन्ती को दे सकते थे, क्यों कि वे मर्त्यलोक के प्राणी को उपलब्ध नहीं होतीं। एक तो अमृत और दूसरा यज्ञों में यजमान होताओं द्वारा अर्पित यज्ञ-भोग। पर दमयन्ती पर ये दोनों भी हैं। अमृत उसके अधर में वास करता है और चन्द्रमा को भी पराजित करनेवाला दमयन्ती का

मुख तो जब चाहे चन्द्र को यज्ञार्पित हुआ भोग ले सकता है। भाव यह है कि दमयन्ती का अधररस अमृत की अपेक्षा श्रेष्ठ है और मुख चन्द्र की अपेक्षा। इस चातुर्यपूर्ण उक्ति से देवों का शिष्टाचार भी प्रतीत होता है अर्थात् उनका विनय, परन्तु यह भी संकेत हो जाता है कि देवों के पास स्वर्ग में भी दमयंती जिसकी इच्छा कर सके, ऐसा कुछ है नहीं। उपेन्द्रवज्रा वृत्त और विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास रूपकातिशयोक्ति अलंकार ॥ १०२ ॥

प्रिये ! वृणीष्वामरभावमस्मदिति त्रपोदञ्चि वचो न किन्नः।
त्वत्पादपद्मे शरणं प्रविश्य स्वयं वयं येन जिजीविषामः ॥ १०३ ॥

जीवातु—त्वदायत्तमेवेत्याह—प्रिय इति हे प्रिये ! दमयन्ति ! अस्मदस्मत्तः अमरभावममरत्वमविनाशित्वं च वृणीष्वेत्येवं रूपं नोऽस्माकं वचः त्रपामुदञ्चतीति त्रपोदञ्चि लज्जावहं न भवति किम् ? भवत्येवेत्यर्थः कुतः, येन कारणेन पादादेव पद्म ते एव शरणं प्रविश्य रक्षकं प्राप्य वयं स्वयमनामयं जिजीविषामो जीवितुमिच्छामः। स्वयं क्षुधितस्यान्नार्थिनस्तुद्दातुः क्षुद्भैषज्यप्रतिज्ञावत् परिहासास्पदमेवेति भावः ॥ १०३ ॥

अन्वयः—प्रिये, अस्मत् अमरभावं वृणीष्व, येन त्वत्पादपद्मे शरणं प्रविश्य वयं स्वयं जिजीविषामः—इति नः वचः किं त्रपोदञ्चि न ?

हिन्दी—हे प्रिये, हमसे अमरता ले लो (हमारा अमरभाव वर लो), जिससे तेरे (दमयन्ती के) चरणकमलों में शरण पाकर हम स्वयं जीना चाहते हैं—ऐसे हमारे वचन क्या लज्जावह न होंगे ? (होंगे ही)।

टिप्पणी—देव पूर्वश्लोक के अनुसार दमयन्ती को और कुछ तो दे नहीं सकते, एक अमरता और रह जाती है। पर चूंकि दमयन्ती में उनके प्राण अटके हैं, उसे बिना पाये वे अमर भी मृतसमान हो रहे हैं, उसे वे अमरता देने का प्रस्ताव करें, 'अमरता ले लो हमसे'—ऐसा कहें, यह तो लज्जास्पद ही होगा। सो ऐसा करने में भी देवों को संकोच हो रहा है। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग और अतिशयोक्ति अलंकार हैं ॥ १०३ ॥

अस्माकमस्मान्मदनापमृत्योस्त्राणाय पीयूषरसोऽपि नासौ।
प्रसाद तस्मादधिकं निजन्तु प्रयच्छ पातुं रदनच्छदन्न ॥ १०४ ॥

जीवातु---न चामृतसेविनां वः कुतो मरणप्रसक्तिरिति वाच्यमित्याह---अस्माकमिति। हे दमयन्ति! अस्मान्मदनादेवापमृत्योः सकाशादस्माकं त्राणाय रक्षणाय असौ पीयूषरसोऽपि नालम्, किन्तु तस्मात् पीयूषरसादधिकं निजं त्वदीयं रदनच्छदमोष्ठं पातुं नोऽस्मभ्यं प्रयच्छ देहि प्रसीद प्रसन्ना भव ॥१०४॥

अन्वयः---अस्मात् मदनापमृत्योः अस्माकं त्राणाय असौ पीयूषरसः अपि न, तस्मात् तु प्रसीद, नः पातुम् अधिकं निजं रदनच्छदं प्रयच्छ।

हिन्दी—इस काम द्वारा प्राप्त होती अपमृत्यु से हमें बचाने में यह अमृत रस भी (समर्थ) नहीं है, इससे (हे दमयन्ति,) प्रसन्न हो, हमें बचाने को (अमृत से) अधिक अपना अधरोष्ठ दे।

टिप्पणी—अमृत मृत्यु से बचाता है, किंतु कामसदृश निर्मम देव ही देवों को अपमरण दे रहा है, तब अमृत से क्या होगा? देव वैसी सामान्य मृत्यु से ग्रस्त तो हो नहीं सकते, अपमरण को प्राप्त हो रहे हैं। इस अपमृत्यु से अमृत नहीं, उससे भी अधिक प्रभावशाली दमयन्ती का अधरामृत बचा सकता है। देव दमयन्ती से उसी की याचना कर रहे हैं। सामान्य औषध से काम न चलने पर विशेष औषध ही अपेक्षित होती है—रसायन। भाव यही है कि दमयन्ती देव-वरण करले, जिससे उनकी दुःसह काम-पीडा का उपशम हो सके। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार। 'रदनच्छदं पातुं नः प्रयच्छ' अन्वय भी किया जाता है, अर्थात् अधरोष्ठपानार्थ हम (देवों) को दो।'

'निर्णयसागर प्रेस, बंबई' से महामहोपाध्याय पं० शिवदत्त शास्त्री के संपादन में प्रकाशित 'नै० च०' में पचानवें श्लोक की पद-टिप्पणी में निम्नांकित श्लोक भी इस टिप्पणी के साथ दिया गया है कि कहीं-कहीं यह भी प्राप्त होता है—'क्वचिन्मूलेऽस्मात् प्राक् पठित उपलभ्यते'—

अस्माकमस्यान्मदनापमृत्योस्त्राणाय पीयूषरसायनानि।
सुधारसादप्यधिकं प्रयच्छ प्रसीद वैदर्भि निजाधरं नः॥

यह श्लोक इसी (१०४ वें) श्लोक का पाठांतर प्रतीत होता है। अर्थात् हे विदर्भकुमारी, मदन द्वारा होती अपमृत्यु से हमें त्राण दिलाने के लिए पीयूष रसायन, अमृत से भी अधिक उपयोगी अपना अधर हमें दो, प्रसन्न हो जाओ।

नारायण ने भी पूर्वार्द्ध का पाठांतर यों माना है–'नास्माकमस्मान्मदनापमृत्यो-स्त्राणाय पीयूषरसायनानि।' अर्थात् हमें मदनापमरण से त्राण दिलाने में अमृतरस पर्याप्त नहीं है.... .. ॥ १०४ ॥

प्लुष्टश्चापेन रोपैरपि सह मकरेणात्मभूः केतुनाऽभू-
द्धत्तां नस्त्वत्प्रसादादथ मनसिजतां मानसो नन्दनः सन्।
भ्रूभ्यां ते तन्वि ! धन्वी भवतु तव सितैर्जैत्रभल्लः स्मितैस्ता-
दस्तु त्वन्नेत्रचञ्चत्तरशफरयुगाधीनमीनध्वजाङ्कः ॥ १०५ ॥

जीवातु—प्लुष्ट इति। हे तन्वि ! दमयन्ति ! आत्मना स्वयमेव भवतीत्यात्मभूः कामः स्वैः स्वकीयैः चापेन रोपैर्बाणैः, 'पत्री रोप इषुर्द्वयोः' इत्यमरः मकरेणैव केतुना च सह प्लुष्टो दग्धोऽभूत्। स आत्मभूरथेदानीं तव प्रसादाद्धेतोः नोऽस्माकं तव च सम्भूयेत्यर्थः। 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्' इति युष्मदस्मदोरेकशेषे परशेषः। मानसो मनः सबंधी नन्दनः पुत्रः आनन्दयिता च सन्। 'नन्दनो हर्षके सुते' इति विश्वः। मनसि जातो मनसिजस्तस्य भावस्तत्ता तां 'सप्तम्या जनेर्डः' 'हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्' इत्यलुक्, धत्तां दधातु 'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्'। प्लुष्टः दग्ध आत्मभूर्भवत्वस्तु मनसोऽप्यात्मत्वादित्यर्थः। 'आत्मदेहमनोब्रह्मस्वभावधृतिबुद्धिषु' इति विश्वः। त्वय्यस्मासु च कामस्तुल्यवृत्तिरस्त्विति भावः। किञ्च ते तव भ्रूभ्यां धन्वी चापवान् भवतु। धन्वन्-शब्दाद्व्रीह्यादिपाठादिनिः। तव सितनिर्मलैः स्मितैर्हसितैः जैत्रा भल्ला यस्य सः जित्वरेषु स्ताद्भवतु अस्तेर्लोटि तेस्तातङादेशः। तव नेत्रे एव चञ्चत्तरावतिचञ्चलौ शफरौ तयोर्युगं तदधीनस्तल्लभ्यो मीनरूपो ध्वज एवाङ्को लाञ्छनं यस्य सोऽस्तु त्वन्नेत्राभ्यां मीनध्वजवानस्त्वित्यर्थः। अत्र यथासंख्यसङ्कीर्णो रूपकालङ्कारः। स्रग्धरा वृत्तम् ॥ १०५ ॥

अन्वयः—चापेन रोपैः मकरेण केतुना च सह आत्मभूः प्लुष्टः अभूत्, अथ त्वत्प्रसादात् नः मानसः नन्दनः सन् मनसिजतां धत्ताम्; तन्वि, ते भ्रूभ्यां धन्वी भवतु; तव सितैः स्मितैः जैत्रभल्लः स्तात्; त्वन्नेत्रचञ्चत्तरशफरयुगाधीन-मीनध्वजाङ्कः अस्तु।

हिन्दी—धनुष, बाण और मकरध्वज के साथ मनसिज (काम) जल गया, अब तेरे (दमयन्ती के) प्रसाद से हम (देवों) का मानस-नंदन

(मन को आनंदित करने वाला, मानसपुत्र) होता हुआ (वह) (मनसि जातः तस्य भावः ताम्) मन में उत्पन्न होने की भावात्मकता (नाम-रूप) को धारण करे। हे सुकुमारि, (वह) तेरी (दमयन्ती की) भौंहों से धनुर्धारी हो, तेरी शुभ्र मुसकानों से जयदायक बाणवान् हो और तेरे नेत्र रूप अतिशय चंचल (सुशोभित) मीनयुग से मीनध्वजचिह्नधारी बने।

टिप्पणी—जो एक बार नष्ट हो पुनर्जीवन प्राप्त करता है, वह द्विगुणशक्तिसंपन्न हो जाता है——यह सामान्य नियम है। शिव की नेत्र-ज्वाला में एक बार वह 'स्वयम्भू' काम धनुष्-बाण और मकरध्वज सहित भस्म हो गया और अब अनंग है और उसे 'मनसिज' नाम मिलगया है। वस्तुतः यह नाम कथन मात्र है, अभी यदि देवों पर दमयन्ती की कृपा हो सके और वह उन्हें वर सके तो सचमुच काम का देव मानस में पुनर्जन्म हो जायेगा (देव दमयन्ती के साथ स्वच्छंद काम-विहार करेंगे) और 'मनसि जातः' होकर उसका 'मनसिज' नाम सार्थक हो जायेगा। वह पहिले की अपेक्षा नये जन्म में अधिक शक्तिशाली होगा, क्योंकि उसे अधिक प्रभावी नये उपकरण प्राप्त होंगे। दमयन्ती का भ्रूयुगल उसका चाप बनेगा और चाँदनी को भी लजाती शुभ्र मंद मुसकान उसके अमोघ जयी बाण। मछलियों से भी अधिक चंचल, शोभनतम दमयन्ती के दोनों नयन उसकी मीन-ध्वजा बनेगी। इस प्रकार वह देव-मानस-नंदन—देवों का मानसपुत्र काम द्विगुणित शक्तिशाली होकर पुनर्जीवित होगा। दमयन्ती को देव-वरण से यह पुण्य और मिलेगा कि एक मृत को पुनर्जीवन मिल जायेगा। इस श्लोक में स्रग्धरा छंद है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-सहोक्ति-अतिशयोक्ति अलंकार हैं। मल्लिनाथ ने यथासंख्यसंकीर्ण रूपकालंकार का निर्देश किया है अर्थात् यथासंख्य-रूपक का संकर ॥ १०५ ॥

स्वप्नेन प्रापितायाः प्रतिरजनि तव श्रीषु मग्नः कटाक्षः
श्रोत्रे गीतामृताब्धौ त्वगपि ननु तनूमञ्जरीसौकुमार्ये।
नासा श्वासाधिवासेऽधरमधुनि रसज्ञा चरित्रेषु चित्तं
तन्नस्तन्वङ्गि! कैश्चिन्न करणहरिणैर्वागुरा लम्भितासि ॥१०६॥

जीवातु—स्वप्नेनेति। हे तन्वङ्गि! तनून्यङ्गानि यस्यास्तस्याः सम्बुद्धिः।

'अङ्गगात्रकण्ठेभ्यः' इति ङीप्। कृशाङ्गि! प्रतिरजनि रजन्यां रजन्यां, वीप्सायामव्ययीभावः। स्वप्नेन (कर्त्रा) प्रापितायाः स्वप्नदृष्टायाः तव श्रीषु सौन्दर्यलहरीषु नोऽस्माकं कटाक्षो मग्नः गीत एवामृताब्धौ सुधासमुद्रे श्रोत्रे मग्ने, तनूः मूर्तिरेव मंजरी कुसुमगुच्छः तस्याः सौकुमार्ये मार्दवे त्वगपि मग्ना। ननु श्वासाधिवासे निश्वासमारुतसौरभे नासा मग्ना अधरमधुन्यधरामृते रसज्ञा रसना मग्ना चरित्रेषु चेष्टासु चित्तं मग्नं तत् तस्मात् कैश्चित् करणैरिन्द्रियैरेव हरिणैस्त्वं वागुरा मृगबन्धिनी रज्जुः न लम्भिता न प्राप्तासि सर्वैरपि प्रापितेत्यर्थः। अस्माकं सर्वेन्द्रियसम्मोहनं ते रूपशिल्पमिति भावः। अत्र चतुर्थपादार्थस्य पूर्वषड्वाक्यार्थहेतुकत्वाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गं तच्च करणहरिणैरित्यादिरूपकेण सकीर्यते। पूर्वोक्तमेव वृत्तम् ॥ १०६ ॥

अन्वयः—ननु कटाक्षः प्रतिरजनि स्वप्नेन प्रापितायाः तव श्रीषु मग्नः, श्रोत्रे गीतामृताब्धौ, त्वक् अपि तनूमञ्जरीसौकुमार्ये, नासा श्वासाधिवासे, रसज्ञा अधरमधुनि, चित्तं चरित्रेषु, तत् तन्वङ्गि, नः कैश्चित् करणहरिणैः वागुरा न लम्भिता (पाठांतर 'लङ्घिता') असि।

हिन्दी—निश्चयतः (हम देवों का) कटाक्ष (नेत्र) प्रतिरात्रि को स्वप्न में प्राप्त तेरी (दमयन्ती की) अपार शोभा में डूब गये हैं, कान (तेरे) गीतों के अमृतरस के सागर में, त्वचा भी (तेरे) शरीर रूपी मञ्जरी की सुकुमारता में, नासिका (तेरे) निःश्वास-सुगन्ध में, रसना (जीभ) अधर-सुधामधु में और चित्त (तेरे) चरित्रों (दैनंदिन विलासादि व्यापारों) में; सो हे सुकुमारि, हमारे किन इन्द्रियरूप हरिणों ने (तेरे रूप में) बंधनरज्जु नहीं प्राप्त करती है? (सभी इन्द्रिय रूप हरिण तेरे बन्धनों में बद्ध हैं।) अथवा किसी इन्द्रिय-हरिण ने वागुरा रूप तुझ दमयन्ती का लंघन नहीं किया है—सब तेरे वश में हैं।

टिप्पणी—भाव यह है कि देवगण दिन-रात दमयन्ती का ही विचार करते हैं। स्वप्न में भी प्रतिरात्रि उसे ही देखते हैं, क्योंकि विरही देव गाढ़ निद्रा-लीन हो नहीं पाते। उनकी पाँचों इन्द्रियाँ दमयन्ती की शोभा आदि के वश में पाशबद्ध हरिणों जैसी हैं। नारायण ने यह आशंका उठायी है कि देवों को स्वप्न कैसा? उसके कई समाधान भी उपस्थित किये हैं। (१) वस्तुतः देवों को स्वप्न नहीं आते, नलदूत ने यह स्वानुभवाधार पर कहा। (२) विरह

में रजनी जिसके प्रतिकूल है, ऐसी दमयन्ती स्वप्न अर्थात् विपर्यय ज्ञान बन गयी है। (३) उन्मादावस्था के कारण दमयन्ती ही देवों को सर्वत्र व्याप्त दीखती है। (४) रजनी अर्थात् हरिद्रा के प्रतिकूल, जितहरिद्रा दमयन्ती। भाव यही है कि दमयंती का रूप देवों की समग्र इन्द्रियों का मोहक है। स्राग्धरा छन्द। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-रूपक-दीपक अलंकार हैं। मल्लिनाथ के अनुसार चतुर्थ चरण का अर्थ पूर्व छः वाक्यों के अर्थ का हेतु होने के कारण वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग है और वह 'करणहरिणैः' इत्यादि रूपक से संकीर्ण है, अर्थात् काव्यलिंग रूपक का संकर ॥ १०६ ॥

इति धृतसुरसार्थवाचिकस्रङ्निजरसनातलपत्रहारकस्य ।
सफलय मम दूततां वृणीष्व स्वयमवधार्यदिगीशमेकमेषु ॥ १०७ ॥

जीवातु— इतीति। इतीत्थं धृता सुरसार्थस्येन्द्रादिवृन्दस्य वाचिकस्रक् सन्देशवाक्यपरम्परा येन तस्य निजस्य रसनातलस्यैव पत्रस्य लेखस्य यो हारकस्तस्य मम दूततां सफलय सफलां कुरु, एषु मध्ये एकं दिगीशं स्वयमात्मनैवावधार्य निश्चित्य वृणीष्व वृणीथाः। वाचिको व्याख्यातः। अत्र नलदूत्यसाफल्यस्य वरणवाक्यार्थहेतुकत्वात् पूर्ववदलङ्कारः। न च रसनातलपत्रस्य यो हारकस्तस्येति रूपकेण सङ्कीर्यते। पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ १०७ ॥

अन्वयः—एषु एकं दगीशं स्वयम् अवधार्य वृणीष्व—इति धृतसुरतार्थवाचिकस्रङ्निजरसनातलपत्रहारकस्य मम दूततां सफलय।

हिन्दी—इन (वर्णित) में से एक दिक्पाल का स्वयम् विचार करके (हे दमयन्ति,) वरण कर लो; और इस प्रकार देवगण की संदेशमाला को धारण करते अपने जिह्वा रूप पत्र को लाने वाले मेरा (नलका) दूतत्व सफल बनाओ।

टिप्पणी—इन्द्रादि चारों दिक्पालों की विरहदशा, उनकी उत्कट कामना आदि का क्रमशः विस्तृत विवरण उपस्थित कर नल ने उपसंहार में दमयंती से निवेदन किया कि इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम में से अपने आप विचार करके जो उसे रुचे, उसको वह वर ले और नल का दूतत्व सफल बनाये। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में नल की दूतता के सफल होने में वरण के वाक्यार्थहेतुक होने के कारण काव्यलिंग है और उसका 'रसनातलपत्र' रूपक से संकर है,

अतः पूर्व श्लोकवत् संकर अलंकार है। विद्याधर ने रूपक का निर्देश किया है। पुष्पिताग्रा छन्द है ॥ १०७ ॥

आनन्दयेन्द्रमथ मन्मथमग्नमग्नि केलीभिरुद्धर तनूदरि ! नूतनाभिः।
आसादयोदितदयं शमने मनो वा नो वा यदोत्थमथ तद्वरुणं वृणीथाः ॥

जीवातु—आनन्दयेति। हे तनूदरि ! कृशोदरि ! नूतनाभिरभिनवाभिः केलीभिः क्रीडाभिः मन्मथमग्नमिन्द्रमानन्दय अथवा तादृशमेव अग्नि ताभिरुद्धर, अथवा शमने यमे उदितदयं जातानुकम्पं मनः आसादय निवेशय। इत्थं नो वा यदि अथ तर्त्तर्हि मन्मथमग्नं वरुणं वृणीथाः वृणीष्व ॥ १०८ ॥

अन्वयः—तनूदरि, नूतनाभिः केलीभिः मन्मथमग्नम् इन्द्रम् आनन्दय अथ अग्नि उद्धर वा शमने उदितदयं मनः आसादय अथ यदि इत्थं नो वा तद् वरुणं वृणीथाः।

हिन्दी—हे कृश उदर वाली (दमयन्ति), (वरण करने के पश्चात्) नयी-नयी विलास-क्रीडाओं द्वारा काममग्न इन्द्र को आनंदित करो अथवा अग्नि का उद्धार करो अथवा यम पर दयापूर्ण मन करो और यदि ऐसा न कर सको तो वरुण का वरण कर लो।

टिप्पणी—अंत में पृथक्-पृथक् नामोल्लेख करते हुए नल ने पुनः दमयन्ती से इन्द्राग्नियमवरुण में से किसी एक का वरण करके उसे कृतार्थ करने की प्रार्थना की। सभी काम के सागर में आपादमस्तक डूबे हैं, व्यथित—पीड़ित हैं। चारों में किसी एक पर अनुग्रह दिखाती दमयन्ती नल की दूतता सफल बनाये। वसंततिलका छन्द ॥ १०८ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचय मामल्लदेवी च यम्।
तस्यागादयमष्टमः कविकुलादृष्टाध्वपान्थे महा-
काव्ये चारुणि वैरसेनिचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥ १०९ ॥

जीवातु—श्रीहर्षमित्यादि। कवीनां कुलेन समूहेन अदृष्टे अध्वनि यत्पान्थं नित्यपथिकं तस्मिन् चारुणि शोभने वैरसेनेर्नलस्य चरिते तस्य श्रीहर्षस्य महाकाव्ये निसर्गोज्ज्वलोऽयमष्टमः सर्ग आगात् सम्पूर्ण इति भावः ॥१०९॥

इति मल्लिनाथसूरविरचिते 'जीवातु' समाख्याने अष्टमः सर्गः समाप्तः ॥८॥

अन्वयः—कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः"·······सुषुवे तस्य कविकुलादृष्टाध्वपान्थे चारुणि वैरसेनिचरिते महाकाव्ये निसर्गोज्ज्वलः अयम् अष्टमः सर्गः अगात् ।

हिन्दी—दो चरणों का अर्थ पूर्ववत् । उसके कविकुल (कालिदासादि प्राचीन कविमंडल) द्वारा अदृष्टपथ के पथिक (अपूर्वप्रमेयपरिपुष्ट, अपूर्व), मनोरम वैरसेनि (नल) चरित महाकाव्य में निसर्गोज्ज्वल यह आठवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ।

टिप्पणी—'कविकुलादृष्टाध्वपान्थे' का विग्रह 'कविकुलेन आदृष्टोऽध्वा तस्य पान्थे' भी किया जा सकता है । इस प्रकार अर्थ होगा पूर्वकवियों द्वारा भली भाँति अवलोकित पथ का पथिक । ऐसा ही विनय 'मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः' कहकर महाकवि कालिदास ने प्रदर्शित किया था । पर कदाचित् टीकाकारों को 'आदृष्टाध्व' की अपेक्षा 'अदृष्टाध्व' ही पाठ अधिक रुचिर प्रतीत होता है । संभव है, श्रीहर्ष की गर्वोक्तियों के अनुरूप यही हो, परन्तु यदि श्रीहर्ष में कुछ विनय दीख सके तो अमान्य नहीं होना चाहिए ।

नैषधीयचरित का अष्टम सर्ग समाप्त ।

नैषधीयचरितम्

नवमः सर्गः

इतीयमक्षिभ्रुवविभ्रमेङ्गितैः स्फुटामनिच्छां विवरीतुमुत्सुका ।
तदुक्तिमात्रश्रवणेच्छयाऽश्रृणोदिगीशसन्देशगिरो न गौरवात् ।। १ ।।

जीवातु---अथ दमयन्तीवृत्तान्तं वक्तुं विततबहुतरदूतवाक्यश्रवणजनिता-मिन्द्राद्यनुरागशङ्कां तावद्वारयति---इतीति । इयं दमयन्ती अक्षिणी च भ्रुवौ च अक्षिभ्रुवं द्वन्द्वैकवद्भावः । 'अचतुर' इत्यादिना समासान्तादिनिपातनात् साधुः । तस्य विभ्रमो विकारः स एव इङ्गितं चेष्टा तैरेव स्फुटां व्यक्ताम-निच्छामिन्द्रादिविषयामिति शेषः । तथा विवरीतुं वाचा निषेद्धुमुत्सुका उद्युक्ता सती । 'इष्टार्थोद्युक्त उत्सुक' इत्यमरः । निषेधस्य ज्ञानपूर्वकत्वात् तज्ज्ञानार्थमश्रृणोदित्यर्थः । किञ्च तदुक्तिमात्रश्रवणेच्छया नलवागमृतपिपासया चेत्यर्थः । दिगीशसन्देशगिरः अश्रृणोत् । मात्रपदव्यावर्त्यमाह---गौरवादिति । न तु दिगीशादीनां गौरवात् । अस्मिन् सर्गे वंशस्थवृत्तम् । लक्षणन्तूक्तमा-दिमसर्गे ।। १ ।।

अन्वयः---अक्षिभ्रुवविभ्रमेङ्गितैः स्फुटाम् अनिच्छां विवरीतुम् उत्सुका इयं तदुक्तिमात्रश्रवणेच्छया दिगीशसन्देशगिरः अश्रृणोत्, गौरवात् न ।

हिन्दी–नेत्र और भ्रुकुटि के विकार-संकेतों द्वारा स्पष्ट अनिच्छा प्रकाशित करने को उत्सुक यह (दमयन्ती) उस (नल) के वचनमात्र सुनने की इच्छा से दिक्पालों के संदेश-वचन सुनती रही, (उन देवों के प्रति) आदर से नहीं ।

टिप्पणी---दमयंती क्योंकि नलानुरागिणी थी अतः उसने दिक्पालों के संदेश को सुनकर भी अनसुना कर दिया । वह सुनती भी इसलिए रही कि उसे नल की वाणी अमृत-तुल्य लगती थी (नै० च० ८।४९) । उसने देवों के प्रति अपनी विरक्ति अपने नेत्र-भ्रू आदि विकारों से स्पष्ट कर दी । विद्याधर के अनुसार इस पद्य में अतिशयोक्ति-भावोदय-काव्यलिंग अलंकार हैं । सर्ग में श्लोक संख्या १—१५५ तक वंशस्थ छंद है ।। १ ।।

तदर्पितामश्रुतवद्विधाय तां दिगीशसन्देशमयीं सरस्वतीम् ।
इदं तमुर्वीतलशीतलद्युतिं जगाद वैदर्भनरेन्द्रनन्दिनी ॥ २ ॥

जीवातु—तदिति । वैदर्भनरेन्द्रनन्दिनी दमयन्ती तेनानलेनार्पितां प्रयुक्तां दिगीशसंदेशमयीं तद्रूपां सरस्वतीं वाचमश्रुतवद्विधायाश्रुतामिव कृत्वा । 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' । उर्वीतलशीतलद्युतिं भूलोकचन्द्रं तं नलमिदं वक्ष्यमाणं जगाद गदितवती ॥ २ ॥

अन्वयः—वैदर्भनरेन्द्रनन्दिनी तदर्पितां दिगीशसन्देशमयीं तां सरस्वतीम् अश्रुतवत् विधाय उर्वीतलशीतलद्युतिं तम् इदं जगाद ।

हिन्दी—विदर्भराज को नंदित करने वाली (पुत्री दमयंती) उस (दूत नल) द्वारा कथित दिक्पालों के संदेश से युक्त उस वाणी को अनसुनी-जैसी करके भूतल के चन्द्र उसे (नल) से यह बोली ।

टिप्पणी—दमयन्ती को सन्देश के प्रति अनादर होने से उसमें कोई रुचि नहीं थी, सो दिक्पालों के वरण-संबद्ध सन्देश-वचनों को अनुसना करती हुई पृथ्वीतल को चन्द्रतुल्य आह्लादित करनेवाले नल से आगे कहे वचन कहने लगी । प्रत्युत्तर न देकर अपना मनोरथ व्यक्त किया दमयन्ती ने । आकाश के देवों की अपेक्षा पृथ्वी का राजा अधिक उपयुक्त लगना ही चाहिए । आकाश का सत्य कल्पना का होता है, धरती का वास्तविक । विद्याधर के अनुसार उपमान-रूपक अलंकार ॥ २ ॥

मयाङ्ग ! पृष्टः कुलनामनी भवानमू विमुच्यैव किमन्यदुक्तवान् ।
न मह्यमत्रोत्तरधारयस्य किं ह्रितेऽपि सेयं भवतोऽधमर्णता ॥ ३ ॥

जीवातु—मयेति । हे अङ्ग ! भोः श्रीमन् ! मया भवान् कुलनामनी पृष्टः सन् पृच्छतेर्दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि क्तः, 'अप्रधाने दुहादीना'मिति वचनात् । किं किमर्थममू कुलनामनी विमुच्य अन्यदुक्तवान् किमप्यसङ्गतमिव प्रलपसीति भावः । तदकथने को दोषस्तत्राह—नेति । अलं कुलनामप्रश्ने मह्यमुत्तमर्णायै इति शेषः । 'धारेरुत्तमर्णे' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । धारयतीति धारयः 'अनुपसर्गाल्लिम्पबिन्दधारि' इत्यादिना शप्रत्ययः । उत्तरस्य धारयः तस्य भवतः तव सेयमधमः ऋणेन अधमर्णः । मयूरव्यंसकादित्वात् तत्पुरुषः । तस्य भावस्तत्ता सा ह्रियेऽपि न किम् ? लोके उत्तमर्णेन याच्यमानस्याधमर्णस्य तदप्रदानं लज्जायै भवत्येव, भवतस्तु सापि नास्तीति भावः ॥ ३ ॥

अन्वयः—अङ्ग, मया कुलनाम्नी पृष्ठः भवान् अमू विमुच्य किम् अन्यत् उक्तवान् ! अत्र मह्यम् उत्तरधारयस्य भवतः सा इयम् अधमर्णता किं ह्रिये अपि न ?

हिन्दी—प्रिय महाशय, मेरे (दमयन्ती के) द्वारा कुल और नाम पूछे जाने पर आप (नल) ने इन्हें (कुल-नाम को) छोड़कर क्या और सब कह डाला ! इस विषय में मेरे निमित्त उत्तर (रूप-ऋण) के धारक आपका वह यह अधमर्णभाव (ऋणी रहना) क्या लज्जा के निमित्त भी नहीं है ? (है ही)।

टिप्पणी—दमयन्तीने नल के नाम-कुल की जिज्ञासा की थी, परन्तु नलने वह न बता कर देववरण का प्रस्ताव रख दिया। यह शिष्टाचार-विरुद्ध है। अपना नाम-धाम परिचय बता कर तब किसी कुमारी के संमुख ऐसा आत्मीय प्रस्ताव रखा जाता है। इस पर दमयन्ती ने उचित रूप में ही नल को लज्जित होने को कहा। जिस प्रकार ऋणदाता का ऋण न चुकाना अधमर्ण के लिए लज्जा का विषय होता है, ऐसे ही उचित उत्तर न देकर इधर-उधर की दूसरी बात छेड़ना भी लज्जास्पद और असभ्य व्यवहार है। एक सामान्य व्यक्ति भी ऐसे अनुचित व्यवहार पर लज्जित होता है, नल जैसे श्रेष्ठ व्यक्ति को तो और भी लज्जित होना चाहिए। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ॥ ३ ॥

अदृश्यमाना क्वचिदीक्षिता क्वचिन्ममानुयोगे भवतः सरस्वती।
क्वचित्प्रकाशां क्वचिदस्फुटार्णसं सरस्वतीं जेतुमनाः सरस्वतीम् ॥४॥

जीवातु—अदृश्यमानेति। ममानुयोगे प्रश्ने विषये। 'प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च' इत्यमरः। क्वचित् कुलनामविषये अदृश्यमाना अप्रकाशितेत्यर्थः। क्वचित् कुत आगतः कस्य त्वमित्यत्र ईक्षिता दृष्टा प्रकाशितार्थेति यावत् ईदृशी भवतः सरस्वती क्वचित् प्रकाशोदकां क्वचिदस्फुटार्णसमप्रकाशोदकां सरस्वतीं वाचं सरस्वतीं नदीं च। 'सरस्वती नदीभेदे गीर्वाग्देवतयोर्गिरः। स्त्रीरत्ने चापगायाञ्च' इति विश्वः। जेतुं मनो यस्याः सा जेतुमनाः 'तुं काममनसोरपि' इति मकारलोपः। अत्र नलवाचः सरस्वतीनदीधर्मसम्बन्धात्तज्जिगीषोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या। तया चोपमा व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥४॥

अन्वयः—मम अनुयोगे क्वचित् अदृश्यमाना क्वचित् ईक्षिता भवतः सरस्वती क्वचित् प्रकाशां क्वचित् अस्फुटार्णसं सरस्वतीं सरस्वतीं च जेतुमनाः।

हिन्दी—मेरे (दमयन्ती के) अनुयोग (प्रश्न के विषय) में कहीं अदृश्य (उत्तर न देती) और कहीं दृश्यमान (उत्तर देती) आपकी सरस्वती (वाणी) कहीं प्रकाशित (जल प्रकट करती) और कहीं जल न प्रकट करती सरस्वती नदी और सरस्वती (वाग्देवता) को जीतने की इच्छुक प्रतीत होती है।

टिप्पणी—दमयन्ती के कुछ प्रश्नों का उत्तर तो नल ने दिया—जैसे कहाँ से आये हो, इस प्रश्न का उत्तर दिया-'हरित्पतीनां सदसः प्रतीहि त्वदीयमेवातिथिमागतं माम्।' (दिक्पालों द्वारा भेजा गया मैं आपका ही अतिथि हूँ। नै० च० ८।५५)। कुल-नाम के विषय में उत्तर नहीं दिया। इस प्रकार कहीं तो नल की सरस्वती (वाणी) प्रकट रही, कहीं अप्रकट। यही स्थिति सरस्वती नदी की मानी जाती है। कहीं उसका जल दीखता है, कहीं नहीं। दमयन्ती का व्यंग्य है कि कदाचित् नल की सरस्वती वैसा ही आचरण करके सरस्वती नदी और साथ ही गूढागूढ रहती वाग्देवता सरस्वती को भी जीतने की इच्छुक है। भाव यह है कि यह व्यवहार छोड़कर कुल-नाम बताना नल का कर्त्तव्य है। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा। मल्लिनाथ के द्वारा अलंकार से अलकार ध्वनि है, क्योंकि यहाँ सरस्वती नदी के धर्म-संबंध से नल की वाणी के जीतने की इच्छाव्यंजक का प्रयोग न होने से गम्या उत्प्रेक्षा है, जिससे उपमा व्यंजित होती है ॥ ४ ॥

गिरः श्रुता एव तव श्रवःसुधाः श्लथा भवन्नाम्नि तु न श्रुतिस्पृहा।
पिपासुता शान्तिमुपैति वारिणा न जातु दुग्धान्मधुनोऽधिकादपि॥

जीवातु—गिर इति। श्रवःसुधाः कर्णामृतानि तव गिरः श्रुता एव, किन्तु भवन्नाम्नि विषये श्रुतिस्पृहा श्रवणेच्छा न श्लथा न निवृत्ता। न च सुरसन्देशश्रवणादेव तन्निवृत्तिरित्याह—तथा हि पिपासुता पिपासेत्यर्थः। वारिणा वारिपानेनैव शान्तिमुपैति अधिकादनल्पादपि दुग्धात् क्षीरात् मधुनः क्षौद्राद्वा, जातु कदापि न शाम्यति, तद्वदत्रापीति। दृष्टान्तालङ्कारः॥ ५॥

अन्वयः—श्रवःसुधाः तव गिरः श्रुताः एव तु भवन्नाम्नि श्रुतिस्पृहा न श्लथा, पिपासुता वारिणा शान्तिम् उपैति, अधिकात् दुग्धात् मधुना अपि जातु न।

हिन्दी—कर्णामृत रूप तुम्हारी (नल की) वाणी (वचन) तो सुन ही

ली किंतु आप (नल) के नाम के विषय में श्रुति (सुनने की अथवा कानों) की आकांक्षा शिथिल नहीं हुई। पिपासा (प्यास) जल से शांति को प्राप्त होती है, अधिक दूध अथवा मधु से भी शांत नहीं होती।

टिप्पणी—दमयन्ती ने कहा कि नल के वचन तो पर्याप्त मात्रा में सुनने को मिल गये। वे कानों को अमृत के समान प्रिय लगे, किंतु नाम-कुल नहीं जानने को मिला। उनके विषय में उत्कंठा शेष है। तो जिस वस्तु की इच्छा—आवश्यकता होती है, वही वस्तु प्राप्त होने पर संतुष्टि होती है, अन्य पूर्वप्राप्त अथवा अप्राप्त— भले ही वह अधिक मूल्यवान् हो—वस्तु प्राप्य की इच्छा पूर्ण नहीं कर सकती। उदाहरणार्थ प्यासे की प्यास जल से ही बुझेगी, पर्याप्तमात्रा में बहुमूल्य दूध या मधु प्राप्त हो जाने से प्यास नहीं बुझ सकती। जैसे पिपासु को जल अपेक्षित होता है, वैसे ही दमयन्ती की इच्छा नल का कुल-नाम जान कर ही पूर्ण होगी, देववरण-प्रस्ताव अपेक्षित नहीं। नल को कुल-नाम ही बताना चाहिए। मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टांत और विद्याधर के अनुसार रूपक और अर्थान्तरन्यास ॥ ५ ॥

बिभर्ति वंशः कतमस्तमोऽपहं भवादृशं नायकरत्नमीदृशम्।
तमन्यसामान्यधियाऽवमानितं त्वया महान्त बहु मन्तुमुत्सहे ॥ ६ ॥

जीवातु—बिभर्तीति। तमोऽपहं भवादृशमीदृशं नायकरत्नं राजश्रेष्ठं हारमध्यमणिं च 'नायको नेतरि श्रेष्ठे हारमध्यमणावपि' इति विश्वः। कतमो वंशः कुलं वेणु च। 'वंशो वेणौ कुले वर्गे' इति विश्वः। बिभर्ति ? किमर्थमिति चेत् अन्यसामान्यधिया पूर्वं सर्वसाधारणबुद्ध्या अवमानितं दृष्टं तयाप्यद्य त्वया महान्तं तमुत्कृत्यमाणं वंशं बहु मन्तुं बहुकर्तुमुत्सहे, सर्वोऽपि हि वंशो मान्यैः पुरुषधौरेयैरेव प्रकाशते न स्वरूपत इति भावः। अत्र मध्यमणिरूपार्थान्तरप्रतीतिर्ध्वनिरेव। अत्र वेणोर्मुक्तायोनित्वे प्रमाणम्। 'करीन्द्रजीमूतवराहशङ्खमत्स्याहिशुक्त्युद्भववेणुजानि। मुक्ताफलानि प्रथितानि लोके तेषां तु शुक्त्युद्भवमेव भूरि' ॥ इति ॥ ६ ॥

अन्वयः—तमोपहं भवादृशम् ईदृशं नायकरत्नं कतमः वंशः बिभर्त्ति, अन्यसामान्यधिया अवमानितं त्वया महान्तं तं बहु मन्तुम् उत्सहे।

हिन्दी—अन्धकार को दूर करने वाले आपसदृश ऐसे नायक रूप रत्न को कौन सा वंश—(सूर्यकुल, चन्द्रकुल)-रूप वंश (बाँस) धारण करता है ?

अन्य सामान्य बुद्धि से तिरस्कृत (किंतु) आपसे महान् स्वीकृत उस (कुल-बाँस) को मैं (दमयन्ती) अत्यंत संमान देने को उत्साहित हूँ।

टिप्पणी—दमयंती यह जानना चाहती है कि संमुख उपस्थित व्यक्ति सूर्यकुल में जन्मा है अथवा चन्द्रकुल में ? नल-जैसे श्रेष्ठ, नायक-गुणों से युक्त व्यक्ति के उत्पन्न होने से ही वह वंश धन्य कहाया है, उससे पूर्व नहीं था, जैसे कि बाँस अच्छा रत्न उत्पन्न होने से ही संमान पाता है, अन्यथा कौन बाँस को पूछे ? रत्न देखकर ही बाँस का संमान होता है। ऐसे ही नल से वंश संमानित है, वैसे नहीं। महापुरुषों के कारण ही वंश महान् होता है। विद्याधर के अनुसार श्लेष अलंकार। मल्लिनाथ के अनुसार नायक के मध्य-मणिरूप अर्थान्तर प्रतीति ध्वनि ही है। नायक अर्थात् श्रेष्ठ, नेता, हार के मध्य की मणि ॥ ६ ॥

इतीरयित्वा विरतां पुनः स तां गिरानुजग्राहतरां नराधिपः।
विरुत्य विश्रान्तवतीं तपात्यये घनाघनश्चातकमण्डलीमिव ॥ ७ ॥

जीवातु—इतीति। इतीरयित्वा इत्थं व्याहृत्य विरतां तूष्णीभूतां तां भैमीं स नराधिपः नलः तपात्यये ग्रीष्मान्ते विरुत्य पिपासया आक्रन्द्य विश्रान्तवतीं विरतां चातकानां मण्डलीं समूहं घनाघनो वर्षुकाब्द इव। 'वर्षुकाब्दो घनाघनाः' इत्यमरः। पुनर्गिरा वचनेन गर्जितेन चानुजग्राहतरामतिशयेनानुगृहीतवान् आदरात् प्रत्युवाचेत्यर्थः। 'किमेत्तिङ्' इत्यादिना अम्प्रत्ययः ॥ ७ ॥

अन्वयः—इति ईरयित्वा विरतां तां तपात्यये विरुत्य विश्रान्तवतीं चातक-मण्डलीं घनाघनः इव सः नराधिपः गिरा पुनः अनुजग्राहतराम्।

हिन्दी—यह कहकर उस (दमयंती) के विरत (चुप) हो जाने पर जैसे ग्रीष्म की समाप्ति पर प्यास से चिल्लाते चातकों के समूह पर बरसाऊ बादल कृपा करता है, वैसे ही वह राजा (नल अपने) वचनों से (दमयंती को) पुनः अतिशय अनुगृहीत करने लगा।

टिप्पणी—जैसा कि दमयंती-कथन से प्रकट हुआ, दमयन्ती नल की मधुरा वाणी से अत्यंत प्रसन्न थी और वह नल का कुल-नाम जानना चाहती थी। नल द्वारा अपने कथन का प्रत्युत्तर दमयंती को वैसा ही प्रतीत हुआ, जैसा ग्रीष्मकाल के अंत में प्यास से व्याकुल चातकों (पपीहों) को बादल-

बरसने पर होता है। वचनवारि की प्यासी हैं दमयन्ती और 'घनाघन' है राजा नल। उपमा अलंकार। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छेकानुप्रास।

अये ! ममोदासितमेव जिह्वया द्वयेऽपि तस्मिन्ननतिप्रयोजने।
गरौ गिरः पल्लवनार्थलाघवे मितञ्च सारञ्च वचो हि वाग्मिता ॥८॥

जीवातु—अये इति। अये ! दमयन्ति ! न विद्यते अतिप्रयोजनमधिकप्रयोजनं यस्मिन् तस्मिन् द्वयेऽपि कुलनाम्नोर्युगलेऽपि मम जिह्वया उदासितं माध्यस्थ्येन स्थितं, 'नपुंसके भावे क्तः'। तथा हि—पल्लवनं विस्तरणं वृथाशब्दप्रलपनमिति यावत्। तच्चार्थलाघवञ्च वक्तव्यार्थसङ्कोचनञ्च गिरः वाचः गराविव विषप्रायावुभावित्यर्थः। मितमल्पाक्षरं सारं महार्थञ्च वचो वाक्यं वाग्मिता वक्तृत्वम्, अन्यथा वाचालता स्यादिति भावः। 'वाचो ग्मिनिः'। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ८ ॥

अन्वयः—अये, मम जिह्वया अनतिप्रयोजने तस्मिन् द्वये अपि उदासितम् एव; हि पल्लवनार्थलाघवे गिरः गरौ, मितं सारं च वचः वाग्मिता।

हिन्दी—अरे, मेरी जीभ द्वारा विशेष प्रयोजन से शून्य उन दोनों (कुल-नाम) के विषय में उदासीनता का ही व्यवहार हुआ, क्योंकि (व्यर्थ) विस्तार और कथन-संकोच—दोनों वाणी के विष (रूप) हैं और थोड़ा किंतु सारपूर्ण (कथन) वचनों का पांडित्य है।

टिप्पणी—नल ने कुल-नाम न बताने का कारण स्पष्ट किया कि उसने ये दोनों बातें निरर्थक समझीं, जिनके बताने से कोई विशेष लाभ नहीं। जिस विषय में अधिक कहना अपेक्षित न हो, उसे बढ़ा-चढ़ा कर कहा जाय और अपेक्षित को संक्षेप में कहा जाय, यह बोलने की कला के दुर्गुण हैं—विष-तुल्य हानिकारक। वचन वे ही पांडित्यपूर्ण समझे जाते हैं, जो संक्षिप्त हों, पर तत्त्वपूर्ण हों। इसी आधार पर बोलने वाले की योग्यता निर्धारित होती है। इसी कारण नल ने निरर्थक कुल-नाम बताकर बात नहीं बढ़ायी। विद्याधर के अनुसार यहाँ काव्यलिंग और अर्थान्तरन्यास अलंकार हैं, मल्लिनाथ ने सामान्य द्वारा विशेष समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास का निर्देश किया है।

वृथा कथेयं मयि वर्णपद्धतिः कयानुपूर्व्या समकेति केति च।
क्षमे समक्षव्यवहारमावयोः पदे विधातुं खलु युष्मदस्मदी ॥ ९ ॥

जीवातु—कुलनामकथनं वृथेत्युक्तं, तत्र नामकथनस्य वैयर्थ्यमाह—वृथेति। का वर्णपद्धतिरक्षरपङ्क्तिः। कयानुपूर्व्यानुक्रमेण मयि समकेति संज्ञात्वेन संकेतितेतीयं कथा प्रश्नोक्तिश्च वृथा। किमुतोत्तरमिति भावः। नामरूपापरिज्ञाने कथमावयोर्मिथः संवादस्तत्राह—आवयोस्तव मम चेत्यर्थः। त्यदाद्येकशेषे यत्परं तदिति वचनादस्मदः शेषता। अक्ष्णोः समीपे समक्षं सम्मुखेन। समीपार्थेऽव्ययीभावे शरत्प्रभृतित्वात् समासान्तः। व्यवहारं मिथः संकथां विधातुं युष्मच्चास्मच्च युष्मदस्मदी पदे त्वमहमित्येतौ शब्दावित्यर्थः। क्षमे समर्थे खलु ॥ ९ ॥

अन्वयः—मयि का वर्णपद्धतिः कया आनुपूर्व्या समका—इति इयं च कथा इति वृथा, खलु आवयोः समक्षव्यवहारं विधातुं युष्मदस्मदी पदे क्षमे।

हिन्दी—मुझ (नल) में कौन से अक्षरों का क्रम किस क्रम से (संज्ञारूप में) संकेतित है—यह और इस प्रकार का प्रश्न—दोनों व्यर्थ हैं। निश्चयतः हमारे (दमयन्ती-नल के) संमुख-व्यवहार (संवाद) के प्रतिपादन में 'तुम' और 'मैं' पद पर्याप्त हैं।

टिप्पणी—नल ने कहा कि यही पर्याप्त है कि दमयन्ती और नल परस्पर नाम से नहीं, सर्वनाम से ही परिचित हैं। 'युष्मद्-अस्मद्' (मैं—तू) का व्यवहार संमुख वार्तालाप के लिए पर्याप्त होता है। अतः दमयन्ती की कुल-नाम-जिज्ञासा व्यर्थ है। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ॥ ९ ॥

यदि स्वभावान्मम नोज्ज्वलं कुलं ततस्तदुद्भावनमौचिती कुतः।
अथावदातं तदहो विडम्बना यथा तथा प्रेष्यतयोपसेदुषः ॥१०॥

जीवातु—अकथने च कारणमाह—यदीति। मम कुलं स्वभावादुज्ज्वलमकलङ्कं न यदि, ततस्तर्हि तस्य कुलस्योद्भावनं प्रकटनं कुत औचिती औचित्यं नोचितमित्यर्थः। धर्मधर्मिणोभेदोपचारात् औचिती व्याख्यातव्या। अथावदातमुज्ज्वलं तथापि यथा तथा कथञ्चिदपि प्रेष्यतया किङ्करतया उपसेदुषः प्राप्तस्य मम तत् कुलोद्भावनं विडम्बना परिहासः। अहो ॥ १० ॥

अन्वयः—यदि मम कुलं स्वभावात् उज्ज्वलं न, ततः तदुद्भावनं कुतः औचिती अहो, अथ अवदातं तत् यथा तथा प्रेष्यतया मम विडम्बना।

हिन्दी—यदि मेरा कुल स्वभावतः (प्रकृतया) निर्मल नहीं है, तब उसका

प्रकाशन (बताना) किस प्रकार औचित्य है ? (नहीं है)। और यदि उज्ज्वल है, तो जैसे-तैसे मेरी प्रेष्यता (दूत होकर भेजा जाना) के कारण (कुल-प्रकाशन) महान् उपहास ही है।

टिप्पणी—नाम-कथन इसलिए व्यर्थ है कि प्रत्यक्ष-व्यवहार में सर्वनाम से काम चल जाता है और कुल बताना इसलिए उचित नहीं है कि वंश के मलिन होने पर उसका प्रकट न होना ही भला होता है, और कुल निर्मल हो तो दूत-कार्य में आने के कारण कुल का उपहास होगा। अतः न बताना ही श्रेयस्कर है। विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार ॥ १० ॥

इति प्रतीत्यैव मयावधीरिते तथापि निर्बन्धरसो न शोभते।
हरित्पतीनां प्रतिवाचिकं प्रति श्रमो गिरां ते घटते हि संप्रति ॥ ११ ॥

जीवातु—इतीति। इतीत्थं प्रतीत्य कुलनामकथनं वृथेति निश्चित्यैव मयाऽवधीरिते उपेक्षिते सति तदापि निर्बन्धरसो निर्बन्धेच्छा न शोभते। किंतु सम्प्रति हरित्पतीनामिन्द्रादीनां प्रतिवाचिकं प्रतिसन्देशं प्रत्युत्तरं प्रतीत्यर्थः। ते तव गिरां श्रमः प्रयत्नः वाग्व्यापारो घटते युज्यते हि ॥ ११ ॥

अन्वयः—इति प्रतीत्य एव मया अवधीरिते तव अपि निर्बन्धरसः न शोभते, हि सम्प्रति हरित्पतीनां प्रतिवाचिकं प्रति ते गिरां श्रमः घटते।

हिन्दी—यह (श्लोक सं० ८–१० के अनुसार) विचार करके ही मेरे द्वारा उपेक्षित (कुल-नामकथन-विषयक प्रश्नों) के प्रति तुम्हारे (दमयन्ती) द्वारा आग्रह करना अच्छा नहीं लगता; क्योंकि इस काल दिक्पालों के प्रत्युत्तर के प्रति तुम्हारी वाणी का श्रम उचित है।

टिप्पणी—भाव यह कि निरर्थक कुल-नाम-विषयक जिज्ञासा का त्याग कर दमयन्ती को इन्द्रादि दिक्पालों के प्रस्ताव पर विचार करके समुचित उत्तर देना ही कार्योचित और उपयुक्त है। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ॥ ११ ॥

तथापि निर्बध्नति ! तेऽथवा स्पृहामिहानुरुन्धे मितया न किं गिरा।
हिमांशुवंशस्य करीरमेव मां निशम्य किं नासि फलेग्रहिग्रहा ॥ १२ ॥

जीवातु—तथापीति। तथापि वैयर्थ्येऽपि निर्बध्नति ! निर्बन्धकारिणि ! बध्नातेः शत्रन्तादुगितश्चेति ङीबन्तात् सम्बुद्धिः। इहार्थे ते तव स्पृहां वाञ्छां

मितया गिरा नानुरुन्धे नानुवर्ते किम् ? अनुरोत्स्यायेवेत्यर्थः। कुलस्वरूपमात्रं कथयामीत्यर्थः। रुधेर्लेटि तङ्। मां हिमांशुवंशस्य करीरं सोमकुलांकुरमेव निशम्य फलं गृह्णातीति फलेग्रहिः सफलः ग्रहः आग्रहो यस्याः सा सफलाभिनिवेशा नासि किम् ? तावता न तुष्यसि किमित्यर्थः। 'फलेग्रहिरात्मम्भरिश्चे' ति निपातनात् साधुः ॥ १२ ॥

अन्वयः— अथवा तथापि निर्बध्नति, इह ते स्पृहां मितया गिरया किं न अनुरुन्धे ? मां हिमांशुवंशस्य करीरम् निशम्य एव किं फलेग्रहिग्रहा न असि ?

हिन्दी—अथवा इतने पर भी हे आग्रहशीले, इस (कुल-नाम) के विषय में तेरी जिज्ञासा को थोड़ा कहकर ही क्यों न समाप्त कर दूँ ? मुझ (नल) को शीतकिरण (चन्द्र) के वंश का करीर (अंकुर बालक) सुनकर ही क्या तुम्हारा आग्रह फलित (सफल) नहीं है ?

टिप्पणी—अपने को चन्द्रवंश का करीर (एक सामान्य बालक) बना कर नल ने कुल-परिचय भी दे दिया और अपने को छिपा भी लिया। अपने को सामान्य कहना शिष्टाचार भी है, पर राजा सामान्य नहीं, असामान्य होता है, और नल तो विश्वविख्यात—पुण्य-श्लोक था। इस प्रकार 'करीर' पद से उसका छिपाव भी हो गया। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और रूपक अलंकार ॥ १२ ॥

महाजनाचारपरम्परेदृशी स्वनाम नामाददते न साधवः।
अतोऽभिधातुं न तदुत्सहे पुनर्जनः किलाचारमुच विगायति ॥ १३ ॥

जीवातु—कुलमुक्तं नाम तु वाच्यमित्याह—महाजनेति। महाजनानां सतामाचारस्य परम्परा सम्प्रदायः ईदृशो। तामेवाह—साधवः सन्तः स्वनाम नाददते न गृह्णन्ति नाम। नामेति प्रसिद्धो—'नामानुकीर्तनं पुंसामात्मनश्च गुरोः स्त्रियाः। दिनमेकं हरत्यायु'रिति निषेधादिति भावः। अतो निषेधात् तत् पुनस्तन्नाम तु अभिधातुं नोत्सहे न शक्नोमि। 'शकधृष' इत्यादिना तुमुन्प्रत्ययः। तथा हि—जनो लोक आचारमुचमारत्यजं विगायति किल गर्हते खलु ॥ १३ ॥

अन्वयः—साधवः स्वनाम न आददते, महाजनाचारपरम्परा ईदृशी; अतः तत् अभिधातुं न उत्सहे पुनः जनः किल आचारपुत्रं विगायति।

हिन्दी—सज्जन अपना नाम नहीं लेते—महापुरुषों के आचार व्यवहार की परम्परा ऐसी ही है, इसलिए वह (नाम) कहने को उत्साहित नहीं हो पा रहा है, क्योंकि फिर (नाम बताने पर) लोक निश्चयतः आचार छोड़ देने वाले की निन्दा करता है।

टिप्पणी—'आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च। आयुष्कामो न गृह्णीयात् ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः'—इस परम्परा के अनुसार अपना नाम बताना आचरण-विरुद्ध है; अतः लोकनिन्दा का ध्यान रखते हुए नल ने स्वनामोच्चारण न करने का कारण प्रस्तुत कर दिया। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग और अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ॥ १३ ॥

अदोऽयमालप्य शिखीव शारदो बभूव तूष्णीमहितापकारकः।
अथाऽऽस्य रागस्य दधा पदे पदे वचांसि हंसीव विदर्भजाददे ॥१४॥

जीवातु—अद इति। अहितानामरीणामपकारकः अपकर्ता अन्यत्राहीनां तापकारकोऽतिहिंसाकरः। अयं नलः शरदि भवः शारदः, 'सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्'। शिखी केकीव अदः इदं वचनमालप्य व्याहृत्य तूष्णीं बभूव। अथानन्तरमस्य वाक्यस्य सम्बन्धिनि पदे सुप्तिङन्तरूपे पदे विषये रागस्य श्रवणेच्छया दधातीति दधा धरित्री प्रत्यक्षरं सुधास्रावित्वादविच्छिन्नतृष्णेत्यर्थः। 'ददातिदधात्योर्विभाषा' इति दधातेरप्रत्यये श्लाविति द्विर्भावः, 'अजाद्यष्टाप्'। अन्यत्र पदे पदे चरणद्वये आस्ये चञ्चुपुटे रागस्य लौहित्यस्य दधा। 'राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिता' इत्यमरः। विदर्भजा वैदर्भी हंसीव वचांस्याददे उवाचेत्यर्थः। शरदि निःशब्दाः शिखिनः राजहंसाः शब्दायन्ते तद्वदिति भावः ॥ १४ ॥

अन्वयः—अहितापकारकः अयं शारदः शिखी इव अदः आलप्य तूष्णीं बभूवः अथ अस्य पदे पदे रागस्य दधा विदर्भजा (आस्य रागस्य पदे पदे दधा) हंसी इव वचांसि आददे ?

हिन्दी—अहितों (शत्रुओं) का अपकार करने वाला, शारद (निपुण) यह (नल) अहि (सर्पों) को ताप (कष्ट) देनेवाले शरत्काल में उत्पन्न शारद (हिंसक) मयूर के समान यह (पूर्वोक्त) आलपन कर (बोलकर) चुप हो गया, तदनन्तर इस (नल) के शब्द-शब्द पर अनुराग-धारण करती

(मुग्ध होती) विदर्भसुता (दमयन्ती) आस्यराग अर्थात् मुख-लालिमा को प्रत्येक चरण पर धारण करती हंसी के समान वचन बोली।

टिप्पणी—नल के वचन पर प्रतिशब्द मुग्ध हुई दमयन्ती मन लगाये उसकी बात सुनती रही और जब वह अपनी बात कहकर चुप हो गया, तब आगे आने वाले वचन बोली। यहाँ नल की तुलना वर्षाकाल में बोलकर शरत् काल में चुप हो जाने वाले मयूर से की गयी है। 'अहितापकारक' और 'शारद' नल-मयूर—दोनों का सामान्यधिकरण्य है। दमयन्ती की तुलना शरत् काल में मधुर बोलनेवाली हंसी से की गयी है, दमयन्ती 'अस्य पदे पदे रागस्य दधा' (नल के प्रतिशब्द पर मुग्धा) है और हंसी है 'आस्यरागस्य पदे पदे दधा' (लाल चोंच और चरणों वाली) यह दमयन्ती-हंसी की समानता है। कहा जाता है कि वर्षाऋतु में बोलता-बोलता मयूर शरद् में चुप हो जाता है, क्योंकि उसके स्वर में कुछ विरसता आ जाती है। नल के वचन भी कुछ रूक्ष थे ही। शरत् काल में राजहंसी मधुरालाप करती है। इस प्रकार मधुरा वाणी बोलती दमयन्ती की तुलना शारदीया हंसी से उचित ही है। रूक्षस्वर मयूर-नल चुप हुआ, तदनन्तर मधुरस्वरा शारदीया हंसी-दमयन्ती बोली। विद्याधर के अनुसार श्लेषोपमालंकार. जिसे चन्द्राकलाकार ने श्लेष और उपमा का संकर कहा है।१४।

सुधांशुवंशाभरणं भवानिति श्रुतेऽपि नापैति विशेषसंशयः।
कियत्सु मौनं वितता कियत्सु वाङ्महत्यहो वञ्चनचातुरी तव ॥१५॥

जीवातु—सुधांश्विति। भवान् सुधांशुवंशाभरणमिति श्रुतेऽपि विशेष-विषये संशयस्तत्रापि क इति सन्देहो नापैति अतो विशेषो वक्तव्य इति भावः। अथावाच्यत्वान्नोच्यते तर्हि कियद्वाच्यं तदेव विविच्यतामित्याह—कियत्स्वर्थेषु मौनं कियत्सु विषयेषु वाग्वितता विस्तृता न किञ्चिदत्र नियामकमस्तीति-भावः। किंतु तव वञ्चनचातुरी प्रतारणाच्चातुर्यं महती। अहो! औचितीव-च्चातुरी व्याख्येया ॥ १५ ॥

अन्वयः—भवान् सुधांशुवंशाभरणम् इति श्रुते अपि विशेषसंशयः न अपैति; कियत्सु मौनं, कियत्सु वितता, अहो, तव वञ्चनचातुरी महती!

हिन्दी—(दमयन्ती ने कहा) आप (नल) अमृतकिरण (चन्द्र) के कुल के आभूषण हैं—यह सुनकर भी विशिष्ट (व्यक्ति नल) होने का संदेह दूर नहीं

होता। किन्हीं (प्रश्नों के उत्तर में) मौन किन्ही में विस्तार ! बहुत बड़ी है आश्चर्य कारिणी अपनी प्रतारणाचातुरी (ठगने में कुशलता)।

टिप्पणी—नल ने कहा कि वह 'चन्द्रवंश काही' है, पर नाम नहीं बताया। दमयन्ती इससे संदेह में पड़ गयी कि यह चन्द्रवंशोत्पन्न राजा नल है अथवा कोई अन्य ? इस पर उसने नल को 'वचनचतुर' कहा। कुछ प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया, कुछ का दे दिया। आश्चर्यंजनक प्रतारणचातुर्यं दिखाया उसमें भाव यह है कि नल जैसा प्रतारक तो दमयन्ती ने नहीं देखा। किसके दूत हैं, किस काम से आये हैं——तो विस्तार से बताया, पर कुलनाम एक शब्द में कह दिया। शेष परिचय में पूर्णतः मौन साध लिया। विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार ॥ १५ ॥

मयापि देयं प्रतिवाचिकं न ते स्वनाम मत्कर्णसुधामकुर्वते।
परेण पुंसा हि ममापि सङ्कथा कुलाबलाचारसहासनासहा ॥ १६ ॥

जीवातु—अथ यदुक्तं नामकथनं निषिद्धमिति तत्र प्रतिबन्दीं गृह्णाति—मयापीति। स्वनाम मम कर्णसुधां कर्णामृतमकुर्वते अश्रावयते इत्यर्थः ते तुभ्यं मयापि प्रतिवाचिकं प्रतिसन्देशनं न देयं, कुतः, हि यस्मान्ममापि परेण पुंसा सङ्कथा सम्भाषणं कुलाबलानां कुलाङ्गनानामाचारस्य सहासनं सहवासस्तस्य न सहत इत्यसहा अक्षमा। 'पचाद्यच्'। कुलस्त्रीसमाचारविरुद्धेत्यर्थः ॥ १६ ॥

अन्वयः—स्वनाम मत्कर्णसुधाम् अकुर्वते ते अपि प्रतिवाचिकं न देयम्, हि मम अपि परेण पुंसा संकथा कुलाबलाचारसहासना।

हिन्दी—अपने नाम को मेरे कानों का पीयूष बनाते (न बताते हुए) तुम्हें मेरे (दमयन्ती के) द्वारा भी प्रत्युत्तर देना उचित नहीं है, क्योंकि मेरा भी परपुरुष के साथ संलाप कुलनारियों के आचार के साथ एकासीनता को सहने वाला नहीं है।

टिप्पणी—नल ने स्वनामाकथन में जिस लोकाचार की दुहाई दी थी, दमयंती ने भी उसी आधार पर कहा कि अज्ञातकुलनामा परपुरुष के साथ बात-चीत करना कुलनारियों के लिए अच्छा नहीं माना जाता, अतएव नल द्वारा उपस्थित किये गये दिक्पालों के संदेश का उत्तर देने में दमयंती असमर्थ

है। कुलस्त्री-समाचार-विरुद्ध कार्य वह नहीं कर सकती। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-काव्यलिग अलंकार ॥ १६ ॥

हृदयाभिनन्द्य प्रतिवन्द्यनुत्तरः प्रियागिरः सस्मितमाह स स्म ताम्।
वदामि वामाक्षि! परेषु मा क्षिप स्वमीदृशं माक्षिकमाक्षिपद्वचः ॥१७॥

जीवातु—हृदेति। स नलः प्रियाया गिरो वाक्यानि हृदा हृदयेन अभिनन्द्यानुमोद्य प्रतिवन्द्या पूर्वश्लोकोक्त्या अनुत्तरः तां प्रियां सस्मितमाह स्म उक्तवान्। 'लट् स्म' इति भूते लट्। हे वामाक्षि! चारुलोचने! वदामि। माक्षिकाभिः कृतं माक्षिकम्। 'मधुभेदो मधु क्षौद्रं माक्षिकादि' इत्यमरः। तेन कृतमित्यर्थे संज्ञायामित्यण्प्रत्ययः। तदाक्षिपत् निराकुर्वत् तत्सदृशमित्यर्थः। ईदृशं लोकोत्तरं स्वं वचः परेषु परपुरुषेषु मा क्षिप मा निधेहि सत्यं कुलस्त्रीणां परपुरुषसम्भाषणमनुचितमङ्गीकृतं च स्वयं तु न परपुरुष इति भावः॥ १७॥

अन्वय—प्रियागिरः हृदा अभिनन्द्य प्रतिवन्द्यनुत्तरः सः तां सस्मितम् आह स्म—वामाक्षि, वदामि, ईदृशं माक्षिकम् आक्षिपत् स्वं वचः परेषु मा क्षिप।

हिन्दी—प्रिया (दमयन्ती) की वाणी का हृदय से अभिनन्दन (स्तुति) करके (दमयंती की) पूर्वश्लोकोक्ति द्वारा निरुत्तर वह (नल) उस (दमयंती) से मन्दस्मित के साथ बोला—हे बंकनयने, निवेदन है कि ऐसे मधु को तिरस्कृत बनाते (मधु से भी मधुर) अपने वचन (मेरे जैसे) परपुरुष पर मत फेंको!

टिप्पणी—दमयंती ने अज्ञातकुलनामा व्यक्ति से संलाप अस्वीकार कर दिया, क्योंकि परपुरुष से वार्तालाप कुलललनाओं के आचरण के विरुद्ध है। नल ने दमयंती की इस वचन-चातुरी की मन-ही-मन प्रशंसा की। इस उक्ति का उत्तर उसके पास नहीं था, जिस आचार-पालन के आधार पर नलने नाम बताना अनुचित कहा था, उसी युक्ति का सहारा लेकर दमयंतीने भी उसे निरुत्तर कर दिया। तब नल ने प्रशंसा-सूचक मुसकान के साथ उससे निवेदन किया कि उसका कथन ठीक है। दमयंती अज्ञातकुलनामा व्यक्ति से संलाप न करे। अपने मधु से भी मधुर वचनों से इंद्रादि दिक्पालों से ही संलाप करना मान कर उनके संदेश का उत्तर देने की कृपा करे। इन्द्रादि तो अज्ञातकुलनाम नहीं हैं, सो दमयन्ती का दिया प्रत्युत्तर दिक्पालों के प्रति ही समझा जायेगा,

अज्ञातकुलनामा दूत (नल) के प्रति नहीं। अतः दमयती की इस प्रकार की 'प्रतिबंदी' का परित्याग कर ज्ञातकुलशीलनाम दिक्पालों को ऋजुमार्ग से उत्तर देना चाहिए।

'प्रकाश'कार ने अन्वयांतर करके और भी अर्थ विशेष किये हैं। 'सस्मितं माक्षिकम् आक्षिपत् वचः आहस्म ईदृशं स्वं परेषु या क्षिप'—अर्थात् स्मित के साथ मधु को तिरस्कृत करते वचन नल ने दमयन्ती से कहे—ऐसे अपने (मुझ नल) को अन्यों (परायों) में मत ढकेलो। भाव यह कि इन्द्रादि के इन रूप में उपस्थित 'पर' नहीं है, जिससे संलाप कुलाचार-विरुद्ध हो। दिक्पाल-दूत में परिचित होने पर अब परता कहाँ रही? इन्द्रादि के दूत रूप में वह उनके समान ही दमयन्ती का अपना है। 'माक्षिकम् आक्षिपत् वचः परेषु मा क्षिप किन्तु मयि क्षिपेति वा।' अथवा मधु को अवमानित करते वचन परायों से मत कहो, किन्तु मुझ से कहो। मुझमें पर बुद्धि न करके यह मानो कि मैं नल ही हूँ। इस प्रकार नाम बताया ही समझो। अथवा 'वदामि' अर्थात् नाम बताता हूँ; 'परेषु मा क्षिप', परायों में मत गिनो अर्थात् उपस्थित नल से अन्य हैं—ऐसा मत मानो। भाव यही है कि उपस्थित व्यक्ति को किसी तर्क के आधार पर परपुरुष न मान, अपना मान कर ही दिक्पालों के सन्देश का उत्तर देना ही दमयन्ती को उचित है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और रूपक ॥ १७ ॥

करोषि नेमं फलिनं मम श्रमं दिशोऽनुगृह्णासि न कञ्चन प्रभुम्।
त्वमित्थमर्हासि सुरानुपासितुं रसामृतस्नानपवित्रया गिरा ॥१८॥

जीवातु—करोषीति। हे भैमि! भीमजे! मम इमं श्रमं सुरकार्यप्रयासं फलिनं फलवन्तं 'फलवान् फलितः फली' इत्यमरः 'फलबर्हाभ्यामिनज्वक्तव्यः।' न करोषि कथं, कञ्चनैकमपि दिशः प्रभुं दिगीशं नानुगृह्णासि, त्वमित्थं रसो माधुर्यमेवामृतं तत्र स्नानेनावगाहेन पवित्रया पूतया गिरा सुरानुपासितुमर्हासि स्नाताधिकारत्वाद्देवपूजाया इति भावः ॥१८॥

अन्वयः—मम इमं श्रमं फलिनं न करोषि, कंचन दिशः प्रभुं न अनुगृह्णासि त्वम् इत्थं रसामृतस्नानपवित्रया गिरा सुरान् उपासितुम् अर्हासि।

हिन्दी—क्या (तुम) इस मेरे परिश्रम को सफल नहीं करोगी? क्या

किसी दिक्पाल पर अनुग्रह न करोगी ? तुम्हें इस प्रकार (किसी दिक्पाल का वरण करके) रस-माधुरी के पीयूष में स्नान कर पवित्र (मधुर और पवित्र) वाणी से देवों की उपासना करना उचित है ।

टिप्पणी—भाव यह कि जैसे बुद्धिमत्तापूर्ण और मधुर वचन दमयन्ती ने नल से कहे, वैसे रसामृतस्नानपूत वचन देवों के प्रति कहना उचित होगा। यही देवों की उपयुक्त उपासना होगी, जिससे वे संतुष्ट होंगे । विद्याधर के अनुसार रूपक अलकार ॥ १८ ॥

सुरेषु सन्देशयसीदृशीं बहुं रसस्रवेण स्तिमितां न भारतीम् ।
मदर्पिता दर्पकतापितेषु या प्रयातु दावार्दितदाववृष्टिताम् ॥ १९ ॥

जीवातु—सुरेष्विति । ईदृशीं लोकोत्तरां बहु प्रभूतां रसस्रवेण रसप्रवाहेण स्तिमितां भरितां भारतीं सुरेषु न सन्देशयसि सन्देशं न करोषि । सन्देश-शब्दात् तत्करोति ण्यन्ताल्लटि सिप् । या भारती दर्पकेण कन्दर्पेण तापितेषु तेषु मयार्पिता सती दावार्दिता दावाग्निदग्धाऽरण्ये या वृष्टिः तत्तां प्रयातु सन्तापसहरणात् तत्सदृशी भवेदिति निदर्शनालङ्कारः । 'दवदावौ न वारण्य-वह्नी' इत्यमरः ॥ १९ ॥

अन्वयः—ईदृशीं बहुं रसस्रवेण स्तिमितां भारतीं सुरेषु न सन्देशयसि, मदर्पिता या दर्पकतापितेषु दावार्दितदाववृष्टितां प्रयातु ?

हिन्दी—ऐसी विपुलभावमयी रस-प्रवाह से आर्द्र वाणी में देवों को संदेश क्यों नहीं देती, जो (वाणी) मेरे द्वारा (तुम्हारे सन्देशरूप में) समर्पित हो कन्दर्पतप्त देवों के निमित्त वनवह्नि निसे पीडित वन को वृष्टिभाव से प्राप्त हो।

टिप्पणी—नल ने कहा कि दमयन्ती दिक्पालों के प्रति अपना सन्देश रसधार बहाती वाणी में प्रेषित करे । नल के द्वारा उस सन्देश को प्राप्त करेंगे तो उनका मदन-सन्ताप उससे उसी प्रकार शांत हो जायेगा, जिस प्रकार वर्षा से दावानल में जलता वन शांति को प्राप्त करता है। दमयन्ती 'रसस्रवा भारती' 'दावार्दितदान-वृष्टि' कन्दर्पतप्त देवों के प्रसंग में प्रमाणित होगी, सो संदेश-प्रेषण ही उचित है । विद्याधर के अनुसार छेकानु-प्रास और उपमा, मल्लिनाथ के अनुसार दमयन्ती की रसस्रवस्तिमिता भारती को दर्पकतापित देवों के निमित्त नल द्वारा अर्पित होने पर दावार्दित-दाववृष्टिता अर्थात् सन्तापहरण करके वृष्टितुल्या कहा गया—अतः निदर्शनालंकार है ।१९।

यथा यथेह त्वदपेक्षयाऽनया निमेषमप्येष जनो विलम्बते।
रुषा शरव्यीकरणे दिवौकसां तथा तथाऽद्य त्वरते रते पतिः॥ २०॥

जीवातु—यथा यथेति। हे भैमि ! एष अयं जनः स्वयमित्यर्थः। यथा यथा यावत् यावदित्यर्थः। इह त्वत्समीपे त्वदपेक्षया त्वदनुरोधेन निमेषमपि विलम्बते, रतेः पतिः कामो रुषा दिवौकसां देवानां शरव्यीकरणे लक्ष्यीकरणे तथा तथा तथाऽद्य त्वरते, अतः क्षिप्रमेव प्रतिवाचं देहीत्यर्थः॥ २०॥

अन्वयः—एषः जनः यथा यथा इह अनया त्वदपेक्षया निमेषम् अपि विलम्बते, तथा तथा रतेः पतिः रुषा दिवौकसां शरव्यीकरणे अद्य त्वरते।

हिन्दी—यह व्यक्ति (मैं नल) जैसे जैसे यहाँ (कुंडिन में दमयन्ती के निकट) इस तुम्हारे अनुरोध से ('त्वदुपेक्षया' पाठान्तर में तुम्हारे उपेक्षा भाव के कारण) क्षणमात्र को भी बिलम्बित हो रहा है (रुक रहा है), वैसे-वैसे रति का स्वामी (काम) क्रोध से स्वर्गवासी देवों को (अपने) बाणों का लक्ष्य बनाने में आज शीघ्रता कर रहा है।

टिप्पणी—भाव यही है कि कुंडिनपुरी में जितना विलम्ब हो रहा है, वह देवों के कष्ट को उतना ही बढ़ा रहा है। क्षण-क्षण का विलम्ब घातक बन रहा है, अतः प्रत्युत्तर शीघ्र अपेक्षित है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार॥ २०॥

इयच्चिरस्यावदधन्ति मत्पथे किमिन्द्रनेत्राण्यशनिर्न निर्ममौ।
धिगस्तु मां सत्वरकार्यमन्थरं स्थितः परप्रेष्यगुणोऽपि यत्र न॥२१॥

जीवातु—इयदिति। मत्पथे मद् गमनमार्गे इयच्चिरस्य इयच्चिरमित्यर्थः। अत्यन्तसंयोगे द्वितीयार्थेऽव्ययम्। 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थका' इत्यव्ययेष्वमरः। अवदधन्ति अवहितानि सन्ति। 'वा नपुंसकस्य' इति शतुर्नुमागमः। इन्द्रनेत्राणि (कर्म) अशनिर्वज्रो न निर्ममौ किम्? नूनं, वज्रमयानीत्यर्थः। अन्यथा कथमीदृग्विलम्बनसहत्वमिति भावः। सत्वरकार्ये क्षिप्रकर्तव्ये मन्थरं मन्दं मां धिगस्तु ममेयं निन्दा प्राप्तेत्यर्थः। कुतो यत्र मयि परेषां प्रेष्यः कर्मकरः तस्य यो गुणः क्षिप्रकारत्वलक्षणः सोऽपि न स्थितः। त्वदीयप्रत्युत्तरविलम्बनाम्ममेयमदक्षता प्राप्तेत्यहो कष्टं परप्रेष्यभाव इति भावः॥ २१॥

अन्वय:— इयच्चिरस्य मत्पथे अवदधन्ति इन्द्रनेत्राणि अशनि: न निर्ममे किम् ? सत्वरकार्यमन्थरं मां धिक् अस्तु, यत्र परप्रेष्यगुणः अपि न स्थितः।

हिन्दी——इतने समय तक मेरे (नलदूत के) मार्ग में अवहित (प्रतीक्षा करते) इन्द्र के नेत्रों को क्या वज्र ने नहीं बनाया है ? (बनाया ही है, अन्यथा इतने समय बाट कैसे जोहते रहते इन्द-नेत्र ?) शीघ्रता से किये जाने वाले कार्य में विलम्ब लगाने वाले मुझ (दूत) को धिक्कार है, जिसमें अन्य का दूत (अथवा 'पर' अर्थात् उत्कृष्ट दूत) बनने का गुण भी नहीं है।

टिप्पणी——सचमुच इन्द्र की आँखें वज्र से ही बनी हैं, तभी इतनी कठोर और दृढ रहकर दूत के लौटने की बाट जोह रही हैं। विलंब अत्यधिक हो गया है। कार्य शीघ्रता से संपन्न हो, यह दास का गुण होता है। पर नल शीघ्रतया कार्य न कर सका, अत: वह उपयुक्त दूत भी प्रमाणित न हुआ, यह कितना खेदजनक है ? चाकरी निकृष्ट कही जाती है, पुण्यश्लोक नल उसके योग्य भी सिद्ध नहीं हो रहा है—यह कितना धिक्करणीय है ! भाव यही है कि देवों के उत्तर की प्रतीक्षा करते-करते अत्यधिक विलम्ब हो गया है, अत: अब तुरन्त उत्तर मिलना ही उचित है। 'अशनि'—कथन से इन्द्र के क्रोध का भी संकेत है और उसके माध्यम से अन्य दिक्पालों के क्रुद्ध हो जाने का भी। इन्द्र की आँखों में वज्र है, बड़ा कठोर है वह। उसके क्रोध करने पर अपराधी का विस्तार नहीं। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ २१ ॥

इद निगद्य क्षितिभर्तरि स्थिते तयाऽभ्यधायि स्वगतं विदग्धया।
अधिस्त्रि तं दूतयतां भुवःस्मरं मनो दधत्या नयनैपुणव्यये ॥ २२ ॥

जीवातु——इदमिति। क्षितिभर्त्तरि भूपे इदं निगद्य स्थिते तूष्णीं भूते सति स्त्रीष्वधिस्त्रि विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावे नपुंसकह्रस्वः। भुवः स्मरं भूलोकमन्मथं तं पुरुषं दूतयतां दूतकृत्ये निषिद्धमत्यतिसुन्दरमेनं दूतं कुर्वतामित्यर्थः। यथा भरतः——'नोज्ज्वलं रूपवन्तं च नार्थवन्तं न चातुरम्। दूतं वापि हि दूती वा बुधः कुर्यात्कदाचन ॥' इति। नयनैपुण्यव्यये नीतिचातुर्यशून्यत्वे मनो दधत्या निदधत्या एते नीतिशून्या इति जानन्त्येवेत्यर्थः। अत एव विदग्धया कुशलया दमयन्त्या स्वगतमप्रकाशं यथा तथा आत्मन्येवाभ्यधायि

अभिहितं, 'सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतं मतम्' इति दशरूपके लक्षणात्। अहो बुद्धिमान्द्यमेषां यदेनं कामं दूत्ये नियुक्तवन्त इति भावः ।२२।

अन्वयः—क्षितिभर्तरि इदं निगद्य स्थिते भुवः स्मरं तं दूतयतां अधिस्त्रि नयनैपुणव्यये मनो दधत्या विदग्धया तया स्वगतम् अभ्यधायि ।

हिन्दी—धरती के स्वामी (राजा नल) के इस प्रकार (श्लोक सं० १७–२१) कहकर ठहर जाने (चुप हो जाने) पर स्त्रियों के विषय में भूलोक के काम (अतिसुन्दर) उस (नल) को दूत बनाते (देवों का) स्त्रियों के विषय में नीति-निपुणता का अभाव मन में धारती नीति-चतुरा उस (दमयन्ती) ने स्वगत कहा ।

टिप्पणी—नलमुग्धा दमयन्ती ने दूत नल का चातुर्यपूर्ण कथन सुन कर मन-ही-मन विचार किया—स्वगत-भाषण अर्थात् अप्रकाश-कथन। वह सोचने लगी कि देव नारी-मनोविज्ञान से अपरिचित हैं। कहीं ऐसे कामदेव के समान सुन्दर व्यक्ति को प्रणय-संदेशवाही दूत बनाया जाता है ? ऐसे सुन्दर रूप को देखकर कौन नारी अन्य पुरुष का विचार कर सकती है ? इसीलिए नीतिशास्त्र में कहा गया है–ऐसे स्त्री अथवा पुरुष को दूतकार्य नहीं सौंपा जाना चाहिए, जिसका उज्ज्वल रूप हो, जो अत्यन्त चतुर हो अथवा रोगी हो। स्त्रियों के निकट अभव्य, सामान्य दूत भेजना उचित है। इंद्रादि ने इस विषय में ऐसे सुन्दरतम व्यक्ति को दूतरूप में भेज कर नीति-विषयक अपने अज्ञान का परिचय दिया है। विद्याधर के अनुसार व्यतिरेक अलंकार।

जलाधिपस्त्वामदिशन्मयि ध्रुवं परेतराजः प्रजिघाय स स्फुटम् ।
मरुत्वतैव प्रहितोऽसि निश्चितं नियोजितश्चोर्ध्वमुखेन तेजसा ॥ २३ ॥

जीवातु—स्वगतवाक्यमेवाह–जलेति। जलाधिपो वरुण लडयोरभेदात् जडाग्रणीश्च मयि विषये मां प्रतीत्यर्थः। त्वामदिशदतिसृष्टवान् ध्रुवम् ? स प्रसिद्धः परेतराजो यमः प्रेतमुख्यश्च त्वां प्रजिघाय प्रहितवान् स्फुटमसन्दिग्धम्। मरुतो देवाः तद्वता मरुत्वता इन्द्रेण वातुलेन च। 'मरुतौ पावनामरौ' इत्यमरः। प्रहितोऽसि निश्चितमूर्ध्वमुखेन तेजसा अग्निना स्थूलदृशा च नियोजितः प्रेषितोऽसि। ते च प्रेषितवन्तः त्वञ्च प्रेषितः सत्यमेवैतत् निष्फलोऽयमारम्भ इति स्वगतमुवाचेत्यर्थः ॥ २३ ॥

अन्वयः——जलाधिपः मयि त्वां ध्रुवम् अदिशत्, सः परेतराजः स्फुटं प्रजिघाय, मरुत्वता प्रहितः एव ऊर्ध्वमुखेन तेजसा च निश्चितं नियोजितः असि।

हिन्दी—(दमयन्ती ने सोचा) जल के स्वामी वरुण ने निश्चय ही मेरे पास आने का तुम्हें आदेश दिया है, उस प्रेतप्रमुख ने प्रकट है कि भेजा है, पवन के मित्र इन्द्र ने तो भेजा ही है और जिसका मुख ऊपर को रहता है, उस अग्नि ने तो निश्चित ही (तुम्हें) नियुक्त किया है!

टिप्पणी—दमयन्ती ने इंद्रादि को नयनिपुणरहित माना, क्योंकि उन्होंने नल जैसे सुन्दरतम व्यक्ति को दूत बनाकर नीतिविरुद्ध कार्य किया था। उसी मूर्खता का यहाँ उपहास किया गया है; अर्थात् ये सब तो मूर्ख हैं ही, मूर्खता उनकी संज्ञा से ही प्रकट हो जाती है। वरुण जलाधिप है—जड़ जल का स्वामी, जड़राज। यम परेतराज है—सबसे बड़ा प्रेत, मृतकों का राजा अर्थात् मृतकों—अचेतनों, जड़ों में धुरिप्रतिष्ठित। क्या कहना इन्द्र का? वह है ही मरुत्वान्—वातुल, बकवादी, ऐसी बकबाद सदा किया करता है। और तेजोमय अग्नि वह तो 'ऊर्ध्वमुख' है, पिशाच, अप्रतिभ। सो इन सब ने परमसुन्दरी दमयन्ती के निकट परमसुन्दर दूत नल को भेजा, अपनी मूर्खता प्रकट कर दी। वे क्या विचार कर पाते? विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा अलंकार। चन्द्रकलाकार के अनुसार उत्प्रेक्षा-श्लेष का अंगांगिभाव से संकर॥ २३॥

अथ प्रकाशं निभृतस्मिता सती सतीकुलस्याभरणं किमप्यसौ।
पुनस्तदाभाषणविभ्रमोन्मुखं मुखं विदर्भाधिपसम्भवादधे॥ २४॥

जीवातु—अथेति। अथ स्वगतोक्त्यनन्तरं सतीकुलस्य पतिव्रतावर्गस्य किमप्यनिर्वाच्यमाभरणमलङ्कारभूता असौ विदर्भाधिपसम्भवा वैदर्भी निभृतस्मिता गम्भीरस्मिता सती प्रकाशं यथा पुनस्तेन सहाभाषणमेव विभ्रमो विनोदः तत्रोन्मुखमुत्सुकं मुखमास्यमादधे आबभाषे इत्यर्थः॥ २४॥

अन्वयः—अथ सतीकुलस्य किम् आभरणम् असौ विदर्भाधिपसम्भवा निभृतस्मिता सती पुनः प्रकाशं तदाभाषणविभ्रमोन्मुखं मुखम् आदधे।

हिन्दी—इसके पश्चात् सतीकुल (पतिव्रतासमूह) की लोकोत्तर आभूषण (सतीश्रेष्ठ) इस विदर्भराज की पुत्री (दमयंती) ने गुप्त-मंद हास्य करते

हुए पुनः प्रकाश्यरूप से उस (नल) से आभाषणरूप विलास में उन्मुख अपने मुख को किया।

टिप्पणी——मन-ही-मन देवों की मूर्खता पर विचार करती और हंसती सतीश्रेष्ठ, परमसुन्दरी दमयन्ती प्रकाश्य रूप से नल के प्रति वार्तालाप के निमित्त उन्मुख हुई। नारायण के अनुसार 'तदाभाषणविभ्रमोन्मुखम्' यह सूचित होता है कि सती दमयन्ती दूत को नल मानते हुए प्रसन्न मुख से उससे वार्तालाप ही करने को उद्यत हुई, सन्देश का उत्तर प्रासंगिक रहा। आभाषणसुख ही दमयन्ती का लक्ष्य था, उत्तरदान नहीं। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और रूपक अलंकार॥ २४॥

वृथा परीहास इति प्रगल्भता ननेति च त्वादृशि वाग्विगर्हणा।
भवत्यवज्ञा च भवत्यनुत्तरादतः प्रदित्सुः प्रतिवाचमस्मि ते॥ २५॥

जीवातु—वृथेति। भवति पूज्ये त्वादृशि विषये वृथा परीहास इति वाक्। 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुल'मिति परेर्दीर्घः। प्रगल्भता प्रागल्भ्यं दोषावहेत्यर्थः। कार्यकारणयोरभेदोपचारः। ननेति च वागत्यन्तनिषेधोक्तिश्च, आभीक्ष्ण्ये द्विर्भावः। विगर्हणा गर्ह्योक्तिः स्यादित्यर्थः। अनुत्तरात् उत्तराप्रदानात् अवज्ञा अनादरदोषो भवति। अतो हेतोस्ते तुभ्यं प्रतिवाचं प्रत्युत्तरं प्रदित्सुः प्रदातुमिच्छुरस्मि। परमार्थतस्तु प्रत्युत्तरानर्हमेव दाक्षिण्यात्ते वदामीति तात्पर्यम्॥ २५॥

अन्वयः——भवति त्वादृशि वृथा परीहासः—इति प्रगल्भता, नन—इति वाक्-विगर्हणा, अनुत्तरात् अवज्ञा भवति; अतः ते प्रतिवाचं प्रदित्सुः अस्मि।

हिन्दी—पूजनीय आप सदृश व्यक्ति से व्यर्थ परिहास करना——यह धृष्टता है; 'नन' (निषेधात्मक उत्तर)——ये वचन विशेष निन्द्य हैं और उत्तर न देने से अवज्ञा (अनादर) होती है; अतएव प्रत्युत्तर देने को उद्यत हूँ।

टिप्पणी——नल के प्रति 'भवान्' विशेषण से द्योतित होता है कि यह सब आदर भाव नल के प्रति ही प्रकट करना दमयंती का उद्देश्य था, उसी की प्रतिष्ठा स्वीकार कर वह उत्तर देने को तैयार हुई, इन्द्रादि के ध्यान या माहात्म्य की स्वीकृति के कारण नहीं। अन्य किसी दूत से वह बात भी नहीं करती, उत्तर देना तो दूर। अपरिचत से उपहास धृष्टता होती है, सो दमयंती

पर 'प्रतिवंद्यादि' रूप क्रीडावाद करने का आरोप उचित नहीं। श्रेष्ठ, आदरणीय पुरुष के प्रति निषेधवाक्य निंदा का कारण होता है, भव्य व्यक्ति के प्रति निरुपपत्तिक वक्तव्य विगर्हणा है, सोपपत्तिक ही कहना चाहिए। चुप रहने में भी अनादर प्रकट होता है; अतः दमयंती ने सब विचार कर उत्तर देने का निर्णय किया। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ॥ २५ ॥

कथं नु तेषां कृपयापि वागसावसावि मानुष्यकलाञ्छने जने।
स्वभावभक्तिप्रवणं प्रतीश्वराः कया न वाचा मुदमुद्गिरन्ति वा ॥ २६ ॥

जीवातु—कथमिति। तेषामिन्द्रादीनां कृपयापि (कर्त्र्या) मनुष्यस्य भावो मानुष्यकम्। 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद्वुञ्'। तदेव लाञ्छनं कलङ्को यस्य तस्मिन्निर्दोषजनविषयेऽस्मिन्नित्यर्थः। असौ वागस्मान् वृणीष्वेति वचनं कथमसावि सूता अनुचितमित्यर्थः सूतेः कर्मणि लुङ्। वा अथवा ईश्वराः स्वामिनः स्वभावभक्तिप्रवणं जनं प्रति कया वाचा मुदं नोद्गिरन्ति भक्तवात्सल्यात् नीचमपि भक्तजनमत्युच्चयापि वाचा बहु कुर्वन्ति कृपालवः स्वामिन इत्यर्थः। तथा च तद्वचनमुपचारत्वेन गृह्यते। न तु कर्तव्यतयेति भावः ॥ २६ ॥

अन्वयः—मानुष्यकलाञ्छने जने असौ वाक् तेषां कृपया अपि कथं नु असावि? वा ईश्वराः स्वभावभक्तिप्रवणं प्रति कया वाचा मुदं न उद्गिरन्ति?

हिन्दी—मनुष्य होने के लांछन से युक्त व्यक्ति (दमयन्ती) के प्रति यह वाणी (वरण करलो—यह वचन) उन (दिक्पालों) की कृपा से भी कैसे उत्पन्न हुई? अथवा समर्थ जन अपने भाव और भक्ति में लीन (भक्त) के प्रति किस वाणी से प्रसन्नता नहीं व्यक्त करते हैं?

टिप्पणी—दमयन्ती ने कहा—देवों ने जो उसके निकट वरण-सन्देश भेजा, उसकी तो संभावना ही कठिन है। कहीं मानुषी के प्रति अमरों की ऐसी इच्छा हो सकती है, भले ही वे कृपालु क्यों न हों? मनुष्यत्व का लांछन जिस पर लगा है, देव उसे पत्नी भाव से स्वीकारने की कृपा क्यों करेंगे? कदाचित् उनकी यह अपने भक्त के प्रति कृपा है। समर्थ व्यक्ति भक्तों के प्रति अपना अनुग्रह किसी प्रकार प्रकट कर सकते हैं। इसीसे देवोंने दमयन्ती के भक्ति-भाव पर प्रसन्न होकर यह सन्देश भेजा है। भाव यह कि देवों की वास्तविक इच्छा यह नहीं है कि दमयन्ती उनकी पत्नी हो उन्होंने

दमयन्ती की भक्ति पर अपनी प्रसन्नता इस प्रकार व्यक्त की है। वे तो पूजनीय हैं, वरणीय नहीं। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और उत्प्रेक्षा।२६।

अहो महेन्द्रस्य कथं मयौचिती सुराङ्गनासङ्गमशोभिताभृतः।
ह्रदस्य हंसावलिमांसलश्रियो बलाकयेव प्रबला विडम्बना ॥ २७ ॥

जीवातु—अहो इति। सुराङ्गनासङ्गमेन शोभत इति तच्छोभि तस्य भावस्तत्ता तां बिभर्तीति तद्भृतो महेन्द्रस्य हंसावल्या मांसला मांसवती सान्द्रतरेति यावत्। सिध्मादित्वाल्लच्। सा श्रीर्यस्य तस्य ह्रदस्य सरसो बलाकयेव मया निमित्तेन प्रबलो महती विडम्बना परिहासः कथमौचिती न कथञ्चिदित्यर्थः। अहो, सति सुरस्त्रीजने मानुषीमनुसरतो महेन्द्रस्यामृतमप्यवधीर्योदकपानप्रवृत्तिरपि सम्भाव्यत एवेति भावः॥ २७ ॥

अन्वयः—अहो, सुराङ्गनासङ्गमशोभिताभृतः महेन्द्रस्य हंसावलिमांसलश्रियः ह्रदस्य बलाकया इव मया प्रबला विडम्बना कथम् औचिती?

हिन्दी—देवरमणियों (अप्सराओं) के संगम से शोभाशीलता धारण करते महेन्द्र (स्वर्गराज) की, हंस-पंक्तियों से गाढ़ शोभा-संपन्न सरोवर की बगुली-समान मुझ से इतनी बड़ी विडम्बना कैसे उचित है? (किसी प्रकार नहीं।)

टिप्पणी—दमयन्ती ने स्पष्ट किया कि उसके साथ परिणय-संबंध करके स्वर्गाधिपति महाराजराज महेन्द्र निंदित और उपहासास्पद बन जायेंगे, ठीक वैसे ही जैसे हंसावलि से भरपूर, सुशोभित सरोवर किसी निकृष्ट बगुली के आने से दूषित हो जाये। इन्द्र शोभाशाली जलाशय के तुल्य हैं, जिनकी संगति में उर्वसी, रंभा, मेनका आदि अप्सरियाँ हंसावलिसदृश। ऐसी हंसावलि के मध्य मानुषी दमयन्ती एक बगुली-सी लगकर इन्द्ररूप सरोवर के दोष और उपहास का कारण ही बनेगी। इन्द्र महाराज इस सब का ध्यान भी नहीं रख पा रहे और ऐसा अनुचित प्रस्ताव कर रहे हैं—यह महान् आश्चर्य है! गूढ़ भाव यह कि दिन-रात अप्सराओं के साथ रमा रहनेवाला विलासी इन्द्र स्वर्गाधिपति होने पर भी दमयन्ती के उपयुक्त नहीं है। अमृतपायी को सामान्य जल की तृषा ही आश्चर्य है। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और उपमा अलंकार॥ २७ ॥

पुरः सुरीणां भण केव मानवी न यत्र तास्तत्र तु सापि शोभिका ।
अकाञ्चनेऽकिञ्चननायिकाङ्कके किमारकूटाभरणेन न श्रियः ॥ २८ ॥

जीवातु—पुर इति । सुरीणां सुरस्त्रीणां, 'जातेरस्त्रीविषयादि'त्यादिना ङीष् । पुरोऽग्रे मानवो मानुषी केव न कापि । तुच्छेत्यर्थः इवशब्दो वाक्यालङ्कारे भण वद । किन्तु यत्र लोके ताः सुरस्त्रियो न सन्ति तत्र सा मानव्यपि शोभत इति शोभिका शोभमाना, 'प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्ये'तीकारः । अकाञ्चने काञ्चनाभरणरहिते, अकारान्तोत्तरपदो बहुव्रीहिः । नास्ति किञ्चनास्येत्यकिञ्चनो निःस्वः । उच्चावचाकिञ्चनाऽकुतोभयानीति मयूरव्यंसकादिषु निपातनात्तत्पुरुषः । तस्य नायिका भार्या तस्या अङ्कके देहे आरकूटस्य रीतिविकार आरकूटम् । 'रीतिः स्त्रियामारकूटम्' इत्यमरः । तेनाभरणेन श्रियः शोभा न । किन्तु, सुरस्त्रीविहारिणो महेन्द्रस्य मानुषीकामुकत्वं काञ्चनाभरणकुञ्चोरकूटाभरणस्पृहेव महत्परिहासास्पदमित्यहो कष्टमिति भावः । अत्र दृष्टान्तालङ्कारः ॥ २८ ॥

अन्वयः—भण, सुरीणां पुरः मानवी का इव, यत्र ताः न तत्र तु सा शोभिका अपि अकाञ्चने अकिञ्चननायिकाङ्कके किम् आरकूटाभरणेन श्रियः न ?

हिन्दी—कहो—देवांगनाओं के आगे मानुषी क्या है ? (नगण्य है) । जहाँ वे (देवांगनाएं) नहीं होतीं, वहाँ तो वह (मानवी) सोह भी जाती है । स्वर्णाभूषणविहीन अकिंचन (दरिद्र) की पत्नी के अंगक (रूपश्रीरहित अंग) में क्या पीतल के आभूषण से शोभा नहीं हो जाती ? (हो ही जाती है ।)

टिप्पणी—दमयन्ती ने देवांगनाओं की तुलना में मानवी की नगण्य स्थिति एक अन्य तर्क से स्पष्ट की । देवांगनाओं के संमुख मानवी उसी प्रकार अशोभित रहती है, जैसे स्वर्णाभरणों के आगे आरकूट—पीतल का गहना । हाँ, जब किसी दरिद्र स्त्री को पहिना दिया जाय तो पीतल का गहना शोभा का कारण बन जाता है, क्यों कि दरिद्र के पास स्वर्णाभरण तो होते नहीं । ऐसे ही मानवी भी धरती पर भली लग सकती है, क्योंकि वहाँ देवियाँ नहीं होतीं । स्वर्ग में तो देवांगनाओं की भीड़ रहती है—

धनिक नारी के निकट सोने के गहनों के समान, वहाँ पीतल की मुन्दरी-सी मानुषी की क्या शोभा ? दृष्टांतालंकार ॥ २८ ॥

यथा तथा नाम गिरः किरन्तु ते श्रुती पुनर्मे बधिरे तदक्षरे ।
पृषत्किशोरी कुरुतामसङ्गतां कथं मनोवृत्तिमपि द्विपाधिपे ॥ २९ ॥

जीवातु-यथा तथेति । यथा तथा येन केन प्रकारेण ते गिरः किरन्तु वर्षन्तु नाम । किन्तु, मे मम श्रुती श्रोत्रे पुनस्तदक्षरे तासां गिरां वर्णमात्रेऽपि विषये बधिरे । अश्रुतप्रायं तदित्यर्थः । तथाहि—पृषत्किशोरी कुरङ्गयुवतीः । 'पृषच्च पृषतो बिन्दौ कुरङ्गेऽपि च कीर्तितः' इत्यजपालः । द्विपाधिपेऽपि श्रेष्ठगजेऽपि असङ्गतामयुक्तां मनोवृत्तिमभिलाषं कथं कुरुतां कुर्यात्, तत्प्रायमिदं नो मनीषितमिति भावः । अत्रापि दृष्टान्तालङ्कारः ॥ २९ ॥

अन्वयः—ते यथा तथा गिरः किरन्तु नाम, मे श्रुती पुनः तदक्षरे बधिरे, पृषत्किशोरी द्विपाधिपे असङ्गतां मनोवृत्तिम् अपि कथं कुरुताम् ?

हिन्दी—वे (इन्द्रादि) जैसी-तैसी (असंगत) बातें करते रहें, मेरे कान तो उनके अक्षरमात्र के प्रति बधिर हैं, हरिणबालिका गजराज (ऐरावत) के प्रति असंगत इच्छा भी कैसे कर सकती है ?

टिप्पणी—गजराज श्रेष्ठ है, वरेण्य है, परन्तु एक सामान्य हिरनी उसकी कामना करने का दुःसाहस भी नहीं कर सकती । ऐसे ही श्रेष्ठ और वरेण्य होने पर भी एक मानवबालिका दमयन्ती महेंद्र-वरण के विषय में विचार भी नहीं कर सकती, क्योंकि यह पूर्णतया असंगत है । देवराज अथवा अन्य दिक्पाल स्वेच्छया कहने को स्वतन्त्र हैं, पर दमयन्ती उनके अक्षर पर भी ध्यान देना असंगत समझती है । कहाँ दिक्पालगण, कहाँ मानवी लड़की दमयन्ती ? एक क्षुद्र हिरनी और गजराज की असंगति । जब सामान्य 'पृषत्किशोरी' (पशु हरिणबालिका) भी इतना ज्ञान रखती है, तो दमयंती-एक मानवी के पास इतना विवेक भी क्या न होगा ? दिक्पालों के वरण विषय में वह विचार भी नहीं सकती । मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टांत अलंकार ।

अदो निगद्यैव नतास्यया तया श्रुतौ लगित्वाभिहितालिरालपत् ।
प्रविश्य यन्मे हृदयं ह्रियाह तद्विनिर्यदाकर्णय मन्मुखाध्वना ॥ ३० ॥

जीवातु-अद इति । अदः इदं वचो निगद्योक्त्वैव नतास्यया अवनतमुख्या

तया दमयन्त्या श्रुतौ श्रोत्रे लगित्वा आसन्ना भूत्वाभिहिता कथिता आलिः सखी आलपत् आलपितवती। किमित्यत आह—इयं दमयन्ती ह्रिया लज्जया मे मम हृदयं प्रविश्य यद्वच आह ब्रूते। मम मुखेनैवाध्वना विनिर्यद्विनिर्गच्छत् तद्वचः आकर्णय शृणु ॥ ३० ॥

अन्वयः—अदः निगद्य एव नतास्यया तया श्रुतौ लगित्वा अभिहिता आलिः आलिपत्—इयं ह्रिया मे हृदयं प्रविश्य यत् आह, मन्मुखाध्वना विनिर्यत् तत् आकर्णय।

हिन्दी—इतना कहकर ही नीचे को मुख कर उस (दमयन्ती) के द्वारा कानों में कहे जाने पर (दमयंती की) सखी ने कहा—इस (दमयंती) ने लज्जा के कारण मेरे हृदय में प्रविष्ट होकर जो कहा, मेरे मुख-मार्ग से निकलते उसे (मंतव्य) को सुनिए।

टिप्पणी—दिक्पालों के प्रति अरुचि का मुख्य कारण था दमयन्ती का नल के प्रति दृढ़ अनुराग। दमयन्ती किसी पुरुष—और उस पुरुष के संमुख, जिसमें उसे नलत्व का संदेह हो—अपने अनुराग की बात कैसे कहती? इसका कारण थी नारीजनोचित स्वाभाविक लज्जा। यह बात दमयंती ने अपनी एक सखी के कान में कह दी और वह सखी नल को बताने लगी। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छेकानुप्रास ॥ ३० ॥

बिभेति चिन्तामपि कर्तुमीदृशीं चिराय चित्तार्पितनैषधेश्वरा।
मृणालतन्तुच्छिदुरा सतीस्थितिर्लवादपि त्रुट्यति चापलात् किल ॥३१॥

जीवातु—बिभेतीति। चिराय चिरात्प्रभृति चित्तेऽर्पितः स्थापितो नैषधेश्वरो नलो यया सा स्त्री ईदृशीं परविषयां चिन्तामपि कर्तुं बिभेति। कुत इत्यत आह मृणालस्य तन्तुरिव च्छिदुरा च्छेदशीला, 'विदिभिदिच्छिदेः' इत्यादिना कर्मकर्तरि कुरच् सत्याः पतिव्रताया या स्थितिः मर्यादा सा लवादल्पादपि चापल्याल्लौल्याद्धेतोः त्रुट्यति किल त्रुटति खलु। 'वा भ्राशे'-त्यादिना श्यन्प्रत्ययः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—चिराय चित्तार्पितनैषधेश्वरा ईदृशीं चिन्ताम् अपि कर्तुं बिभेति, मृणालतन्तुच्छिदुरा सतीस्थितिः लवात् अपि चापलात् किल त्रुट्यति।

हिन्दी—चिरकाल से चित्त में निषधराज (नल) को स्थापित किये (दमयन्ती) इस प्रकार (अन्यवरण) की चिंता (विचार) भी करने में

डरती है, मृणाल (कमलनाल) के सूत्र से स्वयमेव टूट जानेवाली पतिव्रता की मर्यादा अत्यल्प भी चपलता से निश्चयरूपेण टूट जाती है।

टिप्पणी—नल के प्रति दमयन्ती का चिरदृढ़ानुराग बताते हुए उसकी सखी ने सूचित किया कि यह दमयन्ती तो अब मन से भी अन्य वरण का विचार नहीं कर सकती, शरीर से अन्य को स्वीकारने की बात क्या ? पतिव्रता की स्थिति बड़ी कोमल होती है बिसतंतु-तुल्य, क्षण की चपलता से मर्यादा-भंग हो सकता है, सो दमयन्ती ऐसा न सोच सकती है, न सुन सकती है। जब एक को मनसा वर लिया, तब अन्य के विषय में विचार भी असंगत है। विद्याधर के अनुसार हेतूपमालंकार ।। ३१ ।।

ममाशयः स्वप्नदशाज्ञयापि वा नलं विलङ्घ्येतरमस्पृशद्यदि ।
कुतः पुनस्तत्र समस्तसाक्षिणी निजैव बुद्धिर्विबुधैर्न पृच्छ्यते ॥ ३२ ॥

जीवातु—ममेति । अथवा ममाशयश्चित्तवृत्तिः स्वप्नदशायाः स्वप्नावस्थायाः आज्ञयापि वा नलं विलङ्घ्य इतरं पुरुषं यदि अस्पृशत् प्राप्तवान् । तर्हि समस्तस्य साक्षिणी निजा स्वकीया बुद्धिरेव तत्र विषये कुतः पुनर्विबुधैः इन्द्रादिभिः न पृच्छ्यते नानुयुज्यते । सर्वसाक्षिणः स्वयं किं न जानन्तीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—वा यदि मम आशयः स्वप्नदशाज्ञया अपि नलं विलङ्घ्य इतरम् अस्पृशत्, पुनः समस्तसाक्षिणी निजा बुद्धिः एव तत्र कुतः विबुधैः न पृच्छ्यते ?

हिन्दी—अथवा यदि मेरी (दमयन्ती की) मनोवृत्ति ने स्वप्नावस्था की अज्ञता से भी नल को छोड़ अन्य का स्पर्श किया हो तो फिर समग्र संसार को साक्षात्करती अपनी (देवों की) बुद्धि से ही उस विषय में देव क्यों नहीं पूछते ?

टिप्पणी—देव अन्तर्यामी हैं, सब की बात समझ सकते हैं। वे भली भाँति जानते हैं कि दमयन्ती स्वप्न में, अनजाने में भी नलातिरिक्त किसी का विचार नहीं करती। ऐसी स्थिति में अच्छा यही होगा कि वे अपनी 'समस्तसाक्षिणी बुद्धि' से ही यह जानने का कष्ट करें कि दमयन्ती का नलानुराग कैसा है ? तदनन्तर वे स्वयं जान जायेंगे कि उनका प्रस्ताव कितना असंगत है ? विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और हेतु अलंकार।

मल्लिनाथ ने 'स्वप्नदशायाः आज्ञया' विग्रह किया है, अर्थ हुआ कि स्वप्न में प्राप्त आज्ञा से भी। यह अर्थ उतना संगत नहीं लगता, जितना 'स्वप्नदशायाः अज्ञया अपि' छेद करके 'सपने में अनजाने' अर्थ। नारायण ने दोनों प्रकार के अर्थों का संकेत दिया है ॥ ३२ ॥

अपि स्वमस्वप्नमसूषुपन्नमी परस्य दारानववैतुमेव माम्।
स्वयं दुरध्वार्णवनाविकाः कथं स्पृशन्तु विज्ञाय हृदापि तादृशीम् ॥ ३३ ॥

जीवातु—अपीति। अमी इन्द्रादयः देवः अस्वप्नं स्वप्नवर्जितं स्वमात्मानं मां परस्य दारानववैतुमज्ञातुमेव असूषुपन् स्वापितवन्तः। स्वापेर्णौ चङि 'द्युतिस्वाप्यो'रिति सम्प्रसारणम्। अन्यथा सर्वज्ञानां तेषामस्मिन्नेवांशे कथमज्ञानमित्यर्थः। तदेवोपपादयति—स्वयं दुष्टोऽध्वा दुरध्वः, 'उपसर्गादध्वन' इति समासान्तोऽच्। स एवार्णवस्तस्य नावा तरन्तीर्ति नाविका कर्णधाराः सन्तः 'नौ द्व्यचष्ठन्' इति ठन्प्रत्ययः कथं तादृशीं मां हृदा विज्ञायापि स्पृशन्तु स्पृशेयुः। स्वयममार्गनिवारकाणां तत्प्रवृत्तिरनर्हेति भावः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—अमी मां परस्य दारान् अनवैतुम् एव स्वम् अस्वप्नम् अपि असूषुपन्, स्वयं दुरध्वाऽर्णवनाविकाः अपि तादृशीं मां विज्ञाय कथं हृदा स्पृशन्तु ?

हिन्दी—लगता है, ये (देवगण) मुझ (दमयन्ती) को अन्य (नल) की पत्नी न समझने के लिए ही अपने को स्वप्न रहित सुलाते रहे; (अन्यथा) स्वयम् दुराचार-मार्ग-रूप समुद्र के नाविक (होकर) भी वैसी (नलपत्नी) मुझे जानकर कैसे वे हृदय से (भी) छूते ?

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में सखी ने बताया कि दमयन्ती नल की दृढानुरागिणी है, वह स्वप्न में भी अन्य को वरने की बात सोच भी नहीं सकती, देवों को स्वयं यह समझना चाहिए। यहाँ वह कहती है कि कदाचित् इसी तथ्य से अनजाने बने रहने के लिए देवगण स्वप्नरहित, गाढ़ निद्रा लेते रहे कि संसार में जो होता है, उससे अनभिज्ञ बने रहें। यदि ऐसा न होता तो परदार-वरण के दुराचार के विषय में दिक्पाल सोचते भी नहीं, क्योंकि वे ही तो दुराचार के समुद्र में डूबते व्यक्तियों के कर्णधार हैं अर्थात् दुराचारियों को सदाचार के मार्ग पर चलने वाले उद्धारकर्ता हैं। वे सदाचार के

आदर्श दुराचरण के विषय में विचार भी नहीं कर सकते। इस प्रकार दमयन्ती ने दिक्पालों के उपहासास्पद होने का भी संकेत कर दिया। जो अन्य जनों के उपदेष्टा हैं, वे स्वयं दुराचारमार्ग पर चलने को प्रवृत्त हैं, ऐसे अज्ञानियों से विवाह करना कौन बुद्धिमती ठीक समझेगी? भाव यह कि देवों को ऐसा कदर्य विचार भी नहीं करना चाहिए। विद्याधर के अनुसार विरोध-रूपक-हेतु अलंकार हैं ॥ ३३ ॥

अनुग्रहः केवल एष मादृशे मनुष्यजन्मन्यपि यन्मनो जने।
स चेद्विधेयस्तदमी तमेव मे प्रसद्य भिक्षां वितरीतुमीशताम् ॥ ३४ ॥

जीवातु—अनुग्रह इति। मनुष्येषु जन्म यस्य तस्मिन्नपि मादृशे जने यन्मनश्चित्तं वर्तते एष केवलोऽनुग्रहो विशेषः कर्तव्यश्चेत्तर्हि अमी इन्द्रादयो देवाः प्रसन्ना भूत्वा मे मह्यं तं नलमेव भिक्षां वितरीतुं दातुम्, 'ऋतो वा' इति दीर्घः। ईशतामीश्वरा एव भवन्तु। नलसङ्घट्टनेनैवानुग्राह्योऽयं जनो नान्यथा मन्तव्य इति भावः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—एषः केवलः अनुग्रहः यत् मादृशे मनुष्यजन्मनि अपि जने मनः; सः विधेयः चेत् तत् अमी प्रसद्य तम् एव मे भिक्षां वितरीतुम् ईशताम्।

हिन्दी—यह केवल (देवों की) कृपा है कि मुझ जैसी (दमयन्ती-सी) मनुष्य योनि में जनमी भी स्त्री पर (उनका) मन है। यदि उन्हें कृपा ही करनी हो तो वे प्रसन्न होकर उस (नल) को ही मुझे भिक्षा में देने के लिए समर्थ हों।

टिप्पणी—सखी ने बताया कि दमयन्ती का निवेदन है कि किसी तर्क से देवों और मानुषी का परिणय उचित नहीं सिद्ध होता। और दमयन्ती तो परदारा है। देव जो यह प्रस्ताव रख रहे हैं, उसका कारण यही लगता है कि वे दमयन्ती की भक्ति से प्रसन्न हो अनुग्रह करना चाहते हैं, तत्त्वतः अनुरक्त नहीं हैं। सो यदि देव दमयन्ती पर कृपा करना ही चाहते हैं तो यह करें कि प्रसन्न होकर ऐसी स्थिति ला देने की कृपा करें, जिससे नल दमयन्ती को प्राप्त हो जाय। वे ईश हैं—समर्थ। दमयन्ती यही चाहती है, और कुछ नहीं। इसी से अनुगृहीत होंगी। विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार ॥ ३४ ॥

अपि द्रढीयः शृणु मे प्रतिश्रुतं स पीडयेत् पाणिमिमं न चेन्नृपः ।
हुताशनोद्बन्धनवारिवारितां निजायुषस्तत्करवै स्ववैरिताम् ॥ ३५ ॥

जीवातु—अपीति । धीर ! द्रढीयः दृढतरं मम प्रतिश्रुतं प्रतिज्ञामपि शृणु । तामेव प्रतिज्ञामाह—स नृपः नल इमं मदीयं पाणिं न पीडयेत् न गृह्णीयाच्चेत्तर्हि निजस्यायुषः स्वेनात्मना वैरितां शात्रवं हुताशनश्च उद्बन्धनञ्च वारि च तैः वारितां निवृत्तिं करवै करवाणि ॥ ३५ ॥

अन्वयः—मे द्रढीयः प्रतिश्रुतम् अपि शृणु—सः नृपः इमं पाणिं न पीडयेत् चेत्, हुताशनोद्बन्धनवारिवारितां (कारिताम्) निजायुषः स्ववैरितां करवै।

हिन्दी-मेरी दृढ़ प्रतिज्ञा भी सुन लो—वह राजा (नल) इस (मेरे) पाणि को यदि पीडित नहीं करेगा (पाणिपीडन-विवाह नहीं करेगा) तो अग्नि में जल, पेड़ आदि में लटक अथवा जल में डूब कर निषिद्ध रीति से (भी) अपनी आयु की स्वयं वैरिन हो जाऊँगी ।

टिप्पणी—सखी ने दमयन्ती का निश्चय भी प्रकट कर दिया कि यदि देवों की अकृपा अथवा अन्य किसी कारण से यदि राजा नल उसका पाणीग्रहण न करेंगे तो वह आग में जल, फाँसी लगा अथवा डूब-डाब कर अपना जीवन स्वयं समाप्त कर देगी, अपनी आयु की शत्रु स्वयं ही बनेगी । इतना दृढ अनुराग है नल पर दमयन्ती का कि उसे न पाने पर वह आत्महत्या-जैसा कदाचार भी करने में न हिचकेगी । अग्नि आदि में जल कर आत्महत्या निषिद्ध है । भाव यह कि चाहे जो हो, पर नलातिरिक्त किसी का वरण दमयन्ती नहीं करेगी ॥ ३५ ॥

निषिद्धमप्याचरणीयमापदि क्रिया सती नावति यत्र सर्वथा ।
घनाम्बुना राजपथेऽतिपिच्छिले क्वचिद्बुधैरप्यपथेन गम्यते ॥ ३६ ॥

जीवातु—न चात्मनो व्यापादनमयुक्तमित्यत्राह—निषिद्धमिति । यत्रापदि यदि सती धर्म्या क्रिया सर्वथा सर्वप्रकारेण नावति न रक्षति । तत्र निषिद्धमप्याचरणीयम् । तथा हि राजपथे राजवीथ्यामपि घनाम्बुना सान्द्रोदकेन मेघजलेनातिपिच्छिले पङ्किले सति बुधैः विद्वद्भिः अपथेनामार्गेणापि क्वचित्प्रदेशे गम्यते । 'पथो विभाषा' इति समासान्तः । 'अपथं नपुंसकम् ।' सर्वथा स्त्रीणां प्राणत्यागेनापि पातिव्रत्यं रक्षणीयमिति भावः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥३६॥

अन्वयः---यत्र आपदि सती क्रिया सर्वथा न अवति, निषिद्धम् अपि आचरणीयम्; घनाम्बुना अतिपिच्छले राजपथे बुधैः अपथेन अपि क्वचित् गम्यते ।

हिन्दी---जिस विपत्ति में धर्मसंमत आचरण सर्वथा रक्षा नहीं कर पाता, वहाँ निषिद्ध (धर्माचरण-विरुद्ध) भी आचरण उचित है। वर्षा-जल से अत्यन्त कीच भरा, रपटना राजमार्ग हो जाने पर समझदार व्यक्ति अपथ (गमनागमनायोग्य मार्ग) से भी कहीं-कहीं चला करते हैं।

टिप्पणी---आत्महत्या जैसे कदाचार के औचित्य को इस श्लोक में सिद्ध किया गया। जब प्राण देने से ही मर्यादा की रक्षा हो तो आत्महत्या भी पाप नहीं। जब निर्धारित मार्गपर फिसलन हो जाय तो जिस-किसी मार्गपर जाना ही पड़ता है। समझदार भी ऐसा ही कर लेते हैं। जब सीधे रास्ते से चलकर काम न बने तो टेढ़ा ही अपनाना पड़ता है। यह आपद्धर्म होता है। मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टांत अलंकार; विद्याधर और नारायण ने अर्थांतर-न्यास का निर्देश किया है ।। ३६ ।।

स्त्रिया मया वाग्मिषु तेषु शक्यते न जातु सम्यग्विवरीतुमुत्तरम् ।
तदत्र मद्भाषितसूत्रपद्धतौ प्रबन्धृतास्तु प्रतिबन्धृता न ते ॥ ३७ ॥

जीवातु--स्त्रियेति। वाग्मिषु वावदूकेषु तेष्विन्द्रादिषु विषयेषु स्त्रिया मया उत्तरं सम्यक् यथा भवति तथा विवरीतुं प्रपञ्चयितुं जातु कदाचिदपि न शक्यते। तत् तस्मात् कारणात् अत्र मद्भाषिततां वचनानामेव सूत्राणां पद्धती मार्गे विषये ते तव प्रबन्धृता प्रबन्धकर्तृत्वमस्तु, प्रतिबन्धृता प्रतिबन्ध-कर्तृत्वं नास्तु। उभयत्रापि तृजन्ताद्बन्धेस्तल्। अस्मिन्निषेधोत्तरे ममानुकूलो भव, न प्रतिकूल इत्यर्थः ।। ३७ ।।

अन्वयः---मया स्त्रिया तेषु वाग्मिषु सम्यक् उत्तरं विवरीतुं जातु न शक्यते तत् अत्र मद्भाषितसूत्रपद्धतौ ते प्रबन्धृता न ।

हिन्दी---मुझ स्त्री (दमयन्ती) द्वारा उन पंडितों (देवों) को संतोष-जनक उत्तर देना किसी प्रकार संभव नहीं है, सो इस विषय में मेरे (दमयन्ती के) कहे की सूत्र-प्रणाली (संक्षेप-कथन-पद्धति) में तुम्हारी भाष्यकारिता हो, प्रतिबंधकता न हो ।

टिप्पणी—सखी ने दमयन्ती-वचनों को अपने मुख से कहकर अन्त में दूत नल से यह भी निवेदन किया कि दिक्पालगण वाग्मी पंडित हैं, एक दमयन्ती-जैसी अनुभवहीन बालिका उनको संतुष्ट करने वाला उचित उत्तर किसी प्रकार नहीं दे सकती; अतः दूत से प्रार्थना है कि इस थोड़े, अस्पष्ट, संक्षिप्त कथन की व्याख्या करके वह देवों को दमयन्ती की भावना भलीभाँति समझाने की कृपा करें, ऐसा नहीं कि कुछ विरुद्ध रीति से उलटा-पुलटा कहकर और स्थिति बिगाड़ दे। जैसे भाष्यकार अथवा वार्तिककार सूत्र की व्याख्या कर उसके भाव को स्पष्ट कर देता है, वैसे ही दूत भी दमयन्ती के कथन को पूर्ण स्पष्ट करके देवों को संतोष देने की कृपा करे। दमयन्ती के अनुकूल रहना, विरुद्ध प्रतिकूल मत हो जाना—यह भाव। विद्याधर के अनुसार रूपक अलंकार ॥ ३७ ॥

निरस्य दूतः स्म तथा विसर्जितः प्रियोक्तिरप्याह कदुष्णमक्षरम् ।
कुतूहलेनेव मुहुः कुहूरवं विडम्ब्य डिम्भेन पिकः प्रकोपितः ॥ ३८ ॥

जीवातु—निरस्येति। न दूतः यथा तेन प्रकारेण निरस्य न्यक्कृत्य विसर्जितः सन् कुतूहलेन हेतुना डिम्भेन शिशुना मुहुः कुहूरवं बिडम्ब्य अनुकृत्य प्रकोपितः पिकः कोकिल इव प्रिया उक्तिः वचनं यस्य स तादृशोऽपि कदुष्णमीषत्परुषं 'कद चोष्णे' इति कोः कदादेशः। अक्षरं वाक्यमाह ॥ ३८ ॥

अन्वयः—तथा निरस्य विसर्जितः दूतः कुतूहलेन डिम्भेन मुहुः कुहूरवं विडम्ब्य प्रकोपितः प्रियोक्तिः अपि पिकः इव कदुष्णम् अक्षरम् आह ।

हिन्दी—उस प्रकार (सखी द्वारा दमयन्ती-निर्णय सुनाकर) निराकरण करके छोड़ दिया गया दूत (नल)—कौतुक से अजान बालक द्वारा बारंबार 'कुहू-कुहू' शब्द कर अनुकरण करके क्रुद्ध कर दिये गये, प्रकृत्या मधुरभाषी भी, कोकिल के सदृश—संतापकारी वचन बोला।

टिप्पणी—यद्यपि नल स्वभावतः परुषवादी नहीं था और इसके अतिरिक्त वह दमयन्ती-अनुरागी भी था, तथापि दमयन्ती का निर्णय—वह भी सखीमुख से—सुनकर कुछ उपेक्षित हो ऐसे वचन बोला, जो दमयन्ती को भले लगने वाले नहीं थे-कष्टकर थे। नल ने पुनः यह समझाने का प्रयत्न किया कि दमयन्ती का निर्णय किसी प्रकार उचित नहीं, देवों की

अमान्यता ठीक नहीं। इस प्रकार संतापकारी वचन बोलते स्वभावतः प्रियभाषी नल की तुलना उस प्रकृत्या मधुरभाषी कोकिल से की गयी है, जो किसी अज्ञान छोकरे द्वारा अपने रव—'कुहू-कुहू' की अनुकृति से चिढ़ कर कठोर शब्द करने लगता है। कोकिल जैसे अवज्ञा से कुपित हो परुष बोलने लगता है, ऐसे ही अवज्ञाप्राप्त दूत—नल भी बोला। मान्यता है कि बालक द्वारा विडम्बित कोकिल क्रुद्ध हो परुष बोलने लगा है। नारायण ने इसी आधार पर यहाँ 'जाति' अलंकार का संकेत किया है। विद्याधर ने उल्लेख्य अलंकार छेकानुप्रास का निर्देश किया है और चन्द्रकलाकार ने उपमा ॥३८॥

अहो मनस्त्वामनु तेऽपि तन्वते त्वमप्यमीभ्यो विमुखीति कौतुकम्।
क्व वा विधिर्निर्धनमेति किञ्च तं स वा कवाटं घटयन्निरस्यति ॥३९॥

जीवातु—अहो इति। ते इन्द्रादयोऽपि त्वामनु त्वामुद्दिश्य मनस्तन्वते कुर्वन्ति अहो आश्चर्यं त्वमपि अमीभ्य इन्द्रादिभ्यः विमुखी पराङ्मुखीति यत्कौतुकं चित्रमित्यर्थः। किञ्च क्व वा लोके निधिर्निर्धनमेति, क्व वा स निर्धनः कदाचिद्दैवयोगादागतमपि तं निधिं वा कवाटं घटयन् निरस्यति द्वारं पिधाय निषेधतीत्यर्थः। ईदृशं वश्चेष्टितमिति दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—अहो, ते अपि त्वाम् अनु मनः तन्वते, त्वम् अपि अमीभ्यः विमुखी इति कौतुकम्; क्व वा निर्धनम् एति, किं च वा सः कवाटं घटयन् निरस्यति ?

हिन्दी-आश्चर्य है कि वे (उत्तम देव) भी तुझ (मानवी) पर मन फैलाये हैं (अनुरक्त हैं), और तू (दमयन्ती) भी इन (देवों) से पराङ्मुख है—यह महान् आश्चर्य है। कहाँ संपत्ति निर्धन के पास जाती हैं और कहाँ वह (दरिद्र) द्वार बन्द कर उसका तिरस्कार करता है ?

टिप्पणी—नल ने कुछ परुष शब्दों में कहा कि वे उत्कृष्ट दिक्पाल दमयन्ती जैसी मानवी पर इतने अनुरक्त हो उठे हैं कि उनकी बुद्धि पर आश्चर्य होता है और उससे भी बड़ा आचर्श्य यह है कि एक मानुषी देवों के अनुराग से अत्यन्त पराङ्मुख है। यह तो वैसा ही है कि महान् निधि स्वयं दरिद्र के पास पहुँचे और वह दरिद्र द्वार बन्द कर महापद्मादि निधि की अवहेलना करदे। भाव यह है कि जैसे दरिद्र का निधि-निराकरण अनुचित

है, वैसे ही दमयन्ती का देवानुराग-तिरस्कार। वास्तविकता तो यह है कि दिक्पालों का भी मानवी के प्रति ऐसा अनुराग स्तुत्य नहीं है और मानुषी द्वारा उसकी अवहेलना तो और भी अनुचित है। ऐसा कहीं न देखा जाता है, न सुना। मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टांत अलंकार॥ ३९॥

सहाखिलस्त्रीषु वहेऽवहेलया महेन्द्ररागाद्गुरुमादरं त्वयि।
त्वमीदृशी श्रेयसि संमुखेऽपि तं पराङ्मुखी चन्द्रमुखी! न्यवीवृतः॥४०॥

जीवातु—सहेति। हे चन्द्रमुखि! महेन्द्रस्य रागाद्धेतोः। त्वयि गुरुं महान्तमादरमखिलस्त्रीषु विषये अवलेहया अनादरेण सह वहे त्वय्यादरमन्यास्वनादरं च दहामि त्वामेव भाग्यवतीं मन्य इत्यर्थः। वहेः स्वरितेत्त्वादात्मनेपदं, सहोक्तिरलङ्कारः। ईदृशी श्रेयसि सम्मुखे अभिमुखे सत्यपि त्वं पराङ्मुखी सती, तं पूर्वोक्तमादरं न्यवीवृतः निवर्तितवत्यसि। वृतेर्णौ चङि सिचि रूपम्। 'उरसि'त्यकारे सन्वद्भावे चाभ्यासेकारः॥ ४०॥

अन्वयः—महेन्द्ररागात् अखिलस्त्रीषु अवहेलया सह त्वयि गुरुम् आदरं वहे; चन्द्रमुखी, ईदृशि श्रेयसे संमुखे अपि पराङ्मुखी त्वं तं न्यवीवृतः।

हिन्दी—महेन्द्र (इन्द्रदेव) के अनुराग के कारण संपूर्ण स्त्रियों (इद्राणी आदि) के प्रति अवज्ञा के साथ (मैं नल-दूत) तुम्हारे प्रति महान् आदर धारण करता हूँ, हे चन्द्रमुखी ऐसे कल्याण (इन्द्रादि की स्वामित्व-प्राप्ति) के संमुख होने पर विमुख हो तू ने उस (आदर) को नष्ट कर दिया।

टिप्पणी—नल ने कठोरता से कहा कि इस समय तक वह दमयन्ती का बड़ा आदर करता था और अन्य इन्द्राणि आदि अङ्गनाओं की अवज्ञा करने लगा था, क्योंकि उसके प्रति स्वर्ग के महाराज इन्द्र अनुरक्त हैं। पर अन्य को प्रकाश देकर सब कुछ स्पष्ट करने वाले चन्द्र-जैसा उज्ज्वल मुख होते हुए भी चन्द्रमुखी दमयन्ती अन्धी हो जो इतने कल्याणकारक प्रस्ताव की अवहेलना कर रही है, उससे उसके प्रति नल का वह महान् आदर समाप्त हो गया। ऐसी मूर्खा का आदर कौन करे, जो चन्दा-सा मुँह होने पर भी कुछ देख-भाल नहीं पाती? विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग और सहोक्ति अलंकार; मल्लिनाथ ने भी पूर्वार्द्ध के आधार पर सहोक्ति का निर्देश किया है॥ ४०॥

दिवौकसं कामयते न मानवी नवीनमश्रावि तवाननादिदम्।
कथं न वा दुर्ग्रहदोष एष ते हितेन सम्यग्गुरुणापि शाम्यते॥ ४१॥

जीवातु—दिवौकसमिति । मानवी मानुषी, दिवौकसं देवं न कामयते नापेक्षत इति इदं नवीनमश्रुतपूर्वं वचस्तवाननादश्रावि श्रुतम् हन्त, एष ते तव दुर्ग्रहदोषः सूर्यादिग्रहदोषश्च । 'अथार्कादिनवग्रहाः' इति वैजयन्ती । हितेनाप्तेनानुकूलेन च गुरुणा पित्रादिना, गीष्पतिना च । 'गुरुर्गीष्पतिपित्राद्योः' इत्यमरः । कथं वा सम्यक् न शाम्यते न निवर्त्यते । शमेर्ण्यन्तात्कर्मणि लट् । गुरुरात्मवतां शास्ता, 'किं कुर्वन्ति ग्रहाः सर्वे केन्द्रस्थाने बृहस्पतौ' इति वचनादपत्यशासने ग्रहान्तरनिरासे च गुर्वोरेवाधिकारादिति भावः । अत्राभिधायाः प्रकृतार्थनियन्त्रणादप्रकृतार्थप्रतीतिर्ध्वनिरेव न श्लेषः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—मानवी दिवौकसं न कामयते—इदं तव आननात् नवीनम् अश्रावि, एषः ते दुर्ग्रहदोषः सम्यक् हितेन गुरुणा अपि वा कथं न शाम्यते ?

हिन्दी—'मानुषी स्वर्गनिवासी (देव) की कामना नहीं करती'—यह तेरे (दमयन्ती के) मुख से 'नया' सुना । अथवा यह तेरा दुराग्रह दोष (दुष्ट शनिश्चर आदि जनित कष्ट) अत्यन्त हितकारी (तेरे) पिता (देवगुरु बृहस्पति, शुभ ग्रह) द्वारा भी क्यों दूर नहीं किया जाता ?

टिप्पणी—सामान्यतः देवों की कृपा सभी मर्त्यलोकवासी चाहा करते हैं और कोई नारी यदि देवपत्नी बन सके तो उसका बड़ा सौभाग्य माना जायेगा । किंतु इसके विपरीत दमयन्ती ने देव-वरण के प्रति घोर अनिच्छा प्रकट की । दूत नल इसे एक नवीन ही नहीं, पूर्णतः अश्रुत और किसी दुष्ट ग्रहनक्षत्र-जनित दोष मानता है, जो दमयन्ती के दुराग्रह-रूप में प्रकट हो रहा है । आश्चर्य तो यह है कि जैसे दुष्ट ग्रह के दोष को कोई श्रेष्ठ ग्रह वृहस्पति आदि दूर न कर सके, उसी प्रकार दमयन्ती के दुराग्रह दोष को उसके पिता भी दूर नहीं कर पा रहे । 'गुरु' शब्द अनेकार्थक है—पिता और वृहस्पति । माना जाता है कि जन्मकुण्डली के केन्द्रस्थान में यदि गुरु बृहस्पति हो तो अन्य कोई दुष्टग्रह प्रभावी नहीं रहता और कष्ट नहीं पहुँचा सकता । यह भी अर्थ है कि कितनी विचित्र बात है कि देवों का आग्रह है कि दमयन्ती उनमें से किसी का वरण करे और गुरु अर्थात् देवगुरु बृहस्पति, जो इन्द्र के मंत्री हैं, वे भी देवों के इस आग्रह को शान्त नहीं कर पा रहे । न दमयन्ती अपना दुराग्रह छोड़ रही है; न देवगण । न उसे उसके पिता समझा पा रहे

हैं और न देवों को उनके मंत्री गुरु बृहस्पति। सामान्यतः पिता संतान का दुराग्रह दूर कर सकते हैं, पर दमयन्ती के सम्बन्ध में ऐसा नहीं हो रहा, और न देवो को बृहस्पति ही समझा पा रहे हैं। कितना आश्चर्यजनक है यह सब ! विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास हेतुक-श्लेषालंकार। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ श्लेष नहीं है, किन्तु अभिधा के प्रकृतार्थ नियंत्रण से अप्रकृतार्थ की प्रतीति हो रही है, जो ध्वनि है ॥ ४१ ॥

अनुग्रहादेव दिवौकसां नरो निरस्य मानुष्यकमेति दिव्यताम्।
अयोऽधिकारे स्वरितत्वमिष्यते कुतोऽयसां सिद्धरसस्पृशामपि ॥ ४२ ॥

जीवातु—अथ मानुषीं देवा न ग्रहीष्यन्तीति यदि तदपि नेत्याह—अनुग्रहादिति। दिवमोको येषां द्योरोको येषामिति यदि वा पृषोदरादित्वात्साधुः। तेषां दिवौकसां देवानामनुग्रहादेव नरो मानुष्यभावं निरस्य 'योपधाद्गुरूपोत्तमाद्वुञ्' इति वुञि 'यस्ये'ति लोपे 'प्रकृत्याऽके राजन्यमनुष्ययुवान' इति प्रकृतिभावा'दपत्यस्य च तद्धितेऽनाती'ति यलोपाभावः। दिव्यतामेति तत्परिग्रहादेवभूयमपि ते भवितेति भावः। तथाहि रसः पारदः। 'देहधात्वम्बुपारद' इति रसशब्दार्थेषु विश्वः। स हि संस्कारबलाल्लोहान्तरसुवर्णीकरणे समर्थः सिद्धरस उच्यते। तत्स्पृशामयसामपि तत्स्पर्शात्स्वर्णीभूतायसामपीत्यर्थः। अयोऽधिकारे अयःप्रस्तावे स्वरितत्वमधिकृतत्वं तेषु परिगणनेति यावत्। 'स्वरितेनाधिकार' इति वैयाकरणपरिभाषाश्रयणादेवं व्यपदेशः। स्पृ शब्दोपतापयोरिति धातोर्देवादिकात् क्तः। कुत इष्यते नेष्यत एवेत्यर्थः। रसस्पृष्टायसः स्वर्णीभाव इव तवापि तत्स्पृष्टाया देवत्वमेव न मानुषत्वमित्यर्थः। अत्र दृष्टान्तालङ्कारः स्पष्टः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—नरः दिवौकसाम् अनुग्रहात् एव मानुष्यकं निरस्य दिव्यताम् एति; सिद्धरसस्पृशाम् अयसाम् अपि अयोधिकारे स्वरितत्वं कुतः इष्यते ?

हिन्दी— मनुष्य देवों की कृपा से ही मनुष्यभाव को त्यागकर देवत्व को प्राप्त होता है; सिद्धरस (जड़ी-बूटियों-साधित पारद) का स्पर्श कर लेने वाले लौहपदार्थ का भी लोहाधिकार (लौहपदार्थों) में स्वरितत्व (परिगणन) कहाँ होता है ?

टिप्पणी—दमयन्ती के कथन कि 'देव-मानुषी-सम्बन्ध अनुचित है' का

खंडन करते हुए नल ने कहा कि 'जब मानुषी देवपत्नी बन जाती है तो वह भी देवी बन जाती है, मनुष्य देवानुग्रह से स्वयं भी देव बन जाया करता है। ऐसे ही देवपत्नी होने पर दमयन्ती भी मानुषी न रह देवांगना बन जायेगी। तब अनौचित्य कहाँ रह जायेगा। इस भाव को एक दृष्टान्त से प्रमाणित किया गया। सिद्धपारद के स्पर्श से लोहा सोना बन जाया करता है। ऐसे सोना बने लोहे अथवा उससे निर्मित पदार्थों की गणना लोहे में नहीं सोने में होती है। इस दृष्टांत में 'स्वरितत्व' शब्द के प्रयोग में व्याकरण का संदर्भ लिया गया है। पाणिनि का सूत्र है—'स्वरितेनाधिकारः' (अष्टा० १।३।११), अर्थात् स्वरित होने से अधिकार हो जाता है, पर स्वरितत्व रहा ही नहीं, पारदस्पर्श से लौहत्व रह ही नहीं गया, तब लौह पदार्थों में गणना कैसी? नल का संकेत यही है कि दमयन्ती देव-वरण कर ले, फिर वह भी देवी हो जायेगी। कोई अनौचित्य रह ही नहीं जायेगा। इस प्रकार 'मानुष्यकलाञ्छने जने' (नै० च० ९।२६) का उत्तर हो गया। मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टांत अलंकार स्पष्ट है; विद्याधर के अनुसार यहाँ अर्थान्तर-न्यास है॥ ४२॥

हरिं परित्यज्य नलाभिलाषुका न लज्जसे वा विदुषिब्रुवा कथम्।
उपेक्षितेक्षोः करभाच्छमीरतादुरु वदे त्वां करभोरु! भो इति॥ ४३॥

जीवातु—हरिमिति। हरिमिन्द्रं देवं परित्यज्य नलं नरमभिलाषुका ताच्छील्येनाभिलषन्ती 'लषपत' इत्यादिना उकञ्। 'न लोक' इत्यादिना षष्ठी-प्रतिषेधात्कर्मणि द्वितीयायां नम्यादिपाठात्समासः। अत एव विदुषी ज्ञात्री 'विदेः शतुर्वसुः' 'उगितश्चेति' ङीप्। ब्रवीतीति ब्रुवा विदुष्या ब्रुवा विदुषी-ब्रुवेति कर्मणि षष्ठीसमासः। विदुषीमात्मानं ख्यापयन्ती पण्डितम्मन्येत्यर्थः। 'घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः' इति ह्रस्वः, ब्रुवः पचाद्यच्। एतस्मादेव निपातनाद्गुणवत्या देशयोरभावः ईदृशी त्वं कथं न लज्जसे मणिं विहाय काचग्रहणवत्कथं न लज्जाकरमित्यर्थः। अत एवाद्य त्वा-महमेवं व्याकरिष्यामीत्याह—उपेक्षितेति। उपेक्षितेक्षोः परिहृतेक्षुकाण्डात् शमीरताच्छमीभक्षणलालसात् करभादुष्ट्रात् उरु मौढ्यनाधिक्रान्त्वाम्भोः! करभोरु! हे करभोर्विति सम्बोध्य वदे वक्ष्यामि। भासनादिसूत्रेण ज्ञानार्थे

तङ्। न तु करभः करभागविशेषः तद्वदुरू यस्यां इति व्युत्पत्त्येत्यर्थः। 'करभो मणिबन्धादिकनिष्ठान्तर उष्ट्रकः' इत्युभयत्रापि विश्वः। 'अथसम्बोधनार्थकाः- स्युः पाट् प्याडङ्ग हे है भोः' इत्यव्ययेष्वमरः। चादिपाठान्निपातसंज्ञायाम् 'ओत्' इति प्रगृह्यत्वात् प्रकृतिसन्धिः। अनव्ययपक्षेऽपि भवच्छब्दतकारस्य रुत्वादिकार्ये यलोपस्यासिद्धत्वादत्वादेशनिवृत्तौ भो इत्थमेव सन्धिः, किन्त्वत्र स्त्रीसम्बोधने स्त्रियाम् 'उगितश्च' इति ङीष्प्रत्यये भवतीति सम्बुद्धिः स्यात्। न तु भो इति। करभोर्वित्यत्र करभ इवोरू यस्या इति 'उरूत्तरपदादौपम्य' इत्यूङ्प्रत्ययः। करभादुरुः करभोरुः इति पक्षे तु मनुष्यजातिविवक्षायां ब्रह्म-बन्धूरित्यादिवत्। 'ऊङुतः' इत्यूङ्प्रत्यये नदीह्रस्वः। यथाह वामनः—'मनुष्य-जातेर्विवक्षाविवक्षे' इति। अहो कष्टमुष्ट्रचेष्टितवत् त्वच्चेष्टितं हास्यास्पदं जातमिति भावः॥ ४३॥

अन्वयः—हरिं परित्यज्य नलाभिलाषुका विदुषिब्रुवा कथं वा न लज्जसे? भो करभोरु, त्वाम् उपेक्षितेक्षोः शमीरतात् करभात् उरुं वदे।

हिन्दी—अथवा इन्द्र को छोड़कर नल का अभिलाष करने वाली (नल नामक क्षुद्रघास की अभिलाषुका) अपने को विदुषी (पण्डिता) कहती तुम लज्जित क्यों नहीं होती? (होना चाहिए।) हे करभोरु (कनिष्ठा-मणिबन्ध मध्यप्रदेश-सम कोमल ऊरुवाली), तुम्हें (अब मैं) ईखरस की उपेक्षा करनेवाले, (कटु) शमी (कंटकलता) में रत (भक्षक) करभ (ऊँट) से उरकृष्ट कहता हूँ।

टिप्पणी—नल ने दमयन्ती से कहा कि दमयन्ती 'नलाभिलाषुका' अपने को कहती है, वह इन्द्र की अनिच्छुक है। यह वैसा ही है, जैसे कोई नल अर्थात् क्षुद्र तृण का अभिलाष करे स्वर्ग-संपदा छोड़कर। ऐसी नासमझी की बात सोचती हुई भी दमयन्ती अपने को पंडिता मानने में लज्जित क्यों नहीं होती? ऐसी मूर्खता करके अपने को पंडितम्रुवा' मानना लज्जास्पद ही है। इस मूर्खता के कारण आज नल की दृष्टि में दमयन्ती करभोरु अर्थात् कोमल ऊरुवाली नहीं रही, वह 'करभोरु' इस अर्थ में है कि उसका तारतम्य-ज्ञान ऊँट से भी कम है। मूर्खता में वह ऊँट से भी बड़ी है। वह मधु इक्षुरस छोड़ कांटे खाता है, दमयन्ती इन्द्र को छोड़ नल-घास-से नल की

इच्छुक है। जो अन्तर इक्षुरस और शमी में है, वही इन्द्र और नलतृणसम क्षुद्र नल में है। चन्द्रकलाकार ने इस पद्य में निरुक्त नामक काव्यलक्षण का निर्देश किया है ॥ ४३ ॥

विहाय हा सर्वसुपर्वनायकं त्वयादृतः किं नरसाधिमभ्रमः।
मुखं विमुच्य श्वसितस्य धारया वृथैव नासापथधावनश्रमः ॥ ४४ ॥

जीवातु—विहायेति। किञ्च हा बत! त्वया सर्वसुपर्वनायकं देवेन्द्रं विहाय नरे मनुष्ये साधिमभ्रमः साधुत्वभ्रान्तिः। पृथ्वादिपाठात् साधोरिमनिच्प्रत्ययः। किं किमर्थमादृतः? अथवा नियतिः केन लङ्घ्यत इत्याशयेनाह—श्वसितस्य धारया निश्वासपरम्परया (कर्त्र्या) मुखं मुखद्वारं विपुलं विमुच्य वृथैव नासापथेन नासारन्ध्रेणातिक्लिष्टेन धावनश्रम आदृतः खल्विति शेषः। तद्वत्तवापि ईदृशी भवितव्यतेति भावः। दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—हा, त्वया सर्वसुपर्वनायकं विहाय किं नरसाधिमभ्रमः आदृतः। श्वसितस्य धारया मुखं विमुच्य नासापथधावनश्रमः वृथा एव।

हिन्दी—हाय, तुमने सब देवों के नायक (देवेन्द्र) को छोड़कर क्या मनुष्य में श्रेष्ठता के भ्रम को आदर दिया! निःश्वासधारा द्वारा मुंह को छोड़ नाक के मार्ग से आना-जाना व्यर्थ ही है।

टिप्पणी—नल ने कहा—सीधी सच्ची बात थी दमयन्ती इन्द्र को वर लेती। उसने क्या मूर्खता की कि देवेन्द्र के स्थान में नर को आदर दिया, जो पूर्णतः भ्रम है। 'नरसाधिमभ्रमः' का अर्थ 'रलयोरभेदः' के आधार पर 'नर' का अर्थ 'नल' भी हो सकता है—देवेन्द्र को छोड़ नल को आदर दिया। 'किन्नरसाधिमभ्रमः'—किन्नर अर्थात् देवों से हीन जाति भी हो सकता है और 'कुत्सितः नरः' निंदित मनुष्य भी, अर्थात् देवेन्द्र के स्थान पर निम्न देवजातीय अथवा कुत्सितनर को वरेण्यता दी। यह ऐसे ही व्यर्थ है, जैसे कि श्वासधारा का मुख छोड़ नासिका मार्ग से गमन। मुख की अपेक्षा नासिका-मार्ग से श्वास लेना आयासजनक होता है। भाव यह है नल या नर की श्रेष्ठता भ्रम है, दमयन्ती को चाहिए कि वह इन्द्र-वरण करे। मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टांत अलंकार, विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास ॥ ४४ ॥

तपाऽनले जुह्वति सूरयस्तनूर्दिवे फलायान्यजनुर्भविष्णवे ।
करे पुनः कर्षति सैव विह्वला बलादिव त्वां बलसे न बालिशे ! ॥४५॥

जीवातु—तप इति । किञ्च सूरयः सन्तः अन्यस्मिन् जनुषि जन्मान्तरे भविष्णवे भाविन्यै । 'भूष्णुर्भविष्णुर्भविता' इत्यमरः । 'भुवश्च' इति इष्णुच्-प्रत्ययः । 'भाषायामपीष्यते' भाषितपुंस्कत्वात् पुंवद्भावः । दिवे स्वर्गायैव फलाय तनूः शरीराणि तपोऽनले जुह्वति त्यजन्ति । 'अदभ्यस्ता'दित्यदादेशः । त्वां पुनः सा प्राणान्तिकतपःसाध्या द्यौरेव विह्वला उत्सुका सती बलाद्बलात्कारादिव करे कर्षति हे बालिशे ! मूढे ! 'शिशावज्ञे च बालिशः' इत्यमरः । न वलसे न चलसि नेच्छसीत्यर्थः । अहो ते दुर्बुद्धिरिति भावः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—सूरयः अन्यजनुर्भविष्णवे दिवे फलाय तनूः तपोनिले जुह्वति, विह्वला सा एव पुनः त्वां बलात् इव करे कर्षति, बालिशे, न वलसे ।

हिन्दी—विद्वज्जन (सन्त) जन्मांतर में होने वाले स्वर्ग-फल के निमित्त शरीरों का तपाग्नि में हवन किया करते हैं, और व्याकुल हो वह (स्वर्ग) ही तुम्हें जैसे बलपूर्वक हाथ पकड़ खींच रहा है । अरी मूर्खे, तू टस से मस नहीं होती ।

टिप्पणी—नल बताता है कि स्वर्ग प्राप्ति के निमित्त बड़े संत भी अनेकशः तपस्या द्वारा अपने शरीर को त्याग दिया करते हैं । वह स्वर्ग जैसे दमयन्ती को निवेदित हो रहा है । इन्द्रादि पागलों के समान उसे सदेह स्वर्ग ले जाना चाह रहे हैं । पर दमयन्ती ऐसी घोर मूर्खा है कि थोड़ी भी विचलित नहीं होती । ऐसा समझ रही है, जैसे उस पर यह बलात्कार होने वाला हो । विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग और उत्प्रेक्षालंकार ॥ ४५ ॥

यदि स्वमुद्बन्धुमना विना नलं भवेर्भवन्तीं हरिरन्तरिक्षगाम् ।
दिविस्थितानां प्रथितः पतिस्ततो हरिष्यति न्याय्यमुपेक्षते हि कः ॥४६॥

जीवातु—अथ यदुक्तं नलालाभे हुताशनोद्बन्धनादिना मरिष्यामीति तत्रोत्तरमाह—यदीत्यादिना चतुष्टयेन । हे मुग्धे ! नलं विना नलालाभे स्वमात्मानमुद्बन्धुं मनो यस्याः सा उद्बन्धुमनाः पाशेन मर्तुकामा । 'तुं काममनसोरपि' इति मकारलोपः । भवेर्यदि स्याच्चेत् ततोऽन्तरिक्षगां भवतीं दुर्मरणदोषादन्तरिक्षगतां सतीं त्वामिति शेष । दिविस्थितानामन्तरिक्षगतानां स्वर्ग-

तानां च प्रथितः पतिः प्रसिद्धः स्वामी हरिरिन्द्रो हरिष्यति ग्रहीष्यति जन्मान्तरेऽपि त्वां न त्यक्ष्यतीत्यर्थः। तथा हि—न्याय्यं न्यायप्राप्तं वस्तु क उपेक्षते न कोऽपीत्यर्थान्तरन्यासः। अस्वामिकद्रव्यस्य राजगामित्वं न्याय्यमिति भावः।

अन्वयः—यदि नलं विना स्वम् उद्बन्धुमनाः भवेः ततः अन्तरिक्षगां भवन्तीं दिवि स्थितानां प्रथितः पतिः हरिः हरिष्यति; हि न्याय्यं कः उपेक्षते ?

हिन्दी—यदि तुम नल के विना अपने को फाँसी लगाना चाहती हो, तब अन्तरिक्ष जाती (अन्तरालस्था) आपको अन्तरिक्ष में वसने वालों का विख्यात स्वामी इन्द्र हर लेगा, कारण कि न्याय से प्राप्त वस्तु की कौन उपेक्षा करता है ? (कोई नहीं।)

टिप्पणी—दमयन्ती ने कहा था कि यदि नल उसका पाणिग्रहण न करेगा तो वह जलकर, फाँसी लगाकर अथवा डूबकर प्राण दे देगी—'हुताशनोद्बन्धनवारिवारितां निजायुषस्तत्करवै स्ववैरिताम्।' (नै० च० ९।३५)। इसकी व्यर्थता का प्रतिपादन नल द्वारा चार श्लोकों (४६-४९) में किया जा रहा है। इस श्लोक में बताया गया कि गले में बन्धन लगाकर मर जाने से जब मर कर जाती दमयन्ती अन्तरिक्ष-मार्ग में होगी, तो वहाँ अन्तरिक्षस्थों का स्वामी अपने आप प्राप्त हुई उसका ग्रहण प्रसन्नतापूर्वक कर ही लेगा। संसार में सभी न्यायतः प्राप्त पदार्थ का ग्रहण कर ही लेते हैं। यह स्वाभाविक है। अतः जिनसे डरकर दमयन्ती मरना चाहती है, मरकर उन्हें ही प्राप्त होगी, अतः व्यर्थ है प्राण देना। दमयन्ती के कथन में प्राण त्यागने के उपायों का क्रम इस प्रकार था—(१) आग में जलना, (२) उद्बन्धन, (३) डूबना। इस स्थिति में दूसरे उपाय की व्यर्थता पहिले, तदनन्तर प्रथम की, तत्पश्चात् तृतीय उपाय की क्रम-भंग-जैसा लगता है। 'सुखावबोध' टीका के प्रणेता जिनराज ने इस प्रश्न पर विचार करते हुए लिखा है—'प्रतिज्ञावृत्ते उद्बन्धनप्रतिज्ञा द्वितीया तथापि अन्तरिक्षस्येन्द्रस्वामिकत्वादिन्द्रस्य च प्राधान्यात्प्रथम दूषिता।' अर्थात् दमयन्ती की प्रतिज्ञा में फाँसी से प्राण देने का उल्लेख द्वितीय है, परन्तु इसका निराकरण प्रथमतः दो कारणों से किया गया—(१) प्राणत्याग कर सबको अन्तरिक्षपथ से ही जाना होता है, वहाँ का इन्द्र स्वामी है, अतः पहिले उसे ही दमयन्ती-ग्रहण का अवसर मिलेगा। (२) इन्द्र

सब दिक्पालों में प्रमुख माना जाता है। मल्लिनाथ ने बताया है कि अपमृत्यु-दोष से मृतक को अन्तरिक्षगत होना पड़ता है। उसके अनुसार यहाँ अर्थान्तर-न्यास है। विद्याधर ने छेकानुप्रास-काव्यलिंग-अर्थान्तरन्यास का निर्देश किया है ॥ ४६ ॥

निवेक्ष्यसे यद्यनले नलोज्झिता सुरे तदस्मिन्महती दयादृता।
चिरादनेनार्थनयापि दुर्लभं स्वयं त्वयैवाङ्ग ! यदङ्गमर्प्यते ॥ ४७ ॥

जीवातु—निवेक्ष्यस इति। हे मुग्धे ! नलेनोज्झिता सती अनले निवेक्ष्यसे यदि जीवितनैस्पृह्यादग्निं प्रवेक्ष्यसि चेदित्यर्थः। आधारत्वविवक्षया सप्तमी 'नेर्विश' इत्यात्मनेपदम्। तत् तर्हि अस्मिन्ननले अनलाख्ये सुरेऽपि तदधिष्ठातरि देवे च भूतमात्र इति भावः महती दया आदृता कृता स्वीकृतेत्यर्थः। कुतः यद्यस्मादनेनानलेन चिरादर्थनया याच्ञयापि दुर्लभमङ्गं शरीरम्, अङ्ग ! अयि ! त्वयैव स्वयमात्मनैव अर्प्यते तथा स स्फुटतममेव जीवग्राहं ग्रहीष्यतीति भावः। अत्र नलालाभे जीवितजिहासोरनलग्रहणबुद्धिरूपानर्थोक्तेर्विषमभेदः। 'विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य वा भवेत्। विरूपघटना चासौ विषमालङ्कृतिस्त्रिधेति' लक्षणात् ॥ ४७ ॥

अन्वयः—यदि नलोज्झिता अनले निवेक्ष्यसे, तद् अस्मिन् सुरे महती दया आदृता, यत् अनेन चिरात् अर्थनया अपि दुर्लभम् अङ्गम् अङ्ग, त्वया एव अर्प्यते।

हिन्दी—यदि नल से अगृहीता होने पर अग्नि में प्रवेश करोगी तो इस देव (अग्नि देव) पर बड़ी दया स्वीकारोगी, क्योंकि इस (अग्निदेव) के द्वारा चिरकाल से प्रार्थना करने पर भी दुर्लभ (दमयन्ती का) अंग हे अंग, (सुन्दरि दमयन्ती,) तेरे द्वारा ही (उसे) अर्पित होगा।

टिप्पणी—जलकर मरना भी व्यर्थ है, क्योंकि उससे तो दमयन्ती अग्नि को अपने आप ही मिल जायेगी। अग्निदेव चिरकाल से दमयन्ती-अंग-स्पर्श के निमित्त उसकी याचना कर रहे हैं। वह शरीर जलने के लिए अग्नि-प्रवेश करते ही अग्निदेव को अनायास मिल जायेगी। यह तो दमयन्ती की अग्नि पर बड़ी दया हुई। 'अंग' संबोधन द्वारा दमयन्ती के अज्ञान का उपहास सूचित किया गया। मल्लिनाथ के अनुसार इस पद्य में नल के न मिलने पर

प्राणत्याग करती दमयन्ती का अग्नि द्वारा सशरीर ग्रहण हो जायेगा—इस अनर्थोक्ति के कारण विषम अलंकार है; विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और काव्यलिङ्ग हैं ।। ४७ ।।

जितं जितं तत्खलु पाशपाणिना विना नलं वारि यदि प्रवेक्ष्यसि !
तदा त्वदाख्यान् बहिरप्यसूनसौ पयःपतिर्वक्षसि वक्ष्यतेतराम् ॥४८॥

जीवातु—जितमिति । हे मुग्धे ! नलं विना वारि प्रवेक्ष्यसि यदि मरणार्थमिति शेषः । अथेदानीं पाशः पाणौ यस्य तेन पाशपाणिना वरुणेन प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः । जितं जितमभीक्ष्णं जितं खलु । भावे क्तः । 'नित्यवीप्सयोरि'ति नित्यार्थे द्विर्भावः 'नित्यमाभीक्ष्ण्ये' इति काशिका । तदा वारिप्रवेशकाले असौ पयःपतिर्वरुणोऽपि त्वदाख्यान् त्वन्नामकान् । बहिरप्यसून् बहिर्वर्तिनः प्राणान् वक्षसि वक्ष्यतेतराम् । वहेः स्वरितेत्त्वात् लटि तङि तरप्यामुप्रत्ययः । सोऽपि त्वां जीवग्राहं ग्रहीष्यतीत्यर्थः । अत एव पूर्व एवालङ्कारः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—यदि नलं विना वारि प्रवेक्ष्यसि, तत् पाशपाणिना खलु जितं जितम्; तदा असौ पयःपतिः त्वदाख्यान् असून् बहिः अपि वक्षसि वक्ष्यतेतराम् ।

हिन्दी—यदि नल के विना जल में प्रवेश करोगी, तो पाशपाणि (वरुण) ने निश्चयतः विजय-लाभ कर लिया, तब वह जल का स्वामी (वरुण) तेरे नाम के (तेरे) प्राणों को बाहर भी हृदय पर धारण कर लेगा ।

टिप्पणी—डूबने के लिए जल-प्रवेश करना होगा । जल का स्वामी वरुण है । दमयन्ती की तो उसे चिरकाल से कामना है । जैसे ही डूबने को जल में दमयन्ती घुसेगी, बस, पाश हाथ में लिये वरुण उद्यत बैठा ही है । उसे खींच कर तुरन्त छाती से लगा लेगा । अभी तो वह दमयन्ती को मन-ही-मन याद करता है, अंतस् में ही चिपकाये हैं, जल में पहुँचते ही वह दमयन्ती के प्राणों को बाहर हृदय से लगा लेगा । वरुण की आकांक्षा पूरी हो जायेगी । इस प्रकार डूबकर जान देना भी व्यर्थ है । मल्लिनाथ के अनुसार विषम अलंकार, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और छेकानुप्रास ॥ ४८ ॥

करिष्यसे यद्यत एव दूषणादुपायमन्यं विदुषी स्वमृत्यवे ।
प्रियातिथिः स्वेन गतागृहान् कथं न धर्मराजं चरितार्थयिष्यसि ॥४९॥

जीवातु—करिष्यस इति । अथ विदुषी पण्डिता विदग्धा त्वं यदि तु अत एव दूषणादेतस्मादेवोद्‌बन्धनादिना स्वमृत्यवे स्वमरणाय अन्यमुपायमनशनादिकं करिष्यसे, तदा प्रियातिथिरतिथिप्रिया त्वं स्वेन स्वत एव गृहान् धर्मराजगेहं गता सती धर्मराजं वैवस्वतमतिथिसत्तममिति भावः । कथं न चरितार्थयिष्यसि न कृतार्थं करिष्यसि । कर्तव्यमेवेदं कृतयुगधर्मत्वात् स्वयं गत्वातिथिमनोरथ-पूरणस्येति भावः ।। ४९ ।।

अन्वयः—यदि विदुषी (त्वम्) अतएव दूषणात् स्वमृत्यवे ऽन्यम् उपायं करिष्यसे, स्वेन गृहान् गता प्रियातिथिः धर्मराजं कथं न चरितार्थयिष्यसि ?

हिन्दी—यदि पंडिता (तू दमयन्ती) इन्हीं कारणों से (जलना, फाँसी, डूबना) दोषपूर्ण होने से अपनी मृत्यु के लिए अन्य उपाय करेगी तो स्वयं (यमराज के) घर-पहुँची प्रिय अतिथि (जिसके आने की तिथि निश्चित हो, अनपेक्षित) धर्मराज को कृतार्थ क्यों न करेगी ? (करेगी) ।

टिप्पणी—नल ने सिद्ध कर दिया कि फाँसी लगाकर इन्द्र को, जलकर, अग्नि को और डूबकर वरुण को अनायास ही दमयन्ती प्राप्त हो जायेगी, अतः इन तीन उपायों द्वारा प्राण देना व्यर्थ होगा । इस स्थिति में दमयन्ती अन्य उपाय से प्राण-त्याग का विचार कर सकती है, पर इसमें भी व्यर्थता ही प्राप्त होगी । मरकर धर्मराज (यमराज) के घर पहुँचना पड़ता है । वे धर्मराज तो उत्कंठा के साथ दमयन्ती के कामी हैं । जब अनपेक्षित अतिथि के रूप में प्रिया दमयन्ती उनके घर पहुँचेगी तो वे तो कृतार्थ हो उठेंगे । इस प्रकार प्राणत्यागमात्र व्यर्थ है । उससे इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम में से किसी-न-किसी की इच्छा पूरी होगी ही, जो दमयन्ती का काम्य नहीं है । 'विदुषी' विशेषण द्वारा यह संकेतित है कि इतना ज्ञान तो दमयन्ती को है ही कि वह नल के तर्कों को समझ सके । 'विदुषी स्वमृत्यवे' के स्थान पर विद्याधर ने 'विदुषीति मृत्यवे' पाठ को उचित माना है। इस स्थिति में 'विदुषि+इति' पदच्छेद करके 'विदुषि' संबोधन हो जाता है। ऐसी स्थिति में 'त्वम्' का अध्याहार न करना होगा; अतः पाठांतर अधिक समीचीन प्रतीत होता है । इस प्रकार किसी भी प्रकार से प्राणत्याग करने में दमयन्ती का अभीष्ट सिद्ध न होगा—यह दूत नल ने प्रमाणित कर दिया । विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग ।। ४९ ।।

निषेधवेषो विधिरेष तेऽथवा तवैव युक्ता खलु वाचि वक्रता ।
विजृम्भितं यस्य किल ध्वनेरिदं विदग्धनारीवदनं तदाकरः ॥ ५० ॥

जीवातु—निषेधेति । हे विदग्धे ? अथवा तव एव इन्द्रादिनिषेधो निषेधवेषो निषेधाकरो विधिरङ्गीकार एव । तथा हि वाचि वचने वक्रता वक्रोक्तिचातुरी व्यङ्ग्योक्तिचातुरीति यावत् । सा तवैव युक्ता खलु । कुतः, इदं वक्रवाक्यं वञ्चनाचातुर्यं यस्य ध्वनेर्व्यञ्जकवृत्तेर्विजृम्भितं विजृम्भण 'नपुंसके भावे क्तः' । विदग्धनारीवदनं सूक्ति चतुरस्त्रीमुखं तदाकरस्तस्य ध्वनेरुत्पत्तिस्थानमित्यर्थान्तरन्यासः । ततः स्थूणानिखननन्यायेन विधिमेव द्रढयितुमेतन्निषेधनाटकमिति निषेधेन विधिरेव व्यज्यत इति भावः ॥ ५० ॥

अन्वयः—अथवा ते एषः निषेधवेषः विधिः एव तव एव वाचि वक्रता युक्ता, खलु इदं यस्य विधेः किल विजृम्भितं तदाकरः विदग्धनारीवदनम् ।

हिन्दी—अथवा तेरा (दमयन्ती) यह निषेध के रूप में स्वीकार ही है, तेरी ही वाणी में वक्रोक्ति-चातुर्य उपयुक्त है, क्योंकि यह जिस ध्वनि अर्थात् व्यंजनावृत्ति का प्रसिद्ध विलास है, उसका उद्भवस्थान विदुषी नारी का मुख ही है ।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में दमयन्ती को 'विदुषी' कह दिया गया, इस श्लोक में उसी संदर्भ को लेकर कहा गया कि कदाचित् नल ही को दमयन्ती की विदग्धवाणी—'वैदग्ध्यभङ्गीभणिति' को समझने में भूल हो गयी । दमयन्ती ने देव-वरण अस्वीकारा नहीं है, स्वीकारा है । यह स्वीकृति अभिधात्मिका नहीं है, व्यंजनात्मिका है । यह निषेध के रूप में विधि है । 'नहीं' से 'हाँ' व्यंग्य है । विदग्ध वाणी का जन्म होता ही विदुषी के मुख से है । सो नल यह दमयन्ती की स्वीकृति ही मानता है । वाच्य और प्रतीयमानार्थ की भिन्नता के हेतु बताते हुए आनन्दवर्द्धनाचार्य ने कहा है—'स हि क्वचिद् वाच्ये प्रतिषेधरूपे विधिरूपो यथा—'अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि । मा पहिअ रत्तिअन्धअ सेज्जाए मह णिमज्जसि ।' (ध्वन्यालोक—१।४ की वृत्ति) । यहाँ नायिका घर आये नायक से कह रही है कि तू दिन में ही देख समझ ले, क्योंकि रात रतौंधी के कारण तुझे सूझता नहीं । यहाँ मेरी सास सोती है और यहाँ मैं । कहीं रात में मेरी शय्या पर न गिर जाना । इस उदाहरण में शय्या

ऐरावत का स्वामी है। इस दृष्टि से जैसे ऐरावत पर उसका अधिकार है, ऐसे ही दमयन्ती का अधिकारी भी वही होना चाहिए। इसके अतिरिक्त दमयन्ती के अङ्गों की शोभा इतनी व्यापक और असीम है कि दो नेत्रवाला उसका भली भाँति ईक्षण कर ही नहीं सकता, उसके लिए दो नहीं, सहस्र नेत्र अपेक्षित हैं। इन्द्र सहस्रनेत्र है। इस प्रकार उसी में इस शरीर शोभा के अवगाहन की क्षमता है। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में अपह्नुति और समासोक्ति अलंकार हैं। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ काव्यलिंग और अपह्नुति की संसृष्टि है, क्योंकि पूर्वार्द्ध में 'कैतव' शब्द अपह्नुति का द्योतक है और उत्तरवाक्यार्थ द्वारा पूर्ववाक्य का समर्थन होने से वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग है।

प्रसीद तस्मिन् दमयन्ति ! सन्ततं त्वदङ्गसङ्गप्रभवैर्जगत्प्रभुः ।
पुलोमजालोचनतीक्ष्णकण्टकैस्तनुं घनामातनुतां स कण्टकैः ॥ ५२ ॥

जीवातु—प्रसीदेति। हे दमयन्ति ! तस्मै इंद्राय प्रसीद प्रसन्ना भव। क्रियाग्रहणाच्चतुर्थी। जगत्प्रभुः स इन्द्रः सन्ततं तनुं निजाङ्गं निजाङ्गप्रभवैरत एव पुलोमजायाः शच्याः लोचनयोस्तीक्ष्णकण्टकैर्निशितबर्बरादिद्रुमावयवविशेषैस्तथा व्यथाकरैः सपत्नीभावैरित्यर्थः। कण्टकैः पुलकैः 'वेणौ द्रुमाङ्गे रोमाञ्चे क्षुद्रशत्रौ च कण्टकः' इति उभयत्रापि वैजयन्ती घनां सान्द्रामातनुतां करोतु, शच्याः सपत्नी भवेत्यर्थः। अत्र पुलकेषु कण्टकत्वारोपाद्रूपकालङ्कारः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—दमयन्ति, तस्मै प्रसीद, सः जगत्प्रभुः तनुं त्वदङ्गसङ्गप्रभवैः पुलोमजालोचनतीक्ष्णकण्टकैः कण्टकैः सन्ततं घनाम् आतनुताम्।

हिन्दी—हे दमयन्ती, तुम उस (इन्द्र) पर प्रसन्न हो जाओ (वरण करो)। वह लोकपाल (अपने) शरीर को तेरे (दमयन्ती के) अंगों के संग से उत्पन्न, पुलोमा की पुत्री (शची, इन्द्राणी) के नेत्रों के निमित्त तीखे काँटों-जैसे रोमांचों द्वारा निरन्तर परिपूर्ण रखे।

टिप्पणी—भाव यही है कि दमयन्ती इन्द्र का वरण करले, तब उसके अंगों के स्पर्श से इन्द्र के शरीर में रोमांच होगा, वह इन्द्र की पत्नी की आँखों में तीक्ष्ण काँटों के समान खटका करेगा। दमयन्ती शची की सपत्नी हो जायेगी जिसके वश में इंद्र रहेगा। शची पति को सपत्नी-संग से रोमांचित देख 'अन्यसंयोगदुःखिता' हो जायेगी। मल्लिनाथ के अनुसार पुलकों में कंटकत्व का

आरोप होने से रूपक है, विद्याधर ने भी अनुप्रास और रूपक का निर्देश किया है ॥ ५३ ॥

अबोधि तत्त्वं दहनेऽनुरज्यसे स्वयं खलु क्षत्रियगोत्रजन्मनः ।
विना तमोजस्विनमन्यतः कथं मनोरथस्ते वलते विलासिनि ॥ ५४ ॥

जीवातु—अबोधीति । विलासिनि ! विलासशीले ! 'वौ कषलसकत्थस्रम्भ' इति घिनुण्प्रत्ययः । तत्त्वं त्वन्मनोरथस्वरूपमबोधि बुद्धम् । कर्मणि लुङ् । तदेवाह—स्वयं त्वमित्यर्थं दहने जातवेदसि अग्निदेवे अनुरज्यसे अनुरक्तासि खलु । रञ्जेर्दैवादिकात् स्वरितेन कर्तरि लट् । 'अनिदिताम्' इत्यादिना अनुनासिकलोपः । कुतः, क्षत्रियगोत्रे जन्म यस्यास्तस्यास्ते ओजस्विवंशजाया इत्यर्थः । मनोरथः ओजस्विनं तमग्निं विनाऽन्यतोऽन्यत्र सार्वविभक्तिकस्तसिः । कथं वलते प्रवर्तते न कथमपीत्यर्थः । एतेनोभयोरोजस्वित्वेन समागमानुरूप्याद्दहनानुरागित्वं ते युक्तमिति समर्थनाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गं व्यक्तमेव ॥ ५४ ॥

अन्वयः—तत्त्वम् अबोधि, स्वयं दहने अनुरज्यसे खलु । विलासिनि, क्षत्रियगोत्रजन्मनः ते मनोरथः तम् ओजस्विनं विना अन्यतः कथं वलते ?

हिन्दी—(अथवा मैंने) तत्त्व (ठीक बात) समझ लिया, तुम स्वयम् अग्नि में निश्चयतः अनुरक्त हो । हे विलासमयी (विलासिले), क्षत्रिय कुल में जनमनेवाली तेरा मनोरथ उस तेजस्वी (अग्नि) को छोड़ और किसी में कैसे प्रवृत्त होगा ?

टिप्पणी – इन्द्रविषयक अनुराग की कल्पना करके दो (५४-५५) श्लोकों में दमयन्ती के अग्नि के प्रति अनुराग की संभावना की गयी है । दमयन्ती क्योंकि तेजस्वी क्षत्रियकुल में उत्पन्न हुई है, अतः उसका तेजोमय अग्नि की इच्छा करना उचित और स्वाभाविक ही है । दमयन्ती का मन रथ के समान है, वह तेजस्वी की ओर ही प्रवृत्त होगा । विद्याधर ने हेतु और समासोक्ति का निर्देश किया है, किंतु मल्लिनाथ का मत है कि यहाँ वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार व्यक्त है, क्योंकि दोनों (दमयन्ती-अग्नि) के ओजस्वी होने से समागम की अनुरूपता होने के कारण अग्नि में दमयन्ती के अनुराग की उचितता का समर्थन हुआ है ॥ ५४ ॥

त्वयैकपत्न्या तनुतापशङ्कया ततो निवर्त्यं न मनः कथञ्चन ।
हिमोपमा तस्य परीक्षणक्षणे सतीषु वृत्तिः शतशो निरूपिता ॥ ५५ ॥

जीवातु—न च दाहाद्भेतव्यमित्याह—त्वयेति । एकपत्न्या मुख्यपतिव्रतया, अत एव त्वया तनुतापशङ्कया देहदाहसम्भावनया वा ततोऽग्नेर्मनः कथञ्चन कथञ्चिदपि न निवर्त्यं न निवर्तयितव्यं, वृतेर्ण्यन्ता'दचो यदि'ति प्रत्ययः । कुतस्तस्याग्नेः परीक्षणक्षणे अग्निदेवेन पातिव्रत्यपरीक्षावसरे सतीषु विषये हिमेनोपमा साम्यं यस्यास्सा वृत्तिः । शतशः शतकृत्वो निरूपिता निर्धारिता, न तु घुणाक्षरवत् सकृदित्यर्थः । तस्मात् त्वया न भेतव्यं प्रत्युत स एव साध्वीं त्वां दग्धुं बिभेतीति भावः । अत्र पूर्ववाक्यस्यैकपत्नीपदार्थहेतुकत्वात्पदार्थहेतुकमेकं काव्यलिङ्गम् तस्याप्युत्तरवाक्यार्थहेतुकत्वाद्वाक्यार्थहेतुकञ्चेत्यनयोः सङ्करः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—एकपत्न्या त्वया तनुतापशङ्कया ततः मनः कथञ्चन न निवर्त्यम्, परीक्षणक्षणे तस्य सतीषु हिमोपमा वृत्तिः शतशः निरूपिता ।

हिन्दी—एक ही पतिवाली (पतिव्रता) तू (दमयन्ती) शरीर के सतप्त होने की आशंका से उस (अग्नि) की ओर से मन किसी प्रकार न हटाना, क्योंकि परीक्षा के समय (पातिव्रत्य-परीक्षा के अवसरों पर) उस (अग्नि) का सतियों के प्रति हिम के समान शीतल व्यवहार सैकड़ों बार देखा गया है ।

टिप्पणी—यह आशंका यदि दमयन्ती के मन में हो कि अग्नि ज्वलनशील है, उसका संसर्ग दाह का कारण बनेगा तो इससे डरना ठीक नहीं, क्योंकि सीता आदि पतिव्रताओं का संसर्ग जब उससे हुआ तो वह बर्फ के समान ठंडा पाया गया । दमयन्ती तो पतिव्रताओं में मुख्य है ही । पातिव्रत की परीक्षा के लिए 'दिव्य' की योजना की जाती है, दिव्य अर्थात् अग्नि में प्रविष्ट होकर परीक्षण, जिसमें पतिव्रता होने पर स्त्री सकुशल रहती है, न होने पर जल जाती है, जैसे सीता की अग्नि-परीक्षा (वाल्मीकिरामायण, युद्धकांड ११६–११८ सर्ग) । विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार, मल्लिनाथ ने पदार्थहेतुक और वाक्यार्थहेतुक दो काव्यलिंगों का संकर माना है, पूर्ववाक्य के एकपत्नी पदार्थहेतुक होने से पदार्थहेतुक काव्यलिंग है तथा उसके वाक्यार्थ हेतुक होने से अर्थहेतुक होने से वाक्यार्थहेतुक ॥ ५५ ॥

स धर्मराजः खलु धर्मशीलया त्वयास्ति चित्तातिथितामवापितः।
ममापि साधु प्रतिभात्ययं क्रमश्चकास्ति योग्येन हि योग्यसङ्गमः ॥५६॥

जीवातु—स इति। अथवा स प्रसिद्धो धर्मराजो यमः धर्मं शीलयतीति। धर्मशीला धर्मचारिणी। 'शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो णः'। तथा त्वया चित्तातिथितां चित्तगोचरत्वमवापितोऽस्ति खलु? कामितः। किमित्यर्थः। खलु-शब्दो जिज्ञासायाम्। 'निषेधवाक्यालङ्कारजिज्ञासानुनये खलु' इत्यमरः। यथा चेद्वरमित्याह—ममाप्ययं क्रमः क्रमणं प्रवृत्तिः साधु यथा तथा प्रतिभाति परिस्फुरति। तथा हि—योग्येन सह योग्यस्य समागमः सम्बन्धश्चकास्ति शोभते, उभयोर्धार्मिकत्वादिति भावः। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः॥ ५६॥

अन्वयः—धर्मशीलया त्वया सः धर्मराजः खलु चित्तातिथिताम् अवापितः अस्ति—अयं क्रमः मम अपि साधु प्रतिभाति, हि योग्येन योग्यसङ्गमः चकास्ति।

हिन्दी—धर्माचारिणी तेरे (दमयन्ती के) द्वारा वह (प्रसिद्ध) धर्मराज (यमराज) कदाचित् चित्त का अतिथि (मनोगोचर) बनाया गया है,—यह परिपाटी मुझे (दूत नल को) भी भली प्रतीत होती है, क्योंकि योग्य से योग्य (उत्तम से उत्तम) का सगम सुशोभित होता है।

टिप्पणी—दो (५६-५७) श्लोकों में धर्मराज के वरण का औचित्य प्रतिपादन किया गया है। दमयन्ती धर्मशीला है, अतः धर्मशीला के चित्त में यदि धर्मराज बसा है तो उचित ही है। नियम ही है कि 'योग्यं योग्येन योजयेत्'। समानशील जनों का संग शोभित होता है—'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्।' मल्लिनाथ के अनुसार अर्थान्तरन्यास, विद्याधर ने छेकानुप्रास और अर्थान्तरन्यास का निर्देश किया है॥ ५६॥

अजातविच्छेदलवैः स्मरोत्सवैरगस्त्यभासा दिशि निर्मलत्विषि।
धुतावधिं कालममृत्युशङ्किता निमेषवत्तेन नयस्व केलिभिः॥५७॥

जीवातु—अजातेति। हे भैमि! अगस्त्यभासा निर्मलत्विषि दिशि दक्षिणस्यां दिशीत्यर्थः। तेन धर्मराजेन सह। 'वृद्धो यूने'ति ज्ञापकात् सहाप्रयोगेऽपि सहार्थे तृतीया। अविद्यमानं मृत्युशङ्कितं मरणशङ्का यस्याः सा सती अन्तकस्यैवात्मदासत्वादिति भावः। अजातो विच्छेदलवो विघ्नदेशो येषु तैः स्मरोत्सवैः सम्भोगैरेव केलिभिर्विनोदैः धुतोऽवधीरन्तो यस्य तमनन्त-

कालं निमेषवत् निमेषतुल्यं नयस्व यापय। वरान्तरस्वीकारे दुर्लभमिदं सौभाग्यमिति भावः॥ ५७॥

अन्वयः—अगस्त्यभासा निर्मलत्विषि दिशि तेन अमृत्युशङ्किता अजातविच्छेदलवैः स्मरोत्सवैः केलिभिः धुतावधि कालं निमेषवत् नयस्व।

हिन्दी—अगस्त्य (मुनिनामक नक्षत्र) के प्रकाश से निर्मलकांतियुता (दक्षिण) दिशा में उस (धर्मराज) के साथ मृत्यु की शंका से रहित होकर वियोग के क्षणों से हीन कामोत्सव-क्रीडाओं द्वारा असीम काल को क्षणसम व्यतीत करो।

टिप्पणी—जिस दिशा में विंध्याचल पारकर अगस्त्यमुनि जा बसे थे और जो उन्हीं के नामधारी नक्षत्र के आलोक से निर्मल है, उस दक्षिणा दिक् का स्वामी धर्मराज है। उससे विवाहित होने पर दमयन्ती को एक अन्यत्र अलभ्य लाभ यह होगा कि मृत्यु और तत्संभव वियोग की आशंका ही मिट जायेगी और अमर्यादित समय तक दमयन्ती काम-क्रीडाएँ करती आनन्द उठा सकेगी, क्योंकि धर्मराज तो मृत्यु के अधिपति ही ठहरे। ऐसा अवसर और से विवाह करने में प्राप्त न होगा। विद्याधर के अनुसार उपमा।

शिरीषमृद्वी वरुणं किमीहसे पयःप्रकृत्या मृदुवर्गवासवम्।
विहाय सर्वान् वृणुते स्म किन्न सा निशापिशीतांशुमनेनहेतुना॥५८॥

जीवातु—शिरीषेति। अथवा शिरीषमृद्वी त्वं पयःप्रकृत्या जलस्वभावेन वरुणशरीरस्य तथात्वात् कारणगुणदर्शनेत्यर्थः। मृदुवर्गे वासवमिन्द्रं श्रेष्ठं वरुणमीहसे किमिच्छसि वा? तदपि योग्यमेवेति शेषः। तथा हि सा मृदुस्वभावा निशापि अनेनैव मृदुस्वभावत्वेन हेतुना कारणेन। 'सर्वनाम्नस्तृतीया च' इति तृतीया। सर्वास्तीक्ष्णान् सूर्यादीन् विहाय शीतांशुं न वृणुते स्म किम्? वृणुत एव। दृष्टान्तालङ्कारः॥ ५८॥

अन्वयः—शिरीषमृद्वी किं पयःप्रकृत्या मृदुवर्गवासवं वरुणम् ईहसे? सा निशा अपि अनेन हेतुना सर्वान् विहाय किं शीतांशुं न वृणुते स्म?

हिन्दी—शिरीष कुसुमों के तुल्य कोमलांगी (तू दमयन्ती) क्या जल स्वभाव के कारण कोमल पदार्थों के इन्द्र (स्वामी) वरुण की इच्छा करती है? उस रात्रि ने भी इसी कारण से सब को छोड़ क्या शीतकर (चन्द्र) को नहीं वरा है? (इसी कारण वरा है)।

टिप्पणी—(दो ५८–५९) श्लोकों में वरुण-वरण का औचित्य प्रतिपादित है। दमयन्ती कोमलांगी है, अतः इसकी पूरी संभावना है कि वह कोमल पति की ही इच्छा करे। इससे यह संभावना भी संगत ही है कि वह वरुण-वरण करे। दमयन्ती भी कोमल और जल-प्रकृति होने से जल का स्वामी वरुण भी कोमल। रात्रि द्वारा चन्द्र-वरण के दृष्टांत से इस औचित्य को पुष्ट किया गया। रात्रि भी शीतल स्वभाव, मृदु होती है, इसी कारण उसने शीतकिरण चन्द्र का वरण किया। ऐसे ही दमयन्ती को वरुण-वरणेच्छा भी संगत ही है। इन्द्राग्नियम की अपेक्षा वरुण पयःप्रकृति होने से कहीं कोमल है। यहाँ 'योग्यं योग्येन योजयेत्' परिपाटी लागू होती है। मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टांत अलंकार; विद्याधर ने रुद्रट की परिभाषा 'ससामान्यावर्थौ स्फुटमुपमाया स्वरूपतोपेतौ निर्दिश्येते यस्मिन्नुभयन्यासः स विज्ञेयः' के अनुसार यहाँ उभयन्यास अलंकार का निर्देश किया है ॥ ५८ ॥

असेवि यस्त्यक्तदिवा दिवानिशं श्रियः प्रियेणानणुरामणीयकः।
सहामुना तत्र पयःपयोनिधौ कृशोदरि! क्रीड यथामनोरथम् ॥५९॥

जीवातु—असेवीति। हे कृशोदरि! अनणु महद्रामणीयकं रमणीयत्वं यस्य सोऽतिरमणीयो यः पय.पयोनिधिः त्यक्ता द्यौः येन तेन श्रियः प्रियेण लक्ष्मीपतिना दिवा च निशा च दिवानिशमहोरात्रयोरित्यर्थः। द्वन्द्वैकवद्भावे अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। असेवि सेवितः। तत्र पयःपयोनिधौ क्षीराब्धौ अमुना वरुणेन सह यथामनोरथं यथेच्छं क्रीड, लक्ष्मीनारायणवदिति भावः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—कृशोदरि, अनणुरामणीयकः यः त्यक्तदिवा श्रियः प्रियेण दिवानिशम् असेवि, तत्र पयःपयोनिधौ अमुना सह यथामनोरथं क्रीड।

हिन्दी—हे तनुमध्ये (दमयन्ति), नात्यल्पमनोरम (अत्यन्त मनोरम) जिसका स्वर्गत्यागी लक्ष्मीवल्लभ (विष्णु) ने दिनरात सेवन किया, उस क्षीरसागर में इस (वरुण) के साथ अभिलाषानुसार केलि करो।

टिप्पणी—वरुण वरण का एक और औचित्य। उससे विवाह कर क्षीरसागर में यथेच्छ विहार का अवसर प्राप्त होगा। यह बड़ा लाभ है, क्योंकि क्षीरसागर स्वर्ग से भी रमणीय है। इसका प्रमाण यह है कि स्वयम् लक्ष्मी के प्रियतम विष्णु ने लक्ष्मी के साथ वहीं विहार किया। यदि क्षीरसागर-विहार

अन्यस्थलों पर विहार की अपेक्षा अधिकरमणीय न होता तो सर्वसमर्थ विष्णु ऐसा क्यों करते ? सो वरुण-वरण भी यदि दमयन्ती का अभीष्ट है तो उचित ही है। दमयन्ती-वरुण लक्ष्मीनारायणतुल्य शोभा धारण करेंगे, क्षीरसागर-विहारी हो। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में छेकानुप्रास और अवसर अलंकार हैं। अवसर का लक्षण है—अर्थान्तरमुत्कृष्टं सरसं यदि चोपलक्षणं क्रियते। अर्थस्य तदभिधानप्रसङ्गतो यत्र सोऽवसरः ॥ ५९ ॥

इति स्फुटं तद्वचसस्तयादरात् सुरस्पृहारोपविडम्बनादपि।
कराङ्कसुप्तैककपोलकर्णया श्रुतञ्च तद्भाषितमश्रुतञ्च तत् ॥ ६० ॥

जीवातु—इतीति। इतीत्थं स्फुटं स्फुटार्थं तत्पूर्वोक्तं तद्भाषितं नलवाक्यं तद्वचसो नलवचस आदरात् सम्बन्धसामान्ये षष्ठी। तद्वचनस्यानुरागाच्चेत्यर्थः। सुरेष्विन्द्रादिषु स्पृहाया अभिलाषस्यारोप एव विडम्बनं परिहासः तस्मादपि कारणात् कराङ्के करोत्सङ्गे सुप्तं विश्रान्तमेकं कपोलकर्णं द्वन्द्वादचौ श्रुतस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धादेककपोल एककर्णश्च यस्यास्तयेत्यर्थः। तया दमयन्त्या श्रुतमश्रुतञ्च सुरस्पृहारोपरोषात् करतलेनैकं कर्णं विधाय नलादरादेकेन श्रुतं नतु द्वाभ्यामित्यर्थः। एककपोलरोधस्तु चिन्तावशादिति मन्तव्यम्। अत्रादरविडम्बनयोः श्रुताश्रुताभ्यां हेतुहेतुमद्भावेन यथासङ्ख्यसम्बन्धात् यथासङ्ख्यालङ्कारः ॥ ६० ॥

अन्वयः—कराङ्कसुप्तैककपोलकर्णया तया इति स्फुटं तद्भाषितं तद्वचसः आदरात् सुरस्पृहारोपविडम्बनाद् अपि श्रुतम् अश्रुतं च।

हिन्दी—हथेली पर एक कपोल और एक कान को रखे उस (दमयन्ती) ने इस प्रकार स्पष्ट उस (नल) के कहे को उस (नल) के वचन के प्रति आदर के कारण तथा देवों में अभिलाष के आरोप की विडम्बना (दूषण) के कारण सुना भी और नहीं भी सुना।

टिप्पणी—नल के पूर्वोक्त कथन के प्रति दमयन्ती ने अपनी अनिच्छा प्रकट की, सुनकर भी नल-कथन पर उसने ध्यान नहीं दिया है। इस प्रकार सुना भी अनसुना रहा। इसके दो कारण बताये गये—एक शरीर-प्रक्रिया से संबद्ध—दमयन्ती के एक ओर के कपोल का भाग उसकी हथेली पर रखा था, जिससे एक कान भी दबा हुआ था, फलस्वरूप दमयन्ती ने एक ही अन्य कान

से सुना, दूसरे हथेली पर विश्रांत कर्ण द्वारा अश्रुत रहा। इस प्रकार श्रुत भी अश्रुत भी। दूसरा कारण मनोव्यापार से संबद्ध है—नल का भाषण दमयन्ती के कानों में पीयूषवर्षा करता था, सो उसके प्रति आदर होने से सुना और चूंकि देववरण की संभावनाओं द्वारा दमयन्ती को उसमें अपना उपहास और विडम्बन प्रतीत हुआ, अतः नहीं सुना। हथेली पर कपोल रखना चिन्ता को व्यक्त करता है। इस श्लोक में आदर-विडम्बन का श्रुताश्रुत से हेतुहेतुमद्भाव से यथासंख्य संबंध होने के कारण मल्लिनाथ ने यथासंख्य अलंकार का निर्देश किया है ॥ ६० ॥

चिरादनध्यायमवाङ्मुखी मुखे ततः स्म सा वासयते दमस्वसः।
कृतायतश्वासविमोक्षणाथ तं क्षणाद्बभाषे करुणं विचक्षणा ॥ ६१ ॥

जीवातु—चिरादिति। ततो नलवाक्यानन्तरं सा दमस्वसा दमयन्ती अवाङ्मुखी चिन्ताभरात् नम्रमुखी सती मुखे वाचि चिराच्चिरमनध्यं मौनम्, 'अध्यायन्याये'त्यादिना घञन्तो निपातः। 'गतिबुद्धि' इत्यादिना अणिकर्तुः कर्मत्वम्। वासयते स्म वासितवती, लटि 'लट् स्मे' इति भूते लट्। 'न पादम्' इत्यादिना वसेर्ण्यन्तात्तस्य परस्मैपदप्रतिषेधात् 'णिचश्चे'त्यात्मनेपदम्। किन्तु विचष्टे इति विचक्षणा वक्त्री सा 'अनुदात्तेश्च हलादे'रिति युच्प्रत्यये टाप् 'असनयोश्च प्रतिषेधो वक्तव्यः' इति ख्याञादेशाभावः। कृतमायतश्वसस्य विमोक्षणं विमोचनं यया सा सती दीर्घं निश्वस्येत्यर्थः। मोक्षयतेश्चौरादिकात् ल्युट्। तं नलं क्षणात् क्षणं विलम्ब्येत्यर्थः। करुणं दीनं यथा तथा बभाषे एते मौनश्वासावाङ्मुखत्वादयश्चिन्तानुभावा ज्ञेयाः। 'ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृ'दिति लक्षणात् ॥ ६१ ॥

अन्वयः—ततः अवाङ्मुखी कृतायतश्वासविमोक्षणा विचक्षणा सा मुखे चिरात् अनध्यायं वासयते स्म; अथ तं क्षणात् करुणं बभाषे।

हिन्दी—तत्पश्चात् (नलभाषण-श्रवणानन्तर) नीचे को मुख किये (सचिंत होने से) लम्बी निःश्वास छोड़ती बुद्धिमती वह (दमयन्ती) मुख पर बहुत काल तक अनध्याय (मौन) बसाये रही, तदनन्तर उस (नल) से क्षण भर रुक कर दीन हो कहने लगी।

टिप्पणी—नल के वचन सुन दमयन्ती को खेद और चिंता दोनों हुए।

नीचे को मुख करना और लम्बी साँस छोड़ कुछ समय तक चुप रहना और करुण स्वर इसके द्योतक अनुभाव हैं। पर वह स्थिति को समझती थी, बुद्धिमती थी, सो कुछ रुक कर उसी स्थिति में अर्थात् नीचा मुख किये, लम्बी साँसें लेती नल से करुण स्वर में बोली। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और उपमा ॥ ६१ ॥

विभिन्दता दुष्कृतिनीं मम श्रुतिं दिगिन्द्रदुर्वाचिकसूचिसञ्चयैः।
प्रयातजीवामिव मां प्रति स्फुटं कृतं त्वयाप्यन्तकदूततोचितम् ॥ ६२ ॥

जीवातु—विभिन्दतेति। दुष्कृतिनीं पापिष्ठां पापोक्तिग्राहित्वादिति भावः। मम श्रुतिं श्रोत्रं दिगिन्द्राणामिन्द्रादीनां दुर्वाचिकानि दुष्टसन्देशा एव सूचयस्तासां सञ्चयैः समूहैर्विभिन्दता विदारयता परपुरुषप्रसङ्गत्वादिति भावः। त्वयापि प्रयातो जीवो जीवितं यस्यास्तां प्रेतामिव मां प्रति स्फुटं व्यक्तं यथा यथा अन्तकदूतताया यमदूतत्वस्योचितं (कर्म) कृतम्। पतिव्रतानां परपुरुषवार्तापि यमयातनाया नातिरिच्यत इति भावः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—दुष्कृतिनीं मम श्रुतिं दिगिन्द्रदुर्वाचिकसूचिसञ्चयैः विभिन्दता त्वया अपि प्रयातजीवाम् इव मां प्रति स्फुटम् अन्तकदूततोचितं कृतम्।

हिन्दी—(इन्द्रादि का संदेश सुनने का) दुष्कर्म करने वाले मेरे कानों को दिक्पालों के दुर्वचन (संदेश) रूपी सुइयों से भेदते हुए, तुम (नल) ने भी जैसे मृतक के प्रति यमराज के दूत होने के उपयुक्त प्रत्यक्ष कर्म किया है।

टिप्पणी—दमयन्ती का नल के प्रति एकान्त अनुराग था। इस दृष्टि से अन्य किसी व्यक्ति को वरने का संदेश भी उसके संदर्भ में दुष्कृत्य—पाप था। कानों ने वह संदेश सुनकर पाप किया, उसी के परिणामस्वरूप कानों को सूची से भेदने का दंड नल ने भी दिक्पालों के समर्थन में वचन सुनाकर दिया। यह व्यवहार दमयन्ती को वैसा ही मर्मपीडक लगा, जैसा कि मर जाने पर दंड भोगने वाले को लगता होगा। नल जैसे सुपुरुष से यह कर्तव्य अपेक्षित नहीं था, पर वह क्योंकि यमराज का दूतत्व कर रहा था, अतः उसने भी ऐसा कठोर कार्य किया। इस दृष्टि से उसने उचित रूप में ही यह कार्य किया। 'श्रुति' शब्द का कान के अतिरिक्त 'वेद' भी अन्यार्थ है। नारायण ने इस अनेकार्थता के आधार पर यह भाव लिया है कि दमयन्ती के कानों को

दूषित करने का कार्य वैसा ही है, जैसे कि कोई बौद्धधर्मावलम्बी 'श्रुति' अर्थात् 'वेद' को दुर्वचनों से दूषित करे, जो वेद वस्तुतः दूषित है नहीं—'विभिन्दता + अदुष्कृतिनीम् श्रुतिम्' अर्थात् 'अदुष्कृति श्रुति (वेद) को दूषित करते नल ने'। इस प्रकार नल का कार्य इस आधार पर अनुचित भी हुआ कि उसने केवल 'यमदूतत्व' का कार्य किया, यद्यपि वह दूत इन्द्र, अग्नि और वरुण का भी दूत था, ठीक वैसे ही जैसे कोई 'अदुष्कृतिनी' को 'दुर्वचनों' से दूषित करे। विद्याधर के अनुसार रूपक, उपमा, समासोक्ति अलंकार। चन्द्रकलाकार ने रूपक-उत्प्रेक्षा की संसृष्टि का निर्देश किया है ॥ ६२ ॥

त्वदास्यनिर्यन्मदलोकदुर्यशोमसीमयत्वाल्लिपिरूपभागिव ।
श्रुतिं ममाविश्य भवद्दुरक्षरं सृजत्यदः कीटवदुत्कटा रुजः ॥ ६३ ॥

जीवातु–त्वदिति। त्वदास्यान्निर्यत् निर्गच्छत् ममालीकमारोपितत्वान्मिथ्याभूतं दुर्यशो दुःसमज्या तदेव मसी तन्मयत्वाल्लिपिरूपभाक् लिप्यक्षरतां प्राप्तमिव स्थितमदः इदं भवतो दुरक्षरमतः किमित्यादि दुर्वाक्यं कीटवद्दंशादिजन्तुवत् मम श्रुतिं श्रोत्रमाविश्य उत्कटा महत्तराः रुजः व्यथाः सृजति जनयति। रूपकोत्प्रेक्षासंकीर्णेयमुपमा ॥ ६३ ॥

अन्वयः—त्वदास्यनिर्यन्मदलीकदुर्यशोमसीमयत्वात् लिपिरूपभाक् इव अदः भवद्दुरक्षरं कीटवत् मम श्रुतिम् आविश्य उत्कटा रुजः सृजन्ति।

हिन्दी—तुम्हारे (नल के) मुख से निकल मेरे (दमयन्ती के) असत्य अपयशरूपी स्याही से लिपिरूप प्राप्त–जैसा यह आपका दुर्वचन कीड़े की भाँति मेरे कान में घुसकर उत्कट रोग की सृष्टि कर रहा है।

टिप्पणी—कविसमयानुसार अयश का रंग काला माना जाता है। नल का मुख दावात है, जिसमें से निकले दुर्ववचन दमयन्ती के एकनिष्ठ अनुराग को दूषित करने के कारण उसकी मिथ्या निन्दा रूपी स्याही से लिखे गये दुर्वाक्य हैं। जैसे कान में घुसा कीड़ा रोग का जनक हो जाता है और पीडा देता है, वैसे ही दमयन्ती को नलवचन पीडा दे रहे हैं। विद्याधर के अनुसार यहाँ रूपक-श्लेष-उपमालंकार हैं, मल्लिनाथ ने रूपकोत्प्रेक्षासंकीर्णा उपमा का निर्देश किया है ॥ ६३ ॥

तमालिरूचेऽथ विदर्भजेरिता प्रगाढमौनव्रतयैकया सखी ।
त्रपां समाराधयतीयमन्यया भवन्तमाहस्म रसज्ञया मया ।। ६४ ।।

जीवातु—तमिति । अथानन्तरं विदर्भजेरिता दमयन्तीचोदिता आलिः सखी तं नलमूचे । किमित्यत आह—सौम्य ! इयं सखी भैमी प्रगाढं दृढं मौनव्रतं यस्यास्तया एकया रसज्ञया जिह्वया त्रपां समाराधयति भजते। देवताराधने मौनं युक्तमिति भावः । मया अथवा अन्यया रसज्ञया जिह्वया कामाभिज्ञया च भवन्तमाह स्म । अनन्तरवाच्यलज्जया स्वयं वक्तुमशक्ता मन्मुखेन वक्तीत्यर्थः ।। ६४ ।।

अन्वयः—अथ विदर्भजेरिता आलिः तम् ऊचे—इयं सखी प्रगाढमौन-व्रतया एकया रसज्ञया त्रपां समाराधयति, अन्यथा मया भवन्तम् आह स्म ।

हिन्दी—तदुपरांत (६२-६३ श्लोकानुसारी वचन कहने के पश्चात् दमयन्ती के चुप हो जाने पर) विदर्भजा (दमयन्ती) के द्वारा प्रेरित सखी उस (नल) से बोली—यह सखी (दमयन्ती) पूर्णमौन रहने का व्रत रखने वाली एक रसज्ञा (रसना, जिह्वा) द्वारा लज्जा का आराधन कर रही है और मुझ दूसरी (रस अर्थात् भाव समझने वाली) के माध्यम से आपसे कह रही है ।

टिप्पणी—नल के दिक्पाल वरण संबंधी वचन दमयन्ती को इतने अग्राह्य प्रतीत हुए कि वह दुःख और कष्ट के कारण केवल उपालंभ-भरा खेद प्रकट करके चुप हो गयी । तब उसके द्वारा प्रेरित उसकी एक सखी ने नल से कहा । उसने नल को बताया कि राजकुमारी दमयन्ती को अपनी रसज्ञा अर्थात् जीभ से अपना भाव कहने में लज्जा लगती है, अतः उनकी रसज्ञा जिह्वा तो मौन हो गयी है, किन्तु दूसरी रस अर्थात् अभिप्राय को समझने वाली यह दासी उनका भाव प्रकट कर रही है । दमयन्ती की रसना-सखी त्रपाराधन में व्यस्त है, दूसरी आलिरूपा रसज्ञा सखी इसी कारण कहने का कार्य कर रही है । 'आह स्म रसज्ञया' के स्थान में 'आह स्वरसज्ञया' पाठांतर भी है । यह अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है—'स्वरसज्ञया' अर्थात् 'स्व' (दमयन्ती) के 'रस' (भाव) को जाननेवाली सखी के मुख से । 'स्म' भरती का शब्द लगता है—व्यर्थ । विद्याधर के अनुसार समासोक्ति और श्लेष ।। ६४ ।।

तमर्चितुं संवरणस्रजा नृपं स्वयंवरः सम्भविता परेद्यवि ।
ममासुभिर्गन्तुमनाः पुरःसरैस्तदन्तरायः पुनरेष वासरः ॥ ६५ ॥

जीवातु—स्वयमेव दमयन्ती भूत्वाह—तमित्यादि । मम संवरणस्रजा तं नृपं नलमर्चितुमर्चयितुमर्चतेर्भौवादिकात्तुमुन् । परेद्यवि परेहनि 'सद्यः परुत्' इत्यादिना निपातनात् साधुः । स्वयंवरः सम्भाविता सम्भविष्यति । किंतु पुरः सरन्तीति पुरसराः पुरोगास्तैः 'पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्ते'रिति टप्रत्ययः । ममासुभिः प्राणैः सह गन्तुं मनो यस्य स गन्तुमनाः प्राणानादाय गन्तुकाम इत्यर्थः । 'तुं काममनसोऽपि' इति मकारलोपः । एष वासरः पुनः वासरस्तु तस्य स्वयंवरस्यान्तरायो विघ्नः । दिनमात्रविलम्बोऽपि दुःसह इति भावः । एतेन कालक्षमत्वलक्षणमौत्सुक्यमुक्तम् ॥ ६५ ॥

अन्वयः—संवरणस्रजा तं नृपम् अर्चितुं परेद्यवि स्वयंवरः सम्भविता, पुनः पुरःसरैः मम असुभिः गन्तुमनाः एषः वासरः तदन्तरायः ।

हिन्दी—वरमाला द्वारा उस राजा (नल) की अर्चना के निमित्त कल स्वयंवर संभावित है, परंतु पहिले ही चले जाते मेरे (दमयन्ती के) प्राणों के साथ जाने को इच्छुक यह दिन ही उसमें विघ्न है ।

टिप्पणी—दमयन्ती के भाव स्पष्ट करती हुई सखी ने नल को बताया कि कल स्वयंवर होगा, उसमें दमयन्ती राजा नल का वरण करेगी । केवल आज के दिन का ही अन्तराल है, जिसमें इतने अप्रिय वचन दमयन्ती को सुनने पड़ रहे हैं, जिसके कारण उन्हें एक-एक क्षण काटना मृत्युयंत्रणा जैसा प्रतीत हो रहा है । लगता है कि यदि ऐसा ही रहा तो दमयन्ती के प्राण चले जायेंगे और दिन नहीं बीतेगा । जब क्षण-क्षण का बिलम्ब दमयन्ती को असह्य हो रहा है । विद्याधर के अनुसार सहोक्ति और अतिशयोक्ति । मल्लिनाथ ने 'औत्सुक्य' का निर्देश किया है । तृतीय चरण के आरंभ का 'मम' संबोधन भी हो सकता है—'मया लक्ष्म्या सह वर्तमानः तत्संबुद्धिः मम'—अर्थात् हे श्रीमन् ! ॥ ६५ ॥

तदद्य विश्रम्य दयालुरेधि मे दिनं निनीषामि भवद्विलोकिनी ।
नखैर्किलाख्यायि विलिख्य पक्षिणा तथैव रूपेण यमः स मत्प्रियः ॥६६॥

जीवातु—ततः किमत आह—तदिति । तत्तस्मात् औत्सुक्याद्य विश्रम्य मे मम दयालुरेधि भव, अद्यास्मद्गेहे निवासेन मामनुगृहाणेत्यर्थः । अस्तेर्लोटि सिपि 'हुझल्भ्यो हेर्धिः', 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्चे'त्येकारः । तन्निवासस्य फलमाह—भवन्तं विलोकत इति भवद्विलोकिनी सती दिनं निनीषामि, त्वद्विलोकनेन दिनं नेतुमिच्छामीत्यर्थः । मद्दर्शनात् कथं ते कालयापनमित्याशङ्क्याह—स मत्प्रियो नलः पक्षिणा दूतहंसेन नखैर्विलिख्य तथैव रूपेणाकारेण समः सदृश आख्यायि किल, आख्यातः खलु । ख्यातेः कर्मणि लुङ् । चिणो युगागमः । अतस्त्वद्दर्शनात् दिनं नेष्यामि । सदृशदर्शनादिनां कालविनोदनसाधनत्वाद्वियोगिनामिति प्रागेवोक्तमनुसन्धेयम् ॥ ६६ ॥

अन्वयः—तत् अद्य विश्रम्य मे दयालुः एधि, भवद्विलोकिनी दिनं निनीषामि, पक्षिणा नखैः विलिख्य सः मत्प्रियः तथा एव रूपेण समः आख्यायि किल ।

हिन्दी—सो आज विश्राम करके मुझ पर दयालु हो जाइए; आप (संमुख स्थित नल) को देखती दिन व्यतीत करना चाहती हूँ, (कारण कि) पक्षी हंस ने नखों द्वारा अंकित करके वह मेरा (दमयन्ती का) प्रिय (नल) वैसा ही आकार में (आपके) सदृश ही बताया था ।

टिप्पणी—सखी बताया कि नल अब ऐसी बातें न करें, जो दमयन्ती को व्यथित करती हैं । यह उनकी बड़ी दया होगी । दमयन्ती की इच्छा यह है कि संमुख उपस्थित ूत (नल) को देख-देख कर ही यह पहाड़-सा दिन व्यतीत कर लें । दमयन्ती जान गयी हैं कि दूत नल ही हैं, क्योंकि स्वर्णहंस ने नखों से जो चित्र बनाया था, वह पूर्णतया ऐसा ही था । विद्याधर के अनुसार उपमा और काव्यलिंग ॥ ६६ ॥

दृशोर्द्वयी ते विधिनास्ति वञ्चिता मुखेन्दुलक्ष्मीं तव यन्न वीक्षते ।
असावपि श्वस्तदिमां नलानने विलोक्य साफल्यमुपेतु जन्मनः ॥६७॥

जीवातु—अद्येह विश्रामे न केवलं ममैव साफल्यं किन्तु तवापीत्याह—दृशोरिति । सौम्य ! विधिना स्रष्टा ते दृशोर्द्वयी वञ्चितास्ति विफलीकृता वर्तते । यत् यस्मात् तव मुखेन्दुलक्ष्मीं न वीक्षते स्वमुखस्य स्वचक्षुषा द्रष्टुमशक्यत्वादिति भावः । तत्तस्मादसौ ते दृग्द्वय्यपि श्वः परेऽहनि इमां त्वन्मुख-

लक्ष्मीं नलानने विलोक्य उभयनिष्ठत्वात् समानधर्मस्येति भावः। जन्मनः साफल्यमुपैतु। अत्र दूते सुरबुद्ध्या दूतनलमुखलक्ष्म्योर्भेदेऽप्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—विधिना ते दृशोः द्वयी वञ्चिता अस्ति यत् तव मुखेन्दुलक्ष्मीं न वीक्षते, तत् श्वः असौ अपि इमां नलानने विलोक्य जन्मसाफल्यम् उपैतु।

हिन्दी – विधाता ने तेरे (दूत के) नेत्र युगल को विफलता दी है, क्योंकि वह (नेत्रयुगल) तुम्हारे मुखचंद्र की शोभा को नहीं देख पा रहा है; सो कल यह (नेत्र युगल) भी इस (शोभा) को नल के मुख में देखकर जन्म की सफलता को प्राप्त करे।

टिप्पणी—दमयन्ती के आकृष्ट होने का कारण नल की असामान्य रूपश्री है। सखी ने बताया कि अब तक उपस्थित व्यक्ति के नेत्र विफल हैं, थोड़ी प्रतीक्षा कल तक कर लें, कल स्वयंवर में जब नल की उस मुखचंद्रश्री को देखलेंगे, तब सफल होंगे। भाव यह कि नल को देखकर ही इस उत्कट आकर्षण का कारण जाना जा सकेगा। तात्पर्य यह है कि उपस्थित व्यक्ति नल है, उसके नेत्रों ने तो स्वयम् उसका रूप देखा न होगा, क्योंकि स्वयम् अपने नेत्रों से अपने को नहीं देखा जा सकता। यहाँ यह भी सखी ने स्पष्ट कर दिया कि अब यह अप्रकट नहीं रह गया है कि दूत नल ही है। विद्याधर ने हेत्वतिशयोक्ति का निर्देश किया है और मल्लिनाथ ने अभेद कथन रूपा अतिशयोक्ति का, क्योंकि दूत में सुरबुद्धि के कारण दूत और नल की मुखलक्ष्मी में भेद है ॥ ६७ ॥

ममैव पाणीकरणेऽग्निसाक्षिकं प्रसङ्गसम्पादितमङ्ग ! सङ्गतम्।
न हा ! सहाधीतिधृतः स्पृहा कथं तवार्यपुत्रीयमजर्यमर्जितुम् ॥६८॥

जीवातु—ममैवेति। किञ्च अङ्ग ! भो ! मम पाणीकरणे पाणिग्रहण एव 'नित्यं हस्ते पाणावुपयमने' इति पाणौ शब्दस्य गतित्त्वात् 'कुगतिप्रादयः' इति समासः। अग्निसाक्षिकं यथा तथा विवाहाग्निसन्निधावेवेत्यर्थः। प्रसंगात् स्वयंवरप्रसंगात् सम्पादितं संगतमुभयोरानुरूप्याद्युक्तम्। आर्ययोः श्वशुरयोः पुत्र आर्यपुत्रो भर्ता नलः तदीयमार्यपुत्रीयं, 'वृद्धाच्छः' न जीर्यतीत्यजर्यं संगतं रामसुग्रीवयोरिव स्थिरसख्यमित्यर्थः। 'अजर्यं संगत'मिति यत्प्रत्ययान्तो

निपातः । अर्जितुं सम्पादयितुं सहाधीतिः सब्रह्मचारितां तां धारयतीति धृत् सारूप्यभृदित्यर्थः । धृधातोः क्विप् । तस्य तव स्पृहा कथं नास्ति । हेति विषादे । सर्वथा स्पृहणीया तत्संगतिरित्यर्थः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—अङ्ग, मम पाणीकरणे एव अग्निसाक्षिकं प्रसङ्गसंपादितं संगतम्; हा, सहाधीतिधृतः तव आर्यपुत्रीयम् अजयम् अर्जयितुं स्पृहा कथं न ?

हिन्दी—हे सौम्यदूत, मेरे (दमयन्ती के) विवाह समय में ही अग्नि का साक्षित्व असंगतः संपन्न होकर (नल के साथ) संगत (दृढ़ मैत्री) हो जायेगा, खेद है कि कुलशील रूप में समान तुम्हारी (दूत की) आर्यपुत्र (नल) की मैत्री पा लेने को आकांक्षा क्यों नहीं है ?

टिप्पणी—भाव यह है कि अग्नि आदि का दूतकार्य करने आया व्यक्ति स्वयंवर-समय उपस्थित रहने से नल की मैत्री—संगति भी पा जायेगा। वह कुल-शील-रूप में नल के समान है, अतः उसके मन में नल-मैत्री की आकांक्षा होनी ही चाहिए, क्योंकि 'समानशीलव्यसनेषु सख्यम् ।' खेद यही है कि ऐसी इच्छा होने में उपस्थित व्यक्ति को संकोच क्यों है ? संकेत यह भी है कि एक-एक दिशा के स्वामी इन्द्रादि की मैत्री प्राप्त करने के लिए जब ऐसा कार्य उपस्थित व्यक्ति कर रहा है तो अष्टलोकपालांश राजा नल के लिए वह कार्य क्यों नहीं करता ? एक दिशा के स्वामी की तुलना में आठ दिशाओं के स्वामी की मैत्री अधिक काम्य होनी चाहिए। यह तात्पर्य भी है कि कल स्वयंवर होते ही जिस अग्नि का दूतत्व उपस्थित व्यक्ति कर रहा है, उसी अग्नि की साक्षी में दमयन्ती-नल का उचित संबंध सम्पन्न हो जायेगा, उपस्थित व्यक्ति को भी रूप कुल शील में सम होने के कारण नल से मैत्री कर लेनी चाहिए। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास ॥ ६८ ॥

दिगीश्वरार्थं न कथञ्चन त्वया कदर्थनीयास्मि कृतोऽयमञ्जलिः ।
प्रसद्यतां नाद्य निगाद्यमीदृशं दधे दृशौ बाष्पपयास्पदे भृशम् ॥६९॥

जीवातु—दिगीश्वरेति । किञ्चाहं त्वया दिगीश्वरार्थं कथञ्चनापि कदर्थनीया निर्बन्धनीया नास्मि, अयमञ्जलिः कृतः प्रार्थये त्वामित्यर्थः । प्रसद्यतां प्रसन्नेन भूयतां, भावे लोट् । अद्य ईदृशं दिगीशसन्देशरूपं न निगाद्यं न वाच्यम्, 'ऋहलोर्ण्यत्' 'गदमदे'त्यादिनानुपसर्गादेव यतो विधानात् । किं

बहुना—भृशं बाष्परयास्पदे अश्रुवेगाश्रयौ दृशौ दधे धारयामि रोदिमीत्यर्थः। नैवं दुःखकर्तुमुचितमिति भावः ॥ ६९ ॥

अन्वयः—त्वया दिगीश्वरार्थं कथंचन न कदर्थनीया अस्मि, अयम् अञ्जलिः कृतः, प्रसद्यताम्; अद्य ईदृशं न निगाद्यम्, भृशं बाष्परयास्पदे दृशौ दधे।

हिन्दी—तुम (दूत) दिक्पालों के निमित्त किसी प्रकार मुझ (दमयन्ती) को पीडित मत करो, हाथ जोड़ती हूँ, प्रसन्न होओ, आज ऐसा न कहो, मैं अत्यधिक आँसुओं के प्रवाह से पूर्ण नेत्र धारण किये हूँ।

टिप्पणी—सखी ने कहा कि दूत, अब तुम दया करके ऐसी अप्रिय बातें न करो, दमयन्ती हाथ जोड़े, आँसू भरे विनय कर रही है। पाणिग्रहण की मंगलवेला में ऐसी रुलाने वाली, अप्रिय, अशुभ बातें कहना किसी प्रकार उचित नहीं है। शुभसमय में अशुभ कथन अच्छा नहीं होता। विद्याधर के अनुसार दैन्य भावोदय अलंकार ॥ ६९ ॥

वृणे दिगीशानिति का कथा तथा त्वयीति नेक्षे नलभामपीहया।
सतीव्रतेऽग्नौ तृणयामि जीवितं स्मरस्तु किं वस्तु तदस्तु भस्म यः ॥७०॥

जीवातु—वृणे इति। किञ्च दिगीशान् वृणे इति का कथा, अत्यन्तासम्भावितमित्यर्थः। तथा हि—नलस्य भां कान्तिमपि त्वन्निष्ठामिति शेषः। त्वयीति त्वयि परपुरुषे-स्थिते इति हेतोः तथेहया तादृगनुरागेण नेक्षे। इह त्वयि या नलभा तां नलभामिति केचित् योजयन्ति। नन्वेवं सुरावधीरणे बलविरोध इत्याशङ्क्याह—सतीव्रते पातिव्रत्ये एवाग्नौ जीवितं तृणयामि तृणीकरोमि, जीवितास्पृहाणां पतिव्रतानां न कुतश्चिद्भयमिति भावः। स्मरभयन्तु दूरापास्तमित्याह—स्मरस्तु तत्प्रसिद्धं किं वस्त्वस्तुकः पदार्थो भवेत् न कोऽपीत्यर्थः। कुतः यः स्मरो भस्म भस्मीभूतः व्रतैकजीविनां सोऽपि तुच्छः किं करिष्यतीत्यर्थः। चारित्रैकपरायणाः सत्यो न किञ्चिद्गणयन्तीति भावः ॥

अन्वयः—दिगीशान् वृणे इति का कथा, नल भाम् अपि त्वयि इति ईहया न ईक्षे, सतीव्रते अग्नौ जीवितं तृणयामि, स्मरः तु किं वस्तु, यः भस्म।

हिन्दी—दिक्पालों को वरूँ—इसकी तो कथा (कहनी) ही क्या, नल की आभावाले तुझ को भी मैं वैसी इच्छा (अनुराग) से नहीं देखती। सती-

व्रत-पालन में मैं आग में जीवन का तृण-समान झोंक सकती हूँ, काम ('स्मर' अर्थात् स्मरणशेष—मृत) क्या पदार्थ है, जो भस्ममात्र है ।

टिप्पणी—सखी ने कहा कि दमयन्ती तो नल समान उपस्थित व्यक्ति के प्रति भी अनुराग दृष्टि नहीं रखती, दिक्पालों के वरण की तो बात ही असंभव है । पातिव्रत की रक्षा में वह तृण-समान जीवन होम देगी; काम-भय उसे नहीं है । काम तो स्वयं मृत है, भस्ममात्रावशेष । उससे जलने का तो कोई कारण ही नहीं है । जो आग में घुस सकता है, वह भस्म से क्या डरेगा ? विद्याधर के अनुसार रूपक और छेकानुप्रास ॥ ७० ॥

न्यवेशि रत्नत्रितये जिनेन यः स धर्मचिन्तामणिरुज्झितो यया ।
कपालिकोपानलभस्मनः कृते तदेव भस्म स्वकुले स्तृतं तया ॥७१॥

जीवातु—न्यवेशीति । हे सौम्य ! यो धर्माख्यः चिन्तामणिर्जिनेन देवेन अर्हता रत्नत्रितये जैनपरिभाषया सद्दृष्टिज्ञानवृत्ताख्ये रत्नत्रये न्यवेशि निवेशितः 'सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु'रिति तैरुक्तत्वात् । विशेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ् । स धर्मचिन्तामणिः यया स्त्रिया कपालिः हरः तत्कोपानलभस्मनस्तद्रूपस्य कामस्य कृते, कृत इति तादर्थ्येऽव्ययम् । उज्झितस्त्यक्तः तया स्त्रिया तदेव भस्म स्वकुले स्तृतं विस्तृतम् । कामाख्यभस्मान्धतया चरित्रत्यागिन्या स्त्रिया स्वकुलमेव भस्मसात् कृतं भवेदित्यर्थः । अतो नलैकव्रताया ममाग्रे महेन्द्रादिनामग्रहणमपि न कार्यमिति भावः ॥ ७१ ॥

अन्वयः—जिनेन रत्नत्रितये यः धर्मचिन्तामणिः न्यवेशि, सः यया कपालिकोपानलभस्मनः कृते उज्झितः, तया तत् एव भस्म स्वकुले स्तृतम् ।

हिन्दी—जिन (अर्हत्) ने तीन रत्नों (सद्दृष्टि, सत्-ज्ञान, सद्वृत्ति) में जिस धर्म रूप चिन्तामणि का निवेश किया है, उसे जिस (स्त्री) ने कपालधारण करने वाले (शिव) के क्रोधाग्नि की भस्म (काम) के निमित्त छोड़ दिया, उस (स्त्री) ने वही भस्म अपने कुल पर डाल दी ।

टिप्पणी—जिस प्रकार कोई नारी श्रेष्ठ चिन्तामणि (विष्णु के वक्षःस्थल पर स्थितमणि) को एक सामान्य मुण्डधारी के डर से छोड़कर भस्म को प्रश्रय दे, वह निंदनीय होती है, उसी प्रकार वह नारी भी कुलकलंकिनी है, जो कामरूप शिवक्रोधाग्नि की भस्म के लिए चिन्तामणि तुल्य सद्वृत्त

अर्थात् सच्चारित्र का त्याग कर देती है। कोई उन्मादी ही राख के लिए मणि का त्याग करता है। यह एक प्रकार से उज्वल वंश पर ही भस्म फेंक कर उसे कलंकित करना है। दमयन्ती मदनभीति से चिन्तामणि तुल्य पातिव्रत का त्याग नहीं कर सकती। 'कपालिकोपानलभस्म' का अर्थ काम तो है ही, साथ ही 'कपाली' का प्रयोग अकिंचन भिक्षु का संकेत देता है। एक अकिंचन की भस्म के लिए रत्नत्याग महामूर्खता ही है। नारायण पंडित ने 'जिन' का अर्थ बुद्ध किया है। सामान्यतः 'बुद्ध' और 'जिन' दो धर्मसंस्थापक हैं, जिनके धर्म क्रमशः बौद्धधर्म और जैनधर्म कहाते हैं। बौद्धधर्म के अनुसार 'रत्नत्रितय' अथवा 'त्रिरत्न' हैं—(१) बुद्ध (२) धर्म और (३) संघ। सद्दृष्टि, सत्-ज्ञान और सद्वृत्ति जैनपरिभाषा के अनुसार रत्नत्रितय हैं। श्लोक का भाव यह है नलैकनिष्ठा दमयन्ती दिक्पालों को थोड़ा भी प्रश्रय न देगी। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास ॥ ७१ ॥

निपीय पीयूषरसौरसीरसौ गिरः स्वकन्दर्पहुताशनाहुतीः।
कृतान्तदूतं न तया यथोदितं कृतान्तमेव स्वममन्यतादयम् ॥ ७२ ॥

जीवातु—निपीयेति। असौ नलः पीयूषरसस्यामृतरसस्य उरसा निर्मिता औरसीः आत्मजाः सदृशीरित्यर्थः। 'उरसोऽण् चे'त्यण्प्रत्ययः। संज्ञाधिकाराद-भिधेयनियम इति काशिका। स्वकन्दर्पहुताशनस्य निजकामाग्नेराहुतीरुद्दीप-नीर्गिरो भैमीवाक्यानि निपीय स्वमात्मानं तया भैम्या यथोदितं यथोक्तं तदनतिक्रमणेनेत्यर्थः। 'यथासादृश्ये' इत्यव्ययीभावः। कृतान्तदूतं नामन्यत किन्त्वदयं निर्दयं यथा तथा स्वं कृतान्तमेवामन्यत। दूतधर्मत्वात् निर्दाक्षिण्यं वक्ष्यामीत्यमन्यतेत्यर्थः ॥ ७२ ॥

अवन्यः—असौ पीयूषरसौरसीः स्वकन्दर्पहुताशनाहुतीः गिरः निपीय स्वं तया यथा उदितं कृतान्तदूतं न अदयं कृतान्तम् एव अमन्यत।

हिन्दी—इस (नल) ने अमृतरस की पुत्रियों और अपने काम रूप अग्नि की आहुतियोंसदृश (दमयन्ती) की वाणी का पान कर (मधुर और उद्दीप करने वाले वचन सुनकर) अपने को (नल को) उस (दमयन्ती) के कथन के अनुसार यमराज का दूत नहीं, दयाहीन यम ही माना।

टिप्पणी—दमयन्ती ने बासठवें श्लोक में नल को यमराज का उपयुक्त दूत कहा था—कृतं त्वयाप्यन्तकदूततोचितम्। इस श्लोक में सखी ने कहा कि दमयन्ती का कथन बहुत ठीक नहीं था, नल ने तो इतनी निर्दयता दिखायी है कि उसे यमदूत नहीं, साक्षात् निष्ठुर, निदयं यम कहना ही उचित है। अमृत पान कर यज्ञ समर्पित नैवेद्य पाकर ही देव भी कृपा करने लगते हैं, पर नल इतना निष्ठुर है कि दमयन्ती की अमृतरससंभवा और उद्दीपनात्मक मधुरतम वाणी सुनकर भी इतना निर्ममभाव प्रकट करता रहा—ऐसे-ऐसे अप्रिय वचन कहता रहा। विद्याधर के अनुसार रूपक और अशितियोक्ति अलंकार ॥७२॥

स भिन्नमर्मापि तदार्तिकाकुभिः स्वदूतधर्मान्न विरन्तुमैहत।
शनैरशंसन्निभृतं विनिःश्वसन् विचित्रवाक्चित्रशिखण्डिनन्दनः ॥७३॥

जीवातु—स इति। विचित्रवाक्षु चित्रशिखण्डिनन्दनो बृहस्पतिः। जीव आङ्गिरसो वाचस्पतिश्चित्रशिखण्डिजः' इत्यमरः। स नलस्तस्याः भैम्या आर्त्या, निमित्तेन काकुभिः करुणोक्तिभिर्भिन्नमर्मापि विदीर्णहृदयोऽपि स्वदूत-धर्मादकपटभूताद्विरन्तुं नैहत नैच्छत्। किन्तु स्वेच्छाभङ्गान्निभृतं विनिःश्वसन् शनैरत्वरया अशंसदब्रवीत् ॥ ७३ ॥

अन्वयः—तदार्तिकाकुभिः भिन्नमर्मा अपि सः स्वदूतधर्मात् विरन्तुं न ऐहत, विचित्रवाक्चित्रशिखण्डिनन्दनः निभृतं विनिःश्वासन् शनैः अशंसत्।

हिन्दी—उस (सखी मुख से दमयन्ती) की व्यथाभरी दीनवाणी से भिन्नमर्मस्थल वाला भी वह (नल) अपने दूतद्धर्म से विरह होने का इच्छुक नहीं हुआ और आश्चर्यपूर्ण वचन कहने में 'चित्रशिखंडिनंदन' अर्थात् बृहस्पति की भाँति व्यवहार करता हुआ चुपचाप दीर्घश्वास लेता धीरे-धीरे बोला।

टिप्पणी—सखी के दमयन्ती का निर्णय प्रकट करके चुप हो जाने के पश्चात् यद्यपि नल के हृदय पर दमयन्ती की करुण दशा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा उसे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे उसके मर्म पर आघात हुआ है; तथापि दूत कार्य का उत्तरदायित्व निभाते हुए नल ने दीर्घ श्वास लेते हुए सखी को उत्तर दिया। नल चूंकि सफल वार्ताहर था, अतः उसे नाना प्रकार के वचनों में कुशल विदग्ध बृहस्पति के समान कहा गया। इस प्रकार का धैर्य देखने से नल की धीरता—धीरोदात्तता प्रकट होती है। विद्याधर के अनुसार विभावना और अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ७३ ॥

दिवोधवस्त्वां यदि कल्पशाखिनं कदापि याचेत निजाङ्गनालयम् ।
कथं भवेरस्य न जीवितेश्वरी न मोघयाच्ञः स हि भीरु ! भूरुहः ॥७४॥

जीवातु—दिव इति । वक्ष्यमाणविभिषिकानुगुणमामन्त्रयते—हे भीरु ! भयशीले ! 'भियः क्रुक्लुकनौ' इति क्रुप्रत्ययः । 'ऊङुत' इत्यूङ् । 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' । दिवोधवः स्वर्पतिरिन्द्रः कदापि निजाङ्गनालयं कल्पशाखीनं त्वां याचेत यदि दुह्यादिपाठाद् द्विकर्मकत्वम् । तदा कथमस्येन्द्रस्य जीवितेश्वरी न भवेः भवेरेवेत्यर्थः । कुतः हि यस्मात्स भूरुह कल्पवृक्षः न मोघयाच्ञः सफलप्रार्थनः ॥ ७४ ॥

अन्वयः—भीरु, दिवोधवः कदापि निजाङ्गनालयं कल्पशाखिनं यदि त्वां याचेत, अस्य कथं जीवितेश्वरी न भवेः हि सः भूरुहः मोघयाच्ञः ?

हिन्दी—अरी भीरु, स्वर्ग का स्वामी (इन्द्र) कभी अपने आँगन में स्थित कल्पवृक्ष से यदि तुम्हारी याचना करे तो उसकी किस प्रकार प्राणेश्वरी न बनोगी, क्योंकि वह वृक्ष याचना को व्यर्थ नहीं करता ?

टिप्पणी—भाव यह है कि इन्द्र तो कल्पवृक्ष से याचना करके दमयन्ती को प्राप्त कर सकता है, वह तो उसके आँगन का ही पेड़ है । कल्पवृक्ष तो अभीष्ट देता ही है । इस प्रकार दमयन्ती को विवश हो इन्द्र की प्राणप्रिया बनना पड़ेगा । इससे अच्छा हो कि वह स्वयं ही इन्द्र को वर ले । 'कल्पवृक्ष' के लिए 'भूरुहः' का प्रयोग समुचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि वह भूलोक में उपजने वाला नहीं, स्वर्लोक का वृक्ष है । दूत के रूप में नल ने अपने कर्तव्य निर्वाह के कारण दमयन्ती को दिक्पाल-वरण के निमित्त सब प्रकार से समझाया है, उसने साम, दाम, भेद और दण्ड—चारों नीतियों का उपयोग किया है । अष्टम सर्ग देवानुराग प्रतिपादन द्वारा साम का प्रयोग किया, इसी सर्ग के सात (९।३९–४५) श्लोकों में देवानुग्रहतापन द्वारा दान का और चार (९।४६–४९) में भेद का । इस श्लोक में भेद—का प्रतिपादन करते हुए चारों उपायों का ज्ञाता नल कह रहा है । विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग ।

शिखी विधाय त्वदवाप्तिकामनां स्वयं हुतस्वांशहविः स्वमूर्तिषु ।
क्रतुं विधत्ते यदि सार्वकामिकं कथं स मिथ्यास्तु विधिस्तु वैदिकः ॥७५॥

जीवातु—शिखीति । शिखी अग्निः त्वदवाप्तिकामनां विधाय स्वमूर्तिषु

स्वविग्रहेषु आहवनीयादिषु स्वयमेव हुतं स्वांशं स्वदेवताकं हविर्येन सः सार्वकामिकं सर्वकामिकं सर्वकामप्रयोजनकं, 'प्रयोजनमि'ति ठक्। क्रतुं विधत्ते यदि तदा स वैदिको वेदावगतो विधिरनुष्ठानं कथं तु मिथ्यास्तु निष्फलः स्यात्। अत्र स्वशब्दत्रयेण क्रमादग्नेरेव कर्तृ देवताहवनीयादिरूपताप्रतिपादनात् कर्मणि प्रमादानवकाशः सूचितः। तस्माद्वेदप्रामाण्यादनलसादसीति सिद्धमिति भावः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—शिखी त्वदवाप्तिकामनां विधाय स्वमूर्तिषु स्वयं हुतस्वांशहविः यदि सार्वकामिकं क्रतुं विधत्ते, सः वैदिकः विधिः कथं मिथ्या अस्तु ?

हिन्दी—अग्नि तुम (दमयन्ती) को प्राप्त करने की कामना करके अपनी मूर्त्तियों (आहवनीय स्वावयवों) में स्वयं ही अपनी अंशभूत हवि होम कर यदि समस्त कामना पूर्ण करने वाला यज्ञ करे, तो वह वेद विहित विधि कैसे झूठी पड़ेगी ?

टिप्पणी—अग्नि के तीन श्रौत रूप माने गये हैं—दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि और आहवनीयाग्नि। ये अग्नि की मूर्त्तियाँ हैं। 'सार्वकामिक यज्ञ' में अपना अंश प्राप्त कर अग्नि यजमान को अभीष्ट फल देता है। यह वेदोक्त विधि है, जिसको अप्रमाणित नहीं किया जा सकता। नल दमयंती के संमुख तर्क रखता है कि यदि स्वयम् अग्नि ही यजमान, देव और आहवनीय होकर दमयन्ती के निमित्त सार्वकामिक यज्ञ करेगा तो उसे प्राप्त कर लेगा, उसे कोई रोक नहीं सकेगा। अच्छा है कि दमयन्ती अग्नि का वरण स्वेच्छया कर ले। जो दूसरे को देता है, वह स्वयं यज्ञ फल और सरलता से प्राप्त कर लेगा। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग ॥ ७५ ॥

सदा तदाशामधितिष्ठतः करं वरं प्रदातुं बलिताद्बलादपि।
मुनेरगस्त्याद् वृणुते स धर्मराड् यदित्वदाप्तिं भण का तदा गतिः ॥७६॥

जीवातु—सदेति। स धर्मराड् सदा सर्वदा तस्य धर्मराजस्याशां दिशम्, दक्षिणामधितिष्ठतोऽधिवसतः। अत एव बलादपि वरमेव करं बलिं प्रदातुं बलितात् प्रवृत्तादगस्त्यान्मुनेस्त्वदाप्तिं त्वत्प्राप्तिं वृणुते यदि, तदा का गतिः ? भण। वाक्यार्थः कर्म॥ ७६ ॥

अन्वयः—सः धर्मराट् यदि सदा तदाशाम् अधितिष्ठतः बलात् अपि वरं करं प्रदातुं बलितात् मुनेः अगस्त्यात् त्वदाप्तिं वृणुते, भण—तदा का गतिः ?

हिन्दी—वह धर्मराज (यम) यदि सदा उसकी दिशा (दक्षिण दिशा) में वास करते बलपूर्वक (नारायण के अनुसार 'स्वेच्छया') भी वर (दमयन्ती-प्राप्ति) कर (राज भाग) देने को प्रवृत्त मुनि अगस्त्य से तेरी (दमयन्ती की) प्राप्ति माँगता है, बता, तब क्या गति (परिणाम) होगी ?

टिप्पणी—यमराज के हाथों पड़ने में भी दमयन्ती विवश है, क्योंकि यम की दक्षिण दिशा में मुनि अगस्त्य वास करते हैं। इस दृष्टि से यम के प्रदेश में रहने के कारण मुनि राजदाय कर अवश्य देते होंगे। यदि उस कर के रूप में यम ने दमयन्ती को माँगा तो मुनि अगस्त्य वह वर-कर देंगे ही। और अगस्त्य को रोकनेवाला कोई है नहीं, अतः दमयन्ती को धर्मराज की पत्नी बनना ही होगा। इस आधार पर नल का तर्क संमत मत यही है कि दमयन्ती स्वेच्छया यम-वरण कर ले। विद्याधर के अनुसार रूपक अलंकार ।। ७६ ।।

क्रतोः कृते जाग्रति वेत्ति कः कति प्रभोरपां वेश्मनि कामधेनवः ।
त्वदर्थमेकामपि याचते स चेत् प्रचेतसः पाणिगतैव वर्तसे ।।७७।।

जीवातु—क्रतोरिति । किञ्च क्रतोः कृते क्रत्वर्थमपां प्रभोः वरुणस्य वेश्मनि कति कामधेनवो जाग्रति वर्तन्ते को वेत्ति असङ्ख्याकाः सन्तीत्यर्थः । स वरुणस्त्वदर्थं त्वत्सिद्ध्यर्थं तत्रैकामपि गां याचते चेत्, दमयन्तीं देहीति प्रार्थयते चेत् तर्हि प्रचेतसो वरुणस्य पाणिगतैव वर्तसे । तदा कस्त्वां मोचयिष्यतीति भावः ।। ७७ ।।

अन्वयः—अपां प्रभोः वेश्मनि क्रतोः कृते कति कामधेनवः जाग्रति—कः वेत्ति ? सः त्वदर्थम् एकाम् अपि याचते चेत् प्रचेतसः पाणिगता एव वर्तसे ।

हिन्दी—जलों के स्वामी (वरुण) के गृह में यज्ञ के निमित्त कितनी कामधेनुएँ हैं—कौन जानता है ? वह (वरुण) तेरे निमित्त यदि एक (कामधेनु) से भी याचना करे तो तू प्रचेता (वरुण) के हाथों में ही होगी ।

टिप्पणी—यज्ञ निमित्त आवास में स्थित अनेक कामधेनुओं में से एक से भी वरुण ने दमयन्ती के निमित्त याचना की तो उसे वरुण का पाणिग्रहण करना ही होगा, क्योंकि कामधेनु का दिया वर अमोघ है। कोई नहीं रोक

सकेगा उस स्थिति में वरुण कर गता होने में दमयन्ती को। अच्छा है, वह स्वयं ही वरुण को स्वीकार ले। इस प्रकार एक-एक श्लोक में नल ने एक-एक दिक्पाल की शक्ति का वर्णन कर यह सिद्ध कर दिया कि दमयन्ती को ये सब बलात् ले सकते हैं। उससे पूर्व की ऐसी स्थिति उत्पन्न हो, उचित यही है कि दमयन्ती इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण में से किसी एक का स्वेच्छया वरण कर ले। दूसरा कोई उपाय नहीं है। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार अनुप्रास ।७७।

न सन्निधात्री यदि विघ्नसिद्धये पतिव्रता पत्युरनिच्छया शची।
स एव राजव्रजवैशसात् कुतः परस्परस्पर्द्धिवरः स्वयंवरः ॥७८॥

जीवातु—नेति। किञ्च पतिव्रता शची पत्युरिन्द्रस्यानिच्छया असम्मत्या कारणेन विघ्नसिद्धये स्वयंवरविघातार्थं सन्निहिता न यदि=न स्यात् चेत्। विशसति हिनस्तीति विशसो हिंसकः, पचाद्यच्। तस्य कर्म वैशसं, युवादित्वादण् प्रत्ययः। राजव्रजस्य राजन्यकस्य वैशसान्मिथो विरोधाद्धेतोः परस्परस्पर्धिनोऽन्योन्यसङ्घर्षिणो वरा वोढारो यस्मिन् स तथोक्तः स्वयंवर एव कुतः कुतस्तरां नलवरणमिति भावः। स्वयंवरे शचीसन्निधानादविघ्नसिद्धिरिति शास्त्रम्। तथा च रघुवंशे—'सान्निध्ययोगात् किल तत्र शच्याः स्वयंवरक्षोभकृतामभावः' इति ॥ ७८ ॥

अन्वयः—पतिव्रता शची पत्युः अनिच्छया विघ्नसिद्धये न सन्निधात्री, राजव्रजवैशसात् परस्परस्पर्द्धिवरः सः स्वयंवरः एव कुतः?

हिन्दी—पतिव्रता शची (इन्द्राणी) पति की अनिच्छा से यदि विघ्न उपस्थित करने के लिए (स्वयंवर में उपस्थित होने को) उद्यत न हो तो राजाओं की कलह जनित हिंसा के कारण अन्योन्य की स्पर्धा करते वरों से युक्त वह स्वयंवर ही कहाँ होगा?

टिप्पणी—(७४–७७) चार श्लोकों में भेदनीति का प्रयोग कर नल इस श्लोक में दण्डनीति का भय दिखाता है। यह माना जाता है कि स्वयंवर में शची की उपस्थिति से विघ्न शांति होती है। इन्द्र का दमयन्ती द्वारा अनादर हुआ है, यह जान कर शची यदि स्वयंवर में उपस्थित ही न होगी तो विघ्न पड़ेगा। स्वयंवर में एकत्र राजा परस्पर स्पर्धा में लड़ मरेंगे। हत्या-मारकाट-ध्वंस हो जायेगा। दमयन्ती को स्वयं वरने का अवसर ही न मिलेगा।

स्वयंवर हो ही न सकेगा, नल का स्वेच्छया वरण तो दूर की बात है, जैसा कि ६५-६६ श्लोकों में इच्छा प्रकट हुई है। विवाह में गौरी और स्वयंवर में शची का सान्निध्य प्राचीन परम्परा है। कालिदास ने 'रघुवंश' (७।३) में लिखा है कि शची के सान्निध्य से स्वयंवर क्षोभकारियों का वहाँ अभाव रहा। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और हेतु अलंकार ॥ ७८ ॥

निजस्य वृत्तान्तमजानतां मिथो मुखस्य रोषात् परुषाणि जल्पतः।
मृधं किमच्छत्रकदण्डताण्डवं भुजाभुजि क्षोणिभुजां दिदृक्षसे ॥७९॥

जीवातु—निजस्येति। मिथो रोषात् परुषाणि जल्पतो निजस्य मुखस्य वदनस्य वृत्तान्तमजानतां रोषान्ध्यात् स्वोक्तमप्यविजानतां क्षोणिभुजां सम्बन्धि अच्छत्रका आयुधभङ्गेनापनीतच्छत्रा ये दण्डास्तेषां ताण्डवं तदेव मृधं युद्धं दण्डादण्डीत्यर्थः। तथा तेषामपि भङ्गे भुजाभ्यां भुजाभ्यां प्रवृत्तं युद्धं भुजाभुजि युद्धं च गम्यमानार्थत्वात् च-शब्दाप्रयोगः 'तत्र तेनेदमिति सरूपे' इति बहुव्रीहाविच् कर्मव्यतिहारे इतीच्प्रत्ययः। तिष्ठद्गुपाठादव्ययीभावसंज्ञा। दिदृक्षसे द्रष्टुमिच्छसि 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' इत्यात्मनेपदम् ॥ ७९ ॥

अन्वयः—किं रोषात् मिथः परुषाणि जल्पतः निजस्य मुखस्य वृत्तान्तम् अजानतां क्षोणिभुजाम् अच्छत्रकदण्डताण्डवं भुजाभुजि मृधं दिदृक्षसे ?

हिन्दी—क्या क्रोध से परस्पर कठोर वाक्य कहते, अपने मुखों से क्या कहा जा रहा है—यह न जानते पृथ्वीपालों (राजाओं) का छत्रों के दण्डों के तांडव से परिपूर्ण बाहुयुद्ध देखने की इच्छा कर रही हो ?

टिप्पणी—शची के न आने से ऐसा विघ्न और कलह उपस्थित होगा कि स्वयंवर उत्सव न रह कर युद्ध भूमि बन जायेगा, जिसमें राजगण क्रोध में गालियाँ बकते, टूटे छत्रों के डंडों से और भुजाओं से परस्पर लड़ मरेंगे। इस स्थिति में नल को वरने का अवसर ही न मिलेगा। नल ने दमयन्ती के संमुख सिद्ध कर दिया कि क्या वह ऐसा चाहती है ? क्या वह राजाओं का युद्ध देखने की इच्छुक है, स्वयंवर को नहीं ? विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छेकानुप्रास ॥ ७९ ॥

अपार्थयन् याज्ञिकफूत्कृतिश्रमं ज्वलेद्रुषा चेद्वपुषा तु नानलः।
अलं नलः कर्तुमनग्निसाक्षिको विधिं विवाहे तव सारसाक्षि ! किम् ॥८०॥

जीवातु–अपार्थयन्निति । हे सारसाक्षि ! सरोरुहाक्षि ! 'सारसं सरसीरुहम्' इत्यमरः । तव विवाहे अनलोऽग्निः याज्ञिकस्य फूत्कृतिश्रमं याजकफूत्कृतिश्रमं सनिन्धनप्रयासमपार्थयन् व्यर्थयन् रुषा रोषेणैव ज्वलेत् वपुषा स्वरूपेण तु न ज्वलेच्चेत् तदा नलः अग्न्यभावादग्निसाक्षिको न भवतीत्यनग्निसाक्षिकस्तं कं विधिमनुष्ठानं कर्तुमलं शक्तः न कञ्चिदित्यर्थः ॥ ८० ॥

अन्वयः—याज्ञिकफूत्कृतिश्रमम् अपार्थयन् अनलः चेत् रुषा ज्वलेत् वपुषा तु न, हे सारसाक्षि, अनग्निसाक्षिकः नलः कं विधिं कर्त्तुम् अलम् ?

हिन्दी—यज्ञकर्ताओं के फूँक मार कर प्रज्वलित करने के परिश्रम को व्यर्थ करता अग्नि यदि रोष से जलने लगे, शरीर से नहीं तो हे कमलनयने, अग्नि की साक्षी से रहित नल किस विधि के संपादन में समर्थ होगा ?

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में इन्द्र के क्रुद्ध होने से संभावित दण्ड का रू उपस्थित कर नल यहाँ अग्नि के क्रुद्ध होने पर सभावित दण्ड का भय उपस्थित कर रहा है । 'विवाह अग्निसाक्षिकः'—विवाह अग्नि की साक्षी में होता है, धूम की साक्षी में नहीं । यदि अनाहत अग्निदेव क्रोध में जलकर ज्वाला रूप में प्रकट हों ही नहीं तो होमादि विधि हो ही नहीं सकेगी, बेचारा नल विवाह में किस रीति का आश्रय लेगा ? अग्नि के क्रुद्ध होने पर विवाह-विधि ही न हो सकेगी । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और उपमालंकार ॥ ८० ॥

पतिवरायाः कुलजं वरस्य वा यमः कमप्याचरितातिथिं यदि ।
कथं न गन्ता विफलीभविष्णुतां स्वयंवरः साध्वि ! समृद्धिमानपि ॥८१॥

जीवातु–पतिवराया इति । किञ्च यमोऽन्तकः पतिं वृणीत इति पतिवरा वधूः । 'संज्ञाया भृतॄवृ' इत्यादिना खच् 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' । तस्या वरस्य वोढुर्वा कुलजं कमपि । जनमतिथिमभ्यागतमाचरिता यदि मारयिष्यति चेदित्यर्थः । 'अनद्यतने लुट्' । हे साध्वि ! समृद्धिमान् सर्वसाधनसम्पन्नोऽपि स्वयं व्रियते अस्मिन्निति स्वयंवरः स्वयंवरकर्म । 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्चे'त्यप्रत्ययः । विफलीभविष्णुतां 'भुवश्च' इति इष्णुच्प्रत्ययः । कथं न गन्ता, गमिष्यत्येवेत्यर्थः । गमेर्लुट् । वृथा नलैकासक्तिहतासीति भावः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—यदि यमः पतिवरायाः वरस्य वा कम् अपि कुलजम् अतिथिम् आचरिता साध्वि, समृद्धिमान् अपि स्वयंवरः कथं विफलीभविष्णुतां न गन्ता ?

हिन्दी—यदि यम पति का वरण करनेवाली (दुलहिन-दमयन्ती) अथवा वर (दूल्हा-नल) के कुल (वंश) के किसी व्यक्ति को (अपना) अतिथि बना लेंगे (मार देंगे) तो हे पतिव्रते, समृद्धिपूर्ण (संपन्न) भी स्वयंवर क्यों निष्फल न हो जायेगा ?

टिप्पणी—यम मृत्यु के स्वामी हैं, उनके अनादर का फल दमयन्ती को यह प्राप्त हो सकता है कि स्वयंवर होते-होते नल अथवा दमयन्ती का कोई पारिवारिक जन यम की इच्छा से मृत्यु को प्राप्त हो जाय। ऐसी स्थिति में स्वयंवर निष्फल रह जायेगा। अतः उचित है कि दमयन्ती यम का ही वरण कर ले। क्यों किसी आत्मीय की मृत्यु चाहती है। विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार ॥ ८१ ॥

अपां पतिः स्वामितया परः सुरः स ता निषेधेद्यदि नैषधक्रुधा।
नलाय लोभायतपाणयेऽपि तत् पिता कथं त्वां वद संप्रदास्यते ॥८२॥

जीवातु—अपामिति। हे साध्वि ! अपां पतिः स प्रसिद्धः परः सुरः स्वामितया अप्पतित्वान्नैषधे नले क्रुधा क्रोधेन ता अपो निषेधेत् प्रतिबध्नीयात् यदि तर्हि लोभेन आयतपाणये प्रसारितहस्तायापि लौल्याज्जलं विना जिघृक्षतेऽपीत्यर्थः। नलाय पिता भीमस्त्वां कथं सम्प्रदास्यते न कथञ्चि-दित्यर्थः। वद। वाक्यार्थः कर्म ॥ ८२ ॥

अन्वयः—सः परः (स्वामितया+अपरः विच्छेद में अपरः) सुरः अपां पतिः स्वामितया यदि नैषधक्रुधा ताः निषेधेत् तत् वद, लोभायतपाणये (लोभात् ततपाणये) अपि नलाय पिता (ते पिता) त्वां कथं संप्रदास्यते।

हिन्दी—वह अन्य देव जल स्वामी (वरुण) स्वामी होने के कारण (अधिकारी होने से) यदि निषधराज (नल) पर क्रोध होने से उन (जल) का निषेध करें तो बोलो, लोभ से हाथ फैलाये भी नल को तुम्हारे पिता तुम्हें (दमयन्ती) को कैसे देंगे ?

टिप्पणी—अनादर से क्रुद्ध हो जल के अधिकारी वरुण जल को रोक सकते हैं। तब भीमराज नल को अपनी कन्या का दान ही कैसे कर सकेंगे, क्योंकि बिना जल के कन्यादान तो शास्त्रसंमत होता नहीं। अतः उचित है कि वरुण का अनादर न करके दमयन्ती उसका ही वरण कर ले। नारायण ने एक शंका

उठायी है कि जल के अभाव में गांधर्वादि विवाहों का स्मृति में निषेध नहीं है, उस स्थिति में दमयन्ती-नल का गांधर्व विवाह हो सकता था, फिर यह आशंका व्यर्थ हो जाती है। समाधान में उन्होंने बताया है कि नल ने ऐसा दमयन्ती को चक्कर में डालने के लिए—डराने के लिए ही कह दिया—'गान्धर्वादिविवाहेषु' कन्यादाने जलपूर्वत्वे स्मृत्या निषिद्धे सत्यपि भैमी प्रतारणार्थमेवमुक्तम्।' विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और काव्यलिंग ॥ ८२ ॥

इदं महत्तेऽभिहितं हितं मया विहाय मोहं दमयन्ति! चिन्तय।
सुरेषु विघ्नैकपरेषु को नरः करस्थमप्यर्थमवाप्तुमीश्वरः ॥८३॥

जीवातु—सम्प्रति हितार्थसंग्रहकारिकामाह–इदमिति। हे दमयन्ति! मया इदं महद्धितं ते तव तुभ्यं वाभिहितं, मोहं मौढ्यं विहाय चिन्तय विमृश। तथा हि—सुरेषु विघ्न एवैकः परं प्रधानं येषां तेषु विघातकेषु सत्सु को नरः करस्थमप्यर्थं वस्त्ववाप्तुमीश्वरः शक्तः, न कोऽपीत्यर्थान्तिरन्यासः। तस्मादलं दुरन्तेन बलवद्विरोधेनेति भावः ॥ ८३ ॥

अन्वयः—दमयन्ति, मया इयं ते महत् हितम् अभिहितम्; मोहं विहाय चिन्तय; सुरेषु विघ्नैकपरेषु करस्थम् अपि अर्थं कः नरः अवाप्तुम् ईश्वरः ?

हिन्दी—हे दमयन्ति, मैंने (नल ने) यह तेरे बड़े हित की बात कही है, मोह को छोड़कर विचार! दोनों के एकांततः विघ्नकारी हो जाने पर हाथ में आयी भी वस्तु को कौन मनुष्य प्राप्त करने में समर्थ है ? (कोई नहीं)।

टिप्पणी—नल ने उपर्युक्त प्रकार से दण्डनीति का प्रयोग करते हुए दमयन्ती को समझाया कि देवों के विरुद्ध हो जाने पर वह नल का वरण नहीं कर सकती। दो (७८, ७९) श्लोकों में इन्द्र के, एक (८०) में अग्नि के, एक (८१) में यम के और एक (८२) में वरुण के दण्ड का भय प्रदर्शित करके निष्कर्ष रूप में दमयन्ती को संमति दी गयी कि नल को पाना संभव नहीं है, अतः उचित है कि इन्द्रादि में से किसी का वरण दमयन्ती कर ले। इसी में कल्याण है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और अर्थांतरन्यास अलंकार ॥ ८३ ॥

इमा गिरस्तस्य विचिन्त्य चेतना तथेति सम्प्रत्ययमाससाद सा।
निवारितावग्रहनीरनिर्झरे नभोनभस्यत्वमलम्भयद् दृशौ ॥८४॥

जीवातु—इमा इति। सा दमयन्ती इमास्तस्य दूतस्य गिरश्चेतसा विचिन्त्य पर्यालोच्य तथेति सम्प्रत्ययं विश्वासमाससाद। अथ निवारितावग्रहो निष्प्रतिबन्धो नीरनिर्झरे ययोस्ते दृशौ लोचने नभोनभस्यत्वं श्रावणभाद्रपदत्वम्। 'नभाः श्रावणिकश्च सः, स्युर्नभस्यप्रोष्ठपदभाद्रपदाः समाः' इत्यमरः। अलम्भयत् प्रापयदित्युपमातिशयोक्ती। तत्र लभे प्राप्त्यर्थत्वेऽपि तदुपसर्जनगत्यर्थविवक्षायां 'गतिबुद्धी'त्यादिना अणिकर्तुः कर्मत्वं, गत्युपसर्जनप्राप्त्यर्थत्वे तु कर्मत्वं नास्त्येव। यथा माघे 'सितं सितिम्ने'त्यत्र यदाह वामनः—'लभेर्गत्यर्थत्वाण्णिच्यणौ कर्तुः कर्मत्वाकर्मत्वे' इति। लभेश्चेति नुमागमः॥ ८४॥

अन्वयः—तस्य इमाः गिरः चेतसा विचिन्त्य सा तथा इति सम्प्रत्ययम् आससाद; निवारितावग्रहनीरनिर्झरे दृशौ नभोनभस्यत्वम् अलम्भयत्।

हिन्दी—उस (नल) के उपर्युक्त (७४–८२) वचनों का मन में विचार करके उसे (दमयन्ती को) वैसा ही विश्वास हो गया और जिनसे जल-झरने का प्रतिबन्ध हट गया है, ऐसे दोनों (दमयन्ती के) नयन 'सावन-भादों' बन गये।

टिप्पणी—नल के साम-दाम-दण्ड-भेद की नीति से पुष्ट वचन सुनकर दमयन्ती की समझ में आ गया कि सचमुच देवों की इच्छा के विरुद्ध वह नल को नहीं पा सकती। इससे उसे इतना क्षोभ और दुःख हुआ कि उसने नेत्रों से धारा प्रवाह अश्रु-वर्षा होने लगी, ऐसी कि जैसे सावन-भादों मास में आकाश से अजस्र वर्षा होती है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति॥ ८४॥

स्फुटोत्पलाभ्यामलिदम्पतीव तद्विलोचनाभ्यां कुचकुड्मलाशया।
निपत्य बिन्दू हृदि कज्जलाविलौ मणीव नीलौ तरलौ विलेसतुः॥८५॥

जीवातु—स्फुटेति। अथ कज्जलेनाञ्जनेनाविलौ मलिनौ बिन्दू अश्रुबिन्दू तद्विलोचनाभ्यामेव स्फुटोत्पलाभ्यामलिदम्पतीव भृङ्गमिथुनमिव कुचकुड्मलयोराशया लौल्येन हृदि वक्षसि निपत्य तरलौ चञ्चलौ हारमध्यगौ नीलौ मणी इव इन्द्रनीलरत्ने इव। 'ईदादीनां प्रगृह्यत्वे मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्य' इत्युभयत्रापि प्रगृह्यत्वनिषेधात् सवर्णदीर्घः। विलेसतुः। विरेजतुः। 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटी'त्येत्वाभ्यासलोपौ॥ ८५॥

अन्वयः—कज्जलाविलौ बिन्दू स्फुटोत्पलाभ्याम् अलिदम्पती इव कुचकुड्मलाशया तद्विलोचनाभ्यां हृदि निपत्य तरलौ नीलौ मणी इव विलेपतुः।

हिन्दी—काजल से कलुषित दो अश्रुबिंदु खिले दो कमलों से भ्रमरदंपती के तुल्य कुच रूप कलिका के अभिलाष से उस (दमयन्ती) के दोनों नेत्रों से वक्षःस्थल पर गिर कर दो तरल (चंचल) नीलमणियों जैसे सुशोभित हुए।

टिप्पणी—काजल से काले, वर्तुल और विकसित दो कमलों जैसे दो नयनों से निकल कर कुचकलिकाओं पर पड़े दो अश्रुओं का साम्य भ्रमरदंपती से किया गया और वक्षःस्थित नीलमणि माला के सान्निद्धय के कारण वे दो नीलमणियों के सदृश कहे गये। नेत्रों की खिले कमलों और कुचों की कलियों से सदृशता अत्यन्त स्वाभाविक है। भ्रमरदंपती खिले कमलों का उपभोग कर खिलती कली के अभिलाषी होते ही हैं। तात्पर्य यह कि भ्रमरमिथुन के तुल्य दो आँसू छाती पर गिर कर विलसित होने लगे। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा-रूपक-उमालंकार। चतुर्थ चरण के 'मणीव' का पदच्छेद दो प्रकार से किया जाता है—(१) मणी+इव, (२) मणी+व। मल्लिनाथ और नारायण ने मणी+इव को मान्यता दी है। सामायतः 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' (अष्टा० १।१।११) नियम से प्रगृह्य संज्ञा होने के कारण दीर्घसंधि नहीं होती, अतः 'ईदादीनां प्रगृह्यत्वे मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः' के आधार पर दीर्घसंधि का औचित्य दोनों टीकाकारों ने स्वीकार लिया है। नै० च० के निर्णयसागरीय संस्करण की पद टिप्पणी में इस समाधान को अनावश्यक बताया गया है। टिप्पणीकार की मान्यता है कि यहाँ मणी+व से ही कार्य चल जाता है, फिर ऐसी कल्पना व्यर्थ है। 'व' भी 'इव' के अर्थ का द्योतक है। ऐसे प्रयोग हैं—जैसे 'कादम्बखण्डितदलनि व पङ्कजानि।' महाकवि ने 'मणी इव' प्रयोग को ही अन्यत्र अच्छा माना है—'मणी इवोद्भिन्नमनोहरत्विषौ।' इस प्रकार प्रकृति भाव को मान्यता दी है। 'मणी इवोद्भिन्नमनोहरत्विषौ' इति महाकविप्रयोगे प्रकृतिभावदर्शनात् 'कादम्बखण्डितदलानि व पङ्कजानि' इत्यादि प्रयोगेषु इवार्थकवकारदर्शनात् 'मणीव' इत्यादौ तेन वकारेणैव निर्वाहे अस्य भाष्यानुक्तवार्तिकस्योपन्यस्ते मुधैव' ॥ ८५ ॥

धुता पतत्पुष्पशिलीमुखाशुगैः शुचेस्तदासीत् सरसी रसस्य सा।
रयाय बद्धादरयाश्रुधारया सनालनीलोत्पलनीललोचना ॥८६॥

जीवातु—धुतेति । पतद्भिः पुष्पशिलीमुखाशुगैः पुष्पबाणैर्विशिखैरन्यत्र पतन्तः पुष्पाणि शिलीमुखा अलयश्च येषां तैराशुगैर्वायुभिः । धुता कम्पिता । 'अलिबाणौ शिलीमुखौ आशुगौ वायुविशिखौ' इति चामरः । रयाय बद्धादरया रययुक्तया अश्रुधारया निमित्तेन सनालनीलोत्पलस्य लीलेव लीला ययोस्ते लोचने यस्याः सा भैमी तदा शुचेः रसस्य शृङ्गारस्य सम्बन्धिनि अन्यत्र शुचेर्ग्रीष्मस्य सम्बन्धिनि, कार्श्यादिति भावः । ग्रीष्मशृङ्गारयोः शुचिरित्य-भिधानात् रसस्य जलस्य सरसी सर आसीत् । अत्र भैम्याः शृङ्गाररससरसीत्वेन ग्रीष्माम्बुसरसीत्वेन च रूपणाद्रूपकालङ्कारः । तस्य श्लेषोपमाभ्यामङ्गाभ्यां सङ्करः स्पष्टः ॥ ८६ ॥

अन्वयः—पतत्पुष्पशिलीमुखाशुगैः धुता रयाय बद्धादरया अश्रुधारया सनालनीलोत्पललीललोचना सा तदा शुचेः रसस्य सरसी आसीत् ।

हिन्दी—आगिरते पुष्प-बाण (काम) के बाणों से काँपती (पीडिता), निरंतर बहती अश्रुधारा के कारण नालसहित नीलकमलों की लीला करते नयनों वाली वह (दमयन्ती) उस समय सारसादि पक्षियों, फूलों पर बैठे भ्रमरों और वायु से चंचल (जल अल्प होने के कारण) दीखते नाल वाले नीलकमलरूप लीलायुक्त नयनों वाली निर्मल जल की ग्रीष्मकालीन सरसी के समान शुचि रस अर्थात् वियोगशृङ्गार अथवा शुचिरस अर्थात् शोकरस की सरसी हो गयी ।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल के वचन सुनकर निराश, अजस्र अश्रु-प्रवाह करती हुई, कामपीडा से व्यथित दमयन्ती ने बहुत रोदन किया । उस समय वह निदाघ की उस सरसी के तुल्य प्रतीत हुई, जल की न्यूनता के कारण नालसहित नीलकमल जिसमें प्रत्यक्ष हों, जो आते-जाते सारसादि पक्षियों और फूलों पर बैठे भौरों और वायु के कारण हिल रहे हों । इस साम्य के निमित्त अनेकार्थ 'धुता रसस्य सा' इत्यादि का उपयोग किया गया है । नेत्र नीलोत्पल हैं और अश्रुधारा नाल । इस प्रकार आँसु बहाती, वियोगिनी, निराशा से व्यथित दमयन्ती की तुलना ग्रीष्मकालीन अल्पतोया सरसी से की गयी । 'विश्व' कोष के अनुसार शुचि का अर्थ शुद्ध, अनुपहत, शृंगार, आषाढ़, ग्रीष्म और अग्नि है—'शुचिः शुद्धेऽनुपहते शृङ्गाराषाढयोः

स्मृतः । ग्रीष्मे हुतवहे वापि ।' मल्लिनाथ के अनुसार दमयन्ती का शृङ्गार-सरसी और ग्रीष्माम्बुसरसी रूप में रूपण होने के कारण इस श्लोक में रूपक अलंकार है, जिसके अंगभूत हैं, श्लेष और उपमा, अतः रूपक-श्लेष-उपमा का स्पष्ट संकर है ॥ ८६ ॥

अथोद्भ्रमन्ती रुदती गतक्षमा ससम्भ्रमा लुप्तरतिः स्खलन्मतिः ।
व्यधात्प्रियावाप्तिविघातनिश्चयान्मृदूनि दूना परिदेवितानि सा ॥८७॥

जीवातु—अथेति । अथ स्मरविकारोदयानन्तरं प्रियावाप्तिविघातस्य प्रियप्राप्तिप्रतिबन्धस्य निश्चयात् दूना परितप्ता 'स्वादय ओदित' इत्यौदित्त्वातिदेशात् 'ओदितश्च' इति दूङो निष्ठानत्वम् । अत एव सा दमयन्ती उद्भ्रमन्ती उन्माद्यन्ती रुदति अश्रूणि मुञ्चती गतक्षमा नष्टधैर्या ससम्भ्रमा सत्वरा लुप्ता रतिर्विषयान्तरस्पृहा यस्याः सा स्खलन्ती मतिस्तत्त्वावधारणशक्तिर्यस्या सा सती मृदूनि परहृदयद्रावणानि परिदेवितानि विलापवचनानि व्यधात् । अत्र प्रियावाप्तिविघातप्रयुक्तचिन्ताविषादभावा उद्भ्रमादय इत्यनुसन्धेयम् ॥ ८७ ॥

अन्वयः—अथ प्रियावाप्तिविघातनिश्चयात् दूना उद्भ्रमन्ती रुदती गतक्षपा ससंभ्रमा लुप्तरतिः स्खलन्मतिः सा मृदूनि परिदेवितानि व्यधात् ।

हिन्दी—तदनंतर प्रिय (नल) की प्राप्ति में प्रतिबंध के निश्चय से दुःखिता, उन्मादिनी, रोती, सहनशक्ति से रहित, घबरायी, स्नेहहीन तथा किं कर्तव्यविमूढ वह (दमयन्ती) श्रोताओं में करुणा जगा देने वाले विलाप करने लगी ।

टिप्पणी—जब दमयन्ती को यह निश्चय हो गया कि नल की प्राप्ति संभव नहीं है और वह कुछ कर भी नहीं सकती, तब वह अत्यन्त दुःखित हुई । रोती-रोती, उन्माद से भरी दमयन्ती का धैर्य, सहनशक्ति और बुद्धि सब जबाब दे गये । फलस्वरूप वह ऐसे विलापवचन कहने लगी, जिन्हें सुनकर किसी के हृदय में करुणा जग उठे । विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार अनुप्रास ॥ ८७ ॥

त्वरस्व पञ्चेषुहुताशनात्मनस्तनुष्व भस्मसमचयं यशश्चयम् ।
विधे ! परेहाफलभक्षणव्रती पताद्य तृप्यन्नसुभिर्ममाफलैः ॥ ८८ ॥

जीवातु—अथ त्रयोदशभिः श्लोकैः परिदेवितान्येवाह—त्वरस्वेत्यादि। हे पञ्चेषुहुताशन! कामाग्ने! त्वरस्व त्वरितो भव। मद्भस्मनाञ्चयं राशिमेवात्मनस्ते यशश्चयं यशोराशिं तनुष्व विस्तारय स्त्रीवधख्यातिं सम्पादयेत्यर्थः। हे विधे! विधातः! परेषामीहाफलस्य क्रियाफलस्य भक्षणे व्रती नियमो सन् न तु तपस्व्यन्तरवद्वन्यफलभक्षणव्रतीत्यर्थः। अद्याफलैर्नैलानवाप्त्या निष्फलैर्ममासुभिः प्राणैः तृप्यन् तृप्तः सन् पत पतितो भव। स्त्रीवधपातकी भवेत्यर्थः॥ ८८॥

अन्वयः—पञ्चेषुहुताशन, त्वरस्व मद्भस्मचयं यशश्चयं तनुष्व, विधे, परेहाफलभक्षणव्रती अद्य अफलैः मम असुभिः तृप्यन् पत।

हिन्दी—हे पञ्चबाण-(काम)-अग्नि, शीघ्रता करो, मेरे भस्म के ढेर का (अपनी) कीर्तिपुंज के रूप में प्रसार करो। हे अन्य की इच्छा के फल-भक्षणशील विधाता, आज निष्फल मेरे प्राणों से तृप्त हो—अधःपतित होओ।

टिप्पणी—विलाप करती दमयन्ती विविध प्रकार के आक्रोशवचन कहने लगी। पीडित करते कामदेव को संबोधन करते हुए वह इच्छा करने लगी कि कामाग्नि उसे अविलंब जलाकर राख कर डाले और इस प्रकार अपना यश फैलाये। विधाता बड़ी कठिनता से किसी व्यक्ति को अभीष्ट देता है, प्रायः इच्छा-पूर्ति नहीं करता, दमयन्ती को भी अपनी इच्छा पूरी होती न प्रतीत हो रही थी, अतः विधाता पर क्रोध प्रकट करती वह उसके अधःपतित होने—नरकगामी होने की कामाना करने लगी। स्त्री-वध के पातक से विधि को नरकगामी होना ही चाहिए। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और समासोक्ति अलंकार॥ ८८॥

भृशं वियोगानलतप्यमान! किं विलीयसे न त्वमयोमयं यदि।
स्मरेषुभिर्भेद्य! न वज्रमप्यसि ब्रवीषि न स्वान्त! कथं न दीर्यसे॥८९॥

जीवातु—भृशमिति। हे भृशं वियोगानलेन तप्यमान! दह्यमान! हे स्वान्त! हृदय! त्वमयोमयं यदि किं न विलीयसे अयोघनस्यापि तापात् विलयनादर्शनादयोमयमपि नासीति भावः। हे स्मरेषुभिर्भेद्य! अत एव वज्रमपि नासि वज्रस्य लोहलेख्यत्वाभावादिति भावः। किंतु कथं न दीर्यसे न विदलसि वज्रादन्यस्य लोहेलेख्यत्वाभावादिति भावः। न ब्रवीषीति काकुः। किमिति न ब्रूषे त्वत्स्वरूपमित्यर्थः॥ ८९॥

अन्वयः---भृशं वियोगानलतप्यमान स्वान्त, यदि त्वम् अयोमयं किं न विदीर्यसे ? स्मरेषुभिः भेद्य, वज्रम् अपि न असि, कथं न दीर्यसे---न ब्रवीषि ?

हिन्दी---वियोगाग्नि में अत्यन्त तप्त होते मेरे हृदय, यदि तू लोहा नहीं है तो विदीर्ण क्यों नहीं हो जाता ? हे काम-बाणों से भेदनीय, तू वज्र भी नहीं है, तो क्यों नहीं फट जाता---यह बताता क्यों नहीं ?

टिप्पणी---अपने नल-वियोग में तप्त होते हृदय को संबोधित करते हुए दमयन्ती ने उसे लौह और वज्र से भी कठोर माना, क्योंकि इतना कष्ट उठाते हुए भी वह फट नहीं रहा है। अत्यन्त गर्म होने पर लोहा भी द्रवीभूत हो जाता है। काम-बाणों से विदीर्ण न होने वाला दमयन्ती का हृदय वज्र से भी कठोर प्रमाणित होता है। मल्लिनाथ ने 'न ब्रवीषि' में 'काकु' माना है। विद्याधर के अनुसार यहाँ निश्चयगर्भ संदेहालंकार है ॥ ८९ ॥

विलम्बसे जीवित ! किं द्रव द्रुतं ज्वलत्यदस्ते हृदयं निकेतनम् ।
जहासि नाद्यापि मृषा सुखासिकामपूर्वमालस्यमहो तवेदृशम् ॥९०॥

जीवातु---विलम्बस इति । हे जीवित ! प्राणवायो ! किं विलम्बसे द्रुतं द्रव शीघ्रं गच्छ । कुतः, यतस्ते तव अदो निकेतनमावासगृहं हृदयं ज्वलति प्रज्वलति । अद्यापीदानीमपि मृषा वृथा सुखासिकां सुखासनं धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल् वक्तव्यः । न जहासि । दह्यमाने गेहे न वस्तव्यमित्यर्थः । तथा तव जीवनस्य ईदृशमालस्यमपूर्वं नूतनमहो ॥ ९० ॥

अन्वयः---जीवित, किं विलम्बसे, द्रुतं द्रव, यतः ते अदः निकेतनं हृदयं ज्वलति ? अद्य अपि मृषा सुखासिकां न जहासि, अहो, तव ईदृशम् आलस्यम् अपूर्वम् !

हिन्दी---हे जीवन, तू विलम्ब क्यों लगा रहा है, शीघ्र भाग जा, क्योंकि तेरा यह घर-हृदय जल रहा है ? आज भी निश्चित हो सुखपूर्वक बैठना नहीं छोड़ता, अरे तेरा ऐसा आलस्य तो अपूर्व है ।

टिप्पणी---कामाग्नि से दमयन्ती का हृदय जल रहा है, यह हृदय ही जीवन का आवास है। जब घर जलता है, तो गृही बाहर भागता है। इसी लिए दमयन्ती अपने जीवन से हृदय-आवास को छोड़ भाग जाने का आग्रह कर रही है। वह आश्चर्य प्रकट करती है कि जीवन जलते हृदयावास का

परित्याग क्यों नहीं करता ? अपूर्व है यह उसका आलस्य ! ऐसा तो देखा नहीं गया । विद्याधर के अनुसार व्यतिरेकालंकार ॥ ९० ॥

दृशौ ! मृषापातकिनो मनोरथाः कथं पृथू वामपि विप्रलेभिरे ।
प्रियश्रियः प्रेक्षणघाति पातकं स्वमश्रुभिः क्षालयतं शतं समाः ॥९१॥

जीवातु—दृशाविति । हे दृशौ ! मृषापातकिनोऽनृतपातकिनो मनोरथाः नलदिदृक्षारूपाः पृथू महत्यौ विप्रलम्भानर्हे इत्यर्थः । वां युवामपि कथं विप्रलेभिरे वञ्चयामासुः । साहसिकाः किन्न कुर्युरित्यर्थः । मनोरथा वां विफला इत्यर्थः । किञ्च प्रियश्रियो नलसौन्दर्यस्य प्रेक्षणघाति दर्शनघातकं स्वं स्वकीयं पातकं जन्मान्तरकृतमिति भावः । अश्रुभिः शतं समाः । वत्सरान् । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । क्षालयतं गुरुपापं गुरुप्रायश्चित्तापनोद्यमित्यर्थः । अहो मे दर्शनाशापि निरस्तेति भावः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—दृशौ, मृषापातकिनः मनोरथाः पृथू वाम् अपि कथं विप्रलेभिरे ? प्रियश्रियः प्रेक्षणघाति पातकम् अश्रुभिः शतं समाः क्षालयतं ।

हिन्दी—अरे नेत्रों, झूठे और पापी मनोरथों ने बड़े तुम दोनों को भी किस प्रकार ठग लिया ? प्रिय (नल) की शोभा के दर्शन के विघात-रूप पाप को आँसुओं से सैकड़ों वर्षों तक धोते रहो ।

टिप्पणी—दमयन्ती के नेत्र विशाल हैं—और अणुसम मनोरथ लघु । छोटे, झूठे और पापी मनोरथों ने नलदर्शन की झूठी आशा दिला कर बड़े-बड़े नेत्रों को धोखा कैसे दे दिया, यह अचरज की बात है यह कैसे हुआ—दमयन्ती को इसी पर आश्चर्य है । नेत्रों से यह पाप हुआ कि नल-दर्शन-विघात उन्होंने किया अतः उन्हें यही उचित है कि वे बहते अश्रुजल से उस पातक का प्रक्षालन अनन्तकाल तक करते रहें । यही पाप का प्रायश्चित्त होगा । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और समासोक्ति अलंकार ॥ ९१ ॥

प्रियं न मृत्युं न लभे त्वदीप्सितं तदेव न स्यान्मम यत्त्वमिच्छसि ।
वियोगमेवेच्छ मनः ! प्रियेण मे तव प्रसादान्न भवत्यसौ मम ॥९२॥

जीवातु—प्रियमिति । हे मनः ! तव ईप्सितमाप्तुमिष्टं प्रियं न लभे तदलाभे ईप्सितं मृत्युं मरणञ्च न लभे तस्मात् त्वं मम यदिच्छसि तन्न स्यादिव्यन्वयव्यतिरेकदर्शनादिति भावः । अतो मे प्रियेण वियोगमेवेच्छ तव प्रसादा-

दसौ वियोगो मे मम न भवति नलप्राप्त्यभावे मरणमेव मे शरणमित्यर्थः। अत्र संयोगार्थं वियोगप्रार्थनाद्विचित्रालङ्कारः। 'विचित्रं स्वविरुद्धस्य फलस्याप्त्यर्थमुद्यमः' इति लक्षणात् ॥ ९२ ॥

अन्वयः—मनः, त्वदीप्सितं न प्रियं न मृत्युं लभे, यत् त्वम् मम इच्छसि, तत् एव न स्यात्; प्रियेण मे वियोगम् एव इच्छ, असौ अपि तव प्रसादात् मे न भवति।

हिन्दी—रे मन, न तो तेरे अभीष्ट प्रिय (नल) को पाती हूँ, न अभीष्ट मृत्यु को। जो तू चाहता है, वही नहीं होता। प्रिय से मेरे वियोग ही की इच्छा कर, वह भी तेरी कृपा से मेरा नहीं होगा।

टिप्पणी—दमयन्ती का कोई मन-चीता पूरा नहीं होता। उसने नल को चाहा, वह नहीं मिल रहा। उसके अभाव में मौत चाही, वह भी नहीं मिली। सो जब मनचीता पूरा ही नहीं होता, तो उचित यही है कि मन दमयंती से नल के वियोग की ही कामना करे। वह भी नहीं होगा और इस प्रकार दमयन्ती को नल मिल जायेगा। क्योंकि यहाँ संयोग के निमित्त वियोग की प्रार्थना की गयी, अतः मल्लिनाथ के अनुसार विचित्र अलंकार है। (फल प्राप्ति के निमित्त उसके विरुद्ध के लिए उद्यम विचित्र है।); विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार ॥ ९२ ॥

न काकुवाक्यैरतिवाममङ्गजं द्विषत्सु याचे पवनन्तु दक्षिणम्।
दिशापि मद्भस्म किरत्वयं तया प्रियो यया वैरविधिर्वधावधिः ॥९३॥

जीवातु—नेति। द्विषत्सु चन्द्रादिवैरिमध्ये अतिवाममतिवक्रमङ्गजं कामं काकुवाक्यैः करुणोक्तिभिः। न याचे न प्रार्थये, किन्तु दक्षिणं दक्षिणदिग्भवं दाक्षिण्यवन्तं च पवनं याचे, किमिति? अयं पवनो यया दिशा प्रियो नलः सञ्चरेत् तया दिशा तद्दिग्भागेनापि मद्भस्म किरतु क्षिपतु। प्रार्थनायां लोट्। ननु दक्षिणोऽपि शत्रुपक्ष्यः कथमुपकरिष्यति तत्राह वैरविधिर्वैराचरणं वधावधिर्मरणान्तः 'मरणान्तानि वैराणी'ति न्यायादित्यर्थः ॥ ९३ ॥

अन्वयः—द्विषत्सु अतिवामम् अङ्गजं काकुवाक्यैः न याचे तु दक्षिणं पवनम् (याचे), यया दिशा प्रियः सञ्चरते तया अयं मद्भस्म किरतु; वैरविधिः वधावधिः।

हिन्दी—(वियोगियों के) शत्रुओं में अतिवाम (अत्यन्तसुन्दर, अत्यन्त प्रतिकूल और नारी के वचनों को न करने वाले – अतिक्रान्ताः वामाः येन तम्; अथवा 'रतिवामम्' अर्थात् रति जिसकी पत्नी है, उसको, अथवा 'रतौ प्रीतौ वामं वक्रम्' अर्थात् प्रेम में वक्र) अंगज (अर्थात् काम) की दीन वचनों से याचना नहीं करती किंतु दक्षिण-पवन (मलयानिल) से प्रार्थना करती हूँ कि जिस दिशा में होकर प्रिय (नल) संचरण करें, उस दिशा में यह (दक्षिण-पवन) मेरी राख बिखरादे। वैर मृत्युपर्यंत ही किया जाता है।

टिप्पणी—वियोगियों को संतप्त करने के कारण काम, चन्द्रमा, मलयपवन कोकिल, वसंत आदि उनके अनेक शत्रु माने गये हैं। इनमें सबसे दुष्ट और प्रमुख है काम। इस स्थिति में यदि दीनता दिखानी ही हो और याचना करनी ही हो तो उसी प्रमुख काम से करनी चाहिए, किन्तु दमयन्ती का कथन है कि वह काम याचना के निमित्त उपयुक्त नहीं है, क्योंकि वह अतिवाम है - बड़ा टेढ़ा और स्त्रियों की बात न सुनने वाला। वह अतिसुन्दर अवश्य है, किन्तु याचना का पात्र होने का आधार सुन्दरता नहीं है, वह तो अप्रतिकूलता अर्थात् दाक्षिण्य (उदारता) है। काम दक्षिण नहीं है। वह रतिनाथ तो 'रतिवाम' अर्थात् प्रीतिविमुख है (नारायण ने 'काकुवाक्यैः रतिवामम्'—यह भी पदच्छेद किया है)। काम के पश्चात् शत्रुओं में दूसरा प्रबल शत्रु है दक्षिणपवन मलयानिल। उसका विशेषण चूंकि 'दक्षिण' है, अतः उसमें दाक्षिण्य होना चाहिए, अतः उसे ही उपयुक्त मानती दमयन्ती उससे प्रार्थना करती है कि हे दक्षिणपवन, जिस पथ पर प्रिय नल के चरण पड़ते हों, मर जाने के पश्चात् भस्मीभूत मेरी राख उसी मार्ग पर उड़ाकर बिखरा देना। मरने के पश्चात् मेरी भस्म तो प्रिय-चरण-स्पर्श पासकेगी, भले ही मुझे वह अवसर जीवित रहते न मिल सका हो। यहाँ शंका हो सकती है कि दमयंती की प्रार्थना दक्षिणपवन क्यों स्वीकारेगा, जब कि वह शत्रु है; परन्तु शिष्टजनों में यह माना जाता है कि वैर जीवित वैरी से किया जाता है, मृत्यु के पश्चात् वैर-निभाना उचित नहीं है। रावण का वध करके श्रीरामचन्द्र ने कहा था—'मरणान्तानि वैराणि' (वाल्मीकि-रामायण, युद्धकांड, १११।१००), अर्थात् वैर मरने तक ही रहता है, तत्पश्चात् नहीं। मलय पवन का प्रवाह दक्षिण से उत्तर की ओर होता है।

कुंडिननगरी से नल की राजधानी निषधदेश उत्तर में है, अतः 'मरणान्तानि वैराणि'—इस सामान्य आचार को जानता दक्षिण का उदार पवन मार्ग में बिखरी भस्म को प्रिय की दिशा में पहुँचाने की याचना तो मान ही लेगा, जाना तो उस दिशा में पवन को है ही। एक कार्य यह भी सही। 'विश्व'-कोष के अनुसार अङ्गजं रुधिरेऽनङ्गकेशपुत्रमदेऽङ्गजः'। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और अर्थान्तरन्यास ॥ ९३ ॥

अमूनि गच्छन्ति युगानि न क्षणः कियत् सहिष्ये न हि मृत्युरस्ति मे।
स मां न कान्तः स्फुटमन्तरुज्झिता न तं मनस्तच्च न कायवायवः ॥९४॥

जीवातु—अमूनीति। गच्छन्ति विपरिवर्तमानान्यमूनि युगानि न क्षणः एकोऽप्ययं क्षणो युगसहस्रायत इत्यर्थः। कियत् सहिष्ये, मृत्युर्मरणञ्च मे नास्ति हि स कान्तस्तु अन्तः अन्तरात्मनि मां नोज्झिता नोज्झिष्यति, स्फुटं तं कान्तं मनश्च नोज्झिता तन्मनश्च कायवायवः प्राणा नोज्झितारः। हन्त का गतिरिति भावः ॥ ९४ ॥

अन्वयः—अमूनि युगानि गच्छन्ति, क्षणः न, कियत् सहिष्ये, हि मे मृत्युः न अस्ति; स्फुटं—सः कान्तः अन्तः मां न उज्झिता, तं च न मनः तत् च न कायवायवः।

हिन्दी—ये युग बीत रहे हैं, क्षण नहीं (प्रिय-वियोग में बीतता क्षण युग-सा है) अथवा ये युग अर्थात् दुःखरूप बीत रहे हैं, क्षण अर्थात् उत्सवरूप नहीं; कितना सहूँगी, क्योंकि मुझे मौत भी नहीं आती। यह स्पष्ट है कि वह प्रिय (नल) स्थूल शरीर के मध्य स्थित 'अहं' अर्थात् 'मैं' शब्द से प्रतिपादित मेरा (दमयन्ती) का त्याग नहीं करेगा और मन उस (नल) का त्याग नहीं करेगा और प्राणवायु उस (मन) को नहीं छोड़ेगा।

टिप्पणी—दमयन्ती के कथन का भाव यह है कि वियोग के ये क्षण युगों के समान दुःसह हैं। यदि मृत्यु आ जाती तो इस पीडा से छुटकारा मिलता, पर वह आयेगी नहीं। न प्रिय नल इस स्थूल शरीर के मध्य जो 'मैं' शब्द से अभिहित दमयंती है, उसे छोड़ेगा; मन उसे नहीं छोड़ेगा और प्राणवायु मन को नहीं छोड़ेंगे। लिंग-शरीर का उपलक्षक मन होता है—'बुद्धीन्द्रियाणि खलु पञ्च तथाऽपराणि कर्मेन्द्रियाणि मन आदिचतुष्टयं च। प्राणादिपञ्चकमयो

विपदादिकं व कामश्च कर्म च तमः पुनरष्टमी पूः ।' इस प्रकार जब तक लिंग शरीर है तब तक स्थूल शरीर है। जीव के उत्क्रमण करने पर इन्द्रियाँ उत्क्रमण कर देती हैं और लिंग के उत्क्रमण करने पर स्थूल शरीर षाट्कौशिक होकर विच्छिन्न हो जाता है। श्रुति के अनुसार—'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति, प्राणमुत्क्रान्तं सर्वे प्राणा उत्क्रामन्ति।' सो इस प्रकार क्षेत्रज्ञ का उत्क्रमण न होने पर किसी का उत्क्रमण न होने से मरण नहीं होगा। नारायण ने उत्तरार्द्ध का यह तात्पर्य भी माना है कि अन्तःकरण में विद्यमान कांत मुझे नहीं छोड़ता और अन्तःकरण उसे नहीं छोड़ता। भाव यही है कि जीव रहते नल का अभिलाष मिटेगा नहीं और नल मिलता नहीं, सो क्षण भी दमयन्ती के काटे नहीं कटता। मृत्यु आती नहीं, क्योंकि यह परम्परा बनी है कि अन्तस् को नल नहीं छोड़ेगा, मन नल को न छोड़ेगा और शरीरस्थ वायु अर्थात् प्राणवायु मन को न छोड़ सकेगा। विद्याधर के अनुसार अपह्नुति-हेतु-दीपक अलंकार ॥९४॥

मदुग्रतापव्ययसक्तशीकरः सुराः ! स वः केन पपे कृपार्णवः ।
उदेति कोटिर्न मुदे मदुत्तमा किमाशु सङ्कल्पकणश्रमेण वः ॥ ९५ ॥

जीवातु—मदिति । हे सुराः ! मदुग्रतापव्यये मदतितीव्रसन्तापशान्तौ सक्ता व्यापृताः शीकरा यस्य स प्रसिद्धो वो युष्माकं कृपार्णवः केन पपे पीतः। अगस्त्येन प्रसिद्धार्णव इवेति भावः। त्वल्लोभेनैव पीत इत्यत्राह—सङ्कल्पकण-श्रमेण अभिध्यानलेशप्रयासेन मत्तोऽप्युत्तमा कोटिः स्त्र्यन्तरमित्यर्थः। वो युष्माकं मुदे आशु नोदेति किमु शच्यादिवदिति भावः। तस्मादनुकम्पनीये जने विपरीताचरणमनुचितमिति तात्पर्यार्थः ॥ ९५ ॥

अन्वयः—सुराः, मदुग्रतापव्ययसक्तशीकरः सः वः कृपार्णवः केन पपे, वः सङ्कल्पकणाश्रमेण मदुत्तमा कोटिः मुदे किम् आशु न उदेति ?

हिन्दी—हे देवो, मेरे (नल-विरहजन्य) तीक्ष्ण ताप के नाश में जिस का एक बिन्दुकण पर्याप्त है, उस तुम्हारे कृपा के समुद्र को किसने पी लिया ? तुम्हारे (इन्द्रादि के) इच्छालेश मात्र श्रम से मुझ से अच्छी कोटि (दमयंती से अधिक मनोज्ञ) की नारी तुम्हारी प्रसन्नता के निमित्त क्या अविलंब नहीं उत्पन्न होती ?

टिप्पणी—दमयन्ती को नल की अप्राप्ति का कारण यही है कि देव उसे

चाहते हैं, वे दमयन्ती की इच्छा पर ध्यान देने की कृपा भी नहीं करते। ऐसा लगता है कि अगस्त्य के समान कोई और समुद्रपायी उत्पन्न हो गया है, जिसने सहज कृपालु देवों के कृपासमुद्र को पी डाला है, अन्यथा वे अवश्य दमयन्ती पर थोड़ी-सी कृपा तो कर ही देते, जिससे उसका कल्याण हो जाता। देव तो इच्छामात्र से ऐसी नारी बना सकते हैं, जो अद्वितीय सुन्दरी हो, पर वे कृपा-सागर के शुष्क हो जाने से दमयन्ती से अच्छी नारी-रचना भी नहीं करते और दमयन्ती के उग्रताप का कारण बने हैं। दमयन्ती का देवों को यह उपालंभ है कि क्यों एक नारी के लोभ में उसे पीड़ित कर रहे हैं? विद्याधर के अनुसार अनुप्रास-रूपक-हेतु अलंकार ॥ ९५ ॥

ममैव वाहर्दिवमश्रुदुर्दिनैः प्रसह्य वर्षासु ऋतौ प्रसञ्जिते।
कथं नु शृण्वन्तु सुषुप्य देवता भवत्वरण्ये रुदितं न मे गिरः ॥ ९६ ॥

जीवातु—अथ मदीयमार्तघोषं देवा नाकर्णयन्तीत्यत्राह—ममैवेति। वा अथवा अह्नि च दिवा च अहर्दिवमहरहरित्यर्थः। ममैवाश्रुदुर्दिनैरश्रुवर्षैरित्यर्थः। प्रसह्य बलाद्वर्षासु ऋतौ वर्षतौ 'स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षा' इत्यमरः। 'ऋत्यक्' इति प्रकृतिभावः। प्रसञ्जिते प्रवर्तिते सति देवताः सुष्ठु सुप्त्वा सुषुप्य। 'वाचिस्वपी'त्यादिना सम्प्रसारणम्। 'सुविनिर्दुर्भ्यः सुपिसूतिसमाः' इति षत्वम्। मे गिरः कथं नु शृण्वन्तु सुषुप्तस्य तदयोगादत एव मे गिरः कथमरण्ये रुदितम्। 'क्षेप' इति समासः। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति सप्तम्या अलुक्। न भवतु। विधेयप्राधान्यादेकवचनम्। सम्भावनायां लोट्। निष्फलं वचनमरण्यरुदितप्रायमित्यर्थः। वर्षासु भगवतो हरेः स्वापादन्यत्रापि देवतात्व-सामान्यादारोप्यव्यपदेशः। अत्र तत्कालस्य वर्षात्वेन देवतानां स्वापेन चासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिद्वयम्, तथा तद्गिरामरण्यरुदिता-सम्भवेन सादृश्याक्षेपान्निदर्शनाभेदः तेन सङ्कीर्णः ॥ ९६ ॥

अन्वयः—वा अहर्दिवं मम एव अश्रुभिः दुर्दिनैः प्रसह्य वर्षासु ऋतौ प्रसञ्जिते देवताः सुषुप्य मे गिरः कथं नु शृण्वन्तु, अरण्ये रुदितं न भवतु?

हिन्दी—अथवा (प्रतीत होता है) दिन-दिन मेरे ही आँसूरूप वर्षा दिवसों के बल से वर्षा की ऋतु हो जाने के कारण देवगण सोकर मेरे वचन कैसे सुन पावें? (नहीं सुन पाते।) मेरी प्रार्थना और विलाप-वचन 'अरण्य-रोदन' क्यों न हों? (हो ही रहा है)।

टिप्पणी—प्रार्थना पर देवों का ध्यान न जाने की एक संभावना यह भी है कि विरहिणी दमयन्ती के नेत्रों से निरन्तर आसुओं की वर्षा हो रही है। देवों ने कदाचित् इससे वर्षा ऋतु का आगमन समझ लिया है और देव सो गये हैं। सोये देव प्रार्थना सुन ही नहीं पाते और दमयन्ती का कहा सुना व्यर्थ हो रहा है, जंगल में रोने के समान। भाव यह है कि संपूर्ण अपराध दमयन्ती का ही है। न वह निरन्तर रोती रहती, न देवों को वर्षा का भ्रम होता। वे जागे रहते और दमयन्ती की प्रार्थना पर ध्यान देते। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और निदर्शना। मल्लिनाथ के अनुसार भी उस काल के वर्षा होने और देव-शयन के असम्बद्ध होने पर भी जो उसका संबंधकथन है, वह अतिशयोक्तिद्वय है और दमयन्ती का कथन अरण्यरोदन संभव न होने से सादृश्य का आक्षेप किया जाकर निदर्शना है, अतः अतिशयोक्ति-निदर्शना का संकर है॥ ९६ ॥

इयं न ते नैषध ! दृक्पथातिथिस्त्वदेकतानस्य जनस्य यातना।
ह्रदे ह्रदे हा न कियद्गवेषितः स वेधसागोपि खगोऽपि वक्ति यः॥९७॥

जीवातु—इयमिति। हे नैषध ! इयं त्वदेकतानस्य त्वत्परस्य 'एकतानोऽनन्यवृत्तिः' इत्यमरः। जनस्य स्वस्यैवेत्यर्थः। यातना तीव्रवेदना ते तव दृक्पथातिथिर्न दृग्गोचरो न देशविप्रकर्षादिति भावः। किञ्च यः खगो हंसो वक्ति नलाय मद्यातनां निवेदयेत् स खगोऽपि वेधसा अगोपि क्वापि गुप्तः। कुतः ह्रदे ह्रदे सर्वेषु जलाशयेष्वित्यर्थः। वीप्सायां द्विरुक्तिः। कियन्न गवेषितो नान्विष्टः। ना बतेत्यर्थः॥ ९७ ॥

अन्वयः—नैषध, त्वदेकतानस्य जनस्य इयं यातना ते दृक्पथातिथिः न, यः खगः वक्ति, वेधसा सः अपि अगोपि; हा, ह्रदे ह्रदे अपि कियत् न गवेषितः ?

हिन्दी—हे निषधराज, तेरे प्रति एकनिष्ठ जन (दमयन्ती) की यह (दारुण) वेदना तेरे (नल के) नयन-पथ की अतिथि नहीं बनती (नल को पीड़ा नहीं दीखती); जो पक्षी (हंस) बताता, विधाता ने उसे भी छिपा दिया। हाय, तालों-तालाबों में उसे कितना न खोजा गया ? (बहुत बार खोजा)।

टिप्पणी—चार श्लोकों (९७—१००) में विलाप करती दमयन्ती नल को संबोधित कर कहने लगी कि वह इतनी दारुण व्यथा भोग रही है कि यदि नल अपने नेत्रों से उसे देख लेता, तो अवश्य शमन की चेष्टा करता; पर उसे

ज्ञात ही नहीं है। एक संदेशवाहक स्वर्णहंस कदाचित् दमयन्ती की व्यथा-कथा नल को जा सुनाता; पर वाम विधि इतना निर्दय हो गया है कि उसने उसे भी कहीं छिपा डाला। अनेक सरोवर अनेक बार खोज डाले, पर वह हंस कहीं न मिला। कैसे मिटे यह दारुण पीड़ा? विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छेकानुप्रास ॥ ९७ ॥

ममापि किं नो दयसे दयाधन! त्वदङ्घ्रिमग्नं यदि वेत्थ मे मनः।
निमज्जयन् सन्तमसे पराशयं विधिस्तु वाच्यः क्व तवागसः कथा ॥९८॥

जीवातु—ममापीति। हे दयाधन! कृपानिधे! मम मनस्त्वदङ्घ्रिमग्नं त्वच्चरणशरणं वेत्थ यदि वेत्सि चेत् 'विदो लटो वा' इति सिपस्थलादेशः। ममापि किं न दयसे ममापि किं नानुकम्पसे, 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' इति षष्ठी। अथवा परस्याशयं हृदयं सन्तमसे महामोहान्धकारे। 'विष्वक्सन्तमसम्' इत्यमरः। 'अवसमन्धेभ्यस्तमसः' इति समासान्तोऽच्प्रत्ययः। निमज्जयन् विधिस्तु वाच्य उपालभ्यः, तवागसोऽपराधस्य कथा क्व। विधिना व्यामोहितो मामिमां न वेत्थ, न तु निर्दयत्वादित्यर्थः ॥ ९८ ॥

अन्वयः—दयाधन, त्वदङ्घ्रिमग्नं मे मनः यदि वेत्थ, मम अपि किं नो दयसे? पराशयं सन्तमसे निमज्जयन् विधिः तु वाच्यः तव आगसा कथा क्व?

हिन्दी—हे दयानिधे (नल), अपने चरणों में मग्न मेरे मन को यदि जानते हो तो मुझ (दमयन्ती) पर भी क्यों दया नहीं करते? अन्य के अन्तः-करण को अज्ञानांधकार में डुबाता दैव तो उपालंभयोग्य है, किन्तु तुम्हारे (नलके ऐसे) अपराध की बात तो कहीं सुनी नहीं गयी।

टिप्पणी—नल तो परम कृपालु है, दमयन्ती पूर्वसंदर्भ में कहने लगी कि परम कृपालु नल दमयन्ती की व्यथा जानता है तो दयालु होने पर भी वह दया क्यों नहीं करता? भाग्य को तो निर्मम और भटकाने वाला कहा जाता है, कहना उचित भी है, पर नल की निन्दा तो कहीं सुनी नहीं जाती? फिर नल दया करके दमयन्ती की दारुण यातना क्यों नहीं समाप्त करता? दयालु को दयालुता दिखानी चाहिए, अन्यथा वह भी उपालम्भ का पात्र बन जायेगा। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और सम अलंकार ॥ ९८ ॥

कथावशेषं तव सा कृते गतेत्युपैष्यति श्रोत्रपथं कथं न ते।
दयाणुना मां समनुग्रहीष्यसे तदापि तावद्यदि नाथ! नाधुना ॥ ९९ ॥

जीवातु—कथेति । हे नाथ ! तव कृते त्वदर्थं सा दमयन्ती कथैवावशेषोऽवसानं तं गतेति तव श्रोत्रपथं कथं नोपैष्यति उपैष्यत्येवेत्यर्थः । तदापि तच्छ्रवणकालेऽपि दयाणुना कृपालेशेन मां समनुग्रहीष्यसे तावदनुग्रहीष्यस्येवेत्यर्थः । 'ग्रहोऽलिटी' तीटो दीर्घः । अधुना न यदि न चेत् मास्तु पश्चादनुशोचनमपि महानुग्रह इति भावः ॥ ९९ ॥

अन्वयः—तव कृते सा कथावशेषं गता इति ते श्रोत्रपथं कथं न उपैष्यति ? नाथ, यदि अधुना न तदा अपि तावत् दयाणुना मां समनुग्रहीष्यसे ।

हिन्दी—तेरे (नल के) लिए वह (दमयन्ती) कथाशेष हो गयी (मर गयी)—यह तेरे कर्ण मार्ग को क्यों न प्राप्त होगा ? (कान में पड़ेगा ही ।) हे स्वामी, यदि इस काल दया नहीं दिखा रहे तो तब तो (मरने पर) दया के एक अणु से मुझ पर अनुग्रह करोगे ही ।

टिप्पणी—दमयन्ती ने आगे कहा कि वह नल के न मिलने पर मर जायेगी । जब नल को यह समाचार प्राप्त होगा (और यह संभव ही नहीं है कि यह समाचार नल तक न पहुँचे ।) तो जैसे स्वामी सेवक के मर जाने पर उस पर दया दिखाता ही है, भले ही जीते जी न दिखाता हो, वैसे ही कथावशेष दमयंती पर तो नल कृपा करेगा ही । दमयन्ती मरकर भी यदि नल का कृपा-लेश पा सकी तो धन्य हो जायेगी ? विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास अलङ्कार ॥ ९९ ॥

ममादरीदं विदरीतुमान्तरं तदर्थिकल्पद्रुम ! किञ्चिदर्थये ।
भिदां हृदि द्वारमवाप्य मैव मे हतासुभिः प्राणसमः समङ्गमः ॥ १०० ॥

जीवातु—ममेति । हे नाथ ! ममेदमान्तरं हृदयं विदरीतुं, 'वृतो वा' इति दीर्घः । आदरि आदरवत्, तत्तस्माद्विदारणाद्धेतोः हे अर्थिकल्पद्रुम ! किञ्चिदर्थये याचे । किमिति ? प्राणसमः प्राणतुल्यः त्वं हृदि भिदां भेदमेव । 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' । द्वारमवाप्य मार्गं लब्ध्वा मे मम हतैस्त्वदप्राप्त्या विफलैरसुभिः सममेव मा गमः मा निर्गच्छ गमेर्लुङ् । 'पुषादी' त्यादिना च्लेरङादेशः । 'न माङ्योग' इत्यडागमाभावः । प्राणोत्क्रमणकाले त्वया जन्मान्तरेऽपि त्वत्प्राप्तिकामाया मे हृदयान्नापयातव्यम् । 'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तं तमेवेति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः' इति भगवद्वचनादिति भावः ॥ १०० ॥

अन्वयः——मम इदम् आन्तरं विदरीतुम् आदरि तत् अर्थिकल्पद्रुम, किंचित् अर्थये हृदि भिदां द्वारम् अवाप्य प्राणसमः मे हतासुभिः समम् एव मा गमः।

हिन्दी——मेरा यह अंतस् विदीर्ण होना चाह रहा है, सो हे याचकों के निमित्त कल्पवृक्ष (नल), कुछ (थोड़ी-सी) याचना कर रही हूँ——हृदय में विदीर्ण-स्थल-रूप द्वार प्राप्त कर प्राणतुल्य (तुम नल) मेरे अभागे प्राणों के साथ ही मत चले जाना।

टिप्पणी—दमयंती ने नल से अंतिम प्रार्थना की कि उसका हृदय अब प्राणप्रिय नल के अभाव में फट जायेगा। नल से यही उसकी याचना है कि हृदय के फट जाने से बने मार्ग से प्राण तो चले ही जायेंगे, पर ऐसा नल न करे कि प्राणों के साथ वह भी हृदय से निकल जाय, क्योंकि प्राणप्यारा नल भी 'प्राणसम' (प्राण-जैसा) है। प्राणतुल्य होने से प्राणों के साथ चले जाने की संभावना हो सकती है, परन्तु नल मृत की अंतिम प्रार्थना मान कर दमयंती के अंतस् में बना ही रहे, जाये नहीं। इससे दमयन्ती को यह लाभ होगा कि नल उसे अन्य जन्म में प्राप्त हो जायेगा, भले ही इस जन्म में दमयन्ती की यह इच्छा पूर्ण न हो सकी; क्योंकि कहा जाता है कि प्राणी जिस भाव का स्मरण करता शरीर-त्याग करता है, सदा उस भाव से भावित होने के कारण उसे वही प्राप्त होता है। (श्रीमद्भगवद्गीता, ८।६) ॥ १०० ॥

इति प्रियाकाकुभिरुन्मिषन् भृशं दिगीशदूत्येन हृदि स्थिरीकृतः।
नृपं स योगेऽपि वियोगमन्मथः क्षणं तमुद्भ्रान्तमजीजनत् पुनः॥१०१॥

जीवातु——इतीति। दिगीशदूत्येन हृदि स्थिरीकृतो नियुद्धः स वियोगमन्मथो विप्रलम्भश्रृङ्गारः इतीत्थं प्रियायाः काकुभिः करुणोक्तिभिः उन्मिषन्नुद्बुद्धः सन् तं नृपं योगे सन्निधाने सत्यपि क्षणं पुनरुद्भ्रान्तमुद्भ्रान्तचित्तमुन्मत्तचित्तमिति यावत्। अजीजनदकार्षीदित्यर्थः। उन्मत्तचित्तविभ्रमः सन्निधिविप्रयोगः सर्वथा विकरोतीति भावः॥ १०१ ॥

अन्वयः—दिगीशदूत्येन हृदि स्थिरीकृतः सः वियोगमन्मथः इति प्रियाकाकुभिः भृशम् उन्मिषन् तं नृपं योगे अपि क्षणम् पुनः उद्भ्रान्तम् अजीजनत्।

हिन्दी——(इंद्रादि) दिक्पालों का दूत होने से हृदय में (इस समय तक) स्थिर (शांत) किये हुए उस वियोगरूप मनोमथन करने वाले काम ने (उपर्युक्त)

ऐसे (करुणाभरे) प्रिया (दमयंती) के दीन वचनों द्वारा अतीव उद्बुद्ध हो उस राजा (नल) को योग (संयोग) होते हुए भी क्षण भर पुनः उद्भ्रांत (उन्मदचित्त) बना दिया।

टिप्पणी---राजा नल 'धैर्यधन' था, वह अपने दूत-कर्त्तव्य का निर्वाह करता हुआ, अपनी वियोगपीडा को मन में दबाये बैठा था, पर जब दमयन्ती ऐसे अत्यंत करुण विलाप करने लगी तो वह वियोग दबा न रह सका और--- यद्यपि दमयंती संमुख थी तथापि---नल का मन पीड़ा से भर उठा और वह उन्मत्त-सा हो गया। योगसाधना करते योगी का हृदय स्थिर होता है, पर अत्यंत करुणा की स्थिति उसके चित्त को भी उद्भ्रांत कर सकती है, जैसे क्रौंचविहगी के करुण विलाप से ऋषिपुंगव वाल्मीकि का भी अंतस् विकल हो उठा था और वे शाप दे बैठे थे। ऐसे ही नल यद्यपि अत्यंत धैर्यवान् और कर्त्तव्यनिष्ठ था और दमयन्ती उसके निकट भी थी, तथापि इस करुण स्थिति ने उसे भी विचलित कर दिया। विद्याधर के अनुसार हेतु और रूपक अलङ्कार ॥ १०१ ॥

महेन्द्रदूत्यादि समस्तमात्मनस्ततः स विस्मृत्य मनोरथस्थितैः।
क्रियाः प्रियाया ललितैः करम्बिता विकल्पयन्नित्थमलीकमालपत् ॥१०२॥

जीवातु---अथोन्मादानुभावः प्रलापः प्रवृत्त इत्याह---महेन्द्रेति। तत उन्मादोदयानन्तरं स नल आत्मनो महेन्द्रदूत्यादि समस्तं सर्वकृत्यं विस्मृत्य मनोरथस्थितैः सङ्कल्पविकल्पितैर्विलासैः करम्बिता मिश्रिताः प्रियायाः क्रियाः शृङ्गारचेष्टा विकल्पयन्नालोचयन्नित्थं वक्ष्यमाणप्रकारेणालीकमबुद्धिपूर्वक-मालपत् ॥ १०२ ॥

अन्वयः---ततः सः आत्मनः समस्तं महेन्द्रदूत्यादि विस्मृत्य मनोरथस्थितैः ललितैः करम्बिताः प्रियायाः क्रियाः विकल्पयन् इत्थम् अलीकम् आलपत्।

हिन्दी---तदनन्तर वह (नल) अपने समस्त इन्द्रादि दिक्पालों के दूतादि भाव को भूलकर स्वेच्छाकल्पित विलासों से मिश्रित प्रिया (दमयन्ती) की क्रियाओं (शृंगार अथवा विलाप की चेष्टाओं) की नानाविध संभावना करता इस प्रकार (आगे वर्णित) अबुद्धिपूर्वक कहने लगा।

टिप्पणी---धैर्यधन भी नल उद्भ्रान्त हो उठा और भूल बैठा अपना सम्पूर्ण

कर्तव्य कि वह इन्द्रादि का दूत है और उन्मादी के तुल्य, जैसे कोई बुद्धिहीन मनुष्य व्यवहार करता हो, वैसे ही प्रिया की भाँति-भाँति शृंगार चेष्टाओं और विलाप-प्रलापों की तर्कणा करता कहने लगा। नारायण के अनुसार उन्मादवश प्रणयकलहादि की संभावना करता दमयन्ती के प्रति प्रलाप-सा करता बोला। विद्याधर के अनुसार विरोधाभास ॥ १०२ ॥

अयि ! प्रिये ! कस्य कृते विलप्यते विलिप्यते हा मुखमश्रुबिन्दुभिः।
पुरस्त्वयालोकि नमन्नयन्न किं तिरश्चलल्लोचनलीलया नलः ॥१०३॥

जीवातु—अथ प्रलापमेवाष्टादशभिराह—अयीत्यादि। अयि प्रिये ! भैमी ! कस्य कृते कं प्रति विलप्यते। भावे लट्। मुखम् अश्रुबिन्दुभिर्विलिप्यते। प्रदूष्यते। कर्मणि लट् हेति खेदे। पुरोऽग्रे नमन् प्रणमन् अयं नलस्त्वया तिरश्चलतः तिर्यक् प्रसरतो लोचनस्य लीलया विलासेन साचीकृतदृष्ट्येत्यर्थः। नालोकि न दृष्टः किम् ? अपरोक्षे परोक्षवदुपालम्भो न युक्त इत्यर्थः ॥१०३॥

अन्वयः—अयि प्रिये, कस्य कृते विलप्यते, मुखम् अश्रुबिन्दुभिः विलिप्यते ? हा, पुरः नमन् अयं नलः किं तिरश्चलल्लोचनलीलया त्वया न आलोकि ?

हिन्दी—अरी प्यारी, किस के निमित्त विलाप कर रही हो और मुख को आँसुओं की बून्दों से परिपूर्ण किये दे रही हो ? हाय, संमुख झुकता यह नल क्या तिरछे और चंचल नयनों की विलासलीला का प्रसार करती तुझ (दमयन्ती के) द्वारा नहीं देखा जा रहा ?

टिप्पणी—नल उद्भ्रांत हो दमयन्ती की व्यथा दूर करने के लिए उसके संमुख विनम्र हो गया, मानो चरण-विनिपात कर रहा हो रूठी प्रिया को मनाने के लिए। वह उससे कहने लगा कि क्यों व्यर्थ विलाप कर रही है और सुन्दर मुखड़े को आँसुओं से विरूप बना कर अमंगल कर रही है। जिसके लिए तू व्यथित है, वह तो तेरे संमुख प्रतीक्षा कर रहा है कि कब तू अपने चंचल, तिरछे कटाक्षों से उसे निहारे ? लगता है, आँसुओं से दृष्टि पूर्ण होने के कारण दमयन्ती को सामने खड़ा प्रिय नहीं दीख पा रहा। रोना छोड़ कर दमयन्ती को उचित है कि प्रणय-कलह समाप्त कर प्रेम से प्रिय को निहार कर कृतार्थ बनाये। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और हेतु ॥ १०३ ॥

चकास्ति बिन्दुच्युतकातिचातुरी घनाश्रुबिन्दुस्रुतिकैतवात्तव ।
मसारसाराक्षि ! ससारमात्मना तनोषि संसारमसंशयं यतः ॥१०४॥

जीवातु—चकास्तीति । मसारसाराविन्द्रनीलमणिश्रेष्ठौ ताविवाक्षिणी यस्यास्तस्याः सम्बुद्धिः । हे मसारसाराक्षि ! घनाश्रुबिन्दुस्रुतेः सान्द्राश्रुबिन्दुच्युतेः । कैतवात्तव बिन्दोरनुस्वारस्य च्युतमेव च्युतकं बिन्दुच्युतकं विचित्रवाक्यभेदः तत्रातिचातुरी चकास्ति भाति, ततस्तच्चातुर्यादेव संसारं भवं ससारशब्दञ्चात्मना स्वसामर्थ्येन च संसारं सारवन्तं च्युतानुस्वारञ्च तनोषि । असंशयं संशयो नास्तीत्यर्थः । अर्थाभावेऽव्ययीभावः । त्वया मे संसारसाफल्यमिति भावः । अत्र कैतवशब्देनाश्रुबिन्दुच्युतेस्ताद्रूप्यापह्नवेन वर्णात्मकबिन्दुच्युतकत्वारोपादपह्नवभेदः, तदुपजीवनेन ससारमिति श्लिष्टपदोपात्तप्रागुक्तार्थद्वयाभेदाध्यवसायेन बिन्दुच्युतकाख्यकाव्यकरणोत्प्रेक्षणात् श्लेषमूला सापह्नवोत्प्रेक्षा सा चासंशयमिति व्यंजकप्रयोगाद्वाच्येति ॥ १०४ ॥

अन्वयः—घनाश्रुबिन्दुस्रुतिकैतवात् तव बिन्दुच्युतकातिचातुरी चकास्ति यतः मसारसाराक्षि, असंशयं संसारम् आत्मनः ससारं तनोषि ।

हिन्दी—घनी आँसू की बून्दों के गिरने के व्याज से तुम्हारी बिन्दुच्युतक नामक शब्दालंकार विशेष में अत्यंत चतुरता व्यक्त हो रही है, क्योंकि हे इन्द्र नील मणि के सदृश नयनों वाली (दमयन्ती), तुम निःसंदेह 'संसार' (समस्त) को (बिन्दु हटाकर) 'ससार' (सारवान्) बना रही हो ।

टिप्पणी—नल कहने लगा कि दमयन्ती का रुदन भी मनोहर है, उससे उसकी श्रेष्ठ इन्द्रनीलमणि सदृश आँखें संसार को मनोहर बना रहीं हैं । वह जो ये आँसू-बूँदे गिरा रही है—'बिन्दुच्युत' कर रही है, उससे प्रतीत होता है कि वह 'बिन्दुच्युतक' अलंकार की विशेषज्ञा है, क्योंकि अश्रुबिन्दुरूप बिन्दु हटाकर वह 'संसार' को 'ससार' अर्थात् अपने नयनों के विलास से रमणीय बना दे रही है । 'बिन्दुच्युतक' चित्रकाव्य का एक प्रकार है, जिससे 'बिन्दु' अर्थात् अनुस्वार हटा देने से अर्थ बदल जाता है—'अनुस्वारच्यवनाद्यत्रार्थान्तरप्रतीतिस्तद्बिन्दुच्युतकम् ।' जैसे 'संसार' (जगत्) का अनुस्वार हटा दिया तो बन गया 'ससार' (सारवान्) । भाव यह कि यह 'संसार' दमयन्ती के लोचनों से ही 'ससार' है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ

कैतव शब्द द्वारा अश्रुबिन्दुच्युति का उक्त रूप में अपह्नव करके उसमें वर्णात्मक बिदुच्युतक का आरोप किया गया है, अतः अपह्नुति है। उसके उपजीवन द्वारा 'संसार' इस श्लिष्ट पदोपात्त पद के अर्थद्वय में अभेदाध्यवसाय से बिन्दुच्युतक की उत्प्रेक्षा हुई है, अतः श्लेषमूला सापह्नवा उत्प्रेक्षा हुई, जो 'असंशयम्' इस व्यंजक के प्रयोग से वाच्या है। इसे चन्द्रकलाकार ने श्लेष-अपह्नुति और उत्प्रेक्षा की संसृष्टि कहा है। विद्याधर के अनुसार यहाँ अनुप्रास-अपह्नुति और श्लेष हैं ॥ १०४ ॥

अपास्तपाथोरुहि शायितं करे करोषि लीलानलिनं किमाननम्।
तनोषि हारं कियदश्रुणः स्रवैरदोषनिर्वासितभूषणे हृदि ॥१०५॥

जीवातु--अपास्तेति। हे प्रिये ! किं किमित्यपास्तं त्यक्तं पथोरुट् लीला-पयोरुहं येन तस्मिन् करे शायितं स्थापितमारोपितमाननमेव लीलानलिनं करोषि, लीलाकमलपरिहारेण करकपोलकरणे किं कारणमित्यर्थः। अदोषाण्येव निर्वासितानि परित्यक्तानि भूषणानि येन तस्मिन् हृदि अश्रुणः स्रवैरश्रुधारा-भिरेव हारं कियत्तनोषि ? किमर्थं रोदिषीत्यर्थः ॥ १०५ ॥

अन्वयः--अपास्तपाथोरुहि करे शायितम् आननं लीलानलिनं किं करोषि, अदोषनिर्वासितभूषणे हृदि अश्रुणः कियत् हारं तनोषि ?

हिन्दी--जिस हाथ ने लीलाकमल त्याग दिया है, उस पर स्थापित मुख को लीलाकमल क्यों बना रही हो और बिन अपराध ही जिसके आभूषण हटा दिये हैं, उस हृदय पर अश्रुधाराओं से कितना अथवा कबतक हार बनाती रहोगी ?

टिप्पणी--विरहिणी दमयन्ती ने अपने हाथ से लीलाकमल हटा दिया था और दुःख और चिन्ता से मुख हथेली पर टिकाये धारा प्रवाह अश्रुवर्षा कर रही थी। हथेली पर रखा मुख ऐसा लगता था कि लीलाकमल हो और हृदय पर गिरती आँसू की बूँदें जैसे मुक्ताहार प्रतीत हो रही थीं। नल दमयन्ती को दुःख-चिन्ता छोड़ स्वाभाविक स्थिति में आने को कहता है कि वह पुनः लीलाकमल-ग्रहण करे और रुदन का परित्याग कर आभूषणादि पहिन ले। भङ्गिमाविशेष से मुख को लीलाकमल और अश्रु-बिन्दुओं को मुक्ताहार कह उनकी मनोहरता व्यक्त की गयी। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और लेष ॥ १०५ ॥

दृशोरमङ्गल्यमिदं मिलज्जलं करेण तावत् परिमार्जयामि ते ।
अथापराधं भवदङ्घ्रिपङ्कजद्वयीरजोभिः सममात्ममौलिना ॥१०६॥

जीवातु—दृशोरिति । इदं ते दृशोरक्ष्णोर्मिलदुत्पद्यमानममङ्गलकारि जलमश्रु तावत् करेण परिमार्जयामि परिमार्ज्मि, मृजेश्चौरादिकाल्लट् । अथाश्रुमार्जनान्तरम्, अपराधमात्मवञ्चनदोषं भवदङ्घ्रिपङ्कजद्वयीरजोभिः समं त्वच्चरणकमलरेणुभिः सहेति सहोक्त्यलङ्कारः । आत्मनो मौलिना मुकुटेन प्रणामेनेत्यर्थः । परिमार्जयामि ॥ १०६ ॥

अन्वयः—तावत् करेण इदं ते दृशोः मिलत् अमङ्गल्यं जलं परिमार्जयामि अथ भवदङ्घ्रिपङ्कजद्वयीरजोभिः समम् अपराधम् आत्ममौलिना ।

हिन्दी—मैं (नल) पहिले हाथ से इस तेरे (दमयन्ती के) नेत्रों में लगे अमंगलकारी (अशुभ) जल (आँसुओं) का परिमार्जन करता हूँ (आँसू पोंछता हूँ), तत्पश्चात् तुम्हारे चरणकमलद्वय में लगी धूलि के साथ अपने (नल के अब तक दुःख पहुँचाने के) अपराध को अपने मुकुट से ।

टिप्पणी—नल ने दमयन्ती को प्रसन्न रखने के निमित्त अपने हाथ से उसके आँसू पोंछने और कोप दूर करने के लिए चरणों में प्रणत हो अपने मुकुट से चरण-धूलि स्वच्छ करने का निवेदन किया और इस प्रकार अब तक दमयन्ती का प्रवंचन कर दूत कर्तव्य पालन करते व्यथित करने वाले वचन कहने का अपराध दूर करने का प्रस्ताव रखा । भाव यही है कि नल ने दुःख छोड़ प्रसन्न हो जाने का आग्रह दमयन्ती से किया । मल्लिनाथ के अनुसार सहोक्ति, विद्याधर ने सहोक्ति-तुल्ययोगिता का निर्देश किया है ।

मम त्वदच्छाङ्घ्रिनखामृतद्युतेः किरीटमाणिक्यमयूखमञ्जरी ।
उपासनामस्य करोतु रोहिणी त्यज त्यजाकारणरोषणे ! रुषम् ।१०७।

जीवातु—ममेति । हे अकारणमेव रोषणे ! कोपने ! 'क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च' इति युच्प्रत्ययः । रोहिणी लोहितवर्णा, 'वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः' इति ङीप् नकारश्च । मम किरीटमाणिक्यमयूखानां मञ्जरी सैव रोहिणी चन्द्रप्रिया सैव तारा अस्य पुरः स्थितस्य तवाच्छाङ्घ्रिनखस्यैवामृतद्युतेश्चन्द्रस्योपासनां करोतु, रोहिण्याश्चन्द्रसेवौचित्यादिति भावः । रुषं रोषं त्यज अभीक्षणन्त्यजेत्यर्थः ।

'नित्यवीप्सयोः' इति नित्यार्थे द्विर्भावः। नित्यमभीक्ष्णम्। 'प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मना'मिति भावः। रूपकालङ्कारः ॥ १०७ ॥

अन्वयः—मम रोहिणी किरीटमाणिक्यमयूखमञ्जरी अस्य त्वदच्छाङ्घ्रिनखामृतद्युतेः उपासनां करोतु; अकारणरोषणे, रुषं त्यज, त्यज।

हिन्दी—मेरी चन्द्रप्रिया रोहिणी (रक्तवर्णा) मुकुट के माणिक्यरत्नों की किरणों की दीप्ति इस तेरे (दमयन्ती के) स्वच्छ चरण-नख रूप अमृतद्युति (चन्द्र) की उपासना करे। हे व्यर्थ ही रोष करने वाली, रोष को पूर्णतया छोड़ दे।

टिप्पणी—नल दमयन्ती के चरणों में झुक कर उसे मनाने का प्रयत्न किया, जिससे नल के मुकुट में लगे माणिक्यों की लाल कांति दमयन्ती के चरण-नखों को रंजित करने लगी। 'माणिक्यमयूखमंजरी' 'रोहिणी' (रक्तवर्णा) होने से उसकी तुलना चन्द्रपत्नी रोहिणी (तारा) से की गयी, जो दमयन्ती के चरणनख-रूप प्रिय चन्द्र का रंजन कर रही है। जैसे चन्द्र प्रिया रोहिणी समीपस्था हो चन्द्र की सेवा करती है, वैसे ही मुकुट माणिक्य की दीप्ति दमयन्ती के चरण-नखों की समीपवर्तिनी हो उसका रंजन करने लगी। मल्लिनाथ के अनुसार रूपक अलंकार, विद्याधर ने अनुप्रास-रूपक-श्लेष का निर्देश किया है ॥ १०७ ॥

तनोषि मानं मयि चेन्मनागपि त्वयि श्रये तद्बहुमानमानतः।
विनम्य वक्त्रं यदि वर्तसे कियन्नमामि ते चण्डि ! तदा पदावधि ॥ १०८ ॥

जीवातु—तनोषीति। हे चण्डि ! अतिकोपने मनागीषदपि मानं मयि रोषमपि तनोषि चेत्। तर्हि त्वयि विषये आनतः सन् बहुमानं श्रये सम्मानं कुर्वे, प्रतिकोपाशक्तेरिति भावः। अतिकोपं चेति गम्यते। किञ्च वक्त्रं कियत् किञ्चिद्विनम्य विनमय्येत्यर्थः। अन्तर्भावितो णिजर्थः। वर्तसे तदा ते पदावधि पादपर्यन्तं नमामि। पूर्वोक्त एवाभिप्रायः ॥ १०८ ॥

अन्वयः—मयि मनाक् अपि मानं तनोषि चेत् तत् आनतः त्वयि बहुमानं श्रये; चण्डि, यदि वक्त्रं कियत् विनम्य वर्तसे तदा ते पदावधि नमामि।

हिन्दी—यदि मुझ पर थोड़ा भी मान (प्रणयकोप) करती हो तो विनत हो तेरे प्रति अपना अत्यन्त 'मनोबल' प्रस्तुत करता हूँ। हे चण्डि

(अत्यन्त रुष्ट) यदि मुख को (मान से) झुका रही हो तो मैं तेरे चरणों तक विनत हूँ।

टिप्पणी--मानिनी दमयन्ती का रोष दूर करने के निमित्त नल चरणों तक नत होकर दमयन्ती 'मनौवल' करने लगा। दमयन्ती के 'मनाक् मान' (थोड़े मान) को अपने 'बहुमान' (खूब मनाना सत्कार) से और 'कियत् 'वक्त्रविनमन' (थोड़े मुख को झुकाने) को 'पदावधि नमन' (अत्यन्त झुकने) से दूर करने का प्रयास। भाव यही कि दमयन्ती प्रसन्न हो। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और विरोध ।। १०८ ।।

प्रभुत्वभूम्नानुगृहाण वा न वा प्रणाममात्राधिगमेऽपि कः श्रमः।
क्व याचतां कल्पलतासि मां प्रति क्व दृष्टिदाने तव बद्धमुष्टिता ।।१०९।।

जीवातु--प्रभुत्वेति। हे भैमि ! प्रभुत्वभूम्ना प्रभुत्वप्रयुक्तगौरवेणानुगृहाण वा न वा, किन्तु प्रणाममात्रस्याधिगमे स्वीकारेऽपि कः श्रमः को भार इत्यर्थः। अथ सोऽपि माभूत् दर्शनमात्रेणापि किं नानुगृह्णासीत्याह--क्वेति। याचतामर्थिनां कल्पलतासि, क्व ? त्वं क्वेत्यर्थः। असीति त्वमर्थवाक्यालङ्करणयोर्युष्मदर्थानुवादेऽपीति गणव्याख्यानात्। मां प्रति दृष्टिदाने बद्धमुष्टिता लुब्धता क्व ? 'स्याद्बद्धमुष्टिः कृपणे कृपणादिषु चेष्यते' इति विश्वः। विरूपघटनारूपो विषमालङ्कारः ।। १०९ ।।

अन्वयः--प्रभुत्वभूम्ना अनुगृहाण वा न वा प्रणाममात्राधिगमे अपि कः श्रमः ? क्व याचतां कल्पलता असि, क्व मां प्रति दृष्टिदाने अपि तव बद्धमुष्टिता ?

हिन्दी--पूर्णस्वामित्व के अधिकार से तुम मुझ पर अनुग्रह करो या न करो किन्तु (मेरी) प्रणतिमात्र स्वीकारने में भी तुम्हें क्या श्रम पड़ता है ? कहाँ तो तुम याचकों के निमित्त कल्पबल्लरी हो—यह प्रसिद्धि और कहाँ मेरे प्रति निमिष अवलोकन में भी यह मूठ्ठी बाँध लेना (कृपणता) ?

टिप्पणी--नल के कथन का अभिप्राय है कि उसने अपने को संपूर्ण भाव से दमयन्ती के अधीन कर दिया है और उसका पूर्ण अधिकार—प्रभुता अपने पर मानता है, सो दमयन्ती का अधिकार है कि वह नल पर कृपा करे या न करे। प्रभु को दास पर कृपा करने या न करने का अवकाश है। प्रभु चाहे जैसा भाव रखे, दास तो विनत रहेगा ही। नल को आपत्ति इसी में है

कि नल की प्रणति भी दमयन्ती नहीं स्वीकार रही। ऐसी भी क्या निर्ममता? प्रणाम स्वीकार ने में तो कुछ परिश्रम भी नहीं होता। इसके अतिरिक्त प्रसिद्धि तो यह थी कि दमयन्ती याचकों की इच्छा उसी प्रकार पूरी करती थी, जिस प्रकार कि कल्पवृक्ष की लता, परन्तु वही दमयन्ती नल के प्रति इतनी कृपणता क्यों दिखा रही है कि क्षण भर को उससे दृष्टि भी नहीं मिलाती? भाव यह कि एक बार तो नल को दमयन्ती निहारने की कृपा करे। मल्लिनाथ के अनुसार विरूपघटनारूप विषम अलंकार, विद्याधर ने विषमरूपकालंकार का निर्देश किया है॥ १०९॥

स्मरेषु बाधां सहसे मृदुः कथं हृदि द्रढीयःकुचसंवृते तव।
निपत्य वैसारिणकेतनस्य वा व्रजन्ति बाणा विमुखोत्पतिष्णुताम् ॥११०॥

जीवातु--स्मरेति। हे भैमी! मृदुः मृद्वङ्गी त्वं स्मरेषुबाधां कामबाणव्यथां कथं सहसे? अथवा विसरतीति विसारी स एव वैसारिणो मत्स्यः 'विसारिणो मत्स्ये' इति स्वार्थेऽण्प्रत्ययः। तत्केतनस्य कामस्य बाणाः द्रढीयोभ्यां दृढतराभ्यां कुचाभ्यां संवृते तव हृदि निपत्य विमुखाः कुचप्रतिहत्या पराङ्मुखाः। अत एवोत्पतिष्णवः उत्पतनशीलाः, 'अलङ्कृञि'त्यादिना इष्णुच्प्रत्ययः। तत्तां व्रजन्ति वा, अन्यथा कथमुपेक्षस इति भावः॥ ११०॥

अन्वयः—मृदुः स्मरेषुबाधां कथं सहसे, वा वैसारिणकेतनस्य बाणाः द्रढीयःकुचसंवृते तव हृदि निपत्य विमुखोत्पतिष्णुतां व्रजन्ति?

हिन्दी—कोमल (दमयन्ती) काम बाणों की पीडा को कैसे सह रही हो, अथवा (प्रतीत होता है कि) मकरध्वज (काम) के दृढतर कुचों से आच्छादित तेरे (दमयन्ती के) हृदय पर टकरा उलटकर उछल जाते हैं?

टिप्पणी—नल का तर्क है कि जब दमयन्ती नल के कारण काम पीडिता है तो वह अब क्यों व्यर्थ कष्ट उठा रही है? इस पर दो संभावनाएँ हैं—या तो कोमल होकर भी दमयन्ती की सहनशक्ति अपूर्व है कि प्रहार चुपचाप सह ले रही है अथवा ये कामबाण उसके हृदय तक पहुँच ही नहीं पाते, उसके कठोर, पीन पयोधरों से टकरा उछल कर लक्ष्यभ्रष्ट हो जाते हैं। 'विसारी' अथवा 'वैसारी'—मछली जो विसरण करे। अमरकोष के अनुसार—'मीनो वैसारिणोऽण्डजः।' विद्याधर के अनुसार विरोध और आक्षेपालंकार॥ ११०॥

स्मितस्य संभावय सृक्वणा कणान् विधेहि लीलाचलमञ्चलं भ्रुवोः।
अपाङ्गरथ्यापथिकीञ्च हेलया प्रसह्य सन्धेहि दृशं ममोपरि ॥१११॥

जीवातु--स्मितस्येति। स्मितस्य। कणान्मन्दहासलेशान् सृक्वणा ओष्ठ-प्रान्तेन। 'प्रान्तावोष्ठस्य सृक्वणी' इत्यमरः। सम्भावय भ्रुवोरञ्चलमन्तं लीलया चलं चञ्चलं विधेहि। तथा अपाङ्गरथ्या कटाक्षमार्गः। तत्र पन्थानं गच्छतीति पथिकीं सञ्चारिणीं 'पथः ष्कन्' इति ष्कन्प्रत्यये 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीष्। दृशं ममोपर्युपरिष्टात्, 'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेने'ति षष्ठी। हेलया प्रसह्य बलात् सन्धेहि प्रसारयेत्यर्थः। 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्चे'त्येकारः ॥१११॥

अन्वयः—सृक्वणा स्मितस्य कणान् संभावय, भ्रुवोः अञ्चलं लीलाचलं विधेहि अपाङ्गरथ्यापथिकीं दृशं च मम उपरि हेलया प्रसह्य सन्धेहि।

हिन्दी--ओष्ठ प्रांत से मन्दहास्य के कणों को धन्य करो (ओठों पर मुसकान लाओ), भ्रूयुगल के प्रदेश को लीला-विलास से चंचल बनाओ (भ्रूक्षेप करो) और नेत्रप्रांतरूप रथ्या (गली, छोटा मार्ग) की नित्य-यात्रिणी दृष्टि का मुझ पर हेला (विलासावलोकन) के साथ बलपूर्वक प्रसार करो (लीलाकटाक्षों से मेरी—नल की—ओर निहारो)।

टिप्पणी--भाव यही है कि प्रसन्न हो दमयन्ती मन्दस्मित सहित नल को प्रणयपूर्ण दृष्टि से निहारे। भाव, हाव और हेला--सभी सत्त्व की देहात्मक स्थिति के परिणाम हैं। ये सत्त्वभेद से देह में प्रकृतिस्थ हैं और परस्पर समुत्थित भी होते हैं। सामान्यतः इनका क्रम है--पहिले भाव, तब हाव, तदनन्तर हेला (नाट्यशास्त्र २२।६–७)। निर्विकारात्मक सत्त्व से आदि विकृति भाव है (दशरूप २।३३, साहित्यदर्पण ३।१०३); भाव से हाव की उत्पत्ति होती है। हाव अर्थात् अक्षि, भ्रू, ग्रीवा की भंगिमाओं से शृङ्गार का सूचक सत्त्वोत्थित विकार (ना० शा० २२।१०)। हाव की अत्यन्तता ही हेला है, हाव की अपेक्षा इसमें विकार अधिक लक्ष्य होता है (ना० शा० २२।११)। नारायण ने चतुर्थ चरण के 'प्रसह्य' की अपेक्षा 'प्रसद्य' पाठांतर को माना है, जिसका अर्थ हुआ—'प्रसन्न होकर'। यह पाठांतर अधिक उपयुक्त है। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास-रूपक-उपमालंकार ॥१११॥

समापय प्रावृषमश्रुविप्रुषां स्मितेन विश्राणय कौमुदीमुदः।
दृशावितः खेलतु खञ्जनद्वयी विकासि पङ्केरुहमस्तु ते मुखम् ॥११२॥

जीवातु—समापयेति। किञ्चाश्रुविप्रुषां प्रावृषं वर्षर्तुं वृष्टिमित्यर्थः। समापय मा रोदीरित्यर्थः। प्रावृट्समाप्तेः फलमाह—स्मितेन मन्दहासेन कौमुदीमुदो विश्राणय वितर। श्रण दान इति चौरादिकाल्लोट्। दृशावेव खञ्जनद्वयी खञ्जनपक्षियुगमितो मयि खेलतु प्रसरतु, ते मुखं विकासि पङ्केरुहमस्तु, प्रसन्नं भवत्वित्यर्थः॥ ११२॥

अन्वयः—अश्रुविप्रुषां प्रावृषं समापय, स्मितेन कौमुदमुदः विश्राणय, खञ्जनद्वयी दृशौ इतः खेलतु, ते मुखं विकासिपङ्केरुहम् अस्तु।

हिन्दी—अश्रु-बिन्दुओं की बरसात समाप्त करो (न रोओ); मन्दहास्य से चाँदनी की प्रसन्नता फैलाओ (मुसकाओ); खंजनयुगल से नेत्र इस ओर (नल की ओर) खेलें (नल की ओर प्रेम से निहारो) और तेरा (दमयंती का) मुख खिलते कमल-सा हो जाये।

टिप्पणी—नल ने दमयन्ती को समझाया कि वह रोना-धोना छोड़ प्रसन्नता से मुसकुराये और प्रसन्नमुखी हो नल की ओर अपने खंजन पक्षी-से नयनों से निहारे। इसे वर्षा की समाप्ति और शरदागम के उपमान से कहा गया है। वर्षा समाप्त हो और शरदागम हो, जिसमें निर्मल चाँदनी का प्रसार हो, खंजनपक्षी कल्लोल करें और कमल विकसित हो। दमयन्ती के आँसू वर्षा-प्रवाह है, जिसके समाप्त होने पर उसके मन्दहास्यरूप चाँदनी का प्रसार होगा, खंजन से नेत्र प्रसन्नता से नाच उठेंगे और मुख विकसित कमल-श्री को प्राप्त करेगा। भाव है कि रोना छोड़, प्रसन्न हो स्मितपूर्वकटाक्ष-विलोकन के साथ कुछ बोले दमयन्ती। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और रूपक॥ ११२॥

सुधारसोद्वेलनकेलिमक्षरस्रजा सृजान्तर्मम कर्णकूपयोः।
दृशौ मदीये मदिराक्षि! कारय स्मितश्रिया पायसपारणाविधिम् ॥११३॥

जीवातु—सुधेति। हे मदिराक्षि! मदकराक्षि! 'इषिमदी'त्यादिना औणादिकः किरच्प्रत्ययः अक्षरस्रजा वर्णावल्या वाग्गुम्फेन कर्णकूपयोरन्तः सुधारसस्योद्वेलनकेलिमुन्मज्जनलीलां सृज। आलपेत्यर्थः। किञ्च मदीये दृशौ

स्मितश्रिया करणेन पायसपारणाविधिं पायसभोजनविधिमपि कारय । 'परमान्नन्तु पायसम्' इत्यमरः । 'हृक्रोरन्यतरस्याम्' इति विकल्पादणि कर्तुः कर्मत्वम् ॥ ११३ ॥

अन्वयः—मम कर्णकूपयोः अन्तः अक्षरस्रजा सुधारसोद्वेलनकेलिं सृज; मदिराक्षि, मदीये दृशौ स्मितश्रिया पायसपारणाविधिं कारय ।

हिन्दी—मेरे (नल के) कानों रूप कुओं (कर्णछिद्रों) के भीतर वर्णमालाद्वारा अमृतरस को उछालने की क्रीडा करो । हे मदभरे नयनों वाली (मदिर नयने), मेरे नेत्रों को मंदहास्य की शोभा द्वारा खीर-भोजन से पारणा (उपवासानन्तर भोजन) कराओ ।

टिप्पणी—नल के कथन का भाव यही है कि दमयन्ती कुछ प्रसन्न हो बोले, जिससे नल के कानों में अमृतरस जैसा उद्वेलित होने लगे और वह अपने मदभरे नयनों से नल को निहारती अपनी मुसकान द्वारा उसके नेत्रों को सुख और संतोष देने की कृपा करे । ऐसे मधुर, प्रेमपूर्ण वचन दमयन्ती के मुख से निकलें कि जिस प्रकार कोई केलिप्रिया बालिका कूप-बावड़ी में पानी उछाल-उछाल कर परिवेश को जलसिक्त कर देती है, उसी प्रकार दमयन्ती के मुख से उद्भूत वर्णमाला रूप बालिका अमृतरसोद्वेलन केलिद्वारा नल के कर्णकूपयुगल को परिषिक्त कर दे । दमयन्ती के मदभरे नयन हैं, नल का निवेदन है कि नल के नेत्र न जाने कब से दमयन्ती की मुसकान के लिए तरस रहे हैं, उपवास करते व्यक्ति के तुल्य हो उन उपोषित नयनों की पारणा के निमित्त दमयन्ती अपने स्मित का क्षीरभोजन देकर कृतार्थ करे । संपूर्ण श्लोक में जलाशय में जलकेलि करती, मंदहास्य-शोभा का प्रसार करती केलिपरायणा बालिका का चित्र उभरता है, जो दर्शक को हर्ष से आप्यायित कर देती है । मधुर वाक्य रचना अमृत तुल्य है और कवि समय के अनुसार शुभ्र स्मित की समता 'पायस' (खीर) से की गयी है । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और श्लेष ॥ ११३ ॥

ममासनार्धं भव मण्डनं नन प्रिये मदुत्सङ्गविभूषणं भव ।
भ्रमाद् भ्रमादालपमङ्ग ! मृष्यतां विना ममोरः कनरत्तवासनम् ॥११४॥

जीवातु--ममेति हे प्रिये ! ममासनार्धे मण्डनं भव । तत्रोपविशेत्यर्थः । नन । अत्यनुचितमेतदित्यर्थः । किन्तु मदुत्सङ्गविभूषणं भव, अङ्कमारोहेत्यर्थः । तदपि नेत्याह-- भ्रमाद्भ्रमादालपं भ्रमादालपं भ्रमादालापमित्यर्थः । लपेर्लङ् । अङ्ग भो ! मृष्यतां क्षम्यतां किन्तु ममोरो वक्षो विना तवासनं कतरत् किमस्ति ? 'चापले द्वे भवत इति वक्तव्यमि'ति ननेत्यादौ चापले द्विर्भावः । चापलं संभ्रमान्निवृत्तिः सम्भ्रमश्चानौचित्यभयादिति । अत्र भैम्याः क्रमेणाधारहृवृत्तिकथनात्पर्यायालङ्कारः । 'एकमनेकस्मिन्ननेकस्मिन् वा क्रमेण पर्यायः' इति सर्वस्वकारलक्षणात् ॥ ११४ ॥

अन्वयः—प्रिये, मम आसनार्द्धेन मण्डनं भव, नन, मदुत्सङ्गविभूषणं भव; अङ्ग, भ्रमात् भ्रमात् आलपम्, मृष्यताम्; मम उरः विना तव आसनं कतरत् ?

हिन्दी--प्यारी, मेरे आसन के आधे भाग की शोभा बनो, नहीं-नहीं, मेरी गोद का आभूषण बनो ! हे अंग (हे सुन्दरि, हे मेरे अवयव तुल्य), (जो कुछ मैंने कहा) भ्रम—केवल भ्रम से कहा, क्षमा करो ! मेरे हृदय को छोडकर और तेरा आसन कौन-सा है ?

टिप्पणी--प्रणयी नल अपनी प्रिया को मनाता कहने लगा कि दमयन्ती उसके साथ उसके राज्यासन के अर्द्धभाग पर आ विराजे, जैसी कि परम्परा है—रानी के साथ सिंहासन पर विराजती है । फिर उसे लगा कि यह संमान तो है पर प्रणयी का समान नहीं, अतः 'न-न' कह कर उसने दूसरा प्रस्ताव किया कि दमयन्ती उसकी गोद में विराजे; परन्तु तुरन्त ही उसे बोध हुआ कि प्रिया के लिए इतना भी पर्याप्त नहीं है, वह तो उसकी अंग है, उससे अभिन्न । तो उसका सबसे अच्छा स्थान हो सकता है प्रिय (नल) का हृदय, अतः अन्त में उसने अपनी भूल मानते हुए दमयन्ती को हृदय में स्थित हो जाने का निवेदन किया । नारायण ने तृतीय चरण का पाठांतर दिया है—'अहं भ्रमादालपमङ्ग मृष्यताम्'--अर्थात् मैंने यह सब भ्रम से बोल दिया, तू क्षमाकर । हृदय ही तेरा उचित आसन है, उसके अतिरिक्त और कोई अंग तेरा आसन हो ही नहीं सकता । कोमल आमंत्रणात्मक 'अङ्ग' अवयव का भी सूचक है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ पर्यायालंकार है,

क्योंकि क्रमसे भैमी की आधारवृत्तियों का कथन हुआ है। विद्याधर ने अतिशयोक्ति का निर्देश किया है ॥ ११४ ॥

अधीतपञ्चाशुगबाणवञ्चने ! स्थिता मदन्तर्बहिरेषि चेदुरः ।
स्मराशुगेभ्यो हृदयं बिभेतु न प्रविश्य तत्त्वन्मयसंपुटे मम ॥११५॥

जीवातु—किञ्चोरःस्थलाद्यवस्थानेषु ममापि कामादभयमित्याह—अधीतेति। अधीता अभ्यस्ता पञ्चाशुगस्य पञ्चेषोर्बाणानां वञ्चना प्रतारणाविद्या यया सा तथोक्ता तस्याः सम्बुद्धिः। प्रायेण मनस्विनां लज्जावशंवदतया मदनवञ्चनताच्छील्यादित्थं सम्बोध्यते स्वहृदयप्राणसामर्थ्यसूचनार्थं हे भैमि ! त्वं मदन्तर्ममाभ्यंतरे स्थिता अवस्थिता। अथ बहिरुरश्चैषि प्राप्नोषि चेत् तर्त्तहि मम हृदयं (कर्तृ) त्वन्मये त्वदात्मके संपुटे पेटिकायां प्रविश्य स्मराशुगेभ्यः स्मरशरेभ्यो न बिभेतु। त्वया गुप्तस्य मे कुतः कामास्त्रभयमित्यर्थः ॥११५॥

अन्वयः—अधीतपञ्चाशुगबाणवञ्चने, मदन्तः स्थिता बहिः उरः एषि चेत् तत् मम हृदयं त्वन्मयसंपुटे प्रविश्य स्मराशुगेभ्यः न बिभेतु।

हिन्दी—हे पञ्चबाण (काम) के बाणों की वंचना का अध्ययन किये हुई (दमयन्ती), तुम यदि मेरे अंतस् में बसती बाहर वक्षस्थल पर रहो तो मेरा हृदय त्वद्रूप (दमयन्ती रूप) संपुट (संदूक) में प्रविष्ट हो कामबाणों से न डरे।

टिप्पणी—नल कामव्यथित है। उसे इस कामदत्त व्यथा से दमयन्ती ही छुटकारा दिला सकती है। दमयन्ती में ऐसी क्षमता है, क्योंकि वह कामबाणों की भी प्रतारणा कर सकती है, जैसा कि श्लोक संख्या ११० में कहा गया है कि उसके वक्षपर गिर कर कामबाण भी विमुख हो जाते हैं। इस लिए कामबाण वंचना की पारंगता दमयन्ती से नल का निवेदन है कि वह नल के अंतस में, भीतर भी विराजे और बाहर 'उर' पर भी। इन दोनों के बीच जैसे संदूक में छिपा नल का हृदय कामबाणों से निर्भय रहेगा। भाव है कि मन में छिपी प्रिया उसके वक्ष से आ लगें, जिससे नल की कामपीड़ा दूर हो जाय। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ११५ ॥

परिष्वजस्वानवकाशत्राणता स्मरस्य लग्ने हृदयद्वयेऽस्तु नौ।
दृढ़ा मम त्वत्कुचयोः कठोरयोरुरस्तटीयं परिचारिकोचिता ॥११६॥

जीवातु—परिष्वजस्वेति । हे प्रिये ! परिष्वजस्व आलिङ्ग । तथा सती लग्ने मिथोघटिते नौ आवयोर्हृदयद्वये स्मरस्यानवकाशा नीरन्ध्रत्वान्निरवकाशा बाणा यस्य तस्य भावस्तत्ता अस्तु । इत्थमालिङ्गनं स्मरशरप्रवेशानवकाशकारकमिति भावः । किञ्च दृढा कठोरा ममेयमुरस्तटी कठोरयोस्त्वत्कुचयोः परिचारिका उचिता युक्ता । समानगुणयोः सम्बन्धो युक्त इत्यर्थः । अत्र समालंकारः । 'सा समालङ्कृतिर्योगे वस्तुनोरनुरूपयोः' इति लक्षणात् ॥११६॥

अन्वयः—परिष्वजस्व, नौ हृदयद्वये लग्ने स्मरस्य अनवकाशबाणता अस्तु; मम दृढा इयम् उरस्तटीयं कठोरयोः त्वत्कुचयोः परिचारिका उचिता ।

हिन्दी—(हे प्रिये !) आलिङ्गन कर, हम दोनों के दोनों हृदय मिल जाने पर काम के बाणों को अवकाश ही न रहे । मेरी यह कठोर वक्षःस्थली का तेरे (दमयन्ती) के कुचों की सेविका होना अत्यन्त उपयुक्त है ।

टिप्पणी—भाव है कि नल-दमयन्ती आलिंगन बद्ध हो जायें, जिससे दोनों की काम-व्यथा मिट सके । जब दोनों के हृदय मिल जायेंगे, तब काम-बाणों के प्रवेश का स्थान ही नहीं रहेगा, स्थानाभाव के कारण काम-बाण व्यर्थ हो जायेंगे । नल का विशाल वक्षःस्थल दमयन्ती के पीनपयोधरों से आलिंगित होने का औचित्य रखता है, कुच कठोर हैं, तो वक्षस्तटी भी दृढ—अत्यन्त कठोर है । समानशीलता है, सो सख्य उचित है । उचित स्वामी का सेवक भी उपयुक्त होना ही चाहिए । कठोरकुचों की उचित 'दृढा उरस्तटी' ही हो सकती है। मल्लिनाथ के अनुसार सम अलंकार ॥११६॥

शुभाष्टवर्गस्त्वदनङ्गजन्मनस्तवाधरेऽलिख्यत यत्र लेखया ।
मदीयदन्तक्षतराजिरञ्जनः स भूर्जतामर्जतु बिम्बपाटलः ॥११७॥

जीवातु—शुभेति । यत्र यस्मिन्न तवाधरे रेखया रेखाभिरित्यर्थः । जातावेकवचनम् । त्वदनङ्गजन्मनः त्वदीयमन्मथोदयस्य सम्बन्धी शुभाष्टवर्गः शुभसूचकाष्टवर्गो ज्योतिश्शास्त्रप्रसिद्धः अलिख्यत रेखारूपेण लिखितः । रेखारूपस्यैव शुभावेदकत्वात् बिन्दुरूपस्य वैपरीत्याच्चेति भावः । मदीयदन्तक्षतानां राज्या रञ्जनः बिम्बफलवत् पाटलः सोऽधरः भूर्जतां भूजपत्रत्वमर्जतु भजतु । अर्जेर्भौवादिकाल्लोट् । अत्राधररेखाणामष्टवर्गरेखात्वमधरस्य भूर्जपत्रत्वं चोत्प्रेक्ष्यते ।

तेन च कामोदयस्य शुभोदकत्वं व्यज्यते। जन्मकालग्रहाधानभाविशुभावेदको रेखाबिन्दुलेख्यचक्रविशेषाद्वार्यो ग्रहसन्निवेशविशेषोऽष्टवर्गः ॥ ११७ ॥

अन्वयः—त्वदनङ्गजन्मनः शुभाष्टवर्गः रेखया यत्र तव अधरे अलिख्यत, बिम्बपाटलः सः मदीयदन्तक्षतराजिरञ्जनैः भूर्जताम् अर्जतु।

हिन्दी—तुम्हारे (दमयन्ती के) अनंग (काम) के जन्म का शुभ-सूचक अष्टवर्ग (कुण्डली चक्र) (ज्योतिर्विद् विधाता की) रेखा द्वारा जिस स्थान में तेरे अधर पर लिखा गया है, बिम्बफल-सम गुलाबी वह (अधर) मेरे (नल) दंतक्षतों से रंजित हो भूर्जपत्रभाव का अर्जन करे।

टिप्पणी—ज्योतिर्विद् द्वारा जन्मकाल के ग्रहविचार के निमित्त शुभ का सूचक चक्र रेखा द्वारा लिखा जाता है, जिसमें सूर्य, चंद्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनैश्चर और राहु—इन ग्रहों का शुभाष्टक बनता है। यहाँ दमयन्ती के लाल अधर को (कामोद्दीपक होने के कारण) भोजपत्र बनाया गया है जिस पर यह शुभाष्टक लिखा जाता है। इसका उपभोग दन्तक्षत देकर नल को अपेक्षित है। लाल दन्तःक्षत से रंजित होकर ही लिखे जाने योग्य भोजपत्र के वर्ण का हो सकता है। भाव यह है कि तेरा काम शुभकाल में उत्पन्न हुआ है, जो सफलता को प्राप्त होगा। तेरा गुलाबी अधर प्रियरस-पानजनित दन्तक्षत से चिह्नित हो भोजपत्र के रंग को प्राप्त करेगा। मल्लिनाथ ने अधर के भूर्जपत्रत्व की संभावना के आधार पर यहाँ उत्प्रेक्षा उल्लेख किया है जिससे काम का शुभत्व व्यंजित होता है। नारायण ने टिप्पणी की है—'त्वदोष्ठोष्टरेखावान् दन्तक्षतसुन्दरो भूर्जपत्रेणोपमीयते।' (आठ रेखाओं से युक्त दमयन्ती का अधर दन्तक्षत से सुन्दर हो भोजपत्र से उपमित होगा।) नारायण ने इस श्लोक का क्रमांक ११९ माना है ॥११७॥

तवाधराय स्पृहयामि यन्मधुस्रवः श्रवःसाक्षिकमाक्षिका गिरः।
अधित्यकासु स्तनयोस्तनोतु ते ममेन्दुरेखाभ्युदयाद्भुतं नखः ॥११८॥

जीवातु—तवेति। किञ्च तवाधराय स्पृहयामि। अधरं पातुमिच्छामीत्यर्थः। 'स्पृहेरीप्सित' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। कुत इति चेत्—यस्याधरस्य मधुस्रवैः माक्षिकद्रवैः तव गिरो वचनानि श्रवसी श्रोत्रे साक्षिणी यस्य तच्छ्रवःसाक्षिकं माक्षिकं यासु ताः। श्रोत्रपेया इति भावः भवन्तीति शेषः।

किञ्च ते स्तनयोरधित्यकासूर्ध्वभागेषु 'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः। 'उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः' इति त्यकन्प्रत्ययः। एतेन स्तनयोरद्रिरूपणं गम्यते। मम नखः इन्दुरेखाभ्युदयाद्भुतं चन्द्रकलोदयं चित्रं तनोतु। कुचकुम्भयोर्नखक्षतञ्च कर्तुमिच्छामीत्यर्थः॥ ११८॥

अन्वयः—तव अधराय स्पृहयामि, तव गिरः यन्मधुस्रवैः श्रवःसाक्षिकमाक्षिकाः, ते स्तनयोः अधित्यकासु मम नखः इन्दुरेखाभ्युदयाद्भुतं तनोतु।

हिन्दी—तेरे अधर की स्पृहा करता हूँ (अधरपानेच्छुक हूँ), तेरी वाणी जिस (अधर) के मधु-निर्झरों के कारण कर्णों की साक्षीभूत मधु हैं। तेरे स्तनों की अधित्यकाओं (ऊर्ध्व प्रदेशों) में मेरा नख चन्द्र-कला के उदय के आश्चर्य का कारण बने।

टिप्पणी—पूर्वश्लोकोक्त अधर-रस पान की लालसा और उस अधर के सम्बन्ध से मधुसम मधुर वचन सुनने की इच्छा। इसी कारण अधर से प्रस्रवित मधुधाराओं से सम्बद्ध वचनों का 'माक्षिक' (मधु) कहा गया। इसके साथ ही नल ने स्तनोपभोग की लालसा भी प्रकट की। उच्च स्तन पर्वत का ऊर्ध्व प्रदेश है जिस पर लगा नख-क्षत-चिह्न उगती चन्द्रकला-सा आश्चर्यजनक है। मल्लिनाथ के अनुसार स्तनयुगल के अधित्यका-कथन से स्तनों का पर्वतत्व गम्य हुआ है। विद्याधर ने छेकानुप्रास-अतिशयोक्ति-उपमा-आक्षेप अलंकारों का निर्देश किया है॥ ११८॥

न वर्तसे मन्मथनाटिका कथं प्रकाशरोमावलिसूत्रधारिणी।
तवाङ्गहारे रुचिमेति नायकः शिखामणिश्च द्विजराड्विदूषकः॥११९॥

जीवातु—नेति। हे भैमि! त्वं मन्मथेन कविना कृता नाटिका रूपकविशेषो मन्मथनाटिका सती कथं न वर्तसे एवेत्युत्प्रेक्षा। यन्मयोद्दीपनेति च प्रतीयते। उभयं श्लिष्टविशेषणैरुपपादयति—प्रकाशं स्फुटं रोमावलिः सूत्रमिव रोमावलिसूत्रं तद्धारिणी अन्यत्र सूत्रधारः कथाप्रस्तावकः तद्वती सूत्रधारणी तव अङ्गहारे मुक्ताहारे नायको मध्यमाणिक्यं रुचि शोभामेति अन्यत्र नायकः कथानायकोऽङ्गहारे अङ्गविक्षेपे रुचिं प्रीतिमेति। शिखामणिः शिरोरत्नञ्च द्विजराजश्चन्द्रस्य विशेषणो विदूषको निन्दको विदूषकस्ततोऽपि रमणीय इत्यर्थः। अन्यत्र द्विजराट् ब्राह्मणो विदूषको नायकस्य हास्यप्रायो नर्मसचिवः

शिखामणिरादरणीय इत्यर्थः। एवं सूत्रधारादियोगत् कथं नाटिकासीत्यर्थः। अन्यत्र यौवनालंकारादियुक्ता कथं न मन्मथोद्दीपनेत्यर्थः। 'आलम्बनगुणश्चैव तच्चेष्टा तदलङ्कृतिः। तटस्थश्चेति विज्ञेयश्चतुर्धोद्दीपनक्रमः'। इति लक्षणात्।

अन्वयः—प्रकाशरोमावलिसूत्रधारिणी कथं मन्मथनाटिका न वर्तसे ? नायकः तव अङ्गहारे रुचिम् एति, द्विजराड् विदूषकः च शिखामणिः।

हिन्दी—सुशोभित रोमावलिरूप सूत्र को धारण करती (तुम दमयन्ती) सुशोभित रोमावलिरूप सूत्रधार से निर्देशित काम की नाटिका क्यों नहीं हो--(अपितु हो ही); तुम्हारे वक्ष पर स्थित हार में (अथवा 'अङ्ग + हारे' पदच्छेद मानने पर हे सुन्दरि, तुम्हारे हर में) मध्यमणि रूप नायक रुचि (दीप्ति—नायक पक्ष में प्रीति-प्रसन्नता) को प्राप्त होता है और द्विजराट् (चन्द्र) का विदूषक (उपहासक) चूडामणि ब्राह्मण श्रेष्ठ विदूषक है।

टिप्पणी—नल ने इस श्लोक में दमयन्ती को काम की नाटिका कहा, अर्थात् वह कामोन्मादिनी है, उसी प्रकार, जिस प्रकार कि एक नाटिका काम अर्थात् हर्ष का कारण होती है। इसके निमित्त रोमावलि को सूत्रधार, 'अंगहार' (वक्षस्थित मुक्ताहार) में दीप्ति पाते नायक अर्थात् मध्यमणि को प्रसन्न नायक (प्रमुख पात्र) और शिखामणि को विदूषक कहा गया है। नारायण ने 'अङ्गहारे रुचिमेति नायकः' का अर्थ यह भी किया है कि अङ्गहार अर्थात् नृत्य में सभापति रुचि (प्रीति) को प्राप्त होता है। नृत्य नानाकरण संयुक्त अङ्गहारों से विभूषित होता है। कर, चरण, कटि, पार्श्व, उरु, उदर आदि स्थल से संबद्ध चारी तथा नृत्तहस्त मातृका है। मातृकाओं के योग से करण होता है। नृत्त, युद्ध, नियुद्ध, गति, परिक्रम, गति-प्रचार में पैर, जंघा, उरु तथा कटि के समानकरण की चेष्टा चारी है। 'करण' सामान्यतः 'हस्त-पाद-समायोग' होता है। नलपुष्पपुट आदि एक सौ आठ करण होते हैं, जिनसे स्थिर हस्तादि बत्तीस अङ्गहार निष्पन्न होते हैं—अङ्गहार अर्थात् विशिष्ट अङ्गविक्षेप। (नाट्यशास्त्र चतुर्थ अध्याय)। नाटिका प्रधान उपरूपक है। यह स्त्री बहुल, शृङ्गार प्रधान उपरूपक है, चार अंक का, जिसमें नृत्य-गीतादि की पर्याप्त योजना होती है। इसे 'नाटी' भी कहा जाता है, क्योंकि यह मन को व्युत्पन्न बनाकर नचा देती है—

'नाटयति नर्तयति व्युत्पाद्य मनांसि'। (नाटयदर्पण २।५-६) दमयन्ती नाटिका के समान ही नल के मन को हर्षविभोर करने वाली है। नायक कहते हैं—कथा शरीर के फल से प्रधान रूप में संबद्ध पात्र को—'कथाशरीर-फलेन प्रधानतया सम्बद्ध्यमानो नायक उच्यते।' (अभिनव गुप्त, ना० शा० १८ अध्याय)। नायक का सहचर 'हास्यकृत्'—कर्म, शरीर, वेष, भाषा आदि से हास्य उत्पन्न करने वाला पात्र विदूषक होता है। (साहित्यदर्पण ३।५०)। विद्याधर के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति-रूपक-श्लेष अलंकार हैं।

गिरानुकम्पस्व दयस्व चुम्बनैः प्रसीद शुश्रूषयितुं मया कुचौ।
निशेव चान्द्रस्य करोत्करस्य यन्ममत्वमेकासि नलस्य जीवितम् ॥१२०॥

जीवातु—गिरा इति। गिरा सम्भाषणेनानुकम्पस्व चुम्बनैर्दयस्व दयां कुरु, मया कुचौ शुश्रूषयितुं प्रसीद, अन्यथा कथमहं जीवेयमित्याशयेनाह—यत् यस्मात् चान्द्रस्य करोत्करस्य किरणसमूहस्य निशेव नलस्य मम त्वमेका जीवितमसि चन्द्रस्य दिवापि जीवनसम्भवात् करग्रहणं तस्य निशैकशरणत्वादिति द्रष्टव्यम् ॥ १२० ॥

अन्वयः—गिरा अनुकम्पस्व, चुम्बनैः दयस्व, मया कुचौ शुश्रूषयितु प्रसीद, यत् चान्द्रस्य करोत्करस्य निशा इव त्वम् मम एका नलस्य जीवितम् असि।

हिन्दी—वाणी द्वारा (बोलकर) अनुकंपा करो, चुंबनों द्वारा दया करो और मेरे द्वारा स्तनों की शुश्रूषा (चन्दनलेप, पत्ररचनादि करने का अवसर देकर) कराने को प्रसन्न हो जाओ, क्योंकि चन्दा की किरणों के लिए रात्रि के तुल्य तुम (दमयन्ती) एक ही मुझ नल का जीवन हो।

टिप्पणी—कामोत्पीडित नल ने दमयन्ती से विविध विलास-केलि-निमित्त प्रस्ताव किया, क्योंकि एक वही उसकी प्राणहार प्रिया थी, चन्द्र-किरणों का जीवन जैसे निशा होती है, वैसे ही। यदि रात्रि न हो तो चन्द्र किरणों का जीवन—अस्तित्व ही न प्रकाशित हो। ऐसे नल-चन्द्र का किरण-समूह (इच्छा-आकांक्षाएँ) दमयन्ती-निशा पर ही अवलम्बित है। नारायण के अनुसार नल ने कहा—'मेरा जीवन तेरे ही अधीन है, चुम्बनादि द्वारा मुझे अनुगृहीत करो, अन्यथा मेरा जीवन ही न रहेगा।' विद्याधर के अनुसार यहाँ उपमा-अतिशयोक्ति-हेतु है ॥ १२० ॥

मुनिर्यथात्मानमथ प्रबोधवान् प्रकाशयन्तं स्वमसाववबुध्यत।
अपि प्रपन्नां प्रकृतिं विलोक्य तामवाप्तसंस्कारतयाऽसृजद्गिरः ॥१२१॥

जीवातु—मुनिरिति। अथैवं भ्रान्त्यनन्तरमसौ नलो मुनिर्यथा मुनिरिव प्रबोधवानुत्पन्नतत्त्वावबोधः सन्नात्मानं स्वं स्वरूपं प्रकाशयन्तं सन्तमबुध्यत, नलरूपता प्रकाशितेत्यबुद्धेत्यर्थः। अथ प्रपन्नां प्राप्तां तां प्रकृतिं स्वभावं विलोक्यापि ज्ञात्वापि अवाप्तः उद्बुद्धः संस्कारो निजदूतत्वस्मारकवासना येन तस्य भावस्तत्ता तथा गिरो दूत्यानुगुणान्येव वाक्यान्यसृजदवोचदित्यर्थः। यथा मुनिर्योगलब्धात्मतत्त्वावबोधोऽपि वासनावशात् बाह्यमनुसन्धत्ते तथा नलोऽपि प्रकटितात्मा पुनः संस्कारवशात् दूत्यमेवानुसरन्नुवाचेत्यर्थः ॥ १२१ ॥

अन्वयः—अथ यथा मुनिः प्रबोधवान् असौ आत्मानं प्रकाशयन्तं स्वम् अबुध्यत; तां प्रकृतिं प्रपन्नां विलोक्य अवाप्तसंस्कारतया गिरः अपि असृजत्।

हिन्दी—तत्पश्चात् जैसे मुनि प्रबुद्ध हो जाता है, वैसे ही प्रबोध को प्राप्त (गतभ्रम) यह (नल) अपने को प्रकाशित करते हुए ('मम नलस्य' कहकर अपने को प्रकट करते हुए) स्वयं को जान गया (फिर नलत्व प्रकाशित हो जाने मात्र से) उसे (दमयन्ती को) प्रकृतिस्थ देखकर संस्कार प्राप्त होने के कारण (दूत होकर स्वयं को प्रकट करना उचित नहीं था, यह बोध हो जाने से) तदनुकूल वचन बोला।

टिप्पणी—नल ने 'मम नलस्य' कहकर एक भूल कर दी। दूत होने के कारण उसे भ्रम-मोह में आकर अपने को प्रकट कर दूतधर्म की अवहेलना नहीं करनी थी। नल का अस्तित्व जानकर ही दमयन्ती की पीड़ा जैसे समाप्त हो गयी और वह रोना-धोना छोड़ प्रकृतिस्थ हो गयी। नल को भी अब बोध हुआ कि उससे भूल हुई; किन्तु वह संस्कारी पुरुष था, अतः बात सँभालकर पुनः समयोचित वचन कहने लगा। यहाँ नल की तुलना एक मुनि से की गयी है, जो वेदांताभ्यास और शम-दमादि द्वारा प्रबोध प्राप्त कर 'अहं ब्रह्मास्मि'-अर्थात् मैं ही सच्चिदानन्दैकरस ब्रह्मस्वरूप हूँ, ऐसा ज्ञान प्राप्त कर लेता है। और संसार की उत्पादिका सत्त्वरजस्तम की साम्यावस्थारूपा प्रकृति को एव से पृथक् मानता हुआ विवेकपूर्वक मुक्त हो त्यागादिव्यवहार करता है। नारायण ने अन्वयांतर करके एक और स्पष्ट अर्थ

जीवातु—स्वेति । यद्यस्मात् मुधा वृथैव स्वनाम अभ्यधान्नाम ? अवोचं खलु ? तन्महदेतन्महेन्द्रकार्यमुज्झितं त्यक्तम् । अहो हनूमदाद्यैः दूतपथो यशसा सितीकृतो धवलीकृतो मया पुनर्द्विषां हसैर्हासैः, 'स्वनहसोर्वा' इत्यप्प्रत्ययः । सितीकृतो धवलीकृतः । यशोवद्धासस्यापि धवलत्वादिति भावः । विश्वेश्वरीये तु हासस्य धावल्येऽपि शत्रुहासस्य मालिन्यापादकत्वादित्याशयेन मेचकीकृतमिति व्याख्यातम् । 'सितौ धवलमेचकौ' इत्यमरः । अत्र हनूमद्ग्रहणं पूर्वकल्पाभिप्रायमन्यथा कृतत्रेतावतारपुरुषयोः पौर्वापर्यविरोधादिति ।। १२३ ।।

अन्वयः—नाम अहं यत् मुधा स्वनाम अभ्यधाम्, एतत् महत् महेन्द्रकार्यम् उज्झितम्; हनूमदाद्यैः यशसा सितीकृतः दूतपथः मया पुनः द्विषां हसैः (सितीकृतः)।

हिन्दी—खेद है, मैंने जो व्यर्थ ही अपना नाम कह दिया और यह महेन्द्र का बड़ा (दूत) कार्य छोड़ दिया । हनुमान् आदि द्वारा यश से शुभ्र किया गया दूत का पंथ मैंने पुनः शत्रुओं के उपहासों से शुभ्र कर दिया ।

टिप्पणी—यश का वर्ण भी कविसमयानुसार शुभ्र है और हास्य का भी । यहाँ नल का अभिप्राय यह है कि हनुमान् आदि ने समुद्रसंतरण और लंकादाह करके श्रीरामचन्द्र को सीता का पता बताया था, इस प्रकार यशोविस्तार कर दूतकर्म की उच्च मर्यादा स्थापित की थी, नल वैसा न कर सका। इसके विपरीत दमयन्ती के संमुख अपने को प्रकट करके उसने देवों का कार्य ही बिगाड़ डाला । अब नल के शत्रु उसकी हंसी उड़ायेंगे । इस प्रकार जो दूतपथ पहिले यशःशुभ्र था, अब उपहासशुभ्र बन जायेगा । नल को अयश मिलेगा। मल्लिनाथ का आक्षेप है कि नल राम के पूर्ववर्त्ती थे । नल कृतयुग में थे, राम त्रेता में । इस प्रकार यह पौर्वापर्य विरोध हुआ, ऐतिहासिक क्रम में भूल हुई । हनुमान् का उदाहरण उनके पूर्ववर्त्ती नल के द्वारा दिया जाना इतिहासक्रम-विरोध है। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और व्यतिरेक अलंकार ।। १२३ ।।

धियात्मनस्तावदचारु नाचरं परस्तु यद्वेद स तद्वदिष्यति ।
जनावनायोद्यमिनं जनार्दनं क्षये जगज्जीवपिबं वदन् शिवम् ।।१२४।।

जीवातु—धियेति । अथवा तावदात्मनो धिया बुद्धिपूर्वकमित्यर्थः । अचार्व-

साधु नाचरं एवं स्थिते परोऽन्यो जनो यदचारु वदिष्यति तत्तु जनानामवनाय रक्षणायोद्यमिनमुद्योगिनं विष्णुमिति शेषः, जनानामर्दयतीत्यर्दनं संहर्तारम्। नन्द्यादित्वात् ल्युट् प्रत्ययः। अथ क्षये कल्पान्ते जगज्जीवानां पिबतीति पिबं संहर्तारं रुद्रमिति शेषः। 'पाघ्रादिना' शप्रत्ययः। शिवं शान्तं वदन्, शिवमशिवमशिवं शिवञ्च वदन्नित्यर्थः। स पर एव वेद। अनर्गलो लोकस्तावदास्तां ममानपराधित्वमन्तर्यामिसाक्षिकमिति भावः॥ १२४॥

अन्वयः—आत्मनः धिया तावत् अचारु न आचरम् तु जनावनाय उद्यमिनं जनार्दनं क्षये जगज्जीवपिबं शिवं वदन् सः परः यत् वदिष्यति तद् वेद।

हिन्दी—(अथवा मैंने) अपनी बुद्धि से (जान-बूझकर) तो असुन्दर आचरण (इन्द्रादि के प्रतिकूल व्यवहार) किया नहीं; किंतु लोक-पालन के उद्यमी (विष्णु) को 'जनार्दन' (जनान् अर्दयति पीडयति जनार्दनः—लोक-पीडक) और प्रलयकाक में जगत् के जीवन-पायी (प्राणहर्त्ता) को 'शिव' (मंगल) कहनेवाला वह संसारी दुर्जन जो कहेगा, वह (मैं) समझता हूँ। (अथवा 'यत् वेद तद् वदिष्यति'—ऐसा अन्वय करने पर अर्थ होगा—'लोक जो समझता है, वह कहता है।')

टिप्पणी—एक सौ तेईसवें पूर्वश्लोक में स्वनाम-प्रकट कर देने के कारण नल ने अपने को दोषी माना था यहाँ वह विचारता है कि उसने इन्द्रादि के कार्य के प्रतिकूल व्यवहार जान-बूझकर तो नहीं किया, वह परिस्थितियों के कारण अथवा भावावेश में हो गया। दमयन्ती का दुःख उससे न देखा गया और वह अपने को प्रकट कर बैठा। पर नल ने सोचा कि यह संसार—ये संसारी जन कहाँ ठीक-ठीक विचार पाते हैं। वे सदा अनर्गल ही कहा करते हैं। जैसा ऊपर-ऊपर से लगा, वही कह डालते हैं। उदाहरण के लिए जो संसार की स्थिति-पालन के विधाता हैं, उन विष्णु को कहता है—'जनार्दन'—जनों को कष्ट देने वाला और जगत्संहारक रुद्र को कहता है—'शिव'—शुभ-मंगलस्वरूप। ऐसे ही नल के भाव पर उचित विचार न करके ऐसा अनर्गलवादप्रिय संसारी तो नल को अपराधी कहेगा ही। लोक-कथन का निवारण बड़ा कठिन है, उसका कोई प्रतीकार नहीं है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और हेतु अलंकार। चन्द्रकलाकार ने इस श्लोक से 'निरुक्त'-नामक काव्यलक्षण का निर्देश किया है॥ १२४॥

स्फुटत्यदः किं हृदयं त्रपाभरात् यदस्य शुद्धिर्विबुधैर्विबुध्यताम् ।
विदन्तु ये तत्त्वमिदं तु दन्तुरञ्जनानने कः करमर्पयिष्यति ॥१२५॥

जीवातु—स्फुटतीति । अदो हृदयं त्रपाभराल्लज्जातिभारात् स्फुटति किम् ? स्फुटिष्यति किम् ? 'आशंसायां भूतवच्च' इति चकारादाशंसायां भविष्यदर्थे वर्तमानवत्प्रत्ययः । यद्यस्मात् स्फुटनादस्य हृदयस्य शुद्धिर्विबुधैर्देवैर्विबुध्यतां ज्ञायताम् । अतः स्फुटनमाशास्यमित्यर्थः । परन्तु ते विबुधास्तत्त्वं हृदयशुद्धिं विदन्तु, तथापि दन्तुरमतिविषमन्तदेवाह—जनानने कः करमर्पयिष्यति न कोऽपीत्यर्थः । कथञ्चिद्देवताप्रत्यायनेऽपि जनप्रत्यायनं दुष्करमिति तात्पर्यार्थः ॥ १२५ ॥

अन्वयः—किम् अदः हृदयं त्रपाभरात् स्फुटति, यत् अस्य शुद्धिः विबुधैः विबुध्यताम् ? ते तु इदं दन्तुरं तत्त्वं विदन्तु; जनानने कः करम् अर्पयिष्यति ?

हिन्दी—क्या (मेरा-नल का) यह हृदय लज्जा-भार से फटा जा रहा है कि इस (हृदय) का निरपराध होना देव समझ लें ? वे (देव) तो इस अत्यन्त विषम (कठिनता से समझ में आनेवाला) तत्त्व को समझ लें, ससारी जनों के मुँह पर कौन हाथ धरेगा ? (लोगों का मुँह कौन बन्द करेगा) ?

टिप्पणी—अनजाने अपराध-बोध से भी उत्तमप्रकृति नल को अत्यन्त आत्मग्लानि हो रही थी । वह चाहने लगा कि उसका हृदय फटकर बाहर आ जाता जिससे उसकी शुद्धि—निरपराधता सर्वज्ञ देव तो जान लेते, जिनका नल अपराधी है । वे 'विबुध'–विशेष बुद्धिमान् कहे जाते हैं—उन्हें तो 'विबोध' हो जाना चाहिए । ये संसारी जन तो अनर्गल कहा ही करते हैं, इनकी निन्दा-स्तुति की चिन्ता व्यर्थ है । न कोई लोगों को कुछ भी कहने से रोक पाया है, न रोक सकता है । भाव यह है कि देव सर्वज्ञ हैं, वे तो तथ्य को समझ ही लेंगे कि नल का हृदय शुद्ध है, लोग जो चाहें, बकें । उनकी क्या चिन्ता ? 'जनानने कः करमर्पयिष्यति'–लोकोक्ति का प्रयोग । विद्याधर के अनुसार अतशयोक्ति ॥ १२५ ॥

मम श्रमश्चेतनयानया फली बलीयसाऽलोपि च सैव वेधसा ।
न वस्तु दैवस्वरसाद्विनश्वरं सुरेश्वरोऽपि प्रतिकर्तुमीश्वरः ॥१२६॥

जीवातु—ममेति । मम श्रमो दूत्यप्रयासः अनया चेतनया स्वरूपनिगूहन-बुद्धया फली सफलः स्यात् बलीयसा बलवत्तरेण वेधसा दैवेन सा चेतनैवालोपि नाशिता च । तथा हि—दैवस्य स्वरसात् स्वेच्छातो विनश्वरं वस्त्वर्थं सुरेश्वरः शक्रोऽपि प्रतिकर्तुं नेश्वरो न शक्त इत्यर्थान्तरन्यासः । ईदृशी भवितव्यतेति भावः ॥ १२६ ॥

अन्वयः—अनया चेतनया मम श्रमः फली, बलीयसा वेधसा च सा एव अलोपि; दैवस्वरसात् विनश्वरं वस्तु सुरेश्वरः अपि प्रतिकर्त्तुं न ईश्वरः ।

हिन्दी—इस चेतना से कि 'मैं नल इस समय दूत हूँ', मेरा श्रम सफल होता, किन्तु बली विधाता ने उसका ही लोप कर दिया । दैवेच्छा से विनाशित वस्तु की रक्षा करने में देवराज भी समर्थ नहीं है ।

टिप्पणी—नल का भाव यह है कि जो भी अपराध हुआ, उसकी इच्छा से नहीं हुआ । बलवान् दैव ने उसकी चेतना–समझ ही समाप्त कर डाली । दैवेच्छा का प्रतिकार तो इन्द्र से भी संभव नहीं, नल–एक मनुष्य की तो क्षमता ही क्या ? उसका कोई अपराध नहीं है । मल्लिनाथ और विद्याधर ने अर्थान्तरन्यास अलंकार का निर्देश किया है ॥ १२६ ॥

इति स्वयं मोहमयोर्मिनिर्मित्तं प्रकाशनं शोचति नैषधे निजम् ।
तथा व्यथामग्नतदुद्दिधीर्षया दयालुरागाल्लघु हेमहंसराट् ॥१२७॥

जीवातु—इतीति । इतीत्थं नैषधे नले मोहमयोर्मिणा अज्ञानविलसितेन निर्मितं निजमात्मीयं स्वयं प्रकाशनं स्वस्वरूपप्रकटिनं प्रति शोचति व्यथमाने सति दयालुर्हेमहंसराट् सुवर्णराजहंसः तथा व्यथामग्नस्य तस्य नलस्योद्दिधीर्षया उद्धर्तुमिच्छया, धरतेरुत्पूर्वात् सन्नन्तात् स्त्रियामप्रत्यये टाप् । लघु क्षिप्रमागा-दागतः ॥ १२७ ॥

अन्वयः—नैषधे इति मोहमयोर्मिनिर्मितं निजं स्वयं प्रकाशनं शोचति दयालुः हेमहंसराट् तथाऽव्यथामग्नतदुद्दिधीर्षया लघु आगात् ।

हिन्दी—निषधराज नल के मोह (अज्ञान) की तरंगों के कारण हुए अपने 'स्वयंप्रकाशन' (अपना 'नल-नाम' स्वयं कह देने) पर 'सोच' (निन्दा) करने पर दयालु स्वर्णहंसों का राजा उस अनिर्वचनीय पीडा में मग्न उस (नल) का उद्धार करने की इच्छा से (स्वनिन्दा से विरत करने के लिए) शीघ्र आ पहुँचा ।

टिप्पणी—स्वर्णहंस ने ही दमयन्ती को नल-संदेश पहुँचाकर नल का कार्य किया था, इस समय भी पश्चात्ताप करते—पछताते नल नल की पीड़ा दूर करने वह आ गया। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और छेकानुप्रास।१२७।

नलं स तत्पक्षरवोर्ध्ववीक्षिणं स एष पक्षीति भणन्तमभ्यधात्।
नयादयैनामति मा निराशतामसून् विहातेयमतः परं परम्॥१२८॥

जीवातु—नलमिति। स राजहंसः तस्य हंसस्य पक्षरवेण निमित्तेनोर्ध्वं वीक्षत इति वीक्षिणं तथा एव स सर्वोपकारी पक्षीति भणन्तमेव नलमभ्यधात् अभिहितवान्। हे अदय! निर्दय! एनां दमयन्तीमतिनिराशतां नैराश्यं मा नय प्रापय। कुतः अतः परमियं परं केवलमसून् प्राणान् विहाता विहास्यति। जहातेर्लुट्। तदेतत्प्राणत्राणकाङ्क्षिणा त्वया नैवमाशाच्छेदः कार्य इत्यर्थः॥

अन्वयः—तत्पक्षरवोर्ध्ववीक्षिणम् एषः सः पक्षी—इति भणन्तं नलं सः अभ्यधात्—अदय, एनाम् अतिनिराशतां मा नय, अतः परम् इयं परम् असून् विहाता।

हिन्दी—उस (स्वर्णहंस) के पंखों के शब्दों से (आकृष्ट हो) ऊपर (आकाश की ओर) देखते और 'यही वह पक्षी है'—ऐसा कहते नल से वह (स्वर्णहंस) बोला—अरे निर्दयी, इसे (दमयन्ती) को बहुत निराश मत बना। इसके अनन्तर (और अधिक निष्करुण अप्रिय कहने पर) यह प्राण भी छोड़ देगी।

टिप्पणी—भाव यह है कि स्वर्णहंस ने कहा कि नल अब सीमा से आगे जा रहा है। इतना निर्मम होना ठीक नहीं। ऐसी निर्दयता यदि नल और अधिक दिखायेगा तो दमयन्ती प्राण दे देगी। इस प्रकार न केवल नल को अपार दुःख ही होगा, वह स्वयम् एक ऐसी रमणीरत्न की हत्या का अपराधी भी बनेगा, जो संसार में अनुपम है। स्त्रीवध का पातक नल पर लगेगा, अतः अब यह निर्मम व्यवहार अधिक नहीं रखना चाहिए। तृतीय चरण के 'अति मा निराशताम्' प्रयोग पर आपत्ति करते हुए पूर्वपक्ष के रूप में नारायण ने यह वाक्य-गठन व्याकरण-विरुद्ध बनाया है कि 'ते प्राग्धातोः' (अष्टा. १।४।८०) नियम के अनुसार 'निराशता मा अतिनय' वाक्य होना चाहिए। समाधान में उसने कहा है कि महाकवि द्वारा प्रयुक्त होने पर, ऐसा व्यवहित प्रयोग भी

साधु है—'महाकविप्रयोगाद्व्यतहितानामपि प्रयोगः साधुः।' पदच्छेदांतर से इस वाक्य के अन्यार्थ भी उन्होंने किये हैं—(१) 'अतिमानिराशताम्'—अतिशयिता मा शोभा राजलक्ष्मीर्वा यस्याः सा अतिमा इयमित्यस्य विशेषणम्। एनामनिराशतां नयेत्यन्वयः। अर्थात् जिसकी शोभा या राजलक्ष्मी अतिशय है, ऐसी दमयन्ती को अनिराशा को प्राप्त करा (२) 'अतिम + अनिराशतां नय'—हे अतिम (अतिसुन्दर—अतिशियता मा यस्य सः), इसे अनिराशा को प्राप्त करा। (३) इससे यह सूचित किया गया है कि अतिसुन्दर होने के कारण नल ही दमयन्ती के योग्य है, अन्य कोई नहीं। (४) 'अतः परं निराशताम् एनाँ नय, अतिमा परम् असून् विहाता'—इससे अधिक निराश भाव पर इसे पहुँचाया कि यह 'अतिमा' (अतिसुन्दरी दमयन्ती) प्राण भी छोड़ देगी और ऐसी सुन्दर वस्तु वृथा चली जायेगी। वस्तुतः लौकिक संस्कृत में उपसर्गादि धातुजादि के पूर्व प्रयुक्त होने लगे, वैदिक संस्कृत में यह मान्यता नहीं थी। विद्याधर के अनुसार उलेख्य अलंकार अनुप्रास है ॥१२८॥

सुरेषु पश्यन्निजनापराधतामियत्प्रयस्यापि यदर्थसिद्धये।
न कूटसाक्षीभवनोचितो भवान् सतां हि चेतःशुचितात्मसाक्षिका ॥१२९॥

जीवातु—सुरेष्विति। हे नल! भवान् तदर्थस्य सुरकार्यस्य सिद्धये इयदेतावत् प्रयस्याप्यायस्यापि, यसु प्रयत्न इति धातोः समासे क्त्वो ल्यबादेशः। सुरेषु विषये निजां सापराधतामेव पश्यन् उत्प्रेक्षमाणः सन् कूटसाक्षीभवनस्य कपटसाक्षीभावस्य। अभूततद्भावे च्विः। उचितो य अनपराधिन्यात्मपराधोत्प्रेक्षित्वमेव कूटसाक्षित्वं तत्ते अनुचितमित्यर्थः। तथा हि—सतां चेतःशुचिता चित्तशुद्धिः आत्मसाक्षिका स्वप्रमाणिका हि स्वयं प्रमितेऽर्थे किं विचारणयेत्यर्थः॥ १२९॥

अन्वयः—भवान् तदर्थसिद्धये इयत् प्रयस्य अपि सुरेषु सापराधतां पश्यन् कूटसाक्षीभवनोचितः न; हि सतां चेतःशुचिता आत्मसाक्षिका।

हिन्दी—आप (नल) को उन (देवों) की कार्यसिद्धि के निमित्त इतना (अत्यधिक) प्रयत्न करके भी देवों के प्रति अपने को सापराध देख कूटसाक्षी (झूठा गवाह, जो अन्य के निमित्त झूठ बोलता है) होना उचित

नहीं, क्योंकि सज्जनों की चित्त-शुद्धि स्वतः प्रमाण (अपनी साक्षी स्वयम्) होती है।

टिप्पणी—कालिदास ने कहा है—'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः-करणप्रवृत्तयः।' (अभिज्ञानशाकुन्तलम्)। संदेहजनक स्थितियों में सज्जनों का अपना चित्त ही प्रमाण होता है। हंस ने भी ऐसी ही नीति का अनुकरण करके नल को बोध दिया कि वह निर्दोष है। वह स्वयं जब ऐसा मानता है, तो और किसी के कहने पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं। क्यों वह दूसरे के लिए अलीकभाषण करके इतनी आत्मग्लानि कर रहा है और स्वयं को और दमयन्ती को व्यथित कर रहा है? नल ने निष्कपट भाव से यथासंभव दूतकार्य संपन्न किया। वह इस सत्य का स्वयं साक्षी है। देव भी यह स्वीकारेंगे, भले ही सामान्य लोक न माने। उसकी क्या चिन्ता? विद्याधर के अनुसार अर्थान्तर-न्यास अलंकार ॥ १२९ ॥

इतोरिणापृच्छ्य नलं विदर्भजामपि प्रयातेन खगेन सान्त्वितः।
मृदुर्बभाषे भगिनीं दमस्य स प्रणम्य चित्तेन हरित्पतीन्नृपः ॥१३०॥

जीवातु—इतीति। इतीरिणा इत्थंवादिना नलं विदर्भजामपि भैमीं चापृच्छ्यामन्त्र्यप्रयातेन प्रयाणप्रवृत्तेन खगेन हंसेन सान्त्वितो बोधितः स नृपश्चित्तेन हरित्पतीनिन्द्रादीन् प्रणम्य मृदुरार्द्रचित्तः सन् दमस्य भगिनीं बभाषे।१३०।

अन्वयः—इति ईरिणा नलं विदर्भजाम् अपि आपृच्छ्य प्रयातेन खगेन सान्त्वितः सः नृपः चित्तेन हरित्पतीन् प्रणम्य मृदुः दमस्य भगिनीं बभाषे।

हिन्दी—इस प्रकार कह नल और विदर्भपुत्री (दमयन्ती) से भी अनुज्ञा लेकर गये पक्षी (हंस) से सांत्वना प्राप्त कर वह राजा (नल) मन ही मन दिक्पालों को प्रणाम करके कोमल स्वर में दम की बहिन (दमयन्ती) से बोला।

टिप्पणी—हंस के बोध देने पर नल आश्वस्त हुआ और उसने अपने को अपराध-बोध से मुक्त माना और वह निर्ममता छोड़ दमयन्ती से कहने लगा।

ददेऽपि तुभ्यं कियतीः कदर्थनाः सुरेषु रागप्रसवावकेशिनीः।
अदम्भदूत्येन भजन्तु वा दयां दिशन्तु वा दण्डममी ममागसा ॥१३१॥

जीवातु—दद इति। हे प्रिये सुरेषु विषये रागप्रसवे अनुरागजनने अव-

केशिनीः वन्ध्या असमर्था इत्यर्थः । 'वन्ध्योऽफलोऽवकेशी च' इत्यमरः । कियतीरियत्तारहिता इत्यर्थः, कदर्थनाः कुत्सनाः । अश्लीलप्रयोगानिति यावत् । तुभ्यं केवलं प्रियार्हायै इति भावः । ददेऽपि ददाम्यपि अतिगर्हितमाचरामीत्यर्थः । अपि गर्हायाम् । 'अपि सम्भावनाप्रश्नशङ्कागर्हासमुच्चये' इति विश्वः । किञ्चैवं सति अमी देवाः अदम्भेनाकपटेन दूत्येन दूतकर्मणा 'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे' इत्यमरः । दयां वा भजन्तु आगसा अपराधेन मम दण्डं दण्डनं वा विशन्तु, इतः परमिमां तु न कदर्थयामीति भावः ।। १३१ ।।

अन्वयः—तुभ्यम् अपि सुरेषु रागप्रसवावकेशिनीः कियतीः कदर्थनाः ददे; अमी अदम्भदूत्येन दयां वा भजन्तु, आगसा मम दण्डं वा दिशन्तु ।

हिन्दी—तुझ (दमयन्ती) को भी देवों में अनुराग उत्पन्न करने में विफल कितनी पीडाएँ दूँ; ये (देव) निष्कपट (मेरे) दूत-कार्य-संपादन के कारण चाहे दया करें, चाहे (स्व-नाम-प्रकाशन रूप) अपराध के कारण मुझे दंड दें ।

टिप्पणी—नल ने यथाशक्ति प्रयत्न किया कि दमयन्ती दिक्पालाभिमुख हो सके; किन्तु वह विफल हुआ । इसके विपरीत दमयन्ती को इस सबसे इतनी व्यथा हुई कि नल ने भ्रांत होकर स्वनाम-प्रकाशन कर दिया । उसने समझ लिया कि इस विषय में और कुछ कहना-करना दमयन्ती की असह्य व्यथा का ही कारण बनेगा, देवों के प्रति अनुरागिणी वह नहीं हो सकेगी । अब उसने अन्ततोगत्वा यह निर्णय प्रकट कर दिया कि इस विषय में और कुछ कहकर वह दमयन्ती को पीडा देना अनुचित मानता है । इससे स्वयम् नल को भी दुःख होता है । क्योंकि वह प्रिया की वेदना सह नहीं सकता । उसने निष्कपट भाव से कर्तव्य-निर्वाह कर दिया । यह देवों की इच्छा है कि वे नल पर दया करें या अपराधी मानकर दंडित करें । नल अब इसकी चिन्ता नहीं करता । वह दंड सह लेगा, दमयन्ती को दुःखी नहीं देख पायेगा । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ।। १३१ ।।

अयोगजामन्वभवं न वेदनां हिताय मेऽभूदियमुन्मदिष्णुता ।
उदेति दोषादपि दोषलाघवं कृशत्वमज्ञानवशादिवेनसः ॥१३२॥

जीवातु—अयोगजामिति । इयमुन्मदिष्णुता उन्मत्तता । 'अलंकृञ्' इत्या-

दिना इष्णुच्प्रत्ययः । मे हितायोपकारायाभूत् । कुतः, अयोगजां वियोगोत्थां वेदनां नान्वभवम् । तथा हि–अज्ञानवशात् अज्ञानवलादेनसः पापस्य कृशत्वं ज्ञानकृतापेक्षयाल्पत्वमिव दोषादुन्माददोषादपि दोषस्य वियोगदुःखस्य लाघव-मल्पत्वमुदेति तस्माद्दोषोऽपि कदाचिदुपकरोतीति भावः ॥ १३२ ॥

अन्वयः—इयम् उन्मदिष्णुता मे हिताय अभूत्, अयोगजां वेदनां न अन्वभवम्, अज्ञानवशात् एनसः कृशत्वम् इव दोषात् अपि दोषलाघवम् उदेति ।

हिन्दी—यह उन्माद मेरे (नल के) हित का निमित्त हुआ, क्योंकि (इससे) वियोगजन्य व्यथा का अनुभव न हो पाया । अज्ञान में हुए पाप की अल्पता के तुल्य दोष से भी दोष की अल्पता उत्पन्न होती है ।

टिप्पणी—नल जो उन्माद की अवस्था में रहा, उसे भी उसने गुण माना, क्योंकि उस स्थिति में उसे दमयन्ती के वियोग की व्यथा का अनुभव नहीं हो सका । कभी-कभी दोष भी दोष को छोटा बना देता है और इस प्रकार गुण बन जाता है । अज्ञान भी दोष है और पाप करना भी, परन्तु अज्ञान में किया पाप उतना बड़ा नहीं माना जाता, जितना कि ज्ञान रहते किया जाय । इस प्रकार अज्ञान-दोष पाप-दोष को छोटा बनाने वाला हुआ और गुण बन गया । ऐसे ही उन्माद-दोष विरह-वेदना-दोष को छोटा बनाने वाला प्रमाणित हो, गुण बन गया । विद्याधर के अनुसार उपमालंकार ॥ १३२ ॥

तवेत्ययोगस्मरपावकोऽपि मे कदर्थनात्यर्थतयागमद्दयाम् ।
प्रकाशमुन्माद्य यदद्य कारयन्मयात्मनो मामनुकम्पते स्म सः ॥१३३॥

जीवातु—तवेति । हे प्रिये ! इतीत्थं तव कदर्थनानां मदीयाप्रियोक्तिरूप-कुत्सनानामत्यर्थतया अत्याधिक्येन हेतुना मे मम सम्बन्धि अयोगो यः स्मरपावकः कामाग्निः सोऽपि दयामगमत् दयालुरभूदित्यर्थः । यद्यस्मादद्य स कामाग्निः (प्रयोजककर्ता) उन्माद्य मामुन्मत्तं कृत्वा मया प्रयोज्येन आत्मनो मत्स्वरूपस्य प्रकाशं प्रकाशनं कारयन् त्वामनुकम्पषे स्म । तस्मात् कामाग्नेरपि दयोत्पन्ने-त्युत्प्रेक्षा । किं बहुना उन्मादप्रसादात् उभावप्यावां कृतार्थौ स्व इति तात्प-र्यार्थः ॥ १३३ ॥

अन्वयः—इति तव कदर्थनात्यर्थतया मे अयोगस्मरपावकः अपि दयाम्

अगमत्, यत् अद्य उन्माद्य मया आत्मनः प्रकाशं कारयन् सः माम्, अनुकम्पते स्म ।

हिन्दी—इस प्रकार (पूर्वश्लोकोक्त कारण से) तुम्हारी (दमयन्ती की) पीडा की अतिशयता से मेरे वियोगकामानल ने भी दया की, जो आज उन्मत्त करके मेरे द्वारा आत्म-प्रकाश कराते उस (वियोगस्मरपावक) ने भी मुझ पर कृपा की ।

टिप्पणी—दोष के गुण होने का एक और उदाहरण नल ने दिया। दमयन्ती की अतिशय पीडा, दमयन्ती-नल को दहता वियोग-कामानल, नल द्वारा आत्म-नाम-प्रकाशन—ये सब दोष हैं; किन्तु ये भी गुण बन गये। दमयन्ती के पीडाधिक्य के कारण, उत्पन्न विरहकामाग्नि ने नल को उन्मादी बना दिया, जिससे भावित हो उसने स्व-नाम-प्रकाशन किया, जिससे नल को पहिचान कर दमयन्ती के प्राणों की रक्षा हुई और नल की भी। दमयन्ती के न रहने पर नल की मृत्यु भी हो जाती। इस प्रकार ये सब दोष परस्पर कारण-भूत होते हुए दमयन्ती-नल की आत्मरक्षा-रूप गुण बन गये। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ १३२ ॥

अमी समीहैकपरास्तवामराः स्वकिङ्करं मामपि कर्तुमीशिषे ।
विचार्य कार्यं सृज मा विधान्मुधा कृतानुतापस्त्वयि पार्ष्णिविग्रहम् ॥

जीवातु—अमी इति । अमी अमरास्तवसमीहायां त्वत्कृतानुरागे एकपरा एकाग्रास्ते च त्वामपेक्षन्ते इत्यर्थः । त्वञ्च मामपि स्वकिङ्करं निजदासं कर्तुमीशिषे शक्नोषि अपि शब्दात्तानपीत्यर्थः । 'ईशः से' इतीडागमः । किन्तु विचार्य विमृश्य कार्यं सृज उत्पादय । अतः अनुतापः पश्चात्तापः कृतः सन् त्वयि पार्ष्णिविग्रहं पार्ष्णिग्राहककृत्यं मुधा माविधात् माकार्षीत् । अविमृश्यकरणात्पश्चात्तापस्ते मा भूदित्यर्थः । विपूर्वाद्धातेर्लुङि 'न माङ्योग' इत्यडभावः ॥ १३४ ॥

अन्वयः—अमी अमराः तव समीहैकपराः, माम् अपि स्वकिङ्करं कर्तुम् ईशिषे; विचार्य कार्यं सृज, कृतानुतापः त्वयि पार्ष्णिविग्रहं मुधा मा विधात् ।

हिन्दी—ये देव तुम्हारी ही आकांक्षा कर रहे हैं, (तुम दमयन्ती) मुझे

भी अपना दास बनाना चाहती हो; (सो) विचार करके कार्य करो, पश्चात्ताप तुम पर पीछे से प्रहार करने वाले शत्रु के समान वृथा विरोध न करे।

टिप्पणी—नल ने बताया कि समस्या कुछ कठिन है। देव दमयन्ती की इच्छा के विरुद्ध उसके अभिलाषी हैं, वह नल को वरना चाहती है, नल ने भंगिमा से अपनी अभीप्सा भी प्रकट कर दी। देवों के क्रुद्ध हो जाने पर अनिष्ट संभव है। उचित यही है कि कार्य करने के पूर्व अच्छी तरह परिणाम पर विचार कर लिया जाय, अन्यथा पछताना पड़ सकता है। पश्चात्ताप 'पार्ष्णिग्राह' अर्थात् पीछे रहकर वार करने वाले शत्रु के तुल्य है, उससे सावधान रहना चाहिए। भाव यही है कि विना विचारे निर्णय मत लो, इससे पश्चात्ताप होगा। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-अतिशयोक्ति ॥ १३४ ॥

उदासितेनेव मयेदमुद्यसे भिया न तेभ्यः स्मरतानवान्नवा।
हितं यदि स्यान्मदसुव्ययेन ते तदा तव प्रेमणि शुद्धिलब्धये ॥१३५॥

जीवातु—एतच्च माध्यस्थेनैवोच्यते न तु पक्षपातेनेत्याह—उदासितेति। उदासितेनौदासीन्येन माध्यस्थ्येनैवेत्यर्थः, भावे क्तः कर्तरि वा। उदासितेन मध्यस्थेनैव मया इदं पूर्वोक्तमुद्यसे। ववेः कर्मणि लटि यकि 'वचस्विपी' त्यादिना सम्प्रसारणम्। तेभ्यः सुरेभ्यः भिया वा स्मरतानवात् कामप्रयुक्तकार्श्याद्वा न। युवादित्वादण्प्रत्ययः। तस्माद्विमृश्य कुर्विति भावः। अथ विमृश्यैव कुर्वे त्वद्वरणमेवेति निश्चयस्तत्राह—मदसुव्ययेन मत्प्राणसमर्पणेन ते तव हितं पथ्यं प्रियं यदि स्यात्। यदा मत्प्राणसमर्पणमिति शेषः। तव प्रेमणि विषये शुद्धिलब्धये आनृण्यलाभाय भवति। त्वत्कृतानुरागोपकारस्य प्राणसमर्पणमेव प्रत्युपकार इति भावः ॥ १३५ ॥

अन्वयः—उदासितेन इव मया इदम् उद्यसे, तेभ्यः भिया न, स्मरतानवात् वा न, यदि मदसुव्ययेन ते हितं स्यात् तदा तव प्रेमणि शुद्धिलब्धये।

हिन्दी—मैं जो कह रहा हूँ (पूर्वोक्त श्लोक में), वह एक तटस्थ (मध्यस्थ) व्यक्ति की दृष्टि से, उन (देवों) से डरकर अथवा कामजन्य तनुता (कृशता) के कारण नहीं (अथवा देवों के अथवा स्मरतनुता के भय से नहीं)। यदि मेरे प्राणों के व्यय से तेरा (दमयन्ती) का कल्याण हो सके तो वह तेरे प्रेम में शुद्धि (सत्यभाव अथवा अनृणता) की प्राप्ति के निमित्त।

टिप्पणी--नल ने स्पष्ट कर दिया कि उसने दमयन्ती के संमुख जो देवों के वरने अथवा स्वयम् नल को ही वरने में विचारपूर्वक निर्णय लेने का प्रस्ताव रखा है, वह एक तटस्थ की संमति है, जिसका किसी पक्ष के प्रति बल नहीं होता—एक निष्पक्षपाती की संमति। इससे यह न समझा जाय कि नल देवों से अथवा कामपीडा से आतंकित हो ऐसा कह रहा है। दमयन्ती के प्रति अनुराग भी उसका कम नहीं है। पर नल दमयन्ती का हित चाहता है। उसका कल्याण जिसमें हो, वह करे। नल का प्रेम स्वार्थी नहीं है, नल दमयन्ती के कल्याणार्थ अपने प्राण देकर अपने प्रेम की शुद्धता प्रतिपादित करेगा, उससे उसका प्रणय ही ऋणमुक्त होगा। सच्चा प्रेमी अपने प्रेमाश्रय के हित के लिए प्राण देने में नहीं चूकता, इसके विपरीत उसे प्रेम में बलि देकर प्रसन्नता ही होती है। नल की भी यही स्थिति है, वह दमयन्ती के हितार्थं सर्वस्व-त्याग सकता है—धन-संपत्ति भी, प्राण भी। दमयन्ती ने अमूल्य दुर्लभ प्रणय देकर जो नल पर उपकार किया है, उसका ऋण प्राण देकर भी चुकाने को, गौरव और हर्ष के साथ, नल उद्यत है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-अतिशयोक्ति-उपमालकार ॥ १३५ ॥

इतीरितैर्नैषधसूनृतामृतैर्विदर्भजन्मा भृशमुल्ललास सा।
ऋतोरधिश्रीः शिशिरानुजन्मनः पिकस्वरैर्दूरविकस्वरैर्यथा ॥१३६॥

जीवातु—इतीति। इतीत्थमीरितैरभिहितैर्नैषधस्य नलस्य सूनृतैः सत्यप्रियवाक्यैरेवामृतैः सा विदर्भजन्मा वैदर्भी शिशिरमनु जन्म यस्य तस्य शिशिरानुजन्मनः शिशिरानन्तरभाविनः ऋतोर्वसन्तर्तोरधिका श्रीर्दूरविकस्वरैरतिश्लाघ्यैः पिकस्वरैर्यथा कोकिलकूजितैरिव भृशमुल्ललास जहर्ष। अत्र सूनृतानामुपमानभूतकोकिलालापवत्तादात्मिकत्वेनातिश्राव्यत्द्योतनार्थं वसन्तस्य शिशिरानुजन्मत्वेन व्यपदेशः ॥ १३६ ॥

अन्वयः--शिशिरानुजन्मनः ऋतोः अधिश्रीः यथा दूरविकस्वरैः पिकस्वरैः (तथा) सा विदर्भजन्मा इति ईरितैः नैषधसूनृतामृतैः भृशम् उल्ललास।

हिन्दी--शिशिर के अनन्तर उत्पन्न होने वाले ऋतु (वसंत) की प्रचुर-शोभा दूर तक कूजित होते कोकिल के स्वरों से जिस प्रकार विशेष उल्लसित होती है, उसी प्रकार वह वैदर्भी (विदर्भोत्पन्ना दमयन्ती) इस प्रकार

(१३१-१३५ श्लोकोक्त) कहे निषधराज (नल) के सत्यवचनामृत से अत्यंत उल्लास को प्राप्त हुई।

टिप्पणी—वसंतश्री की विशिष्टता कोकिलस्वर से पुष्ट होती है, इसी प्रकार दमयंती को प्रिय के सत्य और दृढ़ प्रेम से युक्त वचन सुधाधारासम आनन्ददायक लगे और वह प्रसन्नता से जैसे नाच उठी। विद्याधर ने छेकानुप्रास और उपमा का निर्देश किया है। मल्लिनाथ की टिप्पणी है कि इस श्लोक में सूनृत (सद्‌वचनों) को कोकिलालाप के सदृश कहा गया है, इस तादात्म्य के द्वारा उनकी अत्यंत श्रवणीयता प्रतिपादनार्थ शिशिर के अनुजन्मारूप में वसंत का निर्देश किया गया है। शिशिराच्छादिता प्रकृति वसन्त में रमणीयतर हो जाती है। शिशिर का सूनापन, तदनंतर वसंतश्री। नारायण का कथन है कि पिकस्वर से समानता बताकर नल के वचनों का कामोद्‌दीपक होना सूचित किया गया है। भाव यही है कि तुषाराच्छादिता नलिनी की भाँति मुरझायी दमयन्ती नल-वचनामृतधाराओं को पाकर उल्लसित हो गयी॥

नलं तदावेत्य तमाशये निजे घृणां विगानञ्च मुमोच भीमजा।
जुगुप्समाना हि मनो द्रुतं तदा सतीधिया दैवतदूतधावि सा॥१३७॥

जीवातु—नलमिति। तदा नलस्य स्वरूपगोपनकाले दैवतदूते धावति प्रवर्तत इति दैवतदूतधावि यथा तथा द्रुतं मनः सतीधिया पतिव्रतात्वाभिमानेन हेतुना जुगुप्समाना बीभत्समाना भीमजा तदा नलस्य स्वरूपकथनकाले तं दूतं नलमवेत्य बुद्‌ध्वा निजे आशये घृणां परपुरुष इति जुगुप्सां विगानमात्मनिन्दां च मुमोच॥ १३७॥

अन्वयः—तदा तं नलं निजे आशये अवेत्य तदा दैवतदूतधावि द्रुतं मनः सतीधिया जुगुप्समाना सा भीमसुता घृणां विगानं च मुमोच।

हिन्दी—तब (नल के प्रकट हो जाने पर) उस नल को अपने मन में समझकर उस समय (नल के स्वरूप प्रकट न होने पर) देवों के दूत के प्रति दौड़ने वाले चंचल मन को सती (प्रतिव्रता नारी) की दृष्टि से घृणित मानती उस भीमपुत्री (दमयंती) ने (मन के प्रति) घृणा और निंदा की भावना का परित्याग कर दिया।

टिप्पणी—जब तक दमयंती को यह ज्ञान न हुआ था कि देवदूत के रूप

में उपस्थित व्यक्ति नल है, वह अपने मन को घृणा और निंदा का आस्पद मानने लगी थी, क्योंकि उसको लग रहा था यह मन नलातिरिक्त व्यक्ति के प्रति—देवदूत के प्रति आकृष्ट हुआ (नै० च० ८।१—दृशा पपुस्ताः सुदृशः समस्ताः सुता च भीमस्य ।)। उसने परपुरुष से बातचीत की। यह तो सतीधर्म नहीं है कि वह जिस-किसी के प्रति आकृष्ट होती फिरे और जिस-तिस से संवाद की स्थिति बना ले। इसलिए यह समझकर कि नलातिरिक्त पुरुष देवदूत के प्रति व्यवहार कर मन ने बड़ा घृणित और निंदनीय कार्य किया है, दमयन्ती मन को निंदा कर रही थी और उससे घृणा कर रही थी। अब जब वह यह जान गयी कि देवदूत नल ही है, उसका निर्धारित प्रियपति, तो अपने मन—आशय के प्रति उसकी घृणा-निंदा-भावना समाप्त हो गयी। उसे हर्ष हुआ कि मेरा मन दुष्ट नहीं है, साधु ही है। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ॥ १३७ ॥

मनोभुवस्ते भवितां मनः पिता निमज्जयन्नेनसि तन्न लज्जसे।
अमुद्रि सत्पुत्रकथा त्वयेति सा स्थिता सती मन्मथनिन्दिनी धिया॥

जीवातु—मनोभुव इति। हे मन्मथ ! मनोभुवो मनोजन्यस्य ते भाविनां संसारिणां मनः पिता, तत् पितरं मनः एनसि एवं दुश्चिन्तापापे निमज्जयन्न लज्जते। त्वया एवं पितृद्रोहिणा सत्पुत्राणां कथा पितृभक्तताख्यातिरमुद्रि मुद्रिता निवारिता इत्येव सा भैमी धियान्तःकरणेन मन्मथनिन्दिनी सती स्थिता। तूष्णीं स्थिता सती कथञ्चित् किञ्चिदुवाचेत्यर्थः ॥ १३८ ॥

अन्वयः—भवितां मनः ते मनोभुवः पिता, तत् एनसि निमज्जयन् न लज्जसे ? त्वया सत्पुत्रकथा अमुद्रि,—इति धिया मन्मथनिन्दिनी सती सा स्थिता।

हिन्दी—संसारियों का मन तुझ मन में उत्पन्न होने वाले (मन्मथ) का पिता है, उस (मन) को पाप में डुबाते हुए तुझ (मन्मथ) को लज्जा नहीं आती ? तुने (मन्मथ ने) सत्पुत्रों की कथा समाप्त कर दी,—इस बुद्धि स (पहिले) मन्मथ (मन को डुबाने वाले काम) की निन्दा करती (अब) वह (दमयंती) ठहर गयी।

टिप्पणी—नल स्वरूप-प्रकाशन से पूर्व दमयन्ती मन्मथ को कुपुत्र के रूप

में उलाहना दे रही थी कि उसने तो सपूतों की कहानी ही समाप्त कर दी कि सुपुत्र होने से पितृगण पुण्यलोकों को प्राप्त करते हैं, क्योंकि मनोजन्मा काम तो अपने जनक मन को ही परपुरुष के प्रति आकृष्ट कर पाप में डूबाकर नरकभागी बना रहा था। अब उसने नल को पहिचान कर ऐसा कामनिन्दन भी छोड़ दिया। विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार ॥ १३८ ॥

प्रसूनमित्येव तदङ्गवर्णना न सा विशेषात् कतमत्तदित्यभूत्।
तदा कदम्ब निरवर्णि रामभिर्मुदश्रुणा प्रावृषि हर्षमागतैः ॥१३९॥

जीवातु--प्रसूनमिति। सा प्रसिद्धा तदङ्गवर्णना भैमीशरीरस्तुतिः प्रसूनं सामान्यतः पुष्पमेवाभूत्, किन्तु तत्प्रसूनं कतमत् किंजातीयमिति विशेषात् विशेषोल्लेखान्नाभूत्। तत्काले मुदश्रुणा प्रावृषि वर्षासु आनन्दवाष्पवर्षे सतीत्यर्थः। हर्षं विकासमागतैः प्रावृषेण्यत्वात् कदम्बकुसुमविकासस्येति भावः। लोमभिः लोमव्याजेनेत्यर्थः। कदम्बं कदम्बकुसुममिति निरवर्णि निरैक्षि प्रत्यक्षेणैवालक्षीत्यर्थः। 'निर्वर्णनन्तु निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम्' इत्यमरः। तदा पुलकितं तदङ्गं बालकदम्बकल्पमासीदित्यर्थः। एतच्च 'स्तम्भप्रलयरोमाञ्चाः स्वेदो वैवर्ण्यवेपथू। अश्रुवैस्वर्यमित्यष्टौ सात्त्विकाः परिकीर्त्तिताः।' इत्युक्तसकलसात्त्विकोपलक्षणमिति द्रष्टव्यम्। तदङ्गस्य कदम्बाभेदोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥ १३९ ॥

अन्वयः---सा तदङ्गवर्णना प्रसूनम् कति एव अभूत, तत् कतमत् इति न, तदा मुदश्रुणा हर्षम् आगतैः रोमभिः आवृषि कदम्बं निरवर्णि।

हिन्दी---वह (पूर्वोक्त) उस (दमयन्ती) के अंगों का वर्णन 'फूल' (दमयन्ती के अंग एक फूल है)—ऐसा ही हुआ था, वह (फूल) कौन-सा है—यह नहीं, उस समय (नल ज्ञानानन्तर) प्रसन्नता के आँसू के कारण हर्ष में आये रोओं के द्वारा (रोमपुलक हो जाने से) वर्षा में फूला कदम्ब है यह—ऐसा वर्णन हुआ।

टिप्पणी—नल-ज्ञान से दमयन्ती रोमांचित हो उठी और उसका रूप वर्षा में फूले कदंब-जैसा लगने लगा। भाव यह कि प्रसन्नता के कारण दमयन्ती के नयनों में आँसू आ गये और वह रोमांचित हो गयी। मल्लिनाथ के अनुसार रोमांच और अश्रु नामक सात्त्विक भावों का चित्रण, अतिशयोक्ति अलंकार,

में उलाहना दे रही थी कि उसने तो सपूतों की कहानी ही समाप्त कर दी कि सुपुत्र होने से पितृगण पुण्यलोकों को प्राप्त करते हैं, क्योंकि मनोजन्मा काम तो अपने जनक मन को ही परपुरुष के प्रति आकृष्ट कर पाप में डुबाकर नरकभागी बना रहा था। अब उसने नल को पहिचान कर ऐसा कामनिन्दन भी छोड़ दिया। विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार ॥ १३८ ॥

प्रसूनमित्येव तदङ्गवर्णना न सा विशेषात् कतमत्तदित्यभूत् ।
तदा कदम्ब निरवर्णि रामभिर्मुदश्रुणा प्रावृषि हर्षमागतैः ॥१३९॥

जीवातु--प्रसूनमिति। सा प्रसिद्धा तदङ्गवर्णना भैमीशरीरस्तुतिः प्रसूनं सामान्यतः पुष्पमेवाभूत्, किन्तु तत्प्रसूनं कतमत् किंजातीयमिति विशेषात् विशेषोल्लेखान्नाभूत्। तत्काले मुदश्रुणा प्रावृषि वर्षासु आनन्दबाष्पवर्षे सतीत्यर्थः। हर्षं विकासमागतैः प्रावृषेण्यत्वात् कदम्बकुसुमविकासस्येति भावः। लोमभिः लोमव्याजेनेत्यर्थः। कदम्बं कदम्बकुसुममिति निरवर्णि निरैक्षि प्रत्यक्षेणैवालक्षीत्यर्थः। 'निर्वर्णनन्तु निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम्' इत्यमरः। तदा पुलकितं तदङ्गं बालकदम्बकल्पमासीदित्यर्थः। एतच्च 'स्तम्भप्रलयरोमाञ्चाः स्वेदो वैवर्ण्यवेपथू। अश्रुवैस्वर्यमित्यष्टौ सात्त्विकाः परिकीर्त्तिताः।' इत्युक्तसकलसात्त्विकोपलक्षणमिति द्रष्टव्यम्। तदङ्गस्य कदम्बाभेदोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥ १३९ ॥

अन्वयः--सा तदङ्गवर्णना प्रसूनम् इति एव अभूत्, तत् कतमत् इति न, तदा मुदश्रुणा हर्षम् आगतैः रोमभिः आवृषि कदम्बं निरवर्णि।

हिन्दी--वह (पूर्वोक्त) उस (दमयन्ती) के अंगों का वर्णन 'फूल' (दमयन्ती के अंग एक फूल है)--ऐसा ही हुआ था, वह (फूल) कौन-सा है--यह नहीं, उस समय (नल-ज्ञानानन्तर) प्रसन्नता के आँसू के कारण हर्ष में आये रोओं के द्वारा (रोमपुलक हो जाने से) वर्षा में फूला कदम्ब है यह--ऐसा वर्णन हुआ।

टिप्पणी--नल-ज्ञान से दमयन्ती रोमांचित हो उठी और उसका रूप वर्षा में फूले कदंब-जैसा लगने लगा। भाव यह कि प्रसन्नता के कारण दमयन्ती के नयनों में आँसू आ गये और वह रोमांचित हो गयी। मल्लिनाथ के अनुसार रोमांच और अश्रु नामक सात्त्विक भावों का चित्रण, अतिशयोक्ति अलंकार,

क्योंकि दमयन्ती-अंग को कदंब कहा गया। विद्याधर ने अतिशयोक्ति और भावोदय अलंकार का निर्देश किया है ।। १३९ ।।

मयैव संबोध्य नलं व्यलापि यत्स्वमाह मद्‌बुद्धमिदं विमृश्य तत्।
असाविति भ्रान्तिमसाद्दमस्वसुः स्वभाषितस्वोद्भ्रमविभ्रमक्रमः ।।१४०।।

जीवातु—मयेति। मया नलमेव सम्बोध्य व्यलापीति यत् तदिदं मद्विलपितं विमृश्यालोच्यासौ नलः मद्‌बुद्धं स्वसम्बोधनलिङ्गेन मया ज्ञातमेव स्वमात्मानमाह। 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वम्' इत्यमरः। अनया ज्ञातस्य मे किं गोपनेनेति मत्वा नलोऽहमिति कथितवानित्यर्थः। आहेति भूते णलन्तभ्रमादिति वामनः। अत्र तु वर्तमानसामीप्याद्वा गतिरिति। दमस्वसुः या भ्रान्तिस्तां भ्रान्तिमसौ नलः स्वेन भाषितः कथितः स्वोद्भ्रमविभ्रमाणां स्वोन्मादविलसितानां क्रमः 'अये प्रिये' इत्यादिश्लोकोक्तप्रकारो येन स सन् असात् असासीत् अच्छैत्सीदित्यर्थः। स्यतेर्लुङि 'विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः' इति वा सिचो लुक्। उन्मादादात्मप्रकाशनमिति नलवाक्यादेवावगमात्तु स्वेन ज्ञात्वा दूतभ्रान्तिर्निवृत्तेत्यर्थः ।। १४० ।।

अन्वयः—मया एव नलं संबोध्य यत् व्यलापि तद् इदं विमृश्य असौ मद्‌बुद्धं स्वम् आह स्वभाषितस्वोद्भ्रमविभ्रमक्रमः दमस्वसुः इति भ्रान्तिम् असात्।

हिन्दी—मैंने (दमयन्ती ने) ही नल को संबोधन करके जो विलाप किया, उसका विचार करके इस (नल) ने मेरे द्वारा ज्ञात अपने को प्रकट किया,—स्वकथित को अपने उन्माद की विलासलीला बताकर दम की भगिनी (दमयन्ती) के इस भ्रम को नल ने दूर किया।

टिप्पणी—नल ने आत्मप्रकाशन किया। दमयन्ती ने समझा कि उसने जो विलाप (९।८८-१००) किया, उससे द्रवीभूत हो उस नल ने अपने को प्रकट कर दिया (९।१०१)। नल ने कदाचित् यह भी समझ लिया था कि जब दमयन्ती उसे पहिचान ही गयी तो छिपाने से लाभ भी क्या ? और अपना नाम बता दिया—'पुरस्त्वयालोकि नमन्नयं न किं नलः ?' पर नल ने यह कहकर कि उसने आत्म-प्रकाशन करके अच्छा नहीं किया, यह सब मोहमयोर्मिनिर्मित (मोह में पड़कर) हुआ (९।१२२-१२७), दमयन्ती के

उपर्युक्त भ्रम को दूर कर दिया। नल ने स्पष्ट कर दिया कि उसने दमयन्ती के संमुख आत्मप्रकाशन भ्रांत होकर किया; और इससे दमयन्ती को तुष्टि हुई कि उसके अभिलाषजनित भ्रम के कारण नल ने अपना नाम कह डाला। विद्याधर, के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छेकानुप्रास ॥ १४० ॥

विदर्भराजप्रभवा ततः परं त्रपासखी वक्तुमलं न सा नलम्।
पुरस्तमूचेऽभिमुखं यदत्रपा ममज्ज तेनैव महाह्रदे ह्रियः ॥१४१॥

जीवातु—विदर्भेति। सा विदर्भराजप्रभवा वैदर्भी ततः परं नलोऽयमिति ज्ञानानन्तरं त्रपायाः सखी लज्जिता सती नलं वक्तुं साक्षात् सम्भाषितुं नालं न शशाक। कुतः, पुरः पूर्वमत्रपा निस्त्रपा सती तं नलमभिमुखं यथा तथा ऊचे इति यत् तेनैव हेतुना ह्रियो महाह्रदे महति लज्जाह्रद इत्यर्थः। घटस्य रूपमितिवत् कथञ्चिद्भेदनिर्देशः। ममज्ज मग्ना ॥ १४१ ॥

अन्वयः—ततः परं सा विदर्भराजप्रभवा त्रपासखी नलं वक्तुम् अलं न; पुरः अत्रपा यत् तम् अभिमुखम् ऊचे तेन एव ह्रियः महाह्रदे ममज्ज।

हिन्दी—तत्पश्चात् (नल-निश्चय के अनंतर) वह विदर्भराज की पुत्री (दमयन्ती) लज्जा की मित्र (लज्जित) हो नल से वार्तालाप करने में समर्थ न हो सकी; पहिले (नल-ज्ञान न होने पर) लज्जाहीन हो जो उस (नल) के समक्ष कह गयी थी, उससे ही लज्जा के विशाल तालाब में डूब गयी।

टिप्पणी—जब तक दमयन्ती को यह निश्चय नहीं था कि यह दूत नल है, तब तक दमयन्ती उसे दूत समझ प्रणय, रोष आदि से संबद्ध ऐसी अनेक बातें कह गयी थी, जिन्हें एक कुमारी बाला सामान्यतः न कह पाती। अब जब यह निश्चय हो गया कि यह नल ही संमुख है, तब उसे उस सबका विचार कर बड़ी लाज लगी कि वह क्या-क्या बक गयी? अब लज्जित हो वह नल से कुछ बोल ही न पायी। थोड़ी लज्जा होने पर तो कदाचित् कुछ कह भी पाती, पर वह तो लज्जासागर में ही डूब गयी थी। कुछ न बोल पायी। लज्जा दमयन्ती की सखी जो थी, वह पल भर को भी क्यों उसे छोड़ती? विद्याधर के अनुसार विरोधाभास अलंकार ॥१४१॥

मदापवार्यापि न दातुमुत्तरं शशाक सख्याः श्रवसि प्रियाय सा।
विहस्य सख्येव तमब्रवीत्तदा ह्रियाधुना मौनधना भवत्प्रिया ॥१४२॥

जीवातु—यदेति। सा भैमी, यदा अपवार्य व्यवधायापि सख्याः श्रवसि श्रोत्रे प्रियायोत्तर दातुं न शशाक तदा सख्येव विहस्य तं नलमब्रवीत्। किमिति अधुना भवत्प्रिया भैमी ह्रिया मौनधना बद्धमौना, न तु वैराग्याद्द्वेषाद्वेति भावः ॥ १४२ ॥

अन्वयः—सा यदा अपवार्य अपि सख्याः श्रवसि प्रियाय उत्तरं दातुं न शशाक तदा सखी एव विहस्य तम् अब्रवीत्—अधुना भवत्प्रिया ह्रिया मौनधना।

हिन्दी—वह (दमयंती) जब आड़ का सहारा लेकर भी अथवा मुंह को कुछ तिरछे करके सखी के कान में भी प्रिय (नल) को उत्तर देने में समर्थ न हो पायी, तब सखी ही हंसकर उस (नल) से बोली कि अब आपकी प्रिया लज्जा से मौन हो गयी है।

टिप्पणी—सामान्यतया अभिजात नारियाँ—रानियां, राजकुमारियाँ आदि अपनी दासियों और सखियों के माध्यम द्वारा पुरुषों से वार्तालाप किया करती थीं, किन्तु लज्जाधिक्य के कारण दमयंती उस समय ऐसा भी न कर सकी जैसा कि वह पहिले कर चुकी थी (नै० च० ९।३०)। तब उसकी सखी ने स्पष्ट कर दिया कि नल की प्रिया दमयन्ती किसी विराग अथवा द्वेष के कारण नहीं, अपितु लज्जा के कारण चुप्पी साध बैठी है। यह सखी का परिहास भी है कि पहिले तो दमयन्ती इतना सब कह गयी, अब चित्रलिखित जैसी—अथवा पुत्तलिका जैसी चुप बैठी है। 'अपवार्य कथन' अर्थात् 'अपवारित' एक प्रकार की विशिष्ट शैली की नाटयोक्ति होती है, जिसे 'गूढभावसंयुक्त वचन' 'कहा गया है। धनंजय ने (दशरूपक १।६३-६६) अपवादित को 'नियत-श्राव्य', अर्थात् विशिष्ट व्यक्तियों के द्वारा सुनी जाने योग्य उक्ति का एक भेद माना है। अपवारित अर्थात् मुंह फेर कर कहना। दमयंती ने ऐसी शैली का भी उपयोग न किया, इतनी अधिक लजा रही थी वह। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ १४२ ॥

पदातिथेयाँल्लिखितस्य ते स्वयं वितन्वती लोचननिर्झरानियम्।
जगाद यां सैव मुखान्मम त्वया प्रसूनबाणोपनिषन्निशम्यताम् ॥१४३॥

जीवातु—पदेति। इयं भवत्प्रिया लिखितस्य चित्रगतस्य ते पदयोरातिथेयानतिथिषु साधून् पाद्यभूतानित्यर्थः। 'पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्'। लोचन-

निर्झरान् बाष्पपूरान् वितन्वती यां प्रसूनबाणोपनिषदं कामरहस्यं जगाद त्वदागमात् प्रागिति शेषः सैव प्रसूनबाणोपनिषन्मम मुखात् त्वया स्वयं निशम्यतां श्रूयताम् ॥ १४३ ॥

अन्वयः--इयं लिखितस्य ते पदातिथेयान् लोचननिर्झरान् वितन्वती यां जगाद, सा एव प्रसूनबाणोपनिषद् त्वया मम मुखात् निशम्यताम् ।

हिन्दी—यह (दमयंती) चित्र में अंकित तुम्हारे (नल के) चरणों के आतिथेय (अतिथि-सत्कार के निमित्त पाद्य—चरणोदक) नेत्रों के निर्झरों (आँसुओं) का प्रसार करती जिसे बोली थी, वही कुसुमबाण (काम) की उपनिषत् (कामरहस्य) तुम मेरे (सखी के) मुँह से सुनो ।

टिप्पणी—दमयन्ती के एकदम चुप्पी साध लेने पर उसकी अंतरंग सखी ने समयोचितता को ध्यान में रखकर नल से कहा कि इस समय दमयंती तो कुछ बोलेगी नहीं, किन्तु पहिले नल के चित्र के संमुख अश्रुधारा बहाती कामाद्वैत की प्रकाशिका जिस उपनिषत अर्थात् कामरहस्य का वह उद्घाटन किया करती थी, वही अब यह उसकी अंतरंग सखी बताती है । नल को उसे ही सुनना चाहिए । उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मरहस्य प्रतिपादक ग्रन्थविशेष । यहाँ काम-ब्रह्म के रहस्य-प्रतिपादक आलाप को उपनिषद् कहा गया । यह भी भाव है कि दमयंती ने वह, जो भी कहा था, कामपीडिता होने से कहा था । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ १४३ ॥

असंसयं स त्वयि हंस एव मां शशंस न त्वद्विरहाप्तसंशयाम् ।
क्व चन्द्रवंशस्य वतंस ! मद्वधान्नृशंसता संभविनी भवादृशे ॥१४४॥

जीवातु—असंशयमिति । हे चन्द्रवंशस्य वतंसावतंस ! 'वष्टि वागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' इत्यकारलोपः । स हंसः त्वद्विरहेणाप्तसंशयां प्राप्तप्रायसन्देहां मां त्वयि विषये न शशंसैव असंशयम् । अन्यथा भवादृशे त्वद्विधे 'त्यदादिषु' इत्यादिना कञ्प्रत्ययः । 'आ सर्वनाम्न' इत्याकारादेशः । मद्वधाद्धेतोर्नृशंसता घातुकत्वं स्त्रीवधपातकित्वमिति यावत् । 'नृशंसो घातुकः क्रूरः' इत्यमरः । क्व सम्भविनी सम्भवति न क्वापि सम्भवितेत्यर्थः । सज्जनस्य दयानिधेस्तव नेदृक्कार्यं युक्तमिति भावः ॥ १४४ ॥

अन्वयः—सः हंसः एव त्वद्विरहाप्तसंशयां मां त्वयि असंशयं न शशंसः चन्द्रवंशस्य अवतंस, भवादृशे मद्वधात् नृशंसता क्व संभविनी ?

हिन्दी—उस हंस (स्वर्णहंस) ने ही तुम्हारे (नल) के वियोग के कारण जिसका जीवन संशयास्पद हो उठा है, ऐसी मुझको तुम (नल) से निःसंदेह नहीं कहा, अन्यथा हे चन्द्रकुल के अलंकार (नल), आप जैसे (श्रेष्ठपुरुष) में मेरे (नारी दमयंती के) वध की निर्दयता कहाँ सम्भव है ?

टिप्पणी—दमयंती जो-जो कहा करती थी, उसे सखी ने तेरह श्लोकों (१४४-१५६) में बताया। उसने बताया कि विरह-पीडिता दमयंती कहा करती थी कि जो स्वर्णहंस नल-दूत के रूप में दमयंती के पास आया था, उसने निःसन्देह नल के पास लौटकर उन्हें नहीं बताया होगा कि उसके विरह में संतप्त दमयंती के प्राणों का भी संशय हो गया है, ऐसी दुःसह व्यथा है उसकी ! यदि हंस ने नल को बताया होता तो चन्द्र जैसे अमृतकिरण वंश का अवतंस नल क्या कभी प्रिया की रक्षा करने न आता ? पुण्यश्लोक नल तो निर्दोष पुरुष का वध भी नहीं कर सकता, वह यदि सूचित होता तो व्यर्थ स्त्रीहत्या का कारण क्यों बनता ? निश्चय ही दमयंती की पीड़ा हंसदूत ने नल को नहीं बतायी। वह ऐसा निर्दय हो ही नहीं सकता। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और हेतु अलंकार ॥ १४४ ॥

जितस्त्वयास्येन विधुः स्मरः श्रिया कृतप्रतिज्ञौ मम तौ वधे कुतः।
तवेति कृत्वा यदि तज्जितं मया न मोघसङ्कल्पधराः किलामराः॥१४५॥

जीवातु—जित इति। विधुश्चन्द्रस्त्वया आस्येन जितः। स्मरः श्रिया सौन्दर्येण जितः। कुतः कारणात् तौ विधुस्मरौ मम वधे कृतप्रतिज्ञौ त्वयि जेतरि स्थिते निरपराधां मां किमिति मारयत इत्यर्थः। अथ तवेति त्वदीयेति कृत्वा यदि तर्त्तर्हि मया जितं त्वां विना जीवनाभावात् मरणमेव मे प्रियमित्यर्थः। सेत्स्यति चेत्तदित्याह अमरा मोघसङ्कल्पस्य धरन्तीति धराः, 'पचाद्यच्' न किल। सत्यसङ्कल्पाः खलु देवाः, देवौ च विधुस्मराविति भावः। अत्र नलापकारासमर्थयोर्विधुस्मरयोस्तदीयजनापकारकथनात् प्रत्यनीकालङ्कारः। 'बलिनः प्रतिपक्षस्य प्रतीकारे सुदुष्करे। यस्तद्दोषतिरस्कारः प्रत्यनीकं तदुच्यते।' इति लक्षणात् ॥ १४५ ॥

अन्वयः—त्वया आस्येन विधुः श्रिया स्मरः जितः, कुतः तौ मम वधे कृतप्रतिज्ञौ ? यदि इति तव कृत्वा, तत् मया जितम्, अमराः मोघसङ्कल्पधराः किल न ।

हिन्दी—तुम (नल) ने मुख से चन्द्र को और शोभा से काम को जीत लिया है, किस कारण वे दोनों (चन्द्र-काम) मेरे वध के लिए प्रण किये बैठे हैं ? यदि ऐसा (प्रण) तुमको करके (नल की प्रिया होने के संबंध से) है, तो मैं जीत गयी, क्योंकि देव निष्फल संकल्प-धारण तो निश्चयतः नहीं करते ।

टिप्पणी—विरहिणी दमयंती को चन्द्र और काम दोनों कष्ट देते रहे हैं, जैसे वे उसकी हत्या करना चाहते हैं। नल ने दोनों को पराजित किया है। मुख-शोभा से चन्द्र को और शरीर संपन्नता से काम को। वे जो दमयंती के प्राणलेवा शत्रु हो रहे हैं, वह इस कारण कि नल पर तो उनका वश चला नहीं, अब उसकी प्रिया दमयंती के प्राण लेकर उसका प्रतीकार लें। दमयंती सोचती थी कि यदि यह संभावना ठीक है तो दमयंती की जीत समझिए, क्योंकि देवों का संकल्प—मानस-विचार झूठा हो नहीं सकता। उन्होंने दमयंती को नल प्रिया मान लिया तो यह झूठा हो ही नहीं सकता। दमयंती नलप्रिया होगी ही। दमयन्ती की जीत यही है कि वह नलप्रिया बने। यह भी भाव है कि नल ने जिन चन्द्र-काम को अपने अवयवों से ही जीत लिया, उन्हें उसकी अर्धांगिनी तो जीत ही लेगी। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ प्रत्यनीक अलंकार है, क्यों कि नल के अपकार में असमर्थ चन्द्र-काम का कथन उस नल की प्रिया के अपकारक रूप में हुआ है। प्रत्यनीक का लक्षण ही है कि बली प्रतिपक्षी का अपकार सुदुष्कर होने पर उससे संबद्ध का तिरस्कार। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-प्रत्यनीक-काव्यलिंग अलंकार ॥ १४५ ॥

निजांशुनिर्दग्धमदङ्गभस्मभिर्मुधा विधुर्वाञ्छति लाञ्छनोन्मृजाम् ।
त्वदास्यतां यास्यति तावतापि किं वधूवधेनैव पुनः कलङ्कितः ॥१४६॥

जीवातु—निजेति। विधुश्चन्द्रः निजैरंशुभिः निर्दग्धस्त मदङ्गस्य मच्छरीरस्य भस्मभिर्लाञ्छनोन्मृजां स्वकलङ्कपरिमार्जनम् 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' । मुधा वृथैव वाञ्छति, नलमुखसाम्यार्थमिति शेषः । तथा हि-हे प्रिये ! ववधूवेन

मद्वधपातकेनैव पुनः कलङ्कितः सन् तावतापि मदङ्गभस्मनोन्मार्जनेनापि त्वदास्यतां त्वत्तुल्यतामित्यर्थः। यास्यति प्राप्स्यति किम्? न यास्यत्येवेत्यर्थः। अत्र विधोर्नलास्यसाम्याय भैम्यङ्गभस्मभिः स्वकलङ्कमार्जनाद्वधूवधकलंकप्राप्तिकथनादनर्थोत्पत्तिरूपो विषमालंकारः ॥ १४६ ॥

अन्वयः-विधुः निजांशुनिर्दग्धमदङ्गभस्मभिः लाञ्छनोन्मृजां मुधा वाञ्छति, वधूवधेन पुनः कलङ्कितः किं तावता अपि त्वदास्यतां यास्यति ?

हिन्दी—चन्द्रमा अपनी किरणों से जला डाले मेरे अंगों की भस्म से अपने कलंक का मार्जन व्यर्थ चाहता है, नारी हत्या से फिर कलंकित हो क्या उतने से भी तुम्हारे (नल के) मुख के साम्य को प्राप्त कर सकेगा? (नहीं कर सकेगा) ।

टिप्पणी—भाव यह है कि चन्द्र दमयन्ती को अत्यंत पीडित करता है। कल्पना है कि वह दमयन्ती की देह जलाकर उसकी राख से माँज-रगड़ कर अपना कलंक माफ करना चाहता है। पर, चन्द्र का यह प्रयत्न झूठा और वृथा है, क्योंकि राख से माँजे तो चन्द्र-कलंक मिटेगा नहीं, जिस पर वह सोचता है कि कलंक हट जाने से नल के मुख की समता प्राप्त कर लेगा, उलटे स्त्री हत्या के पाप से और द्विगुणित कलंकी वह हो जायेगा। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में विषम अलंकार है, क्योंकि चन्द्र को नलमुखसाम्य की प्राप्ति के निमित्त दमयन्ती के अंगों की भस्म से अपने कलंक का मार्जन करते नारी-वध कलंक की प्राप्ति का कथन हुआ है, जो अनर्थोत्पत्तिरूप है। विद्याधर ने छेकानुप्रास और अतिशयोक्ति का निर्देश किया है ॥१४६॥

प्रसीद यच्छ स्वशरान् मनोभुवे स हन्तु मां तैर्धुतकौसुमाशुगः।
त्वदेकचित्ताहमसून् विमुञ्चती त्वमेव भूत्वा तृणवज्जयामि तम् ॥१४७॥

जीवातु—प्रसीदेति। हे प्रिय ! प्रसीद स्वशरान्मनोभुवे कालाय यच्छ देहि। 'पाघ्रा'—दिना दाणो यच्छादेशः स कामो धृतकौसुमाशुगः त्यक्तकुसुमबाणैस्तैस्वच्छैर्मां हन्तु हिनस्तु। तस्योपयोगमाह अहं त्वय्येकस्मिश्चित्तं यस्याः सा सती असून् प्रणान् विमुञ्चती त्यजन्ती, 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पान्नुमभावः। अत एव त्वमेव भूत्वा, 'यं यं वापि स्मरन् भावम्' इत्यादिगीताप्रामाण्यादिति भावः। तं कामं तृणवत्तृणतुल्यं जयामि जेष्यामीत्यर्थः। आशंसायां वर्तमानवत्प्रत्ययः ॥ १४७ ॥

अन्वयः—प्रसीद, स्वशरान् मनोभुवे यच्छ, धुतकौसुमाशुगः सः तैः यां हन्तु, त्वदेकचित्ता असून् विमुञ्चती अहं त्वम् एव भूत्वा तं तृणवत् जयानि।

हिन्दी—प्रसन्न हो जाओ, अपने (नल के) बाणों को मनोभू (काम) को दे दो, वे कुसुम-बाण छोड़ता वह (काम) उन (बाणों) से मुझे मार डाले, तुझ (नल) में मन लगाकर प्राण छोड़ती मैं (तुझ में विलीन हो) तेरा ही रूप प्राप्त कर उसे (काम को) तृणवत्—बिना श्रम के जीत लूँगी।

टिप्पणी—पीडित दमयन्ती चाहती है कि काम उसके प्राण ले ले, पर अपनी बाणों से नहीं, नल के द्वारा प्रदत्त बाणों से। नल के बाणों से नल का ही ध्यान करती दमयन्ती यदि मृत्यु को प्राप्त होगी, तो तद्रूप ही हो जायेगी, क्यों कि मरते समय जिसकी भावना जैसी होगी, उसे वैसा ही रूप प्राप्त होगा। नल रूप से पुनर्जन्म प्राप्त करके दमयन्ती काम को जीत ही लेगी अनायास, क्योंकि नल से तो काम सदा पराजित है। यह भी कल्पना है कि काम के बाण फूलों के हैं, सो कोमल होने से वे घातक नहीं है, केवल पीडा देते हैं। यदि नल लौह बाण उसे दे दे तो उनके प्रहार से शीघ्र मर कर दमयन्ती को व्यथा से मुक्ति मिलेगी और पुनर्जन्म में नल रूप में उत्पन्न हो वह काम-जय करेगी। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और उपमालंकार ॥ १४७ ॥

श्रुतिः सुराणां गुणगायनी यदि त्वदङ्घ्रिमग्नस्य जनस्य किं ततः।
स्तवे रवेरप्सु कृताप्लवैः कृते न मुद्वती जातु भवेत् कुमुद्वती ॥१४८॥

जीवातु—ननु श्रुतयोऽपि देवानेव गायन्त किमिति तत्तेषु वेदवेद्येषु विगानमत आह—श्रुतिरिति। श्रुतिर्वेदोऽपि सुराणां गुणगायनी गुणस्तोत्र्येव यदि, कर्तरि ल्युट्, टित्त्वात् ङीप्। त्वदङ्घ्रौ मग्नस्य त्वच्चरणैकशरणस्य जनस्य स्वस्येत्यर्थः। ततः किं तैर्देवैः कोऽर्थः इत्यर्थः। तथा हि—अप्सु कृताप्लवैः कृतावगाहैः जनैः रवेरर्कस्य स्तवे स्तोत्रे कृते सति कुमुदान्यस्यां सन्तीति कुमुद्वती कुमुदिनी, 'कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्' टिलोपे ङीप्। जातु कदापि मुदस्यातीति मुद्वती मोदवती विकासवती न भवेत्, कथमपीति शेषः। दृष्टान्तालंकारो लक्षणन्तूक्तम् ।।१४८॥

अन्वयः—श्रुतिः यदि सुराणां गुणगायनी, त्वदङ्घ्रिमग्नस्य जनस्य ततः किम्? अप्सु कृताप्लवैः रवेः स्तवे कृते कुमुद्वती जातु मुद्वती न भवेत्।

हिन्दी—वेद यदि देवों के गुणों के गायक (स्तुतिकर्त्ता) हैं, तो तुम्हारे (नल के) चरणों में अनुरागी इस जन (दमयन्ती) को उससे (श्रुति-देव-गुण गायन से) क्या प्रयोजन ? (कुछ भी नहीं ।) । जल में स्नान किये व्यक्तियों द्वारा सूर्य की स्तुति किये जाने पर कुमुदिनी कभी प्रसन्न नहीं होती ।

टिप्पणी—नल ने विविध तर्क देते हुए दमयन्ती द्वारा देववरण को उचित ठहराया था, उसका ही निराकरण दमयन्ती का भाव प्रकट करती दमयन्ती को सखी ने बताया कि देव चाहे जितने श्रेष्ठ हों, दमयन्ती तो नल की एकनिष्ठ अनुरागिणी है, देवों से और उनकी गुण-परंपरा से उसे कोई प्रयोजन नहीं। वेदों में अग्नि, इन्द्र आदि देवों की स्तुतियाँ हैं। ऋग्वेद स्तुति-प्रधान है। उसकी प्रथम ऋचा 'अग्निमीडे...' इत्यादि अग्नि की स्तुति है। सो यदि यह कल्पना की जाय कि श्रुतिस्तुत देवों की अवहेलना उचित नहीं, तो ठीक नहीं। सूर्य और कुमुदिनी के उदाहरण द्वारा इस स्पष्ट किया गया। सूर्य श्रेष्ठ है, आदि देव है। प्रातः जलाशयों में स्नान कर भक्त उसी की स्तुति किया करते हैं, किंतु चन्द्र की एकनिष्ठ अनुरागिणी कुमुदिनी उन स्तवों को सुनकर सूर्यानुरागिणी नहीं हो जाती। ऐसी ही दमयन्ती की स्थिति है। वह नलानुरागिणी है, उसे वर कर ही प्रसन्न होगी। वस्तुतः बड़ी बात है एकनिष्ठ अनुराग, किसी का अनुकरण नहीं, भले ही वह वेद—जगत्पूज्य क्यों न हो। किसी के द्वारा किसी का गुणगान सुनकर अन्यानुरक्त जन पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मल्लिनाथ-विद्याधर के अनुसार दृष्टांत अलंकार ॥ १४८ ॥

कथासु शिष्ये वरमद्य न ध्रिये ममावनन्तासि न भावमन्यथा ।
त्वदर्थमुक्तासुतयाशु नाथ मां प्रतीपि जीवाभ्यधिक ! त्वदेकिकाम् ॥

जीवातु—कथास्विति । हे नाथ ! शिष्ये कथामात्रशेषा भवामि मरिष्यामीत्यर्थः । शिष असर्वोपयोग इति धातोर्दैवादिकात् प्राप्तकाले कर्तरि लट् । वरं मनाक् प्रियम् अद्य न ध्रिये न स्थास्ये न जिविष्यामीत्यर्थः । धृङ् अवस्थाने इति धातोस्तौदादिकात् प्राप्तकाले कर्तरि लट् । 'रिङ्शयग्लिङ्क्षु' इति रिङादेशः । अन्यथा जीवेन परीक्षणे मम भावमाशयं नावगन्तासि नावगमिष्यसि, गमेर्लुटि सिप् । त्वदर्थे तुभ्यं मुक्तासुतया त्यक्तप्राणतया आशु मां हे जीवाभ्य-

धिक ! अत एव त्वमेवैको मुख्यो यस्यास्तां त्वदेकिकां त्वदेकशरणामित्यर्थः। शैषिके कपि कात्पूर्वस्येकारः। प्रतीहि जानीहि ॥ १४९ ॥

अन्वयः—कथासु शिष्ये वरम्, अद्य ध्रिये न, अन्यथा मम भावं न अवगन्तासि; नाथ, जीवाभ्यधिक, आशु त्वदर्थमुक्तासुतया मां त्वदेकिकां प्रतीहि।

हिन्दी—मैं (दमयंती) कथाओं में शेष रह जाऊँ (मर जाऊँ)—यह अच्छा है, आज रुकूँगी नहीं (मर जाऊँगी), अन्यथा मेरा (दमयन्ती का) आशय तुम (नल) न समझ पाओगे। हे स्वामी, हे जीविताधिक (प्राणाधिक प्रिय नल), शीघ्र अपने (नल के) निमित्त प्राण-त्याग करने से मुझे तुम स्वैकनिष्ठा (एक नलानुरागिणी) मानोगे।

टिप्पणी—दमयंती का आशय है कि यदि नल अब भी यह नहीं समझ रहा है—नहीं मान रहा है कि दमयंती नल की ही अनुरागिणी है, अन्तः अपनी निष्ठा नल को जताने के लिए शीघ्र प्राण देने की बात करती है, जिससे नल को विश्वास हो सके कि कहीं उसका एक मात्र स्वामी है, प्राणों से और जीवन से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। तभी तो दमयंती उसके लिए प्राण भी दे देना चाहती है। तृतीय चरण का पाठांतर है—त्वदर्थमुक्तासुतयासुनाथ। नारायण ने 'सुनाथ' का एक अर्थ शोभनस्वामी किया है और '... सुतया + असुनाथ' पदच्छेद करके असुनाथ अर्थात् प्राणों का स्वामी भी। भाव यह है कि शोभन स्वामी और प्राणों के नाथ का विश्वास प्राप्त करने के लिए सेवक के समान दमयंती भी प्राण देना उचित समझती है। 'असुनाथ' का 'न सुनाथः असुनाथः' विग्रह करके 'बुरास्वामी' भी अर्थ लिया गया है; अर्थात् नल अच्छा स्वामी नहीं है। सुनाथ तो किसी कार्य से सेवक का स्वानुराग जान लेते हैं, पर असुनाथ (बुरास्वामी) अथवा असु-अर्थात् प्राणों का नाथ विना असुव्यय के इस एकनिष्ठानुराग को नहीं समझ पाते। सो दमयंती अब नल के निमित्त प्राण दे देना उचित समझती है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ १४९ ॥

महेन्द्रहेतेरपि रक्षणं भयाद्यदर्थिसाधारणमस्त्रभृद्व्रतम्।
प्रसूनबाणादपि मामरक्षतः क्षपं तदुच्चैरवकीर्णिनस्तव ॥१५०॥

जीवातु—महेन्द्रेति। महेन्द्रहेतेर्वज्रायुधादपि यद्भयं तस्माद्रक्षणं, 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इति क्रमादुभयत्रापादानत्वात् पञ्चमी। अर्थिस्वर्थिमात्रेषु

साधारणमस्त्रभृतां व्रतं प्रसूनमेव बाणो यस्य स कुसुमबाणः कामस्तस्मादपि मां स्त्रियमिति भावः, अरक्षतः अत एवावकीर्णिनः क्षतव्रतस्य। 'अवकीर्णी क्षतव्रतः' इत्यमरः। तव तदुच्चैर्महत् व्रतं क्षतं सर्वाभयदानव्रतिनस्ते पुष्पभृतः स्त्र्युपेक्षणे महत्कष्टमापन्नमित्यर्थः ॥ १५० ॥

अन्वयः—महेन्द्रहेतेः भयात् अपि यत् रक्षणम्, अर्थिसाधारणम् अस्त्रभृद्वृत्तम्; प्रसूनबाणात् अपि माम् अरक्षतः अवकीर्णिनः तव तत् उच्चैः क्षतम्।

हिन्दी—इन्द्र के अस्त्र (वज्र) के भय से भी जो रक्षा है, वह शरणागतों के प्रति समान्य अस्त्रधारियों का व्रत है। कुसुमबाण (काम) के फूल से बाणों से भी मेरी (दमयंती की) रक्षा न करते भग्नव्रत तुम्हारी (नल की) वह बड़ी हानि है।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में बताया गया कि दमयन्ती नलैकनिष्ठा—त्वदेकिका है, नल की ही शरणागता है। कहा जाता है कि अस्त्रधारी योद्धा इन्द्र के वज्र सदृश मारक अस्त्र से भी शरणागतों की रक्षा करते हैं। यह एक सामान्य नियम है। परन्तु नल इस सामान्य का अपरिपालन कर ही रहा है, वह तो इससे भी आगे की भूल कर रहा है, जिससे वह इस सामान्य नियम रूप व्रत-भंग का कारण बनकर अपनी प्रतिष्ठा-हानि का निमित्त बन जायेगा। लोग कहेंगे कि कैसा 'अस्त्रभृत्' है नल कि शरणागता नारी को फूल के बाणों से भी त्राण न दिला सका, किसी भयंकर अस्त्र से क्या त्राण दिलाता? योद्धा नल का बड़ा व्रत भग्न हो जायेगा और निन्दा होगी। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ १५० ॥

तवास्मि मां धातुमप्युपेक्षसे मृषामरं हामरगौरवात् स्मरन्।
अवेहि चण्डालमनङ्गमङ्ग ! तं स्वकाण्डकारस्य मधोः सखा हि सः ॥

जीवातु–तवेति। तवास्मि त्वदीयाहमस्मि, शरणागतत्राणं विहितमिति भावः। एवं सति मां घातुकं शरणानयस्त्रीहन्तारमपीत्यर्थः। 'लषपते' त्यादिना उकञ्, 'न लोके' त्यादिना कर्मणि षष्ठीनिषेधात् द्वितीया। अत एव मृषामरमलीकामरं स्मरममरमिति गौरवादुपेक्षसे हा कष्टम् ! किं तु अङ्ग ! भोस्तमनङ्गं चण्डालमवेहि। कुतः हि यस्मात्सोऽनङ्गः स्वकाण्डकारस्य, स्वेषुकारस्य मधोर्वसन्तस्य पुष्पकरत्वात् स्वस्य पुष्पाशुगत्वाच्चेति भावः। 'काण्डोऽस्त्री

दण्डबाण' इत्यमरः। सखा हि इषुकारस्य चण्डालविशेषत्वात् तत्संसर्गिणोऽपि चण्डाल एवेत्यर्थः ॥ १५१ ॥

अन्वयः—तव अस्मि; हा, मां घातुकम् अपि मृषामरं, स्मरन् अमर-गौरवात् उपेक्षसे, अङ्ग, तम् अनङ्ग चण्डालम् अवेहि, हि सः स्वकाण्डकारस्य मधोः सखा।

हिन्दी—मैं तेरी हूँ; हाय मेरी हत्या करने वाले भी झूठे देवता काम की उपेक्षा तुम (नल) इसके देव होने के गौरव के कारण कर रहे हो। हे प्रिय नल, उस अनंग (काम) को तुम अशरीरी चण्डाल समझो, क्योंकि वह अपने (काम के) काण्डकार (वधार्थ पुष्पबाण का निष्पादक चण्डाल) वसंत का मित्र है।

टिप्पणी—अपनी शरणागता को नल नहीं बचा रहा है, शायद काम की यह उपेक्षा नल उसे देव समझकर कर रहा है, परन्तु उसे ज्ञात होना चाहिए कि काम देवता नहीं है, वह अपदेवता मिथ्यादेव है। वह तो वस्तुतः चण्डाल है, क्योंकि चण्डाल वसन्त का मित्र है। 'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्'—सो चण्डाल का मित्र चण्डाल। वसन्त में पुष्पसंपदा की अभिवृद्धि होती है, अतः वह काम के वधास्त्रों—पुष्पबाणों का निष्पादक हुआ, कामकाण्ड अर्थात् वधास्त्र का कर्त्ता। चण्डाल ही कामकाण्ड (दण्डबाण) का कारक होता है, अतः कामकाण्डकार मधु चण्डाल हुआ, उसका सखा काम भी चण्डाल है, देवता नहीं। चण्डाल भी अंगुल्यादिकर्तन के कारण अनंग होता है—'अंगुल्या-द्यङ्गकर्तनाच्चण्डालोऽप्यनङ्गो भवति।' (नारायण)। अतः नल को उचित है कि अनङ्ग चण्डाल को दण्ड देने में संकोच न करे और स्वैकशरणा दमयन्ती को बचा ले। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ १५१ ॥

लघौ लघावेव पुरः परे बुधैर्विधेयमुत्तेजनमात्मतेजसः।
तृणे तृणेढि ज्वलनः खलु ज्वलन् क्रमात् करीषद्रुमकाण्डमण्डलम् ॥१५२॥

जीवातु—लघावति। बुधैस्तज्ज्ञैः पुरः पूर्वं लघौ लघावेव लघुप्रकारेऽल्प-प्रकार एव। प्रकारे गुणवचनस्ये'ति द्विर्भावः। परे शत्रौ पूर्वादिभ्यो विकल्पात् सर्वनामाभावः। आत्मतेजसः स्वप्रतापस्योत्तेजनमुद्दीपनं विधेयम्। तथा हि—ज्वलनोऽग्निः स नन्द्यादित्वाल्ल्युप्रत्ययः। तृणे ज्वलन् क्रमात्करीषाः शुष्क-गोमयाः, 'गोविड्गोमयमस्त्रियां तत्तु शुष्ककरीषोऽस्त्री' इत्यमरः। तेषां

द्रुमकाण्डानां वृक्षस्कन्धानाञ्च मण्डलं समूहं तृणेढि हिनस्ति दहति खल्वित्यर्थः। तृहि हिंसायां लट् 'रुधादिभ्यः श्नम्' 'तृणह इम्' गुणढत्वादिकार्यम् । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १५२ ॥

अन्वयः—बुधैः लघौ लवौ एव परे पुरः आत्मतेजसः उत्तेजनं विधेयम्, ज्वलनः तृणे ज्वलन् क्रमात् खलु करीषद्रुमकाण्डमण्डलं तृणेढि ।

हिन्दी—पण्डितों को छोटे-से-छोटे ही शत्रु के प्रति पहिले अपने तेज की उत्तेजना करनी चाहिए, अग्नि (पहिले) तिनके में जलता हुआ धीरे-धीरे (क्रम से) निश्चयतः सूखे गोबर (उपले) और वृक्षों के लठ्ठों को जला देता है।

टिप्पणी—यह समझ कर कि काम पुष्पबाण—सुकुमार अस्त्रधारी छोटा, नगण्य चण्डाल है, उसकी उपेक्षा करनी उचित नहीं। समझदार व्यक्ति पहिले अपना तेजोमय रूप—बल छोटे शत्रुओं पर ही प्रकट करते हैं, इसी क्रम से वे बड़े शत्रुओं का भी नाश कर डालते हैं। उदाहरण है अग्नि का, जो पहिले तिनका-घास जला, क्रमशः कण्डे, लकड़ियाँ, मोटे-मोटे वृक्षों के स्कन्ध—कुन्दे-लठ्ठे भी भस्म कर देता है। अतः हीन होने से काम की अवगणना ठीक नहीं। मल्लिनाथ के अनुसार विशेष से सामान्य समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास, विद्याधर ने छेकानुप्रास अर्थान्तरन्यास का निर्देश किया है।

सुरापराधस्तव वा कियानयं स्वयंवरायामनुकम्प्रता मयि ।
गिरापि वक्ष्यन्ति मुखेषु तर्पणादिदं न देवा मुखलज्जयैव ते ॥१५३॥

जीवातु—सुरेति। तव स्वयमेव वृणोतीति स्वयंवराः 'पचाद्यच्'। तस्यां मयि अनुकम्प्रता अनुकम्पित्वं 'नमिकम्पि' इत्यादिना ताच्छील्ये णिनिप्रत्ययः। भावार्थे तल् प्रत्ययः। अयं कियान् सुरापराधः तत्प्रेषितस्यापि मया वृतत्वात्तो कोऽपराध इत्यर्थः। अथापराद्धत्वेऽपि मुखेषु तर्पणात् प्रीणनात् देवास्ते मुखलज्जयैव मुखदाक्षिण्येनैव इदमपराद्धत्वं गिरापि न वक्ष्यन्ति। अपिशब्दान्मनसापि न स्मरिष्यन्तीत्यर्थः ॥ १५३ ॥

अन्वयः—वा स्वयंवरायां मयि तव अनुकम्प्रता अयं कियान् सुरापराधः ? मखेषु तर्पणात् ते देवाः मुखलज्जया एव इदं गिरा अपि न वक्ष्यन्ति ।

हिन्दी—अथवा स्वयंवरण में संलग्ना मुझ (दमयन्ती) पर तुम्हारी (नल की) दयालुता—यह कितना-सा देवों के प्रति अपराध है ? (नहीं

है)। यज्ञों में तर्पण मिलने से वे देव संमुख होने की लज्जा से ही इसे (अपराध को) वाणी से भी न कहेंगे।

टिप्पणी—नल ने संभावना की थी कि स्वात्मप्रकाशन कर वह देवापराधी बन गया है (९।१२२) दमयन्ती की भावना प्रकट करती दमयन्ती की सखी इस कल्पना को निर्मूल बताती है। नल स्वयंवर में पधारें, यह देवापराध नहीं है। यदि है भी तो नगण्य, जिसका उल्लेख वचनों से भी देव नहीं करेंगे। प्रतिदिन नल द्वारा यज्ञों में तर्पण से तृप्त होते देवों को संमुख होने की लज्जा तो होगी ही, अतः मन में रखना क्या, वे तो इस नलापराध का मुख से उच्चारण भी न करेंगे। स्वेच्छावरण अपराध नहीं है, और जब दमयन्ती स्वेच्छया नल का वरण करती है, तो नल का क्या अपराध? विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग ॥ १५३ ॥

व्रजन्तु ते तेऽपि वरं स्वयंवरं प्रसाद्य तानेव मया वरिष्यसे।
न सर्वथा तानपि न स्पृशेद्दया न तेऽपि तावन्मदनस्त्वमेव वा ॥१५४॥

जीवातु—व्रजन्त्विति। अथवा हे नल! ते देवा अपि ते तव सम्बन्धिनं स्वयंवरं व्रजन्तु वरं साध्वेवैतदित्यर्थः। कुतः, मया तानेव प्रसह्य प्रसन्नान् कृत्वा वरिष्यसे। न च ते दुराधर्षा इत्याह—सर्वथा तान् देवानपि दया न स्पृशेदिति न। किं तु स्पृशेदेवेत्यर्थः। सम्भवस्य निषेधनिवर्तने द्वौ नञ्प्रतिषेधौ स्तः। तेऽपि तावन्मदनस्त्वमेव वा न। लोके त्वां मदनं च विना न कोऽपि निष्कृप इति भावः॥ १५४ ॥

अन्वयः—ते अपि स्वयंवरं व्रजन्तु, वरम्; मया तान् एव प्रसाद्य वरिष्यसे, तान् अपि सर्वथा दया न स्पृशेत्—न, ते अपि तावत् न मदनः वा त्वम् एव।

हिन्दी—वे (देव) भी स्वयंवर में पहुँचें, ठीक है, मैं (दमयन्ती) उन्हें (देवों को) ही प्रसन्न करके (तुम्हारा—नल का) वरण करूँगी। ऐसा नहीं है कि उन्हें किसी प्रकार दया आये ही नहीं; वे (देवता) भी न मदन (काम) हैं और न तुम (नल) ही।

टिप्पणी—देवगण भी अच्छा है कि स्वयंवर में संमिलित हों। दमयन्ती कहती है कि उन्हें प्रसन्न और संतुष्ट करके ही वह स्वेच्छया नल का वरण करेगी। देवता संपूर्णतया निर्दय नहीं हैं कि प्रसन्न ही न हों। ऐसा कार्य संसार

में दो ही कर सकते हैं—एक तो काम, जो निर्ममता से दमयन्ती को व्यथित कर रहा है, और दूसरा संमुखस्थित नल, जिसे दमयन्ती की भावना का ध्यान ही नहीं है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ १५४ ॥

इतीयमालेख्यगतेऽपि वीक्षिते त्वयि स्मरव्रीडसमस्ययाऽनया ।
पदे पदे मौनमयान्तरीपिणी प्रवर्तिता सारघसारसारणी ॥१५५॥

जीवातु—इतीति। हे सौम्य ! आलेख्यगते चित्रगतेऽपि त्वयि वीक्षिते सति स्मरव्रीडयोः समस्यया समष्ट्या अनया भैम्या पदे पदे वचने स्थाने स्थाने अन्तर्गता आपोऽस्येत्यन्तरीपमन्तस्तट 'द्वीपोऽस्त्रियामन्तरीपं यदन्तर्वारिणस्तटम्' इत्यमरः। 'ऋक्पू' इत्यादिना समासान्तोऽप्रत्ययः। 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ई' दितीकारः। मौनमयं मौनरूपमन्तरीपं यस्याः सा मौनान्तरीपोद्गतेत्यर्थः। सर्वधन्वीतिवदिन्नन्तो बहुव्रीहिः, 'अट्कुप्वाङि' त्यादिना णत्वम्। इतीयं उक्तरूपा सारघसारस्य मधुसारस्य सारणी स्वल्पनदी। 'सारणी स्वल्पसरित्' इति विश्वः। प्रवर्तिता चित्रगतस्य तवाग्रे एव मधुवर्षिणी वागुक्तेत्यर्थः। अत्र विषयस्य वाचोऽनुपादानेन विषयिण्याः सारघसारण्या एवोपनिबन्धात्तयोर्भेदेऽप्यभेदोक्तेश्चातिशयोक्तिभेदः ॥ १५५ ॥

अन्वयः—इति आलेख्यगते अपि त्वयि वीक्षिते स्मरव्रीडसमस्यया अनया पदे-पदे मौनमयान्तरीपिणी इयं सारघसारसारणी प्रवर्त्तिता।

हिन्दी—इस प्रकार चित्रलिखित भी तुम्हारा (नल का) अवलोकन करके काम और लज्जा से संमिश्रित इस (दमयन्ती) ने शब्द-शब्द पर मौनरूप द्वीप से युक्त यह (उपर्युक्त) मधु के सार की नदी प्रवाहित की है।

टिप्पणी—चित्रादि में व्यक्त नल को संमुख लज्जा और काम से द्विधा अभिभूत दमयन्ती बीच-बीच में चुप हो जो कहती थी, उसे कहकर उसकी सखी ने उक्त विवरण को एक मधुरस प्रवाहिणी नदी की संज्ञा दी, क्योंकि यह एक अनुरागिणी के सरस मनका उद्गार था लाज और काम-व्यथा से परिपूर्ण। बीच-बीच में चुप हो जाना उस मधुप्रवाहिणी में द्वीप थे। भाव यही है कि जो दमयन्ती चित्रगत भी नल के संमुख ऐसे वचन बोला करती थी, वह नलातिरिक्त किसी को नहीं वरेगी। इसमें शंका-संदेह को अवकाश नहीं है। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में विषय का वाणी से उपादान न करके विषयिणी सारघसारसारणी का ही उपनिबन्ध करने के कारण

उन दोनों के मध्य भेद होने पर भी अभेद कथन है, अतः अतिशयोक्ति है; विद्याधर ने छेकानुप्रास और अतिशयोक्ति अलंकारों का निर्देश किया है।

चण्डालस्ते विषमविशिखः स्पृश्यते दृश्यते स
ख्यातोऽनङ्गस्त्वयि निजभिया किन्नु कृत्ताङ्गुलीकः।
कृत्वा मित्रं मधुमधिवनस्थानमन्तश्चरित्वा
सख्याः प्राणान् हरति हरितस्त्वद्यशस्तज्जुषन्ताम् ॥१५६॥

जीवातु—चण्डाल इति। हे नल ! विषमविशिखः कामस्ते तव सम्बन्धी चण्डालः 'वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाज्ञये'ति स्मरणात्। माद्दङ्मारणार्थमेव त्वया भृतः कोऽपि चण्डाल इत्यर्थः। अत एव न दृश्यते न स्पृश्यते च एकत्रानङ्गत्वादन्यत्र शास्त्रनिषेधाच्चेति भावः। किंच निजभिया स्वीयापराधदण्डभयेन त्वयि विषये त्वामुद्दिश्य कृत्ताङ्गुलीकः। अपराधेऽपि त्राणार्थं छिन्नाङ्गुलीकः। 'नद्यृतश्च' इति कप्। पद्मङ्गुलिविच्छेद उरोविन्मस्यमक्षरम्। तन्नामकरणं चेति दास्यमेतच्चतुष्टय' मिति दासचिह्नत्वादिति भावः। अत एवाङ्गुलिविहीनत्वादनङ्गः ख्यातः किं नु? अतः किमत आह—मधुं वसन्तमपि मित्रं कृत्वा सहायञ्च कञ्चन सम्पाद्येत्यर्थः। अन्तरन्तःकरणमेव अधिवनस्थानमरण्यदेशं चरित्वा भ्रान्त्वा सख्याः स्वसख्या भैम्याः प्राणान् हरति तत्स्त्रीजन्यं त्वद्यशो दुर्यश इत्यर्थः। हरितो दिशो जुषन्तां सेवन्तां दिगन्तविश्रान्तमस्त्वित्यर्थः। अत्र कामस्य चण्डालधर्मयोग्यचण्डालत्वेनोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगादृगम्या। मन्दाक्रान्तावृत्तमुक्तम् ॥ १५६ ॥

अन्वयः—विषमविशिखः किन्तु ते चण्डालः न दृश्यते स्पृश्यते ? निजभिजा त्वयि कृत्ताङ्गुलीकः अनङ्गः ख्यातः अधिवनस्थानं मधुं मित्रं कृत्वा अन्तः चरित्वा सख्याः प्राणान् हरति, त्वद्यशः हरितः जुषन्ताम्।

हिन्दी—विषम अर्थात् पाँच अथवा कठोर (अथवा विषेण मीयन्ते इति विषमाः अर्थात् विषलिप्त) बाणों वाला काम क्या तू चण्डाल (अन्त्यज और चण्डान् क्रूरान् शरान् आसमन्ताल्लाति इति चण्डालः अर्थात् प्रचण्ड बाण प्रहर्त्ता) है, जो न दीखता है, न छुआ जाता है ? अपने अपराध-भय से तेरे कारण अंगुलि कटाकर वह अनङ्ग (छिन्न अंग वाला) प्रसिद्ध हुआ है। वनभूमि के मध्य वसंत को मित्र बनाकर हृदय में प्रविष्ट हो सखी (दमयन्ती)

के प्राण हर रहा है (उसी प्रकार कि जिस प्रकार चण्डाल मधु अर्थात् मद्यप (शराबी) को मित्र बनाकर और स्वयं भी मधुपान कर घर के बीच घुस जाये और किसी के प्राण हरे)। उससे तुम्हारी कीर्ति दिगंत में व्याप्त हो।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक (१५१) में काम को अनङ्ग चण्डाल और मधु-सखा कहा गया था, उसी को और पुष्ट करती हुई दमयन्ती की सखी ने कहा कि नलानुरागजन्य अतएव नल संबंधी काम निश्चय ही क्रूरबाणों वाला, प्रचण्डबाणवर्षी, छिन्नांगुलि होने से अनङ्ग चण्डाल ही है, इसीसे न तो वह दीखता है, न स्पर्श में आता है। नल से पराभूत है, अतः अंगुलि कटाये चण्डाल बन गया है कि अपराध करके भी बच जाय कि अंगुलि कट कर इसे अपराध का दण्ड मिल गया है। वह काम-चण्डाल एक शराबी की भाँति अन्तस् (हृदय, घर) में प्रवेश कर वसन्त ऋतु में दमयन्ती की हत्या अवश्य कर डालेगा और नल का यश अपयश बन चारों ओर फैलेगा कि इसके दास ने एक निरपराधिनी रमणीरत्न की हत्या की है। भाव यह है कि नल सम्बन्धी काम उसकी अनुरागिणी दमयन्ती को प्राणांतक पीडा दे रहा है, जिससे उसकी मृत्यु हो जायेगी और नल को अयश मिलेगा, सो नल को ऐसा कार्य करना चाहिए कि दमयन्ती की पीडा का शमन हो और नल को अयश न मिले। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ गम्या उत्प्रेक्षा है, क्योंकि चण्डाल-धर्म-योग्य होने के कारण काम की चण्डालभाव से संभावना की गयी है, और व्यंजक पद का प्रयोग नहीं है। विद्याधर ने अतिशयोक्ति का निर्देश किया है। चन्द्रकलाकार ने अधिवनस्थान और अन्तस् में रूपक, काम-चण्डाल में उत्प्रेक्षा मानकर दोनों का अंगांगिभाव संकर माना है। मंदाक्रांता छन्द है, जिसके प्रत्येक चरण में सत्रहवर्ण इस क्रम से होते हैं—१ मगण (SSS), १ भगण (SII), १ नगण (III), २ तगण (SSI) २ गुरु (SS)—मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम् ॥ १५६ ॥

अथ भीमभुवैव रहोऽभिहितां नतमौलिरपत्रपया स निजाम्।
अमरैः सह राजसमाजगतिं जगतीपतिरभ्युपगम्य ययौ ॥१५७॥

जीवातु—अथेति। अथ भैमीवाक्यश्रवणानन्तरं जगतीपतिर्नलः भीमभुवैव

भैम्यैव रहो रहस्यभिहितां निजामात्मीयाममरैः सह राजसमाजस्य राजसभाया गतिं प्राप्तिमपत्रपया स्ववरणलज्जया नतमौलिर्नम्रमुखः सन् अभ्युपगम्याङ्गीकृत्य ययौ । तोटकवृत्तम् । 'इह तोटकमम्बुधिसैः कथित' मिति लक्षणात् ॥१५७॥

अन्वयः—अथ सः जगतीपतिः भीमभुवा एव रहः अभिहितां निजाम् अमरैः सह राजसमाजगतिम् अपत्रपया नलमौलिः अभ्युपगम्य ययौ ।

हिन्दी—इस (सब कथन) के अनन्तर वह जगत्पति (राजा नल) भीमपुत्री द्वारा ही एकांत में कथित अपने देवों के साथ राजसभा में पहुँचने को (इन्द्रादि का कार्य न कर पाने की) लज्जा से सिर झुका, स्वीकार करके चल पड़ा ।

टिप्पणी—अब नल विवश था । उसने स्वीकार लिया कि अमरों के साथ उनके प्रतिद्वन्द्वी के रूप में वह भी स्वयंवर-सभा में उपस्थित होगा । इन्द्रादि दिक्पालों का दूतत्व वह सफलतया संपन्न न कर सका, अतः लज्जा से सिर झुकाये वह वहाँ से चल पड़ा । विद्याधर के अनुसार सहोक्ति अलंकार । तोटक छन्द है, जिसके प्रत्येक चरण में बारह वर्ण होते हैं—चार सगण (।।ऽ) ॥ १५७ ॥

श्वस्तस्याः प्रियमाप्तुमुद्धरधियो धाराः सृजन्त्यारया-
न्नम्रान्नम्रकपोलपालिपुलकैर्वेतस्वतीरश्रुणः ।
चत्वारः प्रहराः स्मरातिभिरभूत् सा यद् क्षपा दुःक्षपा
तत्तस्यां कृपयाखिलेव विधिना रात्रिस्त्रियामा कृता ॥१५८॥

जीवातु—श्व इति । श्वः परेऽहनि प्रियं नलमाप्तमुद्धरधियः सन्नद्धबुद्धेः अत एव स्यात् प्रवाहवेगान्नम्राश्चोन्नाम्नश्च दन्तुरा इत्यर्थः । तैः कपोलपाल्योर्गण्डभित्योः पुलकै रोमाञ्चैर्वेतस्वतीः वेतसलतावलीः, 'कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्, मादुपधायाश्चे' त्यादिना मकारस्य वकारः । अश्रुणो धारा आनन्दबाष्पप्रवाहान् सृजन्त्या जनयन्त्यास्तस्य भैम्याः यत् यस्मात् कारणात् चत्वारः प्रहरा अपि चतुर्याममात्रापीत्यर्थः । सा क्षपा स्मरार्तिभिः स्मरपीडाभिर्दुःक्षपा दुरतिवाहाभूत्, तत् तस्मादस्यां भैम्यां कृपया कृपयैवेत्यर्थः । विधिना वेधसा अखिलैव सर्वापि रात्रिस्त्रियामा यामत्रयवत्येव कृता । सत्यमिति शेषः । गम्योत्प्रेक्षा ॥ १५८ ॥

जीवातु—श्रीहर्षमिति । सन्दब्ध ग्रथितमर्णववर्णनमर्णववर्णनाख्याप्रबन्धो येन तस्येत्यर्थः । 'ग्रथितं ग्रन्थितं दब्धम्' इत्यमरः ॥ १६० ॥

इति मल्लिनाथसूरिविरिचिते 'जीवातु' समाख्याने नवमः सर्गः समाप्तः ॥९॥

—: :०: :—

अन्वयः—प्रथम दो चरणों का पूर्ववत् । संदब्धार्णववर्णनस्य तस्य चारुणि महाकाव्ये नैषधीयचरिते निसर्गोज्वलः नवमः सर्गः व्यरंसीत् ।

हिन्दी—दो चरणों का अर्थ पूर्ववत् । 'अर्णववर्णन' नामक ग्रन्थ के प्रणेता उस (श्रीहर्ष) के चारु महाकाव्य नैषधीयचरित में प्रकृत्या उज्ज्वल नवम सर्ग समाप्त ।

टिप्पणी—श्रीहर्ष द्वारा 'अर्णववर्णन'—प्रणयन का संकेत ॥ १६० ॥

नैषधीयचरित का नवम सर्ग समाप्त ।

—: :-:०:-: :—

पद्यानुक्रमणिका

(६–९ सर्गाः)

नैषध-कथासार

(षष्ठ सर्ग)

भुजानिर्भुवनैकदृश्यतनुरप्युच्चैरदृश्यस्तदा
कक्षाः सप्त वगाह्य भीमदुहितुः प्रासादमासादयन् ।
तां तत्र प्रसमीक्ष्य खण्डनपरां गीर्वाणदूतीगिरां
दूरादुच्छ्वसिति स्म चेतसि भृशं दूनोऽपि दौत्येन सः ।।

—श्रीकृष्णरामकविः

देवदौत्य-संपादन के निमित्त राजा नल कुंडिनपुर पहुँचे और स्वेच्छया अदृश्य होकर उन्होंने राजमंदिर में प्रवेश कर सात खण्ड पार करते हुए अंतःपुर में प्रवेश किया । जितेन्द्रिय नल ने वहाँ अनेक प्रकार के रमणीय क्रिया-कलाप देखे, परंतु उनमें विकृति न आयी । वे वहाँ से चौराहे पर पहुँचे । मार्ग में माँ को प्रणाम करती दमयन्ती को उन्होंने देखा, पर भ्रम के कारण वे उसे पहिचान न सके; अदृश्य रहने के कारण दमयन्ती तो नल को देख सकती ही नहीं थी । घूमते-फिरते नल दमयन्ती के प्रासाद में पहुँचे और सखी-समुदाय के मध्य स्थित बैठी दमयंती को उन्होंने देखा और पहिचाना । अदृश्य रूप में वहाँ स्थित नल ने देवदूतियों का आगमन देखा । अग्नि, यम और वरुण की दूतियों ने अपने-अपने प्रस्ताव दमयंती के संमुख रखे किंतु दमयंती के द्वारा वे स्वीकृत न हुए । इससे नल को आशा बँधी कि दमयंती की प्राप्ति इन्हें संभव है । तभी इन्द्र का विशेष संदेश लेकर उसकी दूती आयी, जिसने इन्द्र के महत्त्व का वर्णन कर दमयन्ती को पारिजात की माला भेंट की और इन्द्र को वरने की संमति दी । दमयंती ने 'मघवत्प्रसाद'-ग्रहण किया, सखियों ने भी दमयंती को इन्द्र-वरण की सलाह दी, इससे नल की आशा शिथिल भी हुई, परंतु दमयंती ने इन्द्रदूती को इन्द्र के चरणों की ही शपथ दी कि वह ऐसा प्रस्ताव पुनः न करे । दमयन्ती ने बताया कि वह मन ही मन नल का वरण कर चुकी है । नल को क्षीणाशा पुनः लौटी, नल के प्राण पुनः वापस आये, जैसे उन्मत्त को बोध आ गया हो ।

नैषध-कथासार

(सप्तम सर्ग)

अश्रान्तं तरदन्तरोऽद्भुतरसाकूपारपूरान्तरे
प्रत्यारभ्य मुखान्नखावधि नलस्तां प्रादुराह्यस्तुवन्।
सा तु व्यक्तममुं समीक्ष्य चकिता तद्रूपलुब्धा सखी-
श्चाश्चर्यस्तिमिकासु कोऽसि किमिह प्राप्तोऽस्यपृच्छत्स्वयम् ॥

—श्रीकृष्णरामकविः

इन्द्रादि की दूतियों के निराश होकर चले जानेपर नल को यह विश्वास होगया कि दमयंती का उसके प्रति दृढ अनुराग है और उसे यह प्रतीत होने लगा कि दमयन्ती अब उसे प्राप्त हो सकेगी। नल का अंग-अंग दमयन्ती को निरख-निरख कर तुष्ट और आनन्दमग्न होने लगा और मन प्रसन्नता से परिपूर्ण हो गया। उसने मन-ही-मन दमयन्ती का पर्यवेक्षण किया और विस्तार के साथ शिखा से लेकर नखपर्यन्त उसके रूप का वर्णन-विवेचन किया। अंत में दमयन्ती पर मुग्ध वह इस निर्णय पर पहुँचा कि दमयन्ती विधाता की अनुपम कृति है, यौवन ने उसके आकर्षण को द्विगुणित कर दिया है और मनोभुव ने तो उसे वर्णनातीत बना दिया है। उसका हृदय आश्चर्य और हर्ष में निमग्न हो गया और उसने विचार किया कि अब अदृश्य रहना व्यर्थ है और उचित होगा कि अब सखी समूह के मध्यस्थित दमयन्ती के संमुख प्रकट हो लिया जाय।

नैषध-कथासार

(अष्टम सर्ग)

दमयंती और उसके सखी-समूह के संमुख जब निषधराज प्रकट हुए तब वे सभी आश्चर्यान्वित हो मुग्ध भाव से उनकी ओर देखने लगीं। दमयन्ती नल को संपूर्ण मुग्धभाव से निहारने लगी और अभिभूत हो गयी। बड़ी कठिनता से वह आसन छोड़कर उठी और स्वागत करते हुए नल से उसने बैठने का अनुरोध किया और उचित और समयानुकूल वार्तालाप किया—आप कौन हैं, कहाँ से पधारे हैं, कहां जाना है—आदि ? जिस प्रकार वर्षाकाल में निर्झरिणी जल-वेग से पूर्ण हो जाती है, उसी प्रकार दमयंती आनंद-परंपराओं से पूर्ण हो उठी और उसकी नलनिमग्ना दृष्टि जैसे नल का आलिंगन करने लगी। बड़ी प्रसन्नता हुई दमयन्ती को, ऐसी, जैसी कि मुक्तदशा में होती है। नलरूप मुग्धा दमयन्ती ने बड़ी शालीनता के साथ नल से समयोचित वार्तालाप किया। दमयंती ने जब नल के कुल आदि का परिचय जाना तो उसे लगा कि हो न हो, यह नल ही है। आसन-ग्रहण कर नल ने निवेदन किया कि वह इन्द्रादि देवों का दूत है। वे दमयंती के वियोग में व्यथित हैं और उसके पाणिग्रहणार्थी हैं। समस्त सामर्थ्य से संपन्न देव आज दमयंती के संमुख याचक हैं। आज तो देव यह समझने लगे हैं कि उनके पास दमयंती को देने योग्य कुछ नहीं हैं—अमृत भी नहीं। सुधा तो दमयंती के अधरों में ही है। आज तो वे अपना अमरत्व देकर भी दमयंती के पाद-पद्म की शरण में जीने की इच्छा करते हैं। इस लिए दमयंती से उनका निवेदन है कि वह इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण में से किसी का वरण करे और नल का दूतकर्म सफल बनाये। नल ने निष्कर्षत: अंत में कहा—'हे भैमि, वरण करके तू या तो इन्द्र को आनंदित कर अथवा मन्मथमग्न अग्नि का नूतन सुरत-क्रीडाओं द्वारा उद्धार कर। यम पर दया कर अथवा वरुण का ही वरण कर।'

नैषध-कथासार

(नवम सर्ग)

नल ने यद्यपि बड़ी तत्परता के साथ अपना दूतकार्य-संपादन करते हुए इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण में से किसी एक दिक्‌पाल को पतिरूप में स्वीकारने का निवेदन किया, पर दमयन्ती ने उस ओर अपनी अनिच्छा प्रकट की और नल से कहा कि—'महोदय, मैंने तो आपसे आपका कुल-नाम जानना चाहा था, पर आपने तो वह न बता कर यह सब अनपेक्षित कह डाला ? क्या यह लज्जास्पद नहीं है ? सो कृपा करके आप वही बताइए ।' नल ने उत्तर दिया—आपकी जिज्ञासा व्यर्थ है । मैं' हूँ, 'तुम' हो—क्या वार्तालाप में ये 'मैं-तू सर्वनाम ही पर्याप्त नहीं है ? इसके अतिरिक्त मेरा कुल यदि अनिर्मल है, तो बताना अनुचित ही होगा। और यदि उच्च है तो यह दूतकर्म ? जहाँ तक नाम का प्रश्न है स्वयम् अपना नाम लेना शिष्टव्यवहार नहीं है । सो अच्छा यही है कि आप मेरे पूर्वोक्त निवेदन पर ही विचार करें । आपका कल्याण उसीमें है । पर दमयंती ने अज्ञात कुल नामा व्यक्ति के साथ बात करने में ही असमर्थता प्रकट की और प्रस्ताव का उत्तर देने में भी अपने को असमर्थ बताया । तब दमयंती की एक सखी ने बताया कि राजनंदिनी नल में अनुरक्त हैं, नल के बिना वे जीवित नहीं रहेंगी । पर नल ने पुनः अपने प्रस्ताव पर ही दमयंती से विचार करने का अनुरोध किया । नल को इस पर दमयंती ने मृत्युदूत कहा । पुनः जब सखी ने दमयंती के नल के प्रति दृढानुराग की बात कही तो नल ने समझाया कि देवों के विरुद्ध रहने पर नल-दमयंती-परिणय असम्भव है। दमयंती इस पर करुणा पूर्ण विलाप करने लगी, जिसे सुनकर नल अपनी स्थिति भूलकर दमयंती को अनेक विध आश्वस्त करने लगा और उसे पछतावा लगा कि क्यों वह देवदूत बना ? इतने में ही वहाँ स्वयं हंस आ गया और उसने नल से अनुरोध किया कि वह दमयंती को निराश न करे। तब नल ने दमयंती को विचारपूर्वक व्यवहार करने को कहा और निवेदन किया कि वह देवों अथवा नल के मध्य किसी का वरण करे । नल को संमुख देख और प्रस्ताव सुन दमयन्ती प्रसन्न हुई और लजा गयी, पर सखी ने दमयन्ती का दृढ़ निश्चय नल को बता दिया । नल स्वयं देवों के साथ अपने उपस्थित रहने की बात कहकर सारा समाचार कहने के लिए देवों के पास चल पड़ा ।

नैषधीयचरितम्

दशमः सर्गः

रथैरथायुः कुलजाः कुमाराः शस्त्रेषु शास्त्रेषु च दृष्टपाराः।
स्वयंवरं शम्बरवैरिकायव्यूहश्रियः श्रीजितयक्षराजाः ॥ १ ॥

जीवातु—अथ स्वयंवरवृत्तान्त वर्णयति—रथैरित्यादि। अथ नलप्रयाणानन्तरं कुलजाः कुलीनाः शस्त्रेषु शस्त्रविद्यासु शास्त्रेषु त्रय्यादिषु च दृष्टं पारं यैस्ते दृष्टपाराः पारदृश्वानः शम्बरवैरिणः कामस्य, यः कायव्यूहः शम्बरासुरजयार्थं मायया गृहीतो यः शरीरसमूहः, तस्य श्रीरिव श्रीः शोभा येषां ते कन्दर्पकल्पा इत्यर्थः। श्रिया सम्पदा जितो यक्षराजः कुबेरः यैस्ते कुमारा राजकुमाराः 'कन्या वरयते रूपमि'त्याद्युक्तसमग्रगुणसम्पन्ना इत्यर्थः। रथैः साधनैः स्वयं व्रियतेऽस्मिन्निति स्वयंवरस्तम्। 'ऋदोरप्'। स्वयंवरभुवं, तदा आयुः आयातः। आङ् पूर्वाद्यातेर्लङि 'लङः शाकटायनस्यैवेति' वैकल्पिको झेर्जुसादेशः। अत्र कायव्यूहश्रिय इति निदर्शना, श्रीजितयक्षराजाश्च व्यतिरेकः इत्यलङ्कारयोः संसृष्टिः। अस्मिन् सर्गे उपेन्द्रवज्रेन्द्रवज्रातदुपजातयश्च वृत्तानि ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ कुलजाः शस्त्रेषु शास्त्रेषु च दृष्टपाराः शम्बरवैरिकायव्यूहश्रियः श्रीजितयक्षराजाः कुमाराः रथैः स्वयंवरम् आयुः।

हिन्दी—तदनन्तर कुलीन, शस्त्रविद्या और शास्त्रविद्या में पारंगत, शंबरासुर के शत्रु (काम) के मायागृहीत शरीर की शोभा से संपन्न (देहधारी काम के तुल्य सुन्दर), श्रीसंपदा से यक्षाधिपति (कुबेर) को भी जीतने वाले कुमार (तरुण राजकुमार) अपने रथों से (अन्य वाहनों से भी) स्वयंवर में आ पहुँचे।

टिप्पणी—दमयन्ती के पाणिप्रार्थी अनेक तरुण राजा-राजकुमार स्वयंवर में भाग लेने के लिए कुंडिनपुरी में एकत्र हुए। वे शस्त्र और शास्त्र में

प्रवीण थे। परमसुन्दर थे, विपुल श्रीसंपत्तिशाली। एक उपयुक्त पात्र में ये ही गुण अपेक्षित हैं। वीर, पण्डित, सुन्दर, संपत्तिवान् तरुण ही काम्य वर होता है। कन्या रूप देखती है, माता संपद, पिता विद्या और संबधिजन श्रेष्ठ कुल—'कन्या वरयते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम्। बान्धवाः कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जनाः॥' क्षत्रिय शस्त्रप्रधान होते हैं, अतः इस श्लोक में शस्त्रज्ञान का प्रथम निर्देश है। भाव यह है कि सभी सर्वगुण-संपन्न स्वयंवरार्थी वहाँ पहुँचे। इस श्लोक में मल्लिनाथ के अनुसार 'कायव्यूहश्रियः' में निदर्शना और 'श्रीजितयक्षराजाः' में व्यतिरेक होने के कारण इन दोनों अलंकारों की संसृष्टि है। विद्याधर के अनुसार यहाँ अनुप्रास-परिकर-उपमा-अतिशय अलंकार हैं। श्लोक संख्या १–१२५ तक इन्द्रवज्रा-उपेन्द्रवज्राजात उपजाति छन्द है॥ १॥

नाभूदभूमिः स्मरसायकानां नासीदगन्ता कुलजः कुमारः।
नास्थादपन्था धरणेः कणोऽपि व्रजेषु राज्ञां युगपद्व्रजत्सु॥ २॥

जीवातु—नेति। कुलजः कुलीनः, कोऽपीति शेषः। कुमारः स्मरसायकानामभूमिरविषयो नाभूत् तथा अगन्ता स्वयंवराप्रयाता च नाभूत्। किञ्च राज्ञां व्रजेषु युगपद्व्रजत्सु सत्सु धरणेः कणोऽपि भूलेशोऽप्यपन्था अपथं मार्गशून्य इत्यर्थः 'पथो विभाषा', इति विकल्पात् समासान्ताभावः। नास्थात् न स्थितः, 'गातिस्थे'त्यादिना सिचो लुक्। अत्र राज्ञां कार्त्स्न्येन स्मरेषुविषयत्वस्वयंवरगन्तृत्वाभ्यां सकलभूमेः पथित्वेन चासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः॥ २॥

अन्वयः—कुलजः (कोऽपि) कुमारः स्मरसायकानाम् अभूमिः न अभूत्, अगन्ता न आसीत्; राज्ञां व्रजेषु युगपद् व्रजत्सु धरणेः कणः अपि अपन्थाः न अस्थात्।

हिन्दी—कोई कुलीन तरुण काम-बाणों का लक्ष्य बनने से न बचा और स्वयंवर में न पहुँचने वाला नहीं रहा। राजसमूहों के एक साथ चलने से धरती का कणमात्र भी अमार्ग न रह गया।

टिप्पणी—दमयन्ती के विश्वविश्रुत सौंदर्य से सब परिचित थे। उसके स्वयंवर का समाचार सुनते ही सब उसकी कामना करते स्वयंवर में संमिलित

होने चल दिये। कोई योग्य, कुलीन प्रत्याशी घर न बैठ सका। आने वालों से धरती पट गयी। सारी धरा जैसे मार्ग बन गयी। मल्लिनाथ के अनुसार श्लोक में अतिशयोक्ति अलंकार है, क्योंकि संपूर्ण राजाओं का स्मरबाण विषय होना और स्वयंवर-गंता होना तथा इससे संपूर्ण भूमि का मार्ग हो जाना असम्बन्ध से सम्बन्ध-कथन है॥ २॥

योग्यैर्व्रजद्भिर्नृपजां वरीतुं वीरैरनर्हैः प्रसभेन हर्तुम्।
द्रष्टुं परैस्ताननुरोद्धुमन्यैः स्वमात्रशेषाः ककुभो बभूवुः॥ ३॥

जीवातु—योग्यैरिति। योग्यैः रूपयौवनादिना सम्बन्धार्हैः नृपजां भैमीं वरीतुम्। 'वृतो वा' इति दीर्घः। अनर्हैः रूपयौवनादिशून्यैः, वीरः प्रसभेन बलेन हर्तुं परैः कैश्चिन्निःस्पृहैः केवलं द्रष्टुमेव स्वयंवरमिति शेषः, अन्यैस्तु तान् राजन्यादीननुरोद्धुमुपासितुं व्रजद्भिः करणैस्तद्राजन्यैरित्यर्थः। ककुभो दिशः स्वमात्रशेषाः स्वरूपमात्रावशिष्टा बभूवुः। अत्रापि ककुभां स्वमात्रशेषत्वा-सम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः॥ ३॥

अन्वयः—योग्यैः नृपजां वरीतुम् अनर्हैः वीरैः असभेन हर्त्तुम् परैः द्रष्टुम् अन्यैः तान् अनुरोद्धुम् व्रजद्भिः ककुभाः स्वमात्रशेषाः बभूवः।

हिन्दी—(आते हुए) योग्य जनों के राजकुमारी (दमयन्ती) को वरने के लिए अयोग्य वीरों के बलात् हरण के लिए, तटस्थों (उदासीनों) के देखने के लिए और शेष जनों के उन (सब) की सेवा-शुश्रूषा के लिए संचरण से दिशाएँ स्वरूपमात्रावशेष (रिक्त) हो गयीं।

टिप्पणी—स्वयंवर में इतने व्यक्ति आये कि सारी दिशाएँ रिक्त हो गयीं, सब स्वयंवर में जा पहुँचे। कुलीन योग्य राजकुमारी को वरने की इच्छा रखते थे। जो केवल शूर-वीर थे, वे अयोग्य होते बलात् अपहरण की बात सोचते थे। कुछ दर्शक भी थे, और फिर उन सबके परिचारक भी आये थे। भाव यही है कि कोई आ पहुँचने से न रहा। दिशाएँ रिक्त तो क्या होती, रिक्त-जैसी प्रतीत हुईं। मल्लिनाथ के अनुसार यह असंबंध में संबंध कथन है, अतः अशियोक्ति है, विद्याधर के अनुसार यहाँ दीपक और अतिशयोक्ति अलंकार हैं॥ ३॥

लोकैरशेषैरवनिश्रियन्तामुद्दिश्य दिश्यैर्विहितो प्रयाणे ।
स्ववर्तितत्तज्जनयन्त्रणार्तिविश्रान्तिमापुः ककुभां विभागाः ॥ ४ ॥

जीवातु—लोकैरिति । अवनिश्रियं भूलोकलक्ष्मीं तां भैमीमुद्दिश्याभिसन्धाय दिश्यैर्दिक्षु भवैः, 'दिगादिभ्यो यत्' । अशेषैर्लोकैर्जनैः प्रयाणे विहिते सति ककुभां विभागाः प्रदेशाः स्ववर्तिनां स्वनिष्ठानां तेषां तेषां जनानां यन्त्रणया सम्बन्धेनार्तेः पीडायाः विश्रान्तिं विरतिमापुः, भाररा हित्यात् सुखावस्थानं चक्रुरित्यर्थः । तद्वदलक्ष्यतेत्युत्प्रेक्षा गम्या ॥ ४ ॥

अन्वयः—अवनिश्रियं ताम् उद्दिश्य दिश्यैः अशेषैः लोकैः प्रयाणे विहिते ककुभां विभागाः स्ववर्त्तितत्तज्जनयन्त्रणार्तिविश्रान्तिम् आयुः ।

हिन्दी—धरणी की लक्ष्मी उस (दमयन्ती) के उद्देश्य से दिशा-दिशा के समस्त जनों के प्रयाण करने पर दिशाओं के विभाग उनमें विद्यमान बहुसंख्याक व्यक्तियों द्वारा मिलती यंत्रणा के दुःख-भार से हल्के हो गये ।

टिप्पणी—सब ओर के अनेक व्यक्ति स्वयंवर में चले गये । जिन स्थानों के बहुसंख्याक जन चले गये, वहाँ भीड़-भाड़ मिट गयी । कुछ भार हल्का हुआ । भीड़ का संकट कम हुआ । जैसे धरती को सुख की सांस मिली । भार रहित जैसी दिशाएँ प्रतीत हुईं । मल्लिनाथ के अनुसार यह गम्या उत्प्रेक्षा है ।

तलं यथेयुर्न तिला विकीर्णाः सैन्यैस्तथा राजपथा बभूवुः ।
भैमीं स लब्धामिव तत्र मेने यः प्राप भूभृद्भवितुं पुरस्तात् ॥ ५ ॥

जीवातु—तलमिति । यथा विकीर्णा उपरि क्षिप्तास्तिलास्तलं भूतलं नेयुः नाप्नुयुः सैन्यैः सैनिकैः । 'सेनायां समवेता ये सैन्यास्ते सैनिकाश्च ते' इत्यमरः । 'सेनाया वे'ति ण्यप्रत्ययः । राजपथा राजमार्गास्तथा तिलमात्रावकाशरहिता बभूवुः । तादृक्सम्बन्धासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धस्योक्तेरतिशयोक्तिभेदः । किञ्च तत्र समये यो भूभृद्राजा पुरस्ताद्भवितुं गन्तुं प्राप प्राप्तः स राजा भैमीं लब्धामिव मेने । यदि पूर्वंगतो भवेयं तर्हि स्वयं भैमीं लप्स्य इत्यभिमानादहंपूर्विकया सर्वे समाजग्मुरित्यर्थः ॥ ५ ॥

अन्वयः—यथा विकीर्णाः तिलाः तलं न ईयुः तथा सैन्यैः राजपथा बभूवुः, तत्र यः भूभृत् पुरस्तात् भवितुं प्राप, सः भैमीं लब्धाम् इव मेने ।

हिन्दी—बिखेरे हुए तिल भी धरती पर न गिर सकें, ऐसे सैनिकों द्वारा राजमार्ग हो गये। वहाँ जो भूपति आगे पहुँच सका, उसने भीमसुता को पायी गयी ही समझा।

टिप्पणी—इतने तरुण राजकुमार सभा में आये कि उनके सैनिकों से कुंडिनपुरी के मार्ग पूर्णतः भर गये, थोड़ा-सा तिलमात्र भी स्थान न रहा। ऐसी स्थिति में सबकी पहिले पहुँच जाने की इच्छा हो रही थी। लगता था कि जो पहिले पहुँच जायेगा, दमयन्ती उसे ही मिल जायेगी। श्लोक के पूर्वार्द्ध में मल्लिनाथ के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार है, क्योंकि तल पर तिल भी न पहुँच सकें—यह असंबंध में सम्बन्ध कथन है। विद्याधर ने छेकानुप्रासउपमा का निर्देश किया है ॥ ५ ॥

नृपः पुरःस्थैः प्रतिरुद्धवर्त्मा पश्चात्तनैः कश्चन नुद्यमानः।
यन्त्रस्थ सिद्धार्थपदाभिषेकं लब्ध्वाप्यसिद्धार्थममन्यत स्वम् ॥ ६ ॥

जीवातु—नृप इति। पुरःस्थैर्जनैः प्रतिरुद्धवर्त्मा निरुद्धमार्गः पश्चात्तनैः पश्चाद्भवैः पृष्ठत आगतैरित्यर्थः 'सायं चिरमि'त्यादिना टयुल्प्रत्ययस्तुडागमश्च। नुद्यमानः प्रेर्यमाणः कश्चन नृपः यन्त्रस्थस्य तैलाकर्षणयन्त्रलग्नस्य सिद्धार्थस्य सर्षपस्य पदे स्थाने अभिषेकं लब्ध्वापि सर्षपत्वं प्राप्यापीत्यर्थः। स्वमात्मानमसिद्धार्थमसर्षपममन्यतेति विरोधः। अपिशब्दो विरोधद्योतनार्थः। असिद्धार्थं भैमीप्राप्तिरूपसिद्धिरहितममन्यतेत्यविरोधाभासोऽलङ्कारः। अत्र संमर्दे यन्त्रस्थसर्षपवद्विशीर्णस्य मे कुतोऽर्थसिद्धिरित्यमन्यतेत्यर्थः ॥ ६ ॥

अन्वयः—पुरःस्थैः प्रतिरुद्धवर्त्मा पश्चात्तनैः नुद्यमानः कश्चनः नृपः यन्त्रस्थसिद्धार्थपदाभिषेकं लब्ध्वा अपि स्वम् असिद्धार्थम् अमन्यत।

हिन्दी—आगे जाने वाले मनुष्यों द्वारा जिसका पथ रुक गया है और पीछे चलने वाले मनुष्यों द्वारा जो धकियाया जा रहा है, ऐसा कोई राजा तेल पेरने के यंत्र (कोल्हू) में पड़ी सिद्धार्थ (सफल, सरसों के) पद पर अभिषिक्त होकर भी अपने को असिद्धार्थ (असफल, सरसों से भिन्न) समझने लगा।

टिप्पणी—भीड़भाड़ इतनी थी कि एक राजा आगे चलने वालों और

पीछे आने वालों की भीड़ में दब कर इस स्थिति में आ गया जैसे कि तेल पेरने के कोल्हू में पड़ा सरसों का दाना—सिद्धार्थ। उसे लगा कि मरा। इस प्रकार कुंडिनपुरी में पहुँच कर उसे लग रहा था कि वह 'सिद्धार्थ'—कृतकाम हो गया, दमयन्ती मिल जायेगी; पर भीड़ में दबने पर उसे लगने लगा कि सिद्धार्थ होकर भी असिद्धार्थ—अर्थात् अकृतकाम रह गया। पहुँच तो गया गन्तव्य पर, किन्तु भीड़ में दब कर वह मर जायेगा। फिर कहाँ दमयन्ती की प्राप्ति ? सिद्धार्थ के दो अर्थ हैं—सरसों और कृतकाम अर्थात् सफल। इस प्रकार जो सिद्धार्थ है, वह सिद्धार्थ न हो सका—यह विरोध हुआ। इसका परिहार है सिद्धार्थ का पहिले सरसों और कृतकाम और 'असिद्धार्थ' का अकृतकाम अर्थ करके। अर्थात् राजा सफलता के निकट पहुँच कर भी अपने को अकृतकाम समझने लगा। कोल्हू में पेरा जाने पर जैसे सिद्धार्थ अर्थात् सर्षप (सरसों का दाना) पिस जाता है, वही स्थिति भीड़ में दबते राजा की हुई। मल्लिनाथ और विद्याधर के अनुसार विरोधाभास अलंकार ॥ ६ ॥

राज्ञां पथि स्त्यानतयानुपूर्वीविलङ्घनाशक्तिविलम्बभाजाम् ।
आह्वानसंज्ञानमिवाग्रकम्पैर्दधुर्विदर्भेन्द्रपुरीपताकाः ॥ ७ ॥

जीवातु—राज्ञामिति। विदर्भेन्द्रपुरी कुण्डिनपुरं तस्यां पताकाः अग्रकम्पैः स्वाग्रचलनैः पथि मार्गे स्त्यानतया संहततया सैन्यसङ्कीर्णतयेत्यर्थः। 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वत' इति स्त्यायतेर्निष्ठानत्वम्। आनुपूर्वीविलङ्घनाशक्त्या अक्रमचङ्क्रमणाशक्त्या विलम्बभाजां राज्ञामाह्वानसंज्ञानमाकारणचेष्टां दधुरिवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ७ ॥

अन्वयः—विदर्भेन्द्रपुरीपताकाः अग्रकम्पैः पथि स्त्यानतया आनुपूर्वीविलङ्घनाशक्तिविलम्बभाजाम् आह्वानसंज्ञानम् इव दधुः।

हिन्दी—विदर्भराज की पुरी (कुंडिननगरी) की झंडियाँ (भवन पर लगी पताकाएं) अग्रभागों के कंपनों से मार्ग में संकीर्णता आ जाने के कारण क्रम-स्थान के उल्लंघन में असमर्थ होने से विलंब को प्राप्त होते राजाओं को मानो आगे आ जाने को पुकारने का संकेत कर रही थीं।

टिप्पणी--कुंडिनपुरी के आवासों पर लगीं झंडियाँ हिल रही थीं। कल्पना है कि जैसे भीड़ में फंस कर आगे बढ़ने में असमर्थ अतएव विलंब करते आगन्तुक राजाओं को आगे बढ़ने का संकेत दे रही थीं—मार्ग में यातायात नियंत्रण करने वाले पुरुषों के समान गति-संकेत। मल्लिनाथ-विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षालंकार ॥ ७ ॥

प्राग्भूय कर्कोटक आचकर्ष सकम्बलं नागबलं यदुच्चैः।
भुवस्तले कुण्डिनगामिराज्ञां यद्वासुकेश्चाश्वतरोऽन्वगच्छत् ॥ ८ ॥

जीवातु---प्रागिति। भुवस्तले भूपृष्ठे कुण्डिनगामिनाम्। श्रितादिषु गमिगाम्यादीनामुपसङ्ख्यानात् द्वितीयासमासः। राज्ञां सम्बन्धि सकम्बलं सप्रावारमुच्चैर्महद्यन्नागबलं गजबलं (कर्म) कर्क इति पदच्छेदः। अटतीत्यटकः शीघ्रं गन्ता, द्रुतगतिर्वा। 'बहुलमन्यत्रापी'त्यौणादिकः क्युन्प्रत्ययः। कर्कः श्वेताश्वः। 'पृष्ठ्यः स्थौरी सितः कर्कः' इत्यमरः। जातावेकवचनम्। प्राग्भूय अग्रसरो भूत्वा प्रागिति च्व्यन्तस्य गतित्वाद्गतिसमासे क्त्वो ल्यप्। आचकर्ष आकृष्टवान्। अश्वपूर्वं गजा गच्छन्तीति प्रसिद्धम्। तन्नागबलमश्वतरो गर्दभादश्वायामुत्पन्नो वेसराख्यो वाहनविशेषः। 'वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्च तनुत्वे' इति तरप्प्रत्ययः। तस्य तनुत्वमन्यपितृकतेति काशिका। सोऽन्वगच्छत्। अत्रापि जातावेकवचनम्। अग्रतोऽश्वास्ततो गजास्ततोऽश्वतरा जग्मुरित्यर्थः। अन्यत्र भुवस्तले रसातले कुण्डिनगामिनः वासुकेर्वासुकिमहानागस्य सम्बन्धि, सकम्बलं कम्बलाख्यनागेन्द्रसहितम्। 'कम्बलो नागराजे स्यात् सास्नाप्रावारयोरपि' इत्युभयत्रापि विश्वः। यदुच्चैर्नागबलमहिसैन्यं 'ग्रहाश्राहिगजे नागाः' इत्युभयत्रापि वैजयन्ती। कर्कोटको नाम नागविशेषः प्राग्भूयाचकर्ष तं नागबलमश्वतरो नाम नागविशेषोऽन्वगच्छत्। 'अश्वतरो वेसरे च नागराजान्तरेऽपि च' इत्युभयत्रापि विश्वः। कम्बलकर्कोटकाश्वतरादियुक्तो वासुकिश्च सबल आगत इत्यर्थः। अत्रोभयोः करिनागबलयोः प्रकृतत्वात् केवलं प्रकृतिश्लेषः ॥ ८ ॥

अन्वयः--भुवस्तले कुण्डिनगामिराज्ञां सकम्बलम् उच्चैः यत् नागबलं प्राग्भूय कर्कोटकः आचकर्ष, तत् अश्वतरः अन्वगच्छत्, वासुकेः च।

हिन्दी—पृथ्वीपर कुण्डिनपुरी जाते राजाओं के झूल-पड़े जिस विशाल

नागबल (गजसैन्य) को आगे होकर वेगगामी श्वेताश्व ने आकृष्ट किया उस (गजसैन्य) के पीछे अश्वतर (खच्चर) चला, और (इसी प्रकार) पाताल स्थित (नागराज) वासुकि के कुण्डिनगामी (सर्प) राजाओं के कंबल नामक सर्प के सहित विशाल सर्पसैन्यों को आगे होकर कर्कोटक नामक सर्प ने आकृष्ट किया और उस (सर्पबल) के पीछे अश्वतर नामक सर्प चला।

टिप्पणी—भाव यह कि पृथ्वी के राजगण श्वेताश्व, उसके पीछे नाना प्रकार झूलों से सज्जित गजसेना, तदनन्तर खच्चरों की सेना को लेकर कुंडिन नगरी पहुँचे और पाताल के नागराज वासुकि भी कर्कोटक, कंबल, अश्वतर नाम के सर्पों की सेना सहित स्वयंवर में सम्मिलित होने उपस्थित हुए। कर्कोटक, कंबल, नागबल और अश्वतर अनेकार्थ शब्द हैं। 'भुवस्तल' भूतल और भुवः=धरती का तल=निम्नस्थान अर्थात् पाताल—दोनों का वाची है। मल्लिनाथ के अनुसार गजबल और सर्पबल दोनों के प्रकृत होने के कारण केवल प्रकृतिश्लेष है। विद्याधर ने श्लेपालंकार का निर्देश किया है॥८॥

आगच्छदुर्वीन्दचमूसमुत्थैर्भूरेणुभिः पाण्डुरिता मुखश्रीः।
विस्पष्टमाचष्ट दिशां जनेपु रूपं पतित्यागदशानुरूपम्॥ ९॥

जीवातु—आगच्छदिति। आगच्छतामुर्वीन्द्राणां राज्ञाञ्चमूसमुत्थैर्भूरेणुभिः पाण्डुरिता धूसरीकृता दिशां मुखश्रीः पतित्यागदशानुरूपं भर्तृप्रवासावस्थोचितरूपं प्रोषिते मलिना कृशेत्युक्ताकारं जनेषु विषये विस्पष्टमाचष्ट जनेभ्यः प्रकटीचकारेत्यर्थः। अत्रान्यधर्मस्यान्यत्रासम्भवाद्दिशां प्रोषितभर्तृकारूपमिव रूपमिति सादृश्याक्षेपादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धाख्यो निदर्शनाभेदः हरिद्वधूनामिति देशान्तरपाठे रूपकं व्यक्तम्॥ ९॥

अन्वयः—आगच्छदुर्वीन्द्रचमूसमुत्थैः रेणुभिः पाण्डुरिता दिशां मुखश्रीः पतित्यागदशानुरूपं रूपं जनेषु विस्पष्टम् आचष्ट।

हिन्दी—आते पृथ्वीपतियों की सेनाओं से उड़ी धूलि से धूसरित दिशाओं के मुखों की शोभा नें पतियों के त्याग देने की दशा (प्रोषितावस्था) के अनुरूप स्थिति को लोक-समाज में स्पष्टतः प्रकट कर दिया।

टिप्पणी—भाव यह कि आती हुई विशाल राज-सेना के चलने से इतनी धूल उड़ी कि दिशाओं के अग्रभाग धूलिधूसर हो गये। ऐसा लगा कि दिशाओं

के पति परदेश चले गये हैं, सौत ब्याहलाने के लिए। सो इस चिंता में दिशा रूपी नारियों के मुख मलिन हो गये हैं। समग्र दिशाएँ राजाओं से हीन हो गयीं और धूल से भर गयीं। दिशा-वंधुओं के चार पति इन्द्राग्नियमवरुण तो उन पर सौत लाने के विचार से आये ही थे। विद्याधर के अनुसार रूपक; मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अन्य धर्म के अन्यत्र असंभव होने से दिशाओं में प्रोषितभर्तृकारूप का सादृश्याक्षेप करके असंभवद्वस्तुसम्बन्धनामक निदर्शना है। 'हरिद्वधूनाम्' इस तृतीय चरण के पाठांतर में उन्होंने रूपक का निर्देश किया है ॥ ९ ॥

आखण्डलो दण्डधरः कृशानुः पाशीति नाथैः ककुभां चतुर्भिः ।
भैम्येव बद्ध्वा स्वगुणेन कृष्टैर्ययै तदुद्वाहरसान्न शेषैः ॥ १० ॥

जीवातु—अथेन्द्रादिलोकपालवृत्तान्तमाह—आखण्डल इति। आखण्डलः इन्द्रः, दण्डधरो यमः, कृशानुरग्निः, पाशी वरुण इति प्रसिद्धैः चतुर्भि ककुभां नाथैः भैम्याः स्वगुणेन स्वसौन्दर्यगुणेनैव गुणरज्ज्वेति श्लिष्टरूपकं बद्ध्वा कृष्टैरिवेत्युत्प्रेक्षा। तदुद्वाहरसाद्भैमीपरिणयरागादेव ययै कुण्डिनं प्रति यातम्। यातेर्भावे लिट्। शेषैरवशिष्टैः नैर्ऋतादिभिः षड्भिर्न ययै ॥ १० ॥

अन्वयः—आखण्डलः दण्डधरः कृशानुः पाशी-इति चतुर्भिः ककुभां नाथैः भैम्या स्वगुणेन बद्ध्वा इव कृष्टैः तदुद्वाहरसात् ययैः शेषैः न।

हिन्दी—इन्द्र, यम, अग्नि और वरुण-ये चार प्रसिद्ध दिशाओं के स्वामी (दिक्पाल) भीमपुत्री के द्वारा उसके रूपादि गुण रूप गुण (रज्जु) से बंधकर जैसे खिचकर उससे विवाहानुराग के कारण गये, वैसे शेष—वायु, कुबेर आदि छः दिक्पाल नहीं।

टिप्पणी—चार दिक्पाल इन्द्रादि दमयन्ती के सौंदर्य पर मोहित हो उससे विवाह करना चाहते थे, सो वे तो स्वयंवर में ऐसे चले आये जैसे रस्सी में बंधकर खिच आये हों—रूपरज्जु में बंधकर। शेष दिक्पाल नहीं आये। मल्लिनाथ के अनुसार गुण-रज्जु में श्लिष्ट रूपक है और 'कृष्टैरिव' में उत्प्रेक्षा ॥

मन्त्रैः पुरं भीमपुरोहितस्य तद्वद्धरक्षं विशति क्व रक्षः।
तत्रोद्यमं दिक्पतिराततान यातुं ततो जातु न यातुधानः ॥ ११ ॥

जीवातु—अथ षड्भिर्नैर्ऋताद्यनागमने कारणमाह—मन्त्रैरित्यादि।

भीमस्य भीमभूपतेः पुरोहितस्य मन्त्रैः रक्षोघ्नमन्त्रैर्बद्धरक्ष कृतरक्षणं तत् पुरं कुण्डिनपुरं रक्षो राक्षसः क्व विशति न क्वापीत्यर्थः। ततो रक्षाबन्धाद्धेतोः यातुधानो नैर्ऋतः, दिक्पतिः जातु कदापि तत्र पुरं यातुं गन्तुमुद्यमं नाततान न चकार ॥ ११ ॥

अन्वयः—रक्षः भीमपुरोहितस्य मन्त्रैः बद्धरक्षं तत् पुरं क्व विशति ? ततः यातुधानः दिक्पतिः जातु तत्र यातुम् उद्यमं न आततान ।

हिन्दी—राक्षस भीमराजा के पुरोहित के मन्त्रों द्वारा रक्षित उस पुर (कुंडिननगर) में कहाँ प्रवेश करे ? (नहीं कर सकता)। उससे (रक्षासे) नैर्ऋत दिशा के पति यातुधान ने कदापि वहाँ (कुंडिनपुरी) में पहुँचने का उद्योग नहीं किया।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में कहा गया था कि चार—इन्द्रादि—दिक्पाल स्वयंवर में आये, शेष छः नहीं। छः (११–१६) श्लोकों में छः दिक्पतियों के न आने का कारण बताया गया है। कुंडिनपुरी को राजपुरोहित ने मन्त्र कीलित कर रखा था, अतः कोई राक्षस उसमें प्रवेश नहीं कर सकता था। फलस्वरूप नैर्ऋत दिक्पाल यातुधान ने कुंडिनपुरी में प्रवेश करने का उद्यम ही नहीं किया, स्वयंवर में कैसे जाता ? विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और काव्यलिंग अलंकार ॥ ११ ॥

कर्तुं शशाकाभिमुखं न भैम्या मृगं दृगम्भोरुहनिर्जितं यत् ।
तस्या विवाहाय ययौ विदर्भान् तद्वाहनस्तेन न गन्धवाहः ॥ १२ ॥

जीवातु—कर्तुमिति। गन्धवाहो वायुः भैम्याः दृगम्भोरुहाभ्यां नयनारविन्दाभ्यां निर्जितं मृगं स्ववाहनमृगमभिमुखीं कर्तुं न शशाकेति यत् तेनाशक्तत्वेन तद्वाहनो मृगवाहनः सन् इति शेषः। तस्या भैम्या विवाहाय विदर्भान् जनपदान् न ययौ। वाहनं विना गन्तुमशक्यत्वादिति भावः ॥ १२ ॥

अन्वयः—गन्धवाहः भैम्याः दृगम्भोरुहनिर्जितं मृगं यत् अभिमुखं कर्तुं न शशाक तेन तद्वाहनः तस्याः विवाहाय विदर्भान् न ययौ।

हिन्दी—पवन भीमपुत्री के नयन-कमलों से विजित हरिण (स्ववाहन) को जो (दमयन्ती के) संमुख न कर सका, उससे उस (पवन) का वाहन (हरिण) उस (दमयन्ती) के विवाह के निमित्त विदर्भ देश को नहीं गया।

टिप्पणी—दमयन्ती ने अपने कमलनयनों के संमुख हरिणों को पराजित कर रखा है, क्योंकि उसके नेत्र हरिण-नेत्रों से सुन्दर हैं। वायु का वाहन भी हरिण है, वह भी दमयन्ती के संमुख पराजित है, अतः दमयन्ती के संमुख नहीं जाता। फलस्वरूप वाहन हरिण के विदर्भ देश न जाने के कारण वायव्य दिक्पती वायु भी दमयन्ती स्वयंवर में न पहुँच सका। विद्याधर के अनुसार रूपक-अतिशयोक्ति-काव्यलिंग अलंकारों का संकर ॥ १२ ॥

जातौ न वित्ते न गुणे न कामः सौन्दर्य एव प्रवणः स वामः।
स्वच्छस्वशैलेक्षितकुत्सबेरस्तां प्रत्यगान्न स्त्रितरां कुबेरः॥ १३ ॥

जीवातु—ननु श्रुतवित्तादिसम्पन्नः कुबेरः किमिति न यातस्तत्राह—जाताविति। कामः कुमार्याः, अभिलाषः, जातावभिजने कौलीन्ये इत्यर्थः। प्रवणो न तत्परः, वित्ते धने च न प्रवणः, गुणे श्रुतशीलादौ च न प्रवणः, किन्तु सौन्दर्य एव प्रवणः। कुतः? स कामो वामो वक्रः, सुन्दरश्च इत्यर्थः। अत एव भणन्ति—'कन्या वरयते रूपमि'ति। तस्मात् स्वच्छे स्फटिकमयत्वाद्बिम्बग्राहिणी स्वशैले कैलासे ईक्षिता कुत्सा गर्हा यस्य तत् बेरं शरीरं यस्य सः, सम्यगवगतस्वकौरूप्य इत्यर्थः। स कुबेर स्त्रितरामुत्कृष्टस्त्रीं त्रैलोक्यसुन्दरीमित्यर्थः। 'नद्याः शेषस्यान्यतरस्यामि'ति घादिपरो ह्रस्वः। तां दमयन्तीं प्रति नाऽगात्, कौरूप्यलज्जया न गत इत्यर्थः॥ १३ ॥

अन्वयः—कामः न जातौ, न वित्ते, न गुणो प्रवणः, सः वामः सौन्दर्ये एव, स्वच्छस्वशैलेक्षितकुत्सबेरः कुबेरः तां स्त्रितरां न प्रत्यगात्।

हिन्दी—कामदेव न जाति में ही उत्तम थे न धन-सम्पदा में और न शील आदि गुण में किन्तु वह बाँका छबीला सुन्दरता में ही श्रेष्ठ है। (अतः) निर्मल अपने (आवास) पर्वत (कैलास) में अपने कुत्सित बेर (शरीर अथवा नेत्र) को देखने वाला कुबेर उस रमणीरत्न के उद्देश्य से नहीं गया।

टिप्पणी—काम सुन्दरमात्र है, न उसमें कुलिनता है, न सम्पत्ति, न कोई गुण; बस वह बाँका-छबीला है। रूपवान् होने से नारियों की रुचि उसमें ही रहती है। कहा जाता है कि नारियाँ कामप्रधान होती हैं। यह भी कहा जाता है कि 'कन्या वरयते रूपम्।' भाव यह कि कन्याओं की कामना रूप-सौन्दर्य के प्रति ही होती है। उत्तर दिशा के स्वामी कुबेर कुलीन हैं, धनी

हैं, गुणी हैं, किन्तु सुन्दर नहीं है। कुत्सितं बेरं यस्य सः कुबेरः। असुन्दर है शरीर जिसका, वह कुबेर। नाम ही उसका इसी आधार पर है। उस बेचारे ने स्फटिक पर्वत कैलास में अपना रूप देखा और उसे कुत्सित समझ दमयंती की ओर से निराश हो गया और स्वयंवर में न गया। त्रैलोक्यसुन्दरी ऐसे 'कुबेर' को क्या वरेगी? विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग-दीपक ॥१३॥

भैमीविवाहं सहतेऽस्य कस्मादर्थं तनुर्या गिरिजा स्वभर्तुः।
तेन व्रजन्त्या विदधे विदर्भानीशानयानाय तयान्तरायः॥ १४॥

जीवातु—भैमीति। गिरिजा पार्वती स्वभर्तुरीश्वरस्य भैमीविवाहं कस्मात् सहते न कस्मादपीत्यर्थः। असहने कारणमाह—या भर्तुरर्द्धं तनुः समांशपरत्वान्नपुंसकत्वं, 'पुंस्यर्धोऽर्धं समेऽशके' इत्यमरः। भर्तुरर्धाङ्गभूता कथं सापत्न्यं सहत इति भावः। तेनासहनेन निमित्तेन विदर्भान् जनपदान् व्रजन्त्या तया देव्या ईशानस्येश्वरस्य यानाय विदर्भान् प्रति प्रयाणाय अन्तरायो विघ्नो विदधे विहितः। अचलत्यर्धे कथमर्धान्तरं चलेत् चलने वा शरीरं विशीर्येत निष्क्रियं वा स्यात्। तस्मादीशानदिक्पालो नायात इत्यर्थः ॥१४॥

अन्वयः—या स्वभर्त्तुः तनुः गिरिजा कस्मात् अर्थम् अस्य भैमीविवाहं सहते? तेन विदर्भान् व्रजन्त्या तया ईशानयानाय अन्तरायः विदधे।

हिन्दी—अपने पति (शिव) का शरीर (अर्धाङ्ग) है, वह गिरिसुता (उमा) किस लिए इस (अपने पति शिव) का भीमपुत्री के साथ विवाह सहती? (नहीं सहती)। उस (कारण) से विदर्भ के प्रति जाती उसने शिव-गमन में विघ्न उपस्थित कर दिया।

टिप्पणी—ईशानकोण के दिक्पति शिव इसलिए विदर्भ न पहुँच पाये कि उनकी अर्धाङ्गिनी उमा कैसे सपत्नी सह सकती थी? सो अर्द्धनारीश्वर की अर्धांगिनी ने शिव की विदर्भ-यात्रा में विघ्न उपस्थित कर दिया। स्वयं तो चुपके से चली गयी, शिव जाने लगे तो विघ्न उपस्थित कर दिया। जब आधा शरीर कार्य न करे तो शेष शरीर कैसे जाता? शिव निष्क्रिय हो गये। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा, हेतु और अनुप्रास अलंकार ॥ १४॥

स्वयंवरं भीमनरेन्द्रजाया दिशः पतिर्न प्रविवेश शेषः।
प्रयासु भारं स निवेश्य कस्मिन्नहिर्महीगौरवसासहिः कः॥ १५॥

जीवातु—स्वयंवरमिति । दिशः पतिर्दिक्पालः शेषः शेषाहिः भीमनरेन्द्रजाया भैम्याः स्वयंवरं न प्रविवेश । कुतः स शेषो भारं भूभारं कस्मिन्निवेश्य निधाय प्रयातु न कस्मिन्नपीत्यर्थः । तथा हि महीगौरवं महीभारं सासहिर्भृशं सोढा । 'सहिवहिचलिपतिभ्यो यङन्तेभ्यः किकिनौ वक्तव्यौ' इति किकिनौ तयोर्लिड्वद्भावात् 'न लोक' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् कर्मणि द्वितीया । अन्योऽहिः सर्पः कोऽस्ति न कोऽपीत्यर्थः ॥ १५ ॥

अन्वयः—दिशः पतिः शेषः भीमनरेन्द्रजायाः स्वयंवरं न प्रतिवेश; कस्मिन् भारं निवेश्य प्रयातु ? कः अहिः महीगौरवसासहिः ?

हिन्दी—पाताल दिशा का स्वामी शेष भीमराजपुत्री के स्वयंवर में नहीं गया। वह किस पर (धरती का) भार डालकर जाता ? कौन सर्प पृथ्वी के भार को सहने में समर्थ है ? (कोई नहीं) ।

टिप्पणी—पाताल का दिक्पाल शेषनाग इस कारण स्वयंवर में नहीं गया कि वह यदि पृथ्वी का भार छोड़कर चल देता तो धरती धसक जाती, भूकम्प हो जाता। अन्य किसी सर्प पर यह कर्तव्य-भार छोड़ा नहीं जा सकता था, क्योंकि शेषातिरिक्त कोई नाग धरती का महाभार सह नहीं सकता ॥ १५ ॥

ययौ विमृश्योर्ध्वदिशः पतिर्न स्वयंवरं वीक्षितधर्मशास्त्रः ।
व्यलोकि लोके श्रुतिषु स्मृतौ वा समं विवाहः क्व पितामहेन ॥ १६ ॥

जीवातु—ययाविति । वीक्षितं सम्यक् परिशीलितं धर्मशास्त्रं येन स ऊर्ध्वदिशः पतिर्ब्रह्मा विमृश्यायुक्तमिति निश्चित्यैव स्वयंवरं न ययौ । तथा हि पितामहेन ब्रह्मणा पितुः पित्रा च समं विवाहः । 'पितामहो विरिञ्चि स्यात्तातस्तु जनकोऽपि च' इति विश्वः । लोके क्व व्यलोकि दृष्टः ? श्रुतिषु वेदेषु स्मृतौ धर्मशास्त्रे वा क्व श्रुत ? न क्वापीत्यर्थः । 'असपिण्डां यवीयसीम्' इति स्मरणादिति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १६ ॥

अन्वयः—वीक्षितधर्मशास्त्रः ऊर्ध्वदिशः पतिः विमृश्य स्वयंवरं न ययौ; पितामहेन समं विवाहः लोके, श्रुतिषु, स्मृतौ वा क्व विलोकि ?

हिन्दी—धर्मशास्त्रों के सम्यक् परिशीलनकर्त्ता, ऊर्ध्वदिशा के पति (पितामह ब्रह्मा) सम्यक् विवेचन करके स्वयंवर में न गये, पिता के पिता

(बाबा—दादा) के साथ विवाह लोक-जीवन में, वेदादि में अथवा स्मृतियों में कहाँ देखा गया है ? (कहीं नहीं) ।

टिप्पणी—पितामह का विवाह पौत्री से हो, ऐसा न तो लोकसंमत है, न वेदशास्त्रादि अथवा स्मृतियों में ही ऐसा विधान है । ऊर्ध्वलोक के पालक पितामह ब्रह्मा तो सकल धर्मशास्त्रों के विज्ञाता हैं । स्वयं विमर्श करके उन्होंने अनौचित्य को समझ लिया और वे विवाहार्थ स्वयंवर में न गये । मल्लिनाथ के अनुसार सामान्य से विशेष समर्थन रूप अर्थातरन्यास अलंकार है, विद्याधर ने हेतुश्लेषालंकार का निर्देश किया है । सुखावबोध और विद्याधर ने इस पाठांतर को मान्यता दी है—स्वयं विमृश्यैव स धर्मशास्त्रं स्वयंवरं प्रास्थित न स्वयंभूः । व्यलोकि लोके मुनिभिः स्मृतो वा समं विवाहः क्व पितामहेन ॥ स्वयं धर्मशास्त्र का विचार करके वे स्वयंजन्मा ब्रह्मा स्वयंवर में न गये; क्योंकि न तो लोक में पितामह के साथ विवाह देखा गया है, न वह मुनियों द्वारा ही अनुमत है ॥ १६ ॥

भैमीनिरस्तं स्वमवेत्य दूत्या मुखात् किलेन्द्रप्रमुखा दिगीशाः ।
स्पन्दे मुखेन्दौ च वितत्य मान्द्यं चित्तस्य ते राजसमाजमीयुः ॥ १७ ॥

जीवातु—भैमीति । अथ पूर्वोक्ताश्चत्वार एव इन्द्रप्रमुखा दिगीशा दूत्याः स्वप्रेषितदूतिकायाः मुखात् स्वामात्मानं भैम्या निरस्तं परिहृतमवेत्य ज्ञात्वा चित्तस्य मान्द्यं विषादजाड्यं स्पन्दे गत्यां मुखेन्दौ च वितत्य प्रकाश्य विषादात् मन्दगतयो विवर्णमुखाश्च भूत्वेत्यर्थः । एतेन सानुभावो विषाद उक्तः । राजसमाजमीयुः किल ॥ १७ ॥

अन्वयः—ते इन्द्रप्रमुखाः दिगीशाः दूत्याः मुखात् स्वयं भैमी निरस्तम् अवेत्य स्पन्दे मुखेन्दौ च चित्तस्य मान्द्यं वितत्य किल राजसमाजम् ईयुः ।

हिन्दी—वे (शेष चार) इन्द्रादि दिक्पाल अपनी दूती से ही अपने को भीमसुता द्वारा अस्वीकृत जानकर गति और मुखचन्द्र पर चित्त की जड़ता (विषाद) बखेर कर राजसमाज में गये ।

टिप्पणी—छः श्लोकों में कथित कारणों से छः दिक्पाल तो स्वयंवर में संमिलित हुए नहीं; इन्द्र, यम, अग्नि, वरुण हुए । उनकी दूतियों ने उनके प्रति दमयन्ती की अवज्ञा—अस्वीकृति बता दी थी, फलतः उनके मन में उत्साहा-

भाव था, विषाद था। उनकी उत्साहहीन मंद गति और मुख पर विषाद के चिह्न अंकित थे। ऐसे ही उदासमुख, धीरे-धीरे चलते वे सभा में पहुँचे। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य-अलंकार छेकानुप्रास। सुखावबोध और विद्याधरीकार ने पूर्वार्द्ध का यह पाठांतर उचित माना है--श्रुत्वा निजं भीमजया निराशं दूतीमुखादिन्द्रमुखाः दिगीशाः ॥ १७ ॥

नलभ्रमेणापि भजेत भैमी कदाचिदस्मानितिशेषिताशा।
अभून्महेन्द्रादिचतुष्टयी सा चतुर्नली काचिदलीकरूपा ॥ १८ ॥

जीवातु--अथोपायान्तरवैफल्यादिन्द्रादयः तां वञ्चयित्वा ग्रहीतुं प्रवृत्ता इत्याह–नलेति। अथ राजसभाप्राप्त्यनन्तरं सा महेन्द्रादीनां चतुष्टयी भैमी कदाचित् कस्याञ्चिद्वेलायां नल इति भ्रमेण भ्रान्त्याप्यस्मान् भजेत वृणीतेत्येव शेषिताशा एतावन्मात्रावशेषितमनोरथा सती। उपायान्तरोपगमादिति भावः। अलीकरूपा काल्पनिकस्वरूपा अत एव काचिदनिर्वाच्या चतुर्नली नलचतुष्टयी अभूत्। चत्वारोऽपि नलरूपं दधुरित्यर्थः। 'तद्धितार्थे'त्यादिना समाहारद्विगावकारान्तोत्तरपदत्वात् स्त्रियां 'द्विगो'रिति ङीप् ॥ १८ ॥

अन्वयः—कदाचित् भैमी नलभ्रमेण अपि अस्मान् भजेत–इति शेषिताशा सा महेन्द्रादिचतुष्टयी अलीकरूपा काचित् चतुर्नली अभूत्।

हिन्दी—संभव है कि भीमसुता नल के भ्रम से ही हमें (इन्द्रादि दिक्पालों को) वर ले---यही जिनकी आशा शेष रह गयी थी, ऐसे वे इन्द्रादि चारों दिक्पाल मिथ्या रूपधारी अनिर्वचनीय चार नल बन गये।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में वर्णित है कि अपनी-अपनी दूतियों से दमयन्ती की असंमति पाकर इन्द्राग्नि-यम-वरुण निराश हो गये थे, किन्तु फिर भी वे स्वयंवर में सम्मिलित हुए। वे सोच रहे थे कि कदाचित् दमयन्ती नल के भ्रम से ही उनमें से किसी का वरण कर सकती है, सो उन्होंने कपट-नल रूप बनाया और वे चारों नल बनकर राजाओं की सभा में मिलकर स्वयंवर में सम्मिलित हो गये। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास अलंकार ॥ १८ ॥

प्रयस्यतान्तद्भवितुं सुराणां दृष्टेन पृष्टेन परस्परेण।
तदद्वैतसिद्धिर्न बतानुमेने स्वाभाविकात् कृत्रिममन्यदेव ॥ १९ ॥

जीवातु---प्रयस्यतामिति। असः स भवितुं तद्भवितुं नलीभवितुं

तच्छब्दात् 'अभूततद्भावे च्विः'। प्रयस्यतां प्रयतमानानां यस्यतेः दैवादिकाल्लटः शत्रादेशः। सुराणां सम्बन्धिनि द्वयोर्भावो द्विता, द्वितैव द्वैतं, प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण्प्रत्ययः। तस्य नलस्य द्वैतं तत्सिद्धिर्द्वितीयनलत्वसिद्धिः। तदत्यन्तसारूप्यसिद्धिरिति यावत्। दृष्टेन असौ नलतुल्यो जातो न वेति जिज्ञासितेन, परस्परेण नानुमेने। अतिप्रयासेनापि नलतुलां नारोहदेवेति भावः। बतेति खेदे। तथाहि–स्वाभाविकात् स्वभावसिद्धाद्रूपात् क्रियया निर्वृत्तं कृतक रूपं 'ड्वितः क्त्रिः,' 'क्त्रेर्मम्नित्यम्' इति क्त्रिर्मप् च। अन्यद्विलक्षणमेव हीनमेवेत्यर्थः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥ १९॥

अन्वयः—तद्भवितुं प्रयस्यतां सुराणां परस्परेण दृष्टेन पृष्टेन बत तद्द्वैतसिद्धिः न अनुमेने; स्वाभाविकात् कृत्रिमम् अन्यत् एव।

हिन्दी—वह (नल) हो जाने (नल रूप बनाने) के लिए प्रयत्न करते देवों (इन्द्रादि) के एक-दूसरे को देखने और पूछने पर–खेद है–उससे अद्वैत सिद्धि अनुमत नहीं हुई (नल रूप की सम्यक् धारणा, नल-समता सिद्ध नहीं हुई)। सहज (असली) से कृत्रिम (बनावटी, नकली) में अन्तर होता ही है।

टिप्पणी—इन्द्रादि चारों ने नल का रूप बना लिया। अब उन्हें यह आशंका हुई कि वे ठीक-ठीक नल-रूप बना सके हैं अथवा नहीं? उन्होंने परस्पर एक ने शेष तीनों को—देखा और पूछा भी कि ठीक नल के सदृश बना कि नहीं? परन्तु उन्हें इससे स्पष्ट हो गया कि ठीक नल जैसा रूप नहीं बना सके, कहीं कोई त्रुटि रह ही गयी। वस्तुतः असली और नकली में अंतर रह ही जाया करता है। कहावत है कि नकल, नकल ही रहती है। उन्हें 'तद्द्वैतसिद्धि' न मिल पायी—वे दूसरे (अन्य) नल न बन सके। मल्लिनाथ के अनुसार सामान्य से विशेष समर्थनरूप अर्थांतरन्यास; विद्याधर ने भी अर्थांतरन्यास का ही निर्देश किया है॥ १९॥

पूर्णेन्दुमास्यं विदधु पुनस्ते पुनर्मुखीचक्रुरनिद्रमब्जम्।
स्ववक्त्रमादर्शतलेऽथ दर्शं दर्शं बभञ्जुर्न तथातिमञ्जु॥ २०॥

जीवातु—पूर्णेन्दुमिति। ते देवाः पुनः पूर्णेन्दुं पूर्णचन्द्रमेवास्यं विदधुः मुखं चक्रुः। तथा पुनरनिद्रं विकचमब्जं पद्मं मुखीचक्रुः। नलमुखसाम्यलाभाय पुनश्चन्द्रेण पद्मेन च मुखानि निर्ममुरित्यर्थः। अथानन्तरं स्ववक्त्रमादर्शतले

दर्पणान्तर्दर्शं दर्शं दृष्ट्वा दृष्ट्वा पुनः पुनर्दृष्ट्वेत्यर्थः । आभीक्ष्ण्ये णमुल् द्विर्वचनं च । तथा नलमुखवदतिमञ्जु अतिसुन्दरं नेति बभञ्जुर्भग्नं चक्रुः निनिन्दुरित्यर्थः । अत्र पूर्णेन्द्वादिकारणसामान्येऽपि विवक्षितकार्यानुत्पत्तिकथनाद्विशेषोक्तिरलङ्कारः । 'तत्सामान्यामनुत्पत्तिर्निगद्यते' इति लक्षणात् ॥

अन्वयः—पुनः ते पूर्णेन्दुम्, अनिद्रम् अब्जम् आस्यं विदधुः; अथ स्ववक्त्रम् आदर्शतले दर्शं दर्शं तथा अतिमञ्जु न—बभञ्जुः ।

हिन्दी—फिर उन्होंने (इन्द्रादि ने) पूर्णचन्द्र (पूर्णिमा के चन्द्रमा) और विकसित कमल को (अपना-अपना) मुख बनाया; तत्पश्चात् अपने-अपने मुख को दर्पण में देख-देख कर वैसा (नल मुख सदृश) अतिरमणीय नहीं है—यह मानकर बिगाड़ दिया (अथवा झुँझलाकर दर्पण फेंक तोड़ा) ।

टिप्पणी—नल के मुख-समान बनाने के लिए उन दिक्पालों ने पूर्णिमा के चन्द्र और खिले कमल को अपना मुख बनाया कि ये दोनों मुख के उपमान हैं और उपमान उपमेय से श्रेष्ठ होता ही है । इस प्रकार मुख सुन्दर बन जायेगा और वे त्रुटिहीन—असली नल प्रतीत होंगे । अपने मुखों को फिर उन्होंने बार-बार दर्पण में देखा और तब उन्हें लगा कि अब भी मुख नल-मुख-सम सुन्दर नहीं बन सका। वे झुँझला उठे और बनाये को बिगाड़ डाला । भाव यह कि नल का मुख पूर्णेन्दु और विकसित कमल से अधिक सुन्दर है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ विशेषोक्ति अलंकार है, क्योंकि पूर्णेन्दु-आदि कारणसामान्य के रहते भी विवक्षित कार्य की अनुत्पति का कथन हुआ है । विद्याधर के अनुसार जाति और अतिशयोक्ति हैं ॥ २० ॥

तेषां तथा लब्धुमनीश्वराणां श्रियं निजास्येन नलाननस्य ।
नालं तरीतुं पुनरुक्तिदोषं बर्हिर्मुखानामनलाननत्वम् ॥ २१ ॥

जीवातु—तेषामिति । तथा तेन प्रकारेण निजास्येन प्रयोज्येन नलाननस्य श्रियं लब्धुं लम्भयितुमिति णिजर्थो ग्राह्यः । यद्वा निजास्येन साधनेन तां श्रियं लब्धुं प्राप्तुमनीश्वराणामसमर्थानां बर्हिर्मुखानामग्निवक्त्राणाम्, 'अग्निमुखा वै देवाः' इति श्रुतेः । 'बर्हिर्मुखाः क्रतुभुजः, बर्हिश्शुष्मा कृष्णवर्त्मा' इति चामरः । तेषामिन्द्रादीनां सम्बन्धि, अनलाननत्वं वह्निमुखत्वम्, अथ च नलस्याननमिव आननं येषां ते नलानना इत्युपमानपूर्वपदो बहुव्रीहिः । ते न

भवन्तीत्यनलाननाः तेषां भावः इत्यनलाननत्वं नलाननतुल्याननराहित्यं, पुनरुक्तिदोषम् 'अग्निमुखा वै देवाः' इति श्रुत्या तेषां वह्निमुखत्वे पूर्वं सिद्धेऽपि पुनर्वह्निमुखत्वसम्पादनमिति पुनरुक्तिः, अथ च पूर्वं नलरूपाप्राप्त्या नलाननतुल्याननराहित्ये सिद्धेऽपि पुनरलीकनलीभूत्वा चन्द्रादिनाऽपि नलसदृशाननत्वाप्राप्त्या अनलाननत्वमिति पुनरुक्तिरित्येतादृशपुनरुक्तिदोषमित्यर्थः, तरीतुं परिहर्तुं, नालं न समर्थः, न तु नलाननत्वसम्भावनापीत्यर्थः। द्वयोरप्यनलाननत्वयोर्भेदेऽपि श्लिष्टैकपदोपादानमहिम्नैकत्वाभिमानात्पौनरुक्त्यव्यपदेशः। अत्र नलाननश्रीलिप्सूनां तेषां न केवलं तदलाभः प्रत्युत दुस्तरतरपुनरुक्तिदोषरूपानर्थोत्पत्तिश्चेति द्वितीयो विषमालङ्कारभेदः। 'यत्राननस्य वा भवे'दिति लक्षणात् ॥ २१ ॥

अन्वयः—तथा निजास्येन नलाननस्य श्रियं लब्धुम् अनीश्वराणां बर्हिर्मुखानां तेषाम् अनलाननत्वं पुनरुक्तिदोषं तरीतुम् अलं न।

हिन्दी—उस प्रकार अपने मुख से नल के मुख की श्री (शोभा) प्राप्त करने में असमर्थ (अशक्त) बर्हिमुख (अनलमुख, अग्निमुख) उन देवों का अनलानत्व (अनलमुख होना, अ+नल अर्थात् नल सदृश मुख न होना) पुनरुक्ति नामक दोष को दूर करने में समर्थ न हुआ।

टिप्पणी—भाव यह है कि सब प्रयत्न कर देवगण हार गये पर उनके मुख की शोभा नल-मुख-शोभा-सदृश न हो पायी। 'अनल' द्वयर्थक है--(१) अग्नि (२) अ+नल=नलाभाव। इस अनेकार्थकता के आधार पर भंगिमा-विशेष में इस तथ्य को कहा गया है। देवों को 'बर्हिमुख' अर्थात् अग्निमुख (अनलानन) कहा जाता है—'अग्निमुखा वै देवाः', क्योंकि अग्नि के माध्यम से देव यज्ञाहुति ग्रहण करते हैं। इस प्रकार वे 'अनलानल' देव 'अनलानन (अग्निमुख और नलसदृश मुखवाले नहीं) ही रहे। उनका 'अनलानल' होकर 'अनलानल' रहना पुनरुक्तिदोष हुआ—कहे को फिर कहना। ऐसा लगता है कि पुनरुक्तिदोष को दूर करने के लिए 'नलानल' बनने की चेष्टा तो कर रहे थे, पर सफल न हुए—'अनलानल' के 'अनलानल' ही रहे। पुनरुक्तिदोष न दूर हो पाया। यह पुनरुक्ति 'अनल' शब्दच्छल के आधार पर है। मल्लिनाथ ने कहा है कि दोनों 'अनलाननत्व' में भेद है, किंतु श्लिष्ट पद (अनल) के

उपादान से यह एकत्व आया है और पौनरुक्त्य का व्यपदेश हुआ है। इस प्रकार यहाँ विषमालंकार है, क्योंकि नल-मुख-श्री-लिप्सु देवों को केवल उसका अलाभ ही नहीं, प्रत्युत दुस्तरतर पुनरुक्ति दोषरूप अनर्थ की उत्पत्ति भी बतायी गयी है। विद्याधरने श्लेष और अतिशयोक्ति का निर्देश किया है। विश्वकोष के अनुसार 'बर्हि' कुश और अग्नि को कहते हैं—'बर्हिः कुशहुताशयोः'—इति विश्वः ॥२१॥

प्रियावियोगक्वथितात् किमैलाच्चन्द्राद्गृहीतैर्ग्रहपीडितात्ते।
ध्मातात्भवेन स्मरतोऽपि सारैः स्वङ्कल्पयन्ति स्म नलानुकल्पम् ॥२२॥

जीवातु—प्रियेति। ते देवाः प्रियावियोगेनोर्वशीविरहाग्निना क्वथितात् दग्धादैलादिलात्मजात्पुरूरवसः कर्पूरादेरिवेति भावः। तथा ग्रहपीडिताद्राहु-निष्पीडिताच्चन्द्राच्च यन्त्रनिष्पीडितात्तिलसर्षपादेरिवेति भावः। भवेन हरेण ध्मातात् स्मरतोऽपि कामाच्च मुखमारुतसन्धुक्षिताग्निदग्धात् खदिरकाष्ठादेरिवेति भावः। गृहीतैरुपात्तैः सारैः साधनैः स्वमात्मानं नलस्यानुकल्पं प्रतिनिधिं कल्पयन्ति स्म किमित्युत्प्रेक्षा। अन्यथा तदनुकल्पतापि कुत इति भावः। अन्येनापि क्वथनपीडिताग्निदाहादिना वस्तुसारः समाकृष्यते। एतेन प्रिया-वियोगादिजन्यक्वथनादिरहितैलचन्द्रादितोऽपि नलस्य सौन्दर्याधिक्यं व्यज्यते। 'मुख्यः स्यात् प्रथमः कल्पोऽनुकल्पस्तु ततोऽधमः' इत्यमरः॥ २२ ॥

अन्वयः—किं ते प्रियावियोगक्वथितात् ऐलात् ग्रहपीडितात् चन्द्रात् भवेन ध्मातात् स्मरतः अपि गृहीतैः सारैः स्वं नलानुकल्पं कल्पयन्ति स्म ?

हिन्दी—क्या वे (दिक्पाल) प्रिया (उर्वशी) के विरह (अग्नि) से दग्ध इलापुत्र 'ऐल' (पुरूरवा), ग्रह (राहु) से निष्पीडित चन्द्र और शिव द्वारा फूँक दिये गये काम से भी लिये गये सार रूप साधनों से अपने को नल का अनुकल्प (प्रतिनिधि-सदृश) बना रहे थे ?

टिप्पणी—दिक्पाल, लगता है—अन्य प्रयत्न भी कर रहे थे कि वे नल-सदृश बन सकें। किसी सुन्दर वस्तु का निर्माण करने के लिए अनेक साधनों से सारभाग लेकर बनाने का प्रयत्न किया जाता है। नल-सदृश बनने के लिए दिक्पालों द्वारा तीन सुन्दर व्यक्तियों का सार लेने की संभावना की गयी है—(१) उर्वशी के प्रिय इलापुत्र पुरूरवा का सार उसे उर्वशी के वियोग में जलाकर कर्पूर

तुल्य; (२) राहु द्वारा तिलों के समान तेल निकालने को पेरे जाते चन्द्र का सार और (३) शिवजी द्वारा भस्मीभूत काम का सार खदिरकाष्ठादि को फूंकने जैसा। इस सबसे भी वे देव 'नलानुकल्प' ही बन सकते थे, नल नहीं। प्रथम कल्प ही मुख्य होता है, अनुकल्प उससे अधम। इस प्रकार 'नलानुकल्प' ही देव हो सके—मुख्य नहीं, अधम। भाव यह कि प्रिया-विरह से दग्ध न हुए ऐल, अनिष्पीडित चन्द्र और अभस्मीभूत काम से भी नल अधिक सुन्दर है। नारायण और मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने उत्प्रेक्षा और दीपक का निर्देश किया है॥२२॥

नलस्य पश्यत्वियदन्तरं तैर्भैमीति भूपान् विधिराहृतास्ये।
स्पर्धां दिगीशानपि कारयित्वा तस्यैव तेभ्यः प्रथिमानमाख्यत् ॥२३॥

जीवातु—नलस्येति। विधिर्ब्रह्मा नलस्य तैर्भूपैः सह इयत् एतत् परिमितम्, अन्तरं तारतम्यम्, इयं भैमी पश्यत्विति हेतोः एतान् भूपानाहृत आहृतवान्। हरतेर्लुङि तङ् 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिज्लोपः। किञ्च दिगीशादपि स्पर्धां कारयित्वा नलरूपधारणादिद्वारा दिगीशैरपि नलेन सह मत्सरङ्कारयित्वेत्यर्थः 'हृक्रोरन्यतरस्या'मिति विकल्पादणिकर्तुः कर्मत्वम्। तस्य नलस्यैव तेभ्य इन्द्रादिभ्योऽपि 'पञ्चमीविभक्ते' इति पञ्चमी। प्रथिमानमाधिक्यमस्यै भैम्यै आख्यदाख्यातवान्। ख्यातेर्लुङि 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङि'ति च्लेरङादेशः। त्रैलोक्यातिशायि लावण्यमस्येति भैमीं प्रत्याययितुमेव ब्रह्मा स्वयंवरव्याजेन त्रिलोकीमेकत्राचकर्षेत्युत्प्रेक्षा॥ २३॥

अन्वयः—विधिः नलस्य तैः इयत् अन्तरम् इयं भैमी पश्यतु—इति अस्मै भूपान् आहृत, दिगीशान् अपि स्पर्धां कारयित्वा तस्य तेभ्यः प्रथिमानम् एव आख्यत्।

हिन्दी—नल का उन (राजाओं) से इतना अधिक अन्तर यह भीमसुता देख ले—इसलिए ब्रह्मा ने राजाओं को (स्वयंवर में) इस (दमयन्ती) के निमित्त लाये और दिक्पालों को भी स्पर्धा (प्रतिद्वन्द्विता—मुकाबला) करा कर उन (दिक्पालों) से उस (नल) की गुरुता (श्रेष्ठता) ही अवगत करायी।

टिप्पणी—यहाँ एक शंका यह उठ सकती है कि विधाता तो दमयन्ती और नल का एकनिष्ठ अनुराग जानते थे, सर्वज्ञ हैं वे, और सब के नियंत्रक।

उन्होंने क्यों इतने राजाओं और दिक्पालों को ऐसी बुद्धि दी कि वे व्यर्थ स्वयंवर में सम्मिलित हों? कविकल्पना है कि विधाता ने राजाओं को यह प्रेरणा इसलिए दी कि उनसे समता करके दमयन्ती देख ले कि अन्य भूपालों और नल भूपाल में रूप-गुणादि की दृष्टि से कितना अधिक अन्तर है? दिक्पाल भी नल-सदृश बनने की सारी चेष्टा कर देखें और जब वे वैसे न बन सकें तो समझ लें कि कितना श्रेष्ठ है नल उनकी अपेक्षा और क्यों दमयन्ती उनकी उपेक्षा कर रही है? नल-रूप बनाकर भी दिक्पाल नल की श्रेष्ठता प्रकाशित कर रहे थे। नल दिक्पालों और भूपालों से कई गुना श्रेष्ठ था। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा है कि नल का त्रैलोक्यातिशायि लावण्य है——इसका दमयन्ती को विश्वास दिलाने के लिए ही ब्रह्मा ने स्वयंवर-व्याज से वहाँ त्रिलोकी को एकत्र कर दिया था। विद्याधर ने भी उत्प्रेक्षा का ही निर्देश किया है॥ २३॥

सभा नलश्रीयमकैर्यमाद्यैर्नलं विनाऽभूद्धृतदिव्यरत्नैः।
भामाङ्गणप्राघुणिके चतुर्भिर्देवद्रुमैर्द्यौरिव पारिजाते॥ २४॥

जीवातु——सभेति। सभा सा राजसभा नलश्रियो यमकैः पुनरुक्ताकारैस्तद्रूपधारिभिरित्यर्थः। धृतानि दिव्यानि रत्नानि यैस्तैः रत्नाभरणभूषितैरित्यर्थः। यमाद्यैश्चतुर्भिर्नलं विना तदा नलस्यानागमनात्तेन विनाभूतैरित्यर्थः। अत एव पारिजाते पारिजाताख्ये देवद्रुमे भामायाः सत्यभामाया अङ्गणस्य चत्वरस्य प्राघुणिके अतिथौ सति, तया उपहृते सतीत्यर्थः। 'आवेशिकः प्राघुणिक आगन्तुरतिथिः स्मृतः' इति हलायुधः। धृतदिव्यरत्नैर्मूलादग्रपर्यन्तं धृतमुक्तादिदिव्यरत्नैः, चतुर्भिर्देवद्रुमैर्मन्दारादिभिः, 'पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातक। सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम्' इत्यमर। द्यौः स्वर्ग इवाभूत् अभादित्यर्थः, मन्दारादिषु सत्स्वपि पारिजातं विना यथा द्यौ न शोभते, तथा नलरूपधारिषु यमादिषु सत्स्वपि नलं विना स्वयंवरसभा न शुशुभे। सभायामिन्द्रादयः समागता नलो नागत इति भावः।

अन्वयः——सभा नलश्रीयमकैः धृतदिव्यरत्नैः यमाद्यैः नलं विना पारिजाते भामाङ्गणप्राघुणिके चतुर्भिः देवद्रुमैः द्यौः इव अभूत्।

हिन्दी——स्वयंवर-सभा नल रूपधारी, दिव्यरत्नपहिने यम आदि चारों

के रहते नल के विना पारिजात (सुरतरु) के (कृष्णपत्नी) सत्यभामा के आँगन का अतिथि बन जाने पर (शेष) चार देववृक्षों से युक्त स्वर्ग के सदृश थी।

टिप्पणी—स्वयंवर सभा में यम, अग्नि, वरुण, इन्द्र नल का रूप धारण कर दिव्य रत्नों से सजकर बैठे थे। नल वहाँ नहीं था। इन चारों से युक्त नल-रहित वह सभा ऐसी लग रही थी, जैसे चार देववृक्षों—मंदार, संतान, कल्पवृक्ष और हरिचन्दन—से युक्त किन्तु पारिजात से रहित स्वर्गपुरी। स्वर्गपुरी का पारिजात सत्यभामा के आँगन में लगा दिया गया था। पारिजात के विना शेष चारों सुरतरुओं से युक्त भी जैसे स्वर्गसभा शोभा नहीं पाती, वैसे ही नल रहित और चारों दिक्पालों से युक्त वह सभा शोभित न हो रही थी। चारों दिक्पालों की तुलना मन्दारादि चार सुरतरुओं से, नल की पारिजात से और स्वयंवर सभा की द्यौ से की गयी है। भाव यह कि सभा में इन्द्रादि पहुँच गये थे, नल न पहुँच पाया था। विद्याधर के अनुसार-उपमालंकार।२४।

तत्रागमद्वासुकिरीशभूषाभस्मोपलेहस्फुटगौरदेहः ।
फणीन्द्रवृन्दप्रणिगद्यमानप्रसीदजीवाद्यनुजीविवादः ॥ २५ ॥

जीवातु—तत्रेति। ईशभूषा योगपट्टसम्पादनार्थं तत्र वासात् ईश्वराभरणभूतः, अत एव भस्मन उपलेहेनोपलेपेन तदङ्गरागभस्मसङ्क्रमणेन स्फुटगौरदेहः शुभ्राङ्गः वासुकिः फणीन्द्रवृन्दैः सर्पराजगणैः पणिगद्यमानो व्याह्रियमाणः, 'नेर्गदनदे' त्यादिना णत्वम्। प्रसीदजीवशब्दावादिर्यस्य सोऽनुजीविवादः सेवकजनकोलाहलः यस्य स आदिशब्दाज्जयादि शब्दसंग्रहः वासुकिः तत्र स्वयंवरे अगमदागतः ॥ २५ ॥

अन्वयः—तत्र ईशभूषाभस्मोपलेहस्फुटगौरदेहः फणीन्द्रवृन्दप्रणिगद्यमानप्रसीदजीवाद्यनुजीविवादः वासुकिः अगमत्।

हिन्दी—वहाँ (स्वयंवरसभा में) शिवजी के शृंगार के निमित्त भस्म रूप अगराग से स्पष्टतः उज्ज्वल (गौर) देह वाला, नागराज कर्कोटकादि के समूह द्वारा 'प्रसन्न होवें', 'जियें' आदि शब्द जिसको लक्ष्य कर कहे जा रहे थे और जिसके अनुचरों का कोलाहल हो रहा था, ऐसा वासुकि (पातालराज नागाधिप) पहुँचा।

टिप्पणी--स्वर्ग के देव, पृथ्वी के राजा ही नहीं, पाताल का नागराज वासुकि भी स्वयंवर-सभा में पहुँच गया, जिसके पाताल से चल पड़ने की बात आठवें श्लोक में कही गयी है। यह पुनरुक्ति नहीं है, आठवें श्लोक में चल पड़ना कहा गया है, यहाँ पहुँचना। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास।२६।

द्वीपान्तरेभ्यः पुटभेदनं तत् क्षणादवापे सुरभूमिपालैः।
तत्कालमालम्भि न केन यूना स्मरेषुपक्षानिलतूललीला॥ २६॥

जीवातु--द्वीपान्तरेभ्य इति। तत् पुटभेदनं कुण्डिनपुरं द्वीपान्तरेभ्यः, प्लक्षादिभ्यः, अपादाने पञ्चमी। सुराश्च भूमिपालाश्च तैः, अथवा सुरभूमयः देवभूमयः द्वीपान्तरलक्षणाः। देवानां भोगदेहशालित्वेन द्वीपान्तराणाञ्च भोगभूमित्वेन सुरभूमित्वव्यपदेश इति भावः, पालयन्ति ये तैः राजभिरित्यर्थः, क्षणादवापे अवाप्तम्। तथा हि तस्मिन्काले तत्कालं स्वयंवरकालमित्यर्थः। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। केन यूना स्मरेषूणां पक्षानिलेन तूलस्य कार्पासादेर्लीला इव लीला विलासः नालम्भि न प्राप्तः। 'चिण्भावकर्मणो'रिति लभेः कर्मणि लुङि चिण्। 'विभाषा च्चिणणमुलोः' इत्युपसृष्टाद्वैभाषिको नुमागमः। अत्राखिलयूनां कामुकत्वेन कुण्डिनप्राप्तिरूपकारणेन द्विपान्तरस्थभूपानां झटिति कुण्डिनप्राप्तिरूपकार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः। स च तूललीलेति निदर्शनासङ्कीर्णः॥ २६॥

अन्वयः--सुरभूमिपालैः द्वीपान्तरेभ्यः तत् पुटभेदनं क्षणात् अवापे; केन यूना तत्कालं स्मरेषुपक्षानिलतूललीला न आलम्भि?

हिन्दी--देवगण और पृथ्वीपति राजगण (अथवा प्लक्षादि द्वीपांतर और धरती के राजा) अन्य द्वीपों से उस कुंडिनपुरी में शीघ्र ही पहुँच गये; किस तरुण ने उस समय (दमयन्ती-स्वयंवर-काल में) काम-बाणों के पंखों के वायु में रुई के विलास (साम्य) को नहीं प्राप्त किया? (सभी काम-बाणों के पखों की हवा में रुई-से उड़ आये)।

टिप्पणी--द्वीप-द्वीपांतरों के तरुण राजा, देव आदि सभी स्वयंवर में सम्मिलित होने यथासंभव शीघ्र कुंडिनपुरी में उपस्थित हो गये। दमयंती के स्वयंवर में सभी पहुँचना चाहते थे। वे वहाँ उसी प्रकार काम-विवश होकर पहुँच गये जैसे वायु में रुई उड़कर जहाँ-तहाँ पहुँच जाती है। काम-बाणों के

पंखों का अनिल सभी को रुई-तुल्य उड़ाकर स्वयंवर में ले गया । मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोकमें संपूर्ण युवकों का कामुक हो कुंडिन-प्राप्ति-रूप कारण से द्वीपांतरस्थित भूपों का झटिति कुंडिननगर-प्राप्ति रूप कार्य-समर्थन अर्थांतरन्यास 'तूललील'—इस निदर्शना से संकीर्ण है, विद्याधर ने छेकानुप्रास-काव्यलिंग-निदर्शना-अतिशयोक्ति अलंकारों का निर्देश किया है ॥ २६ ॥

रम्येषु हर्म्येषु निवेशनेन सपर्यया कुण्डिननाकनाथः ।
प्रियोक्तिदानादरनम्रताद्यैरुपाचरच्चारु स राजचक्रम् ॥ २७ ॥

जीवातु—रम्येष्विति । सः कुण्डिननाकनाथः कुण्डिनेन्द्रो भीमः राजचक्रं राजमण्डलं रम्येषु हर्म्येषु निवेशनेन स्थापनेन सपर्यया अर्घ्यपाद्यादिपूजया तथा प्रियोक्तिः प्रियवचनं दानं गन्धमाल्यताम्बूलादिसमर्पणमादरः समादरः सम्मानो वा, नम्रतादि याचरणमेवमाद्यैरुपचारैराद्यशब्दाद्भोजनादिसंविधानसङ्ग्रहः । चारु सम्यगुपाचरत् सन्तोषितवान् ॥ २७ ॥

अन्वयः—सः कुण्डिननाकनाथः रम्येषु हर्म्येषु निवेशनेन सपर्यया प्रियोक्तिदानादरनम्रताद्यैः राजचक्रं चारु उपाचरत् ।

हिन्दी—उस कुंडिननगर रूप स्वर्ग के स्वामी (राजा भीम) ने रमणीय राजभवनों में ठहराकर, आतिथ्य तथा प्रिय (मधुर) वचन, गंधमाल्य तांबूलादिदान, संमान और विनय आदि के साथ राजमण्डली का भव्य स्वागत-सत्कार किया ।

टिप्पणी—भीमराज की शालीनता और शिष्ट व्यवहार का द्योतन । अतिथि-समूह का समुचित सत्कार करके भीमराज ने उन्हें संतुष्ट किया । कुंडिनपुरी को स्वर्ग और भीमराज को उसका अधिपति कहकर पुरी को स्वर्गतुल्य रमणीय और भीमराज को इन्द्र के समान वैभवसंपन्न निर्दिष्ट किया गया है । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास ॥ २७ ॥

चतुःसमुद्रीपरिखे नृपाणामन्तःपुरे वासितकीर्तिदारे ।
औदार्यदाक्षिण्यदयादमानां चतुष्टयीरक्षणसौविदल्लाः ॥ २८ ॥

जीवातु—युक्तं चैतदित्याह—चतुरिति । चतुःसमुद्र्येव परिखा वलयं यस्य तस्मिन् वासिताः स्थापिताः कीर्तय एव दाराः कलत्राणि यस्मिन् तस्मिन् नृपाणां राज्ञामन्तःपुरे पृथिवीपुरे इति भावः । औदार्यं त्यागः दाक्षिण्यं परिचित्तानु-

वर्तनं दया कृपा दम इन्द्रियदमनं तेषां चतुष्टय्येव रक्षणे रक्षणार्थं, सौविदल्लाः कञ्चुकिनः। 'सौविदल्लाः कञ्चुकिनः' इत्यमरः। औदार्यादिगुणचतुष्टयेन नृपाणां कीर्तिः रक्ष्यते, तद्विहीनानां कुत कीर्त्तिरिति भावः। स्वकीर्त्तिरक्षणार्थं तेन राज्ञा भीमेन ते राजानः सत्कृता इति तात्पर्यम्। रूपकालङ्कारः ॥ २८ ॥

अन्वयः—चतुःसमुद्रीपरिखे वासितकीर्त्तिदारे नृपाणाम् अन्तःपुरे औदार्यदाक्षिण्यदयादमानां (पाठांतर—दानं दया सूनृतमातिथेयी) चतुष्टयी रक्षणसौविदल्लाः।

हिन्दी—चार समुद्र रूप खाई से युक्त, कीर्तिरूप दाराओं के आवास राजाओं के रनिवास में उदारता, दक्षिणता (अनुकूल व्यवहार) दया और दम अर्थात् जितेन्द्रियता (पाठांतर—दान, दया, प्रिय-सत्य वचन और अतिथि सत्कार)—यह चौकड़ी (ये चार) रक्षा के लिए कंचुकि होते हैं।

टिप्पणी—यहाँ यह शंका हो सकती है कि सार्वभौम राजा भीम ने उन सब छोटे-मोटे राजाओं का इतना सत्कार क्यों किया ? क्या इससे उसकी महत्ता खंडित नहीं होती ? छोटे ही बड़ों का सत्कार करते हैं। समाधान इस श्लोक में प्रस्तुत किया गया कि चतुःसमुद्री मेखला धरणी के स्वामी राजाओं के अन्तःपुर में दारसमूह तो बसता ही है, वस्तुतः ऐसे भूमिपालों की वास्तविक दारा कीर्ति होती है। और कीर्ति की रक्षा सामान्य कंचुकी—अन्तःपुर-परिचारक—नहीं करते, वे विशिष्ट होते है। वे कंचुकी चार हैं—उदारता, दाक्षिण्य, दया और दम अथवा दान, दया, प्रिय-सत्य-वचन और आतिथ्य-सत्कार। अर्थात् दानादिचतुष्टयी ही कीर्ति की रक्षा करती है, इसी से भीमराज ने सार्वभौमनरेश होकर भी सभी छोटे-बड़े अभ्यागत राजाओं को उचित सत्कार दिया। मल्लिनाथ-विद्याधर के अनुसार रूपकालंकार ॥२८॥

अभ्यागतैः कुण्डिनवासवस्य परोक्षवृत्तेष्वपि तेषु तेषु।
जिज्ञासितस्वेप्सितलाभलिङ्गं स्वल्पोऽपि नावापि नृपैर्विशेषः ॥ २९ ॥

जीवातु—अभ्यागतैरिति। अभ्यागतैर्नृपैः कुण्डिनवासवस्य कुण्डिनेन्द्रस्य भीमस्य सम्बन्धिषु परोक्षवृत्तेषु गूढनिष्पन्नेष्वपि अपिना प्रत्यक्षवृत्तानां परिग्रहः, तेषु तेषूपचारेषु जिज्ञासितस्य ज्ञातुमिष्टस्य प्रयत्नान्वेषणीयस्य इत्यर्थः। जानातेः सनन्तात् कर्मणि क्तः। स्वेप्सितलाभस्य भैमीलाभस्य लिङ्गं चिह्नं

गमकभूतः इति भावः। स्वल्पोऽपि विशेष उपचारतारतम्यं नावापि न लब्धः, यस्मिन् नृपे उपचारविशेषः परिलक्ष्येत तस्मै एव भैमीं दास्यतीति हेतो महानुपचारविशेषः कस्य क्रियते इति परिज्ञानेच्छायां नृपैः कुत्रापि तद्विशेषो नावगतः, भीमेन सर्वेषां राज्ञां तुल्य एव समादरः कृतः, तत एव सर्वेऽप्यमंसत यत् भैमीलाभो ममैव भविष्यतीति भावः॥ २९॥

अन्वयः—अभ्यागतैः नृपैः कुण्डिनवासवस्य तेषु तेषु परोक्षवृत्तेषु अपि जिज्ञासितस्वेप्सितलाभलिङ्गं स्वल्पः अपि विशेषः न अवापि।

हिन्दी—अतिथि भूपों ने कुंडिनेन्द्र (भीमराज) के उन-उन परोक्ष (अप्रत्यक्ष अतएव परस्पर अज्ञात आतिथ्यादि) आचरणों में भी जानने योग्य अपने अभीष्ट-प्राप्ति की सूचक थोड़ी भी विशिष्टता न पायी।

टिप्पणी—अतिथि नरेश समझते थे कि दमयन्ती का विवाह करने के लिए जिस किसी कुमार में भीमराज की विशेष रुचि होगी, उसका वे विशेष आतिथ्य-सत्कार-संमान करेंगे। पर सबके देखे अथवा अदेखे—प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष में—जो भी व्यवहार उन्हें कुण्डिननरेश से प्राप्त हुआ, वह सभी को समान मिला। न किसी का न्यून सत्कार हुआ, न किसी का अधिक। सभी के साथ समान व्यवहार देखकर वे यह जान ही न सके कि भीमराज किसे दमयन्ती देना चाहते हैं? उनकी बड़ी इच्छा थी कि वे जान लेते कि किस भाग्यशाली को दमयन्ती मिलेगी? किन्तु उनकी यह इच्छा पूरी न हो सकी। सभी सत्कार-संतुष्ट नृप यही आशा करने लगे कि दमयन्ती उन्हें ही प्राप्त होगी। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार॥ २९॥

अङ्के विदर्भेन्द्रपुरस्य शङ्के न सम्ममौ नैष तथा समाजः।
यथा पयोराशिरगस्त्यहस्ते यथा जगद्वा जठरे मुरारेः॥ ३०॥

जीवातु—सर्वेषां राज्ञां कुण्डिननगरे समावेशो जात इत्याह—अङ्क इति। विदर्भेन्द्रपुरस्य कुण्डिनपुरस्याङ्के अभ्यन्तरे एष समाजो राजसङ्घोऽगस्त्यहस्ते पयोराशिः समुद्रः यथा मुरारेः जठरे जगद्वा यथा तथा न सम्ममौ न सम्मितः इति न, किन्तु तथैव सम्ममावित्यर्थः। शङ्के इत्युत्प्रेक्षायाम्। मुनिहस्तहरिकुक्ष्यौपम्येन अल्पेऽपि पुरे समाजस्य महतः सम्मानोत्प्रेक्षणादुपमोत्प्रेक्षयोः सङ्करः। तेनाधाराधेययोरनानुरूप्यलक्षणाधिकालङ्कारस्तन्महत्वमत्यद्भुतं वस्तु च व्यज्यते॥ ३०॥

अन्वयः—यथा अगस्त्यहस्ते पयोराशिः यथा वा मुरारेः जठरे जगत् शङ्के तथा विदर्भेन्द्रपुरस्य अंके एषः समाजः न सम्ममौ—न ।

हिन्दी—अगस्त्यमुनि की हथेली में जलनिधि (समुद्र) अथवा मुररिपु (विष्णु) के उदर में जगत् (समाया), मानता हूँ कि वैसे विदर्भनगरी के इन्द्र के नगर (कुण्डिनपुरी) के मध्य यह (अतिथि) समाज न समाया–ऐसा नहीं है । (प्रत्युत समाया ही) ।

टिप्पणी—इतना विशाल जल का आगार अगस्त्यमुनि की छोटी-सी हथेली में समा गया, विस्तृत जगत् प्रलयकाल में मुरारि विष्णु के उदर में समा जाता हैं । इसी प्रकार वह इतना बड़ा राजसमूह कुण्डिनपुरी में भली भाँति समाकर आनन्द लेने लगा । उपर्युक्त दो उदाहरण इस बात के द्योतक हैं कि इच्छा होने पर सभी संभव है, केवल कर्त्ता की वास्तविक इच्छा होनी चाहिए—'मुश्किल नहीं है कुछ भी अगर ठान लीजिए ।' धरती पर आकाश उतारा जा सकता है । विद्याधर ने यहाँ छेकानुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा का विधान किया है । मल्लिनाथ का कथन है कि 'शङ्के' उत्प्रेक्षार्थक है । अगस्त्य मुनि और मुरारि जठर की उपमा द्वारा छोटी भी कुण्डिनपुरी में बड़े राजसमूह के समा जाने के उत्प्रेक्षा के कारण यहाँ उपमा और उत्प्रेक्षा का संकर है, जिससे आधाराधेय का अनानुरूप्यलक्षण अधिकालंकार और कुण्डिन पुरी का महत्त्व एक अत्युद्भुत वस्तु की व्यंजना हुई है । नारायण की टिप्पणी है कि इस सबसे नगर का अति विस्तृत होना कहा गया है ॥ ३० ॥

पुरे पथिद्वारगृहाणि तत्र चित्रीकृतान्युत्सववाञ्छयैव ।
नभोऽपि किर्मीरमकारि तेषां महीभुजामाभरणप्रभाभिः ॥ ३१ ॥

जीवातु—पुर इति । तत्र पुरे उत्सववाञ्छया विवाहोत्सवाभिलाषेण पन्थानो द्वाराणि गृहाणि च तान्येव चित्रीकृतानि तेषामभ्यागतानां महीभुजामाभरणप्रभाभिः नभोऽपि किर्मीरं चित्रमकारि । अपिशब्दात् पथिद्वारगृहाणि च चित्रीकृतानीति किं वाच्यम् ? 'चित्रं किर्मीरकल्माषः शबलैताश्च कर्बुरे' इत्यमरः । अत्र समृद्धिमद्वस्तुवर्णनादुदात्तालङ्कारः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—तत्र पुरे पथिद्वारगृहाणि उत्सववाञ्छया एव चित्रीकृतानि, तेषां महीभुजाम् आभरणप्रभाभिः नभः अपि किर्मीरम् अकारि ।

हिन्दी—उस नगरी (कुंडिनपुरी) में मार्ग में द्वारगृह अर्थात् राजमार्ग के निकट मुख्य पुरोभाग में दोनों ओर के घरों के द्वार अथवा मार्ग, द्वार और घर विवाहोत्सव के उपलक्ष में ही रंग-विरंगे सजाये गये थे—इसमें आश्चर्य नहीं, ऐसा तो होता ही है; आश्चर्य यह है उन (समागत) राजाओं के आभूषणों की कांति से आकाश भी रंग-विरंगा चित्रित कर दिया गया था।

टिप्पणी—दमयन्ती के विवाहोत्सव में धरती ही नहीं, आकाश भी प्रसन्न था। घर-द्वार-मार्ग आदि तो सजाये ही गये थे, समृद्ध तरुणनरेशों की आभूषण-प्रभा से आकाश भी चित्रित हो गया। मल्लिनाथ ने समृद्ध वस्तु का वर्णन होने से उदात्त अलंकार का निर्देश किया है, विद्याधर ने अतिशयोक्ति का ॥

विलासवैदग्ध्यविभूषणश्रीस्तेषां तथाऽभूत् परिचारकेऽपि ।
अज्ञासिषुः स्त्रीशिशुबालिशास्तं यथागतं नायकमेव कञ्चित् ॥ ३२ ॥

जीवातु—विलासेति। तेषां राज्ञां परिचारके सेवकेऽपि विलासानां कटाक्षविक्षेपादिशृङ्गारचेष्टानां, वैदग्ध्यस्य वक्रोक्त्यादिभाषणे चातुर्यस्य विभूषणानां च श्रीः सम्पत्तिः तथा अभूत् यथा स्त्रियः शिशवो बालिशाः अज्ञाश्च। 'शिशावज्ञे च बालिश' इत्यमरः। तं परिचारकमागतं कंचिन्नायकं राजानमेव अज्ञासिषुरमंसत। विवेकिनस्तु तत्त्वत एव जानातीति भावः। राजभृत्याश्च राजकल्पा इति राज्ञामैश्वर्योक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—तेषां परिचारके अपि विलासवैदग्ध्यविभूषणश्रीः तथा अभूत् यथा स्त्रीशिशुबालिशाः तम् आगतं कञ्चित् नायकम् एव अज्ञासिषुः।

हिन्दी—उन (आगत नृपों) के सेवकों की भी कटाक्षविक्षेपादिचेष्टा, वैदग्ध्यजनोचित आभाषण और आभूषणों की शोभा वैसी हुई कि नारियाँ, बालक और नासमझ व्यक्ति उस समागत (परिचारक) को कोई सामंत-सरदार-राजा ही समझ बैठे।

टिप्पणी—समृद्ध राजाओं की बाह्य शृंगार-सज्जा और उनका शिष्ट व्यवहार नासमझ-सरल व्यक्तियों, बालकों और स्त्रियों के मन में भ्रम उत्पन्न कर रहा था और वे परिचारकों को राजा—सरदार ही समझने लगे। ऐश्वर्य की उदात्त कल्पना, सेवक भी राजा जैसे लग रहे थे। मल्लिनाथ-विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ३२ ॥

अस्वेदगात्राचलश्चामरौघैरमीलनेत्राः प्रतिवस्तुचित्रैः ।
अम्लानमाला विपुलातपत्रैर्देवा नृदेवाश्च भिदां न भेजुः ॥ ३३ ॥

जीवातु—अथ श्लोकद्वयेन राज्ञां देवानां च भेदो दुर्लक्ष्य इत्याह—अस्वेदेत्यादि । चलचामराणामोघैरस्वेदानि गात्राणि येषां ते तथोक्ताः, वस्तूनि वस्तूनि प्रतिवस्तु, वीप्सायामव्ययीभावः । चित्रैरद्भुतैः 'विस्मयोऽद्भुतमाश्चर्यं चित्रम्' इत्यमरः । मीला मीलकाः । 'गुरोश्च हलः' इति स्त्रियामप्रत्यये टाप् । तदगृहीतानि अमीलानि अनिमिषाणि, यद्वा न मीलन्तीत्यमीलानि, पचाद्यच् । तानि नेत्राणि येषां ते तथोक्ताः अनिमिषदृष्टय इत्यर्थः । तथा विपुलैरातपत्रैर्निमित्तैरम्लानमाला देवा इन्द्रादयः नृदेवा राजानश्च भिदां, भेदं 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' । न भेजुः । देवपक्षे सर्वत्र उपलक्षणे तृतीया, राजपक्षे हेतौ तृतीया । देवानां स्वेदाद्यभावस्य स्वाभाविकत्वात् चामरौघादीनामुपलक्षितत्वं राजपक्षे तु स्वेदाभावस्यास्वाभाविकत्वेन चामरौघादीनां तत्तत्साधनत्वं बोध्यम् । अत्रास्वेदगात्रादिपदार्थानां विशेषणगत्या देवभेदाभावहेतुत्वात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ३३ ॥

अवन्यः—चलचामरौघैः अस्वेदगात्राः प्रतिवस्तुचित्रैः अमीलनेत्राः विपुलातपत्रैः अम्लानमालाः देवाः नृदेवाः च भिदां न भेजुः ।

हिन्दी—डुलाये जाते चँवरों से युक्त और पसीने से रहित शरीर वाले देव और डुलाये जाते चँवरों के कारण (उत्पन्न वायु से) पीसना सूखे शरीर वाले नरदेव (राजा), वस्तु-वस्तु में आश्चर्यों से युक्त और (स्वभावतः) निर्निमेषनयन देव तथा प्रत्येक वस्तु को आश्चर्य में पड़कर निर्निमेषनयनों से देखते राजा, विशाल छत्रधारी तथा कभी न सूखने वाली मालाएँ पहिने देव और विस्तृत छत्रधारण करने से न सूखने वाली मालाएँ पहिने राजा—इनके बीच कोई अन्तर नहीं रह गया था ।

टिप्पणी—इन्द्रादि देव भी स्वयंवर में थे और अनेक राजा भी, किन्तु देवों और नर-राजाओं के मध्य कोई अन्तर नहीं प्रतीत हो रहा था । देवगण स्वभावतः पसीने से रहित शरीर वाले और अनिमेषनयन होते हैं और उनकी मालाएँ कभी नहीं सूखती, मनुष्यों में इसका उलटा । यही मनुष्यों और देवों के बीच भेद होता है, किन्तु उस सभा में यह भेद मिट गया था, क्योंकि

उपस्थित राजा भी देवों की विशिष्टताओं से मंडित हो गये थे। देवों में वह सब स्वभाविक था, परन्तु राजाओं के देह का पसीना डुलाये जाते चँवरों से उत्पन्न वायु से सूख गया था और वे 'अस्वेदगात्र' थे। ऐसे ही कुण्डिनपुरी की आश्चर्य में डालने वाली विभिन्न वस्तुओं को देखकर राजा अपलकनेत्र हो जाते थे और उनकी मालायें भी विशाल आतपत्रों से उनके आच्छादित रहने से न सूख पायी थीं, अतः नृदेव भी 'अमीलनेत्र' और 'अम्लानमाल' हो गये थे। यों भेद मिट गया था। प्रकाशकार ने इस पाठांतर को मान्यता दी है—न स्वेदिनश्चामरमारुतैर्न निमेषनेत्राः प्रतिवस्तुचित्रैः। म्लानस्रजो नातपवारणेन देवा नृदेवा विभिदुर्न यत्र॥ इस पाठ में व्याख्या सुखावह हो जाती है। चामरजातवायु के कारण पसीने से रहित, आश्चर्य में डालने वाली वस्तुओं के कारण अपलकनयन और धूप का निवारण हो जाने से अम्लानमाल नृदेव और देवों में कोई भेद न रह गया था। जो देवों की स्वाभाविक स्थिति थी, उसे विभिन्न कारणों से नृदेवों ने प्राप्त कर लिया था। मल्लिनाथस्वीकृत पाठ में यह सहजता नहीं है, उन्होंने एतदर्थ यह टिप्पणी की है—चलचामरौघैः, प्रतिवस्तुचित्रैः और विपुलातपत्रैः में तृतीया विभक्ति देवपक्ष में उपलक्षण में है, और राजपक्ष में हेतु में। नारायण ने भी देव-पक्ष में उपलक्षण में ही तृतीया का संकेत किया है। मल्लिनाथ के अनुसार श्लोक में पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार है, क्योंकि अस्वेदगात्रादि पदार्थों का विशेषणगति द्वारा देवभेदाभावहेतुत्व कहा गया है। विद्याधर ने अतिशयोक्ति का निर्देश किया है॥ ३३॥

अन्योऽन्यभाषानवबोधभीतेः संस्कृत्रिमाभिर्व्यवहारवत्सु।
दिग्भ्यः समेतेषु नरेषु वाग्भिः सौवर्गवर्गो न नरैरचिह्नि॥ ३४॥

जीवातु—अन्योऽन्येति। दिग्भ्यः समेतेषु समागतेषु नरेषु मनुष्येषु अन्योऽन्येषां भाषाणामनवबोधेन निमित्तेन भीतेः सङ्कोचात् संस्कारेण निर्वृत्ताः संस्कृत्रिमाः, 'ड्वितः क्त्रिः' 'क्त्रेर्मम् च नित्यम्' ताभिर्वाग्भिर्व्यवहारोऽभिवादनव्यापारः तद्वत्सु देवभाषयैव भाषमाणेष्वित्यर्थः। स्वर्गे भवाः इति सौवर्गाः, देवाः, भवार्थे 'तत्र भवः' इत्यण्, 'द्वारादीनाञ्च' इत्यैजागमः आद्यस्वरस्य वृद्धिनिषेधश्च तेषां वर्गः समूहः सौवर्गवर्गो देवसमूहः, नरैः कुण्डिनवासिभिः, नाचिह्नि देवत्वेदं नाज्ञायि, चिह्नशब्दात् 'तत्करोति' इति

ण्यन्ताल्लिङि णाविष्ठवद्भावे 'विन्मतोर्लुक्' इति मतुपो लुक् । भेदे अभेद-लक्षणाऽतिशयोक्तिः ।।३४।।

अन्वयः- नरैः दिग्भ्यः समेतेषु अन्योन्यभाषानवबोधभीतेः संस्कृत्रिमाभिः वाग्भिः व्यवहारवत्सु नरेषु सौवर्गवर्गः न अचिह्नि ।

हिन्दी—(नगरस्थ) जनों ने विभिन्न दिशाओं से आकर एकत्र, एक-दूसरे की भाषा न समझी जाने के भय से संस्कृत (संकारप्राप्त) भाषाओं में व्यवहार वार्तालाप करने वाले नरों (राजाओं) के मध्य स्वर्ग के देवों को नहीं पहिचाना ।

टिप्पणी---स्वयंवर में विभिन्न दिशाओं से नृगण पधारे थे, उनकी भाँति-भाँति की बोलियाँ थीं, जिन्हें परस्पर व्यवहार में लाने से कठिनता होती । प्रादेशिक बोलियाँ सभी लोग कैसे समझ सकते थे ? इसी भय से राजा लोग अपनी प्रादेशिक बोलियों में वार्तालाप न करके एक संस्कृत -- सामान्य संपर्क-भाषा का प्रयोग कर रहे थे, जिसे सब समझ सकते थे । देवगण भी संस्कृत का ही व्यवहार करते हैं; फलस्वरूप देवों और नृदेवों में भाषागत भेद भी न रह गया और वे उपस्थित मंडलो में सामान्य रूप से ही मिले-जुले समझे गये । मल्लिनाथ ने भेद में अभेदलक्षण अतिशयोक्ति का निर्देश किया है विद्याधर ने हेतु और अतिशयोक्ति का ।।३४।।

ते तत्र भैम्याश्चरितानि चित्रे चित्राणि पौरैः पुरि लेखितानि ।
निरीक्ष्य निन्युर्दिवसं निशाञ्च तत्स्वप्नसम्भोगकलाविलासैः ।। ३५ ।।

जीवातु—त इति । ते सर्वे नृपाश्च तत्र तस्यां पुरि कुण्डिने पौरैः चित्रे आलेख्ये लेखितानि चित्राणि नानाविधान्याश्चर्याणि 'आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रम्' इत्यमरः । भैम्याश्चरितानि निरीक्ष्य दिवसं निन्युः । तस्याः सम्बन्धिभिः स्वप्ने याः सम्भोगकलाः सुरतचेष्टास्ता एव विलासाः विनोदास्तैर्निशाश्च निन्युः । एतेन जागरावस्थोक्ता ।। ३५ ।।

अन्वयः—तत्र पुरि ते पौरैः चित्रे लेखितानि चित्राणि भैम्याः चरितानि निरीक्ष्य दिवसं तत्स्वप्नसम्भोगकलाविलासैः च निशां निन्युः ।

हिन्दी—उस कुण्डिनपुरी में वे सब पुरवासियों द्वारा चित्र में आलिखित, विचित्र भीमपुत्री के चरितों का निरीक्षण कर दिन और उस (दमयन्ती) के सपनों में भोग के कलाविलासों का अनुभव कर रात्रि व्यतीत कर रहे थे ।

टिप्पणी—उपस्थित स्वयंवरार्थियों में दिन रात दमयन्ती की ही कामना रहती

थी। राजभवन में दमयन्ती के जीवन से संबद्ध अनेक चित्र बने हुए थे। अतिथि गण दिन भर उन्हें देखते रहते थे और रात को सपने में दमयन्ती के साथ अनेक-क्रीडा-विलासों का अनुभव करते। देव तो सोते नहीं, उन्हें सपने नहीं आते। उनका स्वप्नविलास कामभ्रम था। इस प्रकार बेचैनी में अतिथियों के दिन-रात कट रहे थे। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और अतिशयोक्ति ॥

सा विभ्रमं स्वप्नगतापि तस्यां निशि स्वलाभस्य ददे यदेभ्यः।
तदर्थिनां भूमिभुजां वदान्या सती सती पूरयति स्म कामम् ॥ ३६ ॥

जीवातु—सेति। सती सा भैमी तस्यां निशि स्वयंवरात्पूर्वरात्रौ स्वप्नगताऽपि अपि सम्भावनायां जागरे तु सम्भावितत्वादिति भावः। एभ्यो देवेभ्यो राजभ्यश्च स्वलाभस्य स्वप्राप्तेर्विभ्रमं भ्रान्तिमलीकसङ्गतिमित्यर्थः। ददे दत्तवतीति यत्तस्माददलीकदानाद्धेतोर्वदान्या सती भवन्ती। स्वप्राप्तिदानाद्वदान्यत्वं प्राप्तेर्मिथ्यात्वात्पतिव्रता च सतीत्यर्थः। अर्थिनां भूमिभुजाञ्च कामं मनोरथं पूरयति स्म। एवं स्वकामुकानेकलोकोत्तरयुवसमुदायेऽपि सा नलैकजीवितैव सती स्थितेत्यर्थः। पतिव्रतायाः स्वकामुकानां सर्वेषां कामपूरकत्वं विरुद्धं, तस्याः स्वप्नदर्शनस्य अलीकत्वात् तेन तथाविधसर्वकामपूरणेऽपि दोषाभावात् परिहारः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—तस्यां निशि स्वप्नगता अपि सा सती यत् एभ्यः स्वलाभस्य विभ्रमं ददे तत् वदान्या सती अर्थिनां भूमिभुजां कामं पूरयति स्म।

हिन्दी—(स्वयंवर से पूर्व की) उस रात में स्वप्न में पहुँची (देखी गयी) भी उस सती (पतिव्रता दमयन्ती) ने जो इन (देवों-राजाओं) को अपनी प्राप्ति का भ्रम (मिथ्यासंगति) दिया, वह दानवीरा होकर प्रत्याशी पृथ्वीपालों की कामना पूर्ण की।

टिप्पणी—दमयन्ती प्राप्त तो एक (नल) को ही होनी थी; पर जब इतने अभ्यर्थी याचक उसके द्वार पर एकत्र थे तो वदान्या—उदारदानिनी दमयन्ती याचकों को निराश कैसे करती ? उसने स्वप्न में पहुँचकर उन्हें अपनी मिथ्या-संगति दी और इस प्रकार याचकों की कामना पूरी की। दमयन्ती दानशीला थी, सो यदि अर्थियों की कामना पूर्ण न करती तो उसका वदान्यत्व कलंकित होता; और यदि सत्यरूप में सबकी कामना पूर्ण करती तो पातिव्रत-भंग होता।

फलस्वरूप उसने स्वप्न में मिथ्यासंगति देकर वदान्यता और पातिव्रत—दोनों की रक्षा कर ली। विद्याधर के अनुसार विरोधाभास और छेकानुप्रास अलंकार ॥ ३६ ॥

वैदर्भदूतानुनयोपहूतैः शृङ्गारभङ्गीष्वनुभाववत्सु।
स्वयंवरस्थानजनाश्रयस्तैर्दिने परत्रालमकारि वीरैः ॥ ३७ ॥

जीवातु—वैदर्भेति। परत्र दिने परेऽहनि वैदर्भस्य भीमनृपतेर्दूतैरनुनयेन प्रार्थनेनोपहूतैः शृङ्गारभङ्गीषु रतिभावविजृम्भणेषु येऽनुभावाः कटाक्षविक्षेपादयस्तद्वत्सु। 'शृङ्गारभङ्गीष्वनुभाववद्भिरि'ति पाठे शृङ्गारचेष्टाः प्रकाशयद्भिरित्यर्थः। तैर्दिगन्तागतैर्वीरैः स्वयंवरस्थानभूतो जनाश्रयो मण्डपः। 'मण्डपोऽस्त्री जनाश्रयः' इत्यमरः। अलमकारि अलंकृतम्। स्वयंवरस्थानं प्राप्तमित्यर्थः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—वैदर्भदूतानुनयोपहूतैः शृङ्गारभङ्गीसु अनुभाववत्सु (पाठांतर-शृङ्गारभङ्गीः अनुभावयद्भिः) तैः वीरैः परत्र दिने स्वयंवरस्थानजनाश्रयः अलम् अकारि।

हिन्दी—विदर्भनरेश के दूतों द्वारा विनती करके बुलाये गये, शृङ्गार की भंगिमाओं में अनुभाव युक्त (शृङ्गार की चेष्टाएँ प्रकाशित करने) उन (अभ्यागत) वीरों ने दूसरे दिन स्वयंवर-स्थानीय मंडप को सुशोभित किया।

टिप्पणी—दूसरे दिन विदर्भराज के दूतों ने अतिथियों से सविनय निवेदन किया कि वे स्वयंवर-मंडप में पधारने की कृपा करें। वे राजा भाँति-भाँति से शृङ्गार करके—सजधजकर स्वयंवर-स्थली में पहुँचे। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास ॥ ३७ ॥

भूषाभिरुच्चैरपि संस्कृते यं वीक्ष्याकृत प्राकृतबुद्धिमेव।
प्रसूनबाणे विबुधाधिनाथस्तेनाथ साशोभि सभा नलेन ॥ ३८ ॥

जीवातु—भूषेति। विबुधाधिनाथ इन्द्रो यं नलं वीक्ष्य भूषाभिर्भूषणैरतिशयेन संस्कृतेऽलंकृतेऽपि, 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' इति सुडागमः। प्रसूनबाणे मन्मथे प्राकृतबुद्धिं पृथग्जनबुद्धिमेव। नीचबुद्धिमेवेत्यर्थः, 'प्राकृतस्तु पृथग्जनः' इत्यमरः। अकृत कृतवान्, न तु सुन्दरबुद्धिमित्यर्थः। कृञ कर्तरि लुङि तङ्। 'ह्रस्वादङ्गादि'ति सिचो लोपः। अथ राजागमनानन्तरं तेन नलेन

सा सभा अशोभि। शोभां गमिता अलङ्कृतेत्यर्थः। शोभयतेः कर्मणि लुङ् विबुधाधिनाथः पण्डितश्रेष्ठः सन्नपि संस्कृते प्राकृतबुद्धि संस्कृतभाषिते प्राकृत-भाषितत्वबुद्धिमकृतेति विरोधाभासः सूच्यते ॥ ३८ ॥

अन्वय:—अथ विबुधाधिनाथः यं वीक्ष्य भूषाभिः उच्चैः संस्कृते अपि प्रसून-बाणे प्राकृतबुद्धिम् एव अकृत तेन नलेन सा सभा अशोभि।

हिन्दी—तत्पश्चात् देवेन्द्र ने जिसे देखकर आभूषणों से अत्यंत सुसज्जित भी कुसुमबाण (काम) के प्रति निम्नता का ही बोध माना, उस नल ने उस सभा को सुशोभित किया।

टिप्पणी—इन्द्र ने देखा कि नल भी सभा में पधारा, उसे लगा कि इसके संमुख तो सुश्रृङ्गार संपन्न काम भी तुच्छ है। एक विबुध–पंडितों में श्रेष्ठ ने 'संस्कृत' को 'प्राकृत' समझा। लगता है कि ऐसा ही विभ्रम नल को देख इन्द्र को हो गया—सकपकाया वह। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ विबुधाधिनाथ ने 'संकृत' को 'प्राकृत' समझा—यह विरोधाभास है, जिसका काम-पक्ष द्वारा परिहार होता है। विद्याधर ने छेकानुप्रास–अतिशयोक्ति का निर्देश किया है॥

धृताङ्गरागे कलितद्युशोभां तस्मिन् सभां चुम्बति राजचन्द्रे।
गता बताक्ष्णोर्विषयं विलङ्घ्य क्व क्षत्रनक्षत्रकुलस्य लक्ष्मीः॥ ३९॥

जीवातु—धृतेति। धृतोऽङ्गरागोऽनुलेपनमेवाङ्गरागः अङ्गस्य चन्द्र-बिम्बस्य, रागो रक्तता येन तस्मिन्, राजचन्द्रे नले कलितद्युशोभां कलिता प्राप्ता, द्युशोभा स्वर्गीयशोभा आकाशशोभा च यया तां, सभां चुम्बति प्राप्ते सति, क्षत्राणि क्षत्रिया एव, नक्षत्राणि तत्कुलस्य लक्ष्मीरक्ष्णोर्विषयं विलङ्घ्य दृष्टिपथमतीत्य, क्व कुत्र, गता? बतेत्याश्चर्ये, नक्षत्रकुलमिव नलोदये सर्वं क्षत्रकुल निष्प्रभं जातमित्यर्थः। द्युशोभेत्यत्र शोभेव शोभेति सादृश्याक्षेपात् निदर्शना, तया सहाङ्गाङ्गिभावेन रूपकस्य सङ्करः॥ ३९॥

अन्वय:—धृताङ्गरागे तस्मिन् राजचन्द्रे कलितद्युशोभां सभां चुम्बति क्षत्र-नक्षत्रकुलस्य कान्तिः अक्ष्णोः विषयं विहाय बत, क्व गता?

हिन्दी—कुंकुम, चंदन आदि का अंगराग लगाये (अतएव) लालिमा धारण किये चन्द्ररूप उस राजा (नल) के स्वर्ग की शोभा को प्राप्त उस सभा

में उपस्थित होने पर क्षत्रिय (नरेश) रूप नक्षत्रसमूह की चमक दमक नयनों की गोचरता का त्यागकर-खेद है कि कहाँ चली गयी ?

टिप्पणी—'धृतांगराग' के दो अर्थ—कुंकुमादि अनुलेपनधारी (नल) और लालिमा युक्त (चन्द्र) करके इस श्लोक में नल को चन्द्रतुल्य बताया गया है। चंद्र के उदित होने पर आकाशमंडल में चमकते नक्षत्रों की कांति जैसे फीकी पड़ जाती है और नयनगोचर नहीं हो पाती, उसी प्रकार द्युतुल्या स्वयंवर सभा में उपस्थित नक्षत्रसम राजगण की तेजस्विता—शान शौकत—चन्द्रसम नल के संमुख दर्शनीय नहीं रही। नल के संमुख राजगण निष्प्रभ हो गये। उन्हें लगा कि ऐसे मनोज्ञ को ही दमयन्ती वरेगी। नारायण ने 'कलित-द्युशोभाम्' का 'कलिता व्याप्ता द्यौर्यया एवं विधा शोभा रत्नादिदीप्तिर्यस्याः' करके यह अर्थ भी किया है कि ऐसी रत्नादि की दमक, जिससे आकाश व्याप्त हो गया। मल्लिनाथ का निर्देश है कि इस श्लोक में 'द्युशोभा' में शोभा के तुल्य शोभा—इस सादृश्य के आक्षेप से निदर्शना है, जिसके साथ अंगांगिभाव से रूपक का संकर है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ३९ ॥

प्राक् दृष्टयः क्षोणिभुजाममुष्मिन्नाश्चर्यपर्युत्सुकिता निपेतुः ।
अनन्तरं दन्तुरितभ्रुवान्तु नितान्तमीर्ष्याकलुषा दृगन्ताः ॥ ४० ॥

जीवातु—प्रागिति। प्राक् पूर्वम्, अमुष्मिन्नले, क्षोणिभुजां राज्ञां, दृष्टयः पूर्णदृष्टयः, आश्चर्येण विस्मयपारवश्येन, पर्युत्सुकिता उत्कण्ठिताः सत्यः; निपेतुः अनन्तरं तु दन्तुरितभ्रुवां द्वेषाद्विषमितभ्रुवां, दृगन्ता कोणदृष्टयः, नितान्त-मीर्ष्यया कलुषाः सन्तो निपेतुः। अत्रौत्सुक्येर्ष्याप्रयुक्तानां पूर्णापूर्णदृष्टीनां द्वयीनां क्रमेणैकस्मिन्नले निपतनोक्तेर्द्वितीयः पर्यायभेदः। एकमनेकस्मिन् अनेकमेक-स्मिन् वा क्रमेण पर्याय इति सूत्रणात् तथौत्सुक्येर्ष्यालक्षविस्मयद्वेषसञ्चारि-भावनिबन्धनात् भावालङ्कारः प्रियोऽपरपर्याय इति द्वयोः संसृष्टिः ॥ ४० ॥

अन्वयः—प्राक् (पाठांतर-'द्राक्') अमुष्मिन् क्षोणिभुजाम् आश्चर्यपर्युत्सु-किताः दृष्टयः निपेतुः अनन्तरं तु दन्तुरितभ्रुवाम् दृगन्ताः ईर्ष्याकलुषाः (निपेतुः)।

हिन्दी—पहिले (पाठांतर-'झट') इस (नल) पर पृथ्वीपालों की विस्मय से उत्सुक दृष्टियाँ पड़ीं, तदनन्तर तो (ईर्ष्या-क्रोध से) टेढ़ी भ्रुकुटियों वाले उन राजाओं के नेत्रप्रांत ईर्ष्या (डाह-जलन) से कलुषित होकर पड़े।

टिप्पणी—नल आया और उसे देखकर सब उपस्थित राजमण्डली विस्मित हो गयी; पर कुछ-क्षण के पश्चात् जब उनकी समझ में यह आया कि यह आगंतुक तो उनका ऐसा प्रतिद्वन्द्वी है जिससे पराजित होना निश्चित-प्रायः है—इसके संमुख दमयन्ती और किसी को वरण नहीं कर सकती—तो जलन और डाह से परिपूर्ण हो राजगण नल को क्रोधभरी टेढ़ी दृष्टि से देखने लगे। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ पर्यायालंकार का द्वितीय भेद है, क्योंकि यहाँ कहा गया है कि उत्सुकता और ईर्ष्या से प्रयुक्त पूर्ण-अपूर्ण—दो प्रकार की दृष्टियाँ एक ही नल पर पड़ीं; और उत्सुकता तथा ईर्ष्या से लक्षित विस्मय और द्वेष—संचारिभावों के निबंधन के कारण भाव अलंकार है—इस प्रकार पर्याय और भाव की संसृष्टि है। विद्याधर के अनुसार जाति और भावोदय अलंकार हैं। उत्तरार्द्ध का नारायण ने अर्थांतर भी किया है—'अनंतर अर्थात् उपस्थित राजाओं की विस्मय दृष्टि नल पर पड़ने के पश्चात् टेढ़ी भ्रुकुटि वाली नारियों के 'अहमहमिकया' परस्पर ईर्ष्या होने के कारण कलुषित कटाक्ष पड़े। भाव यह कि 'सभी स्त्रियों ने अनुरागवश कटाक्षों से देखा'॥ ४० ॥

सुधांशुरेष प्रथमो भुवीति स्मरो द्वितीयः किमसावितीमम्।
दस्रस्तृतीयोऽयमिति क्षितीशाः स्तुतिच्छलान्मत्सरिणो निनिन्दुः॥ ४१ ॥

जीवातु—सुधांशुरिति। मत्सरिणः परशुभद्वेषिणः, क्षितीशाः भुवीति किमिति च पदद्वयस्य सर्वत्रान्वयः कार्यः; भुवि भूतले, एषः प्रथमः नवावतीर्णः, सुधांशुः मुख्यचन्द्र, किम्? इति, असौ भुवि द्वितीयः स्मरः किम्? इति, अयं तृतीय दस्रः आश्विनेयः, भुवि किम्? इति च, दस्रयोर्द्वित्वेऽप्येकत्वविवक्षया एकवचनं, द्वयेकत्वेऽपि द्वित्वविवक्षायां द्वौ चन्द्रावविरुद्धम्; पुष्पवत् दारादिशब्दवन्नियतवचनत्वाभावात्। इतीत्थम्, इमं नलं, स्तुतिच्छलात् निनिन्दुः असमानसमीकरणेन स्तुतिर्लोकोत्तरस्य निन्दैवेति भावः। चन्द्रत्वाद्युत्प्रेक्षात्रयस्य संसृष्टिः॥ ४१ ॥

अन्वयः—भुवि एषः प्रथमः सुधांशुः किम् इति, असौ द्वितीयः स्मरः (किम् इति), अयं तृतीयः दस्रः (किम् इति)—इति मत्सरिणः क्षितीशः इमं स्तुतिच्छलात् निनिन्दुः।

हिन्दी—धरती पर क्या यह पहिला चंद्रमा है? यह क्या दूसरा कामदेव है? क्या यह तीसरा अश्विनीकुमार?—इस प्रकार द्वेषी पृथ्वीश (राजा) इस (नल) की स्तुति की व्याज से निन्दा करने लगे।

टिप्पणी—द्वेषी राजा नल की ऊपर से प्रशंसा प्रतीत होती निन्दा करने लगे–व्याज निन्दा। उन्होंने कहा कि नल धरती का पहिला चंद्र है। यह नहीं कहा कि नल दूसरा चंद्र है, जिसका भाव होता कि नल चंद्रतुल्य है। कहा—धरती का चाँद, जो नहीं होता। इस प्रकार स्तुति के छल से निन्दा की। ऐसे ही धरती का दूसरा कानदेव और तीसरा अश्विनीकुमार कहा, जो नहीं होते। इस प्रकार असमान समीकरण-द्वारा प्रशंसा के व्याज से निन्दा ही की। मल्लिनाथ के अनुमार चंद्रत्व आदि हीन उत्प्रेक्षाओं की यहाँ संसृष्टि है। विद्याधर के अनुसार अपह्नुति-संदेह अलंकार॥ ४१॥

आद्यं विधोर्जन्म स एष भूमौ द्वैतं युवाऽसौ रतिवल्लभस्य।
नासत्ययोर्मूर्तिरियं तृतीया इति स्तुतस्तैः किल मत्सरैः सः॥ ४२॥

जीवातु—आद्यमिति। स एष नलः, भूमौ भूतले, विधोरिन्दोः, आद्यं जन्म प्रथमावतार इत्यर्थः, युवाऽसौ रतिवल्लभस्य कामस्य, द्वैतं द्वित्वं द्वितीयकाम इत्यर्थः, इयं नलरूपा, नासत्ययोरश्विनोः, तृतीया मूर्तिः, इति स नलः, मत्सरैर्मत्सरवद्भिः, 'मत्सरोऽन्यशुभद्वेषस्तद्वत् कृपणयोरपि' इत्यमरः। 'अर्श आदिभ्योऽच्' इति मत्वर्थीयोऽकारः। तैः स्तुतः किल स्तुतः खलु? पूर्वश्लोकेन पुनरुक्तमपि कविना लिखितत्वात् स्थितं पूर्ववत्॥ ४२॥

अन्वयः—भूमौ सः एषः विधोः आद्यं जन्म, असौ युवा रतिवल्लभस्य द्वैतम्, नासत्ययोः इयं तृतीया मूर्त्तिः—इति तैः मत्सरैः सः स्तुतः किल?

हिन्दी—धरती पर वह यह (नल) चन्द्र का पहिला जन्म है? यह युवक रतिप्रिय (कामदेव) का दूसरा रूप है; अश्विनीकुमारों की यह तीसरी मूर्त्ति है,—इस प्रकार उन द्वेषियों (राजाओं ने उसकी प्रशंसा की क्या? (प्रशंसा नहीं, निन्दा की)।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक के भाव का भंगिमांतर से कथन। पूर्व श्लोक में स्तुतिच्छल से निन्दा का भाव है। यदि इस श्लोक में 'किल' का अर्थ 'निश्चय' (किल इति निश्चये) मान लिया जाय तो यह अर्थ भी किया जा सकता है

कि निश्चयतः द्वेषियों ने भी नल की प्रशंसा की। मित्र—हिती तो प्रशंसा करते ही हैं, पर वास्तविक गुण तो वह है, जिसकी प्रशंसा द्वेषी शत्रु भी करें। नल इसी योग्य था, सो द्वेषी भी स्तुति करने लगे। ऐसा भाव लेने में ही इस श्लोक की सार्थकता प्रतीत होती है ॥ ४२ ॥

इहेदृशाः सन्ति कतीति दुष्टैर्दृष्टान्तिताऽलीकनलावली तैः।
आत्मापकर्षे किल मत्सराणां द्विषः परस्पर्द्धनया समाधिः ॥ ४३ ॥

जीवातु—इहेति। दुष्टैः खलैः, तैर्नृपैः, इह सभायाम्, ईदृशाः नलसदृशाः, कति कियन्तोऽपि, सन्तीति अलीकनलावली इन्द्रवरुणयमानलपङ्क्तिः, दृष्टान्तिता दृष्टान्तीकृता, च अलीकनलावलीं निर्दिश्य अत्र सभायां बहवो नलेन तुल्यरूपा विद्यन्ते, तत् कथं नलमेव पुनः पुनः वर्णयथ ? इति भावः। ननु नलसदृशानां बहूनां सत्त्वेऽपि स्वस्य कथं रूपोत्कर्षः ? इत्यत आह—मत्सराणां मत्सरिणाम्, आत्मनोऽपकर्षे शत्रुसकाशात् न्यूनत्वे सति, द्विषः प्रतिपक्षस्य, परेण पुरुषान्तरेण, स्पर्द्धनया सङ्घर्षणया, कोटयन्तरसाधारण्यापादनेनेत्यर्थः, स्वार्थे ण्यन्तात् युच्। समाधिः किल आत्मापकर्षपरिहारः खल्वित्यर्थः, एतादृशाः कति सन्तीति समानकोटयन्तरोद्घाटनेन दूषयित्वा तुष्यन्तीति समुदायार्थः। अर्थान्तरन्यासः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—इह ईदृशाः कति सन्ति—इति तैः दुष्टैः अलीकनलावली दृष्टान्तिता; मत्सराणाम् आत्मापकर्षे द्विषः परस्पर्द्धतया समाधिः।

हिन्दी—'यहाँ ऐसे (नल-समान) कई (अनेक) हैं'—इस प्रकार उन दुष्टों (द्वेषी नृपों) ने मिथ्यानलपंक्ति (नलरूप में बैठे इन्द्रादि चार) को उदाहरण में प्रस्तुत किया। द्वेषियों को (प्रतिद्वंद्वी से) जब अपनी हीनता लगती है, तो प्रतिपक्षी की अन्य से स्पर्द्धा करके (उसे साधारण कहकर) वे (अपना) समाधान कर लेते हैं।

टिप्पणी—पहिले तो प्रतिद्वंद्वी नृपगण नल को देख विविध भावों से व्याप्त हो कभी आश्चर्य में पड़ गये, कभी उसकी प्रशंसा की, कभी निन्दा, और कभी स्तुतिच्छल से निन्दा; पर थे सब नल से प्रभावित और अपने को नल के संमुख हीन समझ रहे थे। अपनी हीनभावना का समाधान किया उन्होंने मिथ्यानल रूपधारी इन्द्रादि का उदाहरण प्रस्तुत कर यह कहते हुए

कि नल ही कोई अद्वितीय नहीं है, उस जैसे तो और भी अनेक हैं। इस प्रकार वह असामान्य नहीं, सामान्य—साधारण है। इससे आशंका व्यर्थ है। प्रायः ऐसा ही होता है। जब किसी से प्रभावित हो जाते हैं तो अन्य से तुलना करके प्रतिपक्ष को साधारण सिद्ध कर हीनभावना तुष्ट हो जाया करती है। पूर्वार्द्ध का पाठान्तर है—मायानलोदाहरणान्मिथस्तैरुचे समाः सन्त्यमुना कियन्तः।' माया से नल रूपधारी इन्द्रादि का उदाहरण देकर वे (राजा) परस्पर कहने लगे—इसके जैसे तो कई हैं। मल्लिनाथ के अनुसार अर्थान्तरन्यास, विद्याधर के अनुसार अर्थान्तरन्यास और जाति अलंकार ॥ ४३ ॥

गुणेन केनापि जनेऽनवद्ये दोषान्तरोक्तिः खलु तत् खलत्वम्।
रूपेण तत्संसददूषितस्य सुरैर्नरत्वं यददूषि तस्य ॥ ४४ ॥

जीवातु—गुणेनेति। केनापि गुणेन अनवद्ये अगर्ह्ये, सर्वगुणसम्पन्ने इत्यर्थः, 'अवद्यपण्ये' त्यादिना निपातनात् साधु। जने दोषान्तरोक्तिः कस्यचिदनवद्यधर्मस्य दोषत्वेनोद्घाटनमित्यर्थः, तत्खलत्वं तदेव तस्य वक्तुर्दुष्टत्वं खलु। कुतः? यद् यस्मात्, रूपेण सौन्दर्येण, तस्यां संसदि तया संसदा वा अदूषितस्य, प्रत्युत स्तुतस्यैवेति भावः, तस्य नलस्य सम्बन्धि, नरत्वं मनुष्यत्वं, सुरैरिन्द्रादिभिः, अदूषि अतिसौन्दर्यशाली अपि नरोऽयं न तु देव इति दोषत्वेनोद्घाटितमित्यर्थः। दूषयतेः कर्मणि लुङ्। सामान्योक्तस्य खलत्वस्य नरत्वदूषणेन समर्थनाद्विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—रूपेण तत्संसददूषितस्य तस्य सुरैः यत् नरत्वम् अदूषि, तत् केन अपि गुणेन अनवद्ये जने दोषान्तरोक्तिः खलत्वम्।

हिन्दी—सौन्दर्य के कारण उस सभा में दोषहीन (अतिसुन्दर) उस (नल) का देवों ने जो नरत्व (मनुष्य होना, 'रलयोरभेदः' से नलत्व) दूषित किया, वह किसी गुण के कारण पूजनीय व्यक्ति में अन्य दोष का कथनरूप दुष्टता प्रकट की।

टिप्पणी—नल के उत्कृष्ट सौन्दर्य से स्वयंवर सभा सुशोभित हो रही थी। ईर्ष्यालु इन्द्रादि ने नल जैसा रूप बनाकर एक प्रकार से उस असामान्य को सामान्य बनाकर दूषित कर दिया। यह एक प्रकार दुष्टता या नीचता ही है कि किसी गुण से उत्कृष्ट व्यक्ति में कोई अन्य दोष दिखाकर उसके उत्कृष्टता-

धायक गुण में दोष निकाल दिया जाय। मल्लिनाथ का निष्कर्ष है कि सभामध्य प्रशंसित नल को देवों ने यह निर्देश करके दूषित बनाने का प्रयत्न किया कि यह व्यक्ति भले ही सुन्दर हो, पर है नर ही, देव नहीं। नारायण का निष्कर्ष है कि देवों ने 'संसददूषित' नल का रूप बनाकर उसकी 'नलता' दूषित कर दी। जिस रूप को ठीक-ठीक देवता बना न सके, उसे निष्पन्न करने का प्रयत्न करके उन्होंने रूप को दूषित कर डाला। दुर्जनता थी यह देवों की। बना न सके, बिगाड़ ही दिया। मल्लिनाथ के अनुसार सामान्य-कथित खलत्व का नरत्वदूषण द्वारा समर्थन करने से विशेष से सामान्य समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास है, विद्याधर ने भी अर्थान्तरन्यास का ही निर्देश किया है ॥ ४४ ॥

नलानसत्यानवदत् स सत्यः कृतोपवेशान् सविधे सुरेशान्।
नोभाविलाभूः किमु दर्पकश्च भवन्ति नासत्ययुजौ भवन्तः ? ॥ ४५ ॥

जीवातु—नलानिति। सत्यः स नलो यथार्थनलः, असत्यान् नलान् अलीकभूतान्, नलरूपधारिणः इत्यर्थः, सविधे समीपे, कृतोपवेशान् उपविष्टान्, सुरेशान् सुरेन्द्रादीन्, अवदत्; किमिति ? हे धन्याः। भवन्तः असत्यौ सत्य-रहितौ न भवत इति नासत्यावश्विनौ दस्रौ इति निपातनान्नञो नलोपाभावः। ताभ्यां युज्येते इति तद्युजौ तद्युक्तौ, 'सत्सूद्विष-' इत्यादिना क्विप्। उभा-विलायामिलादेव्यां भवति इति इलाभूरैलः-पुरूरवाः, क्विप्, दर्पकः कामश्च, न भवन्ति किमु ? इति प्रश्नः। 'शेषे प्रथमः' इति प्रथमपुरुषः, चत्वारो यूय-मश्विनौ पुरूरवाः कामश्च किं न भवथ इत्यपृच्छदित्यर्थः, तेषु निजरूपदर्शना-दन्येषामिव स्वस्यापि विस्मयावेशाच्च इत्थमप्राक्षीदिति भावः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—सत्यः सः असत्यान् नलान् सविधे कृतोपवेशान् सुरान् अवदत्—भवन्तः किमु नासत्ययुजौ उभाविलाभूः दर्पकः च न भवन्ति ?

हिन्दी—सत्य (असली) वह (नल) असत्य (मिथ्या-वेषधारी) नल-रूपधारे, निकट बैठे देवों (इन्द्रादि) से बोला—आप क्या (जो सत्यरहित नहीं होते वे) 'नासत्य' (अश्विनीकुमार) से युक्त उभाविलपुत्र (इला के पुत्र पुरूरवा) और कामदेव हैं ?

टिप्पणी—जैसा विस्मय नल को देखकर उपस्थित मंडली को हुआ था,

वैसा ही विस्मय चार मिथ्या नलों को देखकर हुआ और आश्चर्यान्वित नल ने उनसे प्रश्न किया कि वे चारों क्या पुरूरवा, काम और अश्विनीकुमार हैं ? विद्याधर के अनुसार अर्थान्तरन्यास ॥ ४५ ॥

अमी तमाहुः स्म यदत्र मध्ये कस्यापि नोत्पत्तिरभूदिलायाम् ।
अदर्पकाः स्मः सविधे स्थितास्ते नासत्यतां नापि बिभर्ति कश्चित् ॥४६॥

जीवातु—अमी इति । अथामी देवाः, तं नलम् आहुः स्म ऊचुः, 'लट् स्मे' इति भूते लट् । उत्तरश्लोके 'तेभ्यः परान्नः परिभावयस्व' इति वक्ष्यते, तत्र हेतुमाह,—यदिति । यत् यस्मात् कारणात्, ते तव सविधे समीपे, स्थिताः, ये वयमिति शेषः, अत्रैतेषु चतुर्षु अस्मासु, मध्ये कस्यापि इलायां बुधकलत्रे इलादेव्यां, भूमौ च, उत्पत्तिर्नाभूत्, अत्र न कोऽप्येकः पुरूरवाः न कोऽपि च भौमः इत्यर्थः, किन्तु अदर्पका दर्पकात् कामाद्भिन्नाः दर्पशून्याश्च, तव सौन्दर्य्यातिशयदर्शनेन गर्वशून्या इत्यर्थः, स्मः भवाम, कश्चिन्नासत्यताम् आश्विनेयत्वं सत्यत्वञ्च, न बिभर्त्ति अस्मासु न कोऽपि नासत्यः अथ च तव रूपधारणात् न कोऽपि सत्यः किन्तु सर्वे वयमसत्या इत्यर्थः । 'नासत्यावश्विनौ दस्रौ' इत्यमरः । नासत्यतां सत्यतां बिभर्त्तीति किन्त्वसत्यनला वयमित्यर्थान्तरम् ॥ ४६ ॥

अन्वयः—अमी तम् आहुः स्म—यत् अत्र मध्ये कस्य अपि इलायाम् उत्पत्तिः न अभूत् ते सविधे स्थिताः अदर्पकाः स्मः, कश्चित् अपि नासत्यतां न बिभर्त्ति ।

हिन्दी—(मिथ्या-रूपधारी देव) उस (नल) से बोले—कि यहाँ हमारे बीच किसी का इला (पुरूरवा की माता और पृथ्वी) में जन्म नहीं हुआ; तेरे निकट बैठे हम 'अदर्पक' (काम से भिन्न, गर्वरहित) हैं; कोई 'नासत्यता' (अश्विनीकुमारत्व, न+असत्यता = सचाई) को धारण नहीं करता ।

टिप्पणी—मिथ्यानलरूपधारी देवों ने पूर्वश्लोक में पूछे प्रश्न के उत्तर में नल से कहा कि उनमें न तो कोई इलापुत्र पुरूरवा ही है और न इला अर्थात् धरती पर जन्मा ही है; न उनमें कामदेव ही कोई है और न अभिमानी ही हैं; और न हममें कोई अश्विनीकुमार ही है, न कोई सच्चा—वास्तविक रूप में

ती है। 'इला' (पुरूरवा-जननी, पृथ्वी), अदर्पक (अ-काम, निरभिमान) और 'नासत्यता' (अश्विनीकुमार होना, सचाई)--इन अनेकार्थिक शब्दों के माध्यम से देवों ने नल को यह भी सूचित कर दिया कि वे 'वे नहीं हैं, जो नल समझ रहा है', और यह भी संकेतित कर दिया कि ये 'अभौम' नल के सौन्दर्यातिशय के कारण दर्पहीन और मिथ्यारूपधारी हैं---'अभौम' अर्थात् पृथ्वी पर न जन्मे मनुष्यातिरिक्त। नारायण ने चतुर्थ चरण का पदच्छेद इस प्रकार भी किया है—'ना नर, सत्यतां न बिभर्त्ति'---अर्थात् कोई व्यक्ति सत्यता को धारण नहीं करता---सब मिथ्यारूपधारी हैं। विद्याधर के अनुसार वक्रोक्ति अलंकार ॥ ४६ ॥

तेभ्यः परान्नः परिभावयस्व श्रिया विदूरीकृतकामदेवान्।
अस्मिन् समाजे बहुषु भ्रमन्ती भैमी किलास्मासु घटिष्यतेऽसौ ॥४७॥

जीवातु---तेभ्य इति। पूर्वश्लोकस्थयच्छब्दापेक्षया तदो व्यवहार। तत्तस्मादिलाभवताद्यभावात्, श्रिया सौन्दर्य्येण, विदूरीकृतकामदेवान् अधरीकृतकामदेवान् अधरीकृतमन्मथान्, नोऽस्मान्, तेभ्य ऐलादिभ्यः परानन्यान्, परिभावयस्व निश्चिनुष्व, अन्यच्च—हे सौम्य! श्रिया विदूरीकृतकामदेवान्नोऽस्मांस्तेभ्यः परानुत्कृष्टान्, विद्धि। अस्तु तावत्, अत्र किमर्थमागता? तत्राह—असौ भैमी अस्मिन् समाजे राजसङ्घे, बहुषु मध्ये भ्रमन्ती पर्य्यटन्ती, अस्मासु घटिष्यते संयोक्ष्यते, तथा बहुषु अस्मासु नलरूपेष्विति भाव, अत एव भ्रमन्ती नल इति भ्रान्तिमती सती, अस्मासु घटिष्यते सङ्गमिष्यते, किल इति सम्भावनायाम्, इत्याशयेनात्रास्माकमागमनमिति भावः। अत्रार्थद्वयस्यापि विवक्षितत्वात् केवलप्रकृतश्लेषः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—श्रियः विदूरीकृतकामदेवान् नः तेभ्यः परान् परिभावयस्व; अस्मिन् समाजे बहुषु भ्रमन्ती असौ भैमी किल अस्मासु घटिष्यते।

हिन्दी—शोभा से काम और अन्य देवों (अश्विनीकुमारादि) को हीन बना देने वाले हम (मिथ्यानलों) को उन (ऐल, काम, अश्विनीकुमारों) से भिन्न अथवा उत्कृष्ट समझो। इस सभा में अनेक उपस्थित जनों के मध्य भ्रमण करती (अथवा संदेह करती) भीमसुता कदाचित् हममें ही संयोग प्राप्त करे।

टिप्पणी—उत्तर देते देवों ने अपना वास्तविक परिचय तो नहीं दिया किन्तु यह सूचित कर दिया कि वे नल द्वारा संभावित जन नहीं हैं, उनसे 'पर' भिन्न अथवा 'उत्कृष्ट' देव हैं। अपने आने और मिथ्यारूप बनाने का कारण भी संकेतित-सा कर दिया कि 'भ्रमती' (राजाओं के मध्य वरमालाप्रक्षेपणार्थ घूमती अथवा भ्रम में पड़ी कि ये नल हैं) दमयन्ती का संयोग संभव है कि उनमें से ही किसी से हो जाय—भ्रम से नल मान उनमें से ही किसी के गले में वरमाला डाल दे। नारायण ने 'किल' को संभावनार्थक भी माना है और हेत्वर्थक भी। मल्लिनाथ ने अर्थद्वय की विवक्षा होने से केवलप्रकृतश्लेष का निर्देश किया है, विद्याधर ने अतिशयोक्ति अलंकार का ॥ ४७ ॥

असाम यन्नाम तवेह रूपं स्वेनाधिगत्य श्रितमुग्धभावाः ।
तन्नो धिगाशापतितान्नरेन्द्र ! धिक् चेदमस्मद्विबुधत्वमस्तु ॥ ४८ ॥

जीवातु—असामेति । हे नरेन्द्र ! यत् यस्मात्, तव नाम रूपञ्च स्वेन आत्मना, अधिगत्य ज्ञात्वाऽपि, श्रितमुग्धभावाः स्वीकृतमूढभावाः सन्तः, इह स्वयंवरे असाम भवाम, तिष्ठामेति यावत्, अस्तेर्लोट् तत्तस्मात्, आशापतितान् भैमीलाभाशया आपतितानागतान्, नः अस्मान्, धिक्, इदञ्चास्माकं विबुधत्वं देवत्वं विपश्चित्वञ्च धिगस्तु, अन्यच्च—यत्तव रूपमधिगत्य त्वद्वेशं धारयित्वा, श्रितमुग्धभावाः लब्धसौन्दर्य्याः सन्तः, 'मुग्धः सुन्दरमूढयोः' इति विश्वः। असाम नाम दिव्यामहे खलु, 'असगतिदीप्त्यादानेष्विति धातोर्लोट्' तत्तस्मात्, नोऽस्माकम्, आशापतितां दिक्पतित्वं धिक्, 'आशा तृष्णादिशोरपि' इति विश्वः, इदमस्मद्विबुधत्वञ्च। धिक्, तुच्छव्यापारत्वादिति भावः। 'विबुधः पण्डिते देवे' इति विश्वः। पूर्व एवालङ्कार ॥ ४८ ॥

अन्वयः—नरेन्द्र, यत् तव नाम रूपं स्वेन अधिगत्य श्रितमुग्धभावाः इह असाम, तत् आशापतितान् नः धिक् इदं च अस्माकं विबुधत्वं धिक् अस्तु।

हिन्दी—हे नरराज (नल), जो तेरा नाम और रूप अपने आप जान करके दिव्य सुन्दरता धारण किये (पक्षान्तर—मूर्खता धारण किये) यहाँ (सभा में) बैठे (अथवा—तव रूपं स्वे न अधिगत्य श्रितमुग्धभावाः इह (तव) नाम असाम, अर्थात् तेरा (नल का) रूप अपने से जान करके भी मूर्ख बने यहाँ तेरा नाम नष्ट कर रहे हैं), सो दमयन्ती की आशंका से पतित

अर्थात् स्वर्ग से पृथ्वी पर आये; हमें (अथवा दमयन्ती को प्राप्त करने की आशा ही से पतित—नीच, अकर्म करने वाले अथवा हमारे आशाओं अर्थात् दिशाओं के पतित्व, दिक्पालत्व को) धिक्कार है और हमारे इस विबुधत्व (पांडित्य (समझदारी) तथा देवत्व) को धिक्कार है।

टिप्पणी—शब्दच्छल से यद्यपि देवों ने यह व्यक्त किया कि वे दमयन्ती को पाने की आशा से यहाँ नल-रूप-नाम अपने आप धारण कर दिव्य सौन्दर्य बनाये बैठे हैं, तथापि वे देव थे, पूर्णतः अविवेकी न थे। यह जानते थे कि उनका यह कार्य निन्दनीय है, सो अपने देवत्व, अपने दिक्पालत्व और अपनी मूर्खता को भी उन्होंने माना और अपने इस 'अकर्म' को धिक्कारा। 'श्रित-मुग्धभाव', 'आशापतितं' और 'विबुधत्व' की अनेकार्थता से दोनों भाव व्यक्त हैं। एक धारणामात्र पर देवों को अपना यह प्रवञ्चनव्यापार अप्रीति-कर तो प्रतीत हुआ ही। नारायण ने 'स्वेन' का अर्थ अपने ज्ञाति-बन्धुओं में श्रेष्ठ करके 'स्वेन' को 'नरेन्द्र' का विशेषण भी माना है—'स्वानां ज्ञातीनां मध्ये' हम श्रेष्ठ। यद्वा 'धनानां स्वामिन्नरेन्द्र।' मल्लिनाथ-विद्याधर के अनुसार श्लेषलंकार ॥ ४८ ॥

सा वागवाज्ञायितमां नलेन तेषामनाशङ्कितवाक्छलेन।
स्त्रीरत्नलाभोचितयत्नमग्नमेनं न हि स्म प्रतिभाति किञ्चित् ॥४९॥

जीवातु—सेति। अनाशङ्कितवाक्छलेन अनाकलितदेववाक्कपटेन, नलेन तेषां देवानां, सा वाक् पूर्वोक्ता व्याजोक्तिः, अवाज्ञायितमाम् अतिशयेनाव-ज्ञाता, देववाक्यस्य पुरःस्फूर्त्तिक एवार्थो गृहीतो न तु तात्त्विक इत्यर्थः। 'जानातेरवपूर्वात् कर्मणि लुङि' 'तिङश्च' इत्यनेनातिशयार्थे तमप् प्रत्ययः तत-स्तस्य घसंज्ञा, ततः 'किमेत्तिङव्ययघादाम्बद्रव्यप्रकर्षे' इत्यनेनामुप्रत्ययः। कुतः ? हि यस्मात्, स्त्रीरत्नलाभे यः उचितयत्नो योग्यव्यापारो देवताऽनु-ध्यानादिः। तत्र मग्नम् आसक्तम्, एनं नलं प्रति, किञ्चित् किमप्यन्यत्, न प्रतिभाति स्म न स्फुरति स्म, व्यासङ्गो हि महान् विवेकप्रतिबन्धक इति भावः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—अनाशङ्कितवाक्छलेन नलेन तेषां सा वाक् अवाज्ञायितमाम् हि स्त्रीरत्नलाभोचितयत्नमग्नम एनं किञ्चिद् न प्रतिभाति स्म।

हिन्दी—वचनों में कपट की आशंका न करते नल ने उन (देवों) की उस वाणी (वचन) की अवगणना की, क्योंकि रमणीरत्न (दमयन्ती) को प्राप्त करने के उचित प्रयत्न में मग्न (लीन) उसे (नल को) कुछ भी प्रतिभासित न हो रहा था।

टिप्पणी—एक तो नल स्वयं सत्यवाक् और निश्छल व्यक्ति था, दूसरे उस समय वह दमयन्ती-सदृश नारीरत्न को प्राप्त करने के उचित उपाय की धारणा में डूबा था, अतः अधिक गंभीरता से अन्य विषय पर ध्यान न दे रहा था, सो देवों की इस छल भरी वाणी का सीधा-सहज भाव ही समझ पाया था, कपटार्थ नहीं। उनका देवत्व नल पर व्यक्त न हो पाया। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ॥ ४९ ॥

यः स्पर्द्धया येन निजप्रतिष्ठां लिप्सुः स एवाह तदुन्नतत्वम्।
कः स्पर्द्धितुः स्वाभिहितस्वहानेः स्थानेऽवहेलां बहुलां न कुर्यात् ? ॥५०॥

जीवातु—देववाक्यावज्ञां प्रति हेत्वन्तरमाह, य इति। योऽपकृष्टः, येनोत्कृष्टेन सह, स्पर्द्धया संघर्षणेन, निजप्रतिष्ठामुत्कर्षं, लिप्सुः लब्धुमिच्छुः, लभेः सनन्तादुप्रत्ययः सः स्पर्द्धमान एव, तस्योत्कृष्टपुरुषस्य, उन्नतत्वमुत्कृष्टत्वम् आह ब्रवीति, तच्चेष्टयैव तस्यापकृष्टत्वं स्फुटीभवतीत्यर्थः। तथा हि, कः प्रेक्षावान्, स्वेनैवाभिहिता स्वहानिः स्वापकर्षो येन तस्य स्पर्द्धितुर्बहुलां भूयसीम्, अवहेलामवज्ञां, न कुर्यात् ? कुर्यादेवेत्यर्थः। 'रीढावमाननावज्ञाऽवहेलनमसूक्षणम्' इत्यत्रावहेलयेति क्षीरस्वामी, स्थाने युक्तं 'युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः। भैमीलाभार्थं नलरूपधारणरूपया इन्द्रादिदुश्चेष्टया नलस्य महानुत्कर्ष एव आसीत् ततः नलेन तेषामवज्ञा युक्तैवेति भावः ॥ ५० ॥

अन्वयः—यः येन स्पर्द्धया निजप्रतिष्ठां लिप्सुः सः एव तदुन्नतत्वम् आह; कः स्वाभिहितस्वहानेः स्पर्द्धितुः स्थाने बहुलाम् अवहेलां न कुर्यात् ?

हिन्दी—जो (हीन व्यक्ति) जिस (उत्कृष्ट व्यक्ति) के साथ स्पर्धा करके अपनी प्रतिष्ठा चाहता है, वही (हीन-व्यक्ति) उस (अतिस्पर्धित व्यक्ति) की उत्कृष्टता को कह देता है। स्वयं ही अपनी (हीन व्यक्ति) न्यूनता कह देने वाले प्रतिस्पर्द्धी के विषय में कौन अतिशय अवज्ञा नहीं कर देता ? (कर ही देता है)।

टिप्पणी—कोई व्यक्ति अपने को श्रेष्ठ या उच्च प्रमाणित करने के लिए किसी अन्य श्रेष्ठ जन की होड़ करता है और उसी के अनुसार आचरण करता है। यह होड़ करना तदनुकूल आचरण यह स्पष्ट कर देता है कि स्पर्धा करने वाला व्यक्ति जिसकी स्पर्धा की जा रही है, उसकी अपेक्षा हीन और छोटा है। यह एक प्रकार से अपनी हीनता का स्वयं ही कथन हुआ। तो ऐसे हीन व्यक्ति की उपेक्षा तो प्रायः लोग किया ही करते हैं। यह एक और कारण था, जो नल के उन कपटाचारी देवों के कथन पर विशेष ध्यान न दिया और गूढार्थ से अपरिचित रहा। यह अवहेलना या अवज्ञा उचित ही थी। इन्द्रादि ने नल का रूप बनाया, उसकी स्पर्धा की, अपने को नल से हीन समझा। उनकी सहज उपेक्षा नल ने ठीक ही की। अमरकोष के अनुसार 'स्थाने' का एक अर्थ 'युक्त' (उचित) भी है। विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार ॥ ५० ॥

गीर्देवतागीतयशःप्रशस्तिः श्रिया तडित्वल्ललिताभिनेता।
मुदा तदाऽवैक्षत केशवस्तं स्वयंवराडम्बरमम्बरस्थः ॥ ५१ ॥

जीवातु—गीरिति। तदा तस्मिन् काले, केशवो विष्णुः, गीर्देवतया वाग्देवतया, गीता यशःप्रशस्तिः कीर्त्तिप्रबन्धो यस्य सः, श्रिया लक्ष्मीदेव्या स्वशरीरस्थया, तडित्वतः सविद्युतो मेघस्य, ललितस्य विलासस्य, अभिनेता अनुकर्त्ता सन्, अम्बरस्थः तं स्वयंवराडम्बरं स्वयंवरसभायोजनं, मुदा हर्षेण, अवैक्षत, किमुतान्य इति भावः। लक्ष्मीसरस्वतीसहितः नारायणः स्वयंवरं द्रष्टुमाजगाम इति निष्कर्षः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—तदा गीर्देवतागीतयशःप्रशस्तिः श्रिया तडित्वल्ललिताभिनेता अम्बरस्थः केशवः तं स्वयंवराडम्बरं मुदा अवैक्षत।

हिन्दी—उस समय सरस्वती–वाग्देवता ने जिसके यशोगौरव का ज्ञान किया है और जो लक्ष्मी के संबंध से विद्युत् युक्त मेघ के विलास के अनुकर्त्ता हैं, वे आकाशस्थ केशव (विष्णु) उस स्वयंवर के समायोजन को प्रसन्नता के साथ देखने आ गये।

टिप्पणी—लक्ष्मी और सरस्वती के साथ सजलघनश्याम साक्षात् नारायण भी दमयन्ती का स्वयंवर देखने प्रसन्नतापूर्वक आकाश में स्थित हुए। यह स्वयंवर के महत्त्व का द्योतक है, जिसके दर्शक स्वयं नारायण भी बने, अन्य की तो बात क्या ? विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास ॥ ५१ ॥

अष्टौ तदाऽष्टासु हरित्सु दृष्टीः सदो दिदृक्षुर्निदिदेश देवः ।
लैङ्गीमदृष्ट्वाऽपि शिरःश्रियं यो दृष्टौ मृषावादितकेतकीकः ॥ ५२ ॥

जीवातु—अष्टाविति । तदा तस्मिन् काले, सदः स्वयंवरसभां दिदृक्षुः द्रष्टुमिच्छु आगत इति शेषः, देवश्चतुर्मुखः, अष्टासु हरित्सु दिक्षु, अष्टौ दृष्टी निर्दिदेश प्रेरयामास, अष्टदिगाहूतजनताऽवलोकनार्थः । यो देवः, लैङ्गीं ज्योतिर्लिङ्गसम्बन्धिनीं, शिरःश्रियं लिङ्गस्योत्तरावधिमित्यर्थः, अदृष्ट्वाऽपि दृष्टौ लिङ्गशिरोदर्शनविषये, मृषा वदतीति मृषावादिनी सा कृता मृषावादिता मृषावादीकृतेत्यर्थः, मृषावादिशब्दात्तत्करोतीति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः, पुंवद्भाव–टिलोपाद्यार्थं णाविष्ठवद्भावोपसङ्ख्यानाट्टिलोपः, केतकी येन स कूटसाक्षीकृतकेतकीकुसुम इत्यर्थः, 'नद्यृतश्च' इति कप्समासान्तः । पुरा किल ब्रह्मा ज्योतिर्लिङ्गस्य शिरोदेशमदृष्ट्वाऽप्यद्राक्षमित्यसत्यमुक्त्वा तत्र शिवशिरःपतितं केतकीकुसुमं शिवशिरःस्थितं मां ब्रह्मा तत आनीतवान् इति कूटसाक्षीचकारेति पौराणिकी कथाऽत्रानुसन्धेया । तथा च शिवशिरःपारमिव स्वयंवरागतजनतासागरमष्टाभिर्दृष्टिभिः पश्यन्नपि नापश्यदिति निष्कर्षः ।

अन्वयः—यः लैङ्गीम् शिरःश्रियम् अदृष्ट्वा अपि दृष्टौ मृषावादितकेतकीकः सदः दिदृक्षुः देवः तदा अष्टासु हरित्सु अष्टौ दृष्टीः निदिदेश ।

हिन्दी—जिसने शिव-लिंग के शिर की शोभा विना देखे भी देखने के विषय में केतकी (पुष्प) से झूठी गवाही दिलायी थी, स्वयंवर सभा को देखने के इच्छुक उस देव (ब्रह्मा) ने उस काल आठों दिशाओं में आठों दृष्टियाँ (आँखें) नियुक्त कर दीं ।

टिप्पणी—स्वयंवर देखने चतुर्मुख, आठ नेत्रधारी ब्रह्मा भी आये । वे उस स्वयंवर की एक-एक घटना देखना चाहते थे, सो प्रत्येक दिशा में होती छोटी-सी-छोटी घटना को देखने के लिए एक-एक नेत्र की नियुक्ति कर दी । ऐसे सावधान और उत्साही हो उठे वे ब्रह्मा भी, जिन्होंने एक बार विना देखे ही झूठ कह दिया था कि उन्होंने शिवलिंग का शिरो भाग देख लिया है और इसकी झूठी गवाही भी केतकी पुष्प से करा दी थी । शिवशिरोदर्शन से अधिक महत्त्वपूर्ण माना ब्रह्मा ने दमयन्ती स्वयंवर दर्शन । एक बार विष्णु और ब्रह्मा में अपनी श्रेष्ठता को लेकर विवाद हो गया । मध्यस्थ शिव ने कहा कि जो

शिवलिङ्ग की ऊँचाई और नीचाई का पता लगा ले, वही बड़ा है। ब्रह्मा ऊँचाई का पता लगाने ऊपर की ओर स्वर्ग की दिशा में गये और विष्णु गये नीचे की ओर पाताल लोक। दोनों में कोई ऊँचाई-नीचाई की सीमा का पता न पा सका। विष्णु ने अपनी असफलता की घोषणा कर दी, परन्तु ब्रह्मा ने झूठ बोल दिया कि उन्होंने शिवलिंग का शिरोभाग देख लिया है और केतकी पुष्प से साक्षी करा दी कि वह लिंग के शिरोभाग पर चढ़ी हुई पड़ी थी, ब्रह्मा जी उसे वहीं से उठाकर कर लाये हैं। इसका दण्ड शिव ने केतकी को यह दिया कि उसे अपने पर चढ़ाये जाने के लिए आयोग्य घोषित कर दिया। तभी से केतकी पुष्प शिवलिंग पर नहीं चढ़ाया जाता। मल्लिनाथ ने निष्कर्ष में कहा है कि ब्रह्मा जैसे शिव-शिर का पार न पा सके थे, वैसे ही वे उपस्थित जन-सागर का पार न पा सके, आठों नेत्रों से भी देखकर वे पूर्णतः न देख सके। वस्तुतः भाव यही है कि जिस बूढ़े ब्रह्मा ने शिवलिंग के शिरोभाग को देखने में अपनी असमर्थता का अनुभव एक बार कर लिया था, वे इस बार दमयन्ती स्वयंवर की शोभा का पूरा-पूरा आनन्द लेना चाह रहे थे। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास अलंकार ॥ ५२ ॥

एकेन पर्यक्षिपदात्मनाऽद्रिं चक्षुर्मुरारेरभवत् परेण।
तैर्द्वादशात्मा दशभिस्तु शेषैर्दिशो दशालोकत लोकपूर्णाः ॥ ५३ ॥

जीवातु—एकेनेति। द्वादश आत्मानो रूपाणि यस्य स द्वादशात्मा सूर्यः, एकेन आत्मना रूपेण, अद्रिं मेरुं, पर्यक्षिपत् प्रदक्षिणीकृतवान् परेणात्मना, मुरारेर्विष्णोः, चक्षुर्दक्षिणनेत्रम्, अभवत्, शेषै रवशिष्टैः, दशभिस्तैरात्मभिस्तु, लोकपूर्णाः जनसम्पूर्णाः दश दिशोऽलोकत आलोकितवान् ॥ ५३ ॥

अन्वयः—द्वादशात्मा एकेन आत्मना अद्रिं पर्यक्षिपत् परेण मुरारेः चक्षुः अभवत् शेषैः दशभिः तु लोकपूर्णाः दश अलोकत।

हिन्दी—बारह आत्मा वाले (सूर्य) ने एक (आत्मा) से पर्वत (सुमेरु) की प्रदक्षिणा की, दूसरे (आत्मा) से मुरारि (विष्णु) का नेत्र बना; शेष दस (स्वरूपों—आत्मा) से तो जनसंकीर्ण दसों दिशाओं का अवलोकन किया।

टिप्पणी—सूर्य को द्वादशात्मा, द्वादशदेह अथवा द्वादशरूप कहा जाता है। उसके दश आत्मा हैं—(१) विधाता, (२) मित्र, (३) अर्यमा, (४) वरुण,

(५) इन्द्र, (६) भग, (७) अंशु, (८) पूषा, (९) विवस्वान्, (१०) पर्जन्य, (११) त्वष्टा, (१२) विष्णु। 'विद्यातृमित्रार्यमणो वरुणेन्द्रभगांशवः। पूषा त्रिवस्वान् पर्जन्यस्त्वष्टा विष्णुर्दिनेश्वराः ॥' भाव यही है कि दसों दिशाओं में स्वयंवरावलोकनार्थी भरे पड़े थे, उन सबको एक रूप से देखना संभव नहीं था; अतएव अपने दस आत्माओं से सूर्य ने दसों दिशाओं में व्याप्त उस जन संकुलता को देखा। सूर्य भी स्वयंवर द्रष्टा थे। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और यथासंख्य अलंकार ॥ ५३ ॥

प्रदक्षिणं दैवतहर्म्यमद्रिं सदैव कुर्वन्नपि शर्वरीशः।
द्रष्टा महेन्द्रानुजदृष्टिमूर्त्या न प्राप तद्दर्शनविघ्नतापम् ॥ ५४ ॥

जीवातु—प्रदक्षिणमिति। शर्वरीशश्चन्द्रः, दैवतानां हर्म्यं वासगृहम्, अद्रिं मेरुं, सदैव प्रदक्षिणं कुर्वन्नपि महेन्द्रानुजस्य उपेन्द्रस्य विष्णोः, दृष्टिमूर्त्या वामनेत्ररूपेण, द्रष्टा सन् तस्य स्वयंवरस्य, दर्शनविघ्नेन यस्तापस्तं न प्राप; चन्द्रस्य स्वयमनागतत्वेऽपि तत्र विष्णोरागतत्वात्तद्वामनयनरूपेणाद्राक्षीदेवेति कुतस्तस्यादर्शनक्लेश इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—सदा एव दैवतहर्म्यम् अद्रिं प्रदक्षिणं कुर्वन् अपि शर्वरीशः महेन्द्रानुजदृष्टिमूर्त्या द्रष्टा तद्दर्शनविघ्नतापं न प्राप।

हिन्दी—सदा ही देवताओं के हर्म्य (हरम, आवास) की प्रदक्षिणा करते भी निशानाथ (चन्द्र) ने महेन्द्र के अनुज (उपेन्द्र, विष्णु) के नयन रूप से देखते उस (स्वयंवर) को देखने में होते विघ्न-रूप संताप को न प्राप्त किया।

टिप्पणी—चन्द्र सदा ही देवावास सुमेरु की परिक्रमा किया करता है। इस दृष्टि से उसे दमयंती-स्वयंवर देखने का अवकाश ही न मिला; वह वहाँ नहीं पहुँच पाया। पर चन्द्र विष्णु का एक नेत्र भी है और विष्णु लक्ष्मी-सरस्वती सहित स्वयंवर सभा में उपस्थित थे ही (१०।५१)। इस प्रकार विष्णु के नेत्र रूप में चन्द्र वहाँ पहुँच गया और वह भी स्वयंवरोत्सव देखने का सौभाग्य प्राप्त कर सका। उसकी दर्शनेच्छा बाधित न हुई और सुमेरु की परिक्रमा करता भी वह अदर्शनकष्ट से व्यथित न हुआ। भाव है कि चन्द्र भी स्वयंवर में पहुँचा। स्वयं स्वतंत्र रूप से न पहुँचा, वामन-नयन रूप से तो उसने स्वयंवर देख ही लिया। विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार ॥ ५४ ॥

त्रिलोकमाना वरलोकलक्ष्मीं तात्कालिकीमप्सरसो रसोत्काः।
जनाम्बुधौ तत्र निजाननानि वितेनुरम्भोरुहकाननानि ॥ ५५ ॥

जीवातु—विलोकमाना इति। रसेन रागेण, उत्का उन्मनसः, दर्शन-रसोत्सुकाः सत्यः, 'उत्क उन्मनाः' इत्यमरः। उक्त इति निपातसिद्धम्, तात्कालिकीं तत्कालभवां वरलोकलक्ष्मीं परिणेतृजनशोभां, विलोकमानाः अप्सरसस्तत्र जनाम्बुधौ सभास्थजनरूपार्णवे, जलाशये एव कमलसम्भवात् जनेऽम्बुधित्वारोप इति भावः; निजाननानि स्वमुखानि, अम्भोरुहकाननानि कमलवनानि, वितेनुः वधुः; तदन्तर्गतानि तन्मुखानि पद्मानीव रेजुरित्यर्थः। तथा चाप्सरसोऽपि स्वयंवरसभां द्रष्टुमागता इति भावः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—रसोत्काः तात्कालिकीं वरलोकलक्ष्मीं विलोकमानाः अप्सरसः तत्र जनाम्बुधौ अम्भोरुहकाननानि निजाननानि वितेनुः।

हिन्दी— स्वयंवरावलोकन के रस से उत्कंठित, तात्कालिक (उस समय की) वरे जाने की आकांक्षा से एकत्र राजसमूह की शोभा को देखतीं अप्सराएँ वहाँ (स्वयंवर सभा में) जनसमुद्र में कमलवनरूप अपने मुखों की शोभा का प्रसार कर रही थीं।

टिप्पणी— स्त्रिजनोचित स्वाभाविक विवाहोत्सवदर्शन की उत्कट इच्छा से बाध्य अप्सराएँ भी उस शोभा को देखने उपस्थित थीं। जैसे समुद्र में तैरते कमल सुशोभित होते हैं, वैसे ही उन अप्सराओं के सुन्दर मुख उस जनसंकुलता में सुशोभित हो रहे थे। जलाशय वह जनता है और उस जलाशय के कमल उनके मुख। विद्याधर के अनुसार रूपक अलंकार ॥ ५५ ॥

न यक्षलक्षैः किमलक्षि? नो सा सिद्धैः किलध्यासि समाऽऽप्तशोभा?।
सा किन्नरैः किं न रसादसेवि? नादर्शि हर्षेण महर्षिभिश्च? ॥५६॥

जीवातु—नेति। तदा आप्तशोभा लब्धकान्तिः, सा सभा यक्षाणां लक्षैः शतसहस्रैः, नालक्षि नादर्शि किम्? सिद्धैर्वा नाध्यासि नाध्यासिता किम्? किन्नरैः रसात् रागात्, सा सभा, नासेवि न सेविता किम्? महर्षिभिः हर्षेण नादर्शि च न दृष्टा किम्? तथा च सर्वैरदर्शीत्यर्थः। सर्वं कर्मणि लुङ्।

अन्वयः—आप्तशोभा सा सभा किं यक्षलक्षैः न अलक्षि, किं सिद्धैः नो अध्यासि? सा रसात् किं किन्नरैः न असेवि महर्षिभिः च हर्षेण न अदर्शि?

हिन्दी—सुशोभित उस सभा (स्वयंवर सभा) को क्या लाखों (अनेक) यक्षों ने नहीं देखा और क्या वहाँ उपस्थित न हुए ? क्या उसका अनुरक्ति से किन्नरों ने सेवन नहीं किया और क्या हर्षपूर्वक उसे महर्षियों ने नहीं देखा ? (सभी ने देखा) ।

टिप्पणी—यक्ष, सिद्ध, किन्नर और महर्षि—सभी उत्कंठा, दर्शनराग और प्रसन्नता के साथ स्वयंवर देखने आये । 'रसात्' और 'हर्षेण' सभी के साथ अन्वित करके भी अर्थ किया जाता है । नारायण की टिप्पणी है कि 'रसात्' से ही अभिप्राय सिद्ध हो जाता है, 'हर्षेण' पद का प्रयोग अनुप्रासार्थ किया गया है । विद्याधर ने छेकानुप्रास का निर्देश किया है । काकुवक्रोक्ति तो स्पष्ट है ही ॥ ५६ ॥

वाल्मीकिरश्लाघत तामनेकशाखात्रयीभूरुहराजिभाजा ।
क्लेशं विना कण्ठपथेन यस्य दैवी दिवः प्राग्भुवमागमद्वाक् ॥ ५७ ॥

जीवातु—वाल्मीकिरिति । तां सभां, वाल्मीकिर्मुनिः, अश्लाघत अस्तुत, अनेकाः शाखाः कथकाः, आश्वलायनादिवेदविभागा इति यावत्, वृक्षावयवविशेषाश्च यस्याः सा अनेकशाखा, त्रयाणां वेदानां समाहारः त्रयी, अनेकशाखा चासौ त्रयी च अनेकशाखत्रयी, सा एव भूरुहराजिः तरुपङ्क्तिः, तां भजतीति तद्भाक् तेन, 'भजो ण्वः' । 'शाखा वेदप्रभेदेषु बाहौ पार्श्वद्रुमाङ्गयोः' इति वैजयन्ती । पथिकविश्रामवृक्षवतेत्यर्थः, यस्य कण्ठ एव पन्था तेन कण्ठपथेन दैवी वाक् छन्दोमयी सरस्वती, 'मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वम्' इत्यादिरूपेण, क्लेशं विना अनायासेन, दिवः स्वर्गात्, प्राक् भुवं भूलोकम्, आगमत् आगता एव, छन्दोबद्धा सरस्वती येन प्रथमं भूलोकमवतारिता तेनादिकविनापि स्तुतेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—दैवी वाक् यस्य अनेकशाखात्रयीभूरुहराजिराजा कण्ठपथेन क्लेशं विना दिवः प्राक् भुवम् आगमत् (सः) वाल्मीकिः ताम् अश्लाघत ।

हिन्दी—देववाणी जिसके (आश्वलायनादि) अनेक शाखाओं वाले वेदत्रयरूप तरुपंक्ति से सुशोभित कण्ठरूपमार्ग से विना कष्ट के स्वर्ग से पहिले भूलोक पर आयी थी, उस वाल्मीकि (आदिकवि) ने उस (स्वयंवर-सभा) की प्रशंसा की ।

टिप्पणी—'रामायण' के गायक आदिकवि वाल्मीकि ने भी पधारकर

उस स्वयंवर की शोभा को सराह कर कृतार्थ किया, अर्थात् वे भी आये। किसी व्यक्ति का, विशेषकर स्त्री का, दूर की यात्रा करना कठिन होता है, पर देववाणी को स्वर्ग से भूलोक तक की यात्रा भी दुष्कर नहीं हुई। वे वाल्मीकि मुनिपुंगव के कण्ठ-मार्ग से होकर सरलता और सुख से यह यात्रा पूर्ण कर सकीं, क्योंकि वह कंठपथ विश्रामदायक छायादार वृक्षों से परिपूर्ण था—वे वृक्ष थे अनेकशाखा-प्रशाखा वाले ऋक्, यजु:, साम—तीनों वेद। वेदों की आश्वलायनादि शाखाएँ ही पत्र-पुष्प-समन्वित वृक्ष-शाखाओं से उपमित हैं। शाखात्रयी सहित वेद के पाठक आदि कवि ने भी उस सभा को गौरवान्वित किया। आदि कवि की पहिली रचना—'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥' (रामायण, बालकाण्ड, २।१५)। विद्याधर के अनुसार रूपक-श्लेषालंकार॥ ५७॥

प्राशंसि संसद् गुरुणाऽपि चार्वी चार्वाकतासर्वविदूषकेण।
आस्थानपट्टं रसनां यदीयां जानामि वाचामधिदेवतायाः॥ ५८॥

जीवातु—प्राशंसीति। चार्वी चारु रम्या, 'वोतो गुणवचनात्' इति ङीप्। संसत् सभा, चार्वाकतया चार्वाकसिद्धान्तितया, नास्तिकतया हेतुना इत्यर्थः, सर्वविदूषकेण वेदादिसर्वशास्त्रखण्डकेन, गुरुणा बृहस्पतिनाऽपि, प्राशंसि, किमुत अन्यैरिति भावः, नास्तिकप्रतारणार्थं चार्वाकशास्त्रं प्रणीय बृहस्पतिना वेदादिशास्त्रं दूषितमिति प्रसिद्धिः। यदीयां रसनां जिह्वां, वाचामधिदेवतायाः सरस्वत्याः, आस्थानपट्टम् आस्थानपीठं सिंहासनमित्यर्थः, जानामि, 'आसनान्तरपीठयोः पट्टम्' इति विश्वः। सर्वविदूषकेण वाचस्पतिनाऽपि स्तूयते इति सभाशोभायाः परमोत्कर्ष इति भावः॥५८॥

अन्वयः—यदीयां रसनाम् वाचाम् अधिदेवतायाः आस्थानपट्टं जानामि, चार्वाकतासर्वविदूषकेण गुरुणा अपि चार्वी संसद् प्राशंसि।

हिन्दी—जिसकी रसना (जिह्वा) वाणी की अधिदेवता (सरस्वती) का सिंहासन प्रज्ञात है, उस चार्वाकता (नास्तिकता) के द्वारा समस्त (वेदशास्त्रादि) को दूषित करने वाले (अथवा वेदशास्त्रादि—सब के विदूषक अर्थात् हँसी उड़ाने वाले) गुरु (बृहस्पति) ने भी उस सभा की प्रशंसा की।

टिप्पणी—बृहस्पति भी उस सभा में पधारे और उसकी प्रशंसा की। इस

दृष्टि से—वाल्मीकि, बृहस्पति से भी प्रशंसित सभा परमोत्कर्षशालिनी थी—यह प्रमाणित होता है। माना जाता है कि नास्तिकों के प्रतारण के लिए बृहस्पति ने चार्वाकशास्त्र का प्रणयन कर वेदशास्त्रादि का उपहास किया था ॥ ५८ ॥

नाकेऽपि दीव्यत्तमदिव्यवाचि वचःस्रगाचार्यकवित् कविर्यः।
दैतेयनीतेः पथि सार्थवाहः काव्यः स काव्येन सभामभाणीत् ॥ ५९ ॥

जीवातु—नाकेऽपीति। यः काव्यः अतिशयेन दीव्यत्यन्त्यः दीव्यत्तमाः देदीप्यमानाः, 'तसिलादिव्याकृत्वसुचः' इति पुंवद्भावः। दिव्यवाचः संस्कृतवाचः यस्मिन् तादृशे, नाके स्वर्गेऽपि, वचःस्रजां वाग्गुम्फनानाम्, आचार्यकम् आचार्यकत्वं, 'योपधाद्गुरूपोत्तमाद्वुञ्' तद्वित् कवितामार्गोपदेष्टा, कविः स्वयं कवयिता च, दित्या अपत्यानि पुमांसो दैतेयाः दैत्याः, दितिशब्दात् 'कृदिकारात्' इति ङीषन्तात् 'स्त्रीभ्यो ढक्' अन्यथा 'दित्यदिति'—इत्यादिना ण्यप्रत्ययस्य पूर्वविप्रतिषेधेन ढगपवादिकत्वात्, लिङ्गविशिष्टपरिभाषा त्वनित्येति गतिः, भाष्यवार्तिकयोरनुक्तत्वादसाधुरिति केचित्, अभियुक्तप्रयोगादभियोक्तिकप्रसिद्धश्च तन्नाद्रियन्ते, तेषां नीतेः पथि दैत्यनीतिमार्गे, सार्थं वहतीति सार्थवाहः अग्रणीः, पथप्रदर्शकः इत्यर्थः, कर्मण्यण्, स काव्यः कवेरपत्यं शुक्रः, 'कुर्वादिभ्यो ण्यः' सभां तां स्वयंवरसभां, काव्येन प्रबन्धेन, अभाणीत् अवर्णयत्। 'काव्यं ग्रन्थे ग्रहे काव्ये' इति विश्वः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—दीव्यत्तमदिव्यवाचि नाके अपि यः वचः स्रगाचार्यकवित् कविः दैतेयनीतेः पथि सार्थवाहः सः काव्यः काव्येन सभाम् अभाणीत्।

हिन्दी—देदीप्यमान दिव्यवाणी (अमरभारती संस्कृत) से युक्त स्वर्ग में भी जो वाणीरूप माला (वचन) के आचार्यकत्व का वेत्ता कवि (संस्कृतवचन रचना का आचार्य और कवि) है और जो दैत्यों के नीति-पथ का सार्थवाह (मार्गदर्शक—दैत्यनीतिशास्त्रप्रवर्तक) है, उस काव्य (शुक्राचार्य) ने अपने काव्य द्वारा सभा का वर्णन किया।

टिप्पणी—संस्कृत जिस स्वर्ग की वाणी है और जहाँ देवगुरु बृहस्पतिसदृश महान् पंडित हैं, वहाँ भी जो संस्कृत-रचना की शिक्षा देने वाले आचार्य और महाकवि रूप में स्वीकृत है, उस दैत्यगुरु, दैत्यों के निमित्त नीतिशास्त्र के रचयिता शुक्राचार्य ने भी अपने निर्दोष काव्य द्वारा दमयन्ती-स्वयंवरसभा की

प्रशंसा की। यह सभा के गौरव और निर्दोष होने का सूचक है। शुक्राचार्य द्वारा की गयी प्रशंसा आगे (१०।६०-६५) है। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ५९ ॥

अमेलयद्भीमनृपः परं नः नाकर्षदेतान् दमनस्वसैव।
इदं विधाताऽपि विचिन्त्य यूनः स्वशिल्पसर्वस्वमदर्शयन्नः ॥६०॥

जीवातु—अथ षड्भिस्तत्काव्यमेवाह–अमेलयदित्यादि। एतान् यूनः युवराजनान् भीमनृपः परं केवलं, न अमेलयत् स्वयंवरार्थं न मेलितवान्, तथा दमनस्वसा दमयन्त्येव, नाकर्षत्, स्वगुणेनेति शेषः, किन्तु विधाताऽपि विचिन्त्य एकत्र सङ्गृह्य, इदं पुरोवर्त्ति युवरूपं स्वशिल्पसर्वस्वं स्वनिर्माणकौशलसम्पदं, नः अस्माकम्, अदर्शयत्। राज्ञः प्रयत्नात् भैमीसौन्दर्यसम्पदा ब्रह्मणः स्वनिर्माण-कौशलप्रकाशनव्यसनाच्चेदं युवमेलनं न त्वेकस्मादित्युत्प्रेक्षा ॥ ६० ॥

अन्वयः—भीमनृपः परम् एतान् यूनः न अमेलयत्, दमस्वसा एव न आकर्षत्, विधाता अपि इदं विचिन्त्य नः स्वशिल्पसर्वस्वम् अदर्शयत्।

हिन्दी—भीमराजा ने ही इन तरुणों का मेल नहीं कराया, दमभगिनी (दमयन्ती) ने ही इन्हें आकृष्ट नहीं किया; विधाता ने भी यह सब (स्वयंवरादि होना) विचार कर हमें (उपस्थित समूह को) अपने शिल्प (निर्माण-कौशल) का सर्वस्व (सार) दिखा दिया।

टिप्पणी—सभा का वर्णन करते शुक्राचार्य का विचार था कि केवल राजा भीम के प्रयास और दमयन्ती के रूपगुणाकर्षण के कारण यह संभव नहीं है कि इतने रूपवान्, समृद्ध, तरुण एकत्र हो गये, इसमें विधाता की पूर्वयोजना भी है। विधि ने ही स्वरचना-कौशल के श्रेष्ठ शिल्प की प्रदर्शनी उपस्थित लोक-समूह के रंजनार्थ यहाँ की है। मल्लिनाथ के अनुसार यह एक भीम या दमयंती का कार्य नहीं, इसमें विधाता की भी इच्छा है—यह उत्प्रेक्षा है; विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा ॥ ६० ॥

एकाकिभावेन पुरा पुरारिर्यः पञ्चतां पञ्चशरं निनाय।
तद्भीसमाधानमनुष्यकाय-निकायलीलाः किममी युवानः ? ॥ ६१ ॥

जीवातु—एकाकीति। य. पुरारि पुरा एकाकिभावेन असहायत्वेन हेतुना, पञ्चशरं कन्दर्पं, पञ्चानां भावः पञ्चता सा भौतिकस्य शरीरस्य

स्वस्वांशस्य स्वेषु स्वेषु प्रवेशः, मरणमिति यावत्, ता निनाय, अमी युवानः अमुष्य कामस्य सम्बन्धिन्यः तस्मात् पुरारेः, भियः समाधानं निवारणं, निवारका इत्यर्थः, कार्यकारणयोरभेदोपचारः, कायनिकायलीलाः शरीर-समूहविलासाः, कामकायव्यूहाः इति यावत् किम् ? पूर्वं महादेवः सहायहीनं कन्दर्पं संजहार इति कन्दर्पस्यासहायत्वात् ततो भयमासीत्, इदानीम् एतद्-युवशरीरैरात्मनो बहुत्वात् ततो न भयमिति भावः। इयमुत्प्रेक्षा। सर्वे कामकल्पा इति निष्कर्षः॥ ६१ ॥

अन्वयः—यः पुरारिः पुरा एकाकिभावेन पञ्चशरं पञ्चतां निनाय, अमुष्य कायनिकायलीलाः अमी युवानः किं तद्भीसमाधानम् ?

हिन्दी—जिस पुर-शत्रु (महादेव) ने प्राचीन काल में एकाकी होने के कारण पंचबाण (कामदेव) को पञ्चत्व (मृत्यु) को पहुँचा दिया था, उस (काम) के देहसमूह के तेजोरूप (काम-शरीर-व्यूह) ये तरुण क्या (काम के) उन (महादेव) से भय के निवारण हैं ?

टिप्पणी—स्वयंवर में एकत्र मनोरम तरुण-वृंद को देखकर कल्पना की गयी है कि प्रतीत होता है कि ये तरुण उस काम के अनेक रूप हैं, जिसे पहिले असहाय—एकाकी होने के कारण शिव ने भस्म करके मार डाला था। अब ये उसी काम के तेजस्वी अगणित कायव्यूह यहाँ एकत्र हो गये हैं। अब कोई डर नहीं है। तब असहाय अकेले बेचारे काम को शिव ने मार लिया था; अब आयें, सब मिलकर उनका सामना करेंगे। बहुलता के कारण भय मिट गया। भाव यही है कि सभी तरुण कामसम सुंदर थे। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने छेकानुप्रास और उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है॥ ६१ ॥

पूर्णेन्दुबिम्बाननुमासभिन्नानस्थापयत् क्वापि निधाय वेधाः।
तैरेव शिल्पी निरमादमीषां मुखानि लावण्यमयानि मन्ये॥ ६२ ॥

जीवातु—पूर्णेति। शिल्पी निर्माणकुशली, वेधाः अनुमासं मासि मासि, भिन्नान् नानाभूतान्, पूर्णेन्दुबिम्बान् संसारस्यानादित्वादसङ्ख्यानिति भावः, क्वापि निधाय निक्षिप्य, आच्छाद्येति यावत् अस्थापयत् स्थापितवान्, चिरम-रक्षदित्यर्थः। अथ तैः पूर्णेन्दुबिम्बैरेव, अमीषां यूनां, लावण्यमयानि मुखानि निरमात् निर्मितवानिति मन्ये। उत्प्रेक्षा॥ ६२ ॥

अन्वयः—शिल्पी वेधाः अनुमासभिन्नान् पूर्णेन्दुबिम्बान् क्व अपि निधाय अस्थापयत्, मन्ये तैः एव अमीषां लावण्यमयानि मुखानि निरमात् ।

हिन्दी—शिल्पकार ब्रह्मा ने प्रतिमास में भिन्न पूर्ण चन्द्रबिम्बों को कहीं छिपाकर रख दिया था, मेरी (शुक्राचार्य कवि की) मान्यता है कि उन्हीं (चन्द्रबिम्बों) से इन (एकत्र तरुणों) के सौन्दर्यपूर्ण मुखों का निर्माण किया है ।

टिप्पणी—एकत्र तरुणों के मुख पूर्णिमा के चन्द्रमा के सदृश थे; इसी आधार पर कल्पना है कि जैसे कोई शिल्पी सुन्दर वस्तु का निर्माण करने के लिए अपूर्ण वस्तु को कहीं छिपाकर रखता है, वैसे ही शिल्पी विधाता प्रतिमास पूर्ण चन्द्रबिम्बों का निर्माण कर कहीं गुप्त स्थान में रखता गया और इन तरुणों के मुख उन्हीं पूर्णचन्द्रबिम्बों से बना डाले। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और उत्प्रेक्षा ।। ६२ ।।

मुधाऽर्पितं मूर्द्धसु रत्नमेतैर्यन्नाम तानि स्वयमेत एव ।
स्वतःप्रकाशे परमात्मबोधे बोधान्तरं न स्फुरणार्थमर्थ्यम् ।। ६३ ।।

जीवातु—मुधेति । एतैः नृपैः मूर्द्धसु रत्नं मुधा अर्पितं शिरोमणिर्वृथा धृतः इत्यर्थः; कुतः ? यत् यस्मात्, एते स्वयमेव तानि रत्नानि, नाम खलु, तथोत्कृष्टा इत्यर्थः। 'रत्नं स्वजातौ श्रेष्ठेऽपि' इत्यमरः, किं रत्नधारणेनेति वाच्यप्रतीयमानयोरभेदाध्यवसायेन वैयर्थ्योक्तिः तथा हि, स्वतःप्रकाशे, परमात्मबोधे परमात्मविषयके तत्स्वरूपे वा ज्ञाने विषये, स्फुरणार्थं तज्ज्ञान-प्रकाशनार्थं, बोधान्तरम् अनुव्यवसायादिरूपं ज्ञानान्तरं, न अर्थ्यं नापेक्ष्यम् । दृष्टान्तालङ्कारः ।।६३।।

अन्वयः एतैः मूर्द्धसु रत्नं मुधा अर्पितं, यत् एते स्वयम् तानि एव नाम; स्वतःप्रकाशे परमात्मबोधे स्फुरणार्थं बोधान्तरं न अर्थ्यम् ।

हिन्दी—इन्होंने (तरुणों ने) शिरों पर रत्न व्यर्थ स्थापित कर रखे हैं, क्योंकि ये (तरुण) स्वयं निश्चयतः वे (रत्न) ही हैं; स्व-प्रकाश परमात्मा के बोध-विषय में उसके ज्ञान के निमित्त अन्यबोध की अपेक्षा नहीं होती ।

टिप्पणी—वेदान्त के अनुसार स्वतःप्रमाण, स्वयं प्रकाशित परमात्मा के ज्ञान के निमित्त अन्य किसी अनुव्यवसायादि इतर ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती; ऐसे ही स्वयंवर में उपस्थित तरुणों ने अपने को सुसज्जित प्रकट करने

के लिए जो मस्तकों पर रत्नादि धारण कर रखे थे, वे अनावश्यक थे; क्योंकि वे तरुण तो स्वयं शोभाशाली थे, उन्हें किसी साजसज्जा की अपेक्षा नहीं थी। उनका रत्नधारण व्यर्थ था। यह तो रत्नों पर ही रत्नारोपण हुआ। तरुण-रत्नों पर क्या रत्नाक्षेप? मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टान्त, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और अर्थान्तरन्यास, नारायण ने अर्थान्तरन्यास का निर्देश किया है ॥ ६३ ॥

प्रवेक्ष्यतः सुन्दरवृन्दमुच्चैरिदं मुदा चेदितरेतरं तत्।
न शक्ष्यतो लक्षयितुं विमिश्रं दस्रौ सहस्रैरपि वत्सराणाम् ॥ ६४ ॥

जीवातु—प्रवेक्ष्यत इति। दस्रौ अश्विनौ, उच्चैः महत्, इदं सुन्दरवृन्दं रमणीयवर्गं, मुदा कौतुकेन, प्रवेक्ष्यतः अन्तःप्रविष्टौ भविष्यतः, चेत् तर्हि, विमिश्रं मिलितम्, इतरेतरम् अन्योऽन्यं स्वभ्रातृरूपं, वत्सराणां सहस्रैरपि लक्षयितुं मदीयः अयमेव भ्राता इति विविक्ततया ग्रहीतुं, न शक्ष्यतः शक्तौ न भविष्यतः, तत्र सभायां स्थिताः सर्वे राजानः अश्विनीकुमारतुल्या इति भावः। अत्र दस्रयो सौन्दर्यगुणसामान्येन सुन्दरवृन्दैकतादात्म्यात् सामान्यालङ्कारः, 'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात् ।।६४॥

अन्वयः—दस्रौ उच्चैः मुदा इदम् सुन्दरवृन्दं प्रवेक्ष्यतः चेत् तत् विमिश्रम् इतरेतरं वत्सराणां सहस्रैः अपि लक्षयितुं न शक्ष्यतः।

हिन्दी—अश्विनीकुमार अत्यन्त प्रसन्नता से इस सुन्दर (तरुण) समूह में यदि प्रविष्ट हो जायें, तो (तरुण-समूह में) मिल गये वे एक दूसरे को सहस्रों वर्षों में भी पहिचानने में समर्थ न होंगे।

टिप्पणी—एक-सी वस्तु में जब वस्तु मिल जाती है, तो उसे छाँटना—अलग करना बड़ा कठिन—असंभव-सा होता है। उपस्थित तरुणमंडली अश्विनीकुमारों के सदृश सुन्दर है। यदि इस समूह में अश्विनीकुमार आकर मिल जायें तो वे एक से होने के कारण एक-दूसरे को चिरकाल तक भी न ढूंढ़-खोज पायेंगे। सभी तो उन-से ही हैं। इनमें कौन-सा उनका भाई है, यह उन्हें जानना संभव न होगा। मल्लिनाथ ने यहाँ सामान्यालंकार का निर्देश किया है, क्योंकि सौन्दर्यगुण-समानता के कारण सुन्दर तरुणसमूह के साथ अश्विनीकुमारों का एक तादात्म्य कहा गया है। जहाँ गुणसाम्य के आधार पर भिन्न

वस्तुओं में एकता कही जाती है, वहाँ सामान्य अलंकार होता है। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ६४ ॥

स्थितैरियद्भिर्युवभिर्विदग्धैर्दग्धेऽपि कामे जगतः क्षतिः का ? ।
एकाम्बुबिन्दुव्ययमम्बुराशेः पूर्णस्य कः शंसति शोषदोषम् ? ॥ ६५ ॥

जीवातु—स्थितैरिति । विदग्धैः प्रगल्भैः अदग्धैश्च, स्थितैः इयद्भिः एतावद्भिः, युवभिः, उपलक्षितस्येति शेषः, जगतः कामे दग्धेऽपि का क्षतिः ? न्यूनता न काऽपीत्यर्थः । तथा हि, पूर्णस्य अम्बुराशेः एकाम्बुबिन्दुव्ययं कः शोष एव दोषस्तं शंसति ? न कोऽपि दोषत्वेन शंसतीत्यर्थः; यथा समुद्रस्य एकबिन्दुजलव्यये समुद्रः शुष्कः इति न कोऽपि कथयति तथा कामसदृशानां बहूनाम् एतेषां विद्यमानतायाम् एकस्य कामस्य नाशे पृथिव्याः का क्षतिः ? इति भावः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ६५ ॥

अन्वयः—विदग्धैः स्थितैः इयद्भिः युवभिः कामे दग्धे अपि जगतः का क्षतिः पूर्णस्य अम्बुराशेः एकाम्बुबिन्दुव्ययं कः शोषदोषं शंसति ?

हिन्दी—प्रवीण–चतुर और अदग्ध स्थित इतने तरुणों के कारण काम के जल जाने पर भी संसार की क्या हानि है ? पूर्ण जलनिधि (समुद्र) के एक जल-बिन्दु के व्यय को कौन सूखने का दोष बताता है ? (कोई नहीं) ।

टिप्पणी—स्वयंवर में एकत्र सभी असंख्य तरुण काम के सदृश सुन्दर थे । उन्हें देखकर लगता कि जगत् में इतने अधिक दाहरहित काम उपस्थित हैं । ऐसी स्थिति में एक कामदेव जल भी गया तो संसार का उससे क्या बिगड़ा ? भरे समुद्र की एक बूंद नष्ट भी हो जाय तो समुद्र सूखता नहीं । जब संसार में इतने सदेह काम हैं तो एक जाय, उससे क्या हानि हुई ? कुछ भी नहीं । मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टांत और विद्याधर के अनुसार अनुप्रास-अतिशयोक्ति-रूपक और अर्थान्तरन्यास अलंकार । नारायण ने अर्थान्तरन्यास का निर्देश किया है ॥ ६५ ॥

इति स्तुवन् हूङ्कृतिवर्गणाभिर्गन्धर्ववर्गेण स गायतैव ।
ओङ्कारभूम्ना पठतैव वेदान् महर्षिवृन्देन तथाऽन्वमानि ॥ ६६ ॥

जीवातु—इतीति । इतीत्थं स्तुवन् स काव्यः, गायतैव गन्धर्ववर्गेण हूङ्कृतीनां वर्गणाः पुनः पुनरुच्चारणानीत्यर्थः, ताभिः अन्वमानि अनुमोदितः,

कर्मणि लुङ्, तथा वेदान् पठतैव महर्षिवृन्देन ओङ्कारभूम्ना प्रणवभूयस्त्वेन, अन्वमानि अनुमोदितः। अत्र गानार्थैर्हूङ्कारैः वेदपाठार्थैः ओङ्कारैश्च काव्य-वाक्यानुमोदनं कृतमिवेत्युत्प्रेक्ष्यते। 'ओमित्यनुमते प्रोक्तं प्रणवे चाप्युपक्रमे' इति विश्वः॥ ६६॥

अन्वयः—इति स्तुवन् सः गायता एव गन्धर्ववर्गेण हूङ्कृतिवर्गणाभिः तथा वेदान् पठता एव महर्षिवृन्देन ओङ्कारभूम्ना अन्वमानि।

हिन्दी—इस प्रकार (सभा की) प्रशंसा करते उन (शुक्राचार्य) का गान करते हुए ही गन्धर्वों के समूह ने हूँकारियों से और वेद-पाठ करते हुए ही महर्षि समूह ने 'ओम्-ओम्' के उच्चारण द्वारा अनुमोदन किया।

टिप्पणी—वहाँ उपस्थित गंधर्वों ने गाते-जाते हुँकारी भर कर और वेदपाठी महर्षियों वारंवार ने 'ओम्' के उच्चारण से शुक्राचार्य को कथन समीचीन बताया। शुक्राचार्य सभा की उचित ही प्रशंसा कर रहे हैं—ऐसा गन्धर्वों और महर्षियों का मन्तव्य था। साम-गान का आरम्भ 'ओम्' से होता है—'ओमिति सामानि गायंति'। (तैत्तिरीय उपनिषद्–८।१)। अन्त भी इसी प्रकार किया जाता है। यह स्वर की समृद्धि तथा स्वर-निर्वाह के लिए किया जाता है। 'ओम्' अनुमत्यर्थक भी है। वेदपाठी महर्षियों का यही 'ओम्' जैसे शुक्राचार्य-कथन का अनुमोदन भी बन गया। यही स्थिति गन्धर्वों के गान में 'प्रयुक्त 'हुम्' उच्चारण की भी हुई। 'हुम्' का उच्चारण 'ओम्' की भाँति भी होता है और यह संगीतोपयोगिता के निमित्त अवांतरवर्णों का प्रयोग भी है, जिसे 'स्तोम' कहा जाता है—कालक्षेपमात्र के लिए प्रयुक्त शब्दराशि—'प्रकृतार्थान्वितं कालक्षेपमात्रहेतुं शब्दराशिम्'—(सामश्रमीकृत सामभाष्य की भूमिका)। सायण के अनुसार—'अधिकत्वे सति ऋग्विलक्षण-वर्णस्तोमः।' छान्दोग्य में हाउ, हाइ, अय, इह, ई, ऊ, ए, ओहार, हिम्, हुम् आदि स्तोमाक्षर बताये गये हैं। गंधर्वगान के मध्य का यह 'हुम्' शुक्रानु-मोदन भी जैसे बन गया। मल्लिनाथ के अनुसार यह उत्प्रेक्षा है, विद्याधर ने यहाँ अनुप्रास-अपह्नुति-दीपक अलंकार का निर्देश किया है॥ ६६॥

न्यवीविशत्तानथ राजसिंहान् सिंहासनौघेषु विदर्भराजः।
शृङ्गेषु यत्र त्रिदशैरिवैभिरशोभि कार्त्तस्वरभूधरस्य॥ ६७॥

जीवातु—न्यवीविशदिति। अथ विदर्भराजः भीमः, तान् राज्ञः सिंहानिव राजसिंहान् राजश्रेष्ठान्, सिंहासनौघेषु न्यवीविशत् उपवेशयामास, विशेणौ चङ् यत्र येषु सिंहासनेषु, एभिः राजसिंहैः, कार्त्तस्वरभूधरस्य हेमाद्रेः सुमेरोः, शृङ्गेषु त्रिदशैः देवैरिव, अशोभि शोभितम्। भावे लुङ्॥ ६७॥

अन्वयः—अथ विदर्भराजः तान् राजसिंहान् सिंहासनौघेषु न्यवीविशत् यत्र एभिः कार्त्तस्वरभूधरस्य शृङ्गेषु त्रिदिशैः इव अशोभि।

हिन्दी—तत्पश्चात् विदर्भनरेश (भीम) ने उन राजसिंहों (सिंहसम बलीतेजस्वी राजकुमारों) को सिंहासनों पर बैठाया, जहाँ वे (राजतरुण) स्वर्णगिरि (सुमेरु) के शिखरों पर देवों के सदृश सुशोभित हुए।

टिप्पणी—विदर्भनरेश ने उन सब को आसनों पर बैठाया—'ऊँचे स्वर्ण-सिंहासनों पर, जिनकी तुलना सुमेरुशिखरों से की गयी है। ऊपर बैठे वे राज-तरुण देवों के तुल्य शोभित हो रहे थे। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और उपमा अलंकार॥ ६७॥

विचिन्त्य नानाभुवनागतांस्तानमर्त्यसङ्कीर्त्यचरित्रगोत्रान्।
कथ्याः कथङ्कारममी सुतायामिति व्यषादि क्षितिपेन तेन॥ ६८॥

जीवातु—विचिन्त्येति। तेन क्षितिपेन भीमेन, नानाभुवनेभ्यः नानाप्रदेशेभ्यः, आगतान् तान् यूनः, मर्त्यैः सङ्कीर्त्यानि कीर्त्तयितुं शक्यानि, चरित्राणि गोत्राणि कुलानि नामानि च येषां ते न भवन्तीति तथोक्ताः तान् तथाविधान् विचिन्त्य अमी युवानः, सुतायां विषये, कथङ्कारं केन प्रकारेण, 'अन्यथैवं कथम्' इत्यादिना णमुल् कथ्याः कथनीयाः, इति हेतोः, व्यषादि विषण्णेन अभावि, भावे लुङ्। 'प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि'—'सदिरप्रते' इति षत्वम्, एतेषां चरित्रगोत्रादीनि नरलोकैर्वर्णयितुमशक्यत्वात् दमयन्ती कथं ज्ञास्यतीति विषण्णो बभूवेति भावः॥ ६८॥

अन्वयः—तेन क्षितिपेन नानाभुवनागतान् तान् अमर्त्यसङ्कीर्त्यचरित्र-गोत्रान् विचिन्त्य अमी सुतायां कथङ्कारं कथ्याः—इति व्यषादि।

हिन्दी—वह राजा (भीम) यह विचार कर कि अनेक (स्वर्गपातालादि) भुवनों से आये इन (तरुणों) के चरित्र और गोत्र आदि के विषय में मर्त्यलोक

का प्राणी तो बता नहीं सकता, किस प्रकार बेटी (दमयन्ती) को इनका परिचय दिया जाय—सोच में पड़ गया।

टिप्पणी—इतने स्वयंवरार्थी विभिन्न लोकों से आये थे कि उनके कुल, शील, स्वभाव आदि का परिचय देना किसी मनुष्य के लिए संभव नहीं था। और यह आवश्यक था, क्योंकि दमयन्ती बिना भलीभाँति समझे-पहिचाने कैसे किसी का वरण करती? उसे तो पूर्ण परिचय बताना चाहिए। राजा इसी चिन्ता में पड़ गया कि यह कैसे संभव हो? कैसे दमयन्ती इनका कुल-शीलादि जानेगी? विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और हेतु ॥ ६८ ॥

श्रद्धालुसंकल्पितकल्पनायां कल्पद्रुमस्याथ रथाङ्गपाणेः।
तदाऽऽकुलोऽसौ कुलदैवतस्य स्मृतिं ततान क्षणमेकतानः ॥ ६९ ॥

जीवातु—श्रद्धालिवति। अथ विषादानन्तरम्, आकुलः असौ भीमः, तदा श्रद्धालूनां भक्तानां 'स्पृहिगृहि—' इत्यादिना आलुच्प्रत्ययः, सङ्कल्पितकल्पनायाम् ईप्सितार्थसम्पादने, कल्पद्रुमस्य इच्छापूरकस्य, कुलदैवतस्य वंश-परम्परोपासितस्य, रथाङ्गपाणेः नारायणस्य स्मृतिं स्मरणं, क्षणं व्याप्य एकतानः अनन्यवृत्तिः सन्, ततान, 'एकतानोऽनन्यवृत्तिः' इत्यमरः ॥ ६९ ॥

अन्वयः—अथ आकुलः असौ तदा श्रद्धालुसंकल्पितकल्पनायां कल्पद्रुमस्य कुलदैवतस्य रथाङ्गपाणेः स्मृतिं क्षणम् एकतानः ततान।

हिन्दी—तत्पश्चात् व्याकुल उस (भीमराज) ने उस समय श्रद्धालु भक्त की संकल्पित वस्तु की सिद्धि में कल्पवृक्ष, कुलदेव चक्रपाणि (विष्णु) का स्मरण क्षण भर को अनन्यवृत्ति हो किया।

टिप्पणी—चिन्ता में पड़े भीम ने अपनी इच्छापूर्त्ति के लिए अपने कुलदेव, भक्तों का अभीष्ट सिद्ध करने वाले विष्णु का एकाग्रमन हो स्मरण किया कि वे कुलदेव ही इस समस्या का समाधान कर सकेंगे। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और उपमा ॥ ६९ ॥

तच्चिन्तनानन्तरमेव देवः सरस्वतीं सस्मितमाह स स्म।
स्वयंवरे राजकगोत्रवृत्त-वक्त्रीमिह त्वां करवाणि वाणि! ॥ ७० ॥

जीवातु—तदिति। तस्य भीमस्य, चिन्तनानन्तरं स्मरणानन्तरमेव, स देवो हरिः, सरस्वतीं सस्मितमाह स्म। 'लट् स्मे' इति भूते लट्, किमिति?

हे वाणि ! इह स्वयंवरे त्वां राज्ञां समूहो राजकं, 'गोत्रोक्ष---'इत्यादिना वुञ् तस्य गोत्राणां नाम्नां कुलानां, वृत्तानां चरित्राणाञ्च, वक्त्रीम् आख्यात्रीं, करवाणि, प्रैषार्थे लोट्' अहमिति शेषः ॥ ७० ॥

अन्वयः—तच्चिन्तनानन्तरम् एव सः सरस्वतीं सस्मितम् आह स्म वाणि, इह स्वयंवरे त्वां राजकगोत्रवृत्तवक्त्रीं करवाणि।

हिन्दी---उस (राजा) के ध्यान करने के अनन्तर ही उन्होंने (विष्णु ने) सरस्वती से मंदस्मित के साथ कहा---हे वाणि यहाँ स्वयंवर में तुम्हें (सरस्वती को) राजकुमारों के कुलगोत्रादि के वृत्तान्त की आख्यात्री बनाता हूँ।

टिप्पणी—भक्त की इच्छा पूर्ति के निमित्त विदर्भराज के कुलदेव ने राजकुमारों के कुलगोत्रादि का परिचय देने के लिए भगवती सरस्वती की नियुक्ति की। वे तो सभी कुछ जानती हैं। उनसे बढ़कर वक्त्री और हो ही नहीं सकती थी ॥ ७० ॥

कुलञ्च शीलञ्च बलञ्च राज्ञां जानासि नानाभुवनागतानाम् ।
एषामतस्त्वं भव वावदूका मूकायितुं कः समयस्तवायम् ? ॥ ७१ ॥

जीवातु---कुलमिति। हे वाणि ! नानाभुवनागतानां राज्ञां कुलञ्च शीलञ्च बलञ्च जानसि अतः कारणात्, त्वम् एषां वावदूका वक्त्री, वंश-वीर्यादि गुणतो वर्णयित्रीत्यर्थः, भव, 'वावदूकोऽतिवक्तरि' इत्यमरः। वावदूक इत्यस्य यङ्लुगन्तात् वदेः 'उलूकादयश्च' इत्यनेन औणादिक ऊक-प्रत्ययः, कुर्वादिगणे वावदूकशब्दपाठात् ऊकप्रत्यय इति माधवः तथा हि, तव मूकायितुं मूकवदाचरितुं, तूष्णीं स्थातुमित्यर्थः, मूकशब्दादाचारार्थे क्यजन्तात् 'कालसमयवेलासु तुमुन्' अयं कः समयः ? को वाऽवसरः ? अपि तु न कोऽपि इत्यर्थः। वाग्मिनाम् अवसरे तूष्णीम्भावो न युक्त इत्यर्थान्तरन्यासः ॥ ७१ ॥

अन्वयः—त्वं नानाभुवनागतानां राज्ञां कुलं च शीलं च बलं च जानासि; अतः एषां वावदूका भव; तव मूकायितुम् अयं कः समयः ?

हिन्दी—(श्री विष्णु ने सरस्वती से कहा)—तुम नाना लोकों से समागत राजाओं के वंश, शील-स्वभाव और बल को जानती हो, अतः इनकी प्रवक्त्री बनो तुम्हारे गूँगे-जैसा आचरण करने का यह क्या समय है ? (अर्थात् मूक रहने का समय नहीं है)।

टिप्पणी—विष्णु भगवान् ने उचित अवसर का संकेत देते हुए सरस्वती को आदेश दिया कि वह इन राजाओं का समग्र परिचय बनाये। जब बोलने का अवसर हो तब चुप रहना वाग्मियों के लिए उचित नहीं होता; अतः वाणी को अपनी वाग्मिता का उपयोग करना ही उचित है। मल्लिनाथ के अनुसार अर्थान्तरन्यास, विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और काव्यलिंग ।७१।

जगत्त्रयीपण्डितमण्डितैषा सभा न भूता न च भाविनी वा।
राज्ञां गुणज्ञापनकैतवेन सङ्ख्यावतः श्रावय वाङ्मुखानि ॥ ७२ ॥

जीवातु—वागवसरत्वमेवाह—जगदिति। हे वाणि! जगत्त्रय्यां ये पण्डिता वाचस्पत्यादयः, तैः अशेषैः मण्डिता एषा सभा न भूता न च भाविनी वा, अतो राज्ञां गुणज्ञापनकैतवेन गुणप्रकाशनच्छलेन संख्यावतः पण्डितान्, वाङ्मुखानि उपन्यासान्, 'संख्यावान् पण्डितः कविः' इति, 'उपन्यासस्तु वाङ्मुखम्' इति चामरः। श्रावय; पण्डितमण्डलीविलसिते विदुषां वाग्विजृम्भणम् उचितं, तत्रापि तूष्णीम्भावे वाग्विफलत्वमयोग्यता च स्यादिति भावः ॥७२॥

अन्वयः—एषा जगत् त्रयीपण्डितमण्डिता सभा न भूता न च वा भाविनी; राज्ञां गुणज्ञापनकैतवेन सङ्ख्यावतः वाङ्मुखानि श्रावय।

हिन्दी—यह तीनों लोकों के पंडितों से सुशोभित सभा न (पहिले) हुई और न होने वाली है; (अतः) राजाओं के गुणों की जानकारी देने के व्याज से पंडितों को अपना उपन्यास (विशिष्ट कथन) सुनाओ।

टिप्पणी—वाग्मी को उपयुक्त अवसर पर अपनी वाणी का कौशल दिखाना ही चाहिए। सरस्वती को यह अवसर मिला है कि अपनी वाणी का विशिष्ट कौशल अकस्मात् एकत्र इन पंडितों के संमुख प्रदर्शित करे। ऐसी सभा न हुई, न आगे संभावित ही है। इस समय चुप रह जाना उचित न होगा। वस्तुतः सरस्वती को राजाओं का परिचय देना तो गौण है, वाणी कौशल दिखाना प्रमुख है। विद्वानों के संमुख युक्तिपूर्ण वाक्य-कथन उचित ही है। 'उपपत्तिकृतो योऽर्थ उपन्यासश्च सः स्मृतः।' (नाट्यशास्त्र १९।८१)। 'उपपत्तिरुपन्यासः।' (नाट्यदर्पण १।५०)। 'उपन्यासस्तु सोपायम्।' (दशरूप १।३५)। 'अनुरागहेतुवाक्यरचनोपन्यासः।' (प्रतापरुद्रयशोभूषण—१२)। 'उपन्यासः प्रसादनम्।' (साहित्यदर्पण—६।९२) विद्याधर के अनुसार हेतु और अपह्नुति अलंकार ॥ ७२ ॥

इतीरिता तच्चरणात् परागं गीर्वाणचूडामणिमृष्टशेषम् ।
तस्य प्रसादेन सहाज्ञयाऽसावादाय मूर्द्ध्नाऽऽदरिणी बभार ।। ७३ ।।

जीवातु—इतीति । इति इत्थम्, ईरिता विष्णुना आज्ञप्ता, असौ वाणी, तस्य हरेः नारायणस्य, चरणात् गीर्वाणानां देवानां, चूडामणिभिः शिरोरत्नैः, मृष्टस्य प्रोञ्छितस्य, शेषम् अवशिष्टं, परागं रेणुं, तस्य आज्ञया आज्ञारूपेण, प्रसादेन अनुग्रहेण, सह आदाय मूर्द्ध्ना आदरिणी आदरवती सती, बभार ।।

अन्वयः—इति ईरिता असौ तच्चरणात् गीर्वाणचूडामणिमृष्टशेषं परागं तस्य आज्ञया सह प्रसादेन आदाय मूर्ध्ना आदरिणी बभार ।

हिन्दी—(विष्णु द्वारा) इस प्रकार उक्त उस (सरस्वती) ने उन (विष्णु) के चरण से देवों की चूडामणियों से प्रोञ्छित (पुछे) होने से बची रेणु को उन (विष्णु) की आज्ञा के साथ प्रसाद रूप में (अथवा आज्ञा रूप प्रसाद) लेकर सादर शिरोधार्य किया ।

टिप्पणी—तात्पर्य यह कि सरस्वती ने विष्णु की देववन्दित रेणु को चरणों से लेकर अपने माथे पर लगाया और उनका आदेश-पालन करने को उद्यत हो गयीं । विष्णु के पद-पद्म-पराग को प्रसाद रूप में लिया और उनका आदेश सिर-माथे चढ़ाया । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और सहोक्ति अलंकार ।। ७३ ।।

मध्येसभं साऽवततार बाला गन्धर्वविद्यामयकण्ठनाला ।
त्रयीमयीभूतवलीविभङ्गा साहित्यनिर्वर्तितदृक्तरङ्गा ।। ७४ ।।

जीवातु—मध्येसभमिति । सा वाणी, मध्ये सभायाः मध्येसभं 'पारेमध्ये षष्ठ्या वा' इत्यव्ययीभावः, अवततार । कीदृशी ? बाला बलस्त्रीरूपधारिणी, गन्धर्वविद्या गानविद्या, तन्मयस्तद्विकारः, कण्ठनालः यस्याः सा, त्रयीमयीभूताः त्रिधाभूताः, अन्यत्र—वेदविकारीभूताः, वलीविभङ्गाः त्रिवलीसर्वस्वानि यस्याः सा, साहित्येन कवित्वेन, निर्वर्त्तिता निष्पादिताः, दृशः दृष्टयः, तरङ्गा इव यस्याः सा ।। ७४ ।।

अन्वयः—गन्धर्वविद्यामय-(विद्याधर)-कण्ठनाला त्रयीमयीभूतवलीविभङ्गा साहित्यनिर्वर्त्तितदृक्तरङ्गा सा बाला मध्येसभम् अवततार ।

हिन्दी—गन्धर्व विद्या (गान) से परिपूर्ण कण्ठनालवती, त्रिवेदरूप त्रिवली भंगोंवाली और साहित्य से (अथवा श्वेत-श्याम-रतनार रंगों के संमेलन से) निर्मित दृष्टितरंगों (कटाक्षों) से युक्त वह (सरस्वती) बाला रूप में सभा के मध्य अवतरित हुई।

टिप्पणी—सरस्वती एक बाला के रूप में सभामध्य प्रकट हुई। वे गान विद्या में प्रवीण थीं, ऐसा लगता है कि उनका कण्ठनाल ही गांधर्व विद्या का धारण करता था, तीनों वेद उनकी त्रिवलियों के रूप में थे और शुभ, नील और रक्त वेणी-संमेलन रूप काव्य-नाटक-चंपू प्रभृति साहित्य से युक्त उनके कटाक्ष थे। भाव यह कि वह वाणी-बाला संगीतप्रवीणा, वेदत्रयी की पण्डित और साहित्य निष्णात थी। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार। (७४–८८) श्लोकों में सरस्वती का वर्णन है ॥ ७४ ॥

आसीदथर्वा त्रिवलित्रिवेदी-मूलात् विनिर्गत्य वितायमाना।
नानाभिचारोचितमेचकश्रीः श्रुतिर्यदीयोदररोमरेखा ॥ ७५ ॥

जीवातु—अथ चतुर्दशश्लोक्या वाग्देवीमेव वर्णयति, आसीदिति। अथर्वा श्रुतिः अथर्ववेदः, तिस्रो वलयः त्रिवलिः; त्रिवलिप्रसिद्धिः संज्ञा चेदिति वामनः, तद्रूपा त्रिवेदी, सैव मूलं तस्मात् विनिर्गत्य वितायमाना वितन्यमाना, तनोतेरनुनासिकस्य विकल्पादात्वम्, अथर्वणस्तु त्रय्युद्धार इति प्रसिद्धिः। नानाविधानाम् अभिचाराणां हिंसाकर्मणाम्, उचिता पापातिशयात् युक्ता, मेचकश्रीः कृष्णकान्तिर्यस्याः सा, अन्यत्र—अनाभिचारो न भवतीति नानाभिचारः नाभिसञ्चरणमित्यर्थः, तस्य उचिता सा च सा मेचका श्रीर्यस्याः सा तथोक्ता, यदीया यस्याः सरस्वत्याः सम्बन्धिनी, उदरे रोमरेखा रोमराजिः, आसीत् ॥ ७५ ॥

अन्वयः—अथर्वा त्रिवलित्रिवेदीमूलात् विनिर्गत्य वितायमाना नानाभिचारोचितमेचकश्रीः यदीया उदररोमरेखा आसीत्।

हिन्दी—अथर्ववेद (चतुर्थवेद) त्रिवलीरूप त्रिवेदी के मूल से प्रादुर्भूत हो विस्तारपाती, नानाविध अभिचारों (मारण-उच्चाटन आदि) से युक्त श्यामल (नाभि तक संचरण करती—प्रविष्ट होती) जिस (सरस्वती) के उदर की रोमपंक्ति था।

टिप्पणी—अथर्ववेद को ऋक्-यजुः-साम-विनिर्गत माना जाता है। पूर्व-श्लोक में सरस्वती को 'त्रयीमयीभूतवली विमङ्गा' (त्रिवेदीरूप त्रिवली-शालिनी) कहा गया। यहाँ चतुर्थ श्रुति अथर्व को उस त्रिवली से उद्गत उदररोमरेखा कहा गया है, जो दर्शकों पर अभिचार करती थी। मारण-उच्चाटनादि का भयादोहक होने के कारण श्यामल रोमपंक्ति के समान कहा जाना उचित ही है। अथर्ववेद में अभिचार के अनेक प्रकरण हैं। दर्शनीय अथर्व ३।८।६, ६।१०।९४, २।३१।१, ६।६४।१, ७।५९।१, ७।७०।१–५, ७।६६।१ आदि। त्रिवली से उदित श्यामल उदररोममरेखा रागजनक भी है, यह रागजनकता भी अथर्व की एक विशेषता है। इसकी उत्पत्ति अथर्व से ही मानी गयी है—'रसानाथर्वणात्।' (ना० शा० १।१७) विद्याधर के अनुसार रूपक-श्लेष अलंकार ॥ ७५ ॥

शिक्षैव साक्षाच्चरितं यदीयं कल्पश्रियाऽऽकल्पविधिर्यदीयः।
यस्याः समस्तार्थनिरुक्तिरूपैर्निरुक्तविद्या खलु पर्यणंसीत् ॥ ७६ ॥

जीवातु—शिक्षेति। शिक्षा तदाख्यग्रन्थ एव, साक्षात् स्वयमेव, यदीयं चरितम् अभूत्, परोपदेशरूपत्वादिति भावः। यदीय आकल्पविधिः प्रसाधन-विधिः, कल्पश्रिया कर्मकाण्डभूतया कल्पसूत्रलक्ष्म्या, निवृत्ति इति शेषः। निरुक्तविद्या खलु एव यस्याः समस्तार्थानां, निरुक्तिरूपैः निर्वचनभङ्गिभिः, पर्यणंसीत् तद्रूपेण आसीदित्यर्थः। णमेर्लुङ् 'अस्तिसिचोऽऽपृक्ते'—इतीडागमः, 'यमरमनमातां सक् च' इति सक् इडागमश्च 'इट ईटि' इति सिचो लोपः, 'उपसर्गादसमासेऽपि' णोपदेशस्य इति णत्वम् ॥ ७६ ॥

अन्वयः—शिक्षा यदीयं साक्षात् चरितम् एव, कल्पश्रिया यदीयः आकल्प-विधिः, निरुक्तविद्या खलु यस्याः समस्तार्थनिरुक्तिरूपैः पर्यणंसीत्।

हिन्दी—'शिक्षा' जिसका प्रत्यक्ष चरित ही था, कल्पसूत्रों की श्री से जिसका शृंगार हुआ था और निरुक्तशास्त्र निश्चयतः जिसके समग्र अर्थ-निरूपणरूपों से परिणत हुआ था।

टिप्पणी—शिक्षा—छः वेदांगों में से एक सरस्वती का आचरण रूप शिक्षा (सीख) थी। अर्थात् वाणी का सदाचरण वेदांग शिक्षा के रूप में था;

कल्पसूत्र—वैदिक कर्मकाण्डपरक ग्रन्थ सरस्वती के शृंगार रूप थे और सरस्वती जिस प्रकार समग्रवेदादिवाङ्मय के निरूपण में रहती थीं,—निरुक्त—वेदार्थं निष्पादक निर्वचनग्रन्थ, जिसके रचयिता यास्कमुनि माने जाते हैं,—उन्हीं उक्तियों से परिणमित हुए थे। भाव यह की सरस्वती आचरण ही 'शिक्षा' थी, उनका शृंगार 'कल्पसूत्र' था और उनका अर्थप्रतिपादन 'निरुक्त' बन गया था। वेदवेदांगादि का सरस्वती से ही सीधा संबंध था। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ७६ ॥

जात्या च वृत्तेन च भिद्यमानं छन्दो भुजद्वन्द्वमभूत् यदीयम्।
श्लोकार्द्धविश्रान्तिमयीभविष्णु पर्वद्वयीसन्धिसुचिह्नमध्यम् ॥ ७७ ॥

जीवातु—जात्येति। जातया मात्रावृत्तरूपेण आर्य्यादिना च वृत्तेन वर्ण-वृत्तरूपेण अक्षरसांख्यातेन उक्थादिना च, विद्यमानं द्विधाभूतं, तथा श्लोकार्द्धे विश्रान्तिमयीभविष्णु विश्रान्तिरूपतामापन्नं छन्दः छन्दोग्रन्थः, यदीयं पर्वणोः कूर्परपूर्वोत्तरभागयोः, द्वयी तस्याः सन्धिः तेन सुचिह्नं सुव्यक्तं, मध्यं कर्पूर-स्थानं यस्य तादृशं, भुजद्वन्द्वम् अभूत द्विविधं छन्दो भुजयुगत्वेन श्लोकार्द्धं-विश्रान्तिः कर्पूरत्वेन पर्यणंसीदित्यर्थः ॥ ७७ ॥

अन्वयः—जात्या वृत्तेन च भिद्यमानं श्लोकार्द्धविश्रान्तिमयीभविष्णु च छन्दः यदीयं पर्वद्वयीसन्धिसुचिह्नमध्यं भुजद्वन्द्वम् अभूत्।

हिन्दी—जाति (मात्रात्मक आर्यादि छन्द) और वृत्त (वर्णात्मक इन्द्र-वज्रादि छन्द) के आधार से भिन्न (द्विधाभूत, दो भागों में विभक्त) और श्लोक के अर्द्धांश पर विश्राम युक्त होता छन्द जिस (सरस्वती) का पूर्व और उत्तर—दो पर्वों की संधियों के चिह्न से युक्त मध्य वाला बाहुयुगल था।

टिप्पणी—इस श्लोक में जाति (मात्राएमक) और वृत्त (वर्णात्मक) रूप में जो द्विधा छन्द हैं, उन्हें सरस्वती का बाहुयुगल कहा गया है। छन्दों के अर्धभाग में जो विश्राम (पूर्ण विराम) होता है, वही दोनों भुजाओं की कुहनियों की संधि (जोड़) हैं। इस प्रकार मात्रात्मक और वर्णात्मक—दो रूपों में द्विधाभूत छन्दःशास्त्र वाणी की दो भुजाएँ हैं, श्लोकार्ध के विराम जिन भुजाओं कुहनियों के जोड़ हैं। भुजपर्वद्वयी संधि श्लोकार्ध के विराम हैं। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ७७ ॥

असंशयं सा गुणदीर्घभाव-कृतां दधाना विततिं यदीया।
विधायिका शब्दपरम्पराणां किञ्चारचि व्याकरणेन काञ्ची ॥ ७८ ॥

जीवातु—असंशयमिति। किञ्च गुणस्य पट्टसूत्रस्य, दीर्घभावेन दैर्घ्येण, कृतां विततिं विस्तारं, दधाना अन्यत्र—गुणश्च दीर्घश्च भावप्रत्ययश्च कृत्प्रत्ययश्च तेषां विततिं दधानेनेति विभक्तिविपरिणामः; शब्दपरम्पराणां शिञ्जित-परम्पराणां, विधायिका जनयित्री, अन्यत्र—सुप्तिङन्तशब्दपरम्पराणां विधायकेन साधकेनेति विभक्तिविपरिणामः; सा प्रसिद्धा, यदीया काञ्ची व्याकरणेन अरचि रचिता, असंशयं संशयाभाव इत्यर्थः, 'अव्ययं विभक्ति—' इत्यादिना अर्थाभावेऽव्ययीभावः ॥ ७८ ॥

अन्वयः—किं च गुणदीर्घभावकृतां विततिं दधाना शब्दपरम्पराणां विधायिका मदीया सा काञ्ची असंशयं व्याकरणेन अरचि।

हिन्दी—और गुण अर्थात् पट्टसूत्र की लम्बाई से संपन्न विस्तार को धारती, रुनझुन ध्वनि करती जिस (वाणी) की वह मेखला (करधनी) गुण और दीर्घ तथा भाव प्रत्यय और कृत्प्रत्यय के विस्तार को धारती, शब्द-समूह की साधिका होती निःसंशय व्याकरण से रचित है।

टिप्पणी—सरस्वती की मेखला की संरचना व्याकरणशास्त्र से हुई बतायी गयी है। साम्य का आधार है 'गुणदीर्घभावकृता वितति'—युक्त होना और 'शब्दपरम्परा-विधायिका' होना। ये दोनों अनेकार्थ हैं। काञ्ची-पक्ष में 'गुणदीर्घभावकृता वितति' है पट्टसूत्र की लम्बाई का विस्तार और व्याकरण पक्ष में है यह गुण—ह्रस्व अकार, ए तथा ओ (अदेङ् गुणः, अष्टा० १।१।२), जिनका आदेश 'आद्गुणः' (अष्टा० ६।१।८७) नियम से होता है; और दीर्घ हैं—दीर्घ अक्षर आकार, ईकारादि। भाव है—भावे प्रत्यय जिसका विधान होता है 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' (अष्टा० ३।४।६९) द्वारा इसमें धातु आत्मनेपद हो जाती है और कर्त्ता तृतीयांत हो जाता है, जैसे—पच्यते ओदनेन, भिद्यते काष्ठेन। 'कृता' है—कृत् प्रत्यय, जिसके द्वारा धातु से निष्पन्न प्रातिपदिक—विशेषण संज्ञा और अव्यय शब्द होते हैं। कृत् प्रत्यय तिङ्भिन्न होते हैं—'कृदतिङ्' (अष्टा० ३।१।९३)। ऐसे ही काञ्चीपक्ष में 'शब्द' है रुनझुन आदि, जिनकी विधायिका काञ्ची है; और व्याकरण पक्ष में

'शब्द-परम्परा' है पदों की—सुबंत और तिङन्त (सुप्तिङन्तं पदम्, (१।४।१४) की। सुबन्त शब्द हैं—राम, कृष्ण आदि और तिङन्त हैं क्रियाशब्द—करोति, भाति। जिस प्रकार व्याकरण में गुण, दीर्घ द्वारा उपेन्द्र, हिमालय, आदि, भावप्रत्यय से पच्यते आदि, कृत् से नन्दन, पवन, कर्तव्य, ज्ञेय आदि आदि शब्दों का विधान होता है, वैसे ही काञ्ची भी पट्टसूत्र की दीर्घता से विततिप्राप्त है, और उससे रुनझुन शब्दों का विधान होता है। इसी आधार पर व्याकरण-प्रक्रिया को सरस्वती की काञ्ची कहा गया है। व्याकरण जैसे शब्द सिद्ध करता है, वैसे ही कांची भी। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥७८॥

स्थितैव कण्ठे परिणम्य हार-लता बभूवोदिततारवृत्ता।
ज्योतिर्मयी यद्भजनाय विद्या मध्येऽङ्कमंकेन भृत्ता विशंके ॥ ७९ ॥

जीवातु—स्थितेति। कण्ठे वाचि, अन्यत्र—ग्रीवायां परिणम्य रूपान्तरं प्राप्य, स्थिता, उदिता उक्ताः, तारा अश्विन्यादयो येषु तानि, वृत्तानि पद्यानि यस्यां सा, अन्यत्र—उदिततारा प्रकाशितशुद्धमौक्तिका, सा च सा वृत्ता च वर्त्तुला च तथोक्ता, 'तारो मुक्तादिसंशुद्धौ तरणे शुद्धमौक्तिके'—'वृत्तं पद्ये चरित्रे त्रिष्वतीते दृढनिस्तले' इति च विश्वामरौ, अङ्गनां शिक्षा-कल्पादीनाम्, अन्यत्र—करादीनां मध्ये मध्येऽङ्गं, 'परि मध्ये' इत्यादिनाऽव्ययीभावः, अङ्केन एकद्व्यादिसंख्यया चिह्नेन, भृता पूर्णा, अन्यत्र—अङ्केन क्रोडेन, वक्षसा इत्यर्थः, भृता धृता, भरतेर्बिभर्तेश्च कर्मणि क्तः 'अङ्कः क्रोडेऽन्तिके चिह्ने' इति वैजयन्ती। ज्योतिर्मयी नक्षत्रप्रधाना, अन्यत्र-भास्वती, 'ज्योतिरग्नौ दिवाकरे। पुमान् नपुंसकं दृष्टौ स्यान्नक्षत्रप्रकाशयोः' इति मेदिनी, विद्या ज्योतिर्विद्यैव, यद्भजनाय यस्याः सरस्वत्याः सेवनाय, हारलता बभूव इति विशङ्के इत्युत्प्रेक्षा ॥ ७९ ॥

अन्वयः—उदिततारवृत्ता मध्येऽङ्गम् अङ्केन भृत्ता ज्योतिर्मयी विद्या एव परिणम्य विशङ्के यत्भजनाय कण्ठे स्थिता हारलता बभूव।

हिन्दी—अश्विनी-भरणी आदि तारकों के उदय के आधार पर शुभाशुभ फल की सूचिका, एक-दो-तीन अङ्कों को मध्य में धारण करती अर्थात् अंक-प्रधाना अथवा शिक्षा-कल्पादि छः वेदांगों में गिनी गयी, ज्योतिरूप ग्रह-नक्षत्रादिप्रधाना विद्या (ज्योतिष् विद्या) ही रूपान्तर को प्राप्त हो मानो

जिस (सरस्वती) की सेवा के निमित्त वाणी में स्थित शुद्ध मोतियों की आभा से युक्त, मध्यांग में मध्यमणि से युक्त अथवा शरीरमध्य में वक्ष पर आधृत, ज्योतिर्मयी अर्थात् दीप्तिवती ग्रीवा में पहिनी जाती हारलता हो गयी है।

टिप्पणी—सरस्वती के गले की मुक्तामाला को अनेकार्थवाची शब्दों का आश्रय ले ज्योतिष् विद्या के समान संभावित किया गया है। ज्योतिर्विद्या ही मानो सरस्वती के कंठ की मुक्तामाला बन गयी है। विद्याधर-मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षालंकार ॥ ७९ ॥

अवैमि वादिप्रतिवादिगाढ-स्वपक्षरागेण विराजमाने।
तौ पूर्वपक्षोत्तरपक्षशास्त्रे रदच्छदौ भूतवतौ यदीयौ ॥ ८० ॥

जीवातु—अवैमीति। वादिप्रतिवादिनोः गाढेन निविडेन, स्वपक्षे रागेण अभिनिवेशेन, अन्यत्र—अन्तःपार्श्वरक्तत्वेन, विराजमाने पूर्वपक्षोत्तरपक्षशास्त्रे यदीयौ तौ प्रसिद्धौ, रदच्छदौ ओष्ठौ, भूतवतौ बभूवतुः, भवतेः क्तवतुप्रत्ययः, अवैमि उत्प्रेक्षे। अत्र ओष्ठावपि वादिनावभिवन्दनव्यापारवन्तौ पूर्वोत्तरीभूतौ चेति द्रष्टव्यम् ॥ ८० ॥

अन्वयः—वादिप्रतिवादिगाढस्वपक्षरागेण विराजमाने पूर्वपक्षोत्तरपक्ष-शास्त्रे यदीयौ तौ रक्तच्छदौ भूतवतौ अवैमि।

हिन्दी—वादी और प्रतिवादी के दृढ स्वपक्ष के राग (आग्रह) से युक्त पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष-दोनों शास्त्र वादीप्रतिवादी (उत्तर-प्रत्युत्तर) के दृढ़ अनुराग से युक्त जिस (सरस्वती) के वे लाल ओष्ठाधर बन गये हैं—ऐसा समझता हूँ।

टिप्पणी—पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष—वाद और प्रति वाद—शास्त्रयुगल को सरस्वती के लाल-लाल ओष्ठाधर कहा गया है। वाद करने वाला और प्रतिवाद करने वाला—दोनों को जिस प्रकार अपने पक्ष के प्रति दृढ़ आग्रह होता है, ऐसे ही बोलने पर गहरे लाल हो जाने वाले ओष्ठाधर हैं। एक ओठ पूर्वपक्ष शास्त्र है, दूसरा अधर प्रतिवाद शास्त्र हैं। भाव यह है कि दोनों ओष्ठाधर उक्ति-प्रत्युक्तिनिपुण और लाल हैं। उक्ति-प्रत्युक्ति ही जैसे ओष्ठाधर हैं। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ८० ॥

ब्रह्मार्थकर्मार्थकवेदभेदात् द्विधा विधाय स्थितयाऽऽत्मदेहम् ।
चक्रे पराच्छादनचारु यस्या मीमांसया मांसलमूरुयुग्मम् ॥ ८१ ॥

जीवातु--ब्रह्मेति । पराच्छादनचारु उत्कृष्टवसनाभिरामं, मांसमस्या-
तीति मांसलं पीवरं, सिध्मादित्वात् लच्, यस्याः सरस्वत्याः, ऊरुयुग्मं परेषां
तिवादिनाम्, आच्छादनेन तिरस्करणेन चारु शोभनम्, आत्मदेहं स्वस्वरूपं
ाविति विशेषणान्नपुंसकं ग्राह्यम् 'कायो देहः क्लीबपुंसोः' इत्यमरः ब्रह्मैवार्थः
तिपाद्यार्थो यस्य सः, कर्मैवार्थः प्रतिपाद्यार्थो यस्य सः 'शेषाद्विभाषा' इति
ऽपि भावप्रधानो निर्देशः' ताभ्यां ब्रह्मकाण्डकर्मकाण्डाभ्यां यो वेदस्य भेदः
विध्यं तस्माद्धेतोः द्विधा विधाय पूर्वोत्तरमीमांसारूपेण द्विविधं कृत्वा,
स्थतया प्रतिष्ठितया, मीमांसया द्वैविध्यया चक्रे कृतमिति गम्योत्प्रेक्षा ॥८१॥

अन्वयः—पराच्छादनचारु मांसलं यस्याः ऊरुयुग्मं ब्रह्मार्थकर्मार्थक-
ेदभेदात् आत्मदेहं द्विधा विधाय स्थितया मीमांसया चक्रे ।

हिन्दी—उत्कृष्ट वस्त्रों से ढका, सुन्दर, मांसल (पुष्ट) जिस (सरस्वती)
का ऊरुयुगल 'पर' अर्थात् वैशेषिक, बौद्धादि मतवादों के आच्छादन अर्थात्
खंडन करने से उत्तम बना, विचारपरिपुष्ट, ब्रह्मप्रतिवादक (ब्रह्मकाण्ड)
और कर्मप्रतिपादक (कर्मकाण्ड) वेद के विभाजन से दो प्रकार का (पूर्व-
मीमांसा उत्तरमीमांसा) बनकर स्थित मीमांसाशास्त्र से रचित है ।

टिप्पणी—सरस्वती के सुन्दर परिधान से आच्छादित, पुष्ट, रमणीय
ऊरुयुगल को मीमांसाशास्त्र से रचित कहा गया है । मीमांसा और ऊरुयुग्म
के साम्य का आधार 'पराच्छादनचारु' और 'मांसल' शब्दों की अनेकार्थकता
है । मीमांसा भी ऊरुयुगल के समान दो हैं--(१) पूर्वमीमांसा--कर्मकाण्ड
और (२) उत्तरमीमांसा--ब्रह्मकाण्ड । मल्लिनाथ के अनुसार गम्योत्प्रेक्षा;
विद्याधर ने छेकानुप्रास का निर्देश किया है ॥ ८१ ॥

उद्देशपर्वण्यपि लक्षणेऽपि द्विधोदितैः षोडशभिः पदार्थैः ।
आन्वीक्षिकी यद्दशनद्विमाली तां मुक्तिकामाकलितां प्रतीमः ॥ ८२ ॥

जीवातु—उद्देशेति । यस्याः सरस्वत्याः, दशनानां द्वयोर्मालयोः समाहारो
द्विमाली दन्तपंक्तिद्वयी 'आवन्तो वा' इति स्त्रीत्वे 'द्विगोः' इति ङीप्, तामेव
आकलितां गुम्फितां, मुक्तैव मुक्तिका, मुक्ताशब्दात् स्वार्थे कप्रत्ययेन 'केऽणः'

इति ह्रस्वे तस्य 'अभाषितपुंस्काच्च' इति कात् पूर्वस्येत्वम्, तां मुक्तावलीम् इत्यर्थः, उद्देशो नामतः कीर्त्तनं तस्य पर्वणि अवसरेऽपि, समानासमानजातीय-व्यवच्छेदो लक्षणं तस्मिन्नपि, द्विधोदितैः उद्देशतया लक्षणतया च निर्दिष्टैरि-त्यर्थः; अन्यत्र—उद्देशपर्वणि उद्देश्यपर्वदिवसे, तथा लक्षणे सामुद्रिकलक्षणे च द्विधोदितैः द्वैगुण्येनोक्तैः, अत एव द्वात्रिंशत्संख्यकैरित्यर्थः, उभयषोडशदशन-त्वस्य भाग्यलक्षणत्वादिति भावः; षोडशभिः पदार्थैः प्रमाणादिनिग्रहस्थानान्तैः उपलक्षिताम्; मुक्तिं मोक्षं कामयन्ते इति मुक्तिकामाः मुमुक्षवः, 'शीलकामि-भक्ष्याचारेभ्यो णः' इति णप्रत्ययः तैराकलिताम् अभ्यस्तां, प्रमाणादिसूत्रेण एतेषां तत्त्वज्ञानात् निःश्रेयसाधिगम इत्युक्तत्वादिति भावः; तां प्रसिद्धाम्, अनु पश्चात्, वेदश्रवणानन्तरमित्यर्थः, ईक्षा परीक्षणमित्यन्वीक्षा, सा प्रयोजन-मस्या इत्यान्वीक्षिकी तर्कविद्या, 'प्रयोजनम्' इति ठक् तां प्रतीमः जानीमः, प्रतिपूर्वादिक्षणो लट्, द्विरावृत्तषोडशपदार्था द्वात्रिंशद्दन्तपंक्तियुगलत्वेन परिणता इत्युत्प्रेक्षार्थः। प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोरभेदोपचारत्वात् आन्वीक्षिक्येव तथा परिणतेत्युक्तं दशनद्विमालीमेवाकलितां मुक्तिकामिति श्लिष्टपदोपात्तेन रूप-कत्वेनोत्प्रेक्षायाः सङ्करः॥ ८२॥

अन्वयः—यद्दशनद्विमालीम् उद्देशपर्वणि लक्षणे अपि द्विधोदितैः षोडशभिः पदार्थैः मुक्तिकामाकलितां ताम् आन्वीक्षिकीं प्रतीमः।

हिन्दी—उद्देश (उचित स्थान) और लक्षण (सामुद्रिक शास्त्रानुमोदित) में भी दो प्रकार से कथित सोलह पदार्थों से रचित गुंथी मोती-मालाओं जैसी जिस (सरस्वती) की दाँतों की मालाओं को हम उद्देश (नामतः कथन) और लक्षण (समान और असमान जातीय का व्यवच्छेद) के अवसर पर उप-लक्षित दो प्रकार से (नामतः और लक्षणतः) निर्दिष्ट सोलह पदार्थों से मोक्ष-कामियों द्वारा अभ्यस्त प्रसिद्ध तर्कविद्या समझते हैं।

टिप्पणी—सरस्वती के ऊपर-नीचे सुव्यवस्थित और सामुद्रिक शास्त्र में कथित शुभलक्षणों से युक्त सोलह दूने बत्तीस दाँत ऐसे प्रतीत होते हैं कि नामतः और लक्षणतः निर्दिष्ट हो द्विगुणित सोलह—(१) प्रमाण, (२) प्रमेय, (३) संशय, (४) प्रयोजन, (५) दृष्टांत, (६) सिद्धांत, (७) अवयव, (८) तर्क, (९) निर्णय, (१०) वाद, (११) जल्प, (१२) वितंडा, (१३) हेत्वाभास, (१४) छल,

(१५) जाति और (१६) निग्रहस्थान—(इस प्रकार बत्तीस) पदार्थों से उपलक्षित और मुक्तिकामियों से सेवित प्रसिद्ध तर्क विद्या हैं। भाव यह कि द्विधोक्त षोडश पदार्थों द्वारा सरस्वती के बत्तीस दाँतों की रचना हुई है अर्थात् दाँत तर्कशास्त्र हैं। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ प्रतिपाद्य और प्रतिपादक में अभेदोपचार होने से आन्वीक्षिकी ही सरस्वती-दशनों में परिणत हो गयी है—इस प्रकार कथित, 'मुक्तिकामाकलिताम्' इस श्लिष्टपदोपात्त रूपक से उत्प्रेक्षा का संकर है; विद्याधर ने उत्प्रेक्षा और श्लेष का निर्देश किया है ॥ ८२ ॥

तर्का रदा यद्वदनस्य तर्क्या वादेऽस्य शक्तिः क्व ? तथाऽन्यथा तैः ।
पत्रं क्व दातुं गुणशालिपूगम् ? क्व वादतः खण्डयितुं प्रभुत्वम् ॥ ८३ ॥

जीवातु—पुनर्दन्तानेव तर्कत्वेनापि उत्प्रेक्षते, तर्का इति । यद्वदनस्य सम्बन्धिनः रदाः दन्ताः, 'रदना दशना दन्ता रदाः' इत्यमरः, तर्का ऊहाख्याः प्रमाणानुमापकज्ञानविशेषाः, तन्मयाः इत्यर्थः, तर्क्या उत्प्रेक्ष्याः; अन्यत्र—तर्कवत् कर्कशा इत्यर्थः । तथाहि, अस्य वदनस्य, तैः दन्तैस्तर्कैश्च, अन्यथा विना, वादे कथायामभिवदनव्यापारे च, तथा तादृशी शक्तिः क्व ? दन्तैस्तर्कैविना, वादः कर्त्तुं न शक्यते इत्यर्थः; एवं तर्कैविना वादतः वादनिमित्तात् पत्रं प्रतिवादिने स्वपक्षसमर्थकं पत्रम्, अथवा प्रतिवादिनः प्रतिज्ञापत्रं, दातुं क्व शक्तिः ? दन्तैर्विना च अदतः भक्षयतः, पत्रं ताम्बूलीदलादिकं दातुं खण्डयितुं शक्तिः क्व वा ? सामर्थ्यं न भवतीत्यर्थः; द्यतेश्च तुमुन् तर्कैविना गुणशालिनां प्रतिभादिगुणवतां वावदूकानां, पूगं वृन्दं वादतो वादेन, खण्डयितुं भङ्क्तुम् अन्यत्र—वा इति छेदः, दन्तैर्विना अदतो भक्षयतः, 'पदादयः पृथक् शब्दाः' इति मतेन न विद्यन्ते दतो दन्ता यस्य इत्यदतः दन्तरहितस्य वा, गुणशालि रसाढ्यं, पूगं पूगीफलं, 'पूगः क्रमुकवृन्दयोः' इत्यमरः, खण्डयितुं शकलयितुं, प्रभुत्वं सामर्थ्यं, क्व वा ? श्लेषध्वनितेयं दन्तानां तर्कपरिणतत्वेन उत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ८३ ॥

अन्वयः—तर्काः यद्वदनस्य रदाः तर्क्याः, तैः अन्यथा अस्य वादे तथा शक्तिः क्व, पत्रं दातुं क्व, वादतः (अथवा वा+अदतः) गुण शालिपूगं प्रभुत्वं खण्डयितुं क्व ?

हिन्दी—तर्क जिस (सरस्वती) के मुख के दाँत मानना चाहिए, उनके (ऐसे हुऐ) विना इस मुख में वाद (भाषण, शास्त्रार्थ) की वैसी (विशिष्ट) शक्ति कहाँ से आती अथवा 'व' और 'द' वर्णों के उच्चारण की क्षमता कहां से आती ? पत्र अर्थात् प्रतिवादी के मत खंडन करने की क्षमता कहाँ से आती और वाद करने में गुणशाली–गुणी विद्वानों के पूग (समूह) को पराजित करने की क्षमता कहाँ से आती ? अथवा खाते हुए कषाय होने से गुणकारक नागवल्ली दल को चबाने की शक्ति कहाँ से आती ?

टिप्पणी–सरस्वती के दाँत तर्क हैं–इसका एक और कल्पना द्वारा समर्थन। यदि तर्कशास्त्र सरस्वती के मुख में दाँत बनकर स्थित न होता तो न तो उसमें ऐसी भाषण क्षमता ही होती और न ऐसा शास्त्रार्थ करने की शक्ति। दन्तोष्ठ्य 'व' और दन्त्य 'द' वर्णों का उच्चारण भी संभव न था। प्रतिवादी के मत का खंडन भी कैसे होता और गुणी विद्वानों को पराजित करने अथवा तांबूलादि और सुपारी चबाने की क्षमता भी कहाँ से आती ? यह सब प्रमाणित करता है कि तर्कशास्त्र ही सरस्वती-दशन रूप में स्थित है। मल्लिनाथ के अनुसार श्लेष-ध्वनिता उत्प्रेक्षा का यह संकर है, क्योंकि इससे तर्क को दशनों में परिणत संभावित किया गया है, विद्याधर ने भी उत्प्रेक्षा-श्लेषालंकर का निर्देश किया है ॥ ८३ ॥

सपल्लवं व्यासपराशराभ्यां प्रणीतभावादुभयीभविष्णु ।
तन्मत्स्यपद्माद्युपलक्ष्यमाणं यत्पाणियुग्मं ववृते पुराणम् ॥ ८४ ॥

जीवातु—सपल्लवमिति। व्यासपराशराभ्यां प्रणीतभावात् प्रणीतत्वाद्, उभयीभविष्णु महापुराणोपपुराणतां प्राप्तं, 'भुवश्च' इतीष्णुच्, यद्यप्यष्टादशपुराणानां कर्त्ता सत्यवतीसुतः, तथाऽपि 'पुराणं वैष्णवं चक्रे यस्तं वन्दे पराशरम्' इत्यादि प्रसिद्धमेवमुक्तम्; तत् प्रसिद्धं, मत्स्यपद्मादि मत्स्यपद्मपुराणादिसंज्ञादिः, आदिशब्दात् कूर्मस्कन्दादीनां सङ्ग्रहः; अन्यत्र—मत्स्यपद्मादिसामुद्रिकरेखादिः, आदिशब्दात् ध्वजकुलशादिसङ्ग्रहः, तैः उपलक्ष्यमाणं निर्दिश्यमानमित्यर्थः, सपल्लवं कथाऽऽख्यायायिकादिना सविस्तारं, 'पल्लवं त्वस्त्री प्रकोष्ठे चापि विस्तृतौ' इति वैजयन्ती, अन्यत्र—सत् सदृशं पल्लवेन सपल्लवं किसलयसदृशम्। 'अव्ययं विभक्ति—' इत्यादिना सहशब्दस्य गुणीभूतसादृश्यार्थेऽव्ययी-

भावः । 'अव्ययीभावे चाकाले' इति सहशब्दस्य सभावः, 'सहसादृश्यसाकल्य-यौगपद्यसमृद्धिषु' इति विश्वः, पुराणां मत्स्यपद्मादि, यस्याः सरस्वत्याः, पाणियुग्मं ववृते पाणिपद्मत्वेन परिणतमित्यर्थः । उत्प्रेक्षा ॥ ८४ ॥

अन्वयः—सपल्लवं व्यासपराशराभ्यां प्रणीतभावात् उभयीभविष्णु मत्स्य-पद्माद्युपलक्ष्यमाणं तत् पुराणं यत्पाणियुग्मं ववृते ।

हिन्दी—सपल्लव अर्थात् कथा—आख्यायिका आदि से समन्वित, व्यास और पराशर (मुनियुग्म) द्वारा प्रणीत होने के कारण उभयभाव (पुराण-उपपुराण) को प्राप्त होता मत्स्य पुराण पद्मपुराणादि रूप में उपलक्षित होता वह (प्रसिद्ध) पुराण वाङ्मय ही सपल्लव अर्थात् पल्लवरागवर्ण युगल रूप में स्थित, मत्स्य रेखा और पद्म आदि सामुद्रिक लक्षणों से उपलक्षित जिस (सरस्वती) का कर युग्म (दोनों हाथ) है ।

टिप्पणी—पुराणोपपुराण को समान गुणों के आधार पर सरस्वती का कर युगल कहा गया है । यह समानधर्मता श्लिष्ट पदों के आधार से आयी है । अष्टादशपुराणों का संकेतक श्लोक है—'मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम् । अनापलिङ्गकुस्कानि पुराणानि प्रचक्षते ॥' यद्यपि पुराणकार के रूप में व्यास की ही ख्याति है, तथापि यह भी कहा गया है कि 'पुराणं वैष्णवं चक्रे यस्तं वन्दे पराशरम्'—जिसने वैष्णव पुराण की रचना की उस पराशर की वंदना करता हूँ । इस आधार पर यहाँ व्यास के साथ पराशर का उल्लेख्य है । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने रूपक-श्लेषालंकार का निर्देश किया है ॥ ८४ ॥

आकल्पविच्छेदविवर्जितो यः स धर्मशास्त्रव्रज एव यस्याः ।
पश्यामि मूर्द्धा श्रुतमूलशाली कण्ठे स्थितः कस्य मुदे न वृत्तः ? ॥८५॥

जीवातु—आकल्पेति । आकल्पं कल्पान्तपर्यन्तं, विच्छेदेन विवर्जितः अविच्छिन्नसम्प्रदायीत्यर्थः, अन्यत्र—आकल्पः अलङ्कारादिः, तद्विच्छेदविवर्जितः सत्सहितः नित्यभूषित इत्यर्थः, श्रुतिर्वेद एव, मूलं प्रमाणं तेन शालते; अन्यत्र—श्रुतिमूलाभ्यां, कर्णमूलाभ्यां, शालते इति तथोक्तः, 'वेदे श्रवसि च श्रुतिः' इत्यमरः, अथवा—श्रूयते यः स श्रुतिः शब्दः, तस्य ग्रहणे मूलं कारणं कर्णौ इत्यर्थः, ताभ्यां शालते; कण्ठे स्थितो मुखस्थितः, अन्यत्र—कण्ठोपरि स्थितः,

यो धर्मशास्त्राणां मन्वादिस्मृतीनां व्रजः स एव यस्याः देव्याः, मूर्द्धा वृतः संवृत्तः, परिणत इत्यर्थः, अन्यत्र–वृत्तः वर्त्तुलः, मूर्द्धा कस्य मुदे न? सर्वस्यापि स्यादेवेत्यर्थः, पश्यामि इति, उत्प्रेक्षे, अहमितिशेषः ॥ ८५ ॥

अन्वयः—आकल्पविच्छेदविवर्जितः श्रुतिमूलशाली कण्ठे स्थितः यः धर्मशास्त्रव्रजः सः एव यस्याः मूर्द्धा वृत्तः कस्य मुदे न पश्यामि ?

हिन्दी—प्रलयकाल तक नष्ट होने वाला, वेदमूलक, (सरस्वती के) कण्ठ में स्थित जो धर्मशास्त्र समूह है, वही जिस (सरस्वती) के सदा आभूषणों से सज्जित, कर्णमूलों से शोभित, ग्रीवा के ऊपर स्थित मूर्धा (सिर) रूप में परिणत हो गया (अथवा वृत्त अर्थात् वर्तुल मूर्धा है)—वह किस व्यक्ति की प्रसन्नता का कारण न होगा ? (सबकी प्रसन्नता का कारण होगा ।) यह प्रतीति होती है ।

टिप्पणी—भाव यह कि धर्मशास्त्र ही सरस्वती के मूर्धा रूप में परिणत है। समानता का आधार 'आकल्पविच्छेदविवर्जित', 'श्रुतिमूलशाली' और 'कण्ठेस्थितः' की अनेकार्थकता है । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा; विद्याधर के अनुसार श्लेष-उत्प्रेक्षा अलंकार ॥ ८५ ॥

भ्रुवौ दलाभ्यां प्रणवस्य यस्यास्तद्बिन्दुना भालतमालपत्रम् ।
तदर्द्धचन्द्रेण विधिर्विपञ्ची-निक्वाणनाकोणधनुः प्रणिन्ये ॥ ८६ ॥

जीवातु—अथ नागरलिपेरोङ्काराक्षरमाश्रित्योत्प्रेक्षते, भ्रुवाविति। विधिः ब्रह्मा, प्रणवस्य, ओङ्कारस्य, दलाभ्याम् उभयप्रान्तरेखाभ्यां, यस्याः देव्याः, भ्रुवौ, यथा तस्य बिन्दुना बिन्द्वाकाररेखया, भाले ललाटे, तमालपत्रं तिलकं, 'तमालपत्रतिलक-चित्रकाणि विशेषकम्' इत्यमरः, तस्य प्रणवस्य, अर्द्धचन्द्रेण अर्द्धचन्द्राकाररेखया, विपञ्च्याः वीणायाः, 'वीणा तु वल्लकी विपञ्ची' इत्यमरः, निक्वाणनायै वादनार्थं, कोणधनुः कोणसंज्ञकं धनुराकारं वाद्यसाधनञ्च 'कोणो वीणादिवादनम्' इत्यमरः, प्रणिन्ये निर्ममे । 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' इति णत्वम् । उत्प्रेक्षा ॥ ८६ ॥

अन्वयः—विधिः प्रणवस्य दलाभ्यां यस्याः भ्रुवौ, तद्बिन्दुना भालतमालपत्रं, तदर्द्धचन्द्रेण विपञ्चीनिक्वाणनाकोणधनुः प्रणिन्ये ।

हिन्दी—विधाता ने ओंकार के खंडों से जिस (सरस्वती) का भ्रूयुग्म,

उसके (ओंकार) के बिन्दु से ललाटतिलक और उसके अर्द्धचन्द्र से वीणा-वादन के निमित्त 'कोण' नामक धनुषाकार बजाने का साधन (मिजराव) का निर्माण किया।

टिप्पणी—देवनागरी लिपि में प्रणव का चिह्न ॐ है। इसी ओंकार से सरस्वती की दोनों भ्रुकुटियों, ललाट तिलक और वीणा बजाने के साधन 'मिजराव' का विधाता ने निर्माण किया है—ऐसी मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा की गयी है। दोनों ओर की रेखाओं ('उ' के दो खडों) से भ्रुकुटियाँ बिंदु (·) से माथे का टीका और अर्धचन्द्र (˘) से धनुषाकार कोण अर्थात् मिजराव का निर्माण किया गया है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ८६ ॥

द्विकुण्डली वृत्तसमाप्तिलिप्याः करांगुली काञ्चनलेखनीनाम्।
कैश्यं मसीनां स्मितभाः कठिन्याः काये यदीये निरमायि सारैः ॥८७॥

जीवातु—द्विकुण्डलीति। यदीये काये देहे, द्वयोः कुण्डलयोः समाहारो द्विकुण्डली कर्णकुण्डलद्वयं, वृत्तायाः वर्त्तुलायाः, समाप्तिलिप्या अवसानरेखायाः, बिन्दुद्वयरूपायाः विसर्गाकाराया इति यावत्, सारैः श्रेष्ठांशैः, निरमायि निर्मिता, माङो लुङि 'आतो युक् चिण्कृतोः, इति युगागमः, लेख्यान्ते समाप्तिव्यञ्जको विसर्गः लिख्यते, स एव कुण्डलद्वयत्वेन परिणत इत्यर्थः। विसर्गस्य रूपं यथा—'श्रृङ्गवत् बालवत्सस्य बालिकाकुचयुग्मवत्। नेत्रवत् कृष्णसर्पस्य स विसर्ग इति स्मृतः।' तथा च कराङ्गुली कराङ्गुल्यः, जातावेकवचनम्, काञ्चनलेखनीनां सौवर्णलेखनीनां सारैः, तथा केशानां समूहः कैश्यं, 'केशाश्वाभ्यां यञ्-छावन्यतरस्याम्' इति यञ्प्रत्ययः, मसीनां सारैः, तथा स्मितभा मन्दहासकान्तिः, कठिन्याः खटिकायाः, 'खटिकायान्तु कठिनी' इति विश्वः। सारैः निरमायि इत्युत्प्रेक्षा ॥ ८७ ॥

अन्वयः—यदीये काये वृत्तसमाप्तिलिप्याः सारैः द्विकुण्डली, काञ्चनलेखनीनां कराङ्गुली, मसीनां कैश्यं, कठिन्याः स्मितभाः निरमायि।

हिन्दी—जिस (सरस्वती) के देह में वर्तुल, समाप्तिसूचक लिपि (विसर्ग) के सार भाग से दोनों कुंडल, सुवर्ण की लेखनियों के सारभाग से कथा ही

अंगुलियाँ, स्याही के सार से केशसमूह और खरिया के सार से मंद मुसकान की कांति बनायी।

टिप्पणी—भाव यह है कि सरस्वती के दोनों कुंडल मातृका ग्रन्थ की समाप्ति-लिपि-चिह्न अर्थात् वर्ण समाप्ति-सूचक विसर्गों के तुल्य हैं। विसर्गों के के विषय में कहा जाता है कि वे बालवत्स (बछड़ा) के सींगों के तुल्य, बालिका के कुचयुग्मसम और कृष्णसर्प के नेत्रों के तुल्य होती हैं–(:)। लेख के अन्त में समाप्तिव्यंजक विसर्ग लिखे जाते हैं। सरस्वती की अंगुलियाँ जैसे स्वर्ण की लेखनियाँ हैं, केश स्याही से काले हैं और मुसकान की आभा खरिया (अंग्रेजी में 'चाक' Chack) के सदृश शुभ्र है। इतना ही नहीं, इन सब का सार लेकर विधि ने यह निर्माण किया है—ऐसी मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा है। विद्याधर के अनुसार यहाँ दीपक-अतिशयोक्ति अलंकार हैं॥ ८७॥

या सोमसिद्धान्तमयाननेव शून्यात्मतावादमयोदरेव।
विज्ञानसामस्त्यमयान्तरेव साकारतासिद्धिमयाखिलेव॥ ८८॥

जीवातु—येति। या देवी, सोमसिद्धान्तः कापालिकदर्शनम् अथ च—सोमस्य इन्दोः, सिद्धान्तः अखण्डरूपश्च, तन्मयम् आननं यस्याः सा इव स्थिता, तथा आत्मनो न सन्तीति वादः शून्यात्मतावादः माध्यमिकबौद्धविशेषदर्शनं तन्मयं तदेव, उदरं यस्याः सा तादृशीव, अथ च—शून्यात्मता निस्वरूपता, तद्वादो नास्तिवादः, तन्मयमुदरं यस्याः सा अतिकृशोदरीत्यर्थः, 'नासिकोदर—' इत्यादिना विकल्पादनीकारः विज्ञानस्य निराकारविज्ञानमात्रस्य, सामस्त्यं साकल्यम् इति योगाचारबौद्धविशेषमतं, तन्मयं तदेव, अन्तरं यस्या सा इव; अथ च—विज्ञानसामस्त्यमर्थविशिष्टज्ञानसम्पत्तिश्च तन्मयमन्तरं यस्याः सेव; तथा साकारता साकारविज्ञानवादी सौत्रान्तिकः ज्ञानानां नीलपीताद्याकारता, तत्सिद्धिस्तन्मयाः, अथ च शोभनाकारतासम्पत्तिश्च तन्मया अखिलाः सर्वाः यस्या सेव स्थितेति शेषः इति सर्वत्रोत्प्रेक्षाः, एवम्भूता सरस्वती मध्येसभम् अवततार इति ७४ श्लोकोक्तक्रियापदेन अन्वयः॥ ८८॥ कुलकम्।

अन्वयः—या सोमसिद्धान्तमयानना इव शून्यात्मतावादमयोदरा इव विज्ञानसामस्त्यमयान्तरा इव साकारतासिद्धिमयाखिला इव।

हिन्दी—जो (सरस्वती) मानो कापालिक दर्शनरूप पूर्णिमा चन्द्र तुल्य

मुखवाली है, जो शून्यात्मतावाद (माध्यमिक दर्शन, अभाववादी बौद्धदर्शन) के तुल्य 'नहीं'—जैसे अर्थात् अत्यन्त कृश उदर से युक्त है, जो विशिष्ट ज्ञान की संपूर्णता रूप संपूर्ण ज्ञान से प्रचुर अन्तर-(चित्त) शालिनी है और जो सौत्रांतिक साकारविज्ञानवादी साकारतासिद्धिदर्शन के समान समस्त सुन्दर रूपमयी है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि सरस्वती पूर्णिमाचन्द्र के तुल्य मुखवाली अथवा पूर्वपक्षभूत चन्द्र को भी अपनी मुखशोभा से तिरस्कृत करने वाली है, अत्यंत कृशोदरी है, प्रचुर ज्ञान से परिपूर्ण चित्त शालिनी है और सर्वतो भावेन सुंदरी है। अनेकार्थ द्योतक विशेषणों के आधार पर यह कहा गया है, जिससे सरस्वती के निर्माण में सोमसिद्धान्त अर्थात् कापालिक दर्शन, अभाववादी बौद्धदर्शन; विज्ञान सामस्त्य अर्थात् विज्ञानमात्रवादी निराकार-विश्वासी योगाचार दर्शन और नील-पीत आदि रूपता से सिद्ध सौत्रांतिक साकारता सिद्धिवाद दर्शन का संबंध सरस्वती से हो गया। पन्द्रह (७४–८८) श्लोकों के इस 'कुलक' (पंचाधिक श्लोकों में पूर्ण भाव व्यक्त करने वाला कथ्य) में सरस्वती को सर्वशास्त्रमयी सिद्ध किया गया है। वस्तुतः सरस्वती की कल्पना ही समस्त वेद-शास्त्र ज्ञान की मूर्त्ति के रूप में है—ज्ञान विज्ञान का पुंजीभूत आकार। मल्लिनाथ-विद्याधर के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षालंकार है ॥ ८८ ॥

भीमस्तयाऽगद्यत मोदितुं ते वेला किलेयं तदलं विषद्य ।
मया निगद्यं जगतीपतीनां गोत्रं चरित्रञ्च यथावदेषाम् ॥ ८९ ॥

जीवातु—भीम इति । अथ तया देव्या सरस्वत्या, भीमो भीमभूपतिः; अगद्यत उक्तः। किमिति ? हे राजन् ! इयं ते तव, मोदितुं हर्षं कर्त्तुं, वेला किल समलः खलु; 'कालसमयवेलासु तुमुन्' तत्तस्मात्, विषद्य खेदित्वा, अलं विषादो न कर्त्तव्य इत्यर्थः, 'अलंखल्वोः' इत्यादिना क्त्वाप्रत्ययः। कुतः ? एषां जगतीपतीनां राज्ञां, गोत्रं कुलं नाम च, 'गोत्रं नाम्नि कुलेऽपि च' इति विश्वः, चरित्रञ्च मया निगाद्यं वक्तव्यम्, अहं वक्ष्यामीत्यर्थः। 'ऋहलोर्ण्यत्' 'गदमद' इत्यादिसूत्रे अनुपसर्ग एव यतो विधानात् ॥ ८९ ॥

अन्वयः—तया भीमः अगद्यत—इयं ते मोदितुं वेला किल, विषद्य अलम्; एषां जगतीपतीनां गोत्रं चरित्रं च यथावत् मया निगाद्यम् ।

हिन्दी—उस (देवी सरस्वती) ने भीमराज से कहा—यह तेरे प्रसन्न होने का समय है, विषाद करना छोड़। इन (समस्त उपस्थित) राजाओं के कुल और चरित्र का ठीक-ठीक वर्णन मैं करूँगी।

टिप्पणी—जैसा कि पहिले (१०।६८-७३) कहा जा चुका है कि भीमराज को चिन्ता हो गयी थी कि बेटी दमयन्ती को इन इतने राजाओं का विवरण कौन बतायेगा और व्यथित राजा ने कुलदेव विष्णु का स्मरण किया था। विष्णु भगवान ने कुलगोत्रादि का विवरण उपस्थित करने के लिए सर्वज्ञानमयी सरस्वती वाणी को आदेश दिया और फलस्वरूप सरस्वती सभा मध्य उक्त कार्य-संपादन के निमित्त उपस्थित हो गयीं। इस श्लोक में उन्होंने राजा को सान्त्वना दी ॥ ८९ ॥

अविन्दतासौ मकरन्दलीलां मन्दाकिनी यच्चरणारविन्दे ।
अत्रावतीर्णा गुणवर्णनाय राज्ञां तदाज्ञावशगाऽस्मि काऽपि ॥ ९० ॥

जीवातु—का त्वम् ? किमर्थमागता च ? इत्याकाङ्क्षायामाह, अविन्दतेति। असौ प्रसिद्धा मन्दाकिनी यस्य पुंसः, चरणारविन्दे पादपद्मे, मकरन्दलीलां पद्ममधुविलासम्, अविन्दत तस्य पुंसः श्रीविष्णोः आज्ञाया वशगा वशवर्त्तिनी, काऽपि या काचित्, अस्मि अहं, राज्ञां गुणवर्णनाय अत्र स्वयंवरसभायाम्, अवतीर्णा, अस्मि इति शेषः, किं विशेषचिन्तया ? इति भाव ॥९०॥

अन्वयः—असौ मन्दाकिनी यच्चरणारविन्दे मकरन्दलीलाम् अविन्दत तदाज्ञावशगा का अपि राज्ञां गुणवर्णनाय अत्र अवतीर्णा अस्मि।

हिन्दी—यह प्रसिद्ध देवगंगा मन्दाकिनी जिसके चरण कमल युगल में मकरन्दर की लीला को प्राप्त करती है, उस की आज्ञा की वश वर्त्तिनी कोई मैं (इन) राजाओं के गुण-वर्णन के निमित्त यहाँ अवतरित हुई हूँ।

टिप्पणी—भीमराज ने जानना चाहा कि उसे संतोष देने पधारी देवी कौन हैं, कहाँ से आयी हैं ? सरस्वती ने यह समझ कर अपना स्पष्ट परिचय न देकर केवल यही कहा कि वह उन भगवान् विष्णु की आदेशपालिका है, मन्दाकिनी जिसके चरण-कमलों का पराग है और उन्हीं के आदेश से वह यहाँ राजाओं का परिचय दमयन्ती के संमुख प्रस्तुत करेगी। सरस्वती ने यह भी संकेत कर दिया कि उन पुराणपुरुष की मेरी जैसी अनेक आज्ञा वाहिकाएँ हैं, मेरा नाम

जानना अनपेक्षित है। अनेक में से एक मुझे समझो। विद्याधर के अनुसार निदर्शना-रूपक-अतिशयोक्ति ॥ ९० ॥

तत्कालवेद्यैः शकुनस्वराद्यैराप्तामवाप्तां नृपतिः प्रतीत्य।
तां लोकपालैकधुरीण एष तस्यै सपर्यामुचितां दिदेश ॥ ९१ ॥

जीवातु—तत्कालेति। लोकपालैः इन्द्रादिभिः सह, एकधुरं वहतीत्येकधुरीणः समानस्कन्धः, 'एकधुराल्लुक् च' इति खप्रत्ययः लोकपालसदृश इत्यर्थः, एष नृपतिर्भीमः,अवाप्ताम् अकस्मात् सभायां प्राप्तां, तां वाग्देवीं, तत्काले वेद्यैः वेदयितुं शक्यैः, शकुनं शुभाशंसिनिमित्तं, 'शुभाशंसिनिमित्ते च खगे च शकुनं विदुः' इति शाश्वतः, स्वरः नासानिलः, आद्यशब्दादक्षिस्पन्दादिसङ्ग्रहः, तैरुपायैः आप्तां हितां, प्रतीत्य निश्चित्य, यस्यै उचितां सपर्यां पूजां, दिदेश समर्पयामास ॥ ९१ ॥

अन्वयः—लोकपालैकधुरीणः एषः नृपतिः अवाप्तां तां तत्कालवेद्यैः शकुन-स्वराद्यैः आप्तां प्रतीत्य तस्यै उचितां सपर्यां दिदेश।

हिन्दी—लोकपालों के समान इस राजा (भीम) ने सभामध्य प्राप्त उस (सरस्वती देवी) को उस समयज्ञेय शकुनों और नासिकास्वरों से हित-कारिणी समझकर उसकी उचित पूजा की।

टिप्पणी—मंगलवेला उपस्थित होने पर दक्षिणभुजा, दक्षिण नेत्र आदि का स्पन्दन होता है, नासिका के विशिष्ट स्वर भी मंगल की सूचना देते हैं। राजा के साथ भी उस समय ऐसा ही हुआ, शुभसूचक शकुन हुए। राजा ने यह समझ लिया कि ये कोई संमान्य और हितकारिणी देवी हैं, अतः उसने सरस्वती देवी का उचित स्वागत सत्कार किया ॥ ९१ ॥

दिगन्तरेभ्यः पृथिवीपतीनामाकर्षकौतूहलसिद्धविद्याम्।
ततः क्षितीशः स निजां तनूजां मध्येमहाराजकमाजुहाव ॥ ९२ ॥

जीवातु—दिगिति। ततो देवीपूजानन्तरं सः क्षितीशः भीमः, दिगन्तरेभ्यः पृथिपीपतीनाम् आकर्षकौतूहले आकर्षकर्मणि, सिद्धविद्यां सिद्धमन्त्रस्वरूपाम्, अमोघवृत्तिमित्यर्थः, सौन्दर्येण सर्वाकर्षणकारिणीमिति भावः, निजां तनूजां मध्येमहाराजकं महतो राजसमूहस्य मध्ये, आजुहाव आहूतवान् ह्वयतेर्लिटि

'अभ्यस्तस्य च' इति द्विर्भावात् प्राक् सम्प्रसारणे रूपसिद्धिः; भीमः सभायां दमयन्तीम् आनयामास इति भावः ॥ ९२ ॥

अन्वयः—ततः सः क्षितीशः दिगन्तरेभ्यः पृथिवीपतीनाम् आकर्षकौतूहलसिद्धविद्यां निजां तनूजां मध्येमहाराजकम् आजुहाव ।

हिन्दी—सरस्वती की पूजा के अनन्तर उस पृथ्वीनाथ (भीम) ने दिशा-दिशाओं के नरपतियों को आकृष्ट करने के कर्म में सिद्ध विद्या जैसी अपनी पुत्री (दमयन्ती) को महाराजसमूह के मध्य बुलवाया ।

टिप्पणी—जिस दमयन्ती के रूप-गुण के आकर्षण से दिग्दिगंत से राजसमूह एकत्र हुआ था, उस आकर्षण की सिद्धविद्या जैसी दमयन्ती का आवाहन राजसभा में भीमराज ने किया । विद्याधर के अनुसार रूपक अलंकार ।। ९२ ॥

दासीषु नासीरचरीषु जातं स्फीतं क्रमेणालिषु वीक्षितासु ।
स्वांगेषु रूपोत्थमथाद्भुताब्धिमुद्वेलयन्तीमवलोककानाम् ॥ ९३ ॥

जीवातु—अथ षोडशश्लोक्या दमयन्तीं वर्णयति, दासीष्वित्यादि । कीदृशम् ? नासीरे चरन्तीति नासीरचरीषु अग्रेसरीषु, चरेष्टः, टित्त्वात् ङीप् दासीषु परिचारिकासु, वीक्षितासु सतीषु, जातम् उत्पन्नं, क्रमेण आलिषु, सखीषु, वीक्षितासु स्फीतं प्रवृद्धं, 'स्फायः स्फी निष्ठायाम्' इति स्फीभावः, अथानन्तरं रूपोत्थं सौन्दर्यजन्म, अवलोककानां प्रेक्षकाणाम्, अद्भुताब्धिं विस्मयसागरं, स्वाङ्गेषु दमयन्त्या अवयवेषु, वीक्षितेषु सत्सु उद्वेलयन्तीम् उद्वेलं कुर्वतीं, वेलामतिलङ्घयन्तीमित्यर्थः, भैमीं पपावपाङ्गैरथ राजराजिः इति १०८ श्लोकोक्तेन अन्वयः । उद्वेलशब्दात् 'तत्करोति' इति ण्यन्ताच्छतरि ङीप् । अत्र एकस्मिन्नद्भुताब्धौ क्रमेणानेकेषां जातत्वस्फीतत्वोद्वेलत्वानां वृत्तिकथनात् पर्यायालङ्कारभेदः 'एकस्मिन्ननेकमनेकस्मिन्नेकम्' इति लक्षणात् ॥ ९३ ॥

अन्वयः—नासीरचरीषु दासीषु जातं क्रमेण वीक्षितासु आलिषु स्फीतम्, अथ स्वाङ्गेषु रूपोत्थम् अवलोककानाम् अद्भुताब्धिम् उद्वेलयन्तीम् (भैमीं राजराजिः अपाङ्गैः पपुः—इति (१०।१०८) दूरेणान्वयः ।

हिन्दी—आगे आती दासियों (के विषय) में (पहिले) समुत्पन्न पुनः अवलोकित सखियों (के विषय) में वृद्धि को प्राप्त और तत्पश्चात् अपने (दमयन्ती के) अंगों (के विषय) में सौन्दर्य से चंचल दर्शकवृंद के आश्चर्य-सागर को उद्वेलित करती (भीमसुता को राजसमूह जैसे कटाक्षों से पीने लगा) ।

टिप्पणी—सोलह श्लोकों (९३–१०८) के 'कुलक' में सभागता दमयन्ती का वर्णन है। 'भैमीं पपावपाङ्गैरथ राजराजिः' (१०८) का—भीमसुता को राजसमूह ने देखा—का अन्वय प्रत्येक श्लोक के साथ है। इस श्लोक में राजसभा में दमयन्ती के आने और दर्शकों पर उसका प्रभाव बड़े स्वाभाविक रूप में चित्रित है। यह स्वाभाविक ही है कि दमयन्ती को पाने के लिए दिग्दिगन्त से इतने नृपति आये थे, उसे देखने की उत्कण्ठा उनमें होती ही। दमयन्ती के आगे दासियाँ चल रही थीं, उन्हें देखकर दर्शक राजाओं के मन में जो कुतूहल या विस्मय था, वह जग उठा। तत्पश्चात् सखी-समूह था, उसे देखकर वह विस्मय बढ़ गया और दमयन्ती के रूप का अवलोकन कर चंचलमन दर्शकों का विस्मयसागर उद्वेलित हो गया। इस प्रकार क्रमशः सुन्दर दासियों, उनसे सुन्दरतर सखियों और अन्त में सुन्दरतम दमयन्ती को देखकर दर्शक अत्याश्चर्य में, अभिभूत हो उठे। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में पर्यायालंकार है, क्योंकि एक आश्चर्यसागर में क्रमशः जातत्व (उत्पत्ति), स्फीतत्व (अभिवृद्धि) और उद्वेलत्व (उमड़ना)—इन अनेक व्यापारों का कथन है; विद्याधर ने अतिशयोक्ति का उल्लेख किया है ॥ ९३ ॥

स्निग्धत्वमायाजललेपलोपसयत्नरत्नांशुमृजांशुकाभाम् ।
नेपथ्यहीरद्युतिवारिवर्त्ति-स्वच्छायसच्छायनिजालिजालाम् ॥ ९४ ॥

जीवातु—स्निग्धत्वेति। पुनः किम्भूताम् ? स्निग्धत्वाय मासृण्यगुणाय, मायाजलं, जलगर्भताऽऽख्यो दोषः, 'रागस्त्रासश्च बिन्दुश्च रेखा च जलगर्भता। सर्वरत्नेष्वमी पंच दोषाः साधारणा मताः ॥' इति वाग्भटः। तथा लेपः वर्णोत्कर्षकारी द्रव्यविशेषसंयोगः, तयोः लोपः अभावः, ताभ्यां सयत्नानि कृतप्रयासानि, कथमपि तानि अनङ्गीकुर्वणानि इत्यर्थः, यानि रत्नानि, उपलक्षणमेतत्, गुणसम्पत्तिदोषविरहाभ्यां शुद्धानीत्यर्थः, यती प्रयत्ने इति धातोः 'श्वीदितो निष्ठायाम्' इति इण्प्रतिषेधः, तेषां रत्नानाम् अंशुमृजा किरणप्रसादः, सेव अंशुकाभा वस्त्रप्रभा यस्यास्तां, तथा नेपथ्यहीरद्युतिवारिवर्त्तिस्वच्छायम् आभरणवज्रप्रभाम्बुगतस्वप्रतिबिम्बं, 'विभाषा सेना' इत्यादिना छायाशब्दस्य नपुंसकत्वम्, तेन सच्छायं सवर्णं, निजालिजालं स्वसखीकुलं यस्यास्ताम्। अत्र भूषामणिप्रभाझरमग्नेन स्वप्रतिबिम्बेन सह सखीजनसादृश्योत्प्रेक्षया तासामपि तत्समानसौन्दर्यं वस्तु व्यज्यते ॥ ९४ ॥

अन्वयः—'स्निग्धत्व ' शुकाभाम्, नेपथ्य''''जालाम्'—इति श्लोकक्रमानुसारी।

हिन्दी—चिकनाई, कृत्रिमजल और लेप—इन तीनों के न होने से दोष रहित रत्नों की शुद्ध किरणों के तुल्य आभायुक्त वस्त्र पहिने तथा आभूषणों में जड़े (षट्कोणमणि) हीरों की दमक रूपी जल में पड़ती अपनी (दमयन्ती की) छाया के समान छायावाली (दमयन्ती सदृश) अपनी सखियों के समूह में स्थित (दमयन्ती को राजाओं ने देखा)।

टिप्पणी—दमयन्ती रत्नों के सदृश चमचमाते वस्त्र पहिने थी, निर्दोष रत्नों की दीप्ति के सदृश आभावाले परिधान, स्वच्छ, निर्मल वस्त्र। वाग्भट ने कहा है कि रत्नों के पाँच साधारण दोष हैं—(१) राग, (२) त्रास, (३) बिंदु, (४) रेखा और (५) जल गर्भता। अर्थात् रत्न में खान से निकलते समय का राग (मैल आदि), त्रास नामक मणिदोष—भयानक दीखना, धब्बे और लकीरें तथा पनियालापन नहीं होना चाहिए। दमयन्ती के वस्त्र भी निर्दोष रत्नों की आभावाले थे, उनमें न तो निर्मलता के लिए कृत्रिम जल का उपयोग किया था और न चमक लाने वाला माड़ीकलफ आदि ही लगाया गया था। वस्त्र प्रकृत्या, विना किसी बाह्य उपकरण के ही स्वच्छ और आभायुक्त थे। नारायण के अनुसार वस्त्र निर्मलता के निमित्त पाणिपाद संज्ञक मायाजल के प्रक्षेप-विना ही निर्मल थे। इस प्रकार उनमें वैसी ही चमक-दमक थी, जैसी निर्दोष रत्नों के होती है। दमयन्ती लगभग अपने ही समान रूपवती सखियों के मध्य में स्थित थी—इसीलिए सखियों को रत्नों में पड़ती दमयन्ती की छाया के समान कहा गया। अर्थात् वे अन्य स्त्रियों की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दरी थीं, किन्तु दमयन्ती की तुलना में कुछ न्यून सौन्दर्य शालिनी। मल्लिनाथ के अनुसार आभूषणों में जड़ी हुई मणियों के प्रभा निर्झर में मग्न दमयन्ती के प्रतिबिम्ब के साथ सखियों के सादृश्य की उत्प्रेक्षा के कारण सखियों की भी दमयन्ती के समान सुन्दरता (वस्तु) व्यंजित हुई है; विद्याधर ने अनुप्रास और अतिशयोक्ति का निर्देश किया है॥ ९४॥

विलेपनामोदमुदागतेन तत्कर्णपूरोत्पलसर्पिणा च।
रतीशदूतेन मधुव्रतेन कर्णे रहः किञ्चिदिवोच्यमानाम्॥ ९५॥

जीवातु—विलेपनेति। पुनः किम्भूताम्? विलेपनस्य चन्दनाद्यङ्गरागस्य,

आमोदेन सौरभेण, मुदा प्रीत्या, आगतेन, तथा तस्याः दमयन्त्या, कर्णपूरोत्पलं सर्पतीति तत्सर्पिणा तद्गन्धाकृष्टेन च, रतीशदूतेन कामसन्देशहारकेण, तदुद्दीपकेनेत्यर्थः, मधुव्रतेन भ्रमरेण, कर्णे किञ्चित् रहः रहस्यं, नल एव सम्येषु सुन्दरतमः अतः सः एव वरणीय इत्यादिरूपम्, उच्यमानामिव कामदेवसंदिष्टं किमप्युपदेश्यमानामिव स्थिताम् इत्युत्प्रेक्षा। एतेन तस्यास्तदा किलकिञ्चितादिशृङ्गारचेष्टाविर्भावो व्यज्यते॥ ९५॥

अन्वयः—विलेपनामोदमुदागतेन तत्कर्णपूरोत्पलसर्पिणा च रतीशदूतेन मधुव्रतेन कर्णे किञ्चित् रहः उच्यमानाम् इव ...।

हिन्दी—(कर्पूर-चन्दनादि) अंगराग के सुगन्धजात मोद के कारण आये और उस (दमयन्ती) कर्णाभरण-कमल पर मँडराते काम के दूत भौंरे के द्वारा कान में कुछ रहस्यमय बात कही जाती दमयन्ती को देखा।

टिप्पणी—अंगराग-विलेपन की सुगंध से आकृष्ट भौंरा दमयन्ती के कर्णाभूषण के कमल पर उड़ रहा था—कान के निकट। कल्पना है कि भौंरा जैसे चुपचाप कुछ रहस्य-वार्ता दमयन्ती के कान में कर रहा था। भ्रमर को रतीशदूत कहा गया है—मानों यह कामदूत चुपचाप कह रहा था कि नल का वरण ही करना। मल्लिनाथ ने इसे उत्प्रेक्षा कहा है और विद्याधर ने रूपकोत्प्रेक्षा॥ ९५॥

विरोधिवर्णाभरणाश्मभासां मल्लाजिकौतूहलमीक्षमाणाम्।
स्मरस्वचापभ्रमचालिते नु भ्रुवौ विलासात् वलिते वहन्तीम्॥ ९६॥

जीवातु—विरोधीति। पुनः किम्भूताम्? विरोधिवर्णानां श्वेतकृष्णादिनानावर्णानाम् भूषणमणीनां, आभरणाश्मनां, या भासः तासां, मल्लाजिकौतूहलं मल्लयुद्धकौतुकं, परस्पराक्रमणसंरम्भमिति यावत्, ईक्षमाणां, पुनर्विलासात् वलिते स्त्रीस्वभावाल्लीलावलिते, तत्रोत्प्रेक्षा—स्मरेण तुल्यतया स्वचापभ्रमाच्चालिते नु आदातुं कम्पिते इव स्थिते इत्यर्थः; चल कम्पने इति मित्त्वेऽपि 'ज्वलह्वलह्मलनमामनुपसर्गाद् वा' इति विकल्पनाद्ध्रस्वाभावः, एवम्भूते भ्रुवौ वहन्तीं धारयन्तीम्॥ ९६॥

अन्वयः—विरोधिवर्णाभरणाश्मभासां मल्लाजिकौतूहलम् ईक्षमाणां विलासात् वलिते नु स्मरस्वचापभ्रमचालिते भ्रुवौ वहन्तीम्...।

हिन्दी – अन्योन्य विरुद्ध रंगों के अभूषणों में जटित रत्नों की आभाओं के मल्लयुद्ध (कुश्ती) का कौतुक देखती, कटाक्ष-विक्षेप की लीला से वंक मानो काम द्वारा अपने धनुष् के भ्रम से संचालित भ्रुकुटियुगल को धारती दमयन्ती को देखा।

टिप्पणी—दमयन्ती जो आभरण पहिने थी, उनमें विरोधी शुभ्र, नील, कृष्ण आदि वर्णों के रत्न जड़े हुए थे। उन रत्नों की परस्पर विरोधिनी दीप्ति एक दूसरी पर पड़ती ऐसी प्रतीत हो रही थी, मानों पहलवान कुश्ती लड़ रहे हों और एक सामर्थ्यशीला अधिकारिणी की भाँति दमयन्ती उस मल्लयुद्ध को देख रही हो। उसकी चंचल बंक भ्रुकुटियाँ उस समय ऐसी प्रतीत हो रही थीं, जैसे वे कामदेव का धनुष् हों और भ्रम से उन्हें अपना चाप मानकर कामदेव ने संचालित कर दिया हो। मल्लिनाथ-विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ९६ ॥

सामोदपुष्पाशुगवासिताङ्गीं किशोरशाखाग्रशयालिमालाम्।
वसन्तलक्ष्मीमिव राजभिस्तैः कल्पद्रुमैरप्यभिलष्यमाणाम् ॥ ९७ ॥

जीवातु—सामोदेति। पुनः किम्भूताम्? सामोदम् अतिमनोहरतदङ्गरूपवस्तुलाभेन सहर्षं यथा तथा, पुष्पाशुगेन कामेन वासितम् अधिष्ठितम्, अङ्गं वपुर्यस्यास्ताम्, अन्यत्र—सामोदपुष्पाणि सुगन्धिकुसुमानि, आशुगो मलयानिलश्च, तैः वासिताङ्गीं सुरभीकृताङ्गीम्, 'आमोदो हर्षगन्धयोः' 'आशुगौ वायुविशिखौ' इति विश्वामरौ, पुनः किशोरशाखाः कोमलाङ्गुलयः, अग्रशया अग्रपाणयो यासां तादृश्यः, आलिमालाः सखीपंक्तयो यस्यास्तां, 'पञ्चशाखः शयः पाणिः' इत्यमरः अन्यत्र—किशोरशाखानां नवपल्लवानाम् अग्रेषु ये शेरते इति तच्छायाः, 'अधिकरणे शेतेः' इत्यच् प्रत्ययः, तादृश्यः अलिमाला भृङ्गश्रेणयः यस्यां तां, तैः राजभिः कल्पद्रुमैरपि सर्वाभिलाषपूरकैरपीति भावः, अभिलष्यमाणां वसन्तलक्ष्मीमिव, स्थितामिति शेषः; यथा सर्वाभिलाषपूरकैरपि कल्पवृक्षैर्वसन्तलक्ष्मीरपेक्ष्यते तद्वद्राजभिरपीति सात्त्विकोक्तिः ॥ ९७ ॥

अन्वयः—सामोदपुष्पाशुगवासिताङ्गीं किशोरशाखाग्रशयालिमालां वसन्तलक्ष्मीम् इव तैः कल्पद्रुमैः अपि राजभिः अभिलष्यमाणाम्....।

हिन्दी—सहर्ष पुष्पबाण (काम) जिसके अंगों को अधिष्ठित किये था और जो पतलीकोमल अंगुलियों से युक्त हाथों वाली सखियों से घिरी थी, ऐसी सुगन्धि पुष्पों और मलयपवन से सुवासित देहशालिनी, पतली डालियों की फुनगियों पर बैठी भ्रमरावलि से युक्त वसंतश्री के समान उन कल्पवृक्षों के तुल्य भी राजाओं द्वारा अभिलषित दमयन्ती को देखा।

टिप्पणी—अनेकार्थ शब्दों की योजना द्वारा इस श्लोक में दमयन्ती की तुलना वसन्तलक्ष्मी से की गयी है, जिसका अभिलाष ऐसे राजा भी कर रहे थे, जो कल्प वृक्षों के तुल्य दूसरों की इच्छा पूर्ण कर सकते थे। दमयन्ती का अंग-अंग काम द्वारा अधिष्ठित था अर्थात् उसका प्रत्यंग दर्शक को काम-व्यथित कर देता था और वह सुन्दरी सखियों के मध्य स्थित थी। नारायण ने 'किशोरशाखाग्रमायालिशालाम्' का दमयन्ती पक्ष में एक और भी अर्थ किया है—'बालपल्लवों के तुल्य अतिशय अरुण हाथों वाली सखियों से युक्त'—नूतनशाखाग्रवद्बालपल्लववदतिरक्ताः करा यस्या एवंभूता अलिमाला यस्यास्ताम्। भाव यह कि सर्वसामर्थ्यशील, सर्वथा संपन्न राजा भी दमयन्ती के अभिलाषी थे, वैसे ही जैसे सबकी इच्छा पूरी करने वाले भी कल्पवृक्ष वसन्तलक्ष्मी के अभिलाषी होते हैं। मल्लिनाथ के अनुसार यह सात्विकोक्ति है; विद्याधर ने यहाँ उपमा और अतिशयोक्ति अलंकार का निर्देश किया है ॥ ९७ ॥

पीतावदातारुणनीलभासां देहोपलेपात् किरणैर्मणीनाम्।
गोरोचनाचन्दनकुङ्कुमैण-नाभीविलेपान् पुनरुक्तयन्तीम् ॥ ९८ ॥

जीवातु—पीतेति। किम्भूताम्? पीता गौराः, अवदाताः शुक्लाः, अरुणा रक्ताः, नीलाः कृष्णाश्च, भासो दीप्तयो येषां तेषां, मणीनां किरणैः देहस्य शरीरस्य, उपलेपात् अनुलेपनात्, गोरोचनादिचतुष्टयलेपान् पुनरुक्तयन्तीं सावर्ण्यात् पुनरुक्तान् कुर्वतीम्। एणनाभिः कस्तूरी। दमयन्त्याः पीतादिमणिप्रभया गोरोचनाद्यनुलेपनानां विफलत्वं साधितमिति भावः। अत्र गोरोचनाद्यनुलेपचतुष्टयस्य यथासंख्यसम्बन्धेन पीतादिमणिकिरणकैतव-कथनात् यथासंख्यसङ्कीर्णसामान्यालङ्कारः। लक्षणमुक्तम् ॥ ९८ ॥

अन्वयः—पीतावदातारुणनीलभासां मणीनां किरणैः देहोपलेपात् गोरोचनाचन्दनकुङ्कुमैणनाभीविलेपान् पुनरुक्तयन्तीम्···· ।

हिन्दी—पीली, शुभ्र, अरुण, नील-आभा वाली मणियों की किरणों से शरीर अनुलिप्त होने से गोरोचना, चन्दन, कुंकुम और कस्तूरी के लेपों को पुनरुक्त (निरर्थक) करती दमयन्ती को देखा ।

टिप्पणी—दमयन्ती ऐसे आभरण पहिने थी, जिनमें जड़ी मणियों का रंग पीला, सफेद, लाल और नीला था, अर्थात् पुखराज, स्फटिक, माणिक्य और नीलम जड़े आभूषण । इसके साथ ही उसके शरीर पर गोरचना-चन्दन-कुंकुम-कस्तूरी का लेप भी किया गया था; किन्तु वह पुनरुक्त जैसा होकर निरर्थक बन गया था, क्योंकि रत्न-कान्तियों ने उनके रंग को अपने रंगों में संयो लिया था । पीले पुखराज ने गोरचना की पीतिमा, शुभ्र स्फटिक ने चन्दन की सफेदी, लाल माणिक्य ने कुंकुम की लाली और नीले नीलम ने कस्तूरी की श्यामलता । विद्याधर ने यहाँ यथासंख्य अलंकार का निर्देश किया है, किन्तु गोरचनादि के अनुलेपचतुष्टय के यथासंख्य संबंध से पीतादि मणिकिरणों का कैतव कहा होने के कारण मल्लिनाथ ने यथासंख्य-संकीर्ण सामान्यालंकार का ॥ ९८ ॥

स्मरं प्रसूनेन शरासनेन जेतारमश्रद्दधतीं नलस्य ।
तस्मै स्वभूषादृषदंशुशिल्पं बलद्विषः कार्मुकमर्पयन्तीम् ॥ ९९ ॥

जीवातु—स्मरमिति । पुनः किम्भूताम् ? प्रसूनेन पुष्पमयेन, शरासनेन धनुषा, अतिकोमलेन पुष्पचापेन करणेन इत्यर्थः, नलस्य जेतारं जैत्रं, स्मरम् अश्रद्दधतीं स्मरः पुष्पमयकोमलधनुषा नलं कथमपि जेतुं न शक्नुयादिति अविश्वसतीम्, अत एव तस्मै स्मराय, स्वभूषादृषदंशुभिः निजाभरणमणि-किरणैः, शिल्पः निर्माणं यस्य तादृशं, तन्निर्मितमित्यर्थः, बलद्विषःकार्मुकम् इन्द्रचापम्, अर्पयन्तीम् इन्द्रधनुरिव नानावर्णा तस्या आभरणरत्नशोभेति भावः । वीरधौरेयः नलः पुष्पचापदुर्जय इति मत्वा नलजयाय स्वाभरणमणि-किरणकल्पितम् ऐन्द्रं धनुः द्रढीयस्तस्मै कन्दर्पाय ददानामिव स्थितामित्युत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥ ९९ ॥

अन्वयः—प्रसूनेन शरासनेन स्मरं नलस्य जेतारम् अश्रद्दधतीं तस्मै स्वभूषादृशदंशुशिल्पं बलद्विषः कार्मुकम् अर्पयन्तीम्··· ।

हिन्दी—फूलों के धनुष् से काम को नल का जयी होने पर विश्वास न करती अतएव उसे (काम को) अपने आभरण जटित पत्थरों (रत्नों) की किरणों से बने बलरिपु (इन्द्र) का धनुष् (इन्द्रधनुष्) अर्पित करती दमयन्ती को देखा ।

टिप्पणी—जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है—दमयन्ती रंग-रंग के रत्नों से जड़े आभूषण पहिने थी, जिनसे अनेक रंग दमक कर वहाँ इन्द्र धनुष् (वर्षाचाप—रेनबो) की छटा बखेर रहे थे । इस रत्नकिरणों के वर्षा-धनुष् की कल्पना यहाँ देवराज इन्द्र के चाप के रूप में की गयी है, जिसे दमयन्ती काम को नल-विजय के निमित्त अर्पित कर रही थी । वह समझती है कि नल जैसे दुर्जय वीर को काम फूलों के धनुष् से नहीं जीत सकता, उसके लिए तो दृढ धनुष् अपेक्षित है । और यदि काम द्वारा नल न जीता गया तो दमयन्ती को प्राप्त कैसे होगा ? मल्लिनाथ के अनुसार व्यंजक का प्रयोग न होने से यह गम्या उत्प्रेक्षा है; विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ९९ ॥

त्रिभूषणेभ्यो वरमंशुकेषु ततो वरं सान्द्रमणिप्रभासु ।
सम्यक् पुनः क्वापि न राजकस्य पातुं दृशा धातृकृतावकाशाम् ॥१००॥

जीवातु—विभूषणेभ्य इति । पुनः किम्भूताम् ? विभूषणेभ्यो वरं प्रथमं विभूषणेषु आसज्य ततोऽधिकं यथा तथा, अंशुकेषु वस्त्रेषु, सक्तया इति शेषः, ततो वरमधिकं, सान्द्रमणिप्रभासु, सक्तया इति शेषः, राजकस्य राजसमूहस्य 'गोत्राक्ष—' इत्यादिना वुञ्प्रत्ययः, दृशा दृष्ट्या, सम्यक् पातुं पुनः स्थैर्येण भूषणादिकं पुनः ईक्षितुं, क्वापि कुत्रापि; न धातृकृतावकाशां धात्रा विधात्रा, कृतोऽवकाशो दर्शनावकाशो यस्या एवम्भूतां, दमयन्त्याः किमपि अङ्गं स्थिर-तया द्रष्टुं राजकदृष्टेरवकाशो विधात्रा न विहितः इत्यर्थः, उत्तरोत्तरविषया-कृष्टा पूर्वंपूर्वविस्मरणेन राजकदृष्टिर्न क्वापि क्षणमवस्थितेति भावः । अत्र विभूषणानामुत्तरोत्तरोत्कर्षद्वारेण राजकदृष्टेः क्रमेण विभूषणाद्यनेकाधार-सम्बन्धोक्तेः सारालङ्कारः; 'उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सारः' ॥ १०० ॥

अन्वयः—विभूषणेभ्यः वरम् अंशुकेषु ततः वरं सान्द्रमणि प्रभासु राज-कस्य दृशा सम्यक् पातुं पुनः क्व अपि न धातृकृतावकाशाम्···· ।

हिन्दी--आभूषणों से पहिले श्रेष्ठ वस्त्रों पर, तब (आभूषणों पर) फिर सघन मणियों की आभापर पड़ती राजसमूह की दृष्टि द्वारा भलीभाँति पान किये जाने (देखे जाने) के निमित्त कहीं विधाता के द्वारा अवसर-प्राप्त दमयन्ती को देखा।

टिप्पणी—दमयन्ती वस्त्र पहिने थी, आभूषण पहिने थी, जिनमें सघन रूप से मणियाँ जड़ी थीं। यह सब उत्तरोत्तर आकर्षक था। दमयन्ती की संपूर्ण देह वस्त्र और मणिजटित आभूषणों से आवृत थी। इस स्थिति में वस्त्र, आभूषण और मणियों की उत्तरोत्तर उत्कृष्ट मनोरमता को ही राजगण देखता रह गया और इनसे आवृत दमयन्ती के किसी अंग को न देख पाया; और इसी अदृश्यता के कारण देखने को और अधिक उत्सुक हो उठा। जो छिपा होता है, उसे देखने की और भी उत्कंठा होती है—यह स्वभाव है लोक का। नारायण ने 'वरम्' के स्थान पर दोनों स्थलों पर 'अवरम्' पाठान्तर माना है और 'अवरम्' का अर्थ किया है 'अर्वाग्भागे', अर्थात् समीप अथवा पृष्ठभाग में—पीछे। आभूषणों के समीप या पीछे स्थित वस्त्रों पर, फिर अभूषणों पर, फिर मणिप्रभा पर आसक्त राजाओं की दृष्टि दमयन्ती का कोई अंग न देख सकी—'विभूषणांशुकमणिप्रभाच्छादितत्वात्किमप्यङ्गं राजदृष्टिगोचरो नाभूत्।' मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ सार अलंकार है, क्योंकि विभूषणों के उत्तरोत्तरोत्कर्ष के द्वारा राजसमूह की दृष्टि का क्रमपूर्वक विभूषणादि अनेक आधारों से सम्बन्ध कहा गया है, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ १०० ॥

प्राक् पुष्पवर्षैर्वियतः पतद्भिर्द्रष्टुं न दत्तामथ तद्द्विरेफैः।
तद्भीतिभुग्नेन ततो मुखेन विधेरहो! वाञ्छितविघ्नयत्नः ॥१०१॥

जीवातु—प्रागिति। पुनः किम्भूताम्? प्राक् प्रथमं, वियतः अम्बरात्, पतद्भिः पुष्पवर्षैः दमयन्त्या रूपदर्शनेन तदुपरि सन्तुष्टदेवगणमुक्तकुसुमवर्षणैः, अथ अनन्तरं, तद्द्विरेफैः तत्पुष्पाकृष्टभृङ्गैः, ततोऽनन्तरं, तद्भीतिभुग्नेन भृङ्गभयनम्रेण, मुखेन च द्रष्टुं न दत्ताम् एतैः प्रतिबद्धदर्शनामित्यर्थः, राजकस्येति शेषः। तथा हि, विधेः दैवस्य, वाञ्छितविघ्नयत्ना वाञ्छितार्थविघातव्यसनिता, अहो! आश्चर्यरूपः, इत्यर्थान्तरन्यासः, एकस्या राजदृष्टेः

क्रमेण भैमीदर्शनप्रतिबन्धकपुष्पवृष्ट्याद्यनेकाधारसम्बन्धोत्थेन पर्यायेण सङ्करः ॥ १०१ ॥

अन्वयः—प्राक् वियतः पतद्भिः पुष्पवर्षैः अथ तद्द्विरेफैः ततः तद्भीतिभुग्नेन न मुखेन द्रष्टुं न दत्ताम्; अहो विधेः वाञ्छितविघ्नयत्नः !

हिन्दी—पहिले आकाश से गिरते फूलों की वर्षा से, तत्पश्चात् उस (पुष्पवर्षा से आकृष्ट) के भौरों से, तदनन्तर उन (भौरों) के भय से वक्रीकृत मुख से न देखने दी जाती दमयन्ती को देखा। आश्चर्य कारक है, खेदजनक है विधाता का अभीष्ट में विघ्न डालने का प्रयत्न !

टिप्पणी—दमयन्ती जब सभामध्य आयी तो प्रसन्न होकर देवों ने आकाश से फूल बरसाये, उन पर अगणित भौंरे आ गये, जिनके डर से राजाओं ने दमयन्ती की ओर से अपने मुँह फेर लिये। इस प्रकार पुष्पवर्षा, भ्रमरालि और उसके ही कारण राजाओं के फेरे गये मुख—विधाता ने तीन-तीन दृष्टि-निरोधक कारण उपस्थित कर यह सिद्ध कर दिया कि वह लोगों के अभीप्सित में विघ्न डाला ही करता है। भाव यह कि दमयन्ती-अदर्शन ही रहा। मल्लिनाथ के अनुसार चतुर्थचरण में व्यक्त अर्थान्तरन्यास का एक राज दृष्टि के क्रमपूर्वक भैमीदर्शन प्रतिबंधक पुष्पवर्षा आदि अनेक आधारों के संबंध से उत्थित पर्याय के साथ संकर है; विद्याधर ने भी यहाँ पर्याय और अर्थान्तरन्यास का ही निर्देश किया ॥ १०१ ॥

एतद्वरं स्यामिति राजकेन मनोरथातिथ्यमवापिताय।
सखीमुखायोत्सृजतीमपाङ्गात् कर्पूरकस्तूरिकयोः प्रवाहम् ॥ १०२ ॥

जीवातु—एतदिति। पुनः किम्भूताम् ? एतत् सखीमुखं, वरं स्याम् अस्माकम् एतन्मुखत्वे सति भैमीदृष्टिलाभः सेत्स्यति अतो राजत्वापेक्षया अहं तदात्मको वरं भवेयं, 'प्रार्थनायां लिङ्' इति राजकेन राजसमूहेन, मनोरथस्य आतिथ्यम् अतिथित्वम्, अभिलाषविषयताम् इति भावः, ब्राह्मणादित्वात् ष्यङ्प्रत्ययः। अवापिताय प्रापिताय, सखीमुखाय अपाङ्गात् नेत्रप्रान्तात्, कर्पूरस्य कस्तूरिकायाश्च स्वार्थे कः, 'केऽण' इति ईकारस्य ह्रस्वः, प्रवाहं श्वेतकृष्णकान्तिप्रवाहम्, उत्सृजतीं प्रवर्त्तयन्तीं, सखीमुखमेव कटाक्षैः वीक्ष-

माणामित्यर्थः । 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पनान्नुम्भावः । दृष्टीनां सितासितत्वेन निर्देशः, अत एव विषयनिगरणेन विषयिमात्रोपनिबन्धात् भेदे अभेदरूपातिशयोक्त्यलङ्कारः ॥ १०२ ॥

अन्वयः—वरम् एतत् स्याम्—इति राजकेन मनोरथातिथ्यम् अवापिताय सखीमुखाय अपाङ्गात् कर्पूरकस्तूरिकयोः प्रवाहम् उत्सृजन्तीम्.... ।

हिन्दी—अच्छा हो कि यह (सखीमुख) हो जाऊँ—इस प्रकार राजसमूह द्वारा मनोरथ के अतिथिभाव को प्राप्त कराये सखीमुख के निमित्त नेत्रप्रांत से कपूर और कस्तूरी के प्रवाह का उत्सर्जन करती दमयन्ती को देखा।

टिप्पणी—दमयन्ती अपने श्वेत-श्याम पुतलियों से युक्त नेत्रों के कटाक्षों से बार-बार सखियों के मुख की ओर देख रही थी, लगता था जैसे श्वेत-कर्पूर और श्याम कस्तूरी के प्रवाह उन पर छोड़ रही हो। राजाओं ने सोचा कि राजा होने की अपेक्षा यह अच्छा होता कि वे दमयन्ती की सखियों का मुख होते। उस स्थिति में यह श्वेतश्याम नयनों का कर्पूर-कस्तूरी प्रवाह उनके ही भाग में आता। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ विषय का निवारण करके विषयिमात्र के उपनिबंध के कारण भेद में अभेद रूपा अतिशयोक्ति है।

स्मितेच्छुदन्तच्छदकम्पकिञ्चिद्दिगम्बरीभूतरदांशुवृन्दैः ।
आनन्दितोर्वीन्द्रमुखारविन्दैर्मदं नुदन्तीं हृदि कौमुदीनाम् ॥१०३॥

जीवातु—स्मितेति। पुनः किम्भूताम्? आनन्दितानि मां प्रतीयं प्रसन्नेति बुद्धया हृष्टानि, अन्यत्र—विकसितानि; उर्वीन्द्रमुखारविन्दानि राजमुखपद्मानि यैस्तैः, अत एव स्मितेच्छुकोः ईषद्धास्योद्युक्तयोः, दन्तच्छदयोः अधरोष्ठयोः, कम्पेन किञ्चिद्दिगम्बरीभूतैः, इषत्प्रकाशीभूतैः यद्वा—दिशाम् अम्बरीभूतैः आच्छादनस्वरूपैः, दिग्व्यापिभिरित्यर्थः, रदांशूनां दन्तकान्तीनां, वृन्दैः कौमुदीनां हृदि, स्थितमिति शेषः, मदं गर्वं, नुदन्तीं खण्डयन्तीं, कौमुदीमधुरमन्दहासामित्यर्थः, कौमुद्यो हि पद्मविकासने असमर्था, एतैः रदांशुवृन्दैस्तु नृपमुखपद्मानि विकासितानि इति भावः, व्यतिरेकालङ्कारश्च ॥ १०३ ॥

अन्वयः—आनन्दितोर्वीन्द्रमुखारविन्दैः स्मितेच्छुदन्तच्छदकम्पकिञ्चिद्दिगम्बरीभूतरदांशुवृन्दैः कौमुदीनां हृदि मदं नुदन्तीम्.... ।

हिन्दी—आनन्दित पृथ्वीपतियों के मुखकमलों से मुसकाने को इच्छुक ओष्ठाधरों के कंपन से कुछ दिगम्बर (नंगे) हुए (कुछ प्रकट हुए) दाँतों की कांति के समूहों से चाँदनी के हृदय स्थित मद का खण्डन करती दमयन्ती को देखा।

टिप्पणी—प्रसन्नवदना दमयन्ती को देखकर राजा समझ रहे थे कि दमयन्ती उन पर प्रसन्न है और उनके मुखकमल आनन्द से खिले जा रहे थे, दमयन्ती को इस पर कुछ हँसी आ रही थी, जिससे उसकी दन्तावली कुछ दिख जा रही थी। उसकी कांति चाँदनी को भी श्रेष्ठ थी। यह इस दृष्टि से भी युक्त कथन है कि रदांशु सूर्यकिरण-भाग है, जिससे उर्वीन्द्रमुखारविन्द विकसित हैं, उससे कौमुदी का मदहरण हो रहा है। यह स्वाभाविक ही है। मल्लिनाथ ने कहा है–'व्यतिरेकालङ्कारश्च'–'और व्यतिरेक अलंकार है', इस 'च' (और) से द्योतित है कि वे यहाँ स्पष्ट रूपक भी मानते हैं, जिसका उल्लेख अनपेक्षित है। विद्याधर के अनुसार रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

प्रत्यङ्गभूषाच्छमणिच्छलेन यल्लग्नतन्निश्चललोकनेत्राम्।
हाराग्रजाग्रगरुडाश्मरश्मि-पीनाभनाभीकुहरान्धकाराम् ॥१०४॥

जीवातु—प्रत्यङ्गेति। पुनः किम्भूताम्? प्रत्यङ्गं प्रत्यवयवं, ये भूषाच्छमणयः अलङ्कारस्थनिर्मलरत्नानि, तेषां छलेन येषु अङ्गेषु लग्नानि तेषु अङ्गेषु निश्चलानि, हर्षपारवश्यादिति भावः, खञ्जनकुब्जवत् समासः, लोकनेत्राणि दर्शनोत्सुकजननेत्राणि यस्यास्तामिव वस्तुतः नानाविधरत्नालङ्कारभूषितामिति भावः। अत्र दमयन्तीदर्शनोत्सुकानां नेत्राण्येवैतानि, न तु रत्नानीति सापह्नवोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या। पुनः हाराग्रे जाग्रतः प्रकाशमानस्य, गरुडाश्मनः गरुत्मद्रत्नस्य, रश्मिभिः पीनाभं सान्द्रप्रभं, नाभीकुहरान्धकारं यस्यास्ताम्। अत्र मरकतच्छायस्यान्धकारैः साम्योक्तेः सामान्यालङ्कारः ॥ १०४ ॥

अन्वयः–प्रत्यङ्ग···रान्धकाराम्।–इति स्पष्टोऽन्वयः।

हिन्दी—प्रत्येक अंग के आभूषणों में जड़ी निर्मल मणियों के व्याज से जिस अवयव पर लगे, वहीं लोगों के नेत्रों को निश्चल कर देने वाली और मुक्तामाल के मध्य में लगी गरुडोद्गार मणि (पन्ना) की किरणों के

कारण जिसकी नाभि-गुहा का अंधकार गहरा गया था ऐसी दमयन्ती को देखा।

टिप्पणी—दमयन्ती का प्रत्येक अवयव मणिजटित आभूषणों से सुशोभित था। दर्शक उत्सुक होकर टकटकी लगाये उसे देख रहे थे। इस पर कल्पना है कि आभूषणों में जड़ी ये मणियाँ नहीं है, प्रत्युत देखनेवालों की आँखें हैं, जो दमयन्ती के जिस अंग पर पड़ीं, वहीं चिपक कर रह गयीं। दमयन्ती ऐसे मुक्ताहार से भी अलंकृत थी, जिसके मध्य में लगे रत्न 'पन्ना' की आभा से उसके नाभि-गर्त का अँधियारा और गहराया प्रतीत होता था। मल्लिनाथ ने यहाँ मरकत की छाया के अँधकार से साम्यकथन के आधार पर सामान्यालंकार का निर्देश किया है, विद्याधर ने अनुप्रास-अतिशयोक्ति-अपह्नुति और तद्गुण अलंकार का ॥ १०४ ॥

तद्गौरसारस्मितविस्मितेन्दु-प्रभाशिरःकम्परुचोऽभिनेतुम् ।
विपाण्डुतामण्डितचामराली-नानामरालीकृतलास्यलीलाम् ॥१०५॥

जीवातु—तदिति। पुनः किम्भूताम्? तस्याः भैम्याः, गौरसारस्मितेन विशदोत्कृष्टमन्दहासेन, विस्मितायाः विस्मयाविष्टायाः, इन्दुप्रभायाः चन्द्रिकायाः, शिरःकम्परुचोऽभिनेतुम्, अनुकर्त्तुमिव; इत्युत्प्रेक्षा; विपाण्डुतामण्डिता धावल्यशोभिताः, चामराल्यः चामरपङ्क्तय एव, नाना मराल्यः हंस्यः, ताभिः कृता लास्यलीला नृत्यचेष्टा यस्यास्तां, निजमन्दहासजनितविस्मयकम्प्यमानचन्द्रिकाशिरःकम्पचारुचारुचामरचयवीज्यमानामित्यर्थः ॥ १०५ ॥

अन्वयः—तद्गौरसारस्मितविस्मितेन्दुप्रभाशिरःकम्परुचः अभिनेतुं विपाण्डुतामण्डितचामरालीनानामरालीकृतलास्यलीलाम् ... ।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) की स्वच्छ-शुभ्र उत्कृष्ट मुसकान से विस्मय में पड़ी चाँदनी के शिरःकंपन की कांति का अनुकरण करने के निमित्त धवलता से सुशोभित चँवरपंक्तिरूप अनेक हँसिनियों द्वारा जिसके समीप ललित नृत्य 'लास्य' किया जा रहा था, ऐसी दमयन्ती को देखा।

टिप्पणी—सभामध्यस्थिता दमयन्ती का मुख मंद स्मित से विलसित था और उस पर सखियों द्वारा शुभ्र चँवर डुलाये जा रहे थे। इस पर कल्पना है कि दमयन्ती की शुभ्र और उत्कृष्ट मुसकान को देखकर चाँदनी को अचरज

हो रहा था कि इतनी धवल तो मैं—चाँद की चाँदनी भी नहीं हूँ और वह सिर हिला रही थी; वे जो शुभ्र चँवर दमयन्ती पर डुलाये जा रहे थे, वे मानों शुभ्र हँसिनी थीं, जो चाँदनी के सिर हिलाने का अभिनय—अनुकरण करतीं ललित नृत्य कर रही थीं। भाव यह कि चाँदनी, चँवर और हँसिनी—इन सब की शुभ्रता दमयन्ती की मुसकान के आगे निम्न थी। चाँदनी को विस्मय हो रहा था, उसके विस्मयद्योतक अनुभाव शिरःकंप का अभिनय मराली-समूह द्वारा हो रहा था, जो स्वयं—चामर के रूप में थीं। मल्लिनाथ ने रसभावादि व्यंजक चेष्टा विशेष को अभिनय कहा है—'अभिनयो रसभावादिव्यञ्जकचेष्टाविशेषः।' (किरातार्जुनीय १०।४२ की टीका)। भरत मुनि के अनुसार अभिनय 'अर्थ' को प्रयोग की स्थिति में लाता है और चूँकि वह प्रयोग के द्वारा शाखा, अंग और उपांगों से संयुक्त हो अनेक अर्थों को विभावित करता है, अतः अभिनय कहा जाता है—'यस्मात्प्रयोगं नयति तस्मादभिनयः मतः। विभावयति यस्माच्च नानार्थान् हि प्रयोगतः। शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्तस्मादभिनयः स्मृतः॥' (नाटयशास्त्र ८।७-८)। यह अभिनय 'अनुकरण' तो है, पर यह 'भावानुकीर्तन' है, सामान्य 'अनुकार' नहीं, यह 'अनुव्यवसायविशेष' है, जिसका ग्रहण अनुव्यवसायात्मक' निर्विकल्पप्रतीति अर्थात् साधारणीकरण व्यापार के पश्चात् होनेवाले अनुव्यवसायात्मक ज्ञान द्वारा होता है। (ना० शा० १।७ पर अभिनवभारती)। 'लास्य' शृङ्गाररससंभव नृत्य को कहते हैं। 'स्त्रीजनकृतं शृङ्गाररसप्रधानं नृत्यं लास्यम्।' (दंडी काव्यादर्श १।३९ पर प्रकाशटीका)। इस नृत्य को 'लसन' के कारण लास्य कहा गया। लसन अर्थात् स्त्री के चित्त का पुरुष के प्रति संश्लेष और पुरुष-चित्त की स्त्री के प्रति संश्लेष-क्रीडा। इससे शृङ्गार रस की उत्पत्ति होती है। (नाटयशास्त्र ३१।३३१)। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में छेकानुप्रास-रूपक-अतिशयोक्ति अलंकार हैं। मल्लिनाथ ने 'अभिनेतुम् अनुकर्तुमिव' कहकर उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है॥ १०५॥

तदङ्गभोगावलिगायनीनां मध्ये निरुक्तिक्रमकुण्ठितानाम्।
स्वयं धृतामप्सरसां प्रसादं ह्रियं हृदो मण्डनमर्पयन्तीम्॥१०६॥

जीवातु—तदङ्गेति। पुनः किम्भूताम्? संवाङ्ग काव्यार्थतया शरीरं

यासां ताः तदङ्गाः तद्विषया इत्यर्थः, 'शब्दादौ मूर्त्तिभिः ख्यातौ' इति लक्षणात्; तासां भोगावलीनां प्रबन्धविशेषाणां' गायन्त्यः गायिकाः, कर्त्तरि ल्युट्, ङीप्, तासां, मध्ये गानमध्ये, निरुक्तिक्रमेषु निष्कृष्टोच्चारणप्रकारेषु, कुण्ठितानां लुप्तप्रतिभानाम्, अप्सरसां स्वयं धृतां हृदः स्वान्तस्य वक्षसश्च, मण्डनम् अलङ्कारभूतां, ह्रियं लज्जामेव, प्रसादं पारितोषिकम्, अर्पयन्तीं, प्रयच्छन्तीं, तद्दोषज्ञानेन ताः अपि हेलयन्तीमित्यर्थः, गायकेभ्यः स्वधृतवस्त्रालङ्कारादिकं प्रीत्या प्रयच्छन्तीम् इति भावः। तस्याः सौन्दर्यस्तुतिकरणासामर्थ्यादप्सर· सोऽपि लज्जिता इति तात्पर्यम्। अत्र तु ह्रीदानमेव तद्दानमित्युत्प्रेक्षा ह्रिया अपि स्वय धृतत्वादलङ्कारत्वात् तदायत्तत्वाच्चेति बोद्धव्यम् ॥ १०६ ॥

अन्वयः—तदङ्गभोगावलिगायनीनां मध्ये निरुक्तिक्रमकुण्ठितानाम् अप्सरसां स्वयं धृतां हृदः मण्डनं ह्रियं प्रसादम् अर्पयन्तीम्.... ।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) के अङ्गों की भोगावलि (चन्दनादि प्रसाधन) अथवा दमयन्ती-सौन्दर्यरूप प्रबंध की गायिकाओं, मध्य में निरुक्ति-क्रम (पूर्णवर्णन) में कुण्ठित (आशक्त) अप्सराओं को स्वयम् भी धारी गयी हृदय की शृङ्गार लज्जा को प्रवाद रूप में देती दमयन्ती को देखा।

टिप्पणी – दमयन्ती का सौन्दर्य अवर्णनीय था। उसका वर्णन करतीं अप्सराएँ जब बीच-बीच में कुण्ठित होने लगीं तो वे लजाकर चुप हो गयीं। बेचारी अप्सरियाँ कुछ अङ्गों का जेसा-तैसा सौन्दर्य-वर्णन कर सकीं, कुछ का न कर सकीं, सो लजा गयीं। परन्तु गायिकाओं और स्तुतिगायिकाओं को पुरस्कार तो मिलना चाहिए। स्त्रियों का सबसे बड़ा आभूषण है लज्जा। दमयन्ती स्वयं भी लज्जावती थी, सो चुप हुई अप्सराओं को जैसे उसने अपना आभूषण लज्जा पुरस्कार में दे दिया। भाव है कि उस सौन्दर्यातिशय का वर्णन करने में असमर्थ हो अप्सरियाँ भी लज्जित हो गयीं। मल्लिनाथ के अनुसार 'ह्रीदान' ही दमयन्ती का दान था—यह उत्प्रेक्षा है। विद्याधर ने रूपक और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा का निर्देश किया है ॥ १०६ ॥

तारा-रदानां वदनस्य चन्द्रं रुचा कचानाञ्च नभो जयन्तीम्।
आकण्ठमक्ष्णोर्द्वितयं मधूनि महीभृतः कस्य न भोजयन्तीम्? ॥१०७॥

जीवातु—तारा इति। पुनः किम्भूताम्? रदानां दन्तानां, रुचा कान्त्या, ताराः नक्षत्राणि, वदनस्य रुचा चन्द्रं, कचानां केशानां, रुचा नभश्च जयन्तीम्, अत एव कस्य महीभृतोऽक्ष्णोर्द्वितयं चक्षुर्द्वयं. मधूनि क्षौद्राणि, आकण्ठम्, आगलम्, अतितरामित्यर्थः न भोजयन्तीम्? न पाययन्तीम्? अपि तु सर्वस्यै-वेत्यर्थः। नञर्थस्य नशब्दस्य 'सुप्सुपा' इति समासः। 'गतिबुद्धि' इत्यादिना अणिकर्त्तुरक्षिद्वितयस्य कर्मत्वम्। 'निगरणचलनार्थेभ्यश्च' इति परस्मैपदम् दमयन्तीरूपदर्शनेन राजनेत्राणाम् अमृतेनैव तृप्तिर्जाता इति भावः। सकल-राजलोकलोचनासेचनकमासीत् सा इति निष्कर्षः। अत्रोत्तरवाक्यार्थस्य पूर्व-वाक्यार्थहेतुकत्वात् काव्यलिङ्गं, तच्च ताराद्युपमाभिः सङ्कीर्यते, तस्य नभो जयन्तीं न भोजयन्तीमिति यमकेन संसृष्टिः ॥ १०७ ॥

अन्वयः—रदानां रुचा ताराः वदनस्य चन्द्र कचानां च नभः जयन्तीं कस्य महीभुजः अक्ष्णोः द्वितयम् आकण्ठं मधूनि न भोजयन्तीम्.... ।

हिन्दी—दाँतों की कांति से तारकगण को, मुख की कांति से चन्द्र को और (काले) केशों की कांति से आकाश को जीतती और इस प्रकार किस धरती के स्वामी के नेत्रयुगल को आकण्ठ मधुपान न कराती (सब के नेत्रों को मधुपान कराती) दमयन्ती को देखा।

टिप्पणी—दमयन्ती के दाँत, मुख और काले केशों की आभा के संमुख तारकगण, चन्द्रमा और नीले नभ की आभा नगण्य थी। उसे देखकर सभी उपस्थित पृथ्वीपति आकण्ठ अमृतपान की तृप्ति का अनुभव कर रहे थे। सबके नेत्र तृप्त हो गये। विद्याधर के अनुसार यहाँ दीपक और अतिशयोक्ति अलंकार है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ उत्तरवाक्यार्थं के पूर्ववाक्यार्थ हेतुक होने से काव्यलिग है, जो तारादि उपमाओं से संकीर्ण है, जिसकी 'नभो जयन्तीं न भोजयन्तीम्'—इस यमक से संसृष्टि है ॥ १०७ ॥

अलङ्कृताङ्गाद्भुतकेवलाङ्गीं स्तवाधिकाध्यक्षनिवेद्यलक्ष्मीम्।
इमां विमानेन सभां विशन्तीं पपावपाङ्गैरथ राजराजिः ॥१०८॥

कुलकम्।

जीवातु—अलङ्कृतेति। पुनः किम्भूताम्? अथ आह्वानानन्तरम्, अलङ्-कृताङ्गेभ्यः भूषिताङ्गेभ्यः, अद्भुतानि आश्चर्याणि केवलानि अनलङ्कृतानि,

अङ्गानि यस्यास्तां, स्तवात् स्तुतेः, अधिकाः स्तोतुमशक्याः, अध्यक्षनिवेद्याः प्रत्यक्षगम्याः, लक्ष्म्यः शोभाः यस्यास्ताम्, इति बहुवचनान्तोत्तरपदो बहुव्रीहिः, अन्यथा एकवचनान्तलक्ष्मीशब्दस्य उरःप्रभृतिकत्वात् कप्रसङ्गः, शैषिकस्तु वैभाषिकः विमानेन नरवाह्येन चतुरस्रयानेन, सभां विशन्तीम्, इमां भैमीं, राजराजिः नृपश्रेणी, अपाङ्गैः नेत्रप्रान्तैः, पपौ अत्यादरेण सविलासमद्राक्षीदित्यर्थः ॥ १०८ ॥ इति कुलकम् ।

अन्वयः—अथ राजराजिः अलङ्कृताङ्गाद्भुतकेवलाङ्गीं स्तवाधिकाध्यक्षनिवेद्यलक्ष्मीं विमानेन सभां विशन्तीम् इमाम् अपाङ्गैः पपौ ।

हिन्दी—तब राजसमूह आभरणयुक्त अङ्गों की अपेक्षा जिसके अद्भुत अनलंकृत अङ्ग थे और जिसकी शोभा वर्णन से अधिक दर्शनीय थी, पालकी पर सभा में प्रविष्ट होती उस दमयन्ती को नेत्रप्रान्तों से जैसे पीने लगा ।

टिप्पणी—दमयन्ती के अङ्ग इतने निसर्गसुन्दर थे कि उन्हें अलंकृत करने की आवश्यकता ही नहीं थी, वे अनाभरण ही अधिक मनोहर प्रतीत होते थे । कालिदास के अनुसार—'किमिह मधुराणां मण्डनमाकृतीनाम् ।' उसका सौन्दर्य अवर्णनीय था, जिसका प्रत्यक्ष दर्शन ही उचित था । ऐसी दमयन्ती जब खुली पालकी में बैठकर सभामध्य पहुँची, उत्सुक राजमंडली उसे अत्यन्त तृषित नेत्रों से सादर देखती रह गयी । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और अतिशयोक्ति ॥ १०८ ॥

आसीदसौ तत्र न कोऽपि भूपस्तन्मूर्त्तिरूपोद्भवदद्भुतस्य ।
उल्लेसुरङ्गानि मुदा न यस्य विनिद्ररोमाङ्कुरदन्तुराणि ॥१०९॥

जीवातु—अथ तामद्भुतचेष्टां वर्णयति, आसीदिति । तत्र सभायाम्, असौ ईदृशः, भूपः कोऽपि नासीत्, तस्याः भैम्याः, मूर्तिरूपेण अङ्गसौन्दर्येण, उद्भवन् अद्भुतः अद्भुतरसो यस्य एवम्भूतस्य यस्य भूपस्य, अङ्गानि मुदा हर्षेण, विनिद्रैः उदितैः, रोमांकुरैः पुलकैः, दन्तुराणि विषमाणि सन्ति, न उल्लेसुः न उल्लासितानि, सर्वस्यापि अङ्गानि उल्लेसुरेवेत्यर्थः ॥ १०९ ॥

अन्वयः—तत्र कः अपि असौ भूपः न आसीत् तन्मूर्तिरूपोद्भवदद्भुतस्य यस्य मुदा विनिद्ररोमाङ्कुरदन्तुराणि अङ्गानि न उल्लेसुः ।

हिन्दी—वहाँ (सभा में) कोई ऐसा राजा नहीं था, उस (दमयन्ती)

के अंगसौन्दर्य से उद्भूत आश्चर्य से पूर्ण जिसके-प्रसन्नता के कारण उत्पन्न रोमांच से विषम (नत-उन्नत) अंग उल्लसित न हो उठे हों।

टिप्पणी—सोलह श्लोकों (९३-१०८) के कुलक में वर्णित दमयन्ती के अद्भुत रूप को देखकर सभा में उपस्थित सभी नृपति विस्मित; रोमांचित और सानुराग हो उठे। विद्याधर के अनुसार भावोदय अलंकार ॥ १०९ ॥

अङ्गुष्ठमूर्ध्ना च निपीडिताग्रा मध्येन भागेन च मध्यमायाः।
आस्फोटि भैमीमवलोक्य तत्र न तर्जनी केन जनेन नाम ॥११०॥

जीवातु—अंगुष्ठेति। तत्र सभायां, भैमीम् अवलोक्य अंगुष्ठस्य मूर्ध्ना अग्रेण, मध्यमायाः मध्यमांगुलेः, मध्येन भागेन च निपीडितम् अग्र यस्याः सा तर्जनी केन नाम जनेन, नास्फोटि ? न वादिता ? न अभाजि ? इति यावत्, स्फुट भेदन इति धातोः चौरादिकात् कर्मणि लुङ्, सर्वेणापि अद्भुतानुभाव-स्फोटिका कृतैवेत्यर्थः ॥ ११० ॥

अन्वयः—तत्र च भैमीम् अवलोक्य अङ्गुष्ठमूर्ध्ना मध्यमायाः मध्येन भागेन च निपीडिताग्रा तर्जनी केन नाम जनेन न आस्फोटि ?

हिन्दी—और वहाँ (सभा में) भीमपुत्री को देखकर अँगूठे के अग्रभाग और मध्यमा के मध्यभाग से अगले भाग को दबाकर (दाहिने हाथ की) तर्जनी को किस मनुष्य ने आस्फालित नहीं किया ? (सभी ने किया)।

टिप्पणी—विस्मित और मुग्ध दर्शकगण दमयन्ती के रूप को देखकर अंगूठे की कोर और मझली उँगली से तर्जनी को दबाकर चटकाने लगे और इस स्वाभाविक रीति से अपना आश्चर्य प्रकट किया। नारायण की टिप्पणी है कि यह अनुभव से ही जानी गयी लोकरीति है—'लोकरीतिरियमनु-भवैकवेद्या।' विद्याधर के अनुसार जाति अलंकार ॥ ११० ॥

अस्मिन् समाजे मनुजेश्वराणां तां खञ्जनाक्षीमवलोक्य केन।
पुनः पुनर्लोलितमौलिना न भ्रुवोरुदक्षेपितरां द्वयी वा ? ॥१११॥

जीवातु—अस्मिन्निति। अस्मिन् समाजे सभायां, खञ्जनस्य इव अक्षिणी यस्या दृशौ, तां भैमीम्, अवलोक्य लोलितमौलिना आश्चर्यात् कम्पित-किरीटेन, केन वा मनुजेश्वरेण राज्ञा, भ्रुवोर्द्वयी भ्रूद्वयं, पुनः पुनर्न उदक्षे-पितराम् ? सर्वेण अतिशयेन उत्क्षिप्ता एवेत्यर्थः, क्षिपेः कर्मणि लुङि तिङन्तात् घात् आमुप्रत्ययः। अत्र शिरःकम्पभ्रूविकारावद्भुतानुभावावुक्तौ ॥ १११ ॥

अन्वयः—वा अस्मिन् समाजे पुनः पुनः लोलितमौलिना केन मनुजेश्वरेण ता खञ्जनाक्षीम् अवलोक्य भ्रुवोः द्वयी न उदक्षेपितराम् ?

हिन्दी—उस सभा में बार-बार शिर हिलाते किस राजा ने उस खंजन-नयना (दमयन्ती) को देखकर दोनों भौंहों न चढ़ाया-उतारा ? (सभी ने भ्रू-उदक्षेप किया) ।

टिप्पणी—अतिविस्मित राजगण का दूसरा अनुभाव । वे वारंवार सिर हिलाने लगे और भौंहें नचाने लगे । मल्लिनाथ के अनुसार अद्भुत रस के अनुभावद्वय का वर्णन; विद्याधर ने जाति अलंकार का निर्देश किया है ॥

स्वयंवरस्याजिरमाजिहानां विभाव्य भैमीमथ भूमिनाथैः ।
इदं मुदा विह्वलचित्तभावादवादि खण्डाक्षरजिह्मजिह्वम् ॥११२॥

जीवातु—अथ राज्ञां वागारम्भाः प्रवृत्ता इत्याह, स्वयंवरस्येति । अथ अनन्तरं स्वयंवरस्य अजिरं चत्वरप्रदेशम्, आजिहानां प्राप्नुवन्तीं, हाङः कर्त्तरि शानच्, भैमीं विभाव्य निर्वर्ण्य, भूमिनाथैः राजभिः, मुदा हर्षेण हेतुना, विह्वलचित्तभावात् व्यग्रचित्तत्वाद्धेतोः, इदं वक्ष्यमाणं, खण्डाक्षरम् अर्द्धोक्तवर्णम् अत एव जिह्मजिह्वं कुण्ठजिह्वं यथा, तथा, अवादि उक्तम् । कर्मणि लुङ् ॥ ११२ ॥

अन्वयः—अथ भूमिनाथैः स्वयंवरस्य आजिरम् आजिहानां भैमीं विभाव्य विह्वलचित्तभावात् खण्डाक्षरजिह्मजिह्वं मुदा इदम् अवादि ।

हिन्दी—तत्पश्चात् पृथ्वीपतियों ने स्वयंवर के प्राङ्गण में आयी भीमपुत्री को जानकर विकलचित्त होने से खंड-खंड अक्षरों में आधी बात कहने में लड़खड़ाती जीभ से हर्षपूर्वक यह (आगे वर्णित) कहा ।

टिप्पणी—भीमपुत्र को देखकर राजा इतने विह्वल और व्याकुल और हर्षातिरेक पूर्ण हो गये कि लड़खड़ाती जीभ से आधी-अधूरी (आगे बीस श्लोकों मे उक्त) बातें कहने लगे । नारायण की टिप्पणी है कि भैमी के दर्शनमात्र से राजा कामपरवश हो बोलने में असमर्थ हो रहे थे, तथापि हर्ष के कारण कहने लगे । विद्याधर के अनुसार हेतु और छेकानुप्रास अलकार ॥११२॥

रम्भादिलोभात् कृतकर्मभिर्भूः शून्यैव मा भूत् सुरभूमिपान्थैः ।
इत्येतयाऽलोपि दिवोऽपि पुंसां वैमत्यमत्यप्सरसा रसायाम् ॥११३॥

जीवातु—अथ विंशतिश्लोक्या वागारम्भावेन वर्णयति, रम्भेत्यादि। रम्भादिषु अप्सरःसु, लोभात् कृतं कर्म यगादि यैस्तैः सुरभूमिपान्थैः स्वर्लोक-पथिकैः, 'थथो ना नित्यम्' इति नाप्रत्ययः, भूरेव शून्या मा भूदिति हेतोः, अतिक्रान्ताः सौन्दर्यादिना अप्सरसो यया सा तया अत्यप्सरसा, एतया भैम्या, दिवः पुंसामपि देवानाम् अपि रसायां भूलोके, वैमत्यं वैराग्यम्, अलोपि लुप्तम् इव, इत्युत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्या। लुपेः कर्मणि लुङ्, अत्यप्सरसः भैम्याः सौन्दर्यात् स्वर्लोकम् अतिशेते भूलोकमिति भावः। अत्रान्त्यपादे 'मत्यमत्य—रसारसे'ति व्यञ्जनयुग्मावृत्त्या छेकानुप्रासः, अन्यत्र वृत्त्यनुप्रासः, तयोः पूर्वोक्तोत्प्रेक्षायाश्च संसृष्टिः ॥ ११३ ॥

अन्वयः—रम्भादिलोभात् कृतकर्मभिः सुरभूमिपान्थैः भूः शून्या एव मा भूत् इति अत्यप्सरसा एतया दिवः पुंसाम् अपि रसायां वैमत्यम् अलोपि।

हिन्दी—रंभा आदि अप्सरियों के लोभ से (यागादि) कर्म करने वाले देवभूमि (स्वर्ग) के पथिकों से धरती सूनी ही न हो जाय—इस कारण अप्सरियों का (सौन्दर्यादि से) अतिक्रमण करने वाली इस (दमयन्ती) के द्वारा स्वर्ग के पुरुषों (देवों) का भी रसा (धरती) के प्रति वैराग्य लुप्त कर दिया गया है।

टिप्पणी—अप्सराओं के लोभ से पृथ्वी के वासी पुरुष ज्योतिष्टोमादि यज्ञ करके स्वर्ग के पथिक बनते हैं। इस परंपरा में यह संभावना हो सकती थी कि एक दिन यह धरती पुरुषों से रहित हो जाय। इसका निवारण हुआ अप्सराओं से भी मनोरम दमयन्ती के धरती पर उत्पन्न होने से। अब दमयंती के द्वारा इस 'भू' के 'रसा' बन जाने पर भूलोक-वासियों की स्वर्ग-कामना और यात्रा पर अंकुश तो लग ही गया है, स्वर्ग के पुरुष इन्द्रादि भी अब रसा (धरती) की ओर दमयन्ती के कारण आकृष्ट हो गये हैं। 'देवों का भी रसा के प्रति वैमत्य लुप्त हो गया'—यह गम्या उत्प्रेक्षा है, क्योंकि व्यंजन शब्द का प्रयोग नहीं है। अन्तिम चरण में 'मत्य-मत्य' और 'रसा-रसा' में व्यंजन युग्म की आवृत्ति के कारण छेकानुप्रास है और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास; अतः मल्लिनाथ के अनुसार इन दोनों अनुप्रासों और उत्प्रेक्षा की यहाँ संसृष्टि है। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग और अतिशयोक्ति। यहाँ से बीस (११३–१३२) श्लोकों में राजाओं की उक्तियाँ हैं ॥ ११३ ॥

रूपं यदाकर्ण्य जनाननेभ्यस्तत्तद्दिगन्ताद् वयमागमाम।
सौन्दर्यसारादनुभूयमानादस्यास्तदस्मात् बहुना कनीयः ॥११४॥

जीवातु—रूपमिति। वय जनाननेभ्यः यद्रूपं सौन्दर्यम्, आकर्ण्य तच्च तच्च असौ दिगन्तश्च, वीप्सायां द्विर्भावः, तस्मात् तस्मात् दिगन्तात् प्राच्यादिदिक्प्रान्तात्, आगमाम आगताः स्मः, गमेर्लुङि चेरङादेशः, तत् रूपम्, अस्मादनुभूयमानात् प्रत्यक्षपरिदृश्यमानात्, सौन्दर्यसारात् 'पंचमी विभक्तेः' इति पंचमी, बहुना भूम्ना प्रथिम्ना, भावप्रधानो निर्देशः कनीयः अल्पीयः, यादृशं रूपं लोकमुखात् श्रुतं तदपेक्षयाऽधिकरूपलावण्य दृश्यते इति भावः। 'युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्' इति विकल्पात् कनादेशः॥ ११४॥

अन्वयः—वयं जनाननेभ्यः यत् रूपम् आकर्ण्य तत्तद्दिगन्तात् आगमाम, अस्याः तत् अस्मात् अनुभूयमानात् सौन्दर्यसारात् बहुना कनीयः (बहु न अकनीयः)।

हिन्दी—हम (स्वयंवर में संमिलित होने वाले) लोगों के मुँह (लोकमुख) से जिस सौन्दर्य को सुनकर उन-उन (पूर्व-पश्चिमादि सुदूर) दिग्भागों से (यहाँ) आये, इस (दमयन्ती) का वह (रूप-सौन्दर्य) इस (प्रत्यक्ष) अनुभव होते इस लावण्योत्कर्ष से अत्यधिक न्यून था (अत्यधिक 'न अन्यून' अर्थात् न्यून था)।

टिप्पणी—लोकमुख से राजाओं ने दमयन्ती के रूप की इतनी प्रशंसा सुनी कि उससे आकृष्ट हो वे सुदूर दिशान्तों से स्वयंवरार्थी हो विदर्भपुरी में दौड़े आये; परन्तु यहाँ आकर जब प्रत्यक्ष किया तब पता चला कि जो सुना था, वह तो अत्यल्प था। दमयन्ती तो अवर्णनीय सुन्दरी है। किसमें क्षमता है इतनी कि जो उसका यथावत् वर्णन कर सके? विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार॥ ११४॥

रसस्य शृङ्गार इति श्रुतस्य क्व नाम जागर्त्ति महानुदन्वान्।
कस्मादुदस्थादियमन्यथा श्रीर्लावण्यवैदग्ध्यनिधिः पयोधेः? ॥११५॥

जीवातु—रसस्येति। शृङ्गार इति श्रुतस्य प्रसिद्धस्य रसस्य शृङ्गाररसस्य सम्बन्धे इत्यर्थः, महान् उदन्वान् उदधि, 'उदन्वानुदधौ' इति निपातनात् साधुः, क्व नाम जागर्ति कुत्रापि किल प्रदेशे विद्यते एवेत्युत्प्रेक्षा। कुतः? अन्यथा शृङ्गारार्णवाभावे लावण्यवैदग्ध्ययोः सौन्दर्यचातुर्ययोः, निधिरियं पुरोवर्त्तिनी

भैमीरूपा, श्रीर्लक्ष्मीः, कस्मात् पयोधेः उदस्थात् ? श्रीः समुद्रात् उत्पन्नेति प्रसिद्धिः, इयन्तु तदपेक्षयाऽधिकसुन्दरी, अत इयं भैमीरूपा श्रीः शृङ्गाररससमुद्रादेवोत्पन्नेति तादृशसमुद्रः कुत्रापि देशे वर्त्तते एवेति भावः। अत्रेयं श्रीरिति विषयनिगरणेन विषयिमात्रनिबन्धनाद्भेदेऽप्यभेदात् सातिशयोक्तिरेतन्मूला च पूर्वोक्तशृङ्गाररससागरसद्भावोत्प्रेक्षेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ११५ ॥

अन्वयः—'शृङ्गार' इति श्रुतस्य रसस्य महान् उदन्वान् क्व नाम जागर्त्ति अन्यथा लावण्यवैदग्ध्यनिधिः इयं श्रीः कस्मात् पयोधेः उदस्थात् ?

हिन्दी—'शृङ्गार'—इस नाम से श्रुत (विख्यात) रस का महासागर कहाँ (किस प्रदेश) में है (कहीं है अवश्य), अन्यथा (रससागर के न होने पर) सौन्दर्य और चातुर्य की निधि (खानि) यह (दमयन्ती रूपा) लक्ष्मी किस समुद्र से उत्पन्न हुई है ?

टिप्पणी—दमयन्ती को देखपाने से पूर्व यह संदेह था कि जिस शृङ्गार रस की इतनी प्रशंसा और प्रसिद्धि है, वह वास्तविक है या कविकल्पना है ? अब देखने पर स्पष्ट हो गया कि उस विश्रुत शृङ्गार का रसमहासागर कहीं न कहीं है अवश्य, अन्यथा शृङ्गार महासागर के अभाव में यह रूप और चातुर्य की आगार दमयन्तीरूपा लक्ष्मी कहाँ से जन्म लेती ? लक्ष्मी तो सागर से ही जन्म पाती है। विष्णुप्रिया का जन्म क्षीरसागर से हुआ था, इसी प्रकार इस दमयन्ती का जन्म शृङ्गारसागर से ही संभव है। दमयन्ती प्रमाण है शृङ्गाररसमहासागर के अस्तित्व का। यह तो लक्ष्मी से भी अधिक लावण्यवैदग्ध्य-संपन्ना है। लक्ष्मी सागर से जन्मी, दमयन्ती तो विना महासागर के जन्म पा ही नही सकती। दमयन्ती रूप कार्य से शृङ्गाररस-महासागर-कारण का अनुमान हो रहा है। मल्लिनाथ के अनुसार—'यह श्री है'—इस विषय के निवारण द्वारा विषयिमात्र का निबन्धन होने से भेद में भी अभेदकथन के कारण यह अतिशयोक्ति है और श्लोक के पूर्वार्द्ध में कथित शृङ्गाररससागर की सत्ता उत्प्रेक्षा एतन्मूला है, इस प्रकार अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा का अङ्गागिभाव से संकर है। विद्याधर के अनुसार यह अनुमान अलंकार है ॥११५॥

साक्षात् सुधांशुर्मुखमेव भैम्या दिवः स्फुटं लाक्षणिकः शशाङ्कः ।
एतद्भ्रुवौ मुख्यमनङ्गचापं पुष्पं पुनस्तद्गुणमात्रवृत्त्या ॥११६॥

जीवातु---साक्षादिति। भैम्याः मुखमेव साक्षात् मुख्यः, उपमानत्वेन प्रसिद्धः इति यावत्, सुधांशु भैमीमुखमेव ओष्ठरूपसुधासम्बन्धात् मुख्यवृत्त्या सुधांशुपदाभिधेयमेवेत्यर्थः, दिवोऽन्तरिक्षस्य शशाङ्कः चन्द्रस्तु लाक्षणिको लक्षणागम्यो लाञ्छनकश्च, शैषिकष्ठक्, लक्षणावृत्त्या सुधांशुपदेन बोध्यः, न तु अभिधावृत्त्येत्यर्थः, अभिधेयार्थापेक्षया लक्ष्यार्थस्य जघन्यत्वेन एतस्या मुखचन्द्रापेक्षया गगनस्थचन्द्रस्य जघन्यत्वमिति भावः, स्फुटमित्युत्प्रेक्षा। तथा एतस्याः भ्रूवावेव मुख्यं प्रधानं, मुखवृत्त्या अभिधेयमित्यर्थः, अमोघत्वादिति भावः, 'दिगादिभ्यो यत्' इति भावार्थे यत्प्रत्ययः, अथ च मुखे भवं मुख्यं, भ्रूरूपमिति यावत्, अनङ्गचापं कामधनुः। पुष्पं पुनः यत् पुष्पम् अनङ्गचापत्वेन व्यवह्रियते तत्तु, तयोर्भ्रुवोः, यो गुणः उद्दीपकत्वादिः, तन्मात्रवृत्त्या तत्सदृशगुणवत्त्वादित्यर्थः, पुष्पेऽनङ्गचापत्वव्यवहारस्तु गौण एवेति भावः। उपमा। अत्रापि स्फुटमित्यनुषङ्गादुत्प्रेक्षेति द्वयोर्निरपेक्षत्वात् संसृष्टिः ॥ ११६ ॥

अन्वयः---भैम्याः मुखम् एव साक्षात् सुधांशुः, दिवः शशाङ्कः स्फुटं लाक्षणिकः। एतद्भ्रुवौ मुख्यम् अनङ्गचापं, पुनः पुष्पं तद्गुणमात्रवृत्त्या।

हिन्दी—भीमपुत्री का मुख ही साक्षात् (मुख्य) अमृत किरण (चन्द्र) है, आकाश का खरहे के चिह्न वाला (चंद्र) प्रकट ही लाक्षणिक (कलंकी-अमुख्य) है। इस (दमयन्ती) की भौंहें मुख्य काम-चाप हैं, फूल वाला धनुष् तो गुण (उन्मादकता मात्र गुण, डोरी और अमुख्यता) होने से ही है।

टिप्पणी—कहना यह है कि दमयन्ती का मुख चन्द्रमा से श्रेष्ठ है और भ्रूकुटि युगल कामधनुष् से। दमयन्ती के मुख को कहा गया सुधांशु अर्थात् अमृत किरण और आकाश के चन्द्रमा को लाक्षणिक अर्थात् लक्षण शशचिह्नवान्—शशांक। इस प्रकार कलंकी शशांक से सुधांशु मुख श्रेष्ठ हुआ। मुख मुख्य है उपमानभूत। 'कविसमय' के अनुसार जो उपमान रूप में प्रसिद्ध है, वह दमयन्ती मुख ही है, आकाश का चन्द्र नहीं। मुख साक्षात् है—प्रत्यक्षानुभवगम्य-निकटस्थ, चन्द्र तो दूर है, मुख तुल्य प्रत्यक्ष नहीं। साक्षात् अर्थात् अभिधावृत्ति के अनुसार भैमीमुख सुधांशु है---मुख-स्थित ओष्ठ में सुधा होने से अभिधात्मकता से इसे ही सुधांशु कहना उचित है। आकाश-चन्द्र 'शशांक' है शश-कलंकधारी लाक्षणिक। लक्षणावृत्ति से वह चन्द्र है। अभिधावृत्ति से कथित मुख्य चन्द्र दमयन्ती-मुख है, आकाश का चन्द्र लक्षणावृत्ति से चन्द्र द्योतित होता

है, सो वह गौण है। दमयन्ती-मुख-सुधा का प्रत्यक्ष ग्रहण हो सकता है, अतः प्रत्यक्षानुभव होने से यह न्यून है वह। प्रत्यक्ष और अनुमान के मध्य प्रत्यक्ष ही बलीय होता है। इस प्रकार आकाश के चन्द्र को जो सुधांशु कहा गया है, वह लाक्षणिक वृत्ति से ही है, वह अमुख्य है; अतः अल्प 'शशांक' (कलंकी) ही है। भैमीमुख अभिधावृत्त्या सुधांशु है, निष्कलंक, प्रत्यक्षानुभूत, अतः मुख्य। सब प्रकार से श्रेष्ठ। इसी प्रकार दमयन्ती का भ्रू युगल वास्तविक काम चाप है, वह अभिधावृत्त्या काम चाप है, 'पुष्प का चाप' लाक्षणिकता से कथित है। भ्रू कामचाप मुख्य है, वह 'मुखे भवम् मुख्यम्' (मुख में स्थित) भी है। काम-चाप पुष्प को कहा गया वह मुख्य वृत्ति अभिधा से नहीं, गौणवृत्ति लक्षणा द्वारा कहा जाता है। फूल में बस एक ही 'गुण' है सुगन्ध, उन्मादकता। वह भ्रू युगल के समान 'वक्र' कहाँ है, जो उसे धनुष् कहा जाय? जो पुष्प डोरा में विद्यमान रहता है, इसी से उसे काम-चाप कह दिया गया। कवियों ने काम-चाप को मालारूप कहा है। इस प्रकार भ्रुकुटि निरपेक्ष, मुख्य अतः वास्तविक काम चाप हैं, पुष्प सापेक्ष, अतः अवर, गौण कदाचित् पुष्प को कामचाप इसलिए भी कहा जाता है कि उसमें 'गुण' (सुगन्ध आदि) तो रहता ही है, 'गुण' (डोरे, रेशे) भी हैं। है वह 'गुण' के कारण ही कथित अर्थात्, गौण। अभिधावृत्ति से भ्रू युग्म ही कामचाप है, पुष्प को लक्षणा अर्थात् गौणवृत्ति से कामचाप कहा जाता है। अभिधात्मक कथन ही मुख्य (श्रेष्ठ) होता है, लाक्षणिक कथन तो 'गुणवृत्ति' से कथित 'गौरव' (अवर) होता है। सो दमयन्ती-मुख चन्द्र से श्रेष्ठ है और भ्रू युग्म पुष्प से। गौण और मुख्य में मुख्य ही श्रेष्ठ होता है—गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः।' सापेक्ष निरपेक्ष में सापेक्ष बली होता है—'सापेक्षनिरपेक्षयोर्निरपेक्षं बलवत्।' अभिधा मुख्य वृत्ति है, लक्षणा गौण (अमुख्य) वृत्ति, यह आरोपित क्रिया है—'मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्। अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया॥' इस प्रकार श्रेष्ठ और मुख्य अभिधेय ही होता है, लाक्षणिक तो आरोपित, गौण अतः न्यून और अवर होता है। सो श्रेष्ठता दमयन्ती मुख और भ्रू युग्म की है, आरोपित 'शशांक' और 'पुष्प' की नहीं। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में अभिधार्थ की अपेक्षा लक्ष्यार्थ के जघन्य होने के आधार पर मुखचन्द्र की अपेक्षा गगनचन्द्र को जघन्य कहा जाना—स्पष्ट उत्प्रेक्षा है। पुष्प को जो अनंग-चाप कहा जाता है, वह भ्रू युगल

के तुल्य उद्दीपकत्वादि सदृश गुण के आधार पर। यह उपमा है और इस प्रकार पुष्प की अपेक्षा भ्रूयुग्म की श्रेष्ठता भी उत्प्रेक्षा। सो निरपेक्ष होने से दोनों की संसृष्टि है—दोनों उत्प्रेक्षाओं की। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति है॥

लक्ष्ये धृतं कुण्डलिके सुदत्या ताटङ्कयुग्मं स्मरधन्विने किम्?।
सव्यापसव्यं विशिखा विसृष्टास्तेनैतयोर्यान्ति किमन्तरेण!॥११७॥

जीवातु—लक्ष्य इति। सुदत्या भैम्या, ताटङ्कयोः कर्णभूषणयोः, युग्मं स्मर एव धन्वी, ब्राह्मणादित्वादिनिः, तस्मै, तादर्थ्ये चतुर्थी, लक्ष्ये शरव्यभूते, कुण्डल्यादेव कुण्डलिके चक्रे, धृतं किम्? ताटङ्कयुग्ममेव शरव्यचक्रत्वेन धृतवती किम्? इत्युत्प्रेक्षा। अत एव तेन स्मरधन्विना, सव्यम् अपसव्यञ्च यथा तथा विसृष्टाः विमुक्ताः विशिखाः बाणाः, एतयोः शरव्यचक्रयोः, अन्तरेण यान्ति प्रसरन्ति किम्? इत्युत्प्रेक्षा सापेक्षत्वात् सङ्करः। सव्यसाचिनो धानुष्काः शरव्यद्वये शरान् मुञ्चन्ति इति प्रसिद्धिः। भ्रूचापयोजिताः कटाक्षबाणाः कर्णताटङ्ककुण्डलाभ्यन्तरेण निर्यान्तीति भावः॥ ११७॥

अन्वयः—किं सुदत्या ताटङ्कयुग्मं स्मरधन्विने लक्ष्ये कुण्डलिके धृते, किं तेन सव्यापसव्यं विसृष्टाः विशिखाः एतयोः अन्तरेण यान्ति?

हिन्दी—क्या सुन्दर दशनवती (सुदन्ती दमयन्ती) ने कर्णाभरणों का जोड़ा कामरूप धनुर्धारी के निमित्त लक्ष्यभूत कुण्डलिका-युग्म धारण किया है, (अतएव) क्या उस (काम) के द्वारा सव्य (बाँये) और अपसव्य (दाहिने) छोड़े बाण इन (कुण्डलों) के मध्य से निकल जाते हैं?

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती के कर्णाभरणों को देखकर ही कामोद्रेक हो जाता है। पूर्वश्लोक से संबंध करके मल्लिनाथ ने भाव लिया है कि भ्रूचाप पर योजित कटाक्षरूप बाण कर्णताटंकों के मध्य से निकल जाते हैं। पूर्वार्द्ध और परार्द्ध दोनों में मल्लिनाथ के अनुसार दो उत्प्रेक्षाएँ हैं, जिनका इस श्लोक में संकर है। विद्याधर के अनुसार रूपकोत्प्रेक्षालंकार है॥११७॥

तनोत्यकीर्तिं कुसुमाशुगस्य सैषा वतेन्दीवरकर्णपूरौ।
यतः श्रवःकुण्डलिकाऽपराद्ध-शरं खलः ख्यापयिता तमाभ्याम्॥११८॥

जीवातु—तनोतीति। सैषा भैमी, इन्दीवरकर्णपूराविव तद्रूपाभित्यर्थः, कुसुमाशुगस्य अकीर्त्तिम् अपकीर्त्तिम्, तनोति ताभ्यां तस्याकीर्त्तिम् जनयतीत्यर्थः,

आयुर्घृतमितिवत् कार्यकारणयोरभेदोपचारः, कारणेन्दीवरगुणादकीर्तिश्च कालि-मेति भावः, बतेति खेदे। कुतस्तत्कारणम्? तदाह—यतः खलः कश्चिद्दोषान्वेषी दुर्जनः, आभ्यां कामशराभ्याम् इन्दीवरकर्णपूराभ्याम्, इमावेव निदर्श्येत्यर्थः, ल्यब्लोपे पञ्चमी, तं कुसुमशरं, श्रवसोः कर्णयोः, कुण्डलिके ताटङ्करूपे लक्ष्ये चक्रे इत्यर्थः, ताभ्याम्, अपराद्धशरं च्युतनीलोत्पलरूपसायकम्, 'अपराद्धपृषत्कोऽसौ लक्ष्याद् यश्च्युतसायकः' इत्यमरः, ख्यापयिता ख्यापयिष्यति, कर्त्तरि लुट्, इन्दीवरयोरपि कामशरत्वात् कुण्डलिकाबहिर्भागे लग्नत्वाच्च एतद्दृष्टान्तेनैवान्यत्रापराद्धपृषत्कदोषोद्घाटनसौकर्यात्तयोरकीर्तिकारणत्वोत्प्रेक्षेत्यर्थः ॥११८॥

अन्वयः—सा एषा बत कुसुमाशुगस्य इन्दीवरकर्णपूरौ अकीर्त्तिं तनोति, यतः खलः आभ्यां तं श्रवःकुण्डलिकापराद्धशरं ख्यापयिता।

हिन्दी—वह यह (दमयन्ती), खेद है कि कुसुमबाण (काम) की नील कमल कर्णपूरों के माध्यम से अकीर्त्ति फैला रही है, क्योंकि दुर्जन इन दोनों के द्वारा उस (काम) की कानों के आभूषण ताटंकरूप चक्र में च्युत हुए बाण वाला कह कर प्रसिद्ध कर देगा।

टिप्पणी—पहिले श्लोक में कहा गया कि ताटंकयुग्म रूप लक्ष्य में होकर कामबाण-दाँये निकल जाते हैं। यहाँ कहा गया है कि दमयन्ती ने कानों में दो नीलोत्पल आभूषण बना रखे हैं। नीलोत्पल काम-बाण भी हैं। तो दमयन्ती कानों में पहिने नीलोत्पलों को देखकर यह समझा जायेगा कि ये दो कामबाण हैं, जो लक्ष्य पर न पहुँच कर दमयन्ती के कानों में ही लगे रह गये हैं। इस प्रकार काम को लक्ष्यच्युतबाण वाला अनाड़ी धनुर्धर कहा जाने लगेगा। दुष्ट जन इस निन्दा को प्रसिद्ध कर देंगे कि काम के बाण लक्ष्यभ्रष्ट हो जाते हैं, वह कुशल धनुर्धर नहीं है। दमयन्ती के नीलोत्पल कर्णाभरण काम की अकीर्ति के कारण बन जायेंगे। इन्दीवरों के काम-बाण होने और कुंडलिका में लगे रह जाने और इसके दृष्टान्त से ही लक्ष्यच्युतता के दोष का उद्घाटन और अयशः-ख्यापन होने से मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा है, विद्याधर के अनुसार 'रूपकहेतु' अलंकार है॥ ११८॥

रजःपदं षट्पदकीट-जुष्टं हित्वाऽऽत्मनः पुष्पमयं पुराणम्।
अद्यातमभूराद्रियतां स भैम्या भ्रूयुग्ममन्तर्धृतमुष्टि चापम् ॥११९॥

जीवातु—रज इति। अद्य आत्मभूः स कामः; रजसां पदं स्थानं, परागाश्रयं काष्ठचूर्णाश्रयञ्चेत्यर्थः, षट्पदैरेव कीटैः क्रिमिभिः जुष्टं सेवितं,—घुणाद्भिसेवितञ्चेत्यर्थः, पुराणं जीर्णं, पुष्पमयमात्मनश्चापं हित्वा त्यक्त्वा, अन्तर्मध्ये, धृतमुष्टि मुष्टिपिहितत्वाददृश्यमध्यमित्यर्थः, भैम्या भ्रूयुग्मं भ्रूद्वयरूपं चापमेव, आद्रियताम् अंगीकरोतु, अमोघत्वात् नूतनत्वाच्चेति भावः ॥११९॥

अन्वयः—अद्य सः आत्मभूः रजःपदं षट्पदकीटजुष्टं पुराणम् आत्मनः पुष्पमयं चापं हित्वा भैम्याः भ्रू युग्मम् अन्तर्धृतमुष्टि आद्रियताम्।

हिन्दी—आज वह कामदेव धूलि-भरे, भौरों और कीड़ों से दूषित किये, पुराने अपने फूलों के धनुष् को छोड़ कर भीमसुता के भ्रूयुग्म को अपनी मुट्ठी के बीच पकड़ कर आदर दे।

टिप्पणी—दमयन्ती का भ्रूयुगल पुष्पचाप की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है, अतः काम को चाहिए कि अब अपने पुराने, कीड़ों से खाये पुष्पचाप का त्याग करे और दमयन्ती के भ्रूयुग्म को चापरूप में धारण करे। इसी से अब उसका कार्य संपादन होगा। पुराना छोड़ नया ले। यह अमोघ चाप होगा। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥११९॥

पद्मान् हिमे प्रावृषि खञ्जरीटान् क्षिप्नुर्यमादाय विधिः क्वचित् तान्।
सारेण तेन प्रतिवर्षमुच्चैः पुष्णाति दृष्टिद्वयमेतदीयम् ॥१२०॥

जीवातु—पद्मानिति। विधिः स्रष्टा, यं सारं, पद्मगतमुत्कृष्टांशं तथा खञ्जरीटगतमुत्कृष्टांशञ्चेत्यर्थः, आदाय ताभिःसारान्, पद्मान् हिमे शिशिरकाले, तथा खञ्जरीटान् खञ्जनपक्षिणः, प्रावृषि वर्षर्तौ, क्वचित् क्वापि, क्षिप्नुः प्रक्षेपणशीलः सन्, क्षिप्तवानित्यर्थः, 'त्रसिगृधि' इत्यादिना क्नुप्रत्ययः, 'न लोक' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् द्वितीया, तेन सारेण प्रतिवर्षं प्रतिवत्सरम्, एतदीयं दृष्टिद्वयम् उच्चैः पुष्णातीत्युत्प्रेक्षा; अन्यथा कथमीदृशी शोभेति भावः ॥ १२० ॥

अन्वयः—विधिः यम् आदाय हिमे तान् पद्मान् प्रावृषि खञ्जरीटान् क्वचित् क्षिप्नुः तेन सारेण प्रतिवर्षम् एतदीयं दृष्टिद्वयम् उच्चैः पुष्णाति।

हिन्दी—विधाता जिस (सार) को लेकर शिशिरकाल में उन (निस्सार) पद्मों को और वर्षाकाल में खंजनपक्षियों को कहीं फेंककर उस (पद्मों और

खंजनों से लिए गये) सार से प्रत्येक वर्ष इस (दमयन्ती के दोनों नेत्रों का प्रचुरतया पोषण करता है।

टिप्पणी—दमयन्ती की आँखें बड़ी सुन्दर हैं। लगता है उपमानरूप में प्रसिद्ध कमल और खंजन पक्षियों का सार लेकर इनका पोषण हुआ है—इसीसे ये इतनी आकर्षक हैं। लगता है शिशिर ऋतु में कमल और वर्षा में खंजन इसी कारण अदृश्य हो जाते हैं कि विधाता दमयन्ती-नयन-पोषण के निमित्त उनका सार ले लेता है और निःसार पद्मों—खंजरीटों को कहीं कूड़ेदान में फेंक देता है। मल्लिनाथ के अनुसार यह उत्प्रेक्षा है और विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ १२० ॥

एतद्दृशोरम्बुरुहैर्विशेषं भृङ्गौ जनः पृच्छतु तद्गुणज्ञौ।
इतीव धात्राऽकृत तारकालि-स्त्रीपुंसमाध्यस्थ्यमिहाक्षियुग्मे ॥१२१॥

जीवातु—एतदिति। जनः उभयतारतम्यजिज्ञासुः लोकः, एतद्दृशोः भैमीदृष्टयोः, अम्बुरुहैः सह विशेषं तारतम्यं, तद्गुणज्ञौ अम्बुरुह–नेत्ररसज्ञौ, भृङ्गौ भृङ्गी च भृङ्गश्च तौ, पृच्छतु पृच्छेत्, दुहादित्वात् द्विकर्मत्वम्, इतीव इति मत्वेव, धात्रा इह एतदीये, अक्षियुग्मे तारके कनीनिके एव, अलिस्त्रीपुंसौ अलिदम्पती, अचतुरादिना समासान्तनिपातः, तयोर्माध्यस्थ्यं पद्मानि उत्कृष्टानि उत एतन्नेत्रे उत्कृष्टे इति लोकाना संशये अकूटसाक्षित्वम्, अक्षिमध्यवर्त्तित्वञ्च, अकृत कृतवान्, करोतेः कर्त्तरि लङ् ताङ 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सकारलोपः, विवादपदतत्त्वज्ञो मध्यस्थश्च साक्षी संशयच्छेत्ता च भवति, तथा चालिदम्पती पद्म विहायात्राधिष्ठानेन पद्मापेक्षया एतन्नेत्रयोः रमणीयत्वं व्यंजयतः, तस्मात् एतन्नेत्रे पद्मापेक्षया मनोहरे भ्रमरवन्नीलकनीनिकाविशिष्टे चेति भावः। भैमीदृगम्बुरुहतारतम्यकथनाय धात्रा स्थापितमलिमिथुनमिव भाति कनीनिका-युग्ममित्युत्प्रेक्षा ॥ १२१ ॥

अन्वयः—जनः एतद्दृशोः अम्बुरुहैः विशेषं तद्गुणज्ञौ भृङ्गौ पृच्छतु—इति इव धात्रा इह अक्षियुग्मे तारकालिस्त्रीपुंसमाध्यस्थम् अकृत।

हिन्दी—लोक इस (दमयन्ती) के नेत्रों का कमलों से वैशिष्ट्य इस (विशिष्टता) गुण के ज्ञाता भ्रमर-भ्रमरी से पूछे—लगता है कि इसीलिए विधाता ने इस नयनयुगल में पुतली रूप भ्रमरदम्पती की मध्यस्थता (निर्णया-धिकारी और बीच में स्थिति) बना दी।

टिप्पणी—दमयन्ती के नयन-कमलों में सघननील पुतलियाँ हैं। इन पुतलियों को वर्णसाम्य के आधार पर भ्रमरदंपती कहा गया है। वे भ्रमर-भ्रमरी विधाता ने पुतलीरूप में दमयन्ती के नेत्रों में इसलिए बैठा दिये हैं कि लोक-जन जब दमयन्ती के नयनों को देखेगा तो उसके मन में संशय उठेगा कि नयनों और कमलों में कौन श्रेष्ठ है? इस तारतम्य के ज्ञाता भ्रमरदंपती ही हैं, वे ही कमलों का और दमयन्ती-नेत्रों का गुण समझते हैं। विधाता ने जनमानस की इसी संशयात्मकता के निवारणार्थ उन्हें तारकरूप में 'मध्यस्थ' बना दिया। 'मध्यस्थ' अर्थात् निर्णयकर्त्ता और नेत्रमध्यभाग में स्थित। दमयन्ती के नेत्र कमलों की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं—विशिष्ट हैं, यह भ्रमरदंपती की नेत्रों में स्थिति से स्पष्ट हो गया, अन्यथा कमलवास-छोड़कर भ्रमर-भ्रमरी क्यों भैमी-नेत्रों के वासी बनते? दमयन्ती के नेत्र कमलों से विशिष्ट हैं—यह आशय है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा; विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा-रूपक अलंकार ॥ १२१ ॥

व्यधत्त सौधौ रतिकामयोस्तद्-भक्तं वयोऽस्या हृदि वासभाजोः।
तदग्रजाग्रत्पृथुशातकुम्भ-कुम्भौ न सम्भावयति स्तनौ कः! ॥१२२॥

जीवातु—व्यधत्तेति। तयोः रतिकामयोः, भक्तं विधेयं, वयः यौवनं कर्त्तृ, अस्याः भैम्याः, हृदि वासभाजोः निवसतोः, रतिकामयोः, कृते इति शेषः, सौधौ प्रासादौ, व्यधत्त निर्ममे, अन्यथा तयोस्तत्र निवासायोग्यत्वमिति भावः; यस्मात् हेतोः को जनः, स्तनौ, अस्या इति पूर्वानुषङ्गः, तयोः सौधयोः अग्रे जाग्रतौ प्रकाशमानौ, पृथू पीवरौ च, शातकुम्भकुम्भौ कनककलशौ, न सम्भावयति? न वितर्कयति? सर्वोऽप्येवमुत्प्रेक्षत एवेत्यर्थः ॥ १२२ ॥

अन्वयः—रतिकामयोः भक्तं वयः अस्याः हृदि वासभाजोः तयोः सौधौ व्यधत्त; कः स्तनौ तदग्रजाग्रत्पृथुशातकुम्भकुम्भौ न सम्भावयति?

हिन्दी—रति और काम के भक्त वय (यौवनकाल) ने इस (दमयन्ती) के हृदय में वास करते उन दोनों (रति-काम) के (निमित्त) दो प्रासाद बना दिये हैं। कौन व्यक्ति स्तनों (दमयन्ती-कुचों) को उन (सौधों) के शिखर पर दमकते, पीन (मोटे) सुवर्ण कलश नहीं मानता? (सभी मानते हैं)।

टिप्पणी—दमयन्ती के पीनस्तनों को यहाँ प्रासाद-शिखर पर दमकते स्वर्ण कलश कहा गया है। स्तन यौवन-चिह्न हैं—यौवन-जात। यौवन रति-काम की आयु है, प्रणय और कामनाओं की ऋतु। इसीसे यौवन को रति-काम का भक्त कहा गया। भक्त अपने उपास्य के निमित्त मंदिर-निर्माण कराता है और उसके शिखर पर स्वर्णकलश स्थापित करता है। दमयन्ती के हृदय को यौवन-भक्त ने उपास्य रति-काम का आवास बनाया है, पीवरस्तन उस आवास-मंदिर के कलश हैं। रति और काम के लिए निर्मित दो मंदिरों के शिखरों पर स्थापित दो स्वर्ण-कलश। भाव यह है कि दमयन्ती के हृदय में रति-काम आवास करते हैं और उसके पीवर कुच स्वर्ण-कलशों के तुल्य हैं। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार रूपक ॥ १२२ ॥

अस्या भुजाभ्यां विजितात् विसात् किं पृथक् करोऽगृह्यत तत्प्रसूनम् !।
इहेक्ष्यते तन्न गृहं श्रियः कैर्न गीयते वा कर एव लोकैः ? ॥१२३॥

जीवातु—अस्या इति। अस्याः, भैम्याः, भुजाभ्यां विजेतृभ्यामिति भावः, विजितात् विसात् मृणालात्, पृथक् प्रत्येकमेव, तत्प्रसूनं विसप्रसूनं, पद्ममेवेत्यर्थः; करो बलिर्हस्तश्च, अगृह्यत किम् ? गृहीतं किम् ? इत्युत्प्रेक्षा; 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः, जेतुर्जितात् करग्रहणमेव तत्करस्य पद्मत्वञ्चोचितमिति भावः। तथा हि, इहास्या भुजयोः, तत् करत्वेन गृहीतं पद्मं, कैर्लोकैर्जनैः, श्रियो लक्ष्म्याः शोभायाश्च, गृहम् आलयः, नेक्ष्यते ? वा अथवा, कर एव करशब्देनैव, न गीयते ? नोच्यते ? सर्वैरपि तथा कीर्त्त्यते इत्यर्थः। एतद्धस्तस्य श्रीगृहत्वात् पद्मत्वं करत्वप्रसिद्धेर्विसात्मकत्वेन ग्रहणं सिद्धमित्युत्प्रेक्षा युक्ता ॥ १२३ ॥

अन्वयः—अस्याः भुजाभ्यां विजितात् विसात् पृथक् तत्प्रसूनं किं करः अगृह्यत, इह तत् कैः लोकैः श्रियः गृहं न ईक्ष्यते करः एव वा न गीयते ?

हिन्दी—इस (दमयन्ती) की दोनों भुजाओं द्वारा पराजित मृणाल से पृथक् करके उसके फूल (कमल) को क्या 'कर' (दण्ड रूप में गृहीतांश और हाथ) रूप में ले लिया गया है ? इस संसार में वह (कररूप में गृहीत कमल) किन लोगों के द्वारा लक्ष्मी का घर और शोभाशाली नहीं देखा जाता, अथवा 'कर' (हाथ और दंडांश) नहीं कहा जाता ?

टिप्पणी—कवि का तात्पर्य है कि दमयन्ती की भुजाएँ कमलनाल की अपेक्षा और कर (हाथ) कमल की अपेक्षा अधिक सुन्दर हैं। भुजाओं ने सौन्दर्य प्रतिद्वंदिता में कमलनाल को पराजित कर दिया और उसके प्रसून कमल दंडांश रूप में लेकर अपने 'कर' (हाथ) रूप में स्थापित कर लिया। कमल कररूप में स्थापित है, लक्ष्मी का घर कमल कहा जाता है—पद्मालया लक्ष्मी। दमयन्ती का कर भी शोभाशाली है—श्रीगृह के तुल्य। सभी लोगों द्वारा यह मान्य है। कदाचित् दमयन्ती-हस्त को 'करसंज्ञा' इसी कारण प्राप्त हुई है कि वह यह द्योतित करता रहे कि यह पराजित मृणाल से भुजाओं द्वारा गृहीत दंडांश—जेता के द्वारा गृहीत 'कर' है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा है, क्योंकि दमयन्ती के हाथ का 'श्रीगृह' (शोभाशाली) होने से 'पद्मत्व' प्रसिद्ध है और 'कर' प्रसिद्ध होने से उसका पराजित बिस से गृहीत होना सिद्ध हो जाता है; विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा-अतिशयोक्ति ॥ १२३ ॥

छद्मैव तच्छम्बरजं विसिन्यास्तत्पद्ममस्यास्तु भुजाग्रसद्म ।
उत्कण्टकादुद्गमनेन नालादुत्कण्टकं शातशिखैर्नखैर्यत् ॥१२४॥

जीवातु—छद्मैवेति। विसिन्याः कमलिन्याः सम्बन्धि, तत् पद्मं, शम्बरजं शम्बरात् जलात् जातं, छद्मैवालीकमेव, अथ च शम्बरदनुजजातं, छद्मैव मायैव, न तु पारमार्थिकमित्यर्थः, 'दैत्ये ना शम्बरोऽम्बुनि' इति वैजयन्ती; तु किन्तु, अस्याः भैम्याः, भुजाग्रं सद्म स्थानं यस्य तादृशं, तत् पद्मं पारमार्थिक पद्ममित्यर्थः; कुतः ? यत् यस्मात्, उत्कण्टकात् उद्गताः कण्टकाः सूचयः पुलकाश्च यस्य तस्मात्, नालात् पद्मदण्डात् भुजदण्डाच्च, उद्गमनेन प्रादुर्भावेन हेतुना शातशिखैः तीक्ष्णाग्रैः, नखैः उत्कण्टकम्, एतत्पाणिपद्ममिति शेषः; विसपद्मन्तु उत्कण्टकनालादुद्भूतमपि नोत्कण्टकम् पद्मे कण्टकविरहात्, किन्तु भैमीपाणिपद्मेव प्रकृतपद्मं सकण्टकत्वम्, यतः कारणगुणाः कार्यगुणमारभन्ते इति शास्त्रात् सकण्टकनालकार्यस्य सकण्टकत्वेन भवितव्यमिति भावः। भैमीपाणिपद्मस्य प्रसिद्धपद्मव्यतिरेकोक्त्या व्यतिरेकालङ्कारः ॥ १२४ ॥

अन्वयः—विसिन्याः तत् शम्बरजं छद्म एव; अस्याः तु भुजाग्रसद्म तत् पद्मम्, यत् उत्कण्टकात् नालात् उद्गमनेन शातशिखैः नखैः उत्कण्टकम्।

हिन्दी—कमलनाल का वह (प्रसिद्ध) शंबर अर्थात् जल से उत्पन्न जलज

(कमल) शंबर दैत्य द्वारा जात माया के समान ही छद्म (अतथ्य) है, इस (दमयन्ती) के भुजाग्र में स्थित वह (वास्तविक) कमल है, जो रोमांचरूप कंटकों से युक्त भुजारूप कमलनाल से उत्पन्न होने के कारण तीक्ष्णाग्रभाग वाले नखों के कारण कंटकों (रोमांचों) से युक्त है।

टिप्पणी—दमयन्ती के तीखे नखों से युक्त हाथ कमलों की अपेक्षा रमणीय हैं—यह एक अन्य भंगिमा से कहा गया। मायावी शंबरासुर की माया के समान—प्रतीत होता है कि जलज कमल भी अवास्तविक है। कदाचित् इसी अर्थ में उसे 'शंबरज' कहा गया। (शंबर दैत्य भी था और जल की भी यह संज्ञा है।) यह सिद्ध इससे होता है कि रोमांचित भुजा से उत्पन्न इस हस्त-कमल में तीक्ष्ण नख रूप में रोम—कंटक हैं, जब कि कमल कंटकित विसनी से उत्पन्न होकर भी चिकना है—निष्कंटक। कारणगत गुण कार्य में होते हैं। कारण विसनाल के कंटक कमल में नहीं है, रोम-कंटकों से युक्त भुजलता में जात हाथों में तीक्ष्ण नखरूप में वे हैं। इस प्रकार वास्तविक—सच्चे कमल हाथ ही सिद्ध होते हैं, कमलरूप में प्रसिद्ध विसप्रसून अतथ्य और छद्म। दमयन्ती के करकमल की प्रसिद्ध कमल की अपेक्षा व्यक्तिरेकोक्ति के कारण यहाँ मल्लिनाथ के अनुसार व्यतिरेक अलंकार है, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ १२४ ॥

जागर्त्ति मर्त्त्येषु तुलार्थमस्या योग्येति योग्यानुपलम्भनं नः।
यद्यस्ति नाके भुवनेऽथवाऽधस्तदा न कौतस्कुतलोकबाधः ? ॥१२५॥

जीवातु—जागर्त्तीति। मर्त्त्येषु, अस्याः भैम्याः, तुलार्थं तुलायै, औपम्याय इत्यर्थः, योग्या अर्हा, काचिदस्तीति शेषः इति अत्र, नः अस्माकं, योग्यानुपलब्धिरेव बाधकप्रमाणं, जागर्त्ति विलसति; तथा च मर्त्त्येषु यदि एतत्सादृश्ययोग्या रमणी स्यात्, तदा उपलभ्येत इत्यनुपलब्धिरेव तत्र तदभावसाधिकेति भावः। नाके स्वर्गे, अथवा अधोभुवने पाताले च यदि अस्ति, एतत्सदृशीति शेषः, तदा तर्हि, कौतस्कुतानां कुतः कुतः स्वर्गादिलोकात् आगतानां, 'तत आगतः' इत्यण्प्रत्ययः, अव्ययात् टिलोपः, कस्कादित्वात् सः, लोकानां देवनागादिरूपाणां, बाधः अत्र सम्मर्दः, न स्यात् ? इति शेषः, तत्रत्या नागच्छेयुः ?

इत्यर्थः, अतः अनुपलब्ध्यर्थापत्तिभ्यामस्यास्त्रिलोक्यामपि तुलाभावो निश्चित इति निष्कर्षः। अत एवोपमानलोपाल्लुप्तोपमालङ्कारः ॥ १२५ ॥

अन्वयः—अस्याः तुलार्थं योग्या मर्त्येषु जागर्त्ति—इति नः योग्यानुपलम्भनम् नाके अथवा अधः भुवने यदि अस्ति तदा कौतस्कुतलोकबाधः न।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) की तुलना के निमित्त योग्य मर्त्यों (मानवों) में है—इस विषय में हमें योग्य (उपयुक्त) का अनुपलंभन (अप्राप्ति) स्पष्ट निर्देश कर देता है; और यदि स्वर्ग अथवा अधोभुवन (पातल) में है तो इसमें बाधा हैं कहाँ-कहाँ से (स्वर्गपातालादि लोकों से) आये हुए लोग।

टिप्पणी—आशय यह है कि दमयन्ती के समान रमणी न धरती पर है मर्त्यलोक में और न स्वर्ग और पाताल आदि किसी और भुवन में। संपूर्ण भुवनों में दमयन्ती जैसी नहीं है। मर्त्यलोक में किसी उस जैसी का न मिलना यह स्पष्ट कर देता है, यदि दमयन्ती-सी कोई होती तो कभी न कभी धरती पर दीख जाती। इससे सिद्ध है कि धरती पर दमयन्ती की तुलायोग्य कोई नहीं है। और किसी लोक में भी वैसी नहीं है, इसका प्रमाण है सभी लोकों से स्वयंवर में समागत सुर, असुर, नाग आदि की भीड़। यदि उनके लोकों में दमयन्ती-सी कोई होती तो वे क्यों इतनी दूर आते? विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति, मल्लिनाथ के अनुसार उपमान का लोप होने से लुप्तोपमालंकार ॥ १२५ ॥

नमः करेभ्योऽस्तु विधेर्न वाऽस्तु स्पृष्टं धियाऽप्यस्य न किं पुनस्तैः।
स्पर्शादिदं स्याल्लुलितं हि शिल्पं मनोभुवोऽनङ्गतयाऽनुरूपम् ॥१२६॥

जीवातु—नम इति। विधेः स्रष्टुः, करेभ्यः हस्तेभ्यः, नमः नमस्कारोऽस्तु, यैरिदं शिल्पमकल्पीति भावः। 'नमःस्वस्ति' इत्यादिना चतुर्थी, वा अथवा, नास्तु, नम इति पूर्वानुषङ्गः, कुतः? अस्य विधेः धिया मनसाऽपि, न स्पृष्टम्, इदं शिल्पमिति शेषः, तैः करैः, किं पुनः? वाच्यमिति शेषः, न स्पृष्टमिति भावः। हि यस्मात्, स्पर्शात् करस्पर्शात्, इदम् अतिकोमलं, शिल्पं लुलितं तत्र तत्र मृदितं स्यात्, किन्तु अनङ्गतया अङ्गराहित्येन हेतुना, मनोभुवः कामस्य, अनुरूपं युक्तम्, इद शिल्पमिति शेषः; हस्ताद्यवयवस्पर्शं विनैव निर्माणसम्भवात् त्रैलोक्यविजयिनः तस्य अनंगत्वेन विनिर्माणशक्तिसम्भवाच्चेति

भावः । अत्र भैमीशिल्पस्य विधिकरणसम्बन्धेऽपि असम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिस्तत्सापेक्षा चेयम् अनङ्गसृष्टित्वोत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥१२६ ॥

अन्वयः—विधेः करेभ्यः नमः अस्तु वा न अस्तु, अस्य धिया अपि न स्पृष्टं पुनः तैः, हि यस्मात् इदं शिल्पं लुलितं स्यात्, अनङ्गतया मनोभुवः अनुरूपम् ।

हिन्दी—विधाता के हाथों को नमस्कार किया जाय, अथवा नहीं किया जाय, क्योंकि उसकी तो बुद्धि ने भी (ऐसे शिल्पका) स्पर्श न किया होगा, उन (हाथों) की तो बात क्या ? क्योंकि उससे (कर स्पर्श से) यह (दमयन्ती रूप) शिल्प गंदा—मैला हो जाता । हाँ, अंग न होने के कारण (यह शिल्प) मनोभू (काम) के अनुरूप (लगती) है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती इतनी मनोरम है कि उसे सामान्य विधाता की सामान्य शिल्प-रचना नहीं माना जा सकता । विधाता की शेष रचना को देखकर तो यह लगता है कि वे ऐसा सोच भी नहीं सकते, बनाने की बात तो दूर । इसके अतिरिक्त दमयन्ती का शिल्प इतना निर्मल-कोमल है कि इस पर रचना करते समय यदि विधाता के हाथ पड़ जाते तो यह मैली—गंदी हो जाती । यह तो 'अकरस्पृष्ट' शिल्प है—'अनटच्ड बाइ हैंड ।' सो यही माना जा सकता है कि अंग हीन कामशिल्पी का यह अनुपम शिल्प है । नमस्य है तो कामशिल्पी है, विधाता नहीं । भैमीरूप शिल्प का विधिकरण से सम्बन्ध होने पर भी असम्बन्ध-कथन के कारण अतिशयोक्ति है और उसका अनंगसृष्टि होना तत्सावेक्ष है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार अतिशयोक्ति-उत्प्रेक्षा का संकर है । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ १२६ ॥

इमां न मृद्वीमसृजत् कराभ्यां वेधाः कुशाध्यासनकर्कशाभ्याम् ।
शृङ्गारधारां मनसा न शान्ति-विश्रान्तिधन्वाध्वमहीरुहेण ॥१२७॥

जीवातु—कुतोऽपि हेतोर्नवैधसृष्टिरियमित्याह, इमामिति । वेधाः स्रष्टा, मृद्वीं कोमलांगीम्, इमां कुसाध्यासनेन कुशाक्रमणेन, कर्कशाभ्यां कराभ्यां नासृजत् अयोग्यत्वादिति भावः । तथा शृंगारधारां शृंगाररसवाहिनीम् इमां, शान्तेः विषयविरतेः विश्रान्त्यौ धन्वाध्वमहीरुहो मरुमार्गवृक्षः, 'समानौ मरुध-

न्वानौ' इत्यमरः। तेन विविक्तेन विषयरसानभिज्ञेन, मनसाऽपि, नासृजत् इति पूर्वानुषंगः, स्वयमशृंगारिणः शृंगारिणीसृष्ट्यशक्तेरिति भावः। अत्र विधिकरमनःसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिसंसृष्टिः ॥ १२७ ॥

अन्वयः—वेधाः मृद्वीम् इमां कुशाध्यासनकर्कशाभ्यां कराभ्यां न असृजत्, शृङ्गारधारां शान्तिविश्रान्तिधन्वाध्वमहीरुहेण मनसा न।

हिन्दी—विधाता ने कोमलांगी इस (दमयन्ती) को कुशधारण से कर्कश हाथों से नहीं रचा; शृंगार रस की धारा (इस दमयन्ती) को शान्ति (विषय विरक्ति) की विश्रान्ति के निमित्त मरुदेश के मार्ग का महीरुह (वृक्ष) बने मन से भी नहीं रचा।

टिप्पणी—इस दमयन्ती की असामान्य रचना में न तो विधाता का क्रियात्मक योग ही है, न मानसिक ही। विधि के कठोर हाथों की तो यह कोमलतम रचना हो ही नहीं सकती, कुशों के धारण से कठोर हुए हाथ कहीं ऐसी कोमल रचना कर सकते हैं? और जहाँ तक विचार का प्रश्न है, वह भी विधाता के मन में संभव नहीं, क्योंकि दमयन्ती है शृंगार रस की पयस्विनी धारा और विधाता का मन विराग—विरक्ति से परिपूर्ण, विरक्ति के विश्राम के लिए मरुमार्ग का वृक्ष। विराग और शृङ्गार का विरोध है, विरागी मन में शृङ्गार की चितना भी असंभव है। यहाँ मल्लिनाथ के अनुसार विधाता के कर-मन में संबंध न होने पर भी उनके सम्बन्ध का कथन है, अतः अतिशयोक्ति-संसृष्टि है, विद्याधर के अनुसार विरोध-अतिशयोक्ति-रूपक-अलंकार हैं ॥१२७॥

उल्लास्य धातुस्तुलिता करेण श्रोणौ किमेषा स्तनयोर्गुरुर्वा।
तेनान्तरालैस्त्रिभिरङ्गुलीनामुदीतमध्यत्रिबलीविलासा ॥१२८॥

जीवातु—उल्लास्येति। एषा दमयन्ती, श्रोणौ नितम्बदेशे, गुरुः गुर्वी, 'वोतो गुणवचनात्' इति विकल्पात् ङीषभावः, स्तनयोः कुचयोः, वा गुरुः? इति संशय इति शेषः, इतिशब्दस्य गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः, धातुः करेण उत्तानपाणिना, उल्लास्य नीवीम् अपसार्य, उदरे गृहीत्वा उन्नमय्येत्यर्थः, तुलिता समं धारितेत्युत्प्रेक्षा; तेन तुलनेन, अंगुलीनां चतसृणां त्रिभिः अन्तरालैः अभ्यन्तरैः, उदीतः उद्गतः, इण् गताविति धातोः कर्त्तरि क्तः; मध्ये मध्यदेशे,

त्रिबलीविलासो बलित्रयशोभा यस्याः सा, जाता इति शेषः, अतो नूनं तुलितेत्यर्थः ॥ १२८ ॥

अन्वयः--एषा श्रोणौ गुरुः स्तनयोः वा--इति धातुः करेण उल्लास्य तुलिता, तेन अङ्गुलीनां त्रिभिः अन्तरालैः उदीतमध्यत्रिबलीविलासा किम् ?

हिन्दी--यह (दमयन्ती) नितम्ब-प्रदेश में गरुई (गुर्वी, भारी) है अथवा कुच-प्रदेश में--यह संशय मिटाने के लिए विधाता के हाथ द्वारा यह (उदर-प्रदेश में) पकड़ उनपर उठाकर तौली गयी, उससे (चार) अंगुलियों के तीन अंतरालों (अवकाशों) द्वारा यह मध्य में उत्पन्न त्रिबली चिह्नों से युक्त हो गयी है क्या ?

टिप्पणी--तरुणी दमयन्ती पृथुनितम्बा और पीनस्तनी है, उसके मध्य में त्रिबली सुशोभित हैं। इसी आधार पर यहाँ यह उत्प्रेक्षा की गयी है कि ये त्रिबली-विलास विधाता-कर के चिह्न हैं, जो कुचों और नितम्बों के मध्य गुरुताविषयक संशय को दूर करने के लिए उसके द्वारा मध्य में उठाकर पकड़े जाने से बन गये हैं--चार अंगुलियों से पकड़े जाने पर तीन अन्तरालों के कारण। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥

निजामृताद्यन्नवनीतजाङ्गीमेतां क्रमोन्मीलितपीतिमानम् ।
कृत्वेन्दुरस्या मुखमात्मनाऽभून्निद्रालुना दुर्घटमम्बुजेन ॥ १२९ ॥

जीवातु--निजेति। इन्दुः निजम् आत्मीयम्, अमृतं पीयूषं, क्षीरदध्यादिगोरसश्च, 'अमृतं व्योम्नि देवान्ने मोक्षे हेम्नि च गोरसे' इति वैजयन्ती, तस्मात् उद्यत् उत्पद्यमान, नवनीतं दधिसारः, 'दधिसारो नवनीतम्' इति हलायुधः, तज्जमङ्गं यस्यास्ताम् अत एव क्रमोन्मीलितपीतिमानं नवनीतवदेव क्रमाविर्भूतपीतवर्णाम्, एतां भैमीं, कृत्वा निर्माय, निद्रालुना रात्रौ निमीलनशीलेन, अथ च अलसेन, अम्बुजेन पद्मेन, अस्या मुखं, दुर्घटं साधु न साध्यं; विविच्य इति शेषः, आत्मना अभूत् स्वयमेवाभूदित्युत्प्रेक्षा; अन्यथा दमयन्त्याः कथमीदृशी अङ्गलावण्यसम्पत्तिः चन्द्रवदनत्वञ्चेति भावः ॥ १२९ ॥

अन्वयः--इन्दुः निजामृतोद्यन्नवनीतजाङ्गीं क्रमोन्मीलितपीतिमानम् एतां कृत्वा निद्रालुना अम्बुजेन अस्याः दुर्घटं मुखम् आत्मना अभूत् ।

हिन्दी--चन्द्रमा अपने अमृत (दुग्ध) से उत्पन्न मक्खन से संजात

अंगोंवाली (अतएव) क्रमशः उद्घाटित पीतवर्ण—(चंपकगौरवर्ण)–शालिनी इस (दमयन्ती) की रचना कर निद्रा से अलस (रात में मुंदे) कमल द्वारा इस (दमयन्ती) का दुःसाध्य मुख स्वयम् हो गया।

टिप्पणी—आशय यह है कि दमयन्ती अतिसुकुमारी, चम्पकगौरवर्णा और चन्द्रमुखी है। कमल में रात में मुँद जाने के कारण दमयन्ती के सदा प्रसन्न मुख की तुलना नहीं कर सकता,–यह विचार कर उसका मुख स्वयं बन गया लगता है। चन्द्रामृतरूप दुग्ध से निकले माखन से दमयन्ती का चम्पक-गौर वर्ण बना, तो उस नवनीत-सी सुकुमारी का मुख चन्द्र को ही बनना चाहिए। कमल तो चन्द्रामृतजात अंगों के संमुख मुँद ही जायगा, उससे मुख-संरचना कैसे होती है? नवनीत का रंग जैसे क्रमशः पीतिमा को प्राप्त होता है, ऐसे ही जैसे-जैसे तारुण्य समृद्ध हुआ, वैसे ही यह चम्पक गौरवर्ण भी विकसित होता चला। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ १२९ ॥

अस्याः स चारुमधुरेव कारुः श्वासं वितेने मलयानिलेन।
अमूनि पुष्पैर्विदधेऽङ्गकानि चकार वाचं पिकपञ्चमेन ॥ १३० ॥

जीवातु—अस्या इति। चारुः चतुरः, सः प्रसिद्धः, मधुर्वसन्त एव, नान्यः इति भावः, अस्याः भैम्याः, कारुः शिल्पी यतो मलयानिलेन उपादानेन, अस्याः श्वासं निःश्वासमारुतं, वितेने चकार; पुष्पैरमूनीति हस्तनिर्देशः, अङ्गकानि विदधे; वाचं पिकपञ्चमेन कोकिलस्वरेण, 'पिकः कूजति पञ्चमम्' इति वचनात्, चकार ससर्ज इत्युत्प्रेक्षा; अन्यथा कथमेषामीदृशानि सौरभ-मार्दवमाधुर्याणीति भावः ॥ १३० ॥

अन्वयः—अस्याः कारुः सः चारुः मधुः एव; मलयानिलेन श्वासं वितेने, पुष्पैः अमूनि अङ्गकानि विदधे, पिकपञ्चमेन वाचं चकार।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) का शिल्पी वह (प्रसिद्ध) मनोहर मधु (वसंत) ही है (अन्य नहीं); मलयपवन से (उसने दमयन्ती की) साँसें बनायीं, फूलों से ये सुकुमार अंग रचे और कोकिल के पंचम स्वर से वाणी बनायी।

टिप्पणी—मलयपवन-सी सुगन्धि श्वास, फूलों-से सुकुमार अंग और कोकिल-स्वर-सी वाणी—इसके प्रमाण हैं कि दमयन्ती का शिल्पी वसंत के

अतिरिक्त कोई हो ही नहीं सकता, ऐसे उपकरण उसी के पास हैं। तभी तो दमयन्ती की सुगंधित साँस है, फूलों-से अंग हैं और कोयल जैसी वाणी है। मतंग और नारदीय शिक्षा के अनुसार वसंत में कोकिल पंचम स्वर में बोलती है। पंचम का वर्ण भी कृष्ण माना गया है—'पञ्चमस्तु भवेत्कृष्णः।' (नारदीयशिक्षा १।४।१-२)। ना. शि. (१।५, ६–१२) के अनुसार पञ्चम नाभि, उर, हृदय, कंठ और शिर से उद्भूत होने के कारण पंचम कहाता है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा; विद्याधर के अनुसार असम्बन्ध में सम्बन्ध कथन होने के कारण अतिशयोक्ति ॥ १३० ॥

कृतिः स्मरस्यैव न धातुरेषा नास्या हि शिल्पीतरकारुजेयः।
रूपस्य शिल्पे वयसा स वेधा निर्जीयते स स्मरकिङ्करेण ॥ १३१ ॥

जीवातु—कृतिरिति। एषा भैमी, स्मरस्यैव कृतिः सृष्टिः, धातुः न, कृतिरिति शेषः, हि यस्मात्, अस्याः भैम्याः, शिल्पी निर्माता, इतरकारुभिः शिल्प्यन्तरैः जेयो जय्यः, न, अस्याः शिल्पिना अपराजितेन एव भवितव्यमित्यर्थः, ब्रह्मा तु पराजित इत्याह—रूपस्य शिल्पे रूपनिर्माणविद्यायां, स च वेधाः स्मरकिङ्करेण कन्दर्पाधीनेन वयसा यौवनेनापि, निर्जीयते, बाल्यशरीरापेक्षया यौवनशरीरस्याधिकरमणीयत्वादिति भावः, अतस्तत्स्वामिना स्मरेण असौ जित इति किमु वक्तव्यम् इति युक्त्या स्मरकृतिरेवैषेत्युत्प्रेक्षा। स्वभावरमणीय तद्रूपं यौवनमदनाभ्यां जगन्मोहनं जातम् इति तात्पर्यम् ॥ १३१ ॥

अन्वयः—एषा स्मरस्य एव कृतिः धातुः न, हि अस्याः शिल्पी इतरकारुजेयः न; सः वेधाः रूपस्य शिल्पे स्मरकिङ्करेण वयसा अपि निर्जीयते।

हिन्दी – यह (दमयन्ती) कामदेव की ही रचना है, विधाता की नहीं; कारण कि इसका रचनाकार अन्य शिल्पियों से विजित नहीं है और वह विधाता तो रूप की कारीगरी (संरचना) में काम के दास आयु (यौवन) द्वारा भी समग्रभाव से जीत लिया गया है।

टिप्पणी—बाल्यावस्था की अपेक्षा तरुणाई आने पर रूप अधिक खिल उठता है। इस आधार को लेकर यह माना गया कि दमयन्ती सामान्य रचना से भिन्न है, वह सामान्यतया सृष्टि के कर्त्ता विधि का शिल्प नहीं है किसी अपराजित शिल्पी अर्थात् कामकारु का शिल्प है, जो अजेय है। विधाता तो काम के

सामान्य सेवक यौवन से ही निरंतर हारता रहता है। वह रूप-स्वरूप की दृष्टि से रम्य किसी नर-नारी की रचना करता है, किन्तु तारुण्य उसी विधि की रचना को और भी उत्कृष्ट कर देता है। इस प्रकार वह विधि का जेता बन जाता है। विधि जिस रूप को न रच सका, उसे कामकिङ्कर तारुण्य ने रच दिया। दमयन्ती काम की ही रचना है और तरुणाई में वह और भी रमणीय हो गयी है। निसर्गसुन्दरी भैमी का रूप यौवनमदन के कारण विश्वमोहन बन गया है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार असम्बन्ध में सम्बन्धकथन रूपा अतिशयोक्ति ॥ १३१ ॥

गुरोरपीमां भणदोष्ठकण्ठ-निरुक्तिगर्वच्छिदया विनेतुः।
श्रमः स्मरस्यैष भवं विहाय मुक्तिं गतानामनुतापनाय ॥ १३२ ॥

जीवातु—गुरोरिति। अथ गुरोः बृहस्पतेरपि इमां भैमीं, भणत् वर्णयत्, ओष्ठकण्ठम् ओष्ठः कण्ठश्च प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः। 'न लोका—'इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् कर्मणि द्वितीया, तयोः निरुक्तिगर्वच्छिदया सौन्दर्यातिशयादिवर्णनविषयेऽसाधारणवक्तृत्वाहङ्कारखण्डनेन, 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' इत्यङ्, विनेतुः शिक्षयितुः; ताच्छील्ये तृच्प्रत्ययः, त्वया निर्वक्तुम् अशक्यमस्या रूपनिर्माणमेवेति शिक्षयितुरिति भावः, स्मरस्यैष श्रम ईदृग्रूपनिर्माणप्रयासः, भवं संसारबन्धं, विहाय मुक्तिं गतानामनुतापनाय भैमीसद्भावेन सदानन्दमयत्वात् संसार एव मोक्षः, वयं संसारं त्यक्त्वा वृथा मुक्ताः स्म इति पश्चात्तापजननाय, भवतीत्युत्प्रेक्षा, तया किमुतान्येषामित्यर्थापत्तिर्व्यज्यते। दमयन्तीसम्बन्धरहितां मुक्तिं विगति भावः ॥ १३२ ॥

अन्वयः—गुरोः अपि इमां भणदोष्ठकण्ठनिरुक्तिगर्वच्छिदया विनेतुः स्मरस्य एषः श्रमः भवं विहाय मुक्तिं गतानाम् अनुतापनाय।

हिन्दी—देवगुरु (बृहस्पति) के भी ओठ और कंठ का असाधारण क्षमता का अभिमान इस (दमयन्ती) सौन्दर्यवर्णन में नष्ट हो जाने के कारण (उन्हें) शिक्षा देने के निमित्त काम यह परिश्रम (दमयन्ती-रूप-निर्माण) संसार को छोड़ कर मुक्ति को प्राप्त हुए जनों के पश्चाताप के निमित्त हुआ है।

टिप्पणी— सुरगुरु के ओठ और कंठ को (इस दृष्टि से स्वयं बृहस्पति को ही) बड़ा अहंकार था कि उनकी वर्णन-क्षमता अपार है, वे सबका सांगोपांग

वर्णन कर सकते हैं। दमयन्ती का रूप-वर्णन करने में वे असफल रहे। उनके गर्व का निराकरण हो गया। तो ऐसी रूपवती का निर्माण सामान्य-रचनाकार द्वारा हो ही नहीं सकता। इसका विधाता तो कामदेव ही है, जिसका रूप देखकर संसार को त्याग कर मुक्त हुए जन पछता रहे हैं कि हाय, क्यों ऐसा सुन्दर संसार छोड़ा, जहाँ ऐसी सुन्दरी विद्यमान है। ऐसी सुन्दरी है दमयन्ती कि मोक्ष प्राप्त जन भी उसकी आकांक्षा करते हैं, सामान्य संसारिजनों की तो बात ही क्या? धिक्कार है दमयन्ती सम्बन्ध-रहिता मुक्ति को। मल्लिनाथ के अनुसार मुक्त जनों का अनुताप उत्प्रेक्षा है, जिससे यह अर्थापत्ति होती है कि अन्यजनों की तो बात क्या? विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ १३२ ॥

आख्यातुमक्षिव्रजसर्वपीतां भैमीं तदेकाङ्गनिखातदृक्षु।
गाथासुधाश्लेषकलाविलासैरलञ्चकारानन चन्द्रमिन्द्रः ॥ १३३ ॥

जीवातु—आख्यातुमिति। अथ इन्द्रः अक्ष्णां व्रजेन नलरूपधार्यपि निज-शक्त्या नेत्रसहस्रेण, सर्वेषु अङ्गेषु पीताम् आदरदृष्टां भैमीं, तस्याः भैम्याः, एकस्मिन्नेवाङ्गे निखाते प्रवेशिते दृशौ येषां तेषु द्विनेत्रेषु मनुष्येषु विषये, आख्यातुं तेभ्यः कथयितुं सर्वविशेषज्ञो हि अज्ञेषु सविस्तरं कथयतीति भावः, गाथासुधायाः, श्लोकामृतस्य, श्लेषकलायाः श्लेषालङ्कारविद्यायाः, विलासैः, अन्यत्र—अमृतसम्पर्केण षोडशभागविलासैश्च, आननमेव चन्द्रः तम् अलञ्चकार श्लिष्टार्थेन वक्ष्यमाणश्लोकेन चाकथयदित्यर्थः ॥ १३३ ॥

अन्वयः—इन्द्रः तदेकाङ्गनिखातदृक्षु अक्षिव्रजसर्वपीतां भैमीम् आख्यातुं गाथासुधाश्लेषकलाविलासैः आननचन्द्रम् अलञ्चकार।

हिन्दी—इन्द्र ने उस (दमयन्ती) के एक अंग में नयन गड़ाये राजाओं के मध्य अपने नेत्रसमूह द्वारा सर्वांगतः पीता (समग्ररूप में देखी जाती) भीमसुता का वर्णन करने के निमित्त गाथा रूप सुधा (अमृत) की अलंकार-विधाओं के विलास से (अथवा गाथा रूप सुधा के समग्र सम्बन्ध द्वारा पन्द्रह कलाविलासों से) मुख-चन्द्र को सुशोभित किया।

टिप्पणी—उपस्थित राजमंडली की तो दो ही आँखें थीं, उनसे वे दमयन्ती के समग्र सौंदर्य का दर्शन न कर पा रहे थे, क्योंकि दृष्टि जिस अंग पर पड़ती थी, हटती ही न थी, गड़ी रह जाती थी। इन्द्र के सहस्र नेत्र थे, वह उनसे

उसके समग्र सौंदर्य का जैसे पान कर रहा था। तो उसने भी एक श्लोक में दमयन्ती का रूप वर्णन किया अपने मुख से एक श्लिष्टालंकारपूर्ण श्लोक (सं० १३४) कह कर; मानो मुखचन्द्र को सुधा के पंचदश कलाविलासों से अलंकृत कर लिया। 'गाथा' आर्या छंद में रची रीति को कहा जाता है। प्राकृत में ऐसी अनेक गाथाएँ हैं, जैसे हाल की 'गाथा-सप्तशती।' पर यहाँ गाथा से तात्पर्य एक प्रशंसापरक श्लोक से ही है। भाव यही है कि सहस्रनयन इन्द्र ने एक श्लोक द्वारा दमयन्ती का श्लिष्ट वर्णन किया ।। १३३ ।।

स्मितेन गौरी हरिणी दृशेयं वीणावती सुस्वरकण्ठभासा।
हेमेव कायप्रभयाऽङ्गशेषैस्तन्वी मतिं क्रामति मे न काऽपि ॥ १३४ ॥

जीवातु—तमेव श्लोकमाह—स्मितेनेति। इयं भैमी, स्मितेन गौरी गौरीसंज्ञा काचिद्देवाङ्गना, सिता च, 'गौरोऽरुणे सिते पीते' इति वैजयन्ती। मे मतिं क्रामतीत्युत्तरेणान्वयः; एवमुत्तरत्रापि दृशा दृक्शोभया हरिणी काचिद्देवाङ्गना, कुरङ्गी च, सुस्वरकण्ठभासा सुमधुरकण्ठध्वनिसम्पत्त्या, वीणावती अप्सरोविशेषः, वीणायुक्ता च, कायप्रभया, अङ्गकान्त्या, हेम अप्सरो विशेषः सुवर्णञ्च, अङ्गेषु शेषैः अवशिष्टाङ्गैः, तन्वी मेनकाऽपि अप्सरोविशेषोऽपि, मतिं क्रामति एतस्या अङ्गानि दृष्ट्वा मेनका अप्सरा अपि स्मर्य्यते इति भावः; अथ च काऽपि तन्वी उपमानार्हा स्त्री, मे मतिं न क्रामति बुद्धिं नारोहति, अमर्त्यमर्त्योचितार्थद्वयमाश्रित्यावादीदिति द्रष्टव्यम्। अत्र एकस्या भैम्या गौरीत्यादिरूपेणोल्लेखादुल्लेखालङ्कारः; 'नानाधर्मबलादेकं यदि नानेन गृह्यते। नाहारूपसमुल्लेखात् स उल्लेख इति स्मृतः ॥' इति लक्षणात्, स च श्लेषप्रतिभोत्थापित इति सङ्करः। एतावतैव कविनाऽपि श्लेषकलाविलासै-रित्युक्तम्, अस्य च ग्रहीतृभेदात् कारकभेदाच्चोत्थानादत्र स्मितानुकारक-भेदादुत्थानमिति संक्षेपः ॥ १३४ ॥

अन्वयः—इयं स्मितेन गौरी, दृशा हरिणी, सुस्वरकण्ठभासा वीणावती, कायप्रभया हेमा एव, अङ्गशेषैः का अपि तन्वी मे मतिं न क्रामति (अथ च तन्वी मेनका अपि मतिं क्रामति)।

हिन्दी—(१) यह (दमयन्ती) शुभ्र मुसकान के कारण गौरवर्णा है, नेत्रों के कारण हिरनी है, सुमधुर कंठ संपत्ति के कारण वीणाधारिणी है,

शरीर की कान्ति से स्वर्ण ही है और इसके शेष अंगों के (सौंदर्य के) कारण कोई अन्य कोमलांगी मेरी बुद्धि में नहीं आती। (२) यह स्मित के कारण गौरी अर्थात् पार्वती अथवा कोई इस नाम की अप्सरा है, नेत्रों से देवी हरिणी लगती है, मधुर कंठध्वनि से वीणावती अप्सरा प्रतीत होती है और काया की आभा से अप्सरा हेमा ही जैसे है। दमयन्ती के शेष अंगों को देखकर मेरी बुद्धि में मेनका अप्सरा भी नहीं आ पाती।

टिप्पणी—इस प्रकार के श्लिष्ट वर्णन से एक ओर तो इन्द्र ने दमयन्ती के श्रेष्ठ गौरवर्ण और मुसकान, हरिणी जैसे नेत्र, वीणा-सा कंठस्वर, कांचन-काया और सर्वातिशायी शेष अंगों के सौंदर्य का वर्णन कर दिया, दूसरी ओर गौरी, हरिणी, वीणावती, हेमा और मेनका नामकी अप्सराओं से उसका औपम्य और मूल्यांकन भी कर लिया। यह गौरी आदि शब्दों की श्लिष्टार्थकता के आधार पर हो सका। एक ओर इस श्लोक में मानवोचित वर्णन है, दूसरी ओर देवोचित। कथन का भाव यह है कि दमयन्ती कुछ अंशों में किसी सुरसुन्दरी के तुल्य है, कुछ अंशों में किसी के। सर्वथा कोई अप्सरा दमयन्ती की तुलना नहीं कर सकती, निरुपमेय है यह। मल्लिनाथ के अनुसार एक दमयन्ती का अनेक गौरी आदि के रूप में उल्लेख के कारण उल्लेख अलंकार है और उसकी उत्थापना श्लेष के कारण हुई है। इस प्रकार उल्लेख और श्लेष का यहाँ संकर है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और श्लेष अलंकार हैं॥

इति स्तुवानः सविधे नलेन विलोकितः शङ्कितमानसेन।
व्याकृत्य मर्त्योचितमर्थमुक्तेराखण्डलस्तस्य नुनोद शङ्काम्॥ १३५॥

जीवातु—इतीति। इति स्तुवानः गौरीप्रभृत्यप्सरःस्वरूपत्वेन भैमीं वर्णयन्, आखण्डलः इन्द्रः, सविधे समीपे, शङ्कितमानसेन अमर्त्योचितार्थोपन्यासात् नूनमयं मदीयरूपधारी इन्द्र एवेति शङ्कितचित्तेन, नलेन विलोकितः सन् उक्तेः स्मितेनेत्यादिना वाक्यस्य, मर्त्योचितमर्थं गौरीत्यादिशब्दानां सितत्वादिरूपं, व्याकृत्य व्याख्याय, तस्य नलस्य, शङ्कां नुनोद॥ १३५॥

अन्वयः—इति स्तुवानः आखण्डलः सविधे शङ्कितमानसेन नलेन विलोकितः उक्तेः मर्त्योचितम् अर्थं व्याकृत्य तस्य शङ्काम् नुनोद।

हिन्दी—इस (१३४ श्लोकानुसारी प्रकार से) प्रशंसा करते इन्द्र ने निकट बैठे शंकित हृदय नल द्वारा देखे जाने पर अपने कथन की मानवोपयुक्त व्याख्या करके उस (नल) की शंका को दूर कर दिया।

टिप्पणी—इन्द्र की इस प्रकार की श्लिष्टोक्ति सुनकर पास बैठे नल को आशंका हुई कि यह वेष बदले इन्द्र तो नहीं है, अन्यथा अप्सराओं से दमयन्ती की तुलना क्यों करता ? इन्द्र यह समझ गया और उसने मनुष्योचित अर्थ स्पष्ट करके नल की आशंका मिटा दी। इन्द्र का नाम वैयाकरण के रूप में लिया जाता है, यद्यपि ऐंद्रव्याकरण उपलब्ध नहीं है ॥ १३५ ॥

स्वयं नैषधादेशमहो ! विधाय कार्यस्य हेतोरपि नानलः सन्।
किं स्थानिवद्भावमधित्त दुष्टं तादृक्कृतव्याकरणः पुनः सः ? ॥१३६॥

जीवातु—अत्र कविराह—स्वमिति। स इन्द्रः कार्यस्य भैमीलाभरूपकार्यस्य, हेतोर्निमित्तं, 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति षष्ठी, स्वम् आत्मानं, नैषधस्य नलस्य, आदेशं नलात्मकादेशं, विधाय कृत्वा, नलो न भवतीत्यनलः, नञ्समासः अनलः न भवतीति नानलः नलः एव सन्, नलरूपधारी सन्नित्यर्थः, पुनः पश्चात्, नलस्य इन्द्रशङ्कानन्तरमित्यर्थः, तादृक् तथा कृतं मर्त्योचितं कृतं, व्याकरणं रागपारवश्योक्तस्यान्यथाविवरणं येन सोऽपि सन्, स्वोक्तेरन्यथा व्याकुर्वाण सन्नित्यर्थः, स्थानी प्रसक्तिमान् यत्रादेशो भवति स इत्यर्थः, तद्वत् इन्द्रवदित्यर्थः, किं किमर्थं, दुष्टं पापिष्ठभावं, परस्त्रीवाञ्छामित्यर्थः, अधत्त ? अहो ! महेन्द्रस्यापि दुर्व्यसनितेत्याश्चर्यम्; इन्द्रेण नलस्वरूपधारिणा सता नलस्यादुष्टस्वभावोऽपि धर्त्तुमुचितः, किन्तु तं विहाय परप्रतारणरूपस्वकीयदुष्टस्वभावो धृत इत्येवाश्चर्यमिति भावः। अन्यच्च—तादृक्कृतव्याकरणो महेन्द्रव्याकरणकर्त्तापि सन्, सः पण्डितः इन्द्रः, नैषधादेशं विधाय तद्रूपधारणेन तदादेशो भूत्वा, न अल् अनल् स न भवतीति नानल् पूर्ववत् समासः अलित्यर्थः, तस्य अल्सम्बन्धिनः कार्यस्य हेतोः तदर्थं, दुष्टं निषिद्धं स्थानिवद्भावं स्थानिवदादेशं; 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' इत्यनेनाऽलसम्बन्धिकार्ये स्थानिवदादेशस्य निषेधादिति भावः, किं कथम् अधत्त ? इति अहो ! आश्चर्यम् !! अन्यच्चतादृक्कृतव्याकरणः तथाकृतसंस्कारः, स इत्ययं शब्दः, स्वं स्वकीयम्, आदेशं विधायेति खण्डविश्लेषः, त्यदाद्यत्वं प्राप्येत्यर्थः, नानलः

कार्यस्य हेतोः अल आश्रितहल्ङ्यादिलक्षणस्थानिकार्यार्थं, किम् इति दुष्टम् अल्विधाविति प्रतिषेधादनुपपन्नं, स्थानिवद्भावमधत्त ? अहो ! विरुद्धमित्यर्थः । अत्रोक्तस्य विरोधात् प्राथमिकार्थेनैव समाधानेन विरोधाभासोऽलङ्कारः, स च श्लेषप्रतिभोत्थापित इति सङ्करः, तृतीयार्थे, नञ् इति विशेष्यस्य अपि विद्धं तत् मृग्यं तदपि वाच्यस्य विरोधाभासस्यैव साधकत्वात् वाच्यसिद्ध्यङ्ग-मित्यनुसन्धेयम् ॥ १३६ ॥

अन्वयः—अहो, सः कार्यस्य हेतोः स्वं नैषधादेशं विधाय नानलः सन् अपि पुनः तादृक्कृतव्याकरणः किं दुष्टं स्थानिवद्भावम् अधत्त ?

हिन्दी—आश्चर्यजनक खेद का विषय है:—(१) (इन्द्र) ने कार्य (दमयन्ती-प्राप्ति) के कारण से अपने को निषधराज (नल) का स्थानीय (रूपधारी) बनाकर नल (रूपधारण करके) होकर भी पुनः वैसी (मानव-पक्षोचित) व्याख्या करके क्यों स्थानी (इन्द्र) के तुल्य आशय को धारण किया ?

(२) उस (इन्द्र ने) वैसे (श्रेष्ठ) व्याकरण (ऐंद्रव्याकरण) का कर्त्ता होकर भी नैषधादेश (नल रूप बना) करके 'अल्' (अक्षरसमूह) से संबद्ध कार्य के निमित्त क्यों दुष्ट (व्याकरण विरुद्ध) स्थानिवद्भाव (जिसके स्थान पर आदेश हो, उसका भाव) किया ?

टिप्पणी—इस श्लोक का भाव यह है कि इन्द्र ने दमयन्ती को पाने के लिए जब पुण्य-श्लोक नल का रूप बना रखा था, तब उसे छल-कपट का व्यवहार नहीं करना चाहिए था, भले ही इन्द्र के वास्तविक रूप में वह कपट-व्यवहार करता । इन्द्र तो कपटी प्रसिद्ध ही है, पर जब वह निषधराज के रूप में था, तब तो उसे तदनुकूल आचरण ही उचित था । क्यों उसने नल को अपने 'स्मितेन गौरी' (१०।१३३) इत्यादि की मानवोचितार्थ व्यक्त करने वाली व्याख्या करके नल को धोखा दिया ? यह आश्चर्य और खेद की बात है । इन्द्र आखिर इन्द्र ही है—देवराज, स्वर्ग का राजा, वैदिक पद्धति में पूजित त्रिदेवों—इन्द्राग्निवरुण—में प्रथम । उसका यह व्यवहार आपत्तिजनक था । इन्द्र वैयाकरण रूप में प्रसिद्ध है, अतः ऐसी शब्दयोजना यहाँ की गयी कि यह भी भाव हो जाये कि एक प्रसिद्ध व्याकरण वाङ्मय का

विधाता होकर भी इन्द्र ने व्याकरण-विषयक निर्देश का पालन क्यों नहीं किया ? व्याकरण का एक नियम है 'नहोधः' (अष्टा० ८।२।३४), अर्थात् 'नह्' के 'ह्' का 'ध्' आदेश होता है । इस नियम से 'उपानह्' शब्द के 'ह्' के स्थान में 'ध्' आदेश हो जाता है और 'ह्' के आदेश 'ध्' के 'झल्' वर्ण-समूहांतर्गत वर्ण होने से उसका 'झलां जशोऽन्ते' (अष्टा० ८।२।३९) नियम से 'द्' हो जाता है। इस प्रकार 'ह्' का 'ध्' हुआ और 'ध्' का 'द्'। यहाँ स्थानी अर्थात् 'ह्' को आधार मानकर 'द्' नहीं हुआ, अपितु 'ध्' आदेश के स्थान पर तदुचित 'द्' हुआ है । एक दूसरा उदाहरण है—पथिन् शब्द का प्रथमा एकवचन में सिद्ध रूप होता है—'पन्थाः'। इसकी सिद्धि का प्रकार है—पथिन्+सु इस स्थिति में 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' (अष्टा० ७।१।८५) नियम से 'न्' का 'आ' आदेश हो जाता है। पुनः 'पथि' की 'इ' का 'अ' हो 'थ' का 'न्थ' हो जाता है और पन्थ + आ + सु का दीर्घ तथा 'सु' के शेष 'स्' का विसर्ग हो 'पन्थाः' निष्पन्न हो जाता है । एक नियम है 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्' (अष्टा० ६।१।६८) अर्थात् हलंत से परे हो तथा दीर्घ 'ङी' और 'आप्' जिसके अन्त में हो, उस समुदाय से परे 'सु, ति, सि' सम्बन्धी अपृक्त हल् का लोप हो । इसी नियम से 'सखिन्' के 'सु' का लोप हो 'सखा' बनता है । यह नियम 'पथिन्' से निष्पन्न 'पन्थाः' में भी लगना चाहिए, पर वह इस कारण नहीं होता कि एक और नियम है—'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (अष्टा० १।१।५६) अर्थात् आदेश स्थानिवत् हो किंतु स्थानी की अलाश्रय विधि (अल् मात्र धर्म को आधार मान कर कार्य) में न हो। इस दृष्टि से 'पथिन्' में जो ७।१।८५ से जो स्थानी 'न्' (हल्) के स्थान में जो 'आ' आदेश हो जाता है, वह 'अलाश्रय विधि' है, अतः स्थानी 'न्' को आधार मान कर होने वाला प्रथमा एकवचन 'सु' विभक्ति का लोप नहीं होता और 'पन्थाः' रूप होता है, 'पथा' नहीं। परन्तु महावैयाकरण होते हुए भी इन्द्र ने इसके विपरीत किया, उसने 'अल् विधि' में 'स्थानिवदादेश' अर्थात् 'स्थानी' (इन्द्र) के सदृश कार्य कर दिया—कपटाचार किया । 'न अल् अनल्, न विद्यते अल् यस्मिन् कार्ये तन्नानल् तस्य, अल्सम्बन्धिनः ।' यह समग्रयोजना 'नल' शब्द को आधार बनाकर है । 'नानलः' की नलपक्ष में

व्युत्पत्ति की जाती है—न नलः अनलः, न+अनलः नानलः, अर्थात् नल। व्याकरणपक्ष में 'नानलः' की पूर्वोक्त व्युत्पत्ति है; जिसका अर्थ होता है 'अल् विधि'। इन्द्र ने नल रूप धारण कर नलादेश रहते भी स्थानी इन्द्र जैसा कार्य (स्थानिवद्भाव) किया, यह अनुचित है। वैयाकरण ने 'अनल् विधि' में होनेवाला स्थानिवद्भाव अल् विधि में करके अनुचित किया। यही खेद और आश्चर्य का विषय है। और भी रीति से अर्थ है—इन्द्र ने दुष्ट स्थानिवद्भाव अर्थात् देवत्व छोड़कर मनुष्यत्व किसलिए किया, जब कि वह 'ना+नलः' अर्थात् नल=नर=मनुष्य नहीं था? कैसा 'व्याकरण' अर्थात् विशिष्ट आकार बना लिया था उसने कि इन्द्रमूर्त्ति नलरूप में परिणत हो गयी? यह आश्चर्य है। खेद यही है 'अनल' (नलव्यतिरिक्त) होते हुए उसने अपने को 'नैषधादेश' करके—देव से मर्त्य बन कर अनुचित किया। भाव यही है कि इन्द्र को नल रूप ही धारण नहीं करना था और उस पर अनलोचित आचरण! यह तो और भी अनुचित हुआ। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ विरोधाभास और श्लेष का संकर है, क्योंकि उक्त के विरोध से प्राथमिक अर्थ से ही समाधान होने के कारण विरोधाभास है और वह श्लेष से उत्पादित है ॥ १३६ ॥

इयमियमधिरथ्यं याति नेपथ्यमञ्जु-
विशति विशति वेदीमुर्वशी सेयमुर्व्याः ।
इति जनजनितैः सानन्दनादैर्विजघ्ने
नलहृदि परभैमीवर्णनाकर्णनाप्तिः ॥ १३७ ॥

जीवातु—इयमियमिति। नेपथ्येन प्रसाधनेन, मञ्जुः मनोज्ञा, उर्व्याः पृथिव्याः, उर्वशी भूतलोर्वशी, सेयं दमयन्ती, इयम् इयमिति पुरोनिर्देशः, सम्भ्रमे द्विरुक्तिः अधिरथ्यं रथ्यायां, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः याति रथ्यायां गच्छतीत्यर्थः। वेदीं स्वयंवरवेदिकां, विशति विशति इति एवं, जनैः दर्शकजनैः, जनितैः कृतैः, सानन्दनादैः सहर्षघोषैः कर्तृभिः, नलहृदि परेषां समीपस्थजनानां, भैमीवर्णनस्य आकर्णनाप्तिः श्रवणसुखलाभः, विजघ्ने विहतः, दमयन्तीसन्दर्शनेन सम्भ्रान्तानां लोकानां कलरवेण अन्यजनकृता दमयन्तीरूपवर्णना नलेन न श्रुता इति भावः। मालिनीवृत्तम् ॥ १३७ ॥

अन्वय:—नेपथ्यमञ्जु: उर्व्या: उर्वशी सा इयम् इयम् अविरथ्यं याति वेदीं विशति विशति—इति जनजनितै: सानन्दनादै: नलहृदि परभैमीवर्णनाकर्णनाप्तिः विजघ्ने ।

हिन्दी—'प्रसाधनों से रमणीय पृथ्वीतल की उर्वशी वह (प्रसिद्ध) यह (दमयन्ती) यह-यह (संमुखीना) रथ्या (गली) में जा रही है, स्वयंवर वेदी में प्रविष्ट हो रही है',—इस प्रकार दर्शकों द्वारा किये जाते आनन्दमय कोलाहल द्वारा नल के हृदय में समीपस्थ जनों द्वारा (अथवा उत्कृष्ट) भीमपुत्री के वर्णन की प्राप्ति (श्रवणसुखलाभ) में विघ्न पड़ गया ।

टिप्पणी—दमयन्ती को देखकर उल्लसित दर्शकों ने ऐसा कोलाहल किया कि नल के दमयन्ती-वर्णन से प्राप्त होते सुख में बाधा पड़ गयी । मालिनी छन्द ॥ १३७ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीर: सुतं
श्रीहीर: सुषुवे जितन्द्रिय-चयं मामल्लदेवी च यम् ।
तर्केष्वप्यसमश्रमस्य दशमस्तस्य व्यरंसीन्महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वल: ॥ १३८ ॥

जीवातु—श्रीहर्षमिति । तर्केष्वपीति न केवलं कवितायामेवेत्यर्थः । गतमन्यत् ॥ १३८ ॥

—: :SoS: :—

अन्वय:—श्रीहर्षं....च यम्, तर्केषु अपि असमश्रमस्य तस्य चारुणिमहाकाव्ये नैषधीयचरिते निसर्गोज्ज्वल: दशम: सर्ग: व्यरंसीत् ।

हिन्दी—पूर्वार्द्ध का अर्थ पूर्ववत् । तर्कशास्त्र में भी जिसका श्रम अतुल है, उस (श्रीहर्ष) के चारु महाकाव्य नैषधीयचरित में निसर्गोज्ज्वल दशम सर्ग पूर्ण हुआ ।

टिप्पणी—'तर्केष्वसम:' (तर्क में अद्वितीय) इस तथ्य का संकेत देता है कि श्रीहर्ष साहित्य-शास्त्री ही नहीं थे, तर्क के भी महापंडित थे—'दृढन्यायग्रन्थिले तर्के वा समं लीलायते भारती' ॥ १३८ ॥

इति नैषधीयचरिते दशम: सर्ग: समाप्त: ।

—: :-o-: :—

नैषधीयचरितम्

एकादशः सर्गः

तां देवतामिव मुखेन्दुलसत्प्रसादामक्ष्णा रसादनिमिषेण निभालयन्तीम् ।
लाभाय चेतसि धृतस्य वरस्य भीमभूमीन्द्रजा तदनु राजसभां बभाज ॥१॥

जीवातु—तामिति । तदनु तस्मादानन्दनादोत्थानादनन्तरमित्यर्थः, अनु-शब्दस्य लक्षणार्थे कर्मप्रवचनीयत्वात् तद्योगे द्वितीया । भीमभूमीन्द्रजा भैमी, मुखेन्दुषु, राज्ञामिति भावः, देवतायां मुखेन्दौ च, लसन् प्रसादः प्रसन्नता, भैम्यागमनजन्यहर्ष इति यावत्, पक्षे—कांक्षितं वरय इत्यादि अनुग्रहवचनं यस्यास्तां, तस्यै वरं प्रदातुमुद्यतामिति भावः, 'प्रसादोऽनुग्रहे काव्यप्राणस्वास्थ्य-प्रसत्तिषु' इति विश्वः । तथा रसात् अनुरागात्, अनिमिषेण निमेषशून्येन, अक्ष्णा चक्षुषा, निभालयन्तीम् ईक्षमाणां, 'दर्शनेक्षणनिध्याननिर्वर्णननिभालनम्' इति वैजयन्ती । भल निरूपणे इति धातोश्चौरादिकाच्छतरि ङीप् । यद्यपि प्रायेणायं धातुरात्मनेपदी, यदाह भट्टमल्लः,—'निभालयते ईक्षते' इति तथापि अस्य भुवादिषु अपि पाठादुभयत्र पठितादुभयपदी इति मतमाश्रित्यायं परस्मैपद-प्रयोग इति द्रष्टव्यम्, पक्षे—स्वभावतो देवतानाम् अनिमिषेण चक्षुषा रसात् साधकस्य भक्त्यतिशयात् भक्तं जनं पश्यन्तीं, तां राजसभां राजसमूहं 'सभा द्यूतसमूहयोः । गोष्ठ्यां सभ्येषु शालायाम्' इति हैमः । 'सभा राजाऽमनुष्यपूर्वा' इत्यत्र 'पर्यायस्यैवेष्यते' इति नियमात् सभाया अनपुंसकत्वम् । देवतामिव चेतसि धृतस्य चिन्तितस्य, वरस्य वोढुर्नलस्य, देवदेयार्थस्य च, 'वरो ना रूप-जामात्रोर्देवादेरीप्सिते वृतौ' इति वैजयन्ती । लाभाय प्राप्त्यर्थं, बभाज प्राप, सिषेवे च । अस्मिन् सर्गे वसन्ततिलकं वृत्तं, लक्षणमुक्तम् ॥ १ ॥

अन्वयः—तदनु भीमभूमीन्द्रजा चेतसि धृतस्य वरस्य लाभाय मुखेन्दु-लसत्प्रसादाम् रसात् अनिमिषेण अक्ष्णा निभालयन्तीं देवताम् इव तां राजसभां बभाज ।

हिन्दी—तदनन्तर भीमराज की आत्मजा (दमयन्ती) मन में निर्धारित वर (नल) के लाभ के निमित्त (मानों वर देने के लिए) मुखचन्द्र पर प्रसन्नता धारण करती और अनुराग के कारण अपलक नेत्र से देखती (अतएव) देवता के सदृश उस राजसभा में प्रविष्ट हुई।

टिप्पणी—राजसभा में उपस्थित होने से ही दमयन्ती को अभिलषितवर नल की प्राप्ति होनी थी, अतः राजसभा की तुलना उस देवता से की गयी, जो भक्त पर कृपा करने के लिए प्रसन्न हो, देवताओं को निमेषसंकोच तो होता ही नहीं, इस प्रकार अपलक निहारती राजमंडली से भी उसका उचित साम्य हो गया। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और उपमालंकार। श्लोक सं० १–१२८ वसंततिलका छन्द ॥ १ ॥

तन्निर्मलावयवभित्तिषु तद्विभूषारत्नेषु च प्रतिफलन्निजदेहदम्भात्।
दृष्ट्या परं न हृदयेन न केवलं तैः सर्वात्मनैव सुतनौ युवभिर्ममज्जे ॥ २ ॥

जीवातु—तदिति। तैर्युवभिः सुतनौ दमयन्त्यां दृष्ट्या परं दृष्ट्यैव, न केवलं ममज्जे न मग्नं, भावे लिट्। हृदयेन हृदयेनैवापि, न केवलं ममज्जे किन्तु निर्मलासु अवयवभित्तिषु गण्डस्थलादिषु, तस्या विभूषारत्नेषु च प्रतिफलतां निजानां देहानां दम्भात् तत्क्षणप्रतिफलितशरीरव्याजात्, 'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे' इत्यमरः। सर्वात्मना एव सर्वाङ्गेनैव, ममज्जे; दृङ्मनोमज्जनं तावदास्तां किन्तु प्रतिबिम्बव्याजेन सर्वाङ्गमज्जनं जातमिति सापह्नवोत्प्रेक्षा ॥ २ ॥

अन्वयः—तैः युवभिः सुतनौ परं दृष्ट्या न, केवलं हृदयेन न ममज्जे; तन्निर्मलावयवभित्तिषु तद्विभूषारत्नेषु च प्रतिफलन्निजदेहदम्भात् सर्वात्मना एव (ममज्जे)।

हिन्दी—वे तरुण (उपस्थित राजसमूह) सुन्दर शरीरधारिणी (दमयन्ती) में न केवल दृष्टि से और न केवल मन से निमग्न हो गये किन्तु उस (दमयन्ती) के निर्मल अंगरूप भीत (दीवाल) और उसके आभूषणों के रत्नों में प्रतिबिम्बित होते अपने देहों के व्याज से सम्पूर्ण भाव से ही निमग्न हो गये।

टिप्पणी—स्वयंवर-सभा में दमयन्ती आयी, निर्मलांगी रत्नजटित आभरणधारिणी भीमनंदिनी। संपूर्ण तरुण राजमण्डली सर्वतोभावेन, नयन-मन-तन से उसके अपारसौन्दर्यसागर में आमग्न हो गयी। नयनगोचर वह हुई, मन उस पर अनुरक्त हुआ और गौर, निर्मल अंगों तथा आभूषण-रत्नों में प्रतिबिम्बित होते उनके देह ने उनका शरीरतः भी आमग्न होना प्रमाणित कर दिया। प्रतिबिम्ब-व्याज से सर्वांगमज्जन हो गया—इस आधार पर मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ सापह्नवा उत्प्रेक्षा है। प्रकाशकार ने 'निर्मलावयवभित्ति' का अर्थ 'निर्मलांगकुड्य' तो माना ही है, वे 'भित्ति' शब्द को प्रशंसार्थक भी मानते हैं—'भित्तिशब्दः प्रशंसार्थो वा' ॥ २ ॥

द्यामन्तरा वसुमतीमपि गाधिजन्मा यद्यन्यमेव निरमास्यत नाकलोकम्।
चारुः स यादृगभविष्यदभूद्विमानैस्तादृक् तदभ्रमवलोकितुमागतानाम् ॥ ३ ॥

जीवातु—द्यामिति। गाधेर्जन्म यस्य स गाधिजन्मा विश्वामित्रः, 'अवर्ज्यो बहुव्रीहिर्व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपदः' इति वामनः। द्यां वसुमतीमपि अन्तरा स्वर्गभूम्योः अन्तराले, 'अन्तराऽन्तरेण युक्ते' इति द्वितीया अन्यमेव नाकलोकं स्वर्गान्तरं, निरमास्यत यदि निर्मिमीते चेत्, 'माङः क्रियातिपत्तौ लृङ्' स नाकलोकः, यादृक् चारुः अभविष्यत् भवेत्' 'पूर्ववल्लृङ्' तत् स्वयंवरसभोपरिस्थम्, अभ्रम् अन्तरिक्षं कर्त्तु, अवलोकितुं, स्वयंवरमिति शेषः, आगतानां, देवानामिति शेषः, विमानैः तादृक् तथा चारुः, अभूत्, स्वयंवरसमाया ऊर्ध्वमाकाशमण्डलं देवानां विमानैः अन्तरिक्षसृष्टस्वर्गसदृशं शुशुभे इति भावः। अत्राभ्रस्यान्तराले नाकलोकासम्बन्धेऽपि सम्भावनया तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः। अभूतोपमेति केचित् ॥ ३ ॥

अन्वयः—गाधिजन्मा द्यां वसुमतीम् अपि अन्तरा यदि अन्यम् एव नाकलोकं निरमास्यत, सः यादृक् चारुः अभविष्यत् अवलोकितुम् आगतानां विमानैः तत् अभ्रं तादृक् अभूत्।

हिन्दी—गाधितनय (विश्वामित्र) आकाश और पृथ्वी के मध्य यदि कोई और ही स्वर्ग लोक बनाते, तो वह (स्वर्ग) जितना मनोहर होता, स्वयंवर देखने आये (देवों) के विमानों के कारण वह गगन उस स्वर्ग के समान ही रमणीय हो गया।

टिप्पणी—राजा त्रिशकु वसिष्ठ मुनि के शाप से चांडालत्व को प्राप्त हो गये थे, वसिष्ठ के प्रतिस्पर्धी गाधितनय विश्वामित्र ने त्रिशंकु को सशरीर स्वर्ग भेजना चाहा, जिसका देवराज इन्द्र ने विरोध किया। इस पर विश्वामित्र ने अपर प्रजापति के समान नयी सृष्टि की और धरती-आकाश के मध्य नया स्वर्ग बनाया। (वाल्मीकिरामायण, बालकांड, ६० अध्याय)। उस रमणीय स्वर्ग की कल्पना यहाँ आकाश-धरणीमध्य उपस्थित स्वयंवरार्थी देव-विमानों के माध्यम से की गयी है। भाव यह है कि उस काल विदर्भभूमि के ऊपर का गगन स्वर्गतुल्य रमणीय हो उठा। मल्लिनाथ और विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार, कुछ व्याख्याकारों ने यहाँ अभूतोपमा भी मानी है ॥ ३ ॥

कुर्वद्भिरात्मभवसौरभसम्प्रदानं भूपालचक्रचलचामरमारुतौघम् ।
आलोकनाय दिवि सञ्चरतां सुराणां तत्रार्चनाविधिरभूदधिवासधूपैः ॥ ४ ॥

जीवातु—कुर्वद्भिरिति। भूपालचक्रस्य राजलोकस्य, चलानां चलतां, चामराणां मारुतस्यौघं प्रवाहम्, आत्मभवसौरभस्य स्वजन्यगन्धस्य सम्प्रदानं सम्प्रदानपात्रं, कुर्वद्भिः स्वसौरभं तत्र सङ्क्रामयद्भिरित्यर्थः, अधिवासधूपैः वासनार्थधूपैः, आलोकनाय स्वयंवरदर्शनाय, दिवि आकाशे, सञ्चरतां सुराणां देवानां, तत्र स्वयंवरे, अर्चनाविधिः पूजाकृत्यम्, अभूत्, राज्ञां चामरवायुभिः अधिवासधूपा आकाशव्यापिनोऽभूवन् इति भावः। अत्राधिवासधूपस्य सुरार्चनाऽसम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥ ४ ॥

अन्वयः—भूपालचक्रचलचामरमारुतौघम् आत्मभवसौरभसंप्रदानं कुर्वद्भिः अधिवासधूपैः आलोकनाय दिवि सञ्चरतां सुराणां तत्र अर्चनाविधिः अभूत्।

हिन्दी—राजमंडली पर डुलाये जाते चँवरों से उत्पन्न वायु-प्रवाह को स्वोत्पन्न सुगंध-दान करते सुगंधिधूप के द्वारा (स्वयंवर) देखने के निमित्त आकाश में संचरण करते देवों की वहाँ (स्वयंवर प्रदेश में) पूजाविधि हो गयी।

टिप्पणी—एक तो अभ्यागत, दूसरे देव; अतएव उनका पूजा-सत्कार होना उचित ही था। वह चंचल चामरों से उत्पन्न वायु की सुगंधित धूप से हो गया। अधिवासधूप का देवपूजा से सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध-कथन के आधार पर मल्लिनाथ ने यहाँ अतिशयोक्ति का निर्देश किया है ॥ ४ ॥

तत्रावनीन्द्रचयचन्दनचन्द्रलेपनेपथ्यगन्धमयगन्धवहप्रवाहम् ।
आलीभिरापतदनङ्गशरानुसारी संरुध्य सौरभमगाहत भृङ्गवर्गः ॥ ५ ॥

जीवातु—तत्रेति । तत्र स्वयंवरे, आलीभिः श्रेणीभिः, श्रेणीसम्बन्धात् आपततः आगच्छतः, अनङ्गशरान् अनुसरतीति तदनुसारी तत्सदृशः भृङ्गवर्गः अवनीन्द्रचयस्य राजलोकस्य, चन्दनं चन्द्रः कर्पूरञ्च, 'अथ कर्पूरमस्त्रियां घनसारः चन्द्रसंज्ञः' इत्यमरः । तयोर्लेपः, स एव नेपथ्यम् अलङ्कारः, तस्य यो गन्धस्तन्मयस्य तत्प्रचुरस्य, गन्धवहस्य वायोः, प्रवाहं संरुध्य मध्ये मार्गमावृत्य, अथवा—आलीभिः स्वीयश्रेणीभिः तादृशवायुप्रवाहं संरुध्य अन्यत्र कुत्रचित् गन्तुमदत्त्वा इत्यर्थः, सौरभम् आमोदम् अगाहत विलोडितवान् उपभुक्तवान् वा । सौगन्धलोभात् भ्रमराः श्रेणीभूताः सन्तः सभायां विचरन्त स्म इति भावः ॥ ५ ॥

अन्वयः—तत्र आपतदनङ्गशरानुसारी भृङ्गवर्गः अवनीन्द्रचयचन्दन-चन्द्रलेपनेपथ्यगन्धवहगन्धमयप्रवाहम्, आलीभिः संरुध्य सौरभम् अगाहत ।

हिन्दी—वहाँ (स्वयंवरसभा में) आ गिरते काम-बाणों का अनुसरण करते भ्रमरसमूह ने भूमिपालसमूह के चंदनयुक्त कर्पूर लेप के अंगारता की सुगंध को वहन करते समीर-प्रवाह को अपनी पंक्तियों से रोककर सुगंध का उपभोग किया ।

टिप्पणी—स्वयंवर सभा में एकत्र राजमण्डली ने चन्दन-कर्पूर के अंगराग का लेप कर रखा था, जिससे उड़ती प्रकृष्ट सुगंध से आकृष्ट हो पंक्ति-बद्ध भ्रमर वहाँ आ गये थे और वे उस सुगंधिसमीरण का उपभोग कर रहे थे । भ्रमरों के कामोद्दीपक होने के कारण उन्हें 'अनंगशरानुसारी' कहा गया—'बद्ध-पङ्क्तीनां भ्रमराणां दैर्घ्यात्कामोद्दीपकत्वाच्च कामबाणतुल्यत्वम् ।'—नारायण । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और उपमा ॥ ५ ॥

उत्तुङ्गमङ्गलमृदङ्गनिनादभङ्गीसर्वानुवादविधिबोधितसाधुमेघाः ।
सौधस्रजः प्लुतपताकतयाऽभिनिन्युर्मन्ये जनेषु निजताण्डवपण्डितत्वम् ॥ ६ ॥

जीवातु—उत्तुङ्गेति । उत्तुङ्गाः अतितराः, ये मङ्गलमृदङ्गनिनादाः माङ्गलिकविवाहमुरजध्वनयः, तद्भङ्गीनां तत्प्रकारविशेषाणां, सर्वानुवादविधिना प्रतिध्वनिरूपेण कृत्स्नप्रत्युच्चारणेन, बोधिता निवेदिता, साध्वी उत्कृष्टा, मेघा

धारणशक्तिः यासां ताः तथोक्ताः, 'धीर्धारणावती मेधा' इत्यमरः, परोक्तसर्वविशेषानुवादस्य मेधाकार्यत्वात् तस्याः तल्लिङ्गत्वमिति भावः. सौधस्रजः प्रासादपङ्क्तयः प्लुतपताकतया चलत्पताकतया, चलत्कररूपपताकतयेति भावः, जनेषु सभास्थितेषु विषये, समीपे वा, निजताण्डवपण्डिततत्वं स्वस्य नृत्यकौशलं, 'ताण्डवं नटनं नाट्यं लास्यं नृत्यञ्च नर्त्तने' इत्यमरः, अभिनिन्युः व्यञ्जयन्ति स्म, मन्ये वाक्यार्थः कर्म । मृदङ्गप्रतिध्वानात् पताकाचलनाच्च नर्त्तकीवत् वाक्यानुवादं हस्ताभिनयं चक्रुरिवेत्युत्प्रेक्षा, सौधपङ्क्तिषु नर्त्तकीव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिः अलङ्कारश्च ॥ ६ ॥

अन्वयः—मन्ये, उत्तुङ्गमङ्गलमृदङ्गनिनादमङ्गीसर्वानुवादविधिबोधितसाधुमेधाः सौधस्रजः प्लुतपताकया जनेषु निजताण्डवपण्डिततत्वम् अभिनिन्युः ।

हिन्दी—प्रतीत होता था कि विवाहमंगल पर बजते मृदङ्गों की अत्युच्च (तार) ध्वनि की विशिष्ट-विशिष्ट भंगिमाओं (प्रकारों) के संपूर्णतया अनुकथन की रीति से अपनी श्रेष्ठ बुद्धि का बोध करातीं धवल प्रासादपंक्तियाँ लहराती पताकाओं के माध्यम से उपस्थित जनमण्डली को तांडव नृत्य में अपनी प्रवीणता का बोध करा रही थीं ।

टिप्पणी—इस श्लोक में सौधपंक्तियों (प्रासादश्रेणियों) की नर्तकीरूप में उद्भावना की गयी है । जिस प्रकार वाद्यध्वनि के समानांतर हस्तादि मुद्राओं द्वारा भाव-प्रदर्शन करती नर्तकियाँ प्रवीणतापूर्वक भावानुसारी नृत्य किया करती हैं, उसी प्रकार सौधमालाएँ ध्वजरूप 'पताकाहस्त'-मुद्राओं का प्रदर्शन करती मानो भावानुसारी नृत्य का कुशल प्रदर्शन कर रही थीं । भरतमुनि ने लोक-क्रिया-स्वभावानुसार अर्थसंश्रय का ध्यान रखते हुए प्रयोग और काव्यानुसारी हस्ताभिनय का विधान किया है । हस्ताभिनय आंतरी चित्तवृत्ति का सूचक होना चाहिए । (ना० शा० ९।१७५–१७८) । तंडुमुनि से संबद्ध होने के कारण सम्पूर्ण नृत्य अथवा नृत्त 'तांडव' कहाता है । यह प्रायः देवस्तुतिप्रधान होता है । 'ताण्डवमिति सर्वं नृत्तमुच्यते ।' (ना० शा० ४।२६८ और अभिनवभारती) । मृदंगप्रतिध्वान और पताकाचलन के द्वारा नर्तकी सदृश वाक्यानुवाद और हस्ताभिनय हो रहा था; अतः मल्लिनाथ ने उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है । सौधपंक्तियों में नर्तकी-व्यवहार का समारोपण होने के आधार पर उन्होंने समासोक्ति भी मानी है ॥ ६ ॥

सम्भाषणं भगवती सदृशं विधाय वाग्देवता विनयबन्धुरकन्धरायाः ।
ऊचे चतुर्दशजगज्जनतानमस्या तत्राश्रिता सदसि दक्षिणपक्षमस्याः ॥ ७ ॥

जीवातु—सम्भाषणमिति । चतुर्दशानां जगतां समाहारश्चतुर्दशजगत्, तत्र जनतायाः जनसमूहानां, नमस्या नमस्कार्या 'नमोवरिव—' इति क्यचि धातुसंज्ञायामचो यत्, 'क्यस्य विभाषा' इति क्यचो लोपः भगवती वाग्देवता सरस्वती, तत्र सदसि, विनयेन बन्धुरकन्धरायाः नम्रग्रीवायाः, 'बन्धुरौ नम्रविषमौ' इति वैजयन्ती, अस्याः भैम्याः, दक्षिणपक्षं दक्षिणपार्श्वम्, अथ च अनुकूलपक्षम्, आश्रिता आस्थिता, पूज्यत्वाद्दक्षिणपार्श्वेस्थिता सतीत्यर्थः, सदृशं तत्कालोचितं, सम्भाषणं विधाय 'आगच्छ वत्से ! पश्य' इत्यादि वाक्य-मुक्त्वा, ऊचे वक्ष्यमाणमुवाच । दक्षिणपक्षमित्यनेन दमयन्तीपक्षपातित्वं सूचितम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—तत्र सदसि विनयबन्धुरकन्धरायाः अस्याः दक्षिणपक्षम् आश्रिता चतुर्दशजगज्जनतानमस्या भगवती वाग्देवता सदृशं सम्भाषणं विधाय ऊचे ।

हिन्दी—वहाँ सभा में विनयपूर्वक शिर झुकाये खड़ी इस (दमयन्ती) के दाहिने पक्ष में स्थित हो चौदहों लोकों की जनता द्वारा नमन करने योग्य भगवती वाणी की देवी शारदा तत्कालोचित वार्तालाप करके बोलीं ।

टिप्पणी—भगवती शारदा को 'समस्तविश्वप्रणम्य' बताकर उनके सामर्थ्य का सूचन किया गया है कि वे देवादि सभी स्वयंवरार्थियों का अनुरूप वर्णन कर सकती हैं । उनकी दमयन्ती के दक्षिणपार्श्व में स्थिति अनुकूलता की सूचक है । 'सदृश संभाषण' से तात्पर्य है दमयन्ती के प्रति प्रेम भरे वाक्य कहना ॥ ७ ॥

अभ्यागमन्मखभुजामिह कोटिरेषा येषां पृथक्कथनमब्दशतातिपाति ।
अस्यां वृणीष्व मनसा परिभाव्य कञ्चिद् यं चित्तवृत्तिरनुधावति तावकीना ॥

जीवातु—अभ्येति । हे वत्से ! इह स्वयंवरे, मखभुजां देवानाम्, एषा कोटिः अनन्तसङ्ख्या, अभ्यागमत् अभ्यागता, येषां मखभुजां, पृथक् प्रत्येक-मेव, कथनं वर्णनम्, अब्दानां वत्सराणां, शतानि अतिपतति अतिक्रामतीति तथोक्तं, तावता कालेनापि कर्त्तुं न शक्यते इत्यर्थः; अस्यां सुरकोट्यां, यं

कञ्चित् सुरं, तवेयं तावकीना त्वदीया, 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च' इति खञ्। 'तवकममकावेकवचने' इति तवकादेशः, चित्तवृत्तिः अनुधावति अनुयाति, मनसा परिभाव्य आलोच्य, तं वृणीष्व स्वीकुरु इत्यर्थः ॥ ८ ॥

अन्वयः—इह एषा मखभुजां कोटिः अभ्यागमत् येषां पृथक् कथनम् अब्दशतानिपाति, अस्यां यं कञ्चित् तावकीना चित्तवृत्तिः अनुधावति मनसा परिभाव्य वृणीष्व।

हिन्दी—(भगवती बोलीं) हे दमयन्ती, यहाँ (स्वयंवर में) यह यज्ञभोक्ता (देवों) की विशालमंडली आयी बैठी है, जिनके एक-एक करके वर्णन में सैकड़ों वर्ष व्यतीत हो जायेंगे। इस मंडली में जिस किसी की ओर तेरी चित्तवृत्ति दौड़ती है, (जिस किसी की तुम इच्छा करती हो), मनोयोग से विचार करके उसका वरण करो।

टिप्पणी—सरस्वती ने देवविशेष के प्रति अपनी कोई विशेष रुचि नहीं दिखायी, सब कुछ दमयन्ती की इच्छा पर छोड़ दिया। इस प्रकार उन्होंने पराधिनी की चित्तवृत्ति की ही प्रधानता स्वीकारी। नारायण आदि व्याख्याकारों का विचार है कि इस प्रकार सरस्वती का देव-विशेष के प्रति अनादर सूचित किया गया—'तावकीना चित्तवृत्तिर्मनसा विचार्य इत्यनेन सरस्वत्या अनादरः सूचितः।' 'अनादर' का भाव यहाँ 'विशेषरुचि का अभाव' ही उचित है ॥ ८ ॥

एषां त्वदीक्षणरसादनिमेषतैषा स्वाभाविकानिमिषतामिलिता यथाऽभूत्।
आस्ये तथैव तव नन्वधरोपभोगैः मुग्धे ! विधावमृतपानमपि द्विधाऽस्तु ॥

जीवातु—एषामिति। एषां सुराणां, त्वदीक्षणे रसात् अनुरागात्, एषा प्रत्यक्षपरिदृश्यमाना, अनिमेषता निमेषराहित्यं, यथा स्वाभाविक्या 'स्त्रियाः पुंवत्' इत्यादिना पुंवद्भावः। न निमिषतीत्यनिमिषा 'इगुपधलक्षणं कः' तेषां भावस्तत्ता अनिमिषता निर्निमेषता, तया मिलिता सङ्गता सती, द्विधा द्विगुणिता, अभूत्, तथैव ननु अयि, मुग्धे ! सुन्दरि ! विधौ चन्द्रे, अमृतपानमपि तव आस्ये आस्यचन्द्रे, अधरोपभोगैः अधरामृतपानैः, मिलितं सत् द्विधाऽस्तु द्विगुणितमस्त्वित्यर्थः; स्वभावतो निमेषरहिता देवा यथा त्वद्दर्शनकार्येण निमे-

थशून्या जाता, तथा चन्द्रामृतपायिनोऽपि त्वदधरामृतपायिनो भवन्तु इति भावः । अत्रानिमिषत्वामृतपानयोर्द्वैविध्यासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ९ ॥

अन्वयः—मुग्धे, एषां त्वदीक्षणरसात् एषा अनिमेषता स्वाभाविका निमिषतामिलिता यथा द्विधा अभूत् तथा एव ननु तव आस्ये विधौ अधरोपभोगैः अमृतपानम् अपि अस्तु ।

हिन्दी—हे सुन्दरी, बाले इन (देवों) का तुम्हारे दर्शनानुराग के कारण यह जो प्रत्यक्ष अपलक भाव है, वह इनके स्वाभाविक अपलक भाव से मिलकर जैसे द्विगुण हो गया है, वैसे ही निश्चयपूर्वक तुम्हारे मुख-चंद्र में अधरों के उपभोग (अधरामृतपान) से अमृत-दान भी द्विगुण हो ।

टिप्पणी—देव स्वभावतः 'अनिमेषदृष्टि' होते हैं, सुन्दरी दमयन्ती को देखकर वे प्रणयमुग्ध हो भावाभिवेग से अपलक निहारते रह गये । सरस्वती का कथन है कि दमयन्ती द्वारा वरण हो जाने पर उनका चन्द्रामृतपान भी इसी प्रकार द्विगुण हो जायेगा—दमयन्ती का अधरामृतपान करके । भाव यह है कि दमयन्ती इतनी आकर्षक है कि अनिमेषदृष्टि देव भी पुनः अनिमेषदृष्टि हो गये । दमयन्ती का अधरामृत चन्द्रामृत से भी अधिक काम्य है कि अमृतपायी देव भी उसके अभिलाषी हैं । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति है, क्योंकि अनिमेषता और अमृतपान में द्वैविध्य का संबंध न होने पर भी संबंध कथन है ॥ ९ ॥

एषां गिरेः सकलरत्नफलस्तरुः सः प्राग् दग्धभूमिसुरभेः खलु पंचशाखः ।
मुक्ताफलं फलनसान्वयनाम तन्वन्नाभाति बिन्दुभिरिव च्छुरितः पयोभिः ॥

जीवातु—एषामिति । सकलानि रत्नान्येव फलानि यस्य स सर्वरत्नप्रसूतिरित्यर्थः, फलनं सस्यत्वेन सम्पादनं, 'फल निष्पत्तौ' इति धातोर्ल्युट्, तेन सान्वयम् अन्वर्थं, नाम यस्य तन्मुक्ताफलं तन्वन् मुक्ताफलं तादृशं कुर्वन्, मुक्तानां शुक्त्यादिसम्भूतत्वेन तासां फलत्वं न उपपन्नं, किन्तु कल्पवृक्षप्रसूतत्वेनैव फलत्वमुपपन्नमिति मुक्ताफलस्य नाम सार्थकमेव कुर्वन्निति भावः, एषां सुराणां सम्बन्धी, स प्रसिद्धः, तरुः कल्पवृक्षः, प्राक् पुरा, दुग्धा भूमिरेव सुरभिः गौः, गोरूपधरा भूमिः ओषधिरत्नादीनि दुग्धा 'इत्यर्थः, येन तस्य, तदुक्तं,—'प्रमाणं

श्रूयते दुग्धा पुनर्दिव्यैर्वसुन्धरा । ओषधीश्चैव भास्वन्ति रत्नानि विविधानि च ॥ वत्सस्तु हिमवानासीद् दोग्धा मेरुर्महागिरिः' ॥ इति, गिरेर्मेरोः सम्बन्धी, पयोभि. क्षीररूपैः, बिन्दुभिः छुरितः सर्वतो व्याप्तः, पञ्चशाखः पाणिरिव, आभाति खलु इत्युत्प्रेक्षा । 'पञ्चशाखः शयः पाणिः' इत्यमरः, अथ च पञ्च शाखा वृक्षावयवविशेषाः यस्य सः शाखापञ्चकविशिष्टः, पाणिना विना गोदोहनस्य असम्भवात् कल्पवृक्षः सुमेरोः कर आसीत्, दोग्धुः पाणिः दुग्धबिन्दुभिर्दिग्धो भवतीति प्रसिद्धेः, अत्र रत्नानामेव दुग्धत्वात् कल्पवृक्षस्य च रत्नादिसम्पर्कात् सुतरां मेरो कर एव कल्पवृक्षः इत्यर्थः, सुरवरणेन कल्पवृक्षः तथा मेरुस्ते हस्तगामी भविष्यतीति भावः ॥ १० ॥

अन्वयः—सकलरत्नफलः फलनसान्वयनाम मुक्ताफलं तत्त्वम् एषा सः तरुः प्राक्दुग्धभूमिसुरभेः गिरेः पयोभिः बिन्दुभिः छुरितः पञ्चशाखः इव आभाति खलु ।

हिन्दी—संपूर्ण रत्नफल देनेवाला, फलने से सार्थक नामा मुक्ताफल को विस्तृत करता इन (देवों) का वह (विख्यात) कल्पवृक्ष पूर्वकाल में गोरूपधरा को दुहनेवाले पर्वत (सुमेरु) का, दुग्ध–बिंदुओं से सर्वतोव्याप्त पाँच अंगुलिवाला हाथ जैसा सुशोभित होता है ।

टिप्पणी—कालिदास ने कहा है–'यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोह्यमाने । भास्वन्ति रत्नानि महौषधींश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम् ॥ (कुमारसंभव, १ सर्ग) । इस पुराण कथा के अनुसार' सुमेरु पर्वत को दोग्धा माना गया है, जिसने गोरूपधारिणी धरा का दोहन किया, जिससे रत्नादि प्राप्त हुए । देवदारु कल्पवृक्ष भी रत्नप्रसूति है । इस श्लोक में कल्पवृक्ष को दोग्धा मेरु का पंचांगुलि हाथ माना गया है, जिस पर मुक्तासदृश दुहेजाते दुग्ध के बिन्दु पड़ गये हैं । पंचशाख कल्पतरु पर फले मुक्ताओं में दुग्धबिंदुओं की कल्पना की गयी है । सुमेरु दोग्धा अर्थात् गाय दुहनेवाला ग्वाला है । देव भी उसके साथी हैं । इस प्रकार व्याख्याकारों की मान्यता है कि गोपाल सहचारी बताकर यहाँ भी देवों के प्रति अनादर सूचित किया गया है–'गोपाल सहचारित्वादत्राप्यनादरः सूचितः ।' (नारायण) । यह भी भाव है कि देववरण से कल्पवृक्ष और सुमेरु भी दमयन्ती को प्राप्त हो सकेंगे । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ १० ॥

वक्त्रेन्दुसन्निधिनिमीलिदलारविन्दद्वन्द्वभ्रमक्षममथाञ्जलिमात्ममौलौ ।
कृत्वाऽपराधभयचञ्चलमीक्षमाणा साऽन्यत्र गन्तुममरैः कृपयाऽन्वमानि ॥११॥

जीवातु—वक्त्रेन्द्विति । अथ सरस्वतीवाक्यानन्तरं, वक्त्रेन्दोः सन्निधिना सन्निधानेन, निमीलीनि सङ्कुचन्ति दलानि पत्राणि ययोस्तयोः अरविन्दयोर्द्वन्द्वस्य युग्मस्य, भ्रमक्षमं भ्रान्तिजननशक्तिं, सङ्कुचद्दलपद्मयुगलतुल्यमित्यर्थः, अञ्जलिम् आत्ममौलौ स्वमूर्ध्नि कृत्वा देवान् नमस्कृत्येत्यर्थः, अपराधात् अवरणाद्धेतोः, यद्भयं सुरेभ्यः शापादिभयः, तेन चञ्चलं यथा तथा ईक्षमाणा देवान् पश्यन्ती, सा भैमी, अमरैः कृपया अन्यत्र गन्तुम् अन्वमानि अनुमता, दमयन्तीं स्वजातिमनुष्येषु अनुरागिणीं ज्ञात्वा यत्र ते अनुरागस्तं वृणु, मा भैषीरिति कृपयाऽनुमतेत्यर्थः, प्रणिपातप्रसाद्याः खलु महान्त इति भावः । अत्राञ्जलौ वक्त्रेन्दुसन्निधिसङ्कुचितारविन्दयुगलभ्रान्तिवर्णनात् रूपकानुप्राणितो भ्रान्तिमदलङ्कारः इति सङ्करः । 'कविसम्मतसादृश्याद् वस्त्वन्तरप्रतिबिम्बनं भ्रान्तिमान्' इति लक्षणात् ॥ ११ ॥

अन्वयः—अथ वक्त्रेन्दुसन्निधिनिमीलिदलारविन्दद्वन्द्वभ्रमक्षमम् अञ्जलिम् अन्यमौलौ कृत्वा अपराधभयचञ्चलम् ईक्षमाणा सा अमरैः कृपया अन्यत्र गन्तुम् अन्वमानि ।

हिन्दी—तदनन्तर (सरस्वती-कथन के पश्चात्) मुख-चन्द्र के निकट होने के कारण जिनके पत्र संकुचित हो गये हैं, ऐसे कमलयुग्म का भ्रम उत्पन्न करने में समर्थ हस्तांजलि को अपने शिर पर रख अपराध हो जाने के डर से चंचलतापूर्वक देखती उस (दमयन्ती) को देवों ने कृपा करके दूसरी (नागराजादि की) ओर जाने की अनुज्ञा दे दी ।

टिप्पणी—दमयन्ती ने सरस्वती द्वारा परिचय पाकर भी देवों के प्रति स्वेच्छा न दिखायी, इस प्रकार देवों की अवमानना हुई । दमयन्ती को भय लगा कि इस से क्रुद्ध हो देवगण उसे शापादि न दे दें । उसने 'निमीलिपत्र कमलों' की समानता करते हाथों को जोड़कर अपने मस्तक पर रखा और इस प्रकार देवों को प्रणाम किया । और देवों ने भयचकित चंचलदृष्टि दमयन्ती को आगे नागराजादि की ओर बढ़ने की कृपया अनुमति दे दी । जो भी हो, देव महान् तो होते ही हैं, वे प्रणति से प्रसन्न हो गये । मल्लिनाथ के अनुसार

यहाँ मुखचन्द्र की निकटस्थता के कारण करों में संकुचित कमल-युग्म की भ्रान्ति के वर्णन के आधार पर रूपकानुप्राणित भ्रान्तिमान् अलंकार है। इस प्रकार रूपक-भ्रान्तिमान् का संकर है ॥ ११ ॥

तत्तद्विरागमुदितं शिबिकाऽधरस्थाः साक्षाद्विदुः स्म न मनागपि यानधुर्याः ।
आसन्ननायकविषण्णमुखानुमेयभैमीविरक्तचरितानुमया नु जज्ञुः ॥

जीवातु—तत्तदिति । शिबिकायाः यानविशेषस्य, अधरस्था अधःस्थिताः, यानस्य धुर्याः धूर्वहाः, शिबिकावाहिनः इत्यर्थः, शिवभागवतवत् समासः 'धुरो यड्ढकौ' इति यत्-प्रत्ययः उदितम् उत्पन्नं, तत्तत् विरागं तस्याः भैम्यास्तेषु तेषु नायकेषु विषये विरागम् अपरागं, मनाक् ईषदपि, साक्षात् प्रत्यक्षं, न विदुः न विन्दन्ति स्म 'विदो लटो वा' इति लिट् 'झेर्जुस्' इति जुसादेशः, 'लट् स्मे' इति भूते लट् किन्तु आसन्नानां पुरोवर्त्तिनां, नायकानां विषण्णैः ग्लानियुक्तैः, मुखैरनुमेयानां भैम्या विरक्तचरितानां प्रत्याख्यानसूचकनमस्कारादिरूपचेष्टितानाम्, अनुमया अनुमानेन, 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ्, नु एव, जज्ञुः अज्ञासिषुः, तत्तद्विरागमिति शेषः, नायकमुखचेष्टया भैमीवैराग्यमनुमितवन्त इत्यर्थः ॥ १२ ॥

अन्वयः—शिबिकाधरस्थाः यानधुर्या उदितं तत्तद्विरागं मनाक् अपि साक्षात् न विदुः स्म, आसन्ननायकविषण्णमुखानुमेयभैमीविरक्तचरितानुमया नु जज्ञुः ।

हिन्दी—पालकी के नीचे स्थित पालकी को ढोने वाले उत्पन्न हुए उन-उन (स्वयंवरार्थियों) के प्रति उस (दमयन्ती) की विरक्ति थोडी भी प्रत्यक्ष रूप में न जान पाये, निकटस्थ नायकों के उतरे मुँह से अनुमित भीमसुता के विरक्तिपूर्ण आचरण से ही अनुमान करके जान पाये ।

टिप्पणी—पालकी ढोने वाले कहारों को भैमी की देव-विरक्ति ज्ञान प्रत्यक्षतः न हुआ, क्योंकि वे तो पालकी के नीचे स्थित थे, उन्हें दमयन्ती का मुख तो दीखता नहीं था । उन्होंने प्रत्यक्षरूप में तो नहीं, अनुमान से दमयन्ती की विरक्ति जान ली । जिन स्वयंवरार्थियों को प्रणामादि करके दमयन्ती ने अपनी उदासीनता प्रकट कर दी, उनके मुख उदास हो गये । उदास मुखों को देखकर ही शिबिकावाही दमयन्ती के विराग का अनुमान कर सके । ज्ञान की

प्रत्यक्ष अनुभूति न हुई, अनुमान से ज्ञान हुआ। नारायण की व्याख्या है कि शिविकावाहियों का यह भाव उनकी समझदारी सूचित करता है—'यतः एते विवर्णमुखास्तस्मादेतेषु विरक्ति ज्ञात्वा अनुपश्चात् यातेति कथनं विनैवान्यत्र जग्मुः इति तेषां पण्डितत्वं सूचितम्' ॥ १२ ॥

रक्षःस्वरक्षणमवेक्ष्य निजं निवृत्तो विद्याधरेष्वधरतां वपुषैव भैम्याः ।
गन्धर्वसंसदि न गन्धमपि स्वरस्य तस्या विमृष्य विमुखोऽजनि यानिवर्गः ॥

जीवातु—रक्षःस्विति। यानं वाहनमस्तीति यानिनः शिविकावाहिनः, तेषां वर्गः समूहः, रक्षःसु राक्षसेषु, निजं स्वकीयम्, अरक्षणं विनाशनम्, अवेक्ष्य विविच्य, तेषां हिंस्रत्वात् तेषु गमनमनुचितं निश्चित्येत्यर्थः, निवृत्तः तेभ्यः पराङ्मुखोऽभूत्, राक्षसानां समीपगमने ते यदि अस्मान् भक्षयेयुः इति भयेन तेषां समीपेऽपि न जग्मुः इति भावः। विद्याधरेषु देवयोनिभेदेषु, भैम्याः भैमीतः, 'पञ्चमी विभक्ते:' इति पञ्चमी, वपुषा एव अधरतां निकृष्टत्वं विमृष्य निश्चित्य, तथा गन्धर्वाणां संसदि संघे, तस्याः भैम्याः स्वरस्य गन्धमपि लेशमपि, न विमृष्य लेशस्याप्यभावं ज्ञात्वा इत्यर्थः, नञर्थेनः नशब्देन सुप्सुपेति समासः, 'गन्धो लेशे महीगुणे' इति वैजयन्ती, विमुखोऽजनि पराङ्मुखो जातः। जने कर्त्तरि लुङ्, 'दीपजन–' इत्यादिना कर्त्तरि चिणादेशः ॥ १३ ॥

अन्वयः—यानिवर्गः (यानवर्गः) रक्षःसु निजम् अरक्षणाम् अवेक्ष्य निवृत्तः, विद्यावरेषु भैम्याः वपुषा एव अधरतां, गन्धर्वसंसदि तस्याः स्वरस्य गन्धम् अपि न विमृष्य विमुखः अजनि।

हिन्दी—शिविकावाहक राक्षसों में अपनी अरक्षा (प्राण-नाश) देखकर उनसे पराङ्मुख हो गये और (घुड़मुँहे) विद्याधरों में भीमसुता के शरीर से न्यूनता तथा गंधर्वसमूह में उस (दमयन्ती) के स्वर की गन्ध भी (लेशमात्र) नही है, ऐसा विचार कर (उनसे) विमुख हो गये।

टिप्पणी—राक्षसों की प्रकृति हिंसक थी, विद्याधर अश्वमुख होने से कुरूप थे और गंधर्व—जो गानविशेषज्ञ माने जाते हैं—भीमसुता के स्वर का यत्-किंचित् भाग भी उनके स्वर में नहीं था;—यह सब विमर्श करके पालकी ढोने वाले इन सबके प्रति विमुख हो, दमयन्ती की शिविका लेकर उनकी ओर गये ही नहीं। राक्षसों, विद्याधरों और गंधर्वों को उपर्युक्त न्यूनताओं के आधार पर पालकी वालों ने उन्हें अयोग्य मान लिया ॥ १३ ॥

दीनेषु सत्स्वपि कृताफलवित्तरक्षैर्यक्षैरदर्शि न मुखं त्रपयैव तस्याम्।
ते जानते स्म सुरशाखिपतिव्रतां किं तां कल्पवीरुधमधिक्षिति नावतीर्णाम् ? ॥

जीवातु—दीनेष्विति। दीनेषु दरिद्रेषु, सत्सु विद्यमानेषु अपि, कृता अफला निष्फला, वित्तरक्षा धनगुप्तिः यैस्तैः कृपणैः, यक्षैः त्रपयैव तस्यां भैम्यां विषये, मुखं न अदर्शि न दर्शितं, दृशेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ्, तथा हि, ते यक्षाः, तां दमयन्तीम्, अधिक्षिति क्षितौ, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः, अवतीर्णाम् उत्पन्नां, सुरशाखिपतिव्रतां सुरशाखिनां पत्युः कल्पवृक्षस्येव, व्रतम् इच्छापूरकत्वलक्षणं यस्यास्ताम्, अथ-च कल्पवृक्षस्वरूपक नलपत्नीं, कल्पवीरुधं कल्पलतां, न जानते स्म किम् ? बहुदात्रीं तां ज्ञातवन्त एव, ततः तेषां निधिगोपकानाम् अतिवदान्यायास्तस्याः कुतो वरणवार्त्ताऽपीति भावः। अस्या वदान्यतया तेषां युक्ता लज्जेति कारणात् कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १४ ॥

अन्वयः—दीनेषु सत्सु अपि कृताफलवित्तरक्षैः यक्षैः त्रपया एव तस्यां मुखं न अदर्शि, किं ते अधिक्षिति अवतीर्णां तां सुरशाखिपतिव्रतां कल्पवीरुधं न जानते स्म ?

हिन्दी—दीन व्यक्तियों के रहने पर भी निष्फल धन की रक्षा करने वाले यक्षों ने लज्जा के कारण ही उसे (दमयन्ती को) मुख नहीं दिखाया। क्या वे (यक्ष) पृथ्वी पर अवतरित उस (दमयन्ती) को देववृक्षों के स्वामी (कल्पवृक्ष) के समान (दानशूरत्व) व्रतधारिणी कल्पलता नहीं जानते थे ? (जानते ही थे)।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में राक्षस, विद्याधर, गंधर्वों की अयोग्यता प्रमाणित कर इस श्लोक में यक्षों की अयोग्यता स्पष्ट की। वे कल्पलता के सदृश सबका मनोरथ सिद्ध करने वाली दानशीला दमयन्ती के अनुरूप किसी प्रकार नहीं हो सकते थे। यक्ष हैं धन के स्वामी। धन होता है दीन-प्रतिपालन के निमित्त। संसार में अगणित दीन जन बने रहें और यक्ष अपने धन की रक्षा करके उसे निष्फल बनाते रहें। ऐसे कृपण यक्षों को कल्पवृक्ष-सदृश अभिलषित देने वाले नल की पतिव्रता, कल्पलता-सी दमयन्ती की अनुरूपता में कैसे रखा जा सकता था ? वे समझदार थे कि उन्होंने लाज के मारे दमयन्ती को अपना मुँह ही नहीं दिखाया। कृपण दानी के संमुख लजाता ही है। दमयन्ती की वदान्यता

के कारण यक्षों की लज्जा उचित ही थी—इस आधार पर मल्लिनाथ ने यहाँ कार्यसमर्थनरूप अर्थान्तरन्यास का निर्देश किया है ॥ १४ ॥

जन्यास्ततः फणभृतामधिपं सुरौघान्माञ्जिष्ठमञ्जिमविगाहिपदौष्ठलक्ष्मीम् ।
तां मानसं निखिलवारिझरान्नवीना हंसावलीमिव घना गमयाम्बभूवुः ॥

जीवातु—जन्या इति । ततोऽनन्तरं, जनीं वधूं वहन्तीति जन्याः वधूभृत्याः, 'जन्य भृत्या नवोढायाः' इति केशवः । 'संज्ञायां जन्याः' इति यत्-प्रत्ययान्तो निपातः, मञ्जिष्ठया रागद्रव्यविशेषेण रक्तं माञ्जिष्ठं 'तेन रक्तम्' इत्यण् तस्य मञ्जिमानं रामणीयकं, विगाहते इति तद्विगाहिनी तादृशरक्तवर्णेत्यर्थः, पदौष्ठस्य पदयोरोष्ठयोश्च, लक्ष्मीः शोभा यस्यास्ताम्, विशेषणमेतत् हंसावल्यामपि योज्यम्, 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' इति पररूपं वक्तव्यम्, तां भैमीं, नवीनाः घनाः मेघाः, हंसावलीं हंसश्रेणीं, निखिलात् वारिझरात् जलप्रवाहात्, मानसं मानसाख्यं सर इव, सुरौघात् सुरौघं विहाय, इति ल्यब्लोपे पञ्चमी, 'जलधरसमये मानसं यान्ति हंसाः' इति कविसमयप्रसिद्धिः, फणभृतामधिपं वासुकिं गमयाम्बभूवुः निन्युः ॥ १५ ॥

अन्वयः—ततः जन्याः माञ्जिष्ठमञ्जिमविगाहिपदौष्ठलक्ष्मीं तां नवीनाः घनाः निखिलवारिझरात् हंसावलीं मानसम् इव सुरौघात् फणिभृताम् अधिपं गमयाम्बभूवुः ।

हिन्दी—तत्पश्चात् जनी (नवोढावधू) के वाहक (शिविकावाही) मजीठ (लालरंग का द्रव्य) के लालवर्ण की रमणीयता को धारण करते चरण और ओठों की शोभाशालिनी उस (दमयन्ती) को देवों के समीप से नागराज के प्रति उसी प्रकार ले गये, जिस प्रकार कि नये बादल समस्त जलाशयों के निकट से हंसपंक्ति को मानसरोवर की ओर ले जाते हैं ।

टिप्पणी—स्वयंवरा दमयन्ती को पालकीवाहक सुरों के पास से नागाधिपति के पास ले गये । दमयन्ती के चरण और ओठ मजीठ के लाल रंग के सदृश लाल हैं । ऐसे ही चरण-चंचु हंसावली के होते हैं । इस साम्य को लेकर दमयन्ती को हंसावली, वाहकों को नवघन, देवों को निर्झर और नागराज को मानसर के सदृश कहा गया । कविसमय-प्रसिद्धि है ही कि वर्षाकाल में हंस मानसर चले जाते हैं । 'जन्याः' के स्थान में 'यान्याः' पाठांतर भी

प्राप्त होता है। 'यान्याः' का अर्थ होगा यान अर्थात् पालकी ले जाने में चतुर—'याने यानवाहने साधुः' ॥ १५ ॥

यस्या विभोरखिलवाङ्मयविस्तरोऽयमाख्यायते परिणतिर्मुनिभिः पुनः सा।
उद्गत्वरामृतकरार्द्धपरार्द्ध्यभालां बालामभाषत सभासततप्रगल्भा॥

जीवातु—यस्या इति। अयम् अखिलवाङ्मयविस्तरः शब्दप्रपञ्चः, मुनिभिर्व्यासादिभिः, विभोः महाशक्तेः, यस्याः देव्याः सरस्वत्याः परिणतिः रूपान्तरम्, आख्यायते, सभासु सततप्रगल्भा सा देवी सरस्वती, उद्गत्वरस्य उदित्वरस्य, उदीयमानस्य इत्यर्थः, 'गत्वरश्च' इति गमेः क्वरबन्तो निपातः, अमृतकरस्य इन्दोः, अर्द्धमिव परार्द्ध्यमुत्कृष्टं, भालं ललाटं यस्यास्तां, बालां भैमीं, पुनः अभाषत उक्तवती ॥ १६ ॥

अन्वयः—अयम् अखिलवाङ्मयविस्तरः मुनिभिः विभोः यस्याः परिणतिः आख्यायते, सभासततप्रगल्भा सा उद्गत्वरामृतकरार्द्धपरार्द्ध्यभालां बालां पुनः अभाषत।

हिन्दी—यह समस्त शब्द-प्रपंच (व्यासादि) मुनियों द्वारा जिस महाशक्ति (सर्वव्यापिनी) का परिणाम (रूपांतर) कहा जाता है, सभामध्य निरन्तर प्रगल्भा वह (देवी शारदा) उदयोन्मुख सुधादीधिति (चन्द्र) के अर्धखंड के सदृश भालवाली बाला (दमयन्ती) से पुनः कहने लगीं।

टिप्पणी—वाल्मीकि-व्यासादि महामुनियों ने समस्त वेदादि वाङ्मय को वाणीदेवता का विस्तार माना है और उद्घोषित किया है। अर्द्धचन्द्र के समान सुन्दर भाल था दमयन्ती का। 'भालाम्' का अन्यार्थ भी किया गया है—'भया दीप्त्या सह वर्तमानाम्'—अर्थात् अर्द्धचन्द्र की कांति के साथ विद्यमान। (नारायणी टीका)। भाव वही है—अर्द्धचन्द्र-सदृश मस्तक ॥१६॥

आश्लेषलग्नगिरिजाकुचकुङ्कुमेन यः पट्टसूत्रपरिरम्भणशोणशोभः।
यज्ञोपवीतपदवीं भजते स शम्भोः सेवासु वासुकिरयं प्रसितः सितश्रीः॥

जीवातु—आश्लेषेति। यो वासुकिः, आश्लेषात् आलिङ्गनात्, लग्नेन सक्तेन, गिरिजायाः पार्वत्याः, कुचयोः कुंकुमेन पट्टसूत्रस्य परिरम्भणात् परिवेष्टनादिव शोणशोभः अरुणकान्तिः सन्, शम्भोर्यज्ञोपवीतस्य पदवीं पदं, भजते,

यज्ञोपवीतञ्च शुभ्रं ग्रन्थिस्थाने पट्टसूत्रेण रक्तवर्णं भवतीति प्रसिद्धिः, सेवासु शम्भोः परिचर्य्यासु, प्रसितस्तत्परः, 'तत्परे प्रसितासक्तौ' इत्यमरः, सितश्रीः शुभ्रकान्तिः, स वासुकिरयमिति पुरोवर्त्तिनिर्देशः, वासुकेः सततं शम्भुसेवातत्परतया सम्भोगाद्यसम्भवान्नैष वरणीय इति भावः ॥ १७ ॥

अन्वयः—आश्लेषलग्नगिरिजाकुचकुङ्कुमेन पट्टसूत्रपरिम्भणशोभः वः सेवासु प्रसितः शम्भोः यज्ञोपवीतपदवीं भजते, अयं सः सितश्रीः वासुकिः ।

हिन्दी—आलिंगन में लग गये पार्वती के कुचों के कुंकुम के कारण पट्टसूत्र के सम्बन्ध के लाल कान्ति वाला जो सेवा में लग्न हो शिव के यज्ञोपवीतपद को प्राप्त है, यह वह शुभ्रकान्ति नागराज वासुकि है ।

टिप्पणी—नागाधिप वासुकि का परिचय देती वाणी ने बताया कि यह नागराज 'श्वेतशोभ' हैं, यज्ञोपवीत भी श्वत होता है । इस आधार पर वासुकि को शिव के यज्ञोपवतीततुल्य कहा गया, क्योंकि शिव उन्हें वक्ष पर धारण करते हैं । वासुकि ग्रन्थि-स्थलों पर लाल है, इस लाली का कारण बताया गया आलिंगन करती पार्वती का कुंकुम लग जाना । यज्ञोपवीत भी ग्रन्थिस्थान पर 'शोणशोभ' होता है पट्टसूत्र (रेशमी रंगीन सूत) के कारण । पुराणों में देवों का चातुर्वर्ण्याधिकार बताते हुए कहा गया है—'ब्रह्मा विप्रः रुद्रः क्षत्रियः विष्णुर्वैश्यः दस्रौ शूद्रौ ।' ब्रह्मा ब्राह्मण हैं, शिव (रुद्र) क्षत्रिय, विष्णु वैश्य और अश्विनीकुमार शूद्र । यज्ञोपवीत के सम्बन्ध में बताया गया है—'मञ्जिष्ठं क्षत्रियः', अर्थात् क्षत्रिय लाल यज्ञोपवीत-धारण करे । क्योंकि शिव क्षत्रिय हैं, अतः उनके यज्ञोपवीत को ईषद्रक्त कहा गया । सरस्वती ने मानो संकेत दिया कि वासुकि वरणयोग्य नहीं है, क्योंकि यह सदा—'शम्भोः सेवासु प्रसितः'—शिव की सेवा में लगा रहता है, इसे गृहस्थी का अवकाश कहाँ ॥ १७ ॥

पाणौ फणी भजति कङ्कणभूयमैशे सोऽयं मनोहरमणीरमणीयमूर्त्तिः ।
कोटीरबन्धनधनुर्गुणयोगपट्टव्यापारपारगममुं भज भूतभर्त्तुः ॥ १८ ॥

जीवातु—पाणाविति । मनोहरैः मणीभिः रमणीयमूर्तिः सोऽयं फणी वासुकिः, ऐशे ईशसम्बन्धिनि, पाणौ करे, कङ्कणभूयं कङ्कणत्वं, 'भुवो भावे' इति क्यप्, भजति प्राप्नोति, भूतभर्त्तुः माहादेवस्य कोटीरबन्धनं कपर्दबन्धनं,

जटाजूटग्रन्थिबन्धनमिति यावत् धनुषोः गुणो मौर्वी, योगपट्टश्च तेषां व्यापारस्य भवनलक्षणस्य, पारगं पारीणं, तत्तत्कार्यकुशलमिति भावः, अमुं वासुकिं, भज वृणीष्व, तादृग्विशेषणेनास्य वरणायोग्यत्वं सूचितम् । अत्रैकस्य वासुकेः अनेकेषु कोटीरादिषु क्रमेण वृत्तेः पर्यायभेदः । अथानुभावविशेषाद् यौगपद्यसम्भवे तु समुच्चयः ॥ १८ ॥

अन्वयः—मनोहरमणीरमणीयमूर्त्तिः सः अयं फणी ऐशे पाणौ कङ्कणभूयं भजति, भूतभर्त्तुः कोटीरबन्धनधनुर्गुणयोगपट्टव्यापारपारगम् अमुं भज ।

हिन्दी—मनोहर मणियों से रमणीय आकार वाला वह यह नाग वासुकि ईश (शिव) के हाथ में कंकण बनकर रहता है । समस्त प्राणियों के स्वामी (शिव) के जटाजूट को बाँधने, धनुष् की प्रत्यंचा बनने और योगपट्ट का कार्य करने में प्रवीण इसका वरण करो ।

टिप्पणी—'सेवाप्रसित' वासुकि न केवल शिव का यज्ञोपवीत रहता है, समय-समय पर उसे शिव के अन्य व्यापार भी निबाहने होते हैं । वह हस्त कंकण भी बनता है, धनुष् की डोरी भी और योगपट्ट भी । ऐसे निरवकाश नागराज को वरना कहाँ की बुद्धिमानी है ? मल्लिनाथ के अनुसार एक वासुकि के अनेक कोटीरादि व्यापारों में क्रमशः रहने के कारण यहाँ पर्यायभेद अलंकार है और अनुभाव-विशेषों की युगपद् स्थिति होने से समुच्चय ॥ १८ ॥

धृत्वैकया रसनयाऽमृतमीश्वरेन्दोरप्यन्यथा त्वदधरस्य रसं द्विजिह्वः ।
आस्वादयन् युगपदेष परं विशेषं निर्णेतुमेतदुभयस्य यदि क्षयः स्यात्॥१९॥

जीवातु—धृत्वेति । द्विजिह्वो रसनाद्वयवान्, एष परम् एष वासुकिः एव, एकया रसनया जिह्वया, ईश्वरेन्दोः हरशिरश्चन्द्रस्य, अमृतम्, अन्यथा रसनया, त्वदधरस्यापि रसम् अमृतं, धृत्वा युगपदास्वादयन् एतदुभयस्य एतस्य रसद्वयस्य, विशेषमन्तरं, निर्णेतुं यदि क्षमः समर्थः, स्यात्, नान्यः कश्चित् क्षमः इत्यर्थः । इन्द्वमृतादेतदधरामृतमेव ज्याय इति भावः ॥ १९ ॥

अन्वयः—एकया रसनया ईश्वरेन्दोः अमृतम् अन्यथा त्वदधरस्य रसम् अपि धृत्वा युगपत् आस्वादयन् एतदुभयस्य विशेषं निर्णेतुं यदि क्षमः स्यात्, भरम् एषः द्विजिह्वः ।

हिन्दी—एक जिह्वा से शिव (शिवस्थित) चन्द्रामृत और दूसरी जीभ से तेरे (दमयन्ती के) अधर के रस को धारण-करके एक साथ आस्वाद-लेता—पीता), इन दोनों (शिवचन्द्रामृत और दमयन्ती-अधररस) की विशिष्टता का निर्णय करने में यदि कोई समर्थ होगा तो केवल यह दो जीभों वाला (वासुकि)।

टिप्पणी—नागराजवासुकि शिव की ग्रीवा में पड़े रहकर शिवमौलिस्थित चन्द्रामृत पान करते रहते हैं और जब दमयन्ती उनका वरण कर लेगी तो उन्हें दमयन्ती के अधररस-पान का भी अवसर मिलेगा। वे दोनों का आस्वादन एक साथ कर सकेंगे, क्योंकि उनकी दो जीभ हैं। एक से चन्द्रामृत, दूसरी से अधररस दोनों की विशेषताएँ वे बता सकेंगे, क्योंकि नागातिरिक्त कोई और तो यह कर नहीं सकता। दो जिह्वाएँ तो नाग की ही होती हैं, सो द्विजिह्व वासुकि ही दोनों (रसों) का विशेष सूक्ष्म तारतम्य बता सकता है। किसी राजा का वरण करने पर दमयन्ती को चन्द्रामृत तो प्राप्त होगा ही नहीं और देवों की जिह्वा ही एक है, सो इस विवेचन पर निर्णय न कोई मानव दे सकता है, न देव ही। जहाँ तक अन्य नागों का प्रश्न है, दो जिह्वाएँ तो उन पर भी हैं, किन्तु शिव-मस्तकस्थित चन्द्रामृतपान करने का सौभाग्य उन्हें कहाँ ? इस दृष्टि से वासुकिराज ही इस निर्णय में समर्थ हैं। मल्लिनाथ के अनुसार चन्द्रामृत की अपेक्षा अधरामृत की श्रेष्ठता प्रमाणित करना यहाँ कवि का अभीष्ट है। ठीक भी है, यदि चन्द्रामृत श्रेष्ठ होता तो वासुकि स्वयंवरार्थी क्यों होता ? इसका कारण तो चन्द्रामृत से श्रेष्ठ दमयन्ती के अधररस की कामना ही है ॥ १९ ॥

आशीविषेण रदनच्छददंशदानमेतेन ते पुनरनर्थतया न गण्यम्।
बाधां विधातुमधरे हि न तावकीने पीयूषसारघटिते घटतेऽस्य शक्तिः ॥२०॥

जीवातु—आशीविषेणेति। आशीषि दंष्ट्रायां विषमस्येत्याशीविषः विषधरः, पृषोदरादित्वात् साधुः, 'स्त्री त्वाशीर्हिताशंसाऽहिदंष्ट्रयोः' इत्यमरः, तादृशेन, एतेन वासुकिना, ते पुनः तव तु, रदनच्छदस्य अधरस्य, दंशदानं दंशनकरणम्, अनर्थतया न गण्यम् अपमृत्य्वाद्यनिष्टहेतुत्वेन न मन्तव्यं, चुम्बने

विषसञ्चारसम्भावनया एतद्वरणं न त्याज्यमिति भावः, कुतः ? हि यस्मात्, पीयूषसारेण घटिते निर्मिते, तावकीने त्वदीये, अधरे बाधां दंशेन पीडां, विधातुम् अस्य दंशनस्य वासुकेर्वा, शक्तिर्न घटते न सम्भवति, अमृतघटितस्य कुतो विषभयमिति भावः ॥ २० ॥

अन्वयः—आशीविषेण एतेन रदनच्छददंशदानं ते पुनः अनर्थतया नगण्यम्, हि पीयूषसार घटिते तावकीने अधरे बाधां विधातुम् अस्य शक्ति न घटते ।

हिन्दी—द्रंष्ट्रा में विषधारण करते इस (वासुकि नाग) के द्वारा अधर-खंडन को तू कहीं अनर्थकारक (अपमृत्यु-जनक) न मानना; क्योंकि सुधासार से सृष्ट तेरे (दमयन्ती के) अधर के अमृतमय प्रभाव को बाधित करने की (कम करने की) क्षमता इस (वासुकि) की नहीं है ।

टिप्पणी—सर्प की दंष्ट्राओं में विष होता है, वासुकि भी स्वभावतः आशीविष है—आशिषि दंष्ट्रायां विषं यस्य सः । सो अधरखंडन करते समय वह दाढ़ों—दांतों का विष दमयन्ती के शरीर में व्याप्त हो जायेगा, जिससे वह अपमृत्यु को प्राप्त हो सकती है, क्योंकि अनुभवी जनों का कथन है कि तालुगता दंष्ट्रा 'आशी' से दंश होने पर कोई जीता नहीं—'आशी तालुगता दंष्ट्रा तया विद्धो न जीवति ।' किंतु दमयन्ती को इससे डरना उचित नहीं । उसका अधर-रस अमृत के सार से बना है, उसमें मृत को जीवित करने की क्षमता है । वासुकि का विष उस अधरामृत के सामर्थ्य के संमुख प्रभावहीन है । अमृत को ही विष का भय नहीं, फिर अमृतसार के संमुख विष की क्या गणना ? अमृतसारघटित अधरवती दमयन्ती को विष से क्या डर ? ॥ २० ॥

तद्विस्फुरत्फणविलोकनभूतभीतेः कम्पञ्च वीक्ष्य पुलकञ्च ततोऽनु तस्याः ।
सञ्जातसात्त्विकविकारधियः स्वभृत्यान् नृत्यान्न्यषेधदुरगाधिपतिर्विलक्षः ॥

जीवातु—तदिति । ततोऽनु वाणीवाक्यानन्तरं, तस्य वासुकेः, विस्फुरतां स्फारयतां, फणानां विलोकनेन भूतभीतेः सञ्जातसाध्वसायाः, तस्याः दमयन्त्याः, कम्पं वेपथुं पुलकञ्च वीक्ष्य सञ्जाता सात्त्विकविकारधीः शृङ्गारसात्त्विकभ्रमबुद्धिः येषां तान्, स्वभृत्यान् विलक्षो भैमीभावज्ञानलज्जिः, उरगाधिपतिः वासुकिः, नृत्यात् आनन्दनर्त्तनात्, न्यषेधत् न्यवारयत्, स्वस्वामिवैलक्ष्यात् भैमीवैराग्यप्रतीतेस्ते खिन्ना इत्यर्थः । अत्र भृत्यानां भैमीभयसात्त्विकेषु शृङ्गा-

रसात्त्विकभ्रान्त्या भ्रान्तिमदलङ्कारः । 'स्तम्भप्रलयरोमाञ्चाः स्वेदो वैवर्ण्यवेपथू । अश्रुवैस्वर्यमित्यष्टौ सात्त्विकाः परिकीर्त्तिताः' ॥ २१ ॥

अन्वयः—ततः अनु तद्विस्फुरत्फणविलोकनभूतभीतेः तस्याः कम्पं च पुलकं च वीक्ष्य सञ्जातसात्त्विकविकारधियः स्वभृत्यान् विलक्षः उरगाधिपतिः नृत्यात् न्यषेधयत् ।

हिन्दी— तत्पश्चात् उस (वासुकि) के फनफनाते (विस्फुरित) फणों को देखने से डरी उस (दमयन्ती) के कंपन और रोमांच को देख (उस कंप-पुलक को) सात्त्विक विकार समझने वाले अपने सेवकों को सलज्ज (लक्ष्यच्युत) नागराज (वासुकि) ने नाचने से रोक दिया ।

टिप्पणी—वासुकि के समीप पहुँची दमयन्ती उसके फड़कते फनों को देखकर डर गयी और भय से काँपने लगी और रोमांच हो उठा । भय के इन अनुभावों को वासुकि के सेवक नागों ने दमयन्ती के शृङ्गारानुभाव समझा । उन्हें प्रतीत हुआ कि दमयन्ती अब नागराज के गले में वरमाला पहिनाने ही वाली है और वे नाग प्रसन्नता से नाचने लगे परन्तु वासुकि ने वास्तविकता समझी और लक्ष्यच्युत, उदास, सलज्ज वासुकि ने अपने मूर्ख सेवकों को नाचने से रोक दिया । नाग-सेवकों को भय के अनुभावों में शृङ्गार के सात्त्विकों की भ्रांति हुई——इस आधार पर मल्लिनाथ के अनुसार भ्रांतिमत् अलंकार ॥ २१ ॥

तद्दर्शिभिः स्ववरणे फणिभिर्निराशैः निःश्वस्य तत् किमपि सृष्टमनात्मनीनम् ।
यत्तान् प्रयातुमनसोऽपि विमानवाहा हा हा ! प्रतीपपवनाशकुनान्नजग्मुः॥

जीवातु—तदिति । तद्दर्शिभिः वासुकिवृत्तान्तसाक्षात्कारिभिः, अत एव स्ववरणे निराशैः कैमुत्यपराहतैरित्यर्थः, फणिभिः अन्यैः कर्कोटकादिनागैः, निःश्वस्य निःश्वासं कृत्वा, तत् निःश्वसितरूपं, किमपि अवाच्यम्, आत्मने हितम् आत्मनीनम् 'आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् खः' इति खः, तद्विरुद्धम् अनात्मनीनं, सृष्टं निःश्वासेनात्मनो महाननर्थहेतुरा चरित इत्यर्थः, कुतः ? यत् यस्मान्निःश्वासकारणात्, तान् फणिनः प्रति, प्रयातुमनसः गन्तुकामा अपि, विमानं वहन्तीति विमानवाहा दमयन्तीशिविकावाहिनः, कर्मण्यण् प्रतीपपवनः प्रतिकूलवायुः एव, यत् अशकुनम् अयात्रिकचिह्नं तस्मात् हेतोः, न जग्मुः दूरत एव तान् परिजह्नरित्यर्थः अत एव हा हेति खेदे ॥ २२ ॥

अन्वयः—तद्दर्शिभिः स्ववरणे निराशैः फणिभिः निःस्वस्य तत् किम् अपि अनात्मनीयं सृष्टम् यत् हा हा, तान् प्रयातुमनसः अपि विमानवाहाः प्रतीपपवना-शकुनात् न जग्मुः।

हिन्दी—उस (वासुकिराज के अवरण) को देखते (अतएव) अपने (अन्य नागों के) वरे जाने में निराश सर्पों ने फूत्कार भरकर ऐसा कुछ 'अनात्मनीन' (अपना बुरा) उत्पन्न कर दिया कि हाय उन (नागों) की ओर जाने के इच्छुक भी शिविकावाहक प्रतिकूल वायु (वहने) के अशकुन के कारण (उनकी ओर) न गये।

टिप्पणी—वासुकिराज के अयोग्य सिद्ध हो जाने पर अन्य नाग भी अपने अवरण की आशंका के कारण दुःख से बड़ी-बड़ी सांसें लेने लगे। उससे जो फुंकारें उठीं, लगा कि प्रतिकूल पवन ही चलने लगा और इसे असगुन मान, जाना चाहते भी पालकी वाले उनकी ओर न गये। भाव यह कि स्वयम् अपना भला-बुरा भी न समझने वाले मूर्ख अयोग्यों की ओर जाना भी उचित नहीं है—यह सोच शिविकावाही उधर गये ही नहीं ॥ २२ ॥

ह्रीसङ्कुचत्फणगणादुरगप्रधानात् तां राजसङ्घमनयन्त विमानवाहाः।
सन्ध्यानमद्दलकुलाद् कमलाद् विनीय कह्लारमिन्दुकिरणा इव हासभासम्॥

जीवातु—ह्रीति। विमानवाहाः शिविकावाहिनः, तां दमयन्तीं, ह्रिया लज्जया, सङ्कुचन् फणगणो यस्य तस्मात् उरगप्रधानात् उरगराजात् वासुकेः, विनीय अपनीय इन्दुकिरणाः हासभासं विकासलक्ष्मीः सन्ध्यायां नमद्दलकुलात् सङ्कुचत्पत्रचयात्, कमलात् पद्मात्, विनीय अपनीय कह्लारं सौगन्धि-कमिव, राजसङ्घं नृपसमूहम्, अनयन्त प्रापयन्। ङित्वादात्मनेपदं 'सीवह्यो-र्हरतेश्च' इति वचनात् द्विकर्मकत्वम्। उपमालङ्कारः ॥ २३ ॥

अन्वयः—इन्दुकिरणाः सन्ध्यानमद्दलकुलात् कमलात् विनीय हासभासं कह्लारम् इव विमानवाहाः ह्रीसङ्कुचत्फणगणात् उरगप्रधानात् तां राजसङ्घम् अनयन्त।

हिन्दी—जिस प्रकार चन्द्रकिरणें सांझ के समय मुंदे जाते पत्र-समूह वाले कमल से हटाकर विकसित दीप्ति को सौगंधिक रक्तकमल के निकट ले जाती हैं, उसी प्रकार शिविकावाही लज्जा से सिकुड़ेजाते फणोंवाले नागों के प्रधान (वासुकिराज) के समीप से हटाकर उस (दमयन्ती) को (अन्य) राजसमूह के निकट ले गये।

टिप्पणी—अवरण की लज्जा से वासुकि नाग के फण सिकुड़ गये और उन्हें लजाता छोड़ पालकीधारी दमयन्ती को राजाओं की ओर ले गये। इसे एक उपमा द्वारा स्पष्ट किया गया है। 'इन्दुकिरण' विमानवाहक हैं, मुँदते पत्रवाला 'कमल' वासुकि है, 'हासभास' दमयन्ती है 'कह्लार' राजसङ्घ है। मल्लिनाथ के अनुसार उपमालंकार ॥ २३ ॥

देव्याऽभ्यधायि भव भीरु ! धृतावधाना
भूमीभुजः ! त्यजत[1] भीमभुवो निरीक्षाम्।
आलोकितामपि पुनः पिबतां दृशैता-
मिच्छाऽपगच्छति न वत्सरकोटिभिर्वः ॥ २४ ॥

जीवातु—देव्येति। देव्या वाग्देव्या सरस्वत्या, अभ्यधायि अभिहितम्, किम् ? तदाह—हे भीरु ! भयशीले ! भीरुशब्दात् 'ऊङुतः' इत्यूङ्प्रत्यये सम्बुद्धौ नदीह्रस्वः, धृतमवधानं यया सा भव अवहिता शृण्वित्यर्थः। हे भूमीभुजः ! भूपा ! यूयञ्च भीमभुवः भैम्याः निरीक्षाम् ईक्षणं, 'गुरोश्च हल' इति स्त्रियाम् अ-प्रत्ययः, त्यजत मा कुरुत, कुतः ? युष्मासु पश्यत्सु दमयन्ती ह्रीपारवश्यात् युष्मान् प्रति दर्शनं न दास्यति, अतो नैनां विलोकयत इति भावः, आलोकिताम् ईक्षितां, दृष्टामपीत्यर्थः, एतां पुनर्दृशा पिबताम् आस्थया पश्यतां, वो युष्माकं, वत्सरकोटिभिः अनन्ताब्दैरपि, इच्छा दर्शनेच्छा, न अपगच्छति, अतो मद्वाक्यमवहिताः शृणुतेत्यर्थः ॥ २४ ॥

अन्वयः—देव्या अभ्यधायि—भीरु, धृतावधाना भव, भूमीभुजः, भीमभुवः निरीक्षां त्यजत (भजत); आलोकिताम् अपि एनां पुनः दृशा पिबतां वः इच्छा वत्सरकोटिभिः न अपगच्छति।

हिन्दी—देवी (सरस्वती) ने (दमयन्ती और राजसमूह से) कहा—हे भयान्विते (दमयन्ती), सावधान हो जा; हे धरती के भोगी राजाओं, भीमसुता का निरीक्षण छोड़ो (अथवा देख लो); (बारंबार) देखी जाती भी इस (दमयन्ती) को पुनः-पुनः नेत्रों से पीडालने की तुम्हारी (राजाओं की) इच्छा (तो) करोड़ वर्षों में भी न जायेगी।

टिप्पणी—वासुकि आदि नागों से डर गयी दमयन्ती को भगवती शारदा

ने समाश्वस्त किया और मानो दमयन्ती को नेत्रों से पी जाने के आकांक्षी राजाओं को भी संबोधित किया कि ऐसे टकटकी बाँध दमयन्ती को धृष्टतापूर्वक न देखें, इससे वह लज्जित होगी। जहाँ तक दमयन्ती को वारंवार देखनेकी इच्छा का प्रश्न है, वह तो कभी मिटने वाली नहीं। लगता था कि राजसमूह सोच रहा था कि जाने, वरे जायेंगे अथवा नहीं, दमयन्ती को जी-भर देख तो लें ही ॥ २४ ॥

लोकेशकेशवशिवानपि यश्चकार शृङ्गारसान्तरभृशान्तरशान्तभावान् ।
पञ्चेन्द्रियाणि जगतामिषुपञ्चकेन सङ्क्षोभयन् वितनुतां वितनुर्मुदं वः ॥२५॥

जीवातु—लोकेशेति । योऽनङ्गः, लोकेशकेशवशिवान्, ब्रह्मविष्णुमहेशानपि, शृङ्गारेण शृङ्गाररसेन, सान्तरः सावकाशः, विरल इत्यर्थः, भृशो गाढः, आन्तरः आभ्यन्तरः, शान्तभावः शान्तरसो एषां तान् रागजर्जरितवैराग्यान्, चकार, पञ्चानां सङ्घः पञ्चकं, 'सङ्ख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु' इति कन्-प्रत्ययः, इषूणां पञ्चकेन जगतां पञ्चेन्द्रियाणि चक्षुरादीनि, संक्षोभयन् व्याकुलयन्, स वितनुः अनङ्गः, वो युष्माकं, मुदं वितनुतां विस्तारयतु, विश्वविजयिनो भगवतः कामदेवस्य प्रसादः कस्य न श्लाघ्यः ? इति भावः ॥

अन्वयः—इषुपञ्चकेन जगतां पञ्चेन्द्रियाणि संक्षोभयन् यः वितनुः लोकेशकेशवशिवान् अपि शृङ्गारसान्तरभृशान्तरशान्तभावान् चकार वः मुदं वितनुताम् ।

हिन्दी—पाँच बाणों से संसार (संसारियों) की पाँचों इन्द्रियों को संक्षुब्ध करते जिस देहहीन (अनंग काम) ने विधि-हरि-हर को भी (उनके) मन में दृढ़ीभूत शान्तभाव (विरक्ति) को हटाकर शृङ्गाररस (अनुरक्ति) से परिपूर्ण कर दिया वह तुम्हारे हर्ष में वृद्धि करे ।

टिप्पणी—सरस्वती की राजाओं के प्रति कालोचित कल्याणकामना । जगद्विजयी काम उनकी प्रसन्नता बढ़ाये । दमयन्ती मिले या न मिले, पर राजगण के हर्ष में निरंतर वृद्धि हो ॥ २५ ॥

पुष्पेषुणा ध्रुवममूनिषुवर्षजप्तहुङ्कारमन्त्रबलभस्मितशान्तिशक्तीन् ।
शृङ्गारसर्गरसिकद्व्यणुकोदरि ! त्वं द्वीपाधिपान् नयनयोर्नयगोचरत्वम् ॥

जीवातु---पुष्पेषुणेति । रसोऽस्यास्तीति रसिकम्, 'अत इनिठनौ' इति ठन्प्रत्ययः, द्वावणौ कारणत्वेनास्यास्तीति द्व्यणुकम् अणुद्वयारब्धद्रव्यं, शैषिकः क-प्रत्ययः; द्व्यणुकादिप्रक्रमेण कार्यद्रव्यारम्भ इति तार्किकाः; शृङ्गारस्य सर्गे निर्माणे, रसिकं प्रवृत्तं, यत् द्व्यणुकं तद्वदेवोदरं यस्यास्तस्याः सम्बुद्धिः; शृङ्गारभावोद्दीपका अतिकृशोदरीति भावः, त्वं पुष्पेषुणा ध्रुवं सत्यम्, इषुवर्षे बाणमोक्षकाले, जप्तः उच्चारितः, यो हुङ्कारः कोपयुक्तः स एव मन्त्रस्तस्य बलेन सामर्थ्येन, भस्मिता भस्मीकृता, 'तत् करोति—'इति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः, शान्तिशक्तिः इन्द्रियनिग्रहसामर्थ्यं येषां तान्, अमून् द्वीपाधिपान् पुष्करादिद्वीपपालकान्, राज्ञः, नयनयोर्गोचरत्वं दृष्टिविषयत्वं, नय पश्येत्यर्थः ॥ २६ ॥

अन्वयः—शृङ्गारसर्गरसिकद्व्यणुकोदरि ! त्वं ध्रुवं पुष्पेषुणा इषुवर्षजप्तहुङ्कारमन्त्रबलभस्मितशान्तिशक्तीन् अमून् द्वीपाधिपान् नयनयोः गोचरत्वं नय ।

हिन्दी—शृङ्गाररस के निर्माण में अनुरक्त द्व्यणुक समान (अत्यन्त कृश) उदरवाली तू (दमयन्ती) निश्चयपूर्वक पुष्प-बाण (काम) द्वारा बाण बरसाते समय जपे जाते 'हुँ'-(हुँकारी)-रूप मंत्र के बल से जिनकी इन्द्रियदमन-मनोनिग्रह आदि की शक्ति भस्म करदी गयी है, ऐसे इन (पुष्करादि सप्त) द्वीपों के अधिपालकों (अधिपतियों) को (अपने) नयनयुग्म की गोचरता को प्राप्त करा (दोनों नेत्रों से अनुग्रह-पूर्वक निहार) ।

टिप्पणी—पूर्व दो श्लोकों (२४--२५) में उपस्थित राजसमूह को संबोधित कर सरस्वती ने दमयन्ती से कहा कि इन कामवश राजाओं को अनुग्रहपूर्वक वह भी देखले । काम को यहाँ एक साधक वशीकर्त्ता के रूप में कहा गया है, जिसने बाणावर्षा के समय हुँकार रूप 'हुँ' मंत्र के जप द्वारा राजाओं की शान्ति-क्षमता का हरण कर लिया है । भाव यह है कि उपस्थित राजसंघ पूर्णतः कामाधीन है और दमयन्ती के अनुग्रह के लिए उत्सुक है । वशीकरण में 'हुँ', 'फट्' आदि मंत्रों का जाप किया जाता है, कदाचित् 'जप' अर्थ को अधिक उपयुक्त मानते हुए नारायण ने 'जप्त' के स्थान में 'जप्ति' पाठान्तर युक्त माना है ॥ २६ ॥

स्वादूदके जलनिधौ सवनेन सार्द्धं भव्या भवन्तु तव वारिविहारलीलाः।
द्वीपस्य तं पतिममुं भज पुष्करस्य निस्तन्द्रपुष्करतिरस्करणक्षमाक्षि॥२७॥

जिवातु—स्वाद्विति। हे निस्तन्द्रपुष्करतिरस्करणक्षमाक्षि ! उन्निद्रपद्म-विजय समर्थनेत्रे ! कमलायताक्षीत्यर्थः, पुष्करस्य पुँष्कराख्यस्य द्वीपस्य, पतिं सवनम्, अमुं भज वृणीष्व, ततः स्वादूदके जलनिधौ मधुरोदकसमुद्रे, सवनेन सवनाख्येन राज्ञा, सार्द्धं तव भव्याः मनोहराः, वारिविहारलीलाः जलक्रीडा विनोदाः, भवन्तु सन्तु॥ २७॥

अन्वयः—निस्तन्द्रपुष्करतिरस्करणक्षमाक्षि, तम् अमुं पुष्करस्य द्वीपस्य पतिं भज; स्वादूदके जलनिधौ सवनेन सार्द्धं तव वारिविहारलीलाः भव्या भवन्तु।

हिन्दी—खिले कमलों के तिरस्कार में समर्थ नयनों वाली (दमयन्ती), उस संमुखीन पुष्करद्वीप के स्वामी का वरण कर लो, जिससे मीठे जलवाले समुद्र में 'सवन' नाम के इस द्वीपाधिप के साथ तुम्हारे जल-विहार के विलास रमणीय हों।

टिप्पणी—दमयन्ती को विकसित कमल से भी श्रेष्ठ नेत्रवती बताती सरस्वती ने इस पुष्करद्वीपाधिपति 'सवन' का वरण कर लेने पर जो 'प्राप्ति' हो सकेगी, उसका निर्देश किया, 'पुष्करे सवनस्य' (ब्रह्मपुण्य—२०।७५)। दमयन्ती को मीठे जलवाले सागर में जलविहार करने के रम्य अवसर प्राप्त होंगे। कहा गया है—'स्वादूदकेनोदधिना पुष्करः परिवेष्टितः।—ब्रह्म० २०।८८। 'दमयन्ती निस्तंद्रपुष्करतिरस्करणक्षमाक्षी' है, पुष्कर जलविहार करते ही हैं, क्षुद्र—छोटे जलाशयों में। पुष्करजयी नयनोंवाली को तो समुद्र ही अपेक्षित होगा॥ २७॥

सावर्त्तभावभवदद्भुतनाभिकूपे ! स्वर्भौममेतदुपवर्त्तनमात्मनैव।
स्वाराज्यमर्जयसि न श्रियमेतदीयाम् ! एतद्गृहे परिगृहाणशचीविलासम्॥

जीवातु—सावर्त्तेति। रोम्णाम् अम्भसाञ्च भ्रमः आवर्त्तः, आवर्त्तेन सह वर्त्तमानः सावर्त्तः तस्य भावः तेन सावर्त्तभावेन सावर्त्तत्वेन, भवत् प्रादुर्भूतम्, अद्भुतम् आश्चर्यं यस्मात् स चित्रीयमाणः, नाभिरेव कूपो यस्याः सा तस्याः सम्बुद्धिः सावर्त्तेत्यादि; कूपे सावर्त्तत्वं चित्रमिति भावः, एतस्य राज्ञः सवनस्य, उपवर्त्तनं देशः, 'देशविषयौ तूपवर्त्तनम्' इत्यमरः, आत्मनैव स्वयमेव, भौमं भूमिभवं, स्वः स्वर्गः, अतः एतदीयां श्रियं स्वाराज्यं, स्वर्गराज्यं

'रोरि' इति रेफलोपे 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इति दीर्घः, नार्जयसि ? इति काकुः, अर्जयस्येवेत्यर्थः, एतद्गृहे शचीविलासं शचीसौभाग्यं, गृहाण स्वीकुरु। एतद्भूरेव स्वर्गः, एतद्राज्यमेव स्वाराज्यम्, अयमेवेन्द्रः, त्वमेवेन्द्राणी भवेति रूपकालङ्कारः ॥ २८ ॥

अन्वयः--सावर्त्तभावभवदद्भुतनाभिकूपे, एतदुपवर्तनम् आत्मना एव भौम स्वः, एतदीयां श्रियं स्वाराज्यं न अर्जयसि ? एतद्गृहे शचीविलासं परिगृहाण।

हिन्दी--दक्षिणावर्त शंख के घुमाव वाले आश्चर्यमय नाभिकूपवाली (भैमि), इस (पुष्करद्वीपाधिप) का देश स्वयमेव भूमिष्ठ स्वर्ग है। इससे संबद्ध राज्यश्रीरूप स्वर्गराज्य का अर्जन क्यों नहीं करतीं ? इसके आवास में इन्द्राणी-सदृश विलास का परिग्रहण करो।

टिप्पणी--भाव यह है कि पुष्कराधिपति किसी स्थिति में इन्द्र से न्यून नहीं है; यदि दमयन्ती को पृथ्वी पर रहकर स्वर्गसुख प्राप्ति की आकांक्षा हो तो 'सवन' वरणीय है। सवनराज की धरती ही स्वर्ग है, इसका राज्य ही स्वर्गराज्य है, यही इन्द्र है, तू इन्द्राणी हो जा--यह भाव लेकर मल्लिनाथ ने यहाँ रूपकालंकार का निर्देश किया है तथा 'एतदीयां... नार्जयसि' में काकु' का। अमरकोष के अनुसार 'उपवर्तन' देशवाची है--'नीवृज्जनपदौ देशविषयौ तूपवर्तनम्' ॥ २८ ॥

देवः स्वयं वसति तत्र किल स्वयम्भूर्न्यग्रोधमण्डलतले हिमशीतले यः।
स त्वां विलोक्य निजशिल्पमनन्यकल्पं सर्वेषु कारुषु करोतु करेण दर्पम् ॥

जीवातु--देव इति। तत्र पुष्करद्वीपे, हिमवच्छीतले न्यग्रोधः वटवृक्षः, 'न्यग्रोधो बहुपाद्वटः' इत्यमरः, तस्य मण्डले मण्डलाकारे तले अधस्तले, स्वयम्भूः यः देवः ब्रह्मा, स्वयं साक्षात्, वसति किल खलु, स देवः ईषदसमाप्तमन्यदन्यकल्पम् अन्यसदृशं, तन्न भवतीत्यनन्यकल्पम् अनन्यसाधारणम्, ईषदसमाप्तौ 'कल्पम्' प्रत्ययः, निजशिल्पं स्वनिर्माणं, त्वां विलोक्य त्वल्लक्षणं निजशिल्पकार्यं दृष्ट्वेत्यर्थः, सर्वेषु कारुषु शिल्पिषु मध्ये, करेण करप्रदर्शनेन, दर्पं करोतु, गर्वं करोतु मदन्यशिल्पकर्त्तुरेवं रूपनिर्माणदक्षो हस्तो नास्तीति स्वहस्तं प्रदर्श्य गर्वं करिष्यतीत्यर्थः, स्रष्टुः कीर्त्तिकरं ते रूपनिर्माणशिल्पमिति भावः ॥ २९ ॥

अन्वयः—तत्र हिमशीतले न्यग्रोधमण्डले यः स्वयम्भूः देवः स्वयं वसति किल सः अनन्यकल्पं निजशिल्पं त्वां विलोक्य सर्वेषु कारुषु करेण दर्पं करोतु।

हिन्दी—वहाँ (पुष्करद्वीप) में हिम के समान शीतल छायादार वटवृक्ष के मंडल के नीचे जो स्वयंभूदेव (ब्रह्मा) साक्षात् वसते हैं, निश्चयतः वे अनन्यसाधारण (अन्य से न रचे जाने वाले) अपने शिल्प (रूप) तुझ (दमयन्ती) को देखकर सब शिल्पियों के मध्य अपने हस्तकौशल का अभिमान करेंगे।

टिप्पणी—'न्यग्रोधः पुष्पद्वीपे ब्रह्मणः स्थानमुत्तमम्।'—(ब्रह्मपुराण २०।८७)। यह तो पुष्करद्वीप की विशेषता है कि वहाँ वटवृक्ष की छाया में स्वयं सृष्टिकर्त्ता विश्राम करते हैं। दमयन्ती की विशेषता यह है कि वह स्वयं ब्रह्मा की श्रेष्ठ कृति है—जगत् के शिल्पों में उत्तम, अभिमानयोग्य शिल्प-चातुरी, जिसका निर्माण ब्रह्मा ही कर सकते हैं॥ २९॥

न्यग्रोधनादिव दिवः पतदातपादेर्न्यग्रोधमात्मभरधारमिवावरोहैः।
तं तस्य पाकिफलनीलदलद्युतिभ्यां द्वीपस्य पश्य शिखिपत्रजमातपत्रम्॥३०॥

जीवातु—न्यग्रोधनादिति। दिवः अन्तरिक्षात्, पततः आपततः आतपादेः, आदिशब्दात् वर्षादेश्च, न्यक् निम्नीभूय, अधः स्थित्वा इत्यर्थः, रोधनान्नि-वारणादिव, न्यग्रोधं न्यग्रोधशब्दवाच्यम्, इति पचाद्यच्, उत्प्रेक्षेयम्, उत्तरार्द्धे वक्ष्यमाणातपत्रत्वोत्प्रेक्षोपयोगिनी' तथा अवरोहन्तीत्यवरोहाः शाखाभ्यः अधो-लम्बिभ्यः शिफाः, शाखामूलानीत्यर्थः, 'शाखाशिफाऽवरोहः स्यात्' इत्यमरः, तैः, अवरोहरूपैरवष्टम्भैरित्यर्थः, आत्मनः स्वस्य, भरं धरतीति आत्मभरधारः तमिव भूमिस्पृष्टैरवरोहरूपैरवलम्बनैः आत्मानमवष्टभ्य इव स्थितमित्युत्प्रेक्षा, धरते, कर्मण्यण्प्रत्ययः, किञ्च पाकः एषामस्तीति पाकिनां पक्वानां, फलानां नीलदलानां नीलपलाशानाञ्च, द्युतिभ्यां रक्तश्यामकान्तिभ्यां निमित्तेन, तस्य द्वीपस्य पुष्करद्वीपस्य सम्बन्धि, शिखिपत्रजं मयूरपिच्छो-द्भवम्, आतपत्रं तद्वत् स्थितम्, इति निमित्तगुणजातिस्वरूपोत्प्रेक्षा व्यञ्जका-प्रयोगादगम्या, अस्याश्च प्रथमोत्प्रेक्षयाऽङ्गाङ्गिभावेन सजातीयसङ्करः, द्वितीयया सजातीयसंसृष्टिः, तं प्रसिद्धं न्यग्रोधवृक्षं, पश्य, एतद्राजवरणादेवं-विधोऽद्भुतदर्शनोत्सवलाभो भविष्यतीति भावः॥ ३०॥

अन्वयः---दिवः पतदातपादेः न्यक् रोधनात् इव न्यग्रोधम् अवरोहैः आत्मभरधारम् इव तं पाकिफलनीलदलद्युतिभ्यां शिखिपत्रजं तस्य द्वीपस्य आतपत्रं पश्य ।

हिन्दी---आकाश से नीचे आने वाली धूप आदि का नीचे स्थित होकर निवारण करने से ही जो 'न्यग्रोध' कहाता है, निम्नवर्तिनी शाखाओं द्वारा ही अपने भार को धारते-जैसे उस (वटवृक्ष) को पके फलों और नीले पत्तों की (रक्त-श्याम) कान्ति के कारण मयूरपिच्छ से उत्पन्न उस द्वीप (पुष्कर) के धूप बचाने वाले छाते के तुल्य देखो ।

टिप्पणी—जो समस्त द्वीप को छाया देने वाला वटतरु है, वह भी दर्शनीय है और इस कारण भी पुष्कराधिपति वरणीय है । अद्भुत वट देखना है तो 'सवन' राजा को वरना उचित है । वटवृक्ष को मयूरपिच्छजात आतपत्र के सदृश कहने के कारण यहाँ मल्लिनाथ के अनुसार निमित्तगुणजातिस्वरूपा उत्प्रेक्षा है, जो व्यंजक का प्रयोग न होने से गम्या है । श्लोक के पूर्वार्द्ध में भी उत्प्रेक्षा है जो 'न्यग्रोध'-संबद्ध, उत्तरार्द्ध की उत्प्रेक्षा की उपयोगिनी है । इन दोनों के अंगांगिभाव से सजातीय संकर है । पूर्वार्द्ध में एक और उत्प्रेक्षा है---'अवरोहों से आत्मभरधार' होना । इसके साथ सजातीय संसृष्टि है ॥३०॥

न श्वेततां ? चरतु वा भुवनेषु राजहंसस्य न प्रियतमा कथमस्य कीर्त्तिः ? ।
चित्रन्तु तद्विशदिमाऽद्वयमादिशन्ती क्षीरञ्च नाम्बु च मिथः पृथगातनोति ॥

जीवातु---नेति । राजहंसस्य नृपश्रेष्ठस्य, अस्य सवनस्य, प्रियतमा इष्टतमा कीर्त्तिः, अन्यत्र---राजहंसस्य कलहंसस्य, 'राजहंसो नृपश्रेष्ठे कादम्बकलहंसयोः' इति विश्वः, कीर्त्तिः शुभ्रत्वात् कीर्त्तिरूपिणी, प्रियतमा तत्कान्ता वरटा, कथं न श्वेतताम् । कथं न धवलीभवतु ? अपि तु श्वेतैव भवतु, 'श्विता वर्णे' इति द्युतादौ पठ्यते, तस्माल्लोट् भुवनेषु लोकेषु सलिलेषु च, 'भुवनं सलिलं लोकः' इति विश्वः कथं वा न चरतु ? तु किन्तु, विशदिमाऽद्वयं धावल्याद्वैतम् आदिशन्ती जनयन्ती, कीर्त्तिरिति शेषः, स्वप्रभयेति भावः, क्षीरञ्च अम्बु च मिथोऽन्योऽन्यं पृथग्विभक्तं, नातनोति न करोति, इति यत्तच्चित्रम् !! हंसानां क्षीरनीरविवेकस्य जातिधर्मत्वेऽपि तद्विवेकाभावो विरुद्ध इति भावः । स चाविवेकः कीर्त्तेर्धावल्येन तत्रत्यजलानामपि क्षीरसदृशशुक्लत्वात् धावल्य-

गुणतो न स्वरूपत इति विरोधसमाधानाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः, तथा विशदिमाऽद्वयमादिशन्तीत्यनेन सामान्यालङ्कारः, 'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति, तस्य विशेषणगतया क्षीरनीराविवेकहेतुत्वात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गं पूर्वार्द्धे च श्वैत्यभुवनचारित्वराजहंसप्रियतमात्वाख्याश्लिष्टो श्लिष्ट प्रस्तुतकीर्त्तिविशेषणसाम्यादप्रस्तुतराजहंसप्रतीतेः श्लेषसङ्कीर्णाऽर्थसमासोक्तिरित्येतैस्त्रिभिः सहाङ्गाङ्गिभावेन पूर्वोक्तस्य विरोधाभासस्य सङ्करः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—अस्य राजहंसस्य प्रियतमा कीर्त्तिः कथं न श्वेततां भुवनेषु वा चरतु ? चित्रं तु यत् विशदिमाऽद्वयम् आविशन्ती क्षीरम् अम्बु च मिथः पृथक् न आतनोति ।

हिन्दी—इस हंस (श्रेष्ठ राजा सवन) की अत्यंत अभिमतप्रियतमा कीर्त्ति क्यों न शुभ्रता को प्राप्त हो अथवा लोकत्रयों में संचरण करे ? आश्चर्य तो यह है कि धवलता से त्रिलोकी को श्वेत करती (सवनराज रूप हंस की कीर्त्तिरूपा प्रियतमा हंसी) दूध और जल को परस्परतः पृथक् नहीं करती ।

टिप्पणी यहाँ सवनराज की—श्रेष्ठता के आधार पर—हंसरूप में उद्भावना की गयी है और उसकी कीर्त्ति की प्रियतमा हंसी के रूप में। जैसे हंसी अत्यन्त शुभ्र होती है और वातावरण में श्वेतता का प्रसारण करती है तथा सर्वत्र विचरण करती है, ऐसी ही सवनराज की कीर्ति है, जिसने त्रिलोकी में प्रसार पाया है और ख्याति पायी है। हंसी-तुल्य होने से कीर्त्ति से यह अपेक्षित ही है कि त्रिलोकी में प्रसार पाये और शुभ्रता का प्रसार करे। हंसी नीर-क्षीर-विवेक कर सकती है—ऐसी कविप्रसिद्धि है। हंसीसम होने से कीर्त्ति को भी दुग्ध-जल-विवेक करना चाहिए किंतु वह ऐसा नहीं करती, यह आश्चर्य का विषय है। भाव यह है कि सवनराज अत्यन्त उदार और यशस्वी है और उसका यश त्रिलोकी में ख्यात है। मल्लिनाथ के अनुसार हंस में नीरक्षीर-विवेक जातिधर्म है वह कीर्तिहंसी में नहीं है—यह विरोध है, जिसका समाधान हो जाता है यह मान कर कि यह अविवेक कीर्ति की शुभ्रता के कारण जलों के भी दुग्ध-तुल्य होने से धावल्यगुण से है, स्वरूपतः नहीं; इस प्रकार विरोधाभास अलंकार है। 'विशदिमाऽद्वयमाविशंती' में

सामान्यालंकार है और उसके विशेषणगति से क्षीर-नीर-अविवेक में हेतु होने के कारण पदार्थहेतुक काव्यलिंग है और पूर्वार्द्ध में श्वेतता और भुवनचारिता के राजहंस की प्रियतमा के श्लिष्ट होने के कारण श्लिष्टप्रस्तुतकीर्ति विशेषण-साम्य से अप्रस्तुत राजहंस भी प्रतीति के कारण श्लेषसंकीर्णा अर्थ-समासोक्ति है। इन तीन—सामान्य; काव्यलिंग और समासोक्ति—के साथ अंगांगिभाव से विरोधाभास का संकर है ॥ ३१ ॥

शूरेऽपि सूरिपरिषत्प्रथमार्चितेऽपि श्रृङ्गारभङ्गिमधुरेऽपि कलाकरेऽपि ।
तस्मिन्नवद्यमियमाप तदेव नाम यत् कोमलं न किल तस्य नलेति नाम ॥

जीवातु—शूरे इति । इयं दमयन्ती, शूरे वीरेऽपि, सूरिपरिषत्सु विद्वत्सभासु, प्रथमार्चिते अग्रपूज्येऽपि, श्रृङ्गारभङ्गिमधुरे श्रृङ्गारविलासकान्तेऽपि, कलाकरे सकलविद्यानिधानेऽपि, तस्मिन् सवनाख्ये राज्ञि, कोमलं कर्णामृतं, किल प्रसिद्धं, नलेति नाम नामधेयं, तस्य सवनस्य, न नास्ति, इति यत्, तदेव नलनामराहित्यमेव, अवद्यं दूषणम्, आप नाम जग्राह खल्वित्यर्थः; अनलत्वातिरिक्तमरुचिकारणं किञ्चिदपि नाभूदिति भावः । नलानुरागात् हि एवं गुणवन्तमपि तं नृपतिं न वरणयोग्यत्वेन स्वीकृतवती इति निष्कर्षः ॥ ३२॥

अन्वयः—इयं शूरे अपि सूरिपरिषत्प्रथमार्चिते अपि श्रृङ्गारभङ्गिमधुरे अपि कलाकरे अपि तस्मिन् यत् कोमलं किल नलेति तस्य नाम न तद् एव अवद्यम् आप ।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) ने वीर भी, विद्वत्सभा में प्रथमपूजित भी, श्रृङ्गार-भंगिमाओं (कलाओं) में मधुर भी, कलाविशेषज्ञ होने पर भी जो कोमल प्रसिद्ध 'नल' यह उसका नाम नहीं है, वही उस (सवनराज) में दोष पाया है ।

टिप्पणी—सर्वथा योग्य होने पर भी पुष्करद्वीपाधिपति 'सवन' ही है, नैषधराज नल नहीं—यही बड़ा दोष दमयन्ती ने पाया और सवनराज को वरणयोग्य नही समझा ॥ ३२ ॥

भ्रूवल्लिकिञ्चिदनिकुञ्चितमिङ्गितं सा लिङ्गं चकार तदनादरणस्य विज्ञा ।
राज्ञोऽपि तस्य तदलाभजतापवह्नेश्चिह्नीबभूव मलिनच्छविभूमधूमः ॥३३॥

जीवातु—भ्रूवल्लीति। विशेषेण जानातीति विज्ञा अभिज्ञा, 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' सा दमयन्ती, भ्रूवल्लया: भ्रूलताया:, किञ्चन किञ्चित्, विकुञ्चितं सङ्कोचः, किञ्चनेति किञ्चिदर्थेऽव्ययं, तस्य विशेषणसमासः, तदेवेङ्गितं चेष्टितं, तस्मिन् सवने अनादरणस्य लिङ्गं चकार भ्रूनिकोचनेनैव तदनादरं सूचितवतीत्यर्थः, तस्य राज्ञोऽपि, मलिनच्छविभूमा वैवर्ण्यभूयस्त्वं, स एव धूमः, तस्याः दमयन्त्याः, अलाभेन जातस्तज्जः तस्य तापवह्नेः सन्तापाग्नेः चिह्नीबभूव अनुमापको जात इत्यर्थः, अन्यत्र धूमं दृष्ट्वा वह्निरनुमीयते, अत्र तु सवननृपे देहस्य श्यामवर्णरूपधूमं दृष्ट्वा दमयन्त्यप्राप्तिजन्यतापवह्निरनुमीयते इति भावः। अत एवानुमानालङ्कारः 'साध्यसाधननिर्देशोऽनुमानम्' इति लक्षणात्, किन्तु इह धूमाग्न्यो रूपकशब्दात्मकयोरलङ्कारगर्भीकरणे विच्छित्तिविशेषाश्रयणात् तर्कानुमानाद्भेदः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—विज्ञा सा भ्रूवल्लिकिञ्चनविकुञ्चितम् इङ्गितं तदनादरणस्य लिङ्गं चकार, तस्य राज्ञः अपि मलिनच्छविभूमधूमः तदलाभजतापवह्निचिह्नीबभूव।

हिन्दी—अभिज्ञा उस (दमयन्ती) ने भ्रूकुटिलता के कुछ संकोच का जो संकेत अथवा अन्य प्रकार का जो संकेत किया, वह उस (सवन) की अस्वीकृति का चिह्न बन गया और उस राजा (सवन) की मलिन पड़ी मुखच्छविरूप जो प्रचुर धुआँ था, वही उस (दमयन्ती) की अप्राप्ति से उत्पन्न संतापाग्नि का चिह्न हो गया।

टिप्पणी—दमयन्ती ने सवनराज की अस्वीकृति अपने भ्रूसंकेत तथा अन्य चेष्टाओं से प्रकट करदी। उन चेष्टाओं के लिंग—चिह्न से सवन ने अपने अनादर को समझ लिया। उसके कारण जो उसका मुख मलिन हो गया, उससे उपस्थित मंडली को सवनराज के हृदय की संतापाग्नि का अनुमान हो गया। धूम से अग्नि का अनुमान होता है। मलिनच्छवि धूम था, उससे 'अलाभजतापवह्नि' का अनुमान हो गया। भाव यह है कि दमयन्ती द्वारा अस्वीकृति पर सवनराज की मलिनकांतिरूप धूम से विरहज्वराग्नि का अनुमान लोगों को हो गया। मल्लिनाथ के अनुसार इस अनुमान के कारण यहाँ अनुमान अलंकार है ॥ ३३ ॥

राजान्तराभिमुखमिन्दुमुखीमथैनां जन्याजना हृदयवेदितयैव निन्युः।
अन्यानपेक्षितविधौ न खलु प्रधानवाचां भवत्यवसरः सति भव्यभृत्ये ॥३४॥

जीवातु—राजान्तरेति। तथ जन्याजनाः भृत्यजनाः, जन्या व्याख्याताः, हृदयवेदितया दमयन्त्याः चितज्ञतयैव, प्रेरणां विनैवेत्यर्थः, इन्दुमुखीम् एनां भैमीम्, अन्यो राजा राजान्तरं, सुप्सुपेति समासः, तस्य अभिमुखं यथा तथा निन्युः। स्वामिप्रेरणां विना कथं निन्युरत आह—अन्यानपेक्षितः अनपेक्षितान्यः, स्वाम्यादेशनिरपेक्ष इत्यर्थः, बहुव्रीहौ 'सर्वनामसङ्ख्ययोरुपसङ्ख्यानम्' इति अन्यशब्दस्य पूर्वनिपातः, विधिः कार्यस्य अनुष्ठानं यस्य तस्मिन् स्वतः समर्थे, भव्ये सुयोग्ये, 'भव्यं शुभे च सत्ये च योग्ये भाविनि च त्रिषु' इति मेदिनी, भृत्ये कर्मकरे, सति प्रधानवाचां स्वाम्यादेशानाम् अवसरो न भवति न अस्ति खलु इत्यर्थान्तरन्यासः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—अथ जन्याजनाः हृदयवेदितया एव एनाम् इन्दुमुखीं राजान्तराभिमुखं निन्युः। खलु अन्यानपेक्षितविधौ भव्यभृत्ये सति प्रधानवाचाम् अवसरः न भवति।

हिन्दी—तत्पश्चात् शिविकावाहक (दमयन्ती के) मनोभाव समझने के ही कारण इस चन्द्रमुखी (दमयन्ती) को दूसरे राजा के संमुख ले गये। निश्चय ही अन्य अर्थात् स्वामी के वचनों की अपेक्षा विना ही कार्य करने वाले प्रवीण सेवक होने पर स्वामी को कहने की आवश्यकता ही नहीं होती।

टिप्पणी—दमयन्ती के शिविकावाही स्वामी के मनोभाव समझकर बिना आदेश-वचनों के ही कार्य-संपादन करनेवाले चतुर सेवक थे; अतः वे समझ गये कि उनकी स्वामिनी की अब क्या इच्छा है; और स्वयं ही दमयन्ती को पुष्कराधिपति के समीप से हटाकर अन्य राजा के संमुख ले गये। मल्लिनाथ के अनुसार अर्थान्तरन्यास अलंकार है॥ ३४ ॥

ऊचे पुनर्भगवती नृपमन्यमस्यै निर्दिश्य दृश्यतमतावमताश्विनेयम्।
आलोक्यतामयमये ! कुलशीलशाली शालीनतानतमुदस्य निजास्यबिम्बम् ॥

जीवातु—ऊचे इति। भगवती भारती, पुनः भूयः, दृश्यतमतया दर्शनीयतमत्वेन, सौन्दर्यातिशयेन इति यावत्, अवमतौ अवधीरितौ, आश्विनेयौ अश्विनीकुमारौ येन तम्, अन्यं नृपम् अस्यै भैम्यै निर्दिश्य हस्तेन प्रदर्श्य, अये !

भैमि, कुलेन शीलेन सद्वृत्तेन च, शालते इति तच्छाली, अयं नृपः, शालीनतया लज्जया, 'शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः' इति ख-प्रत्ययान्तो निपातः, नतं निजाज्यबिम्बं निजमुखमण्डलम्, उदस्य उन्नमय्य, आलोक्यताम् इत्यूचे उक्तवती, ब्रूतेः कर्त्तरि लिटि तङ्, लज्जां परित्यज्य अयं दृश्यताम् इति भावः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—पुनः भगवती दृश्यतमतावमताश्विनेयम् अन्यं नृपम् अस्यै निर्दिश्य ऊचे–अये, शालीनतानतं निजास्यबिम्बम् उदस्य कुलशीलशाली अयम्। आलोक्यताम्।

हिन्दी—फिर भगवती (भारती) ने सुन्दरता के कारण अश्विनी-कुमारों की अवमानना करने वाले अन्य राजा को इसे (दमयन्ती को) दिखाकर कहा—अये (दमयन्ती), लज्जा से झुके अपने मुखबिम्ब को उठाकर सुकुलोत्पन्न और सदाचारी इस (राजा) को देख।

टिप्पणी—भाव यह है कि देवी ने दमयन्ती को सलाह दी कि इस प्रकार लज्जा से यदि वह आविष्ट रहेगी तो स्वयंवरार्थियों का सम्यक् निरीक्षण न कर सकेगी। एक से बढ़ कर एक रूपवान् और सदाचारी तथा उच्चवंशीय राजगण यहाँ उपस्थित हैं, उचित यही है कि लज्जा का त्याग कर इस समय भलीभाँति विवेचन किया जाय ॥ ३५ ॥

एतत्पुरःपठदपश्रमवन्दिवृन्दवाग्डम्बरैरनवकाशतरेऽम्बरेऽस्मिन्।
उत्पत्तुमस्ति पदमेव न मत्पदानामर्थोऽपि नार्थपुनरुक्तिषु पातुकानाम् ॥

जीवातु—एतदिति। एतस्य पुरः अग्रे, पठताम् अपश्रमवन्दिनां यथार्थ-गुणवर्णने श्रमशून्यानां स्तावकानां, वृन्दस्य वागाडम्बरैः वागाटोपैः, अनवकाश-तरे अत्यन्तनिरवकाशे, अस्मिन् अम्बरे अन्तरिक्षे, मत्पदानां मद्वाक्यानां, 'पदं शब्दे च वाक्ये च' इति विश्वः, उत्पत्तुमेव पदम् अवकाशः, नास्तीत्यतिशयोक्तिः; आकाशगुणः शब्द इति तार्किकाः; कथञ्चिदुत्पत्तौ अपि अर्थपुनरुक्तिषु अभिधेयपौनरुक्त्येषु पातुकानां पततां, वन्दिवाक्यैः पुनरुक्तार्थानामित्यर्थः, 'लषपत —' इत्यादिना उकञ्प्रत्ययः, मत्पदानाम् अर्थोऽपि प्रयोजनमपि, नास्ति गतार्थत्वादितिभावः, अस्य वन्दिकृताः स्तवाः यथार्थकतया मम अतीव सम्मता, अतः एनं वृणीष्व इति तात्पर्यम् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—एतत्पुरःपठदपश्रमवन्दिवृन्दवाग्डम्बरैः अनवकाशतरे अस्मिन् अम्बरे मत्पदानाम् उत्पत्तुम् एवं पदं न अस्ति, अर्थपुनरुक्तिषु पातुकानाम् अर्थः अपि न।

हिन्दी—इसके संमुख अश्रांतभाव से पाठ करते चारणवृंद के वागाडम्बरों (वचनविस्तारों) के कारण निरवकाश (परिपूर्ण) इस आकाश में मेरे पदरूपपदों (वचनरूप चरणों) के उत्पन्न होने और ठहरने का स्थान ही नहीं है, और अर्थ की पुनरुक्ति के निमित्त उपजते और फिसलते उन 'पदों' का प्रयोजन भी नहीं है।

टिप्पणी—आशय यह है कि संदर्भगत नरेश के संमुख उसके चारण-भाट उसका इतना विशद विरुदगान अथक भाव से कर रहे थे और उनसे इतना कोलाहल हो रहा था कि आकाश उनसे व्याप्त हो गया था। उस स्तुति विवरण से राजा का समग्र परिचय और वैशिष्ट्य प्रकट हो जा रहा था। ऐसी स्थिति में सरस्वती देवी की संमति यही थी उनके कहे वचन इस कोलाहल में सुनना ही कठिन है; इसके अतिरिक्त उन वचनों का प्रयोजन भी तो नरेश का परिचय देना ही है। वह इस वन्दिगान से संपन्न है; अतः व्यर्थ क्यों कहा जाय? जिसप्रकार भीड़ में पैर धरने का भी स्थान कठिन होता है, वैसे ही इस शब्दों की भीड़ में पदों अर्थात् वचनों का कथन भी कठिन है। शब्द का आश्रय तो तार्किकों के अनुसार आकाश है—शब्द आकाश का गुण है, सो आकाश जब 'अनवकाशतर' है तो शब्द कहाँ ठहरेगा? जब शब्द ही अश्राव्य रहेंगे, तो अर्थ का प्रश्न ही नहीं है॥ ३६॥

नन्वत्र हव्य इति विश्रुतनाम्नि शाकद्वीपप्रशासिनि सुधीषु सुधीभवन्त्याः?॥
एतद्भुजाविरुदवन्दिजयाऽनयाऽपि किं रागि राजनि गिराऽजनिनान्तरं ते?

जीवातु—नन्विति। ननु भैमि! अत्र अस्मिन्, हव्य इति विश्रुतनाम्नि प्रख्यातनामधेये, शाकद्वीपं प्रशास्तीति तत्प्रशासिनि तत्स्वामिनि, राजनि विषये, सुधीषु विद्वत्सु, सुधीभवन्त्याः विदुषीभवन्त्याः, ते तव, अन्तरम् अन्तरात्मा, अनया श्रूयमाणया, एतस्य भुजाविरुदवन्दिभ्यो बाहुप्रशस्तिस्तोतृभ्यः; 'गद्यपद्यमयी राजस्तुतीर्विरुदमुच्यते' इति, जाता तज्जा तया, गिराऽपि रागि

अनुरागवत्, नाजनि नाजनिष्ट किम्? इति प्रश्नः, जनेः कर्त्तरि लुङि 'दीपजन—' इत्यादिना विकल्पात् चिण् प्रत्ययः, 'चिणो लुक्' इति तस्य लुक् ॥ ३७ ॥

अन्वयः—ननु अत्र 'हव्य' इति विश्रुतनाम्नि शाकद्वीपप्रशासिनि राजनि सुधीषु सुधीभवन्त्याः ते अन्तरम् अनया एतद्भुजाविरुदवन्दिजया गिरा अपि किं रागं न अजनि ?

हिन्दी—अरी, इस 'हव्य' नाम से प्रसिद्ध शाकद्वीप का शासन करने वाले राजा के प्रति विमल बुद्धिवंतों (पंडितों) के प्रति विमलभावधारती (सुधा—अमृतभाव, अनुकूलता धारण करती) तेरा (दमयन्ती का) अन्तरात्मा इस इस (नरेश) के भुजप्रताप का वर्णन करती चरणों की वाणी से भी क्या अनुरागी नहीं बना ?

टिप्पणी—सुन्दर, कुलीन सदाचारी राजा था शाकद्वीपाधिपति हव्य। गुणी गुणियों का आदर करता है। इस आधार पर सुधीजनों पर प्रीति रखने वाली विदुषी दमयन्ती का हव्यराज के प्रति मधुरभाव बनना उचित था। आश्चर्य है कि ऐसा हुआ नहीं ॥ ३७ ॥

शाकः शुकच्छदसमच्छविपत्रमालभारी हरिष्यति तरुस्तव तत्र चित्तम्।
यत्पल्लवौघपरिरम्भविजृम्भितेन ख्याता जगत्सु हरितो हरितः स्फुरन्ति ॥३८

जीवातु—शाक इति तत्र शाकद्वीपे, शुकच्छदसमच्छवीनां कीरपक्षसदृशदीप्तानां, पत्राणां मालां पङ्क्तिं, भारतीति तन्मालभारी, 'इष्टकेषीकामालानां चिततूलमालभारिषु' इति ह्रस्वः, शाकस्तरुः शाकवृक्षः, 'शेगुन' इति प्रसिद्धवृक्षविशेषः इत्यर्थः, तव चित्तं हरिष्यति। हरितो दिशः, यस्य शाकतरोः पल्लवस्य ओघानां राशीनां, परिरम्भविजृम्भितेन व्याप्तिमहिम्ना, हरिद्वर्णाः सत्यः। 'हरितः। मृगे ना कनके क्लीबं दिशि स्त्री हरिते त्रिषु' इति विश्वः, जगत्सु ख्याताः हरित इति ख्याताः, स्फुरन्ति प्रथन्ते। दिक्षु हरिच्छब्दप्रवृत्तेः, हरितवर्णनिमित्तायाः शाकतरुपल्लवच्छायाच्छुरणनिमित्तत्वासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेस्तद्रूपातिशयोक्तिः, तया च तस्य तरोः ख्यातिः व्यज्यते इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—तत्र शुकच्छदसमच्छविपत्रमालभारी तरुः शाकः तव चित्तं हरिष्यति, यत्पल्लवौघपरिरम्भविजृम्भितेन हरितः जगत्सु हरितः ख्याताः स्फुरन्ति।

हिन्दी—वहाँ (शाकद्वीप में) तोता-पंख-तुल्य शोभायुक्त पत्तों को धारता वृक्ष 'शाक' (सागौन) तेरे (दमयन्ती के) चित्त का हरण करेगा, जिसके घने पत्तों के विलास के कारण हरे रंग की हो संसार में दिशाएँ 'हरित्' नाम से विख्यात हो गयी हैं।

टिप्पणी—शाकद्वीप को 'शाक' नाम इसलिए मिला है कि वहाँ घने-हरे 'शाक' अर्थात् सागौन के वृक्ष हैं। वे इतने हरे हैं कि उनकी हरीतिमा से हरिद्वर्णा हो दिशाएँ भी 'हरित्' संज्ञा से प्रसिद्ध हो गयी हैं। यद्यपि दिशाओं को 'हरित्' कहने का आधार शाकवृक्ष की छाया से हरा नहीं है तथापि वह यहाँ कहा गया—इस आधार पर मल्लिनाथ ने असंबंध में संबंध-कथनरूपा अतिशयोक्ति का निर्देश किया है और उससे शाकवृक्ष की ख्याति के व्यंजित होने से अलंकार द्वारा वस्तुध्वनि मानी है॥ ३८॥

स्पर्शेन तत्र किल तत्तरुपत्रजन्मा यन्मारुतः कमपि सम्मदमाददाति !
कौतूहलं तदनुभूय विधेहि भूयः श्रद्धां पराशरपुराणकथान्तरेऽपि ॥३९॥

जीवातु—स्पर्शेनेति। तत्र द्वीपे, किल तस्य तरोः पत्रेभ्यो जन्म यस्य तज्जन्मा मारुतः स्पर्शेन स्पर्शमात्रेण, कमप्यनिर्वचनीयं, सम्मदम् आनन्दम्, आददातीति यत् तदानन्दानुरूपं, कौतूहलं कौतुकं, विस्मयजनकव्यापारमित्यर्थः, 'कौतूहलं कौतुकञ्च कुतुकञ्च कुतूहलम्' इत्यमरः, अनुभूय भूयः पुनरपि, पराशरपुराणे विष्णुपुराणे, यत् कथान्तरम् अन्या कथा तत्र, श्रद्धां विधेहि विश्वासं कुरु, तत्रैव सकलभूगोलवृत्तान्तकथनादेकदेशसंवादस्य यथार्थत्वेन तदुक्तकथान्तराणामपि विश्वसनीयत्वादिति भावः। अत्र विष्णुपुराणवाक्यं—'शाकस्तत्र महावृक्षः सिद्धगन्धर्वसेवितः। तत्पत्रवातसंस्पर्शादाह्लादो जायते परः' ॥ इति ॥ ३९ ॥

अन्वयः—तत्र तत्तरुपत्रजन्मा मारुतः स्पर्शेन यत् कम् अपि सम्मदम् आददाति, तत् किल कौतुकम् अनुभूय भूयः अपि पराशरपुराणकथान्तरे श्रद्धां विधेहि।

हिन्दी—उस (शाकद्वीप) में उस (शाक) वृक्ष से उत्पन्न पवन स्पर्शमात्र से जो कुछ अनिर्वचनीय आनंद देता है, उस कौतूहल का अनुभव करके पुनरपि पराशर पुराण (विष्णुपुराण) की अन्तःकथा पर श्रद्धा करना।

टिप्पणी—अभीतक तो दमयन्ती ने विष्णुपुराण में आयी शाकद्वीप संबन्धी

कथा को सुना ही होगा कि वहाँ सिद्धों और गंधर्वों से सेवित एक शाकमहा-वृक्ष है, जिसके पत्तों से उत्पन्न पवन-स्पर्श से एक अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है, शाकनरेश का वरण कर इस सुनी बात का प्रत्यक्षानुभव होगा, जिससे पुराण-कथा पर दमयन्ती को पूर्ण विश्वास हो सकेगा, क्योंकि सुनी-सुनायी की अपेक्षा स्वानुभूत पर अधिक विश्वास होता है। ब्रह्मपुराण (२०।६४) में भी कहा गया है—'शाकश्चात्र महावृक्षः सिद्धगन्धर्वसेवितः। यत्पत्रवातसंपर्शा-दाह्लादो जायते परः।' 'भूय।' को श्रद्धा का विशेषण मानकर 'भूयसी श्रद्धा' अर्थान्तर भी माना गया है ॥ ३९ ॥

क्षीरार्णवस्तव कटाक्षरुचिच्छटानामध्येतु तत्र विकटायितमायताक्षि ! ।
वेलावनीवनततिप्रतिबिम्बचुम्बिकिर्मीरितोर्मिचयचारिमचापलाभ्याम् ॥४०॥

जीवातु—क्षीरेति । हे आयताक्षि ! तत्र शाकद्वीपे क्षीरार्णवस्तव कटाक्षरुचिच्छटानां कटाक्षकान्तिजालानां, 'वृन्दं जालं चक्रवालं जालकं पेटकं छटा' इति वैजयन्ती, विकटायितं विकटभावम्, अतिशयमित्यर्थः, 'कटः श्रोणी द्वयोः पुंसि किलिञ्जेऽतिशये शवे' इति मेदिनी, यद्वा—विशाल-भावं, सौन्दर्यविलसितमित्यर्थः, 'विशाले विकराले च विकटं कवयो विदुः' इति शाश्वतः, विकटशब्दाल्लोहितादिक्यङन्ताद्भावे क्तः । लोहितादिराकृति-गणः, वेलावनी कूलभूमिः, 'वेला कूलेऽपि वारिधेः' इति शाश्वतः, तत्र या वनततिर्वनपक्तिः, तस्याः प्रतिबिम्बं चुम्बति स्पृशतीति तच्चुम्बी तस्य तद्युक्तस्य इति यावत् अत एव किर्मीरितस्य कर्बुरितस्य, नानावर्णमिश्रित-स्येति यावत्, 'चित्रं किर्मीरकल्माषशबलैतश्चकर्बुरे' इत्यमरः ऊर्मिचयस्य तदङ्गपङ्क्तेः, चारिमा चारुता, 'पृथ्वादिभ्य इमनिच् वा' इति इमनिच् 'टेः' इति टेर्लोपः । चापलं चाञ्चल्यं, युवादित्वादण्-प्रत्ययः ताभ्यां, स्मारका-भ्याम् अध्येतु स्मरतु, अनुकरोतु इति यावत्, 'इक् स्मरणे' इत्यस्माल्लोटि शेषत्वविवक्षायाम् अधीगर्थ—'इत्यादिना षष्ठीविधानात्तदभावे कर्मणि द्वितीया, तव चक्षुषोः कटाक्षेषु परितः श्वैत्यं मध्ये नीलत्वं चपलता च अतः क्षीर-समुद्रोऽपि तत्सदृशो भवतु इति भावः । अत्र किर्मीरितोर्मिचयस्य सितासितत्व-सादृश्यात् तद्विलासस्य कटाक्षविलसितस्मारकत्वात् स्मरणालङ्कारः ॥ ४० ॥

अन्वयः—आयताक्षि, तत्र क्षीरार्णवः तव कटाक्षरुचिच्छटानां विकटायितं वेलावनीवनततिप्रतिबिम्बचुम्बिकिर्मीरितोर्मिचयचारिमचापलाभ्याम् अध्येतु ।

हिन्दी—हे विशालनयने, वहाँ (शाकद्वीप में) क्षीरसमुद्र तेरे कटाक्षों की शोभा की छटाओं के अतिशय विलास का तट-भूमिस्थिता वनपंक्ति की प्रतिच्छाया के चुम्बन से नानावर्ण की हुई लहरों की सुन्दरता और चपलता के द्वारा अध्ययन करे अथवा अनुकरण करें।

टिप्पणी—'शाकद्वीपस्ततो विप्राः क्षीरोदेन समन्ततः'।—ब्रह्म० २०।७३। शाकद्वीप चारों ओर क्षीर समुद्र से घिरा है। समुद्र के तट पर वन हैं, जिनकी प्रतिच्छाया जल में पड़ने से लहरें नानावर्ण—चित्रविचित्र—हो जाती हैं। वे मनोहारिणी लगती हैं और चपल तो हैं ही। दमयन्ती के नयन भी मनोहर और चपल कटाक्षों वे युक्त हैं। यहाँ उद्भावना है कि क्षीरसमुद्र की लहरों का यह विलास अभी तक अशिक्षितों सदृश है। दमयन्ती जब वहाँ पहुँच जायेगी तो क्षीरसमुद्र अनुकरण करके उससे सविलास कटाक्ष करना सीख लेगा। भाव यह भी है—जैसे नयनों के चारों ओर शुभ्रता, बीच में 'नीलिमा और चपलता होती है, वैसा ही क्षीरसमुद्र भी बन जायेगा। किर्मीरित लहरों के सित और असित सादृश्य से उसके विलास के कटाक्षविलसित के स्मारक होने के कारण मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ स्मरणालंकार है॥ ४०॥

कल्लोलजालचलनोपनतेन पीवा जीवातुनाऽनवरतेन पयोरसेन।
अस्मिन्नखण्डपरिमण्डलितोरुमूर्तिरध्यास्यते मधुभिदा भुजगाधिराजः॥४१॥

जीवातु—कल्लोलेति। अस्मिन् क्षीरार्णवे कल्लोलानां तरङ्गाणां जालस्य वृन्दस्य चलनेन चलनाद्वा उपनतः प्राप्तस्तेन। जीवातुना उज्जीवकेन 'जीवातु-र्जीवनौषधम्' इत्यमरः। अनवरतेनाविच्छिन्नेन पय एव रसस्तेन स्वादुक्षीरेण पीवा पीवरः, स्थूलकाय इत्यर्थः। 'पीङ्' धातोः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति क्वनिपि 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' इतीकारः। अखण्डं सम्पूर्णं यथा स्यात्तथा परिमण्डलिता परितो वेष्टिता, कुण्डलितेति यावत्, उर्वी विशाला मूर्तिः शरीरं यस्य येन वा सः। भुजगानां सर्पाणामधिराजः शेषः मधुं तन्नामकं दैत्यं भिनत्तीति तेन विष्णुना अध्यास्यते अधिशय्यते। कर्मणि प्रत्ययत्वेन 'अधिशीङ्स्थासां कर्मे'ति कर्मणो भुजगाधिराजशब्दात्प्रथमा, मधुभिच्छब्दात्कर्तरि तृतीया च बोध्या। अत्र क्षीरसागरे श्रीविष्णुःशेषराजोपरि, शेत इत्यर्थः॥ ४१॥

अन्वयः—अस्मिन् कल्लोलजालचलनोपनतेन जीवातुना अनवरतेन पयोरसेन पीवा अखण्डपरिमण्डलितोरुमूर्त्तिः भुजगाधिराजः मधुभिदा अध्यास्यते ।

हिन्दी—इस (क्षीर समुद्र) में तरंग-जाल के संचरण के कारण निकट लाये गये जीवनौषधस्वरूप निरन्तर दुग्ध (जल)-रस-पान से मोटे, सदा मंडल बनाकर रखे विशाल शरीर वाले भुजंगों के राजराजेश्वर (शेषनाग) पर मधु के नाशक श्रीविष्णु स्थित हैं ।

टिप्पणी—शेषशायी श्रीविष्णु की स्थिति के कारण शाकद्वीप का माहात्म्य और बढ़ जाता है—'शाकद्वीपे स्थितैर्विष्णुः सूर्यरूपधरो हरिः । यथोक्तैरिज्यते । (ब्रह्म० २०।७२–७३) ॥ ४१ ॥

त्वद्रूपसम्पदवलोकनजातशङ्का पादाब्जयोरिह कराङ्गुलिलालनेन ।
भूयाच्चिराय कमलाकलितावधाना निद्रानुबन्धमनुरोधयितुं धवस्य ॥४२॥

जीवातु—त्वदिति । इह क्षीरार्णवे तव रूपमेव सौन्दर्यमेव सम्पत् रूपस्य सम्पद्वा, तस्या अवलोकनेन दर्शनेन जातोऽन्ना शङ्का सन्देहो यस्याः सा, इमां मदपेक्षया परमसुन्दरीं विलोक्य मद्भर्ता श्रीविष्णुः कदाचिदिमामङ्गीकुर्यादिति शङ्कया युक्तेत्यर्थः । कमला लक्ष्मीः पादाब्जयोश्चरणकमलयोः करांगुलिभिर्लालनेन संवाहनकार्येण धवस्य पत्युः, श्रीविष्णोरिति यावत् । निन्द्रानुबन्धं निद्रासातत्यमनुरोधयितुं वर्धयितुं चिराय चिरकालं यावत् दत्तमवधानं यया सा, सावधानेति भावः । भूयाद्भवेत् । मत्पतिः श्रीविष्णुः लोकैकसुन्दरीमिमां दमयन्तीं दृष्ट्वा मोहितस्सन्निमां श्रयेदिति शङ्कया तच्चरणयोः संवाहनेन चिरकालं निद्रितमेव तं कर्तुं सावधाना भवत्वित्यर्थः ॥

अन्वयः—इह त्वद्रूपसम्पदवलोकनजातशङ्का कमला पादाब्जयोः कराङ्गुलिलालनेन धवस्य निद्रानुबन्धम् अनुरोधयितुं चिराय कलितावधाना भूयात् ।

हिन्दी—इस (क्षीर सागर) में तेरे (दमयन्ती) के रूप की संपदा को देखने से आशंकित हुई लक्ष्मी चरण-कमलों को हाथ की अंगुलियों से दबाकर पति (विष्णु) की सुख निद्रा के वर्धन में चिरकाल तक सावधान रहेंगी ।

टिप्पणी—दमयन्ती लक्ष्मी से भी अधिक सुन्दरी है । जब शाकद्वीप में क्षीरसागराधिष्ठित विष्णु उसे देखेंगे तो सम्भव है कि लक्ष्मी को छोड़ दमयन्ती

पर अनुरक्त हो उठें। लक्ष्मी को आशंका तो ऐसी होगी ही। सो वे चाहेंगी कि उनके पति सदा निद्राधीन ही रहें कि दमयन्ती पर दृष्टि ही न पड़े। एतदर्थ वे अत्यन्त सावधान रह पति के चरण चाँपती रहेंगी ॥ ४२ ॥

बालातपैः कृतकगैरिकतां कृतां द्विस्तत्रोदयाचलशिलाः परिशीलयन्तु।
त्वद्विभ्रमभ्रमणजश्रमवारिधारिपादाङ्गलीगलितया नखलाक्षयाऽपि ॥४३॥

जीवातु—बालातपैरिति। तत्र शाकद्वीपे, उदयाचलशिलाः बालातपैः तथा तव विभ्रमभ्रमणेन सलीलचङ्क्रमणेन, जात तज्जं, श्रमवारि स्वेदाम्बु-तद्धारिणीभ्यः पादांगुलिभ्यः गलितया स्रुतया, नखलाक्षयाऽपि द्विर्द्विवारं, कृतां द्विगुणीकृतामित्यर्थः, क्रियाभ्यावृत्तिगणने 'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्' इति सुच्, कृतकानि कृत्रिमाणि, यानि गैरिकाणि धातुविशेषाः, तत्तां परिशीलयन्तु अनुभवन्तु, तथाभूताः सन्तु इत्यर्थः, उदयाचलविहार यदि तव रुचिः अस्ति तदा एनं वृणीष्व इति भावः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—तत्र उदयाचलशिलाः बालातपैः त्वद्विभ्रमभ्रमणजश्रमवारिधारि-पादाङ्गुलीगलितया नखलाक्षया अपि द्विः कृतां कृतकगैरिकतां परिशीलयन्तु।

हिन्दी—वहाँ (शाकद्वीप में) उदयगिरि की शिलाएँ प्रभातकालीन गुलाबी धूप और तेरे (दमयन्ती के) सविलास भ्रमण से उत्पन्न पसीने को धारती पैरों की अंगुलियों से निकली नखों की महावर से दो गुनी कृत्रिम गैरिकता (गेरू की लाली) का अनुभव करें।

टिप्पणी—भाव यह कि दमयन्ती को शाकाधिपति का वरण करने से उदयगिरि पर क्रीडा-विहार का अवसर भी प्राप्त होगा ॥ ४३ ॥

नृणां करम्बितमुदामुदयन्मृगाङ्कशङ्कां सृजत्वनघजङ्घि! परिभ्रमन्त्याः।
तत्रोदयाद्रिशिखरे तव दृश्यमास्यं काश्मीरसम्भवसमारचनाभिरामम् ॥४४॥

जीवातु—नृणामिति। हे अनघजङ्घि! सुन्दरजङ्घाशालिनि! वामोरु! इति यावत् 'नासिकोदर—' इत्यादिना विकल्पेन ङीष्-प्रत्ययः, तत्र द्वीपे, उदयाद्रिशिखरे परिभ्रमन्त्याः विहरन्त्याः तवकाश्मीरसम्भवसमारचनेन, कुङ्कु-मानुलेपनेन, अभिरामम् अत एव दृश्यं दर्शनीयम्, 'ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः' इति क्यप्, तवास्यं कर्तृ, करम्बितमुदां सम्मिलितानन्दानां नृणां पुंसां, 'नृ च' इति विकल्पात् दीर्घः, उदयन्मृगाङ्कशङ्काम् उदीयमानचन्द्रसन्देहं, भ्रान्तिं वा, सृजतु करोतु। अलङ्कारोऽपि सन्देहभ्रान्तिमतोरन्यतरोऽस्तु ॥ ४४ ॥

अन्वयः——अनघजङ्घि, तत्र उदयाद्रिशिखरे परिभ्रमन्त्याः तव काश्मीर-सम्भवसमारचनाभिरामं दृश्यम् आस्यं करम्बितमुदां नृणाम् उदयन्मृगाङ्क-शङ्कां सृजतु ।

हिन्दी – हे निर्दोष (सुंदर) जंघाओं वाली, वहाँ उदयाचल के शिखर पर परिभ्रमण करती तेरा (दमयंतीका) काश्मीर में उत्पन्न कुंकुम-लेप से रमणीय और दर्शनीय मुख आनंद से परिपूर्ण पुरुषों के मन में उदित होते मृगलांछन (चंद्र) की भ्रांति उत्पन्न करे ।

टिप्पणी–भाव यह है कि दमयंती का मुख उदयप्राप्त करते चन्द्र के तुल्य है। शंका में संदेह की प्रधानता रहती है, भ्रम में निश्चय की, किंतु यहाँ मल्लिनाथ ने शंका का अर्थ संदेह भी लिया है और भ्रम भी, अतः उन्होंने निर्देश किया है कि यहाँ अलंकार भी कोई हो सकता है—संदेह भी, भ्रान्तिमान् भी। नारायण ने शंका का भाव भ्रम ही माना है ॥ ४४ ॥

एतेन ते विरहपावकमेत्य तावत् कामं स्वनाम कलितान्वयमन्वभावि ।
अङ्गीकरोषि यदि तत्तव नन्दनाद्यैर्लब्धान्वयं स्वमपि नन्वयमातनोतु ॥४५॥

जीवातु——एतेनेति । ननु भैमि ! एतेन हव्याख्येन राज्ञा, ते तव, विरह-पावकम् एत्य वियोगाग्निं प्राप्य; स्वं स्वकीयं, नाम हव्यसंज्ञा, कामं प्रकाम, कलितान्वयं प्राप्तान्वर्थं, सार्थकमिति यावत्, अन्वभावि तावत् अनुभूतमेव, अग्नौ हुतत्वाद्धव्यसंज्ञा सार्थाऽजनीत्यर्थः, अङ्गीकरोषि यदि इत्थम् अनुरक्तं तं नृपं वरत्वेन स्वीकरोषि चेत्, तत् तदा, अयं नृपः, स्वम् आत्मानमपि, तव नन्दनाद्यैः त्वय्युत्पादितपुत्रपौत्रादिभिः, लब्धान्वयं लब्धवंशप्रतिष्ठम्, आतनोतु, धर्मप्रजासम्पत्त्यर्थत्वाद्दारपरिग्रहस्येति भावः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—एतेन ते विरहपावकम् एत्य स्वनाम तावत् कलितान्वयम् अन्व-भावि, यदि अङ्गीकरोषि तत् अयं स्वम्, तव नन्दनाद्यैः लब्धान्वयम्, अपि आतनोतु ननु ।

हिन्दी——इस (शाकद्वीपेश 'हव्य') ने तेरे (दमयंतीके) वियोग पावक (अग्नि) को पाकर अपना (हव्य) नाम तो सार्थक अनुभव कर लिया है, यदि इसे स्वीकारोगी (वरलोगी) तो यह (राजा) अपने को तुम्हारे पुत्र-पौत्रादि द्वारा निश्चयपूर्वक वंशपरंपरा का विस्तार करनेवाला बना लेगा।

टिप्पणी—'हूयते इति हव्यम्'—जिसकी अग्नि में आहुति दी जाय, वह 'हव्य', शाकद्वीपनरेश ने दमयंती के वियोग–पावक में अपनी आहुति देकर इस समय अपना नाम 'हव्य' व्युत्पत्ति की दृष्टि से सार्थक कर लिया है, दमयंती से भगवती कहती हैं कि यदि वह वरण करके इसकी पत्नी बन जायेगी तो उससे उत्पन्न संतान–परंपरा से वह 'लब्धान्वय' भी हो जायेगा—अर्थात्, वंश परंपरा को भी बढ़ा सकेगा। 'अन्वय' शब्द के आधार पर यहाँ 'चारुता' आयी है। अन्वय अर्थात् व्युत्पत्तिप्राप्त अन्वर्थता और अन्वय अर्थात् वंश। 'अन्वयः सम्बन्धो वंशश्च' (नारायणीटीका)। व्याख्याकारों ने 'यदि' के प्रयोग के आधार पर भगवती सरस्वती की 'अरुचि' संकेतित मानी है, क्योंकि इससे प्रस्ताव की सविकल्पता प्रमाणित होती है—'यदीत्यनेन स्वीकारस्य पाक्षिकत्वं द्योतयति।' (प्रकाश व्याख्या) ॥ ४५ ॥

लक्ष्मीलतासमवलम्बभुजद्रुमेऽपि वाग्देवताऽऽयतनमञ्जुमुखाम्बुजेऽपि।
साऽमुत्र दूषणमजीगणदेकमेव नार्थीबभूव मघवा यदमुष्य देवः ॥ ४६ ॥

जीवातु—लक्ष्मीलतेति। लक्ष्मीरेव लता तस्याः समवलम्बः आधारभूतः, भुज एव द्रुमो यस्य तस्मिन्नपि, भुजार्जितसम्पद्यपीत्यर्थः, तथा वाग्देवतायाः सरस्वत्याः, आयतनं स्थानं, मञ्जु मनोज्ञं, मुखाम्बुजं यस्य तस्मिन् अपि, चतुःषष्टिकलाऽभिज्ञेऽपि, लक्ष्मीसरस्वत्योरेकाधिकरणेऽपीति भावः, अमुत्र अमुष्मिन् हव्ये राज्ञि, सा भैमी, एकमेव दूषणम्? अजीगणत् गणयामास, गणेर्णौ चङ् 'ई च गणः' इत्यभ्यासस्येकारः, किं दूषणम् तदाह–अमुष्य हव्यस्य राज्ञः, देवो मघवा महेन्द्रः, यत् अर्थी याचकः, न बभूव; किन्तु नलस्य यद् दूत्यं ययाचे तत् कथं नलात् हीनमेनं स्वीकरिष्यामि इति भावः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—लक्ष्मीलतासमवलम्बभुजद्रुमे अपि वाग्देवताऽऽयतनमञ्जुमुखाम्बुजे अपि अमुत्र सा एकम् एव दूषणम् अजीगणत्, यत् मघवा देवः अमुष्य अर्थी न बभूव।

हिन्दी—लक्ष्मीरूपीलता के, आधारभूत भुजरूप वृक्ष-शाली होने पर भी, वाणी की देवता के आवासभूत मनोहर मुख–कमलवान् होने पर भी इस (शाकद्वीपाधिप) में उस (दमयंती) ने एक ही दोष गिना कि देवदेवेंद्र इसके याचक नहीं हुए।

टिप्पणी—'हव्य' राजा का राज्य श्रीसंपन्न और पर्याप्त समृद्ध था, वह

वीर, सुन्दर और श्रेष्ठ विद्वान् तथा वक्ता भी था—एक प्रकार से सर्वगुणसंपन्न था, किंतु दमयंती ने उसे भी अस्वीकार दिया। उसमें दमयंती को एक बड़ा दोष मिल गया कि 'हव्य' राजा के संमुख देवराज इद्र याचक बनकर नहीं पहुँचे, जब कि इन्द्र ने नल से याचना की थी कि वह देवदूतत्व संपादन करे। इस प्रकार नल के संमुख हव्य गणनीय और वरणीय नहीं है ॥ ४६ ॥

लक्ष्मीविलासवसतेः सुमनःसु मुख्या-
दस्माद् विकृष्य भुवि लब्धगुणप्रसिद्धिम्।
स्थानान्तरं तदनु निन्युरिमां विमान-
वाहाः पुनः सुरभितामिव गन्धवाहाः ॥ ४७ ॥

जीवातु—लक्ष्मीविलासेति। तदनु तत्परिहारानन्तरं, विमानवाहाः भुवि लोके, लब्धा गुणेन सौन्दर्यादिना, अन्यत्र—घ्राणतर्पणेन च, प्रसिद्धिः यया ताम् इमां तां दमयन्तीं, गन्धवाहा वायवः, सुरभितां सौरभसम्पदमिव, लक्ष्म्याः सम्पदः, अन्यत्र—पद्मायाः, विलासवसतेः लीलागृहात्, सुमनःसु विद्वत्सु, अन्यत्र—पुष्पेषु, मुख्यात् अस्मात् नृपात्, पद्माच्च, विकृष्य अपनीय, पुनः स्थानान्तरं राजान्तरम्, अन्यत्र—पुष्पान्तरं निन्युः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—तदनु दिमानवाहाः भुवि लब्धगुणप्रसिद्धिम् इमां गन्धवाहाः सुरभिताम् इव लक्ष्मीविलासवसतेः सुमनःसु मुख्यात् अस्मात् विकृष्य पुनः स्थानान्तरं निन्युः।

हिन्दी—तत्पश्चात् ('हव्य' राजा की अस्वीकृति के अन्तर) शिविकावाही संसार में गुणों, अर्थात् सुंदरतादि के कारण प्रसिद्धि-प्राप्ता इस (दमयंती को) गंधवाही वायु जिसप्रकार 'लब्धगुणप्रसिद्धि' (सुगंध–गुण के लिए ख्यात) सौरभसंपदा को लक्ष्मी के विलास गृह पुष्पों में प्रधान (कमल) से खींच कर अन्य पुष्प में ले जाता है, उसी प्रकार श्रीसंपदा की क्रीडाओं के आवास, विद्वच्छ्रेष्ठ इस ('हव्य') से हटा पुनः दूसरे स्थान पर ले गये।

टिप्पणी—यहाँ विमानवाहकों की समता गंधवाह (वायु) से, दमयंती की सौरभ संपत्ति (सुरभिताम्) से और हव्यराजा की शोभाशाली पुष्पमुख्य कमल से की गयी है। जैसे पवन कमल से गंध खींचकर अन्य फूल में ले जाता है, वैसे ही पालकीवाले 'हव्य' के निकट से हटाकर दमयंती को अन्य स्वयंवरार्थी नरेश के समीप ले गये। श्लिष्टोपमा ॥ ४७ ॥

भूयस्ततो निखिलवाङ्मयदेवता सा हेमोपमेयतनुभासमभाषतैनाम् ।
एनं स्वबाहुबहुवारनिवारितारिं चित्ते कुरुष्व कुरुविन्दसकान्तिदन्ति ! ॥

जीवातु—भूय इति । ततः अनन्तरं, भूयः पुनरपि, निखिलवाङ्मयदेवता सकलवागधिदेवता, सा सरस्वती, हेम्ना उपमेया तनुभाः शरीरकान्तिः यस्याः ताम्, एनां दमयन्तीम्, अभाषत, हे कुरुविन्दसकान्तिदन्ति ! पद्मरागसदृशदशने ! 'नासिकोदर-' इत्यादिना विकल्पादीकारः । 'कुरुविन्दः पद्मरागः' इति विश्वः । सकान्तीत्यत्र समानस्य स–भावश्चिन्त्यः, । स्वाबाहुना बहुवारं निवारितारिं निर्जितशत्रुम्, एनं राजानं, चित्ते कुरुष्व अनुमन्यस्वेत्यर्थः ॥४८॥

अन्वयः—ततः निखिलवाङ्मयदेवता सा भूयः हेमोपमेयतनुभासम् एनाम् अभाषत–कुरुविन्दसकान्तिदन्ति, स्वबाहुबहुवारनिवारितारिम् एनं चित्ते कुरुष्व ।

हिन्दी—तदनन्तर (दमयन्ती के अन्यराजा क्रौंचद्वीपाधिप के संमुख पहुँचने पर) समग्र वेदादि साहित्य की देवता वे (भगवती शारदा) पुनः सुवर्णसम देहाभावाली अथवा हेमा नामक अप्सरा-सदृश शरीर शोभा शालिनी इस (दमयन्ती) से बोलीं—हे पद्मरागमणि तुल्य प्रभावाले दाँतों वाली भीमसुते, अपनी भुजाओं से अनेकवार शत्रुओं का निवारण करने वाले इस (क्रौंचाधिपति) के प्रति मन अनुरक्त करो ।

टिप्पणी—सरस्वती देवी ने संमुखस्थ राजा के संमुख स्वर्णदेहा और पद्मराग सुदन्ती कह कर दमयन्ती के सौंदर्य की सराहना की और दमयन्ती को राजा के वीर भाव का परिचय दिया । बताया कि यह राजा अनेक वार अनेक शत्रुओं को परास्त कर चुका है ॥ ४८ ॥

द्वीपस्य पश्य दयितं द्युतिमन्तमेतं क्रौञ्चस्य चञ्चलदृगञ्चलविभ्रमेण ।
यन्मण्डले स किल पाण्डुलसन्निवेशः पूरश्चकास्ति दधिमण्डमयः पयोधेः ॥४९॥

जीवातु—द्वीपस्येति । द्युतिमन्तं नाम एतं क्रौञ्चस्य द्वीपस्य दयितम् अधिपतिं, चञ्चलस्य दृगञ्चलस्य कटाक्षस्य, विभ्रमेण विलासेन, पश्य, यन्मण्डले यस्य देशे, पयोधेः समुद्रस्य, स प्रसिद्धः, पाण्डुलसन्निवेशः पाण्डुलः पाण्डुवर्णः सन्निवेशः अवस्थानं यस्य तादृशः दधिमण्डमयः दध्नो मण्डं मस्तु 'मण्डं दधिभवं मस्तु' इत्यमरः, तन्मयः पूरः तोयराशिः; चकास्ति किलेत्यैतिह्ये ॥ ४९ ॥

अन्वयः—द्युतिमन्तम् एतं क्रौञ्चस्य द्वीपस्य दयितं चञ्चलदृगञ्चल

विभ्रमेण पश्य, यन्मण्डले पयोधेः सः पाण्डुलसन्निवेशः दधिमण्डमयः पूरः चकास्ति किल।

हिन्दी—कान्तिमान् द्युतिमान् नामक इस क्रौंचद्वीप के प्रिय पति को चंचल कटाक्ष-विलास से देखो, जिसके राज्य में समुद्र का वह पांडुवर्ण अवस्थान-वाला 'दधिमंड'-मय (दधिसागर) प्रवाह सुशोभित है।

टिप्पणी—पुराणों में क्रौंचद्वीप को दधिसमुद्र से वेष्टित कहा गया है—'क्रौञ्चद्वीपः समुद्रेण दधिमण्डोदकेन तु आवृतः सर्वतः।' (ब्रह्म० २०।५७-५८)। वहाँ का राजा द्युतिमान् है—'क्रौञ्चद्वीपे द्युतिमतः पुत्राः सप्त।' (ब्रह्म० २०।४७)। विष्णु पुराण में भी कहा गया है—'क्रौञ्चद्वीपः समुद्रेण दधिमण्डोदकेन च। आवृतः सर्वतः क्रौञ्चद्वीपतुल्येन मानतः॥' प्रकाशकार के अनुसार मिरच, शकर आदि से मिश्र पतला दही मंड कहा जाता है, जिसे 'मस्तु' कहते हैं, कोई दही से बनी वस्तु॥ ४९॥

तत्राद्रिरस्ति भवदङ्घ्रिविहारयाची क्रौञ्चः स्फुरिष्यति गुणानिव यस्त्वदीयान्।
हंसावलीकलकलप्रतिनादवाग्भिः स्कन्देषुवृन्दविवरैर्विवरीतुकामः॥ ५०॥

जीवातु—तत्रेति। तत्र क्रौञ्चद्वीपे, भवत्याः अङ्घ्रिविहारयाची सविलास-भ्रमणकामुकः, क्रौञ्चो नामाद्रिः अस्ति, योऽद्रिः, हंसावलीकलकलानां हंसश्रेणी-विरुतानां, प्रतिनादाः प्रतिध्वनयः एव, वाचो वचनानि येषां तैः, स्कन्दस्य कुमारस्य; इषुवृन्दानां विवरैः तत्कृतच्छिद्रैः, तैरेव मुखैरित्यर्थः, त्वदीयान् गुणान् विवरीतुकामो व्याख्यातुकाम इव, स्फुरिष्यति प्रकाशिष्यते, स्फुरतेः कुटादित्वात् गुणाभावः; पुरा कार्तिकेयेन बाणैः क्रौञ्चपर्वतस्य विवराणि कृतानि इति पुराणम्॥ ५०॥

अन्वयः—तत्र भवदङ्घ्रिविहारयाची क्रौञ्चः अद्रिः अस्ति, यः हंसावलीकलकलप्रतिनादवाग्भिः स्कन्देषुवृन्दविवरैः त्वदीयान् गुणान् विवरीतुकामः इव स्फुरिष्यति।

हिन्दी—वहाँ (क्रौंचद्वीप में) तुम्हारे (दमयन्ती के) चरण-विहार का प्रार्थी क्रौंच नामक पर्वत है, जो हंसों के कलकल रव की प्रतिध्वनिरूप वचनों के द्वारा, स्वामिकार्त्तिकेय की बाणावली से बने छिद्रों के माध्यम से तेरे (दमयन्ती) के गुणों का जैसे वर्णन करना चाहता हो, ऐसा भासित होगा।

टिप्पणी--पुराणों के अनुसार क्रौंचगिरि को सुरसेनानी स्कन्द अपने बाणों से छेद डाला था। उन्हीं छिद्रों के माध्यम से क्रौंचगिरि पर्वतविहारिणी दमयन्ती के गुणों का व्याख्याता होगा--ऐसी संभावना की गयी है। इस प्रकार क्रौंचद्वीपकी विशेषता उद्‌घाटित की गयी ।। ५० ।।

वैदर्भि ! दर्भदलपूजनयाऽपि यस्य गर्भे जनः पुनरुदेति न जातु मातुः ।
तस्यार्चनां रचय तत्र मृगाङ्कमौलेस्तन्मात्रदैवतजनाभिजनः स देशः ।।५१।।

जीवातु—वैदर्भीति । हे वैदर्भि ! यस्य दर्भदलैः कुशपत्रैः, पूजनयाऽपि किमुत कमलदलादिपूजनयेति भावः, जनो-जन्तुः, जातु कदाऽपि, पुनर्मातुर्गर्भे न उदेति न जायते, तत्पूजनस्य मुक्तिरेव फलमित्यर्थः, तत्र पर्वते, तस्य मृगाङ्कमौलेः ईश्वरस्य, अर्चनां रचय पूजां कुरु; तथा हि, स देशः तन्मात्रं स एव, शिव एवैक इत्यर्थः, दैवतं येषां तेषां जनानाम् अभिजायते अस्मिन्निति अभिजनो जन्मभूमिः; इत्यर्थान्तरन्यासः । 'ख्यातः कुलेऽप्यभिजनो जन्मभूम्यां कुलध्वजे' इति विश्वः, तत्रत्याः सर्वे तदेकशरणास्तत्सेवयोत्पन्नतत्त्वज्ञाना-न्मुच्यन्तीति भावः ।। ५१ ।।

अन्वयः—वैदर्भि, यस्य दर्भदलपूजनया अपि जनः जातु पुनः मातुः गर्भे न उदेति, तत्र तस्य मृगाङ्कमौलेः अर्चनां रचय; सः देशः तन्मात्रदैवत-जनाभिजनः ।

हिन्दी—हे विदर्भकुमारी, जिसका कुशपत्रों से भी पूजन करके मनुष्य कभी फिर माँ के गर्भ में उत्पन्न नहीं होता, वहाँ (क्रौंचद्वीप में) उस चंद्रचूड (शिव) की अर्चना करना; वह देश केवल उन (शंकर) देव के ही पूजक जनों का है।

टिप्पणी—पुराणों में कहा गया है कि क्रौंचद्वीप में ध्यानयोगी रुद्ररूप जनार्दन का यज्ञ करते हैं—'भगवान् पुष्कराद्यैर्जनार्दनः । ध्यानयोगै रुद्ररूप इज्यते यज्ञसन्निधौ ।' (ब्रह्म० २०।५६–५७) शंकरार्चन का इतना माहात्म्य क्रौंचद्वीप में है कि कुशमात्र से चंद्रमौलि का पूजन मोक्ष प्राप्त करा देता है ।।

चूडाग्रचुम्बिमिहिरोदयशैलशीलस्तेनाः स्तनन्धयसुधाकरशेखरस्य ।
तस्मिन् सुवर्णरसरूषणरम्यहर्म्यभूभृद्घटा घटय हेमघटावतंसाः ।। ५२ ।।

जीवातु—चूडाग्रेति। तस्मिन् देशे, स्तनं धयतीति स्तनन्धयः, 'नासिकास्तनयोर्ध्माधेटोः' इति खश्—प्रत्यये मुमागमः, स्तनन्धयसुधाकरशेखरस्य बालेन्दुशेखरस्य शम्भोः, हेमघटावतंसाः उपरिस्थापितकनककलसभूषिता इत्यर्थः, अत एव चूडाग्रचुम्बिमिहिरस्य शिखराग्रलग्नसूर्यस्य, उदयशैलस्य उदयाद्रेः, शील स्वभावः, तस्य स्तेनाः चौराः, तत्तुल्या इत्यर्थः, सुवर्णरसरूपणेन हेमद्रवच्छुरणेन, रम्याणि हर्म्याण्येव भूभृतः पर्वताः, तेषां घटाः पंक्तीः, घटय निर्मापय, कनककलसंसक्तानेकसौवर्णप्रासादनिर्माणेन तं भगवन्तमिन्दुशेखरं प्रीणयेत्यर्थः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—तस्मिन् स्तनन्धयसुधाकरशेखरस्य हेमघटावतसाः चूडाग्रचुम्बिमिहिरोदयशैलशीलस्तेनाः सुवर्णरसरूषणरम्यहर्म्यभूभृद्घटाः घटय।

हिन्दी—उस (क्रौंचद्वीप) में दुधमूंहे (नवीन) बाल चंद्र को मस्तक पर धारने वाले शिव पर स्वर्णकलशभूषित, (अतएव) शिखर के अग्रभाग का चुम्बन करते सूर्य से युक्त उदयाचल के स्वरूप के चोर (समान), सुवर्णरस-(सोने का पानी) से अलंकृत रमणीय प्रसाद रूप पर्वत मालाओं की रचना करना।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में बताया गया था कि क्रौंचद्वीप में शंकर की ही अर्चना हुआ करती है। सो यदि दमयन्ती वहाँ जायेगी तो वह भी शिवार्चन का अवसर पायेगी। दमयन्ती को तब उचित होगा कि बालचंद्रमौलि शिव को प्रसन्न करने के लिए ऐसे अनेक सुनहरे कलशों से युक्त स्वर्ण प्रासादों का निर्माण कराये, जो पर्वत-समान ऊँचे हों और जो ऐसे उदयगिरि के सदृश प्रतीत हों, जिसके शिखरों के अग्रभाग पर सूर्य उदित होता दीखता है। ऊँचे स्वर्ण प्रासादों की तुलना उदयगिरि से और उस पर स्थापित स्वर्णघटों की तुलना उन पर्वतशृंगाओं से की गयी है, जिन पर बालसूर्य की आभा पड़ती है। अथवा प्रासादों के शिखरों पर स्थित स्वर्ण कलश ही उदय होते सूर्य के सदृश हैं ॥ ५२ ॥

तस्मिन्मलिम्लुच इव स्मरकेलिजन्मघर्मोदबिन्दुमयमौक्तिकमण्डनं ते।
जालैर्मिलन् दधिमहोदधिपूरलोलकल्लोलचामरमरुत् तरुणि! च्छिनत्तु ॥

जीवतु—तस्मिन्निति। हे तरुणि! हे उद्भूतयौवने! तस्मिन् द्वीपे,

दधिमहोदधेः पूरे प्रवाहे, लोलाः चञ्चलाः कल्लोलाः तरङ्गा एव, चामराणि तेषां मरुत् वायुः, मलिम्लुचः चौर इव, 'चौरैकागारिकस्तेनदस्युतस्करमोषकाः । प्रतिरोधिपरास्कन्दिपाटच्चरमलिम्लुचाः ॥' इत्यमरः, जालैः गवाक्षरन्ध्रैः, मिलन् अन्तश्चरः सन्, स्मरकेल्या जन्म यस्य तादृशं धर्मोदबिन्दुमयं स्वेदोत्करबिन्दुरूपं, 'मन्थौदन--' इत्यादिना उदकस्य विकल्पादुदादेशः, मौक्तिकमण्डनं मुक्ताभरणं, 'स्वार्थे ठक्' 'मौक्तिकमिति विनयादिपाठात्' इति वामनः, छिनत्तु छित्वा हरतु, चौरा हि केनचिच्छिद्रेण प्रविश्य हारादिकं छित्वा आदाय पलायन्ते, अस्मिन् वृते सति दधिसमुद्रवायुना तव रतिश्रमो न भविष्यति इति भावः । अत्र रूपकोपनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ५३ ॥

अन्वयः--तरुणि, तस्मिन् दधिमहोदधिपूरकल्लोलचामरमरुत् मलिम्लुचः इव जालैः मिलन् ते स्मरकेलिजन्मघर्मोदबिन्दुमयमौक्तिकमण्डनं छिनत्तु ।

हिन्दी—हे यौवनवती, उस (द्वीप) में दधिमहासागर के प्रवाह के तरंगरूप चामर का पवन चोर की भाँति खिड़कियों से प्रवेश करता हुआ तेरे (दमयन्ती के) कामक्रीडा से उत्पन्न स्वेद-जल के बिन्दु रूप मुक्ताशृंगार (मोतीहार) का अपहरण करे।

टिप्पणी—भाव यह कि क्रौंचद्वीप में अनन्त लहरियों से युक्त दधिमहासागर है, उसकी लहरियों से स्पर्श पाकर शीतल हुआ पवन चुपचाप (मन्द-श्लथ) गवाक्षों से दमयन्ती के प्रासाद में प्रवेश पायेगा और कामक्रीडा में उत्पन्न पसीने की बूँदों को सुखा दिया करेगा। दधिसागर की लहरियों की समता चँवर से की गयी है, जिससे शीतल-मन्द-पवन उत्पन्न होगा। वह चुपचाप गवाक्षमार्ग से प्रवेश करेगा और उन स्वेद-बिन्दुओं का अपहरण करेगा, जो मुक्ताहार के सदृश सुशोभित हैं, अतएव वह पवन मुक्तामालापहारक चोर-सदृश कहा गया। कामक्रीडा में प्रायः मोतीमाला छिन्न हो सकती है। भाव यह है कि सागर के मन्द-शीतल पवन के कारण दमयन्ती को सुरतश्रम न व्यापेगा। मल्लिनाथ के अनुसार रूपक-उपमा का अंगांगिभाव संकर है ॥ ५३ ॥

एतद्यशो नवनवं खलु हंसवेशं वेशन्तसन्तरणदूरगमक्रमेण ।
अभ्यासमर्जयति सन्तरितुं समुद्रान् गन्तुञ्च निःश्रममितः सकलान् दिगन्तान् ॥

जीवातु---एतदिति । नवनवं प्रत्यहं नूतनप्रकारं, 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विर्भावः, हंसस्येव वेशः सर्वत्र प्रवेशव्यापारः, श्वेतात्मकरूपान्तरं, वा यस्य तत्, एतस्य राज्ञः, यशः वेशन्तसन्तरणं पल्वलतरणं, 'वेशन्तः पल्वलञ्चाल्पसरः' इत्यमरः । दूरगमो दूरगमनं, 'ग्रहवृदनिश्चिगमश्च' इति अप्-प्रत्ययः तयोः क्रमेण रीत्या, हंसस्य रीत्येत्यर्थः, इतोऽस्माद्देशात्, निःश्रमं श्रमरहित–यथा तथा, समुद्रान् सन्तरितुं सकलान् दिगन्तान् गन्तुञ्च अभ्यासम् अर्जयति खलु ? जिज्ञासायां खलुशब्दः, तेन, पुनः पुनरेवम् अभ्यस्यति किम् ? अन्यथा कथमस्य सकललोकलङ्घित्वमित्युत्प्रेक्षा लभ्यते ॥ ५४ ॥

अन्वयः---हंसवेशं नवनवम् एतद्यशः वेशन्तसन्तरणदूरगमक्रमेण इतः निःश्रमं समुद्रान् सन्तरितुं सकलान् दिगन्तान् गन्तुं च अभ्यासम् अर्जयति खलु।

हिन्दी---हंस के समान आकारवाला (शुभ्र), नित्यनवीन इस (क्रौंचाधिप) का यश लघु जलाशय (पल्वल) को तैरकर और अधिक दूर जाने की रीति से इस देश से श्रमरहित समुद्रों को तैर कर पार करने और समग्र दिशाओं में गमन करने के निमित्त अभ्यास कर रहा है क्या ? (अथवा निश्चयः अभ्यास कर रहा है) ।

टिप्पणी---क्रौंचाधिप के यश को कविसंकेत के अनुसार 'हंसवेश' अर्थात् शुभ्र कहा गया । अभी राजा प्रतिदिन यशःप्रदान करने वाले कार्य कर रहा है, जिससे उसका यश अभी नया ही है और दिग्-दिगंत में व्याप्त नहीं है, किंतु धीरे-धीरे ऐसा समय आयेगा, जब दिग्दिगंत में क्रौंचाधिप के यश का विस्तार हो जायेगा । अभी उसका यश उस हंस-बाल के समान है, जो समुद्र-संतरण कर दिग्दिगंत में उड़कर जाने के लिए क्षुद्र जलाशयरूप स्वदेश में तैरने का अभ्यास कर रहा है । आज उसका यश स्वदेशमात्र में ही प्रसिद्ध है, धीरे-धीरे वह सर्वत्र व्याप्त हो जायेगा । 'खलु' शब्द उत्प्रेक्षा वाचक भी है और इसी के आधार पर मल्लिनाथ ने यहाँ सकललोकलाँघने--'सकललोक-लङ्घित्व' को उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है । नारायण ने 'खलु' को निश्चय-वाचक भी माना उत्प्रेक्षावाचक भी । उसने 'अर्जयति' (अर्जन कर रहा है)-

इस वर्तमान प्रयोग के आधार पर अल्पयश की सूचना मानी है और इस प्रकार क्रौंचाधिप के प्रति अनादर का संकेत भी ॥ ५४ ॥

तस्मिन् गुणैरपि भृते गणनादरिद्रैस्तन्वी न सा हृदयबन्धमवाप भूपे ।
दैवे विरुन्धति निबन्धनतां वहन्ति हन्त ! प्रयासपरुषाणि न पौरुषाणि ॥५५॥

जीवातु—तस्मिन्निति । तन्वी कृशाङ्गी, 'वोतो गुणवचनात्' इति विकल्पात् ङीष् सा भैमी, गणनादरिद्रैः सङ्ख्याशून्यैः, असङ्ख्यैरित्यर्थः, गुणैः भृतेऽपि पूर्णेऽपि तस्मिन् भूपे द्युतिमदाख्ये राज्ञि, हृदयस्य बन्धं मनःसङ्गं, नावाप, तथा हि दैवे भागधेये, विरुन्धति प्रतिबध्नति सति, प्रयासेन दुःखबाहुल्येन, परुषाणि दुष्कराणि, पौरुषाणि पुरुषकाराः, युवादित्वादण्-प्रत्ययः निबन्धनतां कार्यहेतुत्वं, न वहन्ति इत्यर्थान्तरन्यासः, हन्तेति खेदे । वागुरापाशकादौ हरिणी यद् बन्धनमाप्नोति तत्र दैवविडम्बना एव हेतुरिति ध्वनिः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—सा तन्वी गणनादरिद्रैः गुणैः भृते अपि तस्मिन् भूपे हृदयबन्धं न अवाप, हन्त, दैवे विरुन्धति प्रयासपरुषाणि पौरुषाणि निबन्धनतां न वहन्ति ।

हिन्दी—वह कृशांगी (दमयन्ती) संख्याशून्य (असंख्य) गुणों से परिपूर्ण भी उस राजा (द्युतिमान्) के प्रति मन का बंधन (चित्तयोग—अभिलाष) न प्राप्त कर पायी, खेद कि भाग्य के विरुद्ध होने पर कठिनश्रम से किये गये पुरुषार्थ (उद्योग) कार्यसाधकता का वहन नहीं कर पाते ।

टिप्पणी—यद्यपि द्युतिमान् राजा में अगणित गुण थे, परंतु, दमयन्ती का मन फिर भी उससे न जुड़ सका । वस्तुतः भाग्य विपरीत हो तो कठिन उद्यम भी सफल नहीं हो पाता । अच्छा जाल लगाये जाने पर भी दैव न चाहे तो हिरन नहीं फँसता, ऐसे ही दमयन्ती का मन-हिरना गुणों के दृढ जाल में नहीं फँसा । पाश में जो हिरनी फँस जाती है, उसमें दैवविडंबना ही हेतु है—मल्लिनाथ के अनुसार यह ध्वनि है । दैवेच्छा ही नहीं थी कि दमयन्ती का मन द्युतिमान् से जुड़े ॥ ५५ ॥

ते निन्यिरे नृपतिमन्यमिमाममुष्मादंसावतंसशिविकांशभृतः पुमांसः ।
रत्नाकरादिव तुषारमयूखलेखां लेखानुजीविपुरुषा गिरिशोत्तमाङ्गम् ॥५६॥

जीवातु—ते इति । ते प्रकृताः, अंसावतंसान् स्कन्धभूषणस्वरूपान्, शिविकायाः अंशान् अवयवान्, बिभ्रति ये ते, पुमांसो यानवाहिपुरुषाः, लेखानुजीविपुरुषाः देवात्मकानुचराः, 'अमरा निर्जरा देवाः·····लेखा अदिति-नन्दनाः' इत्यमरः । रत्नाकरात् रत्नाकरसकाशात्, तुषारमयूखलेखां चन्द्र-कलां, गिरिशोत्तमाङ्गं शिवशिर इव; इमां भैमीम् अमुष्मात् एतद्राजसकाशात् अमुं नृपं विहाय इत्यर्थः, अन्यम् इतरं, नृपतिं निन्यिरे प्रापयामासुः । नित्त्वा-दात्मनेपदम् ।। ५६ ।।

अन्वयः—हे अंसावतंसशिविकांशभृतः पुमांसः लेखानुजीविपुरुषाः रत्ना-करात् तुषारमयूखलेखां गिरिशोत्तमाङ्गम् इव अमुष्मात् इमाम् अन्यं नृपतिं निन्यिरे ।

हिन्दी—वे कंधे पर आभूषण तुल्य पालकी के डंडे को उठाये हुए पुरुष (शिविकावाही) जैसे देव सेवकगण रत्नों के आकर (समुद्र) से शिशिर-किरण चन्द्र की कला को पर्वतशायी (शिव) के उत्तमांग (शिर) के प्रति ले गये थे, वैसे ही (गुणाकर) इस (द्युतिमान् नरेश) से इस (दमयन्ती) को अन्य नरपाल की ओर ले गये ।

टिप्पणी—यहाँ शिविकावाहकों को लेखानुजीविपुरुषों—देवसेवकों—के तुल्य, द्युतिमान् को रत्नाकर के सदृश, दमयन्ती को चन्द्रलेखा समान और अन्य नृपति को शिव-शिर के सम कहा गया है । यह एक दृष्टान्त है—शिविकावाही दमयन्ती को द्युतिमान् के निकट से हटा अन्य राजा के समीप ले गये—ठीक देवसेवकों के सागर से हटा चन्द्र लेखा को शिवमौलि के समीप ले जाने के सदृश ।। ५६ ।।

एकैकमुद्गतगुणं धुतदूषणञ्च हित्वाऽन्यमन्यमुपगम्य परित्यजन्तीम् ।
एतां जगाद जगदर्चितपादपद्मा पद्मामिवाच्युतभुजान्तरविच्युतां सा ।।५७।।

जीवातु—एकैकमिति । जगद्भिः अर्चितपादपद्मा जगद्वन्द्या, सा सरस्वती, उद्गतगुणं गुणाढ्यं, धुतदूषणं निर्दोषञ्च, एकैकम् एकमेकं नृपं, वीप्सायां द्विर्भावः । 'एकं बहुव्रीहिवत्' इति बहुव्रीहिवद्भावात् सुपो लुक् । हित्वा अन्यम् अन्यं नृपतिं, पूर्ववत् द्विर्भावः, उपगम्य परित्यजन्तीं तमपि परि-हरन्तीम्, अच्युतस्य विष्णोः, भुजान्तरात् वक्षःस्थलात्, विच्युतां पद्मां साक्षा-ल्लक्ष्मीमिव स्थिताम्, इत्युत्प्रेक्षा, एतां भैमीं, जगाद ।। ५७ ।।

अन्वयः—जगदर्चितपादपद्मा सा उद्गतगुणं धुतदूषणं च एकैकं हित्वा अन्यम् अन्यम् उपगम्य परित्यजन्तीम् अच्युतभुजान्तरविच्युतां पद्माम् इव एतां जगाद ।

हिन्दी—लोक पूजित चरण कमलों वाली वे (सरस्वती) गुणों के धनी और निर्दोष एक-एक (नृपति) को छोड़कर दूसरे-दूसरे राजा के निकट पहुँच (उसका भी) परित्याग करती, (अतएव) विष्णु के वक्षः-स्थल से च्युत लक्ष्मी सदृश प्रतीत होती इस (दमयन्ती) से बोलीं ।

टिप्पणी – अनेक गुणवान् और निर्दोष राजा सभा में थे, पर दमयन्ती एक-एक को क्रमशः अगणित करती बढ़ती चली । उस समय वह ऐसी लगी जैसे विष्णु के वक्ष से पृथक् लक्ष्मी हो । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा । जैसे लक्ष्मी विष्णु के बिना चंचल, वैसे ही दमयन्ती नल के बिना अस्थिर ।

ईशः कुशेशयसनाभिशये ! कुशेन द्वीपस्य लाञ्छिततनोर्यदि वाञ्छितस्ते ।
ज्योतिष्मता सममनेन वनीघनासु तत् त्वं विनोदय घृतोदतटीषु चेतः ॥५८॥

जीवातु—ईश इति । हे कुशेशयसनाभिशये ! कमलसदृशपाणि ! 'पञ्चशाखः शयः पाणिः' इत्यमरः । कुशेन दर्भस्तम्बेन, लाञ्छिततनोः चिह्नितस्वरूपस्य, द्वीपस्य कुशद्वीपस्य, ईशः स्वामी, ते तव, वाञ्छितः इष्टः, यदि तर्हि, त्वं ज्योतिष्मता ज्योतिष्मन्नामकेन, अनेन कुशद्वीपेश्वरेण, समं सह, वनीभिः घनासु वनसान्द्रासु, घृतम् उदकं यस्य सः घृतोदः घृतसमुद्रः, 'उदकस्योदः संज्ञायाम्' इत्युदादेशः, तस्य तटीषु तीरेषु चेतः चित्तं, विनोदय विनोदं कारय, विपूर्वात् नुदधातोः घञन्तात् विनोदशब्दात् 'तत् करोति—'इति ण्यन्ताल्लोटि सिप् ॥ ५८ ॥

अन्वयः—कुशेशयसनाभिशये, कुशेन लाञ्छिततनोः द्वीपस्य ईशः यदि ते वाञ्छितः तत् त्वं ज्योतिष्मता अनेन समं वनीघनासु घृतोदतटीषु चेतः विनोदय ।

हिन्दी—हे कमल-सदृश हाथ वाली (दमयन्ती), कुश (दर्भ) से चिह्नित शरीरयुक्त (कुशबहुल) द्वीप (कुशद्वीप) का स्वामी यदि तेरा अभीष्ट है, तो तू तेजस्वी इस ('ज्योतिष्मान्' नामक राजा) के साथ सघन वनों से युक्त घृतसागर के तटों पर मनोविनोद करना ।

टिप्पणी—पुराणों के अनुसार कुशद्वीप संज्ञा द्वीप के कुशबहुल होने के

कारण बनी है और घृतसमुद्र से वेष्टित है—'कुशद्वीपे कुशस्तम्बः संज्ञया तस्य तत्स्मृतम् । तत्प्रमाणेन स द्वीपो घृतोदेन समावृतः ॥' (ब्रह्म० २०।४५)। कुशद्वीप का स्वामी राजा 'ज्योतिष्मान्' नामक है—'ज्योतिष्मतः कुशद्वीपे ।' (तदेव-३६)। भाव यह कि कुशद्वीपेश ज्योतिष्मान् के वरण से घृतोदधि के तीर पर वनभ्रमण का सुख प्राप्त होगा। यदि दमयन्ती की वैसी इच्छा है तो ज्योतिष्मान् का वरण उचित है ॥ ५८ ॥

वातोर्मिलोलनचलद्दलमण्डलाग्रभिन्नाभ्रमण्डलगलज्जलजातसेकः ।
स्तम्बः कुशस्य भविताऽम्बरचुम्बिचूडश्चित्राय तत्र तव नेत्रनिपीयमानः ॥

जीवातु—वातेति । तत्र कुशद्वीपे, अम्बरचुम्बिनो गगनतललग्ना, चूडा अग्रं यस्य सः अभ्रङ्कषाग्र इत्यर्थः, अत एव वातस्य वायोः ऊर्मिणा तरङ्गभङ्ग्या, लोलनेन कम्पनेन, चलद्भिः दलैः कुशानां पत्रैरेव, मण्डलाग्रैः खड्गैः कुशपत्ररूपखड्गैरित्यर्थः, 'खड्गे तु निस्त्रिंशचन्द्रहासासिरिष्टयः । कौक्षेयको मण्डलाग्रः करबालः कृपाणवत् ॥' इत्यमरः । अत्र रूपकालङ्कारः, भिन्नात् विदारितात्, अभ्रमण्डलात् मेघमण्डलात्, गलद्भिः स्रवद्भिः, जलैः जातः सेको यस्य सः कुशस्य स्तम्बः दर्भगुल्मः, 'अप्रकाण्डे स्तम्बगुल्मौ' इत्यमरः, नेत्राभ्यां निपीयमानः आदरात् दृश्यमानः सन्, तव चित्राय विस्मयाय, भविता भविष्यति ॥ ५९ ॥

अन्वयः—तत्र अम्बरचुम्बिचूडः वातोर्मिलोलनचलद्दलमण्डलाग्रभिन्नाभ्रमण्डलगलज्जलजातसेकः, नेत्रनिपीयमानः कुशस्य स्तम्बः तव चित्राय भविता ।

हिन्दी—वहाँ (कुशद्वीप में) आकाशचुम्बी नोकों वाले, वायु-तरंगों द्वारा डोलने के कारण चंचल पत्ररूप मंडलाग्रों (खड्गों) द्वारा विदीर्ण मेघमण्डल से टपकते जल-द्वारा सींचा जाने वाला, नेत्रों द्वारा कुतूहल पूर्वक अवलोकित कुश-समूह तेरे (दमयन्ती के) आश्चर्य के निमित्त होगा ।

टिप्पणी—कुशद्वीप में एक ऐसा दृश्य मिलेगा जिसे देख आश्चर्य होता है। वह इतने ऊँचे-ऊँचे कुशों के झाड़ों से घिरा है कि उनकी नुकीली कृपाणतुल्य कोरें बादलों में चुभ जाती हैं और उनसे निरतर टपकता जल कुश-

स्तम्बों को सींचता रहता है। कुश-सिंचन की एक स्वचालित (ऑटोमेटिक) प्रणाली कुशद्वीप में देखने को मिलेगी। मल्लिनाथ के अनुसार 'दलमण्डलाग्र' में रूपकालंकार ॥ ५९ ॥

पाथोधिमन्थसमयोत्थितसिन्धुपुत्रीपत्पङ्कजार्पणपवित्रशिलासु तत्र ।
पत्या सहाऽऽवह विहारमयैर्विलासैरानन्दमिन्दुमुखि ! मन्दरकन्दरासु ॥६०॥

जीवातु—पाथोधीति। हे इन्दुमुखि ! अत्र कुशद्वीपे, पाथोधिमन्थस्य अब्धिमथनस्य, समये उत्थितायाः उद्गतायाः, समुद्रमन्थकाले तज्जलमध्यादुद्भूताया इत्यर्थः, सिन्धुपुत्र्याः लक्ष्म्याः, पत्पङ्कजयोः चरणकमलयोः, 'पदङ्घ्रिः चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः अर्पणेन पवित्राः शिलाः यासु तासु मन्दरकन्दरासु पत्या भर्त्रा सह, विहाररूपैः, विलासैः विनोदैः, आनन्दम् आवह धारय ॥ ६० ॥

अन्वयः—इन्दुमुखि, तत्र पाथोधिमन्थसमयोत्थितसिन्धुपुत्रीपत्पङ्कजार्पणपवित्रशिलासु मन्दरकन्दरासु पत्या सह विहारमयैः विलासैः आनन्दम् आवह।

हिन्दी—हे चन्द्रानने, वहाँ (कुशद्वीप में) समुद्रमंथन-काल में उद्भूत सागरसुता (लक्ष्मी) के चरणकमलार्पण से पवित्र शिलाओं वाली मंदराचल की गुहाओं में पति के साथ विविध क्रीडाओं से परिपूर्ण विलास लीलाओं (कटाक्ष विक्षेपादि) द्वारा आनन्द प्राप्त करना।

टिप्पणी—कुशद्वीप में सात वर्ष-पर्वत हैं, जिनमें सातवाँ मन्दराचल है— 'सप्तमो मन्दराचलः।' (ब्रह्म० २०।४२) मन्दरगिरि की कंदराओं में विहार वहाँ का एक आनन्द-अवसर है। राजा ज्योतिष्मान् के वरण से यह अवसर मिल सकेगा ॥ ६० ॥

आरोहणाय तव सज्ज इवास्ति तत्र सोपानशोभिवपुरश्मबलिच्छटाभिः ।
भोगीन्द्रवेष्टशतघृष्टिकृताभिरब्धि-क्षुब्धाचलः कनककेतकगोत्रगात्रि ! ॥६१॥

जीवातु—आरोहणायेति। कनककेतकं स्वर्णकेतकदलं, गोत्रम् अभिजनो यस्य तत् तादृशं, तस्य गोत्रं सन्ततिर्वा, गात्रं यस्याः तस्याः सम्बुद्धिः; तद्गात्रि ! तत्सदृशगात्रीत्यर्थः, 'अङ्गगात्रकण्ठेभ्यः' इत्यादिना ङीष्, तत्र कुशद्वीपे, भोगीन्द्रस्य वासुकेः वेष्टशतघृष्टिभिः वेष्टनशतानां घर्षणैः कृताभिः अश्मसु शिलासु, बलीनां वेष्टनमार्गाणां, छटाभिः समूहैः हेतुभिः; सोपानैः

शोभते इति तच्छोभि वपुः यस्य सः बलिकृतसोपानपंक्तिः, अब्धेः क्षुब्धाचलः मन्दरादिः 'क्षुब्धस्वान्त---' इत्यादिना निपातनात् साधुः, तवारोहणाय सज्जः सज्जित इव, अस्ति वर्त्तते, इत्युत्प्रेक्षा ॥ ६१ ॥

अन्वयः—कनककेतकगोत्रगात्रि, तत्र भोगीन्द्रवेष्टशतघृष्टिकृताभिः अश्मबलिच्छटाभिः सोपानशोभिवपुः अब्धिक्षुब्धाचलः तव आरोहणाय सज्जः इव अस्ति ।

हिन्दी—हे सुवर्ण केतकी के सदृश देहवाली, वहाँ (कुशद्वीप में) नागराज (वासुकि) की चारों ओर की लिपटान के घर्षण से पत्थरों पर पड़ीं भंगिमाओं (चिह्नों) से सीढ़ियाँ जैसी बन जाने से सुन्दर शरीर वाला सागर-मंथनकारी पर्वत (मन्दरगिरि) तेरे (दमयन्ती के) ऊपर चढ़ने के लिए सुसज्जित-सा उपस्थित है ।

टिप्पणी—समुद्रमंथनार्थ मन्दराचल के चारों ओर वासुकिनाग को मंथनरज्जु के सदृश लपेटा गया था । उसके बार-बार संघर्षण से मन्दराचल में सीढ़ियाँ जैसी बन गयीं । इस सोपानपरम्परा पर विहारशीला दमयन्ती जब चढ़ेगी तो उसके क्रीडाविहार का आकर्षण द्विगुण हो जायेगा । दमयन्ती को अत्यन्त गौरवर्णा होने के कारण 'कनककेतकगोत्रगात्री' विशेषण से संबोधित किया । मन्दराचल 'सज्ज'–जैसे है मल्लिनाथ के अनुसार यह उत्प्रेक्षा है ॥ ६१ ॥

मन्था नगः स भुजगप्रभुवेष्टघृष्टिलेखाचलद्धवलनिर्झरवारिधारः ।
त्वन्नेत्रयोः स्वभरयन्त्रितशीर्षशेषशेषाङ्गवेष्टिततनुभ्रममातनोतु ॥ ६२ ॥

जीवातु—मन्थेति । भुजगप्रभोः वासुकेः, वेष्टैः वेष्टनैः, या घृष्टिलेखाः घर्षणमार्गाः, घर्षणजन्यवलयाकाररेखा इति यावत्, तासु चलन्त्यः प्रवहन्त्यः धवलाः निर्झरवारिधारा यस्य तादृशः सः प्रसिद्धः, मन्था । मन्थनदण्डः, 'वैशाखमन्थमन्थानमन्थानो मन्थदण्डके' इत्यमरः, नगोऽद्रिः, मन्दराद्रिरित्यर्थः, त्वन्नेत्रयोः तव चक्षुषोः, स्वस्य मन्दरस्यैव, भरेण भारेण, यन्त्रितानि कुञ्चितानि, शीर्षाणि यस्य तस्य शेषस्य अनन्तस्य, भूभारं बहतः शेषाहेरित्यर्थः, शेषाङ्गेन अवशिष्टकायेन, वेष्टिता तनुः शरीरं यस्य स इति भ्रमम् आतनोतु भ्रान्तिं जनयतु, सर्पो हि शिरसि क्रामतोऽङ्गं स्वाङ्गेन वेष्टयतीति

प्रसिद्धः, शेषस्य शुभ्राङ्गतया वारिधाराणाञ्च धवलत्वात् लेखासु बलयितत्वाच्च भ्रमः सम्भाव्यते इति भावः। अत्र कविसम्मततादृश्यमूलभ्रान्तिवर्णनात् भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—भुजगप्रभुवेष्टघृष्टिलेखाचलद्धवलनिर्झरवारिधारः सः मन्था नगः त्वन्नेत्रयोः स्वभरयन्त्रितशीर्षशेषशेषाङ्गवेष्टिततनुभ्रमम् आतनोतु।

हिन्दी—भुजंगेश (वासुकि) के वेष्टन (लिपटान) के घर्षण से उत्पन्न रेखाओं में हो बहते जाते स्वच्छ झरनों की जलधार से युक्त वह मंथनगिरि (मन्दराचल) तेरे (दमयन्ती के) नेत्रों में अपने (मंथनगिरि के) भार से संकुचित मस्तकों वाले शेषनाग के शेष शरीर से आवेष्टित देह होने के भ्रम को उत्पन्न करे।

टिप्पणी—मन्दराचल पर वासुकि के वेष्टित रहने से घर्षण के जो गहरे चिह्न बन गये थे, उनमें होकर निर्झरों का निर्मल शुभ्रजल बहता था शुभ्रता के कारण उन वेष्टन-लेखाओं में बहता जल शेषनाग के लिपटे होने का भ्रम उत्पन्न करने वाला होगा। वेष्टनों में बहते जल की शिरोहीन शेषनाग के रूप में उद्भावना की गयी है, क्योंकि वहाँ शिर-सम तो कुछ होगा नहीं, शिरोऽदर्शन का कारण मान लिया गया मन्दरगिरि के भार से उनका सिकुड़ जाना। सर्प का सिर जिससे दब जाता है, शेष भाग से वह उसी वस्तु के चारो ओर लिपट जाता है। मन्दरगिरि से शेषनाग का सिर दबा और स्वभावानुसार वह पर्वत के चारो ओर लिपट गया। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ भ्रांतिमत् अलंकार है, क्योंकि कविसंमततादृश्यमूला भ्रांति—शुभ्रजल में शेष के शुभ्र शरीर के भ्रम—का वर्णन है ॥ ६२ ॥

एतेन ते स्तनयुगेन सुरेभकुम्भौ पाणिद्वयेन दिविषद्द्रुमपल्लवानि।
आस्येन सस्मरतु नीरधिमन्थनोत्थं स्वच्छन्दमिन्दुमपि सुन्दरि ! मन्दराद्रिः ॥

जीवातु—एतेनेति। हे सुन्दरि ! स मन्दराद्रिः, एतेनेति पुरोवर्त्तिनिर्देशः, अस्य च तृतीयान्तपदत्रयेण सम्बन्धः, ते तव स्तनयुगेन सुरेभस्य ऐरावतस्य, कुम्भौ, पाणिद्वयेम दिविषद्द्रुमस्य कल्पवृक्षस्य, पल्लवानि, आस्येन इन्दुमपि, एवं नीरधिमन्थोत्थं समुद्रमन्थनोद्भूतं, समुद्रमन्थनोत्थानि सर्वाण्येतानि

वस्तूनि इत्यर्थः 'नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्' इति नपुंसकत्वं वैकल्पिकमेकत्वञ्च स्वच्छन्दं निरवग्रहं यथेष्टमित्यर्थः, 'स्वच्छन्दो निरवग्रहः' इत्यमरः, स्मरतु। अत्र कविसम्मतसादृश्यमूलस्मृतिनिबन्धनात् स्मरणालङ्कारः ॥

अन्वयः—सुन्दरि, सः मन्दराद्रिः एतेन ते स्तनयुगेन सुरेभकुम्भौ, पाणिद्वयेन दिविषद्द्रुमपल्लवानि, आस्येन नीरधिमन्थनोत्थं स्वच्छम् इन्दुम् अपि सस्मरतु।

हिन्दी—हे सुन्दरि, वह मन्दराचल इस तेरे (दमयन्ती के) स्तनयुग्म से देवराज इन्द्र के हाथी (ऐरावत) के गण्डस्थल युगल, करयुगल से सुरतरु (कल्पवृक्ष) के कोमल पत्रों और मुख से जलधि-मंथन से उद्भूत स्वच्छ चन्द्र का भी स्मरण करेगा।

टिप्पणी-भाव यह है कि सुन्दरी दमयन्ती का कुचयुगल ऐरावत के कुम्भों के, दोनों हाथ कल्पवृक्ष के पल्लवों के और मुख निर्मल, नवीन चन्द्र के तुल्य है। मल्लिनाथ के अनुसार स्मरणालंकार क्योंकि कविसंमत सादृश्यमूलक स्मृति का निबंध हुआ है ॥ ६३ ॥

वेदैर्वचोभिरखिलैः कृतकीर्त्तिरत्ने हेतुं विनैव धृतनित्यपरार्थयत्ने।
मीमांसयेव भगवत्यमृतांशुमौलौ तस्मिन् महीभुजि तयाऽनुमतिर्न भेजे ॥६४॥

जीवातु—वेदैरिति। अखिलैः समस्तैः अन्यत्र-अखिलः अविच्छिन्नसम्प्रदायैः वेदैः वेदतुल्यैः, वचोभिः सत्पुरुषवाक्यैः, अन्यत्र—'यतो वा' इति वेदवाक्यैः, कृतं प्रकाशितम्, अन्यत्र,—प्रतिपादितं, कीर्त्तिरत्नम् अमूल्यरत्नरूपं यशः, अन्यत्र—स्तुतिरूपरत्नं यस्य तस्मिन्, हेतुं विनैव स्वोपकारमनपेक्ष्यैव, धृतः नित्यं सदा, परार्थयत्नः स्वयमवाप्तसकलकामत्वेन परार्थैकप्रवृत्तिः येन तादृशे, तस्मिन् ज्योतिषमन्नाम्नि, महीभुजि तया भैम्या, भगवति अमृतांशुमौलौ ईश्वरे मीमांसया पूर्वमीमांसयेव, अनुमतिः अङ्गीकारः, न भेजे न प्राप्ता, भजेः कर्मणि लिट्, वेदापौरुषेयवादिनी मीमांसा भगवन्तमीश्वरं न सहते। ईश्वरबोधकवेदवाक्यानाञ्च नेश्वरप्रामाण्यतात्पर्यकत्वं, परन्तु अन्यवाक्यैकवाक्यतया अन्यत्र तात्पर्यकत्वं, 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इत्याशयः। पूर्णोपमा ॥ ६४ ॥

अन्वयः—अखिलैः वेदैः वचोभिः कृतकीर्त्तिरत्ने हेतुं विना एव धृतनित्य-परार्थयत्ने तस्मिन् महीभुजि भगवति अमृतांशुमौलौ मीमांसया इव तया अनुमतिः न भेजे।

हिन्दी—जिस प्रकार पूर्वमीमांसा वेदचतुष्टयीद्वारा जिसके यशरूप रत्न का वर्णन किया गया है, ऐसे बिना कारण ही सदा परमकारुणिक भगवान् सुधाकरमौलि (चन्द्रशेखर शंकर) को नहीं स्वीकारती, उसी प्रकार उस (दमयन्ती) ने समस्त वेद वचन कहने वाले (सत्यवादी) व्यक्तियों द्वारा जिसमें अमूल्यरत्नरूप यश का वर्णन किया जाता है, ऐसे, अपने पर किये गये उपकार की अपेक्षा किये बिना ही सदा परोपकार में यत्नवान् इस पृथ्वीपति (ज्योतिष्मान्) को अंगीकृत नहीं पाना।

टिप्पणी—पूर्वमीमांसा यद्यपि वेदों को ईश्वर की रचना मानती है, ऐसा नमस्कार भी प्रतिपादित है—'विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे। श्रेयः-प्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्द्धधारिणे॥' (दुर्गासप्तशती, कीलक—१), तथापि वह सामान्यभाव से अन्यदेवों अथवा परम्परावर्णित चन्द्रमौलि शिव को मान्यता नहीं देती। यहाँ दमयन्ती की तुलना पूर्वमीमांसा और राजा ज्योतिष्मान् की तुलना 'अमृतांशुमौलि' भगवान् शिव से की गयी है। मल्लिनाथ के अनुसार पूर्णोपमा॥ ६४॥

तस्मादिमां नरपतेरपनीय तन्वीं राजन्यमन्यमथ जन्यजनः स निन्ये।
स्त्रीभावधावितपदामभिमृश्य याच्ञामर्थी निवर्त्यविधनादिव वित्तवित्तम्॥

जीवातु—तस्मादिति। अथ अनन्तरं, जन्यजनः वाहकलोकः, स्त्रीभावेन स्त्रीलीलया 'भावो लीलाक्रियाचेष्टाभूत्यभिप्रायजन्तुषु' इति वैजयन्ती, धावितपदां चालितचरणां, स्त्रीजनोचितचरणचेष्टयैव अन्यतो गमनमनुजानतीमित्यर्थः, अन्यत्र—स्त्रीभावे स्त्रीलिङ्गे, धावितं, पदं याच्ञेति पदं यस्याः तां, 'यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षो नङ्' इति नङ्-प्रत्ययस्य यजादिभ्यः पुंसि प्रयोगे याचेरेव स्त्रीलिङ्गप्रयोगादिति भावः, तन्वीं कृशाङ्गीम्, इमां भैमीं तस्मात् नरपतेः अपनीय अर्थी याचकः, अभिमृश्य विमृश्य, याच्ञाम् उक्तरूपां याच्ञावृत्तिं, विधनात् निर्धनात् पुंसः, निवर्त्य वित्तेन धनेन, वित्तः प्रतीतः, विख्यात इति यावत्, 'वित्तो भोगप्रत्ययोः' इति विदेर्लाभार्था-

न्निष्ठानत्वाभावान्निपातनात् भोग्ये प्रतीते चार्थे उभयं साधु, भुज्यते इति भोगो धनादि प्रतीयते इति प्रत्ययः ख्याति इति कर्मसाधनावेत्तो। तथाऽऽहुः—'वेत्तेस्तु विदितो निष्ठा विद्यतेर्विन्न इष्यते। विन्तेर्विन्नश्च वित्तश्च भोगे वित्तश्च विन्दते ॥' इति तं वित्तवित्तं धनाढ्यमिव, अन्यं राजन्यं राज्ञोऽपत्यं, राजानमित्यर्थः, 'राजश्वशुराद् यत्'। राज्ञोऽपत्ये जातिग्रहणम्' इति वचनात् राजन्यः क्षत्रियः। निन्ये। श्लेषोपमयोः संसृष्टिः ॥ ६५ ॥

अन्वयः—अथ सः जन्यजनः स्त्रीभावधावितपदाम् इमां तन्वीं तस्मात् नरपतेः अपनीय अर्थी अभिमृश्य याच्ञां विधनात् निवर्त्य वित्तवित्तम् इव अन्यं राजन्यं निन्ये।

हिन्दी—तत्पश्चात् वे शिविकावाहक नारिजनोचित भाव से चरण-संचरण करती (चरण संकेत करती) इस कृशांगी (दमयन्ती) को उस राजा (कुशद्वीपेश) के निकट से हटाकर—जैसे याचक व्यक्ति विमर्श करके अपनी याचना को धनहीन से हटाकर धनवाले के पास ले जाता है, वैसे ही दूसरे क्षत्रिय राजा के निकट ले गये।

टिप्पणी—यहाँ 'जन्यजन' की समता अर्थी से, दमयन्ती की याच्ञा से, ज्योष्मिान् की 'विधन' से और अन्यराजन्य की 'वित्तवित्त' से की गयी है। याचक धनहीन के संमुख अपनी याचना नहीं रखता, सधन के संमुख रखता है, ऐसा ही कुशद्वीपराज के समीप से दमयन्ती को अन्य राजन्य के निकट ले जाते 'जन्यजन' ने किया। स्त्रियों स्वभावतः इतस्ततः चरण-संचार करती रहती है, याच्ञा भी स्त्रीलिंग है, अतः स्त्रीस्वभावा है। इसके अतिरिक्त पाणिनिसूत्र 'यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्' (अष्टा० ३।३।९०) द्वारा 'नङ्' प्रत्यय होकर जो शब्द व्युत्पन्न होते हैं—यज्ञः, यत्नः, विश्नः, प्रश्नः, रक्ष्णः, उनमें (याच् + न् = ञ् + टाप् = याच्ञा) 'याच्ञा' ही स्त्रीलिंग है; अतः दमयंती और याच्ञा की तुलना की गयी। 'स्त्रीस्वभावेन स्त्रीलिङ्गतया धावितं पदं रूपं तस्यास्ताम्' अर्थात् स्त्रीलिंग होने से जिसका रूप निष्पन्न हुआ, ऐसी 'याच्ञा' स्त्रीस्वभाव से चरण-संकेत करती दमयन्ती की समता में हैं। मल्लिनाथ के अनुसार श्लेष और उपमा की संसृष्टि ॥ ६५ ॥

देवी पवित्रितचतुर्भुजवामभागा वागालपत् पुनरिमां गरिमाभिरामाम् ।
अस्यारिनिष्कृपकृपाणसनाथपाणेः पाणिग्रहादनुगृहाण गणं गुणानाम् ॥६६॥

जीवातु—देवीति । पवित्रितः चतुर्भुजस्य विष्णोः वाममागो यया सा, लक्ष्मीसरस्वत्यौ देवस्य दक्षिणवामपार्श्ववर्त्तिन्यावित्यागमः । वाक् देवी सरस्वती, गरिम्णा गुणगौरवेण, अन्यत्र—अर्थगौरवेण, अभिरामां गिरम् आलपत् उवाच । किमिति ? हे वत्से ! अरिषु निष्कृपः यः कृपाणाः खड्गः, तेन सनाथः सहितः, पाणिः यस्य तादृशस्य, अस्य राज्ञः, गुणानां गणं पाणिग्रहात् अनु विवाहानन्तरं, गृहाण जानीहि, तदा ज्ञास्यसि महिमानमस्येत्यर्थः; यद्वा-पाणिग्रहात् पाणिग्रहणं कृत्वा, अमुं नृपं वरीत्वा इत्यर्थः, अनुगृहाण समाद्रियस्व, गुणेषु आदरं प्रदर्शयेत्यर्थः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—पवित्रितचतुर्भुजवामभागा वाक्देवी इमां गरिमाभिरामां पुनः गिरम् आलपत्—अरिनिष्कृपकृपाणसनाथपाणेः अस्य गुणानां गणं पाणिग्रहात् अनुगृहाण ।

हिन्दी—चार भुजाओं वाले (विष्णु) के बायें भाग को पवित्र करने वाली वाणी देवी (वाक् देवता सरस्वती) (कुलशील सौन्दर्यादि अथवा सरस्वती की समीपवर्त्तिनी होने के) गुणों से मनोहारिणी इस (दमयन्ती) से फिर ये वचन बोलीं—शत्रुओं पर निर्दय खड्ग से जिसका हाथ युक्त है, ऐसे इसके गुणों को (इसका) पाणिग्रहण करके कृतार्थ करो ।

टिप्पणी—कुशद्वीपाधिप से हटाकर पालकी-वाही दमयन्ती को शाल्मलद्वीपेश के समीप ले गये थे । वह रिपुसंहारक था और कुलशील-रूप आदि गुणों से युक्त भी । दमयन्ती भी सर्वगुणसंपन्ना थी । समानगुणशालियों का संयोग उचित रहता है—'योग्यं योग्येन योजयेत् ।' गुणी का संयोग यदि गुणी से न हो तो गुण तो व्यर्थ हो ही जाते हैं । दमयन्ती और शाल्मलराज—दोनों के गुण एक दूसरे को प्राप्त न होने से व्यर्थ हो जायेंगे । इस दृष्टि से दमयन्ती द्वारा शाल्मलद्वीपाधिप का वरण उचित ही होगा । इससे दोनों के गुण अनुगृहीत होंगे । श्रीहर्ष के सम्बन्ध में प्रचलित कथा में यह बताया गया है कि इस श्लोक में उल्लिखित सरस्वती के विष्णुपत्नीभाव पर कवि से देवी क्रुद्ध हो गयी थीं और उसकी कृति 'नैषधीयचरित' को हाथ से फेंक दिया था कि

इस कथन से वाग्देवी के लोक प्रसिद्ध कन्याभाव पर कलंक लग गया। परन्तु पुराणों में यह बताया गया है कि एक अवतार में सरस्वती ने नारायण को पतिरूप में स्वीकारा था। लक्ष्मी विष्णु के दक्षिण पार्श्व में और सरस्वती वामपार्श्व में स्थित है—ऐसा कहा जाता है ॥ ६६ ॥

द्वीपस्य शाल्मल इति प्रथितस्य नाथः
पाथोधिना वलयितस्य सुराम्बुनाऽयम् ।
अस्मिन् वपुष्मति न विस्मयसे गुणाब्धौ
रक्ता तिलप्रसवनासिकि ! नासि किं वा ? ॥ ६७ ॥

जीवातु—द्वीपस्येति। हे तिलप्रसवनासिकि ! तिलकुसुमसमाननासिके ! 'नासिकोदरौष्ठ—' इत्यादिना विकल्पात्, ङीष्, अयं राजा, सुरा मद्यमेव, अम्बु यस्य तादृशेन, पाथोधिना समुद्रेण, सुरासमुद्रेणेत्यर्थः, वलयितस्य सञ्जातवलयस्य, वेष्टितस्येत्यर्थः शाल्मल इति प्रथितस्य द्वीपस्य नाथः स्वामी; गुणाब्धौ अस्मिन् वपुष्मति वपुष्मदाख्ये, अथ च प्रशस्तशरीरशालिनि राज्ञि, किं न विस्मयसे ? अस्य गुणेषु किम् आश्चर्यान्विता न भवसि ? रक्ता वा अनुरक्ता च, किं नासि ? उभयमप्युचितमिवेत्यर्थः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—सुराम्बुना पाथोधिना वलयितस्य 'शाल्मलः' इति प्रथितस्य द्वीपस्य अयं नाथः; तिलकप्रसवनासिकि, गुणाब्धौ वपुष्मति अस्मिन् न विस्मयसे ? वा किं रक्ता न असि ?

हिन्दी—मदिरा-जल से पूर्ण समुद्र से वेष्टित शाल्मल-नाम से विख्यात द्वीप का यह स्वामी है। तिलकुसुम-सदृश नासिकाधारिणि (दमयन्ती), गुणों के समुद्र, सुदेहशाली 'वपुष्मान्'-नामक इस (द्वीपाधिप) के प्रति (तुझे) विस्मय नहीं होता ? अथवा क्या (इसके प्रति) अनुरक्त नहीं है ?

टिप्पणी—शाल्मलि (सेमर) का वृक्ष होने से द्वीप का नाम 'शाल्मल' पड़ा, शाल्मलि वृक्ष यहाँ चारों ओर फैला हुआ है। यह सुरासागर से घिरा है—'शाल्मलिश्च महावृक्षो नाम निवृत्तिकारकः। एष द्वीपः समुद्रेण सुरोदेन समावृतः। विस्ताराच्छाल्मलेश्चैव समेन तु समन्ततः ॥' (ब्रह्मा० २०।३३–३४)। शाल्मलद्वीप के वीर राजा का नाम वपुष्मान् था—'शाल्मलस्येश्वरो वीरो वपुष्मान्।' ब्रह्म—२०।२२)। वह इतना सुन्दर है कि उसका रूप देख

कर लोग चकित हो जाते हैं। वह वीर भी। इस दृष्टि से दमयन्ती द्वारा वरणीय है, किंतु सुरा-समुद्र होना दोष है—इससे संकेत होता है कि शाल्मलेश कदाचित् मद्यप हो। यह रूप और वीरता के कारण रागयोग्य है, पर उक्त दोष के कारण रागयोग्य नहीं भी हो सकता ॥ ६७ ॥

विप्रे धयत्युदधिमेकतमं त्रसत्सु यस्तेषु पञ्चसु बिभाय न शीधुसिन्धुः।
तस्मिन्ननेन च निजालिजनेन च त्वं सार्द्धं विधेहि मधुरा मधुपानकेलीः ॥

जीवातु—विप्रे इति। शेरते अनेनेति शीधुः आसवः, 'मैरेयमासवः शीधुः' इत्यमरः। शीङो धुक्—प्रत्यय औणादिकः यः शीधुसिन्धुः आसव-समुद्रः, धयति पिबति सति, लटः शतृ-प्रत्ययः, तेषु पञ्चसु दधिमण्डादिसमुद्रेषु, त्रसत्सु अयमस्मानपि पास्यतीति मत्वा बिभ्यत्सु सत्सु, न बिभाय स्वयं न भीतः, 'ब्राह्मणो न सुरां पिबेत्' इति निषेधादिति भावः, तस्मिन् सुराब्धौ, अनेन राज्ञा च निजेन आलिजनेन च सार्द्धं मधुराः मनोहराः, मधुपानकेलीः मद्यपानक्रीडाः, विधेहि कुरु ॥ ६८ ॥

अन्वयः—यः शीधसिन्धुः विप्रे एकतमम् उदधिं धयति तेषु पञ्चसु त्रसत्सु न बिभाय, तस्मिन् अनेन च निजालिजनेन च सार्द्धं त्वं मधुराः मधुपानकेलीः विधेहि।

हिन्दी—जो सुरासागर ब्राह्मण (अगस्त्यमुनि) के सात समुद्रों में से एक समुद्र (लवणसागर) का पान करने पर उन पाँच (क्षीर, दधि, घृत, इक्षुरस, मधुरस) सागरों के डर जाने पर भी न डरा, उस (सुरासागर) में इस (राजा वपुष्मान्) और अपने सखिसमूह के साथ तू (दमयन्ती) इस भरी मधुपान क्रीडाएँ करना।

टिप्पणी—यदि मधुपान-विहार अच्छा लगता हो तो शाल्मलद्वीप इसके लिए अत्यन्त उपयुक्त होगा। अगस्त्यमुनि ने जब लवणसागर पी डाला, तब शेष छः समुद्रों में से पाँच को डर लगा कि महामुनि अब हमें भी पी डालेंगे; किंतु सुरासागर निर्भय रहा कि ब्राह्मण होने से अगस्त्य मुनि उसे तो पियेंगे नहीं—ब्राह्मण को सुरापान निषेध है। हिन्दी के आचार्य कवि केशव का इस विषय में एक प्रसिद्ध दोहा है—'जहाँ वारुणी की करी रंचक रुचि द्विजराज। नहीं कियो भगवन्त विन संपतिशोभासाज।' (रामचन्द्रिका—

५।१४)। इस कारण सुरासागर के अक्षय रहने को वहाँ छककर मधुपान सुलभ होगा ॥ ६८ ॥

द्रोणः स तत्र वितरिष्यति भाग्यलभ्यसौभाग्यकार्मणमयीमुपदां गिरिस्ते।
तद्द्वीपदीप इव दीप्तिभिरोषधीनां चूडामिलज्जलदकज्जलदर्शनीयः ॥६९॥

जीवातु—द्रोण इति। तत्र शाल्मलिद्वीपे ओषधीनां तृणज्योतिषां, दीप्तिभिः तस्य द्वीपस्य दीप इव, स्थितः इति शेषः, अत एव चूडायां शिखरे, मिलद्भिः सङ्गच्छमानैः, जलदैरेव कज्जलैः दर्शनीयः दृष्टिप्रियः, स प्रसिद्धः, द्रोणो द्रोणाख्यः गिरिः, ते तव, भाग्यैरेव लभ्यं सौभाग्यं, तस्य कार्मणं मूलकर्म, ओषधीनां मूलैः साध्यं वशीकरणादिरूपं कर्म, 'मूलकर्म तु कार्मणम्' इत्यमरः। तद्युक्तात् कर्मणोऽण् इति स्वार्थेऽण्-प्रत्ययः, तन्मयीं तद्रूपाम्, उपदाम् उपायनम्, 'उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' इत्यमरः। वितरिष्यति दास्यति; उपलक्षणमेतत्, सञ्जीवन्याद्यनेकदिव्यौषधिलाभस्ते भविष्यतीति भावः। अत्र कार्मणमयीमुपदामिति परिणामालङ्कारः, आरोप्यमाणो यदीयस्तद्विषयकार्मणाकारपरिणामेन प्रकृतप्रभुचित्तावर्जनोपयोगित्वात् आरोप्यमाणमारोपविषयात्मत्वेन स्थितम्; 'प्रकृतस्योपयोगित्वे परिणामउदाहृतः' इति लक्षणात्, अस्य च दीप इवेत्युत्प्रेक्षया संसृष्टिः, तस्यास्तु जलदकज्जलेति रूपकेण सङ्करः ॥ ६९ ॥

अन्वयः—तत्र ओषधीनां दीप्तिभिः तद्द्वीपदीपः इव चूडामिलज्जलदकज्जलदर्शनीयः सः द्रोणः गिरिः ते भाग्यलभ्यसौभाग्यकार्मणमयीम् उपदां वितरिष्यति।

हिन्दी—वहाँ (शाल्मलद्वीप में) वनस्पतियों (संजीवनी ओषधि आदि) के प्रकाश से उस द्वीप के दीपक के सदृश, (अतएव) शिखरों पर घिरे बादल रूप काजल के लगने से देखने योग्य वह द्रोण नामक पर्वत तुझे भाग्य (पुण्य विशेष) से प्राप्य सौभाग्य (पतिप्रेम) से संबद्ध कार्मण-(जड़ियों द्वारा वशीकरण)-रूप उपाय को प्रचुरतया देगा।

टिप्पणी—शाल्मलद्वीप में रहने का एक लाभ यह भी है कि पति सौभाग्य सदा भरपूर मिलता रहेगा, क्योंकि उस द्वीप में द्रोणपर्वत भी है, जो अनेक

प्रकार की संजीविनी आदि ओषधियों से युक्त है—'द्रोणो यत्र महौषध्यः स चतुर्थो महीधरः।' (ब्रह्मा०—२०।२६)। वहाँ प्रचुरतया वशीकरण बूटी भी प्राप्त रहेगी, जिससे पति-वशीकरण हो सकेगा। वह द्रोणाचल बड़ा मनोहारी भी है। ओषधियों के प्रकाश से वह ऐसा लगता है कि उस द्वीप का दीपक हो, जिसकी चोटियों पर घिरे बादल दीपक से निकले काजल-से लगते हैं। मल्लिनाथ के अनुसार 'कार्मणमयी-उपदा' में परिणाम अलंकार है और 'दीप इव स्थितः' में उत्प्रेक्षा है, अतः परिणाम और उत्प्रेक्षा की संसृष्टि है, जिसका 'जलदकज्जल'—रूपक से संकर है। 'काजल' का वशीकरण के निमित्त प्रयोग किया जाता है॥ ६९॥

तद्द्वीपलक्ष्मपृथुशाल्मलितूलजालैः क्षोणीतले मृदुनि मारुतचारुकीर्णैः।
लीलाविहारसमये चरणार्पणानि योग्यानि ते सरससारसकोषमृद्वि !॥

जीवातु—तद्द्वीपेति। सरसम् अभिनवं तत् सारसं पद्मं, तस्य कोषः मुकुलं, तद्वत् मृद्वी कोमला, तत्सम्बुद्धौ हे सरससारसकोषमृद्वि ! अभिनवकमलकोरककोमले ! मारुतेन चारु यथा तथा कीर्णैः, तद्द्वीपस्य लक्ष्म चिह्नं, पृथुः महान्, यः शाल्मलिः तदाख्यया प्रसिद्धवृक्षविशेषः, 'स्थिरायुः शाल्मलिर्द्वयोः' इत्यमरः। तस्य तूलजालैः तूलसमूहैः, मृदुनि कोमले, क्षोणीतले ते तव, लीलाविहारसमये क्रीडासञ्चरणकाले, चरणार्पणानि पादविन्यासाः, योग्यानि अनुरूपाणि, भविष्यन्तीति शेषः, अतिकोमलायास्ते अतिकोमलस्थले एव गमनं युक्तं, तच्चातिश्लाघ्यमिति भावः। अत्रानुरूपयोगोक्तेः समालङ्कारः, 'सा समालङ्कृतिर्योगे वस्तुनोरनुरूपयोः' इति लक्षणात् ॥ ७० ॥

अन्वयः—सरससारसकोषमृद्वि, मारुतचारुकीर्णैः तद्द्वीपलक्ष्मपृथुशाल्मलितूलजालैः मृदुनि क्षोणीतले लीलाविहारसमये ते चरणार्पणानि योग्यानि (भवन्तु)।

हिन्दी—हे नूतन-कमल-कोष-समान सुकुमारी दमयन्ति, वायु से सुन्दरतापूर्वक फैलायी गयी, उस द्वीप के चिह्न शाल्मलि की कपास से कोमल भूतल पर विलासगमनकाल में तेरे चरण-विन्यास अनुकूल होंगे।

टिप्पणी—सेमल का पेड़ होने से वायुद्वारा उसकी कपास उड़ायी जाकर

भूतल पर बिछ जायेगी। यह सुन्दर तो प्रतीत होगी ही, इससे भूतल कोमल भी हो जायेगा। दमयन्ती ही सुकुमारांगी है, विहारार्थं जाते समय सेमल-कपास-बिछे फर्श पर पड़ते उसके कोमल चरणों को बड़ा सुख और सुविधा प्राप्त होगी। कोमल को कोमल भूतल पर चलना ही उपयुक्त होता है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अनुरूपयोग-वर्णन के कारण समालंकार है॥ ७० ॥

एतद्गुणश्रवणकालविजृम्भमाणतल्लोचनाञ्चलनिकोचनसूचितस्य ।
भावस्य चक्रुरुचितं शिविकाभृतस्ते तामेकतः क्षितिपतेरपरं नयन्तः ॥७१॥

जीवातु—एतदिति। तां भैमीम्, एकतः, एकस्मात्, क्षितिपतेः अपरं क्षितिपतिं, नयन्तस्ते शिविकाभृतो जन्याः, एतस्य राज्ञः, गुणश्रवणकाले विजृम्भमाणायाः तस्याः दमयन्त्याः, लोचनाञ्चलस्य नेत्रप्रान्तस्य, निकोचनेन सङ्कोचनेन, सूचितस्य ज्ञापितस्य, भावस्य अभिप्रायस्य, उचितम् अर्हं कृत्यं, चक्रुः, अपरागज्ञानानन्तरमपसरणमेव उचितमिति भावः ॥ ७१ ॥

अन्वयः—ताम् एकतः क्षितिपतेः अपरं नयन्तः ते शिविकाभृतः एतद्गुण-श्रवणकालविजृम्भमाणतल्लोचनाञ्चलनिकोचनसूचितस्य भावस्य उचितं चक्रुः।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) को एक भूपाल से दूसरे के प्रति ले जाते उन पालकी ढोने वालों ने इस (शाल्मलराज) के गुणों को सुनते समय उस (दमयन्ती) के बढ़ते नयन-प्रांत के मूँदने से सूचित अभिप्राय के अनुरूप कार्य किया।

टिप्पणी—शाल्मलद्वीपाधिप के गुणों को सुनते-सुनते दमयन्ती ने अपने नयन मूंद कर घिरा लिये। इससे अनेक वार एक राजा को छोड़ अन्य के समीप ले जाते पालकीवाले जान गये कि उनकी राजकुमारी को राजा वपुष्मान् में रुचि नहीं है। वे दमयन्ती का तात्पर्य समझकर पालकी हटा ले चले ॥ ७१ ॥

तां भारती पुनरभाषत नन्वमुष्मिन् काश्मीरपङ्कनिभलग्नजनानुरागे।
श्रीखण्डलेपमयदिग्जयकीर्त्तिराजिराजद्भुजे भज महीभुजि भैमि! भावम् ॥

जीवातु—तामिति। भारती तां भैमीं, पुनरभाषत। किमिति ? ननु भैमि ! काश्मीरपङ्कनिभेन कुङ्कुमानुलेपनमिषेणेत्यपह्नवः, लग्नो जनानुरागो यस्मिन् तस्मिन्, श्रीखण्डलेपः चन्दनलेपनं, तन्मयीभिः दिग्जयकीर्त्तीनां

राजिभिः राजन्तौ शोभमानौ, भुजौ यस्य तस्मिन्, अमुष्मिन् महीभुजि राज्ञि, भावम् अनुरागं, भज । अत्र श्रीखण्डलेपे कीर्त्तित्वोत्प्रेक्षा गम्या ।। ७२ ।।

अन्वयः—भारती तां पुनः अभाषत—ननु भैमि, काश्मीरपङ्कनिभलग्नजनानुरागे श्रीखण्डलेपमयदिग्जयकीर्त्तिराजिराजद्भुजे महीभुजे भावं भज ।

हिन्दी—देवी सरस्वती ने उस (दमयन्ती) से पुनः कहा—भीमसुते, काश्मीरकुंकुम-अनुलेपन के व्याज से जिसमें प्रजाजनों का अनुराग संलग्न है और चन्दन-लेपनरूपा दिग्विजयों की कीर्त्तिश्रेणियों से जिसकी भुजाएँ सुशोभित हैं, ऐसे इस राजा के प्रति अनुराग करो ।

टिप्पणी—जिस काश्मीरराज के निकट दमयन्ती पहुँची थी, उसकी विरुदावली । उसकी प्रजा उसमें अनुराग रखती है, जिसका प्रमाण है उसके शरीर पर प्रचुर काश्मीरकुंकुम का लेप । यह केवल जनानुराग का उपमान नहीं है, जनप्रीति का द्योतक है । प्रीति रखती जनता उपहारस्वरूप उसे प्रचुर कुंकुम देती रहती है, जो काश्मीर की प्रधान उपज है—जनसंपदा । कविसमयानुसार कीर्त्ति का वर्ण श्वेत होता है । काश्मीरनरेश की भुजाओं पर हुआ चन्दनलेप उसकी दिग्विजयों से प्राप्त कीर्त्ति का द्योतक है । इस प्रकार काश्मीर का स्वामी वीर और जनप्रिय नरेश है । ऐसे अत्यन्त समृद्ध राजा के प्रति प्रणयभाव अनुचित नहीं होगा । मल्लिनाथ के अनुसार श्रीखण्ड लेप में कीर्तित्वगम्या उत्प्रेक्षा है ।। ७२ ।।

द्वीपं द्विपाधिपतिमन्दपदे ! प्रशास्ति प्लक्षोपलक्षितमयं क्षितिपस्तदस्य ।
मेधातिथेस्त्वमुरसि स्फुर सृष्टसौख्या साक्षाद् यथैव कमला यमलार्जुनारेः ।।

जीवातु—द्वीपमिति । द्विपाधिपतेः गजेन्द्रस्येव, मन्दम् अलसं, पदं गमनं यस्याः तस्याः सम्बुद्धिः, अयं क्षितिपः प्लक्षेण प्लक्षवृक्षेण, उपलक्षितं चिह्नितं द्वीपं प्लक्षद्वीपं प्रशास्ति पालयति, तत् तस्मात्, मेधातिथेः, मेधातिथिनाम्नः, अस्य राज्ञः, उरसि सृष्टसौख्या जनितानन्दा सती, यमलयोः युग्मयोः, अर्जुनयोः ककुभवृक्षयोः, तद्रूपधारिणोः असुरयोरिति यावत्, अरेः विष्णोः, उरसि साक्षात् कमला लक्ष्मीः, यथा तथैव स्फुर भाहि ।। ७३ ।।

अन्वयः—द्विपाधिपतिमन्दपदे, अयं क्षितिपः प्लक्षोपलक्षितं द्वीपं प्रशास्ति,

तत् त्वम् अस्य मेधातिथेः उरसि यमलार्जुनारेः (उरसि) साक्षात् कमला यथा एव सृष्टसौख्या स्फुर।

हिन्दी—गजराज के तुल्य मन्द गमन करनेवाली (दमयन्ती), यह पृथ्वीपाल प्लक्ष (पिलखन) वृक्ष से चिह्नित द्वीप का प्रशास्ता है, सो तू इस (धारणावती बुद्धि से युक्त—'मेधा धारणावती बुद्धिः अतिथिः यस्य') मेधातिथि (नामक राजा) के वक्षःस्थल पर—जैसे अर्जुनयुग्मरूप असुरों के शत्रु (विष्णु) के वक्ष पर साक्षात् लक्ष्मी विराजती है—वैसे ही सुख की सृष्टि करती विराजित हो।

टिप्पणी—श्रीमद्भागवत के अनुसार मेधातिथि प्रियव्रत के पुत्र और शाकद्वीपाधिपति हैं, यहाँ उन्हें प्लक्षद्वीपाधिप माना गया है। ब्रह्म०-(२०।२) में मेधातिथि को प्लक्षद्वीपाधिप माना गाया—"सप्त मेधातिथेः पुत्राः प्लक्षद्वीपेश्वरस्य वै।" 'यमलार्जुन' दो 'अर्जुन' वृक्ष थे, जो गोकुल में थे। पुराणनुसार ये 'यमलार्जुन' वस्तुतः कुबेर के नलकूबर और मणिग्रीव नामक पुत्र थे। ये दोनों एक बार मदमत्त हो नदी में नग्न होकर स्त्रियों के साथ क्रीडा कर रहे थे। क्रुद्ध नारद के शाप से दोनों गोकुल में अर्जुन वृक्ष हो गये। श्रीपति विष्णु ने अपने कृष्णावसार में इनका उद्धार किया था, जब श्रीकृष्ण यशोदा के ऊखल में बाँधे गये थे—'यदा यशोदा तौ बालावेकस्थाचरावुभौ। शशाक नो वारयितु क्रीडन्तावतिचञ्चलौ। दाम्ना बद्ध्वा तदा मध्ये निबबन्धमुलूखले। यमलार्जुनयोर्मध्ये जगाम कमलेक्षणः। कर्षता वृक्षयोर्मध्ये तिर्यगेवमुलूखलम्। भग्नावुत्तुङ्गशाखाग्रौ तेन तौ यमलार्जुनौ॥' (ब्रह्म० १८४।३४, ३५, ३८, ३९) कृष्णावतारी यमुलार्जुनारि के रूप में कमलापति विष्णु का यहाँ उल्लेख है। सुख देने वाली लक्ष्मी जैसे श्रीविष्णु-वक्षोविहारिणी हैं, वैसे ही दमयन्ती मेधातिथिवक्षोविहारिणी हो—यह भाव है॥ ७३॥

प्लक्षे महीयसि महीवलयातपत्रे तत्रेक्षिते खलु तवापि मतिर्भवित्री।
खेलां विधातुमधिशाखविलम्बिदोलालोलाखिलाङ्गजनताजनितानुरागे॥

जीवातु—प्लक्ष इति। तत्र प्लक्षद्वीपे, अधिशाखं शाखायां, विलम्बिनीभिः दोलाभिः लोलानि अखिलानि समस्तानि, अङ्गानि यस्याः तादृशी या जनता जनसमूहः, तया जनितोऽनुरागो यस्मिन् तस्मिन्, महीवलयस्यापत्रे छत्ररूपे,

महीयसि महत्तरे, प्लक्षे प्लक्षवृक्षे, ईक्षिते सति, तवापि खेलां दोलाक्रीडां, 'क्रीडा खेला च कूर्दनम्' इत्यमरः। विधातुं कर्त्तुं, मतिः इच्छा, भाविनी खलु परकीयविहारदर्शनात् स्वस्यापि तदभिलाषी भवतीति भावः ॥ ७४ ॥

अन्वयः--तत्र अधिशाखविलम्बिदोलालोलाखिलाङ्गजनताजनितानुरागे महीवलयातपत्रे महीयसि प्लक्षे ईक्षिते तव अपि खेलां विधातुं खलु मतिः भवित्री।

हिन्दी--वहाँ (प्लक्षद्वीप में) शाखाओं में पड़े झूलों में झूलने से चंचल सकल अंगों वाले जनसमूह द्वारा जिसके प्रति आकर्षण उत्पन्न हो रहा होगा, ऐसे पृथ्वीमंडल के छत्रस्वरूप विशालतम प्लक्ष को देखने पर तेरी भी खेल करने (झूला झूलने) को निश्चयपूर्वक इच्छा हो जायेगी।

टिप्पणी—कहा गया है कि प्लक्षद्वीप में प्लक्ष का विशाल वृक्ष है, जिसके आधार पर ही उसका नाम प्लक्षद्वीप पड़ा है—'तन्मध्ये सुमहातरुः। प्लक्षस्तन्नामसंज्ञोऽयं प्लक्षद्वीपो द्विजोत्तमाः ॥' (ब्रह्म०-२०।१८)। प्लक्षद्वीप की जनता की यह प्रियक्रीडा है कि वह इस महावृक्ष की शाखाओं में झूला झूला करती है। वह खेल इतना आकर्षक लगता है कि प्रत्येक की रुचि वैसी ही बन जाती है। निश्चय ही दमयन्ती भी वहाँ सानंद झूला झूलेगी। दोलारूढ जनता को देख उसकी भी वैसी इच्छा हो उठेगी ॥ ७४ ॥

पीत्वा तवाधरसुधां वसुधासुधांशुर्न श्रद्दधातु रसमिक्षुरसोदवाराम्।
द्वीपस्य तस्य दधतां परिवेशवेशं सोऽयं चमत्कृतचकोरचलाचलाक्षि ! ॥७५॥

जीवातु—पीत्वेति। हे चमत्कृतचकोरचलाचलाक्षि ! चकितचकोरचंचलनयने ! वसुधासुधांशुः भूचन्द्रः, सोऽयं मेधातिथिः, तव अधरसुधाम् अधरामृतं, पीत्वा तस्य द्वीपस्य परिवेशवेशं वेष्टनस्वरूपं, परिखाकारमित्यर्थः, 'परिवेशो वेष्टने स्यात् परिधावपि पुंस्ययम्' इति मेदनी, दधताम् इक्षुरसः एवोदकं यस्य तस्य इक्षुरसाब्धेः, वारां वारीणां, रसं स्वादं, न श्रद्दधातु न अभिलषतु 'श्रद्धाऽऽस्तिक्याभिलाषयोः' इति वैजयन्ती। अमृतास्वादलोलुपस्य किमिक्षुरसगण्डूषैरिति भावः। चकोरा एव चन्द्रस्य अमृतं पिबन्ति, किन्तु चकोराक्ष्याः तव अधरामृतं भूचन्द्रोऽयं पिबति, अतः चमत्कृतपदस्य सार्थकता अवगन्तव्या इति निष्कर्षः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—चमत्कृतचकोरचलाचलाक्षि, सः अयं वसुधासुधांशुः तव अधरसुधां पीत्वा तस्य द्वीपस्य परिवेशवेशं दधताम् इक्षुरसोदवारां रसं न श्रद्दधातु।

हिन्दी—हे चकित चकोर के तुल्य चलाचल (चंचल) नयनशालिनि (दमयन्ति), वह यह पृथ्वी का अमृत-किरण (भूतलचंद्र मेघातिथि) तेरा (दमयन्ती का) अधरामृत-पान कर उस द्वीप (प्लक्ष) के परिवेष का वेष-धारण करते (परिधि बने) इक्षुरससागर-जल के स्वाद में श्रद्धा नहीं रखेगा।

टिप्पणी—'चकितचकोरनेत्रा' संबोधन दमयन्ती के उस आश्चर्य का संकेतक है, जो उसके हृदय में प्लक्षद्वीप को देखकर होगा। वह द्वीप इक्षुरस-समुद्र से वेष्टित है, जो मीठा और अत्यन्त स्वादु है, किंतु दमयन्ती का अधरामृत उससे भी अधिक स्वादु है, जिसका पान कर मेधातिथि को इक्षु-सागर का मीठा जल पीने की इच्छा नहीं होगी। आश्चर्य का कारण यह भी है कि सामान्यतः चकोर चन्द्रामृत का पान करता है, यहाँ उसके विपरीत भूतलचन्द्र मेधातिथि द्वारा चकोर-नयना दमयन्ती के अधरामृत-पान की संभावना व्यक्त की गयी है। चन्द्र द्वारा चकोर के अधरामृत का पान विस्मय-कारक है ही। प्लक्षद्वीप इक्षुसमुद्र से वेष्टित माना गया है—'प्लक्षद्वीपः समावृतः। तथैवेक्षुरसोदेन परिवेषानुकारिणा॥' (ब्रह्म० २०।२०) ॥ ७५ ॥

सूरं न सौर इव नेन्दुमवेक्ष्य तस्मिन् अश्नाति यस्तदितरत्रिदशानभिज्ञः।
तस्यैन्दवेस्य भवदास्यनिरीक्षयैव दर्शेऽश्नतोऽपि न भवत्ववकीर्णिभावः॥७६॥

जीवातु—सूरमिति। तस्मिन् प्लक्षद्वीपे, तस्मादिन्दोः, इतरेषां त्रिदशानाम् अनभिज्ञः इन्दोरन्यं देवमभजमानः, यः चन्द्रभक्तो जनः, सूरे भक्तिर्यस्य स सौरः सूर्यभक्तः, 'भक्तिः' इत्यण्, सूरं सूर्यमिव, इन्दुं न अवेक्ष्य न दृष्ट्वा, नाश्नाति न भुङ्क्ते तस्य ऐन्दवस्य इन्दुभक्तस्य, पूर्ववदण् प्रत्ययः, भवत्याः आस्यनिरीक्षयैव त्वन्मुखदर्शनेनैव, सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः। दर्शे अमावास्यायाम्, अश्नतो भुञ्जानस्यापि, अवकीर्णिभावः क्षतव्रतत्वम्, 'अवकीर्णी क्षतव्रतः' इत्यमरः। न भवतु, त्वन्मुखस्यैव मुख्येन्दुत्वात्तद्दर्शनादेव इन्दुदर्शनव्रतिनां भोजनाविकारसिद्धेः नास्ति च व्रतभङ्गदोष इति भावः। एतेन तन्मुखे मुख्येन्दुभ्रमात् भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यत इति वस्तुनाऽलङ्कारध्वनिः॥ ७६ ॥

अन्वयः—तस्मिन् सूरं सौरः इव इन्दुं न अवीक्ष्य यः तदितरत्रिदशानभिज्ञः न अश्नाति, तस्य ऐन्दवस्य भवदास्यनिरीक्षया एव दर्शे अश्नतः अपि अवकीर्णिभावः न भवतु ।

हिन्दी—वहाँ (प्लक्षद्वीप में) सूर्य को जैसे सूर्यभक्त न देखकर भोजन नहीं करता है, वैसे ही चन्द्र को बिना देखे जो उससे (चन्द्र से) भिन्न देव को न जानने वाला (चन्द्र को ही देव रूप में जानने वाला प्लक्षद्वीप-वासी); भोजन नहीं करता है, उस चन्द्रभक्त (प्लक्षद्वीपजन) का तुम्हारे (दमयन्ती के) मुख को देखने से ही अमावस्या को भोजन कर लेने पर भी व्रतभंग न होगा ।

टिप्पणी—प्लक्षद्वीपवासियों का एक ही उपास्य देव है—चन्द्र—'इज्यते तत्र भगवाँस्तैर्वर्णैरार्यकादिभिः । सोमरूपी जगत्स्रष्टा सर्वः सर्वेश्वरो हरिः ॥' (ब्रह्म० २०।१९) । चन्द्र-दर्शन के बिना प्लक्षद्वीपवासी भोजन नहीं करता, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार कि सूर्योपासक सूर्यदर्शन बिना नहीं खाता । अमावस्या को चन्द्रदर्शन होता नहीं, उस तिथि को वहाँ का चन्द्रभक्त निराहार रहता है । दमयन्ती के वहाँ पहुँच जाने पर प्लक्षद्वीपजन को यह सुविधा हो जायेगी कि वह अमावस्या को दमयन्ती का मुखचन्द्र देखकर भोजन कर लेगा और इस प्रकार उसका व्रत भी खंडित न होगा । दमयन्ती का मुख चंद्रसमान है—यह भाव । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ दमयन्ती-मुख में चंद्र-भ्रम के कारण भ्रांतिमद्-अलंकार व्यंजित होता है,—इस प्रकार वस्तु से अलंकारध्वनि ॥ ७६ ॥

उत्सर्पिणी न किल तस्य तरङ्गिणी या त्वन्नेत्रयोरहह !! तत्र विपाशि जाता ।
नीराजनाय नवनीरजराजिरास्तामत्राञ्जसाऽनुरज राजनि राजमाने ।।७७।।

जीवातु—उत्सर्पिणीति । तस्य द्वीपस्य, या विपाट्—नाम्नी, तरङ्गिणी उत्सर्पिणी उत्सज्य सर्पिणी, उद्धतप्रवाहा इत्यर्थः, न किल, तत्र तस्याः विपाशि विपाशायां नद्यां, 'विपाशा तु विपाट् स्त्रियाम्' इत्यमरः' जाता नवा नीरजराजि पद्मपङ्क्तिः, त्वन्नेत्रयोः तव चक्षुषोः, नीराजनाय निर्मञ्छनाय, आस्तां तिष्ठतु, अहह !! इत्यद्भुते, विपाशायाम् उत्कटतरङ्गाभावात् पद्मानि सदा जायन्ते, अतः तव अक्षिनीराजनं सन्ततं भविष्यति

इति भावः, अत एव राजमाने दीप्यमाने, अत्र अस्मिन् मेधातिथिनाम्नि राजनि अञ्जसा द्रुतम्, 'स्राक् झटित्यञ्जसाऽह्नाय द्राङ्मक्षुसपदि द्रुतम्' इत्यमरः। अनुरज अनुरज्यस्व, रञ्जेर्भौवादिकाल्लोटि सिप् 'रञ्जेश्च' तत्युपधान-कारस्य लोपः ॥ ७७ ॥

अन्वयः—तस्य या तरङ्गिणी उत्सर्पिणी न अहह किल; तत्र विपाशि जाता नवनीरजराजिः त्वन्नेत्रयोः नीराजनाय आस्ताम्; राजमाने अत्र राजनि अञ्जसा अनुरज।

हिन्दी—उस (द्वीप) की जो लहरों वाली (विपाशा नदी) है, वह कूलंकषा (तट तोड़कर बहनेवाली वर्षा में भी) नहीं है, यह निश्चय ही आश्चर्य है। उस विपाशा में उत्पन्न नव कमलों की पंक्तियाँ तेरे (दमयन्ती के) नीराजन (आरती) के निमित्त (प्रयुक्त) हों। तेजस्वी इस (मेधातिथि) राजा के प्रति तुरंत अनुरागवती बन !

टिप्पणी—ब्रह्मपुराण (२०।११) के अनुसार प्लक्षद्वीप की नदियों में एक 'विपाशा' भी है। इनके विषय में कहा गया है कि वे नदियाँ घटती-बढ़ती नहीं हैं—'अवसर्पिणी नदी तेषां न चैवोत्सर्पिणी द्विजाः ॥ (तदेव-१३)। ऐसी 'अकूलंकषा' नदियों में कमल प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। वे कमल वहाँ दमयन्ती के नेत्रों की स्वागत-आरती के निमित्त उपयोग में लाये जायेंगे। भाव यह है कि दमयन्ती के नेत्र अपने उपमान कमलों से श्रेष्ठ हैं, अतः उनको 'नीराजनाकार्य' में लगाया जायेगा। निम्न श्रेष्ठ की सेवा करते ही हैं ॥ ७७ ॥

एतद्यशोभिरखिलेऽम्बुनि सन्तु हंसाः दुग्धीकृते तदुभयव्यतिभेदमुग्धाः।
क्षीरे पयस्यपि पदे द्वयवाचिभूयं नानार्थकोषविषयोऽद्य मृषोद्यमस्तु ॥ ७८ ॥

जीवातु—एतदिति। एतस्य राज्ञः, यशोभिः अखिले अम्बुनि जले, दुग्धीकृते क्षीरीकृते सति, हंसाः तस्य उभयस्य दुग्धाम्बुद्वयस्य, व्यतिभेदे परस्परविवेके, मुग्धाः मूढाः, सन्तु। किञ्च, क्षीरे पदे पयसि पदेऽपि, क्षीर-पयः पदयोर्विषये इत्यर्थः, नानार्थकोषस्य 'क्षीरे नीरे च दुग्धे च' 'पयोऽम्भसि च दुग्धे च' इत्यादिना अनेकार्थनिघण्टोः, विषयस्तत्प्रतिपाद्यभूतमित्यर्थः, द्वयवाचिभूयमर्थ-द्वयवाचकत्वं, 'भुवो भावे' इति क्यप्। अद्य तव परिग्रहादिति भावः, मृषोद्यं

मिथ्योदितम्, अस्तु, सलिलस्यापि दुग्धभावेन द्वितीयार्थासम्भवादिति भावः। 'राजसूयसूर्यमृषोद्य—' इत्यादिना निपातनात् साधु। अत्राखिलेऽम्बुनि दुग्धीकृते इति सामान्यालङ्कारः, तदुपजीवनेन हंसानां क्षीरनीरविवेकसम्बन्धेऽपि क्षीरपय.पदयोरप्यर्थद्वयसम्बन्धे तत्सम्बन्धरूपातिशयो क्तद्वयोत्थापनात् सङ्करः॥ ७८॥

अन्वयः—एतद्यशोभिः अखिले अम्बुनि दुग्धीकृते हंसाः तदुभयव्यतिभेदमुग्धाः सन्तु; नानार्थकोषविषयः क्षीरे पयसि अपि पदे द्वयवाचिभूयम् अद्य मृषोद्यम् अस्तु।

हिन्दी—इस (मेधातिथि राजा) के यश द्वारा संपूर्ण जल के दुग्ध कर दिये जाने पर (नीरक्षीरविवेकी) हंस उन दोनों (दुग्ध-जल) के परस्पर विवेक में विमूढ हों। विविध (अमर आदि) कोषों का (यह) विषय ('पयस्' शब्द का) दुग्ध और जल—इन दो अर्थों में प्रतिपादन आज मिथ्या हो जाय।

टिप्पणी—राजा मेधातिथि स्वयम् पर्याप्त यशस्वी हैं; दमयन्ती-परिणय से उनका यह यश और भी विस्तार पाकर जगद्व्याप्त हो जायेगा। उस समय कविसमयानुसार दुग्ध-जल में विवेक करने में समर्थ हंस तो श्वेतता के कारण विश्व-जल के दुग्ध सदृश प्रतीत होने पर दोनों में अन्तर कर ही न सकेंगे; लगता है कि सर्वत्र दूध ही दूध प्रतीत होने पर विविध शब्दार्थ-कोषों में जो 'पयस्' शब्द के दो अर्थ—दूध और पानी—(पयः क्षीरं पयोऽम्बु च) बताये गये हैं, वे भी मिथ्या हो जायेंगे। दूध ही रहेगा, पानी नहीं। तब दो अर्थों की आवश्यकता ही क्या रह जायेगी? भाव यह है कि राजा मेधातिथि-सा कीर्त्तिशाली अन्य नहीं है। मल्लिनाथ के अनुसार 'अखिलेऽम्बुनि दुग्धीकृते'—यह सामान्यालंकार है; उसकी उपजीविता के द्वारा हंसों में नीर-क्षीर-विवेक-संबंध और 'क्षीर-पयस्' पदों में अर्थद्वय संबंध रहने पर भी असंबंधकथनरूपा दो अतिशयोक्तियों की उत्पादना हुई है—अतः सामान्य और अतिशयोक्ति का संकर है॥ ७८॥

ब्रूमः किमस्य नलमप्यलमाजुहूषोः कीर्त्तिं स चैष समादिशतः स्म कर्त्तुम्।
स्वद्वीपसोमसरिदीश्वरपूरपारवेलाबलाक्रमणविक्रममक्रमेण॥७९॥

जीवातु—ब्रूम इति । नलं नैषधम् अपि, अलम् अत्यर्थम्, आजुहूषोः सम्पर्द्धमाह्वातुमिच्छोः, नलसमानगुणस्येत्यर्थ, ह्वयतेराङ्पूर्वात् स्पर्द्धायामात्मनेपदिनः सनन्तात् उप्रत्ययः, 'न लोक—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधान्नलम् इति कर्मणि द्वितीया अस्य मेघातिथेः, महात्म्यमिति शेषः किं ब्रूमः, ? वक्तुमशक्यमित्यर्थः, तथा हि, स नलश्च, एष मेघातिथिश्च, अक्रमेण यौगपद्येन, स्वद्वीपयोः, जम्बूप्लक्षद्वीपयोः, सीमनि सरिदीश्वरपूरस्य अब्धिप्रवाहस्य, पारवेलायाः परतीरमर्यादायाः, बलेन आक्रमणमेव विक्रमं पराक्रमं, कर्त्तुं कीर्त्तिं प्रयोज्यकर्त्रीं, समादिशतः स्म समादिष्टवन्तौ, द्वीपान्तरेषु अपि अनयोः कीर्त्तिसञ्चार इति भावः ॥ ७९ ॥

अन्वयः—नलम् अपि अलम् आजुहूषोः अस्य किं ब्रूमः सः एषः च अक्रमेण स्वद्वीपसीमसरिदीश्वरपूरपारवेलाबलाक्रमणविक्रमं कर्त्तुं कीर्त्तिं समादिशतः स्म ।

हिन्दी—नल को भी अत्यन्त स्पर्धा करने के इच्छुक इस (मेघातिथि) के विषय में हम (सरस्वती) क्या कहें ? उस (नल) और इस (मेघातिथि) ने एक साथ अपने-अपने द्वीपों (जम्बूद्वीप और प्लक्षद्वीप) की सीमा-नदियों के स्वामी (समुद्र) के प्रवाह की तटमर्यादा पर सैन्य को आक्रमण कर पराक्रम दिखाने के निमित्त (अपनी-अपनी) कीर्त्ति को आदेश दे दिया है।

टिप्पणी—सामान्यतः भाव यह है कि राजा नल और राजा मेघातिथि-लगभग समान यशस्वी हैं । नल की कीर्त्ति उनके जम्बूद्वीप से चलकर प्लक्षद्वीप तक पहुँच चुकी है और मेघातिथि की प्लक्षद्वीप से जम्बूद्वीप तक । इस प्रकार दोनों की कीर्तियाँ एक दूसरे की सीमा का अतिक्रमण कर चुकी हैं। प्रतिदिन दोनों नरेश ऐसे यशस्वीकार्य करते रहते हैं कि प्रतिदिन कीर्त्ति का यह सीमातिक्रमण होता ही रहता है । लगता है दोनों द्वीपाधिपों ने अपने-अपने कीति-बल की सीमाओं पर आक्रमण करने का आदेश दे रखा है। होड़ लगी है दोनों के बीच । आरम्भ में मेघातिथि को नल का स्पर्धी कहा गया है—नल का आह्वान करनेवाला । स्पर्धा श्रेष्ठ की की जाती है, स्पर्धा करने वाला वैसा होना चाहता है, अतः न्यून होता है । इस दृष्टि से प्रकाशकार के अनुसार नल की अपेक्षा मेघातिथि की न्यूनता सूचित की गयी है—'नलस्पर्धयैतस्य न्यूनत्वं सूचितम् ।' प्रकाशकार ने चतुर्थचरण में 'बलाक्रमण' के स्थान में 'चलाक्रमण' को मान्यता दी है । 'पारबेला+अचल+आक्रमणवि-

क्रमेण'—अर्थात् सीमा-समुद्र-प्रवाह की परतीरमर्यादा पर स्थित अचल (पर्वत) पर आक्रमण कर पराक्रम दिखाने का अपनी-अपनी कीर्ति को आदेश दिया है। कीर्तियुगल यह प्रमाणित करें कि उन दोनों में कौन श्रेष्ठ है। भाव प्रतिस्पर्द्धा का ही है ॥७९॥

अम्भोजगर्भरुचिराऽथ विदर्भसुभ्रूस्तं गर्भरूपमपि रूपजितत्रिलोकम् ।
वैराग्यरूक्षमवलोकयति स्म भूपं दृष्टिः पुरत्रयरिपोरिव पुष्पचापम् ॥८०॥

जीवातु—अम्भोजेति । अथ एतद्वाक्यश्रवणानन्तरम्, अम्भोजगर्भवत् रुचिरा रम्या, तद्वत् कोमलाङ्गीत्यर्थः, विदर्भसुभ्रूः वैदर्भी, प्रशस्तो गर्भो गर्भरूपस्तं पूर्ववयसं युवानमपीत्यर्थः, प्रशंसायां रूपप्, रूपजितत्रिलोकं रूपेण सौन्दर्येण, जितास्त्रयो लोका येन तं, पुष्पचापेऽपीदं योज्यम्, तं भूपं मेधातिथिं, पुष्पचापं कामं पुरत्रयरिपोः ईश्वरस्य, दृष्टिरिव वैराग्यरूक्षं वैराग्येण अपरागेण, रूक्षं परुषं यथा तथा, अवलोकयति स्म, अतिसुन्दरेऽपि तस्मिन् राज्ञि न अनुरक्ता अभूत् इति भावः ॥ ८० ॥

अन्वयः—अथ अम्भोजगर्भरुचिरा विदर्भसुभ्रूः गर्भरूपं रूपजितत्रिलोकम् अपि तं भूपं पुरत्रयरिपोः दृष्टिः पुष्पचापम् इव वैराग्यरूक्षम् अवलोकयति स्म ।

हिन्दी—तत्पश्चात् (सरस्वती वचन-श्रवणानन्तर) कमलगर्भ के समान कांतिमती (अत्यन्तगौरी) विदर्भ-सुनयना (दमयन्ती) ने वयःसंधि में वर्तमान, रूप से लोकत्रयजित् भी उस राजा (मेधातिथि) को—जिस प्रकार त्रिपुरारि (शिव) की दृष्टि ने पुष्पधन्वा (काम) को वैराग्य से रूक्षभाव युक्त हो देखा था, उसी प्रकार देखा ।

टिप्पणी—सर्वगुणसंपन्न भी राजा मेधातिथि पर दमयन्ती का अनुराग न उत्पन्न हुआ, प्रत्युत पूर्ण विरागमयी रूखी दृष्टि से उसने उसकी ओर देखा। इसके लिए दमयन्ती को त्रिपुरारि की दृष्टि से उपमित किया गया है और मेधातिथि का उपमान कामदेव बनाया गया है। भाव यही है कि त्रिलोकी को भी मुग्ध करने वाले राजा पर भी दमयन्ती की रुचि न जागी। ठीक भी है, अपने प्रिय नल की स्पर्द्धा करने वाले व्यक्ति पर दमयन्ती का अनुराग क्यों होता ? ॥ ८० ॥

ते तां ततोऽपि चक्रुर्जगदेकदीपादंसस्थलस्थितसमानविमानदण्डाः ।
चण्डद्युतेरुदयिनीमिव चन्द्रलेखां सोत्कण्ठकैरववनीकृतप्ररोहाः ॥ ८१ ॥

जीवातु—ते इति । अंसस्थलेषु स्कन्धेषु, स्थितः समानः एकरूपः, विमानदण्डो येषां ते समविभक्तभरा इत्यर्थः, ते धुर्याः, तां भैमीं, सोत्कण्ठायाः चन्द्रलेखोत्सुकायाः, कैरववन्याः, कुमुदिन्याः, सुकृतप्ररोहाः सौभाग्योन्मेषाः, उदयिनीम् उदयोन्मुखीं, चन्द्रलेखाम् अमावस्यायां सूर्यमण्डलप्रविष्टां चन्द्रकलां, शुक्लपक्षीयप्रतिपदादितिथिरूपामित्यर्थः, जगदेकदीपात् तेजस्वितया जगतामद्वितीयप्रकाशकस्वरूपात्, चण्डद्युतेः सूर्यादिव, जगदेकदीपात्ततो मेधातिथेरपि, चकृषुः आकर्षयामासुः, तत्सकाशात् राजान्तरं प्रापयामासुरित्यर्थः । सूर्यस्य तेजांसि एव चन्द्रे सङ्क्रान्तया कुमुदानन्दकरत्वेन प्रसिद्धानि; तथा च वराहमिहिरः—'यत्तेजः पितृधाम्निशीतमहमः पाथोमये मण्डले संक्रान्त कुमुदाकरस्य कुरुते काञ्चित् विकासश्रियम्' इति ।। ८१ ।।

अन्वयः—अंसस्थलस्थितसमानविमानदण्डाः ते तां सोत्कण्ठकैरववनीसुकृतप्ररोहाः उदयिनीं चन्द्रलेखां जगदेकदीपात् चण्डद्युतेः इव ततः अपि चकृषुः ।

हिन्दी—कंधों पर एक रूप से शिविका का दंड रखे वे (शिविकावाही) उस (दमयन्ती) को–जिस प्रकार उत्सुक कुमुदिनी के सौभाग्योन्मेष (पुण्यांकुर), उदयोन्मुखी चन्द्र लेखा को जगत् को प्रकाशित करने के निमित्त एकमात्र दीप, प्रखर कान्ति (सूर्य) को हटा लेते हैं, उसी प्रकार—जगत् के एक दीपस्वरूप (संसार को यश देने वाले) प्रखरपराक्रम उस (राजा मेधातिथि) के निकट से हटाकर ले गये ।

टिप्पणी—वराहमिहिर ने बताया है कि सूर्य का तेज ही चन्द्र में संक्रांत होकर कुमुदाकर की अपूर्व श्रीवृद्धि और विकास करता है । 'दर्श' अर्थात् अमावस्या को चंद्र की संपूर्ण कलाएं सूर्य-प्रविष्ट हो जाती हैं, शुक्लपक्ष में क्रमशः सूर्यमंडल से वे पृथक् होती हैं । कल्पना यही है कि यह विकासार्थं चन्द्रकला के निमित्त उत्कंठित कैरववनी के पुण्य से होता है । यहाँ शिविकावाहकों को 'कैरववनीसुकृतप्ररोह' कहा गया है और मेधातिथि को चन्द्रद्युति सूर्य तथा दमयन्ती को उदयिनी चन्द्रलेखा । भाव यह कि मेधातिथि के निकट से दमयन्ती को हटाकर शिविकावाहक अन्य राजा के समीप ले गये ।। ८१ ।।

भूपेषु तेषु न मनागपि दत्तचित्ता विस्मेरया वचनदेवतया तयाऽथ ।
वाणीगुणोदयतृणीकृतपाणिवीणानिक्वाणया पुनरभाणि मृगेक्षणा सा ।।८२।।

जीवातु—भूपेष्विति। मृगेक्षणा सा भैमी, तेषु भूपेषु द्वीपाधिपतिषु, मनाक् ईषदपि, दत्तचित्ता अर्पितहृदया, आसक्तमानसा इत्यर्थः, न, जातेति शेषः, अथ अनन्तरं, दमयन्त्याः चित्तवृत्तिज्ञानानन्तरमित्यर्थः, विस्मेरया विस्मितया सहास्यया वा, 'नमिकम्पि—' इत्यादिना विपूर्वात् स्मिधातोः र-प्रत्ययः, वाणीगुणोदयेन माधुर्यादिवाग्गुणप्रकर्षेण, तृणीकृतः तिरस्कृतः, पाणि-वीणायाः हस्तस्थितविपञ्चयाः, निक्वाणः ध्वनिः यया तया वीणाधिकमधुर-भाषिण्या, वचनदेवतया वाग्देव्या, तया सरस्वत्या, पुनः अभाणि ॥ ८२ ॥

अन्वयः—अथ तेषु भूपेषु मनाक् अपि न दत्तचित्ता सा मृगेक्षणा विस्मेरया वाणीगुणोदयतृणीकृतपाणिवीणानिक्वाणया तया वचनदेवतया पुनः अभाणि।

हिन्दी—तत्पश्चात् उन राजाओं (विभिन्न द्वीपेशों) के प्रति जिसका चित्त थोड़ा-सा भी अनुरक्त नहीं हुआ, ऐसी उस मृगनयना (दमयन्ती) से विस्मित होती (माधुर्य स्पष्टतादि) वाणी के गुणप्रकर्ष से हाथ में ली वीणा के निक्वणन (शब्द) को तृण समान करती (जीतती, पराजित करती) इस वाग्देवता (सरस्वती) ने पुनः कहा।

टिप्पणी—सरस्वती को विस्मय-सा हुआ कि दमयन्ती का चित्त इन महान् द्वीपेशों पर भी अनुरक्त नहीं हो सका। वे पुनः दमयन्ती से कहने लगीं। उनकी वाणी मधुर और स्पष्ट थी कि उसकी हस्तस्थिता वीणा के स्वन भी उसके संमुख नगण्य थे। वीणास्वन से भी अधिक सुश्राव्य और मधुर उनकी वाणी थी ॥ ८२ ॥

यन्मौलिरत्नमुदिताऽसि स एष जम्बूद्वीपस्त्वदर्थमिलितैर्युवभिर्विभाति।
दोलायितेन बहुना भवभीतिकम्प्रः कन्दर्पलोक इव खात्पतितस्त्रुटित्वा ॥

जीवातु—यदिति। हे भैमि ! त्वं यस्य जम्बूद्वीपस्य, मौलिरत्नं भूत्वा उदिता उत्पन्ना, असि, स एष जम्बूद्वीपः, त्वदर्थं तुभ्यं, मिलितैः युवभिः हेतुभिः विभाति; क इव ? भवभीतया रुद्रभयेन, कम्प्रः कम्पशीलः अत एव बहुना अनेकेन, प्रबलेनेत्यर्थः, दोलायितेन दोलनेन, त्रुटित्वा विच्छिद्य, खात् स्वर्गात्, 'खमिन्द्रिये सुखे स्वर्गे शून्ये विन्दौ विहायसि' इति विश्वः, पतितः कन्दर्पलोकः कामजगदिव, इत्युत्प्रेक्षा; विभातीत्यन्वयो वा। कम्प्र वस्तु बहुदोलनेन त्रुटितं शून्यमार्गात् पतति इति प्रसिद्धिः। सभास्थिताः सर्वे राजानः कन्दर्पतुल्याः इति भावः ॥ ८३ ॥

अन्वयः—यन्मौलिरत्नम् उदिता असि सः एषः जम्बूद्वीपः त्वदर्थमिलितैः युवभिः भवभीतिकम्प्रः बहुना दोलायितेन त्रुटित्वा खात् पतितः कन्दर्पलोकः इव विभाति ।

हिन्दी—(हे भीमसुते,) जिसका शिरोरत्न होकर तुम उत्पन्न हुई हो, वह यह जंबूद्वीप तुम्हारे (दमयन्ती के) निमित्त एकत्र तरुणों के कारण शिव के डर से काँपते, अनेक बार झुलाये जाने के कारण टूट कर आकाश से गिरे कामलोक के सदृश भासित है ।

टिप्पणी—दमयन्ती से विवाहेच्छुक जंबूद्वीप के समस्त तरुण सभा में आजुटे । दमयन्ती वास्तव में जंबूद्वीप का अभिमान ही थी—शिरोमणि स्वरूपा । उसके निमित्त यह होना उचित ही था । वे सभी तरुण इतने मनोज्ञ थे कि लगता था अनेक कामदेव वहाँ इकट्ठे हैं । लगता था झूला टूटने से गिरा कामजगत् ही धरती पर आगिरा है—शिव के भय से काँपता-डरता मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ८३ ॥

विष्वग्वृतः परिजनैरयमन्तरीपैस्तेषामधीश इव राजति राजपुत्रि ! ।
हेमाद्रिणा कनकदण्डमयातपत्रः कैलासरश्मिचयचामरचक्रचिह्नः ॥ ८४ ॥

जीवातु—विष्वगिति । हे राजपुत्रि ! अन्तर्गताः आपः येषां तानि अन्तरीपाणि सिंहलद्वीपादीनि 'द्वीपोऽस्त्रियामन्तरीपम्' इत्यमरः । तैरेव परिजनैः विष्वक् समन्तात्, वृतः, तथा हेमाद्रिणा मेरुणा, कनकमयदण्डम्, आतपत्रं कनकमयमेवातपत्रं यस्य सः, मेरोः शिरसि विशालत्वादन्यत्र तनुत्वाच्च एकस्यैव दण्डत्वेनातपत्रत्वेन च रूपणम्; तथा कैलासस्य रश्मिचय एव चामरचक्रं चामरजालं तदेव चिह्नं यस्य सः, अयं जम्बूद्वीपः, तेषाम् अन्तरीपाणां सिंहलादिद्वीपान्तराणामित्यर्थः, अधीश इव राजतीत्युत्प्रेक्षा; सुमेरुर्गिरिस्तस्य आतपत्रं कैलाशपर्वतस्तु चामरचयरूपं राजचिह्नम्, अतो जम्बूद्वीपः नृपतिचिह्नवत्त्वात् राजा एव सिंहलद्वीपादयस्तु तस्य चतुर्दिक्षु परिवृता भृत्या इव तिष्ठन्ति इति भावः ॥ ८४ ॥

अन्वयः—राजपुत्रि, अन्तरीपैः परिजनैः विष्वग्वृतः हेमाद्रिणा कनकदण्डमयातपत्रः कैलासरश्मिचयचामरचक्रचिह्नः अयं तेषाम् अधीशः इव राजति ।

हिन्दी—हे राजकुमारि, (सिंहलद्वीपादि) अन्तरीपरूप सेवकों से चारों

ओर से वेष्टित, स्वर्णगिरि (सुमेरु) रूप स्वर्णदंडमयछत्र से आवृत, कैलासगिरि की किरणों के चामर समूह से चिह्नित यह (जंबूद्वीप) उन (शाकद्वीपादि) का अधिपति जैसा सुशोभित है।

टिप्पणी—जंबूद्वीप की श्रेष्ठता प्रतिपादित है। सब द्वीप परिजन हैं, जंबूद्वीप अधीश है, जिसके चारों ओर सेवक-समूह कनकातपत्र और शुभ्र-चामर लिये उपस्थित है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ८४ ॥

एतत्तरुस्तरुणि ! राजति राजजम्बूः स्थूलोपलानिव फलानि विमृश्य यस्याः।
सिद्धस्त्रियः प्रियमिदं निगदन्ति दन्तियूथानि केन तरुमारुरुहुः पथेति ॥८५॥

जीवातु—एतदिति। हे तरुणि ! एतस्य जम्बूद्वीपस्य, तरु चिह्नभूतो वृक्षः, राजजम्बूः जम्बूविशेषः, 'राजजम्बूस्तु जम्बूभित्पिण्डखर्जूरयोः स्त्रियाम्' इति मेदिनी। राजति; सिद्धस्त्रियः यस्याः जम्ब्वाः, स्थूलोपलान् गण्डशैलानिव स्थितानि, फलानि दन्तियूथानि करिघटाः, विमृश्य विविच्य, केन पथा तरुं जम्बूवृक्षम्, आरुरुहुः ? दन्तियूथानि इति शेषः इति इदं वचः प्रियं स्वदयितं, निगदन्ति पृच्छन्ति, गजप्रमाणानि तत्फलानीति भावः। 'ब्रविशासिः—' इत्यत्र ब्रुवेरर्थग्रहणात् गदेर्हि कर्मकत्वम्। अत्र जम्बूफलेषु दन्तिभ्रमोक्त्या भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥ ८५ ॥

अन्वयः—तरुणि, एतत्-तरुः राजजम्बूः राजति, सिद्धस्त्रियः स्थूलोपलान् इव यस्याः फलानि विमृश्य प्रियम् इति इदं निगदन्ति—दन्तियूथानि केन पथा तरुम् आरुरुहुः ?

हिन्दी—हे युवति (दमयन्ती), इस (जम्बूद्वीप) का (चिह्न) वृक्ष राजजम्बू सुशोभित है, सिद्धों की स्त्रियाँ बड़े-बड़े पत्थरों के तुल्य जिसके फलों को देखकर (अपने) प्रियों (पतियों) से इस प्रकार यह पूछा करती हैं कि ये हाथियों के झुंड किस मार्ग से वृक्ष पर चढ़ गये ?

टिप्पणी—पुराणों के अनुसार द्वीप का नाम जम्बूद्वीप, वहाँ एक विशाल जम्बूवृक्ष होने के कारण पड़ा है, जिसके जम्बूफल महागज प्रमाण हैं—'जम्बूद्वीपस्य सा जम्बूर्नामहेतुर्द्विजोत्तमाः। महागजप्रमाणानि जम्ब्वास्तस्याः फलानि वै ॥' (ब्रह्मा०–१८।२४–२५)। इस श्लोक में इसी आधार पर राजजम्बू के स्थूलोपल-सम फलों का वर्णन किया गया है जिनके कृष्णवर्ण

और विशालता के कारण सिद्धस्त्रियों को उन फलों में हाथियों का भ्रम हो जाता है। इसी भ्रम के कारण मल्लिनाथ ने यहाँ भ्रान्तिमद् अलंकार माना है ॥ ८५ ॥

जाम्बूनदं जगति विश्रुतिमेति मृत्स्नाकृत्स्नाऽपि सातवरुचाविजितश्रि यस्याः।
तज्जाम्बवद्रवभवाऽस्यसुधाविधाम्बुर्जम्बूः सरिद्वहति सीमनि कम्बुकण्ठि ! ॥

जीवातु—जाम्बूनदमिति। कम्बोः शङ्खस्य, कण्ठ इव कण्ठः रेखात्रयविशिष्टग्रीवा यस्यास्तस्याः सम्बुद्धिः हे कम्बुकण्ठि ! हे रेखात्रयाञ्चितग्रीवे ! 'रेखात्रयाञ्चितग्रीवा कम्बुग्रीवेति कथ्यते' इति हलायुधः। 'अङ्गगात्रकण्ठ—' इत्यादिना ङीष्। तेषां पूर्वोक्तानां, जाम्बवानां जम्बूफलानां, 'जम्बूः स्त्री जम्बु जाम्बवम्' इत्यमरः। 'जम्ब्वा वा' इति फलरूपार्थे अण् प्रत्ययः, 'लुप् च' इति विकल्पादणो न लुप्। द्रवात् रसात् भवा उत्पन्ना, सुधायाः विधेव विधा प्रकारो येषां तानि सुधाविधानि सुधाप्रकाराणि, अम्बूनि यस्याः सा अमृतसदृशजला, जम्बूः जम्ब्वाख्या, सरित् अस्य जम्बूद्वीपस्य सीमनि सीमाया, वहति प्रवहति; यस्याः जम्बूनद्याः, सम्बन्धिनी कृत्स्ना समस्ताऽपि, सा प्रसिद्धा, मृत्स्ना प्रशस्तमृत्तिका, 'मृन्मृत्तिका प्रशस्ता तु मृत्सा मृत्स्ना च मृत्तिका' इत्यमरः। 'सस्नौ प्रशंसायाम्' इति मृच्छब्दात्स्नप्रत्ययः। तव रुचा शरीरकान्त्या, विजितश्रि निर्जितशोभं, नपुंसके ह्रस्वः। जम्बूनद्यां भवं जम्बूनदं सुवर्णम्, इति जगति विश्रुतिं विख्यातिम्, एति। तथा च विष्णुपुराणं,— 'तीरभूस्तत्र सम्प्राप्य शुद्धवातविशोधिता। जाम्बूनदाख्यं भवति सुवर्णं देवभूषणम्।' इति ॥ ८६ ॥

अन्वयः—कम्बुकण्ठि, तज्जाम्बवद्रवभवा सुधाविधाम्बुः, सा जम्बूः सरित् अस्य सीमनि वहति, यस्याः कृत्स्ना अपि मृत्स्ना तव रुचा विजितश्रि जाम्बूनदं जगति विश्रुतिम् एति।

हिन्दी—हे शंख के सदृश (तीन रेखा युक्त) कंठवति (दमयन्ति), उस (जम्बू) के जम्बूफलों के रस से उत्पन्न अमृतसदृश जलवती वह 'जम्बू' नामक नदी इस (जंबूद्वीप) की सीमा मे बहती है, जिस (जम्बूनदी) की संपूर्ण ही अच्छी मिट्टी तेरी (दमयन्ती की) कांति से विजित शोभा वाला सुवर्ण (कही जाकर) संसार में ख्याति प्राप्त करती है।

टिप्पणी – भाव यह है कि जम्बूद्वीप में जामुन के रस से उत्पन्न अमृत-नीरा जम्बूनदी बहती है, जिसकी मिट्टी जम्बूनद सुवर्ण कहाती है और वह सोना भी दमयन्ती की कांति के संमुख निःशोभ है; अर्थात् दमयन्ती का रंग स्वर्णरंग से अधिक श्रीसंपन्न है। पुराणों में जम्बूफलरसोत्पन्न जम्बूनदी की और उसकी तट-मृत्तिका के जाम्बूनद सुवर्ण होने की प्रसिद्धि है—'जम्ब्वास्तस्याः फलानि वै। पतन्ति भूभृतः पृष्ठे शीर्यमाणानि सर्वतः। रसेन तेषां विख्याता तत्र जम्बूनदीति वै। सरित्प्रवर्तते सा च पीयते तन्निवासिभिः। तीरमृत्तद्रसं प्राप्य सुखवायुविशोषिता। जाम्बूनदाख्यं भवति सुवर्णं सिद्धभूषणम्॥' (ब्रह्म०–१८।२५, २६, २८)। विष्णुपुराण में भी ऐसा उल्लेख है॥ ८६॥

तस्मिन् जयन्ति जगतीपतयः सहस्रमस्राश्रुसान्द्ररिपुतद्वनितेषु तेषु।
रम्भोरु! चारुकतिचित्तव चित्तबन्धिरूपान्निरूपय मुदाऽहमुदाहरामि॥८७॥

जीवातु–तस्मिन्निति। रम्भे कदलिस्तम्भाविव ऊरू यस्याः सा रम्भोरूः 'उरूत्तरपदादौपम्ये' इत्यूङ्-प्रत्ययः। तस्याः सम्बुद्धिः, नदीह्रस्व। हे रम्भोरु! तस्मिन् जम्बूद्वीपे, सहस्रं सहस्रसङ्ख्यकाः; बहुसङ्ख्यका इत्यर्थः, जगतीपतयः भूपतयः, जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तन्ते, अस्रैः शोणितैः, अश्रुभिः वाष्पैश्च, यथासङ्ख्यं सान्द्राः सिक्ताः, रिपवः तद्वनिताश्च येषां तेषु हतारिषु इत्यर्थः, तेषु सर्वोत्कृष्टेषु भूपेषु मध्ये, तव चित्तबन्धि चित्तग्राहि, रूपं येषां तान् त्वन्मनोहारिसौन्दर्यान्, कतिचित् कांश्चित् भूपान्, अहम् उदाहरामि कथयामि, मुदा हर्षेण, चारु निरूपय सम्यगवधारय॥ ८७॥

अन्वयः—तस्मिन् सहस्रं जगतीपतयः जयन्ति; रम्भोरु, अस्राश्रुसान्द्ररिपुवनितेषु तेषु तव चित्तबन्धिरूपान् कतिचित् चारु उदाहरामि, मुदा निरूपय।

हिन्दी—वहाँ (जम्बूद्वीप) में सहस्रों (अनेक) पृथ्वीपति एक से एक बढ़कर विद्यमान हैं, हे कदली के सदृश जंघाओं वाली (दमयन्ती), लाल नेत्रों के जल से जिनके शत्रुओं की स्त्रियाँ भीगी हैं (अथवा जिनके शत्रु स्वयं रक्त से भीगे हैं और उनकी स्त्रियाँ आँसुओं से भीगी हैं), ऐसे उन (राजाओं) के मध्य तेरे (दमयन्ती) के चित्त को आकृष्ट करनेवाले सौंदर्य से युक्त कुछ का मैं भली-भाँति वर्णन करती हूँ, तू प्रसन्नता पूर्वक (उन्हें) देख।

टिप्पणी—जंबूद्वीप में अनेक राजा हैं, जयी, शत्रुहंतावीर; रूप-सौंदर्य

उत्कृष्ट । कदाचित् दमयन्ती को कोई रुचे—एतदर्थं उनमें से श्रेष्ठ का भली-भाँति वर्णन सरस्वती को अभीष्ट है । 'चारु' और 'मुदा' इन दोनों का अन्वय सरस्वती पक्ष में 'उदाहरामि' के साथ और दमयन्ती-पक्ष में 'निरूपय' के साथ करके भी अर्थ किया जा सकता है ।। ८७ ।।

प्रत्यर्थियौवतवतंसतमालमालोन्मीलत्तमः प्रकरतस्करशौर्यसूर्ये ।
अस्मिन्नवन्तिनृपतौ गुणसन्ततीनां विश्रान्तिधामनि मनो दमयन्ति ! किं ते?

जीवातु—प्रत्यर्थीति । हे दमयन्ति ! प्रत्यर्थिनां प्रतिद्वन्द्विनृपाणां; यौवतं युवतिसमूहः, भिक्षादित्वादण् प्रत्ययः । तस्य वतंसा; कर्णभूषणभूताः, तमालमालाः तमालदलसमूहाः एव, उन्मीलत्तमांसि उद्गच्छन्धकाराः, तेषां प्रकरस्य समूहस्य, तस्करम् अपहारकं, शौर्यं शक्तिः एव सूर्यो यस्य, तादृशशौर्यं सूर्य इव यस्येति वा तादृशैः सूर्यो यथा अन्धकारम् अपनयति तथा एष नृपतिः शत्रुपत्नीनां वैधव्यसम्पादनेन कर्णभूषणभूततमालमालान् अपनयति इति भावः । गुणसन्ततीनां गुणसमूहानां, विश्रान्तिधामनि विश्रामस्थाने, अस्मिन् अवन्तिनृपतौ अवन्तिदेशाधिपे, ते मनः किम्? वर्त्तते इति शेषः । अत्र तादृशशौर्यसूर्ये इति रूपकोपमयोः सन्देहसङ्करः ।। ८८ ।।

अन्वयः—दमयन्ति, प्रत्यर्थियौवतवतंसतमालमालोन्मीलत्तमः प्रकरतस्करशौर्यसूर्ये गुणसन्ततीनां विश्रान्तिधामनि अस्मिन् अवन्तिनृपतौ किं ते मनः ?

हिन्दी—हे दमयन्ति, प्रतिद्वन्द्वी राजाओं की स्त्रियों के कर्णभूषण तमालतरुमाल रूप अँधेरों के तस्कर (विनाशक) शौर्य (वीरता) के सूर्य, गुणों के समूह विश्रामधाम इस अवंती (उज्जयिनी) के राजा के प्रति क्या तेरा मन अनुरक्त होता है ?

टिप्पणी—अवन्तिनरेश की ओर संकेत करती सरस्वती ने दमयन्ती की इच्छा जाननी चाही । वह शत्रुजित् है, वीर है, सौदर्यादि गुणों का आकर है । उसमें नारीजनसुलभ प्रकृति के कारण दमयन्ती की अनुरक्ति संभव है । ऐसे पुरुष में प्रायः नारियों का अनुराग होता है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ रूपक-उपमा का संकर है ।। ८८ ।।

तत्रानुतीरवनवासितपस्विविप्रा सिप्रा तवोर्मिभुजया जलकेलिकाले ।
अलिङ्गनानि दधती भविता वयस्या हास्यानुबन्धरमणीयसरोरुहाऽऽस्या ।।

जीवातु—तत्रेति । तत्र अवन्तिदेशे, अनुतीरं तीरे, विभक्त्यर्थे 'यस्य

चायामः' इति तद्दैर्घ्यं नदशदैर्घ्योपलक्षितार्थकेनानुशब्देन वा अव्ययीभावः। यानि वनानि यावत्तीरमायतानीत्यर्थः, तद्वासिनस्तपस्विनो विप्रा यस्याः सा, सिप्रा नदी; तत्र जलकेलिकाले हास्यं विकासः स्मितञ्च, तदनुबन्धेन तद्योगेन, रमणीयं सरोरुहमेव आस्यं यस्याः सा सती, ऊर्मिरेव भुजा तया आलिङ्गनानि दधती कुर्वती, वयस्या भविता सखी भविष्यति। यथा सहास्यवदना सखी केलिसमये बाहुभ्यां आलिङ्गति तथा सिप्राऽपि त्वाम् आलिङ्गिष्यति इति समासोक्तिरलङ्कारः ॥ ८९ ॥

अन्वयः—तत्र अनुतीरवनवासितपस्विविप्रा सिप्रा जलकेलिकाले हास्यानुबन्धरमणीयसरोरुहास्या ऊर्मिभुजया आलिङ्गनानि दधती तव वयस्या भविता।

हिन्दी—वहाँ (उज्जयिनी में) तटनिकटस्थ वनों में वास करते तपस्वियों और विप्रों (अथवा तपश्चर्यारत विप्रों) से युक्त सिप्रा (वा शिप्रा) नदी जल-क्रीडा के समय हास्य से युक्त मनोहर विकसित कमलरूप मुखवाली तरंग रूप से आलिंगन करती तेरी (दमयन्ती की) सखी होगी।

टिप्पणी—अवंती में शिप्रा नदी है। जलविहार में वह एक आनन्दवर्द्धनी सखी-सदृश दमयन्ती को आनन्द देगी। शिप्रा में खिला कमल उसका हास्योज्ज्वल मुख है और तरंगें आलिंगन करती भुजाएँ। शिप्रा को इस प्रकार एक सखी की समता दी गयी है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार समासोक्ति अलंकार।

अस्याधिशय्य पुरमुज्जयिनीं भवानी जागर्त्ति या सुभगयौवतमौलिमाला।
पत्याऽर्द्धकायघटनाय मृगाक्षि ! तस्याः शिष्या भविष्यसि चिरं वरिवस्ययाऽपि ॥

जीवातु—अस्येति। भवस्य पत्नी भवानी पार्वती, 'इन्द्रवरुणभव—' इत्यादिना ङीष्, आनुगागमश्च, अस्य अवन्तिनाथस्य, उज्जयिनीं पुरमधिशय्य अधिष्ठाय, 'अयङ् यि क्ङिति' इत्ययङ् आदेशः; 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इति अधिकरणस्य कर्मत्वम्। जागर्त्ति प्रकाशते, या भवानी, सुभगस्य पतिवल्लभस्य, यौवतस्य युवतिसमूहस्य, मौलिमाला शिरोभूषणम्। हे मृगाक्षि ! पत्या भर्त्रा सह, अर्द्धं कायस्यार्द्धकायः, 'अर्द्धं नपुंसकम्' इति समासः। तस्य घटनाय एकीभावसम्पादनायेत्यर्थः, तस्या भवान्याः, चिरं वरिवस्यया परिचर्यया, 'नमो वरिवश्चित्रङः क्यच्' इति क्यच्-प्रत्ययः, ततः 'अ प्रत्ययात्' इति स्त्रियामकारप्रत्यये टाप्। शिष्याऽपि भविष्यसि, न केवलं पूर्वोक्तसिप्राविहारा-

दिसम्पत्तिरेव, किन्तु सर्वसौभाग्यभूतं भवानीशिष्यत्वमपि ते भविष्यतीत्यर्थः, भवानीवत् पत्या सह तव क्षणमपि विरहो न भविष्यतीति भावः ॥ ९० ॥

अन्वयः—मृगाक्षि, सुभगयौवतमौलिमाला या भवानी अस्य पुरम् उज्जयिनीम् अधिशय्य जागर्त्ति, पत्यार्द्धकायघटनाय चिरं वरिवस्यया तस्याः शिष्या अपि भविष्यसि ।

हिन्दी—हे मृगनयने, सुन्दरी तरुणियों में शिरोमाला जो भवपत्नी (पार्वती) इस (अवंतिनाथ) की पुरी उज्जयिनी में अधिष्ठित हो स्फुरित हैं, पति की अर्द्धांगिनी होने के निमित्त चिरकाल तक शुश्रूषा करने से उन (पार्वती) की शिष्या भी हो सकोगी ।

टिप्पणी—अवंतिनाथ का वरण एक अन्य प्रकार से उपयुक्त । अर्द्धनारीश्वर की पत्नी—उनका अर्द्धदेह—पार्वती (महाकालेश्वरप्रिया) उज्जयिनी में अधिष्ठित हैं । जिस प्रकार वे अर्द्धांग बन सकी हैं, वह कला दमयन्ती भी उनकी सेवा-शुश्रूषा कर शिष्या बन सीख सकेगी । 'चिरं वरिवस्यया पत्यार्द्धकायघटनाय' अन्वय भी संभव है, अर्थ होगा—चिरकाल तक शुश्रूषा करके पति का अर्द्धदेह बनने के निमित्त । इस प्रकार दमयन्ती पति का आधा अंग बन जायेगी और पति से कभी उसका वियोग न होगा ॥ ९० ॥

निःशङ्कमङ्कुरिततां रतिवल्लभस्य देवः स्वचन्द्रकिरणामृतसेचनेन ।
तत्रावलोक्य सुदृशां हृदयेषु रुद्रः तद्देहदाहफलमाप स किं न विद्मः ॥९१॥

जीवातु—निःशङ्कमिति । तत्र उज्जयिन्यां, स रुद्रो महाकालनाथः, सुदृशां तत्रात्यानां स्त्रीणां, हृदयेषु अन्तःकरणेषु, स्वचन्द्रकिरणामृतसेचनेन निजचूडामणिभूतचन्द्रकिरणामृतवर्षणेन रतिवल्लभस्य कामस्य, निःशङ्कं निर्भयं तथा तथा, अङ्कुरिततां सञ्जाताङ्कुरत्वं, पुनरुत्पन्नत्वमिति यावत् चन्द्रभासां स्मरोद्दीपकत्वादिति भावः, अवलोक्य तद्देहदाहस्य स्वकृतस्य कामदेहदाहस्य किं फलम् आप प्राप ? न विद्मः, स्वदग्धस्य कामस्य स्वशिरश्चन्द्रिकासेकादेव दग्धबदरादिवत् पुनः सहस्रधा प्रादुर्भावात् स्वप्रयासस्य किं साफल्यं प्राप्तवान् ? न किमपीत्यर्थः । 'आप' इत्यत्र 'आह' इति पाठान्तरम्, तादृशप्रयासस्य किं प्रयोजनं ब्रूते ? इति तदर्थः । विषमालङ्कारः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—तत्र सः रुद्रः सुदृशां हृदयेषु स्वचन्द्रकिरणामृतसेचनेन रतिवल्लभस्य निःशङ्कम् अङ्कुरितताम् अवलोक्य किं तद्देहदाहफलम् आप न विद्मः ।

हिन्दी—वहाँ (उज्जयिनी में) वे महाकालेश्वर रुद्र (वहाँ की) सुनयनाओं के अन्तस् में निज (शिरःस्थ) चंद्र की किरणों के अमृत से रति के प्रिय (काम) का निर्भय प्रादुर्भाव देखकर—उन्होंने उस (काम) के देह-दाह का क्या फल पाया—यह नहीं जान पाते ।

टिप्पणी—महाकाल शिवने काम को भस्म कर दिया था, किन्तु उज्जयिनी की सुन्दरियों के हृदय में तो वह नित्य उपस्थित दीखता है । भाव यह कि वहाँ की सुन्दरियाँ सदा कामोल्लसित रहती हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि महाकाल के ललाटस्थ चन्द्र से जो अमृतकिरण-वर्षा होती है, उज्जयिनी की सुन्दरियों के हृदय में स्थित काम उस अमृत का पान कर पुनरुज्जीवित हो गया। इस प्रकार शिव द्वारा कामदेहदाह व्यर्थ ही हो गया । उज्जयिनी में तो वह एक नहीं, अनेक रूपों में उत्पन्न है । मल्लिनाथ के अनुसार विषम अलंकार ॥९१॥

आगःशतं विदधतोऽपि समिद्धकामा नाधीयते परुषमक्षरमस्य वामाः ।
चान्द्री न तत्र हरमौलिशयालुरेका नाध्यायहेतुतिथिकेतुरपैति लेखा ॥९२॥

जीवातु—आग इति । समिद्धकामाः नित्यप्रदीप्तमन्मथाः, वक्रशीला अपि स्त्रियः, 'प्रतीपदर्शिनी वामा' इत्यमरः, आगसाम्, अपराधानां, शतं विदधतः कुर्वाणस्यापि, अस्य राज्ञः सम्बन्धि, परुषमक्षरं निष्ठुरवाक्यं, नाधीयते न पठन्ति न जानन्तीत्यर्थः, अत्रानध्याये हेतुमाह—तत्रोज्जयिन्यां, नाध्यायहेतुतिथेः अनध्यायहेतुतिथेः प्रतिपदः, केतुश्चिह्नभूता, हरमौलौ शयालुः स्थायुका, 'स्पृहि-गृहि-पति—'इत्यादौ आलुच्विधायकसूत्रे 'शीङो वाच्यः' इति वार्त्तिकात् आलुच् । एका चान्द्री लेखा शुक्लप्रतिपत्स्वरूपेत्यर्थः, नापैति, तत्र हरस्य नित्यस्थित्या तदीयशिरोगतैकेन्दुकलानित्ययोगात् सर्वासामपि तिथीनां शुक्लप्रतिपद्बुद्ध्या परुषाक्षरश्रुतीनां नित्यानध्याय इत्यर्थः, तत्र नित्यसन्निहितहरशिरश्चन्द्रिकोद्दीपित मन्मथाग्निकतया खण्डितादयोऽपि नायिकाः शतशोऽपराध्यन्तम् अपि एनं परुषम् आभाषितुं नोत्सहन्ते इति भावः । 'प्रतिपत्पाठशीलानां विद्येव तनुतां गता' इति वचनात् प्रतिपदि पाठ-

निषेधात् तत्र च नगर्यां प्रत्यहं हरशिरःस्थितैकचन्द्रकलया प्रतिपद्बुद्ध्या स्त्रियः भर्तुः समीपे श्रुतिपरुषाक्षरपाठं न कुर्वन्ति इति निष्कर्षः ॥ ९२ ॥

अन्वयः—समिद्धकामाः वामाः आगःशत विदधतः अपि अस्य परुषम् अक्षरं न अधीयते, तत्र नाध्यायहेतुतिथिभित्‌ हरमौलिशयालुः एका चान्द्री लेखा न अपैति ।

हिन्दी—जिनमें काम प्रदीप्त रहता है, ऐसी (उज्जयिनी की) नारियाँ सैकड़ों (सपत्नीभोगादि) अपराधों को करते भी इस (अवन्तिनाथ) के विषय में निष्ठुर शब्द नहीं कहतीं, वहाँ (उज्जयिनी में) अनध्याय की कारणभूता तिथि (प्रतिपदा) की भित्ति शिवशिर पर शयन करनेवाली एक चन्द्रकला हटती ही नहीं ।

टिप्पणी—उज्जयिनी की सुन्दरियाँ, वहाँ सदा चन्द्रलेखा के शिवशिर पर विराजमान होने से दृश्य होने के कारण, कामोद्दीप्त रहती हैं और इस अनेक नारियों के भोगी, अतएव शत-शत अपराधी अवन्तीश्वर से एक भी निष्ठुरतापूर्ण अक्षर का उच्चारण नहीं करतीं । वस्तुतः लगता है कि यह 'परुषाक्षर' का अकथन—'अनध्याय' इस कारण है कि वहाँ अनध्याय-तिथि प्रतिपद् सदा ही रहती है—एक चन्द्रकला शिवशेखर स्थिता हो, प्रतिदिन को प्रतिपद् ही बनाये रखती है, अतः 'अक्षराध्ययन' का नित्य अवकाश रहता है । प्रतिपदा को अध्ययन करनेवाले की विद्या जो क्षीण हो जाती है—'प्रतिपत्पाठशीलानां विद्येव तनुतां गता ।' सो 'वामा' सुन्दरियाँ 'परुषाक्षर' की अपनी स्वभावगत विद्या को क्षीण हो जाने दें ? एक प्रकार से अवन्तिनाथ में 'आगःशतकारी' होने के दोष का संकेत कर दिया गया । अनेक नारियों का भोगी है यह ॥ ९२ ॥

भूपं व्यलोकत न दूरतरानुरक्तं सा कुण्डिनावनिपुरन्दरनन्दना तम् ।
अन्यानुरागविरसेन विलोकनाद्वा जानामि सम्यगविलोकनमेव रम्यम्॥९३॥

जीवातु—भूपमिति । कुण्डिनावनिपुरन्दरस्य कुण्डिनभूमीन्द्रस्य भीमभूपस्य, नन्दना दुहिता, नन्द्यादित्वात् ल्युट्प्रत्यये टाप् । सा दमयन्ती, दूरतरानुरक्तम् अत्यनुरागिणमपि, तं भूपं न व्यलोकत नैक्षत, अत्रैतदेव वरमित्याह—वा अथवा, अन्यानुरागात् अन्यस्मिन् नले अनुरक्तत्वात्, विरसेन विरागेण, बध्नद्वयेत्यर्थः, विलोकनात्, विलोकनमपेक्ष्य, दर्शनापेक्षयेत्यर्थः, यवर्थे पञ्चमी,

सम्यक् सर्वथा, अविलोकनमेव अदर्शनमेव, रम्यं श्रेष्ठं, समीचीनमित्यर्थः, इति जानामि ॥ ९३ ॥

अन्वयः—सा कुण्डिनावनिपुरन्दरनन्दना दूरतरानुरक्तं तं भूपं न व्यलोकयत, वा अन्यानुरागनिरसेन विलोकनात् सम्यक् अविलोकनम् एव रम्यं जानामि ।

हिन्दी—उस कुण्डिनभूमीन्द्र (भीमराज) की नंदिनी (पुत्री दमयन्ती) ने अतीव मुग्ध उस राजा (अवंतीश्वर) को नहीं देखा, अथवा अन्य (व्यक्ति) के प्रति अनुराग होने के कारण रसहीन अवलोकन से तो सर्वथा अनवलोकन (न देखना) ही श्रेष्ठ समझता हूँ ।

टिप्पणी—दमयन्ती नलानुरक्ता थी, अतः उसने मुग्ध अवंतीश्वर की ओर दृष्टिपात नहीं किया । यह ठीक ही हुआ, क्योंकि जो अन्यके प्रति अनुरक्त है, वह अनुराग के केन्द्र प्रिय को छोड़ अन्य को नीरसतापूर्वक ही देखेगा; और नीरसतापूर्वक देखे जाने से तो न देखे जाना कहीं अच्छा ॥ ९३ ॥

भैमीङ्गितानि शिबिकामधरे वहन्तः साक्षान्न यद्यपि कथञ्चन जानते स्म ।
जज्ञुस्तथापि सविधस्थितसम्मुखीनभूपालभूषणमणिप्रतिबिम्बितेन ॥९४॥

जीवातु—भैमीति । शिबिकामधरे अधरप्रदेशे, वहन्तो वोढारः, भैमीङ्गितानि भैमीचेष्टितानि, यद्यपि कथञ्चन कथञ्चिदपि, साक्षात् प्रत्यक्षं, न जानते स्म न अजानन्, तथाऽपि सविधे स्थितेषु, सम्मुखं दृश्यते एभिरिति सम्मुखीनेषु साम्मुख्येन प्रतिबिम्बग्राहिष्वित्यर्थः, 'यथामुखसम्मुखस्य दर्शनः खः' इति खप्रत्ययः, भूपालस्यावनिराजस्य, भूषणमणिषु प्रतिबिम्बितेन भैमीप्रतिबिम्बेन हेतुना, जज्ञुः भैमीङ्गितानि अज्ञासिषुः ऊहितवन्त इति यावत् । जानातेर्लिट् ॥

अन्वयः—अधरे शिबिका वहन्तः भैमीङ्गितानि यद्यपि साक्षात् कथंचन न जानते स्म, तथापि सविधस्थितसम्मुखीनभूपालभूषणमणिप्रतिबिम्बितेन जज्ञुः ।

हिन्दी—नीचे-नीचे पालकी को ढोते (शिविकावाही) भीमपुत्री के संकेतों को यद्यपि प्रत्यक्षतः किसी प्रकार न जान पा रहे थे, तथापि समीप में संमुख बैठे पृथ्वीपालों के (पहिने) आभूषणों की मणियों में (भैमीसंकेतों के) प्रतिबिम्बित होने से (संकेतों को) जान गये ।

टिप्पणी—एक स्वाभाविक स्थिति का वर्णन। पालकी ढोनेवालों की दृष्टि में उनके निम्न भाग में रहने के कारण दमयन्ती के मुखादि के अनुभाव नहीं पड़ते थे, तथापि वे राजकुमारी की इच्छा समझ कर तदनुकूल कार्य करने लगते थे। समीप विद्यमान राजा जो रत्नमणिजटित आभूषण पहिने बैठे थे, दमयन्ती की चेष्टाएँ उनमें प्रतिबिंबित हो जाती थीं और वे समझ जाते थे।

भैमीमवापयत जन्यजनस्तदन्यं गंगामिव क्षितितलं रघुवंशदीपः।
गाङ्गेयपीतकुचकुम्भयुगां च हारचूडासमागमवशेन विभूषितां च ॥९५॥

जीवातु—भैमीमिति। जन्यजनो वाहकजनः, गाङ्गेयं हेम, तद्वत् पीतं गौरवर्णम्, अन्यत्र—गाङ्गेयेन भीष्मेण पीतं पुत्रत्वात् पानकर्मीभूतं, 'कशेरुहेम्नोर्गाङ्गेयं गाङ्गेयो गुहभीष्मयोः' इति वैजयन्ती। 'पीतः स्यात् पीतगौरयोः' इति विश्वः। कुचकुम्भयुगं यस्याः तां, च तथा, हाराः मुक्ताहाराः, चूडा बाहुविभूषणाः, 'चूडा बाहुविभूषणे' इति विश्वः। अन्यत्र—हरस्येयं हारी, चूडा शिखा हारचूडा महादेवशिरोभागः, 'पुंवत् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु' इति पुंवद्भावः, तत्समागमवशेन तदवस्थितिवशेन, विभूषिता च भैमी रघुवंशदीपो भागीरथः, गङ्गां भागीरथीं, क्षितितलमिव तत् ततः, अन्यं नृपम्, अवापयत निनाय, अवपूर्वकात् आप्नोतेर्ण्यन्ताल्लङि 'णिचश्च' इति तङ्। उपमालङ्कारः ॥९५॥

अन्वयः—जन्यजनः गाङ्गेयपीतकुचकुम्भयुगां हारचूडासमागमवशेन विभूषितां च गङ्गां रघुवंशदीपः इव भैमीं तदन्यं क्षितितलम् अवापयत।

हिन्दी—जिस प्रकार गंगापुत्र (स्कंद और देवव्रत भीष्म) द्वारा जिसके स्तनकलशयुगल का पान किया जा चुका है तथा हर (शंकर) के मस्तक के संग के कारण जो विशेषतया भूषित है, उस गंगा भागीरथी को रघुवंश के प्रदीप (भगीरथ) आकाश से भिन्न भूमितल पर ले आये थे, उसी प्रकार वाहकजन गांगेय अर्थात् सुवर्ण के समान पीत-गौर स्तन-कलशयुगलवती और हार (मुक्तामाला) तथा चूडा (भुजबंद) को धारण करने से सुमंडित भीमपुत्री को उस (अवंतीश्वर) से अतिरिक्त नृप के पास ले गया।

टिप्पणी—यहाँ गंगावतरण की पुराणकथा से दमयन्ती-संचार का वर्णन है। विशेषण शब्द अनेकार्थ हैं, जिनसे उपमान गंगा और उपमेय दमयन्ती—दोनों की समान विशेषता प्रकट हो जाती है। 'जन्यजन' भगीरथ राजा है, दमयन्ती

गंगा है, 'अन्य क्षितितल' पृथ्वीतल है। जैसे भगीरथ गंगा को आकाश से भूतल पर लाये, वैसे ही पालकीवाले दमयन्ती को अवंतिनाथ के समीप से अन्य राजा के पास ले गये। इस पद्य में 'गांगेयपीतकुचकुम्भयुगाम्' विशेषण में इतिहास के क्रम-भंग का दोष है। गंगावतरण भगीरथ ने किया था, जिनकी स्थिति भीष्म से पूर्व थी (स्कंद से कदाचित् नहीं), सो जब गंगावतरण हुआ, तब गंगा 'गांगेयपीतकुचकुम्भयुगा' नहीं थीं। इसी प्रकार भगीरथ को 'रघुवंशदीप' कहना इतिहास-क्रम-भंग है। भगीरथ इक्ष्वाकुवंश में रघु से पूर्व उत्पन्न हुए थे, जिस रघु को कालिदास ने दिलीप का पुत्र मान 'रघुवंश' महाकाव्य रचा है। रघु को 'भगीरथवंशदीप' एकबार कहा जा सकता है, भगीरथ को 'रघुवंशदीप' कहना इतिहास-क्रम-भंग-दोष है ॥९५॥

तां मत्स्यलाञ्छनदराञ्चितचापभासा नीराजितभ्रुवमभाषत भाषितेशा।
व्रीडाजडे! किमपि रूपय चेतसा चेत् क्रीडारसं वहसि गौडविडोजसीह ॥

जीवातु—तामिति। भाषितानां वाचाम्, ईशा अधिष्ठात्री, वाग्देवता सरस्वती, मत्स्यलाञ्छनस्य कामस्य, दराञ्चितस्य ईषदाकुञ्चितस्य, चापस्य भासा कान्त्या, नीराजिते निर्मञ्छिते, तदपेक्षयोत्कृष्टे इति भावः, भ्रुवौ यस्याः तादृशीं, तां भैमीम्, अभाषत, किमिति? व्रीडाजडे! हे लज्जाऽलसे! इह गौडविडोजसि गौडदेवेन्द्रे गौडदेशाधिपे इत्यर्थः, चेतसा क्रीडारसं क्रीडारागं, वहसि चेत् तदा किमपि रूपय साक्षात् वक्तुमशक्यत्वेऽपि किञ्चित् इङ्गितादिकं सूचय। अत्र स्मरचापभासा नीराजितत्वेन भ्रुवोस्तदपेक्षया आधिक्यवर्णनात् व्यतिरेकालङ्कारः ॥ ९६ ॥

अन्वयः—भाषितेशा मत्स्यलाञ्छनदराञ्चितचापभासा नीराजितभ्रुवं ताम् अभाषत—व्रीडाजडे, इह गौडविडोजसि चेतसा क्रीडारसं वहसि चेत् किम् अपि रूपय।

हिन्दी—वाणी की स्वामिनी (सरस्वती) ने मत्स्यचिह्न (काम) के कुछ खींचे गये धनुष् की कान्ति से जिसके भ्रूयुगल की आरती उतारी गयी है—अर्थात् ईषदारोहित कामचाप की कांति की अपेक्षा अधिक कान्तिमय भ्रूयुग्मधारिणी—ऐसी उस (दमयन्ती) से कहा—हे लज्जा से जडीभूते दमयन्ती, इस गौडाधिपति के प्रति यदि मनसे क्रीडा-रस को धारण करती हो (इच्छुक हो) तो कुछ संकेतादि से सूचित करो।

टिप्पणी—दमयन्ती को लज्जाजड देख सरस्वती को संदेह हुआ कि दमयन्ती संमुखस्थित गौडनरेश को वरने की कदाचित् इच्छा रखती है, लज्जा के कारण स्पष्टतया इच्छा व्यक्त नहीं कर पाती, अतः देवी ने आग्रह किया कि यदि वह इच्छुक है तो कुछ संकेत ही कर दे। और यदि इच्छुक नहीं है तो संकेत न करे, जिससे इसके परिचय में समय और शक्ति का अपव्यय न हो। मल्लिनाथ के अनुसार कामचाप की अपेक्षा भ्रूयुग्म के आधिक्य का वर्णन होने के कारण यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार है॥ ९६॥

एतद्यशोभिरमलानि कुलानि भासां तथ्यं तुषारकिरणस्य तृणीकृतानि।
स्थाने ततो वसति तत्र सुधाम्बुसिन्धौ रङ्कुस्तदङ्कुरवनीकवलाभिलाषात्॥

जीवातु—एतदिति। एतस्य राज्ञः, यशोभिः तुषारकिरणस्य इन्दोः अमलानि भासां कुलानि कान्तिवृन्दानि, तृणीकृतानि तृणत्वं प्रापितानि, नैर्मल्यगुणेन तुच्छीकृतानि इत्यर्थः, तथ्यं सत्यम्; ततः तृणीकरणादेव, रङ्कुः अङ्कमृगः, तदङ्कुरवनीकवलेषु तथाभूततृणाङ्कुरसमूहग्रासेषु, अभिलाषात्, तेषां कान्तिरूपतृणानाम्, अङ्कुराः प्ररोहाः वनी च जलं च, तत्कवले तृणजलग्रासे, अभिलाषादिति वाऽर्थः, वनीत्यत्र गौरादित्वात् ङीप्। 'वनं नपुंसकं नीरे निवासालयकानने' इति मेदिनी। सुधाम्बुसिन्धौ सुधाम्बुनः अमृतरूपजलस्य, सिन्धौ समुद्रे, तदाश्रये इत्यर्थः, तत्र इन्दौ, वसतीति स्थाने युक्तं, 'युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः। तृणोदकसम्पन्नस्थले मृगास्तिष्ठन्तीति। उत्प्रेक्षा॥ ९७॥

अन्वयः—एतद्यशोभिः तुषारकिरणस्य भासाम् अमलानि कुलानि तृणीकृतानि—तथ्यम्; ततः रङ्कुः तदङ्कुरवनीकवलाभिलाषात् सुधाम्बुसिन्धौ तत्र स्थाने वसति।

हिन्दी—इस (गौडेंद्र) के यशों ने तुषारकिरण (चन्द्र) की आभाओं के निर्मल समूह तिनके बना दिये हैं—यह एक तथ्य है; उसी कारण रङ्कु (चद्रांक का हरिण) उस (चंद्रकिरणभा) के अंकुरों के ग्रासों की इच्छा से सुधानीर के सागर वहाँ (चंद्र में) ठीक ही स्थान पर जा बसा है।

टिप्पणी—रंकु हिरण जो चन्द्र—सुधासागर में जा बसा है, वह इसी कारण कि वहाँ घास की प्रचुरता है। प्राणी जल-खाद्य से पूर्ण स्थान में रहेगा ही।

चंद्रकिरणभा राजा के यश के संमुख लाक्षणिक के अर्थों में ही 'तृणीकृत' (तुच्छ) नहीं हुई, वह वस्तुतः—अभिधार्थ में तृण हो गयी। अत्यंत यशस्वी है गौडाधिप। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा॥ ९७॥

आलिङ्गितः कमलवत्करकस्त्वयाऽयं श्यामः सुमेरुशिखयेव नवः पयोदः।
कन्दर्पमूर्द्धरुहमण्डनचम्पकस्रग्दामत्वदङ्गरुचिकञ्चुकितश्चकास्तु॥९८॥

जीवातु—आलिङ्गित इति। कमलवन्तौ सौभाग्यसूचकपद्मरेखायुक्तौ, करौ पाणी यस्य सः, शैषिकः कप्। अन्यत्र—कमलवन्तो जलवन्तः, तदारब्धाः इति यावत्, करकाः वर्षोपला यस्मिन् सः, 'सलिलं कमलं जलम्' इत्यमरः। श्यामः उभयत्र—श्यामवर्णः, नवः नूतनः, पयोदः सुमेरोः शिखया शृङ्गेणेव, अयं गौडनृपः, त्वया आलिङ्गितः सन् कन्दर्पस्य मूर्द्धरुहाणां केशानां, मण्डनं यच्चम्पकस्रग्दाम चम्पकपुष्पमाल्यं, तदिव यत् त्वदङ्गं तस्य रुच्या कान्त्या, कञ्चुकितः आवृतः, सम्मीलित इत्यर्थः, पयोदपक्षे—चम्पकस्रग्दामसदृशस्य त्वदङ्गस्य रुचिरिव रुचिर्यस्याः, तादृशया सुमेरुशिखयेत्यर्थः, कञ्चुकितः सम्मिश्रितः, चकास्तु प्रकाशतु, दीप्यतामित्यर्थः; श्यामवर्णः नवीनो मेघो यथा सौवर्णी सुमेरुगिरिं प्राप्य शोभते, तथा श्यामवर्णः अयं नृपतिः सुवर्णचम्पकगौरीं त्वां स्वीकृत्य शोभितो भविष्यति इति भावः॥ ९८॥

अन्वयः—कमलवत्करकः श्यामः नवः पयोदः अयं सुमेरुशिखया इव त्वया आलिङ्गितः कन्दर्पमूर्द्धरुहमण्डनचम्पकस्रग्दामत्वदङ्गरुचिकञ्चुकितः चकास्तु।

हिन्दी—कमल भाग्यरेखा चिह्न से युक्त, हाथवाला, श्यामलवर्ण, (अतएव) कमल (जल) से भरे करक (ओले) बरसानेवाले, श्याम, नये बादल-सा वह (गौडेंद्र) सुमेरु की शिखा के समान तुझ (दमयन्ती) से आलिंगन प्राप्त कर काम-मस्तक के केशों की शृंगाररूपा चंपकमाला के समान तेरे (दमयन्ती के) अंगों की आभा से आवृत वैसे ही आभासित हो, जैसे काम-मस्तक-केशों की शृंगार चंपकमालासदृश तेरे (दमयन्ती के) अंगों के समान रुचि है जिसकी, ऐसी सुमेरुशिखा से संलग्न हो बादल आभासित होता है।

टिप्पणी—नये बादल-सा श्यामल गौडेंद्र सुवर्णचंपा-सी गोरी दमयन्ती को प्राप्त कर वैसे ही शोभित हो, जैसे नवघन दमकती मेरु की चोटी पर

शोभता है। गौर-श्याम का प्रकृत्या आकर्षक संग। अनेकार्थ शब्दों के आधार पर उपमान-योजना ॥ ९८ ॥

एतेन सम्मुखमिलत्करिकुम्भमुक्ताः कौक्षेयकाभिहतिभिर्विबभुर्विमुक्ताः।
एतद्भुजोष्मभृशनिःसहया विकीर्णाः प्रस्वेदबिन्दव इवारिनरेन्द्रलक्ष्म्या ॥

जीवातु—एतेनेति। एतेन राज्ञा, कौक्षेयकाभिहतिभिः असिघातैः 'कुक्षि-ग्रीवाभ्यः श्वाऽस्यलङ्कारेषु' इति अभिरूपोऽर्थे कुक्षिशब्दात् ढकञ्-प्रत्ययः। विमुक्ताः कुम्भस्थलेभ्यः भूमौ विक्षिप्ताः, सम्मुखं यथा तथा मिलतां सङ्गच्छमानानां, युद्धार्थं सम्मुखागतानामित्यर्थः, करिणां गजानां, कुम्भेषु मुक्ताः कुम्भस्थलस्थमौक्तिकानि, एतस्य राज्ञः, भुजोष्मणो भुजप्रतापस्य, भृशं निः न, 'निर्निश्चयनिषेधयोः' इति वररुचिः। सहते इति निःसहा असहा, पचाद्यच्। तया सोढुमशक्यया, भुजोष्मसन्तप्तयेत्यर्थः, अरिनरेन्द्राणां लक्ष्म्या विकीर्णा विसृष्टाः, प्रस्वेदबिन्दव इव विबभुरित्युत्प्रेक्षा ॥ ९९ ॥

अन्वयः—एतेन कौक्षेयकाभिहतिभिः विमुक्ताः सम्मुखमिलत्करिकुम्भमुक्ताः एतद्भुजोष्मभृशनिःसहया अरिनरेन्द्रलक्ष्म्या विकीर्णाः प्रस्वेदबिन्दवः इव विबभुः।

हिन्दी—इस (गौडनरेश) द्वारा खड्गाघातों से (धरती पर) गिराये गये (युद्धार्थ) संमुख आये हाथियों के कुम्भस्थलों के मोती इस (गौडराज) की भुजाओं की ऊष्मा (ताप, गर्मी) को थोड़ा सा भी न सह पाती शत्रुनरेश की राज्यलक्ष्मी द्वारा टपकायी गयी पसीने की बूँदों जैसे प्रतिभासित हुए।

टिप्पणी—गौडनरेश गजयुद्ध में पारंगत है, बड़ी से बड़ी गजसेना को पराजित कर ये शत्रुराजा की राज्यलक्ष्मी का हरण कर लेते हैं। हाथियों के गण्डस्थल गौडराज अपने कृपाणाघातों से फाड़ डालते हैं। युद्धभूमि में गजगण्डस्थित मुक्तामालाओं के मोती इधर-उधर भूमि पर बिखर जाते हैं। प्रतीत होता है कि ये मोती नहीं, उस रिपुराज्यलक्ष्मी के स्वेदबिन्दु हैं, जिसे अपनी भुजाओं के मध्य गौडाधिप ने दबा लिया है और जो भुजताप को न सह पाती पसीने-पसीने हो गयी है। मल्लिनाथ ने 'इव'—प्रयोग के आधार पर यहाँ उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है ॥ ९९ ॥

आश्चर्यमस्य ककुभामवधीनवापदाजानुगाद्भुजयुगादुदितः प्रतापः।
व्यापत्सदाशयविसारितसप्ततन्तुजन्मा चतुर्दश जगन्ति यशःपटश्च ॥१००॥

जीवातु—आश्चर्यमिति। अस्य राज्ञः, आ-जानु जानुपर्यन्तं गच्छतीति तस्मात् आ-जानुगात् जानुमात्रलम्बिनः इत्यर्थः, अत्यल्पदूरप्रसारिणोऽपीति भावः, भुजयुगात् उदितः उत्थितः, प्रतापः ककुभाम् अवधीन् दिगन्तान्, अवापत् प्राप, एतत् आश्चर्यं, किञ्च सता शुद्धेन, आशयेन चित्तेन, विमारितेभ्योऽनुष्ठितेभ्यः इत्यर्थः, सप्ततन्तुभ्यः क्रतुभ्यः 'सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः' इत्यमरः। अन्यत्र—सदा सर्वदा, शयेन पाणिना, विसारितेभ्यः प्रसारितेभ्यः, सप्तभ्यः तन्तुभ्यः सूत्रेभ्यः, उपादान-कारणेभ्यः इत्यर्थः, जन्म यस्य सः यशःपटश्च चतुर्दश जगन्ति व्यापत् व्यानशे इति च आश्चर्यम्; क्रत्वनुष्ठानं दिगन्तविश्रान्तकीर्त्तिः सम्पत्तिश्च आ-जानुबाहुत्वस्य फलमिति भावः। अत्रात्यन्त्याद्‌दूरगामिनः भुजयुगरूपात् कारणात् अतिदूरगामिप्रतापस्य तथा सप्ततन्तुरूपाल्पकारणाच्चतुर्दशभुवनव्यापि यशःपटस्य चोत्पत्त्या विरुद्धकार्योत्पत्तिलक्षणो विषमालङ्कार॥ १००॥

अन्वयः—अस्य आजानुगात् भुजयुगात् उदितः प्रतापः ककुभाम् अवधीन् अवापत् सदाशयविसारितसप्ततन्तुजन्मा यशःपटश्च चतुर्दश जगन्ति व्यापत्—आश्चर्यम्।

हिन्दी—इस (गौडाधिप) के घुटनों तक जाते (लंबे) बाहुयुगल से उदित प्रताप दिशाओं के सीमांत तक पहुँच गया और सद्भाव से पूर्ण चित्त से किये सप्ततंतु अर्थात् यज्ञरूप—सदा 'शय' अर्थात् हाथ से फैलाये गये—सात सूतों से जनमा यश रूप वस्त्र चौदहों लोकों में व्याप्त हो गया—यह आश्चर्य है।

टिप्पणी—भाव यह कि गौडाधिप का प्रताप समस्त दिशाओं में व्याप्त है और यश चौदहों भुवनों में फैला है। यह आश्चर्य इसलिए है कि हाथ तो घुटनों तक ही लम्बे हैं, पर उनसे जन्म पाया प्रताप अर्थात् भुजपराक्रम से प्राप्त तेज इतनी दूर—दिक्सीमाओं तक जा पहुँचा; और दो हाथ और सात सूतों से बुने वस्त्र ने संसार को ढक लिया। कारण अल्प और कार्य विस्तृत—महान्। दो छोटे हाथों के द्वारा इतना महान् कार्य! ऐसा प्रतापी और यशस्वी नरेश है कोई जम्बूद्वीप में? अदूरगामी बाहुयुगल कारण से सुदूरगामी प्रताप-रूप कार्य और सात धागों (अल्प कारण) से बुने यशःपट-कार्य का दिक् सीमाओं तथा चौदहलोकों तक फैल जाना विरुद्ध कार्य है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार विषम अलंकार॥ १००॥

औदास्यसंविदवलम्बितशून्यमुद्रामस्मिन् दृशोर्निपतितामवगम्य भैम्याः।
स्वेनैव जन्यजनताऽन्यमजीगमत्तां सुज्ञं प्रतीङ्गितविभावनमेव वाचः ॥१०१॥

जीवातु—औदास्येति। जनीं वधूं वहन्तीति जन्याः, ता जनता जनसमूहश्च पाठीरमासो असामर्थ्यात्तदन्तविध्यभावाच्च विशेषणसमासः। अस्मिन् गौडभूपे, निपतितां भैम्या दृशोः चक्षुषोः सम्बन्धिनीम्, उदास्ते इत्युदासा पचाद्यच्, स्त्रियां टाप् तस्या भाव औदास्यमौदासीन्यं, ब्राह्मणादेः आकृतिगणत्वात् ष्यञ्। औदास्यसंविदाऽपेक्षाबुद्ध्या अवलम्बितां शून्यमुद्रां निःस्पृहावस्थानत्वम्, अवगम्य स्वेनैव स्वत एव, वाचं विनैव इत्यर्थः, तां भैमीम् अन्यं नृपम्, अजीगमत् गमितवती, गमेर्णौ चङ्, तथा हि, सुज्ञं विज्ञं, प्रति इङ्गितविभावनं नेत्रादिचालनाविशेषणं हृद्गतभावप्रकटनमेव, वाचः आदेशवाक्यानि, प्रेरणानि इत्यर्थः, स्वामिङ्गितज्ञस्य हि किं तद्वाग्भिरिति भावः। अत्र सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥ १०१॥

अन्वयः—जन्यजनता अस्मिन् निपतितां भैम्याः दृशोः औदास्यसंविदवलम्बितशून्यमुद्राम् अवगम्य स्वेन एव ताम् अन्यम् अजीगमत्—सुज्ञं प्रति इङ्गितभावनम् एव वाचः।

हिन्दी—शिविकावाहकसमूह इस (गौडराज) के प्रति भीमसुता के नयनों की उपेक्षाबुद्धि से आधृत निःस्पृहता की मुद्रा को जानकर स्वयं ही उस (दमयन्ती) को अन्य (राजा) की ओर ले गया। समझदार को संकेतों से भाव प्रकट कर देना ही वचन है।

टिप्पणी—पालकीवाले समझदार थे। दमयन्ती की प्रेमहीन मुखमुद्रा से वे समझ गये कि गौडराज में दमयन्ती की रुचि नहीं है और वे वहाँ से हटा दमयन्ती को अन्य राजा के समीप ले गये। समझदार को संकेत पर्याप्त होता है, उससे कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती। स्वामी के संकेत ही आज्ञावचन होते हैं विज्ञ सेवक के लिए। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ सामान्य से विशेष समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है॥ १०१॥

एतां कुमारनिपुणां पुनरभ्यभाणीत् वाणी सरोजमुखि! निर्भरमारभस्व।
अस्मिन्नसङ्कुचितपङ्कजसख्यशिक्षानिष्णातदृष्टिपरिरम्भविजृम्भितानि ॥

जीवातु—एतामिति। वाणी वाग्देवी, कुमारी च सा निपुणा चेति तां

कुमारनिपुणां कुमारीत्वेऽपि नल-तदितरयोः वैशिष्ट्याभिज्ञामिति भावः, 'कुमारः श्रमणादिभिः' इति समासः। 'स्त्रियाः पुंवत्—' इत्यादिना पुंवद्भावः। अथवा—कोः पृथिव्याः, मारे कन्दर्पभूते नले इत्यर्थः, निपुणाम् आसक्ताम्, एतां भैमीं, पुनरप्यभाणीत् अवोचत्; हे सरोजमुखि! अस्मिन् नृपे, असङ्कुचितेन विकसितेन, पङ्कजेन सह सख्यशिक्षायां मैत्रीकरणे, निष्णातया कुशलया, तत्सदृशया इत्यर्थः 'निनदीभ्यां स्नातेः कौशले' इति षत्वम्। दृष्ट्या परिरम्भ-विजृम्भितानि आलिङ्गनचेष्टितानि, निर्भरं गाढम्, आरभस्व कुरु, एनं पश्येत्यर्थः ॥ १०२ ॥

अन्वयः—वाणी एतां कुमारनिपुणां पुनः अपि अभाणीत्—सरोजमुखि अस्मिन् असङ्कुचितपङ्कजसख्यशिक्षानिष्णातदृष्टिपरिरम्भविजृम्भितानि निर्भरम् आरभस्व।

हिन्दी—सरस्वती ने इस (दमयन्ती) चतुरा कुमारी (अथवा 'कु' (पृथ्वी) में 'मार' (काम) अर्थात् नल में आसक्त) से पुनः कहा—हे कमलानने, इस (मथुरा-नरेश) के प्रति खिले कमलों की सहपाठिनी, शिक्षा-पारंगता (विकसित-कमलसदृशी) दृष्टि के आलिंगन की चेष्टाओं का भलि-भाँति प्रसार करो।

टिप्पणी—देवी सरस्वती ने मथुरेश पृथु को भलीभाँति देखने की संमति दमयन्ती को दी। अबतक के क्रियाकलाप ने कुमारी दमयन्ती की चतुरता को स्पष्ट कर दिया था। कुमारी होती हुई भी वह नासमझ नहीं थी, नल और अन्य राजा के अन्तर को भलीभाँति समझती थी ॥ १०२ ॥

प्रत्यर्थिपार्थिवपयोनिधिमाथमन्थपृथ्वीधरः पृथुरयं मथुराऽधिनाथः।
अश्मश्रुजातमनुयाति न शर्वरीशः श्यामाङ्ककर्बुरवपुर्वदनाब्जमस्य ॥१०३॥

जीवातु—प्रत्यर्थीति। प्रत्यर्थिपार्थिवपयोनिधिमाथे वैरिभूपाब्धिमन्थने, मन्थपृथ्वीधरो मन्थाचलः मन्दरः, अतिवीर इत्यर्थः, पृथुमहान् अयं पुरोवर्त्ती नृपः, मथुराऽधिनाथो मथुरानगरीशः, जातं श्मश्रु अस्य इति श्मश्रुजातं, तन्न भवतीति अश्मश्रुजातम् आहिताग्न्यादित्वान्निष्ठायाः परनिपातः। अनुत्पन्नश्मश्रु, अस्य राज्ञः, वदनाब्जं मुखपद्मं, श्यामेन अङ्केन कलङ्केन, कर्बुरवपुः शबलाङ्गः, शर्वरीशः चन्द्रः, नानुयाति नानुकरोति, सकलङ्कनिष्कलङ्कयोः कुतः साम्यमिति

भावः । अश्मश्रुजातम् इति वयःसन्धौ वर्त्तमानः एष तव वरणयोग्य इति तात्पर्यम् ।। १०३ ।।

अन्वयः—प्रत्यर्थिपार्थिवपयोनिधिमाथमन्थपृथ्वीधरः अयं पृथुः मथुराऽधिनाथः, अस्य अश्मश्रुजातं वदनाब्जं पुनः श्यामाङ्ककर्बुरवपुः शर्वरीशः न अनुयाति ।

हिन्दी—शत्रु पृथ्वीपालरूपी समुद्रों का मंथनकर्त्ता मंदराचल यह 'पृथु' मथुरा का पृथु (महान्) अधीश्वर है; इसके दाढी-मूँछ-रहित मुख कमल का काले चिह्न से कलंकित देहवाला निशानाथ अनुगमन नहीं करता ।

टिप्पणी— मथुरेश पृथु की चार विशेषताएँ संकेतित की गयीं—(१) वह शत्रुजयी वीर है, (२) महान् है (३) वयःसंधि कुमार है, जिस की दाढी-मूँछ भी अभी स्पष्ट नहीं है और (४) निष्कलंक है, जिसके मुख की कलंकी चन्द्र समानता नहीं कर सकता ।। १०३ ।।

बाले ! ऽधराधरितनैकविधप्रबाले ! पाणौ जगद्विजयकार्मणमस्य पश्य ।
ज्याऽऽघातजेन रिपुराजकधूमकेतुतारायमाणमुपरज्य मणिं किणेन ।।१०४।।

जीवातु— बाले इति । अधरेण ओष्ठेन, अधरिता अधरीकृता, नैकविधा अनेकविधाः, नञ्समासः, प्रवालाः विद्रुमपल्लवरूपाः यया सा तथाविधे ! हे बाले ! अस्य मथुरेश्वरस्य, पाणौ जगद्विजयस्य कार्मणं वशीकरणौषधं ज्याऽऽघातजेन किणेन ग्रन्थिना उपरज्य उपरागं प्राप्य, श्यामवर्णतां प्राप्येत्यर्थः, स्थितमिति शेषः, रिपोः शत्रुभूतस्य, राजकस्य राजसमूहस्य, धूमकेतुतारायमाणं धूमकेत्वाख्यनक्षत्रवदाचरन्तं, राजक्षयकारकत्वात् तद्वदुपप्लवायमानमित्यर्थः, आचारे क्यङन्ताल्लटः शानच्, मणिं कङ्कणमाणिक्यं, पश्य ।। १०४ ।।

अन्वयः—अधराधरितनैकविधप्रवाले बाले, अस्य पाणौ जगद्विजयकार्मणं ज्याघातजेन किणेन उपरज्य रिपुराजकधूमकेतुतारायमाणं मणिं पश्य ।

हिन्दी—अधर (नीचे के श्रेष्ठ) के द्वारा अनेक प्रकारके प्रवालों मूँगों अथवा पल्लवों की अवमानना करनेवाली बाले (दमयन्ती), इस (मथुरेश) के हाथ में संसार-जय की वशीकरणौषध, (धनुष् की) प्रत्यंचा के आघात से उत्पन्न गाँठ से, रंजित हो काली हुई, शत्रुनृपों के निमित्त धूमकेतु नक्षत्र (विनाशसूचक तारक) बनती कंकण-मणि को देख ।

टिप्पणी—मथुरेश पृथु शत्रुजयी है, यह उसके हाथ में पड़ी उस ग्रन्थि से ज्ञात होता है, जो निरन्तर धनुष् की डोरी खींचने से पड़ गयी है। बाणवर्षा से मथुरेश ने अनेक शत्रु राजाओं का वध किया है। एक प्रकार से यह ग्रन्थि और उससे काला पड़ा कंकण रत्नविनाशसूचक धूमकेतु तारा है, जो शत्रुनाश का द्योतक है ॥ १०४ ॥

एतद्भुजारणिसमुद्भवविक्रमाग्निचिह्नं धनुर्गुणकिणः खलु धूमलेखा।
जातं ययाऽरिपरिषन्मशकार्थयाऽश्रुविस्रावणाय रिपुदारदृगम्बुजेभ्यः ॥१०५॥

जीवातु—एतदिति। एतस्य राज्ञः, भुजाया एव अरणेः निर्मन्थ्यकाष्ठात्, 'निर्मन्थ्यदारुणि त्वरणिर्द्वयोः' इत्यमरः। समुद्भवस्य समुत्पन्नस्य, विक्रमाग्ने चिह्नमनुमापकं लिङ्गं, धनुर्गुणकिणो ज्याऽऽघातरेखा, धूमलेखा धूमरेखा, खलु निश्चये; अरिपरिषदः अरिसङ्घाः, ता एव मशकास्तदर्थया तन्निवृत्त्यर्थया, 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमरः। अर्थेन सह नित्यसमासः सर्वलिङ्गता च वक्तव्या। यया धूमलेखया, रिपुदाराणां दृगम्बुजेभ्यो नयनारविन्देभ्यः, अश्रुविस्रावणाय बाष्पोद्गमाय, जातम्; धूमोत्पीडनादश्रुस्रावो जायते; अयं शत्रुघाती बलवांश्चेति भावः। अत्र रूपकालङ्कारः ॥१०५॥

अन्वयः—धनुर्गुणकिणः एतद्भुजारणिसमुद्भवविक्रमाग्निचिह्नं धूमलेखा किल, अरिपरिषन्मशकार्थया यया रिपुदारदृगम्बुजेभ्यः अश्रुविस्रावणाय जातम्।

हिन्दी—धनुष् की डोरी के आघात का घट्ठा (गाँठ) निश्चयतः इस (पृथुराज) की बाहुरूप अरणि (अग्नि उत्पन्न करने की लकड़ी) से उत्पन्न पराक्रम रूप अग्नि की चिह्नभूता धूमरेखा है, शत्रुसमाजरूपी मच्छरों को भगाने के कारण जिससे शत्रुनारियों के नेत्र-कमलों से आँसू बहने लगते हैं।

टिप्पणी—भाव यह कि पृथुराज बडा वीर है। शत्रु जयार्थं निरन्तर बाणवर्षा करने से जिसके हाथ में प्रत्यंचा की रगड़ से घट्ठा पड़ गया है। शत्रुओं का नाश हो जाने के कारण उनकी पत्नियों की आँखों से आँसू बहा करते हैं। आँसू आँखों में धुआँ लगने से भी बहते हैं, इस आधार पर यह कल्पना की गयी कि शत्रु मच्छर-तुल्य क्षुद्र और नगण्य थे; पृथुराज ने आग जला कर धुआँ कर दिया और उनसे छुटकारा पा लिया। वही धुआँ उन

'मच्छरों' की पत्नियों के कमल-सदृश नयनों में जा लगा, जिससे उनसे आँसू बह रहे हैं। 'धनुर्गुणकिण'—प्रत्यंचासे पड़ा घट्ठा आग जलाये जाने का चिह्न धूम है, जिससे आग का अनुमान होता है—'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः।' आग पृथु का पराक्रम है, जो उसकी भुजा रूपी अरणि की रगड़ से उत्पन्न हुई है। मल्लिनाथ के अनुसार रूपकालंकार ॥ १०५ ॥

श्यामीकृतां मृगमदैरिव माथुरीणां धौतैः कलिन्दतनयामधिमध्यदेशम्।
तत्राप्तकालियमहाह्रदनाभिशोभां रोमावलीमिव विलोकयितासि भूमेः ।१०६।

जीवातु—श्यामीति। माथुरीणां मथुरानगरीजातस्त्रीणां, 'तत्र जातः' इत्यण्-प्रत्यये ङीप्, धौतैर्जलक्रीडासु क्षालितैः, मृगमदैः कस्तूरिकाभिरिवेत्युत्प्रेक्षाः श्यामीकृतां, मध्यदेशे अधि इति अधिमध्यदेशं मध्यदेशविशेषे देहमध्यभागे च, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। आप्ता प्राप्ता, कालियस्य कालियनागस्य, महाह्रद एव नाभिः तस्याः शोभा यया ताम्, अत एव भूमेः रोमावलीमिव स्थितामित्युत्प्रेक्षा, कलिन्दतनयां कालिन्दीं, तत्र मथुरायां, विलोकयितासि विलोकयिष्यसि ॥ १०६ ॥

अन्वयः—तत्र माथुरीणां धौतैः मृगमदैः इव श्यामीकृताम् अधिमध्यदेशम् आप्तकालियमहाह्रदनाभिशोभां भूमेः रोमावलीम् इव कलिन्दतनयां विलोकयितासि।

हिन्दी—वहाँ (मथुरा में) मथुरावासिनी नारियों की धुली कस्तूरी से जैसे काली हुई, मध्यभाग में कालिय (नाग) के महाकुण्ड (कालीयदह) रूप नाभि से शोभित धरती की रोमावली सदृश कालिंदजा (कालिंदी यमुना) को देखोगी।

टिप्पणी—यमुना श्यामवर्णा है। श्यामा यमुना की उद्भावना यहाँ भूमि सुन्दरी की रोमावली के रूप में की गयी है। यह वस्तुतः श्यामा नहीं है, माथुरी सुंदरियों के कुचमंडल पर लगे कस्तूरी-लेप के जल में स्नान करते समय अथवा जलक्रीडा के समय—घुल कर मिल जाने से श्यामा हो गयी है। मध्यदेश—कटिप्रदेश में कालियदह नाभिरूप है। इसी कालियदह-नाभि के चारों ओर यमुनारूपिणी रोमावली है। भाव यह है कि मथुरेश के वरण से

दमयन्ती को भी श्यामा यमुना में जलविहार का आनन्दावसर प्राप्त होगा। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ १०६ ॥

गोवर्द्धनाचलकलापिचयप्रचारनिर्वासिताहिनि घने सुरभिप्रसूने।
तस्मिन्ननेन सह निर्विश निर्विशङ्कं वृन्दावने वनविहारकुतूहलानि ॥१०७॥

जीवातु—गोवर्द्धनेति। गोवर्द्धनाचले ये कलापिचयाः केकिव्रजाः तेषां प्रचारेण सञ्चारेण, निर्वासिताहिनि निष्कासितभुजङ्गमण्डले, अत एव सुख-सञ्चारे इत्यर्थः, घने निबिडे अत एव निरातपे इति भावः, सुरभिप्रसूने सुगन्धकुसुमसमृद्धया विहारयोग्ये इत्यर्थः, तस्मिन् प्रसिद्धे यत्र पुरा गोपालमूर्तिः कृष्णो विजहारेति भावः, वृन्दावने वृन्दाख्ये वने अनेन राज्ञा सह, निर्विशङ्कं विस्रब्धं, वनविहारकुतूहलानि काननक्रीडासुखानि, निर्विश भुङ्क्ष्व, 'निर्विशो भृतिभोगयोः' इत्यमरः। साभिप्रायविशेषणत्वात् परिकरालङ्कारः ॥ १०७ ॥

अन्वयः—गोवर्द्धनाचलकलापिचयप्रचारनिर्वासिताहिनि सुरभिप्रसूने घने तस्मिन् वृन्दावने अनेन सह निर्विशङ्कं वनविहारकुतूहलानि निर्विश।

हिन्दी—गोवर्द्धन गिरि पर मयूरवृन्द के संचरण के कारण जहाँ से साँप निर्वासित हो गये हैं, ऐसे सुगन्धि सुमनों से भरे-पुरे सघन उस वृन्दावन में इस (मथुरानाथ) के साथ निःशंक हो वनविहार का प्रचुर सुख भोगना।

टिप्पणी—वृन्दावन घना है, परन्तु सर्पादि के भय से मुक्त है, क्योंकि गोवर्द्धनपर्वत की मयूरमण्डली के डर से वे सर्प वृन्दावन से भाग गये हैं। सुगन्धि सुमनों से वह सौरभमय है। यह वही वृन्दावन है, जहाँ कभी गोपाल-कृष्ण विहार किया करते थे—नारायण के अनुसार 'वृन्दस्य गोपालसङ्घस्य वने।' वृन्द अर्थात् गोपसंघ का वन। आनन्दविहारी—मौज-मस्ती वाली गोपाल जाति की विहारस्थली। यहाँ वनविहार का सुख एक बड़ा ऐश्वर्य है। मथुरेश-वरण की एक और उपलब्धि। साभिप्राय विशेषण होने से मल्लिनाथ के अनुसार परिकरालंकार ॥ १०७ ॥

भावी करः कररुहाङ्कुरकोरकोऽपि तद्वल्लिपल्लवचये तव सौख्यलक्ष्यः।
अन्तस्त्वदास्यहृतसारतुषारभानुशोभानुकारिकरिदन्तजकङ्कणाङ्कः ॥१०८॥

जीवातु—भावीति। त्वदास्येन अनेन तव मुखेन, हृतसारस्य हृतकान्ति-

सर्वस्वस्य, तुषारभानोः चन्द्रस्य, या शोभा पराजयनिमित्ता पाण्डुच्छाया, तदनुकारी तत्सदृशः, यः करिदन्तः तज्जं कङ्कणमङ्कश्चिह्नं यस्य तादृशः, तव करः, कररुहा नखाः, अङ्कुरा अभिनवोद्भिन्ना इवेत्युपमितसमासः, त एव कोरकाः कलिकाः यस्य तादृशः सन्नपि, लोहितत्वात् कोमलत्वाच्च अयं कररुहः कोरको वेति सन्देहविषयीभूतोऽपीत्यर्थः, तद्वल्लिपल्लवचये वृन्दावनलताकिसलयजाले, अन्तर्मध्ये, सौख्येन अनायासेन, लक्ष्यः दर्शनीयः, अदुर्ग्रह इति यावत्, भावी, करिदन्तजातवलयचिह्नेन अयं कर इति निश्चितो भविष्यतीति भावः। अत्र पल्लवोपचयकाले तत्सादृश्यात् सन्दिग्धस्य भैमीकरस्य दन्तवलयेन निश्चयान्निश्चयान्तः सन्देहालङ्कारः ॥ १०८ ॥

अन्वयः—अन्तस्त्वदास्यहृतसारतुषारभानुशोभानुकारिकरिदन्तजकङ्कणाङ्कः तव करः कररुहाङ्कुरकोरकः अपि तद्वल्लिपल्लवचये सौख्यलक्ष्यः भावी।

हिन्दी—मध्यस्थल में तेरे (दमयन्ती के) मुख के द्वारा (मुखरचनार्थ) जिसका सार हर लिया गया है, ऐसे चन्द्र की शोभा के अनुकरणकर्त्ता हाथी-दाँत कंकण से चिह्नित (युक्त) तेरा (दमयन्ती) का हाथ नखांकुर रूप कलियों से युक्त होने पर भी उस (वृन्दावन) की लताओं और पल्लवों के समूह में सुखपूर्वक लक्षित हो जायेगा।

टिप्पणी—दमयन्ती के मुख की रचना के निमित्त चन्द्र के मध्य से उसका सार ले लिया गया, अतः वह फीका पड़ गया—पांडु। उसी वर्ण के हाथी-दाँत का बना—अथवा बीच में रिक्त चन्द्र-सदृश गोलाकार कंकण हाथ में वृन्दावनविहारिणी दमयन्ती पहिने होगी। वहाँ स्त्रियाँ प्रायः गजदन्त का कंकण पहिनती ही हैं। यद्यपि दमयन्ती का हाथ लाल और मृदु-कोमल तथा नखरूप कलियों से युक्त होने के कारण इस संदेह का कारण बन सकता है कि यह दमयन्ती-कर है अथवा वृन्दावन में प्रचुरता से उगी लताओं का पल्लव, तथापि उसमें पहिना हुआ गजदंतवलय इस संदेह का निराकरण कर देगा। हाथ में कंकण होता है, पल्लव में नहीं। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ सादृश्य के कारण पल्लवों के मध्य संदिग्ध भैमी-कर का दन्तवलय-धारण से निश्चय हो जाने से निश्चयांत संदेहालंकार है ॥ १०८ ॥

तज्जः श्रमाम्बु सुरतान्तमुदा नितान्त-
मुत्कण्टके स्तनयुगे तव सञ्चरिष्णुः।
खञ्जन् प्रभञ्जनजनः पथिकः पिपासुः
पाता कुरङ्गमदपङ्किलमप्यशङ्कम् ॥१०९॥

जीवातु——तज्ज इति। सुरतान्ते सुरतक्रियावसाने, या मुत् तया मुदा आनन्देन, नितान्तमुत्कण्टके कण्टकिते पुलकाञ्चिते च, तव स्तनयुगे सञ्चरिष्णुः सञ्चरणशीलः, खञ्जन् तरुलतादिगहनत्वात् मन्दीभवन्, अन्यत्र—कण्टकवेधात् खोडन् विकलं गच्छन्नित्यर्थः, खञ्जैर्गतिवैकल्यार्थाल्लटः शत्रादेशः। गतावित्यनुवृत्तौ विकलायान्तु द्वयं खञ्जति खोडतीति भट्टमल्लः। पथिकः, सदागतिः अध्वगमनश्रान्तश्च, अत एव पिपासुः तृषितः, तस्मिन् वृन्दावने जातः तज्जः, 'सप्तम्यां जनेर्डः'। प्रभञ्जनो वायुः, स एव जनः कुरङ्गमदेन मृगमदेन, पङ्किलं निर्मलजलाभावात् सपङ्कमपि, श्रमाम्बु सुरतजन्यस्वेदोदकम्, अशङ्कम्, असङ्कोचं, निर्विचारं यथा तथा इत्यर्थः, पाता पास्यति, स्वेदं हरिष्यतीत्यर्थः। पिबतेः कर्त्तरि लुट्, यथा अतिश्रान्तः तृषितः पान्थः कण्टकाकीर्णदेशस्थं तथा पङ्किलमपि जलं प्रायेण स्वोदरपूरं पिबति तद्वदिति भावः॥ १०९॥

अन्वयः—सुरतान्तमुदा नितान्तम् उत्कण्टके तव स्तनयुगे सञ्चरिष्णुः खञ्जन् पथिकः पिपासुः तज्जः प्रभञ्जनजनः कुरङ्गमदपङ्किलम् अपि श्रमाम्बु अशङ्कम् पाता।

हिन्दी——रतिक्रिया की समाप्ति पर संजात आनन्द से नितांत उत्कंटित (रोमांचित और काँटों भरे) तुम्हारे स्तनयुगल पर संचरण करने वाला (अतएव काँटा गड़ने से) मंदगति (लँगड़ा कर चलता) पंथी, प्यासा वहाँ (वृन्दावन में) उत्पन्न प्रभंजन-पुरुष (तीव्रपवनरूप नायक) कस्तूरी से गँदला (मलिन) भी सुरत-श्रमोत्पन्न जल निःशंक हो पियेगा।

टिप्पणी—सुरतांत का वर्णन। वृन्दावनविहार में रतिक्रीडा में आ गये स्वेद को वहाँ बहता शीतल, मन्द, सुगन्धि पवन सुखादेगा। पवन की 'प्रभंजन-जन' अर्थात् तीव्रगामी पथिक के रूप में कल्पना की गयी है। वह कंटकित स्तनयुग रूप पर्वत-मार्ग पर चढ़कर चलने लगा, फलतः उसके पैर में काँटा

गढ़ गया। वह लँगड़ा कर चलने लगा धीरे-धीरे। ऊँचाई पर चढ़ने से प्यास भी लग आयी। प्यास बुझाने को मिलता है वहाँ केवल सुरत-श्रमजात स्वेद-जल, वह भी कस्तूरी-मलिन। प्यास कहाँ जल की स्वच्छता-मलिनता में विवेक रहने देती है—'प्यास न जाने धोबीघाट'—बस लँगड़ा, हारा-थका, प्यासा पवन-पथिक वह मलिन स्वेद-जल ही पी जाता है ॥ १०९ ॥

पूजाविधौ मखभुजामुपयोगिनो ये विद्वत्कराः कमलनिर्मलकान्तिभाजः।
लक्ष्मीमनेन दधताऽनुदिनं वितीर्णैस्ते हाटकैः स्फुटवराटकगौरगर्भाः ॥११०॥

जीवातु—पूजेति। मखभुजां देवानां, पूजाविधौ यज्ञादिकर्मणि, उपयोगिनः प्रतिग्रहोपकारिणः, ये विदुषां कराः पाणयः, कमलेन जलेन, दानसम्बन्धि-जलेन इति भावः, निर्मला या कान्तिः तद्भाजस्तद्विशिष्टाः; अथवा—कमलानां या निर्मलकान्तिस्तद्भाजः पद्मसदृशाः, ते विद्वत्कराः लक्ष्मीं दधता श्रीमता, अनेन राज्ञा, अनुदिनं वितीर्णैः दत्तैः, हाटकैः सुवर्णैः 'स्वर्णं सुवर्णं कनकं हिरण्यं हेम हाटकम्' इत्यमरः। स्फुटाः उज्ज्वलाः वराटकाः कर्णिकाः। 'बीजकोशो वराटकः कर्णिका कर्णिकश्च' इति वैजयन्ती, तद्वत् गौरा पीता अरुणा वा, गर्भा अभ्यन्तराणि येषां ते तादृशाः, कृता इति शेषः। 'गौरोऽरुणे सिते पीते' इति विश्वः। कमलानां कर्णिकावत् पाणिकमलानां हाटकैस्तद्वत्त्वं सम्पादित-मित्यर्थः; अतिदानशीलोऽयं नृपतिरिति भावः ॥ ११० ॥

अन्वयः—मखभुजां पूजाविधौ उपयोगिनः कमलनिर्मलकान्तिभाजः ये विद्वत्कराः ते लक्ष्मीं दधता अनेन अनुदिनं वितीर्णैः हाटकैः स्फुटवराटकगौरगर्भाः।

हिन्दी—यज्ञभोगी देवों के पूजा-विधान में उपयोगी, कमल की स्वच्छ प्रभा को धारते जो विद्वानों के हाथ हैं, वे लक्ष्मीधारी (श्रीसंपन्न) इस (पृथुराज) के द्वारा प्रतिदिन वितरित की जाती सुवर्णराशि से प्रकट बीज-कोश के सदृश पीत मध्य भाग वाले बना दिये गये हैं।

टिप्पणी—कमल के समान निर्मल, स्वच्छ हाथों से विद्वज्जन यज्ञादि क्रिया करते हैं। यह मथुरेश पृथु प्रतिदिन उन विद्वानों के हाथों में इतना स्वर्ण दान करके रखता है कि उससे बीज-कोष के सदृश उनका मध्यभाग—हथेली पीतवर्ण पड़ जाती है। भाव यह कि यह राजा धार्मिक और महान् दानी है ॥ ११० ॥

वैरिश्रियं प्रति नियुद्धमनाप्नुवन् यः किञ्चिन्न तृप्यति धरावलयैकवीरः।
स त्वामवाप्य निपतन्मदनेषुवृन्दस्यन्दीनि तृप्यतु मधूनि पिबन्निवायम्॥

जीवातु——वैरीति। धरावलये भूमण्डले, एकवीरः अद्वितीययोद्धा यः मथुरापतिः, वैरिश्रियं प्रति शत्रुलक्ष्मीं लक्ष्यीकृत्य, नियद्धं नितरां युद्धं, बाहुयुद्धमित्यर्थः, 'नियुद्धं बाहुयुद्धेऽथ' इत्यमरः। अनाप्नुवन् किञ्चित् ईषदपि, न तृप्यति न तद्विना सन्तुष्यतीत्यर्थः, यस्य भयात् युद्धं विनैव शत्रुनृपासमर्पितराजलक्ष्मीलाभेऽपि युद्धेच्छाविगमाभावात् अयं न किञ्चदपि सन्तुष्यतीति भावः स नियुद्धप्रियोऽयं राजा, त्वाम् अवाप्य निपततां मदनेषूणां कन्दर्पबाणभूतानां कुसुमानां, वृन्दात् स्यन्दन्ते स्रवन्तीति स्यन्दीनि, मधूनि मकरन्दान्, पिबन्निव तृप्यतु, त्वमस्य राजलक्ष्म्यपेक्षयाऽपि तृप्तिदायिनीति भावः। अत्र मदनेषुभूतकुसुममधुपानोत्प्रेक्षया तेषामेवेषुणां त्वत्समागमात् गाढानन्दकरित्वप्रतीतेः अलङ्कारेण वस्तुध्वनिः॥ १११॥

अन्वयः——धरावलयैकवीरः यः वैरिश्रियं प्रति नियुद्धम् अनाप्नुवन् किञ्चित् न तृप्यति, सः अयं त्वाम् अवाप्य निपतन्मदनेषुवृन्दस्यन्दीनि मधूनि पिबन् इव तृप्यतु।

हिन्दी——भूमंडल का अद्वितीय वीर जो (राजा पृथु) शत्रुलक्ष्मी का लक्ष्य करके प्रचुर युद्ध अथवा बाहुयुद्ध न पाकर थोड़ा-सा भी तृप्त नहीं होता, वह यह (पृथु) तुझ (दमयन्ती) को प्राप्त करके गिरते कामबाण—पुष्प-समूह से टपकते मधुरस को जैसे पीता हुआ तृप्त होगा।

टिप्पणी——भाव यह कि तेरे साथ कामक्रीडा करके पृथुराज को पूर्ण संतुष्टि प्राप्त होगी। स्वभावतः यह पराक्रमी है——धरामंडल का अद्वितीय शूर। जब तक यह वैरियों से मन भर कर युद्ध नहीं कर लेता, इसे तृप्ति नहीं मिलती, पर जब दमयन्ती प्राप्त हो जायेगी, तब जो कामयुद्ध होगा, उससे पृथु को पूर्ण तृप्ति मिलेगी। काम के पुष्पबाणों से टपका मधु ही जैसे इसे प्राप्त हो जायेगा। एक प्रकार से दमयन्ती पृथु को वैरि लक्ष्मी से भी अधिक काम्य और कमनीय है। वैरी तो बिना युद्ध किये ही इसे लक्ष्मी सौंप देते हैं, युद्धप्रिय पृथु को संतोष मिले तो कैसे मिले? दमयन्ती को लक्ष्य कर होने वाला

कामसंग्राम ही उसे तृप्त कर सकेगा। मल्लिनाथ के अनुसार कामबाण पुष्पों के मधुपान की उत्प्रेक्षा से उन्हीं बाणों के दमयन्ती-समागम के कारण गाढानन्दकारी होने की प्रतीति के कारण अलंकार से यहाँ वस्तु ध्वनि है ॥

तस्मादियं क्षितिपतिक्रमगम्यमानमध्वानमैक्षत नृपादवतारिताक्षी।
तद्भावबोधबुधतां निजचेष्टयैव व्याचक्षते स्म शिविकानयने नियुक्ताः॥११२॥

जीवातु—तस्मादिति। इयं भैमी, तस्मात् नृपात्, अवतारिताक्षी निवारितदृष्टिः सती, क्षितिपतीनां गन्तव्यनृपाणां, क्रमेणानुपूर्व्या, गम्यमानम् अध्वानम् ऐक्षत; अथ शिविकानयने नियुक्ताः शिविकावाहिनः, तस्या भावबोधे अभिप्रायज्ञाने, बुधतां पाण्डित्यं, निजचेष्टया अन्यतो नयनक्रिययैव व्याचक्षते स्म ज्ञापयामासुरित्यर्थः ॥ ११२ ॥

अन्वयः—तस्मात् नृपात् अवतारिताक्षी इयं क्षितिपतिक्रमगम्यमानम् अध्वानम् ऐक्षत; शिविकानयने नियुक्ताः निजचेष्टया एव तद्भावबुधतां व्याचक्षते स्म।

हिन्दी—उस राजा (मथुरेश पृथु) से नेत्र हटा इस (दमयन्ती) ने भूपतियों की ओर क्रमपूर्वक जानेवाले मार्ग को देखा; पालकी ढोने में नियुक्त (शिविकावाही) जनों ने अपने कर्म से ही उस (दमयन्ती) के अभिप्राय को समझ लेने का पांडित्य प्रकट कर दिया।

टिप्पणी—जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है, शिविकावाही चतुर सेवक थे—संकेतमात्र से स्वामिनी का अभिप्राय समझ लेते थे। दमयन्ती ने केवल एक-एक करके अन्य राजाओं की ओर जाने को बने मार्ग को देखा, उसकी प्रतिच्छाया नृपतियों के आभूषणों के रत्नों में पड़ती देख शिविकाधरों ने दमयन्ती की पालकी आगे बढ़ा दी,—और फिर एक बार स्वामिनी के भाव को समझ लेने का चातुर्य अपने क्रिया—व्यापार से प्रकट कर दिया। भाव यह कि वे पालकी अन्य नृप के समीप ले गये ॥ ११२ ॥

भूयोऽपि भूपमपरं प्रति भारती तां त्रस्यच्चमूरुचलचक्षुषमाचचक्षे।
एतस्य काशिनृपतेस्त्वमवेक्ष्य लक्ष्मीमक्ष्णोर्नुदं जनय खञ्जनमञ्जुनेत्रे ! ॥

जीवातु—भूयोऽपीति। भारती सरस्वती, भूयोऽप्यपरं भूपं राजानं, प्रति

लक्षीकृत्य, त्रस्यच्चमूरुचलचक्षुषं चकितहरिणचलाक्षीं, तां भैमीम्, आचचक्षेः किमिति ? खञ्जनमञ्जुनेत्रे ! हे खञ्जनाक्षि ! मञ्जुलाक्षीत्यर्थः, त्वम् एतस्य काशिनृपतेः काशिराजस्य, काशते इति काशिः 'सर्वधातुभ्य इन्' इत्युणादिसूत्रेण काशधातोरिन्-प्रत्ययः, ततः 'कृदिकारादक्तिन' इति सूत्रे ङीषो वैकल्पिकत्वेनात्र न ङीष्; अत एव काशी काशिः इति रूपद्वयमेव साधु । लक्ष्मीं शरीरशोभाम्, अवलोक्य अक्ष्णोः चक्षुषोः, मुदं हर्षं, जनय सम्पादय ॥ ११३ ॥

अन्वयः--भारती अपरं भूपं प्रति त्र्यस्यच्चमूरुचलचक्षुषं तां भूयः अपि आचचक्षे--खञ्जनमञ्जुनेत्रे, त्वम् एतस्य काशिनृपतेः लक्ष्मीम् अवेक्ष्य अक्ष्णोः मुदं जनय ।

हिन्दी सरस्वती ने अन्य भूपाल की ओर लक्ष्य करके डरते हरिण के सदृश चंचलनयना उस (दमयन्ती) से फिर कहा—हे खंजनपक्षी तुल्य मनोरम नेत्रों वाली (दमयन्ती), तू इस काशीनरेश की देहकांति को देख कर नयनों के निमित्त हर्ष उत्पन्न कर । (प्रसन्न हो) ।

टिप्पणी--दमयन्ती के नयन मृग के समान चंचल हैं और खंजन-सदृश मनोरम । उन सुन्दर नेत्रों को कुछ सुन्दर ही दीखना चाहिए । सो देवी सरस्वती ने सौन्दर्य की दृष्टि से आकर्षक देह यष्टिधारी काशिराज को भली-भाँति निहारने को दमयन्ती से कहा । इससे उसके सुन्दर नेत्रों को अवश्य सुख प्राप्त होगा । 'अक्ष्णोः' का सम्बन्ध काशिराज से भी जोड़ा जा सकता है—काशिराज की ओर देखकर उसके नयनों के लिए आनन्द-सामग्री प्रस्तुत करो । दमयन्ती को अपनी ओर देखती पा काशिराज आशान्वित होगा कि वह उसे वरेगी । उसे हर्ष होगा ॥ ११३ ॥

एतस्य साऽवनिभुजः कुलराजधानी काशीभवोत्तरणधर्मतरिः स्मरारेः ।
यामागता दुरितपूरितचेतसोऽपि पापं निरस्य चिरजं विरजीभवन्ति ।११४।

जीवातु—एतस्येति । स्मरारेः संसारार्णवकर्णधारस्य महादेवस्य सम्बन्धिनी, भवोत्तरणे लोकानां भवाब्धितरणे, धर्मतरिः मूल्यमगृहीत्वा पारकारिणी तरणिः, धर्मतरिग्रहणात् केवलं धर्मार्था नौः इत्यर्थः; 'स्त्रियां नौस्तरणिः तरिः' इत्यमरः । सा काशी एतस्यावनिभुजः काशीराजस्य, कुलराजधानी वंशपरम्परागतराजधानी; दुरितपूरितचेतसोऽपि अतिपापात्मानोऽपि, यां काशीम्,

आगताः निरजं चिरसञ्चितं, पापं निरस्य परित्यज्य, अविरजस्रो विरजसः सम्पद्यमाना भवन्ति विरजीभवन्ति वीतरजोगुणाः सत्त्वप्रधाना मुक्ता भवन्तीत्यर्थः । अभूततद्भावे च्विः 'अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लोपश्च' इति सकारलोपः ।। ११४ ।।

अन्वयः—याम् आगत्य दुरितपूरितचेतसः अपि निरजं पापं निरस्य विरजीभवन्ति, स्मरारेः भवोत्तरणधर्मतरिः सा काशी एतस्य अवनिभुजः कुलराजधानी ।

हिन्दी—जहाँ पहुँच कर पाप से भरे चित्तों वाले (जन) भी चिरकाल से संचित पाप का त्याग कर रजोगुण से रहित (धूलिरहित, स्वच्छ, निष्पाप) हो (सत्त्व से पूर्ण हो) जाते हैं, कामरिपु (शिव) की संसार (सागर) को पार कराने की धर्म-नौका वह काशी इस भूपति की वंशपरंपरा से राजधानी है ।

टिप्पणी—'काश्यां मरणान्मुक्तिः'—काशी में मृत्यु से मोक्ष मिलता है । मोक्ष निष्पाप जन ही पाते हैं । काशी सबको पापपंक से मुक्त कर मोक्ष दे देती है । शिव की काशी इस प्रकार सत्त्वसंचारिणी धर्म-नौका है । धूल—रज हटजाने से जैसे स्वच्छता आ जाती है, वैसे ही काशी में जा पहुँचने वाले व्यक्तियों के रजस्-तमस् गुण हटजाते हैं और शुद्ध सत्त्वगुण से मानस पूर्ण हो जाता है ।। ११४ ।।

आलोच्य भाविविधिकर्त्तृकलोकसृष्टिकष्टानि रोदिति पुरा कृपयैव रुद्रः ।
नामेच्छयेति मिषमात्रमधत्त यत्तां संसारतारणतरीमसृजत् पुरीं सः ।।११५।।

जीवातु—आलोच्येति । रुद्रो हरः, भाविन्याः विधिकर्त्तृकायाः ब्रह्मकर्त्तृकायाः, लोकसृष्टेः सृष्टप्राणिजातस्य, कष्टानि दुःखानि, आलोच्य विचार्य, कृपयैव न तूपाध्यन्तरेणेत्यर्थः, पुरा रोदिति अरुदत्, 'पुरि लुङ् चास्मे' इति चकारात् पुरा—शब्दयोगे भूतानद्यतनार्थे लट् । ननु यत् श्रूयते 'सोऽरोदीत्, यदरोदीत् तत् रुद्रस्य रुद्रत्वम्' इति, तत् व्याजमात्रमित्याह—नामेति । नामेच्छयेति रोदनाद्रुद्रनामाकाङ्क्षयाऽरोदीत् इति, यत् तत् मिषमात्रं व्याजमात्रम्, अधत्त धृतवान्, वस्तुतः प्राणिनां कष्टमवलोक्यैवारुदत् न तु स्वीयरुद्रनामेच्छयेत्यर्थः; कुतः ? यत् यस्मात्, स रुद्रः, संसारतारणतरिं तां पुरीं काशीम् असृजत्;

कृपालवो हि परदुःखेन दुःखायन्ते तत्प्रतीकरणोपायञ्च कुर्वन्तीति भावः। ततो नूनं कृपयैव अरोदीदित्युत्प्रेक्षा ॥ ११५ ॥

अन्वयः—पुरा रुद्रः भाविविधिकर्तृकलोकसृष्टिकष्टानि आलोच्य कृपया एव रोदिति, 'नामेच्छया'-–इति मिषमात्रम् अधत्त यत् संसारतारणतरीं तां पुरीम् असृजत्।

हिन्दी—प्राचीन काल में रुद्र (शिव) भविष्य में विधाता-द्वारा की जाने वाली लोक-सर्जना के कष्टों का विचार करके दया के कारण ही रोये थे; (उन्होंने ब्रह्माजी से) 'नाम पड़ जाये—इस इच्छा से रोता हूँ'—यह तो बहाना मात्र बनाया था, क्योंकि (रुद्र-शिव ने) संसार को (भवसागर से) तार देने वाली नौका उस (काशी) पुरी की सृष्टि जो कर दी।

टिप्पणी—कहा जाता है कि ब्रह्मा के ललाट से उत्पन्न होते ही बालक ने रोना आरम्भ कर दिया। पूछे जाने पर उत्तर दिया कि रोता इसलिए हूँ कि नाम मिल जाय—'रुद्र'। 'रोता' है यही रुद्र की रुद्रता है—नामकरण का कारण। किन्तु उस रुद्र ने इस काशीपुरी की सृष्टि की है, जो संसारिजनों को भवसागर से पार उतारने में नौका का कार्य करती है और उन्हें मोक्ष देती है। इससे लगता है कि 'नाम के लिए रोता हूँ'—यह तो बहाना मात्र था। वस्तुतः रुद्र रोये इसलिए थे कि उन्हें भास गया था कि ब्रह्मा जी जिस संसार की रचना—जीव-जगत् की सृष्टि कर रहे हैं, उसे अनेक कष्ट उठाने पड़ेंगे। इसी कारण वे रोये थे—'नामेच्छया' नहीं। उसी लोक-कष्ट को ध्यान में रख उन्होंने काशीपुरी की रचना की, जहाँ पहुँचने पर सांसारिक कष्टों पर जय प्राप्त हो जाती है। कृपालु जन परदुःख का विचार कर कष्ट पाते हैं और दुःख-निवारण का उपाय करते हैं। रुद्र निश्चयतः कृपा से ही रोये यह मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा है ॥ ११५ ॥

वाराणसी निविशते न वसुन्धरायां तत्र स्थितिर्मखभुजां भुवने निवासः।
तत्तीर्थमुक्तवपुषामत एव मुक्तिः स्वर्गात् परं पदमुदेतु मुदे तु कीदृक्?॥

जीवातु—वाराणसीति। वाराणसी काशी, वसुन्धरायां न निविशते भूलोकान्तःपातिनी न भवतीत्यर्थः, अत एव तत्र वाराणस्यां, स्थितिर्लोकानां निवासः, मखभुजां देवानां, भुवने लोके, स्वर्गे इत्यर्थः, निवासः स्वर्लोकवसतिः,

अत एव तस्याः स्वर्गत्वादेव, तस्मिन् तीर्थे मुक्तवपुषां त्यक्तकलेवराणां, मुक्तिरपवर्ग एव; तथा हि, स्वर्गात् स्वर्गरूपात् काशीतः, परम् उत्कृष्टं, कीदृक् पदन्तु कीदृशं स्थानं पुनः, मुदे प्रीतये, उदेतु ? उद्गच्छतु ? भवतु इत्यर्थः, तव इति शेषः, स्वर्गवास एव मर्त्यानां काम्यतमः, अतस्त्वं काशीराजं वरीत्वा काशीरूपस्वर्गवाससुखमनुभव इति भावः । यद्वा—स्वर्गादपवर्गात्, परमधिकम्, अपवर्गादन्यादृशं, कीदृक् पदन्तु स्थानं पुनः, मुदे आनन्दाय, उदेतु ? उत्पद्यताम् ? ते इति शेषः, न किञ्चिदन्यदित्यर्थः । सम्भावनायां लोट्, भूलोकवासिनां मृतानां स्वर्गः, स्वर्गवासिनान्तु मृतानाम् अपवर्ग एव परं पदं, न तु स्वर्ग एवोचितः, अतः सा काशी स्वर्ग एव इति भावः ॥ ११६ ॥

अन्वयः—वाराणसी वसुन्धरायां न निविशते; तत्र स्थितिः मखभुजां भुवने निवासः, अतः एव तत्तीर्थमुक्तवपुषां मुक्तिः, स्वर्गात् परं कीदृक् स्थानं नु मुदे उदेतु ?

हिन्दी—वाराणसी धरती पर नहीं बसी है; वहाँ निवास यज्ञभोक्ता देवों के लोक (स्वर्ग) में रहना है; इसीलिए उस काशीतीर्थ में देहत्यागियों की मुक्ति होती है; स्वर्ग से उत्कृष्ट और कौन-सा तो स्थान प्रसन्नता का निमित्त हो ।

टिप्पणी—वाराणसी में देहत्याग से मोक्ष तो मिलना ही चाहिए, अन्यथा वारणसीवासियों को प्रसन्नता कैसे होगी ? यह सामान्य नगरी तो है नहीं, अन्य नगरियों के तुल्य धरती पर स्थित । यह तो धरती पर नहीं, शिव के त्रिशूल पर अवलंबित है । यहाँ रहना स्वर्ग-निवास ही है । स्वर्गलोक से अच्छा अपवर्ग (मोक्ष) ही है । सो जैसे स्वर्गवासियों को केवल मोक्ष ही आनन्द दे सकता है, ऐसे ही काशीवासियों को भी । अतः काशीवासियों को मोक्षातिरिक्त मिले ही क्या ? भाव यह कि स्वर्ग-सदृश वाराणसी भी मोक्षदायिनी है । काशी स्वर्ग ही है ॥ ११६ ॥

सायुज्यमृच्छति भवस्य भवाब्धियादस्तां पत्युरेत्य नगरीं नगराजपुत्र्याः ।
भूताभिधानपटुमप्यतनीमवाप्य भीमोद्भवे ! भवतिभावमिवास्तिधातुः ॥११७॥

जीवातु—सायुज्यमिति । भीमोद्भवे ! हे भैमि ! भवाब्धियादः संसारसागरजजन्तुजातं, कर्तृ । 'यादांसि जलजन्तवः' इत्यमरः । नगराजपुत्र्याः

पत्युः पार्वतीपतेः सम्बन्धिनीं, तां नगरीं काशीम्, एत्य अस्तिधातुः 'अस भुवि' इत्ययं धातुः, भूताभिधानपटुम् अतीतकालाभिधानसमर्थाम्, अन्यत्र—भूतस्य सत्यस्य तारकब्रह्मरूपस्येत्यर्थः, अभिधाने उपदेशप्रापणे, पटुं समर्थाम्, इति नगरीपक्षे योज्यम्; अद्यतनीं लुङम् अवाप्य अद्यतनीति लुङ् पूर्वाचार्याणां संज्ञा आर्द्धधातुकोपलक्षणमेतत्, अस्तेर्भू भावस्यार्द्धधातुकाधिकारात् । अद्यतनीग्रहणन्तु उपमानोपमेययोरभिन्नलिङ्गत्वायेति द्रष्टव्यम् । भवतीति भावम् इव 'अस्तेर्भूः' इति विधानात् अस्-धातोर्भूधातुत्वमिव, भवस्य ईश्वरस्य, सयुजो भावः सायुज्यं तादात्म्यम्, ऋच्छति गच्छति ॥ ११७ ॥

अन्वयः—भीमोद्भवे, भवाब्धियादः भूताभिधानपटुं तां नगरीम् एत्य भूताभिधानपटुम् अद्यतनीम् अवाप्य भवतिभावम् अस्तिधातुः इव नगराजपुत्र्याः पत्युः भवस्य सायुज्यम् ऋच्छति ।

हिन्दी—हे भीमसुते (दमयन्ति), संसार-सागर का जीव (संसारी व्यक्ति) भूत अर्थात् सत्य तारक ब्रह्म का उपदेश देने में प्रवीण इस नगरी (काशी) में आकर, जैसे अतीत काल का अर्थ देने में समर्थ अद्यतनी अर्थात् लुङ् विभक्ति को प्राप्त कर 'अस्ति' (अस् भुवि—होना अर्थ की अस्) धातु 'भवति'-(भू-रूप)-भाव को प्राप्त कर लेती है, वैसे ही पर्वतराज की पुत्री (पार्वती) के पति भव (शिव) से ऐक्य (अद्वैतता) प्राप्त कर लेता है ।

टिप्पणी—काशी में देह त्यागने वाले को शिव 'तारकब्रह्म' का उपदेश करते हैं, जिससे वह शिव-सायुज्य (शिव से अद्वैतता—एकता) प्राप्त कर जीवन-मरण-बंधन से मुक्त हो जाता है । इसे एक व्याकरण-नियम से उपमा देकर स्पष्ट किया गया है । 'होना' अर्थद्योतक है धातु अस्—'अस् भुवि' (अदादिगण की परस्मैपदी धातु) । 'अद्यतनी' विभक्ति, अर्थात् लुङ् लकार में 'अस्तेर्भूः' (अष्टा० २।४।५२) नियम से 'अस्' धातु को 'भू' हो जाता है । 'भू सत्तायाम्' (भ्वादिगणी धातु) से ही 'भव' निष्पन्न होता है—'भवतीति भवः ।' तो जिस प्रकार भूतकाल का द्योतन करते लुङ् लकार में 'अस्ति' (अस् धातु) 'भवति' (भू धातु) का भाव—रूप प्राप्त कर लेती है, ऐसे ही काशी में संसारीजन 'भवतिभाव'—भव-सायुज्य प्राप्त कर लेता है । तादात्म्य हो जाता है भवानीपति से संसारी का ॥ ११७ ॥

निर्विश्य निर्विरति काशिनिवासि भोगान्
निर्माय नर्म च मिथो मिथुनं यथेच्छम् ।
गौरीगिरीशघटनाधिकमेकभावं
शर्मोर्मिकञ्चुकितमञ्चति पञ्चतायाम् ॥ ११८ ॥

जीवातु—निर्विश्येति । काशिः काशी, 'कृदिकारात् अक्तिनः' इति ङीषो वैकल्पिको भावः । तस्यां निवासि वास्तव्यं मिथुनं स्त्रीपुंसजातं, यथेच्छं, भुज्यन्ते इति भोगान् विषयान्, निर्विरति निर्विच्छेदं यथा तथा, निर्विश्य उपभुज्य, तथा मिथोऽन्योऽन्यं रहसि वा, नर्मक्रीडाञ्च निर्माय कृत्वा, पञ्चतायां मृत्यौ सत्यां, गौरीगिरीशयोर्घटनादर्द्धाङ्गसङ्घटनात्, अधिकमुत्कृष्टमेव, तत्र शरीरद्वयत्वेन प्रकाशः, अत्र तु शिवशरीरं एकत्वेनेति तदपेक्षया उत्कृष्टत्वमिति भावः, शर्मोर्मिभिः आनन्दलहरीभिः, कञ्चुकितं सञ्जातकञ्चुकम्, आवृतसर्वाङ्गमित्यर्थः, एकभावम् एकत्वरूपम्, अञ्चति प्राप्नोति, अन्यत्र सन्न्यासादिक्लेशात् मुक्तिः, इह तु भोगपूर्वकदेहत्यागेनापि मुक्तिरिति भावः ॥ ११८ ॥

अन्वयः—काशिनिवासि मिथुनं मिथः निर्विरति यथेच्छं भोगान् निर्विश्य नर्म च निर्माय पञ्चतायां गौरीगिरीशघटनाधिकं शर्मोर्मिकञ्चुकितम् एकभावम् अञ्चति ।

हिन्दी—काशीनिवासी दम्पती परस्पर इच्छानुसार (जितनी इच्छा हो उतना) भोगों (सांसारिक आनन्दों) का अनुभव कर (भोगकर) और वचन-विलास-विहार कर पंचत्व प्राप्त होने पर (मृत्यु प्राप्त होने पर) उमा-शंकर के (अर्द्धनारीश्वर) संघटन से भी श्रेष्ठ, सुख-परम्परा से परिवृत एकत्व (तादात्म्य) को प्राप्त करते हैं ।

टिप्पणी—काशीवासी पति-पत्नी जीवनभर छककर भोग भोगते हैं और आनन्दोल्लास-विहारों में मग्न हो तृप्ति प्राप्त करते हैं। जब वे मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं तो उन्हें ऐसा तादात्म्य प्राप्त होता है, जो भव-भवानी के तादात्म्य से भी बड़ा है । शिव-पार्वती के अर्द्धनारीश्वररूप से एक होते हुए भी पृथक्-पृथक् शरीर आभासित होते हैं, परन्तु काशीवासी दंपती में यह भेद भी नहीं प्रतीत होता है, वे 'तिलतण्डुल' की भाँति नहीं, 'नीर-क्षीर' के तुल्य ऐक्य प्राप्त कर लेते हैं। भाव यह है कि अन्यत्र बसते जीवों को सुख-त्याग कर

ध्यानादियोग करना होता है, तब ब्रह्मसायुज्य प्राप्त होता है। इसके विपरीत काशी में निवास कर स्त्रीपुरुष जीवन-भर सुख-भोग भी कर लेते हैं और अन्त में बिना किसी साधना-श्रम के काशीवास मात्र से ब्रह्माद्वैत-लाभ कर लेते हैं। इस प्रकार सरस्वती का प्रस्ताव-संकेत है कि सब इच्छाओं की पूर्ति के निमित्त काशिराज का वरण उचित होगा ॥ ११८ ॥

न श्रद्दधासि यदि तन्मम मौनमस्तु कथ्या निजाप्ततमयैव तवानुभूत्या।
न स्यात् कनीयसितरा यदि नाम काश्या राजन्वतीमुदिरमण्डनधन्वना भूः ॥

जीवातु—नेति। न श्रद्दधासि यदि स्वर्गादपि काश्या आधिक्यवर्णनरूपं मद्वाक्यं न विश्वसिसि चेत्, तर्त्हि, मम मौनमस्तु अहं तूष्णीमासे, तव निजया आत्मीयया, आप्ततमया नितरां हितकारिण्या, अनुभूत्या प्रमाणभूतस्वीयानुभावेनैव, कथ्या कथनीयाऽसि; किं कथ्या ? तदाह—मुदिरा जीमूताः, 'घनजीमूतमुदिर—' इत्यमरः, तेषां मण्डनं भूषणभूतं, धनुर्यस्य स तद्धन्वा देवेन्द्रः, 'धनुषश्च' इत्यनङादेशः तेन राजन्वती शोभनराजविशिष्टा, भूः स्वर्गभूः 'राजन्वान् सौराज्ये' इति निपातनात् साधुः। काश्याः काशीतः 'पञ्चमी विभक्तेः' इति पञ्चमी। अतिशयेन कनीयसी कनीयसितरा हीनतरा, 'युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्, इत्यल्पशब्दस्य कनादेशः, 'घरूपकल्प—' इत्यादिना ङीपो ह्रस्वः नस्यान्नाम यदि अपि तु स्यादेवेत्यर्थः, दिवः स्वर्गात् अधिका काशी, दिवस्पतेरधिकं काशीराज इत्यलं वार्त्ताभिः, एतत्पाणिग्रहणानन्तरमनुभव एव ते कथयिष्यतीति भावः ॥ ११९ ॥

अन्वयः—यदि न श्रद्दधासि, तत् मम मौनम् अस्तु; मुदिरमण्डनधन्वना राजन्वती भूः यदि काश्याः नाम कनीयसितरा न स्यात्, तव निजया आप्ततमया अनुभूत्या एव कथ्या।

हिन्दी—यदि (काशी-विषयक मेरे कथन पर) श्रद्धा नहीं करती हो, तो मैं चुप हो जाती हूँ। मेघों को अलंकृत करने वाले धनुष् के धारी (इन्द्र) से सौराज्यवती भूमि (अमरावती) यदि काशी की तुलना में हीनतर न हो तो तुम अपनी विश्वसनीयतम अनुभूति (अनुभव) द्वारा ही कह सकोगी।

टिप्पणी—भाव यह कि या तो दमयन्ती सरस्वती के वचनों पर श्रद्धान्वित

हो या फिर अविश्वनीय लगे तो स्वयं काशिराज का वरण कर काशी में जा इस सब का अनुभव करे। तब उसे स्वयम् ही अनुभव होगा कि सरस्वती का कथन ठीक था। उसका अनुभव स्वयं प्रमाण होकर बोलेगा कि काशी अमरावती की अपेक्षा कहीं महत्त्वपूर्ण है और काशिराज इन्द्र की तुलना में श्रेष्ठ और वरेण्य है ॥ ११९ ॥

ज्ञानाधिकाऽसि सुकृतान्यधिकाशिकुर्याः कार्यं किमन्यकथनैरपि यत्र मृत्योः।
एकं जनाय सतताभयदानमन्यद् धन्ये! वहत्यमृतसत्रमवारितार्थि ॥१२०॥

जीवातु—ज्ञानेति। धन्ये! हे श्लाघ्ये! भैमि! ज्ञानेन अधिका उत्कृष्टा, असि भवसि, अतः अधिकाशि काश्यां, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। सुकृतानि एतत्परिणयेन दानादिविविधसत्कर्माणि कुर्याः, अथवा अन्यकथनैः कर्त्तव्यान्तरोदेशैः, किं कार्यम्? किं प्रयोजनम्? न किञ्चिदित्यर्थः, यत्र काश्यां, मृत्योरपि मृत्युसकाशादपि, जनाय एकं केवलं, सततमविच्छिन्नम्, अभयदानं मृत्युवशानां सद्य एव मृत्युञ्जयत्वप्राप्तेरिति भावः, अन्यद् अपरम्, अवारिताः अनिवारिताः, अर्थिनो याचकाः यस्मिन् तत्, अमृतसत्रं मोक्षदानं गङ्गोदकदानञ्च 'अमृतं तूदके मोक्षे' इति केशवः। 'सत्रमाच्छादने यज्ञे सदा दाने वनेऽपि च' इति चामरः। वहति प्रवर्त्तते, काशिमृतानां शिवसारूप्यममृतत्वञ्च सिद्धमिति अन्यत्र जीवनात् मरणमपि काश्यां वरमिति भावः ॥१२०॥

अन्वयः—धन्ये, ज्ञानाधिका असि, अधिकाशि सुकृतानि कुर्याः, अन्यकथनैः अपि किं कार्यम्? यत्र मृत्योः जनाय सतताभयदानम् एकम् अन्यत् अवारितार्थि अमृतसत्रं वहति।

हिन्दी—हे धन्ये (प्रशंसनीये दमयन्ति), तुम पर्याप्त ज्ञानवती हो; (स्वयं काफी समझदार हो) काशी में बस कर पुण्य करो, दूसरों के कहने से भी क्या प्रयोजन? जिस (काशी) में मृत्यु से व्यक्ति को निरन्तर अभयदान का एक सत्र (मोक्षयज्ञ) चलता है, दूसरा याचकों को निराश न करने वाला अमृत का सत्र (भागीरथी) बहता है।

टिप्पणी—दमयन्ती स्वयं पढ़ी-लिखी, विदुषी और समझदार है। उसे अन्य की बातों पर अधिक ध्यान न देकर स्वयं विचारना चाहिए। काशी पुण्य नगरी है, वहाँ वास करने से मोक्ष मिलता है। अमृतसम गंगाजल भी

बह रहा है, अटूट अथाह—कभी समाप्त न होने वाला। भाव यह कि काशी में वास करके पुण्यार्जन करना उचित है, जहाँ गंगा-जल-पान कर अनायास मोक्ष प्राप्त होगा। अन्यत्र मृत्युभय है, किन्तु काशी में वह नहीं। वहाँ तो मृत्यूपरांत शिवसान्निध्य प्राप्त होता है; सो काशीवासी कृतकामभाव से मृत्यु की प्रतीक्षा उसी प्रकार करते हैं, जैसे प्रिय अतिथि की प्रतीक्षा की जाती है—'कृतकृत्याः प्रतीक्षन्ते मृत्युं प्रियमिवातिथिम्।' और-स्थान पर जीने से काशी में मरना भला॥ १२०॥

भूभर्त्तुरस्य रतिरेधि मृगाक्षि ! मूर्त्ता सोऽय तवास्तु कुसुमायुध एव मूर्त्तः।
भातञ्च ताविव युवां गिरिशं विरुद्धमाराद्धुमाशु पुरि तत्र कृतावतारौ १२१।

जीवातु—भूभर्त्तुरिति। हे मृगाक्षि ! त्वमस्य भूभर्त्तुः काशिराजस्य, मूर्त्ता मूर्त्तिमती, रतिः कामपत्नी, एधि भव, अस्ते सिचि हेर्धिरादेशे 'ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च', इत्येकारादेशः। सोऽयं राजा च, तव मूर्त्तो मूर्त्तिमान्, कुसुमायुधः कामः एव, अस्तु भवतु, किञ्च युवां विरुद्धं द्विष्टं पुरा कोपितमित्यर्थः, गिरिशमीश्वरम्, आराद्धुम् आराधयितुं, तदीयकोपशान्त्यर्थमिति भावः, तत्र पुरि काश्याम्, आशु अधुना, कृतावतारौ अवतीर्णौ, ताविव रतिकामाविव, भातं विराजतञ्च, भातेर्लोटि थसस्तमादेशः॥ १२१॥

अन्वयः—मृगाक्षि, अस्य भूभर्त्तुः मूर्त्ता रतिः एधि; सः अयं तव मूर्त्तः कुसुमायुधः एव अस्तु; युवां च विरुद्धं गिरिशम् आराद्धुं तत्र पुरि आशु कृतावतारौ तौ इव भातम्।

हिन्दी—हे मृगनयने (दमयन्ति), इस पृथ्वीपति (काशिराज) की तुम मूर्तिमती रति (कामपत्नी) हो जाओ, वह यह (राजा) तुम्हारा शरीरधारी काम ही हो। तुम दोनों (दमयन्ती-काशिराज) पूर्वक्रुद्ध गिरिशायी (महादेव) की आराधना के निमित्त वहाँ काशीपुरी में शीघ्र अवतार ले उन दोनों (रति-काम) के समान सुशोभित होओ।

टिप्पणी—रति-काम रूप में काशी में रह दमयन्ती-काशिराज जैसे रूठे महादेव को तो प्रसन्न करें। भाव यह भी है कि दम्पती में अटूट प्रेम हो। राजा दमयन्ती को साक्षात् रति माने और दमयन्ती राजा को मूर्तिमान् काम। दमयन्ती साक्षात् रति—अनुरक्ति और काशिराज साक्षात् काम—अभिलाष-

पूर्तिरूप अनुराग। तात्पर्य यह कि दोनों के मध्य अत्यन्त स्नेह रहे और दोनों परस्परानुरक्त रहते रति-काम-सदृश शोभा प्राप्त करें ॥ १२१ ॥

कामानुशासनशते सुतरामधीती सोऽयं रहो नखपदैर्महतु स्तनौ ते।
रुष्टाद्रिजाचरणकुङ्कुमपङ्करागसङ्कीर्णशङ्करशशाङ्ककलाङ्ककारैः ॥१२२॥

जीवातु—कामेति। कामानुशासनानां कामशास्त्राणां, शते समूहे, सुतरां नितराम् अधीतमनेनेत्यधीति 'इष्टादिभ्यश्च' इति इनि प्रत्यये सप्तमीविधाने 'क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसङ्ख्यानम्' इति सप्तमी। कृताध्ययनः सोऽयं राजा, रुष्टा कुपिता, अद्रिजा पार्वती तस्याश्चरणकुङ्कुमपङ्करागेण सङ्कीर्णा पार्वत्याः कोपापनोदनाय पादग्रहणकाले कुङ्कुमरञ्जिततदीयचरणसम्पर्कात् रूषिता, या शङ्करशशाङ्ककला महादेवशिरःस्थितचन्द्रकला तया सह अङ्ककारैः कलहकारिभिः, तदनुकारिभिरित्यर्थः, कुङ्कुमरञ्जितचन्द्रकलासदृशैरिति यावत्, कर्मण्यण् 'अङ्कः कलहचिह्नयोः' इति विश्वः। नखपदैर्नखक्षतचिह्नैः, ते स्तनौ कुचौ, रहः निर्जने, महतु पूजयतु, अलङ्करोतु इत्यर्थः। महपूजायामिति धातोर्भौवादिकाल्लोट् ॥ १२२ ॥

अन्वयः—कामानुशासनशते सुतराम् अधीती सः अयं रहः रुष्टाद्रिजाचरणकुङ्कुमपङ्करागसङ्कीर्णशङ्करशशाङ्ककलाङ्ककारैः नखपदैः ते स्तनौ महतु।

हिन्दी—अनेक कामशास्त्रों का निष्णात विद्वान् वह यह (काशिराज) एकांत में कुपित हुई पार्वती के चरणों की कुंकुम के पंकराग (लाली) से मिश्रित शिवललाट स्थित चन्द्र की कला के अंककार (प्रतिद्वन्द्वी योद्धा, प्रतिमल्ल) नखक्षतों से तेरे स्तनों की पूजा करे।

टिप्पणी—काशी में निवास के उपर्युक्त सुपरिणाम ही नहीं है और न काशिराज वीर, सुन्दर शासक मात्र; यह कामशास्त्र का भी पूर्ण ज्ञाता है—शृङ्गाररसिक। उसका रतिविलास भी अभिजात्य और सुरुचिपूर्ण होगा। स्तनों पर हुए नख-चिह्नों की, आकारसाम्यता और आरक्तता के कारण, चन्द्रकला से उपमा दी गयी है। भाव यह है कि रतिक्रीडा में काशिराज तुम्हारे कुचयुगल पर नखचिह्न बनायेगा और तुम उसी प्रकार इस पर चरण-प्रहार करना जैसे रतिकुपिता पार्वती शंकर पर चरणाघात करती है ॥ १२२ ॥

पृथ्वीश एष नुदतु त्वदनङ्गतापमालिङ्ग्य कीर्तिचयचामरचारुचापः ।
संग्रामसङ्गतविरोधिशिरोधिदण्डखण्डिक्षुरप्रसरसम्प्रसरत्प्रतापः ॥१२३॥

जीवातु—पृथ्वीश इति । कीर्त्तिचय एव चामरवत् चारुः मनोहरः, चापो यस्य स कीर्तिधन्वा, महाशूरोऽयमिति कीर्त्तिधनुषा एव रिपुदमनकारी इत्यर्थः अत्र चामरचारुचाप इति प्रयोगस्तु कीर्त्तेः कविसमयसिद्धातिनैर्मल्यख्यापनार्थमिति बोद्धव्यम्; 'यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्योः' इति कविप्रसिद्धेरिति । अत एव संग्रामे सङ्गतानां विरोधिनां शत्रूणां, शिरोधिदण्डान् कण्ठनालान्, खण्डयन्तीति तेषां, क्षुरप्राणां शरविशेषाणां, सरेण प्रसरेण, सम्प्रसरन् सम्यक् प्रसरन्, समधिकवर्द्धमानः इत्यर्थः, प्रतापः यस्य तादृशः, एष पृथ्वीशः भूपतिः, आलिङ्ग्य तव अनङ्गतापं कामसन्तापं, नुदतु अपनयतु; समर—सुरतयोः समरस एष इति भावः । अत्र प्रकृष्टतापशालिनः आलिङ्गनेन तापनोदनमिति आपाततः विरोधोऽवभासते, प्रकृतव्याख्यया तु तत्परिहारः ।। १२३ ॥

अन्वयः—कीर्तिचयचामरचारुचापः सङ्ग्रामसङ्गतविरोधिशिरोधिदण्डखण्डिक्षुरप्रसरसम्प्रसरत्प्रतापः एषः पृथ्वीशः आलिङ्ग्य त्वदनङ्गतापं नुदतु ।

हिन्दी—यशःसमूह रूप चामर से जिसका धनुष् सुन्दर है (धनुष् के माध्यम से अतिशय कीर्त्यर्जनकर्त्ता) और युद्ध में संमुख आये वैरियों की गरदनों को 'क्षुरप्र' प्रकार के बाणों द्वारा काटकर जिसका प्रताप भली भाँति प्रसार पा गया है, ऐसा यह पृथ्वीपति (काशिनरेश) आलिगन करके तेरा (दमयन्ती का) काम-संताप हरण करे ।

टिप्पणी—काशिराज ने संमुख आये वैरियों का नाश करके अपने चाप-युद्ध का कौशल दिखाया है और यश पाया है । बड़ा प्रतापी और यशस्वी है काशिराज । वह प्रतापी है और दमयन्ती कामताप से जल रही है, सो इस महान् प्रतापी और यशस्वी का आलिगन निश्चय ही दमयन्ती का कामसंताप शमन करने में समर्थ होगा । जो स्वयं प्र-तापी (प्रकृष्टतापी) है, उसका आलिगन तापशमन करे—यह विरोध-सा आभासित होता है, किन्तु संग्राम और रतिक्रीडा दोनों के यशस्वी राजा का आलिगन कामशमन करेगा—इस व्याख्या से उसका परिहार हो जाता है, अतः विरोधाभास अलंकार ॥ १२३ ॥

वक्षस्त्वदुग्रविरहादपि नास्य दीर्णं वज्रायते पतनकुण्ठितशत्रुशस्त्रम् ।
तत्कन्दकन्दलतया भुजयोर्न तेजोवह्निर्नमत्यरिवधूनयनाम्बुनाऽपि ॥१२४॥

जीवातु—वक्ष इति । हे भैमि ! तव उग्रात् दुःसहात्, विरहादपि न दीर्णम् अविदीर्णं, तथा पतनेन कुण्ठितानि प्रतिहतानि, भग्नधाराणीत्यर्थः, शत्रूणां शस्त्राणि आयुधानि यत्र तत्, अस्य राज्ञः, वक्षो वज्रायते वज्रमिवाचरति, वज्रमेवेत्यर्थः, अन्यथा कथमीदृगभेद्यमिति भावः । आचारक्यङन्ताल्लट, तत् वक्षोवज्रमेव, कन्दो मूलं, तस्य कन्दलतया प्ररोहत्वेन हृदयदार्ढ्यमूलत्वात् तत्प्ररोहभूतभुजतेजसोऽपि दार्ढ्यता इति भावः, भुजयोस्तेजोवह्निः प्रतापाग्निः अरिवधूनयनाम्बुनाऽपि न नमति न शाम्यतीत्यर्थः, वज्राग्नेरिव अरिनिधनकारित्वादिति भावः । अत्र भुजतेजसोऽनम्बुहार्यत्वेन वज्रायितवक्षःकार्यताद्वारादन्यतेजस्त्वोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥ १२४ ॥

अन्वयः—त्वदुग्रविरहात् अपि न दीर्णं पतनकुण्ठितशत्रुशस्त्रम् अस्य वक्षः वज्रायते, तत्कन्दकन्दलतया भुजयोः तेजोवह्निः अरिवधूनयनाम्बुना अपि न नमति ।

हिन्दी—तेरे (दमयन्ती) के दुःसह वियोग से न विदीर्ण और जिस पर गिरने से वैरियों के शस्त्र कुण्ठित (व्यर्थ) हो जाते हैं, ऐसा इस (काशीश) का वक्षःस्थल वज्रतुल्य (कठोर) है; तन्मूलक अंकुर होने से ही इसकी भुजाओं का तेज-पावक शत्रुस्त्रियों के नेत्रजल (अश्रु) से भी उपशमित नहीं होता ।

टिप्पणी—भाव यह है कि वैरियों का नाश करके भी, उनकी स्त्रियों को रोती देखकर भी यह काशीश शांत नहीं होता, अर्थात् वैरियों के प्रति निष्ठुर वीर है यह । इसका उग्र विरह दमयन्ती को आलिंगन करके ही उपशम को प्राप्त होगा । बड़ा कठिन है कलेजा काशिराज का, इसके दो कारण दिये गये—(१) यह उग्रविरह-संताप से भी विदीर्ण नहीं हुआ, (२) शत्रुओं के शस्त्र उससे टकराकर व्यर्थ हो जाते हैं । कहा जाता है कि वज्र सब को काटता है—रत्नों को भी, लोहोपकरणों को भी, पर उसे कोई काट नहीं पाता—'पृथिव्यां यानि रत्नानि ये चान्ये लोहजातयः । तानि वज्रेण लिख्यन्ते वज्रं नान्येन लिख्यते ॥' (नारायणी टीका) । इस वज्रसम कठोरवक्ष कारण

के कार्य भुजयुगलों—वक्षरूप मूल से उत्पन्न अंकुरों-सी बाहों का तेज-पावक इसी कारण नयनजल से नहीं बुझ पाता कि वह सामान्य—जल से बुझने वाला पावक नहीं है। वह है विद्युज्जातवह्नि, जल जिसका उपशम कर ही नहीं सकता। कारण गुण ही तो कार्य में आते हैं। वक्ष है—वज्र, विद्युत्, वही बाहुरूप अंकुरों का मूल है। जब कारण-विद्युत् का पावक जल से बुझता ही नहीं तो कार्य-रूप भुजतेजोवह्नि नयन-जल से कैसे बुझे? भुजतेज के जल से उपशमित न होने से उसे वज्रवक्ष का कार्य माना गया। इस प्रकार उसके अन्य प्रकार का तेज होने की उत्प्रेक्षा हुई, जो व्यंजक का प्रयोग न होने से गम्या है—यह मल्लिनाथ का निर्देश है ॥ १२४ ॥

किं न द्रुमा जगति जाग्रति लक्षसङ्ख्यास्तुल्योपनीतपिककाकफलोपभोगाः?।
स्तुत्यस्तु कल्पविटपी फलसम्प्रदानं कुर्वन् स एष विबुधानमृतैकवृत्तीन् ॥

जीवातु—किमिति। तुल्यं निर्विशेषं यथा तथा, उपनीतः सम्पादितः, पिकानां काकानाञ्च फलोपभोगो यैस्ते, लक्षसङ्ख्या द्रुमाः वृक्षाः जगति न जाग्रति किम्? न स्फुरन्ति किम्? स्फुरन्त्येवेत्यर्थः, तु किन्तु, अमृतैकवृत्तीन् सुधैकजीवनान्, विबुधान् देवान् विदुषश्च फलसम्प्रदानम् ईप्सितार्थप्रतिग्राहिणः कुर्वन् सर्वामरमनोरथपूरक इत्यर्थः, स एष कल्पविटपी कल्पवृक्षः, कल्पवृक्षकल्पोऽयं काशिराज इत्यर्थः, स्तुत्य स एक एव स्तोत्रार्हो नान्य इत्यर्थः, अन्ये नृपतयः असत्पात्रेभ्यः दानं कुर्वन्ति, अय काशिराजस्तु पण्डितेभ्य एव ददाति इति भावः। अत्राप्रस्तुतकल्पवृक्षकथनात् प्रस्तुतकाशिराजप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः, 'अप्रस्तुतस्य कथनात् प्रस्तुतं यत्र गम्यते। अप्रस्तुतप्रशंसेयं सारूप्यादनियन्त्रिता। इति लक्षणात् ॥ १२५ ॥

अन्वयः—तुल्योपनीतपिककाकफलोपभोगाः लक्ष्यसंख्याः द्रुमाः किं जगति न जाग्रति? अमृतैकवृत्तीन् विबुधान् फलसम्प्रदानं कुर्वन् सः स्तुत्यः कल्पविटपी तु एषः।

हिन्दी—समानरूप से कोकिल और काकों को फलों द्वारा जीवन-व्यवहार प्रस्तुत करने वाले लाखों वृक्ष (आम्र आदि) क्या संसार में नहीं हैं? (पर्याप्त हैं) अमृत से ही जीवनवत्ति संपन्न करते देवों को फल-प्रदान करने

वाले स्तुतियोग्य कल्पवृक्ष-तुल्य तो यज्ञशेष से ही जीवन-यापनकर्ता विद्वज्जनों को उपयुक्त सामग्रीप्रदान करने वाला प्रशंसनीय व्यक्ति यह (काशीश) ही है।

टिप्पणी—संसार में अनेक वृक्ष हैं, जिनके फल काकादि निंद्य पक्षी भी खाते हैं और कोकिल आदि भी, किन्तु देवों को ही जो फल देता है, वैसा तो उल्लेख्य कल्पवृक्ष एक ही है। अन्य वृक्ष तो अगणित होने के कारण प्रशंसनीय अथवा उल्लेखनीय नहीं है। ऐसे ही विद्वज्जनों का सेवा-सत्कार अयाचित रूप से करने वाला काशिराज ही है, जब कि पण्डितों और मूर्खों में विवेक न करके दान करने वाले नरेश तो अनेक हैं। भाव यह है कि असत्पात्रों को देनेवाले तो अनेक हैं, पण्डितों को दान करने वाला यह काशीश ही है। इस भंगिमा से अन्य नरेशों की अपेक्षा काशीश की विशेषताओं का संकेत कर दिया गया—वह विशेषज्ञ है, पण्डित है, पण्डितों का आदर करता है और स्वयं भी विद्वान् है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अप्रस्तुत कल्पवृक्ष के कथन से प्रस्तुत काशिराज की प्रतीति होती है, अतः अप्रस्तु-प्रशंसा अलंकार है। 'अमृत' यज्ञ-शेष को भी कहते हैं—'अमृतं यज्ञशेषे स्यात्।' (अमरकोष) ॥१२५॥

अस्मै करं प्रवितरन्तु नृपा न कस्मादस्यैव तत्र यदभून् प्रतिभूः कृपाणः।
दैवाद् यदा प्रवितरन्ति न ते तदैव नेदङ्कृपा निजकृपाणकरग्रहाय ॥१२६॥

जीवातु—अस्मै इति। अस्मै राज्ञे, नृपाः अन्ये सर्वे राजानः, कस्मात् कारणात्, करं बलिं, न प्रवितरन्तु ? न दद्युः ? दद्युरेव, सम्भावनायां लोट्। करप्रदानमसम्भावितमेवेत्यर्थः, कुतः ? यत् यस्मात् तत्र करदाने, अस्य राज्ञः कृपाणः खड्गः एव, प्रतिभूर्लग्नकः, अभूत् 'स्युर्लग्नकाः प्रतिभुवः' इत्यमरः। अथ कृपाणस्य प्रतिभूत्वं व्यनक्ति—यदा दैवात्ते नृपाः, न प्रवितरन्ति, करमिति शेषः, तदैव निजकृपाणस्य करेण हस्तेन, ग्रहाय ग्रहणाय, अन्यत्र—निजकृपाणात् प्रतिभूस्वरूपकृपाणसकाशात्, करस्य बलेः, ग्रहणाय 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः। अस्य कृपा इदङ्कृपा, न, भवतीति शेषः, निष्कृपः सन् कृपाणमुत्तोल्य तेभ्यः प्रसह्य करं गृह्णातीत्यर्थः। कृपाणपातभीत्यैव करदानात् कृपाणस्य प्रतिभूत्वव्यपदेश इति भावः ॥ १२६ ॥

अन्वयः—नृपाः अस्मै करं कस्मात् न प्रवितरन्तु, यत् अत्र अस्य कृपाणः एव प्रतिभूः अभूत् ? ते दैवात् यदा न प्रवितरन्ति तदा निजकृपाणकरग्रहाय इदंकृपा न एव भवति।

हिन्दी--(अन्य सब) नरेश इस (काशिराज) को कर (बलि, शुल्क, टैक्स) अथवा (सहारा देने के लिए सेवकतुल्य) हाथ क्यों न दें, (देते ही हैं।) कारण कि उन दोनों प्रकारों के कर-दान में इसका कृपाण (खड्ग) ही प्रतिभू (लग्नक, उत्तमर्ण, ऋणदाता) हुआ ? वे (राजगण) भाग्य-वैपरीत्य के कारण जब (कर) नहीं देते, तब अपना खड्ग (अपने) हाथ में लेने के लिए इसकी कृपा नहीं होती।

टिप्पणी--तात्पर्य यह है कि काशिराज के अधीन शेष सभी नरेश हैं और इसे 'कर' देकर इसकी सेवकाई करते हैं। पराजित हो टैक्स देते हैं और सेवकों के समान सहारे के लिए अपना हाथ बढ़ा देते हैं वे नरेश विवश हैं इसके लिए। यदि वे कर न दें और सेवक-भाव न प्रदर्शित करें तो यह स्वयम् अपने हाथ में खड्ग उठा लेता है; और यह स्वयं कर में कृपाण-धारण उन अभागे नरेशों पर कृपा के लिए नहीं है, यह वे भलीभाँति समझते हैं। वे डर कर दोनों प्रकार के 'कर' देने लगते हैं। शुल्क भी देते हैं और दासता भी करते हैं। इस प्रसंग में जैसे महाजनी करता है काशीश का कृपाण। यदि ऋणगृहीता, अधमर्ण, ऋणिया ऋण वापस न देगा तो उत्तमर्ण बलात् वसूल करेगा। प्रतिभू खड्ग को देखते ही भय प्राप्त हो राजा तुरन्त 'कर' देने लगते हैं। 'अस्य कृपा' इति 'इदङ्कृपा'--षष्ठी समास ॥ १२६ ॥

एतद्बलैः क्षणिकतामपि भूखुराग्रस्पर्शायुषां रयवशादसमापयद्भिः।
दृक्पेयकेवलनभःक्रमणप्रवाहैर्वाहैरलुप्यत सहस्रदृगर्वगर्वः ॥ १२७ ॥

जीवातु--एतदिति। एतद्बलैः एतत्सैन्यभूतैः, रयवशात् वेगवशात्, भुवि पृथिव्यां, खुराग्राणां ये स्पर्शाः संयोगाः, तेषां यान्यायुंषि अवस्थानरूपजीवितानि, स्थायित्व काला इत्यर्थः, तेषां, क्षणिकतां क्षणमात्रावस्थायितामपि, असमापयद्भिः अनिर्वर्त्तयद्भिः खुराग्रेण भूस्पर्शनं क्षणमपि अकुर्वद्भिरित्यर्थः, किन्तु दृक्पेया अविच्छिन्नतया दृष्टिग्राह्याः, न तु शङ्कयातुं शक्या इति भावः, केवलाः नभःक्रमणप्रवाहाः नभोगतिपरम्परा येषां तैः केवलखेचरैरित्यर्थः, अतिवेगगामिभिरिति भावः, वाहैर्वाजिभिः, सहस्रदृगर्वणः सहस्राक्षवाजिनः उच्चैःश्रवसः 'वाजिवाहार्वगन्धर्व--' इत्यमरः। गर्वः मदपेक्षया वेगशाली आकाशमात्रचारी अन्योऽश्वो नास्तीत्येवंरूपाहङ्कारः, अलुप्यत लोपितः; सहस्राक्षस्य

त्वेकक एक खेचरोऽश्वः, अस्य तु एतादृशाः परःसहस्राः अश्वाः विद्यन्ते इति भावः। अत्र इन्द्राश्वापेक्षया एतदश्वानामाधिक्यवर्णनात् व्यतिरेकालङ्कारः १२७

अन्वयः—एतदबलैः रयवशात् भूखुराग्रस्पर्शायुषां क्षणिकताम् अपि असमापयद्भिः दृक्पेयकेवलनभःक्रमणप्रवाहैः वाहैः सहस्रदृगर्वगर्वः अलुप्यत।

हिन्दी—इस (काशीश) की सेना के, वेग के कारण धरती पर खुरों के स्पर्श की स्थिति को क्षण भर के लिए भी असमाप्त रखते (अर्थात् क्षण-भर के लिए भी धरती पर खुरों की नोक न रखते) जिनका गगन-गमन ही नेत्रों से दीख पाता है ऐसे, अश्वों ने सहस्रनयन (इन्द्र) के अर्वा (अश्व, उच्चैःश्रवा) का अभिमान चूर्ण कर दिया है।

टिप्पणी—काशिराज के सैन्याश्व इतने वेगगामी हैं कि वे 'नभःक्रमण' अर्थात् आकाश में संचरण करते वायु के प्रवाह लगते हैं। वे दृश्य हैं, इस प्रकार वायु से भी विशिष्ट हैं, क्योंकि वायु तो दृश्य होता नहीं। इनकी तीव्रगामिता इतनी है कि क्षणमात्र के लिए भी इनके खुर धरती पर पड़ते नहीं दीखते। इनके सम्मुख इन्द्राश्व उच्चैःश्रवा का वेग भी नगण्य है—मंद है। भाव यह कि इन्द्रवाह उच्चैःश्रवा से भी वेगवान् अश्व काशिराज की सेना में हैं। और फिर इन्द्र तो एक आकाशगामी उच्चैःश्रवा का स्वामी है, काशीन्द्र के पास उच्चैःश्रवा से श्रेष्ठ अनेक वैसे घोड़े हैं। इस प्रकार काशीन्द्र देवेन्द्र की अपेक्षा श्रेयस्कर है। अब उच्चैःश्रवा अपनी गगनगति और वेग पर अभिमान नहीं करता। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ व्यतिरेकालंकार है, क्योंकि इन्द्राश्व की अपेक्षा काशिराज के अश्वों का आधिक्य वर्णन है॥ १२७॥

तद्वर्णनासमय एव समेतलोकशोभावलोकनपरा तमसौ परासे।
मानी तया गुणविदा यदनादृतोऽसौ तद्भूभृतां सदसि दुर्यशसेव मम्लौ॥

जीवातु—तदिति। असौ दमयन्ती, तस्य काशिराजस्य, वर्णनासमये स्तोत्रकाले एव, समेतलोकानां समागतजनानां, शोभावलोकनपरा सती तं काशिराजं, परासे व्याजेन परिजहारेत्यर्थः, 'उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वेति वाच्यम्' इत्यस्यतेस्तङि लिट्। मानी अभिमानी, असौ राजा, गुणविदा गुणज्ञया, तया भैम्या, यत् यस्मात्, अनादृतः, तत्तस्मादनादरणादेव, भूभृतां राज्ञां, सदसि

दुर्दशसा दुष्कीर्त्येव, मम्लौ वैवर्ण्यं गतः इत्यर्थः, वस्तुतः गुणज्ञया भैम्या कृतानादरेण लज्जावशात् म्लानोऽभूत् इति भावः। अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः॥ १२८॥

अन्वयः—तद्वर्णनासमये एव समेतलोकशोभावलोकनपरा असौ तं परासे; मानी असौ यद् गुणविदा तथा अनादृतः तत् भूभृतां सदसि दुर्यशसा एव मम्लौ।

हिन्दी—उस (काशीश) के वर्णन के मध्य में ही सभा में आगत मंडली की शोभा के दर्शन में लीन इस (दमयन्ती) ने उस (काशीश) का निराकरण कर दिया (निराश कर दिया); संमानी वह (काशीन्द्र) जो गुणाज्ञा उस (दमयन्ती) के द्वारा अवमानित हुआ, उससे भूपालों की सभा में जैसे दुष्कीर्ति से ही मलिन हो गया।

टिप्पणी—सरस्वती देवी काशिराज की प्रशंसा वर्णन करती रहीं और दमयन्ती उपस्थित सभा की भीड़भाड़ को देखती रही। ध्यान ही नहीं दिया उसने कुछ काशिराज के विवरण पर। इसीसे वह वेचारा काशीन्द्र समझ गया कि दमयन्ती उसकी ओर थोड़ा भी ध्यान नहीं दे रही है। इस अवमानना से वह दुःखी हुआ और अपनी कीर्ति का ऐसा अनादर देख उदास हो गया। लगता था कि दुर्यश की काली छाया, अकीर्ति की कालिमा उसके मुख पर छा गयी है। कोई मूर्खा यदि काशीश का अनादर करती तो कदाचित् वह दुःखी न होता, क्योंकि मूर्ख गुणों का मूल्य क्या समझे? उसका अनादर भी कोई महत्त्व नहीं रखता; किन्तु गुणज्ञा, पण्डिता दमयन्ती द्वारा उसके गुणों की स्वीकृति नहीं मिली, यह उसके लिए, अवमानना और कष्ट की बात थी। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा॥ १२८॥

साऽनन्तानाप्य तेजःसखनिखिलमरुत्पार्थिवान् दिष्टभाजः
चित्तेनाशापुषस्तान् सममसमगुणान् मुञ्चती गूढभावा।
पारेवाग्वर्त्तिरूपं पुरुषमनु चिदम्भोधिमेकं शुभाङ्गी
निःसीमानन्दमासीदुपनिषदुपमा तत्परीभूय भूयः॥ १२९॥

जीवातु—सेति। अनन्तान् अपरिमितान्, दिष्टभाजो भाग्यभाजः, चित्तेन आशाम् अभिलाषं, पुष्णान्ति इति आशापुषः भैमीं कामयमानानित्यर्थः, तान् प्रसिद्धान्, असमगुणान् असाधारणशौर्यादिगुणान्, तेजसः सखायः तेजःसखाः तेजस्विन इत्यर्थः, 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' निखिला मरुतो देवा इन्द्रादयः, पार्थि-

वाश्च तान्, आप्य प्राप्य, समं युगपत्, मुञ्चती परिहरन्ती, उपनिषत्पक्षे तु— सानन्तान् आकाशसहितान्, 'अनन्तं सुरवर्त्म खम् । पुंस्याकाशविहायसी' इत्यमरः । दिष्टभाजः कालयुक्तान्, 'दिष्टं भाग्ये च काले च' इति विश्वः । चित्तेन मनसा, समं सह, आशापुषो दिग्युक्तान् 'आशा दिगतितृष्णयोः' इति वैजयन्ती । असमगुणान् न्यूनाधिकसङ्ख्यातरूपरसादिगुणकान् अपां विकारः आप्यं, 'त्रिषु द्वे आप्यमम्मयम्' इत्यमरः । आप्यञ्चेति चान्द्रसूत्रनिपातनात् साधुः । तेजःसखाः तेजोद्रव्यसहिताः, निखिलाः मरुतः वायवः, 'मरुतौ पवनामरौ' इत्यमरः । पार्थिवाः पृथवीविकाराः, अत्रापि आप्यपार्थिवशब्दौ तद्धितान्तावपि प्रकरणात् प्रकृत्यर्थमात्रपरौ द्रष्टव्यौ, तान् मुञ्चती तार्किकोक्तपृथिव्यादिनवद्रव्येषु आत्मातिरिक्तद्रव्याष्टकस्य 'एकमेवाद्वितीयम्' 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतिवाक्यैः निषेधं कुर्वतीत्यर्थः, गूढभावा गूढः गोपायितः, भावः नलानुरागो यया सा, अन्यत्र—ब्रह्मरूपगहनार्थप्रतिपादनात् दुरवगाहाभिप्राया शुभाङ्गी अनवद्यगात्री, अन्यत्र—सम्पूर्णाङ्गा, षडङ्गयुक्ता इत्यर्थः, सा दमयन्ती वाचां पारे परपारे पारेवाक् 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इत्यव्ययीभावः, तद्वर्तिवाचा वर्णयितुमशक्यं, रूपं सौन्दर्यं यस्य तम्; अन्यत्र—'यतो वाचः—' इत्यादि श्रुतेः वाग्व्यापारातीतस्वरूपः, चिदम्भोधिं सकलशास्त्रपारंगतत्वेन ज्ञानसागरम्; अन्यत्र—तद्रूपं ज्ञानघनमित्यर्थः, एकं स्वसमानगुणशालिद्वितीयरहितम्; अन्यत्र—अद्वितीयं, निःसीमा आनन्दो यस्येति बहुव्रीहिः । अपारानन्दयुक्तम्, अन्यत्र—अनन्तसुखस्वरूपं, कर्मधारयः । पुरुषं नलरूपं पुमांसं परमात्मानञ्च, अनु लक्षयित्वा, तं प्रतीत्यर्थः, 'अनुर्लक्षणे' इति कर्मप्रवचनीयत्वात् द्वितीया । भूयो भूयिष्ठं, तत्परा तस्मिन् नले आसक्ता भूत्वा, अन्यत्र—परब्रह्मरूपे तात्पर्यवती भूता, उपनिषत् वेदान्तवाक्, उपमानं यस्याः तदुपमा तत्कल्पा, आसीदिति श्लिष्टविशेषणेयमुपमा, श्लेष एवेति केचित् । स्रग्धरावृत्तम् ॥ १२९ ॥

अन्वयः—अनन्तान् दिष्टभाजः चित्तेन आशापुषः तान् असमगुणान् तेजःसखनिखिलमरुत्पार्थिवान् आप्य (अथवा 'आप्यतेजःसखनिखिलमरुत्पार्थिवान्') समं मुञ्चती गूढभावा शुभाङ्गी सा पारेवाग्वर्तिरूपं चिदम्भोधिम् एकं निःसीमानन्दं पुरुषम् अनु भूयः तत्परीभूय उपनिषदुपमा आसीत् ।

हिन्दी—अन्तहीन (असंख्य), भाग्यशाली (स्वयंवर में आये संपत्तिशाली), मन में (दमयन्ती को पाने की) आशा से पूर्ण, उन एक दूसरे से सौन्दर्य शूरतादि गुणों में बढ़े-चढ़े, तेजस्वी समस्त मरुत् आदि देव और नरेशों को प्राप्त कर (सबका) समान भाव से त्याग करती, अपने (नलानुराग) भाव को गूढ रखती सुन्दरी वह (दमयन्ती) जिसके सौन्दर्य का वर्णन वाणी से सम्भव नहीं था, ऐसे सकल शास्त्रों के समुद्र (ज्ञान के सागर—ज्ञाता), एक (प्रमुख), उत्साह, आनन्द और शक्ति से सदा युक्त पुरुष (नल) को देख फिर से उसके प्रति तत्पर (दृढानुरागिणी) हो—सानन्त अर्थात् आकाश सहित और काल सहित, मन के साथ दिशायुक्त (दिङ्मनोयुक्त) असम—असंख्य रूप-रस-गन्ध आदि गुणों से युक्त, जल और तेज सहित समस्त वायु और पृथ्वी संबंधी (जल, तेज, वायु और पार्थिव) पदार्थों का एक साथ (अद्वैतप्रतिपादन से) निराकरण करती (अथवा-अविनश्वर, नित्य सामान्य-विशेष-समवाय सहित आठों पदार्थों का अथवा पाँच होने के कारण विषम, असंख्य कर्म-गुण-रूपादि छः पदार्थों का हेयभाव से प्रतिपादन करती) अतिशय दुर्ज्ञेय अभिप्रायवती (अथवा प्रत्येक सत्ता को अस्वीकारती, अथवा ब्रह्मसत्ताभाव को रक्षित करती), व्याकरणादिषडङ्गों अथवा उपक्रम-उपसंहारादि षड्विध तात्पर्य-लिंगों अथवा यम-नियमादि अंगों से युक्त चित् अर्थात् ज्ञान के सागर, निःसीमानन्द (परमानन्दस्वरूप) एक (अद्वितीय) पुरुष (ब्रह्म) का उद्देश्य करके उसी परपुरुष (ब्रह्म) में तात्पर्य रखती, शुभ अंगवती उपनिषद् के समान थी।

टिप्पणी—यहाँ अनेकार्थक शब्दों का आधार लेकर अन्य सभी को अस्वीकारती, नलानुरक्ता दमयन्ती की तुलना उपनिषद् से की गयी है। उपनिषद् के समान दमयन्ती अन्य सभी स्वयंवरागत अभिलाषियों को 'पदार्थों' के तुल्य अमान्य करती ब्रह्म के सदृश नल के प्रति अनुरक्त वर्णित की गयी है। मल्लिनाथ ने यहाँ श्लिष्ट विशेषणा उपमा मानी है। उन्होंने यह भी निर्देश किया है कि कुछ व्याख्याकार श्लेष ही मानते हैं। स्रग्धरा छन्द है॥ १२९॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।

शृङ्गारामृतशीतगावयमगादेकादशस्तन्महा-
काव्येऽस्मिन् निषधेश्वरस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥ १३० ॥

नैषधीयचरिते एकादशः सर्गः समाप्तः ।

जीवातु—श्रीहर्षमित्यादि । शृङ्गार एव अमृतं तस्य शीता गावः किरणा यस्य सः शीतगुः तस्मिन् शीतगौ चन्द्रे 'गोस्त्रियोः उपसर्जनस्य' इति ओकार-ह्रस्वः ॥ १३० ॥

इति मल्लिनाथविरचिते 'जीवातु' समाख्याने एकादशः सर्गः समाप्तः ॥

अन्वयः—श्रीहर्षं····चयम् । (पूर्ववत्) । शृङ्गारामृतशीतगौ तन्महाकाव्ये चारुणि नैषधीयचरिते निसर्गोज्ज्वलः अयम् एकादशः सर्गः अगात् ।

हिन्दी—श्रीहर्ष उत्पन्न किया। (पूर्ववत्) शृङ्गार-रूप अमृत की शीत किरणों से युक्त (अमृतचन्द्र) उस महाकाव्य चारु नैषधीयचरित में प्रकृतया सुन्दर एकादश सर्ग समाप्त हुआ ॥ १३० ॥

'नैषधीयचरित' में ग्यारहवाँ सर्ग पूर्ण ।

—: :SoS: :—

नैषध-कथासार

(दशम सर्ग)

आजग्मुर्महति स्वयंवरमहे नन्दन्नले नायका-

श्चत्वारो हरितां हरिप्रभृतयः कृत्वा नलस्याकृतिम् ।

वाग्देव्यां नृपवृन्दवर्णनविधौ बद्धोद्यमायां पुरो

मध्येराजकमाजुहाव तनयां भीमो महीवासवः ।।

—श्रीकृष्णरामकविः

और कुंडिनपुरी में दमयंती-स्वयंवर का समारोह आयोजित होने लगा। शस्त्र और शास्त्रों में पारंगत, शोभा-शक्ति-संपन्न, श्रेष्ठ कुलोत्पन्न अनेक राज-कुमार अपने-अपने रथों में आरूढ हो स्वयंवर में आ पहुँचे। कोई सुकुल राज-कुमार आने से नहीं चूक रहा था। उनके यातायात से सारे मार्ग परिपूर्ण हो गये, लगता था संपूर्ण धरती ही कुंडिनपुरी पहुँचने का पथ बन गयी है। सारा जगत् जैसे उमड़कर वहाँ पहुँच गया था। योग्य भी आये; अयोग्य भी, जो बलात् हरण के लिए भी उद्यत थे। स्वयंवर देखने की इच्छा मात्र से भी कुछ पहुँचे। सेवक भी पर्याप्त मात्रा में पहुँचे। संपूर्ण राजमार्ग ऐसे ठसाठस भर गये कि भूमि पर फेंका तिल भी गिरना कठिन था। रथ, हाथी, घोड़े, सेना—इन के संचार से उड़ी धूलि से दिशाएँ ढक गयीं। पूर्व, दक्षिण, आग्नेय कोण और पश्चिम दिशाओं से उनके स्वामी इन्द्र, यम, अग्नि और वरुण भी आ पहुँचे। नल से दूतता की असफलता जानकर यद्यपि वे उदास थे, पर फिर भी वे अकृत-संकल्प न हुए। उन्होंने अपना रूप नल-जैसा बना लिया कि भ्रम से ही नल समझ दमयंती कदाचित् उन्हें वरले। विदर्भराज ने अभ्यागतों के स्वागत-सत्कार-संमान का उचित प्रबन्ध किया था। कहीं कोई न्यूनता नहीं थी।

कुंडिनपुरी की सज्जा भी आकर्षक थी। स्वयंवर से पहिली रात राजा दमयंती का सपना देखते रहे और फिर यथासमय चारों देव और राजागण सुसज्जित हो स्वयंवर-सभा में गये। निषधराज नल भी उनमें थे। वे ऐसे श्रीसंपन्न थे कि सब उपस्थित आकांक्षियों की शोभा उनके संमुख वैसे ही धीमी पड़ गयी, जैसे चंद्रोदय होते ही तारों की. सभा की शोभा अपूर्व थी। सभी अतिथि उत्तम सिंहासनों पर आसीन हुए। राजा भीम को चिंता हुई कि उन समागत अभ्यर्थियों के गुणों का विवरण कौन प्रस्तुत करेगा? किसी मर्त्य से तो यह संभव नहीं। उन्होंने कुलदेव रथांगपाणि विष्णु का स्मरण किया, जिन्होंने कृपाकर यह भार वाग्देवी सरस्वती को सौंपा और विष्णु का आदेश सिर माथे रख वे भीमराज के संमुख जा पहुँचा। राजा कृतार्थ हो उठे और सरस्वती का सत्कार किया और दमयंती को सभा में बुलवाया। दमयंती आयी और उपस्थित मंडली अभिभूत हो उठी। अद्वितीय सुन्दरी थी दमयन्ती विश्व में। नल रूप धारी इन्द्र का निर्णय था कि सब अप्सराएँ तुच्छ हैं इसके संमुख। दमयंती की प्रशंसा में कहे गये वचनों का ऐसा हर्षनाद उठा कि कुछ सुनना कठिन हो गया।

—:o:—

नैषध-कथासार

(एकादश सर्ग)

एते सन्ति सुरा इतः पुनरिते दीव्यन्ति विद्याधराः
किं च स्फाररुचः पृथक्पृथगितो द्वीपाधिपा आसते ।
सर्वे योग्यतमा वृणष्व कमपि स्याद्यत्र वा त्वद्रुचि-
र्वाचा भूरि विलोभितापि विजहौ सा चित्तचञ्चन्नला ।।

—श्रीकृष्णरामकविः

आनंदकोलाहल के मध्य भीमनन्दिनी दमयन्ती राजसभा में उपस्थित हुई। उसका मुखचंद्र प्रसन्नता से परिपूर्ण था और थी चित्त में नल की आकांक्षा। राजसमूह उसे देख प्रसन्न हो उठा और नयनों में अनुराग-रस झलकने लगा। तन-मन से मग्न तरुण राज-समूह दमयन्ती के अंग-अंग को निहारने लगा। अंतरिक्ष में देवगण वाहनों में बैठे उस शोभा को देख रहे थे। पूर्व-निश्चयानुसार वाग्देवता भगवती शारदा दमयन्ती के दक्षिण पार्श्व में स्थित हो उससे सांत्वनापूर्ण वार्तालाप करके स्वयं वरार्थियों का यथोचित परिचय देने लगी—ये इधर देवगण विराजमान हैं, उधर विद्याधर। उस ओर कीर्तिमान्, यशस्वी विभिन्न द्वीपों के अधिपति विराजित हैं। सभी योग्य हैं—एक से एक बढ़े-चढ़े। एक-एक करके भगवती शारदा ने सभी का उपयुक्त परिचय दिया और दमयन्ती को उपयुक्त का वरण करने की सलाह दी, किंतु, सुभांगी दमयंती का चित्त तो नल में अनुरक्त था। उसे न इंद्र रुचा, न अन्य कोई देव, न विभिन्न उपस्थित राजमंडली में से कोई। जैसे उपनिषद् निःसीमानंद, ज्ञान सागर परब्रह्म में तत्पर होती हैं, वैसे ही दमयन्ती जिसका सौन्दर्य वागगोचर है, ऐसे पुरुषश्रेष्ठ नल के अनुचिंतन में तत्पर रही।

पद्यानुक्रमणिका

(१०-११ सर्ग)